JAIKRISHNADAS AYURVEDA SERIES
120

AYURVEDAOASIS.IN

THE

CARAKA SAṂHITĀ

(Āyurveda- Dīpikā's Ayuṣī Hindi- Commentary)

Second Part

(Cikitsāsthāna, Kalpasthāna and Siddhisthāna)

Preface

Ācārya Siddhi Nandan Mishra

Editor-Translator

Vd. Harish Chandra Singh Kushwaha
M.D. (Āyurveda) Saṃhitā

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental, Antiquarian and Ayurvedic Book
VARANASI

Scanned by CamScanner

Publishers :
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
Post Box No. 1032
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
Golghar, Maidagin
VARANASI - 221001 (U.P.)
(India)
E-mail: co@chaukhambha.com • covns@sify.com
Telephone: 0542-2333476, 2334356
Telefax: 0542-2334356

© **Chaukhambha Orientalia**
First Edition : 2009
Reprint Edition : 2012

Scanned by CamScanner

भूमिका

सृष्टि के विकास के साथ ही आयुर्वेद का विकास हुआ। तभी तो आयुर्वेद को शाश्वत कहा गया है। यथा– "सोऽयं-आयुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वात्, स्वभावसंसिद्धलक्षणत्वात्, भावस्वभाव नित्यत्वाच्च"। (च.सू.३०/२७) अर्थात् आयु और वेद अनादि होने से आयुर्वेद भी अनादि है। क्योंकि सृष्टि भी अनादि है। सृष्टि के आरम्भ से ही जड़ एवं चेतन अर्थात् निरेन्द्रिय तथा सेन्द्रिय दो प्रकार की है। इन दोनों का सम्बन्ध काल (समय) से है, किन्तु चेतन पदार्थ में जबतक चेतना का अनुबन्ध रहता है, उसी अवधि को आयु कहते हैं। यथोक्तं महर्षिणा चरकेन–

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्। नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते।। (च.सू.१/४२)

पुनश्च–

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्। मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते।। (च.सू.१/४१)

इस आयु सम्बन्धी प्रत्येक ज्ञेय विषयक ज्ञान को आयुर्वेद कहते हैं। सृष्टि के आरम्भ से ही प्राणिमात्र अपने हित-अहित का ज्ञान रखता आया है। अतः आयु (जीवन) और वेद (ज्ञान) सदैव साथ रहे हैं।

हजारों वर्षों की महाकाल की इस यात्रा में आयुर्वेद को इस धरा पर अवतीर्ण होना पड़ा।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर का आरोग्य होना अनिवार्य है। बीच में मृत्यु कारक रोग उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होने देती थी। यथा–

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्। तपोपवासाध्ययन ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्।। (च.स.सू. १/६)

ऐसा समझकर इन विषयों पर विचारार्थ हिमालय के पार्श्व प्रदेश में ऋषियों की एक संगोष्ठी (सभा) का आयोजन किया गया था। जिसमें अङ्गिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, गौतमादि ऋषिओं ने भाग लिया। उस सभा में धर्म अर्थ- काम तथा मोक्ष विषय पर चर्चा हुई। सभा में निर्णय लिया गया कि स्वर्गाधिपति इन्द्र के पास से रोगनिवारणार्थ एवं श्रेय प्राप्त्यर्थ आयुर्वेद को पृथ्वी पर लाना होगा। सनातन एवं सन्तान परम्परानुसार से आयुर्वेद ब्रह्मा से उत्पन्न होकर दक्षप्रजापति- अश्विनी कुमारो ततः इन्द्र के पास अवरुद्ध पड़ा है। उस आयुर्वेद को पृथ्वी पर रोगनाशनार्थ लाना होगा जिससे उपर्युक्त हमारी समस्या दूर होगी और सनातन एवं सन्तान परम्परा भी अग्रसारित होगी। इस निर्णय के बाद यह समस्या उत्पन्न हुई कि इन्द्र के अमरावतीपुरी में कौन जायगा। अतः उस सभा में उपस्थित भरद्वाज ऋषि ने पहले ही कहा कि इस कार्य के लिए मुझे ही इन्द्र के पास भेजा जाय। अतः सभासदों ने एक स्वर से भरद्वाज ऋषि को इन्द्र के पास अमरावती पुरी जाने की स्वीकृति दे दी। अतः भरद्वाज ऋषि ने शिष्य भाव से इन्द्र के पास जाकर त्रिस्कन्ध रूपी सम्पूर्ण आयुर्वेद का ज्ञान अर्जित किया।

त्रिस्कन्ध आयुर्वेद–

१. रोगों के कारण

२. रोगों के लक्षण

३. रोगों की चिकित्सा (औषधि आदि)

का सम्यग् ज्ञान को विस्तार पूर्वक समझाया।

Scanned by CamScanner

अत: उन ऋषियों में से महर्षि आत्रेय ने इस त्रिस्कन्ध रूपी आयुर्वेद को विशेष रूप से समझा और उक्त आयुर्वेद को अपने छ: शिष्यों (१. अग्निवेश, २. भेद, ३. जतुकर्ण, ४. हारीत. ५. क्षारपाणि तथा ६. पाराशर) जैसे बुद्धिमान् शिष्यों को विस्तार पूर्वक साङ्गोपाङ्ग आयुर्वेद पढ़ाया। उन शिष्यों में से सर्वप्रथम ऋषिअग्निवेश ने अपने नाम आयुर्वेद संहिता का निर्माण किया।

''बुद्धे र्विशेषस्तत्रासि न्नोपदेशान्तरं मुनेः।'' (च.सू. १/३२)

तत: भेडादि शिष्यों ने भी अपने-अपने नाम से आयुर्वेद की संहिताओं का निर्माण किया। इस अग्विेश संहिता के शताब्दी एव सहस्राब्दिओं के बाद इसके कुछ अंश नष्ट हो गए थे, जिसे महर्षि- चरक (महर्षिपतञ्जलि) ने संस्कारित कर इसे- **''चरक संहिता''** के नाम से इसका नवीनीकरण कर दिया। तत: उस चरक संहिता का अनेक शताब्दिओं के बाद भ्रष्ट एवं नष्ट होने पर कश्मीर के राजा कनिष्क के राजवैद्य (पंजाब) श्री दृढ़बल ने चरक संहिता के कुछ विलुप्त अंश चिकित्सा स्थान १७ से ३० अध्याय कल्पस्थान एवं सिद्धि स्थान पूरा लिखकर प्रतिसंस्कार किया। यथादृढ़बलेन-

अतस्तन्त्रोक्तमिदं चरकेणाति बुद्धिना। (च.सिद्धि.१२/३७)
संस्कृतं तत्त्व सम्पूर्ण त्रिभागे नोपलक्ष्यते। तच्छङ्करं भूतपतिं सम्प्रसाद्य समापयत्। (च.सिद्धि.१२/३८)
अखण्डार्थं दृढ़बलो जातः पञ्चनदे पुरे। कृत्वा बहुभ्यस्तन्येभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम्। (च.सिद्धि.१२/३९)
सप्तदशौषधाध्याय सिद्धिकल्पैरपूरयत्। इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितम्। (च.सिद्धि.१२/४०)
षडविंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः। (च.सिद्धि. १२/४१)
अपि च–
विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिप्त्यतिविस्तरम्। संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।। (च.सिद्धि. १२/३६-३७)

इस संहिता में विषयों का प्रतिपादन गोष्ठी रूप में अनेक स्थानों पर वर्णित है। सभी ऋषिओं के मत-मतान्तरों को सुनकर प्रतिभा के धनी महर्षि आत्रेय ने युक्ति युक्त एवं विद्वत्ता पूर्ण अपना श्रेष्ठतम निर्णय सुनाकर समस्या का समाधान करते हैं। यथा-देखे-वात कलाकलीय एवं यज्जपुरषीय अध्यायादि।

इस संहिता में बड़े ही मनोरम रीति से विषयों का दार्शनिक भाव से निष्पत्ति की गई है। आत्मा-परमात्मादि का विवेचन भी दार्शनिक स्वरूप में किया गया है। देखें शारीर स्थान- यहां पर प्रकृति एवं विकृति का सुन्दर विवेचन दर्शाया गया है। यथा–

नचापशब्दः प्रकृतिः। (अपशब्द प्रकृति नहीं है।) इस पर भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने प्रकृति और विकृति का संकेत किया है। शब्द प्रकृति है और अपशब्द विकृति है। ठीक इसी प्रकार धातु साम्य प्रकृति है और धातु वैषम्य विकृति है। यथाह चरकेन–

''विकारो धातु वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।'' (च.चि.३/३३)

इस चरक संहिता की व्याख्या– अबतक ज्ञात चरक संहिता की व्याख्याओं तथा व्याख्याकारों का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जाता है।

Scanned by CamScanner

संस्कृत व्याख्याकारों के नाम	तथा	व्याख्या के नाम
१. श्री भद्यर हरिश्चन्द्र	–	चरक न्यास
२. श्री स्वामि कुमार	–	चरक पञ्जिका
३. श्री जेज्जट	–	निरन्तर प्रद व्याख्या
४. श्री चक्रपाणि दत्त	–	आयुर्वेद दीपिका
५. श्री शिवदास सेन	–	तत्त्व चन्द्रिका
६. श्री गङ्गाधर राय	–	जल्प कल्पतरु
७. श्री योगीन्द्रनाथ सेन	–	चरकोपस्कार
८. श्री ज्योतिष चन्द्र सरस्वती	–	चरक प्रदीपिका

हिन्दी व्याख्याकारों के नाम–

१. श्री जयदेवविद्यालंकार

२. श्री गुलाब कुंवरबा आयुर्वेद सोसाइटी जामनगर, संस्कृत हिन्दी-अंग्रेजी तथा गुजराती चार भाषाओं में

३. श्रीकाशीनाथ शास्त्री तथा श्री गोरखनाथ चतुर्वेदी

४. श्री ब्रह्मानन्द त्रिपाठी

५. श्री विद्याधर शुक्ल

६. श्री हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी विद्वत्ता एवं योग्यतानुसार व्याख्या की है ।

अंग्रेजी व्याख्याकारों में–

१. श्री पी.सी. कविरत्न २. श्री प्रियव्रत शर्मा

इन व्याख्याकारों के अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों ने "चरक संहिता" संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी एवं अन्य भारत के प्रादेशिक भाषाओं में चरक संहिता की व्याख्याऐं की है ।

डा० हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा

'विद्या सद्भ्यास बलेन लभ्या- सौजन्य मभ्यासबलादलभ्यम् ।'

पूर्ण मनोयोग से विद्या का सतत सम्यगभ्यास करने से विद्या प्राप्त होती है । किन्तु सतत अभ्यास करने से सज्जनता नहीं आती है ।

डा० कुशवाहा मेरे शिष्य है । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी स्थित आयुर्वेद कालेज में अपने ग्रेजुएशन करते समय भी प्रतिभावान् छात्र थे । इनकी रुचि शास्त्राध्ययन में अच्छी तरह लगी थी । जब मैं सेवा निवृत होकर गुजरात

Scanned by CamScanner

आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर में Contract Basis पर फार्मेसी डायरेक्टर के पद पर Joint हुआ तो उस समय डा० कुशवाहा, जयपुर में राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान से M.D. क़र गुरु शिष्य परम्परान्तर्गत जामनगर में राष्ट्रीय गुरु श्री वि.ज. ठाकर साहब से चरक संहिता की शिक्षा लेने के लिए आए थे। क्योंकि श्री ठाकर साहब चरक संहिता के एक मात्र अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं। इन्होनें बड़े मनोयोग से गुरु से दो वर्षों तक आयुर्वेद एवं चरक संहिता का अध्ययन किया। अत: मेरा उपर्युक्त कथन "विद्या सद्भ्यास बलेन लभ्या:"। श्री हरिश्चन्द्र कुशवाहा अपने अवकाश के क्षणों में मेरे पास आकर मेरे लेखन कार्यों में सहायता करते रहे। पुन: अपना- अध्ययन पूर्ण कर उत्तर प्रदेश सरकार के राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, झाँसी में व्याख्याता संहिता के रूप में Joint किया। तत: इन्होनें अत्याल्पावधि में चरक संहिता का गहन अध्ययन के साथ-साथ अन्य संहिताओं का भी पुनरध्ययन करना प्रारम्भ कर वर्ष २००६ में चरक संहिता चक्रपाणि टीका का हिन्दी में अनुवाद कर प्रथम भाग (सूत्र, निदान, विमान, शारीर तथा इन्द्रिय स्थान) का प्रकाशन किया। जिसका आयुर्वेद जगत में सर्वत्र स्वागत किया गया। इस चरक संहिता का दूसरा भाग (चिकित्सा, कल्प एवं सिद्धिस्थान) का प्रकाशन भी हो रहा है। जिसमें डा० कुशवाहा ने अत्यधिक परिश्रम किया है तथा विषयों का सम्यक् प्रतिपादन सुरुचिपूर्ण रीति से किया है, जिससे आयुर्वेद के छात्र, अध्यापक भी लाभान्वित होगें।

अन्त में चौखम्भा ओरियण्टालिया के श्री अतुल भाई को ऐसे उत्कृष्ट संहिता के प्रकाशन के लिए बधाई देता हूँ।

श्रावण शुक्ल पञ्चमी
नाग पञ्चमी
२६ जुलाई २००९

(सिद्धिनन्दन मिश्र)
सू.दि.आयुर्वेद मेडिकल कालेज
राँची (झारखण्ड)

Scanned by CamScanner

प्रस्तावना

यह संहिता आठ स्थान एवं एक सौ बीस अध्यायों में विभक्त है । जिसमें पाँच स्थान, यथा-सूत्रस्थान, निदानस्थान, विमानस्थान, शारीरस्थान एवं इन्द्रियस्थान को ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध भाग में तथा शेष- चिकित्सा, कल्प एवं सिद्धि स्थान को ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध भाग में व्यवस्थापित किया गया है । इस प्रकार हिन्दी व्याख्याकारों ने अध्ययन की सुविधा एवं ग्रन्थ का कलेवर अतिविस्तृत न हो, इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए, ऐसा किया है । भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उपदेशों का संकलन ही अग्निवेशतन्त्र के रूप में प्रसिद्ध है । आचार्य चरक ने इस तन्त्र को प्रतिसंस्कारित कर 'चरकसंहिता' नाम दिया । कालान्तर में चरकसंहिता के कुछ अंश लुप्त हो गये जिसे आचार्य दृढ़बल ने शिलोञ्छवृत्ति द्वारा पूर्ण किया । दृढ़बल के समय में चरकसंहिता के कितने अंश उपलब्ध थे, इस विषय पर उनके ही विचार विचारणीय हैं, यथा–

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च । नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ।।
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढ़बलोऽकरोत् । तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ।। (च.चि. ३०/२८९-२९०)

चरक प्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र में चिकित्सा के सत्रह अध्याय, कल्प व सिद्धि स्थान उपलब्ध नहीं थे । इस तन्त्र के महत्त्वपूर्ण उन शेष विषयों को उचित रूप में कापिलबलि के पुत्र पञ्चनदपुर निवासी दृढ़बल ने पूरा किया ।

अतः इतना तो स्पष्ट है कि कल्प व सिद्धि-स्थान को आचार्य दृढ़बल ने पूरा किया, जो उस काल में चरकसंहिता से लुप्त हो गया था । लेकिन चिकित्सा के किन सत्रह अध्यायों को आचार्य दृढ़बल ने पूरा किया है, इस पर मतभेद है । आचार्य चक्रपाणि के मत के अनुसार- **''ते च चरकसंस्कृतान् यक्ष्मचिकित्सितान्तानष्टावध्यायान् तथाऽर्शोतीसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् विहाय ज्ञेयाः'** (च.चि.३०/२८९-२९० पर चक्रपाणि [चरक संस्कृत शुरू के आठ अध्याय (प्रारम्भ से लेकर यक्ष्मा तक- रसायन, वाजीकरण, ज्वर, रक्तपित्त, गुल्म, प्रमेह, कुष्ठ, यक्ष्मा) तथा अर्श, अतीसार, विसर्प, द्विव्रणीय एवं मदात्यय को छोड़कर शेष सत्रह अध्याय दृढ़बल कृत हैं, समझना चाहिए ।]

निर्णय सागर प्रेस मुम्बई द्वारा प्रकाशित चरकसंहिता (चक्रपाणि टीका) के अध्यायान्त पुष्पिकाओं को देखने पर आचार्य चक्रपाणि के विचारों में संशय उत्पन्न होता है, क्योंकि द्विव्रणीय चिकित्सा की पुष्पिका में- ''इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढ़बलसंपूरिते चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः'' तथा विषचिकित्सा की पुष्पिका में- ''अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयो विंशोऽध्यायः'' प्राप्त होता है । इस आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि द्विव्रणीय चिकित्सा दृढ़बल संपूरित तथा विष चिकित्सा चरक प्रतिसंस्कृत है ।

रसायन प्रकरण में आचार्य चरक ने- **''तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः । रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्''** (च.चि.अ.१/१/२४) इति के द्वारा रसायन के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया है । आचार्य चरक द्वारा वर्णित रसायन क्रम अपना एक विशेष महत्त्व रखता है । इस रसायन विधि में विधिपूर्वक हरीतक्यादि चूर्ण के सेवन से ही शोधन के गुणों की प्राप्ति हो जाती है । अतः शोधन हेतु वमनादि कर्म का यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है ।

पाण्डुरोग चिकित्सा में वर्णित सूत्र- **''तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमकैः । संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः''** (च.चि. १६/४०) इति की व्याख्या में विद्वानों द्वारा **''तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमकै''** का गृहीत अर्थ तीक्ष्ण वमन व तीक्ष्ण विरेचन के प्रति विनम्र असहमति को प्रदर्शित करते हुए ऐसे द्रव्यों का ग्रहण किया गया है जो ऊर्ध्व एवं अधोगत दोषों को अधोमार्ग से बाहर निकालते हैं, यथा– गोमूत्र भावित हरीतकी । इसी का प्रयोग प्रायः चिकित्सा में किया जाता है ।

विष चिकित्सा में वर्णित सूत्र- **''जङ्गमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजम्''** (च.चि.२३/१७) इति, को बदलकर नरेन्द्रनाथ सेन गुप्त संपादित चरकपाठ- **''जङ्गमं स्यादूर्ध्वभागमधोभागं तु मूलजम्''** को स्वीकार किया गया है; क्योंकि इस सूत्र की चक्रपाणि टीका के अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है । व्यवहार में भी जाङ्गम विषों की गति ऊर्ध्व ही होती है तथा अरिष्टाबन्धन का भी प्रयोग दंश स्थान से ऊपर किया जाता है ।

इस भाग की रचना में चरक व दृढ़बल दोनों के ही विषय सम्मिलित हैं । चरककृत चिकित्सा के तेरह अध्याय को छोड़कर शेष सत्रह अध्यायों के साथ-साथ कल्प व सिद्धि स्थान का संपूरण आचार्य दृढ़बल द्वारा किया गया है । आचार्य दृढ़बल ने संपूरणकर्ता के दायित्व के साथ-साथ क्या सम्पूर्ण चरक संहिता का भी प्रतिसंस्कार किया था ? यह शंका उत्पन्न होती है । कोई भी रचनाकार किसी खण्डित अंश को पूर्ण करने का जब संकल्प लेता है, तब उसकी पूर्ति तभी संभव है जब वह उपलब्ध ग्रन्थ का पूर्णतः अवलोकन करे । इस कार्य को करते समय ग्रन्थ में विद्यमान त्रुटियों के परिमार्जन किये बिना वह कैसे रह सकता है, अर्थात् वह त्रुटियों को भी परिमार्जित करेगा । अतः यह एक व्यावहारिक पक्ष है कि दृढ़बल द्वारा चरकसंहिता के लुप्त अंशों के पूरण के साथ-साथ सम्पूर्ण ग्रन्थ का भी प्रतिसंस्कार किया गया होगा । यही कारण है कि बहुत से विषय या शब्द जो दृढ़बल कालीन हैं, चरकसंहिता के उन अंशों में भी उपलब्ध होते हैं जिसका संपूरण आचार्य दृढ़बल ने नहीं किया ।

Scanned by CamScanner

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सुश्रुत आदि संहिताओं की भाँति चरकसंहिता का भी उत्तरतन्त्र था, जो वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, लेकिन उपलब्ध उत्तरतन्त्र युक्त ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थ को अष्टांगमय बनाने के लिए उसमें उत्तरतन्त्र बाद में जोड़ा गया। चरकसंहिता की विषयवस्तु अष्टाङ्गयुक्त होने के कारण उसमें उत्तरतन्त्र की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । इन सभी विषयों का सप्रमाण विवेचन यथा-स्थान किया गया है ।

तंत्र युक्तियों की व्याख्या के साथ-साथ उससे सम्बन्धित अन्य विषयों का भी समावेश विशेष प्रकरण में किया गया है । कहीं-कहीं विषयों का चक्रपाणि व्याख्या के आधार पर उचित परिवर्तन भी किया गया है तथा कुछ स्थानों पर मूल सूत्रों को हटाकर पाठ भेदों को स्थापित किया गया है- ऐसा करते समय शास्त्रीय विचार एवं व्यावहार को ध्यान में रखा गया है ।

इस अनुवाद कार्य के सम्पादन के समय आयी हुई विषय एवं व्याकरण सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने का श्रेय विद्वद्वरेण्य आचार्य विनायक जयानन्द ठाकर (भूतपूर्व कुलपति, गुजरात आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर) को है । जिनके चरणों में बैठकर मुझे आठ महीने आयुर्वेद दीपिका टीका का अध्ययन करने का अवसर मिला । उनके द्वारा प्रदत्त बोध का ही यह सुपरिणाम है कि जिसके सामर्थ्य पर मैं इस टीका (चक्रपाणि टीका) के अनुवाद करने का साहस कर सका । ऐसे पूज्य आचार्य के एतादृश ऋण के परिशोधन की कल्पना करना भी मेरे लिए अशक्य है ।

जिस आचार्य ने मुझे इस कार्य को करने की प्रेरणा दी, विषय की गहनता को समझाया, कृतज्ञ बनने का आशीर्वाद दिया, रसशास्त्रीय विषयों पर जिनकी पकड़ अद्वितीय है, ऐसे कर्मठ, विद्यानुरागी व लेखक पूज्य गुरुवर आचार्य सिद्धिनन्दन मिश्र जी का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे एक अनुरोध पर इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की । आयुषी हिन्दी व्याख्या में योगों के निर्माण आदि के विवेचन की शैली उनके ही सानिध्य का प्रतिफल है ।

मैं अपने अभिन्न मित्र प्रो० चन्द्रकुमार राजपूत (प्रधानाचार्य, बुन्देलखण्ड राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, झाँसी) के प्रति भी उपकृत हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ में आयी हुई काय चिकित्सा सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर कर मेरा उत्साह वर्धन किया ।

मैं डा० विश्राम सिंह यादव (विभागाध्यक्ष, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग), डा० प्रदीप कुमार सचान (प्रवक्ता, मौलिक सिद्धान्त एवं संहिता विभाग) एवं डा० राममिलन (प्रवक्ता, द्रव्यगुण विभाग) का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपने उपयोगी सुझाव देकर मुझे उपकृत किया ।

मैं अपने प्रिय मित्र डा० गोपेश शर्मा (अनुसंधान अधिकारी, क्षेत्रीय आयुर्वेद अनुसंधान संस्थान, झाँसी) के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जो मुझे व्यक्तिगत सहयोग देकर मेरा उत्साह वर्धन करते रहे ।

मैं डा० शंकर शरण तिवारी (सेवानिवृत्त रीडर, स्नातकोत्तर महाविद्यालय ललितपुर, उ०प्र०) का भी कृतज्ञ हूँ जिनके सहयोग से इस व्याख्या में आयी हुई दर्शन सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ हुआ ।

मैं अपने कालेज के श्री रामनारायण मौर्य (फार्मासिस्ट) के सहयोग को कैसे विस्मृत कर सकता हूँ जो दीर्घकाल के इस ग्रन्थ लेखन में निरन्तर मेरा उत्साह वर्धन करते रहे ।

मैं अपने प्रिय शिष्य डा० कपिलदेव यादव को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अत्यधिक श्रम करके व्याख्या में आये हुए आंग्लभाषा के शब्दों को व्यवस्थित किया । ग्रन्थ की विषय सूची, शब्दानुक्रमणिका एवं अन्य कार्यों में महाविद्यालय के जिन छात्र-छात्राओं ने यत्किञ्चिद् भी सहयोग किया है, उन सभी के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ ।

मेरी जीवन संगिनी कुसुम के स्नेहिल एवं प्रेरक सहयोग का ही यह सुफल है कि इस ग्रन्थ लेखन के दस वर्ष के काल को मैंने हँसते-हँसते पूरा किया । ग्रन्थ की भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने का श्रेय भी उन्हीं को है । अतः उनके प्रति भी मैं स्नेहावनत हूँ । मैं अपने पुत्र आयुष एवं पुत्री शिवाङ्गी का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पाण्डुलिपि को शुद्ध करने में मेरी सहायता की । एतदर्थ मैं दोनों के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ ।

चौखम्भा ओरियण्टालिया, वाराणसी के प्रकाशक श्री अतुलगुप्ता का पुण्य स्मरण यहाँ न करना नितान्त अनुचित होगा, क्योंकि उनकी सार ग्राहिणी प्रज्ञा का ही यह सुफल है कि ग्रन्थ प्रकाशित होकर सर्व सम्बन्धित के लिए सुलभ हो रहा है ।

ग्रन्थ में ज्ञात-अज्ञात त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं, जिनके लिए मुझे विद्वत्जनों के प्रति क्षमाशील होने में संकोच नहीं है । अन्त में ग्रन्थ सुधी विद्वानों, समीक्षकों व विद्यार्थियों के सम्मुख प्रस्तुत है, जो इसकी गुणात्मकता का आकलन कर ही लेंगे-

न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी
१४ अगस्त २००९
झाँसी

हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा

Scanned by CamScanner

देवनागरी के शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त रोमन अंग्रेजी के शब्द

Vowels			Consonants					
अ	–	a	क्	k		द्	d	
आ	ा	ā	ख्	kh		ध्	dh	
इ	ि	i	ग्	g		न्	n	
ई	ी	ī	घ्	gh		प्	p	
उ	ु	u	ङ्	ṅ		फ्	ph	
ऊ	ू	ū	च्	c		ब्	b	
ऋ	ृ	ṛi	छ्	ch		भ्	bh	
ॠ	ॄ	ṛī	ज्	j		म्	m	
ऌ	ऌ	lṛi	झ्	jh		य्	y	
ॡ	ॡ	lṛī	ञ्	ṅ		र्	r	
ए	े	e	ट्	ṭ		ल्	l	
ऐ	ै	ai	ठ्	ṭh		व्	v	
ओ	ो	o	ड्	ḍ		श्	ś	
औ	ौ	au	ढ्	ḍh		ष्	sh	
. n or m [Either true anusvāra n or the symbol of any nasal.]			ण्	ṇ		स्	s	
: ḥ symbol called visarga			त्	t		ह	h	
			थ्	th				

Scanned by CamScanner

चरक-संहिता (द्वितीय भाग)

विषयानुक्रमणिका

चिकित्सास्थानम्

विषय	पृष्ठ
१. **प्रथमोऽध्यायः**	०१-४६
रसायनाध्याये प्रथमः पादः	१-१४
(अभयामलकीयरसायनपाद)	
भेषज के पर्याय	१
भेषज के भेद	१
अभेषज के भेद	२
भेषज का विवेचन	२
रसायन के कार्य	२
वाजीकरण के कार्य	३
परिभाषा	३
अभेषज की परिभाषा	४
रसायन विधि-प्रकरण	४
रसायन के प्रकार	४
कुटी प्रावेशिक विधि	४
प्रवेश प्रक्रिया	५
रसायनोक्त संशोधन की विधि	५
हरीतकी के गुण-कर्म	६
हरीतकी सेवन के अयोग्य पुरुष	६
आमलकी के गुण-कर्म	६
औषधियों के सञ्चय की विधि	७
प्रथम ब्राह्म रसायन	८
द्वितीय ब्राह्म रसायन	१०
ब्राह्म रसायन (द्वितीय) के गुण	१०
च्यवनप्राश	११
च्यवनप्राश रसायन के लाभ	१२
आमलक रसायन	१२
पञ्चम हरीतकी योग	१३
हरीतक्यादि योग	१३
रसायन का वैशिष्ट्य	१४
उपसंहार	१४
रसायनाध्याये द्वितीयः पादः	१५-२४
(प्राणकामीय रसायनपाद)	
रसायन का फल	१५
आमलक घृत	१६
आमलक घृत के लाभ	१७
आमलकावलेह	१७
क्षारोदक निर्माण विधि	१८
आमलक चूर्ण	१८
विडङ्गावलेह	१८
अपर आमलकावलेह	१८
नागबला रसायन	१९
उन्नीस बलादि रसायन	१९
भल्लातक क्षीर	२०
भल्लातक क्षौद्र	२१
भल्लातक तैल	२२
भल्लातक के विविध योग	२२
भल्लातक रसायन प्रकरण का उपसंहार	२३
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२३
रसायनाध्याये तृतीयः पादः	२५-३७
(करप्रचितीय रसायनपाद)	
आमलकायस ब्राह्मरसायन	२५
आमलकायस ब्राह्मरसायन के गुण	२६
केवलामलक रसायन	२७
लौहादि रसायन	२७
ऐन्द्र रसायन	२९
चार मेध्य रसायन	३०
पिप्पली रसायन	३०
पिप्पली वर्धमान रसायन	३१
त्रिफला रसायन (प्रथम)	३४
त्रिफला रसायन (द्वितीय)	३४
त्रिफला रसायन (तृतीय)	३४
त्रिफला रसायन (चतुर्थ)	३४
शिलाजतु के गुण	३५
भावना देने की विधि	३५
शिलाजीत रसायन के लाभ	३५
प्रयोग काल एवं मात्रा	३६
शिलाजीत की उत्पत्ति एवं उनकी प्रयोग विधि	३६
स्वर्ण शिलाजीत के गुण-कर्म	३६
रौप्य शिलाजीत के गुण-कर्म	३६
ताम्र शिलाजीत के गुण-कर्म	३६
लौह शिलाजीत के गुण-कर्म	३६
शिलाजीत सेवन में पथ्यापथ्य	३७
शिलाजीत का वैशिष्ट्य	३७
उपसंहार	३७

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
रसायनाध्याये चतुर्थः पादः	**३८-४६**
(आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद)	
ग्राम्यवास जन्य दोष	३८
इन्द्र द्वारा दिया गया उपदेश	३८
इन्द्रोक्त रसायन	३९
रसायनोपयोगी दिव्य ओषधियाँ	४०
दिव्य ओषधियों के सेवन योग्य पुरुष	४१
इन्द्रोक्त रसायन (द्वितीय)	४२
इन्द्रोक्त रसायन से लाभ	४२
रसायन के योग्य पुरुष	४३
आचार-रसायन	४३
प्राणाचार्य (वैद्य) का महत्व	४४
अश्विनीकुमारों के महत्वपूर्ण कार्य	४४
योग्य प्राणाचार्य	४५
जीवन दान सर्वश्रेष्ठ दान है	४६
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४६
२. द्वितीयोऽध्यायः	**४७-६९**
वाजीकरणाध्याये प्रथमः पादः	**४७-५२**
(संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद)	
वाजीकरण चिकित्सा का उद्देश्य	४७
उत्तम वाजीकरण	४८
सन्तान रहित पुरुष की उपमा	४९
पुत्रवान् की उपमा	४९
बृंहणी गुटिका	५०
वाजीकरण घृत	५०
वाजीकरण पिण्ड रस	५१
वृष्य माहिष रस	५१
अन्यवृष्य रस	५२
वृष्य मांस	५२
वृष्य माष योग	५२
वृष्य कुक्कुट मांस-प्रयोग	५२
वृष्य अण्ड रस	५२
शोधनोत्तर वाजीकरण द्रव्यों का प्रयोग करें	५२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५२
वाजीकरणाध्याये द्वितीयः पादः	**५३-५५**
(आसिक्तक्षीरिक वाजीकरणपाद)	
अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका	५३
वृष्य पूपलिकादि योग	५४
अपत्यकर स्वरस	५४
वृष्य क्षीर	५४
वृष्य घृत	५४

विषय	पृष्ठ
वृष्य दधिसर प्रयोग	५५
वृष्य षष्टिकौदन प्रयोग	५५
वृष्य पूपालिका	५५
वाजीकरण योगों का वैशिष्ट्य	५५
वाजीकर-विहार	५५
पादोक्त विषयों का उपसंहार	५५
वाजीकरणाध्याये तृतीयः पादः	**५६-६०**
(माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद)	
तीन प्रकार के वृष्य गोदुग्ध	५६
क्षीर के पाँच प्रयोग	५६
अपत्यकर क्षीर योग	५७
वृष्य पिप्पली योग	५८
वृष्य पायस योग	५८
वृष्य पूपलिका	५८
वृष्य शतावरी घृत	५८
वृष्य मधुक योग	५९
अन्य वाजीकरण आहार-विहार	५९
कामोद्दीपक प्रकृति (वातावरण)	६०
उपसंहार	६०
वाजीकरणाध्याये चतुर्थः पादः	**६१-६९**
(पुमाञ्जातबलादिक वाजीकरणपाद)	
विषय का प्रारम्भ	६१
शारीरिक बल एवं सन्तोनोत्पत्ति	६१
संशोधन-प्रक्रिया	६१
वृष्य मांस गुटिका	६२
वृष्य माहिष रस	६२
वृष्य भुने हुए मछली के मांस	६३
वृष्य पूपलिका	६३
अपत्यकर घृत	६३
वृष्य गुटिका	६४
वृष्य उत्कारिका	६५
वृष्य की परिभाषा	६५
मैथुन कब करें ?	६५
मैथुन के पश्चात् कर्तव्य	६५
शुक्रोत्पत्ति की उपमा	६५
मैथुन के लिए उचित काल	६५
शुक्र क्षय में हेतु	६६
मैथुन शक्ति की अल्पता में हेतु	६६
शुक्र का स्थान	६६
शुक्र प्रवृत्ति के हेतु	६६
प्रशस्त शुक्र के गुण	६७

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
वाजीकरण शब्द की निरुक्ति	६८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६८
३. तृतीयोऽध्यायः	६९-१३९
(ज्वर चिकित्सा)	
अग्निवेश द्वारा पूछे गये ज्वर विषयक प्रश्न	६९
ज्वर के पर्याय	७०
ज्वर की प्रकृति	७१
स्वभाव रूप प्रकृति	७१
ज्वर की प्रवृत्ति (आदि उत्पत्ति)	७१
ज्वरोत्पत्ति की कथा	७२
ज्वर का प्रभाव	७३
ज्वर के कारण	७३
ज्वर के पूर्वरूप	७४
ज्वर के अधिष्ठान	७४
ज्वर के प्रत्यात्म लक्षण	७४
ज्वर के भेद तथा लक्षण	७५
शारीरिक एवं मानसिक ज्वर	७६
मानस संताप के लक्षण	७६
इन्द्रिय ताप के लक्षण	७६
सौम्य एवं आग्नेय ज्वर	७६
वायु का योगवाही गुण	७७
ज्वर के अन्तर्वेग के लक्षण	७७
ज्वर के बहिर्वेग के लक्षण	७७
कफ एवं पित्त ज्वर की सुखसाध्यता	७८
प्राकृत पित्तज्वर	७८
प्राकृत कफज्वर	७८
प्राकृत एवं वैकृत ज्वर की चिकित्सा	७९
साध्य ज्वर के लक्षण	८०
प्राणनाशक ज्वर	८०
संतत ज्वर की संप्राप्ति	८१
संतत ज्वर के आश्रय	८१
सततक ज्वर के लक्षण	८३
अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण	८३
तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर	८३
ज्वर के वेगों के आगमन में दृष्टान्त	८४
दोषोद्रेक विशेष से तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर के प्रभाव	८४
चतुर्थक विपर्यय	८५
ज्वर की उत्पत्ति में कारण	८६
धातुगत ज्वर विवेचन	८६
धातुगत ज्वरों की साध्यताऽसाध्यता	८६

विषय	पृष्ठ
द्वन्द्वज-ज्वर	८७
वात-पित्त ज्वर के लक्षण	८७
वात-कफ ज्वर के लक्षण	८७
कफ-पित्त ज्वर के लक्षण	८७
सन्निपात ज्वर प्रकरण	८८
सन्निपात ज्वर की साध्यासाध्यता	९०
आगन्तुज ज्वर के प्रकार	९१
अभिघातज ज्वर	९१
अभिषङ्गज ज्वर	९२
अभिचार एवं अभिशाप जन्य ज्वर के लक्षण	९२
कामादि ज्वर के लक्षण	९२
कामादि ज्वर में संताप का स्वरूप	९२
आगन्तुक ज्वर का वैशिष्ट्य	९३
ज्वर की सामान्य संप्राप्ति	९३
तरुण ज्वर में स्वेद न निकलने में हेतु	९४
आम ज्वर के लक्षण	९४
पच्यमान ज्वर के लक्षण	९४
निराम ज्वर के लक्षण	९४
नव ज्वर में निषिद्ध वस्तु	९५
ज्वर में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग	९५
लंघन के परिणाम	९६
लंघन का प्रयोग कब करें ?	९६
नव ज्वर (तरुण ज्वर) में आम दोष के पाचनार्थ साधन	९६
ज्वर में जल की उपयोगिता	९७
षडंगपानीय का प्रयोग	९७
ज्वर में वमन का प्रयोग	९७
वमन के उपद्रव	९८
ज्वर में यवागू का प्रयोग	९९
यवागू प्रयोग के अयोग्य रोग एवं रोगी	९९
तर्पण का प्रयोग	१००
तर्पण के पश्चात् कर्तव्य	१००
दातौन के प्रयोग एवं गुण	१००
दातौन के पश्चात् कर्तव्य	१००
ज्वर में कषाय पान	१०१
नव ज्वर में कषाय पान का निषेध	१०२
यवागू पान के बाद कर्तव्य	१०३
ज्वर में घृतपान	१०३
घृतपान के अपवाद	१०४
ज्वर में दुग्ध का प्रयोग	१०४
ज्वर में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग	१०५
ज्वर में निरुह बस्ति का प्रयोग	१०५

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
विरेचन एवं बस्ति की कार्मुकता	१०५
ज्वर में अनुवासन बस्ति का प्रयोग	१०५
जीर्ण ज्वर में नस्य	१०६
ज्वर में बहिर्परिमार्जन विधान	१०६
जीर्ण ज्वर में धूपन का प्रयोग	१०६
ज्वर में प्रशस्त अन्न	१०६
दस प्रकार के ज्वर नाशक यवागू	१०७
ज्वर में यूष का प्रयोग	१०९
ज्वर में शाक का प्रयोग	१०९
ज्वर में उपयोगी मांसरस	१०९
तृष्णायुक्त ज्वरी में कर्तव्य	११०
नवज्वर में निषिद्ध आहार	११०
ज्वर नाशक कषायों का विवेचन	११०
विषम ज्वर नाशक पाँच प्रकार के कषाय	११४
वत्सकादि कषाय	११४
मधूकादि कषाय	११४
मधूकादि शीतकषाय	११४
दोष विबद्धता में जात्यादि क्वाथ का प्रयोग	११५
पित्त कफ नाशक त्रिफलादि क्वाथ	११५
बृहत्यादि कषाय	११५
शट्यादि वर्ग	११५
बृहत्यादि गण	११५
ज्वर में घृत का प्रयोग	११६
जीर्ण ज्वर में घृत का प्रयोग	११७
पिप्पल्यादि घृत	११७
वासादि घृत (जीर्ण ज्वर)	११८
जीर्ण ज्वर में बलादि घृत का प्रयोग	११९
ज्वर में संशोधन चिकित्सा	११९
वमन का प्रयोग	११९
विरेचन कारक योग	११९
जीर्ण ज्वर में क्षीरपाक का प्रयोग	१२०
ज्वर नाशक निरूह एवं अनुवासन बस्तियाँ	१२१
पटोलादि निरूहबस्ति	१२१
आरग्वधादि निरूह बस्ति	१२२
जीवन्त्यादि अनुवासन बस्ति	१२२
पटोलादि अनुवासन बस्ति	१२२
चन्दनादि स्नेहबस्ति	१२२
शिरोविरेचन का प्रयोग	१२२
बहिः परिमार्जन	१२३
अत्यधिक दाह युक्त ज्वर में कर्तव्य	१२३
चन्दनादि तैल	१२३
दाह युक्त ज्वरी के लिए शयन विधान	१२५
अवगाहन	१२५
अगुर्वादि तैल	१२६
ज्वर में स्वेदन का विधान	१२७
ज्वर में लङ्घन का निषेध	१२७
ज्वर में अग्निमांद्य	१२७
अग्निमांद्य की उत्पत्ति में दृष्टान्त	१२७
निराम ज्वर	१२८
गुरु अन्न का निषेध	१२८
वात ज्वर में अभ्यङ्गादि का प्रयोग	१२८
जीर्ण वातिक ज्वर में कर्तव्य	१२८
कफ प्रकृति वाले पुरुषों के कफज ज्वर में कर्तव्य	१२८
ज्वर की आमता में लङ्घन का निर्देश	१२८
ज्वर में संशोधन चिकित्सा	१२८
संसृष्ट एवं सन्निपात ज्वर का चिकित्सा सूत्र	१२९
कर्णमूल शोथ	१३१
रक्तमोक्षण का प्रयोग	१३१
घृतपान का प्रयोग	१३१
जीर्ण ज्वर की चिकित्सा	१३२
तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर का चिकित्सा सूत्र	१३२
विषम ज्वर में उपयोगी द्रव्य	१३३
विषम ज्वर में अञ्जन का प्रयोग	१३३
विषमज्वर में धूप का प्रयोग	१३३
विषम ज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा	१३४
दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग	१३४
धातुगत ज्वरों की चिकित्सा	१३५
आगन्तुज कारणों से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा	१३५
ज्वरवेग काल के विस्मरण	१३६
सन्निपात ज्वर प्रमोक्ष के लक्षण	१३६
प्रशान्त ज्वर के लक्षण	१३७
ज्वर एवं ज्वर मुक्ति के बाद अपथ्य	१३७
पुनरावर्तक ज्वर एवं उसकी चिकित्सा	१३८
ज्वर चिकित्सा में विशेष सावधानी का हेतु	१३८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१३९
४. चतुर्थोऽध्यायः	**१४०-१५७**
(रक्तपित्त चिकित्सा)	
रक्तपित्त का महागदत्व	१४०
रक्तपित्त की संप्राप्ति	१४०
रक्तपित्त संज्ञा का हेतु	१४१
रक्तपित्त का स्थान	१४१
दोषानुसार रक्तपित्त के लक्षण	१४१
दोषानुसार रक्तपित्त की साध्यताऽसाध्यता	१४२
गति अथवा मार्ग भेद से रक्तपित्त की साध्यताऽसाध्यता	१४३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
साध्यरक्तपित्त के लक्षण	१४४
रक्तपित्त के विशेष निदान	१४४
रक्तपित्त का सामान्य चिकित्सा सूत्र	१४५
दूषित रक्त के स्तम्भन से होने वाली व्याधियाँ	१४५
रक्तपित्त में लङ्घन का प्रयोग	१४५
रक्तपित्त जन्य पिपासा में कर्तव्य	१४६
तर्पण एवं पेया का प्रयोग	१४६
रक्तपित्त में उपयोगी अन्न	१४६
सूप एवं यूष का प्रयोग	१४६
रक्तपित्त में उपयोगी शाक	१४७
रक्तपित्त में मांसरस	१४७
रक्तपित्त में उपयोगी यवागू	१४७
व्याधि की अवस्था विशेष के अनुसार आहार	१४८
रक्तपित्त में संशोधन चिकित्सा	१४९
विरेचनार्थ उपयोगी द्रव्य	१४९
वमनार्थ उपयोगी द्रव्य	१४९
रक्तपित्त में शमन चिकित्सा का प्रयोग	१५०
संशोधन चिकित्सा का निषेध	१५०
मूत्रमार्गाश्रित रक्तपित्त में कर्तव्य	१५३
मलमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में कर्तव्य	१५३
रक्तपित्त में वासाघृत का प्रयोग	१५३
रक्तपित्त में उपयोगी अन्य घृत	१५४
रक्तपित्त में अभ्यङ्ग योग	१५४
कफानुबन्ध जन्य रक्तपित्त में क्षार का प्रयोग	१५४
शतावर्यादि घृत	१५५
नासिका द्वारा निकलने वाले रक्तपित्त की चिकित्सा	१५५
दूषित रक्त के स्तम्भन से होने वाली व्याधियाँ	१५५
रक्तपित्त में उपयोगी अन्य द्रव्य	१५६
रक्तपित्त में विहार	१५७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१५७
५. पञ्चमोऽध्यायः	**१५८-१८२**
(गुल्म चिकित्सा)	
विषयारम्भ	१५८
गुल्म के हेतु	१५८
गुल्म रोग की संप्राप्ति	१५९
गुल्म के स्थान	१५९
वात गुल्म के हेतु	१६०
वात गुल्म के लक्षण	१६०
पित्त गुल्म के हेतु	१६०
पित्त गुल्म के लक्षण	१६१
कफ एवं सन्निपातज (निचय) गुल्म के हेतु	१६१

विषय	पृष्ठ
कफज गुल्म के लक्षण	१६१
द्विदोषज गुल्म के हेतु एवं लक्षण	१६१
सन्निपातज गुल्म के लक्षण	१६२
रक्तगुल्म के हेतु	१६२
रक्तगुल्म के लक्षण	१६२
गुल्म रोग का चिकित्सा सूत्र	१६३
वातज गुल्म की चिकित्सा	१६३
अवस्था विशेष के अनुसार वातिक गुल्म में कर्तव्य	१६३
वात की चिकित्सा करते हुए वृद्ध कफ, पित्त व रक्त की चिकित्सा	१६३
वात गुल्म में संशोधन का प्रयोग	१६४
गुल्म में रक्तमोक्षण का प्रयोग	१६४
पित्तगुल्म का चिकित्सा सूत्र	१६४
पित्तगुल्म में रक्तमोक्षण का प्रयोग	१६५
रक्तस्राव के बाद कर्तव्य	१६५
गुल्म में शस्त्रकर्म	१६५
अपक्व गुल्म के लक्षण	१६५
पच्यमान (विदह्यमान) गुल्म के लक्षण	१६५
पक्व गुल्म के लक्षण	१६६
आभ्यन्तर पक्व गुल्म की चिकित्सा	१६७
कफज गुल्म का उपक्रम	१६७
कफज गुल्म में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग	१६७
वमन के योग्य रोगी	१६७
कफगुल्म में क्षार का प्रयोग	१६८
क्षार के गुण	१६८
कफज गुल्म में अरिष्ट की उपयोगिता	१६८
कफज गुल्म में दाह (अग्नि) कर्म का प्रयोग	१६९
सन्निपातज गुल्म की चिकित्सा	१६९
गुल्म नाशक योगों का विवेचन	१६९
त्र्यूषणादि घृत	१६९
त्र्यूषणादि घृत (द्वितीय)	१६९
हिङ्गुसौवर्चलाद्य घृत	१७०
हपुषाद्य घृत	१७०
पिप्पल्याद्य घृत	१७०
गुल्म व्याधि में अनुपान का प्रयोग	१७१
हिंग्वादि चूर्ण एवं हिंग्वादि गुटिका	१७१
वात गुल्म की वेदना में चिकित्सा	१७२
शट्यादि चूर्ण	१७२
नागरादि योग	१७२
तैल पञ्चक का प्रयोग	१७३
शिलाजीत का प्रयोग	१७३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
नीलिन्याद्य घृत	१७४
मांसरस का प्रयोग	१७४
अग्नि एवं गुल्म में सम्बन्ध	१७५
पित्त गुल्म का उपक्रम	१७५
रोहिण्याद्य घृत	१७५
त्रायमाणाद्य घृत	१७५
आमलकाद्य घृत	१७६
द्राक्षाद्य घृत	१७६
वासा घृत	१७६
पित्तगुल्म में त्रायमाणा का प्रयोग	१७७
अन्य विरेचक योग	१७७
पित्त गुल्म में अभ्यङ्ग	१७७
पित्त गुल्म में बस्ति का प्रयोग	१७७
पित्त गुल्म में उपयोगी अन्न-पान	१७७
अग्नि का महत्त्व	१७७
कफज गुल्म में शल्य कर्म	१७८
गुल्म में स्वेदन	१७८
दशमूली घृत	१७८
भल्लातकाद्य घृत	१७८
क्षीरषट्पलक घृत	१७८
मिश्रक स्नेह	१७९
गुल्म में विरेचन चिकित्सा	१७९
दन्ती हरीतकी	१७९
गुल्म रोग में हितकर आहार	१८०
कफ गुल्म में हितकर पेय पदार्थ	१८०
गुल्म की असाध्यता एवं उपद्रव	१८१
रक्तगुल्म की चिकित्सा	१८१
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१८२
६. षष्ठोऽध्यायः	**१८३-१९५**
(प्रमेह चिकित्सा)	
विषयारम्भ	१८३
प्रमेह रोग के सामान्य निदान	१८३
प्रमेह की संप्राप्ति	१८३
साध्यताऽसाध्यता	१८४
प्रमेह में दोष एवं दूष्य	१८५
दस प्रकार के कफज प्रमेहों के लक्षण	१८५
पित्तज प्रमेह के लक्षण	१८५
वातज प्रमेह के लक्षण	१८६
मूत्र के वर्णादि का दोषों से सम्बन्ध	१८६
प्रमेह के पूर्वरूप	१८७
प्रमेह रोग का चिकित्सा सूत्र	१८७
संशमन चिकित्सा का प्रयोग	१८७
प्रमेह में मांसरस का प्रयोग	१८८
कफ प्रमेह में उपयोगी आहार	१८८
मेहनाशक संतर्पण योग	१८८
प्रमेह नाशक सामान्य योग	१८९
कफ प्रमेह में उपयोगी क्वाथ	१८९
पित्त प्रमेह में उपयोगी क्वाथ	१८९
कफपित्त नाशक योग	१९०
वातज प्रमेह में स्नेह की उपयोगिता	१९०
त्रिकण्टकाद्य तैल एवं घृत	१९०
प्रमेह नाशक फलत्रिकादि क्वाथ	१९०
मध्वासव	१९१
दन्त्यासव एवं भल्लातकासव	१९१
प्रमेह में पेयों का प्रयोग	१९१
व्यायामादि का प्रमेह में महत्त्व	१९२
कफपित्तज प्रमेह में अपतर्पण का प्रयोग	१९२
प्रमेह में निदान परिवर्जन का निर्देश	१९३
प्रमेह एवं रक्तपित्त में विभेद	१९३
प्रमेह के वैशिष्ट्य का निश्चय	१९३
प्रमेह की साध्यताऽसाध्यता	१९३
असाध्य प्रमेहों के अन्य प्रकार	१९४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१९५
७. सप्तमोऽध्यायः	**१९६-२१९**
(कुष्ठचिकित्सा)	
विषयारम्भ	१९६
कुष्ठ के निदान	१९६
कुष्ठ में दोष एवं दूष्य	१९७
कुष्ठ के पूर्वरूप	१९७
अठ्ठारह प्रकार के कुष्ठों का विवेचन	१९८
कापाल कुष्ठ के लक्षण	१९८
औदुम्बर कुष्ठ के लक्षण	१९८
मण्डल कुष्ठ के लक्षण	१९८
ऋष्यजिह्व कुष्ठ के लक्षण	१९८
पुण्डरीक कुष्ठ के लक्षण	१९८
सिध्म कुष्ठ के लक्षण	१९८
काकणक कुष्ठ के लक्षण	१९८
११ प्रकार के क्षुद्र कुष्ठों के लक्षण	१९९
कुष्ठ का दोषों से सम्बन्ध	१९९
कुष्ठ रोग का सामान्य चिकित्सा सूत्र	२००
व्याधि एवं दोषों का सम्बन्ध	२००
कुष्ठगत दोष के लक्षण	२०१

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
कुष्ठ की साध्यताऽसाध्यता	२०१
कुष्ठ की चिकित्सा	२०१
संशोधनार्थ उपयोगी द्रव्य	२०२
कुष्ठ में आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग	२०२
कुष्ठ में नस्य का प्रयोग	२०२
कुष्ठ में रक्तमोक्षण का प्रयोग	२०३
क्षार प्रयोग	२०३
अगद प्रयोग	२०३
पैत्तिक कुष्ठ की चिकित्सा	२०४
कुष्ठघ्न तीन योग	२०४
पटोलादि क्वाथ का प्रयोग	२०४
मुस्तादि चूर्ण	२०५
त्रिफलादि चूर्ण	२०५
कुष्ठनाशक योग	२०६
मध्वासव का प्रयोग	२०६
कनकबिन्द्वरिष्ट	२०६
कुष्ठ में सेवनीय आहार	२०७
त्याज्य आहार	२०७
कुष्ठ में उपयोगी लेप	२०७
सिद्धार्थक स्नान	२०८
कुष्ठघ्न छः कषाय योग	२०९
श्वेतकरवीराद्य तैल	२१०
श्वेतकरवीरपल्लवाद्य तैल	२१०
तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैल	२१०
कनकक्षीरी तैल	२१०
सिध्मनाशक लेप	२११
कुष्ठघ्न हितकर तैल	२११
विपादिकाहर घृत-तैल	२१२
मण्डल कुष्ठ नाशक लेप	२१२
कुष्ठघ्न उबटन	२१२
कुष्ठनाशक स्नानोपयोगी द्रव्य	२१२
पित्तकुष्ठ नाशक सिद्ध प्रलेप	२१२
तिक्तषट्पलक घृत	२१४
महातिक्तक घृत	२१४
महाखदिर घृत	२१५
गलित कुष्ठ में कर्तव्य	२१६
विडङ्ग एवं खदिर का प्रयोग	२१६
कुष्ठघ्न अन्य लेप	२१६
श्वित्र कुष्ठ की चिकित्सा	२१६
श्वित्र में मलपू रस का प्रयोग	२१६
श्वित्र में लेप	२१७
श्वित्रनाशक अन्य लेप	२१७
किलास के तीन भेद	२१८
साध्य श्वित्र के लक्षण	२१८
किलास के हेतु	२१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२१८
८. अष्टमोऽध्यायः	**२२०-२४२**
(राजयक्ष्मा चिकित्सा)	
राजयक्ष्मा विषयक पौराणिक कथा	२२०
राजयक्ष्मा के पर्याय	२२०
यक्ष्मा के ४ कारण	२२१
अयथाबलमारम्भ (साहस) जन्य राजयक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	२२१
वेग संधारण जन्य यक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	२२२
धातुक्षयजन्य यक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	२२२
विषमाशन जन्य राजयक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	२२३
राजयक्ष्मा के पूर्वरूप	२२४
राजयक्ष्मा के रूप	२२५
राजयक्ष्मा संज्ञा	२२५
यक्ष्मा के एकादश रूप	२२५
प्रतिश्याय	२२६
कास के लक्षण	२२७
राजयक्ष्मा के लक्षण	२२७
स्वरभेद	२२७
यक्ष्मा में रक्तष्ठीवन का हेतु	२२८
यक्ष्मा में रक्त वमन	२२८
यक्ष्मा में श्वास	२२८
अतिसार की उत्पत्ति	२२८
यक्ष्मा रोगी में अरुचि के हेतु	२२८
यक्ष्मा में छर्दि का कारण	२२९
यक्ष्मा रोग की सामान्य चिकित्सा	२२९
यक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले पीनस (प्रतिश्याय) आदि की चिकित्सा	२२९
यक्ष्मा में स्वेदन	२३०
शूलनाशक लेप	२३१
शूलनाशक चार लेप	२३१
रक्तमोक्षण का प्रयोग	२३१
राजयक्ष्मा जन्य दाह में अभ्यङ्ग एवं परिषेक का प्रयोग	२३१
यक्ष्मा रोग में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग	२३१
अवलेह एवं घृतों का प्रयोग	२३२
पञ्चपञ्चमूल घृत	२३२
यक्ष्मानाशक ४ अवलेह	२३३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
सितोपलादि चूर्ण	२३३
दाह की चिकित्सा	२३४
दुरालभादि घृत	२३४
जीवन्त्यादि घृत	२३४
बलादि क्षीरपाक	२३५
यक्ष्मा में होने वाले कफप्रसेक की चिकित्सा	२३५
राजयक्ष्मा में अतिसार की संप्राप्ति	२३६
यक्ष्मा में अतिसार नाशक खडयूष	२३६
अन्य अतिसार नाशक योग	२३६
अतिसार में उपयोगी अन्न-पान	२३६
रोचन एवं मुखशोधक योग	२३७
यवानीषाडवचूर्ण	२३७
तालीशाद्य चूर्ण एवं गुटिका	२३८
यक्ष्मा में मांस का प्रयोग	२३९
मांस का उपशयात्मक प्रयोग	२३९
राजयक्ष्मा में छिपाकर मांस का प्रयोग करना	२३९
मद्य का प्रयोग	२४०
मद्य के गुण	२४०
यक्ष्मा में उपयोगी सिद्ध घृत	२४०
यक्ष्मा में अवगाहन का प्रयोग	२४१
उत्सादन हेतु प्रयुक्त औषधियाँ	२४१
राजयक्ष्मा में उपयोगी आहार-विहार	२४२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२४२
९. नवमोऽध्यायः	**२४३-२६३**
(उन्माद चिकित्सा)	
विषयारम्भ	२४३
उन्माद के हेतु	२४३
उन्माद की संप्राप्ति	२४४
उन्माद के सामान्य लक्षण	२४४
वातिक उन्माद के हेतु एवं संप्राप्ति	२४५
वातिक उन्माद के लक्षण	२४५
पित्तज उन्माद के हेतु एवं लक्षण	२४५
कफज उन्माद के हेतु एवं लक्षण	२४६
सन्निपातज उन्माद के लक्षण	२४६
आगन्तुक उन्माद के हेतु	२४७
आगन्तुज उन्माद के सामान्य लक्षण	२४७
देवादि ग्रहों का पुरुष शरीर में प्रवेश	२४७
देवादि ग्रहों के आवेश का समय	२४८
देवग्रह से पीड़ित पुरुष के लक्षण	२४८
शाप द्वारा उन्मत्त पुरुष के लक्षण	२४८
पितृग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण	२४८

विषय	पृष्ठ
गन्धर्वोन्मत्त पुरुष के लक्षण	२४८
यक्ष ग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण	२४९
राक्षस ग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण	२४९
ब्रह्मराक्षस ग्रह से पीड़ित पुरुष के लक्षण	२४९
पिशाच ग्रह से पीड़ित व्यक्ति के लक्षण	२४९
देवादि ग्रहों के आवेश का काल, तिथि एवं योग्य पुरुष	२५१
भूतज उन्माद की असाध्यता	२५२
उन्माद रोग की चिकित्सा	२५३
उद्वेग जनक कार्य	२५३
हिंग्वादि घृत	२५५
कल्याणक घृत	२५५
महाकल्याणक घृत	२५७
महापैशाचिक घृत	२५७
लशुनाद्य घृत	२५८
अपर लशुनाद्य घृत	२५८
उन्माद में उपयोगी अन्य सिद्ध घृत	२५९
उन्माद में नस्य एवं अञ्जन का प्रयोग	२६०
उन्माद में सिद्धार्थकादि अगद का प्रयोग	२६०
धूमपान का प्रयोग	२६०
वातकफज उन्माद में चिकित्सा क्रम	२६०
पैत्तिक उन्माद चिकित्सा	२६१
उन्माद में रक्तमोक्षण का प्रयोग	२६१
उन्माद रोगी में प्रयुक्त आहार	२६१
उन्माद में आश्वासनादि का प्रयोग	२६१
भूतज उन्माद में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग	३६३
किसे उन्माद नहीं होता ?	२६३
उन्माद से मुक्त पुरुष के लक्षण	२६३
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२६३
१०. दशमोऽध्यायः	**२६४-२७३**
(अपस्मार चिकित्सा)	
अपस्मार की परिभाषा	२६४
अपस्मार के हेतु	२६४
अपस्मार की संप्राप्ति एवं लक्षण	२६५
अपस्मार के भेद एवं उनके लक्षण	२६५
अपस्मार के वेग का काल	२६५
चिकित्सा क्रम	२६६
अपस्मार में संशमन चिकित्सा का प्रयोग	२६६
महापञ्चगव्य घृत	२६७
ब्राह्मी घृत	२६७
वचादि घृत	२६७
अपस्मार नाशक यमक	२६८

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
अपस्मार नाशक अन्य घृत	२६८
आमलकादि घृत	२६८
अभ्यंगार्थ तैल का प्रयोग	२६८
कटभ्यादि तैल का प्रयोग	२६८
पलङ्कषादि तैल	२६९
अपस्मार नाशक धूपन एवं प्रदेह	२६९
अन्य उत्सादनों का प्रयोग	२७०
अपस्मार में नस्य का प्रयोग	२७०
अपस्मार में त्रिफलादि तैल का प्रयोग	२७०
प्रधमन नस्य	२७०
अपस्मार में अञ्जन का प्रयोग	२७१
अपस्मार में धूपन एवं अञ्जन का प्रयोग	२७१
आगन्तुक अपस्मार की चिकित्सा	२७१
अतत्त्वाभिनिवेश	२७२
अग्निवेश के प्रश्न	२७२
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर	२७२
अतत्त्वाभिनिवेश की चिकित्सा	२७२
अतत्त्वाभिनिवेश नाशक विविध योग	२७३
अध्यायोक्त विषयों का अपसंहार	२७३
११. एकादशोऽध्यायः	**२७४-२८६**
(क्षतक्षीणचिकित्सा)	
उरःक्षत के हेतु	२७४
क्षतक्षीण के लक्षण	२७५
पूर्वरूप	२७५
क्षतक्षीण की साध्यताऽसाध्यता	२७६
क्षतक्षीण की चिकित्सा	२७६
एलादि गुटिका	२७७
रक्तातिप्रवृत्ति की चिकित्सा	२७७
अमृतप्राश घृत	२७९
श्वदंष्ट्रादि घृत	२८०
समसक्तु घृत	२८०
सर्पिर्गुड (प्रथम)	२८१
द्वितीय सर्पिर्गुड	२८२
तृतीय सर्पिर्गुड	२८३
चतुर्थ सर्पिर्गुड	२८३
पञ्चम सर्पिर्मोदक	२८४
अन्य वृष्य योग	२८४
सैन्धवादि चूर्ण	२८५
षाडव	२८५
नागबला कल्प	२८६
क्षत क्षीण में पथ्य	२८६
क्षत क्षीण की चिकित्सा में शीघ्रता	२८६
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	२८६
१२. द्वादशोऽध्यायः	**२८७-३०८**
[श्वयथु (शोथ) चिकित्सा]	
श्वयथु सम्बन्धी अग्निवेश के प्रश्न एवं भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर	२८७
निज शोथ के हेतु	२८७
आगन्तुक शोथ के हेतु	२८८
निज शोथ के भेद	२८८
शोथ की संप्राप्ति	२८९
शोथों की विशिष्ट संप्राप्ति	२८९
शोथ के पूर्वरूप	२८९
शोथ के सामान्य लक्षण	२९०
वातज शोथ के लक्षण	२९०
पित्तज शोथ के लक्षण	२९०
कफज शोथ के लक्षण	२९१
श्वयथु (शोथ) की असाध्यता	२९१
श्वयथु (शोथ) की साध्यता	२९२
सामान्य चिकित्सा सूत्र	२९२
शोथ में अपथ्य	२९३
कफज शोथ की चिकित्सा	२९३
वातज श्वयथु (शोथ) की चिकित्सा	२९४
गण्डीराद्यरिष्ट	२९५
अष्टशतोऽरिष्ट	२९६
पुनर्नवाद्यरिष्ट	२९६
त्रिफलाद्यरिष्ट	२९७
क्षारगुडिका	२९७
गुडार्द्रक योग	२९८
शिलाजतु का प्रयोग	२९८
कंस हरीतकी	२९८
पटोलमूलादि क्वाथ	२९९
चित्रकादि घृत	२९९
चित्रकादि घृत (द्वितीय)	३००
चित्रक घृत	३००
जीवन्त्यादि यवागू	३००
शोथ रोग में पथ्य	३००
शोथ नाशक तैल एवं प्रदेहों का प्रयोग	३०१
पित्तज शोथ में बाह्य उपक्रम	३०१
कफज शोथ में बाह्य उपक्रम	३०१
सभी प्रकार के शोथों में उपयोगी लेप	३०२
स्थान आदि भेद से शोथ के भेद	३०२

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
शिरःशोथ (Cellulitis of the head)	३०२
कण्ठशालूक (Peritonsillar abscess)	३०२
विडालिका (Ludwig's an gina)	३०२
तालुविद्रधि (Palatal abscess)	३०३
उपजिह्विका (Acute superficial glossitis)	३०३
अधिजिह्विका (Sub lingual Abscess)	३०३
उपकुश (Gingivitis)	३०३
दन्तविद्रधि (Dental Abscess)	३०३
गलगण्ड एवं गण्डमाला (Goitre and Adenitis)	३०३
ग्रंथि (Cyst)	३०३
ग्रंथि एवं अर्बुद में तुल्यता	३०४
चर्म नखान्तर शोथ	३०५
विदारिका	३०५
विस्फोटक	३०५
कक्षा	३०५
पित्तजपिडिका	३०५
रोमान्तिका	३०५
मसूरिका	३०५
ब्रघ्न (Hernia)	३०६
मूत्रवृद्धि	३०६
मेदोज वृद्धि	३०६
भगन्दर	३०६
भगन्दर की चिकित्सा	३०६
श्लीपद	३०७
जालक गर्दभ	३०७
जालक गर्दभ की चिकित्सा	३०७
शोथ के अन्य प्रकारों की चिकित्सा	३०७
आगन्तुक शोथ	३०८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३०८
१३. त्रयोदशोऽध्यायः	३०९-३३९
(उदर चिकित्सा)	
विषयारम्भ	३०९
उदररोग की सामान्य संप्राप्ति	३०९
उदररोग के हेतु	३१०
उदररोग के पूर्वरूप	३११
उदररोग की संप्राप्ति	३११
उदररोग के सामान्य लक्षण	३११
उदररोग के भेद	३१२
वातोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१२
लक्षण	३१२
पित्तोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१३

विषय	पृष्ठ
पित्तोदर के लक्षण	३१३
कफोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१४
कफोदर के लक्षण	३१४
सन्निपातोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१४
प्लीहोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१५
लक्षण	३१५
बद्धगुदोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१६
लक्षण	३१६
छिद्रोदर का निदान एवं संप्राप्ति	३१७
लक्षण	३१७
जलोदर के हेतु एवं संप्राप्ति	३१८
लक्षण	३१८
उदररोग की साध्यताऽसाध्यता	३१८
जलोदर के उपद्रव	३१९
उदररोग की कृच्छ्रसाध्यता	३२०
उदररोग की असाध्यता	३२०
अजाताम्बु (अजातोदक) के लक्षण	३२०
उदररोगों की चिकित्सा	३२१
वातोदर की चिकित्सा	३२१
पित्तोदर की चिकित्सा	३२२
कफोदर की चिकित्सा	३२३
सन्निपातोदर की चिकित्सा	३२३
प्लीहोदर एवं यकृदाल्युदर की चिकित्सा	३२४
पिप्पल्यादि चूर्ण	३२४
विडङ्गादि क्षार	३२४
रोहीतकादि योग	३२४
रोहीतक घृत	३२४
अग्निकर्म	३२५
बद्धोदर की चिकित्सा	३२६
छिद्रोदर की चिकित्सा	३२६
उदकोदर की चिकित्सा	३२६
उदररोग त्रिदोषज होते हैं	३२७
सेव्य आहार	३२७
असेव्य आहार-विहार	३२७
उदररोग में तक्र का प्रयोग	३२७
उदररोग में दुग्ध का प्रयोग	३२८
उदररोग नाशक लेप	३२८
परिषेक	३२८
सिद्ध घृतों का प्रयोग	३२८
पञ्चकोल घृत	३२९
नागरादि घृत	३२९

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
चित्रकघृत	३२९
यवादिघृत	३२९
उदररोग में विरेचन का प्रयोग	३२९
पटोलादिचूर्ण	३२९
गवाक्ष्यादि चूर्ण	३३०
नारायण चूर्ण	३३०
हपुषाद्य चूर्ण	३३१
नीलिन्यादि चूर्ण	३३१
स्नुही क्षीर घृत	३३२
अन्य योग	३३२
अवशिष्ट दोषनाशक योग	३३२
उदररोग में उपयोगी क्षीर	३३४
पिप्पल्यादि लवण	३३४
क्षार वटिका	३३४
उदररोग विनाशक यवागू	३३५
मलबद्धता की अवस्था में कर्तव्य	३३५
आवरण की अवस्था में एरण्ड तैल का प्रयोग	३३५
निरूहबस्ति का प्रयोग	३३६
दूष्योदर (सन्निपातोदर) में सर्पविष का प्रयोग	३३६
शल्यकर्म का प्रयोग	३३७
जलोदर में शल्यकर्म	३३८
उदररोग में क्षीर का महत्त्व	३३८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३३९
१४. चतुर्दशोऽध्यायः	३४०-३७५
(अर्श चिकित्सा)	
विषयारम्भ	३४०
अर्श के भेद	३४०
सहज अर्श	३४०
अर्श का अधिष्ठान	३४१
सहज अर्शों की आकृति	३४२
सहज अर्श के लक्षण	३४२
जातोत्तर अर्श का विवेचन	३४४
जातोत्तर अर्श के हेतु एवं संप्राप्ति	३४४
अर्शों के विभिन्न प्रकार	३४५
वातज अर्श के लक्षण	३४५
वातिक अर्श के हेतु	३४६
पैत्तिक अर्श के लक्षण	३४७
पैत्तिक अर्श के हेतु	३४७
कफज अर्श के लक्षण	३४८
कफज अर्श के हेतु	३४८
द्वन्द्वज व सन्निपातज अर्श के हेतु एवं लक्षण	३४८
अर्श के पूर्वरूप	३४९
सभी प्रकार के अर्श त्रिदोषज होते हैं-	३४९
अर्श की कृच्छ्रसाध्यता	३४९
साध्यताऽसाध्यता	३४९
अर्श की चिकित्सा सम्बन्धी विभिन्न विचार	३५०
अर्श के प्रकार	३५०
शुष्क अर्श	३५१
आर्द्र अर्श	३५१
शुष्क अर्श की चिकित्सा	३५२
अर्श में स्वेदन क्रिया	३५२
अर्श में अवसेचन योग	३५२
अवगाहन योग	३५२
अर्श में धूपन का प्रयोग	३५२
अर्श में लेप	३५२
त्र्यूषणादि चूर्ण	३५२
तक्रारिष्ट	३५४
अर्श नाशक तक्र एवं दधि	३५५
तक्र का महत्त्व	३५६
तक्र के विविध प्रयोग	३५६
तक्र कल्प से लाभ	३५६
शुष्कार्श में पेया का प्रयोग	३५६
यवागू का प्रयोग	३५७
यूष का प्रयोग	३५७
शुष्कार्श में पथ्य आहार	३५७
विबन्ध नाशक योग	३५७
पिप्पल्यादि घृत	३५८
चव्य घृत	३५९
हरीतकी का प्रयोग	३५९
मांसरस का प्रयोग	३६०
शाक का प्रयोग	३६०
शुष्कार्श में उपयोगी अनुपान	३६०
शुष्कार्श में उपयोगी अनुवासनवस्ति	३६१
अर्श में उपयोगी लेप	३६१
पिप्पल्यादि अनुवासन तैल	३६२
शुष्कार्श में निरूहबस्ति का प्रयोग	३६२
अभयारिष्ट	३६२
दन्त्यरिष्ट	३६३
फलारिष्ट	३६३
फलारिष्ट (द्वितीय)	३६३
कनकारिष्ट	३६४
शुष्कार्श में गुद प्रक्षालन	३६४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
आर्द्र अर्श की चिकित्सा	३६५
वातानुबन्ध अर्श के लक्षण	३६६
कफानुबन्धी रक्तार्श के लक्षण	३६६
रक्तार्श की चिकित्सा	३६६
रक्तार्श में तत्काल रक्तस्राव रोकने से होने वाले उपद्रव	३६६
स्रावी अर्श में स्नेह का प्रयोग	३६६
रक्तस्राव को रोकने का समय	३६७
रक्तस्तंभन योग	३६७
कुटजादि रसक्रिया	३६७
रक्तार्श में उपयोगी विविध योग	३६८
रक्तार्श में सिद्ध घृतों का प्रयोग	३६८
कुटजफलादि घृत	३६८
रक्तार्श में उपयोगी दधिसर निर्मित योग	३६९
तक्र निर्मित योग	३६९
रक्तार्श में उपयोगी अन्न	३६९
रक्तार्श में उपयोगी मांस	३६९
रक्तस्राव नाशक एकल योग	३७०
अर्श में वात की उल्बणता	३७१
रक्तार्श में परिषेचन	३७१
रक्तार्श में अवगाहन	३७१
रक्तार्श में जलधारा का प्रयोग	३७१
रक्तार्श में बाह्य प्रयोग	३७१
रक्तार्श में विशेष व्यवस्था	३७१
रक्तार्श में पिच्छा बस्ति का प्रयोग	३७२
पिच्छाबस्ति तैयार करने की विधि	३७२
ह्रीवेरादिघृत	३७२
सुनिषण्णकचाङ्गेरी घृत	३७३
तीन विकारों का परस्पर सम्बन्ध	३७४
अर्श में पथ्यापथ्य	३७५
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	३७५
१५. पञ्चदशोऽध्यायः	**३७६-४२१**
(ग्रहणी दोष चिकित्सा)	
अग्नि के कार्य	३७६
जाठराग्नि का महत्व	३७७
आहारपाक की प्रक्रिया	३७७
अणुपाक का क्रम	३७८
इष्ट अन्न सेवन से लाभ	३८०
भूताग्नि के कार्य	३८०
अग्नि द्वारा पक्व आहार के गुण	३८१
धात्वाग्निपाक की प्रक्रिया	३८२
रसादि धातुओं के निर्माण का क्रम	३८३

विषय	पृष्ठ
क्षीरदधि न्याय	३८४
केदारीकुल्या न्याय	३८४
खले कपोत न्याय	३८४
उपधातुओं का पोषण	३८४
मल भाग के उत्पाद	३८५
अग्निवेश के प्रश्न	३८७
आत्रेय के उत्तर	३८७
रस का परिभ्रमण	३८७
पाचकाग्नि का महत्त्व	३८९
अजीर्ण के हेतु एवं संप्राप्ति	३९०
अजीर्ण के सामान्य लक्षण	३९१
विषमाग्नि एवं तीक्ष्णाग्नि के कार्य	३९२
समाग्नि के कार्य	३९२
मन्दाग्नि के कार्य	३९२
ग्रहणीगद का स्वरूप	३९२
ग्रहणीगद (रोग) के लक्षण	३९२
ग्रहणी गद (रोग) के पूर्वरूप	३९३
ग्रहणी के प्राकृत कर्म	३९३
ग्रहणी रोग के भेद	३९४
वातज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण	३९५
पित्तज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण	३९५
कफज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण	३९५
विकृत अग्नि ही ग्रहणी रोग का कारण है	३९५
सन्निपातज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण	३९६
ग्रहणी गद (रोग) की चिकित्सा	३९७
आम ग्रहणी रोग के लक्षण एवं चिकित्सा	३९७
वातज ग्रहणी की चिकित्सा	३९७
घृत का प्रयोग	३९७
निरूह बस्ति का प्रयोग	३९७
विरेचन का प्रयोग	३९७
अनुवासन बस्ति का प्रयोग	३९७
दशमूलाद्य घृत	३९९
त्र्यूषणाद्य घृत	३९९
पञ्चमूलाद्य घृत एवं चूर्ण	४००
साम एवं निराम (पक्व) पुरीष के लक्षण	४०१
चित्रकाद्य गुटिका	४०१
आम पाचन योग	४०२
मरिचाद्य चूर्ण	४०३
अम्ल द्रव्यों का प्रयोग	४०३
ग्रहणी नाशक यवागू	४०४
तक्र के गुण	४०४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
तक्रारिष्ट	४०४
पित्तज ग्रहणी की चिकित्सा	४०५
चन्दनाद्य घृत	४०५
नागराद्य चूर्ण	४०६
भूनिम्बाद्य-चूर्ण	४०६
वचाद्यादि चूर्ण	४०७
कफज ग्रहणी की चिकित्सा	४०८
कफज ग्रहणी में पेय पदार्थ	४०८
अन्न का प्रयोग	४०८
मधूकासव (प्रथम)	४०८
मधूकासव (द्वितीय)	४०९
दुरालभासव	४०९
मूलासव	४०९
पिण्डासव	४१०
मध्वरिष्ट	४१०
पिप्पल्यादि चूर्ण	४१०
क्षारघृत	४११
अन्य योग (पिप्पली मूलाद्य क्षार)	४११
भल्लातक क्षार	४११
दुरालभाद्य क्षार	४११
भुनिम्बाद्य क्षार	४१२
क्षार गुडिका	४१२
चतुर्थ क्षार	४१२
पञ्चम क्षार	४१२
त्रिदोषज ग्रहणी में पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रयोग	४१३
उपसंहार (ग्रहणी रोग)	४१३
स्नेह की महत्ता	४१४
आमातिसार में दीपनीय घृत	४१४
मलबद्धता में घृत का प्रयोग	४१४
आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग	४१५
अग्नि एवं भोजन का सम्बन्ध	४१६
तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग)	४१७
चिकित्सा (अत्यग्नि-भस्मक रोग की चिकित्सा)	४१७
अत्यग्नि में सेवनीय आहार द्रव्य	४१७
तैलयुक्त फलों की प्रयोग	४१८
मोम एवं घृत का प्रयोग	४१८
अन्य योग	४१८
अत्यग्नि में विरेचन	४१८
सेवनीय आहार	४१८
समशन	४२०
विषमाशन	४२०

विषय	पृष्ठ
अध्यशन	४२०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४२१
१६. षोडशोऽध्यायः	**४२२-४४४**
(पाण्डुरोग चिकित्सा)	
पाण्डुरोग के भेद	४२२
पाण्डुरोग की सामान्य संप्राप्ति	४२२
पाण्डुरोग के हेतु एवं संप्राप्ति	४२४
पाण्डुरोग का पूर्वरूप	४२४
पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण	४२४
वातज पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण	४२५
पित्तज पाण्डु के हेतु एवं लक्षण	४२६
कफज पाण्डु के हेतु एवं लक्षण	४२६
त्रिदोषज पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण	४२७
मृद् भक्षण जन्य पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण	४२७
असाध्य पाण्डुरोग के लक्षण	४२८
कामला	४२९
लक्षण	४२९
कुम्भ कामला के असाध्य लक्षण	४२९
पाण्डुरोग की चिकित्सा	४३०
दाडिमाद्य घृत	४३१
कटुकाद्य घृत	४३१
पथ्या घृत	४३१
दन्ती घृत	४३१
द्राक्षा घृत	४३२
हरिद्रादि घृत	४३२
पाण्डु एवं कामला नाशक अन्य घृत	४३२
संशोधन चिकित्सा	४३३
विशालादि फाण्ट	४३३
नवायस चूर्ण	४३४
मण्डूर वटक (प्रथम)	४३५
मण्डूर वटक (द्वितीय)	४३५
अन्य योग-ताप्यादि योग	४३५
योगराज	४३६
शिलाजतु वटक	४३७
पुनर्नवा मण्डूर	४३७
दार्व्यादि लेह	४३७
धात्र्यवलेह	४३८
मण्डूर वटक	४३८
गौडोऽरिष्ट	४३९
बीजकारिष्ट	४३९
धात्र्यरिष्ट	४४०

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
पेय द्रव्य	४४०
पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा	४४०
मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की चिकित्सा	४४१
व्योषादि घृत	४४१
शाखाश्रित कामला के लक्षण एवं चिकित्सा	४४२
शाखाश्रित कामला में पथ्य	४४२
हलीमक का विवेचन	४४३
हलीमक रोग की चिकित्सा	४४४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४४४
१७. सप्तदशोऽध्यायः	**४४५-४६९**
(हिक्काश्वास चिकित्सा)	
अग्निवेश की शङ्का	४४५
भगवान् आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर	४४५
हिक्का व श्वास में तुल्यता	४४६
हिक्का व श्वास के भेद	४४६
हिक्का व श्वास के हेतु	४४६
हिक्का व श्वास की सामान्य संप्राप्ति	४४७
हिक्का व श्वास के पूर्वरूप	४४७
हिक्का रोग की विशिष्ट संप्राप्ति	४४८
हिक्का के भेद	४४८
महाहिक्का के लक्षण	४४८
गम्भीरा हिक्का	४४९
व्यपेता हिक्का के लक्षण	४४९
क्षुद्र हिक्का के लक्षण	४५०
अन्नजा हिक्का के लक्षण	४५१
साध्यताऽसाध्यता	४५१
श्वास रोग की संप्राप्ति	४५२
महाश्वास के लक्षण	४५३
ऊर्ध्व श्वास के लक्षण	४५३
छिन्न श्वास के लक्षण	४५४
तमक श्वास के लक्षण	४५४
प्रतमक एवं संतमक श्वास के लक्षण	४५६
क्षुद्र श्वास के लक्षण	४५६
साध्यताऽसाध्यता	४५७
हिक्का व श्वास की चिकित्सा	४५७
हिक्का व श्वास में शोधनोत्तर (वमनोत्तर) धूमपान का प्रयोग	४५८
उपद्रवों की चिकित्सा	४५९
स्वेदन के अयोग्य रोगी	४५९
मृदु स्वेद का प्रयोग	४५९
उत्कारिका	४५९

विषय	पृष्ठ
चिकित्सा की दृष्टि से हिक्का व श्वास के भेद	४६०
संशोधन के अयोग्य पुरुष	४६१
संशोधन एवं बृंहण के योग्य पुरुष	४६१
हिक्का व श्वास में उपयोगी यूष	४६२
हिक्का व श्वास नाशक यवागू	४६२
हिक्का व श्वास में प्रयुक्त पेय	४६३
हिंग्वादि चूर्ण	४६३
उत्कारिका का प्रयोग	४६४
सिद्ध घृत का प्रयोग	४६४
वातपित्तानुबन्धी श्वास में कर्तव्य	४६४
कफपित्तानुबन्धी श्वास में कर्तव्य	४६४
मधुकादि योग	४६४
कफ प्रधान हिक्का व श्वास में उपयोगी योग	४६४
हिक्का व श्वास नाशक अन्य योग	४६४
श्वास में संशोधन	४६४
शट्यादि चूर्ण	४६६
मुक्ताद्य चूर्ण	४६५
शट्यादि योग	४६६
हिक्का व श्वास नाशक नस्य	४६६
हिक्का नाशक योग	४६७
हिक्का वेग नाशक उपाय	४६७
निदान परिवर्जन	४६७
हिक्का श्वास में घृत का प्रयोग	४६७
दशमूलादि घृत	४६७
तेजोवत्यादि घृत	४६८
मनःशिलादि घृत	४६८
हिक्काश्वास रोग की सामान्य चिकित्सा	४६८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४६९
१८. अष्टादशोऽध्यायः	**४७०-४९६**
(कासचिकित्सा)	
विषयारम्भ	४७०
कास के भेद	४७०
कास से पूर्वरूप	४७०
कास रोग की संप्राप्ति	४७०
वेदना के वैशिष्ट्य का कारण	४७१
वातज कास के हेतु	४७१
वातज कास के लक्षण	४७१
पित्तज कास के हेतु	४७२
पित्तज कास के लक्षण	४७२
कफज कास के हेतु	४७३
कफज कास के लक्षण	४७३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
क्षतज कास के हेतु	४७३
क्षतज कास के लक्षण	४७३
क्षयज कास के हेतु	४७३
क्षयज कास के लक्षण	४७४
क्षयज कास की साध्यताऽसाध्यता	४७५
कास रोग की साध्यताऽसाध्यता	४७५
कास रोग की चिकित्सा	४७५
वातज कास की चिकित्सा	४७५
कण्टकारी घृत	४७६
पिप्पल्यादि घृत	४७६
त्र्यूषणाद्य घृत	४७७
रास्ना घृत	४७७
विडङ्गादिचूर्ण	४७८
वातज कास नाशक योग	४७८
दुरालभादि अवलेह	४७८
दुःस्पर्शादि अवलेह	४७८
विडङ्गादि लेह	४७८
चित्रकादि लेह	४७८
अगस्त्य हरीतकी	४७९
सैन्धवादि योग	४८०
वातज कास में धूमपान	४८०
धूमपान विधि	४८०
मनःशिलादि धूम	४८१
प्रपौण्डरीकादि धूमवर्ति	४८१
विविध धूमवर्तियाँ	४८१
वातजकास में पथ्य अन्न	४८२
पेया	४८२
वातज कास में हितकर शाक	४८२
पित्तजकास की चिकित्सा	४८३
पित्तज कास में वमन	४८३
पित्तज कास नाशक अवलेह	४८३
पित्तज कास में पथ्य	४८४
पित्तज कास में अनुपान	४८४
शरमूलादि क्षीरपाक	४८४
स्थिरादि क्षीरपाक	४८५
शर्करादि योग	४८५
घृत योग	४८६
कफज कास की चिकित्सा	४८६
पौष्करादि हिम	४८६
विविध प्रकार के कफज कास नाशक क्वाथ	४८६
कट्फलादि क्वाथ	४८६

विषय	पृष्ठ
पाठादि योग	४८७
नागरादि योग	४८७
विविध प्रकार के कफकासनाशक अवलेह	४८७
सौवर्चलादि चूर्ण	४८७
दशमूलादि घृत	४८८
कण्टकारी घृत	४८८
कुलत्थादि घृत	४८८
धूमपान का प्रयोग	४८८
क्षतज कास की चिकित्सा	४८९
पिप्पल्यादि लेह	४८९
क्षतज कास में पित्त नाशक चिकित्सा	४९०
धूमवर्ति का निर्माण	४९०
मनःशिलादि धूम	४९०
क्षयज कास की चिकित्सा	४९१
द्विपञ्चमूलादि घृत	४९२
गुडूच्यादि घृत	४९२
हरीतकी लेह	४९४
श्वास कास नाशक अन्य लेह	४९४
द्राक्षादि लेह	४९४
पद्मकादि लेह	४९४
जीवन्त्यादि लेह	४९४
धूमपान	४९५
क्षयज कास का सामान्य चिकित्सा सूत्र	४९६
कासनाशक विविध कल्पनायें	४९६
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	४९६
१९. एकोनविंशोऽध्यायः	**४९७-५२१**
(अतिसार चिकित्सा)	
विषयारम्भ	४९७
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा अग्निवेश के प्रश्नों का उत्तर	४९७
वातज अतीसार का निदान एवं संप्राप्ति	४९८
वातज अतीसार के लक्षण	४९८
वातज आमातीसार के लक्षण	४९८
वातज पक्वातीसार के लक्षण	४९८
पित्तज अतिसार का निदान एवं संप्राप्ति	४९९
पित्तज अतिसार के लक्षण	४९९
कफज अतिसार का निदान एवं संप्राप्ति	५००
कफज अतिसार के लक्षण	५००
त्रिदोषज अतिसार का निदान एवं संप्राप्ति	५०१
त्रिदोषज अतिसार (सन्निपातज अतिसार) के लक्षण	५०२
चिकित्सा सूत्र	५०३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
आगन्तुक अतिसार	५०४
अतिसार रोग की चिकित्सा	५०५
शोधन क्रम	५०५
आमातिसार में संग्राही औषधि का निषेध	५०५
मध्यम दोषों में प्रयुक्त प्रमथ्यायें	५०६
आमदोष पाचक जल	५०६
अतिसार में लघु अन्न का प्रयोग	५०६
तक्रादि का प्रयोग	५०६
अतिसार में उपयोगी द्रव्य	५०७
अतिसार में शाक का प्रयोग	५०७
खडयूष का प्रयोग	५०८
पुरीषक्षय में धान्ययूष का प्रयोग	५०८
गुदभ्रंश की चिकित्सा	५०९
चाङ्गेरी घृत	५०९
चव्यादि घृत	५०९
दशमूलादि अनुवासन बस्ति	५०९
भ्रष्ट गुद को यथास्थान स्थापित करना	५१०
विबन्ध की अवस्था में कर्तव्य	५१०
पित्तातिसार की चिकित्सा	५१०
पित्तातिसार में उपयोगी योग	५११
पित्तातिसार में मांसरस का उपयोग	५११
पित्तातिसार में अजा दुग्ध का प्रयोग	५१२
पिच्छा बस्ति तैयार करने की विधि	५१२
रक्तातिसार के हेतु	५१३
रक्तातिसार की चिकित्सा	५१३
नीलोत्पलादि योग	५१४
रक्तातिसार नाशक अन्य योग	५१४
दार्व्यादि घृत	५१४
रक्तस्तम्भन योग	५१५
पित्तज अतिसार में इन्द्रयव का प्रयोग	५१५
चन्दन चूर्ण का प्रयोग	५१५
गुद प्रक्षालनार्थ योग	५१५
प्रतिसारण योग	५१६
अतिरक्त स्राव की चिकित्सा	५१६
पिच्छा बस्ति का प्रयोग	५१६
अतिसार में बस्ति का प्रयोग	५१७
घृत प्रयोग	५१७
गुदपाक की असाध्यता	५१७
कफज अतिसार की चिकित्सा	५१८
कफज अतिसार नाशक योग	५१८
अजाज्यादि योग	५१८
रसाञ्जन चूर्ण	५१८
कफज अतिसार में उपयोगी अन्य योग	५१८
कपित्थादि चूर्ण	५१९
घृत का प्रयोग	५१९
पिच्छाबस्ति एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग	५१९
सन्निपातज अतिसार का चिकित्सा सूत्र	५२०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५२१
२०. विंशोऽध्यायः (छर्दि चिकित्सा)	५२२-५३२
अग्निवेश के छर्दि विषयक प्रश्न	५२२
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	५२२
छर्दि के प्रकार	५२२
छर्दि के पूर्वरूप	५२३
वातज छर्दि के हेतु एवं संप्राप्ति	५२३
वातज छर्दि के लक्षण	५२३
पित्तज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति	५२४
पित्तज छर्दि के लक्षण	५२४
कफज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति	५२४
कफज छर्दि के लक्षण	५२४
त्रिदोषज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति	५२५
त्रिदोषज छर्दि के लक्षण	५२५
त्रिदोषज (सन्निपातज) छर्दि के उपद्रव	५२५
द्विष्ट योगज छर्दि	५२५
छर्दि रोग की असाध्यता	५२६
छर्दि रोग की चिकित्सा	५२६
वातज छर्दि की चिकित्सा	५२७
पित्तज छर्दि की चिकित्सा	५२८
संशोधन	५२८
संशोधन के पश्चात् कर्तव्य	५२८
पित्तज छर्दि में पेय पदार्थ का प्रयोग	५२८
कफज छर्दि की चिकित्सा	५३०
मांसरस का प्रयोग	५३०
छर्दि नाशक योग	५३०
सन्निपातज छर्दि की चिकित्सा	५३०
द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि की चिकित्सा	५३१
उपद्रव की चिकित्सा	५३१
जीर्ण छर्दि की चिकित्सा	५३२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५३२
२१. एकविंशोऽध्यायः (विसर्प चिकित्सा)	५३३-५५९
अध्यायोक्त विषयों का प्रारम्भ	५३३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
अग्निवेश के विसर्प विषयक प्रश्न	५३३
पुनर्वसु आत्रेय द्वारा विसर्प विषयक शङ्का का समाधान	५३४
विसर्प की निरुक्ति	५३४
विसर्प के भेद	५३५
विसर्प में दोष व दूष्य	५३५
विसर्प रोग के सामान्य हेतु	५३५
स्थानानुसार विसर्प के भेद	५३६
साध्यता-असाध्यता	५३६
संप्राप्ति	५३७
आभ्यन्तर विसर्प के लक्षण	५३७
असाध्य विसर्प के लक्षण	५३७
वातज विसर्प का निदान व संप्राप्ति	५३८
वातज विसर्प के लक्षण	५३८
पित्तज विसर्प का निदान तथा संप्राप्ति	५३९
पित्तज विसर्प के लक्षण	५३९
कफज विसर्प का निदान एवं संप्राप्ति	५४०
कफज विसर्प के लक्षण	५४०
वात पित्तज विसर्प (अग्नि विसर्प) का निदान एवं संप्राप्ति	५४१
वातपित्तज विसर्प (अग्नि विसर्प) के लक्षण	५४१
कफपित्तज विसर्प का निदान तथा संप्राप्ति	५४२
लक्षण	५४२
ग्रन्थि विसर्प का निदान, संप्राप्ति एवं लक्षण	५४३
उपद्रव की परिभाषा	५४३
सन्निपातज विसर्प	५४५
साध्यताऽसाध्यता	५४६
विसर्प की चिकित्सा	५४७
कफ पित्तज विसर्प में वमन का प्रयोग	५४७
विसर्पनाशक द्रव्यों का प्रयोग	५४८
मुस्तादि क्वाथ	५४८
सारिवादि क्वाथ	५४८
पटोलादि शीत कषाय	५४८
विसर्प में सिद्ध घृतों का प्रयोग	५४९
विसर्प में विरेचन योग	५४९
शाखागत विसर्प में रक्तमोक्षण चिकित्सा	५४९
विसर्प में उपयोगी बहिःपरिमार्जन चिकित्सा	५५०
उदुम्बरादि प्रदेह	५५०
न्यग्रोधपादादि लेप	५५०
कालीयादि प्रलेप	५५१
शाद्वलादि प्रदेह	५५१
सारिवादि प्रलेप	५५१
नलदादि प्रलेप	५५१
यावक प्रदेह	५५१
बलादि आलेप	५५१
विसर्प नाशक अन्य प्रलेप	५५१
कफज विसर्प में उपयोगी प्रदेह	५५२
त्रिफलादि प्रदेह	५५२
खदिरादि आलेप	५५२
प्रदेह लगाने की विधि	५५३
लेप के ऊपर पुनः (दुबारा) लेप न लगावें	५५४
विसर्प में हितकर अन्न पान	५५४
मांसरस का निर्माण	५५५
विसर्प में निषिद्ध आहार-विहार	५५५
दोषानुसार विसर्प की चिकित्सा	५५५
ग्रन्थि विसर्प की चिकित्सा	५५६
परिषेचन	५५६
प्रदेह (लेप)	५५६
बलादि लेप	५५७
दन्त्यादि लेप	५५७
मूलकादि लेप	५५७
उपयोग आहार द्रव्य	५५७
ग्रन्थि विसर्प में उपयोगी अन्य योग	५५७
दाहकर्म	५५७
शस्त्र कर्म का प्रयोग	५५७
कम्पिल्लकादि तैल	५५७
गलगण्ड की चिकित्सा	५५८
रक्त मोक्षण चिकित्सा का महत्व	५५९
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५५९
२२. द्वाविंशोऽध्यायः	**५६०-५७३**
(तृष्णारोग चिकित्सा)	
विषयारम्भ	५६०
तृष्णा रोग का निदान एवं संप्राप्ति	५६०
तृष्णा रोग के पूर्वरूप	५६१
तृष्णा रोग के लक्षण	५६२
वातज तृष्णा रोग की संप्राप्ति	५६२
वातज तृष्णा के लक्षण	५६३
पित्तज तृष्णा की संप्राप्ति एवं लक्षण	५६३
आमज तृष्णा के लक्षण	५६३
क्षयज तृष्णा की संप्राप्ति एवं लक्षण	५६४
उपसर्गज तृष्णा	५६४
असाध्य तृष्णा के लक्षण	५६४
तृष्णा रोग की संप्राप्ति में पित्त व वायु का महत्व	५६५

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
अन्नजा तृष्णा	५६५
मद्यजा तृष्णा	५६५
मद्यजा तृष्णा की उपमा	५६५
उष्णता से क्लान्त व्यक्ति सहसा शीतल जल का सेवन न करें	५६६
तृष्णा रोग की सामान्य चिकित्सा	५६६
ऐन्द्र जल की उपयोगिता	५६६
अन्य पीने योग्य जल के गुण	५६६
तृण पञ्चमूल साधित जल का प्रयोग	५६७
मण्ड (वाट्य) का प्रयोग	५६७
गण्डूष का प्रयोग	५६८
तृष्णानाशक प्रलेप	५६८
तृष्णानाशक अन्य लेप	५६८
तृष्णा नाशक विहार	५६८
तृष्णा रोग की विशेष चिकित्सा	५६९
वातिक तृष्णा की चिकित्सा	५६९
पैत्तिक तृष्णा की चिकित्सा	५६९
आमज तृष्णा की चिकित्सा	५७१
क्षयज तृष्णा की चिकित्सा	५७१
मद्यजन्य तृष्णा की चिकित्सा	५७१
भक्तज तृष्णा की चिकित्सा	५७१
शीत जल की उपयोगिता	५७२
उष्ण जल की उपयोगिता	५७२
अल्प जल सेवन के योग्य व्याधियाँ	५७२
शीघ्र जल पान की आवश्यकता	५७२
तृष्णा रोग में धान्याम्बु का प्रयोग	५७२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	५७३
३. त्रयोविंशोऽध्यायः	**५७४-६२०**
(विष चिकित्सा)	
विषयारम्भ	५७४
विष की आद्योत्पत्ति (प्रथमोत्पत्ति) का वर्णन	५७४
विष की योनि	५७५
विष के स्वाभाविक प्रकोप एवं प्रशमन का कारण	५७५
जङ्गम विष के उदाहरण	५७५
स्थावर विष या मूलज विष	५७७
गर विष (संयोगज विष)	५७७
जङ्गम विष के प्रभाव	५७८
स्थावर विष के प्रभाव	५७८
विषों की गति	५७८
विष के आठ वेग	५७८
प्रथम वेग के लक्षण	५७८

विषय	पृष्ठ
द्वितीय वेग के लक्षण	५७९
तृतीय वेग के लक्षण	५७९
चतुर्थ वेग के लक्षण	५७९
पञ्चम वेग के लक्षण	५७९
षष्ठ वेग के लक्षण	५७९
सप्तम वेग के लक्षण	५७९
अष्टम वेग के लक्षण	५७९
अन्य प्राणियों (मनुष्यों के अतिरिक्त) में विष के वेग	५७९
चतुष्पाद में विष के वेग	५७९
पक्षियों में विष के वेग	५७९
विष के गुण	५८०
प्रकृति के अनुसार दोषों का प्रकोप	५८१
दूषीविष के लक्षण	५८२
विष के द्वारा मृत्यु का कारण	५८२
विष जन्य मृत्यु के लक्षण	५८३
विष की चिकित्सा में प्रयुक्त २४ प्रकार के उपक्रम	५८४
शरीर में अव्याप्त विष की चिकित्सा हेतु उपयोगी उपक्रम	५८४
अन्य उपक्रमों का प्रयोग	५८५
शीतल लेप का महत्त्व	५८५
विष के वेगावरोध के परिणाम स्वरूप होने वाले उपद्रव एवं चिकित्सा	५८५
उत्कर्तन, आचूषण एवं अरिष्टाबन्धन के लाभ	५८६
दंश स्थान के उत्छेद (उत्कर्तन) से लाभ	५८६
आचूषण का महत्त्व	५८६
अरिष्टाबन्धन का महत्त्व	५८६
दाह क्रिया या अग्निकर्म का प्रयोग	५८६
रक्तविस्रावण या रक्त मोक्षण	५८६
हृदयावरण आदि उपक्रम (द्वितीय वेग की चिकित्सा)	५८६
हृदयावरण	५८६
तृतीय वेग की चिकित्सा	५८६
चतुर्थ वेग की चिकित्सा	५८६
पञ्चम वेग की चिकित्सा	५८७
छठें वेग की चिकित्सा	५८७
सप्तम वेग की चिकित्सा	५८७
अष्टम वेग की चिकित्सा	५८७
मृत संजीवन अगद	५८८
स्थान विशेष के अनुसार विष की चिकित्सा	५८९
उपधान, नस्य एवं अञ्जन चिकित्सा का प्रयोग	५९०
नस्य का प्रयोग	५९०
अञ्जन की उपयोगिता	५९०

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
गन्धहस्ती नामक अगद	५९०
महागन्ध हस्ती नामक अगद	५९२
अगद तैयार करने का शास्त्रीय विधान	५९३
ऋषभकादि अगद	५९३
हिंग्वादि योग	५९३
वमन नाशक योग	५९३
विष नाशक धूम	५९४
क्षारागद	५९४
विष सम्बन्धी सामान्य चिकित्सा का उपसंहार	५९५
राजा के अधीन रहने वाले कर्मचारियों की परीक्षा	५९५
विष दाता के लक्षण	५९५
विष युक्त अन्न (विष मिश्रित अन्न) की विविध परीक्षायें	५९५
अग्नि परीक्षा	५९५
अन्य परीक्षायें	५९५
विषाक्त पेय पदार्थों की परीक्षा	५९५
गन्ध एवं स्पर्श परीक्षा	५९६
विष युक्त अन्न-पान के आमाशय में पहुँचने पर	५९६
पक्वाशयस्थ विष के लक्षण	५९६
उदरस्थ विष के लक्षण	५९६
दन्त पवन (ब्रश-दातौन) में स्थित विष के लक्षण	५९६
मूलविष चिकित्सा विषयक उपसंहार	५९७
जङ्गम विष का वर्णन	५९८
सर्पों के भेद	५९८
सर्पों का परिचय	५९८
दर्वीकर द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९८
मण्डली सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९८
राजिमान् द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९८
लिङ्ग के आधार पर सर्पों की पहचान	५९९
स्त्री सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९९
पुरुष सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९९
गर्भिणी सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण	५९९
गोधेरक (गोह)	५९९
गूढ संपादित दंश के लक्षण	५९९
आयु के आधार पर सर्प विष की गम्भीरता	६००
सर्प के दाढ (विषदन्त) एवं उनके रंग	६००
विष की मात्रा	६००
कीटविष	६०१
दूषी विष कीट दंश के लक्षण	६०१
प्राणहार कीटदंश के लक्षण	६०१
दूषी विष लूता के दंश से उत्पन्न लक्षण	६०२
प्राणहर लूताओं के काटने पर उत्पन्न होने वाले लक्षण	६०२

विषय	पृष्ठ
आखु विष	६०३
कृकलास (गिरगिट) विष	६०३
बिच्छू विष	६०३
कणभदंश के लक्षण	६०४
उच्चिटिङ्ग (झींगुर) विष के लक्षण	६०४
मण्डूक विष के लक्षण	६०४
गृहगोधिका (चिपकली) विष के लक्षण	६०४
मच्छर विष के लक्षण	६०४
मक्षिका विष के लक्षण	६०४
स्थान, काल एवं स्वभाव के अनुसार सर्पदंष्ट की असाध्यता	६०५
विष की वृद्धि एवं अल्पता का कारण	६०६
मन्द विष युक्त सर्प के लक्षण	६०६
विष का स्थान	६०६
विषैले जन्तुओं का दोषों से सम्बन्ध	६०७
दोष विपरीत चिकित्सा	६०७
वातिक विष के लक्षण	६०७
पैत्तिक विष के लक्षण	६०७
श्लैष्मिक विष के लक्षण	६०७
कीट विष की चिकित्सा	६०८
वातिक विष की चिकित्सा	६०८
पैत्तिक विष की चिकित्सा	६०८
कफज विष की चिकित्सा	६०८
वृश्चिक (बिच्छू) दंश की चिकित्सा	६०८
उच्चिटिङ्ग विष (झींगुर विष) की चिकित्सा	६०८
पागल कुत्ते के लक्षण	६०९
अन्य पागल जन्तुओं के लक्षण	६०९
विष युक्त जन्तुओं के काटने से उत्पन्न लक्षण	६०९
जन्तु विष की चिकित्सा	६१०
शोधन चिकित्सा	६१०
नस्य का विधान	६१०
काकपद द्वारा सिर या पैर में मांस का प्रयोग	६१०
पिप्पल्यादि अञ्जन	६१०
पक्वाशय गत विष की चिकित्सा	६१०
रसगत विष की चिकित्सा	६१०
रक्तगत एवं मांसगतविष की चिकित्सा	६१०
कफवृद्धि में प्रतिसारण	६११
मांसादि योग	६१२
चन्दनादि योग	६१२
शिरीष पुष्प का प्रयोग	६१२
तक्षक सर्प विष हर योग	६१२

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
दर्वीकर सर्प विष नाशक योग	६१२
मण्डली सर्प विष नाशक योग	६१२
राजिमान् सर्प विषनाशक योग	६१२
वासुकि सर्प विष नाशक योग	६१२
कीटविषनाशक योग	६१३
लूताविष नाशक योग	६१३
कर्णिका पातन योग	६१३
कीट एवं लूता विषजन्य व्रणनाशक योग	६१३
मूषक विष नाशक योग	६१३
विषनाशक प्रधमन नस्य	६१३
वृश्चिक विष नाशक योग	६१४
दार्दुर (मेढक) विष नाशक योग	६१४
मत्स्य विष नाशक योग	६१४
जलौका विषनाशक योग	६१४
वचादि योग	६१४
शतपदी (गोंजर) विष नाशक योग	६१४
गृहगोधा विषनाशक योग	६१४
सर्व विष नाशक योग	५१५
पञ्चशिरीष अगद	६१५
दन्त व नख क्षत के लक्षण	६१५
शङ्का विष के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा	६१५
हितकर अन्नपान	६१६
निषिद्ध आहार-विहार	६१६
चौपायों में सर्पादि दंश के लक्षण	६१७
चिकित्सा	६१७
गर विष के लक्षण एवं चिकित्सा	६१७
नागदन्त्यादि घृत	६१८
अमृत घृत	६१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६२०
२४. चतुर्विंशोऽध्यायः	**६२१-६५१**
(मदात्यय चिकित्सा)	
मद्य की महिमा	६२१
निरुक्ति	६२१
मद्य एवं अमृत की तुल्यता	६२२
सुराधिष्ठात्री देवता (सुरा) के गुण	६२२
मदिरा सेवन की विधि	६२३
मद्यपान के समय प्रयोग में आने वाले खाद्य पदार्थ	६२३
प्रकृति के अनुसार मद्यपान की विधि	६२४
मद्य के गुण एवं दोष	६२५
मद्य का प्रभाव	६२६
मद्य के गुण	५२६

विषय	पृष्ठ
ओज के गुण	६२६
मद्य के गुणों का ओज पर प्रभाव	६२६
ओज का स्थान	६२६
अतिमद्यपान का प्रभाव	६२६
मद्य की अवस्थाएं	६२७
प्रथम अवस्था	६२७
द्वितीयावस्था (मध्यावस्था)	६२७
तृतीयावस्था (उत्तमावस्था)	६२७
पैष्टिक मद्य	६२७
मद्य के लक्षण	६२८
मद की प्रथमावस्था के लक्षण	६२९
मद की मध्यमावस्था के लक्षण	६२९
मद की मध्यम व उत्तम अवस्था के बीच के लक्षण	६२९
मद की तृतीय (अन्त्य) अवस्था के लक्षण	६२९
मन पर नियंत्रण आवश्यक	६३१
मन का क्षुभित होना	६३१
मद्य सेवन का निषेध	६३१
मद्याश्रित रोग	६३१
मद्य के युक्तियुक्त प्रयोग की उपमा	६३१
विधिपूर्वक सेवित मद्य के गुण	६३२
मद्य के गुण (युक्तिपूर्वक सेवित मद्य के गुण)	६३२
षट्त्रिक् का विचार	६३३
मद्यपान सम्बन्धी युक्ति	६३३
मद्य का मन पर प्रभाव	६३३
वय के अनुसार मद्य की योजना	६३४
व्याधि के अनुसार मद्य की योजना	६३४
दोष भेद से मद्य की योजना	६३४
सत्त्व भेद से मद्यपान	६३४
मानस प्रकृति के अनुसार मद्यपान का विधान	६३५
मद्यपान के समय त्याज्य भाव	६३६
मद्यपान के उत्तम सहयोगी	६३७
मद्यपान के लिए उत्तम वातावरण	६३७
मद्यपान के अयोग्य पुरुष	६३७
मदात्यय रोग	६३७
वातज मदात्यय के हेतु एवं संप्राप्ति	६३७
लक्षण	६३८
पित्तज मदात्यय के निदान	६३८
लक्षण	६३८
कफज मदात्यय के निदान	६३८
लक्षण	६३८
मद्य के त्रिदोषकत्व में हेतु	६३९

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
मदात्यय रोग के सामान्य लक्षण	६३९
मदात्यय रोग की चिकित्सा	६४०
वातिक मदात्यय की संप्राप्ति एवं चिकित्सा	६४२
बीज पूरकादि संस्कारित मद्य	६४२
मांसरस	६४२
वातिक मदात्यय में प्रयुक्त अनुपान	६४२
पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा	६४३
आहार-विहार	६४३
पित्तज मदात्यय में वमन	६४३
पैत्तिक मदात्यय में मद्यपान का विधान	६४४
तृष्णानाशक योग	६४४
पैत्तिक मदात्यय में बाह्य उपचार	६४४
कमल पत्र का प्रयोग	६४४
दाह में जल यन्त्र आदि का प्रयोग	६४४
दाहनाशक लेप	६४४
शीतल जल का प्रयोग	६४५
कफज मदात्यय की चिकित्सा	६४६
कफज मदात्यय में उपयोगी अन्न-पान	६४६
अष्टाङ्ग लवण	६४७
मृद्वीका राग	६४७
कफज मदात्यय में उपयोगी विहार	६४७
सन्निपातिक मदात्यय की चिकित्सा	६४८
योग्य चिकित्सक	६४८
हर्षोत्पादक चिकित्सा	६४९
हर्षणी चिकित्सा का आधार	६४९
मदात्यय में दुग्ध का प्रयोग	६४९
सहसा मद्य सेवन से होने वाले रोग	६५०
ध्वंसक के लक्षण	६५०
विक्षय के लक्षण	६५०
ध्वंसक एवं विक्षय की चिकित्सा	६५०
पूर्ण मद्यत्याग से लाभ	६५०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६५१
२५. पञ्चविंशोऽध्यायः	**६५२-६७०**
(द्विव्रणीय चिकित्सा)	
विषयारम्भ	६५२
आगन्तु एवं निज व्रण के हेतु	६५२
आगन्तु व्रण की चिकित्सा	६५३
निज व्रण के हेतु एवं संप्राप्ति	६५३
वातज व्रण के लक्षण	६५३
वातज व्रण का चिकित्सा सूत्र	६५३
पित्तज व्रण के लक्षण	६५४
पित्तज व्रण का चिकित्सा सूत्र	६५४
कफज व्रण के लक्षण	६५४
कफज व्रण की चिकित्सा	६५४
व्रणों के अन्य भेद	६५४
नानात्व भेद से व्रण के २० भेद	६५४
परीक्षा के प्रकार	६५५
बारह प्रकार के दुष्ट व्रण	६५६
व्रण के आठ आश्रय (स्थान)	६५६
व्रण में मिलने वाले आठ प्रकार के गन्ध	६५७
व्रणों से निकलने वाले चौदह प्रकार के स्राव	६५७
व्रण के १६ उपद्रव	६५७
व्रण के चौबीस दोष	६५७
व्रणों की कृच्छ्र साध्यता	६५८
सुखसाध्य व्रण के लक्षण	६५८
असाध्य व्रण के लक्षण	६५९
व्रण की चिकित्सा	६५९
शोधन चिकित्सा	६५९
व्रण के ३६ उपक्रम	६५९
रक्तमोक्षण	६६०
पाटन क्रिया	६६१
उपनाह	६६१
तिलादि उपनाह	६६१
पच्यमान व्रणशोथ के लक्षण	६६१
पक्व व्रण के लक्षण	६६१
पक्व व्रण भेदक लेप	६६१
छः प्रकार के शस्त्र कर्म	६६२
पाटन कर्म के योग्य व्याधियाँ	६६२
व्यधन कर्म के योग्य व्याधियाँ	६६२
छेदन के योग्य व्याधियाँ	६६२
लेखन कर्म के योग्य व्याधियाँ	६६२
प्रच्छन्न कर्म के योग्य व्याधियाँ	६६२
सीवन कर्म के योग्य व्याधियाँ	६६२
पीडन के योग्य व्रण	६६३
पीडनार्थ उपयोगी द्रव्य	६६३
निर्वापण	६६३
मांससंधान	६६३
अवचूर्णन	६६३
अस्थिसंधान	६६४
स्वेदन उपक्रम का प्रयोग	६६४
वात प्रधान व्रण में लेप का प्रयोग	६६४
शूलनाशक मलहर	६६४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
परिषेचन	६६५
दाह व शूलनाशक आलेप	६६५
उपनाह	६६५
एषण	६६५
एषणी के भेद	६६५
व्रणशोधन	६६५
अशुद्धव्रण के लक्षण	६६५
व्रणशोधक कषाय	६६६
व्रणशोधक प्रलेप	६६६
शुद्ध व्रण के लक्षण	६६६
व्रणरोपण कषाय	६६६
व्रणरोपण प्रलेप	६६६
व्रणरोपण तैल	६६६
पत्र आच्छादन का प्रयोग	६६७
व्रणबन्ध	६६७
व्रण में त्याज्य आहार-विहार	६६७
सेव्य आहार-विहार	६६७
उत्सादन चिकित्सा	६६७
अवसादन चिकित्सा	६६७
अग्निकर्म का प्रयोग	६६८
अग्निकर्म में उपयोगी द्रव्य	६६८
अग्निकर्म के योग्य पुरुष	६६८
अग्निकर्म के योग्य रोग-रोगी	६६८
क्षारकर्म का प्रयोग	६६८
व्रण में धूपन का प्रयोग	६६८
व्रणकाठिन्यकर प्रलेप	६६९
व्रणतर्पणलेप	६६९
त्वक् जनन योग	६६९
त्वक् शुद्धिकर प्रलेप	६६९
रोमसंजनन योग	६६९
उपद्रवों की चिकित्सा	६६९
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	६७०
२६. षड्विंशोऽध्यायः	**६७१-७१८**
(त्रिमर्मीय चिकित्सा)	
त्रिमर्म का विवेचन	६७१
बस्ति रोग	६७२
उदावर्त के हेतु एवं संप्राप्ति	६७२
लक्षण	६७२
उदावर्त जनित व्याधियाँ	६७२
चिकित्सा	६७३
उदावर्त में गुदवर्ति	६७३
उदावर्त में प्रधमन	६७३
निरूहबस्ति का प्रयोग	६७३
अन्नपान	६७४
उदावर्त में विरेचन का प्रयोग	६७४
हिंग्वादिचूर्ण (प्रथम)	६७४
वचादि चूर्ण	६७४
हिंग्वादि चूर्ण (द्वितीय)	६७५
स्थिरादि घृत	६७५
उदावर्त नाशक अन्य योग	६७५
आनाह रोग के लक्षण	६७६
आनाह में एरण्ड तैल का प्रयोग	६७६
एरण्ड तैल के गुणकर्म	६७६
मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा	६७६
मूत्रकृच्छ्र के निदान	६७६
संप्राप्ति	६७७
लक्षण	६७७
अश्मरी रोग की संप्राप्ति	६७७
अश्मरियों के लक्षण	६७८
मूत्रशर्करा	६७८
शुक्रावरोधजन्य मूत्रकृच्छ्र	६७८
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र	६७९
रक्तज मूत्रकृच्छ्र	६७९
मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा	६८०
वातज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८०
वातज मूत्रकृच्छ्र में मिश्रक स्नेह का प्रयोग	६८०
मूत्रकृच्छ्र में उपनाह का प्रयोग	६८०
पित्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८०
अन्य योग	६८१
कफज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८१
व्योषादि चूर्ण	६८१
त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८२
अश्मरी व शर्करा जन्य मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८२
पाषाणभेदादि चूर्ण	६८२
सहिजन का प्रयोग	६८३
अश्मरी नाशक विहार	६८३
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८३
कार्पासमूलादि योग	६८३
रक्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा	६८४
मूत्रकृच्छ्र रोग में अपथ्य	६८४
हृद्रोग चिकित्सा प्रकरण	६८५

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
निदान	६८५
सामान्य लक्षण	६८५
हृद्रोग के विशिष्ट लक्षण	६८५
वातज हृद्रोग के लक्षण	६८५
पित्तज हृद्रोग के लक्षण	६८५
कफज हृद्रोग के लक्षण	६८६
सन्निपातज हृद्रोग के लक्षण	६८६
कृमिज हृद्रोग के लक्षण	६८६
वातज हृद्रोग की चिकित्सा	६८६
पुनर्नवादि तैल	६८७
हरीतक्यादि घृत	६८७
पुष्करमूलादि क्वाथ	६८७
पथ्यादि कल्क	६८७
त्र्यूषादि घृत	६८७
पित्तज हृद्रोग की चिकित्सा	६८८
द्राक्षादि घृत	६८८
कशेरुकादि घृत	६८८
स्थिरादि घृत	६८८
कफज हृद्रोग की चिकित्सा	६८९
कट्फलादि कषाय	६८९
शिलाजीत का प्रयोग	६८९
त्रिदोषज हृद्रोग की चिकित्सा	६८९
हृद्र शूल में उपयोगी योग	६९०
कृमिज हृद्रोग की चिकित्सा	६९०
शिरोरोग प्रकरण	६९१
प्रतिश्याय रोग का निदान एवं संप्राप्ति	६९१
वातज प्रतिश्याय के लक्षण	६९१
पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण	६९१
कफज प्रतिश्याय के लक्षण	६९१
सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण	६९१
दुष्ट प्रतिश्याय	६९२
दुष्ट प्रतिश्याय के लक्षण	६९२
क्षवथु के लक्षण	६९३
नासाशोष के लक्षण	६९३
नासाप्रतीनाह	६९३
नासापरिस्राव	६९३
पूतिनस्य	६९३
अपीनस	६९३
नासापाक	६९३
नासाशोथ	६९३
नासार्बुद	६९३

विषय	पृष्ठ
पूयरक्त	६९३
अरुंषिका	६९३
दीप्त (नासादीप्त) रोग	६९३
शिरोरोग के निदान	६९३
मुखरोग विवेचन	६९४
मुखरोग निदान	६९४
अरोचक रोग निदान प्रकरण	६९५
अरोचक रोग के हेतु	६९५
अरोचक के लक्षण	६९५
कर्णरोग निदान प्रकरण	६९५
वातज कर्णरोग के लक्षण	६९५
पित्तज कर्णरोग के लक्षण	६९६
कफज कर्णरोग के लक्षण	६९६
सन्निपातज कर्णरोग के लक्षण	६९६
नेत्ररोग प्रकरण	६९६
वातज नेत्ररोग के लक्षण	६९६
पित्तज नेत्ररोग के लक्षण	६९६
कफज नेत्ररोग के लक्षण	६९६
सन्निपातज नेत्र रोग के लक्षण	६९६
खालित्य रोग निदान प्रकरण	६९७
पीनस रोग की चिकित्सा	६९७
वातज पीनस की चिकित्सा	६९७
शताह्वादि धूमवर्ति	६९७
प्रतिश्याय जनित वेदना में कर्तव्य	६९७
नस्य का प्रयोग	६९८
स्निग्ध नस्य का प्रयोग	६९८
अणुतैल निर्माण विधि	६९८
आस्थापन बस्ति का प्रयोग	६९८
वातज प्रतिश्याय में पथ्य आहार-विहार	६९८
वातज प्रतिश्याय में अपथ्य आहार-विहार	६९८
पित्तज प्रतिश्याय की चिकित्सा	६९९
पित्तज प्रतिश्याय में पथ्य	६९९
कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा	७००
धूमपान एवं अवपीड नस्य का प्रयोग	७००
भार्ग्यादि तैल	७००
वमन का प्रयोग	७००
पथ्य अन्न-पान	७००
दुष्ट प्रतिश्याय आदि अन्य व्याधियों (नासा रोगों) की चिकित्सा	७००
वातज शिरोरोग की चिकित्सा	७००
बलादि तैल	७०१

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
मायूर घृत	७०१
महामायूर घृत	७०२
पित्तज शिरोरोग की चिकित्सा	७०३
अवपीड नस्य का प्रयोग	७०३
मधुयष्टयादि घृत	७०३
कफज शिरोरोग की चिकित्सा	७०४
मुखरोगों की चिकित्सा	७०५
पिप्पल्यादि चूर्ण	७०५
तेजोह्वादि चूर्ण	७०५
क्षार गुटिका	७०५
कालक चूर्ण	७०५
पीतक चूर्ण	७०५
मृद्वीकादि चूर्ण	७०५
पाठादि चूर्ण	७०६
कटुकादि क्वाथ	७०६
दार्वीत्वक् रसक्रिया	७०६
खदिरादि गुटिका एवं तैल	७०७
अरोचक रोग की चिकित्सा	७०८
कवलग्रह का प्रयोग	७०८
अरोचक नाशक वटी	७०८
अरोचक चिकित्सा सूत्र	७०८
कर्णरोग चिकित्सा	७०८
कर्णशूल नाशक तैल	७०९
हिंग्वादि तैल	७०९
देवदार्वादि तैल	७०९
गन्ध तैल	७०९
क्षार तैल	७०९
नेत्ररोग चिकित्सा	७१०
वातज नेत्ररोग नाशक बिडालक	७१०
पित्तज नेत्ररोग नाशक बिडालक	७११
कफज नेत्ररोग नाशक बिडालक	७११
सन्निपातज नेत्ररोग बिडालक	७११
नेत्र रोगों में आश्च्योतन का प्रयोग	७११
वर्ति का प्रयोग	७११
बृहत्यादिवर्ति	७११
सुमनः कोरकादि वर्ति	७११
सैन्ध्वादिवर्ति	७१२
अमृताह्वादि वर्ति	७१२
शङ्खादि वर्ति	७१२
नेत्र रोगों में अञ्जन का प्रयोग	७१२
चूर्णाञ्जन	७१२
सुखावतीवर्ति	७१२
दृष्टिप्रदावर्ति	७१३
तिमिरनाशक नेत्राञ्जन	७१३
पिप्पल्यादि रसक्रिया	७१३
कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया	७१३
अन्धत्वनाशक योग	७१३
घात्र्यादि रसक्रिया	६१३
शिरोरोग चिकित्सा	७१४
विदारीगन्धादि तैल	७१४
सहचरादि तैल	७१५
पलितनाशक अन्य योग	७१५
महानील तैल	७१५
प्रपौण्डरीकादि तैल	७१५
प्रियालादि योग	७१६
तिलादि योग	७१६
पलित नाशक योग	७१६
स्वरभेद चिकित्सा	७१७
त्रिदोष का महत्त्व	७१८
वातादि दोष परस्पर घातक नहीं होते	७१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७१८
२७. सप्तविंशोऽध्यायः	**७१९-७२८**
(ऊरुस्तम्भ चिकित्सा)	
अध्यायोक्त विषयों की प्रस्तावना	७१९
अग्निवेश द्वारा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से पूछे गये प्रश्न	७१९
आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर	७१९
ऊरुस्तम्भ के हेतु	६१९
ऊरुस्तम्भ की उपमा	७२०
ऊरुस्तम्भ के मारक लक्षण	७२०
ऊरुस्तम्भ की निरुक्ति	७२०
ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप	७२०
ऊरुस्तम्भ में स्नेहन क्रिया का निषेध	७२१
ऊरुस्तम्भ के लक्षण	७२१
ऊरुस्तम्भ की साध्यताऽसाध्यता	७२२
पञ्चकर्म की निषिद्धता का हेतु	७२२
ऊरुस्तम्भव्याधि की चिकित्सा	७२३
रूक्षण क्रिया का प्रयोग	७२३
ऊरुस्तम्भरोग में पत्रशाकों का प्रयोग	७२३
ऊरुस्तम्भ नाशक अन्य द्रव्य	७२३
ऊरुस्तम्भनाशक अन्य योग	७२४
शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण	७२४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
मूर्वादि योग	७२४
स्वर्णक्षीर्यादि योग	७२४
उरुस्तम्भ रोग में मांसरस का प्रयोग	७२५
पीलुपर्ण्यादि तैल	७२५
कुष्ठादि तैल	७२५
सैन्धवादि तैल	७२६
अष्टकट्वर तैल	७२६
ऊरुस्तम्भ में उपयोगी बाह्य औषधियाँ	७२६
अश्वगन्धादि उत्सादन	७२७
दन्त्यादि प्रलेप	७२७
तर्कार्यादि लेप	७२७
वत्सकादि लेप	७२७
श्योनाकादि प्रलेप एवं परिषेक	७२७
सामान्य चिकित्सा सूत्र	७२८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७२८
२८. अष्टविंशोऽध्यायः	**७२९-७७२**
(वातव्याधि चिकित्सा)	
वायु का महत्व	७२९
वायु ही आयु का हेतु है	७२९
वायु के भेद	७३०
प्राण वायु के स्थान एवं कर्म	७३०
उदान वायु के स्थान एवं कर्म	७३०
समान वायु के स्थान एवं कर्म	७३०
व्यान वायु के स्थान एवं कर्म	७३०
अपान वायु के स्थान एवं कर्म	७३०
विकृत वायु के कार्य	७३१
वात प्रकोपक हेतु	७३२
वातव्याधि के पूर्वरूप	७३३
कुपित वायु के कार्य	७३३
स्थानभेद से प्रकुपित वायु के लक्षण	७३४
कोष्ठाश्रित वायु के लक्षण	७३४
सर्वाङ्ग कुपित वायु के लक्षण	७३४
गुदागत वायु के लक्षण	७३५
आमाशयाश्रित वायु के लक्षण	७३५
पक्वाशयाश्रित वायु के लक्षण	७३५
इन्द्रियगत वायु के लक्षण	७३५
त्वक्गत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३५
रक्तगत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६
मांस-मेदोगत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६
अस्थि एवं मज्जा में प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६
शुक्रगत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६

विषय	पृष्ठ
स्नायुगत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६
सिरागत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३६
सन्धिगत प्रकुपित वायु के लक्षण	७३७
अर्दित के लक्षण	७३७
अन्तरायाम (मन्यास्तम्भ) के लक्षण	७३८
बहिरायाम के लक्षण	७३९
हनुस्तब्ध के लक्षण	७४०
आक्षेपक	७४०
दण्डक के लक्षण	७४०
अर्दितादि व्याधियों की समानता	७४०
पक्षवध के लक्षण	७४०
एकाङ्ग व सर्वाङ्ग रोग के लक्षण	७४१
गृध्रसी के लक्षण	७४१
खल्ली के लक्षण	७४१
शेष वात व्याधियों के ज्ञान का उपाय	७४१
वातव्याधि के साथ अन्य दोषों के अनुबन्ध का ज्ञान	७४१
आवरण-प्रकरण	७४२
पित्तावृत वायु के लक्षण	७४२
कफावृत वायु के लक्षण	७४२
रक्तावृत वायु के लक्षण	७४३
मांसावृत वायु के लक्षण	७४३
मेद द्वारा आवृत वायु के लक्षण	७४३
अस्थ्यावृत वायु के लक्षण	७४३
मज्जावृत वायु के लक्षण	७४३
शुक्रावृत वायु के लक्षण	७४३
अन्नावृत वायु के लक्षण	७४४
मूत्रावृत वायु के लक्षण	७४४
पुरीषावृत वायु के लक्षण	७४४
वातव्याधियों की साध्यता-असाध्यता	७४४
वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण	७४५
वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा	७४५
स्नेह क्रिया	७४५
स्वेदन का प्रयोग	७४६
स्नेहन-स्वेदन से लाभ	७४६
स्वेदन से लाभ	७४६
वातव्याधि में मृदु विरेचन	७४७
मृदु विरेचक योग	७४७
वातानुलोमक द्रव्यों का प्रयोग	७४७
निरुहबस्ति का प्रयोग	७४७
कोष्ठगत वायु की चिकित्सा	७४८
गुदा एवं पक्वाशयगत वायु की चिकित्सा	७४८

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
आमाशयगत वायु की चिकित्सा	७४८
सर्वाङ्ग प्रकुपित वायु की चिकित्सा	७४८
त्वगाश्रित वात की चिकित्सा	७४८
रक्तगत वात की चिकित्सा	७४८
मांस व मेद के आश्रित वायु की चिकित्सा	७४८
अस्थि व मज्जागत वायु की चिकित्सा	७४८
शुक्रगत वायु की चिकित्सा	७४९
गर्भाशयगत वायु की चिकित्सा	७४९
हृदयगत एवं नाभिगत वायु की चिकित्सा	७४९
कम्प एवं संकोच की चिकित्सा	७४९
बाहुशीर्ष एवं अधोनाभिगत वात की चिकित्सा	७४९
अर्दित रोग की चिकित्सा	७५०
पक्षाघात की चिकित्सा	७५०
गृध्रसी की चिकित्सा	७५०
खल्ली रोग की चिकित्सा	७५०
हनुग्रह की चिकित्सा	७५०
वातव्याधि में उपयोगी औषध, अन्न एवं विहार	७५१
वातव्याधि में मांसरस का उपयोग	७५१
वातव्याधि में अवगाहन	७५२
वातव्याधि में परिषेक	७५२
वातव्याधि में नाड़ीस्वेद का प्रयोग	७५२
वातव्याधि में उपयोगी उपनाह	७५२
शुद्ध वातव्याधिनाशक घृत	७५३
दशमूलादि घृत	७५३
चित्रकादि घृत	७५४
बलादि घृत	७५४
दशमूलादि मज्ज स्नेह	७५४
त्रिफलादि चतुः स्नेह	७५४
निर्गुण्डी तैल	७५५
मूलक तैल	७५५
लघुपञ्चमूल तैल	७५६
यवादि तैल	७५६
वातव्याधि नाशक अन्य उपयोगी तैल	७५७
सहाचर तैल	७५७
श्वदंष्ट्रा तैल	७५७
बला तैल	७५८
अमृताद्य तैल	७५९
रास्ना तैल	७६०
मूलकाद्य तैल	७६०
वृषमूलादि तैल	७६०
मूलक तैल	७६१

विषय	पृष्ठ
अन्यवात नाशक तैल	७६१
वातव्याधि में तैल का महत्त्व	७६२
संसृष्ट वात की चिकित्सा	७६२
पित्तावृत वात की चिकित्सा	७६२
कफावृत वात की चिकित्सा	७६२
कफ पित्तानुबन्ध जनित वात की चिकित्सा	७६३
स्थानिक दोष की सर्वप्रथम चिकित्सा	७६४
पाँच प्रकार की वायु के परस्पर आवरण	७६५
प्राणावृत व्यान के लक्षण एवं चिकित्सा	७६५
व्यानावृत प्राणवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६५
प्राणावृत समानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६५
समानावृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६५
प्राणावृत उदान वायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६६
उदानावृत प्राणवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६६
उदान वायु द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६६
अपानवायु द्वारा आवृत उदानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६६
व्यानवायु द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६७
अपानवायु द्वारा आवृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६७
समानावृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६७
उदानावृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा	७६७
उपसंहार	७६७
विकृत वायु की चिकित्सा	७६८
पित्त द्वारा आवृत प्राणवायु के लक्षण	७६९
कफ द्वारा आवृत प्राण वायु के लक्षण	७६९
पित्त द्वारा आवृत उदान वायु के लक्षण	७६९
कफावृत उदान वायु के लक्षण	७६९
पित्तावृत समान वायु के लक्षण	७६९
कफावृत समान वायु के लक्षण	७६९
पित्त द्वारा आवृत व्यानवायु के लक्षण	७६९
कफ द्वारा आवृत व्यान वायु के लक्षण	७६९
पित्त द्वारा आवृत अपान वायु के लक्षण	७६९
कफ द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण	७६९
दो दोषों द्वारा आवृत वायु के लक्षण	७७०
प्राण व उदान वायु की महत्ता	७७०
आवृत वायु के उपद्रव	७७१
कफ पित्तावृत वायु की चिकित्सा	७७१
अवलेह का प्रयोग	७७१

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
पित्तावृत वायु की चिकित्सा	७७१
कफावृत वायु की चिकित्सा	७७१
वातादि ज्ञान की दुर्विज्ञेयता	७७१
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७७२
२९. एकोनत्रिंशोऽध्यायः	**७७३-७९८**
(वातशोणित चिकित्सा)	
वातरक्त विषयक अग्निवेश के प्रश्न	७७३
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर	७७३
वातरक्त रोग के हेतु	७७३
सम्प्राप्ति	७७३
वातरक्त के विशेष स्थान	७७५
वातरक्त की विशेष संप्राप्ति	७७५
वातरक्त के पूर्वरूप	७७५
वातरक्त के भेद	७७६
उत्तान वातरक्त के लक्षण	७७६
गम्भीर वातरक्त के लक्षण	७७६
उभयाश्रित वातरक्त के भेद	७७७
दोषानुसार वातरक्त के भेद	७७७
वातज वातरक्त के लक्षण	७७७
रक्तज वातरक्त के लक्षण	७७८
पित्तज वातरक्त के लक्षण	७७८
कफज वातरक्त के लक्षण	७७८
द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज वातरक्त	७७८
वातरक्त की साध्यता-असाध्यता	७७९
वातरक्त के उपद्रव	७७९
वातरक्त की असाध्यता में हेतु	७८०
वातरक्त की चिकित्सा	७८०
रक्तमोक्षण का निषेध	७८०
अत्यधिक रक्तमोक्षण के उपद्रव	७८०
वातरक्त में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग	७८१
वातरक्त की विशेष चिकित्सा	७८१
वातरक्त में अपथ्य आहार-विहार	७८२
वातरक्त में पथ्य आहार-विहार	७८२
श्रावणयादि घृत	७८३
बलादि घृत	७८३
पारुषक घृत	७८३
जीवनीय घृत	७८४
द्राक्षादि घृत	७८५
जीवकादि महास्नेह	७८५
स्थिरादि घृत	७८६
वातरक्त नाशक सिद्ध क्षीर के योग	७८६

विषय	पृष्ठ
बलादि योग	७८६
विरेचक योग	७८६
काश्मर्यादि क्वाथ	७८७
त्रिफला क्वाथ	७८७
वातरक्त में क्षीरबस्ति का प्रयोग	७८८
अन्य प्रयोग	७८८
मधुपर्ण्यादि तैल	७८८
सुकुमारक तैल	७८९
अमृताद्य तैल	७८९
महापद्म तैल	७९१
खड्डाक पद्मक तैल	७९१
शतपाक मधुक तैल	७९१
शतपाक मधुपर्णी तैल	७९१
शतपाक या सहस्रपाक बला तैल	७९२
वातरक्त नाशक अन्य तैल	७९२
पिण्ड तैल	७९३
दशमूल साधित क्षीर एवं घृत का प्रयोग	७९४
चतुर्विध स्नेहों का प्रयोग	७९४
परिषेचनार्थ अन्य द्रवों का प्रयोग	७९४
दाहनाशक लेपों का प्रयोग	७९४
तिलादि लेप	७९४
प्रपौण्डरीकादि लेप	७९४
वातज वातरक्त में उपयोगी लेप	७९४
वेदना नाशक योग	७९५
कफज वातरक्त में उपयोगी योग	७९५
पद्मकादि घृत	७९५
सर्षपादि लेप	७९५
कपित्थादि लेप	७९५
वातकफ प्रधान वातरक्त में उपयोगी योग	७९५
तगरादि लेप	७९६
मधुशिग्रु लेप	७९६
त्रिफलादि कल्क	७९६
आवरण की चिकित्सा	७९७
कफ व मेद नाशक उपाय	७९७
बोधिवृक्षत्वक् कषाय का पान	७९७
वातरक्त नाशक अन्य द्रव्य	७९७
वातावृत वातरक्त की चिकित्सा	७९७
वातरक्त की आवस्थिक चिकित्सा	७९७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	७९८
३०. त्रिंशोऽध्यायः	**७९९-८५०**
(योनिव्यापत् चिकित्सा)	

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
विषयारम्भ	७९९
अग्निवेश के प्रश्न	७९९
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर	७९९
योनिव्यापत् रोग के निदान	७९९
वातज योनिव्यापत् के लक्षण	८००
पित्तज योनिव्यापद् के लक्षण	८००
कफज योनिव्यापद् के लक्षण	८००
त्रिदोषज योनिव्यापद् के लक्षण	८००
रक्तज योनिव्यापद् के लक्षण	८०१
अरजस्का योनिव्यापद् के लक्षण	८०१
अचरणा योनिव्यापद् के लक्षण	८०१
अतिचरणा योनिव्यापद् के लक्षण	८०१
प्राक्चरणा योनिव्यापद् के लक्षण	८०२
उपप्लुता योनिव्यापद् के लक्षण	८०२
परिप्लुता योनिव्यापद् के लक्षण	८०२
उदावर्तिनी योनिव्यापद् के लक्षण	८०२
कर्णिनी योनिव्यापद् के लक्षण	८०३
पुत्रघ्नी योनिव्यापद् के लक्षण	८०३
अन्तर्मुखी योनिव्यापद् के लक्षण	८०३
सूचीमुखी योनिव्यापद् के लक्षण	८०४
शुष्क योनिव्यापद् के लक्षण	८०४
वामिनी योनिव्यापद् के लक्षण	८०४
षण्ढी योनिव्यापद् के लक्षण	८०४
महायोनिव्यापद् के लक्षण	८०५
उपद्रव	८०५
योनिव्यापदों का दोषों से सम्बन्ध	८०५
योनिव्यापद् (योनि रोगों) की चिकित्सा	८०५
योनिव्यापद् में शोधन चिकित्सा	८०७
वातज योनिव्यापद् की चिकित्सा	८०७
बलाघृत	८०८
काश्मर्यादि घृत	८०८
पिप्पल्यादि कल्क का प्रयोग	८०८
वृषकादि चूर्ण	८०८
योनि शूल नाशक अन्य योग	८०८
दोषानुसार योनिव्यापद् रोग की चिकित्सा	८०९
पित्तज योनिव्यापद् (पित्तज योनि रोग) की चिकित्सा	८०९
बृहत् शतावरी घृत	८०९
अन्य सिद्ध घृत एवं क्षीर	८१०
कफज योनिव्यापद् की चिकित्सा	८१०
अर्कादिवर्ति	८१०
पिप्पल्यादिवर्ति	८११

विषय	पृष्ठ
उदुम्बरादि तैल	८११
उदुम्बरादि तैल (द्वितीय)	८११
धातक्यादि तैल	८११
योनि प्रक्षालन में उपयोगी द्रव्य	८१२
पिप्पल्यादि चूर्ण	८१२
उत्तरबस्ति की उपयोगिता	८१२
रक्तयोनि (रक्त योनिव्यापद्) की चिकित्सा	८१३
वातज असृग्दर की चिकित्सा	८१३
पित्तज असृग्दर की चिकित्सा	८१३
पुष्यानुग चूर्ण	८१४
प्रदर नाशक अन्य योग	८१४
पित्तज प्रदर में संशोधन (विरेचन) चिकित्सा	८१५
रक्तयोनि, अरजस्का एवं पुत्रघ्नी योनिव्यापद् की चिकित्सा	८१५
कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि एवं प्राक्चरणा योनिव्यापद की चिकित्सा	८१५
वामिनी एवं उपप्लुता योनिव्यापद् की चिकित्सा	८१६
विप्लुता योनिव्यापद् की चिकित्सा	८१६
उदावर्ता, वातज, महायोनि तथा प्रस्रस्ता योनिव्यापद् रोग की चिकित्सा	८१६
योनिव्यापद् में वातनाशक चिकित्सा का महत्त्व	८१६
श्वेतप्रदर (पाण्डुर असृग्दर) की चिकित्सा	८१७
पिच्छिल योनिव्यापद् की चिकित्सा	८१७
योनिव्यापद् प्रकरण का उपसंहार	८१८
शुक्रदोष प्रकरण	८१८
शुक्रदोष विषयक अग्निवेश की शङ्का	८१८
भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर	८१८
शुक्र के दोष	८१९
शुक्रदुष्टि के हेतु	८१९
शुक्र के आठ दोष (शुक्रदुष्टि के आठ प्रकार)	८२०
वात से दूषित शुक्र के लक्षण	८२०
पित्त से दूषित शुक्र के लक्षण	८२०
श्लेष्म प्रदुषित शुक्र के लक्षण	८२०
रक्तमिश्रित शुक्र	८२०
ग्रन्थियुक्त एवं अवसादी शुक्र	८२०
शुद्ध शुक्र के लक्षण	८२०
शुक्रदुष्टि की चिकित्सा	८२१
शुक्रदुष्टि की दोषानुसार चिकित्सा	८२१
क्लैब्य रोग प्रकरण (नपुंसकता-प्रकरण)	८२२
क्लैब्य के भेद	८२२
क्लैब्य के सामान्य लक्षण	८२२

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
बीजोपघातज क्लैब्य के हेतु एवं लक्षण	८२२
ध्वजोपघातज क्लैब्य	८२२
हेतु	८२३
लक्षण	८२४
जराजन्य (वृद्धावस्था जन्य) क्लैब्य	८२४
हेतु एवं संप्राप्ति	८२५
क्षयज क्लैब्य के हेतु एवं लक्षण	८२५
क्लैब्य की साध्यता-असाध्यता	८२५
सहज क्लैब्य	८२५
क्लैब्य रोग की चिकित्सा	८२६
क्लैब्य में पञ्चकर्म चिकित्सा (संशोधन चिकित्सा) का प्रयोग	८२६
प्रदर	८२८
हेतु एवं संप्राप्ति	८२८
प्रदर के भेद	८२८
वातज प्रदर के हेतु एवं लक्षण	८२८
पित्तज प्रदर के हेतु एवं लक्षण	८२८
कफज प्रदर के हेतु एवं लक्षण	८२८
त्रिदोषज प्रदर के हेतु एवं लक्षण	८२८
असाध्य प्रदर के लक्षण	८२८
शुद्ध आर्तव के लक्षण	८२९
प्रदर की सामान्य चिकित्सा	८२९
स्तन्य रोग की चिकित्सा	८३०
स्तन्य रोगों के कारण तथा संप्राप्ति	८३१
दोषानुसार स्तन्य के दोष	८३२
वात द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण	८३२
पित्त द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण	८३२
कफ द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण	८३२
स्तन्य दोष की चिकित्सा	८३३
विरेचन का प्रयोग	८३३
पथ्य आहार	८३३
मांसरस का उपयोग	८३३
स्तन्य दोषों की विशेष चिकित्सा	८३४
विरस स्तन्य की चिकित्सा	८३४
फेनयुक्त स्तन्य की चिकित्सा	८३४
रूक्ष स्तन्य की चिकित्सा	८३४
विवर्ण स्तन्य की चिकित्सा	८३४
दुर्गन्धित स्तन्य की चिकित्सा	८३४
अतिस्निग्ध स्तन्य की चिकित्सा	८३४
पिच्छिल स्तन्य की चिकित्सा	८३४
गुरु स्तन्य की चिकित्सा	८३५
बालरोग चिकित्सा	८३५
चिकित्सा स्थान का उपसंहार	८३६
संस्कर्ता का योगदान	८३६
अनुक्त रोगों की चिकित्सा	८३६
सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त	८३७
चिकित्सा में परीक्ष्य विषय	८३८
देश के सम्यक् योग का उदाहरण	८३९
काल का सम्यक् योग	८३९
रोगी की दृष्टि से काल	८३९
औषधि की दृष्टि से काल	८३९
व्याधि की दृष्टि से काल	८४०
जीर्ण लक्षण की दृष्टि से काल	८४०
ऋतु की दृष्टि से काल	८४०
रोग एवं रोगी की परीक्षा बार-बार करें	८४०
विशेष काल का विचार	८४०
ऋतु व रोग का सम्बन्ध	८४०
दोष एवं अहोरात्रि का सम्बन्ध	८४०
दोष व आयु का सम्बन्ध	८४०
दोष तथा आहारपाक का सम्बन्ध	८४०
प्रमाण का सम्यक् योग	८४३
सात्म्य का सम्यक् योग	८४३
सात्म्य का सम्यक् योग	८४३
सात्म्य का महत्त्व	८४३
विपरीतार्थकारी चिकित्सा का उदाहरण	८४५
परीक्षा विषयक उपसंहार	८४६
व्याधि मुक्ति के पश्चात् चिकित्सा का महत्त्व	८४६
पथ्य अन्न का महत्त्व	८४७
पथ्य अन्न का रुचिकर होना आवश्यक	८४८
अध्यायोक्त विषयो का उपसंहार	८४९
शास्त्र ज्ञान एवं प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व	८५०

कल्पस्थानम्

१.	प्रथमोऽध्यायः (मदनकल्प)	८५१-८६६
	कल्प स्थान के उपदेश का उद्देश्य	८५१
	वमन, विरेचन शब्द की व्याख्या	८५२
	वमन विरेचन द्रव्यों की क्रिया विधि	८५२
	वमन कारक द्रव्य	८५४
	विरेचनकारक द्रव्य	८५४
	द्रव्यों की कार्यकारिता	८५५
	देश विवेचन	८५५
	जाङ्गल देश के लक्षण	८५५

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
आनूप देश के लक्षण	८५६
साधारण देश के लक्षण	८५६
देशसंपद् के लक्षण (उपयुक्त देश के लक्षण)	८५६
औषधियों का संग्रहकाल तथा विधि	८५७
भाजनसंपद् का विवेचन	८५८
दोषानुसार सहपान (अनुपान)	८५८
मदनफल के संग्रह एवं प्रयोग की विधि	८५८
वमन विधि	८५९
वामक योगों में मधु एवं सैन्धव लवण का प्रयोग	८५९
मदनफल के आठ योग (वटी योग)	८६१
मदनफल निर्मित प्रेय योग	८६२
मदनफल स्वरस का प्रयोग	८६३
वर्तियोग	८६३
अवलेह के बीस योग	८६३
उत्कारिका अथवा मोदक के बीस योग	८६४
मदनफल साधित अपूप अथवा शष्कुली योग	८६४
मदनफलपिप्पली साधित अन्य वामक योग	८६५
मदनफल के पर्याय	८६५
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८६५
२. द्वितीयोऽध्यायः	**८६७-८६९**
(जीमूतक कल्प)	
जीमूतक के पर्याय	८६७
जीमूतक के औषधीय गुण	८६७
जीमूतक के पाँच प्रयोग	८६७
मदिरा योग	८६८
अन्य बारह योग	८६८
आठ मात्रा योग	८६९
जीमूतक फल चूर्ण का प्रयोग	८६९
घृत योग	८६९
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८६९
३. तृतीयोऽध्यायः	**८७०-८७४**
(इक्ष्वाकुकल्प)	
इक्ष्वाकु के पर्याय	८७०
इक्ष्वाकु कल्पना के योग्य रोग एवं रोगी	८७०
इक्ष्वाकु साधित क्षीर के योग	८७०
तक्र के योग	८७१
इक्ष्वाकु के प्रेय योग	८७१
इक्ष्वाकु का वर्धमान योग	८७२
इक्ष्वाकु बीज के नव योग	८७२
आठ मात्रा योग	८७३
लेह योग	८७३

विषय	पृष्ठ
मन्थ योग	८७४
मांसरस निर्मित एक योग	८७४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८७४
४. चतुर्थोऽध्यायः	**८७५-८७८**
(धामार्गवकल्प)	
धामार्गव के पर्याय	८७५
धामार्गव के योग्य रोग एवं रोगी	८७५
धामार्गव के वमन हेतु उपयोगी भाग	८७५
धामार्गव पत्रस्वरस के नवयोग	८७५
धामार्गव के चार क्षीर एवं एक सुरामण्ड योग	८७५
गुल्म एवं उदर रोग नाशक क्वाथ योग	८७६
अन्य योग	८७६
धामार्गव का एक प्रेय योग	८७६
शकृत (पुरीष) के दो योग	८७७
पुरीष के अन्य दस योग	८७७
अवलेह के दस योग	८७७
विषनाशक योग	८७७
मनोविकार नाशक ग्यारह योग	८७८
घृत योग	८७८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८७८
५. पञ्चमोऽध्यायः	**८७९-८८१**
(वत्सककल्प)	
विषयारम्भ	८७९
वत्सक के पर्याय	८७९
कुटज कल्प के योग्य रोग एवं रोगी	८७९
वत्सक (कुटज) क्वाथ के नव योग	८७९
चूर्ण के पाँच योग	८८०
जल के तीन योग	८८०
कृशरा योग	८८०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८८०
६. षष्ठोऽध्यायः	**८८२-८८५**
(कृतवेधनकल्प)	
विषयारम्भ	८८२
कृतवेधन कल्प के योग्य रोग एवं रोगी	८८२
चार क्षीर एवं एक सुरा योग	८८२
कृतवेधन के अन्य योग	८८२
पिच्छायोग	८८३
कृतवेधन के अन्य योग	८८३
वर्ति के षट् योग	८८३
घृत योग	८८३
अवलेह योग	८८४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
मांसरस योग	८८४
इक्षुरस योग	८८४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८८५
७. सप्तमोऽध्यायः	**८८६-८९८**
(श्यामात्रिवृत् कल्प)	
श्रेष्ठ विरेचक द्रव्य	८८६
त्रिवृत् के पर्याय	८८६
त्रिवृत् के गुण	८८६
त्रिवृत् के भेद	८८७
त्रिवृत् का संग्रह	८८७
त्रिवृत् सेवन की विधि	८८७
त्रिवृत् के नवयोग	८८८
चूर्ण के योग	८८८
गोमूत्र से निर्मित योग	८८९
यष्टीमधु के योग	८८९
जीवकादि से निर्मित चौदह योग	८८९
दुग्ध आदि से निर्मित योग	८८९
अन्य विरेचक योग	८९०
कफज रोगों में विरेचक योग	८९०
निशोथ के अन्य पाँच योग	८९१
तर्पण योग	८९२
मोदक योग	८९२
कल्याणक गुण	८९२
व्योषादि मोदक या गुडिका	८९३
पथ्यादि मोदक	८९४
त्रिवृदादि मोदक योग	८९४
वर्षा ऋतु में उपयोगी विरेचन योग	८९५
शरद् ऋतु में उपयोगी विरेचन योग	८९५
हेमन्तकाल में उपयोगी विरेचन योग	८९५
ग्रीष्म ऋतु में उपयोगी विचेरन योग	८९५
सभी ऋतुओं में उपयोगी विरेचन योग	८९५
अन्य विरेचक योग	८९६
त्रिवृत् योग	८९६
त्रिवृत् के मद्य योग	८९६
अन्य योग	८९७
तुषोदक	८९७
अन्य दस योग	८९७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	८९८
८. अष्टमोऽध्यायः	**८९९-९०१**
(चतुरङ्गुल कल्प)	
पर्याय	८९९
आरग्वध के उपयोग	८९९
अमलतास के संग्रह की विधि	८९९
द्राक्षा रस के साथ योग	८९९
आरग्वध के छः योग	८९९
अवलेह योग	९००
क्षीरोद् धृत घृत का प्रयोग	९००
मनोनुकूल अनुपान	९०१
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९०१
९. नवमोऽध्यायः	**९०२-९०४**
(तिल्वककल्प)	
तिल्वक के पर्याय	९०२
लोध्र (तिल्वक) का संग्रह	९०२
दधि तक्रादि से लोध्र के पाँच योग	९०२
सौवीरक का प्रयोग	९०२
सुरा योग	९०२
कम्पिल्लक योग	९०३
अवलेह योग	९०३
घृतयोग	९०३
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९०४
१०. दशमोऽध्यायः	**९०५-९०८**
(सुधाकल्प)	
सुधा का प्रभाव	९०५
सुधा (स्नुही) के योग्य रोग एवं रोगी	९०५
सुधा (सेहुण्ड) के प्रकार	९०६
पर्याय	९०६
सेहुण्ड दुग्ध का संचय या एकत्रीकरण	९०६
सौवीरक आदि के सात योग	९०६
घृत अथवा मांसरस के अनुपान से दो योग	९०६
पानक योग	९०७
प्रेय योग	९०७
लेह योग	९०७
अन्य योग	९०७
शुष्क मत्स्य अथवा मांस योग	९०७
घृत योग	९०७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९०८
११. एकादशोऽध्यायः	**९०९-९१२**
(सप्तलाशङ्खिनीकल्प)	
पर्याय	९०९
सप्तला एवं शङ्खिनी के योग्य रोग एवं रोगी	९०९
तैलयोग	९१०
घृतयोग	९१०

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
मद्ययोग	९११
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९१२
१२. द्वादशोऽध्यायः (दन्ती-द्रवन्ती कल्प)	**९१३-९३५**
पर्याय	९१३
दन्ती के पर्याय	९१३
द्रवन्ती के पर्याय	९१३
दन्ती एवं द्रवन्ती के गुण	९१३
दन्ती एवं द्रवन्ती के दस योग	९१४
दन्ती-द्रवन्ती के स्नेह योग	९१४
लेह योग	९१४
लेह के अन्य तीन योग	९१५
विबन्ध एवं वात गुल्म नाशक योग	९१५
इक्षुकाण्ड के योग	९१५
मांसरस के योग	९१५
उत्कारिका योग	९१६
मोदक योग	९१६
मद्ययोग	९१६
भक्ष्य योग	९१६
चूर्ण योग	९१६
अरिष्ट योग	९१७
मद्य योग (कफज गुल्म नाशक मद्य)	९१७
सौवीरक एवं तुषोदक योग	९१७
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९१८
योगों के नामकरण का आधार	९१९
योगों में विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग	९१९
भावना द्वारा गुणवृद्धि	९२०
संयोग आदि का महत्त्व	९२०
योगों के तीन भेद	९२१
तीक्ष्ण योगों के लक्षण	९२१
वमन-विरेचक द्रव्यों की तीक्ष्णता में हेतु	९२२
वमन-विरेचक द्रव्यों के मृदु गुण में हेतु	९२२
निर्दिष्ट संशोधनों का प्रयोग	९२२
वमन के अयोग में कर्तव्य	९२३
त्रिविध बल का विचार	९२३
विरेचन के अयोग में कर्तव्य	९२४
शेष दोष के प्रशमन के उपाय	९२५
मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग	९२५
अतियोग की आशङ्का में कर्तव्य	९२७
पित्तावृत भेषज के लक्षण एवं चिकित्सा	९२७
कफावृत भेषज के लक्षण एवं चिकित्सा	९२८
लङ्घन का प्रयोग	९२८
बस्ति देने के बाद विरेचन औषधि का प्रयोग	९२८
स्नेह के योग्य पुरुष	९२८
सम्यक् योग की महत्ता	९२९
द्रव्यों के मान का विचार	९२९
मागध मान की परिभाषा	९३०
द्विगुण परिमाण में द्रव्यों को ग्रहण करने की सीमा	९३२
अन्य परिभाषा	९३२
मृदुपाक के लक्षण	९३३
मध्यपाक के लक्षण	९३३
खरपाक के लक्षण	९३३
त्रिविध स्नेह के उपयोग	९३४
दो प्रकार के मान	९३४
कल्पस्थानोक्त विषयों का उपसंहार	९३४

सिद्धिस्थानम्

१.	**प्रथमोऽध्यायः** (कल्पना सिद्धि)	**९३६-९६१**
	अग्निवेश द्वारा पुनर्वसु आत्रेय से पूछे गये प्रश्न	९३६
	'का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता' प्रथम प्रश्न का उत्तर	९३७
	स्नेहन से लाभ	९३७
	स्नेह पूर्वक स्वेदन से लाभ	९३९
	वमनादि के पूर्व उत्क्लेशनीय आहार का प्रयोग	९३९
	प्रकृति के अनुसार शोधक औषधियों का प्रभाव	९३९
	द्वितीय प्रश्न 'क्रमश्च कः' का उत्तर	९३९
	संसर्जनक्रम	९४१
	संसर्जनक्रम का महत्त्व	९४२
	त्रिविध शुद्धि के लक्षण	९४२
	सम्यक् वमन के लक्षण	९४४
	वमन के अयोग के लक्षण	९४४
	वमन के अतियोग के लक्षण	९४४
	सम्यक् विरेचन के लक्षण	९४४
	विरेचन के अयोग के लक्षण	९४५
	विरेचन के अतियोग के लक्षण	९४५
	बस्ति कल्पना	९४५
	अनुवासन बस्ति का काल	९४७
	अनुवासन बस्ति देने का क्रम	९४८
	दोष भेद से अनुवासन बस्ति का विधान	९४८
	निरूह एवं विरेचन के मध्य सात दिन का अन्तराल आवश्यक	९४९
	निरूह बस्ति के गुण	९५०
	अनुवासन बस्ति के गुण	९५१

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
निरूह एवं अनुवासन बस्ति के सामान्य गुण	९५१
रोगी के अनुसार बस्ति का चयन	९५२
नित्य विशोधनीय रोग	९५२
शोधन बस्ति का निषेध	९५२
बस्ति चिकित्सा का महत्व	९५३
बस्ति की परिभाषा	९५४
निरूह बस्ति के सम्यक् योग के लक्षण	९५४
निरूह बस्ति के अयोग के लक्षण	९५४
निरूह बस्ति के अतियोग के लक्षण	९५५
अनुवासन बस्ति के सम्यक् योग के लक्षण	९५५
अनुवासन बस्ति के अयोग के लक्षण	९५५
अनुवासन बस्ति के अतियोग के लक्षण	९५५
स्नेह के प्रत्यागम (वापस लौटने) का काल	९५५
संख्या के आधार पर बस्ति भेद	९५६
कर्मबस्ति	९५६
कालबस्ति	९५६
योगबस्ति	९५६
निरूहबस्ति का प्रयोग	९५७
शिरोविरेचन	९५७
सम्यक् शिरोविरेचन के लक्षण	९५७
शिरोविरेचन के अयोग (हीन योग) के लक्षण	९५७
शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण	९५८
चिकित्सा	९५८
पञ्चकर्म चिकित्सा का उपसंहार	९५८
पञ्चकर्म के बाद परिहारकाल कितना	९५८
पञ्चकर्म काल में क्या निषेध है ?	९५९
प्रणीयमान (दी गयी) बस्ति	९५९
किस कारण से प्रणीयमान बस्ति अन्दर नहीं जा पाती	९५९
बस्ति के शीघ्र वापस आने में कारण	९५९
कुछ साध्य रोग चिकित्सा के प्रयोग करने पर भी क्यों नहीं शान्त होते ? प्रश्न का उत्तर	९६०
चिकित्सा में असफलता का कारण	९६०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९६१
२. द्वितीयोऽध्यायः	**९६२-९७६**
(पञ्चकर्मीया सिद्धि)	
विषय प्रवेश	९६२
चिकित्सा के अयोग्य पुरुष (सम्पूर्ण पञ्चकर्म चिकित्सा के अयोग्य पुरुष)	९६२
वमन के अयोग्य रोगी	९६३
निर्दिष्ट (पूर्व निर्दिष्ट) रोगों में वमन न कराने का कारण	९६३
वमन के योग्य रोग एवं रोगी	९६५
विरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी	९६६
विरेचन न कराने का कारण	९६७
विरेचन के योग्य रोग एवं रोगी	९६८
आस्थापन बस्ति के अयोग्य रोग एवं रोगी	९६९
निरूहबस्ति (आस्थापन बस्ति) न देने का हेतु	९६९
आस्थापन वस्ति के योग्य रोग एवं रोगी	९७०
अनुवासन बस्ति के अयोग्य रोगी	९७१
अनुवासन बस्ति न देने का हेतु	९७१
अनुवासन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी	९७१
शिरोविरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी	९७२
शिरोविरेचन न देने का हेतु	९७३
शिरोविरेचन के योग्य रोग एवं रोगी	९७४
शिरोविरेचन देने का योग्य काल	९७४
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	९७५
३. तृतीयोऽध्यायः	**९७७-९९९**
(बस्तिसूत्रीय सिद्धि)	
बस्ति सम्बन्धित विषयों पर अग्निवेश की शंका	९७७
बस्ति देते समय विचारणीय विषय	९७८
'नेत्र की लम्बाई, आकृति एवं गुण क्या होने चाहिए' का उत्तर	९७८
बस्तिनेत्र की आकृति	९८०
बस्तिनेत्र का स्वरूप	९८०
निरूह बस्ति की योजना कैसे की जाती है ? का उत्तर	९८१
निरूह बस्ति देने की विधि	९८१
बस्ति के दोष	९८३
बस्ति में द्रव्यों को मिलाने का क्रम	९८५
वाम पार्श्व में शयन का प्रयोजन	९८५
उपद्रवों की व्यवस्था	९८५
निरूह बस्ति द्वारा दोषों की प्रशमन	९८५
निरूह बस्ति के बाद कर्तव्य	९८६
दोषानुसार निरूह बस्ति की योजना	९८७
वय भेद से निरूह बस्ति की मात्रा	९८९
बस्ति देने के बाद सोने की विधि	९९१
निरूह बस्ति के पश्चात् भोजन देने की विधि	९९१
कुछ श्रेष्ठ निरूह बस्तियों की वर्णन	९९१
वातनाशक निरूह बस्तियाँ	९९१
दशमूलादि निरूह बस्ति	९९१
स्थिरादि निरूह बस्ति	९९२
एरण्डमूलादि निरूह बस्ति	९९२
मांसरस बस्ति	९९२
पित्तनाशक निरूह बस्तियाँ	९९३
यष्ट्याह्व निरूह बस्ति	९९३

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
चन्दनादि निरूह बस्ति	९९४
द्राक्षादि निरूह बस्ति	९९४
कफ नाशक निरूह बस्तियाँ	९९५
कोषातक्यादि निरूह बस्ति	९९५
पटोलादि निरूह बस्ति	९९५
पञ्चमूलादि निरूह बस्ति	९९६
रास्नादि निरूह बस्ति	९९६
संसर्ग एवं त्रिदोषनाशक निरूह बस्ति	९९७
पुनर्नवादि निरूह बस्ति	९९७
दोष भेद से निरूह बस्ति की संख्या	९९८
निरुह बस्ति के बाद पथ्य आहार	९९८
अध्यायोक्त विषयों की उपसंहार	९९९
४. चतुर्थोऽध्यायः	**१०००-१०१२**
(स्नेहव्यापत्सिद्धि)	१०००
प्रस्तावना	१०००
दशमूलबलादि तैल	१०००
अन्य वातनाशक योग	१००१
शताह्वादि तैल	१००१
सैन्धवादि तैल	१००१
जीवन्त्यादि यमक	१००२
चन्दनाद्य यमक	१००२
सैन्धवादि तैल	१००३
मदनफल तैल	१००३
बिल्वादि पञ्चमूल तैल	१००३
पिप्पल्यादि तैल	१००३
विडङ्गादि तैल	१००४
अनुवासन बस्ति के सामान्य गुण	१००४
स्नेह बस्ति के व्यापद्	१००५
स्नेह बस्ति के व्यापद् का कारण	१००५
वातावृत स्नेह के लक्षण	१००६
वातावृत स्नेह बस्ति की चिकित्सा	१००६
पित्तावृत स्नेह बस्ति के लक्षण एवं चिकित्सा	१००६
कफावृत स्नेह बस्ति के लक्षण एवं चिकित्सा	१००६
अन्नावृत स्नेह बस्ति के लक्षण	१००६
चिकित्सा	१००६
पुरीषावृत स्नेह बस्ति के लक्षण	१००७
चिकित्सा	१००७
खाली पेट दी गयी अनुवासन बस्ति से उत्पन्न विकार एवं उनकी चिकित्सा	१००८
उपद्रव रहित अप्रवृत्त स्नेह बस्ति की उपेक्षा करें	१००८
अनुवासन बस्ति के बाद पथ्य अन्न की व्यवस्था	१००९
उष्ण जल के गुण	१००९
नित्य अनुवासन बस्ति के योग्य पुरुष	१००९
आम तैल (स्नेह) का प्रयोग बस्ति में न करें	१०१०
स्नेहपान एवं अनुवासन बस्ति का एक समय में प्रयोग न करें	१०१०
निरूह अथवा अनुवासन बस्ति का एकान्तिक प्रयोग न करें	१०११
मात्रा बस्ति के योग्य पुरुष	१०११
मात्रा बस्ति का महत्त्व	१०११
मात्रा बस्ति से लाभ	१०११
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०१२
५. पञ्चमोऽध्यायः	**१०१३-१०१८**
(नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि)	१०१३
विवेच्य विषय	१०१३
नेत्र के दोष एवं उनसे उत्पन्न होने वाले उपद्रव	१०१४
बस्तिपुटक के दोष	१०१४
बस्ति दाता (प्रणेता) के दोष	१०१५
अनुच्छ्वास की अवस्था में बस्ति प्रयोग से हानि एवं उसकी चिकित्सा	१०१६
नेत्र के शीघ्रता पूर्वक गुदा में प्रवेश एवं निकालने से होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा	१०१६
तिर्यक् नेत्र के प्रयोग से होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा	१०१६
बार-बार वस्तिपुटक के दबाने से होने वाली हानि एवं चिकित्सा	१०१६
कम्पन से होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा	१०१७
बार-बार नेत्र के प्रवेश कराने एवं निकालने से उत्पन्न हानियाँ एवं चिकित्सा	१०१७
मन्दवेग तथा नेत्र के बाहर रहने से उत्पन्न दोष एवं उसकी चिकित्सा	१०१७
अधिक वेग से बस्ति देने पर होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा	१०१८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०१९
६. षष्ठोऽध्यायः	**१०१९-१०३१**
(वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि)	१०१९
अध्याय की प्रस्तावना	१०१९
संशोधन के सामान्य काल	१०२०
मांस के आधार पर प्रावृटादि ऋतुओं के विभाग	१०२१
स्नेहन-स्वेदन का विधान	१०२१
अत्याधिक स्नेहपान का निषेध	१०२१
स्निग्ध एवं रूक्ष विरेचन के योग्य पुरुष	१०२१

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
संशोधन के सम्यक् योग में महत्त्वपूर्ण कारक	१०२२
संशोधन से पूर्व स्नेहन-स्वेदन का महत्त्व	१०२२
संशोधन का महत्व	१०२२
अजीर्ण में संशोधन प्रयोग से हानियाँ	१०२३
मात्रावत् औषधि (संशोधन औषधि की उपयुक्त मात्रा) के गुण	१०२३
एकाग्र मन से औषधि का सेवन करें	१०२४
संशोधन (वमन-विरेचन) औषधि से पूर्व आहार-विधि	१०२४
सम्यक् शुद्धि के लक्षण	१०२४
विरेचन के सम्यक् योग की अवस्था में शेष औषधि को निकालना	१०२५
सम्यक् वमन का फल	१०२५
संसर्जनक्रम की आवश्यकता	१०२६
तर्पण आदि की योजना	१०२६
जीर्णौषधि के लक्षण (औषधि पाक के लक्षण)	१०२६
अजीर्ण औषधि (शेषौषधि) के लक्षण	१०२६
व्यापत्ति उत्पादक हेतु	१०२७
संशोधन के अयोग एवं अतियोग जन्य व्यापत्तियाँ	१०२७
योग (सम्यक् योग), अतियोग एवं अयोग के लक्षण	१०२८
विरेचक औषधि का वमन हो जाना	१०२८
तीक्ष्ण वामक औषधि का विरेचन हो जाना	१०२८
अयोग नामकरण का आधार	१०२८
संशोधन औषधि के जीर्ण हो जाने पर कर्तव्य	१०२९
संशोधन औषधि का पुनः प्रयोग	१०२९
औषधि की दूसरी मात्रा का निषेध	१०२९
अयोग के हेतु तथा उपद्रव	१०२९
अयोग का दूसरा रूप	१०३०
अतियोग के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा	१०३१
वमन के अतियोग की चिकित्सा	१०३२
पेयादि संसर्जनक्रम का प्रयोग	१०३२
आध्मान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३३
परिकर्तिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३३
परिकर्तिका नाशक विशेष योग	१०३४
परिकर्तिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३५
हृद्ग्रह के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३५
अङ्गग्रह के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३६
जीवादान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३६
रक्तपान का विधान	१०३७
विभ्रंश के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३७
स्तम्भ के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३८
उपद्रव के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३८
क्लम के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०३८
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०३९
७. सप्तमोऽध्यायः (बस्तिव्यापत्सिद्धि)	**१०४०-१०५०**
विषयारम्भ	१०४०
निरूहबस्ति की द्वादश व्यापत्तियाँ	१०४०
अयोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४१
अतियोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४२
क्लम रोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४३
आध्मान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४३
वर्ति का प्रयोग	१०४४
निरूह एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग	१०४४
हिक्का के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४५
हृत्प्राप्ति के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४५
ऊर्ध्वगमन के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४६
प्रवाहिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४७
शिरोर्ति के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४७
अङ्गार्ति के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४८
परिकर्तिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४८
परिस्राव के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा	१०४८
मृदु व तीक्ष्ण बस्ति में डाले जाने वाले द्रव्य	१०४९
बस्ति का प्रभाव	१०५०
अन्य उपमा	१०५०
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०५०
८. अष्टमोऽध्यायः (प्रासृतयोगीय सिद्धि)	**१०५१-१०६३**
विषयारम्भ	१०५१
पञ्चप्रासृतिक बस्ति	१०५१
अष्टप्रासृतिक बस्ति	१०५१
नवप्रासृतिक बस्ति	१०५१
चतुः प्रासृतिक बस्ति	१०५२
पञ्चतिक्त पञ्चप्रासृतिक बस्ति	१०५२
षट् प्रासृतिक बस्ति	१०५२
सप्तप्रासृतिक बस्ति	१०५३
चतुः प्रासृतिक बस्ति (द्वितीय)	१०५३
पञ्चप्रासृतिक बस्ति (द्वितीय)	१०५३
जर्जरीभूत बस्ति की चिकित्सा	१०५४
गुददाह की चिकित्सा	१०५४
मल (पुरीष) क्षय की चिकित्सा	१०५४
आमज शूल की चिकित्सा	१०५४

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
अतिसार की चिकित्सा	१०५५
अतिसार के छः भेद	१०५५
अतिसार के उपद्रव	१०५६
आमयुक्त अतिसार की चिकित्सा	१०५६
शकृदातिसार की चिकित्सा	१०५७
वातज अतिसार की चिकित्सा	१०५७
रक्तातिसार की चिकित्सा	१०५७
पित्तातिसार	१०५७
कफातिसार	१०५७
दो से अधिक दोषों के संयोग से उत्पन्न अतिसार की चिकित्सा	१०५९
छः दोषों के संसर्ग से उत्पन्न अतिसार की चिकित्सा	१०६०
अतिसार की सामान्य चिकित्सा	१०६१
अतिसार नाशक घृत	१०६१
अन्य यवागू	१०६१
अतिसार चिकित्सा का उपसंहार	१०६२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०६२
९. नवमोऽध्यायः	**१०६४-१०९२**
(त्रिमर्मीय सिद्धि)	
विषयारम्भ	१०६४
त्रिमर्मों का विवेचन	१०६५
हृदय विवेचन	१०६५
सिर विवेचन	१०६५
बस्ति विवेचन	१०६५
मर्मों का महत्व	१०६५
हृदयोपघात के लक्षण	१०६७
शिरोपघात के लक्षण	१०६७
बस्ति अभिघात के लक्षण	१०६७
मर्मों के परिपालन में बस्ति चिकित्सा की प्रधानता का कारण	१०६८
हृदयोपघात की चिकित्सा	१०६८
शिरोपघात की चिकित्सा	१०६९
बस्ति मर्माघात चिकित्सा	१०६९
बस्ति मर्माघात नाशक तैल	१०६९
मर्मत्रय विषयक उपसंहार	१०७१
अपतन्त्रक रोग की संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७१
अपतानक रोग की संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७१
अपतन्त्रक एवं अपतानक की चिकित्सा	१०७२
तन्द्रा के हेतु एवं संप्राप्ति	१०७३
तन्द्रा के लक्षण	१०७३
तन्द्रा रोग की चिकित्सा	१०७३

विषय	पृष्ठ
बस्ति रोग	१०७४
बस्ति रोगों की गणना	१०७४
मूत्रौकसाद की संप्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा	१०७५
मूत्रजठर के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७५
मूत्रकृच्छ्र के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७५
मूत्रोत्सङ्ग के हेतु एवं लक्षण	१०७६
मूत्रक्षय के लक्षण	१०७६
मूत्रातीत के लक्षण	१०७६
वातष्ठीला की संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७६
वातबस्ति के लक्षण	१०७६
उष्णवात के लक्षण	१०७६
वातकुण्डलिका की संप्राप्ति एवं लक्षण	१०७६
रक्तग्रन्थि के लक्षण	१०७६
विड्विघात की संप्राप्ति	१०७६
बस्तिकुण्डल के हेतु एवं संप्राप्ति	१०७७
बस्तिकुण्डल का चिकित्सा सूत्र	१०७८
उत्तरबस्ति का निर्माण	१०७८
उत्तरबस्ति देने की विधि	१०७९
पिप्पल्यादिवर्ति	१०८०
स्त्रियों में उत्तरबस्ति के प्रयोग का काल	१०८१
स्त्रियों में उत्तरबस्ति हेतु पुष्पनेत्र का प्रमाण	१०८१
स्त्रियों में उत्तरबस्ति देने की विधि	१०८१
शिरोरोग प्रकरण	१०८१
शंखक रोग-संप्राप्ति तथा लक्षण	१०८१
शंखक चिकित्सा	१०८२
अर्धावभेदक-सम्प्राप्ति एवं लक्षण	१०८२
चिकित्सा	१०८३
सूर्यावर्त के निदान एवं लक्षण	१०८४
सूर्यावर्त रोग की चिकित्सा	१०८४
अनन्तवात के हेतु एवं लक्षण	१०८५
अनन्तवात की चिकित्सा	१०८५
शिरोरोग की सामान्य चिकित्सा	१०८५
नस्यकर्म का महत्व	१०८५
नस्यकर्म का भेद	१०८७
विभिन्न अवस्थाओं में नस्य का प्रयोग	१०८७
शिरोविरेचन एवं तर्पण नस्य में प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ	१०८८
अवपीड नस्य देने की विधि	१०८८
नस्य देने के बाद	१०८८
धूमपान का प्रयोग	१०८८
पश्चात् कर्म	

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
नावन नस्य के प्रयोग से होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा	१०९०
रूक्ष नस्य का निषेध	१०९०
तिमिर रोग एवं उसकी चिकित्सा	१०९०
प्रतिमर्श नस्य	१०९१
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१०९२
१०. दशमोऽध्यायः (बस्तिसिद्धि)	**१०९३-११०३**
विषयारम्भ	१०९३
बस्ति चिकित्सा का महत्व	१०९३
बस्ति चिकित्सा की श्रेष्ठता में हेतु	१०९३
विरेचन की तुलना में बस्ति की श्रेष्ठता	१०९४
बस्ति के भेद	१०९५
बृंहण बस्ति के अयोग्य पुरुष	१०९५
शोधन बस्ति के अयोग्य पुरुष	१०९५
बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव आदि पदार्थ	१०९६
बस्ति में उपयोगी प्रक्षेप द्रव्य	१०९६
तीक्ष्ण व मृदु बस्ति के योग्य पुरुष	१०९७
विभिन्न प्रकार की बस्तियों का विवेचन	१०९७
वातनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)	१०९७
पित्तनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)	१०९७
कफनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)	१०९८
पक्वाशय शोधक बस्तियाँ (कुल संख्या चार)	१०९८
शुक्र व मांसवर्धक बस्तियाँ (कुल संख्या चार)	१०९९
सांग्राहिक बस्तियाँ	१०९९
परिस्राव नाशक वस्तियाँ	१०९९
दाहनाशक बस्तियाँ	१०९९
परिकर्तिका नाशक बस्तियाँ	११००
प्रवाहिका नाशक बस्तियाँ	११००
विरेचन के अतियोग को दूर करने वाली बस्तियाँ	११००
रक्तस्राव रोधक (जीवादान नाशक) बस्तियाँ	११०१
रक्तपित्तनाशक बस्तियाँ	११०२
प्रमेह नाशक बस्ति	११०२
अन्य रोगों में बस्तियों की कल्पना	११०२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११०२
११. एकादशोऽध्यायः (फलमात्रासिद्धि)	**११०४-१११९**
फलादि विषयक सम्भाषापरिषद्	११०४
विभिन्न आचार्यों के विचार	११०४
भगवान पुनर्वसु आत्रेय का समाधान	११०५
पुनर्वसु आत्रेय के विचारों का स्वागत	११०६
वस्ति सम्बन्धी अन्य प्रश्न	११०६
पुनर्वसु आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर	११०६
पशुओं में बस्ति का प्रयोग	११०७
पशुओं में प्रयुक्त बस्तिपुटक के निर्माण में उपयोगी द्रव्य	११०७
पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्तिनेत्र का प्रमाण	११०७
विभिन्न पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०८
सामान्य रूप से उपयोगी बस्ति द्रव्य	११०८
हाथियों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०८
गायों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०८
घोड़ों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०८
गधे व ऊँट में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०९
बकरी तथा भेड़ आदि छोटे पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य	११०९
हमेशा रोगी रहने वाले व्यक्ति	११०९
सदा रोगी रहने का कारण	११०९
सदा रोगी रहने वाले व्यक्तियों की चिकित्सा	१११०
फलवर्ति का प्रयोग	१११०
निरूह बस्ति का प्रयोग	१११०
बलादि निरूह बस्ति	१११०
शिशुओं तथा वृद्ध पुरुषों में बस्ति का प्रयोग	११११
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	१११९
१२. द्वादशोऽध्यायः (उत्तरबस्तिसिद्धि)	**१११२-११५३**
संशोधित व्यक्ति की रक्षा की विधि	१११२
अग्नि की रक्षा हेतु संसर्जनक्रम की प्रयोग	१११३
संशोधन के पश्चात् रसों के प्रयोग का क्रम	१११३
आतुर को प्राकृत अवस्था में लाना	१११३
प्रकृति प्राप्त पुरुष के लक्षण	१११४
महादोषकर भावों के त्याग का निर्देश	१११५
वर्ज्य आठ भावों के सेवन से होने वाली हानियाँ	१११५
महादोषकर भावों से उत्पन्न होने वाले रोग एवं उनकी चिकित्सा	१११६
उच्च आवाज में अथवा अधिक बोलने से होने वाली व्याधियाँ	१११६
रथ आदि के क्षोभ में होने वाली व्याधियाँ	१११६
अतिचङ्क्रमण से होने वाली व्याधियाँ	१११७
एक ही स्थिति में अधिक देर तक बैठने के कारण रथ क्षोभ से होने वाले रोग	१११७
अजीर्ण भोजन एवं अध्यशन से होने वाले रोग	१११७
विषम तथा अहित भोजन से हो वाले रोग	१११७

Scanned by CamScanner

विषय	पृष्ठ
दिवा शयन से होने वाले रोग	१११७
स्त्री-प्रसङ्ग से होने वाली व्याधियाँ	१११८
महादोषकर भावों के सेवन से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा	१११९
यापना बस्तियों का उपयोग	११२१
मुस्तादि यापना बस्ति	११२१
एरण्डमूलादि यापना बस्ति	११२१
सहचरादि यापना बस्ति	११२२
बृहत्यादि यापना बस्ति	११२२
प्रथम बलादि यापना बस्ति	११२२
द्वितीय बलादि यापना बस्ति	११२२
हपुषादि यापना बस्ति	११२३
ह्रस्वपञ्चमूलादि यापना बस्ति	११२३
तृतीय बलादि यापना बस्ति	११२३
चतुर्थ बलादि यापना बस्ति	११२३
शालपर्ण्यादि यापना बस्ति	११२३
स्थिरादियापना बस्ति	११२४
तीन अन्य यापना बस्तियाँ	११२४
बलवर्धक बस्तियाँ (तित्तिरादि यापना बस्ति)	११२५
द्विपञ्चमूलादि यापना बस्ति	११२६
मयूरादि यापना बस्ति	११२६
विष्किरादि प्राणियों के मांस से निर्मित यापना बस्तियाँ	११२६
वृष्य बस्तियाँ	११२६
कूर्मादि यापना बस्ति	११२६
कर्कटकादि यापना बस्ति	११२६
गोवृषादि यापना बस्ति	११२७
दशमूलादि यापना बस्ति	११२७
यापना बस्तियों के अन्य योग	११२७
मधुतैलादि यापना बस्ति	११२७
द्विपञ्चमूलादि यापना बस्ति	११२८
वृष्यतम स्नेह बस्तियाँ	११३०
चतुः स्नेह अनुवासन बस्ति	११३०
बलादि यमक अनुवासन बस्ति	११३१
सहचरादि अनुवासन बस्ति	११३२
स्नेह का शत या सहस्र बार पाक करना	११३२
यापना संज्ञक स्नेह बस्तियों के गुण	११३२
बस्ति प्रयोग काल में अपथ्य	११३३
यापना बस्तियों का संक्षेप में वर्णन	११३३
बस्ति के वापस न लौटने पर कर्तव्य	११३४
यापना बस्ति के अत्याधिक सेवन के दोष	११३४
यापना बस्ति के अति प्रयोग से उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा	११३४
महादोषकर प्रकरण का उपसंहार	११३४
सिद्धिस्थान की निरुक्ति	११३५
अग्निवेशतन्त्र में अध्यायों की संख्या	११३५
संहिता के अध्ययन का फल	११३५
प्रतिसंस्कर्ता के कार्य	११३५
संपूरितकर्ता दृढ़बल	११३६
अपूर्ण विषयों को पूर्ण करने की प्रक्रिया	११३६
छत्तीस तन्त्र युक्तियाँ	११३६
तन्त्रयुक्तियों की गणना	११३७
शास्त्र में तन्त्र युक्तियों का विवेचन	११५०
तन्त्रयुक्तियों का महत्त्व	११५१
एक शास्त्र के ज्ञान से अन्य शास्त्रों का ज्ञान	११५१
शास्त्रज्ञान का महत्त्व	११५१
अग्निवेशतन्त्र के अध्ययन का फल	११५२
चरकसंहिता का महत्त्व	११५२
अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार	११५२

Scanned by CamScanner

चिकित्सास्थानम्

प्रथमोऽध्यायः।

रसायनाध्याये प्रथमः पादः ।

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे अभयामलकीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ।।१-२।।

चक्रपाणि–पूर्व स्थान (इन्द्रियस्थान) में वर्णित लक्षणों के अभाव होने से अर्थात् अरिष्ट लक्षणों के अभाव वाले आयु युक्त रोगियों की चिकित्सा करने पर धर्म, अर्थ एवं यश की प्राप्ति होती है । इसके अनन्तर चिकित्सा अभिधायक स्थान का अभिधान किया जा रहा है । रसायन व वाजीकरण चिकित्सा का साधन होते हुए भी जिस प्रकार चिकित्सा की जाती है उसका विवेचन इसके बाद करेंगे । वहाँ भी ज्वरादि चिकित्सा से पहले रसायन व वाजीकरण का अभिधान महाफलदायी होने से आदि (प्रारम्भ) में किया गया है । उन दोनों (रसायन-वाजीकरण) में भी रसायन को सहस्रादि वर्ष आयु को युक्त करने के कारण 'महाफलमिति' शब्द से कहा गया है । इसमें भी अभयामलकीय रसायनपाद को चिकित्सा स्थान के लिए सूत्ररूप कहते हुए सर्वप्रथम विवेचित किया गया है । ।।१-२।।

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम् । प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ।।३।।
विद्याद्भेषजनामानि,

भेषज के पर्याय–चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन तथा हित; ये सभी भेषज के ही नाम हैं । अर्थात् एक ही अर्थ को बताने वाले हैं ।

चक्रपाणि–सर्वप्रथम अभिधेय स्थान के व्यवहार के लिए भेषज के पर्यायों को यहाँ 'चिकित्सितमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । इस स्थान में प्रधान रूप से चिकित्सा ही अभिधेय है, अतः उसी के पर्यायों का यहाँ सर्वप्रथम अभिधान किया गया है, यथा–निदानस्थान में हेतु, रूप आदि के पर्यायों को बताया गया है ।

ये पर्याय प्रधान रूप से चतुष्पाद चिकित्सा के ही हैं, जिसके बारे में कहा भी गया है–**''चतुष्पादं षोडशकलं भेषजमिति भिषजो भाषन्ते''** (सु.अ. १०) इति [चतुष्पाद चिकित्सा के षोडश गुण होते हैं, ऐसा चिकित्सक समुदाय कहता है ।]

एवं भूतभेषजाङ्गरूपतया तु स्थावरजङ्गमद्रव्यरूपस्य भेषजस्य भेषजत्वमेवान्तरव्यवहारकृतं ज्ञेयम्–स्थावर एवं जङ्गम द्रव्य भेषज के ही अंग हैं, अर्थात् भेषज से स्थावर व जङ्गम रूप द्रव्यों का ग्रहण किया गया है ।

प्रायश्चित्तमिति–प्रायश्चित्त का भी नाम भेषज दिया गया है । प्रायश्चित्त की तरह भेषज का कार्य अधर्म जन्य कार्य रुप व्याधि को दूर करना है । [प्रायश्चित्तम्–प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्- पाप से निवृत्ति हेतु चित्त की शुद्धि के लिए की जाने वाली धार्मिक साधना प्रायश्चित्त कही जाती है ।] अथवा व्याधिनाशक होने से प्रायश्चित्त को भी भेषज कहा गया है ।] ।।३।।

भेषजं द्विविधं च तत् । स्वस्थस्योर्जस्करं किञ्चिदार्तस्य रोगनुत् ।।४।।

भेषज के भेद (Types of Bheshaja)–वह भेषज दो प्रकार का होता है–

१. स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य को बढ़ाने वाला, अर्थात् कुछ द्रव्य स्वस्थ पुरुष के लिए ऊर्जस्कर होते हैं ।
२. कुछ द्रव्य (भेषज) रोगी के रोग का प्रशमन करने वाले होते हैं । ।।४।।

चक्रपाणि–भेषज के दो भेदों का उल्लेख 'स्वस्थस्येत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

किञ्चिदिति–कुछ द्रव्य, न कि सभी । 'स्वस्थस्योर्जस्करं' का अभिप्राय जरा (वृद्धावस्था) आदि स्वाभाविक व्याधियों के नाश तथा अप्रहर्ष, व्यवाय आदि के कारण उत्पन्न शुक्रक्षय आदि अप्रशस्त शारीरभावों के नाश से है । अर्थात् ऊर्जस्कर औषधि उपर्युक्त अप्रशस्त भावों को दूर कर शरीर में प्रशस्त भावों (क्षय जनित धातुओं की पुष्टि) को उत्पन्न करती है ।

रोगनुदिति–इस वचन से रोगी के वैशिष्ट्य को बताया गया है अर्थात् आर्तस्य रोगनुत् औषधि रोगी के रोग को दूर करती है । इससे यहाँ सहज जरा आदि व्याधियों को छोड़कर ज्वर, रक्तपित्त, प्रमेह आदि अस्वाभाविक व्याधियों का ग्रहण किया गया है । ।।४।।

Scanned by CamScanner

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम् ।

अभेषज के भेद–अभेषज दो प्रकार के होते हैं–

१. बाधन [ऐसा द्रव्य जिसके प्रयोग से शरीर में तत्काल कष्ट (uneasiness) उत्पन्न हो, उसे बाधन कहते हैं ।]

२. अनुबाधन (ऐसा द्रव्य जिसके सेवन से कालान्तर में कष्ट या व्याधि उत्पन्न हो उसे अनुबाधन कहते हैं ।)

चक्रपाणि–भेषज का प्रकरण होने से अभेषज के प्रकार को यहाँ 'अभेषजमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । **बाधन** का अभिप्राय यहाँ तत्काल शरीर में मात्र बाधा पहुँचाने से है, यथा–अल्प अपथ्य, अर्थात् अल्प अपथ्य का सेवन करना । **सानुबाधनं च दीर्घकालावस्थायिकुष्ठादिविकारकारि**–दीर्घकाल तक अवस्थान करने वाले कुष्ठादि व्याधियों को गृहीत किया गया है । अर्थात् जिन द्रव्यों के सेवन करने से कुष्ठादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं उन्हें सानुबाधन कहा गया है ।

स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम् ।।५।।
प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् । प्रायःशब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ।।६।।

भेषज का विवेचन–जो औषधि या द्रव्य स्वास्थ्य के लिए ऊर्जस्कर (ओजोवर्धक) होते हैं प्रायः वे वृष्य व रसायन गुण वाले होते हैं। जो औषधि आतुर के रोग को नष्ट करने वाली होती है, वह प्रायः रोगनाशक होती है । ये दोनों द्रव्य या औषधियाँ दोनों ही कार्यों (ऊर्जस्कर एवं रोगनुत्) को करती हैं । इस श्लोक में प्रायः शब्द का विशेष अर्थ लिया गया है, जो दोनों के लिए ही प्रयुक्त है । ।।५-६।।

चक्रपाणि–'स्वस्थस्येत्यादि' के द्वारा भेषज के द्विविध भेदों को विवेचित किया गया है ।

तद्वृष्यं तद्रसायनं प्राय इति च्छेदः–यहाँ प्रायः तक वाक्य पूर्ण हो जाता है । यद्वृष्यं प्रायो भवति तथा रसायनं यत् प्रायो भवति, आर्तस्य रोगहरं यद्बाहुल्येन, तत् स्वस्थोर्जस्करं उच्यते–जो द्रव्य या औषधि प्रायः वृष्य होती है तथा जो प्रायः रसायन गुण वाली होती हैं, जो बहुलता से रोग नाशक कार्य करती है, उसे स्वस्थोर्जस्कर कहते हैं ।

दूसरे जो आर्तस्य रोगनुत् द्रव्य होते हैं वे प्रायः ज्वरादि शमन के साथ-साथ रसायन व वाजीकरण कार्य भी करते हैं, यथा–क्षतक्षीण अध्याय में वर्णित सर्पिगुडादि रसायन व वाजीकरण कार्य करते हैं । पाण्डु रोग में वर्णित योगराज रसायन कार्य करता है । उसी प्रकार कासाधिकार में वर्णित अगस्त्य हरीतकी रसायन कार्य को करती है । इस प्रकार रसायन ग्रन्थों में वर्णित रसायन द्रव्यों का व्याधिनाशक कर्म भी स्पष्ट है ।

अन्य आचार्यों का विचार है कि जो द्रव्य मात्र व्याधिनाशक कार्य करते हैं वह रसायन कार्य नहीं करता, लेकिन शरीर को दृढ़ बनाने एवं दीर्घायु प्रदान करने के कारण व्याधिनाशक द्रव्यों को भी यहाँ रसायन कहा जाता है । यहाँ यह शंका है कि यदि द्रव्य स्वस्थोर्जस्कर होते हुए भी व्याधिनाशक कार्य करता है तथा रोगनुत् होते हुए भी स्वस्थोर्जस्कर कार्य करता है । तब किंचिद् इति पद का प्रयोग चिकित्सा की किस व्यवस्था के लिए किया गया है ? इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–यहाँ स्वस्थोर्जस्करत्व एवं व्याधिहरत्व दोनों द्रव्यों के साथ 'बाहुल्येन' जुड़ा हुआ है । अर्थात् अधिकांश ऊर्जस्कर द्रव्य ऊर्जस्कर कार्य के साथ-साथ व्याधिनाशक कार्य भी करते हैं तथा अधिकांश आर्तस्य रोगनुत् (रोगनाशक) द्रव्य रोगनाशक के साथ-साथ ऊर्जस्कर (रसायन व वाजीकरण) कार्य भी करते हैं । न कि सभी रोगनुत् या ऊर्जस्कर द्रव्य ऊर्जस्कर या व्याधिनाशक कार्य करते हैं । इससे पाठा, सप्तपर्ण आदि व्याधिनाशक द्रव्यों में जो रसायनत्व गुण होता है वह रोगहर स्वभाव के कारण होता है । ये द्रव्य भी रसायन व वाजीकरण कार्य करते हैं, लेकिन अल्प रूप में करते हैं । यह गुण ऊर्जस्कर एवं रोगनुत् दोनों प्रकार के द्रव्यों में पाया जाता है । अर्थात् प्रायः ऊर्जस्कर द्रव्य स्वस्थ पुरुष के शक्ति को बढ़ाने का कार्य करते हैं, लेकिन अल्प रूप में रोगनाशक कार्य भी करते हैं इसी प्रकार आर्तस्य रोगनुत् द्रव्य विशेष रूप से व्याधिनाशक कार्य करते हैं, लेकिन अल्प रूप में रसायन-वाजीकरण का भी कार्य करते हैं । यहाँ प्रायः शब्द का तात्पर्य 'प्राय इत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

विशेषार्थमिति–बहुलता से, अर्थ लिया गया है ।

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः । प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम् ।।७।।
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात् । लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ।।८।।

रसायन के कार्य–दीर्घमायु (Longevity), स्मृति (Memory), मेधा (Intellect), आरोग्य (Healthy life), तरुणावस्था (Youth), प्रभा (Beautiful appearance), वर्ण व स्वर की उदारता, देह (Body) एवं ज्ञानेन्द्रियों में उत्तम बल का होना, वाक्सिद्धि (वाणी की सिद्धि-स्पष्ट वक्ता), आदर की भावना (नम्रता का भाव) तथा कान्ति (Beauty); इन गुणों की प्राप्ति व्यक्ति को रसायन के सेवन से होती है, अर्थात् पुरुष को रसायन सेवन से उपर्युक्त गुण प्राप्त होते हैं ।

Scanned by CamScanner

प्रशस्त रसरक्तादि धातुओं के प्राप्त करने के उपाय को रसायन कहते हैं। अर्थात् रसायन उस उपाय को कहते हैं जिसके द्वारा पुरुष में रसादि धातुओं का निर्माण उत्तम रूप से होता है। ॥७-८॥

चक्रपाणि–'दीर्घमित्यादि' के द्वारा रसायन के कार्य को स्पष्ट किया गया है। 'औदार्यम्' शब्द प्रभादि तीनों के साथ जुड़ा हुआ है। इस प्रकार-प्रभा औदार्यम्, वर्णौदार्यम् तथा स्वरौदार्यम् बनता है। जिसका अभिप्राय प्रभा, वर्ण एवं स्वर की उत्तमता से है।

वाक्सिद्धिः यदुच्यते तदवश्यं भवतीत्यर्थः–पुरुष जो कहता है वह निश्चय ही पूरा होता है।

प्रणतिः लोकवन्द्यता–समाज में पूज्य होना अर्थात् समाज में वह आदर का पात्र होता है।

यह रसायन कैसे कार्य करता है ? इसका विवेचन 'लाभेत्यादि' के द्वारा किया गया हैं। यहाँ रसादि शब्द से स्मृति आदि भावों का भी ग्रहण हो जाता है। [इस आधार पर रसायन की अधोलिखित परिभाषा प्राप्त होती है–स्मृति, दीर्घायु एवं रसादि धातुओं के प्रशस्तभावों की प्राप्ति जिन उपायों या द्रव्यों के सेवन से होती है उसे रसायन कहते हैं।] ॥७-८॥

विशेष–शस्तानां रसादीनां लाभोपायो हि रसायनम्–प्रशस्त रसादि धातुओं एवं स्मृत्यादि भावों की प्राप्ति के उपाय को रसायन कहते हैं। दीर्घायु की प्राप्ति से स्मृत्यादि भावों के उत्तम रूप में रहते हुए १०० वर्ष तक जीना अर्थात् स्वस्थ रहते हुए सौ वर्ष से अधिक आयु की प्राप्ति से है। आचार्य शार्ङ्गधर ने कहा भी है, यथा–**यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्**। [जो भेषज जरा (वृद्धावस्था) एवं व्याधि (disease) का नाश करे उसे रसायन कहते हैं।]

अपत्यसंतानकरं यत् सद्यः संप्रहर्षणम्। वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः ॥९॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते। जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद्येन दृश्यते ॥१०॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान्। भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥११॥
सतानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते। यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥१२॥

वाजीकरण के कार्य (Functions of Aphrodisiac medicine)

परिभाषा (Definition of Vājeekarana)–जो औषधि अपत्य परम्परा (पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि) को बनाये रखने वाला हो, जो सद्यः प्रहर्ष को उत्पन्न करे, जिसके सेवन करने से पुरुष अप्रतिहत वेग से स्त्रियों के साथ अश्व की तरह मैथुन करने में समर्थ हो, जिस औषध के सेवन से पुरुष स्त्रियों का अधिक प्रिय हो जाता है, जिसके प्रयोग से रसादि धातुओं का शरीर में उपचय होता है, वृद्धावस्था आने पर भी व्यक्ति में शुक्र का क्षय नहीं होता तथा व्यक्ति फलवत् दिखाई देता है। अर्थात् उसकी संन्तान परम्परा बनी रहती है। अत्यधिक शाखा-प्रशाखा युक्त होने के कारण जिस प्रकार चैत्य (गाँव के बाहर स्थित पूजनीय वट या पीपल का वृक्ष) पूजनीय होता है। उसी प्रकार सुबहुप्रज (अधिक एवं योग्य संतानों वाला व्यक्ति) भी पूज्य होता है। वाजीकरण औषधि सन्तानोत्पत्ति का मूल है जिसके द्वारा पुरुष को इस लोक एवं परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। जिनके सेवन से पुरुष को यश (Fame), श्रिय (Fortune), बल (Strength) एवं पुष्टि (Nourishment of Dhātus) की प्राप्ति हो उस औषधि को वाजीकरण (Aphrodisiac) औषधि एवं उस उपक्रम को वाजीकरण चिकित्सा (Aphrodisiac therapy) कहते हैं। ॥९-१२॥

चक्रपाणि–'अपत्येत्यादि' के द्वारा वाजीकरण के कार्यों को बताया गया है, अर्थात् वार्जीकरण औषधियों के लाभ का उल्लेख किया गया है।

अपत्यसन्तानः अपत्यपरम्परा, तेन पुत्रपौत्रकरमित्यर्थः–अपत्यसन्तान का अर्थ पुत्र परम्परा से है। अर्थात् व्यक्ति का पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्रादि से युक्त होना। वाजीकरण औषधियों के सेवन से उत्पन्न शुक्र द्वारा ही व्यक्ति पुत्र को उत्पन्न करने में सक्षम होता है। **अतिप्रियत्वं चेहोपचितशुक्रतया निरन्तरव्यवायकर्तृत्वात्**–शुक्र की वृद्धि के कारण निरन्तर व्यवाय करने से पुरुष स्त्रियों का अतिप्रिय हो जाता है। कहा भी गया है, यथा–**''विरूपमपि योद्धारं भृत्यमिच्छन्ति पार्थिवाः। व्यवायव्यायतं मूर्खं धृष्टं पतिमिव स्त्रियः'' इति**। [राजा गण ऐसे भृत्य की इच्छा करते हैं जो विरूप (कुरूप) होते हुए भी युद्ध प्रिय हो, इसी प्रकार स्त्रियाँ उस पुरुष की इच्छा करती हैं जो पुंसत्व शक्ति से युक्त हो, भले ही वह मूर्ख अथवा धृष्ट हो।]

उपचीयत इति पुष्टिं प्राप्नोति–शरीर धातुओं का पुष्ट होना।

अक्षयमिवाक्षयम्–अक्षय पात्र की तरह होना अर्थात् व्यवाय द्वारा निरन्तर शुक्र क्षय होने पर भी शुक्र का क्षय न होना।

फलवदिति–फल की तरह, शुक्र का संतानोत्पादन गुणों से युक्त होना।

Scanned by CamScanner

चैत्यो–गाँव के बाहर स्थित वह बड़ा वृक्ष (पीपल) जिस पर देवताओं का वास रहता है, चैत्य कहा जाता है। इस वृक्ष की ग्रामवासी पूजा करते हैं। अर्च्यः=पूजनीय। आनन्त्यमिवानन्त्यम्–अनन्त की तरह होना अर्थात् वाजीकरण सेवन करने वाले व्यक्ति की सन्तान परम्परा का बने रहना। ॥९-१२॥

स्वस्थस्योर्जस्करं त्वेतद्विविधं प्रोक्तमौषधम्। यद्व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥१३॥
चिकित्सितार्थ एतावान् विकाराणां यदौषधम्। रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च ॥१४॥

इस प्रकार यहाँ स्वस्थ पुरुष के ऊर्जस्कर भाव को बढ़ाने वाले दो प्रकार की औषधियों का विवेचन किया गया है। व्याधिनाशक औषधियों का विवेचन चिकित्सा प्रकरण में करेंगे। इन विकारों की जो औषधि बतायी जायेगी वही चिकित्सा का प्रयोजन भी है। यहाँ सर्वप्रथम रसायन विधि तथा बाद में वाजीकरण का उल्लेख किया गया है।

चक्रपाणि–चिकित्सित इति-ज्वरादि चिकित्सा में। **ननु रसायनवाजीकरणे अपि ज्वरादिचिकित्सिते एव**-रसायन-वाजीकरण में भी ज्वरादि की चिकित्सा का विवेचन है, फिर इसका क्या वैशिष्ट्य है जिसे चिकित्सा स्थान में बतायेगें, इसका उत्तर 'चिकित्सार्थ इत्यादि' के द्वारा दिया गया है। यह सत्य है कि रसायन व वाजीकरण औषधियाँ ज्वरादि व्याधियों का नाशक होने से इसे 'चिकित्सित' शब्द से यहाँ कहा गया है। व्याधिनाशक औषधियाँ जिनका उल्लेख चिकित्सा प्रकरण में किया गया है उन्हें रसायन वाजीकरण प्रकरण में क्यों नहीं कहा गया है, इसे यहाँ 'रसायनेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

विधिःविधानम्–विधि का अभिप्राय रसायन विधान से लिया गया है। अग्रे इति = के बाद। रसायन विधि के वर्णन के बाद वाजीकरण विधि का उल्लेख किया गया है। ॥१३-१४॥

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात्। तदसेव्यं निषेव्यं तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥१५॥

अभेषज की परिभाषा–वह द्रव्य अथवा कर्म जो औषध (Medicine) से विपरीत होता है उसे अभेषज कहा जाता है। उसका प्रयोग पुरुष को नहीं करना चाहिए। यहाँ मात्र सेवन करने वाली औषधियों का उल्लेख करेंगे। ॥१५॥

चक्रपाणि–अभेषज का पूर्व में निर्देश किया गया है। उसी का स्पष्टीकरण 'अभेषजमिति' के द्वारा दिया गया है।

विपरीतं रोगजननलक्षणार्थकारि–जो द्रव्य औषध के विपरीत गुणों वाली हो उसे अभेषज कहते हैं। अर्थात् वे द्रव्य जिनके सेवन करने से व्याधि की उत्पत्ति होती हो अथवा व्याधि के लक्षण बढ़ते हों। ॥१५॥

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः। कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च ॥१६॥
कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते। नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥१७॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे। दिशि पूर्वोत्तरस्यां च सुभूमौ कारयेत् कुटीम् ॥१८॥
विस्तारोत्सेधसंपन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्। घनभित्तिमृदुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम् ॥१९॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम्। इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥२०॥
अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते। मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥२१॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्दधानः समाहितः। विधूय मानसान् दोषान् मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥२२॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम्। देवगोब्राह्मणान् कृत्वा ततस्तां प्रविशेत् कुटीम् ॥२३॥
तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः। रसायनं प्रयुञ्जीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥२४॥

रसायन विधि-प्रकरण (Process of Rasāyana therapy)

रसायन के प्रकार (Divison of Rasāyana therapy)–रसायन औषधियों का प्रयोग दो प्रकार से किया गया है।

१. कुटी प्रावेशिक विधि (Indoor manegment)

२. वातातपिक विधि (Out door manegment)

यहाँ सर्वप्रथम कुटी प्रावेशिक विधि का वर्णन किया जा रहा है–

१. **कुटी प्रावेशिक विधि**–सर्वप्रथम अब कुटी प्रावेशिक विधि का वर्णन किया जा रहा है–ऐसा स्थान जहाँ पुण्यकर्मा नृप (राजा), वैद्य (चिकित्सक), द्विज (ब्राह्मण) एवं साधु (सज्जन) लोग निवास करते हों, जो जगह भयरहित हो, प्रशस्त हो, जहाँ चिकित्सा के सभी साधन सुलभ हों, ऐसे नगर (City) के पूर्व व उत्तर दिशा में उत्तम भूमि पर एक कुटी (Sanatorium) का निर्माण करावें। कुटी की लम्बाई, चौड़ाई व उँचाई पर्याप्त होनी चाहिए। कुटी त्रिगर्भा हो अर्थात् एक कमरा आगे, उसके अन्दर दूसरा तथा दूसरे से लगा हुआ तीसरा कमरा होना चाहिए। इस कमरे में सूक्ष्म झरोखें (Narrow ventilators) होने चाहिए। इसकी दीवार (Walls) मोटी तथा सभी

Scanned by CamScanner

ऋतुओं में आराम दायक होनी चाहिए । अर्थात् कुटी इस प्रकार निर्मित होनी चाहिए कि जो प्रत्येक ऋतु के लिए अनुकूल हो । (It should be pleasant to reside in all seasons.) इस कुटी में प्रत्येक कार्य करने का स्थान निर्धारित होना चाहिए । कुटी रोगी के मन के लिए प्रिय होनी चाहिए अर्थात् जिसमें प्रवेश करने पर रोगी अपने को प्रसन्न (Pleasant) महसूस करे । वह अप्रशस्त शब्दों के लिए अगम्य हो अर्थात् ध्वनि प्रदूषण नहीं होनी चाहिए (जिसमें अत्यधिक शोरगुल न होता हो) इस कुटी में स्त्री प्रवेश वर्जित है । वह कुटी मनोनुकूल उपकरणों से युक्त होनी चाहिए एवं जिसमें वैद्य, औषध एवं ब्राह्मणों की उचित व्यवस्था हो ।

प्रवेश प्रक्रिया–अब इसके बाद जब सूर्य उत्तरायण में हो, शुक्ल पक्ष में उत्तम तिथि एवं नक्षत्र में, शुभ मुहूर्त एवं करण में, सिर के बाल बनवाकर अर्थात् सिर का मुण्डन कराकर, धृति, स्मृति एवं बल को धारण कर, श्रद्धा युक्त होकर, मानसिक दोषों को दूर कर, प्राणिमात्र के कल्याण का चिन्तन करते हुए, सर्वप्रथम अपने इष्टदेव की पूजा करके, द्विज, देव, गो एवं ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा कर उस कुटी में व्यक्ति प्रवेश करें । उस पुरुष को संशोधन उपक्रमों द्वारा शुद्ध करके जातबलोपरान्त रसायन द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए । उस संशोधन प्रक्रिया (विधि) का उल्लेख आगे किया जा रहा है । ॥२४॥

चक्रपाणि–कुटी प्रवेशेन यत् क्रियते तत् कुटी प्रावेशिकम्–कुटी में प्रवेश करते समय जो क्रिया करायी जाती है उसे कुटी प्रावेशिक कहा जाता है ।

वातातपसेवयाऽपि यत् क्रियते तद् वातातपिकम्–वातातपसेवन में जो कार्य या क्रिया की जाती है उसे वातातपिक कहा जाता है । त्रिगर्भा का अभिप्राय–सबसे पहले एक कमरा (Room) उसके अन्दर (आभ्यन्तर भाग में) दूसरा कमरा (Room) दूसरे के अन्तः भाग में तीसरा कक्ष (Room) हो, से है । इस प्रकार त्रिगर्भा का अर्थ त्रिप्रकोष्ठ युक्त कक्ष से है । **सूक्ष्मलोचनामिति**-अल्पद्वारजालकाम् (रोशनदान-Narrow Ventilators) । **शुक्ले**-शुक्ल पक्ष में **सज्जा वैद्यादयो यस्यां सा तथा**-कुटी वैद्य (Physicians), औषध (Medicines) एवं ब्राह्मणादि से सुसज्जित होनी चाहिए ।

तिथिनक्षत्रपूजित इति–शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र एवं शुभ योग से पूजित । अर्थात् उपयुक्त (शुभ) तिथि, नक्षत्र एवं योग में पुरुष को इस कुटी में प्रवेश कराना चाहिए ।

कृतवापन इति कृतक्षौरः–सिर के बाल बनवाकर (मुण्डन करना-Shaving the head)

मानसान् दोषान् इति–काम, क्रोध आदि मानस दोषों को दूर कर ।

संशोधनैरिति–वमन, विरेचन, आस्थापन एवं शिरोविरेचनादि द्वारा शुद्ध । सुखीति=निरोग ।

जातबल इति–संशोधन द्वारा शुद्ध होकर संसर्जनक्रम द्वारा पुनः बल को प्राप्त करना । यद्यपि यहाँ **संशोधनैरिति** में बहुवचन का प्रयोग है जिससे यहाँ सभी संशोधनों का प्रयोग उचित है । अर्थात् रोगी को वमनादि द्वारा संशोधन करना अर्थ गृहीत है, फिर भी यहाँ रसायन प्रकरण में संशोधनार्थ विशेष रूप से हरीतक्यादि चूर्ण के प्रयोग का विधान है या कहा गया है । अन्य आचार्य हरीतक्यादि चूर्ण के प्रयोग द्वारा ही व्यक्ति का उत्कृष्ट रूप से शोधन हो जाता है, ऐसा स्वीकार करते हैं ।

संशोधनैरिति बहुवचनं पुनर्यावच्छुद्धेर्हरीतक्यादि प्रयोगस्यैव करणं दर्शयति–'संशोधनैः' में बहुवचन के प्रयोग का अभिप्राय यह है–जब तक हरीतक्यादि चूर्ण के प्रयोग से व्यक्ति की सम्यक् शुद्धि न हो जाय, तब तक उसका प्रयोग करना चाहिए । ॥१६-२४॥

हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम् । वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ॥२५॥
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः । तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ॥२६॥
त्रिरात्रं यावकं दद्यात् पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा । सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥२७॥
शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत् । वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥२८॥

रसायनोक्त संशोधन की विधि-संशोधन औषध–हरीतकी, सैन्धवनमक, आँवला (Emblica officinalis), गुड़, वचा, विडंग, हल्दी, पिप्पली तथा शुण्ठी (सोंठ); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें ।

इस चूर्ण का प्रयोग संशोधनार्थी स्नेहन एवं स्वेदनोपरान्त उष्ण जल के साथ करे । व्यक्ति के शरीर के सम्यक् शोधन एवं संसर्जन क्रम हेतु उसे तीन रात्रि (अवर शुद्धि), या पाँच रात्रि (मध्यम शुद्धि) या सात रात्रि (उत्तम शुद्धि) तक यव के यवागू में प्रभूत मात्रा में घृत मिलाकर तब तक सेवन करना चाहिए जब तक कि पुराने मल की शुद्धि न हो जाय ।

जब यह जान लें कि व्यक्ति का सम्यक् शोधन (कोष्ठ शुद्धि) हो गया है तब उसके वय (Age), प्रकृति (स्वभाव Nature) एवं सात्म्यता के अनुसार जो रसायन उपयुक्त हो उसका सेवन करावें ।

चक्रपाणि–यावकमिति-यवान्नम् (यव का यवागू) **त्रिरात्रादिविकल्पत्रयं हीनमध्योत्तमशुद्धिविषयम्**- यव के यवागू सेवन के यहाँ तीन विकल्प बताये गये हैं । प्रवर शुद्धि में सात दिन, मध्यम शुद्धि में पाँच दिन एवं अवर शुद्धि में तीन दिन यवान्न (यवागू) सेवन करना चाहिए । ॥२५-२८॥

Scanned by CamScanner

विशेष–यहाँ संशोधन के गुणों की प्राप्ति मात्र हरीतक्यादि चूर्ण के सेवन से हो जाती है, पश्चात् संसर्जन क्रम के रूप में यव के यवागू को खिलाने का निर्देश दिया गया है तथा चूर्ण का प्रयोग पूर्वकर्म (स्नेहन-स्वेदन) के पश्चात् किया गया है। अतः स्पष्ट है कि रसायनोक्त संशोधन सामान्य संशोधन से विशिष्ट है। क्योंकि शास्त्र में किसी भी चूर्ण के सेवन से पूर्व स्नेहन स्वेदन एवं पश्चात् संसर्जन क्रम कराने का निर्देश नहीं है। ये पूर्व व पश्चात् कर्म संशोधन प्रक्रिया में ही कराये जाते हैं। यहाँ यह शंका पैदा होती है कि हरीतक्यादि चूर्ण के सेवन के समय रोगी को आहार के रूप में क्या देना चाहिए ? क्योंकि तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन उसका संशोधन काल होगा। इन कालों के बाद हमें संसर्जन क्रम कराना चाहिए ? ऐसा संभव नहीं है। हरीतक्यादि चूर्ण द्वारा संशोधन कराते समय ही अन्नकाल में यवागू का प्रयोग करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रातः सायं एक तोले की मात्रा में हरीतक्यादि चूर्ण का प्रयोग करें, भूख लगने पर व्यक्ति को घृत मिश्रित यव का यवागू खाने के लिए दें। यह क्रम तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन कराया जा सकता है।

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्यादीपनपाचनीम् ।।२९।।
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ।।३०।।
कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्। अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ।।३१।।
हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम्। कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ।।३२।।
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां क्रिमीन्। श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम् ।।३३।।
स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः। स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ।।३४।।
(अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः। सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ।।३५।।)
तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि। यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ।।३६।।
अतश्चामृतकल्पानि विद्यात् कर्मभिरीदृशैः। हरीतकीनां शस्यानि भिषगामलकस्य च ।।३७।।

हरीतकी (Terminalia chebula) के गुण-कर्म–हरीतकी पञ्च रस युक्त लवणरहित, वीर्य में उष्ण तथा कल्याणकारी होती है। यह दोषों का अनुलोमक, लघु एवं दीपन-पाचन कार्य करती है। आयुष्य (आयु के लिए हितकर), पौष्टिक (शरीर को पुष्ट करने वाली), धन्य एवं उत्तम वयः स्थापक है। यह सभी रोगों का प्रशमन करती है, बुद्धीन्द्रियों को बल प्रदान करती है। हरीतकी कुष्ठ (Skin diseases), गुल्म, उदावर्त (upword movement of the wind in the abdomen), शोष (Consumption), पाण्डु (Anaemia), मद (Intoxications), अर्श (Piles), ग्रहणी (Sprue syndrome), पुराण एवं विषम ज्वर (Chronic and Irregular fever), हृद्रोग (Heart diseases), शिरोरोग (Headache), अतिसार (Diarrhoea), अरोचक (Anorexia), कास (Cough), प्रमेह (Urinary diseases including diabetes mellitus), आनाह (Abdominal distension), प्लीहा (Splenomegaly), उदर, कफप्रसेक (Salivation of mouth), स्वरभेद (Hoarseness of voice), शरीर की छाया में विकृति (विवर्णता-Impairment of complexion), कामला (Jaundice), क्रिमिरोग (Intestinal Worms), श्वयथु (Oedema), तमक श्वास (Bronchial asthma), छर्दि (वमन का होना Vomiting), क्लैब्य (Impotency), अङ्गावसाद (Lassitude in the body), स्रोतसों में विभिन्न प्रकार के अवरोधों का होना अथवा स्रोतावरोध जन्य विविध व्याधियों का होना, हृदय एवं उरः प्रदेश में प्रलेप का होना (हृदय एवं उरः को गीले कपड़े से लपेट दिया गया हो, ऐसा प्रतीत होना-[Collection of adhesive material (like fat) around heart and chest], स्मृति एवं बुद्धि में प्रमोह का होना (स्मृति व बुद्धि का जड़ हो जाना- Stupifaction of memory and intellect.); इन सभी विकारों को हरीतकी शीघ्र ही दूर कर देती है।

हरीतकी सेवन के अयोग्य पुरुष–जो व्यक्ति अजीर्ण से पीड़ित हो, रूक्ष भोजन करते हों (Taking dry food), ऐसे पुरुष जो नित्य स्त्री सेवन, मद्य व विष के सेवन से कृश हो गये हैं तथा जो भूख, प्यास एवं उष्ण विकारों (heat stroke) से पीड़ित हैं, उन्हें हरीतकी का सेवन नहीं करना चाहिए।

आमलकी के गुण-कर्म–वे सभी गुण व कर्म जो हरीतकी में पाये जाते हैं वे ही आमलकी में भी पाये जाते हैं लेकिन आमलकी (आँवला) का वीर्य विरुद्ध होता है, अर्थात् हरीतकी वीर्य में उष्ण तथा आमलकी वीर्य में शीत होती है।

उपसंहार–अतः उपर्युक्त (इन) कर्मों के लिए हरीतकी एवं आमलकी के गुठली रहित फलों का प्रयोग अमृत तुल्य होता है। ॥३७॥

चक्रपाणि–यद्यपि द्रव्यान्तराणि दशवर्षशतायुष्कररसायनाधिकृतानि सन्ति, तथाऽपि हरीतक्यामलके एव रोगहरत्वायुष्करत्वरूपोभयधर्मयोगादध्यायादौ गुणकर्मभ्यामुच्येते-यद्यपि ऐसे अनेक द्रव्य हैं जो रसायन कार्य करते हैं जिसके सेवन से व्यक्ति की आयु दस वर्ष से लेकर सौ वर्ष तक बढ़ जाती है, फिर भी हरीतकी एवं आमलकी में ही रोगहर एवं आयुष्कर दोनों धर्म होने से अध्याय के प्रारम्भ में इन्हीं के गुण-कर्मों का विवेचन किया गया है। वहाँ भी यद्यपि "आमलकं वयः स्थापनानाम्" (सू०अ० २५) [वयः स्थापन द्रव्यों में आँवला श्रेष्ठतम्

Scanned by CamScanner

होता है ।] कहा गया है, फिर भी रोगनाशक कार्य में हरीतकी उत्तम होने से उसका अभिधान पहले किया गया है । अर्थात् आँवला वयः स्थापन कार्य में श्रेष्ठ होता है जबकि हरीतकी व्याधिनाशन कार्य उत्तम रुप से करती है ।

हरीतकी, आमलकी आदि में पञ्च रसों की उत्पत्ति भूतों के अदृष्ट संयोग विशेष के प्रभाव के कारण होती है । यहाँ उपपत्ति का कोई क्रम नहीं है ।

शिवामिति-कल्याणकारिणीं-कल्याण करने वाली । यह कार्य हरीतकी अपने प्रशस्त गुणों के कारण करती है ।

सर्वरोगप्रशमनीमिति-संयोग एवं संस्कार आदि गुणों के कारण हरीतकी सभी रोगों का प्रशमन करती है । सर्वरोगहरत्व गुण के अभिधान के बाद भी पृथक् से कुष्ठादि व्याधियों के नाशक कर्मों का उल्लेख होना हरीतकी के विशेष गुणों को दर्शाने के लिए किया गया है । अर्थात् हरीतकी में कुष्ठादि नाशक गुण विशेष रूप से पाया जाता है ।

प्रवर्तकत्वेऽप्यतीसारग्रहणीहरत्वं विबद्धदोषप्रवर्तकतया ज्ञेयं,-दोषों का प्रवर्तक होते हुए भी हरीतकी ग्रहणी व अतिसार को दूर करती है, विबद्ध दोषों को शरीर से बाहर निकालने के कारण ऐसा कहा गया है । जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-**''स्तोकं स्तोकं विबद्धं वा सशूलं योऽतिसार्यते । अभयापिप्पलीकल्कैः सुखोष्णैस्तं विरेचयेत्''** यदि दोष विबद्ध हो अथवा अल्प रूप में शूल के साथ निकल रहा हो तब ऐसी स्थिति में अभया (हरीतकी) + पिप्पली का कल्क सुखोष्ण जल के साथ देना चाहिए ।

बुद्धिस्मृतिप्रदत्वमभिधायापि स्मृतिबुद्धिप्रमोहहरत्वाभिधानं तत्र विशिष्टशक्त्युपदर्शनार्थम्-हरीतकी बुद्धि व स्मृति को बल प्रदान करती है, इस कथन के बाद भी यह स्मृति एवं बुद्धि के प्रमोह को दूर करती है, कहा गया है; ऐसा हरीतकी के विशिष्ट गुण को दर्शाने के लिए किया गया है ।

वीर्यस्य तु विपर्यय इति-हरीतकी का वीर्य आमलकी के विपरीत होता है । अर्थात् हरीतकी उष्ण एवं आमलकी शीतवीर्य होती है ।

शस्यानीति-अस्थिरहितानि फलानि-हरीतकी व आमलकी के गुठली रहित फल । ॥२९-३७॥

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवाञ् शैलसत्तमः । तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ।।३८।।
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि । आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च ।।३९।।
यान्यजग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च । तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम् ।।४०।।

ओषधियों के सञ्चय की विधि (Method of Collection of the medicinal plants)

पर्वतों में श्रेष्ठ हिमालय ओषधियों की उत्तम भूमि है, अर्थात् हिमालय पर्वत पर पायी जाने वाली ओषधियाँ (Medicinal plants) गुणों में श्रेष्ठ होती हैं । इसलिए वहाँ उत्पन्न हरीतकी एवं आमलकी आदि के फल जो उचित काल में तैयार हों, अपने रस व वीर्य से पूर्ण हों, जो समय-समय पर भलीभाँति सूर्य का प्रकाश (Sun light), पवन (Air), छाया व जल द्वारा प्रीणित हों । अर्थात् इन्हें समयानुसार सूर्य का प्रकाश, हवा, छाया व पानी की सुविधा मिली हो, ऐसे फल जो दावाग्नि से जले न हो, सड़े न हों, निर्व्रण (घायल न) हों तथा निरोगी हों; उनका ग्रहण करें । ऐसे उत्तम फलों के उत्तम कर्मों का विवेचन आगे किया जा रहा है । ॥३८-४०॥

चक्रपाणि-यद्यपि ''हिमवानौषधभूमीनाम्'' (सू०अ० २५) इति [हिमालय को ओषध भूमियों में श्रेष्ठ कहा गया है । अर्थात् हिमालय पर पायी जाने वाली ओषधियाँ (Medicinal plants) अन्य स्थानों पर पायी जाने वाली ओषधियों से श्रेष्ठ होती हैं ।] यह कहा गया, फिर भी रसायन प्रकरण में निर्दिष्ट औषधियाँ (Medicinal plants) का ग्रहण हिमालय क्षेत्र से ही करना चाहिए । इसे प्रदर्शित करने के लिए 'ओषधीनामित्यादि' का अभिधान किया गया है ।

काले काले इति फलपाककाले इत्यर्थः-काले काले का अभिप्राय फल के पाक काल से लिया गया है। अर्थात् फल अपने निर्धारित पाक काल में पक गये हों ।

यथाविधीति-यथाविधि का अभिप्राय-भेषज [औषध द्रव्यों (Medicinal plants)] के ग्रहण करने से पूर्व मङ्गलपाठ, देवताओं की अर्चना आदि करने का निर्देश है । यह कार्य रसायन औषधियों के ग्रहण करने के पूर्व अवश्य ही किया जाना चाहिए । ऐसा करने से औषधियाँ अवश्य ही अपने गुणों को दर्शाती हैं ।

अगदानीत्यनेन-फलों का वायु, दहन आदि दोषों से रहित होना । ॥३८-४०॥

विशेष-तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम्-उन उत्तम फलों के प्रयोग एवं कर्मों को आगे बताउँगा । यहाँ फलों से आमलकी एवं हरीतकी के फलों का ग्रहण किया गया है ।

Scanned by CamScanner

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान् दशपलोन्मितान् । हरीतकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम् ।।४१।।
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् । विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ।।४२।।
बिल्वाग्निमन्थश्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम् । पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामेरण्डमेव च ।।४३।।
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम् । शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ।।४४।।
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत् । भागान् यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि ।।४५।।
दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम् । हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यामलकानि च ।।४६।।
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः । विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत् ।।४७।।
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च । मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा ।।४८।।
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च । भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा ।।४९।।
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम् । तैलस्य द्व्याढकं तत्र दद्यात्त्रीणि च सर्पिषः ।।५०।।
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत् सर्वं मृदुनाऽग्निना । ज्ञात्वा लेह्यमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ।।५१।।
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत् सर्वं घृतभाजने । तिष्ठेत्संमूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ।।५२।।
या नोपरुन्ध्यादाहारमेकं मात्रा जरां प्रति । षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ।।५३।।
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः । रसायनमिदं प्राश्य बभूवुरमितायुषः ।।५४।।
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाप्यमवापुस्तरुणं वयः । वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः ।।५५।।
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः । ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ।।५६।।
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः प्रयोजयेत् । दीर्घमायुर्वयश्चाप्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते ।।५७।।

(इति ब्राह्मरसायनम्)

प्रथम ब्राह्मरसायन–पाँचों प्रकार के पञ्चमूलों में प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल (४८० gram) का ग्रहण करते हुए कुल क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा ४८०x२५=१२,००० gram अर्थात् १२.००० Kg लें। साथ में एक हजार हरीतकी तथा ३,००० आँवले का ग्रहण करें।

पाँचो पञ्चमूल–१. **विदारीगन्धादि गण, यथा**–विदारीगन्धा, बृहती, पृश्निपर्णी, निदिग्धिका (कण्टकारी-छोटी), श्वदंष्ट्रा (गोखरू)। ये द्रव्य विदारीगन्धादि गण के अन्तर्गत आते हैं।

२. **बृहत पञ्चमूल**–बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, काश्मर्य, व पाटला, ये पाँचों द्रव्य संयुक्त रूप से बृहत पञ्चमूल कहे जाते हैं।

३. **पुनर्नवादि पञ्चमूल**–पुनर्नवा, माषपर्णी (वन उड़द), मुद्गपर्णी (वनमूँग), बला व एरण्ड; ये द्रव्य पुनर्नवादि पञ्चमूल कहे जाते हैं।

४. **जीवन्त्यादि पञ्चमूल**–जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती व शतावरी; ये द्रव्य संयुक्त रूप से जीवन्त्यादि पञ्चमूल कहे जाते हैं।

५. **तृण पञ्चमूल**–शर, इक्षु, दर्भ, कास एवं शाली; ये द्रव्य तृण पञ्चमूल कहे जाते हैं। व्यवहार में उपर्युक्त द्रव्यों का मूल प्रयुक्त होने के कारण इन्हें पञ्चमूल कहा जाता है। पाँचों पञ्चमूलों के मूलों को लेकर दस गुने जल में क्वाथ बनावें अर्थात् १२.०००kg द्रव्य को १२०kg जल में पकावें १/१० भाग जल अवशिष्ट रहने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतार कर एक मोटे कपड़े से छान लें। इस छने हुए क्वाथ की मात्रा १२.०००kg हुई। हरीतकी व आँवला को दोलायन्त्र विधि द्वारा क्वाथ निर्माण करते समय ही स्विन्न कर लें। अच्छी प्रकार से स्विन्न होने पर इनकी गुठली निकालकर इनके गुदे को सील पर पीस कर एक महीन वस्त्र से अच्छी प्रकार रगड़कर गुदे से रेशे को पृथक् कर लें।

अब एक ताम्र के बड़े पात्र में १२.०००kg क्वाथ, रेशारहित आँवला व हरीतकी का गूदा डालकर मिलावें। प्रक्षेप के रूप में- मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शंखपुष्पी, प्लव, मुस्तक, विडंग, चन्दन, अगुरुणी, यष्टीमधु, हल्दी, वच (मीठा), नागकेशर तथा छोटी इलायची प्रत्येक द्रव्य ४-४ पल [१ पल = ४ तोला, अतः ४ पल= १६ तोला] लेकर चूर्ण बनाकर उसमें डाल दें। इस पात्र में ११०० पल (४४०० तोले) शर्करा (चीनी), दो आढ़क (५१२ तोले) तैल (तिल तैल) तथा ३ आढ़क गोघृत डालें। अब इसके बाद इसको मन्दाग्नि में पाक करें। जब पाक लेह की तरह हो जाय, जलने न पाये। इस स्थिति में उसे अग्नि पर से उतार लें, शीतल होने पर घी व तेल की संयुक्त मात्रा का आधा भाग (२½ आढक= ६४० तोला) मधु मिलावें। अवलेह में मधु को अच्छी प्रकार से मिलाकर इसे एक बड़े घृत भावित पात्र में रख लें। इस रसायन का प्रयोग इतनी मात्रा में करें कि व्यक्ति के भोजन की मात्रा में कोई अवरोध न उत्पन्न हो। अर्थात् इसका प्रयोग उचित समय एवं उचित मात्रा में करना चाहिए। **औषध के जीर्ण होने पर व्यक्ति को भोजन के रूप में शाली चावल का भात दूध के साथ सेवन करना चाहिए।**

Scanned by CamScanner

इस ब्राह्मरसायन को वैखानस, बालखिल्य आदि दूसरे तपस्वियों ने खाकर अमित आयु को प्राप्त किया तथा अपनी वृद्धावस्था को त्यागकर तरुणावस्था का उपयोग किया। अर्थात् इस रसायन के सेवन से ये ऋषिगण जरावस्था का त्याग कर युवावस्था (तरुणावस्था) को प्राप्त किये। ये ऋषि तन्द्रा, क्लम, श्वास आदि व्याधियों से रहित हो गये। अर्थात् स्वस्थ हो गये। इसके सेवन से मेधा, स्मृति तथा शारीरिक व मानसिक बल से युक्त होकर अत्यन्त निष्ठापूर्वक ब्राह्म तप एवं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये। इस ब्राह्मरसायन का प्रयोग पुरुष को दीर्घायु की इच्छा से करना चाहिए। इसके प्रयोग द्वारा दीर्घायु की प्राप्ति, उत्तम वय की प्राप्ति एवं मनोनुकूल इच्छायें पूर्ण होती है।

(इति ब्राह्मरसायन)

चक्रपाणि–पञ्चानामित्यादौ प्रतिद्रव्यं दशपलभागग्रहणम्-पञ्चानामित्यादि से पाँचों पञ्चमूलों में प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल (४० तोला = ४८०gram की मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। इसी मत का समर्थन आचार्य जतूकर्ण ने भी किया है, यथा–**''इति पञ्चमूलानि तेषां प्रतिद्रव्यं दशपलानि''** [पाँचों पञ्चमूल के प्रत्येक द्रव्य दस-दस पल (४० तोले) की मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। **हरीतकी सहस्रमिति**-हरीतकी फल की संख्या एक हजार होनी चाहिए। **शूर्पपर्ण्यौ** से माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी का ग्रहण किया गया है। वीरा = जालन्धर शाक। **कूर्चनं = जर्जरीकरणसाधनं शिलापुत्रक मुसलादि**-पीसने का साधन सील व लोढ़ा। विनियेति=प्रक्षेपित करके। अर्थात् हरीतकी और आँवले के रेशे रहित कल्क को क्वाथ में डालें।

प्लवः=केवटी मोथा। कनक=नागकेशर। त्वक्=गुडत्वक्। **औदुम्बरे इति ताम्रमये**-ताँबे (ताम्र) के कलईदार बड़े पात्र में। स्नेहार्धमिति=घृत व तिल तैल के संयुक्त मात्रा का अर्ध भाग।

एकम् अनपराह्णिकमाहारम्=प्रातः काल की आहार मात्रा बाधित नहीं होनी चाहिए। अर्थात् इस रसायन की उतनी मात्रा का सेवन किया जाना चाहिए जिसके सेवन से प्रातः काल की आहार मात्रा बाधित न हो। ॥४१-५७॥

विशेष (Comments)–१. ब्राह्मरसायन बनाते समय सर्वप्रथम पंच-पञ्चमूल द्रव्यों का क्वाथ बनावें। २. आँवला व हरीतकी को क्वाथ के साथ ही स्वित्र करें, यह क्रम दोला यन्त्र विधि से किया जा सकता है। अच्छी प्रकार से स्वित्र हो जाने पर इसके रेशे व गुठली को गूदे से पृथक् कर लें। स्वित्र (उबालने) करने का कार्य प्रेशर कुकर द्वारा भी किया जा सकता है। इससे आँवला व हरीतकी अच्छी प्रकार से उबल जाते हैं, पश्चात् गुठली व रेशे आसानी से निकल जाते हैं। आँवले के रेशे निकालने के लिए लोहे की पतली जाली का प्रयोग किया जा सकता है। ३. प्रक्षेप चूर्ण, ४. तैल व घृत, ५. मधु। सर्वप्रथम क्वाथ बनावें, उसमें शर्करा या मिश्री डालें, अच्छी प्रकार से क्वाथ में चीनी के घुल जाने पर उसमें आँवले व हरीतकी के रेशे व गुठली रहित कल्क मिलावें। उसमें मण्डूकपर्ण्यादि चूर्ण का प्रक्षेप भी मिला लें। पुनः इसमें घृत व तैल को मिलाकर मन्दाग्नि पर धीरे-धीरे गरम करें। अच्छी तरह से पक कर अवलेह जैसा होने पर उसे उतार लें। ठण्डा होने मधु डालें, इस प्रकार ब्राह्म रसायन तैयार होता है।

ध्यान देने की बात यह है कि उपर्युक्त विधि से तैयार अवलेह टिकाऊ नहीं होता। वर्तमान में इसे अधोलिखित विधि द्वारा तैयार किया जाता है–

घटक द्रव्य–(क) क्वाथ द्रव्य-१. विदारीगन्धा (सरिवन) २. बृहती (वन भण्टा) ३. पृश्निपर्णी (पिठिवन) ४. निदिग्धिका (छोटी कटेरी) ५. गोखरू, ६. बिल्व, ७. अग्निमन्थ (अरणी), ८. श्योनाक (सोनापाठा), ९. काश्मरी (गम्भारी), १०. पाटला (पाढ़ल), ११. पुनर्नवा (गदहपूरना), १२. माषपर्णी, १३. मुद्गपर्णी, १४. बला, १५. एरण्ड मूल, १६. जीवक, १७. ऋषभक, १८. मेदा, १९. जीवन्ती, २०. शतावरी, २१. सरपत (मूंज), २२. ईक्षुमूल, २३. दर्भ (डाभ), २४. कास, २५. शाली धान का मूल; प्रत्येक द्रव्य दस-दस पल ग्रहण करें।

(ख) हरीतकी-१०००, आँवला-३०००।

(ग) चीनी (शर्करा)-११०० पल (११००x४=४४०० तोले)

(घ) प्रक्षेप द्रव्य-मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शंखपुष्पी, प्लव (केवटी मोथा), मोथा, वायविडंग, लाल चन्दन, अगर, मुलेठी (यष्टीमधु), हल्दी, मीठावच, नागकेशर, छोटी इलायची एवं दालचीनी-प्रत्येकद्रव्य ४-४ पल (४ पल x ४=१६ तोला)

(ङ) स्नेह- तिल तैल = २ आढ़क
गोघृत = ३ आढ़क
५ आढ़क

(च) मधु = २½ आढ़क = ६४० तोला

Scanned by CamScanner

निर्माण विधि–सर्वप्रथम एक बड़े भगौने में क्वाथ्य द्रव्यों को साफ सुथरा कर, छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर रखें, उसमें क्वाथ्य द्रव्यो की मात्रा से दस गुना अर्थात् १२x१०=१२०kg पानी डालकर मध्यामाग्नि पर पाक करें। जब जल उड़कर १/१० भाग अवशिष्ट रह जाय तब उसे चूल्हे पर से उतार लें तथा एक स्वच्छ कपड़े से छान लें। इस प्रकार यह छना हुआ क्वाथ १२.०००Kg प्राप्त हुआ।

अब १००० हरीतकी एवं ३००० आँवले को प्रेशर कुकर की सहायता से जल डालकर उबाल लें। उबले हुए हरीतकी की गुठली को निकाल कर उसके गूदे को पृथक् कर लें। इस गूदे को सील पर अच्छी तरह पीसकर उसकी लुगदी कर लें। इसी प्रकार उबले हुए आँवले की भी गुठली निकालकर गूदे को पृथक् करें एवं उसे पतली तार की जाली पर रगड़कर रेशें को पृथक् कर दें। अब पीसा हुआ हरीतकी कल्क एवं आँवले की रेशे व बीज रहित गूदे को एक कटाही (कड़ाही) में लगभग २Kg घी+१Kg तिल तैल डालकर भूनें। भूनने का कार्य धीरे-धीरे एवं धैर्यपूर्वक किया जाना चाहिए। जब कल्क से तैल निकलने लगे एवं यह कड़ाही को पूरी तरह छोड़ दे उस समय उसे उतार कर रख लें।

अब एक बड़े लोहे की कड़ाही में १२Kg क्वाथ को डालकर उसमें ११०० पल चीनी डालकर चूल्हे (गैस चूल्हे) पर चढ़ावें, धीरे-धीरे गरम करें। इसे अवलेह की तरह बना लें अर्थात् दो तार की चाशनी बनाकर, इसमें भूनी हुई पिष्टी धीरे-धीरे मिला लें। जब चाशनी में पिष्टी पूरी तरह से मिल जाय एवं अवलेह कुछ ठण्डा हो जाय तो उसमें मण्डूकपर्ण्यादि प्रक्षेप द्रव्यों के चूर्ण (Fine Powder) को थोड़ा-थोड़ा करके मिला दें। अन्त में मधु मिलाकर अवलेह को सुरक्षित पात्र में रख लें।

यथोक्तगुणानाममामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णयेत्। तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरीशङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयङ्गुप्तामृताचन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवती-यूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्त-मर्थर्कर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना, प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति ।।५८।।

भवति चात्र–

इदं रसायनं ब्राह्मं महर्षिगणसेवितम्। भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः ।।५९।।
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः। श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते ।।६०।।
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः। स भवत्यविषं चास्य गात्रे संपद्यते विषम् ।।६१।।

(इति द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्।)

द्वितीय ब्राह्मरसायन–पूर्व निर्दिष्ट उत्तम गुणों वाले एक हजार आँवले को लेकर पिष्ट स्वेदन विधि द्वारा दूध की ऊष्मा से स्विन्न (Boiled) आँवले को छाया शुष्क कर गुठली निकाल कर चूर्ण कर लें। उसमें १००० आँवले के स्वरस की भावना दें। अर्थात् आमलकी चूर्ण को आँवले के स्वरस में डुबावें। पुनः इसे छाया शुष्क कर चूर्ण कर लें। इसमें अधोलिखित द्रव्यों का चूर्ण कुल चूर्ण का १/८ भाग मिलावें–स्थिरा (सरिवन), पुनर्नवा (गदहपूरना), जीवन्ती, नागबला, ब्रह्मसुवर्चला, मण्डूकपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी, पिप्पली, वचा (मीठा वच), विडंग, आत्मगुप्ता (केंवाच के बीज), अमृता (गुडूची या गुड़बेल या गिलोय), चन्दन (लाल चन्दन), अगरु, यष्टीमधु, महुए का पुष्प, उत्पल (नील कमल), पद्म (लाल कमल), मालती पुष्प, युवती (प्रियंगु या गुलाब का पुष्प) तथा यूथिका (जूही का पुष्प)।

अब आमलकी स्वरस भावित चूर्ण जिसमें स्थिरादि द्रव्यों के चूर्ण मिलाये गये हैं, में १००० पल (१०००x४=४००० तोला) नागबला स्वरस की भावना दें, पश्चात् इसे छाया शुष्क कर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण की दोगुनी मात्रा में गोघृत अथवा गोघृत+मधु मिलाकर क्षुद्रगुड के जैसा या अवलेहवत् बना लें। इसे अवलेह को घृत भावित मजबूत घड़े में भरकर ऊपर से ढक्कन बन्द कर जमीन के नीचे गड्ढा खोदकर उसमें नीचे राख डालकर घड़े को रखें। पुनः इसके ऊपर राख भरकर गड्ढे को बन्द कर दें। पन्द्रह दिन तक वहाँ अथर्ववेदविद् ब्राह्मण द्वारा रक्षाविधान कराते हुए उसकी रक्षा करें। पन्द्रह दिन के बाद इसे बाहर निकाल कर उसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, प्रवाल व कालायस (लौह) का चूर्ण (भस्म) सम्पूर्ण चूर्ण का १/८ भाग डालें। (वर्तमान में चूर्ण न डालकर इनके भस्मों का प्रयोग का करना उचित है। भस्म चूर्ण की तुलना में ज्यादा गुणकारी होते हैं। अतः यह मात्रा १/८ भाग न डालकर १/६४ भाग डालना चाहिए।) इसका सेवन रसायन सेवी पुरुष विधि पूर्वक आधे कर्ष की मात्रा से प्रारम्भ कर प्रतिदिन अर्ध कर्ष मात्रा बढ़ाते हुए, अग्निबल के अनुसार केवल प्रातः काल सेवन करे। औषध के जीर्ण हो जाने पर भोजन के रूप में शाली चावल का भात व दूध को घृत के साथ लें। ऐसा करने से रसायन सेवी पुरुष को यथोक्त गुणों की प्राप्ति होती है।

ब्राह्मरसायन (द्वितीय) के गुण–यह रसायन महर्षियों द्वारा सेवित है। इसके सेवन से व्यक्ति को आरोग्य, दीर्घायु एवं बल की प्राप्ति होती है।

Scanned by CamScanner

इसके सेवन करने से व्यक्ति प्रजा के बीच कान्ति युक्त, अभिलषित कार्यों को करने वाला, अर्थात् विषयों को सिद्ध करने वाला तथा सूर्य व चन्द्रमा की भाँति कान्तियुक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जो कुछ भी सुनता है उसे शीघ्र ही याद हो जाता है एवं उसका मन आर्ष (ऋषियों) के समान पवित्र हो जाता है। अर्थात् शुद्ध सात्विक हो जाता है। व्यक्ति का शरीर पर्वतों के समान दृढ़ एवं वायु के समान पराक्रमी होता है। इस व्यक्ति के शरीर के ऊपर विष का भक्षण करने पर भी कोई बुरा प्रभाव (विष जनक प्रभाव) नहीं दिखता। (इति द्वितीयं ब्राह्मरसायनम्)

चक्रपाणि-पिष्टस्वेदनविधिनेति-पिष्ट स्वेदन विधि द्वारा, जिस प्रकार पिष्टक (आटे के पिण्ड) को तोय परिपूरित पात्र के ऊपर तृणादि रखकर स्वेदन करते हैं उसी प्रकार इसे भी दूध के वाष्प से स्विन्न करते हैं।

स्वरसपरिपीतमिति-स्वरस द्वारा भावित। ब्रह्मसुवर्चला आदि औषधियों का वर्णन आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद नामक अध्याय में किया जायेगा।

युवतीः=नवमालिका। **अष्टमो भागोऽष्टभागः**-अष्टमो भाग का अर्थ आमलकी चूर्ण (आमलकी स्वरस भावित) के १/८ भाग,से है।

क्षुद्रगुडाकृतिमिति-फाणिताकृतिम् = फाणित (राब) जैसा अर्थात् अवलेह की भाँति।

अर्धकर्षवृद्धयेति अर्धकर्षात्प्रभृति वर्धयेत् १/२ कर्ष से प्रारम्भ करके १/२-१/२ कर्ष की मात्रा प्रतिदिन बढ़ानी चाहिए। यथोक्तविधिनेति-कुटी प्रावेशिक विधि द्वारा।

यथोक्तान् गुणानिति-प्रथम ब्राह्म रसायन के निर्दिष्ट गुणों को प्राप्त करना।

धरणीधरसार इति-उष्ट्र के मुख की भाँति, यहाँ धरणीधरा से पर्वत अर्थ लिया गया है। पर्वतों का सार अर्थात् लौह, व्यक्ति का शरीर लोहे की भाँति दृढ़ हो जाता है।

अविषमिति-विष भी कोई विकार नहीं उत्पन्न करता। ॥५८-६७॥

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिर्बला। पर्ण्यश्वत्तस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम् ॥६२॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु। अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शटी ॥६३॥
मुस्तं पुनर्नवा मेदा सैला चन्दनमुत्पलम्। विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका ॥६४॥
एषां पलोन्मितान् भागाञ्छतान्यामलकस्य च। पञ्च दद्यात्तदैकध्यं जलद्रोणे विपाचयेत् ॥६५॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्। तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः ॥६६॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्त्वा चार्धतुलां भिषक्। मत्स्यण्डिकायाः पूताया लेहवत्साधु साधयेत् ॥६७॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते प्रदापयेत्। चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा ॥६८॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात्। इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः ॥६९॥
कासश्वासहरश्चैव विशेषेणोपदिश्यते। क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः ॥७०॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम्। पिपासां मूत्रशुक्रस्थान् दोषांश्चाप्यपकर्षति ॥७१॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम्। अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा ॥७२॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम्। स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥७३॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात्। जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥७४॥

(इति च्यवनप्राशः)

च्यवनप्राश-बिल्व (बेल की छाल), अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, श्योनाक (सोनापाठा) की छाल, काश्मर्य (गम्भारी) की छाल, पाटला (पाढल) की छाल, बलामूल, चार प्रकार की पर्णिनी-सालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), माषपर्णी (वन उड़द), मुद्गपर्णी (वन मूंग), पिप्पली, स्वदंष्ट्रा (गोखरू), बृहती (वन भण्टा), कटेरी (छोटी कटेरी), काकड़ासींगी, तामलकी (भूंई आँवला), द्राक्षा (मुनक्का), जीवन्ती, पुष्करमूल, अगरु, अभया (बड़ी हर्रे), गुडूची, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, शटी, मुस्तक (खेत का मोथा), पुनर्नवा, मेदा, बड़ी इलायची, चन्दन (लालचन्दन), उत्पल (नील कमल), विदारीकन्द, अडूसा का मूल (वासा मूल), काकोली, तथा काकनासा; प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल (यदि १ पल= ४ तोला) लें।

क्वाथ्य द्रव्यों (३६ पल मात्रा) को १ द्रोण जल में क्वाथ करें। उसी समय पाँच सौ आँवले को एक पोट्टली में डालकर उबलने के लिए छोड़ दें। सम्यक् स्विन्न हो जाने पर आँवले को बाहर निकालें। जब यह जान लें कि औषध द्रव्यों का रस जल में पूर्णतः आ गया है तब क्वाथ्य द्रव्य को निकालकर एवं क्वाथ को छानकर अलग रख लें। अब उबले हुए आँवले को एक कपड़े या महीन तार वाली जाली पर रगड़कर गुठली व रेशे को पृथक् कर पिष्टी (गुद्दा का कल्क) अलग कर लें। इस पिष्टी (आँवले की पिष्टी) को १२ पल (४८ तोले) गोघृत एव तिल तैल में भून लें। पिष्टी जब अच्छी प्रकार से भून जाय अर्थात् स्नेह को छोड़ने लगे एवं कुछ लाल हो जाय, तब एक पात्र में

Scanned by CamScanner

क्वाथ डालकर उसमें ५० पल (२०० तोले) मत्स्यण्डिका (खाड़) या चीनी मिलाकर दो तार की चाशनी बना लें। अर्थात् लेहवत् सिद्ध कर लें। इसमें भुने हुए आँवले का कल्क धीरे-धीरे सम्यक् प्रकार से मिला लें। अवलेह के शीत हो जाने पर ६ पल (२४ तोले मधु, ४ पल (१६ तोले) वंशलोचन, पिप्पली २ पल (८ तोले), दालचीनी, इलायची (छोटी) तेजपत्र एवं नागकेशर का संयुक्त मान १ पल (४ तोले) अर्थात् प्रत्येक १-१ तोले डालकर अच्छी प्रकार से मिला लें। इस प्रकार उत्तम च्यवनप्राश रसायन का निर्माण होता है।

च्यवनप्राश रसायन के लाभ–यह रसायन विशेष रूप से श्वास कासहर है। यह रसायन क्षीण एवं क्षत रोग से ग्रसित पुरुषों, वृद्धों एवं बालकों के शरीरस्थ धातुओं को बढ़ाता है। इसके सेवन से स्वरक्षय, उरोरोग (Diseases of chest), हृद् रोग (Heart diseases), वातरक्त (Gout), पिपासा (Thirst) एवं मूत्र व शुक्र स्थानगत दोषों को दूर करता है। इस रसायन का प्रयोग उतनी मात्रा में कर सकते हैं, जिसके सेवन से अग्नि व बल पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। अर्थात् क्षुधा बाधित न हो। इस रसायन के सेवन करने से वृद्ध च्यवन ऋषि पुनः युवा हो गये। इसके प्रयोग से व्यक्ति की मेधाशक्ति (Intellect), स्मरणशक्ति (Memory Power) बढ़ जाती है, व्यक्ति का शरीर कान्तियुक्त हो जाता है एवं उसे दीर्घायु की प्राप्ति होती है, व्यक्ति के ज्ञानेन्द्रियों की कार्यक्षमता (Strength of sense organs) बढ़ जाती है। यह वृष्य, जाठराग्नि प्रदीपक, वर्ण प्रसादक एवं वातानुलोमक है। कुटीप्रावेशिक विधि द्वारा इस रसायन के सेवन करने से वृद्ध पुरुष भी अपनी वृद्धावस्था त्याग कर युवा बन जाता है।

चक्रपाणि–पर्ण्यश्चतस्र इति- से शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), माषपर्णी (वन उड़द) एवं मुद्गपर्णी (वन मूंग) का ग्रहण होता है। तामलकी=भूम्यामलकी (Phyllanthus urinaria Linn)। काकनासा=नासाफला, अन्य आचार्य इसे काकतुण्डक भी कहते हैं। **गतरसत्वमिह द्रव्याणां चतुर्भागस्थितजले भवति**-द्रव्यों को चौगुने जल में पकाने पर उनका रस जल में आ जाता है। अर्थात् द्रव्यों को पकाकर चतुर्थांश जल अवशेष रखने पर ही उनका रस जल में जाता है। अभिप्राय यह है कि क्वाथ के रुप में १/४ भाग जल बचाना चाहिए। **निष्कुलमिति**–आँवले को स्विन्न कर उसकी गुठली निकालकर गूदा अलग कर लें। **तैलसर्पिषोरिति**-तैल (तिल तैल) एवं गोघृत की संयुक्त मात्रा १२ पल होनी चाहिए। अर्थात् ६ पल तैल एवं ६ पल गोघृत का ग्रहण करें। **मत्स्यण्डिका-खण्डसंहतिः** (Sugar candy)। यहाँ घृत व तैल की सम मात्रा द्रव्यान्तर संयोग से विरुद्ध नहीं है। ॥६२-७४॥

अथामलकहरीतकीनामामलकबिभीतकानां हरीतकीबिभीतकानामामलकहरीतकीबिभीतकानां वा पलाशत्वग्वनद्धानां मृदाऽवलिप्तानां कुकूलस्विन्नानामकुलकानां पलसहस्रमुलूखले संपोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासंयुक्तं भक्षेयेदनन्नभुग्येथोक्तेन विधिना; तस्यान्ते यवाग्वादिभिः प्रत्यवस्थापनम्, अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च, अयं च रसायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य, प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः ससर्पिष्कः, अतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्। अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुर्बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताश्चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तपः ॥७५॥ (इति चतुर्थामलकरसायनम्।)

आमलक रसायन–१. आँवला व हरीतकी, २. आँवला व बिभीतकी (बहेड़ा), ३. बिभीतकी व हरीतकी (बहेड़ा व हरड़), ४. आँवला, हरड़ व बहेड़ा (आमलकी, हरीतकी एवं विभीतकी)। इन योगों में से किसी भी एक योग को पलाश की गीली छाल से लपेट कर बाँधें, ऊपर से मिट्टी का एक अङ्गुल मोटा लेप लगाकर छाया शुष्क कर लें। अब इसे गोहरे या भूसी की आग (भऊर) में पका लें। सम्यक् स्विन्न होने पर ऊपर की मिट्टी हटाकर अन्दर का स्विन्न द्रव्य (हरीतकी, विभीतकी या आमलकी) निकालकर उसकी गुठली पृथक् कर लें। यदि स्विन्न द्रव्य गुठली रहित योग की मात्रा १००० पल (१०००x४=४००० तोले) हो तब उसमें दधि, घृत, मधु, पलल (तिल कल्क), तैल (तिल तैल) व शर्करा संयुक्त रूप में ४००० तोले मिलाकर प्रयोग करें। अर्थात् गुठली रहित स्विन्न द्रव्य को ओखली में कूट कर लुगदी बना लें उसमें मधु, दधि, घृत, पलल व शर्करा मिलाकर कुटी प्रावेशिक विधि से अन्न का प्रयोग न करते हुए इसका सेवन करें। औषध सेवन का क्रम समाप्त होने पर व्यक्ति को पेया, विलेपी के प्रयोग द्वारा सामान्य भोजन पर लाना चाहिए। अर्थात् संसर्जन क्रम द्वारा उसे भोजन की सामान्य मात्रा पर लाना चाहिए। [After the course of treatment, one should be brought back to its normal diet by intake of gruel etc - P.V. Sharma]

इस बीच में आतुर का अभ्यङ्ग एवं उत्सादन (उबटन) घृत एवं यव चूर्ण द्वारा प्रतिदिन करना चाहिए। इस रसायन का सेवन अग्नि एवं बल का विचार करते हुए अधिक से अधिक दो बार करना चाहिए। भोजन के रूप में मुद्ग यूष अथवा दूध के साथ साठी चावल के भात में घृत मिलाकर, ग्रहण करें। इसके बाद व्यक्ति अपनी इच्छानुसार आहार-विहार कर सकता है। इस रसायन के प्रयोग से पूर्वकाल में अनेक ऋषिगण अपनी वृद्धावस्था त्याग कर युवावस्था को प्राप्त किये तथा रोग रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त हुए। ये आचार्य उत्तम शरीर, बुद्धि, इन्द्रिय एवं बल से युक्त होकर अत्यन्त निष्ठा पूर्वक तप आदि कार्यों में तल्लीन रहे। ॥७५॥

चक्रपाणि-कुकूलकः करीषाग्नि=गोहरे की अग्नि (कण्डों की अग्नि)। **अकुलकानामिति अनस्थ्नाम्**–आमलकी, हरीतकी या विभीतकी की गुठली को निकालकर गूदा को पृथक् करना, या अस्थि (गुठली) रहित करना। यहाँ द्रव्यादि के मान का निर्देश

Scanned by CamScanner

नहीं किया गया है । इस प्रकार यहाँ प्रधान चूर्ण की मात्रा के बराबर दधि आदि द्रव्यों की मिश्रित मात्रा का ग्रहण किया गया है । अर्थात् जितनी मात्रा आमलकी आदि स्विन्न द्रव्यों की होगी उतनी ही मात्रा में दध्यादि (दधि+घृत+मधु+पलल+तैल+शर्करा) का प्रयोग करते हैं, यथा-स्विन्न द्रव्य १२०० पल+२०० पल दधि+२०० पल घृत+२०० पल मधु+२०० पल पलल+२०० पल तैल+२०० पल शर्करा।

अथवा दधि आदि प्रत्येक द्रव्य चूर्ण की बराबर मात्रा में डालें । **पललं**=तिल का चूर्ण अर्थ लिया गया है । **भक्षयेदिति वचनं लेह्योऽपि अल्पाभ्यवहरणमात्रार्थत्वादुपपन्नम्**-लेह्य होते हुए भी अल्प मात्रा में प्रयुक्त होने से इस शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अनन्नभुगिति सर्वथाऽऽहारान्तराभुक्-आहार का पूर्णतः निषेध करते हुए इस रसायन का सेवन करना । **तस्यान्त इति**-रसायन सेवन (प्रयोग) पूर्ण होने पर । **प्रत्यवस्थापनमितियवागवादिक्रमविशेषणम्**-इसके द्वारा यवागू आदि की विशेषता को बताया गया है । अर्थात् संसर्जन क्रम का पालन करते हुए रोगी को सामान्य भोजन पर लाना ।

यूषेण पयसा वेति-मुद्ग यूष के द्वारा अथवा दूध के द्वारा । अर्थात् शाली या साठी चावल के भात के साथ **यूष+घृत** या **दूध+घृत** का प्रयोग करना है । इसका निर्धारण व्यक्ति के अग्नि व बल के अनुसार करना चाहिए । ॥७५॥

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहे पिप्पलीमधुकमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभकक्षीरशुक्लाकल्कसंप्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसंप्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नञ्जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रियबुद्धिबलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरनवाप्नुयात् ।।७६।।

(इति पञ्चमो हरीतकीयोगः।)

पञ्चम हरीतकी योग-हरीतकी, आमलकी, विभीतकी (हरड़, आँवला एवं बहेड़ा) तथा पाँचों पञ्चमूल के द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में पिप्पली, यष्टीमधु (मुलेठी), मधूक (महुआ) का पुष्प, काकोली, क्षीरकाकोली, आत्मगुप्ता (केवाच) के बीज, जीवक, ऋषभक, व क्षीर शुक्ला (क्षीर विदारी); इन द्रव्यों के कल्क, विदारीकन्द स्वरस एवं आठ गुना गो दुग्ध डालकर एक कुम्भ (२ द्रोणी) गोघृत सिद्ध करें । इस घृत का प्रयोग अग्नि बल के अनुसार करना चाहिए । औषधि के पच जाने पर साठी चावल का भात दूध व घृत के साथ खाना चाहिए । भोजनोत्तर उष्ण जल का प्रयोग करें । इस घृत के सेवन करने से जरा (बुढ़ापा), व्याधि, व्यभिचार व पाप का भय नहीं रहता । अर्थात् शरीर से ये विकार दूर हो जाते हैं । व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय एवं बुद्धि की अतुलित क्षमता से युक्त होकर सभी कर्मों को करने में सक्षम हो जाता है तथा उसे उत्तम आयु की प्राप्ति होती है । ॥७६॥

चक्रपाणि-पञ्चम हरीतकी योग में क्षीर शुक्ला से 'क्षीर विदारिका' का ग्रहण किया गया है । हरीतक्यादि क्वाथ की मात्रा एक भाग, दूध आठ भाग, घृत एक भाग ग्रहण करना चाहिए । कुम्भ=दो द्रोण । कहा भी गया है-"द्रोणस्तु द्विगुणः सूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च" इति (दो द्रोण का एक सूर्प होता है, सूर्प को ही कुम्भ कहा जाता है ।)

हरीतक्यामलकबिभीतकहरिद्रास्थिराबलाविडङ्गामृतवल्लीविश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्कराभ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरसशतपरिपीतमामलकचूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टिकान्नमश्नीयात्, त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषं भवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अधृष्यो भूतानां भवति ।।७७।।

भवन्ति चात्र-

यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा । तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ।।७८।।

न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च । जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ।।७९।।

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते । गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षयम् ।।८०।।

हरीतक्यादि योग-आमलकी चूर्ण में आँवले के स्वरस की सौ भावना देकर छाया शुष्क कर पुनः चूर्ण बना लें, इसमें चूर्ण का चतुर्थांश (१/४) भाग लौह चूर्ण (लौह भस्म) मिलावें ।

हरीतकी, आमलकी (आँवला), बिभीतकी, हरिद्रा (हल्दी), स्थिरा (सरिवन), बला, विडंग, गुडूची (Tinospora cordifolia), सोंठ (शुण्ठी), यष्टीमधु (मुलेठी), पिप्पली एवं विट् खदिर; इन द्रव्यों के कल्क द्वारा पकाये गये दूध से घृत निकालें । इस घृत का प्रयोग आमलकी स्वरस भावित चूर्ण+चतुर्थांश लौहचूर्ण (लौह भस्म) के साथ मधु व चीनी मिलाकर एक तोला की मात्रा में करें । इस योग का प्रयोग कुटी प्रावेशिक विधि से एक तोला की मात्रा में प्रातः काल करना चाहिए । सायंकाल भोजन के रूप में मुद्ग यूष अथवा दूध का प्रयोग साठी चावल के भात में घृत मिलाकर करें । इस रसायन का प्रयोग तीन वर्ष तक करने पर पुरुष जरा रहित होकर सौ वर्ष तक जीता है, सौ वर्ष तक सुनने की शक्ति बनी रहती है, अथवा उसकी स्मरण शक्ति ठीक रहती है, सभी व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं । अर्थात् पुरुष निरोगी रहता है । विष का प्रयोग करने पर भी उसके शरीर पर कोई घातक प्रभाव नहीं पड़ता है, उसका शरीर पत्थर के समान दृढ़ (Strong) हो जाता है एवं वह व्यक्ति किसी से भी पराजित नहीं होता । अर्थात् शारीरिक रूप से वह बहुत ही शक्तिशाली हो जाता है । ॥७७॥

Scanned by CamScanner

रसायन का वैशिष्ट्य–जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत तथा नागों के लिए सुधा का महत्त्व है उसी प्रकार प्राचीन काल में ऋषियों के लिए रसायन विधि का महत्व था। प्राचीन काल में ऋषिगण रसायनों के विधि पूर्वक सेवन से वृद्धावस्था, दुर्बलता (शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता) व्याधि एवं मृत्यु के भय से मुक्त होकर हजारों वर्षों की आयु प्राप्त करते थे। रसायन सेवन से पुरुष को मात्र दीर्घायु की ही प्राप्ति नहीं होती है, अपितु देवर्षियों के समान उसे उतम गति की भी प्राप्ति होती है। वह अक्षय ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् मुक्त हो जाता है।

चक्रपाणि–अमृतवल्ली=गुडूची (Tinospora cordifolia (Willd)। **सोमवल्कः**=विट्खदिर। **क्षीरसर्पिः क्षीरसमुत्थितसर्पिः**-दूध से निकाले हुए घृत को 'क्षीरसर्पि' कहते हैं। इस योग में अयस् चूर्ण आमलकी चूर्ण का १/४ भाग ग्रहण करना चाहिए। आचार्य जतूकर्ण ने भी इसी प्रयोग में अयस् चूर्ण की मात्रा यही निर्धारित की है, यथा–**''अयश्चूर्णपादयुक्तम्'' अमराणाममृतं जरादिहरं, नागानां च सुधा जरामरणहरी, इत्युभयोपादानं दृष्टान्ते**-जिस प्रकार देवताओं के लिए अमृत तथा नागों के लिए सुधा जरा-मृत्यु नाशक होता है उसी प्रकार मनुष्यों (ऋषियों) के लिए रसायन होता है। यहाँ दोनों उदाहरणों के द्वारा यही बताया गया है। **ब्रह्म** = मोक्ष। रसायन को मोक्ष का साधन कहा गया है, क्योंकि इसके सेवन से व्यक्ति का मन शुद्ध हो जाता है। ॥७७-८०॥

तत्र श्लोकः–

अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगाः परिकीर्तिताः। रसायनानां सिद्धानामायुर्वैरनुवर्तते ॥८१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्यायेऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः ॥१॥

उपसंहार–अभयामलकीय नामक इस रसायन पाद में छः योग बताये गये हैं। इन सिद्ध रसायन योगों के सेवन करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है। ॥८१॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (चरकसंहिता) चिकित्सास्थान के रसायन अध्याय के अन्तर्गत अभयामलकीय नामक प्रथम रसायनपाद पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–अभयेत्यादि के द्वारा संदेह विनाशार्थ अध्याय (पाद) में वर्णित रसायन योगों की संख्या का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार अन्यत्र उपसंहार प्रकरण में संख्या के निर्देश से यही भाव ग्रहण करना चाहिए। ॥८१॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय के अन्तर्गत अभयामलकीय नामक प्रथम रसायनपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

रसायनाध्याये द्वितीयः पादः

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे प्राणकामीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–पूर्व पाद में आमलकी रसायनों का उल्लेख किया गया, यहाँ भी आमलकी रसायनों का ही उल्लेख किया गया है। **प्राणकामशब्दमधिकृत्य कृतमिति प्राणकामीयम्**–प्राणकाम शब्द को अधिकृत करके बनने वाला अध्याय 'प्राणकामीय' होता है ।

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रा-तन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमबद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं रसायनविधानम् । अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः, स्थिरसमसुविभक्तमांसाः, सुसंहतस्थिरशरीराः, सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः, सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः, क्लेशसहाश्च । सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांसतिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाध्यशनप्रायाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनित्यानां विषमातिमात्रव्यायामसंक्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोकलोभमोहायासबहुलानाम्; अतोनिमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयः, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदः, न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते, क्षयमुपैत्योजः; स एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितो निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसीनां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति । तस्मादेतान् दोषानवेक्षमाणः सर्वान् यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच–।।३।।

रसायन का फल–हे दीर्घजीवन के इच्छुँक पुरुषों! उस रसायन विधान के वैशिष्ट्य को मुझसे सुनो–यह रसायन विधान अमृत के समान एवं अन्य अदिति पुत्रों के लिए हितकर, अचिन्त्य (Unimaginable) एवं अद्‌भुत प्रभाव वाला, दीर्घायु प्रदान करने वाला, आरोग्यकर (Maintains positive health), वयः स्थापन (वय को स्थिर रखने वाला (Preserves youth), निद्रा, तन्द्रा (drowsiness), श्रम-क्लम (शारीरिक व मानसिक थकावट), आलस्य तथा दुर्बलता को दूर करने वाला, वात, कफ एवं पित्त को साम्य स्थिति में लाने वाला, शरीर में स्थिरता उत्पन्न करने वाला, मांस शैथिल्य को दूर करने वाला (Cures Slothness of the muscles), अन्तराग्नि को प्रदीप्त करने वाला (Stimulates the enzymes responsible for digestion and metabolism) तथा प्रभा, वर्ण एवं स्वर को उत्तम बनाने वाला है । इस प्रकार रसायन के प्रयोग द्वारा च्यवनादि महर्षिगण पुनः युवा हो गये। अर्थात् उनकी शरीरस्थ धातुएं शिथिलता को त्याग कर पुनः पुष्ट हो गयीं एवं स्त्रियों के प्रति वे चेष्टावान हो गये । अभिप्राय यह है कि पुनः धातुओं के पुष्ट होने से शारीरिक क्षमता की वृद्धि होकर मैथुन क्षमता भी बढ़ गयी । वे स्थिर सम सुविभक्त मांस वाले, सुसंहत स्थिर शरीर वाले (Their bodies became compact and stable), उत्तम वर्ण, बल एवं इन्द्रिय वाले (Excellence of strength, complexion and senses), किसी से पराजित न होने वाले तथा सभी प्रकार के कष्टों को सहने में सक्षम हो गये ।

सभी प्रकार की शारीरिक व्याधियाँ ग्राम्य आहार के सेवन से ही उत्पन्न होती हैं, यथा–

१. अम्ल, लवण, कटु, क्षार, शुष्कशाक, शुष्कमांस, तिल (खड़ा तिल), पलल (तिल कल्क), पिष्टान्न आहार के सेवन करने वाले।

२. विरूढ़ (अंकुरित), नव (नवीन) शूक व शमी धान्यों के सेवन करने वाले ।

३. विरुद्ध, असात्म्य, रूक्ष, क्षार एवं अभिष्यन्दि भोज्य पदार्थों के सेवन करने वाले ।

४. क्लिन्न, गुरु, पर्युषित भोज्य पदार्थों के सेवन करने वाले ।

५. विषम भोजन (Irregular diet) एवं अध्यशन (पूर्व का भोजन पचे बिना पुनः भोजन करना)

६. दिन में सोने से, नित्य स्त्री सेवन एवं मद्यपान करने वाले ।

७. विषम एवं अतिमात्र व्यायाम करने से जिनका शरीर क्षुब्ध हो गया हो ।

८. जो पुरुष भय, क्रोध, शोक, लोभ, मोह एवं आयास से अधिक आक्रान्त रहते हों ।

उपर्युक्त हेतुओं के सेवन करने वाले पुरुषों के मांस शिथिल हो जाते हैं, सन्धियाँ अपना स्थान छोड़ देती हैं (The joints become vitiated), रक्त में विदाह होने लगता है, मेद अत्यधिक रूप से पिघलने लगता है, अस्थियों के अन्दर मज्जा (Bone marrow) नहीं रुक पाती, शुक्र के स्राव में कमी आ जाती है (Impairment in ejaculation of semen) अर्थात् मैथुन करने पर शुक्र का स्राव नहीं होता या

Scanned by CamScanner

अल्प होता है एवं ओज का क्षय हो जाता है । इन स्थितियों में व्यक्ति ग्लानियुक्त, अवसादित (depression), निद्रा, तन्द्रा (Drowsiness), एवं आलस्य (Lassitude) से युक्त हो जाता है, उत्साह कम हो जाता है, श्वास बढ़ जाता है, शारीरिक व मानसिक कार्यों को वह नहीं कर पाता, उसकी स्मृति (Memory), बुद्धि (Intellect) एवं छाया (Lustre) नष्ट हो जाती है, शरीर व्याधि ग्रस्त होने के कारण वह पुरुष अपनी पूर्ण आयु को नहीं प्राप्त करता । अतः इन दोषों का विचार करते हुए निर्दिष्ट सभी अहितकर (अपथ्य) आहार-विहारों का त्याग करने वाला पुरुष ही रसायन सेवन के योग्य होता है । ऐसा कहकर पुनर्वसु आत्रेय ने कहा–॥३॥

चक्रपाणि–निद्राहरत्वं रसायनस्य वैकारिकनिद्राहरत्वेन, किंवा देववत् सर्वदा प्रबुद्धो निद्रारहितो भवति– यहाँ 'निद्राहर' का अभिप्राय वैकारिक निद्रा के दूर करने से है । अथवा रसायन सेवी पुरुष सर्वदा देवताओं की भाँति प्रबुद्ध (जागृत) रहता है । आचार्य सुश्रुत ने तन्द्रा के लक्षणों का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा–**''इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्राऽऽर्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्''** सु०शा०अ० ४/४८ । इन्द्रियार्थों का ज्ञान न होना, गौरव (शरीर में भारीपन), जम्भाई, क्लम (थकावट) का होना व निद्रा; ये लक्षण जिसमें पाये जाते हैं उसे तन्द्रा युक्त कहते हैं ।

अबद्धमांसम् अनिबिडमांसम्-मांसशैथिल्य का होना (Compactless of the muscles) ।

उत्तमानि प्रभादीनि करोतीति प्रभावर्णस्वरोत्तमकरम्-उत्तम प्रभा, उत्तम वर्ण एवं उत्तम स्वर का होना । अर्थात् रसायन सेवन से व्यक्ति का वर्ण, प्रभा एवं स्वर उत्तम हो जाता है । **एवं जातीयश्च पूर्वनिपातानियमोऽप्रतिबन्धेन चरकेऽस्ति, स मयूरव्यंसकादिपाठाद्द्रष्टव्यः**- विशेषण विशेष्य के पूर्व में होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है । इसलिए इसके प्रयोग में कोई बन्धन नहीं है- अर्थात् विशेषण विशेष्य के आगे अथवा पीछे कहीं भी प्रयुक्त किया जा सकता है । इसे मयूरव्यंसकादि पाठ (पाणिनीय सूत्र) से समझना चाहिए । [यहाँ 'प्रभावर्णस्वरोत्तमकरम्' का प्रयोग इसी सूत्र के आधार पर हुआ है ।]

अनेन हीत्यादिना–अनेन इत्यादि के द्वारा च्यवनादि के प्रसंग को पुनः कहना रसायन के महत्व के प्रतिपादनार्थ हुआ है । अर्थात् प्रशंसात्मक रूप मे यह बात कही गयी है ।

रसायन सेवन काल में ग्राम्य आहार दोषवर्धक होने से निषेध किये गये हैं, जिसका विवेचन यहाँ 'सर्वे इत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

तिल से यहाँ साबुत तिल का ग्रहण किया गया है । **पलल** = तिल चूर्ण । **अतोनिमित्तमिति**-ग्राम्य आहार आदि के सतत् प्रयोग करने से अथवा ग्राम्य आहार आदि के कारण । **शुक्रं न प्रवर्तत इति**-शुक्र की उत्पत्ति का न होना । ॥३॥

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्णरसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कपादसंप्रयुक्तेन सर्पिषः साधयेदाढ़कम्, अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्तीकल्कसंप्रयुक्तेन, अतः परं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरीकल्कसंयुक्तेन; अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्रचतुर्भागसंप्रयुक्तं सौवर्णे राजते मार्त्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्; तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात् । अस्य प्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतमवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीषु, अपत्यवान् भवतीति ।।४।।

भवतश्चात्र–

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च । अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तिपूजासुखचित्तभाक् च ।।५।।
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी । भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च समश्नतो योगमिमं नरस्य ।।६।।

(इत्यामलकघृतम्।)

आमलक घृत–उत्तम भूमि एवं योग्य काल में उत्पन्न आँवले जिसके गन्ध, वर्ण एवं रस विकृत न हुए हों, जो अपने स्वाभाविक रस, मान (प्रमाण) एवं वीर्य से युक्त हों । ऐसे उत्तम गुणों वाले आँवले के स्वरस में चतुर्थांश (१/४ भाग) पुनर्नवा का कल्क डालकर १ आढ़क (२५६ तोला) गोघृत सिद्ध करें (१), इसके बाद इस पूर्व सिद्ध घृत को विदारीकन्द स्वरस तथा जीवन्ती कल्क डालकर सिद्ध करें-(२), पुनः इस सिद्ध घृत में चार गुना गोदुग्ध, बला व अतिबला का क्वाथ तथा शतावरी कल्क डालकर सिद्ध करें-(३)

इस प्रकार प्रत्येक क्रम (१), (२) व (३) को १०० बार या हजार बार दुहरावें । अर्थात् घृत को १०० बार पुनर्नवा कल्क, १०० बार विदारीकन्द स्वरस तथा १०० बार बला व अतिबला के क्वाथ से सिद्ध करें ।

घृत के सिद्ध होने पर उसमें चीनी व मधु चतुर्थांश भाग मिलाकर स्वर्ण, रजत अथवा घृत भावित मजबूत (दृढ़) मिट्टी के पात्र (कुम्भ=घड़े) में रखें । इस घृत का प्रयोग निर्दिष्ट विधि (कुटी प्रावेशिक विधि) के अनुसार व्यक्ति को अग्नि बल का विचार करते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल करना चाहिए । घृत के जीर्ण (पच) हो जाने पर सायंकाल घृत मिश्रित दूध के साथ साठी अथवा शाली चावल के भात का प्रयोग करना चाहिए । इस रसायन का प्रयोग दो वर्ष तक करने पर पुरुष जरा रहित होकर सौ वर्ष तक जीता है । अर्थात् स्वस्थ रहते हुए वह सौ

Scanned by CamScanner

वर्ष तक की आयु प्राप्त करता है । सुनी हुई बातें उसे याद रहती हैं । अर्थात् उसकी स्मरण शक्ति सामान्य रहती है, उसके सभी रोग दूर हो जाते हैं, स्त्रियों के प्रति उसकी गति अप्रतिहत रहती है, अर्थात् मैथुन करने में वह पूर्णतः सक्षम रहता है तथा वह पुत्रवान् होता है ।

आमलक घृत के लाभ–आमलकी घृत के सेवन से पुरुष को अधोलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

१. व्यक्ति का शरीर विशाल एवं लौह के समान दृढ़ हो जाता है ।

२. इन्द्रियों में स्थिरता (Stability) [अवस्था बढ़ने के साथ इन्द्रियों के कार्यों में कमी का न होना ।] एवं दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है । अर्थात् इन्द्रियाँ अपने कार्यों को सम्यक् प्रकार से करती हैं ।

३. रसायन सेवी पुरुष किसी अन्य द्वारा पराजित नहीं होता । अर्थात् उसकी शारीरिक क्षमता अत्यन्त बढ़ जाती है ।

४. व्यक्ति अत्यधिक कान्तियुक्त हो जाता है ।

५. वह व्यक्ति प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सुख एवं स्वस्थ मन का भागी होता है ।

६. वह पुरुष अत्यन्त बलशाली हो जाता है, वर्ण (Colour) शुद्ध हो जाता है तथा उसकी आवाज बादलों की गर्जना जैसी अथवा बिजली के तड़कने जैसी हो जाती है ।

७. उसकी सन्तानें अधिक एवं दीर्घायु होती है ।

चक्रपाणि–एकैकशः शतपाकमित्यर्थः-घृत को एक-एक विधि द्वारा सौ-सौ बार अथवा हजार बार सिद्ध करना, यथा–

१. घृत १ आढ़क (२५६ तोला) + आमलकी स्वरस ४ आढ़क+पुनर्नवा कल्क १/४ भाग (६४ तोला) लेकर घृत पाक विधि द्वारा सिद्ध करें । यही क्रम सौ बार या एक हजार बार करें ।

२. पूर्व सिद्ध घृत १ भाग+विदारीकन्द स्वरस ४ भाग + जीवन्ती कल्क १/४ भाग लेकर स्नेहपाक करें । यही क्रम सौ बार या एक हजार बार करें ।

३. पूर्व सिद्ध घृत १ भाग + बला व अतिबला का क्वाथ+दूध ४ भाग+शतावरी कल्क १/४ भाग ।

इस प्रक्रिया द्वारा घृत को १०० बार या हजार बार सिद्ध करें । इस प्रकार घृतपाक कम से कम ३०० बार एवं अधिक से अधिक ३००० बार किया जाता है । यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि घृतपाक करते समय घृत कल्क में उपलिप्त रहने के कारण तथा अग्नि संयोग से प्रत्येक पाक में कुछ न कुछ क्षीण हो जाता है । अतः अगले पाक में बचे हुए घृत की मात्रा के अनुसार ही कल्क व क्वाथ आदि का ग्रहण करना चाहिए । यहाँ सुवर्णादि पात्रों का उल्लेख गुणवत्ता की दृष्टि से किया गया है, अन्यथा सामान्यगुणता होने पर सर्वसुलभ मिट्टी का ही पात्र है । **यथोक्तेन विधिना इति**-कुटी प्रावेशिक विधि द्वारा । गिरिसारः=लौह ।

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसंप्रयुक्तं पलाशतरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थि चूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां संनीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः । तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत्, पौर्वाह्णिकः प्रयोगो नापराह्णिकः, सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिः । अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ।।७।। (इत्यामलकावलेहः।)

आमलकावलेह–१. आँवला-१,००० (एक हजार), २. पिप्पली- १,००० (एक हजार) उत्तम गुण युक्त आँवले व पिप्पली को एक-एक हजार की मात्रा में लेकर उसे तरुण (Young) पलाश के क्षारोदक में पूरी तरह से डुबावें । क्षारोदक का रस द्रव्य (पिप्पली व आँवले) में जब अच्छी तरह (प्रकार) से आ जाय तब उसे निकालकर छाया शुष्क कर लें, गुठली को पृथक् कर गूदे का चूर्ण बना लें । इस चूर्ण में ४ गुना मधु व घृत मिलावें तथा १/४ भाग चीनी मिलाकर एक दृढ़ घृत भावित मिट्टी के कुम्भ में रखकर ढक्कन बन्द कर छः महीने के लिए जमीन में गाड़ दें । बाद में इसे निकालकर काल, अग्नि व आतुर बल का विचार करते हुए उचित मात्रा में प्रातः काल सेवन करना चाहिए । औषध के जीर्ण हो जाने पर पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए । इस रसायन के सेवन से पुरुष जरा रहित होकर सौ वर्ष की आयु को प्राप्त करता है । इस रसायन के भी गुण पूर्वोक्त रसायन जैसे हैं ।

चक्रपाणि–पलाशतरुणः तरुणपलाशः–जवान पलाश का पेड़ (young Palas's tree), इसी से बाल व वृद्ध पलाश वृक्ष का निषेध हो जाता है ।

क्षारोदकोत्तरमिति–द्रव्य के ऊपर तक क्षारोदक को भरना, अर्थात् इतनी मात्रा में क्षारोदक का प्रयोग करना जिससे द्रव्य पूरी तरह डूब जाय ।

चतुर्भागः पादः=चतुर्थांश (१/४ भाग) ।

समानं पूर्वेण इति–पूर्व निर्दिष्ट रसायनों के समान इसका भी गुण-कर्म है । अर्थात् इसके भी गुण-कर्म पूर्वोक्त रसायनों जैसे ही हैं । ॥७॥

Scanned by CamScanner

विशेष–क्षारोदक तैयार करने हेतु बाल (Small) एवं वृद्ध (Old) पलाश के वृक्ष का ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि अपरिपक्व पौधे (वृक्ष) में उसके रसादि गुण पूर्णतः पक्व नहीं रहते एवं वृद्ध (Old) में नष्ट होने लगते हैं ।

क्षारोदक निर्माण विधि–क्षारोदक निर्माण हेतु निम्न प्रक्रिया अपनायी जाती है–१. पलाश क्षार (क्षार) निर्माण करना । २. क्षार से क्षारोदक तैयार करना ।

सर्व प्रथम पलाश के पञ्चांग को सुखाकर एक भगोने या साफ-जमीन पर जला देना चाहिए । जली हुई राख को एकत्र कर लें। अब इस राख को छः गुने या चार गुने जल में घोलकर निथरने के लिए छोड़ दें, पुनः निथरे हुए जल को एक अलग पात्र में एकत्र करें। शेष राख युक्त जल में पुनः जल डालकर घोलें तथा राख घुले जल को निथरने के लिए छोड़ दें, निथरे हुए जल को इस पात्र से अलग करें । राख युक्त जल में जल डालकर निथारने का क्रम तब तक करें जब तक राख युक्त जल में क्षार का स्वाद आता है । इस प्रकार इस निथारे गये जल को क्षारोदक कहते हैं । ॥७॥

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकस्वरसपरिपीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्करार्धचूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निदध्यात्; तद्वर्षान्ते सात्म्यपथ्याशी प्रयोजयेत्; अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ।।८।।
(इत्यामलकचूर्णम्।)

आमलक चूर्ण–घटक द्रव्य- १. आमलकी चूर्ण (आमलकी स्वरस भावित)- १ आढक (२५६ तोले), २. मधु-१आढ़क (२५६ तोले), ३. घृत-१ आढ़क (२५६ तोले), ४. पिप्पली–१/८ भाग (३२ तोले), ५. शर्करा (चीनी) १/४ आढ़क (६४ तोले) ।

विधि–सर्वप्रथम उपर्युक्त मात्रा में आमलकी चूर्ण लेकर उसमें आँवले के स्वरस की २१ भावना दें । इसे छाया शुष्क कर पुनः चूर्ण कर करें । इस चूर्ण में मधु व घृत एक-एक आढ़क (प्रत्येक २५६ तोले) मिलाकर १/४ भाग (६४ तोले) शर्करा तथा १/८ भाग (३२ तोले) पिप्पली चूर्ण डालें । इसे सम्यक् मिला ले एवं एक दृढ़ घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर ऊपर का ढक्कन बन्द कर प्रावृट् ऋतु में भस्म (राख) की राशि (ढेर) में गाड़ दें । वर्षा के अन्त अर्थात् शरद ऋतु के प्रारम्भ में इसे निकालकर अग्नि-बल के अनुसार प्रयोग करें । औषध के पच जाने पर सात्म्य एवं पथ्य (हितकर) आहार का सेवन करें ।

इस रसायन के प्रयोग से पुरुष जरारहित होकर सौ वर्ष तक जीता है । इस रसायन के गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान हैं ।

चक्रपाणि–वर्षान्ते = वर्षा काल के अन्त में । ॥८॥

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलायाः सर्पिस्तैलमध्वाढकैः षट्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः । ।।९।। (इति विडङ्गावलेहः।)

विडङ्गावलेह–घटक द्रव्य-

१. विडंग तण्डुल चूर्ण–१ आढ़क
२. पिप्पली तण्डुल चूर्ण–१ आढ़क
३. सितोपला (मिश्री) १$^{१}/_{२}$ आढ़क
४. गोघृत- १ आढ़क
५. तैल- १ आढ़क
६. मधु- १ आढ़क

निर्माण विधि–उपर्युक्त छः द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर आपस में मिला लें तथा इसे एक दृढ़ घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर ऊपर से ढक्कन बन्द कर प्रावृट् ऋतु में भस्म (राख) की राशि में गाड़ दें । शरद् ऋतु में निकालकर अग्नि व बल के अनुसार इसका सेवन करें । औषध (अवलेह) के जीर्ण हो जाने पर सात्म्य एवं हितकर भोजन करें । इस रसायन के गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान है ।

चक्रपाणि–यावदाशीरिति आशीः फलश्रुतिः **तेन 'तद्वर्षान्ते' इत्यादि ग्रन्थोक्तविधिविधानं दर्शयति**-आशीः = फलश्रुति, इसकी फलश्रुति (लाभ) पूर्व रसायनों जैसा है । यहाँ 'वर्षान्ते' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थोक्त विधि विधान को दर्शाया गया है । ॥९॥

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृत-संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रम्, अत ऊर्ध्वं प्रयोगः; अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ।।१०।।
(इत्यामलकावलेहोऽपरः ।)

अपरआमलकावलेह–पूर्व निर्दिष्ट उत्तम गुणों वाले एक हजार आँवले को लेकर आर्द्र पलाश की द्रोणी (नाव के समान रचना) में रखें, ऊपर से ढक्कन को बन्द कर दें । अब इस द्रोणी को गोहरे (कण्डे) की अग्नि पर रखकर गरम करें, अन्दर की वाष्प से आँवले को सम्यक् स्विन्न करें । सम्यक् स्विन्न होने पर द्रोणी को अग्नि से नीचे उतारकर शीत होने पर आँवले को निकालें, गुठली व रेशे को गूदे से

Scanned by CamScanner

पृथक् कर, गूदे को हाथ से अच्छी प्रकार से मसल लें। अब इसमें (रेशें व गुठली रहित आँवले के गूदे) १ आढक (२५६ तोला) पिप्पली चूर्ण, १ आढ़क (२५६ तोला) विडङ्गचूर्ण, १.५ आढ़क (३८४ तोला) शर्करा, तिल तैल २ आढ़क (५१२ तोला), मधु २ आढ़क (५१२ तोला), तथा गोघृत २ आढ़क (५१२ तोला) मिलाकर एक साफ-सुथरे घृतभावित दृढ़ मिट्टी के घड़े में १५ दिन के लिए रख दें। पश्चात् इसका प्रयोग अग्निबल के अनुसार करें। इस रसायन के प्रयोग से पुरुष जरा रहित होकर सौ वर्ष तक जीता है। इसके गुण-कर्म पूर्वोक्त रसायनों के समान है।

चक्रपाणि–पूर्वेण इति-पूर्व योगों के सेवन से जो लाभ प्राप्त होते हैं वही लाभ इसके भी सेवन से प्राप्त होंगे ॥१०॥

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशानचैत्योत्तरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्यसंजातान्यपर्णानि तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् चले सुमुहूर्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥११॥ (इति नागबलारसायनम्।)

नागबला रसायन–जाङ्गल देश (ऐसा स्थान जहाँ वर्षा कम होती हो) में जहाँ कुश (Desmostachya bipinnata) फैली या उगी हो, जहाँ की मिट्टी काली व मधुर गुण वाली हो अथवा पीली हो, जहाँ की भूमि विष, कुत्ते, वायु, अग्नि एवं जल द्वारा दूषित न हो। जो भूमि जोती हुई हो, वल्मीक (वामी=दीमकों द्वारा निर्मित मिट्टी का टीला), श्मशान (An elevated place for burning dead bodies--ऐसा स्थान जहाँ मृत पुरुषों को जलाया जाता है।), चैत्य (गाँव के बाहरी सीमा में स्थित वह वट या पीपल का वृक्ष जिस पर देवताओं का वास हो।), ऊषर (बंजर भूमि-रेह युक्त भूमि); ऐसे स्थानो को छोड़कर ऐसा स्थान जहाँ ऋतुओं के अनुकूल सुखकर हवायें, जल, सूर्य का प्रकाश आदि पड़ता हों, उत्पन्न नागबला जिसके पार्श्व में कोई बड़ा वृक्ष या पौधा न हो। पौधा पुराना या बाल (नवीन) न हो, वीर्य युक्त हो अर्थात् अपने रसादि गुणों से युक्त हो, जिसके पुराने पत्ते गिर गये हों, नये पत्ते अभी निकले न हों ऐसे नागबला मूल को माघ या फाल्गुन मास में देवादि की अर्चना कर, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति वाचन कराकर चल (बलवान=योग्य) मुहूर्त में उखाड़ें। उसके मूल को अच्छी प्रकार से साफ धुलकर मूलत्वक् को आम्र (१ पल=४ तोला) या १ अक्ष (१२ माशा) मात्रा में लेकर उसे महीन पीस लें, उसे दूध में मिलाकर अथवा नागबला मूलत्वक् चूर्ण को दूध के साथ अथवा मधु व घृत के साथ प्रयोग करें। औषध के जीर्ण हो जाने पर घृत मिश्रित दूध के साथ साठी या शाली चावल के भात का प्रयोग करें। इस योग के एक वर्ष तक प्रयोग करने से पुरुष जरा रहित होकर १०० वर्ष तक जीता है। इसके गुण पूर्वोक्त रसायनों के समान हैं।

चक्रपाणि–धन्वनीति जाङ्गलदेशे-जाङ्गल देश में [ऐसा स्थान जहाँ वर्षा कम होती हो, हवायें शुष्क चलती हैं।) कर्षणं-जो भूमि हलादि द्वारा जोती गयी हो, अर्थात् जो भूमि कृषि के कार्य में आती हो।]

अनध्यारूढानीति–जहाँ ओषधि उगी हो, उसके पार्श्व में कोई दूसरा बड़ा वृक्ष न हो। बड़े वृक्ष के रहने से छोटा पौधा अपना पूर्ण विकास नहीं कर पाता, परिणामतः उसमें पूर्ण रसादि का अभाव रहता है। तपसि= माघ में। तपस्य=फाल्गुन में।

चले सुमुहूर्ते इति = बलवान (इनी) मुहूर्त में।

आम्रमात्रं इति = १ पल मात्रा। १ पल = ४ तोला, अक्ष मात्र = १२ माशा। यहाँ नागबला मूल त्वक् का प्रयोग १ तोला से लेकर ४ तोला की मात्रा में करना चाहिए। ॥११॥

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनस्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश नागबलया व्याख्याताः। स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः-चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत् प्रयोज्यम् ॥१२॥

उन्नीस बलादि रसायन–बला (**Sida cordifolia**- बरियार), अतिबला (कंघी **Abutilon indicum Linn**), चन्दन (श्वेत चन्दन), अगरु, धव, तिनिश (तेंदू), खदिर, शिंशप एवं असन; इन नव औषधियों (द्रव्यों) का स्वरस तथा पुनर्नवा जिसके अन्त में है, ऐसी वयःस्थापन कषाय वर्ग में पठित १० द्रव्यों के स्वरस का प्रयोग नागबला रसायन की तरह करें। स्वरस के न प्राप्त होने की स्थिति में अथवा आर्द्र द्रव्यों के न मिलने पर पूर्वोक्त उन्नीस द्रव्यों के चूर्ण १ आढ़क को एक आढ़क जल में २४ घण्टे के लिए भिगोवें, पश्चात् इन्हें मसलकर जल को कपड़े से छान लें। इसी छने हुए द्रव का प्रयोग स्वरस की तरह करना चाहिए। ॥१२॥

चक्रपाणि-पुनर्नवान्ता दश-षड्विरेचनशताश्रितीय (च.सू.अ.४) अध्याय में वर्णित वयः स्थापन महाकषाय वर्ग की दस औषधियों (द्रव्यों) का ग्रहण किया गया है, यथा-"अमृताऽभयाधात्री मु (यु) क्ता श्रेयेसी श्वेताऽतिरसा मण्डूकपर्णी स्थिरा पुनर्नवा" [१. अमृता (गुडूची

Scanned by CamScanner

या गुड़बेल Tinospora cordifolia), अभया (हरीतकी-**Terminalia chebula** Retz), ३.धात्री (आँवला), ४. मुक्ता, ५. श्रेयसी (रास्ना भेद), ६. श्वेता (श्वेत अपराजिता), ७. जीवन्ती, ८. अतिरसा (शतावरी), ९. स्थिरा (शालपर्णी), १०. पुनर्नवा ।]

नागबलया व्याख्याता इति–इन सभी द्रव्यों का प्रयोग नागबला रसायन की तरह करना चाहिए । अर्थात् इनके भी मूलत्वक् स्वरस का प्रयोग गोदुग्ध के साथ करना चाहिए । बलादि स्वरस के ही प्रयोग का यहाँ विधान बताया गया है । नागबला रसायन की तरह ही इसके भी पथ्य का विधान है । अर्थात् औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध में घृत डालकर शाली व साठी चावल के भात का सेवन करना चाहिए।

हरे द्रव्यों (green plants) के प्राप्त न होने पर सूखे द्रव्यों (dry drugs) से स्वरस निर्माण की विधि को यहाँ 'स्वरसानामित्यादि' के द्वारा बताया गया है । ॥१२॥

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्ले माषपल्ले वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः । पूर्वं दशभल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशेषं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य । तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दशभल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः । प्रयोगविधानेन सहस्रपर एव भल्लातकप्रयोगः । जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः । तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ।।१३।। (इति भल्लातकक्षीरम्।)

भल्लातक क्षीर– अनुपहत (जो डण्डे से मारकर तोड़ा गया न हो), व्याधि रहित (Free from physical defects), रस (Normal taste), प्रमाण (full size) एवं वीर्य (Active potency) से युक्त एवं पक्व जम्बु सदृश (पके हुए जामुन के सदृश रंग वाले) भिलावे को ज्येष्ठ व आषाढ़ (मई-जून या जून-जुलाई) मास में एकत्र कर यव अथवा उड़द की राशि में गाड़ दें । उसको चार मास तक रखने के बाद सह (अगहन November-December) अथवा सहस्य (पौष-December-January) मास में शीत गुण युक्त हो जाने पर निकालकर रोगी (रसायन सेवी पुरुष) का शरीर शीत, स्निग्ध एवं मधुर द्रव्यों द्वारा संस्कारित कर, प्रयोग करें । सर्वप्रथम दस भिलावे को लेकर आठ गुने जल में पकावें, अष्टमांश (१/८ भाग) जल अवशिष्ट (अवशेष) रहने पर उसे एक साफ कपड़े से छान लें । इस छने हुए भल्लातक स्वरस का प्रयोग पुरुष मुख को घृत से लिप्त कर दूध के साथ करे । इस प्रकार १० भल्लातक से प्रारम्भ कर एक-एक बढ़ाते हुए ३० तक एवं पुनः ३० से एक-एक घटाते हुए पुनः १० पर लाना चाहिए । ३० से अधिक भल्लातक का विधान नहीं है । अर्थात् उत्कर्ष का यह क्रम अधिकतम ३० है । भल्लातक सेवन काल में कुल १००० भल्लातक का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है । अर्थात् उत्कर्ष एवं अपकर्ष में कुल १००० भल्लातक की संख्या पूरी करनी चाहिए । औषध के जीर्ण हो जाने पर भोजन के रूप में दूध व घृत के साथ साठी व शाली चावल का भात प्रयोग करें । जितने काल तक औषध सेवन किया जाता है उससे द्विगुण समय तक पथ्य भोजन करना चाहिए । अर्थात् रसायन प्रक्रिया यदि ५५ दिन में पूरी होती है तो ११० दिन तक पथ्य आहार लेना चाहिए । इस रसायन के प्रयोग से पुरुष जरा रहित होकर सौ वर्ष तक की आयु प्राप्त करता है, इसके गुण पूर्वोक्त रसायनों जैसे ही हैं । ॥१३॥

चक्रपाणि–शुचिः=ज्येष्ठ । शुक्रस्तु=आषाढ । सह=आग्रहायण (अगहन) । सहस्य=पौष मास । भल्लातक को यव या उड़द के ढेर में ४ मास तक रखने के बाद निकालकर तुरन्त प्रयोग नहीं करना चाहिए, अपितु शीतकाल के आने पर अर्थात् मौसम के शीत हो जाने पर इसका प्रयोग करना चाहिए ।

मुखदाहपरिहारार्थं सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्येति–मुख में दाह या स्फोट न उत्पन्न हो, इससे बचने के लिए मुख के आन्तरिक भाग में (मुख में) घृत का लेप करना चाहिये । **नातः परिमिति त्रिंशतः परेण प्रयोगो न भल्लातकस्य**-भल्लातक का एक बार में तीस से अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए । अर्थात् भल्लातक उत्कर्ष का क्रम ३० से अधिक नहीं होना चाहिए ।

सहस्रपरो भल्लातकप्रयोग इति–रसायन विधान के अन्तर्गत १००० भल्लातक का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है । उपर्युक्त भल्लातक की कुल संख्या १००० पूर्ण होने पर ही रसायन के क्रम को रोका जाना चाहिए । प्रकृत्यादि का विचार करते हुए १००० से पूर्व भी इस क्रम को रोका जा सकता है । यहाँ भल्लातक की १००० संख्या वर्धन व ह्रास का क्रम एक बार करने में पूर्ण नहीं होती । अतः इस क्रम की पुनरावृत्ति तब तक की जानी चाहिए जब तक कि यह संख्या पूर्ण न हो जाय । जैसे ही भल्लातक का यह क्रम पूर्ण हो जाय तभी यह क्रम रोक देना चाहिए । आचार्य सुश्रुत ने अर्श चिकित्सा प्रकरण में १०० भल्लातक के प्रकर्ष का विधान बताया है जब कि चरक ने तीस (३०) भल्लातक प्रयोग का निर्देश दिया है, फिर भी सुश्रुत से इस प्रकरण (चरक के निर्देश) का विरोध नहीं है, क्योंकि यह निर्देश रसायन विषय के अन्तर्गत है, जबकि सुश्रुत का निर्देश व्याधिनाश की दृष्टि से है । व्याधिनाश की दृष्टि से सुश्रुत ने २००० भल्लातक प्रयोग करने का निर्देश दिया है । ॥१३॥

विशेष–भल्लातक की १००० संख्या उत्कर्ष एवं अपकर्ष विधि द्वारा इस प्रकार पूरा करते हैं–

Scanned by CamScanner

दिन	भल्लातक संख्या	दिन	भल्लातक संख्या	दिन	भल्लातक संख्या
१	१०	२२	२९	४२	११
२	११	२३	२८	४३	१२
३	१२	२४	२७	४४	१३
४	१३	२५	२६	४५	१४
५	१४	२६	२५	४६	१५
६	१५	२७	२४	४७	१६
७	१६	२८	२३	४८	१७
८	१७	२९	२२	४९	१६
९	१८	३०	२१	५०	१५
१०	१९	३१	२०	५१	१४
११	२०	३२	१९	५२	१३
१२	२१	३३	१८	५३	१२
१३	२२	३४	१७	५४	११
१४	२३	३५	१६	५५	११
१५	२४	३६	१५		१९०
१६	२५	३७	१४		
१७	२६	३८	१३		
१८	२७	३९	१२		
१९	२८	४०	११		
२०	२९	४१	१०		
२१	३०		३९०		
	४२०				

इस प्रकार भल्लातक सेवन का यह क्रम ५५ वें दिन पूर्ण होता है। [४२०+३९०+१९०=१०००]

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्; तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत, तमष्टभागमधुसंप्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात्; तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ।।१४।। (इति भल्लातकक्षौद्रम् ।)

भल्लातक क्षौद्र–सर्वप्रथम पूर्ण गुण युक्त उत्तम भिलावे को छोटे-छोटे टुकड़े में काटकर पिष्ट स्वेदन घड़े में भरकर रखें। एक दूसरा घड़ा जो घृतभावित हो, दृढ़ हो उसे भूमि में उसकी ग्रीवा तक गाड़ दें। इस घड़े के ऊपर भिलावे से भरे हुए घड़े को ऊपर से छिद्रयुक्त ढक्कन लगाकर काली मिट्टी से घड़े के ऊपर का भाग तथा नीचे के संधिबन्धन को अच्छी प्रकार से बन्द कर लेप दें जिससे कहीं से भी वाष्प न निकले। (यह ध्यान रखें भिलावे वाले घड़े के ऊपर स्थित ढक्कन में छोटे-छोटे छिद्र होने चाहिए जिससे उसका स्वरस नीचे वाले घड़े में जा सके।) अब घड़े के ऊपर गोहरा रखकर अग्नि जला दें। जब अग्नि की ऊष्मा द्वारा भिलावा स्विन्न होकर उसका रस नीचे वाले घड़े में आ जाता है। उसे निकालकर उसमें १/८ भाग मधु तथा २ गुना गो घृत डालकर प्रयोग करें। इस रसायन के प्रयोग से पुरुष जरावस्था रहित होकर १०० वर्ष तक जीता है। इसके भी गुण पूर्वोक्त रसायनों जैसा ही है।

चक्रपाणि–पिष्ट स्वेदन यन्त्र उसे कहते हैं जिसमें पिष्टक का स्वेदन (उपस्वेदन) होता है या पिघलता है नीचे वाले घड़े के ऊपर जो पिधान (ढक्कन) पात्र होता है, वह छिद्रयुक्त होना चाहिए, अन्यथा ऊपर स्थित भल्लातक का रस नीचे वाले पात्र में नहीं आ सकेगा।

Scanned by CamScanner

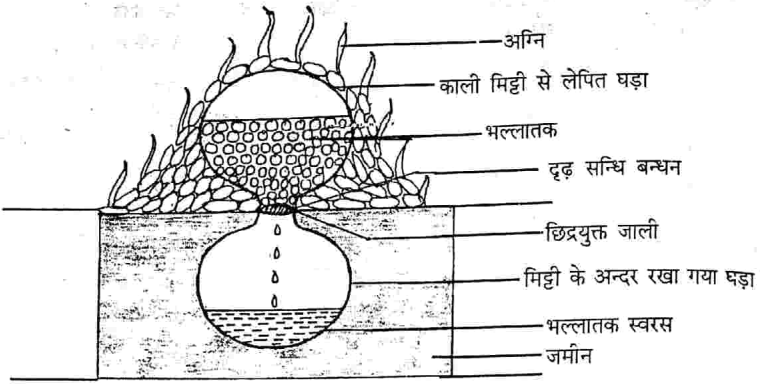

पिष्ट स्वेदन यन्त्र

घटक द्रव्य– १. भल्लातक स्वरस – १भाग
२. घृत – २ भाग
३. मधु – १/८ भाग

सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित करके प्रयोग करें।

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यादिति समानं पूर्वेण ।।१५।।

(इति भल्लातकतैलम्।)

भल्लातक तैल–घटक द्रव्य-

(१) भल्लातक स्वरस (तैल)- १ आढ़क
(२) गो दुग्ध-४ आढ़क
(३) यष्टीमधु कल्क-१ अक्ष (१ तोला)

उपरोक्त अनुपात मे द्रव्यों को लेकर १०० बार पाक कीजिए। इस भल्लातक तैल का प्रयोग मुख में घृत लिप्त कर रसायन सेवी पुरुष करे। इस रसायन के गुण पूर्व रसायनों जैसे ही हैं।

चक्रपाणि–भल्लातकतैलमिति-पिष्ट स्वेदन विधान द्वारा (पूर्व वर्णित विधि द्वारा) निष्कासित भल्लातक तैल का यहाँ ग्रहण किया गया है।

विशेष–यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि १ आढ़क भल्लातक तैल को ४ आढ़क दूध में अक्ष मात्र कल्क डालकर पकाने पर तैल की मात्रा बढ़ती है, यह क्रम १०० बार करने पर 'भल्लातक तैल जो दुग्ध द्वारा सिद्ध है' की मात्रा काफी बढ़ जाती है, क्योंकि दूध द्वारा पाक होने पर दूध का भी स्नेहांश निकलकर इसी में आता है, परिणामतः यह तैल गुणों में कुछ शीत हो जाता है।

भल्लातकसर्पिः, भल्लातकक्षीरं, भल्लातकक्षौद्रं, गुडभल्लातकं, भल्लातकयूषः, भल्लातकतैलं, भल्लातकपललं, भल्लातकसक्तवः, भल्लातकलवणं, भल्लातकतर्पणम्, इति भल्लातकविधानमुक्तं भवति ।।१६।।

भल्लातक के विविध योग–भल्लातक का प्रयोग दस प्रकार से किया जाता है, यथा–

१. भल्लातक सर्पि (भल्लातक घृत)
२. भल्लातक क्षीर
३. भल्लातक क्षौद्र
४. गुड़ भल्लातक
५. भल्लातक यूष
६. भल्लातक तैल
७. भल्लातक पलल
८. भल्लातक सत्तू
९. भल्लातक लवण
१०. भल्लातक तर्पण

इस प्रकार भल्लातक सेवन के दस विधान बताये गये।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–भल्लातक सर्पिः इत्यादि के द्वारा यहाँ भल्लातक के दस प्रयोगों को बताया गया है । यहाँ भल्लातक के साथ घृतादि के संयोग एवं संस्कारों का यथायोग्य ग्रहण करना चाहिए, जिसका विवेचन आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार किया है, यथा– **''भल्लातकसंयुक्तसंस्कृतानि च घृतक्षीरक्षौद्रगुडयूषतैलपललसक्तुलवणतर्पणानि''** इति । इसमें भल्लातक घृत, भल्लातक क्षीर, भल्लातक यूष तथा भल्लातक तैल; नियमानुसार भल्लातक के संस्कार द्वारा निर्मित हैं । अर्थात् इन्हें संस्कार के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है ।

भल्लातक क्षौद्र, भल्लातक पलल, भल्लातक सक्तू तथा भल्लातक तर्पण; ये भल्लातक (स्वरसादि) के संयोग से निर्मित हैं।

भल्लातक गुड़ एवं भल्लातक लवण को संयोग अथवा संस्कार दोनों विधियों से बनाया जाता है । संस्कार के रूप में लवण अन्तर्धूम दग्ध कर तैयार किया जाता है, यथा-अर्क लवण तैयार करने की विधि से तैयार करना । संयोग का अभिप्राय भल्लातक चूर्ण या रस में एक निश्चित मात्रा में सैन्धव नमक मिलाकर प्रयोग करना । अन्य आचार्य सर्पि आदि सभी योगों को संस्कार के ही अन्तर्गत स्वीकार करते हैं । यहाँ भल्लातक सक्तू एवं भल्लातक तर्पण में अद्रव एवं द्रव का विशेष भेद है । अर्थात् भल्लातक सत्तू तैयार करते समय घृतादि के साथ भल्लातक मिलाना, इसमें द्रव मिलाने का निर्देश नही है जब कि तर्पण में द्रव का प्रयोग किया जाता है । तर्पण भी यव, चना आदि के सत्तू में द्रव डालकर बनाया जाता है । इस प्रकार सत्तू एवं तर्पण में अद्रव एवं द्रव का ही अन्तर है । ॥१६॥

भवन्ति चात्र–

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च । भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥१७॥
एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः । रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान् प्रयोगान् प्रकल्पयेत् ॥१८॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन । यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥१९॥

(इति भल्लातकविधिः ।)

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः । रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ॥२०॥
ब्राह्मं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्मध्यानमेव च । दीर्घायुषो यथाकामं संभृत्य त्रिदिवं गताः ॥२१॥
तस्मादायुःप्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः । रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥२२॥

भल्लातकरसायन प्रकरण का उपसंहार–भल्लातक (भिलावा) अग्नि के सदृश तीक्ष्ण एवं पाक को उत्पन्न करने वाला है । यदि विधि पूर्वक इसका प्रयोग किया जाय तो यह अमृत के समान हितकारी भी होता है । यहाँ भल्लातक के जिस दस योगों का वर्णन किया गया है उनका प्रयोग रोगी की प्रकृति, रोग व सात्म्य आदि का विचार करते हुए करना चाहिए । कोई भी कफज व्याधि अथवा कफज विबन्ध ऐसा नहीं है जिसे भल्लातक दूर न करता हो, अर्थात् भल्लातक सभी प्रकार के कफज रोगों एंव विबन्ध को नष्ट करता है । इसके सेवन करने से व्यक्ति की जाठराग्नि एवं मेधा की वृद्धि होती है ।

प्राचीन काल में दीर्घायु की इच्छा रखने वाले वृद्ध च्यवनादि महर्षियों ने इसी कल्याणकारी रसायनों के सेवन द्वारा अमित आयु को प्राप्त किये, तत्पश्चात् परब्रह्म का ध्यान करते हुए, तप, ब्रह्मचर्य, अध्यात्म एवं ध्यान लगाते हुए इच्छानुसार मृत्योत्तर स्वर्ग को प्राप्त किये। इसलिये सुख के इच्छुक, दीर्घायु की कामना करने वाले एवं प्राण की कामना करने वाले पुरुषों को चाहिए कि इस रसायन विधान का सेवन विधि पूर्वक करें । अर्थात् दीर्घायु की कामना करने वाले पुरुष रसायन विधान का सेवन विधि पूर्वक करें ।

चक्रपाणि–अग्निसमानीति-भल्लातक सेवन से शरीर में दाह एवं स्फोट उत्पन्न हो जाते है ।

संभृत्येति–निष्पाद्य=उत्पादित या पैदा करके ।

तत्र श्लोकः–

रसायनानां संयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा । निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा ॥२३॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः ॥२॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–जीव मात्र के हित की कामना वाले भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इस प्राणकामीय नामक रसायनपाद में ३७ योगों का निर्देश किया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत 'चरकसंहिता' चिकित्सास्थान में प्राणकामीय नामक द्वितीय रसायनपाद पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–इस प्राणकामीय रसायनपाद में ३७ प्रयोग बताये गये हैं । बलादि रसायन में बला के साथ १८ प्रयोग और भी बताये गये हैं । अन्य प्रयोग स्पष्ट रूप से निर्देशित हैं ।

विशेष–यहाँ वर्णित ३७ प्रयोगों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है–

Scanned by CamScanner

१. शतपाक आमलकी घृत,	२. सहस्रपाक आमलकी घृत	३. आमलकावलेह
४. आमलक चूर्ण	५. विडङ्गावलेह	६. अपर आमलकावलेह
७. नागबला रसायन	८. बला	९. अतिबला
१०. चन्दन	११. अगरु	१२. धव
१३. तिनिश	१४. खदिर	१५. शिंशप
१६. असन	१७. अमृता	१८. अभया
१९. धात्री	२०. मुक्ता	२१. श्रेयसी
२२. श्वेता	२३. अतिरसा	२४. मण्डूकपर्णी
२५. स्थिरा	२६. पुनर्नवा	२७. भल्लातक क्षीर
२८. भल्लातक क्षौद्र	२९. भल्लातक तैल	३०. भल्लातक सर्पि
३१. भल्लातक यूष	३२. भल्लातक गुड़	३३. भल्लातक पलल
३४. भल्लातक लवण	३५. भल्लातक सत्तू	३६. भल्लातक तर्पण

इस आधार पर यह संख्या पूरी नहीं होती, जबकि यहाँ आमलकी घृत को दो योग स्वीकार किया गया है । वस्तुत: आमलकी घृत एक योग है ।

पाठ भेद के आधार पर–"सप्तत्रिंशन्महर्षिणा' के स्थान पर 'सप्त चैवं दशर्षिणा' पाठ होने पर कोई विरुद्धता नहीं आती, अपितु यह संख्या '१७' पूर्ण हो जाती है । इस पाठ के आधार पर इस अध्याय में योगों की संख्या १७ बतायी गई है, यथा- १ आमलकी घृत, २. आमलकावलेह, ३. आमलक चूर्ण, ४. विडङ्गावलेह, ५. अपरआमलकावलेह, ६. नागबला रसायन, ७. उन्नीस बलादि रसायन, ८. भल्लातक क्षीर, ९. भल्लातक क्षौद्र, १०. भल्लातक तैल, १२. भल्लातक सर्पि, १३. भल्लातक यूष, १४. भल्लातक पलल, १५. गुड़ भल्लातक, १६. भल्लातक सत्तू, १७. भल्लातक तर्पण ।

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि यही पाठ उचित है ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय के अन्तर्गत, प्राणकामीयरसायनपाद नामक द्वितीय पाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

रसायनाध्याये तृतीयः पादः ।

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे करप्रचितीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–आमलकी रसायन के गुणों से इसकी समता (Similarity) होने के कारण यहाँ 'करप्रचितीय रसायनपाद का उल्लेख किया जा रहा है ।

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्, अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रजननानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां चन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः कृत्तानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्य-चित्रकविडङ्गानां च समस्तानामाढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत्, तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंश-विदलशरतेजनाग्निभिर्वा साधयेद्यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं तत् कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत् सम्यक्, तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसंप्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ।।३।।

भवन्ति चात्र–

एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः । जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विदाः ।।४।।
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात् । यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ।।५।।
इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम् । जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ।।६।।

(इत्यामलकायसं ब्राह्मरसायनम् ।।)

आमलकायस ब्राह्मरसायन–हाथ द्वारा इकट्ठा किये हुए आँवले, जिनका निर्देश पूर्व में किया जा चुका है, को माघ या फाल्गुन मास में लेकर उसमें से गुठली निकालकर छाया शुष्क कर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण में आमलकी स्वरस की २१ भावना दें, पुनः छाया शुष्क कर चूर्ण बना लें । इस प्रकार आमलकी स्वरस भावित आमलकी चूर्ण की मात्रा १ आढ़क (२५६ तोले) लें ।

१. आमलकी स्वरस भावित आमलकी चूर्ण १ आढ़क (२५६ तोले)

२. क्वाथ्य द्रव्य–

जीवनीयगण	–	१०	५० द्रव्य	षड्विरेचन शताश्रितीय अध्याय (च.सू. ४) में वर्णित द्रव्य
बृंहणीयगण	–	१०		
स्तन्यजननगण	–	१०		
शुक्रवर्धनगण	–	१०		
वयः स्थापनगण	–	१०		

\+

लालचन्दन का सार	७ द्रव्य
काला अगरसार	
धवसार	
तिनिशसार	
खदिरसार	
शीशमसार	
असनसार	

\+

हरड़ (हरीतकी), विभीतकी, पिप्पली, वचा, चव्य, चित्रक एवं विडङ्ग–७ द्रव्यों का चूर्ण ।

यहाँ कुल ६४ द्रव्यों का उल्लेख है जिनकी कुल मात्रा १ आढ़क लेने का निर्देश है । इस आधार पर प्रत्येक द्रव्य ४-४ तोला ग्रहण करना चाहिए । उपरोक्त द्रव्यों की मात्रा को लेकर १० गुने (१० आढ़क) जल में सिद्ध (पाक) करें । एक आढ़क द्रवांश शेष रहने पर क्वाथ को छानकर एक अलग पात्र में रख लें ।

Scanned by CamScanner

३. अब १ आढ़क आमलकी स्वरस भावित चूर्ण में १ आढ़क उपरोक्त क्वाथ मिलाकर उसे गोबर की अग्नि या बाँस अथवा सरकण्डे की अग्नि पर पकावें, जब तक कि द्रवांश उड़ न जाय अर्थात् इसे पकाकर द्रवांश उड़ा दें। इतना ध्यान रखें कि चूर्ण जलने न पाये। अब इसे एक लौह के पात्र में निकालकर सुखावें, शुष्क हो जाने पर एक काले मृगचर्म के ऊपर सील रखकर इसे श्लक्ष्ण (महीन-चिकना) पीस कर चूर्ण बना लें।

४. श्लक्ष्ण पीसा हुआ महीन आँवले का चूर्ण (क्वाथ द्वारा पकाया गया)–१ भाग + १/८ भाग लौह चूर्ण (लौह भस्म) मिलाकर एक लौह के पात्र में रख लें।

इस चूर्ण का प्रयोग पुरुष अग्निबल के अनुसार घृत व मधु मिलाकर करे।

आमलकायस ब्राह्मरसायन के गुण–इस रसायन का प्रयोग प्राचीन काल में वसिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, जमदग्नि, भरद्वाज तथा भृगु जैसे अन्य आचार्यों ने किया था। इस रसायन का सावधानी पूर्वक प्रयोग करते हुए ये आचार्य श्रम, व्याधि एवं जरा (वृद्धावस्था) के भय से मुक्त हो गये। इस रसायन के प्रभाव से वे आचार्य अत्यन्त शक्तिशाली होकर अपनी इच्छानुसार तप करते रहे। एक हजार वर्ष की आयु को देने वाले, जरा एवं व्याधि को दूर करने वाले तथा बुद्धीन्द्रियों को बल देने वाले इस रसायन का निर्माण ब्रह्मा ने किया था [इसलिये इसे 'आमलकायस ब्राह्मरसायन' कहा जाता है।]

चक्रपाणि–करप्रचितानामिति-पेड़ पर चढ़कर हाथ से तोड़कर इकट्ठा किये हुए आँवले। इससे यहाँ डाली को हिलाकर या डण्डे से मारकर ग्रहण किये जाने वाले आँवले का निषेध किया गया है। **माघे फाल्गुने वा इति**-आमलकी तोड़ने का काल माघ या फाल्गुन मास बताया गया है, क्योंकि इस महीने में आँवले पक कर अपने गुणों से युक्त हो जाते है, ऐसा आगम द्वारा अनुमान किया जाता है। अर्थात् शास्त्रों में ऐसा निर्देश है।

स्वरस से यहाँ आमलकी स्वरस का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि इसी का प्रकरण चल रहा है। शाक से बड़े पत्ते वाले एक वृक्ष का ग्रहण है।

कृतानामिति–चन्दन, खदिर आदि द्रव्य जिनके सारभाग (Heart wood) प्रयोग किये जाते हैं। इन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ लें। यहाँ पाक हेतु, गोबर, सरकण्डे अथवा बाँस की लकड़ियों का प्रयोग किया गया है। इनकी अग्नि में औषध को पकाने पर उसमें गुणों की वृद्धि होती है, अर्थात् औषधि अधिक गुणवान बने, इसलिये ऐसा किया गया है। यह अनुमान ऋषि वचनों के आधार पर लगाया जाता है। कहा भी गया है–"**ऋषयस्त्वेव जानन्ति योगसंयोजं फलम्**" इति [द्रव्यों के योग-संयोग फल को ऋषि ही बता सकते हैं।] इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी वर्णित 'इतिकर्तव्यता' के नियमों की व्याख्या करनी चाहिए।

कृष्णाजिनस्य इति–काले मृग का चर्म; काले मृग चर्म के ऊपर सील रखकर औषधि को श्लक्ष्ण पीसकर चूर्ण बनाने का निर्देश दिया गया है। यहाँ भी औषधि की गुणवत्ता कृष्ण अजिन के प्रभाव से बढ़ती है, ऐसा समझना चाहिए। ॥६॥

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च। रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ॥७॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं, नहि किञ्चिद्रसायनम्। ग्राम्यानामन्यकार्याणां सिध्यत्यप्रयतात्मनाम् ॥८॥

तप, ब्रह्मचर्य, ध्यान एवं शमन से युक्त होकर इस रसायन विधान के सेवन से प्राचीन काल में अनियत आयु वाले ऋषियों ने अमित आयु को प्राप्त किया। ग्राम्य पुरुषों के लिए, रसायन सेवन करते समय अन्य कार्यों में लगे रहने वाले तथा जिनका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं है; ऐसे पुरुषों में कोई भी रसायन प्रयोग सिद्ध नहीं होता। अर्थात् सफल नहीं होता। ॥७-८॥

चक्रपाणि–वस्तुतः यह रसायन प्रयोग तप करने वाले, ब्रह्मचारी पुरुषों एवं अध्ययनादि करने वाले लोगों में ही महाफलदायी होता है, इसी का विवेचन 'तपसेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

कालयुक्तेन चायुषेति–अनियतकालयुक्तेन चायुषेत्यर्थः- अनियत आयु वाले पुरुष, क्योंकि जिनकी आयु नियत है उनमें रसायन का कोई फल नहीं प्राप्त होता। अर्थात् अनियत आयु वाले ऋषियों ने रसायन प्रयोग द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, अध्ययनादि कार्यों को करते हुए दीर्घायु को प्राप्त किया।

स्थिता इति–दीर्घ काल तक जीना। अर्थात् अत्यधिक आयु को प्राप्त करना।

जो पुरुष तप अध्ययनादि कार्यों में नहीं लगे हैं। अर्थात् जिनका अपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं है, जो ब्रह्मचारी नहीं है तथा अध्ययन आदि कार्यों को नहीं करते हैं, उनमें यह रसायन प्रयोग सफल नहीं होता है। अभिप्राय यह है कि रसायन सेवन के समय व्यक्ति को आहार-विहार एवं इन्द्रियों पर अत्यन्त नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। इसी का विवेचन यहाँ 'न हीत्यादि' के द्वारा किया गया है। ॥७-८॥

Scanned by CamScanner

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत् सदा । सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी यतेन्द्रियः ।।९।।
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम् । त्र्यहोपवासी शुक्लस्य प्रविश्यामलकीवनम् ।।१०।।
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम् । गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात् ।।११।।
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम् । शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च ।।१२।।
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्ति भक्षयेत् । जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः ।।१३।।
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः । स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक् च रूपिणी ।।१४।।

(इति केवलामलकरसायनम् ।)

केवलामलक रसायन–इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखते हुए, ब्रह्मचारी रहकर मन में गायत्री का जप करते हुए, गोदुग्ध का ही आहार लेते हुए व्यक्ति गायों के ही बीच में ही एक वर्ष तक रहे । एक वर्ष बीत जाने पर तीन दिन उपवास रहकर शुक्ल पक्ष में पौषी, माघी या फाल्गुनी तिथि को आँवले के वन में प्रवेश करे, ऐसे आँवले का वृक्ष जिसमें बड़े-बड़े फल लगे हों, पर चढ़कर शाखागत फल को पकड़कर तब तक ब्रह्म का जाप करे जब तक आँवले में अमृत न आ जाय । ऐसा करने से कुछ क्षण के लिए आँवले में अमृत अवश्य ही आ जाता है, जिसके कारण आँवला चीनी व मधु के सदृश स्निग्ध, मधुर व मृदु हो जाता है । इस प्रकार जितने आँवले को वह ब्रह्मचारी पुरुष खाता है उतने हजार वर्षों तक युवा होकर जीता है । तृप्ति भर खा लेने पर वह देवताओं के सदृश हो जाता है । उस पुरुष में श्रीवेंदन (ज्ञान) एवं वाक् (सरस्वती) स्वयं प्रवेश कर जाती हैं ।

चक्रपाणि–ब्रह्मचारित्वेनेन्द्रियनियमे लब्धेऽपि यतेन्द्रियपदसंबन्ध इन्द्रियनियमातिशयोपदर्शनार्थः-ब्रह्मचारी शब्द से ही इन्द्रिय नियम का अर्थ प्राप्त हो जाता है, फिर भी यतेन्द्रिय शब्द का प्रयोग होना 'अतिशय इन्द्रिय नियम' को दर्शाने के लिए किया गया है । **पौषादिषु संवत्सरान्तत्त्वं नियमादिनारभ्य वर्षपूरणेन ज्ञेयम्**- पौष आदि शुभ मास एवं तिथि से प्रारम्भ कर, नियमादि के अनुसार एक वर्ष पूरा करना ।

फाल्गुनीमिति–इसके अन्त में 'प्राप्येति' शब्द जुड़ा हुआ है । च.सू.अ. ८ (इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय) में 'न द्रुममारोहेत् (पेड़ पर नहीं चढ़ना चाहिये ।) का निर्देश दिया गया है । यह प्रयोग उसका अपवाद है ।

जपन् ब्रह्मेति–ॐकार का जप करते हुए ।

अमृतागमात् इति–आँवले के वृक्ष पर चढ़कर आँवले को अपनी हाथ से पकड़कर तब तक ॐकार का जप करना जब तक आँवले में अमृत का प्रवेश न हो जाय ।

सौहित्यमेषामिति करणे षष्ठी–करण के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग होता है ।

वाग्रूपिणीति–वाणी की अधिष्ठात्री (देवी) देवता-अर्थात् उसकी वाणी में सरस्वती का वास हो जाता है । अर्थात् वह व्यक्ति यथार्थ वक्ता हो जाता है । ।।९-१४।।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षारे च लावणे । क्रमेण चेक्षुदीक्षारे किंशुकक्षार एव च ।।१५।।
तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि साधयेत् । चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधतनूनि च ।।१६।।
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ।।१७।।
युक्तानि लेहवत् कुम्भे स्थितानि घृतभाविते । संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तथैव च ।।१८।।
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः । संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ।।१९।।
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम् । एष एव च लौहानां प्रयोगः संप्रकीर्तितः ।।२०।।
नाग्निघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना । स धृष्यः स्याद्गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ।।२१।।
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाधनः । भवेत् समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम् ।।२२।।
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च । आयुः प्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत् ।।२३।।

(इति लौहादिरसायनम् ।)

लौहादि रसायन–तीक्ष्ण लौह पत्र (कान्तलौह पत्र) जो चार अंगुल लम्बा एवं तिल के बराबर मोटा हो, उसे अग्नि पर गरमकर रक्तवर्ण का कर लें, पश्चात् क्रमशः त्रिफला रस, गोमूत्र, मालकांगनी क्षार (क्षारोदक) तथा पलाशोदक (क्षारोदक) में बुझावें, बुझाते-बुझाते अञ्जन के समान जब यह कृष्ण वर्ण का हो जाये तो उसे सूक्ष्म चूर्ण कर लें । उस चूर्ण में मधु व आमलकी स्वरस मिलाकर अवलेह के समान बना लें । इसे एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर ऊपर से ढक्कन बन्द कर कपड़ मिट्टी कर एक वर्ष के लिए यव की राशि में गाड़ दें । बीच-बीच में एक-एक मास के अन्तर पर इसे निकालकर आलोडित किया करें, ताकि द्रव्य आपस में अच्छी प्रकार से मिल जाय । एक वर्ष के बीत जाने पर इसका प्रयोग मधु व घृत के साथ अग्निबल का विचार करते हुए केवल प्रातः काल करें । अर्थात् इसका सेवन दिन में केवल एक बार करना चाहिए । औषध के जीर्ण हो जाने पर पथ्य एवं सात्म्य भोजन करें । इस प्रकार यहाँ लौहादि रसायन के प्रयोग विधि का उल्लेख किया गया ।

Scanned by CamScanner

रक्तवर्ण

तप्त करना

कान्तलौहपत्र
लम्बाई = ४ अंगुल
चौड़ाई = ४ अंगुल
मोटाई = यव प्रमाण

क्रमशः चार द्रव्यों में पुनः-पुनः तप्त कर बुझाते हैं।

↓ त्रिफला स्वरस

↓ गोमूत्र

↓ ज्योतिष्मती क्षारोदक

↓ पलाश क्षारोदक

लौहपत्र कृष्ण वर्ण का होने पर चूर्ण कर लें

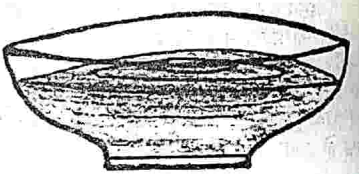

अवलेह (आमलकी स्वरस+मधु+लौहचूर्ण)

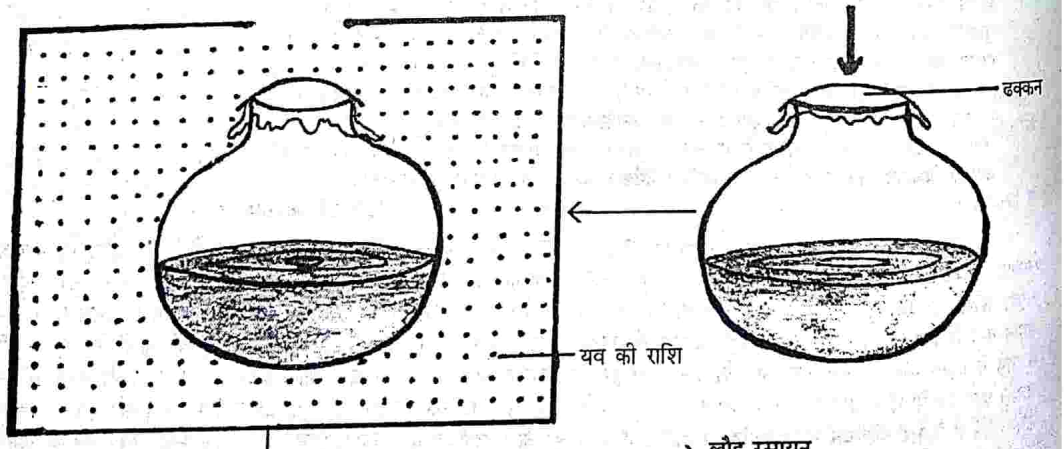

लौह रसायन

एक वर्ष बाद

Scanned by CamScanner

लाभ–इस रसायन के सेवन से अधोलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

१. व्यक्ति को अभिघात, व्याधि एवं जरा का भय नहीं रहता । यहाँ मृत्यु से अकाल मृत्यु का ग्रहण किया गया है ।

२. रसायन सेवी पुरुष हाथी के समान शक्तिशाली हो जाता है तथा उसकी इन्द्रियाँ भी अपने विषयों को ग्रहण करने में पूर्णतः समर्थ रहती हैं ।

३. इस रसायन के सेवन से पुरुष अत्यधिक बुद्धिमान (Intelligent), वाक्सिद्ध (अपनी बातों पर अडिग रहने वाला), श्रुतधारी (सुने हुए बातों को याद रखने वाला) तथा अत्यन्त धनवान (पाठ भेद में महाबलः शब्द है जिसका अर्थ बलवान से लिया गया है ।) हो जाता है ।

४. इस रसायन का प्रयोग पुरुष को धैर्यपूर्वक १ वर्ष तक करना चाहिए तभी उसे उपरोक्त गुणों की प्राप्ति होती है ।

५. लौहादि रसायन की तरह ही सुवर्ण एवं रजत (चाँदी) का भी प्रयोग किया जाता है । ये रसायन भी इस रसायन की तरह दीर्घायु प्रदान करने वाले, व्याधि व जरानाशक होते हैं । यह एक सिद्ध प्रयोग है ।

चक्रपाणि–क्षार इति परिस्रावितक्षारोदके-परिस्रावित क्षारोदक में, क्षार में षड् गुना जल मिलाकर क्षारोदक तैयार किया जाता है ।

क्षारे लावण इति–ज्योतिष्मती के क्षार में ।

साधयेदिति निर्वापयेत्–डुबाना चाहिए । अर्थात् तप्त लौहपत्र को ज्योतिष्मती क्षार में डुबावें ।

लौहानामित्यनेन–लौह से यहाँ लौह (धातुओं) के अन्तर्गत आने वाले सुवर्ण (Gold) एवं रजत का ग्रहण इसी से हो जाता है । अर्थात् सुवर्ण एवं रजत से निर्मित रसायनों के भी यही गुण एवं इसी प्रक्रिया द्वारा इनका निर्माण किया जाता है ।

महाधनत्वम्–इस रसायन के सेवन से शरीर लौह (धातुओं) के समान दृढ़ (Strong) हो जाता है । यह रसायन का अपना प्रभाव है ।

ऐन्द्री मत्स्याख्यको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला । पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम् ।।२४।।
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना । द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ।।२५।।
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदैकध्यं प्रयोजयेत् । घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ।।२६।।
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम् । आयुष्यं पौष्टिकं धन्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ।।२७।।
परमोजस्करं चैतत् सिद्धमैन्द्रं रसायनम् । नैनत् प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ।।२८।।
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च । मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः ।।२९।।
(इत्यैन्द्रं रसायनम् ।)

ऐन्द्ररसायन–घटकद्रव्य-

१.	ऐन्द्री (इन्द्रायण का मूल)	-	३ यव
२.	मत्स्याख्य (मछेछी)	-	३ यव
३.	ब्राह्मी	-	३ यव
४.	वचा (मीठा वच)	-	३ यव
५.	ब्रह्म सुवर्चला (हुरहुर)	-	३ यव
६.	पिप्पली	-	३ यव
७.	सैन्धव नमक	-	३ यव
८.	हेम (स्वर्ण)	-	२ यव
९.	शङ्खपुष्पी	-	३ यव
१०.	विष	-	तिल प्रमाण
११.	घृत	-	१ पल (४ तोला)

निर्माण विधि–उपरोक्त द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर मिश्रित कर लें । इनका प्रयोग अग्नि बल का विचार करते हुए मधु व घृत के साथ करें । औषध के जीर्ण हो जाने पर पथ्य भोजन के साथ प्रभूत मात्रा में मधु व घृत का प्रयोग करें ।

लाभ–इस रसायन के विधिपूर्वक सेवन से अधोलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

Scanned by CamScanner

१. यह रसायन जरा एवं व्याधिनाशक है ।

२. इसके सेवन से स्मरण एवं मेधा शक्ति बढ़ती है ।

३. यह दीर्घायुष्य एवं पौष्टिक है । अर्थात् इसके सेवन से धातुयें पुष्ट होती है, परिणामतः पुरुष की आयु बढ़ जाती है ।

४. व्यक्ति के स्वर एवं वर्ण को उत्तम बनाती है ।

५. इसके सेवन से ओज की वृद्धि होती है ।

६. इस रसायन का सेवन करने वाला पुरुष कृत्या (मोहन, उच्चाटन आदि क्रियाओं) द्वारा बाधित नहीं होता, न ही उस पर अलक्ष्मी, विष तथा विविध व्याधियों, यथा–श्वित्र (Leucoderma), कुष्ठ (Leprosy), उदररोग, गुल्म, प्लीहा (Splenic disorder), जीर्ण एवं विषम ज्वर का ही कोई प्रभाव पड़ता है । अर्थात् रसायन सेवी पुरुष को ये व्याधियाँ नहीं होती ।

चक्रपाणि-मत्स्याख्यको 'मच्छु' इति लोके ख्यात–मत्स्याख्यक लोक व्यवहार में मच्छु के नाम से प्रसिद्ध है । अन्य आचार्य इसे 'ऐन्द्री भेद' के रूप में स्वीकार करते हैं । **त्रियवकानिति**= ३ यव मात्रा (१८२.२५ mg)। **घृतप्रभूतमिति**-अन्न के साथ अत्यधिक घृत का सेवन करना चाहिए । इससे अन्न की विशेषताओं को बताया गया है । कृत्या से अभिचार अर्थ लिखा गया है । (कृत्या=एक देवी जिसकी यज्ञादि के द्वारा पूजा इसलिये की जाती है कि विनाशकारी एवं जादू-टोनों के कार्यों में सिद्धि प्राप्त हो । हिन्दी-संस्कृत शब्दकोश । ॥२४-२९॥

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् । रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ।।३०।।
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि । मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ।।३१।।

(इति मेध्यरसायनानि)

चार मेध्य रसायन–

१. मण्डूकपर्णी का स्वरस
२. मुलेठी का चूर्ण
३. गुडूची स्वरस
४. शंखपुष्पी का पञ्चांग (कल्क रूप में)

मुलेठी चूर्ण का प्रयोग दूध के साथ करना चाहिए । इस प्रकार मण्डूकपर्णी का स्वरस, मुलेठी का चूर्ण, गुडूची का स्वरस एवं शंखपुष्पी के पञ्चांग का कल्क मेध्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए । ये चारो रसायन आयुवर्धक, व्याधिनाशक, बल, अग्नि, वर्ण एवं स्वरवर्धक तथा मेध्य होते हैं, जिसमें शंखपुष्पी विशेष रूप से मेध्य है । ॥३०-३१॥

चक्रपाणि–"मण्डूकपर्ण्या इत्यादि' के द्वारा यहाँ चार रसायन योग बताये गये हैं । ॥३०॥

पञ्चाष्टौ सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा । रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ।।३२।।
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च । पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ।।३३।।
प्रयोज्या मधुसंमिश्रा रसायनगुणैषिणा । जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान् ।।३४।।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम् । वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ।।३५।।

(इति पिप्पलीरसायनम् ।)

पिप्पली रसायन–रसायन गुण की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष एक वर्ष (One year) तक अपनी अग्निबल के अनुसार ५, ८, ७, या १० पिप्पली के चूर्ण को मधु व घृत के साथ सेवन करे । तीन-तीन पिप्पली का प्रयोग प्रातः काल, भोजन के पूर्व एवं भोजन के पश्चात् करना चाहिए । रसायन गुण की प्राप्ति का इच्छुक पुरुष पिप्पली को पलाश क्षारोदक में भावित कर, छाया शुष्क कर गोघृत में भुनकर चूर्ण बनावें, पश्चात् मधु व घृत के साथ इसका मात्रा पूर्वक प्रयोग करें ।

लाभ–इस रसायन के प्रयोग से कास (Bronchitis), क्षय (Pthisis), शोष (Consumption), श्वास (Asthma), हिक्का (हिचकी Hiccup), गले के रोग (Diseases of throat), अर्श (Piles), ग्रहणी रोग (Sprue syndrome), पाण्डु (रक्ताल्पता Anaemia), विषमज्वर (Irregular fever), वैस्वर्य (Hoarseness of the voice), पीनस (Chronic rhinitis), शोफ (Oedema), गुल्म तथा वातबलासक; जैसी व्याधियों का नाश हो जाता है । ॥३२-३५॥

चक्रपाणि–पञ्चेत्यादि के द्वारा-संख्या व्यतिक्रम होने से अनुक्त संख्याओं में भी पिप्पली के उपयोग को यहाँ बताया गया है । यद्यपि तीन द्रव्यों का अति उपयोग निषिद्ध किया गया है, यथा-"त्रीणि द्रव्याणि नात्युपयुञ्जीत पिप्पलीं क्षारं लवणम्" (वि.अ.१) फिर भी इस प्रकरण में द्रव्यान्तर संयोग से पिप्पली का अभ्यास विरुद्ध नहीं है । अथवा उत्सर्गापवादन्याय (विशेष नियम) से पिप्पली रसायन को छोड़कर यहाँ भी अति पिप्पली सेवन का निषेध समझना चाहिए । अर्थात् यह योग अपवाद है । किंशुकः=पलाश । ॥३२-३५॥

Scanned by CamScanner

क्रमवृद्ध्या दशाहानि दशपैप्पलिकं दिनम् । वर्धयेत् पयसा सार्धं तथैवापनयेत् पुनः ।।३६।।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा । पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ।।३७।।
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः, शृता मध्यबलैर्नरैः । चूर्णीकृता ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति ।।३८।।
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट् प्रकीर्तितः । प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः स कनीयान् स चाबलैः ।।३९।।
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम् । वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ।।४०।।

(इति पिप्पलीवर्धमानं रसायनम् ।)

पिप्पलीवर्धमान रसायन–क्रमशः १० पिप्पली से प्रारम्भ कर प्रतिदिन १० पिप्पली बढ़ाते हुए १० दिन तक ले जाना, पश्चात् १० पिप्पली क्रमशः घटाते हुए दस पर लाना । इसी क्रम से दूध की मात्रा को भी बढ़ाना एवं घटना चाहिए । पिप्पली के जीर्ण हो जाने पर दूध में घी मिलाकर साठी चावल का भात सेवन करना चाहिए । इस प्रकार रसायन गुण की प्राप्ति हेतु १००० पिप्पली का प्रयोग करना चाहिए । बलवान पुरुष को पिप्पली के कल्क, मध्य बल वाले को पिप्पली श्रृत (क्वाथ) तथा अल्प बल वाले को पिप्पली चूर्ण (यहाँ पाठ भेद से चूर्णीकृता के स्थान पर 'शीतीकृता' का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय शीत कषाय से है ।) का प्रयोग अग्निबल, दोष एवं व्याधि का विचार करते हुए करना चाहिए ।

इस प्रकार वर्धमान पिप्पली रसायन में १० पिप्पली का प्रयोग प्रवर (श्रेष्ठ) माना गया है । दुर्बल लोगों के लिए अवर मात्रा (३ पिप्पली) का ही प्रयोग करना चाहिए ।

लाभ–१. यह रसायन बृंहण कारक, स्वर को उत्तम बनाने वाला एवं आयुष्य कारक है ।

२. इसके प्रयोग से प्लीहा एवं उदररोग शान्त हो जाते हैं ।

३. यह वयःस्थापक एवं मेध्य है ।

चक्रपाणि–'क्रमवृद्ध्येति' के द्वारा पिप्पलीवर्धमान रसायन की विधि को स्पष्ट किया गया है । दशपिप्पल्यो यत्र वर्धन्ते तद्दिनं दशपैप्पलिकम्-दस पिप्पली का प्रयोग जिस दिन से करते हैं उस दिन को 'दशपैप्पलिक' कहा गया है । इस प्रकार प्रतिदिन १०-१० पिप्पली बढ़ाना, यह अभिप्राय है । दस पिप्पली से शुरू करके १०-१० बढ़ाते हुए दसवें दिन १०० पिप्पली का प्रयोग एवं पुनः घटाते हुए १० पिप्पली पर आना । इस प्रकार १९ दिन में १००० पिप्पली का प्रयोग पूरा होता है ।

चूर्णीकृता इत्यत्र–चूर्णीकृता के स्थान पर 'शीतीकृता' का भी पाठ प्राप्त होता है । [गुणवत्ता की दृष्टि से कल्क एवं चूर्ण में कोई भेद नहीं है, जबकि यहाँ बलवान् पुरुषों के लिए पिप्पली कल्क एवं अवर बल वाले के लिए चूर्ण का निर्देश है । अतः यहाँ चूर्णीकृता के स्थान पर 'शीतीकृता' पाठ ज्यादा उपयुक्त है।] पिप्पली वर्धमान के उत्कृष्ट प्रयोग को दर्शाने के बाद मध्यम एवं अवर बल वाले पुरुषों के लिए मध्यम एवं अवर मात्रा का निर्देश 'दशेत्यादि' के द्वारा दिया गया है ।

षट्प्रकीर्तित इति–पिप्पलीवर्धमान का मध्यम प्रयोग ६ पिप्पली से प्रारम्भ कर १० दिन तक बढ़ाना एवं पुनः घटाते हुए ६ पर लाना, इस प्रकार इस क्रम को दुहराते हुए १००० संख्या पूरी करना । इस क्रम का निर्देश भी पूर्व आचार्यों द्वारा ही दिया गया है ।

इसी प्रकार अवर प्रयोग के रूप में -३ पिप्पली से प्रारम्भ कर १० दिन तक बढ़ाना, पुनः घटाते हुए ३ पर लाना । इसी क्रम को बार-बार करते हुए १००० की संख्या पूर्ण करना । ।।३६-४०।।

विशेष–पिप्पलीवर्धमान रसायन की विधि को इस प्रकार से समझा जा सकता है–

व्यक्ति बल	प्रयोग की गुणवत्ता	औषध की कल्पना
१. प्रवर	श्रेष्ठ	१० पिप्पली → कल्क (Paste), क्वाथ (Decoction), शीत (Cold infusion)
२. मध्यम बल	मध्यम	६ पिप्पली → कल्क, क्वाथ, शीत
३. अवर बल	हीन (अवर)	३ पिप्पली → कल्क, क्वाथ, शीत

Scanned by CamScanner

जो पुरुष कल्क को न ले सकते हों उन्हें क्वाथ, जो क्वाथ न सह सके या अनुकूल न हो उन्हें शीत का प्रयोग करना चाहिए। पिप्पली की संख्या बढ़ाने के साथ ही दूध की मात्रा को भी क्रमशः बढ़ाना एवं घटाना चाहिए। ध्यान देने की बात यह है कि मध्यम एवं अवर बल वाले रोगियों में पिप्पली को बढ़ाते हुए अधिकतम कितनी पिप्पली पर लाना चाहिए, यह निर्देश नहीं है। मूल वचन को प्रमाण स्वीकार करने पर उत्कर्ष की अधिकतम सीमा १० दिन प्राप्त होता है, इसके बाद घटाने (अपकर्ष) की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिए। इसी को आधार मानकर उत्तम, मध्यम एवं अवर प्रयोग को स्पष्ट किया जा रहा है–

१. **उत्तम या श्रेष्ठ प्रयोग**–यह १० पिप्पली से प्रारम्भ किया गया है।

दिन	पिप्पली संख्या		दिन	पिप्पली संख्या	
१. पहले	१०		११. ग्यारहवें	९०	
२. दूसरे	२०	बढते हुए	१२. बारहवें	८०	
३. तीसरे	३०	क्रम	१३. तेरहवें	७०	
४. चौथे	४०		१४. चौदहवें	६०	
५. पाँचवें	५०		१५. पन्द्रहवें	५०	
६. छठवे	६०		१६. सोलहवें	४०	
७. सातवें	७०		१७. सत्रहवें	३०	
८. आठवें	८०		१८. अट्ठारहवे	२०	घटते हुए क्रम
९. नवे	९०		१९. उन्नीसवें	१०	
१०. दसवें	१००			४५०	
	५५०				

कुल संख्या = ५५०+४५० = १०००

उन्नीस दिन में यह क्रम पूरा होता है।

२. **मध्यम प्रयोग**–इसमें ६ पिप्पली के कल्क या क्वाथ या शीत से प्रारम्भ किया जाता है।

दिन	पिप्पली संख्या		दिन	पिप्पली संख्या	
१. पहले	६		२०. बीसवें	१२	
२. दूसरे	१२		२१. इक्कीसवें	१८	
३. तीसरे	१८		२२. बाइसवें	२४	
४. चौथे	२४		२३. तेइसवें	३०	
५. पाँचवे	३०		२४. चौबीसवें	३६	बढ़ते हुए क्रम में
६. छठे	३६	बढ़ते हुए	२५. पच्चीसवें	४२	
७. सातवें	४२	क्रम में	२६. छब्बीसवें	४८	
८. आठवें	४८		२७. सत्ताइसवें	४८	
९. नवें	५४		२८. अट्ठाइसवें	४२	
१०. दसवें	६०		२९. उन्नीसवें	३६	
११. ग्यारहवें	५४		३०. तीसवें	३०	
१२. बारहवें	४८		३१. इकतीसवें	२४	घटते हुए क्रम में
१३. तेरहवें	४२		३२. बत्तीसवें	१८	
१४. चौदहवें	३६		३३. तैतीसवें	१२	
१५. पन्द्रहवें	३०	घटते हुए	३४. चौतीसवें	६	
१६. सोलहवें	२४	क्रम में		४२६	
१७. सत्रहवें	१८				
१८. अट्ठारहवें	१२				
१९. उन्नीसवें	६				
	६००				

Scanned by CamScanner

कुल संख्या- ६००+४२६=१०२६

यह क्रम ३४ दिन में पूरा होता है।

३. अवर प्रयोग–इसे तीन पिप्पली के कल्क या क्वाथ या शीत से प्रारम्भ करते हैं।

दिन	पिप्पली संख्या	
१. पहले	३	
२. दूसरे	६	
३. तीसरे	९	बढ़ते हुए क्रम में
४. चौथे	१२	
५. पाँचवे	१५	
६. छठे	१८	
७. सातवें	२१	
८. आठवें	२४	
९. नवें	२७	बढ़ते हुए क्रम में
१०. दसवें	३०	
११. ग्यारहवें	२७	
१२. बारहवें	२४	
१३. तेरहवें	२१	
१४. चौदहवें	१८	घटते हुए क्रम में
१५. पन्द्रहवें	१५	
१६. सोलहवें	१२	
१७. सत्रहवें	९	
१८. अट्ठारहवें	६	
१९. उन्नीसवें	३	
	३००	
२०. बीसवें	६	बढ़ते हुए क्रम में
२१. इक्कीसवें	९	
२२. बाइसवें	१२	
२३. तेइसवें	१५	
२४. चौबीसवे	१८	
२५. पच्चीसवें	२१	
२६. छब्बीसवें	२४	
२७. सत्ताइसवें	२७	
२८. अट्ठाइसवें	३०	
२९. उन्तीसवें	२७	
३०. तीसवें	२४	
३१. इकतीसवें	२१	
३२. बत्तीसवें	१८	घटते हुए क्रम में
३३. तैंतीसवें	१५	
३४. चौंतीसवें	१२	
३५. पैंतीसवें	९	
३६. छत्तीसवें	६	
३७. सैंतीसवें	३	
	२९७	

दिन	पिप्पली संख्या	
३८. अड़तीसवें	६	
३९. उनतालीसवें	९	बढ़ते हुए क्रम में
४०. चालीसवें	१२	
४१. एकतालिसवें	१५	
४२. बयालिसवें	१८	
४३. तिरालिसवें	२१	
४४. चौवालिसवें	२४	
४५. पैंतालिसवें	२७	
४६. छियालिसवे	३०	
४७. सैंतालिसवें	२७	घटते हुए क्रम में
४८. अड़तालिसवें	२४	
४९. उनचासवें	२१	
५०. पच्चासवें	१८	
५१. इक्यावनवें	१५	
५२. बावनवें	१२	
५३. तिरेपनवें	९	
५४. चौवनवें	६	
५५. पचपनवें	३	
५६. छप्पनवें	६	२७९
५७. सत्तावनवें	९	
५८. अट्ठावनवें	१२	
५९. उनसठवें	१५	
६०. साठवें	१५	
६१. इकसठवें	१८	
६२. बासठवें	१५	
६३. तिरेसठवें	१२	
६४. चौसठवे	९	घटते हुए क्रम में
६५. पैंसठवे	६	
६६. छाछठवे	३	

Scanned by CamScanner

कुल संख्या- ३००+२९७+२९७+१२३ = १०१७
यह क्रम ६६ दिन में पूरा होता है ।

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ताद् द्वे बिभीतके । भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च ।।४१।।
प्रयोजयन् समामेकां त्रिफलाया रसायनम् । जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च ।।४२।।

(इति त्रिफलारसायनम् ।)

त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेन्नवाम् । तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत् क्षौद्रोदकाप्लुतम् ।।४३।।
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते । अजरोऽरुक्समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम् ।।४४।।

(इति त्रिफलारसायनमपरम् ।)

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा । त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ।।४५।।

(इति त्रिफलारसायनमपरम् ।)

सर्वलौहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा । विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ।।४६।।
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा । भवत्यायुःप्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ।।४७।।

(इति त्रिफलारसायनमपरम् ।)

१. त्रिफला रसायन (प्रथम)–भोजन के जीर्ण हो जाने पर या जरणान्त (After digestion) में एक हरीतकी, भोजन से पूर्व (Before meal) दो विभीतकी (दो बहेड़ा) तथा भोजन के बाद चार आँवले का चूर्ण मधु व घृत के साथ एक वर्ष तक सेवन करना चाहिए। इस त्रिफला रसायन के सेवन करने से पुरुष जरा व व्याधि रहित होकर सौ वर्ष तक जीता है ।

२. त्रिफला रसायन (द्वितीय)–त्रिफला का कल्क बनाकर एक नये लौह पात्र (लोहे की कड़ाही) के अन्तः भाग में लेप दें। २४ घण्टे बाद जल से इसे धोकर एक पात्र में इकट्ठा करें । इस जल में मधु मिलाकर प्रातः काल सेवन करें । औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध में प्रभूत मात्रा में घृत मिलाकर साठी चावल के भात का सेवन करना चाहिए । इस रसायन का प्रयोग एक वर्ष तक करने से पुरुष जरा व व्याधि रहित होकर सौ वर्ष तक जीता है ।

३. त्रिफला रसायन (तृतीय)–घटक द्रव्य-

१. यष्टीमधु (मुलेठी)	-	१ भाग
२. वंशलोचन	-	१ भाग
३. पिप्पली	-	१ भाग
४. मधु	-	१ भाग
५. घृत	-	१ भाग
६. त्रिफला	-	१ भाग
७. मिश्री	-	१ भाग

निर्माण विधि–उपरोक्त सातों द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर मिला लें, पश्चात् एक उपयुक्त पात्र में रख लें । यह सिद्ध रसायन है। इसका प्रयोग रसायन गुण हेतु एक वर्ष तक करना चाहिए ।

४. त्रिफला रसायन (चतुर्थ)–घटक द्रव्य-१. सर्वलौह धातु (इसके अन्तर्गत सात धातुओं को लिया गया है, यथा–स्वर्ण, रजत, टीन (बंग), शीश, ताम्र (Copper), यशद (Zinc) और लौह (Iron) मिश्र रूप से-एक भाग (१ भाग) ।

२. सुवर्ण	-	१ भाग
३. वच (मीठा)	-	१ भाग
४. मधु	-	१ भाग
५. घृत	-	१ भाग
६. विडंग चूर्ण	-	१ भाग
७. पिप्पली	-	१ भाग
८. त्रिफला	-	१ भाग
९. सैन्धव नमक	-	१ भाग

Scanned by CamScanner

उपरोक्त सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर उपयुक्त पात्र में मिलाकर रख लें। इस रसायन के एक वर्ष तक सेवन करने पर व्यक्ति की स्मरण शक्ति, मेधा एवं शारीरिक शक्ति की वृद्धि होती है। यह रसायन आयुवर्धक, कल्याणकारी, जरा एवं व्याधि को नष्ट करने वाला है।

चक्रपाणि-जरणान्त इत्यादौ मधुसर्पिर्भ्यामिति-यहाँ हरीतकी, बिभीतकी तथा आमलकी, प्रत्येक के प्रयोग के साथ मधु व सर्पि जुड़ा हुआ है। अर्थात् भोजन के पचने के बाद १ हरीतकी चूर्ण का प्रयोग मधु व घृत के साथ करना चाहिए, भोजन के पूर्व २ बिभीतकी का प्रयोग मधु व घृत के साथ इसी प्रकार भोजन के बाद ४ आमलकी का प्रयोग मधु व घृत के साथ करना चाहिए।

मधुकेनेत्यादिरेकः प्रयोगः-श्लोक नं. ४५ का योग एक योग है। अर्थात् मधुक, वंशलोचन आदि के संयोग से एक योग का निर्माण किया गया है। सर्वलौह इत्यादि के संयोग से दूसरे योग को बताया गया है।

यहाँ लौह के कथन से ही सुवर्ण की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि ७ प्रकार के लौह में सुवर्ण भी आता है। फिर भी लौह के नाम से सुवर्ण प्रसिद्ध नहीं है, उसके निराकरणार्थ सुवर्ण का प्रयोग किया गया है। [योगीन्द्रनाथ सेन सर्वलौह से पञ्चलौह का ही ग्रहण करते हैं, यथा-**सर्वलौहैः पञ्चभिर्लौहैः त्रपुसीसताम्ररुप्यकृष्णलौहैः**। इसमें स्वर्ण की गणना नहीं की गयी है। अतः स्वर्ण का यहाँ अलग से उल्लेख है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सर्वलौह के अन्तर्गत सुवर्ण की मात्रा १/७ भाग होती है जबकि पृथक् से निर्देश करने पर पृथक् से अन्य द्रव्यों के बराबर १ भाग मात्रा का ग्रहण होता है। अतः संभव है कि आचार्य इस योग में सुवर्ण की अधिक मात्रा डालने के इच्छुक हों।] ॥४१-४७॥

अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु। नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य संभवः ॥४८॥
हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरात् कृष्णायसादपि। रसायनं तद्विधिभिस्तद्वृष्यं तच्च रोगनुत् ॥४९॥
वातपित्तकफघ्नैश्च निर्यूहैस्तत् सुभावितम्। वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा ॥५०॥

शिलाजतु के गुण-शिलाजीत ईषद् अम्ल, रस में कषाय तथा विपाक में कटु होता है। यह न तो अधिक उष्ण एवं न तो अधिक शीत होता है। चारो प्रकार के धातुओं से चार प्रकार के शिलाजतु उत्पन्न होते हैं, यथा-स्वर्ण से स्वर्ण शिलाजतु, रजत से रजत शिलाजतु, ताम्र से ताम्र शिलाजीत एवं लौह से लौह शिलाजीत। उनमें क्रमशः स्वर्ण से रजत, रजत से ताम्र एवं ताम्र से लौह शिलाजीत श्रेष्ठ होता है। इसका विधिपूर्वक सेवन करने पर यह वृष्य एवं व्याधि नाशक कार्य करता है। वात, पित्त एवं कफनाशक द्रव्यों के क्वाथ से भावना देने पर शिलाजीत के गुण अत्यधिक रूप में बढ़ जाते हैं। भावना अलग-अलग गण वाले द्रव्यों के क्वाथ से अलग-अलग अथवा मिश्र रूप में देनी चाहिए।

चक्रपाणि-शिलाजीत रसायन को बताने के लिए शिलाजतु के गुणों का विवेचन यहाँ 'अनम्लमित्यादि' के द्वारा किया गया है।

वरादिति-श्रेष्ठात्-तुलनात्मक रूप से श्रेष्ठ, यथा- सुवर्ण शिलाजीत की तुलना में रजत, रजत से ताम्र व ताम्र से लौह शिलाजीत श्रेष्ठ होता है। आचार्य सुश्रुत ने यद्यपि त्रपु [टीन या रांगा, अग्निं दृष्ट्वा त्रपते लज्जते इव] व सीस (Lead) से उत्पन्न त्रपु व सीस शिलाजीत को जोड़कर छः प्रकार के शिलाजीत का वर्णन सामान्य रोग एवं रसायनाधिकार प्रकरण में किया है, फिर भी इस प्रकरण में रसायनाधिकार को ही अधिकृत करके चार प्रकार के शिलाजीत का विवेचन किया गया है। ॥४८-५०॥

प्रक्षिप्तोद्धृतमप्येनत् पुनस्तत् प्रक्षिपेद्रसे। कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना ॥५१॥
पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह। तत् पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम् ॥५२॥
जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्। मेधास्मृतिकरं धन्यं क्षीराशी तत् प्रयोजयेत् ॥५३॥
प्रयोगः सप्तसप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः। निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥५४॥
पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता।

भावना देने की विधि-जिस द्रव्य के क्वाथ की शिलाजीत में भावना देनी हो तो सर्वप्रथम उस द्रव्य के कोष्ण क्वाथ में शिलाजीत को डालें, जब शिलाजीत उस क्वाथ का रस सोख (Absorb कर) ले तब शिलाजीत को बाहर निकालें, पश्चात् छाया शुष्क करें, इसके बाद पुनः क्वाथ में डालें। इस प्रकार यह प्रक्रिया एक सप्ताह तक करनी चाहिए। अर्थात् ७ भावना देनी चाहिए।

शिलाजीत रसायन के लाभ-पूर्व विधान द्वारा भावित शिलाजीत के चूर्ण को लौहादि चूर्णों (भस्मों) के साथ मिलाकर दूध के साथ प्रयोग करने पर दीर्घायु एवं सुख की प्राप्ति होती है। यह रसायन जरा-व्याधि नाशक है, शरीर को अत्यधिक दृढ़ (Strong) बनाता है। इसके सेवन से मेधा (Intelligence) व स्मरणशक्ति (Memory power) बढ़ती है। इस रसायन का प्रयोग करते समय व्यक्ति आहार के रूप में गो दुग्ध का ही प्रयोग करे। अर्थात् दूध पर रहते हुए ही पुरुष शिलाजीत रसायन का सेवन करे।

Scanned by CamScanner

प्रयोग काल एवं मात्रा–इसका प्रयोग उत्तम बल वाले पुरुषों में ७ सप्ताह (४९ दिन), मध्यम बल वाले पुरुषों में ३ सप्ताह (२१ दिन) तथा अवर बल वाले को १ सप्ताह (७ दिन) तक कराया जाता है। प्रबल बल वाले पुरुष के लिए उत्तम मात्रा- १ पल (४ तोला), मध्यम बल वाले पुरुष में मध्यम मात्रा अर्ध पल (२ तोला) तथा अवर में अवर मात्रा १ तोला (१ कर्ष) देनी चाहिए।

चक्रपाणि-'प्रक्षिप्तेत्यादि' के द्वारा शिलाजीत की भावना विधि को बताया गया है।

प्रक्षिप्तानन्तरमुद्धृतम् प्रक्षिप्तोद्धृतम्–भावना देने वाले द्रव्यों के क्वाथ में शिलाजीत को डालना, पश्चात् निकालना। शुद्ध शिलाजीत का प्रयोग लौह चूर्ण (लौह भस्म) के साथ करना चाहिए, पश्चात् अनुपान के रूप में दूध का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ लौह व शिलाजीत का प्रयोग समान मात्रा में करने का निर्देश नहीं है। **प्रयोगः सप्तसप्ताहा इति**-इसका प्रयोग अधिकतम् ७ सप्ताह (४९ दिन) से लेकर एक सप्ताह (७ दिन) तक करना चाहिए। अर्थात् इसके सेवन का विधान सात सप्ताह (व्यापक प्रयोग), ३ सप्ताह (मध्यम) एवं एक सप्ताह (अवर) तक का है। ॥५०-५४॥

जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥५५॥
हेमाद्याः सूर्यसंतप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः। जत्वाभं मृदु मृत्स्नाच्छं यन्मलं तच्छिलाजतु ॥५६॥
मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः। कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निस्रवः ॥५७॥
रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते। ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः पच्यते कटु ॥५८॥
यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः। कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥५९॥
गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः। रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥६०॥
यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु। विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥६१॥

शिलाजीत की उत्पत्ति एवं उनकी प्रयोग विधि–अब आगे शिलाजीत की विशेष उत्पत्ति एवं उसके प्रयोग विधि का निर्देश करेंगे-

हेमादि गिरि धातुएं सूर्य की गरमी से पिघलकर लाक्षारस के समान कोमल, मृसण (चिकना), स्वच्छ मल का स्राव करती हैं, जिस धातु का वह मल होता है, वही नाम उस शिलाजीत का भी होता है। अर्थात् उस मल को ही शिलाजीत कहते हैं।

१. **स्वर्ण शिलाजीत के गुण-कर्म**–स्वर्ण धातु के स्राव से उत्पन्न होने वाला रस स्वर्ण शिलाजीत कहा जाता है। इसका रस मधुर, तिक्त, गुड़हल के पुष्प सदृश वर्ण वाला, विपाक में कटु एवं वीर्य में शीत होता है।

२. **रौप्य शिलाजीत के गुण-कर्म**–रौप्य (रजत) धातु के स्राव को रौप्य शिलाजीत कहते हैं, यह रस में कटु, वर्ण-श्वेत (White), वीर्य-शीत एवं विपाक में मधुर होता है।

३. **ताम्र शिलाजीत के गुण-कर्म**–यह ताम्र धातु का स्राव होता है, इसका वर्ण मयूर के कण्ठ के सदृश, रस-तिक्त (Bitter), वीर्य-उष्ण एवं विपाक कटु होता है।

४. **लौह शिलाजीत के गुण-कर्म**–यह शिलाजीत गुग्गुलु के सदृश वर्ण वाला, रस-तिक्त, अनुरस लवण (लवण समन्वित तिक्त रस), विपाक-कटु एवं वीर्य में शीत होता है। इस प्रकार यह शिलाजीत (लौह शिलाजीत) सभी शिलाजीतों में श्रेष्ठ होता है।

सभी शिलाजीत गोमूत्र गन्धि एवं सभी कर्मों में प्रयोग किये जाते हैं। रसायन प्रयोग हेतु अन्य की तुलना में लौह शिलाजीत ज्यादा गुणकारी है, अर्थात् विशेष है। विशेष रूप से स्वर्णादि धातुओं के मल क्रमशः वातपित्त, कफपित्त, कफ एवं त्रिदोषज विकारों में उपयोगी होते हैं, अर्थात् स्वर्ण शिलाजीत वातपित्त, रजत शिलाजीत पित्तकफ, ताम्र शिलाजीत कफ एवं लौह शिलाजीत त्रिदोषज विकारों में विशेष लाभदायक हैं। ॥५५-६०॥

चक्रपाणि-सविधिमिति विधानसहितम्-शिलाजीत के प्रयोग का विधान (ढंग)। इसका उल्लेख-'यथाक्रमं वातपित्ते, इत्यादि के द्वारा श्लोक क्रमाङ्क ६१ में बताया गया है। हेमादि शब्द से यहाँ उन पत्थरों (शिलाओं) का ग्रहण किया गया है जहाँ स्वर्णादि धातुओं के होने की संभावना रहती हैं। स्वर्णादि धातुओं से साक्षात् शिलाजीत का स्राव नहीं होता। मृत्स्नं=मसृणम् (Smooth), अच्छ=स्वच्छ (Transparent)। रौप्य शिलाजीत का रस-कटु एवं विपाक मधुर बताया गया है, यहाँ रस व विपाक आपस में विरुद्ध हैं। यह स्थिति उत्सर्गापवाद न्याय के अनुसार है, ऐसा जानना चाहिए। ताम्र शिलाजीत का वीर्य उष्ण तथा शेष तीन प्रकार के शिलाजीत शीत वीर्य युक्त होते हैं। अतः इसमें अति उष्णता एवं शीतता का स्थान नहीं है। अभिप्राय यह है कि ताम्र शिलाजीत स्वर्ण, रजत एवं लौह की तुलना में उष्ण होता है। अतः शिलाजीत के सामान्य गुण कथन के प्रसंग में-नात्युष्णशीतमिति (श्लोक संख्या-४८) पद के प्रयोग से उष्ण एवं शीतवीर्यता के प्रकर्ष का निषेध हो जाता है। इस प्रकार शिलाजीत का वीर्य अनुष्ण-शीत होता है। अतः शिलाजीत वीर्य में शीत अथवा उष्ण होते हुए भी प्रभावी (Powerful) नहीं होता। अर्थात् शिलाजीत वीर्य से प्रभावी नहीं होता। ॥५६-६१॥

Scanned by CamScanner

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च । वर्जयेत् सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत् ।।६२।।
ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम् । लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ।।६३।।
पयांसि तक्राणि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रा विविधाः कषायाः ।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ।।६४।।
न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य ।
तत् कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ।।६५।।

(इति शिलाजतुरसायनम्)

शिलाजीत सेवन में पथ्यापथ्य–शिलाजीत सेवन करते समय पुरुष को विदाही (शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले) एवं गुरु (जो पचने में भारी हों या देर में पचते हों) आहार-विहार का त्याग करना चाहिए । कुलथी का सेवन तो सर्वदा के लिए त्याग देना चाहिए । वे (विदाही अन्न एवं कुलथी) अत्यन्त विरुद्ध गुण युक्त होने से पत्थर (अश्म) को भेदने में श्रेष्ठ होते हैं । अर्थात् कुलथी अश्मरी भेदन का कार्य करती है, ऐसा लोक में दिखायी देता है । इसलिये उसका प्रयोग निषिद्ध किया गया है । [शिलाजीत पत्थर का स्राव है, अतः इसके गुण पत्थर के गुणों वाले होते है । इसके सेवन करने से व्यक्ति का शरीर पत्थर जैसा दृढ़ हो जाता है । कुलथी एवं विदाही अन्न के प्रयोग द्वारा शिलाजीत का प्रभाव नष्ट हो जाता है, क्योंकि कुलथी अश्मरी नाशक होती है ।]

शिलाजीत का प्रयोग दूध, तक्र, मांसरस, यूष, जल, गोमूत्र तथा अनेक प्रकार के कषायों (क्वाथों) में घोलकर दोष एवं व्याधि का सम्यक् विचार कर करना चाहिए ।

शिलाजीत का वैशिष्ट्य–इस जगत् में कोई भी ऐसी साध्य व्याधि नहीं है जिसे उचित काल में उचित योगों के साथ विधि पूर्वक प्रयोग के द्वारा शिलाजीत दूर न कर देती हो । शिलाजीत का प्रयोग स्वस्थ व्यक्ति में विधि पूर्वक करने पर अत्यधिक शक्ति उत्पन्न होती है । अर्थात् इसके सेवन से स्वस्थ व्यक्ति अत्यधिक उर्जा युक्त हो जाता है ।

तत्र श्लोकः–

करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा । रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः ।।६६।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने रसायनाध्याये करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः ।।१।।

उपसंहार–इस करप्रचितीय रसायन पाद में महर्षि अग्निवेश ने षोडश (सोलह) सिद्ध रसायन योगों का वर्णन किया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (चरकसंहिता) चिकित्सास्थान में रसायन अध्याय के अन्तर्गत करप्रचितीय नामक तृतीय रसायन पाद का विवेचन पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–शिलाजतुप्रयोगेष्विति-यहाँ आलोडनादि भेद से प्रयोग भेद को बताया गया है । अर्थात् आलोडनादि भेद से शिलाजीत प्रयोग के भी अनेक भेद हो जाते हैं । इसलिये यहाँ बहुवचन शब्द का प्रयोग किया गया है । शिलाजीत सेवन करते समय गुरु आहार द्रव्यों का निषेध किया गया है, जबकि आलोडनार्थ (घोलक द्रव्यों में) विशेष वचन से क्षीरादि के प्रयोग का निर्देश है ।

सर्वकालमिति–जब तक रसायन द्वारा प्राप्त गुण शरीर में है तब तक कुलथी का सेवन नहीं करना चाहिए । कुछ आचार्यों का मत है कि व्यक्ति को आजीवन कुलथी का सेवन त्याग देना चाहिए । सुश्रुत संहिता में कहा भी गया है-"तद्भावितः कपोतांश्च कुलत्थांश्च विवर्जयेत्" (सु.चि. १३) इति [जो व्यक्ति शिलाजीत अथवा माक्षिक से भावित है । अर्थात् जिसका शरीर शिलाजीत या माक्षिक सेवन से दृढ़ है उसे कपोत के मांस एवं कुलथी का सेवन त्याग देना चाहिए ।]

'न सोऽस्तीत्यादि' के द्वारा शिलाजतु प्रयोग की प्रशंसा की गयी है ।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेदीपिका के चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय के अन्तर्गत करप्रचितीय नामक तृतीय रसायनपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥३॥

Scanned by CamScanner

रसायनाध्याये चतुर्थः पादः ।

अथात आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–आयुर्वेद समुत्थानीय रसायनपाद का विवेचन शेष होने से यहाँ किया गया है । 'आयुर्वेदसमुत्थानमस्मिन्नस्तीति' (आयुर्वेदसमुत्थान विषय इसमें है) इस सूत्र से मत्वर्थीय छ प्रत्यय से 'आयुर्वेदसमुत्थानीयः' शब्द बनता है । ।।१-२।।

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः सांपन्निका मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः । ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममर-गन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्व-ङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः ।।३।।

ग्राम्यवास जन्य दोष–

प्राचीन काल में किसी समय शालीन एवं यायावर महर्षियों ने अपने को ग्राम्य ओषधियों का आहार करते हुए सम्पन्न बना लिया। अर्थात् ग्राम्य आहार, यथा-गेहूँ, चावल, दाल, चना आदि द्वारा ऋषियों का शरीर पुष्ट हो गया, शरीर पुष्ट होने से उनके चेष्टाओं में अल्पता आ गई । अर्थात् स्थूलता के कारण उनमें स्फूर्ति का अभाव होने लगा । जिसके कारण प्रायः वे अत्यधिक अस्वस्थ रहने लगे । वे सभी आचार्य अपने निज कार्यों (पूजा-पाठ आदि) में असमर्थ होते हुए यह समझे कि ग्राम्य वास ही सभी दोषों का कारण है, ऐसा स्वीकार करके अपने पूर्व के निवास स्थान (हिमालय क्षेत्र) जो ग्राम्य दोषों से रहित, कल्याणकारी, पुण्य, उदार, मेध्य है तथा बुरे कर्मों को करने वाले पुरुषों के लिए अगम्य है । गंगा की उत्पत्ति स्थल, देव, गन्धर्व एवं किन्नरों द्वारा सेवित, अर्थात् जहाँ देवता, गन्धर्व, यक्ष विचरण करते हों, जहाँ रत्नों का भण्डार है, जिसका प्रभाव अचिन्त्य एवं अद्भुत है, जहाँ ब्रह्मर्षि, सिद्ध एवं चारण (तीर्थयात्री) भ्रमण करते हैं, जो दिव्य तीर्थौषधियों (चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषधियों) का उत्पत्ति स्थान है एवं जो अति शरण्य है, अर्थात् शरण में आये हुए की रक्षा करने वाला है, जो अमराधिपति इन्द्र द्वारा रक्षित है, ऐसे हिमालय पर्वत पर भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि ऋषि गण चले गये।

चक्रपाणि–ऋषियों का शालीनत्व एवं यायावरत्व गुण, कर्म-विशेष के आधार पर निर्धारित किया गया है ।

शालीनः –ऐसे ऋषिगण जो आश्रम बनाकर रहते थे । अर्थात् जिनका एक निश्चित निवास था, उन्हें 'शालीन' कहा गया है। [Having a fixed house]

यायावर–इस वर्ग में उन ऋषियों को रखा गया है जो एक स्थान पर नहीं रहते थे, जो भ्रमणशील थे । उनका स्थान नियत नहीं था।

संपन्नमनु उपयुज्यन्त इति सांपन्निकाः –जिसका जीवन सुख-सुविधाओं से युक्त हो । [One who lives luxuriously.]

नातिकल्या इति–अत्यधिक स्वस्थ न रह पाना ।

इति कर्तव्यता व्यापारः –आवश्यक कार्य, ऋषियों के नित्य किये जाने वाले आवश्यक कार्य, यथा–संध्या वन्दन, यज्ञ आदि। इन्द्र के पर्यायों का प्रयोग यहाँ स्तुत्यर्थ हुआ है, क्योंकि यह आयुर्वेद पृथ्वी पर इन्द्र द्वारा ही प्रकाशित है । ।।३।।

तानिन्द्रः सहस्रदृगमरगुरुरब्रवीत्–स्वागतं ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणाम् । अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च; ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानां, तत् कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां, स्वशरीरमवेक्षितुं कालः कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षीणाम्; आत्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां, प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखमसुखानुबन्यमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदानाध्ययनसंचयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमन-मूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदारं भवन्तो मत्तः श्रोतुमर्हताथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्ष ब्रह्म च प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति ।।४।।

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तुष्टुवुः, प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ।।५।।

इन्द्र द्वारा दिया गया उपदेश–सहस्र नेत्र वाले, देवताओं के गुरु इन्द्र ने अपने पास आये हुए ऋषिगणों से कहा–ज्ञान व तप ही धन है जिसका, ऐसे ब्रह्मज्ञानी महर्षियों का स्वागत है । आप जैसे ज्ञानी महर्षियों में ग्लानि, निस्तेज, स्वर की विकृति, वैवर्ण्य एवं

Scanned by CamScanner

ग्राम्यवासकृत दुःख तथा दुःखों के अनुबन्ध रूप अन्य विकृतियाँ दिखायी दे रहीं हैं। सभी अप्रशस्त भावों (दुःखों) का मुख्य कारण ग्राम्य वास ही है। अपने स्वास्थ्य का ध्यान न देकर इस समय यहाँ आकर आप सबने प्रजा पर अनुग्रह किया है। आप सब महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश देने के लिए यह काल उपयुक्त है। अर्थात् आप जैसे महर्षियों को आयुर्वेद के उपदेश देने का यही उचित समय है। ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को तथा अश्विनी कुमारों ने मुझे, आप जैसे महर्षियों के लिए एवं स्वयं तथा प्रजा के कल्याण हेतु आयुर्वेद का उपदेश दिया था। जन सामान्य की अल्पायु, जरा (वृद्धावस्था), व्याधि की बहुलता, दुःख एवं दुःखानुबन्ध को विशेष ध्यान रखते हुए एवं इस कारण से अल्प तप, संयम, नियम, दान व अध्ययन के संचय को मानकर आप सब इस पुण्यतम आयु वर्धक, जरा-व्याधिनाशक, ऊर्जस्कर (शक्तिदायक) अमृतरूपी, कल्याणकारक, शरण्य (जिसकी शरण में जा सकते हों अर्थात् जो शरण दे सके।) एवं उदार आयुर्वेद का उपदेश सुन सकते हैं, धारण कर सकते हैं एवं प्रजा के कल्याण हेतु प्रकाशित कर सकते हैं। यह आयुर्वेद आर्ष एवं ब्रह्म ज्ञान है, जिसमें प्रजा हितार्थ मैत्री एवं कारुण्य का चिन्तन है तथा स्वयं के लिए उत्तम पुण्य, उदार एवं अक्षय ब्राह्म कर्म है।

इस प्रकार अमर प्रभु इन्द्र के वचनों को सुनकर सभी ऋषियों ने वेद मन्त्रों से देवराज इन्द्र की स्तुति की एवं प्रसन्न होकर उनके वचनों का स्वागत किया।

चक्रपाणि–असुखानुबन्धमिति-रोग रूपी दुःखों का सम्बन्ध शरीर से होना। अर्थात् शरीर का व्याधिग्रस्त होना। मूलमिति=कारण। **कृतः प्रजानामनुग्रह इति**-ग्राम में (लोगों के बीच में) रहकर आयुर्वेद निर्दिष्ट चिकित्सा एवं धर्मादि के उपदेश द्वारा आप सब ऋषियों ने प्रजा का कल्याण किया है, यह अभिप्राय है। 'अयं' शब्द यहाँ दोनों 'काल' के साथ जुड़ा हुआ है। जिसका अर्थ–(१) अयं कालः स्वशरीरमवेक्षयितुम्। (यह काल अपने शरीर की रक्षा करने का है। अर्थात् ऋषियों में वैस्वर्य, वैवर्ण्य आदि जो भाव विद्यमान थे, उन्हें दूर करने का है।)

२. कालश्चायम् आयुर्वेदोपदेशस्य ब्रह्मर्षिणाम् (महर्षियों को आयुर्वेदोपदेश देने का उचित समय) किया जाता है।

प्रजापतये ब्रह्मेति च्छेदः –'प्रजापतये ब्रह्मा' वाक्य पूर्ण हो जाता है। ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान प्रजापति को प्राप्त हुआ।

प्रजानामल्पादिकमायुर्मत्त्वेति–प्रजा की अल्पायु का विचार करते हुए। 'अल्पत्वात्' के साथ 'आयुष' शब्द भी जुड़ा हुआ है। अल्पायु वाले पुरुष में अल्प तप आदि का संचय हो पायेगा। अर्थात् जिसकी आयु अल्प होगी वह अल्प तप, स्वाध्याय आदि कार्यों को कर पायेगा। 'प्रति' शब्द मैत्री आदि प्रत्येक शब्द के साथ जुड़ा हुआ है। 'अथ' शब्द अधिकार के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार मैत्री, कारुण्य आदि को अधिकृत करके जिस आयुर्वेद का उपदेश ब्रह्मा ने प्रजापति को दिया, उसी आयुर्वेद को सुनने की इच्छा है। यद्यपि कि इन्द्राधिगत आयुर्वेद का उपदेश ऋषियों को भरद्वाज द्वारा प्राप्त हुआ, फिर भी ग्राम्यवास कृत मनोग्लानि आदि दोषों को विशेष रूप से दूर करने के लिए इन्द्र द्वारा आयुर्वेद का उपदेश पुनः किया गया। ॥४-५॥

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः संक्रम्योवाच–एतत् सर्वमनुष्ठेयम्, अयं च शिवः कालो रसायनानां, दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्याः; तद्यथा–ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा, मेदा, महामेदा, जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात् परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसंपदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः ।।६।। (इतीन्द्रोक्तं रसायनम्।)

इन्द्रोक्त रसायन–उस अमृत रूपी आयुर्वेद का उपदेश इन्द्र ने ऋषियों को उचित क्रम से दिया एवं कहा कि इसका पालन आप सबको करना चाहिए। यही रसायन सेवन का पवित्र काल है। इस समय हिमालय में उत्पन्न होने वाली दिव्य औषधियाँ पूर्ण वीर्य से युक्त हैं, यथा– ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी, महाश्रावणी, शतावरी, विदारी, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला, स्थिरा, वचा, छत्रा, अतिछत्रा, मेदा, महामेदा तथा जीवनीय गण की अन्य औषधियों का प्रयोग दूध के साथ छः मास तक करने पर व्यक्ति दीर्घायु, उत्तम वय, तरुणावस्था, नीरोगत्व, स्वर एवं वर्ण की संपत्ति, शरीर का उपचय, मेधा, स्मृति की उत्तमता एवं उत्तम बल का होना और भी दूसरे इच्छित भावों की उसे प्राप्ति होती है। ॥६॥ (इन्द्रोक्त रसायन।)

चक्रपाणि–महाश्रावणी=अलम्बुषा। अतिच्छत्रा=मधुरिका। ॥६॥

विशेष (Comments)–ऐन्द्री=गोरक्षकर्कटी; पयस्या=क्षीरकाकोली। (गंगाधर कविराज)

ब्रह्मसुवर्चला नामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या 'सूर्यकान्ता' इति विज्ञायते सुवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च. नारीनामौषधिः 'अश्वबला' इति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा, काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पानामौषधिः सर्पाकारा, सोमो नामौषधिराजः

Scanned by CamScanner

पञ्चदशपर्वा स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च, अजा नामौषधिः 'अजशृङ्गी' इति विज्ञायते, नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरा नीलपुष्पा लताप्रतानबहुलेति; आसामोषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभावितायामार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलीयते, षण्मासेन पुनः संभवति, तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनं; षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं च भवति, गतियोंजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ।।७।।

रसायनोपयोगी दिव्य ओषधियाँ (Recipe of other celestial drugs)–अधोलिखित दिव्यौषधियों का प्रयोग रसायनार्थ किया जाता है, यथा–

१. **ब्रह्मसुवर्चला**–इस औषधि के दुग्ध का रंग सुवर्णाभ (golden) होता है एवं इसकी पत्तियाँ पुष्कर (कमल) पत्र सदृश होती हैं।

२. **आदित्यपर्णी**–यह औषधि 'सूर्यकान्ता' के नाम से भी जानी जाती है, इसका दुग्ध (Latex) सुवर्णाभ (golden colour) एवं पुष्प सूर्य के समान गोलाकार होता है ।

३. **नारी**–यह औषधि 'अश्वबला' के नाम से जानी जाती है । इसके पत्ते बल्वज (एक प्रकार की मोटी घास -मनु. २/४३, Eleusine indica-a species of course grass not liked by cattle- M.M. Williams Page 724) के पत्र जैसे होते हैं।

४. **काष्ठगोधा**–यह औषधि गोधा के आकार की होती है ।

५. **सर्पा**–इसका आकार सर्प के सदृश होता है ।

६. **सोम**–यह ओषधियों का राजा है । इसमें पन्द्रह पर्व (पाठ भेद पञ्चदशपर्णः=१५ पत्ते) होते हैं जो चन्द्र की अवस्थाओं के साथ घटते-बढ़ते रहते हैं ।

७. **पद्मा**–यह ओषधि पद्म के आकार की होती है । इसका वर्ण रक्त एवं गन्ध पद्म सदृश होता है ।

८. **अजा**–इसे 'अजशृंगी' भी कहते हैं ।

९. **नीला**–इस ओषधि का दुग्ध (Latex) एवं पुष्प नील वर्ण का होता हैं । यह लता एवं प्रतान बहुल होती है । इन ओषधियों में से पुरुष को जो भी ओषधि प्राप्त हो सके, उनके-उनके स्वरस को तृप्ति भर पीकर स्नेह भावित होकर अर्थात् स्नेह का अभ्यङ्ग कर सम्पूर्ण कपड़े उतारकर आर्द्र (गीले) ढक्कन युक्त पलाश की द्रोणी में सो जाय, ऊपर से ढक्कन को बन्द कर ले । इसके बाद उसे मूर्च्छा आ जाती है । अर्थात् वह मूर्च्छित हो जाता है । छः मास के बाद पुनः उसे होश (ज्ञान) होता है, इसके बाद उसे बकरी का दूध पिलाना चाहिए । ऐसा उसके बल को स्थिर रखने के लिए किया जाता है । छः महीने के बाद वह पुरुष देवताओं के समान वय, वर्ण, स्वर, आकृति, बल एवं प्रभा युक्त हो जाता है । उसे सभी शास्त्र याद हो जाते हैं । उसके चक्षु एवं श्रोत्र दिव्य (विशेष शक्ति युक्त) हो जाते हैं, वह एक हजार योजन तक चलने में सक्षम हो जाता है एवं वह उपद्रव रहित होकर दस हजार वर्षों तक जीता है । अर्थात् दीर्घायु को प्राप्त करता है ।

चक्रपाणि–ब्रह्मसुवर्चला आदि निर्दिष्ट लक्षणों वाली दिव्य औषधियाँ अति प्रसिद्ध नहीं हैं । कुछ आचार्यों का कथन है कि आदित्यपर्णी, सूर्यावर्त ही है जो विशेष स्थान पर उत्पन्न होती है ।

अश्वबलेति ज्ञायत इति–ऋषियों द्वारा 'अश्वबला' अनेक नामों से जानी जाती है । अर्थात् इसके अनेक नाम ऋषियों में प्रचलित हैं । लौकिक पुरुषों को इसके बारे में जानकारी नहीं है । अर्थात् जन सामान्य में इनका प्रचलन नहीं है ।

सोम इव वर्धते हीयत इति–चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के काल में ही (तत्काल) सोम ओषधि भी वृद्धि-क्षय को प्राप्त होती है । **प्रलीयत इति**- विलीन होना, अन्य आचार्य इससे मूर्च्छित होना अर्थ ग्रहण करते हैं ।

प्रत्यवस्थापनमिति–व्यक्ति को आहार के रूप में अजा के दूध का प्रयोग करना चाहिए ।

सर्ववाचोगतानि–सभी प्रकार के विशेष वाक्यों का ज्ञान होना ।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत दिव्य औषधियों में चरकोक्त सर्पा (अजगरी), नारी (कन्या), अजा, आदित्यपर्णी, सोम एवं देवीब्रह्मसुवर्चला का वर्णन करते हैं–

१. **अजगरी–मण्डलैः कपिलौश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी । पञ्चारत्नि प्रमाणा च विज्ञेयाऽजगरी बुधैः ।।** (सु.चि.अ. ३०/९) मण्डलाकार, धूसर वर्ण से चित्रित, सर्प के समान वर्ण वाली, पाँच पत्तों वाली एवं प्रमाण में पाँच अरत्नि; अजगरी नामक ओषधि होती है ।

Scanned by CamScanner

२. **नारी**–आचार्य सुश्रुत इसका वर्णन 'कन्या' से करते हैं। **''कन्दजा काञ्चनक्षीरी कन्या नाम महौषधि''** सु.चि. ३०/१६ यह ओषधि कन्द से उत्पन्न होती है, इसका दूध (Latex) स्वर्ण के वर्ण सदृश, मोरपंख के समान सुन्दर बारह पत्रों से युक्त होती है।

३. **अजा**–**''अजास्तनाभकन्दा तु स क्षीरा क्षुपरूपिणि। अजामहौषधी ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दु पाण्डुरा।।''** सु.चि.अ. ३०/१६ [यह ओषधि बकरी के स्तन के समान कन्द वाली, क्षीर युक्त, क्षुप के आकार वाली तथा वर्ण में शंख, कुन्द अथवा चन्द्रमा के समान होती है।]

४. **आदित्यपर्णी**–मूल युक्त, पाँच पत्रों वाली, इसका पुष्प आदित्य के किरणों की भाँति रक्त वर्ण का होता है, कोमल एवं सूर्य का अनुगमन करती है। (सु.चि. ३०/१९)

५. **देवी ब्रह्मसुवर्चला**–''कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति। सक्षीरा पद्मिनी प्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला।।'' सु.चि. ३०/२० [स्वर्ण के समान वर्ण वाली, जल के किनारे चारो ओर फैलने वाली, दूध (Latex) युक्त एवं पद्मिनी (कमलिनी) के समान आकृति वाली होती है।]

६. **ओषधिराज सोम**–आचार्य सुश्रुत ने सोम की २४ प्रजातियों का उल्लेख किया है, यथा–अंशुमान, मुञ्जवान, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान, तालवृन्त, करवीर, अंशवान, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुणाहृत, गायत्र, त्रैष्टुभ, पाङ्क, जागत, शाकर, अग्निष्टोम, रैवत, त्रिपदा गायत्री, उडुपति।

सभी प्रकार के सोम में १५ पत्ते होते हैं, इनके पत्र शुक्ल पक्ष में निकलते हैं एवं कृष्ण पक्ष में एक-एक करके गिर जाते हैं। इस प्रकार शुक्ल पक्ष की पूर्णमासी के दिन इसके १५ पत्ते पूर्ण हो जाते हैं तथा कृष्ण पक्ष के प्रारम्भ होते ही प्रति दिन एक-एक पत्ता गिरने लगता है। आमावस्या के दिन पूरे पत्ते गिर कर मात्र लता शेष रह जाती है।

उत्पत्ति स्थल–सोम हिमालय, अर्बुद, सह्य, महेन्द्र, मलय, श्रीपर्वत, देवगिरि, पारियात्र, विन्ध्य तथा हद (बड़े तालाबों) में भी पाया जाता है। ब्रह्मसुवर्चला-सिन्धु एवं महानदी के किनारे, आदित्यपर्णी वसन्त ऋतु में तथा अजगरी वर्षा ऋतु में दिखाई पड़ती है।

आचार्य चक्रपाणि के निष्कर्ष से यही प्रतीत होता है कि ये दिव्य औषधियाँ ऋषियों के ही संप्रदाय में प्रचलित थी, जन सामान्य को यह अप्राप्य थी या इन्हें परिचित नहीं कराया गया, बाद में इनका प्रयोग ज्ञान के अभाव में कम हो गया। ।।७।।

भवन्ति चात्र–

दिव्यानामोषधीनां यः प्रभावः स भवद्विधैः। शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात् सोढुमकृतात्मभिः ।।८।।
ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि। भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ।।९।।
वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः। शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ।।१०।।

दिव्य ओषधियों के सेवन योग्य पुरुष–दिव्य औषधियों का जो प्रभाव है, उसे आप जैसे महर्षिगण ही सह सकने में सक्षम हैं। जिनका अपने इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है, ऐसे लोग इन औषधियों के प्रभाव को नहीं सह सकते। अपने नियत कर्मों को करते हुए भी औषधियों (दिव्य औषधियों) के प्रभाव से आप सब जगत् के सम्पूर्ण श्रेय को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे वानप्रस्थ एवं गृहस्थ पुरुष भी, जो जितेन्द्रिय हैं, अपने क्षेत्र में उत्पन्न इन दिव्य औषधियों का सेवन कर सकते हैं; ऐसा इन्द्र ने कहा। ।।८-१०।।

चक्रपाणि–'दिव्यानामित्यादि' के द्वारा दिव्य रसायन का सेवन ऋषि गण अथवा उनके जैसे जितेन्द्रिय लोग ही कर सकते हैं, यह बताया गया है। **विषयाभिजा इति-स्वोचितपुण्यदेशे जाता इत्यर्थ**-वह पुण्य क्षेत्र जहाँ व्यक्ति उत्पन्न होता है एवं सेवित होता है अर्थात् जिस क्षेत्र में जो उत्पन्न एवं वृद्ध हुआ है, उस क्षेत्र में उत्पन्न दिव्यौषधियों का प्रयोग वह जितेन्द्रिय पुरुष कर सकता है। अपुण्य क्षेत्र में दिव्य औषधियाँ उत्पन्न ही नहीं होती। अथवा यदि उत्पन्न हो गयी तो निर्वीर्य होती हैं अर्थात् गुण रहित होती हैं। ।।८-१०।।

यास्तु क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च कर्मणा। मृदुवीर्यतरास्तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु ।।११।।
पर्येषुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः। रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ।।१२।।

जो औषधियाँ हिमालय आदि प्रशस्त देश के अतिरिक्त देश (भागों) में उत्पन्न होती हैं, वे मृदु वीर्य युक्त होने के कारण क्षेत्र व गुण के अनुसार अपने मध्यम कर्म को दर्शाती हैं, इनकी भी प्रयोग विधि पूर्ववत् ही है। ऐसे वे व्यक्ति (जन-सामान्य) जो दिव्य औषधियों के प्रयोग करने अथवा खोजने में असमर्थ हैं, लेकिन सुख (आरोग्य) के इच्छुक हैं, उनके लिए प्रशस्त अन्य रसायन विधि का उल्लेख किया जा रहा है। ।।११-१२।।

चक्रपाणि–ब्रह्मसुवर्चला आदि दिव्य औषधियाँ, जिस प्रकार मृदु वीर्यता को प्राप्त करती हैं, उसका उल्लेख 'यास्त्वित्यादि' के द्वारा यहाँ किया गया है। **क्षेत्रगुणैरिति**-हिमालय आदि प्रशस्त देश से भिन्न देश के गुण-धर्म। **तेषामिति**-ऋषियों से भिन्न, अन्य लोग, यथा-वानप्रस्थ

Scanned by CamScanner

आदि। **मध्यमेन च कर्मणा इति**-औषधियों के असम्यक् प्रयोग से अथवा अदृष्ट का अत्यधिक बली न होना (जिसका पूर्वजन्म कृत कर्म अति बलवान न हो)

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश। वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च ।।१३।।
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च। मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ।।१४।।
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च। ऋष्या नागबलायाश्च द्वारदाया धवस्य च ।।१५।।
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च। इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ।।१६।।
रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च। एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ।।१७।।
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः। तत् साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ।।१८।।
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम्। स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च ।।१९।।
शर्कराचूर्णपात्रं च प्रस्थमेकं प्रदापयेत्। तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं संमूर्च्छितं च तत् ।।२०।।
सुचौक्षे मार्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते। मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।।२१।।
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च। मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ।।२२।।
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम्। जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ।।२३।।
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम्। सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ।।२४।।
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा। विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतप्रदम् ।।२५।।
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च प्रजाप्रियत्वं च यशश्च लोके।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद्रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ।।२६।।

(इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम् ।)

इन्द्रोक्त रसायन (द्वितीय)-बल्य, जीवनीय, बृंहणीय एवं वयः स्थापन महाकषाय वर्ग में पठित औषधियाँ (कुल ४० औषधियाँ) तथा खर्जूर, खदिर, असन, मधूक (महुआ), मुस्तक (मोथा), उत्पल (नील कमल), मृद्वीका (मुनक्का), विडंग (वायविडंग), वचा (मीठा वच), चित्रक, शतावरी, पयस्या, पिप्पली, (बड़ी पिप्पली), जोङ्गक (अगर), ऋद्धि, नागबला, द्वारदा (सागौन), धव, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा व आँवला संयुक्त रूप से), कण्टकारी, विदारीकन्द, चन्दन, इक्षु, शरमूल, श्रीपर्णी (गम्भारी) एवं तिनिश; इन द्रव्यों का क्वाथ या स्वरस पृथक्शः एक-एक पल (४ तोला), पलाश क्षार-१ पल (४ तोला), गाय का दूध सभी रसों के संयुक्त मान का चार गुना (कुल ६६X४=२६४ पल = १०५६ तोला), तिल तैल २ पात्र अर्थात् २ आढ़क (५१२ तोला) एवं गोघृत २ आढ़क (५१२ तोला) लें। इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर तैल पाक विधि के अनुसार स्नेह को सिद्ध करें। इस सिद्ध स्नेह में १०० बार भावित आमलकी चूर्ण १ आढ़क (२५६ तोला), मधु १ आढ़क (२५६ तोला) तथा मिश्री (शर्करा) चूर्ण १ आढ़क (२५६ तोला) मिला लें। अब उसमें १ प्रस्थ (६४ तोला) वंशलोचन तथा १ प्रस्थ (६४ तोला) पिप्पली चूर्ण अच्छी प्रकार से मिला दें। अब एक घृत भावित साफ-सुथरे मिट्टी के मजबूत घड़े में इस अवलेह को १५ दिन के लिए रख दें। १५ दिन बाद ढक्कन को हटाकर इसमें सुवर्ण, ताम्र, प्रवाल, लौह, स्फटिक मणि, मुक्ता, वैदुर्य, शंख एवं रजत का चूर्ण (भस्म) सम्पूर्ण अवलेह का १/१६ भाग डालकर अच्छी प्रकार से Mixed कर लें।

श्रम एवं मैथुन का पूर्ण परित्याग करते हुए व्यक्ति के अग्निबल के अनुसार इस इन्द्रोक्त रसायन का सेवन करावें। औषधि के पच जाने पर दुग्ध एवं घृत के साथ साठी चावल के भात का सेवन करें।

इन्द्रोक्त रसायन से लाभ-यह रसायन सभी व्याधियों का नाशक, वृष्यता उत्पादक एवं दीर्घायु को देने वाला है। सत्त्व, स्मृति, जाठराग्नि एवं बुद्धीन्द्रिय के बल को बढ़ाने वाला है, अत्यन्त ऊर्जस्कर एवं स्वर-वर्ण वर्धक है, विषघ्न एवं दरिद्रता निवारक है। इसके सेवन से वाक् शक्ति बढ़ती है। (It is conductive to an excellent power of expression.-Bhagvan das)

सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक, वय को स्थिर रखने वाले, प्रजा प्रिय एवं लोक में यशस्वी बनने के इच्छुक पुरुषों को ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट उदार वीर्य वाले इस रसायन का सेवन करना चाहिए, ऐसा इन्द्र ने कहा। ॥१३-२६॥

चक्रपाणि-जोङ्गकम्=अगरु। द्वारदा=शाकतरु (सागौन) अथवा कपिकच्छु (केंवाच) का ग्रहण किया गया है। श्रीपर्णी=गम्भारी। पलाशक्षार=पलाश क्षारोदक। सुचौक्षे इति = विशुद्ध (साफ-सुथरे)। अग्निसमामिति=अग्निबल के अनुरूप।

षोडशीं मात्रामिति-आमलकादि चूर्ण युक्त घृत की मात्रा का १/१६ वाँ भाग हेमादि के चूर्णों का ग्रहण करना चाहिए। (यदि भस्म का प्रयोग करना हो तो यह मात्रा और भी कम की जा सकती है।) ॥१३-२६॥

Scanned by CamScanner

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम् । कुटीप्रवेशः क्षणिनां परिच्छदवतां हितः ।।२७।।
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः । तयोः श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः ।।२८।।
रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि । यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ।।२९।।

रसायन के योग्य पुरुष–जो व्यक्ति साधन सम्पन्न हों, स्वस्थ हों, बुद्धिमान हों एवं जितेन्द्रिय हों तथा जिसके पास पर्याप्त समय हो एवं जिसकी सेवा करने वाले लोग हों, ऐसे पुरुष को कुटी प्रावेशिक विधि से रसायन का सेवन करना चाहिए । इसके विपरीत, अर्थात् जिसके पास उपर्युक्त व्यवस्था न हो, उसे सौर्यमारुतिक विधि (वातातपिक विधि) द्वारा रसायन का प्रयोग करना चाहिए । उन दोनों विधियों-'कुटी-प्रावेशिक एवं वातातपिक' में श्रेष्ठ पूर्वविधि (कुटी-प्रावेशिक विधि) है, इस विधि का पालन करना कठिन है । यदि कुटी प्रावेशिक विधि के विभ्रंश से कोई व्याधि उत्पन्न हो जाय तो उस समय रसायन विधि का त्याग कर तद्जन्य व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिए । ।।२७-२९।।

चक्रपाणि–कुटी प्रावेशिक एवं वातातपिक रसायन के योग्य कौन-कौन से पुरुष होते हैं ? इसका विवेचन 'समर्थानामित्यादि' के द्वारा यहाँ किया गया है । **क्षणिनामिति**-जिसके पास पर्याप्त समय है ।

सूर्यमारुतसेवयाऽपि क्रियत इति सौर्यमारुतिकः–सूर्य एवं वायु का सेवन करते हुए भी कार्य करना । अर्थात् अपने सभी कार्यों को करते हुए रसायन सेवन करना सौर्यमारुतिक (Out door management) कहा जाता है । ।।२७-२९।।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् । अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ।।३०।।
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम् । देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ।।३१।।
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम् । समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ।।३२।।
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम् । शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।।३३।।
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् । धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ।।३४।।
गुणैरेतैः समुदितैः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम् । रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ।।३५।।

(इत्याचाररसायनम् ।)

आचार-रसायन–सत्यवादी, अक्रोधी (जो क्रोध न करते हों), जो मद्य व मैथुन से दूर रहते हों, अहिंसा प्रेमी (अहिंसक), जो शारीरिक श्रम न करते हों, शान्त रहने वाले, प्रिय बोलने वाले, जप एवं शौच (पवित्रता) में तत्पर रहने वाले, धीर, नित्य दान देने वाले, तपस्वी, देव, गो, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु, वृद्ध की पूजा में सदा लीन रहने वाले, अक्रूर, दयालु, समय से सोने व जागने वाले, नित्य दूध एवं घृत का सेवन करने वाले, देश, काल एवं प्रमाण का ज्ञान रखने वाले, युक्तिज्ञ, अहङ्कार रहित, प्रशस्त आचार वाले, असंकीर्ण विचारों वाले, जिसकी इन्द्रियाँ अध्यात्मिक विषयों में लगी हुई हों, वृद्ध, आस्तिक एवं जितेन्द्रिय पुरुषों की सेवा करने वाले, धर्म-शास्त्रों के अध्ययन में तत्पर रहने वाले पुरुष नित्य रसायन गुणों को प्राप्त करते हैं । अर्थात् इस प्रकार के पुरुषों को रसायन के सेवन के बिना ही रसायन के गुणों की प्राप्ति होती है । इन गुणों से युक्त होकर जो (पुरुष) रसायन का प्रयोग करता है, उसे पूर्वनिर्दिष्ट रसायन-गुणों की प्राप्ति होती है । ।।३०-३५।।

चक्रपाणि–सामान्यतः रसायन सेवी पुरुष के क्या गुण होने चाहिए, इसका विवेचन यहाँ 'सत्यवादिनमित्यादि' के द्वारा किया गया है।

करुणया सत्त्वानि पश्यति इति करुणवेदी–प्राणियों के प्रति करुणा रखने वाला 'करुणवेदी' कहलाता है । असंकीर्ण=असंकीर्ण भोजी (व्यवस्थित भोजन करने वाला)

नित्यं रसायनप्रयोगो यस्य स नित्यरसायनः–नित्य रसायन सेवी को जो रसायन का फल प्राप्त होता है वही फल इन पुरुषों को भी प्राप्त होता है । ।।३०-३५।।

यथास्थूलमनिर्हाय दोषाञ्छारीरमानसान् । रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ।।३६।।
योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः । मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ।।३७।।
तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु । अरुजेभ्योऽद्विजातिभ्यः सुश्रूषा येषु नास्ति च ।।३८।।

सामान्यतः शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि के बिना रसायन सेवन करने पर पुरुष को रसायन के पूर्ण गुणों की प्राप्ति कभी भी नहीं होती । जिन पुरुषों का शरीर व मन शुद्ध है, जो जितेन्द्रिय हैं । अर्थात् जिनका अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण है, ऐसे व्यक्ति आयुवर्धक अथवा व्याधि नाशक रसायन योगों का जब प्रयोग करते हैं तो उन्हें सिद्धि अवश्य मिलती है । उपर्युक्त रसायन योग उन पुरुषों के लिए उपदिष्ट नहीं है जो बुरे कर्मों में लीन हों, जो व्याधि रहित हों, जो ब्राह्मण न हों अथवा जिनकी सेवा करने वाला कोई न हो ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–मन के शुद्ध होने पर ही व्यक्ति जितेन्द्रिय बन सकता है। अर्थात् 'प्रयतात्म' गुण की प्राप्ति मन के शुद्ध होने पर ही होती है, फिर भी प्रयतात्म शब्द का पुनः उल्लेख होना इसके विशेष भाव को दर्शाता है। अर्थात् यहाँ 'प्रयतात्म (Self controlled) गुण रसायन प्राप्ति में विशेष महत्व का है। जो पुरुष निरोगी है एवं जो द्विजाति नहीं है तथा जिन पुरुषों की सेवा करने वाला कोई नहीं है, उनके लिए रसायन का उपदेश नहीं है। ॥३६-३८॥

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः। यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥३९॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम्। अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥४०॥
अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ। यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥४१॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च। वह्निश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥४२॥
चिकित्सितश्च शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा। सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥४३॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥४४॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ। बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥४५॥
ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि तथा नानाहवींषि च। धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥४६॥
प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते। सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ॥४७॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः। स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः ॥४८॥
अजरैरमरैस्तावद्विबुधैः सार्धिपैर्ध्रुवैः। पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति ॥४९॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्राग्रैः सुखार्थिभिः। किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः ॥५०॥
शीलवान्मतिमान् युक्तो द्विजातिः शास्त्रपारगः। प्राणिभिर्गुरुवत् पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥५१॥

प्राणाचार्य (वैद्य) का महत्त्व (Importance of Physician)–रसायन एवं वाजीकरण औषधियों का संयोग तथा व्याधियों में प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ ये सभी वैद्य (Physician) के ऊपर निर्भर करती हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वेद पारंगत (आयुर्वेदज्ञ) की पूजा अपनी शक्ति के अनुसार उसी प्रकार से करे जिस प्रकार देव भिषक् अश्विनी कुमारों की पूजा देवराज इन्द्र ने की थी।

अश्विनीकुमारों के महत्वपूर्ण कार्य–देवराज इन्द्र द्वारा अश्विनीकुमारों की पूजा किये जाने के कारण वे यज्ञ के भागी बने। इन्द्र ने अश्विनी कुमारों की पूजा इसलिए की–

१. युद्ध में यज्ञ का सिर कट गया था जिसे अश्विनी कुमारों ने पुनः जोड़ दिया।

२. सूर्य के टूटे हुए दाँतों को अश्विनी कुमारों ने ठीक किया था।

३. भग के नष्ट हुए नेत्रों की चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने की।

४. इन्द्र के भुजस्तम्भ की चिकित्सा अश्विनी कुमारों ने की।

५. नक्षत्रराज चन्द्रमा सौभ्यांश (शुक्र) के नष्ट हो जाने से राजयक्ष्मा रोग से ग्रसित हो गये थे। अश्विनी कुमारों की चिकित्सा द्वारा ये व्याधि मुक्त हुए थे।

६. भार्गव च्यवन जो अत्यन्त कामी थे, वृद्ध होने के कारण विकृति को प्राप्त हो गये थे, उनकी वर्ण, स्वर एवं चेष्टाएं क्षीण हो गयी थी। अश्विनी कुमारों ने चिकित्सा द्वारा उन्हें पुनः युवा बना दिया।

इन उपर्युक्त कर्मों के अतिरिक्त और भी दूसरे उत्तम कर्म अश्विनीकुमारों द्वारा किये गये, जिसके कारण इन्द्रादि महात्माओं के द्वारा वे अत्यधिक पूजित हुए।

ब्राह्मणों के द्वारा यज्ञ में अश्विनीकुमारों हेतु ग्रह, स्तोत्र, मन्त्र, विविध प्रकार के हविष् तथा धूम्र वर्ण के पशुओं का संकल्प किया जाता है।

प्रातः काल इन्द्र, अश्विनीकुमारों के साथ सोमरस का पान करते हैं एवं सौत्रामणि यज्ञ में इन्द्र, अश्विनीकुमारों के साथ सोम पान करके प्रसन्न होते हैं। ब्राह्मणों द्वारा प्रातः इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारों की स्तुति की जाती है। इन तीनों देवों (इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारों) की स्तुति वेद वाक्यों में जितनी की गयी है, उतनी किसी भी देवता की नहीं की गयी है। जब अजर व अमर रहने वाले देव गण अपने अधिपति इन्द्र के साथ अश्विनीकुमारों की सदा पूजा किया करते हैं तब मृत्यु, व्याधि एवं जरा के वशीभूत एवं प्रायः दुःखों से मुक्ति के इच्छुक सामान्य जन को इनकी पूजा अपनी सामर्थ्य से अधिक क्यों नहीं करनी चाहिए, अर्थात् अवश्य करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

योग्य प्राणाचार्य-अच्छे स्वभाव वाला, चिकित्सा कार्य में निपुण, बुद्धिमान, ब्राह्मण एवं शास्त्र पारंगत व्यक्ति को 'प्राणाचार्य' कहा जाता है। ऐसा ही व्यक्ति प्राणियों के लिए गुरुवत् पूज्य होता है।

चक्रपाणि-चूंकि रसायन आदि प्रयोग की सफलता वैद्य (चिकित्सक) के ऊपर निर्भर करती है, इसलिये यहाँ वैद्य की प्रशंसा 'य इत्यादि' के द्वारा की गयी है। **प्राणाचार्यमित्यत्र**-यहाँ प्राणाचार्य के स्थान पर 'प्राणिवर्यं' पाठ होने पर 'प्राणियों में श्रेष्ठ' अर्थ होगा।

यज्ञं वहति इति यज्ञवाहौ-यज्ञ के भाग को प्राप्त करना, अर्थात् यज्ञ का भागी बनना। देवराज इन्द्र के साथ अश्विनीकुमार भी यज्ञ के भागी बने। 'दक्षस्य हीत्यादि' के द्वारा 'यज्ञवाहत्व' के हेतु को स्पष्ट किया गया है। **पूष्णः**=सूर्य के। भगोऽपि=सूर्य का भेद।

सोमाभिपतित इति-शुक्रक्षय से पीड़ित होना। 'सोमातिपचित' पाठ होने पर अतिपचन से 'सोम' का अत्यधिक सेवन करना' अर्थ गृहीत होगा। ग्रहा=सोम-पान का पात्र। **स्तोत्राणि स्तवाः स्तावकवा (ऋ) चः**-वैदिक ऋचाओं को गाना, अर्थात् स्तुति गान। शस्त्राणीति केचित्-कुछ आचार्य शस्त्रों से 'स्तुति' करना अर्थ लेते हैं।

संशस्यतेऽनेनेति कृत्वा सामऋग्व्यतिरिक्तं स्तोत्रमाहुः-इससे उन प्रार्थनाओं का ग्रहण है जो साम या ऋग्वेद में वर्णित नहीं हैं। अर्थात् साम व ऋग् वेद की ऋचाओं से भिन्न 'स्तुति' का ग्रहण किया गया है। शस्त्र से अस्त्र अर्थ ही लिया गया है। वषट् युक्त अस्त्र का प्रयोग यज्ञों में किया ही जाता है।

धूम्राश्च पशव इति-धूम्र वर्ण वाले पशु, इस प्रकार के वर्ण वाले पशु श्रेष्ठ होते हैं। सवन इति-यज्ञ स्थान में। **सौत्रामणी**-विशेष प्रकार का यज्ञ। **अतिशक्तित इति**-अपनी शक्ति से अधिक।

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया जातिरुच्यते। अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ॥५२॥
विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा। ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो द्विजः स्मृतः ॥५३॥
नाभिध्यायेत्र चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्। प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम् ॥५४॥

विद्या समाप्ति के बाद भिषक् की जाति भिन्न हो जाती है। अर्थात् शिक्षा की समाप्ति के बाद चिकित्सक का नया जन्म होता है, जिसे 'वैद्य' कहा जाता है, जबकि पहले उसे यह 'संज्ञा' प्राप्त नहीं होती। अर्थात् वह पूर्वजन्म से वैद्य नहीं रहता।

विद्या समाप्ति (After the completion of medical education) के बाद व्यक्ति में ब्रह्म एवं आर्ष सत्त्व निश्चित रूप से प्रवेश कर जाते हैं, यह स्थिति ज्ञान प्राप्ति के कारण होती है, इसलिये वह 'द्विज' कहा जाता है। जो व्यक्ति दीर्घायु का इच्छुक है, उसे प्राणाचार्य के प्रति अभिध्या (चिकित्सक से धन लेने की इच्छा), निन्दा अथवा अहित आचरण नहीं करना चाहिए। ॥५२-५४॥

चक्रपाणि-वैद्य एवं द्विज शब्द की प्रवृत्ति में हेतु को 'विद्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **तेन विद्यायोगात् वैद्यत्वं तथा विद्यासमाप्तिलक्षणजन्मना द्विजत्वभवतीत्युक्तं भवति**-इस प्रकार वह विद्या के योग से 'वैद्यत्व' एवं विद्या समाप्ति के बाद लक्षणों के उदय से 'द्विजत्व' को प्राप्त करता है। **ब्राह्मं वा आर्षं वा इति विकल्पो वैद्यविशेषाभिप्रायाद्भवति**-वैद्य विशेष के अभिप्राय से ही वह आर्ष अथवा ब्राह्म सत्त्व वाला हो जाता है। जब चिकित्सक नैष्ठिकी चिकित्सा करता है तब उसमें ब्राह्म सत्त्व एवं जब वह लौकिक चिकित्सा से सम्बन्धित होता है तब उसमें आर्ष सत्त्व का प्रवेश होता है। ॥५२-५४॥

चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः। नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥५५॥
भिषग्व्याधितुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान्। आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ॥५६॥
धर्मार्थं चार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः। प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥५७॥
नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति। वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥५८॥
कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्। ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥५९॥
दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम्। छित्त्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति ॥६०॥
धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते। न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥६१॥
परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया। वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥६२॥

जो पुरुष चिकित्सक से चिकित्सा कराता है एवं उसे धन देने की प्रतिज्ञा करता है अथवा नहीं करता है फिर भी वह चिकित्सक के ऋणों से तब तक मुक्त नहीं होता, जब तक कि वह धनादि के द्वारा चिकित्सक को संतुष्ट नहीं करता। उत्तम धर्म के इच्छुक चिकित्सक को चाहिए कि सभी रोगियों की चिकित्सा अपने पुत्र की तरह करे। अर्थात् व्याधियों से प्राणियों की रक्षा करे। इस आयुर्वेद का उपदेश धर्म में तत्पर एवं ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक महर्षियों ने धर्मार्थ किया था, अर्थ एवं काम की प्राप्ति के लिए नहीं। जो पुरुष (चिकित्सक) प्राणियों की चिकित्सा अर्थ एवं काम की भावना से न कर, दया भाव रखकर करता है, वह सांसारिक विषयों से ऊपर उठ जाता है।

Scanned by CamScanner

जो पुरुष (चिकित्सक) अपनी वृत्ति (आजीविका) हेतु चिकित्सा को बाजार में बेचते हैं । अर्थात् अपनी वृत्ति हेतु धन के लिए चिकित्सा कार्य करते हैं । वे सुवर्ण राशि को त्याग कर धूल की राशि को एकत्रित करते हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

जीवन दान सर्वश्रेष्ठ दान है–दारुण व्याधियों द्वारा यमपुरी की ओर खींचे जाते हुए रोगी को जो चिकित्सक यम के पाश (जाल) से रोगी के प्राणों को बचा लेता है उसके समान धर्म एवं अर्थ प्रदाता इस संसार में दूसरा उपलब्ध नहीं होता । क्योंकि जीवन दान से बढ़कर कोई दूसरा दान नहीं है ।

जो चिकित्सक प्राणियों पर दया भाव को रखकर चिकित्सा में प्रवृत्त होता है, उसके इच्छित विषय पूर्ण होते हैं एवं वह अत्यन्त सुख प्राप्त करता है । ॥५५-६२॥

चक्रपाणि–संश्रुत्येति प्रतिज्ञाय=प्रतिज्ञा करके । **चिकित्सैव पण्यं विक्रेतव्यमिति चिकित्सापण्यम्**-'चिकित्सा' को जो विक्रय (बेचने) की वस्तु समझता हो । वे लोग इस धर्मार्थकारी चिकित्सा के महाफल रूपी स्वर्ण राशि को छोड़कर असारवत् धूल की राशि को प्राप्त करते हैं ।

वैवस्वतक्षयमिति-यमलोक । ॥५५-६२॥

तत्र श्लोकौ–

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिं शुभम् । अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ।।६३।।
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः । आयुर्वेदसमुत्थाने तत् सर्वं संप्रकाशितम् ।।६४।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने रसायनाध्याये आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः ।।४।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद नामक इस अध्याय में 'आयुर्वेद-समुत्थान, दिव्यौषधियों की सेवन विधि, अमृत से कुछ अल्प गुण वाले रत्न युक्त सिद्ध रसायन योगों का विवेचन सिद्ध एवं ब्रह्मचारी पुरुषों के लिए, जिसे भगवान् इन्द्र ने कहा था; किया गया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहिता के चिकित्सास्थान में रसायनाध्याय के अन्तर्गत 'आयुर्वेदसमुत्थानीय' नामक चतुर्थ रसायनपाद पूर्ण हुआ । ॥४॥

चक्रपाणि–संग्रहे रत्नरसायनमिति-स्वर्णादि रत्नों से युक्त रसायन योग । इस अध्याय में दिव्य औषधियों के सेवन की विधि आदि, जो ब्रह्मचारी ऋषियों के लिए इन्द्र द्वारा उपदेशित है, उन सभी का विवेचन यहाँ किया गया है । ॥६३-६४॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के रसायनाध्याय में आयुर्वेदसमुत्थानीय नामक चतुर्थ रसायनपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

समाप्तश्चायं रसायनाध्यायः ॥१॥

Scanned by CamScanner

द्वितीयोध्यायः

वाजीकरणाध्याये प्रथमः पादः ।

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद संयोगशरमूलीय वाजीकरण पाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–स्वस्थोजस्करत्व सामान्य से रसायन के बाद वाजीकरण का विवेचन होना चाहिए, फिर भी वाजीकरण में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो, इसे बताने वाला प्रकरण होने से संयोगशरमूलीय का अभिधान पहले किया गया है ।

शरमूलों का इस अध्याय में संयोग है, इसलिये इसे संयोगशरमूलीय कहा गया है । ॥१-२॥

वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान् । तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ।।३।।
पुत्रस्यायतनं ह्येतद्गुणाश्चैते सुताश्रयाः ।

वाजीकरण चिकित्सा का उद्देश्य (Objects of Aphrodisiac therapy)–आत्मवान् (जितेन्द्रिय) पुरुष को नित्य वाजीकरण द्रव्यों के सेवन की इच्छा करनी चाहिए । अर्थात् सेवन करना चाहिए । क्योंकि इसी में धर्म, अर्थ, प्रीति एवं यश प्रतिष्ठित हैं तथा यह पुत्र का कारण भी है । अर्थात् वाजीकरण के प्रयोग से योग्य पुत्र की उत्पत्ति होती है । उपर्युक्त सभी गुण (धर्म, अर्थ, प्रीति एवं यश) पुत्र के आश्रित हैं । ॥३॥

चक्रपाणि–अवाजी वाजीवात्यर्थं मैथुने शक्तः क्रियते येन तद्वाजीकरणम्-वह औषधि अथवा प्रक्रिया जो अल्प मैथुन शक्ति वाले पुरुष को अत्यधिक मैथुन शक्ति से युक्त बना देती है, अर्थात् मैथुन क्षमता की अत्यधिक वृद्धि कर देती है, उसे वाजीकरण कहते हैं । कहा भी गया है, यथा-"वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियम्" (जो अश्व की भाँति अधिक वेग युक्त होकर स्त्री के साथ प्रवृत्त होता है ।)

अन्विच्छेदिति–रसायन महाफलदायी होने से, उसकी अपेक्षा इसका फल अल्प होने से रसायन के पश्चात् वाजीकरण द्रव्यों के सेवन की इच्छा करनी चाहिए । पुरुष पद से यहाँ तरुण पुरुष का ग्रहण किया गया है, क्योंकि मैथुन हेतु बाल एवं वृद्ध पुरुष का निषेध किया गया है । कहा भी गया है-"अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन् । उपतप्येत् सहसा तडागमिव काजलम् ॥ शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम् । स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्" [बाल्यावस्था में सम्पूर्ण धातुएं परिपक्व नहीं रहती । परिणामतः इस काल में मैथुन करने पर व्यक्ति का शरीर उसी प्रकार सूख जाता है जिस प्रकार तडाग का जल सूर्य की तप्त किरणों से सूख जाता है । जिस प्रकार पुराना काष्ठ शुष्क एवं कीड़े लगने के कारण जर्जरीभूत हो जाता है उसी प्रकार वृद्धावस्था में शरीर की धातुएं क्षीण हो जाती है । अतः दोनों ही अवस्थाओं में स्त्री सेवन का निषेध किया गया है ।]

नित्यमित्यनेन–रसायन का प्रयोग व्यक्ति के जीवन काल में केवल एक बार किया जाता है । वाजीकरण द्रव्यों का प्रयोग रसायनवत् न कर आहार की तरह नित्य करना चाहिए । **आत्मवानित्यनेन**-जितेन्द्रिय पुरुष; इससे अजितेन्द्रिय पुरुष के वृष्य द्रव्यों के प्रयोग का निषेध स्वतः हो जाता है, क्योंकि वृष्य द्रव्यों के प्रयोग से धातुओं (शुक्र) के उपचित होने पर ही मैथुन करना चाहिए । वृष्य द्रव्यों के प्रयोग से ही धर्मादि की प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसका उल्लेख 'पुत्रस्येत्यादि' के द्वारा किया गया है । अभिप्राय यह है कि वृष्य द्रव्यों के प्रयोग से पुत्र की उत्पत्ति होती है तथा धर्मादि की प्राप्ति पुत्र के अधीन है । आयतनम्=कारण । **एते गुणा इति**-धर्म, अर्थ, प्रीति एवं यश आदि गुण ।

वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः संपादयतीत्यर्थः–वृष्य प्रयोग जनित पुत्र धर्मादि को पिता के लिए संपादित करता है । वाजीकरण द्रव्यों के प्रयोग से यहाँ प्रधान रूप से युक्ति पूर्वक एवं ऋतुकाल में मैथुन करना, अर्थ अभिप्रेत है । इस प्रकार तिस्रैषणीय अध्याय में 'त्रयोपस्तंभ' के अन्तर्गत जिस ब्रह्मचर्य का उल्लेख किया गया है उससे ऋतुकाल में विधिविहित मैथुन का प्रतिषेध नहीं है, अर्थ प्राप्त होता है । इसका इस प्रकरण से विरोध नहीं है ।

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ।।४।।
इष्टा होकैकशोऽप्यर्था परं प्रीतिकरा स्मृताः । किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन प्रतिष्ठिताः ।।५।।
(सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते ।)
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम् । स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ।।६।।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः । सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता ।।७।।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता ।

Scanned by CamScanner

उत्तम वाजीकरण–वाजीकरण में अभ्य प्रहर्षिणी स्त्री है। मनोनुकूल एक-एक विषय भी अत्यधिक प्रीति उत्पन्न करने वाले होते हैं, जब कि स्त्री शरीर में ये सभी विषय संघात रूप (संयुक्त रूप) में स्थित रहते हैं। [स्त्री शरीर में इन्द्रियों के सभी अर्थ संयुक्त रूप में विद्यमान रहते हैं जबकि अन्य कहीं नहीं मिलते, अर्थात् मनोनुकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध विद्यमान रहते हैं।] इन्द्रियों के विषय स्त्री में आश्रित होने से वह स्त्री अत्यधिक प्रीति को उत्पन्न करने वाली होती है। स्त्री में व्यक्ति की प्रीति विशेष रूप से रहती है, क्योंकि स्त्री में ही अपत्य (संतान) प्रतिष्ठित है। उसी में ही धर्म, अर्थ, लक्ष्मी एवं लोक प्रतिष्ठित है।

जो स्त्री सुन्दर हो, युवती हो, सुन्दर लक्षणों वाली हो, अपने अनुकूल हो, शिक्षित हो (काम कलाओं में-निपुण हो), वह स्त्री परं वृष्य कही जाती है। ॥४-७॥

चक्रपाणि–वाजीकरण द्रव्यों में प्रधान वाजीकरण को 'वाजीत्यादि' के द्वारा यहाँ बताया गया है। **क्षेत्रमिव क्षेत्रं, तत्र शुक्ररूपबीजप्ररोहणात्**–जो क्षेत्र (खेत) की तरह हो उसे क्षेत्र कहा गया है। यहाँ प्रहर्षिणी स्त्री को क्षेत्र माना गया है, क्योंकि उसी में शुक्र रूप बीज का अङ्कुरण होता है। **अर्था इति**–शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। स्त्रीगत होठों के रस रूपादि तो प्रसिद्ध ही हैं, अर्थात् मनोनुकूल स्त्री के शब्द, स्पर्श, रूप, अधरगत रस एवं गन्ध सभी प्रिय होते हैं।

धर्माथौ स्त्रीष्विति–पत्नी के रूप में होने से वह धर्म एवं गृहिणी के रूप में रहकर अर्थ (धन) रक्षण का कार्य करती है।

स्त्रिया लक्ष्म्याः संयोगे धनसंपद्धवतीति–स्त्री के संयोग से धन संपदा की वृद्धि होती है, इसलिये इसमें लक्ष्मी प्रतिष्ठित है, यह कहा गया है।

वश्या=आयत्ता (अपने अनुकूल होना अर्थात् जो स्त्री अपने अनुकूल हो)।

शिक्षितेति–कामशास्त्र में निर्दिष्ट गीत, वादित्र आदि चौंसठ काम कलाओं में निपुण हो। ॥४-७॥

नानाभक्त्या तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम् ॥८॥
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते नरं रूपादयो गुणाः। वयोरूपवचोहावैर्या यस्य परमाङ्गना ॥९॥
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा। हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया ॥१०॥
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रियैः। या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः ॥११॥
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत्। यस्या ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः ॥१२॥
शोकोद्वेगारतिभयैर्या दृष्ट्वा नाभिभूयते। याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम् ॥१३॥
अपूर्वामिव यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः। गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति ॥१४॥
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः। अतुल्यगोत्रा वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम् ॥१५॥
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः।

इस संसार में विभिन्न प्रकार की रुचि वाले लोग होते हैं, दैवयोग से स्त्री के रूपादि गुण तदनुरूप पुरुष के प्राप्त होने पर बढ़ जाते हैं। वह स्त्री अपने वय (youthfulness), रूप (Beauty), वच् (mode of speech) एवं हाव-भाव के द्वारा उस पुरुष के हृदय में शीघ्रता पूर्वक प्रवेश कर जाती है। यह कार्य दैव योग अथवा कर्मों के वशीभूत होता है। वह स्त्री उस पुरुष के लिए उत्सव रूप होती है। अर्थात् उसके हृदय को आनन्दित करने वाली होती है, समान कामेच्छा वाली होती है। जो स्त्री समान सत्त्व वाली होती है, जो वश्य है एवं पुरुष जिस द्रव्य में प्रेम रखता है उसमें वह भी प्रेम करने वाली होती है, ऐसी स्त्री अपने गुणों के द्वारा पुरुष के सभी इन्द्रियों के लिए पाशभूत होती है। जिससे वियुक्त होने पर पुरुष संसार को स्त्रीशून्य मानते हुए बेचैन रहता है। जिसके अभाव में शरीर कों धारण करते हुए भी व्यक्ति इन्द्रिय शून्य सा बना रहता है। जिस स्त्री के साथ रहने पर पुरुष शोक, उद्वेग, अरति एवं भय से अभिभूय (प्रभावित) नहीं होता, जिसके पास जाकर वह विश्वास से भर जाता है एवं जिसको देखकर अतीव प्रसन्न हो जाता है। जिसको प्राप्त कर नित्य हर्ष एवं अति वेग के साथ संयोग (मैथुन) में ऐसा प्रवृत्त होता है जैसा कभी पहले नहीं हुआ था। बार-बार संयोग करने पर भी वह कभी तृप्त नहीं होता, ऐसी स्त्री परं वृष्य कही जाती है, जिसके विभिन्न प्रकार के हाव-भावों द्वारा पुरुष वशीभूत होता है।

ऐसा पुरुष जो स्वस्थ (Healthy) हो एवं पुत्र की इच्छा रखता हो, उसे ऐसी स्त्री जो अतुल्य गोत्र में उत्पन्न हो, जो वृष्य हो (who is sexually strong), अत्यन्त हर्षित हो, जो ऋतुस्नान कर चुकी हो एवं जो स्वस्थ हो; के साथ मैथुन में प्रवृत्त होना चाहिए।

चक्रपाणि–रूपादि से भिन्न गुणों को रखते हुए भी कोई-कोई स्त्री अपने कर्म वश वृष्य होती हैं, जिसका विवेचन 'नानेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

दैवयोगादिति–पूर्वजन्म कृत कर्मों के परिणाम से।

Scanned by CamScanner

विवर्धन्त इति–वृष्यत्व कार्य करते हैं। हाव का अभिप्राय-'स्त्री के शृंगार आदि चेष्टा विशेष के द्वारा पुरुष आकर्षित होता है' से है। भरत के द्वारा कहा भी गया है-**''प्रकाशरूपकं सत्त्वं सत्त्वोत्प्लवाः समुद्गताः। तेभ्यो हावादिनिष्पत्तिरित्याहुः परमर्षयः''** इति (सत्त्व प्रकाश रुप होता है, उसी में उत्पन्न होने वाले विभिन्न भावों के द्वारा हाव आदि की उत्पत्ति होती है।)

दैवादिति–प्राक्तन कर्म। **कर्मण इति**-ऐहिकाद्वशीकरणादिकर्मणः–इस जन्मकृत कर्मों के वशीभूत कर्म, अर्थात् वह वृष्य स्त्री जो वय, रूप, हाव आदि गुणों के द्वारा उस पुरुष के हृदय में प्रवेश कर जाती है। मनः शयः=कामः। **पाशभूतेति**-मन एवं इन्द्रियों के बन्धन में हेतु होने से। 'नानाभावा हि मानवाः' के द्वारा रूपादिगुण योग से सभी पुरुषों को अलग-अलग स्त्री प्रिय होती है, यह दर्शाया गया है।

[Men have different types of likings. It is not necessary that every man likes every woman even if she has beauty etc. A woman is liked by a man only when his specific likings are satisfied by her specific feminine qualities. 'Dr. Bhagvan Das']

अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को जो गुण पसन्द है, जिस स्त्री में वे भाव प्राप्त होते हैं, वह स्त्री उस पुरुष के लिए प्रिय होती है।

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।।१६।।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः। चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ।।१७।।
निष्प्रजस्तृणपूलीति मन्तव्यः पुरुषाकृतिः। अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना ।।१८।।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते। बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः ।।१९।।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः। मङ्गल्योऽयं प्रशस्योऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम् ।।२०।।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः। प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम् ।।२१।।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिताः। तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान् ।।२२।।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च। उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान् ।।२३।।
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम्।

सन्तान रहित पुरुष की उपमा–१. सन्तान रहित पुरुष उस छाया रहित वृक्ष के समान होता है, जो एक शाखा युक्त है, जिसमें फल नहीं आते हैं तथा जिससे अनिष्ट गन्ध निकलती रहती है।

२. प्रजा रहित पुरुष उस दीवार पर बने हुए दीपक के चित्र की तरह होता है जो सुन्दर तो होता है, लेकिन प्रकाश नहीं देता, अथवा उस सूखे तालाब की तरह है जो किसी की तृष्णा को शान्त नहीं कर सकता। अथवा धातु युक्त (षड्धात्वात्मक शरीर) होते हुए भी अधातुवत् होता है। अथवा उस तृण-पूली (घास-फूस) द्वारा निर्मित पुरुषाकृति के समान होता है जिसे किसान अपने खेतों में पशुओं व पक्षियों को डराने के लिए बनाते हैं।

३. जिस पुरुष की कोई सन्तान नहीं है, वह इस संसार में प्रतिष्ठारहित, नग्न (एकाकी), शून्य, एक इन्द्रिय युक्त एवं निष्क्रिय जीवन जीता है।

पुत्रवान् की उपमा–बहु सन्तान युक्त व्यक्ति बहुमूर्ति, बहु मुख, बहु व्यूह (having many dimensions), बहु क्रिय; बहु चक्षु, बहु ज्ञान एवं बहु आत्मा वाला होता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन माङ्गल्य युक्त, प्रशंसनीय एवं सौभाग्यशाली होता है। वह व्यक्ति वीर्यवान् एवं पुत्र-पौत्रादि से युक्त बहुशाखा युक्त वृक्ष के समान होता है, ऐसी प्रशंसा लोग करते हैं।

प्रीति (Love), बल (Strength), सुख अथवा प्रसन्नता (Happiness), वृत्ति (जीविका) का विस्तार एवं कुल की वृद्धि, यश (Fame), भावी सुख एवं तुष्टि; ये सभी भाव पुत्र के ही आश्रित रहते हैं। अर्थात् जो पुत्रवान् होता है, उसे प्राप्त होते हैं। इसलिये अपत्य प्राप्ति, अपत्याश्रित गुणों, काम एवं सुख की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को वाजीकरण औषधियों का नित्य सेवन करना चाहिए।

अब इसके बाद प्रयोग में सुखकर, वीर्य एवं पुत्रोत्पादक वाजीकरण योगों का वर्णन किया जा रहा है। ॥१६-२३॥

चक्रपाणि–वृष्य प्रयोग की उपादेयता पुत्रोत्पादन में है। इसे यहाँ 'अच्छाय इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

एकशाख इति–एक स्वरूप का होना, अर्थात् जिसकी सन्तान नहीं होती, वह इस जगत् में अकेला होता है। **चित्रलिखितो दीपश्चित्रदीपः**-चित्र में बना हुआ दीपक 'चित्रदीप' कहलाता है। अर्थात् अपुत्रवान् व्यक्ति उस 'चित्रदीप' की तरह होता है जो दिखता तो है, लेकिन प्रकाश नहीं देता।

अधातुर्धातुसन्निभ इति–सुवर्णादि की तरह आभासित होते हुए भी इनसे रहित होना अथवा लाख से ढका होना अथवा कंकड़ आदि से युक्त होना।

Scanned by CamScanner

पूली नपुंसकधर्मित्वात्–नपुंसक धर्मी होने से, तृणपूली-घास-फूस की बनी हुई 'पुरुषाकृति' जो खेतों में पशु-पक्षियों को डराने के लिए किसान द्वारा प्रयोग किया जाता है । अर्थात् सन्तान रहित व्यक्ति इस तृण निर्मित 'पुरुषाकृति' जैसा होता है, जो पुरुष की तरह दिखता तो है, लेकिन क्रिया रहित होता है ।

कामसुखानि चेत्यनेन पुत्रोत्पादातिरिक्तं नातिश्लाघ्यं फलं दर्शयति–पुत्रोत्पादन के अतिरिक्त अति श्लाघ्य फल को नहीं दर्शाया गया है।

कामसुख–ऐहिक सुख होता है, न कि पुत्र की तरह उभय लोकोपकारी होता है । उपभोग सुख का अभिप्राय मैथुन सुख लिया गया है, अथवा उपभोक्तुं सुखा 'उपभोगसुखाः' (ऐसा सुख जिसका उपभोग किया जाय) । वीर्यम्=शुक्रम् (शुक्र)

[पाठ भेद से वीर्य के स्थान पर 'बीज' शब्द का प्रयोग हुआ है ।] ॥१६-२३॥

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुबालिका ।।२४।।
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका । जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला ।।२५।।
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा । एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम् ।।२६।।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् । तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली ।।२७।।
आत्मगुप्ता मधुकानि खर्जूराणि शतावरी । विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक्-पृथक् ।।२८।।
सर्पिषश्चाढकं दद्यात् क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् । साधयेद्घृतशेषं च सुपूतं योजयेत् पुनः ।।२९।।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् । पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च ।।३०।।
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः । मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक् ।।३१।।
पलिका गुलिकास्त्यानास्ता यथाग्नि प्रयोजयेत् । एष वृष्यः परं योगो बृंहणो बलवर्धनः ।।३२।।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत् ।

(इति बृंहणीगुटिका ।)

बृंहणीगुटिका–शरमूल, इक्षुमूल (ईख का जड़), काण्डेक्षु (बृहत् ईख) की जड़, इक्षुवालिका, शतावरी, पयस्या (क्षीर विदारी), विदारीकन्द, कण्टकारी, जीवन्ती, जीवक, मेदाकन्द, वीरा (क्षीरकाकोली), ऋषभक, बला, ऋद्धि, गोक्षुर, रास्ना, केंवाच बीज, पुनर्नवा; इन सभी द्रव्यों की अलग-अलग मात्रा ३ पल (१२ तोला) लें । नवीन उड़द एक आढ़क (२५६ तोला) तथा जल-एक द्रोण ।

उपरोक्त सभी द्रव्यों को लेकर एक द्रोण जल के साथ पकाकर क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष (जल का चतुर्थांश) बचने पर इसे छानकर एक अलग पात्र में रख लें । इस छने हुए क्वाथ में मधुक (यष्टीमधु), द्राक्षा, अंजीर, पिप्पली, कौंच बीज, मधूक, खर्जूर; शतावरी का कल्क एवं विदारीकन्द, आँवला व इक्षु का रस (स्वरस) पृथक्-पृथक् एक-एक आढ़क (२५६ तोले) एवं गोदुग्ध एक द्रोण डालकर घृतपाक विधि से घृत को सिद्ध करें । सिद्ध होने पर छानकर एक पात्र में घृत को रख लें । इस सिद्ध घृत में शर्करा-एक प्रस्थ (६४ तोला), वंशलोचन एक प्रस्थ (६४ तोले), पिप्पली चार पल (१६ तोला), मरिच एक पल (४ तोला), दालचीनी, इलायची व केशर मिलित रूप में अर्ध पल (२ तोला), मधु-दो कुड़व (३२ तोला) मिलाकर एक-एक पल (४ तोला) की गोलियाँ बना लें । इनका प्रयोग व्यक्ति अग्नि बल के अनुसार करे । यह योग अत्यन्त वृष्य, बृंहण एवं बलवर्धक होता है । इस बृंहणी गुटिका के सेवन से व्यक्ति अत्यन्त बलवान् (कामुक) होकर मैथुन में प्रवृत्त होता है ।

चक्रपाणि–काण्डेक्षुः=बड़ी ईख की जड़ । इक्षुवालिका=खग्गालिका । पयस्या=क्षीरविदारी । वीरा=क्षीरकाकोली । फल्गु=काष्ठोदुम्बरिका (कठगूलर) । **शतावरीत्यत्तेन कल्कच्छेदः**-मधुक से प्रारम्भ कर शतावरी तक के द्रव्यों का कल्क ग्रहण करना चाहिए । वंशरोचना=तुगाक्षीरी (वंशलोचन), अन्य आचार्य 'वंशरोचन' के अनुरूप एक प्रकार का पार्थिव द्रव्य 'तालधीक्षी' का ग्रहण करते हैं । स्त्याना इति=घन । ॥२४-३२॥

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम् ।।३३।।
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम् । मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत् कुडवोन्मिताम् ।।३४।।
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः । विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च ।।३५।।
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् । शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक्-पृथक् ।।३६।।
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत् पलम् । पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत् ।।३७।।
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ।

(इति वाजीकरणं घृतम्।)

वाजीकरण-घृत–नवीन उड़द एवं केंवाच बीज (छिलका रहित) अलग-अलग १ आढ़क (२५६ तोला), जीवक, ऋषभक, वीरा (क्षीरकाकोली), मेदाकन्द, ऋद्धि, शतावरी, मधुक (यष्टीमधु) एवं अश्वगंधा प्रत्येक द्रव्य १ कुड़व (१६ तोला); इन सब द्रव्यों को चौगुने जल में मिलाकर क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष रहने पर जल को छान कर रख लें । इस चतुर्थांश क्वाथ में घृत एक प्रस्थ (६४ तोला),

Scanned by CamScanner

गोदुग्ध दस प्रस्थ (६४० तोला), विदारीकन्द स्वरस एक प्रस्थ (६४ तोला), इक्षुरस एक प्रस्थ (६४ तोला) मिलाकर मृदु अग्नि पर घृत को सिद्ध करें। तत्पश्चात् इस सिद्ध घृत को एक पृथक् पात्र में छानकर रख लें। अब इस घृत में शर्करा (मिश्री)-४ पल (१६ तोला), तुगाक्षीरी (वंशलोचन) -४ पल (१६ तोला), मधु -४ पल (१६ तोला) एवं पिप्पली चूर्ण एक पल (४ तोला) मिला लें। इसका प्रयोग एक पल (४ तोला) की मात्रा में, अक्षय शुक्र वृद्धि एवं जननेन्द्रिय में उत्तम बल के इच्छुक पुरुष, भोजन के पूर्व इस अवलेह का प्रयोग करे। ॥३३-३७॥

चक्रपाणि–द्वितीय प्रयोग में रस का अर्थ 'क्वाथ' से लिया गया है। ॥३३-३७॥

शर्करामाषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम् ॥३८॥
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत्। तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे ॥३९॥
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः। एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः ॥४०॥
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्। शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः।
बलवर्णस्वरकरः पुमांस्तेन वृषायते ॥४१॥
(इति वाजीकरणपिण्डरसाः।)

वाजीकरण पिण्डरस–१. शर्करा, २. उड़द का आटा, ३. तुगाक्षीरी (वंशलोचन), ४. गोदुग्ध, ५. गोघृत, ६. गेहूँ का आटा; इन छः द्रव्यों को यथायोग्य प्रमाण में लेकर आपस में मिलाकर घी में उत्कारिका पकावें। यह पाक अति पक्व व अतिमृदु नहीं होना चाहिए। अब इसमें सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित उष्ण मुर्गे के मांसरस को डालें। ऐसा करने से उत्कारिका (लप्सी) युक्त मांसरस गाढ़ा (सान्द्र) हो जाता है। यह पिण्डरस अत्यन्त वृष्य, पौष्टिक एवं बलवर्धक होता है। इस पिण्डरस के सेवन से व्यक्ति अत्यन्त बलवान होकर अश्ववत् मैथुन में सक्षम हो जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा निर्मित उत्कारिका को मोर, तीतर एवं हंस के मांसरस में डालकर पिण्डरस बनाना चाहिए। इस पिण्डरस के सेवन से व्यक्ति के बल, वर्ण व स्वर की अत्यन्त वृद्धि होती है एवं यह परं वृष्य गुणों को दर्शाता है॥३८-४१॥

चक्रपाणि–उत्कारिका मूषिकोत्कराकारा (?) उत्कारिका-चूहे की 'लेड़ी' के आकार की (बूंदी जैसी)। **शिखितित्तिरिहंसानां पिण्डरसैर्व्यस्तसमस्ताश्चत्वारः पिण्डरसाः**-मोर, हंस एवं तित्तिर के मांसरस से अलग-अलग अथवा मिश्रित रूप से पिण्डरस तैयार किया जाता है।

गंगाधर–शर्करा (चीनी), उड़द का आटा, वंशलोचन चूर्ण, गाय का दूध, गोघृत एवं गेहूँ का आटे, को यथा-योग्य प्रमाण में लेकर पहले घी में गेहूँ के आटे एवं उड़द के आटे को भूनकर उसमें शर्करा आदि शेष तीन द्रव्यों को डालकर उत्कारिका (लप्सी) को पकावें जो अधिक द्रव युक्त नहीं होना चाहिए। इसमें कुक्कुट का मांसरस जो शर्करादि योग से मधुर किया गया हो तथा इलायची आदि डालकर सुगन्धित बनाया गया हो, को गरम करके डालें एवं हलका पकावें ऐसा करने से वह रस गाढ़ा हो जाता है। इसे ही पिण्ड रस कहा गया है।

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे। भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि ॥४२॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः। एष बृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः ॥४३॥
(इति वृष्यमाहिषरसः।)

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे। कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बार्हिणमेव च ॥४४॥
नवसर्पिषि संतप्तान् फलाम्लान् कारयेद्रसान्। मधुरान् वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान् ॥४५॥
(इत्यन्ये वृष्यरसाः)

तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत् पयः। न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि ॥४६॥
(इति वृष्यमांसम्।)

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्। पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान् ॥४७॥
(इति वृष्यमाषयोगः।)

न ना स्वपिति रात्रिषु नित्यस्तब्धेन शेफसा। तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्तरेतसि ॥४८॥
(इति वृष्यः कुक्कुटमांसप्रयोगः।)

निःस्नाव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत् ॥४९॥
हंसबर्हिणदक्षाणामेवमण्डानि भक्षयेत्॥
(इति वृष्योऽण्डरसः।)

वृष्य माहिष रस–गोघृत, उड़द का आटा एवं बकरे का अण्ड, इन तीन द्रव्यों को भैस के मांस रस के साथ पकाना चाहिए। इस रस को छानकर नये घृत में भून लें तथा इसमें अम्ल फलों के रस, (आँवला, फालसा अथवा अनार का रस) मिला लें। तत्पश्चात् अल्प प्रमाण में सैन्धव नमक, धनिया, जीरा एवं शुण्ठी (सोंठ) के चूर्ण को मिलाकर प्रयोग करें। यह वृष्य माहिष रस अत्यन्त वृष्य, बल्य एवं बृंहण गुण दर्शाता है।

Scanned by CamScanner

अन्य वृष्य रस–चटक के मांस को तीतर के मांस रस में, तीतर के मांस को मुर्गे के मांस रस में, मुर्गे के मांस को मयूर के मांस रस में तथा मयूर के मांस को हंस के मांस रस में पकावें। इस पके हुये मांस के रस को छानकर नवीन घृत में भून लें। इस भुने हुए मांस रस में खट्टे फलों (आँवला, फालसा या अनारदाने के रस) के रस को मिलावें। अथवा मधुर रस युक्त कर लें। इस रस को अपने अनुकूल गन्ध द्रव्यों का प्रयोग कर सुगन्धित बना लें। यह वृष्यरस अत्यन्त बल वर्धक है।

[यहाँ चार वृष्यरसों के योगों का उल्लेख किया गया है।]

वृष्य मांस–जो व्यक्ति चटक (गौरैया) के मांस को भर पेट खाकर, अनुपान के रूप में दुग्ध का पान करता है, मैथुन करते समय उसके लिङ्ग में शिथिलता नहीं आती तथा रात्रि में शुक्रपात नहीं होता।

वृष्य माष योग–जो व्यक्ति माष यूष के साथ घृताप्लावित साठी चावल के भात को खाकर, दूध पीता है, वह अत्यन्त वेग से मैथुन करते हुए रात भर जागता है। अर्थात् उसे शैथिल्यता नहीं आती।

वृष्य कुक्कुट मांस-प्रयोग–घड़ियाल के शुक्र में भुने हुए कुक्कुट के मांस को खाकर जो व्यक्ति तृप्त होता है। वह व्यक्ति अत्यन्त हर्ष के साथ मैथुन करते हुए रात्रि भर जागता रहता है।

वृष्य अण्डरस–वाजीकरणार्थ व्यक्ति को इन चार प्रकार के अण्डों के रस को घृत में भूनकर खाना चाहिए।

१. मछली के अण्डों का रस २. हंस के अण्डे ३. मोर के अण्डे ४. मुर्गी के अण्डे

चक्रपाणि–निशीत्यनेन सकलनिशामैथुनेऽपीति दर्शयति-पूरी रात्रि मैथुन करता रहता है, यह दर्शाया गया है। अर्थात् वृष्य योगों के सेवन करने से व्यक्ति के लिङ्ग में शिथिलता नहीं आती, परिणाम स्वरूप पुरुष देर तक मैथुन कर सकता है।

'हंसेत्यादि' के द्वारा हंस, मयूर, दक्ष (मुर्गे) के अण्डे का पृथक प्रयोग है, फिर भी इनका मिश्र योग भी एक प्रयोग है। इस प्रकार संग्रह (उपसंहार) में वर्णित 'हंस, मयूर एवं मुर्गे' के एक प्रयोग से पन्द्रह योगों की संख्या पूर्ण हो जाती है। ॥४२-४९॥

भवतश्चात्र–

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा ना मितमत्ति काले। वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद्बृंहणं चैव बलप्रदं च ॥५०॥
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः। सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥५१॥

शोधनोत्तर वाजीकरण द्रव्यों का प्रयोग करें–स्रोतस् के शुद्ध हो जाने पर व्यक्ति का शरीर निर्मल (मल रहित) हो जाता है। ऐसे शरीर में जब व्यक्ति उचित काल में वृष्य योगों का सेवन करता है तब उस योग के परिणाम से व्यक्ति अश्व या वृषभ के समान मैथुन करने में सक्षम हो जाता है, शरीर पुष्ट एवं बलयुक्त हो जाता है। अर्थात् वृष्य योग शरीर को पुष्ट एवं बल प्रदान करते हैं। इसलिए वृष्य-योगो के सेवन से पूर्व व्यक्ति का शोधन निश्चित रूप से कराना चाहिए, पश्चात् बलानुसार वृष्य योगों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा नहीं करने पर अर्थात् बिना शोधन किये मलयुक्त शरीर में वृष्य योगों का प्रयोग उसी प्रकार सिद्ध नहीं होता जिस प्रकार गन्दे कपड़े, पर चढ़ाया गया रंग।

चक्रपाणि–वृष्य योगों का प्रयोग शुद्ध शरीर में ही करना चाहिए, इसे यहाँ 'स्रोतः सु इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। मितमिति-मात्रानुसार। क्लिष्टे=मलीन (गन्दे) कपड़े पर, जिस प्रकार गन्दे कपड़े पर कोई रंग नहीं चढ़ता उसी प्रकार शोधन रहित शरीर में वृष्य द्रव्यों का प्रयोग सफल नहीं होता।

तत्र श्लोकौ–

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या। ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये ॥५२॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः। उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः ॥५३॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये संयोगशरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः ॥१॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–संयोग शरमूलीय नामक प्रथम वाजीकरण पाद में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है।

१. वाजीकरण द्रव्यों की सामर्थ्य २. वाजीकरण द्रव्यों में अग्र्य-प्रहर्षिणी स्त्री ३. संतान रहित पुरुष के दोष
४. पुत्रवान् के गुण। ५. वीर्य एवं पुत्रोत्पादक १५ योग

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहिता के चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत 'संयोगशरमूलीय' नामक प्रथम वाजीकरण पाद का विवेचन पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–संग्रहे यस्य चैव येति यस्य या वृष्येत्यर्थः–'जिस पुरुष के लिए जो स्त्री वृष्य है' इसका विवेचन यहाँ संक्षेप में किया गया है।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत संयोगशरमूलीय नामक प्रथम वाजीकरणपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥१॥

Scanned by CamScanner

वाजीकरणाध्याये द्वितीयः पादः ।

अथात आसिक्तक्षीरिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे आसिक्तक्षीरिक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–आसिक्तक्षीरिक वृष्यपाद के अभिधान का प्रसंग होने से पदान्त के विशिष्ट सम्बन्ध के आधार पर इसका अभिधान किया गया है । (असिक्तक्षीर पद इसमें है, इस आधार पर इस अध्याय का नामकरण 'आसिक्तक्षीरीय' किया गया है । वहाँ स्वार्थिक क प्रत्यय का प्रयोग हुआ है ।) अथवा ढक् प्रत्यय द्वारा वैशेषिक शब्द की तरह 'आसिक्तक्षीरिक' की सिद्धि होती है । ॥१-२॥

जल्पकल्पतरु–संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद की व्याख्या के अनन्तर वाजीकरण का प्रसंग होने से 'आसिक्तक्षीरीय वाजीकरणपाद का अभिधान किया जा रहा है । पाद के प्रारम्भ में 'आसिक्तक्षीरमिति' पदार्थ को अधिकृत करके वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे ।

विशेष–'आसिक्तक्षीरिक' के स्थान पर 'आसिक्तक्षीरीय' पाठ भी प्राप्त होता है । आचार्य चक्रपाणि ने दोनों की निरुक्तियों को यहाँ विशेष रूप से स्पष्ट किया है ।

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषष्टिकम् । उदूखले समापोथ्य पीडयेत् क्षीरमर्दितम् ।।३।।
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह । बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च ।।४।।
बलायाः शूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च । ऋद्ध्यर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च ।।५।।
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि । संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत्तत्र चावपेत् ।।६।।
तुगाक्षीर्याः समाषाणां शालीनां षष्टिकस्य च । गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः ।।७।।
सान्द्रीभूतं च कुर्यात् प्रभूतमधुशर्करम् । गुलि (टि) का बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत् ।।८।।
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः । पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम् ।।९।।

(इत्यपत्यकरी षष्टिकादिगुटिका ।)

अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका–सर्वप्रथम षष्टिशाली के नवीन तण्डुल (चावल), जो पूर्ण रूप से शुष्क न किये गये हों, को लेकर दूध (गो दुग्ध) में भिगो दें । पूर्ण रूप से तण्डुल के आर्द्र हो जाने के बाद उस फूले हुए तण्डुल को उखल में कूट लें एवं कल्कवत् बना लें । इस कल्क को एक स्वच्छ वस्त्र में रखकर पीडन करते हुए स्वरस निकालें । इस षष्टिशाली तण्डुल के स्वरस में, आत्मगुप्ता के बीज (कौंच बीज चूर्ण) डालकर पकावें, बाद में धनियाँ एवं उड़द के रस को डालकर क्रमशः पकावें । इसके बाद बला, सूपपर्ण्य, जीवन्ती, जीवक, ऋद्धि, ऋषभक, काकोली, गोखरू, यष्टीमधु, शतावरी, विदारीकन्द, द्राक्षा व खर्जूर; इन द्रव्यों के क्वाथ डालकर पकावें । जब कौंच बीज चूर्ण सम्यक् रूप से पक जाय, तब उसमें वंशलोचन चूर्ण, उड़द का चूर्ण, षष्टिशाली चावल का चूर्ण व गेहूँ के आटे को डालें, जिससे वह रस गाढ़ा हो जाय । अब इसमें मधु व शर्करा (चीनी) प्रभूत मात्रा में मिलाकर बेर के बराबर गोलियाँ बना लें एवं इसे घी में भून लें । इस गुटिका का प्रयोग व्यक्ति अपने अग्निबल के अनुसार करे । ऊपर से दूध एवं मांसरस युक्त भोजन करे । इस गुटिका के सेवन से व्यक्ति को विपुल (अत्यधिक) सन्तान की प्राप्ति होती है एवं वृद्ध होने पर भी उसके शुक्र का क्षय नहीं होता ।

चक्रपाणि–आसिक्तक्षीरमिति क्षीरसेकवृद्धं-षष्टिशाली तण्डुल क्षीर में डुबोने पर जलीयांश का अवशोषण करके वृद्ध हो जाती है । जतूकर्ण संहिता में भी यही कहा गया है, यथा-"क्षीरसेकवृद्धं षष्टिकं पक्वं" इत्यादि । **शुद्धषष्टिकमिति**-गौर वर्ण वाली साठी चावल । यहाँ बला, सूपपर्ण्य, जीवन्ती आदि द्रव्यों के क्वाथ पृथक्शः समान मात्रा में लेने का निर्देश है । अथवा इनकी संयुक्त मात्रा का ग्रहण किया गया है । इस प्रकार इन द्रव्यों के क्वाथ की संयुक्त मात्रा उड़द के क्वाथ के बराबर होनी चाहिए । प्रक्षेप द्रव्यों के मान को यहाँ 'यैः स सान्द्रीभवेद्रस इति' के द्वारा बताया गया है । जिसका अभिप्राय इन द्रव्यों का प्रमाण उतना होना चाहिए जितने से रस गाढ़ा हो जाय ।

प्रभूतत्वं मधुशर्करयोर्यावताऽत्यर्थमधुरत्वं स्यात्तावज्ज्ञेयम्–मधु एवं शर्करा उतनी ही मात्र में लेना चाहिए, जितने से वह खूब मीठा हो जाय । यहाँ प्रयोग का ही यह प्रभाव है कि गुटिका को घृत में भूनना विरोधी नहीं है । अर्थात् मधु-मिश्री से संयुक्त (बने हुए) गुटिका का घृत में भञ्जन (भूनना) अग्नि-संयोग विरोधी नहीं होता । सुश्रुतसंहिता में भी त्रिफला अयस्कृति निर्माण में अग्नि-संयोग का प्राविधान है । **आत्मजमिति**-अत्यधिक हर्ष को उत्पन्न करने वाला । अर्थात् व्यक्ति वृद्ध होते हुए भी इस गुटिका के सेवन से अत्यधिक हर्ष के साथ मैथुन में प्रवृत्त होता है एवं उसके शुक्र का क्षय नहीं होता ।

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा । शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ।।१०।।
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि । षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं गोधूमकस्य च ।।११।।
एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा । पूपा धानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ।।१२।।
एषां प्रयोगाद्धक्ष्याणां स्तब्धेनापूरितरसा । शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ।।१३।।

(इति वृष्यपूपलिकादियोगाः ।)

Scanned by CamScanner

वृष्यपूपलिकादि योग–चटक, हंस, दक्ष (मुर्गा) मयूर एवं शिशुमार व नक्र के शुक्र को चिकित्सक एकत्र करे । इसमें गोघृत, वराह की वसा, गौरैया की वसा, साठी चावल का चूर्ण एवं गेहूँ का आटा, इन सभी द्रव्यों को एकीभाव (मिश्रित) कर पूपालिका (मालपूआ), शष्कुली (पापड़ अथवा एक प्रकार की पकी हुई रोटी) अथवा वर्तिका (वर्ति के आकार की रचना- सेवई आदि भक्ष्य) बनावें । अथवा इनसे और भी दूसरे प्रकार के भक्ष्य-पूप, धाना आदि भक्ष्यों को बनावें । इन के सेवन से व्यक्ति शुक्र से पूर्ण होकर ध्वजहर्ष के साथ अपनी इच्छानुसार अश्ववत् मैथुन करता है ।

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम् । शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत् प्रसृतोन्मितम् ।।१४।।
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत् प्रस्थावशेषितम् । शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत् प्रसृतैस्त्रिभिः ।।१५।।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च । तत् पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ।।१६।।
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति । नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ।।१७।।

(इत्यपत्यकरः स्वरसः ।)

अपत्यकर स्वरस–आत्मगुप्ताफल (केंवाच बीज), उड़द, खर्जूर, शतावरी, सिंघाड़ा तथा मुनक्का प्रत्येक द्रव्य एक-एक प्रसृति (८ तोले), दूध एक प्रस्थ (६४ तोला), जल एक प्रस्थ (६४ तोला) । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पकावें, जब दूध मात्र शेष रह जाय तब उसे एक साफ वस्त्र से छान लें । इस पके हुए दूध में शर्करा, वंशलोचन एवं नवीन घृत प्रत्येक एक-एक प्रसृत (८ तोला) मिला लें । इस स्वरस का प्रयोग मधु के साथ करें । पथ्य के रूप में साठी चावल के भात का सेवन करें । इस योग के सेवन करने से दुर्बलता को प्राप्त वृद्ध व्यक्ति भी पुत्रवान् हो जाता है एवं युवक की भाँति मैथुन में प्रवृत्त होता है ।

चक्रपाणि–दक्षः=मुर्गा । शुक्राणि इति-इससे यहाँ (वृष्यपूपलिकादि योग में) चटक, हंस, मुर्गे एवं मोर के शुक्र को एकत्र करने का निर्देश दिया गया है, फिर भी ऐसा करना संभव न होने के कारण समान गुण युक्त होने से इनके अण्डों का यहाँ ग्रहण किया गया है ।

वर्तिका वर्त्याकारा भक्ष्या–वर्ति के आकार का भक्ष्य पदार्थ । धाना इति धानाकारा भक्ष्याः-धाना के आकार का भक्ष्य पदार्थ ।

अयं तुल्यद्रव्यतया विविधभक्ष्यरूपोऽप्येक एव योगः–समान द्रव्यों द्वारा विविध भक्ष्यों का होना, एक योग स्वीकार किया गया है । ॥१४-१७॥

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां च शतावरीम् । खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम् ।।१८।।
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत् सलिलाळके । तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत् ।।१९।।
क्षीरशेषेणा तेनाद्याद् घृताळ्यं षष्टिकौदनम् । सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः ।।२०।।

(इति वृष्यक्षीरम् ।)

वृष्य क्षीर–खर्जूरी का मस्तक (-खर्जूर का बाल जिससे ताड़ी निकलती है), उड़द की दाल, पयस्या (क्षीर काकोली), खर्जूर, यष्टीमधु, मृद्वीका एवं अजडा (केंवाच) का बीज; प्रत्येक द्रव्यों का मान एक-एक पल (४ तोला) ग्रहण करें । उपर्युक्त द्रव्यों का १ आढ़क (२५६ तोले) जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष रहने पर उसमें एक प्रस्थ (६४ तोले) दूध (गोदुग्ध) डालकर पाक करें । दुग्ध मात्र अवशेष बचने पर अग्नि पर से उतार कर ठण्डा करके छान लें । इस वृष्य क्षीर का प्रयोग शर्करा के साथ घृत मिश्रित साठी चावल के भात के साथ करें । यह योग अत्यन्त वृषता उत्पादक है ।

चक्रपाणि–अजडा शूकशिम्बी (केंवाच बीज)

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम् । खर्जूरं मधुकं द्राक्षा पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।।२१।।
शृङ्गाटकं विदारीं चनवं सर्पिः पयो जलम् । सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम् ।।२२।।
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम् । वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ।।२३।।

(इति वृष्यघृतम् ।)

वृष्यघृत–जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, श्रावणी द्वय (मुण्डी एवं महामुण्डी), खर्जूर, यष्टीमधु, द्राक्षा, पिप्पली, विश्वभेषज (सोंठ), सिंघाड़ा, विदारीकन्द इन द्रव्यों का कल्क, दूध एवं जल के साथ गोघृत को सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत में चौथाई (चतुर्थांश) मधु व शर्करा मिलावें । इस घृत का प्रयोग षष्टि साली चावल के भात के साथ अग्नि बल का विचार करते हुए मात्रा पूर्वक करें । यह घृत अत्यन्त बल्य, वृष्य, वर्ण्य, कण्ठ्य एवं बृंहण है ।

चक्रपाणि–जीवक से लेकर विदारीकन्द तक के द्रव्यों का कल्क बनावें, कल्क, क्षीर एवं जल के साथ घृत को सिद्ध करें ॥२१-२३॥

विशेष (Comments)–इस योग में कल्क की मात्रा घृत का चतुर्थांश एवं क्वाथ (जल) की मात्रा चतुर्गुण होनी चाहिए । दूध का प्रमाण घृत का चौगुना ग्रहण करें । आचार्य गंगाधर के अनुसार-

कल्क घृत का १/४ भाग, जल घृत का तीन गुना, दूध घृत के बराबर मिलाकर पकावें, घृत के सिद्ध होने पर उसमें घृत का चतुर्थांश (१/८ भाग+१/८ भाग) भाग शर्करा+मधु मिलावें, पश्चात् सम्यक् मिश्रित कर सुरक्षित रख लें ।

Scanned by CamScanner

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसन्निभं दोषवर्जितम् । शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान् ।।२४।।
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे । मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने ।।२५।।
पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम् । वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते ।।२६।।

(वृष्यो दधिसरप्रयोगः ।)

वृष्य दधिसर प्रयोग–शरद्कालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ, दोष रहित दधिसर (दही की मलाई) का ग्रहण करें । इसमें शर्करा, मधु, कालीमिर्च व वंशलोचन का चूर्ण युक्ति पूर्वक मिला लें, तत्पश्चात् छोटी इलायची का चूर्ण मिलावें । इन द्रव्यों से मिश्रित दधिसर को हाथ से मसलकर एक नवीन मिट्टी के घड़े में कपड़े से छान लें । इसे घृत मिश्रित साठी चावल के भात में मिला दें । अथवा साठी चावल जो घृत मिश्रित है, के साथ मिलाकर इस दधिसर का सेवन करें, ऊपर से अर्थात् बाद में दधिसर (रसाला) का पान करें । इसके सेवन करने से व्यक्ति के बल, वर्ण, स्वर एवं मैथुन क्षमता की अत्यन्त वृद्धि होती है ।

चक्रपाणि–युक्तेति-युक्ति पूर्वक, मरिच आदि द्रव्यों का उतना ही प्रयोग करना जिससे स्वाद बना रहे । **मार्जितमिति**-अच्छी प्रकार से मसलकर । रसाला के लक्षणों का विवेचन यहाँ इस प्रकार किया गया है, यथा–"सचातुर्जातकाजाजि सगुडार्द्रकनागरम् । रसाला स्याच्छिखरिणी सुघृष्टं ससरं दधि" इति ।

[दधिसर को अच्छी प्रकार से मसल कर एक साफ कपड़े में छान लें तथा उसमें इलायची, दालचीनी, तेजपत्र एवं कालीमिर्च का चूर्ण मिला लें, पश्चात् गुड़ या चीनी का चूर्ण मिलाकर अच्छी प्रकार से मथ लें । इसे ही रसाला या सिखरिणी (श्रीखण्ड) कहते हैं ।] ॥२४-२६॥

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम् । शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते ।।२७।।

(इति वृष्यः षष्टिकौदनप्रयोगः ।)

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम् । युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च ।।२८।।
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः । य इच्छेदश्ववद्गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः ।।२९।।

(इति वृष्यपूपलिकाः ।)

वृष्य षष्टिकौदन प्रयोग–चन्द्रमा के किरणों के समान श्वेत, घृत मिश्रित साठी चावल के भात को शर्करा एवं मधु मिश्रित दूध के साथ नित्य खाने पर व्यक्ति मैथुन शक्ति से अत्यधिक युक्त हो जाता है । अर्थात् यह योग अत्यधिक वृषता उत्पादक है ।

वृष्यपूपलिका–जो व्यक्ति अश्व के समान मैथुन में प्रवृत्त होना चाहता है अथवा हाथी की तरह अत्यधिक शुक्रस्राव का इच्छुक है, उसे मुर्गे एवं नक्र (घड़ियाल) के अण्डे के रस को घृत में भूनकर, उसमें साठी चावल का आटा मिलाकर या घृत से भुने हुए अण्डे में साठी चावल के आटे को मिलाकर मसल लें एवं आटे को अच्छी तरह घृत मिलाकर माड़ लें, पश्चात् उसे घी में छानकर पूड़ी तैयार कर लें । इस पूड़ी को खाकर ऊपर से वारुणी मण्ड का पान करें ।

चक्रपाणि–चन्द्रांशुकल्पमिति अत्यर्थशुक्लम्-अत्यधिक श्वेत वर्ण का । ॥२७-२९॥

भवतश्चात्र–

एतैः प्रयोगैर्विधिवद्वपुष्मान् वीर्योपपन्नो बलवर्णयुक्तः । हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो भवेत् समर्थश्च वराङ्गनासु ।।३०।।
यद्यच्च किञ्चिन्मनसः प्रियं स्याद्रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः । इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम् ।।३१।।

वाजीकरण योगों का वैशिष्ट्य–इन वृष्य योगों के विधि पूर्वक सेवन करने से व्यक्ति का शरीर कान्तियुक्त, वीर्य सम्पन्न एवं बल-वर्ण से युक्त हो जाता है । वह व्यक्ति हर्ष युक्त होकर ८ वर्ष के अश्व के समान वेग युक्त होकर मैथुन में प्रवृत्त होता है तथा वरांगनाओं के साथ संयोग में समर्थ रहता है । ॥३०॥

वाजीकरण-विहार–अन्य द्रव्य जो मन को प्रिय हो, यथा- रमणीय वन, नदियों का तट, सुन्दर पर्वतों की चोटियाँ, इष्ट स्त्रियाँ (ऐसी स्त्री जो मनोनुकूल हो), आभूषण, गन्ध द्रव्य एवं मालायें तथा प्रिय मित्र मण्डली; ये सभी वृषता उत्पादक हैं । ॥३१॥

चक्रपाणि–अत्र योग्यमिति-वृष्य प्रयोग में समर्थ हैं, अर्थात् ऊपर निर्दिष्ट विहार वृष्य गुण को बढ़ाते हैं ।

तत्र श्लोकः–

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः । अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः ।।३२।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये आसिक्तक्षीरिको नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः ।।२।।

पादोक्त विषयों का उपसंहार–जो पुरुष सन्तानोत्पत्ति एवं शुक्र वृद्धि की इच्छा रखते हैं, उन्हें आसिक्तक्षीरीय वाजीकरण-पाद में वर्णित आठ योगों का प्रयोग करना चाहिए ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहिता के चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत 'आसिक्तक्षीरिक' नामक द्वितीय वाजीकरणपाद का विवेचन पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–पौरुषार्थिभिरिति-शुक्र वृद्धि की इच्छा रखने वाले । अर्थात् शुक्राल्पता वाले रोगी इस पाद में वर्णित योगों का प्रयोग करें ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत आसिक्तक्षीरिक नामक द्वितीय वाजीकरणपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥२॥

●

Scanned by CamScanner

वाजीकरणाध्याये तृतीयः पादः ।

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–माषपर्णभृतीय का भी नामकरण पूर्वोक्त अध्यायों के नामकरण की तरह है ।

['माषपर्णभृतामिति' पद का प्रयोग अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है, उसी को अधिकृत करके इस पाद की व्याख्या की गयी है ।-जल्पकल्पतरु]

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम् । समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान् ।।३।।
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम् । इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत् ।।४।।
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा । शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ।।५।।

तीन प्रकार के वृष्य गो दुग्ध–ऐसी गाय जो उड़द के पत्ते या उड़द खाकर पुष्ट हो अथवा इक्षु के पत्ते (गेंडे) को खाकर पुष्ट हो अथवा अर्जुन के पत्तों द्वारा पुष्ट हो, पहली बार की ब्यायी हुई हो, जिसके चार स्तन हों, अपने समान वर्ण युक्त जिसके पुत्र हों अर्थात् उसका बछड़ा उसी जैसा हो, जीवित वत्स वाली हो (जिसका बछड़ा जीवित हो), गाय का वर्ण लाल अथवा काला हो, जिसका सींग ऊपर की ओर हो, लेकिन भयानक न हो अर्थात् गाय मारने वाली न हो तथा जिसका दूध गाढ़ा हो; ऐसी गाय को अपने पास रखें । ऐसी गाय के धारोष्ण दूध अथवा गरम करके ठण्डा किये हुए हुए दूध में शर्करा, मधु एवं घृत मिलाकर पीने से वृष्य गुणों की वृद्धि होती है । अर्थात् यह योग अत्यन्त वृषता उत्पादक है ।

चक्रपाणि–**गृष्टिम् एकवारप्रसूताम्**-एक बार प्रसूत हो । **चतुः स्तनीमित्यनेन**-जिसके चारों स्तन सामान्य हों, यद्यपि गाय के चार स्तन होते ही हैं । यहाँ स्तनों में किसी प्रकार की विकृति न हो, यह स्पष्ट किया गया है । **रोहिणीमिति**-गाय का वर्ण लाल हो । **ऊर्ध्वशृंगत्वं विशुद्धबहुक्षीराया एव भवतीति वचनाज्ज्ञेयम्**- ऊर्ध्व सींग वाली गाय विशुद्ध एवं अधिक दूध देने वाली होती ही है, इस वचन से यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

इक्ष्वादेति–इक्षु दण्ड (ईख) का भक्षण करने वाली ।

अर्जुनादा–अर्जुन वृक्ष के पत्ते को खाने वाली ।

माषपर्णभृता वेति–अथवा उड़द (माष) के पत्ते को खाने वाली । यहाँ आहार के अनुसार गाय के तीन विकल्प दिये गये हैं–

१. उस गाय का दूध जो इक्षु दण्ड को खाकर पुष्ट हो । २. अथवा वह गाय जो अर्जुन वृक्ष के पत्ते को खाकर पुष्ट हो । ३. अथवा उड़द के पत्ते (या उड़द) खाकर पुष्ट हो, ऐसी गाय का दुग्ध अत्यन्त वृषता उत्पादक होता है ।

पयः शृतमशृतं वेति द्वौ योगौ–त्रिविध प्रकार के आहारों से पुष्ट एवं उपर्युक्त गुणों (लक्षणों) वाली गाय का ताजा दुग्ध अथवा गरम किया हुआ दुग्ध पुंसत्ववर्धक होता है । यहाँ धारोष्ण दुग्ध एवं उष्ण (Boiled) दुग्ध के आधार पर दो योग हो जाते हैं । तीसरा योग दूध में शर्करा, मधु एवं घृत के संयोग से बनता है । आचार्य जतूकर्ण भी इस विचार से सहमत हैं, यथा-**''तस्याः क्षीरं शर्कराक्षौद्रयुक्तं वा केवलं शृतमशृतं वा''** इति [उस गाय के दुग्ध में शर्करा व मधु मिलाकर प्रयोग करना, अथवा मात्र धारोष्ण दुग्ध का प्रयोग करना अथवा उबाले (Boiled) हुए दूध का प्रयोग अत्यन्त कामोद्दीपक होता है ।] ॥३-५॥

शुक्रलैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः । क्षीरसंजननैश्चैव पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ।।६।।
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम् । पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ।।७।।

क्षीर के पाँच प्रयोग–१. शुक्रल अर्थात् शुक्रजनन वर्ग यथा- जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (वनमूंग), माषपर्णी (वन उड़द), मेदाकन्द, वृद्धरुहा (शतावरी), जटिला (जटामांसी), कुलिङ्ग (मुस्तक-एक प्रकार का मोथा घास अथवा नागरमुस्तक ।)

२. **जीवनीय वर्ग, यथा**–जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, (वन मूंग), माषपर्णी (वन उड़द), जीवन्ती तथा यष्टीमधु (मुलेठी) ।

Scanned by CamScanner

३. **बृंहणीय वर्ग, यथा**–क्षीरिणी, राजक्षवक, अश्वगंधा, काकोली, क्षीरकाकोली, वाट्यायनी (श्वेतबला), भद्रौदनी (पीतबला), भारद्वाजी (वन कर्पास), पयस्या (विदारीकन्द) एवं ऋष्यगंधा ।

४. **बल्य वर्ग**–ऐन्द्री (गोरक्ष कर्कटी), ऋषभी (कैंवाच बीज), अतिरसा (शतावरी), माषमर्णी, विदारीकन्द, अश्वगंधा, शालपर्णी, रोहिणी, बला, अतिवला ।

५. **क्षीरजननवर्ग**–वीरण, शालि, षष्टि, इक्षुवालिका, दर्भ, कुश, कास, गुन्द्रा, इत्कट तथा कतृणमूल । उपर्युक्त वर्गों में से किसी एक वर्ग में पठित द्रव्यों द्वारा दुग्ध को सिद्ध करें । सिद्ध दुग्ध में गेहूँ का आटा (wheat flour), गोघृत, मधु व शर्करा मिलाकर प्रयोग करें । अथवा उपर्युक्त गणों (वर्गों) में पठित द्रव्यों द्वारा दुग्ध को पृथक्श: (अलग-अलग) सिद्ध करें (एक ही दुग्ध को ५ बार सिद्ध करें) । अब इस सिद्ध दुग्ध में गेहूँ का आटा, घृत, मधु व शर्करा मिलाकर, शुक्र वृद्धि के इच्छुक पुरुष सेवन करें । इस योग के सेवन करने से शुक्र की अत्यधिक वृद्धि होती है ।

चक्रपाणि–पर्यायेणेति पृथक्-पृथक् प्रयोक्तव्यम्-अलग-अलग प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार पाँच गणों द्वारा ५ योगों का निर्माण हो जाता है ।

विशेष–यहाँ दूध के दो प्रकार के प्रयोग बताये गये हैं–

१. दूध को अलग-अलग वर्गों द्वारा पृथक्श: सिद्ध करके उसमें गेहूँ का आटा, चीनी, मधु मिलाकर प्रयोग करना ।

२. एक-एक वर्गों द्वारा दुग्ध को सिद्ध कर उसमें शर्करादि मिलाकर प्रयोग करना । इस आधार पर पाँच योगों का निर्माण होता है ।

मेदा पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम् । श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमाञ्छालिषष्टिकान् ।।८।।
पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते । विवर्जयेत् पयःशेषं तत् पूतं क्षौद्रसर्पिषा ।।९।।
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः सप्ततिकोऽपि वा । विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति ।।१०।।

अपत्यकर क्षीर योग–मेदा, क्षीरकाकोली, जीवन्ती, विदारीकन्द, कण्टकारी, गोखरू, क्षीरिका (दुग्धिका), माष चूर्ण (उड़द का आटा), गेहूँ का आटा, साठी चावल का चूर्ण, प्रत्येक द्रव्य एक-एक कर्ष (१ तोला) लें, दूध आधा आढ़क (१२८ तोला) तथा जल एक आढ़क (२५६ तोला) लें । इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पकावें, मात्र दूध अवशेष बचने पर अग्नि पर से पात्र को उतार कर एक स्वच्छ वस्त्र से दूध को छान लें । इस सिद्ध दुग्ध में मधु, घृत व शर्करा मिलाकर पीवें । इसके सेवन से सत्तर वर्ष का वृद्ध व्यक्ति भी सन्तान युक्त हो जाता है तथा युवक की भाँति हर्षित होकर मैथुन में प्रवृत्त होता है ।

चक्रपाणि–विवर्जयेत् इति-मेदादि द्रव्यों के कल्क को छानकर निकाल दें, मात्र दूध शेष रखें । वृद्ध पुरुष से अभिप्राय-यहाँ सत्तर वर्ष से पूर्व की आयु का ग्रहण है, क्योंकि सत्तर वर्ष से अधिक की आयु में शुक्र निर्माण की प्रक्रिया बन्द हो जाती है, ऐसा कहा गया है । फिर भी वृष्य द्रव्यों के प्रभाव से शुक्र निर्माण होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

विशेष (Comments)–अपत्यकर क्षीर का निर्माण इस प्रकार करना चाहिए–

१. **कल्क द्रव्य**–मेदा, पयस्या, जीवन्ती, विदारीकन्द, कण्टकारी (भटकटैया), गोखरू, दुद्धी, उड़द, गेहूँ, साठी चावल; प्रत्येक द्रव्य एक-एक तोला लेकर कल्क बना लें ।

२. **दूध**–१/२ आढ़क (१२८ तोला)

३. **जल**–१ आढ़क (२५६ तोला)

विधि–सर्वप्रथम एक पात्र में उपर्युक्त द्रव्यों को डालकर मन्दाग्नि पर पाक करें । पकते-पकते जब दूध मात्र शेष रहे तो उस पात्र के कल्क द्रव्य बाहर निकालकर, दूध को एक स्वच्छ वस्त्र से छान लें । इस छने हुए दुग्ध में घृत, शर्करा व मधु डालकर पीवें ।

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम् । अपत्यजननं सिद्ध सघृतक्षौद्रशर्करम् ।।११।।

अपत्यकर क्षीर योग–स्वर्ण के एक सिक्के को उस गाय के दूध में पकावें, जो उड़द के पत्ते, ईख या अर्जुन के पत्ते को खाकर पुष्ट हुई हो । इस सिद्ध क्षीर में घृत, मधु व शर्करा डालकर पीवें । यह योग पुत्रोत्पादक योग है ।

चक्रपाणि–जातरूपस्येति-स्वर्ण के, स्वर्ण की मण्डल रूप आकृति प्रभाव से वृष्य प्रयोग में उपयोगी है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

तस्या एव पयः शृतम्–ऐसी गाय जो माषपर्ण, अर्जुन एवं इक्षु दण्ड खाकर पुष्ट हो, उसके दूध का यहाँ ग्रहण है । ।।११।।

त्रिंशत् सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः । भृष्टाः सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः ।।१२।।

Scanned by CamScanner

पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा । भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति ना क्षरत् ।।१३।।
(इति वृष्यः पिप्पलीयोगः ।)

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे । घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः ।।१४।।
(इति वृष्यपायसयोगः ।)

वृष्य पिप्पली-योग–अच्छी प्रकार से महीन पीसी हुई ३० पिप्पली का चूर्ण लेकर एक-एक पल तिल तेल एवं गोघृत में भून लें। अब इस भुने हुए पिप्पली चूर्ण में १ पल (४ तोला) शर्करा, १ पल (४ तोला) मधु मिलाकर धारोष्ण दूध (उस गाय का धारोष्ण दूध जो अर्जुन आदि के पत्तों को खाकर पुष्ट हुई है ।) के साथ पीवें । औषधि के पच जाने पर घृत मिश्रित साठी चावल के भात को दूध के साथ सेवन करें । इस योग के सेवन करने से व्यक्ति का शिश्न (लिङ्ग) रात भर स्त्री-सेवन के बाद भी शिथिल नहीं होता ।

वृष्यपायस-योग–गोखरू एवं विदारीकन्द के क्वाथ में चौगुनी मात्रा में (चतुर्गुण) दूध मिला लें । इस दूध में यथोचित मात्रा में गोघृत मिलाकर, उड़द एवं षष्टि चावल डालकर खीर बना लें । यह खीर अत्यन्त वृष्य होता है ।

चक्रपाणि–प्रकुञ्च=पल (१ पल=४ तोला) ।

क्षीरधारावदोहिता इति-पिप्पलीकल्क के ऊपर धारोष्ण दूध डालकर सेवन करें । क्षीर (दूध) का प्रमाण उतना होना चाहिए जितने से पिप्पली पीने योग्य हो जाय । ।।१२-१४।।

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम् । कुडवश्चूर्णितानां स्यात् स्वयङ्गुप्ताफलस्य च ।।१५।।
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः । गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ।।१६।।
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत् सर्वं क्षीरमर्दितम् । पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्वयः स्युर्यस्य योषितः ।।१७।।
(इति वृष्यपूपलिकाः ।)

वृष्य पूपलिका–जीवनीय वर्ग में पठित फलों-जो रुचिकर एवं स्निग्ध हों, का चूर्ण-१ कुड़व (४ पल=१६ तोला), केंवाच के बीज का चूर्ण-१ कुड़व (४ पल), उड़द की दाल का चूर्ण-१ कुड़व (४ पल=१६ तोला), तिल चूर्ण-२ कुड़व (८ पल), मूंग का चूर्ण २ कुड़व (८ पल), गेहूँ चूर्ण (आटा) १ कुड़व (४ पल), साठी चावल का आटा ४ पल, गोघृत ४ पल । इन सभी द्रव्यों को एक पात्र में मिलाकर उसमें दूध डालकर अच्छी तरह मिला लें । इस आटे से पूपलिका (पूआ) तैयार करें । इस पूपलिका का सेवन अपने अग्नि-बल के अनुसार वे व्यक्ति करें, जिनके पास अधिक स्त्रियाँ हों । अर्थात् इस पूपलिका के सेवन करने से पुरुष अत्यधिक वेगवान होकर मैथुन करने में समर्थ हो जाता है । ।।१५-१७।।

चक्रपाणि–'फलानामित्यादि'-के द्वारा वृष्यपूपलिका योग का अभिधान किया जा रहा है । **फलानामिति**-इस शब्द का सम्बन्ध 'जीवनीयानां', स्निग्धानां तथा रुचिकारिणां, तीनों के साथ है ।

जीवनीयानामिति-षट्क कषाय वर्ग में पठित जीवक, ऋषभक आदि दस द्रव्यों के फलों का ग्रहण किया गया है । 'स्निग्धानामिति' से स्नेहोपग द्रव्यों, यथा-मृद्विका आदि १० द्रव्यों जो सप्तक कषाय वर्ग में पठित हैं, का ग्रहण किया गया है । 'रुचिकारिणामिति' से चतुष्क कषाय वर्ग में वर्णित आम्रादि दस हृद्य द्रव्यों का ग्रहण किया गया है ।

अर्थात् इन वर्गों में पठित द्रव्यों के सूखे फलों के चूर्ण मिलित रूप से १ कुड़व (४ पल=१६ तोला) ग्रहण करना चाहिए ।

अन्यदतिरोहितार्थम्-अन्य के अर्थ स्पष्ट हैं । इस योग को जतूकर्ण संहिता में इस रूप में पढ़ा गया है, यथा-"द्राक्षाखर्जूरमाषाजडागोधूमशालिघृतानां कुड़वः; तिलमुद्गौ द्विकौडविकौ चूर्णयित्वा" इत्यादि ।

घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत् । शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ।।१८।।
(इति वृष्यं शतावरीघृतम् ।)

वृष्य शतावरी घृत–सम्यक् गुण युक्त शतावरी को लेकर, उसे दस गुने दूध में पकावें तथा इस दूध में घृत सिद्ध करें । घृत सिद्ध हो जाने पर उसमें शर्करा, पिप्पली एवं मधु डालकर प्रयोग करें । यह घृत अत्यन्त वृष्य होता है ।

चक्रपाणि–'घृतं शतावरीत्यादौ' के द्वारा शतावरी घृत को बताया गया है । इस घृत में शर्करा आदि द्रव्यों का प्रयोग घृत के चतुर्थांश मात्रा में करना चाहिए । घृत की मात्रा एक प्रस्थ (६४ तोले) सिद्ध करना चाहिए । ।।१८।।

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम् । प्रयुङ्क्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ।।१९।।
(इति वृष्यमधुकयोगः ।)

Scanned by CamScanner

वृष्य मधुक योग–यष्टीमधु (मुलेठी) चूर्ण, घृत, मधु सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लें । प्रत्येक द्रव्य का मान १-१ कर्ष (१-१ तोला) ग्रहण करें । सभी को मिलाकर नित्य प्रयोग करें, ऊपर से क्षीर पान करें । इस योग के सेवन से व्यक्ति नित्य वेग के साथ स्त्री-संयोग में प्रवृत्त होता है ।

चक्रपाणि–कर्षमित्यादिकान्ताः पञ्चदश प्रयोगाः-कर्षमिति तक १५ वृष्य योगों की संख्या पूर्ण हो जाती है । ॥१९॥

विशेष–इस योग में सभी द्रव्यों की मात्रा १-१ कर्ष (१-१ तोला) ली गयी है । अर्थात् पूरी मात्रा ३ कर्ष (३ तोला) की हुई । यह मात्रा ३ तोला नित्य ग्रहण करने के बाद, ऊपर से दूध पीने का विधान है । ऊपर निर्धारित मात्रा बलवान पुरुष के लिए है, मध्यम एवं अवर बल के लिए इसमें यथावश्यक परिवर्तन किया जा सकता है ।

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो युवा । सङ्कल्पपवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ।।२०।।
कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योऽन्यानुवर्तिनः । कलासु कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये ।।२१।।
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः । ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः ।।२२।।
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः । तैर्नरः सह विस्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ।।२३।।
अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः । गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ।।२४।।
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः । संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ।।२५।।

अन्य वाजीकरण आहार-विहार–जो पुरुष नित्य दूध एवं घृत का सेवन करते हों, जो भय एवं व्याधि रहित हो, नित्य पैदल चलते हों, जो युवा हो तथा जो नित्य मैथुन का संकल्प लिए रहते हैं, ऐसे व्यक्ति स्त्रियों के साथ वेग से प्रवृत्त होते हैं ।

जो लोग समान कार्यों को करने वाले हैं, जिनके सभी विषय सिद्ध हो जाते हैं, अर्थात् उनके कार्य इच्छानुसार हो जाते हों, जो एक-दूसरे का साथ देने वाले हों अर्थात् ऐसे मित्र जो एक-दूसरे का अनुगमन करने वाले हों, जो सर्वगुण सम्पन्न हों, जो सत्त्व एवं अवस्था में समान हों, जो कुल, महात्म्य, दाक्षिण्य (चातुरता), शील एवं शौच से युक्त हों, जो नित्य कामी हों, जो सदा प्रसन्न रहते हों, जो शोक रहित हों तथा जिन्हें किसी प्रकार की व्यथा न हो, जो तुल्य स्वभाव वाले हों, जो भक्त एवं प्रिय हों, जो प्रिय बोलते हों, ऐसे समान वय वाली मित्र मण्डली पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति मैथुन करने में पूर्ण समर्थ होता है ।

अभ्यंग, उत्सादन (उबटन), स्नान (Bath), गन्ध, माला एवं आभूषणों को धारण करना, सुखकर गृह (Comfortable home), शय्या एवं आसन, मनोनुकूल प्रिय वस्त्र, मनोहर पक्षियों की आवाज, इष्ट स्त्रियों द्वारा पहनी हुई आभूषणों की आवाज (प्रेमिका के गहनों की खनखनाहट) एवं इष्ट स्त्रियों के संवाहन व्यक्ति की मैथुन शक्ति को बढ़ा देते हैं । ॥२०-२५॥

चक्रपाणि–'घृतक्षीराशन इत्यादि' के द्वारा वृष्यत्व के इच्छुक पुरुष के आहार-विहार का वर्णन किया गया है । 'नित्यमित्यनेन' के द्वारा यह बताया गया है कि नित्य मैथुन करने से शुक्रवह स्रोतस् में किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता, परिणाम-स्वरूप व्यक्ति की मैथुन क्षमता बढ़ जाती है ।

कृतमेकं कृत्यं यैस्ते तथा, एतच्च अन्योऽन्यार्थरागकारणम्-ऐसे मित्र जो समान कार्य करने वाले हों, अर्थात् एक ही रुचि वाले हों, यह भी एक-दूसरे के प्रेम में कारण होता है ।

सिद्धार्था इति सिद्धसाध्या–जिनकी इच्छाएं पूरी हो जाती हों, अभिलाषा पूर्ण न होने पर व्यक्ति मन से दुःखी रहता है, व्याकुल मन की काम में प्रवृत्ति नहीं होती । (A Person whose mind is afflicted with grief, is not capable of sexual intercourse.)

वृषायत इति–उपचित शुक्र की प्रवृत्ति बाहर निकलने के लिए होना, अर्थात् मैथुनोत्तेजना ।

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः । जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ।।२६।।
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः । उन्नतिर्नीलमेघानां, रम्यचन्द्रोदया निशाः ।।२७।।
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगन्धिनः । रतिभोगक्षमा रात्र्यः सङ्कोचागुरुवल्लभाः ।।२८।।

ऐसा जलाशय जहाँ मत्त भौंरे गुञ्जार करते हों, पद्म युक्त जलाशय, शीतल गर्भगृह जो चमेली एवं उत्पल द्वारा सुगन्धित किया गया हो, ऐसी नदियाँ जिनकी धाराओं से फेन उठ रहा हो, नील वर्ण की चोटियों से युक्त पर्वत, नील वर्ण के मेघों से आच्छादित आकाश, रमणीय चाँदनी रात, कुमुदिनी की गन्ध युक्त सुख स्पर्श वाली वायु, रति भोग करने योग्य रात्रि (यहाँ रात्र्यः के स्थान पर नार्यः पाठ होने पर 'सुन्दर भोग्य नारी' अर्थ गृहीत होगा ।) तथा कुङ्कुम एवं अगरु के लेप की हुई सुन्दर स्त्रियाँ काम शक्ति को अधिक बढ़ाती हैं ।

चक्रपाणि–यहाँ 'मत्तद्विरेफाचरिताः' से प्रारम्भ कर 'गृहाणि च' तक उपयोगी होने से ऋतुविभाग के अनुसार निर्दिष्ट न होते हुए भी ग्रीष्म ऋतु चर्या का ही निर्देश किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् ऐसा जलाशय जिसमें मतवाले भौंरे भ्रमण करते हों, जो कमल युक्त हो तथा वह शीतल गर्भगृह (घर का अन्तः भाग) जो चमेली एवं उत्पल द्वारा सुगन्धित हो, में रहना या विलास करना वृषता उत्पादक

Scanned by CamScanner

होता है। 'नद्यः से लेकर मेघानां' तक प्रावृट् ऋतुचर्या का वर्णन है। 'रम्यः' से लेकर गन्धिनः तक शरद् ऋतुचर्या का विवेचन है। 'रतिभोगक्षमा' से लेकर 'वल्लभा' तक हेमन्त एवं शिशिर ऋतुचर्या का विवेचन किया गया है। 'सङ्कोचं' से केसर अर्थ लिया गया है।

सङ्कोचागुरुणोः समालभनार्थं वल्लभा यासु निशासु तास्तथा–अगरु एवं केशर का लेप लगायी हुई स्त्री के साथ संयोग करने पर व्यक्ति रात्रि भर मैथुन करने पर भी तृप्त नहीं होता। ॥२६-२८॥

सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः। गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च ॥२९॥
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य। वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम् ॥३०॥

तत्र श्लोकः–

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च। माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः ॥३१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः ॥३॥

कामोद्दीपक प्रकृति (वातावरण)–जहाँ सुख देने वाले सहायक हों, जहाँ कोकिल गान गाती हो, ऐसा बगीचा जो पुष्पों से भरा हुआ हो, इच्छानुसार विशद भोजन एवं पेय पदार्थ जहाँ प्राप्त होते हों, जहाँ गन्धर्वों के शब्द गुंजते हों, सुगन्धित पुष्पों को धारण करना, जो सत्त्व से उदार एवं उपद्रव रहित हो, जिसके इच्छित विषय पूर्ण हो जाते हों, नूतन कामेच्छा एवं स्त्री शरीर ये कामदेव के आयुध हैं, नूतन वय (युवावस्था), नवीन उत्पन्न मद तथा ऋतु के अनुसार कामवर्धक काल अर्थात् वसन्त ऋतु; उपर्युक्त सभी हेतु हर्ष में कारण हैं। अर्थात् इन हेतुओं के सेवन करने से व्यक्ति का मन प्रसन्न हो जाता है, जिसके कारण वह अत्यधिक हर्षित होता है। ॥२९-३०॥

उपसंहार–इस माषपर्णभृतीय नामक तृतीय वाजीकरणपाद में शुक्र एवं बलवर्धक पन्द्रह कामोद्दीपक योगों का वर्णन किया गया है। ॥३१॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में वाजीकरण अध्याय के अन्तर्गत माषपर्णभृतीय नामक तृतीय वाजीकरणपाद पूर्ण हुआ। ॥३१॥

चक्रपाणि–सुखा इत्यादि से जो ग्रन्थ में वाजीकरण विहार का उल्लेख किया गया है, वह वसन्त ऋतु का विवेचन होते हुए भी यहाँ विरुद्ध नहीं है, क्योंकि निर्दिष्ट ये सभी भाव काम प्रवृत्ति के वर्धक हैं। **आत्मजस्येति**-मन्मथस्य (प्रेम का)। **जातमदः कालो**=मदकाल (वसन्त आदि काल) ॥२९-३१॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान में वाजीकरणाध्याय के अन्तर्गत माषपर्णभृतीय नामक तृतीय वाजीकरणपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

वाजीकरणाध्याये चतुर्थः पादः ।

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे पुमाञ्जातबलादिक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ।।१-२।।

चक्रपाणि–पारिशेष्यात् पुमाञ्जातबलादिक उच्यते-वाजीकरण का अन्तिम पाद होने से सभी अवशिष्ट विषयों (वाजीकरण संबन्धित शेष विषयों) का अभिधान इस अध्याय में किया जा रहा है ।

पुमाञ्जातबलादयः शब्दा अस्मिन् विद्यन्त इति–'पुमाञ्जातबलादिक' शब्द इसमें विद्यमान है, अतः इस अध्याय को 'पुमाञ्जातबलादिक' कहा गया है । इस अध्याय का भी नामकरण 'आसिक्तक्षीरिक' की भाँति हुआ है । ।।१-२।।

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं स्त्रियो व्रजेत् । यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ।।३।।
न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः । बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ।।४।।
सन्ति चाल्पाश्रयाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः । प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ।।५।।
नराश्चटकवत् केचिद् व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् । गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ।।६।।
कालयोगबलाः केचित् केचिदभ्यसनश्रुवाः । केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः ।।७।।
तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान् । सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान् ।।८।।
पूर्वं शुद्धशरीराणां निरूहैः सानुवासनैः । बलापेक्षी प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ।।९।।
घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः । बस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम् ।।१०।।

विषय का प्रारम्भ–अब मैं उस विधि का विवेचन करूँगा जिसके पालन करने से व्यक्ति बलवान होकर (मैथुन शक्ति में बली होकर) अपनी इच्छानुसार स्त्रियों के साथ रमण कर सके तथा वह सद्यः (शीघ्र ही) पुत्रवान् हो जाय । अर्थात् इस अध्याय में वर्णित योग बलवर्धक एवं पुत्रोत्पादक हैं ।

शारीरिक बल एवं सन्तानोत्पत्ति–यह आवश्यक नहीं है कि जन्म से ही सभी लोग बलवान हों, यह भी जरूरी नहीं है कि सभी सन्तान युक्त हों । ऐसे भी लोग होते हैं जो शरीर एवं बल में बली हैं, लेकिन स्त्रियों के प्रति दुर्बल हैं । अर्थात् उनकी मैथुन क्षमता कम होती है । कुछ लोग ऐसे भी हैं जो शारीरिक रूप से दुबले एवं पतले (Physically lean and thin) होते हुए भी स्त्रियों के प्रति बलवान एवं अनेक सन्तान वाले होते हैं । कुछ व्यक्ति प्रकृति से दुर्बल होते हैं तथा कुछ लोग व्याधि के कारण दुर्बल होते हैं । कुछ पुरुष ऐसे होते हैं जो चटक के समान अनेक स्त्रियों के साथ गमन करने में समर्थ होते हैं तथा कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो बहुगामी (अनेक स्त्रियों के साथ संयोग में प्रवृत्त होना) न होते हुए हाथी के समान अत्यधिक शुक्र का स्राव करते हैं । अर्थात् ऐसा व्यक्ति अनेक स्त्रियों के साथ मैथुन नहीं कर सकता, लेकिन शुक्र का अत्यधिक स्राव करता है । कुछ व्यक्ति उचित काल (हेमन्त) में मैथुन करने में सक्षम होते हैं तथा कुछ पुरुष वाजीकरण योगों के सेवन द्वारा मैथुन करने के योग्य होते हैं तथा कुछ लोग अभ्यास से प्रवृत्त होते हैं, कुछ लोग वृष्य प्रयोग द्वारा मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तथा कुछ लोग स्वभावतः अधिक मैथुन सेवी होते हैं ।

इसलिए अब मैं उन योगों का विवेचन करूँगा, जो दुर्बल पुरुष के लिए बलवर्धक, मैथुन आनन्द को बढ़ाने वाले तथा बली पुरुषों के मैथुन बल को बढ़ाते हैं ।

संशोधन-प्रक्रिया–सर्वप्रथम व्यक्ति निरूह एवं अनुवासन वस्तियों के द्वारा शरीर का शोधन करे । इसके बाद बल का विचार करते हुए शुक्र एवं अपत्य वर्धक वाजीकरण योगों का प्रयोग करे । जो व्यक्ति दूध एवं मांसरस का सेवन प्रधान रूप से करते हैं, उन्हें घृत, तैल, मांसरस, दूध, चीनी (शर्करा) एवं मधु मिश्रित वस्तियों की योजना करनी चाहिए । ।।३-१०।।

चक्रपाणि–व्यक्ति शारीरिक रूप से बली होते हुए भी कोई आवश्यक नहीं है कि वह पुत्र युक्त हो, इसी का विवेचन यहाँ 'यथा जातबलः' कहते हुए भी 'यथा चापत्यवान् भवेत्' के द्वारा किया गया है । 'न हीत्यादि' के द्वारा उसके शुक्र वैचित्र्य को स्पष्ट किया गया है । 'न हि जातबलाः सर्वे' के द्वारा एक पक्ष को बताया गया है तथा 'नरा नापत्यभागिनः सर्वे' के द्वारा दूसरे पक्ष को स्पष्ट किया गया है । यहाँ शुक्र व बल के भेद का प्रसंग होने से अन्य शुक्र व बल के वैशिष्ट्य को 'बृहच्छरीरा इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । अल्पाश्रया का अभिप्राय अल्प शरीर (शारीरिक रूप से दुबले-पतले आदमी) का ग्रहण है । ऐसे लोग शुक्रसार होने से मैथुन शक्ति में बली एवं अनेक सन्तानों से युक्त होते हैं । **गजवत् प्रसिञ्चन्तीति शुक्रं बहु विसृजन्ति**-कुछ लोग हाथी की तरह अत्यधिक मात्रा में शुक्र का स्राव करते हैं । कुछ लोग

Scanned by CamScanner

काल योग (हेमन्तादि काल) के सम्बन्ध से व्यवाय (मैथुन) करने में बली होते हैं। अर्थात् इन कालों में व्यक्ति की मैथुन क्षमता (Sexual power) बढ़ जाती हैं।

अभ्यसन ध्रुवा इति-कुछ लोग व्यवाय के अभ्यास के कारण व्यवाय में कुशल होते हैं। इसी प्रकार कुछ लोग वृष्य प्रयोग से स्त्रियों में प्रवृत्त होते हैं।

सुखोपभोगानिति सुखानुष्ठानान्-जिनका सेवन सुख पूर्वक किया जा सके। अर्थात् ऐसे योग जिनका उपभोग सुख-पूर्वक किया जा सके।

निरूहानुवासनशुद्धानां वृष्यप्रयोगाः फलदाभवन्तीति निरूहानुवासनाभिधानम्-निरूह एवं अनुवासन वस्तियों द्वारा शुद्ध शरीर में वृष्य द्रव्यों का प्रयोग करना फलदायी होता है, इसलिये निरूह एवं अनुवासन का यहाँ अभिधान किया गया है। (यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वाजीकरण द्रव्यों के सेवन से पूर्व वमन-विरेचन उपक्रम न कराकर निरूह एवं अनुवासन वस्तियों द्वारा ही व्यक्ति का शोधन कराना चाहिए। तत्पश्चात् वाजीकरण योगों का प्रयोग करें।) ॥३-१०॥

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्यवे। कोलवह्निकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि वर्तयेत् ॥११॥
वर्तनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे। घृताढ्ये गन्यपिशुने दधिदाडिमसारिके ॥१२॥
यथा न भिन्द्याद्वलि (टि) कास्तथा तं साधयेद्रसम्। तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥१३॥
मांसानामेवमन्येषां मेद्यानां कारयेद्भिषक्। गुटिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः ॥१४॥

(इति वृष्या मांसगुटिकाः।)

वृष्य मांसगुटिका-वराह (सूअर) के मांस को सील पर अच्छी प्रकार पीस लें एवं उसमें कालीमिर्च एवं सैन्धव नमक मिलाकर बेर के बराबर गोली बना लें। इस गुटिका को तप्त गोघृत में तल लें। गुटिका को इस प्रकार भुनें कि वह टूटने योग्य न रहे। इस गुटिका को घृत पूरित एवं दधि, दाडिम के रस तथा गन्ध द्रव्यों से संस्कारित मुर्गे के मांस रस में डालें। इस मांसरस को इस प्रकार पकावें कि गुटिका टूटने न पाये। जो व्यक्ति इस गुटिका को खाकर तदाश्रित मांसरस को पीता है, वह अक्षय शुक्र को प्राप्त करता है। अर्थात् बार-बार मैथुन करने पर भी उसके शुक्र का क्षय नहीं होता। इसी प्रकार दूसरे मेदस्वी प्राणियों के मांस की गुटिका बनाकर उनके मांसरस के साथ प्रयोग करने से शुक्र की अत्यधिक वृद्धि होती है।

चक्रपाणि-वर्तनस्तम्भिता इति वर्तनेन कठिनीकृताः-गोली को घृत में थोड़ा देर तक तलें जिससे पक कर कड़ी (Hard) हो जाय।

दधिदाडिमरसाभ्यां संस्कृतं दधिदाडिमसारिकम्-कुक्कुट के मांसरस को दधि एवं दाडिम स्वरस द्वारा संस्करित करना, इस प्रकार संस्कारित मांसरस में गुटिका को डालकर पकावें, सम्यक् सिद्ध होने पर उसका प्रयोग करें।

दाडिमसारश्च दाडिमरसः-दाडिम (अनार) सार से अनार के रस का ग्रहण किया गया है।

मांसानामिति-इसी प्रकार दूसरे मेदस्वी प्राणियों के मांस से वृष्य गुटिका का निर्माण करना चाहिए। **अतिदेशयोगो द्वितीयः**-अतिदेश से अन्य योगों को बताया गया है। [अतिदेश का अभिप्राय एक ही प्रक्रिया को अन्य स्थानों पर अपनाने से है।]

मेद्यानामिति-मेदस्वी प्राणियों के। ॥११-१४॥

माषानङ्कुरिताञ्छुद्धान् वितुषान् साजडाफलान्। घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके ॥१५॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तो धान्यजीरकनागरैः। भुक्तः पीतश्च स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम् ॥१६॥

(इति वृष्यो माहिषरसः।)

वृष्यमाहिषरस-अङ्कुरित माष (उड़द) के छिलके निकाले हुए दाने-एक भाग, एवं केवाच के बीज को भिगोकर, फूल जाने पर छिलका निकाल लें-एक भाग लें। अब इन दोनों द्रव्यों को घृत युक्त माहिष (भैंस) के मांसरस, जिसमें दधि एवं अनार के रस मिश्रित हों, में डालकर अग्नि पर पकावें। सम्यक् पाक होने पर उसमें यथावश्यक मात्रा में धनियाँ, जीरा एवं सोंठ का चूर्ण मिला लें। जो व्यक्ति इस रस में स्थित उड़द एवं कपिकच्छू (केंवाच बीज) को खाकर ऊपर से मांसरस को पीता है, उसके शुक्र की अत्यधिक वृद्धि होती है। अर्थात् यह योग शुक्रवर्धक है।

चक्रपाणि-अजडा=शूकशिम्बी (केंवाच बीज)। **भुक्तः पीतश्चेति**-पूर्व योग की भाँति इस योग के घन भाग (Solid Portion) को खाकर द्रव (Liquid) भाग को पीने का निर्देश दिया गया है। ॥१५-१६॥

Scanned by CamScanner

विशेष–अजडाफल-से इस योग में केंवाच के हरे ताजे फल का ग्रहण करना चाहिए। इसके तुष को निकालने के लिए इसे पानी में हलका उबाल दें। इसके बाद यह तुष रहित हो जाता है। इस तुष रहित फल की मात्रा उड़द के अंकुरित दाने के बराबर होनी चाहिए।

आर्द्राणी गत्स्यमांसानि शफरीर्वा सुभर्जिताः । तप्ते सर्पिषि यः खादेत् स गच्छेत् स्त्रीषु न क्षयम् ।।१७।।
घृतभृष्टान् रसे च्छागे रोहितान् फलसारिके । अनुपीतरसान् स्निग्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत् ।।१८।।

(इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि ।)

वृष्य भुने हुए मछली के मांस–यहाँ दो योगों का विवेचन किया गया है–

१. आर्द्र (गीली) मछली अथवा शफरी मछली को जो पुरुष घृत में अच्छी प्रकार भुनकर खाता है, मैथुन करते समय उसके शुक्र का क्षय नहीं होता।

२. रोहू मछली को घृत में भुनकर बकरी के मांसरस में पकावें। सम्यक् रूप से पक जाने पर उसमें खट्टे अनार का रस मिलावें। पुत्र का इच्छुक व्यक्ति मछली को खाकर ऊपर से मांसरस का पान करें।

चक्रपाणि–मत्स्य शब्द से यहाँ प्रधान कल्पना होने से रोहित मछली का ग्रहण किया गया है।

फलसारिक इति–दाडिम एवं आँवला आदि के फल के रस से संस्कारित। ॥१७-१८॥

विशेष–रोहित मछली को खण्ड-खण्ड करके घृत में भुन लें। इस भुने हुए मत्स्य खण्ड को अम्ल द्रव्यों से साधित बकरी के मांसरस में पकावें।

कुट्टकं मत्स्यमांसानां हिङ्गुसैन्धवधान्यकैः । युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत् ।।१९।।
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत् । रसे चानुगते मांसं पोथयेत्तत्र चावपेत् ।।२०।।
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिङ्गु नवं घृतम् । माषपूपलिकानां तद्गर्थार्थमुपकल्पयेत् ।।२१।।
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ । हर्षसौभाग्यदौ पुत्र्यौ परं शुक्राभिवर्धनौ ।।२२।।

(इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ ।)

वृष्य पूपलिका–यहाँ दो योगों का विवेचन किया गया है–१. मछली को साफ-सुथरा कर, उसे अच्छी प्रकार से कूट-पीस कर कल्क बना लें, उसमें हींग, सैन्धव नमक व धनियाँ चूर्ण यथावश्यक मिलावें। अब इस मत्स्य कल्क को गेहूँ के आटे में मिलाकर गोघृत में पूपलिका पकावें।

२. रोहू मछली को अम्ल द्रव्यों के रस से संस्कारित भैंस के मांसरस में पकावें, पकते-पकते मांस रस जब सूख जाय तब मछली को निकालकर उसके काँटे को पृथक् कर शेष भाग को पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क में ताजा घृत, हींग, सैन्धव नमक व धनियाँ चूर्ण यथावश्यक मिलाकर उड़द के आटे में भरकर घृत में पूड़ी (पूपलिका) पकावें। [इसे कचौड़ी की संज्ञा दी जा सकती है।] ये दोनों प्रकार के पूपलिका योग शरीर का बृंहण करने वाले, बलवर्धक, हर्ष एवं सौभाग्य प्रदापक, पुत्रोत्पादक एवं शुक्रवर्धक होते हैं।

चक्रपाणि–कुट्टकमिति-मत्स्य मांस को कूटकर छोटे-छोटे टुकड़े में करना ॥१९-२२॥

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम् । शर्करायाः विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च ।।२३।।
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत् । पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां पराम् ।।२४।।

(इति वृष्या माषादिपूपलिकाः ।)

शर्करास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः । प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च ।।२५।।
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च । तत्सर्वं मूर्च्छितं तिछेन्मार्तिके घृतभाजने ।।२६।।
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत् । एष वृष्यः परं योगो बल्यो बृंहण एव च ।।२७।।

वृष्यमाषादि पूपलिका–माष (उड़द), आत्मगुप्ता (केंवाच बीज), गेहूँ, शाली एवं साठी चावल के आटे प्रत्येक समान मात्रा में लेकर उतनी ही मात्रा में चीनी, विदारीकन्द चूर्ण, एवं इक्षुरक चूर्ण लेकर गोदुग्ध में सान (मिला) लें। इस आटे से गोघृत में पूआ पकावें। इस पूए का सेवन करके ऊपर से दूध पीवें। इसके सेवन करने से व्यक्ति की मैथुन क्षमता में शीघ्र वृद्धि होती है।

अपत्यकर घृत–घटक द्रव्य-

१. शर्करा (चीनी)	- १ तुला	३. विदारीकन्द चूर्ण	- १ प्रस्थ
२. गोघृत	- १ तुला	४. पिप्पली चूर्ण	- १ प्रस्थ
५. वंशलोचन	- १/२ आढ़क	६. मधु (नवीन)	- १/२ आढ़क

Scanned by CamScanner

विधि–उपर्युक्त सभी द्रव्यों को निर्दिष्ट मात्रा में लेकर एक घृत भावित दृढ़ मिट्टी के घड़े में मिलाकर रख लें। इसका प्रयोग अग्निबल के अनुसार केवल प्रातः काल ही करना चाहिए। यह योग अत्यन्त वृष्य, बल्य एवं बृंहण है। अर्थात् इसके सेवन करने से व्यक्ति की मैथुन क्षमता (Sexual Power) में वृद्धि होती है, शारीरिक बल एवं धातुओं का भी उपचय होता है।

चक्रपाणि–इक्षुरक से तालमखाने का ग्रहण किया गया है। ॥२३-२७॥

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः। श्वदंष्ट्रायाश्च निष्काथाञ्जलेषु च पृथक् पृथक् ॥२८॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः। शर्करामधुयुक्तं तदपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥२९॥

(इत्यपत्यकरं घृतम्।)

अपत्यकर घृत–शतावरी, विदारीकन्द, माष (उड़द), केंवाच बीज तथा गोखरू, प्रत्येक द्रव्यों का क्वाथ अलग-अलग बनावें, गोघृत-१ प्रस्थ, दूध-८ प्रस्थ। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग मधु एवं शर्करा मिलाकर पुत्र प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को करना चाहिए।

चक्रपाणि–मधुशर्करासंयुक्तमिति-सिद्धघृत में मधु व शर्करा का मान संयुक्त रूप से घृत का चतुर्थांश होना चाहिए। अर्थात् घृत के मान का १/४ भाग संयुक्त रूप से मधु+शर्करा डालना चाहिए।

विशेष–अपत्यकर घृत निर्माण की विधि को स्पष्ट किया जा रहा है–

१. **घटक द्रव्य**–

शतावरी का क्वाथ	- १ प्रस्थ
विदारीकन्द का क्वाथ	- १ प्रस्थ
उड़द का क्वाथ	- १ प्रस्थ
केंवाच बीज का क्वाथ	- १ प्रस्थ
गोखरू का क्वाथ	- १ प्रस्थ
गोघृत	- १ प्रस्थ
गोदुग्ध	- ८ प्रस्थ

२. **विधि**–सर्व प्रथम एक पात्र में गोघृत को लेकर उसे क्रमशः शतावरी, विदारीकन्द, उड़द, कौंच बीज, व गोखरू के क्वाथ से पाक करें। इसके बाद गोदुग्ध द्वारा पाक करें। जब धीरे-धीरे पाक करते समय गोदुग्ध का जलीयांश उड़ जाय तब खोये के पाक हेतु लगभग २ गुना जल पुनः डालकर पाक करें। ऐसा करने से खोये का पाक होकर उससे घृत पृथक् हो जायेगा। घृतपाक की परीक्षा कर घृत को एक कपड़े से छानकर पृथक् कर लें।

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत्। सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत् ॥३०॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरकस्य च। पिप्पल्याः साजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम् ॥३१॥
गुलि (टि) काः कारयेद्वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम्। तासां प्रयोगात् पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥३२॥

(इति वृष्यगुटिकाः।)

वृष्य गुटिका– घटक द्रव्य-

१. गोघृत- १ पात्र (१ आढ़क) २. विदारीकन्द स्वरस- १०० आढ़क ३. गोदुग्ध- १०० आढ़क

प्रक्षेप द्रव्य–

१. चीनी	- ६४ तोला
२. मधु	- ६४ तोला
३. वंशलोचन चूर्ण	- ६४ तोला
४. तालमखाना चूर्ण	- ६४ तोला
५. पिप्पली चूर्ण	- ६४ तोला
६. केंवाच बीज चूर्ण	- ६४ तोला

Scanned by CamScanner

विधि–सर्वप्रथम १ आढ़क गोघृत को १०० आढ़क विदारीकन्द स्वरस में पाक करें, जब स्वरस पकते-पकते काफी कम हो जाय तो उसमें १०० आढ़क गोदुग्ध डालकर घृत को सिद्ध करें। जब घृत मात्र शेष रह जाय तो उसे अग्नि पर से उतार कर शीतल होने पर कपड़े से छानकर एक पात्र में रख लें। घृत जब शीत हो जाय तब उसमें ऊपर निर्दिष्ट प्रक्षेप द्रव्यों को डालकर गूलर के फल की आकृति की गोलियाँ बना लें। इस गुटिका के प्रयोग करने से पुरुष चटक के समान मैथुन करने में समर्थ होता है।

चक्रपाणि–पादांशिकैरिति-घृत के चतुर्थांश प्रमाण में प्रक्षेप द्रव्यों को मिलाना चाहिए।

सितोपलशतं तदर्धं नवसर्पिषः । क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम् ।।३३।।
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले । शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्दनेनोपपादयेत् ।।३४।।
शुद्धा उत्कारिकाः कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः । तासां प्रयोगाद्गजवन्नारीः संतर्पयेन्नरः ।।३५।।

(इति वृष्योत्कारिका ।)

वृष्य उत्कारिका–मिश्री १०० पल, ५० पल ताजा घृत, मधु २५ पल तथा २५ पल जल; इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पकावें, पककर गाढ़ा होने पर घृत डालकर भुने हुए गेहूँ का चूर्ण २५ पल मिला लें। इसके बाद एक साफ-सुथरे श्लक्ष्ण चिकने शिला खण्ड पर या बड़े परात में, जिसका तल घृत से स्निग्ध किया गया हो, इस पकाये गये उत्कारिका को उलट दें, पश्चात् हाथ से दबाकर बराबर कर लें, इसे चन्द्रमा के समान स्वच्छ गोल आकृति युक्त बनावें। (बाद में इसे बर्फी के टुकड़े के रूप में काटकर अलग-अलग कर सकते हैं।) इस उत्कारिका के सेवन करने से पुरुष स्त्री को तृप्त करते हुए हाथी के समान अत्यधिक शुक्र का स्राव करता है।

चक्रपाणि–समुत्कीर्येति-फैलाकर।

उत्कारिकाः कार्या इति-यहाँ पुनः पाक के द्वारा ही उत्कारिका का निर्माण किया गया है।

विशेष–'सितोपलेत्यादि' के द्वारा वृष्य लप्सिका को स्पष्ट किया गया है। नव्यसर्पि से नूतन गोघृत का ग्रहण किया गया है। इसकी मात्रा ५० पल लेने का निर्देश है। मधु की मात्रा मिश्री की मात्रा का चतुर्थांश (१/४ भाग) अर्थात् २५ पल एवं जल २५ पल ग्रहण किया गया है। इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पकावें तथा गाढ़ा करें। गाढ़ा होने पर इसे घृत में भुने हुए गेहूँ के चूर्ण को २५ पल लेकर एक साफ-सुथरे शिलाखण्ड पर फैलावें। इस फैले हुए चूर्ण के ऊपर इस पाक की हुई लप्सी को डालें एवं हाथ से दबादबाकर उत्कारिका बनावें। यह उत्कारिका चन्द्रमा के समान गोल एवं स्वच्छ होती है।- जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी रूपान्तरण।

यत् किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु । हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते ।।३६।।
द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्भावितः प्रमदां व्रजेत् । आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ।।३७।।
गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं वाऽनु शयीत ना । तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च ।।३८।।
यथा मुकुलपुष्पस्य सु (स्व) गन्धो नोपलभ्यते । लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम् ।।३९।।
नरे वै षोडशाद्वर्षात् सप्तत्याः परतो न च । आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ।।४०।।
अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियं व्रजन् । उपशुष्येत सहसा तडागमिव काजलम् ।।४१।।
शुष्कं रूक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम् । स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ।।४२।।
जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् । क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ।।४३।।
क्षयाद्व्यादविश्रम्भाच्छोकात् स्त्रीदोषदर्शनात् । नारीणामरसज्ञत्वादविचारादसेवनात् ।।४४।।
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते । देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा ।।४५।।

वृष्य की परिभाषा (Definition of Vrisya)–जो द्रव्य मधुर, स्निग्ध, जीवन, बृंहण, पचने में भारी एवं मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले होते हैं, वे सभी वृष्य कहे जाते हैं। [Articles which are sweet, unctuous, jivana (Promoters of life), nourishing and heavy and which cause excitement of the mind-all these are called aphrodisiacs- Dr. Bhagvan Das.]

मैथुन कब करें ?–इसलिये इस प्रकार के द्रव्यों से शरीर को भावित (संस्कारित) कर काम वेग के उत्पन्न होने पर तथा स्त्री के गुणों द्वारा प्रहर्षित होकर स्त्री के पास संयोग के लिए जाँय।

मैथुन के पश्चात् कर्तव्य–मैथुन के बाद व्यक्ति को शीघ्र ही स्नान करके गोदुग्ध अथवा मांसरस पीकर सोना (निद्रा) चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति के बल एवं शुक्र का शीघ्र आप्यायन हो जाता है।

शुक्रोत्पत्ति की उपमा–जिस प्रकार पुष्प के मुकुल (Buds) में सुगन्ध नहीं पाया जाता, उसके विकसित (खिलने) होने पर ही उसमें गन्ध की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में शुक्र की उत्पत्ति होती है।

मैथुन के लिए उचित काल–जो व्यक्ति दीर्घायु की इच्छा रखने वाले हैं उन्हें षोडश वर्ष (१६ वर्ष) से पूर्व एवं सत्तर वर्ष (७० वर्ष) के बाद मैथुन नहीं करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

बाल्यावस्था में व्यक्ति की रस रक्तादि धातुएं पूर्ण परिपक्व नहीं होती, ऐसी स्थिति में स्त्री-संयोग करने पर शरीरस्थ धातुएं प्रकार सूख जाती हैं जिस प्रकार अल्प जल युक्त तालाब शीघ्र सूख जाता है ।

जिस प्रकार कीड़ों द्वारा जर्जर किया हुआ शुष्क एवं रूक्ष काष्ठ स्पर्श मात्र से ही टूट जाता है उसी प्रकार धातुओं से क्षीण (वृद्ध) व्यक्ति मैथुन करने से नष्ट हो जाता है ।

शुक्र क्षय में हेतु–शुक्रक्षय के अधोलिखित कारण होते हैं–१. वृद्धावस्था (Old age), २. चिन्ता (worry), ३. व्याधि (Due diseases) ४. अपनी शारीरिक क्षमता से अधिक कार्य करना ५. अनशन (भोजन न करना) ६. अत्यधिक स्त्री सेवन करना ।

मैथुन शक्ति की अल्पता में हेतु–१. धातु क्षय से, २. भय से, ३. थकावट के कारण, ४. शोक से, ५. स्त्री में दोष देखने से, ६. स्त्री में कामोत्पादक हाव-भाव न होने से, ७. अविचार से (कामकला में चतुर न होने से unwise), ८. असेवनात्-मैथुन का सर्वथा सेवन न करने से; इन हेतुओं के विद्यमान होने पर सभी भावों द्वारा सुखी पुरुष भी मैथुन करने में सक्षम नहीं होता, क्योंकि हर्ष, देह एवं सत्त्व बल की अपेक्षा करता है तथा हर्ष से ही मैथुन शक्ति की वृद्धि होती है ।

चक्रपाणि–जिन वाजीकरण भावों का विवेचन पूर्व के सूत्रों में नहीं किया गया है, उन सभी विषयों का संग्रह 'यत्किञ्चिदित्यादि' के द्वारा यहाँ किया जा रहा है ।

भावित इति–इस वचन से यहाँ वाजीकरण द्रव्यों के प्रयोग से अपने शरीर को पुष्ट कर स्त्री-सेवन करना चाहिए, यह दर्शाया गया है ।

आत्मवेगेनेति-आत्मवेग से अर्थात् मैथुन संकल्प के उत्पन्न होने पर ही मैथुन में प्रवृत्त होना चाहिए ।

बालस्य तडागदृष्टान्तेन पुनरपि शुक्रसद्भावं कफप्राधान्यं च दर्शयति–तडाग के दृष्टान्त द्वारा बाल्यकाल में शुक्र की उत्पत्ति एवं कफ प्रधान प्रकृति को दर्शाया गया है । यह अवस्था धातुओं की वृद्धि की होती है । इसमें धातुएं परिपक्व नहीं होती । वृद्धावस्था की उपमा उस घुण लगी हुई लकड़ी से दी गयी है जो अन्दर से खोखली (Porous) होती है । अर्थात् इस अवस्था में धातुएं स्वाभाविक रूप से क्षय को प्राप्त होती हैं, अतः मैथुन करने से क्षय को प्राप्त धातुओं का पुनर्भव इस अवस्था में नहीं होता ।

ननु तृप्तस्य शरीरबलं भवत्येव, तत् किं तृप्तस्य स्त्रियो गन्तुमसामर्थ्यमित्याह–देहेत्यादि-यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि जो व्यक्ति हर प्रकार से सुखी रहता है, उसका शारीरिक बल तो वृद्ध रहता ही है, तब क्यों वह मैथुन करने में असमर्थ रहता है ? इसी का उत्तर यहाँ 'देहेत्यादि' के द्वारा दिया गया है । ऐसा होने पर भी तृप्ति जनित बल के रहते हुए भी क्षयादि कारणों के विद्यमान रहने पर देह एवं मन के उपहत होने से हर्ष नहीं उत्पन्न होता । हर्ष के अभाव में मैथुन करना सम्भव नहीं है । [यहाँ हर्ष से शिश्नोत्थान का ग्रहण किया गया है। Erection of Sexual organ- M.M. Williams] ॥३६-४५॥

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा । सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ।।४६।।
तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् । शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ।।४७।।
हर्षात्तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद्गौरवादपि । अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ।।४८।।
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते । चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ।।४९।।

शुक्र का स्थान–जिस प्रकार इक्षु (Sugarcane plant) में रस, दधि में घृत तथा तिल में तेल विद्यमान रहता है उसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय युक्त शरीर में शुक्र विद्यमान रहता है । वह शुक्र स्त्री-पुरुष के संयोग, चेष्टा (Sex act), संकल्प (मैथुन के प्रति संकल्प एवं पीडन (स्त्री-पुरुष की एक-दूसरे से आलिङ्गन क्रिया) द्वारा उसी प्रकार बाहर निकलता है जिस प्रकार आर्द्र वस्त्र को दबाकर निचोड़ने से जल का स्राव होता है ।

शुक्र प्रवृत्ति के हेतु–शुक्र प्रवृत्ति के अधोलिखित कारण हैं- १. हर्ष (Excitement), २. तर्ष (लालसा-स्त्री के प्रति प्रेम का होना Excessive desire), ३. सरत्व (Fluidity), शुक्र के सर गुण का होना, ४. शुक्र के पिच्छिल होने से (Lubricous-लुआबदार), ५. गुरु गुण युक्त होने से अर्थात् वीर्य (Semen) की गुरुता, ६. अणु भाव के कारण (सूक्ष्म गुण-Atomicity), ७. प्रवण भाव (बाहर निकलने की प्रवृत्ति), ८. अपान वायु की तीव्र गति का होना । इन आठ कारणों के द्वारा शुक्र सम्पूर्ण शरीर से च्युत होकर मूत्रेन्द्रिय मार्ग द्वारा बाहर निकलता है । **यह शुक्र विभिन्न प्रकार की योनियों में भ्रमण करने वाले विश्वरूप (आत्मा) का रूप द्रव्य है ।**

चक्रपाणि–शरीर में शुक्र जिस प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार शरीर में रहता है तथा जिस प्रकार शरीर से बाहर निकलता है, उसका विवेचन 'रस इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । यहाँ इक्षु आदि तीन दृष्टान्तों द्वारा अनति प्रयत्न, अल्प प्रयत्न एवं महाप्रयत्न से शुक्र का बहिर्गमन होता है; बताया गया है । [इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

१. इक्षु से रस निकलने का दृष्टान्त-इक्षु से रस निकालने की प्रक्रिया मध्यम यत्न पूर्वक की जाती है । अर्थात् जिस प्रकार इक्षु को पेरने पर रस निकलता है तद्वत् कामादि भावनाओं से प्रेरित होकर शुक्र का स्राव होता है ।

Scanned by CamScanner

२. दधि-घृत का दृष्टान्त–जिस प्रकार दधि से घृत सहज भाव से मथने पर पृथक् हो जाता है उसी प्रकार चेष्टा, संकल्प आदि कारणों से शुक्र का स्राव होता है ।

३. तिल व तेल का दृष्टान्त–तिल से तेल निकालने की प्रक्रिया काफी श्रम साध्य है, तद्वत् मैथुन क्रिया के अन्त में शुक्र का स्राव होता है ।]

संस्पर्शन इति–त्वचा के स्पर्श द्वारा शुक्र सम्पूर्ण शरीर से स्रावित होता है । (Semen pervades the entire body which has the sensation of touch) इससे यह अर्थ निकलता है जहाँ स्पर्शनेन्द्रिय का अभाव है । अर्थात् शरीर के जिस भाग में स्पर्श ज्ञान का अभाव होता है, यथा- केश आदि; वहाँ शुक्र नहीं रहता ।

स्त्रीपुरुषसंयोगो मिश्रीभावः–स्त्री-पुरुष के संयोग करने पर अर्थात् मैथुन करने से । चेष्टा से यहाँ मैथुन चेष्टा अर्थ लिया गया है ।

संकल्पो योषिदनुरागः–स्त्री के प्रति अनुराग ।

पीडनं-स्त्री-पुरुष के आपस में संयोग होने से, अर्थात् प्रेमालिङ्गन के दबाव से । यहाँ स्त्री-पुरुष का आपस में संयोग ही शुक्र स्राव का प्रधान कारण है, शेष चेष्टा आदि उसके सहकारी कारण हैं । आर्द्रपट के दृष्टान्त द्वारा आश्रय का उपघात न करते हुए शुक्र स्राव को दर्शाया गया है । अर्थात् इस दृष्टान्त द्वारा शुक्र स्राव (Ejaculation of semen) की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है । अभिप्राय यह है कि संकल्प, चेष्टा एवं पीडन आदि की क्रिया द्वारा शुक्राशय की हानि न होते हुए शुक्र का स्राव उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जल से भीगे हुए कपड़े को निचोड़ने से जल बाहर निकल जाता है, लेकिन कपड़े की कोई हानि नहीं होती । यहाँ पीडन से उतना ही पीडन अर्थ गृहीत है जिससे दोनों की संतुष्टि हो ।

'हर्षादित्यादि' के द्वारा शुक्र स्राव के अन्य हेतुओं को स्पष्ट किया गया है ।

हर्षः संकल्पपूर्वकशुक्रोद्रेकध्वजोच्छ्रायादिकारीच्छा–संकल्प पूर्वक शुक्रोद्रेक एवं शिश्नोत्थान आदि की इच्छा **हर्ष** कही जाती है । **हर्ष** = Sexual excitement, **तर्ष**-वनिता के प्रति अभिलाषा (स्त्री के प्रति चाह) । सरत्वम् अस्थैर्यम्-द्रवता, इस गुण के कारण शुक्र स्थिर नहीं रह पाता ।

अनुप्रवणभावः अणुत्वे सति बहिर्निर्गमनस्वभावः-अणु रूप में होते हुए भी इसका स्वभाव बहिर्निगमन का होता है । अर्थात् शुक्र का स्वभाव अपने स्थान से बाहर निकलने का होता है । यहाँ दो गुणों का उल्लेख किया गया है–१. अणु गुण, २. प्रवण गुण (बाहर निकलने का स्वभाव)

द्रुतत्वान्मारुतस्य चेति–शुक्र प्रेरक वायु का अभिद्रवण शील स्वभाव होने से, अपान वायु के दबाव के कारण शुक्र बाहर की ओर निकलता है ।

एते च यद्यपि हेतवस्तथाऽपि प्राधान्यात् प्रथमप्रतिपादितस्त्रीपुरुषसंयोगादिरूपहेतूनां समष्टौ नैवामी गणिता–यद्यपि ये सभी शुक्र की प्रवृत्ति में कारण हैं फिर भी प्रधान रूप से प्रथम प्रतिपादित स्त्रीपुरुष संयोगादिरूप कारण की गणना इन आठ हेतुओं के साथ नहीं है ।

चरत इति–अनेक प्रकार की- मनुष्य, पशु आदि योनियों में भ्रमण करता हुआ ।

विश्वरूपस्येति–आत्मनः (आत्मा की), आत्मा के पर्याय का उल्लेख 'स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः' (शा.अ. २) के द्वारा किया गया है । [लिङ्ग शरीर से युक्त होकर वह सर्वव्यापक, सभी शरीर को धारण करने वाली, विश्वकर्मा, विश्वरूप, चेतनाधातु, अतीन्द्रिय वह आत्मा बुद्ध्यादि से युक्त होने पर ही राग-द्वेष से युक्त होती है ।]

रूपद्रव्यमिति–पूर्व जन्म कृत कर्मों के कारण ही आत्मा शुक्र रूप को धारण करती है । अर्थात् अव्यक्त आत्मा जब व्यक्त शरीर को धारण करना चाहती है तो उसका कारण शुक्र ही होता है । शुक्र का कथन यहाँ प्रकरणानुसार ही कहा गया है, इससे आर्तव भी आत्मा का रूप द्रव्य होता है, यह जानना चाहिए ।।४६-४९।।

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् । शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ।।५०।।

प्रशस्त शुक्र के गुण–जो शुक्र बहल (गाढ़ा), रस में मधुर, स्निग्ध (unctuous), दुर्गन्ध रहित (Without any putrid smell), गुरु (भारी), पिच्छिल (Slimy), वर्ण में श्वेत एवं मात्रा में अधिक निकलता है, निश्चित रूप से वह फलदायी होता है। अर्थात् संतानोत्पादक होता है ।

चक्रपाणि–'बहलमित्यादि' के द्वारा प्रशस्त शुक्र के गुणों को बताया गया है ।

Scanned by CamScanner

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः । व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ।।५१।।

वाजीकरण शब्द की निरुक्ति–जिस औषध, अन्न या विहार के प्रयोग द्वारा पुरुष नारी के प्रति अश्ववत् मैथुन करने में सक्षम होता है या जिसके सेवन से बार-बार मैथुन करने में समर्थ होता है; या जिस प्रक्रिया के प्रयोग से पुरुष बार-बार एवं अश्ववत् मैथुन करने में समर्थ होता है, उसे वाजीकरण कहते हैं । ।।५१।।

चक्रपाणि–'येनेत्यादि' के द्वारा वाजीकरण शब्द की निरुक्ति का अभिधान किया गया है ।

व्रजेच्चाभ्यधिकमिति–पुनः पुनर्गच्छेत्;- बार-बार स्त्री से संयोग करना चाहता है अथवा 'व्यज्यते' पाठ होने पर वहाँ भी पुंसत्वयुक्त होने से बार-बार स्त्री संयोग अर्थ ही लिया गया है ।

'व्यज्यात्' पाठ होने पर भी वही अर्थ विद्वानों द्वारा चिन्तनीय है । इस प्रकार इस निरुक्ति द्वारा तीन प्रकार के वृष्य द्रव्यों का ग्रहण होता है–१. शुक्रवृद्धिकर-जो द्रव्य शुक्र की वृद्धि करते हैं, यथा-उड़द (माष) ।

२. शुक्र स्रुतिकर-जो द्रव्य शुक्र के स्राव को बढ़ाते हैं, यथा-संकल्प ।

३. शुक्र स्रुति-वृद्धि कर–जो द्रव्य शुक्र स्राव को बढ़ावें एवं साथ में शुक्र की वृद्धि भी करें, यथा-दुग्ध । अन्य स्थानों पर भी कहा गया है–**''शुक्रस्रुतिकरं किंचित् किंचिच्छुक्रविवर्धनम् । स्रुतिवृद्धिकरं किंचित् त्रिविधं वृष्यमुच्यते''** [वृष्य द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं । कुछ द्रव्य शुक्र के स्राव को बढ़ाते हैं, कुछ द्रव्य शुक्रवर्धक होते हैं तथा कुछ द्रव्य शुक्रवर्धक एवं स्रावक दोनों कार्य करते हैं ।] इस प्रकार ये द्रव्य तीन प्रकार के होते हुए भी व्यवाय में बलवान होने से बार-बार मैथुन शक्ति को उत्पन्न करते हैं । ।।५१।।

तत्र श्लोकौ–

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः । यत् पूर्वं मैथुनात् सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ।।५२।।
यदा न सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः । निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ।।५३।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने वाजीकरणाध्याये पुमाञ्जातबलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः ।।४।।
समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ।।२।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस पुमाञ्जातबलादिक वाजीकरणपाद में आचार्य द्वारा वृष्य योगों के उपदेश का कारण, उत्तम बारह योग, जिन द्रव्यों का सेवन मैथुन के पूर्व एवं जिनका सेवन मैथुन के बाद करना चाहिए, कब प्रमदा स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिए, शुक्र के विषय में सम्पूर्ण विचार एवं वाजीकरण की निरुक्ति; इन सभी विषयों का विवेचन किया गया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में वाजीकरणाध्याय के अन्तर्गत पुमाञ्जातबलादिक नामक चतुर्थ वाजीकरणपाद का विवेचन पूर्ण हुआ ।

[इस प्रकार द्वितीय वाजीकरण अध्याय समाप्त हुआ ।]

चक्रपाणि–हेतुरित्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को बताया गया है । ।।५२-५३।।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान के अन्तर्गत पुमाञ्जातबलादिक नामक चतुर्थ वाजीकरणपाद की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

(इति वाजीकरणाध्यायो द्वितीयः ।।२।।)

Scanned by CamScanner

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे ज्वरचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–पूर्व अध्यायों में स्वास्थ्य संरक्षण में उपयोगी रसायन-वाजीकरण प्रकरण के विवेचन के बाद व्याधिविनाशक चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । उसमें भी ज्वर सभी रोगों में प्रधान होने से ज्वर-चिकित्सा का विवेचन यहाँ सबसे पहले किया गया है । किस प्रकार ज्वर अन्य व्याधियों से प्रधान है, उसका स्पष्टीकरण इसी अध्याय में किया जायेगा ।

ज्वरचिकित्सताभिधायकोऽध्यायो ज्वरचिकित्सितमुच्यते–ज्वर की चिकित्सा को बताने वाला अध्याय ज्वर-चिकित्सित' कहा गया है। ऐसा अभिधान-अभिधेय के अभेद को दर्शाने के लिए किया गया है । अर्थात् चिकित्सा की दृष्टि से अभिधान एवं अभिधेय में अभेद दर्शाने के लिए ऐसा किया गया है । यही व्याख्या आगे के अध्यायों की भी की जानी चाहिए ।

विज्वरं ज्वरसंदेहं पर्यपृच्छत् पुनर्वसुम् । विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ।।३।।

अग्निवेश द्वारा पूछे गये ज्वर विषयक प्रश्न–एकान्त में बैठे हुए शान्त एवं स्वस्थ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से आचार्य अग्निवेश ने हाथ जोड़कर अपने ज्वर विषयक संदेह को पूछा– ॥३॥

चक्रपाणि–विज्वरमिति-विज्वर शब्द यहाँ निरोग का परिचायक है, जो गुरु (पुनर्वसु आत्रेय) के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । ज्वर शब्द यहाँ सामान्यतः रोग (Disease) अर्थ में गृहीत है । कहा भी गया है, यथा-"ज्वरो विकारो रोगश्च" इत्यादि [ज्वर, विकार एवं रोग एक ही अर्थ को बताते हैं ।]

'नीरोगत्व' शब्द से यहाँ-गुरु की स्वस्थता का ग्रहण है ।

ज्वरसंदेहमिति–ज्वर विषयक आशंका, ज्वर निदान विषयक एवं अन्य ज्वर विषयक संदेहों को अग्निवेश ने पुनर्वसु आत्रेय से पूछा । विविक्त=एकान्त ।

पुनर्वसु आत्रेय, जो शान्त एवं एकान्त में बैठे थे, ऐसी स्थिति में अग्निवेश ने उनसे अपनी आशंका को पूछा । यह अवस्था प्रश्नोत्तर के लिए ज्यादा अनुकूल है ।

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ।।४।।
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये । प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ।।५।।
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम् । व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ।।६।।
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम् । विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक्-पृथक् ।।७।।
ज्वरावसृष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः । प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः ।।८।।
याश्चापि पुनरावृत्तं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् । जगद्धितार्थं तत् सर्वं भगवन् ! वक्तुमर्हसि ।।९।।
तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् । ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत् सौम्य ! निखिलं शृणु ।।१०।।

अग्निवेश ने भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से कहा-देह, इन्द्रिय एवं मन में ताप उत्पन्न करने वाला, सभी रोगों से पहले उत्पन्न होने वाला बली एवं रोगों में प्रधान ज्वर का विवेचन आपने निदान-स्थान में किया है । अतः प्राणिमात्र के लिए शत्रु रूप, जन्म एवं मृत्यु दोनों के समय उत्पन्न होने वाले उस ज्वर रोग की प्रकृति (Nature of the disease), प्रवृत्ति (Origin of the disease), प्रभाव (Manifestations of the disease), कारण (Causitive factors), पूर्वरूप (Premonitory Signs and symptoms), अधिष्ठान (Place of manifestation) बल-काल, आत्मलक्षण, उनके भेदों का विस्तृत विवेचन, प्रत्येक भेद के अलग-अलग लक्षण, आम ज्वर के लक्षण, जीर्ण ज्वर के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा में प्रयोग आने वाली औषधियों के साथ चिकित्सा, छोड़ते हुए ज्वर के लक्षण, ज्वर मुक्त पुरुष के पृथक्-पृथक् लक्षण (Signs), ज्वर मुक्त पुरुष की जितने काल तक जिस प्रकार रक्षा करनी चाहिए, प्रशान्त ज्वर जिस कारणों द्वारा पुनः उत्पन्न हो जाता है तथा पुनरावर्तक ज्वर को जिन औषधियों द्वारा शान्त किया जाता है, उन सभी विषयों को प्रजा के हितार्थ हे आचार्य ! आप बतावें ।

अग्निवेश के उन वचनों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा-हे अग्निवेश ! ज्वराधिकार में मेरे द्वारा जो कहा गया है, उन सभी विषयों को मुझसे सुनो ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–देहेन्द्रियमनस्तापीत्यादि-से हेतुगर्भ विशेषण के रूप में ज्वर की प्रधानता को बताया गया है । कुछ शारीरिक व्याधियाँ मात्र देह को कष्ट देती हैं, यथा-अर्बुद (Tumour) आदि, तथा कुछ व्याधियाँ मन में ताप उत्पन्न करती हैं, यथा-अतत्त्वाभिनिवेश आदि, तथा कुछ व्याधियाँ इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) में ताप उत्पन्न करती हैं, यथा-तिमिर आदि । यद्यपि ज्वर की प्रकृति त्रितयतापी है । अर्थात् यह देह (Body), मन (Mind) एवं इन्द्रिय (Sense organs); तीनों में ताप (कष्ट) उत्पन्न करती हैं । कहा भी गया है, यथा-**"ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिद् न तप्यते"** इति [ज्वर से आक्रान्त कोई भी ऐसा जीव नहीं है जिसमें ताप न उत्पन्न होता हो] वहाँ शारीरिक ताप का अभिप्राय संताप (शरीर के तापक्रम का बढ़ना) से लिया गया है । मन एवं इन्द्रिय ताप का विवेचन "वैचित्यं" इत्यादि के द्वारा आगे बताया जायेगा ।

सर्वरोगाग्रज इति–शारीरसर्वरोगाग्रजः-शारीरिक रोगों में अग्रज-शारीरिक रोगों में सबसे पहले ज्वर की उत्पत्ति हुई । मानस रोगों की उत्पत्ति ज्वर से पूर्व सत्ययुग के प्रारम्भ में ही हो गयी थी ।

बलित्वं चास्य भूरिविकारकर्तृत्वात्–बली का अभिप्राय अत्यधिक विकारकारी होने से है । अर्थात् ज्वर अन्य व्याधियों की तुलना में बली (Powerful) है । देह व मन दोनों में ताप उत्पन्न करने के कारण इसे प्रधान माना गया है ।

प्राणिसपत्नस्येति मारकत्वेन प्राणिशत्रोः–मारक होने से यह प्राणियों का शत्रु है । 'ध्रुवस्य' का अर्थ-निश्चित रूप से लिया गया है । प्रलयोदय-मृत्यु व जन्म दोनों अवस्थाओं में, अर्थात् प्राणियों के जन्म एवं मृत्यु दोनों ही अवस्थाओं में ज्वर विद्यमान रहता है । यहाँ ज्वर से तम रूप ज्वर का ग्रहण है । इसके बारे में आगे कहेंगे-"ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तमः" इति [जन्म के प्रारम्भ एवं अन्त (मृत्यु) के समय ज्वर महामोह के रूप में उत्पन्न होता है ।] प्रकृति आदि का विवेचन पूरे अध्याय में ही यथास्थान किया गया है । अर्थात् उचित अवसर मिलने पर प्रकृति आदि का वर्णन इस अध्याय में उचित स्थान पर किया गया है ।

बलं च कालश्चात्मलक्षणं चेति बलकालात्मलक्षणमिति–ज्वर की वृद्धि का काल एवं ज्वर के आत्म लक्षण को 'बलकालात्म लक्षण' शब्द से कहा गया है ।

व्यासतो विधि भेदाच्चेति–विधि भेद से ज्वर के भेदों का विस्तार से विवचन ।

यत इति येभ्यो व्यवायादिभ्यो रक्ष्यः –व्यवाय आदि हेतुओं से रोगी की कितने दिनों तक रक्षा करनी है । अथवा जिस हेतुओं से रोगी की रक्षा करनी है, यह अभिप्राय है ।

जगद्धितार्थमित्यनेन–जिन वचनों को सुनकर जगत् के कल्याणार्थ व्यक्ति की चिकित्सा में प्रवृत्ति होगी या हम लोग चिकित्सा में प्रवृत्त होंगे, इस शब्द से अग्निवेश की कारुणिकता, जो शिष्य के गुणों में एक महत्वपूर्ण गुण है, को दर्शाया गया है ।

ज्वराधिकारे इत्यादिर्निर्देशग्रन्थः –इन सभी विषयों का निर्देश इस ज्वर-चिकित्सा प्रकरण में किया गया है ।

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च । एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते ।।११।।

ज्वर के पर्याय–ज्वर, विकार, रोग, व्याधि एवं आतङ्क; विविध नाम पर्यायों के अभिधान से यहाँ एक ही अर्थ को बताया गया है ।

चक्रपाणि–ज्वरो विकार इत्यादि के द्वारा यहाँ ज्वर के पर्यायों का अभिधान किया गया है । ग्रन्थ की प्रश्न विषयक सूची में पर्याय का कथन न होते हुए भी पर्याय को यहाँ बताया गया है, फिर भी प्रकरणवशात् इसका अभिधान होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है अथवा ज्वर को ही अधिकृत करके यहाँ पर्यायों का कथन किया गया है । यद्यपि विकार आदि सामान्य रोग वाचक है, फिर भी प्रकरणवश यहाँ ज्वर रूप विशिष्ट व्याधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यथा-'ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए' से यहाँ प्रकरण भोजन का होने से सामान्यतः ब्राह्मण शब्द से आमंत्रित ब्राह्मण का ग्रहण किया गया है । उस व्याख्यान में ज्वरादि के पर्याय रूप विवृति को 'ज्वरो विकारः' इत्यादि के द्वारा कहा गया है, इसमें यहाँ पुनरुक्ति की आशङ्का नहीं करनी चाहिए ।

नामशब्दः प्रकाशने, तेन एकोऽर्थो नाम ज्वरलक्षणो रोगलक्षणो वा पर्यायैरुच्यत इत्यर्थः –नाम शब्द प्रकाशन (प्रकट करने) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् ज्वर, विकार एवं रोग आदि सभी एक ही अर्थ को प्रकट करते हैं ।

पर्याया एकार्थाभिधायिनो भिन्न जातीया शब्दाः –शब्द भेद होते हुए अर्थों में भिन्नता का न होना 'पर्याय' कहा जाता है । एक ही अर्थ का बोध कराने वाले भिन्न जातीय शब्दों को पर्याय कहा जाता है ।

किंवा नामपर्यायैरिति–नाम रूप पर्यायों के द्वारा, व्यवहार में आने वाले ऐसे शब्द जो एक ही अर्थ को बताते हैं । कुछ पर्याय ऐसे भी हैं जो व्यवहार में नहीं हैं, यथा-आयु के पर्याय-नित्यग एवं अनुबन्ध । ।।११।।

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः । देहिनं न हि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ।।१२।।

Scanned by CamScanner

१. **ज्वर की प्रकृति**–उस ज्वर का कारण (हेतु) क्या है, का उत्तर-उस ज्वर की प्रकृति (हेतु) शारीरिक एवं मानसिक दोष हैं, क्योंकि दोष रहित शरीर में ज्वर उत्पन्न नहीं होता ॥१२॥

चक्रपाणि–प्रकृति शब्द से यहाँ व्याधि का स्वभाव (Nature of the disease) अर्थ लिया गया है, अर्थात् जिस कारण से यह कार्य होता है उसे प्रकृति कहते हैं । उस प्रत्यासन्न कारण रूप प्रकृति को यहाँ 'तस्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

उद्दिष्टेति–ज्वर रूप कार्य की प्रकृति (प्रत्यासन्न कारण) को यहाँ संक्षेप में बताया गया है । ज्वर के प्रकृतित्व में दोषों के हेतुत्व को 'देहिनमित्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

सर्वदोषाव्यभिचाराज्ज्वरस्य दोषप्रकृतित्वं सिद्धमिति भावः–सर्वदोषों के अव्यभिचार से ज्वर की दोष प्रकृतित्व सिद्ध है, यह भाव है। अर्थात् दोष व्याधि की उत्पत्ति में सन्निकृष्ट कारण हैं । 'देहि' शब्द से यहाँ शरीरवान् पुरुष (शरीर युक्त पुरुष) अर्थ लिया गया है, न कि मात्र आत्मा, क्योंकि वह निर्विकार होती है । अर्थात् आत्मा में किसी भी प्रकार की व्याधि नहीं उत्पन्न होती । **'समुपसेवते' इति**-इस कथन से प्राणियों में विशेष रूप से ज्वर के आवेश को दर्शाया गया है, अर्थात् विकार रहित शरीर में ज्वर का आवेश नहीं होता । स्वतंत्र रूप से इसके विस्तार को 'ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिरा' इत्यादि के द्वारा कहा गया है । ॥१२॥

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः । पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा ।।१३।।
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता,

स्वभाव रूप प्रकृति (Specific features of Jvara)–क्षय, तम, ज्वर, पाप्मा एवं मृत्यु, ये ज्वर के विशिष्ट रूप हैं । ज्वर यमराज का ही रूप है । अपने कर्मों के द्वारा क्लेश को प्राप्त मनुष्यों की मृत्यु का कारण होने से इसे यम का रूप कहा गया है । इस प्रकार ज्वर की प्रकृति का कथन किया गया है ।

चक्रपाणि–'क्षय इत्यादि' के द्वारा स्वभाव रूप ज्वर की प्रकृति को बताया गया है ।

देहक्षयहेतुत्वात् क्षयः –देहक्षय का हेतु होने से इसे क्षय कहा गया है । अर्थात् ज्वर में शरीर धातुओं का क्षय होता है, इसलिये इसे क्षय नाम दिया गया है ।

मोहकर्तृत्वात् तमः –मोह को उत्पन्न करने के कारण इसे तम कहा गया । [Delusion of mind (भ्रम) उत्पन्न करने के कारण इसे 'तम' कहा गया है ।]

पापनिर्वर्त्यत्वात् पाप्मा–पाप से उत्पन्न होने के कारण इसे पाप्मा कहा गया है तथा मृत्यु का कारण होने से इसे मृत्यु कहते हैं । यहाँ 'उक्ताः' तथा 'यमात्मका' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि बहुवचन में है । ये सभी ज्वर के ही अर्थ में प्रयुक्त हैं । ज्वर में क्षय कर्तृत्वादि गुण भेद से इनके मृत्यु, पाप्मा आदि नाम दिये गये हैं ।

यमात्मका इति–यम स्वरूप, जिस प्रकार यम मारक होता है उसी प्रकार ज्वर भी मारक होता है । इसलिये यमात्मका नाम दिया गया है, अथवा 'यमात्मजाः' पाठ होने पर-यम का पुत्र अर्थ होने से पिता के समान कार्य कर्तृत्व को बताया गया है, अथवा क्षय आदि व्याधियाँ यम स्वरूप होते हुए भी ज्वर से भिन्न होती हैं । यहाँ ज्वर के यम रूप कथन के प्रसंग से उन व्याधियों का भी ग्रहण किया गया है, जो मारक होती हैं ।

इस व्याख्यान में मृत्यु शब्द से मृत्युसूचक अरिष्ट का ग्रहण है । ज्वर के द्वारा मृत्यु होती है न कि यह स्वयं मृत्यु है । ज्वर के यमात्मकत्व में हेतु को 'पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां क्लिश्यतां स्वेन कर्मणेति' के द्वारा बताया गया है । जिस प्रकार यमराज अपने कर्मों से दुःखी प्राणियों की मृत्यु में कारण होता है उसी प्रकार क्षयादि व्याधियाँ भी पूर्वजन्म कृत कर्मों से दुःखी पुरुष की मृत्यु में कारण होती हैं । यदि 'पञ्चत्व प्रत्यया' पाठ हो तब भी यही अर्थ अभीष्ट है । ॥१३॥

प्रवृत्तिस्तु परिग्रहात् ।
निदाने पूर्वमुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ।।१४।।

२. **ज्वर की प्रवृत्ति (आदि उत्पत्ति)**–ज्वर की प्रवृत्ति परिग्रह से होती है तथा भगवान् शङ्कर (रुद्र) के दारुण कोप से ज्वर की उत्पत्ति हुई । इसका विवेचन निदान-स्थान में पहले ही किया जा चुका है ।

चक्रपाणि–प्रश्नक्रमानुसार यहाँ ज्वर की प्रवृत्ति (आदि उत्पत्ति) को 'प्रवृत्तिस्त्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है । प्रवृत्ति से यहाँ प्रथम उत्पत्ति अर्थ लिया गया है ।

Scanned by CamScanner

परिग्रहादिति–जनपदोद्ध्वंसनीय नामक अध्याय में 'भृश्यति तु कृतयुगे' इत्यादि के द्वारा परिग्रह से ज्वरादि की प्रवृत्ति को बताया गया है तथा रुद्र के दारुण कोप से ज्वर की उत्पत्ति को बताया गया है । जिसका विवेचन निदान-स्थान में पहले ही 'ज्वरस्तु खलु महेश्वरकोपप्रभवः' के द्वारा संक्षेप में किया गया है ।

'पूर्वमिति' का अभिप्राय-रुद्रकोप से ज्वर की प्रथम उत्पत्ति हुई, से है । 'परिग्रहप्रभवा' से ज्वर की द्वितीय प्रवृत्ति को दर्शाया गया है ।

विशेष (Comments)–परिग्रह से यहाँ ममता अर्थ लिया गया है । यहाँ ज्वरोत्पत्ति में दो कारण बताये गये हैं–१. रुद्र कोप, २. परिग्रह । रुद्र कोप ज्वर की आदि उत्पत्ति का हेतु है ।

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम् । दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ।।१५।।
तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनः । पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः ।।१६।।
पुनर्महेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः । यज्ञे न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ।।१७।।
ऋचः पशुपतेर्याश्च शैव्य आहुतयश्च याः । यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं चैव स इष्टवान् ।।१८।।
अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम् । रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ।।१९।।
सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः । बालं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम् ।।२०।।
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः । दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ।।२१।।
अथेश्वरं देवगणः सह सप्तर्षिभिर्विभुम् । तमृग्भिरस्तुवन् यावच्छैवे भावे शिवः स्थितः ।।२२।।
शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः । भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नवलोचनः ।।२३।।
ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात् । क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ।।२४।।
तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि । जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ।।२५।।

ज्वरोत्पत्ति की कथा–द्वितीय युग (त्रेता युग) में भगवान् शिव अक्रोध व्रत धारण किये थे । हजारों वर्षों से जो असुर तपस्या में विघ्न उत्पन्न करके ही अपना भोजन प्राप्त करते थे । अर्थात् हजारों वर्षों से जिन असुरों का स्वभाव ही तपस्या में विघ्न उत्पन्न करना था, महात्माओं की तपस्या में विघ्न उत्पन्न करने के लिए इधर-उधर दौड़ने लगे । यद्यपि इन्द्र, असुरों के विनाश करने में सक्षम थे, फिर भी उन्होंने असुरों के इस कृत्य को देखते हुए भी उपेक्षा की । उसी समय दक्ष प्रजापति द्वारा एक यज्ञ किया गया । जिसमें देवताओं के कहने पर भी भगवान् शिव का भाग नहीं रखा गया । यह यज्ञ सिद्धिप्रदान करने हेतु भगवान् शिव के मन्त्र जिनका उल्लेख वेदों में है एवं आहुतियों के प्रयोग के बिना ही किया गया । भगवान् शिव के अक्रोध व्रत पूर्ण होने पर जब उन्हें दक्ष प्रजापति के इस यज्ञ व्यतिक्रम का ज्ञान हुआ तब वे (भगवान् शिव) जो आत्मविद् थे, अपने रौद्र भाव को आगे करके अपने ललाट में स्थित तृतीय नेत्र को खोलकर उन सभी असुरों को भस्म कर दिया । इसके बाद भगवान् शिव ने अपनी क्रोधाग्नि से संतप्त बालक वीरभद्र को उत्पन्न किया । इसके बाद उस बालक द्वारा यज्ञ नष्ट कर दिया गया । यज्ञ के नष्ट हो जाने पर देवगण दुःखी एवं दाह से व्यथित होकर सभी दिशाओं में इधर-उधर भागने लगे । इसके बाद सभी देवगण सप्तर्षियों के साथ ऋग्वेद की ऋचाओं के द्वारा भगवान् शिव की स्तुति तब तक की जब तक कि वे शान्त भाव में स्थित न हो गये । अर्थात् शिव के शान्त भाव में आने तक उनकी स्तुति देवगणों द्वारा की जाती रही । भगवान् प्राणिमात्र के कल्याण हेतु जब अपने शिव रूप में स्थित हो गये, यह जानकर, क्रोधाग्नि ही जिसका भस्म है, जिसके तीन सिर व नौ नेत्र हैं, जिसका शरीर अग्नि रूपी ज्वालाओं से व्याप्त है, जिसका रूप भयंकर है, जिसका उदर एवं जंघा छोटा है । इन गुणों से युक्त क्रोधाग्नि (वीरभद्र) हाथ जोड़कर भगवान् शिव से बोला-हे भगवन् ! अब मुझे क्या करना है ? इसके बाद शिव ने उस क्रोध से कहा- 'लोक में तुम ज्वर के रूप में उत्पन्न होगे, प्राणियों की उत्पत्ति एवं मृत्यु के समय तथा आहार-विहार में अपचार के कारण तुम प्राणियों के शरीर में प्रवेश करोगे ।

चक्रपाणि–परिग्रह से ज्वरोत्पत्ति का विवेचन विस्तार से बताया गया है तथा रुद्र कोप से ज्वरोत्पत्ति का उल्लेख यहाँ संक्षेप में वर्णित है । 'द्वितीये हीत्यादि' के द्वारा यहाँ रुद्र कोप का वर्णन किया गया है ।

विना क्रोधं चर्यते यत् तदक्रोधव्रतम्–जिस अनुष्ठान को बिना क्रोध के पूर्ण किया जाय उसे 'अक्रोध व्रत' कहा जाता है ।

तपोविघ्नाशनाः–जिनकी आजीविका ही तप में विघ्न डालने से चलती हो । अर्थात् ऐसे असुर गण जिनका कार्य ही तपस्या में विघ्न उत्पन्न करना था । अर्थात् काम करने वाले लोगों को दुःखी करके जो प्रसन्न होते थे ।

ध्रुवमिति-अवश्यदेयम्–यज्ञ में जिस माहेश्वर का भाग अवश्य ही देय है, उनके भाग को दक्षप्रजापति द्वारा किये गये यज्ञ में नहीं दिया गया ।

सत्रनाशनम्–यज्ञनाशनम्-यज्ञ के विनाश हेतु भगवान् शिव ने अपने रौद्र भाव को आगे करके तृतीय नेत्र से क्रोधाग्नि द्वारा संतप्त बालक को उत्पन्न किया, जो बाद में दक्ष के यज्ञ को नष्ट कर दिया ।

Scanned by CamScanner

शैवे इति–कल्याणकरे (शिव भाव में स्थित होना) अर्थात् क्रोध के शान्त हो जाने पर।

अपचारान्तरेष्विति–ज्वरोक्त निदानों के सेवन करने पर। सत्ययुग में भी प्राणियों के जन्म व मरण के समय मोह रूप ज्वर की विद्यमानता थी। द्वितीय युग (त्रेता युग) में भी लोग जन्म एवं मृत्यु के समय ज्वर से पीड़ित थे। इन हेतुओं के अतिरिक्त अपचार द्वारा भी लोग ज्वर से आक्रान्त होंगे, ऐसा अर्थ करना चाहिए। अथवा सत्ययुग में जन्म व मरण काल में दोष रहित (पाप रहित) पुरुषों को ज्वर नहीं होता था, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

कल्याणकरस्वरूपस्यापि शिवस्य प्राणिपीडाकरज्वरविसर्गः–कल्याणकारी स्वरूप में शिव के स्थित होने के बाद भी ज्वर विसर्ग (ज्वर का मोक्ष) काफी पीड़ा दायक होता है। ऐसा प्राणियों के अधर्म के प्रभाव से ज्वर मोक्ष की पीड़ा अवश्य ही भोगनी पड़ती है, ऐसा मानना चाहिए। ॥१५-२५॥

संतापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। ज्वरप्रभावो, जन्मादौ निधने च महत्तमः ॥२६॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः।

ज्वर का प्रभाव (Manifestation of Jvara)–संताप (तापक्रम का बढ़ना), अरुचि (Anorexia), तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), अंगमर्द (Malaise), तथा हृदय में व्यथा का होना; ये लक्षण (प्रभाव) ज्वर में पाये जाते हैं। प्राणियों के जन्म एवं मृत्यु के समय यह तम के रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार ज्वर की प्रकृति, प्रवृत्ति एवं प्रभाव का उल्लेख कर दिया गया।

चक्रपाणि–संताप इत्यादि के द्वारा यहाँ ज्वर के प्रभाव का अभिधान किया गया है। प्रभाव से यहाँ ज्वर के अनौपाधिक (सामान्य) शक्ति को बताया गया है। इस प्रकार संताप आदि का उपदेश प्रभाव के ही अन्तर्गत गृहीत है। अर्थात् संताप आदि लक्षण सभी प्रकार के ज्वरों में पाये जाते हैं, सामान्यतः ताप की वृद्धि पित्त दोष के कारण होती है। यद्यपि वात कफज ज्वर में भी अनुष्ण रूप ताप पाया ही जाता है तथा प्राणियों के जन्म के प्रारम्भ एवं मृत्यु के समय महामोह रूप ज्वर (unconciousness) पाया जाता है। 'प्रकृतिश्चेत्यादि के द्वारा प्रकरण का संग्रह किया गया है।

'इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता' के द्वारा प्रस्ताव का संग्रह किया गया है। इसी प्रकार अध्याय के अन्त में अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया जायेगा।

एतच्च पुनः पुनः संग्रहकरणं तंत्रयर्मत्वाच्छिष्यबुद्धिसमाधानार्थं कृतं ज्ञेयम्–यहाँ विषयों का बार-बार संग्रह करना तन्त्र का गुण होने से शिष्य की बुद्धि के समाधानार्थ किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। ॥२६॥

निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः ॥२७॥

ज्वर के कारण–निदान-स्थान में ज्वर के ८ कारणों को विभागशः पूर्व में ही बताया जा चुका हैं।

चक्रपाणि–निदान इत्यादि के द्वारा ज्वर के कारणों को बताया गया है। **अष्टौ कारणानीति**-रूक्षादि तीन ज्वरारम्भक वातादि दोषों को प्रकुपित करने के कारण कहे गये हैं तथा "यथोक्तानां हेतूनां मिश्रिभावात्" (नि.अ. १) इत्यादि के द्वारा द्वन्द्वज तथा सन्निपातज कारण को बताया गया है। आगन्तुज कारणों को भी वहीं स्पष्ट कर दिया गया है।

अन्य आचार्य वातादि से ही ज्वरारम्भक संप्राप्ति की उपलब्धता को "इह खल्वष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः संजायते" (नि.अ. १) [निश्चय ही इन आठ कारणों द्वारा ज्वर उत्पन्न होता है।] के द्वारा ग्रहण करते हैं, अर्थात् वातादि से इन्हीं आठ कारणों का ग्रहण करते हैं।

प्रकृतिशब्देन तु बीजभूता अव्यवहितसंबद्धा दोषा गृह्यन्ते–प्रकृति शब्द से यहाँ व्याधि के सन्निकृष्ट कारण रूप दोषों का ग्रहण है। अर्थात् प्रकृति शब्द से यहाँ वातादि दोषों का ग्रहण है, जिसका सीधा सम्बन्ध व्याधि उत्पत्ति से होता है। रूक्षादि हेतु तो दोषों के प्रकोप का कारण होता है, न कि ज्वर का कारण होता है, ऐसा कुछ लोगों का विचार है। उस पक्ष के अनुसार रूक्षादि का ग्रहण ज्वर के हेतु के रूप में नहीं होना चाहिए।

रूक्षादीनां तु ज्वरे हेतुत्वं दोषप्रकोपावान्तरव्यापारत्वेन भवत्येव–यद्यपि रूक्षादि कारण दोष प्रकोप के अवान्तर व्यापार से ज्वर का हेतु तो होता ही है। अर्थात् ज्वरोत्पत्ति का विप्रकृष्ट कारण रूक्षादि हेतु होता है। यथा-याग स्वर्गकर्तृत्व का कारण है, अर्थात् याग से उत्पन्न धर्म के प्रभाव से स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

व्याधियों के दो कारण होते हैं-१. व्यवहित (विप्रकृष्ट) कारण, यथा- रूक्षादि हेतु, २. प्रत्यासन्न कारण (सन्निकृष्ट कारण), यथा- वातादि दोष।

Scanned by CamScanner

निदाने इति–इस पद से ही 'पूर्व में यह विषय स्पष्ट किया जा चुका है।' यह भाव प्राप्त हो जाता है फिर भी 'पूर्वोक्तानि' इति पद का यहाँ प्रयोग होना इस प्रकरण में ज्वर-निदान के व्युदासार्थ हुआ है। अर्थात् ज्वर-चिकित्सा में आचार्य निदान का विवेचन नहीं करेंगे, यह भाव है। ॥२७॥

आलस्यं नयने साम्ने जृम्भणं गौरवं क्लमः। ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥२८॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः। शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥२९॥

ज्वर के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)–ज्वर में अधोलिखित पूर्वरूप पाये जाते हैं–

१. आलस्य (Laziness), २. नेत्रों से स्राव निकलना (Lachrymation), ३. जम्भाई (yawning), ४. शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body), ५. क्लम (Exhaustion), ६. अग्नि, आतप, हवा एवं जल के प्रति कभी रुचि होना तथा कभी अरुचि उत्पन्न होना, अर्थात् अग्नि, आतप आदि का सेवन रोगी को क्षण भर तक अच्छा लगता है, क्षण में ही द्वेष हो जाता है। ६. अविपाक (ग्रहण किये हुए भोजन का उचित पाक न हो पाना), ८. आस्यवैरस्य (मुख के स्वाद में विपरीतता का आना), ९. बल एवं वर्ण की कमी का होना (Depletion in strength and complexion), १०. शील (स्वभाव Habit) में अल्प रूप में विकृति का आना।

चक्रपाणि–यद्यपि ज्वर-निदान प्रकरण में ज्वर के पूर्वरूप का विवेचन किया जा चुका है, फिर भी इस प्रकरण में उन्हीं पूर्वरूपों का उल्लेख किया गया है जो सामान्यतया प्रायः पाये जाते हैं। ॥२८-२९॥

केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते। शरीरं, बलकालस्तु निदाने संप्रदर्शितः ॥३०॥

ज्वर के अधिष्ठान (Site of Manifestation)–ज्वर का अधिष्ठान मन युक्त शरीर है। ज्वर के बलकाल का विवेचन निदानस्थान में किया गया है।

चक्रपाणि–केवलमिति कृत्स्नं, केवलं से सम्पूर्ण शरीर अर्थ लिया गया है। इसी के अन्तर्गत बाह्य इन्द्रियों का भी समावेश कर लिया गया है। इस प्रकार ज्वर द्वारा देह व मन निश्चय ही तप्त होता है, यह कहा गया।

बलस्याभिवृद्धिलक्षणस्य ज्वराभ्यागमनलक्षणस्य वा कालो बलकालः–ज्वर के लक्षणों के बल में वृद्धि अथवा ज्वर के आगमन का काल 'बलकाल' कहा जाता है। इसका विवेचन निदान-स्थान १ में **''दिवसान्ते घर्मान्ते जरणान्ते वा ज्वरागमनमभिवृद्धिर्वा''** के द्वारा किया गया है। [वातिक ज्वर का वेग या तीव्रता दिन के अन्त, वर्षा ऋतु एवं भोजन पाक काल के अन्त में बढ़ जाता है।]

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं संतापो देहमानसः। ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते ॥३१॥

ज्वर के प्रत्यात्म लक्षण–शरीर व मन में संताप का होना, ज्वर के प्रत्यात्म लक्षण हैं। ज्वर से आवेशित प्राणी के शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं है जो ज्वर द्वारा तप्त न होता हो।

चक्रपाणि–'ज्वरप्रत्यात्मिकलिङ्गमित्यादि' के द्वारा यहाँ ज्वर के आत्म लक्षणों का उल्लेख किया गया है। 'आत्मलिङ्ग' से ज्वर के अव्यभिचारी लक्षणों का ग्रहण है, अर्थात् यहाँ ज्वर के उन्हीं लक्षणों का वर्णन है जो सभी प्रकार के ज्वरों में निश्चित रूप से पाये जाते हैं। यहाँ संताप शब्द से सामान्यतः पीड़ा अर्थ लिया गया है। इसका ग्रहण देह विशेषण के अभिधान से ताप लक्षण के द्वारा ही हो जाता है। शारीरिक संताप का अर्थ शरीर के तापक्रम का सामान्य से अधिक होना, लिया गया है। इसी क्रम में मन एवं इन्द्रिय संताप का अभिप्राय 'मानसिक बैचेनी' है जिसका उल्लेख 'वैचित्त्यं' इत्यादि के द्वारा किया गया है।

ज्वरप्रभावे संतापोऽचिन्त्यकार्यतयोक्तः–यहाँ संताप का उल्लेख ज्वर के प्रभाव के रूप में हुआ है। अर्थात् ज्वर के प्रभाव के रूप में संताप का पाया जाना, इसके अचिन्त्य कार्य के कारण कहा गया है। यहाँ संताप का सम्बन्ध ज्वर के साथ अव्यभिचारी होने से विशेष है। अन्य आचार्य अरुचि आदि लक्षणों से युक्त संताप को ज्वर के **प्रभाव** के रूप में स्वीकार करते हैं तथा अरुचि आदि लक्षणों से रहित संताप को ज्वर के आत्म लक्षण के रूप में ग्रहण करते हैं। संताप ही ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण है, इसके हेतु को 'ज्वरेणेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। भूत शब्द से यहाँ प्राणिमात्र का ग्रहण है। ज्वर मात्र मनुष्य को ही तप्त नहीं करता अपितु सभी प्राणि ज्वर से तप्त होते हैं, अर्थात् संताप का ज्वर से अव्यभिचारी सम्बन्ध है। इस पक्ष में हाथी आदि पशुओं में भी कूट, पाकल आदि शब्दों से अभिधेय ज्वर में अन्तर्दाह रूप वेदना होती है, ऐसा जानना चाहिए। किंवा, अत्र देहसंतापौ मिलितौ वा पर्यायेण वा ज्वरात्मलिङ्गं भवेतां–अथवा यहाँ देह व मन का संताप दोनों मिलित रूप में या पर्याय रूप में ज्वर का आत्मरूप होना चाहिए। यहाँ तक पर्याय रूप में नहीं हैं, वैसा होने पर कुछ ज्वरों में देहसंताप ही पाया जाता है तथा कुछ में मानस संताप पाया जाता है। अतः इन दोनों में व्यभिचार होने से अव्यभिचारी लिङ्गत्व नहीं है। इसलिए मिलित रूप से देह व मन में संताप का होना ज्वर के आत्म लक्षण के रूप में वाच्य है। ऐसा व्यवस्थापित होने पर कैसे सभी ज्वरों में देह व मन में ताप होता है, इसे ही यहाँ 'ज्वरेणेत्यादि' के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

ज्वरेण भूतमाविशता नहि किञ्चिच्छरीरं मनो वा न तप्यते–जीवों में ज्वर उत्पन्न होने पर उनके शरीर व मन का कोई भी ऐसा भाग नहीं है जिसमें उपताप न होता हो। अर्थात् सभी प्रकार के ज्वरों में देह (Body) व मन (Mind) में ताप उत्पन्न होता है, यह भाव है। इस पक्ष में शारीर व मानस ज्वर भेद के कथन में 'शारीरो जायते पूर्वं देहेत्यादि' के द्वारा शारीर ज्वर से मात्र मन के आश्रय का कथन अल्प काल की दृष्टि से कहा गया है। उस अल्प काल में ज्वर उभय तापक न होते हुए भी बाद के काल में उभयतापी धर्म के कारण देह व मन दोनों को प्रभावित करता है, यथा-प्रथम क्षण में उत्पन्न द्रव्य निर्गुण होता है, बाद में उसमें गुणों की उत्पत्ति होती है। यह कथन द्रव्य लक्षण के प्रसंग में कहा गया है।

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः। पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव वा ।।३२।।
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ।।३३।।
पुनः पञ्चविधौ दृष्टो दोषकालबलाबलात्। संततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ।।३४।।
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः। भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ।।३५।।

ज्वर के भेद तथा लक्षण–विधि भेद से ज्वर के दो भेद होते हैं–१. शारीरिक, २. मानसिक। सौम्य तथा आग्नेय भेद से ज्वर पुनः दो प्रकार का होता है। इसी तरह १. अन्तर्वेग, २. बहिर्वेग के आधार पर पुनः ज्वर के दो भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार १. प्राकृत, २. वैकृत, तथा १. साध्य व २. असाध्य के आधार पर ज्वर के दो-दो भेद हो जाते हैं। यही ज्वर पुनः दोष काल एवं बलाबल के आधार पर पाँच प्रकार के होते हैं–१. सन्तत, २. सतत, ३. अन्येद्युष्क, ४. तृतीयक, ५. चतुर्थक। धातुओं के आश्रय भेद से ज्वर सात प्रकार का एवं कारण भेद से पुनः आठ प्रकार का हो जाता है।

चक्रपाणि–'द्विविध इत्यादि' के द्वारा ज्वर के विधिभेद को बताया गया है। इन भेदों का विवेचन आगे किया जायेगा।

सौम्य इति शीतकारणारब्धत्वेन सोमदेवताकः–शीतजन्य कारणों से उत्पन्न होने वाला ज्वर जिसमें सोमदेव अधिष्ठित रहते हैं 'सौम्य' कहा जाता है।

आग्नेयोऽप्युष्णकारणारब्धत्वेनाग्निदेवताकः –उष्ण कारणों से उत्पन्न होने वाला ज्वर जिसमें अग्नि देव अधिष्ठित रहते हैं आग्नेय कहा जाता है।

पुनः पञ्चविधो दृष्ट इति–ज्वर पुनः पाँच प्रकार के होते हैं। सभी ज्वर इन पाँच भेदों द्वारा विभेदित नहीं होते। प्रायः सन्निपात ज्वर के ये पाँच भेद हैं, कहा भी गया है–"प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः"। अतः वातादि ज्वरों के संतत आदि भेद नहीं किये गये हैं। ये भेद ज्वरागमन काल की दृष्टि से किये गये हैं। जो ज्वर काल के अनुसार नियत नहीं है। अर्थात् जिनके आगमन का काल नियत नहीं है, वे संतत आदि से भिन्न ही हैं। इसलिए जो ज्वर दोष एवं काल के बलाबल के अनुसार उत्पन्न होते हैं, वही पाँच प्रकार के होते हैं, यही वाक्य का अभिप्राय है।

दोषकालबलाबलादिति दोषकृतात् कालबलाबलात्–दोषकृत काल के बलाबल से, यहाँ काल के बलाबल का अभिप्राय ज्वर की वृद्धि एवं कमी के काल से है। अर्थात् व्यक्ति में ज्वर की वृद्धि एवं कमी किस समय होती है। संतत ज्वर में बलवान दोषों के द्वारा ज्वर की वृद्धि सात, दस एवं बारह दिन तक रहती है। अर्थात् इन कालों में ज्वर अत्यन्त वृद्ध रहता है, यह नियम है। (ज्वर का बल इन कालों में प्रकृष्ट रहता है।)

सततक ज्वर में संतत की तुलना में दोषों के अल्प बल होने से ज्वर का वेग कम होता है। सततक ज्वर अहोरात्रि (दिन-रात, २४ hours) में दो बार आता है, लेकिन यह ज्वर अन्येद्युष्क आदि की अपेक्षा बलवान होता है। इसी प्रकार अन्येद्युष्क आदि ज्वर के काल की भी व्याख्या करनी चाहिए।

किंवा, दोषकालो दुष्टिकालो ज्वरकाल इत्यर्थः –अथवा दोष काल से दोषों की दुष्टि का काल अथवा ज्वर की वृद्धि का काल अर्थ गृहीत है। उसकी अर्थात् दोषों के बलाबल से प्रकर्ष अथवा अपकर्ष अर्थ लिया गया है। दोषबल-दोषों का बली होना (जिस समय शरीर में दोषों के बल की वृद्धि होती है।), दोष अबल-दोषों के बल में क्षीणता का आना (जिस समय दोषों का बल घटता है।) अर्थात् ज्वर की वृद्धि या क्षीणता का काल दोषबलाबल काल कहा जाता है। इस प्रकार काल के प्रकर्ष एवं अपकर्ष के नियमों की व्याख्या कर दी गई।

अन्य आचार्य दोषकाल से दोष एवं काल का ग्रहण करते हैं तथा इनके बलाबल को 'दोषकालबलाबल' कहते हैं। अर्थात् इससे दो अर्थ ग्रहण करते हैं १. दोष का बली होना एवं निर्बल होना, २. काल का बलवान होना एवं दुर्बल होना। इस प्रकार दोष एवं काल दोनों का बली (बलवान) होना संतत ज्वर में होता है, कहा भी गया है–**"कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि संततम्"** [काल, दूष्य एवं प्रकृति का दोष के तुल्य होना संतत ज्वर का कारण होता है।]

Scanned by CamScanner

दोष काल के बलत्व एवं अबलत्व का विवरण शास्त्र में नहीं दिया गया है। अर्थात् इसका विवेचन इस शास्त्र में नहीं किया गया है। दोष का निर्बल होना सप्रत्यनीक होने से सततक आदि ज्वरों में पाया जाता है तथा सततक आदि ज्वरों के वेग में कमी होने में काल की दुर्बलता भी होती है। इस पक्ष के अनुसार दोषकाल का बलाबल होना सभी ज्वरों में ही पाया जाता है अथवा व्याप्त है। अतः संततादि ये पाँच ज्वर के प्रकार नियमतः संभव नहीं हैं। अर्थात् दोषकाल के बलाबल भेद से ज्वर के पाँच प्रकार संभव नहीं होना चाहिये। अन्य आचार्य व्युत्क्रम (विपरीत) अभिधान द्वारा 'दोषबलाबल-कालात्') के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं। यह इसकी उचित व्याख्या नहीं है।

तृतीयकचतुर्थकाविति–समास निर्देश से तृतीयक चतुर्थक के ही साथ आगन्तुज अनुबन्धत्वादि साधारण धर्म के योग से इसी में सभी का समावेश किया गया है। ॥३२-३५॥

शारीरो जायते पूर्वं देहे, मनसि मानसः। वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥३६॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं संतापलक्षणम्।

शारीरिक एवं मानसिक ज्वर–जो ज्वर शरीर में पहले उत्पन्न होता है उसे देहज या शारीरिक एवं जो मन में पहले उत्पन्न होता है उसे मानसिक कहा जाता है।

मानस संताप के लक्षण–मानस संताप में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं।

१. वैचित्त्य (किसी काम में मन का न लगना-(Mental unstability)

२. अरति (disliking of every thing)

३. ग्लानि (exhaustion) [शरीर में थकावट का होना।]

इन्द्रिय ताप के लक्षण–इन्द्रियों में विकृति का होना अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का ग्रहण न कर पाना।

चक्रपाणि–'पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम्' इति प्रश्न का उत्तर यहाँ 'शारीर इत्यादि' के द्वारा दिया गया है।

पूर्वमिति–शब्द से शारीरिक ज्वर की उत्पत्ति सर्वप्रथम पहले शारीरिक दोषों में विकृति आने के कारण होता है, कालान्तर में इसका सम्बन्ध मन से हो जाता है, अर्थात् बाद में इसका सम्बन्ध मानसिक दोषों से होता है। यही स्थिति मानसिक ज्वर की भी होती है। अर्थात् यह पहले मन को प्रभावित करता है, बाद में इसका सम्बन्ध शारीरिक दोषों से हो जाता है। यद्यपि सभी ज्वरों का अधिष्ठान देह एवं मन ही होता है, फिर भी जो ज्वर देहाश्रयी होता है वह प्रथमतः बलवान शारीरिक दोषों से उत्पन्न है तथा उसी दोष की चिकित्सा द्वारा चिकित्स्य भी होता है, इसे ही विवेचित करने के लिए यहाँ ज्वर के शारीरिक एवं मानसिक भेदों का उल्लेख किया गया है। शारीरिक ज्वर में संताप व्यक्त होता है अर्थात् रोगी का तापक्रम बढ़ा हुआ मिलता है, यह दिखाई देता है। मानसिक ज्वर में यह संताप किस प्रकार का होता है, इसे यहाँ 'वैचित्त्यमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। मन में बेचैनी का होना, अरति (dis satisfaction) तथा ग्लानि का होना, मानस संताप के लक्षण हैं। यहाँ ताप शब्द पीड़ा वाची है। अर्थात् मन में कष्ट का अनुभव होता है। मानस ताप की प्रस्तावना द्वारा 'देहेन्द्रियमनस्तापी' से ज्वर में जो इन्द्रिय ताप उत्पन्न होता है उसी को यहाँ 'इन्द्रियाणां चेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

वैकृत्यमिति स्वभावान्यथात्वं–इन्द्रियों का स्वभाव बदल जाना। अर्थ ग्रहण से उसका अनुमान करना चाहिए। अर्थात् विकृत कार्यों के आधार पर इन्द्रियों की विकृति का ज्ञान करना चाहिए। ॥३६॥

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः ॥३७॥
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः।

सौम्य एवं आग्नेय ज्वर–जिस ज्वर में वात-पित्त की अधिकता होती है उसमें शीत एवं जिसमें वात कफ की उल्बणता होती है उसमें उष्ण तथा जिसमें दोनों का संयोग होता है उसमें उष्ण-शीत दोनों प्रकार के पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है।

चक्रपाणि–यहाँ ज्वर के सौम्य व आग्नेय भेदों को प्रतिलोम व्याख्या क्रम में 'वातपित्तात्मक इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

वातपित्तात्मक इति–वात एवं पित्त के कारणों से उत्पन्न। यहाँ मात्र वात से अथवा कफ से उत्पन्न होने वाले ज्वर का स्वभाव शीत व सौम्य होने के कारण रोगी उष्ण पदार्थों की इच्छा करता है। यही इच्छा वातकफात्मक ज्वर में भी व्यक्त होती है। इसी प्रकार पित्तात्मक ज्वर उष्ण गुण युक्त होने से, इसमें रोगी शीतल पदार्थों की इच्छा व्यक्त करता है। तद्वत वातपित्तात्मक ज्वर में वात के शीत एवं पित्त के उष्ण स्वभाव होते हुए भी ज्वर का उष्ण स्वरूप बली होने के कारण व्यक्ति शीत पदार्थों की अभिलाषा करता है। इसी का विवेचन यहाँ 'वातपित्तात्मकः शीतमिति' के द्वारा हुआ है। वातपित्त ज्वर में विपरीत गुणों का दृश्यमान होना वायु के संयोग के प्रभाव के कारण है, तो

Scanned by CamScanner

क्या वायु, कफ से संयुक्त होने पर भी विपरीत अर्थ (विषय) की इच्छा होती है, यह शङ्का है। जिसे यहाँ 'उष्णं वातकफात्मक इति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

वातकफात्मको विशेषेणोष्णमिच्छतीत्यर्थः–वातकफात्मक ज्वर का रोगी विशेष रूप से उष्ण पदार्थों की इच्छा व्यक्त करता है।

व्यामिश्रलक्षण इति–मिश्रित दोषों के लक्षण से यहाँ पूर्व वर्णित वातकफात्मक एवं वातपित्तात्मक ज्वर के लक्षणों से भिन्न लक्षणों, यथा-कफपैत्तिक एवं सन्निपातिक का ग्रहण किया गया है। इसमें उष्णशीताभिप्रायता (उष्ण एवं शीत दोनों प्रकार के पदार्थों की सेवन की इच्छा) पायी जाती है। यह लक्षण सौम्य व आग्नेय ज्वरों के लक्षणों से भिन्न है, यथा- दो अंगुली को छोड़कर तीन अंगुलियाँ। यही व्याख्या शारीर व मानस दोषों के संयुक्त होने पर चिन्तनीय है। 'ज्वर युक्त पुरुष में इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है' यह कथन उपचार की दृष्टि से किया गया है।

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।।३८।।
दाहकृत्तेजसा युक्तः, शीतकृत् सोमसंश्रयात्।

वायु का योगवाही गुण–वायु परम (अत्यन्त) योगवाही होता है। दोनों (पित्त एवं कफ) के साथ संयोग से दोनों के कार्यों को करता है। पित्त के साथ वायु का संयोग होने पर पित्त के तेज से युक्त होकर शरीर में दाह उत्पन्न करता है तथा कफ के साथ होने पर शीत गुण को बढ़ाता है।

चक्रपाणि–वातपित्त ज्वर में शीताभिप्रायता के प्रतिपादन हेतु वायु के योगवाही गुण को यहाँ 'योगवाह इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

योगाद्योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः–संयोग के कारण गुणों का वहन करने से 'योगवाह' होता है। अर्थात् जिसके संयोग से गुणों की वृद्धि हो जाती है, यथा-वायु का संयोग कफ से होने पर कफ के गुणों की वृद्धि का होना। इसे उत्प्रेरक भी कहा जा सकता है।

परमिति–अत्यर्थ (अत्यधिक)। संयोगादिति-उष्ण एवं शीत के संयोग से। अर्थात् उष्ण गुणों के साथ संयुक्त होने पर उष्ण गुणों की अत्यधिक वृद्धि का होना तथा शीत के साथ संयोग होने पर शीत गुण का अत्यधिक बढ़ जाना।

उभयार्थकृदिति–शीत एवं उष्ण दोनों ही कार्यों को करना। वायु दोनों ही गुणों के साथ संयोग से उभय कार्यों को करती है। इसी का स्पष्टीकरण यहाँ 'दाहकृदित्यादि' के द्वारा दिया गया है। यहाँ 'पित्तेन' का प्रयोग न कर 'तेजसा इति' का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय जिस प्रकार बाह्य आतप आदि के साथ वायु संयुक्त होकर दाह या उष्णता को बढ़ा देती है तथा जल आदि के साथ संयुक्त होकर शीत (ठण्ड) को बढ़ा देती है, से है। यहाँ इस लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त का कथन विषय स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

शीतकारित्वं तु वायोः शीतत्वेनैव यत् सिद्धं तत् सोमरूपकफपानीयादियोगाद्विशेषेण भवतीति ज्ञेयम्–वायु के शीत गुण की विशेष वृद्धि सोमरूप कफ के जलीय अंश के विशेष संयोग से होती है, ऐसा जानना चाहिए। यथा-वर्षा के होने पर या वर्षा के साथ ही तेज हवायें चलें तो उस समय वर्षा से उत्पन्न शीतता की तुलना में वर्षा संयुक्त वायु की शीतता ज्यादा तीव्र होती है। ॥३८॥

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।।३९।।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः । अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।।४०।।
संतापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् । बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।।४१।।

ज्वर के अन्तर्वेग के लक्षण–१. शरीर में दाह का उत्पन्न होना (आन्तरिक दाह), २. अत्यधिक प्यास का लगना, ३. प्रलाप-असंबद्ध बोलना (ज्वर की तीव्रावस्था में रोगी प्रायः बकबकाने लगता है।) ४. श्वास का बढ़ जाना, ५. भ्रम (चक्कर का आना-सिर का घुमना), ६. अस्थि एवं संधियों में शूल का होना, ७. अस्वेद (पसीने का न निकलना), ८. दोष एवं मलों का अवरुद्ध हो जाना। उपर्युक्त लक्षण अन्तर्वेग ज्वर में पाये जाते हैं।

ज्वर के बहिर्वेग के लक्षण–१. संताप (तापक्रम का बढ़ना), २. तृष्णा आदि लक्षणों का अल्प रूप में मिलना, अर्थात् तृष्णा, प्रलाप, श्वासवृद्धि आदि लक्षणों का मृदु होना। ये लक्षण बहिर्वेग ज्वर में पाये जाते हैं। यह ज्वर सुख-साध्य होता है।

चक्रपाणि–अन्तर्दाह इत्यादि के द्वारा ज्वर के अन्तर्वेग एवं बहिर्वेग को स्पष्ट किया गया है। ॥३९-४१॥

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः । उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति ।।४२।।
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते । वर्षास्वम्लविपाकाभिरद्भिरोषधिभिस्तथा ।।४३।।
संचितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा । ज्वरं संजनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः ।।४४।।

Scanned by CamScanner

प्रकृत्यैव विसर्गस्य तत्र नानशनाद्भयम् । अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः ।।४५।।
हेमन्ते, सूर्यसंतप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति । वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते ।।४६।।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ।

कफ एवं पित्त ज्वर की सुख-साध्यता–वसन्त एवं शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृत कफ एवं पित्त ज्वर सुख-साध्य होता है। उष्ण गुण युक्त पित्त, वर्षा ऋतु के अम्ल गुण के कारण विशेष वृद्ध होकर शरद् ऋतु की उष्णाता द्वारा प्रकुपित हो जाता है। अर्थात् पित्त शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है तथा हेमन्त एवं शिशिर ऋतु में संचित कफ वसन्त ऋतु में प्रकुपित हो जाता है।

प्राकृतपित्तज्वर–वर्षा ऋतु में जल एवं औषधियों के अम्ल विपाक द्वारा संचित पित्त शरद्कालीन आदित्य (सूर्य) के तेज (ताप) द्वारा उद्रिक्त (प्रकुपित) होकर शीघ्र ही पित्त ज्वर को उत्पन्न करता है। इसमें कफ का अनुबन्ध होता है। अर्थात् पित्त के साथ ही कफ भी लगा रहता है। पित्तज्वर विसर्ग काल में उत्पन्न होने के कारण अथवा विसर्ग की प्रकृति के कारण उपवास को सहन करता है। अर्थात् इस ज्वर में लंघन कराया जा सकता है।

प्राकृतकफज्वर–हेमन्त ऋतु में जल एवं औषधियों में मधुर गुण की वृद्धि होती है। अर्थात् इस ऋतु में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों तथा सभी द्रव पदार्थों में मधुर रस की विशेष वृद्धि होती है। अतः इस ऋतु में संचित कफ वसन्त ऋतु में सूर्य के ताप से पिघलकर प्रकुपित हो जाता है। इसलिये वसन्त ऋतु में कफज्वर उत्पन्न होता है। यह ज्वर आदान काल के मध्य में उत्पन्न होने के कारण इसमें वात व पित्त का अनुबन्ध बना रहता है।

चक्रपाणि–प्राकृत इत्यादि से प्रकरणानुसार प्राकृत एवं वैकृत ज्वर का विवरण दिया गया है। यहाँ काल स्वभाव के अनुसार प्रकुपित दोष को 'प्रकृति' कहा गया है। समान जाति होने से दोषों द्वारा उद्भूत ज्वर को प्राकृत कहते हैं। When a Dosa is aggravated because of the nature of the season then it is called Prakriti and the Jvara that is caused by these dosas is called Prākrit (Seasonal) –Baid Bhagvan Das.

कहा भी गया है–**कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः** [काल स्वभाव के अनुसार प्राकृत ज्वर का निर्देश किया गया है] इस प्रकार वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले वातिक ज्वर को प्राकृत होना चाहिए, इसी के निषेध हेतु यहाँ–'सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् वसन्त एवं शरद ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। तु शब्द अवधारणार्थ प्रयुक्त हुआ है। उससे वसन्त एवं शरद ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर ही सुख-साध्य होता है, उसी को यहाँ 'प्राकृत' शब्द से कहा गया है।

वर्षाकालभववातिकस्तु न सुखसाध्य इति–वर्षाकाल के प्रभाव से उत्पन्न होने वाला वातिक ज्वर सुखसाध्य नहीं होता। इसलिये इस ज्वर को प्राकृत नहीं कहा गया है। यहाँ ज्वर की प्राकृत व वैकृत संज्ञा क्रमशः सुखसाध्यता एवं कृच्छ्रसाध्यता का ज्ञापक है।

तद्यदि कृच्छ्रेऽपि वातजे प्राकृतत्वं स्यात्तदा किं प्राकृतव्यवहारेण–कृच्छ्र-साध्य होते हुये भी यदि वातज ज्वर प्राकृत होता तो यहाँ प्राकृत शब्द का प्रयोग किसलिये किया गया है ? इस प्रकरण में वसन्त एवं शरद् में उत्पन्न होने वाले कफ एवं पित्त ज्वर को ही प्राकृत कहा गया है। इन्हीं दोनों का विवेचन 'उष्ण इत्यादि' के द्वारा आगे किया जायेगा, न कि वातिक ज्वर का। इसी विषय को आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–**''सौम्याग्नेयावुष्णाशीतकामौ, जीर्णस्त्रयोदशे । दिने, वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः''** इति। [वसन्त एवं शरद् में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर क्रमशः सौम्य एवं आग्नेय स्वरूप का होता है। इसमें क्रमशः उष्ण एवं शीत पदार्थों की इच्छा होती है। यह ज्वर १३ दिन में जीर्ण हो जाता है। इससे भिन्न वैकृत ज्वर होता है। यद्यपि वसन्त में उत्पन्न होने वाले कफज्वर का विवेचन पूर्व में ही किया जा चुका है, फिर भी प्रतिलोम व्याख्या के आधार पर 'उष्णं' इत्यादि के द्वारा **शरदुद्भवं** का निर्देश किया गया है।

उष्णं पित्तं चितं वर्षासु शरद्युदीर्णेनातपेन कुप्यतीति–वर्षा ऋतु में संचित उष्ण पित्त, शरद ऋतु की गर्मी (आतप) से उदीर्ण (वृद्ध=बढ़कर) होकर प्रकुपित हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए। **शीते इति**-हेमन्त ऋतु में। वर्षा ऋतु में वृद्ध होने वाले पित्त का विवेचन 'उष्णमित्यादि' के द्वारा किया गया है। इसी का स्पष्टीकरण 'वर्षास्वित्यादि' के द्वारा दिया गया है।

ननु यदि वर्षास्वम्लविपाकित्वं सर्वासामोषधीनां, तदा प्रतिद्रव्याभिहितविपाकस्याव्यवस्था स्यात्–यहाँ यह शंका है कि यदि वर्षा ऋतु में सभी औषधियों का विपाक अम्ल होता है तब प्रत्येक द्रव्यों के विपाक की व्यवस्था में अव्यवस्था फैलेगी। अतः यह व्यवस्था अर्थात् वर्षा ऋतु में अम्ल विपाक का होना काल प्रभाव के कारण होता है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसा नहीं है, जिस प्रकार निष्ठापाक में जो द्रव्य मधुर रस वाला है वही अवस्थापाक में अम्ल रस वाला होता है, कहा भी गया है–"परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः (चि.अ. १५) उसी प्रकार यहाँ भी काल के प्रभाव से अम्लविपाक होगा। इसी प्रकार हेमन्त ऋतु में औषधियों एवं जल का विपाक मधुर होता है, इसकी व्याख्या करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

अन्ये तु, वर्षासु वह्निमान्द्याद्विदाहनिमित्तमोषधीनामम्लविपाकित्वमिति ब्रुवते–अन्य आचार्य वर्षा ऋतु में उत्पन्न अग्निमांद्य, विदाह आदि के कारण औषधियों का अम्ल विपाक होता है, ऐसा कहते हैं। कहा भी गया है–**''वर्षासु विदहत्यन्नं----। तदा हि सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते''** इति। ऐसा होने पर भी उनके द्वारा हेमन्त में मधुर विपाकत्व का उल्लेख नहीं किया गया है। इसलिए काल प्रभाव द्वारा ही औषधियों के विपाक में अन्तर आता है, यही व्याख्या ज्यादा उचित है।

आश्विति पित्तस्याशुकारित्वाच्छीघ्रं जनयति–पित्त की आशुकारिता के कारण पित्तज्वर शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है। अनुबल से यहाँ अनुबन्ध रूप कफ का ग्रहण किया गया है, अर्थात् शरद् ऋतु में प्रधान रूप से पित्त का प्रकोप तो होता ही है साथ में अप्रधान रूप से कफ भी लगा रहता है। ज्वर की लंघनीयता को यहाँ 'प्रकृत्यैवेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

विसर्गस्य प्रकृत्येति–विसर्ग काल होने से मौसम में सौम्यता के कारण इस ज्वर (शरद्कालीन) में लंघन कराया जा सकता है। विसर्ग काल सौम्य एवं स्निग्ध होता है। इस काल में पुरुष का बल वृद्ध रहता है। इस प्रकार ज्वर आमाशय समुत्थ होने से लंघन के योग्य पुरुषों को लंघन कराया ही जाना चाहिए। अर्थात् इस ज्वर में बली पुरुषों को लंघन कराना चाहिए। **किंवा, प्रकृत्यैव विसर्गाच्च इति पाठः**–अथवा विसर्गकाल के स्वभाव से ही व्यक्ति का बल बढ़ा रहता है, अतः इस काल में व्यक्ति को लंघन कराया जा सकता है।

तदा प्रकृत्येति–कारण भूत दोष ही लंघन का हेतु है तथा विसर्ग काल में लंघन कराने से बल क्षय का भय नहीं रहता। कहा भी गया है–''कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्'' [पित्त व कफ द्रव धातु होने के कारण इस काल में व्यक्ति लंघन के वेग को सह लेता है।]

हेमन्ते चितः कफो वसन्ते कुप्यतीति–यह कथन करना उचित है, जिसका अभिप्राय हेमन्त में संचित श्लेष्मा वसन्त में प्रकुपित हो जाता है, से है। दोषादि के चय क्रम में शिशिर ऋतु की गणना नहीं की गयी है।

आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदन्विति–वसन्त में उत्पन्न होने वाला कफज्वर के साथ अप्रधान रूप से वात-पित्त भी लगा रहता है। अर्थात् कफ के साथ अनुबन्ध रूप में वातपित्त भी संबद्ध रहता है। यहाँ वसन्त के प्रारम्भ में वात पित्त का बल दुर्बल, मध्य में मध्यम तथा अन्त में प्रबल रहता है। इसी प्रकार शरद् के प्रारम्भ में कफ का बल दुर्बल, मध्य में मध्यम तथा अन्त में प्रबल रहता है। ॥४२-४६॥

आदावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ॥४७॥
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत्।

प्राकृत एवं वैकृत ज्वर की चिकित्सा–विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह शरद् एवं वसन्त ऋतु के आदि, मध्य एवं अन्त में दोषों के बलाबल का विचार कर ही उत्पन्न होने वाले पित्त एवं कफ ज्वर की चिकित्सा करे।

चक्रपाणि–शरद् एवं वसन्त ऋतु में उत्पन्न होने वाले ज्वर में दोषों के बलाबल का ज्ञान कर ही चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए। इसी को यहाँ 'आदावित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ॥४८॥
प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः। हेतवो विविधास्तस्य निदाने संप्रदर्शिताः ॥४९॥

इस प्रकार काल (ऋतु) एवं प्रकृति (स्वभाव) को अधिकृत करके प्राकृत ज्वर का निर्देश किया गया है। अपने स्वाभाविक काल (वर्षा ऋतु) में उत्पन्न होने वाला वातज ज्वर जो प्रायः कृच्छ्र-साध्य होता है तथा भिन्न कालों में उत्पन्न होने वाले कफ एवं पित्तज्वर वैकृत कहे जाते हैं। अर्थात् वसन्त से भिन्न काल में उत्पन्न होने वाला कफज्वर तथा शरद् के अतिरिक्त काल में उत्पन्न होने वाला पित्तज्वर वैकृत कहा जाता है। जबकि स्वाभाविक काल में उत्पन्न होने वाला वातज्वर वैकृत कहा गया है। इस ज्वर के विविध हेतुओं का कथन निदानस्थान में किया गया है।

चक्रपाणि–कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वर इति-इसके द्वारा प्राकृत ज्वर की परिभाषा को बताया गया है। अर्थात् प्राकृत ज्वर उसे कहते हैं जो ज्वर काल एवं प्रकृति के अनुसार होता है।

कालप्रकृतिमिति–काल एवं स्वभाव के अनुसार प्रकुपित दोष। **उद्दिश्येति**-इस कारण को लक्ष्य करके, काल स्वभाव द्वारा प्रकुपित हुए दोषों से उत्पन्न होने वाला ज्वर जो सुख-साध्य हो, प्राकृत कहा गया है। इस आधार पर यहाँ संदेह है कि वर्षा काल के स्वभाव से उत्पन्न होने वाला वातिक ज्वर भी प्राकृत होना चाहिए। इसी का निराकरण यहाँ ''प्रायेणानिलजो दुःख इति'' के द्वारा किया गया है। वर्षा काल में उत्पन्न होने वाला वातज ज्वर काल एवं प्रकृति से समान होते हुए भी कृच्छ्रसाध्य होता है, ऐसा होने में उपक्रमविरुद्धता ही कारण है। चूकि ज्वर आमाशयसमुत्थ व्याधि है, अतः उसमें लंघनादि पथ्य होते हैं। लेकिन यहाँ वातिक ज्वर में लंघनादि व्यवस्था अनुकूल नहीं होती। इसलिए उपक्रमविरुद्धता होने से इसकी चिकित्सा कष्ट साध्य होती है। अतः वातिक ज्वर को प्राकृत नहीं कहा गया है जो ज्वर प्राकृत होते हुए भी सुख-साध्य है उसी को यहाँ प्राकृत कहा गया है, यह भाव है। इस प्रकार सभी वातज ज्वर वैकृत होते हैं। उसी प्रकार

Scanned by CamScanner

वसन्त व शरद के अतिरिक्त काल में उत्पन्न होने वाला कफज तथा पित्तज ज्वर भी विकृत ही होता है। इसी को यहाँ–"कालेष्वन्येषु वैकृत इति" के द्वारा स्पष्ट किया गया है, इसमें **कफजः पित्तजो वा** शब्द शेष है। अर्थात् इसे संयुक्त कर यह वाक्य इस प्रकार बनता है, यथा–'कालेष्वन्येषु वैकृतः कफजः पित्तजो वा'। वैकृत ज्वर के हेतुओं का कथन 'हेतव इत्यादि' के द्वारा किया गया है। अन्य आचार्यों का कथन है कि वर्षा काल में उत्पन्न होने वाला वातिक ज्वर भी प्राकृत ही होता है, किन्तु यह कृच्छ्र-साध्य होता है तथा वसन्त एवं शरद् में उत्पन्न होने वाला प्राकृत ज्वर सुख-साध्य होने के कारण विशेष है। इसी विषय को आचार्य वाग्भट इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, यथा–**"प्राकृतश्चानिलोद्भवः"** (वा.नि.अ.२) [वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाला वातिक ज्वर भी प्राकृत होता है।] ॥४८-४९॥

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः।

साध्य ज्वर के लक्षण–आतुर का बलवान होना, दोषों का अल्प होना अथवा अल्प बली दोषों का होना तथा ज्वर में किसी भी प्रकार के उपद्रवों का न होना, साध्य ज्वर के लक्षण हैं। अर्थात् इस प्रकार का ज्वर साध्य होता है।

चक्रपाणि–'बलवत्स्वित्यादि' के द्वारा यहाँ सुख साध्य ज्वर को स्पष्ट किया गया है। ज्वर के उपद्रवों का कथन यद्यपि यहाँ साक्षात् नहीं किया गया है फिर भी सामान्य उपद्रव से युक्त व्याधियों का यहाँ ग्रहण है। कहा भी गया है, यथा–**"उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः"** [उपद्रव भी निश्चित रूप से रोगोत्तर (व्याधि के बाद) काल में उत्पन्न होने वाला रोग के आश्रित स्थूल अथवा सूक्ष्म व्याधि ही है। रोग के बाद उत्पन्न होने के कारण इसे उपद्रव कहा जाता है। (च.चि.२१) इति।] अन्य तंत्रों में ज्वर के उपद्रवों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है, यथा–**'हिक्काश्वासकासतृष्णाच्छर्दितीसारमूर्च्छाङ्गभेदारोचकाः कृच्छ्रविट्कता चेति दशोपद्रवा ज्वरमुपद्रवन्ति"** [ज्वर में दस उपद्रव पाये जाते हैं–१. कास, २. श्वास, ३. हिक्का, ४. तृष्णा (प्यास का लगना), ५. छर्दि (Vomiting), ६. अतिसार, ७. मूर्च्छा, ८. अंगभेद (Breaking pain in the body), ९. अरोचक (Anorexia), १०. कृच्छ्र विट्कता (कष्ट के साथ पुरीष का निकलता-Having less of faces)].

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥५०॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः।

प्राणनाशक ज्वर–जो ज्वर अनेक बलवान हेतुओं द्वारा उत्पन्न हो तथा बहुत लक्षणों वाला हो। वह शीघ्र ही इन्द्रियों का नाशक तथा प्राणान्तक होता है।

चक्रपाणि–बलवान एवं बहु हेतुओं के द्वारा बहुत से लक्षण ही उत्पन्न होंगे, तब यहाँ क्यों 'बहुलक्षणः' पद का प्रयोग किया गया है ? यह शंका है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैं–पुरुष के अग्नि बल की विशेषताओं के कारण निर्दिष्ट दोषों के कारण रूप में रहते हुए भी अनेक लक्षणों से युक्त व्याधि नहीं उत्पन्न होती तथा संप्राप्ति विशेष के अभाव होने से व्याधि में अनेक लक्षण नहीं उत्पन्न होते। कहा भी गया है, यथा–**"एकं द्वौ त्रीन् बहून् वाऽपि देहे धात्वादियोगतः। दर्शयन्ति विकारांस्तु कुपिताः पवनादयः"** [एक-दो-तीन या अनेक व्याधि के लक्षणों का मिलना कुपित हुए वातादि दोषों के धात्वादि संयोग पर ही निर्भर है।] शीघ्रमिति=उत्पन्न मात्र। ॥५०॥

सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च ॥५१॥
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम्।

तीक्ष्ण ज्वर जो प्रलाप (Delirium), भ्रम (Giddiness) एवं श्वास (asthma) जैसे उपद्रवों से युक्त हो, वह रोगी को सात, दस अथवा बारह दिन में मार डालता है।

चक्रपाणि–'सप्ताहाद्वेत्यादि' के द्वारा ज्वर की असाध्यता को बताया गया है। तीक्ष्ण वातिक ज्वर जो प्रलाप, भ्रम एवं श्वास के तीव्र वेगों से युक्त हो, रोगी को सात दिन में मार डालता है। इसी प्रकार पित्तज ज्वर दस दिन एवं कफज ज्वर बारह दिन में प्रलाप आदि उपद्रवों से युक्त होने पर रोगी को मार डालता है। वात, पित्त एवं कफ क्रमशः शीघ्रतम, शीघ्रतर एवं शीघ्र विकारकारी होते हैं। **वा** शब्द का प्रयोग यहाँ विकल्पार्थ किया गया है। इससे सप्ताह से पूर्व अथवा पश्चात् भी मृत्यु हो सकती है, यह समझना चाहिए। अन्य आचार्य सप्ताह के बाद होने वाली मृत्यु प्रलाप के साथ, दस दिन के बाद होने वाली मृत्यु में भ्रम तथा बारह दिन के बाद होने वाली मृत्यु श्वास रोग के साथ होती है, ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं। ॥५१॥

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥५२॥
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः।

दुर्बल एवं शोथ युक्त रोगी में होने वाला गम्भीर धातुगत, दीर्घकालानुबन्धि बलवान ज्वर असाध्य होता है। उन रोगियों का भी बलवान ज्वर असाध्य होता है जिस रोगी के बालों (केश) में अचानक सीमन्त बन जाता है। अर्थात् जिस ज्वर युक्त रोगी की मांग स्पष्ट दिखाई पड़ती हो।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–गम्भीरः अन्तर्वेगः–गम्भीर से यहाँ ज्वर के अन्तर्वेग का ग्रहण किया गया है, अथवा गम्भीर धातुओं के आश्रित ज्वर को गम्भीर कहा गया है ।

दैर्घरात्रिकः –दीर्घकालानुबन्धी, अर्थात् जो ज्वर दीर्घकाल तक बना रहने वाला है, अथवा दीर्घ रात्रि से मरणरूपी रात्रि का ग्रहण किया गया है ।

विशेष–यहाँ गम्भीर शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है –१. अन्तर्वेग के अर्थ में (Internal fever), २. गम्भीर धातुओं, यथा-अस्थि, मज्जा एवं शुक्र के आश्रित ज्वर का होना । The fever which is located in the Dhātus (Tissue elements) which are deep seated normally asthi (Bones), majjā (Bone marrow) and Śukra (semen.) Dr. Bhagvan Das.

दीर्घ रात्रि शब्द भी दो अर्थों में प्रयुक्त है–

१. ऐसा ज्वर जो सतत् कुछ रात्रि तक बना रहता है

२. दीर्घ रात्रि से मृत्यु अर्थ भी गृहीत है । ॥५२॥

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ॥५३॥
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् । दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः ॥५४॥
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात् प्रशमं याति हन्ति वा । कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम् ॥५५॥
निष्प्रत्यनीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः । यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ॥५६॥
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे । स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ॥५७॥
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा । यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ॥५८॥
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा । विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ॥५९॥
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते । इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम् ॥६०॥
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ।

संतत ज्वर की संप्राप्ति–बढ़े हुए दोष रसवाही धमनियों के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण स्रोतों में फैलकर शरीर में गमन करते हुए स्तंभित हो जाते हैं, परिणामतः संतत ज्वर को उत्पन्न करते हैं । यह ज्वर अत्यन्त कष्टदायक होता है । दोषानुसार यह ज्वर सात (वात), दस (पित्त) अथवा बारह दिन (कफ) में दोषों के अल्प होने पर शान्त हो जाता है अथवा प्रकुपित होने पर रोगी के प्राणों को हर लेता है ।

संतत ज्वर में काल (season), धातु (रस रक्तादि धातुएं) एवं प्रकृति (Physical constitution), दोष के तुल्य होते हैं । काल दूष्यादि निष्प्रत्यनीक (विरोधी न होने) होने के कारण यह ज्वर कष्ट साध्य होता है ।

संतत ज्वर के आश्रय–संतत ज्वर में तीन दोष (वात, पित्त व कफ), सात धातुएं (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र) एवं दो मल (मूत्र व पुरीष) एक साथ नियम से दूषित रहते हैं, अर्थात् संतत ज्वर के बारह आश्रय हैं ।

वह संतत ज्वर रसादि धातुओं के दोषों से पूर्णतः शुद्ध हो जाने के कारण अथवा अशुद्ध होने से सात दिन, दस दिन अथवा बारह दिन में प्रशमित हो जाता है अथवा इसमें रोगी की मृत्यु हो जाती है ।

जब रसादि दूष्यों की अति शुद्धि नहीं होती अथवा ये बारह आश्रय पूर्णतः शुद्ध नहीं होते तब बारहवें दिन ज्वर मुक्त हो जाता है, लेकिन इसके लक्षण अव्यक्त रूप में बने रहते हैं । यह ज्वर शान्त नहीं होता अपितु दीर्घकाल तक बना रहता है । संतत ज्वर की इस स्थिति का पूर्णतः विचार करके ही चिकित्सक को चिकित्सा करनी चाहिए । इस ज्वर में प्रायः पूर्व में अपतर्पण चिकित्सा ही करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–'स्रोतोभिरित्यादि' के द्वारा संततादि ज्वर के भेदों को स्पष्ट किया गया है । **गुरव इति**=वृद्धा (प्रकुपित दोष-Aggravated) ।

दशाहमित्यादि दशाहादीन् व्याप्य–१० दिन, १२ दिन अथवा ७ दिन शरीर में रहकर, इसी के साथ यहाँ 'सुदुः सहः भवति' इति भी जोड़ा जाना चाहिए । 'सुदुःसह' का अभिप्राय यहाँ अत्यन्त कष्टदायी होने से है ।

शीघ्रमिति दशाहादय एव प्रभूततरकालान्तरापेक्षया शीघ्रशब्दवाच्या–शीघ्र से यहाँ १०, १२ या ७ दिन के ही काल में यह (संतत) ज्वर प्रशमित हो जाता है अथवा रोगी के प्राणों को हर लेता है, का ग्रहण किया गया है । **दशाहादिविकल्प** से क्रमशः पित्त, कफ एवं वातारब्ध संतत सन्निपात ज्वर का ग्रहण किया गया है । अर्थात् पित्त की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला सन्निपातज संतत ज्वर १० दिन, कफ की प्रधानता से उत्पन्न होने वाला कफज सन्निपात संतत ज्वर १२ दिन एवं वातारब्ध संतत सन्निपात ज्वर ७ दिन में मलपाक होने पर शान्त हो जाता है एवं धातुपाक होने पर आतुर के प्राणों को हर लेता है । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-पित्तकफानिलवृद्ध्या

Scanned by CamScanner

दशदिवस-द्वादशाह-सप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्" इति तथा "दश-द्वादश-सप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः। दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः" [पित्त, कफ एवं वायु की वृद्धि से होने वाला त्रिदोषज ज्वर क्रमशः १० दिन, १२ दिन एवं ७ दिन में धातुपाक (Consumption or catabolic transformation of Dhātūs) होने पर रोगी को शीघ्र ही मार डालता है तथा मलपाक (Consumption or Metabolic transformation) होने पर ज्वर छूट जाता है।]

हननमोचनविकल्पस्तु रसादीनामप्यशुद्ध्या शुद्ध्या च वक्तव्यः –ज्वर द्वारा मृत्यु का होना एवं ज्वर का छूट जाना, रसादि की अशुद्धि एवं शुद्धि पर निर्भर करते हैं। यही यहाँ विवेच्य है। यह संतत ज्वर कैसे या किस कारण से अत्यन्त कष्टदायक एवं शीघ्रकारी होता है, इसे यहाँ 'कालेत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। **कालः-से** यहाँ वर्षादि काल का ग्रहण है, दूष्य से रसादि अर्थ गृहीत हैं, प्रकृति से देहप्रकृति, यथा-श्लेष्मादि प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। कालादि से दोष की तुल्यता (Similarity) विरले (Rarely) ही देखने को मिलती है, यथा–वसन्त काल में कफ प्रकृति का होना, दूष्य-मेद का दूषित होना, दोष-कफ का होना। इसी प्रकार शरद् ऋतु में पित्त को समझना चाहिए। इससे भिन्न त्रिदोषों की कालादि से तुल्यता का मिलना और कठिन है। अतः इन कारणों से संतत ज्वर कैसे उत्पन्न होता है, यह शंका है। संतत ज्वर के १२ आश्रय होते हैं, इस कारण से यह ज्वर त्रिदोषज ही होता है, ऐसा कहा गया है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है– यहाँ तुल्य इति के कथन से जो 'निष्पत्यनीकः' शब्द का प्रयोग किया गया है। उससे यहाँ कालादि के अनुगुणता को ही कालादि तुल्यता के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कालादि के असमान होते हुए भी बलवान दोषों द्वारा परिगृहीत विपरीत कार्य के न होने से अथवा व्याधि विघातक कार्य की असामर्थ्य से अनुकूल ही कहा जाता है, यथा-बलवान राजा के साथ रहने वाले छोटे-छोटे राजागण मन से प्रतिकूल होते हुए भी उसके अनुकूल होते हैं।

किञ्च, त्रिदोषारब्ध एवास्मन्मते संततः, तस्य चान्यतरं दोषं प्रति कालादीनां तुल्यत्वं संभवत्येव–मेरे मत से संतत ज्वर त्रिदोषज ही होता है। कालादि के साथ अन्यतर दोषों की तुल्यता संतत ज्वर में संभव है। कुछ आचार्य 'तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः' के बाद 'यथा धातून्' का पाठ करते हैं। दूसरी ओर 'प्रायः प्रागपतर्पणैः' अन्त में पढ़ करके 'रक्तधात्वाश्रय' इत्यादि के द्वारा सततक आदि ज्वर के लक्षणों को पढ़ते हैं। अन्य आचार्य 'सुदुःसह' को पढ़कर सततक एवं अन्यद्युष्क के लक्षणों में इसे समावेशित करते हैं। इसके बाद 'यथा धातून्' इत्यादि ग्रन्थ को। इस प्रकार यहाँ विभिन्न आचार्यों के मत के अनुसार यहाँ अन्येद्युष्कादि ज्वर (तीन प्रकार के ज्वर, यथा-संतत, सततक एवं अन्येद्युष्क) के लक्षणों को पढ़ते हैं।

तत्र प्रथमपाठक्रमे 'यथा धातून्' इत्यादिना सन्ततस्योत्पादादिक्रमं ब्रूवते–वहाँ प्रथम पाठ क्रम में 'यथा धातून्' इत्यादि के द्वारा संतत ज्वर की उत्पत्ति क्रम को स्पष्ट किया गया है। **धातूनिति**-धातुओं को- इससे यहाँ रसादि सात धातुओं का ग्रहण किया गया है। रस दुष्टि के अभिधान से इसमें विशेष रूप से रस धातु की दुष्टि होती है, ऐसा जानना चाहिए।

यथेति येन प्रकारेण गुरुत्वस्तब्धत्वादिना–जिस प्रकार स्रोतों में गुरुता एवं स्तब्धत्व आदि भाव उत्पन्न होते हैं। युगपदिति=एक साथ (एक समय में)।

नियमादिति सर्वानेव धात्वादीन् सर्व एव दोषाश्चानुपद्यन्ते–नियमपूर्वक, सभी दोष प्रकुपित होकर सभी धातुओं को दूषित करते हैं। **स शुद्ध्या वेत्यादि**- से संतत ज्वर की साध्यताऽसाध्यता को बताया गया है। जब सभी रसादि धातुएं पूर्णतः शुद्ध हो जाती हैं, तब सप्ताह आदि दिनों में ज्वर की शान्ति हो जाती है। अर्थात् रसादिस्थ मलों के पूर्णतः पाक हो जाने पर ज्वर के वेग में कमी आ जाती है एवं व्याधि का प्रशमन हो जाता है। जब रसादि धातुएं पूर्णतः अशुद्ध होती हैं, तब उस स्थिति में रोगी की मृत्यु हो जाती है। जब अल्प रूप में रसादि धातुओं की शुद्धि होती है तो उस समय कौन सी पद्धति अपनायी जाती है। इसको यहाँ 'यदात्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

नाति शुध्यन्ति इति सर्व एव नातिविशुद्धा भवन्ति सावशेषदोषा भवन्तीत्यर्थः –धातुओं, मलों एवं दोषों का पूर्णतः शुद्ध न होना। अर्थात् कुछ दोषों का अवशिष्ट रह जाना।

न वा शुद्ध्यन्ति सर्वश इति–रसादि धातुओं के मध्य में कुछ का शुद्ध होना तथा कुछ का अशुद्ध रह जाना। **द्वादशेति** से ७ धातुएं, तीन दोष एवं मूत्र व पुरीष दो मलों का ग्रहण किया गया है।

दोषाणां चेह शुद्धिः प्रकृतिगमनेन ज्ञेया–दोषों की शुद्धि से यहाँ दोषों का निर्हरण (वापस लौटना) अर्थ लिया गया है। इस प्रकार द्वादश आश्रय वाले संतत ज्वर की एक दोषारब्धता का जो कथन किया गया है उसका यहाँ निराकरण हो जाता है।

विसर्गमिति–से परित्याग अर्थ गृहीत है। अर्थात् ज्वर के वेगों में कमी या ज्वर का समाप्त होना अर्थ लिया गया है।

'अव्यक्तलक्षणमिति' के द्वारा यहाँ विसर्ग के स्वरूप को बताया गया है। अर्थात् संतत ज्वर के विसर्ग (मुक्ति) का स्वरूप क्या है, उसे स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

अव्यक्तं लक्षणं यस्य तमव्यक्तलक्षणं विसर्गम्–जिसके लक्षण अव्यक्त (न दिखें) हो जाँय उसे अव्यक्तलक्षण कहा गया है। यही ज्वर के विसर्ग का स्वरूप है, अर्थात् ज्वर शरीर में लीन हो जाय (ज्वर के लक्षण शरीर में छिपे रहते हैं)। अभिप्राय यह है कि ज्वर शरीर में बना रहता है, लेकिन उसके लक्षण व्यक्त (प्रकट) नहीं होते। ज्वर की यह स्थिति १३ वें दिन से प्रारम्भ होकर दीर्घकाल तक बनी रहती है।

[Samtata jvara comes down on 12th day, but the signs and symptoms of the disease remain in the patient in a latent form. This continues for a long time and it is very difficult to cure such a patient. –Baid Bagvandas.]

इस प्रकार संतत ज्वर का उपशमन दुर्लभ होता है। संतत ज्वर इन दो कारणों से विशिष्ट होता है–

१. धात्वादि के १२ आश्रय होने से (७ धातुए, ३ दोष एवं दो मल)

२. इसका विसर्ग काल १२वें, १० वें एवं ७वें दिन होने से।

ये दो लक्षण (या कारण) इसे वातादि ज्वर से भिन्न सिद्ध करते हैं। जिसे अन्य शास्त्रों में इस प्रकार कहा गया है, यथा-"तथा सन्तत एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः। एकदोषो द्विदोषो वा स्वल्पोपद्रवलक्षणः। अतुल्यदूष्यप्रकृतिः" (अन्य शास्त्रों में एक दूसरे प्रकार के संतत ज्वर का उल्लेख किया गया है। इसमें अत्यधिक दुर्बलता नहीं आती, एक या दो दोष प्रकुपित रहते हैं तथा इसमें उपद्रव अल्प मिलते हैं। इसमें दूष्य एवं प्रकृति तुल्य नहीं रहते।) इसलिए यह संतत ज्वर से भिन्न है। यहाँ अन्य शब्द के प्रयोग से प्रतिपादित संतत ज्वर का विरोध नहीं होता। ॥५३-६०॥

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ॥६१॥
सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम्। अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ॥६२॥

सततक ज्वर के लक्षण–सततक ज्वर प्रायः दोष के रक्त धातु में आश्रित होने से उत्पन्न होता है। दोषों के विरोधी स्वरूप होने से नियत काल में ज्वर की वृद्धि या कमी पायी जाती है। सततक ज्वर अहोरात्रि (२४ घण्टे) में दो बार आता है।

चक्रपाणि–'रक्तधात्वाश्रय इत्यादि' के द्वारा सततक ज्वर को स्पष्ट किया गया है। 'प्रायः' शब्द से यहाँ सततक ज्वर का आश्रय रक्त धातु के अतिरिक्त मांसादि धातुओं में भी होता है, से लिया गया है।

सप्रत्यनीक इति–कालादिषु मध्येऽन्यतमः प्रत्यनीकः कालादि के बीच एक का भिन्न होना। अर्थात् काल, दूष्य, दोष एवं प्रकृति में से किसी का भी विपरीत होना।

कालवृद्धिक्षयात्मकमिति–वृद्धि एवं क्षय के काल में ज्वर का बढ़ना एवं घटना (कमी)। इस प्रकार दोषों के अनुकूल काल में ज्वर की वृद्धि का होना तथा प्रतिकूल काल में कमी का होना, अर्थ गृहीत है। सततक ज्वर में काल, प्रकृति एवं दूष्यों के बीच एक का भिन्न या दुर्बल होते हुए भी दोष संप्राप्ति का ही विशेष प्रभाव है जिसके कारण इसमें काल बली होता है। अर्थात् इस विशेष प्रकार के ज्वर में काल की मुख्य भूमिका है, इसका कारण इस ज्वर की विशिष्ट संप्राप्ति का होना है। ॥६१-६२॥

कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम्। अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः ॥६३॥
सप्रत्यनीको जनयत्येककालमहर्निशि। दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥६४॥
गतिद्वयेकान्तराऽन्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः। अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम् ॥६५॥
मांसस्रोतांस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम्। संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ॥६६॥
अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं हित्वा तृतीयकः। दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ॥६७॥

अन्येद्युष्क ज्वर के लक्षण–काल (Time), प्रकृति (Physical constitution) तथा दूष्य (Dhātūs) में से किसी एक के बल को पाकर अर्थात् इनमें कोई एक जब दोषों के अनुकूल होता है तब दोष मेदोवाही सिरा में अवरोध उत्पन्न कर अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करते हैं। प्रत्यनीक होने के कारण इस ज्वर में ज्वर का वेग दिन-रात में केवल एक बार आता है।

तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर–जब दोष अस्थि के आश्रित होता है तो उस समय तृतीयक एवं जब मज्जा के आश्रित होता है उस समय चतुर्थक ज्वर उत्पन्न होता है। इस प्रकार अन्येद्युष्क ज्वर प्रतिदिन, तृतीयक एक दिन के अन्तराल पर तथा चतुर्थक ज्वर दो दिन के अन्तराल पर आता है।

चक्रपाणि–'मेदोवहा' से यहाँ मेदोवाही नाड़ी (मेदोवह स्रोतस्) में अवरोध होने से ही मेदो धातु की दुष्टि होती है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। कहा भी गया है–**तेषां स्रोतसां रोधात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते**–उन स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होने से स्थानाश्रित एवं मार्गाश्रित शरीर धातुएं प्रकुपित हो जाती हैं। (वि.अ. ५))। कुछ आचार्य तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर के लक्षणों को 'मांसस्रोतांस्यनुसृतः' के द्वारा पढ़ते हैं। यहाँ भी स्रोतोदुष्टि से धातु-दुष्टि का ज्ञान करना चाहिए। जिन लोगों का यह विश्वास है कि यहाँ

Scanned by CamScanner

तृतीयक व चतुर्थक ज्वर में दूष्य का अभिधान नहीं है, तन्त्रान्तर हेतु के आधार पर रसादि दूष्यों का यहाँ भी अवरोध किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। ज्वर की तृतीयक एवं चतुर्थक संज्ञा तो मात्र ज्वर के वेग काल जो तीन दिन (एक दिन के अन्तराल) एवं चार दिन (दो दिन के अन्तराल) के आधार पर दी गयी है। अर्थात् इसमें भी वे ही दूष्य हैं जिनका निर्देश संतत ज्वर में किया गया है। ॥६३-६७॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ॥६८॥
स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम्। चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात् ॥६९॥

ज्वर के वेगों के आगमन में दृष्टान्त–जिस प्रकार किसी भी बीज को भूमि में बोने पर वह उचित समय में जलादि (जल, सूर्य प्रकाश एवं वायु) को प्राप्त कर अंकुरित होता है, उसी प्रकार दोष (Pathogen) धातुओं में विद्यमान होने पर भी योग्य काल के प्राप्त होने पर ही कुपित होते हैं अथवा ज्वर को उत्पन्न करते हैं। व्याधि विरोधी बल के क्षय होने पर वही दोष बल एवं काल (योग्यकाल) में बढ़कर तृतीयक व चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता हैं।

चक्रपाणि–ज्वर के विच्छेद एवं अभ्यागम में क्या दृष्टान्त है, इसे अधिशेते इत्यादि के द्वारा यहाँ बताया गया है।

अधिशेते इति अधिष्ठाय तिष्ठति–अधिष्ठित होना अर्थात् विद्यमान रहना। **धातुमिति**-सततकादि ज्वर में रक्तादि धातुओं को दूष्य होने से पढ़ा गया है।

काले इति स्वकाले–अपने काल में, यदि अपने ही काल (निश्चित समय) में दोष ज्वर को उत्पन्न करता है तब तृतीयक व चतुर्थक ज्वर, विश्राम (Gap) के दिन में भी पूर्वाह्न आदि काल में दोषों के अनुकूल होने पर भी, नहीं उत्पन्न होते, अर्थात् इनके वेग नहीं आते। इसी का उत्तर 'स वृद्धिं चेत्यादि' के द्वारा दिया गया है। दोषों की वृद्धि (Aggravation) में मात्र **दोषवृद्धिकाल** कारण नहीं है, अपितु दोषों की वह अपेक्षित वृद्धि भी आवश्यक है, जिसके होने पर ज्वर के वेग उत्पन्न हो सकें। वह अपेक्षित वृद्धि तृतीयक ज्वर में तीन दिन एवं चतुर्थक ज्वर में चार दिन में पूर्ण होती है।

प्रत्यनीकस्य कालप्रकृत्यादेर्दोषविरुद्धस्य बलक्षयः –काल एवं प्रकृति के विरुद्ध होने से दोष (व्याधि उत्पादक दोष) का बल कम हो जाता है। उचित काल में अथवा अनुकूल कारणों को पाकर जब दोषों की वृद्धि होती है एवं विरोधी कारणों का क्षय होता है अथवा उनका बल कम हो जाता है तब ज्वर के वेग आते हैं, यह अभिप्राय है। ॥६८-६९॥

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥७०॥

वेग के उत्पन्न होने के बाद दोषों का बल कम (क्षीण) हो जाता है, जिसके कारण दोष अपने-अपने स्थान में चले जाते हैं। अनुकूल काल में पुनः दोष बढ़कर ज्वर को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–सततक आदि ज्वरों में जिस प्रकार दोष वृद्ध होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं एवं जिस प्रकार उनका उपशमन होता है, उसी को यहाँ 'कृत्वेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। सततक आदि ज्वर में दोष वेग को उत्पन्न करके क्षीण बल हो जाते हैं। क्षीण बल होने से पुनः वे अपने-अपने आश्रयों (रक्तादि) में चले जाते हैं। अपने काल में जब यही दोष पुनः बढ़ जाते हैं तो ज्वर को उत्पन्न करते हैं। ॥७०॥

कफपित्तात्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः। वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥७१॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥७२॥

दोषोद्रेक विशेष से तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर के प्रभाव–तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है–

१. कफ पित्त की प्रधानता से उत्पन्न तृतीयक ज्वर सर्वप्रथम त्रिक् प्रदेश में वेदना को उत्पन्न करते हुए प्रारम्भ होता है।

२. वात एवं कफ से उत्पन्न तृतीयक ज्वर में सर्वप्रथम पृष्ठ (पीठ) में वेदना होती है, अर्थात् इसका वेग पीठ में वेदना को उत्पन्न करते हुए आता है।

३. कफ-पित्तज में पहले वेदना सिर में होती है। चतुर्थक ज्वर अपना प्रभाव दो प्रकार से दर्शाता है–१. कफज चतुर्थक ज्वर में वेदना का प्रारम्भ जंघा (Calf muscles) से होता है। बाद में सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है। २. वातज चतुर्थक ज्वर में वेदना का प्रारम्भ सिर से होता है, पश्चात् इसका फैलाव सम्पूर्ण शरीर में होता है।

चक्रपाणि–दोष प्रबलता के आधार पर तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर के प्रभाव का उल्लेख यहाँ 'कफपित्तादित्यादि' के द्वारा किया गया है।

पृष्ठमभीति–पृष्ठ से अथवा पृष्ठ (पीठ-Back portion of the body) को पकड़कर।

पृष्ठादिति-'ल्यब्लोपे पञ्चमी' से इसका अर्थ 'पीठ में अधिष्ठित होकर' होगा, अर्थात् वात कफ प्रधान तृतीयक ज्वर का प्रारम्भ पीठ से होता है।

Scanned by CamScanner

जङ्घाभ्यां पूर्वमिति–कफ प्रधान चतुर्थक ज्वर में पीड़ा का प्रारम्भ सर्वप्रथम जंघा (Calf muscles) से होता है, पित्त प्रधान चतुर्थक ज्वर में वेदना पित्तज गृध्रसी की भाँति होता है, ऐसा अर्थ यहाँ अभिधान न होने पर भी ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् पित्तज चतुर्थक ज्वर का यहाँ उल्लेख न होते हुए भी उसका ग्रहण करना चाहिए। हारीतसंहिता में पित्तजन्य जिस चतुर्थक ज्वर का उल्लेख किया गया है वह अनुबन्ध रूप होता है, ऐसा पित्त के पृथक् (स्वतंत्र) प्रभाव न होने के कारण है। इस कारण से यहाँ प्रतिज्ञा (सिद्धान्त) का विरोध नहीं होता। अर्थात् चतुर्थक ज्वर के अन्तर्गत पित्तजन्य चतुर्थक ज्वर की जो कल्पना की गयी है, वह प्रतिज्ञा का विरोध नहीं करती। ॥७१-७२॥

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः। त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोति यम् ॥७३॥

चतुर्थक विपर्यय–विषमज्वर का एक अन्य भेद चतुर्थक विपर्यय (Irregular or intermittant fever) है। इसमें वात, पित्त व कफ दोष अलग-अलग अस्थि व मज्जा धातु के आश्रित होकर व्याधि को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–चतुर्थक ज्वर में ज्वर एक दिन आता है एवं दो दिन नहीं आता, चौथे दिन ज्वर पुनः उत्पन्न हो जाता है। लेकिन चतुर्थक विपर्यय में ज्वर दो दिन बना रहता है, एक दिन (तीसरे दिन) नहीं आता, अर्थात् एक दिन के अन्तर पर दो दिन आता है। इसी का विवेचन यहाँ 'विषमेत्यादि' के द्वारा किया गया है। **त्रिविधौ धातुरिति**=वातादि। **द्विधातुस्थ इति**- इसमें दोष अस्थि व मज्जा के आश्रित होते हैं। **अयं च विषमज्वर इवेति**-चतुर्थक विपर्यय भी सामान्यतया विषमज्वर की तरह ही होता है। फिर भी यह चतुर्थक ज्वर का एक विशेष प्रकार ही है। अतः यह भी एक प्रकार का विषम ज्वर ही है। अर्थात् इसकी चिकित्सा विषमज्वर की तरह ही करनी चाहिए। अन्य तन्त्रों में कहा भी गया है, यथा-**"अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः त्र्यहाद्व्यहं ज्वरयति ह्यादावन्ते च मुञ्चति।"** [दोषों के अस्थि-मज्जा गत होने पर चतुर्थक विपर्यय ज्वर का चक्र तीन दिन का ही रहता है। इसमें एक दिन छोड़कर ज्वर दो दिन लगातार बना रहता है।] ॥७३॥

प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ॥७४॥

यहाँ पाँच प्रकार के जिन संततादि विषम ज्वरों का उल्लेख किया गया है वे प्रायः सन्निपात से होते हैं, अर्थात् उन्हें सन्निपातज कहा जाता है। सन्निपात में जिस दोष की प्रबलता होती है, वही दोष प्रधान वह रोग होता है।

चक्रपाणि–'प्रायश इत्यादि' से यहाँ चतुर्थक विपर्यय के द्वारा संयुक्त पाँच प्रकार के ज्वरों के समान धर्म (गुण) को बताया गया है। 'प्रायशः' शब्द से यहाँ सततक आदि ज्वरों के द्वन्द्वज स्वरूप का ग्रहण होता है। यदि इनका स्वरूप सन्निपातारब्ध होता तब कैसे चतुर्थक में श्लैष्मिकत्वादि भाव पाये जाते, यह शंका है। इसी का उत्तर यहाँ 'सन्निपाते तु यो भूयान्' के द्वारा दिया गया है। विषम ज्वर में प्रायः आगन्तुज का अनुबन्ध होता है, यथा-'आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वर'। इस सूत्र से भूतानुबन्ध का उल्लेख आगे किया जायेगा।

जतूकर्ण का भी तृतीयक एवं चतुर्थक विपर्यय के बारे में यही मत है, यथा-**"विषमज्वरास्त्रिदोषजत्वेऽप्यधिकदोषलब्धाख्या"** [विषमज्वर त्रिदोषज होते हुए भी उसमें दोषाधिक्यता पायी जाती है, अर्थात् विषमज्वर त्रिदोष से उत्पन्न होता है फिर भी उसमें दोषाधिक्यता पायी जाती है।]

एते पञ्चापि ज्वराः केषाञ्चिद्विषमज्वरत्वेन संमताः–ये पाँच प्रकार के ज्वर (सततक, अन्येद्युष्क, तृतीयक, चतुर्थक एवं चतुर्थक विपर्यय) विषम कहे जाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति विषम होती है। विषमत्व से यहाँ ज्वरवेग के विषम काल का ग्रहण किया गया है। जिसके बारे में कहा भी गया है–

"विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुसङ्गवान्" (वा.नि.अ. २) [जिस ज्वर का प्रारम्भ, क्रिया एवं काल विषम हो उसे विषमज्वर कहते हैं।] विषमारम्भ का अभिप्राय ज्वर का प्रारम्भ कभी सिर से अथवा कभी पृष्ठ से होता है। इस विषमता को विषमारम्भ कहा गया है। कभी शीत का लगना तथा कभी संताप का बढ़ना विषम क्रिय कहा जाता है। वेगकाल का विषम होना काल वैषम्य कहा गया है। इस परिभाषा के अनुसार संतत ज्वर में भी ज्वर का वेग १२वें दिन उतरकर पुनः १३वें दिन आ जाने के कारण कालवैषम्य इसमें भी होता है। इसलिए संतत ज्वर भी विषम ज्वर ही है। अन्य आचार्य संतत ज्वर को छोड़कर सततक आदि चार को विषमज्वर स्वीकार करते हैं, क्योंकि संतत ज्वर में इस प्रकार की वैषम्यता नहीं पायी जाती। आचार्य **खरनाद** भी इस विचार से सहमत हैं–

"ज्वरा पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं संततकादयः। चत्वारः संततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः" [मेरे द्वारा वर्णित संततकादि ज्वरों में से संतत को छोड़कर शेष ४ ज्वरों को विषम जानना चाहिए।]

अन्य आचार्य तृतीयक व चतुर्थक ज्वर को ही विषम स्वीकार करते हैं, क्योंकि विषमज्वर दीर्घकाल के बाद पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। जिसे आचार्य **दारुवाह** इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, यथा-"सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च। दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पं चिरेण यत्॥ याति देहं न वा (ऽ) शेषं भूयिष्ठं प्रतिपद्यते। क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरे।" (रक्तादिवह स्रोतसों के मुख opening) सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं शरीर के सम्पूर्ण भागों में दूरातिदूर तक फैले हुए हैं। इन्ही मार्गों द्वारा दोष सम्पूर्ण शरीर में फैलते हैं एवं धीरे-धीरे देर तक अवस्थान करते हैं।

Scanned by CamScanner

जब दोष इन्हीं स्रोतसों से गुजरते हुए व्याधि उत्पादक स्थल (Site of manifestation) से दूर रहते हैं तब ज्वर के वेग नहीं आते एवं यह काल ज्वरशमन (वेगान्तराल-Period of remission) का होता है। पुनः जब दोष उत्पादक स्थल (Site of manifestation) तक पहुँचते हैं तब पुनः ज्वर प्रारम्भ हो जाता है। ॥७४॥

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ॥७५॥
गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्दिरोचकौ। रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम् ॥७६॥
रक्तोष्माणः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः। दाहरागभ्रममदप्रलापा रक्तसंस्थिते ॥७७॥
अन्तर्दाहः सतृष्मोहः सग्लानिः सृष्टविट्कता। दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ॥७८॥
स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो वम्यभीक्ष्णशः। स्वगन्धस्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ॥७९॥
विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम्। विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ॥८०॥
हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम्। मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ॥८१॥
शुक्रस्थानगतः शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च। प्राणं वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभुः ॥८२॥
रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः। अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिद्ध्यति ॥८३॥

ज्वर की उत्पत्ति में कारण–ऋतु, अहोरात्रि (दिन-रात), दोष एवं मन के बलाबल तथा पूर्वजन्मकृत कर्म संततादि ज्वर की उत्पत्ति में कारण है।

धातुगत-ज्वर विवेचन

१. जब दोष रस धातु के आश्रित होते हैं तब इनसे उत्पन्न होने वाले ज्वर में-गुरुता (शरीर में भारीपन -Heaviness of the body), दैन्यता (Miserable feeling), उद्वेग (Anxiety), सदन (शिथिलता), छर्दि (Vomiting), अरोचक (Anorexia), शरीर के बाहरी तापक्रम में वृद्धि (Increase in the external temperature), अंगमर्द (Malaise) तथा जृम्भा (Yawning); लक्षण मिलते हैं।

२. जब दोष रक्तधातु के आश्रित होकर ज्वर उत्पन्न करता है तो उस समय निम्न लक्षण मिलते हैं, यथा–उष्ण एवं रक्त वर्ण की पिडिकाओं का निकलना (Red and hot boils), प्यास का लगना (Thirst), बार-बार रक्त के साथ ष्ठीवन का होना (Haemoptysis)), दाह (Burning sensation), राग (Redness), भ्रम (चक्कर का आना), मद (Intoxication) एवं प्रलाप (delerium) का उत्पन्न होना।

३. जब दोष मांस धातु के आश्रित होकर ज्वर को उत्पन्न करते है तब उसमें अधोलिखित लक्षण (Signs and symptoms) पाये जाते हैं–अन्तर्दाह (Burning sensation inside the body), तृष्णा (Thirst), मोह (Fainting), ग्लानि (Malaise), मल की अत्यधिक प्रवृत्ति (diarrhoea), शरीर से दुर्गन्ध का निकलना तथा गात्रविक्षेप (convulsions)।

४. जब दोष मेद धातु के आश्रित होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं तो उसमें-अत्यधिक पसीना का निकलना (Excessive sweating), अत्यधिक प्यास का लगना, प्रलाप (delirium), भयंकर रूप से वमन का होना, अपने ही शरीर के गन्ध को न सह पाना, ग्लानि एवं अरोचक (Anorexia), लक्षण पाये जाते हैं।

५. जब दोष अस्थि के आश्रित होकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं तब उसमें अधोलिखित लक्षण (Signs and symptoms) पाये जाते हैं–वमन एवं विरेचन का होना, अस्थियों में टूटने जैसी वेदना का होना (Tearing pain in bones), प्रकूजन (मुख से स्वर का व्यक्त न हो पाना), विक्षेपण (convulsions-हाथ व पैरों का इधर उधर पटकना) एवं श्वास की वृद्धि का होना।

६. जब दोष मज्जा धातु (Bone marrow) के आश्रित होते हैं तब उनसे उत्पन्न ज्वर में-हिक्का (हिचकी), श्वास (Dyspnoea), कास (Cough), आँखों के सामने अन्धकार का छा जाना (तमो दर्शन), मर्म स्थान में अत्यधिक पीड़ा का होना, शरीर के बाहरी भाग का ठण्डा होना तथा अन्तः भाग में दाह का होना; लक्षण पाये जाते हैं।

७. शुक्रस्थानगत दोषों से उत्पन्न ज्वर में जीवात्मा शुक्र का स्राव एवं विनाश करते हुए प्राण वायु, अग्नि एवं सोम के साथ चली जाती है अर्थात् इस ज्वर में व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है।

धातुगत ज्वरों की साध्यताऽसाध्यता–जो ज्वर रस, रक्त, मांस एवं मेद धातु के आश्रित होता है वह साध्य होता है। अस्थि एवं मज्जागत ज्वर कृच्छ्र साध्य होता है तथा शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है। ॥७५-८३॥

चक्रपाणि–संतत ज्वर ही जिस प्रकार सततकादि रूपों को प्राप्त होता है उसी प्रकार सततकादि भी संततादि रूपों को प्राप्त करते हैं, उसी को यहाँ 'ऋत्वहोरात्रेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

बलाबलादिति मनोऽन्तेन संबध्यते-ऋत्वादि के साथ अन्त में मन भी जुड़ा हुआ है।

Scanned by CamScanner

बलं चाबलं च बलाबलम्–ऋतु, अहोरात्रि, दोष एवं मन के बलाबल (बलवान एवं दुर्बल होना) के अनुसार ही ज्वर का भी बलाबल होता है ।

अर्थवशादिति–कर्म के वश से, ऋत्वादि के बल से तथा ऋत्वादि के बल के दुर्बल होने से सततादि ज्वर अपने काल से उत्पन्न होता है। ऋतु के बल से वात प्रधान सततक ज्वर तो वर्षा काल में उत्पन्न होता है, वर्षाकाल के विपरीत काल (शरद ऋतु) को प्राप्त कर अन्येद्युष्क आदि में बदल जाता है ।

अहोरात्र के बलाबल से काल विशेष की प्राप्ति-यथा-वसन्त ऋतु के मध्य अहोरात्रि में उत्पन्न होने वाला वातिक चतुर्थक ज्वर वसन्त ऋतु के बाद रूक्ष हेतुओं को प्राप्त करके तृतीयकादि रूप को प्राप्त करता है । उन्हीं दिनों में उत्पन्न होने वाला कफज सततक ज्वर शेष कफ के विपरीत हेतुओं के प्राप्त होने पर अन्येद्युष्क आदि रूपों को प्राप्त करता है ।

दोषबलाबलादुष्टहेतुसेवाभूताज्ज्वरपरावृत्तिर्युक्तैव–दोषों के बलाबल से तथा दूषित हेतुओं के सेवन से उत्पन्न ज्वर में यह परिवर्तन उचित ही है ।

मनोबलात् सततज्वरी मनोनिवृत्त्यादिना अन्येद्युष्कादिज्वरवान् भवति–मनोबल के बलाबल के कारण सतत ज्वर का रोगी अन्येद्युष्कादि में परिवर्तित हो जाता है, यथा-मन की दुर्बलता से, भयादि के कारण चतुर्थक आदि ज्वर के रोगी में तृतीयक के लक्षण मिलने लगते हैं । पूर्वजन्मकृत कर्म के कारण भी ज्वर में परिवर्तन होता है । यदि व्यक्ति का पूर्वजन्मकृत कर्म शुभ है तब दुःख ज्वर भी सुख में बदल जाता है तथा पाप कर्म के परिणाम स्वरूप दुःख ज्वर होता है, ऐसा जानना चाहिए । ॥७५-८३॥

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वराः । समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम् ॥८४॥
शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम् । कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ॥८५॥
स्वप्नाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः । शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक् ॥८६॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् । सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥८७॥
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो मुहुर्मुहुः । मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ॥८८॥
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः । इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः

हेतु एवं लक्षणों के द्वारा पूर्व (निदान-स्थान) में ज्वर के आठ प्रकारों को संक्षेप में बताया गया है । यहाँ विस्तार से उन लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है ।

द्वन्द्वज-ज्वर

१. **वातपित्त ज्वर के लक्षण (Signs and Symptoms of Vata-Pitta Jvara)**–वात-पित्त ज्वर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-शिरोरुक् (सिर में वेदना का होना Headache), पर्वभेद (जोड़ों में भेदनवत् पीड़ा का होना (tearing pain in smaller joints), दाह का होना (Burning sensation), रोम-हर्ष (Horripilation), कण्ठ एवं मुख का सूखना, वमन, प्यास का अत्यधिक लगना, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, अनिद्रा (Insomnia), अतिवाक् (delirium) तथा जृम्भा (yawning) ।

२. **वात-कफ ज्वर के लक्षण (Signs and Symptoms of Vāta-Kapha Jvara)**–ठण्ड लगना (Feeling of cold), गौरव (शरीर में भारीपन), तन्द्रा (drowsiness), स्तैमित्य (शरीर को गीले कपड़े से लपेट दिया गया है, इस प्रकार की प्रतीति का होना- to become motion less-जड़ता), पर्वों में दर्द (Pain in smaller joints), शिरोग्रह (सिर में भारीपन), प्रतिश्याय (coryza), कास (Cough), पसीने (स्वेद) का न निकलना व संताप का मध्यम वेग (तापक्रम में मध्यम वृद्धि का होना); ये सभी लक्षण वात-कफ ज्वर में पाये जाते हैं ।

३. **कफ-पित्त ज्वर के लक्षण (Signs and Symptoms of Kapha-Pitta jvara)**–रोगी में क्षण में दाह एवं क्षण में ही शीत का अनुभव होना (Frequent alternative feeling of Burning sensation and cold.), बार-बार पसीने का रुक जाना, मोह (Frequent unconsciousness), कास (cough), अरुचि (Anorexia), तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), कफ व पित्त का निकलना (मुख से दूषित कफ व पित्त का निकलना), मुख में तिक्त रस की प्रतीति का होना तथा तंद्रा (drowsiness); ये सभी लक्षण कफ-पित्त ज्वर में पाये जाते हैं।

इस प्रकार द्वन्द्वज ज्वरों का विशेष अभिधान किया गया ।

चक्रपाणि–'हेतुभिरित्यादि' के द्वारा यहाँ आठ प्रकार के ज्वरों के लक्षणों का अभिधान किया गया है । हेतु भी ज्वर के विशेष ज्ञापक होने से आकृति रूप ही होते हैं, ऐसा स्वीकार करते हुए हेतु कथन का यहाँ होना उचित ही है । अर्थात् यहाँ अष्टविध ज्वर के हेतु एवं

Scanned by CamScanner

लक्षणों का अभिधान किया गया है। **पूर्वमिति**-निदानस्थान में, समासेनोपदिष्टस्येति-निदानस्थान अध्याय १ में द्वान्द्विक, सान्निपातिक एवं आगन्तुक ज्वर के लक्षणों का उपदेश संक्षेप में किया जा चुका है, उनके ही लक्षणों को यहाँ विस्तार से बताया गया है। जो एक दोषज ज्वर, यथा-वातज्वर, पित्तज्वर एवं कफज्वर हैं उनका विवेचन नि.अ.१ में ही विस्तार से किया गया है, इसलिये उनका यहाँ कथन पुनः नहीं किया गया है।

भ्रमः येन चक्रस्थितमिवात्मानं मन्यते, किंवा भ्रमः भ्रान्तिः-भ्रम में व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है कि वह चक्र पर बैठकर गोल-गोल घूम रहा हो (Giddiness) अथवा भ्रम से भ्रान्ति (confusion) अर्थ लिया गया है। **शीतकः** शीतता। **स्तैमित्यमिति वस्त्रावगुण्ठितत्वमिव**-व्यक्ति का शरीर गीले कपड़े से लपेट दिया गया है, ऐसा प्रतीत होना।

संतापो मध्यवेग इति-शारीरिक तापक्रम का अत्यधिक न बढ़ना।

स्वेदस्तम्भ इति-पसीने का न निकलना। ॥८४-८८॥

सन्निपातज उच्यते ॥८९॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि। प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक्-पृथक् ॥९०॥
भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥९१॥
शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः। वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥९२॥
छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥९३॥
सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥९४॥
रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड् बलसंक्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥९५॥
आलस्यारुचिहल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥९६॥
प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥९७॥
हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥९८॥
शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं स्यान्मारुताधिके ॥९९॥
शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ॥१००॥
श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥१०१॥
वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥१०२॥
सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम्। क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ॥१०३॥
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दृश्यते। सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ॥१०४॥
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः। परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ॥१०५॥
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च। शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ॥१०६॥
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः। कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ॥१०७॥
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम्। मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ॥१०८॥
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः।

सन्निपात-ज्वर प्रकरण

अब आगे सन्निपात-ज्वर का विवेचन किया जा रहा है-१३ प्रकार के सन्निपात ज्वरों का उल्लेख पूर्व (निदान-स्थान) में ही किया जा चुका है। यहाँ उनके पृथक्-पृथक् लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है-

१. वातपित्तोल्बण एवं मन्द कफ सन्निपात ज्वर के लक्षण-भ्रम (चक्कर का आना), प्यास लगना, दाह (Burning sensation), गौरव, (सिर में भारीपन) एवं सिर में अत्यधिक वेदना का होना।

२. वातश्लेष्मोल्बण पित्त अवर सन्निपात ज्वर के लक्षण-शैत्य (ठण्ड का लगना), कास, अरुचि (Anorexia), तन्द्रा (drowsiness), पिपासा (अत्यधिक प्यास का लगना), दाह (Burning sensation), रुक् (पीड़ा) एवं व्यथा का होना; ये लक्षण पाये जाते हैं।

३. पित्तकफोल्बण मन्द वात सन्निपात ज्वर के लक्षण-छर्दि (Vomiting), शैत्य (शरीर में ठण्ड का लगना), बार-बार दाह का उत्पन्न होना, तृष्णा (प्यास का लगना), मोह (unconciousness) व अस्थियों में वेदना का होना।

४. वातोल्बण कफपित्त हीन सन्निपात ज्वर में-सन्धि, अस्थि एवं सिर में शूल का होना, प्रलाप (delirium), गौरव (Heaviness of the body), भ्रम (सिर में चक्कर का आना-Vertigo), प्यास (Thirst) तथा कण्ठ एवं मुख की शुष्कता (dryness of the throat and mouth); लक्षण पाये जाते हैं।

Scanned by CamScanner

५. पित्त वृद्ध वात कफ हीन सन्निपात ज्वर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–मल एवं मूत्र में रक्त का मिश्रित होना, दाह (Burning sensation), स्वेद, प्यास एवं बल का क्षय होना तथा मूर्च्छा (Fainting)।

६. कफ वृद्ध वात-पित्त हीन सन्निपात ज्वर में-आलस्य (Laziness), अरुचि (Anorexia), हृल्लास (मिचली Nausea), दाह (Burning sensation), वमन (Vomiting), अरति (काम करने की इच्छा का न होना), भ्रम (giddiness), तन्द्रा (drowsiness) तथा कास (Cough), लक्षण पाये जाते हैं।

७. वात हीन, पित्त मध्य तथा कफ वृद्ध सन्निपात ज्वर में-प्रतिश्याय (Coryza), छर्दि (Vomiting), आलस्य (Laziness), तन्द्रा (drowsiness), अरुचि (Anorexia), अग्निमांद्य (जाठराग्नि की मंदता); लक्षण पाये जाते हैं।

८. हीन वात, मध्य कफ तथा पित्त वृद्ध सन्निपात ज्वर में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं-मूत्र व नेत्र का पीत वर्ण का होना, दाह (Burning sensation), तृष्णा (Thirst), भ्रम (चक्कर का आना) तथा अरुचि का पाया जाना।

९. हीन पित्त, मध्य कफ वृद्ध वात सन्निपात ज्वर में -सिरोवेदना का होना, वेपथु (हाथ व पैरों में कम्पन का होना (Trembling), श्वास (Asthma), प्रलाप (delirium), छर्दि (Vomiting) एवं अरुचि; लक्षण पाये जाते हैं।

१०. हीन पित्त मध्य वात वृद्ध कफ सन्निपात ज्वर में-शीत का लगना (coldness), गौरव (Heaviness of the body), तन्द्रा (drowsiness), प्रलाप (delirium), अस्थि एवं सिर में अत्यधिक वेदना का होना; लक्षण पाये जाते हैं।

११. श्वास (Dyspnoea), कास (Cough), प्रतिश्याय (Coryza), मुखशोष (Dryness of the mouth), तथा पार्श्व में तीव्र पीड़ा का होना; ये लक्षण हीन कफ, मध्य पित्त, वृद्ध वात सन्निपात ज्वर में पाये जाते हैं।

१२. मलभेद (Diarrhoea), अग्निदौर्बल्य (अग्निमांद्यता-भूख का न लगना), तृष्णा (Thirst), दाह (Burning sensation), अरुचि (Anorexia), तथा भ्रम (Giddiness); लक्षण हीन कफ, मध्यवात वृद्ध पित्त सन्निपात ज्वर में पाये जाते हैं।

१३. समसन्निपात ज्वर– अब इसके बाद त्रिदोषोल्वण सन्निपात ज्वर (सम सन्निपात ज्वर) के लक्षणों का वर्णन करूँगा, जो निम्न हैं–

→ रोगी को क्षण में दाह (Burning sensation) होना एवं क्षण में शीत लगना।

→ अस्थि, संधि एवं सिर में वेदना का होना।

→ आँखों से पानी का निकलना (Excessive Lachrymation), आँखे गंदला एवं रक्त वर्ण की हो जाती हैं, आँखें टेढ़ी हो जाती हैं।

→ शब्द न होने पर भी कानों में शब्दों का सुनाई देना, कानों में पीड़ा का होना।

→ कण्ठ शूकों द्वारा भर दिया गया हो, ऐसा प्रतीत होना।

→ तन्द्रा (drowsiness), मोह (unconciousness), प्रलाप (delirium), कास (Cough), श्वास, अरुचि तथा भ्रम (Giddiness) का मिलना।

→ जिह्वा जली हुई एवं स्पर्श में खर होना अर्थात् जिह्वा का काला होना एवं खुरदरा होना।

→ शरीर का अत्यधिक शिथिल हो जाना।

→ ष्ठीवन में रक्त, पित्त एवं कफ का निकलना अर्थात् ष्ठीवन (थूकने पर) के रूप में कफ के साथ पित्त एवं रक्त का भी निकलना।

→ सिर का इधर-उधर घुमाना, प्यास का अत्यधिक लगना, निद्रा का न आना (Sleeplessness), हृदय में व्यथा का होना (Pain in the cardiac region)।

→ अल्प मात्रा में एवं देर से स्वेद (पसीना), मूत्र एवं पुरीष का निकलना।

→ शरीर का अत्यधिक कृश न होना, कण्ठ से निरन्तर अव्यक्त शब्दों का निकलना।

→ शरीर पर श्याव (Blackish) एवं रक्त वर्ण के गोल चकत्तों का निकलना या दिखाई देना।

Scanned by CamScanner

→ मूकता (बोलने में असमर्थ होना), नासिका, मुख आदि स्रोतसों में पाक (Inflammation) का होना, उदर में भारीपन का होना तथा दोषों का परिपाक देर से होना।

ये सभी लक्षण सन्निपात ज्वर में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि-सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमिति-यहाँ ऊर्ध्व शब्द से अधिक अर्थ लिया गया है, अर्थात् प्रकृतिसमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर से अधिक विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर के लक्षणों को बताऊँगा, अर्थ ग्रहण किया गया है।

तानि वक्ष्यामि इत्यर्थ इति-कुछ लोग ऐसी व्याख्या करते हैं।

[यहाँ श्लोक नं० १०२ तक १२ प्रकार के सन्निपात ज्वरों का उल्लेख किया गया है। ये प्रकृतिसमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर के लक्षण बताये गये हैं तथा श्लोक नं० १०३ से १०९ तक विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर के लक्षणों का विवेचन किया गया है।] सास्रावे कलुषे रक्ते आदि लक्षण प्रकृतिसमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर में नहीं पाया जाता जबकि विकृतिविषम समवायारब्ध सन्निपात में मिलता है, यह दोषों के संयोग का ही प्रभाव है। इसको इस प्रकार समझाया जा सकता है-ऊर्ध्व शब्द से यहाँ विकृतिविषमसमवायारब्ध सन्निपात ज्वर का अभिधान किया गया है, यदि ऐसा है तब प्रत्येक दोषों के मिश्रित लक्षण, यथा-क्षणे दाहः क्षणे शीतं इत्यादि, प्राप्त होते हैं उनका यहाँ प्रयोग (वर्णन) उचित नहीं है। सामान्यतः सन्निपात ज्वर में जो लक्षण प्रायः उत्पन्न होते हैं उनको विकृतिविषमसमवायारब्ध तथा प्रकृतिसमसमवायारब्ध कहते हैं। अतः 'अत ऊर्ध्वमिति' का अर्थ 'अब आगे दूसरे लक्षणों का कथन करुँगा, जो सन्निपात ज्वर में पाये जाते हैं' से है।

[The term 'atah ūrdhvam' used in the verse No-103, therefore simply means 'hereafter' -Dr. Bhagvan Das]

निर्भुग्ने इति अतिकुटिले-अत्यधिक टेढ़ा होना।

परिदग्धा दग्धवत् कृष्णवर्णा-दग्ध की तरह कृष्ण वर्ण का होना (जिह्वा ऐसी प्रतीत होती है कि जल गयी है।) खरस्पर्शा-स्पर्श में खुरदरी होना, यथा-गाय की जिह्वा की तरह। स्रस्ताङ्गता निःसहावयवता=सम्पूर्ण शरीर का ढीला पड़ जाना।

ष्ठीवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम्-ष्ठीवन (थूक) में कफ के साथ अल्प मात्रा में मुख से रक्त व पित्त का निकलना।

शिरसो लोठनमिति इतस्ततो नयनम्-आँखों को इधर-उधर घुमाना।

कृशत्वं नातिगात्राणां दोषपूर्णत्वेन-दोषों की अत्यधिक वृद्धि (पूर्णता) के कारण शरीर का अत्यधिक कृश न होना। प्रततं=निरन्तर।

कोठ के बारे में भालुकीय तन्त्र में इस प्रकार कहा गया है-"**वरटीदष्टसङ्काशः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्। क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः**"। इति [रक्त, कफ एवं पित्त की दुष्टि से बर्रे के काटने से उत्पन्न शोथ की तरह का रक्त वर्ण का शोथ, जिसमें खुजली होती है। यह शोथ क्षण में उत्पन्न होता है तथा क्षण में ही विनष्ट हो जाता है। इसे कोठ (Urticaria) कहा गया है।] मूकत्वं=धीरे-धीरे बोलना अथवा न बोलना। ॥८९-१०८॥

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः ॥१०९॥
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्त्वतोऽन्यथा।

सन्निपातज्वर की साध्यासाध्यता-दोष विबद्ध हों, अर्थात् शरीर से बाहर न निकल रहे हों, जाठराग्नि नष्ट हो गयी हो तथा सन्निपात ज्वर के सभी लक्षण मिलते हों, वह असाध्य होता है शेष कृच्छ्र साध्य होते हैं।

चक्रपाणि-'दोष इत्यादि' के द्वारा यहाँ सन्निपात ज्वर की असाध्यता एवं कृच्छ्र साध्यता के लक्षणों का अभिधान किया गया है।

अत्र दोषशब्दो विबद्धोपपदान्मले वर्तते-यहाँ दोष शब्द के विशेषण के रूप में विबद्ध का प्रयोग हुआ है। अतः विबद्ध दोष से विबद्ध मल का ग्रहण किया गया है।

नष्टेऽग्नाविति-अन्य ज्वरों की तुलना में सन्निपात ज्वर में अग्निमांद्यता अधिक होती है।

सर्वाणि च संपूर्णानि बलीयांसि लक्षणानि यस्य स सर्वसंपूर्णलक्षणः-सन्निपात ज्वर में वर्णित सभी लक्षणों का अपने पूर्ण अंशों में प्राप्त होना 'सर्वसंपूर्णलक्षणः' कहा गया है। अर्थात् जिस रोगी में सन्निपात ज्वर के सभी लक्षण अपने पूर्ण अंशो (गुणों) में प्राप्त हों उसे सर्वसंपूर्ण लक्षणों वाला कहा गया है, ऐसा रोगी असाध्य होता है। यहाँ सन्निपात ज्वर को असाध्य अथवा कृच्छ्र साध्य ही बताया गया है। अतः यह सुख-साध्य नहीं होता है, यह स्पष्ट है। कहा भी गया है-"सन्निपातो दुःश्चिकित्स्यानां" (सू.अ. २५) तथा भालुकि तन्त्र

Scanned by CamScanner

के अनुसार–"मृत्युना सह बोद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता" इति [दुश्चिकित्स्य व्याधियों में सन्निपात की गणना की गयी है तथा भालुकि तंत्र के अनुसार-सन्निपात की चिकित्सा मृत्यु के साथ ही होती है ।] ॥१०९॥

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः ।।११०।।
संसर्गसन्निपातानां तया चोक्तं स्वलक्षणम् ।

निदानस्थान में तीनों दोषों द्वारा पृथक्-पृथक् उत्पन्न होने वाले तीन प्रकार के ज्वरों के लक्षणों (Signs and Symptoms) का अभिधान किया गया है । उसी से संसर्ग (द्वन्द्वज) एवं सन्निपात ज्वर के लक्षणों का भी उल्लेख किया गया है ।

चक्रपाणि–निदान से ज्वर-निदान अर्थ लिया गया है । प्रोक्ता से 'तत्र यथोक्तानां लिङ्गानां" (नि.अ. १) के द्वारा ग्रन्थ में पहले से ही कहा जा चुका है, अर्थ लिया गया है । अर्थात् ज्वर-निदान प्रकरण में पृथक्-पृथक् दोषों द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्वर के अलग-अलग भेदों (वातज्वर, पित्तज्वर एवं श्लेष्मज्वर) का उल्लेख किया गया है उसी से संसर्ग एवं सन्निपातज के लक्षणों को बताया गया है । प्रकरण वश यहाँ उनका कथन पुनः होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता ।

तया चोक्तं स्वलक्षणमिति–उसी से (एक दोषज लक्षणों से) द्वन्द्व रूप उत्पन्न होने वाले द्वन्द्वज लक्षण एवं सन्निपात रूप उत्पन्न होने वाले सन्निपातज लक्षणों को भी कह दिया गया है । ॥११०॥

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः ।।१११।।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः । शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरात्नितलद्विजैः ।।११२।।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः । तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।।११३।।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ।

आगन्तुजज्वर के प्रकार–सात प्रकार के दोषज ज्वर [१. वातज्वर, २. पित्तज्वर, ३. कफज्वर, ४. वातपित्तज्वर, ५. वातकफज्वर, ६. पित्तकफज्वर, ७. सन्निपातज ज्वर] के साथ आठवाँ आगन्तुज ज्वर होता है । वह चार प्रकार का होता है–

१. अभिघातज ज्वर
२. अभिषङ्ग से उत्पन्न ज्वर
३. अभिचार से उत्पन्न ज्वर
४. अभिशाप से उत्पन्न ज्वर

१. **अभिघातज-ज्वर**–शस्त्र (हथियार), लोष्ट (मिट्टी या पत्थर के टुकड़े), कशा (चाबुक), काष्ठ (लकड़ी), मुष्टि (मुट्ठी), अरत्नि तल (थप्पड़), द्विज (दांत) के प्रहार द्वारा अथवा इसी प्रकार के अन्य कारणों द्वारा शरीर पर चोट लगने से उत्पन्न ज्वर अभिघातज ज्वर कहा जाता है ।

इस प्रकार के ज्वर में प्रायः वायु बढ़कर रक्त को दूषित करते हुए व्यथा के साथ शोफ (Inflammation with pain), वैवर्ण्यता (अभिघात वाले स्थान की त्वचा का रंग बदल जाना discolouration) एवं रुजा को उत्पन्न करता है ।

चक्रपाणि–'आगन्तुरित्यादि' के द्वारा आगन्तुज ज्वर के भेदों को बताया गया है ।

कशा 'सार' इति ख्याता–सार नाम से प्रसिद्ध, इसे चाबुक भी कहा जाता है ।

मुष्टिः 'कील' इति ख्यातः –घूसा (मुट्ठी बाँधकर मारना), इसे कील भी कहते हैं । कील का अर्थ कोहनी भी है । हते=अभिहते=चोट लगने पर ।

प्रायो रक्तमिति अत्यर्थं रक्तं दूषयन् मांसादि चाल्पं दूषयतीत्यर्थः –रक्त को अत्यधिक दूषित करते हुए तथा मांसादि को कम दूषित करते हुए । अर्थात् अल्प रूप में मांसादि की दुष्टि होती है । यद्यपि निदान-स्थान में भी "तत्राभिघातजेन वायुना दुष्टशोणिताधिष्ठानेन" (नि. अ. १) कहा गया है । अर्थात् अभिघातज ज्वर में वायु का आश्रय दूषित रक्त होता है, फिर भी यहाँ रक्त की साक्षात् दुष्टि होती है तथा अल्प रूप में मांसादि धातुएं दूषित होती हैं, यही विशेष है । ॥१११-११३॥

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ।।११४।।
सोऽभिषङ्गाज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः । कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः ।।११५।।
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः । भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम् ।।११६।।
विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसंभवैः । अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ।।११७।।
चिकित्सया विषघ्नैव स शमं लभते नरः । अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते ।।११८।।
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः । सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत् स्मृतम् ।।११९।।
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः । प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि ।।१२०।।

Scanned by CamScanner

स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा । वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके ।।१२१।।
यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात् पृथग्विधम् । ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ।।१२२।।
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे । क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ।।१२३।।
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसंभवे । केषाञ्चिदेषां लिङ्गानां संतापो जायते पुरः ।।१२४।।
पश्चात्तुल्यं तु केषाञ्चिदेषु कामज्वरादिषु । कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम् ।।१२५।।
कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत् स्मृतम् । मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।।१२६।।
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दूष्यति । देहे चाभिह (द्व) ते पूर्वं वाताद्यैर्न तथा बलम् ।।१२७।।
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दूष्यति ।

२. **अभिषङ्गज ज्वर**–काम, क्रोध, भय एवं शोक से आसक्त तथा भूतासक्त पुरुष को जो ज्वर उत्पन्न होता है उसे अभिषङ्गज ज्वर कहते हैं । काम, शोक तथा भय से वायु, क्रोध से पित्त तथा भूताभिषंग से तीनों मल (त्रिदोष) का प्रकोप होता है । भूताधिकार प्रकरण (उन्माद-निदान प्रकरण) में भूतों के सामान्य लक्षण एवं उनके अष्टविध प्रकारों का उल्लेख किया जा चुका है ।

कुछ आचार्यों के अनुसार यह ज्वर विषैले वृक्षों एवं विषयुक्त वायु के स्पर्श से तथा अन्य इसी प्रकार के विष युक्त कारणों द्वारा उत्पन्न होता है । विषघ्न चिकित्सा द्वारा यह ज्वर शान्त हो जाता है ।

३,४. **अभिचार एवं अभिशाप जन्य ज्वर के लक्षण**–सिद्ध पुरुषों के अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन आदि कर्म- evil tantric rituals) एवं अभिशाप द्वारा जो भयङ्कर सन्निपात ज्वर उत्पन्न होता है उसकी चिकित्सा अत्यन्त कष्टदायी होती है । सन्निपात ज्वर के जो लक्षण बताये गये हैं वही लक्षण सामान्यतः अभिशाप एवं अभिचार जन्य ज्वर में भी पाये जाते हैं । इसके अतिरिक्त इस ज्वर में चित्त (मन), इन्द्रिय (Sense organs) एवं शरीर (body) में विविध वेदनायें पायी जाती हैं । विविध प्रकार के अभिशाप एवं अभिचार जन्य ज्वर के दोषज लक्षणों का ज्ञान अभिचार अथवा अभिशाप के प्रयोगों को देखकर, स्वयं सुनकर, अनुमान के द्वारा अथवा चिकित्सा द्वारा व्याधि के प्रशमन को देखकर करते हैं । कर्म एवं प्रयोग की भिन्नता से इनसे (अभिचार एवं अभिशाप से) उत्पन्न ज्वर में भी अलग-अलग लक्षण (Signs and Symptoms) प्राप्त होते हैं ।

कामादि ज्वर के लक्षण–कामज्वर में व्यक्ति का मन ध्यान युक्त (चिन्तित) रहता है तथा श्वासोच्छ्वास की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। **शोकज ज्वर** में व्यक्ति के नेत्र से आँसू निकलते रहते हैं । **भयज ज्वर** में व्यक्ति भयभीत (डरा हुआ) रहता है । **क्रोधज ज्वर** में व्यक्ति अत्यधिक क्रोधयुक्त एवं चेहरा लालिमा युक्त हो जाता है । **भूताविष्ट ज्वर** में व्यक्ति अमानुषिक (मनुष्येतर) अथवा मनुष्य की क्षमता से अधिक कार्यों को करने लगता है । **विषज ज्वर** में मूर्च्छा, मोह, मद एवं ग्लानि की प्रधानता मिलती है । अर्थात् ये लक्षण विषज ज्वर में प्रधान रूप से पाये जाते हैं ।

कामादि ज्वर में संताप का स्वरूप–कामादि ज्वर से युक्त रोगियों में जो लक्षण यहाँ बताये गये हैं उनमें से कुछ में इन लक्षणों से पूर्व तथा कुछ में बाद में संताप (ज्वर-Temperature) उत्पन्न होता है । अर्थात् कुछ रोगियों में ज्वर पहले उत्पन्न होना है तथा निर्दिष्ट लक्षण बाद में उत्पन्न होते है तथा कुछ में निर्दिष्ट लक्षणों के बाद ज्वर उत्पन्न होता है । कामादि ज्वर के जो विशेष लक्षण यहाँ बताये गये हैं वही कामादि हेतुओं से उत्पन्न होने वाली दूसरी व्याधियों में भी पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए । कामादि कारणों द्वारा मन के दूषित होने पर ज्वर उतना बली नहीं होता जब तक कि वातादि कारणों द्वारा शरीर दूषित न हो जाय । अर्थात् मन के अभिहत होने पर भी शरीर धातुओं की दोषों द्वारा दुष्टि न होने पर ज्वर बली नहीं होता । उसी प्रकार वातादि दोषों द्वारा शरीरस्थ धातुओं के दूषित होने पर भी कामादि कारणों द्वारा मन की दुष्टि न होने पर उत्पन्न शारीरिक ज्वर बलवान नहीं होता ।

चक्रपाणि–अभिषङ्गज ज्वरों में दोषानुबन्ध की विशेषताओं को 'कामेत्यादि' के द्वारा यहाँ बताया गया है । अर्थात् अभिषङ्गज ज्वर में किन-किन दोषों का अनुबन्ध रहता है तथा उनके विशिष्ट लक्षण क्या हैं ? इसका विवेचन 'कामेत्यादि' के द्वारा यहाँ किया गया है ।

निदान-स्थान १ में–**''अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्यामनुबध्यते''** कहा गया है । अर्थात् अभिषङ्गज ज्वर में पुनः वात-पित्त साथ में लगे रहते हैं, तब क्यों यहाँ भूताभिषङ्गज ज्वर में त्रिदोष का अनुबन्ध होता है, यह कहा गया है; ऐसी शंका है । इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-ऐसा नहीं है, कामादि अभिषंग से जो ज्वर प्रायः उत्पन्न होता है उसमें मुख्य रूप से वात-पित्त का ही अनुबन्ध रहता है । उसी के अभिप्राय को 'वातपित्ताभ्यामनुबध्यते' इति से बताया गया है । कामादि से उत्पन्न ज्वरों में किसी में वात, किसी में पित्त तथा किसी में दोनों का अनुबन्ध रहता है, ऐसा जानना चाहिए । **भूतसामान्यलक्षणा इति**-देवादि आठ प्रकार के उन्माद भूत कहे गये हैं । [देव, ऋषि, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच अथवा गुरु, वृद्ध, सिद्ध द्वारा उत्पन्न उन्माद भूतज (आगन्तुज) कहे गये हैं ।] इनके आवेश से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनके साथ-साथ अन्य दोषज लक्षण भी भूतज्वर में उत्पन्न होते हैं । चरकसंहिता के काश्मीर पाठ के अनुसार-

Scanned by CamScanner

"विषवृक्षानिलस्पर्शात्" [विष युक्त वृक्षों की पत्तियों अथवा विषैली वायु के स्पर्श से विषज ज्वर उत्पन्न होता है।] विषज का समावेश यहाँ अभिषङ्गज में ही किया गया है। जो लोग इस पाठ को नहीं स्वीकार करते उनके अनुसार भी अभिषङ्गज में ही विषौषधियों के गन्ध से उत्पन्न ज्वर का समावेश होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार विषज को विष जनित पित्त की वृद्धि से उत्पन्न होने से दोषज में ही समाविष्ट करते हैं।

अभिचारः हिंसार्थोऽथर्वमन्त्रहोमादि–व्यक्ति की हत्या हेतु (हिंसा हेतु) अथर्ववेद विहित मन्त्र एवं होमादि का प्रयोग करना अभिचार कहलाता है।

अभिशापः –अभिशपनमेव-किसी का बुरा मनाना, अर्थात् गुरु, वृद्ध आदि द्वारा दिया गया शाप।

सिद्धा मन्त्रौषधतपः शमादिसिद्धाः –अन्तर्दृष्टि प्राप्त सन्त या महात्मा जो मन्त्र, औषध, तप व शमन आदि क्रियाओं को करता हो।

श्लोक नं. १२८ एवं १२९ चरक-संहिता के काश्मीर पाठ से सम्बन्धित है जो उतना महत्वपूर्ण नहीं है तथा प्रसिद्ध भी नहीं है। अर्थात् अन्य पाठों में प्राप्त नहीं होता। ॥११४-१२७॥

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः ।।१२८।।
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ।

आगन्तुक ज्वर का वैशिष्ट्य–आगन्तुज ज्वर पहले स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होते हैं, बाद में उनमें दोषों का सम्बन्ध होने से दोषों के लक्षण मिलते हैं। आगन्तुज ज्वर के हेतु (Cause) एवं औषध भिन्न होते हैं। अर्थात् इनके हेतु एवं चिकित्सा निज से भिन्न होती है।

चक्रपाणि–आगन्तुज एवं निज ज्वर के भेदक लक्षणों को यहाँ 'ते पूर्वमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **केवला इति**- निज दोष से रहित। अर्थात् आगन्तुज ज्वर प्रारम्भ में निज दोषों से रहित होता है बाद में दोषों का सम्बन्ध होने से इसमें दोषज लक्षण मिलते हैं।

निजैरिति–दोषज लक्षणों का प्राप्त होना। अर्थात् आगन्तुज ज्वर स्वतंत्र कारणों से उत्पन्न होता है बाद में दोषों का प्रकोप होने से उसमें दोषों के लक्षण मिलते हैं।

हेत्वौषधविशिष्टाश्चेति--हेतु एवं चिकित्सा क्रम का विशिष्ट होना। अर्थात् निज से आगन्तुज ज्वर हेतु एवं चिकित्सा में भिन्न होता है। विशिष्ट हेतु से यहाँ अभिघात आदि कारणों का ग्रहण किया गया है तथा **विशेष चिकित्सा** से परिषेक एवं मंत्रादि उपक्रमों को लिया गया है। ॥१२८॥

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः ।।१२९।।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिं स्थानान्निरस्य च । स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।।१३०।।
स्रोतांसि रुद्ध्वा संप्राप्ताः केवलं देहमुल्बणाः । संतापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा ।।१३१।।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ।

ज्वर की सामान्य संप्राप्ति–संसृष्ट (संसर्ग या दो दोषों का परस्पर संयोग), सन्निपात (तीनों दोषों का परस्पर मिलना) अथवा पृथक्-पृथक् दोष प्रकुपित होकर रस नामक धातु में प्रवेश कर अग्निस्थान से अग्नि को निकालकर अपनी ऊष्मा से देहोष्मा के बल को बढ़ाते हुए, स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करते हुए दोष संपूर्ण शरीर में फैलकर अत्यधिक संताप उत्पन्न करते हैं जिसके कारण व्यक्ति का शरीर अत्यधिक उष्ण हो जाता है, इसे ही ज्वर कहा जाता है।

चक्रपाणि–संसृष्टा इत्यादि से यहाँ सभी ज्वरों की सामान्य संप्राप्ति को बताया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में संप्राप्ति का उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि यहाँ वर्णित आकृति से ही संप्राप्ति का भी ग्रहण कर लिया गया है। [सामान्यतः आकृति (Signs and Symptoms) को ही संप्राप्ति भी कहा जाता है।]

इससे मूलसूत्र का विरोध नहीं होता, अथवा क्रमानुसार सामज्वर के लक्षणों के कथन में अरुचि आदि लक्षणों की उत्पत्ति को दिखाने के लिए संप्राप्ति का कथन किया गया है।

संसृष्टा इति युग्मभूता–दो दोषों के परस्पर संयोग को संसृष्ट अथवा संसर्ग कहा जाता है।

सन्निपतिता इति–तीन दोषों के परस्पर संयोग को सन्निपात कहा जाता है। **पक्तिमिति**-पक्ति से पाचन (Digestion) अर्थ लिया गया है, लेकिन इस प्रसंग में पक्ति से पाचन के कारण भूत अग्नि 'जाठराग्नि' का ग्रहण है। **स्थानादिति**-अग्नि को अपने स्थान से निकालकर, अग्नि का स्थान ग्रहणी बताया गया है।

Scanned by CamScanner

स्वेनेति दोषोष्मणा–दोषों की ऊष्मा द्वारा। **तेनेति**-जाठराग्नि की ऊष्मा द्वारा। **देहोष्मण इति**-सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाली प्राकृत ऊष्मा। वातकफजन्य ज्वर में यद्यपि पित्त की तरह ऊष्मा नहीं रहती फिर भी उन दोनों से जो ऊष्मा उत्पन्न होती है उसी का यहाँ ग्रहण है। ग्रहणी अध्याय में कहा भी गया है, यथा-**"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः"** (चि.अ. १५) इति। [पञ्च भूताग्नियाँ- 'पार्थिव, आप्य, अग्नि, वायव्य तथा आकाश' आहार में विद्यमान पाँच भौतिक गुणों का पाक कर पार्थिवादि देह गुणों में परिवर्तित कर शरीरस्थ पार्थिवादि धातुओं का पोषण करती हैं।] अथवा 'तेन इत्यनेन' से दिव्य रूप ज्वराधिष्ठान के प्रभाव से उत्पन्न दोषों की ऊष्मा (उष्णता-गर्मी) का ग्रहण किया गया है अथवा इससे ज्वर की सामान्य संप्राप्ति से उत्पन्न 'पित्तोष्मा' का निर्देश है। जहाँ भी ज्वर की सत्ता है वहाँ पित्त तो अवश्य ही रहता है। कहा भी गया है, यथा-**"ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना"** (वा.चि.अ. १) इति। पित्त के अभाव में ऊष्मा नहीं होती तथा कोई भी ज्वर बिना ऊष्मा के नहीं होता।] केवलमिति-समस्तं। ॥१२९-१३१॥

स्रोतसां संनिरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति ॥१३२॥
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे।

तरुणज्वर में स्वेद न निकलने में हेतु–स्रोतों में अवरोध उत्पन्न होने तथा अपने स्थान से अग्नि के च्युत हो जाने के कारण तरुणज्वर में प्रायः पुरुष को पसीना नहीं आता।

चक्रपाणि–स्वेदं न नाधिगच्छति इति-इसके साथ 'प्रायः' शब्द भी जोड़ना चाहिए। अर्थात् प्रायः तरुणज्वर (नवीन ज्वर) में पुरुष को पसीना नहीं निकलता। कुछ ज्वरों में पसीना निकलता भी है।

ना इति–'ना' का अर्थ यहाँ 'पुरुष' से लिया गया है। ॥१३२॥

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ॥१३३॥
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च। ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् ॥१३४॥
लालाप्रसेको हल्लासः क्षुन्नाशो विरसं मुखम्। स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ॥१३५॥
न विड् जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम्। ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ॥१३६॥
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम्।

आम ज्वर के लक्षण–आमज्वर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–अरुचि (Anorexia), अविपाक (भोजन का न पचना Indigestion), उदर में भारीपन का होना (Heaviness of the stomach), हृदय का शुद्ध न होना, तन्द्रा (drowsiness), आलस्य (Laziness), अविसर्गी (तापक्रम का न उतरना-There is no remission of temperature), ज्वर की तीव्रता का बने रहना, दोषों का शरीर से बाहर न निकलना, मुख से लालास्राव का निकलना (Salivation), हल्लास (मिचली-Nausea), भूख का न लगना, मुख का स्वाद बदल जाना (Tastelessness in mouth), शरीर का जकड़ जाना, शरीर में शून्यता एवं भारीपन का अनुभव होना, बहुमूत्रता (मूत्र का अत्यधिक होना-Excessive urination), आम मल का निकलना तथा ग्लानि का अभाव होना। उपर्युक्त सभी लक्षण आमज्वर में पाये जाते हैं।

पच्यमान ज्वर के लक्षण–ज्वर का तीव्र होना (High Temperature), अत्यधिक प्यास का लगना (Excessive thirst), प्रलाप (delirium), श्वास का बढ़ जाना (Dyspnoea), भ्रम (Giddiness), मल प्रवृत्ति का होना तथा उत्क्लेश (जी का मिचलाना); ये लक्षण पच्यमान ज्वर में पाये जाते हैं, अर्थात् इन लक्षणों को देखकर यह जान लेना चाहिए कि अब दोषों का पाक हो रहा है।

चक्रपाणि–अविसर्गीति-नित्य अनुसक्त होना, अर्थात् ज्वर का नित्य बने रहना। **दोषाणामिति**-मलसम्बद्ध दोषों का शरीर से बाहर न निकलना। अप्रवर्तनम्=अविसर्ग (न निकलना अर्थात् शरीर में बना रहना)। **क्षुन्नाश इति**-भूख का न लगना। **न विड् जीर्णेति**-पुरीष का पक्व न होना। **न ग्लानिरिति**-मांस का क्षय न होना। ॥१३३-१३६॥

क्षुत् क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ॥१३७॥
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम्।

निराम ज्वर के लक्षण–निराम ज्वर में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. क्षुधा का प्रदीप्त होना अर्थात् भूख लगना।
२. क्षामता (शरीर का कृश होना)।
३. शरीर का हलका होना, अर्थात् शरीर में भारीपन का न रहना।
४. ज्वर की तीव्रता का कम होना, अर्थात् Temperature कम हो जाना।
५. दोषों का बाहर निकलना, अर्थात् अतिसार द्वारा दोषों का बाहर निकलना।
६. ज्वर के रहते हुए आठ दिन का बीत जाना।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'क्षुत् क्षामतेत्यादि' के द्वारा निराम ज्वर के लक्षणों को बताया गया है। क्षुधा (भूख लगना) आदि की प्रवृत्ति दोषों के पाक होने से उत्पन्न होती है। अर्थात् आम दोषों के पाक से ही रोगी को भूख लगती है, यह पाक आठ दिन के पूर्व भी हो सकता है। आठ दिन बीत जाने पर क्षुधा आदि की प्रवृत्ति के बिना दोषपाक न होने पर भी ज्वर में औषध प्रयोग द्वारा व्याधि को निराम करने का निर्देश है। कहा भी गया है, यथा-"पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्" [दोषों के पाक हेतु पाचन अथवा शमनीय कषायों का प्रयोग करना चाहिए।] इस आधार पर यहाँ दो विकल्प रखे गये हैं-१. आठवें दिन क्षुधा आदि दोषपाक के लक्षणों के उदय न होने पर दोषपाकार्थ 'पाचनीय कषाय' का प्रयोग करना चाहिए। २. आठवें दिन क्षुधा आदि दोषपाक के लक्षणों के मिलने पर अथवा ज्वर के पूर्णतः निराम हो जाने पर शमनीय कषाय (ज्वरशामक कषाय) का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य **खरनाद** के द्वारा ज्वर की सर्वथा निरामत्व का उपदेश इस रूप में किया गया है-"न च निः सप्ततैवैका निरामज्वरलक्षणम्। चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपातज्वरे मलाः॥ सप्तरात्रातिवृत्तिं च क्षामतादि च लक्षणम्। तस्मादेतद्द्वयं दृष्ट्वा निरामं ज्वरमादिशेत्" इति [सात दिन के बाद भी निराम ज्वर के लक्षण प्राप्त नहीं होते, सन्निपातज ज्वर में दोषों के पाक होने में ज्यादा समय लगता है। अतः चिकित्सक को ज्वर की निरामता का निर्देश सात दिन व्यतीत हो जाने पर एवं क्षुधा आदि लक्षणों के आधार पर करना चाहिए।] कभी-कभी आठ दिन से पूर्व भी दोष पाक जनित क्षुधादि लक्षण प्राप्त होते हैं। अर्थात् आठ दिन से पूर्व ही निराम के लक्षण मिल जाते हैं। आचार्य सुश्रुत ने आठ दिन से पूर्व ही भेषज प्रयोग का निर्देश दिया है। कहा भी गया है-**"अर्वागपि च देयं स्याद्भेषजं दोषपाकतः"** (सु.उ.अ. ३९) इति। [आठ दिन से पूर्व भी दोषों के पाक होने पर भेषज का प्रयोग किया जा सकता है।] इसलिये क्षुधादि लक्षणों को देखकर तथा आठ दिन के बाद पूर्व वर्णित सिद्धान्त से भेषज का प्रयोग किया जा सकता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१३७॥

नवज्वरे दिवास्वप्रस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् ॥१३८॥
क्रोधप्रवातव्यायामान् कषायांश्च विवर्जयेत्।

नवज्वर में निषिद्ध वस्तु–नवज्वर (First stage of the fever) में-दिन में सोना (Sleep during day time), स्नान करना, अभ्यंग (तैलादि से शरीर की मालिश करना), अन्न का सेवन, मैथुन, क्रोध, प्रवात (हवा के तीव्र झोंको) का सेवन, व्यायाम एवं कषाय (कषाय रस युक्त औषधियों का क्वाथ) का प्रयोग त्याग देना चाहिए।

चक्रपाणि–श्लोक नं. ७ में वर्णित **'सौषधं च क्रियाक्रममिति'** से यद्यपि औषधि का उल्लेख पहले किया गया है, फिर भी उसके क्रियाक्रम को विशेष रूप से अप्रधान स्वीकार करके औषध के बाद 'नवज्वरे' इत्यादि के द्वारा 'क्रियाक्रम' को बताया गया है।

क्रियायाश्चिकित्सायाः क्रमः परिपाटी–क्रियाक्रम से चिकित्सा क्रम अथवा चिकित्सा की परिपाटी अर्थ लिया गया है। उसमें भी अहित हेतुओं का पहले निषेध किया गया है। 'अन्न' शब्द से यहाँ गुरु अन्न का ग्रहण है। अर्थात् जिस अन्न के सेवन करने से शरीर में गुरुता (भारीपन) उत्पन्न हो अथवा जिसका पाक सम्यक् न हो सके या देर में हो उसे गुरु अन्न कहा जाता है। **हारीत** के मतानुसार-"नवज्वरे व्यवायादि प्रत्येकं दोषकोपनम्। गुर्वन्नभोजनाच्चापि विष्टम्भो दोषकोपनम्" बताया गया है।

कषायांश्चेति जातौ बहुवचनं-कषाय रस वाले द्रव्यों के प्रयोग का निषेध किया गया है। आचार्य **जतूकर्ण** ने इस पर अपना मत इस प्रकार दिया है-"कषायरसगुरुष्णास्निग्धान्नस्नानाभ्यङ्गान् नवज्वरे वर्जयेत्" [नवज्वर में कषाय रस (Medicines having astringent taste), गुरु, उष्ण, स्निग्ध अन्न (गुरु अन्न, उष्ण अन्न, स्निग्ध अन्न), स्नान तथा अभ्यंग (Massage) का प्रयोग नहीं करना चाहिए।] ॥१३८॥

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ॥१३९॥
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्।

ज्वर में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग–धातुक्षय, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक एवं श्रम; इन हेतुओं से उत्पन्न होने वाले ज्वर को छोड़कर शेष सभी ज्वरों के प्रारम्भ में लंघन कराने का निर्देश दिया गया है।

चक्रपाणि–'ज्वरे इत्यादि' से सभी ज्वरों में सर्वप्रथम लंघन कराने का निर्देश दिया गया है। अर्थात् चिकित्सक वर्ग ज्वर में पहले लंघन ही कराता है। 'लंघन' शब्द से यहाँ अनशन (उपवास) अर्थ लिया गया है। यद्यपि "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः" (सू.अ. २२) के द्वारा लंघनबृंहणीय अध्याय में लंघन के दस भेदों का उल्लेख किया गया है फिर भी उनका यहाँ अवस्था विशेष से ग्रहण न करते हुए लंघन से उपवास (Fasting) का ही ग्रहण किया गया है।

तेन अवस्थायां वमनमपि भवति वक्ष्यमाणम्-उस अवस्था में वमन द्वारा भी लंघन कार्य होता है, ऐसा बताया जायेगा। जो लोग लंघनबृंहणीय नामक अध्याय में वर्णित कफपित्त ज्वर, छर्दि आदि व्याधियों में पाचन औषधि का निर्देश करते है, यथा-पाचनैस्तान् भिषक् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत" (सू.अ. २२) इति [वमन, अतिसार, हृद्रोग, विसूचिका, अलसक, ज्वर आदि व्याधियों में चिकित्सक को

Scanned by CamScanner

सर्वप्रथम पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिए ।] उनके अनुसार भेषज प्रयोग से पूर्व पाचन (दोष-पाचन) कार्य हेतु पाचन औषध का प्रयोग करना चाहिए। इससे ज्वर के प्रारम्भ का ग्रहण नहीं होता । उससे यहाँ ज्वर के प्रारम्भ में लंघन का अभिधान होना विरुद्ध नहीं है। आचार्य हारीत के अनुसार **''पित्तश्लेमविशुद्ध्यर्थं कुर्याद्वमनमादितः''** [पित्त व कफ की शुद्धि हेतु सर्वप्रथम वमन करना चाहिए ।] यह जो कहा गया है वह ज्वर की कफ प्रधान अवस्था को देखते हुए कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए । 'क्षय' शब्द से यहाँ धातुक्षय जन्य ज्वर का ग्रहण किया गया है अथवा राजयक्ष्म ज्वर का ग्रहण है । अनिल शब्द से निराम वात का ग्रहण है अथवा 'क्षयानिल' शब्द से धातुक्षय जनित प्रकुपित वात का ग्रहण है । कहा भी गया है; यथा-**''वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च''** (चि.अ. २८) [वात का प्रकोप धातुक्षय एवं मार्गावरण द्वारा होता है ।] मार्गावरण के द्वारा जिस वायु का प्रकोप होता है । वह आवरक धर्म से युक्त होने के कारण प्राय: साम युक्त होता है । इस स्थिति में मात्रा पूर्वक लंघन कराना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**''सामे वातेऽपि लंघनम् । कुर्यादामपक्त्यर्थं युक्त्या, न तु यथा कफे''** इति [साम वात में आम के पाचनार्थ युक्ति पूर्वक लङ्घन कराना चाहिए , लेकिन उतना नहीं कराना चाहिए जितना कफ में कराया जाता है ।] वातज्वर विवेचन के बाद भी कामादि ज्वर का अभिधान होना, इसलिये किया गया है कि कालान्तर में इसमें वात का संबन्ध होता है । इसलिये इस ज्वर में लंघन नहीं कराया जाता । अर्थात् वातज्वर एवं कामादि ज्वर में लंघन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि वात ज्वर में वायु प्रारम्भ में ही बली होती है तथा कामादि ज्वर में कालान्तर में वात प्रकुपित होता है । ॥१३९॥

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षितेऽनले ।।१४०।।
विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते । प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् ।।१४१।।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ।

लंघन के परिणाम (Effects of Langhana)–लंघन के द्वारा-दोषों का क्षय हो जाने एवं जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाने से ज्वर का नाश हो जाता है । अर्थात् ज्वर शान्त हो जाता है, शरीर में लघुता उत्पन्न हो जाती है, व्यक्ति को भूख लगने लगती है तथा भोजन में रुचि उत्पन्न हो जाती है ।

लंघन का प्रयोग कब करें?

रोगी के प्राणों (बल) का विरोध न करते हुए लंघन कराना चाहिए, क्योंकि आरोग्य का उद्देश्य व्यक्ति के बल को स्थिर रखना है तथा आरोग्य प्राप्ति हेतु ही चिकित्सा क्रम किया जाता है ।

चक्रपाणि–'लंघनेनेत्यादि' के द्वारा लङ्घन के फल को बताया गया है । **प्राणाविरोधिनेति**-बल का विरोध न करते हुए । अर्थात् लङ्घन उतना ही कराना चाहिए जिससे व्यक्ति के बल का अत्यधिक क्षय न हो । **विरोधश्चातिक्षयकरत्वेनेहोच्यते**-लङ्घन द्वारा बल का अत्यधिक क्षय होने से, इसका विरोध किया गया है । अर्थात् चिकित्सक लङ्घन तभी करावे जब यह जान ले कि आतुर का बल लङ्घन के बल को सहने में सक्षम है, अन्यथा इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

आरोग्यं बलवत एव भवतीति–आरोग्य होने से व्यक्ति का बल बढ़ता है । अर्थात् आरोग्य में बल की वृद्धि होती है । इसलिये बल युक्त को ही आरोग्य कहा गया है ।

यदित्यनेनारोग्यं प्रत्यवमृशति–'आरोग्य की प्राप्ति हेतु यहाँ क्रियाक्रम (चिकित्सा) का विचार किया गया है । ॥१४०-१४१॥

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः ।।१४२।।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ।

नवज्वर (तरुण) में आम-दोष के पाचनार्थ साधन–लङ्घन (उपवास-Fasting), स्वेदन (Fomentation), काल (समय-आठ दिन का व्यतीत होना) तथा तिक्त रस युक्त यवागू का प्रयोग तरुण ज्वर में आम दोषों के पाचनार्थ किया जाता है ।

चक्रपाणि–प्राकृत लङ्घन के पाचन स्वरूप को दर्शाते हुए दूसरे स्वेदादि पाचन क्रियाओं को 'लङ्घनमित्यादि' के द्वारा यहाँ बताया गया है । काल से यहाँ 'आठ दिन' का ग्रहण है । यवागू से यहाँ तिक्त रसों द्वारा सिद्ध यवागू का ग्रहण है, क्योंकि कि तरुण ज्वर में स्वतंत्र औषधि का प्रयोग निषेध किया गया है । कहा भी गया है, यथा-**''भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्''** [आम ज्वर में औषध का प्रयोग करने से ज्वर का वेग पुनः बढ़ जाता है ।] यहाँ ''अविपक्वानां दोषाणाम्'' कहने के बाद भी 'तरुणे ज्वरे' शब्द का प्रयोग किया गया है । इससे आठ दिन के बाद अतरुण (जीर्ण) ज्वर में दोषों के अपक्व रहने पर पाचन कषाय (क्वाथ) का प्रयोग करने का निर्देश है, इस स्थिति में लङ्घन का प्रयोग नहीं करना चाहिए । ॥१४२॥

तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे ।।१४३।।
मद्योत्थे पैत्तिके चाथ शीतलं तिक्तकैः शृतम् । दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत् ।।१४४।।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ।

Scanned by CamScanner

ज्वर में जल की उपयोगिता–१. वात, कफ तथा वातकफ जन्य ज्वर में प्यास लगने पर रोगी को उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए अथवा पीने के लिए उष्ण जल देना चाहिए। २. मद्य जन्य एवं पैत्तिक ज्वर में तिक्त द्रव्यों से पकाये हुए क्वाथ को ठंडा करके देना चाहिए। ये दोनों प्रकार के जल (उष्ण जल एवं तिक्त द्रव्यों से सिद्ध शीत जल) दीपन (अग्नि को प्रदीप्त करने वाले), पाचन (आम पाचक), ज्वरनाशक, स्रोतों को शुद्ध करने वाला, बल्य (शारीरिक बल बढ़ाने वाला), रुचि उत्पादक, स्वेदोत्पादक एवं पवित्र (हितकर) होते हैं।

चक्रपाणि–लङ्घनादि काल में ही अवस्था विशेष में देय जल को यहाँ 'तृष्यत इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **वातकफज्वरे इति**- से यहाँ वातज्वर, कफज्वर तथा वातकफ ज्वर का ग्रहण किया गया है। अर्थात् इन ज्वरों में प्यास लगने पर रोगी को उष्ण जल का प्रयोग पानार्थ करना चाहिए।

मद्योत्थे कफादिज्वरेऽपि शीतलं जलं देयम्–मद्यजन्य कफादि ज्वर में भी तिक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध शीतल जल का प्रयोग तृष्णा की शान्ति हेतु करना चाहिए। अर्थात् तिक्त द्रव्यों से साधित शीतल जल का प्रयोग पित्तज्वर की तृष्णा में ही नहीं अपितु मद्योत्थ कफज्वर में भी प्रशस्त है।

तिक्तकैः श्रृतमिति–से आगे बताया जाने वाला 'षडङ्गपानीय' का ग्रहण किया गया है।

उभयमिति–उष्ण जल एवं षडंगपानीय जो शीतल किया गया हो; दोनों का ग्रहण है।

यद्यपि यहाँ त्रिदोषज ज्वर एवं कफपित्त ज्वर के लिए पानी या श्रृत शीत जल का उल्लेख नहीं किया गया है फिर भी सामान्यतः विमानस्थान अ.३ में यह कहा गया है–**''किन्तु खलु ज्वरितेभ्यः पानीयमुष्णं प्रयच्छन्ति'' (वि.अ. ३) इति**। इन ज्वरों में भी प्रमाणानुसार उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। वातपित्त प्रधान सन्निपात ज्वर में अत्यधिक दाह उत्पन्न होने पर तिक्त द्रव्यों से साधित (षडंगपानीय) शीत जल का प्रयोग करना चाहिए। इसी का निर्देश वि.अ. ३ में 'अत्यर्थोत्सन्नपित्ते' इत्यादि के द्वारा किया गया है। ॥१४४॥

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ॥१४५॥
श्रृतशीतं जलं दद्यात् पिपासाज्वरशान्तये।

षडंगपानीय का प्रयोग–१. मुस्तक, २. पित्तपापड़ा, ३. खश, ४. लालचन्दन, ५. सुगन्धवाला, ६. शुण्ठी (सोंठ); इन द्रव्यों से सिद्ध श्रृत (क्वाथ) का प्रयोग शीत (ठण्डा) कर प्यास एवं ज्वर की शान्ति हेतु करना चाहिए।

चक्रपाणि–'मुस्तेत्यादि' के द्वारा षडंगपानीय (आमपाचक जल) के प्रयोग को बताया गया है। यहाँ शुण्ठी (सोंठ) का प्रयोग तिक्त रस युक्त न होते हुए भी आमाशय दुष्टि जन्य ज्वर में उपयोगी होने से किया गया है, क्योंकि शुण्ठी आमपाचक होती है।

अत्र श्रृतशीतं जलं दद्यात् इति–यहाँ 'श्रृतशीतं' का अभिप्राय क्वाथ विधि के अनुसार क्वाथ बनाने से न होकर जल की अशुद्धि को दूर करने से है। जल संस्कार की यह विधि यहाँ स्वतंत्र रूप से निर्देशित नहीं की गयी है फिर भी व्यवहार में चिकित्सक समुदाय जिस विधि का प्रयोग करता है उसी का ग्रहण है। जल संस्कार की उस विधि का निर्देश इस प्रकार किया गया है, यथा-**यदप्सु श्रृतशीतासु षडंगादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि। अर्धश्रृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ''** [मुस्तक, पित्तपापड़ा, खश, रक्तचन्दन, सुगन्धबाला तथा सोंठ; सभी द्रव्यों की संयुक्त मात्रा १ कर्ष (१ तोला) लेकर १ प्रस्थ (६४ तोला) जल में मृदु अग्नि पर पाक करें। अर्ध जल (३२ तोले) अवशिष्ट रहने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर जल को छान कर रख लें। इसी जल का प्रयोग पीने के लिए एवं पेयादि तैयार करने में करना चाहिए।] इस प्रकार यहाँ षडंगपानीय निर्माण विधि को स्पष्ट किया गया।

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोषानामाशयस्थितान् ॥१४६॥
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्।

ज्वर में वमन का प्रयोग–आमाशय स्थित कफ प्रधान दोष जब उत्क्लेशित हों अर्थात् निकलने के लिए उद्यत हों, उन्हें ज्वर उत्पादक काल में वामक द्रव्यों को पिलाकर वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए।

चक्रपाणि–सामान्यतया तरुण एवं अतरुण ज्वर में अवस्थानुसार वमन का प्रयोग 'कफप्रधानानित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **कफः प्रधानो येषां ते कफप्रधानाः**-जिसमें कफ की प्रधानता हो उसे कफप्रधान कहा गया है, अर्थात् जिसके शरीर में कफ की प्रधानता हो उस पुरुष को कफप्रधान कहा गया है।

उत्क्लिष्टानिति–मिचली (Nausea) आदि के द्वारा दोषों का बाहर निकलने को उद्यत होना, अर्थात् जब दोष बाहर निकलने को उद्यत होते हैं उस समय मुख से पानी का आना।

Scanned by CamScanner

आमाशयस्थितानिति–सम्पूर्ण शरीर से दोष चलकर जब आमाशय में आ जाते हैं तब मिचली आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह लक्षण इस बात का द्योतक है कि दोष अब आमाशय से बाहर निकलने को है। इस अवस्था में वमन द्रव्यों का प्रयोग कर दोषों को बाहर निकाल देना चाहिए।

ज्वरकरानित्यनेन–ज्वर (नवज्वर) में ज्वरोत्पादक दोषों को इस विधान से वमन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा शरीर से बाहर निकालना चाहिए। आमाशयस्थ उत्क्लेशित दोषों को अन्य विधियों द्वारा नहीं निकालना चाहिए, यह दर्शाया गया है। **काले इति**-इस निर्दिष्ट काल में।

वमनैरिति–'वमन' शब्द तृतीया के बहुवचन के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय यहाँ प्रकृति आदि के अनुसार अनेक वामक योगों के प्रयोग को दर्शाया गया है। अर्थात् प्रकृति आदि के अनुसार वामक द्रव्यों के प्रयोग द्वारा वमन कराना चाहिए, क्योंकि विभिन्न प्रकृतियों में भिन्न-भिन्न योगों का प्रयोग होता है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकृतियों के अनुसार जो योग उपयुक्त हैं उनका प्रयोग करें।

'वम्यानाम्' से यहाँ-वमन के योग्य पुरुषों में ही वामक द्रव्यों के प्रयोग द्वारा वमन कराना चाहिए, अर्थ लिया गया है, क्योंकि गर्भिणी आदि में वमन का निषेध किया गया है। चूकि यहाँ वमन में दोषों का स्वयं ही उत्क्लेश हुआ रहता है। अर्थात् दोष उत्क्लेशित रहते हैं, इसलिये दोषोत्क्लेश हेतु स्नेहन-स्वेदन का निर्देश नहीं किया गया है, अथवा अल्प मात्रा में करना चाहिए। ॥१४६॥

विशेष–जब दोष उत्क्लेशित हों, सम्पूर्ण शरीर से निकलकर आमाशय में आ गये हों तथा रोग एवं रोगी वमन के योग्य हों; ऐसी स्थिति में प्रकृति, विकृति, सार आदि का विचार करते हुए उचित योगों द्वारा उत्क्लेशित दोषों को वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए। यहाँ स्नेहन व स्वेदन कराने का निर्देश नहीं दिया गया है, क्योंकि स्नेहन-स्वेदन द्वारा दोष उत्क्लेशित किये जाते हैं। यहाँ चूकि दोषों का उत्क्लेश स्वतः होता है, अतः पूर्वकर्म का निर्देश नहीं किया गया है।

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे ।।१४७।।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद्भृशम्। सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः ।।१४८।।
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्मयाः।

वमन के उपद्रव (Adverse effects of Emetic therapy)–तरुण ज्वर (First stage of the fever) में दोषों के उत्क्लेशित न होने पर यदि वमन कराया जाय तो अधोलिखित व्याधियाँ (उपद्रव) भयंकर रूप से उत्पन्न हो जाती हैं–१. हृद्रोग (Heart disease), २. श्वास (Asthma), ३. आनाह (Obstruction in the movement of flatus and feces in the intestine and colon तथा ४. मोह (unconsciousness)।

सम्पूर्ण देह में विचरण करने वाले आम दोष जब धातुओं में स्थित हों तो उस समय उसका निर्हरण कष्टदायी होता है अथवा प्राणनाशक होता है। जिस प्रकार कच्चे फल से स्वरस निकालने पर फल का ही नाश हो जाता है, वही स्थिति आम दोष के निर्हरण करने पर शरीर की होती है।

चक्रपाणि–तरुण ज्वर में अनुत्क्लेशावस्था में वमन कराने पर उत्पन्न दोषों का उल्लेख यहाँ 'अनुपस्थितेत्यादि' के द्वारा किया गया है। अनुत्क्लेशित का अभिप्राय 'दोष बाहर निकलने के लिए उद्यत न हों, से है। अर्थात् दोषोत्क्लेश के लक्षणों-हृल्लास आदि के न मिलने से है।

सर्वदेहानुगा इति–सूक्ष्म सिरा, त्वगादि में विद्यमान दोष।

सामा इति-सामत्वेन स्त्याना अप्रचलाश्च–आमदोष से यहाँ लीन एवं अप्रचलित (स्थिर) दोषों का ग्रहण किया गया है।

धातुस्था इति–धातुओं में प्रविष्ट होकर रहना; पाकोपरान्त यही दोष अपने स्थान को छोड़कर आमाशय में चले जाते हैं।

न सुखेन निर्हियन्ते इति–आम दोषों का निर्हरण सुखपूर्वक नहीं होता है।

किंवा, असून् प्राणान् निर्हरन्ति इति असुनिर्हराः–अथवा आमदोष का वमन द्वारा निर्हरण करने पर प्राणों का भय उपस्थित हो जाता है। अर्थात् वमन मृत्योत्पादक हो सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ कच्चे फल का दृष्टान्त दिया गया है, यथा-जिस प्रकार कच्चे फल से स्वरस निकालने के लिए फल को टुकड़े-टुकड़े कर सील पर पीसकर रस निकालते हैं। अर्थात् फल के स्वरूप को विनष्ट कर स्वरस निकाला जाता है उसी प्रकार आम दोषों के निर्हरण करने पर शरीर विनष्ट हो जाता है। ॥१४७-१४८॥

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत् ।।१४९।।
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः। यावज्ज्वरमृदूभावात् षडहं वा विचक्षणः ।।१५०।।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः। ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः ।।१५१।।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः। स्वेदनाय द्रवोष्णात्वाद्भवत्वात्तृट्प्रशान्तये ।।१५२।।

Scanned by CamScanner

आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च । ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात् पेयाभिरादितः ।।१५३।।
ज्वरानुपचरेद्धीमानृते मद्यसमुत्थितात् । मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके ।।१५४।।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ।

ज्वर में यवागू का प्रयोग–वमित (जिस व्यक्ति का वमन कराया गया है) या लङ्घित (जिसका लङ्घन हुआ हो) व्यक्ति को औषध द्रव्यों से सिद्ध यवागू (Gruel) का प्रयोग उचित समय में करना चाहिए । यवागू प्रयोग से पूर्व मण्ड का प्रयोग करना चाहिए । यवागू का प्रयोग छः दिन अथवा ज्वर के मृदु होने तक करना चाहिए । यवागू का प्रयोग व्यक्ति की जाठराग्नि को उसी प्रकार प्रदीप्त करता है जिस प्रकार समिधा के प्रयोग से यज्ञाग्नि प्रदीप्त होती है ।

यवागू के गुण–१. यवागू औषधियों के संयोग से निर्मित होने के कारण लघु गुण युक्त होने से जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है, अर्थात् अग्निदीपन (पाचन रसों के स्राव को बढ़ाती है ।) कार्य करती है ।

२. वात, मूत्र, पुरीष तथा दोषों का अनुलोमन करती है, अर्थात् मलमूत्रादि को अधोमार्ग द्वारा बाहर निकालती है ।

३. द्रव एवं उष्ण गुण युक्त होने से शरीर से स्वेद को बाहर निकालती है, अर्थात् स्वेदजनन कार्य करती है ।

४. द्रव गुण के कारण ज्वर युक्त रोगी की तृष्णा (प्यास) को शान्त करती है ।

५. अपने आहार भाव के कारण यवागू प्राणों के लिए हितकर है ।

६. सरत्व गुण (Laxative properties) के कारण यह आतुर शरीर में लघुता (Lightness) को उत्पन्न करती है ।

७. मुख्य रूप से यह सभी ज्वर रोगियों के लिए सात्म्य तथा ज्वरनाशक कार्य करती है । इसलिए ज्वर रोगी में पहले पेया (द्रव युक्त यवागू) का प्रयोग करना चाहिए ।

यवागू प्रयोग के अयोग्य रोग एवं रोगी–मद्योत्थ ज्वर (मद्य पीने से उत्पन्न ज्वर), मदात्यय (Alcoholism), जो नित्य मद्य पीते हैं, ग्रीष्म ऋतु, पित्त व कफ की अधिकता में तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में, इन कारणों से उत्पन्न ज्वर में यवागू का प्रयोग हितकर नहीं है ।

चक्रपाणि–वमन एवं लंघन के अनन्तर क्या करना चाहिए, उसे यहाँ 'वमितमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । **वमितं लङ्घितमिति**-अवस्थानुसार कभी-कभी वमित, कभी-कभी लङ्घित तथा कभी-कभी वमित व लङ्घित दोनों का ग्रहण किया गया है । अर्थात् वमित (जो वमन किया हो, लङ्घित (जिसे लङ्घन कराया गया हो) तथा वमित-लङ्घित (वमन एवं लङ्घन दोनों कार्य किये गये हों) पुरुषों में योग्य काल (अन्न काल) में यवागू का प्रयोग करना चाहिए ।

वमन कराने के बाद भी जब सम्यक् शुद्धि न हो तब उसी दिन लङ्घन कराया जाना चाहिए । **'काले'** से यहाँ आहार ग्रहण काल (अन्नकाल) का ग्रहण किया गया है ।

यथास्वौषधसिद्धाभिरिति–औषधसिद्ध जल द्वारा निर्मित यवागू वमित एवं लंघित आतुर को पिलाना चाहिए । यहाँ औषध सिद्ध से पिप्पलीनागरादि द्वारा साधित यवागू का ग्रहण है । अथवा जिस ज्वर में जो पाचन औषधि बतायी गयी है उससे सिद्ध जल द्वारा यवागू का निर्माण करना चाहिए, जल को षडंगपानीय विधि द्वारा सिद्ध करना चाहिए । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-**''अन्नकाले हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता''** (सु.उ.अ. ३९) इति । [दोषानुसार वर्णित पञ्चमूल आदि पाचक द्रव्यों द्वारा षडंग परिभाषा के अनुसार बनायी गई पेया अन्नकाल में सेवन करने पर ज्वरनाशक अथवा ज्वर में हितकर होती है ।]

मण्डपूर्वाभिरिति–मण्ड प्रधान, पहले मण्ड को पीकर बाद में उसके द्रव भाग को पीना चाहिए । पाठभेद में 'घनभागः' प्राप्त होता है जिसका अर्थ पहले मण्ड को पीकर पश्चात् उसके घन (ठोस) भाग को ग्रहण करना चाहिए । [यवागू-यवागू का द्रव भाग मण्ड कहलाता है ।]

यावज्ज्वरमृदूभावादिति–मण्ड का प्रयोग तब तक कराना चाहिए जब तक कि ज्वर की तीक्ष्णता कम न हो जाय । अथवा ज्वर के मृदु न होने पर भी छः दिन तक इसका प्रयोग करना चाहिए । इस छः दिन की संख्या ज्वर प्रारम्भ से शुरु करना चाहिए अथवा यवागू के प्रयोग से ही गणना करनी चाहिए । इसका उल्लेख श्लोक नं १६० व १६१ में किया जायेगा ।

ज्वरी के लिए क्या अनुकूल है, इसके कथन के बाद किस प्रकार के ज्वर रोगी में यवागू का प्रयोग नहीं करना चाहिए, इसका उल्लेख यहाँ 'ऋत इत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

ऋते मद्यसमुत्थितादिति–मद्यजन्य कारण से उत्पन्न ज्वर में यवागू का निषेध किया गया है । मदात्यय व्याधि में अन्य हेतुओं से उत्पन्न ज्वर, ग्रीष्म ऋतु में तथा पित्तकफाधिक्य वाले ज्वर में, ऊर्ध्वरक्तपित्त वाले रोगियों में उत्पन्न ज्वर; इन सभी में पेया का प्रयोग नहीं करना चाहिए । यद्यपि मदात्यय के रोगी में पेया का प्रयोग किया जाता है लेकिन ज्वर युक्त मदात्यय के रोगी में इसका प्रयोग निषिद्ध है ।

Scanned by CamScanner

'पित्तकफाधिके' से यहाँ पित्त व कफ की अत्यधिक वृद्धि में पेया का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पित्त व कफ की अल्प वृद्धावस्था में पेया (यवागू) का प्रयोग कराना चाहिए। यही बात तन्त्रान्तर में भी कही गयी है, यथा-**कफजेऽपि यदा क्षीणो लङ्घनादिक्रमात् कफः। शस्ता एव यवाग्वस्तु तथा पित्तेऽप्ययं क्रमः**'' इति [कफज ज्वर में लङ्घनादि के द्वारा जब दोषों का क्षय हो जाय तब उस समय यवागू का प्रयोग करना चाहिए, यही क्रम पित्त में भी अपनाना चाहिए, अर्थात् लंघनादि के प्रयोग काल में ही भूख लगने पर यवागू का प्रयोग करना चाहिए। पित्तज ज्वर में अथवा पित्त की प्रबलता में मधु मिश्रित शीत की हुई लाजपेया पीने के लिए देना चाहिए। इसका उल्लेख श्लोक संख्या १८१ में आगे किया जायेगा। कहा भी गया है, यथा-''पांशुधाने यथा वृष्टिः क्लेदयत्यति कर्दमम्। तथा श्लेष्मणि संवृद्धे यवागूः श्लेष्मवर्धनी'' इति (हारीतसंहिता) [जिस प्रकार धूल के भण्डार पर अचानक वर्षा होने पर कीचड़ की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है उसी प्रकार कफ की वृद्धि में यवागू का प्रयोग करने से कफ दोष अत्यधिक बढ़ जाता है।] अतः आचार्य हारीत के अनुसार कफ की वृद्धि में यवागू का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यहाँ वृद्धि से अत्यधिक कफ वृद्धि अर्थ लिया गया है। दूसरे आचार्य मिलित रूप में कफपित्ताधिक्य की अवस्था में यवागू का निषेध करते हैं।

यदि 'ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते' के स्थान पर 'ऊर्ध्वगे कफपित्ते' पाठ हो तब इसका अर्थ वातज्वर में भी जब दोष (कफपित्त) ऊर्ध्व मार्ग द्वारा स्वयं प्रवृत्त हो अर्थात् वमन द्वारा बाहर निकल रहा हो तब उस समय भी पेया का प्रयोग नहीं करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत के अनुसार-**''कफपित्तपरीतस्य ऊर्ध्वासृक्पित्तिनस्तथा। मद्यनित्यस्य न हिता यवागूः''** (सु.उ.तं.अ. ३९) कफपित्त ज्वर, ऊर्ध्वग रक्तपित्त तथा नित्य मद्य सेवन करने वाले पुरुषों में यवागू हितकारी नहीं होती; कहा गया है। इस पर 'ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते' पाठ ही उपयुक्त हैं; यह निष्कर्ष निकलता है। ॥१४९-१५४॥

तत्र तर्पणमेवाग्रे प्रयोज्यं लाजसक्तुभिः ॥१५५॥
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम्।

तर्पण का प्रयोग-उक्त व्याधियों (मदात्यय, नित्य मद्य सेवन करने वाले, ग्रीष्मकाल, कफपित्त की अधिकता तथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त) में सर्वप्रथम तर्पण का प्रयोग करना चाहिए। यह तर्पण ज्वरनाशक फलों के रस में धान का लाजा डालकर तथा जिसमें मधु व शर्करा मिश्रित कर बनायी गयी हो, का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् तर्पण लाजसूत्+फलों के रस तथा मधु व शर्करा द्वारा निर्मित होना चाहिए।

चक्रपाणि-''ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं'' (चि.अ. ४) के द्वारा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में यवागू का निषेध है, जबकि तर्पण का प्रयोग बताया गया है, फिर भी ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी को जो ज्वर उत्पन्न होता है वहाँ भी इस तर्पणादि क्रम का विधान है।

तर्पणं तोयपरिप्लुताः सक्तवः-जल से आप्लावित सक्तु को तर्पण कहा गया है। ज्वरनाशक फलों मे-द्राक्षा, दाडिम, खर्जूर, प्रियाल, फालसा आदि की गणना की गयी है। कहा भी गया है, यथा-**''द्राक्षादाडिमखर्जूरप्रियालैः सपरूषकैः। तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरनाशनम्''** इति [द्राक्षा (मुनक्का), दाडिम (अनार), खर्जूर, प्रियाल (चिरौंजी) तथा फालसा (ज्वरनाशक फलों) के रस द्वारा **तर्पण** को निर्मित कर योग्य रोगियों में **तर्पण** सतू का प्रयोग कराना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इन ज्वरनाशक फलों के रस में लाजसतू को घोलकर उसमें शर्करा व मधु मिश्रित कर तर्पण योग्य रोगी को पिलाना चाहिए।] ॥१५५॥

ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ॥१५६॥
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा। अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम् ॥१५७॥
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्विपरीतं प्रियं च यत्। तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः ॥१५८॥
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत्। विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत् ॥१५९॥
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात्।

तर्पण के पश्चात् कर्तव्य-तर्पण के सम्यक् जीर्ण हो (पच) जाने पर आतुर की सात्म्यता व बल का विचार करते हुए तनु (पतली-द्रव युक्त) मूंग का यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिए।

दातौन के प्रयोग एवं गुण-भोजन से पूर्व तथा मुख में जिस रस की विद्यमानता है, उसके विपरीत रस युक्त व मन को प्रिय लगने वाले दातौन का प्रयोग करना चाहिए। दातौन करने से मुख स्वच्छ हो जाता है, अन्न-पान के प्रति इच्छा उत्पन्न होती है तथा व्यक्ति को सभी रसों का ज्ञान स्पष्ट रूप से होने लगता है।

दातौन के पश्चात् कर्तव्य-द्रुम (नीम, बबुल आदि) की पतली लकड़ी के अग्र भाग से दांत को साफ कर मुख को अच्छी प्रकार से साफ कर लेना चाहिए। इसके बाद मस्तु (दही का पानी), इक्षुरस, मद्य (मदिरा) आदि के साथ यथायोग्य आहार का सेवन करना चाहिए।

चक्रपाणि-जीर्णं तर्पणं यस्य तं जीर्णतर्पणम्-जिसका (जिस पुरुष का) तर्पण जीर्ण हो जाय उसे 'जीर्णतर्पण' कहते हैं। अर्थात् पुरुष द्वारा सेवित तर्पण के सम्यक् जीर्ण होने पर उसकी सात्म्यता एवं बल का विचार करते हुए मुद्ग यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस

Scanned by CamScanner

के साथ भात का सेवन कराना चाहिए। यहाँ तर्पण के पश्चात् अन्नकाल में सेवन करने के लिए आहार के दो विकल्प हैं १. मुद्ग यूष के साथ भात का प्रयोग, दुर्बल पुरुष की जाठराग्नि प्रायः दुर्बल होती है, ऐसी स्थिति में अग्नि के संधुक्षण हेतु, लघु होने से मुद्ग यूष का प्रयोग करना चाहिए।

२. बली पुरुषों में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। ॥१५६-१५९॥

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेद्भिषक् ।।१६०।।
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् ।

ज्वर में कषाय पान–ज्वर के छः दिन बीत जाने पर आतुर को लघु अन्न खिलाकर (हलका भोजन कराकर) आमदोषों के पाचनार्थ पाचन कषाय (काढ़ा) तथा निराम दोषों में शमनीय कषाय का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–'पाचनमित्यादि' के द्वारा यहाँ कषायपान के विषय को स्पष्ट किया गया है।

पाचनमिति–आम दोषों को पचाने वाले आमपाचक कषाय, यथा-पंचकोल साधित कषाय। शमनीय कषाय से पक्व दोषों के शमनार्थ प्रयुक्त कषाय का ग्रहण किया गया है। कषाय (क्वाथ) पान हेतु इन दो विकल्पों का प्रयोग यथाक्रम आम दोष एवं पक्वदोष के अनुसार करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि ज्वर के छः दिन व्यतीत हो जाने पर यदि रोगी में आमानुबन्ध के लक्षण मिले तो लघु भोजन कराकर आमपाचनार्थ पाचनीय कषाय तथा निराम के लक्षण मिलने पर शमनीय कषाय का प्रयोग पानार्थ करें।

षडहेऽतीते इति–ज्वर प्रारम्भ के दिन से लेकर छः दिन बीत जाने पर सातवें दिन मात्रा पूर्वक लघु अन्न खिलाकर आठवें दिन कषाय पान (पाचन अथवा शमनीय) कराना चाहिए, वाक्य का यह अभिप्राय है। इस प्रकार पूर्व वर्णित आठवें दिन दोषों की आम-निराम व्यवस्था के अनुसार पाचन अथवा शमनीय कषायों का प्रयोग किया जा सकता है।

पेया प्रयोग में–'यावज्ज्वरमृदुभावात् षडहं वा विचक्षणः' [जब तक ज्वर मृदु न हो जाय अथवा छः दिन तक पेया का प्रयोग करना चाहिए] बताया गया है। अर्थात् पेया का प्रयोग छः दिन तक कराना चाहिए तथा इसके पूर्व 'लंघन' बताया गया है। यद्यपि लंघन कितने दिन तक कराना चाहिए, यह निर्देश नहीं दिया गया है फिर भी 'लंघनेन क्षयं नीते' के द्वारा लंघन के फल को बताया गया है। अर्थात् लंघन तब तक कराना चाहिए जब तक कि दोषों का क्षय न हो जाय। हारीत के अनुसार काल का निर्देश किया गया है, यथा-लङ्घनं लङ्घनीयानां कुर्याद्दोषानुरूपतः। त्रिरात्रमेकरात्रं वा षड्रात्रमथवा ज्वरे" इति [लङ्घन के योग्य पुरुषों को लङ्घन दोषों का विचार करते हुए १ दिन, ३ दिन अथवा छः दिन तक कराया जा सकता है।] इस प्रकार लंघन का प्रयोग ज्वर प्रारम्भ से लेकर छः दिन तक कराना चाहिए; ज्वर के मृदु न होने की अवस्था में ८ दिन तक कराया जा सकता है अथवा इससे अधिक दिन भी संभव है। इसके बाद ज्वर प्रारम्भ काल के आठवें दिन पाचनीय अथवा शमनीय कषाय का प्रयोग करना चाहिए। इसलिए पेया (यवागू) का प्रयोग छः दिन के बीत जाने पर ही किया गया है, यथा-**"पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्"** "ज्वरे पेया कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरेचनम्। षडहे षडहे देयं वीक्ष्य दोषबलाबले" [ज्वर में पेया, कषाय, क्षीर, घृत एवं विरेचन का प्रयोग दोष एवं बल के अनुसार ६-६ दिन पर करना चाहिए।] के अनुसार भी पेया का ६ दिन प्रयोग करने के बाद, कषाय का प्रयोग ६ दिन करना बताया गया है, न कि ज्वर की उत्पत्ति के दिन से ६ दिन बाद प्रयोग करना चाहिए। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–"यावज्ज्वरमृदुभावात् षडहं वा विचक्षणः" के द्वारा भी ज्वर उत्पत्ति के दिन से प्रारम्भ करके ६ दिन तक पेया का प्रयोग बताया गया है। प्रधान रूप से पेया का प्रयोग ज्वर में दोषों के पाचनार्थ किया जाता है। कहा भी गया है, यथा-"लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे" यद्यपि आठ दिन से पूर्व भी लङ्घन, आदि द्वारा दोषों का पाचन होता ही है। आठ दिन बाद पाचन कषाय के द्वारा दोषों का पाक करना चाहिए। वातिक ज्वर जिसमें लङ्घन का निर्देश नहीं है, में ज्वर शुरु होने के दिन से ही पेया का प्रयोग ६ दिन तक करना चाहिए। वातिक ज्वर में लङ्घन १ दिन, २ दिन अथवा ३ दिन कराने के बाद १ दिन लङ्घित पुरुष में ५ दिन, दो दिन लङ्घित पुरुष में ४ दिन अथवा ३ दिन लङ्घित पुरुष में ३ दिन पेया का प्रयोग कर ६ दिन की संख्या को पूर्ण करना चाहिए, तत्पश्चात् सातवें दिन लघु भोजन कराने के बाद आठवें दिन पाचनीय अथवा शमनीय कषाय का प्रयोग करना चाहिए। दोषों की सामता की स्थिति में अथवा सन्निपात ज्वर में लङ्घन का प्रयोग ६ रात्रि तक अथवा ६-६ दिन तक लंघनादि क्रम का पालन किया जाता है। उपरोक्त नियमों का पालन आमावस्था एवं सन्निपात ज्वर में नहीं किया जाता, किन्तु पाचन हेतु पेया का प्रयोग किया जाता है। ज्वर में अत्यधिक लङ्घन हो जाने पर पेया का प्रयोग दोषपाचनार्थ नहीं किया जाता, अपितु अत्यधिक लङ्घन के परिणाम स्वरूप क्षीण हुई जाठराग्नि के संधुक्षणार्थ किया जाता है। पेया द्वारा अग्नि के दीप्त हो जाने पर पुनः औषध पान की व्यवस्था की जाती है। "ज्वरे पेयाः कषायाश्च" (ज्वर में पेया व कषाय की योजना करनी चाहिए।) के अनुसार पेया के ही समान कार्य लङ्घनादि के होने से यह (पेया) लङ्घनादि का उपलक्षण मात्र है। अतः पेया का जहाँ निषेध है, यथा-मद्यजन्य ज्वरादि, वहाँ तर्पणादि क्रम का प्रयोग छः दिन

Scanned by CamScanner

तक करना चाहिए। इस सम्बन्ध में आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है, यथा-"लङ्घनाम्बु (लङ्घनान्ते) यवागूभिर्यदा दोषो न पच्यते। तदा तं मुखवैरस्यतृष्णारोचकनाशनैः ॥ कषायैः पाचनैर्हृद्यैर्ज्वरघ्नैः समुपाचरेत्" (सु.उ.तं.अ. ३९) [लङ्घन कराने के बाद यवागू (पेया) के प्रयोग के बाद भी जब दोषों का पाक न हो तब मुखवैरस्य, तृष्णा व अरोचक को नष्ट करने वाले पाचन, हृद्य, ज्वरनाशक कषायों का प्रयोग करना चाहिए ॥] ऐसा कहकर आचार्य यहाँ कषाय पानकाल के नियमों को बताते हैं, यथा-"**सप्तरात्रात् परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्**" (सु.उ.तं.अ. ३९) [कुछ आचार्यों के अनुसार ६ दिन के बाद ही औषध का प्रयोग करना चाहिए ॥] अतः लङ्घनादि क्रम का पालन छः दिन करने के बाद ७वें दिन से औषध का प्रयोग करना सुश्रुत द्वारा भी अनुमोदित है तथा चरक में "लङ्घनं स्वेदनं" इत्यादि के द्वारा तरुण ज्वर (First stage of the Fever) में लङ्घनादि का प्रयोग है, ज्वर की तरुणता मात्र ७दिन तक होती है। जिसके बारे में **पुष्कलावत** में कहा भी गया है, यथा-**आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्भिषग्जिताः। मध्यं द्वादशरात्रं तु, पुराणमत उत्तरम्**" [सात दिन तक होने वाले ज्वर को **तरुण**, १२ दिन तक रहने वाले ज्वर को **मध्य** तथा इससे ज्यादा दिन तक अर्थात् १२ दिन के बाद रहने वाले ज्वर को **पुराण** (जीर्ण) कहा जाता है ॥] सात दिन से अधिक रहने वाले ज्वर (अतरुण ज्वर) में उत्सर्गतः लंघन व पेयादि का प्रयोग विहित नहीं है फिर भी चरक तथा हारीत ने भी लंघन, दशमूलक, मुस्तादिशृत जलपान तथा पेयादि का अभिधान किया है, यथा-"**एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षडरात्रं सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसंयोगान् ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्**" इति।

आचार्य खरनाद के द्वारा भी यही कहा गया है, यथा-"**लङ्घितालङ्घितं तस्माद्वमितं वा ज्वरार्दितम्। तत्सात्म्यत्वादतस्तस्मिन्नादौ विधिमुपाचरेत्॥ यवागूभिर्यथादोषं**"। इसके द्वारा तर्पणादि के क्रम को बताने के लिए पुनः कहा गया है-इति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहरो ज्वर का विधान है ॥ तन्त्रान्तर में भी ७वें दिन कषाय पान का निर्देश है। अतः इसका आठवें दिन निर्दिष्ट कषाय पान से ज्यादा अन्तर न होने के कारण विरोध नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि तन्त्रान्तर में ७वें दिन तथा चरक संहिता में आठवें दिन कषाय पान का निर्देश है। इनमें विशेष अन्तर न होने के कारण कोई विरोध नहीं है। अतः ज्वर के ६ दिन बीत जाने पर ७वें दिन लघु अन्न खिलाकर कषाय पान कराना चाहिए। इस प्रकार ६ दिन तक यवागू द्वारा उपचार करना चाहिए। यहाँ 'ज्वरे पेयाः कषायाश्च' के द्वारा पेया व कषाय पान की विधि को स्पष्ट किया गया है, फिर भी इसमें कहीं-कहीं बाधा तो उत्पन्न होती ही है। ॥१६०॥

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम् ॥१६१॥
दोषा बद्धाः कषायेण स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे। न तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते ॥१६२॥
यः कषायकषायः स्यात् स वर्ज्यस्तरुणज्वरे।

नवज्वर में कषाय पान का निषेध–नवज्वर (First stage of the fever) अथवा प्रारम्भ के छः दिन तक कषाय का प्रयोग करने से दोष स्तम्भित (रुक) हो जाते हैं, दोषों का पाक नहीं हो पाता, अपितु तरुणज्वर में बद्ध दोष कषाय के प्रयोग द्वारा अत्यधिक स्तंभित होकर विषमज्वर को उत्पन्न करते हैं। अतः कषाय कल्पना को उद्देश्य करके बनायी गयी शृत, शीत आदि कल्पनाओं (कषायों) का यहाँ निषेध नहीं है अपितु कषाय रस युक्त द्रव्यों द्वारा निर्मित कषायों (क्वाथादि) का निषेध है।

चक्रपाणि–कषाय शब्द सामान्य रूप से कषाय रस युक्त द्रव्यों से निर्मित कल्पनाओं के लिए प्रयुक्त है। यह कषाय नवज्वर में अत्यधिक हानिकारक होने के कारण, निषिद्ध है। यहाँ इसके दोष को 'स्तभ्यन्त इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

स्तभ्यन्त इति–अविचलधर्माणो भवन्ति-दोषों का जकड़ जाना, अर्थात् दोष धातुओं में ही रुक जाते हैं।

न विपच्यन्त इति चिरेणापि न सुखं पच्यन्ते–चिरकाल में भी दोषों का सुखपूर्वक पाक नहीं हो पाता, ऐसा दोषों के स्तंभित हो जाने के कारण होता है। कहा भी गया है-"**कषायः स्तंभनः शीतः**" (सू.अ. २६) इति [कषाय रस स्तंभन एवं शीत होता है। अर्थात् मल मूत्रादि की गतियों को रोक देता है एवं शीत होता है ॥] यही भाव हारीतसंहिता में भी व्यक्त किया गया है, यथा- "न कषायं प्रशंसन्ति नराणां तरुणे ज्वरे। कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुस्तराः" [चिकित्सक समुदाय तरुणज्वर में कषाय रस के प्रयोग की प्रशंसा नहीं करता, क्योंकि कषाय रस के प्रयोग द्वारा व्याकुल दोषों को प्रशमित करना कठिन होता है। पूर्व वर्णित षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में पञ्चरसों द्वारा निर्मित स्वरसादि को भी 'कषाय' शब्द से कहा गया है। यदि यहाँ 'कषाय' शब्द से सामान्यतः मधुरादि कृत स्वरसादि का निषेध होता तब षड्रूपनीय द्वारा निर्मित पञ्चविध कल्पनाओं के निवेश तथा यवागू साधन के निर्देश का भी निषेध होना चाहिए। षडंग तथा यवागू साधन द्रव के प्रयोग की यहाँ पञ्चविधकल्पनाओं में ही अन्तर्भावित किया जा सकता है। अतः सभी कषाय कल्पनाओं का यहाँ निषेध नहीं होना चाहिए। इसे यहाँ 'न त्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

न तु कल्पमुद्दिश्येति–स्वरस, कल्क, शृत (क्वाथ), शीत एवं फाण्ट रूप कल्पनाओं को उद्देश्य करके बनायी गयी कल्पनाओं का यहाँ निषेध नहीं है।

Scanned by CamScanner

यः कषायकषाय इति–जो कषाय रस युक्त द्रव्यों से निर्मित कल्पनाएं हैं, उनका यहाँ निषेध किया गया है । यथा-आमलकी आदि द्रव्यों के द्वारा निर्मित स्वरसादि कल्पना । इस प्रकार कषाय रस कृत स्वरसादि कल्पना के प्रतिषेध से मधुरादि द्रव्यों द्वारा निर्मित स्वरसादि कल्पनाओं का प्रयोग तरुणज्वर में किया जाता है, ऐसा नहीं है । ऐसा स्वरसादि भेषज के अतिगुरु होने के कारण किया गया है। अभिप्राय यह है कि स्वरसादि का प्रयोग अतिगुरु होने के कारण तरुणज्वर में नहीं किया जाता । उससे-'कषायकषाय प्रतिषेधेन' के द्वारा तिक्तादि द्रव्यों द्वारा साधित षडंगादि कल्पना कषाय का विरोध नहीं होता, अर्थात् इससे षडंगपानीय विधि से साधित कषाय का ग्रहण किया गया है । इसी का प्रयोग तरुणज्वर में करना चाहिए । स्वरस आदि गुरु भेषज का तरुणज्वर में निषेध किया गया है, यथा "भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्" (सु.उ.तं.अ.३९) इति [आम दोष युक्त ज्वर में प्रयुक्त भेषज ज्वर के वेग को और अधिक बढ़ा देता है ।] कुछ आचार्यों का विचार है कि छः दिन के बाद ७वें दिन कषाय पान विहित है जिसे 'पाचनं शमनीयं च' इत्यादि के द्वारा स्वतंत्र रूप से बताया गया है, वहाँ सातवें दिन ज्वर तरुण ही रहता है । तरुणज्वर में कषाय-पान के विरोध को देखते हुए मधुरादि द्रव्यों द्वारा निर्मित कषाय-पान का प्रयोग है । अर्थात् इस स्थिति में मधुरादि द्रव्यों द्वारा निर्मित कषाय का विरोध नहीं है । सातवें दिन कषायरस युक्त द्रव्यों द्वारा निर्मित कषाय कल्पनाओं के निषेध हेतु यहाँ 'न तु कल्पनमुद्दिश्य' का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार ज्वरादि में ६ रात्रि तक सभी प्रकार के कषायों का प्रयोग निषिद्ध ही है । सातवें दिन तरुणज्वर में कषायरस युक्त कषाय कल्पना को छोड़कर अन्य रस युक्त (तिक्तादि) कल्पनाओं का प्रयोग करना चाहिए । ॥१६१-१६२॥

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ॥१६३॥
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ।

यवागू पान के बाद कर्तव्य–यवागू पान के बाद अन्नकाल उपस्थित होने पर ज्वरी को हितकर मुद्गादि यूष को अम्ल अथवा अनम्ल फलों के रस से सिद्ध कर अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस को अम्ल या अनम्ल फलों के रस से सिद्ध कर लघु अन्न का सेवन १० दिन तक करना चाहिए।

चक्रपाणि–'यूषैरित्यादि' के द्वारा यहाँ यवागू सेवन के बाद अन्नकाल उपस्थित होने पर अम्ल फलों अथवा अनम्ल फलों द्वारा साधित यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ लघु अन्न के सेवन की विधि को बताया गया है अथवा अन्न संस्कार की विधि को स्पष्ट किया गया है । यदि ज्वर रोगी में कफ की प्रबलता हो तथा जाठराग्नि प्रबल हो तब यूष के साथ लघु अन्न (साठी चावल का भात) सेवन कराना चाहिए । [साठी चावल की अनुपस्थिति में कोई भी पुराना चावल प्रयोग किया जा सकता है ।] वात की प्रबलता एवं अग्नि की दुर्बलता में मांसरस द्वारा साधित अन्न का प्रयोग करना चाहिए । अम्ल फलों के रस का प्रयोग जाठराग्नि के बल का विचार करते हुए करना चाहिए। जिसके बारे में आगे बतायेंगे, यथा–"मन्दाग्नयेऽम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत्" इति । [मन्दाग्नि एवं अम्लरस की सात्म्यता वाले पुरुषों के लिए अन्न को अम्ल रसों द्वारा साधित करना चाहिए ।] यहाँ अम्लरस ज्वरघ्न माना गया है तथा यह कार्य दाडिमादि फलों द्वारा किया जाता है । अर्थात् अम्लरस वाले दाडिम, फालसा आदि के रसों का प्रयोग यूष अथवा मांसरस के साथ किया जाता है ।

लघ्विति–मात्रा में लघु अथवा प्रकृति से लघु अन्न का प्रयोग यूष अथवा रस के साथ करना, यथा-रक्तशाली आदि [मात्रा से लघु का अभिप्राय अल्प मात्रा में प्रयोग करना तथा प्रकृति से लघु का अभिप्राय जो अन्न स्वाभाविक रूप से लघु हों, यथा-साठी चावल, शाली चावल, मुद्ग आदि ।] ॥१६३॥

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ॥१६४॥
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ।

ज्वर में घृतपान–अब इसके बाद कफ के मन्द हो जाने पर, वातपित्त की अधिकता में व दोषों के पक्व होने पर औषध द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान अमृत तुल्य होता है ।

चक्रपाणि–दस दिन व्यतीत हो जाने पर प्रायः घृतपान की योजना करनी चाहिए, इसे यहाँ 'अत इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । कफे मन्दे इति- कफ की क्षीणता में कफ के दोष रूप में नहीं होने पर ज्वर में वातपित्त की वृद्धि होने पर सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए ।

परिपक्वेषु इति–दोषों का सर्वथा पाक होने पर अथवा सर्वथा निराम की अवस्था में । 'सर्पिरिति' कथन के द्वारा अधिक पान, अनुवासन, अभ्यङ्ग आदि के द्वारा घृत के प्रयोग का निषेध किया गया है । अर्थात् इस काल में उचित मात्रा में सिद्ध घृत का पान करना चाहिए । अनुवासन एवं अभ्यंग के रूप में स्नेह का प्रयोग आगे बताया जायेगा । कफ की मन्दता अथवा क्षीणता तथा वातपित्त की वृद्धि रूप यह अवस्था प्रायः दस दिन के बाद पायी जाती है, जो कि काल के ही प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है, यथा-वृद्ध पुरुष में वात की वृद्धि, तरुणज्वर में दोषों की आमता (सामदोषता) तथा आमाशयसमुत्थ होने से कफ की वृद्धि का होना । ज्वर में दस दिन के बाद लङ्घनादि के

Scanned by CamScanner

द्वारा कफ दोष का क्षय हो जाता है। ज्वर के संताप के कारण (तापक्रम वृद्धि के कारण) रूक्षता की वृद्धि हो जाती है एवं धातुओं का शोषण होने लगता है तथा वातपित्त की वृद्धि हो जाती है। अत: पेया, कषाय, घृतपान, दुग्धपान तथा विरेचन का प्रयोग ६-६ दिन पर करना चाहिए, वह प्रायिक है। इस प्रकार १० दिन के बाद द्वितीय छ: दिन ही अवस्था विशेष के उत्पन्न होने पर घृत देना चाहिए। ऐसा करने से विरुद्धता नहीं आती। ॥१६४॥

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ॥१६५॥
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः कषायैस्तमुपाचरेत्। यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ॥१६६॥
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां, बलकृच्च तत्।

घृतपान के अपवाद–१० दिन के बाद भी ज्वर रोगी में कफ की वृद्धि हो, सम्यक् लङ्घन के लक्षणों की प्राप्ति न हो, ऐसी स्थिति में घृतपान न कराकर पाचक अथवा शमनीय कषाय का ही प्रयोग कराना चाहिए। कषाय पान का प्रयोग तब तक कराना चाहिए जब तक शरीर में लघुता न उत्पन्न हो जाय तथा इस अवस्था में भोजन के रूप में मांसरस के साथ लघु अन्न का प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि दोषों के निग्रह (प्रशमन) के लिए बल का वृद्ध (बढ़ा हुआ) होना ही पर्याप्त है तथा अन्न के साथ मांसरस के सेवन से बल की वृद्धि होती है।

चक्रपाणि–'निर्दशाहमित्यादि' के द्वारा घृतपान के अपवाद को बताया गया है।

निर्गतो दशाहो यस्य स निर्दशाहः–जिस रोगी को ज्वर हुए दस दिन बीत गये हों, उसे 'निर्दशाह' कहते हैं। अथवा ज्वर के दस दिन व्यतीत हो जाने पर।

अलङ्घितमिति असंजातलङ्घितलक्षणम्–लंघन के लक्षणों का न उत्पन्न होना अथवा सम्यक् लंघन के लक्षणों का न उत्पन्न होना। यह अवस्था ज्वर में आम दोष की अत्यधिक वृद्धि तथा असम्यक् चिकित्सा के कारण उत्पन्न होती है। कफ की वृद्धि एवं लंघन के लक्षण अनुत्पन्न होने की स्थिति में कषाय (पाचन-शमनीय) का प्रयोग करना चाहिए।

यावल्लघुत्वादिति च्छेदः–कषाय का प्रयोग शरीर में लघुता उत्पन्न होने तक कराना चाहिए। यह वाक्य 'लघुत्वात्' तक पूर्ण हो जाता है।

कफ की वृद्धावस्था में तथा सम्यक् लंघन के लक्षणों के न मिलने पर भी अथवा बिना लंघन कराये भी ज्वर के १० दिन व्यतीत हो जाने पर मांसरस के साथ भोजन (अन्न) का प्रयोग किसलिए किया जाता है, क्या यह कफ के विरुद्ध कार्य करता है? इसका उत्तर 'बलं हीत्यादि' के द्वारा दिया गया है। मांसरस के साथ अन्न का प्रयोग करने से आतुर के बल की वृद्धि होती है। बल बढ़ने पर दोषों का शमन होता है। [अभिप्राय यह है कि बल की वृद्धि से व्याधिक्षमत्व की वृद्धि होती है। व्याधिक्षमत्व बढ़ने से व्याधि का स्वत: प्रशमन होता है।] ॥१६५-१६६॥

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ॥१६७॥
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत्।

ज्वर में दुग्ध का प्रयोग (Administration of milk)–अधोलिखित अवस्थाओं में ज्वरी में दुग्ध का प्रयोग करना चाहिए–

१. रोगी में अत्यधिक दाह एवं प्यास उत्पन्न हो रहा हो।

२. वातपित्त की अत्यधिक वृद्धि हो।

३. दोष बद्ध अथवा बार-बार निकल रहे हों अथवा दोष आम रहित हो गये हों।

चक्रपाणि–'दाहेत्यादि' के द्वारा ज्वर रोगी को कब क्षीरपान कराना चाहिए, का निर्देश दिया गया है। **बद्धप्रच्युतदोषं वा इति**-से यहाँ बद्ध से दोषों का बद्ध होना अर्थात् दोषों का शरीर से बाहर न निकलना अर्थ गृहीत है, इसे हम मलावरोध की स्थिति कह सकते हैं। प्रच्युत दोष से दोषों का अल्प-रूप में बाहर निकलना अर्थात् अल्प प्रवृत्त दोष का ग्रहण है। क्षीर का प्रयोग बद्ध दोषों को प्रवृत्त कराने के लिए तथा प्रच्युत दोष (अतिसार) में बद्धपूर्वक बाहर निकालने के लिए किया जाता है। इसलिये क्षीर के गुणों का विवेचन इस प्रकार किया गया है, यथा–पुरीषे ग्रथिते पथ्यं," तथा "अतिसारे च पथ्यं" (सू.अ. १) [पुरीष की ग्रथितावस्था एवं अतिसार में क्षीर का प्रयोग हितकर है।] अथवा दोषों की बद्धता (मलबद्धता) में गव्यक्षीर सर (Laxative) होने से पथ्य है। प्रच्युतावस्था (अतिसार) में बकरी का दुग्ध संग्राही होने से पथ्य है।

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ॥१६८॥
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः।

Scanned by CamScanner

ज्वर में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग–जब उपरोक्त चिकित्सा क्रम के प्रयोग द्वारा ज्वर की शान्ति न हो एवं आतुर की बल, मांस एवं जाठराग्नि क्षीण न हो। ऐसी अवस्था में विरेचन द्वारा ज्वर को शान्त करना चाहिए।

चक्रपाणि–'आभिः क्रियाभिर्यदा न प्रशमं याति ज्वरस्तदा' [इन क्रियाक्रमों (चिकित्सा क्रमों) के प्रयोग द्वारा जब ज्वर की शान्ति न हो तब विरेचनादि के प्रयोग द्वारा उसका प्रशमन करना चाहिए], इस कथन द्वारा अन्य उपक्रमों की असिद्धि में विरेचन की व्यापकता को दर्शाया गया है।

विरेचनैरिति–यहाँ बहुवचन का प्रयोग है। इससे वमन एवं विरेचन दोनों का ही ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है-**''उभयमपि दोषमलविरेचनाद्विरेचनशब्दं लभते''** (क.अ. १) इति [ऊर्ध्व एवं अधः मार्ग द्वारा दोष एवं मल को निकालने से इसकी विरेचन संज्ञा दी गयी है तथा विरेचन योगों के विवरण में वमन-विरेचन योगों का अभिधान करेंगे।

विशेष–'विरेचनैः' शब्द का अभिप्राय बार-बार विरेचन योगों के प्रयोग से लिया गया है। अर्थात् अल्प मात्रा में बार-बार दोषों के निर्हरण द्वारा ज्वर की शान्ति हो जाती है।

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ।।१६९।।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान्। निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ।।१७०।।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत्।

ज्वर में निरूह बस्ति का प्रयोग–ज्वर से क्षीण (दुर्बल) रोगी में वमन एवं विरेचन का प्रयोग करना हितकर नहीं होता। यदि दोषों को निकालना आवश्यक है तो उस स्थिति में दुग्धपान अथवा निरूह बस्ति द्वारा दोषों का निर्हरण करना चाहिए। निरूह बस्ति के प्रयोग से रोगी के शारीरिक बल एवं अग्नि की वृद्धि होती है, ज्वर की शान्ति होती है, अर्थात् ज्वर शान्त हो जाता है। मानसिक प्रसन्नता उत्पन्न होती है एवं अन्न के प्रति रुचि बढ़ती है। बस्ति (निरुह या अनुवासन) का प्रयोग दोषों की पक्वावस्था में ही करना चाहिए। ।।१६९-१७०।।

चक्रपाणि–ज्वर के द्वारा जो रोगी क्षीण नहीं है, उनमें शोधन कराने का निर्देश दिया गया है, के उपदेश के बाद ज्वर से दुर्बल रोगी में क्या करना चाहिए, इसका अभिधान यहाँ 'ज्वरक्षीणस्येत्यादि' के द्वारा किया गया है। पयसेति=पयः पानेन (दुग्ध के प्रयोग द्वारा), दुग्ध अनुलोमक होने से दोषनाशक होता है।

अनुलोमकत्वं च विरेचनत्वेन व्यवह्रियत इति–अनुलोमक का प्रयोग विरेचन के रूप में किया जाता है। इसलिये विरेचनादि के रूप में गोदुग्ध का उल्लेख किया गया है। यहाँ क्षीर में पूर्वोक्त गुणों की प्राप्ति होने से शेष गुणों की प्राप्ति हेतु निरूह के गुणों का अभिधान 'निरूह इत्यादि' के द्वारा किया गया है। ।।१६९-१७०।।

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ।।१७१।।
स्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत् पक्वाशयस्थितान्।

विरेचन एवं बस्ति की कार्मुकता–विरेचन के द्वारा पित्त, कफपित्त अथवा पित्ताशयगत दोषों का निर्हरण करना चाहिए तथा बस्ति द्वारा पक्वाशय स्थित तीनों दोषों का निर्हरण करना चाहिए।

चक्रपाणि–विरेचन तथा आस्थापन बस्ति की दोष एवं स्थान भेद से कार्मुकता को ''पित्तमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। वमन की कार्मुकता दोष एवं स्थान भेद से 'कफप्रधानान्' इत्यादि के द्वारा पूर्व में ही स्पष्ट की जा चुकी है, इसलिये यहाँ पुनः नहीं कहा गया है। वमन का उत्तम प्रयोग दोषों के स्वयं उत्क्लेशित होने पर ही किया जाता है, ऐसा जानना चाहिये। लेकिन जीर्णज्वर में वमन का प्रयोग स्नेहन-स्वेदन द्वारा दोषों को उत्क्लेशित करके करना चाहिए।

पित्ताशय का अभिप्राय आमाशय के अधोभाग से लिया गया है। अर्थात् दोष जब आमाशय के अधोभाग (Small intestine) में स्थित हों तब विरेचन द्वारा उन्हें बाहर निकालना चाहिये। **स्रंसनमिति** से वाक्य को पूर्ण कर दिया गया है अर्थात् 'पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् स्रंसनं' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। स्रंसन=विरेचन। ।।१७१।।

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये ।।१७२।।
रुक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम्।

ज्वर में अनुवासन बस्ति का प्रयोग–जीर्ण ज्वर में कफपित्त के क्षीण हो जाने पर, जाठराग्नि की प्रबलता में तथा मल (पुरीष) के रूक्ष एवं बद्ध होने पर अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–ज्वर इत्यादि के द्वारा अनुवासन के विषय को स्पष्ट किया गया है। पुराण शब्द का प्रयोग प्रकरण आ जाने के कारण किया गया है। पुराण से यहाँ अत्यन्त पुराण (जीर्ण) ज्वर का ग्रहण किया गया है। ।।१७२।।

Scanned by CamScanner

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च ।।१७३।।
जीर्ण ज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ।

जीर्णज्वर में नस्य का प्रयोग–जीर्णज्वर में सिर में भारीपन, शिरःशूल एवं ज्ञानेन्द्रिय जाड्यता होने पर रुचिकर नस्य का प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि–गौरव इत्यादि के द्वारा शिरोविरेचन (नस्य) के विषय को बताया गया है । अर्थात् नस्य का प्रयोग किन अवस्थाओं में किया जाता है, यह स्पष्ट किया गया है । **शिरस इति**-'शिरसः' का सम्बन्ध पूर्व एवं बाद दोनों के शब्दों से है, अर्थात् शिरोगौरव (शिरसः गौरवे) एवं शिरसः शूले अर्थ गृहीत है । इन्द्रियों में विबद्धता का अर्थ-अपने विषयों को ग्रहण न कर पाने से है । ।।१७३।।

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकावगाहने ।।१७४।।
विभज्य शीतोष्णकृतं कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् । तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ।।१७५।।
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ।

ज्वर में बहिर्परिमार्जन विधान–जीर्णज्वर में चिकित्सक को ज्वर के शीत एवं उष्ण स्वभाव के अनुसार अभ्यंग (Massage), प्रदेह (unguent), परिषेक (Sprinkling of water) एवं अवगाहन (Bath) का प्रयोग करना चाहिए । इन उपक्रमों के प्रयोग से बहिर्मार्गगामी ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है, व्यक्ति के बल एवं वर्ण की वृद्धि होती है एवं रोगी को सुख मिलता है ।

चक्रपाणि–अन्तः परिमार्जन के कथन के बाद बहिः परिमार्जन के विषय को 'अभ्यङ्गाश्चेत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

प्रदेहः सामान्येन बहलोऽबहलश्च लेप इह गृह्यते–प्रदेह से यहाँ सामान्यतया बहल (मोटे Thick) एवं अबहल (पतले) लेप का ग्रहण किया गया है । जो लोग सुश्रुत के अनुसार बहल से विशोषी प्रदेह का ग्रहण करते हैं उनके अनुसार दाह प्रशमनार्थ बहल लेप का प्रयोग होना चाहिए, जबकि इस प्रसङ्ग में तनु (dilute) लेप का प्रयोग बताया गया है । कहा भी गया है, यथा-"श्लक्ष्णपिष्टघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्" (चि.अ. ३०) [चन्दन को श्लक्ष्ण पीसकर मोटा लेप लगाने पर वह दाह उत्पन्न करता है,] अतः दाह शान्ति हेतु पतला लेप लगाना चाहिए ।

विभज्य शीतोष्णकृतमिति–उष्ण एवं शीत जन्य कारणों में ज्वर को विभाजित करके तदनुसार अभ्यंग, प्रदेह एवं परिषेक की योजना करनी चाहिए । कहा भी गया है, यथा-"अभ्यङ्गाश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् । यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम्" इति, अभिप्राय यह है कि ज्वर में शीत लगने पर उष्ण द्रव्यों का प्रयोग प्रदेह, परिषेक एवं अभ्यंग हेतु करना चाहिए तथा उष्णता प्रतीत होने पर शीतल द्रव्यों का प्रयोग प्रदेह, परिषेक एवं अभ्यंग हेतु करें । द्रव्यों को शीत एवं उष्ण बनाना संस्कार अथवा उनके प्रभाव द्वारा संभव है । ।।१७४-१७५।।

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम् ।।१७६।।
त्वङ्मात्रशेषा येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः ।

जीर्णज्वर में धूपन का प्रयोग–जीर्णज्वर जब मात्र त्वचा में शेष हो तथा जिसमें आगन्तुज का अनुबन्ध हो, ऐसे ज्वर धूपन, अञ्जन आदि के प्रयोग से शान्त हो जाते हैं । ।।१७६।।

चक्रपाणि–त्वङ्मात्रशेषा इति-धातुओं में ज्वर न हो, मात्र त्वचा में दोष स्थित हो तथा जिसमें आगन्तुक कारणों का अनुबन्ध हो, ऐसे ज्वर धूपादि के प्रयोग से शान्त हो जाते हैं । ।।१७६।।

इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः सप्रकाशितः ।।१७७।।
येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु । रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह ।।१७८।।
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ।

इस प्रकार ज्वरनाशक सिद्ध उपक्रमों का विवेचन किया गया । अब आगे उन यवागू आदि क्रमों को सुनो, जिनका प्रयोग ज्वर-चिकित्सा में किया जाता है, अर्थात् आगे यवागू आदि में प्रयोग आने वाले द्रव्यों को सुनो ।

ज्वर में प्रशस्त अन्न–ज्वर रोगियों के ज्वर के प्रशमनार्थ यवागू, ओदन (भात) एवं लाजा के निर्माण हेतु रक्तशाली एवं साठी (षष्टी) चावल का प्रयोग हितकर है ।

चक्रपाणि–क्रमानुसार औषध संबन्धी प्रश्न के बाद 'येषामित्यादि' के द्वारा ज्वर के 'क्रियाक्रम' का निर्देश किया गया है । कुछ लोगों के अनुसार रक्तशाली आदि का प्रयोग शाली षष्टि के साथ ही हितकर है । अर्थात् इसे इस प्रकार पढ़ते हैं, यथा-'रक्तशाल्यादयः शस्ताः शालयः षष्टिकैः सह' । यहाँ 'शालयः' पद के प्रयोग से यवक आदि का निराकरण कर दिया गया है । कुछ आचार्य 'रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः' यह पाठ पढ़ते हैं । इनके अनुसार पुराने रक्तशाली आदि धान्य प्रशस्त होते हैं । यद्यपि पुराने शूक एवं शमी धान्यों को प्रशस्त माना गया है । कहा भी गया है, यथा-"शूकधान्यं शमीधान्यं समातीतं प्रशस्यते" (सू.अ. २७) इति, फिर भी प्रमादवश नवीन धान्य के निषेधार्थ 'पुराणाः' पद का प्रयोग किया गया है । ।।१७७-१७८।।

Scanned by CamScanner

लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम् ।।१७९।।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः । अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम् ।।१८०।।
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत् । पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्वबस्तिशिरोरुजि ।।१८१।।
श्वदंष्ट्राकण्टकारिभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत् । ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत् साम्लां शृतां नरः ।।१८२।।
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः । शृतां विदारीगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः ।।१८३।।
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत् । विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम् ।।१८४।।
सर्पिष्मतीं पिबेत् पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम् । कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत् पेयां शृतां ज्वरी ।।१८५।।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः । पिबेत् सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके ।।१८६।।
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीशृताम् । अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत् पेयां सशर्कराम् ।।१८७।।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम् ।

दस प्रकार के ज्वरनाशक यवागू

दस प्रकार के ज्वरनाशक यवागुओं का विवेचन नीचे किया जा रहा है–

१. पिप्पली व शुण्ठी के शृत (क्वाथ) से निर्मित लाजपेया का प्रयोग वह ज्वर रोगी करे जिसकी अग्नि मन्द हो एवं भूख लगी हो। यह पेया सुखपूर्वक पच जाती है।

२. जिस व्यक्ति को अम्ल द्रव्यों के सेवन की इच्छा हो, उसे पूर्व पेया को अम्ल दाडिम एवं सोंठ से साधित करके प्रयोग करना चाहिए।

३. पित्तज ज्वर अथवा अतिसार में अम्ल द्रव्यों (दाडिमादि) से साधित पेया (पूर्वोक्त) को ठण्डा कर उसमें मधु मिलाकर देना चाहिये।

४. पार्श्वशूल, वस्तिशूल एवं शिरःशूल से युक्त ज्वरी में गोखरू एवं कण्टकारी द्वारा साधित रक्तशाली की पेया का प्रयोग करना चाहिए।

५. पृश्निपर्णी, बला, बिल्व, शुण्ठी (सोंठ), उत्पल एवं धनिया के क्वाथ द्वारा निर्मित पेया को अम्ल करके (दाडिम स्वरस मिश्रितकर) ज्वरातिसार (Fever associated with diarrhoea) की अवस्था में देना चाहिये।

६. विदारीगन्धादिगण के द्रव्यों द्वारा सिद्ध यवागू अग्निदीपक एवं स्वेदजनक होती है। इसका प्रयोग कास, श्वास, हिक्का युक्त ज्वर रोगी में करते हैं।

७. पिप्पली एवं आँवला द्वारा निर्मित यव की पेया जिसमें अत्यधिक मात्रा में घृत मिला हो, उस ज्वर रोगी को पिलाना चाहिए जिसे मलबद्धता हो। यह पेया दोषानुलोमक होती है।

८. मृद्वीका, पिप्पलीमूल, चव्य, आँवला एवं शुण्ठी (सोंठ) के क्वाथ से निर्मित पेया उस ज्वर से युक्त रोगी को पीना चाहिए, जिसे मलबद्धता (Constipation) एवं कोष्ठ शूल हो।

९. जिस ज्वर रोगी के कोष्ठ में कैंची से काटने जैसी वेदना (परिकर्तिका) हो उसे बला, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक या आलुबुखारा), कोल (खट्टी बेर), कलशी (सिंहपुच्छी) तथा धावनी (कण्टकारी-भटकटैया) के क्वाथ से निर्मित पेया में बिल्व की गुद्दी या चूर्ण मिलाकर देना चाहिए।

१०. जिस ज्वर रोगी में पसीना न आता हो, अनिद्रा एवं तृष्णा से पीड़ित हो उसे सोंठ एवं आमलकी से सिद्ध पेया में घृत से छौंक लगाकर एवं शर्करा मिलाकर देना चाहिए।

चक्रपाणि–'लाजपेयामित्यादि' के द्वारा यहाँ दस यवागुओं का अभिधान किया गया है। सर्वप्रथम लाजपेया भट्टार हरिचन्द्र के अनुसार कफवर्धक होती है अथवा कुछ आचार्य 'लाजपेया' सुख पूर्वक पच जाती है, ऐसा कहते हैं। द्वितीय पेया जिसे पिप्पली एवं सोंठ (शुण्ठी) के क्वाथ से बनायी गयी है, की गणना करते हैं। इस प्रकार इन्हें जोड़कर कुल ११ (ग्यारह) यवागुओं का यहाँ वर्णन है।

सनागरां सृष्टविट् पिबेदिति योजना–जिस ज्वरी को अम्ल पदार्थों की इच्छा हो एवं उसके मल का निस्सरण हो रहा हो उसे अम्ल दाडिम एवं शुण्ठी (सोंठ) के क्वाथ द्वारा निर्मित पेया देनी चाहिए, यह एक योग है। इसी योग को शीत (ठण्डा) कर उसमें मधु मिश्रित कर पित्तज ज्वर में देनी चाहिए, यह द्वितीय पेया हुई। शुण्ठी (सोंठ) का विपाक मधुर एवं पाचन कार्य करने से पित्तज ज्वर में प्रशस्त माना गया है।

Scanned by CamScanner

'विदारीगन्धादि' से यहाँ लघु पञ्चमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। लघु पञ्चमूल के अन्तर्गत शालपर्णी, पृश्निपर्णी बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी एवं गोखरू की गणना की गयी है।

'सयवामिति' का अभिप्राय उस पेया से है जिसमें यव एवं साठी चावल दोनों डाला गया हो। मात्र यव से निर्मित पेया का यहाँ ग्रहण नहीं है।

'सबिल्वाम्नित्यादि' के द्वारा उस पेया को निर्दिष्ट किया गया है जो बला, वृक्षाम्ल, कोल, कलशी एवं धावनी (कण्टकारी) के क्वाथ से निर्मित है।

परिकर्तिका कर्तिकाकारा वेदना–आमाशय में कैची से काटने जैसी वेदना का होना। कलशी=सिंहपुच्छी। धावनी=कण्टकारी (कटेरी)

यहाँ यवागू निर्माण हेतु जल, तण्डुल (चावल) आदि की मात्रा के सम्बन्ध में जो निर्देश पुराने चिकित्सक करते हैं, उसी का ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में अग्निवेश संहिता में कहा गया है–"क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके। पादशेषेण तेनाथ यवागूरुपकल्पयेत्॥ कर्षार्धं वा कणाशुण्ठ्योः कल्कद्रव्यस्य वा पलम्। विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापरान्" इति। [क्वाथ्य द्रव्य एक अञ्जलि (१६ तोला) लेकर एक आढ़क (२५६ तोले) जल में पाक करें। चतुर्थांश जल शेष रखें। इस जल (क्वाथ) से यवागू का निर्माण करें। अथवा अर्ध-अर्ध कर्ष मात्रा पिप्पली एवं शुण्ठी की लें, मिश्रित मात्रा एक कर्ष (१ तोला) लें तथा कल्क द्रव्य को लेना हो तो एक पल (चार तोला) लेकर एक प्रस्थ (६४ तोले) जल में पाक करें। चतुर्थांश अवशिष्ट रखें। इस क्वाथ से यवागू का निर्माण करें।]

अपरामिति-इसका अभिप्राय यह है कि क्वाथ द्वारा यवागू निर्माण की विधि से भिन्न विधि द्वारा कल्क से यवागू सिद्ध किया जाता है। एक पल कल्क से यवागू को सिद्ध करने की जो परिभाषा दी गयी है वह यहाँ भी मान्य ही है, वही विषय जीवन्ती आदि आठ द्रव्यों द्वारा निर्मित यवागू में प्रत्येक द्रव्य एक कोल (६ ग्राम) लेना चाहिए। इस आधार पर क्वाथ्य द्रव्य की मात्रा ४८ ग्राम (एक पल) हो जाती है। यहाँ वृक्षाम्ल के प्रयोग का जो निर्देश दिया गया है वह मात्र अम्लता उत्पन्न करने की दृष्टि से है। [वृक्षाम्ल का प्रयोग मात्र अम्ल स्वाद उत्पन्न करने के लिए किया गया है। अतः इसका प्रयोग अत्यल्प प्रमाण में करना चाहिए।] न कि उसे आठ माषक प्रमाण में लेने से है। अथवा अन्य आचार्यों के अनुसार कल्क द्वारा यवागू-सिद्धि में कल्क की मात्रा १ पल निर्दिष्ट है। इसके अनुसार कल्क का मान एक पल से आठ माषक अधिक ग्रहण करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-"जीवन्त्यजाजीशटिपुष्करार्ह्वैः सकारवीदीप्यकबिल्वमध्यैः। सयावशू-कैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा॥ अर्शोतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः। या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् साऽपि समा तयैव (चि.अ. १२) इति। [जीवन्त्यादियवागू-जीवन्ती, अजाजी (जीरा), शटी (कचूर), पुष्करमूल, कारवी (मंगरैल), दीप्यक (चित्रक), बेल की गुद्दी, यवक्षार; प्रत्येक द्रव्य को बदर प्रमाण (आधे कर्ष=६ ग्राम) मात्रा में लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनाकर, क्वाथ से यवागू का निर्माण करें। इस यवागू को वृक्षाम्ल से अम्लरस युक्त कर घृत एवं तैल से०छौंक लगावें। इस प्रकार अम्लरस युक्त यवागू-अर्श (Piles), अतिसार (diarrhoea), वातज गुल्म (Phantom tumour caused by vāyu), शोफ (Oedema), हृद्रोग (Heart diseases) एवं मन्दाग्नि में हितकर है। जो यवागू पञ्चकोल द्वारा सिद्ध कर बनायी जाती है, वह भी इन्हीं गुणों से युक्त होती है।] इसलिये यवागू निर्माण में निर्दिष्ट द्रव्यों के मान एवं लक्षणों को देखने से एक पल (४ तोले) कल्क द्वारा निर्मित यवागू, यवागू परिभाषा के अनुसार ही है। वहीं दूसरे औषध द्रव्यों के बारे में भी जानना चाहिए, यथा-पिप्पली एवं शुण्ठी (सोंठ) की अर्ध कर्ष मात्रा (संयुक्त मात्रा १ कर्ष) द्वारा निर्मित यवागू भी नियमानुसार ही है। क्योंकि यह निर्देश तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों के बारे में है। अर्थात् तीक्ष्ण वीर्य वाले द्रव्य १ कर्ष लेकर उसे एक प्रस्थ जल में सिद्ध करना चाहिए। क्वाथ से बनाये जाने वाले यवागू आदि में प्रयुक्त द्रव्यों के मान का ग्रहण पुराने आचार्यों द्वारा निर्धारित मान के अनुसार ही होना चाहिए। सूदशास्त्र के नियमानुसार-"यदप्युशृतशीतासु षडङ्गादि प्रयुज्यते। कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि॥ अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसंविधौ" इति। [क्वाथ का निर्माण षडंगपानीय विधि द्वारा किया जाना चाहिए। १ कर्ष (१ तोला) द्रव्य को लेकर १ प्रस्थ (६४ तोले) जल में पकावें, पकते-पकते जब आधा (अर्ध) भाग शेष बचे तो उसे अग्नि पर से उतारकर छान लें। इस वस्त्र पूरित जल (क्वाथ) से यवागू सिद्ध करें। पेया के साथ यहाँ आदि शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय यूष, मांसरस आदि से है। "क्वाथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं" इत्यादि परिभाषा (नियम) का पालन तथा अनुक्त परिभाषाओं में करना चाहिए एवं यवागू को सिद्ध करने में उपयोगी तण्डुल, जल आदि के प्रमाण का विचार अपामार्गतण्डुलीय अध्याय (सू.अ. २) में व्यवस्थित किया गया है। इसे उसी प्रकरण में देखना चाहिए। ॥१७८-१८७॥

विशेष–यहाँ आचार्य चक्रपाणि ने यवागू आदि के निर्माण के सम्बन्ध में दो विचारों का उल्लेख किया है–

१. चरकसंहिता के अनुसार-इस मत के अनुसार १ कर्ष अथवा १ पल द्रव्य को लेकर १ प्रस्थ जल में पाक करना अर्थात् क्वाथ बनाना, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर, इस अवशिष्ट क्वाथ से यवागू का निर्माण करना।

Scanned by CamScanner

२. वृद्ध वैद्यों के अनुसार-१ कर्ष द्रव्य को लेकर ६४ तोले (एक प्रस्थ) जल में पकावें। आधा भाग अवशिष्ट रखें, इस अर्ध अवशिष्ट जल से यवागू का निर्माण करें।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार द्वितीय विधि ही यवागू निर्माण हेतु ज्यादा उपयुक्त है।

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्टकान् ।।१८८।।
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत्।

ज्वर में यूष का प्रयोग-जिस ज्वर रोगी को यूष सात्म्य है उसे मूंग, मसूर, चना, कुलथी एवं मकुष्ठ (मोठ) के यूष का प्रयोग करना चाहिए। ॥१८८॥

चक्रपाणि-ज्वर में हितकारी यूषोपयोगी द्रव्यों का संग्रह 'मुद्गानित्यादि' के द्वारा किया गया है। यूष का निर्माण भी यवागू निर्माण विधि की तरह की करना चाहिए। मुद्ग=इस नाम से प्रसिद्ध द्रव्य- Phaseolus mungo ॥१८८॥

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकम् ।।१८९।।
कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम्।

ज्वर में शाक का प्रयोग-परवल की पत्ती, पटोल फल (परवल), कुलक (करैला), पाप्चेलिका (पाठा), कर्कोटक (ककोड़ा-खेकसा), कठिल्लक (रक्तपुनर्नवा) का प्रयोग शाक के रूप में ज्वर रोगी के लिए हितकर है।

चक्रपाणि-कुलकं=कारवेल्लक (करैला)। पापचेलिका=पाठाशाकम् (पाठा का शाक)। कठिल्लक=रक्तपुनर्नवा (लाल पत्ती वाला गदहपुरना)। ॥१८९॥

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान् ।।१९०।।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषताञ्छशान्। प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ।।१९१।।
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः। कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान् ।।१९२।।
गुरूण्यात्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः। लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत् ।।१९३।।
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित्।

ज्वर में उपयोगी मांसरस-लावपक्षी, कपिञ्जल (गौर वर्ण वाला तीतर), एण (काला मृग), चकोर (चकवा पक्षी), उपचक्रक (लाल हंस), कुरङ्ग (हरिण की एक प्रजाति), कालपुच्छ (काले पूंछ वाला हरिण), पृषत् (चितकबरा हरिण) एवं शश के मांसरस का प्रयोग उन ज्वर रोगियों मे करना चाहिए जिन्हें मांस सात्म्य (अनुकूल) है। इन पशु-पक्षियों के मांसरस का प्रयोग ईषद् अम्ल अथवा अनम्ल ही करना चाहिए। कुछ चिकित्सक कुक्कुट (मुर्गे), मयूर (मोर), तीतर, कौंच एवं बटेर के मांस का प्रयोग गुरु एवं उष्ण होने के कारण ज्वर में नहीं करने का निर्देश देते हैं। फिर भी लंघन के द्वारा जब ज्वर रोगी में वात की वृद्धि हो जाय तो इस अवस्था का विचार करते हुए मात्रा का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को इन पक्षियों के मांसरसों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि-कपिञ्जलः = गौर वर्ण का तीतर। एणः = कृष्ण वर्ण वाला हरिण। उपचक्रकः = चकोर। कालपुच्छः - एक विशेष प्रकार का हरिण। हरिणः = ताम्र वर्ण युक्त हरिण। पृषतः = चितकबरा हरिण। मांसरस निर्माण हेतु सूदशास्त्र के विचार इस प्रकार हैं-"पलानि द्वादश प्रस्थे घनेऽथ तनुके तु षट्। मांसस्य वण्टनं कुर्यात् पलमच्छतरे रसे" इति [गाढ़ा मांसरस बनाने हेतु १२ पल मांस को १ प्रस्थ जल में पाक करें, तनु (पतला dilute) मांसरस हेतु ६ पल मांस तथा अत्यन्त तनु मांसरस निर्माण हेतु १ पल मांस का ग्रहण करें] जहाँ मांसरस का द्रव्यान्तर संस्कार करना है। अर्थात् अन्य द्रव्यों से पकाना है उस स्थिति में यवागू की भाँति पकाना चाहिए।

मात्राविकल्पज्ञ इत्यनेन-उतनी ही मात्रा का प्रयोग करना चाहिए जितनी आवश्यक हो। इस प्रकार ज्वर की प्रकृति का विचार करते हुए अनुष्ण एवं लघु गुण युक्त लाव आदि पक्षियों के मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। जिसके कारण शरीर में गुरुता, अग्निमांद्यता एवं उष्णता की वृद्धि न हो। अन्य गुरु एवं उष्ण द्रव्यों के प्रयोग से ज्वर की वृद्धि हो सकती है। ॥१९०-१९३॥

विशेष-मात्राविकल्पज्ञ इति विकल्पो विशिष्टकल्पना संस्कार इत्यर्थः-यहाँ विकल्प से विशेषकल्पना अर्थात् संस्कार अर्थ लिया गया है। अर्थात् चिकित्सक संस्कार इस प्रकार से करे कि मांसरस लघु एवं अनुष्ण हो जाय। अभिप्राय यह है कि लघु एवं अनुष्ण गुण वाले पशु-पक्षियों के मांसरस का प्रयोग तो करना ही चाहिए, लेकिन कुक्कुट, मयूर एवं तीतर आदि के मांसरस को संस्कारित कर लघु एवं अनुष्ण बनाकर ही प्रयोग करें।

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत् ।।१९४।।
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम्।

Scanned by CamScanner

तृष्णा युक्त ज्वरी में कर्तव्य–ज्वर रोगी को प्यास लगने पर अनुपान के रूप में उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी को मद्य सात्म्य हो तो उसके दोष एवं बल का विचार करते हुए मद्य का प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि–घर्माम्बु=उष्णाम्बु (उष्ण जल)। कुछ आचार्य इस श्लोक को अनार्ष स्वीकार करते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। अनुपान के रूप में उष्ण जल एवं मद्य दोनों ही हितकर है, इसका उल्लेख पूर्व में न होने के कारण यहाँ किया गया है। पाठ भेद से 'हितत्वं पूर्वमुक्तमेवेति' प्राप्त होता है जिसका अभिप्राय 'इसके हितत्व को पूर्व में ही कहा जा चुका है' से है। तन्त्रान्तर में भी यही कहा गया है, यथा-**''ज्वरे पिबेदनुष्णाम्बुमद्यसात्म्यस्तु यो भवेत्। तस्मै दोषबलं दृष्ट्वा युक्तया मद्यं विधीयते''** इति [जिस प्रकार रोगी को मद्य सात्म्य हो, प्यास लगने पर दोष एवं बल का विचार करते हुए अनुष्ण जल अथवा युक्तिपूर्वक मद्य का सेवन कराना चाहिए।] ॥१९४॥

विशेष–यहाँ मद्य सात्म्य रोगी को प्यास लगने पर उष्ण जल सेवन का निषेध किया गया है। पानार्थ मद्य एवं अनुष्ण जल का विधान है। रोगी एवं रोग के बल के अनुसार मद्य में जल मिलाकर लेना चाहिए।

गुरूष्णस्निग्धमधुरान् कषायांश्च नवज्वरे ॥१९५॥
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत्। अन्नपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः संप्रकाशितः ॥१९६॥

नव ज्वर में निषिद्ध आहार–नवज्वर में दोषपाचनार्थ प्रायः गुरु, उष्ण, स्निग्ध एवं कषायरस युक्त आहार द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ ज्वरनाशक उपयोगी अन्नपान के क्रम का अभिधान किया गया। ॥१९५-१९६॥

चक्रपाणि–'गुरूष्णेत्यादि' के द्वारा गुरु, उष्ण आदि आहार द्रव्यों का यहाँ निषेध किया गया है। कषायरस का निषेध पूर्व में ही किया जा चुका है, फिर भी अन्न के प्रसंग में अति अहितकर आहार द्रव्यों के निषेध के क्रम में पुनः कहा गया है। ॥१९५-१९६॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः। पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत् ॥१९७॥
सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभम्। किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम् ॥१९८॥
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये। ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः ॥१९९॥
तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः।

ज्वरनाशक कषायों का विवेचन

अब आगे अनेक प्रकार के ज्वरनाशक कषायों का विवेचन किया जा रहा है–

१. मुस्तक (मोथा) एवं पित्तपापड़ा को सम भाग में लेकर पाक्य (क्वाथ) अथवा शीत कषाय का निर्माण कर पीयें।

२. शुण्ठी (सोंठ) व पित्तपापड़ा के सम भाग से निर्मित क्वाथ, ३. अथवा पित्तपापड़ा एवं जवासा के सम भाग से निर्मित क्वाथ का प्रयोग ज्वर शान्ति हेतु करें।

४. किराततिक्तक (चिरायता), मुस्त (मोथा), गुडूची, विश्वभेषज (सोंठ), इन द्रव्यों की समान मात्रा का प्रयोग क्वाथ या शीत कषाय हेतु करें।

५. पाठा, उशीर (खश), उदीच्य (सुगन्धबाला) को समभाग में लेकर क्वाथ अथवा शीतकषाय का निर्माण करें। इनका प्रयोग ज्वर शान्ति हेतु करना चाहिए। उपर्युक्त पाँचो योग (ज्वरनाशक कषाय) ज्वरघ्न, अग्निदीपक, दोषपाचक, तृष्णा एवं अरुचि नाशक तथा मुख की विरसता को दूर करते हैं। ॥१९७-१९९॥

चक्रपाणि–पाक्य से श्रृत (क्वाथ) अर्थ लिया गया है। शीतकषाय के अन्तर्गत उष्णोदक में द्रव्य को डालकर रात भर के लिए रख देते हैं। प्रातः उसे मसलकर छान लेते हैं। शीतकषाय की परिभाषा यहाँ इस प्रकार दी गयी है-**''द्रव्यादापोथितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्। यः कषायोऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः''** (सू.अ. ४) इति [जिस द्रव्य का शीतकषाय तैयार करना हो उसे उष्ण जल में डालकर रात्रि भर के लिए रख दें। प्रातः द्रव्यों को मसलकर छान लें। छने हुए द्रव भाग को शीत कषाय कहा जाता है अथवा इस विधि द्वारा तैयार कषाय शीतकषाय कहलाता है।] यद्यपि यहाँ भी द्रव्य एवं जल के मान का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी जल की उतनी ही मात्रा का यहाँ ग्रहण है जितनी मात्रा पेय क्वाथ की होती है तथा द्रव्य का ग्रहण क्वाथ्य द्रव्य के समान करें। चूकि यहाँ (शीतकषाय) जल के मान में कमी नहीं आती, इसलिये कम मात्रा में जल का विधान है। अथवा परिभाषा के अनुसार ही जल का ग्रहण करना चाहिए, यथा-**''षड्भिः पलैश्चतुर्भिर्वा सलिलाच्छीतफाण्टयोः। आप्लुतं भेषजपलं रसाख्यायां पलद्वयम्''** इति [शीतकषाय एवं फाण्ट के निर्माण हेतु ६ अथवा ४ पल जल का ग्रहण करें। इस जल में एक पल औषध द्रव्य डालें। यदि रस (स्वरस) के समान गुणों की आवश्यकता

Scanned by CamScanner

हो तो औषध द्रव्य का मान दो पल लेना चाहिए।] शीतकषाय में औषध का वीर्य (Potency) अल्प होने के कारण तथा शीत गुण होने से अल्पबल वाले दोषों एवं दाह (Burning sensation) के रोगियों में इसका प्रयोग करना चाहिए। पित्तपापड़ा एवं दुरालभा की सम मात्रा चौथा है। इसका प्रयोग वातकफ ज्वर वाले रोगी को करना चाहिए। चिरायता आदि द्रव्यों से निर्मित योग प्रयोग करना चाहिए। पाठा, उशीर एवं उदीच्य से निर्मित योग पाँचवा है, इसे पित्तज्वर में

किराततिक्तादिना च मेलके सति पाठासप्तकं जतूकर्णप्रत्ययात् कफपित्ते भवति–आचार्य जतूकर्ण के अनुसार चौथे एवं पाँचवें योग (किराततिक्तक आदि एवं पाठादि सात द्रव्यों के संयोग) से बना क्वाथ अथवा शीतकषाय का प्रयोग कफपित्त प्रधान ज्वर रोगी में करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**"भूनिम्बघनगुडूचीशुण्ठ्युदीच्योशीराह्वयपाठाः"** इति; यहाँ क्वाथ निर्माण में द्रव्यादि के मान का निर्देश न होने से क्वाथ के नियमानुसार ही मान का ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि कि यहाँ क्वाथ विधान को विशेष रूप से नहीं बताया गया है फिर भी व्याधितरूपीयविमान अध्याय में जो क्वाथ निर्माण का विधान बताया गया है, तदनुसार ही क्वाथ निर्माण करना चाहिए। ["छेद्यानि खण्डशश्छेदयित्वा भेद्यानि चाणुशो भेदयित्वा, प्रक्षाल्य पानीयेनाभ्यासिञ्चेत्" इत्यादि के द्वारा तथा "गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य परिपूतं कषायं" तक वर्णित विधान के अनुसार क्वाथ का निर्माण करना चाहिए।] यद्यपि उस प्रकरण में भी क्वाथ्य द्रव्य का मान एवं जल के मान को तो बताया गया है, लेकिन कषाय मान का निर्देश नहीं है। फिर भी प्रयुक्त द्रव्य की जो मात्रा जितने जल में पक्व हो जाय, अर्थात् द्रव्य का रस जल में आ जाय। उतनी ही जल एवं द्रव्य की मात्रा होनी चाहिए। इस प्रकार औषधि युक्त जल का पाक करते हुए तीन भाग जब क्षय हो जाय एवं एक भाग अवशिष्ट रहे, तब तक पाक करते है, यह दिखायी देता है। अतः चतुर्थांश अवशेष रखने की यह परम्परा सभी प्रकार के क्वाथों पर लागू नहीं होती। क्वाथ निर्माण हेतु प्रयुक्त जल की मात्रा द्रव्य के स्वभाव पर निर्भर करती है। मृदु द्रव्य को चार गुने, कठिन द्रव्य को आठ गुने तथा अत्यधिक कठिन द्रव्यों को षोडश (१६) गुने जल में पकाना चाहिए। जब जल चतुर्थांश अवशेष रहें एवं औषध द्रव्यों का रस जल में आ जाय तब इसे अग्नि पर से उतारें। सिद्धान्त यह है कि चतुर्थांश द्रव बचने तक द्रव्य के रस (Active Principles) उसमें आ जाते हैं। स्नेहादि को सिद्ध करने हेतु अत्यधिक क्वाथ की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए द्रव्य भी अधिक डालना पड़ता है। जहाँ अल्प मात्रा में क्वाथ्य द्रव्य हो वहाँ क्वाथ भी अल्प मात्रा में बनता है। इसलिये वहाँ मृदु एवं अल्प द्रव्यों के होते हुए भी जल की अत्यधिक मात्रा का ग्रहण किया जाता है। क्योंकि अल्प जल में क्वाथ्य द्रव्यों का रस पूर्णरूप से नहीं आ पाता। इस प्रकार एक कर्ष (एक तोले) से लेकर एक पल मृदु क्वाथ्य द्रव्य के पाचन (पकाने) हेतु १६ गुने जल का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् १ तोला से लेकर एक पल (४ तोला) तक के मृदु औषध द्रव्यों के क्वाथ निर्माण हेतु १६ गुने जल लेना चाहिए। एक पल (४ तोले) से ऊपर एवं एक कुड़व तक के द्रव्यों के पाक (क्वाथ) हेतु ८ गुने जल का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ द्रव्य एवं जल के परिमाण (मात्रा) का निर्देश न करते हुए भी 'गतरसत्व' के अभिधान से सभी प्रकार के कषाय द्रव्यादि के परिमाण का निर्देश हो जाता है। यदि आचार्य द्रव्यादि के नियत प्रमाण का निर्देश देता तब द्रव्य की अपेक्षा तथा स्नेहादि सिद्धि के अनुसार देय क्वाथ की जिस भिन्न मात्रा का ग्रहण होगा, उसका यहाँ ग्रहण नहीं हो पायेगा अथवा ग्रहण नहीं होना चाहिए। उसी विषय को स्पष्ट करने हेतु अपने तन्त्र से भिन्न परिभाषा को बता रहा हूँ। यथा-कृष्णात्रेय के अनुसार क्वाथ निर्माण हेतु एक पल (४ तोले) द्रव्य को अर्ध प्रस्थ (३२ तोले) जल में पकावें, इसे तब तक पाक करें जब तक चतुर्थांश जल शेष न रह जाय। अर्थात् चौथाई जल शेष रह जाय। [क्वाथ्यद्रव्यपले कुर्यात् प्रस्थार्धं पादशेषितम्]। अन्य स्थानों पर भी कहा गया है–"क्वाथ्यद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते" इति [१ पल क्वाथ्य द्रव्य में १६ गुना जल डालें] तथा "कर्षादौ तु पलं यावद्द्यात् षोडशिकं जलम्। ततस्तु कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्" इति [एक कर्ष (तोले) से लेकर ४ तोले (१ पल = ४६.६६ ग्राम) तक के द्रव्यों में १६ गुने जल का प्रयोग करना चाहिए। एक पल से अधिक व एक कुड़व तक के द्रव्यों में ८ गुने जल का प्रयोग करना चाहिए। शेष चतुर्थांश ही बचाना चाहिए। स्नेहादि की सिद्धि हेतु क्वाथ निर्माणार्थ सुश्रुत ने यह परिभाषा दी है-**"चतुर्गुणेनाष्टगुणेन षोडशगुणेन वाऽम्भसाऽभ्यापिच्य चतुर्भागावशिष्टं क्वाथयित्वाऽवतारयेत्"** [औषध द्रव्य से जल ४ गुना, ८ गुना अथवा सोलह गुना लेकर, पकावें पकाते-पकाते जब चौथाई जल शेष बचे तब अग्नि पर से उतार लें।] (सु.चि.अ. ३१) इति। जल की यह मात्रा औषध द्रव्य की मृदुता, काठिन्यता आदि के आधार पर दी गयी है, ऐसा जानना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**मृदौ चतुर्गुणं देयं कठिनेऽष्टगुणं तथा। कठिनात् कठिनतरे देयं षोडशिकं जलम्"** इति। [मृदु द्रव्यों के पाकार्थ ४ गुनी, कठिन द्रव्य हेतु ८ गुनी एवं कठिनतर हेतु १६ गुनी जल की मात्रा का ग्रहण करना चाहिए।] अन्य तन्त्रों में भी यही व्यवस्था दी गयी है। आचार्य अग्निवेश ने भी यही कहा है-**"द्रव्यमापोथितं क्वाथ्यं दत्त्वा षोडशिकं जलम्। पादशेषं च कर्तव्यमेष क्वाथविधेः स्मृतः।। चतुर्गुणेनाम्भसा वा द्वितीयः समुदाहृतः" इति।** [द्रव्य से १६ गुना जल में क्वाथ बनाकर चतुर्थांश शेष रखें। (प्रथम) अथवा द्रव्य से ४ गुना जल में क्वाथ का निर्माण करें, चतुर्थांश बचावें। (द्वितीय विधि)] मध्यम प्रकार के द्रव्यों के पाकार्थ ८ गुने जल का विधान है। यद्यपि आचार्य अग्निवेश ने मध्यम विधि का निर्देश प्रत्यक्षतः नहीं किया है। इस प्रकार कहा भी गया है (उसी को इस प्रकार व्यक्त किया गया है)-**"द्रव्याणां मध्यपाकार्थं यत्र मात्रा न दर्शिता। पादांशादौषधात्तत्र जलं दद्याच्चतुर्गुणम्। चतुर्भागावशिष्टं च कषायं कारयेद्भिषक्"** इति। [यदि मध्यम पाक द्वारा क्वाथ

Scanned by CamScanner

का निर्माण करना है तथा द्रव्य एवं जल की मात्रा का निर्देश नहीं हो तब द्रव्य का ४ गुना जल लेकर पाक करें, चतुर्थांश जल शेष रहने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतार लें ।] इस प्रकार तन्त्रान्तर परिभाषाओं से इसका विरोध नहीं होता । कुछ लोगों का विचार है कि व्याधितरूपीय अध्याय (वि.अ. ७) में कषाय निर्माण हेतु जिस विधि का वर्णन किया गया है वह निरूहवस्ति में प्रयुक्त क्वाथ के लिए है, अन्य क्वाथों के लिए नहीं । अर्थात् वहाँ वर्णित क्वाथ विधि विशिष्ट विषय के लिए है । बलातैल के प्रसंग में कहा भी गया है-**"बलाशतं गुडूच्याश्च पादं रास्नाष्टभागिकम् । जलाढकशते पक्त्वा"** (चि.अ. २८) के अनुसार १०० पल बला, गुडूची २५ पल तथा रास्ना १/८ भाग (१००/८ पल) लेकर १०० आढ़क जल में पाक करें । क्वाथ निर्माण की यह विधि सभी क्वाथों पर लागू नहीं होती, मात्र बलातैल पाकार्थ प्रयुक्त क्वाथ में लागू होती है । अर्थात् मात्र बलातैल के ही प्रसंग में नियत है । ऐसा सोचना उचित नहीं है । कोई भी नियम या सिद्धान्त विषय के विशेष उद्देश्य, विषयान्तर विधि तथा अनुभवी चिकित्सकों के अपने अनुभव तथा अन्य तन्त्रों में स्थापित परिभाषाओं में एकता स्थापित करते हुए अथवा शास्त्र की विषमता का विचार करते हुए बनाये जाते हैं । जैसा कि इक्ष्वाकु कल्प के प्रसंग में कहा गया है-**"यावत्स्यात् तन्तुमत्तोये पतितं न तु शीर्यते"** (क. स्थान अ. ३) [लेह की परीक्षा के प्रसंग में यह कहा गया है कि लेह तन्तुयुक्त हो एवं जल में डालने पर नहीं फैलना चाहिए । तन्तुयुक्त की परीक्षा दो अंगुलियों से करनी चाहिए । अर्थात् दो अंगुलि के बीच में रखकर आपस में सटाने पर अंगुलियों के मध्य तन्तुवत् रचना बननी चाहिए ।] वहाँ लेहपाक के लक्षण को विशेष रूप से बताया गया है, विषयान्तर होते हुए भी सामान्यतः यह कहा गया है । इसी प्रकार यहाँ भी पेय क्वाथ की मात्रा की सीमा नहीं बतायी गयी है । इसकी मात्रा भी पुरुष की प्रकृति आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है । [In the present context also. It has not been stated that this is the absolute limit (Iyattā) of the dose of decoction. Depending upon the individuals, the dose varies. Dr. Bhagvan Das] जिसके बारे में सामान्यतः यह कहा गया है-**"दोषप्रमाणानुरूपो हि भैषज्यप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति"** (वि.अ. ८) इति [औषध की मात्रा दोष (व्याधि) एवं बल (आतुरबल) की अपेक्षा रखती है । अर्थात् प्रकुपित दोषों के बल एवं आतुर बल के अनुसार ही औषध मात्रा निर्धारित की जाती है ।] व्यक्ति के शारीरिक बल एवं जाठराग्नि बल के अनुसार औषधि की जो मात्रा उपयोगी होती है उस पुरुष को वही मात्रा देनी चाहिए । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-**"मात्राया नास्त्यवस्थानं दोषमग्निं बलं वयः । व्याधिं द्रव्यं च कोष्ठं च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत्"** इति, औषध की मात्रा की सीमा नहीं है । यह मात्रा दोष, अग्निबल, वय, व्याधि (disease), द्रव्य (drug) एवं कोष्ठ, के स्वाभाव के आधार पर दी जाती है । मध्यम प्रकार के पुरुषों को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने लगभग मात्रा का निर्देश दिया है । अर्थात् आचार्यों ने लगभग मात्रा (Approximate quantity) का निर्देश दिया है न कि निश्चित मात्रा (Exact quantity) का । तंत्रकर्ता द्वारा इसका उल्लेख किया गया है । यथा-**"पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्"** (चि.अ. १९) इति । [एक पल (४ तोले) वत्सक बीज का क्वाथ बनाकर अतिसार के रोगी को पीना चाहिए एवं भोजन के रूप में जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करना चाहिये] तथा पटोलादि क्वाथ के सन्दर्भ में भी यही बात कही गयी है । आचार्य सुश्रुत का भी यही अभिमत है, यथा-**"व्याध्यादिषु तु मध्येषु क्वाथस्याञ्जलिरिष्यते"** (सु.सू.अ. ३९) [व्याधि के प्रारम्भ एवं मध्य में पानार्थ क्वाथ की मात्रा १ अञ्जलि (२ पल = ८ तोला) लेनी चाहिए] एक पल क्वाथ्य में १६ पल जल डालकर पकावें, चतुर्थांश शेष बचाने पर ४ पल की ही अञ्जलि हो जाती है । [सामान्यतः १ अञ्जलि = २ पल होता है, लेकिन यहाँ १ अञ्जलि = ४ पल कह दिया गया है ।] आचार्य **दारुक** का भी यही मत है, यथा-"जघन्या द्विपला प्रोक्ता मात्रा, मध्या चतुष्पला । उत्तमा षट्पला प्रोक्ता क्वाथस्नेहौषधेषु तु" इति (अवर मात्रा- २ पल, मध्यम- ४ पल तथा प्रवर ६ पल होती है ।) अन्य स्थानों पर भी कहा गया है-"उत्तमस्य पलं मात्रा, त्रिभिश्चाक्षैश्च मध्यमा । जघन्यस्य पलार्धं तु स्नेहक्वाथौषधेषु च" [एक पल मात्रा उत्तम, ३/४ पल मात्रा मध्यम तथा अर्ध पल मात्रा अवर (अधम) होती हैं ।] ये सभी परिभाषायें व्यक्ति के अग्नि एवं बल के अनुसार व्यवहार में लायी जाती हैं । इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि क्वाथ निर्माण हेतु द्रव्य से ४ गुना जल मिलाने के लिए कहा गया है तब किस आधार पर दो गुना जल ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है । कहा भी गया है-**"शुष्कद्रव्येष्विदं मानं द्विगुणं तद्द्रवार्द्रयोः"** इति [द्रव्य का चतुर्गुण (४ गुना) जल मिलाने का निर्देश शुष्क द्रव्यों के सम्बन्ध में है । जब द्रव अथवा आर्द्र (Wet-green) द्रव्यों से क्वाथ बनाना हो तब जल की मात्रा दूनी ली जाती है । ऐसा नहीं है, अर्थात् सभी प्रकार के घृतादि के सिद्धि हेतु द्रव्य के मान से जल का मान दूना नहीं लिया जाता । सुनिषण्णकादि घृत के प्रसंग में ३२ पल = १ प्रस्थ माना गया है । ("त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो [illegible]पलाधिकः" (चि.अ. १४) इति । इस प्रकार तन्त्रान्तर परिभाषाओं को स्वीकार करते हुए कुड़व आदि के पहले (पूर्व) मान में जल की मात्रा दूनी होती है, जबकि द्रव एवं आर्द्र द्रव्यों में कुड़व से पूर्व के मान में जल की मात्रा दूनी नहीं ली जाती । अर्थात् हरे द्रव्यों के प्रसंग में १ कुड़व से ऊपर की मात्रा हेतु २ गुने जल का विधान है । तब 'च.चि. १४ में ३२ पल = १ प्रस्थ' यह जो कहा गया है' के अनुसार पूर्व परिभाषा से इसकी विरुद्धता होते हुए भी कुछ वैगुण्यता है । यह अन्तर अलग-अलग तंत्रों में रत्ती के मान में भिन्नता के कारण हो गया है, ऐसा जानना चाहिए। आचार्य आत्रेय ने इसी को इस प्रकार स्पष्ट किया है-**"द्वैगुण्यं कुडवादौ तु शुष्कमानाद्रवस्य हि । आर्द्रस्यात्यल्पवीर्यत्वाज्ज्ञेयमन्यत्र तत् समम्"** इति । [द्रव्य आदि शुष्क हो तो - १ कुड़व व उससे ऊपर के द्रव्य में दूनी मात्रा में जल लेना चाहिए । आर्द्र (गीले अथवा हरे) द्रव्य अल्प वीर्य होने के कारण इसमें समान मात्रा में जल ग्रहण करना चाहिए ।] आचार्य जतूकर्ण ने भी इसी विचार का समर्थन किया है, यथा-"आर्द्राणां च द्रवणां च द्विगुणाः कुडवादयः" इति [यदि द्रव एवं आर्द्र द्रव्य की मान १ कुड़व

Scanned by CamScanner

या उससे अधिक है तब इनमें प्रयुक्त जल की मात्रा दूनी होती है ।] अन्य स्थानों पर भी कहा गया है- "रक्तिकादिषु मानेषु यावत्र कुडवो भवेत् । शुष्के द्रवार्द्रयोश्चैव तुल्यं मानं प्रकीर्तितम्" इति (रत्ती आदि से लेकर एक कुड़व से पूर्व तक शुष्क एवं आर्द्र द्रव्यों के मान बराबर ही ग्रहण करना चाहिए ।

इसी प्रकार कुड़व आदि मान के योग्य होते हुए भी जहाँ द्रव्य का मान पल में निर्दिष्ट है वहाँ भी जल का मान दूना नहीं ग्रहण करना चाहिए । इसी का प्रतिपादन चि.अ. २८ में किया गया है, यथा-"रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत्" [१००० पल रास्ना क्वाथ को १ द्रोण तैल में पाक करें] इस सूत्र में रास्ना क्वाथ की मात्रा १००० पल निर्दिष्ट होने से दूनी मात्रा का ग्रहण नहीं कर सकते । कहीं-कहीं पल के मान का उल्लेख होते हुए भी तन्त्रान्तर में कुडवादि का विचार करते हुए द्रव की मात्रा दूनी ग्रहण की गयी है । यथा- क्षतक्षीणचिकित्सा प्रकरण में-"मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे" (चि.अ. ११) इति, के द्वारा जिस प्रयोग को कहा गया है वही जतूकर्ण के द्वारा "द्राक्षायाः प्रस्थः मधुकस्यार्धक्वाथः" के रूप में ग्रन्थ में पढ़ा गया है । जतूकर्णसंहिता में मधुक के अर्ध प्रस्थ पाठ से दो गुनी मात्रा द्रव की लेनी चाहिए । उसी कारण से यहाँ भी मधुक (यष्टीमधु) ८ पल (३२ तोले) का उल्लेख होने से १ कुड़व (२ प्रसृत = १६ तोले) से अधिक होने के कारण जल की मात्रा दूनी लेनी चाहिए । यही व्यवस्था अन्य स्थानों पर भी अनुसरणीय है ।

अन्ये तु, "कुडवादावित्यत्र अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा कुडवे न द्वैगुण्यमस्ति" इति ब्रूवते-अन्य आचार्य 'कुडवादौ' से १ कुड़व तक के द्रव्य के लिए दो गुने जल का ग्रहण नहीं करते, ऐसा कहते हैं । सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा-**"स्नेहकुडवे साध्ये भेषजपलं पिष्टं कल्कं"** (सु.चि.अ. ३१) इति [इसके अनुसार १ कुडव स्नेह को सिद्ध करने हेतु १ पल कल्क का प्रयोग करना चाहिए ।]" इस प्रकार १ कुडव = ४ पल एवं ४ कुडव = १ प्रस्थ (६४ तोला) होता है । इसके अनुसार १ प्रस्थ स्नेह सिद्धि हेतु ८ पल कल्क का व्यवहार किया गया है जबकि नियमानुसार ४ पल कल्क का ग्रहण होना चाहिए । यदि १ कुड़व = ८ पल का ग्रहण करें तब १ प्रस्थ स्नेह हेतु ४ पल कल्क का व्यवहार अव्यावहारिक होगा । यह विचार उचित नहीं है । कुछ प्रसंगों में १ कुडव स्नेह के सिद्ध करने हेतु १ प्रस्थ क्वाथ की मात्रा बतायी गयी है, यदि वहाँ कुडव से ४ पल का ग्रहण हो तब ४ पल स्नेह की सिद्धि हेतु १६ पल क्वाथ्य का ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार का भी व्यवहार समाज में नहीं है । ८ पल स्नेह की सिद्धि हेतु क्वाथ्य द्रव्य १६ पल ग्रहण किया जाता है, इसलिये मात्रा का दूना कुडव से ही प्रारम्भ करते हैं न कि कुडव से अधिक होने पर । इसके अनुपालन में अगस्त्य हरीतकी का उदाहरण दिया गया है, इसमें मधु १ कुडव डालना चाहिए । अन्य शास्त्रों में इसी योग में ८ पल मधु डालने का निर्देश दिया गया है । यद्यपि द्रव औषधियों की मात्रा कुडव के स्तर पर दूनी कर ली जाती है । अन्य शास्त्रों में त्रायमाणा घृत के सन्दर्भ में बताया गया है, यथा-"त्रायमाणा चतुः पलं दशकेऽम्भसि शेषिते । कुडवे कुडवान् सर्पिः क्षीरधात्रीरसान् पचेत्" इति [४ पल त्रायमाणा के लेकर दस गुने जल में क्वाथ करें, पञ्चमांश (८ पल) अवशिष्ट रखें । फिर इसे घृत, क्षीर एवं धात्रीस्वरस प्रत्येक (८ पल = १ कुडव) लेकर पकावें ।] यदि इस प्रसंग में ४ पल = १ कुडव होता तब यहाँ (त्रायमाणा घृत) के साथ विरोध होता । कहा भी गया है-"जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणा चतुष्पलम्" [४ पल त्रायमाणा को लेकर १० गुने जल में क्वाथ करें] त्रायमाणा क्वाथ ८ पल लेकर उसमें ८-८ पल आमलकी स्वरस, क्षीर एवं घृत का पाक करें, (चि.अ.पू) अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा-**"आर्द्रद्रव्यद्रवद्रव्यपलैरष्टभिरेव च । शुष्कद्रव्यचतुष्केण कुडवः समुदाहृतः"** इति [आर्द्रद्रव्य एवं द्रव द्रव्यों के सन्दर्भ में ८ पल = १ कुड़व । शुष्क द्रव्यों के परिप्रेक्ष्य में ४ पल = १ कुड़व का ग्रहण किया गया है ।] इसलिए कुडव से ८ पल का ग्रहण द्रव एवं आर्द्र द्रव्यों के लिए है । यदि शास्त्र में जिन द्रव्यों का शुष्क प्रयोग बताया गया है, प्रयोग हेतु यदि उन्हें आर्द्र ग्रहण किया जाता है तब दूनी मात्रा का ग्रहण करना चाहिए । लेकिन जो द्रव्य नित्य आर्द्र (हरे) ही प्रयोग किये जाते हैं उनकी मात्रा दूनी नहीं होनी चाहिए । कहा भी गया है, यथा-"वासाकुटजकूष्माण्डशतपत्रीसहाचराः । नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या न तेषां द्विगुणं भवेत्" इति । [वासा (अडूसा), कुटज, कूष्माण्ड, शतपत्री एवं सहचर; इन द्रव्यों का ग्रहण नित्य आर्द्र (हरे) ही करना चाहिए । अर्थात् इनका प्रयोग नित्य आर्द्र ही किया जाता है । अतः इनकी मात्रा दूनी लेने का विधान नहीं हैं] यही निर्देश सभी प्रकार के पेय क्वाथों के सन्दर्भ एवं स्नेह सिद्धि के भी सन्दर्भ में है । स्नेहपाक हेतु स्नेह के चतुर्थांश (१/४ भाग) कल्क का ग्रहण करना चाहिए । इसका निर्देश आगे करेंगे, यथा-**"जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम् । तत्र स्यात् औषधात् स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्"** (क.अ. १२) इति । [जहाँ जल, स्नेह एवं औषध की मात्रा का निर्देश नहीं है वहाँ औषध (कल्क) से स्नेह, स्नेह से जल ४ गुनी लेनी चाहिए, यथा-१०० ग्राम कल्क, ४०० ग्राम स्नेह, १६०० ग्राम क्वाथ, या जल का ग्रहण ।] कल्क से स्नेह द्रव होते हुए चतुर्गुण ही होता है, दूना नहीं किया जाता, यदि स्नेह की मात्रा दूनी ली जाय तो यह मात्रा कल्क से आठ गुनी हो जाती है ।

["चतुर्गुण एव स्नेहो द्रवत्वेऽपि न द्वैगुण्यात् कल्कादष्टगुणो भवति" इस व्याख्या में 'न' शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए -लेखक]

अन्य स्थानों पर भी कहा गया है-**"क्वाथ्याच्चतुर्गुणं वारि पादस्थं स्याच्चतुर्गुणम् । स्नेहात् स्नेहसमं क्षीरं कल्कस्तु स्नेहपादिकः"** इति [क्वाथ्य द्रव्य का ४ गुना जल मिलावें एवं पकाते हुए चतुर्थांश अवशेष रखें (क्वाथ), क्वाथ की मात्रा स्नेह की मात्रा से चार गुना होना चाहिए । यदि स्नेह पाक में दूध का प्रयोग है तो यह स्नेह के बराबर होना चाहिए, कल्क स्नेह से १/४ भाग होना चाहिए ।]

Scanned by CamScanner

१ पल कल्क एवं ८ पल स्नेह का निर्देश शास्त्र में होने के बाद भी व्यवहार में नहीं लाया जाता । अर्थात् आगम प्रमाण द्वारा प्रमाणित होते हुए भी यह मात्रा व्यवहार में नहीं है । कृष्णात्रेय ने कहा भी है, यथा-**''स्नेहपाकविधौ यत्र प्रमाणं नोदितं क्वचित् । स्नेहस्य कुडवं तत्र पचेत् कल्कपलेन तु''** (स्नेहपाक विधि में जहाँ स्नेह की मात्रा का निर्देश नहीं है वहाँ १ कुडव स्नेह में कल्क का प्रयोग १ पल मात्रा में करना चाहिए ।) आचार्य सुश्रुत का भी यही मत हैं यदि स्नेह को स्वरस आदि अति गुरु द्रव्यों से सिद्ध (साधित) करना है एवं कल्क के रूप में पुष्प कल्क का प्रयोग करना है तब द्रव्यों के सारत्व एवं निःसारत्व के आधार पर कल्क की अत्यल्प अथवा अधिक मात्रा का प्रयोग किया जाता है । शौनक के इस वचन को आचार्य वाग्भट ने भी अनुमोदित किया है, यथा-**''स्नेहे सिध्यति शुद्धाम्बुनिष्क्वाथस्वरसैः क्रमात् । कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्टमष्टमम्''** इति [यदि स्नेह को शुद्ध जल, क्वाथ एवं स्वरस से सिद्ध करना है तो उसमें कल्क की मात्रा क्रमशः १/४ भाग, १/६ भाग एवं १/८ भाग होती है । अर्थात् यदि स्नेह को जल से सिद्ध करना है तो उसमें प्रयुक्त कल्क स्नेह का १/४ भाग, क्वाथ से सिद्ध करने पर १/६ भाग एवं स्वरस से सिद्ध करने पर १/८ भाग होता है ।] तथा ''शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः । कल्काढ्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रशंसन्ति चतुः पलम्'' इति । [शण, कोविदार, कर्बुदार एवं शाल्मली के पुष्प में सार तत्त्व अधिक होने से इनके कल्क का प्रयोग ४ पल की मात्रा में करना चाहिए ।] यद्यपि यह सामान्य नियम है कि कल्क, स्नेह का चतुर्थांश होना चाहिए । विशेष परिस्थितियों में यह मात्रा स्नेह की १/८ भी ग्रहण की जाती है, अतः पूर्व से इसका विरोध नहीं होता । इस विषय पर विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है, वर्णित विषय ही पर्याप्त है । हमेशा व्यवहारोपयोगी शास्त्र ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किये जाते हैं ।

कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ।।२००।।
पटोलः सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी । निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ ।।२०१।।
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् । गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः ।।२०२।।
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान् । संततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ।।२०३।।

विषम ज्वरनाशक पाँच प्रकार के कषाय (Decoctions for Vishama-jvara)–पाँच प्रकार के ज्वरों यथा-संतत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक एवं चतुर्थक, को अधोलिखित पाँच प्रकार के कषाय (Decoctions) शीघ्र ही दूर कर देते हैं–

१. कलिङ्गक (इन्द्रजौ), पटोलपत्र एवं कुटकी ।

२. पटोल (परवल की पत्ती), सारिवा, मुस्तक, पाठा एवं कुटकी ।

३. नीम की छाल, पटोलपत्र, त्रिफला (आँवला, हरड़, बहेड़ा), मृद्वीका (मुनक्का), मुस्तक एवं वत्सक (इन्द्रयव) ।

४. चिरायता, गुडूची, चन्दन तथा विश्वभेषज (सोंठ) ।

५. गुडूची, आँवला तथा मुस्तक । ।।२००-२०३।।

चक्रपाणि–पञ्चपञ्चविधं ज्वरमिति-पाँचों प्रकार के ज्वर को यथाक्रम वर्णित योग दूर करते हैं, अर्थात् संतत ज्वर को कलिङ्गादि कषाय, सतत को पटोलादि कषाय, अन्येद्युष्क को निम्बादि कषाय, तृतीयक को किराततिक्तादि तथा चतुर्थक को गुडूच्यादि कषाय प्रशमित करता है । अन्य आचार्यों का अभिमत है कि ये पाँचों कषाय पाँचों प्रकार के ज्वर में काम करते हैं, अर्थात् पाँचों प्रकार के ज्वर में पूर्व वर्णित किसी भी कषाय का प्रयोग किया जा सकता है । ।।२००-२०३।।

वत्सकारग्वधौ पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम् । मूर्वां सातिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम् ।।२०४।।
वचां मुस्तमुशीरं च मधुकं त्रिफलां बलाम् । पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ।।२०५।।
मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम् । त्रायमाणामुशीरं च त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।।२०६।।
पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते ।

वत्सकादि कषाय–वत्सक (इन्द्रयव), आरग्वध (अमलतास का गुदा), पाठा, षड्ग्रन्था (मीठा वच), कुटकी, मूर्वा, अतीस, नीम की छाल, पटोलपत्र, धन्वयास, वचा, मुस्तक, उशीर, यष्टीमधु, त्रिफला तथा बला; इन द्रव्यों के शीतकषाय अथवा क्वाथ का प्रयोग ज्वरनाश हेतु करना चाहिए ।

मधूकादि शीतकषाय–मधूक (महुआ के पुष्प), मुस्तक (मोथा), मृद्वीका (मुनक्का), गम्भारी की छाल, परूषक (फालसा), त्रायमाणा, उशीर (खश), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा व आँवला) तथा कुटकी; के चूर्ण या यवकुट को गरम जल में भिगोकर रात भर के लिए रख दें । प्रातः छानकर इसके शीत जल का प्रयोग करें । यह कषाय ज्वरनाशक होता है ।

चक्रपाणि–वत्सक से प्रारम्भ कर बला तक जो द्रव्य बताये गये हैं उनसे कुछ आचार्य तीन योग स्वीकार करते हैं तथा कुछ एक योग के रूप में मानते हैं । जो इतने से ही तीन योग स्वीकार करते हैं उनके अनुसार योग निम्न हैं–

Scanned by CamScanner

१. वत्सक, आरग्वध, पाठा, षड्ग्रन्था, कुटकी ।
२. मूर्वा, अतिविषा, नीम, पटोल, धन्वयास ।
३. वचा, मुस्तक, उशीर, यष्टीमधु, त्रिफला, बला । **निशि स्थितमिति**-शीतकषाय । ॥२०४-२०६॥

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ॥२०७॥
विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत् । त्रिफलां त्रायमाणां च मृद्वीकां कटुरोहिणीम् ॥२०८॥
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यनुलोमिकः । त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ॥२०९॥

दोष विबद्धता में जात्यादि क्वाथ का प्रयोग-जाती (चमेली की पत्ती), आँवला, मुस्तक (मोथा) व धन्वयवास के क्वाथ में गुड़ मिलाकर दोषों की विबद्धता में ज्वर रोगी को पिलाना चाहिए ।

पित्त कफनाशक त्रिफलादि क्वाथ-त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), त्रायमाणा, मृद्वीका (मुनक्का), कुटकी; से निर्मित क्वाथ पित्त व कफ नाशक एवं वातानुलोमक होता है । इस क्वाथ में त्रिवृत् (निशोथ) एवं शर्करा मिलाकर पीने से पित्त एवं कफ ज्वर नष्ट हो जाते हैं । ॥२०७-२०९॥

चक्रपाणि-'जातीत्यादौ' से जाती पल्लव (जाती के पत्र) अर्थ लिया गया है ।

सगुडं पिबेद् इति-क्वाथ में गुड़ मिलाकर पीना, क्वाथ में गुड़, द्रव (क्वाथ) का १/४ भाग मिलाना चाहिए । यही नियम अन्य स्थानों पर भी अनुपालनीय है । ॥२०७-२०९॥

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम् । कोलवल्ली च योगोऽयं संनिपातज्वरापहः ॥२१०॥
शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा । गुडूची नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी ॥२११॥
एष शट्यादिको वर्गः सन्निपातज्वरापहः । कासहृद्ग्रहपार्श्वर्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते ॥२१२॥
बृहत्यौ पौष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा । वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ॥२१३॥
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः सन्निपातज्वरापहः । कासादिषु च सर्वेषु दद्यात् सोपद्रवेषु च ॥२१४॥

बृहत्यादि कषाय-बृहतौ (वनभण्टा एवं कण्टकारी), वत्सक (इन्द्रयव), मुस्तक (मोथा), देवदारु, सोंठ एवं कोलबल्ली; से निर्मित क्वाथ या योग सन्निपात ज्वरनाशक होता है ।

शट्यादि वर्ग-शटी, पुष्करमूल, व्याघ्री (कण्टकारी), शृंगी (काकड़ासिंगी), दुरालभा, गुडूची (गुड़बेल), नागर (सोंठ), पाठा, किराततिक्त (चिरायता) तथा कुटकी; ये द्रव्य शट्यादि वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग कास (Cough), हृद्ग्रह (हृदय में भारीपन), पार्श्व शूल, श्वास एवं तन्द्रा में करना चाहिए । यह योग सन्निपात ज्वर को भी दूर करता है ।

बृहत्यादि गण-बृहती (बड़ी कटेरी-वनभण्टा), कटेरी (कण्टकारी-भटकटैया), पुष्करमूल, भार्गी, शटी, शृंगी (काकड़ासिंगी), दुरालभा, वत्सक बीज (इन्द्रयव), पटोलपत्र तथा कुटकी; ये द्रव्य बृहत्यादि गण के अन्तर्गत आते हैं, ये द्रव्य सन्निपात ज्वरनाशक एवं कासादि सभी प्रकार के उपद्रवों में उपयोगी हैं ।

चक्रपाणि-यहाँ कषाय (क्वाथादि) का प्रकरण आ जाने से सन्निपात ज्वर की चिकित्सा का उलंघन करते हुए सन्निपात नाशक शट्यादि एवं बृहत्यादि क्वाथों (प्रयोगों) को पढ़ा गया है ।

[The treatment of sannipāta jvara will be described later and normally these recipes should have come there. They are being described at present because they are used in the form of decoctions and many other decoctions for different types of fevers are already described before the verses. -Dr. Bhagvan Das]

कषायाश्च यवाग्वश्च पिपासाज्वरनाशनाः । निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत् ॥२१५॥

पिपासा एवं ज्वरनाशक कषाय व यवागुओं का निर्देश पूर्व में ही भेषज-चतुष्क के अध्यायों में किया जा चुका है । चिकित्सक को तदनुसार योजना करनी चाहिए । ॥२१५॥

चक्रपाणि-भेषजाध्याये भेषजचतुष्के-भेषजचतुष्क में, सूत्रस्थान के प्रथम चार अध्याय भेषज-चतुष्क के अन्तर्गत आते हैं।

चतुष्केऽपि हि 'अधीयन्ते अस्मिन्नर्था' इति कृत्वा अध्यायशब्दो वर्तत एव-चतुष्क में भी 'अधीयन्ते अस्मिन्नर्था' इति करके अध्याय शब्द ही बनता है । योगों का विवेचन वहाँ षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में ज्वरघ्न, तृष्णाघ्न महाकषाय के रूप में विशेष रूप से बताया गया है । इन दोनों (ज्वरघ्न एवं तृष्णाघ्न महाकषाय) में वर्णित प्रत्येक द्रव्यों द्वारा निर्मित कषाय बहुत हो जाते हैं । इसलिये यहाँ 'कषाय' शब्द बहुवचन के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो कि उचित है । यवागुओं का विवेचन अपामार्गतण्डुलीय अध्याय (सू.अ. २) में विशेष रूप से किया गया है । ॥२१५॥

Scanned by CamScanner

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः । रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम् ।।२१६।।
रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च । यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहवध्यः स चानिलः ।।२१७।।

ज्वर में घृत का प्रयोग–जो ज्वर कषायपान, वमन, लंघन एवं लघु भोजन द्वारा शान्त न हो एवं रोगी का शरीर रूक्ष हो तब उस ज्वर की शान्ति घृत द्वारा करनी चाहिए, अर्थात् ऐसे ज्वर के प्रशमन हेतु घृत का प्रयोग करना चाहिए । रूक्ष तेज ज्वरोत्पादक होता है तथा रूक्ष पुरुष में वृद्ध पित्त के साथ वायु भी अनुबल रूप में प्रकुपित होता है । वह प्रकुपित वायु घृत द्वारा प्रशमित होता है ।।२१६-२१७।।

चक्रपाणि–अब यहाँ घृत प्रयोग के अभिधान हेतु घृत का विशेष विवेचन 'ज्वर इत्यादि' के द्वारा किया जा रहा है । **वमनै इति**-से यहाँ अवस्थानुसार वमन के प्रयोग को सर्पि पान छः दिन कराने के बाद किया जाता है, अर्थात् ६ दिन स्नेह भावित शरीर में वमन का प्रयोग करें । लंघन शब्द से लंघनानुरूप काल-स्वेदादि का ग्रहण किया गया है । **'रूक्षस्य इति'** वचन से कषायादि का प्रयोग आमानुबन्ध अथवा कफ प्रकोप की स्थिति में शरीर में रूक्षता नहीं उत्पन्न करता, अर्थात् इस अवस्था में व्यक्ति का शरीर रूक्ष नहीं होता । अतः इस स्थिति में घृत नहीं देना चाहिए । यहाँ कषाय, वमन, लंघन एवं लघु भोजन अलग-अलग निर्दिष्ट होने से इनके पृथक्शः अथवा सम्मिलित प्रयोग होने से रोगी के शरीर में जब रूक्षता उत्पन्न हो तभी घृतपान कराना चाहिए, यह अभिप्राय है ।

सामान्यतया सभी ज्वरों में कषाय पान के बाद घृतपान का निर्देश दिया गया है, यह शंका है । ऐसा क्यों कहा गया है ? इसी का स्पष्टीकरण- 'रूक्षं तेज इत्यादि' के द्वारा दिया गया है ।

यद्यपि तेज शब्द सामान्यतया पित्त, अनल (अग्नि), स्नेह, शक्ति (Potency), द्युति (ओज) एवं ग्रीष्म ऋतु के लिए प्रयुक्त होता है। फिर भी यहाँ इस (तेज) शब्द से ऊष्मा (Heat) अर्थ लिया गया है । इस प्रकार रूक्ष स्वरूप वाली ऊष्मा सर्वत्र ज्वरोत्पादक (ज्वरवर्धक) ही होती है । यह ऊष्मा आमाशय से निकलने वाली अग्नि होती है जो सम्पूर्ण शरीर में फैलकर अपने प्रभाव से ज्वर को उत्पन्न करती है । कहा भी गया है-"स्वेन तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् । संतापमधिकं देहे जनयन्ति" इत्यादि [अपनी ऊष्मा के द्वारा देहोष्मा बल प्राप्त करती है, जिसके कारण शरीर में संताप बढ़ जाता है । अर्थात् जाठराग्नि द्वारा प्रक्षिप्त अग्नि त्वचा में पहुँचकर त्वचा स्थित पित्त के बल को बढ़ा देती है । परिणामतः शरीर का तापक्रम बढ़ जाता है । सूक्ष्म विचार करने पर यह ऊष्मा पित्त की है । कहा भी गया है, यथा-**"ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा बिना"** (वा.चि.अ. १) इति [पित्त के अभाव में ऊष्मा नहीं होती तथा बिना ऊष्मा के ज्वर नहीं होता ।] यद्यपि पित्त को "सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च" इत्यादि के द्वारा 'स्निग्ध' बताया गया है । पित्त का यह गुण अवस्था विशेष के कारण है । निराम पित्त में यह गुण नहीं होता । अर्थात् स्नेह रहित होता है । पित्त का स्नेह गुण उसके द्रव योग के कारण है, न कि सांसिद्धिक गुण है । इस प्रकार अवस्था विशेष के कारण पित्त के स्नेह गुण में कमी भी आती है । अतः स्नेह रहित पित्त की ऊष्मा रूक्ष ही होती है । यह स्थिति व्याधि की अवस्था एवं प्रभाव से जीर्णावस्था में उत्पन्न होती है, यथा-मदात्यय के अन्त में वातपित्त की वृद्धि, कहा भी गया है-**"पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः"** (चि.अ. २४) इति । [प्रायः मदात्यय के अन्त में पित्त व वायु का प्रकोप होता है ।] आचार्य क्षारपाणि ने भी यही कहा है, यथा-**"ज्वरोष्मणा रूक्षितेषु धातुषु बलवान् मारुतो ज्वरानुबन्धं विषमज्वराणामन्यतमं वा कुर्यात्"** इत्यादि [ज्वर की ऊष्मा (उष्णता) से धातुएं रूक्ष हो जाती हैं, परिणामतः वात की वृद्धि हो जाती हैं, जिससे ज्वर विशेष (विषम) प्रकार के ज्वरों में बदल जाता है ।]

तत्र रूक्षेण तेजसा ज्वरकालसंबन्धाद्रूक्षितस्य ज्वरिणो योऽनुबन्धो धातुरनिलः स्यात् स च स्नेहवध्य इति-रूक्ष तेज के द्वारा ज्वर काल के संबन्ध से रूक्ष गुण युक्त ज्वरी में जो वायु का अनुबन्ध होता है उसका प्रशमन स्नेह के द्वारा ही होना चाहिए । अभिप्राय यह है कि घृत के स्नेह गुण के कारण ही धातुगत वृद्ध वात का प्रशमन होता है, अर्थात् धातुगत रूक्षता का प्रशमन घृत करता है ।

चकारात् रूक्षं तेजो यज्ज्वरकरं तदपि सर्पिःकृतस्नेहवध्यमिति-चकार से रूक्ष तेज जो ज्वर वर्धक होता है, वह भी घृत कृत स्निग्धता के द्वारा वध्य है । अर्थात् ज्वर अधिक दिन तक रहने से, पित्त के द्रवांश के क्षय से शेष रूक्षता को प्राप्त पित्त का भी प्रशमन घृत कृत स्निग्धता के द्वारा होता है । 'धातुरिति' विशेषण के द्वारा वायु के धारण गुण को बताया गया है । उस धातु को धारण करने वाली वायु का प्रकोप व्याधि की आत्ययिकता (अत्यधिक प्रकोप) का सूचक है ।

अनु पश्चात् बलं भवति यस्य सोऽनुबलः –जिसका बल बाद में बढ़ता है उसे अनुबल कहा गया है । अर्थात् ज्वर दीर्घ काल तक बने रहने से अथवा क्वाथादि के प्रयोग से धातुओं में उत्पन्न रूक्षता के कारण धातुगत वायु का प्रकोप होता है । इस प्रकार सभी ज्वरों में १२ दिन तक कषाय आदि के प्रयोग से कफ के विशेष क्षय होने पर ज्वरोष्मा की वृद्धि होती है तथा शरीर के रूक्ष होने से पित्तगत स्निग्धता भी अल्प हो जाती है, जिसके कारण वायु वृद्ध हो जाता है । ज्वरोष्मा पित्त का गुण होने से घृत अपने शैत्य गुण के कारण इसका (ज्वरोष्मा का) प्रशमन करता है । जिस प्रकार पित्तोष्मा ज्वरकर एवं रूक्ष स्वरूप वाली है उसी प्रकार घृत के स्नेह अंश से रूक्षता एवं शैत्य गुण के कारण पित्तोष्मा का प्रशमन होता है । इसका स्पष्टीकरण 'रूक्षं तेज' इत्यादि के द्वारा यहाँ किया गया है ।

अन्य आचार्य तेज शब्द से पित्त का ही यहाँ ग्रहण करते हैं । पित्त दो प्रकार का होता है, १. सद्रव २. द्रव रहित (निर्द्रव)

Scanned by CamScanner

जो पित्त द्रव युक्त होता है, उसमें स्नेह गुण होता है । अर्थात् उसे ही 'सस्नेह' कहा गया है । जिस रोगी में पित्त के स्नेहांश का क्षय लंघनादि उपक्रमों के द्वारा होकर रूक्षता उत्पन्न हो गयी हो । 'रूक्षं तेज' इत्यादि के द्वारा उसी का यहाँ ग्रहण है । अन्य आचार्य 'यः स्यादनुबलो धातुः' के द्वारा अनुबन्ध रूप कफ का ग्रहण करते हैं । अतः अनुबन्ध रूप कफ, रूक्ष पित्त तथा वात वृद्ध की अवस्था में घृत का प्रयोग प्रशस्त है । इस प्रकरण में स्नेह शब्द से ही घृत का ग्रहण किया गया है, (स्नेहवध्यः स चानिलः) । स्नेह कफनाशक कार्य संस्कार के द्वारा करता है । अर्थात् स्नेह को कफनाशक द्रव्यों द्वारा सिद्ध करने पर वह कफनाशक कार्य करता है, अन्यथा कफवर्धक होता है । कहा भी गया है, यथा-"घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम्" इति [घृत एवं कफ तुल्य (समान) गुण वाले होते हैं, फिर भी घृत संस्कार के द्वारा कफ का प्रशमन करता है । (नि.अ.१)]

कुछ आचार्य 'अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे' इत्यादि के द्वारा तीनों दोषों में घृत प्रयोग की अनुमति देते हैं । उसका भी यहाँ निर्दिष्ट व्याख्या के द्वारा ग्रहण किया गया है । अर्थात् घृत पित्त व वात का प्रशमन अपने शीत एवं स्निग्ध गुण के कारण करता ही है तथा संस्कार से कफशामक है ।

अस्माकं तु पूर्व एव व्याख्याने स्वरसः –आचार्य चक्रपाणि प्रथम व्याख्यान में ही अपनी रुचि प्रदर्शित करते हैं । कुछ आचार्य 'रूक्षे तेजो ज्वरकरं' इति का पाठ 'रूक्षं तेजो ज्वरकरं' के स्थान पर करते हैं । वहाँ **रूक्षे इति** से कषायादि के प्रयोग से 'रूक्षीकृत शरीर में' अर्थ लिया गया है, ऐसा जानना चाहिए, शेष अर्थ पूर्ववत् है । यह पाठ चरक-संहिता के पूर्व टीकाकारों भासदत्त, स्वामिदास, आषाढ़ वर्मा एवं ब्रह्मदेव आदि द्वारा स्वीकृत है । आचार्य खरनाद के द्वारा भी यही पाठ स्वीकृत है । वहाँ भी कहा है-"कषायपानाद्वमनाल्लङ्घनाल्लघुभोजनात् । रूक्षितानां ज्वरो मोक्षे सर्पिः पानमुदीक्षते ॥ रूक्षतेजोऽधिके देहे" इति । [कषायपान, वमन, लंघन एवं लघु भोजन के प्रयोग से उत्पन्न रूक्षता के कारण व्यक्ति के शरीर में ज्वर की और अधिक वृद्धि हो जाती है उस रूक्षता जन्य ज्वर के प्रशमन हेतु घृतपान का निर्देश है।] ॥२१६-२१७॥

कषायाः सर्व एवंते सर्पिषा सह योजिताः । प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसंधुक्षणाः शिवाः ॥२१८॥

इस प्रकार पूर्व वर्णित क्वाथों (ज्वरनाशक कषायों) का प्रयोग घृत के साथ ज्वरनाश हेतु एवं अग्निसंधुक्षणार्थ करना चाहिए। ये योग अत्यन्त कल्याणकारक हैं । ॥२१८॥

चक्रपाणि–यहाँ 'कषाया इत्यादि' के द्वारा घृत के गुणों का अभिधान किया गया है । पूर्व में जिन ज्वरनाशक कषायों का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग घृत के साथ करना अर्थात् उन क्वाथों (कषायों) द्वारा घी को सिद्ध कर प्रयोग करना । अभिप्राय यह है कि निर्दिष्ट कषाय द्रव्यों द्वारा घी को सिद्ध करके प्रयोग करना चाहिए । अन्य आचार्यों का विचार है कि घी को कषाय (क्वाथ) के साथ मिश्रित कर प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् क्वाथ (Decoctions) में घी मिलाकर प्रयोग करना चाहिए । ॥२१८॥

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी । कलिङ्गकास्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा ॥२१९॥
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका । सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति ॥२२०॥
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम् । अंसाभितापमग्निं च विषमं संनियच्छति ॥२२१॥

जीर्णज्वर में घृत का प्रयोग

पिप्पल्यादि घृत–पिप्पली, चन्दन (लाल चन्दन), मुस्तक (मोथा), उशीर (खश), कटुरोहिणी (कुटकी), कलिङ्गक (इन्द्रयव), तामलकी (भुई आँवला), सारिवा, अतिविषा (अतीस), स्थिरा (सरिवन), द्राक्षा (मुनक्का), आँवला, बिल्व (बेल की गुद्दी), त्रायमाणा एवं कण्टकारी; इन द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग जीर्णज्वर (Chronic fever) में करने से उसकी शान्ति (प्रशमन) शीघ्र ही हो जाती है, अर्थात् इस घृत के प्रयोग से जीर्णज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है ।

यह घृत क्षय (Consumption), कास (Bronchitis), शिरःशूल (Headache), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), हलीमक (कामला का एक प्रकार), अंसाभिताप (Burning sensation in the scapular region) तथा विषमाग्नि को दूर करता है । ॥२१९-२२१॥

चक्रपाणि–'पिप्पल्य इत्यादि' के द्वारा पिप्पल्यादि घृत का अभिधान किया गया है । यहाँ पिप्पल्यादि के मान (मात्रा) का निर्देश नहीं है एवं न तो औषधि, कल्क एवं क्वाथ का विशेष निर्देश है । कुछ लोगों का विचार है कि निर्दिष्ट द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से घृत को सिद्ध करें तथा कुछ के अनुसार कल्क से ही घृत को सिद्ध करना चाहिए । जो आचार्य निर्दिष्ट औषधियों के कल्क से घृत को सिद्ध करना चाहते हैं उनके अनुसार द्रव का निर्देश न होने से द्रव के स्थान पर जल का प्रयोग करना चाहिए, यथा-"द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम्" इति (क.अ. १२) [जहाँ विशेष रूप से द्रव का उल्लेख नहीं है वहाँ जल का ग्रहण करना चाहिए ।]

Scanned by CamScanner

जहाँ मात्र कल्क द्रव्य का निर्देश हो, द्रव (क्वाथ) का निर्देश न हो वहाँ भी द्रव के स्थान पर जल का ग्रहण करना चाहिए, यथा-**''त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात् पले । सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत्''** (चि.अ. १५) [त्र्यूषण (सोंठ, पिप्पली एवं कालीमिर्च), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा व आँवला); इन द्रव्यों के कल्क १ पल (४ तोला), गुड़-१ पल (४ तोला) तथा घी ८ पल (३२ तोला) लेकर विधिवत पाक करें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग मन्दाग्नि वाले रोगी को करना चाहिए ।] जहाँ क्वाथ अथवा कल्क का निर्देश नहीं किया गया है, वहाँ दोनों की ही योजना करनी चाहिए । अर्थात् जहाँ मात्र औषधियों का निर्देश हो कल्क अथवा क्वाथ का निर्देश न हो वहाँ निर्दिष्ट औषधियों का प्रयोग कल्क एवं क्वाथ निर्माण हेतु करना चाहिए । इस संबन्ध में आचार्य सुश्रुत का दृष्टिकोण इस प्रकार है-''कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्'' (सु.चि.अ. ३१) इति [घृत की सिद्धि के प्रसंग में जहाँ कल्क व क्वाथ का निर्देश न हो वहाँ उस गण की औषधियों का प्रयोग कल्क एवं क्वाथ निर्माण हेतु करना चाहिए ।] सुश्रुत का यह तर्क उचित नहीं है, क्योंकि यह परिभाषा विभिन्न गण वाली औषधियों के सम्बन्ध में है । यहाँ पिप्पल्यादि घृत का प्रसंग है एवं किसी गण अथवा समूह का निर्देश नहीं है । यद्यपि किसी गण अथवा समूह की विशेष औषधि का उल्लेख होने पर भी सुश्रुत का यह सिद्धान्त पालन करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि यह सूत्र विशेष अधिकरण (With reference to context) से संबन्धित है । अर्थात् जिस गण का जो प्रसंग है तदनुसार ही कल्क एवं क्वाथ का निर्माण करना चाहिए । अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा-**''यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ । तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः''** इति [जिस अधिकरण के द्वारा जो विषय बताया गया है वहाँ उसी गण की औषधियों द्वारा कल्क व क्वाथ बनाकर स्नेहपाक करना चाहिए ।]

किं च सामान्येन द्रव्यस्य स्नेहसाधनाभिधाने यदि कल्ककषायत्वं स्यात्तदा बलातैलादौ-सामान्य रूप से द्रव्य के स्नेहसाधन में यदि कल्क व कषाय का निर्देश हो, तब बलातैल के प्रसंग में यह जो कहा गया है कि बला क्वाथ एवं बला कल्क को लेकर उसमें स्नेह तथा स्नेह के बराबर दूध मिलाकर पाक करें । (चि.अ. २९), ऐसा निर्देश न होने पर भी कल्क व क्वाथ का प्रयोग बला तैल निर्माण हेतु किया जाता है । यह अर्थ तो सामान्यतः स्नेहपाक शब्द से प्राप्त हो जाता है । अतः पिप्पल्यादि घृत के सन्दर्भ में विशेष बात यह है कि पिप्पल्यादि द्रव्यों के कल्क, स्नेह का चतुर्थांश तथा जल, स्नेह का चतुर्गुण लेना चाहिए । यही भाव अन्य स्थानों पर भी ग्रहण करना चाहिए । यहाँ पकाने वाले घृत के मान का निर्देश न होने से घृत की मात्रा का ग्रहण चिकित्सक की इच्छा अथवा निर्णय के ऊपर निर्भर है । जहाँ प्रस्थादि में स्नेह की मात्रा का उल्लेख है वहाँ निर्दिष्ट मान के अनुसार स्नेह को सिद्ध करना चाहिए तथा यही मात्रा निर्धारित व्याधि के प्रशमन हेतु पर्याप्त होती है । अर्थात् उतनी ही मात्रा में स्नेह अथवा घृत के प्रयोग से व्याधि का प्रशमन हो जाता है । इसी प्रकार वातव्याधि के प्रशमन हेतु अधिक मात्रा में स्नेह सिद्ध करने का निर्देश आगे दिया जायेगा । नस्यार्थ प्रयुक्त प्रपौण्डरीकादि तैल की मात्रा १ कुडव (४ पल) बतायी जायेगी । कुष्ठचिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट तिक्तकषट्पल घृत को ६ पल (६४ तोले) मात्रा में सिद्ध करने का निर्देश दिया गया है । इस योग को अत्यल्प मात्रा में बनाने पर ही गुण युक्त बनता है । यह औषधि का अपना प्रभाव है कि अल्प मात्रा में बनाने पर ही गुणयुक्त बनती है । इस प्रकार कुष्ठ रोग की दीर्घकालता को दृष्टिगत रखते हुए तिक्तकषट्पलघृत के लेप एवं आभ्यन्तर प्रयोग के अनुसार बार-बार ६-६ पल की मात्रा में निर्माण करना चाहिए । [अभिप्राय यह है कि कुष्ठ एक दीर्घकालिक व्याधि है इसमें चिकित्सा भी लम्बे समय तक की जाती है तथा इस हेतु अधिक मात्रा में तिक्तकषट्पलघृत की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए आवश्यकतानुसार पुनः-पुनः ६-६ पल की मात्रा में इस घृत का निर्माण करना चाहिए ।] कहा भी गया है, यथा-''यथा कुर्वन्ति स उपाय'' (सू.अ.२६) इति । इसी प्रकार अगस्त्यहरीतकी का भी निर्माण प्रयोजन के अनुसार करना चाहिए । इस प्रकार एक निश्चित मान में औषधि तैयार करने के पीछे आचार्य का एक निश्चित उद्देश्य है, जिसमें औषधि की गुणवत्ता छिपी हुई है; जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । ॥२१९-२२१॥

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम् । पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ।।२२२।।
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः । कल्कीकृतैश्च विपचेद्घृतं जीर्णज्वरापहम् ।।२२३।।

वासादि घृत (जीर्णज्वर)-वासा (अडूसा), गुडूची (गिलोय), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला; प्रत्येक समभाग), त्रायमाणा, यवासा; इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें । क्वाथ व गोदुग्ध पृथक्-पृथक् स्नेह से दूनी मात्रा में लें । पिप्पली, मुस्तक (मोथा), मृद्वीका (मुनक्का), चन्दन (लालचन्दन), उत्पल एवं सोंठ (शुण्ठी); सम मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस प्रकार कल्क, क्वाथ एवं गोदुग्ध एक में मिलाकर घृत सिद्ध करें । इस घृत का प्रयोग जीर्णज्वर के रोगियों में करना चाहिए ।

चक्रपाणि-वासादि घृत में यद्यपि क्वाथ की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है फिर भी दूनी मात्रा में क्वाथ का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्नेहपाक हेतु स्नेह का चार गुना द्रव लेने का विधान है, यथा-''स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्'' (क.अ. १२) जल शब्द यहाँ द्रव का उपलक्षण मात्र है । यहाँ ''द्राभ्यामपि चातुर्गुण्यम्'' इति परिभाषा के द्वारा यद्यपि क्षीर भी कषाय (क्वाथ) की भाँति दूनी मात्रा में ग्राह्य है, यह भाव प्राप्त हो जाता है । फिर भी त्रिविध शिष्यों (प्रवर, मध्यम एवं अवर) की बुद्धि को ध्यान में रखते हुए अर्थ स्पष्ट करने हेतु 'क्षीर को स्नेह की दूनी मात्रा में ग्रहण करें' यह अभिधान किया गया है । जहाँ दूध के मान का विशेष निर्देश नहीं है वहाँ कुछ भ्रम उत्पन्न हो

Scanned by CamScanner

सकता है। स्नेहपाक की सामान्य परिभाषा के अनुसार-**"क्वाथ्याच्चतुर्गुणं वारि पादस्थं स्याच्चतुर्गुणम्। स्नेहात् स्नेहसमं क्षीरं कल्कश्च स्नेहपादिकः"** [क्वाथ्य द्रव्य (औषधि द्रव्य) में ४ गुना पानी डालकर पाक करें चतुर्थांश बचावें, इस विधि से निर्मित क्वाथ स्नेह का ४ गुना लें। स्नेह के बराबर मात्रा में दूध का ग्रहण करें एवं कल्क स्नेह का चतुर्थांश लें।]" इस वचन के द्वारा दूध की मात्रा स्नेह की मात्रा के बराबर है। यदि अन्य द्रवों द्वारा भी स्नेह सिद्ध करना है तब इस परिभाषा में व्यवधान आता है, यदि स्नेहपाक में दो प्रकार के द्रवों का प्रयोग करना है तब दोनों द्रवों की संयुक्त मात्रा स्नेह की ४ गुना होनी चाहिए। यदि दोनों परिभाषाओं को आपस में मिला दें तब इस योग में दूध का प्रयोग स्नेह की मात्रा के बराबर किया गया है। अतः क्वाथ का मान स्नेह का ३ गुना ग्रहण करें, तभी दोनों की संयुक्त मात्रा स्नेह की चतुर्गुण हो पायेगी। चूकि यहाँ स्पष्ट निर्देश है कि दूध की मात्रा स्नेह की दूनी लें तो क्वाथ का मान स्वतः ही स्नेह का दूना ग्राह्य है। कुछ आचार्य "द्वाभ्यामपि चातुर्गुण्यमिति" परिभाषा के अनुसार दो द्रवों से पाक में प्रत्येक द्रव स्नेह का ४ गुना ग्रहण करते हैं। इस स्पष्टीकरण के आधार पर इस योग में क्वाथ की मात्रा स्नेह की ४ गुनी तथा दूध की मात्रा दुगुनी ली जाती है। इसलिये यह व्याख्या उचित नहीं हैं। क्योंकि 'एक द्रव से स्नेहपाक में द्रव ४ गुना, दो से पकाने पर भी ४ गुना, तीन से पकाने पर भी स्नेह से ४ गुना तथा ४ से पकाने पर चारो द्रव भाग स्नेह की सम मात्रा में ग्रहण करें' इस वचन के आधार पर चार प्रकार के द्रवों से स्नेह को सिद्ध करते समय प्रत्येक द्रव भाग स्नेह के बराबर ग्रहण करने पर द्रव की संयुक्त मात्रा स्नेह की ४ गुनी हो जाती है। अतः दो, तीन अथवा चार प्रकार के द्रव पदार्थों से स्नेह को सिद्ध करते समय उनकी मात्रा संयुक्त रूप से स्नेह की चार गुनी होनी चाहिए, न कि प्रत्येक द्रव पदार्थ स्नेह का ४ गुना हो। यदि स्नेह को पाँच या उससे अधिक द्रव पदार्थों से सिद्ध करना हो तब अन्य परिभाषा को अपनाना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्यात्तु चतुर्गुणम्॥** [जब स्नेह को पाँच या इससे अधिक द्रव पदार्थों से सिद्ध करना हो तो प्रत्येक द्रव पदार्थ का मान स्नेह के बराबर होना चाहिए।] ॥२२२-२२३॥

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम्। निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम्॥२२४॥
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकीं शटीम्। द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदामामलकानि च॥२२५॥
घृतं पयश्च तत् सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम्। क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत्॥२२६॥

जीर्णज्वर में बलादि घृत का प्रयोग-बला की जड़, गोक्षरू (गोखरू), बृहती (वनभण्टा) की जड़, कलसी (शालपर्णी), धावनी (पृश्निपर्णी), स्थिरा (सरिवन), नीम की छाल, पर्पटक (पित्तपापड़ा), मुस्तक (मोथा), त्रायमाणा तथा दुरालभा; इन द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें तथा तामलकी (भुई आँवला), शटी (कचूर), द्राक्षा (मुनक्का), पुष्करमूल, मेदा तथा आँवला; इन द्रव्यों का कल्क बनाकर कल्क, क्वाथ एवं दूध के साथ घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत अत्यन्त ज्वरघ्न, क्षय, कास, शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं संतापनाशक है। ॥२२४-२२६॥

चक्रपाणि-बलादि घृत में भी बलादि द्रव्यों के क्वाथ एवं दूध की संयुक्त मात्रा स्नेह (घृत) की ४ गुनी ली जाती है। अर्थात् स्नेह का द्विगुण बलादि क्वाथ एवं क्षीर (द्विगुण) ग्राह्य है। ॥२२४-२२६॥

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान्। दद्यात् संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते॥२२७॥
मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा। युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये॥२२८॥
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना। ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा॥२२९॥
मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत्। रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम्॥२३०॥
लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा। पिबेद्वा क्षौद्रमावाप्य सघृतं त्रिफलारसम्॥२३१॥
आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा। त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत्॥२३२॥
ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम्। पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः॥२३३॥

ज्वर में संशोधन चिकित्सा-अत्यधिक दोष युक्त ज्वर रोगी के लिए कल्पस्थान में उपदेशित किये जाने वाले वमन एवं विरेचन योगों का प्रयोग योग्य चिकित्सक उचित काल उपस्थित होने पर, करावें।

वमन का प्रयोग-मदनफल के साथ पिप्पली अथवा इन्द्रयव अथवा यष्टीमधु चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ ज्वर के रोगी को वमनार्थ पिलावें, अर्थात् ज्वर शान्ति हेतु वमन करावें। मधु का शरबत, इक्षुरस, नमक का पानी, मदिरा अथवा तर्पण (द्रव प्रधान सत्तू) का प्रयोग वामक औषधि के अनुपान के रूप में करना चाहिए।

विरेचनकारक योग-अधोलिखित योग ज्वर रोगी के विरेचन के लिए प्रयोग किये जाते हैं-

१. मुनक्का एवं आँवला के स्वरस अथवा क्वाथ का सम मात्रा में प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए।

२. आमलकी स्वरस में घृत का छौंक लगाकर पीने से ज्वर का नाश होता है।

Scanned by CamScanner

३. त्रिवृत् चूर्ण में मधु व घृत मिलाकर चाटें ।

४. त्रिफला स्वरस में मधु व घृत मिलाकर प्रयोग करें ।

५. आरग्वध का प्रयोग दूध के साथ करें, अर्थात् अमलतास के गूदे का प्रयोग दूध के साथ विरेचन हेतु करें ।

६. मुनक्का के स्वरस (क्वाथ) को दूध के साथ लें ।

७.-८. त्रिवृत् या त्रायमाणा चूर्ण का प्रयोग दूध के साथ ज्वर रोगी करे ।

९.-१०. मुनक्का के साथ हरड़ अथवा द्राक्षा रस को दूध के साथ ज्वर रोगी विरेचन हेतु प्रयोग करे ।

इन योगों के प्रयोग से व्यक्ति को ज्वर से मुक्ति मिल जाती है । ॥२२७-२३३॥

चक्रपाणि–यहाँ क्रमानुसार वमन एवं विरेचन योगों का अभिधान 'ज्वरिभ्य इत्यादि' के द्वारा किया गया है । **'बहुदोषेभ्य इति'** के द्वारा अल्प प्रकुपित दोषों में संशोधन का निषेध है, यह स्पष्ट किया गया है । **काल इति**-इससे वमन-विरेचन के योग्य रोगी की अवस्था का ग्रहण है । कल्प इति = कल्पस्थान में । मदनफल के साथ पिप्पली का प्रयोग वमनार्थ कफज्वर में, मदनफल के साथ इन्द्रयव का प्रयोग पित्त कफ ज्वर में एवं मदनफल के साथ यष्टीमधु का प्रयोग विशेष रूप से दाह की अवस्था में करना चाहिए ।

क्षौद्रयोगान्मधुरीकृतमम्बु क्षौद्राम्बु–क्षौद्र (मधु) के योग से मधुर किया हुआ जल क्षौद्राम्बु कहलाता है ।

सैन्धवयोगात् लवणीकृतमम्बु लवणाम्बु–ऐसा जल जो सैन्धव नमक डालकर नमकीन स्वाद वाला बना दिया गया हो, उसे लवणाम्बु कहा जाता है । प्रस्कन्दनम् = विरेचन । आवाप्येति = उपयोज्य (डालकर) ॥२२७-२३३॥

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् । मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलीश्रृतं पयः ।।२३४।।
एरण्डमूलोत्कथितं ज्वरात् सपरिकर्तिकात् । पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्विल्वशलाटुभिः ।।२३५।।
त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम् । वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ।।२३६।।
सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम् । श्रृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम् ।।२३७।।
चतुर्गुणेनाम्भसा वा श्रृतं ज्वरहरं पयः । धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत् ।।२३८।।
जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः श्रृतम् ।।२३९।।

जीर्णज्वर में क्षीरपाक का प्रयोग–१. पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू-लघु पञ्चमूल) के क्वाथ से सिद्ध क्षीर का प्रयोग करने से ज्वररोगी कास, श्वास (Dyspnoea), शिरःशूल (Headache), पार्श्वशूल (Pain in sides) एवं ज्वर जैसी व्याधियों से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ।

२. एरण्डमूल (अण्डी का मूल) के क्वाथ (Decoction) अथवा बिल्व शलाटू (कच्चे बिल्व के टुकड़े किये हुए भाग) के क्वाथ को दूध में पकाकर क्षीरपाक तैयार करें । इस क्षीरपाक का प्रयोग ज्वरयुक्त परिकर्तिका (गुदा अथवा आमाशय में कैंची से काटने जैसी वेदना का होना) का रोगी करे ।

३. त्रिकण्टक (गोखरू), बला, व्याघ्री (कण्टकारी), गुड़ व सोंठ से साधित क्षीर का प्रयोग ज्वर रोगी मलबद्धता (Constipation), मूत्रावरोध (obstruction of urine) एवं शोफ (oedema) में करें ।

४. सोंठ (शुण्ठी), मृद्वीका (मुनक्का) एवं खर्जूर के क्वाथ से सिद्ध दूध में घृत, शर्करा व मधु मिलाकर पीने से पिपासा एवं ज्वर की शान्ति हो जाती है ।

५. चतुर्गुण जल साधित क्षीर ज्वरनाशक होता है ।

६. अथवा धारोष्ण दूध (गाय का ताजा दूध) का सद्यः (तत्काल) प्रयोग वातपित्तज्वर नाशक होता है ।

इस प्रकार सभी प्रकार के जीर्ण ज्वरों में क्षीर (दूध) उत्तम ज्वरनाशक होता है । अत दूध का प्रयोग उचित औषधियों के क्वाथ से सिद्ध कर उष्ण अथवा शीत, करना चाहिए । ॥२३४-२३९॥

चक्रपाणि–'कासादित्यादि' के द्वारा यहाँ पाठ क्रमानुसार क्षीर के प्रयोग का अभिधान किया गया है । यहाँ पञ्चमूल्यादि द्रव्य, क्षीर (दूध) एवं जल की मात्रा का निर्देश नहीं किया गया है, उसे यहाँ वृद्ध वैद्य व्यवहारार्थ प्रयुक्त परिभाषा के अनुसार मान (मात्रा) का ग्रहण कर लेनी चाहिए । जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-**''द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः''** इति [क्षीरपाक हेतु प्रयुक्त औषध द्रव्य-१ भाग, क्षीर (दूध) - ८ भाग, जल-क्षीर का ४ गुना अर्थात् ३२ भाग लेकर पाक करें,

Scanned by CamScanner

अन्त में क्षीर मात्र शेष रखें अर्थात् उपर्युक्त द्रव्यों को एक में मिलाकर धीरे-धीरे पकावें तथा अन्त में दूध ही शेष बचना चाहिए। क्षीरपाक की यही विधि है।] इस प्रकार यहाँ आधा पल (२ तोला) औषध द्रव्य, ४ पल (१६ तोला) दूध एवं १६ पल (६४ तोला = १ प्रस्थ) जल; एक पात्र में सभी द्रव्यों को डालकर पकावें। यह पाक तब तक करें जब तक क्षीर मात्र शेष रह जाय। अर्थात् प्रयुक्त १६ तोला दूध शेष बचना चाहिए। इसी मान के अनुसार क्षीरपाक हेतु द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। माषपर्णभृतीय अध्याय (चि.अ. २/३) में वर्णित सूत्र "मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम्। श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमांश्छालिषष्टिकान्॥ पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते। विवर्जयेत् क्षीरशेषं। इति [प्रत्येक औषध द्रव्य, यथा-मेदा, पयस्या, जीवन्ती, विदारी, कण्टकारी, गोखरू, क्षीरिका, माष (उड़द), गेहूँ एवं साठी चावल; एक-एक कर्ष (१ तोला) की मात्रा में ग्रहण करें। इसे एक आढ़क (४ प्रस्थ = २५६ तोला) दूध में पकावें इसमें आधा आढ़क (दूध का आधा भाग) पानी डाल दें। पकाते-पकाते पानी उड़ा दें, दूध शेष रखें।] के द्वारा क्षीर द्रव्यादि के मान को बताया गया है, वह उस विषय में ही निर्दिष्ट है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् यहाँ जिन मात्राओं का निर्देश है उससे भिन्न परिभाषा पूर्व में दी गयी है। इस योग में जो नियम अन्य शास्त्रों में बताये गये हैं उनको स्वीकार किया गया है। अन्य स्थानों पर जिन योगों का वर्णन किया गया है, प्रदेशान्तर (वहाँ) में निर्दिष्ट मान ही उनका लक्षण होता है, जो मान परिभाषानुसार बताया गया है। जो मान परिभाषा में बाधक है उसका निर्धारण प्रकरण में ही निर्दिष्ट होता है। अभिप्राय यह है कि जहाँ शास्त्र में क्षीरपाक में प्रयुक्त द्रव्यों के मानों का निर्देश नहीं है वहाँ मान का ग्रहण परिभाषानुसार करना चाहिए तथा जहाँ परिभाषा से भिन्न मान निर्दिष्ट हैं उनका ग्रहण तदनुसार ही करना चाहिए। यथा-**"साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम्। क्षीरे जलाष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत्"** (चि.अ. ५) इति [शुष्क लशुन का चूर्ण ४ पल लेकर इसमें ८ गुना दूध एवं जल (१६ पल दूध+१६ पल जल) मिलाकर तब तक पाक करें जब तक सम्पूर्ण जल उड़ न जाय। अर्थात् पानी उड़ जाय दूध मात्र शेष रहे। इस रसोन (लहसुन) साधित क्षीरपाक का प्रयोग वातगुल्म, उदावर्त, गृध्रसी, विषम ज्वर, हृद्रोग, विद्रधि एवं शोथ के रोगी को करना चाहिए।- [लशुन क्षीर-पाक] इस प्रकार और भी दूसरी परिभाषायें जो अन्य शास्त्रों में हैं, लेकिन पूर्व परिभाषा (रसोन क्षीरपाक) के विरुद्ध नहीं है, उनको स्वीकार करना चाहिए। उनका अनुपालन उसी प्रकरण में करना चाहिए। अर्थात् विरुद्ध मानों के निर्देश को अपवाद स्वरूप समझना चाहिए।

परिकर्तिका परिकर्तनाकारा गुदादिवेदना–गुदा एवं आमाशय में कैंची से काटने जैसी वेदना का होना परिकर्तिका कहलाता है।

'नागरमित्यादि' के द्वारा श्लोक २३६ में मधु के प्रयोग का निर्देश दिया गया है। मधु को प्रक्षेप के रूप में क्षीरपाक के पश्चात् डालना चाहिए, मधु डाल देने के बाद दूध को गरम नहीं करना चाहिए।

उष्णं शीतं चेति–दूध को गरम अथवा शीत कर प्रयोग करना व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार करना चाहिए। अर्थात् रोगी क्षीरपाक को उष्ण पीना चाहता है या शीत तदनुसार वह पीये। वात की प्रबलता में उष्ण क्षीरपाक तथा पित्त की प्रबलता में शीत क्षीर पाक का प्रयोग करना चाहिये। क्षीर को उष्ण द्रव्यों से सिद्ध करना उष्ण तथा शीत वीर्य द्रव्यों से सिद्ध करना शीत क्षीरपाक कहलाता है। ॥२३४-२३९॥

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनाम्। पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु॥२४०॥
पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः। ह्रीबेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च॥२४१॥
स्थिरा बला च तत् सर्वं पयस्यर्धोदके शृतम्। क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा॥२४२॥
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च। वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम्॥२४३॥
शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु। गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः॥२४४॥
आरग्वधमुशीरं च मदनस्य फलं तथा। चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत्॥२४५॥
प्रियङ्गुमदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका। कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नौ बस्तिरुत्तमः॥२४६॥
गुडूचीं त्रायमाणां च चन्दनं मधुकं वृषम्। स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनं चेति साधयेत्॥२४७॥
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक्। पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च॥२४८॥
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा। ज्वरप्रशमनं दद्याद्बलस्वेदरुचिप्रदम्॥२४९॥

ज्वरनाशक निरूह एवं अनुवासन बस्तियाँ

जब दोष पक्वाशय में आ जायँ तब सिद्धिस्थान में वर्णित ज्वरनाशक निरूह एवं अनुवासन वस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

१. **पटोलादिनिरूहबस्ति**–पटोल (परवल की पत्ती), निम्ब पत्र, उशीर (खस), चतुरंगुल (अमलतास), ह्रीवेर (सुगन्धवाला), रोहिणी, तिक्ता (कुटकी), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), मदनफल, स्थिरा (सरिवन), बला; सभी द्रव्यों को समान भाग में लेकर दूध व जल समभाग मिलाकर पाक करें अर्थात् क्षीरपाक करें। जब दूध शेष बचे तब उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें। इस क्षीर युक्त क्वाथ में मधु एवं घृत मिलावें। तत्पश्चात् इसमें मदनफल, मुस्तक, पिप्पली, मुलेठी (यष्टीमधु) तथा इन्द्रयव का कल्क मिलावें। इनका प्रयोग निरूह बस्ति के रूप में ज्वरशान्ति हेतु करना चाहिए। इस बस्ति के प्रयोग से स्रोतावरोध दूर होकर शरीर शुद्ध हो जाता है, अवरुद्ध दोष शरीर से बाहर

Scanned by CamScanner

निकल जाते हैं, धातुएं प्रसन्न हो जाती हैं अर्थात् धातुएं पुष्ट होने लगती हैं, सर्वांग शूल की शान्ति होती है, शरीर में लघुता उत्पन्न हो जाती है, परिणामतः ज्वर शान्त हो जाता है ।

२. **आरग्वधादिनिरूहबस्ति**–आरग्वध (अमलतास की गुद्दी), उशीर (खस), मदनफल, चारो प्रकार की पर्णिनी यथा-शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठवन), माषपर्णी (वनउड़द) एवं मुद्गपर्णी (वनमूंग); को सम भाग में लेकर क्वाथ बनावें । उस क्वाथ में प्रियंगु, मदनफल, मुस्तक (मोथा), शताह्वा (सौंफ) एवं यष्टीमधु (मुलेठी); सम भाग में लेकर कल्क बनाकर डालें अथवा मिला लें । इस क्वाथ एवं कल्क मिश्रित द्रव में गुड़ (पुराना), घृत एवं मधु मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें । यह वस्ति ज्वर नाश हेतु अत्यन्त उपयोगी है ।

३. गुडूची, त्रायमाणा, चन्दन (लालचन्दन), मधुक (यष्टीमधु), वृष (अडूसा की पत्ती), स्थिरा (सरिवन), बलामूल एवं मदनफल; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर क्वाथ (Decoction) बनावें । इस क्वाथ में जांगल पशु-पक्षियों के मांसरस मिलावें, अर्थात् क्वाथ्य द्रव्यों के साथ ही मांस को भी पकाकर क्वाथ तैयार करना चाहिए । इस 'क्वाथ+मांसरस' मिश्रित द्रव भाग में पिप्पली, मदनफल, मुस्तक (मोथा) एवं यष्टीमधु का प्रयोग कल्क के रूप में करें, अर्थात् कल्क बनाकर मिला लें । अब इसमें यथावश्यक (अल्प मात्रा में) नमक (सैन्धव), मधु एवं घृत मिलाकर निरूह बस्ति के रूप में ज्वर प्रशमनार्थ प्रयोग करें । यह बस्ति बलवर्धक (शारीरिक बल को बढ़ाने वाली), स्वेदजनक (पसीना लाने वाला) एवं रुचि उत्पादक है । ॥२४०-२४९॥

चक्रपाणि–'निरूहविधौ ज्वरहरानिति' इस वचन के द्वारा ज्वरघ्न द्रव्यों द्वारा निरूह एवं अनुवासन वस्ति की योजना करनी चाहिए, यह दर्शाया गया है ।

पटोलाद्ये निरूहे पयस्यर्धोदके शृतमिति–इस वचन से पटोलादिनिरूहवस्ति में प्रयुक्त क्षीर (दूध) के बराबर ही जल का ग्रहण किया गया है । अर्ध शब्द का अर्थ **क्षीर एवं जल** का समान विभाग है । यहाँ वर्णित क्वाथ, कल्क एवं स्नेहादि के मान का ग्रहण सिद्धिस्थान में वर्णित व्यवस्था के अनुसार करना चाहिए ।

गुडूच्यादौ साधयेद्रसमिति क्वाथं कुर्यात्–गुडूची, त्रायमाणा आदि द्रव्यों का क्वाथ बनाना चाहिए । निरूह वस्ति के द्रव्य में अल्प मात्रा में नमक, मधु एवं घृत मिलाना चाहिए । ॥२४०-२४९॥

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मदनं वचाम् । ऋद्धिं रास्नां बलां विश्वं शतपुष्पां शतावरीम् ।।२५०।।
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद्भिषक् । आनुवासनिकं स्नेहमेतं विद्याज्ज्वरापहम् ।।२५१।।
पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च । मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम् ।।२५२।।
चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः । सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहबस्तिः प्रशस्यते ।।२५३।।

जीवन्त्यादि अनुवासनबस्ति–जीवन्ती, यष्टीमधु (मुलेठी), मेदा, पिप्पली, मदनफल, वचा, ऋद्धि, रास्ना, बलामूल, विश्व (सोंठ), शतपुष्पा (सौंफ) तथा शतावरी; इन द्रव्यों को सममात्रा में लेकर, सील पर पीस कर कल्क बना लें । इसमें दूध, जल, घृत व तैल डालकर पाक करें । इस सिद्ध स्नेह का प्रयोग ज्वरनाश हेतु अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए ।

पटोलादि अनुवासनबस्ति–पटोल पत्र, निम्ब पत्र, गुडूची, यष्टीमधु (मुलेठी) तथा मदनफल के क्वाथ द्वारा घृत या तैल को सिद्ध करें । यह स्नेह अनुवासनबस्ति के रूप में प्रयोग करने से ज्वर का नाश करता है ।

चन्दनादि स्नेहबस्ति–लाल चन्दन, अगरु (अगर), काश्मर्य (गम्भारी की छाल), परवल (पटोल) की पत्ती एवं यष्टीमधु के कल्क द्वारा सिद्ध स्नेह को स्नेहबस्ति के रूप में उपयोग करने से ज्वर की शान्ति होती है । [स्नेहबस्ति की मात्रा अनुवासनवस्ति की मात्रा की दूनी होती है ।]

चक्रपाणि–जीवन्त्यादि अनुवासनबस्ति में यमक (घृत व तैल की बराबर मात्रा) में दूध की मात्रा यमक के बराबर ली गयी है । ३ गुनी मात्रा जल की लें, अर्थात् यमक (घृत+तैल) की संयुक्त मात्रा १ भाग, दूध- १ भाग, जल-३ भाग लेने पर द्रव की मात्रा स्नेह मात्रा की ४ गुनी हो जाती है । **मदनैश्च शृतः स्नेह इत्यत्रानन्तरोक्तः सर्पिस्तैलरूप एव यमकस्नेहो ज्ञेयः**-मदनादि द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथ (Decoction) में स्नेह (घृत व तैल की सम मात्रा) डालकर स्नेह (यमक) सिद्ध करें । श्लोक नं० २५३ में वर्णित 'सिद्धः स्नेहः' का भी अर्थ यही ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् यमक का ही ग्रहण करना चाहिए । ॥२५०-२५३॥

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे । शिरोविरेचनं कुर्याद्युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम् ।।२५४।।
यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः । मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ।।२५५।।

शिरोविरेचन का प्रयोग–भेषजाध्याय एवं रोगभिषग्जितीय विमान अध्याय में शिरोविरेचनार्थ जिन योगों (द्रव्यों) का उल्लेख किया गया है । युक्तिज्ञ चिकित्सक को ज्वर शान्ति हेतु उन शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए तथा मात्राशितीय अध्याय (सू.अ. ५) में वर्णित अणुतैल तथा धूमवर्तियों का प्रयोग चिकित्सक ज्वर शान्ति हेतु यहाँ भी करे । ॥२५४-२५५॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'यदुक्तमित्यादि' के द्वारा यहाँ शिरोविरेचन द्रव्यों को बताया गया है ।

भेषजाध्याये इति–भेषजचतुष्क के अपामार्गतण्डुलीय अध्याय में (च.सू. २) । **यच्च नावनिकं तैलमिति**-जो नावनिक तैल का उल्लेख किया गया है । नावनिक तैल से यहाँ 'अणुतैल' अर्थ लिया गया है । नावन=नस्य कर्म । ॥२५४-२५५॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् । यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम् ।।२५६।।

बहिः परिमार्जन–ज्वर के द्विविध विभाग करके । अर्थात् शीत एवं उष्ण आधार पर ज्वर के विभाग करके रोगी की इच्छानुसार अभ्यंग, प्रदेह एवं परिषेक का प्रयोग करना चाहिए । अभिप्राय यह है कि ज्वर में जब उष्णता अधिक प्रतीत हो तब शीतवीर्य द्रव्यों द्वारा अभ्यंग, परिषेक एवं प्रदेह तथा शीत अधिक लगने पर उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग करते हैं । ॥२५६॥

चक्रपाणि–'अभ्यङ्गाश्चेत्यादि' के द्वारा क्रमानुसार अब बहिःपरिमार्जन का अभिधान किया जा रहा है ।

यथाभिलाषमिति–रोगी की जैसी इच्छा हो । **शीतोष्णं विभज्येति**-ज्वर की उत्पत्ति शीतजन्य कारणों से हुई है अथवा उष्णजन्य कारणों से हुई है; इस प्रकार का विभाजन करके । शीतजन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर में उष्ण तैलादि द्वारा अभ्यंग, परिषेक एवं प्रदेह का प्रयोग एवं उष्ण कारणों से उत्पन्न ज्वर में शीतल क्रियायें करनी चाहिए । ॥२५६॥

सहस्रधौतं सर्पिर्वा तैलं वा चन्दनादिकम् । दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ।।२५७।।

अत्यधिक दाह युक्त ज्वर में कर्तव्य–यदि ज्वर रोगी में अत्यधिक दाह हो तब दाह युक्त ज्वर की शान्ति हेतु सहस्रधौत घृत अथवा चन्दनादितैल का उसके शरीर पर अभ्यङ्ग करना चाहिए । ॥२५७॥

चक्रपाणि–पूर्व श्लोक नं० २५६ में दो प्रकार के ज्वरों का उल्लेख किया गया है-१. शीतजन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर । २. उष्णजन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर ।

यहाँ प्रतिलोम व्याख्या के अनुसार उष्ण जन्य कारणों से उत्पन्न ज्वर की व्याख्या जिसे शीताभिप्रायी ज्वर (जिस ज्वर में शीतल पदार्थों की इच्छा होती हो) कहा गया है, की चिकित्सा 'सहस्रेत्यादि' के द्वारा बतायी गयी है ।

सहस्रशब्दो विपुलार्थः –सहस्र शब्द 'विपुल' अर्थ का बोधक है, जिसका अर्थ एक हजार है अर्थात् अत्यधिक बार (Many times) ।

सहस्रधौतघृत–वह घृत जो अनेक बार शीतल जल से धोया गया हो उसे सहस्रधौतघृत कहा जाता है ।

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः -चन्दनभद्रश्रीकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवामधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मोत्पलनलिन-कुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेतसवानीरगुन्द्राककुभासनाश्वकर्ण-स्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवटकपीतनोदुम्बराश्वत्थन्यग्रोधधातकीदूर्वेत्कटशृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मती-पुष्करबीजक्रौञ्चादनबदरीकोविदारकदलीसंवर्तकारिष्टशतपर्वाशीतकुम्भिकाशतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीरोहिणीशीतपाक्योदनपाकीकाला-बलापयस्याविदारीजीवकर्षभकमेदामहामेदामधुरसर्ष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियाल-प्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधूकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत् । तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्धमात्रं मृद्वग्निना साधयेत्तैलम् । एतत्तैलमभ्यङ्गात् सद्यो दाहज्वरमपनयति । एतैरेव चौषधैरश्लक्ष्णापिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत् । एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ।।२५८।। **इति चन्दनाद्यं तैलम् ।**

मध्वारनालक्षीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वात् ।।२५९।।

चन्दनादितैल–अब आगे चन्दनादितैल का उपदेश किया जा रहा है–

क्वाथ्य द्रव्य-चन्दन (लाल चन्दन), भद्रश्री (सफेद चन्दन), कालानुसार्य (शीतल), कालीयक, पद्मा (भारङ्गी), पद्मक, उशीर (खस), सारिवा, मधुक (मुलेठी-यष्टीमधु), प्रपौण्डरीक (पुंडरिया काठ), नागपुष्प (नागकेशर), उदीच्य (सुगन्धवाला), वन्य (केवटी मोथा), पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक (कमलभेद), पुण्डरीक (श्वेत कमल), शतपत्र (गुलाब का फूल), बिस, मृणाल (कमलनाल), शालूक (कमल का कन्द), शैवाल, कशेरुक (कशेरू), अनन्तमूल, कुश की जड़, काशमूल, इक्षुमूल, दर्भमूल, शर (सरपत) का जड़, नल (नरकट) मूल, शालिमूल, जम्बू (जामुन) की छाल, वेतसमूल, वानीर (जलवेतस) की जड़, गुन्द्रा, अर्जुन (ककुभ), असन, अश्वकर्ण, स्यन्दन, वातपोथ, शाल (साखू) की छाल, ताल (ताड़ की पत्ती), धव (धवपुष्प), तिनिश (तेंदू) की छाल, खदिर, क़दर, कदम्ब पुष्प, काश्मर्य (गम्भारी) का फल, सर्ज (शल), प्लक्ष (पाकड़), वट (बरगद), कपीतन, (आमड़ा), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), न्यग्रोध, धातकी, दूर्वा (हरी दूब), इत्कट, शृंगाटक (सिंघाड़ा), मंजिष्ठा (मजीठ), ज्योतिष्मती (मालकांगनी), पुष्करबीज, क्रौञ्चादन, बदरी (बेर), कोविदार (सफेद काञ्चनार), कदली (केला), संवर्तक, अरिष्ट, शतपर्वा (श्वेत दूर्वा), शीतकुम्भिका (श्वेतकुम्भी), शतावरी, श्रीपर्णी (सुन्दर पत्रों वाली = गम्भारी), श्रावणी (गोरखमुण्डी), महाश्रावणी (बड़ी गोरखमुण्डी), रोहिणी,

Scanned by CamScanner

शीतपाकी (गण्डदूर्वा), ओदनपाकी (नील कटसरैया), काला (काकोली), बला (बरियार), पयस्या (क्षीरविदारी), जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, मधुरसा (मूर्वा), ऋष्यप्रोक्ता (ऋद्धि), तृणशून्य, मोचरस, अट्रुषक (अड़ूसा), बकुल, कुटज, पटोल, निम्ब, शाल्मली, नारिकेल, खर्जूर, मृद्वीका, (मुनक्का), प्रियाल (चिरौंजी), प्रियंगु, धन्वन, आत्मगुप्ता (केंवाच बीज) तथा मधूक (महुआ)। इन औषधियों के अतिरिक्त और भी शीतवीर्य औषधियाँ जो उपलब्ध हो सके अथवा उपर्युक्त औषधियों में से जो उपलब्ध हो सकें, उन्हें लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें।

क्वाथ का दो गुना गोदुग्ध, यथावश्यक कल्क तथा क्वाथ का आधा भाग स्नेह (तैल) मिलाकर मृदु अग्नि पर तैल सिद्ध करें। इस तैल के अभ्यंग से दाह जन्य ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इस तैल में प्रयुक्त औषध द्रव्यों को खूब महीन पीसकर कल्क बना लें, इसका प्रयोग शीत प्रदेह के रूप में करें। इन्हीं औषधियों से जल को पकाकर परिषेक एवं अवगाहन के रूप में प्रयोग करना चाहिए। ॥२५८॥

मधु, आरनाल (काञ्जी), क्षीर, दधि, घृत एवं जल; का स्पर्श शीतल होने से इन द्रव्यों का प्रयोग सेक (शरीर के ऊपर छिड़काव-Sprinkling over the body) व अवगाह (स्नान-Bath) के रूप में करने से दाह ज्वर (Fever with burning sensation) की शान्ति शीघ्र (सद्यः) हो जाती है। ॥२५९॥

चक्रपाणि–'अथेत्यादि' के द्वारा यहाँ चन्दनादि तैल निर्माण विधि को बताया गया है।

चन्दनाद्येन द्रव्येण संस्कृतं तैलमपि चन्दनाद्यमुच्यते–चन्दनादि द्रव्यों द्वारा सिद्ध (संस्कारित) तैल को भी चन्दनादि तैल कहते हैं। द्रव्यों के प्रारम्भ में चन्दन होने से इस तैल का नाम चन्दनादि रखा गया है। चन्दन=रक्तचन्दन; भद्रश्रियं=श्वेतचन्दन। कालानुसार्यं=शीतल। नलिन=पद्म का एक भेद है। बिसं=मृणालसूत्र Fibre of waterlily or lotus plant, वेतस=सुगन्धिमूल। **वानीरस्तद्भेदोऽप्यसुगन्धिमूलः**- जलवेतस वेतस का ही एक भेद है जिसका मूल सुगन्धित नहीं होता। अश्वकर्ण=शाल का भेद है। अरिष्ट=पर्वतीय निम्ब (न रिष्टमशुभमस्मात्, जिससे शरीर को कोई हानि न हो)। स्यन्दनः=नेमि वृक्ष। वातपोथः=पलाश। तिनिश=वञ्जुल। कदर=विट्खदिर।

कपीतनः 'गन्धमुण्ड' इति ख्यातः–गन्धमुण्ड नाम से प्रसिद्ध पेड़। वट=बरगद, प्ररोह रहित बरगद का पेड़। न्यग्रोध=वट या बरगद जो प्ररोह युक्त हो। ज्योतिष्मती=काङ्गणिका (मालकांगनी-कंगुनी धान्य के समान बीज होने से काङ्गणिका कहा गया है।], संवर्तकः=बिभीतक (बहेड़ा)। शतपर्वा=श्वेतदूर्वा। शीतकुम्भिका=काष्ठपाटला, पाठभेद से श्वेतकुम्भिका प्राप्त होता है। महाश्रावणी=अलम्बुषा, स्थूलफला। शीतपाकी=गण्डदूर्वा। ओदनपाकी=नीलभेण्डी (कटसरैया)। काला=काकोली। ऋष्यप्रोक्ता=ऋद्धि। तृणशून्य=केतकी।

यथालाभमित्यनेन-जो औषधियाँ नहीं मिलती हों, उन्हें त्याग दें, शेष द्रव्यों से स्नेह को सिद्ध करें।

द्विगुणं पयो यस्मिन् क्वाथे तेन द्विगुणपयसा क्वाथेन–जिस क्वाथ में द्विगुण दुग्ध मिला हो, अर्थात् क्वाथ से दूनी मात्रा में दूध मिलावें। यहाँ कल्क का मान निर्दिष्ट न होते हुए भी स्नेह के चतुर्थांश (१/४ भाग) 'कल्कश्च स्नेहपादिकः' के आधार पर ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि यहाँ तैल उष्ण होता है एवं घृत शीत होता है। घृत शीत होने से दाह प्रशमन में अत्यन्त उपयोगी होता है, फिर भी तैल सूक्ष्म स्रोतों तक प्रसारित होने के कारण, व्यवायी एवं स्पर्श से अत्यधिक वातशामक होने के कारण अभ्यंग के प्रसंग में तैल का उल्लेख किया गया है घृत का नहीं।

अन्ये घृतादपि तैलं संस्कारवाहितरमिति कृत्वा तैलमिहोक्तमिति ब्रुवते–अन्य आचार्य घृत की तुलना में तैल का संस्कारक गुणधारिता अधिक होने के कारण ही तैल का यहाँ वर्णन किया गया है, ऐसा कहते हैं। यहाँ 'चन्दनाद्य' नाम ही क्यों रखा गया है, यह शंका है। ऐसा प्रदेशान्तर में व्यवहार हेतु किया गया है। ऐसा नहीं है, क्योंकि नामकरण के अभाव में भी प्रदेशान्तर में यौगिक संज्ञा द्वारा व्यवहार होना दिखाई देता है, यथा-**''षट्पलं पाययेत् सर्पिः''** (चि.अ. ५) तथा ''वासाघृतं दाधिकं च पिबेत्त्र्यूषणमेव च'' (चि.अ. १७) तथा कुछ प्रसंगों में नामकरण होते हुए भी उनका व्यवहार में प्रयोग नहीं होता अर्थात् उन नामों का प्रयोग नहीं किया जाता, यथा-''एतत् प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम्'' [इस प्रायोगिक घृत को पारूषकघृत कहते हैं।] एक नामकरण 'षड्भागकषाय' का भी है, अन्य स्थानों पर इस नामकरण का व्यवहार नहीं होता। ऐसा नहीं है, पारूषकादि नाम का प्रयोग यद्यपि शास्त्र व्यवहार में नहीं है फिर भी विद्वानों द्वारा उसका व्यवहार आगे किया जायेगा, इसलिए यह नाम रखा गया है। औषध योगों के नामों के कहने के समय अथवा नामकरण का व्यवहार न करने पर भी योगसिद्ध नामकरण तो किया ही जाता है, यथा-षट्पलादि (यहाँ मात्रा के आधार पर ही नाम रख दिया गया है।) इस प्रकार प्रदेशान्तर में भी यौगिक संज्ञा का व्यवहार होता है। कभी-कभी अन्य उपादेयता के आधार पर, प्रसिद्धि के आधार पर अथवा प्रयोग समय के आधार पर उसका नामकरण किया जाता है, ऐसा करने से नामकरण व्यवस्था में कोई क्षति नहीं होती। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी नामकरण के सम्बन्ध में यही व्यवस्था स्वीकार्य है। 'अश्लक्ष्णपिष्टैरिति' इस वचन से चन्दनादि द्रव्यों का महीन चिकना लेप दाहजनक

Scanned by CamScanner

होता है। अतः दाह शान्ति हेतु द्रव्यों को बहुत महीन नहीं पीसा जाना चाहिए। [It is specified that this paste should not be very fine, because fine pastes produce burning sensation -Dr. Bhagvan das.] कहा भी गया है, यथा-**श्लक्ष्णपिष्टघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृत्त्वन्यथाऽगुरोः**" (चि.अ. ३०) इति [जो लेप पीसकर श्लक्ष्ण बना दिया गया है, चाहे वे चन्दनादि द्रव्यों के ही क्यों न हों, दाह उत्पादक होते हैं। क्योंकि श्लक्ष्ण लेप शीत गुण युक्त होते हुए भी त्वचागत ऊष्मा का अवरोध करते हैं। इसके विपरीत अगरु आदि उष्ण गुण युक्त द्रव्यों के दरदरा कर बने हुए लेप शीत गुण दर्शाते हैं।] ॥२५८-२५९॥

भवन्ति चात्र–

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च। कदलीनां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥२६०॥
चन्दनोदकशीतेषु शीते धारागृहेऽपि वा। हिमाम्बुसिक्ते सदने दाहार्तः संविशेत् सुखम् ॥२६१॥
हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत् ॥२६२॥
स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि। शीतवातावहैर्व्यज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः ॥२६३॥
नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः। अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः ॥२६४॥
प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः। सान्त्वयेयुः परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः ॥२६५॥
शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च। वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः ॥२६६॥

दाह युक्त ज्वरी के लिए शयन विधान–दाह युक्त ज्वर रोगी ऐसे घर में निवास करे जो पुष्कर, पद्म, उत्पल एवं कदली (केले) के पत्रों द्वारा शीतल किया हुआ हो अथवा स्वच्छ रेशमी वस्त्र जो चन्दनोदक द्वारा शीतल कर दिया गया हो अथवा पुरुष उस धारागृह में निवास करे जिसमें जल छिड़कर ठण्डा कर दिया गया हो अथवा रोगी ऐसे घर में शयन करे जिसमें जल के फब्बारे लगे हों। ऐसे गृह में रहने से दाहयुक्त रोगी को आराम मिलता है।

हेम (सुवर्ण), शंख, प्रवाल, अनेक प्रकार की मणियाँ एवं मोती, को चन्दन के जल में डुबोकर शरीर से तब तक स्पर्श करावें जब तक उनमें शीतलता रहे। इनके स्पर्श से रोगी के दाह में कमी आती है।

दाह के प्रशमन हेतु व्यक्ति को नीलोत्पल (नील कमल), पद्म (लाल कमल) के पुष्पों की मालाओं को धारण करना चाहिए। अथवा इनके पंखों से हवा करें। अथवा शीतल वायु देने वाले पंखों को चन्दनोदक से सिक्त कर हवा करें।

अवगाहन–नदी, तडाग (तालाब), पुष्करणी एवं ह्रद् (झील) में विद्यमान स्वच्छ जल से स्नान करना हितकर होता है। अर्थात् इस जल में स्नान करने से दाह, तृष्णा, ग्लानि एवं ज्वर का नाश होता है।

ऐसी स्त्रियाँ जो मुक्ता एवं मणियों के आभूषणों से युक्त हों तथा चन्दनोदक से सिञ्चित वस्त्रों को धारण की हों, रोगी को प्रिय हों एवं मनोनुकूल आचरण वाली हों, रोगी को सान्त्वना दें।

शीतल अन्न-पान, शीतल उपवन, शीतल वायु एवं शीतल चन्द्र रश्मियों, के सेवन से दाह ज्वर की शान्ति होती है।

चक्रपाणि–संस्पर्शानुरसान् स्पृशेदिति वचनान्न चिरं धारयेदिति-'संस्पर्शानुरस को स्पर्श करें'। श्लोक नं० २६२ में यह बताया गया है कि मुक्ता आदि जो चन्दनोदक से शीतल कर लिये गये हैं, का स्पर्श रोगी अपने शरीर पर तब तक करे जब तक वह शरीर के लिए आनन्द दायक प्रतीत हो। इन आभूषणों का शरीर पर धारण अधिक समय तक नहीं करना चाहिए। यदि इनका प्रयोग देर तक किया गया तो ये उष्ण हो जाते हैं, अर्थात् देर तक धारण करने से ये द्रव उष्ण हो जाते हैं।

वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता इति–यहाँ 'शीता इति' विशेषण वायु के लिए आया है न कि चन्द्ररश्मियों के लिए, क्योंकि चन्द्रमा की किरणें हमेशा शीतल ही होती हैं। अथवा चन्द्रमा की किरणें भी उष्ण काल में उष्णता के संपर्क से उष्ण हो जाती हैं उसके निराकरणार्थ 'शीता इति' पद का प्रयोग हुआ है। ॥२६०-२६६॥

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः-अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वस्योनाकाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारीबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मान्तकशिग्रुमातुलुङ्गपीलुकमूलकपर्णीतिलपर्णीपीलुपर्णीमेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतकभल्लातकास्फोतकाण्डीरात्मजैकेषीकाकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसुरसकुठेरककालमालकपर्णासक्षवककफणिज्झकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहारोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुल्लीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीतिलबदरकुलत्थमाषाणामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्, तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत्। तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं ज्वरतिमभ्यञ्ज्यात्, तथा शीतज्वरः प्रशाम्यति; एतैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च शृतं सुखोष्णं सलिलमवगाहनार्थं परिषेकार्थं च प्रयुञ्जीत शीतज्वरप्रशमार्थम्॥२६७॥

इत्यगुर्वाद्यं तैलम्।

Scanned by CamScanner

अगुर्वादि तैल–अब इसके बाद उष्णाभिप्रायी (वह रोगी जिसे उष्ण आहार-विहार सेवन की इच्छा हो) आतुर के अभ्यङ्गादि उपक्रमों का उपदेश करेंगे–

द्रव्य (क्वाथ्य)–अगरु, कुष्ठ, तगर, पत्र (तेजपत्र), नलद (जटामांसी), शैलेय, ध्यामक (गन्धतृण), हरेणु, स्थौणेय (ग्रन्थिपर्ण-गंगाधर), क्षेमक (हरिद्रा-गंगाधर), एला (बड़ी इलायची), वरांगदल (प्रियंगु पत्र), पुर (गुग्गुलु), तमाल (तमाल पत्र), भूतीक (यवानी), रोहिष (कर्तृण भेद), सरल (चीड़), शल्लकी, देवदारु, अग्निमन्थ, बिल्व, श्योनाक, काश्मर्य (गम्भारी), पाटला, पुनर्नवा, वृश्चीर (श्वेतपुनर्नवा) कण्टकारी (छोटी कटेरी), बृहती (वनभण्टा), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी (वन उड़द), मुद्गपर्णी (वनमूंग), गोक्षुरक (गोखरू), एरण्ड (रेड़ी या अण्डी), शोभाञ्जन (शिग्रु अथवा सहिजन), वरुण, अर्क (मदार), चिरबिल्व, तिल्वक (लोध्र), शटी, पुष्करमूल, गण्डीर, (दूर्वा), उरुबूक (रक्तएरण्ड), पत्तूर, अक्षीव (रञ्जन वृक्ष), अश्मन्तक (लोहचूर), शिग्रु (लाल सहिजन), मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू), पीलु, मूलकपर्णी (गुग्गुलु-चक्रपाणि), तिलपर्णी (हुरहुर), पीलुपर्णी, मेषशृंगी, हिंस्रा, दन्तसठ, ऐरावतक, भल्लातक, आस्फोत, काण्डीर, आत्मजा (आत्मगुप्ता-गंगाधर), एकैषिका (अम्बष्ठा-चक्रपाणि), करञ्ज, धान्यक (धनियाँ), अजमोदा, पृथ्विका (छोटी इलायची), सुमुख, (पर्णास), सुरसा, (पर्णास भेद), कुठेरक, कालमालक, पर्णास, क्षवक (नकछींकनी), फणिज्झक, भूतृण, शृंगबेर, पिप्पली, सर्षप (सरसो), अश्वगंधा, रास्ना, रुहा, रोहा, वचा, बला, अतिबला, गुडूची (गुड़बेल, अमृता), शतपुष्पा (सौंफ), शीतवल्ली, नाकुली (रास्ना भेद-गंगाधर), श्वेता (श्वेत अपराजिता), ज्योतिष्मती (मालकांगनी), चित्रक, अध्यण्ड (शूक शिम्बी), अम्लचाङ्गेरी, तिल, बदर (बेर), कुलत्थी तथा माष (उड़द)। इन द्रव्यों को अथवा रोगभिषग्जितीय अध्यायोक्त अन्य उष्ण वीर्य द्रव्यों में जितना मिल सके उन्हें लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें, इस क्वाथ में उपर्युक्त औषधियों के कल्क को डालकर तथा सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, दधिमण्ड, आरनाल (काञ्जी) व कट्वर डालकर १ पात्र (१ आढ़क) तैल सिद्ध करें । अर्थात् क्वाथ+कल्क+स्नेह (तैल-१ पात्र=१ आढ़क)+सुरा, सौवीरादि एक में मिलाकर स्नेहपाक करें । इस अगुर्वादि तैल को हलका गरम करके जिस रोगी को उष्ण पदार्थों की इच्छा हो, अभ्यङ्ग करावें ! इस तैल के अभ्यङ्ग करने से शीतजन्य ज्वर की शान्ति होती है । इन्हीं औषधियों को श्लक्ष्ण पीसकर सुखोष्ण लेप लगावें । इन्हीं औषधियों से पक्व उष्ण जल (सुखोष्ण जल) का प्रयोग अवगाहन एवं परिषेक हेतु करना चाहिए । इसके प्रयोग से शीतजन्य ज्वर का प्रशमन होता है ।- **इति अगुर्वादि तैलम् ।**

चक्रपाणि–अगुर्वादि द्रव्यों में वर्णित क्षेमक से चोरक अर्थ लिया गया है । रोहिष:-रामकर्पूर नाम से प्रसिद्ध द्रव्य । शिग्रु: शोभाञ्जन भेद (शिग्रु का एक भेद) । मूलकपर्णी=गुग्गुलु । तिलपर्णी=हुरहुर । पीलूपर्णी=मोरट, कुछ आचार्य इससे मूर्वा का ग्रहण करते हैं । गण्डीर:=शमठ का एक भेद है । गण्डीर के स्थलज एवं जलज दो भेद होते हैं । आत्मजा=पुत्रञ्जीव । एकैषिका=अम्बष्ठा । सुमुखादय:=सुमुख आदि पर्णास के भेद हैं । रुहा=वृक्षरुहा । रोहा=अञ्जलिकारिका । शीतपर्णी=वृक्षकलम्बुका । नाकुली=चविका । गन्धनाकुली=रास्ना भेद । अध्यण्डा=शूकशिम्बी ।

अन्येषा चेत्यनेन–इससे रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ. ८) में वर्णित उष्ण द्रव्यों का ग्रहण किया गया है । अर्थात् जिन द्रव्यों का उल्लेख यहाँ किया गया है, कोई आवश्यक नहीं है कि सभी द्रव्य प्राप्त हो जाय । अत: जो प्राप्त हो सके उन्हीं द्रव्यों को लेकर क्वाथ बनावें । सौवीर एवं तुषोदक का विवेचन त्रिवृत् कल्प (क.अ. ७) में किया जायेगा । मैरेय-सुरा द्वारा निर्मित सुरा है । मेदक को जगल भी कहा गया है ।

कट्वरं सस्नेहदधिद्रव:–स्नेहयुक्त दही के द्रव भाग को कट्वर कहते हैं । पात्र=१ आढ़क । यहाँ क्वाथ आदि प्रत्येक द्रव पदार्थों की मात्रा स्नेह के बराबर ग्रहण करनी चाहिए । अर्थात् क्वाथ-१ आढ़क, स्नेह-१ आढ़क, अन्य द्रव पदार्थों में सुरा, सौवीर तुषोदक आदि प्रत्येक का मान-१ आढ़क ग्रहण करें । कहा भी गया है, यथा-**"पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ । तत्र स्नेहसमान्याहु:"** इति [यदि स्नेह पाक हेतु द्रव पदार्थों की संख्या पाँच या पाँच से अधिक है तब प्रत्येक द्रव पदार्थ का मान स्नेह के बराबर ग्रहण करना चाहिए ।]

जल्पकल्पतरु टीका–अगरु=काला अगर । नलद=उशीर । पत्र=तेजपत्र । क्षेमक=हरिद्रा । एला=छोटी इलायची । वराङ्गदल=प्रियङ्गु पत्र । पुरो=गुग्गुलु । शल्लकी=शिलारस । वृश्चीर=श्वेत पुनर्नवा । तिल्वक=लोध्र । गण्डीर=दूर्वा । उरुबूक=लाल अण्डी (एरण्ड) की जड़ । मूषकपर्णी=दन्ती । काण्डीर=श्वेत दूर्वा । कुठेरक=श्वेत पर्णास । पर्णास=कृष्ण पर्णास । श्वेता=श्वेत अपराजिता । सौवीर=काञ्जी भेद ।

भवन्ति चात्र–

त्रयोदशविध: स्वेद: स्वेदाध्याये निदर्शित: । मात्राकालविदा युक्त: स च शीतज्वरापह: ।।२६८।।
सा तु टी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं ज्वरम् । शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा घना: ।।२६९।।
चारूपचितगात्र्यश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा । आश्लेपाच्छमपन्त्याशु प्रमदा: शिशिरज्वरम् ।।२७०।।
स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च । शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात् ।।२७१।।

Scanned by CamScanner

ज्वर में स्वदेन का विधान–च.सू.अ. १३ (स्वेदाध्याय) में १३ प्रकार के साग्नि स्वेदों का उल्लेख किया गया है, मात्रा एवं काल के ज्ञाता चिकित्सक को शीतजन्य ज्वर की शान्ति हेतु उनका युक्ति पूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

स्वेदाध्याय में वर्णित कुटीस्वेद, आच्छादन, उष्ण विस्तर तथा अगरु का घना धूप शीतजन्य ज्वर का शामक होता है।

ऐसी उपचित गात्रों वाली तरुणी, जिसमें यौवन की उष्णता हो, प्रमदा (जिसमें यौवन का मद हो) के आलिङ्गन करने से शीत ज्वर शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है। स्वेदोत्पादक अन्न-पान तथा वातकफनाशक अन्न-पान का संसर्गः बल के अनुरूप योजना करने से शीतजन्य ज्वर शीघ्र ही शान्त हो जाता है।

चक्रपाणि–स्वेदाध्याय (च.सू.अ. १३) में १३ प्रकार के स्वेद का प्रतिपादन हुआ ही है, अतः यहाँ इस संख्या को पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन यहाँ पुनः कहा जाना १३ प्रकार के साग्नि स्वेदों की विशेष उपयोगिता को दर्शाता है। अथवा अनाग्नि स्वेद के निषेधार्थ इस शब्द का प्रयोग किया गया है। सू.अ. १३ में साग्नि स्वेद की १३ विधियों के ही अन्तर्गत कुटीस्वेद की भी गणना की गयी है, लेकिन विशेष उपयोगी होने से यहाँ उसका पुनः अभिधान किया गया है। अर्थात् शीतजन्य ज्वर में कुटीस्वेद विशेष उपयोगी है।

तच्च शयनमिति कुटीपरिकरतया प्रतिपादितं शयनम्–उस पर शयन, अर्थात् कुटीस्वेद के अनुचरों (नौकर-चाकर) द्वारा प्रतिपादित शयन विधान के अनुसार शयन करना। उसी प्रकार आच्छादन का भी अर्थ ग्रहण करना चाहिए। दोनों का यहाँ पृथक्शः प्रतिपादन किया गया है, अतः दोनों अलग-अलग उपयोगी होते हैं। घना इति=बहला (गाढ़ा), अर्थात् अगरु से उत्पन्न घने (गाढ़े) धूप का प्रयोग।

स्वेदनानि उष्णानि कुक्कुटमदिराकुलत्थादीनि–उष्ण स्वेदजनक द्रव्यों से यहाँ कुक्कुट, मदिरा, कुलथी आदि का ग्रहण किया गया है।

'संसर्गबलयोजनात्' से यहाँ बाद में वर्णित उष्माभिप्राय ज्वर के उत्पादक कारण (वातकफ) के संसर्ग को संसर्ग शब्द से ग्रहण किया गया है। इस प्रकार वातकफ के संसर्ग में जब वात बली होता है तब गुरु, उष्ण, स्निग्ध प्रधान अन्न-पान का सेवन कराया जाता है। जब कफ बली होता है तब लघु, उष्ण एवं रूक्ष अन्न-पान का प्रायः उपयोग किया जाता है। यहाँ वातकफज ज्वर में वायु के योगवाही होने से शीत (Coldness) की प्रतीति होती है। यद्यपि वात एवं कफज ज्वर भी शीताभिप्रायी होता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥२६८-२७१॥

वातजे श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे ज्वरे। लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत्॥२७२॥
विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद्गत्वा रसं नृणाम्। ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः॥२७३॥
यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि। न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः॥२७४॥
पक्तिस्थानात्तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम्। न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात् पचति वा लघु॥२७५॥
अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः। सप्ताहेन हि पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः॥२७६॥
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि। उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः॥२७७॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः। एतस्मात्कारणाद्विद्वान् वातिकेऽप्यादितो ज्वरे॥२७८॥
नाति गुर्वीति वा स्निग्धं भोजयेत् सहसा नरम्। ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम्॥२७९॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान्। पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम्॥२८०॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात् सर्वशश्चाप्युपक्रमम्। श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णः कफाधिकः॥२८१॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम्। तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना॥२८२॥
आदश्चमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत्।

ज्वर में लङ्घन का निषेध–निम्नलिखित हेतुओं से उत्पन्न ज्वर में लङ्घन का प्रयोग हितकर नहीं होता। इन ज्वरों को चिकित्सा द्वारा प्रशमित करना चाहिए।

१. वातजन्य ज्वर
२. श्रम से उत्पन्न ज्वर (अत्यधिक परिश्रम से उत्पन्न ज्वर)
३. जीर्णज्वर
४. क्षतज ज्वर

ज्वर में अग्निमांद्य–प्रकुपित दोष आमाशय की ऊष्मा को बाहर निकालकर रस धातु के आश्रित हो जाते हैं, जिससे ज्वर उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण से ज्वर में अग्निमांद्यता उत्पन्न हो जाती है।

अग्निमांद्य की उत्पत्ति में दृष्टान्त–जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि इन्धन से युक्त होते हुए भी, बाह्य हवा (बाहरी हवा) के द्वारा प्रेरित होने से पात्र में रखे हुए जल एवं तण्डुल का पाक नहीं कर पाती। अर्थात् हवा के वेग के कारण अग्नि की ज्वाला पात्र के इधर-उधर बिखर जाती है जिससे पात्र का चावल नहीं पकता। उसी प्रकार दोषों द्वारा पक्तिस्थान (जाठराग्नि) की ऊष्मा रस धातु में प्रक्षिप्त हो जाने

Scanned by CamScanner

के कारण व्यक्ति द्वारा गृहीत लघु आहार भी जाठराग्नि द्वारा कठिनता के साथ पचाया जाता है। इसलिये अग्निबल की रक्षा हेतु लङ्घनादि उपक्रम (चिकित्सा) हितकारी होता है।

निराम ज्वर–सातों धातुओं में प्रविष्ट दोषों का पाचन सात दिन में हो जाता है। अतः प्रायः आठवें दिन रहने वाले ज्वर को निराम ज्वर कहते हैं।

गुरु अन्न का निषेध–जिस ज्वर रोगी में दोष अत्यधिक बढ़े हुए हों अर्थात् ज्वर का वेग तीव्र हो, जाठराग्नि मन्द हो, ऐसा व्यक्ति जब विशेष रूप से गुरु अन्न का प्रयोग करता है तब वह अचानक अपनी जीवन लीला समाप्त करता है, अथवा ज्वर से चिरकाल तक कष्ट पाता है।

इन्हीं कारणों से बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वातिक ज्वर के प्रारम्भ में अचानक रोगी को अतिगुरु एवं अतिस्निग्ध भोजन न दे।

वातज्वर में अभ्यङ्गादि का प्रयोग–सामान्यतया वातिक ज्वर में प्रारम्भ के चिकित्सा क्रम का विचार न करते हुए अनुबन्ध रहित अवस्था में अभ्यङ्ग आदि उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

जीर्ण वातिक ज्वर में कर्तव्य–जीर्ण वातज्वर में कषायपान के बाद भोजन के रूप में मांसरस के साथ भात का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार जीर्णज्वर नाशक सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

कफ प्रकृति वाले पुरुषों के कफज ज्वर में कर्तव्य–जो पुरुष कफ प्रकृति वाले हैं तथा जो वात व पित्त दोषों के अनुबन्ध से रहित हैं; कफज ज्वर हो, अग्नि मृदु हो। ऐसे पुरुषों में दोषों का पाक सात दिन में नहीं होता। इस प्रकार के मृदु अग्नि वाले पुरुषों में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार लङ्घन, अल्प भोजन आदि उपक्रमों का प्रयोग दस दिन तक करने के बाद कषायादि का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–वातजादि ज्वरों में पूर्व में लङ्घन का निषेध करते हुए उनकी विशेष चिकित्सा को 'वातज इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

शमनैरिति–कषाय (क्वाथ), घृतपान आदि के द्वारा दोषों को प्रशमित करना। ॥२७२-२८२॥

सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ।।२८३।।
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति ।

ज्वर की आमता में लङ्घन का निर्देश–सामज्वर, कफज्वर तथा कफपित्त ज्वर व जिनमें लङ्घन प्रशस्त है, ऐसे ज्वरों में लङ्घन का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–यहाँ वातजादि ज्वरों की आमावस्था में लङ्घन का निर्देश किया गया है तथा कफज एवं कफपित्तज ज्वर में दोनों अवस्थाओं (साम व निराम) में ही लंघन कराया जा सकता है। इसका स्पष्टीकरण यहाँ 'सामा' इत्यादि के द्वारा किया गया है।

सामा इत्यनेन–वातिक ज्वर में भी आम (साम) की अवस्था में लङ्घन बताया गया है। अन्य स्थानों पर बताया भी गया है, यथा-"सामे वातेऽपि लङ्घनम्" [साम की अवस्था में वातज्वर में भी लङ्घन कराना चाहिए।] जबकि कफज ज्वर में निराम अवस्था में भी लङ्घन उपयोगी है। 'कफपित्तज' शब्द से यहाँ कफ युक्त पित्तज ज्वर ही लंघन का विषय है न कि मात्र निराम पित्त से उत्पन्न ज्वर में। सामपित्त की अवस्था में आम क्षयार्थ लङ्घन प्रशस्त है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-**"सामे पित्तेऽपि लङ्घनम्। कुर्यादेवामपक्त्यर्थं"** इति [पित्त की सामावस्था में आम पाचन हेतु लङ्घन का प्रयोग कराना चाहिए।] जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-**"कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्" इति,** [कफ व पित्त द्रव धातुएं हैं, ये अत्यधिक लङ्घन सह सकती हैं।] उसमें भी साम की अवस्था में पित्त के द्रव अंश की वृद्धि की तुलना में क्षीण द्रवांश वाले पित्त में लङ्घन नहीं कराना चाहिए।

'लङ्घनीयोक्तमिति' इस शब्द से लंघनबृंहणीय अध्याय में १० प्रकार के लंघन के भेद बताये गये हैं। उनमें व्यायाम आदि का निषेध सभी प्रकार के ज्वरों में तथा वमन आदि का ज्वर की कुछ अवस्थाओं में पूर्णतः निषेध है। इनको (व्यायाम व वमन को) छोड़कर शेष लंघन उपक्रमों का प्रयोग ज्वर में यथावश्यक कराया जा सकता है। ॥२८३॥

वमनैश्च विरेकैश्च बस्तिभिश्च यथाक्रमम् ।।२८४।।
ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान् ।

ज्वर में संशोधन चिकित्सा–कफ, पित्त एवं वात जन्य ज्वरों की चिकित्सा बुद्धिमान चिकित्सक को क्रमशः वमन, विरेचन एवं बस्ति द्वारा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–पूर्व में 'वमनैरित्' शब्द का प्रयोग किया गया है। वह सूत्र संसृष्ट दोषों से उत्पन्न ज्वर जिसमें कफ की प्रधानता हो, के लिए आया है। यहाँ एक दोषों से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा का निर्देश है। इसलिये यह कथन पुनरुक्त नहीं है। ॥२८४॥

Scanned by CamScanner

संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ।।२८५।।
ज्वरान् दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् । वर्धनैनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य च ।।२८६।।
कफस्थानानुपूर्व्या वा सन्निपातज्वरं जयेत् ।

संसृष्ट एवं सन्निपात ज्वर का चिकित्सासूत्र–संसृष्ट (संसर्ग) एवं सन्निपात ज्वरों में दोषों की तर, तम एवं सम अवस्था को जानकर दोषक्रमापेक्षी चिकित्सक उन-उन अवस्थाओं (तर, तम एवं सम अवस्थाओं) में निर्दिष्ट औषधियों द्वारा चिकित्सा करे।

एक दोष की वृद्धि करके अर्थात् घटे हुए दोष को बढ़ाकर तथा बढ़े हुए दोषों को घटाकर (कम करके) अथवा कफस्थान का ही प्रथम विचार करते हुए सन्निपातज्वर की चिकित्सा करनी चाहिए। ।।२८५-२८६।।

चक्रपाणि–'संसृष्टानित्यादि' के द्वारा संसर्ग एवं सन्निपात ज्वर के चिकित्सासूत्र को बताया गया है।

तरतमैः समैरिति–संसर्ग में एक दोष वृद्ध रहता है दूसरा वृद्धतर रहता है।

सन्निपाते च वृद्धतरवृद्धतमदोषारब्धे दोषानुसारेणैव;–सन्निपात की अवस्था में अपने पृथक्-पृथक् हेतुओं द्वारा तीनों दोष दूषित हो जाते है। आनुपातिक दृष्टि से उनमें से एक अथवा दो ज्यादा वृद्ध हो जाते हैं। अर्थात् एक दो की तुलना में ज्यादा बढ़ जाता है या एक की तुलना में दो दोष ज्यादा बढ़ जाते हैं। अतः सन्निपात में दो दोषों की वृद्धि होने से 'तर' शब्द का प्रयोग किया गया है। वृद्ध, वृद्धतर, वृद्धतम की अवस्था में तीनों वृद्ध दोषों में से एक दोष का सबसे अधिक बढ़ जाना 'वृद्धतम' या 'तम' की अवस्था है। इस प्रकार 'त्रिषु तमः' तीन के लिए तम का प्रयोग करते हैं, अर्थात् ऐसा कहते हैं। उनके अनुसार तीन के बीच में एक का अत्यन्त बढ़ जाना निश्चय होता है। जब तीन में दो बढ़े हुए दिखाई देते हैं तब एक प्रकृष्ट की दृष्टि से दो के लिए 'तर' का प्रयोग होता है।

समैस्तु समदोषारब्धसंसर्गः सन्निपातश्च ज्ञेयः–दो दोषों की सम मात्रा में प्रकोप संसर्ग तथा तीनों दोषों का सम मात्रा में प्रकोप समसन्निपात कहा जाता है।

दोषक्रमापेक्षीति–'दोषापेक्षीत्यनेन' से तीनों दोषों में विद्यमान संपूर्ण अंशों के वृद्ध, वृद्धतर आदि वैशिष्ट्य से चिकित्सा भी विशिष्ट होती है। अर्थात् चिकित्सा हेतु दोषों के अंशांश विकल्प का विशेष महत्व है। 'क्रमापेक्षीति' से ज्वरी की चिकित्सा में वर्णित लङ्घनादि क्रम की अपेक्षा रहती है, दर्शाया गया है।

यथोक्तैरौषधैरिति–निर्दिष्ट औषधियों के द्वारा, लंघनादि से प्रारम्भ करके अञ्जन पर्यन्त जिन औषधियों का उल्लेख ज्वर चिकित्सा में किया गया है, उनके प्रयोग द्वारा।

ननु त्रिदोषजे ज्वरे चिकित्सा नोपपद्यते–त्रिदोषज ज्वर में चिकित्सा क्रियान्वित नहीं होती अथवा त्रिदोषज ज्वर की चिकित्सा नही होती, यह आशङ्का है। क्योंकि त्रिदोषशामक द्रव्य प्रायः नहीं होते हैं, जो वात दोष के लिए पथ्य है वह कफ दोष के लिए अपथ्य होता है, जो द्रव्य पित्त के लिए हितकर है, प्रायः वह कफ के लिए अहितकर होता है। उसी प्रकार तिक्त व कषाय रस कफपित्तहर होते हुए वातवर्धक होता है, मधुर रस वातपित्त शामक होते हुए कफवर्धक होता है। जो द्रव्य त्रिदोषहर हैं यथा-आमलकी आदि, वे अल्प मात्रा में नियत रोग के लिए ही उपयोगी होते हैं। ज्वर में कोई आवश्यक नहीं है कि उपयोगी हों।

सन्निपात की अवस्था तो अत्यन्त आत्ययिक अवस्था है। अतः इसमें क्या चिकित्सा करनी चाहिए, इसका विवेचन 'वर्धनेनेत्यादि' के द्वारा यहाँ किया गया है।

"द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्यादिकैश्च षट्" (सू.अ. १७) के द्वारा सन्निपात को पच्चीस प्रकार का बताया गया है। वहाँ मेरे (चक्रपाणि के) मत से क्षीण दोषों से उत्पन्न १२ प्रकार के सन्निपात ज्वर उत्पादक (ज्वरारम्भक) नहीं होते। अपने लक्षणों से क्षीण दोष अधिक रूप में ज्वर को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। शेष १३ प्रकार के सन्निपातों में त्रिदोषहर द्रव्यों के अभाव से योग्य दोषों का विचार करते हुए चिकित्सा बतलायी गयी है, ऐसा इसलिए किया गया है कि इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है। अर्थात् कोई अन्य उपाय नहीं है। [For these types of Sannipāta jvara, No doubt, there is a shortage of drugs. But there is no other way to treat such patients at least by reducing the excessively aggravated doṣas even if it means aggravation of other doṣas-Dr. Bhagvan das]

तत्र वर्धनेनैकदोषस्येति–एक दोष की वृद्धि करके, यहाँ एक दोष की वृद्धि से दो (संसर्ग के अर्थ में) या तीन (सन्निपात के अर्थ में) दोषों की वृद्धि लिया गया है न कि दो के बीच में एक का बढ़ना अथवा सबमें एक का बढ़ जाना। बढ़े हुए दोषों के प्रतिकार हेतु दोषवर्धक उपक्रम करने पर दोषों के अत्यधिक बढ़ जाने से अत्यधिक हानि होने की संभावना होती है। अर्थात् बढ़े हुए दोषों को और अधिक बढ़ाने पर अहित ही होता है। 'वर्धनेनैकदोषस्य' से यहाँ वृद्धतर एवं वृद्धतम् दोषों में एक दोष की कमी (क्षय करना) तथा एक दोष को बढ़ाना

Scanned by CamScanner

अर्थ लिया गया है, यथा-वृद्ध-कफ, वात-पित्त-वृद्धतर, इस अवस्था में मधुररस का प्रयोग। इस प्रकार वातपित्त दो की वृद्धि में मधुररस प्रशमक होने से तथा क्षीण कफ (वृद्ध-अल्प वृद्ध कफ को वृद्धतर की तुलना में वृद्ध कहा गया है) को बढ़ाता है। इस प्रकार यहाँ मधुर रस प्रबलदोषों का प्रशमक होने से ज्वर का प्रशमन करता है। उसी प्रकार वृद्ध कफ एव वृद्धतर पित्त की अवस्था में मधुररस युक्त द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी समझना चाहिए। **अतश्च वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन**-'एक दोष की वृद्धि के द्वारा' से तीन दोषों में दो की प्रधानता तथा एक दोष की कमी, एक मध्य तथा एक के वृद्धि जन्य सन्निपात की चिकित्सा यहाँ बतायी गई है।

क्षपणेनैकदोषस्येत्यनेन च क्षीणद्वयसंवर्धकमपि यन्महात्ययवृद्धतरवृद्धतमदोषक्षयकरं भवति तद्भेषजं कर्तव्यम्-'एक दोष की कमी करके' से क्षीण हुए दो दोषों को बढ़ाते हुए भी जो महात्ययकारक वृद्धतर एवं वृद्धतम दोषों का क्षय करे उसी भेषज का प्रयोग करना चाहिए, स्पष्ट किया गया है। वृद्धतम दोषों का प्रतिकार न होने से, वह रोगी को शीघ्र ही नष्ट कर देता है, फिर भी यहाँ उसकी चिकित्सा का निर्देश किया गया है। इसका अभिप्राय क्षीण हुए दो दोषों को बढ़ाकर अल्प आत्ययिक व्याधियों की चिकित्सा हेतु यह सूत्र निर्दिष्ट है, से है। इसी प्रकार एकोल्बणसन्निपातज्वर की भी चिकित्सा करनी चाहिए। इसी विषय को तन्त्रान्तर में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा-**''न्यूनैकदोषसंवृद्धिरेवं वृद्धजयोऽपि वा। सन्निपाते तु कर्तव्यः सन्निपातवशेन तु''** इति, [क्षीण दोष को बढ़ा करके अथवा बढ़े हुए दोष को प्रशमित (क्षीण) करके सन्निपात को जीतना चाहिए, यही उपक्रम सन्निपात ज्वर में हितकर है।] अब अवशेष रूप में 'समसन्निपात' की चिकित्सा का अभिधान 'कफस्थानानुपूर्व्या वेति' के द्वारा किया गया है। 'वा' शब्द व्यवस्थित विकल्पवाची है जिसका अभिप्राय अथवा से है।

कफस्य स्थानं कफस्थानम्-कफदोष के स्थान को कफस्थान कहा गया है। जिसका अभिप्राय आमाशय के ऊर्ध्व भाग (Stomach) से है, आनुपूर्वी=अनुक्रम। **तेन कफस्थानुपूर्व्या जयेदिति**-कफस्थान को पहले जितना चाहिए, यहाँ स्थान से स्थान में विद्यमान कफदोष का ग्रहण किया गया है। अर्थात् कफदोष की चिकित्सा पहले करनी चाहिए। यहाँ साक्षात् कफ के प्रशमन का निर्देश नहीं दिया गया है। लेकिन कफ के स्थान आमाशय में ही ज्वरारम्भक दोषों की दुष्टि के कारण पहले उसकी चिकित्सा का निर्देश है। अभिप्राय यह है कि आमाशयस्थ दोष कफ ही सर्वप्रथम दूषित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है। कहा भी गया है, यथा-**''ज्वरो ह्यामाशयसमुत्थः''** (वि.अ. ३) इति [ज्वर आमाशय समुत्थ व्याधि है।] इसी प्रकार यदि दोष सम स्थिति में होते हुए भी ज्वरारम्भक होते हैं, यदि वे आमाशय को दूषित करते हैं। इसलिये सर्वप्रथम स्थान के अनुरूप ही ज्वर की चिकित्सा करनी चाहिए।

स्थानिदोषापेक्षया हि स्थानमेव प्रथमं चिकित्स्यम्-स्थानीय दोष की तुलना में स्थान की चिकित्सा पहले होनी चाहिए। कहा भी गया है, यथा-''स्थानं जयद्धि पूर्वम्'' [सर्वप्रथम स्थान की चिकित्सा करें।] **कफस्य स्थानं कफस्थानम्**-कफ दोष के स्थान को कफस्थान कहा गया है। उस कफस्थान की चिकित्सा का ही प्रतिपादन-लंघन, पाचन आदि के द्वारा ज्वरचिकित्सा के प्रारम्भ में किया गया है। अर्थात् ज्वरचिकित्सा में लंघन, पाचन आदि क्रिया का उपदेश कफस्थान की चिकित्सा के लिए ही बताया गया है। यद्यपि कि यह सभी ज्वरों की सामान्य चिकित्सा है। फिर भी सन्निपातज्वर में बलवत्तर वात दोष की चिकित्सा पहले हो, इसके बाद अन्य दोषों की, इसके निराकरणार्थ 'समसन्निपात' की चिकित्सा का विवेचन किया गया है। अभिप्राय यह है कि इस प्रकरण (सन्निपातज्वर प्रकरण) में सर्वप्रथम कफ की चिकित्सा करनी चाहिए।

ज्वर को छोड़कर अन्य स्थानों पर समसन्निपात की अवस्था में सर्वप्रथम वात की चिकित्सा करने का आदेश है। कहा भी गया है, यथा-**''वातस्यानुजयेत् पित्तं, पित्तस्यानुजयेत् कफम्''** [सर्वप्रथम वात की चिकित्सा करें, पश्चात् पित्त की, अन्त में कफ दोष को प्रशमित करें।] सर्वप्रथम कफस्थान की चिकित्सा करते समय जो दोष प्रधान होता है उसकी चिकित्सा-''वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा'' सूत्र से करनी चाहिए। इसी का अनुमोदन **भेलसंहिताकार** ने भी किया है, यथा-**''सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफामहम्। पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ''** इति [सन्निपातज्वर में सर्वप्रथम आम व कफ नाशक चिकित्सा करें, पश्चात् कफ के क्षय (क्षीण) होने पर पित्त व वायु को प्रशमित करना चाहिए।] अन्ये कफस्थानमामाशयरूपं स्थानं यस्य तत् कफस्थानं पित्तमिति पश्चात्पदलोपादुष्ट्रमुखवद्बहुव्रीहिं वदन्ति, ततश्च पित्तानुपूर्व्या जयेदित्यर्थः-अन्य आचार्य कफस्थान से आमाशय रूप स्थान है जिसका अर्थात् 'पित्त' यह अर्थ करते हैं। यहाँ पश्चात् पद लोप (लुप्त) होने से उष्ट्रमुखवत् बहुव्रीहि समास है। इस आधार पर पित्त की चिकित्सा पहले करनी चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करते हैं। आचार्य सुश्रुत का भी यही अभिमत है, यथा-**''शमयेत् पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु। दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः''** (सु.चि.अ. ३९) इति [सन्निपातज्वर की चिकित्सा के प्रारम्भ में पित्तदोष का प्रशमन सर्वप्रथम करें। यद्यपि कि पित्तदोष का प्रशमन ज्वर में अत्यन्त कठिन है] ऐसा नहीं है, इसे ही स्पष्ट करने के लिए आचार्य को 'पित्तानुपूर्व्या' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् कफस्थान से पित्त का ग्रहण करना उचित नहीं है। सु.चि.अ. ३९ का सूत्र जीर्णत्रिदोषज व्याधियों के लिए है, ऐसा जानना चाहिए। अतः 'कफस्थानानुपूर्व्या' सूत्र प्रथमोत्पन्न (प्रथम उत्पन्न) सन्निपातज्वर का चिकित्सासूत्र है। जो लोग 'कफश्च स्थानं चेति' से कफ व कफस्थान दोनों का अर्थ लेते हैं उनके अनुसार कफ व आमाशय दोनों ही ज्वर का स्थान है, (द्वन्द्व समास)। इस आधार पर ज्वरस्थान की चिकित्सा

Scanned by CamScanner

पहले करनी चाहिए। यहाँ षष्ठी तत्पुरुष होते हुए भी स्थान रूप आमाशय की स्थानिक दोष कफ की तुलना में चिकित्सा पहले की जाती है, इससे यहाँ अर्थ विरोध नहीं उत्पन्न होता। यद्यपि यहाँ सन्निपात की चिकित्सा में एक दोष को बढ़ाना आदि बताया गया है, वह विशुद्ध नहीं है। अर्थात् एक दोष वर्धन रूपी सन्निपातज्वर की चिकित्सा विशुद्ध नहीं है। कहा भी गया है, यथा-**''प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्''** (नि.अ. ८) इति [जिस चिकित्सा के प्रयोग द्वारा एक व्याधि का प्रशमन हो तथा दूसरी व्याधि उत्पन्न हो जाय, वह चिकित्सा शुद्ध नहीं कही जाती है। शुद्ध चिकित्सा उसे कहते हैं जिसके द्वारा व्याधि का प्रशमन होता है तथा उसके द्वारा कोई दूसरी व्याधि नहीं उत्पन्न होती।] फिर भी सन्निपात की चिकित्सा में कोई विकल्प न होने से अल्प दोष युक्त होते हुए भी बहुगुण (उपयोगी) होने से यह चिकित्सा किया ही जाता है, यह जानना चाहिए।

दूसरे आचार्य वर्धन का प्रयोग च्छेदन (Cutt) अर्थ में करते हैं। वर्धन शब्द से यहाँ मूल को नष्ट करने वाली (मूलच्छेदकारक) संशोधन चिकित्सा का ग्रहण करते हैं। एक शब्द से- एक साथ वातादि दोषों में बस्त्यादि संशोधन नहीं कराना चाहिए, यह अभिप्राय है, अपितु एक प्रयोग के बाद दूसरे प्रयोग को करना चाहिए। [The elemination therapies had do be adimistered one after the other for which the term 'EKA' is mentioned. -Dr. Bhagvan das]

क्षपणेनोच्छ्रितस्य इति-इस सूत्र से संशोधन विषय में भी संशमन चिकित्सा का अभिधान किया गया है। अर्थात् यदि रोगी संशोधन योग्य नहीं है तब संशमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। शेष की व्याख्या पूर्ववत् है। इस प्रकार इस श्लोक के द्वारा १३ प्रकार के सन्निपातज ज्वर की चिकित्सा को बताया गया है। क्षीण, वृद्ध दोषों के विकल्प से उत्पन्न होने वाले ६ प्रकार के सन्निपात ज्वरों में न केवल दो दोषों की वृद्धि अथवा एक दोष की वृद्धि की चिकित्सा करनी है, अपितु अपने मान से क्षीण एवं वृद्ध दोषों की भी चिकित्सा की जाती है। क्योंकि अपने मान से क्षीण दोषों द्वारा १२ प्रकार के सन्निपातज्वर उत्पन्न होते हैं तथा ये क्षीण दोष ज्वरारम्भक तो होते ही हैं। ॥२८५-२८६॥

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ॥२८७॥
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते। रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ॥२८८॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः।

कर्णमूलशोथ (उपद्रवरूप)-सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में दारुण शोथ उत्पन्न हो जाता है, उसके द्वारा कुछ ही लोग बच पाते हैं। इसकी चिकित्सा शीघ्र ही रक्तावसेचन (रक्तमोक्षण), घृतपान (स्नेहपान), कफपित्त नाशक प्रदेह, नावन (नस्य) एवं कवल ग्रह द्वारा करनी चाहिए। ॥२८७-२८८॥

चक्रपाणि-सूत्रस्थान १८/२७ में कर्णमूलशोथ का उल्लेख किया गया है। यह शोथ सन्निपातज्वर के अन्त में उत्पन्न होता है। अतः सन्निपातज्वर का प्रसंग होने से इसकी चिकित्सा का वर्णन-सन्निपातेत्यादि के द्वारा यहाँ किया गया है।

कश्चिदेव प्रमुच्यते इत्यनेन-कोई-कोई व्यक्ति ही इससे मुक्त हो पाता है। इससे यहाँ इस शोथ की दारुणता को बताया गया है। कहा भी गया है, यथा-''सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः'' (सू.अ. १८) [रोहिणी जैसी और भी दारुण व्याधियाँ होती हैं जो साध्य कही जाती हैं जो रोगी की उचित चिकित्सा न करने पर अथवा मिथ्योपचार होने से मारक हो जाती हैं। **अथवा (किंवा) साध्य एवायं प्रायो भवति, कदाचिच्च कृच्छ्रसाध्य इति**-प्रायः यह साध्य ही होता है, कभी-कभी कृच्छ्रसाध्य हो जाता है। त्रिशोथीय अध्याय (सू.अ. १८) में वर्णित-''ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोफस्तस्योपजायते'' [ज्वर के अन्त में उत्पन्न होने वाला शोथ दुर्जय (अजेय) है एवं इसकी उत्पत्ति रोगी के नाश के लिए होती है। अर्थात् ज्वरान्त में उत्पन्न होने वाला कर्णमूल शोथ रोगी के लिए मारक होता है।] सूत्र से यह शोथ अनुपक्रमणीय है, यह कहा गया है। यहाँ 'कश्चिदेव प्रमुच्यत' के साथ इसका विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है, क्योंकि सू.अ. १८/२७ में भी दुर्जय एवं अन्ताय शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् यह शोथ बहुत ही कठिनता के साथ शान्त होता है अथवा रोगी को मार डालता है। इस कारण से पूर्वसूत्र का यहाँ विरोध नहीं होता। ॥२८७-२८८॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥२८९॥
शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति।

रक्तमोक्षण का प्रयोग-शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्षादि उपक्रमों के द्वारा यदि ज्वर का प्रशमन नहीं होता है तब दोष शाखानुसारी हो गया है, ऐसा जानकर उसका प्रशमन रक्तमोक्षण के द्वारा करना चाहिए।

चक्रपाणि-शाखानुसारी से यद्यपि 'रक्तादयो धातवः' (सू.अ. ११) [रक्तादि धातुओं] का ग्रहण किया गया है, फिर भी यहाँ ज्वर में विशेष रूप से रक्त की दुष्टि का ग्रहण किया गया है, क्योंकि रक्ताश्रयी दोषों में ही रक्तमोक्षण विशेष रूप से उपयोगी होता है। रक्तमोक्षण

Scanned by CamScanner

बाहु के मध्य में करना चाहिए। अर्थात् ज्वर में बाहु के मध्य की सिरा का वेध करना चाहिए। जिसके बारे में अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा-**''शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति। शाखानुसारी तस्याशु मुञ्चेद्बाह्वोः क्रमात् सिराः'' इति** शीत, उष्ण शब्द से सम्पूर्ण दोषानुरूप चिकित्सा करने पर भी यदि ज्वर का प्रशमन नहीं होता है तब इसमें रक्त की दुष्टि है, ऐसा जानना चाहिए। ॥२८९॥

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ॥२९०॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत्।

घृतपान का प्रयोग–जो ज्वर विसर्प (Erysipelas), अभिघात (injury) तथा विस्फोट (Eruptions in the body) द्वारा उत्पन्न है एवं कफपित्त की प्रबलता न हो, ऐसे ज्वर के प्रारम्भ में घृतपान का प्रयोग करना चाहिए। ॥२९०॥

चक्रपाणि–'विसर्पेणेत्यादि' के द्वारा विकार के साथ-साथ अनुबन्ध रूप ज्वर की चिकित्सा को बताया गया है। **कफोत्तरश्च पित्तोत्तरश्चेति कृत्वैकशेषात् कफपित्तोत्तरत्वं ज्ञेयं**-कफ की अधिकता या पित्त की अधिकता को ही कफपित्ताधिक्य कहा गया है। अथवा **कफ व पित्त** दोनों का संयुक्त रूप से बढ़ना 'कफपित्तोत्तर' कहा गया है। इन अवस्थाओं में घृत का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अनूर्ध्वग (अधो आमाशय-Small intestine में वृद्ध पित्त) पित्त में घृतपान कराना चाहिए ॥२९०॥

विशेष–आचार्य चक्रपाणि आमाशय के दो विभाग करते हैं-१. ऊर्ध्व आमाशय जिसे हम Stomach कह सकते हैं, इसमें वृद्ध पित्त में घृत का प्रयोग नहीं कराना चाहिए, क्योंकि यह कफ का स्थान है, यहाँ वमन ही इष्ट है। २. अधो आमाशय-इससे Stomach के नीचे का भाग-ग्रहणी से लेकर छोटी आंत्र (Small intestine) तक का ग्रहण किया जा सकता है। इसमें पित्त की वृद्धि होने पर घृतपान उपयोगी है अथवा यहाँ विरेचन प्रशस्त है।

दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥२९१॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत्।

जीर्णज्वर की चिकित्सा–रसादि धातुओं में दुर्बलता उत्पन्न होने से ज्वर अनुवर्तित होकर जीर्णज्वर में बदल जाता है। अर्थात् ज्वर ही रसादि धातुओं में अवस्थित होकर अधिक दिन तक अवस्थान करते हुए देह धातुओं (रसादि) को दुर्बल कर जीर्ण ज्वर में परिवर्तित हो जाता है। इसलिये जीर्णज्वर की चिकित्सा बल्य एवं बृंहण आहार द्रव्यों द्वारा करनी चाहिए। ॥२९१॥

चक्रपाणि–यद्यपि धातु शब्द से देह के साथ आत्मा का भी ग्रहण किया जाता है। यहाँ 'देह शब्द से 'आत्मादि' को छोड़कर रसादि में धातु शब्द प्रवृत्त होता है, अतः देहधातु से रसादि धातुओं का ग्रहण किया गया है। क्योंकि रसादि ही विशेष रूप से शरीर को धारण करते हैं।

बृंहण=धातुवर्धक या उत्पादक आहार द्रव्यों को बृंहण कहा जाता है। ॥२९१॥

कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥२९२॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे। वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः ॥२९३॥
स्निग्धोष्णैरन्नपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम्। विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च ॥२९४॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत्। वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ॥२९५॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे।

तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर का चिकित्सा सूत्र–तृतीयक एवं चतुर्थक प्रकार के विषमज्वर में साधारण (त्रिदोष शामक) चिकित्सा करनी चाहिए, क्योंकि प्रायः इसमें आगन्तु कारणों का अनुबन्ध बना रहता है।

वात प्रधान तृतीयक एवं चतुर्थक विषमज्वर को स्नेहपान (घृतपान), निरूह एवं अनुवासन बस्ति तथा स्निग्ध उष्ण अन्न-पान के द्वारा प्रशमित करना चाहिए। पित्त प्रधान विषमज्वर में विरेचन, तिक्त एवं शीत वीर्य द्रव्यों द्वारा साधित दुग्ध एवं घृतों का प्रयोग करना चाहिए। कफ प्रधान विषमज्वर में वमन, पाचन, रूक्ष अन्न-पान, लङ्घन, कषायपान (Decoctions) एवं उष्ण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। ॥२९२-२९५॥

चक्रपाणि–भूतानुबन्धि तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर की चिकित्सा को यहाँ 'कर्मेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कर्म साधारणमिति–भूतानुबन्ध एवं दोषज विषमज्वर में साधारण चिकित्सा-दैवव्यपाश्रय-बलि, होम आदि तथा युक्तिव्यपाश्रय-दोषों के अनुरूप क्वाथ आदि का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ विषमज्वर से तृतीयक व चतुर्थक ज्वर का अर्थ लिया गया है। चतुर्थक से ही चतुर्थक विपर्यय का भी ग्रहण हो जाता है।

तिक्तशीतैरनुपानैर्भेषजैश्चेति विज्ञेयम्–तिक्त व शीत अनुपान एवं तिक्त व शीत वीर्य युक्त औषधियों का प्रयोग पित्त प्रधान विषम ज्वर की चिकित्सा में करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

कषायोष्णमिति–उष्ण गुण युक्त कषाय (Decoctions) का प्रयोग कफ प्रधान विषमज्वर में करें । ॥२९२-२९५॥

योगाः पराः प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः ।।२९६।।
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ते । सुरा समण्डा पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधः ।।२९७।।
तित्तिरिश्च मयूरश्च प्रयोज्या विषमज्वरे । पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत् ।।२९८।।
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा । नीलिनीमजगन्ध्यां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ।।२९९।।
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः । सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत् पुनः ।।३००।।
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत् । सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ।।३०१।।
आस्थापनं यापनं वा कारयेद्विषमज्वरे । पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत् ।।३०२।।
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम् । पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः ।।३०३।।
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे । रसोनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम् ।।३०४।।
मेद्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम् । हिङ्गुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा ।।३०५।।
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत् ससैन्धवा । सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनः शिलाः ।।३०६।।
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे । पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ।।३०७।।
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् । ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ।।३०८।।
मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद्विषमज्वरे । मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ।।३०९।।
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।

विषमज्वर में उपयोगी द्रव्य–अब आगे विषमज्वरनाशक उत्तम योगों को बतायेंगे । चिकित्सक इन योगों का, दोषानुसार विभाजन कर प्रयोग करे ।

→ विषमज्वर में पीने के लिए मण्ड के साथ सुरा का प्रयोग एवं भोजन के रूप में चरणायुध (मुर्गा), तित्तिर (तीतर) एवं मोर के मांस का प्रयोग करना चाहिए ।
→ षट्पलघृत अथवा हरड़ का प्रयोग करना चाहिए ।
→ त्रिफला का क्वाथ अथवा गुडूची (अमृता, गिलोय) के स्वरस का प्रयोग करें ।
→ नीलिनी, अजगन्धा, त्रिवृत् एवं कटुरोहिणी (कुटकी); इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग ज्वर वेग आगमन काल में स्नेहन-स्वेदन के बाद रोगी को करना चाहिए ।
→ घृत को अधिक मात्रा में पिलाकर बाद में पुनः वमन कराना चाहिए ।
→ अथवा अन्न-पान का प्रयोग अधिक मात्रा में करके वमन करावें । [Emesis after taking large quantity of food and drink.]
→ अथवा ज्वरागमन काल में अन्न के साथ अत्यधिक मात्रा में मद्यपान कराकर रोगी को शयन करावें ।
→ अथवा आस्थापन या यापन वस्ति की योजना करें ।
→ बिल्ली के पुरीष में दूध मिलाकर ज्वरवेगागमन काल में पान करावें ।
→ वृष (बैल) के पुरीष के साथ दधिमण्ड अथवा सुरा में सैन्धव नमक डालकर प्रयोग करें ।
→ पिप्पली, त्रिफला, दही, तक्र, घृत, पञ्चगव्य तथा दूध का प्रयोग विषमज्वर के नाश हेतु करें ।
→ भोजन के पूर्व तिलतैल के साथ लहसुन (रसोन) का सेवन करना हितकारी है ।
→ मेदस्वी एवं उष्णवीर्य वाले प्राणियों के मांस का भक्षण विषज्वरनाशक होता है ।
→ व्याघ्र की वसा, सैंधव नमक एवं हींग, प्रत्येक सम मात्रा में लेकर नस्य के रूप में प्रयोग करें । अथवा सिंह की चर्बी, पुराण घृत, सैन्धवनमक एवं हींग का प्रयोग नस्य के रूप में करना चाहिए ।

विषमज्वर में अञ्जन का प्रयोग–सैन्धव नमक, पिप्पली एवं मैनशिल, को तिल तैल में श्लक्ष्ण पीस कर ज्वरवेग से पूर्व अञ्जन के रूप में लगावें । यह अञ्जन विषमज्वरनाशक होता है ।

विषमज्वर में धूप का प्रयोग–पलङ्कषा (गुग्गुलु), निम्ब पत्र (नीम की पत्ती), वचा, कूठ, हरीतकी, सरसो, यव एवं घृत; सभी द्रव्यों को आपस में मिला लें । इसे अग्नि पर डालें, इससे निकलने वाले धूएं का सेवन करें । यह धूप विषमज्वरनाशक होता है । मनोविकार (उन्माद एवं अपस्मार) प्रकरण में जिन धूप, धूम, नस्य एवं अञ्जन आदि का निर्देश किया जायेगा, उन सबका प्रयोग विषमज्वरनाशक होता है ।

Scanned by CamScanner

विषमज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा–मांगलिक मणियाँ, औषधियाँ (मांगलिक), मांगलिक विष एवं अगद के धारण करने से अथवा सेवन करने से विषमज्वर की निवृत्ति हो जाती है । ॥२९६-३०९॥

चक्रपाणि–दोषादीन् प्रविभज्येति-विषमज्वर में दोष, काल, देश एवं आतुर की प्रकृति के अनुसार जहाँ जो योग (औषधि) उपयोगी हों वहाँ वैसी चिकित्सा (औषधि) का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् वर्णित योगों का प्रयोग दोष, काल, देश एवं प्रकृति के अनुसार करना चाहिए ।

षट्पलमिति–षट्पलघृत का वर्णन गुल्मचिकित्सा में आगे किया जायेगा । नीलिनी से नीलिका अथवा नीलबुह्रा का ग्रहण किया गया है ।

नीलिनी आदि (नीलिनी, अजगन्धा, त्रिवृत् एवं कुटकी) ये विरेचन योग हैं । इसका प्रयोग विरेचन हेतु ज्वरागमन के दिन ही करना चाहिए । विरेचन कराने के कारण ज्वर का प्रशमन होता है अथवा यह योग विरेचक प्रभाव के कारण व्याधि का प्रशमन करता है ।

महती मात्रा (सर्पिषो महतीं मात्रां) से उस मात्रा का ग्रहण किया गया है जो मात्रा दिन-रात (२४ घण्टे) में पच जाय । अन्य स्थानों पर महती मात्रा से घृत की षट्पल (६ पल=२४ तोले) मात्रा का ग्रहण है । अर्थात् २४ तोले घृतपान कराकर पुनः वमन कराना चाहिए। अन्य स्थानों पर वर्णित-"अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ" से प्रारम्भ करके "अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता" तक ज्वरवेग काल से प्रारम्भ करके जो चिकित्सा बतलायी गयी है उसे यहाँ वमनादि से अतिरिक्त समझना चाहिए ।

वमनादि का प्रयोग यहाँ प्रकोप काल में प्रकुपित हुए दोषों के कोष्ठ में आने पर सद्यः निर्हणार्थ किया जाता है या करते हैं । अन्न के साथ अत्यधिक (प्रभूत) मात्रा में मद्य पिलाकर पुनः वमन कराना चाहिए तथा अन्न के साथ मद्य को पीकर उसी दिन शयन करना चाहिए ।

'यापन' से यहाँ आगे वर्णित मुस्तादियापनबस्ति का ग्रहण किया गया है । वृषदंश=विडाल (बिल्ली-Cat) 'वृषस्य' का सम्बन्ध 'शकृदि' से है । अर्थात् बैल के पुरीष (गोबर), दधिमण्ड, सुरा तथा सैन्धव नमक एक में मिलाकर पीने से विषमज्वर शान्त होता है ।

मेद्यानामिति–मेदस्वी प्राणियों के मांस का प्रयोग भक्षणार्थ बताया गया है । अथवा 'मेध्यानां' पाठ होने पर मेध्य एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए ।

वैव्याघ्रीत्यत्र पुंलिङ्गमेव प्रयोजकं वचनादुन्नीयते–'वैव्याघ्री इति' से यहाँ मादा व्याघ्र का ग्रहण न कर नर व्याघ्र की वसा की ग्रहण किया गया है, ऐसा प्रयोजन के आधार पर निश्चय होता है ।

सिंह को व्याघ्र भी कहते हैं । अर्थात् सिंह व व्याघ्र पर्यायवाची हैं । 'अञ्जु' व्यक्तिम्रक्षणगतिषु, इति पाठान्म्रक्षणमात्रेऽप्यञ्जनं स्यादित्यत आह-नेत्राञ्जनमिति-इस सूत्र से अञ्जन अर्थ लिया गया है जिसे नेत्राञ्जनमिति से स्पष्ट किया गया है ।

मनोविकारे–उन्माद व अपस्मार चिकित्सा में । मणीनां से प्रारम्भ कर धारणात् तक वाक्य पूर्ण हो जाता हैं । अर्थात्-मांगलिक का धारण करने एवं अगदों के सेवन से विषमज्वर शान्त हो जाता है । ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । ॥२९६-३०९॥

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ॥३१०॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् । विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ॥३११॥
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति । ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ॥३१२॥
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्ट्वा पूजयञ्जयति ज्वरान् । भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च ॥३१३॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च । जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ॥३१४॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च । ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ॥३१५॥
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च । विरेचनं सोपवासं मांसमेदः स्थिते हितम् ॥३१६॥
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग–उमा (पार्वती) एवं उनके अनुचरों-नन्दी आदि गणों, मातृसमूहों के साथ भगवान् शिव की सावधानी पूर्वक (पवित्र होकर) पूजा करने वाला व्यक्ति विषमज्वर से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । सहस्र मूर्धा है जिसके, अर्थात् भगवान् विष्णु, जो चराचर जगत् के स्वामी हैं, उनके हजारों नाम की स्तुति करने से, अर्थात् 'विष्णुसहस्रनाम' का जप करने से व्यक्ति सभी प्रकार के ज्वरों से मुक्त हो जाता है ।

ब्रह्मा, अश्विनीकुमारों, इन्द्र, अग्नि, हिमाचल, गङ्गा एवं मरुत् गणों की यज्ञ द्वारा उपासना करने से सभी प्रकार के ज्वर शान्त हो जाते हैं । अर्थात् यज्ञ में इन देवों की आहुति देने से पुरुष सभी प्रकार के ज्वरों (कष्टों) से मुक्त हो जाता है ।

माता, पिता एवं गुरु के आदरपूर्वक सम्मान करने से, ब्रह्मचर्य का पालन करने से, तप करने से, सत्य एवं नियम पूर्वक रहने से, जप, होम, दान, वेदों का श्रवण करने से, सज्जन पुरुषों के दर्शन से; व्यक्ति सभी प्रकार के ज्वरों (कष्टों) से शीघ्र ही छुटकारा पा जाता है ।

Scanned by CamScanner

धातुगत ज्वरों की चिकित्सा–१. रसधातु के आश्रित ज्वर में वमन एवं उपवास कराना चाहिए ।

२. रक्तधातु के आश्रित ज्वर में परिषेक (Fomentation), प्रदेह (Applications of ointment) एवं शामक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

३. मांस व मेदोगत ज्वर में विरेचन (Purgation) व उपवास (Fasting) कराना चाहिए ।

४. अस्थि व मज्जा के आश्रित ज्वर में निरूह एवं अनुवासन वस्तियों का प्रयोग हितकारी है । ॥३१०-३१६॥

चक्रपाणि–'सोममित्यादि' के द्वारा यहाँ ज्वर में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा को बताया गया है । सह उमयेति सोमः, तम्-उमा (पार्वती) के साथ अर्थात् सोम, उसको । सानुचरमिति=नन्दी आदि गणों से युक्त, नन्दी आदि गणों से युक्त उमा की । **समातृगणमिति**- मातृ समूहों के साथ (देव माताओं का समूह मातृगण कहा गया है-ब्राह्मी आदि आठ मातृगण हैं) । प्रयतः=पवित्र । **सहस्रमूर्धानमिति** 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि वेदप्रतिपादितम्-हजार सिर वाले, इसका प्रतिपादन वेदों में 'सहस्रशीर्षा' के द्वारा किया गया है । यह विष्णु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । **नामसहस्रेणेत्यादि महाभारतोक्तनामसहस्रेण**-महाभारत में वर्णित भगवान् विष्णु के एक हजार नामों का जप करने वाला व्यक्ति सभी प्रकार के ज्वरों से मुक्त हो जाता है । अर्थात् 'विष्णुसहस्रनाम' का जाप करने वाला । इष्टयेति=यज्ञेन (यज्ञ द्वारा) । ॥३१०-३१६॥

शापाभिचाराद्भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः ।।३१७।।
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते । अभिघातज्वरो नश्येत् पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ।।३१८।।
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च सात्म्यैर्मांसरसौदनैः । सानाहो मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः ।।३१९।।
क्षतानां व्रणितानां च क्षतव्रणचिकित्सया । आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च ।।३२०।।
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः । काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः ।।३२१।।
सद्वाक्यैश्च शमं याति ज्वरः क्रोधसमुत्थितः । कामात् क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात् कामसमुद्भवः ।।३२२।।
याति ताभ्यामुभाभ्यां च भयशोकसमुत्थितः ।

आगन्तुज कारणों से उत्पन्न ज्वर की चिकित्सा–शाप, अभिचार (जादू के मन्त्रों का बुरे कामों के लिए प्रयोग करना), भूत (प्रेत, पिशाच आदि) तथा अभिषङ्ग (मिथ्या दोषारोपण) से जो ज्वर उत्पन्न होते हैं उनमें दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है ।

अभिघातज ज्वर में घृतपान, घृत के द्वारा अभ्यङ्ग, रक्तमोक्षण, सात्म्य मद्य, मांसरस के साथ भात का प्रयोग करना चाहिए । [यहाँ सूत्र में सानाहो मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ आनाह युक्त अभिघातज ज्वर में सात्म्य मद्य एवं मांसरस के साथ भात का प्रयोग करना चाहिए, है ।] क्षत एवं व्रण जन्य ज्वर में क्षत एवं व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए ।

आश्वासन, इष्टलाभ, वात की शान्ति एवं हर्षण चिकित्सा द्वारा काम, शोक एवं भयज ज्वर शान्त हो जाता है ।

क्रोध से उत्पन्न ज्वर मनोनुकूल विषयों की प्राप्ति, पित्तघ्न उपक्रम (चिकित्सा) एवं सद् वाक्यों के प्रयोग द्वारा प्रशमित हो जाता है ।

क्रोध से उत्पन्न ज्वर 'काम' से, काम से उत्पन्न ज्वर क्रोध से तथा भय व शोक से उत्पन्न ज्वर काम व क्रोध के द्वारा शान्त हो जाते हैं ।

चक्रपाणि–'शापेत्यादि' के द्वारा यहाँ आगन्तुक ज्वर की चिकित्सा बतलायी गयी है । 'नश्यति' से 'प्रशाम्यति' [प्रशमन होता है] अर्थ गृहीत है ।

सानाह इति अभिघातज्वर एव सानाह–आनाह के साथ अभिघात ज्वर का होना । क्षतानामिति=उरःक्षत का रोगी, उरःक्षत के कारण ज्वर का उत्पन्न होना ।

क्षतचिकित्सया व्रणचिकित्सया च व्रणिनां ज्वरोऽपैतीत्यर्थः –क्षत (उरःक्षत) रोगी एवं व्रण रोगी दोनों में ही ज्वर उत्पन्न होता है । अतः यहाँ ज्वर उपद्रव रूप होता है । चूकि मूल व्याधि के प्रशमन से उपद्रव का भी प्रशमन हो जाता है । इसलिये यहाँ क्षत चिकित्सा (उरःक्षत) एवं व्रण चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है ।

वायोः प्रशमनेनेति कामादिज्वरेषु वातानुबन्धात् उपपन्नः –कामादि ज्वर की उत्पत्ति वात दोष के अनुबन्ध के कारण होती है, अतः वात के प्रशमन द्वारा इसका भी प्रशमन होता है । अर्थात् कामादि ज्वर में वात का संबन्ध होता है ।

सद्वाक्यैरिति–सुन्दर वचनों के द्वारा, अर्थात् उन शब्दों का प्रयोग करना जिससे रोगी प्रसन्न हो जाय ।

'कामादीनां प्रतिद्वन्द्वेन चिकित्सामाह–कामादित्यादि' 'कामादित्यादि' के द्वारा प्रतिद्वन्द्वी चिकित्सा का अभिधान किया गया है, यथा-

Scanned by CamScanner

क्रोध ज्वर	→	काम से	प्रशमित होता है। ॥३१७-३२२॥
कामज ज्वर	→	क्रोध से	
भय व शोकज ज्वर	→	काम+क्रोध से	

ज्वरस्य वेगं कालं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः ॥३२३॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत् स्मृतिम् ।

ज्वर वेग काल के विस्मरण–ज्वर रोगी जब ज्वर के वेग काल का चिन्तन करता है (यथा-कल १२ बजकर १५ मिनट पर ज्वर बढ़ा था, आज १२ बजकर २० मिनट हो गये) तभी ज्वर बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में ज्वर आने से पूर्व रोगी का ध्यान इष्ट एवं विचित्र विषयों की तरफ लगाना चाहिए जिससे उसे ज्वरवेग काल का स्मरण न रहे, ऐसा करने से ज्वर नहीं आता। ॥३२३॥

चक्रपाणि–ज्वर वेग काल के चिन्तन से जो ज्वर उत्पन्न होता है, वह कामादि ज्वर की भाँति मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न होता है, उसी की चिकित्सा का निर्देश यहाँ 'ज्वरस्येत्यादि' के द्वारा किया गया है। ॥३२३॥

विशेष–ज्वरवेग काल के स्मरण से उत्पन्न होने वाला ज्वर मनोवैज्ञानिक होता है। अतः इसकी भी चिकित्सा कामादि ज्वर की तरह 'मानसिक (Psychic) की जाती है।

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमति चेष्टते। श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः ॥३२४॥
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते ॥३२५॥
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं स्रवति वेगवत्। लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः ॥३२६॥
बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रियादोषपक्त्या चेद्विमुञ्चति सुदारुणम् ॥३२७॥
कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥३२८॥

सन्निपातज्वर प्रमोक्ष (छूटने) के लक्षण–सन्निपातज्वर जब शरीर को छोड़ने लगता है, अर्थात् शरीर ज्वर से मुक्त होने लगता है, तब अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. पीड़ित व्यक्ति कूजन करता हुआ वमन करता है। अर्थात् व्यक्ति बोल नहीं पाता वमन करता है। (कूजन=गले से अस्पष्ट ध्वनि का निकलना)

२. हाथ व पैरों को इधर-उधर पटकना (Purposeless Movement of Limbs)।

३. श्वास की गति का बढ़ना

४. शरीर का वर्ण बदल जाना (Discolouration)

५. अङ्गों का स्विन्न हो जाना (अङ्गों से अचानक पसीने का निकलना- Prostration)

६. शरीर में कम्पन का होना।

७. बार-बार मुर्छित होना, प्रलाप करना।

८. शरीर का कभी अत्यधिक उष्ण होना अथवा कभी शीतल हो जाना अर्थात् कभी ज्वर का अत्यधिक बढ़ जाना अथवा कम हो जाना।

९. व्यक्ति ज्ञान शून्य होकर ज्वर के कारण क्रोधी की तरह इधर-उधर देखता है।

१०. दोष युक्त एवं शब्द युक्त पुरीष द्रव रूप में वेग के साथ बाहर निकलता है।

ये सभी लक्षण मिलने पर यह जानना चाहिए कि ज्वर अब जाने वाला है अथवा ज्वर मोक्षकाल आ गया है। शरीर में दोष अत्यधिक बढ़े हों अर्थात् गम्भीर प्रकार का ज्वर हो, उचित चिकित्सा के द्वारा दोषों का पाक हो जाने पर ज्वर अचानक छूट जाता है, ऐसा प्रायः अभिनव ज्वर में होता है। ज्वर के इस प्रकार से मुक्त होने को **'दारुण मोक्ष'** कहते हैं।

जो ज्वर दोषों के अनुसार वेगों को उत्पन्न करके क्रमशः धीरे-धीरे शान्त होता है, ऐसे चिरकारी ज्वरों का मोक्ष अदारुण होता है। ॥३२४-३२८॥

चक्रपाणि–यहाँ ज्वर की चिकित्सा के विवेचन के बाद 'विमुञ्चति इत्यादि' प्रश्नों के उत्तर को 'ज्वरप्रमोक्षे' इत्यादि के द्वारा बताया गया है।

लीयत इति मुह्यति–मूर्छित होना (Frequent fainting)

Scanned by CamScanner

उष्णसर्वाङ्गः शीतसर्वाङ्गश्च भवत्यपीति उष्णसर्वाङ्गो वा शीतसर्वाङ्गो वा भवतीत्यर्थः–सम्पूर्ण शरीर का उष्ण होना अथवा सम्पूर्ण शरीर का शीतल हो जाना, यह अर्थ लिया गया है। ज्वर मोक्षकाल उपस्थित होने पर रोगी का शरीर या तो अत्यधिक उष्ण हो जाता है अथवा शीतल हो जाता है।

सदोषशब्दमिति–सदोषं सशब्दं च-दोष युक्त एवं शब्द युक्त द्रव पुरीष का त्याग करता है।

ये सभी लक्षण सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ही पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए। अन्य में नहीं दिखाई देते। अर्थात् अन्य ज्वरों में नहीं पाये जाते।

अत एव बहुदोषस्य बलिन इत्यादि ग्रन्थं केचित् पठन्त्येवात्र–कुछ आचार्य बलवान् के स्थान पर 'बलिन' पाठ करते हैं। उपर्युक्त कूजनादि सभी लक्षण 'ज्वर मोक्षकाल' में क्षय हुए दोषों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, यथा- निर्वाप्यता प्रदीपेनालोको महान् क्रियते [बुझता हुआ दीपक अत्यधिक प्रकाश उत्पन्न करता है।] ॥३२४-३२८॥

विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥३२९॥

प्रशान्तज्वर के लक्षण–ज्वर के मुक्त होने पर आतुर में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. व्यक्ति क्लम एवं संताप से रहित हो जाता है। अर्थात् मानसिक थकावट (Mental Fatigue) एवं संताप (Temperature) से रहित हो जाता है। व्यक्ति का तापक्रम सामान्य हो जाता है।

२. शरीर में किसी प्रकार की व्यथा नहीं रहती।

३. इन्द्रियाँ विमल हो जाती हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य सुचारु रूप से करने लगती है।

४. व्यक्ति का मन अपने स्वाभाविक स्थिति में आ जाता है।

चक्रपाणि–'प्रशान्तज्वर के लक्षण' सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर यहाँ 'विगतेत्यादि' के द्वारा दिया गया है।

प्रकृतिसत्त्वेनेति सहजसत्त्वेन–व्यक्ति का मन अपने स्वाभाविक स्थिति में आ जाना। ज्वरकाल में आतुर का मन किसी कार्यों में नहीं लगता है, थका-थका सा रहता है। ज्वर समाप्त होने पर उसका मन सभी कार्यों में प्रवृत्त होता है, यह बताया गया है। ॥३२९॥

सज्वरो ज्वरमुक्तंश्च विदाहीनि गुरूणि च। असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि च वर्जयेत् ॥३३०॥
व्यवायमतिचेष्टांश्च स्नानमत्यशनानि च। तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च ॥३३१॥
व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च। ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ॥३३२॥

ज्वर एवं ज्वर मुक्ति के बाद अपथ्य–ज्वरावस्था एवं ज्वर मुक्ति के बाद रोगी को गुरु, विदाही (जिनके सेवन करने से शरीर में दाह उत्पन्न हो), असात्म्य एवं विरुद्ध अन्न-पान का सेवन नहीं करना चाहिए। व्यवाय, अतिचेष्टा, स्नान एवं अत्यधिक भोजन, का प्रयोग न करें। इन निर्देशों का पालन करने पर विद्यमान ज्वर शान्त हो जाता है एवं शान्त ज्वर पुनः उत्पन्न नहीं होता।

व्यायाम (Exercise), व्यवाय (Sexual Intercourse), स्नान (Bath) व चङ्क्रमण (अत्यधिक घूमना-फिरना) का सेवन ज्वरमुक्त आतुर को तब तक नहीं करना चाहिए जब तक कि उसका शारीरिक बल स्वाभाविक न हो जाय। ॥३३०-३३२॥

चक्रपाणि–**'ज्वरावशिष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः इति'** [ज्वरमुक्त पुरुष को कितने काल तक किन-किन कारणों से रक्षा करनी चाहिए।] प्रश्न का उत्तर यहाँ 'सज्वर इत्यादि' के द्वारा दिया गया है।

"तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो जायते न च"–[ज्वर मुक्त होने के बाद निर्दिष्ट हेतुओं (विदाही अन्न-पानादि) के वर्जन करने से शान्त ज्वर पुनः उत्पन्न नहीं होता तथा उत्पन्न ज्वर शान्त हो जाता है।] के द्वारा ज्वर मुक्ति के बाद किन हेतुओं का त्याग करना चाहिए ? रूपी प्रश्न का उत्तर दिया गया है। 'व्यवायमतिचेष्टांश्च' से यहाँ पूर्व श्लोक में भी 'व्यवाय' पाठ है, अतः ज्वर मुक्ति के बाद के समय में व्यवाय (मैथुन) अत्यन्त निषिद्ध है, अर्थ लिया गया है। अन्य आचार्य 'प्रमादवश इस पाठ का अभिधान हुआ है, ऐसा स्वीकार करते हैं। अर्थात् इसका अभिधान नहीं होना चाहिए।

स्नानमूर्जस्करं अपि प्रभावाज्ज्वरं प्रत्यानयति–स्नान ऊर्जस्कर होते हुए भी प्रभाव से ज्वर का वर्धक होता है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-**"स्नानमाशु ज्वरं कुर्याज्ज्वरमुक्तस्य देहिनः। तस्मान्मुक्तज्वरः स्नानं विषवत् परिवर्जयेत्"** इति [ज्वरमुक्त पुरुष के स्नान (Bath) करने से ज्वर शीघ्र उत्पन्न हो जाता है। इसलिये ज्वर मुक्ति के बाद स्नान का विषवत् वर्जन करना चाहिए।] ॥३३०-३३२॥

असंजातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते। वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ॥३३३॥
दुष्टेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते। स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ॥३३४॥

Scanned by CamScanner

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं हीनतेजसम् । अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः ।।३३५।।
अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः । यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते ।।३३६।।
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम् । कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम् ।।३३७।।
एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः । अनिघतिन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ।।३३८।।
निर्वृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद्यथावस्थं यथाबलम् । यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत् ।।३३९।।
मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना बस्तयो हिताः । हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः ।।३४०।।
अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च । हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ।।३४१।।
गुर्व्यभिष्यन्दसात्म्यानां भोजनात् पुनरागते । लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत् ।।३४२।।
किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता । घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात् पुनरावर्तकं ज्वरम् ।।३४३।।

पुनरावर्तक ज्वर एवं उसकी चिकित्सा–ज्वरमुक्त पुरुष पूर्व निर्दिष्ट वर्ज्य पदार्थों का जब सेवन करता है, तब उसके शरीर का बल पूर्ण न होने के कारण ज्वर पुनः उत्पन्न हो जाता है । अथवा दोषों के निर्हरण करने पर भी दोषों का पूर्णतः निर्हरण न हो पाने से अवशिष्ट दोष के कारण ज्वर का वेग कम हो जाता है वही अल्प अपथ्य के सेवन से पुनः उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ज्वर को पुनरावर्तक ज्वर कहते हैं ।

चिरकाल तक ज्वर से पीड़ित रोगी, दुर्बल व तेजरहित हो जाता है, ऐसे रोगी में उत्पन्न पुनरावर्तक ज्वर रोगी को शीघ्र नष्ट कर देता है । अथवा अवशिष्ट अल्प दोषों का पाक धातुओं में क्रमशः होता रहता है, परिणामतः दोष धातुओं में आश्रित होते हुए भी अल्प बल होने से ज्वर तो उत्पन्न नहीं करते फिर भी दीनता, श्वयथु (Oedema), ग्लानि, पाण्डुता (Anaemia), अन्न के प्रति इच्छा का अभाव होना, कण्डू (Itching), कोठ (Urticaria), पिडका एवं अग्निमांद्यता को उत्पन्न कर शरीर का अपकार ही करते हैं ।

इसी प्रकार और भी व्याधियाँ यदि शान्त हो गयी हों तो अपथ्य सेवन अथवा अवशिष्ट दोषों के रहने पर, अर्थात् दोष निर्हरण के बाद भी कुछ दोष शेष रहने पर अपथ्यादि के सेवन से पुनः उत्पन्न हो जाती हैं । इसलिये ज्वर के निवृत्त हो जाने पर दोषों की अवस्था, आतुर के शारीरिक एवं मानसिक बल का विचार करते हुए दोषों का शोधन अथवा शमन करें ।

चिकित्सा के रूप में मृदु द्रव्यों द्वारा शोधन, यापन वस्तियों का प्रयोग, हितकर अन्न, लघु आहार द्रव्यों से निर्मित यूष एवं जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरसों का प्रयोग करना उपयोगी होता है ।

अभ्यंग, उद्वर्तन, स्नान, धूप, अञ्जन एवं तिक्त घृतों का प्रयोग पुनरावर्तक ज्वर में करना चाहिए ।

गुरु, अभिष्यन्दि एवं असात्म्य भोजन के सेवन से उत्पन्न पुनरावर्तक ज्वर की चिकित्सा पूर्व निर्दिष्ट लङ्घन एवं उष्ण उपचारों द्वारा क्रमशः करनी चाहिए । किराततिक्तक (चिरायता), तिक्ता (कुटकी), मुस्तक (मोथा), पर्पटक (पित्तपापड़ा) तथा गुडूची; इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग लगातार कुछ दिन तक करने से पुनरावर्तक ज्वर नष्ट हो जाता है । (किरातिक्तकादि क्वाथ) ॥३३३-३४३॥

चक्रपाणि–यह सूत्र-"असंजातबलो यस्तु' पाठ चरकसंहिता के काश्मीर पाठ में पढ़ा गया है । इस पाठ का सम्बन्ध श्लोक नं० ५-१० से स्थापित करने पर उचित प्रतीत होता है । अर्थात् पूर्व उत्थापित प्रश्नों के ही उत्तर यहाँ दिये गये हैं । अतः प्रश्नानुरूप होने से यह पाठ स्वीकार्य है । ॥३३३-३४३॥

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः । ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्तच्चिकित्सितम् ।।३४४।।

ज्वर के क्रियाक्रम (चिकित्सासूत्रों) का विचार करते हुए बुद्धिमान चिकित्सक ज्वर की उन-उन अवस्थाओं में जिन-जिन उपक्रमों का निर्देश किया गया है, उनका पालन करे ।

चक्रपाणि–'तस्यामित्यादि' के द्वारा यहाँ उक्त एवं अनुक्त सभी उपक्रमों का समावेश निर्दिष्ट चिकित्सासूत्रों में ही कर दिया गया है, बताया गया है । ॥३४४॥

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः ।
तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक् ।।३४५।।

ज्वरचिकित्सा में विशेष सावधानी का हेतु–ज्वर व्याधियों का राजा है, सभी प्राणियों का विनाशक है । अर्थात् सभी प्राणियों की मृत्यु ज्वर के द्वारा होती है एवं भयङ्कर है । इसलिये चिकित्सक को ज्वर की चिकित्सा करते समय विशेष रूप से सावधानी रखनी चाहिए ।

चक्रपाणि–'रोगराडित्यादि' के द्वारा 'चिकित्सक को ज्वर की चिकित्सा विशेष सावधान होकर करनी चाहिए' का निर्देश दिया गया है । अर्थात् विशेष सावधानी के साथ ज्वर की चिकित्सा क्यों की जानी चाहिए ? के कारण को स्पष्ट किया गया है । ॥३४५॥

Scanned by CamScanner

तत्र श्लोकः–

यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम् । आत्रेयेणाग्निवेशाय भूतानां हितकाम्यया ।।३४६।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने ज्वरचिकित्सितं नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस प्रकार ज्वरचिकित्सा में प्राणिमात्र के हितचिन्तक भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के लिए प्रश्नों के क्रम के अनुसार उनके उत्तर को दिया है । अर्थात् अग्निवेश ने जिस क्रम से ज्वरविषयक प्रश्नों को पूछा है, उसी क्रम के अनुसार प्रश्नों के उत्तर बताये गये हैं ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक संहिता के चिकित्सास्थान में ज्वरचिकित्सा नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'यथाक्रममिति' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है ।

भूतानां हितकाम्ययेत्यनेन–प्राणिमात्र की हित की कामना से, ज्वरचिकित्सा का विवेचन परोपकार की भावना से किया गया है। अर्थात् इसका लाभ सभी लोग उठा सकें, यह भाव है ।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में ज्वरचिकित्सा नामक तृतीय अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे रक्तपित्तचिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

चक्रपाणि–रोगों की आदि उत्पत्तिक्रमानुसार ज्वरसंताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति हुई, इसलिये ज्वरचिकित्सा के बाद रक्तपित्त-चिकित्सा का अभिधान किया गया है । ॥१-२॥

विहरन्तं जितात्मानं पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम् । प्रणम्योवाच निर्मोहमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ।।३।।
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः । वक्तव्यं यत् परं तस्य वक्तुमर्हसि तद्गुरो ।।४।।

पञ्चगङ्ग (पञ्चनद=पञ्जाव) क्षेत्र में विहार करते हुए जितेन्द्रिय, मोहरहित एवं अग्नि के समान तेजस्वी भगवान् पुनर्वसु आत्रेय को प्रणाम करके अग्निवेश बोले-हे आचार्य! रक्तपित्त के हेतु एवं लक्षणों का अभिधान पूर्व (नि.अ.) में किया जा चुका है । इस विषय में और जो कुछ भी बताने योग्य विषय हैं उन्हें आप बताने की कृपा करें । ॥३-४॥

चक्रपाणि–'पञ्चगङ्गः' से स्थान विशेष का ग्रहण किया गया है । पञ्चगङ्गः से पञ्चनद (जहाँ पाँच नदियाँ बहती हो अर्थात् भारत विभाजन के पूर्व का पञ्जाव प्रान्त) प्रदेश का ग्रहण किया है ।

वक्तव्यं यत् परमिति–जो और अधिक कहना है, अर्थात् नि.अ. २ में रक्तपित्त के निदान एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है, इसके अतिरिक्त जो वक्तव्य है अर्थात् चिकित्सा का भी निर्देश यहाँ होना चाहिए । ॥३-४॥

गुरुरुवाच–
महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च । हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ।।५।।
तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च । घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ।।६।।

रक्तपित्त का महागदत्व–भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा-रक्तपित्त एक महागद (महाव्याधि) है, इसका वेग अत्यन्त तीव्र होता है तथा अग्नि के समान शीघ्र ही यह आतुर को नष्ट करने वाला है । अतः हेतु एवं लक्षणों का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को इस व्याधि की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए ।

उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु एवं लवण रस युक्त आहारों का अत्यधिक सेवन, तीव्र धूप तथा विदाही अन्न का अत्यधिक प्रयोग; ये रक्तपित्त के हेतु हैं, जिसका उल्लेख पूर्व (रक्तपित्त-निदान) में किया जा चुका है ।

चक्रपाणि–यद्यपि निदानस्थान में रक्तपित्त के हेतु एवं लक्षणों का प्रतिपादन किया जा चुका है, फिर भी चिकित्सा में उपयोगी होने के कारण प्रकरणवश पूर्व हेतु एवं लक्षणों का अभिधान पुनः किया गया है । घर्मः=आतप (धूप)

अन्नविदाहस्तु स्वरूपविदाहिद्रव्यभक्षणाद्भवति–१. विदाही द्रव्यों के भक्षण करने से अन्न में विदाह का होना । २. अन्नवह स्रोतस् पित्त द्वारा दूषित होने के कारण अविदाही भोजन करने पर भी विदाह का होना ।

[Vidāha (Improper digestion leading to burning sensation) of the food takes place, if the food ingredients them selves are Vidāhī in nature.]

यहाँ विदाह दो प्रकार से उत्पन्न होता है-१. विदाही गुणोत्पादक द्रव्यों के सेवन करने से, २. अन्नवहस्रोतस् पित्त द्वारा दूषित होने के कारण विदाही भोजन न करने पर भी शरीर में विदाह (Burning sensation) होता है, यह बताया गया है ।] अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-**"स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते"** [यदि अन्नवहस्रोतस् में पाचकपित्त दूषित है तब विदाही अथवा अविदाही भोजन करने पर विदाह उत्पन्न होता है ।] (सु.सू.अ. ४६) इति । ॥५-६॥

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते । तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ।।७।।
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्यातोर्यातोः प्रसिच्यते । स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ।।८।।

रक्तपित्त की संप्राप्ति–पूर्व निर्दिष्ट हेतुओं के सेवन से प्रकुपित हुआ पित्त रक्त धातु में मिल जाता है, उसका (पित्त का) कारण रक्त होने से, अर्थात् रक्त से पित उत्पन्न होने के कारण पित्त वहाँ बढ़कर रक्त को दूषित कर देता है । उस पित्त की ऊष्मा के द्वारा विभिन्न धातुओं के द्रव अंश का स्राव रक्त में होता है जिसके कारण वहाँ रक्त की वृद्धि हो जाती है । ॥७-८॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'तैर्हेतुभिरित्यादि' के द्वारा रक्तपित्त की संप्राप्ति को बताया गया है ।

रक्तं प्रपद्यते रक्तं गच्छतीत्यर्थः –प्रकुपित पित्त का गमन रक्त में होता है, अर्थात् पित्त प्रकुपित होकर रक्त में प्रवेश करता है । यद्यपि 'पित्तं स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम्, (सू.अ. २०) इति, सूत्र से पित्त का गमन रक्त में स्वभाव से ही होता है, फिर भी रक्तपित्त की संप्राप्ति में प्रधान स्थान आमाशय से पित्त का गमन रक्त में होता है, ऐसा जानना चाहिए। पित्त का रक्त में गमन यहाँ रक्तपित्त की संप्राप्ति के प्रभाव के कारण है ।

तद्योनित्वादिति–पित्त की उत्पत्ति रक्त से होती है, अतः इसकी योनि (कारण-उत्पादक) रक्त है । पित्त जब अपने उत्पादक अंश (रक्त) के साथ मिलता है तब उसकी वृद्धि हो जाती है, कहा भी गया है, यथा-"असृजः पित्तं" (चि.अ. १५) इति ।

तदिति रक्तं प्रदूषयत्–रक्त को प्रदूषित करते हुए । **द्रवो धातुरिति** द्रवरूपोंऽश-द्रव रूप भाग । **धातोर्धातोरिति**-मांसादि धातुओं में । स्विद्यतः प्रसिच्यते अतिक्षरति-अत्यधिक क्षरण होता है, अर्थात् विभिन्न धातुओं के द्रव रूप भाग का रक्त धातु में आगमन होता है ।

इस प्रकार पित्त की ऊष्मा से स्विद्यमान धातुओं के द्रव रूप अंश रिस-रिस कर रक्त में आने से पित्त के साथ रक्त की मात्रा भी बढ़ जाती है । ॥७-८॥

संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥९॥

रक्तपित्त संज्ञा का हेतु–पित्त का ही नामकरण 'रक्तपित्त' अधोलिखित कारणों के आधार पर किया गया है–

१. संयोगात्-पित्त का संयोग (Combination) रक्त से होने के कारण, अर्थात् रक्तपित्त में पित्त, रक्त के साथ मिल जाता है ।

२. पित्त द्वारा रक्त के दूषित होने से ।

३. गन्ध एवं वर्ण की तुल्यता के कारण अर्थात् रक्त के गन्ध एवं वर्ण पित्त के गन्ध व वर्ण एक समान हैं । इन हेतुओं के आधार पर मनीषियों ने पित्त की ही संज्ञा रक्तपित्त दी है ।

चक्रपाणि–'संयोगादित्यादि' के द्वारा रक्तपित्त संज्ञा के हेतुत्व को स्पष्ट किया गया है ।

रक्तस्य संयोगात् तथा रक्तस्य दूषणात्तथा रक्तस्य गन्धवर्णयोः पित्ते सामान्यात् पित्तं रक्तपित्तमुच्यते इति वाक्यार्थः –रक्त के साथ पित्त का संयोग होने से, रक्त को दूषित करने से तथा रक्त के समान गन्ध एवं वर्ण का होने से पित्त को ही रक्तपित्त कहा जाता है, यह अभिप्राय है । ॥९॥

प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते । स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥१०॥

रक्तपित्त का स्थान–पित्त का स्थान यकृत (Liver) व प्लीहा (Spleen) है । शरीर में रक्तवाही स्रोतसों का भी मूल यकृत व प्लीहा ही है ।

चक्रपाणि–'प्लीहानं चेत्यादि' के द्वारा रक्तपित्त के स्थान को बताया गया है । रक्तपित्त का स्थान यकृत व प्लीहा है । **वर्तते ऊर्ध्वमधश्च याति**-यहीं (यकृत व प्लीहा) से इसका गमन ऊर्ध्व व अधः भागों में होता है । 'वर्धते' पाठ होने पर वृद्धि को प्राप्त होता है । यह पाठ 'वर्तते' के स्थान पर प्राप्त होता है । इसके कारण अर्थ में भिन्नता नहीं आती ।

कस्माद्यकृत्प्लीह्नोरेव तद्वर्तत–किस कारण से यकृत-प्लीहा में ही वह बढ़ता है या उत्पन्न होता है, इसे यहाँ 'स्रोतांसीत्यादि' के द्वारा बताया गया है । रक्त का प्रधान स्थान यकृत प्लीहा ही है । अतः पित्त व रक्त दोनों का ही स्थान यकृत प्लीहा है, अतः उनके संयोग से उत्पन्न रक्तपित्त का भी स्थान यही है । ॥१०॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् । श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥११॥
रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् । मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥१२॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं, सान्निपातिकम् ।

दोषानुसार रक्तपित्त के लक्षण

रक्तपित्त में **कफदोष** का अनुबन्ध (सम्बन्ध) होने पर निकलने वाला रक्त सान्द्र (गाढ़ा), पाण्डु वर्ण (Pale yellow), स्नेह युक्त एवं पिच्छिल (Slimy) होता है । वात से सम्बन्ध होने पर निकलने वाला रक्त श्याव (greyish), अरुण (Reddish), फेन युक्त, तनु (पतला dilute) एवं रूक्ष होता है । पित्त दोष से सम्बन्ध होने पर निकलने वाला रक्त कषाय वर्ण (Pink red), कृष्ण (काला-गोमूत्र की तरह), मेचक

Scanned by CamScanner

(अनेक मिश्रित वर्णों वाला-नीले वर्णों वाला), धुएं के समान अथवा अञ्जन के वर्ण की तरह होता है। द्वन्द्वज रक्तपित्त में दो दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं तथा सान्निपातज में तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। ॥११-१२॥

चक्रपाणि–'सान्द्रमित्यादि' के द्वारा रक्तपित्त में दोषों के विशेष सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् दोषानुसार रक्तपित्त में क्या लक्षण (Signs and Symptoms) मिलते हैं, उसे यहाँ स्पष्ट किया गया है।

कषायवदाभा यस्य तत् कषायाभं, पाटलामित्यर्थः–कषाय (गहरा लाल वर्ण) की तरह जिसका रंग हो उसे 'कषायाभ' कहा गया है, यथा-पाटला का पुष्प (Red Pink)।

कृष्णस्यं वस्त्रादेः ससारगन्धकादिभिर्मसृणीकृतस्य यो वर्णः स मेचकः–कृष्ण (काले) वस्त्र को गन्धकादि के द्वारा चिकना (Smooth) बना देने पर जो वर्ण दिखता है उसे 'मेचक' कहते हैं।

ननु पित्तमेव रक्तपित्तमित्युक्तं, तत् कथं श्लैष्मिकं भवति–यहाँ यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि जब पित्त को ही रक्तपित्त कहा जाता है तब वह कफज कैसे होता है? इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-सामान्य संप्राप्ति में पित्त के द्वारा ही रक्तपित्त उत्पन्न होता है। जैसे सभी गुल्मों में वायु तथा सभी ज्वरों में पित्त ही आरम्भक होता है वैसे ही जब कफ की वृद्धि होती है तब कफ से सम्बन्धित लक्षण रक्तपित्त में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सामान्य संप्राप्ति के अनुसार पित्त की वृद्धि से उत्पन्न रक्तपित्त में कफ के द्वारा सान्द्रत्व आदि उसके लक्षणों का निर्देश किया गया है, जिसे 'श्लैष्मिकं रक्तपित्तमिति' के द्वारा बताया गया है। जैसे-कफज गुल्म में-गुल्म की सामान्य संप्राप्ति में वात की ही मुख्य भूमिका होती है, फिर भी उसे छोड़कर गुल्म में दोषों की लक्षणों के आधार पर कफज का उपदेश किया गया है अथवा जिस प्रकार कफज्वर में भी सामान्य संप्राप्ति में पित्त की उपस्थिति तो रहती है लेकिन विशेष लक्षणों के आधार पर कफज का उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार वातिक रक्तपित्त की व्याख्या करनी चाहिए।

यत्तु कफवातविरहितेन केवलेनैव पित्तेन बलवता जनितं रक्तपित्तं पैत्तिकरक्तपित्तलक्षणं भवति, तत् पैत्तिकं रक्तपित्तमित्युच्यते–जब विशिष्ट संप्राप्ति में कफ व वात का सम्बन्ध न हो, मात्र पित्त अत्यन्त वृद्ध होकर, अपने लक्षणों को उत्पन्न करता हो उसे पित्तज रक्तपित्त कहते हैं। इस प्रकार लक्षणों की प्रमुखता के आधार पर दोषों का निर्देश किया गया है। अर्थात् जिस दोष के लक्षण ज्यादा मिलें, उसके आधार पर रक्तपित्त का नाम कफज, वातज आदि दिया जाता है। कफज रक्तपित्त की तुलना में पित्तज रक्तपित्त में पित्त अधिक वृद्ध (उल्बण) रहता है, अतः इसमें पित्त अपने लक्षणों को अधिक व्यक्त करता है, अन्य स्थानों पर नहीं। इसी को व्यवस्थित रूप से इस प्रकार समझाया जा सकता है–केवल पैत्तिक रक्तपित्त का मार्ग नहीं है, जहाँ वात प्रधान रक्तपित्त अधोमार्ग से निकलता है तथा कफ प्रधान रक्तपित्त ऊर्ध्वमार्ग द्वारा बाहर आता है, यह प्रतिपादित किया गया है। अभिप्राय यह है कि शास्त्र में पैत्तिक रक्तपित्त को छोड़कर दो प्रकार के रक्तपित्त (कफप्रधान एवं वात प्रधान) के मार्गों का निर्देश किया गया है। ऐसा नहीं है, क्योंकि पित्तज रक्तपित्त का भी ऊर्ध्व अथवा अधोगमन ही होता है। अर्थात् पैत्तिक रक्तपित्त का भी मार्ग ऊर्ध्व अथवा अधः ही है। पैत्तिक रक्तपित्त यदि ऊर्ध्व मार्ग से निकलता है तब मार्ग प्रभाव (मार्गमहिमा) के कारण कफ का अनुबन्ध उसके साथ होता है। जब अधोमार्ग से बाहर निकलता है तब वात स्थान के सम्बन्ध से वात का अनुबन्ध हो जाता है।

मार्गसम्बन्धानुगतश्च दोषः स्वलक्षणकारकत्वान्नानुबन्धः–मार्ग सम्बन्ध से रहने वाला दोष अपने लक्षणों को उत्पन्न करता है। अर्थात् मार्गसम्बन्ध से रक्तपित्त में जो दोषों के लक्षण व्यक्त होते हैं वे अनुबन्ध रूप होते हैं। ऐसा होने पर पित्तज रक्तपित्त में भी 'एकदोषानुगं साध्यं' सूत्र से उसका ग्रहण नहीं होता, क्योंकि जिन दोषों के लक्षण स्वतन्त्र रूप से मिलते हों उन्हें अनुबन्ध्य (प्रधान) कहते हैं। इस प्रकार वातिक, पैत्तिक आदि रक्तपित्त में दोष लक्षण अनुबन्ध्य रूप होते हैं न कि मार्ग के सम्बन्ध से उनके लक्षण अनुबन्ध रूप में मिलते हैं।

अन्य आचार्यों के अनुसार जब अन्य स्थानों पर संचित पित्त बाद के काल में रक्तपित्त से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तब पैत्तिक रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं। ॥११-१२॥

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥१३॥

यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत्। व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥१४॥

दोषानुसार रक्तपित्त की साध्याताऽसाध्यता–जिस रक्तपित्त में एक दोष का सम्बन्ध होता है वह साध्य, जो द्विदोषज हो याप्य तथा जो तीनों दोषों से उत्पन्न होता है वह असाध्य होता है।

इसके अतिरिक्त जिस पुरुष की जाठराग्नि मन्द हो, रक्त तीव्र वेग से निकल रहा हो, व्याधि से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, वृद्धावस्था हो तथा जो भोजन न करता हो। ऐसे व्यक्ति को होने वाला रक्तपित्त असाध्य होता है।

चक्रपाणि–'एकेत्यादि' के द्वारा रक्तपित्त की साध्यता-असाध्यता को स्पष्ट किया गया है।

एकदोषानुगमिति–जिस रक्तपित्त में एक दोष के लक्षण पाये जाते हों, उन्हें एकदोषानुगत कहा गया है। इसी प्रकार जिसमें दो दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाँय उसे द्विदोषज कहते हैं तथा जिसमें तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं उसे त्रिदोषज अथवा सन्निपातज कहते हैं।

Scanned by CamScanner

यहाँ रक्तपित्त की साध्यताऽसाध्यता में मार्गानुगत दोषों को छोड़कर द्विदोषज एवं त्रिदोषज की गणना करना चाहिए, ऐसा आवश्यक नहीं है। ऐसा होने पर मात्र पित्तज रक्तपित्त को तो होना ही नहीं चाहिए। इस प्रकार संप्राप्ति से प्राप्त दोष का ग्रहण करने पर मार्ग सम्बन्ध से कफ या वात के सम्बन्ध से द्विदोषज रक्तपित्त हमेशा ही होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि मार्ग सम्बन्ध से दोषों को स्वीकार करने पर कोई भी रक्तपित्त एक दोषज नहीं होगा, क्योंकि रक्तपित्त ऊर्ध्व या अधः अथवा दोनों मार्गों द्वारा ही निकलता है। अतः 'एकदोषानुगं साध्यं' यह कथन व्यर्थ होना चाहिए, अथवा इस कथन का कोई महत्व नहीं रह जायेगा। इसलिये पूर्वकथन (मार्ग सम्बन्ध से दोषों के लक्षणों के आधार को एक दोषज या द्विदोषज के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है।) ही उचित है।

मन्दाग्नेरतिवेगवदिति–इन लक्षणों के द्वारा असाध्य के लक्षणों का अभिधान अलग से किया गया है। अर्थात् उस रोगी को होने वाला रक्तपित्त असाध्य होता है जिसे मन्दाग्नि हो व रक्त का वेग तीव्र हो। अर्थात् तीव्रता से रक्त निकल रहा हो।

व्याधिभिः क्षीणदेहस्य इति–व्याधि के द्वारा जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, ऐसे व्यक्ति में होने वाला रक्तपित्त भी असाध्य होता है। ॥१३-१४॥

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता। ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ॥१५॥
सप्त छिद्राणि शिरसि द्वे चाधः, साध्यमूर्ध्वगम्। याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥१६॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो रोमकूपेभ्य एव च। वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥१७॥
यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते। तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥१८॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत्। यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥१९॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम्। क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥२०॥
यद्द्विदोषानुगं यद्वा शान्तं शान्तं प्रकुप्यति। मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥२१॥

गति अथवा मार्ग भेद से रक्तपित्त की साध्यताऽसाध्यता–रक्तपित्त गति भेद (मार्गभेद) से दो प्रकार का होता है। अर्थात् रक्तपित्त की गति दो प्रकार की होती है-१. ऊर्ध्वगति, २. अधोगति; ऊर्ध्वग रक्तपित्त के सात द्वार (छिद्र) हैं तथा अधोगति के दो द्वार होते हैं। सिर में सात छिद्र हैं, यथा-१. नासिका के दो, २. कर्ण के दो, ३. नेत्र के दो, एक मुख के तथा दो द्वार अधोमार्ग के हैं- गुदमार्ग एवं मूत्रमार्ग। ऊर्ध्वमार्ग से निकलने वाला रक्तपित्त साध्य होता है, अधोमार्गगामी रक्तपित्त याप्य तथा दोनों मार्गों से निकलने वाला रक्तपित्त असाध्य होता है।

जब रक्तपित्त शरीर के सभी छिद्रों (ऊर्ध्व एवं अधः) के साथ-साथ रोमकूपों से निकलने लगे तब रक्तपित्त की इस असंख्येय गति को आन्तिकी अर्थात् अन्त करने वाली, कही जाती है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में रक्तपित्त असाध्य हो जाता है–

१. ऊर्ध्व एवं अधः (दोनों) मार्गों द्वारा रक्तपित्त तीव्र वेग से निकल रहा हो।

२. रक्तपित्त में निकलने वाले रक्त की गन्ध कुणप (सड़े मुर्दे जैसी) हो, अर्थात् रक्त से सड़े मुर्दे जैसी गन्ध आती हो एवं रक्त का वर्ण अत्यन्त कृष्ण (काला) हो।

३. रक्तपित्त में कफ व वात दोनों दोष मिले हों।

४. रक्तपित्त कण्ठ में आकर रुक जाता हो।

५. रक्तपित्त अपने सभी उपद्रवों से युक्त हो

६. रक्तपित्त में निकलने वाले रक्त का वर्ण हारिद्र (हल्दी के वर्ण जैसा), नील (Blue), हरित (green) अथवा ताम्र (coppery in colour) हो।

७. जो रक्तपित्त का रोगी क्षीण (दुर्बल) हो एवं कास (cough) रोग से ग्रसित हो, ऐसा रोगी असाध्य होता है।

जिस रक्तपित्त में दो दोषों का सम्बन्ध हो, शान्त होकर व्याधि पुनः बढ़ जाती हो अथवा एक मार्ग की चिकित्सा करने पर शान्त होकर पुनः दूसरे मार्ग से निकलने लगता है, वह रक्तपित्त याप्य होता है। ॥१५-२१॥

चक्रपाणि–'गतिरूर्ध्वमित्यादि' के द्वारा गति के अनुसार (मार्गानुसार) रक्तपित्त की साध्यता-असाध्यता को बताया गया है। गति भेद के अतिरिक्त भी लक्षणों के आधार पर रक्तपित्त की असाध्यता को 'यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्य इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'यच्चोभयाभ्यां' से लेकर 'रक्तं कृष्णमतीव च' तक रक्तपित्त के असाध्य लक्षणों का अभिधान किया गया है।

Scanned by CamScanner

अत्र मार्गाभ्यामित्यनेन न यौगपद्येन मार्गप्रवृत्तिर्व्यवस्थिता–यहाँ दोनों मार्गों से एक साथ रक्तपित्त का निकलना ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु एक मार्ग से रक्तपित्त निकलता हो ऊर्ध्व या अधः, लेकिन वेग अत्यन्त तीव्र हो, जिसके कारण असाध्य होता है। क्योंकि दोनों मार्गों से निकलने वाला रक्तपित्त असाध्य होता है, यह प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है।

कुणपगन्धेन इति–शवगन्धी (सड़े हुए मुर्दे की गन्ध)।

कण्ठे सज्जतीति कण्ठाद्बहिर्न याति–रक्तपित्त रोग में निकलने वाला रक्त कण्ठ से बाहर नहीं निकलता। यथोक्तैरिति-निदानस्थान में वर्णित उपद्रवों से युक्त होना, यथा-"उपद्रवास्तु खलु दौर्बल्यारोचकाविपाकश्वासकासज्वरातीसारशोफशोषपाण्डुरोगाः स्वरभेदाश्च" (नि.अ. २) [दौर्बल्य (दुर्बलता), अरोचक (Anorexia), अविपाक (भोजन का पाक न हो पाना), कास (cough), ज्वर, अतिसार, शोफ (oedema), शोष, पाण्डुरोग व स्वरभेद (Hoarseness of the voice); ये उपद्रव रक्तपित्त में पाये जाते हैं]

हारिद्रवर्णादिभिर्युक्तं क्षीणस्य कासिनो न सिध्यतीति ज्ञेयम्–हारिद्र वर्णादि से युक्त क्षीण कास रोगी भी सिद्ध नहीं होता। यदिद्वदोषानुगमित्यनेन-अनुबन्ध (अप्रधान) रूप द्वय दोष के योग से इसे याप्य कहा गया है। पहले 'द्विदोषं याप्युमुच्यते' जो कहा गया है वह अनुबन्ध्य रूप दो दोषों से उत्पन्न रक्तपित्त के लिए कहा गया है, अतः यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है।

मार्गान्मार्गं चरेदिति–एक मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग से रक्तपित्त का निकलना, यथा-ऊर्ध्वमार्गी रक्तपित्त में मुखमार्ग को छोड़कर नासामार्ग द्वारा निकलना।

ऊर्ध्वग का अधोगमन, अधोगामी रक्तपित्त तो स्वतः ही याप्य होता है। अधोगामी रक्तपित्त मार्गान्तर होते हुए भी स्वतः ही याप्य होता है। इसलिये यहाँ ऊर्ध्वग का अधोमार्गी गमन अर्थ न लेकर नासादि जो सात मार्ग (छिद्र) सिर में बताये गये हैं, उन्हीं का मार्गपरिवर्तन ग्रहण करना चाहिए। ॥१५-२१॥

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्। रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥२२॥

साध्य रक्तपित्त के लक्षण–जो रक्तपित्त एक मार्ग से निकल रहा हो, आतुर बलवान् हो, रक्त तीव्र गति से न बह रहा हो, शीघ्र ही उत्पन्न हुआ हो (रक्तपित्त), सुखकर काल-हेमन्त व शिशिर में रक्तपित्त उत्पन्न हो एवं उपद्रवों से रहित हो, ऐसा रक्तपित्त साध्य होता है।

चक्रपाणि–'एकमार्गमित्यादि' के द्वारा साध्य के लक्षणों का अभिधान किया गया है। **एकमार्गमिति**-सामान्यतया इससे ऊर्ध्वग रक्तपित्त का ग्रहण होता है, क्योंकि अधोगरक्तपित्त एकमार्गगामी होते हुए भी याप्य होता है।

सुखे काले इति–रक्तपित्त सुखकर काल में उत्पन्न हो, यथा-हेमन्त व शिशिर ऋतु। यहाँ मार्ग, दोष एवं लक्षणों के आधार पर साध्य-असाध्य व याप्य के भेद अलग से बताये गये हैं। जिस रक्तपित्त में साध्य के लक्षण एवं याप्य के लक्षण मिश्रित रूप से मिलते हों, वह रक्तपित्त याप्य होता है। याप्य व असाध्य के मिश्रित लक्षणों वाला रक्तपित्त असाध्य होता है। यथा-अधोमार्ग से निकलने वाला एक दोषज रक्तपित्त एक दोषज होने से साध्य होना चाहिए, किन्तु अधोगामी होने के कारण याप्य होता है तथा त्रिदोषज रक्तपित्त यदि अधोमार्ग से निकलता है तो अधोगामी होने के कारण उसे याप्य होना चाहिए, किन्तु त्रिदोषज होने से वह असाध्य होता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**"नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्"** (नि.अ. ८) [असाध्य व्याधि साध्य में नहीं बदलती जबकि साध्य व्याधि असाध्य में परिवर्तित हो जाती है।] तथा-**"साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा"** [साध्य व्याधि याप्य में बदल जाती है तथा याप्य असाध्य में परिवर्तित हो जाती है।] ॥२२॥

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः, पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥२३॥
ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम्। द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुबध्यते ॥२४॥

रक्तपित्त के विशेष निदान–ऊर्ध्वग रक्तपित्त प्रायः स्निग्ध एवं उष्ण आहार-विहार के द्वारा उत्पन्न होता है तथा अधोग रक्तपित्त उष्ण एवं रूक्ष आहार-विहार के द्वारा उत्पन्न होता है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ, अधोग में वायु तथा ऊभयमार्गी रक्तपित्त में कफ-वात (दोनों) का सम्बन्ध रहता है। ॥२३-२४॥

चक्रपाणि–'स्निग्धोष्णमित्यादि' के द्वारा निदान (रक्तपित्त) के वर्णन के बाद भी ये निदान मुख्य होने से विशेष रूप से बताने के लिए पुनः इसका अभिधान किया गया है। 'प्रायः' शब्द से 'अधिकतर' अर्थ लिया गया है। अर्थात् स्निग्ध व उष्ण आहार-विहार प्रायः (अधिकतर) ऊर्ध्वग रक्तपित्त का हेतु होता है, कभी-कभी (यदा-कदा) अधोग का भी हेतु होता है, उसी प्रकार उष्ण व रूक्ष आहार विहार अधोग का प्रायः कारण होता है, कभी-कभी यह ऊर्ध्वग का भी कारण होता है, यह अभिप्राय है।

Scanned by CamScanner

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमित्यादावपि प्रायः शब्दसंबन्धाद्व्यभिचारो ज्ञेयः –'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमित्यादि' श्लोक में प्रायः शब्द सम्बन्ध से व्यभिचरित होता है। अतः इस श्लोक के अनुसार ऊर्ध्वग रक्तपित्त-कफ, अधोग रक्तपित्त-वात तथा ऊर्ध्व एवं अधःमार्गी रक्तपित्त में कफ-वात का अनुबन्ध रहता है। ॥२३-२४॥

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः। तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥२५॥
गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम्। गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥२६॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम्। बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात् स्तम्भितमादितः ॥२७॥
तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा। रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृद्धं सिद्धिमिच्छता ॥२८॥

रक्तपित्त का सामान्य चिकित्सा-सूत्र

जिस रक्तपित्त के रोगी का बल व मांस क्षीण नहीं है, जो सम्यक् रूप से भोजन करता हो तथा जिसका दोष उत्क्लिष्ट हो गया हो अर्थात् दूषित दोष (रक्त) बढ़कर शरीर से बाहर निकलने के लिए उद्यत हो, **ऐसे रोगी में सर्वप्रथम दोषों को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए।**

दूषित रक्त के स्तम्भन से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ–यदि दूषित रक्त को निकलने नहीं दिया गया तथा उसे प्रारम्भ में ही रक्तस्तम्भन योगों द्वारा रोक देने पर अधोलिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं-गलग्रह (गले में अवरोध Obstruction of throat), पूतिनस्य (नासिका से दुर्गन्ध का निकलना), मूर्च्छा (Fainting), अरुचि (Anorexia), ज्वर (Fever), गुल्म (Phantom tumour), प्लीहावृद्धि (Enlargement of spleen), आनाह (Constipation), किलास (श्वेत कुष्ठ), कृच्छ्रमूत्रता (dysuria), कुष्ठ, अर्श (Piles), विसर्प (Erysipelas), वर्णनाश (Loss of complexion), भगन्दर (Fistula in ano), बुद्धीन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) में अवरोध का उत्पन्न होना।

इसलिए चिकित्सा में सफलता के इच्छुक वैद्य को चाहिए कि रोगी के बल एवं दोषों का विचार करते हुए सर्वप्रथम रक्तपित्त में प्रवृद्ध (प्रवृत्त) रक्त (जो रक्त बढ़कर बाहर निकल रहा है) की उपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् पहले निकलने वाले रक्त को रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। ॥२५-२८॥

चक्रपाणि–अश्नत इत्यनेन संतर्पणोत्थितं दर्शयति-जो रक्तपित्त संतर्पण जनित कारणों से उत्पन्न हो।

उत्क्लिष्टमिति–जो दोष बाहर निकलने के लिए उन्मुख हो, उन्हें उत्क्लिष्ट कहा गया है। अर्थात् रक्त जन्य पित्त प्रकुपित होकर शरीर से बाहर निकलने के लिए उद्यत होना। ऐसा आम दोषों के आश्रित होने से होता है।

बलदोषविचारिणेति–आतुर एवं व्याधि के बल का विचार करते हुए, यथा-जब दोष अल्प रह गये हों अथवा रक्त प्रवृत्ति के कारण रोगी के बल के क्षय की संभावना हो उस स्थिति में रक्तप्रवृत्ति को रोकना चाहिए, अर्थात् स्तम्भन औषधियों द्वारा रक्त का स्तम्भन करना चाहिए। ॥२५-२८॥

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम्। वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक्तस्मात्तल्लङ्घ्यमादितः ॥२९॥
मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च। लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥३०॥

रक्तपित्त में लङ्घन का प्रयोग–प्रायः (सामान्यतया) आम दोष के उत्क्लेशित होने से पित्त व रक्त की शरीर में वृद्धि हो जाती है, इसलिये रक्तपित्त मे सर्वप्रथम लङ्घन कराना चाहिए।

सर्वप्रथम रक्तपित्त के मार्ग (ऊर्ध्वग या अधोग), दोषों के अनुबन्ध एवं निदान (Causitive factors) का विचार करते हुए चिकित्सक को रक्तपित्त के आदि (प्रारम्भ) में लङ्घन (Fasting) अथवा तर्पण औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। ॥२९-३०॥

चक्रपाणि–'मार्गावित्यादि' के द्वारा रक्तपित्त में लङ्घन के हेतु को स्पष्ट किया गया है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त में सामपित्त, कफदोष तथा स्निग्ध-उष्ण निदान कारण होने से लङ्घन की उपयोगिता है, अर्थात् लङ्घन का प्रयोग कराया जाता है। उसके विपरीत अधोग रक्तपित्त में दोष वात, रूक्ष-उष्ण निदान कारण होने से तर्पण का प्रयोग किया जाता है। यहाँ तर्पण से भोजन रूप तर्पण का ग्रहण किया गया है।

तर्पयति इति–तर्पण रूप भोजन, यहाँ तर्पण से यवागू रूप तर्पण का ग्रहण किया गया है। [This Nourishment should be provided by yavāgu (gruel).] जो लोग तर्पण शब्द से सत्तू द्वारा तर्पण का ग्रहण करते हैं उनके अनुसार आगे आने वाले श्लोकों में जिन यवागुओं का निर्देश है, उनका प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। अतः यहाँ सत्तू रूप तर्पण का ग्रहण नहीं है। ॥२९-३०॥

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम्। केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे ॥३१॥
ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते। कालसात्म्यानुबन्ध्यज्ञो दद्यात् प्रकृतिकल्पवित् ॥३२॥
जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः। शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम् ॥३३॥

Scanned by CamScanner

तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रदापयेत् । ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति ।।३४।।
मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत् साम्लमपि कल्पयेत् । दाडिमामलकैर्विद्धानम्लार्थं चानुदापयेत् ।।३५।।

रक्तपित्त जन्य पिपासा में कर्तव्य–ह्रीबेर (सुगन्धबाला), लालचन्दन, उशीर (खश), मुस्तक (मोथा) तथा पित्तपापड़ा, इन द्रव्यों का षडंगपानीय विधि से क्वाथ बनाकर अथवा मात्र जल को उबालकर ठण्डा करके रक्तपित्त के रोगी को प्यास लगने पर देना चाहिए ।

तर्पण एवं पेया का प्रयोग–काल, सात्म्य एवं अनुबन्ध का ज्ञान रखने वाले रोगी एवं रोग की प्रकृति के ज्ञाता तथा विविध प्रकार की कल्पनाओं के ज्ञाता चिकित्सक को लङ्घनोत्तर ऊर्ध्वग रक्तपित्त में तर्पण एवं अधोग में पहले पेया देनी चाहिए ।

खर्जूर, मुनक्का, महुआ का पुष्प एवं परूषक, इन औषधियों को षडंगपानीय विधि से जल में सिद्ध कर लें । सिद्ध जल में शर्करा मिलाकर तर्पण हेतु पीने के लिए प्रयोग करें ।

ऊर्ध्वग रक्तपित्त में-लाजा चूर्ण के साथ अधिक मात्रा में घृत व मधु मिलाकर, तर्पणार्थ प्रयोग करें । इस तर्पण का प्रयोग योग्य काल में करने पर उचित समय में ऊर्ध्वग रक्तपित्त शान्त हो जाता है ।

मन्दाग्नि युक्त एवं जिन रोगियों को अम्लरस सात्म्य है उन्हें उपर्युक्त तर्पणों को अम्लरस वाले द्रव्यों से साधित कर देना चाहिए । तर्पण को अम्ल बनाने हेतु दाडिम (अम्ल दाडिम) एवं आँवले के रस का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् दाडिम एवं आँवले के रस से सिद्ध तर्पण का प्रयोग मन्दाग्नि एवं अम्ल सात्म्य रोगियों में करना चाहिए । ।।३१-३५।।

चक्रपाणि–केवलमिति-से ह्रीबेरादि से रहित शृत जल, अर्थात् जो रोगी औषधि सिद्ध जल से द्वेष करता है या जो रोगी इसे नहीं लेना चाहता उसे मात्र जल का क्वाथ बनाकर (षडंगपानीय विधि-५०० ml जल को उबालकर २५० ml कर लें) ठण्डा करके देना चाहिए, बताया गया है । 'कालः' से हेमन्तादि ऋतुओं का ग्रहण किया गया है । अनुबन्धः=दोषानुबन्ध (दोषों का अनुबन्ध) ।

प्रकृतिः स्वाभाविकी द्रव्याणां गुरुलाघवादिरूपा–प्रकृति से गुरु, लघु आदि द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों का ग्रहण किया गया है ।

कल्पनं कल्पः संस्कार इत्यर्थः –कल्पनं से कल्प अर्थात् संस्कार अर्थ लिया गया है । इस प्रकार काल एवं दोषों के अनुबन्ध को जानकर, जिस द्रव्य का जो स्वभाव है उसके अनुसार तर्पण अथवा यवागू का निर्माण करना चाहिए । खर्जूरादि के द्वारा जल का निर्माण षडंगपानीय निर्माण की जो विधि पूर्व में बतायी गई है, के अनुसार करना चाहिए । खर्जूरादि द्वारा साधित जल का प्रयोग कफ संसृष्ट ऊर्ध्वग रक्तपित्त में उपयोगी होता है, क्योंकि रक्तपित्त में व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है । ।।३१-३५।।

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशान्तिकाः । श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ।।३६।।
मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः । प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ।।३७।।
पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः । किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः सकठिल्लकः ।।३८।।
कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्यस्याथ शाल्मलेः । अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् ।।३९।।
शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम् । स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम् ।।४०।।
पारावतान् कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान् । शशान् कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान् ।।४१।।
रक्तपित्ते हितान् विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत् । ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ।।४२।।
कफानुगे यूषशाकं दद्याद्वातानुगे रसम् । रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ।।४३।।
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः । जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ।।४४।।
चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत् सनागरे । किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च ।।४५।।
धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृता । मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथ वा ।।४६।।
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे । सिद्धाः पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक्पृथक् ।।४७।।
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्नाः शीताः समधुशर्कराः । यवाग्वः कल्पना चैषा कार्या मांसरसेष्वपि ।।४८।।

रक्तपित्त में उपयोगी अन्न–रक्तपित्त के रोगी को शाली धान, साठी चावल, नीवार (तिन्नी का चावल), कोरदूष (कोदो), प्रशान्तिका, साँवा (श्यामाक चावल) एवं प्रियंगु के चावल का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिए । अर्थात् इन चावलों से निर्मित भात का प्रयोग खाने के लिए करना चाहिए ।

सूप एवं यूष का प्रयोग–मूंग, मसूर, चने, मकुष्ठ (मोठ), आढ़कीफल (अरहर); इन द्रव्यों द्वारा सूप (दाल) अथवा यूष बनाकर रक्तपित्त के रोगी को देना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

रक्तपित्त में उपयोगी शाक–पटोलपत्र (परवल की पत्ती), निम्बपत्र, वेत्राग्र, प्लक्ष (पाकड़ की पत्ती), वेतस पत्र, चिरायता की पत्ती, गण्डीर, कांठल्लक (करेला), कोविदार पुष्प (काञ्चनार के पुष्प), काश्मर्य (गम्भारी) व सेमल के पत्र तथा अन्नपान विधि अध्याय में निर्दिष्ट और भी दूसरे शाक जो रक्तपित्त नाशक हैं, उनका उपयोग (प्रयोग) करना चाहिए। इन शाकों का प्रयोग जिन्हें शाक सात्म्य हैं, उन्हें विशेष रूप से करना चाहिए। शाक को स्विन्न (Boiled) करके अथवा घी में भुनकर तैयार करें अथवा यूष की तरह भी शाक का प्रयोग किया जाता है।

रक्तपित्त में मांसरस–पारावत, कपोत (कबूतर), लावपक्षी, रक्ताक्ष, वर्तक (वटेर), शश (खरगोश), कपिञ्जल, एण (बारहसिंहा), हरिण, कालपुच्छक; इन पक्षियों एवं पशुओं के मांसरस का प्रयोग रक्तपित्त में उपयोगी होता है। इस मांसरस को ईषद् रूप में अम्ल (दाडिम अथवा आँवले के स्वरस द्वारा) रस युक्त बनाकर अथवा बिना अम्लरस युक्त किये ही घृत में भुनकर तथा उसमें शर्करा डालकर प्रयोग करना चाहिए।

कफानुगत रक्तपित्त में यूष एवं शाक तथा वातानुगत रक्तपित्त में मांसरस का प्रयोग करना चाहिए।

रक्तपित्त में उपयोगी यवागू–

→ पद्म, उत्पल, किञ्जल (कमल का फूल), पृश्निपर्णी एवं प्रियङ्गु; इन द्रव्यों द्वारा सिद्ध जल से निर्मित पेया का प्रयोग रक्तपित्त के रोगी में करना चाहिए।

→ चन्दन (लाल चन्दन), उशीर (खश), लोध्र एवं सोंठ (शुण्ठी) द्वारा सिद्ध जल से निर्मित पेया का प्रयोग रक्तपित्त का रोगी करे।

→ किराततिक्तक (चिरायता), उशीर (खश) एवं मुस्तक (मोथा) द्वारा सिद्ध जल से निर्मित पेया, रक्तपित्त नाशक होती है।

→ धातकी पुष्प, धन्वयास अथवा बिल्व के क्वाथ से निर्मित पेया, रक्तपित्त नाशक होती है।

→ मसूर व पृश्निपर्णी अथवा स्थिरा (सरिवन) व मुद्ग (मूंग) के क्वाथ (रस) से निर्मित यवागू का प्रयोग।

→ हरेणु (मेऊड़ी के बीज) साधित जल अथवा बला के क्वाथ द्वारा बनायी गयी घृत मिश्रित यवागू रक्तपित्त नाशक होती है।

→ पारावत आदि (श्लोक नं. ४१ में निर्दिष्ट पारावत, कपोत, लाव, रक्ताक्ष, वर्तक (वटेर), शश, कपिञ्जल, एण एवं हरिण) के मांसरस से सिद्ध यवागू रक्तपित्त नाशक होती है।

यहाँ यवागू का निर्माण अलग-अलग प्राणियों के मांसरस से करने का विधान है। अर्थात् पारावत के मांसरस से यवागू का निर्माण, तथा कपोत के मांसरस से यवागू का निर्माण। यहाँ विभिन्न मांसरसों द्वारा पृथक्-पृथक् यवागुओं का निर्माण करना चाहिए, यह अभिप्राय है। इस प्रकार यहाँ रक्तपित्त नाशक यवागुओं का उल्लेख किया गया। इनका प्रयोग ठण्डा करके मधु व शर्करा मिलाकर करना चाहिए। यवागू निर्माण की प्रक्रिया के अनुसार ही मांसरस का भी निर्माण करना चाहिए। अर्थात् षडंग परिभाषानुसार जल को तैयार कर उस जल से मांसरस को तैयार करें। ॥३६-४८॥

चक्रपाणि–'शालीत्यादि' के द्वारा रक्तपित्त में उपयोगी अन्न का अभिधान किया गया है। प्रशान्तिका (एक प्रकार का चावल, जिसके दाने छोटे होते हैं) जल में होने वाला पौधा (धान्य), यह प्राय: जल में ही होता है। प्रियङ्गु=कङ्गु (कंगुनी)

कोरदूषस्य रक्तपित्तहेतुत्वं निष्पावमाषसूपादियुक्तस्यैव संयोगमहिम्ना निदाने प्रोक्तम्–कोरदूष (कोदो) को निष्पाव, माष (उड़द) आदि के साथ संयोग कर प्रयोग करने पर रक्तपित्त का उत्पादक बताया गया है (निदानस्थान), ऐसा माष आदि के संयोग के प्रभाव के कारण होता है। यद्यपि कि यहाँ कषाय, मधुर एवं लघु होने से कोरदूष (कोदो) को रक्तपित्त नाशक पढ़ा गया है। इसी प्रकार गण्डीर भी निदानस्थान में सुरा, सौवीरक आदि के साथ प्रयोग करने पर रक्तपित्त का उत्पादक बताया गया है, जबकि वह अकेले उपयोग करने पर रक्तपित्त शामक होता है। अथवा स्थलज एवं जलज भेद से गण्डीर दो प्रकार का होता है। अत: हरितवर्ग में पठित गण्डीर रक्तपित्त का उत्पादक होता है तथा शाक वर्ग में वर्णित गण्डीर (जलज) का प्रयोग कफ की अधिकता वाले रक्तपित्त में करना चाहिए, ऐसा समझना चाहिए।

यूषवद्वा विपाचितमिति–जिस प्रकार यूष को दाडिम आदि अम्ल द्रव्यों से खट्टा बनाया जाता है उसी प्रकार शाक का भी पाक करना चाहिए अथवा शाक का भी यूष बनाकर प्रयोग करना चाहिए। रक्ताक्ष:=चकोर। **यूषश्च शाकं चेति यूषशाकम्**-यूष और शाक, कफानुगत रक्तपित्त में मुद्ग, मसूर आदि द्रव्यों के यूष एवं पटोल, निम्ब आदि के पत्रों से निर्मित शाक का प्रयोग करना चाहिए। ॥३६-४८॥

शश: सवास्तुक: शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम्। बातोल्बणे तित्तिरि: स्यादुदुम्बररसे श्रृत: ॥४९॥
मयूर: प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुट:। रसे बिल्वोत्पलादीनां वर्तकक्रकरौ हितौ ॥५०॥
तृष्यते तिक्तकै: सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम्। सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा श्रृतशीतलम् ॥५१॥

Scanned by CamScanner

व्याधि की अवस्था विशेष के अनुसार आहार–१. रक्तपित्त के रोगी को विबन्ध (Constipation) होने पर बथुए के शाक के साथ शश के मांसरस का प्रयोग करना अत्यन्त हितकर होता है। २. वात प्रधान रक्तपित्त में उदुम्बर के रस (क्वाथ) से निर्मित तीतर के मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। ३. अथवा प्लक्ष (पाकड़ के छाल) द्वारा निर्मित क्वाथ में मोर के मांस को पकाकर बने हुए मांसरस का प्रयोग ४. अथवा न्यग्रोध क्वाथ द्वारा सिद्ध मुर्गे का मांसरस। ५. बिल्व एवं उत्पलादि (पाठ भेद-बिसोत्पलादीनां) के क्वाथ में निर्मित वर्तक एवं क्रकर के मांसरस का प्रयोग करना उपयोगी है।

रक्तपित्त रोगी की तृष्णा में तिक्त द्रव्यों से साधित जल अथवा तृष्णानाशक फलों के रस अथवा विदारिगन्धादि गण के द्रव्यों से सिद्ध जल अथवा मात्र उष्ण जल को शीतल करके, पिलाना चाहिए। ॥४९-५१॥

चक्रपाणि–'शश इत्यादि' के द्वारा अवस्था-विशेष के अनुसार रक्तपित्त में क्या भोजन देना चाहिए, स्पष्ट किया गया है। यहाँ खरगोश का मांस कषायरस युक्त होने से रक्तपित्त नाशक तो होता ही है, बथुए से संस्कारित होने के कारण विबन्धनाशक भी हो जाता है। इसी प्रकार तीतर एवं मोर आदि का मांस भी यद्यपि उष्ण होने से वातहर होते हैं, फिर भी रक्तपित्त में उष्ण होने से यह उपयोगी नहीं होता। जब इसे उदुम्बर के क्वाथ से सिद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् उदुम्बर के क्वाथ मे तीतर एवं मोर के मांस को पका दिया जाता है तब इससे निर्मित मांसरस का प्रयोग रक्तपित्त के प्रशमन हेतु करते हैं। इस विधि द्वारा निर्मित मांसरस वात एवं रक्तपित्त नाशक होता है।

प्रतिनियतसाधकद्रव्योपन्यासात् संयोगमहिम्नैव कार्यकरा भवन्तीति ज्ञायते–नियत साधक द्रव्यों के संयोग के प्रभाव से ही द्रव्य कार्यकर होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् निश्चित गुणों को उत्पन्न करने के लिए नियत द्रव्य से ही द्रव्य का संस्कार करना पड़ता है। बथुए के शाक से संस्कारित होने से शश (खरगोश) का मांस कषायरस युक्त होते हुए भी विबन्धोत्पादक नहीं होता। उदुम्बर क्वाथ से सिद्ध तीतर का मांस उष्णगुण युक्त होते हुए भी रक्तपित्त का प्रकोपक नहीं होता। इस प्रकार द्रव्यों के संयोग के अचिन्त्य प्रभाव से विपरीत परिणाम नहीं प्राप्त होता।

बथुए के रस में ही खरगोश के मांस को सिद्ध करना चाहिए, यह परिणाम पारस्परिक संयोग से ही प्राप्त होता है। कहा भी गया है, यथा-**''विपचेत्तु वास्तुकरसे शशं विबन्धे पुरीषस्य''** इति।

सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरिति-विदारिगन्धादि गण के द्रव्यों से सिद्ध (साधित) जल का प्रयोग पिपासा की शान्ति हेतु करना चाहिए। शालपर्णी, पृश्निपर्णी आदि पञ्चमूल के क्वाथ का प्रयोग अथवा इन द्रव्यों द्वारा षडंगपानीय विधि से बने हुए जल का प्रयोग करना चाहिए। ॥४९-५१॥

ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च। जलं पिपासवे दद्याद्विसर्गादल्पशोऽपि वा ॥५२॥

चिकित्सक-दोष के अनुबलत्व, आतुर का बल एवं रोगी की आहारशक्ति का विचार करके रक्तपित्त रोगी की तृष्णा में रोगी की इच्छानुसार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में तब तक जल पिलावे जब तक की आतुर की पिपासा शान्त न हो जाय।

चक्रपाणि–'ज्ञात्वेत्यादि' से यहाँ रोगी को किस प्रकार जल पिलाना चाहिए, यह बताया गया है। **दोषाविति**-वात एवं कफ दोष का ज्ञान करके। पित्त तो यद्यपि रक्तपित्त की उत्पत्ति में मूल कारण है, इसे अनुबल नहीं कहा जा सकता [**अनुबल**-अनुबन्ध रूप (अप्रधान रूप) दोष, इससे यहाँ कफ व वात का ग्रहण है॥

विसर्गादिति विरतेः–रुककर, प्यास लगने पर रोगी को रुक-रुक अल्प मात्रा में बार-बार जल पिलाना चाहिए (जब रोगी की जल पीने की इच्छा हो)। पाठ भेद से विसर्गात् के स्थान पर 'बहुशो वा' प्राप्त होता है, ऐसा होने पर- 'रोगी को बार-बार एवं अल्प मात्रा में जल पिलाना चाहिए' अर्थ होगा। ॥५२॥

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किंचित् संप्रकाशितम्। जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥५३॥
इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तनुत्।

यदि रक्तपित्त का रोगी जीवन एवं आरोग्य का इच्छुक है तो उसे रक्तपित्त निदान (नि.अ. २) में रक्तपित्त के जो कुछ भी हेतुओं का निर्देश किया गया है, उसका त्याग करना चाहिए। इस प्रकार रक्तपित्त नाशक अन्न-पान का क्रमशः निर्देश किया गया। ॥५३॥

चक्रपाणि–'निदानमित्यादि' से रक्तपित्त में निदान-परिवर्जन के विषय को स्पष्ट किया गया है। ॥५३॥

जल्पकल्पतरु टीका–निदानमित्यादि के द्वारा निदान परिवर्जन को बताया गया है। निदानस्थान में निर्दिष्ट रक्तपित्त के सभी निदानों तथा इस प्रकरण (रक्तपित्त चिकित्सा) में जो कुछ भी रक्तपित्त के निदान बताये गये हैं, जीवन एवं आरोग्य की इच्छा रखने वाला रोगी, उन सब हेतुओं का त्याग करे।

Scanned by CamScanner

'इत्यन्नेत्यादि' से अन्न-पान विषय का उपसंहार किया गया है।

वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत् ।।५४।।
अक्षीणबलमांसस्य यस्य संतर्पणोत्थितम् । बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ।।५५।।
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम् । विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च ।।५६।।
त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा । त्रायमाणां गवाक्ष्या वा मूलमामलकानि वा ।।५७।।
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम् । रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः ।।५८।।
वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः । सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा ।।५९।।
वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु । अधोवहे रक्तपित्ते वमनं परमुच्यते ।।६०।।
ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिः क्रमो हितः । अधोगते यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली ।।६१।।

रक्तपित्त में संशोधन चिकित्सा

आगे अत्यधिक दोष युक्त बलवान् रक्तपित्त के रोगी के लिए जिस उपक्रम का प्रयोग करना चाहिए, उसका निर्देश करेंगे–

जिस रोगी का बल व मांस क्षीण नहीं है, व्याधि संतर्पणजन्य हेतुओं से उत्पन्न है, जिसके दोष अधिक कुपित हैं तथा रोगी संशोधन के वेग को सहने में सक्षम हो, व्याधि उपद्रव रहित हो; ऐसे पुरुषों में ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन तथा अधोग में वमन का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् विरेचन द्वारा ऊर्ध्वग एवं वमन द्वारा अधोग रक्तपित्त की चिकित्सा करनी चाहिए।

विरेचनार्थ उपयोगी द्रव्य–रक्तपित्त में विरेचन हेतु विशेष रूप से त्रिवृत् (सफेद निशोथ) एवं अभया (हरड़) का प्रयोग अथवा आरग्वध फल (अमलतास के फल की गुद्दी) अथवा त्रायमाणा या गवाक्षी का मूल अथवा आँवले के रस (क्वाथ) में अत्यधिक मात्रा में मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को देना चाहिए। अर्थात् त्रिवृतादि द्रव्यों के क्वाथ में मधु व शर्करा मिलाकर विरेचन हेतु ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी को देना चाहिए।

वमनार्थ उपयोगी द्रव्य–अधोग रक्तपित्त में वमन हेतु मदनफलपिप्पली चूर्ण, मन्थ (सतू के घोल) में शर्करा व मधु को मिश्रित कर शर्करा युक्त जल (चीनी का सरबत) अथवा इक्षुरस के साथ देना चाहिए। वत्सक (इन्द्रयव), मुस्तक, मदनफल पिप्पली, यष्टीमधु; इन द्रव्यों के चूर्ण को मधु के साथ अधोग रक्तपित्त में वमनार्थ पिलाना चाहिए। यह योग वमन हेतु श्रेष्ठ कहा गया है।

ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर तर्पणादि क्रम एवं अधोग रक्तपित्त में यवागू आदि का प्रयोग वायु के बली न होने की अवस्था में कराना चाहिए। ।।५४-६१।।

चक्रपाणि–'वक्ष्यते इत्यादि' के द्वारा संशोधन चिकित्सा का अभिधान प्रधान भेषज होने से कहा गया है। अर्थात् यहाँ वक्ष्यते इत्यादि के द्वारा संशोधन चिकित्सा को बतलाया गया है।

अक्षीणबलमांसस्य इति–रोगी के सहज बल की हानि का न होना, अर्थात् व्यक्ति का स्वाभाविक बल बना रहना। 'बलवत्' से कालकृत बल का ग्रहण किया गया है, यथा-हेमन्त में व्यक्ति का बल वृद्ध रहता है। **काले**-संशोधन योग्य काल में, वे ऋतुएं जो न तो अधिक उष्ण एवं न तो अधिक शीत हों। [यहाँ संशोधन काल से प्रावृट्, शरद व वसन्त का ग्रहण किया गया है।]

निरुपद्रवमिति क्रियाविशेषणम्–उपद्रव रहित, क्रिया विशेषण है या इस शब्द के द्वारा रक्तपित्त की विशेषता को बताया गया है। **विरेचनेनोर्ध्वभागमित्यादिना अनुलोमहरणं रक्तपित्ते निषेधयति** 'विरेचनेन ऊर्ध्वभागमिति' के द्वारा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन का प्रयोग करना चाहिए, अनुलोमहर औषधियों का प्रयोग रक्तपित्त में निषिद्ध किया गया है। कहा भी गया है, यथा-"प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते" (नि.अ. २) [रक्तपित्त में मार्गविरुद्ध चिकित्सा की जाती है।] 'रक्तपित्ते विशेषतः' से रक्तपित्त से भिन्न व्याधियों में त्रिवृत् आदि के कल्क का भी प्रयोग किया जाता है। अर्थात् विरेचन हेतु विशेष रूप से विरेचक औषधियों (त्रिवृतादि) के स्वरस या क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए।

वमनमिति–वमनकारक योगों का प्रयोग वमन हेतु करना चाहिए। दोषों के अनुसार मदनफल की मात्रा का निर्देश कल्पस्थान में किया जायेगा।

सशर्करे सलिले तथेक्षुरसे मदनयोगादेव वमनकर्तृत्वं ज्ञेयम्–शर्करा मिश्रित जल (शरबत) तथा इक्षुरस के साथ ही मदनफलयोग का संयोग होने से सम्यक् वमन होता है, ऐसा जानना चाहिए।

अधोवहे इत्यत्रापि शुद्धकोष्ठस्येति योज्यम्–अधोग रक्तपित्त में कोष्ठ की शुद्धि हेतु वमन का प्रयोग करना चाहिए।

न चेत् स्यान्मारुतो बलीत्यनेन–वमन या विरेचन के बाद यदि रोगी में वायु का प्रकोप है तब मांसरस के साथ भात का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् यहाँ भी ज्वरोक्त विधि का पालन करना चाहिए। ।।५४-६१।।

Scanned by CamScanner

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम् । ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ।।६२।।
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशिनम् । अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ।।६३।।
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया । शस्यते रक्तपित्तस्य परं साऽथ प्रवक्ष्यते ।।६४।।
अटरूषकमृद्वीकापथ्याक्वाथः सशर्करः । मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः ।।६५।।
अटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने । विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ।।६६।।
पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तुकमुत्पलम् । नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ।।६७।।
प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाम्बशकृद्रसे । यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे ।।६८।।
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना । युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद्गोश्वशकृद्रसम् ।।६९।।
खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः । पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्यान्ना रक्तपित्तिकः ।।७०।।
शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि । लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ।।७१।।
धन्वजानामसृग्लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम् । सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत् ।।७२।।

रक्तपित्त में शमन चिकित्सा का प्रयोग

संशोधन चिकित्सा का निषेध–१. जिस रक्तपित्त रोगी का बल व मांस क्षीण हो गया है ।

२. जो रोगी शोक (अत्यधिक चिन्ता), भार ढोने (अत्यधिक भार ढोने) तथा अत्यधिक पैदल चलने के कारण कृश हो गया है ।

३. जो रोगी या पुरुष अग्नि या सूर्य के ताप से संतप्त है अथवा किसी अन्य व्याधि द्वारा क्षीण हो गया है ।

४. गर्भिणी, बालक, वृद्ध एवं अन्य पुरुष जो रूक्ष, अल्प एवं प्रमित (नपे-तुले) भोजन करने वाले हैं अथवा जिन रोगियों में वमन या विरेचन नहीं कराया जा सकता ।

५. ऐसे रक्तपित्त का रोगी जिसमें शोष (यक्ष्मा) अनुबन्ध के रूप में विद्यमान है ।

उपर्युक्त सभी रोगियों में संशमन चिकित्सा का प्रयोग करना उत्तम होता है । अब आगे उसका अभिधान किया जा रहा है-

१. अटरूषक (अडूसा-वासा), मृद्वीका (मुनक्का), पथ्या (छोटी हरड़); इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित क्वाथ को शर्करा व मधु मिलाकर पीने से श्वास (Asthma), कास (Bronchitis) एवं रक्तपित्त शान्त हो जाता है ।

२. अटरूषक (अडूसा) के काढे (क्वाथ) में प्रियङ्गु, मृत्तिका, अञ्जन, लोध्र एवं मधु को मिलाकर पीने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है।

३. पद्मकाठ, पद्म किञ्जल (कमल का केशर), दूर्वा (हरीदूब), बथुआ (वास्तूक), उत्पल (नील कमल), नागकेशर एवं लोध्र; का प्रयोग पूर्व निर्दिष्ट विधि के अनुसार करना चाहिए ।

४. घोड़े के पुरीष (गोबर) के रस में प्रपौण्डरीक, मधुक (यष्टीमधु) एवं मधु का प्रयोग, रक्तपित्त नाशक होता है । अथवा यवास व भृंगराज के मूल को (मूल कल्क को), गाय के गोबर के रस को चावल के धोवन के साथ पीवें । अर्थात् यवास, भृंगराज का कल्क+गोबर का रस+चावल का धोवन एक में मिलाकर पीने से रक्तपित्त विनष्ट हो जाता है ।

५. गाय के गोबर का रस अथवा घोड़े के पुरीष का रस में मधु मिलाकर चाटें ।

६. खदिर, प्रियङ्गु, कोविदार (काञ्चनार) एवं शाल्मली के पुष्प को चूर्ण बनाकर मधु के साथ रक्तपित्त रोगी को सेवन करना चाहिए ।

७. सिंघाड़ा, धान का लावा, मुस्तक (मोथा), खर्जूर व पद्मकेशर के चूर्ण को मधु के साथ चाटने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है । धन्व (जांगल) क्षेत्र में रहने वाले पशुओं एवं पक्षियों के रक्त में मधु मिलाकर चाटें ।

८. यदि रक्तपित्त रोगी का स्रवित रक्त ग्रथित हो (जम) जा रहा है तब कपोत पुरीष चूर्ण (कपोत बीट) को मधु के साथ मिलाकर सेवन करने से रक्त घुल जाता है । अर्थात् जमा हुआ थक्का पिघलकर बाहर आ जाता है ।

[If the blood is clotted, then the stool of PĀRĀVATA mixed with honey should be given to the patient in the form of a linctus.-Baidya Bagvan Das]

चक्रपाणि–'बलमांसेत्यादि' के द्वारा संशमन चिकित्सा को बताया गया है । शोषेणेति-राजयक्ष्मणा (राजयक्ष्मा द्वारा) । अटरूषक (अडूसा), मृद्वीका (मुनक्का) आदि से निर्मित योग को कुछ आचार्य कामलाहर (कामला नाशक) कहते है । अर्थात् अटरूषकादि योग को 'कामला नाशक' योग के रूप में कुछ आचार्य स्वीकार करते हैं । अटरूषकादि निर्यूह (क्वाथ) में प्रियंङ्गु आदि द्रव्यों के कल्क मिश्रित रूप

Scanned by CamScanner

से १ कर्ष मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। मधु भी १ कर्ष ही डालना चाहिए, यही परिभाषा में भी निर्दिष्ट है। आचार्य अग्निवेश के द्वारा कहा भी गया है, यथा-**''कर्षश्चूर्णस्य कल्कस्य गुडिकानां च सर्वशः। मात्रा क्षौद्रघृतादीनां क्वाथस्नेहेषु चूर्णवत्''** इति [कल्क, चूर्ण, वटी, मधु व घृत की मात्रा १ कर्ष होती है। यह मात्रा क्वाथ, घी अथवा तैल सिद्ध करने की बतायी गयी है। दूसरे आचार्य चूर्णादि की १ कर्ष मात्रा स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होती है, ऐसा कहते हैं। यहाँ अटरूषकादि क्वाथ का निर्माण क्वाथ की परिभाषा के अनुसार करना चाहिए एवं कल्क विधि के अनुसार कल्क को तैयार करना चाहिए। प्रियंङ्गु आदि प्रत्येक द्रव्य को यदि १-१ कर्ष मान में लिया जाय तब द्रव्यों की संयुक्त मात्रा अधिक हो जाती है। अतः यहाँ द्रव्यों की १ कर्ष मात्रा संयुक्त रूप (मिलित रूप) में बतायी गयी है, ऐसा समझें!

तेनैव विधिनेति-उस विधि के अनुसार ही अटरूषकादि के निर्यूह (क्वाथ) में मधु मिलाकर प्रयोग करें।

खदिरस्येत्यादौ पुष्पचूर्णानीति बहुवचनत्वाद्रक्तपित्तनुदिति-खदिरादि द्रव्यों के पुष्पों का चूर्ण करके मधु के साथ प्रयोग करना रक्तपित्त नाशक होता है। 'पुष्पचूर्णानि' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसके साथ रक्तपित्तनुत् जुड़ा हुआ है। यह विशेषण पुरुष के लिए आया है। अर्थात् सभी द्रव्यों के पुष्पों से एक योग का निर्माण करना चाहिए। यह योग रक्तपित्त नाशक होता है।

धन्वजानामिति-जाङ्गल-पशु-पक्षियों के रक्त का प्रयोग मधु के साथ करना चाहिए। ॥६२-७२॥

उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः। पृथक्-पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः। सर्शकरास्तण्डुलधावनाप्लुताः ॥७३॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः। किराततिक्तं क्रमुकं समुस्तं प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ॥७४॥
ह्रीबेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम्। धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वङ्न्यग्रोधशालेययवासकत्वक् ॥७५॥
तुगालतावेतसतण्डुलीयं ससारिवं मोचरसः समङ्गा। पृथक्-पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥७६॥
निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता वा मृदिताः श्रुता वा। एते समस्ता गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः ॥७७॥

१. उशीर (खश), कालीयक, लोध्र, पद्मक, प्रियङ्गु, कट्फल (कायफल), शंख एवं गैरिक; प्रत्येक द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें तथा चूर्ण के समान भाग लाल चन्दन का चूर्ण मिला लें। इस चूर्ण (उशीरादि चूर्ण) का प्रयोग शर्करा एवं चावल के धोवन के साथ करने पर रक्तपित्त, तनक श्वास, पिपासा एवं दाह का रोगी शीघ्र ही आरोग्य लाभ करता है। -**उशीरादि चूर्ण**

२. किराततिक्त, पठानी लोध्र, मुस्तक, प्रपौण्डरीक, कमल, उत्पल, ह्रीबेर मूल (सुगन्धबाला का मूल), पटोल पत्र (परवल की पत्ती), दुरालभा, पर्पटक (पित्तपापड़ा), मृणाल, धनञ्जय (अर्जुन) की छाल, उदुम्बर (गूलर) की छाल, वेतस त्वक्, न्यग्रोध (वट) की छाल, शालेय, यवासक त्वक्, तुगा (वंशलोचन), लता (प्रियंगु), चौलाई, अनन्तमूल, मोचरस, समङ्गा (लज्जालु); इन द्रव्यों को अलग-अलग लेकर समान मात्रा में रक्त चन्दन का चूर्ण मिलाकर चावल के धोवन में चीनी मिलाकर पीने से रक्तपित्त नष्ट हो जाता है। अथवा उपर्युक्त सभी द्रव्यों के चूर्ण अथवा पृथक्-पृथक् द्रव्यों के चूर्ण को रात्रि पर्यन्त जल में भिगोकर शीत कल्पना के द्वारा तैयार स्वरस अथवा हरे द्रव्यों के स्वरस अथवा कल्क बनाकर अथवा फाण्ट बनाकर अथवा क्वाथ बनाकर पीने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है। ॥७३-७७॥

चक्रपाणि-उशीरेत्यादौ से लेकर पृथक्-पृथक् इति तक शब्द द्विरुक्ति है। इसरो उशीर आदि प्रत्येक द्रव्य की अलग-अलग मात्रा के साथ समान मात्रा में चन्दन (रक्त) के चूर्ण के प्रयोग को बताया गया है। इस प्रकार यहाँ आठ योग (प्रयोग) बताये गये हैं। [१. उशीर+चन्दन, २.कालीयक+चन्दन, ३. लोध्र+चन्दन, ४. पद्म+चन्दन, ५. प्रियंगु+चन्दन, ६. कट्फल+चन्दन, ७. शंख+चन्दन, ८. गैरिक+चन्दन]

सशर्करा इति-इस वचन से यहाँ शर्करा की भी मात्रा समान ही लेनी चाहिए, ग्रहण किया गया है। आचार्य अग्निवेश के द्वारा कहा भी गया है, यथा-**''माषिकं हिंगु, सिन्धूत्थलवणाद्यास्तु शाणिकाः। सितोपलागुडक्षाराः समा, एषा प्रकल्पना''** इति [हिंगु का प्रयोग १ माषा (one gram), सैन्धव लवण आदि १ शण मात्रा तथा चीनी, गुड़ व क्षार की मात्रा बराबर होनी चाहिए।] जहाँ शर्करा का प्रयोग प्रक्षेप रूप में करना हो वहाँ प्रक्षेप न्याय के अनुसार शर्करा की मात्रा डालनी चाहिए। किरातिक्तकादि द्रव्यों में भी अलग-अलग द्रव्यों के साथ चन्दन का संयोग करना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की मात्रा के बराबर चन्दन की मात्रा का ग्रहण करना चाहिए।

तैनेव कल्पेनेत्यनेन-उन्ही कल्पनाओं के द्वारा, चावल के धोवन में शर्करा मिलाकर निर्दिष्ट योगों का सेवन करना चाहिए।

क्रमुकं=पठानी लोध्र। धनञ्जय=अर्जुन। लता=प्रियङ्गु। समङ्गा=वाराहक्रान्ता (लज्जालु)।

निशिस्थिता इत्यादिना किराततिक्तादीनां कल्पनामाह-'निशिस्थिता' के द्वारा किराततिक्तादि कल्पनाओं का अभिधान किया गया है। अथवा 'निशिस्थिता' से शीतकषाय का ग्रहण है। मृदीता इति-फाण्टीकृता (उष्ण जल में द्रव्य के चूर्ण को डालकर, बाद में मसलकर उसके रस को निकाल लें) यह विधि फाण्ट कही जाती है। कल्क ग्रहण से ही यहाँ चूर्ण का भी ग्रहण है। पाठ भेद से आचार्य सुश्रुत भी कल्पनाओं के छः ही भेद स्वीकार करते हैं, यथा-''क्षीरं रसः कल्कमथो कषायः शृतश्च शीतश्च तथैव फाण्टः। कल्पा षडेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघवः प्रदिष्टाः'' (सु.सू.अ. ४४) इति [क्षीरी वृक्षों के दुग्ध, स्वरस, कल्क, क्वाथ (शृत कषाय), शीतकषाय और फाण्ट; ये ६

Scanned by CamScanner

प्रकार के कल्प बताये गये हैं, ये योग (कल्प) उत्तरोत्तर गुणों में लघु होते हैं ।] अन्य आचार्य चूर्ण को भी फाण्ट से ही ग्रहण कर लेते हैं। सुश्रुत सू.अ. ४४ का पाठ इसका प्रमाण है । अर्थात् आचार्य सुश्रुत फाण्ट के ही अन्तर्गत चूर्ण को ग्रहण करते हैं, यह भाव है । तब चूर्ण शब्द से अन्य कल्प का अभिधान है, यह शंका उत्पन्न होती है । इस प्रकरण में फाण्ट शब्द से कृष्णात्रेय द्वारा पठित फाण्ट का ही ग्रहण है । अर्थात् उसमें चूर्ण को समावेशित नहीं किया गया है । जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-"क्षुण्णस्य सलिले तप्ते मृदितस्योद्धृतस्य च । यो रसो गृह्यते तज्ज्ञैःय स फाण्टः संप्रकीर्तितः" इति । इस प्रकार द्रव रहित कल्क ही यहाँ चूर्ण शब्द से कहा गया है । यहाँ 'एते इत्यादि' के द्वारा इसके व्यस्त एवं समस्त (अलग-अलग एवं संयुक्त) प्रयोग को बताया गया है । अर्थात् सभी द्रव्यों को संयुक्त रूप से प्रयोग करना अथवा पृथक्-पृथक् प्रयोग करना। **गणश इति**-उशीरादि गण, गण के अनुसार प्रयोग करना, यथा-उशीरादिगण, किरातितिक्तादिगण तथा तुगादि गण । यहाँ प्रत्येक प्रयोग में समान मात्रा में चन्दन के चूर्ण का प्रयोग करना है । जब गणानुसार द्रव्यों का ग्रहण करते हैं तब भी गण में निर्दिष्ट द्रव्यों के संयुक्त रूप से चूर्ण की मात्रा के बराबर चन्दन के चूर्ण का ग्रहण करते हैं, ऐसा विचार अनुभवी चिकित्सकों का है । ॥७३-७७॥

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन । बलाजले पर्युषिताः कषाया रक्तं सपित्तं शमयन्त्युदीर्णम् ॥७८॥

बला के क्वाथ में मुद्ग, लाजा, यव, पिप्पली, उशीर (खश) एवं चन्दन के यवकुट चूर्ण को डालकर रात भर भिगोकर रख दें । प्रातःकाल इस जल का प्रयोग करने से अत्यन्त उत्क्लेशित रक्तपित्त भी शान्त हो जाता है ।

चक्रपाणि-बलाजल इति-बला द्वारा साधित शीत जल में । **पयुर्षिताः कषाया इति**-शीतकषाय ॥७८॥

[बला के क्वाथ को ठण्डा कर लें तथा उसमें सायंकाल मुद्ग, लाजा, यव, पिप्पली, उशीर एवं चन्दन के यवकुट किये हुए चूर्ण को डालकर रात भर के लिए रख दें । प्रातः काल इसे मसलकर जल को छान लें । इस छने हुए जल का प्रयोग रक्तपित्त में करें ।]

वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम् । मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥७९॥
उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः । सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥८०॥
प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम् । समृत्प्रसादं सह यष्टिकाम्बुना सशर्करं रक्तनिवर्हणं परम् ॥८१॥

१. वैदूर्यमणि, मुक्तामणि, गैरिक, काली मिट्टी, शंख, सुवर्ण एवं आँवले के चूर्ण को रातभर जल में भिगोकर रख दें, प्रातःकाल इस जल को छानकर पीने से अथवा इस छने हुए जल में मधूदक (मधु का शरबत) अथवा इक्षुरस मिलाकर पीने से रक्तपित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है ।

२. उशीर (खश), पद्म (लाल कमल), उत्पल (नील कमल) एवं चन्दन को जल में भिगो दें, इस भीगे हुए जल में पक्व मिट्टी का टुकड़ा डालें, पश्चात् ऊपर के स्वच्छ जल को निकालकर उसमें शर्करा व मधु मिलाकर अतिरक्त प्रवृत्ति में रोगी को पीने के लिए दें । इसके प्रयोग से प्रवृद्ध रक्तपित्त शान्त हो जाता है । **-(उशीरादि शीतकषाय)**

३. प्रियंङ्गु, चन्दन, लोध्र, अनन्तमूल सरिवा, महुआ, मुस्तक (मोथा), अभय (उशीर=खश) तथा धातकी; इन द्रव्यों से सिद्ध जल को पकी हुई मिट्टी के जल में डालकर, ऊपर निथरे हुए जल को निकाल लें, अर्थात् निथरे हुए जल में चीनी व मधु मिलाकर पान करें। इसके प्रयोग से तीव्र रक्तस्राव भी शान्त हो जाता है [अर्थात् उपर्युक्त द्रव्यों से जल को साधित कर लें । इस जल में पके हुए उष्ण मिट्टी के ढेले को डालें, पश्चात् जल के स्वच्छ भाग को पृथक् कर लें । इस स्वच्छ जल में मधु व शर्करा डालकर पीयें ।] ॥७९-८१॥

४. इसी प्रकार मोती साधित जल को पक्व मिट्टी से संस्कारित करके उसमें शर्करा मिलाकर पीने से प्रवृद्ध रक्तपित्त शान्त हो जाता है ।

चक्रपाणि-वैदूर्यादिभिः सह स्थितं जलं वैदूर्यादिजलं ज्ञेयम्-वैदूर्यादि द्रव्यों को जल में डालकर रात भर के लिए रख दें । पुनः इस जल को छननी से छानकर अलग कर लें । यह छना हुआ जल वैदूर्यादिजल कहा जाता है ।

उशीरेत्यादौ शीतकषाये प्रसाद इति-उशीरादि द्रव्यों के द्वारा निर्मित शीतकषाय के स्वच्छ भाग (स्वच्छ जल) का ही प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए । [उशीरादि द्रव्यों को जल में रात भर भिगो कर रख दें, प्रातः काल मसलकर छान लें । इस जल में तप्त मिट्टी (पक्व मिट्टी) का ढेला डालकर बुझावें, यह क्रिया सात बार करें । ऐसा करने से जल कुछ गंदा हो जाता है । अतः इस जल को कुछ समय के लिए स्वच्छ होने (निथरने) के लिए रख दें । पश्चात् ऊपर के स्वच्छ जल का प्रयोग पीने के लिए करें । अभय से यहाँ उशीर का ग्रहण किया गया है ।]

समृत्प्रसादमिति मृत्प्रसादोऽप्यनन्तरं प्रक्षेप्यः, एवं यष्टिकाप्रयोगेऽपि-पक्व मिट्टी के ढेले से जल को बुझाने के बाद, जल के स्वच्छ भाग को लेकर उसमें शर्करादि मिलाकर पीना चाहिए । 'यष्टीकाम्बुना' के स्थान पर षष्टिकाम्बुना पाठ होने पर यही प्रक्रिया साठी चावल के जल के साथ भी करनी चाहिए, यह अर्थ होगा ।

Scanned by CamScanner

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तैर्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च । यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ।।८२।।
छागं पयः स्यात् परमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा । सशर्करं माक्षिकसंप्रयुक्तं विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा ।।८३।।
द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा । सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ।।८४।।

पूर्व निर्दिष्ट विविध प्रकार के योगों द्वारा जाठराग्नि के दीप्त हो जाने पर तथा कफ के क्षीण होने पर भी यदि रक्तपित्त शान्त न हो तब उसमें वात का अनुबन्ध है, ऐसा जानना चाहिए । उस स्थिति में बकरी का दूध अथवा पञ्चगुण जल में साधित गोदुग्ध या विदारिगन्धादि गण के द्रव्यों से सिद्ध गोदुग्ध में शर्करा व मधु मिलाकर पीना चाहिए अथवा गोदुग्ध को द्राक्षा से सिद्ध करके या सोंठ द्वारा सिद्ध करके, बला द्वारा साधित या गोखरू द्वारा साधित अथवा जीवक व ऋषभक द्वारा साधित गोदुग्ध में घृत व शर्करा मिलाकर पीना चाहिए । ।।८२-८४।।

चक्रपाणि–तत्रानिलः स्यादिति-वहाँ वात को होना चाहिए अर्थात् वात की प्रबलता होनी चाहिए । [उस रक्तपित्त में वात की प्रबलता होनी चाहिए ।] **प्रयोग इति**-अभ्यास करने से, वातवृद्ध रक्तपित्त के रोगी को नित्य बकरी के दूध का सेवन करना चाहिए । यह प्रयोग अत्यन्त हितकर है ।

सजीवकमित्यादौ–से जीवक व ऋषभक द्वारा सिद्ध दुग्ध में घृत व शर्करा डालकर पीना चाहिए, बताया गया है । ।।८२-८४।।

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः । रक्तं निहन्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात् सरुजं प्रयाति ।।८५।।

मूत्रमार्गाश्रित रक्तपित्त में कर्तव्य–मूत्रमार्ग से वेदना के साथ निकलने वाले रक्तपित्त में शतावरी या गोक्षुर के क्वाथ से सिद्ध दुग्ध अथवा चतुर्पर्णिनी (सालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी) से सिद्ध दुग्ध का प्रयोग करने से रक्तपित्त शीघ्र ही शान्त हो जाता है । ।।८५।।

चक्रपाणि–पर्णिनीभिरिति पर्णिन्यः पर्णिनीचतुष्टयम्–चारों पर्णिनीयों यथा-सालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी द्वारा सिद्ध क्षीर का प्रयोग विशेष रूप से मूत्रमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में करना चाहिए । ।।८५।।

विशेषतो विट्पथसंप्रवृत्ते पयो मतं मोचरसेन सिद्धम् । वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा ।।८६।।
कषाययोगान् पयसा पुरा वा पीत्वाऽनु चाद्यात् पयसैव शालीन् । कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत् सर्पिरतिस्रवे च ।।८७।।

मलमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में कर्तव्य–१. गुदमार्ग से निकलने वाले रक्तपित्त में विशेष रूप से मोचरस के कल्क से सिद्ध दुग्ध, अथवा २. वट के प्ररोह, ३. वटशुङ्ग के कल्क से सिद्ध दुग्ध, ३. अथवा ह्रीवेर (सुगन्धबाला), नील कमल एवं सोंठ से सिद्ध क्षीर का प्रयोग करना चाहिए । अथवा पूर्व निर्दिष्ट कषाय योगों को दूध के साथ पीकर बाद में साठी चावल का भात दूध के साथ सेवन करना चाहिए । अथवा रक्त के अतिस्राव की अवस्था में पूर्वनिर्दिष्ट कषाय योगों द्वारा सिद्ध घृत का पान करना चाहिए । ।।८६-८७।।

चक्रपाणि–वटशुङ्गा अविकसितनववटपल्लवाः-अविकसित नये वट के पल्लव (वट का नया पत्र जो अभी विकसित नहीं हुआ है ।)

कषाययोगानिति– अटरूषकादि द्रव्यों के कल्क से सिद्ध दुग्ध का पान करना, यह अर्थ है । एतैरिति-वक्ष्यमाण सिद्ध घृतों का प्रयोग दुग्ध के साथ करने से अतिरक्तस्राव में अधिक लाभ होता है, अर्थात् पूर्व वर्णित योगों द्वारा सिद्ध घृतों का प्रयोग दूध के साथ करने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है ।

किंवा एतैरेव कषाययोगैर्यथायोग्यतया सर्पिः साधनीयम्–अर्थात् निर्दिष्ट योगों से यथावश्यक द्रव्यों को लेकर घृत को सिद्ध करना चाहिए ।

अतिस्रवे इति–अत्यधिक मात्रा में रक्त व पित्त का स्राव होना । ।।८६-८७।।

वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्याः । प्रदाय कल्कं विपचेद्घृतं तत् सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ।।८८।।

इति वासाघृतम् ।

रक्तपित्त में वासाघृत का प्रयोग–वासा की शाखा, पत्ती एवं मूल के क्वाथ में वासा पुष्प के कल्क के साथ गोघृत को सिद्ध करें । इस घृत में मधु मिलाकर रक्तपित्त का रोगी सेवन करे । इसके प्रयोग से रक्तपित्त का प्रशमन हो जाता है । ।।८८।।

चक्रपाणि–सामान्य परिभाषा के अनुसार हरे द्रव्यों को दूनी मात्रा में लेनी चाहिए, जबकि इस योग में यह नियम लागू नहीं होता । क्योंकि वासा का ग्रहण यहाँ आर्द्र ही किया गया है । कुछ आचार्यों के अनुसार-वासा पुष्प के कल्क की मात्रा यदि ४ पल रखी जाती है तो यह अधिक हो जाती है । अर्थात् १ प्रस्थ घी को सिद्ध करने के लिए ४ पल कल्क की मात्रा, सामान्य परिभाषा के अनुसार ग्रहण करने पर, अधिक हो जाती है । **सक्षौद्रमिति**-से घृत से चौथाई मात्रा मधु की डालनी चाहिए । ऐसा अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट है । कहा भी गया है, यथा- **"स्नेहपादः स्मृतः कल्कः कल्कवन्मधुशर्करे"** [स्नेह के चतुर्थांश कल्क एवं कल्क की तरह ही मधु व शर्करा का प्रयोग करना चाहिए ।]

Scanned by CamScanner

आचार्य अग्निवेश का भी यही विचार है, यथा-"मात्रा क्षौद्रघृतानां च स्नेहक्वाथेषु पूर्ववत्" इति [स्नेह एवं क्वाथ में मधु व घृत की मात्रा पूर्ववत् डालनी चाहिए ।] पूर्ववत् इति=पादिका (चतुर्थांश) । अर्थात् स्नेह में मधु की मात्रा स्नेह की १/४ डालनी चाहिए । इसी प्रकार क्वाथ में स्नेह (घृत) की मात्रा क्वाथ की १/४ डालें । ॥८८॥

पलाशवृन्तस्वरसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवेण । लिह्याद्घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत् समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ।।८९।।
स्यात्रायमाणाविधिरेष एव सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे । सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ।।९०।।

रक्तपित्त में उपयोगी अन्य घृत-१. पलाशवृन्त के स्वरस एवं कल्क से सिद्ध घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर प्रयोग करें । २. पूर्ववत् घृत की भाँति इन्द्रयव (वत्सक) कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग रक्तपित्त रोगी करे । ३. उसी प्रकार समङ्गा (लज्जालू), उत्पल एवं लोध्र के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध घृत का प्रयोग मधु के साथ रक्तपित्त का रोगी करे । इसी प्रकार ४. त्रायमाणा, ५. उदुम्बर, ६. पटोल पत्र; के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर प्रयोग करें ।

७. इसी प्रकार पित्तज्वर नाशक सभी घृतों का प्रयोग रक्तपित्त की चिकित्सा में करना चाहिए, अर्थात् रक्तपित्त में पित्तज्वर की चिकित्सा में वर्णित सभी घृत प्रशस्त होते हैं । ॥८९-९०॥

चक्रपाणि-मधुद्रवेणेति पादिकेन मधुना द्रवीकृतम्-(घृत को) चतुर्थांश मधु द्वारा द्रवित करके । अर्थात् घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर सेवन करें । **त्रायमाणाया एवं सर्पिः पूर्ववत् पक्तव्यम्**-त्रायमाणा एवं घृत का पाक पूर्ववत् करना चाहिए । अर्थात् त्रायमाणा के कल्क एवं क्वाथ से घृत को सिद्ध करें । उदुम्बर एवं पटोल पत्र के क्वाथ एवं कल्क से घृत को सिद्ध करें । अर्थात् उदुम्बर एवं पटोल द्वारा एक योग बनता है ।

पित्तज्वरनाशनानि इति-सम्पूर्ण चिकित्सा स्थान में वाच्य पित्तज्वर नाशक जितने भी योग हैं अर्थात् घृत हैं, उनका ग्रहण है । ज्वरचिकित्सा में वर्णित घृत जीर्णज्वरनाशक कहे गये हैं, वे पित्तज्वरनाशक नहीं हैं । अन्य आचार्यों का मत है कि ज्वरचिकित्सा में जिन जीर्णज्वरनाशक घृतों का वर्णन है वे ही पित्तज्वरनाशक भी होते हैं । उनके अनुसार-"रूक्षं तेज" (चि.अ.३) इत्यादि के द्वारा ज्वर का विषय होने से सामान्यतया पित्त के ही विषय हैं । अन्य स्थानों पर भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है-"जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुः पलं" इत्यादि से लेकर "पित्तरक्तभवं गुल्मं विसर्पं पैत्तिकं ज्वरम्" (चिकित्सा अ. ५) इति तथा "त्रायन्तिका" इत्यादि से लेकर "वातरक्ते क्षतक्षीणे विसर्पे पैत्तिके ज्वरे" (चि.अ. २९) तक सम्पूर्ण चिकित्सास्थान में वर्णित (पठित) पित्तज्वरहर घृतों का प्रयोग रक्तपित्त में करना चाहिए । ॥८९-९०॥

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानि वेश्म । शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्यं पित्तज्वरे यत् प्रशमाय दिष्टम् ।।९१।।
तद्रक्तपित्ते निखिलेन कार्यं कालं च मात्रां च पुरा समीक्ष्य । सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्यस्ते रक्तपित्तं शमयन्ति सद्यः ।।९२।।

रक्तपित्त में अभ्यङ्ग योग-पित्तज्वर की चिकित्सा में निर्दिष्ट वे सभी अभ्यङ्ग, परिषेचन, सेक, अवगाह, शयन, वेश्म, शीतविधि एवं वस्ति विधान का प्रयोग रक्तपित्त की चिकित्सा में करना चाहिए, ऐसा करते समय मात्रा एवं काल का भी विचार करना चाहिए । अर्थात् इन योगों का प्रयोग मात्रा एवं काल का सम्यक् विचार कर करना चाहिए । क्षत चिकित्सा में वर्णित सर्पिगुडादि योग जो हितकर हैं, उनका प्रयोग करने से रक्तपित्त का शीघ्र ही प्रशमन हो जाता है ॥९१-९२॥

चक्रपाणि-'अभ्यङ्गयोगा इत्यादि' से जो दाहज्वरनाशक योग बताये गये हैं, पित्तज्वर शामक होने से रक्तपित्त में उनका प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् उनके प्रयोग का आदेश दिया गया है । ॥९१-९२॥

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठागतेस्याद्ग्रथिते प्रयोगः । युक्तस्य युक्त्या मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य ।।९३।।
मृणालपद्मोत्पलकेशराणां तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः । तथा मधूकस्यय तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ।।९४।।

कफानुबन्ध जन्य रक्तपित्त में क्षार का प्रयोग-कफानुबन्धी रक्तपित्त में रक्त कण्ठ तक आकर ग्रथित (Clot) हो जाता है । इस अवस्था में कमलनाल द्वारा निर्मित क्षार में युक्तिपूर्वक मधु व घृत मिलाकर देना चाहिए ।

तद्वत मृणाल, पद्म, उत्पल के केशर, पलाश, प्रियंङ्गु, मधूक (महुआ) एवं असन (विजयसार) के क्षारों का प्रयोग मधु एवं घृत मिलाकर करना चाहिए । अर्थात् निर्दिष्ट क्षारों का प्रयोग विधि पूर्वक करना चाहिए ॥९३-९४॥

चक्रपाणि-रुधिरे सपित्ते इति-रक्तपित्त में । **युक्तस्य युक्तस्येति**-मात्रा से युक्त क्षार का प्रयोग । अर्थात् उचित मात्रा में क्षार का प्रयोग । यहाँ 'युक्ति' शब्द मात्रा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यद्यपि क्षार को तीक्ष्ण गुण वाला कहा गया है, फिर भी कण्ठस्थ कफ के विलयनार्थ उत्पलनालादि द्वारा निर्मित क्षार पित्त में उपयोगी होने से देना चाहिए । उत्पल (कमल) नालादि के क्षार प्रभाव से रक्तपित्त नाशक होने के कारण, देना चाहिए । इसलिए यहाँ तीक्ष्ण द्रव्यों द्वारा निर्मित क्षार का प्रयोग न करते हुए उत्पलादि के क्षार का निर्देश दिया गया है ।

Scanned by CamScanner

ननु, उत्पलादीनामग्निदाहाच्छीतत्वमपयात्येव–उत्पलादि को जलाकर क्षार बनाने पर इसे अपने शीत गुण को खो देना चाहिए, यह शङ्का है । अर्थात् उत्पलादि द्वारा निर्मित क्षार को अग्निसंयोग के कारण अपने शीत गुण को खो देना चाहिए । क्षीरस्वामिदत्त द्वारा अपने वार्तिक में कहा गया है, यथा-"शीतं जहति भूयिष्ठं दग्धं सपदि सोमताम्" इति [शीत गुण युक्त द्रव्य अत्यधिक रूप से जलाने पर तत्काल ही अपने शीत गुण का परित्याग कर देते हैं ।] अतः इस परिभाषा के अनुसार कमलनालादि के क्षार में शीत गुण का अभाव होना चाहिए । इस प्रकार इन भस्मों (क्षारों) के शीत गुण युक्त होने में अदृष्ट ही कारण है । ॥९३-९४॥

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम् । पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत् क्षीरचतुर्गुणं ज्ञः ॥९५॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद्रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात् । यत् पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारी ॥९६॥

इति शतावर्यादिघृतम् ।

शतावर्यादिघृत–कल्क द्रव्य-शतावरी, दाडिम, तिन्तिडीक, काकोली, मेदा, यष्टीमधु (मुलेठी), विदारीकन्द एवं फलपूरक (बीजपूरक) मूल (बिजौरा नीबू के मूल); सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क का ४ गुना घृत एवं घृत का ४ गुना गोदुग्ध लेकर पाक करें । [सम्यक् सिद्ध होने पर घृत को स्वच्छ कपड़े से छानकर एक पात्र में रख लें ।] यह घृत कास (Bronchitis), ज्वर (Fever), आनाह (Flatulance), विबन्ध (Constipation), शूल (Colic pain) एवं रक्तपित्त की चिकित्सा में अत्यन्त उपयोगी है । इस प्रकार रसायन प्रकरण में वर्णित पाँचों पञ्चमूल (१. बृहत् पञ्चमूल, २. लघु पञ्चमूल, ३. पुनर्नवादि पञ्चमूल, ४. जीवनीय पञ्चमूल, ५. तृण पञ्चमूल) के कल्क द्वारा सिद्ध घृत भी वही कार्य करता है । अर्थात् कासादि को नष्ट करता है । ॥९५-९६॥

चक्रपाणि–फलपूरको बीजपूरक :-बीजपूरक (बिजौरा नीबू का मूल) । पञ्च पञ्चमूलानि-पाँचों पञ्चमूल, रसायन प्रकरण में वर्णित पाँचों पञ्चमूल । तदर्थकारीति-बाद में वर्णित शतावर्यादि घृत के अनुकूल । अर्थात् पाँचो पञ्चमूल के कल्क द्वारा सिद्ध घृत के गुण शतावर्यादि घृत के गुणों जैसे ही होते हैं । ॥९५-९६॥

विशेष–फलपूरक से यहाँ मातुलुङ्ग के मूल का ग्रहण है । पाँचो पञ्चमूल से-स्वल्प (लघु) पञ्चमूल, बृहत पञ्चमूल, कण्टक पञ्चमूल, वल्लीपञ्चमूल एवं तृणपञ्चमूल का ग्रहण है । इन पञ्चमूलों के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध घृत के गुण शतावर्यादि घृत के गुणों के अनुरूप होते हैं ।

यहाँ शतावर्यादि घृत के निर्माण में क्वाथ का निर्देश नहीं है, अतः कल्क में निर्दिष्ट द्रव्यों द्वारा क्वाथ बनावें, तत्पश्चात् कल्क, क्वाथ एवं दुग्ध में घृत को सिद्ध करें ।

कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः । घ्राणात् प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःसृतदुष्टदोषम् ॥९७॥
रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः । रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद् घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः ॥९८॥
नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन । नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा सधातकीमोचरसः सलोध्रः ॥९९॥
द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव । यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥१००॥
प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजिकं वा । आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यं ससारिवैः स्यात् कमलोत्पलैश्च ॥१०१॥

नासिका द्वारा निकलने वाले रक्तपित्त की चिकित्सा–जब घ्राण (नासिका) से रक्तपित्त निकल रहा हो, तब दूषित दोष के निकल जाने पर यहाँ जिन कषाय योगों का निर्देश किया गया है, उनका प्रयोग अवपीड (नस्य) के रूप में करना चाहिए । अर्थात् वासादि द्रव्यों के स्वरस का प्रयोग अवपीड नस्य के रूप में करना चाहिए ।

दूषित रक्त के स्तम्भन से होने वाली व्याधियाँ–नासिका गत् दूषित रक्त के स्राव को रोकने पर अधोलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यथा-दुष्ट प्रतिश्याय, शिरो विकार (Diseases of the head), नासिका से पूय युक्त रक्त का स्राव होना, नासिका से दुर्गन्ध का निकलना, घ्राण नाश (व्यक्ति के गन्ध ज्ञान का नष्ट हो जाना ।) एवं नासिका से क्रिमियों का निकलना [Dangerous types of Krimi (maggots) appear in the nose]

चिकित्सा–नासिकागत रक्तपित्त की चिकित्सा में अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए–

१. नीलोत्पल (नील कमल के पुष्प), गैरिक, शंख एवं चन्दन को मिश्री के शरबत में पीसकर, इसके रस को स्वच्छ वस्त्र से छानकर अवपीड नस्य के रूप में प्रयोग करें ।

२. आम्रास्थिरस (आम की गुठली का स्वरस), समङ्गा (लज्जालु=छुईमुई) का स्वरस, धातकी पुष्प, मोचरस एवं लोध्र को मिश्री के शरबत में पीस कर कल्क बना लें, इसे एक पतले स्वच्छ कपड़े में लेकर दबाकर छान लें, इस स्वरस का प्रयोग अवपीड नस्य के रूप में रक्तस्तम्भनार्थ करें ।

Scanned by CamScanner

इसी प्रकार द्राक्षारस, इक्षुरस, गोदुग्ध, दूर्वा स्वरस, यवासमूल स्वरस, पलाण्डु मूल स्वरस एवं दाडिम पुष्प स्वरस का प्रयोग नासागत रक्तपित्त को रोकने में करना चाहिए।

३. मुलेठी के कल्क एवं गोदुग्ध में प्रियाल तैल (चिरौंची का तैल) को सिद्ध कर नस्य के रूप में प्रयोग करें।

४. अथवा माहिष (भैंस) या अजा (बकरी) के घृत को मुलेठी (यष्टीमधु) के कल्क एवं गोदुग्ध में सिद्ध कर, नस्य के रूप में प्रयोग करें।

५. पूर्व वर्णित आम्रास्थिरस (आम की गुठली का रस), लज्जालु स्वरस आदि प्रत्येक द्रव्यों के स्वरस (अलग-अलग) को गाय के दुग्ध में पीसकर कल्क बनावें एवं इस **कल्क स्वरस** का प्रयोग अवपीड नस्य के रूप में करें। इसी प्रकार सारिवा, कमल एवं उत्पल; को दूध में पीसकर कल्क बनाकर नस्य के रूप में प्रयोग करें। ॥९७-१०१॥

चक्रपाणि–'कषाययोगा' इत्यादि के द्वारा घ्राण (नासिका) से निकलने वाले रक्तपित्त की चिकित्सा का अभिधान किया गया है।

कषाययोगा इति–से उशीर, कालीयक इत्यादि के द्वारा जो कषाय योग बताये गये हैं उनका प्रयोग नासिका से निकलने वाले रक्तपित्त में करना चाहिये, अर्थ लिया गया है।

अवपीडश्च द्रव्यमापोथितं कृत्वा पीडयित्वा रसो दीयते यः स उच्यते–द्रव्य को भिगोकर (जल में), पश्चात् पीडन (दबा) करके उससे निकलने वाले रस का प्रयोग अवपीड कहलाता है, अर्थात् द्रव्य को निचोड़कर उसके स्वरस को नासिका में डालना अवपीड कहलाता है। इसका प्रयोग दूषित रक्त के स्राव हो जाने पर ही करना चाहिए। बिना दूषित रक्तस्राव के ही यदि स्तम्भन योगों का प्रयोग किया जाता है तो दुष्ट प्रतिश्याय आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसका उल्लेख यहाँ रक्त इत्यादि के द्वारा किया गया है।

सिताजलेनेति–शर्करा मिश्रित जल के द्वारा।

नीलोत्पलादीनि कल्कीकृत्य अवपीडो देयः –नील कमल आदि द्रव्यों का कल्क बनाकर **कल्क स्वरस** का प्रयोग अवपीड नस्य के रूप में करना चाहिए।

'प्रियालतैलमिति' से प्रियाल तैल को यष्टीमधु कल्क एवं दुग्ध द्वारा साधित कर नस्यार्थ प्रयोग करें, अर्थ ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार बकरी अथवा भैंस के घृत को सिद्ध कर नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

आम्रास्थिपूर्वैरिति 'नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा' इत्यादियोगोक्तैः–'नस्यं तथा आम्रास्थिरसः समङ्गा' इत्यादि के द्वारा वर्णित योग। सारिवा (अनन्तमूल सारिवा), लाल कमल एवं नीलकमल को दूध में पीसकर कल्क बनावें तथा इस कल्कस्वरस का प्रयोग नस्य के रूप में करना चाहिए। [आचार्य गंगाधर ने सारिवा, लाल कमल, नील कमल के कल्क, दूध एवं भैंस अथवा बकरी के घृत को साधित कर बने घृत का नस्य लेने का निर्देश दिया है।] ॥९७-१०१॥

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च। उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या ॥१०२॥
शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च। कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः ॥१०३॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च। उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे ॥१०४॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ। रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक् प्रयुञ्ज्यात् ॥१०५॥
धारागृहं भूमिगृहं सुशीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम्। वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः ॥१०६॥
पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलानि। प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः ॥१०७॥
प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्। दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः ॥१०८॥
सरिद्भदानां हिमवद्गरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्। मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् ॥१०९॥

रक्तपित्त में उपयोगी अन्य द्रव्य–भद्रश्रिय (श्वेत चन्दन), रक्त चन्दन, प्रपौण्डरीक, कमल, उत्पल, उशीर (खश), वानीर (उशीर भेद), जल, मृणाल, सहस्रवीर्या, यष्टीमधु, पयस्या, शालीमूल, इक्षुमूल, यवासा मूल, गुन्द्रामूल, नलमूल, कुशमूल, काशमूल, कुचन्दन, शैवाल, अनन्ता (अनन्तमूल), कालानुसार्या, तृणमूल, ऋद्धि मूल, कमल मूल एवं पुष्प (जल में होने वाले पौधों के मूल एवं पुष्प), कमल का कोंचड़ (पुष्पकरिणी की मिट्टी), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ, मधूक (महुआ), लोध्र तथा वे सभी वृक्ष जो कषाय रस एवं शीत वीर्य वाले हैं; इन सभी औषधियों का प्रयोग प्रदेह (लेप), परिषेचन (शरीर को धोने अथवा पोछने) एवं अवगाहन हेतु करना चाहिए। इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृत एवं तैल का भी प्रयोग चिकित्सक रक्तपित्त की शान्ति हेतु करे।

Scanned by CamScanner

रक्तपित्त में विहार–रक्तपित्त से उत्पन्न दाह की शान्ति हेतु धारागृह (ऐसे घर जहाँ फुहारे चल रहे हों), भूमिगृह (भूधर-जमीन के नीचे बना हुआ घर, ऐसा घर ग्रीष्म ऋतु में शीत होता है), रम्य वन (रमणीय वन) जहाँ शीतल जल एवं वायु हो, वैदुर्य, मुक्ता मणियों का धारण एवं ऐसे पात्र जो शीतल जल से शीत किये गये हों उनका धारण करना चाहिए ।

शयन एवं आसन पर बिछाने के लिए जल में उत्पन्न होने वाले वनस्पतियों के पत्र एवं पुष्प, शीतल रेशमीवस्त्र, केले के पत्ते, पद्म एवं उत्पल पत्र अत्यन्त हितकर होते हैं ।

प्रियङ्गु एवं चन्दन के चूर्णों से मर्दित शरीर वाली प्रिय वराङ्गनाओं का स्पर्श [प्रियंगु एवं चन्दन का लेप अथवा इन लेपों से आलिप्त सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श], पद्म एवं उत्पल जो शीतल एवं जल युक्त हैं उनका स्पर्श अथवा पद्म समूहों से आने वाली शीतल वायु का स्पर्श दाह शामक होता है ।

रक्तपित्त अधोलिखित विहारों के सेवन से शान्त हो जाता है–

१. नदियों के किनारे अथवा झीलों के किनारे टहलने से ।

२. हिमालय पर्वत की घाटियों में भ्रमण करने से ।

३. चन्द्रोदय एवं कमल समुदाय के बीच रहने से ।

४. शीतल एवं मनोनुकूल द्रव्यों के दर्शन स्पर्श एवं कथाओं के सुनने से, रक्तपित्त शान्त हो जाता है ।

चक्रपाणि–'भद्रश्रियादीनि' के द्वारा प्रलेपादि के विषय को स्पष्ट किया गया है । वानीरम्-यह उशीर का एक भेद है । इसका मूल सुगन्धित होता है । कालानुसार्या=शीतलम् । 'शिशिराश्च सर्वे, तक लेप का विधान बताया गया है ।

पद्मोत्पलानां च कलापवाता इति–पद्म, उत्पल समूह से आने वाली हवाओं का सेवन रक्तपित्त शामक होता है । ॥१०२-१०९॥

विशेष–भद्रश्रियं=श्वेत चन्दन । वानीर=वेतस (जलवेतस)। सहस्रवीर्या=दूर्वाभेद । पयस्या=क्षीर काकोली । गुन्द्रा=गुन्द्रारोचनी (कम्पिल्लक) । कुचन्दन=वक । शैवलं=शैवाल । कालानुसार्या=श्यामलता । तृणमूल=गन्धतृणमूल । -जल्पकल्पतरु टीका ।

तत्र श्लोकौ–

हेतुं वृद्धिं संज्ञां स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य । मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्यक्रमं चैव ।।११०।।
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं च शमनं च । गुरुरुक्तवान्यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य ।।१११।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस रक्तपित्त चिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने रक्तपित्त के हेतु, वृद्धि, संज्ञा (नामकरण), स्थान, अलग-अलग लक्षणों, विकृत (दूषित) रक्तपित्त के दो मार्ग, साध्य, असाध्य एवं याप्य के लक्षण एवं चिकित्साक्रम, हितकर अन्नपान, वर्ज्य अन्न-पान तथा संशोधन व शमन चिकित्सा का विवेचन किया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में रक्तपित्त चिकित्सा नामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'हेतुमित्यादि' के द्वारा यहाँ अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया गया है । अर्थात् अध्याय में वर्णित विषयों का उपसंहार किया गया है । जिनके अर्थ स्पष्ट ही हैं ॥११०-१११॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्तकृत चरक भावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में रक्तपित्तचिकित्सा नामक चतुर्थ अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे 'गुल्मचिकित्सा' की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–निदानस्थान में वर्णित क्रम के अनुसार यहाँ रक्तपित्त के बाद गुल्मचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः । चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ।।३।।

विषयारम्भ–उपदेशकों में वरिष्ठ (श्रेष्ठ), प्राणिमात्र की पिता तुल्य रक्षा करने वाले, भूत एवं भविष्य के ज्ञाता (जिन्हें भूत एवं भविष्य का ज्ञान हैं अर्थात् एक योग्य ज्योतिषविद्); ऐसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने गुल्म रोग की सिद्ध चिकित्सा का उपदेश इस प्रकार दिया–

चक्रपाणि–'सर्वप्रजानामित्यादि' के द्वारा यहाँ गुरु की स्तुति धर्म जनक होने से तथा ग्रन्थोक्त विषयों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए, की गयी है ।

भूते भविष्ये चाव्याहतज्ञानतया प्रभुरेव भवतीति भूतभविष्यदीशः –भूत-भविष्य का अव्याहत ज्ञान प्रभु (भगवान्) को ही होता है, इन गुणों से युक्त होने के कारण पुनर्वसु आत्रेय को 'भूतभविष्यदीशः' कहा गया ।

सिद्धमिति–सिद्ध शब्द यद्यपि चिकित्सा का ही पर्याय है, अर्थात् वह चिकित्सा (उपक्रम) जो साध्य व्याधि को निश्चित रूप से प्रशमित (नष्ट) कर दे उसे सिद्ध कहा गया है, फिर भी इस प्रकरण में 'स्तुत्यर्थं' सिद्ध पद का प्रयोग किया गया है, ऐसा जानना चाहिए ।।३।।

विशेष–वदतामाप्तानां वरिष्ठः [आप्त पुरुषों में वरिष्ठ (श्रेष्ठ) के लिए वदता शब्द का प्रयोग हुआ है]

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैः परिपीडनाद्वा । वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ।।४।।
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा । विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ।।५।।

गुल्म के हेतु–मल, श्लेष्म (कफ) एवं पित्त के अत्यधिक स्राव होने से अथवा इनकी शरीर में वृद्धि होने से दबाव बढ़ जाता है, अर्थात् कफ व पित्त के अत्यधिक बढ़ जाने से वायु अवरुद्ध हो जाती है । उदीर्ण वेगों को रोकने से, बाह्य अभिघात से, अत्यधिक पीडन से, रूक्ष अन्न-पान के अत्यधिक सेवन से, शोक के कारण, संशोधन के मिथ्यायोग से, शारीरिक विषम चेष्टाओं के करने से कोष्ठ में वायु अत्यधिक प्रकुपित हो जाती है । ॥४-५॥

चक्रपाणि–यद्यपि निदानस्थान में ही गुल्म के हेतु एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है, फिर भी प्रकरणवश उस विषय का पुनः कथन किया गया है । कुछ लोगों का यह विचार है कि निदानोक्त विषयों से यह विषय कुछ विशेष है अर्थात् गुल्म के जिन हेतुओं का निदानस्थान में उल्लेख नहीं किया गया है, उनको यहाँ बताया गया है ।

निदाने वायोरेव कोपेन वृद्धेर्हेतुभिरावरणमुक्तम्–निदानस्थान में वायु की ही वृद्धि द्वारा आवरण का होना बताया गया है । निदानस्थान में गुल्मोत्पत्ति का एक मात्र कारण वायु के प्रकोप को बताया गया है ।

अतिपीडनैर्वेत्यनेन–प्रकुपित वायु के अत्यधिक पीडन से, अर्थात् कफ व पित्त के द्वारा जब वायु आवृत्त हो जाती है तब उदर में इधर-उधर भ्रमण करती है ।

तैरेवेति–पुरीष, पित्त एवं कफ के द्वारा अर्थात् इनकी वृद्धि होने से ।

मिथ्याप्रतिकर्म मिथ्याकृतं वमनादिकं पञ्चकर्म–वमनादि पञ्चकर्मों के मिथ्या प्रयोग से भी वायु प्रकुपित हो जाती है ।

विशेष–विट्श्लेष्मपित्तानामतिशयेन परिस्रवात्-पुरीष, कफ व पित्त के अत्यधिक निकलने से [वमन-विरेचन के द्वारा अत्यधिक निकलने से, यह स्थिति वमन या विरेचन के अतियोग होने पर होती है ।], कोष्ठ में मल, पित्त एवं कफ की अत्यधिक वृद्धि होने पर वायु के अपने सामान्य गुण में अवरोध उत्पन्न होता है अर्थात् कोष्ठ में वायु भ्रमण नहीं कर पाती ।

बाह्याभिघातैः –बाह्य अभिघात-दण्डादि के द्वारा अधिक पीटने से । शोक से यहाँ अतिशय शोक अर्थ लिया गया है ।

Scanned by CamScanner

मिथ्याप्रतिकर्मणा–पञ्चकर्म का अनुचित प्रयोग करने से।

विषमातिमात्रविचेष्टितर्वा–कभी कम, कभी अधिक जो विशेष रूप से शारीरिक चेष्टा की जाती है उसे 'विषमविचेष्टितम्' कहा गया है। -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद

कफं च पित्तं च स दुष्टवायुरुद्धूय मार्गान् विनिबद्ध्य ताभ्याम्। हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यथो याति न बद्धमार्गः ।।६।।
पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा। स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद्गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ।।७।।

गुल्म रोग की संप्राप्ति–पूर्व हेतुओं के द्वारा दूषित हुई वह वायु कफ व पित्त को अपने स्थान से निकालकर उन दोनों (कफ पित्त) के द्वारा मार्गों को अवरुद्ध एवं विबद्ध करके हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर एवं बस्ति में शूल उत्पन्न करती है। मार्ग अवरुद्ध होने से वायु का गमन नीचे की ओर नहीं हो पाता है। वायु के पक्वाशय, पित्ताशय अथवा कफाशय में स्वतंत्र अथवा परतंत्र रूप से आश्रित होकर चारो ओर से पिण्ड रूप धारण करने से गुल्म कहा जाता है। स्पर्श के द्वारा इसका ज्ञान होता है एवं जिस दोष से युक्त होता है तदनुसार नाम को प्राप्त करता है। ।।६-७।।

चक्रपाणि–'कफं च पित्तं इति' के द्वारा गुल्म रोग की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। यहाँ रक्तज गुल्म को छोड़कर शेष चारो गुल्म की संप्राप्ति बतायी गयी है।

तत्र कफं च पित्तं चेति–कदाचित् पित्त, कदाचित् कफ को। वह प्रकुपित हुयी वायु कभी पित्त तो कभी कफ को अथवा कभी दोनों को अपने स्थान से हटाकर एवं उनके द्वारा अवरुद्ध होकर हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर एवं बस्ति में शूल उत्पन्न करती है। कफगुल्म में कफ अपने स्वतंत्र कारणों से प्रकुपित होता है एवं पैत्तिकगुल्म में पित्त भी अपने स्वतंत्र कारणों द्वारा प्रकुपित होता है तथा सन्निपातज में कफ एवं पित्त दोनों ही स्वतंत्र रूप से प्रकुपित होते हैं। ये कफ व पित्त, वायु द्वारा ही प्रेरित होकर गुल्म को उत्पन्न करते हैं। वातगुल्म में स्वतंत्र रूप (अपने स्वतंत्र कारणों द्वारा) से प्रकुपित वायु स्वाभाविक रूप में स्थित पित्त व कफ को लेकर गुल्म को उत्पन्न करती है, ऐसा जानना चाहिए।

मार्गानिति–ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् मार्गों को। वायु के गमन के तीन मार्ग होते हैं-१. ऊर्ध्व मार्ग, २. अधः मार्ग, ३. तिर्यग् मार्ग। इस व्याधि में वायु का अधोवाही मार्ग अवरुद्ध होता है।

अधो न यातीति–वायु का अधोगमन मार्ग अवरुद्ध होने से नहीं हो पाता। यहाँ चकार लुप्त है अर्थात् 'अधो न याति (च)' होना चाहिए। इस प्रकार इसका अर्थ वायु का गमन ऊर्ध्व एवं तिर्यक् दोनों मार्गों द्वारा नहीं हो पाता, ग्रहण करना चाहिए। अथवा वायु का गमन कोष्ठ में प्रायः अधो (नीचे की ओर) होता है। गुल्म में अधोगमन (वायु का) अवरुद्ध हो जाता है, यही साक्षात् बताया गया है। अन्य मार्ग भी अवरुद्ध होते हैं, इसका ज्ञान सामान्य-न्याय से ही हो जाता है।

पक्वाशये इति पित्ताशयामाशययोरधोभागे एव–पित्ताशय एवं आमाशय दोनों के अधोभाग में ही पक्वाशय रहता है। [Pakvās'aya (colon) is located below the Pittās'aya and Āmās'aya.- Dr. Bhagvan das].

स्वतन्त्र इति–वातगुल्म में। **परसंश्रय इति**-पक्वाशय में। पित्ताशय एवं कफाशय–पैत्तिक, कफज एवं निचय (सन्निपातज) गुल्म के आश्रय हैं, ऐसा जानना चाहिए।

परिपिण्डितत्वाद्गुल्म इत्यनेन–जिस प्रकार एक सामान्य जन लता समूह के संयोग को गुल्म कहते हैं उसी प्रकार यहाँ भी दोषों के संघात रूप में अवस्थित होने से गुल्म कहा गया है।

यथादोषमिति–दोषों की उल्बणता के अनुसार गुल्म का नामकरण किया जाता है।

नामेति च संज्ञा–गुल्म का नामकरण करना अथवा जिस दोष की अधिकता वाला गुल्म होता है उसी अनुसार उसका नाम दिया जाता है, यथा-वातज, पित्तज आदि। ।।६-७।।

बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।

गुल्म के स्थान–गुल्म के पाँच स्थान होते हैं–१. बस्ति, २. नाभि, ३. हृदय, ४-५. दोनों पार्श्व।

चक्रपाणि–'बस्तावित्यादि' के द्वारा यहाँ गुल्म के स्थान को बताया गया है। बस्ति, नाभि, हृदय एवं दोनों पार्श्व, गुल्म के ५ स्थान होते हैं। यद्यपि बस्ति आदि नामों के द्वारा ही पाँच का ग्रहण हो जाता है फिर भी यहाँ 'पञ्च' शब्द का प्रयोग गुल्म के अन्य स्थानों के निषेधार्थ हुआ है, क्योंकि रक्तज गुल्म भी गर्भाशय के पार्श्व में स्थित होने से पार्श्व इसका भी आश्रय है। अन्य आचार्य रक्तज गुल्म को छोड़कर गुल्म के पाँच आश्रय हैं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि रक्तज गुल्म का विशेष स्थान गर्भाशय होता है।

Scanned by CamScanner

पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ।।८।।
रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च । शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ।।९।।
यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् । श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ।।१०।।
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च । वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ।।११।।

उन पाँचों गुल्मों के प्रभाव, लक्षण एवं चिकित्सा को आगे बताया जा रहा है–

वातगुल्म के हेतु–वात गुल्म के अधोलिखित कारण हैं–

१. रूक्ष अन्न-पान का अत्यधिक एवं विषम रूप से सेवन ।
२. अत्यधिक एवं विषम रूप से शारीरिक चेष्टाओं का करना ।
३. अधारणीय वेगों को धारण करना ।
४. अत्यधिक चिन्ताग्रस्त होना ।
५. अत्यधिक अभिघात का होना ।
६. मलों का अत्यधिक क्षय होना ।
७. अन्न का सेवन न करना, अर्थात् अत्यधिक उपवास रखना ।

वातगुल्म के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātika gulma)– जिस गुल्म में स्थान, संस्थान एवं रुजा का विकल्प होता हो, अर्थात् गुल्म का स्थान बदलता रहता है, संस्थान विकल्प-गुल्म की आकृति बदलती रहती है, कभी गोल हो जाता है कभी चिपटा हो जाता है । रुजा विकल्प-वेदना में परिवर्तन, यथा-कभी सूई चुभाने जैसी पीड़ा होती है तो कभी बन्द हो जाती है । अर्थात् वेदना कभी घट जाती है तथा कभी बढ़ जाती है ।

पुरीष एवं वायु का अवरुद्ध हो जाना, गला एवं मुख सूखता रहता है (Dryness in the throat and mouth), प्रभावित भाग श्याव एवं अरुण वर्ण का होना, ठण्डा देकर बुखार का आना, हृद्, कुक्षि, पार्श्व, अंस एवं सिर में वेदना का होना अर्थात् हृदय, कुक्षि, पार्श्व, अंस एवं सिर के भाग में वेदना का होना, भोजन के जीर्ण होने पर व्याधि का बढ़ जाना एवं भोजन ग्रहण करने के बाद व्याधि के लक्षणों में अल्पता का होना तथा रूक्ष, कषाय, कटु एवं तिक्त रसों के सेवन से व्याधि के लक्षणों का शान्त न होना अपितु बढ़ जाना; इन लक्षणों के मिलने पर गुल्म वातज है, ऐसा जानना चाहिए । ।।८-११।।

चक्रपाणि–'पञ्चात्मकस्येत्यादि' के द्वारा गुल्म के अलग-अलग हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा को बताया जा रहा है ।

पञ्चात्मकस्य पञ्चस्वरूपस्य–पाँच प्रकार के गुल्मों का 'प्रभवः' से यहाँ कारण अर्थ लिया गया है । कारण किनका ? वात, पित्त, कफ एवं सन्निपात रूप पाँच प्रकार के गुल्मों का कारण ।

तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं बस्त्यादि–बस्ति आदि स्थानों में रहता है अर्थात् बस्ति आदि ५ स्थान गुल्म के होते हैं ।

संस्थानम्=आकृति, रुजा=पीडा, इनका विकल्प अर्थात् क्षण-क्षण में बदल जाना (वातिक गुल्म की आकृति एवं वेदना में परिवर्तन होता रहता है ।) । शिशिरज्वरः=शीत ज्वर (जाड़ा देकर ज्वर का आना) 'करोतीति' का सम्बन्ध पूर्वसूत्र से है अर्थात् 'हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च करोति' मूल सूत्र हुआ ।

जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं समुपैति यश्च–भोजन के जीर्ण होने पर जिसमें वात का अधिक प्रकोप हो अर्थात् लक्षणों की वृद्धि हो जाय ।

न चोपशेते इति–आराम नहीं मिलता, रूक्ष कटु तिक्त व कषाय द्रव्यों के सेवन से व्याधि में आराम नहीं मिलता । ।।८-११।।

जल्पकल्पतरु व्याख्या–'य इत्यादि' के द्वारा वातज गुल्म के लक्षणों को बताया गया है ।

स्थानविकल्पः –बस्ति आदि पाँच स्थानों में कभी किसी स्थान पर होता है, कभी किसी स्थान पर उत्पन्न होता है, अर्थात् नियमपूर्वक एक स्थान पर नहीं विद्यमान रहता ।

संस्थानविकल्पः –गुल्म के गुडिकाकार (गोली के आकार) स्वरूप में भी कभी छोटा हो जाता है तथा कभी बड़ा हो जाता है, कभी वर्तुलाकार (Rounded) तथा कभी पृथुत्व (Large) हो जाता है, अर्थात् गुल्म की आकृति बदलती है ।

रुजाविकल्प–कभी वेदना अल्प हो जाती है तथा कभी बढ़ जाती है, कभी वेदना तीव्र हो जाती है तो कभी पता ही नहीं चलता ।

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा । आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ।।१२।।
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च । स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ।।१३।।

पित्तगुल्म के हेतु–१. कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण एवं विदाही (विदाहोत्पादक) अन्न-पान के अत्यधिक सेवन करने से ।

Scanned by CamScanner

२. क्रोध अधिक करने से अथवा बार-बार क्रोधित होने से ।

३. मद्य के अति प्रयोग से ।

४. अत्यधिक धूप अथवा अग्नि के सेवन से ।

५. शरीर में आम दोष के अत्यधिक अभिघात हो जाने के कारण ।

६. शरीर पर चोट लगने तथा रक्त के दूषित होने से ।

ये सभी पित्तगुल्म के कारण (हेतु) हैं, अर्थात् उपरोक्त हेतुओं का सेवन ही पित्तगुल्म का कारण है ।

लक्षण–अधोलिखित लक्षण पित्तगुल्म में पाये जाते हैं–

ज्वर व प्यास का लगना, सम्पूर्ण शरीर रक्त वर्ण का हो जाना, भोजन की पाकावस्था में शूल का बढ़ जाना (Excruciating pain during the digestion of food), शरीर से पसीने का निकलना (Sweating), शरीर में दाह का होना (Burning sensation) एवं व्रण की तरह गुल्म प्रभावित भाग में स्पर्श असह्यता (Tenderness) का होना । ॥१२-१३॥

चक्रपाणि–'कट्वम्लेत्यादि' के द्वारा पित्तगुल्म को बताया गया है । **आमाभिघातशब्देनामाभिघातः पित्तजनको ज्ञेयः** -आमाभिघात शब्द के द्वारा-'आमावस्था में अभिघात होना' अर्थ लिया गया है, यथा-व्याधि की आमावस्था में ही रक्तविस्रावण अथवा दोषनिर्हरण करना, पित्त जनक होता है, यह जानना चाहिए । 'रुधिरं च दुष्टमित्यनेन' से दूषित रक्त से मलभूत पित्त की उत्पत्ति अधिक होती है, यह बताया गया है । ॥१२-१३॥

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च । गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य सर्वस्तु दिष्टो निचयात्मकस्य ॥१४॥

कफ एवं सन्निपातज (निचय) गुल्म के हेतु–शीत, गुरु एवं स्निग्ध अन्न-पान का अत्यधिक सेवन करना, अचेष्टा (शारीरिक चेष्टाओं का न करना अथवा कम करना), अत्यधिक मात्रा में भोजन करना एवं दिवा शयन; कफ से उत्पन्न होने वाले गुल्म के ये कारण बताये गये हैं । तीनों दोषों (वात, पित्त एवं कफ) से उत्पन्न होने वाले गुल्मों के जो हेतु पूर्व में बताये गये हैं, उन्हीं कारणों के सम्मिलित रूप से निचय गुल्म उत्पन्न होता है । ॥१४॥

चक्रपाणि–'शीतमित्यादि' के द्वारा कफगुल्म के हेतु एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है । अब यहाँ तीनों दोषों से उत्पन्न गुल्म के कथन के बाद तीनों दोषों के सम्मिलित रूप से उत्पन्न होने वाले गुल्म को 'सर्वस्तु दिष्टो निचयात्मकस्येति' के द्वारा बताया गया है । 'निचयात्मकः' से 'सान्निपातिक' अर्थ लिया गया है ।

सान्निपातिकश्च निचयरूपगुल्मजन्मतया व्यपदेशेन विकृतिविषमसमवायात् संयोगमहिम्ना च दर्शयति–यहाँ सान्निपातिक गुल्म न कहकर निचय गुल्म कहा गया है । सन्निपातज गुल्म में तीनों दोष बढ़कर गुल्म को उत्पन्न करते हैं, लेकिन इसमें दोष 'विकृतिविषम समवाय' से संयुक्त होकर गुल्म को उत्पन्न करते हैं । इसमें दोषों के संयोग का प्रभाव ही कारण है, यह दर्शाया गया है । ॥१४॥

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि । शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१५॥

कफज गुल्म के लक्षण–स्तैमित्य (शरीर गीले कपड़े से ढक दिया गया है, ऐसा अनुभव होना), ठण्ड लगकर ज्वर का होना, गात्रसाद (शरीर में थकावट का होना), हृल्लास (मिचली का आना Nausea), कास (खाँसी), अरुचि (भोजन करने की इच्छा का न होना), शरीर में गुरुता की प्रतीति-Heaviness of the body), प्रभावित भाग का शीत होना, अल्प वेदना का होना, गुल्म प्रभावित भाग का कठिन (Hard) होना एवं ऊँचा उठा होना; ये सभी लक्षण कफज गुल्म में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–औत्पादिकं निचयगुल्ममभिधाय प्रकृतिश्लेष्मगुल्मलक्षणमाह-स्तैमित्येत्यादि । उपद्रव रूप निचयगुल्म के अभिधान के बाद कफज गुल्म के स्वाभाविक लक्षणों को 'स्तैमित्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है । ॥१५॥

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च । व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥१६॥

द्विदोषज गुल्म के हेतु एवं लक्षण–द्विदोषज गुल्म में दो दोषों के निमित्त (कारण), लक्षण एवं बलाबल को जानकर औषध की कल्पना हेतु अन्य मिश्र लक्षणों वाले तीन गुल्मों (वातपित्तज, पित्तकफज एवं वातकफज) को जानना चाहिए । ॥१६॥

चक्रपाणि–'निमित्तेत्यादि' के द्वारा द्विदोषज गुल्म के हेतु एवं लक्षणों को अतिदेशार्थ बताया जा रहा है । अतिदेश से दो दोषों के सम्मिलित कारण से मिश्रित लक्षणों वाला द्विदोषज गुल्म होता है, यह बताया गया है ।

दोषबलाबलं चेत्यनेन–दोष के बलाबल के अनुसार, एक दोष की अधिकता को भी द्वन्द्व में ग्रहण किया गया है ।

Scanned by CamScanner

त्रीनिति–द्वन्द्वज गुल्म ३ होते हैं–१. वातपित्तज (वातपित्त से उत्पन्न), २. पित्तकफज (पित्तकफ से उत्पन्न), ३. वातकफज (वातकफ से उत्पन्न)।

औषधकल्पनार्थमित्यनेन–औषध की कल्पना के लिए, प्रकृतिसमसमवाय सम्बन्ध होने से अपने विलक्षण कार्यों के न करने से प्रत्येक दोष में ही द्वन्द्वज गुल्म का भी समावेश हो जाता है, अर्थात् दोषों के अनुसार ही इसमें भी लक्षण मिलते हैं। इस प्रकार शास्त्र में अलग-अलग दोषों की जो चिकित्सा बतायी गयी है, उसी का प्रयोग द्वन्द्वज में मिश्रित रूप से करना चाहिए अर्थात् द्वन्द्वज में दो दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए। उसी का निर्देश यहाँ तन्मात्ररूप (अति संक्षेप) में किया गया है।

एतेनाष्टोत्तरीयोक्तपञ्चसंख्याविरोधोऽपि न भवति–इस प्रकार द्वन्द्वज गुल्म की तीन संख्या मान लेने पर गुल्म की संख्या आठ यहाँ निर्दिष्ट पाँच संख्या से विरुद्ध होते हुए भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि द्वन्द्वज गुल्म के तीन भेदों का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् द्वन्द्वज गुल्म के लक्षण एवं कारण दोषज ही हैं। सन्निपातज गुल्म (निचय) में दोषज लक्षणों से भिन्न लक्षण मिलते हैं एवं प्रभावतः यह असाध्य होता है। इसलिये इसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है। ज्वर प्रकरण में वर्णित द्वन्द्वज ज्वर का पृथक् लक्षणों से युक्त होने के कारण वर्णन करना उचित है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१६॥

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्। मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१७॥

सन्निपातज गुल्म के लक्षण–अत्यधिक वेदना युक्त, अत्यन्त दाह युक्त, पत्थर के समान कठोर, शीघ्र ही विदाह को प्राप्त होने वाला, अत्यन्त भयङ्कर, मन, शरीर एवं अग्नि (जाठराग्नि) के बल को नष्ट करने वाला त्रिदोषज गुल्म को असाध्य समझना चाहिए। ॥१७॥

चक्रपाणि–'महारुजमित्यादि' के द्वारा सन्निपातज गुल्म के लक्षण को बताया गया है। कुछ आचार्य इन लक्षणों से भिन्न लक्षण जो अलग-अलग दोषों में बताये गये है। अर्थात् पृथक्-पृथक् दोषों के जो लक्षण बताये गये हैं, संसर्गमात्र (दोषों के संसर्ग) से उत्पन्न होते हैं, प्रकृतिसमसमवाय जन्य होने से साध्य ही होते हैं, ऐसा कहते हैं। ॥१७॥

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च। संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥१८॥
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाड्यैश्चिरात् सशूलः समगर्भलिङ्गः। स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१९॥

रक्तगुल्म के हेतु–ऋतुकाल में आहार न लेना अथवा उपवास करना, भय (भयभीत रहना), रूक्ष आहार-विहार का सेवन करना, अधारणीय वेगों को धारण करना, रक्त स्तम्भक एवं वामक औषधियों का सेवन करना एवं योनि दोष; इन कारणों द्वारा स्त्रियों में रक्तगुल्म उत्पन्न होता है।

रक्तगुल्म के लक्षण–रक्तज गुल्म में स्पन्दन पिण्ड की तरह होता है अर्थात् पूरा गुल्म ही स्पन्दित होता है, उसके किसी एक भाग में स्पन्दन नहीं होता, यह स्पन्दन देर से होता है, वेदना होती है तथा लक्षण गर्भ के समान मिलते हैं, रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों को ही होता है तथा इसकी चिकित्सा दस महीने व्यतीत होने के बाद ही करनी चाहिए। ॥१८-१९॥

चक्रपाणि–'ऋतावित्यादि' के द्वारा शोणित (रक्त) गुल्म का अभिधान किया गया है। **ऋतावि**ति-पुष्पदर्शन काल में। 'स्त्रियमित्यनेन' से कुमारी एवं अतिवृद्ध स्त्रियों में रक्तगुल्म का निषेध किया गया है, अर्थात् रक्तगुल्म उन्हीं स्त्रियों को होता है जिनमें मासिक स्राव होता है।

पिण्डित एवेति–गर्भ का स्पन्दन अङ्गों द्वारा होता है, अर्थात् गर्भ के हाथ व पैरों के हिलने से उदर में स्पन्दन होता है। जबकि रक्तगुल्म में पूरे गुल्म में गति होती है।

समगर्भलिङ्ग इति–रक्तगुल्म में लक्षण गर्भ के ही समान मिलते है, यथा-स्तन की कृष्णमुखता, रोमराजी का उद्गम होना आदि।

स्त्रीभव एवेति–रक्तगुल्म स्त्रियों को ही होता है, इससे पुरुष में इसकी उत्पत्ति का निषेध किया गया है।

मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्य इति–दस मास बीत जाने पर ही इसकी चिकित्सा सुखपूर्वक हो जाती है। यह इस व्याधि का प्रभाव है। दस मास के पूर्व चिकित्सा करने पर अत्यधिक रक्तस्राव एवं गर्भाशय उपघात आदि की संभावनायें बनी रहती हैं। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–गर्भ के समान लक्षण होने से इसका (रक्तगुल्म का) दस मास बाद निश्चय किया जाता है, या निश्चय होता है। इसलिये दस मास से पूर्व इसकी चिकित्सा नहीं बतायी गयी है, ऐसा कहा गया है। यह संभव नहीं है या ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दस मास बाद भी गर्भ का अवस्थान रहता है, ऐसा दिखाई देता है। कहा भी गया है, यथा-**''पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्''** (शा.अ. २) [एक वर्ष बीत जाने के बाद गर्भ पुष्ट होता है।]। रक्तगुल्म में गुल्म पिण्ड रूप ही इधर-उधर गति करता है, जबकि गर्भ में गर्भ के हाथ व पैर (Limbs) गति (हिलते-डुलते) करते हैं, यह बताया गया है। इस प्रकार दस मास से पूर्व भी रक्तगुल्म का निश्चय हो जाता है, इसलिये पूर्वकथन (चिकित्सा सौकर्य एवं गर्भाशय उपघात ही दस मास बाद चिकित्सा का कारण है) ही उचित है।

Scanned by CamScanner

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम् । प्रवक्ष्याम्यत ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान् ।।२०।।
रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम् । बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् ।।२१।।
भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः । स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ।।२२।।
स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम् । भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ।।२३।।
स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे । पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये ।।२४।।
दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः । बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ।।२५।।
पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः । प्रयोज्या वातुगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ।।२६।।

गुल्म रोग का चिकित्सासूत्र

इसके बाद गुल्म रोगी के गुल्मनाशक सिद्ध उपक्रमों का वर्णन करूँगा तथा बाद में गुल्मनाशक योगों का विवेचन भी किया जायेगा ।

वातजगुल्म की चिकित्सा–रूक्ष आहार-विहार एवं अत्यधिक व्यायाम करने से उत्पन्न वातिक गुल्म में यदि तीव्र वेदना होती हो तथा पुरीष एवं वायु का अवरोध हो तो सर्वप्रथम स्नेह द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए ।

स्निग्ध भोजन, अभ्यंग, स्नेह-पान, निरूह एवं अनुवासन बस्तियों के द्वारा रोगी को स्निग्ध करके गुल्म की शान्ति हेतु स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् रोगी को सम्यक् स्निग्ध करके स्वेदन कराना चाहिए ।

स्नेहन के बाद स्वेदन के प्रयोग से स्रोतस् मृदु हो जाते हैं, वात की उल्बणता शान्त हो जाती है तथा विबन्ध नष्ट हो जाता है । इस प्रकार गुल्म की शान्ति हो जाती है ।

अवस्था विशेष के अनुसार वातिक गुल्म में कर्तव्य–नाभि के ऊर्ध्व प्रदेश में होने वाले गुल्म में विशेष रूप से स्नेहपान हितकर होता है । पक्वाशय के आश्रित होने पर बस्ति का प्रयोग तथा जठर (नाभिगत एवं पार्श्वगत) के आश्रित होने पर निरूह एवं अनुवासन दोनों बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए । यदि वातिक गुल्म में जाठराग्नि प्रदीप्त हो, मल एवं वायु का अवरोध हो तो ऐसी स्थिति में स्निग्ध, उष्ण एवं बृंहण आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिए ।

वातिक गुल्म में कफ व पित्त की रक्षा करते हुए बार-बार निरूह एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए । ॥२०-२६॥

चक्रपाणि– अत ऊर्ध्वमिति-क्रियाक्रम (चिकित्सा क्रम) के अभिधान के बाद (गुल्म के योगों का विवेचन किया जायेगा) ।

स्नेहैरिति–चारो प्रकार के स्नेहों के द्वारा, स्नेह से यहाँ घृत, तैल, वसा व मज्जा का ग्रहण किया गया है । 'भोजनेत्यादि' के द्वारा स्नेहों के उपयोग को बताया गया है । 'विशेषेणेति'-इस वचन से सभी का प्रयोग सर्वत्र नहीं करना चाहिए, विशेष रूप से स्नेहपान का प्रयोग नाभि के ऊर्ध्व स्थित गुल्म में किया जाता है ।

पक्वाशयगत इति–पक्वाशय के अधोभाग में आश्रित गुल्म में बस्ति (अनुवासन एवं निरूह) का प्रयोग करना चाहिए । बस्ति से यहाँ निरूह एवं अनुवासन दोनों प्रकार की बस्तियों का ग्रहण है ।

जठराश्रय इति नाभिगते नाभिपार्श्वगते च–नाभि के आश्रित एवं नाभिपार्श्व के आश्रित गुल्म में । उभयमिति=निरूह व स्नेह बस्ति । 'वातगुल्मेष्विति' इस वचन से वात प्रधान गुल्म में भी यथा वर्णित कर्तव्य का पालन करना चाहिए । कहा भी गया है, यथा- "गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः" (नि.अ. ३) [गुल्म रोगी में वात की शान्ति विभिन्न उपायों द्वारा करनी चाहिए ।]

कफपित्तानुरक्षिणेति–गुल्म में उतना ही स्नेहन कराना चाहिये या स्नेह का प्रयोग करना चाहिए जितने में कफ व पित्त की वृद्धि न हो ।

अथवा उन्हीं प्रकार के द्रव्यों से सिद्ध स्नेह का प्रयोग कराया जाय जो कफ पित्त के वर्धक न हों ।

कफो वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा । यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ।।२७।।
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम् । आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ।।२८।।

वात की चिकित्सा करते हुए वृद्ध कफ पित्त व रक्त की चिकित्सा–कफ व वात के शान्त हो जाने पर अथवा उसकी चिकित्सा करते समय पित्त अथवा रक्त का प्रकोप हो जाय तब उस समय जिस दोष की प्रबलता होती है उसकी चिकित्सा करनी चाहिए । गुल्म की चिकित्सा करते समय प्रारम्भ, अन्त एवं मध्य में वायु की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए । ॥२७-२८॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'कफो वाते इत्यादि' के द्वारा वात की चिकित्सा करते समय बढ़े हुए कफ, पित्त व रक्त की चिकित्सा का निर्देश दिया गया है। 'जितप्राय इति' शब्द से कफादि की वृद्धि न करते हुए जिस प्रकार वात को प्रशमित किया जा सके उसी प्रकार वात की चिकित्सा करना चाहिए।

यथोल्बणस्य इति–वात की चिकित्सा करते समय, जो दोष (कफ या पित्त) उल्बण (वृद्ध) होता है उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। उसकी भी (उल्बण दोष की) चिकित्सा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वात की वृद्धि न हो। अर्थात् जिस विधि से चिकित्सा करने में वात की वृद्धि न हो एवं वृद्ध दोष शान्त हों, उसी विधि से चिकित्सा करनी चाहिये, जिसका स्पष्टीकरण यहाँ 'आदावित्यादि' के द्वारा दिया गया है। ॥२७-२८॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि। हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥२९॥
शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे। वर्तयो गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥३०॥
पित्तं वा यदि संवृद्धं संतापं वातगुल्मिनः। कुर्याद्विरेच्यः स भवेत् सस्नेहैरानुलोमिकैः ॥३१॥

वातगुल्म मे संशोधन का प्रयोग–वातगुल्म में यदि कफ बढ़कर अग्नि को उपहत करते हुए अरुचि (Anorexia), हृल्लास (Nausea), गौरव (Heaviness of the body) एवं तन्द्रा (drowsiness) उत्पन्न करे तब उस अवस्था में वमन का प्रयोग करना चाहिए। यदि वात व कफ की उल्बणता वाले वातगुल्म में शूल, आनाह एवं विबन्ध उत्पन्न हो जाय तब उस अवस्था में वातकफ नाशक वर्ति (गुदवर्ति), गुटिका एवं चूर्ण का प्रयोग कराना हितकर है। यदि वातगुल्म वाले रोगी में पित्त की वृद्धि हो जाय तब उस अवस्था में स्नेह युक्त, अनुलोमक योगों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। ॥२९-३१॥

चक्रपाणि–गुल्म में यद्यपि वमन का निषेध किया गया है फिर भी अवस्था के अनुसार वमन का निर्देश अपवाद रूप में 'वातगुल्म इत्यादि' द्वारा किया गया है। 'वर्तय इति' से 'फलवर्ति' (Suppositaries) अर्थ लिया गया है।

आनुलोमिकैरिति–अनुलोमक योग के द्वारा, इससे यहाँ वात प्रकोप में तीव्र विरेचन का निषेध किया गया है, अर्थात् विरेचन हेतु स्नेह के साथ वातानुलोमक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। ॥२९-३१॥

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते। न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥३२॥

गुल्म में रक्तमोक्षण का प्रयोग–जो गुल्म वातादि नाशक चिकित्सा करने पर भी शान्त न हो तब वह गुल्म रक्तमोक्षण के प्रयोग से निश्चय ही शान्त हो जाता है।

चक्रपाणि–रक्तस्रावण (रक्तमोक्षण=रक्तस्राव) गुल्म प्रभावित भाग में ही शृंग आदि के द्वारा कराना चाहिए, क्योंकि गुल्म का अधिष्ठान यहाँ रक्त है। इस गुल्म में बाहु की सिरा के वेध से गुल्म की शान्ति नहीं होती, क्योंकि बाहु की सिरा का वेध अन्य व्याधियों में किया जाता है। 'गुल्म का अधिष्ठान रक्त है' यह विवेचन गुल्मपाक के प्रकरण में किया जायेगा। ॥३२॥

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्। रूक्षोष्णेन तु संभूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥३३॥
पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयस्थितम्। कालविन्निर्हरेत् सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः ॥३४॥
पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत्। भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥३५॥

पित्तगुल्म का चिकित्सासूत्र
(Line of Treatment of Paittika Gulma)

यदि पित्तज गुल्म स्निग्ध एवं उष्ण आहार द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न हुआ है तो उसमें 'स्रंसन' का प्रयोग करना हितकर होता है। यदि रूक्ष एवं उष्ण हेतुओं के सेवन से उत्पन्न हो तब उसे घृत के प्रयोग द्वारा शान्त करना चाहिए। अर्थात् इस अवस्था में घृत का प्रयोग परम पित्तशामक होता है।

पित्त की वृद्धि अथवा पित्तगुल्म पक्वाशय में हो तब सद्यः तिक्त द्रव्यों से सिद्ध क्षीरबस्तियों के प्रयोग द्वारा उचित काल में पित्त अथवा गुल्म का निर्हरण करना चाहिए। अथवा रोगी के अग्निबल का विचार करते हुए तिक्त द्रव्यों से साधित सुखोष्ण क्षीर अथवा तिल्वक द्वारा साधित घृत (तैल्वक घृत) को पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। ॥३३-३५॥

चक्रपाणि–**रूक्षोष्णेन तु संभूते (पैत्तिके) इति योज्यम्**–'रूक्षोष्णेन तु संभूते' के आगे 'पैत्तिके' शब्द जुड़ा हुआ है, जिसका अर्थ रूक्ष एवं उष्ण आहार द्रव्यों के सेवन से उत्पन्न होने वाले पैत्तिक गुल्म में घृत का प्रयोग अत्यन्त पित्तशामक होता है। रूक्ष एवं उष्ण कारणों द्वारा ही पित्त वृद्ध होता है। तैल्वकघृत का प्रयोग उदररोग में निर्दिष्ट किया गया है। ॥३३-३५॥

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥३६॥
छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम्। रक्तं हि व्यम्लतां याति, तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥३७॥

Scanned by CamScanner

पित्तगुल्म में रक्तमोक्षण (रक्तावसेचन) का प्रयोग–यदि पित्तगुल्म का रोगी तृष्णा (Thirst), ज्वर (Fever), परीदाह (अत्यधिक दाह-Burning sensation), शूल (Colic pain), स्वेदाधिक्यता (Sweating), अग्निमांद्यता एवं अरुचि (Anorexia) से युक्त हो तब उसमें रक्तमोक्षण का प्रयोग करना चाहिए। गुल्म के मूल (Cause) नष्ट हो जाने से गुल्म विदाह (पाक) को नहीं प्राप्त होते एवं गुल्म का क्षय हो जाता है। गुल्म में रक्त विदग्धता (दूषणत्व या अर्धपक्वता) को प्राप्त होता है। रक्तमोक्षण द्वारा विदग्ध रक्त के अभाव होने से गुल्म की वेदना भी नहीं रहती अर्थात् गुल्म भी नष्ट हो जाता है। ॥३६-३७॥

चक्रपाणि–'तृष्णा ज्वरेत्यादि' के द्वारा गुल्म में विदाह उत्पन्न होने पर क्या चिकित्सा करनी चाहिए, यह बताया गया है। रक्तावसेचन करने पर छिन्न मूल वाले गुल्म में विदाह नहीं उत्पन्न होता।

छिन्नमूला इति–इसका अर्थ रक्त निकल जाने से है। 'छिन्नमूलत्व' का ही स्पष्टीकरण यहाँ 'रक्तं हीत्यादि' के द्वारा दिया गया है। व्यम्लतां-से विदाह लिया गया है, रक्तमोक्षण करने के बाद रक्त में विदाह नहीं होता विदाही रक्त का अभाव होने से गुल्म की वेदना शान्त हो जाती है। ॥३६-३७॥

जल्पकल्पतरु व्याख्या–पित्तगुल्म वाले रोगी में तृष्णादि उत्पन्न होने पर रक्तमोक्षण (रक्तविस्रावण) कराना चाहिए। गुल्म शरीर के जिस भाग में स्थित होता है अथवा संलग्न रहता है शारीरोष्मा एवं रक्त से संबन्ध होने के कारण व्रणशोथ की तरह इसमें भी पाक होता है। जब इसमें विरेचन एवं क्षीरबस्तियों के द्वारा पित्त का निर्हरण करने के बाद सिरावेध द्वारा दूषित रक्त का निर्हरण हो जाता है तब गुल्म प्रभावित भाग में संलग्न रूप मूल के कट जाने पर गुल्म में पाक नहीं होता, अतः गुल्म क्षय को प्राप्त हो जाता है।

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः। समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥३८॥

रक्तस्राव के बाद कर्तव्य–दूषित दोष के शरीर से निकल जाने पर रोगी का शरीर दुर्बल हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे आश्वस्त करते हुए जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस द्वारा तृप्त करना चाहिए एवं अवशिष्ट (शेष) दोषों की शान्ति हेतु प्रतिदिन घृत का सेवन करना चाहिए। [यहाँ अवशिष्ट दोष से रक्तमोक्षण द्वारा सम्यक् रूप से दोष न निकल पाने से बचे हुए दोषों का ग्रहण है।]

चक्रपाणि–**हृतदोषमिति**-रक्तमोक्षण द्वारा निर्हरित दोष। **परिम्लानमिति**-क्षीण काय दोषों के निकल जाने पर रोगी का शरीर क्षीण हो जाता है। ॥३८॥

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात् क्रियामनुपलभ्य च। यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥३९॥

गुल्म में शस्त्रकर्म–रक्त एवं पित्त के अत्यधिक बढ़ जाने से अथवा उचित चिकित्सा न होने पर गुल्म में यदि विदाह (पाक) उत्पन्न हो जाय तब उस स्थिति में शल्यकर्म का प्रयोग करना चाहिए। ॥३९॥

चक्रपाणि–'क्रियामिति' से यहाँ 'रक्तमोक्षण' रूप क्रिया (चिकित्सा) का ग्रहण किया गया है। विदह्येत्=पच्यते, गुल्म में पाक, की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसान्तराश्रयः। अविवर्णः स्थिरश्चैव ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥४०॥

अपक्व गुल्म के लक्षण–अपक्व गुल्म में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–१. गुल्म में भारीपन एवं कठिनता का होना (Heaviness and hardness in form), २. गुल्म का मांस के अन्दर स्थित होना (Location- deep inside the muscle tissue), ३. गुल्म के ऊपर की त्वचा के रंग में कोई परिवर्तन का न होना। ४. गुल्म का स्थिर होना।

चक्रपाणि–'गुरुः कठिनेत्यादि' के द्वारा अपक्व, पच्यमान एवं पक्व गुल्म के लक्षणों को बताया गया है। जो गुल्म मांस धातु के अन्दर छिपा हो अर्थात् deep seated गुल्म 'गूढमांसान्तराश्रय कहा गया है। **स्थिर इति**-ऊँचा उठा हो ॥४०॥

दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः। विदह्यमानं जानीयाद्गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥४१॥

पच्यमान (विदह्यमान) गुल्म के लक्षण–दाह का होना (Burning sensation), शूल (Colic pain), सूई से चुभाने जैसी वेदना, क्षोभ (Irritation), स्वप्ननाश (निद्रा का न आना-Insomnia), अरति (किसी भी कार्यों में मन का न लगना) एवं ज्वर; ये सभी लक्षण विदह्यमान (पच्यमान) गुल्म में पाये जाते हैं। इस गुल्म के सम्यक् पाक हेतु उष्ण उपनाह का प्रयोग करना चाहिए। ॥४०॥

चक्रपाणि–**तमुपनाहयेदिति**-उष्ण द्रव्यों द्वारा तैयार किया हुआ लेप गुल्म के पाचनार्थ प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् उष्ण उपनाह का प्रयोग तभी करना चाहिए जब गुल्म में पाक (Suppuration) की प्रवृत्ति हो। इससे यह प्रक्रिया शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है।

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्तुङ्गे समुन्नते। श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शे बस्तिसंनिभे ॥४२॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात्। तत्रैव पिण्डिते शूले संपक्वं गुल्ममादिशेत् ॥४३॥

Scanned by CamScanner

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ । वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ।।४४।।
अन्तर्भागस्य चाप्येतत् पच्यमानस्य लक्षणम् । हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः ।।४५।।

पक्वगुल्म के लक्षण (Signs and Symptoms of Suppurated Gulma)– विदाह (Burning sensation) वाले गुल्म में त्वचा का बाहर की ओर उठ जाना, उन्नत भाग के चारो ओर का किनारा रक्त वर्ण का होना तथा मध्य का भाग श्याव युक्त होना, स्पर्श करने पर 'थैले में जल भरा है' ऐसा प्रतीत होना, दबाने पर गड्ढा बन जाता है तथा शीघ्र ही पुनः उन्नत हो (उठ) जाता है, सोने पर पार्श्व का पीडन होने से स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है तथा बाहर की ओर उन्नत पिण्ड बन जाता है तथा उस पिण्डिका भाग में ही शूल होता है; इन लक्षणों के आधार पर गुल्म पक गया है, ऐसा समझना चाहिए । गुल्म की इस अवस्था में चिकित्सा कार्य धन्वन्तरिसंप्रदाय के चिकित्सकों को करना चाहिए, अर्थात् यह कार्य उन्हीं के अधिकार क्षेत्र का है, क्योंकि ये ही लोग व्यधन, शोधन एवं रोपण कार्यों को करने में कुशल होते हैं । यदि गुल्म के अन्तः भाग में पाक हो रहा हो तब बाह्य भाग में पच्यमान गुल्म के लक्षण मिलते हैं । अन्तस्थ भाग में पाक होने पर विशेष रूप से हृदय एवं उदर भाग में शोथ तथा बाह्य भाग के पच्यमान गुल्म में शोथ पार्श्व की ओर निकला रहता है । ।।४२-४५।।

चक्रपाणि–विदाहलक्षणे इति-दाह आदि में । **बहिस्तुङ्ने इति**-गुल्म के बाहर का भाग ऊँचा उठा रहता है । **समुन्नते इति समत्वेन उन्नते**-समरूप से ऊँचा उठा होना, न कि कुछ भाग ऊँचा तथा कुछ भाग नीचा होना ।

निपीडितान्तरमुन्नते निपीडितोन्नते–गुल्म के ऊपरी भाग को अंगुली से दबाने पर नीचे दब जाता है, अंगुली को हटाते ही दबा हुआ भाग पुनः ऊपर उठ जाता है, अर्थात् अपनी पूर्व अवस्था में आ जाता है । **स्तब्धे इति वर्तुले**-गुल्म के ऊपर का भाग वर्तुल (गोल Circular) हो जाता है । सुप्ते इति-मन्द-मन्द वेदना का होना, अर्थात् गुल्म पक जाने पर उसमें वेदना कम हो जाती है ।

धान्वन्तरीयाणामिति–शल्यविदों का, पक्व गुल्म की चिकित्सा शल्यविद् (शल्य चिकित्सक) को करने का निर्देश दिया गया है । **कृता शस्त्रकर्मणि योग्या यैस्ते कृतयोग्या**-जिसके द्वारा शल्य कर्म किया जाता है उसे 'कृतयोग्या' कहा जाता है । गुल्म का पाक सुश्रुत में निषिद्ध किया गया है-"स यस्मादात्मनि चयं गच्छत्यप्स्वि बुद्बुदः । अन्तः सरति यस्माच्च न पाकमुपनयात्यतः" (सु.उ.तं.अ.४२) इति [जिस प्रकार जल का बुलबुला जल में ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार गुल्म भी स्वयं में बढ़ता हुआ अपने ही अवयवों में संचरित होता रहता है। इसलिये वह पाक को नहीं प्राप्त होता है ।] फिर भी यहाँ कृतवास्तुपरिग्रहरूप गुल्म का पाक बताया गया है। जो गुल्म अकृतवास्तुपरिग्रहरूप है, उसका पाक नहीं होता । इसका भी यहाँ अनुमोदन किया गया है । 'जो गुल्म कृतवास्तु परिग्रह रूप होता है' वही पाक को प्राप्त होता है, यह कहा गया है उसका ही विद्रधि रूप होने से पाक को प्राप्त होता है ।

[**कृतवास्तुपरिग्रह**–कृत = निर्मित (उत्पन्न), वास्तु = जगह (Place), परिग्रह = पकड़ना (घेरना); गुल्म का गम्भीर धातुओं में स्थित होना ।]

अन्तर्भागस्येति–कोष्ठ के मध्य भाग में स्थित, यद्यपि सभी गुल्म कोष्ठस्थ ही होते हैं, फिर भी यहाँ जो 'बहिरुन्नतश्चितो' (बाहर की ओर उठा हुआ) के द्वारा गुल्म के लक्षण को बताया गया है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं है ।

हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे इति–कोष्ठ के अन्तः भाग में स्थित गुल्म के पाक में हृदय एवं उदर में शोथ उत्पन्न हो जाता है । बहिः भाग में गुल्म में पाक होने पर स्राव बाहर की ओर निकल जाता है । कुछ आचार्य इस श्लोक का पाठ नहीं करते हैं । ।।४२-४५।।

जल्पकल्पतरु टीका–'विदाहेत्यादि' के द्वारा पक्व गुल्म के लक्षणों का अभिधान किया गया है । आचार्य सुश्रुत गुल्म में पाक नहीं होता, यह स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार विद्रधि में पाक होता है । विद्रधि एवं गुल्म में दोष समान रूप से कारण होते हैं । फिर क्या कारण है कि विद्रधि में पाक होता है एवं गुल्म में पाक नहीं होता । मांस व रक्त की बहुलता से विद्रधि पाक को प्राप्त होती है तथा गुल्म में इसकी अल्पता होती है, इसलिये यह पाक को प्राप्त नहीं होता । गुल्म अपने दोषों में स्थित रहता है तथा विद्रधि मांस व रक्त की दुष्टि से उत्पन्न होती है । इसलिये विद्रधि का पाक होता है एवं गुल्म का नहीं होता । जल में उत्पन्न बुलबुले की भाँति गुल्म स्वयं के दोषों के बढ़ने से उत्पन्न होता है एवं कोष्ठ (GIT) के अन्दर भ्रमण करता है, इसलिये वह पाक को प्राप्त नहीं होता । फिर यहाँ वर्णित 'गुल्मपाक का वचन' किस कारण से विरुद्ध नहीं है । जो गुल्म मांसाश्रित है कोष्ठ (Gastrointestinal Tract) में विचरण नहीं कर रहा है अर्थात् मांसादि धातुओं से संसक्त (संयुक्त) है, वह गुल्म विरेचनादि उपक्रमों द्वारा चिकित्स्य नहीं होता, अपितु रक्त व पित्त की अत्यधिक वृद्धि होने से पाक को प्राप्त होता है। जो गुल्म मांसादि के आश्रित नहीं होता, अपने ही दोषों के बढ़ने से उत्पन्न होता है, कोष्ठ में विचरण करता है, अर्थात् कोष्ठ की दीवारों में संयुक्त नहीं रहता, वह पाक को प्राप्त नहीं होता ।

पक्वः स्रोतांसि संक्लेद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा । स्वयंप्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः ।।४६।।

Scanned by CamScanner

दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन् भिषगुपद्रवान् । अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम् ।।४७।।
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते ।

आभ्यन्तर पक्वगुल्म की चिकित्सा–पक्वगुल्म आभ्यन्तर स्रोतों में क्लेद उत्पन्न करते हुए पूय (Pus) के रूप में ऊर्ध्व या अधः मार्ग द्वारा जब स्वयं बाहर निकलने लगे, उस स्थिति में प्रवृत्त दोष की उपेक्षा करनी चाहिए । अर्थात् पूय को बाहर निकलने देना चाहिए तथा रोगी को हितकर आहार के द्वारा दस या बारह दिन तक उपद्रवों से बचाना चाहिए । [अभिप्राय यह है कि पूय को १० या १२ दिन तक निकलने देना चाहिए एवं रोगी की हितकर आहार के द्वारा उपद्रवों से रक्षा करनी चाहिए ।]

१० या १२ दिन तक पूय निकलने के बाद शोधन द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान रोगी को कराना चाहिए । शोधनोपरान्त तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत में मधु मिलाकर प्रयोग करना विशेष हितकर है । ।।४६-४७।।

चक्रपाणि–व्रजत्यूर्ध्वमिति सशब्देनान्तःस्थेनाभिप्रेतः-आभ्यान्तर गुल्म का पक्व होकर ऊर्ध्व (मुख मार्ग-वमन द्वारा) एवं अधः मार्ग (गुदमार्ग) द्वारा स्वयं बाहर निकलना ।

उपेक्षेत हिताशनैरिति–आभ्यन्तर गुल्म में दोष पक्व होकर पूय (Pus) के रूप में जब स्वयं बाहर निकलने लगे उस समय उसे दस या बारह दिन तक निकलने दें । इस बीच में रोगी को हितकर (पथ्य) अन्न का सेवन कराना चाहिए, किसी प्रकार की औषधि की योजना नहीं करना चाहिए ।

रक्षन्नुपद्रवानिति–ज्वरादि उपद्रवों से रोगी की रक्षा करते हुए ।

सविशोधनमिति–विशेष रूप से शोधन द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान करना चाहिए । यहाँ शोधन से उन औषधियों को लेना चाहिए जो व्रण का शोधन करते हों ।

तिक्तमिति–तिक्त द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग । ।।४६-४७।।

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके ।।४८।।
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः । मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।।४९।।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः । उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने ।।५०।।
योज्यश्चाहारसंसर्गो भेषजैः कटुतिक्तकैः । सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम् ।।५१।।
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेद्भिषक् । लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ संप्रधुक्षिते ।।५२।।
कफगुल्मी पिबेत् काले सक्षारकटुकं घृतम् । स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः ।।५३।।
सस्नेहैर्बस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद्दाशमूलिकैः । मन्देऽग्नावनिले मूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ।।५४।।
गुटिकाचूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् । कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम् ।।५५।।
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ।

कफज गुल्म का उपक्रम (चिकित्सा सूत्र)

कफज गुल्म में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग–शीतल, गुरु एवं स्निग्ध आहारविहारों के सेवन से उत्पन्न कफज गुल्म में यदि रोगी वमन के योग्य न हो तथा उसे अग्निमांद्य हो तब ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम लंघन का प्रयोग करना चाहिए ।

वमन के योग्य रोगी–जो रोगी अग्निमांद्य से पीड़ित हो, जिसके अन्दर हलकी-हलकी वेदना होती हो, जिसका कोष्ठ भारी व जकड़ाहट से युक्त हो, जी मिचलाता हो एवं अरुचि (Anorexia) हो; वह कफज गुल्म का रोगी वमन के योग्य होता है ।

वमन एवं लंघन कराने के बाद रोगी की उष्ण उपचर्या करनी चाहिए । अर्थात् आहार-विहार के रूप में उष्ण गुण युक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए, साथ में कटु एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा आहार को संस्कारित कर सेवन करना चाहिए ।

यदि गुल्म कठिन (Hard) एवं उन्नत (Elevated) हो तथा रोगी आनाह एवं मलबद्धता से ग्रसित हो तब उस समय सर्वप्रथम युक्ति पूर्वक उसका स्वेदन कराना चाहिए । स्वेदोपरान्त स्विन्न गुल्म का विलयन करना चाहिए ।

लंघन, वमन एवं स्वेदन कराने के बाद जाठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर रोगी को क्षार एवं कटु द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान उचित काल में कराना चाहिए । अपने स्थान से गुल्म अपसृत (चलायमान) हो गया है अथवा हट गया है, यह जानकर विरेचन अथवा स्नेह युक्त दशमूल क्वाथ की निरूह बस्ति द्वारा शोधन कराना चाहिए । पूर्व चिकित्सा द्वारा जाठराग्नि दीप्त हो जाय तथा वायु का अनुलोम हो जाय एवं कोष्ठ स्निग्ध है, ऐसा जानकर कफगुल्म की शान्ति हेतु गुटिका (वटी), चूर्ण एवं क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् कफगुल्म नाशक वटी, चूर्ण एवं क्वाथों का प्रयोग करें ।

Scanned by CamScanner

कफगुल्म में क्षार का प्रयोग–जो गुल्म कृतमूल [मूल स्थान से अच्छी प्रकार से चिपका (जकड़ा) हुआ] हो, महावास्तु-अत्यधिक स्थान में स्थित हो (ज्यादा स्थान घेरा हो), अत्यधिक कड़ा (Hard) हो, स्तिमित हो (अचल हो) एवं भारी हो; इस प्रकार के कफगुल्म को क्षार, अरिष्ट एवं अग्निकर्म के प्रयोग द्वारा जीतना चाहिए । ॥४८-५५॥

चक्रपाणि–'शीतलैरित्यादि' के द्वारा कफगुल्म में उपयोगी चिकित्सा-क्रम का अभिधान किया गया है ।

सक्षारकटुकमिति–क्षार एवं कटु द्रव्यों द्वारा साधित । अपसृतमिति=चलितम्, गुल्म के चलायमान हो जाने पर, दशमूल के क्वाथ एवं स्नेह आदि द्वारा निर्मित दशमूलनिरूहबस्ति (सि. अ. ३) का प्रयोग करना चाहिए ।

मूढे इति संमूर्च्छिते–संमूर्च्छित होने पर (Intensified) अर्थात् अग्नि के दीप्त हो जाने पर एवं वात के अनुलोम हो जाने पर, कफनाशक गुटिका, चूर्ण एवं क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए । 'क्षारारिष्टाग्निकर्मभिरिति' से यहाँ क्षार का प्रस्तुतीकरण न होने से शल्यतंत्र में उसका विस्तार से अभिधान है । यहाँ भी ग्रहणी अध्याय में क्षार का वर्णन किया जायेगा । अग्निकर्म का इस प्रकरण में संक्षिप्त अभिधान किया गया है, ऐसा पराधिकार में हस्तक्षेप न करने की दृष्टि से किया गया है । ॥४८-५५॥

जल्पकल्पतरु व्याख्या–इस प्रकार चिकित्सा द्वारा अग्नि के वृद्ध हो जाने एवं वात के अनुलोम हो जाने पर, आशय (कोष्ठ) की स्निग्धता का ज्ञान रखते हुए गुटिका आदि का प्रयोग कराना चाहिए । (चामूढेऽधोगे)

दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं बुद्ध्वा कफोल्बणे ॥५६॥
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् । एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः ॥५७॥
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः । श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः ॥५८॥
छित्त्वा छित्त्वाऽऽशयात् क्षारः क्षरत्वात् क्षारयत्यधः मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम् ॥५९॥
प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ।

कफ प्रधान गुल्म रोग में क्षार के अनुकूल दोष, प्रकृति, गुल्म एवं ऋतु का सम्यक् ज्ञान कर बल (आतुर बल) एवं दोष के प्रमाण का ज्ञाता चिकित्सक को क्षार का प्रयोग करना चाहिए ।

शरीर, बल एवं दोषों के क्षय-वृद्धि का विशेषज्ञ चिकित्सक कफज गुल्म में एक दिन, दो दिन एवं तीन दिन के अन्तर पर बार-बार क्षार का प्रयोग करे ।

क्षार के गुण–मांस, क्षीर एवं घृत सेवन करने वाले कफगुल्म के रोगी में प्रयुक्त क्षार-मधुर स्निग्ध एवं कफ क्षरण गुण होने के कारण गुल्म को आशय से काट-काट कर अधो मार्ग द्वारा बाहर निकाल देता है ।

कफज गुल्म में अरिष्ट की उपयोगिता–अग्निमांद्य, अरुचि, मद्यसात्म्य एवं स्निग्ध भोजन करने वाले कफगुल्म के रोगी में मार्ग की शुद्धि हेतु अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिए । ॥५६-५९॥

चक्रपाणि–क्षारों का प्रयोग महात्ययिक (अत्यधिक उपद्रवकारी) होने से दोषों का ज्ञानपूर्वक एक, दो अथवा तीन दिन रुक-रुक कर करना चाहिए, जिसे यहाँ 'दोषेत्यादि' द्वारा बताया गया है ।

क्षार के अनुगुण दोष-कफ, प्रकृति-श्लैष्मिकी, गुल्म का स्थिर स्वरूप, ऋतु-हेमन्त अथवा शिशिर अर्थात् कफज गुल्म हो, आतुर प्रकृति-कफज हो, गुल्म स्थिर हो अर्थात् एक स्थान में Fix हो, इस अवस्था में हेमन्त अथवा शिशिर ऋतु में क्षार का प्रयोग करना चाहिए ।

उपर्युक्त सभी अवस्थाओं के अनुकूल रहने पर एक दिन के अन्तर पर क्षार का प्रयोग कराना चाहिए । दोष को छोड़कर या किसी एक को छोड़कर शेष अवस्थाओं के अनुकूल रहने पर दो या तीन दिन के अन्तर पर क्षार का प्रयोग करना चाहिये, ऐसा करते समय आतुर के बल एवं दोष का विचार अवश्य करना चाहिए ।

शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविद इति–शरीर बल एवं दोषों की वृद्धि, की अवस्था में ही दोषों का निर्हरण किया जाता है ।

मांसक्षीरघृताशिन इति–क्षार के प्रयोग कराते समय शरीर के बल की रक्षा हेतु मांस, क्षीर एवं घृत का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिए ।

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिःपानैर्विरेचनैः ॥६०॥
बस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि । श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति ॥६१॥
तस्य दाहो हते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः । औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ ॥६२॥
तयोः शमाच्च संघातो गुल्मस्य विनिवर्तते । दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् ॥६३॥
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम् ।

Scanned by CamScanner

कफज गुल्म में दाह (अग्नि) कर्म का प्रयोग–लङ्घन, वमन, स्वेदन, घृतपान, विरेचन, बस्ति, गुटिका, चूर्ण, क्षार आदि के प्रयोग करने पर भी दृढ़मूल होने के कारण कफजगुल्म यदि शान्त नहीं होता है तब रक्तमोक्षण कराने के बाद बाण अथवा लोह को गरम कर गुल्म स्थान को दग्ध कर देना चाहिए ।

अग्नि उष्ण व तीक्ष्ण होने से कफ व वायु दोनों का शमन करती है व दोनों के शमन हो जाने से गुल्म का संघात नष्ट हो जाता है।

गुल्म में अग्निकर्म के प्रयोग का विशेषाधिकार धान्वन्तरि संप्रदाय के चिकित्सकों का है तथा क्षार के प्रयोग का अधिकार क्षारतन्त्रविद् को है, अर्थात् अग्निकर्म एवं क्षारकर्म का प्रयोग इनके विशेषज्ञों द्वारा कराना चाहिए । ॥६०-६३॥

चक्रपाणि–शरलोहादिभिरित्यनेन-'बाण अथवा लोह को तप्त कर दाह करना-, इससे रूक्ष दाह को दर्शाया गया है । दाह कार्य गुल्म प्रभावित भाग के ऊपर ही करना चाहिए । दाहकर्म एवं क्षारकर्म को करना 'कायचिकित्साविद्' के क्षेत्र में नहीं आता। इस विषय पर शल्यतंत्रविदों का अधिकार है । अतः यह कार्य निर्धारित विशेषज्ञों द्वारा कराना चाहिए । क्षारतंत्र का अष्टांग आयुर्वेद में पृथक् से अभिधान न होने से शल्यतन्त्र में ही अनुशस्त्र रूप क्षार विषयक क्षारतंत्र का ग्रहण हो जाता है ।

व्यामिश्रदोषे व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः ।।६४।।

सन्निपातज गुल्म की चिकित्सा–मिश्र दोषों से उत्पन्न होने वाले सन्निपातज गुल्म में दोषनाशक मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए । ॥६४॥

चक्रपाणि–व्यामिश्रदोषे इति-संसर्गज (दो दोषों के संयोग से उत्पन्न) एवं सन्निपातज (तीन दोषों के संयोग से उत्पन्न) गुल्म में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए ।

सिद्धानतः प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् । त्र्यूषणत्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः ।।६५।।
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ।
इति त्र्यूषणादिघृतम् ।

गुल्मनाशक योगों का विवेचन

अब आगे गुल्मनाशक सिद्ध योगों का विवेचन किया जा रहा है–

त्र्यूषणादि घृत–त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), धान्य (धनियाँ), विडङ्ग (वायविडंग), चव्य एवं चित्रक; इन द्रव्यों के कल्क मिश्रित दूध द्वारा साधित घृत वातगुल्म नाशक होता है ।

चक्रपाणि–'सिद्धानित्यादि' के द्वारा यहाँ सिद्ध (अत्यन्त उपयोगी) योगों का अभिधान किया जा रहा है । 'सिद्धानिति' से निर्दिष्ट योग की प्रशंसा की गयी है ताकि शिष्य की प्रवृत्ति इन योगों की ओर हो । इस घृत के निर्माण में अन्य द्रवों का निर्देश न होने से दुग्ध की मात्रा घृत की ४ गुनी लेनी चाहिए ।

विशेष–त्र्यूषणादि घृत का निर्माण निम्न प्रकार से करना चाहिए-कल्क द्रव्य-सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धनियाँ, विडंग, चव्य एवं चित्रक; इन द्रव्यों को चूर्ण कर कल्क रूप में बना लें, संयुक्त मात्रा -१ भाग । घृत-४ भाग । दुग्ध- १६ भाग। सभी द्रव पदार्थों को एक पात्र में लेकर सिद्ध करें, दुग्ध का जलीयांश उड़ जाने पर पुनः उसमें ४ भाग जल डालकर पाक करें, अब पुनः घृतपाक परीक्षा द्वारा घृत सिद्ध होने पर छानकर रख लें ।

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पञ्चमूलिकः ।।६६।।
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद्घृतं गुल्मनुत् परम् ।
इति त्र्यूषणादिघृतमपरम् ।

(षट्पलं वा पिबेत् सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि ।।६७।।)
प्रसन्नया वा क्षीरार्थं सुरया दाडिमेन वा । दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत् ।।६८।।

त्र्यूषणादिघृत (द्वितीय)–त्र्यूषणादिघृतोक्त द्रव्यों के कल्क, बृहत् पञ्चमूल अथवा दशमूल क्वाथ एवं दुग्ध द्वारा सिद्ध घृत गुल्म का परम शामक होता है अथवा राजयक्ष्मा चिकित्सा में वर्णित षट्पल घृत का पान रोगी को करना चाहिए, अथवा दुग्ध के स्थान पर प्रसन्ना (सुरा के ऊपर का भाग), सुरा (मदिरा), दाडिम स्वरस अथवा दधिसर (दही के पानी) डालकर सिद्ध किया हुआ त्र्यूषणादि घृत वातगुल्म का परम् शामक होता है । ॥६६-६८॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-एत एवेति-त्र्यूषणादि द्रव्यों द्वारा निर्मित कल्क। प्रसन्ना=एक विशेष प्रकार का मद्य। **क्षीरार्थमिति**-क्षीर (दुग्ध) के स्थान पर प्रसन्ना का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार क्षीर के स्थान पर स्वरसादि द्वारा भी घृत को सिद्ध करना चाहिए, यह व्याख्या करनी चाहिए। ॥६६-६८॥

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडदाडिमदीप्यकैः। पुष्करव्योषधन्याकवेतसक्षारचित्रकैः ॥६९॥
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम्। शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम् ॥७०॥
इति हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम्।

हिङ्गुसौवर्चलाद्य घृत-क्वाथ एवं कल्क में प्रयुक्त द्रव्य-हिंगु (हींग), सौवर्चल नमक, अजाजी (जीरा), विड्लवण, दाडिम (अनारदाना), दीप्यक (अजवाइन), पुष्करमूल, व्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), धान्यक (धनियाँ), वेतस, क्षार (यवक्षार), चित्रकमूल, शटी (कचूर), वच (मीठा वच), अजगन्धा (अजमोदा), इलायची एवं तुलसी की पत्ती; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ एवं कल्क का निर्माण करें। बाद में कल्क- १ भाग, घृत- ४ भाग, क्वाथ- १६ भाग मिलाकर घृत को सिद्ध करें, यह घृत शूल एवं आनाह को नष्ट करता है। वातगुल्म के नाश हेतु घृत को दधि के साथ सिद्ध करना चाहिए। ॥६९-७०॥

चक्रपाणि-हिंग्वादि घृत में हिंग्वादि द्रव्यों के ही कल्क का प्रयोग करना चाहिए। कल्क घृत का चतुर्थांश लेना चाहिए। दधि घृत की ४ गुनी ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि यह द्रव्य रूप होता है।

[इस प्रकार यहाँ वातगुल्म की शान्ति हेतु घृत को निर्धारित द्रव्यों के कल्क, क्वाथ एवं दधि द्वारा सिद्ध कर ही प्रयोग करना चाहिए।]

हपुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः। साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद्घृतम् ॥७१॥
सकोलमूलकरसं सक्षीरदधिदाडिमम्। तत् परं वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम् ॥७२॥
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान्। बस्तिहृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद्व्यपोहति ॥७३॥
इति हपुषाद्यं घृतम्।

हपुषाद्य घृत-हपुषा (हाऊबेर), शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली, पृथ्वीका (मंगरैला), चव्य, चित्रक, सैन्धव लवण, अजाजी (जीरा), पिप्पलीमूल, दीप्यक (अजवाइन); इन द्रव्यों का कल्क, कोल (बेर) का स्वरस, मूलक (मूली) का स्वरस, गोदुग्ध, दधि तथा दाडिम स्वरस द्वारा घृत को सिद्ध करना चाहिए। यह घृत शूल, आनाह एवं वातगुल्म का उत्तम रूप से शमन करता है। इसके अतिरिक्त योनिरोग (Diseases of Female genital tract), अर्श (Piles), ग्रहणी (Sprue syndrome), श्वास (Asthma), कास (Cough), अरुचि (Anorexia), ज्वर, वस्तिशूल, हृत् शूल एवं पार्श्वशूल को यह घृत नष्ट करता है। ॥७१-७३॥

चक्रपाणि-हपुषा आदि द्रव्यों के कल्क का प्रयोग। कोलरस (बेर का स्वरस), मूली स्वरस, गोदुग्ध, दधि एवं दाडिम स्वरस; प्रत्येक द्रव्य के स्वरस का मान स्नेह के बराबर होना चाहिए। अर्थात् इन पाँचों द्रव्यों के स्वरस का मान् पृथक्-पृथक् स्नेह के बराबर होना चाहिये, क्योंकि कहा भी गया है, यथा-**"पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ तत्र स्नेहसमानि"** इति [जहाँ स्नेह (घृत) को पाँच द्रव पदार्थों से सिद्ध करना हो वहाँ द्रव पदार्थ का मान स्नेह के बराबर ग्रहण करना चाहिए।] यहाँ दाडिम को भी रसान्तर सान्निध्य से द्रव ही ग्रहण किया गया है, अर्थात् दाडिम स्वरस का ग्रहण है। आचार्य विश्वामित्र ने इस संबन्ध में कहा भी है, यथा-"पृथ्वीकाजीरकव्योषहपुषाजाजिसैन्धवैः। सचव्यपिप्पलीमूलवह्निदीप्यकसंयुतैः॥ दाडिमकोलमूलानां रसे दध्नि पयस्यपि। सिद्धं घृतं जयेत् गुल्मं वह्निसंदीपनं परम्" ॥७१-७३॥

पिप्पल्या पिचुरध्यर्धो दाडिमाद्विपलं पलम्। धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरः चतुर्गुणम् ॥७४॥
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो वातगुल्मं व्यपोहति। योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम् ॥७५॥
इति पिप्पल्याद्यं घृतम्।

पिप्पल्याद्य घृत-पिप्पली- १½ पिचु (कर्ष), दाडिम- २ पल (८ तोला), धनियाँ १ पल (४ तोला), गोघृत- ५ पल (२० तोला), शुण्ठी- १ कर्ष, गोदुग्ध घृत का ४ गुना (२० पल = ८० तोला); सभी पदार्थों को एक पात्र में लेकर पकावें, घृत के सिद्ध हो जाने पर अग्नि पर से उतारकर स्वच्छ कपड़े से छानकर एक पात्र में सुरक्षित रख लें। इस घृत के पान से वातगुल्म, योनिशूल, शिरःशूल, अर्श एवं विषमज्वर शीघ्र ही विनष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि-पिचुः = कर्ष, तेनाध्यर्धपिचुरिति सार्धः कर्षः = १½ कर्ष (१½ तोला)। इस प्रकार यहाँ घृत सिद्ध करने में कल्क की मात्रा सामान्य मात्रा से अधिक हो जाती है, क्योंकि सामान्यतः स्नेह का चतुर्थांश (१/४ भाग) कल्क होना चाहिए। न्यायविदों ने कहा भी है, यथा-निर्देशः श्रूयते नूनं द्रव्याणां यत्र यादृशः। तस्मिन् स संविधातव्यः शब्दाभावे प्रसिद्धितः" इति [According to logicians, when

Scanned by CamScanner

there is a specific mention about any thing it is to be accepted as such if it is not conditioned by another contradiction and if it is well known. द्रव्यों के बारे में प्रकरण विशेष में विशेष निर्देश होने पर उसका वहाँ पालन करना चाहिए, यह आवश्यक नहीं है कि वही निर्देश अन्य प्रकरणों में भी लागू हो ।]

अत्र पुनर्घृतं सिद्धमिति–कल्क की यह मात्रा पिप्पल्यादि घृत में ही लागू होती है । पिप्पल्यादि का लेह के रूप में प्रयोग करने के लिए इस मात्रा का प्रयोग नहीं किया जाता, अर्थात् यह निर्देश Medicated घी के सन्दर्भ में है न किसी प्रकार के अवलेह आदि के सम्बन्ध में है । ॥७४-७५॥

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः । ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम् ॥७६॥
कोलदाडिमधर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः । शूलानाहहरी पेया बीजपूररसेन वा ॥७७॥
चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा । कुर्याद्वर्तीः सगुटिका गुल्मानाहार्तिशान्तये ॥७८॥

घृत निर्माण हेतु (घृत पाक हेतु) जिन औषध गणों का उल्लेख पूर्व में किया गया है, उन्हीं औषधियों के चूर्ण, वर्ति एवं कषाय (क्वाथ) का प्रयोग गुल्म रोग की शान्ति हेतु करना चाहिए ।

गुल्म व्याधि में अनुपान का प्रयोग–उपर्युक्त औषध गणों से निर्मित चूर्ण को बेर के स्वरस, दाडिम स्वरस, उष्ण जल, सुरा, मण्ड एवं अम्ल काञ्जी या बिजौरा नीबू के रस से निर्मित पेया का प्रयोग शूल एवं आनाह के विनाश हेतु करना चाहिए ।

अथवा उपरोक्त औषध गणों के चूर्ण को नीबू के रस की भावना देकर वर्ति अथवा गुटिका (गोली=वटी) बना लें । इसका सेवन गुल्म अथवा आनाह रोग की शान्ति हेतु करें ।

चक्रपाणि–घृतोक्तभेषजानां चूर्णादिष्वपि प्रयोगमाह-घृतानामित्यादि 'घृतानामित्यादि' के द्वारा घृत में प्रयुक्त (कल्क एवं क्वाथ आदि के रूप में प्रयुक्त) औषध द्रव्यों की चूर्ण आदि के रूप में उपयोग को बताया गया है । **वर्त्य इति**-से फलवर्तियों (Suppositories) का ग्रहण किया गया है । उक्त द्रव्यों के चूर्ण को कोलादि स्वरस के साथ लेना चाहिए, अर्थात् कोलादि स्वरस का प्रयोग अनुपान के रूप में करना चाहिए । कषाय (decoction) निर्माण हेतु यहाँ किसी विशेष विधान का उल्लेख नहीं किया गया है, अतः यहाँ क्वाथ निर्माण सामान्य विधि द्वारा ही करना चाहिए ।

हिङ्गु त्रिकटुकं पाठां हपुषामभयां शटीम् । अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ॥७९॥
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम् । द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥८०॥
चूर्णमेतत् प्रयोक्तव्यमन्नपानेष्वनत्ययम् । प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ॥८१॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके । आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे ॥८२॥
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्ड्वामयेऽरुचौ । उरोविबन्धे हिक्कायां कासे श्वासे गलग्रहे ॥८३॥
भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद्रसेन वा । बहुशो गुटिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ॥८४॥
इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुटिका च ।

हिंग्वादिचूर्ण एवं हिंग्वादि गुटिका–हिङ्गु (घी में भुनी हुई हींग), शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, पाठा, हपुषा (हाउबेर), अभया (हरड़), शटी (कचूर), अजमोदा, अजगन्धा, तिन्तिडीक, अम्लवेतस, दाडिम, पुष्करमूल, धनियाँ, अजाजी (जीरा), चित्रक, वचा (मीठा वच), दोनों प्रकार के क्षार-सज्जीक्षार व यवक्षार, दो प्रकार के लवण-सैन्धव एवं सौवर्चल (काला नमक) तथा चव्य । इन सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण का प्रयोग अन्न-पान में मिलाकर या साथ में करें । अथवा भोजन से पूर्व मद्य या उष्णोदक (गुनगुने जल) के साथ करें । इसके प्रयोग से पार्श्वशूल (Pain in sides), हृदयशूल (हृद् प्रदेश में शूल-Pain in the cardiac region), वस्तिशूल, वातकफज गुल्म (पेट में होने वाला वायु गोला), आनाह (Abdominal distension), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), गुदा एवं योनिशूल (Pain in anus and Female genital tract), ग्रहणी रोग, अर्श (Piles), प्लीहा वृद्धि (Enlargment of Spleen), पाण्डु (Anaemia), अरुचि (Anorexia), उरो विबन्ध (हृदय प्रदेश में जकड़ाहट Stiffness of the chest), हिक्का (हिचकी), कास (Cough), श्वास (asthma) एवं गलग्रह (गले में जकड़ाहट या गले में शोथ का होना) जैसी व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं । यदि हिंग्वादि चूर्ण में बिजौरा नीबू के रस की भावना देकर वटिका (वटी) बना ली जाय तो इसके गुणकर्म चूर्ण के गुणों से अधिक बढ़ जाते हैं । ॥७९-८४॥

चक्रपाणि–हिंग्वादि चूर्ण में प्रयुक्त द्रव्य लोक व्यवहार में हैं ।

दौ क्षारौ–दो प्रकार के क्षार-सर्जिका क्षार एवं यवक्षार ।

Scanned by CamScanner

प्राक्भक्तमिति–भोजन के पूर्व, अथवा भोजन के बाद करना चाहिए। भोजन के पूर्व प्रयोग करने से क्षुधा प्रदीप्त हो जाती है जिससे भोजन का पाक सम्यक् होता है। बहुश इति सप्ताहं, "सप्ताहं तेन भावना" इति वचनात्-'बहुशः इति' से यहाँ बिजौरा नीबू के रस की सात भावना देना, अर्थ गृहीत है, अर्थात् हिंग्वादि चूर्ण में बिजौरा नीबू के रस की ७ भावना देकर गोली बना लें।

कार्मुका इति कर्मणि समर्थाः–यह वटी चूर्ण के गुणों से अधिक गुणवान होती है, अर्थात् अधिक कार्य करती है। [यहाँ भावना देने का कार्य ७ दिन तक करना चाहिए।]

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं बिडसैन्धवे। सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ।।८५।।
शटीपुष्करहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान्। धान्यकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ।।८६।।
सचव्यपिप्पलीमूलामजगन्धां सदाडिमाम्। अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।।८७।।
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः। भावितं गुटिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसंमिताम् ।।८८।।
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम्। हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजम् ।।८९।।
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम्। पार्श्वहृद्वस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति ।।९०।।
नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च। तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत् ।।९१।।
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत्। पिबेदेरण्डजं तैलं वारुणीमण्डमिश्रितम् ।।९२।।
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः। श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम् ।।९३।।

वातगुल्म की वेदना में चिकित्सा–मातुलुङ्गरस (बिजौरा नीबू का रस), घी में भुनी हुई हींग, दाडिम स्वरस, विड् एवं सैन्धव लवण; इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर सुरामण्ड के साथ वातगुल्म की तीव्र वेदना में प्रयोग करना चाहिए। यह योग वातगुल्म की वेदना को दूर करता है।

शट्यादि चूर्ण–शटी (कचूर), पुष्करमूल, घृत में भुनी हुई हींग, अम्लवेतस, यवक्षार, चित्रक, धनियाँ, यवानी (अजवाइन), विडङ्ग (वायविडंग), सैन्धव नमक, मीठा वच, चव्य, पिप्पलीमूल (पिपरामूल), अजगन्धा, अनारदाना, अजाजी (जीरा) व अजमोदा; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को नीबू के स्वरस एवं मधुसुक्त की भावना देकर अच्छी तरह से घोंटकर (पीसकर) कोल (बेर) के बराबर वटिका बना लें।

उपयोग–इस वटी अथवा चूर्ण का प्रयोग-गुल्म, प्लीहारोग (Splenic disorder), आनाह (उदर में वायु का भर जाना-Abdominal distension), श्वास (Asthma), खाँसी (Cough), अरोचक, हिक्का, हृद्रोग (Heart disease), अर्श (Piles), शिरःशूल, पाण्डुरोग, कफोत्क्लेश (मिचली का आना Nausea) जो कफ वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है, सभी प्रकार की प्रवाहिका, पार्श्वशूल एवं वस्तिशूल; के विनाशार्थ करते हैं, अर्थात् यह वटी इन व्याधियों को दूर कर देती है।

नागरादि योग–शुण्ठी (सोंठ) अर्ध पल (२ तोले), छिलका रहित काला तिल- २ पल (८ तोले) एवं गुड़ १ पल (४ तोले); इन सभी द्रव्यों को एकत्र कर पीस कर उष्ण दुग्ध (गुनगुने दूध) के साथ आतुर को पीना चाहिये। यह योग वातगुल्म, उदावर्त एवं योनिशूल को नष्ट करता है। यदि वातगुल्म के रोगी में कफ का अनुबन्ध है तब उसे एरण्ड तैल को वारुणी मण्ड के साथ एवं पित्त के अनुबन्ध में दूध के साथ मिलाकर पीना चाहिये। ॥८५-९३॥

चक्रपाणि–**लुञ्चितस्येति**-ऊपर के छिलके को हटा करके। यह नागरादि योग प्रभाव से व्याधि का नाशक है, ऐसा जानना चाहिए।

पूर्वमिति पूर्वयोगोक्तमेरण्डतैलम्-नागरादि योग को 'एरण्ड तैल+वारुणी मण्ड' के साथ लेना चाहिए, अर्थात् वारुणीमण्ड में एरण्ड तैल डालकर, योग के साथ अनुपान के रूप में पीना चाहिये।

परमिति–गुल्म (वातगुल्म) के साथ पित्त का अनुबन्ध रहने पर नागरादि योग को एरण्ड तैल मिश्रित दुग्ध के अनुपान के साथ लेना चाहिए। ॥८५-९३॥

साधयेच्छुद्धशुष्कस्य लशुनस्य चतुष्पलम्। क्षीरोदकेऽष्टगुणिते क्षीरशेषं च ना पिबेत् ।।९४।।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम्। हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः ।।९५।।

इति लशुनक्षीरम्।

गुल्म में लशुन क्षीर का प्रयोग–शुद्ध एवं शुष्क लशुन -४ पल (१६ तोले), क्षीरोदक ८ गुना [४ गुना (१६ पल) गोदुग्ध एवं ४ गुना (१६ पल) जल] लेकर पाक करें। पकाते-पकाते मात्र दुग्ध को अवशिष्ट (शेष) रखें। इस दूध का प्रयोग करने से वातगुल्म, उदावर्त, गृध्रसी (Sciatic pain), विषमज्वर, हृद्रोग (Heart disease), विद्रधि एवं शोथ शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। ॥९४-९५॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–साधयेद् इति-से शुद्ध एवं शुष्क तुषरहित लशुन, जो अपने गुणों से पूर्णतः युक्त हो, उसमें ८ गुना क्षीरोदक मिलाकर पाक करें। क्षीर मात्र अवशेष रहने पर अग्नि पर से उतारकर, एक स्वच्छ कपड़े से छान लें। इस लशुन क्षीरपाक का प्रयोग पानार्थ करें। क्षीरोदक तैयार करते समय "भागेऽनुक्ते समानं" वचन से क्षीर (दूध) -४ गुना (१६ पल) एवं जल- ४ गुना, मिलाकर ८ गुना क्षीरोदक बना लें। गुल्म रोग अनेक औषधियों से साध्य होने के कारण १६ पल क्षीर का प्रयोग करना दोषकारक नहीं होता है। यद्यपि दूध एवं लशुन का एक साथ उपयोग करना विरुद्ध बताया गया है, फिर भी व्याधि का प्रभाव एवं ऋषि वचन होने से यह विवाद का विषय नहीं है। ॥९४-९५॥

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम्। गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ॥९६॥

इति तैलपञ्चकम्।

तैल पञ्चक का प्रयोग–१. तैल (एरण्ड तैल), २. प्रसन्ना (मद्य के ऊपर का भाग), ३. गोमूत्र, ४. आरनाल (काञ्जी), ५. यवाग्रज (यवक्षार); सभी द्रव्यों को एकत्र मिलाकर पीने से गुल्म, उदररोग एवं आनाह रोग विनष्ट हो जाते हैं। ॥९६॥

चक्रपाणि–तैलं प्रसन्नेत्यादि से सभी द्रव्यों को एकत्र मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। आचार्य **जतूकर्ण** ने तैल से एरण्ड तैल का ग्रहण किया है। कहा भी गया है, यथा-"आरनालमूत्रक्षारैः संयोज्य तैलमैरण्डम्" इत्यादि ॥९६॥

पञ्चमूलीकषायेण सक्षारेण शिलाजतु। पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात् प्रमुच्यते ॥९७॥ इति शिलाजतुप्रयोगः।

शिलाजीत का प्रयोग–यवक्षार मिश्रित लघुपञ्चमूल के क्वाथ में शिलाजीत मिलाकर पीने से पुरुष वातगुल्म से मुक्त हो जाता है। ॥९७॥

चक्रपाणि–पञ्चमूली से यहाँ प्रथम कल्पना वाले शालपर्ण्यादि पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल) के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। [लघु पञ्चमूल के अन्तर्गत १. शालपर्णी, २. पृश्निपर्णी, ३. बृहती, ४. कण्टकारी (छोटी कण्टकारी) एवं ५. गोखरू आते हैं।] ॥९७॥

वाट्यं पिप्पलीयूषेण मूलकानां रसेन वा। भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते ॥९८॥

यव द्वारा निर्मित स्निग्ध वाट्य को पिप्पली मिश्रित यूष अथवा मूली के रस के साथ सेवन करने से व्यक्ति उदावर्त एवं वातगुल्म से मुक्त हो जाता है। ॥९८॥

चक्रपाणि–पिप्पली प्रधान यूष 'पिप्पली यूष' कहा गया है। अर्थात् प्रधान रूप से पिप्पली डालकर तैयार किया गया मुद्ग यूष 'पिप्पली यूष' कहलाता है। [यव द्वारा निर्मित यवागू में घृत मिलाकर प्रयोग करें, क्योंकि घृत रहित यवागू रूक्ष होती है।] ॥९८॥

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद्वातगुल्मिनम्। स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥९९॥
बस्तिकर्म परं विद्याद्गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम्। स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति ॥१००॥
तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मी निरूहैः सानुवासनैः। प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः ॥१०१॥
गुल्मघ्ना विविधा दिष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु बस्तयः।

यदि वातगुल्म से पीड़ित आतुर को उदरशूल, विबन्ध (Constipation) एवं आनाह हो तब उसे स्वेदाध्याय (सू.अ. १४) में वर्णित नाड़ी, प्रस्तर एवं सङ्कर स्वेदों द्वारा स्वेदन कराना चाहिये। वातगुल्म की शान्ति हेतु बस्ति का प्रयोग अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि इसके प्रयोग से वायु को अपने स्थान पर ही जीत लेने के कारण गुल्म शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है या बस्ति शीघ्र ही गुल्म को नष्ट कर देती है। जिस कारण से बार-बार निरूह एवं अनुवासन बस्ति के प्रयोग द्वारा वातपित्त एवं कफ से उत्पन्न गुल्म शान्त हो जाते हैं। आगे गुल्मनाशक विविध सिद्ध बस्तियों का वर्णन सिद्धिस्थान में करेंगे। ॥९९-१०१॥

चक्रपाणि–'नाडीप्रस्तरसंकरै इति' से गुल्म में नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद एवं संकर स्वेद का अलग-अलग उपयोग बताया गया है। अर्थात् एक ही व्यक्ति में तीनों विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो विधि जिस रोगी के लिए उपयुक्त है, उसी का प्रयोग करें। ॥९९-१०१॥

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके ॥१०२॥
तानि मारुतजे गुल्मे पानाभ्यङ्गानुवासनैः। प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित्परम् ॥१०३॥
नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव। समलाय प्रदातव्यं शोधनं वातगुल्मिने ॥१०४॥

वातरोग चिकित्सा (चि.अ. २८) में गुल्मनाशक तैलों का विवेचन आगे किया जायेगा। उन तैलों का प्रयोग वातज गुल्म में पान, अभ्यंग एवं अनुवासन के रूप में करने से शीघ्र ही वात की शान्ति हो जाती है। वे तैल उत्तम वातनाशक होते हैं।

Scanned by CamScanner

मल शुद्ध्यर्थ नीलिनी चूर्ण का प्रयोग–वातगुल्म के रोगी में मल की शुद्धि हेतु पूर्वोक्त घृत के साथ नीलिनीमूल चूर्ण का प्रयोग करें। या देना चाहिये। ॥१०२-१०४॥

चक्रपाणि–आशु सिध्यन्तीति–तैल गुल्म को शीघ्र ही प्रशमित कर देते हैं। 'तैलं ह्यनिलजित् परमिति' के द्वारा उसके हेतु को बताया गया है। जिस कारण से तैल वातशामक होता है उसी कारण से वह वातगुल्म एवं वातविकार को शीघ्र नष्ट करता है। अन्य आचार्यों के अनुसार तैल के साथ नीलिनी चूर्ण (मूल चूर्ण) का प्रयोग मल निकालने के लिए देना चाहिए, मल निर्हरण करने के कारण इसे वातनाशन में श्रेष्ठ कहा गया है।

पूर्वोक्त त्र्यूषणादि घृत के साथ नीलिनीमूल चूर्ण का प्रयोग मल शोधनार्थ करना चाहिए। प्रथम व्याख्यान में 'घृतमेव इति' से पूर्वोक्त त्र्यूषण घृत आदि के साथ नीलिनी चूर्ण को मिलाकर देना चाहिए, यह अर्थ लिया गया है। ॥१०२-१०४॥

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकम्पिल्लकैः सह। शोधनार्थं घृतं देयं सबिडक्षारनागरम् ॥१०५॥
नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम्। पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके ॥१०६॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ॥१०७॥
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम्। जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम् ॥१०८॥
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान्। क्षिप्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद्व्यपोहति ॥१०९॥

इति नीलिन्याद्यं घृतम्।

नीलिनी, त्रिवृत्, दन्ती, पथ्या (हरीतकी) एवं कम्पिल्लक के चूर्ण के साथ विड्लवण व यवक्षार मिलाकर घृत के साथ मल की शुद्धि हेतु देना चाहिए, अथवा उपरोक्त द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग मल शुद्ध्यर्थ करना चाहिए।

नीलिन्याद्य घृत–नील का मूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, रास्ना, बला, कटुरोहिणी (कटुकी), विडङ्ग व व्याघ्री (कण्टकारी) का मूल; सभी द्रव्यों को एक-एक पल (४ तोले) मात्रा में लेकर, यवकुट कर १ आढ़क जल में क्वाथ बनावे, चतुर्थांश (१/४ भाग) अवशेष रहने पर क्वाथ को छान लें। इस चतुर्थांश छने हुए क्वाथ में १ प्रस्थ घृत, १ पल (४ तोले) गाय का दही एवं १ पल (४ तोले) सेहुड़ का दूध डालकर घृत को सिद्ध करें। [घृत सिद्ध हो जाने पर इसे छानकर एक स्वच्छ काँच पात्र में संग्रहित करें।]

उपयोग–यवागू अथवा मण्ड में **१ पल मात्रा** में घृत मिलाकर प्रयोग करें। घृत के सम्यक् रूप से पच जाने पर तथा आतुर के सम्यक् विरिक्त (विरेचन) हो जाने पर मांसरस युक्त भोजन देना चाहिए, अर्थात् खाने में मांसरस के साथ शाठी चावल या शाली चावल के भात का प्रयोग करना चाहिए। [शाठी या शाली चावल के अभाव में पुराने चावल का भात खाने के लिए दें।]

इस घृत के प्रयोग से गुल्म, कुष्ठ, उदर रोग, व्यंग (Dark spots on the face), शोथ (oedema), पाण्डु (Anaemia), ज्वर (Fever), श्वेतकुष्ठ (Leucoderma), प्लीहा रोग (Splenic disorders) एवं उन्माद रोग (Insanity) शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि–नीलिन्याद्य घृत के पाकार्थ यहाँ कल्क का उल्लेख नहीं किया गया है। कल्क के अभाव में स्नेहपाक की सम्यक् परीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि कल्क परीक्षा द्वारा ही स्नेह के मृदु, मध्य एवं खर पाक का ज्ञान बताया गया है। इसलिये कल्क का कथन न होने के बाद भी स्नेहपाक के ज्ञान हेतु कल्क का प्रयोग करना चाहिए। वह कल्क क्वाथ्य द्रव्यों के द्वारा ही तैयार कर प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। ऐसा नहीं है, घृतादि के साधन शक्ति में ही यह विचित्रता है कि जिस घृत के सिद्ध करने के लिए जिन द्रव्यों का निर्देश किया गया है उसी का पालन करना चाहिए, न कि अनुक्त द्रव्यों की कल्पना करनी चाहिए। कल्पना में युक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इस प्रकार बिना कल्क के भी क्वाथ आदि द्रव पदार्थों द्वारा स्नेह को सिद्ध किया ही जाता है। बिना कल्क के भी स्नेह सिद्ध हो गया है, यह ज्ञान तो हो ही जाता है एवं इसका भी निर्देश शास्त्र में है। इसलिये आचार्य ने जैसा कहा है वैसा करना चाहिये। यहाँ विरेचन युक्त पुरुष में पेयादि क्रम (सामान्य निर्देश) का प्रयोग न करते हुए मांसरस युक्त भोजन का निर्देश सात्म्य होने के कारण किया गया है, यथा-आवर्तकी घृत द्वारा विरिक्त पुरुष को काञ्जी एवं कोदो का भात खाने को देना चाहिए। (अष्टांग संग्रह चि.अ. २१) ॥१०५-१०९॥

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः। शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम् ॥११०॥
हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम्। समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम् ॥१११॥
मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति। तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम् ॥११२॥
सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते। या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते ॥११३॥

मांसरस का प्रयोग–कुक्कुट (मुर्गा), मयूर (मोर), तीतर, क्रौञ्च, वर्तक (वटेर); इन पक्षियों के मांस, शाठी एवं शाली चावल, मदिरा एवं घृत, का प्रयोग गुल्म रोग में खाने के लिए करना चाहिए। वातगुल्म से पीड़ित रोगी के लिए उष्ण, द्रव व स्निग्ध अन्न का प्रयोग हितकर (पथ्य) होता है। पीने के लिए मण्ड अथवा वारुणी या धनियाँ द्वारा सिद्ध जल का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

अग्नि एवं गुल्म में सम्बन्ध–जाठराग्नि की दुर्बलता में गुल्म की वृद्धि होती है एवं अग्नि के प्रदीप्त होने पर गुल्म शान्त होता है। इसलिये पुरुष को न तो अत्यधिक भोजन एवं न तो अत्यधिक उपवास करना चाहिए।

सभी प्रकार के गुल्मों में सर्वप्रथम स्नेहन व स्वेदन के बाद जो चिकित्सा की जाती है वही सिद्धि प्रदान करती है न कि रूक्ष शरीर में की गयी चिकित्सा सफल होती है। ॥११०-११३॥

चक्रपाणि–'कुक्कुटेत्यादि' के द्वारा गुल्म रोगी के अन्न-पान को बताया गया है। अतिसौहित्य (अत्यधिक भोजन) एवं अतिलंघन, ये दोनों ही अग्निनाश का कारण होने से वर्जित किये गये हैं। कहा भी गया है, यथा-**''नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नाति भोजनात्''** इत्यादि [अभोजन (लंघन) एवं अतिभोजन दोनों से ही जाठराग्नि प्रदीप्त नहीं होती।] ॥११०-११३॥

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत्। वैरेचनिकसिद्धेन सर्पिषा तिक्तकेन वा ॥११४॥
रोहिणीकटुकानिम्बमधुकत्रिफलात्वचः। कर्षांशास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले ॥११५॥
द्वे पले च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि। शृताच्छेषं घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम् ॥११६॥
पिबेत् संमूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः। ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ॥११७॥

इति रोहिण्याद्यं घृतम्।

पित्तगुल्म का उपक्रम–चिकित्सक को पित्तगुल्म की आत्ययिकता (उपद्रवकारिता) को जानकर विरेचनिक द्रव्यों से सिद्ध घृत या दूध, अथवा तिक्त द्रव्यों से साधित दूध या घृत पान के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

रोहिण्याद्य घृत–रोहिणीकटुका (कुटकी), निम्ब (नीम की छाल), मधुक (यष्टीमधु), हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा त्रायमाणा-सभी द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष (१-१ तोला), पटोलमूल (परवल की जड़), त्रिवृत् (निशोथ) १-१ पल (४-४ तोला), मसूर की दाल- २ पल (८ तोला); सभी द्रव्यों को घृत से ८ गुना जल में डालकर क्वाथ बनावे। चतुर्थांश (१/४ भाग) शेष रहने पर अग्नि पर से उतारकर स्वच्छ कपड़े से क्वाथ छान लें। इस क्वाथ में ४ पल गोघृत मिलाकर अच्छी प्रकार से मथ ले, पश्चात् इसका पान करें। इस घृत के पीने से पित्तज गुल्म, ज्वर, तृष्णा, शूल, भ्रम, मूर्च्छा एवं अरुचि का नाश होता है। ॥११४-११७॥

चक्रपाणि–रोहिणी कटुका कटुरोहिणी=कुटकी। **कर्षांशा इति**- १ कर्ष (१ तोला) प्रमाण। **पटोलत्रिवृतोः पले इति**- पटोलमूल एवं त्रिवृत्मूल प्रत्येक १-१ पल मात्रा में लें। **अष्टगुणे इति**- घृत से ८ गुना जल का ग्रहण करें।

घृतसममिति–घृत की यहाँ ४ पल मात्रा बतायी गयी है। इस प्रकार यहाँ ४ पल घृत एवं ४ पल क्वाथ की संयुक्त मात्रा ८ पल पीना चाहिए। अतः **८ पल मात्रा** गुल्म में दी जाती है, अर्थात् गुल्म रोग में औषधि की ८ पल मात्रा देने का निर्देश है। कहा भी गया है, यथा- **''गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। तेषां मात्रा विनिर्दिष्टा पलान्यष्टौ विशेषतः''** इति। [गुल्म रोगी, सर्पदंश के रोगी एवं विसर्प रोगी में औषध की ८ पल मात्रा का प्रयोग करना चाहिए।] ॥११४-११७॥

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम्। पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः ॥११८॥
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा। कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः ॥११९॥
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च। पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत् ॥१२०॥
पित्तरक्तभवं गुल्मं वीसर्पं पैत्तिकं ज्वरम्। हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद्घृतोत्तमम् ॥१२१॥

इति त्रायमाणाद्यं घृतम्।

त्रायमाणाद्यघृत–१. ४ पल त्रायमाणा को १० गुने (४० पल) जल में पकाकर क्वाथ बनावें, पञ्चमांश (१/५ भाग) अवशेष रहने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें।

२. कटुरोहिणी (कुटकी), मुस्ता (नागरमुस्तक), त्रायमाणा, दुरालभा, भुई आँवला, वीरा (क्षीरकाकोली), जीवन्ती, चन्दन (लाल चन्दन) एवं उत्पल; इन सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष (तोला) लेकर कल्क का निर्माण करें।

३. आमलकी स्वरस, गोदुग्ध एवं घृत; प्रत्येक द्रव्य ८-८ पल लें।

उपरोक्त क्रमांक १, २, एवं ३ में वर्णित द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक पाक करते हुए घृत को सिद्ध करें, अर्थात् क्वाथ, कल्क एवं स्वरसादि द्वारा घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत के सेवन करने से रक्त व पित्त से उत्पन्न होने वाले गुल्म, वीसर्प (erysipelas), पैत्तिक ज्वर, हृद्रोग (Heart diseases), कामला (Jaundice) एवं कुष्ठ (Skin disease including leprosy); नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् यह घृत इन व्याधियों को दूर करता है। यह घृत अन्य घृतों से उत्तम है।

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

Scanned by CamScanner

विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं प्रपीडयेत् । मृदीयाद्गुल्ममेवैकं न त्वन्त्रहृदयं स्पृशेत् ।।१४०।।
तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च । श्लेष्मगुल्ममयः पात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ।।१४१।।

कफज गुल्म में शल्य कर्म (Surgical Management of Kaphaja Gulma)–कफज गुल्म के रोगी को वमन के योग्य जानकर स्नेहन व स्वेदन के बाद वमन करावें । स्नेहन, स्वेदन (बाह्य) व वमन के प्रयोग से गुल्म जब शिथिल हो जाय तब एक कुम्भ (घड़े) में बल्वज अथवा कुश को डालकर जला दें एवं घड़े को तप्त कर लें, इसके बाद घड़े के मुख को गुल्म पर लगावें, ऐसा करने से गुल्म घड़े के मुख में चला जाता है, इसके बाद गुल्म को अच्छी तरह वस्त्र से पकड़कर, घड़े को हटा लें, पश्चात् मूल को कपड़े से बाँधकर गुल्म के प्रमाण को जानने वाला चिकित्सक उसका भेदन करे । विमार्ग, अजपद अथवा आदर्श द्वारा जितना संभव हो सके दबाकर (पीडन करके) गुल्म के दोष को बाहर निकालें । इस प्रकार मात्र गुल्म का ही पीडन करें, आन्त्र या हृदय को स्पर्श न करें ।

गुल्म में स्वेदन–कफज गुल्म के रोगी में गुल्म स्थान पर तिल, एरण्ड एवं अतसी का लेप बनाकर, सुखोष्ण लगावें । इसके बाद सुखोष्ण किये हुए या गरम किये हुए लौह पात्र से सुखोष्ण स्वेदन करें । ॥१३६-१४१॥

चक्रपाणि–शैथिल्यमागत इति-दोषों के शिथिल हो जाने से दोष शस्त्र द्वारा निकालने के योग्य हो गया है तब उस गुल्म को घटी के मुख में प्रवेश करावें ।

घटमन्थनयन्त्रेण सम्यक् गृहीत्वा प्रपीडयेद् भिन्द्यादिति योजना–घट मन्थन यन्त्र से गुल्म को अच्छी प्रकार से पकड़कर भेदन करके दोषों को दबाकर बाहर निकालें । इस शल्य कर्म में आन्त्र एवं हृदय को स्पर्श (Touch) नहीं करना चाहिए, स्फुटन के भय के कारण ऐसा कहा गया है । ॥१३७-१४१॥

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीश्रृतं घृतम् । कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुबिडदाडिमम् ।।१४२।।
इति दशमूलीघृतम् ।

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् । साध्यं विदारीगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके ।।१४३।।
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम् । विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं बिडं शटीम् ।।१४४।।
चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् । प्रस्थं च पयसो दत्त्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।।१४५।।
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् । प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ।।१४६।।
इति भल्लातकाद्यं घृतम् ।

दशमूली घृत–शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, यवक्षार, सैन्धव नमक, हींग, विड्लवण एवं दाडिम; सभी द्रव्यों को लेकर कल्क बना लें । अब कल्क एवं दशमूल क्वाथ द्वारा घृत को सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत कफज गुल्म को शीघ्र ही नष्ट करता है ।

भल्लातकाद्य घृत–१. **क्वाथ्य द्रव्य**-भल्लातक- २ पल, विदारिगन्धादि गण (लघु पञ्चमूल-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहर्ता, कण्टकारी एवं गोखरू) प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर यवकुट करके १ आढ़क (२५६ तोले) जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष रहने पर अर्थात् १ प्रस्थ (६४ तोला) बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें ।

२. **कल्क**–पिप्पली, नागर (शुण्ठी=सोंठ), वच, वायविडङ्ग, सैन्धव नमक, हींग, यवक्षार, विड्नमक, शटी (कचूर), चित्रक, मधुक (यष्टीमधु) एवं रास्ना; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) लेकर सील पर पीसकर कल्क बना लें ।

३. **द्रव्य पदार्थ**–१ प्रस्थ (६४ तोला)- गोदुग्ध,
१ प्रस्थ- गोघृत ।

एक पात्र में १ प्रस्थ क्वाथ, १२ कर्ष कल्क, १ प्रस्थ गोघृत, १ प्रस्थ गोदुग्ध डालकर घृत को सम्यक् रूप से सिद्ध करें । यह भल्लातक घृत कफगुल्म का उत्तम नाशक है । यह घृत प्लीहा, पाण्डुरोग, श्वास एवं ग्रहणी रोग को भी दूर करता है ।

चक्रपाणि–सव्योष इति-दशमूल के क्वाथ व व्योषादि द्रव्यों के कल्क द्वारा सिद्ध घृत कफगुल्म को दूर करता है, यह अभिप्राय है । ॥१४२-१४६॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः । पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।।१४७।।
क्षीरप्रस्थं च तत् सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम् । ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम् ।।१४८।।
इति क्षीरषट्पलकं घृतम् ।

क्षीरषट्पलकघृत–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, नागर (शुण्ठी या सोंठ) तथा यवक्षार; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४ तोले) लेकर चूर्णकर जल मिलाकर कल्क बना लें, घृत- १ प्रस्थ (६४ तोला), दूध- १ प्रस्थ (६४ तोला) । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृत पाक विधि से घृत को सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत कफज गुल्म, ग्रहणी, पाण्डुरोग, प्लीहा, कास एवं ज्वर को दूर करने वाला है । ॥१४७-१४८॥

Scanned by CamScanner

गुल्म की असाध्यता एवं उपद्रव (Incurability and complications)–क्रमशः संचित गुल्म (gradually accumulated) अपने चारो ओर के स्थान को घेर लिया हो (कृतवास्तुपरिग्रहगुल्म बड़े स्थान को घेरता हो), कृत मूल (जिसका मूल अन्दर तक हो (deep rooted), जिसके ऊपर सिराओं का जाल फैला हो एवं जिसका उभार कछुए के पीठ की तरह हो, अर्थात् कछुये के पीठ के समान जो उन्नत उठा हो तथा जो दौर्बल्य (Weakness), अरुचि (Anorexia), हृल्लास (मिचली का आना (Nausea), कास (Cough), वमन (Vomiting), अरति (Anxiety), ज्वर (Fever), तृष्णा (Thirst), तन्द्रा (drowsiness) एवं प्रतिश्याय आदि लक्षणों से युक्त हो, ऐसा गुल्म असाध्य होता है ।

ज्वर, श्वास, वमन व अतिसार से पीड़ित जिस गुल्म रोगी का शोथ हृदय, नाभि, दोनों हाथ व पैरों तक फैल जाय वह गुल्म उस रोगी को खींच ले जाता है, अर्थात् उसकी मृत्यु गुल्म द्वारा ही होती है । ॥१६९-१७१॥

चक्रपाणि–'संचित इत्यादि' के द्वारा क्रमशः असाध्यता को प्राप्त गुल्म को बताया गया है ।

महावास्तुपरिग्रह इति–अत्यधिक स्थान पर फैला हुआ, अर्थात् जो गुल्म अत्यधिक स्थान घेरता हो । ॥१६९-१७१॥

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे । स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात् स्नेहविरेचनम् ।।१७२।।
पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः । गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ।।१७३।।
प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम् । क्षारेण युक्तं पललं सुण्ठक्षीरेण वा पुनः ।।१७४।।
आभ्यां वा भावितान् दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान् । वराहमत्स्यपित्ताभ्यां लक्तकान् वा सुभावितान् ।।१७५।।
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः । किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम् ।।१७६।।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा । लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत् ।।१७७।।
ह्रस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् । अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद्गुल्मप्रभेदनम् ।।१७८।।
प्रवर्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम् । घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम् ।।१७९।।
रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहरीः क्रियाः । कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहरीः पुनः ।।१८०।।
घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान् । सुरां समण्डां पूर्वं च पानमस्यै सर्पिषः ।।१८१।।
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा । अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुलासनम् ।।१८२।।

रक्तगुल्म की चिकित्सा

गर्भकाल के बीत जाने पर रक्तगुल्म के रोगी को स्नेहन व स्वेदन कराकर स्नेह विरेचन का प्रयोग करना चाहिये । पलाश क्षारोदक (२ पात्र = २ आढ़क), तैल व घृत मिश्रित रूप से दो पात्र (२ आढ़क) लेकर तैलपाक करें । तैल व घृत सिद्ध होने पर इस स्नेह का प्रयोग उपयुक्त मात्रा में गुल्म की शिथिलता के लिए करना चाहिए । यदि इस प्रयोग द्वारा रक्तगुल्म शिथिल नहीं होता है अर्थात् अपने स्थान से विचलित नहीं होता है तब अधोलिखित योनि शोधक द्रव्यों का प्रयोग योनिमार्ग की शुद्धि हेतु करना चाहिये–

१. क्षार से युक्त पलल (तिल का कल्क) को योनि में रखना अथवा पलल को सेहुण्ड के दुग्ध की भावना देकर प्रयोग करना ।

२. कटुक मत्स्य (सिधरी मछली Small fish called saphari which is pungent in taste जो कटुरस युक्त होती है ।) को पलास क्षार एवं सेहुण्ड के दुग्ध से भावित कर योनि मार्ग में रखना ।

३. वाराह अथवा मत्स्य के पित्त से कपड़े को भावित कर, अर्थात् भिगोकर योनि में रखना चाहिए ।

४. अधोहर (विरेचन कारक) अथवा ऊर्ध्व भागहर (वमन कारक) द्रव्यों के क्वाथ अथवा स्वरस में मधु मिलाकर, इन मधु युक्त स्वरस अथवा क्वाथ में एक छोटे स्वच्छ कपड़े को भिगोकर योनि मार्ग में रखना ।

५. अथवा किण्व, गुड़ एवं यवक्षार से भावित कपड़े को योनि मार्ग में रखना चाहिए, अथवा इन द्रव्यों का प्रयोग योनि विशोधन के रूप में करना चाहिए ।

६. रक्तपित्तनाशक क्षार में मधु व घृत मिलाकर चाटें ।

७. रक्तगुल्म के रोगी को भोजनार्थ लहसुन, तीक्ष्ण मदिरा एवं मछली दें ।

८. दूध, गोमूत्र एवं क्षार मिश्रित दशमूल क्वाथ की उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

इन सभी क्रियाओं के करने पर भी यदि योनि से रक्त का स्राव न हो तब गुल्म (रक्तगुल्म) का भेदन करना चाहिए, अथवा उपर्युक्त उपक्रमों के प्रयोग से रक्त प्रवृत्त होने लगे तब मांसरस के साथ भात का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए । घृत व तैल का आतुर के शरीर पर अभ्यङ्ग करावें, रोगी को पिलाने के लिए नूतन मदिरा का उपयोग करें, अर्थात् रोगी को पानार्थ नूतन मदिरा दें । रक्त के

Scanned by CamScanner

अतिस्राव होने पर रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करें । वातव्याधि के रोगी में अर्थात् स्त्री में वात प्रधान रक्तगुल्म होने पर सभी क्रियायें वातनाशक करनी चाहिए । अभ्यंग-वातनाशक द्रव्यों से सिद्ध घृत, वसा व तैल द्वारा करें । भोजनार्थ तीतर व मुर्गे के मांस का प्रयोग करें एवं पीने के लिए सुरामण्ड से युक्त सुरा तथा अम्ल द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करें । भोजन के पश्चात् जीवनीयगण से साधित घृत का प्रयोग करें, अथवा रक्त की अतिप्रवृत्ति में जीवनीय गण से साधित घृत की उत्तर बस्ति अथवा तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें । ॥१७२-१८२॥

चक्रपाणि-गर्भकालव्यतिक्रमे इति-गर्भकाल के दस मास बीत जाने पर । **क्षारपात्रे इति**- २ पात्र क्षारोदक । यहाँ पात्र से आढ़क अर्थ लिया गया है, अर्थात् क्षारोदक की मात्रा २ आढ़क होनी चाहिए । **मात्रामिति**-उचित प्रमाण में । **पललं तिलपिष्टम्**-तिल का कल्क । क्षार से यहाँ पलाशक्षार का ही ग्रहण किया गया है, क्योंकि वही स्वाभाविक होता है ।

ताभ्यामिति-पलाश क्षारोदक एवं सेहुण्ड का दुग्ध । **कटुकमत्स्यः**-सफरी शुष्क मत्स्य (शुष्क सिधरी मछली) । लक्तकान्-वस्त्र के अवयव को । वराह (सुअर) अथवा मछली के पित्त से कपड़े के एक टुकड़े को भावित कर योनि मार्ग में रखें । किण्व=सुराबीज । **रक्तपित्तहरं क्षारमिति**-नीलोत्पल क्षार । **अम्लस्य सर्पिषा**-अम्ल द्रव्यों से साधित घृत । **उत्तरं**-भोजनोत्तर काल में, जीवनीय द्रव्यों से साधित घृत का पान करना चाहिये, अथवा उत्तरबस्ति का ग्रहण किया गया है । जीवनीय घृत का विवेचन वातरक्तचिकित्सा में किया जायेगा ।

सतिक्तेन तिक्तद्रव्यसाधितेनानुवासनमिति-रक्त की अतिप्रवृत्ति होने पर तिक्त द्रव्यों से साधित घृत की अनुवासन बस्ति दें । ॥१७२-१८२॥

तत्र श्लोकाः-
स्नेहः स्वेदः सर्पिर्बस्तिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः । वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥१८३॥
सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च । रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगाः ॥१८४॥
उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य । संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥१८५॥
स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च । सर्पिर्बस्तिर्गुटिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥१८६॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य । गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥१८७॥
पथ्यान्नपानसेवा हेतूनां वर्जनं यथास्वं च । नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि ॥१८८॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साध्यता न योगाश्च । गुल्मचिकित्सितसंग्रह एतावान् व्याहृतोऽग्निवेशस्य ॥१८९॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने गुल्मचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार-

१. वातगुल्म के रोगी को स्नेहन, स्वेदन, सर्पिःपान, बस्तिकर्म, चूर्ण, बृंहण कर्म अथवा बृहण चूर्ण एवं बृहण गुडिकायें, वमन-विरेचन एवं रक्तमोक्षण द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ।

२. पित्तगुल्म की चिकित्सा हेतु तिक्त द्रव्यों से साधित घृत, क्षीर (दूध) का प्रयोग, विरेचन, निरूहबस्ति, रक्तमोक्षण, आश्वासन एवं संशमन योगों का प्रयोग करें । पक्व गुल्म में उपनाह एवं शस्त्र कर्म करना चाहिये । जो आभ्यन्तर गुल्म पककर स्रोतस् में बह रहा हो उसमें संशोधन एवं संशमन कर्म कराना चाहिये ।

३. कफज गुल्म में स्नेहन, स्वेदन, भेदन (Puncturing), लंघन (Fasting), उल्लेखन (वमन), विरेचन, घृतपान, बस्ति, गुडिका, चूर्ण, अरिष्ट एवं क्षारों का प्रयोग करें । यदि उपरोक्त उपक्रमों द्वारा कफज गुल्म शान्त न हो तब रक्तमोक्षण के पश्चात् अग्निकर्म का प्रयोग करें ।

४. यहाँ स्त्रियों में होने वाले रक्तगुल्म की चिकित्सा का निर्देश किया जा चुका है ।

सामान्यतः गुल्म में उपयोगी (हितकर) अन्न-पान, हेतुओं का त्याग, नित्य जाठराग्नि की रक्षा हेतु तत्पर रहना, स्नेहोपरान्त गुल्मनाशक चिकित्सा क्रम, गुल्म के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा, साध्याऽसाध्यता व गुल्म शामक योग; इन सभी विषयों का संग्रह गुल्मचिकित्सा नामक इस अध्याय में भगवान् अग्निवेश ने किया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित, चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक-संहिता के चिकित्सास्थान में गुल्मचिकित्सा नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि-'स्नेह इत्यादि' से यहाँ अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है । 'योगाश्चेत्यनेन' से वातादि गुल्म की चिकित्सा का वर्णन तो इस अध्याय में किया ही गया है, फिर भी उसका यहाँ संक्षेप में निर्देश पुनः किया गया है । ॥१८३-१८९॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में गुल्मचिकित्सा नामक पञ्चम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे प्रमेहचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–निदानोक्त सम्बन्ध के क्रम से ही गुल्मचिकित्सा के बाद प्रमेहचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः । कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गानुवाच मेहाञ्शमनं च तेषाम् ।।३।।

विषयारम्भ–मोह, अभिमान, क्रोध एवं राग से रहित, विशाल ज्ञान एवं तप वाले भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उचित काल में अग्निवेश द्वारा पूछने पर उनके लिए प्रमेह के निदान, लक्षण एवं शमन का उपदेश दिया । ॥३॥

चक्रपाणि–निर्गता मोहादयो यस्य स तथा-जिनमें मोहादि का अभाव हो अथवा जिनसे मोहादि निकल गये हों, ऐसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय । अनुशयः=कोपः (क्रोध) ।

निर्गता आशा यस्य स निराशः नीरागः–जिस पुरुष की कोई इच्छा न हो अर्थात् जिसकी कोई चाह न हो उसे निराशा (राग का अभाव होना) कहा गया है । (यह विशेषण भगवान् आत्रेय के लिए आया है।) यद्यपि हेतु एवं लिङ्गादि का विवेचन निदानस्थान में भी किया गया है फिर भी यहाँ प्रकरणवश पुनः उसका अभिधान किया जा रहा है । ॥३॥

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि । नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ।।४।।

प्रमेह रोग के सामान्य निदान–आस्या सुख (आरामदेह विस्तर पर बैठना), स्वप्न सुख-आरामदायक विस्तर पर सोना, अत्यधिक दधि का सेवन, ग्राम्य, औदक एवं आनूप प्राणियों (पशु-पक्षियों) के मांसरसों का अत्यधिक सेवन, दूध का प्रयोग, नये अन्न-पान एवं गुड़ के विकारों तथा और भी कफोत्पादक हेतुओं का सेवन प्रमेह को उत्पन्न करता है, अर्थात् कफोत्पादक सभी आहार-विहार प्रमेह को उत्पन्न करते हैं । ॥४॥

चक्रपाणि–आस्यासुखमिति-आरामदायक आसन, अर्थात् गद्देदार आसन (डनलप के सोफे), दुखोत्पादक आसन का न होना एवं इसी प्रकार के आसन सोने में भी प्रयुक्त करता हो, अर्थात् रोगी आरामदायक विस्तर पर सोता हो, इसे 'स्वप्नसुख' कहा गया है । यदि विस्तर गद्देदार न हों अथवा शय्यादि में दोष रहने पर व्यक्ति सम्यक् रूप से सो नहीं पाता । यहाँ शय्या सुख से गद्देदार (आरामदायक) विस्तर होने से व्यक्ति अत्यधिक सोता हो । यहाँ अत्यधिक शयन ही प्रमेह का कारण बताया गया है ।

गुडवैकृतं च गुडकृता भक्ष्याः–गुड के द्वारा निर्मित खाद्य-पदार्थों का अत्यधिक सेवन प्रमेह का कारण बताया गया है। ॥४॥

जल्पकल्पतरु टीका–'आस्येत्यादि' के द्वारा प्रमेह के सामान्य निदान (कारण) का उल्लेख किया गया है ।

आस्या आस्यते उपविश्यते इति–जिस पर बैठा जाय उसे आस्या कहा जाता है, अर्थात् बैठने का आसन अथवा कुर्सी, आसन ऐसा हो जिस पर बैठने से आराम मिले अथवा सुखकारी आसन । बैठने के लिए व्यक्ति इसी प्रकार के आसनों का प्रयोग करता हो ।

स्वप्नसुखं सुखेन निद्रा–जो सुखकारी विस्तर पर सुखपूर्वक सोता हो, अर्थात् आराम से सोता हो ।

पयांसि इति-गाय एवं भैंस आदि के दूध का ग्राम्य, औदक एवं आनुप पशु-पक्षियों के मांसरस का अत्यधिक सेवन करता हो । सेवन करना । नये अन्न का भोजन एवं पान के रूप में प्रयोग करना ।

सर्वं कफकृच्च द्रव्यम्–सभी प्रकार के कफ उत्पन्न करने वाले द्रव्यों का सेवन प्रमेह के हेतु कहे गये हैं । यहाँ 'प्रमेह हेतु' से कफज प्रमेह के हेतु का ग्रहण है ।

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतं प्रदूष्य । करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ।।५।।
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून् प्रमेहाननिलः करोति । दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्रं संदूष्य मेहाञ्जनयेद्यथास्वम् ।।६।।

प्रमेह की संप्राप्ति (Pathogenesis of Prameha)–उपरोक्त कफोत्पादक हेतुओं के सेवन से वृद्ध (बढ़ा हुआ) कफ-मेद, मांस व शारीरिक क्लेद, जो बस्ति में स्थित रहता है, को दूषित करते हुए विभिन्न प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करता है । उष्ण हेतुओं के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त उन्हीं धातुओं को दूषित करते हुए पित्तज प्रमेह को उत्पन्न करता है ।

Scanned by CamScanner

दोषों (पित्त व कफ) के क्षीण हो जाने पर वृद्ध वायु धातुओं को खींचकर बस्ति में लाकर मूत्र को दूषित करते हुए वातिक प्रमेह को उत्पन्न करती है ।

इस प्रकार दोष बस्ति में जाकर मूत्र को दूषित करते हुए अपने-अपने लक्षणों के अनुसार प्रमेह को उत्पन्न करते हैं ।

चक्रपाणि–'मेदश्च मासं चेत्यादि' के द्वारा कफज आदि प्रमेहों की संप्राप्ति को बताया गया है ।

कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादौ उच्यन्ते–कफज प्रमेह ही अत्यधिक साध्य होने से पहले इसी का अभिधान किया गया है, अर्थात् १० प्रकार के कफज प्रमेहों का वर्णन पहले किया गया है ।

क्षीणेष्विति–कफ पित्त के क्षीण होने पर । **द्वयोश्च बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया ज्ञेयम्**-दो के साथ बहुवचन का प्रयोग व्यक्ति की तुलना में किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । **क्षीणेष्विति**-बढ़े हुए वात की तुलना में कफ व पित्त क्षीण होने पर । इस प्रकार वृद्ध कफ या पित्त में जो वायु की क्रमशः वृद्धि होती है, से उत्पन्न वह प्रमेह यहाँ साध्य नहीं बताया गया है । यहाँ पित्त व कफ अपनी सामान्य मात्रा से क्षीण नहीं होते, अपितु यह क्षीणता वायु की तुलना में बतायी गयी है, अर्थात् वायु, पित्त व कफ की तुलना में ज्यादा बढ़ जाता है । वह प्रमेह चिकित्सा विधान से साध्य है । कहा भी गया है, यथा-**या वातमेहान् प्रतिपूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता**'' इति [जो वातमेह पूर्व में कहा गया है उसकी चिकित्सा वातनाशक की जाती है या वात प्रधान चिकित्सा की जाती है । प्रमेह के कारण धातुक्षय से उत्पन्न कृशता में वायु वृद्ध होकर असाध्यता को उत्पन्न करती है, जिसकी चिकित्सा का विचार नहीं किया जाता है ।]

धातूनिति–मज्जा, ओज, लसीका, रूपी धातु; वातज प्रमेह में वायु कुपित होकर क्षीण दोषों (पित्त व कफ) को खींचकर बस्ति प्रदेश में ले जाती है साथ ही धातुओं को भी खींचकर बस्ति प्रदेश में ले जाकर शरीर से बाहर निकालती है । 'दोषो हीत्यादि' के द्वारा सभी प्रमेहों की सामान्य संप्राप्ति का अभिधान किया गया है ।

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षट् याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः । समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ।।७।।

साध्यताऽसाध्यता–१० प्रकार के कफज प्रमेह साध्य होते हैं, छः प्रकार के पित्तज प्रमेह याप्य एवं चार प्रकार के वातज प्रमेह असाध्य होते हैं । समक्रिय होने से कफज, विषम क्रिय होने से पित्तज एवं महात्ययकारी होने से वातज प्रमेह क्रमशः साध्य, याप्य एवं असाध्य होते हैं ।

चक्रपाणि–समक्रियत्वादिति-दोष-कफ व दूष्य-मेदादि समान होने से तथा कटुतिक्तादि चिकित्सा द्वारा चिकित्स्य होने से कफज प्रमेह को समक्रिय कहा गया है, अर्थात् एक ही चिकित्सा द्वारा दोष व दूष्य दोनों की चिकित्सा हो जाती है ।

विषमक्रियत्वादिति–विषमक्रिय होने से, पित्तज प्रमेह में दोष व दूष्य भिन्न-भिन्न होने से चिकित्सा विषम हो जाती है । कटु आदि औषधियों द्वारा पित्त की संशमन चिकित्सा में वैषम्यता होने से, अर्थात् पित्त की चिकित्सा मधुर तिक्त व कषाय औषधियों द्वारा करने पर मेदादि दूष्य प्रकुपित हो जाते हैं तथा दूष्य की चिकित्सा कट्वादि द्रव्यों से करने पर पित्त प्रकुपित हो जाता है ।

महात्ययत्वादिति–मज्जा आदि गम्भीर धातुओं का अपकर्षक होने से; अर्थात् वातज प्रमेह में मज्जा आदि अन्तः शरीरस्थ धातुएं क्षय को प्राप्त होती हैं । महाव्यापत्ति उत्पन्न करने से तथा व्याधि की आशुकारिता होने से वातज प्रमेह असाध्य होता है ।

'च' कार से यहाँ निदानोक्त वातादि के विषमक्रियत्व का समुदित रूप से ग्रहण किया गया है ।

यथाक्रममिति–जैसा कि क्रमों का निर्देश है, अर्थात् निर्दिष्ट क्रमानुसार ।

विशेष–'साध्या इत्यादि' के द्वारा प्रमेह की साध्याऽसाध्यता को बताया गया है । कफ जनित दस प्रमेह प्रकृति विकृतिभूत होने एवं समक्रिय होने से साध्य है । कफ दोष-रूक्ष एवं उष्ण आदि चिकित्सा द्वारा साध्य है तथा मेद मांसादि दूष्य भी रूक्ष उष्णादि चिकित्सा से साध्य होते हैं, अर्थात् एक ही उपक्रम द्वारा दोष एवं दूष्य दोनों चिकित्स्य होने से इसे (कफज प्रमेह) समक्रिय कहा गया । समक्रिय का अर्थ है समान क्रिया । यद्यपि रक्त भी दूष्य है लेकिन यह रूक्ष उष्ण क्रिया द्वारा साध्य नहीं है, फिर भी विरुद्धगुणसमवाय में अधिकता के द्वारा अल्पता को प्रशमित करने से रूक्ष उष्णादि उपक्रम से यह साध्य है, ऐसा जानना चाहिये । छः प्रकार के पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं, क्योंकि इसमें सन्निकृष्ट दोष पित्त तथा स्थान मेद होता है । पित्त दोष में स्निग्ध व शीतादि क्रिया की जाती है, जो मेद, मांस, शरीरज क्लेद, शुक्र, शोणित, वसा, मज्जा, लसीका, ओज एवं रस, दूष्यों की चिकित्सा से भिन्न होती है, क्योंकि दूष्यों की चिकित्सा रूक्ष व उष्ण द्रव्यों द्वारा की जाती है । अतः पित्तज प्रमेह विषमक्रिय होने से याप्य है । [पित्त की चिकित्सा से दूष्यों की वृद्धि होती है तथा दूष्यों की चिकित्सा से पित्त की वृद्धि होती है, इस कारण इसे विषम क्रिय कहा गया है ।] उपक्रम की विरुद्धता एवं महात्यय (उपद्रवकारी) होने से ४ प्रकार के वातज प्रमेह असाध्य होते हैं । **महात्यय से**- वातज प्रमेह में मेदादि धातुओं की दुष्टि होने से वसा, मज्जा, लसीका एवं ओज; गम्भीर

Scanned by CamScanner

धातुओं का शरीर से अत्यधिक क्षय हो जाने के कारण तथा आपूर्ति न हो पाने के कारण इसमें वात का अत्यधिक प्रकोप होकर असाध्यावस्था उत्पन्न हो जाती है।

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः । मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां, विंशतिरेव मेहाः ।।८।।

प्रमेह में दोष एवं दूष्य–दोष-वात, पित्त एवं कफ; ये तीन दोष तथा दस दूष्य होते हैं-१. मेद, २. रक्त, ३. शुक्र, ४. अम्बु, ५. वसा, ६. लसीका, ७. मज्जा, ८. रस, ९. ओज तथा १०. मांस। इस प्रकार इन दोष एवं दूष्यों की विकृति से २० प्रकार के ही प्रमेह उत्पन्न होते हैं। ।।८।।

चक्रपाणि–'कफ इत्यादि' के द्वारा यहाँ सभी प्रमेहों के दोष एवं दूष्य की गणना की गयी है अथवा संक्षेप में बताया गया है।

रसश्च ओजश्चेति रसौजः –रस एवं ओज, मधुमेह में ओज की दुष्टि होने से ओज को भी यहाँ दूष्य के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि मेदादि दूष्यों को इस प्रकरण में बताया गया है फिर भी मेद, मांस एवं शरीरज क्लेद (अम्बु=जल) की दुष्टि निश्चित रूप से होने से उसकी गणना की गयी है अर्थात् प्रमेह में इनकी दुष्टि निश्चित रूप से होती है, ऐसा जानना चाहिए। जबकि मज्जादि धातुओं की दुष्टि सभी प्रमेहों में निश्चित रूप से नहीं होती अथवा अल्प रूप में ये दूषित (विकृत) होते हैं।

किंवा सर्वमेहानामेव त्रिदोषत्वं तथा सकलदूष्यत्वं च 'कफः सपित्त' इत्यादिना ग्रन्थेनोच्यते–अथवा सभी प्रकार के प्रमेह त्रिदोषज ही होते हैं तथा इनमें दस दूष्यों की ही विकृति होती है, जिसे 'कफः सपित्त' इत्यादि के द्वारा ग्रन्थ में बताया गया है। मेद, मांसादि दूष्यों की अत्यधिक दुष्टि का उपदेश पृथक् से किया गया है, जिसे कियन्तःशिरसीय नामक (सू.अ. १७) अध्याय में सकल प्रमेहों का वाचक मधुमेह को कहते हुए त्रिदोष प्रकोप का वर्णन किया गया है। अर्थात् प्रमेह में तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। उसी को वहाँ **'समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः'** (सू.अ. १७) के द्वारा दर्शाया गया है। सुश्रुत संहिता में भी यही कहा गया है, यथा- **''वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा मेहाञ्जनयति''** (सु.नि.अ. ६) इति [वात पित्त एवं मेद संयुक्त कफ मिलकर प्रमेह को उत्पन्न करता है।)

कफादीनां द्व्युल्बणादिसंसर्गस्यानन्त्येनाधिकप्रमेहसंख्या प्रसक्तिनिरासार्थम् आह–विंशतिरेव मेहा इति । 'विंशतिरेव मेहा इति' से यहाँ कफादि जन्य दो-दो दोषों के संसर्ग से होने वाले प्रमेह, इस प्रतिपादित २० संख्या से अधिक नहीं हैं, इसी के निराकरणार्थ 'विंशतिरेव मेहा' शब्द का प्रतिपादन किया गया है। ।।८।।

विशेष–'कफ इत्यादि' के द्वारा प्रमेह में प्रतिपादित दोष एवं दूष्यों की संख्या का संग्रह किया गया है। सपित्त इति के द्वारा दोषों की अलग-अलग प्रमेहोत्पादक क्षमता का निराकरण किया गया है, अर्थात् तीनों दोष संयुक्त रूप में ही प्रमेह को उत्पन्न करते हैं। सभी मेहों में तीनों दोष एवं दस दूष्य दूषित होते हैं। यहाँ अम्बु से शरीरज क्लेद (जलीयांश) का ग्रहण किया गया है। 'विंशतिरेव' से यह बताया गया है कि यह संख्या २० से अधिक नहीं होती।

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम् । शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा वालुकया युतं वा ।।९।।
विद्यात् प्रमेहान् कफजान् दशैतान् क्षारोपमं कालमथापि नीलम् । हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान् प्रमेहान् षडुशन्ति पित्तात् ।।१०।।
मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम् । चतुर्विधं मूत्रयतीह वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु ।।११।।

दस प्रकार के कफज प्रमेहों के लक्षण–१० प्रकार के कफज प्रमेहों के अधोलिखित लक्षण होते हैं–

१. मूत्र का वर्ण एवं भारीपन जल सदृश होना (उदकमेह)।
२. मूत्र का वर्ण इक्षुरस के समान होना एवं शर्करा की मात्रा मूत्र में आना (इक्षुमेह)
३. मूत्र का गाढ़ा होना (सान्द्रमेह)
४. मूत्र को एक पात्र में रखने पर नीचे का भाग गाढ़ा तथा ऊपर का भाग स्वच्छ (Transparent) रहना। (सान्द्रप्रसादमेह)
५. मूत्र का शुक्ल (श्वेत) वर्णयुक्त होना (शुक्लमेह)
६. शुक्र के साथ मूत्र का आना। (शुक्रमेह)
७. मूत्र का शीतल (Cold) निकलना, अर्थात् स्पर्श में शीत होना (शीतमेह)
८. मूत्र का वेग रहित एवं धीरे-धीरे निकलना (शनैमेह)
९. लार (लालास्राव) की तरह मूत्र का निकलना (लालामेह)
१०. मूत्र में सिकता (बालू) के तरह छोटे-छोटे कणों का निकलना। -(सिकतामेह)

पित्तज प्रमेह के लक्षण–पित्तज प्रमेह ६ प्रकार के होते हैं, जिनमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. **क्षारमेह**-क्षारीय जल की तरह मूत्र का निकलना अर्थात् मूत्र का वर्ण क्षार युक्त जल के समान होता है।

२. **कालमेह**-इसमें मूत्र का रंग काला होता है।

Scanned by CamScanner

३. **नीलमेह**-इसमें रोगी नीले रंग का मूत्र त्याग करता है ।

४. **हारिद्रमेह**-इस प्रमेह में रोगी का मूत्र हल्दी के समान वर्ण वाला होता है ।

५. **मञ्जिष्ठामेह**-मूत्र का रंग मञ्जिष्ठा के समान लाल वर्ण का होना, मञ्जिष्ठामेह कहलाता है ।

६. **रक्तमेह**-मूत्र में रक्त का आना अथवा रक्त मिश्रित मूत्र का आना 'रक्तमेह' कहलाता है ।

वातज प्रमेह के लक्षण–वातज प्रमेह के ४ भेद किये गये हैं, जिनमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. मज्जामेह-इसमें मूत्र मज्जा से युक्त हो जाता है ।

२. ओजोमेह-मूत्र के साथ ओज का स्राव होता है ।

३. वसामेह-इसमें रोगी वसा युक्त मूत्र का त्याग करता है ।

४. लसीकामेह-लसीका युक्त मूत्र का त्याग करना ।

इस प्रकार ये ४ प्रकार के वातज प्रमेह धातुओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर होते हैं, अथवा शेष ४ वातज प्रमेह मज्जादि धातुओं के अत्यन्त क्षीण हो जाने से असाध्य होते हैं । ॥९-११॥

चक्रपाणि–'जलोपममित्यादि' के द्वारा यहाँ कफ के दस गुणों द्वारा उत्पन्न दस प्रकार के कफज प्रमेहों के लक्षणों को बताया गया है। इसका वर्णन निदानस्थान में किया जा चुका है, वहीं देखना चाहिये ।

'घनं चोपरि विप्रसन्नमिति' के द्वारा यहाँ सान्द्रप्रसादमेह को बताया गया है । [मूत्र को एक शीशे के जार में रखते हैं कुछ समय के बाद मूत्र का कुछ भाग जार की तली में इकट्ठा हो जाता है तथा ऊपर का भाग स्वच्छ रहता है अर्थात् नीचे का भाग घन तथा ऊपर का भाग स्वच्छ रहता है । ऐसे रोगी जिसके मूत्र में इस प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं, सान्द्रप्रसादमेही कहते हैं ।]

मज्जया मज्जमेहः –जिसके मूत्र में मज्जा का स्राव होता हो उसे मज्जामेही कहते हैं । इसी प्रकार ओज से मधुमेह, वसा से वसामेह तथा लसीका से लसीकामेह को भी समझना चाहिए ।

शेषेष्विति–पूर्व वर्णित मेदादि रसादि धातुओं के अतिरिक्त ओज, वसा आदि धातुएं जब वात के द्वारा अत्यधिक क्षीण हो जाती हैं। धातुओं में यह क्षय आरम्भक दोष वात के कारण होता है । धातुओं का क्षय वायु के रूक्ष गुण (Uposana) अथवा कर्शण स्वभाव के कारण होता है जो धातुओं का मूत्रमार्ग द्वारा स्राव उत्पन्न कर क्षय कराता है । ॥९-११॥

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः । श्यावारुणो वातकृतः सशूलो मज्जादिसाद्वण्यमुपैत्यसाध्यः ।।१२।।

मूत्र के वर्णादि का दोषों से सम्बन्ध–अपने-अपने दोषों के अनुसार सभी प्रकार के प्रमेहों में मूत्र के वर्ण (Colour), रस (Taste), स्पर्श (Touch) एवं गन्ध (Smell) में परिवर्तन आ जाता है । अर्थात् प्रमेही के मूत्र का वर्ण, रस, स्पर्श एवं गन्ध तद्-तद् दोषों के अनुसार हो जाते हैं । वातिक प्रमेही के मूत्र का रंग श्याव (Greyish) तथा रक्त (Reddish), शूल युक्त (Painful) तथा मज्जा आदि धातुओं से युक्त होता है । इस कारण वातिक प्रमेह असाध्य (Incurable) होता है । ॥१२॥

चक्रपाणि–'वर्णमित्यादि' के द्वारा संक्षेप में कफजादि प्रमेहों के लक्षणों को बताया गया है, यथा-कफज प्रमेह में मूत्र का वर्ण श्वेत (White), रस-मधुर (Sweet taste), स्पर्श (मूत्र का स्पर्श) शीत तथा गन्ध **आम** (मांस के सदृश गन्ध Smell like flesh) होता है । इसी प्रकार पित्तज प्रमेह के लक्षणों को भी जानना चाहिए । यद्यपि वायु रंगहीन (Colourless वर्ण रहित) होता है । इस कारण उसके प्रभाव से उत्पन्न होने वाले कायवर्ण (शरीर के वर्ण) को 'श्यावारुण इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । अर्थात् वायु के प्रभाव से शरीर में जो रंग उत्पन्न होते हैं वही रंग वातिक प्रमेही के मूत्र में भी मिलते हैं । यद्यपि वातिक प्रमेह को असाध्य कहा गया है, फिर भी यहाँ असाध्य वचन के द्वारा-जिस प्रमेह में उत्पत्तिः अधिक लक्षण मिलते हों तथा उस वातिक प्रमेह में श्याव एवं अरुण वर्णता के सम्पूर्ण लक्षण मिलते हों, वह रोगी असाध्य होता है तथा वह रोगी जिसमें उत्पत्तितः अल्प लक्षण मिलते हों तथा श्याव अरुणत्व आदि लक्षण बाद की अवस्था में उत्पन्न होते हैं, साध्य होता है । इस साध्य प्रमेह में मज्जा आदि के गुणों का सम्बन्ध निश्चित रूप से नहीं होता अथवा उत्तरकाल में जिन प्रमेहों में वात का अनुबन्ध होने से श्याव एवं अरुणवर्णता के लक्षण मिलते हैं वे सभी असाध्य होते हैं । इस प्रकार कफज एवं पित्तज प्रमेह भी (उत्तर काल में) मज्जादि के योग से असाध्य ही होते हैं । कहा भी गया है, यथा-**"सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि"** (सू.नि.अ. ६) [सभी प्रकार के प्रमेह उचित काल में चिकित्सा न करने पर मधुमेह में परिवर्तित हो जाते हैं । इस अवस्था में वे असाध्य होते हैं ।] ॥१२॥

Scanned by CamScanner

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता च शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च । हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहो घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ।।१३।।
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः । भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ।।१४।।

प्रमेह के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)–शरीर से अत्यधिक पसीने का निकलना (Sweating), शरीर से दुर्गन्ध का निकलना, अङ्गों में शिथिलता का होना, सुखकर शय्या एवं आसन पर बैठने की इच्छा करना, हृद् प्रदेश, नेत्र, जिह्वा एवं कर्ण में उपदेह (मलों) का अत्यधिक रहना या निकलना, घनाङ्गता (शरीर मोटा होना Corpulent), केश (सिर के बाल) एवं नखों का शीघ्रता पूर्वक बढ़ना (Excessive growth of hair and nails), उण्डे पदार्थों का अच्छा लगना, गला एवं तालु प्रदेश का सूखना (dryness of the throat and Palate) अर्थात् बार-बार प्यास का लगना, मुख में माधुर्यता की प्रतीति (Sweet taste in the mouth), हाथ एवं पैर के तलवों में जलन का होना तथा मूत्र की ओर चीटियों का आकर्षित होना; ये सभी लक्षण भावी प्रमेह के सूचक हैं, अर्थात् प्रमेह के पूर्व में पाये जाते हैं । ।।१३-१४।।

चक्रपाणि–'स्वेदोऽङ्गगन्ध इत्यादि' के द्वारा प्रमेह के पूर्वरूप को बताया गया है । ।।१३-१४।।

विशेष–हृदादीनामुपदेह उपलेपः -हृदय उपलेप-हृद् प्रदेश में भारीपन की प्रतीति, नेत्र उपलेप-आँखों में भारीपन, जिह्वा उपलेप-जिह्वा पर मलों का इकट्ठा होना, श्रवणोपदेह-कानों में मल का अधिक होना ।

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च । संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य ।।१५।।
स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय । ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु संतर्पणमेव कार्यम् ।।१६।।
गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन । प्रमेहिणः स्युः, परितर्पणानि कार्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम् ।।१७।।

प्रमेह रोग का चिकित्सासूत्र (Line of Treatment)

चिकित्सा की दृष्टि से प्रमेह के रोगी दो प्रकार के होते हैं-१. स्थूल तथा बलवान् रोगी, २. कृश (Emaciated) तथा दुर्बल (weak) रोगी । कृश तथा दुर्बल रोगी की चिकित्सा बृंहण द्रव्यों द्वारा करनी चाहिए । अर्थात् इसमें बृंहण चिकित्सा (Nourishing therapy) का प्रयोग करना चाहिए तथा स्थूल एवं बलवान् रोगी जिसमें दोष अत्यधिक बढ़े हुए हों उसमें संशोधन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

संशोधन के योग्य रोगी को सम्यक् प्रकार से स्नेहन करके कल्पस्थान में निर्दिष्ट विविध प्रकार के मलशोधक योगों का प्रयोग करना चाहिए । ऊर्ध्व तथा अधः मार्ग (वमन तथा विरेचन) द्वारा दोषों (मलों) के निकल जाने पर प्रमेह में संतर्पण योगों का प्रयोग करना चाहिए । इस अवस्था में (शोधनोपरान्त) संतर्पण का प्रयोग न कर अपतर्पण औषधियों का प्रयोग करने पर रोगी में गुल्म, क्षय, लिङ्ग व बस्ति में शूल तथा मूत्रग्रह (मूत्र का अवरोध) उत्पन्न हो जाते हैं । इसलिये संशोधनोपरान्त रोगी के अग्निबल का विचार करते हुए संतर्पक अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिए । ।।१५-१७।।

चक्रपाणि-परिदुर्बलः=हीनबलः (बल की क्षीणता का होना) । **कृशस्य इति**-रोगी का दुबला होना (मांस की कृशता) । **दोषबलाधिकस्य**-आतुर के शारीरिक बल एवं दोष बल की अधिकता का होना । 'क्षयः' से धातुक्षय अर्थ लिया गया है । ।।१५-१७।।

विशेष–किन योगों द्वारा तथा कैसे संशोधन कराना चाहिए, इसे यहाँ 'स्निग्धस्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है । 'स्निग्धस्य' से यहाँ स्नेहन व स्वेदन दोनों अर्थ नहीं लिया गया है, क्योंकि मधुमेही, स्थूल रोगी एवं पित्तप्रमेही में स्वेदन का निषेध किया गया है । इसलिये यहाँ आतुर के सम्यक् स्नेहोपरान्त ही कल्पस्थान में बताये गये वामक-विरेचक योगों का प्रयोग कर ऊर्ध्व भाग एवं अधः भाग की शुद्धि करनी चाहिए । इस प्रकार कफ व पित्त के निर्हरण के पश्चात् संतर्पणीय अध्याय (सू.अ. २३) में वर्णित संतर्पण योगों का प्रयोग करना चाहिए ।

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या । मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः ।।१८।।
ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गास्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः । यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यमद्यात् ससक्तूनपि चाप्यपूपान् ।।१९।।
मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः पुराणशाल्योदनमाददीत । दन्तीद्रुदीतैलयुतं प्रमेही तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ।।२०।।
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं यवप्रधानस्तु भवेत् प्रमेही । यवस्य भक्ष्यान् विविधांस्तथाऽद्यात् कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान् ।।२१।।
निशिस्थितानां त्रिफलाकषाये स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम् । तान् सीधुयुक्तान् प्रपिबेत् प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ।।२२।।
ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषायास्तैर्भावितानां च पृथग्यवानाम् । सक्तूनपूपान् सगुडान् सधानान् भक्ष्यांस्तथाऽन्यान् विविधांश्च खादेत् ।।२३।।
खराश्वगोहंसपृषद्धृतानां तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः । देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्येन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ।।२४।।

संशमन चिकित्सा का प्रयोग–जो रोगी संशोधन के योग्य नहीं हैं, उसके लिए शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए । शामक औषधियों के रूप में मन्थ (Flour of different types of corn mixed with water), कषाय (प्रमेह नाशक क्वाथ), यवचूर्ण, अवलेह एवं लघु आहार द्रव्यों का प्रयोग करें, जो प्रमेह को शान्त करतें हों ।

Scanned by CamScanner

प्रमेह में मांसरस का प्रयोग–वे रोगी जिन्हें मांस सात्म्य है, विष्किर एवं प्रतुद वर्ग के पक्षियों के मांसरस अथवा जाङ्गल देश में उत्पन्न पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ रूक्ष यव का भात (यवोदन Cooked barley), रूक्ष वाट्य, सत्तू तथा यव निर्मित अपूप का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए।

कफप्रमेह में उपयोगी आहार–मुद्ग यूष अथवा तिक्त शाकों का प्रयोग पुराने शाली चावल के भात के साथ करना चाहिए। तैलों में दन्ती तैल, इंगुदी तैल, अतसी तैल अथवा सर्षप तैल का प्रयोग करें। [शाकों के निर्माण एवं अन्य खाद्य पदार्थों के बनाने में इन तैलों का प्रयोग करना चाहिये।] इसके अतिरिक्त षष्ठी (साठी) चावल एवं तृण धान्यों (साँवा कोदो आदि) द्वारा निर्मित अन्न जो दन्ती, इंगुदी अथवा **सरसो के तैल** से संस्कारित कर बनाये गये हों, का प्रयोग करना चाहिए। यव से निर्मित अनेक भक्ष्य पदार्थों में मधु मिलाकर कफज प्रमेही को प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार **कफज प्रमेह के रोगी का आहार यव प्रधान होना चाहिए।**

मेहनाशक संतर्पण योग–भूसी रहित यव को त्रिफला क्वाथ में रात भर के लिए भिगो कर रख दें। दूसरे दिन प्रातः काल इस यव को निकाल कर सुखा लें और सत्तू बनावें। इस सत्तू को सीधु में घोल लें, पश्चात् मधु मिलावें। इस योग का पान प्रमेह शान्ति हेतु प्रतिदिन करें।

श्लेष्म प्रमेह में वर्णित कषायों द्वारा यव को अलग-अलग भावित कर उनसे निर्मित सत्तू, अपूप, धाना अथवा दूसरे विविध भक्ष्य पदार्थों में गुड़ मिलाकर सेवन करें।

खर (गधा), अश्व (घोड़ा), गो (गाय), हंस (Swan), पृषद् (हरिण); इन पशुओं को यव खिलाकर इनसे प्राप्त विट् (पुरीष) से यव को साफ-सुथरा कर सुखाकर रखें। इस यव से निर्मित विविध भक्ष्य पदार्थों का प्रयोग प्रमेह शान्त्यर्थ करना चाहिए। इसी प्रकार वेणुयव अथवा गेहूँ की भी योजना की जा सकती है। ॥१८-२४॥

चक्रपाणि–क्षुण्णशुष्कयवानां मण्डरहित ओदनो यवौदनः -शुष्क यव को तुषरहित कर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें। इस दरदरे किये हुए यव का भात पकावें या बनावें। इसमें से माड़ (मण्ड) को अलग कर लें। यह मण्ड रहित भात यवौदन कहलाता है।

रूक्ष यवौदन–मण्ड रहित यव निर्मित भात जिसमें घृतादि न मिले हों।

वाट्यः स एव मण्डो निस्तुषेद्दलितानां यवानां भवति–वाट्य मण्ड ही होता है जो तुषरहित यव को दरदरा कर बनाया जाता है। अर्थात् तुषरहित यव द्वारा निर्मित मण्ड को वाट्य कहा जाता है। अतसी से अलसी अर्थ लिया गया है।

ये तिलातसीति पठन्ति तेषां मते तिलरूपाऽतसी (?) विवक्षिता–जो लोग 'तिलातसी' का पाठ एक साथ करते हैं उनके मत के अनुसार इससे तिल रूप अतसी का ग्रहण किया गया है।

तृणधान्यानि–तृणधान्य-श्यामाक आदि। अपूपान्=यव की पिष्टी से निर्मित पदार्थ अपूप कहा जाता है।

धानान्–भुना हुआ यव अर्थात् भुने हुए यव को धाना कहा गया है।

वेणुयवा यवाकाराणि वंशबीजानीत्यर्थ–यव के आकार का बंशबीज, वेणुयव कहा गया है। ॥१८-२४॥

विशेष–विष्किर उन पक्षियों को कहते हैं जो अपना भोजन (खाद्य) चोंच से कुरेद-कुरेद कर खोजते हैं। A gallinaceous bird such as a domestic fowl, partridge, quail. जो पक्षी अपना भोजन चोंच से मार-मार कर खाते हैं उन्हें प्रतुद कहा जाता है, यथा-कौआ, तोता, उल्लू, मोर आदि।

संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्। जयन्ति पित्तप्रभवान् विरेकः संतर्पणः संशमनो विधिश्च ॥२५॥

कफज प्रमेह को उचित समय में प्रयुक्त संशोधन, वमन एवं लंघन क्रिया द्वारा प्रशमित कर दिया जाता है। अर्थात् संशोधन, वमन एवं लंघन द्वारा कफज प्रमेह शान्त हो जाता है तथा विरेचन के प्रयोग से पित्तज प्रमेह शान्त हो जाता है। इस प्रकार यहाँ संशमन एवं संतर्पण विधियों का वर्णन किया गया है। ॥२५॥

चक्रपाणि–संशोधन शब्द से ही यहाँ वमन का अर्थ प्राप्त हो जाता है फिर भी यहाँ **वमन** कफजय में प्रधान है, इसे बताने के लिए उल्लेखन (वमन) पद का प्रयोग किया गया है। अन्य आचार्य कफप्रमेह हेतु उल्लेखन का अर्थ 'लङ्घन' ग्रहण करते हैं। पित्तप्रमेह याप्य होने से जयन्ति पद से पित्तज प्रमेही का यापन (अर्थात् विरेचन द्वारा पित्तज प्रमेह के रोगी को लाभ होता है जिससे उसका जीवन यापन होता रहता है।) होता है, अर्थ ग्रहण करते हैं अथवा मेद के अत्यधिक विकृत (दूषित) होने पर पित्तज प्रमेह भी असाध्य हो जाता है।

'साध्यस्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम्' [पित्तज प्रमेह में यदि मेद की दुष्टि न हो तो वह साध्य होता है।] सूत्र से यह वक्तव्य (जयन्ति पित्तप्रभवान् विरेकः) उचित है। ॥२५॥

Scanned by CamScanner

दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत् प्रमेही । क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसेनामलकीफलानाम् ।।२६।।
हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रं पाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च । उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च ।।२७।।
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि । दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा ।।२८।।
यवान्युशीराण्यभयागुडूचीचव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः । पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपदिष्टा मधुसंप्रयुक्ताः ।।२९।।
उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम् । पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ।।३०।।
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम् । शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ।।३१।।
अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम् । पैत्तेषु मेहेषु दश प्रदिष्टाः पादैः कषाया मधुसंप्रयुक्ताः ।।३२।।
सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ कषाययोगौ विहितास्तु सर्वे । मन्थस्य पाने यवभावनायां स्युर्भोजने पानविधौ पृथक् च ।।३३।।
सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु । मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ।।३४।।

प्रमेह नाशक सामान्य योग–प्रमेह के रोगी को दार्वी (दारुहल्दी), सुराह्वा (देवदारु), हरड़, बहेड़ा, आँवला एवं मुस्तक; इन द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में मधु मिलाकर पीना चाहिए, अथवा आमलकी स्वरस में हल्दी व मधु मिलाकर पीयें ।

कफप्रमेह में उपयोगी क्वाथ–अधोलिखित क्वाथों का प्रयोग मधु मिलाकर कफप्रमेह से ग्रस्त रोगी को करना चाहिए–

१. हरीतकी, कट्फल (कायफल), मुस्तक एवं लोध्र का क्वाथ ।
२. पाठा, विडङ्ग, अर्जुन एवं धन्वन; के क्वाथ का प्रयोग ।
३. हरिद्रा, दारुहारिद्रा, तगर, विडङ्ग; इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग ।
४. कदम्ब, शाल, अर्जुन, दीप्यक (अजवाइन); के क्वाथ ।
५. दार्वी (दारुहल्दी), विडङ्ग, खदिर एवं धव के क्वाथ ।
६. देवदारु, कुष्ठ (कूठ), अगरु एवं चन्दन (लालचन्दन) के क्वाथ ।
७. दार्वी (दारुहल्दी), अग्निमन्थ, त्रिफला व पाठा; इन द्रव्यों से निर्मित क्वाथ का प्रयोग ।
८. पाठा, मूर्वा, गोखरु के क्वाथ ।
९. यवानी (अजवाइन), उशीर, अभया एवं गुडूची निर्मित क्वाथ ।
१०. चव्य, अभया, चित्रक एवं सप्तपर्ण से निर्मित क्वाथ ।

[उपरोक्त श्लोक के प्रत्येक चतुर्थांश भाग में निर्दिष्ट क्वाथों में मधु मिलाकर कफज प्रमेह के रोगी को पीना चाहिए ।]

पित्तप्रमेह में उपयोगी क्वाथ–

१. उशीर (खस), लोध्र, अञ्जन एवं लाल चन्दन ।
२. उशीर, मुस्तक, आमलकी एवं हरड़ ।
३. पटोल पत्र (परवल की पत्ती या मूल), निम्ब की छाल, आँवला एवं अमृता (गुडूची), ।
४. मोथा, अभया, पद्मक, वृक्षक ।
५. लोध्र, अम्बु (सुगन्धवाला), कालीयक एवं धातकी पुष्प ।
६. नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आम्रात (आमड़ा की छाल), हल्दी एवं उत्पल ।
७. शिरीष की छाल, सर्जवृक्ष की छाल, अर्जुन एवं नागकेशर ।
८. प्रियङ्गु, पद्म (लाल कमल), उत्पल (नील कमल) एवं किंशुक पुष्प (पलाश पुष्प) ।
९. अश्वत्थ (पीपल वृक्ष की छाल), पाठा, असन (विजयसार) एवं वेतस ।
१०. कटङ्कटेरी (दारुहारिद्रा), उत्पल एवं मुस्तक ।

यहाँ श्लोक के अलग-अलग पाद भाग में निर्दिष्ट द्रव्यों (योगों) द्वारा क्वाथ बनावें एवं उनमें मधु मिलाकर पित्तज प्रमेह का रोगी पीये। इस प्रकार यहाँ पित्तप्रमेह नाशक दस योगों का वर्णन किया गया है ।

पूर्व निर्दिष्ट दो कषाय योगों (दार्वीसुराह्वां आदि) का प्रयोग प्रायः सभी प्रकार के प्रमेहों में किया जाता है या करना चाहिये । (क्योंकि ये योग सामान्य प्रमेह नाशक बताये गये हैं ।) तथा बाद के वर्णित अलग-अलग कषाय योगों का प्रयोग मन्थ का पान, यव को भावित (संस्कारित) करने में अथवा अन्न-पान के संस्कारार्थ प्रयोग करना चाहिये ।

वातज प्रमेह (कफपित्तमेह में वात का अनुबन्ध होने पर) में उपरोक्त कषायों द्वारा सिद्ध तैल एवं घृतों का प्रयोग करना चाहिये । कषाय योगों (क्वाथ) के प्रयोग द्वारा मेद एवं कफ का शमन होता है तथा इन क्वाथों द्वारा साधित स्नेहों के प्रयोग से उनमें वृद्ध वायु की शान्ति होती है । ।।२६-३४।।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'दार्वीमित्यादि' के द्वारा सभी प्रमेहों में उपयोगी दो योगों को बताया गया है। अर्थात् श्लोक २६ में वर्णित दो क्वाथ योग सभी प्रकार के प्रमेहों में प्रयुक्त होते हैं। सुराह्वः=देवदारु। हरीतकी से प्रारम्भ करके दशोपदिष्टा मधुसंप्रयुक्ता तक दस कफप्रमेह नाशक योगों को बताया गया है। उशीर से प्रारम्भ कर उत्पलमुस्तकानां तक दस पित्तज प्रमेहनाशक कषाय योगों का उल्लेख किया गया है, ऐसा जानना चाहिये। यहाँ जो दस कफनाशक योगों का वर्णन किया गया है वे क्रमशः कफोत्पन्न दस प्रकार के प्रमेहों में उपयोगी हैं, यथा-उदकमेह में हरीतकी कट्फल, मुस्तक एवं लोध्र का क्वाथ तथा इक्षुमेह में पाठादि का क्वाथ अथवा सभी योग सभी प्रकार के कफज मेहों में उपयोगी हैं। उसी प्रकार पित्त प्रमेह नाशक योग सभी प्रकार के पित्तज प्रमेहों में उपयोगी हैं, ऐसा जानना चाहिए। कटङ्कटेरी=दारुहारिद्रा।

मन्थस्य पाने इति मन्थपानार्थं–मन्थ के पान करने में अथवा मन्थपान हेतु। **भोजने इति**-भोजन के संस्कारार्थ एवं पेय पदार्थों के संस्कार करने में भी निर्दिष्ट कषाय योगों का प्रयोग करना चाहिये।

सिद्धानि तैलानि इति–इन कषाय द्रव्यों द्वारा सिद्ध तैल, अर्थात् इन कषाय योगों से क्वाथ बनावें तथा इससे तैल पाक विधि द्वारा तैल या घृत को सिद्ध करें।

अनिलात्मकेष्विति–कफपित्तजन्य प्रमेह में वात का अनुबन्ध होने पर पहले कफपित्तनाशक क्वाथ का प्रयोग करें बाद में सिद्ध स्नेहों के प्रयोग से वात की शान्ति हो जाती है, क्योंकि विशिष्ट उत्पत्ति वाला वातज प्रमेह असाध्य होने से अचिकित्स्य होता है। ॥२६-३४॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि। कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात् कफपित्तमेही ॥३५॥
पिबेद्रसेनामलकस्य चापि कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले। जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ॥३६॥

कफपित्तनाशक योग–कम्पिल्लक, सप्तच्छद (सप्तपर्ण की छाल), शाल वृक्ष की छाल, विभीतक (बहेड़ा), रोहितक, कुटज की छाल तथा कपित्थ (कैथ) पुष्प; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग अथवा सभी द्रव्यों के पुष्पों के चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ मिलाकर कफपित्तप्रमेह के रोगी को चाटना चाहिये अथवा इन द्रव्यों के कल्क को १ अक्ष (१ तोला) मात्रा में लेकर आँवले के स्वरस के साथ उचित काल में पीना चाहिये। औषधि के जीर्ण हो जाने पर पुराने चावल या अन्न (यव या गेहूँ) के साथ जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन मांस सात्म्य रोगी को करना चाहिए।

चक्रपाणि–कफपित्तमेहीति कफमेही पित्तमेही च–कफमेही और पित्तमेही दोनों का अर्थ लिया गया है।

कल्कीकृतानीति–कम्पिल्लक आदि द्रव्यों के ही चूर्ण का कल्क बनाकर आमलकी स्वरस के साथ पीने का निर्देश है। ॥३५-३६॥

दृष्टाऽनुबन्धं पवनात् कफस्य पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः। तैलं कफे स्यात् स्वकषायसिद्धं पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥३७॥
त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कैर्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः। वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तैर्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥३८॥
मञ्जिष्ठया चागुरुचन्दनैश्च सर्वैः समस्तैः कफवातजेषु। मेहेषु तैलं विपचेद्, घृतं तु पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥३९॥
फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निःक्वाथ्य निशां सकल्काम्। पिबेत् कषायं मधुसंप्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥४०॥

वातज प्रमेह में स्नेह की उपयोगिता–वात से उत्पन्न प्रमेह में कफ अथवा पित्त के अनुबन्ध को देखकर चिकित्सक को स्नेह विधि की योजना करनी चाहिये। कफानुबन्ध होने पर कफनाशक कषाय योगों द्वारा साधित तैल तथा पित्तानुबन्ध होने पर पित्तघ्न क्वाथों द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिये।

त्रिकण्टकाद्य तैल एवं घृत–त्रिकण्टक (गोखरू), अश्मन्तक (पाषाणभेद), सोमवल्क, भल्लातक, अतिविषा, लोध्र, वचा, पटोल (परवल), अर्जुन, निम्ब, मुस्तक (मोथा), हल्दी, पद्मक, दीप्यक (अजवाइन), मञ्जिष्ठा, अगरु एवं लाल चन्दन; इन द्रव्यों को लेकर कल्क एवं क्वाथ बनावें। इस कल्क एवं क्वाथ में तैल को सिद्ध करें। इसका प्रयोग कफज, वातज एवं वातकफज प्रमेह के रोगी को खाने एवं पीने हेतु करना चाहिए। पित्तज प्रमेह में इन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से घृत को एवं तीनों दोषों के मिलने पर घृत व तैल को मिश्रित कर सिद्ध करना चाहिए।

प्रमेहनाशक फलत्रिकादिक्वाथ–त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दारुनिशा (दारुहारिद्रा), विशाला (इन्द्रायण) एवं मुस्तक; इन द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में हल्दी के कल्क को डालकर मधु के साथ पान करें। यह क्वाथ सभी प्रकार के प्रमेहों का नाशक है।

चक्रपाणि–अनुबन्धमिति पश्चात् अनुगतम्-जिस दोष का सम्बन्ध बाद में हो, अर्थात् अप्रधान दोष।

तैल कफे स्यात् स्वकषायसिद्धमिति–कफज अथवा कफानुबन्ध होने पर कफ नाशक द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा साधित तैल का प्रयोग करें। उसी प्रकार पित्तप्रमेह तथा पित्तानुबन्ध होने पर पित्तघ्न द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा सिद्ध घृत का सेवन करें अथवा दें।

Scanned by CamScanner

सर्वे इति–त्रिकण्टक आदि द्रव्यों में से एक-एक द्रव्य द्वारा भी स्नेह साधित हो सकता है, लेकिन यहाँ सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर क्वाथ एवं कल्क बनाने का निर्देश है और इनके द्वारा ही स्नेह को सिद्ध करें। 'समस्तैः' से मिश्रित करके अथवा एक में मिलाकर अर्थ गृहीत है।

मिश्रमिति–'घृत व तैल को समान मात्रा में मिलाना' यमक कहलाता है, अर्थात् त्रिदोषज लक्षणों में 'यमक' को साधित कर प्रयोग करना चाहिए।

त्रिषु लक्षणेषु इति–प्रमेह में तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप से मिलने पर; इससे यहाँ त्रिदोषज अनुबन्ध्य-अनुबन्ध कृत कफपित्तज प्रमेह का ग्रहण किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। अथवा सभी प्रमेह तो त्रिदोषज ही होते हैं; लेकिन तीनों दोषों की उल्बणता कदाचिद् ही होती है। ॥३७-४०॥

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यमानीम्। चव्यं प्रियङ्गुं क्रमुकं विशालां किराततिक्तं कटुरोहिणीं च ॥४१॥
भार्ङ्गीं नतं चित्रकपिप्पलीनां मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम्। कलिङ्गकान् केशरमिन्द्रसाह्वां नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥४२॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा पूते चतुर्भागजलावशेषे। रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः ॥४३॥
मध्वासवोऽयं कफपित्तमेहान् क्षिप्रं निहन्याद्विपलप्रयोगात्। पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम् ॥४४॥

इति मध्वासवः।

मध्वासव–लोध्र (पठानी लोध), शटी (कचूर), पुष्करमूल, एला (छोटी इलायची), मूर्वा, विडङ्ग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), यवानी (अजवाइन), चव्य (चाभ), प्रियंगु, क्रमुक (सुपारी), विशाला (इन्द्रायण), किराततिक्त (चिरायता), कटुरोहिणी (कुटकी), भारंगी, नत (तगर), चित्रक, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, अतिविषा, पाठा, कलिङ्गक (कुटज), नागकेशर, इन्द्रसाह्वा (इन्द्रयव), नख, तेजपत्र, मरिच तथा प्लव (केवटी मोथा); प्रत्येक द्रव्य को १-१ कर्ष (१-१ तोला) मात्रा में लेकर १ द्रोण (३२ प्रस्थ) जल मे क्वाथ करें। चतुर्थांश अवशेष रहने पर क्वाथ को छान लें। एक घृतभावित पात्र में क्वाथ को रखें उसमें आधा भाग मधु मिलावें पश्चात् ढक्कन बन्द करके इस पात्र को एक पक्ष (पन्द्रह दिन) के लिए धूप में रख दें। पन्द्रह दिन के बाद आसव के तैयार हो जाने पर इसे छानकर बोतलों में भर कर सुरक्षित रख लें। यह आसव २ पल (८ तोला) की मात्रा मे पीने से कफज, पित्तज व कफपित्तज प्रमेह को शीघ्र ही दूर कर देता है। इसके साथ ही पाण्डु, अर्श, अरुचि, ग्रहणीरोग, किलास (श्वेत कुष्ठ) एवं अनेक प्रकार के कुष्ठों को दूर करता है।

चक्रपाणि–क्रमुक से यहाँ पठानीलोध्र अथवा पूग का ग्रहण किया गया है। इन्द्रसाह्वाम्=इन्द्रवारुणी। ॥४१-४४॥

क्वाथः स एवाष्टपलं च दन्त्या भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात्। सितोपला त्वष्टपला विशेषः क्षौद्रं च तावत् पृथगासवौ तौ ॥४५॥

दन्त्यासव एवं भल्लातकासव–पूर्व वर्णित क्वाथ्य द्रव्यों को (मध्वासव में वर्णित द्रव्यों को) १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर उसमें ८ पल दन्तीमूल डालकर १ द्रोण जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर छान लें। इस छने हुए क्वाथ को एक घृत भावित पात्र में रखकर उसका आधा भाग मधु मिलावें एवं उसमें ८ पल (३२ तोला) मिश्री मिलाकर संधानार्थ रख दें। इसी प्रकार दन्तीमूल के स्थान पर भल्लातक- ८ पल डालकर क्वाथ बनावें, इस क्वाथ में आधा भाग मधु एवं ८ पल (३२ तोला) मिश्री डालकर संधान होने के लिए रख दें। इस प्रकार भल्लातकासव का निर्माण हो जाता है। इन दोनों आसवों का प्रयोग पूर्व वर्णित प्रमेहों (कफ पित्तज) एवं पाण्ड्वादि व्याधियों के शमनार्थ करें। ॥४५॥

चक्रपाणि–क्वाथः स एवेति-१ द्रोण जल से ही दन्तीमूल- ८ पल, भल्लातक- ४ पल एवं लोध्रादि द्रव्यों को १-१ कर्ष मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें।

क्षौद्रं च तावदिति–क्वाथ से १/८ भाग, अर्थात् मधु क्वाथ से १/८ भाग डालें, यह अभिप्राय है। ॥४५॥

सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा। सीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही माध्वीकमप्यं चिरसंस्थितं वा ॥४६॥
मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां खादेद्यवानां विविधांश्च भक्ष्यान्। संशोधनारिष्टकषायलेहैः संतर्पणोत्थाञ् शमयेत् प्रमेहान् ॥४७॥
भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगाच्छुष्कांश्च सक्तून् भवन्ति मेहाः। श्वित्रं च कृच्छ्रं कफजं च कुष्ठं तथैव मुद्गामलकप्रयोगान् ॥४८॥

प्रमेह में पेयों का प्रयोग–प्रमेह रोग में अधोलिखित पेय-पदार्थों का प्रयोग करना चाहिये–

१. सारोदक-खदिरसार को जल में उबालकर क्वाथ बनावें, इस जल का प्रयोग प्रमेही करे।

२. कुशोदक (Water boiled with Kusha)

३. मधूदक (Water mixed with Madhu)

४. त्रिफला रस (त्रिफला का क्वाथ अथवा त्रिफला का शीतकषाय)

Scanned by CamScanner

५. सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses अथवा रम)

६. माध्वीक अर्थात् उत्तम गुण युक्त माध्वीक जो काफी दिनों तक रखी गयी हो। अभिप्राय यह है कि आसव या अरिष्ट को जितने अधिक समय तक रखा जाता है उसमें Fermentation (संधान) अधिक होने से गुणवत्ता बढ़ती है।

आहार–सन्तर्पण जन्य हेतुओं से उत्पन्न होने वाले प्रमेह में जाङ्गल पशु-पक्षियों के शूल्य मांस एवं यव निर्मित विविध प्रकार के भक्ष्यों का सेवन करना चाहिये एवं साथ में औषध के रूप में संशोधन प्रयोग, अरिष्ट, क्वाथ एवं अवलेह का उपयोग करें। इनके प्रयोग से संतर्पण जनित प्रमेह शान्त हो जाता है।

भुने हुए यव से निर्मित खाद्य पदार्थों, यथा-रोटी आदि तथा शुष्क सत्तू के प्रयोग से प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, श्वित्र (Leucoderma) एवं कफज कुष्ठ आदि व्याधियाँ नहीं उत्पन्न होती। यही लाभ मुद्ग एवं आमलकी के प्रयोग से भी प्राप्त होता है।

चक्रपाणि–सारोदकमिति-खदिर सार का षडंगपानीय विधि से निर्मित क्वाथ सारोदक कहलाता है, अर्थात् षडंगपानीय विधि से खदिर आदि के सार (Heart wood) द्वारा तैयार जल सारोदक कहलाता है। इसी प्रकार कुशोदक को भी समझना चाहिए। [षडंगपानीय विधि से जल तैयार करने के लिए १ तोले द्रव्य को लेकर ६४ तोले जल में पकाते हैं। अर्ध भाग जल अवशिष्ट रहने पर द्रव को छानकर पृथक् कर लेते हैं। इसी का प्रयोग पान, यवागू आदि के निर्माण में करते हैं।]

मधुना मधुरीकृतमुदकं मधूदकम्–मधु के द्वारा जल को मीठा बनाना, अर्थात् मधु मिश्रित जल मधूदक कहलाता है।

शूल्यानीति–लोहे के सींक से पकाये गये मांस को शूल्य कहा गया है, अर्थात् लोहे के सींक द्वारा भुने हुए मांस।

मृगद्विजानामित्यत्र–से यहाँ जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस का ग्रहण है, क्योंकि यही प्रमेह में यौगिक (उपयोगी) हैं, ऐसा जानना चाहिये।

प्रयोगादिति–मुद्ग एवं आँवले का भी अभ्यास करने से वही गुण (जो यव के सेवन से प्राप्त होते हैं) प्राप्त होते हैं। प्रयोगान्-अभ्यास करने से। ॥४६-४८॥

संतर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः। विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः ॥४९॥

संतर्पणजन्य व्याधियों एवं मेदस्वी पुरुषों की चिकित्सा हेतु मेरे द्वारा जिन योगों का उपदेश संतर्पणीय अध्याय (सू.अ. २३) में किया गया है उन्हीं सिद्ध योगों का प्रयोग कफपित्तज प्रमेह में रूक्षता उत्पादन हेतु करना चाहिए। ॥४९॥

चक्रपाणि–संतर्पणजन्य व्याधियों में प्रयुक्त होने वाले योग (औषध योग) संतर्पणीय अध्याय (सू.अ. २३) में "त्रिफलारग्वधं पाठां" इत्यादि के द्वारा बताये गये हैं। ॥४९॥

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः। सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ॥५०॥

व्यायामादि का प्रमेह में महत्व–विविध प्रकार के व्यायामों के करने से, प्रगाढ़ उबटन के प्रयोग से, विजयसार साधित जल में स्नान अथवा अवगाहन करने से तथा उशीर, त्वक् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), अगरु एवं लालचन्दन के लेप लगाने से व्यक्ति को शीघ्र प्रमेह नहीं होता अथवा विद्यमान प्रमेह शीघ्र ही दूर हो जाता है।

चक्रपाणि–सेव्यग्=उशीर। चन्दनाद्यै इति-से यहाँ 'आदि' शब्द से शैलेयादि प्रलेप का ग्रहण किया गया है। ॥५०॥

विशेष–व्यायामयोगैरित्यादि-विविध प्रकार के व्यायाम व योगों का प्रयोग करना, यथा-पैदल चलना (Fast walking), मल्ल क्रीडा। प्रगाढ़ उबटन।

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धः प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात्। वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥५१॥

कफपित्तज प्रमेह में अपतर्पण का प्रयोग–शारीरिक क्लेद (जलीयांश), मेद एवं कफ की वृद्धि ही प्रमेह का सामान्य कारण है। इसलिये इन हेतुओं का विचार करते हुए वैद्य को सर्वप्रथम कफपित्तज प्रमेह में **अपतर्पण चिकित्सा** करनी चाहिए।

चक्रपाणि–उत्सर्गतः (अपवादरूप) कफपित्तज प्रमेह में अपतर्पण चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए, जिसे यहाँ 'क्लेदश्चेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यद्यपि अपतर्पण हेतुओं द्वारा गुल्मादि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं फिर भी यहाँ (प्रमेह में) अपतर्पण चिकित्सा का प्रयोग उतना ही करना चाहिए जितने से गुल्मादि न उत्पन्न हों तथा बढ़े हुए मेद, क्लेद एवं कफ अपनी सामान्य अवस्था में आ जाँय। इसी को यहाँ 'क्लेदश्च मेदश्च इत्यादि' के द्वारा दर्शाया गया है। ॥५१॥

Scanned by CamScanner

या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्शितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ।।५२।।

जिन वात प्रमेहों की चिकित्सा का निर्देश पूर्व में किया गया है वह चिकित्सा वात प्रधान प्रमेहों की है, वातज प्रमेह की नहीं है । अतिकृश पुरुष में वायु बढ़कर जिन प्रमेहों (वातज प्रमेह) को उत्पन्न करती है, वे असाध्य होते हैं । यहाँ उन असाध्य प्रमेहों का विचार नहीं किया गया है । ।।५२।।

चक्रपाणि–पूर्व सूत्र में (श्लोक नं. ३४ में) "सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु" के द्वारा जिस चिकित्सा का निर्देश है वे वातानुबद्ध (वात से अनुबद्ध अर्थात् कफ या पित्तज प्रमेह जिसमें वात अनुबद्ध हो) प्रमेह के विषय हैं । उसी को यहाँ 'या वातमेहानित्यादि' के द्वारा बताया गया है । पित्तज एवं कफज प्रमेह में वात की उल्बणता होती है, इसी का अभिधान यहाँ-वायुरित्यादि के द्वारा किया गया है ।

असाध्यान् इति–उत्पत्तितः असाध्य, यथा-वातज प्रमेह के ४ भेद-१. मज्जामेह, २. ओजोमेह, ३. वसामेह, ४. लसिकामेह को ।।५२।।

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः । हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ।।५३।।

प्रमेह में निदानपरिवर्जन का निर्देश–जिन-जिन हेतुओं द्वारा जो-जो प्रमेह उत्पन्न होते हैं, उन-उन प्रमेहों में उन-उन हेतुओं का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि हेतुओं का असेवन ही उत्पन्न रोग की चिकित्सा होती है ।

चक्रपाणि–'यैर्हेतुभिरित्यादि' के द्वारा श्लोक में बतायी गयी परिभाषा सभी रोगों पर क्रियान्वित होती है । यहाँ प्रमेह की चिरकालानुबन्धिता के कारण निदान-परिवर्जन का निर्देश दिया गया है । ।।५३।।

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः । यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ।।५४।।

प्रमेह एवं रक्तपित्त में विभेद–विना प्रमेह के पूर्वरूप मिले जो रोगी हारिद्रा वर्ण (हल्दी के वर्ण) तथा रक्त वर्ण का अर्थात् हल्दी के वर्ण युक्त रक्त मिश्रित मूत्र का त्याग करता है, उसे प्रमेह न कहते हुए रक्तपित्त का प्रकोप है, ऐसा कहना चाहिए । अर्थात् वह प्रमेह का रोगी न होकर रक्तपित्त का रोगी है, ऐसा जानना चाहिए ।

चक्रपाणि–संप्रति प्रमेह एवं रक्तपित्त के लक्षणों में साम्यता होने पर रक्तपित्त रोग में प्रमेह की चिकित्सा नहीं होती, ऐसा करते हुए यहाँ प्रमेह से रक्तपित्त के विभेदक लक्षणों को 'हारिद्रवर्णमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । [अभिप्राय यह है कि प्रमेहोत्पत्ति में प्रमेह के पूर्वरूप पाये जाते हैं, अर्थात् मूत्र परीक्षा के साथ-साथ पूर्वरूप के लक्षणों से ही प्रमेह रोग का निश्चय करें ।] ।।५४।।

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद्द्विविधो विचारः । क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् संतर्पणाद्वा कफसंभवः स्यात् ।।५५।।

प्रमेह के वैशिष्ट्य का निश्चय–यदि प्रमेह रोगी का मूत्र-मधुर, पिच्छिल (Slimy) एवं मधु के समान हो तो उसे देखकर चिकित्सक दो प्रकार की संभावनाओं का विचार करता है-१. यह प्रमेह पित्त व कफ के क्षीण होने पर वृद्ध वात युक्त होना चाहिए अर्थात् यह प्रमेह वातिक है ।

२. अथवा सन्तर्पणजन्य कारणों से उत्पन्न होने के कारण कफज होना चाहिए ।

[यह आशंका प्रमेही के मूत्र की मधुरता, पिच्छिलता एवं मधु के सदृश वर्णता को देखकर उत्पन्न होता है ।]

चक्रपाणि–'दृष्ट्वेत्यादि' के द्वारा प्रमेह सम्बन्धी आशङ्का को व्यक्त किया गया है ।

क्षीणेषु दोषेष्विति–कफ मेद आदि धातुओं के क्षीण होने पर । इस प्रमेह के प्रथम प्रकार की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है, जो कफ मेद आदि धातुओं के क्षीण होने पर उत्पन्न होती है । दोषत्वं चेह दूष्ये मेदआदौ अविवक्षितं- 'दोषत्व' से यहाँ दूष्य रूप मेद को पहले नहीं कहा गया है । फिर भी दोष संबन्ध से यहाँ दोष का ही ग्रहण करना चाहिए, अथवा **दोषेष्विति** से कफ पित्त का ग्रहण है । यह संख्या दो होते हुए भी यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है, ऐसा 'दोष' शब्द की विभिन्न व्याख्याओं के कारण किया गया है । यदि यह प्रमेह वातिक हो तब यहाँ हेतु के अभाव होने से कफ की वृद्धि नहीं होनी चाहिए, यह अर्थ होगा । यदि यह प्रमेह संतर्पणजन्य कारणों से उत्पन्न हुआ है तथा कफ की वृद्धि है तब वातकारक निदान के अभाव होने से यह प्रमेह वातज नहीं है, अपितु कफज है यह निश्चय होता है । ।।५५।।

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः । साध्या न ते, पित्तकृतास्तु याप्याः, साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ।।५६।।

प्रमेह की साध्यताऽसाध्यता–अपने पूर्वरूप के साथ कफज व पित्तज प्रमेह तथा क्रमानुसार उत्पन्न वातज प्रमेह साध्य नहीं होते । पित्तज प्रमेह याप्य होते हैं, यदि पित्तज प्रमेह में मेद की अधिक दुष्टि नहीं है तो वह साध्य होता है ।

चक्रपाणि–'स पूर्वरूपा इत्यादि' के द्वारा यहाँ उक्त एवं अनुक्त प्रमेहों की साध्यता, असाध्यता एवं याप्यता को बताया गया है ।

Scanned by CamScanner

सह पूर्वरूपेण ''स्वेदोऽङ्गगन्धः'' इत्यादिना वर्तन्त इति सपूर्वरूपा-'स्वेदोऽङ्गगन्धः' इत्यादि के द्वारा जिन प्रमेह के पूर्वरूपों का उल्लेख पूर्व में किया गया है, का पाया जाना । वहाँ कफज प्रमेह को साध्य बताया गया है । वे कफज प्रमेह यदि पूर्वरूप के साथ उत्पन्न हों अथवा कफज प्रमेह में सभी पूर्वरूपों का विद्यमान होना उसकी असाध्यता को दर्शाता है । पित्तज प्रमेह को याप्य कहा गया है, लेकिन यही पित्तज प्रमेह 'स्वेदोऽङ्गगंध' इत्यादि पूर्वरूप लक्षणों के साथ उत्पन्न होने पर प्रत्याख्येय हो जाता है । व्याधि की साध्यावस्था होते हुए भी पूर्वरूप के योग से यद्यपि सभी रोगों में असाध्यता उत्पन्न हो जाती है । कहा भी गया है, यथा-''अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्'' (इं.अ. ५) इति [ज्वर के अतिरिक्त अन्य रोगों में भी उस व्याधि के सभी पूर्वरूपों का पाया जाना व्याधि की असाध्यता का द्योतक है । अर्थात् जिस रोगी में उस व्याधि के साथ-साथ उसके सभी पूर्वरूप पाये जाते हैं, उस रोगी की मृत्यु निश्चित है ।] इस प्रकार सभी व्याधियों में उनके सभी पूर्वरूपों के मिलने पर व्याधि असाध्य हो जाती हैं, यह कहा गया । यद्यपि यहाँ सम्पूर्ण पूर्वरूपों का अनुबन्ध न होने पर भी प्रमेह असाध्य हो जाता है, ऐसा विशेष वचन के आधार पर निश्चय होता है । उसी क्रम से वातज प्रमेह पूर्वरूप के अभाव होने पर भी असाध्य होता है । **क्रमेण इति**-पूर्व वर्णित निदान के क्रमानुसार-कफज प्रमेह, पित्तज प्रमेह बाद में वातज प्रमेह का उल्लेख किया गया है । इस प्रकार निदानस्थानोक्त हेतुओं के योग से जो ४ प्रकार के वातज प्रमेह उत्पन्न होते हैं, वे असाध्य होते हैं । वे कफज अथवा पित्तज प्रमेह जो वातानुबन्ध से वातज कहे जाते हैं साध्य अथवा याप्य होते हैं । इसलिये उनके प्रति यहाँ 'सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु' के द्वारा चिकित्सा का निर्देश किया गया है । पूर्वरूप रहित पित्तज प्रमेह कदाचित् साध्य भी होता है, इस अपवाद को दर्शाने के लिए उत्सर्गतः पैत्तिक प्रमेह याप्य होता है, यह विवेचन 'पित्तकृतास्तु याप्या इति' के द्वारा किया गया है । अवस्था विशेष से साध्य पित्तज प्रमेहों को 'साध्यास्त्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

न प्रदुष्टमिति-प्रकर्ष दुष्टि का न होना, अविकृत मेद वाला पैत्तिक प्रमेह साध्य होता है, यह अभिप्राय है । अर्थात् जिस पैत्तिक प्रमेह में मेद धातु की अत्यधिक विकृति न हो, वह साध्य होता है । अथवा कफपित्तज प्रमेह भी मेद धातु के अत्यधिक दूषित होने पर असाध्य होते हैं । उसी प्रकार कफज, पित्तज अथवा कफपित्तज प्रमेह जिनमें धातुओं के मूत्र द्वारा क्षय होने से वात की वृद्धि हो जाती है, वे भी पूर्वरूप के विद्यमान होने पर असाध्य होते हैं । जो लोग पूर्वरूप के साथ 'किंयन्तः शिरसीय अध्याय' (सू.अ. १७) में वर्णित प्रमेह (मधुमेह) को प्रमेह की २० संख्या से अतिरिक्त स्वीकार करते हैं उनके अनुसार प्रमेह की संख्या २० है, यह संख्या का नियम स्वीकार नहीं हैं । ॥५६॥

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् । ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रतदन्यसाध्यान् ।।५७।।

असाध्य प्रमेहों के अन्य प्रकार-जातः प्रमेही (जो रोगी जन्मजात प्रमेह रोग से ग्रसित हो) तथा मधुमेह का रोगी; इन दोनों व्याधियों को साध्य नहीं कहा गया है, क्योंकि वह (जातप्रमेह=कुलज प्रमेह) माता-पिता के बीज दोष (शुक्र-शोणित की दुष्टि) से उत्पन्न होता है । इसी प्रकार अन्य कुलज विकारों को भी असाध्य समझना चाहिए अथवा कहना चाहिये । ॥५७॥

चक्रपाणि-'जात इत्यादि' के द्वारा प्रमेहों की असाध्यता के अन्य प्रकार को बताया गया है ।

प्रमेही यः प्रमेहिणो जातः सोऽप्यसाध्यो भवति-जो प्रमेह का रोगी प्रमेही माता-पिता से उत्पन्न होता है वह भी असाध्य होता है । इसी को यहाँ 'जातप्रमेही' कहा गया है । 'स हि बीजदोषात् इति' से यहाँ उसके हेतु को स्पष्ट किया गया है । जिसका अभिप्राय प्रमेहोत्पादक दोष द्वारा माता-पिता के बीज (शुक्र-शोणित) का दूषित होना है । मधुमेह शब्द से यहाँ मेह (प्रमेह) मात्र का ग्रहण किया गया है । यदि वातिक प्रमेह की उपेक्षा कर दी जाय तो ये प्रमेह मधुमेह में बदल जाते हैं । तब वातज प्रमेह से भिन्न प्रमेह युक्त माता-पिता द्वारा उत्पन्न प्रमेही संतान का प्रमेह असाध्य नहीं होना चाहिये । अथवा मधुमेही द्वारा उत्पन्न मधुमेही संतान कारणानुरूप होने से असाध्य होता है । इस प्रकार मधुमेह अथवा मधुमेही जनित मधुमेह साध्य नहीं होता, यही अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त है । इसी कारण से अपत्य में सामान्य प्रमेह शब्द से उसके कारण रूप पिता के कार्यानुरूप प्रमेह को मधुमेह शब्द से कहा गया है । मेह शब्द से सामान्यतः सभी प्रमेहों का ग्रहण होता है । इस प्रकार कियन्तः शिरसीय अध्याय (सू.अ. १७) में जिन पिडकाओं का मधुमेह से सम्बन्ध बताया गया है वे ही यहाँ ''प्रमेहिणां या पिडका'' इत्यादि के द्वारा सामान्य प्रमेह से संबन्धित होने से ग्रहण किये गये हैं । इसलिये मधुमेह शब्द सभी प्रमेहों एवं मधुमेह विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है । यथा-तृण शब्द सभी तृणों तथा तृण विशेष के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । कियन्तः शिरसीय अध्याय (सू.अ. १७) में वर्णित इस विषय का यहाँ विस्तार नहीं किया गया है । अर्थात् इसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है ।

कुलज प्रमेह की असाध्यता का प्रसंग होने से अन्य व्याधियों की असाध्यता को भी यहाँ 'ये चापीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कुलजा इति-पिता, पितामह आदि कारणों द्वारा उत्पन्न व्याधियाँ (Hereditary diseases) । इस प्रकार इस वचन से कुलज प्रमेह की असाध्यता सिद्ध है, फिर भी यह शब्द प्रमेह की संतानानुबन्धित्व को दर्शाने हेतु कहा गया है, यथा-''प्रमेहोऽनुसङ्गिनाम्'' (सू.अ. २५) इति । [साथ लगी रहने वाली व्याधियों में प्रमेह प्रधान व्याधि है ।] ॥५६॥

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त । ताः शल्यविद्भिः कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च ।।५८।।

Scanned by CamScanner

प्रमेही पुरुष में होने वाली ७ (सात) प्रकार की प्रमेह पिडकाओं का वर्णन अलग-अलग मेरे द्वारा पूर्व (सू.अ. १७) में किया जा चुका है। उनकी चिकित्सा कुशल शल्यविद् को शस्त्र, संशोधन एवं रोपण औषधियों के द्वारा करनी चाहिए। ॥५८॥

चक्रपाणि–'प्रमेहिणामित्यादि' के द्वारा यहाँ प्रमेहपिडका के चिकित्सा सूत्र का अभिधान किया गया है।

रोगाधिकारे इति–रोगचतुष्क में; सूत्रस्थान के ४ अध्याय १७, १८, १९ एवं २० को 'रोगचतुष्क' के अन्तर्गत रखा गया है। चूंकि यह विषय शल्यतन्त्र का होने से "अन्याधिकारेषु न विस्तरोक्तिः" (चि.अ. २६) इस वचन से यहाँ विस्तार नहीं किया गया है। अर्थात् अन्य के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप करना उचित नहीं है, ऐसा स्वीकार कर विषय का विस्तार नहीं किया गया है। ॥५८॥

तत्र श्लोकाः–

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यतानुरूपश्च। मेही द्विविधस्त्रिविधं भिषग्जितमतिक्षपणदोषः ॥५९॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्थो मेहापहाः कषायाश्च। तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः ॥६०॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्तनानि गन्धाश्च। मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दिष्टमेतावत् ॥६१॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने प्रमेहचिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६२॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस अध्याय में प्रमेहों के हेतु, दोष, दूष्य, साध्यता, पूर्वरूप, दो प्रकार के प्रमेह, तीन प्रकार की चिकित्सा, अतिक्षपण (अति संशोधन के दोष), आहार के रूप में यव के विविध विकार, मन्थ, प्रमेह नाशक क्वाथ, प्रमेह नाशक तैल, घृत, अवलेह, भक्ष्य योग (Food Preparations), श्रेष्ठ एवं उपयोगी आसव, व्यायाम विधि (methods of exercise), विविध प्रकार के स्नान, उद्वर्तन तथा मेह नाशक सुगन्धित लेपों का विवेचन किया गया है। ॥६१॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में प्रमेहचिकित्सा नामक षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'हेतुरित्यादि' के द्वारा यहाँ अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया गया है। **त्रिविधं भिषग्जितमिति**-प्रमेह नाशक तीन प्रकार की चिकित्सा-१. संशोधन, २. संशमन, ३. निदान परिवर्जन। आद्या इति-भक्षणीय, खाने योग्य। शेष का अर्थ सरल है। ॥५९-६१॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में प्रमेहचिकित्सा नामक षष्ठ अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे कुष्ठचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–निदानस्थान में हविस् (हवनीय द्रव्य-घृत आदि) के प्राश से प्रमेह व कुष्ठ की उत्पत्ति हुई, यह बताया गया है । इसलिये प्रमेह के बाद कुष्ठ चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

हेतुं द्रव्यं लिङ्गं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनं च । शृण्वग्निवेश ! सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम् ।।३।।

विषयारम्भ–भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा-हे अग्निवेश! स्पर्शनेन्द्रिय के विनाशक कुष्ठों के हेतु (Etiology), द्रव्य (दोष तथा दूष्य), लिङ्ग (Signs and Symptoms), आश्रय (Substratum) एवं प्रशमन (चिकित्सा) को विशेष रूप से सुनो–

चक्रपाणि–निदानस्थान में कुष्ठ के हेत्वादि का विवेचन किया गया है फिर भी चिकित्सा का साधन होने से कुछ विशेष प्रतिपादन हेतु उसे पुनः कहा गया है । आश्रय से यहाँ आधार अर्थ लिया गया है ।

प्रशमनं चेति–यहाँ प्रशमन के साथ 'च' कार शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे प्रशमन के साथ-साथ पूर्वरूप व संप्राप्ति का भी ग्रहण किया गया है अथवा लिङ्ग के द्वारा पूर्वरूप तथा हेतु से संप्राप्ति का बोध होता है, ऐसा जानना चाहिए । और भी दूसरे पिप्लु, व्यङ्ग आदि त्वगेन्द्रिय नाशक व्याधियाँ हैं । यहाँ विशेष रूप से उन कुष्ठों के हेत्वादि को बताया जा रहा है जो त्वगेन्द्रिय को विनष्ट करते हैं अथवा १८ प्रकार के कुष्ठ जो विशेष रूप से स्पर्शनेन्द्रिय को नष्ट करते हैं, उनके हेत्वादि को सुनो, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । कहा भी गया है, यथा-**''कुष्ठानि सप्तविधान्यष्टादशविधान्यपरिसंख्येयविधानि च''** (नि.अ. ५) इति [कुष्ठ सात प्रकार के अथवा अट्ठारह प्रकार के अथवा अपरिसंख्येय होते हैं ।] ॥३॥

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च । भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान्प्रतिघ्नताम् ।।४।।
व्यायाममतिसंतापमतिभुक्त्वोपसेविनाम् । शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ।।५।।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् । अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।।६।।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् । माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ।।७।।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा । विप्रान् गुरून् घर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।।८।।

कुष्ठ के निदान (हेतु)–विरोधी अन्न-पान का सेवन, द्रव, स्निग्ध एवं गुरु आहार द्रव्यों का प्रयोग, आये हुए छर्दि के वेगों को रोकना तथा अन्य अधारणीय वेगों को रोकना, भोजन करने के बाद व्यायाम, अति संताप का सेवन करना, शीत, उष्ण एवं लंघन गुण वाले आहार का सेवन क्रम विपरीत करना, घर्म (आतप), श्रम (थकावट-परिश्रमजन्य) एवं भय से युक्त होने पर शीघ्र ही शीतल जल का सेवन, अपक्व भोजन करना, अध्यशन करना (पूर्व भोजन के पाक हुए बिना पुनः भोजन करना), पञ्चकर्म की व्यापत्ति का होना (पञ्चकर्म सम्यक् रूप से न हो पाना), नवीन अन्न, दही, मछली, लवण एवं अम्ल पदार्थों का अत्यधिक सेवन, माष (उड़द), मूलक (मूली), पिष्टान्न (पीठी के पदार्थ), तिल, दूध एवं गुड़ युक्त पदार्थों का प्रयोग, अजीर्ण अवस्था में व्यवाय (मैथुन) करना, दिवाशयन, विप्र एवं गुरुओं को अपमानित करना एवं पाप कर्म करना; ये सभी हेतु कुष्ठ को उत्पन्न करते हैं । ॥४-८॥

चक्रपाणि–आत्रेयभद्रकाप्यीय (सू.अ. २६) अध्याय में ''न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्'' (मछली के साथ दूध का सेवन न करें) के द्वारा विरोधी अन्न-पान का निर्देश किया गया है । शीत, उष्ण द्रव्यों के सेवन का जो क्रम शास्त्र में बताया गया है तद् विपरीत क्रम का सेवन, इसी प्रकार लङ्घन एवं आहार का भी ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् लङ्घन का प्रयोग कब करना है निर्देश के विपरीत प्रयोग करना।

घर्मादिभिरार्तत्वे सति द्रुतमविश्रम्य शीताम्बुसेविनामिति–आतप (धूप) सेवन के बाद बिना कुछ आराम किये शीतल जल का सेवन करना ।

अजीर्णाध्यशिनामिति–अजीर्ण = आम अन्न (जो खाद्य पदार्थ सम्यक् रूप से पका न हो) अर्थात् अपक्व अन्न, ऐसे आहार का सेवन करना ।

अध्यशिनामिति–पूर्व गृहीत आहार का सम्यक् पाक न होने पर भी पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है ।

पञ्चकर्मापचारिणामिति–पंचकर्म कराते समय निषिद्ध आहार-विहार का सेवन करना ।

Scanned by CamScanner

व्यवायं चाप्यजीर्णे इति–विदग्धादि रूप में अथवा अन्न की अजीर्ण अवस्था में मैथुन करना, अर्थात् रात्रि भोजन के १ या २ घण्टे बाद ही मैथुन करना।

पापं कर्म च कुर्वतामिति–पाप कर्म से ही द्विजादिधर्षण (ब्राह्मण आदि के तिरस्कार) का भाव प्राप्त हो जाता है, फिर भी इसका प्रयोग विशेष हेतु को दर्शाने के लिए किया गया है। ॥४-८॥

वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च। दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥९॥
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च। न चैकदोषजं किञ्चित् कुष्ठं समुपलभ्यते ॥१०॥

कुष्ठ में दोष एवं दूष्य–पूर्व कारणों द्वारा वातादि (वात, पित्त एवं कफ) तीनों दोष प्रकुपित होकर त्वक्, रक्त, मांस एवं अम्बु (लसीका) धातु को दूषित कर कुष्ठ को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये सात द्रव्य कुष्ठ की उत्पत्ति में कारण हैं। इन ७ द्रव्यों के विकृत होने पर सात एवं ग्यारह अर्थात् अट्ठारह प्रकार के कुष्ठ उत्पन्न होते हैं। कोई भी कुष्ठ ऐसा नहीं है जो एक दोष से उत्पन्न हो, अर्थात् सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं।

चक्रपाणि–'वातादय इत्यादि' के द्वारा दोष एवं दूष्य के संग्रह को बताया गया है। वातादि से तीनों दोषों का अर्थ सिद्ध होते हुए भी 'त्रय इति' शब्द का प्रयोग सभी कुष्ठों में तीनों ही दोष दूषित होते हैं, के प्रतिपादनार्थ हुआ है।

द्रव्य संग्रह इति–इससे कुष्ठ के आरम्भक कारण का ग्रहण किया गया है, अर्थात् कुष्ठ की संप्राप्ति में ये ७ द्रव्य कारण हैं। यहाँ दोष एवं दूष्य (त्वक्, रक्त, मांस व अम्बु) के कथन से ही सप्तक पद का अर्थ प्राप्त हो जाता है फिर भी 'सप्तक' शब्द का प्रयोग होना 'इन्ही ७ की दुष्टि सभी कुष्ठों में नियम पूर्वक होती है, के प्रतिपादन हेतु किया गया है। यद्यपि विसर्प की उत्पत्ति में यही ७ द्रव्य कारण बताये गये हैं। जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-**"रक्तं लसीका त्वङ्मासं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेया सप्तधातवः"** (चि.अ. २१) इति [३ दोष (वात, पित्त एवं कफ) तथा रक्त, लसीका, त्वक् एवं मांस, (४ दूष्य) दूषित होकर विसर्प को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार विसर्प की उत्पत्ति में ७ धातुओं की विकृति होती है।] फिर भी कुष्ठ चिरक्रिय (देर से उत्पन्न होने वाला) तथा स्थिर दोषों द्वारा उत्पन्न होता है, जबकि विसर्प का स्वभाव विसरणशील होता है। अन्य आचार्य विसर्प को वातादि एक-एक दोषों द्वारा उत्पन्न हुआ स्वीकार करते हैं, अर्थात् विसर्प वातादि दोषों में से एक-एक की विकृति से होता है, ऐसा कहते हैं। कहा भी गया है, यथा-"पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः" (चि.अ. २१) इति [अलग-अलग दोषों से ३, यथा-वातज, पित्तज एवं कफज, तीन दोषों से एक तथा दो-दो दोषों से तीन, यथा-वातपित्तज, पित्तकफज तथा वातकफज, इस प्रकार विसर्प ७ प्रकार के होते हैं।] ऐसा नहीं है, त्रिदोषज होते हुए भी विसर्पों की भी एकदोषज कुष्ठ की तरह दोषजत्व को बताया गया है।

सप्तचैकादशैव चेति–इसका विच्छेद करने पर सप्त से ७ प्रकार के महाकुष्ठों तथा एकादश से ११ प्रकार के क्षुद्र कुष्ठों का बोध होता है। निदानस्थान में क्षुद्र कुष्ठों का अभिधान न होते हुए भी चिकित्सा हेतु उसका अभिधान किया गया है। ॥९-१०॥

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः। कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥११॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः। दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥१२॥

कुष्ठ के पूर्वरूप–स्पर्श का ज्ञान न होना (Anaesthesia), अति स्वेद (Excessive perspiration) अथवा अस्वेद (Absence of perspiration) का होना, त्वचा के वर्ण का बदलना तथा चकत्तों का बनना (उठना) (Discolouration and elevation of the patches in the skin), लोमहर्ष (Horripilation), कण्डू (Itching), तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना का होना), शरीर में थकावट का होना, क्लम (मानसिक थकावट का होना), व्रण भाग में अत्यधिक शूल का होना, व्रणों का शीघ्र उत्पन्न होना एवं देर तक बने रहना, दाह का होना (कुष्ठ प्रभावित भाग में दाह का होना) व अङ्गों में सुप्तता का होना; ये सभी लक्षण कुष्ठ के पूर्वरूप में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–'स्पर्शेत्यादि' के द्वारा कुष्ठ के पूर्वरूप को बतलाया गया है।

न वा स्वेद इति संबन्धः–अथवा स्वेद का न निकलना; कुष्ठ प्रभावित भाग में पसीना अधिक आता है अथवा नहीं आता है। अस्वेद की स्थिति में स्वेदवहस्रोत के मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है तथा अतिस्वेद में अवरोध ही नहीं रहता, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव–व्रणों का शीघ्र उत्पन्न होना एवं देर तक बने रहना। ॥११-१२॥

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकैककुष्ठचर्मदलविकिटिमविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामा-विस्फोटकशतारुर्विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥१३॥
कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु। कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥१४॥
दाहकण्डूरुजारागपरीतं लोमपिञ्जरम्। उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥१५॥
श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम्। कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥१६॥

Scanned by CamScanner

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम् । यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।।१७।।
सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् । सोत्सेधं च सदाहं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।।१८।।
श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति । अलाबूपुष्पवर्णं तत् सिध्मं प्रायेण चोरसि ।।१९।।
यत् काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम् । त्रिदोषलिङ्गं तत् कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।।२०।।

इति सप्तमहाकुष्ठानि ।

अट्ठारह प्रकार के कुष्ठों का विवेचन–अब आगे अट्ठारह प्रकार के कुष्ठों के लक्षणों की व्याख्या करेंगे, यथा-१. कापाल कुष्ठ, २. उदुम्बर कुष्ठ, ३. मण्डल कुष्ठ, ४. ऋष्यजिह्व कुष्ठ, ५. पुण्डरीक, ६. सिध्म कुष्ठ, ७. काकणक कुष्ठ, ८. एक कुष्ठ, ९. चर्माख्य, १०. किटिम, ११. विपादिका, १२. अलसक, १३. दद्रु, १४. चर्मदल, १५. पामा, १६. विस्फोटक, १७. शतारु तथा १८. विचर्चिका ।

१. **कापाल कुष्ठ के लक्षण**–इसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-कृष्ण, अरुण एवं कपाल सदृश कान्ति वाले, रूक्षतायुक्त, परुष (कठोर), तनु (पतला), विषम रूप में फैला हुआ तथा तोद युक्त (कुष्ठ में सूई चुभोने जैसी वेदना तीव्र रूप में होती हो); ऐसे कुष्ठ को कापाल कुष्ठ जानना चाहिए ।

२. **औदुम्बर कुष्ठ के लक्षण**–इस कुष्ठ में प्रभावित भाग में कण्डू (खुजली), दाह (Burning sensation), रुजा (वेदना -Pain), रागयुक्तता (Redness) पायी जाती है । कुष्ठाश्रित भाग में रोम पिङ्गर (कपिल-Brown) वर्ण के हो जाते हैं, कुष्ठ का रंग पक्व उदुम्बर फल के समान होता है, अर्थात् यह कुष्ठ पक्व उदुम्बर फल के सदृश दिखाई देता है ।

३. **मण्डल कुष्ठ के लक्षण**–यह कुष्ठ श्वेत एवं रक्त वर्ण युक्त होता है, स्थिर (न फैलने वाला), स्त्यान (घन), स्निग्ध, कुछ ऊँचा उठा हुआ मण्डलाकार (Circular in shape) होता है एवं कुष्ठ का घेरा एक दूसरे से सटा हुआ होता है । यह कुष्ठ कृच्छ्रसाध्य होता है ।

४. **ऋष्यजिह्व कुष्ठ के लक्षण**–यह कुष्ठ कर्कश (कठोर), कुष्ठ के बाहर का किनारा रक्त वर्ण का एवं अन्तः भाग श्याव (Brown), वेदनायुक्त (Painful) होता है । इसकी आकृति भालू के जिह्वा के सदृश होती है । ऐसे कुष्ठ को ऋष्यजिह्व कुष्ठ कहते हैं ।

५. **पुण्डरीक कुष्ठ के लक्षण**–यह कुष्ठ श्वेत, बाहरी किनारा रक्तवर्ण युक्त, पुण्डरीक दल (रक्तकमल) के समान, उत्सेध युक्त (ऊँचा उठा हुआ) एवं दाहयुक्त होता है ।

६. **सिध्म कुष्ठ के लक्षण**–जो कुष्ठ श्वेत एवं ताम्र वर्ण युक्त, तनु, रगड़ने पर धूल के समान कणों को छोड़ता है, अर्थात् प्रभावित भाग को रगड़ने पर उससे धूल के समान कण निकलते हैं । इसका वर्ण अलाबू (लौकी) के फूल के समान होता है तथा यह कुष्ठ प्रायः छाती के समीप पाया जाता है ।

७. **काकणक कुष्ठ के लक्षण**–जो कुष्ठ घुँघुची (गुञ्जा) के वर्ण के सदृश हो, जिसमें पाक न होता हो, तीव्र वेदना युक्त, तीनों लक्षणों वाले कुष्ठ को काकणक कहते हैं । यह कुष्ठ असाध्य होता है ।

इस प्रकार सात प्रकार के कुष्ठों का विवेचन किया गया है ।

चक्रपाणि–कपालः घटखर्परः -खपड़े की आकृति युक्त । विषमं से दुश्चिकित्स्य अर्थ लिया गया है ।

लोमपिङ्गरमिति–कुष्ठ प्रभावित भाग के रोम कपिल वर्ण के होते हैं । (रोमाणि पिङ्गराणीव यास्मिन् तत् रोमपिङ्गरम्-जिसमें व्यक्ति के रोम पिङ्गर के सदृश हो जाय उसे रोमपिङ्गर कहा जाता है ।)

उत्सन्नमण्डलमिति–मण्डल का ऊँचा उठना ।

ऋष्यः नीलाण्डो हरिणः –ऋष्य से यहाँ नीले अण्ड कोष वाले हरिण का ग्रहण किया गया है ।

ऋष्यजिह्वासंस्थानमिति–ऋष्य के जिह्वा के आकार का ऋष्यजिह्व कुष्ठ होता है । सिध्म कुष्ठ प्रायः छाती के आस-पास होता है, क्योंकि इस कुष्ठ में कफ की प्रधानता होती है । कभी-कभी यह कुष्ठ (सिध्म) अन्य स्थानों पर भी हो सकता है या होता है, यह भाव है । 'काकणन्तिका' से गुञ्जा (रत्ती) का ग्रहण किया गया है । कुष्ठ तो त्रिदोषज होता ही है फिर भी 'त्रिदोषलिङ्गं' शब्द का प्रयोग अत्यधिक रूप से त्रिदोष के लक्षणों के पाये जाने के अर्थ में हुआ है । अर्थात् काकणक कुष्ठ में प्रबल रूप से त्रिदोष के लक्षण मिलते हैं, ऐसा जानना चाहिए । ॥१३-२०॥

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् । तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ।।२१।।
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिमं स्मृतम् । वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ।।२२।।
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् । सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।।२३।।

Scanned by CamScanner

रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत् । तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ।।२४।।
पामा श्वेतारुणश्यावाः कण्डूलाः पिडका भृशम् । स्फोटाः श्वेतारुणाभासो विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।।२५।।
रक्तं श्यावं सदाहार्तिं शतारुः स्याद्बहुव्रणम् । सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका ।।२६।।

इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि ।

११ प्रकार के क्षुद्र कुष्ठों के लक्षण

१. **एककुष्ठ**–कुष्ठ प्रभावित भाग से पसीने का न निकलना, महावास्तु (बड़े स्थान में फैला) हो तथा जिसकी आकृति मछली के त्वचा जैसी हो, ऐसा कुष्ठ एककुष्ठ कहलाता है ।

२. **चर्माख्य**–जो कुष्ठ हाथी के चमड़े जैसा मोटा हो, उसे चर्माख्य कहते हैं । [इस कुष्ठ में व्यक्ति की त्वचा हाथी के चमड़े जैसी मोटी हो जाती है]

३. **किटिम**–जो कुष्ठ श्याव वर्ण वाला, व्रण स्थान की तरह खर (खुरदरा) स्पर्श युक्त एवं कठोर हो उसे किटिम समझना चाहिए ।

४. **विपादिका**–यह एक प्रकार का कुष्ठ होता है इसमें व्यक्ति के हाथ व पैर के तलवे फटने लगते हैं एवं तीव्र वेदना होती है । यह वेदना हाथ व पैर के तलवों के फटने से होती है ।

५. **अलसक**–कण्डू युक्त एवं लाल वर्ण के फोड़ों वाले कुष्ठ को अलसक कहा जाता है । (Alasaka type of Kushtha is characterised by nodular growth associated with excessive itching sensation and redness- Dr. Bhagvandas.)

६. **दद्रुमण्डल**–कण्डू युक्त, रागयुक्त पिडका जिसका उभार मण्डल की तरह हो दद्रुमण्डल कहा जाता है ।

७. **चर्मदल**–इसका वर्ण रक्त, कण्डू युक्त (Itching), स्फोट युक्त तथा वेदना के साथ त्वचा का फटना, स्पर्शासह्यता (Tenderness) युक्त कुष्ठ चर्मदल कहलाता है । It is characterised by redness, Itching, pustulas. pain. cracks in the skin and tenderness.

८. **पामा**–श्वेत, अरुण या श्याव वर्ण की पिडकाओं से युक्त होता है जिसमें भयङ्कर रूप से कण्डू itching) पाया जाता है ।

९. **विस्फोट**–जिस कुष्ठ में पिडिकायें श्वेत अथवा अरुण वर्ण की आभा से युक्त हों एवं इनके ऊपर की त्वचा पतली हो, ऐसे कुष्ठ को विस्फोट कहते हैं ।

१०. **शतारु**–जिस कुष्ठ का वर्ण रक्त एवं श्याव हो, जिसमें दाह अधिक हो, पीड़ा युक्त एवं अनेक व्रणों से युक्त हो, ऐसे कुष्ठ को शतारु कहते हैं ।

११. **विचर्चिका**–कण्डू युक्त, श्याव वर्ण की पिडका तथा जिसमें अत्यधिक स्राव निकलता हो, उसे विचर्चिका कहते हैं ।

इस प्रकार ग्यारह क्षुद्र कुष्ठों के लक्षणों को बताया गया ।

चक्रपाणि–महावास्त्विति महास्थानम्-अधिक जगह (Space) को घेरना, जो कुष्ठ अत्यधिक जगह में फैला हो उसे 'महावास्तु' कहा गया है । यह लक्षण एककुष्ठ में पाया जाता है ।

मत्स्यशकलोपममिति–मछली की त्वचा के सदृश । किणवत् खरः स्पर्शो यस्य तत् किणखरस्पर्शम्-व्रणस्थान की तरह जिसका स्पर्श खर (खुरदरा) हो उसे किणखरस्पर्श कहा गया है । 'किण' से यहाँ व्रणस्थान अर्थ गृहीत है । ॥२१-२६॥

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे । पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात् काकणं तु त्रिदोषजम् ।।२७।।
वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्मणि चाधिके । ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते ।।२८।।
चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिमं सविपादिकम् । कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम् ।।२९।।
पामा शतारुर्विस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा । पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ।।३०।।

कुष्ठ का दोषों से संबन्ध–अधोलिखित कुष्ठों में प्रायः निम्नलिखित दोषों की अधिकता पायी जाती है–

क्रम सं०	कुष्ठों के नाम	प्रबल दोष (Predominant doshas)
१.	कापाल	वात
२.	मण्डल	कफ
३.	उदुम्बर	पित्त

Scanned by CamScanner

४.	काकणक	त्रिदोष
५.	ऋष्यजिह्व	वात-पित्त
६.	पुण्डरीक ⟶	पित्त-कफ
७.	सिध्म ⟶	वात-कफ
८.	चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम, विपादिका एवं अलसक	वात एवं कफ
९.	पामा, शतारु, विस्फोटक, दद्रु एवं चर्मदल	पित्त एवं कफ
१०.	विचर्चिका ⟶	कफ

चक्रपाणि–वात इत्यादि के द्वारा यहाँ चिकित्सार्थ कुष्ठों में बली दोषों का अभिधान किया गया है। **ऋष्यजिह्वादिषु वातपित्ताधिक्यादि यथासंख्यं ज्ञेयम्**-ऋष्यजिह्वादि कुष्ठों में वातपित्त आदि दोषों की अधिकता का ज्ञान निर्दिष्ट संख्या के अनुसार करना चाहिए। ॥२६-३०॥

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां तु बलाबलम्। यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ॥३१॥
दोषस्य यस्य पश्येत् कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम्। तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य ॥३२॥

कुष्ठ रोग का सामान्य चिकित्सा-सूत्र–सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, अतः उसमें दोषों के बलाबल एवं उनके अपने लक्षणों का सम्यक् ज्ञान कर चिकित्सा करनी चाहिए। कुष्ठ में जिन दोषों के विशेष लक्षण बढ़े हुए दिखाई दें, उसके ही शमन का प्रयास पहले करना चाहिए। इसके बाद अप्रधान दोषों की चिकित्सा करनी चाहिए। ॥३१-३२॥

चक्रपाणि–पूर्व वर्णित एक दोषज कुष्ठों से इसकी विरुद्धता नहीं है, इसे यहाँ 'सर्वमित्यादि' के द्वारा बताया है। अर्थात् सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हुए भी उनमें दोषाधिक्यता पायी जाती है जिसके कारण उनके पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं।

त्रिदोषजत्वं सर्वेषु कुष्ठेषु व्यवस्थितमेव–सभी कुष्ठ त्रिदोष से उत्पन्न होते हैं, यह तो व्यवस्थित ही है। दोषों के बलाबल को दृष्टिगत रखते हुए चिकित्सा हेतु 'एकदोषजत्व' आदि का उपदेश किया गया है, यह भाव है। **अनुबन्धस्येति अप्रधानस्य**-अनुबन्ध से यहाँ अप्रधान अर्थ लिया गया है। अर्थात् कुष्ठ में पहले प्रधान दोष की चिकित्सा करनी चाहिए, तत्पश्चात् अप्रधान दोष के प्रशमन का उपाय करना चाहिए। ॥३१-३२॥

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि। ज्ञायन्ते तैर्हेतुर्हेतुस्तांश्च प्रकाशयति ॥३३॥

व्याधि एवं दोषों का सम्बन्ध–कुष्ठ विशेष के लक्षणों द्वारा दोष का एवं दोष विशेष के लक्षणों द्वारा कुष्ठों का ज्ञान करते हैं, क्योंकि लक्षण हेतुओं को एवं हेतु लक्षणों को प्रकाशित करते हैं।

चक्रपाणि–यहाँ दोष विशेष के आधार पर कुष्ठ विशेष को तथा कुष्ठोत्पादक हेतुओं से दोषों के परस्पर संबन्ध को '**कुष्ठविशेषैरित्यादि**' के द्वारा बताया गया है।

कुष्ठविशेषैर्दोषा इति–कापाल आदि कुष्ठ के लक्षणों के द्वारा उनमें विद्यमान बली दोषों का ज्ञान किया जाता है तथा दोषविशेष के ज्ञान से पुनः कुष्ठों का ज्ञान हो जाता है, यथा-यह कुष्ठ वात की अधिकता वाला है, इस कुष्ठ में पित्त की अधिकता है। दोष के ज्ञात हो जाने पर अर्थात् कुष्ठ में दोष विशेष का ज्ञान हो जाने पर कुष्ठों के भेदों (कुष्ठ विशेष) का भी ज्ञान हो जाता है। यथा-यह कुष्ठ वात की अधिकता वाला है, इसलिये यह कापाल कुष्ठ है। पित्त की अधिकता से युक्त होने के कारण यह उदुम्बर कुष्ठ है आदि। जिन कुष्ठों में हेतुओं का ज्ञान नहीं हो पाता उनका ज्ञान दोष विशेष के ज्ञान द्वारा हो जाता है, यथा-कुष्ठ में वात की प्रबलता (वृद्धि) को देखकर (वात वृद्धि के लक्षणों को देखकर) वात प्रधान कुष्ठोत्पादक हेतुओं रूक्ष, विरुद्ध अशन आदि कारणों का ज्ञान करते हैं। हेतुओं द्वारा दोष विशेष से उत्पन्न होने वाले कुष्ठों का ज्ञान करते हैं। जैसे ही व्यक्ति द्वारा वात प्रधान कुष्ठोत्पादक हेतुओं का सेवन किया जाता है वैसे ही उसे वात प्रधान कापाल कुष्ठ उत्पन्न होगा अथवा उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है अथवा कुष्ठ एवं दोष, दोनों ही एक दूसरे का कार्यकारण भाव से ज्ञापक होते हैं। इसे यहाँ 'तैरिति' के द्वारा बताया गया है। **तैः कुष्ठैः कार्यरूपैः हेतुर्नाम दोष अनुमीयते**-कार्यरूप कुष्ठों के अपने लक्षणों द्वारा हेतु रूप दोषों का अनुमान लगाया जाता है। हेतु से यहाँ दोष रूप का ग्रहण किया गया है। उन दोष रूप हेतुओं द्वारा कार्य रूप कुष्ठ विशेष का ज्ञान होता है, यह अभिप्राय है। ॥३३॥

रौक्ष्यं शोषस्तोदः शूलं संकोचनं तथाऽऽयामः। पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥३४॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं, दाहो रागः परिस्रवः पाकः। विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥३५॥
श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं चोत्सेधगौरवस्नेहाः। कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ॥३६॥

Scanned by CamScanner

कुष्ठगत दोष के लक्षण–रूक्षता (Roughness), शोष (dryness), तोद (Piercing pain), शूल, संकोच (Contracture), आयाम (Extension), पारुष्य (कठोरता-Hardness), खरता (खुरदरापन Coarseness), रोमहर्ष (Horripilation), श्याव व अरुण वर्ण का होना; ये लक्षण वात दोष के मिलते हैं ।

दाह (कुष्ठ प्रभावित भाग में दाह का मिलना Burning sensation), राग (Redness-लालिमा का मिलना), स्राव का निकलना (Exudation), पाक की प्रवृत्ति का होना (Suppuration), विस्र गंध (मांस के धोवन सदृश गंध का निकलना-Smelling of raw meat), क्लेद का निकलना (wetness) तथा अंगपतन (Sloughing of limbs); ये लक्षण पित्त दोष के पाये जाते हैं । अर्थात् पित्त प्रधान कुष्ठ में ये लक्षण पाये जाते हैं ।

श्वैत्य (श्वेतवर्णता White colouration), शैत्य (Coldness), कण्डू (Itching), कुष्ठ का स्थिर होना (localization), उत्सेध युक्त होना (कुष्ठ प्रभावित भाग की त्वचा का ऊँचा उठा होना), शरीर में भारीपन (Heaviness), त्वचा (कुष्ठ प्रभावित भाग की त्वचा) का नम होना तथा जन्तुओं द्वारा कुष्ठ का भक्षण करना (Maggots formation); ये लक्षण कफ दोष के पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–कुष्ठगत दोषों के ज्ञान हेतु वातादि दोषों के लक्षणों को यहाँ 'रौक्ष्यमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । 'दाहादय:' से पित्त के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है । ॥३४-३६॥

सर्वैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान् विवर्जयेदबलम् । तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ।।३७।।
वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत् कृच्छ्रम् । कफपित्त-वातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रसाध्यानि ।।३८।।

कुष्ठ की साध्यताऽसाध्यता–१. जिस कुष्ठ में सभी दोषों के लक्षण विद्यमान हों अर्थात् जो कुष्ठ सभी दोषों के लक्षणों से युक्त हो तथा रोगी दुर्बल हो, तृष्णा एवं दाह युक्त हो अर्थात् रोगी को अत्यधिक प्यास के साथ जलन हो, जिसकी अग्नि शान्त हो गयी हो तथा कुष्ठ में कृमि उत्पन्न हो गये हों; बुद्धिमान चिकित्सक ऐसे कुष्ठ रोगी को त्याग दे ।

२. जो कुष्ठ वात-कफ की प्रधानता वाला हो अथवा जो एक दोष की प्रधानता से युक्त हो; ऐसा कुष्ठ कृच्छ्र-साध्य नहीं होता । अर्थात् सुखसाध्य होता है ।

३. जो कुष्ठ वात-पित्त अथवा कफपित्त की प्रबलता से युक्त हो; वह कृच्छ्र-साध्य होता है ।

चक्रपाणि–चिकित्सा की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति हेतु साध्य एवं असाध्य कुष्ठों को 'सर्वैरित्यादि' के द्वारा यहाँ बताया गया है । ॥३७-३८॥

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु । पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ।।३९।।
वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः । प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ।।४०।।
बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् । दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ।।४१।।
स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रक्ते । वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ।।४२।।

कुष्ठ की चिकित्सा–वात प्रधान कुष्ठ में सर्वप्रथम-घृतपान, कफ प्रधान कुष्ठ में वमन तथा पित्त प्रधान कुष्ठ में रक्तमोक्षण एवं विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । कल्पस्थान में वर्णित वमन एवं विरेचन योगों का प्रयोग कुष्ठ रोगी में कराना चाहिए । प्रच्छन का प्रयोग अल्प दोष युक्त कुष्ठ में तथा सिरावेध का प्रयोग अत्यधिक दोष युक्त कुष्ठ में कराना चाहिए अथवा हितकर है । दोषों के अत्यधिक प्रकोप की स्थिति में संशोधन के योग्य कुष्ठ रोगी में उसके प्राणों की रक्षा करते हुए बार-बार संशोधन कराना चाहिए ।

संशोधन के द्वारा दोषों का अधिक निर्हरण हो जाने पर वायु बढ़कर दुर्बल रोगी को शीघ्र ही नष्ट कर देती है । कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर अथवा रक्तमोक्षण के बाद रोगी को स्नेहपान कराना हितकर है, क्योंकि संशोधन द्वारा शुद्ध एवं दुर्बल रोगी के कोष्ठ में वायु शीघ्र ही प्रवेश कर जाती है । ॥३९-४२॥

चक्रपाणि–दोष क्रमानुसार कुष्ठ की चिकित्सा को यहाँ 'वातोत्तरेष्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

अग्रे इति–इस 'अग्र' शब्द को सर्पि आदि के साथ जोड़ना चाहिए । इस प्रकार वात प्रधान कुष्ठ में घृतपान का प्रयोग पहले करना चाहिए, इसके बाद निर्दिष्ट चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

बहुश इति बहून् वारान्–अनेक बार, या बार-बार; अल्प-अल्प मात्रा में दोषों का निर्हरण करते हुए रोगी का शोधन बार-बार करावें । एक ही बार में अत्यधिक दोष निर्हरण करने से रोगी के बल का क्षय हो जाने से उपद्रव होने की संभावना रहती है । इसे यहाँ 'दोषे ह्यतिमात्र हृते' इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

दोषे इति जातावेक वचनम्- 'दोषे' शब्द सप्तमी एकवचन का होते हुए भी द्विवचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इससे यहाँ कफ व पित्त दोनों का ग्रहण होता है ।

Scanned by CamScanner

उससे कफ-पित्त का भी ग्रहण हो जाता है अथवा दोष इति का प्रयोग एक वचन के रूप में हुआ है। इसका अभिप्राय मात्र एक दोष के अति निर्हरण होने पर भी वायु अत्यधिक बढ़कर रोगी को मार डालती है, से है।

कोष्ठे शुद्धे रक्ते प्रवाहिते च स्नेहस्य पानं ज्ञेयम्–(वमन या विरेचन द्वारा) कोष्ठ के शुद्ध होने पर तथा रक्तमोक्षण कराने के बाद रोगी को घृतपान (स्नेहपान) कराना चाहिए। क्योंकि अशुद्ध कोष्ठ में स्नेहपान कराने पर व्याधि की वृद्धि होती है। कहा भी गया है, यथा-"शेषदोषे व्याधिरतिवर्धते" इति। इस प्रकार शोधन के द्वारा शरीर से दूषित दोषों के निकल जाने के कारण शरीर में अवशिष्ट दोष नहीं रहते, अर्थात् शोधन द्वारा शरीर का शोधन हो जाने से सशेषदोषता नहीं रहती। ॥३९-४२॥

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु । कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः ॥४३॥
शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधुकं च वमनानि । कुष्ठेषु त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥४४॥
सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवाश्च सीधूनि । शंसन्त्यथोहराणां यथाविरेकं क्रमश्रेष्ठः ॥४५॥
दार्वीबृहतीसेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः । सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥४६॥
वातोल्बणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य । फलमधुकनिम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम् ॥४७॥
सैन्यवदन्तीमरिचं फणिज्झकः पिप्पली करञ्जफलम् । नस्यं स्यात्सविडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफप्रकोपघ्नम् ॥४८॥
वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैः प्रशाम्यन्ति । कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः ॥४९॥

संशोधनार्थ उपयोगी द्रव्य–ऊर्ध्व भाग के आश्रित कुष्ठों में हृदय प्रदेश में दोषोत्क्लेश होने पर वमन के योग्य रोगी में वमनार्थ कुटजफल, मदनफल एवं यष्टीमधु के चूर्ण को पटोल एवं निम्ब के रस के साथ देना चाहिए अथवा इन्हीं द्रव्यों के शीत रस अथवा पक्वरस के साथ मधु व यष्टीमधु के चूर्ण को वमनार्थ दें। कुष्ठ में विरेचन हेतु त्रिवृत्, दन्ती एवं त्रिफला का प्रयोग करना विशेष उपयोगी है।

अधोभागहर द्रव्यों के आलोडनार्थ अर्थात् विरेचन द्रव्यों को घोलने के लिए सौवीरक (Sour gruel), तुषोदक (यव से निर्मित मद्य), आसव (Alcoholic preparation) तथा विभिन्न प्रकार के सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses शीरे अथवा राब द्वारा तैयार मद्य) का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद उत्तम, मध्यम एवं अवर शुद्धि के अनुसार पेयादि क्रम का पालन करना चाहिए।

कुष्ठ में आस्थापन एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग–दारुहारिद्रा, बृहती (वन भंटा), पटोलमूल, नीम की छाल, मदनफल एवं अमलतास की गुद्दी; इन द्रव्यों का क्वाथ बनावें, क्वाथ में इन्द्रयव एवं मुस्तक के कल्क एवं स्नेह डालकर बस्ति तैयार करें। इस बस्ति का प्रयोग कुष्ठ रोगी में आस्थापन के रूप में करें। अर्थात् यह निरूह बस्ति है। यदि कुष्ठ रोगी में विरेचन एवं निरूह बस्ति के प्रयोग के बाद वात दोष की वृद्धि दिखाई देती है, अर्थात् वात दोष के लक्षण मिलते हैं तब मदनफल, यष्टीमधु, निम्ब की छाल, कुटज व पटोलमूल के क्वाथ एवं कल्क से साधित स्नेह की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

कुष्ठ में नस्य का प्रयोग–कफ प्रधान कुष्ठ में क्रिमि का अनुबन्ध होने पर अथवा शिरोगत कुष्ठों में सैन्धव, दन्ती, कालीमिर्च, फणिज्झक, पिप्पली, करञ्जफल एवं विडङ्ग का प्रयोग नस्य के रूप में करना चाहिए। यह योग क्रिमिकुष्ठ एवं कफ प्रकोप का नाशक है। इसी प्रकार सूत्रस्थान अ. ५ में निर्दिष्ट वैरेचनिक धूमों के प्रयोग द्वारा ऊर्ध्वगाश्रित कृमि, कुष्ठ एवं किलास रोग शान्त हो जाते हैं। ॥४३-४९॥

चक्रपाणि–'कुटजेत्यादि' के द्वारा वमन द्रव्यों को बताया गया है। अर्थात् वमन में उपयोगी द्रव्यों का निर्देश दिया गया है। शीतरसः=शीतकषाय, पटोल व निम्ब के यवकुट चूर्ण को रात भर पानी में भिगो कर रख दें। प्रातः काल मसलकर छान लें। यह द्रव शीतकषाय कहलाता है। इसकी संज्ञा 'हिम' भी है। [शीतरसः अपक्वेन इक्षुरसादिना कृतः सीधुः, पक्वेन च कृतः पक्वरसः' इति-योगीन्द्रनाथ सेन; अपक्वइक्षुरसादि द्वारा निर्मित सीधु शीतरस कहलाता है तथा पक्व इक्षुरसादि द्वारा तैयार मद्य को पक्वरस कहा गया है। Spirituous liquor made from unboiled juice of the sugar-cane-śīta rasa].

यथाविरेकं क्रमश्रेष्ठ इति–शोधन के प्रधान, मध्य एवं अवर शुद्धि को ध्यान में रखते हुए पेयादि का प्रयोग क्रमशः तीन अन्न काल, दो अन्नकाल एवं एक अन्नकाल तक कराना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-"पेयां विलेपीमकृतं कृतंच यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम्। क्रमेण सेवेत् नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः" (सि.अ. १) इति [पेया, विलेपी, 'अकृत यूष, कृतयूष' अकृतमांसरस एवं कृतमांसरस का प्रयोग प्रधान, मध्य एवं अवर शुद्धि वाले व्यक्ति को क्रमशः तीन अन्नकाल, दो अन्नकाल एवं एक अन्नकाल तक कराना चाहिए। अर्थात् प्रधान शुद्धि वाले व्यक्ति को तीन अन्नकाल तक पेया, तीन अन्नकाल तक विलेपी, तीन अन्नकाल तक अकृत व कृत यूष तथा तीन अन्नकाल तक अकृत व कृत मांसरस का प्रयोग करें] यहाँ आस्थापन एवं अनुवासन बस्तियों के प्रयोग का निर्देश है जबकि "नास्थाप्याः कुष्ठिनः" (सि.अ. २) इत्यादि सूत्र से आस्थापन बस्ति का प्रयोग निषिद्ध किया गया है। इसका अभिप्राय यहाँ आस्थापन एवं अनुवासन द्वारा साध्य होने वाले कुष्ठों में इसका प्रयोग विहित है। अर्थात् अवस्था विशेष में ही इसका प्रयोग अपेक्षित है। कहा भी गया है, यथा-**"प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे तु गुरुलाघवं संप्रधार्य सम्यगध्यवस्येत्"** (वि.अ. ८) इति [व्याधि में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के लक्षण संयुक्त

Scanned by CamScanner

रूप से मिलने पर उसकी गुरुता एवं लघुता का सम्यक् विचार कर एक निश्चय पर पहुँचना चाहिए। उसी को यहाँ 'वातोल्बणमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। सूत्रस्थान अ. ५ में यद्यपि एक ही वैरेचनिक धूम का उल्लेख किया गया है फिर भी वहाँ निर्दिष्ट द्रव्यों के व्यस्त एवं समस्त रूप में प्रयोग से अनेक धूम हो जाते हैं अर्थात् धूम के अनेक योग बन जाते हैं। इसलिये यहाँ धूमैः (बहुवचन) शब्द का प्रयोग किया गया है। ॥४३-४९॥

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः। कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ॥५०॥
आनूपवारिजानां मांसाना पोट्टलैः सुखोष्णैश्च। स्विन्नोत्सन्नं विलिखेत् कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥५१॥
रुधिरागमार्थमथवा शृङ्गालाबूनि योजयेत् कुष्ठे। प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ॥५२॥
ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम्। संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम् ॥५३॥

कुष्ठ में रक्तमोक्षण का प्रयोग–स्थिर (stable), कठिन (Hard) एवं गोल चकते वाले कुष्ठ में प्रस्तर एवं नाडी आदि के द्वारा स्वेदन करें, इसके बाद कूर्ची द्वारा उसे रगड़कर कुष्ठ की कठिनता को दूर करें जिससे वहाँ रक्त का रिसाव होने लगे। इस प्रकार रक्त को उत्क्लेशित कर निकाल दें। तत्पश्चात् आनूप एवं औदक पशु-पक्षियों के मांस की पोट्टली द्वारा सुखोष्ण स्वेदन करें, पश्चात् सम्यक् स्वेदनोपरान्त तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा रक्त निर्हरणार्थ लेखन करें अथवा खुरचें, जिससे रक्त का स्राव हो अथवा कुष्ठ में दोषों की अल्प दुष्टि का विचार कर शृंग एवं अलाबू अथवा जोंक (जलौकावचरण) लगाकर रक्त का विरेचन करावें।

आशय के शोधन (वमन-विरेचन द्वारा शुद्धि) एवं दूषित रक्त के निर्हरण के बाद जो कुष्ठघ्न लेप कुष्ठ रोग में प्रयोग किये जाते हैं, उनके प्रयोग से तत्काल सफलता मिलती है। अर्थात् प्रयुक्त लेप तत्काल लाभ दर्शाते हैं। ॥५०-५३॥

चक्रपाणि-नाड्येव नाडी स्वेदाध्याये उक्ताः –नली (Tube) के आकार की रचना को ही नाडी कहा गया है। इसका विवेचन स्वेदाध्याय (सू.अ. १४) में किया गया है। कूर्च-ब्रश, शस्त्र विशेष को कहा गया है।

रक्तोत्क्लेशः उत्क्लिष्टं रक्तम्–उत्क्लेशित रक्त, कूची (Brush) के द्वारा कुष्ठ को खुरचकर साफ कर देने से जब रक्त का स्राव होने लगता है, तब इस अवस्था को रक्तोत्क्लेश की अवस्था कहते हैं।

स्विन्नत्वेनोत्सन्नं स्विन्नोत्सन्नम्–स्विन्न होने से उत्सन्न होना (नष्ट होना) स्विन्नोत्सन्न कहा गया है।

विलिखेदिति योजना–विशेष प्रकार से खुरचना चाहिए, सम्यक् रूप से स्वेदित एवं उत्सन्न (नष्ट हुये) कुष्ठ को रुधिर के आगमन हेतु तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा विशेष रूप से खुरचना चाहिए। **निर्हृतोऽस्रदोषो येषां ते निर्हृतास्रदोषाः** -जिस कुष्ठ रोगी के दूषित रक्त को निकाल दिया गया है वह निर्हृतास्रदोष वाला कहा जाता है। ॥५०-५३॥

जल्पकल्पतरु व्याख्या–'ये लेपा इत्यादि' के द्वारा लेपों को बताया गया है। 'निर्हृतास्रदोषाणां' से जिन पुरुषों में रक्तजन्य दोष एवं वातपित्त व कफ जनित दोषों का निर्हरण हो गया है उनमें कुष्ठघ्न लेपों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थ लिया गया है। तेषां का अर्थ यहाँ जिन पुरुषों के आशय (कोष्ठ) वमन व विरेचन द्वारा शुद्ध कर लिये गये हैं, से है। शुद्ध आशय वाले रोगी में ही लेप के प्रयोग से तत्काल सफलता मिलती है, न कि अनिर्हरित रक्त दोषों में ऐसा होता है। ॥५०-५३॥

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः। तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥५४॥
पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च। पीतागदस्य कार्यो विधैः प्रदेहोऽगदैश्चानुः ॥५५॥
स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि। कूर्चैर्दन्तीत्रिवृताकरवीरकरञ्जकुटजानाम् ॥५६॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा। घृष्टानि गोमयैर्वा ततः प्रदेहैः प्रदेह्यानि ॥५७॥

क्षार प्रयोग–जिन कुष्ठों में शस्त्र का प्रयोग निषिद्ध है, अथवा शस्त्र का प्रयोग नहीं किया जा सकता हो, स्पर्शनेन्द्रिय नष्ट हो गयी हो अर्थात् स्पर्शज्ञान का अभाव हो उन कुष्ठों में रक्तस्राव एवं कोष्ठशुद्धि कराने के बाद क्षार लगाना चाहिये।

अगद प्रयोग–जिस कुष्ठ में चकते पत्थर के समान कठिन (Hard) एवं खुरदरे हों, त्वचा में स्पर्श ज्ञान का अभाव हो (कुष्ठ प्रभावित त्वचा), कुष्ठ स्थिर एवं जीर्ण (chronic) हो; ऐसे कुष्ठ रोगी में विषघ्न औषधियों को पिलाना चाहिए, तत्पश्चात् विषनाशक लेपों का प्रयोग करें।

जिस कुष्ठ में स्तब्धता, शून्यता (Numbness), पसीने का न निकलना, कण्डू (Itching) आदि लक्षणों की अधिकता हो उनमें कूर्च के द्वारा अथवा दन्ती, त्रिवृत, करवीर, करञ्ज, कुटज, जाती, अर्क व निम्ब अथवा समुद्रफेन अथवा गोबर के द्वारा घिसकर प्रदेह (ointments) लगावें।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–न शस्त्रं क्रमत इति-सिरा आदि कट जाने की संभावना होने से शस्त्र कर्म करना जहाँ उपयोगी नहीं है।

स्पर्शेन्द्रियनाशनानीति–जिन कुष्ठों में स्पर्शेन्द्रिय नष्ट हो गयी हो। **सुप्तसुप्तानीति**-सुप्तवत् सुप्तानि अचेतनानि, सर्वथा स्पर्शाज्ञानीत्यर्थः -सुप्त की तरह त्वचा में शून्यता का उत्पन्न होना अर्थात् त्वचा में चेतना का न होना यह अभिप्राय है। ॥५४-५७॥

मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं पित्तकुष्ठिनां कार्यम्। कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनं च ॥५८॥
सर्पीषि तिक्तकानि च यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् कर्म। बाह्याभ्यन्तरमघ्यं तत् कार्यं पित्तकुष्ठेषु ॥५९॥

पैत्तिक कुष्ठ की चिकित्सा (Treatment of Paittika Kushṭha)–पैत्तिक कुष्ठ में पूर्व वर्णित वात कफ एवं कुष्ठनाशक उपक्रमों को करना चाहिए। कफ पित्त एवं रक्त दोष हर चिकित्सा, यथा कफ-वमन, पित्त-विरेचन, रक्त-रक्तविस्रावण तथा तिक्त व कषाय द्रव्यों द्वारा प्रशमन चिकित्सा का प्रयोग कर कुष्ठ का प्रशमन करना चाहिए। तिक्त घृतों का प्रयोग तथा रक्तपित्त नाशक अन्य श्रेष्ठ योग जो रक्तपित्त चिकित्सा में निर्दिष्ट हैं, उनका प्रयोग बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप में पित्तकुष्ठ की चिकित्सा में करना चाहिए।

चक्रपाणि–तिक्त घृतों में-तिक्तषट्पलादि घृत की गणना की गयी है, का प्रयोग करना चाहिए। पित्तकुष्ठ की चिकित्सा में कफ, पित्त एवं रक्तदोष नाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। ॥५८-५९॥

दोषाधिक्यविभागादित्येतत् कर्म कुष्ठनुत् प्रोक्तम्। वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात् ॥६०॥
दार्वी रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम्। अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला ॥६१॥
मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः पृथक् पलांशं त्रिफलात्वचश्च। स्यात्त्रायमाणा कटुरोहिणी च भागार्धिका नागरपादयुक्ता ॥६२॥
पलं तथैषां सह चूर्णितानां जले शृतं दोषहरं पिबेन्ना। जीर्णे रसैर्धन्वमृगद्विजानां पुराणशाल्योदनमाददीत ॥६३॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च। षड्रात्रयोगेन निहन्ति चैष हृद्वस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥६४॥

इस प्रकार दोषाधिक्य के आधार पर कुष्ठनाशक कर्मों को बताया गया। अब आगे प्रायः त्वक् दोष सामान्य से उत्पन्न होने वाले कुष्ठों के प्रशमनार्थ योगों को बताया जा रहा है–

कुष्ठघ्न तीन योग–१. दार्वी (दारुहरिद्रा) कल्क या चूर्ण का प्रयोग गोमूत्र के साथ, २. रसाञ्जन का प्रयोग गोमूत्र के साथ, ३. अथवा-सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, गुड़ व तिल तैल के साथ हरड़ का प्रयोग एक मास (one month) तक करना ये तीन योग कुष्ठघ्न होते हैं।

पटोलादि क्वाथ का प्रयोग–पटोलमूल (परवल की जड़), गवाक्षी (गवाक्षी मूल-इन्द्रायण मूल), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला); प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोला), त्रायमाण एवं कुटकी क्रमशः ६-६ शाण, सोंठ (शुण्ठी) -४ शाण। इन सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण की १ पल (४ तोले) मात्रा लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें। इस क्वाथ का पान कुष्ठ रोगी करे। क्वाथ (औषधि) के जीर्ण हो जाने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ पुराने शाली चावल का भात रोगी को खाने के लिए दें। इस योग (क्वाथ) के ६ रात्रि (६ दिन) तक सेवन करने पर कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), शोफ (Oedema), ग्रहणी दोष (Sprue syndrome), अर्श (Piles), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), हलीमक (कामला का एक विशेष भेद), हृदय एवं बस्ति प्रदेश में शूल, तथा विषमज्वर (Irregular fever) प्रशमित हो जाते हैं। अर्थात् पटोलादि क्वाथ ६ दिन में ही इन व्याधियों को दूर कर देता है।

चक्रपाणि–दार्वी=दारुहरिद्रा (दारुहल्दी)। **रसाञ्जनं दार्वीक्वाथकृतम्**-रसाञ्जन का निर्माण दारुहल्दी के क्वाथ द्वारा किया जाता है। गुड़ व तैल को एक में मिलाकर प्रयोग करना निदान प्रकरण (कुष्ठनिदान) में कुष्ठोत्पादक बताया गया है, फिर भी इन दोनों (गुड़ व तिल तैल) का अभया (हरीतकी) के साथ प्रयोग संयोग प्रभाव से कुष्ठघ्न होता है।

मूलं पटोलस्येति पटोलमूलम्–पटोल (परवल या पटोरा) के मूल को पटोलमूल कहते हैं। उसी प्रकार गवाक्षी के भी मूल को ही ग्रहण करना चाहिये। 'पलांशं' से यहाँ एक पल (४ तोले) मात्रा का ग्रहण किया गया है।

त्रिफला त्वचश्च प्रत्येकं पलांशाः–त्रिफला के घटक द्रव्यों की अलग-अलग मात्रा १-१ पल होनी चाहिये। यद्यपि कल्याणक घृत में वर्णित 'अष्टविंशति' पद के द्वारा त्रिफला के प्रत्येक भाग को सर्वत्र व्यवस्थापित कर दिया गया है, फिर भी उसी विषय को स्पष्ट करने के लिए पुनः 'पृथक्' शब्द का प्रयोग किया गया है।

किंवा त्रायमाणायाः कटुरोहिण्याश्च पृथग्भागार्धिकत्वं दर्शयति–अथवा त्रायमाणा एवं कटु रोहिणी की मिश्रित रूप से निर्धारित मात्रा १ पल का आधा (२ तोला) ग्रहण करना चाहिए तथा शेष भाग शुण्ठी मिलाना चाहिए। पृथक् शब्द का यहाँ प्रयोग प्रसंगानुसार त्रिफला के लिए आया है। यदि पूरे योग का ग्रहण ६ पल मात्रा में करना हो तब इस योग के घटक द्रव्यों की मात्रा-पटोलमूल- १ पल, गवाक्षी (इन्द्रायण) मूल- १ पल, हरड़- १ पल, बहेड़ा- १ पल, आँवला- १ पल, त्रायमाणा- ६ शाण, कटुरोहिणी- ६ शाण, शुण्ठी- ४ शाण (कुल १६ शाण का १ पल होता है।); इस प्रकार यहाँ त्रायमाणा, कटुरोहिणी एवं शुण्ठी की संयुक्त मात्रा १ पल होती है।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार सोंठ की मात्रा दोनों के अर्ध भाग की पूरक होने से अर्ध पल की तुलना में १ पल का १ पाद (४ शाण) होता है। इस प्रकार क्वाथ्य द्रव्यों का निर्माण ६ पल मात्रा में करें। पीने के लिए १ पल चूर्ण को लेकर क्वाथ बनावें। इस प्रकार इस योग का प्रयोग कुल ६ दिन करना चाहिए। ६ दिन के पान से ही प्राय: कुष्ठ का नाश हो जाता है। इस व्याख्यान के पक्ष में अन्य तन्त्रों के विचारों का उल्लेख किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में **आचार्य अग्निवेश** के विचार इस प्रकार है-पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलोन्मिता। पलार्धं त्रायमाणा च तथा कटुरोहिणी ॥ कर्षार्धं नागरं दत्त्वा षट्पलान्यवचूर्णयेत्। जले शृतं पिबेत् कोष्णं चूर्णस्यात्र पलं पलम् ॥" इत्यादि [पटोल मूल- १ पल, हरड़- १ पल, बहेड़ा- १ पल, आँवला- १ पल, विशाला- १ पल, त्रायमाणा- अर्ध पल, कटुरोहिणी- अर्धपल तथा शुण्ठी अर्ध कर्ष मात्रा में लेकर इन ६ पल द्रव्यों को चूर्ण बना लें। १ पल चूर्ण का क्वाथ बनावें। इस क्वाथ की मात्रा १ पल रखें। यही १ पल क्वाथ का प्रयोग पीने के लिए करें।] **चक्षुष्य** के द्वारा भी यही कहा गया है, यथा- "पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलांशिका। कटुका त्रायमाणा च पलार्धा पादनागरा ॥ तस्मात् षड्भागमुत्क्वाथ्य जले दोषहरं पिबेत्" इति

अन्य आचार्यों के अनुसार-पलांश शब्द से कर्ष का ग्रहण करते हैं, इस आधार पर पटोलमूल- १ कर्ष, गवाक्षीमूल- १ कर्ष, त्रिफला (संयुक्त रूप में)- १ कर्ष, त्रायमाणा ३/८ कर्ष, कटु रोहिणी ३/८ कर्ष तथा शुण्ठी- १/४ कर्ष मात्रा में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सभी द्रव्य संयुक्त रूप में १ पल ग्रहण करें। इसे चूर्ण कर क्वाथ बनावें एवं इस क्वाथ को कुष्ठ रोगी पान करें। लेकिन तन्त्रान्तर विरोध एवं समुदाय रूप में त्रिफला की मात्रा का प्रयोग न्याय सिद्ध न होने से इस मात्रा को स्वीकार करना उचित नहीं है। आचार्य जतूकर्ण भी इसे स्वीकार नहीं करते, यथा-"पटोलमूलत्रिफलागवाक्षीत्रिवृतापलै:। त्रायन्ती कटुका द्वाभ्यां कृत्वानागरपादिकम् ॥ चूर्णं पलं पिबेत्तस्माच्चृतं जीर्णे रसान्नभुग्" इत्यादि। जीर्णे=क्वाथ के पाक हो जाने पर अर्थात् क्वाथ के पच जाने पर। [यह योग एक विरेचक योग है, चूकि विरेचन के बाद सामान्य परिभाषा के अनुसार पेयादि संसर्जन क्रम का विधान होना चाहिए।] विरेचन हो जाने के बाद यहाँ मांसरस के साथ शाली चावल का भात विशेष उपयोगी होने के कारण निर्दिष्ट है। अष्टांग संग्रह कुष्ठचिकित्सा में वर्णित आवर्तकीघृत द्वारा विरिक्त पुरुष को काँजी के साथ कोदो के भात को खिलाने का विधान है, तद्वत यहाँ भी निर्देश है। **धन्वमृगद्विजानां रसै:** -जाङ्गल-पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल का भात खाने को दें।

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूल्यौ द्वे। सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशालश्चित्रको मूर्वा ।।६५।।
चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वाज्यम्। सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत् प्रायोगिकं भक्ष्यम् ।।६६।।
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि। ब्रध्नभगन्दरपिडकाकण्डूकोठांश्च विनिहन्ति ।।६७।।

इति मुस्तादिचूर्णम्।

त्रिफलातिविषाकटुकानिम्वकलिङ्गकवचापटोलानाम्। मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्वाविशालानाम् ।।६८।।
भूनिम्बपलाशानां दद्याद्विपलं ततस्त्रिवृद्दिगुणा। तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत् परमम् ।।६९।।

मुस्तादि चूर्ण-मुस्तक (मोथा), व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), मञ्जिष्ठा, देवदारु, दोनों प्रकार के पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी के मूल; तथा लघु पञ्चमूल-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू इनके पञ्चांग), सप्तच्छद (सप्तपर्णी की छाल), नीम की छाल, इन्द्रायण मूल, चित्रक मूल एवं मूर्वा; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। १ भाग मुस्तादि चूर्ण में ९ भाग सत्तू मिलाकर, मधु व घृत के साथ मिश्रित कर कुष्ठ रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। यह सिद्ध कुष्ठनाशक योग नित्य प्रयोग करने वाला भक्ष्य है। इस योग के प्रयोग से श्वयथु (शोथ-oedema), पाण्डु (Anaemia, श्वित्र (Leucoderma), ग्रहणीदोष, अर्श (Piles), ब्रध्न (Hernia), भगन्दर (Fistula), पिडका (Boils), कण्डू (Itching) व कोठ (Urticaria) जैसी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

त्रिफलादि चूर्ण-हरड़, बहेड़ा, आँवला, अतिविषा, कुटकी, नीम, कलिङ्ग (इन्द्रयव), वचा, पटोलमूल, पिप्पली, रजनी (हल्दी), दारुहारिद्रा, पद्मक, मूर्वा, इन्द्रायणमूल, भूनिम्ब (चिरायता) एवं पलाश; प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लें (१७ द्रव्यों की संयुक्त मात्रा ३४ पल हुई।), त्रिवृत्- ६८ पल एवं ब्राह्मी- १३६ पल लेकर सभी द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण कर लें। यह चूर्ण त्वचा की शून्यता (Numbness of the skin) वाले कुष्ठ में अत्यन्त उपयोगी है। ॥६५-६९॥

चक्रपाणि-तर्पणभागैरिति-१ भाग मुस्तादि चूर्ण में नव भाग सक्तु मिलाकर, घृत व मधु मिश्रित करके सेवन करें। **प्रायोगिकमिति**-सतत् उपयोग में आने योग्य, अर्थात् नित्य सेवन करने योग्य। कुछ आचार्य त्रिफलादि चूर्ण के पाठ को नहीं पढ़ते हैं। अर्थात् यह योग प्रक्षिप्त है। ॥६५-६९॥

लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः। सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ।।७०।।
श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा। सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ।।७१।।
वज्रशिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन। सर्वव्याधिप्रशमनमद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ।।७२।।

Scanned by CamScanner

कुष्ठनाशक योग-१. लेलीतक (आँवलासार गन्धक Sulphur) का प्रयोग जाती स्वरस के साथ मधु मिलाकर, करने से (आभ्यन्तर सेवन करने से) १७ प्रकार के कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। यह योग परम् कुष्ठघ्न योग है। २. स्वर्णमाक्षिक चूर्ण का प्रयोग गोमूत्र के साथ करना। ३. आँवलासार गन्धक अथवा स्वर्णमाक्षिक चूर्ण का प्रयोग जातीस्वरस के साथ कुष्ठ रोगी करे। यह योग सभी व्याधियों का नाशक है। ४. वज्रशिलाजतु के साथ जाती स्वरस का प्रयोग। ५. योगराज के साथ जाती स्वरस का प्रयोग।

इन योगों का सेवन कुष्ठ रोगी को नित्य करना चाहिये। इनके प्रयोग से सभी व्याधियों का नाश होता है। लेलीतक के स्थान पर पाठ भेद से 'नवनीतक' का ग्रहण किया गया है।

चक्रपाणि-लेलीतकः पाषाणभेद औत्तरापथिकः-लेलीतक एक प्रकार का पत्थर है जो औत्तरापथिक (हिमालय क्षेत्र) में पाया जाता है। निघण्टुओं में कहा भी गया है, यथा- "आसीद्दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः। योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ विष्णुचक्रेण संच्छिन्नो पपात् धरणीतले। वसा तस्य समाख्याता लेलीह(त)क इति क्षितौ" [पुराने समय में अत्यधिक शक्तिशाली, लम्बी भुजाओं वाला लेलीहान नामक दैत्य था। इसका शरीर ३३ योजन तक फैला हुआ था, अपने पापों के कारण वह भगवान् विष्णु के चक्र द्वारा मारा गया एवं उसका शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा। पृथ्वी पर उसी की वसा को लैलीतक नाम दिया गया।]

जात्या इति-आँवले का स्वरस। यहाँ जाती से आमलकी अर्थ लिया गया है। [लेलीतक से आमलासार गन्धक का ग्रहण किया गया है।] ॥७०-७२॥

खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद्रसेन तोयार्थः। क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपलिके च ॥७३॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽमूनि। त्रिफलैले त्वङ्मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम् ॥७४॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे। मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः ॥७५॥

इति मध्वासवः।

मध्वासव का प्रयोग-खदिर, देवदारु; इन द्रव्यों के काष्ठसार ८-८ पल लेकर विधिवत क्वाथ बनावें। उस क्वाथ में १ प्रस्थ मधु, ८ पल लौह चूर्ण मिलावें तथा हरड़, बहेड़ा, आँवला, छोटी इलायची, तेजपत्र, कालीमिर्च, दालचीनी (त्वक्) व नागकेशर प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लेकर चूर्ण करके क्वाथ में मिला लें। अब इस चूर्ण मिश्रित क्वाथ में मधु के मान के बराबर मत्स्यण्डिका (राब अथवा चीनी) मिलावें और इसे लौह पात्र में रखकर संधान हेतु एक महीने के लिए रख दें। एक महीने के बाद इसे छानकर बोतलों में भरकर रख लें। इस मध्वासव का प्रयोग करने से कुष्ठ एवं किलास का प्रशमन होता है। ॥७३-७५॥

चक्रपाणि-कार्ये ते चाष्टपलिके इति-खदिरसार एवं देवदारुसार की मात्रा अलग-अलग ८-८ पल ग्रहण करें। कनक से यहाँ नागकेशर का ग्रहण किया गया है। ॥७३-७५॥

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य। द्रव्याणि चूर्णितानि च षट्पलिकान्यत्र देयानि ॥७६॥
त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः। सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम् ॥७७॥
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत्ततो युक्त्या। मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण ॥७८॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च। ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकविन्दुम् ॥८१॥

इति कनकविन्द्वरिष्टम्।

कनकबिन्द्वरिष्ट-खदिर का क्वाथ- १ द्रोण लेकर घृत भावित घड़े में रखें, उसमें त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), सोंठ, कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, वायविडङ्ग, हल्दी, मुस्तक, वासा (अडूसा), इन्द्रयव, सौवर्णीत्वक् (दारुहल्दी) एवं छिन्नरुहा (गुडूची); प्रत्येक द्रव्यों के चूर्ण ६-६ पल मात्रा में मिलावें। पुनः घड़े के मुख को बन्द कर एक मास के लिए संधानार्थ धान्य की राशि में गाड़ दें। एक माह के पश्चात् सम्यक् संधान हो जाने पर इसे निकालकर, छान लें एवं बोतलों में भरकर सुरक्षित कर लें। इस अरिष्ट को युक्तिपूर्वक केवल प्रातःकाल पीने से महाकुष्ठ एक महीने में एवं क्षुद्र कुष्ठ (अल्प कुष्ठ) १५ दिन में ठीक हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह अर्श (Piles), श्वास (asthma), भगन्दर (Fistula), कास (Cough), किलास (Leucoderma), प्रमेह (Urinary disorders including diabetes) तथा शोष को भी दूर करता है। इसके सेवन से पुरुष सुवर्ण के समान कान्तियुक्त हो जाता है।

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथाऽपि पैत्तेषु। कृतमालकाथश्चाप्येष विशेषात् कफकृतेषु ॥८०॥

इसी प्रकार वात कफज तथा पित्तज कुष्ठ में अमलतास के क्वाथ में पूर्वोक्त प्रक्षेप द्रव्यों को डालकर अरिष्ट का निर्माण करें एवं इसका प्रयोग करें। इस अरिष्ट का प्रयोग विशेष रूप से कफज कुष्ठ में करना चाहिए। ॥८०॥

चक्रपाणि-कनकबिन्दु अरिष्ट (अथवा अन्य किसी भी प्रकार के अरिष्ट) का निर्माण मधु व शर्करा के प्रयोग के बिना संभव नहीं है। इसलिए इनका प्रयोग पूर्व आसव (मध्वासव) की मात्रा के अनुसार यहाँ भी करना चाहिए। सौवर्णीत्वक्=दारुहारिद्रा त्वक्। (सौवर्णीत्वक् से आरग्वध का ग्रहण योगीन्द्रनाथसेन करते हैं।) कुछ आचार्य कनकविन्दु के पाठ के बाद मध्वासव का पाठ करते हैं। ॥८०॥

Scanned by CamScanner

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रकः कुष्ठरोगविनिहन्ता । क्रमुकदशमूलदन्तीवराङ्गमधुयोगसंयुक्तः ।।८१।।

त्रिफला क्वाथ, गुड़, चित्रक, क्रमुक (पूगा), दशमूल, दन्ती, दालचीनी एवं मधु द्वारा निर्मित **त्रिफलासव** का प्रयोग कुष्ठ रोग में करना चाहिये । यह योग कुष्ठघ्न होता है ।

चक्रपाणि–त्रिफलासव में **गौड इति** से शर्करा के स्थान पर गुड़ का प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है । **क्रमुकं ह्रस्वपूगफलं**- छोटी सुपारी का फल । वराङ्ग से गुडत्वक् अर्थात् दालचीनी का ग्रहण है । यहाँ त्रिफला आदि द्रव्यों के मान का निर्देश न होते हुए भी अन्य आसवों में वर्णित द्रव्यों के मान के अनुसार इन द्रव्यों के भी मान का ग्रहण करना चाहिए । ।।८१।।

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात् कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि । भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव ।।८२।।
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः । शस्ता, न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च ।।८३।।

कुष्ठ में सेवनीय आहार–लघु एवं हितकर (पथ्य) अन्न, तिक्तरस युक्त शाक, भल्लातक, त्रिफला एवं निम्ब से युक्त खाद्य पदार्थ एवं इन्हीं द्रव्यों से साधित घृत, पुराने धान्य, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस, मुद्ग (मूंग की दाल), परवल के शाक (सब्जी) अथवा भुरता (चोखा) का प्रयोग कुष्ठ में हितकर है । अथवा मुद्ग की दाल के साथ पटोल (परवल) को मिलाकर उपयोग में लावें ।

त्याज्य आहार–गुरु अन्न (जो अन्न पचने में भारी हों), अम्लरस वाले द्रव्य, दूध, दही, आनूप मांस, मछली, गुड़ व तिल का सेवन नहीं करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'लघूनीत्यादि' के द्वारा सेव्य (सेवनीय) आहार का अभिधान किया गया है । भल्लातक आदि के साथ अन्न का संस्कार एवं घृत साधन, इनके अपनी परिभाषाओं (अन्नसंस्कार के नियम एवं स्नेहपाक के नियम) के अनुसार करना चाहिए ।

'गुर्वित्यादि' के द्वारा कुष्ठ में त्याज्य आहारों को बताया गया है । ।।८२-८३।।

एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पा चित्रको विडङ्गश्च । कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव ।।८४।।
चित्रकमेलां बिम्बीं वृषकं त्रिवृदर्कनागरकम् । चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ।।८५।।
क्षारेण गव्यां मूत्रप्लुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु । भिद्यन्ते विलयन्ति च लिप्तान्यर्कभितप्तानि ।।८६।।
मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहान्धूमः । मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठघ्ना लेपः ।।८७।।
त्रपु सीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती । गोद्यारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत् ।।८८।।
कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन । मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च किण्वे च ।।८९।।
तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितं प्रलेपनं शस्तम् । मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नं च ।।९०।।
मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधकलिङ्गयवाः । दार्वी सप्तपर्णा स्नानं सिद्धार्थकं नाम ।।९१।।
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्घर्षः । त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ।।९२।।
कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनो लेपः । प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च ।।९३।।
श्वेतकरवीरमूलं कुटजकरञ्जयोः फलं त्वचो दार्व्याः । सुमनः प्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ।।९४।।
लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य । कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषून्मर्दनालेपौ ।।९५।।
शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि । पिष्टा च काकमाची चतुर्विधः कुष्ठनुल्लेपः ।।९६।।

इति लेपाः ।

कुष्ठ में उपयोगी लेप

अधोलिखित लेपों का प्रयोग कुष्ठ रोग में करना चाहिए–१. एला (छोटी इलायची), कुष्ठ (कूठ), दार्वी (दारुहारिद्रा), शतपुष्पा, चित्रक, विडङ्ग, रसाञ्जन एवं हरड़; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को जल के साथ संयुक्त (मिश्रित) कर के लेप के रूप में प्रयोग करना चाहिए ।

२. चित्रक, छोटी इलायची, बिम्बी (पाठभेद-निम्ब), वृषक (अडूसा की पत्ती), त्रिवृत् पत्र, अर्क (मदार) पत्र एवं शुण्ठी; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण में गोमूत्र अथवा पलाश क्षार (क्षारोदक) की भावना (७ भावना) देकर रख लें । इस भावित चूर्ण का प्रयोग लेप के रूप में मण्डलकुष्ठ में करें एवं रोगी को धूप में बैठावें । अर्थात् लेप लगाकर कुष्ठ रोगी धूप (सूर्य के प्रकाश) में बैठे । ऐसा करने से मण्डलकुष्ठ शीघ्र ही फूट कर विलीन (नष्ट) हो जाता है । -चित्रकादिलेप ।

३. मांसी (जटामांसी), कालीमिर्च, सैन्धव लवण, हल्दी, तगर, सुधा (सेहुण्ड), गृहधूम (घर का धुंआ), गोपित्त (गोरोचन), पलाशक्षार; प्रत्येक द्रव्य को लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप बना लें । इस लेप को कुष्ठ प्रभावित भाग पर लगाने से कुष्ठ नष्ट हो जाता है। अर्थात् यह लेप कुष्ठ नाशक है । -मांस्यादिलेप

Scanned by CamScanner

४. त्रपु (रांगा), सीस (शीशा) एवं लौह; इनके चूर्ण से निर्मित लेप मण्डलकुष्ठ नाशक होता है । -त्रप्वादिलेप ।

५. फल्गु, चित्रक, बृहती (बनभण्टा), गोधा रस (गोधा मांसरस), सैन्धव नमक, देवदारु एवं गोमूत्र; सभी द्रव्यों को पीसकर लेप बना लें । इसका प्रयोग मण्डलकुष्ठ में करें ।

६. कदली (केला), पलाश, पाटला, निचुल (जलवेत); इन द्रव्यों के क्षारोदक का प्रयोग-मांसरस तैयार करने में, पिष्ट के पाक हेतु एवं किण्व के निर्माण में करना चाहिये । मांस व चावल के पिष्ट (आटे) को कदली आदि के क्षारोदक में रखें, उससे मेदक (मद्य विशेष) का निर्माण करें एवं इसके किण्व (मद्य में उत्पन्न होने वाले खमीर) का लेप मण्डलकुष्ठ पर करें । इसके बाद धूप का सेवन करें । अर्थात् लेप लगाकर धूप का सेवन करें । यह लेप मण्डलकुष्ठ एवं कृमि को नष्ट करता है ।

७. **सिद्धार्थक स्नान**–मुस्तक (मोथा), मदनफल, आँवला, हरड़, बहेड़ा, करञ्ज, आरग्वध, कलिङ्गयव (इन्द्रयव), दार्वी (दारुहल्दी) एवं सप्तपर्णी; इन द्रव्यों के पत्र आदि से साधित जल का प्रयोग कुष्ठ रोगी को स्नान हेतु करना चाहिए । यह स्नान सिद्धार्थक स्नान कहलाता है । इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ का प्रयोग वमन, विरेचन हेतु करें तथा इनसे निर्मित चूर्णों का प्रयोग लेप एवं उद्घर्षण हेतु करना चाहिए । इनके प्रयोग से त्वक्दोष (Skin diseases), कुष्ठ (Leprosy), शोथ (Oedema) एवं पाण्डु रोग (Anaemia) दूर हो जाते हैं ।

८. कूठ, करञ्जबीज, एडगज (चकवड़ का बीज); इन द्रव्यों को सममात्रा में लें, जल के साथ पीसकर लेप बनावें एवं इसका प्रयोग कुष्ठ रोग में करें ।

चकवड़ के बीज, सैन्धव लवण, रसाञ्जन, कपित्थ एवं लोध्र द्वारा निर्मित लेप का प्रयोग कुष्ठ में करना चाहिए ।

९. सफेद कनेर के मूल त्वक् का कल्क, कुटज एवं करञ्ज के फल का कल्क तथा दारुहल्दी का कल्क; प्रत्येक द्रव्यों के कल्क के साथ जाती पत्र के कल्क को मिलाकर कुष्ठ में लेप करना चाहिए । (इस प्रकार यहाँ तीन योग हो जाते हैं) अथवा तीनों द्रव्यों के कल्क में जातीपत्र (चमेली पत्र) के कल्क मिलाकर कुष्ठ में लेप करें । यह अत्यन्त सिद्ध लेप है ।

१०. लोध्र, धातकी, वत्सक बीज (इन्द्रयव), करञ्ज की गुद्दी, मालती पुष्प; इन द्रव्यों के अलग-अलग कल्कों का प्रयोग उबटन एवं लेप के रूप में कुष्ठ रोगी को करना चाहिये ।

११. शिरीष की त्वचा, कपास का पुष्प, अमलतास का पत्र एवं काकमाची (मकोय) की पत्ती; इन द्रव्यों द्वारा निर्मित चार प्रकार के लेप कुष्ठनाशक होते हैं, अर्थात् अलग-अलग द्रव्यों के लेप का प्रयोग कुष्ठ रोग में करें । इस प्रकार यहाँ लेपों का विवेचन किया गया ।

चक्रपाणि–'एलेत्यादिना' के द्वारा कुष्ठघ्न लेपों का अभिधान किया गया है । **बिम्बी अष्टोपम फला**-अष्टोपम फल को बिम्बी कहा गया है । (पाठभेद से बिम्ब के स्थान पर निम्ब का वर्णन प्राप्त होता है ।)

अर्कः कुरुविन्दो मणिविशेषः -अर्क से विशेष रूप से कुरुविन्द मणि का ग्रहण किया गया है । अन्य आचार्य इससे ताम्र का ग्रहण करते हैं । **विलयन्तीति अपयान्ति**-विलीन हो जाता है, अर्थात् नष्ट हो जाता है ।

मांसेषु तोयकार्यमिति–केला, पलाश आदि द्रव्यों के क्षारोदक का प्रयोग मांस की सिद्धि (पाक) हेतु जल के स्थान पर करना चाहिए । मांस के प्रक्षालन हेतु, पिष्ट हेतु एवं किण्व निर्माण में जल के स्थान पर क्षारोदक का प्रयोग करें ।

तोयकार्यं क्षारम्भसा कार्यमिति–क्षार युक्त जल का प्रयोग जल के स्थान पर करना चाहिए । यहाँ मांस एवं पिष्ट (चावल के आटे) द्वारा ही किण्व (Ferment) निर्माण का कार्य करना चाहिए । [किण्व Drug or seed used to produce fermentation in the manufacture of spirits from sugar.] -M.M. Williams. Page-282 यहाँ किण्व द्वारा मेदक का निर्माण बताया गया है । मेदक से 'जगल' अर्थ लिया गया है । [Jagala-A kind of spiritous liquor or fluid suitable for distillation.]

सुजातः सञ्ननितः –उत्पन्न, उस मेदक (जगल) से उत्पन्न किण्व का लेप कुष्ठ रोग में करना चाहिए । मुस्तमित्यादि के द्वारा वर्णकर (वर्णोत्पादक) आलेप को बताया गया है ।

'त्वक्दोष' शब्द से गोबलीवर्दन्याय के द्वारा किलास, व्यङ्ग आदि का ग्रहण किया गया है ।

कुष्ठमित्यादिको योगो जलपिष्टो ज्ञेयः –कुष्ठ (कूठ) इत्यादि योगों को जल में पीसकर लेप बनावें, ऐसा जानना चाहिए । इसी योग के बारे में आरग्वधीय अध्याय (सू.अ. ३) में कहा भी गया है, यथा-**''करञ्जबीजैडगजं सकुष्ठं गोमूत्रपिष्टं च परः प्रदेहः''** (सू.अ.३) इति [करञ्जबीज, चकवड़ का बीज, कूठ; इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीसकर लेप बना लें । इस लेप का प्रयोग कुष्ठ में करे । यह लेप उत्तम कुष्ठघ्न है ।] इस सूत्र के आधार पर कुष्ठ (कूठ) आदि द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर लेप बनाने का विशेष प्रयोग है । अतः यह योग पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता ।

Scanned by CamScanner

'उद्वर्तनालेपावित्यादि' के द्वारा उन्मर्दन एवं लेपों का ग्रहण किया गया है। उद्वर्तन=उबटन, अथवा उन्मर्दन अर्थ लिया गया है। शैरीषी त्वग् से यहाँ अलग-अलग द्रव्यों द्वारा निर्मित चार योग (चार प्रकार के लेप) बताये गये हैं, यथा-१. शिरीष की छाल का कल्क, २. कपास के पुष्प का कल्क, ३. अमलतास की पत्ती का कल्क, ४. काकमाची (मकोय) का कल्क। अन्य आचार्य, इन चारों द्रव्यों को मिलाकर चार योग होते हैं, यथा-१. चारों द्रव्यों को मिलाकर चूर्ण बनाना, इसका प्रयोग कुष्ठ के ऊपर छिड़कने (dusting) में होता है २. उद्वर्तन (Paste for unction-उबटन के रूप में प्रयोग करना), ३. जल में पीसकर लेप करना अर्थात् चारों द्रव्यों को जल में पीसकर लेप बना लें (Ointment for external application), ४. रसक्रिया विधि द्वारा लेप बनाना (Semisolid extracts of the decoction) अर्थात् चारों द्रव्यों का क्वाथ बनावें एवं उस क्वाथ को अग्नि पर पका कर धीरे-धीरे गाढ़ा कर लें, इसका प्रयोग लेप के रूप में करें; यह अर्थ ग्रहण करते हैं। इन चार द्रव्यों द्वारा चार प्रकार के प्रयोग आरग्वधीय अध्याय में यद्यपि दिखाई देते हैं फिर भी आलेप (लेप) के रूप में यह सिद्ध (प्रयुक्त) होने से यह व्याख्या अतिसुन्दर नहीं है। अर्थात् आचार्य चक्रपाणि इन चार द्रव्यों के कल्क को ही अलग-अलग प्रयोग करने पर सहमत हैं। ॥८४-९६॥

दार्व्यारसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य। आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य ॥९७॥
इति षट् कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य। स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य ॥९८॥
आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः। तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम् ॥९९॥
त्रिफला निम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी। एष कषायोऽभ्यस्तो निहन्ति कफपित्तजं कुष्ठम् ॥१००॥
एतैरेव च सर्पिः सिद्धं वातोल्बणं जयति कुष्ठम्। एष च कल्पो दिष्टः खदिरासनदारुनिम्बानाम् ॥१०१॥

कुष्ठघ्न ६ कषाय योग–अधोलिखित आठ प्रकार के क्वाथ योगों का प्रयोग कुष्ठ (त्वक् विकार+महाकुष्ठ) की चिकित्सा में करना चाहिए–

१. रसाञ्जन का प्रयोग, यह दारुहल्दी के क्वाथ से तैयार किया जाता है। २. पटोलमूल एवं निम्ब की छाल, ३. खदिरसार (Heart-wood of Khadira), ४. आरग्वध पत्र एवं वृक्षक (कुटज), ५. त्रिफला (हरड़, बहेड़ा एवं आँवला), ६. सप्तपर्ण, ७. तिनिश, ८. अश्वमार (कनेरमूल)।

प्रारम्भ के ६ योग कुष्ठघ्न कहे गये हैं। इनका क्वाथ बनाकर कुष्ठ रोगी को पीना चाहिए। सप्तम योग तिनिश के क्वाथ का प्रयोग स्नान (Both) एवं पानार्थ करना चाहिए। आठवें योग कनेरमूल त्वक् चूर्ण का प्रयोग लेप, घर्षण (मर्दन) एवं अवचूर्णन (dusting) हेतु करना चाहिए। इन द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध तैल एवं घृत का प्रयोग कुष्ठ शान्त्यर्थ करना चाहिए।

-त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), निम्ब की छाल, पटोलमूल, मजीठ, रोहिणी (कुटकी), वचा (मीठा वच) व हल्दी; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित क्वाथ का प्रयोग नित्य करने से कफ पित्तज कुष्ठ नष्ट हो जाता है तथा इन्हीं द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा साधित घृत वात प्रधान कुष्ठ को शान्त करता है। तद्वत् खदिरसार, असन, दारुहल्दी एवं निम्ब के क्वाथ का प्रयोग पित्त कफ कुष्ठ को एवं इनसे साधित स्नेह वात प्रधान कुष्ठ को दूर करता है।

चक्रपाणि–'दार्व्या इत्यादौ' के द्वारा दार्वी सम्बन्धित रसाञ्जन का एक योग है, शेष ६ योग हैं, सातवाँ योग तिनिश का है एवं अष्टम अश्वमार का है। अश्वमारमूल (कनेरमूल) को यद्यपि विष कहा गया है, फिर भी कुष्ठों में विष का भी प्रयोग हितकर होने से बताया गया है। ॥९७-१०१॥

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका। कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकासीसम् ॥१०२॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च। तिक्तलाबुकबीजं कम्पिल्लकसर्षपौ वचा दार्वी ॥१०३॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष चालेपः। उद्वर्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेष एवेष्टः ॥१०४॥

कुष्ठ (कूठ), अर्कमूल (मदार का मूल), तुत्थ (तुतिया), कट्फल (कायफल), मूली बीज, रोहिणी (हरीतकी), कटुका (कुटकी), इन्द्रयव, उत्पल (नील कमल), मुस्तक (मोथा), बृहती, कनेरमूल, कासीस, एडगज (चकवड़ का बीज), नीम की छाल, पाठा, दुरालभा, चित्रकमूल, विडङ्ग, तिक्त अलाबू (तितलौकी), कम्पिल्लक, सरसो, वचा व दारुहल्दी; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें एवं इन्ही द्रव्यों के कल्क से (कल्क एवं क्वाथ से) तैल को सिद्ध करें। यह तैल कुष्ठ नाशक होता है। इन्हीं द्रव्यों का शरीर पर लेप, उद्वर्तन (उबटन), उन्मर्दन (चूर्ण का शरीर पर मर्दन) एवं अवचूर्णन करने से कुष्ठ शान्त हो जाता है।-**कुष्ठाद्य तैल**।

चक्रपाणि–'कुष्ठार्केत्यादौ' के द्वारा कुष्ठादि द्रव्यों से साधित तैल का अभिधान किया गया है। तैल से यहाँ तैलों में प्रधान होने से तिल तैल का ग्रहण किया गया है। जहाँ विशेष निर्देश हो, यथा-"कनकक्षीरी शैला" इति से प्रारम्भ करके "सार्षपमथवा तैलम्" के द्वारा यहाँ तैल से सरसो के तेल का ग्रहण है, अर्थात् कनकक्षीरी तैल के प्रसंग में औषधियों को सरसो के तेल में सिद्ध करने का विधान है।

Scanned by CamScanner

अन्य आचार्य कुष्ठ में लेप हेतु सरसो तैल (Mustard oil) तथा पान हेतु विशेष रूप से तिल तैल का ही ग्रहण करते है। अर्थात् सिद्ध तैल का प्रयोग आभ्यन्तर पान हेतु करना है तब तिल तैल में औषधियों को सिद्ध करना चाहिए, यह अभिप्राय है। ॥१०२-१०४॥

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च। कुष्ठेषु तैलयोगः सिद्धोऽयं संमतो भिषजाम् ॥१०५॥

इति श्वेतकरवीराद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीराद्य तैल–श्वेत कनेरमूल स्वरस अथवा क्वाथ, गोमूत्र, चित्रकमूल, विडङ्ग एवं तैल (सरसों का तैल); सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पका लें अर्थात् तैल को सिद्ध करें। यह तैल कुष्ठघ्न एवं सिद्ध है। ऐसा चिकित्सकों का मत है।

चक्रपाणि–१. करवीर का रस या क्वाथ एवं गोमूत्र लें। २. चित्रक, विडङ्ग; दो द्रव्यों के कल्क बनावें।

करवीर के क्वाथ- २ भाग, गोमूत्र- २ भाग, कल्क द्रव्य स्नेह का १/४ भाग, स्नेह (तैल)- १ भाग लेकर स्नेह को स्नेहपाक विधि से सिद्ध करें। यहाँ द्रव के स्थान पर क्वाथ एवं गोमूत्र का प्रयोग किया गया है। ॥१०५॥

श्वेतकरवीरपल्लवमूलत्वग्वत्सको विडङ्गश्च। कुष्ठार्कमूलसर्षपशिग्रुत्वग्रोहिणी कटुका ॥१०६॥
एतैस्तैलं सिद्धं कल्कैः पादांशिकैर्गवां मूत्रम्। दत्त्वा तैलचतुर्गुणमभ्यङ्गात् कुष्ठकण्डूघ्नम् ॥१०७॥

इति श्वेतकरवीरपल्लवाद्यं तैलम्।

श्वेतकरवीरपल्लवाद्यतैल–गोमूत्र- ४ पल, कनेर की पत्ती, कनेरमूलत्वक्, इन्द्रयव, विडङ्ग, कुष्ठ (कूठ), अर्कमूल, सर्षप, शिग्रु (सहिजन) की छाल तथा कुटकी; इन द्रव्यों के कल्क-स्नेह के चतुर्थांश (१/४ भाग) मात्रा में मिलाकर स्नेह (१ भाग) को विधि पूर्वक सिद्ध करें। इस तैल का अभ्यंग करने से कुष्ठ एवं कण्डू नष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि–यहाँ करवीर पत्र स्वरस की गोमूत्र के साथ साम्यता को बताया गया है।

विशेष–श्वेत कनेर के पल्लव एवं मूलत्वक् का ग्रहण करें। अर्क का मूल, शिग्रु की त्वचा (छाल) लें, सभी द्रव्यों का कल्क बना लें, कल्क की मात्रा तैल (सर्षप तैल) की मात्रा से चतुर्थांश होनी चाहिए, गोमूत्र स्नेह से ४ गुना डालें। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर पाक करें। सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर रख लें। -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद

तिक्तालाबुकबीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे। बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥१०८॥
कासीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बुरुविडङ्गम्। लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव ॥१०९॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मात्रि चतुर्गुणे साध्यम्। कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गान्मारुतकफहन्तृ ॥११०॥

इति तिक्तेक्ष्वाकादितैलम्।

तिक्तेक्ष्वाकादि तैल–तिक्तालाबुक (तितलौकी के बीज), दोनों प्रकार के तुत्थ (मयूर तुत्थ एवं खर्पर तुत्थ), गोरोचन, हरिद्रा (दोनों प्रकार की हल्दी-हल्दी एवं दारुहल्दी), बृहती (वनभण्टा) फल, एरण्डमूल, विशाला (इन्द्रायण का फल), चित्रकमूल, मूर्वा, कासीस, हिङ्गु (हींग), शिग्रु (सहिजन की छाल), त्र्यूषण (शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली), देवदारु, तुम्बरू (नेपाली धनियाँ), विडङ्ग (वायविडङ्ग), लाङ्गली मूल (कलिहारी की जड़), कुटज की छाल तथा कटुरोहिणी (कुटकी); प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें। इस प्रकार कल्क- १ भाग, सरसों का तैल- ४ भाग तथा गोमूत्र- १६ भाग लेकर स्नेह सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर एक स्वच्छ पात्र में सुरक्षित रख लें। इस तैल से अभ्यङ्ग करने पर कण्डू (Itching), कुष्ठ एवं वात-कफ जन्य विकार शान्त हो जाते हैं। ॥१०८-११०॥

चक्रपाणि–तुत्थे द्वे इति-मयूर तुत्थ (नीला तुतिया) एवं खर्परिका तुत्थ का ग्रहण किया गया है। ॥१०८-११०॥

कनकक्षीरी शैला भार्गी दन्त्याः फलानि मूलं च। जातीप्रवालसर्षपलशुनविडङ्गं करञ्जत्वक् ॥१११॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वङ्निम्बचित्रकास्फोताः। गुञ्जैरण्डं बृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि ॥११२॥
कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वाविचाः सपड्ग्रन्थाः। एडगजकूटजशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः ॥११३॥
हरितालमवावपुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंज्ञः। सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम् ॥११४॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये। सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुर्गुणं साध्यम् ॥११५॥
स्याप्यं कदुकालाबुनि तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु। भिन्द्याद्विषगभ्यङ्गात्कृमींश्च कण्डूं च विनिहन्यात् ॥११६॥

इति कनकक्षीरीतैलम्।

कनकक्षीरीतैल–कनकक्षीरी (कंकुष्ठ), शैल (मैनशिल), भार्गी, दन्तीफल एवं दन्तीमूल, जाती (चमेली) पत्र, सरसो, रसोन, वायविडङ्ग, करञ्ज की छाल, सप्तपर्णी की छाल, अर्कपत्र, अर्कमूल त्वक्, नीम की छाल, चित्रकमूल, स्फोता (अपराजिता), गुञ्जा, एरण्डमूल,

Scanned by CamScanner

बृहती (वनभण्टा) मूल, मूली का बीज, सुरसा (तुलसी) का बीज, अर्जक (वन तुलसी) का बीज, कुष्ठ (कूठ), पाठा, मुस्तक, तुम्बरु, मूर्वा, वचा, षड्ग्रन्था (रक्त वचा), एड़गज (चकवड़ के बीज), कुटज, शिग्रु (सहिजन) की छाल, सोंठ, कालीमिर्च व पिप्पली, भल्लातक, क्षवक (नकछींकनी), हरताल, अवाक्पुष्पी (अपामार्ग), तुत्थ (तुतिया), कम्पिल्लक, अमृतासङ्ग (खपरिया), सौराष्ट्री (फिटकरी), कामीस, दारुहारिद्रा की छाल, सज्जी क्षार एवं सैन्धवनमक; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर कल्क बनावें। कनेरमूल एवं पत्र का क्वाथ बनावें। अब कल्क- १ भाग, स्नेह- (तिल तैल अथवा सरसो का तैल)- ४ भाग, क्वाथ- १६ भाग, गोमूत्र- १६ भाग लें। अब स्नेहपाक विधि से स्नेह को सिद्ध करें। सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर तितलौकी की तुमड़ी में भरकर रख लें। इस तैल का अभ्यङ्ग करने से मण्डलकुष्ठ का भेदन होकर कृमि व कण्डू शीघ्र ही दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि-कनकक्षीरी से यहाँ कंकुष्ठ अर्थ लिया गया है। अवाक्पुष्पी से अपामार्ग, अथवा हेद्वादुल्ली नाम से प्रसिद्ध द्रव्य का ग्रहण है। अमृतासंज्ञ:=खपरिका तुत्थ। ॥१११-११६॥

विशेष-तैल पाक करते समय सबसे पहले कल्क, क्वाथ व स्नेह को एक पात्र में लेकर धीरे-धीरे पकावें, क्वाथ काफी कम हो जाने पर (जलीयांश उड़ जाने पर) उसमें गोमूत्र डालें और मन्दाग्नि पर धीरे-धीरे पाक करें। गोमूत्र व क्वाथ एक साथ डालकर न पकावें, अन्यथा तैल से काफी झाग निकलेगा एवं तैल सिद्ध करने में परेशानी होगी।

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समन:शिलं सकासीसम्। तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे ॥११७॥
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्धन्येति तिष्ठतो घर्मे। मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनो: ॥११८॥

इति सिध्मे लेप:।

सिध्मनाशक लेप-कुष्ठ (कूठ), तमालपत्र, कालीमिर्च, मन:शिला, कसीस; प्रत्येक द्रव्य को सम मात्रा में लेकर चूर्ण करें एवं इस चूर्ण को तिल तैल में मिलाकर लेप बना लें एवं एक ताम्र पात्र में सात दिन तक रखें। इस लेप को लगाकर सिध्म रोगी धूप का सेवन करे, ऐसा करने से सिध्म कुष्ठ सात दिन में नष्ट हो जाता है। नवीन किलास (Leucoderma) कुष्ठ में शोधनोपरान्त एक महीने तक इस लेप का प्रयोग करने से सम्यक् लाभ मिलता है। अर्थात् व्याधि दूर हो जाती है। इस लेप के प्रयोग काल में व्यक्ति को स्नान नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि-**व्येति अपयाति**-नष्ट हो जाता है। घर्मे इति-धूप में। **स्नानं मुक्त्वेति स्नानं वर्जयित्वाऽयं प्रयोग: कर्तव्य:**-स्नान न करते हुए इस लेप (प्रयोग) को लगाना चाहिए, अर्थात् जितने दिन तक इस लेप को लगावें उस काल में स्नान न करें। ॥११७-११८॥

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेङ्गुदीनां च। कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरसारस्य ॥११९॥

कुष्ठघ्न हितकर तैल-सरसो, करञ्ज, कोषातकी (कडुई तरोई) एवं इंगुदी, के तैल कुष्ठ रोग में हितकर होते हैं, तद्वत् खदिरसार का भी तैल कुष्ठघ्न होता है।

चक्रपाणि-'सर्षपकरञ्जेत्यादि' के द्वारा कुष्ठ रोगी के अन्न-पान के साधन हेतु सरसो, करञ्ज आदि के ही तैलों का प्रयोग करना चाहिए, यह दर्शाया गया है। अर्थात् कुष्ठी के अन्न-पान में इन्हीं तैलों का प्रयोग करें। सामान्यतया अन्य कुष्ठों में भी सरसो आदि के ही तेल का प्रयोग करना चाहिए न कि तिल तैल का प्रयोग। ॥११९॥

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लक: पयस्तुत्थम्। एष घृततैलपाक: सिद्ध: सिद्धे च सर्जरस: ॥१२०॥
देय: समधूच्छिष्टो विपादिका तेन शाम्यतेऽभ्यक्ता। चर्मैककुष्ठकिटिमं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥१२१॥

इति विपादिकाहरघृततैले।

किण्वं वराहरुधिरं पृथ्वीका सैन्धवं च लेप: स्यात्। लेपो योज्य: कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठं च मण्डलनुत् ॥१२२॥
पूतीकदारुजटिला: पक्वसुरा क्षौद्रमुद्वपण्यौ च। लेप: सकाकनासो मण्डलकुष्ठापह: सिद्ध: ॥१२३॥
चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदिवदारूणि। खदिरो धवश्च लेप: श्यामादन्ती द्रवन्ती च ॥१२४॥
लाक्षारसाञ्जनैला: पुनर्नवा चेति कुष्ठिनो लेपा:। दधिमण्डयुता: सर्वे देया: षण्मारुतकफकुष्ठघ्ना: ॥१२५॥
एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपै: कृमिघ्नैश्च। कृमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रूकुष्ठं च शममुपैति ॥१२६॥
एडगज: सर्जरसो मूलकबीजं च सिध्मकुष्ठानाम्। काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ्मतमिदमुद्वर्तनं लेपा: ॥१२७॥
वासा त्रिफला पाने स्नाने चोद्वर्तने प्रलेपे च। बृहतीसेव्यपटोला: ससारिवा रोहिणी चैव ॥१२८॥
खदिरावघातककुभरोहीतकलोध्रकुटजधवनिम्बा:। सप्तच्छदकरवीरा: शस्यन्ते स्नानपानेषु ॥१२९॥
जलवाप्यलोहकेशरपत्रप्लवचन्दनं मृणालानि। भागोत्तराणि सिद्धे प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥१३०॥
यष्ट्याह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च। स्नाने पाने च हिता: सुशीतला: पित्तकुष्ठिभ्य: ॥१३१॥
आलेपनं प्रियङ्गुहरेणुका वत्सकस्य च फलानि। सातिविषा च ससेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका ॥१३२॥

Scanned by CamScanner

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु । तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ।।१३३।।
क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदले । शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम् ।।१३४।।

विपादिकाहर घृत-तैल–जीवन्ती, मञ्जिष्ठा (मजीठ), दारुहल्दी, गोदूध एवं तुत्थ के कल्क से घृत+तैल (यमक) को सिद्ध करें। इस सिद्ध स्नेह (यमक) में सर्जरस एवं मधूच्छिष्ट (wax) मिलावें। इस यमक के अभ्यङ्ग से विपादिका (पाददारी), चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम एवं अलसक कुष्ठ शान्त हो जाते हैं।

मण्डलकुष्ठनाशक लेप–१. किण्व (सुराकिट्ट), वराहरक्त (सूअर का रक्त), पृथ्विका (मंगरैला=कलौंजी) एवं सैन्धव लवण; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर सील पर पीसकर लेप जैसा बना लें। इस लेप का प्रयोग मण्डलकुष्ठ में करें।

२. कुस्तुम्बरु (धनियां) एवं कूठ से निर्मित लेप मण्डलकुष्ठ का नाशक होता है।

३. पूतीक (पूती करञ्ज), देवदारु, जटिला (जटामांसी), मुद्गपर्णी, काकनासा; प्रत्येक द्रव्य को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में पक्व मद्य एवं मधु मिलाकर लेप बनावें। इस लेप के प्रयोग से मण्डलकुष्ठ निश्चय ही नष्ट हो जाता है।

४. चित्रक, शोभाञ्जन (शिग्रु की छाल), गुडूची (गुड़बेल), अपामार्ग एवं देवदारु; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बनावें। इस चूर्ण को दधिमण्ड में मिलाकर लेप बनावें।

५. खदिर, धव, श्यामा निशोथ, दन्ती एवं द्रवन्ती को दधिमण्ड में पीसकर लेप बनावें।

६. लाक्षा, रसाञ्जन, एला, एवं पुनर्नवा; सभी द्रव्यों को लेकर दधिमण्ड (दही का पानी) में पीसकर लेप बनावें।

ये सभी छः योग वात-कफज कुष्ठ को नष्ट करते हैं।

→ एडगज (चक्रमर्द), कुष्ठ (कूठ), सैन्धव लवण, वायविडङ्ग, सरसो एवं सौवीरक (काञ्जी भेद); सभी द्रव्यों को लेकर पीसकर लेप बना लें। इस लेप के प्रयोग से कृमि (Parasitic infection) मण्डलकुष्ठ एवं दद्रुकुष्ठ शान्त हो जाते हैं।

→ **कुष्ठघ्न उबटन**–चक्रवड़ (चक्रमर्द) के बीज, सर्जरस, एवं मूली का बीज; इन द्रव्यों को पृथक्-पृथक् काञ्जी में मिलाकर उबटन लगाने से सिध्मकुष्ठ नष्ट हो जाता हैं। इस प्रकार यहाँ तीन योगों की गणना की गयी है।

कुष्ठनाशक स्नानोपयोगी द्रव्य (Useful drugs for Bath)–वासा (अडूसा), हरड़, बहेड़ा, आँवला, वृहती (वनभण्टा), सेव्या (खश), पटोल, सरिवा एवं रोहिणी (कुटकी); इन द्रव्यों का प्रयोग कुष्ठ रोगी को पान (पीने के लिए-इन द्रव्यों से साधित जल), स्नान, उद्वर्तन एवं प्रलेप में करना चाहिए।

इसी प्रकार खदिर, अवघात (अमलतास की गुद्दी), ककुभ (अर्जुन), रोहितक (रोहेड़ा), लोध्र, कुटज, धव, निम्ब (नीम) की पत्ती या छाल, सप्तपर्णी एवं करवीर मूलत्वक् का प्रयोग स्नान एवं पान हेतु प्रशस्त है। अर्थात् इन्हीं द्रव्यों से साधित (षडंगपानीय विधि से साधित) जल का प्रयोग स्नान एवं पीने हेतु करना चाहिए।

पित्तकुष्ठ नाशक सिद्ध प्रलेप–जल, वाप्य (कूठ), अगरु, केशर (नागकेशर), पत्र (तेजपत्र), प्लव (केवटीमुस्तक), चन्दन (लालचन्दन) एवं मृणाल; उत्तरोत्तर १-१ भाग अधिक ग्रहण करते हुए सभी द्रव्यों को पीसकर लेप बनावें। इस लेप का प्रयोग पित्त एवं कफजन्य कुष्ठों में करें। [जल- १ भाग, कूठ- २ भाग, अगरु- ३ भाग, नागकेशर- ४ भाग, पत्र- ५ भाग, केवटीमोथा- ६ भाग, चन्दन- ७ भाग एवं मृणाल- ८ भाग ग्रहण करें।]

→ यष्टीमधु, लोध्र, पद्मक, पटोलपत्र, निम्ब की छाल, लाल चन्दन; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर षडंगपानीय विधि से जल सिद्ध करें। इसका प्रयोग शीतल करके स्नान एवं पान हेतु पित्तकुष्ठ का रोगी करे।

→ प्रियङ्गु, हरेणु, वत्सक (इन्द्रयव), अतिविषा, सेव्य (खश), चन्दन, एवं कटु रोहिणी; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित लेप पित्तकुष्ठ को नष्ट करता है।

→ दाह युक्त कुष्ठ में तिक्तघृत अथवा शतधौत या सहस्रधौतघृत का अभ्यङ्ग करना चाहिए। तद्वत चन्दन (रक्त चन्दन), मधुक (यष्टीमधु), प्रपौण्डरीक एवं उत्पल से सिद्ध तैल दाहशामक होता है।

→ कुष्ठ से स्राव निकल रहा हो, अथवा कुष्ठ प्रभावित भाग क्लेद युक्त हो, अङ्ग कट कर गिर रहे हों, शरीर में भयङ्कर रूप से दाह हो अथवा कुष्ठस्थान की त्वचा फट गयी हो अथवा चर्मदलकुष्ठ हो। ऐसी अवस्था में शीतल प्रलेप, शीत परिसेक, सिरावेध, विरेचन एवं तिक्तघृत का पान करना हितकर होता है। ।।१२०-१३४।।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-घृततैलपाक इति-घृत व तैल, दोनों को सम प्रमाण में लेकर पाक करना अर्थात् यमक पाक करना। यहाँ सिद्ध स्नेह में ही सर्जरस एवं मधूच्छिष्ट (wax-मोम) को मिलावें। कल्क हेतु जीवन्ती, मञ्जिष्ठादि द्रव्यों को समान मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। अथवा स्नेह का १/८ भाग सर्जरस व १/८ भाग मधूच्छिष्ट (wax) का प्रयोग करें, क्योंकि अन्य स्थानों पर भी यही कहा गया है। यथा- 'समूलादेरण्डात्' सूत्र में २ प्रस्थ स्नेह में ८ पल मधूच्छिष्ट डालने का विधान है। ॥१२०-१२२॥

पक्वसुरा=गोरक्षकर्कटी [पक्वसुरा-पक्वान्नसंधानसंजातासुरा-पक्व अन्न के संधान से उत्पन्न सुरा पक्वसुरा कही जाती है-योगीन्द्रनाथ सेन।] क्षौद्रवल्ली=गुडूची (क्षौद्र=मधु)।

षण्मारुतकफकुष्ठघ्ना इति-किण्व, वराहरुधिर आदि के रूप में वर्णित ६ योग हो जाते हैं। अन्य आचार्य चित्रक आदि के द्वारा श्लोक के पाद भाग (१/४ भाग) में वर्णित योगों को जोड़कर छः संख्या को पूरा करते हैं।

अवघातः कर्णिकाकार-कर्णिका के आकार की। रोहीतक से 'रोहिडा' अर्थ लिया गया है अथवा रोहितक-रोहिडा नाम से प्रसिद्ध है। वाप्य=कुष्ठ (कूठ)। लोहम्=अगरु। प्लव=कैवर्तमुस्तकम् (केवटी मोथा)।

भागोत्तराणि यथोत्तरमेकभागवृद्धानि-उत्तरोत्तर एक-एक भाग बढ़ाते हुए, यथा-जल- १ भाग, वाप्य- २ भाग, लोह- ३ भाग आदि।

रसा इति-यहाँ क्वाथ अर्थ लिया गया है, अर्थात् यष्टीमधु, लोध्र, पद्म, पटोल आदि द्रव्यों के क्वाथ बनावें एवं इस क्वाथ को ठण्डा करके प्रयोग करें।

तैलेत्यादि के द्वारा-चन्दन, मधुक आदि द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से साधित तैल रूप एक योग का वर्णन है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१२०-१३५॥

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम्। कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम् ॥१३५॥

खदिरघृत, निम्बघृत, दार्वीघृत एवं पटोलघृत का प्रयोग रक्तपित्त की प्रबलता वाले कुष्ठों में करना चाहिए, अर्थात् इनके प्रयोग से प्रकुपित पित्त व रक्त शान्त हो जाता है।

चक्रपाणि-खदिरघृतमित्यादौ खदिरादिभिर्धृतानि साध्यानि-खदिरघृतमिति से यहाँ खदिरादि द्रव्यों द्वारा घृत को सिद्ध करें, अर्थ लिया गया है। खदिरघृत में खदिरसार, निम्बघृत हेतु निम्ब पत्र एवं पटोलघृत हेतु पटोलपत्र का ग्रहण करना चाहिए। ऐसा अनुभवी चिकित्सकों का विचार है, या प्रयोग करते हैं। कहा भी गया है, यथा-**''सारः स्यात् खदिरादीनां, निम्बादीनां त्वचस्तथा। फलं तु दाडिमादीनां पटोलादेर्दलं तथा''** इति [खदिरादि के सार (Heart wood), निम्बादि के छाल, दाडिम आदि के फल तथा पटोल आदि के पत्र का ग्रहण करना चाहिए।] ॥१३५॥

त्रिफलात्वचोऽर्धपलिकाः पटोलपत्रं च कार्षिकाः शेषाः। कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च ॥१३६॥
एष कषायः साध्यो दत्त्वा द्विपलं मसूरविदलानाम्। सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः ॥१३७॥
तं च कषायेऽष्टपले चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम्। यावत्स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम् ॥१३८॥
तद्घृतपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रबलम्। ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान् हन्ति ॥१४०॥

हरड़, बहेड़ा, आँवला, इनकी त्वचा (छिलका), पटोल पत्र-सभी द्रव्य आधा-आधा पल, कटुरोहिणी (कुटकी), निम्ब की छाल, यष्टीमधु (मुलेठी) एवं त्रायमाणा-प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष, मसूर की दाल- २ पल, सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर १ आढ़क जल में क्वाथ करें, अष्टमांश शेष रहने पर छानकर क्वाथ को अलग कर लें। क्वाथ- ८ पल लेकर उसमें ४ पल गोघृत मिलाकर पाक करें। कुल द्रव्य जब ८ पल शेष रह जाय अर्थात् क्वाथ जलकर जब आधा भाग शेष रह जाय तब अग्नि पर से उतार लें। इस घृत मिश्रित क्वाथ को गुनगुना (कोष्ण) पीने से वात-पित्त कुष्ठ, वीसर्प (Erysipelas), वातरक्त (Gout), ज्वर (Fever), दाह (Burning sensation), गुल्म (Phantom tumour), विद्रधि (Abscess), विभ्रम (Giddiness) एवं विस्फोटक (Pustular eruptions) रोग प्रशमित हो जाते हैं, अर्थात् इस घृत मिश्रित क्वाथ के सेवन से उपर्युक्त व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं। ॥१३६-१३९॥

चक्रपाणि-'त्रिफलात्वच' से त्रिफला योग का विवेचन किया गया है। यहाँ आदि में पठित त्रिफला-हरड़, बहेड़ा व आँवला के छिलके (गुठली रहित) का ग्रहण है। यहाँ हरीतकी आदि की अलग-अलग मात्रा अर्ध पल लेनी चाहिए। पटोल पत्र की मात्रा अर्ध पल लें। शेष से यहाँ कटुरोहिणी आदि का ग्रहण किया गया है।

मसूरविदलानामिति-छिलका रहित (तुष रहित) मसूर की दाल का ग्रहण करें।

Scanned by CamScanner

न तु मसूरविदलाऽत्र श्यामा–जतूकर्ण संहिता में इसका प्रयोग पुंलिङ्ग में हुआ है, यथा-'मसूरविदलात् पलम्' इति [मसूर की दाल-१ पल लें] विदला से यहाँ श्यामा (त्रिवृत्) का ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु 'मसूरविदला' से मसूर की दाल का ग्रहण है।

अष्टभागे शेषे इति–अष्ट भाग शेष रहने पर, १६ पल में। इसलिये कहा भी गया है, यथा-'तत्र कषायेऽष्टपले' इति के द्वारा प्रथमा द्विवचनान्त होने से १६ पल लिया गया है। [क्वाथ निर्माण की सामान्य परिभाषा के अनुसार द्रव का मान १ कुड़व अथवा अधिक निर्दिष्ट होने पर निर्दिष्ट मान की दूनी मात्रा का ग्रहण करना चाहिए] इस योग में द्रव (जल) का मान- १ आढ़क निर्दिष्ट है, अतः यह मात्रा २ आढ़क ली जानी चाहिए एवं अष्टमांश शेष रहने पर १६ पल आती है। इस प्रकार द्रव की यह १६ पल मात्रा ८ पल की दूना नहीं की गयी है। यदि पल में भी द्रव की दूनी कर दी जाय तब यह मात्रा ३२ पल हो जाती है। इस प्रकरण में १ आढ़क का अष्टमांश ३२ पल नहीं है, लेकिन १६ पल है। इसलिये यहाँ ८ पल शब्द से दूनी मात्रा का ग्रहण न कर १ कुड़व से अधिक द्रव होने पर दूनी मात्रा में द्रव लेने का विधान है, इस आधार पर २ आढ़क जल में क्वाथ्य द्रव्य को पकाने का निर्देश है, अतः २ आढ़क का १/८ भाग १६ पल होता है, ऐसा जानना चाहिए। अन्य तन्त्रकारों का भी यही मत है।

यावत् स्यादष्टपलमित्यनेन-कषायचतुष्पलेन संयुक्तस्याष्टपलं स्थाप्यमिति–१६ पल क्वाथ में ४ पल घृत डालकर पकावें। पकाते-पकाते क्वाथ जब ४ पल शेष रहे, अर्थात् क्वाथ व घृत की संयुक्त मात्रा ८ पल शेष रहे तब इसे छानकर रख लें। इसी को गुनगुना करके कुष्ठ रोगी को पीने के लिए दें। औषध की यह मात्रा अत्यधिक द्रव्यों द्वारा साधित होने से उत्तम मात्रा होती है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१३६-१३९॥

निम्बपटोलं दार्वी दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम्। कुर्यादर्धदलांशं पर्पटकं त्रायमाणां च ॥१४०॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत् पूते। चन्दनकिराततिक्तकमागधिकास्त्रायमाणां च ॥१४१॥
मुस्तं वत्सबीजं कल्कीकृत्यार्धकार्षिकान् भागान्। नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत्सिद्धं घृतं पेयम् ॥१४२॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि। पामाविसर्पपिडकाकण्डूमदगण्डनुत्सिद्धम् ॥१४३॥

इति तिक्तषट्पलकं घृतम्।

तिक्तषट्पलक घृत–नीम की छाल, पटोलपत्र, दारुहल्दी, दुरालभा, तिक्तरोहिणी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पर्पटक (पित्तपापड़ा) एवं त्रायमाणा; प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा पल लें। जल- १ आढ़क (पूर्व योग के अनुसार २ आढ़क)। क्वाथ्य द्रव्यों को यवकुट कर लें एवं २ आढ़क जल में क्वाथ बनावें, अष्टमांश शेष रहने पर छान कर एक पात्र में रख लें। इस क्वाथ में-लाल चन्दन, किराततिक्तक (चिरायता), छोटी पिप्पली, त्रायमाणा, मुस्तक (मोथा), इन्द्रयव; प्रत्येक द्रव्य आधा-आधा कर्ष मान में लेकर कल्क बनाकर डालें तथा कल्क व क्वाथ के मिश्रण में ६ पल ताजा गोघृत डालकर सिद्ध करें इस सिद्ध घृत का पान कुष्ठ रोगी करे। इसके पीने से कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), ज्वर (Fever), गुल्म (वातगुल्म), अर्श (Piles), ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डु (anaemia), श्वयथु (oedema), पामा (scabies), वीसर्प (Erysipelas-contagious disease causing acute inflammation of the skin), पिडका (Pimples मुहासा), कण्डू (Itching), उन्माद या मद एवं गण्ड (scrofula) जैसी व्याधियाँ शान्त (प्रशमित) हो जाती हैं। ॥१४०-१४३॥

चक्रपाणि–'निम्बमित्यादि' के द्वारा तिक्तषट्पलकघृत का अभिधान किया गया है। 'सर्पिश्चाप्यनवं हितम्' (पुराना घृत हितकर होता है।) वचन से यहाँ नवीन घृत का प्रयोग नहीं होना चाहिए, ऐसा नहीं है। ऐसा द्रव्यों के संयोग के प्रभाव के कारण है। यहाँ प्रथम 'सर्पि' शब्द का प्रयोग मान (प्रमाण) के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् नवीन घृत- ६ पल मान में ग्रहण करें। द्वितीय 'घृत' शब्द का प्रयोग पेयत्व को दर्शाने के लिए किया गया है। अर्थात् सिद्ध तिक्तषट्पलकघृत के पीने से कुष्ठादि व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

द्वितीयं तु प्रसिद्धिख्यापकम्–द्वितीय 'घृत' शब्द सिद्ध घृत की प्रसिद्धि का ख्यापक है। ॥१४०-१४३॥

सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्पाकं तिक्तरोहिणीं पाठाम्। मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥१४४॥
धन्वयवासं चन्दनमुपकुल्यां पद्मकं हरिद्रे द्वे। षट्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे ॥१४५॥
वत्सकबीजं यासं मूर्वामृतां किराततिक्तं च। कल्कान् कुर्यान्मितिमान्यष्ट्याह्वं त्रायमाणां च ॥१४६॥
कल्कश्चातुर्भागो जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम्। द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम् ॥१४७॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलान्यर्शांसि रक्तवाहीनि। वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक् पाण्डुरोगं च ॥१४८॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम्। हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च ॥१४९॥
हन्यादेतत् सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः। योगशतैरप्यजिताम्महाविकारान्महातिक्तम् ॥१५०॥

इति महातिक्तकं घृतम्।

महातिक्तकघृत–१. कल्क द्रव्य- सप्तच्छद (सप्तपर्णी), प्रतिविषा (अतिविषा), शम्पाक (आरग्वध) की पत्ती, तिक्तरोहिणी (कुटकी), पाठा, मुस्तक (खेत का मोथा), उशीर, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पटोलपत्र, पिचुमर्द (नीम की छाल), पर्पटक (पित्तपापड़ा),

Scanned by CamScanner

धन्वयवास (धमासा), चन्दन (लाल चन्दन), उपकुल्या (काला जीरा), पद्मक (मद्यकाठ), हारिद्रा, दारुहारिद्रा, षड्ग्रन्था (वचा), विशाला (इन्द्रायण फल), शतावरी, दोनों प्रकार की सारिवा, वत्सकबीज (इन्द्रयव), यासं (पाठ भेद-वासा), मूर्वा, यष्टीमधु, त्रायमाणा, अमृता (गुडूची) तथा चिरायता; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कल्क बनावें। कल्क की संयुक्त मात्रा स्नेह की चतुर्थांश होनी चाहिए। (१/४ भाग)। २. स्नेह (घृत)- १ भाग, ३. जल- ८ भाग, ४. आँवले का स्वरस- २ भाग।

सभी द्रव्यों को निर्दिष्ट मान के अनुसार एक पात्र में मिलाकर, घृतपाक करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर घृत को छानकर एक काँच पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–इस सिद्ध घृत का पान बल, काल एवं मात्रा के अनुसार करने से कुष्ठ, रक्तपित्त, प्रबल अर्श (जिस अर्श से अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो), वीसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डु, विस्फोट (Pastular eruption), पामा (Scabies), उन्माद (Insanity), कामला (Jaundice), ज्वर (Fever), कण्डू (Itching), हृद्रोग (Heart diseases), गुल्म (वातगुल्म), पिडका (Pimples-मुहासे), असृग्दर (Menorrhagia) व गण्डमाला (Scrofula) जैसी व्याधियाँ सद्यः (शीघ्र ही) शान्त हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त शतशः योगों के प्रयोग से भी जो व्याधियाँ शान्त नहीं होती हैं, ऐसे महाव्याधियों को यह घृत शीघ्र की प्रशमित कर देता है। ॥१४४-१५०॥

चक्रपाणि–'सप्तच्छदमित्यादि' के द्वारा महातिक्तकघृत का विवेचन किया गया है। शम्पाकः=आरग्वधः (अमलतास)।

कल्कश्चातुर्भाग इति–कल्क की मात्रा घृत से चतुर्थांश (१/४) होनी चाहिए, यह विषय सामान्य परिभाषा के अनुसार सिद्ध होते हुए भी अर्थ के स्पष्टीकरण हेतु कहा गया है।

अमृतफलानामिति–आँवला के फल का रस अर्थात् आमलकी स्वरस। यहाँ 'सर्पि' शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। १. द्विगुणो घृताद् प्रदेयम्-'घृत से दो गुना आँमलकी स्वरस लें'-प्रथम प्रयोग, कल्कादि के साथ घृत को सिद्ध करने के लिए किया गया है। २. द्वितीय प्रयोग सिद्ध घृत के पान हेतु किया गया है। ३. तृतीय प्रयोग-महातिक्तक नाम को दर्शाने के लिए किया गया है। ॥१४४-१५०॥

जल्पकल्पतरु टीका–उपकुल्या=कृष्ण जीरक। **सारिवे चोभे इति**-श्याम लता एवं अनन्तमूल। सप्तपर्णी से लेकर त्रायमाणा तक ३१ द्रव्यों का कल्क बनावें, कल्क (समुदित कल्क) की मात्रा घृत का चतुर्थांश होना चाहिए। घृत से जल ८ गुना लें, आमलकी स्वरस घृत से दो गुना ग्रहण करें। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृत को सिद्ध करें।

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते शमने। स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनुवर्तते साध्यम् ॥१५१॥

वमनादि द्वारा दोषों के निर्हरण करने, रक्तमोक्षणादि द्वारा रक्त दोष निर्हरण करने, बाह्य-आभ्यन्तर शमन चिकित्सा करने तथा उचित काल में महातिक्तक् घृत के सेवन करने से शान्त हुए साध्य कुष्ठ का पुनः उद्भव नहीं होता। ॥१५१॥

चक्रपाणि–न कुष्ठमनुवर्तत इति-साध्य कुष्ठ का अनुवर्तन नहीं होता। अर्थात् संशोधन, रक्तदोष निर्हरण, शमन चिकित्सा एवं महातिक्तकघृत पान द्वारा प्रशमित साध्य कुष्ठ पुनः उत्पन्न नहीं होते। ॥१५१॥

खदिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले। तुलार्धाः सर्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः ॥१५२॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः कृमिहरस्तथा। हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत् ॥१५३॥
सप्तपर्णश्च संक्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः। अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत् ॥१५४॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्। महातिक्तककल्कैस्तु यथोक्तैः पलसंमितैः ॥१५५॥
निहन्ति सर्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्। महाखदिरमित्येतत् परं कुष्ठविकारनुत् ॥१५६॥

इति महाखदिरं घृतम्।

महाखदिरघृत–खदिरसार- ५ तुला, शीशम की छाल- १ तुला, असन की छाल- १ तुला, करञ्ज, नीम की छाल, वेतस, पित्तपापड़ा, कुटज की छाल, वृष (वासा-मूल व पत्र), कृमिहर (वायविडङ्ग), हल्दी, दारुहल्दी, कृतमाल (अमलतास), अमृता (गिलोय), हरड़, बहेड़ा, आँवला, त्रिवृत् (सफेद निशोथ) एवं सप्तपर्ण; प्रत्येक द्रव्य १/२ (आधा-आधा) तुला लेकर यवकुट कर लें। यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्य को १० द्रोण जल में पकावें। अष्टमांश शेष बचने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतारकर छान लें। इस क्वाथ में आमलकी स्वरस- १ आढ़क (स्नेह के बराबर मात्रा), गोघृत- १ आढ़क तथा कल्क के रूप में महातिक्तक घृत में निर्दिष्ट कल्क द्रव्यों को १-१ पल मात्रा में लेकर डालें। अब घृत को स्नेहपाक विधि से सिद्ध करें। इस महाखदिरघृत का प्रयोग पान एवं अभ्यंग के रूप में करने से सभी प्रकार के कुष्ठ शान्त हो जाते हैं। यह घृत परं कुष्ठघ्न है। ॥१५२-१५६॥

चक्रपाणि–कुछ आचार्य 'खदिरस्य तुला इत्यादि' से वर्णित महाखदिरघृत (श्लोक नं० १५२-१५६) को अनार्ष स्वीकार करते हैं। 'साधयेदित्यत्र' के साथ 'सर्पिः' इति भी जुड़ा हुआ है। तत्र घृतमानानुक्तौ क्वाथशेषस्याढकाधिकद्रोणस्य नियतत्वात् तत्क्वाथचतुर्थभागं

Scanned by CamScanner

प्रस्थाधिकाढकमानं घृतं साध्यम्-यहाँ घृत के मान का निर्देश न होने से घृत का मान क्वाथ का चतुर्थांश (१ द्रोण १ आढ़क का १/४ भाग-१ आढ़क १ प्रस्थ) होना चाहिए। अर्थात् १ आढ़क १ प्रस्थ घृत को सिद्ध करें। ॥१५२-१५६॥

[चक्रपाणि के टीका के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह योग वर्तमान से कुछ भिन्न है।]

प्रपतत्सु लसीकाप्रस्रुतेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु। मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च ॥१५७॥
वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च। स्नाने पाने लेपे क्रिमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥१५८॥
पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च। कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खदिरः ॥१५९॥
एडगजः सविडङ्गो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम्। उद्दालनं श्वदन्ता गोश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च ॥१६०॥
एडगजः सविडङ्गो द्वे च निशे राजवृक्षमूलं च। कुष्ठोद्दालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम् ॥१६१॥

गलित कुष्ठ में कर्तव्य-जिस कुष्ठ रोगी के शरीर से मांस कटकर गिर रहे हों, अंग-प्रत्यङ्गों से लसीका का स्राव हो रहा हो तथा कुष्ठ में कृमि पड़ गये हों। इस स्थिति में गोमूत्र, निम्ब की छाल एवं पत्ती से निर्मित क्वाथ व विडङ्ग क्वाथ का प्रयोग स्नान एवं पान के रूप में करना चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों के कल्क का लेप लगावें। वृष (वासा), कुटज की छाल, सप्तपर्ण की छाल, करवीर (कनेर) पत्र, करञ्ज, नीम की छाल एवं खदिरसार; इन द्रव्यों के क्वाथ से स्नान एवं पान करने तथा इनके कल्क का लेप लगाने से कृमि एवं कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं। क्वाथ एवं कल्क में गोमूत्र मिलाकर ही प्रयोग करें।

विडङ्ग एवं खदिर का प्रयोग-विडङ्ग जो विशेष रूप से क्रिमि नाशक होता है तथा खदिर कुष्ठघ्न होता है। इन दोनों द्रव्यों का प्रयोग आहार के निर्माण, पान, परिषेचन (Sprinkling), धूपन (Fumigation) एवं प्रदेह (Application of thick ointment) के रूप मे कुष्ठी को करना चाहिए।

कुष्ठघ्न अन्य लेप-१. एडगज (चकवड़ का बीज), विडङ्ग, आरग्वध का मूल; इन द्रव्यों का प्रयोग स्नान, पान एवं लेप के रूप में करें। यह योग कुष्ठ को दूर करता है।

२. कुत्ता, गाय, घोड़ा, सूअर एवं ऊँट के दांत को घिसकर कुष्ठ पर लेप लगावें।

३. एडगज, विडङ्ग, हारिद्रा, दारुहारिद्रा, अमलतास की जड़, पिप्पली एवं कूठ; ये द्रव्य कुष्ठ दूर करने में अग्र्य (श्रेष्ठ) है। अतः इनका प्रयोग स्नान, पान एवं लेप के रूप में करना चाहिए। ॥१५७-१६१॥

चक्रपाणि-खदिर इति-कुष्ठ नाशक होने से खदिर अन्य कुष्ठघ्न द्रव्यों से श्रेष्ठ (विशेष) है। अर्थात् कुष्ठनाशक द्रव्यों में खदिर श्रेष्ठ होता है। श्वदन्ता इति=कुक्कुरदन्ता (कुत्ते की दाँत)। उद्दालनमिति=प्रशमक (शान्त करने वाला)। पाकलम्=कुष्ठ (कूठ)। ॥१५७-१६१॥

श्वित्राणां सविशेषं योक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्। श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलपूरस इष्यते सगुडः ॥१६२॥
तं पित्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसंतापम्। संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत् पेयाम् ॥१६३॥
श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान्भिन्द्यात्। स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत् पक्षम् ॥१६४॥
मलपूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्काथ्य। पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥१६५॥
यच्चान्यत् कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम्। खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा ॥१६६॥
समनःशिलं विडङ्गं कासीसं रोचनां कनकपुष्पीम्। श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात् ॥१६७॥
कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुक्तम्। हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः कोरकक्षारम् ॥१६८॥
नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा। मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्रे ॥१६९॥
काकोदुम्बरिका वा सावल्गुजचित्रका गवां मूत्रे। पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन ॥१७०॥
लेपः किलासहन्ता बीजान्यावल्गुजानि लाक्षा च। गोपित्तमञ्जने द्वे पिप्पल्यः काललोहरजः ॥१७१॥
शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम्। श्वित्रं कस्यचिदेव प्रणश्यति क्षीणपापस्य ॥१७२॥

श्वित्र कुष्ठ की चिकित्सा

श्वित्र (Leucoderma) में मलपूरस का प्रयोग-श्वित्र के रोगी का सर्वतः शोधन कराने के बाद-विशेष रूप से विरेचन हेतु मलपूरस को गुड़ के साथ देना चाहिए। सर्वप्रथम रोगी को आभ्यन्तर स्नेहपान करावें। सम्यक् स्नेहन के बाद रोगी अपने बल के अनुसार गुड़ मिश्रित मलपूरस (काकोदुम्बरिका-कठगुलर का रस) का सेवन करे, पश्चात् ३ घण्टे तक धूप का सेवन करे। इसके बाद विरेचन होता है। विरेचनोत्तर रोगी को प्यास लगती है तब पीने के लिए पेया (thin gruel) देनी चाहिए। पेया का प्रयोग ३ दिन तक करें। इस योग के पीने से श्वित्र (Leucoderma) के जिस भाग में स्फोट उत्पन्न हो जाय तब उसे कण्टक (काँटे) द्वारा वेधकर उसमें स्थित स्राव को बाहर निकाल दें। स्राव के निकल जाने पर प्रतिदिन केवल एक समय लगभग १५ दिन तक-कठगुलर की छाल, असन की लकड़ी (विजयसार), प्रियङ्गु व सौंफ;

Scanned by CamScanner

प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर जल के साथ क्वाथ बनाकर पीयें अथवा बलानुसार पलाशक्षार में फाणित (राब) मिलाकर प्रातः काल पीवें। अन्य स्थानों पर कुष्ठ नाशक जिन योगों का निर्देश किया गया है, उन सभी का प्रयोग खदिरोदक के साथ करना चाहिए। अथवा खदिरोदक का पान श्वेत कुष्ठ की सबसे अच्छी चिकित्सा है।

श्वित्र में लेप–मैनशिल, विडङ्ग, कासीस, गोरोचन, कनकपुष्पी (स्वर्णक्षीरी) एवं सैन्धव लवण; इन सभी द्रव्यों से निर्मित लेप का प्रयोग श्वित्र के प्रशमनार्थ करना चाहिए।

श्वित्र नाशक अन्य लेप–अधोलिखित लेपों का प्रयोग श्वित्र की चिकित्सा में करना चाहिए–

१. कदलीक्षार, खरास्थि भस्म (गधे की हड्डी की भस्म), गाय का रक्त; से निर्मित लेप का प्रयोग श्वित्र पर करें।

२. मालतीक्षार को हाथी के मद में मिश्रित करके लगावें।

३. नीलोत्पल, कुष्ठ (कूठ), सैन्धव नमक; इन सभी द्रव्यों को लेकर हाथी के मूत्र में पीसकर लेप बनावें एवं इस लेप का प्रयोग श्वित्र में करें।

४. मूली के बीज एवं बाकुची के बीज को गोमूत्र के साथ पीसकर लेप बना लें।

५. काकोदुम्बरिका (कठगुलर), बाकुचीबीज एवं चित्रकमूल; सभी द्रव्यों को गोमूत्र में पीसकर लेप बनावें।

६. मैनशिल को मयूर के पित्त के साथ पीसकर लेप बनावें एवं इसका प्रयोग श्वित्र पर करें।

७. अवल्गुज बीज (बाकुची बीज), लाक्षा, गोपित्त (गोरोचन), रसाञ्जन, सौवीराञ्जन, पिप्पली व काल लौहरज (लौह भस्म)। यह लेप किलास नाशक होता है। अर्थात् निर्दिष्ट द्रव्यों को पीसकर लेप बना ले एवं इसका प्रयोग किलास (श्वित्र) की चिकित्सा में करें।

वमनादि द्वारा शरीर की शुद्धि (आभ्यन्तर शोधन), रक्तमोक्षण (Blood letting) तथा रूक्ष सत्तू के सेवन करने से एवं जिनके पापों का क्षय हो गया हो। अर्थात् पूर्वजन्मकृत पाप का प्रायश्चित हो गया हो; ऐसा होने पर भी किसी-किसी का ही श्वित्र (Luecoderma) ठीक होता है। [In very rare cases patients of Leucoderma who are free from the effects of their sinful acts get cured by the administration of elimination therapies, blood letting and intake of ununctuous food like saktu. -Dr. Bhagvan Das.]

चक्रपाणि–कुष्ठ प्रकरण होने के कारण एवं विशेष रूप से इसमें त्वचा की ही दुष्टि होने से-'श्वित्राणामित्यादि' के द्वारा श्वित्र चिकित्सा का अभिधान किया गया है। अन्य रोगों में निदानादि के वर्णन के बाद चिकित्सा का विवेचन किया गया है, जबकि श्वित्र में चिकित्सा को पहले बताया गया है बाद में निदानादि का विवेचन किया गया है, ऐसा कहने के पीछे आचार्य का क्या भाव है, यह शङ्का है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–इस अध्याय में कुष्ठ की जो चिकित्सा बतायी गयी है, उसी का पालन श्वित्र में भी किया जाता है या करना चाहिये। अर्थात् श्वित्र की सामान्य चिकित्सा कुष्ठवत् ही है। अभिप्राय यह है कि पूर्व में कुष्ठघ्न जिन योगों का विवेचन किया गया है वही श्वित्र की चिकित्सा में प्रयुक्त होते हैं।

तद् यदि निदानादिश्वित्रस्य उच्यते तदा सा चिकित्सा व्यवहिता स्यात्-यदि श्वित्र के निदानादि का विवेचन होता तो भी चिकित्सा वही रहती, इसलिये यहाँ पहले इसका विवेचन नहीं हुआ है।

श्वित्राणां सविशेषं प्रयोक्तव्यमिति-कुष्ठघ्न जिन योगों का कथन पूर्व में किया गया है उन्हीं का विशेष प्रयोग श्वित्र में भी करना चाहिये।

सर्वतो विशुद्धानामिति–वमनादिभिः शुद्धानाम्-वमनादि के द्वारा पूर्णतः शुद्ध शरीर में। अर्थात् श्वित्र के रोगी को वमन-विरेचनादि द्वारा पहले पूर्णतः शुद्ध कर लें।

मलपू=काकोदुम्बरिका (कठगुलर)। **श्वित्रेऽङ्गे इति**-श्वित्र युक्त अङ्ग में। वनकपुष्पी=सुवर्णक्षीरी। **मालत्याःकोरकक्षारमिति**-मालतीमुकुलक्षार। कोरको मुकुल उच्यते-कोरक से मुकुल (Bud-कली) अर्थ लिया गया है।

अङ्गने द्वे इति–सौवीराञ्जन एवं रसाञ्जन।

कस्यचिदेव प्रशाम्यतीत्यनेन–कुछ व्यक्ति ही इस रोग से मुक्त हो पाते हैं। ॥१६२-१७२॥

दारुणं चारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः। विज्ञेयं त्रिविधं तच्च त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥१७३॥
दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते। श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तम् ॥१७४॥
यत् परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्। यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति ॥१७५॥
अरक्तलोम तनु यत् पाण्डु नातिचिरोत्थितम्। मध्यावकाशे चोच्छ्रूनं श्वित्रं तत्साध्यमुच्यते ॥१७६॥

Scanned by CamScanner

किलास के तीन भेद–किलास तीन प्रकार के होते हैं-१. दारुण २. चारुण तथा ३. किलास, इन्हें तीन नामों से जाना जाता है तथा इनमें प्रायः तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। दोषों के रक्त धातु में आश्रित होने पर किलास का वर्ण रक्त (Red), मांस धातु के आश्रित होने पर ताम्र एवं मेद धातु के आश्रित होने पर श्वेत होता है। ये क्रमशः उत्तरोत्तर गुरु होते जाते हैं। अर्थात् इनकी चिकित्सा क्रमशः कठिन होती जाती है। जिस श्वित्र में चकत्ते आपस में एक दूसरे से सट (संयुक्त) गये हों, श्वित्र के चकत्ते अत्यधिक हों, श्वित्र में रक्तवर्ण के रोम उत्पन्न हो गये हों तथा श्वित्र एक वर्ष से अधिक पुराना हो गया हो। ऐसे श्वित्र की चिकित्सा सफल नहीं होती। अर्थात् यह **श्वित्र असाध्य** होता है।

साध्य श्वित्र के लक्षण–जिस श्वित्र रोग में श्वित्र प्रभावित भाग के रोम रक्त वर्ण के न होकर पाण्डु वर्ण के हों, त्वचा पतली हो, श्वित्र अत्यधिक पुराना न हो, दो चकतों के बीच का भाग कुछ ऊँचा उठा हो, वह श्वित्र (Leucoderma) साध्य होता है। ॥१७३-१७६॥

चक्रपाणि–नामभिरिति उक्तदारुणादिभिरेव-दारुणादि नामों के द्वारा श्वित्र को तीन प्रकार का बताया गया है। अर्थात् दारुण, अरुण एवं किलास-श्वित्र के तीन प्रकार हैं। प्रायः शब्देन एकदोषं द्विदोषं च भवति-प्रायः शब्द से 'श्वित्र त्रिदोषज होता है' यह बताया गया है साथ में एक दोषज एवं द्विदोष भी होता है, यह अर्थ प्राप्त होता है। प्रायः=अधिकतर, अर्थात् अधिकतर श्वित्र त्रिदोषज ही होते हैं। सुश्रुत ने किलास को त्वक्गत व्याधि के रूप में स्वीकार किया है, यथा-'त्वक्गतमेव किलासम्' (नि.अ. ५) इति, इसलिये वह कुष्ठ की तरह रक्तादिगत कुष्ठ लक्षणों का उत्पादक नहीं होता, ऐसा श्वित्र (Leucoderma) को दृष्टिगत रखकर कहा गया है।

इह तु यद्रक्ताद्याश्रयित्वं श्वित्रस्योच्यते, तद्रक्तादिदोषमात्राभिप्रायेण न रक्तादिगतसमस्तकुष्ठलक्षणकारितया-यहाँ श्वित्र को जिस रक्तादि धातुओं के आश्रित बताया गया है उसका अभिप्राय मात्र रक्तादि दोषों से है, न कि रक्तादिगत समस्त कुष्ठ के लक्षणों के उत्पन्न होने से है। उससे यहाँ भी श्वित्र में त्वक् मात्र की विकृति होती है। अतः चरक के विचार से सुश्रुत का कोई विरोध नहीं है।

गुर्विति अनुपक्रमम्=अचिकित्स्य, अर्थात् उत्तरोत्तर क्रमशः अचिकित्स्य होते जाते हैं। 'अरक्तेत्यादि' के द्वारा साध्य किलास के लक्षणों को बताया गया है। ॥१७३-१७६॥

जल्पकल्पतरुटीका–'दारुणं इति' के द्वारा किलास (Leucoderma) के विशेष भेद को बताया गया है। दारुण, चारुण (अरुण) एवं श्वित्र, ये तीन भेद किलास के हैं। ये तीनों प्रकार के किलास प्रायः (विशेष रूप से) त्रिदोषज होते हैं।

प्रायशः शब्द से-त्रिदोषज के अतिरिक्त कभी-कभी द्विदोषज एवं एक दोषज भी होते हैं, अर्थ लिया गया है। दोषेत्यादि के द्वारा किलास के भेदों के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। किलास आरम्भक दोष जब रक्त धातु के आश्रित होकर जिस किलास को उत्पन्न करते हैं उसे 'दारुण' नाम दिया गया है, जब दोष मांसाश्रित होते हैं, तब उस समय ताम्रवर्णयुक्त 'चारुण' नामक किलास उत्पन्न होता है। मेद आश्रित दोषों से उत्पन्न होने वाले किलास का वर्ण श्वेत होता है एवं उसका नाम श्वित्र दिया गया है। ये किलास दारुण, चारुण एवं श्वित्र चिकित्सा में क्रमशः गुरुतर होते जाते हैं। [दारुणं के स्थान पर दारणं तथा चारुणं के स्थान पर चारणं पाठ प्राप्त होता है।]

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् ॥१७७॥

किलास के हेतु–अधोलिखित कारणों द्वारा किलास उत्पन्न होता है–

१. अतथ्यपूर्वक बोलना अर्थात् झूठ बोलना।	२. कृत उपकार को न मानना अर्थात् कृतघ्न होना (urgrate fulness)
३. देवताओं की निन्दा करना।	४. गुरुजनों का अपमान करना।
५. विरोधी अन्न-पान का सेवन करना।	६. पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म (पाप कर्म)।

चक्रपाणि–'वचांसीत्यादि' के द्वारा इस जन्मकृत (ऐहिक) वाचिक एवं मानसिक पाप कर्मों को बताया गया है।

पापक्रियेत्यनेन–'पापक्रिया' से जन्मान्तरकृत अधर्म का ग्रहण किया गया है। ॥१७७॥

तत्र श्लोकाः–

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये चेषु चाधिका दोषाः। कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः ॥१७८॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठं कुष्ठापहाश्च ये योगाः। सिद्धाः किलासहेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः ॥१७९॥
इति संग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये। स्मृतिबुद्धिवर्धनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय ॥१८०॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने कुष्ठचिकित्सितं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–कुष्ठ के हेतु (Etiology), द्रव्य (Pathogenic substance), लक्षण (Signs and symptoms), अर्थात् कुष्ठों के विविध लक्षण, भिन्न-भिन्न कुष्ठों में बली दोष, संक्षेप में कुष्ठों में विद्यमान दोषों के लक्षण, साध्य, असाध्य एवं कृच्छ्र साध्य कुष्ठों का वर्णन, कुष्ठघ्न विविध योग (सिद्ध योग), किलास के हेतु, लक्षण, गुरुता एवं लघुता तथा चिकित्सा, अर्थात् प्रशमन के

Scanned by CamScanner

उपाय; इन सभी विषयों का संग्रह भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश की स्मृति एवं बुद्धि के वर्धनार्थ, कुष्ठनाशक इस अध्याय में किया है। ॥१७८-१८०॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में कुष्ठचिकित्सा नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ। ॥७॥

चक्रपाणि–'हेतुर्द्रव्यमित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है।

येषु येषु कपालादिषु ये ये चाधिका दोषास्तेषां निर्देशः समासतो दोषनिर्देश इति-कपालादि जिन-जिन कुष्ठों में जो-जो दोष अधिक होते हैं उन दोषों का संक्षिप्त निर्देश इस अध्याय में किया गया है।

'रौक्ष्यं शोषस्तोदः' इत्यादि के द्वारा कुष्ठ में विद्यमान दोष के लक्षणों को बताया गया है।

गुरुलाघवमिति–'श्चित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम्' के द्वारा किलास की क्रमशः उत्तरोत्तर गुरुता को बताया गया है। ॥१७८-१८०॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान में कुष्ठचिकित्सा नामक सप्तम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे राजयक्ष्मा-चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि-त्रिदोषजत्वसामान्यात् कुष्ठमनु राजयक्ष्मचिकित्सिमुच्यते-त्रिदोषजत्व सामान्य से कुष्ठ के बाद राजयक्ष्मा-चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । अर्थात् राजयक्ष्मा एवं कुष्ठ दोनों ही त्रिदोषज व्याधि है, अतः कुष्ठ के बाद राजयक्ष्मा का अभिधान किया गया है । दक्ष यज्ञ के विनाश के समय विभिन्न रोगों की उत्पत्ति के क्रम में-सर्वप्रथम गुल्म की उत्पत्ति हुई, हविप्राश से प्रमेह एवं कुष्ठ की, भयत्रास एवं शोक के द्वारा उन्माद की, विविध भूत, अपवित्रता एवं स्पर्श से अपस्मार की, भगवान् शिव के तृतीय नेत्र से ज्वर की, ज्वर के संताप से रक्तपित्त की एवं अति व्यवाय (मैथुन) से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति हुई । चूंकि उन्माद एवं अपस्मार में आगन्तुज कारणों का अनुबन्ध होता है, इसलिये इसका विवेचन राजयक्ष्मा के बाद किया गया है । ॥१-२॥

द्विवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा । कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ।।३।।
रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः । आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ।।४।।
दुहितॄणामसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः । क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ।।५।।
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमंशुमान् । भार्यार्थं प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ।।६।।
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम् । रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ।।७।।
सोऽभिभूतोऽतिमहता गुरुक्रोधेन निष्प्रभः । देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ।।८।।
अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः । प्रसादं कृतवान् सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ।।९।।
स विमुक्तग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः । ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ।।१०।।
क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एकार्थो दुःखसंज्ञकः । यस्मात् स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ।।११।।
स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः । लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान् ।।१२।।

राजयक्ष्मा विषयक पौराणिक कथा-काम-व्यसन से युक्त इस पौराणिक कथा को जो चन्द्रमा के संबन्ध में है, देवताओं के मुख से ऋषियों ने सुना था:-

अपनी पत्नी रोहिणी के साथ अत्यधिक आसक्त होने के कारण शरीरस्थ स्नेह धातु (शुक्र) का क्षय होने से चन्द्रमा असक्त (दुर्बल) हो गये, परिणामतः वे अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सके । शेष २७ पत्नियों ने चन्द्रमा के इस व्यवहार 'असंभोग की प्रवृत्ति' की शिकायत अपने पिता प्रजापति से की, जिसके कारण प्रजापति के श्वास से मूर्तिमान (शरीरधारी) क्रोध मुख से बाहर निकला । अर्थात् चन्द्रमा के व्यवहार से क्रुद्ध प्रजापति के मुख से क्रोध रूपी शरीरधारी पुरुष बाहर निकला, क्योंकि प्रजापति की २८ कन्याओं को चन्द्र ने पत्नी के रूप में वरण किया था । चन्द्रमा ने अपनी सभी पत्नियों के साथ बराबर का वर्ताव नहीं किया, क्योंकि उनकी आसक्ति विशेष रूप से रोहिणी के प्रति थी । पत्नियों के साथ सम व्यवहार न करने के कारण चन्द्रमा के गुरु (श्वसुर) प्रजापति ने शाप दे दिया । जिसके कारण रजो गुण युक्त दुर्बल चन्द्रमा को यक्ष्मा ने आक्रान्त कर लिया, अर्थात् उनके शरीर में प्रविष्ट हो गया । गुरु के क्रोध से अभिभूत चन्द्रमा जब अत्यधिक कान्तिहीन (प्रभा हीन) हो गये तब देवताओं एवं देवर्षियों को साथ लेकर उनकी (गुरु की) शरण में गये । इसके बाद 'चन्द्रमा की बुद्धि शुद्ध (पवित्र) हो गयी है' ऐसा जानकर दक्ष प्रजापति ने उन पर कृपा की एवं अश्विनीकुमारों द्वारा उनकी चिकित्सा की गयी । अश्विनी कुमारों ने चन्द्रमा के ओज को बढ़ाया, जिससे उनका मन शुद्ध हो गया । इस प्रकार वह व्याधि से मुक्त हो गये एवं ग्रह विशेष के रूप में विराजमान हो गये ।

राजयक्ष्मा के पर्याय-क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग तथा दुःख; सभी एक ही अर्थ (भाव) को बताने वाले हैं । यह व्याधि (यक्ष्मा) सर्वप्रथम नक्षत्रराज चन्द्रमा को हुई, इस कारण इसका नाम राजयक्ष्मा पड़ा ।

वह यक्ष्मा अश्विनीकुमारों द्वारा हुङ्कार करने पर मनुष्य (मृत्यु) लोक में आ गया एवं ४ प्रकार के हेतुओं को प्राप्त होकर मनुष्यों में प्रवेश कर गया है । ॥३-१२॥

चक्रपाणि-'दिवौकसामित्यादि' के द्वारा यक्ष्मा की पूर्वोत्पत्ति को दर्शाया गया है । इस पौराणिक कथा से राजयक्ष्मा का प्रधान कारण धातुक्षय तथा अपनी पत्नियों के साथ सम व्यवहार न करने से उत्पन्न अधर्म भी कारण है, यह दर्शाया गया है । **कामव्यसनसंयुक्ता स्त्रीपुंसङ्ग संबन्धा**-अत्यधिक स्त्री प्रसङ्ग में लीन रहना, अर्थात् कामासक्त होना ।

Scanned by CamScanner

देहः स्नेहपक्षियादिति-देह (शरीर) से स्नेह का क्षय होना, अर्थात् शरीर के सार भाग के क्षय होने से (शुक्रक्षय से)। स्नेह शब्द सार वाची है, इससे यहाँ शुक्र एवं ओज का ग्रहण किया गया है। अवध्यातमिति-क्रोध से चिन्तित।

गुरुक्रोधेनेति-गुरु के क्रोध से, क्रोध के रूप में यक्ष्मा चन्द्रमा के शरीर में प्रवेश कर गया, फलतः व्याधि प्रभाव से वे कान्तिहीन (प्रभा रहित) हो गये। शुद्धां मतिं बुध्वेति-शुद्ध मति (बुद्धि) को जानकर, **स्वापराधजनितमात्मनः क्षयं बुध्वा चन्द्रमसः स्वदोषपरिहारार्थं शुद्धां बुद्धिं ज्ञात्वा**-स्वयं के ही अपराध से मुझे यह क्षय रोग उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानकर चन्द्रमा अपने दोष के परिहारार्थ शुद्ध बुद्धि युक्त हो गये हैं, ऐसा समझते हुए श्वसुर प्रजापति ने उनके ऊपर कृपा की।

विमुक्तग्रह इति ग्रहेण यक्ष्माख्येन विमुक्तः -यक्ष्मा रूपी ग्रह (व्याधि) से मुक्त होना। सत्व=मन। शुद्धमिति-दोषरहित होना। ॥३-१२॥

अयथाबलमारम्भं वेगसंधारणं क्षयम्। यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥१३॥

यक्ष्मा के ४ कारण-राजयक्ष्मा के ४ कारण बताये गये हैं-

१. अयथाबलमारम्भ (अपनी शारीरिक क्षमता से अधिक कार्य करना-Over exertion)

२. वेगसंधारण (अधारणीय वेगों को धारण करना)

३. क्षय (धातुक्षय)

४. विषमाशन (Irregular dieting)

चक्रपाणि-अयथाबलमारम्भादि के रूप में यक्ष्मा के तीन हेतु विहार के रूप में पठित हैं तथा चतुर्थ 'विषमाशन' को जो आहार रूप हेतु है, 'चतुर्थं विषमाशनम्' इति के द्वारा अलग से पढ़ा गया है। पूर्व निर्देश से ही चार हेतुओं का भाव प्राप्त हो जाता है, फिर भी 'चतुर्थमिति' पद का प्रयोग साहसादि के अनेक भेद होते हुए भी साहसादि चतुर्विध हेतुओं का अतिक्रमण नहीं होता, इसे दर्शाने के लिए किया गया है। अर्थात् राजयक्ष्मा के विविध हेतु होते हुए भी सभी हेतुओं का समावेश इन चारों में ही हो जाता है। ॥१३॥

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः। पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥१४॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ प्रधावति ॥१५॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः। कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥१६॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः। जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरःस्थश्चोरसो रुजम् ॥१७॥
क्षणनादुरसः कासात् कफं ष्ठीवेत् सशोणितम्। जर्जरिणोरसा कृच्छ्रमुरःशूलातिपीडितः ॥१८॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते। एकादशभिरात्मज्ञो भजेत्तस्मान्न साहसम् ॥१९॥

अयथाबलमारम्भ (साहस) जन्य राजयक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण-अपनी क्षमता से अधिक बली पुरुष से युद्ध करना, अत्यधिक पढ़ना, भार ढोना, पैदल चलना, अत्यधिक उपवास रखना, अत्यधिक तैरना, गिरना (ऊँचे स्थान से गिरना), अत्यधिक घायल होना तथा अन्य इसी प्रकार के साहसजन्य कार्यों को करने से रोगी के उरः (Lungs) में क्षत हो जाने से प्रकुपित हुई वायु-कफ व पित्त को बढ़ाते हुए, साथ लेकर शरीर के विभिन्न भागों में गमन करती है- १. वह प्रकुपित वायु-कफ व पित्त को लेकर सिर में स्थित होकर-शिरःशूल (Headache) को उत्पन्न करती है, २. जब वह गले (Throat) में आश्रित होती है तब कण्ठोद्ध्वंश (Irritation in the throat), कास (Cough), स्वरभेद (Hoarseness of voice) तथा अरुचि (Anorexia) को उत्पन्न करती है।

३. जब वह पार्श्व (Sides of the chest) के आश्रित होती है, तब पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest) को उत्पन्न करती है। ४. यदि गुदा (Anus) में स्थित होती है तब मलभेद (अतिसार-diarrhoea) को उत्पन्न करती है।

५. सन्धियों में आश्रित होने पर जृम्भा (yawning) एवं ज्वर (Fever) को उत्पन्न करती है। ६. उरः प्रदेश में आश्रित होने पर उरःशूल को उत्पन्न करती है। उरः क्षत हो जाने से कास (खाँसी) के साथ रोगी रक्त एवं कफ को थूकता है। उरः (फुफ्फुस) के जर्जर हो जाने से रोगी कृच्छ्र उरःशूल (Chest pain) से अत्यधिक पीडित रहता है। इस प्रकार साहसजन्य कारणों से ११ रूप (लक्षणों) वाले यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है अथवा उत्पन्न होता है। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह साहसयुक्त कार्यों को न करें, अर्थात् बुद्धिमान पुरुष को साहसयुक्त कार्यों को नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि-राजयक्ष्मा के हेत्वादि का विवेचन निदानस्थान में वर्णित होते हुए भी प्रकरणवशात् निदानोक्त विषयों (हेतुओं) से कुछ विशेष होने के कारण पुनः कहा गया है। 'युद्धेत्यादि' के द्वारा राजयक्ष्मा के ४ हेतुओं का वर्णन किया गया है।

Scanned by CamScanner

सहसा शक्तिमनालोच्य यानि क्रियन्ते तानि साहसानि-अचानक अपनी क्षमता का विचार न करते हुए जो कार्य किये जाते हैं उनको साहस कहा गया है। उभाविति-कफ व पित्त।

क्षणनादित्यादिना रक्तकफनिष्ठीवनमेकमेव लक्षणम्-'उरः शूलातिपीडितः' इत्यन्तेनोच्यते-'क्षणनादित्यादि' के द्वारा रक्तकफ निष्ठीवन एक मात्र लक्षण को 'उरः शूलातिपीडितः' इति जिसके अन्त में है, से कहा गया है। अर्थात् उरः क्षत होने पर व्यक्ति को खाँसी के साथ कफ व रक्त निष्ठीवन के रूप में आता है तथा अत्यधिक उरः शूल (chest pain) होता है। उरःशूल से उरोरुक् (chest pain) अर्थ लिया गया है। उरः क्षत के रोगी में रक्तनिष्ठीवन विशेष रूप से पाया जाता है। इस प्रकार रक्तनिष्ठीवन (Splits out phlegm along with blood) को लेकर यक्ष्मा के ११ लक्षण पूर्ण हो जाते हैं।

[१. शिरःशूल (Headache), २. कण्ठोद्ध्वंश (Irritation in the throat), ३. खाँसी या कास (Cough), ४. स्वरभेद (Hoarseness of the voice), ५. अरुचि (Anorexia), ६. पार्श्वशूल, ७. अतिसार, ८. जृम्भा (yawning), ९. ज्वर (Fever), १०. उरःशूल (Pain in chest), ११. कफ के साथ रक्त निष्ठीवन; साहसजन्य यक्ष्मा के ये एकादश रूप है।] ॥१४-१९॥

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः ॥२०॥
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः ॥२१॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम् ॥२२॥
अङ्गमर्दं मुहुच्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान् ॥२३॥

२. वेगसंधारणजन्य यक्ष्मा के हेतु, सम्प्राप्ति एवं लक्षण-जब व्यक्ति लज्जा, घृणा अथवा भय के कारण प्रवृत्तोन्मुख वात, मूत्र एवं पुरीष के वेग को रोकता है तब वेगों के प्रतिघात (अवरोध) से प्रकुपित हुई वायु-पित्त व कफ को साथ लेकर शरीर के ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् भागों में गमन करती हुई अधोलिखित विकारों को उत्पन्न करती है-१. प्रतिश्याय (coryza), २. कास (Cough), ३. स्वरभेद (गले में खराश का उत्पन्न होना-Hoarseness of voice), ४. अरुचि (भोजन के प्रति रुचि का न होना-anorexia), ५. पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), ६. शिरःशूल (Headache), ७. ज्वर (Fever), ८. अंसावमर्द (Kneading pain in shoulder region), ९. अङ्गमर्द (अङ्गों में दबाने जैसी पीड़ा-Malaise), १०. बार-बार छर्दि का होना, ११. अतिसार (diarrhoea) (त्रिदोषज अतिसार)। इस प्रकार वेगावरोध के कारण इन ११ लक्षणों से युक्त व्याधि को यक्ष्मा कहा जाता है, अर्थात् वेगावरोधजन्य यक्ष्मा में ये ११ लक्षण पाये जाते हैं। ॥२०-२३॥

चक्रपाणि-'ह्रीमत्त्वादित्यादि' के द्वारा वेगसंधारणजन्य यक्ष्मा को बताया गया है।

वर्चोभेदं त्रिलक्षणमिति-अलग-अलग वातादिजनित तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त अतिसार, यह अर्थ लिया गया है। ॥२०-२३॥

ईर्ष्योत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्शनात्। अतिव्यवायानशनाच्छुक्रमोजश्च हीयते ॥२४॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्। प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम् ॥२५॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्। करोति चांससंतापमेकादशगदानिमान् ॥२६॥
लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्। संप्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षयप्रदम् ॥२७॥

३. धातुक्षयजन्य यक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण-ईर्ष्या, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध व शोक द्वारा कृश पुरुष जब अत्यधिक व्यवाय एवं उपवास करता है तब उसके शुक्र एवं ओज का अत्यधिक क्षय हो जाता है। इसके बाद उस पुरुष के शरीरस्थ स्नेह (शुक्र एवं ओज) के क्षय होने से प्रकुपित हुई वायु पित्त व कफ को उदीरित (प्रेरित) करती हुई सम्पूर्ण शरीर में फैलकर निम्नलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है-१. प्रतिश्याय, २. ज्वर, ३. कास, ४. अङ्गमर्द, ५. शिरःशूल, ६. श्वास (Dyspnoea), ७. विड्भेद ८. अरुचि (Anorexia), ९. पार्श्वशूल, १०. स्वरक्षय, तथा ११. अंससंताप (Burning sensation in the shoulder region); ये ११ लक्षण धातुक्षयजन्य राजयक्ष्मा में पाये जाते हैं। धातुक्षय से उत्पन्न होने वाला यह यक्ष्मा प्राण का क्षय (नष्ट) करने वाला होता है।

चक्रपाणि-'ईर्ष्येत्यादि' के द्वारा धातुक्षयजन्य राजयक्ष्मा को बताया गया है। **ओज इति रसः, रसेऽप्योजः शब्दो वर्तते**-ओज=रस धातु, रस धातु को भी ओज शब्द से कहा गया है, यथा-"मली भवति तत् प्रायः कल्पते किंचिदोजसे" इति [व्यक्ति द्वारा गृहीत आहार प्रायः मल रूप में परिणित हो जाता है उसका कुछ ही भाग ओज में बदलता है।] अथवा ओज शरीरस्थ धातुओं का सार होता है।

स्नेहक्षयादिति-देह के सार भाग-शुक्र एवं ओज के क्षय होने से। 'क्षयात् प्राणक्षयप्रदमिति' से यहाँ शुक्र एवं ओज क्षय के हेतुओं से धातुक्षयजन्य यक्ष्मा की उत्पत्ति होती है एवं क्षय से व्यक्ति का जीवन नष्ट हो जाता है अथवा 'प्राणक्षयावहम्' इति पाठ प्राप्त होता है, जिसका अभिप्राय-क्षयजनक कारणों से राजयक्ष्मा एवं राजयक्ष्मा से (दोनों से) अहम् (मैं-व्यक्ति का जीवन) नष्ट हो जाता है। ॥२४-२७॥

Scanned by CamScanner

जल्पकल्पतरु टीका–यहाँ 'ईर्ष्योत्कण्ठेत्यादि' के द्वारा क्षय के हेतुओं को बताया गया है । निदानस्थान में क्षय को शोष का कारण बताया गया है । ईर्ष्या आदि कारणों द्वारा व्यक्ति के अत्यधिक कृश हो जाने से, अर्थात् इन कारणों द्वारा कृश व्यक्ति जब अतिव्यवाय एवं अनशन आदि हेतुओं का सेवन करता है तब उसके शुक्र एवं ओज धातु का क्षय हो जाता है । अत्यधिक व्यवाय (मैथुन) करने से शुक्र का क्षय होता है एवं अनशन (उपवास) से ओज का क्षय होता है । ईर्ष्यादि कारण द्वारा शरीर के कृश होने से भी ओज का ही क्षय होता है । **ओज इह हृदयस्थायीरस इति प्रोक्तं निदानस्थाने**-ओज से यहाँ हृदयस्थायी रस का ग्रहण किया गया है, ऐसा निदानस्थान में कहा गया है । वह रसज एवं द्रवत्व होने से रस कहा गया है । वह ओज ही हृदयस्थायी रस है न कि आहार से उत्पन्न रस है । वह ओज ही शरीर में १०७ नाड़ियों के द्वारा भ्रमण करता है । वह ओज अर्धाञ्जलि प्रमाण में रहता है, रस से उत्पन्न होने के कारण हृदयस्थायी रस धातु है, उसी का क्षय होता है, न कि अष्टविन्द्वात्मक ओज का । अष्टविन्द्वात्मक ओज के क्षय होने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है ।

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः । जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः ।।२८।।
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः । रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ।।२९।।
प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम् । ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुचिरस्य च ।।३०।।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च । कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ।।३१।।
इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम् । रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः ।।३२।।

४. **विषमाशनजन्य राजयक्ष्मा के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण**–विविध प्रकार के अन्न-पान के विषम रूप से सेवन करने पर वातादिदोष प्रकुपित (वैषम्य) होकर घोर (भयङ्कर) व्याधियों को उत्पन्न करते हैं । विषम आहारादि के सेवन से वातादिदोष विषम होकर रक्तादि स्रोतसों को अवरुद्ध कर यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) को उत्पन्न करते हैं । स्रोतसों में अवरोध होने से उत्तरोत्तर धातुएं पुष्ट नहीं हो पाती । परिणामतः व्यक्ति में व्याधि के एकादश रूप प्रकट होते हैं, यथा-१. प्रतिश्याय (coryza), २. कास (Cough),३. प्रसेक (मुख में पानी का आना-excessive salivation), ४. छर्दि (vomiting), ५. अरोचक (Anorexia), ६. ज्वर (Fever), ७ अंसाभिताप (Burning sensation in the shoulders), ८. रक्त का वमन (Hemoptysis), ९. पार्श्वशूल, १०. शिरःशूल (Headache) तथा ११. स्वरभेद (Hoarseness of the voice); ये सभी लक्षण क्रमशः कफ, पित्त तथा वात के कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

इस प्रकार व्याधि समूह रोगराज राजयक्ष्मा के हेतुओं से उत्पन्न एकादश रूप एवं चतुर्विध कारणों का विवेचन किया गया ।।२८-३२।।

चक्रपाणि–'विविधानीत्यादि' के द्वारा विषमाशनजन्य यक्ष्मा का विवेचन किया गया है । 'वैषम्य' से यहाँ प्रकृतिकरणादि अष्ट आहारविधि की विषमता का ग्रहण किया गया है । **वैषम्यादतिप्रवृद्धा वातादयो विषममुन्मार्गेण गताः सन्तः रुधिरादीनां स्रोतांसि रुद्ध्वा रोगाय यक्ष्मरूपाय कल्पन्त इति योजना**-अतिप्रवृद्ध वातादिदोष उन्मार्गगामी होकर रक्तादि स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न करते हुए यक्ष्मा रूपी रोग को उत्पन्न करते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

यथाक्रममिति–जैसा क्रम ११ रूपों का है, यथा-प्रतिश्याय, प्रसेक (मुख में पानी का आना), कास, छर्दि एवं अरोचक; ये लक्षण कफ दोष के हैं (श्लोक के अर्ध भाग में वर्णित लक्षण), श्लोक के दूसरे भाग में वर्णित लक्षण, यथा-ज्वर, अंसाभिताप एवं रक्तवमन, वृद्ध पित्त के हैं । शेष लक्षण, यथा-पार्श्वशूल, शिरःशूल, तथा स्वरभेद वृद्ध वात के कारण हैं । यहाँ प्रत्येक एकादश लक्षण के पाठ से एकादश लक्षणों के योग से ही प्रायः राजयक्ष्मा पूर्ण हो जाता है, अर्थात् ११ लक्षण से युक्त यक्ष्मा पूर्ण कहा जाता है । अतः षड् लक्षण एवं त्रिलक्षण वाले यक्ष्मा का जो अभिधान किया जायेगा वह लक्षण संपूर्ण लक्षण वाले यक्ष्मा का नहीं है, ऐसा जानना चाहिए । अर्थात् षट्रूप एवं त्रिरूप यक्ष्मा निश्चय ही अपूर्ण लक्षणों वाले राजयक्ष्मा हैं ।

ननु शोषाणामयथाबलमारम्भादिजत्वभेदेन चातुर्विध्यकथनेन किं ?-अयथाबलमारम्भ आदि चतुर्विध हेतुओं से उत्पन्न ४ प्रकार के शोषों का कथन किसलिये किया गया है, यह शङ्का है । यद्यपि वे-वे ही लक्षण सर्वत्र होते हैं, फिर भी सभी लक्षण त्रिदोषज ही होते हैं । इसलिए उनके एकरूपत्व का अभिधान होना उचित है । अभिप्राय यह है कि चतुर्विध कारणों से उत्पन्न ४ प्रकार के यक्ष्मा में जो ११ लक्षण पाये जाते हैं वे प्रायः सामान्य हैं तथा तीनों दोषों की वृद्धि से उत्पन्न होते हैं । आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है, यथा-"एकादशानामेकत्र सांनिध्यात्तन्त्रयुक्तितः । क्रियाणां चाविभागेन प्रागेकोत्पादनेन च ॥ एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको गदः" (सु.उ.तं.अ. ४१) इति [एकादश रूप एक ही व्याधि में विद्यमान होने से, तन्त्र युक्ति से, चिकित्सा के विभाग न होने से अर्थात् अलग-अलग चिकित्सा निर्दिष्ट न होकर एक व्याधि (राजयक्ष्मा) की चिकित्सा का निर्देश होने से, पूर्व काल में प्रजापति के क्रोध से एक ही प्रकार के राजयक्ष्मा उत्पन्न होने से-शोष (राजयक्ष्मा) का एक ही प्रकार होता है उनमें प्राप्त होने वाले त्रिदोषज लक्षण दोषाधिक्यता के कारण पृथक्-पृथक् होते हैं ।] इस प्रकरण में भी कहा गया है, यथा-"सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा" [सभी प्रकार के यक्ष्मा त्रिदोषज ही होते हैं ।]

Scanned by CamScanner

मैवं, हेतुलक्षणचिकित्सितेन चतुर्णामपि भेदाद्भिन्न एवेति युक्तम्–ऐसा नहीं है, इन चारों हेतुओं द्वारा उत्पन्न यक्ष्मा के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा में भिन्नता है । अर्थात् चतुर्विध यक्ष्मा के अलग-अलग हेतु, अलग-अलग लक्षण एवं अलग-अलग चिकित्सा होती है । जिसमें साहसजन्य यक्ष्मा के हेतुओं को तो बताया ही गया है, साहसजन्य यक्ष्मा के लक्षणों में-कण्ठोद्ध्वंश, उरोरुक् (उरो वेदना) तथा जृम्भा को बताया गया है । वेगसंधारणजन्य यक्ष्मा में-अङ्गमर्द, बार-बार छर्दि का होना तथा अतिसार (ये तीन) लक्षण पाये जाते हैं । अन्य स्थानों पर वर्चोभेद (अतिसार) का उल्लेख तीन लक्षणों में नहीं किया गया है । क्षयज राजयक्ष्मा में-श्वास, पार्श्वशूल, अंससंताप लक्षण को बताया गया है । विषमाशनजन्य यक्ष्मा में रक्तवमन (Hemoptysis) मिलता है तथा साहसजन्य यक्ष्मा में प्रतिश्याय का अभाव होता है । शेष में प्रतिश्याय आदि लक्षणों के आधार पर भेद किया गया है । विशेष लक्षणों के आधार पर चिकित्सा में भी भेद हो ही जाता है, इसलिये यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) के भेद को कहना उचित ही है । अर्थात् चतुर्विध हेतुओं से ४ प्रकार के यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) उत्पन्न होते हैं, यह कथन उचित है । अन्य शास्त्रों में इसकी अभेदता को स्थूल दृष्टि (मोटे रूप) से स्वीकार किया गया है, अथवा कहा गया है । इस प्रकरण में भी स्थूल दृष्टि से ही 'सर्वस्त्रिदोषजो ज्ञेयः' इत्यादि के द्वारा अभेद को ही बताया गया है । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसके चतुर्विध भेदों का ज्ञान होता है अथवा सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इस (राजयक्ष्मा) के चार भेद होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

पुनश्च ''कासोऽङ्गताप'' इत्यादिना दोषलक्षणानि वक्ष्यति-पुनः 'कासोऽङ्गताप' इत्यादि के द्वारा दोषज लक्षणों का अभिधान करेंगे वह सामान्यतः चारो प्रकार के यक्ष्मा में प्रायः मिलने वाले हैं, ऐसा जानना चाहिए । इस प्रकार यह कथन पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता ।

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम् । अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ।।३३।।
घृणित्वमश्रद्दधानापि बलमांसपरिक्षयः । स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ।।३४।।
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ।।३५।।
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम् । स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ।।३६।।
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि । शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ।।३७।।
प्रायूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः ।

राजयक्ष्मा के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)–प्रतिश्याय (coryza), शरीर का दुर्बल होना (Weakness of the body), अदोषयुक्त वस्तुओं में दोष दिखाई देना, शरीर में बीभत्सता का दिखाई देना (Appearance of ugly signs and symptoms), खाने-पीने की वस्तुओं से घृणा का होना, उचित आहार लेने पर भी शरीर के बल व मांस का क्षय होना, स्त्री, मद्य व मांस के प्रति विशेष प्रेम (इच्छा) का होना, एकान्त प्रियता, अन्न-पान में प्रायः मक्षिका, घुण, केश एवं तृण का दिखाई देना या गिरना, केश एवं नखों का जल्दी-जल्दी (शीघ्रतापूर्वक) बढ़ना, स्वप्न में पक्षियों, पतङ्गों एवं श्वापदों (व्याघ्रादि) द्वारा पराजित होना व केश, अस्थिसमूह एवं राख (भस्म) की ढेर पर चढ़ना या प्रवेश करना, स्वप्न में जलाशय का सूखना, पर्वतों का टूटना, वनों का सूखना एवं तारामण्डल (नक्षत्रों) का टूटकर गिरना; इन भावों का दिखाई देना । इस प्रकार अनेक रूप (लक्षण) वाले पूर्वरूप जिन पुरुषों में दिखाई दे, उसे राजयक्ष्मा होने वाला है, ऐसा जाने । अर्थात् ये लक्षण राजयक्ष्मा के पूर्वरूप में पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

चक्रपाणि–यहाँ चारों कारणों द्वारा होने वाले यक्ष्मा के साधारण (सामान्य) पूर्वरूप को 'पूर्वरूपमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । प्रतिश्याय को रूप के अन्तर्गत पढ़ा गया है ।

तेन प्रतिश्यायः पूर्वरूपान्तरसहितः पूर्वरूपं भवति, रूपान्तरसहितस्तु रूपमिति विशेषः–इस प्रकार प्रतिश्याय पूर्वरूप के बाद विद्यमान होने पर पूर्वरूप होता है तथा रूप भी रूपान्तर के बाद विशेष रूप से रूप ही रहता है । अतः एक मात्र प्रतिश्याय जो पूर्वरूप के रूप में होता है, बाद में व्याधि की अवस्था (रूपावस्था) में विद्यमान होने से अरिष्ट नहीं होता, क्योंकि सभी पूर्वरूपों का रूप में बदलना अरिष्ट होता है । कहा भी गया है, यथा-''पूर्वरूपाणि सर्वाणि'' (इ.अ. ५) इति ।

काये बीभत्सदर्शनमिति–शरीर में विकृति का दिखाई देना । मक्षिकादीनामन्नपाने च पतनानीति योज्यम्–अन्न-पान में मक्षिका आदि का गिरना । पतत्र्यादिभिरभिधर्षणम्–पक्षियों एवं व्याघ्र आदि के द्वारा स्वप्न में पराजित होना । पतत्रिणः पक्षिणः=पक्षी (हिंसक पक्षी) । श्वापदा=व्याघ्र आदि ।

केशास्थिराशीनामित्यादौ यच्च दर्शनमित्यन्तं 'स्वप्ने' इत्यनुवर्तते–केशसमूह, अस्थिसमूह, राख के ढेर पर चढ़ना, सूखे हुए जलाशय, पर्वत, वन एवं प्रकाश युक्त नक्षत्रों का टूटना; ये सभी विषय स्वप्न में दिखाई देते हैं । अर्थात् स्वप्न में इन सभी विषयों का दिखाई देना ।

(केशास्थिराशीनामिति से प्रारम्भ कर 'दर्शनम्' तक में 'स्वप्ने' शब्द भी संयुक्त है) ॥३३-३७॥

Scanned by CamScanner

रूपं त्वस्य यथोद्देशं निर्देक्ष्यामि सभेषजम् ।।३८।।
यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः । स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः ।।३९।।
स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् । धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ।।४०।।
तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम् । मलीभवति तत् प्रायः कल्पते किंचिदोजसे ।।४१।।
तस्मात् पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः । सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ।।४२।।
रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वास्थानस्थो विदह्यते । स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ।।४३।।
जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः । येषां संघातयोगेन राजयक्ष्मेति कथ्यते ।।४४।।
कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा । छर्दनं रक्तकफयोः श्वासवर्चोगदोऽरुचिः ।।४५।।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मणः षडिमानि वा । कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः ।।४६।।
सर्वैरप्येभिर्विनाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये । युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ।।४७।।

राजयक्ष्मा के रूप–अब आगे राजयक्ष्मा के रूप एवं भेषज का निर्देश उद्देश्यक्रमानुसार किया जा रहा है–

अपनी-अपनी ऊष्मा के द्वारा पाक होते हुए शारीर धातुएं अपने-अपने स्रोतस् में रहते हुए एक धातु दूसरी धातु (उत्तर धातु) को पुष्ट करती है । अर्थात् उत्तर धातु पूर्व धातु से पोषण प्राप्त करती है । स्रोतस् के अवरुद्ध होने से, रक्तादि धातुओं के क्षय से एवं धात्वोष्मा के अपचय (अल्पता) से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है । उस समय कोष्ठाश्रित जिस अन्न का पाक जाठराग्नि करती है उसका अधिकांश भाग मल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, मात्र कुछ भाग ही ओज में बदलता है अर्थात् ओज का निर्माण बहुत ही कम हो पाता है । इसलिये **राजयक्ष्मा के रोगी की मल (पुरीष) की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये, क्योंकि सभी धातुओं का क्षय होने से रोगी का बल पुरीष के ही आश्रित रहता है ।**

राजयक्ष्मा संज्ञा–स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने पर रस धातु अपने स्थान में रहकर विदाह को प्राप्त होती है (विदह्यते का पाठ भेद विवर्धते है, अतः इसका अर्थ अपने स्थान पर रस बढ़ता रहता है, होगा ।) यही रस विकृत होकर शरीर के ऊर्ध्व भाग में कास के वेग के साथ अनेक रूपों में व्यक्त होता है । तत्पश्चात् षड् अथवा एकादश व्याधियाँ (लक्षण) उत्पन्न होती हैं । इन्हीं लक्षणों के समूह को (समुदाय को) राजयक्ष्मा कहा जाता है ।

यक्ष्मा के एकादश रूप–१. कास (Cough), २. अंसताप (Burning sensation in the shoulder region), ३. वैस्वर्य (स्वर का बदल जाना), ४. ज्वर, ५. पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), ६. शिरःशूल (Headache), ७. रक्त का वमन होना (Hemoptysis), ८. कफ का वमन होना, ९. श्वास, १०. अतिसार, तथा ११. अरुचि; ये ११ रूप (एकादश रूप) यक्ष्मा में पाये जाते हैं । अथवा अधोलिखित षड् रूप यक्ष्मा में मिलते हैं-१. कास, २. ज्वर, ३. पार्श्वशूल, ४. स्वरभेद, ५. मलभेद (अतिसार), ६. अरुचि ।

बल व मांस से क्षीण यक्ष्मा रोगी में एकादश रूप (यक्ष्मा के सभी लक्षण) अथवा षड्रूप (६ लक्षण) या त्रिरूप (३ लक्षण) मिलने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए अर्थात् वह यक्ष्मा का रोगी असाध्य होता है । जिस यक्ष्मा रोगी के बल व मांस क्षीण नहीं हैं अर्थात् रोगी बलवान् है उसमें एकादश, षड् अथवा त्रिरूप के मिलने पर भी चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् वह रोगी साध्य होता है । ।।३८-४७।।

चक्रपाणि–'रूपं त्वस्येत्यादि' के द्वारा यहाँ राजयक्ष्मा के रूप की विस्तार से व्याख्या की गयी है ।

निर्देक्ष्यामीति–विस्तार से कहूँगा । अर्थात् यक्ष्मा के रूप (लक्षण एवं प्राप्ति) की उद्देश्य क्रमानुसार व्याख्या करूँगा । यक्ष्मा के रूप को जानने के लिए रोगी के शरीर को जानना जरूरी है । चूंकि इसमें शरीर धातुओं के पोषण क्रम में अवरोध उत्पन्न होता है । इसलिये शरीर धातुओं के पोषण क्रम का ही अभिधान सर्वप्रथम 'यथास्वेनेत्यादि' के द्वारा किया गया है । **यथास्वेन यथात्मीयेन, ऊष्मणा रसाग्न्यादिरूपेण त्रयोदशविधेन**-यथास्वेन-धातु की अपनी ऊष्मा द्वारा, ऊष्मा से यहाँ रसाग्नि आदि रूप में विद्यमान १३ प्रकार की अग्नियों का ग्रहण किया गया है । (१३ प्रकार की अग्नियों में-पञ्चभूताग्नि, ७ धात्वाग्नि एवं १ जाठराग्नि की गणना की गयी है ।)

धातुः पुष्यति धातुनेति–पूर्व धातु द्वारा उत्तर धातु की पुष्टि होती है । धातुना=रसेन, धातु रक्तादिरूपः-रस द्वारा रक्तादि रूपी धातुओं की पुष्टि होती है । अथवा क्रमपरिणामपक्ष के अनुसार रस से रक्त, रक्त से मांस धातु की पुष्टि होती है, ऐसा जानना चाहिए । इसी प्रकार धातुपोषण के क्रम को दिखाकर यक्ष्मा में यह क्रम बाधित होता है, इसका विवेचन 'स्रोतसामित्यादि' के द्वारा किया गया है । अथवा 'स्रोतसामित्यादि' के द्वारा विरोधी क्रम को स्पष्ट किया गया है ।

सन्निरोधादिति यक्ष्मकारकदोषेणावरुद्धत्वात्–यक्ष्मोत्पादक दोषों द्वारा स्रोतस् अवरुद्ध हो जाने से । अर्थात् यक्ष्मा कारक दोष शरीर के स्रोतसों (रसादि स्रोतों) में अवरोध उत्पन्न कर देते हैं । स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाने से तथा पोषकरस की अप्रबलता (दुर्बलता) के कारण रक्तादि धातुओं का क्षय हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए । धातुक्षय एवं दोष प्रभाव के कारण धात्वोष्मा भी दुर्बल हो जाती है ।

Scanned by CamScanner

अर्थात् धातुओं की अपनी-अपनी अग्नियाँ भी दुर्बल हो जाती हैं । धातुपोषकरस की अल्पता जिस प्रकार होती है उसको यहाँ 'तस्मिन्नित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

ओजसे इति सारभागाय–ओज का प्रयोग आहार के 'सार भाग' के लिये आया है अथवा रस (Nutrient product) के लिए आया है।

विशेषाद्राजयक्ष्मिण इति–इस शब्द से ही अन्य दुर्बल रोगियों के पुरीष की रक्षा करनी चाहिए, यह भाव प्राप्त हो जाता है । अभिप्राय यह है कि राजयक्ष्मा में पुरीष की रक्षा तो करनी ही चाहिए, साथ में उन रोगों में भी पुरीष रक्षणीय है जिनमें धातुक्षय होता है अथवा रोगी दुर्बल है ।

विड्बलमिति विडाधारम्–पुरीष ही राजयक्ष्मा के रोगी के बल का आधार है । जो रस राजयक्ष्मा के रोगी में उत्पन्न होता है, उससे धातुएं पुष्ट नहीं होती । अर्थात् वह धातुओं को पुष्ट नहीं करता अपितु अपने स्थान में रहकर विदाह को प्राप्त होता है **स्वस्थानस्य इति**- हृदय में रहकर ।

सर्वैरिति–से यहाँ एकादश रूपों को लिया गया है। अर्धैरिति-षड् रूप यक्ष्मा अर्थात् षड् लक्षणों वाले यक्ष्मा का ग्रहण किया गया है।

एकादशस्य ज्येष्ठभागपरिग्रहात् षडेवार्धं भवति–११ के ज्येष्ठ भाग के परिग्रह से ६ ही आधा होता है (११ का आधा करने पर ६ व ५ के दो भाग प्राप्त होते हैं, क्योंकि लक्षणों का विभाग नहीं होता । अतः यहाँ बड़े भाग का ग्रहण किया गया है ।) यह निर्देश अन्य स्थानों पर भी प्राप्त होता है, यथा-"त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि, कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः" (सि.अ. १) इति [३० बस्तियों की संख्या को कर्म, उसका आधा-१६ को काल, तथा काल के अर्ध भाग-८ बस्ति को योगबस्ति कहा जाता है ।] ३० बस्ति का अर्ध रूप कालबस्ति होती है । तीस का आधा पन्द्रह होता है, लेकिन यहाँ पन्द्रह का ग्रहण न कर श्रेष्ठ भाग के परिग्रह से यह संख्या १६ ली गयी है । "काले त्रयोऽन्ते पुरतस्तथैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः" के द्वारा इसे बताया गया है ।

'त्रिभिरित्यत्र'-त्रिभि इति से यहाँ कोई भी तीन रूप यक्ष्मा के ग्राह्य हैं । अर्थात् ११ रूपों में से कोई भी तीन रूप का ग्रहण किया गया है । क्योंकि त्रिविध लक्षणों का निर्देश न होने से जो तीन प्रधान लक्षण एकादश में से मिलते हैं उन्हीं का ग्रहण करते हैं। अन्य आचार्य 'अंसपार्श्वाभितापश्च' इत्यादि द्वारा वर्णित तीन लक्षणों को स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार श्लोक नं० ५२ में वर्णित लक्षण १. अंसपार्श्वाभिताप (अंस एवं पार्श्व भाग में अभिताप का होना-Burning sensation in the shoulder region and sides of the chest), २. हाथ व पैर के तलवों में जलन का होना-Burning sensation in the hands and feet), ३. सम्पूर्ण शरीर में ज्वर का होना (Fever) ही त्रिरूप कहे गये हैं ।

केचित् तु 'अंसपार्श्वाभितापश्च' इत्यादिकं यक्ष्मसंबन्धिज्वरलक्षणं वदन्ति–कुछ आचार्य 'अंसपार्श्वाभितापश्च' से वर्णित लक्षणों को यक्ष्मा से सम्बन्धित ज्वर के लक्षण के रूप में स्वीकार करते हैं ।

अन्यथेति-बल, मांसादि से युक्त रोगी, अर्थात् जिस रोगी के बल व मांस क्षीण नहीं हुए हैं वह एकादश, षड् एवं त्रिरूप लक्षणों के मिलने पर भी चिकित्स्य है । ॥३८-४७॥

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा । मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति ॥४८॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्शनः । तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः ॥४९॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः । इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा चातः प्रजायते ॥५०॥

१. **प्रतिश्याय (coryza)**–ऐसे व्यक्ति जिनका, शिरःप्रदेश वायु से भरा हुआ है उनके घ्राणमूल में स्थित श्लेष्मा, रुधिर अथवा पित्त, वायु के साथ गमन करते हुए देह को कृश करने वाला भयङ्कर प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है । इसके रूप (लक्षण) निम्नलिखित हैं–शिरःशूल (Headache), शिरोगौरव (सिर में भारीपन-Heaviness of the head), घ्राणविप्लव (गन्ध ज्ञान का न हो पाना या नासिका का कफ से भरा होना), ज्वर (Fever), कास (Cough), कफोत्क्लेश, स्वरभेद (Hoarseness of voice), अरुचि (Anorexia), क्लम (मानसिक थकावट) तथा इन्द्रियों की विषय ग्रहण में असमर्थता (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ अपने सामान्य कार्यों को नहीं कर पाती) । इसके बाद व्यक्ति यक्ष्मा से पीडित हो जाता है ।

चक्रपाणि–'घ्राणेत्यादि' के द्वारा प्रतिश्याय का वर्णन किया गया है । मारुताध्मातशिरसो-सिर का वायु से पूर्ण होना । **मारुतं प्रति श्यायते गच्छतीत्यर्थः**-वायु के साथ घ्राणमूल में स्थित कफ, रक्त अथवा पित्त गमन करते हुए भयङ्कर प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है । मारुतानुगतं घ्राणात् स्रवति-वायु के साथ अनुगत होना अर्थात् वायु के साथ घ्राणमूल में स्थित श्लेष्म, रक्त अथवा पित्त का घ्राण (नासिका) से स्राव होने लगता है ।

Scanned by CamScanner

घ्राणविप्लवः गन्धाघ्राणादिरूपः –घ्राण से गन्ध का ज्ञान न हो पाना। (क्लेदेन नासिकापुटपूर्णता-नासिकापुटक क्लेद से भरा होना अर्थात् नासामार्ग का कफ से भरा रहना-गंगाधर) **यक्ष्मा चातः प्रजायते इति**-इसके बाद यक्ष्मा उत्पन्न हो जाता है, इस प्रकार यहाँ वर्णित लक्षण प्रतिश्याय के होते हुए भी ये लक्षण राजयक्ष्मा के पूर्वरूप हैं, ऐसा सूचित होता है। ॥४८-५०॥

[The Above mentioned signs and symptoms of Pratis'yāya also constitute the premonitory Signs and Symptoms of RĀJAYAKṢMĀ. -Dr. Bhagvan Das]

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीतकम्। कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥५१॥

२. **कास के लक्षण**–यक्ष्मा का रोगी खांसी (कास) के साथ कफ युक्त पिच्छिल (चिपचिपा), गाढ़ा, आमगन्ध युक्त हरे, श्वेत अथवा पीत वर्ण का रस निष्ठ्यूत (Sputum) के रूप में बाहर निकालता है।

चक्रपाणि– स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते इति-वह विदाह को प्राप्त रस ऊर्ध्व प्रदेश में कास के वेग के साथ अनेक रूपों में बारह निकलता है। श्लोक नं० ४३ में जो कहा गया है, उसी यक्ष्मा के रूप का यहाँ वर्णन 'पिच्छिलमित्यादि' के द्वारा किया गया है अर्थात् वही विकृत रस पिच्छिल आदि लक्षणों के रूप में बाहर निकलता है। ॥५१॥

अंसपार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयोः। ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५२॥

राजयक्ष्मा के लक्षण–राजयक्ष्मा के रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. अंस एवं पार्श्व में अभिताप का होना (अंसप्रदेश (Shoulder region) एवं पार्श्व (Sides of the chest) में अत्यधिक पीड़ा का होना।

२. हाथ व पैर के तलवों में जलन का होना (Burning sensation in the hands and feet)

३. सर्वाङ्ग ज्वर।

चक्रपाणि–'अंसेत्यादि' के द्वारा राजयक्ष्मा के रोगी में ज्वर के विशेष लक्षणों का अभिधान किया गया है। **लक्षणं राजयक्ष्मण इति**-अंसपार्श्वाभिताप, हाथ व पैर के तलवों में संताप (जलन) तथा सम्पूर्ण शरीर में ज्वर; ये तीन लक्षण राजयक्ष्मा के लक्षण हैं, ऐसा जानना चाहिये। ॥५२॥

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात् कासवेगात् सपीनसात्। स्वरभेदो भवेद्वातादूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥५३॥
तालुकण्ठपरिप्लोषः पित्ताद्वक्तुमसूयते। कफाद्भेदो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते ॥५४॥
सन्नो रक्तविबद्धत्वात् स्वरः कृच्छ्रात् प्रवर्तते। कासातिवेगात् कषणः पीनसात्कफवातिकः ॥५५॥
पार्श्वशूलं त्वनियतं संकोचायामलक्षणम्। शिरःशूलं ससंतापं यक्ष्मणः स्यात्सगौरवम् ॥५६॥

स्वरभेद (Hoarseness of Voice)–राजयक्ष्मा के रोगी में स्वरभेद-वात, पित्त, कफ, रक्त, कास के वेग एवं पीनस के कारण होता है। यदि वायु के कारण स्वरभेद है तब व्यक्ति की आवाज रूक्ष (dry), क्षाम (Weak) एवं चल (unstable) हो जाती है। पित्त के कारण उत्पन्न होने वाले स्वरभेद में रोगी के तालु एवं कण्ठ में जलन (Burning sensation) होती है तथा रोगी बोलना नहीं चाहता। कफ से उत्पन्न होने वाले स्वरभेद में रोगी की आवाज बद्ध (रुक) हो जाती है एवं गले में खुरखुर की आवाज आती है। रक्त से उत्पन्न होने वाले स्वरभेद में स्वर अवरुद्ध होने से कष्ट के साथ आवाज निकलता है। अत्यधिक कास के वेग से उत्पन्न होने वाले स्वरभेद में गले में घाव (injury) उत्पन्न हो जाता है। पीनस (coryza) के कारण उत्पन्न होने वाले स्वरभेद में कफ व वात के लक्षण मिलते हैं।

यक्ष्मा के रोगी में पार्श्वशूल अनियत रूप में बना रहता है, अर्थात् कभी होता है व कभी नहीं होता। साथ में संकोच व आयाम भी बना रहता है। लेकिन शिरःशूल-संताप एवं गुरुता के साथ बना रहता है।

चक्रपाणि–'वातादित्यादि' के द्वारा दोषानुसार स्वरभेद का विवेचन किया गया है। **वक्तुमसूयत इति**-वक्तुं न इच्छति-बोलने की इच्छा नहीं करती। खुरखुरायत इति-खुरखुर शब्द का होना (Rubbing noise)। सन्नः अवसन्नः=रुक जाना, रक्त के अवरुद्ध हो जाने से गले से आवाज का न निकलना। कषण इति कण्ठं कषति-गले में कोई वस्तु रगड़ रही है, ऐसा अनुभव होना, जिसके कारण आवाज धीमी हो जाती है।

पार्श्वशूलं त्वनियतमिति न संकोचरूपेण नियतम्–पार्श्वशूल अनियत रहता है, अर्थात् यह पार्श्वशूल कभी संकोच के रूप में तथा कभी आयाम के रूप में बना रहता है। सर्वदा एक जैसा नहीं बना रहता। शिरःशूल-वायु, ससंताप-पित्त तथा शरीर में गुरुता कफ से उत्पन्न होता है, इस प्रकार राजयक्ष्मा की त्रिदोषजन्यता को समझना चाहिए। ॥५३-५६॥

Scanned by CamScanner

अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात् । कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसंचितः ।।५७।।

यक्ष्मा मे रक्तष्ठीवन का हेतु–अत्यन्त दुर्बल शरीर वाला यक्ष्मा का रोगी जब विषम आहार (अन्न-पान) का सेवन करता है तब सञ्चित कफ उत्क्लेशित (प्रकुपित) होकर रक्त के साथ कण्ठ से बाहर निकलता है ।

चक्रपाणि–'सरक्तं कफमस्यतीति' से जो कहा गया है, उसी के लक्षणों को यहाँ 'अभिसन्न' इत्यादि के द्वारा बताया गया है ।

अभितः सन्नोऽभिसन्नः –अत्यन्त दुर्बल शरीर को अभिसन्न कहा गया है, अर्थात् अत्यन्त कमजोर । 'अभिष्यन्दे' इति पाठपक्षेऽभिष्यन्दगृहीत इत्यर्थः -'अभिसन्ने' के स्थान पर 'अभिष्यन्दे' पाठ होने पर 'अभिष्यन्द' का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा होने पर अभि पूर्वक 'स्यन्दते' भाव की सिद्धि कैसे होती है, यह विचारणीय है ।

संचितोत्क्लिष्टमिति वक्तव्ये पूर्वनिपातनियमादुत्क्लिष्टसंचित इति कृतम्–'संचितोत्क्लिष्ट' ऐसा कहना चाहिए था, लेकिन यहाँ पूर्व निपात के नियम से 'उत्क्लिष्टसंचित' ऐसा कर दिया गया है । ।।५७।।

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते । आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात् कण्ठमेति च ।।५८।।
वातश्लेष्मविबद्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति । दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते ।।५९।।

यक्ष्मा में रक्तवमन–दोषो द्वारा रक्तादि स्रोतसों के अवरुद्ध हो जाने से रक्त का परिणमन मांसादि धातुओं में नहीं हो पाता, परिणामतः रक्त आमाशय में स्थित होकर वृद्ध होता है व अत्यधिक रूप में बढ़ जाने से उत्क्लेशित होकर कण्ठ से वमन के रूप में बाहर निकलता है ।

यक्ष्मा में श्वास–उरः प्रदेश में वात एवं कफ के विबद्ध हो (रुक) जाने से श्वास की वृद्धि होती है, अथवा श्वास (Dyspnoea) की उत्पत्ति होती है ।

अतिसार की उत्पत्ति–दोषों द्वारा अग्नि के उपहत हो जाने से यक्ष्मा का रोगी पिच्छा युक्त पुरीष का बार-बार त्याग करता है । ।।५८-५९।।

चक्रपाणि–'रक्तमित्यादि' के द्वारा **रक्तवमन** का अभिधान किया गया है । विबद्धमार्गत्वादिति-रक्तधातु से मांसादि में गमन के लिए जो मार्ग हैं उन मार्गों में अवरोध उत्पन्न होने से मांस से गमन करने वाला रक्त मांसाशय में ही रुककर वहाँ से जल की तरह स्रवित होते हुए, मार्ग के विबद्ध होने से आमाशय में उसकी मात्रा बढ़ जाती है । मात्राधिक्य के कारण वह उत्क्लेशित होकर कण्ठ से वमन के रूप में बाहर निकलता है । इस प्रकार के रक्त का पोषकरस से सम्बन्ध न होने से क्षीयमाण होते हुए भी आमाशय में इसकी मात्रा अधिक होती है, ऐसा जानना चाहिए । अतः 'रक्तादीनां च संक्षयादिति' के द्वारा जिस रक्तक्षय का कथन किया गया है, वह स्थिति तो यहाँ भी उत्पन्न ही होती है, अर्थात् रक्तादि के क्षय होने से आमाशय में एकत्रित होने वाला रक्त भी अल्प होता है । ।।५८-५९।।

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितैः । जायतेऽरुचिराहारे द्विष्टैरर्थैश्च मानसैः ।।६०।।
कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात् । वातादेरुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात् ।।६१।।

यक्ष्मा रोगी में अरुचि के हेतु–जिह्वा एवं हृदय के आश्रित रहने वाले दोषों-वात, पित्त, कफ एवं समस्त दोषों के कारण तथा मन के विपरीत आहार के प्राप्त होने से व्यक्ति को भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है । वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाली अरुचि में व्यक्ति के मुख का स्वाद क्रमशः कषायरस युक्त (वातज अरुचि), तिक्तरस युक्त (पित्तज अरुचि) एवं मधुररस युक्त (कफज अरुचि) हो जाता है। मानसिक अरुचि में उचित प्रकार से निर्मित भोजन में व्यक्ति दोष देखता है, इस आधार पर मानसिक अरुचि का ज्ञान करना चाहिये ।

चक्रपाणि–रोगाधिकार प्रकरण में वर्णित-"पञ्च भक्तस्थानशनस्थानानीति वातपित्तकफद्वेषायासाः" (सू.अ. १९) सूत्र के अनुसार यद्यपि त्रिदोषज अरुचि का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है, फिर भी चिकित्सा हेतु द्वन्द्वज गुल्मवत् त्रिदोषज (सन्निपातज) अरुचि का भी अभिधान इसी के अन्तर्गत कर दिया गया है, ऐसा जानना चाहिए । आगे कहा भी जायेगा, यथा-"चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान्" इति, यहाँ त्रिदोषज अरुचि प्रकृतिसमसमवाय जन्य है, अर्थात् तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण इसमें मिलते हैं । इसलिये रोगाधिकार प्रकरण में अलग-अलग दोषों से उत्पन्न अरुचि के ही अन्तर्गत इसका भी ग्रहण कर लिया गया है । प्रकृतिसमसमवायजन्य होने से त्रिदोषज अरुचि के पृथक् लक्षणों का अभिधान नहीं किया गया है, क्योंकि वातादि दोषों के मिश्रित लक्षण ही उसके लक्षण होते हैं ।

कषायमुखरसता वातजायां, मधुरमुखरसता कफजायां, तिक्तमुखरसता पित्तजायां, त्रिदोषजायां तु त्रिदोषमुखरसतोन्नेया-मुख का स्वाद कषायरस होने पर वातज अरुचि की, मधुररस होने पर कफज एवं तिक्तरस होने पर पित्तज अरुचि का अनुमान करते हैं, तीनों दोषों का स्वाद मिलने पर त्रिदोषज अरुचि का अनुमान करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

दोषदर्शनादिति द्विष्टदर्शनात्–खाने-पीने की वस्तुओं में दोष का दिखाई देना । ॥६०-६१॥

अरोचकात् कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि । छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः ॥६२॥

यक्ष्मा में छर्दि का कारण–१. अरुचि से, २. अत्यधिक खांसी आने से, ३. दोषोत्क्लेश से (दोषों के अत्यधिक उत्क्लेशित हो जाने से), ४. भय के कारण; इन कारणों द्वारा जो छर्दि उत्पन्न होती है वह अन्य व्याधियों में भी उपद्रव के रूप में होती है ।

चक्रपाणि–'अरोचकादित्यादि' के द्वारा यक्ष्मा में उत्पन्न होने वाली छर्दि को स्पष्ट किया गया है ।

विकाराणामन्येषामप्युपद्रव इति–इस प्रकार की छर्दि मात्र यक्ष्मा रोग में ही नहीं होती, अपितु अन्य विकारों में भी इन कारणों द्वारा उत्पन्न छर्दि उपद्रव रूप में होती है अथवा इस प्रकार उत्पन्न होने वाली छर्दि यक्ष्मा रोग में उपद्रव रूप में होती है उसी प्रकार अरोचक आदि कारणों से उत्पन्न होने वाली छर्दि दूसरे हिक्का आदि रोगों के उपद्रव के रूप में होती है, यह अभिप्राय है । ॥६२॥

सर्वेष्विदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम् । परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥६३॥
प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये । पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु ॥६४॥

यक्ष्मा रोग की सामान्य चिकित्सा–सभी प्रकार के यक्ष्मा तीनों दोषों के प्रकोप के कारण उत्पन्न होते हैं । अतः चिकित्सक को दोषों के बलाबल की परीक्षा करके अवस्थानुसार यक्ष्मा रोग की चिकित्सा करनी चाहिये । अब हे अग्निवेश ! प्रतिश्याय, शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरक्षय व पार्श्वशूल में उपयोगी विविध प्रकार के साधारण उपक्रमों को सुनो- ॥६३-६४॥

चक्रपाणि–सामान्यतः सभी यक्ष्मा त्रिदोषज होते हैं, इसके प्रतिपादन के बाद, दोषों के बलाबल के आधार पर उनके भेद को सूचित करते हुये सामान्य व विशिष्ट चिकित्सा को यहाँ -'सर्व इत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

विविधा इति–विशेष (अलग-अलग दोषों के अनुसार) चिकित्सा, साधारणी इति-सामान्य चिकित्सा, अर्थात् राजयक्ष्मा की सामान्य एवं विशेष चिकित्सा का अभिधान आगे किया जा रहा है, उसे सुनो । तत्र विविधाः प्रत्येकं पीनसादिविहिता ज्ञेयाः –राजयक्ष्मा में होने वाले पीनस आदि लक्षणों की चिकित्सा करना विशेष चिकित्सा कहलाता है, ऐसा जानना चाहिए ।

साधारणीस्तु षडङ्गाजरसादिरूपाः साधारणविहिता ज्ञेयाः –साधारण चिकित्सा के अन्तर्गत राजयक्ष्मा की चिकित्सा करना, जिसमें रसादि धातुओं के क्षयजन्य लक्षण सम्पूर्ण शरीर में मिलते हैं । अर्थात् रसादि धातुओं के क्षय की चिकित्सा करना; आता है । ऐसा जानना चाहिए । साधारण चिकित्सा के अन्तर्गत षडङ्गाजरसादि रूप चिकित्सा आती है अर्थात् क्षय (Tuberculosis) की चिकित्सा में षडंग अजरस (बकरी के हड्डियों को उबालकर जो रस निकाला जाता है- Goat's Bone soup) का प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार की चिकित्सा साधारण चिकित्सा कही गयी है ।

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च । परिषेकावगाहांश्च यावकं वाट्यमेव च ॥६५॥
लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान् स्नेहोपबृंहितान् । लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥६६॥
सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् । दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ॥६७॥
तेन षड्विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः । मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपकल्पिते ॥६८॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत् । पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥६९॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम् । पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥७०॥

यक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले पीनस (प्रतिश्याय) आदि की चिकित्सा–पीनस में स्वेद, अभ्यङ्ग, धूम, आलेपन, परिषेक एवं अवगाहन कराना चाहिए साथ में आहार के रूप में रोगी को यावक (यव से बना हुआ आहार) एवं वाट्य (यव का भात) का प्रयोग करें ।

→ लाव, तित्तिर, दक्ष (मुर्गे) एवं वर्तक (वटेर) के मांसरस को घृत, लवण, कटु, अम्ल एवं उष्ण द्रव्यों से संस्कारित कर पीने के लिए देना चाहिए, अर्थात् मांसरस को इन द्रव्यों से छौंक कर पिलाना चाहिए ।

→ बकरी के मांसरस को पिप्पली, यव, कुलथी, शुण्ठी, दाडिम, आँवले का रस एवं घृत द्वारा संस्कारित कर पीने के लिए देना चाहिए । इसके सेवन से पीनसादि ६ प्रकार के उपद्रव (व्याधियाँ) शान्त हो जाते हैं ।

→ मूली अथवा कुलथी द्वारा निर्मित यूष (वह यूष जो विधिवत तैयार किया गया हो) में यव, गोधूम (गेहूँ) अथवा शाली चावल को पकाकर भक्ष्य तैयार करें । इनका सेवन रोगी की सात्म्यता के अनुसार कराना चाहिए, अर्थात् रोगी की रुचि एवं अनुकूलता का विचार कर उसे जो योग्य हो उस भक्ष्य को खाने के लिए दें ।

→ पान हेतु वारुणी मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग अथवा पञ्चमूल साधित जल का प्रयोग करें अथवा धनिया व शुण्ठी (सोंठ) द्वारा साधित जल अथवा भूँई आँवला द्वारा साधित जल अथवा चतुः पर्णिनियों (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी एवं मुद्गपर्णी) द्वारा साधित जल का प्रयोग पीने हेतु करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

इन्हीं द्रव्यों द्वारा साधित जल से अन्न का निर्माण कर रोगी को खिलाना चाहिए। अर्थात् षडङ्गपानीय विधि से साधित जल का प्रयोग-पीने के साथ-साथ आहार द्रव्यों (यथा-चावल, दाल, शाक आदि) के निर्माण हेतु करना चाहिये।

चक्रपाणि- स पिप्पलीकमित्यादिके रसे यवागूसाधनवद्द्रव्यादिमानं ज्ञेयम्-पिप्पली आदि से मांसरस के साधन हेतु यवागू साधन की जो विधि निर्दिष्ट है तदनुसार ही द्रव्यादि के मान का ग्रहण करना चाहिए; मांस का मान १२ पल लें।

सूपसंस्कृतैरिति सुष्ठूपसंस्कृतैः -अच्छी प्रकार से संस्कारित। तेनेति-पञ्चमूलादि द्रव्यों द्वारा साधित जल से। ॥६५-७०॥

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः। संकरस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥७१॥
स्वेदयेत् पत्रभङ्गेण शिरश्च परिषेचयेत्। बलागुडूचीमधुकशृतैर्वा वारिभिः सुखैः ॥७२॥
बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्। कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः ॥७३॥
औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम्। सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदे प्रयोजयेत् ॥७४॥
जीवन्त्याः शतपुष्पाया बलाया मधुकस्य च। वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥७५॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाः सुसंस्कृताः। शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः शिरःपार्श्वसशूलिनाम् ॥७६॥

यक्ष्मा में स्वेदन-कृशरा (खिचड़ी Thick Gruel), उत्कारिका (लप्सी), उड़द, कुलथी, यव, पायस (खीर) एवं संङ्कर स्वेद विधि द्वारा उचित रूप से कण्ठ, पार्श्व, उरः एवं शिरः प्रदेश का स्वेदन करना चाहिए।

→ वातनाशक पत्तों के क्वाथ अथवा बला, गुडूची व यष्टीमधु के ईषद् उष्ण क्वाथ से सुखपूर्वक सिर का परिषेक करना चाहिए।

→ बकरे का सिर अथवा मछली का सिर जल में पकाकर उस जल से नाड़ी स्वेद विधि द्वारा कण्ठ, सिर एवं पार्श्व प्रदेश का स्वेदन करें अथवा वातनाशक द्रव्यों से साधित दूध का प्रयोग नाड़ीस्वेद हेतु करें।

→ औदक (जलीय) एवं आनूप क्षेत्र में रहने वाले प्राणियों के मांस से निर्मित जल अथवा पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल) से साधित जल अथवा स्नेह मिश्रित काञ्जी का प्रयोग नाड़ीस्वेद में करना चाहिए।

→ यक्ष्मा रोग में रोगी के सिर, पार्श्व एवं अंस प्रदेश में शूल होने पर जीवन्ती, शतपुष्पा (सौंफ), बला, यष्टीमधु, वचा, वेशवार, विदारीकन्द, मूली, औदक एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांस; सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें। उस कल्क को चारो प्रकार के स्नेहों (घृत, तैल, वसा व मज्जा) द्वारा संस्कारित कर (पकाकर) उपनाह के रूप में गुनगुना प्रयोग करना चाहिये। ॥७१-७६॥

चक्रपाणि-तिलतण्डुलमाषैस्तु कृशरा ज्ञेया-तिल, तण्डुल (चावल) एवं उड़द के द्वारा कृशरा का निर्माण होता है, अर्थात् कृशरा (खिचड़ी) का निर्माण तिल, चावल एवं उड़द को जल में उबालकर किया जाता है। पत्रभङ्गेनेति-वातनाशक द्रव्यों के पत्तों (वातघ्न पत्तों) के क्वाथ से, पत्रभङ्ग से यहाँ वातनाशक पल्लव (कोमल पत्ते) का ग्रहण किया गया है। अर्थात् वातनाशक द्रव्यों के कोमल पत्तों एवं टहनियों का ग्रहण है। **सवातिकैरिति**-सवातिक से वातिक एवं उत्तरवातिक दो गण का ग्रहण किया गया है। अन्य सम्बन्धित ग्रन्थों में वातिक एवं उत्तरवातिक गणों को पढ़ा गया है, यथा-बिल्वोऽग्निमन्थः काश्मर्यं श्रेयसी पाटला बला। शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका ॥ वर्धमानो मूलकं च वातिकान्यवतारयेत्। करमर्द सबदरं कुलत्था शुष्कमूलकम् ॥ श्वदंष्ट्रा वेणुपर्णी च साश्वगन्धा शतावरी। ऋष्यप्रोक्तां गुडूची च मधुकं शिग्रुरेव च। यवान्यारग्वधश्चैव यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्। सर्वमेतद्विजानीयाद्विषगुत्तर वातिकम्'' इति [बिल्व, अग्निमन्थ, काश्मर्य, श्रेयसी, पाटला, बला, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेरी), वर्धमान (एरण्ड) एवं मूली; ये सभी द्रव्य वातिक गण के अन्तर्गत आते हैं। उसी प्रकार करमर्द, बदर, कुलथी, सूखी मूली, गोखरू, वेणुपर्णी, अश्वगन्धा, शतावरी, ऋष्यप्रोक्ता, गुडूची, यष्टीमधु, शिग्रु (सहिजन), यवानी (अजवाइन), आरग्वध अथवा और भी इसी प्रकार दूसरे द्रव्य; वे सभी उत्तरवातिक गण के अन्तर्गत हैं, ऐसा चिकित्सक को जानना चाहिये।]

नाड़ीस्वेदं प्रयोजयेदिति-उपर्युक्त द्रव्यों (वातिक या उत्तरवातिक गण के द्रव्यों) का प्रयोग यथायोग्य नाड़ीस्वेद के रूप में करना चाहिये अथवा नाड़ीस्वेद का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिये। अर्थात् जिस रोगी में जिस प्रकार के द्रव्यों का प्रयोग उचित है उसका वैसा प्रयोग करना चाहिये।

जीवन्त्यादीनां प्रत्येकमुपनाहा ज्ञेयाः -जीवन्ती आदि प्रत्येक द्रव्य द्वारा एक-एक उपनाह का निर्माण करना चाहिए, यथा-जीवन्ती के कल्क+औदक व आनूप पशु-पक्षियों के मांस+चारो प्रकार के स्नेह को पकाकर उपनाह बनावें। इसी प्रकार शतपुष्पा आदि द्रव्यों से भी उपनाह बनावें।

वेसवारो यथा-''निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् कृष्णामरीचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतः'' [अस्थि रहित मांस को उबाल लें, पश्चात् उसे पीसकर कल्क जैसा बनावें उसमें गुड़, घृत, काली मिर्च आदि डालकर खाने योग्य बनावें, इसे वेसवार कहा जाता है।] ॥७१-७६॥

Scanned by CamScanner

विशेष–वातिक एवं उत्तरवातिक का अभिप्राय-वे औषधियाँ अथवा द्रव्य जो वातव्याधि की चिकित्सा में उपयोगी हैं, लिया गया है। उत्तरवातिक गण की औषधियाँ वातिक गण की औषधियों से विशेष उपयोगी है, अर्थात् श्रेष्ठ वातनाशक हैं।

शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने । आलेपनं स्यात् सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत् ।।७७।।
बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम् । पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ।।७८।।
वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा । शतावरी पयस्या च कतृणं मधुकं घृतम् ।।७९।।
चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्तिताः । शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ।।८०।।
नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः । तैलान्यभ्यङ्गयोगीनि बस्तिकर्म तथा परम् ।।८१।।

शूलनाशक लेप– शतपुष्पा (सौंफ), मधुक (यष्टीमधु), कुष्ठ (कूठ), तगर एवं लालचन्दन; इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर, उसमें घृत मिला लें, पश्चात् गरम कर शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल के रोगियों में क्रमशः शिरःप्रदेश, पार्श्व भाग एवं अंसभाग में लेप करें। यह लेप शूलनाशक है।

शूलनाशक चार लेप–१. बला का मूल, रास्ना, तिल, यष्टीमधु, घृत एवं नील कमल। २. पलङ्कषा (गुग्गुल), देवदारु, लालचन्दन, नागकेशर एवं घृत। ३. वीरा (काकोली), बला, विदारीकन्द, कृष्णगन्धा (सहिजन की छाल) एवं पुनर्नवा। ४. शतावरी, पयस्या (क्षीरकाकोली), कतृण (गन्धतृण) यष्टीमधु एवं घृत। श्लोक के अर्धभाग में वर्णित ४ प्रकार के प्रदेह संसृष्ट दोषों से उत्पन्न होने वाले शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल के रोगियों में प्रशस्त हैं, अर्थात् हितकर हैं।

इन रोगियों में नावन (नस्य), धूपन (Fumigation), भोजनोत्तर स्नेहपान, सिद्ध स्नेहों से अभ्यङ्ग (Massage with medicated oil) तथा बस्तियों का प्रयोग अत्यन्त हितकर होता है। ।।७७-८१।।

चक्रपाणि–पलङ्कषा=गुग्गुलु। पयस्या=क्षीरकाकोली। शिरःपार्श्वांसशूलिनां शस्ता इति योज्यम्-'शतपुष्पादि' से वर्णित ४ प्रकार के प्रदेहों का प्रयोग शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल के रोगियों में करना चाहिये। ।।७७-८१।।

शृङ्गालाबुजलौकोभिः प्रदुष्टं व्यधनेन वा । शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ।।८२।।
प्रदेहः सघृतश्रेष्ठः पद्मकोशीरचन्दनैः । दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ।।८३।।
प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम् । कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम् ।।८४।।
चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा । अभ्यङ्गः, पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना ।।८५।।
माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिगृतेन वा । परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनी क्रिया ।।८६।।

रक्तमोक्षण का प्रयोग–शिरःशूल, अंसशूल एवं पार्श्वशूल के रोगियों में शृंग, अलाबू, जलौका एवं सिरावेध के द्वारा दूषित रक्त को निकाल देना चाहिए। ऐसा करने से ये व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद १. पद्म, उशीर (खस), चन्दन (लाल चन्दन), २. अथवा दूर्वा, यष्टीमधु, मञ्जिष्ठा (मजीठ) एवं नागकेशर, ३. अथवा प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ), निर्गुण्डी, कमलकेशर, कशेरुक, पयस्या (क्षीरकाकोली)। सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें उसमें घृत मिलाकर लेप करें।

राजयक्ष्माजन्य दाह में अभ्यङ्ग एवं परिषेक का प्रयोग–राजयक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले दाह की शान्ति हेतु चन्दनाद्यतैल अथवा शतधौतघृत का अभ्यङ्ग कराना चाहिए अथवा गोदुग्ध, यष्टीमधु क्वाथ, अच्छी प्रकार से शीतल किया हुआ वर्षा के जल (Cold rain water), अथवा चन्दन के क्वाथ द्वारा परिषेक (Sprinkling of liquids) कराना अत्यन्त उपयोगी होता है। इस प्रकार यक्ष्मा रोग की शमन चिकित्सा बतलायी गयी।

चक्रपाणि–'शृङ्गालाबुजलौकोभिरिति' से यहाँ पित्त की दुष्टि में जलौका का प्रयोग, रक्ताश्रित कफ के दूषित होने पर अलाबू के प्रयोग को बताया गया है। कहा भी गया है- "पित्तान्वितं जलौकोभिरलाब्वा तु कफान्वितम्। शोणितं वातदुष्टं तु विषाणेनाशु निर्हरेत्" इति [रक्ताश्रित पित्त की दुष्टि में जलौका, कफ की दुष्टि में अलाबु एवं वायु की दुष्टि में शृंग (विषाण-horn) द्वारा रक्त का निर्हरण कराना चाहिए]

व्यधनं तु सिराव्यधनम्–व्यधन से सिरावेध अर्थ लिया गया है। ।।८२-८६।।

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम् । स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यत्र कर्शनम् ।।८७।।
शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि । अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते ।।८८।।

यक्ष्मा रोग में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग–यक्ष्मा रोगी में दोषों की उल्बणता रहने पर स्नेहन एवं स्वेदन कराने के बाद स्नेह युक्त वमन एवं स्नेह युक्त विरेचन कराना चाहिए, जिससे रोगी का शरीर कृश न हो। पुरीष के विरेचन द्वारा निकल जाने पर राजयक्ष्मा का रोगी अपने शरीर को छोड़ देता है, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। अतः बल का विचार न करते हुए अत्यधिक मात्रा में विरेचक औषधि के प्रयोग करने पर रोगी की स्थिति विरेचन से क्या होगी? अर्थात् निश्चय ही मृत्यु हो जायेगी। ।।८७-८८।।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-यत्र कर्शनमित्यनेन-से मृदु वमन एवं मृदु विरेचन कराने का निर्देश दिया गया है, अर्थात् वमन एवं विरेचन हेतु उन औषधियों का चयन करना चाहिए जो रोगी में कृशता न उत्पन्न करें । ॥८७-८८॥

योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये । शिरःपार्श्वसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत् ।।८९।।
बलाविदारिगन्याद्यैर्विदार्या मधुकेन वा । सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात्स्वर्यमुत्तमम् ।।९०।।
प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला । क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम् ।।९१।।
शिरःपार्श्वसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम् । प्रयुज्यमानं बहुशो घृतं चौत्तरभक्तिकम् ।।९२।।
दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च । बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान् प्रबाधते ।।९३।।
भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्न्यभ्यवचारितम् । रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम् ।।९४।।
लेहान् कासापहान् स्वर्याञ् श्वासहिक्कानिबर्हणान् । शिरःपार्श्वसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु ।।९५।।
घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम् । सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासज्वरापहम् ।।९६।।
दशमूलशृतात् क्षीरात् सर्पिर्यदुदियान्नवम् । सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत् परं स्वरबोधनम् ।।९७।।
शिरःपार्श्वसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम् । पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद्घृतम् ।।९८।।
पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे । सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ।।९९।।
खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा । त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः ।।१००।।
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः । नागरं चित्रको लाजाः पिप्पल्यामलकं गुडः ।।१०१।।
श्लोकार्धैर्विहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा । कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा ।।१०२।।

वमन-विरेचनादि द्वारा कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर (संशोधन द्वारा कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर) कास (Cough), श्वास (Dyspnoea), स्वरक्षय (Hoarseness of the voice), शिरःशूल (Headache), पार्श्वशूल (Pain in sides) एवं अंसशूल (Pain in shoulders) के रोगियों में अधोलिखित सिद्ध योगों का प्रयोग करना चाहिए-

१. बलामूल एवं विदारिगन्धादि गण की औषधियों अथवा विदारीकन्द एवं यष्टीमधु द्वारा साधित घृत में सैन्धव लवण मिलाकर नस्य के रूप में प्रयोग करें । इस नस्य के प्रयोग से व्यक्ति का स्वर (आवाज) अच्छा हो जाता है ।

२. प्रपौण्डरीक, यष्टीमधु, पिप्पली, बृहती (वनभण्टा) एवं बला; इन द्रव्यों के कल्क से साधित क्षीर अथवा घृत का प्रयोग नस्यार्थ करना चाहिये । यह नस्य स्वरभेद को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी है ।

३. भोजनोत्तर प्रभूत मात्रा में घृतपान करने से शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास एवं श्वासरोग दूर हो जाते हैं । (घृत की इस मात्रा को **'अवपीडक'** कहा जाता है ।)

४. दशमूल के क्वाथ, गाय का दूध, मांसरस एवं बलामूल कल्क द्वारा घृत सिद्ध करें । इस बलाघृत का भोजनोत्तर पान करने से शिरःशूलादि रोग सद्यः दूर हो जाते हैं ।

५. भोजन के बाद अथवा भोजन के मध्य में अग्निबल का सम्यक् विचार करते हुए शिरः शूलादि लक्षणों से युक्त यक्ष्मा के रोगी को रास्नाघृत अथवा बलाघृत में दूध मिलाकर पीना चाहिए ।

अवलेह एवं घृतों का प्रयोग-अब आगे कासनाशक, स्वर्य (स्वर के लिए हितकर), श्वास एवं हिक्का नाशक, शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल नाशक श्रेष्ठ अवलेह एवं स्नेहों का विवेचन करेंगे । हे अग्निवेश ! उसे सुनो-

१. घृत, खर्जूर, मुनक्का, शर्करा, मधु एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर अवलेह बना लें । यह अवलेह वैस्वर्य (स्वरभेद), कास (Cough), श्वास एवं ज्वर को दूर करता है । -खर्जुराद्य अवलेह ।

२. दशमूल के क्वाथ में दूध मिलाकर उबालें एवं उससे घृत निकालें । इस निकाले हुए घृत में पिप्पली चूर्ण व मधु मिलाकर चाटें । यह योग अत्यन्त उत्तम स्वरभेदनाशक है । इसके साथ ही शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास एवं ज्वर को दूर करता है ।

३. पाँचों पञ्चमूल के क्वाथ में दूध का पाक करें । इस दूध से निकाले गये ताजे घृत का प्रयोग शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, ज्वर, कास एवं श्वास रोग में करना चाहिए ।

४. **पञ्चपञ्चमूलघृत**-पाँचों पञ्चमूल का क्वाथ- ४ भाग, गोदुग्ध- १ भाग, गोघृत- १ भाग, कल्क- १/४ भाग । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें । इस घृत के प्रयोग से यक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले ७ उपद्रवों (कास, श्वास, स्वरभेद, हिक्का, शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं अंसशूल) का नाश हो जाता है, अर्थात् यह घृत सातों प्रकार के उपद्रवों को दूर करता है ।

Scanned by CamScanner

५. **यक्ष्मानाशक ४ अवलेह–** १. खर्जूर, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), पथ्या (हरीतकी), काकड़ासिंगी एवं दुरालभा ।

२. हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली, मुस्तक (मोथा), शृंगाटक (सिंघाड़ा), गुड़ व शर्करा ।

३. नागर (शुण्ठी=सोंठ), चित्रक, लाजा, पिप्पली, आँवला एवं गुड़ ।

४. वीरा (क्षीरकाकोली), शटी (कचूर), पुष्करमूल, सुरसा (तुलसी के बीज), शर्करा एवं गुड़ ।

श्लोक के आधे-आधे भाग मे वर्णित इन ४ योगों का प्रयोग मधु एवं घृत के साथ करने से कास, श्वास, स्वरभेद एवं पार्श्वशूल दूर हो जाता है । ॥८९-१०२॥

चक्रपाणि–प्रपौण्डरीकमित्यादि-प्रपौण्डरीक आदि द्रव्यों से साधित क्षीर एवं इन्हीं द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग नस्य के रूप में करने का निर्देश दिया गया है । जो लोग 'क्षीरं सर्पिश्च' के स्थान पर 'क्षीरसर्पिः' पद का प्रयोग करते हैं, उनके अनुसार प्रपौण्डरीक आदि द्रव्यों के क्वाथ को दूध में पकाकर गाढ़ा करें एवं इस दूध से घृत निकालें न कि दही से घृत निकालें । इस प्रकार क्षीरोत्थघृत को जल में पकाकर तैयार करें, अर्थात् क्षीरोत्थघृत जल में पकाने पर शुद्ध तैयार होता है । प्रयोग करते समय घृत को गरम कर पिघला लेना चाहिए।

घृतं चौत्तरभक्तिकमिति–निर्दिष्ट घृत का प्रयोग भोजन के बाद करने पर शिरःशूलादि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ।

दशमूलेनेति अत्र अवान्तरसाहचर्यात् दशमूलस्य क्वाथो ज्ञेयः –यहाँ अवान्तर साहचर्य से 'दशमूलेन' से दशमूल के क्वाथ का ग्रहण किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । (अवान्तर-Respectively different) बला से यहाँ बलामूलत्वक् के कल्क का ग्रहण करना चाहिये, अथवा 'दाश्मूलेन पयसा' इति पाठ होने पर-दशमूल साधित दुग्ध के द्वारा घृत को सिद्ध करें ।

रास्नाघृतं वा रास्नाक्षीरं वा रोगानेतान् प्रबाधत इति योजना–रास्नाघृत अथवा रास्नाक्षीर के पान से श्वास, कासादि उपद्रव शान्त हो जाते हैं उसी प्रकार बलाघृत एवं बलाक्षीर भी इन व्याधियों को दूर करने वाला होता है, ऐसा जानना चाहिए । कास प्रकरण में वर्णित रास्नाघृत (चि.अ. १८) तथा वातरक्त चिकित्सा (चि.अ. २९) में वर्णित बलाघृत का प्रयोग दूध के साथ करने से ये रोग (श्वास कासादि) नष्ट हो जाते हैं, ऐसा निर्देश आचार्य आगे के अध्यायों में करेंगे ।

सपिप्पलीकं सक्षौद्रमित्यत्र–श्लोक नं० ९७ में वर्णित 'सपिप्पलीकं सक्षौद्रमिति' से यहाँ पिप्पली व क्षौद्र (मधु) का प्रयोग प्रक्षेप के रूप में करना चाहिए, अर्थात् दशमूल साधित क्षीर से निकाले गये घृत में मधु व पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप डालकर अवलेह बनाकर चाटें । उसी प्रकार पाँचों पञ्चमूल से साधित दूध से निकाले गये घृत में पिप्पली चूर्ण व मधु मिलाकर प्रयोग करें । यह योग स्वरभेद को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी होता है । 'पञ्चानामित्यादि' के द्वारा अन्य योग को बताया गया है । रसे क्षीरचतुर्गुण इति-पाँचों पञ्चमूल का क्वाथ- ३ भाग, घृत- १ भाग, गोदुग्ध- १ भाग लेकर घृत को सिद्ध करें । आचार्य जतूकर्ण भी इस विचार से सहमत हैं, यथा- "दशमूलशृतक्षीराज्जातं सर्पिर्नवं पिप्पलीमधुयुक्तं यत्, पञ्चपञ्चमूलक्वथितादुत्थितं च यत् त्रिभागक्वथिततुल्यपयस्के पक्वम्" इति [१. दशमूल साधित दूध से निकाले गये नवीन घृत में पिप्पली चूर्ण एवं मधु मिलाकर राजयक्ष्मा के रोगी को देना चाहिए ।

२. पाँचों पञ्चमूल के क्वाथ- ३ भाग, घृत- १ भाग, दूध- १ भाग मिलाकर घृत सिद्ध करें ।] पञ्च पञ्चमूल घृत प्रथम एवं द्वितीय (श्लोक नं०९८-९९) की फलश्रुति (Effect) में आचार्य ने 'यक्ष्मणः सप्तकं बलम्' से 'स्वरभेदं' इत्यादि के द्वारा जो सात रोग बताये गये हैं उनमें हिक्का को भी रखा गया है, यद्यपि कि वह राजयक्ष्मा के लक्षणों में नहीं पढ़ा गया है फिर भी उसे उपद्रव स्वरूप जानना चाहिये । पुष्कराख्यं पुष्करमूलम् (पुष्करमूल) ॥८९-१०२॥

विशेष–पञ्च पञ्चमूल घृत के निर्माण हेतु घृत का ग्रहण-पञ्चमूल के कल्क व क्वाथ में दूध को पकाकर उससे जो घृत निकले उसका ग्रहण करें तथा इस घृत (१ भाग) को पाँचों पञ्चमूल के क्वाथ- ३ भाग, दूध- १ भाग, कल्क- १/४ भाग लेकर स्नेह पाक विधि से सिद्ध करें ।

सप्तकं यक्ष्मणो बलम्–इससे यहाँ स्वरभङ्ग, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास तथा ज्वर का ग्रहण किया गया है। अर्थात् पञ्चपञ्चमूल घृत के पान से यक्ष्मा में होने वाली ये ७ व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम् । अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा ।।१०३।।
चूर्णितं प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम् । सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ।।१०४।।

सितोपलादि चूर्ण–सितोपला (मिश्री), तुगाक्षीरी (वंशलोचन), पिप्पली, बहुला (छोटी इलायची का दाना) एवं दालचीनी; इन पाँचों द्रव्यों को क्रमशः अन्त से पूर्व की ओर द्विगुण मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को ३-५ ग्राम की मात्रा में लेकर मधु व घृत के साथ चाटें, अथवा चूर्ण में मधु व घृत मिलाकर अवलेह बना लें । इसका प्रयोग प्रतिदिन करें । इसके प्रयोग से श्वास (Asthma), कास (Cough), कफ, सुप्तजिह्वा (Numbness of the tongue), अरोचक (Anorexia), अल्पाग्नि (मन्दाग्नि) एवं पार्श्वशूल की शान्ति होती है। अर्थात् इन व्याधियों में रोगी को अत्यन्त लाभ मिलता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–सितोपलादावन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितमिति-अन्त से ऊर्ध्व (पूर्व) पठित द्रव्यों की मात्रा क्रमशः द्विगुण अनुपात में ग्रहण करें, यथा- त्वच (दालचीनी)-१ भाग, २. छोटी इलायची- २ भाग, ३. पिप्पली- ४ भाग, ४. वंशलोचन- ८ भाग, ५. मिश्री (सिता)- १६ भाग।

तुगाक्षीरी वंशलोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्– तुगाक्षीरी वंशलोचन के समान गुण वाला एक पार्थिव द्रव्य है।

ऊर्ध्वशब्देन चेहातीतमुच्यते–ऊर्ध्व शब्द से यहाँ अतीत (पूर्व) का ग्रहण किया गया है। यहाँ वर्णित ऊर्ध्व व अधः भाग का कोई नियत स्थान नहीं है अर्थात् 'बाद के लिए अथवा आगे के लिए' दोनों ही अर्थों में ऊर्ध्व शब्द का प्रयोग होता है। इसका विवेचन आगे करेंगे।

तेन क्वचित् ऊर्ध्वमिति–कहीं-कहीं पूर्व में वर्णित विषय के लिए भी ऊर्ध्व शब्द का प्रयोग किया जाता है। ॥१०३-१०४॥

हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे। वासाघृतं शतावर्या सिद्धं वा परमं हितम् ॥१०५॥

दाह की चिकित्सा (Treatment of Burning Sensation)– हाथ, पैर के तलवों एवं सर्वाङ्ग में दाह होने पर, ज्वर में, ऊर्ध्वग रक्तस्राव होने पर अथवा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में सिद्ध वासाघृत अथवा शतावरीघृत का प्रयोग करना अत्यन्त हितकर होता है।

चक्रपाणि–'हस्तेत्यादि' के द्वारा रक्तपित्त एवं गुल्म चिकित्सा में वर्णित वासाघृत के गुणों को बताया गया है। शतावरी घृत का वर्णन योनिव्यापद् चिकित्सा (चि.अ. ३०) में आगे किया जायेगा। ॥१०५॥

दुरालभां श्वदंष्ट्रा च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम्। भागान्पलोन्मितान् कृत्वा पलं पर्पटकस्य च ॥१०६॥
पचेद्दशगुणे तोये दशभागावशेषिते। रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान् समावपेत् ॥१०७॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः। तामलक्याः किरातानां तिक्तस्य कुटजस्य च ॥१०८॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान् कर्षसंमितान्। ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥१०९॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम्। तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिर्व्यपोहति ॥११०॥

दुरालभादिघृत–दुरालभा (धमासा), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), चारो प्रकार की पर्णिनियाँ-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मासपर्णी, मुद्गपर्णी, बलामूल एवं पित्तपापड़ा; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इस यवकुट किये हुये द्रव्य को १० गुने जल में पकावें एवं दशमांश अवशेष रहने पर एक स्वच्छ वस्त्र से क्वाथ को छान लें। इस क्वाथ में शटी (कचूर), पुष्करमूल, पिप्पली, त्रायमाणा, तामलकी (भुंई आँवला), किरातिक्त (चिरायता), इन्द्रयव एवं सारिवा (अनन्तमूल), प्रत्येक द्रव्य को १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर अच्छी तरह पीसकर कल्क बनाकर डाल दें (क्वाथ में) साथ में उस कल्क मिश्रित क्वाथ में १ प्रस्थ गोघृत, २ प्रस्थ गोदुग्ध डालकर घृतपाक विधि द्वारा घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत ज्वर (Fever), दाह (Burning sensation), भ्रम (giddiness), कास (Cough), अंसशूल (Pain in shoulder), पार्श्वशूल, शिरःशूल (Headache), तृष्णा (प्यास का लगना), छर्दि एवं अतिसार को दूर करता है। ॥१०६-११०॥

चक्रपाणि– दुरालभाद्ये पचेद्दशगुणे तोये इति- से घृत से १० गुना जल का ग्रहण करें। अर्थात् क्वाथ निर्माण हेतु ली गयी जल की मात्रा स्नेह का १० गुना होना चाहिए, क्योंकि क्वाथ्य द्रव्य का १० गुना लेने पर क्वाथ की मात्रा अत्यन्त अल्प हो जायेगी। इस प्रकार १० प्रस्थ जल में क्वाथ्य द्रव्यों को पकाकर १ प्रस्थ क्वाथ का निर्माण करें, क्योंकि घृत की मात्रा १ प्रस्थ लेने का निर्देश है। यह विचार आचार्य जतूकर्ण द्वारा अनुमोदित है। ॥१०६-११०॥

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च। शटीं पुष्करमूलं च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥१११॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम्। पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत् ॥११२॥
एतद्व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम्। रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति ॥११३॥

जीवन्त्यादिघृत–जीवन्ती, यष्टीमधु, द्राक्षा (मुनक्का), कुटजफल (इन्द्रयव), शटी (कचूर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), व्याघ्री (छोटी कण्टकारी अथवा भटकटैया), गोखरू, बलामूल, नीलोत्पल, तामलकी (भुँई आँवला), त्रायमाणा, दुरालभा एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर सील पर पीस कर कल्क बला लें, पश्चात् इससे घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत रोगसमूह एवं रोगों के राजा राजयक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले एकादश लक्षणों को दूर करने में अत्यन्त श्रेष्ठ है। ॥१११-११३॥

चक्रपाणि–इस घृत के निर्माण हेतु क्वाथ एवं दुग्ध की मात्रा दुरालभादि घृत में वर्णित मात्रा के अनुसार ग्रहण करना चाहिए। अन्य टीकाकार द्रव के स्थान पर जल का प्रयोग करने का निर्देश देते हैं, ऐसा करने पर जल की मात्रा स्नेह की ४ गुनी होनी चाहिए, यथा-कल्क-१/४ भाग, स्नेह- १ भाग, जल- ४ भाग। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध करें।

[पूर्व सूत्र के अनुसार यह मात्रा इस प्रकार होगी-कल्क द्रव्य - प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष प्रमाण में लें, क्वाथ (निर्मित) की मात्रा- १ प्रस्थ, स्नेह- १ प्रस्थ, दुग्ध- २ प्रस्थ, जल की मात्रा- १ प्रस्थ डालकर स्नेह पाक करें। क्वाथ्य द्रव्य की मात्रा प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर १० प्रस्थ जल में क्वाथ बनावें दशमांश अवशेष रखने पर यह मात्रा १ प्रस्थ होती है।] ॥१११-११३॥

Scanned by CamScanner

बर्ता स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम् । साधयित्वा रसे तस्मिन्यथो गव्यं सनागरम् ।।११४।।
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह । सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत् प्रयोजयेत् ।।११५।।
आजस्य पयसश्चैवं प्रयोगो जाङ्गला रसाः । यूषार्थे चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः ।।११६।।

बलादिक्षीरपाक–बलामूल, स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), निदिग्धिका (छोटी कटेरी=कण्टकारी); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें । इस क्वाथ में शुण्ठी (सोंठ), द्राक्षा, खर्जूर, घृत व पिप्पली का कल्क डालें । इस कल्क मिश्रित क्वाथ में दूध डालकर पाक करें । क्षीर के सिद्ध हो जाने पर इसमें मधु मिलाकर पीयें । यह मधु मिश्रित क्षीरपाक ज्वर, कास एवं स्वरभेद को दूर करता है ।

इसी प्रकार बकरी का दूध, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांसरस एवं चना, मुद्ग (मूंग) तथा मकुष्ठ के यूष का प्रयोग यक्ष्मा में हितकर होता है ।

चक्रपाणि–'बलामित्यादि' के द्वारा बलादिघृत के निर्माण को बताया गया है । यहाँ घृत (गोघृत)- १ भाग, क्वाथ व क्षीर मिश्रित रूप से- ४ भाग (२ भाग क्वाथ+२ भाग क्षीर), कल्क-अष्टमांस (१/८ भाग) भाग लेकर स्नेह (घृत) पाक करें । घृत के सिद्ध हो जाने पर प्रक्षेप के रूप में मधु मिला दें । ।।११४-११६।।

विशेष–आचार्य चक्रपाणि बलादि के द्वारा बलादिक्षीरपाक का ग्रहण न कर 'बलादिघृत' का ग्रहण करते हैं । जबकि आचार्य गंगाधर इस योग से बलादिक्षीरपाक का निर्देश करते हैं । चिकित्सा की दृष्टि से दोनों ही योग-क्षीरपाक एवं घृत; ज्वर, कासादि की चिकित्सा में उपयोगी है।

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः । यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते ।।११७।।
कफप्रसेके बलवाञ् श्लैष्मिकच्छर्दयेन्नरः । पयसा फलयुक्तेन माधुकेन रसेन वा ।।११८।।
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया । वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम् ।।११९।।
यवगोधूममाध्वीकसिध्वरिष्टसुरासवान् । जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत् ।।१२०।।
श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति । कफप्रसेकं तं विद्वान् स्निग्ध्योष्णैनैव निर्जयेत् ।।१२१।।
क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते । हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ।।१२२।।
प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते । प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ।।१२३।।
तस्याग्निदीपनान् योगानतीसारनिबर्हणान् । वक्त्रशुद्धिकरान् कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान् ।।१२४।।
सनागरानिन्द्रयवान् पाययेत्तण्डुलाम्बुना । सिद्धां यवागूं जीर्णे च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः ।।१२५।।
पाठा बिल्वं यमानी च पातव्यं तक्रसंयुतम् । दुरालभा शृङ्गवेरं पाठा च सुरया सह ।।१२६।।
जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम् । पेयामण्डेन पातव्यमतीसारनिवृत्तये ।।१२७।।
एतानेव च योगांस्त्रीन् पाठादीन् कारयेत् खडान् । ससूप्यधान्यान्सस्नेहान् साम्लान्संग्रहणान् परम् ।।१२८।।
वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्थयोः । श्रीपर्ण्या मदयन्त्याश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ।।१२९।।
मातुलुङ्गस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत् । स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान् सांग्राहिकान् परम् ।।१३०।।
चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत् । खडान्दधिसरोपेतान् ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ।।१३१।।
मांसानां लघुपाकानां रसाः सांग्राहिकैर्युताः । व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ।।१३२।।
स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम् । तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः ।।१३३।।
इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम् ।

ज्वर के प्रशमन हेतु ज्वरचिकित्सा प्रकरण में जिन औषधियों का निर्देश पूर्व में किया गया है उन्हीं का प्रयोग घृत के साथ यक्ष्मा रोगी में होने वाले ज्वर एवं दाह की शान्ति हेतु करना चाहिए ।

यक्ष्मा में होने वाले कफप्रसेक की चिकित्सा–रोगी बलवान हो एवं उसके मुख से बार-बार कफ निकल रहा हो तो ऐसी अवस्था में दूध के साथ मदनफलपिप्पली चूर्ण खिलाकर अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस को मधुरगुण युक्त कर उसमें मदनफल चूर्ण (कल्क) मिलाकर अथवा वमनीय द्रव्यों द्वारा साधित यवागू में प्रभूत मात्रा में घृत मिलाकर; रोगी को खाने के लिए अथवा पीने के लिए दें । ऐसा करके रोगी का सम्यक् वमन करावें । वमनोत्तर क्षुधा प्रदीप्त होने पर उचित अन्न-काल में लघु एवं दीपनीय अन्न का सेवन कराना चाहिए। से बीध कर भूना गया हो उसे शूल्य मांस कहा जाता है ।) का सेवन करते हुए कफ को जीतें, अर्थात् इन आहार द्रव्यों का सेवन करते हुए कफ को शान्त करें । अभिप्राय यह है कि वमन के बाद यवादि आहारों का सेवन करें । कफशामक आहार-यव, गेहूँ, माध्वीक, सीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव एवं जाङ्गल पशु-पक्षियों के शूल्य मांस (जो मांस लोहे के पतले सींक

Scanned by CamScanner

मुख से अत्यधिक कफ निकल जाने के कारण अथवा अत्यधिक कफप्रसेक होने से वायु बढ़कर कफ को और अधिक बाहर निकालती है। ऐसी अवस्था में चिकित्सक स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों के प्रयोग द्वारा कफप्रसेक की चिकित्सा करे।

जो चिकित्सा कफप्रसेक में की जाती है वही वमन में भी प्रशस्त होती है। वमन के पश्चात् हृद्य (हृदय के लिए हितकर) वातनाशक एवं लघु अन्न-पान का प्रयोग रोगी को करना चाहिए।

राजयक्ष्मा में अतिसार की संप्राप्ति–प्राय: अग्नि के उपहत होने से व्यक्ति को पिच्छा युक्त अतिसार होने लगता है, व्यक्ति के मुख का स्वाद बदल जाता है तथा अन्न के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। **चिकित्सा**-ऐसे रोगियों में अग्निदीपक, अतिसार नाशक, मुखशोधक एवं अरुचि नाशक योगों का प्रयोग करना चाहिये, जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है-

१. शुण्ठी (सोंठ) एवं इन्द्रयव के समभाग से निर्मित चूर्ण को चावल के पानी से पीना चाहिए। इस चूर्ण के पच जाने पर चाङ्गेरी, तक्र एवं दाडिम द्वारा सिद्ध यवागू का सेवन करें।

२. पाठा, बिल्व (बेल की गुद्दी) एवं अजवाइन; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को तक्र में मिलाकर सेवन करें।

३. दुरालभा, शृंगबेर (अदरख) एवं पाठा निर्मित कल्क का पान सुरा के साथ करना चाहिए।

४. जामुन की गुठली, आम की गुठली, बिल्व की गुद्दी, कपित्थ एवं शुण्ठी; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। अतिसार में इस चूर्ण का प्रयोग मण्ड अथवा पेया के साथ करें।

[पूर्व निर्दिष्ट ४ योग अतिसार नाशक होते हैं।]

पूर्व निर्दिष्ट पाठादि तीन योगों के क्वाथ में सूप्य धान्य (मुद्ग, मसूर आदि), घृत, अम्ल दाडिम आदि डालकर खडयूष का निर्माण करें। यह अम्लरस युक्त खडयूष अत्यन्त मलसंग्राहक होता है। अर्थात् इसका पान करने से मल का संग्रह होकर अतिसार दूर हो जाता है। संग्राहक=मल को बाँधने वाला।

यक्ष्मा में अतिसार नाशक खडयूष–१. वेतस पत्र, अर्जुन पत्र एवं जामुन की पत्ती। २. मृणाली (खश की पत्ती) एवं कृष्ण गन्धा (सहिजन) की पत्ती, ३. श्रीपर्णी (गम्भारी) की पत्ती एवं मदयन्तिका (मेंहदी) की पत्ती, ४. यूथिका (जूही) की पत्ती, ५. मातुलुङ्ग (बिजौरा नींबू) की पत्ती, ६. धातकी पत्र, ७. दाडिम पत्र; इन द्रव्यों के अलग-अलग पत्तों के स्वरस या क्वाथ से ७ योग बनते हैं। प्रत्येक द्रव्य के पत्र स्वरस या क्वाथ से निर्मित खडयूष में घृत, अम्लदाडिम अथवा नीबू स्वरस एवं लवण डालकर पीने से पुरीष का उत्तम रूप से संग्रहण होता है। अर्थात् ये योग उत्तम मल संग्राहक योग हैं।

अन्य अतिसार नाशक योग–चाङ्गेरी (अम्ल पत्रिका=खट्टीबूटी), इमली (चुक्रिका) एवं दुग्धिका; इन द्रव्यों के अलग-अलग स्वरस से खडयूष का निर्माण करें। इस खडयूष में दधिसर (दधि के ऊपरी भाग की मलाई), घृत तथा दाडिम स्वरस मिलाकर सेवन करें। यह योग उत्तम पुरीष संग्राहक योग है।

अतिसार में उपयोगी अन्न-पान (Diet and drinks for diarrhoea)–लघु पाक वाले प्राणियों के मांसरस (जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस) को सांग्राहिक द्रव्यों से संस्कारित कर भोजन के रूप में रक्तशाली चावल के भात के साथ खाने के लिए देना चाहिए। पानार्थ लघु पञ्चमूल द्वारा साधित जल, तक्र, सुरा, इमली अथवा दाडिम स्वरस का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार दीपन (digestive stimulants) एवं ग्राही (मल को बाँधने वाली-Constipative) औषधियों का निर्देश, राजयक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले अतिसार की चिकित्सा हेतु किया गया। ॥११७-१२३॥

चक्रपाणि–"ज्वराणामित्यादि' के द्वारा राजयक्ष्मा की अवस्था विशेष के अनुसार चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **वामनीयानि**-वमन कारक, द्रव्यों, यथा-मदनफल आदि। **सदीपनमिति**-अग्निदीपक (जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले) शुण्ठी (सोंठ) आदि द्रव्यों द्वारा साधित।

वम्यां सैव प्रशस्यत इति–जो चिकित्सा कफप्रसेक में की जाती है, वही वमन में भी इष्ट है। यहाँ कफप्रसेक दो प्रकार का बताया गया है- १. स्वतंत्र- जो कफजनक कारणों से स्वतंत्र रूप में उत्पन्न होता है, २. परतंत्र-जो वात के अधीन होता है, अर्थात् इसमें वात की प्रधानता होती है। इसी प्रकार छर्दि भी दो प्रकार की होती है- १. कफप्रधान छर्दि-जिसमें कफप्रसेक की चिकित्सा-वमनादि, की जाती है। २. वात प्रधान छर्दि-इसमें स्निग्ध, उष्ण चिकित्सा की जाती है, ऐसा जानना चाहिए। खडो व्याकृत:-खडयूष को स्पष्ट किया जा चुका है। अन्य आचार्य इसे, इस प्रकार स्पष्ट करते हैं-"पिशितेन रसस्तत्र, यूषो धान्यै:, खल: फलै:। मूलैश्च तिलकल्काम्लप्राय: काम्बलिक: स्मृत:" इति [रस-Meat-soup) का

Scanned by CamScanner

निर्माण मांस द्वारा, यूष का निर्माण धान्यों (cereals and pulses) द्वारा, खड का निर्माण फल एवं मूल द्वारा तथा काम्बलिक का निर्माण अत्यधिक मात्रा में तिलकल्क व अम्ल प्रधान रस वाले द्रव्यों के प्रयोग द्वारा किया जाता है ।]

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु ।।१३४।।
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम् । तद्वत् प्रक्षालयेदास्यं धारयेत् कवलग्रहान् ।।१३५।।
पिबेद्धूमं ततो मृष्टमद्याद्दीपनपाचनम् । भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ।।१३६।।
त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम् । दार्वीत्वचो यवानी च तेजोह्वा पिप्पली तथा ।।१३७।।
यवानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः । श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ।।१३८।।
गुटिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम् । एषामालोडितानां वा धारयेत् कवलग्रहान् ।।१३९।।
सुरामाध्वीकसीधूनां तैलस्य मधुसर्पिषोः । कवलान् धारयेदिष्टान् क्षीरस्येक्षुरसस्य च ।।१४०।।

हे अग्निवेश ! अब आगे आस्यवैरस्य नाशक एवं रुचि उत्पादक योगों को बता रहा हूँ उसे सुनो-

१. दिन में दो बार प्रातः एवं सायंकाल दातौन करना चाहिए । इसके बाद मुख शोधक द्रव्यों के क्वाथ से मुख प्रक्षालन करें।

२. मुखशोधक द्रव्यों के क्वाथ को कवल के रूप में मुख में धारण करें ।

३. इसके बाद प्रायोगिक धूम-पान करें ।

४. धूम-पान के बाद ऐसे औषध, अन्न एवं पान का प्रयोग करें जो दीपन, पाचन द्रव्यों द्वारा संस्कारित कर बनाये गये हों एवं आतुर के मनोनुकूल एवं हितकर हों ।

रोचन एवं मुखशोधक योग– अधोलिखित ५ योगों का प्रयोग मुखधावन हेतु करना चाहिए-

१. त्वक् (दालचीनी), मुस्तक (मोथा), एला (छोटी इलायची) एवं धनियाँ, २. मुस्तक, आमलकी एवं दालचीनी, ३. दारुहल्दी, दालचीनी, यवानी (अजवाइन), ४. तेजोह्वा (चविका), पिप्पली, ५. यवानी (अजवाइन) व तिन्तिडीक । ये पाँच योग मुख धावन योग हैं । श्लोक पाद में वर्णित रुचि उत्पादक एवं मुखशोधक योगों को चूर्ण अथवा गोली के रूप में मुख में धारण करने से मुख की शुद्धि होती है । इन्हीं चूर्णों को जल में आलोडित करके कवलग्रह के रूप में धारण करना चाहिए ।

कवलग्रह–सुरा, माध्वीक, सीधु, तिल तैल, मधु एवं घृत, इक्षुरस, गाय का दूध; इन द्रव्यों में से जो रोगी के लिए इष्ट हो उनका प्रयोग कवलग्रह के रूप में करना चाहिए ।

[कवलग्रह-औषधद्रव्य को कल्क (Paste) अथवा क्वाथ रूप में मुख में पूर्णतया भरना कवलग्रह कहलाता है ।] ।।१३४-१४०।।

चक्रपाणि–द्वौ कालाविति=दो काल-प्रात एवं सायं, अर्थात् दातौन दिन में दो बार करना चाहिए ।

दन्तपवनमिति करञ्जकरवीरादिभिस्तिक्तकटुकैः–करञ्ज, करवीर आदि द्रव्य जो तिक्त एवं कटु रस वाले हों, उनका प्रयोग दातौन के रूप में करना चाहिए । तद्वत् इति-उसी प्रकार, अर्थात् तिक्त एवं कटुरस युक्त द्रव्यों के क्वाथ से मुख का प्रक्षालन एवं कवलग्रह के रूप में धारण करें । तेजोह्वा=चविका ।

मुखशोधना इति–मुखगत दोषों का शोधन करने वाले, अर्थात् मुखगत दोषों को दूर करने वाले । [मुखशोधक चूर्ण का प्रयोग मञ्जन के रूप में करते हैं ।] ।।१३४-१४०।।

यवानीं तिन्तिडीकं च नागरं साम्लवेतसम् । दाडिमं बदरं चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ।।१४१।।
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम् । पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ।।१४२।।
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत् । जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ।।१४३।।
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम् । कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ।।१४४।।
इति यवानीषाडवम् ।

यवानीषाडव चूर्ण–यवानी (अजवाइन), तिन्तिडीक, नागर (शुण्ठी=सोंठ), अम्लवेतस, अम्लरस युक्त दाडिम एवं खट्टी बेर; प्रत्येक द्रव्य को १-१ कर्ष (१ तोले)। धनियाँ, सौवर्चल नमक, अजाजी (जीरा), वराङ्ग (दालचीनी); इन द्रव्यों को १/२-१/२ कर्ष (आधे-आधे तोला), पिप्पली-१०० (एक सौ संख्या में लें), मरिच-२०० (संख्यात्मक मान), शर्करा-४ पल; सभी द्रव्यों को निर्धारित मान के अनुसार लेकर चूर्ण कर उचित पात्र में रखकर सुरक्षित कर लें । यह चूर्ण जिह्वा विशोधक (जिह्वा को साफ रखने वाला), हृद्य (हृदय के

Scanned by CamScanner

लिए हितकर), भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाला, हृदय, प्लीहा एवं पार्श्वशूलनाशक, विबन्धनाशक (मलबद्धता को दूर करने वाला), आनाह (Flatulence), कास (Cough) व श्वास (asthma) नाशक, ग्राही, ग्रहणी व अर्श रोगों को दूर करने वाला है । ॥१४१-१४४॥

चक्रपाणि–यवानीषाडव में वराङ्ग से दालचीनी का ग्रहण किया गया है । **पिप्पलीनामेकं शतमिति**-पिप्पली की संख्या-१०० लें, ऐसा निर्देश आकृति मान के अनुसार दिया गया है । (इस योग में कुछ द्रव्य भार के अनुसार तथा कुछ द्रव्य संख्यानुसार ग्रहण करने का निर्देश है ।)

तालीशपत्रं मरिचं भागरं पिप्पली शुभा । यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ।।१४५।।
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा । कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम् ।।१४६।।
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम् । वम्यतीसारशूलघ्नं मूढवातानुलोमनम् ।।१४७।।
कल्पयेद्गुटिकां चैतच्चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम् । गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः ।।१४८।।
इति तालीशाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च ।

तालीशाद्य चूर्ण एवं गुटिका–तालीशपत्र- १ भाग, कालीमिर्च- २ भाग, शुण्ठी (सोंठ)- ३ भाग, पिप्पली- ४ भाग (द्रव्यों को क्रमशः एक-एक भाग बढ़ाते हुए ग्रहण करें ।), त्वक् (दालचीनी)-अर्धभाग (१/२ भाग), छोटी इलायची-१/२ भाग, सित शर्करा अथवा मिश्री पिप्पली के मान का ८ गुना, अर्थात्- ३२ भाग; सभी द्रव्यों को एकत्र कर चूर्ण कर लें । यह चूर्ण कास, श्वास एवं अरुचि को दूर करता है, उत्तम अग्निदीपक है, हृद्रोग, पाण्डुरोग, ग्रहणीरोग, शोष, प्लीहा, ज्वर, वमन, अतिसार एवं शूल को नष्ट करता है एवं ऊर्ध्व वात को अधोमार्ग द्वारा प्रवृत्त (अनुलोमन) करता है ।

गुटिका निर्माण–तालीशाद्य चूर्ण को मिश्री की चासनी में पकाकर गुटिका का निर्माण करें अथवा गोली बनावें । यह गुटिका अग्निसंयोग से निर्मित होने के कारण चूर्ण की तुलना में लघुतर होती है । ॥१४५-१४८॥

चक्रपाणि–तालीशाद्य चूर्ण में 'शुभा इति' का प्रयोग पिप्पली के विशेषण के रूप में हुआ है, अर्थात् इस योग में गुणवान पिप्पली का ग्रहण किया गया है । हारीतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"तालीशं मरिचं शुण्ठी पिप्पल्यो भागवर्धिताः । त्वगेलेऽर्धांशके दद्याच्छर्कराऽष्टपलं भवेत्" इत्यादि [तालीश पत्र- १ भाग, मरिच- २ भाग, शुण्ठी- ३ भाग, पिप्पली- ४ भाग, दालचीनी- अर्धभाग (१/२ भाग), छोटी इलायची- १/२ भाग, शर्करा (मिश्री)- ८ पल, सभी द्रव्यों को मिलाकर चूर्ण कर लें ।] जतूकर्णसंहिता में भी इसी विषय का अनुमोदन किया गया है, यथा-"तालीशमरिचनागरकृष्णाः कर्षाः, त्वगेले अर्धांशे, द्विकुडवा सिता, गुडिका विपाच्यताम्" इति । दालचीनी एवं छोटी इलायची आधा-आधा भाग ग्रहण करना चाहिए । वृद्ध (अनुभवी) आचार्य गुडिका निर्माण हेतु सितोपला को जल के साथ पाक कर गोली बनाने का निर्देश देते हैं, अर्थात् मिश्री की चासनी बनाकर चूर्ण को उसमें डालकर गोली बनावें । ॥१४५-१४८॥

विशेष–कुछ आचार्य 'शुभे' शब्द को पिप्पली के विशेषण के रूप में स्वीकार करते हैं, जो कि उचित नहीं है । यहाँ 'शुभे' से वंशलोचन अर्थ लिया गया है । इस आधार पर इस चूर्ण का निर्माण निम्नवत् करना चाहिए-१. तालीशपत्र- १ भाग, मरिच- २ भाग, शुण्ठी (सोंठ)- ३ भाग, पिप्पली- ४ भाग, शुभा (वंशलोचन)- ५ भाग, दालचीनी- १/२ भाग, छोटी इलायची- १/२ भाग, शर्करा अथवा मिश्री- ३२ भाग (पिप्पली का ८ गुना); सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर चूर्ण कर लें ।

इसी चूर्ण को मिश्री की चासनी में डालकर पाक कर गाढ़ा कर लें एवं गोली बनाने लायक होने पर गोली बनाकर रख लें।

-जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवत् । दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः ।।१४९।।
शोषिणे बार्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान् । गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत् सूपकल्पितान् ।।१५०।।
काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् । भृष्टान् मत्स्यान्नशब्देन दद्यान्नण्डूपदानपि ।।१५१।।
लोपाकान् स्थूलनकुलान् बिडालांश्चोपकल्पितान् । शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ।।१५२।।
सिंहानृक्षांस्तरक्षुंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा । मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ।।१५३।।
गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं भिषक् । दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये ।।१५४।।
मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् । तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम् ।।१५५।।
मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् । तेषूपधा, सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि ।।१५६।।
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्ध्वं वा पुनरुल्लिखेत् । तस्माच्छुद्ध्योपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ।।१५७।।
बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः । खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम् ।।१५८।।
योनरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके । तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान् दद्यान्मांसानि शोषिणे ।।१५९।।
प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः । आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ।।१६०।।
प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः । कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ।।१६१।।

Scanned by CamScanner

विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च । रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ।।१६२।।
मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च । नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति ।।१६३।।
वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः । अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम् ।।१६४।।
प्रसन्नां वारुणीं सीधुमरिष्टानासवान्मधु । यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयन् ।।१६५।।
मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात् स्रोतसां मुखम् । प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात् सप्त धातवः ।।१६६।।
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति । मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ।।१६७।।
सक्षौद्रं, पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा । सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायकैः ।।१६८।।
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम् । पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।।१६९।।
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम् । रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुसाधितम् ।।१७०।।
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद्घृतम् । यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुना सह ।।१७१।।
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह । शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः ।।१७२।।

यक्ष्मा में मांस का प्रयोग–जिन रोगियों का शरीर सूख रहा हो, अथवा जिनका शरीर क्षीण हो, ऐसे व्यक्तियों को मांसभक्षी प्राणियों के मांस का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए, क्योंकि मांसभक्षी प्राणियों का मांस विशेष रूप से शरीर का बृंहण करने वाला होता है।

शोष रोग (Consumption) से पीड़ित रोगियों को अधोलिखित प्राणियों के मांस का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए-

१. मोर के मांस का प्रयोग (Meat of Peacock)।

२. गीद्ध (Vultures), उल्लू (owls) एवं नीलकण्ठ के मांस को विधिवत पकाकर रोगी को मयूर का मांस बताकर खिलावें।

३. कौवे के मांस को तीतर का मांस बताकर, सर्प के मांस को वर्मी का मांस कहकर, केचुआ (गण्डूपद) के मांस को मछली की भुनी हुई आंत्र बताकर खाने के लिए दें ।

४. लोमड़ी, स्थूल नेवला (मोटा नेवला), बिडाल (बिल्ली) एवं शृंगाल (Jackal) के मास को विधिवत पकाकर रोगी को खरगोश का मांस बताकर खाने के लिए दें।

५. सिंह (Lion), भालू (Bear), तरक्षु (Hyena), व्याघ्र (tiger) तथा अन्य दूसरे मांसभक्षी प्राणियों के मांस को अच्छी प्रकार से पकाकर 'मृग का मांस है' यह कहकर मांस की वृद्धि हेतु खाने को देना चाहिए।

६. गज (Elephant), गैंडा (Rhinoceros), तुरङ्ग (घोड़ा-horse); के मांस को वेशवार के रूप में पकाकर भैंस का मांस है यह कहते हुए मांस की वृद्धि हेतु खिलाना चाहिए।

मांस का उपशयात्मक प्रयोग (Therapeutic utility of Meat)–जिन पशु-पक्षियों के अङ्ग मांस से अत्यधिक उपचित हैं, ऐसे प्राणियों का मांस अत्यधिक मांसवर्धक होता है । अर्थात् उन प्राणियों के मांस के सेवन से शरीर में अत्यधिक रूप से मांस की वृद्धि होती है। राजयक्ष्मा में विशेष रूप से जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस तीक्ष्ण, उष्ण एवं लघु गुण के कारण हितकारी होते हैं।

राजयक्ष्मा में छिपाकर मांस का प्रयोग करना–जिन मांसों को रोगी कभी नहीं खाया है अथवा जो मांस अभ्यास में न होने से रोगी को प्रिय नहीं है। चिकित्सा की दृष्टि से उनका सेवन करना आवश्यक होने पर गोपनीय ढंग से उन्हें रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। अन्यथा मांसादि का ज्ञान होने पर रोगी मांस को नहीं खा पायेगा, अथवा किसी प्रकार वह खा भी ले तो उसका वमन हो जायेगा। इसलिये इस प्रकार के मांसों का प्रयोग विधिपूर्वक पकाकर गोपनीय ढंग से रोगी को खाने के लिए करना चाहिए।

→ बर्हि (मोर), तीतर (Partridge), दक्ष (मुर्गा), हंस (swan), शूकर (Hog-खस्सी सूअर), ऊँट (Camel), खर (गधा-Ass), गो (Bull) एवं भैंस (Buffalo), का मांस अत्यन्त मांसवर्धक होता है, अर्थात् इन पशु-पक्षियों का मांस मांसवर्धन में श्रेष्ठ होता है।

→ अन्न-पान विधि नामक अध्याय (सू.अ. २७) में वर्णित आठ प्रकार के मांस योनियों की गुण-दोष के आधार पर परीक्षा करके उपयुक्त मांस का प्रयोग शोष रोगियों में चिकित्सक को भोजनार्थ कराना चाहिए।

→ सूत्र.अ. २७ (अन्न-पान विधि) नामक अध्याय में वर्णित अष्टविध मांस योनियों में- **प्रसह** (Animals and birds who eat by snatching-वे पशु एवं पक्षी जो अपना भोजन दूसरे से छीन कर खाते है), **भूशय** (वे जानवर जो बिल में रहते हैं-Animals who live in burrows on the earth), **अनूप** (ऐसे पशु-पक्षी जो जलीय क्षेत्रों में रहते हैं), **वारिज** (जल में रहने वाले पशु या पक्षी-aquatic animals) एवं **वारिचर** (जल में विचरण करने वाले पक्षियों (Birds moving in the water) के मांस को **वातवृद्धिजन्य शोष** में आहार के रूप में मात्रापूर्वक देना चाहिए।

Scanned by CamScanner

→ प्रतुद (चोंच से कुतर-कुतर कर खाने वाले पक्षी (तोता आदि), विष्किर (इधर-उधर बिखेर कर खाने वाले पक्षी Gallinacious birds-जैसे मुर्गा, तीतर) एवं धन्वज (वे पशु-पक्षी जो मरुस्थलीय क्षेत्रों में पाये जाते हैं-Animals dwelling in arid zone), पशु-पक्षियों के मांस का प्रयोग **कफ पित्त प्रधान शोष** के रोगी में करना चाहिए।

पूर्व निर्दिष्ट मांसों का प्रयोग विधिपूर्वक, मनोनुकूल, मृदु, सुगन्धित बनाकर अर्थात् उपयुक्त रीति से पकाकर, मनोनुकूल सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग कर एवं रस युक्त बनाकर आतुर को खाना चाहिए ।

मद्य का प्रयोग–१. जो यक्ष्मा (शोष) का रोगी नियत (जितेन्द्रिय) एवं उदार चित्त वाला होकर मांस का आहार करते हुए माध्वीक नामक मद्य का सेवन करता है, उसके शरीर में अधिक दिन तक यक्ष्मा नहीं रहता, अर्थात् वह व्यक्ति यक्ष्मा से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

२. जो पुरुष वारुणी मण्ड का सेवन नित्य करता है, आगे वर्णित बहिःपरिमार्जन विधियों (अवगाहन, मर्दन, उबटन आदि) का प्रयोग करता है तथा अधारणीय वेगों को धारण नहीं करता है, ऐसा करने पर उसके शरीर में यक्ष्मा के रहने का स्थान नहीं मिलता।

३. यक्ष्मा के रोगी को पूर्वोक्त मांस का भक्षण करते हुए यथा योग्य-प्रसन्ना, वारुणी, सीधु, अरिष्ट, आसव एवं मध्वासव (मधु से निर्मित आसव) का पान करना चाहिए ।

४. **मद्य के गुण**–मद्य (Alcohol), तीक्ष्ण (Sharp), उष्ण (Hot), वैशद्य (nonslimy) एवं सूक्ष्म (स्रोतोगामी) गुण युक्त होने से स्रोतस् के मुख को विशेष रूप से मथ कर शीघ्रतापूर्वक फैला देता है । स्रोतों के छिद्र खुल जाने से सप्त धातुयें (रसादि धातुयें) पुष्ट होने लगती हैं । धातुओं के पुष्ट होने से शोष (यक्ष्मा) शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है ।

यक्ष्मा में उपयोगी सिद्ध घृत–अधोलिखित सिद्ध घृतों का प्रयोग शोष रोगी की चिकित्सा हेतु करना चाहिए-

१. मांसभक्षी प्राणियों के मांसरस में घृत को सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग मधु के साथ करें ।

२. घृत- १ भाग, क्षीर- १० भाग लेकर घृत सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का सेवन शोष रोगी को मधु के साथ करायें ।

३. जीवनीयगण की औषधियों के कल्क, दशमूल का क्वाथ, घृत, क्षीर, मांसरस; सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृतपाक करें । यह सिद्ध घृत शोष को दूर करने में उत्तम है, अर्थात् परम शोषहर है ।

४. पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं शुण्ठी; इन द्रव्यों के कल्क, यवक्षार, क्षीर (गोदुग्ध) एवं घृत । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर घृतपाक विधि से घृत सिद्ध करें । यह घृत स्रोतोशुद्धिकर है, अर्थात् अवरुद्ध स्रोतस् को खोल देता है ।

५. रास्ना, बलामूल, गोक्षुर, स्थिरा (शालपर्णी), वर्षाभू (पुनर्नवा); प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें, इस क्वाथ में जीवन्ती एवं पिप्पली का कल्क, दूध एवं गोघृत (वह गोघृत जो सिद्ध दूध से निकाला गया हो) मिलाकर विधि पूर्वक घृत सिद्ध करें । यह घृत यक्ष्मा नाशक होता है ।

इन सिद्ध घृतों का प्रयोग यवागू के साथ, मधु के साथ अथवा अन्न के साथ करें । इस प्रकार यहाँ शोष से पीडित रोगियों के आहार विधि का निर्देश किया गया है । ॥१४९-१७२॥

चक्रपाणि–कल्पितानीति सम्यक् संस्कारेण संस्कृतानि-अच्छी प्रकार से संस्कारित (पाक) करके । अर्थात् निर्दिष्ट पशु-पक्षियों के मांस को उचित रीति से पकाकर खाना चाहिए । 'वर्मि' शब्द से यहाँ साँप (सर्प) के आकार की दीर्घ (लम्बी), विशेष प्रकार की एक मछली, का ग्रहण किया गया है । गण्डूपदः भूमिलता (केचुआ) ।

लोपाकः अल्पशृगालो लाङ्गूलप्रधानः –बड़ी पूँछ वाले छोटे गीदड़ को लोपाक कहा गया है । 'मांसानीत्यादि' के द्वारा यहाँ अन्य प्रकार के मांसों के प्रयोग को बताया गया है ।

अनभ्यासादिति–अभक्ष्य होने से, अर्थात् गण्डूपद, कौआ, लोपाक आदि के मांस जो अभक्ष्य (जिसे व्यक्ति खाने के लिए प्रयोग नहीं करता) हैं, उनका ग्रहण किया गया है ।

उपधेति–अन्य नामों के द्वारा देना अथवा खिलाना, अभक्ष्य मांस को विधिवत् पकाकर रोगी को अन्य पशु का मांस बताकर (खाने योग्य पशु का मांस बताकर) खाने के लिए देना । जिन नामों से रोगी सुखपूर्वक मांस को ग्रहण कर सके उसी नामों से रोगी को मांसादि का प्रयोग करना । अभक्ष्यता का ज्ञान होने पर कौन से दोष उत्पन्न होते हैं? इसका विवेचन यहाँ 'जानन्नित्यादि' के द्वारा किया गया है। [ज्ञात होने पर रोगी मांस का भक्षण नहीं कर पायेगा अथवा किसी प्रकार से कर भी लेता है तो ग्राह्य आहार का वमन हो जायेगा ।] मांस के अष्टविध योनियों का वर्णन सू.अ. २७ में प्रसहा इत्यादि के द्वारा विशेष रूप से किया गया है । **सक्षौद्रमिति** (श्लोक नं. १६८) में

Scanned by CamScanner

'सक्षौद्रं' से वाक्य पूर्ण हो जाता है, अर्थात् यह वाक्य इस प्रकार बनता है- "मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् सक्षौद्रं" [मांसभक्षी प्राणियों के मांसरस में घृत को सिद्ध कर मधु मिलाकर सेवन करें ।]

'पयसेत्यादि' से द्वितीय घृत को बताया गया है, अर्थात् १ भाग घृत को १० भाग दूध में पकाकर सिद्ध करें, इसका प्रयोग मधु के साथ करें ।

मधुरकाणि यानि तानि चेह कल्कार्थम्-मधुरगणवाली औषधियों का प्रयोग यहाँ कल्क के रूप में करने का निर्देश है ।

पिप्पल्यादि घृत में पिप्पल्यादि द्रव्यों के मान को नहीं बताया गया है । यहाँ पिप्पल्यादि द्रव्यों का कल्क स्नेह का १/८ भाग लें, स्नेह (घृत)- १ भाग तथा दूध- ४ भाग लेकर घृत को विधिवत सिद्ध करें । घृत के द्रव्यों का मान षट्पलघृत के द्रव्यों के मान के अनुसार ग्रहण करें । ॥१४९-१७२॥

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः । स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठेषु स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥१७३॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च । उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनरक्तैः सुखैः करैः ॥१७४॥
मृद्नीयात् सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् । जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥१७५॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् । विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥१७६॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् । यवचूर्णत्रिगुणितं दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥१७७॥
एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् । गौरसर्षपकल्केन कल्कैश्चापि सुगन्धिभिः ॥१७८॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः ।

अब आगे बाह्य त्वचा पर की जाने वाली विधियों (बाह्य प्रयोग) का वर्णन किया जा रहा है-

यक्ष्मा में अवगाहन का प्रयोग-शोष रोगियों में उत्पन्न होने वाले स्रोतों के अवरोध को दूर करने हेतु तथा शारीरिक बल की वृद्धि हेतु बल्य तैलों से अभ्यङ्ग करने के बाद स्नेह, दूध अथवा जल से भरे हुए कोष्ठ (Tub) में अवगाहन करावें । अवगाहन के पश्चात् पुनः रोगी के शरीर पर मिश्रक स्नेह द्वारा मृदु हाथों से सुखकर अभ्यङ्ग करावें, इसके बाद सुखकर आसन पर बैठे हुए आतुर का उत्सादन करावें, अर्थात् उसके शरीर पर उबटन लगावें ।

उत्सादन हेतु प्रयुक्त औषधियाँ-जीवन्ती, शतवीर्या (श्वेत दूर्वा), विकसा, पुनर्नवा, अश्वगन्धा, अपामार्ग, तर्कारी, यष्टीमधु, बलामूल, विदारीकन्द, सरसो, कूठ, चावल, अतसी का फल, उड़द, तिल, किण्व; इन सभी द्रव्यों को सग भाग में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण से तीन गुना यव का चूर्ण मिलावें । अब दोनों चूर्ण को एकत्र कर दही में पीसकर उसमें मधु मिलाकर यक्ष्मा रोगी के शरीर पर उबटन के रूप में लगावें । यह उत्सादन धातुओं को पुष्ट करता है, बल (Strength) एवं वर्ण (Complexion) की वृद्धि करता है ।

उत्सादन के पश्चात् जीवनीय औषधियों से सिद्ध जल (षडंगपानीय विधि से साधित जल) में गौर सर्षप (पीत सरसो) का कल्क मिलाकर उसे सुगन्धित द्रव्यों से सुगन्धित कर ऋतु के अनुसार सुखकर बनाकर स्नान करावें । अर्थात् स्नान करके उबटन को छुड़ा लें । ॥१७३-१७८॥

चक्रपाणि-उत्तीर्णमित्यादौ पुनरक्तैरिति-घृत+तैल (मिश्रक) स्नेह को हाथों द्वारा पूरे शरीर पर लगाकर बार-बार मर्दन करें । 'पुनरक्तमिति' पाठ से-पुनः मिश्रक स्नेह को शरीर पर लगाना अर्थ लिया गया है । उत्सादयेदिति=उद्वर्तयेत् (उबटन लगावें) । विकसा=मञ्जिष्ठा । तर्कारी=जया। समाक्षिकमिति=ईषन्माक्षिकम् (अल्प मात्रा में मधु मिलावें) ॥१७३-१७८॥

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ॥१७९॥
स्पृश्यान् संस्पृश्य संपूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः । इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत् पानभोजनम् ॥१८०॥
इष्टमिष्टैरुपहितं सुखमद्यात् सुखप्रदम् । समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ॥१८१॥
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च । यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि ॥१८२॥
यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते । यक्ष्मिणस्तत् प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥१८३॥
अभ्यङ्गोत्सादनैश्चैव वासोभिरहतैः प्रियैः । यथर्तुविहितैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ॥१८४॥
बस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः । इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ॥१८५॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः । गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥१८६॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः । ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥१८७॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गल्यैरप्यहिंसया । वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥१८८॥
यया प्रयुक्तया चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुरा जितः । तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥१८९॥

Scanned by CamScanner

स्नान के पश्चात् व्यक्ति गन्ध से युक्त होकर, सुगन्धित पुष्पों की माला धारणकर एवं अच्छे वस्त्रों से विभूषित होकर स्पृश्य (स्पर्श करने के योग्य मांगलिक) वस्तुओं को स्पर्श करके, देवता, चिकित्सक एवं ब्राह्मण की पूजा करके, मनोनुकूल वर्ण, रस, स्पर्श एवं गन्ध से युक्त, स्वाद युक्त एवं सुखकर अन्न-पान का सेवन अन्य अनुकूल द्रव्यों के साथ करे ।

राजयक्ष्मा (शोष) के रोगी को एक वर्ष पुराने अन्न का सेवन करावें, जो अन्न पान लघु हो, अर्थात् आसानी से (सुखपूर्वक) पच जाता हो, वीर्य युक्त हो, स्वादुयुक्त, गन्धयुक्त एवं प्रसन्नता उत्पादक हो, वे सभी पथ्यतम होते हैं । क्षतक्षीणचिकित्सा (चि.अ. ११) में वर्णित उन सभी पथ्य आहारों का प्रयोग राजयक्ष्मा में बल व मांस की वृद्धि हेतु करना चाहिए ।

राजयक्ष्मा में उपयोगी आहार-विहार–अभ्यङ्ग, उत्सादन (उबटन) एवं मनोनुकूल सुन्दर वस्त्रों का धारण, ऋतुओं के अनुसार स्नान व अवगाहन का प्रयोग करें । यह व्यवस्था बाह्य परिमार्जन (External cleaning) हेतु बतायी गयी है । बस्तियों का प्रयोग, दूध, घृत, मांस का सेवन एवं मांसरसों के साथ भात का प्रयोग करें अथवा दुग्धादि द्रव्यों की बस्तियाँ दें । मनोनुकूल मद्यों को प्रिय गंधों से युक्त होकर उपयोग में लावें । सुहृद्, रमणीय एवं मदयुक्त स्त्रियों को देखना, मन को अच्छे लगने वाले गीतों एवं वाद्यों को सुनना, सर्वदा प्रसन्न रहना, आश्वस्त रहना, गुरुओं की सेवा करना, सर्वदा ब्रह्मचर्य, दान, तपस्या एवं ईश पूजा में लगा रहना, सत्य बोलना, सदाचारी रहना, मांगलिक कार्यों को करते रहना, अहिंसक रहना तथा वैद्य एवं ब्राह्मण की सेवा करना; इन सभी उपदेशों के पालन करने से व्यक्ति यक्ष्मा (रोगराज) के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, अर्थात् स्वस्थ हो जाता है ।

पुराने समय में जिस क्रिया (यज्ञ) के प्रयोग से राजयक्ष्मा पर विजय प्राप्त की गयी थी उस वेद विहित इष्टि का प्रयोग आरोग्यार्थी को करना चाहिए । इष्टि=यज्ञ ।

चक्रपाणि–इसके बाद 'मन के अत्यन्त प्रसन्न रहने पर यक्ष्मोत्पादक दोषों का नाश होता है' इसलिये जिस प्रकार व्यक्ति की सभी चेष्टायें हमेशा मन के अनुकूल बनी रहे, उन्हीं कार्यों को करें तथा जिस युक्ति के द्वारा दैवव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिए उसी को यहाँ 'गन्धैरित्यादि' के द्वारा बताया गया है । ॥१७९-१८९॥

तत्र श्लोकौ-

प्रागुत्पत्तिर्निमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः । समासाद् व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः ॥१९०॥
नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता । इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते ॥१९१॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने राजयक्ष्मचिकित्सितं नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–राजयक्ष्मा की पूर्व काल में उत्पत्ति, निमित्त (Etiology), पूर्वरूप (Premonitory signs and symptoms), रूप (विविध रूप)-विस्तार एवं संक्षेप में एवं चिकित्सा के साथ-साथ व्याधि के नामकरण का हेतु, असाध्यता, साध्यता एवं कृच्छ्रसाध्यता सम्बन्धी सभी विषयों का संग्रह इस राजयक्ष्मचिकित्सा नामक अध्याय में किया गया है । ॥१९०-१९१॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में राजयक्ष्माचिकित्सा नामक अष्टम अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'प्रागुत्पत्तिरिति' से यहाँ अध्यायोक्त विषयों के संग्रह को बताया गया है । **नामहेतुरिति**-इसे यहाँ "स राज्ञः पूर्वमासीद्वै राजयक्ष्मा ततो मतः" इति के द्वारा बताया गया है, अर्थात् राजयक्ष्मा का नामकरण किस आधार पर किया गया है, इसे स्पष्ट किया गया है। ॥१९०-१९१॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में राजयक्ष्मचिकित्सित नामक अष्टम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

नवमोऽध्यायः ।

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे उन्मादचिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

चक्रपाणि–यहाँ प्रस्तावित 'राजयक्ष्मा चिकित्सा' के अभिधान के बाद क्रम प्राप्त उन्मादचिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है। यह क्रम चरक संस्कृत (प्रतिसंस्कृत) पाँच अध्याय अर्श, अतिसार, वीसर्प, मदात्यय एवं द्विव्रणीय को छोड़कर समझना चाहिए। ॥१-२॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः । उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः ।।३।।

विषयारम्भ–अग्निवेश द्वारा पूछे जाने पर बुद्धि, स्मृति, ज्ञान एवं तप के निवास रूप तथा सभी प्राणियों के लिए शरण्य भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उचित काल में उन्माद (Insanity) के हेतु (Etiology), आकृति (Signs and symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) को बताया । ॥३॥

चक्रपाणि–बुद्धिः ऊहापोहवती=ऊहापोहयुक्त ज्ञान अर्थात् तर्क युक्त ज्ञान को बुद्धि कहते हैं । बुद्धि (Intelligence- means discriminatory knowledge) । **स्मृतिः अतीतार्थविषयज्ञानम्**-अतीत के विषयों का ज्ञान स्मृति कहलाता है । तप से यहाँ चान्द्रायण आदि व्रत को कहा गया है, **तेषां निवास आश्रय इत्यर्थः** जिसका आश्रय है । अर्थात् तर्कयुक्तज्ञान, स्मृति एवं तप जिसके आश्रय हैं, अर्थात् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय । उन्मादहेत्वादीत्यादौ हेतुग्रहणेनात्र वक्तव्याः संप्राप्तिस्थितिरूपकाला उन्मादगम्यहेतुविषयतया गृह्यन्ते-उन्माद के हेतुओं में सर्वप्रथम 'हेतु' से यहाँ उन्मादगम्य हेतु का विषय होने से संप्राप्ति (Pathogenesis), स्थिति (Location), रूप (External manifestation) तथा काल (Time of manifestation) का ग्रहण किया गया है ।

आकृतिग्रहणेनाभिधेयस्योन्मादस्वरूपस्य ग्रहणं ज्ञेयम्-आकृति ग्रहण के द्वारा अभिधेय उन्माद के स्वरूप का ग्रहण किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । ॥३॥

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् । उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ।।४।।

उन्माद के हेतु (Etiology)–अधोलिखित हेतुओं के द्वारा उन्माद उत्पन्न होता है–

१. विरुद्ध (Mutually contradictory), दुष्ट (Polluted) एवं अशुचि (Impure) पूर्ण अन्न-पान सेवन करने से ।

२. देव, गुरु एवं द्विजों के अपमान करने से ।

३. भय एवं हर्ष के कारण मन में अभिघात होने से ।

४. विषम चेष्टाओं के करने से ।

चक्रपाणि–'विरुद्धेत्यादि' के द्वारा उन्माद के हेतुओं को बताया गया है । **विरुद्धं पयः संयुक्तमत्स्यादि**-विरुद्ध अन्न, यथा-मछली व दूध का संयोग । **दुष्टं गरादि**-विषादि के द्वारा दूषित अन्न, अर्थात् अत्यधिक दोषोत्पादक अन्न (जो अत्यधिक रूप से दोषों को प्रकुपित करते हों) । अशुचि=अपवित्र अर्थात् साफ सुथरा न होना ।

भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघात इति–यहाँ पूर्व शब्द कारण वाची है, भय व हर्ष के कारण मन में अभिघात का होना, यह अर्थ लिया गया है । ये विरुद्ध आहार आदि उन्माद के यथासंभव कारण हैं । यहाँ भय व हर्ष उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, उसी में क्रोध आदि मनोभिघातक कारणों का भी समावेश हो जाता है । क्रोधादि द्वारा आहत मन में भय व हर्ष पूर्वक ही उन्माद होता है । ॥४॥

जल्पकल्पतरु टीका–'विरुद्धदुष्टेत्यादि' के द्वारा सर्वप्रथम उन्माद के हेतुओं को बताया गया है । 'विरुद्धानां' से संयोग विरुद्ध अर्थ लिया गया है । **देवादीनां प्रधर्षणमभिभववाक्योक्तिः** -देवादि को अपमानित करने वाले शब्द ।

भयश्च हर्षश्च भवतः उन्मादादव्यवहितपूर्वकाले भवतीति भयहर्षपूर्वः –मनोभिघात के कारण उत्पन्न होने वाले उन्माद में पहले भय एवं हर्ष उत्पन्न होता है ।

मनोभिघात से तात्पर्य काम, क्रोध, शोक, लोभ, भय, हर्ष आदि कारणों के सेवन से हृदय एवं मन का उपहत होना अर्थ लिया गया है ।

विषमाश्च चेष्टा इति–अङ्गों को विषम रूप में रखना अर्थात् हाथ, पैर को इधर-उधर चलाना तथा विषम रूप में तन्त्रों का प्रयोग करना । ये सभी उन्माद के हेतु हैं ।

Scanned by CamScanner

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य । स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ।।५।।

उन्माद की संप्राप्ति–पूर्वोक्त कारणों द्वारा दुर्बल मन वाले व्यक्तियों के शरीर में वातादि दोष प्रकुपित होकर बुद्धि के निवास स्थान हृदय को दूषित करके मनोवाही स्रोतों में अधिष्ठित होकर व्यक्ति के मन को शीघ्र ही मोहित कर देते हैं । ।।५।।

चक्रपाणि–'तैरित्यादि' के द्वारा उन्माद की संप्राप्ति का यहाँ अभिधान किया गया है । **अल्पसत्त्वस्य अल्पसत्त्वगुणस्य**-जिस व्यक्ति के अन्दर सत्त्व गुण की अल्पता हो, अर्थ गृहीत है । अर्थेदशमहामूलीय अध्याय (सू.अ. ३०) में हृदय को बुद्धि का निवासस्थान प्रतिपादित किया गया है फिर भी यहाँ इसी का उपदेश किया गया है, हृदय के उपघात से बुद्धि का उपघात होना उचित ही है, क्योंकि आश्रय के उपघात से आश्रित का उपघात होना सिद्ध है ।

स्रोतांसि च मनोवहानीत्यनेन हृदयदेशसंबन्धिधमन्यो विशेषण मनोवहा दर्शयति-मनोवह स्रोतस् से यहाँ हृदय से संबन्ध रखने वाली धमनियों को विशेष रूप से मनोवाही कहा गया है । **किंवा केवलमेव शरीरं मनोऽध्यनुस्यूतं जग्राह**–अथवा शरीर व मन आपस में जुड़े हुये हैं अर्थात् शरीर व मन का आपस में घनिष्ट सम्बन्ध है। कहा भी गया है-"केवलमेवास्य मनसः शरीरमधिष्ठानभूतं" (वि.अ. ५) इति [मात्र इस मन का भी अधिष्ठान यह चेतन शरीर है । अर्थात् जिस प्रकार शरीर में विचरण करने वाले दोषों (वातादि) के मार्ग स्रोतस् हैं उसी प्रकार मन आदि के मार्ग (अयन) यह चेतन शरीर है ।] **चेत इति**=मन । ।।५।।

विशेष–आचार्य चक्रपाणि द्वारा उद्धृत यह वाक्य-'केवलमेवास्य मनसः शरीरमधिष्ठानभूतं' (वि.अ. ५) में न मिलकर इससे तुल्य वाक्य-"तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च" प्राप्त होता है ।

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च । अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ।।६।।
स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् । विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ।।७।।

उन्माद के सामान्य लक्षण–उन्माद में सामान्यतः अधोलिखित लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाते हैं-

१. बुद्धि का भ्रमित होना (Intellectual confusion)

२. मन का डोलना या चञ्चल होना (Fickleness of mind)

३. दृष्टि का व्याकुल होना ।

४. धैर्य का न होना अर्थात् अधीरता उत्पन्न हो जाना ।

५. असंबद्ध वाक्यों को बोलना ।

६. हृदय में शून्यता का उत्पन्न होना ।

उस विकृत मन वाले (मूढ़ चेत) पुरुष को न तो सुख, न तो दुःख, न आचार एवं न तो धर्म का ही ज्ञान रहता है, ऐसी स्थिति में उसे शान्ति कहाँ मिलेगी, क्योंकि उस पुरुष की स्मृति, बुद्धि एवं संज्ञा तीनों नष्ट हो जाते है । इस कारण से उसका मन इधर-उधर भ्रमित होता रहता है ।

चक्रपाणि–'धीविभ्रम इत्यादि' के द्वारा सामान्य उन्माद के पूर्वरूप को यहाँ बताया गया है, ऐसा कुछ लोगों का विचार है । यद्यपि यहाँ इसके द्वारा उन्माद के सामान्य लक्षणों का अभिधान किया गया है ।

कुत एव शान्तिमिति कुतोऽपि शान्तिं निवृत्तिं न विन्दति–रोगी को कहीं भी शान्ति नहीं मिलती ।

संज्ञा नामोल्लेखेन ज्ञानम्–व्यक्ति के नाम का ज्ञान होना, अर्थात् रोगी को किसी का नाम याद नहीं रहता ।

भ्रमत्ययं चेत इति अश्वान् रथिरिव भ्रामयति–जिस प्रकार एक रथी (रथ चलाने वाला) अश्वों को घुमाता है उसी प्रकार व्यक्ति का मन अस्थिर होने से व्यक्ति को घुमाता है ।

अत्र णिजर्थोऽन्तर्भूतः –यहाँ 'भ्रामयति' शब्द 'णिज' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ('उसे करता है या उसे कहता है' इस अर्थ में णिच् प्रत्यय का प्रयोग होता है ।)

समुद्भवं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः ।

उन्माद के भेद–बुद्धि, मन एवं स्मृति की विकृति के परिणामस्वरूप उत्पन्न उन्माद आगन्तुज एवं निज भेद से दो प्रकार का होता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–उन्माद शब्द की व्युत्पत्ति को यहाँ-'समुद्भममित्यादि' के द्वारा बताया गया है । **समुद्भम उन्माद इत्येकोऽर्थः**-समुद्भम से उन्माद अर्थ लिया गया है, अर्थात् अत्यधिक उत्तेजित होना । 'मनोविभ्रम' से अचिन्त्य विषयों के प्रति चिन्ता करना अर्थ गृहीत है । निदानस्थान में वर्णित संज्ञादिविभ्रम को भी मनोविभ्रम के ही अन्तर्गत समावेशित कर लिया गया है क्योंकि संज्ञा आदि विभ्रम भी मनोविभ्रम से ही उत्पन्न होता है ।

तस्योद्धवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ।।८।।
रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः । चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ।।९।।
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवाग्गात्रविक्षेपणरोदनानि । पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ।।१०।।

अब इसके बाद पाँच प्रकार के उन्मादों के अलग-अलग लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन करेंगे–

वातज उन्माद के हेतु एवं संप्राप्ति–रूक्ष भोजन (ununctous food), अल्प भोजन (अल्प मात्रा में आहार लेना), शीतल भोजन (Cold food), विरेचन, धातुक्षय एवं उपवास आदि हेतुओं द्वारा प्रकुपित वायु चिन्ता आदि मानसिक कारणों से पूर्व दूषित हृदय को पुनः दूषित करते हुए बुद्धि एवं स्मृति को शीघ्र नष्ट कर के उन्माद को उत्पन्न करता है ।

वातिक उन्माद के लक्षण–अनुचित स्थानों पर हँसना (Laughing), स्मित (मुस्कराना-Smiling), नाचना (dancing), गाना (Singing), बोलना (Speaking), अंगविक्षेप (अपने अङ्गों को हिलाना) एवं रोना (Weeping) । त्वक् पारुष्य (Roughness of the skin), शरीर का कृश हो जाना तथा त्वचा का लाल हो जाना । ये सभी लक्षण भोजन के जीर्ण होने पर बढ़ जाते हैं, अर्थात् वातिक उन्माद में भोजन के जीर्णावस्था में सभी लक्षण बली हो जाते हैं । ॥८-१०॥

चक्रपाणि–'तस्योद्धवमिति' में यद्यपि पाँचों प्रकार के उन्मादों के बीच में असाध्य सान्निपातिक उन्माद की चिकित्सा को नहीं बताया गया है, फिर भी छिन्नेा गच्छन्ति न्याय के आधार पर बाहुल्य के आश्रित चिकित्सा को बतायेंगे, ऐसा जानना चाहिए । [उन्माद के सभी भेदों की चिकित्सा बतायी जायेगी, लेकिन सान्निपातज उन्माद को छोड़कर । अतः बहुमत के आधार पर यह कहा गया है कि सभी की चिकित्सा आगे बतायेंगे ।]

चिन्तेत्यादि–चिन्ता आदि कारणों से जिसका हृदय पूर्व से ही आक्रान्त हो, ऐसे लोग । उससे यहाँ काम, क्रोध आदि मानसिक कारणों का भी ग्रहण हो जाता है । यहाँ आदि शब्द प्रकारवाची के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

अस्थाने अविषये हासादीन्यस्थानहासस्मितादीनि–हंसना, गाना, रोना आदि कार्य जहाँ नहीं करना चाहिए वहाँ करना, यथा-जहाँ हँसना चाहिए वहाँ शान्त रहना, जहाँ शान्त रहना चाहिए वहाँ हँसना आदि । ॥८-१०॥

अजीर्ण कटवम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् । उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ।।११।।
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः संतर्जनातिद्रवणोष्णरोषाः । प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ।।१२।।

पित्तज उन्माद के हेतु एवं लक्षण–अजीर्ण, कटु, अम्ल, विदाही एवं उष्ण अन्न-पान के सेवन करने से संचित पित्त अत्यधिक रूप से प्रकुपित होकर, चिन्तादि कारणों से दूषित हृदय के आश्रित होकर पूर्व की तरह भयङ्कर रूप से पित्तज उन्माद को उत्पन्न करता है । इसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. अमर्षता (व्यक्ति को किसी की बात सहन नहीं होती-Intolerance)
२. संरम्भ (अत्यधिक उग्र हो जाना)
३. विनग्नभावः (नग्न होकर रहना-Nakedness)
४. संतर्जन (दूसरे को धमकाना)
५. अतिद्रवण-शीघ्रता पूर्वक चलना ।
६. शरीर का अत्यधिक उष्ण बने रहना ।
७. अत्यधिक क्रोध का आना,
८. छाया में बैठने की इच्छा करना, शीतल अन्न एवं शीतल जल की इच्छा का होना ।
९. शरीर का वर्ण पीतवर्ण का हो जाना ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'अजीर्णेत्यादि' के द्वारा यहाँ पित्तज उन्माद का अभिधान किया गया है। **चितमिति**-चयपूर्वक होने से पित्त के भयङ्कर प्रकोप को दर्शाया गया है। चयपूर्वक होने वाले दोष का प्रकोप बलवान होने से महान (भयङ्कर) होता है। अन्य आचार्य यहाँ 'चित' शब्द से प्रकोप अर्थ ग्रहण करते हैं। अत्युग्रमिति=तीव्रवेग अर्थात् पित्त का तीव्र वेग से प्रकुपित होना।

'पूर्ववत्' से यहाँ वातिक उन्माद की तरह चिन्तादि कारणों से दूषित हृदय में तीव्र वेग से प्रकुपित पित्त आश्रित होकर पित्तज उन्माद को उत्पन्न करता है, अर्थ लिया गया है। इस सूत्र से यहाँ पित्तज उन्माद की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। अमर्षः अक्षान्तिः (शान्त न होना)। संरम्भ आरभटी=अत्यधिक साहसी होना। विनग्नभाव=अवस्त्रत्वम् (शरीर पर वस्त्र का न होना), अर्थात् कपड़ों को फाड़कर फेंक देना। अतिद्रवणं=शीघ्रतापूर्वक चलना। **प्रच्छायः प्रवृद्धच्छायो देशः** -विशेष रूप से छाया युक्त स्थान पर बैठने की इच्छा का होना॥ ॥११-१२॥

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रवृद्धः। बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥१३॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा। छर्दिश्च लाला च बलं च भुङ्क्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मकस्य ॥१४॥

कफज उन्माद के हेतु एवं लक्षण–व्यायाम (चेष्टा) न करते हुए भी जो व्यक्ति अत्यधिक मात्रा में भोजन करता है, ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के मर्म प्रदेश (हृदय प्रदेश) में कफ बढ़कर ऊष्मा के साथ मिलकर हृदयस्थ बुद्धि एवं स्मृति को नष्ट करके चित्त को मोहित करते हुए कफज उन्माद को उत्पन्न करता है। कफज उन्माद में व्यक्ति के शरीर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. कफज उन्माद का रोगी कम बोलता है एवं उसकी शारीरिक चेष्टाएं भी कम होती हैं।
२. भोजन के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है।
३. एकान्त स्थान एवं स्त्रियों के प्रति उसे विशेष प्रेम होता है।
४. अतिनिद्रता (अत्यधिक सोना)
५. छर्दि एवं मुख से लालास्राव (Salivation) होता रहता है।
६. ये सभी लक्षण खाना खाते समय बढ़ जाते हैं अर्थात् उन्माद का वेग भोजन काल में बढ़ जाता है।
७. नख एवं नेत्रादि का वर्ण शुक्ल (white) हो जाता है

चक्रपाणि–'संपूरणैरित्यादि' के द्वारा कफज उन्माद को बताया गया है। **सोष्मा कफ इति सह ऊष्मणा कफ उन्मादं करोति न केवल इति**-ऊष्मा (पित्त) के साथ कफ मिलकर कफज उन्माद को उत्पन्न करता है न कि अकेले कफ दोष के बढ़ जाने से ऐसा होता है। कफज उन्माद की संप्राप्ति हेतु यह आवश्यक है कि कफ के साथ पित्त का संयोग हो, इसी स्वाभाविक स्थिति को यहाँ दर्शाया गया है अथवा ऊष्मा शब्द से वीर्य रूप शक्ति का ग्रहण किया गया है।

तेन सोष्मा कफ इति–उत्क्लिष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः -कफ की उत्कृष्ट शक्ति का ग्रहण है। मर्मणीति=हृदय में।

नारीविविक्तयोः प्रियता नारीविविक्तप्रियता–नारी प्रियता एवं विविक्त प्रियता (एकान्त प्रियता)। विविक्तं=जहाँ लोग न रहते हों। ॥१३-१४॥

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्। सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१५॥

सन्निपातज उन्माद के लक्षण–सन्निपातज उन्माद अत्यन्त भयङ्कर होता है। सन्निपातज उन्माद सभी दोषों के समस्त हेतुओं द्वारा उत्पन्न होता है, अर्थात् इसमें सभी दोषों के अलग-अलग कारण मिश्रित रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः इसमें सभी दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। इसलिये इसमें एक दोष की चिकित्सा करने पर अन्य दोष प्रकुपित हो जाते है अर्थात् उपक्रम विरुद्धता आती है। इस कारण से सन्निपातज उन्माद असाध्य होता है।

चक्रपाणि–'य इत्यादि' के द्वारा सान्निपातिक उन्माद को बताया गया है। सर्वै इति-प्रत्येक दोष के सभी हेतु इस उन्माद के कारण हैं, इसी को यहाँ समस्तैरिति से बताया गया है, अर्थात् सभी दोषों के मिश्रित रूप से प्रकुपित होने पर यह उन्माद उत्पन्न होता है।

विरुद्धभैषज्यविधित्वाद्विवर्ज्यः –इसकी चिकित्सा विरुद्ध होने से सान्निपातज उन्माद असाध्य होता है। कुछ आचार्य तादृक् शब्द से, जो उन्माद (सान्निपातज उन्माद) समस्त हेतुओं से उत्पन्न हो तथा जिसमें सभी लक्षण मिलें वह वर्ज्य है, न कि अल्प हेतु एवं लक्षणों वाला सान्निपातज उन्माद असाध्य होता है। ॥१५॥

Scanned by CamScanner

विशेष–'यः सान्निपातेत्यादि' से सान्निपातज उन्माद के हेतु एवं लक्षणों को बताया गया है। जो उन्माद सन्निपात प्रभव कहा गया है वह वातादि प्रत्येक दोषों के सभी हेतुओं द्वारा उत्पन्न होता है, वह भयानक होता है। तीनों दोषों के सभी लक्षण इसमें पाये जाते हैं। समस्त हेतुओं से उत्पन्न एवं समस्त लक्षणों वाले सान्निपातिक उन्माद की चिकित्सा विरुद्ध पड़ती है, यथा-जो चिकित्सा वातिक उन्माद में की जाती है वह पैत्तिक एवं कफज में विरुद्ध पड़ती है। उष्ण एवं स्निग्ध गुण युक्त वातहर औषध का प्रयोग पित्त में नहीं करते, गुरु, पिच्छिल एवं स्निग्ध गुण वाली औषध का प्रयोग कफ दोष में नहीं करते। अतः चिकित्सा विरुद्ध होने से यह त्याज्य है, अर्थात् अचिकित्स्य है। जहाँ कहीं भी सन्निपातज उन्माद को साध्य कहा गया है वहाँ समस्त हेतुओं से उत्पन्न समस्त लक्षणों वाले उन्माद के लिए नहीं कहा गया है।

(जल्पकल्पतरु टीका)

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितृणामभिधर्षणानि। आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥१६॥

आगन्तुक उन्माद के हेतु–देव, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, राक्षस एवं पितरों के प्रति सम्मान जनक भाव न रखने से, नियम एवं व्रत आदि का पालन उचित रूप से न करने पर तथा पूर्वजन्म में किये गये अशुभ कर्म; आगन्तुक उन्माद के हेतु होते हैं। ॥१६॥

चक्रपाणि–'देवर्षीत्यादि' के द्वारा आगन्तुक उन्माद का अभिधान किया गया है।

इह येऽसुरादयः सुश्रुतोक्तास्तेऽनाविष्कृततमा विज्ञेया–यहाँ जो असुरादि नाम सुश्रुतसंहिता में बताये गये हैं वे अनाविष्कृततम् (अत्यन्त प्राचीन) हैं, ऐसा जानना चाहिए। आगे इसका उल्लेख "इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याता" [इस प्रकार अपरिसंख्येय ग्रहों में आविष्कृततम (अत्यन्त नवीन-जो प्रचलित हैं) ८ ग्रहों की व्याख्या की गयी।] के द्वारा किया जायेगा। यहाँ 'रक्षः' शब्द से राक्षस एवं ब्रह्मराक्षस दोनों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार विवरण में ब्रह्म एवं राक्षस दोनों से आक्रान्त उन्मत्त पुरुष का उल्लेख किया गया है। अभिधर्षणम्=आवेश। 'नियमेत्यादि' के द्वारा ऐहिक कर्म (इस शरीर से किया गया अशुभ कर्म) देवादि के आवेश का कारण बताया गया है। मिथ्याकृत कर्म से यहाँ पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्मों का ग्रहण किया गया है। ॥१६॥

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः। उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥१७॥

आगन्तुज उन्माद के सामान्य लक्षण–आगन्तुज उन्माद (भूतज उन्माद Insanity by supernatural being) के सामान्य लक्षण अधोलिखित हैं–

१. भूतोन्माद से ग्रसित व्यक्ति की वाणी (Speech), विक्रम (Valour), वीर्य (Potency), चेष्टा (Activities), ज्ञान (knowledge) एवं विज्ञान (Intellectual excellence) आदि की क्षमता एक सामान्य मनुष्य के समान नहीं होती, अर्थात् बढ़कर होती हैं।

२. उन्माद की उत्पत्ति का काल नियत नहीं रहता अर्थात् वेगकाल का समय निश्चित नहीं रहता।

चक्रपाणि–'अमर्त्येत्यादि' के द्वारा आगन्तुक उन्माद के सामान्य लक्षणों को बताया गया है।

अमर्त्यैः अमानुषैर्वागादिभिर्लक्षितं भूतोत्थमुदाहरेत्–जिस पुरुष में वाणी, ज्ञान, विज्ञान, पराक्रम आदि की क्षमता मनुष्य की क्षमता से अधिक हो जाय उसे भूतज उन्माद से युक्त जानना चाहिए।

अनियत इति–वातिक उन्माद की तरह आहार के जीर्ण होने पर उन्माद की वृद्धि का होना, इस प्रकार का नियतकाल आगन्तुज उन्माद में नहीं पाया जाता है। जो लोग 'नियत' पाठ करते हैं उनके अनुसार आगे वर्णित नियत तिथियों में आगन्तुक उन्माद के वेग आते हैं, यह भाव है। ॥१७॥

जल्पकल्पतरुटीका–'अमर्त्येत्यादि' के द्वारा आगन्तुज (भूतज) उन्माद के वैशिष्ट्य को बताया गया हैं। अमर्त्य-से देवादि का ग्रहण किया गया है। अर्थात् उन्माद (भूतज) प्रभावित व्यक्ति की वाणी, विक्रम (साहस), वीर्य एवं चेष्टा देवादि की तरह हो जाती है, उसी प्रकार उस व्यक्ति के ज्ञान व विज्ञान भी देवादि की तरह होने से मनुष्य से भिन्न (विशेष) हो जाते हैं।

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैस्तु गुणप्रभावैः। विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव च्छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥१८॥

देवादिग्रहों का पुरुष शरीर में प्रवेश–देवादिग्रह अपने गुणों के प्रभाव से पुरुष के शरीर को दूषित (विकृत) न करते हुए अदृश्यरूप एवं तीव्र गति से उसमें उसी प्रकार प्रवेश कर जाते हैं जिस प्रकार दर्पण में छाया तथा सूर्यकान्तमणि में आतप (सूर्य का प्रकाश) का प्रवेश होता है।

चक्रपाणि–अदूषयन्त ईषद्दूषयन्तः=अल्प रूप में दूषित करते हुए; देवादि ग्रह पुरुष के शरीर को अल्प रूप में विकृत करते हुए प्रवेश करते हैं।

Scanned by CamScanner

गुणप्रभावैरिति–अणिमा आदि गुण के प्रभाव से [योगशास्त्र में वर्णित योगियों को प्राप्त होने वाली ८ प्रकार की प्रधान सिद्धियाँ, यथा- १. अणिमा (अत्यन्त सूक्ष्म रूप में आ जाना), २. महिमा (अत्यधिक बड़ा हो जाना-To become very big), ३. गरिमा (To become heavy), ४. लघिमा (To become light-अत्यन्त हलका हो जाना), ५. प्राप्ति (अलभ्य की प्राप्ति-To be able to touch the moon etc with finger is 'Prapti'), ६. प्राकाम्य (कामनाओं का पूर्ण होना), ७. ईशत्व (शरीर व आत्मा (अन्तःकरण) पर पूरी तरह से नियन्त्रण रखना) एवं ८. वशित्व To be able to create and sustain every where is 'Vasitva';)] तरसा=अत्यधिक तीव्र वेग से, अर्थात् देवादि ग्रह अत्यन्त तीव्र वेग से अदृश्य रूप में अपने अणिमा आदि गुणों के प्रभाव से पुरुष के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं।

'छायेत्यादि' से यहाँ दो दृष्टान्तों को बताया गया है। छाया जिस प्रकार दर्पण में प्रवेश करती है तथा आतप जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि में प्रवेश करता है, अर्थात् अदृश्य रूप में अपने गुणों के प्रभाव से छाया एवं आतप क्रमशः दर्पण एवं सूर्यकान्त मणि में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार देवादि अपने सिद्धियों के प्रभाव से पुरुष शरीर में प्रवेश करते हैं। ॥१८॥

आघातकालो हि स पूर्वरूपः प्रोक्तो निदानेऽथ सुरादिभिश्च। उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध कालं च गम्यान् पुरुषांश्च तेषाम् ॥१९॥

देवादि ग्रहों के आवेश का समय–देवादि ग्रहों के आवेश काल का वर्णन निदानस्थान में पूर्वरूप के साथ ही बताया जा चुका है। अब यहाँ उनके काल, गम्य पुरुषों तथा उन्माद के अलग-अलग रूपों (लक्षणों) का विवेचन किया जा रहा है–

चक्रपाणि–आघातकाल इति=आवेश का समय; इसका विवेचन निदानस्थान में "तद्यथा पापस्य कर्मणः समारम्भे" (नि.अ. ७) के द्वारा कहा जा चुका है। काल से तिथि रूप काल का ग्रहण है।

तद्यथा–सौम्यदृष्टिं गम्भीरमधृष्यमकोपनमस्वप्नभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात्; गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपचेष्टाहारव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात्; अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषमरोचकाविपाकपरीतं च पितृभिरुन्मत्तं विद्यात्; (चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमधृष्यं) मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलिकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात्; असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणं च यक्षोन्मत्तं विद्यात्; नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्यतिबलिनं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं संतर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात्; प्रहासनृत्यप्रधानं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात्; अस्वस्थचित्तं स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं संकरकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं भिन्नरूक्षस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥२०॥

१. देवग्रह से पीड़ित पुरुष के लक्षण–शरीर में देवग्रह के प्रवेश करने पर पुरुष में जो उन्माद के लक्षण पाये जाते हैं, वे अधोलिखित हैं–१. व्यक्ति की दृष्टि सौम्य अर्थात् वह देखने में सज्जनों जैसा लगता है, गम्भीर स्वभाव युक्त, किसी से पराजित न होने वाला, अक्रोधी (क्रोध का न आना), अस्वप्न (व्यक्ति को निद्रा नहीं आती) अर्थात् अल्प निद्रा लेने वाला तथा भोजन के प्रति विशेष अभिलाषा न रखने वाला होता है।

२. देवोन्मत्त पुरुष के शरीर से स्वेद (पसीना), मूत्र, पुरीष एवं अधोवात अल्प मात्रा में निकलते हैं अर्थात् उसके शरीर से दुर्गन्ध नहीं आती।

३. पुरुष के शरीर से शुभ गन्ध निकलती रहती है।

४. देवग्रह से उन्मत्त पुरुष का मुख (चेहरा) विकसित कमल के पुष्प की तरह होता है।

इन लक्षणों को देखकर यह जान लें कि पुरुष देवग्रह से उन्मत्त है।

२. शाप द्वारा उन्मत्त पुरुष के लक्षण–गुरु, वृद्ध, सिद्ध एवं ऋषियों के शाप, अभिचार, अभिध्यान (चिन्ता) के द्वारा उन्मत्त व्यक्ति तदनुरूप चेष्टा, आहार एवं व्यवहार करता है। अतः चेष्टा आहार एवं व्यवहार को देखकर उनके कारणों का अनुमान करना चाहिए।

३. पितृग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण–अप्रसन्न दृष्टि (देखने पर दुखी दिखना), इधर-उधर न देखना, अत्यधिक निद्रालु, रुक-रुक कर बोलने वाला, भोजन के प्रति इच्छा का न होना (Lack of desire of food), अरोचक (Anorexia) एवं अविपाक (Indigestion) का पाया जाना; इन लक्षणों को देखकर यह समझ लें कि उन्मत्त व्यक्ति पितृग्रह से आक्रान्त है।

४. गन्धर्वोन्मत्त पुरुष के लक्षण–गन्धर्वग्रह से उन्मत्त व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. चण्ड, साहसयुक्त, तीक्ष्ण (Sharpness), गम्भीर एवं किसी से पराजित न होने वाला।

२. मुख से वाद्य बजाने वाला, होता है।

Scanned by CamScanner

३. व्यक्ति विशेष रूप से नृत्य (dancing), गीत (Singing), अन्न-पान (Food and drinks), स्नान, मालाधारण, धूप एवं गन्ध द्रव्यों के प्रति अनुरक्त रहता है ।

४. व्यक्ति रक्तवस्त्र, बलिकर्म एवं हास्य कथाओं में विशेष रूप से रुचि लेता है ।

५. व्यक्ति के शरीर से शुभ गन्धों का निकलना ।

इन सभी लक्षणों को देखकर यह समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति गन्धर्व ग्रह से उन्मत्त है ।

५. यक्ष ग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण–१. इस ग्रह से पीड़ित व्यक्ति बार-बार सोने वाला, रोदन करने वाला, हँसने वाला, नाचने वाला, गाने वाला, वाद्य बजाने वाला, स्तोत्र पाठ करने वाला तथा विभिन्न प्रकार की कथाओं को कहने वाला होता है ।

२. इस ग्रह से पीड़ित व्यक्ति खान-पान की वस्तुओं, स्नान करना, माला धारण, धूप एवं गन्ध युक्त वस्तुओं के प्रति विशेष प्रेम रखता है ।

३. नेत्र रक्त वर्ण के एवं जल से परिपूर्ण रहते हैं ।

४. ब्राह्मण एवं वैद्यों का निन्दक होता है अर्थात् निन्दा करता रहता है ।

५. व्यक्ति गोपनीय बातों को भी बताता रहता है ।

इन लक्षणों को देखकर यक्षोन्मत्त व्यक्ति का ज्ञान हो जाता है ।

६. राक्षस ग्रह से उन्मत्त पुरुष के लक्षण–इस ग्रह से पीड़ित व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. निद्रा का नष्ट हो जाना, अर्थात् नींद का न आना ।

२. अन्न-पान से द्वेष करना (Hatred for food and drinks)

३. आहार न करते हुए भी व्यक्ति का बलवान होना ।

४. शस्त्र धारण करने की इच्छा का होना ।

५. रक्त, मांस एवं रक्तवर्ण की माला के प्रति विशेष प्रेम रखना ।

६. दूसरे को डराना या भयभीत करना (Ferociousness) अथवा क्रूर स्वभाव का होना ।

७. ब्रह्मराक्षस ग्रह से पीड़ित पुरुष के लक्षण–इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं–

१. अत्यधिक हँसने एवं नाचने वाला अर्थात् व्यक्ति खूब हँसता एवं नाचता रहता है ।

२. देव, विप्र एवं वैद्य (चिकित्सक) का तिरस्कार करना एवं इनकी आज्ञाओं का पालन न करने वाला ।

३. व्यक्ति देवस्तुति, वेदमन्त्र एवं शास्त्र के उदाहरणों को बार-बार दुहराता रहता है ।

४. काष्ठ आदि के द्वारा स्वयं को पीड़ित करना अर्थात् लकड़ी आदि के द्वारा अपने ही शरीर पर चोट करता है ।

८. पिशाचग्रह से पीड़ित व्यक्ति के लक्षण–इस ग्रह से उन्मत्त पुरुष में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. मन का अस्वस्थ बना रहना ।

२. स्थान का प्राप्त न होना, अर्थात् उन्मत्त व्यक्ति यह कहता है कि उसे विश्राम करने के लिए कोई जगह ही नहीं मिल रही है ।

३. वह हमेशा अपने को नाचने, गाने एवं हँसने में व्यस्त रखता है ।

४. बद्ध एवं अबद्ध प्रलाप करने वाला अर्थात् कभी प्रयोजन के अनुसार तथा कभी बिना प्रयोजन के भी बोलता रहता है ।

५. घास (तृण) आदि के संचित कूड़े, सड़क पर फेंके गये गन्दे कपड़े, तृण, पत्थर एवं काष्ठ (लकड़ी) पर आरोहण (बैठने) करने में विशेष प्रेम रखना । अर्थात् उन्मत्त व्यक्ति सड़क पर फैले हुए गन्दे कपड़ों आदि को अपने शरीर पर धारण करता है या उसे बिछाकर बैठता है ।

६. व्यक्ति का स्वर भिन्न (फटा होना) एवं रूक्ष (Hoarseness) हो जाता है ।

७. व्यक्ति नग्न होकर दौड़ता रहता है, एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता ।

Scanned by CamScanner

८. वह अपने कष्टों को अन्य व्यक्तियों से बताता रहता है तथा उसे पुरानी बातों का स्मरण नहीं रहता अर्थात् उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है ।

इन लक्षणों को देखकर आतुर पिशाचग्रह से उन्मत्त है या आवेशित है, यह ज्ञान होता है ।

चक्रपाणि–स्वप्नभोजनाभिलाषी न भवतीति-निद्रा का न आना एवं भोजन करने की इच्छा का न होना । देवादि शब्द से यहाँ सुश्रुत के मतानुसार देवादि का अनुकरण करने वाले अनुचरों का ग्रहण किया गया है, ऐसा जानना चाहिए । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा- न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति । ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥ तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः । असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तमाविशन्ति'' (सु.उ.अ. ६०) इति [देवादिग्रह उच्च तप, दान आदि गुणों से युक्त होने के कारण मनुष्यों के साथ नहीं रहते तथा न ही मनुष्य के शरीर में आविष्ट (प्रवेश) करते हैं । जो लोग मोह वश (अज्ञानवश) इनका मनुष्य शरीर में प्रवेश करना स्वीकार करते हैं, वे भूतविद्या से विज्ञ नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिए । उन ग्रहों के कोटि (करोड़ों), सहस्र (हजारों), अयुत (लाखों) एवं पद्म (असंख्येय) अनुचर (परिचारक) हैं जो असृग् (रक्त), वसा व मांस का भक्षण करते हैं, जो अत्यन्त शक्तिशाली हैं तथा जो रात्रिचर (रात्रि में विचरण करते) हैं, वे ही मनुष्य शरीर में प्रवेश करते हैं ।]

ऋषिसधर्मतया गुर्वादीनामसूत्रितानामप्युदाहरणम्–गुरु आदि के गुण ऋषियों के गुणों के तुल्य होने से सूत्रित (वर्णित) न होते हुए भी उदाहरण स्वरूप दिये गये हैं । गुरु आदि के द्वारा दिये गये शाप का जैसा अभिप्राय (भाव) होता है, उन्मत्त व्यक्ति के द्वारा उसी प्रकार की चेष्टा आदि की जाती है । **अनन्नाभिलाषः अन्नाप्रार्थना**-भोजन (अन्न) का निवेदन न करना, अनन्नाभिलाष कहलाता है-। **अरोचक**-इसमें व्यक्ति भोजन का निवेदन तो करता है, लेकिन भोजन सामने आने पर उसे खाने की इच्छा नहीं होती ।

चण्डमिति=मारणात्मक (हिंसक, उग्र, आवेशयुक्त) । स्तुतिः स्तावको ग्रन्थः (प्रशंसाकारक ग्रन्थ)

उदाहरणमिति–देव स्तुतिकारक पाठों को पढ़ना, यथा-शिव स्तुति, विष्णु की स्तुति करना आदि ।

स्थानमलभमानमिति–'स्थान ही नहीं है' ऐसा कहना, अर्थात् उन्मत्त व्यक्ति यह कहता है कि उसे ऐसा कोई स्थान ही नहीं मिल रहा है जहाँ वह बैठकर आराम कर सके ।

बद्धाबद्धत्वम्–संबद्ध एवं असंबद्ध भाषण करना ।

संकरः तृणादिचय इत्यर्थः –घास आदि का ढेर । ॥२०॥

विशेष–सुश्रुत संहिता में भी ग्रहों की संख्या ८ बतायी गयी है-१. देव, २. देवशत्रु (दैत्य), ३. गन्धर्व, ४. यक्ष, ५. पितर, ६. भुजङ्ग, ७. राक्षस, ८. पिशाच ।

→ देवग्रह से आक्रान्त पुरुष संतुष्ट, पवित्र, उत्तम गंध एवं माला की अभिलाषा वाला, निद्रा व तन्द्रा से रहित, सत्य वक्ताः धाराप्रवाह संस्कृत बोलने वाला, तेजस्वी, स्थिर नेत्रों वाला, वरप्रदाता एवं ब्राह्मणों की पूजा करने वाला होता है । [सन्तुष्टः शुचिरपि चेष्टगन्धमाल्यो निस्तन्द्री ह्यवितथसंस्कृतप्रभाषी । तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्राह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥ (सु.उ.त. ६०/८)]

→ देवशत्रुग्रह से उन्मत्त पुरुष में निम्न लक्षण पाये जाते हैं, यथा-शरीर से अत्यधिक पसीना निकलता है, गुरु, द्विज एवं देवताओं के दोष को बताने वाला, टेढ़े नेत्रों वाला, निडर, कुमार्गी (बुरे मार्ग पर चलने वाला), विविध प्रकार के अन्न-पान के सेवन करने पर भी संतुष्ट न होना एवं दुष्ट स्वभाव का होना । ["संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टि । संतुष्टो भवति न चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति च देवशत्रुजुष्टः ॥" सु.उ.तं. ६०/९]

→ सदा प्रसन्न रहने वाला, नदियों के किनारों एवं वनों के बीच विचरण करने वाला, शुद्ध आचरण से युक्त होना, संगीत एवं गन्ध युक्त मालाओं में विशेष रुचि रखने वाला, जो अच्छी प्रकार से नाचते हुए मन्द-मन्द मुस्कराता है । ये सभी लक्षण गन्धर्वग्रह से पीड़ित व्यक्ति में पाये जाते हैं । [हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः । नृत्यन् वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ सु.उ.तं. ६०/१०]

→ यक्षग्रह से उन्मत्त पुरुष की आँखें ताम्र वर्ण की तरह लाल होती हैं, वह पतला एवं रक्तवर्ण का वस्त्र पहनने का इच्छुक होता है, गम्भीर स्वभाव युक्त, तीव्र बुद्धि युक्त, अल्प वक्ता (कम बोलने वाला), सहिष्णु (क्षमा युक्त) एवं तेजस्वी होता है । इस ग्रह से पीड़ित व्यक्ति यह भी कहता है कि किसे क्या दूँ । [ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतमतिरल्पवाक् सहिष्णुः। तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ सु.उ.तं. ६०/११]

Scanned by CamScanner

→ पितृग्रह से आविष्ट पुरुष शान्त स्वभाव से दाहिने कन्धे पर तौलिया आदि रखकर कुश के आसन बिछाकर आटे का पिण्ड बनाकर अपने पितरों को देता है, पश्चात् दाहिने हाथ से जल प्रदान करता है। मांस, तिल, गुड़ एवं पायस के प्रति विशेष प्रेम रखता है। अर्थात् खाने की इच्छा करता है। [प्रेतेभ्यो विसृजति संस्तरेषु पिण्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः। मांसेप्सुस्तिलगुडपाय-साभिकामस्तुद्धुक्तो भवति पितृग्रहाभिभूतः॥ सु.उ.तं. ६०/१२]

→ नागग्रह से आविष्ट पुरुष में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं, यथा-पीड़ित व्यक्ति भूमि पर कभी-कभी सर्पवत् (पेट के बल) सरकता है, अपने दोनों ओष्ठों को जिह्वा से चाटता रहता है, निद्रा अधिक आती है, गुड़, मधु, दूध तथा पायस (खीर) खाने की विशेष इच्छा रखता है। [भूमौ यः प्रसरति सर्पवत् कदाचित् सृक्किण्यौ विलिखति जिह्वया तथैव। निद्रालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्विज्ञेयो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः॥ सु.उ.तं. ६०/१३]

→ राक्षसग्रह से पीड़ित व्यक्ति-मांस, रक्त एवं अनेक प्रकार के सुराओं को खाने एवं पीने की इच्छा रखता है। यह व्यक्ति लज्जा रहित, अत्यधिक निष्ठुर, अत्यधिक वीर, अत्यधिक क्रोध युक्त, विपुल बल वाला, निशाचर (रात्रि में विचरण करने वाला) तथा पवित्रता से द्वेष करने वाला होता है। [मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः। क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति च रक्षसा गृहीतः॥ सु.उ.त. ६०/१४]

→ पिशाचग्रह से उन्मत्त व्यक्ति विकृत चेहरे वाला, कृश, रूक्ष अङ्ग-प्रत्यङ्ग युक्त, देर तक प्रलाप करने वाला, दुर्गन्धित शरीर वाला, अत्यधिक अपवित्र रहने वाला, अत्यधिक भोजन करने वाला, अत्यधिक लालची, एकान्त प्रिय, शीतल जल पीने वाला, रात्रि में उद्विग्न होकर रोते हुए भ्रमण करने वाला होता है। [उद्धवस्तः कृशपरुषश्चिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः। बह्वाशी विजनहिमाम्बुरात्रिसेवी व्याविग्नो भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः॥ सु.उ.तं. ६०/१५]

तत्र चौक्षाचारं तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिवाक्यकुशलं प्रायः षष्ठ्यां नवम्यां चर्षयः, मातृपितृगुरुवृद्धसिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्यामामावस्यायां च पितरः, गन्धर्वाः स्तुतिगीतवादित्ररतिंपरदारगन्धमाल्यप्रियं चौक्षाचारं प्रायो द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिवाक्करणं प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासब्रह्मचर्यदेवयतिगुरुपूजाऽरतिं भ्रष्टशौचं ब्राह्मणमब्राह्मणं वा ब्राह्मणवादिनं शूरमानिनं देवागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वं पिशुनं खैणं लुब्धं शठं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु; इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्याख्यातवेते व्याख्याताः॥२१॥

देवादिग्रहों के आवेश का काल, तिथि एवं योग्य पुरुष–१. पवित्र आचरण वाले, तप एवं स्वाध्याय में लगे रहने वाले व्यक्तियों में इनसे सम्बन्धित कोई भी कमी पाकर प्रायः **देवादिग्रह** शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा अथवा त्रयोदशी तिथि को आवेशित करते हैं।

२. प्रतिदिन स्नान करने वाले, पवित्र रहने वाले, एकान्त सेवी, धर्मशास्त्र एवं श्रुति वाक्यों में कुशल व्यक्तियों में आचार आदि सम्बन्धी कोई भी कमी पाकर **ऋषिग्रह** षष्ठी या नवमी तिथि को प्रवेश करते हैं।

३. माता, पिता, गुरु, वृद्ध, सिद्ध पुरुषों एवं आचार्यों की सेवा में लगे रहने वाले व्यक्ति में आचार आदि सम्बन्धी त्रुटि पाकर **पितरग्रह** प्रायः दशमी या अमावस्या तिथि को प्रविष्ट होते हैं।

४. नित्य देवताओं की स्तुति करने वाले, गीत एवं वाद्य में प्रेम रखने वाले, दूसरे की स्त्रियों, गन्ध एवं मालाओं के प्रति अनुरक्त रहने वाले तथा पवित्र आचरण वाले व्यक्ति में आचरण संबन्धी कोई भी छिद्र पाकर प्रायः **गन्धर्वग्रह** द्वादशी अथवा चतुर्दशी तिथि को आविष्ट होते हैं।

५. जो व्यक्ति सत्त्व (प्रबल सत्त्व), बल (शारीरिक बल), रूप (सुन्दरता), गर्व (अभिमान) एवं शौर्य (पराक्रम) से युक्त हैं, जो अपने शरीर पर सुगन्धित द्रव्यों की माला एवं अनुलेपन करते हैं, अर्थात् चन्दनादि का लेप लगाते हैं, जो हास्य प्रिय हैं तथा अत्यधिक बोलने वाले हैं। ऐसे व्यक्तियों में आचार एवं विचार सम्बन्धी कोई भी त्रुटि पाकर **यक्षग्रह** प्रायः शुक्ल पक्ष की एकादशी अथवा सप्तमी तिथि को प्रवेश करते हैं।

६. जो व्यक्ति स्वाध्याय (Study of religious scriptures), तप (साधना), नियम, उपवास (Fasting), ब्रह्मचर्य (celibacy), देव, यति (संन्यासी-Recluses) तथा गुरुओं (Preceptors-अध्यापकों) की सेवा में लगा रहता है, ऐसे व्यक्ति का आचरण यदि पवित्र नहीं है चाहे वह ब्राह्मण हो या अब्राह्मण, लेकिन अपने को ब्राह्मण मानते हों, अपने को बलिष्ठ स्वीकार करते हों, देवालय एवं जलाशय में विहार करने में रुचि रखते हों। ऐसे व्यक्तियों में छिद्र पाकर प्रायः शुक्ल पक्ष के पञ्चमी अथवा पूर्णिमा को ब्रह्मराक्षसग्रह आवेशित करते हैं।

७.८. **राक्षस एवं पिशाचग्रह**-हीन सत्त्व वाले, चुगलखोर (पीछे से झगड़ा लगाने वाले-A back biter), स्त्रियों के अधीन (वश में) रहने वाले, लालची एवं दुष्ट पुरुषों के शरीर में प्रायः आचार आदि सम्बन्धी त्रुटि पाकर ये ग्रह द्वितीया, तृतीया अथवा अष्टमी तिथि को प्रवेश करते हैं।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार अपरिसंख्येय ग्रहों में से आविष्कृततम् इन आठ ग्रहों की व्याख्या यहाँ की गयी ।

चक्रपाणि–'तत्र चौक्षाचारमिति' के द्वारा ग्रहों से आविष्ट होने वाले पुरुष एवं आवेशकाल का वर्णन अलग-अलग किया गया है ।

चौक्षः शुचिः आचारो यस्य स चौक्षाचारः –जिस पुरुष का आचरण (आचार) पवित्र हो उसे चौक्षाचार कहा गया है । चौक्ष=शुचि: (पवित्र), आचार:=आचरण (Manner of action) । व्यक्ति के आचरण आदि शुभ कर्म वाले हों, तब शुभकर्म के प्रभाव से यद्यपि उन्माद नहीं होना चाहिए, फिर भी पूर्वजन्मकृत कर्मों के परिणाम स्वरूप देवादिग्रह उन्माद उत्पन्न करते ही हैं अर्थात् व्यक्ति देवादि ग्रहों द्वारा उन्मादित होता है, ऐसा जानना चाहिए । **अतिवाक्करणमिति**-अत्यधिक बोलने वाला ।

छिद्रमिति उच्छिष्टावस्थानादिरूपमपचारम्–उच्छिष्ट अवस्थान आदि रूप अपचार । उच्छिष्ट=फेंका हुआ (Left), अमान्य किया हुआ (Rejected), जूठा किया हुआ भोजन, अथवा बिना मुख एवं हाथ साफ किये हुए भोजन करना । चूंकि भूतविद्या का प्रकरण होने से भूतज उन्माद का यहाँ लेश मात्र कथन शून्यतार्थ किया गया है । इस प्रकार और भी उन्माद को उत्पन्न करने वाले भूत (ग्रह) कारण हैं, इसी का उल्लेख यहाँ 'अपरिसंख्येयानामिति' के द्वारा किया गया है । ॥२१॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भान्निःशङ्कमन्येष्वात्मनि वा निपातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः; तथा यः साश्रुनेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षतजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानचर्माऽप्रतिहन्यमानवाणिः सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धश्च स हिंसार्थिनोन्मत्तो ज्ञेयः; तं परिवर्जयेत् ।।२२।।

भूतज उन्माद की असाध्यता–पूर्व वर्णित ग्रहाविष्ट पुरुषों में जो पुरुष अपने दोनों हाथों को ऊपर उठाकर क्रोध युक्त होकर विश्वास के साथ अपने ऊपर अथवा दूसरे के ऊपर गिराता है । अर्थात् स्वयं को मारता है अथवा दूसरे को मारता है, ऐसे रोगी को असाध्य समझना चाहिए । जिस पुरुष के नेत्रों से अश्रु का स्राव हो रहा हो अथवा नेत्र अश्रु से भरे हों, मूत्रमार्ग से रक्त का स्राव हो रहा हो, जिह्वा क्षत युक्त हो गयी हो, नासिका से पानी निकल रहा हो, त्वचा कट गयी हो (excised skin), लगातार बोल रहा हों (Uninterrupted speech), अस्पष्ट बोलने वाला (Constant mumbling), शरीर का वर्ण विकृत हो गया हो, प्यास से पीड़ित हो (thirst) तथा जिसके शरीर से दुर्गन्ध निकलती रहती है (Putrid smell of the body); इन लक्षणों को देखकर यह जान लें कि देवादि ग्रह हिंसा की भावना से रोगी में आविष्ट है अर्थात् आतुर को मारना चाहते हैं । ऐसे रोगी को छोड़ दे, अर्थात् यह रोगी असाध्य होता है । ॥२२॥

चक्रपाणि–असाध्य भूतज उन्माद के लक्षणों को यहाँ-'सर्वेष्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है । हिंसार्थी-हिंसा की भावना वाला; आतुर को मारने के लिए ग्रह का प्रविष्ट होना, (Having desire for Violence)

अप्रतिहन्यमानवाणिरिति नित्यवागित्यर्थः –नित्य बोलना (जिसकी वाणी कभी रुकती न हो), रति, अर्चना एवं हिंसा के भेद से भूत (Super natural being) तीन प्रकार के होते हैं । रति का अभिप्राय आनन्द से है, अर्थात् जो ग्रह आनन्द लेने की इच्छा से रोगी के शरीर में प्रवेश करते हैं उन्हें रत्यार्थी ग्रह कहा गया है । अर्चनार्थी ग्रह आतुर से या उसके परिवार वालों से अपनी पूजा करवाने के लिए प्रवेश करते हैं तथा हिंसार्थी ग्रह आतुर को मारने के लिए आवेशित करते हैं । इन तीनों में हिंसार्थी ग्रह असाध्य होता है । इसलिये असाध्य भूतोन्माद के प्रसंग में 'हिंसार्थिनोन्मत्त इति' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् जो ग्रह हिंसा की भावना से रोगी को उन्मत्त करते हैं, ऐसा उन्मत्त पुरुष असाध्य होता है । ॥२२॥

रत्यर्चनाकामोन्मादिनौ तु भिषगभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण । मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत् ।।२३।।

रति एवं अर्चनार्थी ग्रह से आविष्ट पुरुष की चिकित्सा–रति (मैथुन) एवं अर्चना (पूजा) की इच्छा से जब देवादि ग्रह आतुर शरीर में प्रवेश करते हैं तब चिकित्सक उन्मादित पुरुष के अभिप्राय एवं आचार को जानकर उस अङ्ग (भाग) के अनुरूप उपहार एवं बलि के साथ-साथ मन्त्र व औषधियों के द्वारा उसकी चिकित्सा करे ।

चक्रपाणि–'रत्यर्चनेत्यादि' के द्वारा रति (मैथुन) एवं अर्चना (पूजा) की भावना से उन्मत्त पुरुष (देवादिग्रह द्वारा उन्मत्त पुरुष) की चिकित्सा का अभिधान किया गया है ।

रतिकामोऽर्चनाकामश्च रत्यर्चनाकामौ, ताभ्यामुन्मादितौ रत्यर्चनाकामोन्मादितौ–रतिक्रीडा की इच्छा तथा पूजा करवाने की इच्छा के लिए 'रत्यर्चनाकामौ' शब्द का प्रयोग किया गया है । इन दोनों भावना के द्वारा ग्रह (देवादि ग्रह) का आतुर शरीर में प्रवेश करना अथवा रोगी को उन्मादित करना 'रत्यर्चनाकामोन्मादितौ' कहा गया है ।

अभिप्रायाचाराभ्यां बुद्ध्वेति–अभिप्राय: का अर्थ भाव से है, उन्मादित पुरुष जिस प्रकार की वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तदनुरूप भावों को वह प्रकट करता है, इसे 'रतिकाम' के अन्तर्गत लिया गया है । जिस प्रकार की वस्तुओं (पुष्पादि) से अपनी पूजा करवाना चाहता है तदनुरूप वह इच्छा व्यक्त करता है, इसे 'अर्चना काम' के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है । यह व्याख्या अभिप्राय की बतायी गयी है ।

Scanned by CamScanner

आचार का अभिप्राय आचरण से है–उन्मादित पुरुष द्वारा काम्य वस्तु की प्राप्ति हेतु की जाने वाली शारीरिक चेष्टा (आचार) रतिकाम आचार कहा गया है एवं अपनी पूजा करवाने हेतु जिस प्रकार की वस्तुओं धूप, पुष्प आदि की इच्छा है उसके अनुरूप प्रयास करना (खोजना) अर्चनाकाम आचार कहा गया है । इस प्रकार यहाँ अभिप्राय एवं आचार को स्पष्ट कर दिया गया है ।

इति बुद्ध्वा तदङ्गरत्युपहारादि कर्तव्यम्; तस्या रतेरर्चनायाश्च यदङ्गसाधनं तत्तद्वर्तनेन तत्तदङ्गोपहाररूपबलिना भैषज्यमंत्रविधिना चोपचारः कर्तव्य इति वाक्यार्थः-ग्रहोन्मत्त पुरुष के अभिप्राय एवं आचरण को भलीभाँति जानकर उस अङ्ग (वस्तु या भाग) को अधिक से अधिक उपहार आदि के रूप में उसे प्रदान करना चाहिए, अर्थात् उन्मत्त पुरुष जिस वस्तु से अपनी अर्चना कराना चाहता है अथवा जिस वस्तु के प्रति उसे राग है उस वस्तु को उपहार आदि के रूप में उसे प्रदान करना चाहिए । उनकी रति एवं अर्चना के द्वारा जिस अङ्ग (भाग) का जो साधन हो, वैसा-वैसा करें । इस प्रकार भूतज उन्माद की चिकित्सा उन-उन अङ्गों के उपहार रूप बलि के द्वारा, औषध प्रयोग द्वारा एवं मन्त्रों के प्रयोग से की जाती है । ॥२३॥

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्ताराभ्यां भेषजविधिमनुव्याख्यास्यामः ।।२४।।
उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित् । कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ।।२५।।
कफपित्तोद्भवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् । स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ।।२६।।
निरूहं स्नेहबस्तिं च शिरसश्च विरेचनम् । ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत् ।।२७।।
हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः । मनःप्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति ।।२८।।
शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् । ताडनं च मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम् ।।२९।।
यः सक्तोऽविनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः । अपेतलोहकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे ।।३०।।
तर्जनं त्रासनं दानं हर्षणं सान्त्वनं भयम् । विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ।।३१।।
प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः । प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ।।३२।।
सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः ।

उन्माद रोग की चिकित्सा

अब आगे निज व आगन्तु कारणों से उत्पन्न होने वाले दोनों प्रकार के उन्माद की चिकित्सा विधि का संक्षेप एवं विस्तार से विवेचन किया जा रहा है--

→ उन्माद चिकित्सा का विशेष ज्ञान रखने वाला पुरुष (चिकित्सक) सर्वप्रथम वातिक उन्माद में रोगी को स्नेहपान करावे । दोषों (पित्त व कफ) द्वारा मार्ग के आवृत्त (अवरुद्ध) होने पर स्नेह के साथ मृदु शोधन कराना चाहिए ।

→ कफज एवं पित्तज उन्माद में रोगी के स्नेहन एवं स्वेदन कराने के बाद पहले वमन एवं विरेचन द्वारा शरीर को शुद्ध करें । शरीर के सम्यक् शोधनोपरान्त संसर्जनक्रम का पालन करना चाहिए ।

→ संसर्जनक्रम द्वारा आतुर के जात बल होने पर निरूह बस्ति, अनुवासन बस्ति एवं शिरोविरेचन का प्रयोग दोषों की स्थिति के अनुसार बार-बार करना चाहिए ।

→ वमनादि के द्वारा हृदय (प्रदेश), सिर, इन्द्रिय एवं कोष्ठ के सम्यक् शुद्ध हो जाने पर मन प्रसन्न हो जाता है तथा स्मृति एवं संज्ञा पुनः वापस आ जाता है ।

→ पञ्चकर्म द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर भी रोगी में यदि आचार का विभ्रंश बना रहता है तब ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अञ्जन एवं ताडन का प्रयोग हितकर है जिससे आतुर के मन, बुद्धि एवं शरीर में उद्वेग उत्पन्न हो ।

उद्वेगजनक कार्य–यदि उन्माद रोगी आज्ञाकारी नहीं है, अर्थात् बात न मानता हो तो उसे दृढ़ (मजबूत) कपड़े के पट्टे से सुखपूर्वक बाँधकर ऐसे अन्धकार युक्त घर में बंद रखें जहाँ लौह, काष्ठ आदि के टुकड़े न हों । इसके साथ ही रोगी को तर्जन (धमकाना Threatening), त्रासन (चेतावनी देना-Alarming), दान (यथावश्यक वस्तुओं को देना), हर्षण (मन में हर्ष उत्पन्न करना-exhilaration), सान्त्वना देना, भय दिखाना अथवा मन में भय उत्पन्न करना तथा आश्चर्यजनक बातों द्वारा मन को विस्मित करना; चाहिये । विस्मृति के कारण होने वाले उन्माद रोग में इन उपायों के प्रयोग से अप्रकृतिस्थ मन प्रकृतिस्थ अवस्था में आ जाता है ।

उन्माद रोगी के मन, बुद्धि, स्मृति एवं संज्ञा के प्रबोधन हेतु प्रदेह (Application of thick ointment), उत्सादन (उबटन (unction), अभ्यङ्ग (Massage), धूम (Fumigation) एवं घृतपान का प्रयोग करना चाहिये । आगन्तुज उन्माद में घृतपान आदि के साथ-साथ मन्त्रादि का भी प्रयोग करना चाहिए । ॥२४-३२॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'तत्रेत्यादि' के द्वारा चिकित्सा विधान को स्पष्ट किया गया है। **विशेषविदिति** वातस्य निरावरणरूपं विशेषं जानन् स्नेहपानं वातजे दद्यादिति दर्शयति-वात के आवरण रहित रूप को विशेष रूप से जानते हुए वातज उन्माद में स्नेहपान का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् आवरण रहित वातज उन्माद में घृतपान कराना चाहिए। आवरण की अवस्था में उसका (स्नेहपान) निषेध है। कहा भी गया है, यथा- "मेदः कफाभ्यामनिलो निरुद्धः शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति। स्नेहं नियुञ्जन्नबुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान् विकारान्" (सि.अ. १) इति [कफ व मेद के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध होने पर आवरित वायु अंगों में शूल, सुप्ति एवं शोथ को उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में यदि अज्ञ चिकित्सक द्वारा वातशमन हेतु स्नेह का प्रयोग किया जाता है तब शूल, सुप्ति आदि लक्षण और भी बढ़ जाते हैं]

अतः आवरण की अवस्था में जो विशेष चिकित्सा की जाती है उसे यहाँ 'कुर्यादित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **सस्नेहमिति**-ईषत् स्नेह (अल्प मात्रा में स्नेह) का प्रयोग करें। **कफपित्तोद्भवे इति**-कफज उन्माद तथा पित्तज उन्माद में, कफज उन्माद में वमन तथा पित्तज उन्माद में विरेचन का प्रयोग कराना चाहिये। **तेषामिति**-बस्ति आदि का प्रयोग दोषों की अवस्था के अनुसार बार-बार करना चाहिये। भूयस्त्वं=बार-बार प्रयोग करें।

यथादोषमित्यनेन–दोषों की अधिकता होने पर बस्ति आदि विधियों का बार-बार प्रयोग करना चाहिए। 'हृदित्यादि' के द्वारा संशोधन के फल को बताया गया है। संशोधन द्वारा हृदय, कोष्ठ आदि के शुद्ध हो जाने पर मन प्रसन्न हो जाता है, जिसे इस प्रकार कहा गया है- "शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते" (शा.अ. ५) इत्यादि [जैसा व्यक्ति का शरीर होता है उसी के अनुसार मन भी बनता है अर्थात् शरीर के अनुसार ही सत्त्व का भी निर्माण होता है।] संवेजनमिति उद्वेजनम् = उत्तेजित करना-Causing excitement।

अविनये इति परिजनमारणादावविनये–'पट्टैरित्यनेन' से कपड़े का बन्धन (पट्टा) व्रण को न उत्पन्न करने वाला हो, का ग्रहण किया गंया है। उन्मत्त रोगी को कपड़े के पट्टे से इस प्रकार बाँधे कि उसे व्रण आदि न उत्पन्न हों। संयम्येति=आतुर को ऐसे बाँधना चाहिए जिससे वह अपने को बन्धन से मुक्त न कर पावे। बन्धन का प्रयोग उस उन्माद रोगी में करना चाहिए जो परिजनों (अपने लोगों) को मारने के लिए दौड़े। जिस तमोगृह में उन्मत्त पुरुष को रखें वहाँ से लोहे के राड, लकड़ी आदि को हटा दें ताकि रोगी अपने को मार न सके या हानि न पहुँचा सके।

तमोगृहं च शून्यगृहतयोन्मादनिदानोक्तमपि रोगमहिम्नाऽवस्थायां हितं भवति–तमोगृह से शून्य गृह अर्थ लिया गया है, ऐसा घर जहाँ कोई व्यक्ति न रहता हो। यद्यपि उन्माद के निदान में शून्य गृह (Lonely house) का उल्लेख किया गया है फिर भी व्याधि की विशेष अवस्था में इसका प्रयोग चिकित्सा के रूप में किया गया है। तर्जनं=वाणी (क्रोध युक्त होना) के द्वारा धमकाना। त्रासनं=राजपुरुषों (पुलिस आदि) के द्वारा धमकाना।

विस्मृतेर्हेतोरिति–कारणों के विस्मृत होने से, उन्माद का हेतु भय (Fear) एवं हर्ष (Exhiloration) आदि बताये गये हैं। यदि रोगी इन उत्पादक कारणों को अचानक भूल जाता है तो उसका मन अपनी सामान्य अवस्था में आ जाता है। अर्थात् आश्चर्योत्पादक कारणों का ही यह प्रभाव है जिसके कारण व्यक्ति का मन अपने स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है जैसे- विषम ज्वर में ज्वरकाल का स्मरण न होने पर ज्वर का वेग नहीं आता। ॥२४-३२॥

विशेष–वायु का प्रकोप दो रूपों में होता है- १. वात प्रकोपक कारणों के सेवन से, २. स्रोतों में अवरोध उत्पन्न होने से (आवरण के द्वारा)। आवरण रहित वातिक उन्माद के रोगी में सर्वप्रथम स्नेहपान का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् स्नेहपान से यहाँ औषध द्रव्यों से सिद्ध स्नेह (घृत) का ग्रहण किया गया है। आवरण की अवस्था में स्नेह युक्त मृदु शोधन कराना चाहिए। अर्थात् सस्नेह से अल्प स्नेहन कराते हुए (अल्प मात्रा में स्नेह का प्रयोग करते हुए) मृदु वमन एवं मृदु विरेचन कराना चाहिए। कफज उन्माद में स्नेहन, स्वेदन क्रिया के बाद वमन, तथा पित्तज उन्माद में विरेचन कराना चाहिए। शोधन के बाद संसर्जनक्रम हेतु, मण्ड, पेया, विलेपी के क्रम में पथ्य आहार की योजना करें। वमन-विरेचन से शरीर के शुद्ध हो जाने पर तथा पेयादि के प्रयोग से जातबल हो जाने पर दोषों की अवस्था के अनुसार निरूहबस्ति, अनुवासनबस्ति, शिरोविरेचन आदि का प्रयोग बार-बार करना चाहिए। वातिक उन्माद में स्नेहबस्ति का प्रयोग बार-बार करें। कफज में वमन एवं पित्तज में विरेचन का प्रयोग बार-बार करना चाहिए। इस प्रकार शोधन द्वारा उन्माद रोगी के शरीर की शुद्धि हो जाने पर उसका मन प्रसन्न हो जाता है तथा स्मृति व संज्ञा वापस लौट आती है।

यदि उपर्युक्त सभी क्रियाओं के करने के बाद भी उन्माद रोगी के आचार (व्यवहार) में परिवर्तन नहीं होता तथा उसकी स्मृति एवं संज्ञा नहीं लौटती। उस अवस्था में तीक्ष्ण नस्य, तीक्ष्ण अञ्जन, मन, बुद्धि एवं शरीर को उत्तेजित करने वाली क्रियायें हितकर होती हैं। मन, बुद्धि एवं देह को उत्तेजित करने के लिए रोगी को अन्धकार युक्त घर में बन्द करके रखना चाहिए। अन्धकार युक्त घर में क्या सभी उन्माद रोगी को रखना चाहिए ? जिसे 'यः शक्तोऽविनये' के द्वारा बताया गया है। जो रोगी विनय (मानसिक अवसाद) की अवस्था में है, उस उन्मादी को अंधकार युक्त घर में बाँधकर रखना चाहिए। अन्धकार युक्त घर में रोगी को किस प्रकार रखना चाहिये, उसे यहाँ 'सुदृढै सुखैरित्यादि' के द्वारा बताया गया है। रोगी को इस प्रकार के कपड़े के पट्टे (नीवार के पट्टे) से बाँधें जिससे रोगी के हाथ व पैर में चोट न लगे तथा उस गृह

Scanned by CamScanner

से लकड़ी के टुकड़े, लोहे के राड आदि पदार्थों को हटा दें, नहीं तो इनसे रोगी अपना नुकसान कर लेगा। जो रोगी विनय युक्त नहीं हैं, अर्थात् उत्तेजित अवस्था वालें हैं उनके मन, बुद्धि एवं स्मृति के उत्तेजनार्थ तर्जन, त्रासन आदि क्रियाओं को करना चाहिए।

अतः सिद्धतमान्योगाञ्छृणून्मादविनाशनान् ।।३३।।
हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्धृताढकम् । चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ।।३४।।
विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम् । स्थिरा नतं रजन्यौ द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुका ।।३५।।
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम् । तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ।।३६।।
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ । अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैरक्षसमन्वितैः ।।३७।।
चतुर्गुणे जले सम्यग्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । अपस्मारे ज्वरे कासे शोषे मन्देऽनले क्षये ।।३८।।
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके । छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च ।।३९।।
कण्डूपाण्ड्वामयोन्मादविषमेहगदेषु च । भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामचेसाम् ।।४०।।
शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां वन्ध्यमायुर्बलप्रदम् । अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम् ।।४१।।
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ।

इति कल्याणकं घृतम् ।

अब आगे उन्मादनाशक सिद्धतम् योगों का वर्णन किया जा रहा है। हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

हिंग्वादिघृत–हिंगु, सौवर्चल नमक, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च तथा पिप्पली; सभी द्रव्यों को अलग-अलग २-२ पल मात्रा में लेकर कल्क बना लें, घृत- १ आढ़क, गोमूत्र- ४ आढ़क। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। यह घृत उन्माद को नष्ट करता है।

कल्याणकघृत–विशाला (गवाक्षी, इन्द्रवारुणी, अथवा इन्द्रायण), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), कौन्ती (पाठ भेद-कान्ता), देवदारु, एलबालुक, स्थिरा (शालपर्णी), नत (तगर), रजनी (हल्दी), दारुहल्दी, दोनों प्रकार के सारिवा-अनन्तमूल सारिवा, कृष्ण सारिवा, प्रियङ्गु, नीलोत्पल, एला (छोटी इलायची), मंजिष्ठा, दन्ती, अनारदाना (दाडिम), नागकेशर, तालीशपत्र, बृहती (बड़ी कटेरी=वन भण्टा), मालती का नूतन पुष्प, विडङ्ग (वायविडङ्ग), पृश्निपर्णी, कुष्ठ (कूठ), चन्दन एवं पद्मकाठ; इन सभी (२८) द्रव्यों को १-१ कर्ष प्रमाण मे लेकर कल्क बना लें। इस कल्क में ४ प्रस्थ जल एवं १ प्रस्थ घृत डालकर पाक करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर घृत को छानकर एक शुद्ध पात्र में सुरक्षित रख लें।

यह घृत अपस्मार (Epilepsy-Nervous disorder causing fits and loss of consciousness-मिरगी का रोगी), ज्वर (Fever), कास Cough-A noisy violent effort of the lungs to through off injurious matter-खाँसी), शोष (Consumption), अग्निमांद्य (Suppression of the power of digestion), क्षय (Phthisis), वातरक्त (Gout), प्रतिश्याय (Coryza), तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर, छर्दि (Emit-स्वतः वमन का होना), अर्श (Piles), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), विसर्प; कण्डू (Itching), पाण्डु (anaemia), उन्माद (Insanity), विषविकार (Poisoning), मेह (प्रमेह), जिनका मन भूतों के द्वारा उपहत है, अर्थात् भूतोन्माद, गद्गद वाणी (Lulling speech), अचेतस् (unconciousness) तथा बन्ध्यत्व (स्त्री में उत्पन्न बन्ध्यता) आदि व्याधियों को दूर करता है, अर्थात् इन व्याधियों की चिकित्सा में इस घृत का प्रयोग कराना चाहिए। यह घृत आयु एवं बल का वर्धक, अलक्ष्मी, पाप रोग एवं भूतबाधा को दूर करता है तथा साथ-साथ पुंसवन कार्य के लिए श्रेष्ठ है।

चक्रपाणि–'विशालेत्यादि' के द्वारा वर्णित कल्क द्रव्यों के पाठ से ही उनकी २८ संख्या सिद्ध हो जाती है तो फिर यहाँ 'अष्टाविंशतिभिः कल्कैरिति' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ? इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है-यहाँ त्रिफला से हरड़, बहेड़ा, आँवला तीन द्रव्यों का ग्रहण किया गया है फिर भी त्रिफला के प्रत्येक भाग का ग्रहण होते हुए भी मन में दृढ़ता के उत्पादनार्थ 'अष्टाविंशति' शब्द का प्रयोग हुआ है। अभिप्राय यह है कि त्रिफला मात्र कहने से ही तीनों द्रव्यों का अलग-अलग बोध हो जाता है फिर भी मन में भ्रम की स्थिति न रहे इसके निराकरणार्थ २८ संख्या का प्रयोग किया गया है। सुश्रुतसंहिता में भी इसे ही पुष्ट किया गया है, यथा-"हरीतक्यामलकबिभीतकानि त्रिफला" (सु.सू.अ. ३८) इति, इस परिभाषा के द्वारा त्रिफला शब्द से हरीतकी आदि का ही ग्रहण है। चरकसंहिता में भी यही निर्देशित है, यथा-"जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ताद्वे बिभीतके। भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च ॥ प्रयोजयेत् समामेकां त्रिफलाया रसायनम्" (च.चि.अ. १) इति [भोजन के पच जाने पर (प्रातःकाल) एक हरीतकी का चूर्ण, भोजन से पूर्व-२ बिभीतकी का चूर्ण तथा भोजनोत्तर (भोजन के बाद) ४ आँवले का चूर्ण मधु व घृत के साथ १ वर्ष तक सेवन करने से रसायन का फल प्राप्त होता है।] इस वचन से हरीतक्यादि का ही नाम त्रिफला दिया है। अतः त्रिफला शब्द से यहाँ तीन द्रव्य को बताया गया है, यथा-दशमूल- १० औषध द्रव्य तथा पञ्चमूल से ५ द्रव्यों का ग्रहण होता है। 'नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम्' इति पद से ६ द्रव्यों को

Scanned by CamScanner

बताया गया है, यथा- १ नीलोत्पल, २. एला, ३. मञ्जिष्ठा, ४. दन्ती, ५. दाडिम, ६. नागकेशर । यहाँ प्रत्येक द्रव्यों का मान निर्दिष्ट मान के अनुसार लेना चाहिए, यथा-गुल्मचिकित्सा के प्रकरण में वर्णित नीलिनीघृत में निर्दिष्ट "नीलिनी त्रिफलां रास्नां बलां कटुरोहिणीम्। पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके" इति [नीलिनी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, रास्ना, बला, कुटकी, विडङ्ग, तथा कण्टकारी; प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ पल मात्रा में लेकर यवकुट करें तथा इसे १ आढ़क जल में डालकर क्वाथ बनावें] तथा अगस्त्यहरीतकी के निर्माण हेतु दशमूल के प्रत्येक द्रव्य का अलग-अलग मान २-२ पल लें । अतः द्रव्य प्रधान होने से निर्दिष्टमान का ग्रहण अलग-अलग द्रव्यों के अनुसार होता है न कि समुदाय रूप में । जहाँ मान की प्रधानता का निर्देश है वहाँ द्रव्य की सामुहिक मात्रा का ग्रहण होता है, यथा- "लशुनस्याविनिष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम् तदर्धं दशमूलस्य द्व्याढके पाचयेदपाम्" [खड़ा लहसुन छिलका रहित- अर्धतुला तथा १/४ तुला दशमूल के द्रव्य लेकर दो आढ़क जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर उतार लें] इससे यहाँ षष्ठी अन्त होने से दशमूल प्रधान नहीं है, यथा-राजपुरुषः -'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) अतः यहाँ द्रव्य प्रधान नहीं है । यहाँ विशेष्य लशुन है अतः प्रधान है तथा उसका विशेषण रूप दशमूल अप्रधान है । अप्रधान होने से प्रत्येक घटक का भाग नियत नहीं है । इसलिये लशुन का आधा भाग दशमूल का बताया गया है अथवा 'द्विपञ्चमूलतुलार्धरसेन' के द्वारा यहाँ भी दशमूल के समुदित मान को तुलार्ध विशेषण होने से क्वाथ बनाने के लिए अर्ध तुला प्रमाण (मान) का ही ग्रहण करते हैं, अर्थात् दशमूल का कुल प्रमाण अर्ध तुला लिया गया है । इसी प्रकार **"त्रिफलायास्त्रयो भागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च"** (चि.अ. १६) [त्रिफला के तीनों द्रव्य हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा त्रिकटु के तीनों घटक सोंठ, मरीच तथा पिप्पली; अलग-अलग एक-एक भाग ग्रहण करें] यहाँ समुदित रूप से तीनों भाग का ग्रहण किया गया है न कि प्रत्येक अलग-अलग, वैसा होने पर उनका ९ भाग हो जाना चाहिए ।

"त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे" (चि.अ. १५) इति सूत्र में कल्क विशेषणीभूत (प्रधान) होने से त्रिफला एवं त्र्यूषण के कल्क की संयुक्त मात्रा बिल्व प्रमाण (१ पल) में ग्रहण करें । अर्थात् कुल कल्क की मात्रा १ पल ले, न कि प्रत्येक द्रव्य को अलग-अलग १-१ पल मान में लेना है । इसी प्रकार अन्य स्थानों पर समुदाय भाग की मात्रा को आचार्यों के अभिप्राय के आधार पर विशेष रूप से जानना चाहिए।

द्रव्यप्रधाननिर्देशे तु प्रत्येकद्रव्याणि गणो वा पठ्यतां तथाऽपि प्रत्येकमेव भागो भवति, अवयवप्रधानत्वान्निर्देशस्य–द्रव्य प्रधान निर्देश में प्रत्येक द्रव्य अथवा गण (वर्ग) में पठित द्रव्य के १-१ भाग का ग्रहण होता है । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य की अलग-अलग मात्रा का ग्रहण होता है, क्योंकि वहाँ अवयव प्रधान निर्देश होता है । जब विशेष रूप से समुदाय प्रधान निर्देश होता है तब वहाँ एक-एक निर्दिष्ट लक्षणों में भी समुदाय का भाग होता है । [If the description of the group name is in a subordinate form, them all the drugs, whether, described individually or collectively are to be taken in the prescribed quantity all together (not individually). -R.K. Sharma and Bhagvan das.]

यथा-**"पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात्" (चि.अ. १ पा. १)** इस सूत्र में छोटी इलायची, त्वक् (दालचीनी), तेजपत्र एवं नागकेशर; चारों द्रव्यों के चूर्ण को संयुक्त रूप (मिश्रित रूप) से १ पल मात्रा में लें, न कि प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ पल मान में ग्रहण करें । वैसे ही "तैलसर्पिषोः । पल द्वादशके भृष्ट्वा" (चि.अ. १, पा. १) इति, सूत्र से तैल व घृत की मिश्रित मात्रा १२ पल ग्रहण करनी चाहिए, न कि दोनों की अलग-अलग मात्रा । इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के प्रमाण का विवेचन पूर्व निर्देश को समझाते हुए संक्षेप में कर दिया गया।

एवं व्यवस्थितेऽपि महानीलोक्तपृथक्शब्देन सिद्धस्यापि त्रिफला पृथग्भागं दर्शयति–इस प्रकार व्यवस्थापित होते हुए भी महानीलोक्त पृथक् शब्द के द्वारा सिद्ध होते हुए भी त्रिफला के अलग-अलग अवयवों का निर्देश किया गया है । [वर्तमान में यह पाठ प्राप्त नहीं होता, संभवतः आचार्य चक्रपाणि के समय में चरकसंहिता में यह पाठ उपलब्ध रहा हो] यथा-"पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक्-पृथक् । भागान् त्रिपलिकान् कृत्वा" इति- से यहाँ सभी द्रव्यों की अलग-अलग मात्रा ३-३ पल लेनी चाहिये, स्नेह सिद्ध परिभाषा के अनुसार स्नेह के पाद भाग (चतुर्थांश भाग) कल्क का अभिधान है । स्नेह से तैल एवं घृत को लिया गया है । त्रिफला शब्द से यद्यपि द्राक्षा, काश्मर्य एवं परूषक का भी ग्रहण होता है । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-"पथ्यामलकधात्रीभिस्त्रिफला महती स्मृता । चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी स्रंसनी बृंहणी च सा ॥ ह्रस्वा काश्मर्य मृद्वीकापरूषकफलैर्भवेत्" इति (हरीतकी, बिभीतकी एवं आमलकी को संयुक्त रूप से महा (महती) त्रिफला कहते हैं, यह चक्षुष्य, त्रिदोषनाशक, विरेचक एवं बृंहण होती है । काश्मर्य (गम्भारी), मृद्वीका (मुनक्का) एवं परूषक (फालसा) के फल को सम्मिलित रूप से ह्रस्व त्रिफला या स्वल्प त्रिफला कहा जाता है । यहाँ त्रिफला के दो वर्गों का उल्लेख किया गया है ।] फिर भी यहाँ कल्याणकघृत के प्रसङ्ग में त्रिफला से हरीतकी, बिभीतकी एवं आमलकी का ग्रहण किया गया है । अन्य आचार्य तालीशपत्र से यहाँ तालीश एवं पत्र, दो द्रव्य की शङ्का व्यक्त करते हैं, लेकिन यहाँ निर्दिष्ट अष्टाविंशति पद से दो द्रव्यों का ग्रहण नहीं होता । अर्थात् दो द्रव्य स्वीकार करने पर द्रव्यों की संख्या २८ से बढ़ जाती है । अतः तालीशपत्र से एक ही द्रव्य का ग्रहण किया गया है ।

त्रिफलायाः प्रत्येकं ग्रहणं न्यायसिद्धमेवेति वदन्ति–त्रिफला के प्रत्येक घटक का ग्रहण न्यायसिद्ध होने से ही कहा गया है । अन्ये तु अष्टाविंशत्यौषधमिष्यत इत्यादावष्टाविंशत्यौषधसंज्ञया व्यवहारोऽस्य भवतीत्येतदर्थमष्टाविंशतिभिरिति कृतम्–अन्य आचार्य 'अष्टाविंशत्यौषध-

Scanned by CamScanner

मिष्यत इति' से पहले वर्णित २८ औषध द्रव्यों का प्रयोग इस योग में कल्क के रूप में करते हैं, यह अर्थ 'अष्टाविंशति' के द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है, ग्रहण करते हैं। 'चतुर्गुणवचन' से यहाँ परिभाषा अनुसार शुद्ध जल की मात्रा स्नेह के मान से ४ गुनी लेनी चाहिये, अर्थ लिया गया है। ॥३३-४१॥

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ।।४२।।
रसे तस्मिन् पचेत् सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे । वीरार्द्रमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभर्धिभिः ।।४३।।
मेदया च समैः कल्कैस्तत् स्यात् कल्याणकं महत् । बृंहणीयं विशेषेण सन्निपातहरं परम् ।।४४।।
इति महाकल्याणकं घृतम् ।

महाकल्याणकघृत–१. क्वाथ्य द्रव्य-स्थिरा (शालपर्णी), नत (तगर), हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल सारिवा, कृष्णसारिवा, प्रियङ्गु, नीलोत्पल, एला, मञ्जिष्ठा, दन्ती, दाडिम, केशर (नागकेशर), तालीशपत्र, वनभण्टा, मालती पुष्प, विडंग, पृश्निपर्णी, कूठ, लाल चन्दन एवं पद्म।

इन २१ द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें।

२. गोघृत- १ भाग

३. गोदुग्ध (पहली बार की व्यायी हुई गाय का दूध)- २ भाग

४. कल्क द्रव्य-वीरा (क्षीरकाकोली), आर्द्र माष (गीली उड़द), काकोली, आत्मगुप्ता (कौंच का बीज), ऋषभक, ऋद्धि तथा मेदा सभी द्रव्यों को समप्रमाण में लेकर कल्क बना लें। कल्क की मात्रा-१/४ भाग लें।

अब क्वाथ, घृत, दुग्ध एवं कल्क द्रव्यों को एक में मिलाकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत बृंहणीय अर्थात् शरीर का बृंहण करने वाला तथा विशेष रूप से सन्निपातज उन्माद में पथ्यतम् होता है।

चक्रपाणि–'स्थिरादीनीति' के कथन से विदारीगन्धादि पञ्चमूल की भी आशङ्का उत्पन्न हो सकती है। अतः इसके निराकरण हेतु 'एकविंशतिमिति' का प्रयोग किया गया है। उससे कल्याणकघृत में वर्णित स्थिरादि से लेकर कल्कैरैतैः तक २१ द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। **गृष्टिरेकबारप्रसूता गौः**–पहली बार की व्यायी हुई गाय।

अत्र क्षीरेणैव चातुर्गुण्ये प्राप्तेऽयं कषायः– यहाँ दूध के साथ क्वाथ की मात्रा (दूध+क्वाथ)- ४ गुनी लेनी चाहिये। 'एकेनापि चातुर्गुण्यम्' इत्यादि परिभाषा यहाँ उपयुक्त न होने से चातुर्गुण्य परिभाषा के अनुसार दूध का मान साहचर्य से ४ गुनी होनी चाहिए, अर्थात् दूध व क्वाथ का मान मिश्रित रूप से ४ गुना (२ भाग दूध+२ भाग क्वाथ) होना चाहिए।

कुछ आचार्य 'एकविंशति' पद से घृत को २१ बार सिद्ध करना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करते हैं, जो कि उचित नहीं है। आचार्य जतूकर्ण ने भी घृत को एक बार ही पाक करने का निर्देश दिया है, यथा-"क्वाथे कृमिहरान्तानां चतुःषष्टिपले पयसि च पचेत सर्पिः" विडङ्गान्त शब्द से कल्याणकघृत में वर्णित २१ स्थिरादि द्रव्यों का ही ग्रहण होता है। [यहाँ विभेद यह है कि वर्तमान में उपलब्ध चरकसंहिता में कल्याणकघृत के प्रसंग में विडंगान्त न प्राप्त होकर 'चन्दनपद्मकौ' तक २१ संख्या पूर्ण होती है, ऐसा प्रतीत होता है कि इस पाठ में द्रव्यों का क्रम आगे-पीछे हुआ है।]

आर्द्रमाषः अशुष्कमाष-जो उड़द सूखी न हो अर्थात् सुखाई न गयी हो, इसके स्थान पर 'द्विमाष' पाठ प्राप्त होता है। इस आधार पर इससे माष तथा राजमाष का ग्रहण होता है।

जटिलां पूतनां केशीं चारटीं मर्कटीं वचाम् । त्रायमाणां जयां वीरां चोरकं कटुरोहिणीम् ।।४५।।
वयःस्थां शूकरीं छत्रामतिच्छत्रां पलङ्कषाम् । महापुरुषदन्तां च कायस्थां नाकुलीद्वयम् ।।४६।।
कटम्भरां वृश्चिकालीं स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम् । सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ।।४७।।
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद्यथोदितम् । बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालानां चाङ्गवर्धनम् ।।४८।।
इति महापैशाचिकं घृतम् ।

महापैशाचिक घृत–जटिला (जटामांसी), पूतना (हरड़), केशी (शंखपुष्पी), चारटी (कुम्भाडुलता=जलकुम्भी), मर्कटी (कौंच बीज), वचा, त्रायमाणा, जया (अरणी), वीरा (क्षीरकाकोली), चोरक (चोरपुष्पी), कटुरोहिणी (कुटकी), वयस्था (ब्राह्मी अथवा गुडूची), शूकरी (वराहीकन्द), छत्रा, पलङ्कषा (गुग्गुलु), महापुरुषदन्ता (शतावरी), अतिछत्रा, कायस्था (छोटी इलायची), नाकुलीद्वय (दोनों प्रकार की रास्ना), कटम्भरा, वृश्चिकाली तथा स्थिरा (शालपर्णी); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क व क्वाथ बना लें। अब कल्क, क्वाथ एवं घृत को एक पात्र में लेकर स्नेहपाक विधि से सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध होने पर घृत को छान कर एक स्वच्छ पात्र में सुरक्षित रख लें।

Scanned by CamScanner

यह घृत (महापैशाचिक घृत) चतुर्थकज्वर, उन्माद एवं अपस्मार को दूर करता है। यह महापैशाचिकघृत अमृत के तुल्य लाभकारी है। इसके सेवन करने से व्यक्ति की बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है। यदि बच्चे इसका सेवन करें तब उनके अङ्ग-प्रत्यंग वृद्ध होते हैं। अर्थात् यह घृत बच्चों के अङ्ग-प्रत्यंगों की वृद्धि करता है।

चक्रपाणि–'जटिलामित्यादि' के द्वारा महापैशाचिकघृत का अभिधान किया गया है। जटिला=मांसी (जटामांसी)। पूतना=हरीतकी केशी=भूतकेशी ! चारटी=जलकुम्भी, अन्य आचार्य इससे ब्रह्मयष्टिका का ग्रहण करते हैं। मर्कटी=शूकशिम्बी (कैंवाच बीज)। जया=जयन्ती। वीरा=क्षीरकाकोली, कुछ आचार्य वीरा से शालपर्णी का ग्रहण करते हैं। चोरक=चण्डालक। वयस्या=ब्राह्मी अथवा गुडूची का ग्रहण किया गया है। शूकरी वाराहीकन्द इति ख्याता–वराहीकन्द नाम से प्रसिद्ध द्रव्य। छत्रा=मधुरिका (सौंफ), अतिछत्रा=शतपुष्पा (सोया=Anethum sowa Kurz) अथवा छत्रातिछत्रा से दोनो प्रकार की द्रोणपुष्पी का ग्रहण है। पलङ्कषा=गुग्गुलु। महापुरुषदन्ता=शतावरी। कायस्था=छोटी इलायची। नाकुलीद्वय=रास्नाद्वय (नाकुली एवं गंधनाकुली-यह विषघ्न एवं रक्षोघ्न कार्यों में प्रयुक्त है।) कटम्भरा=कटभी।

वृश्चिकाली 'वृश्चिकपत्री' इति ख्याता–वृश्चिकाली-वृश्चिकपत्री नाम से प्रसिद्ध द्रव्य [Vriścipattri-Tragia involucrata,L- M.M. Williams A SANSKRIT-ENGLISH Dictionary] का ग्रहण है।

अल्पपैशाचिकस्याभावान्महापैशाचिकमित्यत्र महच्छब्दः पूजावचनः–अल्प पैशाचिक के अभाव को 'महापैशाचिकमिति' से कहा गया है। यहाँ महत् शब्द प्रशंसा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ॥४५-४८॥

जल्पकल्पतरुटीका–केशी=शंखपुष्पी। वीरा=पृश्निपर्णी। चोरक=स्थलज चोरपुष्पी। कायस्था=आमलकी। शूकरी=वाराही। पलङ्कषा=गोखरू। महापुरुषदन्ता=शतमूली (शतावरी)। वयस्या=हरीतकी भेद। नाकुली द्वयं से रास्ना द्वय-रास्ना एवं सुगन्ध रास्ना। कटभी=शिरीष भेद। वृश्चिकाली=वृश्चिकपत्री (विच्छा नाम से लोक में प्रसिद्ध है।) स्थिरा=शालपर्णी। इन सभी द्रव्यों का कल्क १/४ भाग, क्वाथ- ४ भाग, स्नेह (घृत)- १ भाग लेकर घृत को सिद्ध करें। यहाँ कल्क वाले ही द्रव्य क्वाथ में प्रयुक्त करने का निर्देश है।

लशुनानां शतं त्रिंशदभयाश्चूषणात् पलम्। गवां चर्ममसीप्रस्थौ द्व्याढकं क्षीरमूत्रयोः ॥४९॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थ एभिः सिद्धं प्रयोजयेत्। हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्त्वा च मधुमाणिकाम् ॥५०॥
तद्दोषागन्तुसंभूतानुन्मादान् विषमज्वरान्। अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥५१॥
इति लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम्। तदर्धं दशमूलस्य द्व्याढकेऽपां विपाचयेत् ॥५२॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा। कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः ॥५३॥
दाडिमाम्बुसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः। साधयेत्त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥५४॥
यवानीचव्यहिङ्गवम्लवेतसैश्च पलार्धिकैः। सिद्धमेतत् पिबेच्छूलगुल्मार्शोजठरापहम् ॥५५॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरकृमीन् वातश्लेष्मामयान् सर्वानुन्मादांश्चापकर्षति ॥५६॥
इत्यपरं लशुनाद्यं घृतम्।

लशुनाद्य घृत–छिलका रहित लशुन-१०० पल, हरीतकी (हरड़) का छिलका- ३० पल, त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) मिश्रित रूप से- १ पल, गोचर्म की काली भस्म- १ प्रस्थ, गोदुग्ध- १ आढ़क, गोमूत्र- १ आढक, पुराण (पुराना) गाय का घृत- १ प्रस्थ। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर उसे एक कपड़े से छानकर स्वच्छ पात्र में रख लें, तत्पश्चात् उसमें हींग का चूर्ण- १ पल मिलावें तथा घृत के शीतल हो जाने पर मधु- १ मणिका (८ पल) मिला कर रख लें।

यह घृत दोषज उन्माद, आगन्तुज उन्माद, विषमज्वर तथा अपस्मार को शीघ्र ही दूर करता है। इसका प्रयोग पान (पीने के लिए), अभ्यञ्जन (अभ्यंग-For massage) तथा नस्य Inhalation therapy) के रूप में करना चाहिए।

अपर लशुनाद्य घृत–छिलका रहित लहसुन (सावुत)-अर्ध तुला (५० पल), उसका आधा दशमूल- २५ पल; इन दोनों द्रव्यों को यवकुट कर दो आढक जल में पकावें, चतुर्थांश शेष रहने पर छानकर अलग कर लें। इस छने हुए क्वाथ में- घृत- १ प्रस्थ, लशुन का रस- १ प्रस्थ, कोल स्वरस (बेर की पत्ती का रस), मूली स्वरस, वृक्षाम्ल स्वरस, बिजौरा नीबू का रस, अदरक का रस, दाडिम स्वरस, सुरा, दही का पानी, काञ्जी (अम्ल काञ्जी); प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग आधा-आधा प्रस्थ लें। कल्क के रूप में-हरड़, बहेड़ा, आँवला, देवदारु, सैन्धव नमक, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, दीप्यक (अजवाइन), यवानी (वन्य यवानी), चव्य, हिङ्गु, अम्लवेतस; इन द्रव्यों को पृथक्शः अर्धपल मात्रा में लेकर कल्क बनावें। अब क्वाथ, द्रव, कल्क तथा घृत सभी द्रव्यों को एक पात्र में मिलाकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत के प्रयोग से शूल, गुल्म, अर्श (Piles), उदररोग, ब्रध्न, पाण्डु, प्लीहा रोग, योनि विकार, ज्वर, क्रिमिरोग, वातकफज विकार तथा सभी प्रकार के उन्माद रोग दूर हो जाते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-लशुनानां शतमित्यत्र-लशुन के तुष रहित कन्द का मान- १०० पल ग्रहण करना चाहिए । तदर्धदशमूलस्येति पञ्चविंशतिपलानि-लशुन के मान का आधा अर्थात् २५ पल दशमूल के द्रव्यों को लेना चाहिए (दशमूल-२५ पल) । त्र्यूषणात् पलमित्यत्र समुदितात् पलम्-त्र्यूषण की समुदित (कुल) मात्रा- १ पल लें ।

मधुमाणिकामिति-द्रव होने से मधु का मान १ मणिका के स्थान पर २ मणिका अर्थात् १६ पल ग्रहण करना चाहिए । लशुन रस आदि प्रत्येक द्रव्य का मान- १-१ प्रस्थ ग्रहण करें ।॥४९-५६॥

[According to the general rule of Paribhāsa, liquids like ghee and juice of garlic etc. are to be taken double the prescribed quantity this rule has to be followed in the preparation of this recipe. -Dr. Bhagvan das]

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थवयःस्थया । सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।।५७।।
केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद्घृतम् । पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद्गृहेऽपि वा ।।५८।।
विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद्भिषक् । त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद्ग्रहनाशनम् ।।५९।।
गुणकर्माधिकं पानादास्वादात् कटुतिक्तकम् । उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ।।६०।।
लाक्षारसनिभं शीतं तद्धि सर्वग्रहापहम् । मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं प्रपुराणमतः परम् ।।६१।।
नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत् स्याद्वर्षशतस्थितम् । दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापहम् ।।६२।।
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः ।

उन्माद में उपयोगी अन्य सिद्ध घृत-१. हिंगु, हिङ्गुपर्णी, कायस्था (छोटी इलायची), वयस्था (गुडूची); इन द्रव्यों का कल्क-१/४ भाग, घृत- १ भाग, जल- ४ भाग लेकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध करें ।

२. इसी प्रकार वयस्था (गुडूची), हिङ्गु, तथा चोरपुष्पी के कल्क, कल्क से चतुर्गुण घृत तथा घृत से चतुर्गुण जल मिलाकर घृत सिद्ध करें । ये दोनों घृत उन्माद रोग में उपयोगी होते हैं अथवा मात्र पुराण घृत का पान करना चाहिये । इस घृत का पान उत्तम मात्रा में करके रोगी को अंधकार युक्त गड्ढे या घर में बन्द करके रखें ।

पुराण घृत-उन्माद रोगी को चिकित्सक विशेष रूप से पुराने गोघृत का पान करावे। पुराण घृत त्रिदोष नाशक तथा अत्यन्त पवित्र होने से देवादि ग्रहों का विनाशक होता है । पान करने से ही यह घृत अधिक लाभकारी होता है तथा इसका स्वाद कटु एवं तिक्त होता है ।

दस वर्ष तक घृत को रखने पर उसमें अत्यन्त उग्र (तीक्ष्ण) गन्ध उत्पन्न हो जाता है, ऐसे घृत को पुराण घृत कहते हैं । दसवर्ष से अधिक रखा हुआ घृत लाक्षा रस के समान हो जाता है, वीर्य में शीत तथा सभी ग्रहों को दूर करता है, यह घृत मेध्य (मेधा के लिए हितकर) तथा विरेचन में श्रेष्ठ होता है । इस घृत को प्रपुराण घृत कहते हैं ।

सौ वर्ष तक रखे गये घृत के प्रयोग से सभी प्रकार के मानसिक विकार दूर हो जाते हैं, अर्थात् इस घृत के लिए कोई भी व्याधि असाध्य नहीं होती । यह घृत देखने, छूने अथवा सूँघने मात्र से ही सभी ग्रहों को दूर कर देता है । उन्माद एवं अपस्मार की चिकित्सा में यह घृत विशेष रूप से हितकर है ।

चक्रपाणि-हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या चेत्येकं घृतम्-हिंगु व हिंगुपर्णी के द्वारा एक घृत का निर्माण किया गया है, अर्थात् हिंगु एवं हिङ्गुपर्णी के कल्क १/४ भाग, स्नेह (घृत)-१ भाग तथा स्नेह से ४ गुना जल डालकर घृत को सिद्ध करें ।

'सकायस्थवयस्थेयेति' से द्वितीय घृत का निर्माण किया गया है, अर्थात् कायस्था=छोटी इलायची व गुडूची का कल्क- १/४ भाग, स्नेह (घृत)- १ भाग, जल- ४ भाग के द्वारा घृत को सिद्ध करें ।

'वयस्था इत्यादि' के द्वारा तृतीय योग (घृत) को बताया गया है । हिङ्गुपर्णी=वंशपत्रिका (बाँस की पत्ती), कुछ आचार्य इसे हिङ्गुपर्णी भी कहते हैं । वयस्था से ब्राह्मी का ग्रहण है । कायस्था=छोटी इलायची ।

उग्रगन्धमित्यादिकं केचिदनार्षं वदन्ति-'उग्रगन्धमित्यादि' सूत्र को कुछ लोग अनार्ष स्वीकार करते हैं ।

केवलम् एतद्घृतमसाधितम्-मात्र घृत का प्रयोग अथवा असाधित (Non medicated) घृत का प्रयोग ।

एतैरिति अनन्तरोक्तघृतसाधनद्रव्यैः -बाद में वर्णित इन्हीं घृत साधन द्रव्यों द्वारा अञ्जनादि की योजना करें ।

एतानौषधयोगान् वा विधेयत्वमगच्छति ।।६३।।
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत् । शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा ।।६४।।
कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् । तद्वद्वयोषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिङ्गुसर्षपाः ।।६५।।
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् । पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गं हिङ्ग्वालं हिङ्गुपत्रिकाम् ।।६६।।
वर्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः । तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान् ।।६७।।

Scanned by CamScanner

भूतार्तानिमरार्ताश्च नरांश्चैव दृगामये । मरिचं चातपे मांसं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ।।६८।।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः । सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च ।।६९।।
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम् । समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ।।७०।।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् । नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ।।७१।।
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः । भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ।।७२।।
सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् । प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्ति कृतां पिबेत् ।।७३।।
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः । शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः ।।७४।।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च । सेकाञ्जनं प्रथमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।।७५।।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः

यदि उपर्युक्त औषध योगों के प्रयोग से उन्माद में कोई लाभ न हो तब इन्हीं औषध द्रव्यों से निर्मित अञ्जन, उत्सादन (उबटन), आलेपन एवं नस्य (नावन) आदि की योजना करनी चाहिए ।

उन्माद में नस्य एवं अञ्जन का प्रयोग–१. शिरीष बीज, यष्टीमधु, हिङ्गु (हींग), लशुन, तगर, वचा तथा कूठ; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर बकरी के मूत्र के साथ अच्छी प्रकार पीस लें । इसका प्रयोग नस्य एवं अञ्जन के रूप में करें ।

२. तद्वत्-सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, मञ्जिष्ठा, हींग, पीली सरसो तथा शिरीष बीज; इन सभी द्रव्यों को बकरे के मूत्र में पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क को एक महीन स्वच्छ कपड़े में रखकर निचोड़कर इसके रस का प्रयोग अञ्जन एवं नस्य के रूप में करने पर उन्माद, भूतज उन्माद एवं अपस्मार रोग नष्ट हो जाते हैं ।

३. अपामार्ग के बीज, हींगु (हींग), आल (हरताल), हिङ्गु पत्रिका; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लें । मरिच एक द्रव्य का आधा भाग लें । सभी द्रव्यों को निर्दिष्ट प्रमाण में लेकर गाय के पित्त एवं सियार के पित्त के साथ श्लक्ष्ण पीसकर वर्ति बना लें । इस वर्ति का प्रयोग अपस्मार, भूतोन्माद तथा ज्वर रोगी के नेत्रों में अञ्जन के रूप में करना चाहिए । ग्रहाविष्ट रोगी की आँख में नेत्र संबन्धी किसी भी विकार के उत्पन्न होने पर इस अञ्जन का प्रयोग करना चाहिए ।

४. काली मिर्च को गोपित्त में पीस कर धूप में सुखा लें, पुनः अगले दिन गोपित्त में पीसकर धूप में सुखावें । एक मास तक यह प्रक्रिया करके वर्ति बना लें । वातादि दोषों के कारण या भूतोन्माद के कारण अथवा स्मृति के नष्ट होने से व्यक्ति की दृष्टि विकृत हो गयी हो जिसके कारण रोगी विकृत रूपों को देखता है तो ऐसी स्थिति में इस वर्ति को जल में घिसकर अञ्जन के रूप में प्रयोग करना चाहिए ।

उन्माद में सिद्धार्थकादि अगद का प्रयोग–सिद्धार्थक, वचा, हिंगु (हींग), करञ्ज, देवदारु, मञ्जिष्ठा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, श्वेता (अपराजिता), कटभी त्वक् (लता शिरीष या कण्टकी शिरीष की छाल), शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, प्रियङ्गु, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर बकरे के मूत्र में पीस लें । यह अगद पान, अञ्जन, नस्य, आलेखन, स्नान एवं उद्वर्तन के रूप में प्रयोग किया जाता है । इसके प्रयोग से अपस्मार, विषविकार, उन्माद, कृत्या, कान्तिहीनता, ज्वर तथा भूत-प्रेत जन्य भय दूर हो जाते हैं । इस लेप का प्रयोग राज दरवार में जाने के लिए किया जाता है । पूर्व वर्णित द्रव्यों के कल्क- १/४ भाग, घृत- १ भाग, द्रव- गोमूत्र- ४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध कर लें । यह सिद्ध घृत सिद्धार्थकघृत कहलाता है । इसके गुण भी सिद्धार्थक अगद के तुल्य होते हैं ।

धूमपान का प्रयोग–उन्माद रोगी के मुख से पानी आ रहा हो (प्रसेक) अथवा प्रतिश्याय (coryza) हो तब उस स्थिति में वैरेचनिक धूम प्रकरण (सू.अ. ५) में वर्णित श्वेता आदि गन्ध द्रव्यों में हींग मिलाकर अथवा गन्ध द्रव्यों द्वारा निर्मित धूमवर्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

वातकफज उन्माद में चिकित्साक्रम–वातकफज उन्माद में प्रायः शल्लक (साही), उलूक (उल्लू), मार्जार (बिल्ली), जम्बूक (शृंगाल), वृक (भेडिया) तथा बकरा; इनके मूत्र, पित्त, शकृत (पुरीष), रोम, नख तथा चर्म का यथावश्यक सेक (परिषेक), अञ्जन, प्रधमन, नस्य, तथा धूमपान के रूप में प्रयोग करना हितावह होता है ।

चक्रपाणि–एतानिति-वक्ष्यमाण शिरीष आदि को । नावनं चाञ्जनं चेति नावनाञ्जनम्-नावन (नस्य) एवं अञ्जन, दोनों को मिश्रित रूप से 'नावनाञ्जन' कहा गया है । हिङ्गवालमिति-हिंगु एवं आलम्, यहाँ आलम् से हरिताल का ग्रहण किया गया है । अमरार्ताश्चेति-देवादि ग्रह से आक्रान्त रोगी को । **दोषेण भूतेन वा हता स्मृतिर्यस्य स दोषभूतहतस्मृति**-वातादि दोषों से अथवा भूतादि ग्रह के द्वारा जिस पुरुष की स्मृति नष्ट हो गयी हो 'उसे दोषभूतहतस्मृतिः' कहा गया है । अगद इति=विषनाशक योग । कृत्या=अभिचार (जादू के मन्त्रों का प्रयोग बुरे कामों के लिए करना कृत्या या अभिचार कहलाता है ।)

राजद्वारे च शस्यत इति–सिद्धार्थक अगद एक वशीकरण योग होने से इसका लेप राजदरबार के लोगों को आकर्षित करता है । **गन्धैरिति**-गन्ध द्रव्यों द्वारा निर्मित धूमवर्ति का प्रयोग धूमपान के लिए करें । धूमवर्ति में अगरु आदि का प्रयोग करें एवं तगर का प्रयोग

Scanned by CamScanner

न करें। इसका विवेचन सूत्रस्थान अध्याय ५ की धूमपान विधि प्रकरण में किया गया है, यथा-"गन्धाश्चागुरुपत्राद्याः" (सू.अ. ५) इति [गन्ध द्रव्यों से विशेष रूप से अगरु, कुष्ठ, तगर, पत्र आदि का ग्रहण किया जाता है।]

श्वेताद्यैरिति–इसका वर्णन "श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला" (सू.अ. ५) इति के द्वारा सूत्रस्थान में ही किया गया है। शल्लकादि (साही आदि) के मूत्रादि का ग्रहण यथासंभव करना चाहिए। ॥६३-७५॥

विशेष–'Agada' means 'antipoison. 'Gandha' here means 'Agaru etc (except tagara)'-P.V. Sharma.

पैत्तिके तु प्रशस्यते।
तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ॥७६॥
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च। शङ्खकेशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम्।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥७७॥

पैत्तिक उन्माद चिकित्सा–(Treatment of Paitika Unmāda)– पैत्तिक उन्माद में तिक्तघृत, जीवनीय घृत एवं मिश्रक स्नेह का प्रयोग करना हितकर है। इसके साथ ही भोजन के रूप में शीतल, मधुर एवं लघु अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिए।

उन्माद में रक्तमोक्षण का प्रयोग–सिरावेध विशेषज्ञ को उन्माद (Insanity), विषमज्वर (Irregular fever) तथा अपस्मार (Epilepsy) में शंख प्रदेश (Temporal region) तथा केशान्त प्रदेश की संधि स्थित सिरा का वेध या मोक्षण कराना चाहिए।

चक्रपाणि–'तिक्तकं' से महातिक्तघृत का ग्रहण किया गया है। जीवनीय घृत का उल्लेख आगे वातरक्तचिकित्सा में बताया जायेगा। मिश्रक स्नेह का वर्णन गुल्मचिकित्सा (चि.अ. ५) में किया जा चुका है।

शङ्खेन केशान्तेन च समं सन्धि शङ्खकेशान्तसन्धिः –शंख एवं केशान्त प्रदेश की संधि को शङ्खकेशान्तसन्धि (At the joint of the hair line and temporal region.) कहा गया है। इस संधि पर स्थित अत्यन्त सन्निकट मर्मों को छोड़कर सुश्रुतसंहिता में वर्णित सिराओं का विचार करते हुए सिरावेध करना चाहिए। ॥७६-७७॥

घृतमांसविवृद्धं वा निवाते स्थापयेत् सुखम्। त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रमुच्यते ॥७८॥

उन्माद रोगी में प्रयुक्त आहार–उन्माद रोगी को घृत व मांस से तृप्त कर अर्थात् भर पेट खिलाकर निवात स्थान (ऐसा स्थान जहाँ हवा के तीव्र झोंके न आते हों) में सुखपूर्वक शयन करावें। ऐसा करने से उसकी विकृत हुई बुद्धि एवं स्मरण शक्ति नष्ट होकर पुनः अपनी सामान्य स्थिति में आ जाती है अर्थात् उन्माद रोग से वह मुक्त हो जाता है।

चक्रपाणि–मांस का प्रयोग यद्यपि "निवृत्तामिषमद्यो यः" इत्यादि सूत्र (श्लोक संख्या ९६) के द्वारा उन्माद में निषिद्ध है, फिर भी मांस का इस प्रकार का उपयोग इस प्रकरण में प्रशस्त है, यथा-भय एवं हर्ष उन्माद के कारण भी हैं तथा इन्हीं दोनों का प्रयोग चिकित्सा में भी किया जाता है। इसे "सान्त्वनं हर्षणं भयम्" इत्यादि सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कुछ आचार्य आगन्तुज उन्माद में मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार निज उन्माद (दोषज endogenous type) की चिकित्सा में मांस का प्रयोग करना चाहिए, यह व्याख्या करते हैं।

तेनेह निजे मांसविधाने भिन्नविषयतया न विरोध इति वर्णयन्ति–उससे यहाँ निज उन्माद में मांस का विधान होने पर विषय भिन्न होने से कोई विरुद्धता नहीं आती अर्थात् विषय विरुद्ध नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

किन्तु निदानोक्तस्यापि मांसस्य यत् स्वजन्य व्याधिप्रशमकत्वं तदप्यतिदृष्टत्वादविरुद्धमेव, तेन पूर्वमेव समाधानमत्र समीचीनमिति पश्यामः–निदानस्थान में वर्णित मांसादि का प्रयोग आगन्तु उन्माद का हेतु होता है, जो अपने द्वारा उत्पन्न व्याधि का प्रशमक भी है, वह भी अतिदृष्ट होने से अविरुद्ध ही होता है। अतः इसका पूर्ववर्णित समाधान ही यहाँ प्रासांगिक है। ॥७८॥

आश्वासयेत् सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः। ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि वा ॥७९॥
बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे। कपिकच्छ्वथवा तप्तैर्लोहतैलजलैः स्पृशेत् ॥८०॥
कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे। रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य तथा शमम् ॥८१॥
सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम्। त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥८२॥
अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम्। त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥८३॥
देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं स्मृतम्। तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥८४॥

उन्माद में आश्वासनादि का प्रयोग–

→ रोगी का मित्र धर्म एवं अर्थ पूर्ण वाक्यों के द्वारा आश्वासन दे अथवा किसी प्रिय वस्तु (आतुर की अत्यन्त प्रिय वस्तु) का विनाश हो गया है, यह कहे अथवा किसी अद्भुत वस्तु को दिखावे।

Scanned by CamScanner

→ अथवा सर्षप तैल से अभ्यङ्ग युक्त रोगी को किसी पट्टे (कपड़े के पट्टे) से बाँधकर धूप (आतप) में उत्तान पीठ के बल शयन करावें। अथवा कपिकच्छू (केंवाच) के रोम युक्त फली का शरीर पर स्पर्श करावें, अथवा तप्त लौह (गरम लोहे की राड) अथवा उष्ण तैल अथवा उष्ण जल का स्पर्श शरीर पर करावें।

→ उन्माद के रोगी को अच्छी प्रकार से कपड़े के पट्टे से बाँधकर कशा (कोड़े) से मारकर एकान्त घर में बन्द करके रखें। ऐसा करने से उसका भ्रमित मन शान्त हो जाता है।

→ जिस सर्प के दन्त निकाल दिये गये हों अर्थात् ऐसे सांप जिनके विष निकाल दिये गये हों, अथवा सिंह एवं हाथियों द्वारा अथवा हाथ में शस्त्र लिये हुए तस्करों (चोरों या डाकुओं) द्वारा तथा शत्रुओं द्वारा आतुर को डराना चाहिए।

→ अथवा राजपुरुषों द्वारा गाँव के बाहर ले जाकर यह कहें कि राजा की आज्ञा है कि तुम्हारा वध कर दिया जाय। इस प्रकार उसे धमकावें।

शारीरिक दुःख के भय की तुलना में प्राण भय अत्यधिक भयोत्पादक होता है। इसलिये उसका (उन्माद रोगी का) विलुप्त मन (विकृत मन) प्राणों का भय दिखाने से पूर्णतः शान्त हो जाता है। ॥७९-८४॥

चक्रपाणि–'ब्रूयादिष्टविनाशमिति' के द्वारा उस प्रिय वस्तु के नष्ट होने की सूचना देना जो आतुर को अति प्रिय हो, जो उन्माद के चिन्ता आदि कारणों में से एक है, स्पष्ट किया गया है। इससे भ्रमित चित्त पुनः चिन्तादि कारणों द्वारा अपने मूल स्थान पर वापस आ जाता है। प्रायः ऐसा दिखाई देता है कि किसी वस्तु पर दबाव डालने पर वह अपने स्थान से प्रतिस्थापित हो जाती है लेकिन उसे पुनः दबाव द्वारा ही अपने मूलस्थान पर स्थापित कर दिया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी होता है, ऐसा समझना चाहिए।

सिंहैरिति=व्याघ्रैः (बाघों के द्वारा)। दान्तैरिति=शिक्षितैः (पढ़े लिखे लोगों के द्वारा)। बहिरिति=गाँव से बाहर।

देहदुःखभयेभ्यः इति-कपिकच्छू के रोम के स्पर्श तथा ताडन आदि से शरीर में होने वाले कष्ट के भय से। ॥७९-८४॥

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते। तस्य तत्सदृशप्राप्तिसान्त्वाश्वासैः शमं नयेत् ॥८५॥
कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसंभवान्। परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥८६॥

जिसका मन अपने प्रिय वस्तु के विनाश से उपहत हुआ हो, अर्थात् इष्ट विनाश से जो उन्मादित हो उस व्यक्ति को तत् सादृश्य वस्तु की प्राप्ति, सान्त्वना एवं आश्वासन के द्वारा शान्त करना चाहिए।

काम (Passion), शोक (grief), भय (fear), क्रोध (Anger), हर्ष (Exhilaration), ईर्ष्या (jealousy) एवं लोभ (greed) से उत्पन्न होने वाले उन्माद को परस्पर विरुद्ध उपक्रमों द्वारा प्रशमित करना चाहिए। ॥८५-८६॥

चक्रपाणि–'इष्टद्रव्येत्यादि' के द्वारा पूर्व में असूत्रित होते हुए भी यह प्रकरण आ जाने के कारण सूत्रित हुआ है, यथा-तृष्णा अध्याय में पञ्च प्रकार की तृष्णा के प्रतिपादन के बाद गुरु अन्न से उत्पन्न होने वाली तृष्णा की चिकित्सा का अभिधान किया गया है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। किन्तु 'चिन्तादिदुष्टहृदय इत्यादि' से वर्णित सामान्य उन्माद में ही यह विषय भी गृहीत है। यहाँ उसी की चिकित्सा बतायी गयी है।

पञ्चोन्माद की व्यवस्था में चिन्तादि कारणों से उत्पन्न होने वाले उन्माद को 'वातिक' में ही समावेशित करना उचित है, क्योंकि इष्ट द्रव्य के विनाश से वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार काम आदि से उत्पन्न होने वाले उन्माद की भी व्याख्या करनी चाहिए। ॥८५-८६॥

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले। चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे भूतदोषजे ॥८७॥
देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान्। वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥८८॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदु भैषज्यमाचरेत्। पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा ॥८९॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च। वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ॥९०॥
भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम्। पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥९१॥
रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये। तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यः प्रमुच्यते ॥९२॥
बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः। सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः ॥९३॥
देवगोब्राह्मणानां च गुरूणां पूजनेन च। आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥९४॥
यच्चोपदेक्ष्यते किंचिदपस्मारचिकित्सिते। उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥९५॥

→ भूतज एवं दोषज उन्माद की चिकित्सा देश (Region or Physique), वय (Age), सात्म्य (Suitableness), दोष (Nature of the vitiated dosha) एवं काल (Time of onset) के बलाबल का विचार कर, करना चाहिए।

→ देव, ऋषि, पितृ एवं गन्धर्व ग्रह द्वारा उन्मत्त पुरुष की चिकित्सा में बुद्धिमान पुरुष को तीक्ष्ण अञ्जन धूप आदि एवं क्रूर कर्म (Physical violence like beating) का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

→ ग्रहावेशित पुरुष की चिकित्सा में-घृतपान एवं मृदु औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। वेदोक्त पूजा, बलि, उपहार, मन्त्र, अञ्जन विधि, शान्तिकर्म, इष्टिहोम (Vedic sacrifices), जप (Muttering prayers), स्वस्त्ययन (Auspicious rituals), वेदोक्त नियम एवं प्रायश्चित का प्रयोग हितकारी होता है।

भूतज उन्माद में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग–भूतों के अधिपति देव, ईश्वर, जगत् के स्वामी भगवान् शिव की व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक नित्य पूजा करते हुए आगन्तुज (भूतज) उन्माद के भय से मुक्त हो जाता है।

रुद्र के प्रमथ नामक गण जो लोक में विचरण करते रहते हैं, उनकी पूजा करते हुए व्यक्ति उन्माद के भय से मुक्त हो जाता है।

आगन्तुज उन्माद की चिकित्सा हेतु अधोलिखित विधियों का पालन करना चाहिए, यथा- बलि (आहुति), मंगल (शुभ) पाठ अथवा माङ्गलिक होम, विषघ्न औषधियों का धारण, माङ्गलिक औषधियों का धारण, सदाचार का पालन करना, तप एवं आध्यात्मिक ज्ञान में लगा रहने वाला, दान देने, नियम एवं व्रत के पालन द्वारा, देव, गो, ब्राह्मण एवं गुरुओं की पूजा करने से तथा सिद्ध औषधियों एवं सिद्ध मन्त्रों के प्रयोग द्वारा आगन्तुज उन्माद शान्त हो जाता है।

उन्माद एवं अपस्मार की चिकित्सा में साम्यता–अपस्मारचिकित्सा में जो कुछ भी बताया जायेगा, उन सभी विधियों का प्रयोग उन्मादचिकित्सा में करना चाहिए क्योंकि दोनों में ही कारण व दूष्य समान होते हैं। ॥८७-९५॥

चक्रपाणि–क्रूरकर्मेति=ताडनादि कर्म। 'शान्तिकर्मेत्यादि' के द्वारा दैवव्यपाश्रयचिकित्सा का अभिधान किया गया है। **सामान्याद्धेतुदूष्ययोरिति**-उन्माद एवं अपस्मार दोनों के ही समान हेतु-मनोभिघात आदि तथा दूष्य हृदय है। ॥८७-९५॥

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः। निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥९६॥

किसे उन्माद नहीं होता?

→ जो व्यक्ति मद्य एवं मांस का सेवन नहीं करता।
→ जो हितकर भोजन सेवन करता है।
→ जो सर्वदा पवित्र रहता है।
→ जो मानसिक रूप से बली हो, ऐसे पुरुष को निज व आगन्तुज उन्माद नहीं होते।

चक्रपाणि–'निवृत्तामिष इत्यादि' की व्याख्या पूर्व में ही की जा चुकी है। ॥९६॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा। धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विज्ञातोन्मादलक्षणम् ॥९७॥

उन्माद से मुक्त पुरुष के लक्षण–इन्द्रियों का अपने अर्थों (शब्दादि) को ग्रहण करने में समर्थ होना, बुद्धि की प्रसन्नता (Clarity of intellect), आत्मा एवं मन की प्रसन्नता (मन एवं आत्मा का अपनी सामान्य अवस्था में आ जाना) एवं धातुओं (दोषों) का प्रकृतिस्थ (अपनी सामान्य अवस्था में आना) होना; ये लक्षण मिलने पर यह जान लें कि आतुर उन्माद रोग से मुक्त हो गया है।

चक्रपाणि–कशा, ताडन आदि के रूप में उन्माद की चिकित्सा करने के बाद आतुर उन्माद से मुक्त हो गया है, इस ज्ञान हेतु उन्माद से मुक्त पुरुष के लक्षणों को यहाँ 'प्रसाद इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

[The treatment of unmāda includes beating etc., which are very painful for the body. When a patient is free from this disease, such painful therapeutic measures need not be employed. To clarify this position, the signs and symptoms of a person, who is free from unmāda have been decribed above.–Dr. Bhagvan Das.]

तत्र श्लोकाः–

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम्। निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥९८॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस उन्मादचिकित्सा नामक अध्याय में चिकित्सकों में उत्तम भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा निज व आगन्तुज हेतुओं से होने वाले उन्माद के हेतु, लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का विवेचन किया गया है। **चक्रपाणि**–'उन्मादानामित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया गया है। ॥९८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सास्थाने उन्मादचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के अप्राप्त अंश में दृढ़बल द्वारा पूरित चिकित्सास्थान के उन्मादचिकित्सा नामक नवम अध्याय पूर्ण हुआ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में उन्मादचिकित्सा नामक नवम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

दशमोऽध्यायः ।

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे अपस्मारचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–आदि उत्पत्तिक्रम में उन्माद के साथ ही उत्पन्न होने से उन्माद के बाद अपस्मारचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः । तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसंप्लवात् ।।३।।

अपस्मार की परिभाषा–चिकित्सा विशेषज्ञों के अनुसार स्मृति (Memory) का नष्ट होना ही अपस्मार (Epilepsy) कहा जाता है ।

इस व्याधि में व्यक्ति के बुद्धि (Intellect) एवं मन (Mind) में विकृति उत्पन्न हो जाने से आँखों के सामने अन्धकार का छाना अर्थात् मूर्च्छित होना तथा बीभत्स चेष्टा (मुख से झाग का निकलना, शरीर में कम्प एवं हाथ-पैरों का इधर-उधर पटकना) जैसे लक्षण मिलते हैं ।

चक्रपाणि–स्मृतेरपगम इत्यादि के द्वारा अपस्मार शब्द की व्युत्पत्ति को बताते हुए अपस्मार (Epilepsy) के स्वरूप को बताया गया है ।

'तमः प्रवेशमिति' के द्वारा आतुर की स्मृति कैसे नष्ट होती है, यह बताया गया है । अपस्मार के वेग आने के समय ही रोगी की स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है ।

बीभत्सचेष्टमिति तमःप्रवेशेन ज्ञानाभावत्वाद्बीभत्सचेष्टा फेनवमनाङ्गविक्षेपणादिका यस्मिन्नुपगते तं बीभत्सचेष्टम्–रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसके आँखों के सामने अन्धकार छा रहा है, ऐसा देखते हुए वह मूर्च्छित हो जाता है । ज्ञान का अभाव होने से वह बीभत्सचेष्टा करता है । बीभत्सचेष्टा से रोगी के मुख से फेन (झाग) का निकलना एवं हाथ-पैरों का इधर-उधर पटकना अर्थ लिया गया है ।

बीभत्सचेष्टा एवं स्मृति का नष्ट होना-बुद्धि एवं मन के विकृत होने से होता है, जिसे यहाँ 'धीसत्त्वसंप्लवादिति' के द्वारा बताया गया है । संप्लवः=विभ्रम, बुद्धि व मन की असामान्य अवस्था विभ्रम कहलाती है । ॥३॥

[Epilepsy-Paroxysmal transient disturbances of brain function that may be manifested as episodic impairment.]

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजनात् । रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ।।४।।
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा । मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते ।।५।।

अपस्मार के हेतु–अधोलिखित कारणों द्वारा अत्यधिक रूप से संचित दोष प्रकुपित होकर (उन्मार्गगामी) होकर पुरुष में अपस्मार (Epilepsy) के वेग को उत्पन्न करते हैं–

१. अहित एवं अशुचिकर भोजन के सेवन करने से ।

२. रज एवं तम के द्वारा सत्त्व के उपहत होने से ।

३. बढ़े हुए दोषों के हृदय में संचित होने से ।

४. चिन्ता, काम, भय, क्रोध, शोक एवं उद्वेग (क्षोभ) से मन के बार-बार प्रभावित होने से ।

चक्रपाणि–जिस प्रकार के पुरुषों को अपस्मार उत्पन्न होता है, उसका विवेचन यहाँ 'विभ्रान्तेत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

विभ्रान्ता उन्मार्गगामिनो बहवश्च दोषा येषां तेषां विभ्रान्तबहुदोषाणाम्–जिस पुरुष में विकृत हुए दोष अत्यधिक रूप से प्रकुपित होकर ऊर्ध्वप्रदेश में आश्रित हो जाँय उसे 'विभ्रान्तबहुदोषाणाम्' कहा गया है ।

विहते सत्त्वे इति–सत्त्व गुण के नष्ट हो जाने पर, न कि यहाँ 'सत्त्वं' शब्द से मन का ग्रहण किया गया है । उसका (मन का) ग्रहण 'मनस्यभिहते' के द्वारा आगे करेंगे । ॥४-५॥

धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि । संपीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ।।६।।
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि । जिह्वाक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ।।७।।
दोषवेगे च विगते सुप्तवत् प्रतिबुद्धयते ।

Scanned by CamScanner

अपस्मार की संप्राप्ति एवं लक्षण (Pathogenesis, Signs and Symptoms of APASMĀRA)

उपर्युक्त कारणों के द्वारा प्रकुपित हुए दोष धमनियों के आश्रित होकर हृदय को विकृत करते है, परिणामत: व्यक्ति चेतना शून्य हो जाता है। हृदय के ही आश्रित मन रहता है, अत: उसके (हृदय के) विकृत होने से मन भी विकृत हो जाता है, मन के विकृत होने से व्यक्ति अविद्यमान रूपों को देखने लगता है, चलते समय व्यक्ति भूमि पर गिर पड़ता है, जिह्वा, आँखें एवं भ्रू फड़कने लगते हैं, मुख से लालास्राव होने लगता है तथा आतुर अपने हाथ-पैर को इधर-उधर पटकने लगता है। ये सभी लक्षण आतुर शरीर में तभी तक मिलते हैं जब तक दोषों का वेग (fits) शरीर में बना रहता है। वेग के शान्त हो जाने पर निद्रा से जगने के बाद जैसे व्यक्ति को ज्ञान होता है उसी प्रकार अपस्मार का रोगी भी अपनी सामान्य अवस्था में आ जाता है अर्थात् स्वस्थ हो जाता है, उसे पूर्व के वेगों का स्मरण नहीं रहता। ॥६-७॥

[When the fits are over, he regains conciousness as if he were getting up from sleep. -Dr. Bhagvan Das.]

चक्रपाणि–**'धमनीभिरिति'** के द्वारा यद्यपि अपस्मार की सामान्य सम्प्राप्ति को बताया गया है, फिर भी हृदयपीड़ा की योग्यता से (हृदय में पीड़ा उत्पन्न करने की क्षमता से) धमनी शब्द से यहाँ हृदयाश्रित धमनियों का विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। यहाँ वातादि दोषों के प्रकोप में अलग-अलग हेतुओं का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि अपस्मार के उत्पादक हेतु भी वही हैं जो उन्माद के होते हैं। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए कहा भी गया है,–**''यच्चोपदेक्ष्यते किंचिदपस्मारचिकित्सिते। उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः''** (चि.अ.९) [अपस्मार चिकित्सा में जो कुछ भी चिकित्सा विधान का निर्देश दिया गया है उनका प्रयोग उन्माद की चिकित्सा हेतु करना चाहिए, क्योंकि दोनों (उन्माद एवं अपस्मार) में ही दोष एवं दूष्य समान होते हैं अर्थात् दोष एवं दूष्यों की विकृति समान होती है।]

अपस्मार के जो हेतु उन्माद से विशेष हैं, उनका उल्लेख यहाँ **'अहिताशुचिभोजनात्'** इत्यादि के द्वारा कह दिया गया है। ॥६-७॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः ॥८॥
कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि। परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥९॥
पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः। सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥१०॥
शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतो हृष्टाङ्गजो गुरुः। पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥११॥
सर्वैरैतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः। अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥१२॥
पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः। अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥१३॥

अपस्मार के भेद एवं उनके लक्षण (Varieties of Apasmāra, their Signs and Symptoms)–अपस्मार ४ प्रकार के होते हैं–

१. वातिक अपस्मार
२. पैत्तिक अपस्मार
३. श्लैष्मिक अपस्मार
४. सान्निपातिक अपस्मार

→ वातिक अपस्मार में रोगी का शरीर कम्पन करता है, रोगी दाँतों को कटकटाता है, मुख से झाग का निकलना, श्वास का बढ़ जाना, परुष, अरुण एवं कृष्ण वर्ण के रूप को देखते हुए मूर्च्छित होना; पाया जाता है, अर्थात् ये लक्षण **वातिक अपस्मार** में पाये जाते हैं।

→ मुख से पीत वर्ण का झाग निकलना, आतुर का शरीर, मुख एवं नेत्र पीले वर्ण का होना, पीत एवं रक्त वर्ण के रूपों को देखना (पीत एवं रक्त वर्ण के रूपों को देखते हुए अपस्मार के वेग का आना), अत्यधिक प्यास का लगना, शरीर का उष्ण बने रहना, सम्पूर्ण संसार में आग लग गयी है, इस प्रकार का दिखाई देना; ये सभी लक्षण **पैत्तिक अपस्मार** में पाये जाते हैं।

→ मुख से सफेद रंग का झाग आना, शरीर, मुख एवं नेत्र का श्वेत वर्ण का होना, शरीर का शीतल एवं भारी होना, रोमाञ्च (Horripilation) होना, श्वेत वर्ण के रूपों को देखते हुए मूर्च्छित होना; ये सभी लक्षण **कफज (श्लैष्मिक) अपस्मार** में पाये जाते हैं।

→ तीनों दोषों से होने वाले अपस्मार में जो अलग-अलग लक्षण बताये गये हैं, उन सभी लक्षणों का एक साथ रोगी में मिलना 'सन्निपातज अपस्मार' का द्योतक है अर्थात् जिस रोगी में ये सभी लक्षण एक साथ मिलते हैं वह सन्निपातज अपस्मार का रोगी होता है। सन्निपातज अपस्मार असाध्य होता है।

→ जो अपस्मार क्षीण पुरुषों को हुआ है, अथवा अत्यधिक पुराना अपस्मार भी असाध्य होता है।

अपस्मार के वेग का काल–प्रकुपित हुए दोष १५-१५ दिन पर, १२-१२ दिन पर अथवा १-१ महीने पर अथवा निर्दिष्ट दिनों से पूर्व अथवा पश्चात् भी अपस्मार के वेग को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–'पृथगित्यादि' के द्वारा चतुर्विध प्रकार के अपस्मार के लक्षणों को बताया गया है। **पीतासृग्रूपदर्शन इति**-पीले अथवा रक्त वर्ण के रूपों को देखने वाला। 'सतृष्णोष्णेत्यादि' के द्वारा-तृष्णा (Thirst) एवं उष्णता से पीड़ित होते हुए आतुर सम्पूर्ण लोक (संसार) को अग्नि से व्याप्त देखता है।

Scanned by CamScanner

'शुक्लेत्यादि' के द्वारा श्लैष्मिक अपस्मार को स्पष्ट किया गया है। हृष्टाङ्गजः हृष्टरोमा (रोओं का खड़े हो जाना)। 'चिरादिति' शब्द से वातिक एवं पैत्तिक अपस्मार के वेग श्लैष्मिक अपस्मार की तुलना में शीघ्र समाप्त हो जाते है, अर्थ प्राप्त होता है।

क्षीणस्यानवश्च यः स एकदोषजोऽप्यसाध्य इति भावः–जो अपस्मार क्षीण (दुर्बल) व्यक्ति को हो अथवा जो पुराना हो गया हो, वह एक दोष से उत्पन्न होते हुए भी असाध्य होता है, यह अभिप्राय है।

पक्षाद्वेत्यादौ व्युत्क्रम्य वेगकालनिर्देशेन उक्तकालादूर्ध्वमर्वागपि चापस्मारवेगो भवतीति सूचयति–'पक्षात्' से प्रारम्भ करके विपरीतता को प्रदर्शित करते हुए वेगकाल का निर्देश होने से निर्दिष्ट काल के बाद अथवा पूर्व में भी अपस्मार के वेग उत्पन्न होते हैं, यह अर्थ प्राप्त होता है।

किञ्चिदथान्तरमिति–कुछ काल के बाद वेग को उत्पन्न करते हैं। यह अन्तर अल्प समय का भी हो सकता है। ॥८-१३॥

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां संप्रबोधनम्। तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात् कर्मभिर्वमनादिभिः ॥१४॥
वातिकं बस्तिभूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः। श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥१५॥

चिकित्साक्रम (Line of Treatment)–वातादि दोषों से आवृत हृदय (Heart), स्रोतस् (Vesseles) एवं मन के प्रबोधन हेतु चिकित्सक को सर्वप्रथम तीक्ष्ण वमनादि द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

वातिक अपस्मार में बस्ति प्रधान, पैत्तिक अपस्मार में विरेचन प्रधान तथा श्लैष्मिक अपस्मार में वमन प्रधान द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–'तैरित्यादि' के द्वारा अपस्मार की चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है। **प्रबोधनमिति** दोषविरहितत्वेन सम्यक्स्वव्यापारकरम्-प्रबोधन द्रव्यों द्वारा शरीर से दोषों को निकाल देने के कारण हृदय, स्रोतस् एवं मन अपने स्वाभाविक कार्यों को करने लगते हैं। प्रायः शब्द का यहाँ विशेष अर्थ है, इसका अभिप्राय रोगी की आवश्यकता के अनुसार निर्दिष्ट वमनादि चिकित्सा के साथ-साथ और दूसरी भी विधियों का प्रयोग किया जा सकता है, से है। ॥१४-१५॥

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च। अपस्मारविमोक्षार्थं योगान् संशमनाञ्छृणु ॥१६॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्। सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥१७॥
इति पञ्चगव्यं घृतम्।

अपस्मार में संशमनचिकित्सा का प्रयोग–वमन विरेचनादि द्वारा सर्वतः शुद्ध एवं सम्यक् प्रकार से आश्वासन प्राप्त रोगी के अपस्मार को नष्ट करने वाली संशमन योगों को हे अग्निवेश ! मुझसे सुनो–

पञ्चगव्यघृत–घटक द्रव्य-१. गोशकृद् रस (गाय के गोबर का रस), २. अम्ल दधि (गाय की खट्टी दही), ३. गोदुग्ध, ४. गाय का घृत, ५. गोमूत्र।

विधि–सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध होने पर अग्नि पर से उतारकर सुरक्षित रख लें। इस घृत के सेवन करने से अपस्मार (Epilepsy), कामला (Jaundice) एवं ज्वर (Fever) जैसी व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं।

चक्रपाणि–आश्वासितस्येति=संशोधन के बाद व्यक्ति के बल को आप्यायित करके, अर्थात् रोगी के शरीर की पूर्णतः शुद्धि के बाद संसर्जनक्रम द्वारा जात बलोपरान्त संशमन औषधियों का प्रयोग करावें। यहाँ आश्वासन से संसर्जनक्रम का सम्यक् होना, अर्थ लिया गया है।

गोशकृदित्यादौ से-दधि, क्षीर, मूत्र एवं घृत प्रत्येक के आगे गो शब्द जोड़ना चाहिए, इससे गो अम्लदधि, गोक्षीर, गोमूत्र एवं गोघृत, अर्थ प्राप्त होता है। इस प्रकार यह **'अल्प पञ्चगव्य'** होता है।

साम्यं चात्र गोशकृद्रसादीनां परिभाषासिद्धमपि स्पष्टार्थमुच्यते–'साम्य' से यहाँ गोशकृत् रस (गोबर का रस) आदि की परिभाषा सिद्ध होते हुए भी विषय को स्पष्ट करने के लिए कहा गया है। साम्य=सम प्रमाण (बराबर मात्रा) में ॥१६-१७॥

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफला रजन्यौ कुटजत्वचम्। सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥१८॥
शम्याकं फल्गुमूलं च पौष्करं सदुरालभम्। द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥१९॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च। श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ ॥२०॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम्। क्षिप्तेप्विष्ट्वाऽक्षमात्राणि तेन प्रस्थं घृतात् पचेत् ॥२१॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः। पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम् ॥२२॥
अपस्मारे तथोन्मादे श्वयथावुदरेषु च। गुल्मार्शः पाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥२३॥
शस्यते घृतमेतत्तु प्रयोक्तव्यं दिने दिने। अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम् ॥२४॥
इति महापञ्चगव्यं घृतम्।

Scanned by CamScanner

महापञ्चगव्यघृत– १. क्वाथ्य द्रव्य- दोनों पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी=भटकटैया) एवं गोखरू, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), हल्दी, दारुहल्दी, कुटज त्वक, सप्तपर्ण की छाल, अपामार्ग, नीलिनी की जड़, कटुरोहिणी (कुटकी), शम्पाक (कल्याणकारी फल देने वाला-अमलतास); फल्गुमूल (काकोदुम्बर का मूल), पुष्करमूल एवं दुरालभा (धमासा (Fagonia cretica); सभी द्रव्यों को २-२ पल (८-८ तोला) मात्रा में लेकर यवकुट करें। इस यवकुट किये हुए द्रव्य में १ द्रोण जल डालकर क्वाथ बनावें, चतुर्थांश द्रव शेष रहने पर क्वाथ को छान कर रख लें।

२. कल्क द्रव्य– भार्गी (भारंगी), पाठा, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), सफेद निशोथ, निचुल (वेंत की छाल), श्रेयसी (गजपिप्पली), आड़की (अरहर) की छाल, मूर्वा, दन्ती, भूनिम्ब (चिरायता), चित्रक, अनन्तमूल सारिवा, कृष्णमूल सारिवा, रोहिष, भूतीक एवं मदयन्तिका; सभी द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष (१-१ तोला) मात्रा में लेकर महीन पीसकर कल्क बना लें।

३. अन्य द्रव पदार्थ– क. गोघृत, ख. गोशकृत्रस (गाय के गोबर का रस), ग. खट्टी दही, घ. गोदुग्ध, ङ. गोमूत्र; प्रत्येक १-१ प्रस्थ ग्रहण करें।

निर्माण विधि– सर्वप्रथम १ प्रस्थ गोघृत में कल्क डालें, फिर उसमें क्वाथ डालकर पाक करें, क्वाथ के कुछ कम हो जाने पर उसमें गोबर के रस को डालकर पाक करें, इसके बाद खट्टी दही डालकर पकावें, तत्पश्चात् गाय का दूध डालकर पाक करें अन्त में गोमूत्र डालकर घृत को सिद्ध करें। घृत के सिद्ध हो जाने पर अग्नि पर से उतारकर व छानकर एक स्वच्छ पात्र में सुरक्षित रख लें। यह अमृत तुल्य घृत महापञ्चगव्यघृत के नाम से प्रसिद्ध है।

उपयोग– मात्रा पूर्वक इस घृत का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों– अपस्मार (Epilepsy), उन्माद (Insanity), श्वयथु (Oedema), उदररोग (Abdominal diseases including ascites), गुल्म (Phantom tumour), अर्श (Piles), पाण्डु (Anaemia), कामला (Jaundice) तथा हलीमक (Types of Jaundice) में अमृत के समान हितकारी है। प्रतिदिन इस घृत के सेवन करने से दरिद्रता (Inauspiciousness), ग्रहबाधा (effects of Bad planets) एवं चतुर्थकज्वर भी नष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि–'द्वे पञ्चमूल्यौ' से दोनों प्रकार के पञ्चमूल, यथा-बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी) तथा लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरु) संयुक्तरूप से दशमूल का ग्रहण किया गया है।

नीलिनी=नीलिका। शम्पाक=आरग्वध (अमलतास)। फल्गु=काष्ठोदुम्बरिका (कठगुलर)।

द्विपलत्वं यथा प्रत्येकं दशमूल्यादीनां तत्प्रतिपादितमेवोन्मादे–दशमूल के प्रत्येक घटक द्रव्य का ग्रहण अलग-अलग दो-दो पल मात्रा में करना चाहिए, इसका प्रतिपादन उन्मादचिकित्सा में किया जा चुका है। निचुल=हिज्जल। श्रेयसी=हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली)। 'द्वे सरिवे' से श्यामलता एवं अनन्तमूल सारिवा का ग्रहण किया गया है। ॥१८-२४॥

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च। पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपापनुत् ॥२५॥
घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां वार्षे बास्ते चतुर्गुणे। मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम् ॥२६॥
वचाशम्पाककैटर्यवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः। सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम् ॥२७॥

ब्राह्मी घृत–ब्राह्मी स्वरस- १६ भाग। वचा, कुष्ठ एवं शंखपुष्पी का कल्क- १ भाग, पुराण घृत- ४ भाग ग्रहण करें। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत अलक्ष्मी (दरिद्रता), उन्माद (Insanity), अपस्मार (Epilepsy) एवं पापजन्य व्याधियों को दूर करता है।

अन्य योग–(क) गोघृत- १ भाग, (ख) बैल एवं बकरी का मूत्र- ४ भाग, (ग) सैन्धव नमक एवं हींग का कल्क-१/४ भाग उपर्युक्त द्रव्यों को निर्धारित अनुपात में लेकर घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत अपस्मार (Epilepsy) एवं ग्रह जन्य बाधा को दूर करता है।

वचादि घृत–१. **क्वाथ्य द्रव्य**-मीठा वच, शम्पाक (अमलतास की गुद्दी), कैटर्य (बकायन की छाल), गुडूची, हींग, चोरपुष्पी एवं गुग्गुलु का क्वाथ बनावें-४ भाग [जहाँ कल्क का निर्देश हो वहाँ कल्क द्रव्यों से ही क्वाथ का निर्माण करना चाहिए।]

२. **कल्क द्रव्य**-क्वाथ्य द्रव्यों का प्रयोग कल्क निर्माण में करें। -१/४ भाग।

३. **गोघृत**- १ भाग।

४. **निर्माण विधि**-सभी द्रव्यों को निर्धारित अनुपात में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत वातज एवं कफज अपस्मार में अत्यन्त उपयोगी है। ॥२५-२७॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-ब्राह्मीत्यादौ पुराणमिति घृतविशेषणम्-ब्राह्मी घृत के निर्माण हेतु पुराना गोघृत का ग्रहण करना चाहिए। अतः यहाँ पुराण से घृत की विशेषता को बताया गया है। इस प्रकार पुराण घृत यहाँ उपयोगी होता है।

वार्षे बास्ते इति-बैल एवं बकरी से उत्पन्न मूत्र में। यद्यपि-"स्त्रीणां तीक्ष्णं गवां मूत्रं न तु पुंसां तथा विधम्। पित्तांशिकास्त्रियो यस्मात् सौम्यास्तु पुरुषा स्मृता" [स्त्री जाति के गाय का मूत्र तीक्ष्ण होता है, पुरुष जाति के गाय (बैल) का मूत्र उतना तीक्ष्ण नहीं होता। स्त्री जाति के मूत्र में पित्तांश अधिक होता है, अर्थात् उष्ण रहता है जबकि बैल का मूत्र सौम्य होता है।] सूत्र के द्वारा स्त्री जाति के गाय का मूत्र प्रशस्त कहा गया है, फिर भी यहाँ विशेष ग्रहण के कारण पुरुष जाति का मूत्र उपयोगी है। कैटर्यः=पार्वतो निम्बः (पहाड़ी निम्ब)। वयस्था=गुडूची। वातश्लेष्मातके इति-द्वन्द्वज अपस्मार का निर्देश न होने से यहाँ वातज एवं कफज अपस्मार का ग्रहण करना चाहिए। अन्य आचार्य गुल्म की तरह अनुक्त होते हुए भी **प्रकृतिसमसमवाय** से उत्पन्न होने के कारण 'वातश्लेष्मात्मके' से द्वन्द्वज अपस्मार का ग्रहण करते हैं। ॥२५-२७॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः। क्षीरद्रोणे पचेत् सिद्धमपस्मारविनाशनम्॥२८॥
कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे। कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत्॥२९॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति। तद्वत् काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम्॥३०॥
मधुकद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात्। तद्वत् सिद्धो घृतप्रस्थः पित्तापस्मारभेषजम्॥३१॥

अपस्मारनाशक यमक-तिल तैल- १ प्रस्थ, पुराना गोघृत- १ प्रस्थ, जीवनीय गणोक्त द्रव्य- अलग-अलग १-१ पल लेकर कल्क बना लें, गोदुग्ध- १ द्रोण।

पूर्व निर्दिष्ट तिल तैल, गोघृत, कल्क एवं दुग्ध को एक पात्र में लेकर पाक करें, जब दुग्ध का जलीयांश उड़ जाय तब उसमें स्नेह के ४ गुना जल मिलाकर पकावें। घृत के सिद्ध हो जाने पर यमक को छानकर एक स्वच्छ पात्र में सुरक्षित रख लें। यह सिद्ध यमक अपस्मार का नाशक होता है।

अपस्मार नाशक अन्य घृत-गोदुग्ध- १ कंस (१ आढ़क), इक्षु का रस- १ आढ़क, काश्मर्य (गम्भारी) का क्वाथ- ८ गुना (घृत का ८ गुना अर्थात् ८ प्रस्थ), जीवनीय गण की औषधियाँ- प्रत्येक द्रव्य- १-१ कर्ष (तोला) लेकर कल्क बना लें, पुराना गोघृत- १ प्रस्थ।

उपर्युक्त सभी द्रव्यों को लेकर विधि पूर्वक घृत को सिद्ध कर लें। इस सिद्ध घृत के प्रयोग से वातपित्तजन्य अपस्मार शीघ्र ही दूर हो जाता है। तद्वत् कास के मूल, विदारीकन्द, इक्षुमूल एवं कुश के क्वाथ द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग वातपित्तजन्य अपस्मार की चिकित्सा में करना चाहिए।

आमलकादि घृत-पुराना गोघृत- १ प्रस्थ (६४ तोला), यष्टीमधु चूर्ण (कल्क)- २ पल (८ तोला), आमलकी स्वरस- १ द्रोण।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत पित्तज अपस्मार को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

चक्रपाणि-तैलप्रस्थमिति- से अपस्मार नाशक यमक को सिद्ध करने हेतु १ प्रस्थ तिल तैल, १ प्रस्थ गोघृत, जीवनीयगण की औषधियों को १-१ पल मात्रा में लेकर कल्क बना लें तथा इस कल्क का प्रयोग करें। द्रव के स्थान पर गोदूध का ग्रहण करें। **कंसे इति आढ़के**- १ कंस= १ आढ़क। **काश्मर्ये इति गम्भारी भवे**-गम्भारी का क्वाथ स्नेह का ८ गुना ग्रहण करें। **रसे इति**-क्वाथ में। **'तद्वदित्यनेन'** इससे पूर्वयोग की फलश्रुति को दर्शाया गया है। अर्थात् काश, विदारीकन्द, इक्षुमूल एवं कुश के क्वाथ से १ प्रस्थ घृत को पूर्वयोग की तरह ही सिद्ध करना चाहिए। **'तद्वत्सिद्धो घृतप्रस्थः इति'** से पूर्वयोग में वर्णित 'क्षिप्रं' इति तक का संबन्ध है। अर्थात् यह घृत शीघ्र ही पित्तज अपस्मार को दूर करता है, यह भाव है। ॥२८-३१॥

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे। सिद्धं स्यादुशकृन्मूत्रैः स्नानोत्सादनमेव च॥३२॥
कटभीनिम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे। सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते॥३३॥

अभ्यङ्गार्थ तैल का प्रयोग-सरसो का तैल- १ भाग, बकरे का मूत्र- ४ भाग, लेकर तैल का पाक करें। इस सिद्ध तैल से अपस्मार के रोगी का अभ्यङ्ग करें। स्नान के लिए गोमूत्र एवं उत्सादन (उबटन) हेतु गाय के गोबर का प्रयोग करें।

कटभ्यादि तैल का प्रयोग-१. क्वाथ्य द्रव्य-कटभी (लता शिरीष) की छाल, निम्ब की छाल, कट्वंग (सोनापाठा), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) की छाल, इस द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें, क्वाथ की मात्रा- ४ भाग, २. गोमूत्र- १ भाग, ३. सरसो का तैल- १ भाग। सभी द्रव्यों-क्वाथ, गोमूत्र एवं तैल को एक में मिलाकर तैल को सिद्ध (पाक) करें। इस सिद्ध तैल का प्रयोग अपस्मार के रोगी में अभ्यङ्ग हेतु करना चाहिए। अर्थात् इस तैल की मालिश करने से अपस्मार में लाभ मिलता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'अभ्यङ्ग इत्यादि' के द्वारा सरसो तैल का पाक बिना कल्क के ही करने को बताया गया है । यहाँ गोशकृद् (गोबर) का प्रयोग उबटन (उत्सादन) के रूप बताया गया है तथा गोमूत्र द्वारा स्नान करना चाहिए । (मूलवचन के अनुसार-गोशकृत् एवं गोमूत्र का प्रयोग स्नान एवं उत्सादन हेतु करें, इसका अर्थ यथायोग्य ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् गोशकृत् की योग्यता उत्सादन हेतु एवं गोमूत्र स्नान हेतु कार्यकारी है ।)

कटभी आदि चारो द्रव्यों की छाल को लेकर क्वाथ बनावें । क्वाथ की मात्रा स्नेह (तैल) का ३ गुना ग्रहण करें, स्नेह की मात्रा के बराबर गोमूत्र का ग्रहण करें । इस प्रकार क्वाथ- ३ भाग, गोमूत्र- १ भाग तथा सरसो का तेल- १ भाग लेकर पाक करें । इस सिद्ध तैल का प्रयोग अपस्मार रोगी में अभ्यङ्ग हेतु करते हैं । ॥३२-३३॥

पलङ्कपावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः । जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिङ्गुचोरकैः ॥३४॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम् । मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ॥३५॥
सिद्धमभ्यङ्गनं तैलमपस्मारविनाशनम् । एतैश्चौषधैः कार्यं धूपनं सप्रलेपनम् ॥३६॥

पलङ्कयादि तैल– पलङ्कषा (गुग्गुलु), वचा, पथ्या (हरड़), वृश्चिकाली (काकनासा), अर्क (मदार) मूलत्वक्, सरसो, जटिला (जटामांसी), पूतनाकेशी (गोलोमी), नाकुली (रास्ना), हिंगु, चोरक, रसोन, अतिरसा (जलज यष्टीमधु अथवा शतावरी), चित्रा (दन्ती अथवा एरण्ड की जड़), कटु कूठ एवं मांसभक्षी पक्षियों का पुरीष; निर्दिष्ट द्रव्यों में से जो प्राप्त हो सके उनको लेकर कल्क बना लें । कल्क की मात्रा- १/४ भाग (स्नेह की चतुर्थांश) लेकर उसमें ४ गुना (४ भाग) बकरे का मूत्र एवं १ भाग सरसो का तैल डालकर अग्नि पर पाक करें । इस सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग अपस्मार रोग में करना चाहिए, इसके प्रयोग से अपस्मार दूर हो जाता है । गुग्गुलु आदि औषधियों का प्रयोग धूपन एवं लेप हेतु करना चाहिए, अर्थात् अपस्मार में धूपन एवं लेप हेतु कल्क में प्रयुक्त औषधियों का प्रयोग प्रशस्त माना गया है ।

चक्रपाणि–**पलङ्कपेत्यादौ पूतनापूर्वा या केशी पूतनाकेशी गोलोमीत्यर्थः** -पूतना पूर्वा को ही यहाँ केशी, पूतना केशी अथवा गोलोमी कहा गया है । आचार्य जतूकर्ण ने पूतनाकेशी से यहाँ गोलोमी अर्थ लिया गया है । कहा भी है, यथा **''वृश्चिकालीपथ्यागोलोमीना-कुलीलसुनकुष्ठै, सर्षपजटिलाचोरकहिङ्गुवचामधुकचित्रकार्कैः, मांसादपक्षिपुरीषैर्बस्तमूत्रेशृतैरेतदभ्यङ्गे''** इति [वृश्चिकाली (काकनासा), पथ्या (हरीतकी), गोलोमी, नाकुली, लसुन, कुष्ठ (कूठ), सरसो, जटिला (जटामांसी), चोरक (चोरपुष्पी), हिङ्गु (हींग), वचा (कटु वचा), मधुक (यष्टीमधु), चित्रक, अर्क (अर्कमूल) तथा मांसभक्षी पक्षियों के पुरीष- १/४ भाग (कल्क द्रव्य), बकरे का मूत्र- ४ भाग, सर्षप तैल- १ भाग लेकर । सभी द्रव्यों को एक पात्र में मिलाकर तैल पाक करें । इस सिद्ध तैल का प्रयोग अभ्यंङ्ग के रूप में करें ।] अतिरसा=जलज यष्टीमधु । ॥३४-३६॥

पिप्पलीं लवणं चित्रां हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिकाम् । काकोलीं सर्षपान् काकनासां कैटर्यचन्दने ॥३७॥
शुनःस्कन्धास्थिनखरान् पर्शुकां चेति पेषयेत् । बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात् सधूपनः ॥३८॥

अपस्मार नाशक धूपन एवं प्रदेह–पिप्पली, सैन्धव नमक, चित्रा (शिग्रु=सहिजन), हिङ्गु (हींग), हिङ्गु शिवाटिका (वंशपत्रिका), काकोली, सरसो (पीली सरसो), काकनासा, कैटर्य (बकायन) की छाल, चन्दन (लाल चन्दन), शुनः स्कन्धास्थि (कुत्ते के स्कन्ध की अस्थि), कुत्ते का नख एवं पार्शुका (पसली) की हड्डी; सभी द्रव्यों की सम प्रमाण में लेकर बकरे के मूत्र डालकर पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क का प्रयोग पुष्य नक्षत्र में प्रदेह के रूप में करें अथवा इन औषधियों को पीसकर चूर्ण बना लें (यह कार्य-चूर्ण बनाने का कार्य, पुष्य नक्षत्र में ही करना चाहिए ।) इस चूर्ण का प्रयोग धूपन के रूप में करना चाहिए ।

चक्रपाणि–चित्रा=दन्ती । हिङ्गुशिवाटिका=वंशपत्रिका । **स्कन्धास्थीति**-स्कन्ध की अस्थि । **पुष्यर्क्षपेषणेन नक्षत्रयोगकृतं संस्कारमुपदिशति**-यहाँ औषधियों को पुष्य नक्षत्र में पीसने का निर्देश दिया गया है, ऐसा इसलिये किया गया है कि नक्षत्र योग के प्रभाव से औषधियों का गुण बढ़ जाता है । ॥३७-३८॥

जल्पकल्पतरुटीका–'पिप्पलीमित्यादि' के द्वारा अपस्मार नाशक प्रदेह एवं धूपन का प्रयोग बताया गया है । हिङ्गु=हिङ्गुनिर्यास । हिङ्गुशिराटिका=हिङ्गुपत्री, न कि हिङ्गु का ग्रहण- २ भाग करना है । काकनासौ से कौआठोंठी अर्थ गृहीत है । कैटर्य=कट्फल । **शुनः कुक्कुरस्य स्कन्धाश्चास्थि च नखराश्च**-कुक्कुर के स्कन्ध की अस्थि एवं नखों को लिया गया है । इन सभी द्रव्यों को बकरे के मूत्र से पुष्य नक्षत्र में पीस कर कल्क बना लेना चाहिए । इस कल्क का प्रयोग लेप के रूप में अपस्मार रोगी में करना चाहिए ।

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः । उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम् ॥३९॥
जलौकःशकृता तद्वद्गवैर्वा बस्तरोमभिः । खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः ॥४०॥

अपेतराक्षसी (कालीतुलसी), कूठ, पूतना (हरीतकी), केशी (भूतकेशी या जटामांसी) तथा चोरक; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क का प्रयोग अपस्मार रोगी में प्रलेप या उबटन के रूप में करें तथा स्नान हेतु गोमूत्र का प्रयोग करें, अर्थात् इस कल्क का उबटन लगाकर गोमूत्र से स्नान करें ।

Scanned by CamScanner

अन्य उत्सादनों का प्रयोग–अपस्मार के रोगी में अधोलिखित द्रव्यों से निर्मित उत्सादनों (उबटनों) का प्रयोग करना चाहिए।

१. जलौका की विष्ठा (पुरीष) का प्रयोग (Stool of Leeches)।
२. बकरे के छोटे बाल की राख का प्रयोग।
३. गधे के हड्डियों के भस्म का प्रयोग।
४. हाथी के नाखून की भस्म का प्रयोग।
५. गाय के पूँछ (Tail) की बालों के भस्म का प्रयोग।

सभी द्रव्यों की भस्मों को गोमूत्र में पीसकर उबटन का निर्माण करना चाहिए। उबटन लगाने के बाद गोमूत्र से स्नान करना चाहिए।

चक्रपाणि–अपेतराक्षसीस्वरसः=काली तुलसी का स्वरस। "जलौकः शकृतेत्यादि" से उसी के समान अन्य उत्सादनों का उल्लेख किया गया है। ॥३९-४०॥

कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्। श्वशृगालबिडालानां सिंहादीनां च शस्यते ॥४१॥
भार्गी वचा नागदन्ती श्वेता श्वेता विषाणिका। ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः ॥४२॥
योगास्त्रयोऽतः षड् बिन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक्। त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्झकैः ॥४३॥
श्यामापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रेऽथ बस्तजे। साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम् ॥४४॥
पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च। भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम् ॥४५॥

अपस्मार में नस्य का प्रयोग–कपिल वर्ण (Redish brown) की गाय के मूत्र का नस्य (Inhalation) लेना अपस्मार रोग में अत्यन्त लाभदायक होता है, अर्थात् यह नस्य श्रेष्ठतम् माना गया है। उसी प्रकार श्व (Dog), शृगाल (Jackal), बिडाल (Cat) तथा सिंह (Lion) के मूत्र का प्रयोग नस्य के रूप में अपस्मार (Epilepsy) रोगी को करना चाहिए।

अपस्मार रोग की चिकित्सा हेतु अधोलिखित तीन योगों का नस्य ५ या ६ बूँद को मात्रा में करना चाहिए-

१. भारङ्गी, वचा एवं नागदन्ती।
२. श्वेता (श्वेत अपराजिता) एवं श्वेत विषाणिका (शतावरी)।
३. ज्योतिष्मती एवं नागदन्ती।

तीनों योगों को अलग-अलग गोमूत्र में पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क को महीन साफ सुथरे कपड़े पर रखें एवं निचोड़कर स्वरस निकालें। इस स्वरस का प्रयोग ५ या ६ बूँद अपस्मार रोगी में नस्यार्थ करें।

अपस्मार में त्रिफलादि तैल का प्रयोग–१. कल्क द्रव्य-आँवला, हरड़, बहेड़ा, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, पीतद्रु (देवदारु), यवक्षार, फणिज्झक (वन तुलसी), श्यामा, अपामार्ग एवं करञ्ज फल की गुद्दी; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर पीसकर कल्क बना लें। मात्रा- १/४ भाग।

२. बकरे का मूत्र–४ भाग, ३. तैल-सरसो का तैल- १ भाग

सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर अग्नि पर चढ़ावें एवं तैल को सिद्ध करें। यह सिद्ध तैल नस्य के रूप में प्रयोग करने से अपस्मार रोग (Epilepsy) को दूर करता है।

प्रधमन नस्य–पिप्पली, वृश्चिकाली (कौवाठोठी), कूठ (कुष्ठ), सैन्धव नमक एवं भारङ्गी; सभी द्रव्यों को सम भाग में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। अपस्मार के रोगी को इस चूर्ण का प्रधमन नस्य देना चाहिए। प्रधमन हेतु यह चूर्ण अत्यन्त श्रेष्ठ होता है।

चक्रपाणि–कपिलानां गवां मूत्रे विशेषकरी शक्तिर्भवतीति आप्तवचनादुन्नीयते-कपिल वर्ण (Redish brown) वाली गाय के मूत्र में विशेष शक्ति होती है, आप्त वचनों से ऐसा अनुमान होता है अर्थात् कपिल वर्ण की गाय का मूत्र अपस्मार की चिकित्सा में विशेष उपयोगी होता है। 'सिंहादीनां च शस्यते' के साथ 'मूत्रमिति' शब्द जोड़ा जाना चाहिए। अर्थात् कुत्ते, शृंगाल (Jackal), बिल्ली एवं सिंह आदि के मूत्र का प्रयोग भी नस्य के रूप में करना चाहिए। नागदन्ती=काष्ठपाटला। श्वेता=श्वेत अपराजिता या श्वेत स्पन्दा। श्वेता विषाणिका=शतावरी। पीतद्रु=देवदारु। **लवणानि**-सैन्धवादि पञ्च लवण, अथवा लवणवर्ग में वर्णित सभी द्रव्यों में से जितने प्राप्त हो जाँय, उनका ग्रहण करें। ॥४१-४५॥

कायस्थां शारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा। सव्योषान् बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत् ॥४६॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते। विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः ॥४७॥
मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिङ्गु शाद्वलम्। व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बास्तमैषार्श्वभैस्त्रिभिः ॥४८॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत्। किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च ॥४९॥

Scanned by CamScanner

अपस्मार में अञ्जन का प्रयोग–१. कायस्था (बड़ी इलायची), शरद ऋतु में उत्पन्न होने वाली हरी मूंग, मुस्तक (नागर मोथा), उशीर (खश), यव, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को सम (बराबर) मात्रा में लेकर बकरे के मूत्र में पीस कर वर्ती (बत्ती) बना लें। इस वर्ति (वत्ती) का प्रयोग अञ्जन के रूप में अपस्मार (Epilepsy), उन्माद (Insanity), सर्पदंश, कृत्रिम विष, विषपान एवं जल में डूबकर नष्ट हुए चेतना वाले व्यक्तियों, में करने से अमृत के समान लाभ होता है।-**कायस्थादि वर्ति।**

२. नागरमुस्तक, वयस्था, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कायस्था (बड़ी इलायची), हींग (हिङ्गु), नीलदूर्वा, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, माष (उड़द) तथा यव; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर बकरे, भेड़ एवं बैल के मूत्र में पीसकर वर्ति (बत्ती) बना लें। इस वर्ति का अञ्जन लगाने से अपस्मार (Epilepsy), किलास (A type of Leucoderma), उन्माद (Insanity) तथा विषम ज्वर (Irregular fever) शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। **-मुस्तादि वर्ति।**

चक्रपाणि–'कायस्थामित्यादि' के द्वारा अञ्जनार्थ प्रयुक्त होने वाली वर्तियों को बताया गया है। **शारदान्मुद्गानिति-हरित मुद्गान्**-शरद्ऋतु में उत्पन्न होने वाली हरे मूंग का ग्रहण है। हरा मुद्ग प्रायः शरद् ऋतु में ही उत्पन्न होता है।

वर्ति से यहाँ नेत्राञ्जनवर्ति का ग्रहण किया गया है। **विषपीते इति**-विषपान किये हुए रोगी में।

जलमज्जनेन मृत इव इति जलमृतः–जल में डूबने से जो मृत तुल्य हो गया हो उसे जलमृत कहा गया है। उसके लक्षणों को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा-**विष्टब्धपायुमूर्धाक्षमाध्मातोदरमेहनम्। विद्यात् जलमृतं जन्तुं शीतपादकराननम्''** इति १. पायु (गुदा), मूर्धा (सिर-Head) एवं अक्षि (नेत्र) में जकड़ाहट (Stiffness) का होना, २. उदर एवं मूत्रेन्द्रिय (शिश्न) मे आध्मान का होना (Distension of abdomen and phallus), हाथ, पैर एवं मुख प्रदेश का ठण्डा होना। ये सभी लक्षण जल में डूबकर मृत तुल्य (जलमृत) होने वाले व्यक्ति में पाये जाते हैं।

बास्तमैषार्षभैरिति–बकरे, भेंड़ एवं बैल द्वारा प्राप्त मूत्र से, अर्थात् मुस्तादि वर्ति के द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें तथा इसे क्रमशः बकरे, भेंड़ एवं बैल के मूत्र में पीसकर वर्ति का निर्माण करें। ॥४६-४९॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्। तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम् ॥५०॥
नकुलोलूकमार्जारिगृध्रकीटाहिकाकजैः। तुण्डैः पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद्भिषक् ॥५१॥
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं संप्रबुध्यते। स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति ततः संज्ञां स विन्दति ॥५२॥

अपस्मार में धूपन एवं अञ्जन का प्रयोग (Use of collyrium and Fumigation of Epilepsy)–पुष्य नक्षत्र में संग्रहित कुत्ते के पित्त का प्रयोग अञ्जन के रूप में करने से अपस्मार (Epilepsy) रोग दूर हो जाता है उसी प्रकार तद्वत् सङ्गृहित कुत्ते के पित्त में घृत मिलाकर धूपन करना भी अत्यन्त लाभकारी होता है।

इसके अतिरिक्त अपस्मार की चिकित्सा हेतु चिकित्सक नकुल (नेवला), उलूक (उल्लू), मार्जार (Cat), गिद्ध, बिच्छू, सर्प एवं कौवे के तुण्ड (Beaks), पंख (Feather) एवं पुरीष (Stool) को एक में मिश्रितकर धूपन के रूप में प्रयोग करे।

पूर्व वर्णित सिद्ध उपक्रमों के प्रयोग से व्यक्ति का हृदय प्रबुद्ध हो जाता है, मनोवाही स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं अथवा शरीरस्थ (मनोवह एवं शारीरिक) स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं। परिणामतः व्यक्ति की संज्ञा वापस आ जाती है।

चक्रपाणि–**पुष्योद्धृतमिति**-पुष्य नक्षत्र में गृहीत औषधियाँ। 'कीट' से बिच्छू आदि का ग्रहण किया गया है। ॥५०-५२॥

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः। दृश्येत तस्य कार्यं स्यादागन्तून्मादभेषजम् ॥५३॥

आगन्तुक अपस्मार की चिकित्सा (Treatment of Exogenous Epilepsy)–जिस अपस्मार के रोगी में दोषज अपस्मार के लक्षणों से अधिक लक्षण दिखाई दें, वह आगन्तुक अपस्मार का रोगी होता है। उसकी चिकित्सा आगन्तुक उन्माद (Exogenous Insanity) की तरह करनी चाहिए। ॥५३॥

चक्रपाणि–'यस्येत्यादि' के द्वारा यहाँ अनुबन्ध रूप आगन्तुज अपस्मार की चिकित्सा का अभिधान संक्षेप में किया गया है। **दोषलिङ्गाधिकाकृतिरिति**-अपस्मार रोग में वर्णित दोषज अपस्मार के लक्षणों से अधिक, आगन्तुज उन्माद के समान जिस रोगी में लक्षण मिलें, इस प्रकार आगन्तुक के लक्षण दोषज अपस्मार में मिलते हैं। दोषज लक्षणों के बिना आगन्तु के लक्षण अपस्मार में मिलना संभव नहीं है। इस प्रकार आगन्तु अपस्मार पृथक् नहीं होता, अपितु दोषज अपस्मार में अनुबन्ध रूप होने से तथा बाद में उत्पन्न होने के कारण वह आगन्तु कहा जाता है। इससे "चत्वारोऽपस्माराः" [अपस्मार ४ प्रकार के होते हैं।] सू.अ. १९ के द्वारा जो कहा गया है, आगन्तु अपस्मार अनुबन्ध रूप ही होता है। यह अनुबन्धरूपता भूतापस्मार में दिखाई देती है। न कि उन्माद की तरह स्वतन्त्र रूप से भूतज अपस्मार होता है, अर्थात् भूतों (ग्रहों) द्वारा स्वतन्त्र रूप से ही कोई अपस्मार नहीं उत्पन्न होता। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-

Scanned by CamScanner

"अपस्मारो महाव्याधिः स स्याद्दोषत एव तु" [अपस्मार एक महाव्याधि है वह दोषों द्वारा ही उत्पन्न होता है ।] **भीमदन्त** आदि अन्य आचार्यों के अनुसार-स्वतंत्र आगन्तु अपस्मार के लक्षण एवं चिकित्सा के निर्देश ग्रन्थ में वर्णित किये गये हैं; इस सूत्र को स्वीकार करने पर अपस्मार की संख्या एवं नियम में विपरीतता आ जाती है । [If these texts are accepted as authentic, then there will be discrepancy in the statement regarding the total number of types of epilepsy. –Dr. Bhagvan Das]

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः । भगवन् ! प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः ।।५४।।
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम् । तत्र नोक्तमतः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम् ।।५५।।
शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः । महागदं सौम्य ! शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम् ।।५६।।
मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान्निगृह्णतः । शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः ।।५७।।
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः । दोषाः संदूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ।।५८।।
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते । हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽल्पचेतनः ।।५९।।
विषमां कुरुते बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते । अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ।।६०।।
स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः । कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ।।६१।।
ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम् । तत् सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम् ।।६२।।
सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्ता धर्मार्थवादिनः । संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ।।६३।।

अतत्त्वाभिनिवेश (Psychic Perversion)

अग्निवेश के प्रश्न–अपस्मार रोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा के विवेचन के बाद शिष्य अग्निवेश ने हाथ जोड़कर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से कहा-हे भगवन् ! आपने पूर्व वर्णित सूत्रस्थान में महागद अतत्त्वाभिनिवेश का उल्लेख तो किया है, लेकिन वहाँ इस व्याधि के हेतु (Etiology), लक्षण (Sign and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का विवेचन नहीं किया है । अतः उसको मैं यहाँ आपसे सुनना चाहता हूँ, अर्थात् आप यहाँ अतत्त्वाभिनिवेश के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा का विवेचन करें ।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर–सुनने की इच्छा रखने वाले (जिज्ञासु) अपने शिष्य अग्निवेश के वचनों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने शिष्य के लिए यह कहा-हे सौम्य । इस अतत्त्वाभिनिवेश रूपी महागद के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा को मुझसे सुनो-ऐसे व्यक्ति जिन्हें मलिन आहार (दूषित आहार-impure food) सेवन करने का अभ्यास हो, जो नित्य मलमूत्रादि के वेग को धारण करते हैं, जो नित्य शीत, उष्ण, स्निग्ध व रूक्ष हेतुओं का अत्यधिक सेवन करते हैं; इन कारणों से प्रकुपित हुए दोष, रज एवं मोह (तम) से आवृत आत्मा वाले व्यक्ति के हृदय में आश्रित होकर मनोवाही एवं बुद्धिवाही सिराओं को दूषित करके वहाँ रुक जाते हैं ।

रज एवं तम के बढ़ जाने से बुद्धि एवं मन इनसे आवृत हो जाता है, परिणामतः दोषों द्वारा हृदय व्याकुल हो जाता है जिससे व्यक्ति मूढ़ (किंकर्तव्यविमूढ़) हो जाता है । अर्थात् क्या करणीय है अथवा क्या अकरणीय है, इसका निर्णय नहीं ले पाता एवं उसकी चेतनाशक्ति अल्प हो जाती है । बुद्धि के विषम हो जाने से व्यक्ति नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, हितकर को अहितकर एवं अहितकर को हितकर समझने लगता है । बुद्धिवैषम्य रूप इस महागद को आप्त जन **'अतत्त्वाभिनिवेश'** नाम देते हैं या कहते हैं ।

अतत्त्वाभिनिवेश की चिकित्सा (Treatment of Psychic Perversion)–इसकी चिकित्सा निम्न प्रकार से की जाती है–

१. सर्वप्रथम आतुर को स्नेहन एवं स्वेदन करावें ।

२. स्नेहन एवं स्वेदन के बाद आतुर का पूर्णतः शोधन करावें अर्थात् वमनादि उपक्रमों को करावें ।

३. शोधनोत्तर संसर्जनक्रम (पेयादि प्रयोग) का पालन करते हुए रोगी को सामान्य बल युक्त करें ।

४. तत्पश्चात् मेध्य औषधियों एवं मेध्य अन्न-पान का प्रयोग करावें ।

५. घृतों में ब्राह्मी स्वरस द्वारा निर्मित ब्राह्मी घृत एवं पञ्चगव्य घृत का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, का प्रयोग करावें, शंखपुष्पी स्वरस का प्रयोग लाभदायक है । साथ में अन्य मेध्य रसायनों का भी प्रयोग करना चाहिए ।

६. आश्वासन आदि कर्मों में-सुहृद (अपने प्रिय अर्थात् मित्र), अपने प्रति सहानुभूति रखने वाले लोग एवं धर्मार्थ सम्बन्धी विषयों के ज्ञाता मित्रादि गण आतुर को विज्ञान (understanding), धैर्य (Patience), स्मृति (Memory) एवं समाधि (Power of concentration) से युक्त करावें । अर्थात् आतुर के शुभचिन्तक ऐसा वातावरण उपस्थित करें जिसके कारण उसकी धैर्य ज्ञान, स्मरण शक्ति बढ़े एवं मन एकाग्रचित्त हो । ॥५४-६३॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–श्लोक नं० ५४ से लेकर ६३ तक के विषय चरकसंहिता के सिन्ध व कश्मीर पाठ में उपलब्ध हैं। इस विषय को वृद्ध वैद्य अनार्ष स्वीकार करते हैं। ॥५४-६३॥

प्रयुञ्ज्यात्तैललशुनं पयसा वा शतावरीम्। ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम् ॥६४॥
दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः। तस्माद्रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत् ॥६५॥

अतत्त्वाभिनिवेश नाशक विविध योग–१. लसुन कल्क का प्रयोग तिल तैल के साथ करना।

२. शतावरी कल्क का प्रयोग दूध (गोदुग्ध) के साथ करना।

३. ब्राह्मी स्वरस का प्रयोग दूध व मधु के साथ करना।

४. कुष्ठ (कूठ) स्वरस या क्वाथ में मधु मिलाकर प्रयोग करना।

५. मीठा वचा चूर्ण में मधु मिलाकर प्रयोग करना।

इन पाँच योगों का प्रयोग 'अतत्त्वाभिनिवेश' में करना चाहिए। अपस्मार (Epilepsy) एक चिरकारी एवं दृढ़ आश्रय वाली व्याधि है। अतः इसकी चिकित्सा कठिनता से की जाती है, अर्थात् इसकी चिकित्सा कठिन है। इसलिये इस व्याधि की चिकित्सा प्रायः रसायन औषधियों द्वारा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–यहाँ 'तैललशुनादयः' से ५ योगों को बताया गया है। इस प्रकार अपस्मार रोग में चिकित्सा अधिक दिन तक की जाती है, यह दर्शाया गया है। यहा वर्णित योग (निर्दिष्ट ५ योग) जीर्ण अपस्मार की चिकित्सा में विशेष उपयोगी हैं। ॥६४-६५॥

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च तं सदा। रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते ॥६६॥

जल, अग्नि, वृक्ष, पर्वत एवं विषम स्थानों से उन्माद एवं अपस्मार के रोगी को सर्वदा बचाना चाहिए, क्योंकि उस रोगी के लिए ये स्थान सद्यः प्राणहर (शीघ्र ही प्राणों को नष्ट करने वाले) होते हैं। ॥६६॥

चक्रपाणि–'जलाग्नित्यादि' के द्वारा जल (नदी या तालाब में स्नान करते समय), अग्नि (अग्नि के पास यदि रोगी खड़ा हो), द्रुम (वृक्ष पर चढ़ते समय अथवा वृक्ष पर रोगी चढ़ा हो), पर्वत (पर्वत की ऊँची नीची चोटियों पर बैठे या खड़ा रहने पर) अथवा विषम स्थान (ऊँची-नीची भूमि) पर खड़े रहने पर या चलते समय अचानक यदि अपस्मार (Epilepsy) का वेग आ जाय तब रोगी की मृत्यु हो सकती है, यह बताया गया है। ॥६६॥

तत्र श्लोकौ-
हेतुं कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा। सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम् ॥६७॥
महागदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते ॥६८॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थानेऽपस्मारचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस अपस्मारचिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपस्मार रोग के कारण, (हेतु Etiology), जिस प्रकार दोष प्रकुपित होते हैं (Mode of vitiation of dosha), सामान्य एवं विशेष लक्षण तथा उनकी चिकित्सा, महागद (अतत्त्वाभिनिवेश) के हेतु (Etiology), लक्षण (Sign and Symptoms) एवं चिकित्सा; का संक्षेप एवं विस्तार से विवेचन किया है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (अप्राप्त चरकसंहिता के), दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान में अपस्मारचिकित्सा नामक दसवां अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'संग्रहे कुर्वन्तीति' के द्वारा संप्राप्ति का ग्रहण किया गया है। ॥६७-६८॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में अपस्मारचिकित्सा नामक दसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद 'क्षतक्षीणचिकित्सा' की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–अपस्मार (Epilepsy) का रोगी प्रायः विषम स्थान एवं ऊँचे स्थानों से गिर जाता है, जिसके कारण उसे उरःक्षत (Chest injury) भी होता है, जिससे वह रोगी क्षतक्षीण कहा जाता है। उस सम्बन्ध के कारण अपस्मार के बाद क्षतक्षीणचिकित्सा का अभिधान किया गया है । क्षतक्षीण रूप होने से आगे वर्णित स्त्री सेवादि कारणों के परिणामस्वरूप ओज एवं शुक्र के क्षय से उत्पन्न प्रधान व्याधि जिसके लक्षणों का वर्णन 'उरो विरुज्यते' इत्यादि के द्वारा श्लोक नं० ९-११ में किया गया है, ऐसा कारण में कार्य समाहित होने से किया गया है ।

यदि 'क्षीणक्षत इति' पाठ हो तब क्षीण शब्द से शुक्र एवं ओज से क्षय युक्त पुरुष का ग्रहण होता है, उस प्रकार के धातुक्षीण पुरुष में ही क्षत होने की संभावना रहती है । इस कारण से इसे 'क्षतक्षीण' कहते हैं । **अन्ये तु क्षतश्च क्षयश्च इति क्षतक्षय इत्याहुः** -दूसरे आचार्य 'क्षतक्षय' से दो व्याधियों का ग्रहण करते हैं: १. क्षत होना, २. क्षय होना । 'उरोरुक् शोणितच्छर्दि' के द्वारा क्षत एवं क्षीण के लक्षणों को आगे बताया गया है । उस पक्ष में **'अव्यक्तं लक्षणं तस्य इति'** तथा **'साध्यो बलवतो नवः'** के साथ प्रारम्भ में एक वचन का निर्देश प्राप्त होता है । इस प्रकार एक ही **'क्षतक्षीण'** के हेतुओं द्वारा दो प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं, अर्थात् 'क्षतक्षीण' एकल व्याधि है तथा अपने उत्पादक हेतुओं के द्वारा ही इसके लक्षण दो विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं ।

किंवा क्षतक्षयकारणयोः क्षतधातुक्षययोस्तद्विषयलक्षणकारणाभिधानं पूर्वरूपावस्थायां व्याधिप्रतिक्रियार्थं ज्ञेयम्–क्षत एवं क्षय दोनों का कारण धातु क्षत एवं धातुक्षय है, इसमें उसी प्रकार के कारणों एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है, ताकि पूर्वरूप की ही अवस्था में व्याधि की चिकित्सा की जा सके ।

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित् । क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ।।३।।

उदार कीर्ति वाले, चिकित्सा के परं (श्रेष्ठ) तत्त्वों के ज्ञाता ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षतक्षीण की चिकित्सा के लिए यह चिकित्सा विधान बताया है ।

चक्रपाणि–'ब्रह्मर्षि' शब्द के प्रयोग से भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के देवर्षित्व एवं राजर्षित्व का निषेध होता है । **चिकित्सार्थमिति**-प्रतिक्रियार्थम् (क्षतक्षीण व्याधि की चिकित्सा के लिए) । **चिकित्सितं चिकित्साभिधायकग्रन्थम्**-चिकित्सा अभिधायक ग्रन्थ । ।।३।।

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् । पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः ।।४।।
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः । शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ।।५।।
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् । महानदीं वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ।।६।।
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चातिप्रनृत्यतः । तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य च ।।७।।
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते । स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ।।८।।

उरः क्षत के हेतु–धनुष की डोरी को अपनी शक्ति से अधिक बल लगाकर चढ़ाना, भारी वजन को बार-बार उठाना, विषम एवं ऊँचे स्थानों से गिरना, अपने से बलवान व्यक्तियों के साथ युद्ध करना (Fighting with stronger persons), दौड़ते हुए बैल अथवा घोड़े को नियन्त्रित करना, अथवा तदनुरूप अन्य पशुओं को नियन्त्रित करना, दूसरे के ऊपर शिला (Heavy Stones), काष्ठ (लकड़ी) अथवा पत्थर फेंकना, अत्यन्त ऊँचे स्थान पर अथवा दूर तक शीघ्र जाने वाली सवारी के साथ दौड़ना, महानदी (बड़ी नदी) जो चौड़ी हो उसे तैरकर पार करना, घोड़े के साथ दौड़ना, सहसा (अचानक) दूर अथवा ऊँचे स्थान से गिर जाना, अत्यधिक वेग से अधिक समय तक नाचना (Violent dance for long time), अथवा अन्य क्रूर कर्मों के द्वारा अत्यधिक रूप से आहत होना, अत्यधिक मैथुन करना, रूक्ष एवं प्रमित (नपा-तुला) भोजन करना; इन सभी हेतुओं के अत्यधिक सेवन करने से व्यक्ति के वक्षस्थल (Chest) में विशेष रूप से क्षत (injury) हो जाता है । परिणामतः व्यक्ति को बलवान व्याधि क्षतक्षीण उत्पन्न हो जाती है ।

चक्रपाणि–चिकित्सा च निदानादिना ज्ञातस्यैव व्याधेर्भवति–निदान आदि के द्वारा ज्ञात व्याधि की ही चिकित्सा होती है । अतः 'धनुषेत्यादि' के द्वारा क्षत (उरःक्षत) के निदान को बताया गया है । **आयस्यत इति शरीरमायास्यतः**-शरीर को अधिक थकाता है (To become exertion) **बलिभिरिति**-अपनी अपेक्षा अधिक बलवान पुरुषों से, अर्थात् जो व्यक्ति अपने से शक्तिशाली पुरुषों से युद्ध करता

Scanned by CamScanner

है। निगृहत इति=वारयतः (पकड़ना)। **निर्पातः अस्त्रविशेषः**=अस्त्र विशेष से पत्थर आदि को हटाना, अथवा फेंकना अर्थात् अत्यधिक बल लगाकर बड़े पत्थर के खण्ड व काष्ठ को दूसरे स्थान पर रखना।

अभ्याहतस्य परैरभिहतस्य-दूसरे के द्वारा अभिहत होना। **व्याधिरिति**=निर्दिष्ट लक्षणों वाली 'क्षतक्षीण' नामक व्याधि। अर्थात् निर्दिष्ट हेतुओं के सेवन से व्यक्ति के उरः (Lungs) में क्षत हो जाता है, जिसके कारण उसे 'क्षतक्षीण' रूप (नामक) व्याधि उत्पन्न हो जाती है। अन्य आचार्य व्याधि शब्द से क्षत (उरःक्षत) का ही ग्रहण करते हैं, यथा-"दोषादिष्वपि व्याधिशब्दो वर्तते" (दोषादि में भी व्याधि शब्द विद्यमान है।) यहाँ 'क्षत' शब्द से राजयक्ष्मा की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि राजयक्ष्मा में होने वाला उरःक्षत त्रिदोषज ही होता है तथा उसकी संप्राप्ति (Pathogenesis) भिन्न होती है यथा-"**अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते। वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति**" (चि.अ.८) तथा लक्षण भी क्षतक्षीण से भिन्न बताये गये हैं। इस प्रकरण में अन्य भेदों को बतायेंगे, यथा-"उपेक्षिते भवेदस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः" इति [उरःक्षत की उपेक्षा करने पर इसमें यक्ष्मा का अनुबन्ध हो जाता है, अर्थात् उरःक्षत की उचित चिकित्सा न की जाय तो बाद में वह रोगी यक्ष्मा (राजयक्ष्मा) से पीड़ित हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि पहले बताये गये हेतुओं के सेवन से क्षत उत्पन्न होता है, पश्चात् राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार क्षतक्षीण एवं यक्ष्मा दोनों अलग-अलग व्याधियाँ हैं। **स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्प प्रमिताशिनः बलवान् व्याधिः समुदीर्यत इति सम्बन्धः**-स्त्री से साथ अत्यधिक आसक्त रहने, रूक्ष, अल्प एवं नपे-तुले भोजन करने वाले पुरुष को उरःक्षत होकर राजयक्ष्मा जैसी बलवान व्याधि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ निदानों का सम्बन्ध 'बलवान् व्याधिः समुदीर्यते' से है। प्रमिताशनम्=एक रस युक्त आहार द्रव्यों का अभ्यास अथवा समय बिताकर भोजन करना अर्थ गृहीत है। ॥४-८॥

उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विभज्यते। प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥९॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते। ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधादपि ॥१०॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः। कासमानस्य च श्लेष्मा सरक्तः संप्रवर्तते ॥११॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

क्षत क्षीण के लक्षण-उपरोक्त हेतुओं के सेवन करने पर उरः क्षत हो जाने से आतुर के वक्षःस्थल में पीड़ा होने लगती है, यह पीड़ा फटने या टूटने के समान होती है, दोनों पार्श्वों में वेदना का होना (Pain in sides of the chest), अंगों का सूखना एवं हाथ और पैरों में कम्पन का होना, क्रमशः व्यक्ति का वीर्य (Potency-क्षमता), बल (Strength), वर्ण (Complexion), रुचि (Appetite) एवं अग्नि (The power of digestion) का कम होना, पाया जाता है। जाठराग्नि के क्षीण हो जाने से ज्वर (Fever), व्यथा (Pain in the body), मनोदैन्यता (मानसिक अवसाद Mental depression) व विड्भेद (अतिसार diarrhoea) उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में जब रोगी को खांसी आती है तब वह दूषित (विकृत), श्याव (काले वर्ण का), दुर्गन्ध युक्त, थक्का जमा हुआ पीला रक्त मिश्रित कफ अधिक मात्रा में निकालता है। उरः क्षत से युक्त रोगी अत्यधिक दुर्बल हो जाता है। यह दुर्बलता और अधिक बढ़ जाती है जब आतुर इस अवस्था में भी शुक्र व ओज का क्षय करने लगता है। ॥९-११॥

चक्रपाणि-'उर इत्यादि' के द्वारा 'क्षतक्षय' के लक्षण को बताया गया है। **भिद्यत इति** विदीर्यते-फाड़ा हुआ, या खण्ड-खण्ड किया हुआ, ऐसा दर्द होता है मानो छाती फट रही हो। **अग्निवधादपीति अत्राग्निवधं विना व्याधिमहिम्ना विड्भेदो भवतीति**-बिना अग्निमांद्य के हुए ही व्याधि प्रभाव के कारण विड्भेद- (अतिसार diarrhoea) होता है, ऐसा जानना चाहिए। अन्य आचार्य-'विड्भेदाऽग्निवधस्तथा' इति का पाठ करते हैं, इसके अनुसार विड्भेद (diarrhoea) तथा अग्निवध (जाठराग्नि का क्षीण होना) ये दो लक्षण मिलते हैं। दुष्टः=व्यापन्नः (विकृत-defective)। **क्षीयत इति**-धातुक्षय होता है। धातुक्षय की अवस्था न केवल क्षत (उरःक्षत) के ही परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती है, अपितु अत्यधिक स्त्री सेवन के द्वारा शुक्र एवं ओज के क्षय होने से भी उत्पन्न होती है, इसके साथ ही अन्य धातुओं का भी क्षय होता है। ॥९-११॥

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥१२॥
उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते। क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥१३॥

पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)-पूर्व वर्णित (श्लोक नं. ९ से लेकर १२ तक) लक्षणों का अल्प रूप में व्यक्त होना ही इस व्याधि (क्षतक्षीण) का पूर्वरूप होता है। **उरःक्षत** में पूर्व लक्षणों के अल्प रूप में व्यक्त होने के साथ उरोरुक् (वक्षस्थल में वेदना Pain in the chest), रक्त-वमन (रक्त के साथ वमन का होना) तथा कास विशेष रूप से पाया जाता है। क्षय की अवस्था में रक्त के साथ मूत्र का निकलना, अर्थात् मूत्र के साथ रक्त का निकलना (Haematuria), पार्श्व, पृष्ठ एवं कटि प्रदेश में जकड़ाहट का होना, विशेष है।

चक्रपाणि-'अव्यक्तमित्यादि' के द्वारा 'क्षतक्षीण' के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms) को बताया गया है। **अव्यक्तमिति**-अल्प रूप एवं असम्पूर्ण रूप में पूर्वनिर्दिष्ट लक्षणों का व्यक्त होना है। 'उरोरुक्' आदि की व्याख्या ग्रन्थ में प्रायः कर दी गयी है।

Scanned by CamScanner

कास्रो वैशेषिक इति विशिष्टः –अर्थात् कास (cough) उरः क्षत में विशेष रूप से पाया जाता है (पूर्वरूप में), उस विशेष को आचार्य ने श्लोक नं ११ में 'दुष्टः श्यावः' इत्यादि के द्वारा विशेष रूप से स्पष्ट किया है, ऐसा जानना चाहिए, अथवा विशेष से अधिक व्यक्त होता है (अन्य लक्षणों की तुलना में), यह अर्थ लिया गया है। **क्षीणे इति**-शुक्र एवं ओज के क्षय होने पर।

अन्ये तु उरोरुगित्यादिनाऽवस्थाद्वयस्य लक्षणद्वयमेतद्वर्णयन्ति–अन्य आचार्य श्लोक नं० १३ में वर्णित लक्षणों 'उरोरुगित्यादि' के द्वारा लक्षणों के दो वर्ग स्वीकार करते हुए व्याधि की दो विभिन्न अवस्थाओं का ग्रहण करते हैं। ॥१२-१३॥

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः। परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥१४॥

'क्षतक्षीण' की साध्यताऽसाध्यता (Prognosis of Kshata Kshīṇa)–

१. अल्प लक्षणों का मिलना।

२. जाठराग्नि का प्रदीप्त होना (Strong digestive power)।

३. रोगी का बलवान होना (To become enough strength)।

४. व्याधि का नया होना अर्थात् व्याधि शीघ्र उत्पन्न हो।

इन लक्षणों से **युक्त** व्याधि **साध्य** होती है।

५. यदि व्याधि एक वर्ष (One Year) से पुराना हो तो वह **याप्य** (Yāpya-Palliable) होता है।

६. क्षतक्षीण में निर्दिष्ट सभी लक्षणों का पाया जाना, असाध्य होता है। अर्थात् ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

चक्रपाणि–'अल्पेत्यादि' के द्वारा चिकित्सा की प्रवृत्ति के लिए यहाँ व्याधि की साध्याऽसाध्यता को स्पष्ट किया गया है, क्योंकि चिकित्सा करने से पूर्व व्याधि की साध्यता (Curability) एवं असाध्यता (incurability) का ज्ञान करना आवश्यक है।

विशेष (Comments)–अल्पेत्यादि के द्वारा क्षतक्षीण के साध्यताऽसाध्यता संबंधी लक्षणों को यहाँ स्पष्ट किया गया है। क्षतक्षीण के अल्प लक्षणों का मिलना, जाठराग्नि का दीप्त होना, आतुर का वली होना, व्याधि का नूतन होना; साध्यता का परिचायक है। परिसंवत्सरः परिगतसंवत्सरः=व्याधि को हुए एक वर्ष से अधिक का होना-याप्यता का परिचायक है तथा सभी लक्षणों का मिलना असाध्यता का द्योतक है।

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्। सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात् सशर्करम् ॥१५॥
पार्श्वबस्तिरुजी चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम्। भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥१६॥
लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टंजीवनीयगणं सिताम्। त्वक्क्षीरीं समितां क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥१७॥
इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः। शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत् क्षती ॥१८॥
यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम्। ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥१९॥
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः। कासी पार्श्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ॥२०॥

क्षतक्षीण की चिकित्सा (Treatment of Kshata Kshīṇa)

→ यदि रोगी के उरः (chest) में क्षत (injury) शीघ्र (Fresh) हुआ है, ऐसा जानकर उसे तत्काल लाक्षा (लाख) को मधु एवं दूध में मिश्रित कर पीने के लिए देना चाहिए। औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध व शर्करा के साथ अन्न (चावल, रोटी आदि) का प्रयोग करना चाहिए।

→ यदि आतुर के पार्श्व (Sides of the chest) एवं वस्ति (Urinary bladder) में वेदना हो, पित्त एवं जाठराग्नि दुर्बल हो, ऐसी अवस्था में आतुर को सुरा (Alcohol) के साथ लाक्षा (लाख) का प्रयोग करना चाहिए।

→ यदि आतुर को अतिसार हो रहा हो तब उसे लाख (लाक्षा) के साथ मुस्तक, अतिविषा (अतीस), पाठा, एवं वत्सक (कुटज) के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिये।

→ यदि रोगी की जाठराग्नि तीव्र हो तब उसे कच्चा लाक्षा, घृत, मधूच्छिष्ट (मोम-Wax), जीवनीयगण की औषधियाँ, मिश्री व वंशलोचन को दूध के साथ पकाकर पानार्थ देना चाहिए। -(लाक्षादि क्षीर)

→ क्षत के सन्धानार्थ (Healing of the injury)- रोगी को दूध के साथ इक्षु का मूल, बिसग्रंन्थि (कमलडण्डी), पद्मकेशर एवं लालचन्दन उबालकर (पकाकर) सिद्ध दूध को मधु मिश्रित कर पिलावें।

[इक्षुबालिकामूल, बिसग्रन्थि, पद्मकेशर एवं लालचन्दन; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें, कल्क से ४ गुना गोदुग्ध एवं गोदुग्ध से ४ गुना जल मिलावें, दूध सिद्ध करें, दुग्ध मात्र अवशेष बचने पर आतुर को मधु के साथ पीने के लिए दें।]

Scanned by CamScanner

→ यदि रोगी के शरीर में ज्वर (Fever) एवं दाह (Burning sensation) हो तब यव के चूर्ण को दूध में पकावें, पश्चात् उसमें घृत मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें, अथवा यव के सत्तू, मिश्री व मधु को दूध के साथ पीने के लिए दें ।

→ यदि क्षतक्षीण के रोगी को खाँसी आती हो, पार्श्वशूल अथवा अस्थिशूल हो तब उसे मधूक (महुआ), मधुक (यष्टीमधु), द्राक्षा (मुनक्का), वंशलोचन, पिप्पली एवं बलामूल; के समभाग से निर्मित चूर्ण को घृत व मधु से मिश्रित कर चाटने के लिए दें ।

चक्रपाणि–'उरो मत्वेत्यादि' के द्वारा ज्ञात व्याधि की विशेष चिकित्सा को बताया गया है ।

उरसः सद्यः क्षतं मत्वा लाक्षां पिबेदिति योजना–आतुर के उर: में क्षत हुआ है । अर्थात् वक्ष के आन्तरिक भाग में सद्यः घाव (क्षत) हुआ है, ऐसा मानकर लाक्षारस को दूध के साथ पिलाने की योजना करनी चाहिए । **सशर्करमिति**-शर्करा सहित अन्न को । दूध मिश्रित लाक्षारस में मधु मिलाकर पिलाने के बाद, जब इसका पाचन हो जाय तब रोगी को दूध में शर्करा मिलाकर अन्न खिलाना चाहिए, अर्थात् शर्करा मिश्रित दूध-भात की योजना करनी चाहिए ।

भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां लाक्षां पिबेत्–अतिसार (diarrhoea) के रोगी में मुस्तक, अतिविषा, पाठा के समभाग चूर्ण को लाक्षा मिश्रित दूध के साथ पीने के लिए देना चाहिए ।

अत्र ये 'द्विवत्सकाम्' इति पठन्ति ते वत्सकभाग द्वयं ग्राहयन्ति–यहाँ जो लोग 'द्विवत्सकाम्' का पाठ स्वीकार करते हैं उनके अनुसार वत्सक (कुटज) की मात्रा दो भाग ग्रहण की गयी है या हो जाती है अथवा वत्सक द्वय को ही द्विवत्सक शब्द से ग्रहण किया गया है । जैसा कि कहा गया है, यथा-"बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत् । श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलपुष्पैस्तथाऽणुभिः" (क.अ. ५) इति [पुरुष वत्सक (कुटज) का फल बड़ा, पुष्प श्वेत एवं स्निग्ध पत्र वाला होता है । स्त्री कुटज का फल, पुष्प एवं पत्र पुरुष कुटज से छोटा होता है ।] इस प्रकार कुटज स्त्री एवं पुरुष भेद से दो प्रकार का होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ।

संधानार्थमिति–उर:क्षत के संधानार्थ, अर्थात् घाव के भरने के लिए । मधूक शब्द से यहाँ महुये के पुष्प का ग्रहण किया गया है । ॥१५-२०॥

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा । सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥२१॥
संचूर्ण्य मधुना युक्ता गुटिकाः संप्रकल्पयेत् । अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्न दिने दिने ॥२२॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं मूर्च्छां मदं भ्रमम् । रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥२३॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम् । गुटिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥२४॥
इत्येलादिगुटिका ।

एलादि गुटिका–घटक द्रव्य-छोटी इलायची, तेजपत्र एवं दालचीनी; प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ कर्ष, पिप्पली- अर्ध पल (२ तोला), मिश्री- १पल, यष्टीमधु- १ पल, खर्जूर- १ पल, मुनक्का- १ पल । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण में मधु मिलाकर एक-एक कर्ष (तोला) की गोली (गुटिका) बना लें ।

उपयोग–इस गुटिका का सेवन प्रतिदिन प्रातः-सायं १-१ गोली करें । इसके प्रयोग से कास (Cough), श्वास (Asthma), ज्वर (Fever), हिक्का (हिचकी Hiccup), छर्दि (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), मद (Intoxication), भ्रम (Vertigo), रक्तनिष्ठीवन (Hemoptysis-the spitting of blood or blood-stained sputum), तृष्णा (प्यास का अत्यधिक लगना (Thirst), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), अरोचक (Anorexia), शोष (consumption-wasting of the body), प्लीहा (Splenic enlargment), आढ्यवात (Rheumatic disorders), स्वरभेद (आवाज का फट जाना- Hoarseness of the voice), क्षत (Internal injury of the chest), क्षय (diminuation of the tissue elements) एवं रक्तपित्त (Bleeding disorder) जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । ॥२१-२४॥

चक्रपाणि–एलापत्रत्वच इत्यादि के द्वारा एलादिगुटिका की निर्माण विधि एवं गुणों को स्पष्ट किया गया है । **युक्त्येति यावता मधुना गुटिका भवन्ति तावन्मानं मधु देयम्**-गुटिका निर्माण हेतु चूर्ण में मधु की उतनी ही मात्रा डालनी चाहिए जितने के प्रयोग से गुटिका बन सके । यही 'युक्त्येति' का अभिप्राय है । ॥२१-२४॥

रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत् । चटकाण्डरसं वाऽपिरक्तं वा छागजाङ्गलम् ॥२५॥
चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम् । रक्तष्ठीवी पिबेत् सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥२६॥

रक्तातिप्रवृत्ति की चिकित्सा (Treatment of Excessive Bleeding)–क्षतक्षीण व्याधि में अत्यधिक रक्तस्राव की अवस्था में अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए–

Scanned by CamScanner

१. मुर्गे के अण्डे को यूष (Vegetable soup) अथवा जल के साथ पीना ।

२. चटक के अण्डे का रस यूष अथवा जल के साथ दें ।

३. बकरे अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के रक्त का पान यूष अथवा जल के साथ करें ।

रक्त निष्ठीवन होने पर पुनर्नवामूल एवं रक्त शाली चावल के चूर्ण को मुनक्का, दूध व घृत में पकाकर उसमें मिश्री मिलाकर पीना चाहिए ।

चक्रपाणि–दक्षः गोष्ठकुक्कुटः=गोशाला में रहने वाला मुर्गा । **छागजाङ्गलमिति छागभवं जाङ्गलहरिणादिभवं वा**-बकरे का रक्त अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों (हरिण आदि) के रक्त का प्रयोग यूष अथवा जल के साथ करें । 'चूर्ण पौनर्नवमित्यादि' से- पुनर्नवा चूर्ण, रक्तशाली चावल व शर्करा को द्राक्षारस, दूध एवं घृत में पकाकर सेवन करें, स्पष्ट किया गया है । द्राक्षारस, दूध आदि द्रव पदार्थों के द्वारा चूर्ण को अग्निसंयोग से सिद्ध करना चाहिए अथवा पकाना चाहिए । जतूकर्णसंहिता में कहा भी गया है, यथा- "पुनर्नवारक्तशालीद्राक्षासिताचूर्णं पयोघृतयुतं सिद्धम्" इति [पुनर्नवा, रक्तशाली, द्राक्षा एवं सिता (मिश्री) चूर्ण को दूध एवं घृत में मिलाकर सिद्ध (पाक) करें ।] यहाँ सिद्धम् का अभिप्राय अग्निसंयोग से पकाना है । ॥२५-२६॥

मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम् । मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम् ।।२७।।
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनिले । शृतक्षीरसरेणाद्यात् सक्षौद्रघृतशर्करम् ।।२८।।
शर्करां यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु । शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात् क्षीणः क्षती कृशः ।।२९।।
क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः । पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ।।३०।।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः । तालमस्तकजम्बूत्वक्प्रियालैश्च सपद्मकैः ।।३१।।
स्राश्वकर्णैः शृतात् क्षीरादाज्जातेन सर्पिषा । शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः ।।३२।।
यष्ट्याह्वनागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम् । पयस्यापिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम् ।।३३।।
कोललाक्षारसे तद्वत् क्षीराष्टगुणसाधितम् । कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम् ।।३४।।

→ महुआ, यष्टीमधु व चौलाई मूल के चूर्ण को दूध में उबालें, तत्पश्चात् इस सिद्ध दुग्ध का प्रयोग रक्तष्ठीवन का रोगी करे ।

→ मूढ़वात (Obstruction of Vāyu) की अवस्था में बकरे के मेद को सुरा के साथ भूनकर, सैन्धव नमक मिलाकर आतुर को खाने के लिए देना चाहिए ।

→ यदि आतुर अत्यधिक दुर्बल (Weak) हो अथवा क्षाम (कृश-Emaciated) हो, उरःक्षत हुआ हो, निद्रा न आती हो तथा वायु अत्यधिक बढ़ी हुई हो। ऐसी अवस्था में बकरे के मेद को दूध की मलाई के साथ पकाकर उसमें मधु, घृत व शर्करा मिलाकर आतुर को खाने के लिए देना चाहिए ।

→ यदि आतुर क्षाम (कृश), क्षीण (दुर्बल) तथा उरःक्षत से आक्रान्त हो तब उसे यव एवं गेहूँ के आटे को घृत में भूनकर उसमें शर्करा, जीवक, ऋषभक के चूर्ण एवं अत्यधिक मात्रा में मधु मिलाकर, चटावें । अनुपान के रूप में गोदुग्ध का पान करें अथवा मांसभक्षी प्राणियों के मांसरस को घृत में भूनकर पिप्पली एवं मधु मिलाकर खाने के लिए दें । यह योग मांस एवं रक्त का वर्धक है ।

→ न्यग्रोध, उदुम्बर (गुलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पाकड़), शाल (साखू), पुष्प प्रियङ्गु, तालमस्तक, जम्बुत्वक (जामुन की छाल), प्रियाल, अश्वकर्ण; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क से गोदुग्ध सिद्ध करें एवं इस दूध से घृत निकालें । इस घृत का प्रयोग साठी चावल के भात के साथ करें, अर्थात् घृत के साथ साठी चावल के भात का सेवन करें । इसके सेवन से उरःक्षत एवं क्षीण शुक्रता में लाभ मिलता है ।

→ यष्टीमधु (मुलेठी) व नागबला निर्मित क्वाथ में सम प्रमाण में गोदुग्ध एवं गोघृत मिलावें, अर्थात् गोदुग्ध की मात्रा घृत के बराबर लें । कल्क के रूप में पयस्या (विदारीकन्द), पिप्पली एवं वंशलोचन मिलावें, पश्चात् घृतपाक विधि से घृत को सिद्ध करें । यह घृत क्षत रोगी (उरःक्षत) में अत्यन्त लाभदायक होता है ।

[क्वाथ- ३ भाग, स्नेह (घृत)- १ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, कल्क- १/४ भाग ग्रहण करें ।]

→ कोल एवं लाक्षा (कच्चा लाख) का क्वाथ बनावें, क्वाथ- ४ भाग, दुग्ध- ८ भाग, घृत- १ भाग, कल्क- कट्वंग (सोनापाठा), दार्वीत्वक् (दारुहारिद्रा की छाल), वत्सक त्वग् (कुटज की छाल), इन्द्रयव; सम प्रमाण में लेकर कल्क बनावें । मात्रा- १/४ भाग । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर घृत सिद्ध करें । इस घृत का प्रयोग क्षत रोगी में करें ।

चक्रपाणि–'मधूकेत्यादौ' से यष्टीमधु एवं महुए के कल्क से गोदुग्ध को सिद्ध करें । इस सिद्ध दुग्ध में तण्डुलीयक शाक अर्थात् चौराई का मूल (जड़) डालकर पकावें । इस सिद्ध दूध का प्रयोग रक्तष्ठीवन (Hemoptysis) का रोगी करे ।

Scanned by CamScanner

सबले इति–वात के अत्यन्त वृद्ध होने पर। **क्रव्यादाः मांसभुजो मृगपक्षिणः**-मांसभक्षी पशु एवं पक्षी। **क्षीराज्जातेनेति**=सिद्ध दूध को मथकर निकाला गया मक्खन।

यष्ट्याह्वेत्यादौ–क्वाथ व दुग्ध की संयुक्त मात्रा घृत की ४ गुनी होनी चाहिए। अर्थात् घृत- १ भाग, क्वाथ (यष्टीमधु एवं नागबला)- २ भाग, गोदुग्ध- २ भाग एवं घृत- १ भाग का ग्रहण करें। इस प्रकार गोदुग्ध एवं क्वाथ की संयुक्त मात्रा घृत से ४ गुनी हो जाती है। वांशी=वंशलोचन। **कोलेत्यादौ तद्वदिति क्षते हितम्**-कोलादि से निर्मित योग भी उरः क्षत में हितकर है। यहाँ कोल एवं लाक्षा द्वारा बनाये गये क्वाथ की मात्रा घृत से ४ गुनी ग्रहण करनी चाहिए तथा गोदुग्ध की मात्रा घृत से ८ गुनी बतायी गयी है अथवा कोल एवं लाक्षारस के क्वाथ की मात्रा दूध के बराबर लें, अर्थात् क्वाथ- २ भाग एवं गोदुग्ध- २ भाग ग्रहण करें। यह विचार अपस्मारचिकित्सा में निर्दिष्ट किया गया है। ॥२७-३४॥

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम्। चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके ॥३५॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम्। ऋद्धिं परूषकं भार्गीं मृद्वीकां बृहतीं तथा ॥३६॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम्। बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि ॥३७॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान्। धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः ॥३८॥
कुर्यात् प्रस्थोन्मितं तेन घृतप्रस्थं विपाचयेत्। प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा ॥३९॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्मरिचानि च। विनीय चूर्णितं तस्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः ॥४०॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणामामृतं घृतम्। सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥४१॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्शितान्। स्त्रीप्रसक्तान् कृशान् वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥४२॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत्। पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥४३॥

इत्यमृतप्राशघृतम्।

अमृतप्राशघृत–१. कल्क द्रव्य-जीवक, ऋषभक, वीरा, जीवन्ती, नागर (शुण्ठी), शटी (कचूर), शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), माषपर्णी (वन उड़द), मुद्गपर्णी (वन मूंग), मेदाकन्द, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, दोनों प्रकार की कण्टकारी (कण्टकारी एवं श्वेत कण्टकारी-कण्टकारी इसके पुष्प नील एवं श्वेत कण्टकारी के पुष्प सफेद होते हैं।), पुनर्नवा एवं रक्त पुनर्नवा, यष्टीमधु (मुलेठी), आत्मगुप्ता (केंवाच बीज), शतावरी, ऋद्धि, परूषक (फालसा), भार्गी (भारङ्गी), मृद्वीका (मुनक्का), बृहती (वनभण्टा), शृंगाटक (सिंघाड़ा), तामलकी (भुई आँवला), पयस्या (विदारीकन्द), पिप्पली, बला, बदर (खट्टी बेर), अक्षोट (अखरोट), खर्जूर, वाताभ (बादाम), अभिषुक (पिस्ता Pistacia vera Linn.) तथा इसी प्रकार के अन्य पित्तनाशक फलों का ग्रहण करें। मात्रा-सभी द्रव्यों की अलग-अलग मात्रा १-१ कर्ष (तोला) लेकर कल्क बना लें।

२.	क्वाथ	आँवले का स्वरस अथवा क्वाथ	- १ प्रस्थ
		विदारीकन्द का स्वरस अथवा क्वाथ	- १ प्रस्थ
		ईख का रस (juice of sugar cane)	- १ प्रस्थ
		बकरे का मांसरस	- १ प्रस्थ
		गोदुग्ध	- १ प्रस्थ
३.	गोघृत		
४.	प्रक्षेप द्रव्य-१ मधु- १/२ भाग (१/२ प्रस्थ), शर्करा- १/२ तुला, तेजपत्र, छोटी इलायची, हेम, त्वक् (दालचीनी) एवं काली मिर्च; प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग- २-२ कर्ष मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें।		

निर्माण विधि–कल्क, क्वाथ एवं गोघृत को लेकर विधि पूर्वक घृत सिद्ध करें। सिद्ध हो जाने पर घृत के शीतल होने पर उसमें प्रक्षेप द्रव्यों को मिलावें।

उपयोग– इस सिद्ध घृत का प्रयोग व्यक्ति को हमेशा (नित्य) उचित मात्रा में करना चाहिये। इस घृत को **'अमृतप्राशघृत'** कहा गया है। यह घृत पुरुषों के लिए अमृत तुल्य होता है। इस घृत को चाटने के बाद व्यक्ति को मांसरस युक्त भात का सेवन करना चाहिए। यह घृत जिनके शुक्र नष्ट हो गये हों अर्थात् नष्ट शुक्र वाले रोगी, क्षतक्षीण रोगी, दुर्बल, व्याधि से कृश पुरुष (Emaciated person), स्त्री प्रसक्त से कृश पुरुष, वर्ण (Complexion) एवं स्वर (Voice) से हीन पुरुष; का बृंहण करता है।

यह घृत कास (Cough), हिक्का (Hiccup), ज्वर (Fever), श्वास (Asthma), दाह (Burning sensation), तृष्णा (thirst) एवं रक्तपित्त जैसी व्याधियों को दूर करता है। इस घृत के सेवन से पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है, अर्थात पुत्र प्रदाता है। वमन (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), हृद्रोग (Heart disease), योनि विकार (Female genital tract diseases) एवं मूत्र विकारों को भी दूर करता है। अर्थात् जो पुरुष इस घृत को चाटकर ऊपर से मांसरस एवं भात का सेवन करते हैं वे उपरोक्त व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं। ॥३५-४३॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–द्वे निदिग्धिके इति-इस वचन से यहाँ बड़ी कण्टकारी (बृहती-वनभण्टा) एवं छोटी कंटकारी (भटकटैया Solanum surattense Burn.f.) का ग्रहण किया गया है। पयस्या=क्षीरविदारी (दुग्धिका-Euphorbia thymifolia)।

वातामाभिषुकाणि तु औत्तरापथिकानि फलानि=वाताभ (बादाम) एवं अभिषुक (पिस्ता) उत्तरापथ में होने वाले फल हैं। 'एवमादीनि'-इसी प्रकार के अन्य दूसरे वातपित्तनाशक फलों का ग्रहण किया जा सकता है।

स्नेहपाक हेतु जहाँ पाँच द्रव पदार्थों का वर्णन हो, वहाँ प्रत्येक की मात्रा स्नेह के परिमाण के बराबर ग्रहण करनी चाहिए। कहा भी गया है-**"पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसंविधौ। तत्र स्नेहसमान्याहुः"** इति। इस परिभाषा से धात्री स्वरस आदि द्रव पदार्थों का मान एक प्रस्थ सिद्ध होते हुए भी मात्रा का पुनः निर्देश करना परिभाषा में दृढ़ता दर्शाने के लिए किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

पलार्धकत्वमिह मरिचादीनां मिलितानां, समाहारप्रधानत्वान्निर्देशस्य-'पलार्ध' से यहाँ मरिचादि द्रव्यों की संयुक्त मात्रा-अर्धपल (२ तोला) ग्रहण होता है, ऐसा समाहार प्रधान होने से किया गया है। वृद्ध वैद्यों के अनुसार यह मात्रा अलग-अलग द्रव्यों की बतायी गयी है, अर्थात् मरिच आदि प्रत्येक द्रव्यों का मान अलग-अलग २-२ तोला है।

सुधा भौमी भोज्या, अमृतं तु देव भोज्यम्-'सुधा' मृत्युलोक में खाया जाने वाला एक पदार्थ व देवों द्वारा आहार के रूप में ग्रहण होने वाला एक पदार्थ अमृत कहा जाता है। [अमृत को 'सोमरस' भी कहा गया है। यह एक प्रकार का मादक पदार्थ है जिस पर देवताओं का ही अधिकार था। सुधा-आम लोगों में प्रचलित मद्य, जो गुणवत्ता की दृष्टि से अमृत से कुछ कम थी।] ॥३५-४३॥

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम्। दर्भमूलं पृथक्पर्णी पलाशर्षभकौ स्थिराम् ॥४४॥
पलिकं साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे। कल्कः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः ॥४५॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्ग्रह (द्ध) शूलनुत् ॥४६॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शःकासशोषक्षयापहः। धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः ॥४७॥

इति श्वदंष्ट्रादिघृतम्।

श्वदंष्ट्रादि घृत-१. **क्वाथ्य द्रव्य**-श्वदंष्ट्रा (गोखरु), उशीर (खस), मञ्जिष्ठा (मजीठ), बला (बलामूल), काश्मर्य (गम्भारी), गन्धतृण (कर्तृण), दर्भ का मूल, पृथक्पर्णी, पलाश, ऋषभक एवं स्थिरा (सरिवन); सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोला) मात्रा में लेकर क्वाथ (decoction) का निर्माण करें।

२. **कल्क द्रव्य**-स्वगुप्ता (केंवाच बीज), जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावरी, ऋद्धि, मृद्वीका (मुनक्का), शर्करा, श्रावणी (मुण्डी=गोरखमुण्डी) एवं बिस (कमलनाल); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें।

३. घृत- १ प्रस्थ। ४. गोदुग्ध- ४ प्रस्थ।

अब क्वाथ, कल्क द्रव्य, गोदुग्ध एवं घृत को एक पात्र में डालकर घृत पाक विधि से घृत को सिद्ध करें। [कल्क द्रव्य की संयुक्त मात्रा स्नेह की चतुर्थांश होनी चाहिए।]

उपयोग–इस सिद्ध घृत के प्रयोग से वातपित्त जन्य हृद्द्रव (Palpitation of the heart) एवं हृद्शूल, मूत्रकृच्छ्र (Dysuria-Painful urination), प्रमेह (Urinary disorders including diabetes), अर्श (Piles), कास (Cough), शोष (Consumption), क्षय (Phthisis); जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

जो लोग धनुष खींचने (धनुष चलाने), अत्यधिक मैथुन, अत्यधिक मद्य सेवन, अत्यधिक भार उठाने अथवा अत्यधिक पैदल चलने के कारण दुर्बल हो गये हैं। इस घृत के सेवन से इनके बल व मांस को वृद्धि होती है।

चक्रपाणि–क्वाथ्य द्रव्य के परिमाण (मात्रा) के अनुसार १२ क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा १२ पल होती है, इसका ४ गुना जल= ४८ पल (३ प्रस्थ) डालकर पकावें, चतुर्थांश शेष रखें। क्षीर (दुग्ध) की मात्रा यहाँ घृत से ४ गुनी लेनी चाहिए, अथवा कुछ आचार्यों के अनुसार दूध की मात्रा क्वाथ से ४ गुनी होनी चाहिए। ॥४४-४७॥

विशेष (Comments)– उपरोक्त योग में क्वाथ्य द्रव्यों की संख्या ११ बतायी गयी है। इस प्रकार ११ पल द्रव्य लेकर उसे ८ गुने जल में पकावें। चतुर्थांश अवशेष रहने पर क्वाथ को छानकर रख लें। इस प्रकार तैयार क्वाथ की मात्रा २२ पल होती है।

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत्। पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥४८॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत्। समसक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम् ॥४९॥

समसक्तुघृत (Samasaktu Grita)–यष्टीमधु (मुलेठी)- ८ पल, द्राक्षा- १ प्रस्थ (६४ तोला) लेकर ८ गुने जल में क्वाथ बनावें। चतुर्थांश शेष रहने पर क्वाथ को छान कर अलग कर लें। इस क्वाथ में पिप्पली- ८ पल लेकर कल्क बनाकर मिलावें तथा इस कल्क

Scanned by CamScanner

मिश्रित क्वाथ में १ प्रस्थ गोघृत सिद्ध करें। घृत के ठण्डा हो जाने पर उसमें ८ पल मधु एवं ८ पल शर्करा मिलाकर सुरक्षित रख लें। इस सिद्ध घृत में समभाग सक्तु मिलाकर प्रयोग करें। इस घृत का प्रयोग क्षतक्षीण एवं रक्तगुल्म के रोगियों में करना चाहिए।

चक्रपाणि–क्वाथ निर्माण करते समय मधुक (यष्टीमधु) की मात्रा- ८ पल (१/२ प्रस्थ) तथा द्राक्षा की मात्रा १ प्रस्थ बतायी गयी है। इस आधार पर क्वाथ (Decoction) की मात्रा १$^{1}/_{2}$(डेढ़) प्रस्थ होती है। **समसक्तु इति**-घृत एवं सतु की मात्रा बराबर-बराबर होनी चाहिए। अर्थात् १ भाग घृत+१ भाग सक्तु का ग्रहण करें। ॥४८-४९॥

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसैर्घृतम्। अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान् पचेद्भिषक् ॥५०॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रद्विप्रस्थं विनयेच्च तत्। यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥५१॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम्। घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥५२॥
लीढं निर्वापयेत् पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम्। आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥५३॥
क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि तु। त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि योजयेत् ॥५४॥
सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत्। रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात् ॥५५॥
इति सर्पिर्गुडाः।

सर्पिर्गुड (प्रथम) [Sarpirguḍāh First]– आमलकी स्वरस- १ प्रस्थ, विदारीकन्द स्वरस- १ प्रस्थ, इक्षुरस- १ प्रस्थ, जीवनीय द्रव्यों से सिद्ध क्वाथ- १ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ, बकरी का दुग्ध- १ प्रस्थ एवं गोदुग्ध- १ प्रस्थ। उपर्युक्त द्रव्यों द्वारा घृत को विधि पूर्वक सिद्ध करें। सम्यक् रूप से सिद्ध होने पर घृत को छानकर एक पात्र में सुरक्षित रख लें। अब इस घृत में- १ प्रस्थ मिश्री एवं १ प्रस्थ मधु मिलावें।

इस मधु व शर्करा मिश्रित घृत के सेवन करने से यक्ष्मा (Tuberculosis), अपस्मार (Epilepsy), रक्तपित्त (A type of bleeding disorder), कास (Cough), मेह (Urinary disorder including diabetes) एवं क्षय (consumption) जैसी व्याधि दूर हो जाती है। अर्थात् यह घृत निर्दिष्ट व्याधियों की चिकित्सा में अत्यन्त उपयोगी है। यह घृत उत्तम वयः स्थापक (आयु को स्थिर रखने वाला) है, आयुवर्धक, मांस, शुक्र एवं बलवर्धक है। शरीर में पित्त की अधिकता होने पर इस घृत को चाटने के लिए एवं वात की अधिकता होने पर पीने के लिए देना चाहिए। चाटने के लिए अल्प मात्रा में घृत का प्रयोग किया जाता है। इसलिये यह अग्निमांद्य नहीं उत्पन्न करता। वात की अधिकता में घृतपान प्रकुपित वायु को नष्ट करता है तथा वायु के संयोग से रुकी हुई पित्त की ऊष्मा को भी शान्त करता है। [when it is used in the form of drink, at alleviates vāyu and obstructed heat.]

क्षाम, क्षीण एवं कृश अंगों वाले रोगियों को इस सर्पिर्गुड में वंशलोचन, शर्करा एवं लाजा (धान का लावा) चूर्ण मिश्रित कर घृत को स्त्यान (अवलेह के रूप में) बनाकर दें। सर्पिर्गुड में सम मात्रा में मधु मिलाकर पीना चाहिए तथा अनुपान के रूप में दुग्ध पान करें। ऐसा करने से व्यक्ति के शुक्र (Semen), वीर्य (Potency) व बल (शारीरिक बल Strength) की वृद्धि होती है तथा शरीरस्थ धातुओं का शीघ्र पोषण होता है।

चक्रपाणि–'घृतं त्वित्यादि' के द्वारा-लेह योग्य, जो शर्करादि के योग से घृत बताये गये हैं उन्हीं का प्रयोग पित्त की अधिकता में अल्प मात्रा में चाटने के लिए करना चाहिए तथा जिसमें शर्करा आदि नहीं डाला गया है, द्रव रूप में है, उसका प्रयोग वात की अधिकता होने पर पीने के लिए करना चाहिए; बताया गया है। **किंवा स्त्यानावस्थायोगीनि उपयोगाल्लेह्यतया पित्ते प्रयोक्तव्यानि**-स्त्यान अवस्था में उपयोगी होना। स्त्यान से गाढ़ा (Thickness) अर्थ लिया गया है। अर्थात् सर्पिर्गुड को लेहवत् बना कर पित्त प्रकोप में प्रयोग करना चाहिए एवं लेहरहित सर्पिर्गुड का प्रयोग वात प्रकोप में करना चाहिए। घृत के लेह रूप फल एवं पान रूप फल (परिणाम) को यहाँ अलग-अलग 'निर्वापयेदित्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'अल्पत्वादिति'-लेह के रूप होने से ही इसकी मात्रा अल्प बतायी गयी है, क्योंकि लेह (अवलेह) की मात्रा शास्त्रों में १ कर्ष (१ तोला) बताया गया है। **आक्रमतीति**=जीत लेता है। निरुणद्धीति=प्रतिहन्ति (नष्ट कर देता है।), कुछ आचार्य 'निरुणद्धीति' के स्थान पर 'न रुणद्धि' पाठ करते हैं। **क्षामः क्लान्तदेहः** - जिसका शरीर क्लान्त हो गया हो (थक कर चूर होना)। क्षीण=दुर्बल। कृश= शरीर का मांस आदि से हीन होना अर्थात् शुष्क शरीर। **त्वक्क्षीर्यादीनां तावन्मानं ज्ञेयं यावता घृतस्य स्त्यानत्वम्**-त्वक्क्षीरी (वंशलोचन) आदि द्रव्यों के चूर्ण की उस मात्रा का यहाँ ग्रहण है जितने के प्रयोग से घृत स्त्यान (गाढ़ा=अवलेह की तरह) हो जाय।

समध्वंशानित्यनेन मधुनः त्वक्क्षीर्यादिसमानतामाह–'समध्वंशमिति से यहाँ मधु के मात्रा के बराबर ही वंशलोचन आदि की मात्रा का ग्रहण करना चाहिए। ॥५०-५५॥

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा। पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्टयंशका अपि ॥५६॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके। जीवनीयैः पचेत् कल्कैरक्षमात्रैर्घृताढकम् ॥५७॥

Scanned by CamScanner

सितापलानि पूते च शीते द्वात्रिंशतं क्षिपेत् । गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च ।।५८।।
समाक्षिकं कौडविकं तत् सर्वं खजमूर्च्छितम् । स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत् ।।५९।।
ताम्रघ्ण्या पलिकान् क्षीरं मद्यं वाऽनुपिबेत् कफे । शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्शिते ।।६०।।
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते । शस्ताः पार्श्वशिरःशूले भेदे च स्वरवर्णयोः ।।६१।।
इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः ।

द्वितीय सर्पिर्गुड–बलामूल, विदारीकन्द, लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू), पुनर्नवा (गदहपूरना), पाँचों क्षीरी वृक्षों के शुङ्ग (Leaf bud) [वट, उदुम्बर, पीपल (Ficus religiosa-अश्वत्थ), पाकड़ (प्लक्ष Ficus lacor Buch-Ham) एवं कपीतन (पारस पीपल)]; सभी द्रव्यों को १-१ पल (४-४ तोले) मात्रा में लेकर यवकुट कर लें, अष्टगुण (८ गुने) जल मिलाकर क्वाथ करें, चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । इस चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ में गोदुग्ध-क्वाथ की दूनी मात्रा में एवं विदारीकन्द स्वरस तथा बकरे का मांसरस-क्वाथ के बराबर मिला लें, कल्क के रूप में जीवनीय गण की औषधियाँ, यथा- जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु; प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला ग्रहण करें। घृत की मात्रा- १ आढ़क । सभी औषधियों - क्वाथ, कल्क, घृत एवं दुग्ध को एक पात्र में लेकर स्नेहपाकविधि से घृत को सिद्ध करें, शीतल होने पर इसमें ३२ पल सिता (मिश्री) एवं गेहूँ का भूना हुआ आटा, पिप्पली चूर्ण, वंशलोचन चूर्ण, सिंघाड़े का चूर्ण व मधु- प्रत्येक द्रव्य १-१ कुड़व लेकर मिलावें । पश्चात् मथानी से अच्छी प्रकार मथें । गाढ़ा हो जाने पर इस सर्पिर्गुड को भोजपत्र में लपेटकर सुरक्षित रख लें । इस द्वितीय सर्पिर्गुड की १ पल (४ तोले) मात्रा को खाकर ऊपर से (अनुपान के रूप में) गोदुग्ध अथवा मद्य का पान करें।

इस घृत के सेवन से कफज विकार (diseases caused by Kapha), शोष (Consumption), कास (Cough) एवं क्षतक्षीण आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । यह घृत अत्यधिक श्रम करने, अत्यधिक स्त्री सेवन, अत्यधिक भार ढोने से उत्पन्न होने वाली कृशता में भी उपयोगी है । विशेष रूप से इसका प्रयोग रक्तनिष्ठीवन (Hemoptysis), दाह (ताप-Burning sensation), पीनस (Chronic rhinitis) जो उरः प्रदेश में स्थित हो, पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), शिरःशूल (Headache), स्वरभेद (Hoarseness of the voice) एवं वर्णभेद (Loss of complexion) में करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'बलेत्यादि' के द्वारा द्वितीय सर्पिर्गुड का अभिधान किया गया है । **क्षीरिवृक्षा वटोदुम्बराश्वत्थप्लक्षकपीतनाः** - क्षीरीवृक्ष से- वट (बरगद या न्यग्रोध Ficus bengalensis Linn), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल, बोधिद्रु), प्लक्ष (पाकड़) एवं कपीतन (पारस पीपल) का ग्रहण होता है । **शालाक्य** में कहा भी गया है, यथा-**''उदुम्बरो वटोऽश्वत्थो मधूकः प्लक्ष एव च । पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षा अस्मिंस्तन्त्रे प्रकीर्तिताः'** इति [इस तन्त्र में पञ्चक्षीरी से उदुम्बर, वट, अश्वत्थ, मधूक (महुआ) एवं प्लक्ष का ग्रहण किया गया है ।]

मुष्टयंशका इति-१-१ पल मान, १ पल= ४ तोला । यहाँ बलादि क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा १-१ पल ग्रहण की गयी है, अर्थात् तेरह द्रव्यों की १-१ पल मात्रा को लेकर ८ गुने जल में क्वाथ बनावें तथा चतुर्थांश अवशेष रखें । [१३ पल द्रव्य में १०४ पल जल डालकर क्वाथ बनावें, २६ पल अवशेष रखें ।] अतः क्वाथ- २६ पल, दूध की मात्रा (क्वाथ की दूनी)- ५२ पल, विदारी स्वरस- २६ पल, बकरे का मांसरस- २६ पल । इस प्रकार द्रव पदार्थों की मात्रा १३० पल लेकर उसमें १ आढ़क गोघृत सिद्ध करें । दूसरे आचार्य क्वाथ्य द्रव्य की १६ गुनी मात्रा में जल डालकर क्वाथ बनाने का निर्देश देते हैं, इस आधार पर क्वाथ (Decoction) की मात्रा ५२ पल हो जाती है तथा दूध १०४ पल ग्रहण करना पड़ता है, यहाँ दुग्ध की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है, अर्थात् द्रव पदार्थों की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है

किन्तु क्वाथत्रयोदशपलेऽत्र पानीयं तथा पक्तव्यं यथा घृतसमः क्वाथो भवति–१३ पल क्वाथ्य द्रव्य को लेकर उस प्रकार क्वाथ बनावें जिससे इसकी मात्रा घृत के बराबर हो, अर्थात् क्वाथ की मात्रा घृत के बराबर हो । यह एक व्यावहारिक पक्ष है । इसके अनुसार क्वाथ (Decoction)- १भाग, गोदुग्ध- २ भाग, विदारीकन्द स्वरस- १ भाग, बकरे का मांसरस- १ भाग, घृत- १ भाग लेकर घृत सिद्ध करें अथवा विदारीकन्द स्वरस एवं बकरे के मांसरस मिश्रित रूप में - २ आढ़क ग्रहण करें । आचार्य जतूकर्ण का भी यही विचार है, यथा- "वृश्चीवं पञ्चमूलं बलां विदारीं वटादिशुङ्गाश्च । निष्वक्वाथ्य द्विक्षीरे छागविदारीरसे च समे ।। जीवनीयगणकल्कैः पक्त्वा घृताढकं" इति [क्वाथ ?, दूध- २ भाग, बकरे का मांसरस- १ भाग, विदारीकन्द स्वरस- १ भाग, कल्क- १/४ भाग, घृत- १ आढ़क (१ भाग) लेकर घृत सिद्ध करें ।] यहाँ क्वाथ के मान का निर्देश नहीं है । अतः क्वाथ की मात्रा स्नेह के बराबर होनी चाहिए। अर्थात् क्वाथ- १ आढ़क लें। खजः=मथानी, जो दस अंगुल अथवा १ हाथ का होता है । **भूर्जपत्रवेष्टनं च शक्त्युत्कर्षार्थम्**-सर्पिर्गुड को भोजपत्र में लपेट कर रखने का निर्देश गुण वृद्ध्यर्थ किया गया है अर्थात् ऐसा करने से उसके गुणों में वृद्धि होती है । ।।५६-६१।।

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः । वीरर्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः ।।६२।।
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः । धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात् पचेत् ।।६३।।

Scanned by CamScanner

शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च । दत्त्वा सर्पिर्गुडान् कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान् ।।६४।।
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्तं हलीमकम् । शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णां हन्युः कार्श्यं सकामलम् ।।६५।।
इति तृतीयाः सर्पिर्गुडाः ।

तृतीय सर्पिर्गुड–१. **कल्क द्रव्य**-त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), श्रावणी (गोरखमुण्डी), द्राक्षा (मुनक्का), मरोड़फली, ऋषभक, जीवक, वीरा (विदारीकन्द), ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बृहती (वनभण्टा), कपिकच्छू (केंवाच) का बीज, खर्जूरफल (छोहारा) एवं मेदा (मेदाकन्द); सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल मात्रा में लेकर गोदुग्ध के साथ पीस कर कल्क बना लें ।

२. **द्रव द्रव्य**–आमलकी स्वरस- १ प्रस्थ, विदारीकन्द स्वरस या क्वाथ- १ प्रस्थ, ईख का रस- १ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ ।

३. **निर्माण विधि**–सर्वप्रथम कल्क एवं आमलक स्वरस को एक पात्र में लें । उसमें १ प्रस्थ गोघृत डालें, मन्दाग्नि, पर पाक करें । स्वरस के पाक के पश्चात् उसमें क्रमशः विदारीकन्द स्वरस एवं ईख का रस डालें । घृत के सिद्ध हो जाने पर घृत को छान कर अलग कर लें । घृत के शीतल हो जाने पर उसमें १/२ तुला शर्करा (मिश्री) **एवं** १/२ **प्रस्थ मधु** डालकर मिला दें ।

४. **उपयोग**– इस तृतीय सर्पिर्गुड का प्रयोग कास (Cough), हिक्का (Hiccup), ज्वर (Fever), यक्ष्मा (Tuberculosis) तमक श्वास (Bronchial asthma), रक्तपित्त (A disease characterised by bleeding disorder from different parts of the body), हलीमक [कामला (Jaundice) का एक विशेष प्रकार जिसमें व्यक्ति का शरीर हरा, श्याव एवं पीले वर्ण का हो जाता है ।), शुक्रक्षय एवं अनिद्रा (Insomnia), तृष्णा (Morbid thirst), कार्श्य (Emaciation) एवं कामला (Jaundice) जैसी व्याधियों में करना चाहिए । अर्थात् इन व्याधियों की चिकित्सा हेतु इस घृत का प्रयोग करना चाहिए । **मात्रा**- १-४ तोला

चक्रपाणि–'त्वक्क्षीरीत्यादि' के द्वारा तृतीय सर्पिर्गुड का विवेचन किया गया है । श्रावणी=मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) । वीरा=विदारीकन्द । ।।६२-६५।।

विशेष– कई द्रव पदार्थों से जब स्नेह को सिद्ध करना होता है तब इनका पाक क्रमशः करें, अर्थात् एक द्रव पदार्थ से स्नेह (घृत) पाक के पश्चात् उसमें दूसरा द्रव पदार्थ डालें ।

नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् । शतावरीं विदारीं च समङ्गां पिप्पलीं तथा ।।६६।।
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात् । यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च ।।६७।।
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढके शर्कराशते । क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान् ।।६८।।
कुर्यात्तान् भक्षयेत् क्षीणः क्षतः शुष्कश्च मानवः । तेन सद्यो रसादीनां वृद्ध्या पुष्टिं स विन्दति ।।६९।।
इति चतुर्थसर्पिर्गुडाः ।

चतुर्थ सर्पिर्गुड–**१. घटक द्रव्य**-(क) चूर्ण (Powder)-नूतन आँवला (गुठली रहित सूखा), मुनक्का, आत्मगुप्ता (कौंच का बीज), पुनर्नवा मूल (गदहपूरना), शतावरी, विदारीकन्द, समङ्गा (लज्जालु या छुईमुई), पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल मात्रा में ग्रहण करें । सोंठ (शुण्ठी)- ८ पल, यष्टीमधु (मुलेठी)- १ पल, सोंचर नमक- १ पल, काली मिर्च- १ पल, सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें ।

(ख) **गोदुग्ध**- १ आढ़क, गोघृत- १ आढ़क, तिल तैल- १ आढ़क, चीनी- १०० पल ।

२. निर्माण विधि–सर्वप्रथम- क्षीर, तैल एवं घृत को पकावें, जब यह पक कर कुछ गाढ़ा हो जाय, तब उसमें चूर्ण डालें एवं अच्छी प्रकार से मिला दें, ऐसा करने पर वह और अधिक गाढ़ा हो जाता है । अन्त में अलग से १०० पल शर्करा (चीनी) की चाशनी बनाकर डालें । शीतल होने पर बिल्व प्रमाण की गोली बना लें । मात्रा- १ बिल्व (१ पल=४ तोला)

३. उपयोग–इस गुडिका का सेवन क्षतक्षीण एवं शुष्क शरीर वाले पुरुष को करना चाहिए । ऐसा करने से उसकी रसादि धातुएं शीघ्र ही बढ़ जाती है, जिसके कारण उसका शरीर पुष्ट हो जाता है ।

चक्रपाणि–'द्राक्षामित्यादौ'-यष्टीमधु एवं सौवर्चल नमक दोनों की संयुक्त मात्रा- २ पल ग्रहण करनी चाहिए । कालीमिर्च अलग से २ पल लें । आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा-"घृततैलपयस्त्र्याढके सितां च तुलां प्रपाच्य द्राक्षाविदारीवृश्चीवशतावरी-कृष्णाशुण्ठीबलाधात्रीश्च दशपलिका प्रपाचयेत्, यष्ट्याह्वं रुचकं च पलिकम्" इत्यादि (घृत- १ आढ़क, तैल- १ आढ़क, गोदुग्ध- १ आढ़क, शर्करा- १ तुला मिलाकर पाक करें, ऐसा तब तक करें जब तक दुग्ध का जलीयांश उड़ न जाय । जब जलीयांश कम रह जाय तब उसमें द्राक्षा, विदारीकन्द, वृश्चीर, शतावरी, कालीमिर्च, सोंठ, बला एवं आँवला- प्रत्येक द्रव्यों के चूर्ण १०-१० पल, यष्टीमधु चूर्ण- १ पल तथा रुचक चूर्ण- १ पल, मिलावें ।]

क्वथित इति–इसका अभिप्राय गोदुग्ध, तिल तेल एवं घृत को तब तक पकाना चाहिए जब तक कि दूध का जलीयांश अत्यन्त कम न हो जाय, से है । जलीयांश (दुग्धाश्रित) अत्यन्त कम हो जाने पर ही उसमें 'चूर्ण' का प्रक्षेप डालना चाहिए । ।।६६-६९।।

Scanned by CamScanner

गोक्षीरार्धाढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम् । विदार्याः स्वरसात्प्रस्थं रसात्प्रस्थं च तैत्तिरात् ।।७०।।
दद्यात् सिध्यति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान् । मधूकपुष्पकुडवं प्रियालकुडवं तथा ।।७१।।
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्जूराणां च विंशतिम् । पृथग्विभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम् ।।७२।।
त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात् कर्षमेव च । तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत् ।।७३।।
सिद्धेऽस्मिन् कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान् । कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णाविचूर्णितान् ।।७४।।
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च । शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते ।।७५।।
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम् । योनिदोषकृतस्रावहतानां चापि योषिताम् ।।७६।।
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद्यासां म्रियेत वा । धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः ।।७७।।

इति पञ्चमसर्पिर्मोदकाः ।

पञ्चम सर्पिर्मोदक–गोक्षीर- १/२ आढ़क, गोघृत- १ प्रस्थ, इक्षुरस- १ आढ़क, विदारीकन्द स्वरस या क्वाथ- १ प्रस्थ, तीतर का मांसरस- १ प्रस्थ; सभी द्रव पदार्थों को एक पात्र में लेकर धीरे-धीरे पकावें । द्रव पदार्थ पककर जब गाढ़ा हो जाय अर्थात् अवलेह जैसा हो जाय तब उसमें मधूक (महुए) पुष्प चूर्ण- १ कुड़व, प्रियाल (चिरौंजी)- १ कुडव, तुगाक्षीरी (वंशलोचन)- १/२ कुडव, खर्जूर के छिलके का चूर्ण- २० पल, विभीतक के छिलके का चूर्ण-२० पल, पिप्पली चूर्ण- १ चतुर्थिका (१ पल), खाड (चीनी)-३० पल, यष्टीमधु चूर्ण- १ कर्ष (१ तोला), जीवनीय गण की १० औषधियाँ प्रत्येक अर्ध पल अर्थात् २-२ तोले लेकर चूर्ण कर लें (इनका चूर्ण २० तोले), ईख के रस से कल्क बनाकर उसमें डाल दें । जब सभी औषधियाँ आपस में मिल जाँय तथा मोदक बनने के योग्य गाढ़ा हो जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर ठण्डा होने के लिए रखें, ठण्डा होने पर उसमें १ कुड़व मधु मिलाकर मोदक (लड्डू) बना लें । ऊपर से उस पर कालीमिर्च एवं जीरे का चूर्ण- १ पल (४ तोला-संयुक्त रूप) लेकर छिड़क दें ।

इस मोदक का प्रयोग वातरक्त (Gout), पित्तज व्याधियाँ (Diseases caused by Pitta), क्षत (उरःक्षत- Phthisis), कास (Cough), क्षय (consumption) में करते हैं । जिनके शुक्र क्षीणता को प्राप्त हों, जिनकी मांसादि धातुएं क्षीण हों, जिनके वक्ष प्रदेश में रक्त रुका हो, जो कृश (दुबले-पतले), दुर्बल (weak) एवं वृद्ध (Old) हों, जो पुरुष पुष्टि (Nourishment-धातु पुष्टि), वर्ण (complexion-the colour and appearance of the skin of the face) एवं शारीरिक बल (Strength) के इच्छुक हों; उनमें इस मोदक का प्रयोग करना चाहिए । योनिदोष, योनिक्षत एवं योनिस्राव के रोगी, जो स्त्री गर्भधारण की इच्छा रखती हो, जिन्हें गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता हो; ऐसी स्त्रियों के लिए यह मोदक बल प्रदान करने वाला एवं कल्याणकारी होता है । इसके सेवन से शुक्र व रक्त की भी वृद्धि होती है। ॥७०-७७॥

चक्रपाणि–गोक्षीरेत्यादौ गोक्षीरं कारणतया उच्यते न घृतपाकार्थम्-इस योग में गोक्षीर का प्रयोग कारणरूप होने से कहा गया है, न कि गोक्षीर से घृत का पाक किया जाता है, ऐसा करने पर प्रक्षेप चूर्ण के प्रयोग से मोदक का निर्माण नहीं होना चाहिए । चतुर्थिका से १ पल का ग्रहण किया गया है । ॥७०-७७॥

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते । वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत् ।।७८।।
शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च । संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत् कासज्वरापहम् ।।७९।।
फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम् । स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम् ।।८०।।
सक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम् । यवान्नसात्म्यो दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः ।।८१।।
जीवनीयोपसिद्धं वा जाङ्गलं घृतभर्जितम् । रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थं सशर्करम् ।।८२।।
गोमहिष्यश्वनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा । यवान्नं भोजयेद्यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः ।।८३।।
दीप्तेऽग्नौ विधिरेषः स्यान्मन्दे दीपनपाचनः । यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते ।।८४।।

अन्य वृष्य योग–अत्यधिक स्त्री प्रसक्त (मैथुन) के कारण प्रकुपित हुई वायु वस्तिप्रदेश में जाकर अनेक प्रकार के विकारों को उत्पन्न करती है । उसकी चिकित्सा हेतु वातनाशक, बृंहण एवं वृष्य योगों का प्रयोग करना चाहिए, यथा- १. शर्करा, पिप्पली चूर्ण, मधु, घृत एवं गोदुग्ध मिलाकर कास (Cough) एवं ज्वर (Fever) की शान्ति हेतु पीना चाहिए अथवा पिप्पली चूर्ण को गोदुग्ध के साथ सिद्ध कर उसमें चीनी, मधु एवं घृत मिश्रित कर पीये ।

२. विदारीकन्द स्वरस अथवा क्वाथ एवं इक्षुरस में पकाई गयी मुद्गयूष को घृत एवं अम्ल फलों (फालसा अथवा अनार) के रस से भावित कर अथवा संस्कारित कर पीना चाहिए । यह यूष उन रोगियों के लिए लाभदायक है जो अत्यधिक मैथुन करने से क्षीण हो गये हैं । यह योग अत्यन्त जीवन देने वाला एवं बृंहणकारक है ।

३. क्षत क्षीण के रोगी जिसकी जाठराग्नि प्रबल हो एवं जिसे यव सात्म्य हो, उसे वस्त्र से छाने हुए यव के सत्तू में मधु व घृत मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए ।

४. उरःक्षत से क्षीण रोगी को व्यञ्जन (आहार) के रूप में जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध जांगल पशु-पक्षियों के मांस रस को घृत से छौंक कर उसमें शर्करा मिलाकर देना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

५. क्षतक्षीण रोगी को अपनी अग्निबल के अनुसार गो (गाय), भैंस (Buffalo), अश्व (घोड़ी-Female horse), नाग (हथिनी) एवं बकरी के दूध, अथवा मांसरस अथवा यूष (Vegetable soup) को अम्ल फलों के रस एवं घृत से संस्कारित कर (छौंका लगाकर) पीने के लिए देना चाहिये ।

ऊपर निर्दिष्ट योग जाठराग्नि के दीप्त होने पर ही प्रयोग करने चाहिए । जाठराग्नि की क्षीणता में दीपन एवं पाचन योगों का प्रयोग करना चाहिए । अतिसार (diarrhoea) की अवस्था में राजयक्ष्माचिकित्सा में वर्णित ग्राही औषधियों की योजना करनी चाहिए । ॥७८-८४॥

चक्रपाणि-विकुर्वाणे इति-बस्तिशूल आदि विकारों के उत्पन्न होने पर । 'शर्करेत्यादौ' से प्रक्षेप न्याय के अनुसार दूध में शर्करा आदि प्रक्षेप द्रव्यों को मिलाना चाहिए । **वस्त्रपूतानामिति**-वस्त्र के छिद्रों से होकर सत्तू का गिरना । अर्थात् सत्तू को एक स्वच्छ पतले कपड़े से छान लें । वर्तमान में छानने के लिए महीन छननी का प्रयोग करना चाहिए ।

मन्देऽग्नौ यक्ष्मिणां यो विहितः भिन्ने शकृति च यो ग्राही स विधिरिष्यत इति ज्ञेयम्-वे क्षतक्षीण रोगी जिनकी जाठराग्नि मन्द हो, उनमें राजयक्ष्माचिकित्सा में वर्णित अतिसार नाशक एवं ग्राही योगों का प्रयोग करना चाहिए । ॥७८-८४॥

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात् पले । कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ॥८५॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद्द्वे चतुर्धिके । शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥८६॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत् । रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वर्तिश्वासकासनुत् ॥८७॥
इति सैन्यवादिचूर्णम् ।

सैन्यवादि चूर्ण-सैन्धव नमक- १ पल, शुण्ठी (सोंठ)- २ पल, सौवर्चल नमक- १ पल, वृक्षाम्ल (आलूबुखारा)- १ कुडव, अम्ल दाडिम- १ कुडव, सूखी तुलसी की पत्ती- १ कुडव, कालीमिर्च- १ पल, जीरा- १ पल, धान्यक (धनिया)- २ पल (द्वे चतुर्धिके) तथा शर्करा- १२ पल; सभी द्रव्यों को निर्धारित प्रमाण में लेकर चूर्ण बनाकर आपस में मिला लें । इस चूर्ण का प्रयोग अन्न-पान के साथ करना चाहिए । यह चूर्ण रोचन (Appetiser), दीपन (जाठराग्नि को दीप्त करने वाला Stimulant of digestion), बल्य (शारीरिक क्षमता को बढ़ाने वाला), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), श्वास (Asthma) एवं कास (Cough) का नाशक है । ॥८५-८७॥

चक्रपाणी-पलिकमिति पलमानम्=१ पल मात्रा । ॥८५-८७॥

एका षोडशिका धान्याद्द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः । ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लं द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ॥८८॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात् पञ्च पलानि च । तच्चूर्णं षोडशपले शर्करायाः विमिश्रयेत् ॥८९॥
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् । मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः ॥९०॥
इति षाडवः ।

षाडव-घटक द्रव्य-

धनिया- १ षोडशिका (१ पल)	वृक्षाम्ल- ४ पल (१६ तोला)
अजाजी (जीरा)- २ पल (८ तोला)	सौवर्चल नमक- १ पल (४ तोला)
अजमोदा- २ पल (८ तोला)	शुण्ठी (सोंठ)- १ कर्ष (१ तोला)
अम्ल दाडिम- ४ पल (१६ तोला)	दधित्थ के मध्य का भाग -५ पल (२० तोला)
	शर्करा (चीनी)- १६ पल (६४ तोला)

धनिया से लेकर दधित्थ (पाठ भेद से कपित्थ भी प्राप्त होता है) तक के द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें, बाद में उसमें १६ पल शर्करा मिला दें । इस षाडव का प्रयोग पूर्व योग की तरह ही अन्न-पान के रूप में प्रयोग करना चाहिए । अतिसार (diarrhoea) एवं मन्दाग्नि (Suppression of the power of digestion) की अवस्था में इसका प्रयोग भोजन के साथ अथवा पान (घोल बनाकर पीने के लिए) के रूप में करना चाहिए । यह योग यक्ष्मा रोगी की जाठराग्नि को भी दीप्त करता है ।

चक्रपाणि-षोडशिका= १ पल (४ तोला) । **दाडिमवृक्षाम्लं द्विर्द्विरिति**- दाडिम एवं वृक्षाम्ल की मात्रा पूर्वमान जो द्रव्यों के लिए गये है, उनकी अपेक्षा दूनी मात्रा में लेने का निर्देश है । अर्थात् पूर्व के द्रव्य २ पल मान में लिए गये हैं उनकी तुलना में दाडिम एवं वृक्षाम्ल को ४-४ पल मात्रा में लेना चाहिए ।

'पूर्ववदित्यनेन' पूर्व योग के समान ही इस योग के भी फल (लाभ) को बताया गया है । **जतूकर्णसंहिता** में कहा भी गया है, यथा- **"पलिके धान्यकरुचके द्वौ जीरकदीप्यकौ शुण्ठ्याश्च पलं कपित्थदाडिमवृक्षाम्लानां कुडवम्"** इत्यादि (धान्यक- १ पल, रुचक (काला नमक)- २ पल, जीरक- १ पल, अजवाइन- १ पल, शुण्ठी (सोंठ)- १ पल, कपित्थ- १ कुडव, दाडिम- १ कुडव, वृक्षाम्ल- १ कुडव; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें ।] ॥८८-९०॥

Scanned by CamScanner

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षविवर्धितम् । पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ।।९१।।
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः । मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ।।९२।।

नागबला कल्प (Nāgabalā Kalpa)—नागबलामूलत्वक् को १/२-१/२ कर्ष (तोले) मात्रा में दूध के साथ सेवन करते हुए १ पल (४ तोले) मात्रा तक बढ़ावें तथा क्रमश १/२-१/२ कर्ष मात्रा घटाते हुए १/२ कर्ष मात्रा तक लावें, यह क्रम एक महीने तक करें। इस काल में अन्न का सेवन न करते हुए मात्र गोदुग्ध पर ही रहें, अर्थात् गोदुग्ध का ही सेवन करें। यह योग शरीरस्थ धातुओं को पोषण प्रदान करने वाला, आयुवर्धक, बल एवं आरोग्य प्रदान करने में श्रेष्ठ है। इसी प्रकार मण्डूकपर्णी, शुण्ठी, एवं यष्टीमधु के कल्प की योजना करनी चाहिए।

चक्रपाणि–नागबलेत्यादौ अर्धकर्षविवर्धितमिति-नागबला मूलत्वक् चूर्ण १/२ कर्ष से प्रारम्भ कर १/२-१/२ कर्ष प्रतिदिन बढ़ाते हुए आठवें दिन १ पल (४ तोले) की मात्रा पर लावें। यह मात्रा १ पल होने के बाद १ महीने तक इस मात्रा का सेवन करें। इस काल में व्यक्ति आहार के रूप में मात्र गोदुग्ध का ही सेवन करे। आचार्य जतूकर्ण भी इस पक्ष का अनुमोदन करते हैं, यथा-"नागबलामूलमर्धकर्षवृद्ध्या पलमानं मासं पेयं क्षीरमात्रवृत्तिना" इति [मात्र दुग्ध का ही आहार करते हुए नागबलामूल त्वक् की आधी कर्ष मात्रा से प्रारम्भ कर क्रमशः प्रतिदिन १/२-१/२ कर्ष मात्रा बढ़ाते हुए १ पल मात्रा सेवन करें। आगे यही १ पल मात्रा १ मास तक स्थिर रखें।] ।।९१-९२।।

यद्यत् संतर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु । अन्नपानं निषेव्यं तत्क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ।।९३।।
यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम् । तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यं बलं तथा ।।९४।।

क्षतक्षीण में पथ्य–क्षतक्षीण रोगी यदि अपना सुख चाहता है तो उसे जो अन्न-पान संतर्पण करने वाले, शीत, विदाह न उत्पन्न करने वाले, लघु (सुपाच्य) व हितकारी हों, सेवन करना चाहिए। जो पथ्य विधान यक्ष्मा, कास एवं रक्तपित्त के रोगियों के लिए निर्दिष्ट हैं उन सबका प्रयोग क्षतक्षीण की भी चिकित्सा में व्याधि, सात्म्य एवं बल का विचार करते हुए करना चाहिए। ।।९३-९४।।

चक्रपाणि–शीतं चापि स्पर्शे शान्तिकारि विदाहि भवति, तदर्थमविदाहीत्युक्तम्-शीतल अन्न-पान स्पर्श में आनन्ददायक होते हुए भी आन्तरिक प्रयोग करने पर विदाहोत्पादक हो सकते हैं, इसलिये यहाँ 'अविदाही' शब्द का प्रयोग किया गया है। ।।९३-९४।।

विशेष–[The diet and drink may be cold and pleasing to touch. but it might cause burning sensation if taken internally. Such food and drinks are not suitable for a patient of phthisis. Therefore, the word 'AVIDĀHI' is used after 'sita'. By implication, the food and drink should be cooking and simultaneusly these should not cause burning sensation. -Dr. Bhagvan Das]

उपेक्षिते भवेत्तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः । प्रागेवागमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत् ।।९५।।

क्षतक्षीण की चिकित्सा में शीघ्रता–यदि 'क्षतक्षीण' की चिकित्सा उचित समय पर न की जाय अथवा चिकित्सा में उपेक्षा (ध्यान न देना) की जाय तब उसमें 'यक्ष्मा' का अनुबन्ध हो जाता है। अर्थात् वह राजयक्ष्मा (Tuberculosis-lungs) के रोगी में परिवर्तित हो जाता है। इसलिये यक्ष्मा के उत्पन्न होने से पूर्व ही क्षतक्षीण की चिकित्सा शीघ्रतापूर्वक कर लेनी चाहिए।

चक्रपाणि–'उपेक्षिते इत्यादि' के द्वारा क्षतक्षीण की चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिए, यह बताया गया है। **प्रागेवागमनात् तस्य**-(यक्ष्मा) के आने से पूर्व। ।।९५।।

तत्र श्लोकौ-
क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम् । असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिमेव च ।।९६।।
उक्तवाञ्ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते । तत्त्वार्थविद्वीतरजस्तमोदोषःपुनर्वसुः ।।९७।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सितस्थाने क्षतक्षीणचिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–तत्त्वार्थविद्, रज एवं तम रूपी दोषों से मुक्त, ऐसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने 'क्षतक्षीण चिकित्सा' नामक अध्याय में अपने ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) शिष्य अग्निवेश के लिए क्षतक्षीण के कारण (Etiology of Kshata Kshīna), सामान्य एवं विशेष लक्षण (Signs and Symptoms of Kshata Kshīna in general and each variety), क्षतक्षीण की असाध्यता (Incurability), याप्यता (Palliability) तथा साध्यता (Curability) के साथ-साथ साध्य की चिकित्सा का विवेचन किया है। ।।९६-९७।।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित अप्राप्त, दृढ़बल द्वारा पूरित चरकप्रतिसंस्कृत अग्निवेशतंत्र (चरकसंहिता) के चिकित्सास्थान में क्षतक्षीणचिकित्सा नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।।११।।

चक्रपाणि–संग्रहे सामान्यपृथगाकृतिमिति-क्षतज एवं क्षयज के लक्षणों को पृथक्शः 'उरो विरुज्यत' इत्यादि के द्वारा संक्षेप में बताया गया है। ।।९६-९७।।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान में क्षतक्षीण-चिकित्सा नामक ग्यारहवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद (मैं) श्वयथु (शोथ) चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–'क्षतक्षीण' व्याधि में उपघात मर्मप्रदेश में होता है, शोथ का कारण भी मर्मोपघात ही होता है । अतः समान कारण होने से 'क्षतक्षय' के बाद 'शोथ चिकित्सा' का अभिधान किया गया है । ॥१-२॥

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः । महागदस्य श्वयथोर्यथावत् प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ।।

शोथ (श्वयथु-Oedema) संबन्धी अग्निवेश के प्रश्न एवं भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर–आचार्य अग्निवेश ने भिषग्वरिष्ठ (चिकित्सकों में वरिष्ठ) देवों एवं सिद्ध पुरुषों से घिरे रहने वाले, मुनि श्रेष्ठ अत्रि पुत्र भगवान् आत्रेय से श्वयथु रूपी महागद (अत्यन्त कष्टकारी व्याधि) के यथावत् प्रकोपक कारण (Etiology of Śvayathu), रूप (लक्षण-Signs and Symptoms) एवं प्रशमन के उपायों को पूछा । ॥३॥

चक्रपाणि–**जुष्टमिति सेवितम्** (आश्रित), भगवान् पुनर्वसु आत्रेय देवताओं एवं सिद्ध पुरुषों के साथ रहते थे ।

प्रकोपयतीति-प्रकोपक हेतुओं अर्थात् व्याधि प्रकोपक कारणों (वे हेतु जिनके सेवन करने से व्याधि बढ़ जाती है उसे प्रकोपक कारण कहा जाता है ।) । कार्य-कारण के बीच अभेद होने से प्रकोप शब्द से यहाँ श्वयथु के कारण (Etiology) का ग्रहण किया गया है । **रूप** शब्द से यहाँ रूप (Signs and Symptoms) एवं पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptcms) दोनों का ग्रहण किया गया है । 'शमनेन' से चिकित्सा (Treatment) अर्थ लिया गया है । ॥३॥

तस्मै जगादागदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्रिप्रवरोऽत्रिजस्तान् । वातादिभेदात्त्रिविधस्य सम्यङ्निजानिजैकाङ्गजसर्वजस्य ।।४।।

इसके बाद अगद वेद सिन्धु (आयुर्वेद रूपी नदी) के प्रवर्तक हिमालय स्वरूप अत्रि के पुत्र भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के लिए वातादि दोषों के भेद से शोथ के ३ प्रकार तथा निज, आगन्तुक, एकांगज एवं सर्वांग शोथ के कारण (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा का उपदेश दिया ।

चक्रपाणि–**अगदार्थ आरोग्यार्थो यो वेदः सोऽगदवेदः**-जिस वेद में आरोग्य का प्रतिपादन हो उसे अगदवेद (आयुर्वेद) कहा जाता है । यह आयुर्वेद गंगा नदी की तरह पवित्र (स्वच्छ) एवं गम्भीर है । उस आयुर्वेद की उत्पत्ति भी पर्वत श्रेष्ठ हिमालय की भाँति ही है । जिस प्रकार हिमालय गंगा की उत्पत्ति का स्थल है, उसी प्रकार अत्रि सुत आत्रेय आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं, यह अभिप्राय है ।

तानिति प्रकोपादीन् याञ् शिष्यःपृष्टवान्– शोथ में दोषादि के प्रकोपक कारण आदि जिनके बारे में शिष्य ने पूछा है अथवा प्रश्न किया है ।

'एकाङ्गजसर्वजस्येत्यत्र'-एकाङ्गज-शरीर के एक भाग में उत्पन्न होने वाले शोथ तथा सर्वज से सर्वशरीर में उत्पन्न होने वाले शोथ का ग्रहण किया गया है । 'एकाङ्गज' शब्द से भी सामान्यतया शरीर व्यापक शोथ का ही ग्रहण होता है । इस प्रकार सर्वशरीर में होने वाले शोथ, शरीर के आधे भाग में होने वाले शोथ तथा अवयवाश्रित शोथ के जो तीन भेद कहे गये हैं उसमें एकाङ्गज के ही अन्दर अर्ध शरीर में उत्पन्न होने वाले शोथ एवं अवयवाश्रित शोथ का अन्तर्भाव हो जाता है । ॥४॥

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा । दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ।।५।।
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः । मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ।।६।।

निज शोथ के हेतु (Etiology of Endogenous Oedema)-निजशोथ के अधोलिखित कारण हैं–

→ वमन विरेचनादि द्वारा शुद्ध, ज्वरादि से पीड़ित, अभक्त (गुण रहित भोजन) के परिणामस्वरूप जो व्यक्ति कृश (Emaciated) एवं दुर्बल (Weak) हो गये हैं, ऐसे व्यक्ति जब क्षार (alkaline Preparation), अम्ल (Sour food and drinks), तीक्ष्ण (उत्तेजक प्रभाव वाला, दाह, पाक एवं स्राव को उत्पन्न करने वाला-Sharpness), उष्ण (दाह एवं अग्निवर्धक यथा-चित्रक) एवं गुरु (Heavy diet जिसका पाचन देर से हो) आहार द्रव्यों का सेवन करते हैं ।

Scanned by CamScanner

→ दही (Curd), अपक्व अन्न (अच्छी प्रकार से न पका हुआ अन्न Uncooked), मिट्टी (Mud), शाक (कच्चा शाक), विरोधी अन्न (विरोधी गुणों वाले आहार), दूषित अन्न (प्रदूषित भोजन Polluted food including water in the rainy season) एवं गर विष (कृत्रिम विष) का सेवन करना ।

→ अर्श (Piles) एवं व्यायाम न करना ।

→ उचित समय पर बाह्य संशोधन कर्मों का न होना अथवा शारीरिक शोधन न होना । मर्म प्रदेश पर चोट लगना ।

→ विषम प्रसूति (Irregular delivery including abortion and Miscarriage) ।

→ वमनादि संशोधन कर्मों का उचित प्रयोग न होना ।

उपर्युक्त कारणों के सेवन करने से वातादि दोष प्रकुपित होकर शोथ को उत्पन्न करते है ।

चक्रपाणि–'शुद्धिः' से वमनादि शोधन कर्म अर्थ लिया गया है, अर्थात् वमनादि शोधन कर्म जिसके किये गये हों । आमया ज्वरादयः= ज्वरादि व्याधियाँ । अभक्तम्=भोजन न करना, अथवा गुण रहित भोजन करना, उन कारणों (ज्वर, अभक्तादि) के द्वारा जो व्यक्ति कृश एवं दुर्बल हो गये हों, वे यदि क्षारादि हेतुओं का सेवन करते हैं तो उन्हें निज शोथ उत्पन्न होता है अर्थात् क्षार आदि हेतु इस अवस्था में श्वयथु का कारण बनते हैं, ऐसा समझना चाहिए । **दध्यादि**-निज शोथ के स्वतंत्र हेतु बताये गये हैं । आमम्=अपक्व (uncooked diet), **दुष्टं दोषकारकं नवोदकादि**-दोषोत्पादक नवीन जल आदि [इससे प्रदूषित जल अर्थात् वर्षा ऋतु के जल का ग्रहण किया जा सकता है तथा साथ में वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाली शाक, सब्जियाँ लगभग दूषित ही रहती हैं, का ग्रहण किया गया है ।] गरः संयोगजं विषम्=संयोगज विष (कृत्रिम विष), यह विष कालान्तर में रोगजनन कार्य करता है, इसके द्वारा प्राणों की हानि नहीं होती । **न च देहशुद्धिरिति**-शोधन के योग्य होते हुए भी, इसका प्रयोग न करना । 'मर्मोपघात' को यहाँ दोषोत्पादक ही जानना चाहिए । यद्यपि बाह्य कारणों से उत्पन्न मर्मोपघात आगन्तु कारण ही होता है ।

विषमा प्रसूतिः अकालगर्भपतनादिका–योग्य समय पर प्रसूति का न होना, इससे गर्भपात (Abortion) एवं गर्भस्राव (Miscarriage-Loss of the products of conception from the uterus before fetus is viable) का ग्रहण किया जाता है ।

प्रतिकर्मणामिति–वमनादि शोधन कर्म, **मिथ्योपचार इति-असम्यङ्करणमसम्यगुपचारश्च**-साधनों का सम्यक् प्रयोग न होना एवं सम्यक् उपचार का न होना । ॥५-६॥

बाह्यास्त्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैः । आगन्तुहेतुः

आगन्तुक शोथ के हेतु (Etiology of Exogenous Oedema)–काष्ठ (Wood), अश्म (पत्थर-Stone), शस्त्र (Weapon), अग्नि (Fire), विष (Poison) तथा लोहे के छड़ आदि के द्वारा आघात लगने से शरीर की बाह्य त्वचा दूषित हो जाती है । जिसके कारण आगन्तुक शोथ उत्पन्न होता है ।

चक्रपाणि–'बाह्या इत्यादि' के द्वारा यहाँ आगन्तु शोथ के हेतुओं को बताया गया है । **बाह्या इति अगम्भीराः** -त्वचा का सबसे ऊपरी भाग (Superficial layer of the skin), इससे त्वचा के अन्य स्तर प्रभावित नहीं होते, यह अभिप्राय है, अर्थात् निर्दिष्ट कारणों द्वारा शरीर की बाह्य त्वचा ही प्रभावित होती है ।

त्वच इति कर्मपदं हलन्तम्–कर्मपद के साथ हलन्त का प्रयोग होता है, अर्थात् त्वचा को अभिघात आदि कारण दूषित करते हैं । दूषयिता-विशेष रूप से त्वचा अभिघात (injury) के कारण ही दूषित होती है । यहाँ अभिघात से स्पर्श का भी ग्रहण हो जाता है ।

काष्ठाश्मशस्त्राग्निविषायसाद्यैरिति–काष्ठादि को आगन्तुकशोथ का कारण बताया गया है । आदि शब्द यहाँ कारणवाची है, अर्थात् कारण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय काष्ठ आदि के द्वारा शरीर की ऊपरी त्वचा पर अभिघात होने से है । ये कारण यहाँ संक्षेप में बताये गये हैं, इससे दन्त आदि से उपघात होना भी अर्थ गृहीत है अथवा 'आदि' शब्द प्रकारवाची अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उससे काष्ठ, अग्नि आदि के द्वारा अभिघात का होना अर्थ लिया गया है ।

त्रिविधो निजश्च ।
सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥७॥

निजशोथ के भेद (Classification of Oedema)–निजशोथ ३ प्रकार का होता है–

१. शरीर के सम्पूर्ण भागों में होने वाला शोथ-सर्वांग शोथ ।

Scanned by CamScanner

२. शरीर के आधे भाग में होने वाला शोथ-अर्धाङ्ग शोथ ।

३. शरीर के एक भाग में होने वाला शोथ (Oedema afflicting only one limb of the body-एकाङ्गशोथ)

चक्रपाणि–'त्रिविध इति' के द्वारा सर्वाङ्ग, अर्धाङ्ग एवं एकाङ्ग के आश्रित होने वाले तीन प्रकार के निज शोथों को बताया गया है। 'च' कार से आगन्तु शोथ के भी यही तीन भेद होते हैं, अर्थ लिया गया है । अर्थात् निर्दिष्ट शोथ के ये भेद निज व आगन्तु दोनों प्रकार के शोथों में पाये जाते हैं । ॥७॥

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि संदूषयतीह वायुः । तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥८॥

शोथ की संप्राप्ति (Pathogenesis)–अपने हेतुओं द्वारा प्रकुपित हुई वायु बाहरी सिराओं में पहुँचकर कफ, रक्त एवं पित्त को दूषित कर देती हैं, जिससे ये (कफ, रक्त एवं पित्त) बढ़कर वायु के मार्ग को रोक देते हैं । अर्थात् इनके द्वारा वायु का मार्ग रोक दिया जाता है, जिसके कारण वायु उन्मार्ग गमन करती है । फलतः उत्सेध लक्षणों वाले शोथ की उत्पत्ति होती है । ॥८॥

चक्रपाणि–'बाह्याःसिरा इत्यादि' के द्वारा शोथ की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है । बाह्य इति अगम्भीराः=जो सिरायें शरीर के ऊपरी भाग में स्थित हैं अर्थात् deep seated न हों । सिरा शब्द से यहाँ सामान्यतः स्रोतस् अर्थ लिया गया है । बद्धमार्ग इति-स्रोतसों के मार्ग का अवरुद्ध होना ।

उत्सेधेनाव्यभिचारिणा लिङ्गयत इति उत्सेधलिङ्गः–उत्सेध (Swelling) रूपी लक्षण का अव्यभिचारी रूप में पाया जाना, अर्थात् सभी प्रकार के शोथों में उत्सेध (Swelling) निश्चित रूप से पाया जाता है । ॥८॥

उरःस्थितैरूर्ध्वगथस्तु वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैस्तु मध्ये । सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित् स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ॥९॥

शोथों की विशिष्ट संप्राप्ति–प्रकुपित हुए दोष जब उरः प्रदेश में सञ्चित होते हैं तब वे शरीर के ऊर्ध्व भाग में शोथ को उत्पन्न करते हैं, वही प्रकुपित दोष जब वायु के स्थान में आश्रित होते हैं तब अधः भाग में शोथ को उत्पन्न करते हैं, मध्य भाग में स्थित होने पर शोथ मध्य भाग में तथा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने पर सर्वाङ्ग शोथ को उत्पन्न करते हैं । यदि दोष किसी अवयव विशेष में आश्रित (सञ्चित) हैं तब शोथ अवयव विशेष में उत्पन्न होता है । शोथ मे जिस दोष की प्रबलता होती है वह शोथ उस दोष के नाम वाला होता है । ॥९॥

चक्रपाणि–'उरः स्थितैरित्यादि' के द्वारा शोथों की विशेष संप्राप्ति को बताया गया है । **ऊर्ध्वमिति उरः प्रभृत्यूर्ध्व शरीरे**- दोषों के उरः प्रदेश (हृदय प्रदेश) के आश्रित होने पर शोथ शरीर के ऊर्ध्व भाग में होता है ।

अध इति–पक्वाशय आदि का ग्रहण किया गया है, क्योंकि वायु का स्थान पक्वाशय बताया गया है । अर्थात् दोषों के पक्वाशय आदि के पास सञ्चित होने पर शोथ शरीर के अधः भाग में होता है ।

मध्यगतैरिति–हृदय एवं पक्वाशय के बीच के भाग में दोषों के आश्रित होने पर उदर प्रदेश में शोथ उत्पन्न होता है । **क्वचिदिति**-कण्ठ, तालु आदि भाग में दोष स्थित होने पर इन विशेष भागों में शोथ उत्पन्न हो जाता है, ये शोथ एकांगज शोथ कहे जाते हैं । स्थान विशेष के आधार पर उन एकांग शोथों के नाम दिये जाते हैं, यथा-गलशोथ, तालुशोथ इत्यादि । अथवा स्थान विशेष के आधार उन शोथों के अलग-अलग नाम हो जाते हैं, ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, यथा-ऊर्ध्व शोथ, अधः शोथ, तालु शोथ आदि । ॥९॥

ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम् ।

शोथ के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)–शोथ के अधोलिखित पूर्वरूप पाये जाते हैं-

१. शोथ के स्थान पर ऊष्मा की वृद्धि, अर्थात् शोथ प्रभावित भाग अन्य भाग की तुलना में उष्ण (गरम) होता है ।

२. इन्द्रियों में उपताप का अनुभव होना (Burning sensation in the eyes) ।

३. सिराओं में तनाव का होना (सिरा आयाम) अथवा सिराओं में खिचाव का अनुभव होना । (आयाम=stretching)

चक्रपाणि–'ऊष्मेत्यादि' के द्वारा शोथ के पूर्वरूप को बताया गया है । दवथुः -चक्षु आदि इन्द्रियों में जलन का होना । **सिराणामायाम इति सिराप्रसरणम्**=सिराओं का फैलना ।

सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तच्छब्दमभ्येति भिषग्जितं च ॥१०॥

सभी शोथ त्रिदोषज ही होते हैं, लेकिन शोथ में जिस दोष के लक्षण प्रधान (मुख्य) रूप से पाये जाते हैं वह शोथ उसी नाम को प्राप्त करता है तथा चिकित्सक प्रधान रूप से उसी दोष की चिकित्सा करता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–सभी शोथ त्रिदोषज होते हुए भी उनकी किस प्रकार वातज आदि संज्ञा होती है एवं उनकी चिकित्सा किस प्रकार भिन्न होती है, इसका उपदेश यहाँ 'सर्व इत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

अधिकानि अधिकस्य वा दोषस्य लिङ्गानि इति अधिकदोषलिङ्गानि–दोष के लक्षणों का अधिक रूप में पाया जाना 'अधिकदोषलिङ्गानि' कहा गया है । उन दोषों के पाये जाने वाले अधिक लक्षणों के द्वारा ही उस शोथ का नामकरण होता है, यथा-वातज शोथ, पित्तज शोथ आदि । उसी प्रकार चिकित्सक भी शोथ में जो दोष प्रधान होता है उसी की चिकित्सा प्रधान रूप से करता है । अर्थात् लक्षणों की प्रमुखता अथवा दोषोल्बणता के आधार पर चिकित्सा के भी भेद हो जाते हैं । ॥१०॥

विशेष–आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन 'दवथु' से दाह (Burning Sensation) अर्थ ग्रहण करते हैं ।

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमुष्माऽथ सिरातनुत्वम् । सलोमहर्षाऽङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ।।११।।

शोथ के सामान्य लक्षण–

- शोथ युक्त भाग में भारीपन (Heaviness) का पाया जाना ।
- शोथ का अनवस्थित होना । अर्थात् एक स्थान पर स्थित न रहना (Instability)
- उभार (उत्सेध) का पाया जाना (Swelling)
- शोथ युक्त भाग का उष्ण होना (Rise in temperature)
- सिराओं का पतला होना
- रोमहर्ष (Horripilation)
- अंगों में विवर्णता का पाया जाना (हाथ-पैरों की त्वचा के रंग में परिवर्तन का होना)

चक्रपाणि–'स गौरवमित्यादि' के द्वारा शोथ के सामान्य लक्षणों का अभिधान किया गया है । ॥११॥

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः । प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ।।१२।।

वातज श्वथथु (शोथ) के लक्षण–इसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. यह शोथ 'चल' स्वभाव वाला होता है, अर्थात् इसका स्वभाव प्रायः परिवर्तित होता रहता है ।

२. शोथ युक्त भाग की त्वचा पतली (thin), परुष-स्पर्श में रूक्ष (Rough), लाल (Red) अथवा काले (Black) वर्ण की हो जाती है ।

३. त्वचा में प्रसुप्ति (शून्यता-Numbness), रोमहर्ष (Horripilation) एवं वेदना (Pain) का पाया जाना ।

४. बिना कारण के ही शोथ का प्रशमित होना ।

५. शोथ को अंगुली से दबाने के बाद शोथ का दब जाना तथा पुनः ऊपर उठ आना ।

६. दिन में शोथ के लक्षणों का बढ़ना तथा रात्रि में कम हो जाना ।

चक्रपाणि–'चल इत्यादि' के द्वारा **वातज शोथ** के लक्षणों को बताया गया है । **तनुत्वगिति**-त्वचा का पतला होना । असित= कृष्ण (Black) । सुप्तिः स्पर्शाज्ञानम्=स्पर्श ज्ञान का अभाव होना । **हर्षः 'झणझणिका' इति ख्याता वेदना**-त्वचा में झुनझुनी का होना (Tingling sensation का होना) अथवा रोमहर्ष (Horripilation) ।

अनिमित्ततः प्रशाम्यतीति–वायु के चल गुण के कारण कभी-कभी बिना निमित्त (कारण) के भी शोथ कम हो जाता है, यह अभिप्राय है । कुछ आचार्य 'अनिमित्ततः' के स्थान पर 'निमित्ततः' का पाठ करते हैं, तब "स्नेहोष्णमर्दनाभ्यां च प्रणश्येत् स च वातिकः" [स्नेह, उष्ण एवं मर्दन आदि के द्वारा जो शोथ शान्त हो जाय वह वातिक होता है ।] (सू.अ. १८) के द्वारा जो कहा गया है वह इसी के लिए कहा गया है । अर्थात् इन कारणों के प्राप्त होने पर वातिक शोथ शान्त हो जाता है, यह अभिप्राय है ।

प्रोन्नमतीति संपीडनानन्तरमेवोन्नमति–दबाने के बाद शीघ्र ही उठ जाना ।

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान् भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः । य उच्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ।।१३।।

पित्तज शोथ के लक्षण–पित्तज शोथ के निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. यह शोथ स्पर्श में मृदु (Soft), एवं वामक गंध युक्त (Emits odour) होता है अर्थात् जिसके गंध सूँघने से वमन होने लगे ।

Scanned by CamScanner

२. इस शोथ का वर्ण असित (Black), पीत (Yellow) एवं रक्त (Pink) हो जाता है।

३. शोथ के साथ-साथ व्यक्ति को भ्रम (Giddiness), ज्वर (Fever), स्वेदाधिक्य (Sweating), तृष्णा (प्यास का अधिक लगना Thirst) एवं मद का पाया जाना।

४. शोथ में दाह का पाया जाना (Burning sensation)।

५. स्पर्श करने पर शोथ युक्त भाग में वेदना का होना (Tenderness)।

६. आँखों का लाल हो जाना (Redness of the eyes)।

७. पित्तज शोथ में अत्यधिक जलन एवं पाक (Suppuration) की प्रवृत्ति पायी जाती है।

चक्रपाणि-'मृद्वित्यादि' के द्वारा पैत्तिक शोथ के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। **उष्यत इति दह्यते**-शोथ में दाह का होना। **स्पर्शरुगिति**-स्पर्श को सहन न कर पाना (Tenderness) ॥१३॥

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्। स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥१४॥

कफज शोथ के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja S'vayathu)-

१. शोथ प्रभावित भाग में भारीपन (Heaviness) का होना।

२. शोथ का स्थिर (Stable) होना अर्थात् शोथ एक निश्चित भाग में होता है।

३. कफज शोथ से आक्रान्त रोगी में पाण्डु (Anaemia) एवं अरुचि (Anorexia) का पाया जाना। इसके साथ ही प्रसेक (मुख से बार-बार या अत्यधिक लाला स्राव का निकलना Excessive salivation), अत्यधिक निद्रा (Excessive sleep), वमन (Vomiting) एवं अग्निमांद्यता (भूख का न लगना) पायी जाती है।

४. यह शोथ देर से उत्पन्न होता है एवं देर से प्रशमित होता है।

५. इस शोथ को दबाकर छोड़ देने पर जल्दी से इसका गड्ढा नहीं भरता (Pit does not get filled up) अर्थात् शोथ का उभार अपनी सामान्य अवस्था में जल्दी नहीं आता।

६. कफज शोथ रात्रि में बढ़ता है, अर्थात् कफज शोथ का बल रात्रि में बढ़ता है। Kaphaja Sotha aggravated at night.

चक्रपाणि-'गुरुरित्यादि' के द्वारा यहाँ कफज शोथ के लक्षणों को बताया गया है। **अरोचकान्वित इति**-इस व्याधि (कफज शोथ) के साथ-साथ रोगी को अरोचक रोग भी पाया जाता है, अर्थात् अरोचक सहकारी व्याधि के रूप में इसके साथ लगा रहता है।

कृच्छ्रजन्मप्रशम इति-कष्ट के साथ व्याधि (शोथ) का उत्पन्न होना एवं कष्ट के साथ ही प्रशमित होना। (देर से उत्पन्न होना एवं देर से शान्त होना)

रात्रिबली कफात्मक इति-देह के क्लेद से स्रोतस् रात्रि में अवरुद्ध हो जाते हैं, ऐसा अचेष्टा के कारण कफ की वृद्धि होने से तद्जनित शोथ बलवान् होता है। अर्थात् व्यक्ति रात्रि में कोई कार्य नहीं करता है, अपितु सोता है, जिसके कारण कफ बढ़कर स्रोतावरोध उत्पन्न करता है। दिन में स्रोतस् खुल जाते हैं एवं व्यक्ति चेष्टा युक्त (गतिमान) रहता है। जिसके कारण दिन में कफ की वृद्धि नहीं हो पाती, लेकिन वायु की वृद्धि होती है। अतः वातशोथ दिन में बली होता है तथा कफशोथ का बल दिन में कम होता है। ॥१४॥

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः। स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान् परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः ॥१५॥

श्वयथु की असाध्यता-अधोलिखित लक्षणों वाला श्वयथु (शोथ Oedema) असाध्य होता है-

→ यदि शोथ कृश एवं दुर्बल व्यक्ति (Emaciated and weak person) को उत्पन्न हुआ है।

→ उत्पन्न होने वाले शोथ में वमन आदि उपद्रव विद्यमान हों,

→ शोथ मर्मस्थान तक विद्यमान हो,

→ दुर्बल व्यक्ति के शोथ प्रभावित भाग पर सिराजाल का विद्यमान होना।

→ शोथ युक्त भाग से जल का स्राव निकलना।

→ दुर्बल पुरुष के सर्वाङ्ग में होने वाला शोथ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'कृशस्येत्यादि' के द्वारा यहाँ शोथ की असाध्यता को स्पष्ट किया गया है । **वमिपूर्वकैरिति**-त्रिशोथीय अध्याय (सू.अ. १८) में "छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च । सुप्तिः शोथः सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः" [श्वास (Dyspnoea), अरुचि (Anorexia), तृष्णा (Thirst), ज्वर (Fever), अतीसार (Diarrhoea), सुप्ति (Numbness), शोथ एवं दुर्बलता (Weakness); ये लक्षण शोथ के उपद्रव के रूप में प्रकट होते हैं ।] के द्वारा कहा गया है ।

मर्मानुगतो राजिमानिति च पृथग्लक्षणम्–शोथ मर्मस्थान तक विद्यमान हो एवं शोथ प्रभावित भाग के ऊपर सिराजाल का दिखाई देना, ये दोनों लक्षण अलग-अलग हैं । [सिराजाल की विद्यमानता जलोदर में पायी जाती है, जो कि असाध्यता का परिचायक है ।] शोथ प्रभावित भाग से जल का स्राव निकलना Elephantiasis (पीलपाँव) में पाया जाता है, यह भी शोथ की असाध्यता की ही अवस्था है । ॥१५॥

अहीनमांसस्त्व च एकदोषजो नवो बलस्थस्य सुखः स साधने ।

श्वयथु (शोथ) की साध्यता (Curability of the Oedema)–जिस रोगी का मांस क्षीण न हो, एक दोषज शोथ हो अर्थात् उसमें प्रधान रूप से एक दोष के लक्षण विद्यमान हो, नया हो, पुराना न हो एवं बलवान् व्यक्ति को हुआ हो, ऐसे पुरुषों में उत्पन्न होने वाला शोथ साध्य होता है ।

चक्रपाणि–'अहीनेत्यादि' के द्वारा शोथ के सुख-साध्यता के लक्षणों को बताया गया है । कृच्छ्रसाध्य के लक्षणों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन इसका ज्ञान सुखसाध्य के लक्षणो की असम्पूर्णता से करनी चाहिए । यद्यपि श्वयथु (शोथ) के हेतु एवं लक्षणों का वर्णन त्रिशोथीय अध्याय में किया जा चुका है, फिर भी प्रकरणवश उसका उल्लेख संक्षेप मे यहाँ किया गया है ।

निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमैरुपाचरेत्तं बलदोषकालवित् ।।१६।।

सामान्य चिकित्सासूत्र (Line of Treatment)–बल (आतुर के बल Strength of the Patient), दोष (दोषो के स्वभाव (Nature of the Doshas), एवं काल (व्याधि के व्यक्त काल) का सम्यक् ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को शोथ की चिकित्सा निदान विपरीत, दूष्य (दोष) विपरीत एवं ऋतु विपरीत क्रम में करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–'निदानेत्यादि' के द्वारा यहाँ सामान्य चिकित्सा सूत्र का अभिधान किया गया है । 'निदानादिविपरीतक्रमैः' निदान आदि विपरीत क्रमो के द्वारा अर्थात् लङ्घन आदि उपक्रमों को अपनाना चाहिए ।

'बलदोषकालवित्' से यहाँ निदान आदि के विपरीत चिकित्साक्रम को बताया गया है । बल तथा दोष-दोषों के बल, दोष आम आदि भेद से अलग-अलग होते है, काल का अभिप्राय व्याधि की अवस्था रूप काल (Time of the manifestation of the disease) से लिया गया है । इन अवस्थाओं का सम्यक् ज्ञान करके जो उचित हो वही करना चाहिए । निदान मे वर्णित दोष शब्द से वातादि दोषो का ग्रहण किया गया है । ऋतु शब्द से नित्यग काल अर्थ लिया गया है । उसी से ही उसका विशिष्ट ज्ञान होने से 'बलदोषकालविदिति' वचन पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता । अन्य आचार्य प्रथम प्रयुक्त 'दोष' शब्द से दूष्य रूप धातुओं का ग्रहण करते है तथा द्वितीय से वातादि दोषों का ग्रहण करते हैं । जबकि प्रथम व्याख्यान में ही दोष शब्द के द्वारा ही दोष के आधार रूप दूष्य का ग्रहण हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए । ॥१६॥

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः । शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधो विरेचनैरूर्ध्वहरैस्तथोर्ध्वजम् ।।१७।।
उपाचरेत् स्नेहभवं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत् स्नेहविधिं च रूक्षजे । विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् ।।१८।।
पयश्च मूर्च्छारतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते । कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ।।१९।।

→ आम दोष से उत्पन्न शोथ में लङ्घन एवं पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

→ दोषों की अत्यधिक वृद्धि की अवस्था में सर्वप्रथम संशोधन (वमन-विरेचनादि) का प्रयोग करना चाहिए ।

→ शिरोगत दोषों में अथवा शोथ शिरःप्रदेश में हो तब शिरोविरेचन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा शिरोगत दोषों का निर्हरण करना चाहिए।

→ अधः प्रदेश में होने वाले शोथ में विरेचन के प्रयोग द्वारा दोषों का निर्हरण करें तथा ऊर्ध्वग शोथ में वमन का प्रयोग करना चाहिए।

→ अत्यधिक स्नेह पदार्थों के सेवन से उत्पन्न शोथ की चिकित्सा में रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

→ रूक्ष हेतुओं से उत्पन्न शोथ में स्नेहन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

→ वातज शोथ में यदि मलबद्धता (Constipation) हो तब निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

→ यदि शोथ (Oedema) की उत्पत्ति पित्त व वात जन्य कारणों से हुई हो अथवा पित्त व वात की वृद्धि के कारण शोथ हो, उस स्थिति में **तिक्तघृत** का प्रयोग करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

→ यदि रोगी मूर्च्छा (Fainting), अरति (disliking for every thing), दाह (Burning sensation) एवं तृष्णा (Morbid thirst) से पीड़ित हो तब उसे दुग्ध का प्रयोग करना चाहिए।

→ यदि शोथ रोगी को शोधन कराना है तब औषधियों के साथ गोमूत्र की योजना करनी चाहिए। अर्थात् निरूह बस्ति के द्रव्यों के साथ ही गोमूत्र का भी प्रयोग करना चाहिए।

→ यदि शोथ कफ के कारण है तब उसे क्षार, कटु एवं उष्ण द्रव्यों के साथ-साथ गोमूत्र, तक्र व आसव का प्रयोग कराना चाहिए। अर्थात् इन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा कफज शोथ का प्रशमन करना चाहिए।

चक्रपाणि-आमजमिति-आम दोष से उत्पन्न; शोथ की उत्पत्ति आम दोष से हुई हो। अपक्वता च प्रायो दोषाणां प्रथमदुष्टौ भवति-'अपक्वता' प्रायः दोषों की प्रथम दुष्टि होती है। **क्रमैरिति**=चिकित्सा के द्वारा। **अध इति अधोभागजं विरेचनैरुपाचरेत्**-अधः भाग, पाद व बस्ति प्रदेश में होने वाले शोथ की चिकित्सा में विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। वमन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा ऊर्ध्वभाग में उत्पन्न शोथ, यथा-मुखशोथ, वक्षप्रदेश में उत्पन्न शोथ आदि, को जीतना चाहिए। 'ऊर्ध्वज' का अभिप्राय शरीर के ऊर्ध्व भाग में उत्पन्न होने वाले शोथ से है।

सतिक्तकं घृतमिति-तिक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत, यथा-तिक्तघृत, महातिक्त आदि। पित्तानिलजे इति-वातपित्तज (द्वन्द्वज) शोथ में।

मूर्च्छादय इह संजाता यस्य तस्मिन् मूर्च्छारतिदाहतर्षिते-जिस रोगी में (शोथ रोगी में) मूर्च्छा, अरति, दाह एवं तृष्णा उत्पन्न हो उसमें दुग्ध का प्रयोग करना चाहिए, अथवा बस्ति में दुग्ध की योजना करनी चाहिए।

विशोधनीये इति-मूर्च्छा युक्त होने पर, यदि आतुर शोधनीय है। 'समूत्रेत्यादि' के द्वारा समभाग गोमूत्र, तक्र एवं आसव का प्रयोग करना चाहिए, बताया गया है। ॥१७-१९॥

ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं नवान्नं गौडं पिष्टान्नं दधि तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम्।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान् वर्जयेन्मैथुनं च ॥२०॥

शोथ में अपथ्य (Unwholesome Regimens)-शोथ रोगी को अधोलिखित आहार-विहारों से अपने को बचाना चाहिए। अर्थात् इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

→ शोथ युक्त रोगी को ग्राम्य, जलीय एवं आनूप प्राणियों के मांस जो बलवर्धक न हों, का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

→ शुष्क शाक (dried vegetables), नये अन्न (Freshly harvested cereals and pulses), गौड (गुड़ के बने पदार्थ), पिष्टान्न (चावल का आटा), दधि (Curd), तिल द्वारा निर्मित खाद्य पदार्थ, पिच्छिल (Slimy) अन्न, अम्ल मद्य (Sour alcoholic preparation), धाना (अङ्कुरित भुना हुआ यव) एवं वल्लूर (शुष्क मांस dried meat) का प्रयोग न करें।

→ समशन (पथ्य एवं अपथ्य द्रव्यों को मिश्रित कर प्रयोग करना समशन कहलाता है), गुरु (जो अन्न पचने में भारी हो), असात्म्य [अपथ्य-जो अपने अनुकूल न हो] एवं विदाही (Which cause burning sensation) अन्न का सेवन न करें।

→ स्वप्न (दिवा शयन) एवं मैथुन का निषेध है।

चक्रपाणि-'ग्राम्येत्यादि' के द्वारा निदानत्व होने से प्राप्त निषेधों को भी महात्यय युक्त (शीघ्र हानिकारक) होने के कारण अत्यधिक निषिद्धता को दर्शाया गया है। **गौडमिति**-गुड़ के विकार, यहाँ विकार के अर्थ में 'अण्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। धाना अङ्कुरितभृष्टयवाः= Germinated barley after frying (अंकुरित भुने हुए यव)। 'वल्लूर' से शुष्क मांस का ग्रहण किया गया है। समशनं-पथ्यापथ्ययोरेकत्र भोजनम् (पथ्य एवं अपथ्य अन्न को एक साथ मिलाकर खाना 'समशन' कहलाता है। ॥२०॥

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणी च सायोरजस्का त्रिफलारसेन। पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोफं गव्येन मूत्रेण हरीतकी च ॥२१॥
हरीतकीनागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा। सर्वं पिबेत्त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ॥२२॥

कफज शोथ की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Oedema)

→ व्योष (शुण्ठी, काली मिर्च, पिप्पली), त्रिवृत् (श्वेत निशोथ) एवं कटुरोहिणी (कुटकी); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में अन्य घटक द्रव्यों के समान ही लौह चूर्ण मिलावें। इस लौह चूर्ण (भस्म) मिश्रित योग का प्रयोग त्रिफला के रस (क्वाथ) के साथ कफज शोथ के रोगी को करना चाहिए।

→ गोमूत्र के साथ हरीतकी चूर्ण का प्रयोग करने से कफज शोथ शान्त हो जाता है।

Scanned by CamScanner

→ हरीतकी, शुण्ठी (सोंठ), देवदारु एवं पुनर्नवा (गदहपूरना) के चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करें। अथवा हरीतकी, सोंठ, देवदारु एवं पुनर्नवा; इन सभी द्रव्यों के कपड़छन चूर्ण का प्रयोग गोमूत्र के साथ त्रिदोषज शोथ में करना चाहिए, औषधि के पच जाने के बाद आतुर स्नान करके गोदुग्ध के साथ अन्न का सेवन करे। ॥२१-२२॥

चक्रपाणि–कफदोष ही यहाँ प्रथम चिकित्स्य होने से 'व्योषमित्यादि' के द्वारा कफजशोथ की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। 'सायोरजस्केति' से यहाँ मारण किया हुआ (भस्मीभूत) लौह का ग्रहण किया गया है अथवा करना चाहिए। क्योंकि रसायन प्रकरण में मृत अयोरज (लौह भस्म) के प्रयोग का विधान है। अयोरज न समं तुल्यमानम्-लौह भस्म की मात्रा चूर्ण के बराबर न रखें, क्योंकि इसके प्रयोग से हानियाँ भी होती है। अर्थात् इसके दुष्परिणाम मिलते हैं, अतः इसकी मात्रा अत्यल्प रखनी चाहिए। **हरीतक्यादि** के कल्क का प्रयोग सुखोष्ण जल के साथ करना चाहिए। **सपुनर्नवां वा सर्वमिति**-हरीतक्यादि का ग्रहण है। त्रिष्वपि=वातादि जनित तीनों प्रकार के शोथों में।

'स्नातश्चेत्यादि' से- सभी योगों के जीर्ण हो जाने के बाद आतुर को स्नान करके दुग्ध के साथ अन्न का सेवन करना चाहिये, यह निर्देश दिया गया है। ॥२१-२२॥

विशेष–यहाँ लौह भस्म की मात्रा चूर्ण के घटक द्रव्यों के मान के बराबर रखनी चाहिए, न कि संयुक्त मात्रा के बराबर।

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान् प्रस्थेन धीरः पयसाऽक्षमात्रान्। मयूरकं मागधिकां समूलां सनागरां वा प्रपिबेत् सवाते ॥२३॥
दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना। द्विप्रस्थमात्रं तु पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥२४॥
सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा। त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥२५॥
सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद्भोजनवारिवर्जी। गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा ॥२६॥
तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं च। गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥२७॥
विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्। स्रोतोविबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत् सुजातान् ॥२८॥

वातज श्वयथु (शोथ) की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Sotha)

१. पुनर्नवा (गदहपूरना), शुण्ठी, मुस्तक; प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला लेकर कल्क बनाकर एक प्रस्थ गोदुग्ध में विधिवत पकाकर पान करें।

२. मयूरक (अपामार्ग) का मूल, मागधिका (पिप्पली) मूल एवं शुण्ठी (सोंठ); प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष मात्रा में लेकर १ प्रस्थ गोदुग्ध में पाक करें। इसका प्रयोग वातप्रधान शोथ में पानार्थ करना चाहिए।

३. दन्तीमूल, त्रिवृत्, त्र्यूषण (शुण्ठी, कालीमिर्च एवं पिप्पली) एवं चित्रकमूल; प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ पल (२-२ तोले) लें। इन्हें कल्क बनाकर २ प्रस्थ गोदुग्ध में पाक करें, गोदुग्ध आधा अवशिष्ट बचने पर छान कर सिद्ध दुग्ध को अलग करें एवं इसका पान वातपित्तज शोथ वाला रोगी करे। (यह एक विरेचक योग है, इसके प्रयोग से पित्त दोष का निर्हरण होकर शोथ शान्त हो जाता है।)

४. अथवा शुण्ठी (सोंठ), पीतद्रु (देवदारु) इनके क्वाथ से साधित गोदुग्ध का पान करना चाहिये।

५. श्यामा (काली निशोथ), उरुबुक (एरण्डमूल), ऊषण (काली मिर्च) से साधित गोदुग्ध का पान करावें।

६. त्वक् (दालचीनी), देवदारु, पुनर्नवा (गदहपूरना), महौषधि (शुण्ठी) से साधित गोदुग्ध का प्रयोग।

७. गुडूची (अमृता या गुड़बेल), सोंठ (शुण्ठी) एवं दन्तीमूल से सिद्ध गोदुग्ध का प्रयोग।

८. आहार एवं जल का निषेध करते हुए बल एवं दोषादि का विचार करते हुए १ सप्ताह अथवा १ महीने तक ऊँटनी के दुग्ध का पान करें।

९. गाय के दूध अथवा भैंस के दूध में गोमूत्र मिलाकर पान करें।

१०. अथवा दुग्धाहार पर रहते हुए गोमूत्र पान करें।

शोथ रोगी के अतिसार (Diarrhoea) एवं मलबद्धता (Constipation) में कर्तव्य–

११. यदि शोथ रोगी को अतिसार (भिन्न वर्चस्-diarrhoea) हो तथा इसका कारण आम हो अर्थात् आमातिसार हो तब उसे सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सौवर्चल नमक (काला नमक) एवं मधु मिलाकर तक्र के साथ पीने के लिए देना चाहिये।

यदि रोगी में मलबद्धता (Constipation) हो अथवा आम दोष युक्त पुरीष थोड़ा-थोड़ा करके बार-बार आ रहा हो तब उसे **गुड़+हरीतकी चूर्ण** अथवा गुड़+शुण्ठी चूर्ण का प्रयोग कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

१२. यदि आतुर में विबन्ध (Constipation) एवं अधोवायु (अपान वायु) अवरुद्ध हो तब उस स्थिति में आतुर को गोदुग्ध अथवा मांसरस के साथ भोजन से पूर्व एरण्ड तैल का प्रयोग करना चाहिए।

यदि स्रोतों में अवरोध हो तथा आतुर को अग्निमांद्य एवं अरुचि हो तब उसे मद्य एवं अरिष्ट का पान कराना चाहिए। ॥२३-२८॥

चक्रपाणि–'पुनर्नवेत्यादि' योग में क्षीर का मान १ प्रस्थ बहुत अधिक होने से- पुनर्नवा आदि चूर्ण को १ प्रस्थ दुग्ध में पकाकर अर्धावशिष्ट रहने पर अर्थात् १/२ प्रस्थ शेष दुग्ध का पान करना चाहिए। मयूरक, मागधिका आदि से निर्मित योग को पूर्व योग की भाँति गोदुग्ध में पकाकर पीना चाहिए, ऐसा निर्देश है। 'पलार्ध' से यहाँ २ कर्ष= २ तोला का ग्रहण है। यहाँ औषधि की तुलना में क्षीर की मात्रा अधिक होने से अल्प मात्रा में क्षीर का प्रयोग साधन हेतु करना चाहिए, ऐसा विचार कुछ आचार्यों का है। क्योंकि कहा भी गया है, यथा- "यथा कुर्वन्ति स उपायः" (सू.अ. २६) इति [द्रव्य जिस प्रकार कार्य करते हैं उसे उपाय कहते हैं।]

पीतद्रुः=देवदारु। ऊषणं=मरिच (कालीमिर्च)। **भोजनवारिवर्जीति**=भोजन एवं जल का प्रयोग न करते हुए अर्थात् मात्र दुग्ध (गोदुग्ध) का ही सेवन करते हुए। **गव्यमित्यादावपि गवां मूत्रमित्यन्तेन सप्ताहं मासं वेति तथा भोजनवारिवर्जीति चानुवर्तयन्ति**-गोमूत्र का सेवन १ सप्ताह अथवा १ मास तक करें उस काल में भोजन व जल का निषेध है तथा मात्र गोदुग्ध के ही सेवन का निर्देश दिया गया है।

'समूत्रमिति' से यहाँ-'मूत्रसमं' क्षीराशनमिति' भी सम्बन्धित है, अर्थात् मूत्र के साथ क्षीराशनमिति का भी सम्बन्ध है। ॥२३-२८॥

विशेष (Comments)–आचार्य गंगाधर 'क्षीराशनं' से 'क्षीरेणान्नाशनः' अर्थ लेते हैं, अर्थात् दुग्ध के साथ अन्न का सेवन करना चाहिए एवं इस काल में जल का निषेध करना चाहिए।

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च। द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत् कुर्चिकमस्तुनस्तु ॥२९॥
त्रिभागशेषं च सुपूतशीतं द्रोणेन तत् प्राकृतमस्तुना च। सितोपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीनाम् ॥३०॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात् प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान्। भगन्दरार्शःक्रिमिकुष्ठमेहान् वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कनं च ॥३१॥

इति गण्डीराद्यरिष्टः।

गण्डीराद्यरिष्ट–गण्डीर, भल्लातक (शुद्ध), चित्रकमूल, शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, बृहतीद्वय (वनभण्टा एवं कण्टकारी) मिश्रित रूप से इन नौ द्रव्यों को २ प्रस्थ मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इसे १ द्रोण कुर्चिका मस्तु (छेना का पानी) में मिलाकर गोहरे के मन्द आँच पर पाक करें, तीन भाग मस्तु शेष रहने पर उसे स्वच्छ वस्त्र से छानकर पृथक् कर लें। इस पृथक् किये हुए द्रव युक्त भाग में १ द्रोण प्राकृत मस्तु (दही का पानी) एवं सौ पल मिश्री मिलावें। एक मिट्टी का घड़ा जिसके अन्दर का भाग समभाग पिप्पली एवं चित्रकमूल के कल्क से लेप कर सुखाया गया हो, लें। उसमें मिश्री मिश्रित द्रव पदार्थ को डालकर ऊपर से मुख को बन्द कर खुली जगह में दस दिन के लिये रख दें। दस दिन के बाद इसे छानकर बोतलों में भर कर सुरक्षित रख लें। यह अरिष्ट शोफ (Oedema) के साथ-साथ भगन्दर (Fistula-in-ano), अर्श (Piles), क्रिमि (Worm), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), प्रमेह (obstinate urinary disorders), वैवर्ण्य (discolouration of the skin), कार्श्य (Emaciation) एवं वातज हिक्का को दूर करता है।

[अरिष्ट का सेवन भोजनोत्तर २ तोले से लेकर ४ तोले की मात्रा में सम भाग जल मिलाकर करें।]

चक्रपाणि–'कुर्चिकमस्तुन' से यहाँ दही के साथ दूध को पकाकर जो मस्तु तैयार किया जाता है उसे कहते हैं। 'कुर्चिकमस्तु' एक प्रकार का Preparation है जिसे गरम दूध में दही डालकर तैयार किया जाता है। मात्र दही से जो मस्तु तैयार किया जाता है उसे प्राकृत मस्तु कहा गया है। **वैहायसे इति**-खुले आकाश में, सिकहर में लटकाकर रखना। ॥२९-३१॥

जल्पकल्पतरु टीका–'गण्डीराद्यरिष्ट' प्रसिद्ध मद्य है। अरिष्ट निर्माण की विधि को यहाँ 'गण्डीरेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। गण्डीर=समठ। गण्डीर आदि नौ द्रव्यों की संयुक्त मात्रा २ प्रस्थ लेकर कूट कर चूर्ण कर लें। इसमें एक द्रोण कुर्चिकमस्तु (छेना का पानी जो दूध को गरमकर दही डालकर तैयार किया गया हो) डालें एवं मंदाग्नि पर पाक करें। कुर्चिक दो प्रकार से तैयार किया जाता है- १. तक्रकुर्चिक, २. दधिकुर्चिक, यथा-तप्ते पयसि तक्रस्य प्रक्षेपात् तक्रकूर्चिकम् (तप्त दुग्ध में खट्टे तक्र के प्रक्षेप से जो योग तैयार होता है उसे तक्र कुर्चिक कहा गया है।) एवं अम्ल दही के प्रक्षेप से जो योग तैयार होता है उसे 'दधि कुर्चिक' कहते हैं। पाक करते हुए जब १/२ भाग अवशेष बचे तब उसमें प्राकृत दधिमस्तु (छाछ)- १ द्रोण तथा १०० पल मिश्री डालें। इन द्रव युक्त द्रव्यों को चित्रक एवं पिप्पली के कल्क से लिप्त घृत भावित घड़े में डालकर, उसके मुख को बन्द करके, खुले आकाश के नीचे दस दिन के लिए रख दें।

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाक्षद्राक्षाफलानां च सपिप्पलीनाम्। शतं शतं जीर्णगुडात्तुलां च संक्षुद्य कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥३२॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीते स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्नः। शोफान् विबन्धान् कफवातजांश्च निहन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ॥३३॥

इत्यष्टशतोऽरिष्टः।

Scanned by CamScanner

अष्टशतोऽरिष्ट–काश्मर्य (गम्भारी) का फल, धात्री (आँवला), मरिच (कालीमिर्च), अभया (हरीतकी), अक्ष (बहेड़ा) का छिलका, द्राक्षा (मुनक्का) एवं पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य १००-१०० पल लें एवं इन्हें कूटकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को १ द्रोण जल में डालें तथा उसमें १०० पल गुड़ मिलावें, गुड़ पुराना लें। अब इस घोल को मधु भावित (लिप्त) मिट्टी के घड़े में रखकर मुख को बन्द कर दें। अब इस घड़े को उष्ण काल में सप्ताह भर के लिए खुले स्थान पर रखें। अरिष्ट तैयार होने पर छानकर बोतलों में भर लें।

यह अरिष्ट विबन्ध (Constipation) तथा वातकफ जनित शोथ को दूर करता है तथा साथ में जाठराग्नि को भी प्रदीप्त करता है।

चक्रपाणि–'काश्मर्येत्यादौ' से 'अष्टशतोऽरिष्ट' की निर्माण विधि का अभिधान किया गया है। **उष्णे इति**-उष्ण काल में (गर्मी के दिनों में)। द्विगुणमिति=दो सप्ताह तक। अर्थात् बन्द घड़े को ग्रीष्म ऋतु में १ सप्ताह तक तथा शीत ऋतु में दो सप्ताह तक Ferment होने के लिए रखें। **अष्टशत इति संज्ञा काश्मर्यादिसप्तशतं मिलित्वा कृतत्वाज्ज्ञेया**-काश्मर्यादि सातों द्रव्यों की संयुक्त मात्रा ७०० पल लें, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १०० पल ग्रहण करें।

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे दन्तीं गुडूचीमथ चित्रकं च। निदिग्धिकां च त्रिपलानि पक्त्वा द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ।।३४।।
पूत्वा रसं द्वे च गुडात् पुराणात्तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम्। मासं निदध्याद्घृतभाजनस्थं पल्ले यवानां परतस्तु मासात् ।।३५।।
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः। गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धे जीर्णे पिबेद् व्याधिबलं समीक्ष्य ।।३६।।
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहज्वरारोचकमेहगुल्मान्। भगन्दरं षड्जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः ।।३७।।
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च हिक्कां किलासं च हलीमकं च। क्षिप्रं जयेद्वर्णबलायुरोजस्तेजोन्वितो मांसरसान्नभोजी ।।३८।।

इति पुनर्नवाद्यरिष्टः।

पुनर्नवाद्यरिष्ट–दोनों प्रकार के पुनर्नवा (श्वेतपुनर्नवा एवं रक्तपुनर्नवा), दोनों प्रकार के बला [बला (बरियार Sida cordifolia) एवं अतिबला (कंघी Abutilon indicum)], पाठा, दन्ती का मूल, गुडूची, चित्रकमूल, निदिग्धिका (कण्टकारी), प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल मात्रा में लेकर यवकुट कर ४ द्रोण जल में पाक करें, चतुर्थांश शेष (१ द्रोण) बचने पर क्वाथ को छान लें। इस छने हुए क्वाथ (Decoction) के शीतल होने पर उसमें २ तुला पुराना गुड़ एवं १ प्रस्थ मधु मिलावें। एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में मधु व गुड़ मिश्रित क्वाथ को रखकर ऊपर से ढक्कन लगाकर उसके मुख को बन्द कर यव की राशि में एक महीने के लिए रख दें। एक महीने के बाद घड़े को यव की राशि से निकालकर उसके ढक्कन खोलकर अरिष्ट को छानकर पृथक् कर लें। इस छने हुए अरिष्ट में तेजपत्र, दालचीनी, छोटी इलायची, कालीमिर्च, सुगन्धबाला तथा काला अगर; प्रत्येक द्रव्य दो-दो तोले मात्रा में लेकर चूर्णीकृत कर डाल दें, पश्चात् गन्ध द्रव्यों को डालें। अब इस अरिष्ट को मधुलिप्त मिट्टी के पात्र में रखकर उसका ढक्कन बन्द कर पुनः एक सप्ताह के लिए सन्धानार्थ रखें। बाद में इसे स्वच्छ कपड़े से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस अरिष्ट का सेवन व्याधि एवं बल का विचार करते हुए भोजनोत्तर करना चाहिए।

यह अरिष्ट हृद्रोग (Heart disease), पाण्डु रोग (Anaemia), वृद्ध श्वयथु (Oedema) अर्थात् अत्यन्त बढ़ी हुई शोथ, प्लीह (Splenic enlargment), ज्वर (Fever), अरोचक (Anorexia), प्रमेह (Obstinate urinary disorders), गुल्म (Phantom tumour), भगन्दर (Fistula-in-ano), छः प्रकार के उदररोग, कास (Cough), श्वास (Asthma), ग्रहणी रोग (Sprue syndrome), कुष्ठ (त्वक् विकार), कण्डू (Itching), शाखागत वायु की वृद्धि, मलबद्धता (Constipation), हिक्का (Hiccup), किलास (Leucoderma) एवं हलीमक (कामला का एक भेद जिसमें त्वचा हरी-पीली हो जाती है।) को दूर करता है। इस अरिष्ट के नियमित सेवन से व्यक्ति के वर्ण (Complexion), बल (Strength), आयु (Longevity), ओज एवं तेज की शीघ्र ही वृद्धि हो जाती है। पुनर्नवाद्यरिष्ट के सेवन काल में व्यक्ति को मांसरस के साथ अन्न का सेवन करना चाहिए।

चक्रपाणि–'पुनर्नवे द्वे' से पुनर्नवा आदि प्रत्येक द्रव्यों को २-२ पल मात्रा में ग्रहण करना चाहिए, बताया गया है। द्रोणावशेषविधानाच्च चतुर्द्रोणं जलस्य ज्ञेयम्–अन्त में एक द्रोण जल अवशेष रखना, इससे क्वाथ निर्माण हेतु ४ द्रोण जल लें, यह अभिप्राय है। क्योंकि ४ द्रोण जल में क्वाथ बनाने पर ही चतुर्थांश अवशेष के रूप में १ द्रोण क्वाथ होता है। पल्ले यवानामिति-यव की राशि, मधु एवं घृत भावित कुम्भ में क्वाथ आदि द्रव पदार्थों को रखकर ढक्कन से मुख बन्द कर घड़े को एक मास (One Month) के लिए रख दें, अथवा मधु एवं घृत लिप्त सुगन्धित पात्र में रख कर परिपक्व होने के लिए रख दें।

षड्जठराणि इति-षड् (छः) प्रकार के उदररोग जिसमें छिद्रोदर एवं जलोदर का ग्रहण नहीं है, क्योंकि ये दोनों असाध्य होते हैं, ।।३४-३८।।

फलत्रिकं दीप्यकचित्रकौ च सपिप्पलीलोहरजो विडङ्गम्। चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं क्षौद्र पुराणस्य तुलां गुडस्य ।।३९।।
मास निदध्याद्घृतभाजनस्थं यवेषु तानेव निहन्ति रोगान्। ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च प्रोक्ता हिताः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः ।।४०।।

इति त्रिफलाद्यरिष्टः।

Scanned by CamScanner

त्रिफलाद्यरिष्ट–फलत्रिक (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दीप्यक (अजवाइन), चित्रक (चित्रकमूल), पिप्पली, लौहरज (लौह भस्म), विडङ्ग; सभी द्रव्यों को पृथक्-पृथक् १-१ कुड़व मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। मधु- २ कुड़व, पुराना गुड़- १ तुला, जल- १/२ द्रोण। चूर्ण, मधु, गुड़ एवं जल को अपनी निर्धारित मात्रा में लेकर एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में मिलाकर रखें। अर्थात् सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित (Mixed) कर घोल लें, पश्चात् घड़े का मुख बन्द कर यव की राशि में एक महीने के लिए रख दें। अरिष्ट तैयार होने पर छानकर बोतलों में भर कर सुरक्षित रख लें।

मात्रा- २-४ तोला समभाग जल के साथ, भोजन के बाद यह अरिष्ट हृद्रोग (Heart disease) एवं पाण्डु रोग (Anaemia) को दूर करता है। इसके साथ ही अर्श एवं पाण्डु रोग प्रकरण में जिन अरिष्टों का वर्णन किया जायेगा, वे सभी शोथ में भी हितकर होते हैं। अर्थात् उनका प्रयोग शोथ की चिकित्सा में करना चाहिए।

चक्रपाणि–त्रिफला आदि द्रव्यों की संयुक्त मात्रा- २ प्रस्थ लें, इसे यवकुट कर चार गुने जल में पकावें। चतुर्थांश शेष बचने पर छान कर अलग कर लें। इस क्वाथ में मधु व गुड़ डालकर अरिष्ट का निर्माण करें। यह एक भिन्न प्रकार का आसव है।

चूर्णीकृतमिति–क्वाथ निर्माण हेतु त्रिफला आदि द्रव्यों को यवकुट करें। अन्य आचार्य अरिष्ट निर्माण हेतु चूर्ण में ही १/२ द्रोण स्वच्छ जल डालने का निर्देश देते हैं। अथवा चूर्ण की अलग-अलग मात्रा १-१ कुडव की है, मधु- २ कुडव डालना चाहिये। ॥३९-४०॥

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च निदिग्धिका चित्रकनागरे च। सपिप्पलीमूलरजन्यजाजीमुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम् ॥४१॥
हन्यात्त्रिदोषं चिरजं च शोफं कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य। अयोरजश्चूषणयावशूकचूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन ॥४२॥

कृष्णादि चूर्ण–पिप्पली, पाठा, गजपिप्पली, कण्टकारी (भटकटैया), चित्रकमूल, शुण्ठी (सोंठ), पिप्पलीमूल, हल्दी, अजाजी (जीरा) एवं मुस्तक; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग सुखोष्ण जल के साथ करें। इसके सेवन से त्रिदोषज शोथ एवं जीर्ण शोथ शान्त हो जाता है, अथवा चिरायता एवं शुण्ठी के कल्क का प्रयोग त्रिफला के क्वाथ से करें। अथवा अयोरज (लौह भस्म), सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली, यवक्षार; के सम भाग से निर्मित चूर्ण का प्रयोग त्रिफला क्वाथ अथवा स्वरस के साथ करें।

चक्रपाणि–पिप्पल्यादि चूर्ण (कृष्णादि चूर्ण) को त्रिदोषज शोथ का नाशक कहा गया है जिसका अभिप्राय अलग-अलग अथवा मिलित रूप से वातादि दोषों से उत्पन्न शोथ का ग्रहण करना चाहिए, से है। यहाँ त्रिदोषज शोथ असाध्य नहीं होता है, यह बताया गया है। ॥४१-४२॥

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वार्ययोरजो व्योषफलत्रिके च। सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम् ॥४३॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे यष्ट्याह्वयं सातिविषं पलांशम्। सहिङ्गुकर्षं त्वणुशुष्कचूर्णं द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम् ॥४४॥
स्याद्भस्मनस्तत् सलिलेन साध्यमालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम्। स्थानं ततः कोलसमां तु मात्रां कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात् ॥४५॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शः-पाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान्। विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥४६॥
इति क्षारगुडिका।

क्षारगुडिका–क्षार द्वय (यवक्षार, सज्जीक्षार), चार प्रकार के लवण (सौवर्चल नमक, सैन्धव लवण, विड्लवण एवं साँभर नमक), अयोरज (लौह भस्म), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पलीमूल, वायविडङ्ग, मुस्तक, अजमोदा, देवदारु, बिल्व, कलिङ्गक (इन्द्रयव), चित्रकमूल, पाठा, यष्टीमधु, अतिविषा; सभी द्रव्यों को १-१ पल मात्रा में लेकर चूर्ण (कपड़छन चूर्ण) बना लें, घृत में भुनी हुई हींग- १ कर्ष (१ तोला) चूर्ण में मिला दें। अब शुष्क मूली की राख (भस्म)- १ द्रोण लेकर उसमें आठ गुनी मात्रा में पानी डालकर घोलें तथा निथरने के लिए छोड़ दें, इस निथरे हुए जल को छान कर अलग कर लें शेष भाग में पुनः जल डालकर यही क्रम करें, ऐसा तब तक करें जब तक निथरे हुए जल में क्षार का अंश प्राप्त होता हो। इस निथरे हुए जल में सम्पूर्ण चूर्ण को मिलाकर अग्नि पर गरम करें, गाढ़ा हो जाने पर बेर की आकृति की गोलियाँ बना लें अथवा क्षारोदक को उबालकर अवलेह जैसा बना लें पश्चात् उसमें चूर्ण मिलाकर **कोल प्रमाण** की गोली बना लें। उबालते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि द्रव्य जलने न पाये, अन्यथा उसके गुण-कर्म प्रभावित होंगे।

इस क्षारगुडिका के सेवन करने से प्लीहोदर (Splenic enlargement), श्वित्र (Leucoderma), हलीमक (कामला की उत्तर अवस्था जिसमें व्यक्ति की त्वचा हरे वर्ण की हो जाती है।), अर्श (Piles), पाण्डु (Anaemia), अरोचक (Anorexia), शोष (Consumption), विसूचिका (हैजा An acute infectious disease, caused by Vibrio cholerae, marked by severe diarrhea with extreme fluid and electrolyte depletion, and by vomiting, muscle cramps and prostration)., गुल्म (Phantum tumour), विष (गरविष), अश्मरी (Urinary stone), श्वास (Asthma), कास (Cough) एवं कुष्ठ (Skin diseases including leprosy) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–दीर्घञ्जीवितीय अध्याय (सू.अ. १) में वर्णित सामुद्र लवण को छोड़कर शेष ४ लवणों का यहाँ ग्रहण है। **अणुशुष्कचूर्णमिति**-अत्यन्त महीन चूर्ण; क्षार आदि द्रव्यों को कूटकर कपड़छन चूर्ण बना लें। मूलक क्षारोदक तैयार करने हेतु जल की मात्रा ४ गुनी रखनी चाहिए। स्त्यानमिति=घन (गाढ़ा) ॥४३-४६॥

प्रयोजयेदार्द्रकनागरं वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या। मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयो यूषरसाश्च भक्तम् ॥४७॥
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहान् श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान्। सकामलाशोषमनोविकारान् कासं कफं चैव जयेत् प्रयोगः ॥४८॥

गुडार्द्रक योग (Guḍārdraka Yoga)-गुड़ एवं अदरक अथवा गुड़ एवं शुण्ठी (सोंठ) को सम प्रमाण (१-१ तोला) में लेकर सेवन करें। प्रथम दिन अर्ध पल मात्रा से प्रारम्भ करते हुए १/२ पल मात्रा प्रतिदिन बढ़ाते हुए ५ पल मात्रा पर लावे (दसवें दिन यह मात्रा आती है।) इसी ५ पल मात्रा को स्थिर रखते हुए १ महीने तक आतुर को इस योग का सेवन करावें। औषध के जीर्ण (पच) हो जाने पर आतुर को गोदुग्ध (Milk), यूष (Vegetable soup अथवा मुद्गयूष) तथा मांसरस (Meat soup) का सेवन करावें। अर्थात् आहार के रूप में इनकी योजना करनी चाहिए।

यह योग गुल्म, उदररोग, अर्श, श्वयथु, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक (A type of digestive disorder), अविपाक (Indigestion), कामला (Jaundice), शोष (Consumption), मनोविकार (Psychic disorder), कास (Cough) एवं कफ दोष को दूर करता है।

चक्रपाणि–**आर्द्रकनागरमिति**-अशुष्क (गीला) सोंठ (शुण्ठी)। अर्धपल मात्रा की वृद्धि से-गुड़ एवं नागर (सोंठ) की संयुक्त मात्रा आधे-आधे पल प्रतिदिन बढ़ानी चाहिए, यथा-प्रथम दिन- १ तोला गुड़+१ तोला शुण्ठी लें, (सुविधा की दृष्टि से इस मात्रा को २ Dose-में बाँट सकते हैं, एक Dose- प्रातः, दूसरा सायंकाल), दूसरे दिन- २ तोला गुड़+२ तोला शुण्ठी, तीसरे दिन- ३ तोला गुड़+३ तोला शुण्ठी अन्यथा केवल आर्द्रक (अदरक) की वृद्धि करने पर, ५ पल अदरक के साथ ५ पल गुड़ मिलाने पर यह मात्रा १० पल हो जाती है जो कि बहुत अधिक होने से अग्निमांद्य आदि दोषों को उत्पन्न कर सकती है। 'गुड़ एवं अदरक' की मिश्रित (मिलित) मात्रा अर्धपल (२ तोले) से प्रारम्भ करते हैं, प्रतिदिन आधा पल मात्रा बढ़ाने से १० दिन में यह मात्रा ५ पल तक होती है। इसके बाद शेष २० दिन तक इस ५ पल मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। ॥४७-४८॥

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात्। जत्वश्मजं च त्रिफलारसेन हन्यात्त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य ॥४९॥

इति शिलाजतुप्रयोगः।

शिलाजतु का प्रयोग–पूर्व योग की भाँति शोथ (Oedema) के रोगी को आर्द्रक (अदरक) अथवा शुण्ठी (सोंठ) के रस (स्वरस अथवा क्वाथ) का सेवन गुड़ के साथ करना चाहिए। औषधि के जीर्ण हो जाने पर दूध के साथ अन्न का सेवन (प्रयोग) करना चाहिए।

त्रिफला रस (क्वाथ) के साथ शिलाजतु का प्रयोग करने पर त्रिदोषज शोथ नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणि–'रसस्तथैव इति' से यहाँ पूर्वयोग की तरह 'गुड़+नागर स्वरस' की आधी-आधी पल मात्रा बढ़ाते हुए दसवें दिन ५ पल मात्रा का सेवन करें तथा ११वें दिन से लेकर तीसवें तक इसी ५ पल मात्रा को स्थिर रखें, का ग्रहण किया गया है। ॥४९॥

द्विपञ्चमूलस्य पचेत् कषाये कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य। लेहे सुसिद्धेऽथ विनीय चूर्णं व्योषं त्रिसौगन्ध्यपुषास्थिते च ॥५०॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते किंचिच्च चूर्णादपि यावशूकात्। एकाभयां प्राश्य ततश्च लेहाच्चुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम् ॥५१॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्मप्लीहत्रिदोषोदरपाण्डुरोगान्। कार्श्यमवातावसृगम्लपित्तवैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान् ॥५२॥

इति कंसहरीतकी।

कंसहरीतकी–दोनों पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल एवं वृहतपञ्चमूल) का क्वाथ- २ आढ़क (कंस) लेकर उसमें १०० हरड़ को पकावें, जब हरड़ पक जाय तब उसकी गुठली निकाल दें तथा छिलके को पुनः उसी क्वाथ में डालकर पकावें अब १०० पल पुराना गुड़ उस क्वाथ में डालकर, पाक करें। जब अवलेह जैसा (गाढ़ा) हो जाय तब उसमें-शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली का चूर्ण मिलित रूप में ४ पल तथा त्रिसुगन्धि (छोटी इलायची, दालचीनी एवं तेजपत्र) का चूर्ण मिलित रूप में २ पल डालें। अवलेह के शीतल होने पर १/२ प्रस्थ मधु एवं कुछ मात्रा (२ तोला) यवक्षार मिला लें। अब इसे कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। मात्रा-कंसहरीतकी- १ हरीतकी को खाकर १ सुक्ति (४ तोला) अवलेह को चाटें।

उपयोग–इसके सेवन से अत्यन्त वृद्ध शोथ (Oedema), श्वास (Dyspnoea), ज्वर (Fever), अरोचक (Anorexia) मेह (प्रमेह), गुल्म, प्लीहावृद्धि, त्रिदोषज उदररोग, पाण्डुरोग (Anaemia), कार्श्य (Emaciation), आमवात (Rheumatism), रक्तपित्त (एक प्रकार का रक्तस्रावी रोग), अम्लपित्त (Hyperacidity), वैवर्ण्य (त्वचा का रंग विकृत हो जाना- Discolouration of the skin) मूत्रविकार, वायुविकार एवं शुक्र दोषों में लाभदायक है। अर्थात् कंसहरीतकी के सेवन से निर्दिष्ट व्याधियों में अतिशय लाभ होता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'द्विपञ्चमूलस्य इति'-दशमूल का क्वाथ (Decoction)- १ कंस (२ आढ़क) लिया गया है। १ आढ़क= ४ प्रस्थ। इस क्वाथ के निर्माण हेतु ६४ पल दशमूल के द्रव्यों को लेना चाहिए। [दशमूल के द्रव्य- ६४ पल, जल की मात्रा- ५१२ पल, एक पात्र में लेकर क्वाथ का निर्माण करें अष्टमांश शेष रहने पर द्रव (Decoction) को छानकर पृथक कर लें, इसी द्रव में हरीतकी को पकाना (स्विन्न करना) चाहिए, स्विन्नोपरान्त गुठली निकालकर गुदा को पृथक् करें। इस गुदे का पाक क्वाथ में करना चाहिये।] कुछ आचार्य- 'द्विपञ्चमूलस्य तुला कषाये कंसोऽभयानां च शतं गुडस्य' यह पाठ करते हैं, जिसके अनुसार दशमूल क्वाथ- १ तुला, हरीतकी- १ कंस (२ आढ़क) तथा गुड़ १०० पल का ग्रहण होता है। यहाँ व्योष (सोंठ, काली मिर्च एवं पिप्पली) एवं त्रिसुगन्धित द्रव्य के मान का निर्देश न होने से अन्यत्र वर्णित लेहों में चूर्ण के मान का जो निर्देश है, उसी का ग्रहण करना चाहिए। अगस्त्यहरीतकी के प्रसङ्ग में गुड- १ तुला तथा पिप्पली चूर्ण- ४ पल डालने का निर्देश है, तद्वत् च्यवनप्राश में मत्स्यण्डिका (दानेदार गुड़)- १/२ तुला तथा पिप्पली चूर्ण २ पल डालने का निर्देश दिया गया है। उसी प्रकार यहाँ भी गुड़- १०० पल तथा व्योषादि कटु द्रव्यों के मान ४ पल ग्रहण करने चाहिए। च्यवनप्राश में भी सुगन्ध हेतु चतुर्जातक की मात्रा १ पल बतायी गयी है तदनुसार त्रिसुगन्धि द्रव्यों की मिलित मात्रा २ पल ग्रहण करनी चाहिए।

केचिच्छब्दस्याल्पवचनत्वादत्रोक्तनागरादिचूर्णादर्धमानं यावशूकस्य ज्ञेयम्–केचित् शब्द से अल्प अर्थ गृहीत है जिसका अभिप्राय नागरादि (सोंठ आदि) चूर्ण की आधी मात्रा यवक्षार का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् यवक्षार का प्रयोग चूर्ण की आधी मात्रा में करें। कुछ आचार्य केचित् शब्द से '१ कर्ष' का ग्रहण करते हैं, यही बात अन्य तन्त्रों में भी कही गयी है। आचार्य जतूकर्ण के अनुसार त्रिसौगन्धि द्रव्यों में अलग-अलग १-१ कर्ष मान का ग्रहण है तथा त्र्यूषण एवं यवक्षार की मात्रा अलग-अलग १-१ पल बतायी गयी है। कहा भी गया है, यथा- "दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं गुडात्। तुलां पचेत्ततो दद्यात् व्योषक्षारचतुः पलम्। त्रिसुगन्धस्य कर्षांशं प्रस्थार्धं मधुनो हिमे" इत्यादि [दशमूल क्वाथ- १ कंस (२ आढ़क), हरीतकी- १००, गुड़- १ तुला; सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पकावें जब अवलेह जैसा हो जाय तब उसमें व्योषक्षार- ४ पल, त्रिसुगन्ध- १-१ कर्ष, मधु-१/२ प्रस्थ मिला दें।] ॥५०-५२॥

पटोलमूलामरदारुदन्तीत्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः। यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ॥५३॥
कर्षोन्मितैस्तैः कथितः कषायो घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः। वीसर्पदाहज्वरसन्निपाततृष्णाविषाणि श्वयथुं च हन्ति ॥५४॥

पटोलमूलादि क्वाथ (Paṭola Mūlādi Kashāya)–पटोलमूल (परवल की जड़), देवदारु, दन्तीमूल, त्रायमाणा (Gentiana kurroo), पिप्पली, अभया (हरीतकी), इन्द्रायण की जड़, यष्टीमधु (मुलेठी); तिक्तकरोहिणी (कुटकी), रक्तचन्दन, निचुल (हिज्जल), दार्वी (दारुहरिद्रा); सभी द्रव्यों को पृथक्-पृथक् १-१ कर्ष (तोला) मात्रा में लेकर यवकुट करें तथा उसे अष्टगुण (८ गुने) जल में पकावें, जब औषध का रस जल में आ जाय तथा चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट रह जाय तब उसे स्वच्छ वस्त्र या महीन छननी से छानकर क्वाथ को अलग कर लें। इस छने हुए क्वाथ (Decoction) में १ कुडव गोघृत डालकर पान करें। मात्रा- २ से ४ तोला।

इस पटोलादि क्वाथ के सेवन से वीसर्प [Erysipelas- A contagious disease of the skin and sub cutaneous tissues due to infection with Streptococcus pyogens, with redness and swelling of affected areas.], दाह (Burning sensation), त्रिदोषज ज्वर, तृष्णा (Morbid thirst), विषविकार एवं हलीमक (A serious type of Jaundice) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

चक्रपाणि–'पटोलमूलेति' से पटोलमूल आदि क्वाथ्य द्रव्यों को ३ पल मात्रा में लेकर अष्टगुण जल परिभाषा के अनुसार ८ गुने जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश अवशेष रहने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतार कर छान लें। इस प्रकार छने हुए क्वाथ की मात्रा- ६ पल होती है। कहा भी गया है, यथा-**"कर्षादौ तु पलं यावत् दद्यात् षोडशकं जलम्। ततश्च कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्"** इति [यदि क्वाथ्य द्रव्य की मात्रा १ तोला (कर्ष) से लेकर १ पल (४ तोले) तक है तब उसे १६ गुने जल में पकावें, यदि यह मात्रा १ पल से अधिक १ कुडव तक है तब उसे ८ गुने जल में पकाना चाहिए।] ॥५३-५४॥

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं त्र्यूषणवेतसाम्लम्। बिल्वात् फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथापि चव्यम् ॥५५॥
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात्। अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम् ॥५६॥
पिबेद्घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम्। कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ॥५७॥

चित्रकादि घृत– चित्रकमूल, धनिया, यवानी (अजवाइन), अजाजी (जीरा), सौवर्चल नमक (काला नमक), त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), अम्लवेतस, बिल्व फल, दाडिम, यावशूक (यवक्षार), पिप्पलीमूल एवं चव्य; सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बना लें। अब कल्क में १ आढ़क जल एवं १ प्रस्थ गोघृत डालकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें।

इस सिद्ध घृत के सेवन से अर्श (Piles), गुल्म, श्वयथु (Oedema) व मूत्रकृच्छ्रता (dysuria) जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। अर्थात् यह घृत इन व्याधियों को दूर कर देता है तथा साथ ही साथ जाठराग्नि को भी दीप्त करता है।

Scanned by CamScanner

चित्रकादि घृत (द्वितीय)–चित्रक व यवक्षार का मिश्रित कल्क- ४ पल, गोघृत- १ प्रस्थ, जल- ८ प्रस्थ। सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर घृत सिद्ध करें। इस घृत का सेवन शोथ में करना चाहिये अथवा उन्मादचिकित्सा में वर्णित कल्याणकघृत, अपस्मारचिकित्सा में वर्णित पञ्चगव्यघृत तथा कुष्ठचिकित्सा में निर्दिष्ट तिक्तघृत एवं महातिक्तघृत का प्रयोग करें।

चक्रपाणि–'चित्रकादि घृत' में 'बिल्वात् फलं' के स्थान पर कुछ लोग 'बिल्वात् पलं' पाठ करते हैं। इस आधार पर बिल्व का ग्रहण '१ पल' मात्रा में करना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है, शेष द्रव्यों को १-१ तोले (१ कर्ष) ही ग्रहण करें। ॥५५-५७॥

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन। तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥५८॥
अर्शोऽतिसारानिलगुल्ममेहांश्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च। तक्रेण चाद्यात् सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ॥५९॥
इति चित्रकघृतम्।

चित्रकघृत-एक मिट्टी का घड़ा लेकर उसके अन्दर के भाग में चित्रकमूल कल्क का लेप करें एवं सुखावें, उस घड़े में गोदुग्ध डालकर दही जमावें, अब दही को मथ कर घृत निकालें, इस घृत को चित्रकमूलकल्क एवं तक्र डालकर विधि पूर्वक सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत श्वयथु (Oedema) को नष्ट करने में श्रेष्ठ होता है। यह सिद्ध घृत अर्श (Piles), अतिसार (Diarrhea-Abnormally frequent evacuation of watery stools), वातिक गुल्म व प्रमेह का नाशक है। इसके सेवन से जाठराग्नि की वृद्धि होती है। घृत के साथ तक्र अथवा भोज्य पदार्थों का सेवन करना चाहिए अथवा तक्र साधित यवागू का सेवन करें। ॥५८-५९॥

चक्रपाणि–दध्यागतमिति-दधि भाव में परिणत अर्थात् दूध जब पूर्णतः दधि में बदल जाय तब उसे मथकर उसका नवनीत निकालें एवं नवनीत से घृत को पृथक् करें। तक्रेण इति-चित्रकमूल साधित दधि को मथकर बनाया हुआ तक्र से। अर्थात इसी तक्र का प्रयोग घृत को सिद्ध करने के लिए करना चाहिये। ॥५८-५९॥

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्करास्नैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः। सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा ॥६०॥
अर्शोऽतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः। या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव ॥६१॥
कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सव्यूषणयावशूकः। रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम् ॥६२॥
सुवर्चला गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्। शाकार्थिना शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ॥६३॥

जीवन्त्यादि यवागू–जीवन्ती, अजाजी (जीरा), शटी (कचूर), पुष्करमूल, कारवी (मंगरैला), चित्रकमूल, बेल (बिल्व) की गुद्दी एवं यवशूक (यवक्षार); सभी द्रव्यों को १-१ कोल प्रमाण में लेकर षडंगपानीय विधि से क्वाथ बनावें। इस क्वाथ से यवागू तैयार करें। इस यवागू को अल्पमात्रा में वृक्षाम्ल डालकर घृत एवं तैल का छौंक लगावें।

यह जीवन्त्यादि द्रव्यों से सिद्ध यवागू अर्श (Piles), अतिसार (diarrhea), वातगुल्म, हृद्रोग (Heart disease) एवं अग्निमांद्य में हितकर होती है। अर्थात् इन व्याधियों के होने पर इस यवागू का प्रयोग करना चाहिए। **पञ्चकोल** से साधित यवागू भी इन्हीं गुणों को दर्शाती है।

शोथ रोग में पथ्य–पिप्पली से साधित कुलथी का यूष (Soup), अथवा त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) एवं यवक्षार साधित मुद्गयूष का प्रयोग शोथ के रोगी में आहार के रूप में करना चाहिए। विष्किर एवं जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस, अथवा कूर्म (कछुआ-Tortoise), गोधा (गोह-Iguana-a kind of lizard), शिखि (Peacock-मोर) एवं शल्लक (साही) के मांसरस शोथ रोगी के लिए हितकर होते हैं। शाकद्रव्यों में सुवर्चला (हुरहुर), गृञ्जनक (गाजर), पटोल (परवल), मकोय, मूली, वेत्र (वेतस) एवं निम्बपत्र श्रेष्ठ माने गये हैं।

अन्न के रूप में एक वर्ष पुराना यव एवं शाली चावल का प्रयोग करना चाहिये। ॥६०-६३॥

चक्रपाणि–जीवन्तीत्यादौ बदरप्रमाणैरिति द्विशाणिकैः-जीवन्ती आदि द्रव्यों का ग्रहण **'बदर'** प्रमाण में करना चाहिये, १ बदर= २ शाण, (Śāna-a weight of four Māshas- ४ माशा=१ शाण)। **विधिनैव तेनेत्यत्र बदरमानत्वं द्रव्याणां ज्ञेयम्**-बदर प्रमाण में 'पञ्चकोल के द्रव्यों को अलग-अलग लेकर विधिपूर्वक यवागू सिद्ध करें, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

'सकूर्मेत्यादि' से यहाँ मत्स्य (Fish) के मांस का निषेध होते हुए भी अपवाद रूप में कछुए के मांस का ग्रहण किया गया है। शल्लकः शललीसंज्ञः (साही)। सुवर्चिका=सूर्यावर्त। गृञ्जनकं रसोनकसदृश- रसोन (लशुन) के सदृश एक द्रव्य, अथवा गृञ्जनक से शोभाञ्जन (सहिजन) का ग्रहण है। वायसी=काकमाची (मकोय)। ॥६०-६३॥

आभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतद्बर्हिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत्। स्नेहान् प्रदेहान् परिषेचनानि स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात् ॥६४॥
शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्तीत्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः। प्रियङ्गुधौणेयकहेममांसीतालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥६५॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः सृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम्। वातान्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥६६॥
जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः। स्विन्नो मृदूष्णै रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥६७॥

Scanned by CamScanner

पूर्व में औषधियों के आभ्यन्तर प्रयोग की विधि का विवेचन किया गया है । हे अग्निवेश ! अब आगे बाह्य प्रयोग (External use) में आने वाली विधियों का विवेचन किया जा रहा है, उसे सुनो–यदि शोथ में वायु की प्रबलता हो, अर्थात् वात प्रधान शोथ हो तब उसमें स्नेहन (Oleation), प्रदेह (Application of thick ointment), परिषेचन (Sprinkling of medicated liquids-औषध सिद्ध द्रव का शरीर पर छिड़काव करना) एवं स्वेदन (Sudation) का प्रयोग कराना चाहिए ।

शोथनाशक तैल एवं प्रदेहों का प्रयोग–शैलेय, कूठ, अगरु, देवदारु, कौन्ती (सम्हालू का बीज), त्वक् (दालचीनी), पद्मक (पद्मकाठ), एला (छोटी इलायची), अम्बु, पलाश, मुस्तक, प्रियङ्गु, थौणेयक, हेम, मांसी (जटामांसी), तालीसपत्र, प्लव (केवटी मोथा), पत्र (तेजपत्र), धान्य (धनियाँ), श्रीवेष्टक, ध्यामक, पिप्पली, स्पृक्क एवं नख (हिंस्रा); इन द्रव्यों में से जो प्राप्त (उपलब्ध) हो सके, उन्हें लेकर क्वाथ एवं कल्क बनावें । इस क्वाथ एवं कल्क से तैल सिद्ध करें । वातिक शोथ में इस तैल का अभ्यङ्ग एवं कल्क के रूप में निर्दिष्ट द्रव्यों का प्रयोग प्रदेह के रूप में करें ।

वासा (अडूसा), अर्क (मदार), करञ्ज, शिग्रु (सहिजन), काश्मर्य (गम्भारी) एवं अर्जक (वन तुलसी); इन द्रव्यों के पत्रों को लेकर क्वाथ बनावें अथवा पानी में उबालें । इस उबले हुए जल का प्रयोग स्नानार्थ शोथ रोगी को करना चाहिये । स्नान के बाद जब शरीर से पसीना निकलने लगे तब सूर्य की किरणों से तप्त (उष्ण) जल से स्नान करें, पश्चात् गन्ध द्रव्यों का शरीर पर लेप लगावें । ॥६४-६७॥

चक्रपाणि–शैलेयेत्यादौ तैलं सिद्धं सुपिष्टैरिति-शैलेय आदि द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा तैल को सिद्ध करना बताया गया है । **सुपिष्टैः** -अच्छी तरह से पीसकर कल्क बनाना । इसी कल्क का प्रयोग (अच्छी प्रकार से पीसे हुए) प्रदेह (Thick ointment) के रूप में करने का निर्देश है ।

रविणा सूर्येण तप्ततोयैः स्नातो गन्धैरगुर्वादिभिरालेपनीयः– व्यक्ति को सूर्य के द्वारा तप्त जल से स्नान करने के बाद अगुर्वादि आदि गन्ध द्रव्यों का लेप लगाना चाहिए । ॥६४-६७॥

विशेष (Comments)–'शैलेयेत्यादि' से शैलेयादि तैल एवं प्रदेह का उल्लेख किया गया है । पद्मकं=पद्मकाठ । पलाशः=शटी । थौणेयक=ग्रन्थिपर्ण । हेम=नागकेशर । प्लवः=केवटी मोथा । पत्र=तेजपत्र । पृक्का=पिङ्गा । 'नखो' से व्याघ्रनखी (हिंस्रा) का ग्रहण किया गया है । इन द्रव्यों में से जो-जो द्रव्य प्राप्त हो सके उन्हें लेकर तैल के चतुर्थांश कल्क बनाकर, चार गुने जल में तैल को सिद्ध करें । अर्थात् शैलेय आदि द्रव्यों का कल्क-१/४ भाग, तैल- १ भाग, जल- ४ भाग डालकर तैल सिद्ध करें । इस सिद्ध तैल का प्रयोग वात प्रधान शोथ की शान्ति हेतु अभ्यङ्ग के रूप में करना चाहिए । अर्थात् इस तैल का अभ्यङ्ग करने से वात प्रधान शोथ नष्ट हो जाता है । वातिक शोथ में इन्हीं द्रव्यों के कल्क का प्रदेह (मोटा लेप Thick ointment) भी लगाना चाहिए । इस प्रकार यहाँ शैलेयादि तैल एवं प्रदेह दोनों का विवेचन किया गया ।

- जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां त्वचः समङ्गिष्ठलतामृणालाः । सचन्दनाः पद्मकवालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥६८॥
आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च । स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च ॥६९॥

पित्तज शोथ में बाह्य उपक्रम (External therapies for Paittika Oedema)–वेतस, क्षीरी वृक्षों की छाल [न्यग्रोध वट Ficus bengalensis), उदुम्बर, अश्वत्थ, परुषक, एवं प्लक्ष], मञ्जिष्ठा लता, मृणाल, लालचन्दन, पद्मक (पद्मकाठ) एवं वालक (सुगन्धबाला); इन द्रव्यों के कल्क से तैलपाक करें तथा इस तैल का अभ्यङ्ग पैत्तिक शोथ का रोगी करे । इन्हीं द्रव्यों के कल्क का प्रयोग प्रदेह के रूप में भी करना चाहिए । इस तैल का अभ्यङ्ग करने के बाद खस, चन्दन एवं पद्मकाठ को जल में डालकर धूप में रखें तथा बाद में इस सूर्य तप्त जल से स्नान करें अथवा क्षीरी वृक्षों के क्वाथ से स्नान करें अथवा क्षीरोदक (दूध मिश्रित जल) से स्नान करें । स्नानोपरान्त पूरे शरीर पर चन्दन का लप लगावें ।

चक्रपाणि–'सवेतसा इत्यादि' के द्वारा पैत्तिक शोथ में प्रयुक्त होने वाले प्रदेह का उल्लेख किया गया है । 'क्षीरीद्रुमा' से अश्वत्थादि क्षीरी वृक्षों का ग्रहण किया गया है । **सतैलपाक इति**-मञ्जिष्ठा आदि द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क से स्नेह (तैल) को विधि पूर्वक सिद्ध करना चाहिए । [यहाँ तैल से तिल तैल का ग्रहण है ।] अभयम्=उशीरम् (उशीर=खस) । ॥६८-६९॥

कफे तु कृष्णासिकतापुराणपिण्याकशिग्रुत्वगुमा प्रलेपः । कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेकश्चण्डा गुरुभ्यामनुलेपनं च ॥७०॥
बिभीतकानां फलमध्यलेपः सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रदिष्टः । यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥७१॥
रास्नावृषार्कत्रिफलाविडङ्गं शिग्रुत्वचो मूषिकपार्णिका च । निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः सदूर्वा सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ॥७२॥
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा पुनर्नवा चित्रकनागरे च । उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः ॥७३॥

कफज शोथ में बाह्य उपक्रम (External therapies for Kaphaja Oedema)–कफ प्रधान शोथ में पिप्पली, सिकता (बालू), पुराण पिण्याक (पुराने तिल की खली), शिग्रु (सहिजन) की छाल, उमा (अतसी=तीसी); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लें एवं इसे

Scanned by CamScanner

पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का लेप शोथ युक्त भाग पर करें। कुलथी एवं सोंठ के सिद्ध जल में गोमूत्र मिलाकर स्नान करें, तत्पश्चात् चण्डा (चोरपुष्पी) एवं अगरु का लेप शरीर पर लगावें।

सभी प्रकार के शोथों में उपयोगी लेप आदि–विभीतक (Terminalia bellirica Roxb.) फल की मज्जा का लेप करने से सभी प्रकार के शोथों में होने वाली दाह (Burning sensation) एवं वेदना शान्त हो जाती है।

यदि शोथ प्रभावित भाग में पिडिकाएं उत्पन्न हो गयी हों तथा दाह एवं वेदना हो रही हो तब-यष्टीमधु (मुलेठी), मुस्तक, कपित्थ तथा चन्दन; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर जल में पीसकर कल्क बना लें एवं इस कल्क का लेप शोथ युक्त भाग पर करें अथवा रास्ना, वासा (अडूसा), अर्क (मदार), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), विडंग, शिग्रुत्वक् (सहिजन की छाल), मूषिकपर्णी (?), निम्बपत्र (नीम की पत्ती), अर्जक (तुलसी पत्र), व्याघ्रनखी (हिंस्रा-करेरुआ), दूर्वा (दूब घास), सुवर्चला (हुरहुर), तिक्तक रोहिणी (कुटकी), काकमाची, बृहती (वनभण्टा), कूठ (कुष्ठ), पुनर्नवा (गदपूरना), चित्रकमूल एवं सोंठ (शुण्ठी); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का प्रयोग उबटन के रूप में करें। उबटन लगाने के बाद उसे शरीर से छुड़ावें, तत्पश्चात् मूली के जल (मूली द्वारा निर्मित क्वाथ) से स्नान करें। ऐसा करने से सभी प्रकार के शोथ नष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि–सिकता वालुका=बालू (रेत)। शिग्रुत्वक्=शिग्रु (सहिजन) की छाल। अनुलेपनम्=स्नान करने के बाद लेप लगाना। **तत्पिडकास्विति दाहादियुक्तपिडिकासु**-दाह आदि से युक्त पिडिकाओं के होने पर यष्टीमधु आदि के लेप एवं इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से स्नान करना चाहिये। 'रास्नेत्यादि' के द्वारा सभी शोथों में प्रयुक्त होने वाले उन्मर्दन एवं परिषेक के द्रव्यों का अभिधान किया गया है। व्याघ्रनखं=नखी (हिंस्रा-करेरूआ Capparis horrida)। 'मूषिकपर्णी' यह पुत्रश्रेणी के नाम से प्रसिद्ध है। [Mushika parṇī-Salvinia cucullata L.-M.M. Williams) ॥७०-७३॥

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्। अनेकसंख्याः कतिचिच्च तेषां निदर्शनार्थं गदतो निबोध ॥७४॥

स्थान आदि भेद से शोफ के भेद–जो शोफ आतुर शरीर के अवयवों के आश्रित होते हैं वे स्थान (Location), दूष्य (रस रक्तादि दूष्यों), आकृति (Shape) एवं नामकरण (Nomenclatures) के आधार पर असंख्य प्रकार के हो जाते हैं। उन शोथों (शोफ) में कुछ का विवेचन यहाँ किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

चक्रपाणि–'शोथास्त्विवत्यादि' के द्वारा स्थान आदि भेद से शोथ की असंख्यता का प्रतिपादन किया गया है। 'स्थानं' से गला आदि स्थानों पर होने वाले शोथ का ग्रहण किया गया है। 'दूष्य' से रक्तादि दूष्यों को लिया गया है। आकार-दीर्घता आदि।

नाम भेदों का उल्लेख शल्यादि में विस्तार से वर्णित होते हुए भी 'कण्ठशालूक' इत्यादि के द्वारा यहाँ अल्प रूप में निर्देशित किया गया है, इसी प्रकार स्थान आदि के आधार पर भेद करने पर बहुत अधिक होने से इनकी संख्या भी अधिक हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए। ॥७४॥

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।

शिरः शोथ (Cellulitis of the head)–तीनों दोष अपने प्रकोपक कारणों के द्वारा प्रकुपित होकर सिर में भयङ्कर शोथ उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–'शिरसः सुघोरमिति' से यहाँ त्रिदोषज शोथ का नाम 'शिरः शोथ' दिया गया है, ऐसा जानना चाहिये। अन्य शास्त्रों में इसे 'उपशीर्षक' नाम से कहा गया है।

अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि ॥७५॥

कण्ठशालूक (Peritonsillar abscess)–वातादि दोष प्रकुपित होकर गले के अन्तर्भाग में स्थित हो जाते हैं, जिसके कारण उच्छ्वास में अवरोध एवं गले से घुर्घुर शब्द आता है। इस व्याधि को कण्ठशालूक कहा गया है।

चक्रपाणि–घुर्घुरिकान्वितमिति-घुर्घुर आवाज के साथ आतुर को गले में वेदना भी होती है, ऐसा जानना चाहिए। ॥७५॥

गलस्य सन्धौ चिबुके गले च सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः। शोफो भृशार्तिस्तु बिडालिका स्याद्धन्याद्गले चेद्वलयीकृता सा ॥७६॥

विडालिका (Ludwig's angina)–गले की सन्धि, चिबुक, गला एवं श्वास नलिकाओं में भयङ्कर दाह एवं राग युक्त शोथ उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'विडालिका' कहते हैं। इसमें अत्यधिक तीव्र वेदना होती है। जब यह शोथ बढ़कर गले के चारो ओर वलय के आकृति की रचना बना लेता है तब इस शोथ से आतुर की मृत्यु हो जाती है। ॥७६॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–गलस्य संधाविति-गले एवं वदन की संधि। स्वसनास्त्विति=श्वासवह नाडियों में शोथ का होना अर्थात् Trachea से लेकर Bronchial tubes तक के भाग में शोथ का होना। विडालिका की उत्पत्ति त्रिदोष प्रकोप के कारण होती है। **वलयीकृता सेति कृत्स्नगलवेष्टकत्वेन वलयाकारा स्यात्**-सम्पूर्ण गले के अन्दर फैल जाने के कारण वह वलय (Ring) के आकार की दिखाई देती है। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा- "तं सर्वथैवाप्रतिवारवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति" [वलय की अवस्था सर्वथा अचिकित्स्य है, अतएव इसका वर्जन करना चाहिए।] अर्थात् आचार्य सुश्रुत इसे असाध्य स्वीकार करते हैं। यह व्याधि त्रिदोषज होते हुए भी इसमें रक्त व पित्त की प्रधानता रहती है। ॥७६॥

स्यात्तालुविद्रध्यपि दाहरागपाकान्वितस्तालुनि सा त्रिदोषात्। जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च ॥७७॥
यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात् पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः। स्याद्दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः कफाच्छोणितसंचयोत्थः ॥७८॥

तालुविद्रधि (Palatal abscess)–त्रिदोष प्रकोप के कारण तालुप्रदेश में उत्पन्न होने वाला एक शोथ जिसमें दाह (Burning sensation), राग (Redness) एवं पाक (Suppuration) की प्रवृत्ति पायी जाती है, उसे तालुविद्रधि कहते हैं।

उपजिह्विका (Acute superficial glossitis)–जिह्वा के ऊपरी भाग पर होने वाले शोथ को उपजिह्विका कहते हैं।

अधिजिह्विका (Sub Lingual abscess)–जिह्वा के अधः भाग में कफ के कारण उत्पन्न होने वाले शोथ का नाम अधिजिह्विका है।

उपकुश (Gingivitis)–रक्त व पित्त के प्रकोप के कारण दांत के मांस भाग (मसूड़ों) में जो पाक उत्पन्न होता है उसे उपकुश कहते हैं अर्थात् इस व्याधि में मसूड़े सूज (Inflammation) जाते हैं तथा उसमें से पूय (Pus) निकलने लगता है।

दन्तविद्रधि (Dental abscess)–इसमें दांत के मांसभाग में शोथ (Inflammation) उत्पन्न हो जाता है, ऐसा उस भाग में दूषित कफ व रक्त के संचय के कारण होता है।

चक्रपाणि–'उपजिह्विका' का उल्लेख सूत्रस्थान के त्रिशोथीय अध्याय में किया गया है, लेकिन वहाँ अधिजिह्विका का वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ प्रसंग आ जाने के कारण किया गया है, अर्थात् शोथ का प्रसङ्ग होने से अधिजिह्विका का यहाँ उल्लेख हुआ है। ॥७७-७८॥

गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद्गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः। साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥७९॥
तेषां सिराकायशिरोविरेका धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम्। स्याल्लङ्घनं वक्त्रभवेषु चापि प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च ॥८०॥

गलगण्ड एवं गण्डमाला (Goitre and adenitis)–गले के पार्श्व भाग में उत्पन्न होने वाले एक शोथ (Swelling) को 'गलगण्ड' कहते हैं, जब वही शोथ अनेक शोथों से युक्त हो जाता है तब उसे गण्डमाला कहते हैं। शोथ की ये दोनों अवस्थाएं (गलगण्ड एवं गण्डमाला) साध्य होती हैं। यदि इन शोथों के साथ पीनस (Chronic rhinitis), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), कास (Cough), ज्वर (Fever) व छर्दि (Vomiting) भी उपद्रव रूप में विद्यमान हो तो वह शोथ (गलगण्ड एवं गण्डमाला) असाध्य होता है।

इनकी चिकित्सा में-सिरावेध (Venesection) कायविरेचन (वमन एवं विरेचन), शिरोविरेचन, धूम (Therapeutic smoking-सिद्ध औषधियों का धूमपान), पुराण घृत (गोघृत) का पान एवं लङ्घन (उपवास अथवा लघु आहार) का प्रयोग करना चाहिए।

मुख के भीतरी भाग में होने वाले शोथों में प्रघर्षण (Rubbing) एवं कवलग्रह (औषधियों का कल्क एक निश्चित समय के लिए मुख में धारण करना) का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–साध्याः स्मृता इत्यादि-गलगण्ड एवं गण्डमाला दोनों व्याधियाँ साध्य हैं, ऐसा स्मरण रखना चाहिए। पीनसादिरहिताः साध्याः- पीनस आदि उपद्रवों से रहित होने पर ही गलगण्ड एवं गण्डमाला रोग साध्य है। यह साध्यासाध्य आदि भेद से विभाग शिरःशोथ आदि सभी व्याधियों में है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् उपद्रव से युक्त होने पर सभी व्याधियाँ असाध्य होती हैं। सिरेति=सिराव्यध (सिरावेध)। इन व्याधियों की विशेष चिकित्सा का प्रतिपादन सुश्रुतसंहिता में किया गया है। ॥७९-८०॥

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् स्वरूपधारी स्फुरणः सिराभिः। ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च ॥८१॥
संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम्। विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोशं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत् ॥८२॥
अदग्ध ईषत् परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम्। तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद्वीक्ष्य शरीरदेशान् ॥८३॥
शेषे कृते पाकवशेन शीर्यात्ततः क्षतोत्थैः प्रसरेद्विसर्पैः। उपद्रवं तं प्रविचार्य तज्ज्ञस्तैर्भेषजैः पूर्वतरैर्यथोक्तैः ॥८४॥
निवारयेदादित एव यत्नाद्विधानवित् स्वस्त्वविधिं विधाय। ततः क्रमेणास्य यथाविधानं व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत् ॥८५॥
विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च। स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥८६॥

ग्रन्थि (Cyst)–वातादि दोषों की वृद्धि के कारण शरीर के अंग विशेष में अपने-अपने लक्षणों से युक्त ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि दोष सिराओं के आश्रित होकर ग्रन्थि उत्पन्न करते हैं तब उसमें फरकाहट (स्पन्दन) उत्पन्न होता है। जब दोष मांसाश्रित होते हैं तब

Scanned by CamScanner

उसमें बड़ी-बड़ी ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं तथा उसमें वेदना का अभाव होता है । मेदाश्रित ग्रन्थि अत्यन्त स्निग्ध (unctuous) एवं चल (Mobile) होती है ।

चिकित्सा–सर्वप्रथम वमनादि उपक्रमों द्वारा आतुर के शरीर को शुद्ध करना चाहिए, तत्पश्चात् ग्रन्थि का स्वेदन (Sudation) करें, इसके लिये पत्थर (Stone), लकड़ी (Wood), अंगूठे एवं राड का प्रयोग किया जा सकता है । यदि ग्रन्थि में पाक की प्रवृत्ति नहीं है तब चिकित्सक को उसका विलयन करना चाहिए । यदि ग्रन्थि पक गयी हो तब उसे शस्त्र द्वारा समूल काटकर, ग्रन्थिकोश को निकालकर तथा मूल को जला कर व्रण की तरह चिकित्सा करें । यदि ग्रन्थिमूल को पूर्णतः नहीं जलाया जाता है अथवा इसी तरह से छोड़ दिया जाय तब उसका बचा हुआ मूल पुनः धीरे-धीरे बढ़कर बड़ा हो जाता है । अतः कुशल चिकित्सकों का विचार है कि शरीर प्रदेश में उत्पन्न ग्रन्थि के मूल को सम्यक् प्रकार से काटकर निकाल दें ताकि कुछ भी शेष न रह जाय । यदि ग्रन्थि के मूल को काटकर निकाल दिया गया हो तथा चिकित्सक की असावधानी के कारण कुछ भाग शेष रह गया हो तो उस शेष भाग में पाक उत्पन्न हो जाता है, परिणाम स्वरूप वह पककर गिरने लगता है, जिसके कारण उस भाग में घाव (क्षत Ulcer) की वृद्धि होने लगती है । इस क्षत की वृद्धि को क्षतज विसर्प कहते हैं । ग्रन्थिरोग के इस उपद्रव का विचार करते हुए क्षतज विसर्प की जो चिकित्सा आगे बतायी जायेगी उसी का पालन करना चाहिए । तत्पश्चात् व्रण विधान के अनुसार व्रण की चिकित्सा शीघ्रतापूर्वक करनी चाहिये ।

यदि ग्रन्थि कुक्षिप्रदेश (Pelvic region), उदर (Abdomen), गले (Throat) एवं मर्म प्रदेश (Vital organ) के आश्रित हो, आकृति में बड़ी हो, स्पर्श में खर (Rough and hard) हो, बच्चों, वृद्ध पुरुषों तथा दुर्बल शरीर वाले पुरुषों को हो तब ग्रन्थि की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । ॥८१-८६॥

चक्रपाणि–'अङ्गैकदेशेत्यादि' के द्वारा 'ग्रन्थि' रोग का अभिधान किया गया है । **स्वरूपधारीति**- वात दोष की अधिकता से होने वाली ग्रंथि में वात के लक्षणों का, पित्त में पित्त के लक्षणों का तथा कफ में कफ दोष के लक्षणों का मिलना पाया जाता है अर्थात् वातज ग्रन्थि में वात के, पित्तज में पित्त के तथा कफज में कफ के लक्षण पाये जाते हैं ।

ग्रन्थिसंज्ञया ग्रन्थ्याकारत्वं दर्शयति–'ग्रन्थि' के आकार का होने के कारण इसका नाम ग्रन्थि रखा गया है । स्फुरणः वेपमान इत्यर्थः=कम्पन का होना, यह अर्थ लिया गया है ।

मेदोभवोऽनर्तीर्भवति–मेदज ग्रन्थि में वेदना नहीं होती । महान्ग्रंथिर्मांसभवो भवति-मांस में उत्पन्न होने वाली ग्रन्थि बड़ी होती है । **संशोधिते इति**-जिस पुरुष का संशोधन कराया गया हो, उसमें । विलयेदिति=विम्लापयेत् (विम्लापन कराना चाहिये) अथवा मृदु बनाना चाहिये । सकोशमिति-ग्रन्थि को कोश सहित निकालकर, उसके मूल को जला दें, पश्चात् व्रण की तरह चिकित्सा करें । असम्यक् दग्ध अथवा शेष बची हुई ग्रन्थिमूल के दोष को यहाँ 'अदग्ध इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । **स्वैर्भेषजैरिति विसर्पभेषजै**-विसर्पनाशक चिकित्सा के द्वारा । 'विवर्जयेदित्यादि' के द्वारा असाध्य ग्रन्थि के भेद को स्पष्ट किया गया है । ॥८१-८६॥

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः । ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद्ग्रन्थिचिकित्सितेन ।।८७।।

ग्रंथि एवं अर्बुद में तुल्यता (Similarity between Granthi and Arbuda)–ग्रंथि एवं अर्बुद के उत्पन्न होने के स्थान (Site), हेतु (उत्पादक हेतु Causitive factor), आकृति (Shape), दोष एवं दूष्य समान होते हैं । अतः बुद्धिमान चिकित्सक को ग्रन्थिचिकित्सा के निर्धारित उपक्रमों का प्रयोग विधिपूर्वक अर्बुद की चिकित्सा में करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'ग्रन्थ्यर्बुदानामित्यादि' के द्वारा अतिदेशार्थ रूप अर्बुद की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । **अविशेष इव अविशेष इह ज्ञेयः**-अविशेष की भाँति होना अविशेष कहा जाता है । सुश्रुतसंहिता मे भी अर्बुद के लक्षणों का अभिधान इस प्रकार किया गया है, यथा- गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमभिप्रदूष्य । वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥ कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति'' (सु.नि.अ. ११) इति [शरीर के किसी भी भाग में वृद्ध वातादि दोष मांस धातु को दूषित करके वृत्त (Round) एवं स्थिर (Immobile), अल्प वेदना युक्त (With mild pain), बड़ी आकृति वाला (Large in size), गम्भीर धातुओं में फैला हुआ, धीरे-धीरे बढ़ने वाला तथा पाक को न प्राप्त होने वाला मांस के उपचय से युक्त शोफ को उत्पन्न करते है । शास्त्रकार उस शोफ को अर्बुद के नाम से पुकारते है, अर्थात् उस शोफ को अर्बुद कहते हैं ।) अतः ग्रन्थि एवं अर्बुद में अल्प भिन्नता होते हुए भी इन दोनों में स्राव आदि की समानता से ग्रन्थि की चिकित्सा विधान का प्रयोग अर्बुद में भी समान रूप से लाभदायी होता है । ॥८७॥

ताम्रा सशूला पिडका भवेद्या सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा । शोफोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ।।८८।।
ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या वर्तिर्निरर्तिः कठिनायता च । विदारिका सा कफमारुताभ्यां तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात् ।।८९।।
विस्रावणं पिण्डिकयोपनाहः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा ।

Scanned by CamScanner

अलजी (Alaji)–ताम्र वर्ण (Copper colour) की शूल युक्त पिडका (Painful eruptions) जिसके मुख से स्राव निकलता हो, 'अलजी' कहते हैं।

चर्मनखान्तर शोथ (Carmanakhāntara Śotha)–यह चर्म एवं नख के बीच होने वाला घाव रहित शोथ है, इसमें रक्त व मांस दूषित होते हैं तथा इसमे शीघ्र ही भयङ्कर रूप से पाक उत्पन्न हो जाता है।

विदारिका (Inguinal and Axillary Lymphadenitis)–वंक्षण (Inguinal) एवं कक्षा (Axillary) प्रदेश में होने वाला वर्ती सदृश (दीर्घाकार elongated) शोथ है, इसमें वेदना का अभाव होता है साथ में ज्वर बना रहता है। यह शोथ स्पर्श में कठिन (Hard) तथा वात कफ की अधिकता से युक्त होता है।

इन व्याधियों की चिकित्सा दोषानुसार की जाती है, चिकित्सार्थ रक्तविस्रावण अथवा पिण्डिकाओं द्वारा उपनाह का प्रयोग अपक्व रोग में तथा पक जाने पर व्रण की तरह चिकित्सा, यथा-छेदन, भेदन आदि का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–चर्मनखान्तर इति-चर्म एवं नख की सन्धि। विदारिकेह कफवाताभ्यामुच्यते-इस प्रकरण में विदारिका कफ वात की अधिकता के कारण उत्पन्न होती है, यह कहा गया है, सुश्रुत-संहिता में विदारिका के बारे में कहा भी गया है, यथा-"सर्वजां सर्वलक्षणाम्" (सु.नि.अ. १३) इति [विदारीकन्द की तरह सभी दोषों से उत्पन्न सभी दोषों के लक्षणों से युक्त कक्षा एवं वंक्षण प्रदेश की संधि में होने वाली लाल रंग की 'पिडिका' को 'विदारिका' कहते हैं।] आचार्य सुश्रुत विदारिका को त्रिदोषज स्वीकार करते हैं, लेकिन उसको यहाँ (चरकसंहिता में) कफ वाताधिक हीन पित्त वाला समझना चाहिए। इस कारण दोनों आचार्यों के मतों में कोई विरुद्धता नहीं है।

तेषामित्यनेन अलज्यक्षतविदारिकारोगान् प्रत्यवमृशति-'तेषामिति' से अलजी एवं अक्षत विदारिका रोग की चिकित्सा के बारे में बताया गया है।

विस्रावणमिति=रक्तविस्रावण (रक्तमोक्षण)। **पिण्डिकयेति**-पिण्डिका स्वेद के द्वारा। ॥८८-८९॥

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु स्फोटाः सरागज्वरतर्षयुक्ताः ।।९०।।
यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः । याश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः ।।९१।।
क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः । कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेका रोमान्तिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः ।।९२।।
याः सर्वगात्रेषु मसूरमात्रा मसूरिकाः पित्तकफात् प्रदिष्टाः । वीसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या तां तेषु कुर्छे च हितां विदध्यात् ।।९३।।

विस्फोटक–इसमें आतुर के सम्पूर्ण शरीर में स्फोट (Eruptions) उत्पन्न हो जाते हैं, ये रक्त वर्ण के होते हैं तथा रोगी ज्वर (Fever) एवं तर्ष (Morbid thirst) से पीडित रहता है।

कक्षा (Kakṣā)–पित्त एवं वात की अधिकता से उत्पन्न होने वाली यज्ञोपवीत सदृश पिडिकाओं के समूह को कक्षा कहते हैं।

पित्तज पिडिका–शरीर में फैलने वाली कुछ दूसरी भी पिडिकायें होती हैं जो संख्या में कम तथा आकृति में कुछ बड़ी, कुछ छोटी तथा कुछ मध्यम आकार की होती हैं, ये पिडिकायें पित्तज कही जाती हैं।

रोमान्तिका–राई के आकृति की ये पिडिकायें सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती हैं। इसमें कफ व पित्त की अधिकता पायी जाती है अर्थात् इनकी उत्पत्ति कफ व पित्त की वृद्धि से होती है। इसके साथ ही ज्वर (Fever), दाह (Burning sensation), तृष्णा (Thirst), कण्डू (Itching), अरुचि (Anorexia) एवं प्रसेक (Excessive Salivation) आदि लक्षण रोगी में पाये जाते हैं।

मसूरिका–मसूर (उड़द) के सदृश सम्पूर्ण शरीर में होने वाली पिडिका को 'मसूरिका' कहते हैं। यह कफ व पित्त की अधिकता से उत्पन्न होती है। विसर्प नाशक जिन उपक्रमों का निर्देश आगे किया जायेगा तथा कुष्ठ नाशक जो चिकित्सा 'चिकित्सास्थान ६' में बतायी गयी है उन सबका प्रयोग 'मसूरिका' में कराना हितकारी होता है।

चक्रपाणि–स्फोट से यहाँ 'कक्षा' में वर्णित स्फोट चिरस्थायी (chronic) होते हैं। **यज्ञोपवीतप्रतिमा इति यज्ञोपवीत-व्याप्यस्थानमात्रव्यापकाः स्फोटा एव**- यज्ञोपवीत धारण करने वाले भाग में होने वाली पिडिकाओं को कक्षा नाम से कहा जाता है। (यज्ञोपवीत का धारण बाये स्कन्ध से लेकर दाहिने भाग की कमर तक, गोलाकार होता है।) **प्रकीर्णा इति** बहुविधजातिकाः- अनेक प्रकार की आकृति वाली पिडिकायें। 'विसर्पेत्यादौ तेषु इति'-विसर्प एवं कुष्ठ चिकित्सा का पालन-विस्फोट, कक्षा, मसूरिका एवं विदारिका आदि व्याधियों में भी करना चाहिए। ॥९०-९३॥

ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च । मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा चेत् स्निग्धं च विद्यात् कठिनं च शोथम् ।।९४।।
विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा । स्यान्मूत्रसेकः कफजं विपाट्य विशोध्य सीव्येद्व्रणवच्च पक्वम् ।।९५।।

Scanned by CamScanner

ब्रध्न (Hernia)–ब्रध्न एक प्रकार की सूजन (Swelling) है जो Inguinal एवं Scrotal भाग में वातादि दोषों के प्रकुपित होने से होती है। इनमें बढ़े हुए दोष अपने-अपने लक्षणों को व्यक्त करते हैं। इस व्याधि में क्षुद्रान्त बार-बार Inguinal canal से होकर Scrotal sac (अण्डकोष) में प्रवेश करता तथा पुनः उदरभाग में चला जाता है।

मूत्रवृद्धि–इसमें अण्डकोष मूत्र से भर जाता है जिसके कारण स्पर्श में कोमल प्रतीत होता है। इस व्याधि को मूत्रवृद्धि कहते हैं।

मेदोज वृद्धि–जब अण्डकोष में मेद (Fat) की वृद्धि होती है तब वह स्पर्श में कठिन (Hard) एवं स्निग्ध हो जाता है। इस वृद्धि को मेदोज वृद्धि कहते हैं। इन व्याधियों की चिकित्सा सामान्यतः विरेचन (Purgation), अभ्यङ्ग (Massage), निरूह बस्ति (A type of Medicated enema) एवं लेप (External application of the Ayurvedic medicine in a paste form) द्वारा करनी चाहिए। यदि शोथ पक गया है तब उसकी चिकित्सा व्रण की तरह करें। मूत्रज, मेदोज एवं कफज वृद्धि में शस्त्र द्वारा चीरा लगाकर शोधनोत्तर सीवन कर्म करना चाहिए। यदि ये पाक को प्राप्त हो जाय तब व्रणवत् चिकित्सा करें, अर्थात् शोधन व रोपण क्रिया करनी चाहिये। ॥९४-९५॥

चक्रपाणि–ब्रध्न इत्यादौ वृषणे इति जातावेकवचनं-वृषण में ब्रध्न उत्पन्न हो जाता है। यहाँ 'वृषण' शब्द एकवचन (Singular form) में प्रयुक्त हुआ है। जबकि इससे दोनों वृषण का ग्रहण किया गया है।

[The term 'vṛṣane' mentioned in the first line of the verse 94, in a singular form, but it connotes both the parts of this organ i.e. scrotum. By implication, bradhna or vṛidhi might occur in eihter or both the parts of the scrotum - by Dr. Bhagvan das.]

स्वलिङ्गैरिति–वातादि के लक्षणों द्वारा अर्थात् वातिक ब्रध्न में वात के लक्षण, पित्तज ब्रध्न में पित्त दोष के लक्षण तथा कफज ब्रध्न में कफ दोष के लक्षण पाये जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये। **अन्त्रं मुहुर्निरिति स्वस्थानात् वृषणं प्रविशेच्चेति**-आन्त्रवृद्धि में आन्त्र अपने स्थान से बार-बार वृषणकोष में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह आन्त्रवृद्धि के लक्षण को बताया गया है। मूत्र के द्वारा जो ब्रध्न उत्पन्न होता है वह मूत्र से भरा हुआ एवं स्पर्श में मृदु होता है। मेदोज वृद्धि में- हेतु मेद होने से यह ब्रध्न (वृद्धि) स्पर्श में स्निग्ध एवं कठिन (Hard) होता है। इस प्रकार यहाँ छः प्रकार के ब्रध्नों का उल्लेख किया गया है। (वातिक वृद्धि, पैत्तिक वृद्धि, कफज वृद्धि, आन्त्र वृद्धि, मूत्रवृद्धि एवं मेदोज वृद्धि।) सुश्रुतसंहिता में रक्तज वृद्धि का भी वर्णन किया गया है। उसको यहाँ पित्तज या पैत्तिक में ही समावेशित कर लिया गया है।

'विरेचन इत्यादि' के द्वारा ब्रध्न के सामान्य चिकित्सासूत्र का अभिधान किया गया है। कफज प्रकार की वृद्धि में विशेष चिकित्सा का निर्देश है। अर्थात् इसमें शस्त्र द्वारा विपाटन कर (फाड़कर) एवं शोधन कर सीवन कर्म करना चाहिये तथा जो व्रण पक गया हो उसमें व्रण की तरह चिकित्सा करनी चाहिए, यह भाव है। ॥९४-९५॥

क्रिम्यस्थिसूक्ष्मक्षणनव्यवायप्रवाहणान्युत्कटकाश्वपृष्ठैः। गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ॥९६॥

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः। स्यात् क्षारसूत्रेण सुपाचितेन छिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ॥९७॥

भगन्दर (Fistula-in-ano)–क्रिमि (Parasites) अथवा अस्थि के सूक्ष्म टुकड़ों द्वारा, अत्यधिक व्यवाय के द्वारा (by excessive sexual intercourse), बार-बार प्रवाहण करने से (मल त्याग के समय कांखना (Straining for passing stool), उत्कट आसन में बैठने से तथा अत्यधिक घुड़सवारी करने से; इन हेतुओं के अत्यधिक सेवन से गुदा में क्षत हो जाने से गुदा के पार्श्व में एक पिडिका उत्पन्न हो जाती है जिसमें अत्यन्त तीव्र वेदना होती है, पककर फूट जाने पर उसे भगन्दर कहा जाता है।

भगन्दर की चिकित्सा–इस व्याधि की चिकित्सा में सर्वप्रथम विरेचन का प्रयोग करना चाहिए, पश्चात् ऐषणी द्वारा (by probing) पिडिका के मार्ग का उचित ज्ञान कर चीरा लगाना चाहिये। इसके बाद शोधन औषधियों के प्रयोग द्वारा व्रणमार्ग का शोधन करें। शोधनोत्तर उष्ण तैल द्वारा व्रण का दाहकर्म करें अथवा भगन्दर का अच्छी तरह पाक हो जाने पर क्षारसूत्र का प्रयोग करना चाहिये। क्षारसूत्र द्वारा भगन्दर का भेदन हो जाने पर व्रणवत् चिकित्सा (शोधन एवं रोपण औषधियों का प्रयोग) करना चाहिए।

चक्रपाणि–'क्रिम्यस्थीत्यादि' के द्वारा भगन्दर के पांच प्रकारों को यहाँ संक्षेप में बताया गया है।

एषणं शलाकया गत्यवेक्षणम्–शलाका (Probe) द्वारा भगन्दर के मार्ग का पता लगाना।

क्षारसूत्रेण सुपाचितेन छिन्नस्येत्यनेन–पक्व भगन्दर में क्षारसूत्र के प्रयोग से भगन्दर का छेदन करना। इस सूत्र के द्वारा क्षारसूत्र के विधान का उल्लेख किया गया है। यहाँ इसका विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि यह विषय शल्य तन्त्र का है। सुपाचितेनेति-क्षार के द्वारा सम्यक् रूप से विपाचित। ॥९६-९७॥

विशेष–आचार्य सुश्रुत ने वात, पित्त, कफ, सन्निपात एवं आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होने वाले भगन्दर क्रमशः ५ प्रकार के होते हैं, यथा-शतपोनक (वात), उष्ट्रग्रीव (पित्त), परिस्रावी (कफ), शम्बूक (सन्निपात) तथा उन्मार्गी (आगन्तुक); बताया है। ये भग, गुदा,

Scanned by CamScanner

बस्ति प्रदेशो का दारण (टुकड़े-टुकड़े करना) करते हैं, इस कारण इसे भगन्दर कहा जाता है, अपक्व रहने पर इन्हें पिडका कहा जाता है तथा पक्व होने के पश्चात् इनकी भगन्दर संज्ञा दी गयी है। [ते तु भगगुदबस्तिप्रदेशदारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते। अभिन्नाः पिडकाः, भिन्नास्तु भगन्दराः ॥ (सु.नि.अ. ४/४) इति]

आचार्य सुश्रुत ने भगन्दर के पूर्वरूप में-कर्टीकपाल वेदना (कटि की अस्थियों में पीड़ा), गुदा में खुजली, दाह एवं शोफ का होना बताया है।

जङ्घासु पिण्डीप्रपदोपरिष्टात् स्याच्छ्लीपदं मांसकफास्रदोषात्। सिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥९८॥

श्लीपद (Elephantiasis)–मांस, कफ एवं रक्त की दुष्टि के कारण व्यक्ति के जङ्घा (Calf region), पिण्डी (Lower part of the leg) एवं प्रपादिका (Front portion of the leg) तक शोथ उत्पन्न हो जाता है अर्थात् यह शोथ प्रपादिका से प्रारम्भ होकर जङ्घा तक चला जाता है। इस शोथ को 'श्लीपद' कहते हैं।

इसकी चिकित्सा मे रक्ताश्रित कफ को दूर करने वाले सभी उपक्रमों का प्रयोग अर्थात् सिरावेध एवं कफ नाशक चिकित्सा करनी चाहिए, साथ में बाह्य प्रलेप के रूप में सरसो कल्क (Mustard paste) का लेप करें।

चक्रपाणि–जङ्घास्विति बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया; किंवा बहुवचनेन जङ्घादिष्वित्यादिपदलोपो ज्ञेयः-यहाँ 'जंघासु' पद बहुवचन (Plural) के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय शोथ का दो से अधिक भागों में फैलना है अथवा 'जङ्घादिष्विति' पद का लोप है अर्थात् मूलसूत्र में 'आदि' पद लुप्त है, ऐसा जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि श्लीपद का शोथ जंघा के साथ-साथ शरीर के अन्य भागों में भी होता है। कहा भी गया है, यथा-"शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः" इत्यादि [कुछ आचार्यों के अनुसार यह शोथ शिश्न (Male genital organ), ओष्ठ (Lips) एवं नासा (Nose) में भी होता है। -माधव निदान] यही विचार आचार्य पौष्कलावत ने भी दिया है, यथा-"ग्रीवावंक्षणजङ्घौष्ठपाद-कर्णकराश्रयम्। श्लीपदं मांसमेदोभ्यां विद्यात्" [इनके अनुसार श्लीपद की उत्पत्ति मांस व मेद की दुष्टि के कारण होती है तथा श्लीपद का शोथ ग्रीवा (Neck), जंघा, ओष्ठ, पाद, कर्ण एवं हाथों में भी होता है।] पिण्डीति=मांसपिण्डी। प्रपदं=पाद का अग्र भाग। ॥९८॥

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्। कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पणं जालकगर्दभाख्यम् ॥९९॥
विलङ्घनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च। धात्रीप्रयोगाञ् शिशिरान् प्रदेहान् कुर्यात् सदा जालकगर्दभस्य ॥१००॥

जालकगर्दभ (Jālakagardabha)–मन्द वात-कफ एवं प्रबल पित्त (सन्निपात- वात व कफ की अल्प वृद्धि तथा पित्त की अत्यधिक वृद्धि) प्रकुपित होकर भयङ्कर शोथ को उत्पन्न करते हैं तथा इसमें अल्प रूप में रक्त का पाक होता है (Mild suppuration of blood)। रोगी में शोथ के साथ ही सार्वदैहिक लक्षणों में ज्वर (Fever) एवं तर्ष (प्यास-Thirst) की वृद्धि पायी जाती है। इस व्याधि का विसर्पणशील स्वभाव होने से इसे 'जालकगर्दभ' कहा जाता है।

जालकगर्दभ की चिकित्सा (Treatment of Jālaka gardabha)–इसकी चिकित्सा में लङ्घन (उपवास), रक्तमोक्षण (Blood letting), विरूक्षण एवं संशोधन औषधियों के प्रयोग द्वारा शरीर का शोधन करना चाहिए। तत्पश्चात् आँवले (धात्री) का प्रयोग एवं शीतल लेपों का प्रयोग करें।

चक्रपाणि–मन्दा इति-अल्प वृद्धि का होना, अर्थात् वात व कफ पित्त की तुलना में अल्प वृद्ध होते हैं। यहाँ 'मन्दाः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है जो तुलनात्मक रूप से अभिव्यक्ति के अर्थ में है, अर्थात् तीनों दोषों की दृष्टि से विचार करते हुए इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

पित्तं प्रबलं येषां ते पित्तप्रबलाः–जिनमें पित्त की प्रबलता होती है उन्हें 'पित्तप्रबल' कहा गया है। तनुःरक्तपाको यस्मिन् तत् तनुरक्तपाकम्-जिसमें रक्त का पाक अल्प हो वह 'तनुरक्तपाक' युक्त है अर्थात् जिसमें पाक की प्रवृत्ति अल्प हो। आचार्य सुश्रुत भी 'अपाक' शब्द से ईषद् पाक (Mild suppuration) का ग्रहण करते हैं, यथा-**"अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः"** (सु.नि.अ. १३) [जो शोथ पित्त के द्वारा उत्पन्न हो लेकिन जिसमें पाक न हो अर्थात् ईषद् पाक हो उसे जालकगर्दभ समझना चाहिये। यहा अपाक से पाक का न होना अर्थ गृहीत नहीं है।] रक्तस्य पाकेन युक्तं रक्तपाकं, न तु रक्तवर्णमात्रम्-रक्त का पाक से युक्त होना 'रक्तपाक' कहलाता है, न कि रक्त के वर्ण मात्र का होना। ॥९९-१००॥

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य शोथप्रकाराननिलादिलिङ्गैः। शान्तिं नयेद्दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदनभेददाहैः ॥१०१॥

शोथ के अन्य प्रकारों की चिकित्सा–इसी प्रकार शोथ के अन्य भेदों की परीक्षा वातादि दोषों के लक्षणानुसार करके तद्-तद् दोषनाशक आलेपन (External application of ointment), छेदन (Excision), भेदन (Puncturing) एवं दाह क्रिया (Cauterisation) का प्रयोग करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–यहाँ अनुक्त शोथ के प्रकारों का उपसंहार 'एवं विधानित्यादि' के द्वारा किया गया है । ॥१०१॥

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र । वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म ।।१०२।।

आगन्तुक शोथ (Exogenous swelling)–प्रातः अभिघात के कारण प्रकुपित हुई वायु रक्त के साथ मिलकर रक्तवर्ण का शोथ उत्पन्न कर देती है । इसकी चिकित्सा विसर्पनाशक एवं वातरक्त नाशक द्रव्यों द्वारा करना चाहिए । विष के कारण यदि शोथ उत्पन्न है तब वहाँ विषघ्न औषधियों का प्रयोग करें ।

चक्रपाणि–'प्राय इत्यादि' के द्वारा आगन्तुक शोथ की चिकित्सा को बताया गया है । **विषजे शोथे इति सम्बन्धः** विषज शोथ में विषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये । ॥१०२॥

तत्र श्लोकः–

त्रिविधस्य दोषभेदात् सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च । श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम् ।।१०३।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस श्वयथु चिकित्सा नामक अध्याय में दोष भेद से शोथ के तीन प्रकार, गात्र भेद से शोथ के तीन प्रकार, यथा-सर्वशरीर में उत्पन्न शोथ, शरीर के अर्ध भाग में उत्पन्न शोथ तथा शरीर के विशेष भाग में उत्पन्न शोथ, निज व आगन्तुक भेद से शोथ के दो प्रकारों एवं उनके लक्षण व चिकित्सा का विवेचन किया गया है । ॥१०३॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत (अप्राप्त चरक संहिता के), दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान में श्वयथु चिकित्सा नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–संक्षेप में सर्वशरीर, अर्ध शरीर एवं अवयव शरीर भेद से शोथ तीन प्रकार का बताया गया है । **द्विविधस्येति**-निज व आगन्तुक भेद से शोथ दो प्रकार का होता है ।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के शोथचिकित्सा नामक द्वादश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥१२॥

Scanned by CamScanner

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे उदरचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ।।१-२।।

चक्रपाणि–उदररोग शोथ का ही एक भेद है, क्योंकि शोथ (Swelling) लक्षण दोनों में ही पाया जाता है । इसलिये यहाँ शोथचिकित्सा के बाद उदरचिकित्सा का अभिधान किया गया है । ।।१-२।।

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे । तप्यमाने तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ।।३।।
आयुर्वेदविदां श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्तकम् । पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद्वचः ।।४।।
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः । शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ।।५।।
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः । दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूनिनाथवत् ।।६।।
तेषामायतनं संख्यां प्राग्रूपाकृतिभेषजम् । यथावच्छ्रोतुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ।।७।।
सर्वभूतहितार्थिभिः शिष्यैवं प्रचोदितः । सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे ।।८।।

विषयारम्भ–सिद्ध विद्याधरों [देवयोनि विशेष, Vidyā-dhara-A kind of Supernatural being (dwelling in the Himālaya, attending upon Śiva and possessed of magical power)-Sanskrit-English dictionary by M.M. Williams] से घिरे हुए नन्दनवन के सदृश कैलाश पर्वत पर रहकर, तीव्र तप से तप्यमान (प्रकाशित), साक्षात् धर्मरूप में स्थित, आयुर्वेदविदों में श्रेष्ठ, भिषक् विद्या (चिकित्सा शास्त्र) के प्रवर्तक एवं जितेन्द्रिय भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से आचार्य अग्निवेश (शिष्य) ने यह कहा- हे भगवन् ! कष्टकारी उदररोगों से लोग पीड़ित दिखाई दे रहे हैं, जिनके मुख सूख गये हैं, शरीर कृश हो गया है, उदर एवं कुक्षि में आध्मान (distension) है, अग्नि एवं आहार की शक्ति अल्प हो गयी है । व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक चेष्टाओं में असमर्थ हो गये हैं; ऐसे लोग चिकित्सा के अभाव में अनाथ की तरह असहाय होकर अपने प्राणों को त्याग दे रहे हैं । इन लक्षणों वाले उदररोग के आयतन (Causative factors), संख्या (Number of varieties), पूर्वरूप (Premonitory signs and Symptoms), लक्षण (Manifested signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) को यथावत् रूप में आपके द्वारा सुनना चाहता हूँ ।

इस प्रकार शिष्य के द्वारा प्रेरित करने पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने प्राणिमात्र के कल्याणार्थ एवं सभी के लिए हितकारी वाक्यों को इस प्रकार कहा– ।।३-८।।

चक्रपाणि–आयुर्वेदविदामिति भिषग्वेदविदाम्-चिकित्सा के विद्वानों में श्रेष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ चिकित्सक । दुःखैरिति-दुःख जनक कारणों के द्वारा । **तेषामिति**-उदर रोगों का । आयतनमिति-कारण (व्याधि उत्पादक हेतु) । संख्या का निर्देश यद्यपि रोगाधिकार प्रकरण में- "अष्टावुदराणि" (सू.अ. १९) इति के द्वारा किया गया है, फिर भी गुल्म एवं कुष्ठ दोनों के संख्यातिक्रम होने से पुनः यहाँ संख्या के प्रश्न को रखा गया है अथवा प्रकरण आ जाने के कारण संख्या का कथन होते हुए भी पुनः कहा गया है । ।।३-८।।

अग्निदोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः । मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते विशेषेणोदराणि तु ।।९।।
मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः । प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य मार्गान्रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ।।१०।।
त्वङ्मांसान्तरमागम्य कुक्षिमाध्मापयन् भृशम् । जनयत्युदरं तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ।।११।।

उदररोग की सामान्य संप्राप्ति (Pathogenesis of Udara roga in general)–जाठराग्नि की विकृति के कारण शरीर में मल (Digestive and metabolic waste-products including vāyu) की वृद्धि होने से मनुष्यों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, विशेष रूप से उदररोग । अर्थात् अग्निमांद्यता एवं मल की वृद्धि होने से विशेष रूप से उदररोग की उत्पत्ति होती है । जाठराग्नि के मन्द होने पर अथवा मलीन आहारों के सेवन करने पर आहार का सम्यक् पाक नहीं होता, परिणामतः शरीर में दोषों का सञ्चय होने लगता है । ये सञ्चित दोष प्राणवायु, अग्नि (Enzymes responsible for digestion and metabolism) एवं अपानवायु को दूषित करके ऊर्ध्व एवं अधः स्रोतसों को अवरुद्ध कर देते हैं, जिसके कारण प्रकुपित दोष त्वचा एवं मांस के बीच में स्थित होकर कुक्षि (Abdomen, particularly the lower part) में भयङ्कर रूप से आध्मान उत्पन्न करते हुए 'उदररोग' को उत्पन्न करते हैं । उस उदररोग के हेतु (Causative factors) एवं लक्षणों (Signs and symptoms) को सुनो–।।९-११।।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'अग्निदोष' से यहाँ अग्निमांद्य अर्थ लिया गया है। उस अग्निमांद्य को ही यहाँ तीनों दोषों का प्रकोपक कारण स्वीकार किया गया है, जिसका परिणाम उदररोग होता है। अर्थात् अग्निमांद्य के ही कारण तीनों दोष प्रकुपित होकर उदररोग को उत्पन्न करते हैं। कहा भी गया है, यथा-"वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः" (सू.अ. ६) इति [वर्षा ऋतु में अग्नि बल के क्षीण होने पर वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं।]

मला वातादयः पुरीषादयश्च–'मल' से यहाँ वातादि दोष तथा मूत्र, पुरीष आदि का ग्रहण किया गया है। **मलिनैरिति दोषकारकैर्विरुद्धाहारादिभि**-'मलिनैः' से यहाँ दोषोत्पादक विरुद्ध आहारादि का ग्रहण किया गया है, अर्थात् दोषोत्पादक विरुद्ध आहारादि के सेवन करने से। यद्यपि कि मन्दाग्नित्व एवं मलिन अन्न दोनों ही स्वतन्त्र रूप से त्रिदोष प्रकोपक कहे गये हैं। अथवा इन दोनों के द्वारा ही त्रिदोष का प्रकोप होता है, फिर भी इन दोनों शब्दों का प्रयोग होना-अत्यधिक त्रिदोष प्रकोप को दर्शाता है। अर्थात् यहाँ **अग्निमांद्य** एवं **मलिन आहार** दोनों कारणों की विद्यमानता-प्रकर्ष रूप में त्रिदोष की वृद्धि को दर्शाती है।

अत एव च प्रकर्षार्थं 'संचय' इति संपूर्वं कृतवान्–अतः दोष जब प्रकर्ष रूप में बढ़ते हैं तो उनका अपने स्थान पर सञ्चय होता है, अर्थात् प्रकोप से पहले दोषों का अपने स्थान पर सञ्चय होता है। 'प्राणेत्यादि' से पुनः अग्निदूषण के अभिधान द्वारा पूर्व मे ही दुर्बल अग्नि पुनः दोषों द्वारा दूषित होकर अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, यह दर्शाया गया है। सञ्चित हुए दोषों द्वारा प्राण व अपान वायु की दुष्टि स्वीकार करने योग्य है, क्योंकि वायु के द्वारा भी वायु की दुष्टि होती ही है। त्वङ्मांसान्तरमिति–त्वचा व मांस के बीच में। ॥९-११॥

विशेष-अग्निदोष से यहाँ अग्निमांद्य (Impairment of the power or function of the digestion) अर्थ गृहीत है। जिसके कारण तीनों दोष प्रकुपित होकर 'उदररोग' को उत्पन्न करते हैं। आचार्य गंगाधर 'मलिनैः' से शाकादि (दूषित) का ग्रहण करते हैं, जबकि आचार्य योगीन्द्रनाथ सेन आचार्य चक्रपाणि के ही मत का अनुगमन करते हैं, यथा-'मलिनैः मलकरैः अपथ्यैः''-(योगीन्द्रनाथ सेन)।

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात्। मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥१२॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्शनात् कर्मविभ्रमात्। क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥१३॥
स्रोतसां दूषणादामात् संक्षोभादतिपूरणात्। अर्शोबालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥१४॥
अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम्। उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥१५॥

उदररोग के हेतु (Etiology of Udara roga)–अधोलिखित कारक विभिन्न प्रकार के उदररोगों की उत्पत्ति में हेतु का कार्य करते हैं–

१. अत्यधिक उष्ण, लवण, क्षार, विदाही (शरीर में विदाह उत्पन्न करने वाले आहार), अम्ल एवं विष युक्त अन्न-पानों का सेवन करना।

२. मिथ्या संसर्जनक्रम का प्रयोग (शोधनोत्तर प्रयुक्त होने वाले संसर्जन का अनुचित प्रयोग)

३. रूक्ष, विरुद्ध एवं अशुचि भोजन (uncleaned food) सेवन करने से।

४. प्लीहा (Splenic disorder), अर्श (Piles) एवं ग्रहणी दोष (Sprue syndrome) के कारण रोगी के कृश हो जाने से।

५. पञ्चकर्म चिकित्सा के विभ्रम से अर्थात् वमन एवं विरेचन के अनुचित प्रयोग से।

६. क्लिष्ट व्याधियों के प्रतिकार (चिकित्सा) न करने से।

७. रूक्ष द्रव्यों के अत्यधिक सेवन करने से।

८. मल मूत्रादि अधारणीय वेगों के धारण करने से।

९. स्रोतसों (उदकवह एवं स्वेदवह स्रोतस्) के दूषित होने से।

१०. शरीर में 'आम' [Products of improper digestion and metabolism] की उपस्थिति के कारण।

११. क्षोभ उत्पन्न करने वाले अन्न-पान के अत्यधिक सेवन से (intake of irritating food and drinks)

१२. अत्यधिक द्रव पदार्थों के सेवन से (Over Nourishment)

१३. अर्श (Piles), बाल (Hair) एवं पुरीष के अवरोध से

१४. आंत्र में स्फुटन (Ulceration) एवं भेद (Perforation) होने से।

१५. वातादि दोषों के शरीर में अत्यधिक सञ्चित होने से (Excessive accumulation of vitiated dosas)

Scanned by CamScanner

१६. पाप कर्म के करने से (Indulgence in serious sinful acts)

१७. मन्दाग्नि ।

विशेष रूप से उदररोग की उत्पत्ति में मन्दाग्नि ही मुख्य है ।

चक्रपाणि–'अत्युष्णेत्यादि' के द्वारा उदररोग के हेतु को स्पष्ट किया गया है । कर्मविभ्रमात् इति-वमन आदि के असम्यक् प्रयोग करने से ।

क्लिष्टानामप्रतीकारादिति–प्लीहा आदि कष्टकारी रोगों की चिकित्सा न करने से । **रौक्ष्यादुत्पत्तिः रौक्ष्यस्य प्रतिक्रियाभावेनानुवर्तनात्**-रूक्ष चिकित्सा के करने से शरीर में रूक्षता की अत्यधिक वृद्धि का होना । आमादिति=आम के अनुबन्ध से । पापं कर्म च कुर्वतामिति-महादुःख रूप अत्यन्त अधर्म के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने से । **मन्दाग्नीनां विशेषत इति**-विशेष रूप से मन्दाग्नि के कारण अर्थात् अत्यन्त उपहत अग्नि के कारण उदररोग की उत्पत्ति होती है । ॥१२-१५॥

क्षुन्नाशः स्वाद्वतिस्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात् । भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥१६॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः । शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥१७॥
वृद्धिः पुरीषनिचयो रूक्षोदावर्तहेतुका । बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाट्यतेऽपि च ॥१८॥
आतन्यते च जठरमपि लघ्वल्पभोजनात् । राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥१९॥

उदररोग के पूर्वरूप (Premonitory signs and symptoms of Udara roga)–निम्नलिखित पूर्वरूप उदररोग में पाये जाते हैं–

१. भूख का न लगना, २. मुख में मधुररस की प्रतीति, ३. स्निग्ध एवं गुरु अन्न का पाक देर से होना । ४. खाये हुए अन्न-पान का विदाह होना (Causing burning sensation of all the food and drinks) , ५. रोगी को भोजन की जीर्णता एवं अजीर्णता का ज्ञान न हो पाना, ६. भोजन की अत्यधिक मात्रा को न सह पाना, ७. दोनों पैरों में ईषद् (अल्प) शोथ का होना (Slight swelling in the legs), ८. लगातार शारीरिक वल का क्षय होना (Constant loss of strength), ९. अल्प व्यायाम करने पर श्वास का बढ़ जाना, १०. रूक्ष एवं उदावर्त के हेतुओं द्वारा उदर का बढ़ जाना, ११. मलों का आंत्र में अत्यधिक सञ्चित होना (Excessive accumulation of stool), १२. वस्ति-सन्धि भाग में वेदना एवं आध्मान का होना, १३. लघु व अल्प भोजन करने पर भी उदर में छेदनवत् पीड़ा का होना एवं उदर का तन जाना । अर्थात रोगी के अल्प मात्रा में भोजन करने पर भी उसके उदर का आकार बढ़ जाता है तथा रोगी का उदर फट रहा है एवं तन गया है, ऐसा अनुभव करता है । १४. उदर के ऊपर सिराजाल का उत्पन्न होना, १५. उदर पर रहने वाली झुर्रियों का नष्ट हो जाना (disappearance of folds in the abdomen).

चक्रपाणि–'क्षुन्नाश इत्यादि' के द्वारा उदररोग के पूर्वरूप का अभिधान किया गया है । यद्यपि मधुरादि रस वाले द्रव्यों का पाक कटुक आदि द्रव्यों की तुलना में देर से होता है, फिर भी यहाँ 'चिरादिति' पद का प्रयोग 'अत्यर्थं चिरात्' (अत्यधिक देर) के अर्थ में हुआ है ।

जीर्णाजीर्णं न वेत्ति–वातजन्य होने के कारण ऐसा होता है, क्योंकि वात की वृद्धि में ही अग्नि की विषमता होती है । 'रूक्षोदावर्तहेतुका' के स्थान पर 'बद्धोदावर्त हेतुका' पाठ प्राप्त होता है । इस पाठ भेद को स्वीकार करने पर इसका अर्थ -"आन्त्रावरोध एवं उदावर्त (Upward movement of the abdominal vāyu) के कारण आंत्र में पुरीष का अत्यधिक सञ्चित होना" होगा ।

बस्तिसन्धाविति–बस्ति के साथ-साथ उससे लगे हुए शरीर के अन्य भाग में वेदना का होना । अर्थात् बस्ति-सन्धि से बस्ति से सम्बद्ध शरीर के अन्य भागों का भी ग्रहण है ।

आतन्यते इति विस्तीर्यते-विस्तार का होना । राजी=सिराओं का व्यक्त होना अर्थात् सिराजाल का दिखाई देना । ॥१६-१९॥

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः । प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥२०॥
कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च । मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम् ॥२१॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः । संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२२॥

उदररोग की संप्राप्ति (Pathogenesis of Udara roga)–सञ्चित हुए दोष अम्बुवह एवं स्वेदवह स्रोतसों को अवरुद्ध कर तथा प्राणवायु, अग्नि (Power of digestion and metabolism) एवं अपान वायु को दूषित करते हुए उदररोग को उत्पन्न करते हैं ।

उदररोग के सामान्य लक्षण (General Symptoms)–१. कुक्षि में आध्मान का होना, २. आटोप का होना (Gurgling noise), ३. हाथ एवं पैरों में शोफ का होना (Oedema in the legs and hands), ४. अग्निमांद्य (जाठराग्नि का मन्द होना Suppression of the power of digestion), ५. गण्डप्रदेश का श्लक्ष्ण (Smoothness) होना, ६. शरीर का कृश (Emaciation) होना; ये सभी लक्षण उदररोग में पाये जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

उदररोग के भेद–उदररोग ८ प्रकार के होते हैं–

१. अलग-अलग दोषों से तीन- (क) वातोदर, (ख) पित्तोदर, (ग) श्लेष्मोदर ।

२. समस्त (तीनों) दोषों से एक- सन्निपातोदर ।

३. प्लीहोदर, बद्धोदर, क्षतोदर तथा उदकोदर, ये ४, सभी मिलकर ८ हो जाते हैं ।

अब आगे इनके अलग-अलग लक्षणों का अभिधान किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! सुनो–

चक्रपाणि–'रुद्ध्वेत्यादि' के द्वारा चारो प्रकार के दोषों से उत्पन्न होने वाले 'उदररोगों' की सामान्य संप्राप्ति को बताया गया है, "पूर्वं या संप्राप्तिरुक्ता सा सर्वोदराणाम्" [पूर्व में जो सम्प्राप्ति बताई गयी है वही सभी उदररोगों की संप्राप्ति है] ऐसा कुछ लोग कहते हैं ।

"रुद्ध्वेत्यादिना पूर्वं संप्राप्त्यनुक्तस्य स्वेदाम्बुवाहिस्रोतोदुष्टिरूपस्याभिधानादपौनरुक्त्यम्" इत्यन्ये- 'रुद्ध्वेत्यादि' के द्वारा पूर्व संप्राप्ति में स्वेदवह एवं अम्बुवह स्रोतोदुष्टि रूप संप्राप्ति का अभिधान नहीं किया गया है, अतः उसका यहाँ वर्णन होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता, ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है । "स्वेदवहस्रोतसां मेदोमूलं रोमकूपाश्च, उदकवहस्रोतसां तालुमूलं क्लोम च" (वि.अ. ५) [स्वेदवह स्रोतस् का मूल मेद एवं रोमकूप हैं तथा उदकवह स्रोतस् का मूल तालु व क्लोम होता है ।] के द्वारा इनके भेद को बताया गया है, ऐसा जानना चाहिए ।

'कुक्षेरित्यादि' के द्वारा उदररोगों के सामान्य पूर्वरूप का अभिधान किया गया है । यद्यपि 'मन्दाग्नि' उदररोगों का कारण है फिर भी यहां उसे एक लक्षण के रूप में स्वीकार किया गया है, ऐसा जानना चाहिए ।

श्लक्ष्णगण्डत्वमिति मसृणकपोलत्वम्–कपोल का चिकना होना । कपोल (Cheek) [Whole side of the face including the temple-Sanskrit-English Dictionary)]. उसके (उदररोगों के) लक्षणों को यहाँ 'लिङ्ग' शब्द के द्वारा आगे बताया जायेगा, उसी के अन्तर्गत हेतु एवं संप्राप्ति भी व्याधि गमक होने से यहाँ संगृहीत है, ऐसा समझे । यहाँ संप्राप्ति अथवा कारणों के वक्तव्य विशेष है, इसलिये साधारण रूप से हेतु एवं संप्राप्ति का अभिधान होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता । ॥२०-२२॥

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः । वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्बस्तिगुदमार्गगः ॥२३॥
हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय तेन रुद्धगतिस्ततः । आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥२४॥
तस्य रूपाणि-कुक्षिपाणिपादवृषणश्वयथुः, उदरविपाटनम्, अनियतौ च वृद्धिह्रासौ, कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्ताङ्गमर्दपर्वभेदशुष्ककास-कार्श्यदौर्बल्यारोचकाविपाकाः, अधोगुरुत्वं, वातवर्चोमूत्रसङ्गः, श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं तन्वसितराजीसिरा-संततम्, आहतमाध्मातदृतिशब्दवद्भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरति, एतद्वातोदरमिति विद्यात् ॥२५॥

१. वातोदर के हेतु एवं संप्राप्ति–रूक्ष एवं अल्प आहार के सेवन, आयास (Exertion), अधारणीय वेगों का अवरोध (Suppression of natural urges), उदावर्त एवं कृशता उत्पादक कारणों से प्रकुपित हुई वायु कुक्षि, हृदय, वस्ति एवं गुद मार्गों में विचरण करती हुई अग्नि को नष्ट करती हुई कफ को अपने स्थान से निकालकर उसी (कफ) के द्वारा ही उसकी (वायु की) गति अवरुद्ध होकर त्वचा व मांस के बीच में आश्रित होकर उदर की वृद्धि करती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–वातोदर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. कुक्षि (Sides of the abdomen), पाणिपाद (हाथ व पैरों) एवं वृषण में शोथ (Swelling) का होना ।

२. उदर का विपाटन होना अथवा काटने के समान अनुभव होना ।

३. बिना कारण के ही उदरशोथ का कभी घट जाना एवं कभी बढ़ जाना (वृद्धि व ह्रास का नियत न होना)

४. कुक्षिशूल (Colic pain) एवं पार्श्वशूल का होना ।

५. उदावर्त, अंगमर्द (Malaise), पर्वभेद (पर्वों में भेदनवत् पीड़ा होना-(cracking pain in the phalanges), शुष्क कास (dry cough सूखी खाँसी), कार्श्य (शरीर का कृश हो जाना), दौर्बल्य (Weakness), अरोचक (Anorexia) एवं अविपाक (Indigestion) का होना ।

६. अधोगुरुत्वम्-उदर के अधोभाग में भारीपन का होना ।

७. वात, पुरीष एवं मूत्र का अवरुद्ध हो जाना अर्थात् शरीर से बाहर न निकलना ।

८. नख (Nails), चक्षु (Eyes), वदन (Face), त्वक् (Skin), मूत्र (Urine) एवं पुरीष (Stool) का श्याव एवं अरुणवर्ण का होना Greyness and redness)

Scanned by CamScanner

९. उदर पर तनु (पतली), असित (काले) वर्ण की सिराओं का दिखाई देना ।

१०. उदरप्रदेश में अंगुली से ताडन करने पर, किसी चमड़े के थैले में वायु के भरने पर ताडन पर जैसी आवाज आती है वैसी आवाज का आना ।

११. वायु का उदर के ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक् भागों में शूल एवं शब्द के साथ गमन करना ।

चक्रपाणि–कर्शनैरिति=लङ्घन आदि कृशता उत्पादक कारणों द्वारा । गुदस्य मार्गो गुदमार्गः -गुदा के मार्ग को गुदमार्ग कहा गया है । कफमुद्धूयेति-यहाँ कफ की अप्रधान्यता को दर्शाया गया है, उससे कफ के द्वारा उदररोग का व्यपदेश होना यहाँ समीचीन (वर्तमान में उपयुक्त) है । **अनियतौ च वृद्धिह्रासौ 'उदरस्य' इति शेषः** -उदर की वृद्धि एवं ह्रास का अनियत रूप से होना । अर्थात् उदर कभी फूल (शोथयुक्त) जाता है तथा कभी इसमें अल्पता आ जाती है । **असिता राज्यः सिराश्च ताभिः संततं व्याप्तम्**-उदर के ऊपर काली रेखाओं एवं सिराओं के जाल का व्याप्त होना । **आध्मातदृतिशब्दवदिति वातपूर्णचर्मशब्दवत्**-वायु से भरे चमड़े के थैले पर मारने पर जैसी ध्वनि निकलती है वैसी आवाज का आना । ॥२३-२५॥

कट्वम्ललवणात्युष्णातीक्ष्णान्यातपसेवनैः । विदाह्यध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥२६॥
प्राप्यानिलकफौ रुद्ध्वा मार्गमुन्मार्गमास्थितम् । निहन्त्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥२७॥
तस्य रूपाणि-दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारभ्रमाः, कटुकास्यत्वं, हरितहारिद्रत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्, अपि चोदरं नीलपीतहारिद्र-हरितताम्रराजीसिरावनद्धं, दह्यते, दूयते, धूय्यते, ऊष्मायते, स्विद्यते, क्लिद्यते, मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं च भवति; एतत् पित्तोदरमिति विद्यात् ॥२८॥

२. पित्तोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Pittodara)–कटु, अम्ल, लवण, अति उष्ण, अतितीक्ष्ण आहार द्रव्यों के सेवन करने से, अग्नि एवं धूप के अत्यधिक उपयोग से, विदाही अन्न (जिस अन्न के सेवन करने से शरीर में दाह उत्पन्न हो) के अतिप्रयोग से, अध्यशन (पूर्व किये हुए भोजन के बिना पाक हुए पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है) करने से एवं अजीर्ण आहार के सेवन करने से; इन कारणों द्वारा वृद्धि को प्राप्त पित्त प्रकुपित होकर वात एवं कफ को उनके मार्गों में अवरुद्ध कर स्वयं ऊर्ध्वमार्गी होकर आमाशयस्थ अग्नि को नष्ट करते हुए उदररोग (पित्तोदर) को उत्पन्न करता है ।

पित्तोदर के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittodara)–पित्तोदर में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. दाह (Burning sensation), ज्वर (Fever), तृष्णा (Thirst), मूर्च्छा (Fainting), अतिसार (Diarrhea-Abnormally frequent evacuation of watery stool) एवं भ्रम (Giddiness) का होना ।

२. मुख में कटुरस की प्रतीति का होना (Pungent taste in the mouth)

३. नख, नयन (चक्षु), वदन (Face), त्वक् (Skin), मूत्र (Urine) एवं पुरीष (Stool) का हरे एवं पीत वर्ण का होना ।

४. उदर के ऊपर नील (नीला- Blue), पीत (Yellow), हारिद्रा (हल्दी के समान), हरित (Green) एवं ताम्र (Coppery) वर्ण की सिराओं का जाल दिखाई देना ।

५. रोगी में दाह (Burning sensation), उदर में वेदना का होना (Sensation of pain), [दूयन- Heat of the body अथवा Fever], धूय्यते (मुख से धूम निकल रहा है ऐसा प्रतीत होना Sensation as of smoke coming out)], ऊष्मायते (शरीर से गरम वाष्प निकल रहा है, ऐसा प्रतीत होना), स्विद्यते (अत्यधिक पसीने का निकलना), त्वचा का क्लेद युक्त होना, स्पर्श में मृदु एवं शीघ्र पाक का होना । ये सभी लक्षण पित्तोदर में पाये जाते हैं । ॥२६-२८॥

चक्रपाणि–'कट्वित्यादि' के द्वारा पित्तोदर के निदान एवं लक्षणों को बताया गया है । यद्यपि यहाँ भी वात कफ की प्रधानता होते हुए भी पित्त की प्रधानता है । निहन्त्यामाशये वह्निमिति-स्थानान्तरस्थ धात्वाग्नि का वध करके, अर्थात् पित्त प्रकोपक कारणों के सेवन से पित्त प्रकुपित होकर वात व कफ को उनके मार्ग में ही रोककर, स्वयं उन्मार्ग गामी होकर आमाशयस्थ अग्नि को नष्ट करते हुए धात्वाग्नि का भी वध करता है, परिणामस्वरूप पित्तोदर की उत्पत्ति होती है ।

हारिद्रं=हल्दी के वर्ण की । **दूयत इति व्यथते**-वेदना का होना (Sensation of pain) । **धूय्यत इति**-मुख से धूम जैसी उद्गार का निकलना । ऊष्मायत इति=पार्श्व स्थित अग्नि के द्वारा जिस प्रकार उष्णता की प्रतीति होती है वैसी प्रतीति का होना (Heating sensation) । स्विद्यत इति घर्माक्तं भवति-अत्यधिक पसीने का निकलना । क्षिप्रपाकं भवतीति-शीघ्रपाक होने से पित्तोदर का जलोदर में परिवर्तित हो जाना । ॥२६-२८॥

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः । दधिदुग्धौदकानूपमांसैश्चाप्यतिसेवितैः ॥२९॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः । तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्त्रगः ॥३०॥

Scanned by CamScanner

तस्य रूपाणि–गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दाः, सुप्तिः, पाणिपादमुष्कोरुशोफः, उत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः, शुक्लत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसाम्; अपि चोदरं शुक्लराजीसिरासंततं, गुरु, स्तिमितं, स्थिरं, कठिनं च भवति; एतच्छ्लेष्मोदरमिति विद्यात् ।।३१।।

३. कफोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Kaphodara)–व्यायाम न करने से, अत्यधिक दिवा शयन से (Sleep during day time), स्वादु, अतिस्निग्ध, पिच्छिल, दही, दूध, औदक (जलीय), आनूप प्राणियों एवं पक्षियों के मांसों के अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित हुआ कफ स्रोतसों को आवृत्त कर (स्रोतसों को अवरुद्ध कर) देता है । परिणामतः आन्त्र के बाह्य भाग में स्थित वायु अवरुद्ध हो जाती है ! अर्थात् स्रोतस् के आवृत होने पर, कफ से आवृत्त वायु कफ को पीडित करती हुई आन्त्र के बाहरी भाग में स्थित होकर कफज उदररोग को उत्पन्न करती है ।

कफोदर के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphodara)–कफज उदररोग में अधोलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं–

१. शरीर में भारीपन, (Heaviness of the body), अरुचि (Anorexia), अविपाक (आहार का समुचित पाचन न हो पाना Indigestion), अङ्गमर्द (अंगों में दबाने जैसी वेदना का होना Malaise) ।

२. अङ्गों में शून्यता का होना (Numbness), हाथ-पैर, अण्डकोष एवं ऊरु प्रदेश में शोथ का होना ।

३. उत्क्लेश (मिचली का आना Nausea), अत्यधिक निद्रा का आना (Excessive sleep), कास (Cough) एवं श्वास (Dyspnoea) का पाया जाना ।

४. नख, नयन, वदन (Face), त्वक्, मूत्र एवं पुरीष का वर्ण श्वेत होना ।

५. उदरप्रदेश पर श्वेत वर्ण की सिराओं का जाल दिखाई देना ।

६. रोगी का उदर गुरु (भारी), स्तिमित (Timid), स्थिर (Immobile) एवं कठिन (Hard) हो जाता है ।

चक्रपाणि–'अव्यायामेत्यादि' के द्वारा कफोदर को बताया गया है । बहिरन्त्रग इति-आन्त्र से बाहर निकलकर ।

विशेष–आचार्य सुश्रुत के अनुसार-यच्छीतलं शुक्लसिराऽवनद्धं, गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य । स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं कफोदरं तत्तु चिराभिवृद्धि ॥ (७/१० सु.नि.) इति [उदर स्पर्श में शीत, शुक्ल वर्ण के सिराओं से युक्त, भारी व स्थिर (Hard) होता है, आतुर के नख एवं मुख (Face) का वर्ण श्वेत हो जाता है । उदर स्निग्ध (चिकना), बड़ा, शोथयुक्त एवं अवसाद (अंगों में थकावट का होना), के लक्षण मिलते हैं । व्याधि की वृद्धि धीरे-धीरे होती है । ये सभी लक्षण कफोदर के बताये गये हैं ।] कफोदर के लक्षण वर्णित हैं ।

दुर्बलाग्नेरपथ्यामविरोधिगुरुभोजनैः । स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ।।३२।।
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः संचयं त्रयः । शनैः कोष्ठे प्रकुर्वन्तो जनयन्त्युदरं नृणाम् ।।३३।।
तस्य रूपाणि-सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते, वर्णाश्च सर्वे नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासंततं भवति; एतत् सन्निपातोदरमिति विद्यात् ।।३४।।

४. सन्निपातोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Sānnipātodara)–दुर्बल अग्नि वाले पुरुष जब अपथ्य (अहितकर), आम (अपक्व), विरोधी एवं गुरु आहार द्रव्यों का सेवन करते हैं अथवा स्त्रियों द्वारा प्रदत्त भोजनादि के रूप में मिश्रित रज, रोम, विड् (पुरीष), मूत्र, अस्थि एवं नखादि के प्रयोग से अथवा दूषी विषों के सेवन करने से प्रकुपित हुए तीनों वातादि दोष कोष्ठ में सञ्चित होकर धीरे-धीरे सन्निपातज उदररोग को उत्पन्न करते हैं ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–सन्निपातज उदररोग में दोषों (तीनों दोषों) के सभी लक्षण पाये जाते हैं, अर्थात् अलग-अलग दोषों के वर्णित सभी लक्षणों का मिलना । नखादि अंगों में सभी वर्णों का मिलना । उदर के ऊपर अनेक वर्ण युक्त सिराजाल का दिखाई देना; ये सभी लक्षण सन्निपातज उदररोग में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–'दुर्बलाग्नेरित्यादि' के द्वारा सन्निपातोदर को बताया गया है । **स्त्रीदत्तैरिति**-स्त्रियों द्वारा प्रदत्त, अज्ञानता के कारण पति को अपने वश में रखने हेतु स्त्रियाँ प्रायः भोजन आदि के साथ रज (आर्तव) आदि का प्रयोग करती हैं । यहाँ 'स्त्रां' (स्त्रीणाम्) शब्द का प्रयोग उपलक्षणार्थ हुआ है, उससे अन्य स्त्री के द्वारा प्रदत्त रज आदि का भी ग्रहण हो जाता है ।

विषश्च मन्दैरिति–धीरे-धीरे कार्य करने वाले विषों का प्रयोग, इससे 'दूषी विष' का ग्रहण होता है, क्योंकि दूषी विष ही मन्द गति से कार्य करता है । 'त्रय इति' पद के द्वारा वातादि तीनों दोषों का स्वतंत्र रूप से ग्रहण है । **वर्णाश्च सर्वेषां दोषाणामिति सम्बन्धः**- नखादि में सभी दोषों के वर्णों का पाया जाना, यथा-वात से श्याव, रक्त, पित्त से पीतवर्णता, कफदोष से शुक्लवर्णता [निर्दिष्ट सभी वर्ण आतुर के नखादि में पाये जाते हैं, अर्थात् मिश्रित वर्णों का मिलना)

Scanned by CamScanner

यहाँ सम्पूर्ण लक्षणों के मेलक अभिधान (कथन) के द्वारा ही नखादि में मिलने वाले सभी वर्ण तथा नाना वर्ण युक्त सिराजाल का ग्रहण हो जाता है, फिर भी उसका यहाँ अभिधान होना- इन वर्णों का निश्चित रूप से उत्पन्न होना, दर्शाता है । ।।३२-३४।।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने 'सन्निपातोदर' का वर्णन इस प्रकार किया है, यथा-"स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्रविडार्तवैर्दुष्टमसाधुवृत्ताः ।। यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ।। तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।। तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु विशेषतः कुप्यति दह्यते च; स चातुरो मूर्च्छति संप्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।। प्रकीर्तितं दूष्युदरं तु घोरम्" (सु.नि.अ. ७/११-१३) [असाधु आचरण युक्त स्त्रियों द्वारा नख, रोम, मूत्र, पुरीष एवं रज मिश्रित अन्न या पेय पदार्थों के देने से, शत्रुओं द्वारा गरविष के प्रयोग से अथवा दूषी विष तथा दूषित जल के प्रयोग से शीघ्र ही रक्त तथा वातादि तीनों दोष अत्यन्त प्रकुपित होकर भयङ्कर सन्निपातज उदररोग को उत्पन्न कर देते हैं । इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप में पाये जाते हैं । यह रोग विशेष रूप से शीत व वात से अथवा मेघ से आक्रान्त दिन में विशेष रूप से बढ़ता है अथवा इन कालों में जलन पैदा करता है, इस व्याधि में आतुर बार-बार मुर्छित होता है, वह पाण्डु (रक्ताल्पता) से युक्त एवं कृश हो जाता है, रोगी का मुख प्यास से सूखता रहता है । इस प्रकार भयङ्कर सन्निपातोदर (दूष्योदर) का वर्णन किया गया ।]

अशितस्यातिसंक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः । अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ।।३५।।
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात् प्रवर्धते । शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ।।३६।।
तस्य प्लीहा कठिनोऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते; स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्र्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ।।३७।।
तस्य रूपाणि–दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदकोष्ठवातशूलानि, अपि चोदरमरुणवर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति; एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इति; एतत् प्लीहोदरमिति विद्यात् ।।३८।।

५. **प्लीहोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Plihodara)**–अत्यधिक भोजन करने के बाद क्षोभ युक्त सवारियों, यथा-इक्का, रिक्शा अथवा ट्रेक्टर आदि पर बैठने से अथवा अत्यधिक शारीरिक चेष्टाओं के करने से जिससे शरीर में क्षोभ उत्पन्न हो, अत्यधिक व्यवाय (मैथुन) से, अत्यधिक भार ढोने से, अत्यधिक पैदल चलने, वमन अथवा अन्य किसी कृशता उत्पादक व्याधि के होने से; इन कारणों के द्वारा वाम पार्श्व में स्थित प्लीहा अपने स्थान से हट कर बढ़ जाती है, अथवा रसादि धातुओं के वृद्ध हो जाने पर रक्त बढ़कर प्लीहा को बढ़ा देता है ।

उस व्यक्ति की प्लीहा प्रारम्भ में अष्ठीला (पत्थर Stone) की भाँति कठिन (Hard) हो जाती है एवं बाद में बढ़कर कछुए के पीठ के समान प्रतीत होती है । यदि इस व्याधि की समय से चिकित्सा न की जाय तो यह बढ़कर कुक्षि, उदर एवं अग्नि अधिष्ठान (अग्न्याशय) तक पहुँच जाती है, जिससे उदर वृद्ध हो जाता है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–शरीर का दुर्बल होना (Weakness), अरुचि (Anorexia), अविपाक (भोजन का परिपाक न होना indigestion), मल एवं मूत्र का अवरुद्ध हो जाना (Retention of stool and urine), तमः प्रवेश (आँखों के सामने अंधकार छा जाना), पिपासा (अत्यधिक प्यास का लगना), अङ्गमर्द (Malaise-शरीर में मर्दनवत् पीड़ा का होना), छर्दि (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), अङ्गसाद (शरीर में थकावट का होना), कास (खाँसी का आना), श्वास (Dyspnoea), मृदु ज्वर (Mild Fever), आनाह, अग्निनाश (अग्निमांद्य), कार्श्य (शरीर का कृश होना), आस्य वैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना), पर्वभेद (छोटी संधियों में वेदना का होना (Pain in finger's joints), कोष्ठ में वात की वृद्धि का होना तथा वातशूल (Colic pain) का होना ।

उदर का रक्त वर्ण का होना अथवा उदर की त्वचा का वर्ण बदल जाना अथवा उदर पर नील, हरित, हारिद्र वर्ण की सिराओं का व्याप्त होना ।

ये सभी लक्षण प्लीहोदर में पाये जाते हैं । इसी प्रकार उदर के दक्षिण पार्श्व में स्थित यकृत जब बढ़ जाता है तो उसे यकृदुदर कहते हैं । समान हेतु (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) होने से यकृदुदर का अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए ।

चक्रपाणि–प्लीहा वृद्धि दो प्रकार की होती है- १. संक्षोभादि कारणों से अपने स्थान से च्युत होना [by displacement- cyuta vriddhi], २. अच्युत वृद्धि-यह वृद्धि रक्त की वृद्धि के कारण होती है ।

Scanned by CamScanner

'वामपार्श्वाश्रित इति' के द्वारा प्लीहा के स्वरूप को बताया गया है। **शोणितं वा रसादिभ्य इति**-यहाँ 'आदि' शब्द प्रकार वाची है। इस प्रकार रस रूपी कारण के वृद्ध (बढ़ने) होने से कार्यरूप रक्त की वृद्धि होती है तथा मांसादि के बढ़ने से भी रक्त की वृद्धि होती है। इस प्रकार जो आहार-विहार रस एवं मांसादि को बढ़ाने वाले हैं उनके द्वारा रक्त की वृद्धि का होना बताया गया है।

सर्वप्रथम यहाँ प्लीहा की च्युत रूप वृद्धि को बताया गया है। यह वृद्धि (Splenic enlargment caused by displacement) ४ प्रकार की होती है-१. वातिक, २. पैत्तिक, ३. श्लैष्मिक, ४. सन्निपातिक, ऐसा जानना चाहिए। द्वितीय प्रकार की प्लीहा वृद्धि अच्युत प्रकार की है, जो रक्त की वृद्धि होने से होती है, इसके ५ प्रकार हैं, जिसे 'पञ्च प्लीहदोषा' के नाम से कहा गया है। कहा भी गया है, यथा- "पञ्च प्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याता" (सू.अ.-१९) इति (प्लीह दोष ५ प्रकार के होते हैं, इसकी व्याख्या गुल्म की संख्या निर्देश से ही कर दी गयी है, यथा- १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. रक्तज; यहीं भेद प्लीहरोग के भी हैं।

अष्ठीला दीर्घो लोहमयो ग्रन्थिर्लोहकारेषु प्रसिद्धः -अष्ठीला एक दीर्घ लोह के आकृति की प्रसिद्ध ग्रन्थि को कहा गया है, अर्थात् इसकी आकृति दीर्घाकार एवं स्पर्श में कठिन होती है। [एक गोल पत्थर के समान कठिन आकृति को अष्ठीला नाम दिया गया है।] कुक्षिः पार्श्वदेशः =उदर के पार्श्व भाग को कुक्षि कहते हैं।

'दक्षिणपार्श्वस्थमिति' से यकृत के स्थान का निर्देश किया गया है, क्योंकि यह उदर के दक्षिण पार्श्व में रहता है। यकृत की वृद्धि से होने वाले उदररोग को यकृदुदर नाम दिया गया है, लेकिन उसका अन्तर्भाव प्लीहोदर में ही कर लिया गया है, जिसे यहाँ 'तुल्येत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥३५-३८॥

विशेष (Comments)-आचार्य सुश्रुत ने प्लीहोदर के हेतुओं में विदाही एवं अभिष्यन्दि अन्न का सेवन स्वीकार किया है, जिसके परिणाम स्वरूप रक्त व कफ अत्यधिक दूषित होकर प्लीहा को बढ़ा देते हैं, जिसे विद्वान् लोग प्लीहोदर कहते हैं, यह वृद्धि उदर के वाम पार्श्व में होती है। इस व्याधि में रोगी के अंगों में थकावट, बल की क्षीणता, अत्यधिक पाण्डु का होना, मन्द-मन्द ज्वर, जाठराग्नि का मन्द हो जाना अर्थात् भूख का न लगना तथा कफ व पित्त के बढ़े हुए लक्षण पाये जाते हैं। ["विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च। प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञा॥ वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र। मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः॥" (सु.नि.अ. ७/१४-१५) इति; इस सूत्र पर आचार्य डल्हण ने अपनी व्याख्या इस प्रकार की है, यथा-अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजनकम् [दोष, धातु, मल एवं स्रोतसों में क्लेद उत्पन्न करने वाले द्रव्य अभिष्यन्दि कहे जाते हैं।] **असृक् कफश्चेति**-रक्त के ग्रहण से यहाँ पित्त का भी ग्रहण कर लिया गया है।]

पक्ष्मबालैः सहात्रेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे। उदावर्तैस्तथाऽशोंभिरन्त्रसंमूर्च्छनेन वा ॥३९॥
अपानो मार्गसंरोधाद्बलत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः। वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥४०॥
तस्य रूपाणि-तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलानि, अपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणं नीलराजि सिरावनद्धराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इति; एतद्बद्धगुदोदरमिति विद्यात् ॥४१॥

६. बद्धगुदोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Baddhagudodara)-भोजन के साथ पक्ष्म या सिर के बालों के आहार नाल में प्रवेश करने से गुदा के मार्ग का अवरुद्ध हो जाना, उदावर्त, अर्श अथवा आन्त्रसंमूर्च्छन (आँतों का आपस में उलझ जाना); इन कारणों के द्वारा गुदा में अवरोध होने से अथवा गुदमार्ग में रुकावट आने से अपानवायु प्रकुपित होकर जाठराग्नि को नष्ट करती हुई मल, पित्त व कफ को अवरुद्ध कर बद्धगुदोदर को उत्पन्न करती है।

लक्षण (Signs and Symptoms)-बद्धगुदोदर (Abdominal swelling caused by obstruction in the intestine) में अधोलिखित लक्षण पाये जाते है-

- तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना), दाह (Burning sensation), ज्वर (Fever), मुख एवं तालु का सूखना (dryness of mouth and palate), ऊरुसाद (ऊरु में थकावट का होना), कास (Cough), श्वास (Dyspnoea), दौर्बल्य (शरीर का दुर्बल होना-Weakness), अरुचि (Anorexia), अविपाक (Indigestion), मल एवं मूत्र का अवरुद्ध होना, आध्मान (पेट का फूलना - Abdominal distension), छर्दि (Vomiting), क्षवथु (छींक का आना-Sneezing), शिरःशूल (Headache), हृद्शूल, नाभिशूल एवं शूल का होना।
- उदर में वायु का अवरुद्ध हो जाना (Absence of peristalitic movement)
- उदर के ऊपर स्थिर रक्त वर्ण की अथवा नीलवर्ण की सिराओं का जाल पाया जाना अथवा प्रायः नाभि के ऊपर गोपुच्छ के आकार की शोथ का पाया जाना। ये सभी लक्षण बद्धगुदोदर में पाये जाते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'पक्ष्मबालैरित्यादि' के द्वारा बद्धगुदोदर को बताया गया है। बद्धायने इति=मार्ग के बद्ध हो जाने पर। उदावर्तीरित्यादावपि 'बद्धायने गुदे' इत्यनुवर्तनीयम्-उदावर्त इत्यादि के द्वारा भी गुदा के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न होता है, ऐसा जानें। आन्त्रसंमूर्च्छनेन [आन्त्र परिवर्तन द्वारा-Intussusception-Prolape of the one part of the intestine into the lumen of an immediately adjacent part.]

'पक्ष्मबालैरित्यादि' के द्वारा अनेक हेतुओं से उत्पन्न गुदनिरोध (गुदमार्ग में अवरोध का होना) को बताया गया है। उससे गुदमार्ग में अवरोध होने से बद्धगुदोदर उत्पन्न होता है। अर्थात् पाँचो हेतुओं (१. पक्ष्म या बाल का आहार के साथ उदर (GIT) में प्रवेश करना, २. उदावर्त, ३. अर्श, ४. आन्त्रसंमूर्च्छन, ५. अपान वायु के मार्गावरोध) द्वारा गुदा के मार्ग में अवरोध उत्पन्न होता है। इन अलग-अलग हेतुओं द्वारा बद्धगुदोदर का भिन्न-भिन्न प्रकार न होकर एक ही प्रकार होता है। अतः यहाँ बद्धगुदोदर के ५ भेद होते हैं, यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए ॥३९-४१॥

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने बद्धगुदोदर के बारे में अपने विचार इस प्रकार दिये हैं–

"यस्यान्त्रमन्त्रैरूपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा सहितैः पृथग्वा ॥ संचीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि ॥१७॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ॥ हन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति त(य)च्चोदरं विट्समगन्धिकं च॥१८॥

प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः" (सु.नि. ७/१७-१८) इति [जिस पुरुष की आंत्र अन्न से उपलेपित हो अथवा उसमें बाल अथवा पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े ज्यादा संचित हो गये हों, जिस प्रकार बहने वाली नाली में कंकड़ पत्थर आदि इकट्ठे होने से उसका मार्ग संकरा (पतला) हो जाता है उसी प्रकार आंत्र में भी दोषों के साथ-साथ पुरीष का सञ्चय होने से गुदा का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है अथवा अल्प-अल्प मात्रा में कष्ट के साथ पुरीष का निर्हरण होता है, हृदय व नाभि के मध्य भाग में उदर (आंत्र) फूल जाती है, आतुर को मल के समान दुर्गन्धित वमन होता है। इन लक्षणों के आधार पर 'बद्धगुदोदर' का ज्ञान करना चाहिए।]

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्त्रसंयुतैः। भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥४२॥
पाकं गच्छेद्व्रणस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवद्बहिः। पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः ॥४३॥
तस्य रूपाणि-तदधो नाभ्याः प्रायोऽभिवर्धमानमुदकोदरं भवति, यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयति, अपि चातुरः सलोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्च उपवेशते, हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरमिति विद्यात् ॥४४॥

७. छिद्रोदर का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Chidrodara)–निम्नलिखित हेतुओं द्वारा आंतें फट (Perforate) जाती हैं अथवा आंतों में छिद्र हो जाता है–

→ भोजन के साथ बालू, तृण (घास), लकड़ी के टुकड़े, अस्थि (Bones) के टुकड़े, मछली के काँटों का प्रवेश आन्त्र में होने पर।

→ जृम्भा (जम्हाई) लेने पर।

→ अत्यधिक भोजन के सेवन करने पर।

इन कारणों द्वारा आन्त्र में घाव (Ulcer) उत्पन्न हो जाता है परिणाम स्वरूप आंतें फट जाती हैं एवं उनमें पाक उत्पन्न हो जाता है जिससे आंत्र के अन्दर स्थित रस (आहाररस (Thin paste of the food) स्रवित होकर आँतों से बाहर निकलने लगता है। इस आहाररस द्वारा गुदा एवं आँते भर जाती हैं। इस उत्पन्न व्याधि को छिद्रोदर कहते हैं।

लक्षण (Signs and Symptoms)–छिद्रोदर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. यह व्याधि प्रायः नाभि के नीचे होती है, जो बाद में बढ़कर उदकोदर (जलोदर) में परिवर्तित हो जाती है।

२. इसमें दोषों के लक्षण अपने-अपने बल के स्वभाव के अनुसार प्रकट होते हैं।

३. पुरीष का वर्ण रक्त, नील, पीत, पिच्छिल, कुणप गन्धि (सड़े गुदें के समान गंध) अथवा आमगन्धि होता है। (आमगन्धि से आतुर का मल आम युक्त होता है, अर्थ लिया गया है।)

४. सार्वदैहिक लक्षणों में-हिक्का (हिचकी का आना), श्वास (dyspnoea), कास (Cough), तृष्णा (Thirst), प्रमेह (Obstinate urinary disorders), अरुचि (Anorexia), अविपाक (Indigestion) व दौर्बल्य (Weakness) पाया जाता है। ये सभी लक्षण छिद्रोदर में पाये जाते हैं। ॥४२-४४॥

चक्रपाणि–'शर्करेत्यादि' के द्वारा क्षतोदर (छिद्रोदर) को बताया गया है।

Scanned by CamScanner

शर्करादिभिरभ्याहतमन्त्रं भिद्येतेति योजना–शर्करा आदि हेतुओं द्वारा आंतों में घाव होने से आंतें फट जाती हैं, ऐसा समझना चाहिए। **पाकं गच्छेदिति**-फटी हुई आंतों के अन्दर पाक होता है, अर्थात् घाव के प्राप्त भाग में ही पाक होता है **बहिरिति बहिर्भागे अन्त्रं गुदं च पूरयन् स एव रसोऽन्त्रपाकप्रसृत उदरं जनयति**-आन्त्रपाक से प्रसृत होने वाला वह अन्नरस आंत्र एवं गुदा के बाहरी भाग को पूरित करते हुए उदररोग को उत्पन्न करता है। वही रस (द्रव) प्रायः नाभि के नीचे के भाग में बढ़कर, अधोगामी एवं उदररोग का प्रारम्भक होने से जलोदर (दकोदर) को उत्पन्न करता है। इसकी वृद्धि (जलोदर) अन्य उदर रोगों की अपेक्षा शीघ्र होती है।

'उदकोदरस्य दोषाणां च' इति वा पाठः- अथवा यह पाठ प्राप्त होता है, जिससे जलोदर के लक्षणों को बताया गया है। इसमें दोषों का जैसा बल होता है तदनुसार ही उनके लक्षण मिलते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

यथाबलमिति-जो दोष बली होता है उसी के लक्षण प्राप्त होते हैं, ऐसा समझें। ।।४२-४४।।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने इसे 'प्रस्रिाव्युदर' कहा है। सुश्रुतसंहिता में इनके हेतु एवं लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है, यथा-"शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः, स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ॥ नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च। एतद् परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं" (सु.नि. ७/२०-२१) इति। [वह शल्य जो आहार के साथ आन्त्र में चला जाता है, यथा- मछली के काँटे, इसके द्वारा आँतों का भेदन हो जाता है, अथवा तिर्यग् शल्य से आँतों का भेदन हो जाता है। उस भिन्न हुई आंत्र से जल के समान निकलने वाला स्राव गुदा के बाहर निकलता रहता है तथा कुछ उदरगुहा में चले जाने के कारण नाभि के नीचे उदर में शोथ (Swelling) हो जाता है। इसमें उदर में सूई चुभोने जैसी तीव्र वेदना होती है, उदर में अत्यधिक दाह होता है। इस व्याधि को परिस्राव्युदर कहते हैं।]

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा। अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः ।।४५।।
स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ ।।४६।।
तस्य रूपाणि–अनन्नकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकासदौर्बल्यानि, अपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासंततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्श भवति, एतद्दकोदरमिति विद्यात् ।।४७।।

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमप्राप्तमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत्; उपेक्षितानां ह्येषां दोषाः स्वस्थानादपवृत्ता परिपाकाद्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति; तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोठितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पति। ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः। तस्य रूपाणि-कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः, सिरान्तर्धानगमनम्, उदकपूर्णदृतिसंक्षोभसंस्पर्शत्वं च ।।४८।।

तदाऽऽतुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति–छर्दतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः; तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ।।४९।।

८. जलोदर के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Udakodara (Ascites)–अत्यधिक स्नेह पान करने वाले, मन्दाग्नि युक्त पुरुष, अथवा क्षीण पुरुष अथवा अतिकृश व्यक्ति, जब अत्यधिक जल का सेवन करते हैं तब उनकी जाठराग्नि अत्यन्त मन्द हो जाती है। जिसके कारण क्लोम्नि में स्थित वायु स्रोतस् (उदकवह स्रोतस्) के मार्ग अवरुद्ध होने पर कफ व उदक के साथ संयुक्त होकर इन्हें अपने स्थान से उदर में ले जाकर वहाँ अम्बु की मात्रा को बढ़ाकर जलोदर रोग को उत्पन्न करते हैं।

लक्षण (Signs and Symptoms)–उदकोदर (जलोदर) में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ अनन्नाकाङ्क्षा (भोजन के प्रति इच्छा का न होना अर्थात् भूख का न लगना-Loss of appetite), पिपासा (अत्यधिक प्यास का लगना-thirst), गुदस्राव (गुदा से कफ का स्राव होना-discharge from the anus), शूल (Colic pain), श्वास (Dyspnoea), कास (Cough), दौर्बल्य (शारीरिक कमजोरी का होना)।

→ उदर के ऊपर अनेक वर्ण युक्त सिराओं के जाल का विद्यमान होना।

→ उदर को स्पर्श करने पर जल से भरे हुए चमड़े के बैग के समान उदर में क्षोभ का होना।

[In percussion and palpation, the physician feels as if the abdomen is a leather bag filled with water.- Dr. Bhagvan Das]

ये सभी लक्षण उदकोदर में पाये जाते हैं।

उदररोग की साध्यताऽसाध्यता (Prognosis of Udararoga)–जो उदररोग शीघ्र उत्पन्न हुआ है, अर्थात् नवीन हो, उपद्रव रहित हो तथा जिसमें जल न भरा हो, उसकी चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिए। इसकी उपेक्षा करने पर दोष अपने स्थान से हटकर,

Scanned by CamScanner

परिपाक के परिणाम स्वरूप द्रवीभूत होकर संधि स्रोतों को उपक्लेदित (गीला) कर देते हैं, स्वेदधारी स्रोतों में न प्रवेश कर तिर्यग् गति करते हुए उदक का ही आप्यायन करने लगते हैं। अर्थात् उदक की ही मात्रा को बढ़ाने लगते हैं। इसके बाद जल की मात्रा उदर में बढ़ जाने से पिच्छा की उत्पत्ति होती है। इसके बाद उदर गोलाकार, गुरु (भारी), स्तैमित्य (उदर को गीले कपड़े से लपेट दिया गया है, इस प्रकार की प्रतीति का होना), उदर को आकोठित करने पर आवाज का न आना (Abdomen becomes dull in percussion), स्पर्श में मृदु, उदर के ऊपर विद्यमान सिराजालों का समाप्त हो जाना; ये सभी लक्षण सर्वप्रथम नाभि से प्रारम्भ होकर उदर के ऊपर की ओर धीरे-धीरे बढ़ने लगते हैं। इसके बाद उदर में जल का सञ्चय होने लगता है। इस अवस्था में (जलोदर की अवस्था में) अधोलिखित लक्षण मिलते हैं–

→ कुक्षि का अत्यधिक वृद्ध हो जाना (Excessive enlargement of the sides of the abdomen)।

→ उदर पर विद्यमान सिराजाल का समाप्त हो जाना।

→ उदकपूर्णदृतिसंक्षोभस्पर्शत्वं च (किसी जल से भरे चमड़े के थैले को स्पर्श करने पर जल के क्षोभ की तरह, उदर स्पर्श करने पर प्रतीत होना।)

In palpation and percussion the physician feels as if the abdomen is a leather sack filled with water. -Dr. R.K. Sharma.]

जलोदर के उपद्रव–इस अवस्था में आतुर में निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न होते हैं- १. छर्दि (Vomiting), २. अतिसार (diarrhea), ३. तमक श्वास, ४. तृष्णा (Thirst), ५. श्वास (Dyspnoea), ६. कास (Cough), ७. हिक्का (हिचकी का आना), ८. दौर्बल्य Debility शारीरिक दुर्बलता), ९. पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), १०. अरुचि (Anorexia-Lack of Appetite for food अथवा Refusal to eat), ११. स्वरभेद (Hoarseness of voice), १२. मूत्रसंग (मूत्र का अवरोध होना-Anuria)।

इन उपद्रवों से युक्त रोगी अचिकित्स्य होता है। अर्थात् जिस रोगी में ये उपद्रव पाये जाते हैं, वह असाध्य होता है। ॥४५-४९॥

चक्रपाणि–'स्नेहेत्यादि' के द्वारा जलोदर की विशिष्ट उत्पत्ति का अभिधान किया गया है। 'क्लोम' से यहाँ हृदय के ही अवयव विशेषण का ग्रहण है [A Viscera Located adjacent to the heart i.e. right lungs, Kl'oman-right lungs.-M.M. Williams.]

वर्धयेतामिति–जैसा कि कहा गया है- कफ व वायु बढ़कर के अम्बु को अपने स्थान से ले जाकर उदर व त्वचा के बीच में पहुँचा देते हैं जिससे वहाँ जल का सञ्चय होने लगता है।

तयोश्च अम्बुवर्धकत्वं पिपासाजननेनाम्बुपानादेरिति ज्ञेयम्–अम्बुपान आदि के द्वारा वात एवं कफ के बढ़ने से शरीर में जल की मात्रा की वृद्धि एवं पिपासा की वृद्धि होती है, ऐसा जानना चाहिए। 'तत्रेत्यादि' के द्वारा जलोदर के साध्याऽसाध्य भेद को बताया गया है। 'अनुदकप्राप्तमिति' से जलोदर की प्रारम्भिक अवस्था (Ist stage) जिसमें उदर (Abdomen) में जल का सञ्चय नहीं रहता है उसे 'अजातोदक' कहा गया है, को बताया गया है। दूसरी अवस्था (Second stage) जिसमें दोष परिपक्व होकर स्वभावतः द्रवीभूत हो जाते हैं, को कहा गया है।

बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिरिति–बहिर्गन्तुमसमर्थः-सामान्यतया स्वेदवह स्रोतस् एवं मूत्रवह स्रोतस् द्वारा जल का शरीर में नियमन होता रहता है। इसमें बाह्य स्रोतस् (स्वेदवह स्रोतस्) की गति अवरुद्ध होने से दोष बाहर निकलने में असमर्थ होता है। यहाँ जल की उत्पत्ति से पूर्व पिच्छा की उत्पत्ति होती है (यहाँ जल की उत्पत्ति के पूर्वरूप के रूप में पिच्छा की उत्पत्ति होती है), उससे पिच्छा उत्पत्ति के लक्षण को यहाँ बताया गया है। पिच्छासदृशो भागः पिच्छाः-पिच्छा सदृश पदार्थ का होना पिच्छा कहा जाता है। पिच्छा=चिपचिपा पदार्थ (Sticky material)। कुछ आचार्यों के अनुसार 'पिच्छा' का अभिप्राय पकाये हुए चावल के मण्ड (माड़) सदृश पदार्थ से है। **सर्पतीति**-चलति=फैलता है। उदकपूर्णदृतिवत् संक्षोभः मांसस्य पिच्छोदकरूपं प्राप्तस्य=पिच्छिल द्रव का संचय उदर के मांस के नीचे के भाग में होता है जो स्पर्श एवं ताडन (Percussion) द्वारा चमड़े के थैले में भरे हुए जल की तरह प्रतीत होता है।

'तमक' से यहाँ 'तमक श्वास' का ग्रहण होता है। अचिकित्स्यमिति-विष प्रयोग, शस्त्र प्रणिधान आदि दारुणकर्म से भिन्न क्रिया के द्वारा अचिकित्स्य जानना चाहिए। अर्थात् विष प्रयोग एवं शल्योपक्रम के द्वारा इसमें सफलता मिल सकती है। ॥४५-४९॥

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने दकोदर (जलोदर) के सम्बन्ध में इस दृष्टान्त का प्रयोग किया है, यथा-"स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च। यथादृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्॥"

[जलोदर में आतुर का उदर जल से पूर्ण होने के कारण स्निग्ध (चिकना) रहता है, आकार में बड़ा हो जाता है, भीतरी जल के दबाव के कारण नाभि उलट जाती है, अर्थात् नाभि का गड्ढा समाप्त हो जाता है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण चमड़े की थैली क्षुभित होती है, कम्पन युक्त होती है अथवा जैसी शब्द करती है वैसा ही क्षोभ, कम्पन एवं शब्द आतुर के उदर की परीक्षा करने पर होता है।]

Scanned by CamScanner

भवन्ति चात्र–

वातात्पित्तात्कफात् प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात् । परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत् ।।५०।।
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा । प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ।।५१।।

उदररोग की कृच्छ्रसाध्यता–वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर तथा जलोदर; ये क्रमशः उत्तरोत्तरं कृच्छ्र साध्य होते जाते हैं, १५ (पक्ष) दिन के बाद बद्धगुदोदर, सभी प्रकार के जलोदर तथा छिद्रोदर प्रायः मृत्यु उत्पादक होते हैं ।

चक्रपाणि–परं परं कृच्छ्रतरमिति-जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे उनकी कृच्छ्रसाध्यता बढ़ती जाती है, यथा-वातोदर-पित्तोदर-कफोदर-प्लीहोदर-सन्निपातोदर-जलोदर (इस क्रम में इनकी कृच्छ्रसाध्यता बढ़ती जाती है ।) । बद्धगुदोदर, छिद्रोदर एवं उदकोदर की विशेषता को यहाँ-'पक्षादित्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय प्रायो भवति–यदि बद्धगुदोदर १५ दिन से अधिक रह जाता है, तो प्रायः इस व्याधि से आतुर की मृत्यु हो जाती है, कभी-कभी १५ दिन के बाद भी इससे आतुर की मृत्यु नहीं होती । इसलिये यहाँ 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया गया है । जातोदक तथा छिद्रोदर के होने पर प्रायः आतुर की मृत्यु हो जाती है, कभी-कभी विष एवं शस्त्र चिकित्सा द्वारा जातोदक, छिद्रोदर एवं बद्धगुदोदर साध्य हो जाता है, इसे बताने के लिए यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है ।

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् । बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत् ।।५२।।
श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट् । मूर्च्छा च्छर्दिरतीसारो निहन्त्युदरिणं नरम् ।।५३।।
जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् । बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ।।५४।।

उदररोग की असाध्यता–आँखों का शोथ युक्त होना, मूत्रेन्द्रिय का टेढ़ा होना (उपस्थ का कुटिल होना-Curved pudendum), उदर की त्वचा का क्लेद युक्त एवं पतला होना- (Sticky and thin skin), बल (शारीरिक बल), शोणित (रक्त), मांस एवं अग्नि (जाठराग्नि) का क्षीण होना; जिस उदररोगी में ये लक्षण पाये जाते हैं उस रोगी को त्याग देना चाहिए, अर्थात् उसकी चिकित्सा न करें ।

जिस रोगी के सभी मर्म प्रदेशों (हृदय एवं वस्ति) में शोथ हो तथा वह श्वास (Dyspnoea), हिक्का (Hiccup), अरुचि (Anorexia), तृषा (Morbid thirst), मूर्च्छा (Fainting), छर्दि (Vomiting) तथा अतिसार (Diarrhoea) से पीड़ित हो; ऐसे रोगी में होने वाला उदररोग आतुर को नष्ट कर देता है ।

सभी प्रकार के उदररोग प्रायः जन्म से ही कृच्छ्रसाध्य होते हैं । बलवान व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाला उदररोग जिसमें जल का सञ्चय होना प्रारम्भ न हुआ हो तथा व्याधि नूतन हो; यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर साध्य होता है । ।।५२-५४।।

चक्रपाणि–'शूनाक्षमित्यादि' के द्वारा उदररोग की साध्यता के विवेचनोपरान्त उसकी असाध्यता का अभिधान किया गया है। कुटिलोपस्थमिति=वक्रोपस्थम् (उपस्थ का वक्र होना) अर्थात् मूत्रेन्द्रिय का टेढ़ा होना । **उपक्लिन्ना तन्वी च त्वग्यस्य स तथा**-उदर की त्वचा का उपक्लिन्न (गीला) एवं तनु (पतला) होना, जिस पुरुष की त्वचा गीली एवं पतली हो उसे 'उपक्लिन्न तन्वी त्वग्' कहा गया है । यद्यपि उदररोग में सर्वप्रथम अग्निक्षय ही होता है, फिर भी असाध्य लक्षणों में अन्य लक्षणों के साथ ही अग्निक्षय भी विशेष रूप से पाया जाता है, ऐसा जानना चाहिए । जन्मनैवेति उत्पत्तिमात्रेण-जन्म के साथ ही ।।५२-५४।।

अजातशोथमरुणं सशब्दं नातिभारिकम् । सदा गुडगुडायच्च सिराजालगवाक्षितम् ।।५५।।
नाभिं विष्टभ्य पार्श्वौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति । ह्रन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ।।५६।।
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके । लोलस्यावितरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विषि ।।५७।।
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः । उपाक्रमेद्भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ।।५८।।

अजाताम्बु (अजातोदक) के लक्षण (Signs and Symptoms of Ajātodaka Stage)–अजातोदक (उदर में जल सञ्चय न होने की अवस्था) अवस्था में रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. उदर का शोथ युक्त न होना (Abdomen without swelling) ।

२. उदर की त्वचा का रक्त वर्ण (Red colour) का होना ।

३. अंगुली ताडन परीक्षा करने पर आध्मानवत् शब्द का होना ।

४. उदर का अत्यधिक भारी न होना ।

५. उदर में निरन्तर गुड़गुड़ाहट का शब्द सुनाई देना ।

Scanned by CamScanner

६. उदर के ऊपर सिरा जाल की विद्यमानता ।

७. वायु नाभिप्रदेश में रुककर गुदा में वेग को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाती है, अर्थात् वायु नाभिप्रदेश में आध्मान उत्पन्न करते हुए मल को निकालकर शान्त हो जाती है ।

८. हृदय प्रदेश (Heart region), नाभिप्रदेश (Umbilicus), वंक्षण (Iliac region), कटि (Lumber region) एवं गुदप्रदेश (Anal region) में शूल का उत्पन्न होना । अर्थात् निर्दिष्ट प्रत्येक अवयव में शूल उत्पन्न होता है ।

९. अपान वायु का वेग के साथ गुदा से बाहर निकलना (Flatus will be eliminated with force- Dr.Bhagvan Das)

१०. जाठराग्नि अतिमन्द नहीं होती (जाठराग्नि का अत्यधिक दुर्बल न होना) ।

११. लौल्यता का होना (खाद्य वस्तुओं को खाने की इच्छा होना) ।

१२. मुख का स्वाद बदल जाना (आस्य वैरस्य का उत्पन्न होना) ।

१३. मूत्र का अल्प निकलना तथा मल का कठिन (Hard) होना, अर्थात् पुरीष गाँठदार एवं शुष्क (dry) निकलता है ।

इन लक्षणों के द्वारा वास्तविक रूप से उदर में जल एकत्रित नहीं है । अर्थात् यह अजातोदक की अवस्था है, इसका सम्यक् ज्ञान कर योग्य चिकित्सक दोष, काल एवं बल के वैशिष्ट्य का सम्यक् विचार करते हुए उदररोग की चिकित्सा करे ।

चक्रपाणि-'अजातशोथमित्यादि' के द्वारा अजातोदक (जलोदर रोग में जल के असंचय की अवस्था) के लक्षणों को बताया गया है। **नातिभारिकमिति**-उदर का अत्यधिक भारी न होना । नाभिं विष्टभ्येति=नाभि को स्तंभित करके । **कृत्वा वेगमिति**-पुरीष एवं वात के वेग को उत्पन्न करके, अर्थात् अधोवायु एवं पुरीष (मल) को गुदा से बाहर निकाल करके शान्त होना, अर्थात् नाभि की स्तब्धता तभी दूर होती है जब गुदा से पुरीष व अपानवायु निकल जाती है ।

प्रणश्यतीति लीनं भवति=नष्ट हो जाती है, अथवा विलीन हो जाती है । कर्कशमिति वेगवन्तं=वेगवान होना, सृजति इति=वातं सरतः=अपानवायु का वेग के साथ बाहर निकलना ।

(विषि संहते=पुरीष का संहत (ठोस=शुष्क) रूप में निकलना) ॥५५-५८॥

विशेष (Comments)-आचार्य सुश्रुत के अनुसार सभी प्रकार के उदर रोगों में सामान्य रूप से-आध्मान, चलने में असमर्थता, दौर्बल्य (Weakness), मन्दाग्नि (जाठराग्नि का मन्द होना), शोफ (Swelling), अंगों में थकावट का होना, अधोवायु एवं पुरीष का अवरोध, दाह (Burning sensation) एवं तृष्णा (Thirst); के लक्षण पाये जाते हैं, यथा- "आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता । शोफः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः । दाहस्तृष्णा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि" (सु.नि.अ. ७/२४) इति ।

वातोदरं बलमतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत् । स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात् स्नेहविरेचनम् ॥५९॥
हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद्वाससोदरम् । तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत् पुनः ॥६०॥
दोषातिमात्रोपचयात् स्रोतोमार्गनिरोधनात् । संभवत्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचयेत् ॥६१॥
शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम् । प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यं च वले लब्धे क्रमात् पयः ॥६२॥
यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेथितानलम् । सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥६३॥
स्फुरणाक्षेपसन्न्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु । दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥६४॥
तीक्ष्णाधोभागयुक्तोऽस्य निरूहो दाशमूलिकः । वातघ्नाम्लशृतैरण्डतिलतैलानुवासनम् ॥६५॥
अविरेच्यं तु यं विद्याद्दुर्बलं स्थविरं शिशुम् । सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम् ॥६६॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः । बस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद्बुधः ॥६७॥

उदर रोगों की चिकित्सा (Treatment of Udararoga)

१. वातोदर की चिकित्सा (Treatment of Vātodara)-

→ यदि वातोदर का रोगी बलवान है तब उसे सर्वप्रथम स्नेहपान कराना चाहिए, पश्चात् स्वेदन करावें, स्नेहन एवं स्वेदन के प्रयोग के बाद (सम्यक् स्नेहन एवं स्वेदन के हो जाने के बाद) स्नेहविरेचन का प्रयोग करना चाहिए । विरेचन द्वारा दोषों के शरीर से बाहर निकल जाने पर जब उदर परिम्लान (क्षीण) हो जाय तो उसके ऊपर कपड़ा लपेट देना चाहिए, अथवा उदर को कपड़े से बाँध दें। यह बन्धन इस प्रकार बाँधे कि वायु उदर में अवकाश पाकर पुनः आध्मान (Distension) न उत्पन्न कर सके ।

→ दोषों के अत्यधिक सञ्चय तथा स्रोतसों के मार्ग अवरुद्ध होने से उदररोग की उत्पत्ति होती है । इसलिये इस व्याधि में आतुर को **नित्य विरेचन कराना** चाहिए ।

Scanned by CamScanner

→ जब शरीर विरेचन द्वारा शुद्ध हो जाय तब रोगी को संसर्जन क्रम का पालन करावें । इसके बाद आतुर के बल की वृद्धि हेतु **क्षीर (Milk) का प्रयोग** करना चाहिए । क्षीर का प्रयोग तब बन्द करना चाहिए जब आतुर को दुग्ध से उत्क्लेश होने लगे । अर्थात् आतुर का बल जब सम्यक् रूप से बढ़ जाय तब दुग्ध का प्रयोग बन्द करना चाहिए ।

→ **उदररोग में आस्थापन बस्ति**-आतुर को यूष (मुद्गयूष अथवा Vegetable soup) अथवा मांसरस (Meat soup) अल्प मात्रा में अम्ल व लवण द्रव्यों से संस्कारित कर जाठराग्नि की वृद्धि हेतु देना चाहिए । जाठराग्नि के तीव्र हो जाने पर तथा उदावर्त की अवस्था में आतुर को पुनः स्नेहन, स्वेदन कराकर आस्थापन बस्ति (निरूह बस्ति) का प्रयोग करें । अर्थात् मांसरस आदि के प्रयोग से जाठराग्नि जब तीव्र हो जाती है तब रोगी में मलबद्धता (Constipation) उत्पन्न हो जाती है, ऐसी अवस्था में स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

→ यदि रोगी में स्फुरण (Trembling-कम्पन) व आक्षेप (Convulsion) हो, संधि, अस्थि, पार्श्व, पृष्ठ तथा त्रिक (Joints, Bones, sides of the chest, back and Lumber region) में वेदना (Pain) हो तथा व्यक्ति की अग्नि दीप्त हो, पुरीष एवं अपानवायु की गति अवरुद्ध हो (मलबद्धता एवं अपानवायु का अवरोध हो), शरीर में रूक्षता की वृद्धि हो । इस अवस्था में रोगी में अनुवासनबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

→ निरूहबस्ति के योग्य रोगी को विरेचन कारक द्रव्यों, यथा-निशोथ, अमलतास आदि द्रव्यों व दशमूल क्वाथ से निर्मित तीक्ष्ण निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये, पश्चात् वातघ्न द्रव्यों के क्वाथ व अम्ल काञ्जी डालकर सिद्ध किये हुये एरण्ड तैल एवं तिल तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ।

→ जो रोगी अविरेच्य है, अर्थात् जिसमें विरेचन का प्रयोग नहीं कराया जा सकता, यथा-दुर्बल (Weak), वृद्ध (Old), शिशु, सुकुमार प्रकृति वाले व्यक्ति तथा अल्प दोष युक्त व्यक्ति । इस प्रकार के व्यक्तियों में यदि वात की वृद्धि हो तब चिकित्सक को घृत, यूष (मुद्गयूष अथवा Vegetable soup), मांसरस (Meat soup) का प्रयोग भात के साथ करना चाहिए, साथ में वातनाशक बस्तियाँ-अनुवासन एवं निरूह, अभ्यंग (वातनाशक तैलों से अभ्यङ्ग) एवं क्षीर के प्रयोग द्वारा दोषों का प्रशमन करना चाहिए । ॥५९-६७॥

चक्रपाणि-'वातोदरमित्यादि' के द्वारा वातोदर की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । परिम्लानमिति=क्षीण होना अथवा दुर्बल होना । विरेचन के द्वारा दोषों के निकल जाने पर, रोगी का उदर (पेट) खाली हो जाता है एवं उदर परिम्लान (दुर्बल) हो जाता है, ऐसे उदर को कपड़े से अच्छी प्रकार लपेटकर बाँध देना चाहिए जिससे उदर में खाली स्थान पाकर वायु आध्मान न उत्पन्न कर सके ।

'दोषेत्यादि' के द्वारा उदररोग में पुनः शोधन के हेतु को स्पष्ट किया गया है । **स्रोतोमार्गनिरोधनात् इति**-स्रोतों के मुख बन्द होने से, मार्ग शब्द से यहाँ मुख (Opening) अर्थ लिया गया है । **'संसृज्य इति'** से यहाँ पेया आदि संसर्जन क्रम के प्रयोग के पश्चात्, अर्थ लिया गया है । अर्थात् स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् नित्य स्नेह विरेचन के प्रयोग से रोगी दुर्बल हो जाता है, अतः संसर्जन क्रम के बाद रोगी के बल की वृद्धि हेतु दुग्ध का प्रयोग करें । रोगी को दूध का प्रयोग तब तक करें जब तक कि उसे उत्क्लेश न होने लगे । [अभिप्राय यह है कि दूध से अरुचि होने के पूर्व ही दूध का प्रयोग बन्द कर देना चाहिए ।]

प्रागुत्क्लेशादिति-उत्क्लेश होने से पूर्व ही । अर्थात् अरुचि उत्पन्न होने से पूर्व ही दुग्ध का प्रयोग बन्द कर दें ।

उत्सर्गतस्तु बलजननकार्यं कृत्वा पयो निवर्तनीयम्=वास्तव में बल उत्पन्न हो जाने के बाद दुग्ध का प्रयोग स्वतः बन्द कर देना चाहिए ।

वातघ्नादिभिः शृतमैरण्डतैलं तिलतैलं वाऽनुवासनं स्यात्-वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से साधित (सिद्ध) एरण्ड तैल अथवा तिल तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । **अनुवासैरिति**=अनुवासन के प्रयोग द्वारा । ॥५९-६७॥

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत् । दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना ॥६८॥
संजातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत् । पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥६९॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा । सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥७०॥
पुनः क्षीरप्रयोगं च बस्तिकर्म विरेचनम् । क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥७१॥

२. पित्तोदर की चिकित्सा (Treatment of Pittodara)-यदि रोगी पैत्तिक उदररोग से पीड़ित है तथा रोगी बलवान है, ऐसी अवस्था में उसमें सबसे पहले विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । यदि रोगी दुर्बल है तब उसका शोधन-अनुवासन एवं क्षीरबस्ति के द्वारा करना चाहिए । संशोधनोपरान्त संसर्जनक्रम के प्रयोग के बाद जब रोगी का बल बढ़ जाय, जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाय तब पुनः उसमें स्नेहविरेचन का प्रयोग करना चाहिए । आतुर के विरेचनार्थ अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए-

Scanned by CamScanner

१. त्रिवृत् कल्क (सफेद निशोथ का कल्क) एवं एरण्ड क्वाथ से पकाये गये गोदुग्ध का प्रयोग ।

२. सप्तला व त्रायमाणा के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध दुग्ध का प्रयोग

३. अमलतास की गुद्दी के कल्क से पकाये गये दुग्ध का प्रयोग ।

४. यदि पित्तोदर में कफ का अनुबन्ध है तब विरेचन हेतु पूर्व निर्दिष्ट सिद्ध दुग्ध में गोमूत्र मिलाकर देना चाहिए तथा वायु का अनुबन्ध होने पर सिद्ध दुग्ध में पञ्चतिक्तघृत मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग करें ।

इस प्रकार रोगी में बार-बार क्षीरपान (दुग्धपान), बस्तिकर्म एवं विरेचन का प्रयोग क्रमशः करना चाहिए । ऐसा करने से पैत्तिक प्रकार के उदररोग पर अर्थात् पित्तोदर पर चिकित्सक निश्चय ही विजय प्राप्त कर लेता है ।

चक्रपाणि–'सातला' से चर्मकषा का ग्रहण किया गया है- (सातला=सप्तला) । क्षीरबस्तिरिति=क्षीर प्रधान बस्ति । सकफे इति-यदि पित्तोदर में कफ का अनुबन्ध हो (कफानुबन्ध पित्तोदर में) । समूत्रेण इति-विरेचनार्थ मूत्र के साथ सिद्ध दुग्ध का प्रयोग करना, विरेचन द्रव्यों द्वारा सिद्ध दुग्ध के साथ गोमूत्र मिलाकर कफयुक्तपित्त रोगी मे प्रयोग करना चाहिये । वातानुबन्ध पित्तोदर में त्रिवृत् आदि के कल्क से साधित गोदुग्ध में तिक्तघृत मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिए । क्रमेण इति-क्रमशः क्षीर आदि के प्रयोग द्वारा पित्तोदर की चिकित्सा करनी चाहिए, यह अभिप्राय है । ।।६८-७१।।

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम् । संसर्जयेत् कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ।।७२।।
गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा । सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम् ।।७३।।

३. कफोदर की चिकित्सा (Treatment of Kaphodara)–कफोदर के रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराने के बाद शोधन (विरेचन) कराना चाहिये, तत्पश्चात् संसर्जनक्रम का प्रयोग करें । जब रोगी अपने सामान्य बल को प्राप्त कर ले तब उसे कटु एवं क्षार द्रव्यों से युक्त कफनाशक अन्न का प्रयोग करावें, यहां व्यवस्था पेयादि के क्रम में भी रखीं जा सकती है । अर्थात् पेयादि के निर्माण में कटु, क्षार एवं कफनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए । शमन चिकित्सा के रूप में रोगी को-गोमूत्र (Cow's urine), अरिष्ट (A type of Alcoholic preparation), चूर्ण (कफनाशक चूर्ण), अयस्कृति (A Medicated preparation of Iron- लौह के औषधीय योग), क्षार एवं तैलों (कफ नाशक तैलों) को प्रयोग कराना चाहिए । अर्थात् इन योगों के प्रयोग से कफोदर को जीतना चाहिए ।

चक्रपाणि–विशुद्ध शब्द का यहाँ अभिप्राय वमन को छोड़कर शेष शोधन प्रक्रियाओं (विरेचन, बस्ति आदि) से है, क्योंकि उदररोगों में वमन का निषेध किया गया है । चूर्णयुक्ता अयस्कृतयः चूर्णायस्कृतयः "नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं मधुसर्पिषा" (चि.अ. १६) इत्याद्युक्ताः-'चूर्णायस्कृति' से यहाँ औषध द्रव्यों के चूर्ण के साथ अयस्कृति (लौह भस्म) का प्रयोग करना, अर्थ ग्रहण किया गया है, जिसे आगे चिकित्सा अध्याय १६ (पाण्डुरोगचिकित्सा) में इस रूप में स्पष्ट किया गया है-"चूर्ण मिश्रित अयस्कृति को चूर्णायस्कृति कहते हैं, यथा-त्र्यूषण (शुण्ठी चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, कालीमिर्च का चूर्ण), हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुस्तक (नागरमुस्तक), वायविडंग, एवं चित्रक, प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें, लौह भस्म-९ भाग लें । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर रख लें । इस चूर्ण को नवायसचूर्ण कहा गया है, इसका प्रयोग मधु व घृत के साथ उचित मात्रा में पाण्डु (Anaemia), हृद्रोग (Heart disease), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy) एवं कामला (Jaundice) के रोगी को करना चाहिए-च.चि.अ. १६/७०-७१" अथवा चूर्ण का प्रयोग यहाँ बताया जायेगा, अयस्कृति का विवेचन रसायन में वर्णित लोह के प्रयोगों में जानना चाहिये । अर्थात् अयस्कृति का प्रयोग रसायनचिकित्सा में किया गया है । ।।७२-७३।।

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत् क्रियाः । सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ।।७४।।

४. सन्निपातोदर की चिकित्सा (Treatment of Sannipātodara)–यदि रोगी सन्निपातोदर से पीड़ित है तब उसमें वातोदर, पित्तोदर एवं कफोदर की जो चिकित्सा पूर्व में अलग-अलग बताई गयी है, उन सबका प्रयोग मिश्रित रूप से करना चाहिए । यदि इसमें उदररोग के सभी उपद्रव विद्यमान हों (छर्दि, अतिसार आदि) तब रोगी को प्रत्याख्येय समझकर त्याग देना चाहिये । ।।४७।।

चक्रपाणि–सर्वा यथोक्ता इति-वातादि दोष नाशक सभी चिकित्सा का प्रयोग सन्निपातोदर में करना चाहिए । सन्निपातोदर उपद्रव से युक्त होने पर इस व्याधि को असाध्य समझकर चिकित्सा से निवृत्त होने का निर्देश है । अर्थात् उपद्रव युक्त सन्निपातोदर की चिकित्सा न करें, क्योंकि ऐसा रोगी निश्चित ही मृत्यु को प्राप्त होता है । ।।७४।।

उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः । गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ।।७५।।
लिङ्गैः प्लीह्न्यधिकान् दृष्ट्वा रक्तं चापि स्वलक्षणैः । चिकित्सां संप्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम् ।।७६।।
स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम् । समीक्ष्य कारयेद्वाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ।।७७।।
षट्पलं पाययेत् सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् । सगुडामभयां वाऽपि क्षारारिष्टगणांस्तथा ।।७८।।

Scanned by CamScanner

एष क्रियाक्रमः प्रोक्तो योगान् संशमनाञ्छृणु । पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम् ।।७९।।
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत् । विडङ्गं चित्रकं शुण्ठी सघृतां सैन्धवं वचाम् ।।८०।।
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत् । रोहीतकलतानां तु काण्डकानभयाजले ।।८१।।
मूत्रे वा सुतुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत् । कामलागुल्ममेहार्शः प्लीहसर्वोदरक्रिमीन् ।।८२।।
स हन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् । रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ।।८३।।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् । पलिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया ।।८४।।
रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् । प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ।।८५।।
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः । अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ।।८६।।
पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः । रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।।८७।।
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः । यकृति प्लीहवत् सर्वं तुल्यत्वाद्भेषजं मतम् ।।८८।।
लघून्यन्नानि संसृज्य दद्यात् प्लीहोदरे भिषक् ।

५-६. प्लीहोदर एवं यकृदाल्युदर की चिकित्सा (Treatment of Plīhodara and Yakriddālyudara)–(क) **प्लीहोदर में दोषों का सम्बन्ध**-यदि प्लीहोदर में उदावर्त [A class of diseases (marked by retention of the faces)], शूल (Pain), आनाह, (Abdominal distension) विद्यमान हो तब उसमें वात की प्रधानता, दाह (Burning sensation), मोह (unconsciousness), प्यास (Thirst) एवं ज्वर मिलने पर पित्त तथा भारीपन (Heaviness), अरुचि (Anorexia) एवं उदर की काठिन्यता (Hardness) मिलने पर कफ की प्रधानता का ज्ञान करना चाहिए । यदि प्लीहा में रक्त की अधिकता हो तथा इसमें रक्त के अपने लक्षण (विधिशोणितीय अध्याय सू.अ. २४ में वर्णित लक्षण) अधिक मिलें तो रक्तज प्लीहा रोग समझना चाहिए । प्लीहोदर में दोषों के बलाबल का ज्ञान कर, तदनुसार चिकित्सा करें ।

(ख) **प्लीहोदर की चिकित्सा**–इस व्याधि में स्नेहन (Oleation), स्वेदन (Sweating), विरेचन (Purgation), निरूह (A type of medicated enema prepared of decoction, etc.) एवं अनुवासन बस्ति (A type of medicated enema, prepared of oil) का उचित प्रयोग करना चाहिए । यदि इन उपक्रमों द्वारा लाभ न मिले तब आतुर के वाम बाहु (Left arm) का सिरा का वेध करें । रोगी को पीने के लिए षट्पलघृत अथवा पिप्पली का प्रयोग अथवा गुड़-हरीतकी अथवा अरिष्टों का सेवन करावें ।

इस प्रकार प्लीहोदर के चिकित्सा क्रम का निर्देश कर दिया गया । अब आगे संशमन योगों (संशमन चिकित्सा) का वर्णन किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

पिप्पल्यादि चूर्ण–पिप्पली, नागर (शुण्ठी=सोंठ), दन्तीमूल, चित्रकमूल एवं विडंग; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें अथवा सभी द्रव्यों का अलग-अलग चूर्ण सम प्रमाण में ग्रहण करें । इसमें हरड़ का चूर्ण दूनी मात्रा (यदि पिप्पली १ भाग लेने पर २ भाग हरीतकी) में लेकर मिश्रित (मिलावें) करें । इस चूर्ण का प्रयोग आतुर को उष्ण जल के साथ करना चाहिए ।

[पिप्पली- १ भाग, नागर- १ भाग, दन्तीमूल- १ भाग, चित्रकमूल- १ भाग, विडंग- १ भाग, हरीतकी- २ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इसका प्रयोग उष्ण जल के साथ करें ।]

विडङ्गादि क्षार–विडंग (वायविडंग), चित्रक (चित्रक की जड़), शुण्ठी (सोंठ), सैन्धव लवण (सेन्धा नमक) एवं वच; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर उसमें एक भाग गोघृत मिलाकर मिट्टी के कसोरे में रखकर, ऊपर से सम्पुट कर अग्नि का पुट दें, अर्थात् फूंक दें । इस विधि से निर्मित क्षार का प्रयोग दुग्ध के साथ गुल्म एवं प्लीहा रोग में करना चाहिए, अर्थात् यह भस्म गुल्म एवं प्लीहारोग को दूर करती है । [यहाँ क्षार से भस्म (राख) का ही ग्रहण किया गया है ।]

रोहीतकादि योग–रोहीतक (Tecoma undulate G Don.) के तने (Stem) को यवकुट कर हरीतकी के क्वाथ अथवा गोमूत्र में सात दिन तक भिगोवें, पश्चात् मसलकर छान लें । इस क्वाथ अथवा शीतकषाय का प्रयोग करने से कामला (A form of Jaundice), गुल्म, प्रमेह, अर्श (Piles), प्लीह (Splenic disorder), उदररोग एवं क्रिमिरोग दूर हो जाते हैं । औषध का पाचन हो जाने पर रोगी को जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् भोजन में मांसरस के साथ भात का प्रयोग करें ।

रोहीतक घृत–रोहीतक की छाल (Bark)- २५ पल, कोल (खट्टी बेर)- २ प्रस्थ; दोनों द्रव्यों को लेकर, यवकुट करें एवं ८ गुने जल में क्वाथ बनावें, जब जल उड़कर चतुर्थांश (१/४ भाग) बच जाय एवं औषध द्रव्यों के रस द्रव में आ जाय तब क्वाथ को छान लें । इस छने हुए क्वाथ में-पिप्पली- १ पल, पिप्पलीमूल- १ पल, चव्य- १ पल, चित्रकमूल- १ पल, शुण्ठी (सोंठ)- १ पल, रोहीतक की छाल- ५ पल; द्रव्यों के कल्क बनाकर डालें एवं गोघृत- १ प्रस्थ डालकर विधिपूर्वक सिद्ध करें ।

Scanned by CamScanner

यह सिद्ध घृत प्लीहा वृद्धि में प्रयोग करने पर उसको शीघ्र ही प्रशमित करता है, इसके साथ ही गुल्म, उदर, श्वास (Dyspnoea), क्रिमिरोग (Worm infestation), पाण्डु (Yellowish white-Jaundice-carak- M.M. Williams), कामला (A form of Jaundice) आदि व्याधियों के दूर करता है ।

अग्निकर्म–वात कफ प्रधान प्लीहोदर व्याधि में चिकित्सक को अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिए । पैत्तिक प्लीहोदर में जीवनीय गण की औषधियों से सिद्ध घृत एवं इन्हीं द्रव्यों से साधित क्षीर बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए, इसके साथ ही रक्तमोक्षण, संशोधन कर्म (वमन कर्म) एवं दुग्धपान का प्रयोग करना हितकर होता है । रोगी को दीपनीय द्रव्यों से युक्त यूष (मुद्गयूष) एवं मांसरसों के साथ लघु अन्न का प्रयोग आहार के रूप में करना चाहिए । प्लीहा रोग (Splenic disorder) में निर्दिष्ट चिकित्सा का प्रयोग यकृदाल्युदर (यकृत वृद्धि) रोग में भी करना चाहिए, क्योंकि दोनों ही व्याधियों के कारण एवं लक्षण तुल्य होते हैं ।

चक्रपाणि–'उदावर्तेत्यादि' के द्वारा यहाँ प्लीहोदर चिकित्सा का अभिधान किया गया है । **अनिलादीन् यथाक्रममिति**-प्लीहोदर में वातादि दोषों की वृद्धि का ज्ञान इस प्रकार करना चाहिए, यथा-उदावर्त, रुजा (Pain) एवं आनाह (Distension of the abdomen)-वातवृद्धि, दाह (Burning sensation), मोह, तृषा (प्यास का लगना) एवं ज्वर से पित्तवृद्धि; शेष लक्षणों– गौरव (Heaviness), अरुचि (Anorexia) एवं उदरप्रदेश अथवा प्लीहा का कठिन होना; द्वारा कफ की वृद्धि का ज्ञान करना चाहिए । इन्हीं लक्षणों के आधार पर रोगी की चिकित्सा करें ।

किं च बाधितं रक्तं तल्लक्षणैर्दृष्ट्वा चिकित्सां कुर्वीत–अथवा रक्त की दुष्टि को उसके लक्षणों द्वारा जानकर (देखकर) चिकित्सा करें । रक्त दुष्टि के लक्षणों का विवेचन विधिशोणितीय अध्याय (च.सू.अ. २४) में किया जा चुका है । तन्त्रान्तर में भी-"विदाहं तृष्णां वैरस्यं गात्रगौरवं मूर्च्छां" इत्यादि के द्वारा बताया गया है, ऐसा जानना चाहिए ।

प्लीहनीति=प्लीहोदर में । यथादोषमिति=बढ़े हुए दोषों का प्रशमन, अर्थात् जो दोष वृद्ध हो उसका प्रशमन करना । प्लीहोदर में सामान्यतः वाम बाहु का सिरावेध करने का निर्देश है, फिर भी सुश्रुत के विचार से कूर्पर सन्धि के पास की सिरा का वेध करना, अर्थ लेना चाहिए ।

पिप्पलीर्वा प्रयोजयेदिति–रसायन प्रकरण में वर्णित वर्धमानपिप्पलीरसायन का प्रयोग करना चाहिए ।

क्षारारिष्टगणानिति–ग्रहणी, अर्श चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले क्षार व अरिष्टों का ग्रहण है । यहाँ 'विडङ्गमित्यादि' के द्वारा क्षार का अभिधान किया गया है तथा 'रोहीतकलतेत्यादि' से अरिष्ट को बताया गया है, अर्थात् 'रोहीतकारिष्ट' का प्रयोग करें ।

द्विगुणाभयमिति–अन्य द्रव्य- १-१ भाग लेने पर रोहीतक की मात्रा- २ भाग ग्रहण करनी चाहिए । रोहितक लता से रोहितक का ग्रहण किया गया है, जो इस नाम से प्रसिद्ध है ।

काण्डका इति–स्वल्पप्रमाणाः खण्डाः-रोहीतक के छाल के छोटे-छोटे टुकड़े । **आसुनुयादिति द्रवे मग्नाःकृत्वा संधानार्थं स्थापयेत्**-रोहितक के छाल अथवा काण्ड (लता) के छोटे-छोटे टुकड़े करके जल में भिगों दें, यह कार्य संधानार्थ करें । अर्थात् 'रोहितकारिष्ट' का निर्माण करें ।

रोहितकघृत के निर्माण हेतु क्वाथ्य द्रव्य का मान ५७ पल (२२८ तोले) लें, उसमें ८ गुना जल डालकर पकावें, चतुर्थांश (४५६ तोला) अवशेष रहने पर क्वाथ को छान कर उतार लें । यह मात्रा १४ शराव [१ शराव= २ कुडव, २८ कुड़व=४४८ तोला] से २ पल (८ तोला) अधिक होनी चाहिये, अर्थात् ४४८ तोला+८ तोला= ४५६ तोला होनी चाहिये ।

सर्वैस्तैश्चापि तुल्ययेति रोहितकत्वचः पञ्चपलानीत्यर्थः–उन सभी के मान के बराबर रोहितक की छाल (Bark) का ग्रहण करना चाहिए, यथा-पञ्चकोल के घटक द्रव्यों का अलग-अलग मान १-१ पल लेने का निर्देश है । संयुक्त रूप से यह मात्रा ५ पल होती है । अतः यहाँ रोहितक की मात्रा- ५ पल लेनी चाहिये ।

पिष्टैरिति–पञ्चकोल के द्रव्यों को जल के साथ पीस कर कल्क बना लें तथा अलग से ५ पल रोहितक लेकर इसे भी पीसकर कल्क बनावें, अर्थात् कल्क के रूप में रोहितक त्वक्+पञ्चकोल का प्रयोग करें । [इस प्रकार क्वाथ+कल्क+गोघृत एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें ।]

अग्निकर्मेति–गुल्म की तरह यहाँ भी अग्निकर्म का उल्लेख किया गया है । अग्निकर्म का प्रयोग वातकफोल्वण प्लीहोदर में करना चाहिए, ऐसा समझें ।

दीपनीयसमायुतैरिति–यूष एवं मांसरस को पिप्पल्यादि दीपनीय गण की औषधियों से संस्कारित करके प्रयोग करना चाहिए । ॥७५-८८॥

Scanned by CamScanner

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रतीक्ष्णौषधान्वितम् ।।८९।।
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् । परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ।।९०।।
उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च । छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ।।९१।।
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तद्यापयेद्भिषक् । तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ।।९२।।
वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।

६. बद्धोदर की चिकित्सा (Treatment of Baddhodara)–बद्धोदर के रोगी में सर्वप्रथम स्वेदन (Fomentation) का प्रयोग करना चाहिए, पश्चात् मूत्र (गोमूत्र) के साथ तीक्ष्ण औषधियों के क्वाथ, चूर्ण व तिल तैल से युक्त निरूहबस्ति का प्रयोग करें, तदनन्तर इन्हीं द्रव्यों से साधित सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दें। यदि आहार का प्रयोग करना हो तब वातानुलोमक अन्न का प्रयोग करना चाहिए, यदि विरेचन देना आवश्यक हो तब तीक्ष्ण विरेचन करावे। इसके अतिरिक्त उदावर्तनाशक एवं वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग करें।

७. छिद्रोदर की चिकित्सा (Treatment of Chidrodara)–छिद्रोदर (Abdominal swelling caused by perforation of intestine) की चिकित्सा में मात्र स्वेदन को छोड़कर शेष कफोदर (श्लेष्मोदर) के समान चिकित्सा करनी चाहिए। छिद्रोदर में यदि उदर में जल का सञ्चय होने लगे तो उसे बाहर निकालना चाहिए, यह क्रम बार-बार दुहराना चाहिए। ऐसा करते हुए रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रोगी तृष्णा (Morbid thirst), कास (Cough) एवं ज्वर (Fever) से युक्त हो, यदि रोगी का मांस क्षीण हो, जाठराग्नि दुर्बल हो, अल्प भोजन ग्रहण करता हो, श्वास एवं शूल से युक्त हो एवं उसकी इन्द्रियाँ दुर्बल हों; ऐसे छिद्रोदर रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। अर्थात् इन लक्षणों से युक्त रोगी असाध्य होता है। ।।८९-९२।।

चक्रपाणि–निरूहस्योत्सर्गत एव सतैललवणत्वे सिद्धे सतैललवणमिति-वस्तुतः निरूहबस्ति तैल, लवण आदि द्वारा सिद्ध करके ही बनायी जाती है। अर्थात् सामान्यतः निरूहबस्ति का निर्माण तैल, लवण एवं क्वाथ आदि द्वारा ही किया जाता है, फिर भी यहाँ तैल एवं लवण की अधिक मात्रा डालने का निर्देश है। अर्थात् प्रयोग करना चाहिए, इसे दर्शाने के लिए ही 'सतैललवणं' पद का प्रयोग किया गया है। बद्धोदर, छिद्रोदर एवं दकोदर में यद्यपि आस्थापनवस्ति का निषेध किया गया है, फिर भी उनमें साध्य की अवस्था में निरूह एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

परिस्रंसीनीति–अनुलोमक (वातानुलोमक) द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

छिद्रान्त्रं चोदरं नृणामिति–छिद्रान्त्र वाले रोगी यद्यपि असाध्य होते हैं, यह कहा गया है, फिर भी यहाँ 'प्रायः' शब्द का प्रयोग होने से उसकी असाध्यता में व्यभिचार भी होता है, यह दर्शाया गया है। इस कारण उसकी चिकित्सा का यहाँ अभिधान किया गया है। आगे भी यहाँ पिप्पलिका दंश आदि के द्वारा छिद्रोदर की चिकित्सा बतायी गयी है तथा 'हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं' के द्वारा सभी उदर रोगों की चिकित्सा निर्दिष्ट है।

अन्ये तु सर्वोदरहन्तृत्वकथनं न पारमार्थिकमिति वदन्ति–अन्य आचार्य 'सर्वोदरहन्तृत्व' कथन को अयथार्थ मानते हैं। अर्थात् वास्तव में ऐसा नहीं है कि नारायणचूर्ण अथवा कोई भी औषधि सभी प्रकार के उदर रोगों को दूर करने में समर्थ हो, [यह कथन नारायणचूर्ण की उपयोगिता को देखते हुए प्रशंसार्थ कहा गया है।]

'ऋते स्वेदादिति'–छिद्रोदर में 'स्वेदन' को छोड़कर शेष सभी चिकित्सा (उपक्रम) कफोदर की ही करनी चाहिए, क्योंकि स्वेदन के द्वारा उदर में जल का अत्यधिक सञ्चय होने लगता है, इसलिए इसका यहाँ निषेध है। [Fomentation therapy causes more of water accumulation in the abdomen.-Dr. Bhagvan Das.]

'तृष्णेत्यादि' के द्वारा प्रत्याख्येय छिद्रोदर के लक्षणों को बताया गया है। ।।८९-९२।।

अपां दोषहराण्यादौ प्रदद्यादुदकोदरे ।।९३।।
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च । दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ।।९४।।
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः ।

८. उदकोदर (जलोदर) की चिकित्सा (Treatment of Udakodara)–उदकोदर (Ascites) में सर्वप्रथम जल के दोष को दूर करने का प्रयास करना चाहिए। इस हेतु रोगी के लिए गोमूत्र मिश्रित विविध प्रकार के तीक्ष्ण क्षारों का प्रयोग करें। साथ में दीपनीय एवं कफनाशक आहारों की योजना करनी चाहिए। धीरे-धीरे जल एवं द्रव पदार्थों का सेवन कम करना चाहिए।

चक्रपाणि–'अपां दोषहराणीत्यादि' के द्वारा जलोदर की उस अवस्था की चिकित्सा का निर्देश है जिसमें जल उदरगुहा में विशेष रूप से संचित नहीं हुआ है, अर्थात् उदकोदर की प्रारंभिक अवस्था है। **उदकादिभ्य इति उदकप्रकारेभ्यो द्रवान्तरेभ्यः नियच्छेदिति निवर्तयेत्**-जल के साथ-साथ अन्य द्रव के प्रकारों का सेवन क्रमशः कम कर देना चाहिए।

Scanned by CamScanner

अनुपूर्वश इति–जल का त्याग क्रमशः करना चाहिए अथवा यथावश्यक जल की मात्रा का सेवन क्रमशः कम करें । ॥९३-९४॥

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम् ।।९५।।
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वत्र कारयेत् । दोषैः कुक्षौ हि संपूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ।।९६।।
तस्माद्धोज्यानि भोज्यानि दीपनानि लघूनि च । रक्तशालीन् यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ।।९७।।
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधुसीधुं तथा सुराम् । यवागूमोदनं वाऽपि यूषैरद्याद्रसैरपि ।।९८।।
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः । औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ।।९९।।
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत् । तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च ।।१००।।
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत् ।

उदररोग त्रिदोषज होते हैं–सभी प्रकार के उदररोग प्रायः त्रिदोषज (तीनों दोषों के मिलने से उत्पन्न) होते हैं, अर्थात् दोषों के संघात से उत्पन्न होते हैं । इसलिये सभी प्रकार के उदर रोगों में त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए ।

सेव्य आहार–दोषों के कुक्षि में संचित हो जाने के कारण जाठराग्नि मन्द हो जाती है, इसलिये उदररोग में दीपनीय (जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले) एवं लघु आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

आतुर को इस रोग में रक्तशाली का भात, यव, मुद्ग (यूष) एवं जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, दूध, गोमूत्र, आसव (Rum, Spirit distilled from sugar-M.M. Williams. Alcoholic preparation in which drugs are generally added without boiling), अरिष्ट (A type alcoholic preparation in which drugs are generally boiled and decoction are added to the recipe), मधु, सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses-शीरे के संधान से निर्मित मद्य), सुरा का प्रयोग कराना चाहिए । यवागू व भात के साथ पञ्चकोल साधित यूष अथवा अल्प स्नेह, लवण, कटु एवं अम्ल द्रव्यों से संस्कारित मांसरस का प्रयोग करना चाहिए ।

असेव्य आहार-विहार–जलीय एवं आनूप क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले प्राणियों के मांस (Aquatic meat and meat of animals inhabiting marshy land), शाक, पीठी के पदार्थ, तिल, व्यायाम (Exercise), अध्व (अधिक पैदल चलना), दिवाशयन (Sleep during day time), तीव्रगामी सवारियों से चलना; इन द्रव्यों एवं साधनों का प्रयोग न करें अथवा त्याग दें ।

उष्ण, अम्ल, लवण द्रव्य, विदाही अन्न, गुरु अन्न एवं जल का अत्यधिक प्रयोग उदररोगी को नहीं करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'सर्वमित्यादि' के द्वारा यहाँ उदररोग की सामान्य चिकित्सा का निर्देश दिया गया है । **भोज्यानि पुनर्भोज्यानीति**-यहाँ 'भोज्यानि' शब्द दो बार प्रयोग किया गया है जिसमें द्वितीय भोज्यानि का अर्थ 'भोक्तव्यानि' लिया गया है । प्रथम 'भोज्यानि' का अर्थ 'आहार' लिया गया है, अर्थात् उदररोगी को आहार के रूप में लघु एवं दीपनीय भोज्य पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए ।

'मन्दाम्लेत्यादि' में 'मन्द' शब्द का अर्थ 'अल्प' से लिया गया है । अर्थात् पञ्चमूल के द्रव्यों से संस्कारित यूष अथवा मांसरस में अल्प मात्रा में स्नेह, अम्ल द्रव्य, कटु द्रव्य, यथा-कालीमिर्च आदि डालकर स्वाद योग्य बनाकर सेवन करें ।

'यानयानमिति' से घोड़ागाड़ी, तांगा, रिक्शा आदि का ग्रहण है, अर्थात् ऐसे साधन जिन पर बैठने पर क्षोभ उत्पन्न हो । ॥९५-१००॥

नातिसान्द्रं हितं पाने स्वादु तक्रमपेलवम् ।।१०१।।
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी । वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम् ।।१०२।।
शर्करा-धुकोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत् । यवानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी ।।१०३।।
पिबेन्मधुयुतं तक्रं कवोष्णं नातिपेलवम् । मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ।।१०४।।
युक्तं प्लीहोदरी जातं सव्योषं तूदकोदरी । बद्धोदरी तु हपुषायवान्यजाजिसैन्धवैः ।।१०५।।
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम् । गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम् ।।१०६।।
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ।

उदररोग में तक्र का प्रयोग–उदररोगी को न अधिक सान्द्र न अधिक पतला स्वादु (मधुररस युक्त), स्नेह रहित तक्र का पान करना हितकर माना गया है ।

→ सन्निपातज उदररोग में सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, क्षार (यवक्षार) एवं सैन्धव नमक मिश्रित तक्र का सेवन करना चाहिए ।
→ वातोदर में पिप्पली चूर्ण एवं सैन्धव नमक मिश्रित तक्र का पान करना चाहिए ।
→ पित्तोदर में शर्करा एवं मधुक (यष्टीमधु) चूर्ण मिलाकर तक्र का सेवन करें ।

Scanned by CamScanner

→ कफोदर में तक्र में यवानी (अजवाइन), सैन्धव नमक, भुना जीरा, शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली एवं मधु मिश्रित कर पीना चाहिए। तक्र सुखोष्ण एवं स्नेह रहित न होकर अल्प स्नेह युक्त होना चाहिए ।

→ प्लीहोदर में मधु, तिल तैल, वचा, शुण्ठी (सोंठ), शताह्वा (सौंफ), मीठा कूठ एवं सैन्धव नमक को तक्र में मिलाकर पीना चाहिए एवं उदकोदर में तक्र में व्योष (सोंठ, कार्लीमिर्च एवं पिप्पली) चूर्ण मिलाकर पीना चाहिए ।

→ बद्धोदर में हपुषा (हाऊबेर), अजवाइन, भुना जीरा, सैन्धव नमक को तक्र में मिलाकर पीना चाहिए ।

→ छिद्रोदर में पिप्पली चूर्ण एवं मधु को तक्र में मिलाकर पीना चाहिए । जो उदररोगी वात एवं कफ दोषों से पीड़ित हो अर्थात् उदररोग में वात व कफ दोषों की प्रधानता हो, रोगी गुरुता (शरीर में भारीपन), अरोचक (Anorexia), मन्दाग्नि एवं अतिसार से पीडित हो तब उसमें तक्र का प्रयोग अमृत के समान गुणकारी होता है । ॥१०१-१०६॥

चक्रपाणि-स्वाद्विति सद्यो मथितं मधुरं जातम्-सद्य (तत्काल=ताजा) मथकर बनाया हुआ तक्र मधुररस युक्त होता है । अपेलवमिति उद्धृत स्नेहम्-जिस तक्र से स्नेह निकाल दिया गया हो, अर्थात् स्नेह रहित तक्र । **कवोष्णमिति**-अल्प उष्ण किया हुआ तक्र । ॥१०२-१०६॥

शोफानाहार्तितृष्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः ।।१०७।।
शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम् । देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलीशिग्रुकैः ।।१०८।।
साश्वगन्धैः सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं समैः । वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम् ।।१०९।।
भूतीकं नागरं धान्यं जले पक्त्वाऽवसेचयेत् । पलाशं कतृणं रास्नां तद्वत् पक्त्वाऽवसेचयेत् ।।११०।।
मूत्राण्यष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत् ।

उदररोग में दुग्ध का प्रयोग-यदि उदररोगी शोफ (Oedema), आनाह (Abdominal distension), अरति (शूल), प्यास (Thirst) एवं मूर्च्छा (Fainting) से पीडित हो तब उसे ऊँटनी (Camel) का दुग्ध पिलाना चाहिए । यदि संशोधन द्वारा आतुर का शरीर शुद्ध है तथा रोगी दुर्बल है उस अवस्था में उसे गाय, भैंस अथवा बकरी का दूध पिलाना चाहिए ।

उदररोगनाशक लेप (Recipes for external use)-देवदारु, पलाश, अर्क, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), शिग्रु, अश्वगंधा; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर गोमूत्र के साथ पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क का प्रयोग प्रदेह के रूप में उदररोगी को करना चाहिए।

परिषेक-वृश्चिकाली (काकनासा), वचा, कूठ, पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी की छाल), पुनर्नवा (श्वेत पुनर्नवा), भूतीक, नागर (शुण्ठी=सोंठ) एवं धनियाँ; इन द्रव्यों को जल में पकाकर इनके जल से शरीर का परिषेक करना चाहिए । परिषेक=शरीर के ऊपर जल का छिड़काव करना (Sprinkling) ।

इस प्रकार पलाश, कतृण (गन्धतृण) एवं रास्ना; से साधित जल का अवसेचन करें । तद्वत् आठ प्रकार के मूत्रों (भेड़ी, बकरी, गाय, भैंस, हाथी, ऊँट, अश्व एवं गधी का मूत्र) का भी प्रयोग अवसेचन (Sprinkling) एवं पान के रूप में उदररोगी को करना चाहिए।

चक्रपाणि-उत्क्वाथ्येति=जल में पकाकर के । अवसेचयेदित्यत्र 'उदरं' अत्यनुवर्तते= 'अवसेचयेद्' से यहाँ 'साधित जल का बार-बार उदर पर छिड़काव करना अर्थ गृहीत है । ॥१०७-११०॥

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम् ।।१११।।
दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि चक्षते ।

सिद्ध घृतों का प्रयोग (Use of Medicated Ghee)-उदररोग से पीड़ित व्यक्ति जिसका शरीर अत्यधिक रूक्ष है, अथवा जिसमें वात की अधिकता है अथवा जिन्हें संशोधन कराना आवश्यक है, ऐसे लोगों के लिए दीपनीय एवं उदररोगनाशक घृतों का ववेचन आगे किया जा रहा है-

चक्रपाणि-'दीपनीयानि' से यहाँ कुछ आचार्य 'स्नेहनीयानि' अर्थ ग्रहण करते हैं, अर्थात् इसके स्थान पर 'स्नेहनीयानि' पाठ करते हैं। ॥१११॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ।।११२।।
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत् । कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्वरसेन च ।।११३।।
दधिमण्डाढकोपेतं तत् सर्पिर्जठरापहम् । श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत् ।।११४।।
नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् । मस्तुनः साधयित्वैतत् पिबेत् सर्वोदरापहम् ।।११५।।
कफमारुतसंभूते गुल्मे चैतत् प्रशस्यते ।

Scanned by CamScanner

पञ्चकोलघृत (Pañcakola Ghṛita)–पिप्पली- १/२ पल, पिप्पलीमूल- १/२ पल, चव्य- १/२ पल, चित्रकमूल- १/२ पल, शुण्ठी- १/२ पल तथा यवक्षार- १/२ पल; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा मे लेकर कल्क बना लें, गोघृत- २ प्रस्थ, दशमूल का क्वाथ- १/२ तुला, दही का पानी- १ आढ़क । सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत सभी प्रकार के उदरोग, शोथ (Oedema), वातविष्टम्भ (वात की स्तब्धता-Immobility of wind in the abdomen), गुल्म (Phantom tumour) एवं अर्श (Piles) रोग को दूर करता है ।

नागरादि घृत (Nāgarādi Ghṛita)–शुण्ठी (सोंठ), हरड़, बहेड़ा, आंवला; द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें, घृत व तैल मिश्रित रूप में १ आढ़क (तैल+घृत संयुक्त रूप में १ आढ़क), दही का पानी-१ आढ़क; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें ।

यह सिद्ध घृत सभी प्रकार के उदररोगों को दूर करता है तथा कफ एवं वात जनित गुल्म में इसका प्रयोग विशेष रूप से लाभदायक है।

चक्रपाणि–पिप्पलीत्यादौ 'सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विः प्रस्थं सर्पिषः पचेत्' इति पाठे द्विशब्दः प्रस्थेन तथाऽर्धपलिकैरित्यनेन च योज्यः;- पिप्पल्यादि द्रव्यों के साथ पठित-'सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विः प्रस्थं सर्पिषः पचेत्' पाठ में 'द्विः' शब्द का प्रयोग प्रस्थ तथा अर्धपल के साथ करना चाहिए । इस आधार पर 'पिप्पल्यादीनां द्विरिति' से पिप्पली आदि द्रव्यों का मान अर्ध पल का द्विगुण ग्रहण करने पर छः पल हो जाता है तथा प्रस्थ के साथ 'द्वि' शब्द जोड़ देने पर घृत (गोघृत) का मान २ प्रस्थ हो जाता है । अर्थात् पिप्पल्यादि द्रव्यों को कल्क निर्माण हेतु १-१ पल मात्रा में ले तथा गोघृत- २ प्रस्थ ग्रहण करें । चरकसंहिता के **काश्मीर** पाठ में कल्क निर्माण हेतु पिप्पल्यादि द्रव्यों का पृथक्शः मान १-१ पल तथा गोघृत २ प्रस्थ लेने का निर्देश है, यथा-"पलिकैः पिप्पलीक्षारैर्द्विप्रस्थं सर्पिषः पचेत्" इति [१-१ पल मात्रा में पिप्पली आदि द्रव्य व क्षार को लेकर इसमें २ प्रस्थ घृत सिद्ध करें ।] आचार्य **जतूकर्ण** का भी यही विचार है, यथा-"दशमूलतुलार्धरसे सक्षारैः पञ्चकोलकैः सार्धं घृतार्धप्रस्थं सदधिमस्त्वाढकमुदरघ्नम्" इति । आचार्य जतूकर्ण ने इस योग में पिप्पली आदि कल्क द्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं किया है । उनके अनुसार दशमूल क्वाथ अर्धतुला, पञ्चकोल व क्षार का कल्क, दही का पानी- १ आढ़क, गोघृत- १/२ प्रस्थ सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करना चाहिए । ॥११२-११५॥

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात् पले ।।११६।।
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् । यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलरसेन च ।।११७।।
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वाऽपि पिबेद्घृतम् ।

चित्रकघृत–चित्रकमूल कल्क- १ पल, यवक्षार- १ पल, घृत (गोघृत)- १ प्रस्थ, गोमूत्र- २ प्रस्थ, जल- ४ प्रस्थ; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का पान उदररोगी को करना चाहिए ।

यवादि घृत–यव, कोल (खट्टी बेर) व कुलथी, का कल्क, बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ, सुरा एवं सौवीर द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग उदररोगी को करना चाहिए ।

चक्रपाणि–चतुर्गुणे इत्यादौ सक्षारमिति-से यहाँ यवक्षार की मात्रा चित्रक के समान ही ग्रहण करना चाहिए, अर्थ गृहीत है । अर्थात् चित्रक घृत के निर्माणार्थ-चित्रकमूल- १ पल व यवक्षार- १ पल मात्रा में लेना चाहिए । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-"अग्निक्षारपलाभ्यां हि मूत्रचतुर्गुणं घृतप्रस्थम्" इति [चित्रकमूल का कल्क- १ पल, यवक्षार- १ पल, गोमूत्र-घृत के मान का ४ गुना, गोघृत- १ प्रस्थ; सभी द्रव्यों को निर्धारित मान में लेकर गोघृत सिद्ध करें ।] ॥११६-११७॥

एभिः स्निग्धाय संजाते बले शान्ते च मारुते ।।११८।।
स्रस्ते दोषाशये दद्यात् कल्पदिष्टं विरेचनम् ।

उदररोग में विरेचन का प्रयोग–पूर्व वर्णित सिद्धान्तों के प्रयोग से रोगी का शरीर जब स्निग्ध हो जाय, उसमें बल की वृद्धि हो जाय, अर्थात् उसका शारीरिक बल जब बढ़ जाय, बढ़े हुए वात की जब शान्ति हो जाय, स्रोतस् में चिपके हुए दोष जब अपना स्थान छोड़ दें अथवा पिघल जाँय तब कल्पस्थान में वर्णित योगों के प्रयोग द्वारा आतुर का विरेचन कराना चाहिए । अर्थात् कल्पस्थानोक्त योगों का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए ।

चक्रपाणि–स्रस्ते दोषाशय इति दोषे स्नेहेन विमुक्तबन्धनत्वात् स्रस्ते इत्यर्थः- स्नेहन के द्वारा स्रोतस् में चिपके हुए दोषों का बन्धन से मुक्त होना अर्थात् पिघलकर आशय में आ जाना । 'स्रस्त' का अर्थ-पिघलना अथवा चिपके हुए दोषों का पिघलकर ढीला होना है । ॥११८॥

पटोलमूलं रजनीं विडङ्गं त्रिफलात्वचम् ।।११९।।
कम्पिल्लकं नीलिनीं च त्रिवृतां चेति चूर्णयेत् । षडाद्यान् कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान् ।।१२०।।

Scanned by CamScanner

कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत् । विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः ।।१२१।।
मण्डं पेयां च पीत्वा ना सव्योषं षडहं पयः । शृतं पिबेत्ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः ।।१२२।।
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि । कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति ।।१२३।।
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम् ।

पटोलादि चूर्ण–पटोलमूल (परोरा की जड़)- १ कर्ष, रजनी (हल्दी)- १ कर्ष, वायविडंग- १ कर्ष, हरड़ का छिलका अथवा बीज रहित भाग- १ कर्ष, विभीतकी का बीजरहित भाग- १ कर्ष, आँवला का बीज रहित भाग (Fruit pulp of āmalakī)- १ कर्ष, कम्पिल्लक- २ कर्ष, नीलिनी- ३ कर्ष, त्रिवृत् (निशोथ)- ४ कर्ष; इन सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। उदररोगी इस चूर्ण को १ पल (मुष्टि) मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पान करे, अथवा पीना चाहिए। (इस चूर्ण के सेवन से विरेचन होता है, अर्थात् यह एक विरेचनकारी योग है।) विरेचनोत्तर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस युक्त मृदु आहार का प्रयोग करना चाहिए। मण्ड व पेया के प्रयोग के बाद व्यक्ति को बल वृद्ध्यर्थ सव्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली चूर्ण) चूर्ण मिश्रित दुग्ध का पान छः दिन करना चाहिए, अर्थात् त्रिकटु से सिद्ध क्षीर का पान छः दिन तक करें। उदररोगी में इस चूर्ण का प्रयोग बार-बार करना चाहिए। यह चूर्ण सभी प्रकार के उदर रोगों के साथ-साथ जातोदक को भी दूर करता है। यह चूर्ण पाण्डु (Anaemia), कामला (Jaundice) एवं शोथ (Oedema) को भी नष्ट करता है। यह पटोलादि चूर्ण सभी प्रकार के उदर रोगों में अत्यन्त लाभकारी है।

चक्रपाणि–पटोलाद्य चूर्ण में पठित पटोल से लेकर त्रिफला तक के छः द्रव्यों को अलग-अलग एक-एक कर्ष की मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् पटोलमूल, रजनी (हल्दी), वायविडंग, हरड़, बहेड़ा व आँवला का पृथक्शः मान- १-१ कर्ष है।

कम्पिल्लकादीनां यथाक्रमं द्वित्रिचतुर्गुणत्वम्–कम्पिल्लक आदि तीन द्रव्यों का मान क्रमशः दो, तीन एवं चार गुना होना चाहिए। अर्थात् कम्पिल्लक- २ कर्ष, नीलिनी- ३ कर्ष एवं त्रिवृत् (निशोथ)- ४ कर्ष मात्रा में लें।

मुष्टिमिति–'मुष्टि' से यहाँ १ पल का ग्रहण किया गया है। **स व्योषं षडहं शृतं पयः पिबेदिति**-विरेचन के बाद उसी दिन से क्रमशः संसर्जनक्रम का प्रयोग करावें। अर्थात् मण्ड, पेया, विलेपी का प्रयोग करावें। संसर्जनक्रम द्वारा अग्नि के वृद्ध हो जाने पर बाद में आतुर को यथा निर्दिष्ट क्षीरवृत्ति पर रखना चाहिए। अर्थात् संसर्जनक्रम के बाद छः दिन तक त्रिकटु साधित क्षीर का प्रयोग करावें। इसके बाद पुनः सातवें दिन पटोलादि चूर्ण का प्रयोग गोमूत्र के साथ करें। यही व्यवस्था बार-बार दुहरानी चाहिए। ।।११९-१२३।।

विशेष–यह एक विरेचन योग है। इसके प्रयोग के बाद सम्यक् शुद्धि हो जाने पर निश्चय ही संसर्जनक्रम का पालन करना चाहिए, तत्पश्चात् छः दिन त्रिकटु साधित दुग्ध का पान करें। आचार्य वाग्भट ने इसके सेवन की विधि को इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा- "जीर्णे च पेयामण्डपो रसाशी वा स्यात्। ततः षड्रात्रं सव्योषेण पयसाश्नीयात्। ततः सप्तमेऽहनि पुनश्चूर्णं पिबेत्" इति [१ पल मात्रा में पटोलादि चूर्ण को गोमूत्र के साथ सेवन करें, विरेचन के बाद पेया एवं मण्ड अथवा मांसरस का सेवन करें, तत्पश्चात् छः रात्रि तक त्रिकटु डालकर पकाये गये दुग्ध का पान करें। इसके बाद सातवें दिन पुनः चूर्ण का प्रयोग किया जा सकता है।] (अ.सं.चि. १७/१०) इति, की व्याख्या में आचार्य इन्दु ने- 'सव्योषेण पयसा भोजनमश्नीयात्' शब्द का प्रयोग किया है। जिसका अभिप्राय त्रिकटु साधित दूध के साथ अन्न के सेवन का विधान है। वैसे भी संसर्जनक्रम के बाद व्यक्ति सामान्य भोजन पर आ जाता है। अतः दूध के साथ अन्न का सेवन आतुर को कराना चाहिए।

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम् ।।२४।।
पिबेद्द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुसीधुभिः । यवानी हपुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका ।।१२५।।
कारवी पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा । शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका ।।१२६।।
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् । विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा ।।१२७।।
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे सातला स्याच्चतुर्गुणा । एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम् ।।१२८।।
नैनत् प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः । तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना ।।१२९।।
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया । दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः ।।१३०।।
परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके । भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे ।।१३१।।
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे । दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ।।१३२।।
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ।

इति नारायणचूर्णम् ।

गवाक्ष्यादि चूर्ण–गवाक्षी (इन्द्रायण), शंखिनी, दन्तीमूल एवं तिल्वक की त्वचा (छाल); इन द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को द्राक्षा स्वरस या क्वाथ, गोमूत्र, कोल (बड़ीबेर) के क्वाथ, कर्कन्धु (झड़बेर) के क्वाथ अथवा सीधु के साथ उदररोगी को करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

नारायणचूर्ण–यवानी (अजवाइन), हपुषा (हाऊबेर), धान्य (धनिया) हरड़, बहेड़ा, आँवला, उपकुञ्चिका (स्याहजीरा), कारवी, पिप्पलीमूल, अजगन्धा, शटी (कचूर), वचा (मीठा वच), शताह्वा (सौंफ), जीरा, व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), स्वर्णक्षीरी, चित्रकमूल, द्वौ क्षारौ-सर्जीक्षार व यवक्षार, पुष्करमूल, कुष्ठ (मीठा कूठ), पञ्चलवण- [सैन्धव लवण, सौवर्चल नमक (काला नमक), विड लवण, सामुद्र नमक एवं सांभर लवण] तथा वायविडङ्ग; सभी द्रव्य एक-एक भाग लें, दन्तीमूल- ३ भाग, त्रिवृत् (सफेद निशोथ) २ भाग, विशाला (इन्द्रायणमूल)- २ भाग, सातला (सप्तधार सेहुण्ड)- ४ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। सभी रोग समूहों को नष्ट करने वाला यह नारायण नामक चूर्ण है। जिस प्रकार भगवान् विष्णु को देखने मात्र से असुर समुदाय विनष्ट जाता है उसी प्रकार इस चूर्ण के सेवन से सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

→ तक्र के अनुपान से इस चूर्ण का सेवन उदररोगी को करना चाहिए, अर्थात् उदररोगी तक्र के साथ नारायणचूर्ण का सेवन करें।
→ बदराम्बु (बड़ी बेर के क्वाथ) के साथ गुल्मरोगी को इस चूर्ण का सेवन करना चाहिए।
→ वातजन्य विबन्ध में मदिरा के साथ इस चूर्ण का प्रयोग करें।
→ वातव्याधि में प्रसन्ना (मदिरा के ऊपर का भाग) के साथ चूर्ण का प्रयोग करें।
→ विट्सङ्ग (मलबद्धता (Fecal obstruction) में दही के पानी (water which squeezed out of the curd) के साथ, प्रयोग करें।
→ अर्श (Piles) में दाडिम स्वरस (Juice of dādima) के साथ नारायणचूर्ण का प्रयोग करें।
→ परिकर्तिका में वृक्षाम्ल स्वरस के साथ एवं अजीर्ण (Indigestion) में उष्ण जल के साथ इस चूर्ण का सेवन करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगन्दर (Fistula-in-ano), पाण्डुरोग (Anaemia), श्वास (Asthma), कास (Cough), गलग्रह (गले में अवरोध या जकड़ाहट), हृद्रोग (Heart disease), ग्रहणी (Sprue syndrome), कुष्ठ (Skin diseases including Leprosy), मन्दाग्नि (Suppression of the power of digestion), ज्वर (Fever), दंष्ट्राविष (सर्प आदि के दंश से), मूलविष (स्थावरविष-विषलै वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न विष-विषलै वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न विषविकार), गरविष (A type of poison artificially prepared by different ingredients) एवं कृत्रिम विष में इस चूर्ण का यथायोग्य अनुपान के साथ कोष्ठ को स्निग्ध करने के बाद विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् इस नारायणचूर्ण का प्रयोग आतुर को स्निग्ध करने के बाद, यथायोग्य अनुपान के साथ विरेचन के लिए करना चाहिए।

चक्रपाणि–शङ्खिनी=श्वेत भल्लातकी (?) [शङ्खिनी=शंखपुष्पी-गंगाधर, गवाक्षी=गोरक्षकर्कटीमूल-गंगाधर]

कोलकर्कन्धूनां रसां एव ज्ञेया–कोल एवं कर्कन्धू के रस का ग्रहण करना चाहिए। यवानीत्यादि द्रव्यों में वर्णित उपकुञ्चिका से यहाँ कृष्णजीरक का ग्रहण किया गया है। अर्थात् कालाजीरा अर्थ गृहीत है। अजमोदा=उग्रगंधा। कारवी=अल्प जीरक (क्षुद्रकृष्ण जीरक-गंगाधर), जीरक शब्द से यहाँ बड़ा जीरक अर्थ लिया गया है। (अजगन्धा=यवानी-गंगाधर), दन्तीमूल का ग्रहण- ३ भाग, त्रिवृत्- २ भाग, इन्द्रायण- २ भाग ग्रहण करें। 'नैनदित्यादि' के द्वारा इस चूर्ण के नाम के निमित्त (हेतु) को स्पष्ट किया गया है। नारायण (विष्णु) से गुणों में इस चूर्ण की तुल्यता होने के कारण इसका नाम नारायण दिया है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने राक्षस समूहों को नष्ट कर दिया उसी प्रकार यह चूर्ण भी व्याधि समूहों को नष्ट कर देता है। ॥१२४-१३२॥

हपुषां काञ्चनक्षीरीं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।।१३३।।
नीलिनीं त्रायमाणां च सातलां त्रिवृतां वचाम् । सैन्धवं काललवणं पिप्पलीं चेति चूर्णयेत् ।।१३४।।
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः । पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ।।१३५।।
श्वित्रे कुष्ठे सरुजके सवाते विषमाग्निषु । शोथार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ।।१३६।।
वातं पित्तं कफं चाशु विरेकात् संप्रसाधयेत् ।

इति हपुषाद्यं चूर्णम् ।

नीलिनीं निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च ।।१३७।।
चित्रकं च पिबेच्चूर्णे सर्पिषोदरगुल्मनुत् ।

इति नीलिन्याद्यं चूर्णम् ।

हपुषाद्य चूर्ण–हाऊबेर, काञ्चनक्षीरीमूल (स्वर्णक्षीरीमूल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटुरोहिणी (कुटकी), नीलिनी, त्रायमाणा, सातला (सप्तधार सेहुण्ड), निशोथ (त्रिवृत्), वचा (मीठा वच), सैन्धव नमक, काललवण (विडलवण) एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें।

इस चूर्ण को दाडिम स्वरस, त्रिफला स्वरस, मांसरस, गोमूत्र एवं उष्ण जल के साथ प्रयोग करना चाहिए। यह चूर्ण विशेष रूप से सभी प्रकार के गुल्म, प्लीहोदर (splenic enlargement), सभी प्रकार के उदररोग, श्वित्र (Leucoderma), कुष्ठ (Skin diseases

Scanned by CamScanner

including leprosy), विषमाग्नि (अग्नि का विषम होना-Irregular power of digestion), वातिक वेदना, शोथ (Oedema), अर्श, (Piles), पाण्डुरोग (Anaemia), कामला (Jaundice) एवं हलीमक (कामला का एक विशेष प्रकार) आदि व्याधियों को दूर कर देता है। इस चूर्ण के सेवन करने पर पहले विरेचन होता है, पश्चात् वृद्ध दोष शान्त हो जाते हैं । अर्थात् यह चूर्ण विरेचन कराकर दोषों को शीघ्र ही प्रशमित कर देता है ।

नीलिन्यादि चूर्ण–घटक द्रव्य-नीलिनी, निचुल, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार, सर्जिकाक्षार, पंचलवण (सौवर्चल नमक, सैन्धव लवण, विडलवण, औद्भिद लवण एवं सामुद्र लवण) तथा चित्रकमूल ।

सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को ३-६ ग्राम की मात्रा में लेकर घृत के साथ उदर रोगी एवं गुल्म रोगी को सेवन करना चाहिए ।

चक्रपाणि–हपुषाद्य चूर्ण में पठित-काललवण से विडलवण का ग्रहण करना चाहिए । अन्य आचार्य इससे सौवर्चल लवण (काला नमक) अर्थ लेते हैं ।

दाडिमादिभिः सर्वैरपि 'पेयः' इति संबध्यते–'दाडिमादि' के द्वारा सभी पेय पदार्थों का ग्रहण है, अर्थात् हपुषादि चूर्ण के अनुपान के रूप में- दाडिम स्वरस अथवा त्रिफला स्वरस अथवा मांसरस अथवा गोमूत्र अथवा उष्णजल का प्रयोग यथावश्यक करना चाहिए । ॥१३३-१३६॥

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं दधि ।।१३८।।
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद्घृतम् । तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ।।१३९।।
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च । गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये ।।१४०।।
इति स्नुहीक्षीरघृतम् ।

स्नुहीक्षीरघृत–(क)१ द्रोण गोदुग्ध, १/२ प्रस्थ सेहुण्ड का दुग्ध, इन दोनों दुग्ध को एक मे मिलाकर दही (दधि) जमावें, इस दही को मथकर घृत अलग कर लें । अर्थात् नवनीत निकालें, उससे घृत निकालें । इस घृत को निशोथ कल्क के साथ विधिपूर्वक सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत सभी प्रकार के उदर रोगों को दूर करता है ।

(ख) गोदुग्ध- ८ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ, सेहुण्ड का दुग्ध- १ पल व सफेद निशोथ- ६ पल (कल्क के रूप में) लें, अर्थात् इन दोनों को एक में मिलाकर कल्क बना लें । सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत गुल्म, गरदोष (संयोगज विष) एवं सभी प्रकार के उदर रोगों को दूर करता है । अर्थात् निर्दिष्ट व्याधियों के शान्त्यर्थ इस घृत का सेवन कराना चाहिए ।

चक्रपाणि–क्षीरद्रोणमित्याद्युक्तानि घृतानि तुल्यकर्माणि-'क्षीरद्रोणमिति' द्वारा निर्मित घृत एवं द्वितीय विधि द्वारा साधित घृत दोनों के समान कर्म हैं । अर्थात् इन दोनों ही घृतों का प्रयोग गुल्म, गरदोष एवं उदर रोगों में किया जा सकता है ।

प्रथम प्रकार से निर्मित घृत में द्रव (जल) का प्रयोग नहीं किया गया है । अर्थात् गोदुग्ध- १ द्रोण में सेहुण्ड का दुग्ध १/२ प्रस्थ मिलाकर प्राकृत विधि से दधि तैयार करने का निर्देश है, इस दधि को मथकर घृत निकालें तथा इसको निशोथ कल्क द्वारा सिद्ध करें । अर्थात् दधि से निकले घृत में निशोथ कल्क मिलाकर घृतपाक करें । [यहाँ निकले हुए दधि मण्ड (दही के पानी) का प्रयोग घृत सिद्धि हेतु करना चाहिए।]

'तथा इत्यादि' से लेकर 'षट्पलेन' तक द्वितीय घृत का विधान बताया गया है, जिसमें गोघृत को- १ प्रस्थ मात्रा में लेने का निर्देश है, यह गोघृत पूर्व विधि द्वारा ही निकालना चाहिए । अर्थात् सेहुण्ड दुग्ध एवं गोदुग्ध की दधि जमाकर उससे घृत निकालें । इस प्रकार निर्मित **घृत- १ प्रस्थ, गोदुग्ध- ८ प्रस्थ, स्नुही क्षीर- १ पल तथा निशोथ-६ पल** (कल्क) लें, सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । इस घृत का भाव आगे वर्णित घृतों से स्पष्ट हो जायेगा । ॥१३८-१४०॥

दधिमण्डाढके सिद्धात् स्नुक्क्षीरपलकल्कितात् । घृतप्रस्थात् पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये ।।१४१।।
एषां चानु पिबेत् पेयां पयो वा स्वादु वा रसम् । घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः श्रृतम् ।।१४२।।
पिबेदम्बु ततः पेयां यूषं कौलत्थकं ततः । पिबेद्यूषस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः ।।१४३।।
पुनः पुनः पिबेत् सर्पिरानुपूर्व्या तयैव च । घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात् कुशलो भिषक् ।।१४४।।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये । पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम् ।।१४५।।
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत् ।

अन्य योग–दधिमण्ड (दही का पानी)- १ आढ़क, स्नुहीक्षीर- १ पल (कल्क), गोघृत- १ प्रस्थ; सभी द्रव्यों को निर्दिष्ट मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का पान मात्रा पूर्वक उदररोगी को करना चाहिए । अनुपान के रूप में पेया, अथवा मिश्री

Scanned by CamScanner

मिश्रित दूध अथवा मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। घृत के जीर्ण होने पर एवं उचित रूप से विरेचन हो जाने पर शुण्ठी (सोंठ) द्वारा साधित उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद पेया एवं कुलत्थी के यूष का सेवन करें। यदि आतुर का शरीर अत्यधिक रूक्ष हो तब दूध के साथ अन्न का प्रयोग करें। जब आतुर में कुछ बल उत्पन्न हो जाय तब इन्हीं सिद्ध घृतों एवं पथ्यों का बार-बार प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार योग्य चिकित्सक गुल्म, गरविष एवं उदररोगों की शान्ति हेतु इन्हीं सिद्ध घृतों (Medicated Ghrit) एवं पथ्यों का प्रयोग करे।

→ पीलू कल्क से साधित घृत का प्रयोग आनाह रोग की शान्ति में करें।

→ अथवा गुल्म नाशक नीलिनीघृत अथवा मिश्रक स्नेह का प्रयोग उदररोग की चिकित्सा में करना चाहिए।

चक्रपाणि-पेयादीनां त्रयाणामन्नानुपानत्वं कफपित्तवातेषु-पेया का अनुपान कफ दोष, दूध का प्रयोग पित्त दोष एवं मांसरस का प्रयोग वात दोष की वृद्धि में करना चाहिए। अर्थात् पेया, क्षीर एवं मांसरस का प्रयोग अनुपान के रूप में क्रमशः कफ, पित्त एवं वात दोषों में करना चाहिए। अथवा प्रकृति (स्वभाव) एवं अग्नि का विचार करते हुए इन अनुपान के भेदों की कल्पना करनी चाहिए।

नागरकैः शृतमित्यत्र षडङ्गविधिना जलसाधनम्-"नागरकैः शृतमिति' से यहाँ षडङ्गपानीय विधि द्वारा साधित शुण्ठी (सोंठ) के जल का ग्रहण है। अर्थात् सिद्ध घृत के सेवनोपरान्त घृत के जीर्ण होने एवं सम्यक् विरेचन हो जाने पर पहले दिन शुण्ठी (सोंठ) से साधित उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे दिन पेया एवं तीसरे दिन कुलथी के यूष का सेवन करें। कहा भी गया है, यथा-"प्रथमे नागरयूषं, परेऽहनि पेयां, तृतीये कुलत्थोदकम्" इति।

रूक्ष इति पुनः पुनः पिबेदिति-व्यक्ति का शरीर रूक्ष (अत्यधिक रूक्ष) होने पर स्नेह विरेचक घृतों का प्रयोग बार-बार करना चाहिए, क्योंकि स्निग्ध शरीर में इनका प्रयोग ज्यादा नहीं कराया जा सकता। स्निग्ध शरीर में शुण्ठी (सोंठ) द्वारा साधित जल का प्रयोग रोगी के बल का सम्यक् विचार करते हुए करना चाहिए।

भूयो वा प्रतिभोजित इति-अधिक दिनों तक मात्रापूर्वक भोजन कराते हुए बार-बार सिद्ध घृतों का प्रयोग एवं पथ्यों की योजना करनी चाहिए।

गुल्मघ्नमिति-नीलिनीघृत एवं मिश्रक स्नेह जिसका उल्लेख गुल्मचिकित्सा प्रकरण में हुआ है, का प्रयोग उदर रोगों में करना चाहिये। ॥१४१-१४५॥

क्रमान्निर्हृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजिनाम् ॥१४६॥
दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान् वक्ष्याम्यतः परम्। चित्रकामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण ना पिबेत् ॥१४७॥
मासं युक्तस्तथा हस्तिपिप्पली विश्वभेषजम्। विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः ॥१४८॥
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत्। पिबेत् कषायं त्रिफलादन्तीरोहितकैः शृतम् ॥१४९॥
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्यात्तु जाङ्गलैः। मांसं वा भोजनं भोज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम् ॥१५०॥
क्षीरानुपानां गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत्। सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चान्नभुक् पिबेत् ॥१५१॥
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम्। हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु ॥१५२॥
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत्। शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो हितः ॥१५३॥
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा। दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम् ॥१५४॥
शूलानाहविबन्धेषु मस्तुयूषरसादिभिः। सरलामधुशिग्रूणां बीजेभ्यो मूलकस्य च ॥१५५॥
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे। स्तैमित्यारुचिहल्लासे मन्देऽग्नौ मद्यपाय च ॥१५६॥
अरिष्टान् दापयेत् क्षारान् कफस्त्यानस्थिरोदरे। श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः ॥१५७॥
पिप्पलीं तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम्। भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ॥१५८॥
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम्। कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च ॥१५९॥
दधिसर्पिर्वसामज्जतैलयुक्तानि दाहयेत्। अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद्विडालकपदं पिबेत् ॥१६०॥
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः। हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च ॥१६१॥
विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत्। क्षारं चाजकरीषाणां क्षुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ॥१६२॥
कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च। पिप्पलीं चित्रकं शुण्ठीं त्रिफलां त्रिवृतां वचाम् ॥१६३॥
द्वौ क्षारौ सातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम्। कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत् सौवीरसंयुताम् ॥१६४॥
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे च दकोदरे। भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ॥१६५॥
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम्। पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ॥१६६॥
स्वं स्वं स्थानं व्रजन्त्येवं तथा पित्तकफानिलाः। शङ्खिनीस्नुक्त्रिवृद्दन्तीचिरबिल्वादिपल्लवैः ॥१६७॥

Scanned by CamScanner

शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद्भिषक् । ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ।।१६८।।
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम् । पार्श्वशूलमुपस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतः ।।१६९।।
जनयेद्यस्य तं तैलं बिल्वक्षारेण पाययेत् । तथाऽग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः ।।१७०।।
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः । तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां प्रशान्तये ।।१७१।।
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः ।

अवशिष्ट दोषनाशक योग–जिस उदररोगी के दोष क्रमशः निकाल दिये गये हों तथा संसर्जनक्रम के रूप में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करा दिया गया हो । उन रोगियों में बचे हुए अथवा शेष दोषों की शान्ति हेतु अधोलिखित श्रेष्ठ योगों का निर्देश आगे किया जा रहा है–

→ चित्रकमूल व देवदारु का कल्क दूध के साथ बनावें अथवा पिप्पली एवं शुण्ठी का दूध के साथ कल्क बनाकर उदररोगी सेवन करे। इन दोनों योगों का प्रयोग एक महीने तक करना चाहिए ।

→ वायविडङ्ग, चित्रकमूल, दन्तीमूल, चव्य, शुण्ठी (सोंठ), छोटी पिप्पली एवं कालीमिर्च; सभी द्रव्यों को १-१ कोल (१/२-१/२ कर्ष) प्रमाण में लेकर कल्क बना लें एवं इस कल्क द्वारा गोदुग्ध सिद्ध करें । इस दूध के सेवन करने से वृद्ध उदररोग शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं ।

→ हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्तीमूल, रोहितक की छाल; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ (Decoction) बनावें । इस क्वाथ में शुण्ठी (सोंठ) कालीमिर्च, पिप्पली एवं यवक्षार का चूर्ण मिलाकर उदररोगी को पीना चाहिए । इस क्वाथ के जीर्ण हो जाने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ अन्न का सेवन करें ।

→ सुधाक्षीरघृत अथवा स्नुहीक्षीरघृत का प्रयोग जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस के साथ करें अथवा मांसरस एवं अन्न के सेवन के साथ ही इस घृत का सेवन करें ।

→ गोमूत्र के साथ हरीतकी का प्रयोग करें, पश्चात् गोदुग्ध का पान करें । [इस काल में आतुर को किसी भी प्रकार का अन्न सेवन नहीं करना चाहिए The patient should not take any cereal while taking this recipe]

उदररोग में उपयोगी क्षीर–रोगी को भैंस के मूत्र का सेवन एक सप्ताह एक करना चाहिए । इस काल में अन्न का पूर्णतः परित्याग करते हुए, मात्र दुग्धाहार पर ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए । अथवा उदररोगी को १ महीने तक त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) चूर्ण मिश्रित ऊँट का दुग्ध तथा ३ मास तक त्रिकटु चूर्ण मिश्रित बकरी का दुग्ध पीना चाहिए ।

→ अथवा वर्धमानपिप्पलीरसायन की तरह १००० हरीतकी का प्रयोग करना चाहिए । इस काल में मात्र दुग्धाहार पर ही रहना चाहिए ।

→ अथवा दुग्ध के साथ शिलाजतु का प्रयोग करें ।

→ अथवा शिलाजतु विधान की भाँति शुद्ध गुग्गुलु का प्रयोग करें, आहार के रूप में मात्र दुग्ध का ही सेवन करें ।

→ शृंगबेर (शुण्ठी) का क्वाथ अथवा **अदरक** स्वरस में सामान मात्रा में गोदुग्ध मिलाकर पान करें । अथवा तिल तैल- १ भाग, **अदरक** स्वरस- १० भाग मिलाकर तैल सिद्ध करें, इस तैल का प्रयोग उदररोगी में पानार्थ करना चाहिए । अर्थात् उदररोगी को दुग्ध के साथ पिलाना चाहिए ।

→ दूष्योदर (सन्निपातोदर) में शूल, आनाह, विबन्ध (Constipation) होने पर दन्ती, द्रवन्ती के बीज से निकले तैल को मस्तु (दही का पानी), यूष (कुलथी का यूष) अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस में मिलाकर पिलाना चाहिए ।

→ वातोदर में सरला (त्रिवृत्), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) एवं मूली के तैल (इनके बीजों से निकले हुए तैल) का प्रयोग अभ्यंग एवं पान (आभ्यन्तर पान) के रूप में करना चाहिए । यह योग वातिक उदर वेदना को दूर करता है ।

→ कफोदर के जो रोगी मद्यपान के अभ्यस्त हैं, यदि उनमें स्तैमित्य (उदर गीले कपड़े से ढक दिया गया है, इस प्रकार की प्रतीति का होना), अरुचि (Anorexia), हृल्लास (Nausea) एवं मंदाग्नि के लक्षण मिल रहे हों या ये लक्षण पाये जाते हैं तब चिकित्सक को चाहिए कि कफ के विलयनार्थ अरिष्ट (Alcoholic preparation) एवं क्षारों का प्रयोग करे । अर्थात् अरिष्ट एवं क्षारों के प्रयोग द्वारा श्लेष्मा का विलयन करना चाहिए ।

→ **पिप्पल्यादि लवण**–पिप्पली, तिल्वक (लोध्र की छाल), हिङ्गु (हींग), नागर (शुण्ठी=सोंठ), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), भल्लातक (भिलावा), शिग्रु फल (सहिजन का फल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटुरोहिणी (कुटकी), देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी,

Scanned by CamScanner

सरल (चीड़), अतिविषा (अतीस), वचा, कूठ (कुष्ठ), मुस्तक (नागरमुस्तक), पाँचों नमक (सौवर्चल नमक, सैन्धव नमक, विड् नमक, औद्भिद नमक, सामुद्र नमक); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर यवकुट कर लें। अब इस यवकुट किये हुए चूर्ण में दधि, घृत, वसा, मज्जा एवं तिल तैल मिलाकर जला दें। अर्थात् इन द्रव्यों को एक मिट्टी के घड़े में रखकर ऊपर से ढक्कन बंद कर गजपुट में फूंक दें। इस विधि से निर्मित भस्म/क्षार का प्रयोग भोजन के बाद १-१ कर्ष की मात्रा में करना चाहिए। अनुपान के रूप में मदिरा (Alcoholic drink), दधिमण्ड (दही का पानी-Water squezed out of curd), उष्ण जल, अरिष्ट, सुरा एवं आसव का प्रयोग करना चाहिए। इस योग के सेवन करने से हृदय रोग (Heart disease), श्वयथु (Oedema), गुल्म, प्लीह (Splenic disorder), अर्श (Piles), उदररोग, विसूचिका (Choleric diarrhoea), उदावर्त एवं वातष्ठीला (Stone like growth in the abdomen caused by Vāyu) जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

→ **क्षारवटिका (Kshāra Vāṭika)**–बकरी के पुरीष (लेड़ी) को सूखाकर जला दें। इसे छः गुने गोमूत्र में घोलकर निथरने के लिए रखें, निथरे हुए जल को पृथक् कर लें, यह प्रक्रिया तब तक करें जब तक उसमें क्षार का अंश रहे अथवा २१ बार जल को कपड़े से छान कर अलग कर लें। इस छने हुए क्षारीय जल को अग्नि पर पकाकर गाढ़ा कर लें, गाढ़ा हो जाने पर उसमें पिप्पलीमूल, पाँचों प्रकार के नमक (सौवर्चल, सैन्धव, विड्, औद्भिद एवं सामुद्र), पिप्पली, चित्रकमूल, शुण्ठी (सोंठ), हरड़, बहेड़ा, आँवला, त्रिवृत् (सफेद निशोथ), वचा, दोनों प्रकार के क्षार-सज्जीक्षार एवं यवक्षार, सातला (सप्तला), दन्ती, स्वर्णक्षीरी एवं विषाणिका (काकड़ासिंगी); प्रत्येक द्रव्य को अलग-अलग १-१ कर्ष प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण करके मिला दें, पश्चात् १-१ कोल (१/२-१/२ कर्ष) प्रमाण की गोली (वटिका) बना कर सुरक्षित रख लें। इस वटिका का प्रयोग सौवीर (A type of Vinegar) के साथ शोथ (Oedema), अविपाक (Indigestion) एवं वृद्ध जलोदर की अवस्था (Ascites) में करना चाहिए।

→ **उदररोग विनाशक यवागू**–साठी चावल में गोमूत्र की भावना (सात बार) दें। इस गोमूत्र भावित साठी चावल की यवागू बनावें, यवागू निर्माण गोदुग्ध से करना चाहिए। अर्थात् गोमूत्र भावित साठी चावल की छः गुने दूध के साथ यवागू तैयार करें। इसे उदररोगी को भरपेट खिलावें, पश्चात् ऊपर से इक्षुरस का पान करावें। ऐसा करने से उदररोग दूर हो जाता है तथा सञ्चित वात, पित्त, कफ दोष अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

→ **मलबद्धता की अवस्था में कर्तव्य**–शङ्खिनी, स्नुही (सेहुण्ड), त्रिवृत् (सफेद निशोथ), दन्ती, चिरबिल्व के पल्लव (पत्तों) का प्रयोग, उदररोगी में मलबद्धता (Constipation) होने पर करना चाहिए। अर्थात् मलबद्धता की अवस्था में इन द्रव्यों के पत्रों से निर्मित शाक का सेवन करना चाहिए। इसके प्रयोग से मल (पुरीष) एवं दोष जब शिथिल (Soft) हो जाँय तब शास्त्रवित् (चिकित्सक) शेष दोष के नाश हेतु गोमूत्र मिश्रित दुग्ध का प्रयोग करे।

→ यदि वायु बढ़कर पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), उपस्तम्भ (पार्श्व में जकड़ाहट-Stiffness of the chest), एवं हृद्ग्रह (हृदय प्रदेश में जकड़ाहट) उत्पन्न करता है तब उस रोगी को बिल्वक्षार साधित तैल का पान कराना चाहिए। [बिल्व क्षार-बिल्व फल को जलाकर क्षार तैयार करें तथा इस क्षार द्वारा साधित तैल बिल्वक्षार कहा जाता है।]

इसी प्रकार अग्निमन्थ, श्योनाक, पलाश, तिल नाल (तिल की डण्ठल), बला, केला एवं अपामार्ग; प्रत्येक द्रव्यों के क्षार जल से साधित तैल का प्रयोग उदररोग को दूर करने के लिए चिकित्सक को करना चाहिए। अर्थात् अलग-अलग द्रव्यों के क्षारजल से निर्मित विविध क्षारतैल, यथा-अग्निमन्थ क्षारतैल, श्योनाक क्षार तैल आदि का प्रयोग उदररोगी में यथावश्यक करना चाहिये। इसके प्रयोग से वातजनित हृद्ग्रह शान्त हो जाता है।

चक्रपाणि–चित्रकेत्यादौ मासं युक्त इति च्छेदः-चित्रक से प्रारम्भ करके मासं युक्त तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। अर्थात् चित्रकमूल व देवदारु के कल्क को गोदुग्ध में पकावें, इस सिद्ध क्षीर का पान पुरुष १ मास (One month) तक करे। उसी प्रकार पिप्पली आदि से साधित क्षीर का प्रयोग करना चाहिए।

विडङ्गादिभिः क्षीरमष्टपलं चतुर्गुणजलेन साधनीयम्–विडंग, चित्रकमूल, दन्तीमूल, चव्य एवं शुण्ठी (सोंठ); प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ कर्ष लें, (कल्क), ८ पल गोदुग्ध लें तथा उसमें ३२ पल जल मिलाकर गोदुग्ध सिद्ध करें।

पिबेत् कषायं त्रिफला दन्तीरोहितकै श्रृतम्–त्रिफला, दन्ती व रोहितक द्वारा निर्मित क्वाथ (Decoction) में त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) का प्रक्षेप डालकर पीना चाहिए।

मांसं वेत्यादौ सुधाक्षीरसाधितं घृतं पूर्वोक्तं ज्ञेयम्–जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ सुधा (सेहुण्ड) क्षीर साधित घृत का प्रयोग भोजन में करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

अनन्नभुगिति–अन्न का सेवन न करते हुए, गोमूत्र से निर्मित तीनों योगों में भी इसका संबन्ध है । अर्थात्- गोमूत्र, गोमूत्र हरीतकी व भैंस के मूत्र का सेवन कराते समय व्यक्ति को अन्न का सेवन नहीं कराना चाहिए । इस काल में व्यक्ति को मात्र दुग्धाहार पर ही रहना चाहिये।

क्षीराशीति क्षीरेण समं शिलाजत्वश्नीयात्–गोदुग्ध के साथ शिलाजतु का सेवन करना चाहिये ।

शिलाजतु विधानेनेत्यनन्तरोक्तशिलाजतुविधानमेव क्षीराशीत्यनेनोक्तं गृह्यते न रसायनोक्तं व्यवहितत्वात्–यहाँ 'शिलाजतु विधानेन इति'- का सम्बन्ध बाद में वर्णित शिलाजतु विधान को 'क्षीराशी' के साथ जोड़ना चाहिए, अर्थात् दूध के साथ शिलाजीत का सेवन करें, न कि यह विधान रसायनोक्त शिलाजीत सेवन की तरह है । 'शृंगवेरार्द्रक' शब्द से यहाँ शुष्क आर्द्रक (सोंठ) के क्वाथ का ग्रहण किया गया है, उससे निकाले गये स्वरस का निषेध है । 'दूष्योदर' से सन्निपातिक उदररोग का ग्रहण है । सरला=त्रिवृत् ।

अरिष्टान् पाययेदिति च्छेदः–'अरिष्टान् दापयेत्' तक वाक्यपूर्ण हो जाता है । अर्थात् स्तैमित्य, अरुचि एवं हृल्लास की अवस्था में अरिष्टों का पान करना चाहिए । (श्लोक नं० १५७)

कफस्त्यानस्थिरोदरे–उदररोग में अत्यधिक रूप से कफ के ठोस रूप में जमने पर क्षारों का प्रयोग करावें ।

पिप्पल्यादिके क्षारे दध्यादीनां द्रवाणां चूर्णपिण्डताकरण योग्या मात्रा ज्ञेया–पिप्पल्यादि चूर्ण में दधि आदि द्रव पदार्थों की उतनी ही मात्रा का ग्रहण करें जितने से उसकी टिकिया (पिण्ड रूप) बन सके । अर्थात् पिप्पल्यादि के चूर्ण को दधि, घृत, वसा, मज्जा व तिल तैल में मिलाकर पिण्ड बना लें, सुखा लें । इसे मिट्टी के हाड़ी में भरकर ऊपर से कपड़मिट्टी करके संधिबन्धन कर दें, पश्चात् इसे गजपुट में फूंक दें।

विडालपदकः कर्षः– विडालपदकः = १ कर्ष ।

क्षारं चाजकरीषाणामिति–बकरी के पुरीष (लेड़ी) को सुखाकर जला दें । इस भस्म को छः गुने गोमूत्र में घोलें तथा २१ बार इसे साफ कपड़े से छान लें । यह छना हुआ भाग ही क्षारद्रव कहलाता है, इसी को ग्रहण करें । इस क्षारद्रव को चूर्ण से दूनी मात्रा में लेकर पकाने पर उनके गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् क्षारद्रव में चूर्ण मिलाकर न पकावें, इससे चूर्ण के गुण नष्ट हो जाते हैं । अतः क्षारद्रव को हो अग्नि पर पकाकर गाढ़ा कर लें, पश्चात् इसमें चूर्ण मिलाकर वटी बना लें ।

श्लोक नं० १६९ में वर्णित–**''पार्श्वशुलमुपस्तंभनं हृद्ग्रहं चापि मारुतः''** में 'उपस्तम्भ' शब्द में उप शब्द समीप अर्थ में प्रयुक्त होता है । अतः इससे पार्श्वशूल एवं उपस्तम्भ से पार्श्व स्तम्भ (Stiffness of the sides) का ग्रहण है । **बिल्वक्षारेणेति**-कच्चे बिल्व फल को जलाकर, क्षारद्रव द्वारा साधित तैल बिल्वक्षारतैल कहलाता है । अथवा बिल्व फल को जलाकर बनायी गयी श्वेत वर्ण की क्षार द्वारा सिद्ध तैल का प्रयोग पानार्थ करना चाहिए । यह तैल पार्श्व शूलादि व्याधियों को दूर करता है ।

तिलनालजैः क्षारैः सिद्धं तैलं पाययेत् इति सम्बन्धः–इसी प्रकार तिलनाल आदि द्रव्यों को जलाकर उससे निर्मित क्षार द्वारा तैल को सिद्ध कर पीने के लिए उपयोग करना चाहिए । ॥१४६-१७१॥

कफे वातेन् पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ।।१७२।।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् । सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मापितो भवेत् ।।१७३।।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैस्तमुपाचरेत् । सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ।।१७४।।
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत् ।

आवरण की अवस्था में एरण्ड तैल का प्रयोग–वात के द्वारा आवृत कफ, अथवा पित्तावृत कफ अथवा दोनों (पित्त एवं कफ) द्वारा आवृत वायु में आतुर के बलवान होने पर तद्-तद् दोष नाशक औषधियों से सिद्ध एरण्डतैल का प्रयोग पानार्थ करना हितकर होता है ।

निरुहबस्ति का प्रयोग–जो व्यक्ति विरेचन द्वारा सम्यक् रूप से शुद्ध हो, फिर भी यदि उसमें आध्मान उत्पन्न हो जाय । इस अवस्था में उसमें स्नेह, अम्ल द्रव्य एवं लवण द्वारा तैयार की गयी निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

सम्यक् रूप से विरेचन कराने पर भी यदि दोषों का आवरण दूर नहीं हो रहा है तथा वायु बढ़कर उदर में आध्मान उत्पन्न कर रही हो तो ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण वीर्य वाली औषधियों के क्वाथ में यवक्षार एवं गोमूत्र मिलाकर निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् आवरण एवं वात के आध्मान को दूर करने के लिए तीक्ष्णनिरूहबस्ति की योजना करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–कफे इत्यादि से आवरण को बताया गया है-कफे वातेनावृते (वातावृत कफ में), कफे पित्तेनावृते (पित्तावृत कफ में), ताभ्यां (कफपित्तावृत वायु में); यह अर्थ है ।

स्वौषधयुतमिति आवरकदोषहरौषधयुतमित्यर्थः–आवरक दोष नाशक औषधियों को एरण्डतैल में मिलाकर अथवा साधित कर सिद्ध एरण्ड तैल का पान करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

सुविरिक्त इत्यादौ विरिक्तस्याध्मानं रिष्टमिति ज्ञेयम्-विरिक्त पुरुष में आध्मान का उत्पन्न होना रिष्ट (अरिष्ट) होता है, ऐसा जानना चाहिए। उससे यहाँ अनिर्जित वात में पुनः आध्मान का उत्पन्न होना रिष्ट नहीं होता, अर्थ गृहीत है। अर्थात् असम्यक् रूप से प्रशमित वात में आध्मान का उत्पन्न होना 'रिष्ट' नहीं होता। अतः इस अवस्था में चिकित्सा का उपदेश यहाँ किया गया है। **किवां उपस्तम्भायुक्तं सत् पुनराध्मानं रिष्टमित्यादायेह 'सोपस्तम्भ' इति कृतं**-उपस्तम्भ युक्त (आवरण युक्त) न होने पर पुनः आध्मान का उत्पन्न होना 'रिष्ट' कहा जाता है अथवा रिष्ट जनक होता है। इसलिये यहाँ सोपस्तंभ शब्द का प्रयोग किया गया है। सोपस्तम्भ=आवरण। ॥१७२-१७४॥

क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे चाप्रशाम्यति ॥१७५॥
ज्ञातीन् ससुहृदो दारान् ब्राह्मणान्नृपतीन् गुरून्। अनुज्ञाप्य भिषक् कर्म विदध्यात् संशयं ब्रुवन् ॥१७६॥
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः ॥१७७॥
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रयोजयेत्। यस्मिन् वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ॥१७८॥
भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः। तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ॥१७९॥
विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते। विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम् ॥१८०॥
पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम्। त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्यौश्च शाकं सयववास्तुकम् ॥१८१॥
भक्षयेत् कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम्। निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक् ॥१८२॥
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं पिबेत्। एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात् परं ततः ॥१८३॥
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत् कारभं पयः।

दूष्योदर (सन्निपातोदर) में सर्प विष का प्रयोग-त्रिदोषज उदररोग में चिकित्सा करने पर भी व्याधि शान्त (प्रशमित) न हो तो ज्ञाति (पिता, भाई आदि) जो उसके प्रिय हों, यथा-पत्नी, ब्राह्मण, नृप, गुरु आदि को यह बतावें कि सम्यक् चिकित्सा की गयी फिर भी आतुर का जीवन संशय युक्त है (हर तरफ से चिकित्सा करने पर भी आतुर के ऊपर औषधि का कोई प्रभाव नहीं हो रहा है, अतः रोगी का बचना संशय युक्त है)। चिकित्सा न करने पर मृत्यु निश्चित है, करने पर (चिकित्सा करने पर) हो सकता है कि जीवन बच जाय, ऐसा समझा करके उसके परिवार जनों से अनुमति लेकर रोगी के पान एवं भोजन में **विष का प्रयोग** करना चाहिए अथवा जिस फल में कुपित सर्प ने अपना विष छोड़ा हो उस फल की विषाक्तता का विचार करते हुए चिकित्सक को उदररोगी में उसका प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से स्थिर धातुओं में लीन एवं विमार्गगामी दोषों का संघात, विष के आशु एवं प्रमाथी (क्षुब्ध करने वाला) गुण के कारण शीघ्र ही टूट कर बाहर निकल आता है। दोषों के शरीर से निकल जाने पर रोगी को शीतल जल से स्नान कराकर चिकित्सक रोगी को बलानुसार गोदुग्ध अथवा यवागू का प्रयोग करावे। अथवा निशोथ, मण्डूकपर्णी, यव, बथुआ, कालशाक (मरसा), इनकी पत्तियों का शाक, इनके स्वरस में पकाकर बिना अम्ल, लवण व स्नेह के प्रयोग के ही खिलाना चाहिए अथवा शाक का प्रयोग स्विन्न या अस्विन्न रूप में करना चाहिए, इस काल में अन्न का प्रयोग बिल्कुल नहीं करना चाहिए। यह योग एक मास तक प्रयोग करें। प्रयोग काल में प्यास लगने पर निर्दिष्ट शाकों के स्वरस का ही पान करना चाहिए। इस प्रकार शाक के प्रयोग द्वारा दोषों के पूर्णतः निस्सरण हो जाने पर एक महीने के बाद यदि रोगी दुर्बल है तो उसे प्राणधारक ऊँटनी का दुग्ध पीने के लिए देना चाहिए।

चक्रपाणि-'क्रियातिवृत्त' इति से यहाँ जातोदकता को दर्शाया गया है, क्योंकि वहाँ ही चिकित्सा का निषेध है जिसे "अजातोदकं" इत्यादि के द्वारा बताया गया है।

त्रिदोषे इत्यनेन-'जातोदक' ही त्रिदोषज होता है, ऐसा जानना चाहिए। 'अजातोदक' में त्रिदोष होते हुए भी चिकित्साक्रम का निर्देश किया ही गया है।

एवं भूतत्रिदोषस्य तु क्रियातिवृत्तपदेनैव लाभेऽपि त्रिदोषे इति पदं त्रिदोषस्य जातोदकस्याप्यत्र क्रियोपदर्शनार्थम्-इस प्रकार त्रिदोष का भाव क्रियातिवृत्त पद के द्वारा प्राप्त होते हुए भी 'त्रिदोषे इति' पद का प्रयोग त्रिदोषज जातोदक के चिकित्सार्थ हुआ है।

ज्ञात्यादिसंमति ग्रहणादिना विपर्ययेऽयशोनिषेधः-रोगी के अभिभावक से अनुमति लेने का अभिप्राय यहाँ मात्र इसलिये किया गया है कि विपरीत अवस्था में अपयश से बचा जा सके। (अर्थात् बिना अनुमति के ही यदि विष का प्रयोग कराया गया एवं इसके कारण यदि रोगी की मृत्यु हो जाती है, यह अवस्था चिकित्सक के अनुकूल नहीं होती)

अनुज्ञात इति-अनुमति लेकर ही चिकित्सक रोगी में विषादि का प्रयोग करे। **यस्मिन् फले विषं विसृजेत् तत् फलं प्रयोजयेदिति संबन्धः**-जिस फल में विषैले सर्प ने विष छोड़ा हो उस फल का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् रोगी को खाने के लिए देना चाहिए।

'विष' से यहाँ 'दंष्ट्राविष' का ही ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है, यथा-"दूष्योदरे बद्धगुदे क्षतान्त्रे च जलोदरे। अपि दंष्ट्राविषस्यैव प्रयोगो वै विशोधने" इति (दूष्योदर, बद्धगुदोदर, क्षतोदर अथवा छिद्रोदर, जलोदर (Ascites) में दोषों के शोधनार्थ दंष्ट्राविष (सर्पविष) का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

स्थिर इति अचपलः=रुका हुआ। लीन इति=धातुओं के अन्दर प्रविष्ट अर्थात् जो दोष बढ़कर शरीर में रुक गये हों, अथवा रसादि धातुओं के अन्दर प्रविष्ट हो गये हों, उनके निर्हणार्थ 'सर्पविष' का प्रयोग करना चाहिए।

प्रमाथित्वादिति-क्षोभकारक होने से। **कालशाकं**-मरसे का शाक। (इस नाम से प्रसिद्ध)

स्वरसोदकाभ्यां साधितम्-शाकों के स्वरस में जल मिलाकर शाक को पकावें।

ततश्चैव स्वरसमिति-कालशाक (मरसे के शाक) का स्वरस प्यास लगने पर आतुर को पीने के लिए दें। ॥१७५-१८३॥

इदं तु शल्यहर्तृणां कर्म स्याद्दृष्टकर्मणाम् ।।१८४।।
वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम् । मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक् ।।१८५।।
विपाट्यान्त्रं ततः पश्चाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः । सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत् ।।१८६।।
मूर्च्छनाद्यच्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत् । छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः ।।१८७।।
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा च्छित्वा पिपीलिकान् । प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद्व्रणं ततः ।।१८८।।

शल्यकर्म का प्रयोग (Surgical Measures)-अधोलिखित शल्यकर्म का प्रयोग उन चिकित्सकों द्वारा किया जाना चाहिए, जिन्होंने शल्य कर्म का प्रायोगिक अभ्यास किया हो-

नाभि के नीचे वाम भाग में ४ अंगुल उदर को माप करके उचित मात्रा में शस्त्र से चीरा लगावें, पश्चात् उससे आन्त्र को निकालकर बद्धोदर एवं आन्त्रक्षत के कारणभूत दोषों को देखकर दूर करें अथवा निकाल दें। शल्य निकालने से पूर्व आन्त्र के ऊपर घृत का लेप करें, पश्चात् आन्त्र में फंसे हुए शल्य, यथा- बाल आदि को निकालें, यदि आन्त्र आपस में फंस गयी हो तो उसे छुड़ा दें तथा आन्त्रों में अनेक छिद्र हो जाने पर उसे बड़े चीटों से कटवा दें, जब चींटे अच्छी तरह से आन्त्र को पकड़ लें तथा छिद्र अच्छी प्रकार से बन्द हो गया है, यह जान लें तब उनके शरीर को काटकर बाहर कर दें। इसके बाद आन्त्र को उदर में यथास्थान स्थापित करके उदर की त्वचा के व्रण को सूई (Needle) से सील दें।

चक्रपाणि-नाभ्यधश्चतुरङ्गुलमिति नाभेरधो यथा भवति तथा चतुरङ्गुलं वामकुक्षिं मापयित्वा उदरमध्याच्चतुरङ्गुलं त्यक्त्वा वामकुक्षौ नाभ्यधस्तात् पाटनं कर्तव्यम्-नाभि के नीचे तथा ४ अंगुल वाम कुक्षि को माप करके उदर के मध्य से ४ अंगुल छोड़कर वाम कुक्षि की ओर नाभि के नीचे चीरा लगाना चाहिए।

विपाट्य चोदरं बद्धक्षतोदरयोः; अन्त्रं वीक्ष्य यथोचितक्रियार्थं-यह शल्यकर्म बद्धोदर एवं क्षतोदर में करना चाहिए। अर्थात् चीरा लगाकर आन्त्र को सम्यक् देखना एवं यथावश्यक चिकित्सा करना, यदि आंत्र में बाल (Hair) आदि फंसे हों तो उसे निकालना अथवा आंत्र फंस गयी हो तो उसे छुड़ाना। यदि आंत्र में छिद्र हो गया हो तब छिद्र भाग को बड़े काले चीटों से कटवाकर छिद्र को बन्द करना, जब छिद्र में चींटे अपने सिर को घुसा दें एवं छिद्र बन्द हो जाय तब चीटों के शरीर को काटकर अलग कर देना चाहिए।

ततस्तूभयोरपि बद्धछिद्रान्त्रयोः निसृतान्त्रप्रवेशविधिः प्रतियोगैरित्यनेनोक्तः कर्तव्यः-इसके बाद दोनों ही अवस्थाओं-बद्धोदर एवं छिद्रान्त्र में निकाली गयी आन्त्र के भाग को अपने पूर्व अवस्था में स्थापित करके व्रणयुक्त उदर की त्वचा का सीवन करना चाहिए। ॥१८४-१८८॥

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्यधयेद्भिषक् । वामपार्श्वे त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत् ।।१८९।।
विस्राव्य च विमृद्यैतद्दृष्टयेद्वाससोदरम् । तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत् ।।१९०।।
निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत् । अतः परं तु षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः ।।१९१।।
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत्त्रींश्चापि भोजयेत् । श्यामाकं कोरदूषं वा क्षीरेणालवणं लघु ।।१९२।।
नरः संवत्सरेणैवं जयेत् प्राप्तं जलोदरम् । प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत् ।।१९३।।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च । प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः ।
सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा ।।१९४।।

जलोदर में शल्यकर्म-सभी प्रकार के उदर रोगों में उदर में जल का सञ्चय होने पर नाभि के नीचे उदर के वाम भाग में वेधकर उसमें नाड़ी यन्त्र डालकर जल का निर्हरण करना चाहिए। अर्थात् जल निकालते समय उदर को दबाकर जल निकालें, पश्चात् उदर को कपड़े से बाँध दें। यदि बस्ति एवं विरेचन द्वारा दोषों का निर्हरण हुआ हो जिसके कारण उदर म्लान (Shrivelled) हो गया हो, ऐसी अवस्था में भी उदर को वस्त्र से लपेटकर कसकर बाँध देना चाहिए (क्योंकि रिक्त कोष्ठ में शीघ्र ही वायु भर जाती है, इससे बचने के लिए ऐसा किया जाता है)। दोषों का निर्हरण हो जाने के बाद रोगी को पहले लंघन करावें, पश्चात् स्नेह एवं लवण रहित अथवा अल्प स्नेह एवं लवण युक्त पेया का प्रयोग पीने के लिए दें। इसके बाद रोगी को छः महीने तक मात्र दुग्धाहार पर ही रखें, ३ महीनें दूध के साथ पेया का प्रयोग

Scanned by CamScanner

करें। पश्चात् तीन महीने श्यामाक (साँवा) व कोदो का भात दूध के साथ खाने के लिए देना चाहिए। इस प्रकार एक वर्ष तक इस चिकित्सा विधि का पालन करने से जलोदर दूर हो जाता है।

उदररोग में क्षीर का महत्व–दोषों के अनुबन्ध से बचाने के लिए एवं आतुर के बल को स्थिर रखने के लिए सभी प्रकार के उदर रोगों में अनुपान के रूप में दूध का प्रयोग करना चाहिए। उदर रोगों में औषधियों के प्रयोग से आतुर का शरीर कृश (Emaciated) हो जाता है तथा सभी धातुएं क्षीण हो जाती हैं, ऐसी अवस्था में जिस प्रकार देवों के लिए अमृत हितकर होता है वैसी उदर रोगी के लिए क्षीर पथ्य है।

चक्रपाणि–'तथेत्यादि' के द्वारा 'जातोदक' की चिकित्सा विधि का उल्लेख किया गया है। **व्यधयेदिति**– नाभि से ४ अंगुल दूर, इस अर्थ में है। अर्थात् नाभि से ४ अंगुल नीचे एवं रोमराजी से ४ अंगुल बाँये भाग की ओर वेध करना चाहिये।

अतः परमिति–नमक रहित पेया के पान के बाद छः मास तक दुग्धाहार पर ही रहना चाहिए, छः महीने दुग्धाहार पर बिताने के बाद तीन महीने तक दूध के साथ पेया का सेवन करना चाहिए। इसके बाद तीन महीने साँवा एवं कोदो के भात को दूध के साथ खाना चाहिए। इस प्रकार जलोदर की चिकित्सा एक वर्ष तक करनी चाहिए।

प्रयोगापचिताङ्गानामिति–विरेचनाकारी औषध प्रयोगों के द्वारा जिनका शरीर क्षीण हो गया हो, ऐसे लोगों में क्षीर का प्रयोग अमृत के समान हितकर होता हैं। ॥१८९-१९४॥

तत्र श्लोकौ–

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः। उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च ॥१९५॥
जाताजातास्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः। समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते ॥१९६॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सास्थाने उदरचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस उदर-रोग चिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु ने उदररोग से संबन्धित अधोलिखित विषयों का संक्षेप एवं विस्तार से विवेचन किया है–

१. उदररोग के हेतु (Etiological factors)।

२. उदररोग के पूर्वरूप (Premonitory signs and Symptoms)।

३. आठो प्रकार के उदर-रोगों के संक्षेप एवं विस्तार में लक्षण।

४. उदर रोगों के उपद्रव एवं उनकी गम्भीरता।

५. उदर रोगों की साध्याऽसाध्यता।

६. अजातोदक एवं जातोदक (उदर-रोग) के लक्षण।

७. सभी प्रकार के उदर रोगों की चिकित्सा (Treatment)।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल पूरित अंश में चिकित्सास्थान के अन्तर्गत 'उदरचिकित्सा' नामक तेरहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'हेतुमित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को बताया गया है।

संग्रहार्थश्चाध्यायोक्तोऽनुसरणीयः–अध्याय में वर्णित विषयों का ही यहाँ संग्रह किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में उदरचिकित्सा नामक त्रयोदश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथातोऽर्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे 'अर्शचिकित्सा' की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–**उदरार्शसोस्त्रिदोषजत्वसामान्याद् बद्धगुदोदरकारणत्वाच्चानन्तरमर्शसां चिकित्सितमुच्यते**-उदररोग एवं अर्श (Piles); ये दोनों व्याधियाँ त्रिदोषज होती है तथा बद्धगुदोदर (Obstruction in the passage of intestine) अर्श का एक मुख्य हेतु भी है । अतः उदरचिकित्सा के बाद अर्शचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजाप्यं कृतक्षणम् । पृष्टवानर्शसां युक्तमग्निवेशः पुनर्वसुम् ।।३।।

विषयारम्भ–अव्यग्र (चिन्ता रहित), जप आदि अपने नित्य कर्मों से निवृत, शान्तिपर्वूक बैठे हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से आचार्य अग्निवेश ने युक्तिपूर्वक अर्श के बारे में प्रश्न किया ।

चक्रपाणि–'आसीनमित्यादि' से विषय को स्पष्ट किया गया है । **कृतक्षणमिति**-अवसर पाकर । **युक्तमुचितं प्रकोपहेत्वादिं पप्रच्छेति योजना**-अर्श के प्रकोपक कारणों आदि के बारे में विशेष रूप से प्रश्न करना, अथवा 'युक्तमिति' से 'अर्श के बारे में उचित प्रश्न को करना' अर्थ गृहीत है । [The term 'Yuktas implies 'appropriate questions' with reference to arśas, namely its aggravating factors, etiological factors etc.-Dr. Bhagvan Das]. ॥३॥

प्रकोपहेतु संस्थानं स्थानं लिङ्गं चिकित्सितम् । साध्यासाध्यविभागं च तस्मै तन्मुनिरब्रवीत् ।।४।।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित विषयों के बारे में शिष्य अग्निवेश को बताया–

१. अर्शरोग के प्रकोपक कारण ।

२. अर्श की आकृति (different forms) ।

३. अर्श का स्थान (Places of Manifestation) ।

४. अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of piles) ।

५. चिकित्सा (Treatment) ।

६. साध्यताऽसाध्यता के अनुसार अर्श के विभाग ।

चक्रपाणि–प्रकोपस्य रोगोत्पादस्य हेतुः - प्रकोप से यहाँ व्याधि उत्पादक हेतु का ग्रहण किया गया है । फिर भी यहाँ प्रकोप शब्द से रोगों की उत्पत्ति को बतायेंगे, यथा-पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम्' इति [अर्श के प्रकोपक कारणों में पित्त की वृद्धि को भी जानना चाहिए ।] संस्थानम्=आकार । यद्यपि संस्थान का ग्रहण लिङ्ग में ही हो जाता है फिर भी यहाँ अत्यन्त विस्तार से वर्णन होने के कारण संस्थान को पृथक् से कहा गया है । ॥४॥

इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि-कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जास्योत्तरकालजानि । तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् । तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुःमातापित्रोरपचारः, पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम् । तत्र सहजानि सह जातानि शरीरेण, अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ।।५।।

अर्श के भेद (Classification of Piles)–हे अग्निवेश ! अर्श (Piles) के दो प्रकार हैं- १. उनमें कुछ सहज (Hereditary) तथा कुछ २. जातोत्तर (Acquired) अर्थात् जन्म के कुछ समय बाद होते हैं ।

सहज अर्श (Hereditary piles)-सहज अर्श का कारण-शुक्र शोणित (बीज) का वह भाग जो व्यक्ति के गुदबली (Anal Sphincter) के निर्माण का उत्तरदायी होता है, का दूषित होना है । उस बीज (शुक्र-शोणित का वह भाग जो गुदबली के निर्माण का उत्तरदायी है) के दूषित (विकृत) होने में दो हेतु होते हैं- १. माता-पिता का अपचार अर्थात् अनुचित (अपथ्य) आहार-विहार का सेवन, २. पूर्वजन्मकृतं अशुभ कर्म (Sinful acts of past life) । यही दो कारण और भी सहज रोगों में होते हैं, अर्थात् दूसरे सहज रोग भी इन्हीं दो कारणों से होते हैं । सहज का अभिप्राय शरीर की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होने से है तथा अर्श से अधिमांस (मांस के ऊपर मांसांकुर की वृद्धि) विकार का ग्रहण है । (Arśas (piles) is a disease characterised by morbid growth in the muscle tissue.)

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'इहेत्यादि' के द्वारा अर्श के द्विविध भेदों के प्रतिपादन के पश्चात् सहज अर्श के हेत्वादि का विवेचन 'तत्र बीजमित्यादि, के द्वारा किया गया है। 'बीज' से यहाँ 'शुक्र-शोणित' का ग्रहण किया गया है।

तच्च गुदबल्यारम्भकेण बीजेनोपतप्तं सत् सहजानां कारणं भवति–सहज अर्श का कारण 'शुक्र-शोणित' का वह बीज रूप भाग जो शिशु के गुदबली के निर्माण के लिए उत्तरदायी है, माना गया है। गुदबली निर्माण के आरम्भक बीजभाग के दूषित होने से शरीरारम्भक बीज में ही यह दुष्टि होती है फिर भी शरीर के और भाग दूषित नहीं होते। गुदबली निर्माण के आरम्भक बीजभाग के दूषित होने से शरीरारम्भक बीज है, अन्य नहीं। अतः गुदबलीबीज (शुक्र-शोणित के गुदबली निर्माणक बीज) के दूषित (विकृत) होने से गुदबली में ही अर्श (Piles) उत्पन्न होता है, शेष अवयवों का उत्पादक बीज दूषित नहीं होने से उनमें विकार नहीं उत्पन्न होता।

न बीजदुष्टेः सर्वथाऽनारम्भकत्वं, सर्वथा बीजानुपघातात्–बीज जो शरीरादि अंगों का आरम्भक नहीं है, उसके दूषित होने पर व्यक्ति स्वस्थ रहता है अथवा कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। कहा भी गया है, यथा-"यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य-तस्य ह्यङ्गावयवस्य विकृतिरूपजायते" (शा.अ. ४) इत्यादि [जिस-जिस अंगावयव के बीजभाग में विकृति होती है उस बीज से उत्पन्न होने वाले व्यक्ति के वे-वे अंग विकृत होते हैं।]

अन्ये तु आहिताग्निपाठात् पूर्वनिपातानियमेन उपतप्तं गुदबलीबीजं यस्मिन् तद्गुदबलीबीजोपतप्तमिति पदं कृतमित्याहुः–अन्य आचार्य आहिताग्नि पाठ से पूर्व के अपवाद को नियम न स्वीकार करते हुए जिसमें गुदबली का बीजभाग दूषित है उसी को गुदबली बीजोपतप्त' शब्द से कहते हैं।

अपचार इति–माता व पिता द्वारा गृहीत वह अहितकर आहार-विहार जो शुक्र-शोणित के भाग को विशेष रूप से दूषित (विकृत) करने वाला है।

पूर्वकृतं च कर्मेति–पूर्व शरीर द्वारा किया गया अशुभ कर्म भी सहज अर्श (Hereditary types of piles) की उत्पत्ति में कारण है। यदि पूर्वजन्मकृत कर्म दुर्बल हो तो माता-पिता के अहितकर आहार-विहार द्वारा भी बीज की दुष्टि होती है अथवा यदि प्राक्तन कर्म बलवान हों तो बिना अपचार के ही सहज अर्श की उत्पत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए।

वर्णित इन दो हेतुओं (१. प्राक्तन अशुभ कर्म, २. माता-पिता के अहितकर आहार-विहार) को भी अन्य सहज व्याधियों के परिप्रेक्ष्य में भी समझना चाहिए, जिसका उल्लेख यहाँ 'तथेत्यादि' के द्वारा किया गया है। 'तत्रेत्यादि' के द्वारा यहाँ सहज शब्द के अर्थ को स्पष्ट किया गया है। 'अर्शासीत्यादि' से अभिधेय 'अर्श' शब्द को कहा गया है।

अधिमांसविकारा इति अधिमांस विशेषा–अर्श मांस में उत्पन्न होने वाला एक विशेष प्रकार की वृद्धि (Growth) है। ॥५॥

जल्पकल्पतरु टीका–'इह खल्वित्यादि' के द्वारा अर्श के दो भेदों को बताया गया है। हे अग्निवेश! इस संसार (मृत्युलोक) में अर्श दो प्रकार के होते हैं, कुछ अर्श सहज होते हैं जो गर्भ शरीर के उत्पन्न होने के साथ ही उत्पन्न होते हैं। कुछ अर्श जन्म लेने के बाद के काल में उत्पन्न होते हैं, उन्हें जातोत्तर अर्श कहते हैं। उनमें सहज अर्श के हेतुओं को यहाँ 'तत्रेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। सहज अर्श का कारण गुदवलिनिर्माणक बीज का विकृत होना है। अर्थात् गुदवलि निर्माणक आर्तव (Ovum) के भाग का विकृत होना है। इसे ही यहाँ 'तत्रेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। गुदवलि आरम्भक आर्तव रूप बीज में विकृति दो कारणों से उत्पन्न होती है-१. माता-पिता के अहितकर आहार-विहार द्वारा, २. पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्म द्वारा। अन्य सहज विकारों की उत्पत्ति में भी यही हेतु होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। कौन से अर्श सहज कहे जाते हैं अथवा किन अर्शों को सहज कहते हैं। माता-पिता के अपचार से एवं पूर्वजन्म कृत कर्म फल द्वारा कुष्ठादि की उत्पत्ति दिखाई देती है वे भी सहज कैसे? **शरीरेण सह जातानीत्यतः सहजान्यर्शांस्युच्यन्ते**-जो अर्श शरीर के साथ उत्पन्न हो, उसे सहज अर्श कहते हैं। उसी प्रकार जो रोग (Disease) शरीर निर्माण के साथ उत्पन्न हों, उन्हें सहज व्याधि कहते हैं।

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं–गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः क्षेत्रमिति, केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां-शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् चेति। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्। सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं–मेदो मांसं त्वक् च ॥६॥

अर्श का अधिष्ठान (Locations of piles)–सभी प्रकार के अर्शो का क्षेत्र-गुदा के ४½ अंगुल में तीन भाग के बीच में तीन गुदवलियों का क्षेत्र है। कुछ आचार्य इससे अधिक भाग को अर्श का स्थान बताते हैं। अर्थात् इसके अतिरिक्त भी अर्श का स्थान बताया गया है, यथा-शिश्न (Pudendum), अपत्यपथ (योनिमार्ग-Vagina), गला (Throat), तालु (Palate), मुख (Mouth), नासिका (Nose), कर्ण (Ears), नेत्रों के वर्त्म (Eye lids) तथा त्वचा (Skin)। ये सभी स्थान अधिमांस के स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानों पर अधिमांस (मांसांकुर) उत्पन्न होते हैं। इस तन्त्र (शास्त्र) में गुदवलियों में उत्पन्न होने वाले मांसाङ्कुर को ही 'अर्श' नाम दिया गया है।

Scanned by CamScanner

सभी प्रकार के अर्शों का अधिष्ठान-मेद (Fat tissue), मांस (Muscle tissue) तथा त्वक् (Skin including mucous membrane) है।

चक्रपाणि-त्रिभागान्तरा इति अर्धपञ्चाङ्गुलस्य सार्धङ्गुलरूपतृतीयभागावकाशाः गुदा के ४½ अङ्गुल भाग को तीन भाग में बाँटा गया है।-गुदवलय इति-गुद के मांस बलय। इस विभाग में १/२ अंगुल गुदा में गुदौष्ठ को लेकर ग्रहण किया गया है जिसमें १/२ अंगुल बाह्य बलय का भी ग्रहण है। क्षेत्रं=देश (भाग-शरीर), जिसमें अर्श लटका रहता है। 'केचित्' से यहाँ तन्त्रान्तर का ग्रहण किया गया है। अन्य शास्त्रों में अपत्यमार्ग आदि स्थानों पर पाये जाने वाले 'मांसांकुरों' का नाम 'अर्श' दिया गया है। अधिष्ठान से यहाँ दूष्य का ग्रहण है। ॥६॥

जल्पकल्पतरु टीका-सहज अर्श के प्रकोपक हेतुओं के अभिधान के बाद सभी प्रकार के अर्शो के स्थान को यहाँ-सर्वेषामित्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'सर्वेषां' से यहाँ सहज एवं जातोत्तर दोनों प्रकार के अर्शो का ग्रहण किया गया है। इनका स्थान गुदा के ४½ अङ्गुल स्थान में तीन भाग में तीन प्रकार की गुदवलियाँ होती हैं।

अर्द्धपञ्चाङ्गुलेति अर्द्धाङ्गुल्या न्यूनाः पञ्चाङ्गुल्यः परिमाणस्येति-पांच अंगुल परिमाण से आधा अंगुल कम अर्थात् ४½ अंगुल। इस ४ ½ अंगुल भाग (गुदा) के तीन भाग किये गये हैं। गुदोष्ठ के साथ प्रथम वली- १½ अंगुल लम्बाई में होती है। जिसमें गुदौष्ठ- ½ अंगुल लम्बी होती है या जगह घेरती है। द्वितीय बली- १ ½ अंगुल, तथा तृतीय बली १½ अंगुल स्थान में होती है। इस प्रकार इन्हें लेकर गुदा की लम्बाई ४½ अंगुल होती है। ये तीनों वलियाँ (Sphinctors) प्रथम आदि के क्रम से शंख की तरह मुड़ी हुई गुदा के ऊपरी भाग में स्थित संवरणी, विसर्जनी एवं प्रवाहिणी नाम से जानी जाती हैं। **क्षेत्रमिति**-उत्पत्तिस्थानं देश इति-अर्श की उत्पत्ति का स्थान, शरीर का वह भाग जहाँ अर्श उत्पन्न होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार अर्श 'गुदवलित्रय' के अतिरिक्त भी अन्य स्थानों पर उत्पन्न होता है, यथा-शिश्न इत्यादि, शिश्न (Penis-पुरुष), अपत्यपथ (योनि-स्त्री), गला आदि भाग स्त्री व पुरुष दोनों में अर्थात् दोनों के ही गला, पक्ष्म आदि भागों में मांसाङ्कुर उत्पन्न हो सकते हैं।

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि, कानिचिन्महान्ति, कानिचिद्दीर्घाणि, कानिचिद्ह्रस्वानि, कानिचिद्वृत्तानि, कानिचिद्विषमविसृतानि, कानिचिदन्तःकुटिलानि, कानिचिद्बहिःकुटिलानि, कानिचिज्जटिलानि, कानिचिदन्तर्मुखानि, यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ।।७।।

सहज अर्शो की आकृति (Forms of Congenital piles)-सहज अर्शो में कुछ की आकृति (अर्शाङ्कुरों की आकृति) या अर्शाङ्कुर छोटी, कुछ की बड़ी (Large), कुछ लम्बे (Long), कुछ ह्रस्व (Short), कुछ गोल (Round), कुछ विषम रूप से फैले हुए, कुछ अन्तः भाग में टेढ़े (कुटिल-Some are curved internally), कुछ बाह्य भाग से कुटिल, कुछ आपस में मिले हुए तथा कुछ ऐसे होते हैं जिनका मुख अन्दर की ओर होता है (Some are introverted) इनके वर्ण दोषों के अनुबन्ध के अनुसार होते हैं। अर्थात् दोषों की प्रधानता के अनुसार ही अर्शो के वर्ण होते हैं।

चक्रपाणि-'तत्र सहजानीत्यादि' के द्वारा अर्श के आकृति रूप लक्षणों को बताया गया है। **जटिलानीति**-तृण के समान अङ्कुरों का आकार होना। **दोषानुबन्धवर्णानीति**-दोषों के अनुरूप अर्श के वर्ण (Colour) का होना। ॥७॥

जल्पकल्पतरु टीका-'तत्रेत्यादि' के द्वारा सहज अर्श के लक्षणों को बताया गया है। अणु=क्षुद्र, महान=स्थूल तथा वृत्त से वर्तुल अर्थ लिया गया है। विषमसृतानि-विसदृश अर्थात् वक्र (टेढा-मेढ़ा), अन्तः कुटिल से जिसका मध्य भाग टेढ़ा-मेढ़ा हो, अर्थ गृहीत है। **जटिलानि**-मांस के सूक्ष्म तन्तुओं का आपस में मिला होना अर्थात् जटा के समान होना।

यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानीति-जिन-जिन दोषों का अनुबन्ध अर्श में होता है तदनुसार अर्श के वर्ण का होना। यद्यपि सभी अर्श त्रिदोषज ही होते हैं फिर भी उनमें जिस दोष की प्रधानता होती है उसका वर्ण (अर्श का वर्ण) उसी के अनुरूप होता है।

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शर्कराश्मरीमान्, तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तराऽन्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणपगन्ध्यामपुरीषोपवेशी, नाभिबस्तिवंक्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः, सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्षप्रमेहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्धतिक्ताम्लोद्गारः, सुदुर्बलः, सुदुर्बलाग्निः, अल्पशुक्रः, क्रोधनो, दुःखोपचारशीलः, कासश्वासतमकतृष्णाहल्लासच्छर्दिरोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतः, तैमिरिकः, शिरःशूली, क्षामभिन्नसन्नसक्तजर्जर-स्वरः, कर्णरोगी, शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः, सज्वरः, साङ्गमर्दः, सर्वपर्वास्थिशूली च, अन्तराऽन्तरा पार्श्वकुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः, प्रध्यानपरः, परमालसश्चेति; जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, एते सर्व एव प्रकुपिताः पञ्च वायवः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्ति; इत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ।।८।।

सहज अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Congenital piles)-सहज अर्श से आक्रान्त व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

Scanned by CamScanner

→ सहज अर्श से पीड़ित व्यक्ति जन्म से ही अत्यधिक कृश, विवर्ण (विकृत वर्ण वाला-discoloured), क्षाम (दुर्बल), दीन तथा वात, मूत्र एवं पुरीष की अधिकता वाला होता है तथा कभी-कभी वात, मूत्र व पुरीष का अवरोध भी हो जाता है। यह रोगी शर्करा एवं अश्मरी से युक्त भी होता है। अर्थात् यह रोगी मूत्राश्मरी एवं मूत्रशर्करा से भी पीड़ित रहता है।

→ रोगी को अनियमित रूप से मलबद्धता रहती है। अर्थात् कभी मलबद्धता (Constipation) से आक्रान्त रहता है तथा कभी सामान्य रूप से मलत्याग करता है। कभी मल (पुरीष) आमरहित (पक्व) होकर बाहर निकलता है, कभी आम युक्त (Mucous or products of improper digestion) तथा कभी शुष्क (dry), कभी भिन्न (Loose) होकर बाहर निकलता है। अर्थात् मल रुक-रुक कर बाहर निकलता है।

→ उस व्यक्ति का मल (पुरीष) बीच-बीच में श्वेत (white), पाण्डु, (Pale yellow), हरित (green), पीत (Yellow), रक्त (Red), अरुण (Reddish), तनु (पतला), सान्द्र (dense-गाढ़ा), पिच्छिल (लसलसापन लिए हुए), कुणप (मुर्दे के समान) गन्ध तथा आम युक्त निकलता रहता है। अर्थात् व्यक्ति का पुरीष निर्दिष्ट गन्ध एवं वर्णों वाला होता है। (Āma means mucous or products of improper digestion)

→ अर्श से पिड़ित व्यक्ति की नाभि, बस्ति एवं वंक्षण प्रदेश में अत्यधिक रूप से कैंची से काटने जैसी वेदना होती है।

→ व्यक्ति गुदशूल (Pain in anus), प्रवाहिका (dysentery), परिहर्ष (Horripilation), प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes), लगातार मलबद्धता (Continuous constipation), आन्त्रकूजन (Gurgling sound in the intestine-आँतों में गुड़गुड़ाहट), उदावर्त तथा हृदय एवं इन्द्रियों में उपलेप का अनुभव होना; आदि व्याधियों से पीड़ित रहता है।

→ व्यक्ति अत्यधिक रुका हुआ अम्ल एवं तिक्तरस युक्त डकार निकालता है। अर्थात् उसे अत्यधिक रूप से अम्लरस युक्त डकार आती रहती है।

→ अर्श युक्त रोगी अत्यधिक रूप से दुर्बल, मन्दाग्नि युक्त, अल्प शुक्र वाला, अत्यधिक क्रोधी तथा कठिनता से चिकित्स्य होता है।

→ सहज अर्श से पीड़ित व्यक्ति कास (Cough), श्वास (Dyspnoea), तृष्णा (Thirst), हल्लास (Nausea), छर्दि (Vomiting), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion), पीनस (Chronic rhinitis) एवं क्षवथु (Sneezing) से पीड़ित रहता है।

→ व्यक्ति तिमिर (आँखों के सामने अंधेरा छा जाना) एवं शिरःशूल (Headache) से आक्रान्त रहता है।

→ रोगी का स्वर क्षाम (अत्यन्त क्षीण), भिन्न (फटी हुई-फुटे हुए कासे के बरतन के समान), सन्न (अत्यधिक मन्द -Low pitch), सक्त (रुक-रुक कर निकलना) एवं जर्जर (Coarse) होता है।

→ व्यक्ति कर्णरोगों से पीड़ित रहता है।

→ व्यक्ति के हाथ, पैर, मुख एवं अक्षिकूट में शोथ हो जाता है।

→ ज्वर, अंगमर्द (सम्पूर्ण शरीर में मर्दनवत् पीड़ा) होता है, रोगी के सम्पूर्ण अस्थि एवं अस्थिसंधियों में शूल होता है।

→ व्यक्ति के पार्श्व, कुक्षि, बस्ति, हृदय, पृष्ठ एवं त्रिक् प्रदेश में बीच-बीच में जकड़ाहट (Stiffness) उत्पन्न होती रहती है। अर्थात् Stiffness कभी पार्श्व, कभी पृष्ठ, कभी त्रिक् (Lumber region) में होती रहती है।

→ व्यक्ति हमेशा ध्यान युक्त एवं आलसी होता है।

जन्म से ही अर्श पीड़ित व्यक्ति की गुदा अर्श द्वारा अवरुद्ध हो जाने से अपान वायु ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर समान, व्यान, प्राण, उदान तथा कफ व पित्त को प्रकुपित कर देता है। इस प्रकार प्रकुपित पाँचों वायु, पित्त व कफ अर्श युक्त रोगी में ऊपर निर्दिष्ट व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार सहज अर्श की व्याख्या की गयी है।

चक्रपाणि–अनियतत्वं विबद्धमुक्तत्वादिविरुद्धधर्मयुग्मत्रये ज्ञेयम्–विबद्ध-मुक्त, आम-पक्व, शुष्क-भिन्न; ये तीन युग्म (जोड़े) विरुद्ध गुण वाले हैं, इनका अनियत होना। अर्थात् सहज अर्श के रोगी में कभी मलबद्धता (Constipation) रहती है, कभी नहीं रहती अर्थात् सामान्य रूप से पुरीष निकालता रहता है। कभी आम मल (पुरीष के साथ Mucous का आना) तथा कभी पक्व मल निकलता है तथा कभी पुरीष शुष्क (मल की गाँठे) निकलती हैं तथा कभी ढीला मल निकलता है, यह अभिप्राय है।

अन्तराऽन्तरेति कदाचित्, न सर्वदा–बीच-बीच में कभी-कभी; न कि हमेशा।

Scanned by CamScanner

प्रचुरोद्गिबद्धत्वादिगुणयुक्त उद्गारो यस्य स तथा–जिस व्यक्ति में अत्यधिक मात्रा में रुके हुए अम्ल एवं तिक्त रस युक्त डकारें आती हों। **दुःखोपचारशील इति**- जिसकी चिकित्सा करना कठिन हो।

प्रध्यानं घूर्णनम्=भ्रम (चक्कर आना Vertigo)

किस कारण से सहज अर्श (Congenital piles) का रोगी इस प्रकार की व्याधियों से आक्रान्त रहता है, इसे 'जन्मेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रत्यारोहन्निति ऊर्ध्वं गच्छन्–ऊपर की ओर जाते हुए। यहाँ क्रम से पाँचों प्रकार की वायु- प्राण, उदान, समान, व्यान एवं अपान, का प्रकोप होता है। यहाँ वायु पूर्णतः विकृत होती है जिससे सर्वत्र वातविकार ही प्रायः उत्पन्न होते हैं। इसके साथ ही पित्त, कफ का प्रकोप एवं उससे उत्पन्न विकारों का होना भी युक्तियुक्त है। अर्थात् वात के साथ-साथ पित्त व कफ का भी प्रकोप होता है, यह कहना उचित है। **अर्शसमिति**-अर्श युक्त पुरुष ।।८।।

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः-गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्दव्यमात्स्यवाराह-माहिषाजाविकपिशितभक्षणात् कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरदधिमण्डतिलगुडविकृतिसेवनान्माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्त लशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चादनकशेरुकशृङ्गाटकतरूटविरूढनवशूकशमीधान्यामूलकोपयोगाद्गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पद-पर्युषितपूतिशीतसंकीर्णान्नाभ्यवहारान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद्व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्वस्तिकर्मविभ्रमादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नात् सुखशयनासनस्थानसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटकविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रा-सम्यक्प्रणिधानाद्गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिघर्षणात् प्रतताति निर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात् समुदीर्णवेगविनिग्रहात् स्त्रीणां चामग-र्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ।।९।।

जातोत्तर अर्श का विवेचन (Description of Acquired piles)

जातोत्तर अर्श के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Acquired piles)–अब आगे जन्मोत्तर काल में उत्पन्न होने वाले अर्श की व्याख्या करूँगा- गुरु (Heavy पचने में भारी), मधुर, शीत, अभिष्यन्दि (Oozing रिस कर बहने वाला-ऐसा आहार जिसके सेवन से स्रोतस् में क्लिन्नता उत्पन्न हो), विदाही (दाह उत्पन्न करने वाले), विरुद्ध, अजीर्ण, प्रमिताशन (नपा-तुला भोजन सेवन करना), असात्म्य (जो आहार अपने लिए अनुकूल न हो) भोजन के सेवन करने से, गव्य (गाय), मात्स्य (मछली), वाराह (सूअर), माहिष (भैंस), बकरी, भेड़ के मांस के सेवन करने से, कृश (दुबला-पतला), शुष्क (सूखे), पूति (सड़े-गले) मांस के सेवन करने से, पैष्टिक (पीठी के बने हुए पदार्थ), परमान्न (खीर), क्षीर, दधि, मण्ड, तिल व गुड़ के बने हुए पदार्थ के सेवन से, माषयूष (उड़द के यूष), इक्षुरस, पिण्याक (तिल की खली), पिण्डालुक (अरवी, सुथनी आदि), शुष्कशाक, शुक्त (सिरका), लशुन, किलाट (फटे हुए दूध का गाढ़ा भाग), तक्रपिण्डक (तक्र का गाढ़ा भाग), विस (मोटी कमल नाल-thick lotus stalk), मृणाल (पतला कमल नाल-thin lotus stalk), शालूक (कमलकन्द), क्रौञ्चादन (छोटा कशेरु), शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), तरुट, विरुढ़धान्य (अंकुरित धान्य), शूकधान्य, शमीधान्य, मूलक (मूली), इनके सेवन से, गुरु विपाकी फल (जो फल पचने में भारी हो), शाक, राग (अचार), हरितक (सलाद में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य), मर्दक (जिन द्रव्यों का पीस कर उपयोग किया जाय, यथा- मिर्च, मशाले आदि), वसा, सिरस्पद (मृग आदि के सिर की हड्डी की वसा), पर्युषित (बासी), पूति (सड़े हुए), संकीर्ण (विभिन्न प्रकार के दूषित पदार्थ मिले हुए) आहार द्रव्यों के सेवन करने से;

मन्दक दधि (जो दधि सम्यक् रूप से जमी न हो), अतिक्रान्त मद्य (जो मद्य गुणों से विकृत हो) के सेवन से। विकृत व गुरु जल के पीने से, अत्यधिक स्नेह (Fat) के प्रयोग से, उचित समय पर संशोधन चिकित्सा के प्रयोग न करने से, बस्ति कर्म के विभ्रम से, व्यायाम न करने से, दिन में सोने से, व्यवाय (मैथुन) न करने से, सुखकर शयन, आसन एवं स्थान के उपयोग से अर्थात् गद्देदार विस्तर आदि के प्रयोग से, अग्निमांद्य से तथा मलों के उपचय से अथवा पूर्वोक्त कारणों से अग्निमांद्य होने पर मलों का अत्यधिक संचय होने लगता है। उसी प्रकार उत्कट आसन, विषम आसन, कठिन आसन पर अधिक देर तक बैठने से, उद्भ्रान्त यान (मतवाले) घोड़े आदि की सवारी करने से, ऊँट की सवारी करने से, अत्यधिक मैथुन से, बस्तिनेत्र के अनुचित प्रयोग से, गुदा में अत्यधिक क्षत हो जाने से, शीतल जल के स्पर्श से (बार-बार शीतल जल के स्पर्श से), वस्त्र, मिट्टी का ढेला एवं तृण आदि द्वारा गुदा के बार-बार रगड़ खाने से, बार-बार अत्यधिक रूप से प्रवाहण (कांखना) करने से, वात, मूत्र एवं पुरीष के वेगों को बलात् बाहर निकालने से, प्रवृत्त अधारणीय वेगों के धारण करने से, आम गर्भ के भ्रंश से (गर्भस्राव से-Miscarriage-Loss of the products of conception from the uterus before the fetus is viable;), गर्भोत्पीडन से (गर्भ पर दबाव पड़ने से), विषम प्रसूति (Abnormal delivery) होने से; इन कारणों द्वारा प्रकुपित अपान वायु अधोगत संचित मल से मिलकर गुदबलियों पर दबाव डालती है जिसके परिणाम स्वरूप अर्श की उत्पत्ति होती है। अर्थात् उपर्युक्त सभी कारण गुदबली (Anal sphincters) पर दबाव (Pressure) का कार्य करते हैं।

Scanned by CamScanner

[Piles (Hemorrhoid)-A varicose dilatation of a vein of the superior or inferior hemorrhoidal plexus.]

External hemorrhoid-Varicose dilatation of a vein of the inferior hemorrhoidal plexus, distal to the pectinate line and covered with modified anal skin.

Internal hemorraoid-A varicose dilatation of a vein of the superior hemorrhoidal plexus, originating above the pectinate line and covered by mucous membrane.- Dorland's Pocket medical Dictionary]

चक्रपाणि–'गुरुशीतेत्यादि' के द्वारा जातोत्तर अर्श के हेतु (Etiological factor) एवं संप्राप्ति (Pathogenesis) को बताया गया है। प्रमितम्=अल्प (नपा-तुला भोजन), कृश=दुर्बल (कमजोर)। परमान्नं=पायस (खीर)। पिण्याक=तिल का कल्क। **किलाटो नष्टक्षीरपिण्डः** छेने का घन भाग अर्थात् पनीर। **तक्रपिण्डस्तु तक्रजो घनभागः** -तक्र का घन भाग तक्रपिण्ड कहलाता है। बिस=मोटा कमलनाल। मृणाल=पतला कमलनाल। **तरूटनिष्कारकः** -(चक्रपाणि) [Root of Lotus]। क्रौञ्चादन=घेञ्जुलिका नाम से प्रसिद्ध (छोटा कशेरु)।

संकीर्ण मांसभक्तादि–मिश्रप्रकृति वाले अन्न।

अतिक्रान्तमद्यं व्यापन्नमद्यं–विकृत हुआ मद्य। अव्यवायः अधिव्यवाय-मैथुन करने के बाद पुनः मैथुन करना; यहाँ 'अव्यवाय' से विषमव्यवाय का ग्रहण किया गया है।

प्रतातिनिर्वाहणाद् दीर्घातिमात्रप्रवाहणात्–अत्यधिक जोर लगाकर कांखने से, यह कार्य विशेष रूप से पुरीष निर्हरण हेतु व्यक्ति करता है जिसके कारण गुदाश्रित सिराओं पर विशेष रूप से दबाव पड़ता है। ॥९॥

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायपिण्डटिण्टिकेरकेबुकतिन्दुककर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरोदुम्बरखर्जूरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठ-कशेरुशृङ्गाटकशृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वापद्ममुकुलकर्णिकासंस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि ॥१०॥

अर्शो के विभिन्न प्रकार (Different Shapes of the piles)–सामान्यतः वात, पित्त व कफ की प्रबलता से उत्पन्न होने वाले अर्शों की आकृति-सर्षप (सरसो), मसूर, माष (उड़द), मुद्ग (मूंग), मकुष्ठक (मोठ), यव (barley), मटर (कलाय green pea), पिण्डी, टिण्टिकेर (Fruit of karira), केबुक, तिन्दुक (तेंदू का फल), कर्कन्धु (झड़बेर), काकणन्तिका (रक्त गुञ्जा), बिम्बी (कुंदरु), बदर (बड़ी बेर), करीर, उदुम्बर, खर्जूर, जम्बु (पक्व जामुन), गोस्तन, अंगुठे के सदृश, शृंगाटक (सिंघाड़े के सदृश), कशेरु,, काकड़ासिंगी, मुर्गा, मोर एवं तोते के चोंच या जिह्वा सदृश अथवा पद्ममुकुल अथवा कर्णिका के सदृश होती है।

चक्रपाणि–टिण्टिकेरं=करीरफल [A thorny plant growing in deserts and fed upon by camels-**Capparis aphylla**-केर का फल, इसका फल झड़बेर की आकृति का होता है, राजस्थान में इसके अचार बनाये जाते हैं।] दक्षः=मुर्गा।

सामान्याद् वातपित्तकफप्रबलानीत्यनेन सर्वैर्दोषैरर्शसां नानाकृतिं दर्शयति–सामान्यतः वात पित्त व कफ की प्रबलता का अभिप्राय सभी दोषों से उत्पन्न होने वाले अर्शों की विभिन्न आकृतियों को यहाँ दर्शाया गया है।

तेषामयं विशेषः-शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि, तीक्ष्णाग्राणि, वक्राणि, स्फुटितमुखानि, विषमविसृतानि, शूलाक्षेपतोदस्फुरण-चिमिचिमासंहर्षपरीतानि, स्निग्ध्योष्णोपशयानि, प्रवाहिकाष्मानशिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि, प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि, ऊरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिबस्तिशूलशिरोऽभितापक्षथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायामशोषशोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूल-स्वरोपघातकराणि, श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्वणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥११॥

भवतश्चात्र–

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ॥१२॥

लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च। शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥१३॥

वातज अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja arśa)–वात प्रधान अर्श में अधोलिखित लक्षण विशेष रूप से पाये जाते हैं।

- → यह अर्श विशेष रूप से शुष्क (dry-अर्शांकुर सूखे हुए), म्लान (झुर्री युक्त-Wrinkled), कठिन (Hard), परुष (Rough) एवं श्याव वर्ण युक्त (greyish in colour) होते हैं।
- → मांसाङ्कुर के अग्र भाग तीक्ष्ण (Sharp tips), टेढे (Curved), फटे हुए मुख वाले (Cracks on the surface) तथा विषम रूप से फैले हुए होते हैं।
- → वातज अर्श से पीड़ित रोगी के मासाङ्कुरों में शूल (Pain), आक्षेप (cramps), तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना-Piercing pain), स्फुरण (throbbing pain), चिमचिमाहट (Itching) तथा संहर्ष (रोमहर्ष) [Numbness and tingling sensation] पाया जाता है।

Scanned by CamScanner

→ रोगी को स्निग्ध एवं उष्ण वस्तुओं के सेवन से आराम मिलता है अर्थात् स्निग्ध एवं उष्ण उपचार द्वारा व्याधि में आराम मिलता है।

→ रोगी प्रवाहिका (Dysentery), आध्मान (Abdominal distension), मूत्रेन्द्रिय, वृषण, बस्ति, वंक्षण एवं हृदय प्रदेश में जकड़ाहट का होना, अङ्गमर्द (सम्पूर्ण शरीर में मर्दनवत् पीड़ा का होना) एवं हृद्द्रव (हृदय की धड़कन का बढ़ जाना) जैसी व्याधियों से पीड़ित रहता है।

→ वात (अपान वायु), मूत्र एवं पुरीष रुक-रुक कर बंधा हुआ निकलना।

→ उरु (thigh), कटि (Lumber region), त्रिक् (Sacral region), पार्श्व (Sides), कुक्षि (Sides of the abdomen) व बस्ति प्रदेश (Urinary bladder) में शूल का होना, सिर में दर्द का होना (Headache), क्षवथु (Sneezing-छींक का आना), उद्गार (eructation), प्रतिश्याय (Coryza-सर्दी-जुकाम का होना), कास (Cough), उदावर्त (upward movement of vāyu-वायु का ऊर्ध्वगमन), आयाम (Stretching-शरीर में खिंचावट का अनुभव होना), शोष (शरीर धातुओं का शुष्क होना-Consumption), शोथ (Oedema), मूर्च्छा (Fainting), अरोचक (Anorexia), आस्य वैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना), तिमिर (आँखों के सामने अंधकार छाना), कण्डू (Itching), नासिका, कर्ण एवं सिर में शूल का होना (यहाँ सिर से Temporal Region गृहीत है) तथा स्वरोपघात (Impairment of the voice) का होना।

→ आतुर के नेत्र (चक्षु), नख, मुख, त्वचा एवं पुरीष का रंग श्याव (greyish), अरुण (Reddish) एवं परुष (Rough) हो जाता है।

इन लक्षणों को रोगी में देखकर यह समझ लेना चाहिए कि उत्पन्न अर्श वात प्रधान है।

वातिक अर्श के हेतु (Etiology of Vātika Arśa)–संक्षेप में वातिक अर्श के निम्नलिखित कारण हैं–

→ कषाय, कटु एवं तिक्त रस प्रधान आहार द्रव्यों का सेवन।

→ रूक्ष, शीतल एवं लघु गुण युक्त द्रव्यों का अत्यधिक प्रयोग।

→ नपा-तुला (प्रमिताशन) भोजन करना अथवा अत्यन्त अल्प मात्रा में भोजन करना।

→ तीक्ष्ण मद्यों का सेवन, अत्यधिक मैथुन करना।

→ अत्यधिक लंघन करना, शीतल देश (Place) एवं शीत काल।

→ अत्यधिक व्यायाम करना, अत्यधिक शोक करना।

→ वायु एवं आतप का अत्यधिक सेवन करना।

चक्रपाणि–अर्श के सामान्य लक्षणों के विद्यमान होते हुए भी वातिक अर्श के विशेष निश्चायक लक्षण क्या हैं, इसके विवेचन को यहाँ 'तेषामयं विशेष इति' के द्वारा बताया गया है। **अयमिति**-आगे वर्णित लक्षणों एवं कारणों (हेतुओं) के द्वारा ही वातादि जन्य अर्श का विशेष ज्ञान हो जाता है। यद्यपि यहाँ विशेष अभिधान के प्रसङ्ग में पहले हेतु का ही अभिधान किया जाता है, फिर भी संस्थान (आकृति) रूप लिङ्ग (लक्षणों) के अभिधान के साथ-साथ अथवा प्रतिलोम व्याख्या के आधार पर लिङ्ग का ही अभिधान 'शुष्कम्लानेत्यादि' के द्वारा पहले किया गया है, उसके बाद 'कषायेत्यादि' के द्वारा हेतु को बताया गया है। इसी प्रकार पित्तज एवं कफज अर्श में भी व्यतिक्रम सिद्धान्त से हेतु व लक्षणों का अभिधान किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

प्रमिताशनम् अत्यल्पाशनम्=अत्यधिक अल्प मात्रा में भोजन करना।

आतपस्पर्शो यद्यप्युष्णस्तथाऽपि रूक्षतया वातजनकः–धूप का स्पर्श यद्यपि उष्ण होता है फिर भी रूक्षता उत्पन्न होने के कारण वातवर्धक होता है। कहा भी गया है, यथा-"आतपः कटुको रूक्षः" [आतप के द्वारा कटुरस एवं रूक्षता की वृद्धि होती है।]

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत के अनुसार-वातिक अर्श के अङ्कुर शुष्क, लाल, काले-नीले तथा कदम्ब के पुष्प के समान अथवा जंगली कपास के पुष्प के सदृश अथवा नलिका के समान अथवा पुष्प के मुकुल के समान होते हैं। वातिक अर्श से आक्रान्त पुरुष कठिन मल का त्याग करता है, साथ में कटि, पार्श्व, मेढ़्र व गुदा में पीड़ा होती है। यथा-"तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणविवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुकुलसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति" (सु.नि. २/१०) इति

मृदुशिथिलसुकुमाराण्यस्पर्शसहानि, रक्तपीतनीलकृष्णानि, स्वेदोपक्लेदबहुलानि, विस्रगन्धितनुपीतरक्तस्रावीणि, रुधिरवहानि, दाहकण्डू-शूलनिस्तोदपाकवन्ति, शीतोपशयानि, संभिन्नपीतहरितवर्चांसि, पीतविस्रगन्धिप्रचुरविण्मूत्राणि, पिपासाज्वरतमकसंमोहभोजनद्वेषकराणि पीतन-खनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ।।१४।।

Scanned by CamScanner

भवतश्चात्र–

कटूष्णालवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः । देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ।।१५।।
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् । पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ।।१६।।

पैत्तिक अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Paittika Arśas)–पैत्तिक अर्श में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ पैत्तिक अर्श स्पर्श में मृदु (Soft), शिथिल (Flabby), सुकुमार तथा स्पर्श को न सह सकने वाले (Tender) होते हैं ।

→ अर्श का वर्ण रक्त (Red), पीत (Yellow), नील (Blue) अथवा कृष्ण (Black) होता है ।

→ अर्श रोगी में पसीना अत्यधिक निकलता है तथा अर्श से क्लेद (जलीय स्राव) निकलता रहता है ।

→ अर्शाङ्कुर से विस्रगंध (मांस के सदृश गंध-कच्चे मांस जैसी गंध) आती है एवं उससे निकलने वाला स्राव पतला, पीला अथवा रक्त वर्ण का होता है अथवा अर्श से रक्त का स्राव होता है ।

→ अर्शाङ्कुर दाह युक्त, कण्डू युक्त, शूल युक्त एवं तोद युक्त होते हैं तथा इनमें पाक की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

→ शीतल उपचार से इसमें लाभ मिलता है ।

→ आतुर का पुरीष पतला, पीत एवं हरित वर्ण का होता है ।

→ रोगी का मल एवं मूत्र-पीत वर्ण, विस्रगंधी (कच्चे मांस के धोने जैसी गंध) एवं अत्यधिक मात्रा में निकलता है ।

→ व्यक्ति पिपासा (Morbid thirst), ज्वर (Fever), तमक श्वास (Asthma), मोह (Fainting) एवं अन्नद्वेष से पीड़ित रहता है ।

→ पैत्तिक अर्श के रोगी के नख, नेत्र, त्वचा, मूत्र एवं पुरीष पीत वर्ण के होते हैं ।

पैत्तिक अर्श के हेतु [Etiology of Paittika Arśas (Piles)]–संक्षेप में पैत्तिक अर्श के निम्नांकित कारण हैं–

१. कटु, उष्ण, लवण एवं क्षार युक्त द्रव्यों का अत्यधिक सेवन ।

२. व्यायाम करना (अत्यधिक), अग्नि (आग) के पास अधिक समय तक बैठना या रहना, आतप (धूप) का अत्यधिक सेवन करना।

३. उष्ण देश एवं उष्ण काल ।

४. अत्यधिक क्रोधित होना, अत्यधिक मद्य पीना एवं दूसरे की निन्दा करना, विदाही, तीक्ष्ण व उष्ण औषध, अन्न एवं पान का सेवन।

चक्रपाणि–'मृद्वित्यादि' के द्वारा पैत्तिक अर्श का अभिधान किया गया है । शिथिलानि=कोमलानि (कोमल-मुलायम होना-Soft) । सुकुमार=कर्कश न होना अर्थ गृहीत है ।

रक्तपीतस्रावीणीति–यहाँ रक्त शब्द से रक्त वर्ण का ग्रहण किया गया है, अर्थात् अर्श से निकलने वाला स्राव रक्त एवं पीत वर्ण का होता है ।

'रुधिरवहानीति' पद के द्वारा रक्त के स्राव को ही कहा गया है ।

प्रथमं विस्रगन्धीति रक्तविशेषणम्–प्रथम प्रयुक्त 'विस्रगंधि' शब्द रक्त की विशेषता को बताता है । द्वितीय विस्रगंधी शब्द मल एवं मूत्र की विशेषता को दर्शाता है, अर्थात् पुरीष एवं मूत्र का विस्रगंध (कच्चे मांस के समान गंध का होना) युक्त होना । प्रथम पीत शब्द का कथन पुरीष के वर्ण-हरित एवं पीत के उपदेशार्थ हुआ है । द्वितीय विस्रगंध के साथ पीतवर्णता का उपदेश हुआ है । तृतीय 'पीतनखेत्यादि' के साथ इसका उल्लेख हुआ है, अर्थात् नखादि का पीत वर्ण का होना ।

'कटूष्णेत्यादि' में प्रथम 'उष्ण' पद का प्रयोग उष्ण स्पर्श हेतु हुआ है तथा द्वितीय 'उष्ण' पद से उष्ण वीर्य वाले आहार द्रव्यों का ग्रहण है अथवा इसके स्थान पर 'कट्वम्ललवणक्षार' पाठ उपलब्ध होता है ।

तत्र यानि प्रमाणवन्ति, उपचितानि, श्लक्ष्णानि, स्पर्शसहानि, स्निग्धश्वेतपाण्डुपिच्छिलानि, स्तब्यानि, गुरूणि, स्तिमितानि, सुप्तसुप्तानि, स्थिरश्लथयूनि, कण्डूबहुलानि, बहुप्रततपिङ्गरश्वेतरक्तपिच्छास्रावीणि, गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि, रूक्षोष्णोपशयानि, प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति, परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियोपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि, दीर्घकालानुबन्धीनि, अतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराणि, आमविकारप्रबलानि, शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यशर्सीसीति विद्यात् ।।१७।।

Scanned by CamScanner

भवतश्चात्र–
मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च । अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ।।१८।।
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् । श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ।।१९।।

कफज अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Arśas)–कफज अर्श में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ अर्शाङ्कुर प्रमाण में बड़े (Large in size), उपचित (पुष्ट), श्लक्ष्ण (चिकना), स्पर्श को सहन करने वाला (Pain less to touch), स्निग्ध (unctuous), श्वेत, पाण्डु, पिच्छिल, स्तब्ध (जकड़े हुए), गुरु (Heavy), स्तिमित (गीले कपड़े से ढके हुए के समान प्रतीत होना), शून्यता युक्त, स्थिर शोथयुक्त (Having constant oedema) तथा अत्यधिक कण्डू युक्त होते हैं ।

→ रोगी के मूत्र व पुरीष गुरु (Heavy), पिच्छिल एवं श्वेत होते हैं ।

→ रूक्ष एवं उष्ण आहार-विहार से आतुर को लाभ होता है ।

→ मरोड़ के साथ अत्यधिक मल त्याग की इच्छा का होना ।

→ वंक्षण प्रदेश में आध्मान का होना ।

→ व्यक्ति परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी वेदना का होना), हृल्लास (Nausea), निष्ठीविका (Excessive spitting-थूक का बार-बार निकलना), कास (Cough), अरोचक (Anorexia), प्रतिश्याय (सर्दी-जुकाम का होना), गौरव (शरीर में भारीपन का होना), छर्दि (Vomiting), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), शोष (Consumption), शोथ (Oedema), पाण्डु (Anaemia), शीतज्वर (ठण्ड देकर ज्वर का आना), मूत्राश्मरी, शर्करा (मूत्रशर्करा का होना), हृदयेन्द्रिय उपलेप (हृदय एवं ज्ञानेन्द्रियों को गीले कपड़े से ढक दिया गया हो, इस प्रकार का अनुभव होना), मुख माधुर्यता (मुख में मधुररस की प्रतीति का होना) एवं प्रमेह रोग से ग्रसित रहता है।

→ अर्श का दीर्घकाल तक बने रहना ।

→ अत्यधिक रूप से अग्नि का मृदु होना, क्लैव्यता का पाया जाना तथा आम विकारों (अजीर्ण) का प्रबल रूप से पाया जाना।

→ नख, नेत्र, वदन (मुख), त्वक्, मूत्र एवं पुरीष (मल) का श्वेत वर्ण का होना ।

ये सभी लक्षण कफ प्रधान अर्श में पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

कफज अर्श के हेतु (Etiology of Kaphaja Arśa)–संक्षेप में कफज अर्श के निम्नलिखित हेतु होते हैं–

१. मधुर, स्निग्ध, शीत, लवण, अम्ल एवं गुरु द्रव्यों का अत्यधिक सेवन ।

२. व्यायाम का न करना, दिन में सोना (Sleeping during day time), आरामदायक-विस्तर, आसन का अत्यधिक उपयोग ।

३. पूर्वी हवाओं का अत्यधिक सेवन ।

४. शीतल देश (Place) एवं काल (शीत ऋतु) ।

५. अचिन्तनम् (चिन्ता ग्रस्त न रहना) [Mental inactivity]

चक्रपाणि–'तत्र यानीत्यादि' के द्वारा कफज अर्श का अभिधान किया गया है। प्रमाणवन्तीति=आकृति में बड़ा होना। **सुप्तसुप्तानीति**-अत्यधिक निश्चेतन होना (चेतना शून्य होना)। **दीर्घकालानुशयानीति दीर्घकालानुबन्धीनि**-अर्श का दीर्घ काल तक बने रहना । ।।१७-१९।।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत के अनुसार कफज अर्श श्वेत, महामूल वाले, कठिन (Hard), गोल, चिकना, पाण्डु वर्ण युक्त तथा ये आकृति में करीरफल अथवा कटहल की गुठली अथवा द्राक्षा के फल के समान होते हैं । ये फूटते नहीं हैं, इनमें से रक्त आदि का स्राव भी नहीं निकलता, अपितु, इनमें खुजली (Itching) ज्यादा होती है ।

[श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि, न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति ।) सु.नि. २/१२]

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वोल्बणानि च । सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणैः समम् ।।२०।।

द्वन्द्वज व सन्निपातज अर्श के हेतु एवं लक्षण–जिस अर्श में दो दोषों के हेतु एवं लक्षण प्राप्त होते है उन्हें द्वन्द्वज तथा जिनमें तीनों दोषों के हेतु एवं लक्षण प्राप्त होते हों उन्हें सान्निपातज जानना चाहिए । सहज अर्श इन्हीं हेतु एवं लक्षणों से युक्त होता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'हेतुलक्षणेत्यादि' सूत्र में 'द्वन्द्वोल्बण' शब्द का प्रयोग द्वन्द्वज अर्श के लिए हुआ है। द्वन्द्वज अर्श में दो दोष मुख्य रूप से बढ़े हुए होते हैं तथा तीसरा दोष अल्प रूप में वृद्ध रहता है अथवा दो की तुलना में कम बढ़ा रहता है।

सर्वो हेतुरिति–यथोक्तसर्वहेतुः-सभी दोष अपने-अपने हेतुओं के द्वारा वृद्ध होकर त्रिदोषज अर्श को उत्पन्न करते हैं। इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप से मिलते हैं।

सहजैः लक्षणैः सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां भवति–सहज अर्श में भी तीन दोष एवं उनके प्रकोपक हेतु कारण हैं, इनके भी लक्षण दोषानुसार ही मिलते हैं। अर्थात् दोषज अर्श के समान ही सहज अर्श के भी भेद होते हैं।

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च। कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ।।२१।।
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च। पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ।।२२।।

अर्श के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Piles)–

१. अन्न का विष्टम्भित होना, अर्थात् कोष्ठबद्धता (Constipation) का होना।

२. शरीर का दुर्बल होना (Weakness), उदर में गुड़गुड़ाहट की आवाज आना (Gurgling sound in the lower abdomen)

३. शरीर का कृश हो जाना (Emaciation)।

४. उद्गार का अधिक आना। उद्गार=डकार (Frequent Eructation)।

५. सक्थि में मन्द-मन्द पीड़ा का होना (Weakness in the thighs)।

६. अल्प मात्रा में मल (पुरीष) का निकलना।

७. ग्रहणी, पाण्डु एवं उदररोग से आक्रान्त होने की आशंका बनी रहना।

ये सभी लक्षण अर्श के पूर्वरूप में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–विष्टम्भः अप्रचलत्वम् (मलावरोध का होना)। आटोपः= उदर से गुड़गुड़ ध्वनि का सुनाई देना। रोगी को यह शंका बनी रहती है कि वह ग्रहणी, पाण्डुरोग एवं उदररोग से पीड़ित है, न कि वह इन व्याधियों से पीड़ित रहता है। ।।२१-२२।।

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ।।२३।।

सभी प्रकार के अर्श त्रिदोषज होते हैं–निश्चय ही सभी प्रकार के अर्श त्रिदोषज होते हैं। अर्थात् कोई भी अर्श बिना तीनों दोषों की वृद्धि के नहीं होता, लेकिन दोषों की प्रबलता के अनुसार ही उनका नामकरण किया जाता है।

चक्रपाणि–अर्शों के त्रिदोषज होते हुए भी उनके एक दोषजत्व आदि के उपदेश के हेतु को 'अर्शांसीत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यद्यपि 'सान्निपतितैं' शब्द के प्रयोग से तीनों दोषों के मेलक का भाव प्राप्त हो जाता है, फिर भी **'त्रिभिरिति'** पद का प्रयोग-तीनों दोषों में जो दोष प्रधान होता है, उसके उपदेशार्थ हुआ है। **दोषविशेषादिति उल्बणरूपवातादिविशेषात्**-प्रधानरूप वातादि दोषों की विशेषता से, अर्श त्रिदोषज होते हुए भी उसमें जो दोष प्रधान रूप से प्रकुपित रहता है उसी के अनुसार उसका नाम दिया जाता है।

विशेष इति–यह वातज है, यह पित्तज है आदि। वातज-वात, पित्तज-पित्त, कफज-कफ प्रधान होता है।

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ।।२४।।
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च। सर्वदोषोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ।।२५।।

अर्श की कृच्छ्र-साध्यता–गुदा में उत्पन्न होने वाले अर्श में पाँचों प्रकार की वायु (पञ्चात्मा वायु), पाँचों प्रकार के पित्त एवं पाँचों प्रकार के कफ, गुदा की तीनों वलियों में प्रकुपित होते हैं। अतः अर्श अत्यन्त दुःखदायक, अनेक प्रकार की व्याधियों का उत्पादक, शरीर को अत्यन्त ताप (दुःख) पहुँचाने वाला होने से प्रायः कृच्छ्रसाध्य होता है।

चक्रपाणि–पञ्चात्मेति-इससे वायु के पाँच प्रकार, यथा-प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान; का ग्रहण किया गया है। ।।२४-२५।।

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा। शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ।।२६।।
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग् ज्वरः। तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ।।२७।।
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाप्यन्तरां बलिम्। जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ।।२८।।
शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते। याप्यन्ते दीप्तकाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ।।२९।।

Scanned by CamScanner

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च । कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ।।३०।।
बाह्यायां तु बलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च । अशांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ।।३१।।
तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः । तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ।।३२।।

साध्यताऽसाध्यता (Prognosis)–१. यदि रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा एवं वृषण में शोथ हो तथा रोगी हृद्शूल एवं पार्श्व शूल से पीड़ित हो, ऐसा अर्श रोगी असाध्य होता है ।

२. वह रोगी जो हृत्शूल व पार्श्व शूल से पीड़ित हो, मूर्च्छा (Fainting), छर्दि (Vomiting), सर्वाङ्ग शूल, ज्वर, तृष्णा व गुदपाक से पीड़ित हो; ऐसे रोगी में होने वाला अर्श आतुर की जीवन लीला समाप्त कर देता है ।

३. सहज अर्श जो त्रिदोषज हो तथा गुदबलीत्रय के आभ्यन्तर भाग में आश्रित हो; ऐसे अर्श को असाध्य समझना चाहिए ।

४. पूर्व निर्दिष्ट लक्षणों के मिलने पर भी यदि रोगी की आयु शेष हो, चिकित्सा के चारो पाद युक्तियुक्त हों, व्यक्ति की जाठराग्नि दीप्त हो; ऐसा रोगी याप्य होता है, इससे भिन्न को प्रत्याख्येय समझना चाहिये ।

५. जो अर्श द्वितीय बली के आश्रित हों अथवा द्विदोषज हो (दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न हो), अथवा जो अर्श एक वर्ष पुराना हो गया हो वह कृच्छ्र-साध्य होता है ।

६. जो अर्श बाह्य बलियों के आश्रित हो, अथवा एक दोष की प्रधानता वाला हो तथा जो अधिक पुराना न हो; ऐसा अर्श सुखसाध्य होता है ।

एक योग्य चिकित्सक को चाहिए कि उनके (अर्शों के) प्रशमन हेतु शीघ्र प्रयास करे, नहीं तो वे गुदमार्ग को अवरुद्ध कर शीघ्रता पूर्वक **बद्धगुदोदर** को उत्पन्न कर देते हैं । ॥२६-३२॥

चक्रपाणि–'हस्तेत्यादि' के द्वारा अर्श की साध्यासाध्यता के विभाग को बताया गया है । **अङ्गस्य रुगिति**-सम्पूर्ण अंगों में वेदना का होना ।

शेषत्वात् आयुष इति–आयु के शेष होने पर, यह अभिप्राय है ।

समन्वित इति भावे क्तः–समन्वित भाव के अर्थ में 'क्त' प्रत्यय का प्रयोग होता है । इससे चारों पादों के समन्वित प्रयास का ग्रहण किया गया है । अर्थात् असाध्य के लक्षणों के मिलने पर भी यदि रोगी की आयु शेष है तब भिषक्, द्रव्य, उपस्थाता एवं रोगी के गुणयुक्त होने पर रोगी अपनी निर्धारित आयु को पूर्ण कर लेता है । ॥२६-३२॥

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम् । दाहं क्षारेण चाप्येके, दाहमेके तथाऽग्निना ।।३३।।
अस्त्येतद्भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा । क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र सुदारुणः ।।३४।।
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदि वेगविनिग्रहः । आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम् ।।३५।।
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च । मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।।३६।।
यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम् । तदर्शसां प्रवक्ष्याम समूलानां निवृत्तये ।।३७।।

अर्श की चिकित्सा सम्बन्धी विभिन्न विचार–कुछ चिकित्सक अर्श को शस्त्र से कर्तन (काटना) हितकर मानते हैं, कुछ क्षार द्वारा जलाना हितकर स्वीकार करते हैं तथा कुछ अग्नि से जलाना उचित मानते हैं । इस प्रकार इन तीन कर्मों (शस्त्र, क्षार व अग्निकर्म) का प्रयोग वही व्यक्ति (चिकित्सक) कर सकता है जो अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया हो, बुद्धिमान हो एवं कर्मों का प्रत्यक्ष अभ्यास किया हो । यदि अज्ञ (अल्पज्ञ) वैद्य इन कर्मों का प्रयोग करता है तब कर्मों के भ्रंश (त्रुटि) से अनेक प्रकार की भयङ्कर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यथा- पुंसत्वोपघात (Impotency), गुदा में सूजन (Swelling in the anus), वेगों का रुक जाना (पुरीष के वेग का रुक जाना Lack of urge for defecation), आध्मान (Abdominal distension), भयङ्कर रूप से उदर में शूल होना (Excruciating pain), व्यथा (शरीर में व्यथा का होना), रक्त का अत्यधिक स्राव होना (Excessive bleeding), मांसाङ्कुरों का फिर से निकल आना, अर्श छेदनोपरान्त व्रण के भर जाने पर गुदा से जलीय स्राव का निकलना, गुदभ्रंश (Prolapse of the rectum) का होना अथवा मृत्यु का होना ।

ये सभी व्याधियाँ शस्त्र, क्षार अथवा अग्निकर्म के विभ्रम (अनुचित प्रयोग) से उत्पन्न होती हैं । वह कर्म जिसे सुखपूर्वक किया जा सके, जिसमें अल्प हानि होने की संभावना हो, दारुण (कठिन) न हो एवं जिसके प्रयोग से अर्श समूल विनष्ट हो जाय; अब आगे ऐसे कर्मों का उपदेश किया जा रहा है–

चक्रपाणि–'तत्रेत्यादि' के द्वारा अर्श की चिकित्सा को बताया गया है । कर्तनम् छेदन (Excision-अर्श को काटकर निकालना) ।

Scanned by CamScanner

भूरितंत्राणि अधीतानि येन स भूरितन्त्रः- जिसके द्वारा अनेक तन्त्रों का अध्ययन किया गया हो, उसे भूरितन्त्रः कहा गया है। अर्थात् जो अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया हो, ऐसा पुरुष 'भूरितन्त्र' कहा जाता है। इस प्रकरण का भाव यह है कि शिक्षित चिकित्सक के द्वारा ही इस प्रकार का शस्त्रकर्म किया जाना चाहिये। पुनर्विरोहः=पुनरुत्पत्ति (Recurrence)। रूढानां रूढव्रणानाम्-भरे हुए घाव ॥३३-३६॥

विशेष (Comments)–अर्श की चिकित्सा कैसे की जाय, इस सम्बन्ध में आचार्यों के अपने-अपने विचार प्राप्त होते हैं-

१. कुछ आचार्य शस्त्र द्वारा अर्श का कर्तन (छेदन) हितकर मानते हैं।

[Some physicians advocate the excision of the piles mass by sharp edge instruments as an useful therapy- Dr. R.K. Sharma and Bhagvan Das]

२. कुछ चिकित्सक क्षार द्वारा अर्श को जला देना हितकर स्वीकार करते हैं।

३. कुछ लोग अग्नि द्वारा अर्श को जलाना हितकर मानते हैं। इन तीन कर्मों का प्रयोग शल्यशास्त्रविद्, प्रत्यक्ष कर्माभ्यास एवं बुद्धिमान चिकित्सक करते हैं। अर्थात् विद्वान् चिकित्सक इन्हीं तीन कर्मों द्वारा अर्श की चिकित्सा करते है। इनके अनुचित प्रयोग करने पर आतुर में भयङ्कर उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

'पुंसत्वेत्यादि' के द्वारा अनुचित प्रयोग से होने वाले उपद्रवों को बताया गया है।

गुदवेगविनिग्रहः पुरीषवेगो गुदेन यद्भवति तद्विनिग्रहः स्यात्-गुदा से उत्पन्न पुरीष वेग का रुकना 'गुदवेगविनिग्रह' कहलाता है। **समूलानां निवृत्तये**-कारण सहित अर्श को दूर करने की चिकित्सा का अभिधान (भेषज चिकित्सा-औषध प्रयोग) आगे बताया जा रहा है।

वातश्लेष्मोल्बगान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः । प्रस्रावीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥३८॥
तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् । स्तब्धानि स्वेदयेत् पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥३९॥
चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य बुद्धिमान् । यवमाषकुलत्थानां पुलाकानां च पोट्टलैः ॥४०॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा । वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥४१॥
शक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा । शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥४२॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्हपुषैरपि । इष्टकस्य खराह्वायाः शाकैर्गृञ्जनकस्य वा ॥४३॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत् पोट्टलीकृतैः । वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत् ॥४४॥
मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च । अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥४५॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् । कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥४६॥
बिल्वक्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके । गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ॥४७॥
कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम् । वसामभ्यञ्जने दद्याद्धूपनं चार्शसां हितम् ॥४८॥
नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च । अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥४९॥
तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम् । बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम् ॥५०॥
वराहवृषविट् चैव धूपनं सक्तवो घृतम् । कुञ्जरस्य पुरीषं तु घृतं सर्जरसस्तथा ॥५१॥
हरिद्राचूर्णसंयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनम् । गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥५२॥
शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः । अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ॥५३॥
पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः । प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः ॥५४॥
दन्ती श्यामाऽमृतासङ्गः पारावतशकृद्वुडः । प्रलेपः स्याद्गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥५५॥
प्रलेपः स्यादलं कोष्णं वासन्तकवसायुतम् । शूलश्वयथुहृद्युक्तं चुलूकीवसयाऽथवा ॥५६॥
आर्कं पयः सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः । करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥५७॥
अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः । स्तम्भश्वयथुकण्डूवर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः ॥५८॥
प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि । संचितं दुष्टरुधिरं ततः संपद्यते सुखी ॥५९॥
शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति । रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥६०॥
जलौकोभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः । अवर्तमानं रुधिरं रक्तार्शोभ्यः प्रवाहयेत् ॥६१॥

अर्श के प्रकार–अर्श विशेषज्ञ अर्श के दो भेद स्वीकार करते हैं-

१. शुष्क अर्श (dry piles)– यह अर्श वात व कफ की उल्बणता (वृद्धि) से होता है अर्थात् इस अर्श में वात व कफ की प्रधानता रहती है।

Scanned by CamScanner

२. आर्द्र अर्श (Exudating or wet piles)–इस अर्श में रक्त व पित्त की प्रधानता (उल्वणता) रहती है अथवा रक्त व पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है ।

(क) शुष्क अर्श की चिकित्सा (Treatment of Dry Piles)–सबसे पहले शुष्क अर्श (dry piles) की चिकित्सा को बताया जा रहा है-

जो अर्श स्तब्धता (जकड़ाहट-Stiffness) से युक्त हो, उसमें शोथ एवं दर्द हो रहा हो; ऐसे अर्श में सर्वप्रथम स्वेदन कराना चाहिए।

अर्श में स्वेदन क्रिया–१. चित्रकमूल, यवक्षार एवं बिल्व; इनके कल्क से निर्मित तैल को गुदा पर लगावें, पश्चात् यव, माष (उड़द), कुलत्थी एवं पुलाक (पइया धान-जिसमें दाने न हों, पुलाक=थोथा या मुरझाया हुआ अन्न) की पोट्टली द्वारा अथवा-गाय, खर (गधा), अश्व-के गोबर की पोट्टली द्वारा, अथवा तिल कल्क (Paste of the til) एवं धान की भूसी के पोट्टली द्वारा, अथवा वचा व सौंफ के पिण्ड में स्नेह (घृत या तैल) मिलाकर गुदा का सुखोष्ण स्वेदन करें ।

२. तैल एवं घृत द्वारा गुदा को स्नेहित करने के बाद सत्तू (यव का सत्तू) के पिण्ड द्वारा स्वेदन करें, अथवा सूखी मूली का पिण्ड, या सहिजन की छाल के पिण्ड अथवा रास्ना के पिण्ड, या हपुषा (हाऊबेर) के पिण्ड द्वारा घृत व तैल मिलाकर सुखोष्ण सेंक करें ।

३. अर्श के ऊपर कुष्ठतैल को चुपड़कर ईंट को गरम कर सुखोष्ण स्वेदन करें, अथवा अजमोदा की पोट्टली द्वारा, या गाजर के पत्ती की पोट्टली द्वारा सेंक करना चाहिए, अर्थात् पोट्टली को सुखोष्ण गरम करके सेंक करें ।

अर्श में अवसेचन योग (Recipe for sprinkling)–वृष (वासा या अडूसा), अर्क (मदार), एरण्ड तथा बिल्व; इन द्रव्यों के पत्रों (पत्तों) का क्वाथ (Decoction) बनाकर, अर्श के ऊपर छिड़काव करें, अर्थात् क्वाथ का छिड़काव गुनगुनाकर ही करना चाहिए ।

अवगाहन योग (Bath-Recipes for bath)–१. यदि मांसाङ्कुरों में शूल हो रहा हो तब उसमें तैल चुपड़कर-मूली, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), अर्क (मदार), वेणु (बाँस) की पत्ती, वरुणपत्र, अग्निमन्थ की पत्ती, सहिजन की पत्ती तथा अश्मन्तक की पत्ती; द्वारा निर्मित गुनगुने क्वाथ को एक बड़े टब (Tub) में भरकर रखें एवं रोगी उसमें बैठकर गरम-गरम स्वेदन लें ।

२. बेर की पत्ती द्वारा निर्मित क्वाथ को टब में भरकर अवगाहन करें ।

३. अथवा गरम-गरम सौवीरक (Sour Gruel-खट्टी काञ्जी) अथवा तुषोदक में अवगाहन करें ।

४. बिल्व क्वाथ या तक्र, या दधिमण्ड (दही का पानी) अथवा अम्ल काञ्जी, अथवा गोमूत्र में अवगाहन करें । यह कार्य अर्श रोगी अर्श के ऊपर स्नेह का अभ्यंग करके एवं इन द्रवों को गुनगुना कर एक बड़े Tub में भरकर उसमें स्वयं बैठे ।

अर्श में धूपन का प्रयोग–१. कृष्ण सर्प की वसा (काले साँप की चर्बी), सूअर की वसा, ऊँट (Camel) की वसा, चमगादड़ की वसा, बिल्ली (Cat) की वसा का अभ्यङ्ग अर्श के ऊपर करके, धूप लेना चाहिए ।

२. नृकेश (आदमी के सिर के बाल), साँप की केंचुल, बिल्ली की त्वचा, अर्कमूल (मदार की जड़) तथा शमी के पत्र; इनका धूम अर्श के ऊपर करना चाहिए, अर्थात् इन द्रव्यों का धुँआ अर्श के ऊपर देना चाहिए ।

३. (क) तुम्बरु (धनियाँ), वायविडंग, देवदारु, अक्षत (साबुत यव), गोघृत ।

(ख) बृहती (वनभण्टा), अश्वगंधा, पिप्पली, तुलसीपत्र एवं गोघृत ।

(ग) वराह (सूअर) की विष्ठा, गोबर (गाय की विष्ठा), यव का सत्तू एवं गोघृत ।

(घ) कुञ्जर (हाथी) की विष्ठा (पुरीष), गोघृत एवं सर्जरस ।

अलग-अलग बताये गये द्रव्यों को अग्नि पर डालकर उनके धुएं का सेवन अर्श रोगी को करना चाहिए । धूमसेवन का अभिप्राय-'धुआ अर्शाङ्कुर पर लगना चाहिए' से है ।

अर्श में लेप का प्रयोग–अधोलिखित लेपों का प्रयोग अर्श रोगी को करना चाहिए–

१. हरिद्रा चूर्ण एवं सेहुण्ड का दुग्ध एक में मिश्रित कर लेप बनावें । इस लेप का प्रयोग अर्श के अङ्कुरों पर करें ।

२. पिप्पली व हल्दी को गाय के पित्त में पीस कर लेप बनावें एवं इसका प्रयोग अर्शाकुरों पर करें ।

३. शिरीष का बीज, कूठ, पिप्पली, सैन्धव नमक एवं गुड़; सभी द्रव्यों को सील पर पीसकर कल्क जैसा बना लें तथा इसका लेप अर्श पर करें ।

Scanned by CamScanner

४. पिप्पली, चित्रकमूल, काली निशोथ, सुराकिट्ट, मदनफल, कुक्कुट शकृत (मुर्गे की विष्ठा), हरिद्रा (हल्दी) एवं गुड़; सभी द्रव्यों को एक में पीसकर कल्क बना लें तथा इसका लेप अर्श में करें।

५. दन्ती, काली निशोथ, अमृतासंग (तूतिया), पारावत शकृत (कबूतर का पुरीष) एवं गुड़; सभी द्रव्यों को एकत्र सील पर पीस लें एवं इसका लेप अर्शाङ्कुरों पर करें।

६. हाथी की हड्डी, नीम का बीज व भल्लातक की गुठली; सभी द्रव्यों को एकत्र कर सील पर पीस लें व इसका लेप अर्श के मस्से पर करें।

७. अशुद्ध हरताल को ऊँट की वसा के साथ पीसकर अर्श के मस्से पर लेप लगावें।

८. अशुद्ध हरताल को चुलुकी वसा (एक प्रकार की मछली की वसा) के साथ पीसकर कल्क बना लें एवं इसका लेप मांसांकुरों पर करें। इसके प्रयोग से अर्श के शूल एवं शोथ दोनों नष्ट हो जाते हैं।

९. मदार का दुग्ध (अर्कक्षीर), सेहुण्ड का तना, तितलौकी की पत्ती, करञ्ज पत्र; सभी द्रव्यों को बकरे के मूत्र के साथ पीस कर कल्क बना लें तथा इस कल्क का लेप अर्शाङ्कुरों के ऊपर करें। यह अत्यन्त उपयोगी लेप है।

१०. कृष्णसर्पादि (श्लोक नं० ४८) से लेकर आर्क:पय: (श्लोक नं० ५७) तक जितने भी अभ्यंग योग एवं लेप बताये गये हैं वे सभी अर्श में उत्पन्न जकड़ाहट, शोथ, कण्डू व वेदना को दूर करते है।

उपर्युक्त प्रलेपों के प्रयोग से अर्शाङ्कुरों में सञ्चित दूषित रक्त स्रवित हो जाता है जिसके कारण रोगी को आराम मिल जाता है। शीत, उष्ण, स्निग्ध एवं रुक्ष चिकित्सा के प्रयोग द्वारा भी यदि व्याधि शान्त नहीं होती है तब रक्त की दुष्टि है, ऐसा जानकर चिकित्सक को रक्तस्राव करना चाहिए। रक्तज अर्श में अप्रवृत्त रक्त की प्रवृत्ति हेतु बार-बार जलौका, शस्त्र एवं सूची का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् रक्तनिर्हरण अल्प मात्रा में बार-बार कराना चाहिए।

चक्रपाणि-'वातश्लेष्मोल्बणानीति' से यहाँ यद्यपि कफज अर्श में स्राव का होना बताया गया है फिर भी वह स्राव पिच्छा स्राव होता है न कि रक्त का स्राव होता है, उससे शुष्क अर्श का ग्रहण होता है। पिच्छास्राव (Lubricous secretion) अर्श में शुष्क व आर्द्र के हेतुओं के मिलने से होता है।

चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनेति-चित्रकमूल, यवक्षार एवं बिल्व द्वारा साधित तैल से। अर्थात् आतुर चित्रकादि तैल का अभ्यंग अर्श के मस्से पर करे, पश्चात् पोट्टली द्वारा स्वेदन (सेंक) करे। पुलाकं=तुच्छधान्यम् (तुच्छ धान्य) अथवा पइया धान।

कार्ष्णगन्धिकैरिति-सहिजन (शोभाञ्जन) की पत्ती की पोट्टली द्वारा गरम-गरम सेंक करें। **खराह्वाया अजमोदाया**-अजमोदा की पोट्टली बना करके इसको गरम कर अर्श के मस्से को सेंके।

कुष्ठतैलेनेति-कुष्ठ द्वारा साधित तैल के प्रयोग द्वारा। जतुका चर्मचटिका=चमगादड़। वृषदंश=विडाल (बिल्ली)। **अक्षता इति** अखण्डितयवा:=साबुत यव।

घृतपादान्ताश्चत्वारो धूपा:-श्लोक नं० ४८, ४९, ५०, ५१ में ५ धूपों का वर्णन किया गया है। किण्वं=सुराबीज [Ferment, drug or seed used to produce fermentation in the manufacture of spirits from sugar.]

मदनतण्डुला मदनफलशस्यम्=मदनफल। दन्ती=निकुम्भ। अमृतासङ्ग=मयूरतुत्थ। अलं=हरिताल। वासन्तकवसा=ऊँट की वसा। कटुकालाबु=तिक्त अलाबु (तितलौकी)।

'जलौकोभिरित्यादि' के द्वारा संचित दूषित रक्त को निकालने का निर्देश दिया गया है। अर्थात् लेपादि के प्रयोग द्वारा अर्शाङ्कुरों में संचित दूषित रक्त का स्राव न होने पर चिकित्सक को चाहिए कि जलौका आदि के प्रयोग द्वारा दूषित रक्त को निकाले। 'बिल्वपेशिका'=बिल्व के मध्य भाग का ग्रहण किया गया है। ॥३८-६१॥

विशेष (Comments)-यदि अर्श में रक्त की दुष्टि है तब रूक्ष, उष्ण, शीत एवं स्निग्ध औषधों के प्रयोग द्वारा उसकी शान्ति नहीं होती है, अत: इस अवस्था में रक्त का निर्हरण करना चाहिए। रक्त का निर्हरण किस प्रकार करना चाहिए, इसका निर्देश 'जलौकोभि इत्यादि' के द्वारा दिया गया है। रक्तार्श में चिकित्सक को बार-बार जलौका आदि के द्वारा रक्त का निर्हरण करना चाहिए।

-जल्पकल्पटीका का हिन्दी अनुवाद

Scanned by CamScanner

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम् । त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम् ।।६२।।
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेषिकाम् । बिडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ।।६३।।
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन वा । तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते ।।६४।।
पाचनं पाययेद्वा तद्यदुक्तं ह्यातिसारिके । सगुडामभयां वाऽपि प्राशयेत् पौर्वभक्तिकीम् ।।६५।।
पाययेद्वः त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलारससंयुतम् । हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ।।६६।।
गोमूत्राध्युषितां दद्यात् सगुडां वा हरीतकीम् । हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत् ।।६७।।
सनागरं चित्रकं वा सीधुयुक्तं प्रयोजयेत् । दापयेच्चव्ययुक्तं वा सीधुं साजाजिचित्रकम् ।।६८।।
सुरां सहपुषापाठां दद्यात् सौवर्चलान्विताम् । दधित्थबिल्वसंयुक्तं युक्तं वा चव्यचित्रकैः ।।६९।।
भल्लातकयुतं वाऽपि प्रदद्यात्तक्रतर्पणम् । बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च ।।७०।।
चित्रकं हपुषां हिङ्गुं दद्याद्वा तक्रसंयुतम् । पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत् ।।७१।।

१. **त्र्यूषणादि चूर्ण (Tryūshanadi Cūrna)**–यदि रोगी गुदशोथ, गुदशूल एवं मदाग्नि से पीड़ित है तो उसे त्र्यूषणादि चूर्ण का प्रयोग गरम जल के साथ करना चाहिए। त्र्यूषण (सोंठ, कालीं मिर्च, पिप्पली), पिप्पलीमूल, पाठा, हिङ्गु (हींग), चित्रक, सौवर्चल नमक, पुष्करमूल, अजाजी, बिल्व का गूदा, विड्लवण, यवानी (अजवाइन), हपुषा (हाऊबेर), विडंग, सैन्धव नमक, वचा तथा तिन्तिडीक; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग मण्ड, मद्य अथवा उष्ण जल के साथ करें। अर्थात् अनुपान के रूप में मण्ड (चावल का माड़), मद्य (Alcoholic drinks) अथवा उष्ण जल (Hot water) का प्रयोग करें।

इस चूर्ण के प्रयोग से अर्श (Piles), ग्रहणीदोष (Sprue syndrome), शूल (Colic pain) एवं आनाह (मलावरोध-Constipation) रोग दूर हो जाते हैं। अथवा अतिसार रोग की चिकित्सा में आगे जिन पाचन चूर्णों का निर्देश किया जायेगा अथवा गुड़ एवं हरीतकी का प्रयोग भोजन से पूर्व करना चाहिए।

२. त्रिफला के क्वाथ अथवा स्वरस के साथ त्रिवृत् चूर्ण (सफेद निशोथ) के चूर्ण का प्रयोग करें। इस चूर्ण के प्रयोग से गुदाश्रित दोष निकल जाते हैं एवं अर्श का क्षय हो जाता है।

३. गोमूत्र में हरीतकीचूर्ण एवं गुड़ को भिगो कर रात्रि पर्यन्त रख दें। प्रातः काल इसे मसलकर पश्चात् कपड़े से छान लें। इस छने हुए गुड़ मिश्रित रस का पान करें।

४. इसी प्रकार गुड़ एवं हरीतकी को गोमूत्र में भिगोकर, प्रातःकाल पीवें।

५. तक्र के साथ हरीतकीचूर्ण अथवा तक्र के साथ त्रिफला का सेवन करें।

६. सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses-गुड़ से बना हुआ मद्य) के साथ सोंठ (शुण्ठी) चूर्ण अथवा चित्रकमूल के चूर्ण का प्रयोग करें।

७. चव्य, जीरक एवं चित्रक के चूर्ण का प्रयोग सीधु के साथ करें।

८. हपुषा (हाऊबेर) व पाठा के चूर्ण में सौवर्चल नमक मिलाकर मद्य के साथ प्रयोग करें।

९. कपित्थ (कैथ) एवं बिल्व की गुद्दी का प्रयोग मद्य के साथ अथवा चव्य व चित्रक के चूर्ण का प्रयोग मद्य के साथ करें।

१०. भल्लातकचूर्ण सेवन करने के बाद भरपेट तक्र का सेवन करें।

११. बिल्वचूर्ण एवं शुण्ठीचूर्ण को अजवाइन अथवा चित्रक के क्वाथ के साथ प्रयोग करें।

१२. चित्रकमूल, हपुषा (हाऊबेर) एवं हींग के चूर्ण का प्रयोग करने के बाद भरपेट तक्र का पान करना चाहिए।

१३. पञ्चकोलचूर्ण का प्रयोग तक्र के साथ करें।

चक्रपाणि–गोमूत्राध्युषितामिति-गुड़ एवं हरीतकी को रात्रि पर्यन्त (रात भर) गोमूत्र में भिगो कर रखें।

'भल्लातकयुतमिति' से यहाँ भल्लातकचूर्ण सत्तू की तुलना में १/१० भाग ग्रहण करें। कहा भी गया है, यथा-"चूर्णं तर्पणभागेभ्यः संयोज्यं देयम्" [९ भाग संयोगी द्रव्यों का ग्रहण करें तथा एक भाग भल्लातकचूर्ण का ग्रहण करें -Nine parts of refreshing drink and one parts of Bhallātaka powder should added]. कुछ आचार्य भल्लातक चूर्ण एवं संयोगी द्रव्यों को समान मात्रा में ग्रहण करने का विधान बताते हैं। ।।६२-७१।।

हपुषां कुष्ठिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ।।७२।।

Scanned by CamScanner

यवानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम् । मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद्घृतभाजने ।।७३।।
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं मुखप्रियम् । प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य तृषितस्त्रिषु ।।७४।।
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् । गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ।।७५।।

इति तक्रारिष्टः ।

तक्रारिष्ट–हपुषा (हाऊबेर), कुञ्चिका (स्याहजीरा), धान्य (धनियाँ), अजाजी (जीरा), कारवी (मगरैला), शटी (कचूर), पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), यवानी (अजवाइन), अजमोदा; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर यवकुट कर लें । इस यवकुट किये हुए द्रव्यों को एक घृत भावित पात्र में रखकर उसमें अल्प अम्ल एवं कटु रस युक्त तक्र डालकर पात्र का मुख बन्द कर धान्य की राशि में कुछ दिन के लिए संधानार्थ रख दें । सन्धान होने पर इसका स्वाद अम्ल एवं कटु रस युक्त हो जाता है । इस तक्रारिष्ट का पान तीनों अन्न-कालों (प्रातःकाल, मध्याह्नकाल एवं सायंकाल) में करना चाहिए । इसका प्रयोग प्यास लगने पर भी किया जाता है । यह अरिष्ट दीपन (जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला), रोचन (अन्न के प्रति रुचि उत्पन्न करने वाला), कफ एव वायु को अधोमार्ग से बाहर निकालने वाला, वर्ण्य (वर्ण को निखारने वाला), गुदशोथ (गुदा में सूजन), कण्डू (गुदा में खुजली का होना) व गुदशूल (Pain in Anus) को दूर करता है, साथ में आतुर के बल की वृद्धि करता है । ।।७२-७५।।

चक्रपाणि– ग्रहणीचिकित्सा में निर्दिष्ट तक्रारिष्ट के मान के अनुसार ही यहाँ भी तक्र एवं चूर्ण के मानों का ग्रहण करना चाहिए, यथा-"यवान्यामलकं पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् । लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् ।। तक्रे तदासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः" च.चि. १५/१२०-१२१ [यवानी (अजवाइन), आमलकी, पथ्या (हरीतकी), मरिच; प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल लें । पाँच प्रकार के नमक-सैन्धव नमक, सौवर्चल नमक (सोंचर नमक), विड् नमक, सामुद्र नमक तथा औद्भिद नमक-प्रत्येक १-१ पल लें । सभी द्रव्यों को निर्दिष्ट मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को एक मिट्टी के पात्र में रखकर उसमें तक्र २ आढ़क (१ कंस) डालकर ऊपर से संधिबन्धन कर सन्धानार्थ धान्य की राशि में गाड़ दें । अरिष्ट तैयार हो जाने पर छानकर बोतलों में भर कर सुरक्षित रख लें एवं इसका मात्रापूर्वक प्रयोग करें ।] इसी निर्दिष्ट मान के अनुसार हपुषा आदि द्रव्यों के चूर्ण का ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् हपुषा आदि द्रव्यों की अलग-अलग मात्रा ३-३ पल लें । तक्र का मान- २ आढ़क एवं उसका रस- कटु एवं अम्ल रस युक्त होना चाहिए । अर्थात् अल्प कटु व अम्ल रस युक्त होना चाहिए । पश्चात् घड़े का मुख बन्द करके सन्धानार्थ धान्य की राशि में गाड़ दें ।

'व्यक्ताम्लकटुकमिति' के द्वारा तक्रारिष्ट निर्मित हो गया है, इस लक्षण को बताया गया है । अर्थात् तक्रारिष्ट-पूरी तरह से खट्टा एवं कटुरस युक्त होता है । (इसमें कटु एवं अम्लरस स्पष्ट हो जाता है जबकि निर्माणार्थ प्रयुक्त तक्र अल्प अम्ल एवं कटु रस युक्त होता है । अर्थात् तक्र में अम्ल व कटु रस अल्प व्यक्त होते हैं ।

व्यक्ताम्लं कटु चेति–अम्ल रस ज्यादा व्यक्त हो जाता है, जबकि कटुरस व्यक्त (स्पष्ट) नहीं होता । सन्धान के द्वारा कटु रस की वृद्धि नहीं होती, क्योंकि यह उत्पन्न नहीं होता ।

अन्नस्य त्रिषु कालेष्विति–भोजन के आदि (प्रारम्भ), मध्य एवं अन्त काल में तक्रारिष्ट का सेवन करना चाहिए । अर्थात् प्रातःकाल, मध्याह्नकाल एवं सायंकाल में इस अरिष्ट का मात्रापूर्वक प्रयोग करें । स्नेह युक्त तक्र वात की वृद्धि में, स्नेह रहित तक्र कफ की वृद्धि में प्रयुक्त होता है, ऐसा जानना चाहिए। ।।७२-७५।।

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् । तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ।।७६।।
वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम् । तत् प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ।।७७।।
सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा । बलकालविशेषज्ञो भिषक् तक्रं प्रयोजयेत् ।।७८।।
अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् । सायं वा लाजशक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ।।७९।।
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् । तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ।।८०।।
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः । यूषै रसेन वाऽप्यूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत् ।।८१।।
कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवर्तयेत् । तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः ।।८२।।
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते । शत्त्वागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च ।।८३।।
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः । रूक्षमर्थोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।।८४।।
तक्रं दोषाग्निबलवित्तिविधं तत् प्रयोजयेत् । हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु ।।८५।।
भुमावपि निषिक्तं तद्हेत्तक्रं तृणोलुपम् । किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ।।८६।।
स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः । तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ।।८७।।
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते । नास्ति तक्रात् परं किंचिदौषधं कफवातजे ।।८८।।

Scanned by CamScanner

अर्शनाशक तक्र एवं दधि–चित्रकमूल की छाल को पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क का लेप एक घृत भावित घड़े के अन्तः भाग में करें एवं उसे सुखा लें। पश्चात् इस घड़े में दूध जमाकर दधि या मट्ठा (तक्र) तैयार करें। इस दधि एवं तक्र के सेवन से अर्श रोग दूर हो जाता है।

तक्र का महत्व (Importance of Takra)–वातकफज अर्श की चिकित्सा हेतु तक्र से बढ़कर दूसरी कोई औषधि नहीं है। उसका प्रयोग दोषानुसार स्नेह युक्त अथवा स्नेह रहित (रूक्ष) करना चाहिए। अर्थात् वातज अर्श में स्नेह युक्त तक्र एवं कफज अर्श में स्नेह रहित (रूक्ष) तक्र का प्रयोग करना चाहिए। चिकित्सक को रोगी एवं रोग के बल का विचार करते हुए तक्र का प्रयोग एक सप्ताह, दस दिन, पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक करना चाहिए।

तक्र के विविध प्रयोग–जिस व्यक्ति की जाठराग्नि अत्यन्त दुर्बल है, ऐसे लोगों को तक्र का ही सेवन कराना चाहिए। अथवा सायंकाल लाजसत्तू (धान के लावा का सत्तू) को तक्र में घोलकर अवलेह बनाकर प्रयोग करावें। तक्रावलेह के जीर्ण (पच) हो जाने पर सैन्धव नमक डालकर बनायी गयी तक्रपेया का प्रयोग करावें अथवा रोगी को पीने के लिए दें। अथवा अर्शयुक्त रोगी जो मन्दाग्नि से पीड़ित है, उसे अनुपान के रूप में स्नेह युक्त तक्र का प्रयोग करें अथवा तक्र व भात अथवा यूष अथवा मांसरस के साथ तक्र का प्रयोग करे अर्थात् यूष व मांसरस को तक्र में डालकर बनावें। इसके साथ भात का सेवन करें। तक्र क्रम का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को चाहिए कि तक्र प्रयोग के क्रम को सहसा (अचानक) बन्द न करे। तक्र प्रयोग का यह क्रम एक मास तक करना अत्यन्त हितकारी होता है। जिस प्रकार क्रमशः तक्र की मात्रा बढ़ायी जाती है उसी प्रकार उसकी मात्रा का अपकर्ष भी किया जाता है न कि अन्न के प्रयोग से उसकी मात्रा अचानक घटा दी जाती है। भावार्थ यह है कि क्रमशः तक्र की मात्रा की वृद्धि एवं अन्न की मात्रा का त्याग करते हुए पूर्णतः अन्न का त्याग करना एवं उसी प्रकार क्रमशः बढ़ाते हुए क्रम में अन्न की मात्रा सेवन करना एवं तक्र की मात्रा को घटाना चाहिए।

तक्रकल्प से लाभ–तक्र सेवन से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसकी रक्षा हेतु, जाठराग्नि की वृद्धि हेतु तथा बल एवं वर्ण के उपचय हेतु तक्र सेवन के इस क्रम का निर्देश किया गया है। अर्श रोग में वातादि दोष, जाठराग्नि एवं वल (रोग एवं आतुर) का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को चाहिए कि तक्र का प्रयोग तीन प्रकार से करे-

१. रूक्ष तक्र (जिस तक्र से स्नेहांश पूर्णतः निकाल दिया गया हो)।

२. अर्धोद्धृत स्नेह तक्र- इस तक्र में से आधा ही स्नेह निकाला जाता है।

३. अनुद्धृत स्नेह तक्र-इस तक्र में से स्नेह निकाला ही नहीं जाता है।

तक्र सेवन से नष्ट हुए अर्शाङ्कुर पुनः उत्पन्न नहीं होते। भूमि पर उगे हुए कुशतृण की जड़ में तक्र को डाल देने पर कुश नष्ट हो जाता है तो फिर शरीर में उत्पन्न होने वाले अर्श की बात ही क्या है। अर्थात् ऐसे पुरुष जिसकी अग्नि प्रदीप्त हो उसके शरीर में उत्पन्न होने वाले शुष्क अर्श को यह तक्र अवश्य ही नष्ट कर देता है।

तक्र के प्रयोग से स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं, जिसके कारण आहाररस का सम्यक् अवशोषण होता है एवं रसादि धातुओं का निर्माण होता है। परिणामतः शारीरिक पुष्टि, बल की वृद्धि, वर्ण की वृद्धि एवं हर्ष की विशेष रूप से वृद्धि होती है। इस प्रकार वात एवं कफ जन्य सौ (८०+२०) विकारों को यह तक्र दूर करता है। अर्थात् तक्र सेवन से वात से उत्पन्न होने वाले अस्सी तथा कफ से उत्पन्न होने वाले बीस विकार दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार वातकफज विकारों में तक्र से श्रेष्ठ कोई दूसरी औषधि नहीं है। ॥७८-८८॥

चक्रपाणि–तक्रप्रयोग-प्रातः काल मात्र तक्र का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् पूर्वाह्न में मात्र तक्र पीना चाहिए। जाठराग्नि अत्यन्त मन्द होने पर सायंकाल भी तक्र का ही सेवन करें। इसी का निर्देश यहाँ-'अत्यर्थमृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत्' के द्वारा किया गया है। प्रातः एवं सायंकाल तक्र के सेवनोपरान्त जब अग्नि कुछ प्रदीप्त हो जाय तब प्रातः काल तक्र का सेवन करें एवं सायंकाल तक्र में डालकर बनाये गये लाजसत्तू का अवलेह (लाजसत्तू व तक्र को पकाकर बनाया हुआ अवलेह) देना चाहिए। क्रमशः अग्नि के और बढ़ जाने पर तक्रपेया, तक्र के साथ चावल (तक्रौदन) तथा तक्र से संस्कारित यूष आदि का प्रयोग सायंकाल भोजन के रूप में करना चाहिए।

प्रातः काल मात्र तक्र का ही सेवन करना चाहिए। इस प्रकार सप्ताह आदि तक तक्र का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् एक सप्ताह से लेकर एक महीने तक तक्र का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा-**''प्रातस्तक्रप्रयोगः क्रमेणोत्कर्षापकर्षौ, जीर्णे च सैन्धवान्विततक्रेणौदनं वा, अतिमन्दाग्नेस्तक्रमेव''** इति [प्रातः काल तक्र का सेवन करें, तक्र सेवन का यह क्रम उत्कर्ष एवं अपकर्ष विधि से करें। अर्थात् क्रमशः इसकी मात्रा बढ़ावें एवं धीरे-धीरे कम करें। तक्र के पच जाने पर सायंकाल सैन्धव नमक मिश्रित तक्र के साथ भात का सेवन करें। जाठराग्नि के अत्यन्त मन्द होने पर मात्र तक्र का ही सेवन करें।]

Scanned by CamScanner

सहसेति=एकदा (एक बार)। अर्थात् तक्र के बढ़ाने व घटाने का क्रम बार-बार करना चाहिए, एक बार तक्र सेवन के बाद तक्र का क्रम बन्द नहीं करना चाहिए, बार-बार इसे दुहराना चाहिए। **मासान्ते इति**-एक महीने से अधिक इसका सेवन एक बार में नहीं कराना चाहिए।

अपकर्षो यथोत्कर्षः इति येन क्रमेण तक्रं वृद्धं तेनैव मात्राक्रमेण तक्रमपकृष्यत इति-जिस क्रम से तक्र की मात्रा को बढ़ाना चाहिए उसी क्रम से तक्र की मात्रा घटानी भी चाहिए। तक्र की मात्रा घटाते समय अन्न की मात्रा में कमी नहीं करनी चाहिए। तक्र की जिस मात्रा को घटाया जाता है वह मात्रा अन्न के द्वारा पूरी कर लेनी चाहिए।

तक्र प्रयोग का यह क्रम किसलिये है ? इसी को यहाँ 'शक्तीत्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'रूक्षमित्यादि' के द्वारा तक्र के त्रिविध भेदों को बताया गया है जो क्रमशः कफ, पित्त एवं वात प्रधान अर्श में प्रयुक्त होते हैं, मन्दतम-मन्दतर एवं मन्द अग्नि वाले पुरुषों में अथवा अधम, मध्यम एवं उत्तम बल वाले व्यक्तियों में क्रमशः रूक्ष तक्र (स्नेह रहित तक्र), अर्धोद्धृत तक्र (आधा स्नेह निकाला हुआ तक्र) एवं अनुद्धृत स्नेह तक्र (स्नेह युक्त तक्र-जिस तक्र से स्नेह नहीं निकाला गया है) का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् अग्नि, दोष एवं बल की अवस्थाओं का ज्ञान कर जिस अवस्था हेतु जो तक्र हितकर होता है उसका प्रयोग करना चाहिए।

'भूमावपीत्यादि' का पाठ कुछ लोग करते हैं।

शतमिति–बीस कफज विकार एवं अस्सी वात विकार; दोनों के संयोग से यह संख्या सौ पूरी हो जाती है। अर्थात् वात एवं कफ जन्य विकारों में तक्र से बढ़कर कोई दूसरी औषधि नहीं है। ॥७६-८८॥

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम्। शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरु ॥८९॥
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत्। फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां तद्याहुदजापहाम् ॥९०॥
एतैश्चैव खडान् कुर्यादितैश्च विपचेज्जलम्। एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये ॥९१॥
शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा। दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम् ॥९२॥
शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा। दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम् ॥९३॥
छागलं वा रसं दद्याद्यूषैरेभिर्विमिश्रितम्। लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम् ॥९४॥
रक्तशालिर्महाशालिः कलमो लाङ्गलः सितः। शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम् ॥९५॥
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च क्रियाक्रमः।

शुष्कार्श में पेया का प्रयोग–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, हस्तिपिप्पली (गजपिपली), शृंगबेर, अजाजी (जीरा), कारवी (कलौंजी=मंगरैला), धान्यक (धनिया), तुम्बरु, बिल्व, कर्कटक (काकड़ासिंगी) एवं पाठा; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बनावें। इस कल्क में तक्र डालकर पेया बनावें। इस पेया को यमक (घी-तैल की सम मात्रा) द्वारा संस्कारित करें तथा इसमें अम्ल रस वाले फलों के रस (खट्टा अनार का रस या फालसे का रस) डालकर प्रयोग करें। यह पेया अर्शरोग को दूर करती है।

इन्हीं निर्दिष्ट द्रव्यों-पिप्पली, पिप्पलीमूल आदि के कल्क से खडयूष का निर्माण करें, अथवा इन्हीं द्रव्यों से जल पकावें। अथवा इन्हीं द्रव्यों द्वारा घृत को सिद्ध करें।

इन सब योगों खड्यूष, क्वाथ एवं घृत; का प्रयोग अर्श की निवृत्ति हेतु करें। इन योगों के प्रयोग से प्रवृद्ध अर्श नष्ट हो जाता है।

यवागू का प्रयोग–शटी (कचूर) व पलास के बीज के कल्क से अथवा पिप्पली एवं शुण्ठी के कल्क द्वारा साधित यवागू में अम्लरस युक्त तक्र मिलावें तथा उसके ऊपर कालीमिर्च के चूर्ण को छिड़कें। इस कालीमिर्च अवचूर्णित यवागू का सेवन अर्श रोगी को कराना चाहिए।

यूष का प्रयोग–१. सूखी मूली का यूष, २. कुलथी का यूष, ३. कपित्थ व बिल्व की गुद्दी का यूष, ४. कुलथी एवं मकुष्ठ का यूष, ५. पूर्व वर्णित यूषों (सूखी मूली का यूष अथवा कुलथी का यूष अथवा कपित्थ व बिल्व की गुद्दी के यूष, अथवा कुलथी व मकुष्ठ के यूष) में बकरे के मांसरस को मिलाकर, ६. बटेर आदि के मांसरस में खट्टे फलों के रस, तक्र एवं ग्राही औषधियों को मिलावें। इन यूषों का प्रयोग शुष्कार्श में करें।

शुष्कार्श में पथ्य आहार–लालशाली चावल, महाशालीचावल, कलमधान (जो धान रोप कर तैयार किये जाते हैं-उत्खातप्रतिरोपितः कलमः, अथवा मई जून में बोया हुआ चावल जो दिसम्बर-जनवरी में तैयार हो जाता है), जाङ्गल धान्य (तित्री का चावल), सित धान्य (सफेद चावल), शारद (शरदृतु में तैयार हो जाने वाला चावल) धान्य एवं साठी चावल के भात का प्रयोग अथवा इनके द्वारा निर्मित पेयादि का प्रयोग अर्श रोगी के लिए हितकर (पथ्य) होता है।

अर्श रोगी के लिए यही अन्न का विधान है। निर्दिष्ट चिकित्सा क्रमों का प्रयोग उन अर्श रोगियों में करना चाहिए जिनका पुरीष (मल) पतला निकलता है। (इस प्रकार भिन्नपुरीष वाले अर्श रोगी की चिकित्साक्रम का निर्देश किया गया।)

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-बिल्वं बालबिल्वम्=बाल बिल्व (कच्चा बिल्व=अपक्व बिल्व)। **फलाम्लमिति**=दाडिम आदि अम्लरस युक्त फलों के रसों का प्रयोग पेयादि में करें अथवा इनके स्वरस आदि डालकर पेयादि को अम्लरस युक्त कर लें।

ग्राहिभिर्युतमिति वर्चोग्राहीदशसंस्कृतम्-पुरीषसङ्ग्रहणीय महाकषाय में पठित दस द्रव्यों द्वारा संस्कारित। [पुरीष संग्रहणीय दस द्रव्य-प्रियङ्गु, अनन्ता, आम की गुठली, कट्वङ्ग, लोध्र, मोचरस, समङ्गा, धातकीपुष्प, पद्म, कमलकेशर।]

रक्तशाली आदि का वर्णन अन्नपानविधि नामक अध्याय (सू.अ. २६) में किया जा चुका है।

येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ।।९६।।
सस्नेहैः शकृभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम् । दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ।।९७।।
गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम् । गुडं घृतयवक्षारयुक्तं वाऽपि प्रयोजयेत् ।।९८।।
यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम् । सतक्रलवणं दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।।९९।।
दुःस्पर्शकिण बिल्वेन यवान्या नागरेण वा । एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम् ।।१००।।
प्राग्भक्तं यमके भृष्टान् सकृभिश्चावचूर्णितान् । करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान् ।।१०१।।
मदिरां वा सलवणां सीधुं सौवीरकं तथा । गुडनागरसंयुक्तं पिबेद्वा पौर्वभक्तिकम् ।।१०२।।

वे अर्श रोगी जिनका मल (पुरीष) अत्यन्त शुष्क निकलता है अथवा जिनका मल बंधा हुआ निकलता है उनकी चिकित्सा का वर्णन आगे किया जा रहा है।

विबन्ध नाशक योग-१. अर्श रोगी में मलबद्धता होने पर-शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण एवं मत्स्यण्डिका (मोटी या बिना साफ की हुई चीनी) को मिलाकर पहले सेवन करें, पश्चात् प्रसन्ना (A type of alcoholic drink) में सतू, नमक एवं घृत मिलाकर पीने के लिए दें।

२. अम्ल फलों के रस अथवा खट्टे फलों के रस में गुड़, शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण व पाठाचूर्ण मिलाकर पीने से विबन्ध दूर हो जाता है।

३. अथवा गुड़, घृत, यवक्षार, तीनों को आपस में मिलाकर लें, अर्थात् गोघृत में यवक्षार व गुड़ मिलाकर सेवन करें।

४. अजपाइन, नागर (सोंठ), पाठा के चूर्ण, दाडिम स्वरस (अनार का रस), गुड़, तक्र व सैन्धव नमक; इन सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पीने से अपान वायु एवं मल की अधोप्रवृत्ति होती है अथवा अनुलोमन होता है।

५. (क) पाठा के साथ दुःस्पर्श (यास, यवास अथवा जवासा)।

(ख) बिल्व की गुद्दी व पाठा, (ग) अजवाइन व पाठा, (घ) शुण्ठी व पाठा। अर्श में उत्पन्न होने वाले शूल (Pain) में इन योगों का प्रयोग करना चाहिए।

६. भोजन से पूर्व करञ्ज के पत्तों को यमक (गोघृत व तिलतैल की सम मात्रा) में भून (Fried-करें) लें। इसमें यव का चूर्ण छिड़ककर सेवन करें। इस योग का सेवन भोजन से पूर्व करना चाहिए। इसके प्रयोग से मल (पुरीष) एवं अधोवायु का अनुलोमन होता है।

७. वायु एवं पुरीष के अनुलोमनार्थ मदिरा के साथ सैन्धव नमक मिलाकर अथवा सीधु या सौवीर के साथ गुड़ एवं शुण्ठी चूर्ण मिलाकर भोजन से पूर्व पीना चाहिए।

चक्रपाणि-'यवानीनागरमित्यादि'- से यवानी, नागर आदि द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर तक्र के साथ पीना चाहिए। लवण (सैन्धव) का प्रयोग उतनी ही मात्रा में करना चाहिए जितने के प्रयोग से तक्र कुछ लवणरस युक्त हो जाय। अर्थात् लवण का प्रयोग केवल स्वाद को बनाने हेतु (रुचि उत्पादनार्थ) किया गया है। ॥९६-१०२॥

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः । फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं दापयेद्घृतम् ।।१०३।।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली । शृङ्गवेरयवक्षारौ तैः सिद्धं वा पिबेद्घृतम् ।।१०४।।
चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम् । पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम् ।।१०५।।
पिप्पलीपिप्पलीमूलदधिदाडिमधान्यकैः । सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत् ।।१०६।।
चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च । यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे ।।१०७।।
चित्रकं बिल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् । शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे ।।१०८।।
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् । गुदवङ्क्षणशूलं च घृतमेतद्व्यपोहति ।।१०९।।
नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली । श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका ।।११०।।
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत् । चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत् ।।१११।।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् । गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद्व्यपोहति ।।११२।।

Scanned by CamScanner

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक् । भागांस्त्रिपलिकान् कृत्वा कषायमुपकल्पयेत् ।।११३।।
गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम् । पिष्ट्वा कषाये विनयेत् पूते द्विपलिकं भिषक् ।।११४।।
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत् प्रदापयेत् । चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम् ।।११५।।
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् । तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ।।११६।।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम् । शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ।।११७।।
कासहिक्कारुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत् । बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसंदीपनं परम् ।।११८।।

८. पिप्पली, नागर (शुण्ठी), यवक्षार, कारवी (कलौंजी=मंगरैल), धान्यक (धनियाँ) एवं जीरक (जीरा); प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग राब (फाणित) एवं गोघृत के साथ मिलाकर करें।

पिप्पल्यादि घृत–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, गजपिप्पली, शुण्ठी एवं यवक्षार द्वारा साधित घृत का प्रयोग अर्श विनाशार्थ करना चाहिए।

९. चव्य एवं चित्रकमूल द्वारा साधित गोघृत में गुड़ व यवक्षार मिलाकर।

१०. अथवा पिप्पलीमूल के कल्क द्वारा साधित गोघृत में गुड़, यवक्षार एवं शुण्ठी (सोंठ) का चूर्ण मिलाकर।

११. अथवा पिप्पली, पिप्पलीमूल, दधि, दाडिम का रस एवं धनियाँ द्वारा साधित गोघृत का पान करने से वात एवं मल की विबद्धता दूर हो जाती है।

चव्यादि घृत–चव्य, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), पाठा, यवक्षार, धान्यक (धनियाँ), यवानी (अजवाइन), पिप्पलीमूल, विडनमक, सैन्धव नमक, चित्रकमूल, बिल्व एवं हरीतकी; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर पीस लें एवं कल्क बनावें, कल्क-१ भाग, गोघृत- ४ भाग तथा दधि- १६ भाग (स्नेह का ४ गुना) लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत के प्रयोग (सेवन) से मल एवं वायु का अनुलोमन होता है तथा साथ में यह घृत प्रवाहिका (मरोड़ के साथ मलत्याग का होना), गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), मूत्रकृच्छ्रता (कष्ट के साथ मूत्र का त्याग होना- dysuria), परिस्राव (गुदा से कफ का स्राव-अतिसार), गुदशूल एवं वंक्षण में शूल का होना; ये व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

नागराद्य घृत–नागर (सोंठ=शुण्ठी), पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, गजपिप्पली, श्वदंष्ट्रा (गोखरु), पिप्पली, धनियाँ, बिल्व, पाठा एवं अजवाइन; प्रत्येक द्रव्य को समान मात्रा में लेकर कल्क बना लें, चाङ्गेरी (तिनपतिया) स्वरस- ४ भाग, दधि- ४ भाग, गोघृत- १ भाग, कल्क- १/४ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मान के अनुसार लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत कफ एवं वातजन्य व्याधियों को दूर करता है। इस घृत के प्रयोग से अर्श (Piles), ग्रहणीविकार (Sprue syndrome), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), प्रवाहिका (मरोड़ के साथ मलप्रवृत्ति का होना), गुदभ्रंश (Prolapse of rectum), गुदा में वेदना का होना तथा आनाह (Constipation) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

पिप्पल्यादि घृत–१. **क्वाथ**-पिप्पली, नागर (शुण्ठी), पाठा, श्वदंष्ट्रा (गोखरु); प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग ३-३ पल मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें। क्वाथ तैयार होने पर छानकर एक अलग पात्र में रख लें।

२. **कल्क द्रव्य**–गण्डीर, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चव्य एवं चित्रक; सभी द्रव्यों को २-२ पल मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

३. **घृत**–गोघृत- ४० पल, (४) **चाङ्गेरी स्वरस** घृत के बराबर मात्रा (४० पल), ५. दधि- २४० पल (स्नेह का छः गुना)

उपर्युक्त सभी द्रव्यों को एक बड़े पात्र में लेकर विधिपूर्वक मृदु अग्नि में घृत को सिद्ध कर लें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग आहार व पान के रूप में करना चाहिए।

यह घृत ग्रहणी (Sprue syndrome), अर्श (Piles), गुल्म (Phantom tumour), हृद्रोग (Heart disease), शोथ (Oedema), प्लीहा (Splenic disorders), उदररोग, आनाह (मलबद्धता-Constipation), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), ज्वर (Fever), कास (Cough), हिक्का (Hiccup), अरुचि (Anorexia), श्वास (Asthma) तथा पार्श्वशूल (पसलियों में वेदना का होना) को दूर करता है। यह घृत बलवर्धक (शारीरिक बल को बढ़ाने वाला), शरीरस्थ धातुओं को पुष्ट करने वाला, वर्ण्य (शरीर के वर्ण को निखारने वाला) एवं अग्नि दीपन (जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला) है। अर्थात् इस घृत के सेवन से अच्छी प्रकार से बल, पुष्टि आदि की वृद्धि होती है।

चक्रपाणि–पिप्पलीनागरेत्यादौ अपक्वमेव केचिद्घृतमिच्छन्ति-कुछ आचार्य पिप्पलीनागर इत्यादि के द्वारा अपक्व घृत का निर्देश करते हैं। अर्थात् पिप्पली, शुण्ठी, यवक्षार, कारवी, धान्यक व जीरक; के चूर्ण को अम्ल फलों के रस व फाणित में मिलाकर असिद्ध घृत (Non medicated ghrita) के साथ सेवन करने का विधान बताते हैं।

Scanned by CamScanner

'गुडक्षारसमन्वितमिति' से यहाँ सिद्ध घृत में गुड़ आदि द्रव्यों का प्रयोग प्रक्षेप के रूप में करना चाहिए। अर्थात् चव्य एवं चित्रकमूल के कल्क एवं क्वाथ द्वारा साधित गोघृत में गुड़ व यवक्षार का प्रक्षेप डालकर प्रयोग करें।

पिप्पली, पिप्पलीमूल आदि योग में दधि का प्रयोग द्रव के स्थान पर करना चाहिए। शेष द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में करना चाहिए। **जाते दध्नीति**-दधि के अच्छी तरह जम जाने पर।

नागरादि द्रव्यों द्वारा निर्मित होने वाले घृत में चाङ्गेरी स्वरस का ४ गुना दधि डालें। यहाँ 'च' कार से चतुर्गुण अर्थ ग्रहण किया गया है।

पिप्पलीमित्यादौ भूरिमानसान्निध्ये क्वाथस्यानुक्तमानत्वात् स्नेहसमत्वमेव-पिप्पलीनागर आदि योग में अत्यधिक मान (मात्रा) के सान्निध्य में क्वाथ का मान अनुक्त होने से, क्वाथ का मान (मात्रा) स्नेह की मात्रा के बराबर ग्रहण करना चाहिए। अतः इनसे निर्मित क्वाथ स्नेह के बराबर मात्रा में बनावें, क्योंकि यहाँ दो से अधिक द्रव्यों द्वारा क्वाथ बनाने का निर्देश है। इस प्रकार १२ पल क्वाथ्य द्रव्य में ३ प्रस्थ पानी डालकर पकावें एवं ४० पल बचावें। अर्थात् क्वाथ ४० पल बचावें। 'गण्डीरमित्यादि' के द्वारा कल्क द्रव्यों का वर्णन किया गया है। ॥१०३-११८॥

जल्पकल्पतरु टीका-नागरादि घृत के सन्दर्भ में (श्लोक नं० ११०-११२) नागरादि द्रव्यों के कल्क- १/४ भाग, दधि- ४ भाग, चाङ्गेरी स्वरस- ४ भाग, स्नेह (घृत- १ भाग)। सभी द्रव्यों को एक बड़े पात्र में डालकर मृदुअग्नि पर घृत को सिद्ध करें। -नागराद्य घृत।

पिप्पल्यादि घृत के सन्दर्भ (श्लोक नं० ११३-११८)- में पिप्पली, शुण्ठी, पाठा एवं गोखरू; इन चारों द्रव्यों को अलग-अलग ३-३ पल लेकर ८ गुने अर्थात् ९६ पल जल में पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट बचने पर उतार लें। उस छने हुए क्वाथ में गण्डीर आदि द्रव्यों के कल्क को डालें, इस कल्क मिश्रित क्वाथ में ४० पल गोघृत तथा घृत के बराबर (४० पल) चाङ्गेरी (तिनपतिया) का स्वरस डालें, दही स्नेह का छः गुना डालें। अब विधिपूर्वक मृदु अग्नि पर घृत का पाक करें। घृत के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर कुछ शीत होने पर छानकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। इस घृत को अन्न आदि के साथ सेवन करना चाहिए। प्रायोगिक पान के रूप में भी नित्य प्रयोग करना चाहिए।

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम्। त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ॥११९॥
विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येऽथ निर्वृते। गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते ॥१२०॥
बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंकृतान्। दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद्विड्वातसंग्रहे ॥१२१॥
त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च। यमके भर्जितं दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ॥१२२॥
उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवान्। सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ॥१२३॥
काकमाचीं रुहापत्रं महापत्रं तथाऽम्लिकाम्। जीवन्तीं शटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च ॥१२४॥
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च। धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ॥१२५॥
गोधालोपाकमार्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि। कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद्रसान् ॥१२६॥
रक्तशाल्योदनं दद्याद्रसैस्तैर्वातशान्तये।

हरीतकी का प्रयोग (Administration of Harītakī)-१. घृत में भुनी हुई हरीतकीचूर्ण को पिप्पलीचूर्ण तथा गुड़ के साथ प्रयोग करें।

२. अथवा हरीतकीचूर्ण (घृतभृष्ट) को त्रिवृत्+दन्ती चूर्ण के साथ सेवन करें।

इन दो योगों के प्रयोग से वायु का अनुलोम होता है। मल (पुरीष) व वायु के अनुलोम हो जाने पर गुदा दोष रहित हो जाती है, परिणामतः अर्श शान्त हो जाता है एवं जाठराग्नि दीप्त हो जाती है।

मांसरस का प्रयोग (Administration of Meatsoup)-यदि अर्श रोगी में मल (पुरीष) एवं वायु का अवरोध हो तब रोगी को मोर (Peacock), तीतर (Partridge), लाव (grey quail), मुर्गा एवं वर्तक (बटेर) के मांसरस को अम्लरस वाले फल (अम्लरस-खट्टा अनार का रस, अथवा फालसे के रस) से संस्कारित कर प्रयोग करना चाहिए।

शाक का प्रयोग (Leafy Vegetables)-१. त्रिवृत्, दन्ती, पलाश, चाङ्गेरी तथा चित्रक की पत्तियों को सम भाग घृत व तैल (यमक) में भूनकर दही के साथ शुष्कार्श वाले रोगी को खाने के लिए देना चाहिए।

२. उपोदिका (पोई की पत्ती), तण्डुलीय (चौलाई की पत्ती), वीरा (शतावरी), वास्तुक (बथुआ की पत्ती), सुवर्चला (हुरहुर की पत्ती), लोणिका (नोनिया शाक), यव का शाक, अवल्गुज की पत्ती (बाकुची की पत्ती), काकमाची (मकोय की पत्ती), रुहा पत्र (गुडूची पत्र), अम्लिका (चाङ्गेरी पत्र), जीवन्ती पत्र, शटी (कचूर) पत्र व गाजर की पत्ती; इन द्रव्यों के पत्रों (पत्तों) को यमक [गोघृत एवं तैल (तिल तैल) की समभाग] में भूनकर (शाक बनाकर) उसमें दही व दाडिम स्वरस मिलाकर (संस्कारित कर) एवं उसमें धनियाँ व शुण्ठीचूर्ण को मिश्रित कर शाक के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

३. यदि शुष्कार्श के रोगी में वात की अत्यधिक वृद्धि हो एवं जाठराग्नि प्रबल हो तब वात की शान्ति हेतु गोधा (गोह), लोपाक (लोमड़ी), मार्जार (बिल्ली), श्वाविद् (साही), ऊँट, गाय, कूर्म (कछुआ) एवं शल्लक (साही) के मांस को शाक की तरह सिद्ध कर मांसरस तैयार करें। इस मांसरस का प्रयोग रक्तशाली चावल के भात के साथ करना चाहिए, अर्थात् मांसरस के साथ भात का सेवन करें।

चक्रपाणि-यहाँ वातानुलोमक शाकों का वर्णन 'उपोदिकामित्यादि' के द्वारा किया गया है। सुवर्चला=सूर्यावर्त। रुहापत्रम्=उदग्रशाकम्। महापत्र=श्योनाक। दधि एवं दाडिम का प्रयोग संस्कारक द्रव्य के रूप में किया गया है।

जल्पकल्पतरु टीका-'गोधेत्यादि' के द्वारा शुष्कार्श में अत्यधिक वायु के प्रकोप की अवस्था में **मांसरस एवं भात** के प्रयोग के विधान को बताया गया है।

यथोपोदिकादीनां साधयेत् तथा गोधादीनां मांसस्य रसान् साधयेत्-जिस प्रकार उपोदिका आदि के शाकों का निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार गोधा आदि के मांसरस का निर्माण करना चाहिए। उसमें दधि एवं दाडिमरस डालें तथा बाद में धनियाँ एवं शुण्ठी चूर्ण को छिड़कें। मांस को यमक (गोघृत व तिल तैल की सम मात्रा) में भूनें। [१. मांस को यमक में भूनें, फिर जल आदि डालकर मांसरस तैयार करें, अन्त में उसमें चूर्ण का प्रक्षेप डालें।]

श्वाविच्छल्लकी च क्षुद्रवृहत् भेदेन द्विविधा शल्लकी-श्वावित् (छोटी साही) एवं शल्लकी (बड़ी साही) भेद से साही दो प्रकार की होती है।

ज्ञात्वा वातोल्बणं रूक्षं मन्दाग्नि गुदजातुरम् ।।१२७।।
मदिरां शार्करं जातं सीधुं तक्रं तुषोदकम्। अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम् ।।१२८।।
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः। अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।।१२९।।

शुष्कार्श में उपयोगी अनुपान-यदि शुष्कार्श के रोगी में वात की उल्बणता (वृद्धि) है, शरीर रूक्ष है, जाठराग्नि मन्द है तो ऐसी स्थिति में उसे अनुपान के रूप में मदिरा व शर्करा से बनी हुई सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses), तक्र (मट्ठा), तुषोदक (A type of vinegar prepared by barley), अरिष्ट, दधिमण्ड (दही का पानी), उष्ण जल, शीत जल, कण्टकारी का क्वाथ अथवा धनिया व शुण्ठी (सोंठ) द्वारा पकाया हुआ (षडंगपानीय विधि से साधित) जल का प्रयोग अनुपान के रूप में करना चाहिए। इनके प्रयोग से वायु एवं मलों का अनुलोमन होता है।

चक्रपाणि-शार्करमिति-शर्करा द्वारा निर्मित अथवा शर्करा डालकर बना हुआ। अरिष्टों का निर्देश आगे किया जायेगा।।१२७-१२९।।

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः। विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।।१३०।।
पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम्। कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च ।।१३१।।
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च। अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।।१३२।।
गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम्। कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ।।१३३।।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम्। उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ।।१३४।।

शुष्कार्श में उपयोगी अनुवासन बस्ति-जो रोगी उदावर्त से पीडित हों, अथवा जिनका शरीर अत्यधिक रूक्ष है, अथवा जिनके शरीर में अपानवायु की गति ऊर्ध्वमार्गी हो गयी हो तथा जो शूल से पीड़ित हों, उन रोगियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना हितकर होता है।

पिप्पली, मदनफल, विल्व, शताह्वा (सौंफ), यष्टीमधु (मुलेठी), वचा, कुष्ठ (कूठ), शटी (कचूर), पुष्करमूल, चित्रक, देवदारु; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें, मात्रा-(संयुक्त)- १/४ भाग, तिल तैल- १ भाग, गोदुग्ध- २ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल पाक करें। इस सिद्ध तैल का प्रयोग मूढ़वात वाले अर्श रोगी में करने से अत्यन्त लाभ मिलता है। इसके अतिरिक्त गुदा का निकलना (Prolapse of Rectum), उदरशूल (Colic pain), मूत्रकृच्छ्र (कष्ट के साथ मूत्रत्याग का होना), प्रवाहिका (dysentery), कटी (कमर), ऊरु (Thigh) एवं पृष्ठ (पीठ) में दुर्बलता (कमजोरी) का महसूस होना, वंक्षणप्रदेश में आनाह का होना (distension of the Pelvic region), गुदा से पिच्छास्राव का होना (slimy discharge from the anus), गुदा में शोथ (Anal Oedema), अधोवायु एवं मल का अवरुद्ध हो जाना तथा बार-बार मल त्याग की इच्छा का होना; पिप्पल्यादि तैल की अनुवासन बस्ति देने से ये व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं अथवा प्रशमित हो जाती हैं। **-इति पिप्पल्यादि अनुवासनबस्ति।**

चक्रपाणि-पिप्पल्याद्ये तैले केचित् तन्त्रान्तरदर्शनात् तोयमपि चतुर्गुणं वदन्ति;- पिप्पल्यादि तैल के निर्माण में अन्य तन्त्रों की दृष्टि से कुछ लोग जल की मात्रा स्नेह की मात्रा से ४ गुनी लेने का निर्देश देते हैं, जो कि उचित नहीं है, क्योंकि अन्य तन्त्रों में वर्णित योग इस योग से भिन्न हैं। अर्थात् अन्य तन्त्रों में जो विचार हैं, वह योगों की भिन्नता के कारण हैं। ।।१३०-१३४।।

Scanned by CamScanner

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः । दार्वन्तैः स्तब्धशूलानि गुदजानि प्रलेपयेत् ।।१३५।।
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम् । कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः क्षुतानां विनिवर्तते ।।१३६।।

अर्श में उपयोगी लेप-पिप्पल्यादि अनुवासन तैल में वर्णित पिप्पली से लेकर देवदारु तक के द्रव्यों को समभाग में लेकर कल्क बनावें, उस कल्क में तिलतैल मिलाकर गरम कर लें। इस स्नेह मिश्रित कल्क का प्रयोग लेप के रूप में गुदस्तब्ध एवं गुदशूल में अर्शाङ्कुरों पर करना चाहिए। अर्थात् इस लेप को सुखोष्ण कर अर्शाङ्कुरों पर लगाने से गुदस्तब्धता एवं गुदशूल दूर हो जाते हैं। इस लेप से मस्सों (अर्शाङ्कुरों) से निकलने वाला कफ जन्य पिच्छास्राव एवं रक्तस्राव शीघ्र ही दूर हो जाता है। अर्थात् इस लेप को अर्श पर लगाने से अर्श से स्रवित होने वाले कफ एवं रक्त का स्राव शीघ्र हो जाने के कारण अर्शाङ्कुरों में उत्पन्न होने वाले कण्डू (Itching), स्तब्धता (Stiffness), वेदना (Pain) एवं शोथ (Oedema) शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं।

चक्रपाणि-आनुवासनिकैरिति-अनुवासनतैल के साधन (सिद्धि) के लिए वर्णित पिप्पली आदि द्रव्यों द्वारा। अर्थात् पिप्पली आदि द्रव्यों के कल्क बनाकर उसमें घृत अथवा तैल डालकर सुखोष्ण गरम कर लें एवं इसका प्रयोग लेप के रूप में अर्श के मस्सों पर करें।

षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में वर्णित अनुवासनोपयोगी क्वाथ के निषेधार्थ 'दार्वन्तैः' विशेषण का प्रयोग किया गया है। उससे यहाँ पिप्पली से प्रारम्भ कर देवदारु तक के द्रव्यों (श्लोक नं० १३१ में वर्णित द्रव्य) का ग्रहण किया गया है। ।।१३५-१३६।।

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम् । समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।।१३७।।

शुष्कार्श में निरूहबस्ति का प्रयोग- शुष्कार्श से पीड़ित रोगियों को दशमूल साधित क्वाथ, गोदुग्ध, गोमूत्र, स्नेह, सैन्धव लवण एवं मदनफल आदि द्रव्यों के कल्क द्वारा निरूहबस्ति तैयार कर देना चाहिए, अर्थात् इन्हीं द्रव्यों का प्रयोग निरूहबस्ति में करना चाहिए।

चक्रपाणि-दाशमूलिकमिति-दशमूल के द्रव्यों का क्वाथ बनाकर। फलादिभिरिति-मदनफल आदि द्रव्यों का कल्क मिलाकर। अर्थात् निरूहबस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों- दशमूलक्वाथ, कल्क, गोमूत्र, स्नेह व सैन्धव लवण द्वारा वस्ति तैयार कर देनी चाहिए। ।।१३७।।

हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च । स्यात् कपित्थाद्दशपलं ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी ।।१३८।।
विडङ्गं पिप्पली लोध्रं मरिचं सैलवालुकम् । द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ।।१३९।।
द्रोणशेषे रसे तस्मिन् पूते शीते समावपेत् । गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत्तत् पक्षं घृतभाजने ।।१४०।।
पक्षादूर्ध्वं भवेत् पेया ततो मात्रा यथाबलम् । अस्याभ्यासादरिष्टस्य गुदजा यान्ति संक्षयम् ।।१४१।।
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः । कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः ।।१४२।।
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः । कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् ।।१४३।।
इत्यभयारिष्टः ।

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः । भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ।।१४४।।
त्रिपलं त्रिफलायाश्च दलानां तत्र दापयेत् । रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ।।१४५।।
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्धं घृतभाजने । तन्मात्रया पिबन्नित्यमर्शोभ्यो विप्रमुच्यते ।।१४६।।
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोऽनुलोमनम् । दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ।।१४७।।
इति दन्त्यरिष्टः ।

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च । विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः ।।१४८।।
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम् । पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत् ।।१४९।।
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत् स्थाप्यं घृतभाजने । पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान् ।।१५०।।
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम् । वर्चोमूत्रानिलकृतान् विबन्धानग्निमार्दवम् ।।१५१।।
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति । अग्निसंदीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः ।।१५२।।
इति फलारिष्टः ।

दुरालभायाः प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च । पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च ।।१५३।।
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत् । पादावशेषे पूते च सुशीते शर्कराशतम् ।।१५४।।
प्रक्षिप्य स्थापयेत् कुम्भे मासार्धं घृतभाविते । प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा ।।१५५।।
तस्य मात्रां पिबेत् काले शार्करस्य यथाबलम् । अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम् ।।१५६।।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम् । हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत् ।।१५७।।
इति द्वितीयफलारिष्टः ।

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् । कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा ।।१५८।।
पाठां च पिप्पलीमूलं क्रमुकं चव्यचित्रकौ । मञ्जिष्ठैल्वालुकं लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत् ।।१५९।।
कुष्ठं दारुहरिद्रां च सुराह्वं सारिवाद्वयम् । इन्द्राह्वं भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम् ।।१६०।।

Scanned by CamScanner

चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च । द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत् ।।१६१।।
पादावशेषे पूते च शीते तस्मिन् प्रदापयेत् । मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसंमितम् ।।१६२।।
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद्द्विगुणितां तुलाम् । कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च ।।१६३।।
त्वगेलाप्लवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् । चूर्णयित्वा तु मतिमान् कार्षिकानत्र दापयेत् ।।१६४।।
तत् सर्वं स्थापयेत् पक्षं सुचौक्षे घृतभाजने । प्रलिप्ते सर्षिषा किंचिच्छर्करागुरुधूपिते ।।१६५।।
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः । पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद्धक्तरोचनः ।।१६६।।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् । हृद्रोगं पाण्डुतां शोथं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम् ।।१६७।।
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सवनिवापकर्षति । वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति ।।१६८।।

इति कनकारिष्टः ।

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन वाऽम्भसा । इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम् ।।१६९।।

अभयारिष्ट–हरीतकी (बीजरहित)- १/२ प्रस्थ, बीजरहित आँवला- १ प्रस्थ, कपित्थ (कैथ) की गुद्दी- १० पल, इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण- Cirullus colocynthis)- ५ पल, विडंग, पिप्पली, लोध्र, कालीमिर्च तथा एलबालुक (एलुआ)- प्रत्येक द्रव्य दो-दो पल । सभी द्रव्यों को यवकुट करके ४ द्रोण जल में पकावें, जब औषधियों का रस जल में आ जाय एवं जल १ द्रोण शेष रह जाय तो उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें । जब क्वाथ शीतल हो जाय तो उसे एक घृत भावित पात्र में डालकर उसमें २०० पल गुड़ डालकर अच्छी प्रकार से घोल दें, जब गुड़ पूरी तरह से घुल जाय तब पात्र का मुख बन्द करके १५ दिन के लिए धान्य की राशि में गाड़ कर रख दें । अरिष्ट के सम्यक् तैयार हो जाने पर इसे छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग– रोग एवं रोगी के बलाबल के अनुसार मात्रापूर्वक इस अरिष्ट का सेवन करने से अर्श नष्ट हो जाता है । इसके साथ ही यह अरिष्ट ग्रहणी, पाण्डु, हृद्रोग (Heart diseases), प्लीहारोग, गुल्म, उदररोग, कुष्ठ, शोथ एवं अरुचि को दूर करता है । यह योग आतुर के बल, वर्ण एवं जाठराग्नि का वर्धक, कामला (Jaundice) व श्वेतकुष्ठ (Leucoderma) का नाशक है । इसके सेवन करने से कृमिरोग, ग्रन्थि (Adenitis), अर्बुद (Tumour), व्यङ्ग (गाल पर होने वाले काले धब्बे), राजयक्ष्मा एवं ज्वर शान्त हो जाते हैं ।

दन्त्यरिष्ट–दन्ती का मूल, चित्रक की जड़, दोनों पञ्चमूल [बृहत् पञ्चमूल-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी तथा लघु पञ्चमूल- शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी एवं गोखरू]-प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल मात्रा में लें तथा त्रिफला- ३ पल (अलग-अलग एक-एक पल, हरड़ बहेड़ा एवं आँवला) लें । सभी द्रव्यों को यवकुट करके १ द्रोण जल में क्वाथ बनावें । चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग पात्र में रख लें, क्वाथ ठण्डा हो जाने पर उसमें एक तुला गुड़ डालकर अच्छी प्रकार से घोल दें । पुनः गुड़ मिश्रित क्वाथ को एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर उसका मुख बन्द करके १५ दिन के लिए धान्य की राशि में गाड़ कर रख दें । सम्यक् संधान हो जाने पर घड़े का मुख खोलकर अरिष्ट को छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस अरिष्ट का मात्रापूर्वक नित्य सेवन करने वाला व्यक्ति अर्शरोग से मुक्त हो जाता है । यह अरिष्ट ग्रहणी (sprue syndrome) व पाण्डु (Anaemia) रोग का नाशक है, पुरीष एवं वायु का अनुलोमक है, साथ में अग्नि प्रदीपक एवं अरुचि (Anorexia) को दूर करता है ।

फलारिष्ट–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि-बीज रहित हरड़- १ प्रस्थ, बीज रहित आँवला- १ प्रस्थ, इन्द्रायण (विशाला)- २ पल, कपित्थ- २ पल, पाठा- २ पल, चित्रकमूल- २ पल; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें तथा इसमें २ द्रोण जल मिलाकर क्वाथ बनावें । अर्थात् एक बड़े पात्र (भगौने) में २ द्रोण जल एवं इन द्रव्यों को डालकर पकावें । चतुर्थांश जल शेष रहने पर क्वाथ को छानकर एक अलग पात्र में रख लें, शीतल हो जाने पर उसमें १ तुला गुड़ मिलाकर घोल दें । पश्चात् इस घोल को एक घृत भावित पात्र (घड़े) में रखकर उसका मुख बन्द करके संधानार्थ १५ दिन के लिए धान्य की राशि में रखें । सम्यक् सन्धानोपरान्त घड़े के मुख को खोलकर औषधि को साफ कपड़े से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–मात्रापूर्वक इस अरिष्ट के सेवन से अधोलिखित व्याधियों में लाभ मिलता है–

१. ग्रहणी (Sprue syndrome)
२. अर्श (Piles)
३. हृद्रोग (Heart diseases)
४. पाण्डुरोग (Anaemia)
५. प्लीहारोग (Splenic disorder)
६. कामला (Jaundice)
७. विषमज्वर (Irregular fever)
८. मल (पुरीष), मूत्र एवं वायु का अवरोध (विबन्ध)
९. अरुचि (Anorexia)
१०. कास (Cough)

Scanned by CamScanner

११. गुल्म (Phantom tumour) १२. उदावर्त

१३. अग्निमांद्यता

यह योग कृष्णात्रेय द्वारा प्रतिपादित है।

फलारिष्ट (द्वितीय)–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि-दुरालभा (धन्वयास अथवा धमासा)- १ प्रस्थ, चित्रकमूल, वासा, हरीतकी (गुठली रहित), आँवला (गुठली रहित), पाठा, शुण्ठी (सोंठ) एवं दन्तीमूल-प्रत्येक द्रव्य २-२ पल, लेकर यवकुट कर लें। यवकुट किये हुए इन द्रव्यों को एक द्रोण जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश शेष बचने पर छानकर पृथक् कर लें। क्वाथ शीतल हो जाने पर उसमें १०० पल शर्करा (चीनी) मिलाकर घोल तैयार कर लें। इस शर्करा मिश्रित क्वाथ को एक घृत भावित पात्र (घड़ा) जिसमें पिप्पली, चव्य, प्रियंगु, मधु व घृत से निर्मित कल्क का लेप किया गया हो; डालकर पूर्व योगों की भाँति संधानार्थ १५ दिन के लिए धान्य की राशि में रख दें। संधानोपरान्त इसे स्वच्छ कपड़े से छानकर कांच के बोतलों में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–आतुर के बलाबल का विचार करते हुए मात्रा एवं काल के अनुसार इस अरिष्ट के सेवन करने से निम्नलिखित व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं या दूर हो जाती हैं–

१. अर्श (Piles)
२. ग्रहणी (Sprue syndrome)
८. उदावर्त (upward movement of the Vāyu in lower portion of the gastro intestinal tract)
४. अरोचक (Anorexia)
५. मल (पुरीष), मूत्र एवं वायु का अवरोध (विबन्ध)
६. अग्निमांद्यता
७. हृद्रोग (Heart disease)
८. पाण्डुरोग (Anaemia)

कनकारिष्ट--घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि-नवीन गुठली रहित यवकुट किया हुआ आँवला- १ तुला, पिप्पली, वायविडङ्ग एवं कालीमिर्च- प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ कुडव, पाठा, पिप्पलीमूल, क्रमुक (पूगफल), चव्य, चित्रकमूल, मञ्जिष्ठा, एलबालुक (एलुआ) तथा लोध्र- प्रत्येक द्रव्य १-१ पल, कूठ (कुष्ठ), दारुहल्दी, देवदारु, दोनों प्रकार के सारिवा- कृष्ण सारिवा व श्वेत सारिवा, इन्द्रायण की जड़, तथा भद्रमुस्तक (नागरमोथा); प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ पल, नवीन नागकेशर ४ पल लें। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें तथा इसे २ द्रोण जल में डालकर पकावें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर अग्नि पर से उतारकर क्वाथ को छानकर एक पात्र में रख लें। शीतल होने पर इसमें विधिपूर्वक निर्मित मृद्वीका (मुनक्के) का क्वाथ- २ आढ़क, शर्करा चूर्ण-२ तुला, मधु-१½ प्रस्थ डालें। अन्त में इसमें त्वग् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), पत्र (तेजपत्र), सुगन्धबाला, खस (सेव्य), क्रमुक (सुपारी), केशर (नागकेशर)- प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें एवं इस चूर्ण को क्वाथ आदि द्रव्यों में डालकर अच्छी प्रकार से मिला दें। एक घृतभावित मिट्टी का पात्र जो सुगन्धित धूप से धूपित हो उसमें सभी द्रव पदार्थों को डालकर उसका ढक्कन बन्द कर १५ दिन के लिए संधानार्थ रखें। १५ दिन के बाद जब अरिष्ट तैयार हो जाय, अर्थात् गन्ध एवं स्वाद से युक्त हो जाय तब उसे एक स्वच्छ कपड़े से छानकर कांच के बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस अरिष्ट को कनकारिष्ट कहते हैं। यह पीने में स्वादिष्ट होता है। (मात्रा- २-४ तोला, समभाग जल के साथ भोजनोत्तर लें।)

उपयोग–१. यह अरिष्ट मधुररस युक्त एवं हृद्य (Cardiac tonic) है।

२. इसके सेवन से भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है।

३. अर्श (Piles), ग्रहणीदोष (sprue syndrome), आनाह (Constipation), उदररोग, ज्वर (Fever), हृदयरोग (Heart diseases), पाण्डु (Anaemia), शोथ (Oedema), गुल्म (Phantom tumour), मलावरोध, कास (Cough), श्वास (Asthma) आदि उग्र कफज व्याधियाँ इस अरिष्ट के सेवन से दूर हो जाती हैं।

४. वली (शरीर पर झुर्रियों का पड़ना), पालित्य (समय से पूर्व बालों का पक जाना या सफेद हो जाना) एवं खालित्य (समय से पूर्व बालों का झड़ना) जैसी व्याधियों को यह अरिष्ट दूर करता है। [वात एवं पित्त जन्य व्याधियों को भी यह अरिष्ट दूर करता है।]

शुष्कार्श में गुदप्रक्षालन–शुष्कार्श के रोगी को गुदप्रक्षालन हेतु भांग की पत्तियों को जल में उबालकर-गुनगुने जल का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इस जल से गुदप्रक्षालन करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ शुष्कार्श की सिद्ध (प्रभावी) चिकित्सा का अभिधान किया गया। ॥१३८-१६९॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-'हरीतकीनामिति' के द्वारा अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, फलारिष्ट (प्रथम), फलारिष्ट (द्वितीय) तथा कनकारिष्ट; पाँच अरिष्टों को बताया गया है। **त्रिफलाया इति**-त्रिफला मिलित रूप से ३ पल मात्रा में ग्रहण करना चाहिए। अर्थात्-हरड़- १ पल, बहेड़ा- १ पल व आँवला- १ पल ग्रहण करें, क्योंकि आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट मान ही प्रधान होता है।

हरीतकीत्यादौ फलशब्देन निरस्थिहरीतकीं ग्राहयति-अभयारिष्ट के प्रकरण में वर्णित हरीतकी एवं आमलकी के फल का अभिप्राय गुठली रहित फल का ग्रहण है। अर्थात् यहाँ हरीतकी एवं आमलकी के गुठली रहित फल का ग्रहण करना चाहिये। हरीतकी की मात्रा (गुठली रहित)- १/२ प्रस्थ लेने का निर्देश है, जबकि आचार्य **जतूकर्ण** दूनी मात्रा (१ प्रस्थ) लेने का निर्देश देते है, यथा- हरीतकीफलप्रस्थः, द्विगुणा ह्यामलककपित्थपाठेन्द्राः सचित्रकाः, गुडस्य च शतद्वयम्" इति [हरीतकी- १ प्रस्थ, दूनी मात्रा में आमलकी, कपित्थ, पाठा, इन्द्रयव, चित्रक अर्थात् प्रत्येक २-२ प्रस्थ तथा गुड़- २०० पल डालें।]

क्रमुकं पूगः पट्टिकालोध्रो वा-क्रमुक=पूग (सुपाड़ी) अथवा पट्टिकालोध्र। सुराह्वा=गोरक्षकर्कटिका। यद्यपि यहाँ आँवला आदि द्रव्यों का मान २ आढ़क होता है, अतः सामान्य परिभाषा के अनुसार २ द्रोण जल में इसको पकाकर आधा द्रोण जल अवशिष्ट रखें, यह भाव प्राप्त हो जाता है, फिर भी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए जल के क्वाथ का अभिधान किया गया है। अर्थात् क्वाथ निर्माण सम्बन्धी कोई भ्रम न हो, इसलिए क्वाथ निर्माण हेतु ग्रहण किये जाने वाले जल की मात्रा का निर्देश कर दिया गया है।

मृद्वीकाद्व्याढकरसमिति वचनेन मृद्वीकाया आढकद्वये द्रोणद्वयं जलं दत्त्वा क्वाथ्यसमं जलं स्थाप्यमिति दर्शयति-मुनक्के का रस- २ आढ़क, इस शब्द से- २ आढ़क मुनक्का को २ द्रोण जल में पकावें तथा पकाते-पकाते जब क्वाथ्य की मात्रा के बराबर जल शेष रह जाय। अर्थात् २ आढ़क द्रव शेष बचे तब इसे छान लें। अन्य आचार्य द्राक्षा (मुनक्के) के स्वरस एवं द्रव (क्वाथ) का मान बराबर-बराबर मात्रा में लेने का निर्देश देते हैं। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा- "धात्री तुला कौडविकं पिप्पली मरिचं कृमिघ्नं च। इन्द्राह्वं सारिवा द्वयं दारुनिशा सुरदारु घनं कुष्ठं चार्धपलिकं, पलिकं मञ्जिष्ठापाठातिल्वकग्रन्थिकैल्वालुकचव्यक्रमुकबिल्वं साग्निकं पाक्यं, द्राक्षाद्वयं च पृथक्पृथक् क्वाथौ विमिश्रितौ द्वौ, सितातुले द्वे, मधु द्विकुडवं च" [धात्री- १ तुला, पिप्पली- १ कुडव, कालीमिर्च- १ कुडव, कृमिघ्न (वायविडङ्ग)- १ कुडव, इन्द्रयव- १/२ पल, श्वेत सारिवा- १/२ पल, कृष्ण सारिवा- १/२ पल, दारुनिशा (दारुहल्दी)- १/२ पल, देवदारु- १/२ पल, घन (मुस्तक-Cyperus rotundus Linn)- १/२ पल, कूठ (कुष्ठ)- १/२ पल, मञ्जिष्ठा- १ पल, पाठा- १ पल, तिल्वक- १ पल, ग्रन्थि- १ पल, एलवालुक- १ पल, चव्य- १ पल, क्रमुक (सुपाड़ी)- १ पल, बिल्व- १ पल, अग्निक (चित्रकमूल Plumbago zeylanica)- १ पल, पाक्य (यवक्षार)- १ पल, दोनों प्रकार के द्राक्षा का क्वाथ- २ कुड़व (इनके क्वाथ अलग-अलग बनावें), शर्करा- २ तुला एवं मधु- २ तुला, ग्रहण करें] यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार यह मान चरकोक्त मान के ही समान है। 'भिन्नाया'=चूर्ण बना करके। अर्थात् शर्करा को चूर्ण करके अथवा भेली (गुड़ की पिण्ड रूप आकृति) को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े करके। 'कुसुमस्वरसो' से यहाँ मधु का ग्रहण किया गया है। ॥१३८-१६९॥

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्रावणां शृण्वतः परम्। तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च ॥१७०॥
विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाध्मो वायुर्न वर्तते। तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ॥१७१॥
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम्। तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ॥१७२॥
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम्। यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ॥१७३॥
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम्। श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥१७४॥
स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे। चिकित्सितमिदं तस्मात् संप्रधार्य प्रयोजयेत् ॥१७५॥
पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत्। स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत् ॥१७६॥
प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान्। शोणितं दोषमनिलं तद्रोगाञ्जनयेद्बहून् ॥१७७॥
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निसादमरोचकम्। कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम् ॥१७८॥
कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्ड्वाह्वयं गदम्। वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ॥१७९॥
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यान् रक्तजान् गदान्। तस्मात् स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं हितम् ॥१८०॥
हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित्। कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ॥१८१॥
अग्निसंदीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च। दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत् ॥१८२॥
यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च। वर्तते स्नेहसाध्यं तत् पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥१८३॥
यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते। स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्घातकफानुगम् ॥१८४॥

(ख) आर्द्र (स्रावी) अर्श की चिकित्सा (Treatment of Bleeding Piles)-अब आगे स्रावी (रक्तस्रावी) अर्श की सिद्ध चिकित्सा को बताने जा रहा हूँ, हे अग्निवेश! उसे सुनो। स्रावी अर्श (Bleeding piles) अनुबन्ध भेद से दो प्रकार का होता है- १. कफानुबन्ध, २. वातानुबन्ध।

Scanned by CamScanner

वातानुबन्ध अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Bleeding piles associated with Vāyu)–

१. मल (पुरीष) का श्याव, कठिन (Hard) एवं रूक्ष होना ।

२. अधोवायु की प्रवृत्ति का न होना (Non-elemination of the flatus through the downward tract)

३. अर्श से निकलने वाला रक्त का स्राव पतला, रक्तवर्ण एवं झागयुक्त होता है ।

४. कटी (कमर), ऊरु (thigh) एवं गुदा (Anus) में शूल का होना ।

५. शरीर में दुर्बलता का अधिक होना ।

यदि रूक्ष हेतुओं के सेवन से स्रावी अर्श में वात का अनुबन्ध होता है तब उसमें पूर्व निर्दिष्ट लक्षण पाये जाते हैं ।

कफानुबन्धी रक्तार्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Bleeding piles associated with Kapha)–यदि गुरु एवं स्निग्ध आहार-विहार के सेवन से रक्तार्श की उत्पत्ति हुई है उस अर्श में कफ का अनुबन्ध है, ऐसा जानना चाहिए । उस कफानुबन्धित अर्श में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. इस अर्श पीड़ित रोगी का मल (Stool-पुरीष) शिथिल (ढीला), श्वेत एवं पीत वर्ण का, स्निग्ध, भारी एवं शीतल होता है ।

२. अर्श से निकलने वाला रक्तस्राव घन (गाढ़ा-dense), तन्तुवत्, पाण्डु (Pale yellow in colour) एवं पिच्छिल (Lubricous) होता है ।

३. आतुर की गुदा पिच्छिल रक्त स्राव होने से पिच्छिल एवं स्तिमित होती है ।

रक्तार्श की चिकित्सा (Line of Treatment)–

१. वातानुबन्धित स्रावी अर्श में स्निग्ध एवं शीतल औषध, अन्न एवं विहार द्वारा आतुर की चिकित्सा करें ।

२. कफानुबन्धित स्रावी अर्श में रूक्ष एवं शीतल औषध, अन्न एवं विहार द्वारा उपचार करें ।

३. स्रावी अर्श में पित्त व कफ की प्रधानता को मानते हुए शोधन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

४. यद्यपि रक्तस्राव को तत्काल रोकना नहीं चाहिए अर्थात् कुछ समय तक उपेक्षा करनी चाहिए एवं रोगी को लङ्घन कराना चाहिए ।

५. प्रारम्भ में ही रक्तस्राव को जो अज्ञानी चिकित्सक रोकता है । उस अर्श रोगी में रक्त एवं वात जन्य अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ।

रक्तार्श में तत्काल रक्तस्राव रोकने से होने वाले उपद्रव (Complications of Immediate hemostasis)–रक्तार्श में तत्काल रक्तस्राव रोकने से अधोलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं–रक्तपित्त (A disease characterised by bleeding from various parts of the body), ज्वर, तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), मन्दाग्नि, अरुचि (Anorexia), कामला (Jaundice), श्वयथु (Oedema), गुदा एवं वंक्षण प्रदेश में शूल का होना, कण्डू (Itching), अरु (छोटी-छोटी फुंसियों का निकलना), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), पाण्डुरोग (Anaemia), वात, मूत्र एवं पुरीष का अवरुद्ध होना, सिरः शूल (Headache), स्तैमित्य (शरीर के ऊपर गीला कपड़ा लपेट दिया गया हो, इस प्रकार का प्रतीत होना, गुरुगात्रता (Heaviness of the body) तथा अन्य रक्तज व्याधियाँ ।

इसलिये रक्तार्श में दूषित रक्त के निकल जाने पर ही रक्त स्तम्भन योगों का प्रयोग करना हितकर होता है ।

अर्श के हेतु (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms), काल (रक्तस्राव रोकने का यह उचित काल है अथवा नहीं), आतुरबल एवं रक्त के वर्ण का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक को रक्तस्राव की तब तक उपेक्षा करनी चाहिए जब तक हानि होने की संभावना न हो । अर्थात् रक्तस्राव में यदि रोगी को नुकसान (हानि) हो रहा हो तब तत्काल उसे रोकना चाहिए ।

दूषित रक्त के स्रवित हो जाने पर अग्नि की वृद्धि हेतु, रक्तसंग्रहण (स्तम्भन) हेतु एवं दोषों के पाचनार्थ तिक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् तिक्त द्रव्यों द्वारा चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए ।

स्रावी अर्श में स्नेह का प्रयोग–रक्तस्राव के कारण जिस रोगी के शरीर में रक्तादि धातुएं क्षीण हो गयी हों, वात वृद्धि हो, तथा रोगी स्नेहसाध्य हो उस रोगी की चिकित्सा स्नेहपान, अभ्यङ्ग एवं अनुवासन बस्तियों द्वारा करनी चाहिए ।

Scanned by CamScanner

रक्तस्राव को रोकने का समय–ग्रीष्म ऋतु में पित्त वृद्धि के कारण जिस रोगी के अर्शाकुरों से रक्तस्राव हो रहा हो, उसे शीघ्र ही स्तंभन योगों के प्रयोग द्वारा रोकना चाहिए । यदि इसमें वात या कफ का अनुबन्ध हो अर्थात् अप्रधान रूप से वात या कफ दोष बढ़ा हो तब ऐसा नहीं करना चाहिए । ॥१७०-१८४॥

चक्रपाणि–यहाँ रक्तार्श में वात या कफ के अनुबन्ध होने पर चिकित्सा में जो भिन्नता या विशिष्टता उत्पन्न हो जाती है, उसी का विवेचन 'चिकित्सितमित्यादि' के द्वारा किया गया है ।

अत्र च तन्त्रे पित्तजस्येव रक्तजान्यर्शांसि दुष्टस्रावयुक्तानि स्रावीणि इति ज्ञेयानि–इस शास्त्र में **रक्तज अर्श** में पित्त की ही दुष्टि होती है अथवा पित्त की ही वृद्धि के कारण रक्तज अर्श उत्पन्न होता है तथा यह दुषित स्राव से युक्त होता है । इस कारण इसे स्रावी अर्श कहा जाता है, ऐसा जानना चाहिए ।

विट्श्यावमिति–'विट्' शब्द का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग में भी निर्दिष्ट होने से उसका अर्थ तदनुसार ही ग्रहण करना चाहिए । विट्=पुरीष । **मलिनमिति**-अत्यधिक दूषित । हेतु लक्षण आदि के विशेषज्ञ चिकित्सक द्वारा रक्तस्राव की उपेक्षा करने का निर्देश दिया गया है । [हेत्वादिविशेषज्ञेन स्रावस्योपेक्षा कार्येति सूचयति] **वर्तते इति प्रवर्तते**=निकलना (प्रवृत्त होना) ।

वातेऽनुबले स्नेहनम्–रक्तज अर्श (स्रावी) में वात का अनुबन्ध रहने पर स्नेहन करना चाहिए । अथवा आभ्यन्तर स्नेहपान के प्रयोग द्वारा वात को प्रशमित करना चाहिए ।

कफानुबन्ध (अप्रधान रूप से कफ के वृद्ध होने) में स्राव की उपेक्षा करनी चाहिए, अथवा लङ्घनादि उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए । ॥१७०-१८४॥

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसंग्रहणः । त्वग्दाडिमस्य तद्वत् सनागरश्चन्दनरसश्च ॥१८५॥
चन्दनकिरातार्तिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः । रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च ॥१८६॥
सातिविषा कुटजत्वक् फलं च सरसाञ्जनं मधुयुतानि । रक्तापहानि दद्यात् पिपासवे तण्डुलजलेन ॥१८७॥
कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन । यावत्यार्द्रतरसं तद्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः ॥१८८॥
मोचरसः ससमङ्गः फलिनी च समांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च । वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णितमत्र प्रदातव्यम् ॥१८९॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स रसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः । मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम् ॥१९०॥
छगलीपयसा पीता पेयामण्डेन वा यथाग्निबलम् । जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत ॥१९१॥
रक्तार्शस्यतिसारं रक्तं सासृग्युजो निहन्त्याशु । बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा जयत्युभयभागम् ॥१९२॥
इति कुटजादिरसक्रिया ।

रक्तस्तंभन योग–१. कुटजत्वक् के क्वाथ में शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण मिलाकर पीने से अर्श से निकलने वाला स्निग्ध रक्त का स्राव बन्द हो जाता है ।

२. दाडिमत्वक् (अनार का छिलका-अनार के फल का छिलका) एवं लालचन्दन के क्वाथ में शुण्ठीचूर्ण मिलाकर रक्तस्तम्भनार्थ पीना चाहिए ।

३. लालचन्दन, चिरायता, धन्वयास एवं शुण्ठी; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें । इस क्वाथ को मात्रापूर्वक पीने से रक्तार्श प्रशमित हो जाता है ।

४. दार्वी (दारुहारिद्रा), त्वक् (दालचीनी), उशीर (खस) एवं निम्ब की छाल; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर क्वाथ (Decoction) बनावें । इस क्वाथ के सेवन से रक्तस्राव रुक जाता है ।

५. अतीस, कुटज की छाल, कुटज का फल (इन्द्रयव); तीनों द्रव्य बराबर मात्रा में लेंकर क्वाथ बनावें एवं इस क्वाथ में रसवत व मधु मिलाकर पीयें । यह उत्तम रक्तस्तंभक योग है । इसको पीने से रक्तार्श से निकलने वाला रक्त का स्राव रुक जाता है ।

यदि रोगी को प्यास अधिक लग रही हो तो उसे इस योग को तण्डुलोदक (चावल के धोवन) के साथ पीना चाहिये । इससे रक्तस्राव एवं प्यास दोनों में लाभ मिलता है ।

कुटजादि रसक्रिया–आर्द्र (गीला=ताजा) कुटज की छाल- १०० पल लेकर यवकुट कर लें । इसे वर्षा के जल में पकावें, तब तक पकाते रहें जब तक द्रव्य का रस जल में न आ जाय । इसके बाद क्वाथ को एक स्वच्छ वस्त्र से छानकर पृथक् कर लें । इस क्वाथ में मोचरस, समङ्गा, प्रियङ्गु, प्रत्येक द्रव्य को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर मिला दें तथा इसमें तीनों द्रव्यों (मोचरस, समंङ्गा व प्रियङ्गु) की मात्रा के बराबर इन्द्रयव (वत्सक बीज) का चूर्ण मिलावें । अब इस चूर्ण मिश्रित क्वाथ को अग्नि पर पाक करें, जब यह कुछ गाढ़ा हो जाय एवं करछुल में चिपकने लगे तब उसे अग्नि पर से उतार कर सुरक्षित रख लें ।

Scanned by CamScanner

उपयोग–उचित मात्रा एवं काल के अनुसार अथवा आतुर के अग्निबल का विचार करते हुए उचित मात्रा में इस रसक्रिया का प्रयोग बकरी के दूध अथवा मण्ड के साथ करने से रक्तस्राव रुक जाता है। औषधि के जीर्ण हो जाने पर रोगी को शाली चावल का भात **अजा दुग्ध** के साथ सेवन करना चाहिए। यह योग रक्तार्श (Bleeding piles), अतिसार (diarrhoea) के साथ रक्त का आना व रक्तज व्याधियों को शीघ्र ही प्रशमित कर देता है तथा ऊर्ध्व एवं अधः मार्गी बलवान रक्तपित्त को भी नष्ट कर देता है। ॥१८५-१९२॥

चक्रपाणि–सनागरः ईषद् नागरः-अल्प मात्रा में शुण्ठी का चूर्ण मिलाना। **स्निग्धस्य रक्तस्य संग्रहणः स्निग्धरक्तसंग्रहणः**-रक्त के साथ आने वाली स्निग्ध स्राव को रोकना. 'स्निग्धरक्तसंग्रहण' कहा गया है। अर्थात् रक्त मे कफ दोष के कारण यह विकृति उत्पन्न होती है।

'तद्वदिति' के द्वारा पूर्व योग के लाभ (परिणाम) एवं विधि को दर्शाया गया है।

'कुटजत्वच इत्यादि' से कुटजादि रसक्रिया के निर्माण विधि को बताया गया है। कुटज की त्वचा की छाल=१०० पल (१ तुला) लें। इसे यवकुट कर १ द्रोण जल में पकावें, अष्टमांश शेष रहने पर (जल जब पकते-पकते १/८ भाग बचे) क्वाथ को अग्नि पर से उतार कर छान लें। अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है, यथा-"द्रोणेऽम्भसः पलशतं कुटजत्वचोऽष्टभागशेषम्" इति [जल-१ द्रोण में कुटज की छाल-१०० पल (यवकुट) डालकर पकावें, अष्टमांश जल (द्रव) शेष रखें]

महेन्द्रसलिलं=आकाशीय जल (आन्तरीक्ष जल)। **द्रर्वी प्रलेपनो ग्राह्य इति**-जब चूर्ण मिश्रित क्वाथ पककर गाढ़ा हो जाय एवं करछुल में चिपकने लगे तब इसे उसको अग्नि पर से उतार लेना चाहिए। अर्थात् क्वाथ (रसक्रिया) को अग्नि पर से तभी उतारें जब वह पककर हलवा जैसा गाढ़ा हो जाय।

उभयभागरक्तपित्तस्यासाध्यत्वादुभयभागशब्देन केवलोर्ध्वगं केवलाधोगं चेष्यते–उभयमार्गी रक्तपित्त असाध्य होने से, उभय भाग शब्द से यहाँ केवल ऊर्ध्वमार्गी अथवा अधोमार्गी रक्तपित्त का ग्रहण किया गया है। उसमें अधोमार्गी रक्तपित्त याप्य होता है। अतः यहाँ 'यापन' को ही 'निहन्त्यादिति' पद से कहा गया है। अर्थात् इस रसक्रिया के सेवन से अधोमार्गी रक्तपित्त की चिकित्सा में भी लाभ मिलता है एवं रोगी का कार्य चलता रहता हैं। ॥१८५-१९२॥

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम्। पीत्वा च्छगलीपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम् ॥१९३॥
छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च। धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा ॥१९४॥
पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जन नागरं यवान्यश्च। बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि शूलेषु ॥१९५॥
दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्। रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम् ॥१९६॥
कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः। सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा ॥१९७॥
सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं शृतं जयत्याशु। रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिकासिद्धम् ॥१९८॥

रक्तार्श में उपयोगी विविध योग–१. नीलोत्पल (नीलकमल), समङ्गा (लाजवन्ती), मोचरस, चन्दन, तिल एवं लोध्र; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इसका सेवन अजा दुग्ध के साथ करें। औषध के जीर्ण हो जाने पर आहार के रूप में शाली चावल का भात बकरी के दुग्ध के साथ खायें।

२. वास्तुक (बथुए) के स्वरस को बकरी के दूध के साथ सेवन करें।

३. जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस को अम्ल द्रव्यों से संस्कारित कर अथवा केवल मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। (ये तीन योग रक्तार्श में उपयोगी होते हैं)।

४. पाठा, वत्सकबीज (इन्द्रयव), रसाञ्जन, नागर (शुण्ठी=सोंठ), यवानी (अजवाइन) तथा बिल्व; प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग जल के साथ रक्तार्श की वेदना को दूर करने हेतु करें।

५. दार्वी (दारुहरिद्रा-Berberis aristata), किराततिक्त (चिरायता), मुस्तक (नागरमुस्तक) तथा दुःस्पर्शक (यवासा); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मात्रापूर्वक सेवन करने से रक्तार्श से निकलने वाला रक्त का स्राव बन्द हो जाता है।

रक्तार्श में सिद्ध घृतों का प्रयोग–यदि अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो तथा अर्श में अत्यधिक वेदना होती हो तब आतुर को रक्तस्तम्भन द्रव्यों से साधित सिद्ध घृतों का प्रयोग करना चाहिए।

१. **कुटजफलादि घृत**–कुटजफल (इन्द्रयव), कुटज की छाल, केशर (नागकेशर), नीलोत्पल (नील कमल), लोध्र, एवं धातकी पुष्प; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें यथा इससे गोघृत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग रक्तार्श की वेदना में करना चाहिए।

(रक्तार्श में होने वाला रक्तस्राव व वेदना को यह घृत दूर करता है।)

Scanned by CamScanner

२. दाडिम स्वरस एवं यवक्षार साधित घृत का प्रयोग शूल के साथ रक्तस्राव होने पर करें।

३. निदिग्धिका (छोटी कण्टकारी) एवं दुग्धिका के कल्क द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग अर्श में होने वाले स्राव (रक्तस्राव) एवं वेदना में करनी चाहिए। इस घृत के प्रयोग से ये व्याधियाँ शीघ्र ही दूर हो जाती हैं।

चक्रपाणि-कदम्ल ईषदम्लः -अल्प मात्रा में अम्लरस युक्त करके। **कुटजफलवल्कशब्देन इन्द्रयवाः कुटजत्वक् चोच्यते**- 'कुटजफलवल्क' शब्द से यहाँ इन्द्रयव (कुटजबीज) एवं कुटज की छाल का ग्रहण किया गया है। **'सदाडिमरसमिति'** से यहाँ सिद्ध घृत का

लाजापेया पीता सचुक्रिका केशरोत्पलैः सिद्धा। हन्त्याश्वसृस्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ।।१९९।।
ह्रीवेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधितां सनवनीताम्। वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम् ।।२००।।
गृञ्जनकसुरासिद्धां दद्याद्यमकेन भर्जितां पेयाम्। रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ।।२०१।।
काश्मर्यामलकानां सकर्बुदारान् फलाम्लांश्च। गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रिकायाश्च ।।२०२।।
न्यग्रोधशुङ्गकानां खण्डांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्। दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ।।२०३।।
सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम्। रुधिरस्रवे प्रदद्यान्मसूरसूपं च तक्राम्लम् ।।२०४।।
पयसा श्रृतेन यूषैर्मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्। भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ।।२०५।।
शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयकैः सुसिद्धैश्च। भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत् समरिचैर्वा ।।२०६।।
दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुदलोपाकजैश्च मधुराम्लैः। अद्याद्रसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः ।।२०७।।
रसखडयूषयवागूसंयोगतः केवलोऽथवा जयति। रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः ।।२०८।।
छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु। व्यत्यासान्मधुराम्लं विद्शोणितसंक्षये देयम् ।।२०९।।
नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्। दधिसरमथिताभ्यासादर्शास्यपयान्ति रक्तानि ।।२१०।।
नवनीतघृतं छागं मांसं च सपष्टिकः शालिः। तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यस्रम् ।।२११।।

चुक्रिका, नागकेशर व नीलकमल इनके क्वाथ अथवा स्वरस से साधित लाजपेया अथवा बला एवं पृश्निपर्णी द्वारा साधित लाजपेया रक्तार्श से निकलने वाले रक्तस्राव को शीघ्र ही बन्द कर देती है।

५. ह्रीबेर, बिल्व एवं शुण्ठी (सोंठ) के क्वाथ से बनायी गयी लाजपेया को मक्खन, आलूबुखारा का रस तथा दाडिम स्वरस अथवा इमली अथवा बेर के रस से ईषद् अम्लरस युक्त करके रक्तार्श के रोगी को पानार्थ देनी चाहिए।

६. गृञ्जनक (गाजर) एवं सुरा द्वारा निर्मित पेया जो यमक (घृत व तैल की सम मात्रा) द्वारा छौंक दी गयी हो, प्रयोग करने से रक्तातिसार (diarrhoea with bleeding), शूल (Colic pain), प्रवाहिका (dysentery) एवं शोथ (Oedema) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती है।

रक्तार्श में उपयोगी दधिसर निर्मित योग (Recipes of curds)-यदि रक्तार्श से अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो तब दधिसर द्वारा सिद्ध (पकाये गये) निम्नलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए-

१. काश्मर्य (गम्भारी-**Gmelia arborea** Linn) की छाल, आँवला (आमलकी) एवं कर्बुदार (कांचनार) की छाल का क्वाथ।

२. गृञ्जनक (गाजर) व शाल्मली (सेमल) की छाल अथवा पुष्प के क्वाथ।

३. क्षीरिणी, ४. चुक्रिका (तिन्प्रतिया) के स्वरस, ५. वट के प्ररोह (वटशुङ्ग), ६. रक्तकांचनार के पुष्प के स्वरस अथवा क्वाथ।

पूर्वनिर्दिष्ट द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ द्वारा निर्मित खडयूष को दधिसर से सिद्ध कर प्रयोग करना चाहिए।

तक्र निर्मित योग-अति रक्तस्राव में पलाण्डु (प्याज) का शाक तक्र के साथ, अथवा उपोदिका (पोई) का शाक व खट्टे बेर के रस में तक्र मिलाकर, अथवा मसूर के शाक से निर्मित यूष में अम्लतक्र मिलाकर आतुर को खाने के लिए देना चाहिए।

रक्तार्श में उपयोगी अन्न-शाली चावल, श्यामाक (साँवा) व कोद्रव (कोदो) के भात का सेवन दूध के साथ करें। अथवा मसूर, मुद्ग, आढकी (अरहर) एवं मकुष्ठ से निर्मित यूष को अम्ल द्रव्यों (अनारदाना, खट्टे बेर का चूर्ण अथवा नीबू के रस) द्वारा साधित करके प्रयोग करें। अर्थात् शाली चावल, साँवा व कोदो के भात का सेवन अम्लरस द्वारा साधित यूष के साथ करें। (यूष भात अथवा दूध भात का सेवन करें)।

रक्तार्श में उपयोगी मांस-१. शश (खरगोश), हरिण, लाव, कपिञ्जल (the francoline partridge-टिटिहिरी) व एण (कालाबारहसिंघा) के मांस को विधिपूर्वक पकावें एवं उसे अम्लरस एवं मधुररस युक्त द्रव्यों से संस्कारित कर अल्प मात्रा में कालीमिर्च का चूर्ण डालकर भोजन के रूप में खाने के लिए देना चाहिए।

Scanned by CamScanner

२. दक्ष (मुर्गा), शिखि (मोर), तितिर के मांसरस के साथ भात का सेवन करें अथवा द्विककुद (Camel), लोपाक Jackal (सियार अथवा गीदड़) के मांसरस को अम्ल व मधुर द्रव्यों से संस्कारित कर भात के साथ सेवन करना चाहिए ।

इन योगों का प्रयोग रक्तार्श से पीड़ित उन रोगियों में करना चाहिए जिनके शरीर में वात की उल्बणता हो तथा रक्तस्राव (Bleeding) अधिक हो रहा हो ।

३. रस (पाठभेद से रस का प्रयोग है)= रस अर्थ लेने पर मांसरस का ग्रहण किया जाता है । मांसरस, खडयूष, यूष व यवागू के साथ **प्याज के स्वरस** का प्रयोग अथवा एकल (अकेले) प्याज के रस का प्रयोग वातोल्बणता एवं अतिरक्तस्राव की अवस्था में करना चाहिए ।

४. **पुरीष एवं रक्त के क्षय** की अवस्था में युवा बकरे के अन्तराधि (Trunk-मध्य शरीर का मांस-यकृत) को रक्त के साथ पकाकर तथा उसमें अधिक मात्रा में प्याज का रस मिलाकर एवं कभी मधुर रस तथा कभी अम्लरस वाले द्रव्यों से संस्कारित कर रोगी को खाने के लिए देना चाहिए ।

५. स्रावी अर्श (रक्तार्श) से निकलने वाला रक्तस्राव अधोलिखित योगों के नियमित सेवन से शान्त (बन्द) हो जाता है–

(क) नवनीत (मक्खन) एवं काले तिल के चूर्ण के नियमित सेवन करने से । अर्थात् तिलचूर्ण+मक्खन के मिश्रण के सेवन से ।

(ख) केशर (नागकेशर) के चूर्ण, मक्खन एवं चीनी के मिश्रण के सेवन से ।

(ग) दधिसर को मथकर (दही की साढ़ी को मथकर) सेवन करें ।

ये तीन योग नियमित अभ्यास करने से लाभ दर्शाते हैं ।

६. **रक्तस्रावनाशक एकल योग–**

(क) नवनीत द्वारा निकाला गया घृत (Freshly collected ghee from butter), (ख) बकरी का मांस (Goat meat), (ग) षष्टिक चावल [धान की एक Variety जो साठ दिन में तैयार हो जाती है-A kind of rice of quick growth (ripening in about sixty days)] (घ) शाली चावल (षष्टि एवं शाली चावल के भात का सेवन करना चाहिए ।), (च) नूतन सुरा का मण्ड (सुरा के ऊपर का स्वच्छ भाग) तथा नूतन सुरा ।

चक्रपाणि–'गृञ्जनकेत्यादि' के द्वारा दूसरे योगों को बताया गया है । गृञ्जनक=पालाण्डु भेद (पलाण्डु का एक प्रकार) [A kind of onion or garlic or small red variety of it (Prohibited as food)] **कर्बुदारः काञ्चनभेदः**-काञ्चनार का एक भेद (Bauhinia candida-सुश्रुत), (चरक-Bauhinia variegata)]

'भोजनमित्यादौ भोजनमद्यादिति योज्यम्-भोजनमिति से प्रारम्भ करके भोजनमद्याद् तक आहार में प्रयुक्त द्रव्यों का निर्देश है । द्विककुद से ऊँट का ग्रहण किया गया है । **अन्तराधिः शरीरमध्यम्**-शरीर का मध्य भाग । तरुण छाग (बकरी) के शरीर के मध्य भाग का प्रयोग आहार हेतु करने का निर्देश है ।

मधुराम्लं प्रथमं मधुरं, पश्चाद् किंचिदम्लम्-पहले मधुररस वाले द्रव्यों से संस्कारित करना, पश्चात् अल्प मात्रा में अम्लरस वाले द्रव्यों को डालना ।

दधिसरस्य मथितं दधिसरमथितम्–दधिसर (दही की मलाई) को मथकर प्रयोग करना । अर्थात् मथानी द्वारा दधिसर का मथ जाना ।

नवनीतघृतं सद्यस्कनवनीतघृतम्–तत्काल निकाले गये नवनीत (मक्खन) से तैयार घृत नवनीतघृत कहलाता है । अन्य आचार्य इससे नवनीत एवं घृत दो का ग्रहण करते हैं । यहाँ नवनीत से बकरी के दूध से निकाले गये मक्खन को तथा बकरी के दूध से निर्मित घृत का ग्रहण किया गया है, क्योंकि बकरी के दूध से निर्मित होने वाले योग रक्तस्तम्भक होते हैं ।

[According to some physicians, butter and ghee prepared of goat- milk should be used by the patient because the preparations of goat- milk are hemostatic. Dr. Bhagvan Das]

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते । दुष्टेऽपि च कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः ।।२१२।।
दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च । शीता क्रिया प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्या ।।२१३।।
मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बरं धवपटोलम् । परिषेचने विदध्याद्वृषककुमयवासनिम्बांश्च ।।२१४।।
रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे क्लेदेऽवगाहयेच्चापि । मधुकमृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिष्काथे ।।२१५।।
इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् । अवगाहयेत् प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ।।२१६।।
दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे गुदे त्रिकदेशे च । शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या ।।२१७।।

Scanned by CamScanner

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः । प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ।।२१८।।
दूर्वाघृतप्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः । व्यजनपवनः सुशीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ।।२१९।।
समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् । सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां वा ।।२२०।।
दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् । दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः ।।२२१।।

अर्श में वात की उल्बणता–प्रायः सभी अर्शो में वात की प्रधानता होती है, क्योंकि अर्श से रक्त के अधिक मात्रा में स्रावित होने पर तथा कफ व पित्त के अधिक दूषित होने पर वायु अत्यधिक रूप से प्रकुपित हो जाती है । इसलिये सभी प्रकार के अर्शों में वायु की अधिकता होती है ।

यदि अर्श में रक्त एवं पित्त की उल्बणता (वृद्धि) है तथा कफ व वात वृद्धि के लक्षण (Signs and Symptoms) अल्प रूप मे मिलते हैं । ऐसी स्थिति में शीतल उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है तथा आगे जिन उपक्रमों का निर्देश किया जा रहा है, उसका प्रयोग करें ।

रक्तार्श में परिषेचन (Sprinkling)–स्रावी अर्श (Bleeding piles) में-मुलेठी (यष्टीमधु), पञ्चवल्कल (वट, पारस पीपल, अश्वत्थ, शिरीष तथा पाकड़), बदरीत्वक्, (बेर की छाल), उदुम्बर की छाल, धव (धाय का फूल), पटोल (परवल) पत्र, वासा की पत्ती, ककुभ (अर्जुन) की छाल, यवासा (दुःस्पर्शा=जवासा) तथा नीम की पत्ती अथवा छाल; इन द्रव्यों द्वारा बनाये गये क्वाथ से अर्शाङ्कुरों का परिषेचन करना चाहिए ।

रक्तार्श में अवगाहन (Tub bath)–१. यदि रक्तार्श में रक्त का स्राव अत्यधिक हो रहा हो तथा गुदा में दाह एवं क्लेद हो तब उसे यष्टीमधु (मुलेठी), अमृणाल (खश), पद्मक, चन्दन, कुश एवं काश द्वारा निर्मित क्वाथ में अवगाहन कराना चाहिए । [एक बड़े Tub में यष्टीमधु, अमृणालादि द्रव्यों के क्वाथ को भरकर उसमें रोगी को बैठाना चाहिए । अवगाहन हेतु गुनगुने क्वाथ का प्रयोग करना चाहिए ।]

२. इक्षुरस (गन्ने का रस), यष्टीमधु क्वाथ एवं वेतस का क्वाथ, जो ठण्डा हो अथवा शीतल गोदुग्ध के द्वारा अर्शाङ्कुरों पर तैल का अभ्यङ्ग करने के बाद अवगाहन करावें । इससे अर्श में होने वाली वेदना एवं रक्तस्राव दोनों में ही लाभ मिलता है ।

रक्तार्श में जल धारा का प्रयोग–घृत एवं शर्करा को मिश्रित करके रोगी के उपस्थ (मुत्रेन्द्रिय), गुद (Anus) एवं त्रिक प्रदेश (Lumber region) पर अभ्यङ्ग करें । पश्चात् इन प्रदेशों पर स्पर्श में सुखकर शीतल जल की धारा छोड़नी चाहिए । इसके प्रयोग से अर्शाङ्कुरों से होने वाला रक्तस्राव रुक जाता है ।

रक्तार्श में बाह्य प्रयोग (External application of Leaves)–१. नवीन केले की पत्ती, २. कमलपत्र, ३. नील उत्पल (नीलकमल); इन द्रव्यों के पत्तों के ऊपर शीतल जल छिड़क कर अर्शाङ्कुरों को ढकना चाहिए । अर्थात् शीतल जल युक्त इन पत्रों के द्वारा अर्शाङ्कुरों को ढके । इससे अर्शाकुरों से निकलने वाला रक्तस्राव बन्द हो जाता है ।

दूर्वाघृत (दूर्वा स्वरस एवं गोघृत को एक में मिलाकर) अथवा शतधौतघृत अथवा सहस्रधौतघृत का लेप गुदा पर करना चाहिए तथा शीतल पंखे की हवा करें । इस प्रयोग से अर्श से निकलने वाला रक्त का स्राव रुक जाता है ।

यदि रक्तार्श से पीड़ित रोगी की गुदा में दाह, क्लेद एवं गुदभ्रंश हो तब अर्शाङ्कुरों पर निम्नलिखित योगों का प्रयोग प्रतिसारण के रूप में करना चाहिए–

१. समङ्गा (लाजवन्ती) एवं यष्टीमधु, २. काला तिल एवं यष्टीमधु, ३. रसाञ्जन व गोघृत, ४. सर्जरस+गोघृत, ५. नीम का स्वरस+गोघृत, ६. मधु+गोघृत, ७. दारुहल्दी का चूर्ण+गोघृत, ८. रक्तचन्दन+श्वेतचन्दन, ९. उत्पल+गोघृत ।

चक्रपाणि–यवासः=दुरालभा । **शिशिरेण तैलेनेति**-शीतल द्रव्यों द्वारा साधित तैल के प्रयोग से ।

'शिशिरेत्यादि' के द्वारा-शीतल जल जो स्पर्श में सुखकर हो, की धारा अर्शाङ्कुरों पर छोड़नी चाहिए । इससे रक्तस्राव रुक जाता है । इससे अत्यधिक शीतल जल का निराकरण हो जाता है । अर्थात् यहाँ अतिशीत जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए । ।।२१२-२२१।।

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य तिष्ठति न रक्तम् । तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ।।२२२।।
अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः । क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैस्तमुपाचरेदाशु ।।२२३।।

रक्तार्श में विशेष व्यवस्था–पूर्ण वर्णित उपक्रमों के प्रयोग अथवा अन्य शीतल क्रियाओं के प्रयोग के बाद भी यदि रक्तस्राव बन्द नहीं होता है तब बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिए कि उचित काल में स्निग्ध, उष्ण मांसरसों के प्रयोग द्वारा उस रोगी को तृप्त करे । अर्थात् स्निग्ध, उष्ण मांसरसों के प्रयोग द्वारा आतुर को तृप्त करना चाहिये । अवपीडक घृत (Medicated ghee which is administered in

Scanned by CamScanner

large quantity) के सेवन द्वारा, सुखोष्ण घृत एवं तैल के अभ्यङ्ग द्वारा, दूध, घृत व तैल के परिषेक द्वारा (दूध, घृत व तैल को गुनगुना प्रयोग करना चाहिए) रक्तस्राव को बन्द करने का प्रयास करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'आभिरित्यादि' के द्वारा अशक्य रक्तस्राव की अवस्था में अर्थात् रक्तस्राव न रुक पाने की स्थिति में क्षीण धातुओं के तर्पण हेतु बृंहणचिकित्सा का अभिधान किया गया है ।

अवपीडकसर्पिः भोजनस्योर्ध्वं यत् पीयते–भोजन के बाद पीने वाले घृत को अवपीडक घृत कहा गया है अथवा अधिक मात्रा में घृत का पान करना 'अवपीडक' कहा जाता है ।

तमिति स्रवद्रक्तं पुरुषम्–उस पुरुष को, जिसके अर्श से रक्त का स्राव हो रहा हो । ॥२२२-२२३॥

कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम् । पिच्छाबस्तिं दद्यात् काले तस्याथवा सिद्धम् ।।२२४।।
यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम् । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ।।२२५।।
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत् क्षीरप्रस्थं च साधयेत् । क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत् ।।२२६।।
कल्काः शाल्मलिनिर्यासससमङ्गाचन्दनोत्पलम् । वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गुः पद्मकेशरम् ।।२२७।।
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः । प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ।।२२८।।
प्रपौण्डरीकं मधुकं पिच्छाबस्तौ यथेरितान् । पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ।।२२९।।
इति पिच्छाबस्तिः ।

रक्तार्श में पिच्छाबस्ति का प्रयोग–यदि स्रावी अर्श में वात की उल्बणता हो तब आतुर को घृतमण्ड (घृत के ऊपर का भाग) की अनुवासनबस्ति का प्रयोग शीघ्र करना चाहिए अथवा योग्य काल में पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

पिच्छाबस्ति तैयार करने की विधि–यवासमूल, कुश की जड़, काश की जड़, सेमल का पुष्प, न्यग्रोध (वट), उदुम्बर, अश्वत्थ (पीपल); इनके शुङ्ग (पत्र कलिका- Leaf bud) प्रत्येक द्रव्य २-२ पल लेकर इन्हें यवकुट कर लें । जल- ३ प्रस्थ, गोदुग्ध- १ प्रस्थ, अब यवकुट किये हुए द्रव्य, जल एवं गोदुग्ध को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक पकावें, जब दुग्ध मात्र अवशेष बचे तब पात्र को अग्नि पर से उतार कर एवं क्वाथ युक्त दूध को छानकर एक पृथक् पात्र में रख लें । इस क्वाथ में शाल्मली निर्यास (मोचरस), समङ्गा (मंजिष्ठा अथवा लाजवन्ती), चन्दन, नीलकमल, इन्द्रयव, प्रियंगु एवं कमलकेशर; प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा में लेकर कल्क बनावें एवं इसे मिलावें । साथ में इसमें घृत, मधु एवं शर्करा इस प्रकार मिलावें कि क्वाथ अत्यधिक गाढ़ा न हो जाय । अर्थात् मिश्रित क्वाथ न तो अधिक गाढ़ा न तो अधिक पतला होना चाहिए ।

इस प्रकार इस सिद्ध **पिच्छाबस्ति** के प्रयोग से प्रवाहिका (Dysentery), गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), रक्तस्राव (Bleeding) एवं ज्वर (Fever) दूर हो जाते हैं । अर्थात् यह बस्ति इन व्याधियों को दूर कर देती है ।

प्रपौण्डरीक, यष्टीमधु एवं पिच्छावस्ति के निर्माणार्थ जिन द्रव्यों का निर्देश है, उन द्रव्यों को पीसकर कल्क बनावें एवं कल्क से ४ गुना तिलतैल अथवा गोघृत लें, इसमें स्नेह से द्विगुण गोदुग्ध मिलाकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग अनुवासनबस्ति के रूप में करें, अर्थात् इस सिद्ध घृत की अनुवासनबस्ति दें । (कल्क- १ भाग, स्नेह या गोघृत- ४ भाग, गोदुग्ध- ८ भाग) ।

चक्रपाणि–'यवासेत्यादि' के द्वारा पिच्छाबस्ति के निर्माण की विधि को बताया गया है । यवासः=दुरालभा, यहाँ कल्कादि के मान का ग्रहण बस्ति में प्रयुक्त मात्रा के अनुसार करना चाहिए । ॥२२४-२२९॥

ह्रीवेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम् । पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च ।।२३०।।
दार्वीत्वङ् नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः । चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम् ।।२३१।।
ऐकध्यं साधयेत् सर्वं तत् सर्पिः परमौषधम् । अर्शोतिसारग्रहणीपाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ ।।२३२।।
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्यानाहे प्रवाहणे । पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत्त्रिदोषनुत् ।।२३३।।
इति ह्रीवेरादिघृतम् ।

ह्रीवेरादि घृत–ह्रीवेर (हाऊबेर), उत्पल (नील कमल), लोध्र (पठानी लोध), समङ्गा (लाजवन्ती या मञ्जिष्ठा), चव्य (चाभ), चन्दन (लालचन्दन), पाठा, अतिविषा, बिल्व, धातकीपुष्प, देवदारु, दारुहल्दी, त्वक् (दालचीनी), नागर (सोंठ=शुण्ठी), यवक्षार तथा चित्रकमूल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें, कल्क- १ भाग, गोघृत- ४ भाग तथा चाङ्गेरी स्वरस- १६ भाग लें । सभी द्रव्यों को एक बड़े पात्र में डालकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । घृत सिद्ध हो जाने पर घृत को छानकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें ।

Scanned by CamScanner

उपयोग–यह घृत अर्श (Piles), अतिसार (diarrhoea), ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डु (Anaemia), ज्वर (Fever), अरुचि (Anorexia), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), बस्तिप्रदेश में आनाह का होना (distension in the region of urinary bladder), प्रवाहण (कांख कर मल त्याग करना), गुदा से पिच्छा का स्राव होना तथा अर्श की वेदना; में उपयोगी है। अर्थात् इस घृत के सेवन करने से अर्श, अतिसार आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं । यह घृत त्रिदोषशामक भी है ।

चक्रपाणि–यवाग्रजः क्षारः यवक्षारः-यव के अग्र भाग से निर्मित क्षार यवक्षार कहलाता है । यव की हरी पत्ती आदि को काटकर सुखा लेते हैं, पश्चात् इसे एक पात्र में रखकर जला देते हैं । इस राख से क्षार को तैयार करते हैं । **चाङ्गेरी स्वरसोऽत्र चतुर्गुणो ग्राह्यः**-चाङ्गेरी स्वरस का मान यहाँ स्नेह (घृत) से ४ गुना लेना चाहिये, क्योंकि अन्य द्रव पदार्थों का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है । ॥२३०-२३३॥

विशेष (Comments)–ह्रीवेरादि घृत का निर्माण निम्न प्रकार से करना चाहिये । कल्क- १/४ भाग, गोघृत- १ भाग, चाङ्गेरी स्वरस- ४ भाग (क्वाथ के स्थान पर इसकी मात्रा का ग्रहण किया गया है ।) लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें ।

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ।।२३४।।
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी । पिप्पली पिप्पलीमूलं नागरं सुरदारु च ।।२३४।।
कलिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा चन्दनमुत्पलम् । कट्फलं चित्रको मुस्तं प्रियङ्गवतिविषास्थिराः ।।२३६।।
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका । बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः ।।२३७।।
चतुष्प्रस्थे शृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत् । त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः ।।२३८।।
सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च । सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।।२३९।।
एतदर्शःस्वतीसारे रक्तस्रावे त्रिदोषजे । प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ।।२४०।।
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये । मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ।।२४१।।
प्रयोज्यं विधिवत् सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम् । विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ।।२४२।।
इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम् ।

सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृत–क्वाथ्य द्रव्य-अवाक्पुष्पी, बला (बरियार-Sida cordifolia Linn), दारुहल्दी, पृश्निपर्णी (पिठिवन), त्रिकण्टक (गोखरू), **न्यग्रोध** (वट), **उदुम्बर** (गुलर), **अश्वत्थ** (पीपर) इन तीनों के शुङ्ग (पत्र कलिका); प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें ।

कल्क द्रव्य–जीवन्ती, कटुका (कुटकी), पिप्पली, पिप्पलीमूल, शुण्ठी (सोंठ), सुरदारु (देवदारु), कलिङ्गा (इन्द्रयव), शाल्मलीपुष्प (सेमल का फूल), वीरा (शतावरी), लालचन्दन, उत्पल (नीलकमल), कट्फल (कायफल), चित्रकमूल, नागर मुस्तक, प्रियङ्गु, अतिविषा, स्थिरा (सरिवन), पद्म (लालकमल का केशर), उत्पल (नीलकमल का केशर), समङ्गा (लाजवन्ती), निदिग्धिका (छोटी कटेरी=भटकटैया), बिल्व की छाल, मोचरस एवं पाठा; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) मात्रा में लेकर कल्क बनावें ।

निर्माण विधि– क्वाथ्य द्रव्यों को लेकर ४ प्रस्थ जल में पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर (१ प्रस्थ जल शेष बचने पर) क्वाथ को छानकर अलग कर लें । यहाँ ३२ पल का १ प्रस्थ ग्रहण करना चाहिए अर्थात् यहाँ ३२ पल=१ प्रस्थ अर्थ लिया गया है । अब सुनिषण्णक चाङ्गेरी स्वरस- २ प्रस्थ, घृत- १ प्रस्थ को लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । अर्थात् क्वाथ- १ प्रस्थ, कल्क- २४ कर्ष, सुनिषण्णक चाङ्गेरी स्वरस- २ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें ।

उपयोग–इस सिद्ध घृत का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए- अर्श (Piles), अतिसार (diarrhoea), त्रिदोषज रक्तस्राव, प्रवाहण (कांख कर मल त्याग करना), गुदभंश (Prolapse of Rectum), गुदा से पिच्छास्राव का होना, बार-बार मल प्रवृत्ति का होना, गुदशूल, गुदशोथ, मूत्रग्रह (मूत्र का रुक जाना), मूढवात, अग्निमांद्य एवं अरुचि । उचित मात्रा एवं योग्य काल में इस घृत के सेवन करने से व्यक्ति के बल, वर्ण एवं अग्नि की वृद्धि होती है, इस घृत के सेवन करने से किसी भी प्रकार की हानि की संभावना नहीं रहती । इसका प्रयोग अनेक प्रकार के अन्न-पानों के साथ अथवा अकेले करना चाहिए ।

चक्रपाणि–अवाक्पुष्पी=अधः पुष्पी, यहाँ क्वाथ्य द्रव्यों की कुल मात्रा- १६ पल ग्रहण करनी चाहिए एवं जल की मात्रा ४ प्रस्थ डालनी चाहिये । अर्थात् १६ पल क्वाथ्य द्रव्य को ४ प्रस्थ जल में पकाकर चतुर्थांश बचाना चाहिए (यह निर्देश सामान्य परिभाषा के अनुसार है) । इस प्रकरण में विशेष निर्देश दिया गया है, अर्थात् ३२ पल का १ प्रस्थ बताया गया है, यथा-"त्रिंशत्पलानि तु प्रस्थो विज्ञेयोः द्विपलाधिकः" १ प्रस्थ=१६ पल (क.स्था. १२/९२-९४) तथा १ प्रस्थ=३२ पल (क.स्थान. १२/९८ द्रव पदार्थों की मात्रा दूनी लेने का निर्देश है)

[One prastha, according to the Kalpa 12/92-94, is equivalent to sixteen palas. In Kalpa 12:98, Liquids are suggested to be taken in double the prescribed quantity. Baidya Bhagvan Das]

Scanned by CamScanner

अतः दृढ़बल संस्कारित पाठ में भी द्रव को दूनी मात्रा में लेने का निर्देश दिया गया है ।

त्रिंशत्पलविशेषणतया द्विपलाधिकानीति निर्देशे प्राप्ते प्रस्थविवक्षया पुल्लिङ्गैकवचननिर्देशो ज्ञेयः–३२ पल=१ प्रस्थ (द्रव पदार्थों के सम्बन्ध में) यहाँ प्रस्थ शब्द पुल्लिंगवाची एवं एकवचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा जानना चाहिए । ॥२३४-३४२॥

जल्पकल्पतरु टीका–अवाक्पुष्पी इत्यादि के द्वारा सुनिषण्णकचाङ्गेरीधृत का अभिधान किया गया है । अवाक्पुष्पी=महुरी, न्यग्रोध आदि द्रव्यों के शुङ्ग (पत्र कलिका) का ग्रहण करना चाहिए । ये आठों द्रव्य अलग-अलग २-२ पल मात्रा में ग्रहण करना चाहिये । इस प्रकार १६ पल द्रव्यों को लेकर यवकुट कर लें तथा इसे ४ प्रस्थ जल में क्वाथ करें । एक प्रस्थ द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें । जीवन्ती से लेकर पाठा तक के द्रव्यों को १-१ कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बना लें । वीरा=क्षीरकाकोली । स्थिरा=शालपर्णी । समङ्गा=मञ्जिष्ठा अथवा वराहक्रान्ता । सुनिषण्णक (चौपतिया=सुसनी शाक-**Marsila minuta** Linn) एवं चाङ्गेरी का स्वरस अलग-अलग २-२ प्रस्थ लें, इस प्रकार ५ गुने द्रव में घृत का पाक करें । (क्वाथ- १ प्रस्थ, चाङ्गेरी स्वरस- २ प्रस्थ, सुनिषण्णक स्वरस- २ प्रस्थ) ।

उत्थाने चातिबहुश इति स्तोकं स्तोकं पुरीषं सृष्ट्वा बहुश उच्यते–बार-बार मल त्याग की इच्छा होना, रुक-रुक कर अल्प-अल्प मात्रा में बार-बार पुरीष का निकलना, जिसके कारण रोगी को बार-बार मल त्याग हेतु जाना पड़ता है । (प्रवाहिका)

भवन्ति चात्र–

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् । नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ।।२४३।।

अर्श में उत्पन्न होने वाले विकारों में रोगी के अग्नि एवं शारीरिक बल का विचार करते हुए मधुर, अम्ल, शीत एवं उष्ण द्रव्यों की योजना बारी-बारी से करनी चाहिये । ॥२४३॥

चक्रपाणि–व्यत्यासात् परस्परपरिवर्तनेन मधुराम्लयोः शीतोष्णयोश्च योजना-बारी-बारी से बदलकर मधुर-अम्ल व शीत-उष्ण द्रव्यों का सेवन करना चाहिए । अर्थात् कभी मधुररस एवं शीत वीर्य वाले द्रव्य अथवा मधुर व शीतल द्रव्य तथा कभी अम्ल रस युक्त एवं उष्ण द्रव्यों का प्रयोग क्रमशः बारी-बारी से करें । ॥२४३॥

विशेष (Comments)–मधुर कारणों से उत्पन्न होने वाले अर्श में मधुर हेतु के विपरीत अम्ल रस युक्त, अम्ल हेतु से उत्पन्न अर्श में अम्ल के विपरीत मधुर; उष्ण निदान से उत्पन्न अर्श में शीतल एवं शीतल हेतुओं से उत्पन्न अर्श में उष्ण द्रव्यों की योजना करनी चाहिए। यह योजना आतुर के अग्नि (जाठराग्नि) एवं बल (Strength) का विचार करते हुए करनी चाहिए ।

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः । अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ।।२४४।।
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः । तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ।।२४५।।
भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः । क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत् ।।२४६।।

तीन विकारों का परस्पर सम्बन्ध–प्रायः ये तीन विकार-अर्श (Piles), अतिसार (diarrhoea) एवं ग्रहणी (Sprue syndrome) परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं । अर्थात् इनके हेतु एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, जाठराग्नि के अल्प (मन्द) होने पर इन व्याधियों की वृद्धि तथा वृद्ध होने पर इनका क्षय होता है । इसलिये विशेष रूप से इन तीन व्याधियों में आतुर के अग्निबल की रक्षा करनी चाहिए ।

अर्श में विविध अन्न-पानों का प्रयोग–स्नेह द्वारा भुने हुए शाक, यवागू, मांसरस, खडयूष, क्षीर एवं तक्र आदि के अनेक प्रयोगों द्वारा गुदा में उत्पन्न होने वाले अर्श को जीतना चाहिए । अर्थात् अर्श के उत्पन्न होने पर उस रोगी को शाक आदि का सेवन कराना चाहिए। ॥२४४-२४६॥

चक्रपाणि–अर्शः सु अग्निरक्षामभिधातुमन्यत्रापि यत्राग्निरक्षा विशेषेण कर्तव्या तानाह-त्रय इत्यादि 'त्रय इत्यादि' के द्वारा, अर्श में जाठराग्नि की रक्षा के अभिधान हेतु अन्य व्याधियों में भी जहाँ अग्नि की रक्षा विशेष रूप से की जाती है, बताया गया है ।

वृद्धे परिक्षयः अग्निबले वृद्धे विनाशः-व्याधि के बढ़ने पर अग्नि का क्षय एवं अग्नि की वृद्धि होने पर व्याधि का क्षय होता है ।

विशेषत इति–इससे यहाँ तीन व्याधियों का विशेष रूप से ग्रहण किया गया है, यथा- अर्श (Piles), अतिसार (diarrhoea) एवं ग्रहणी (sprue syndrome), जिसमें अग्नि विशेष रूप से रक्षणीय है । यद्यपि अन्य व्याधियों में भी अग्नि की रक्षा करनी चाहिए, यह भाव भी इसी सूत्र से प्राप्त हो जाता है । ॥२४४-२४६॥

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये । अन्नपानौषधद्रव्यं तत् सेव्यं नित्यमर्शसैः ।।२४७।।
यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यच्च दर्शितम् । गुदजाभिपरीतेन तत् सेव्यं न कदाचन ।।२४८।।

Scanned by CamScanner

अर्श में पथ्यापथ्य–जो अन्न-पान एवं औषध वायु का अनुलोमक हो तथा अग्नि का वर्धक हो, उसी का नित्य सेवन अर्श रोगी को करना चाहिये, अर्थात् उसी का सेवन अर्श रोगी के लिए हितकर होता है । जो इसके विपरीत हों, अर्थात् अग्निमांद्य कर हों एवं वातानुलोमक न हो तथा वे हेतु जिनका उल्लेख अर्श निदान में किया जा चुका है, उनका सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'यद्वायोरित्यादि' के द्वारा पूर्वोक्त चिकित्सा के सारांश को बताया गया है । ॥२४७-२४८॥

तत्र श्लोकाः–

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च । स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः ॥२४९॥
अभ्यङ्गा स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः । शोणितस्यावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥२५०॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः । योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च ॥२५१॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः । शुष्काणामर्शसां शस्ताः स्राविणां लक्षणानि च ॥२५२॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम् । रक्तसंग्रहणाः क्वाथाः पेय्याश्च विविधात्मकाः ॥२५३॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः । प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥२५४॥
अतिवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम् । तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते ॥२५५॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽर्शश्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस अर्शचिकित्सा नामक अध्याय में अधोलिखित विन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है–दोनों प्रकार के अर्शों की उत्पत्ति का हेतु एवं उनके अलग-अलग कारण ।

शुष्कार्श–अर्शों के स्थान (Location), संस्थान (आकृति), लिङ्ग (Signs and Symptoms) एवं उनकी साध्यासाध्यता का निश्चय ।

१. अभ्यङ्ग (Massage), स्वेदन (Sudation), धूम (Fumigation), अवगाह (Bath), प्रलेप (External application), रक्तमोक्षण (Blood letting), दीपन एवं पाचन योगों का वर्णन ।

२. वातानुलोमक एवं पुरीषानुलोमक श्रेष्ठ अन्न-पान की विधि ।

३. संशमनीय योग, विविध प्रकार के सिद्ध घृतों का वर्णन ।

४. बस्ति एवं तक्र के योग, उत्तम उपयोगी अरिष्ट एवं शर्करारिष्ट ।

(ये सभी योग शुष्कार्श में उपयोगी हैं ।)

स्रावी अर्श–

१. स्रावी अर्श के लक्षण (Signs and Symptoms of Bleeding piles) द्विविध अनुबन्ध, चिकित्सा, रक्तसंग्राही विविध प्रकार के क्वाथ (Decoction), पेया ।

२. स्नेह, आहारविधि, प्रतिसारणीय श्रेष्ठ योग, प्रक्षालन, अवगाह, प्रदेह, परिषेचन के द्रव्य व अत्यधिक रक्तस्राव को रोकने वाले योगों का वर्णन ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में अर्शचिकित्सा नामक चतुर्दश अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'अर्शसां द्विविधमिति' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया गया है । अरिष्टग्रहणेनैव शार्करस्यापि ग्रहणे प्राप्ते शार्करस्य पृथगभिधानं गुडकृतेभ्यो भेदेन व्यवहारार्थम्-अरिष्ट के ग्रहण से ही शार्करारिष्ट का भी ग्रहण हो जाता है, फिर भी इसका पृथक् कथन 'गुड़ से निर्मित होने के कारण' तथा अनुपान के अभिधानार्थ हुआ है ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्तकृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका (चिकित्सास्थान) में अर्शचिकित्सा नामक चतुर्दश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो ग्रहणीदोषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे 'ग्रहणीदोष चिकित्सा' की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–पूर्व अध्याय में अर्शचिकित्सा का अभिधान किया गया । प्रायः ग्रहणी रोग के कारण अर्श की उत्पत्ति होती है । अतः यहाँ अर्श चिकित्सा के बाद ग्रहणीचिकित्सा का कथन किया गया है ।

ग्रहणीमाश्रितोऽग्निदोषो ग्रहणीदोषः-अग्नि ग्रहणी के ही आश्रित रहती है । अतः चिकित्सा की दृष्टि से आश्रय एवं आश्रयी में अभेद को दर्शाते हुए ग्रहणी दोष शब्द के द्वारा ही ग्रहणी के आश्रित रहने वाली अग्नि का भी ग्रहण हो जाता है । ॥१-२॥

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा । ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ।।३।।
शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ।।४।।

अग्नि के कार्य (Functions of Agni)–आयु, वर्ण (त्वचा का वर्ण), बल (Strength), स्वास्थ्य (Health), उत्साह (To perform even other wise impossible tasks), उपचय (शारीरिक धातुओं की वृद्धि का होना), अपचय (शारीरिक धातुओं में ह्रास का होना), प्रभा (Complexion), ओज (शारीरिक सामर्थ्य-Energy), तेज (शारीरिक गर्मी अथवा शुक्र धातु), अग्नि (धात्वाग्नियाँ) एवं प्राण; ये सभी भाव जाठराग्नि (देहाग्नि) के ही आश्रित रहते हैं, अथवा सभी भावों की उत्पत्ति का कारण वृद्ध जाठराग्नि ही है । अग्नि के शान्त हो जाने पर व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है । अर्थात् अग्नि के नष्ट हो जाने पर निर्दिष्ट भावों का अभाव हो जाने से पुरुष की मृत्यु हो जाती है । अग्नि के सम स्थिति में बने रहने पर व्यक्ति रोग रहित होकर दीर्घजीवन प्राप्त करता है, विकृत होने पर रोगी हो जाता है । इसलिये अग्नि (जाठराग्नि) को ही आयु, वर्ण आदि भावों का कारण बताया गया है ।

चक्रपाणि– इस प्रकरण में ग्रहणी दोष के अन्तर्गत अग्निदोष का निर्देश है, क्योंकि यह अग्नि ग्रहणी कला के ही आश्रित रहती है, इसके विकृत होने से ग्रहणी दोष (ग्रहणी रोग) की उत्पत्ति होती है । अतः यहाँ अग्नि (जाठराग्नि) के प्रकृति ज्ञान के बाद ही विकृति का वर्णन करना अपेक्षित है । अतः पहले प्राकृत अग्नि का विवेचन यहाँ 'आयुरित्यादि' के द्वारा किया गया है ।

आयुः चेतनानुवृत्तिः-चेतना का बने रहना (शरीर का चेतन बने रहना आयु कहा जाता है । [Continuity of consciousness is called Āyus (life)], **वर्णः गौरादि**-व्यक्ति के त्वचा का रंग (Colour), यथा-गौर, कृष्ण, श्याम आदि ।

बलं शक्तिः व्यायामाद्यनुमेया–बल से शारीरिक शक्ति का ग्रहण किया जाता है, जो व्यायाम आदि के द्वारा अनुमेय है । अर्थात् जो पुरुष व्यायाम आदि ज्यादा करने में सक्षम है उसकी शक्ति अधिक, जो कम कर पाता है उसे दुर्बल समझना चाहिए । यद्यपि 'स्वास्थ्य' शब्द के प्रयोग से ही वर्णादि का भाव प्राप्त हो जाता है फिर भी- **''स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम्''** (चि.अ. १, पा. १) इति कहा गया है । उससे वर्णादि के विकृत न होने पर यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति स्वस्थ हो । इसलिये यहाँ वर्णादि का अलग-अलग कथन किया गया है ।

उत्साहः दुष्करेष्वपि कार्येष्वध्यवसायः–दुष्कर कार्यों को ही करने का निश्चय करना 'उत्साह' कहलाता है । [Will power]

उपचयः देहपुष्टि–शरीर का पुष्ट होना । **ओजः हृदयस्थं सर्वधातुसाररूपम्**-हृदय में रहने वाला सभी धातुओं का सार रूप भाग ओज कहलाता है । **तेजः देहोष्मा शुक्रं वा**-शरीर की ऊष्मा अथवा शुक्र, शालाक्य तन्त्र में इसके बारे में कहा भी गया है, यथा- "दृष्टिस्तेजोमयी प्रोक्ता शुक्रं तेजश्च केवलम् । तस्माद्दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं समाचरेत्" इति [दृष्टि को तेज का रूप कहा गया है, शुक्र व तेज भी उसी के रूप हैं । इसलिये जो व्यक्ति दृष्टि के बल का इच्छुक है उसे तेज वर्धक (शुक्र वर्धक) द्रव्यों का सेवन करना चाहिये ।]

अग्नय इति–इससे पञ्च भूताग्नियाँ व सात धात्वाग्नियाँ, गृहीत हैं । इस प्रकार यहाँ 'अग्नयः' शब्द से १२ अग्नियों का ग्रहण है ।

प्राणा इति–प्राण व अपान द्वारा उपलक्षित वायु के पाँच प्रकारों (प्राण, उदान, समान, व्यान व अपान) का ग्रहण है । अथवा प्राण वायु ही प्राण शब्द के द्वारा नित्य बहुवचनान्त होने से कहा गया है, यथा-अप्सरस् शब्देन एकाऽपि विद्याधरी कीर्त्यते [अप्सरस् शब्द से एक विद्याधारी (एक देवयोनि विशेष) का भी ग्रहण होता है ।] **देहाग्निहेतुका इति देहपोषकप्रधानजाठराग्निकारणकाः**-देह धातुओं के पोषण में प्रधान कारण जाठराग्नि ही होती है । [आयु, वर्ण आदि भाव जाठराग्नि पर निर्भर करते हैं, जाठराग्नि के ही व्यवस्थित रहने पर शरीर धातुओं को पोषण प्राप्त होता है, इसलिये जाठराग्नि को देहाग्नि भी कहा गया है ।]

Scanned by CamScanner

ग्लानेऽत्युत्सन्ने=जाठराग्नि के नष्ट हो जाने पर आतुर की मृत्यु हो जाती है। **युक्ते इति समे**-साम्यावस्था में बने रहने पर व्यक्ति रोग रहित होकर दीर्घकाल तक जीवित रहता है। **विकृते इति**-विकृति से यहाँ जाठराग्नि का मन्द होना, विषम होना (Irregular) एवं तीक्ष्ण होना; अर्थ लिया गया है। इस अवस्था में पुरुष व्याधि युक्त हो जाता है।

मूलमग्निस्तस्मादिति-इसलिये यहाँ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध ही उचित होने से आयु, वर्ण आदि भावों की उत्पत्ति का प्रधान कारण अग्नि (जाठराग्नि) को स्वीकार किया गया है।

निरुच्यते इति-निश्चित रूप से कहा जाता है, अर्थात् आयु आदि भावों की विद्यमानता में मुख्य हेतु अग्नि ही है। ॥३-४॥

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्। तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥५॥

जाठराग्नि का महत्व (Importance of Agni)—जो अन्न शरीर की धातुओं, ओज, बल एवं वर्ण आदि का पोषक है। अर्थात् इन धातुओं को पोषण (Nourishment) प्रदान करता है, उसमें भी अग्नि ही कारण है, क्योंकि अपक्व आहार से रसादि धातुओं का निर्माण उचित रूप में नहीं हो पाता है। जाठराग्नि के मन्द हो जाने पर आहार का सम्यक् पाचन नहीं होने से रसादि धातुओं का निर्माण बाधित होता है। इसलिये अग्नि को ही मूल कहा गया है।

चक्रपाणि-पूर्व में वर्णित श्लोक नं. ३-४ में अग्नि के महत्व को सामान्यतया प्रतिपादित किया गया है, लेकिन यहाँ शरीर धातुओं के निर्माण में अग्नि की सीधी भूमिका (Direct role) को स्वीकार किया गया है।

बाह्या अपि गैरिकादयो धातुशब्देनोच्यन्ते इति-गैरिक आदि बाह्य धातुओं को भी धातु शब्द से ही कहा जाता है, उससे इसे विभेदित करने के लिए 'देह धातु' (शरीर की धातुयें, यथा-रसादि पर्यन्त न कि गैरिक, स्वर्ण आदि) शब्द का प्रयोग किया गया है।

अहोरात्रजन्येषु देहधात्वादिषु कथमग्नेः कारणत्वमित्याह-आहारादिति-दिन-रात उत्पन्न होने वाली शरीर धातुओं के निर्माण में 'अग्नि' कैसे कारण है ? इसे यहाँ 'आहारादिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। रसादि की उत्पत्ति में आहार की अपेक्षा रहती ही है, लेकिन यदि अग्नि दुर्बल हो अथवा विकृत हो तो उचित आहार सेवन के बाद भी रसादि धातुओं का निर्माण नहीं हो पाता। इसलिये रसादि धातुओं के निर्माण में अग्नि को हेतु स्वीकार किया गया है। 'आदि' शब्द से यहाँ रक्तादि का ग्रहण किया गया है। ॥५॥

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद्भवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥६॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥७॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः। पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥८॥

आहार पाक की प्रक्रिया (Process of Digestion)—आदान कर्मा प्राण वायु खाये हुए आहार को कोष्ठ (Alimentary tract) में खींच लाती है, वहाँ (आमाशय में) स्थित द्रव द्वारा अन्न का संघात (कड़ापन) भिन्न हो (टूट) जाता है अर्थात् अन्न छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाता है तथा वहाँ स्थित स्नेहांश द्वारा मृदुता को प्राप्त हो जाता है। [अन्न के कोष्ठ में प्रवेश करते ही उस पर २ प्रकार की क्रिया होती है-(१) द्रव द्वारा (क्लेदक कफ के द्रवांश द्वारा) अन्न का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त होना, (२) स्नेहांश द्वारा आहार का मृदु होना] पुनः समान वायु के द्वारा प्रेरित उदर की अग्नि (पाचकाग्नि) वृद्ध होकर उस क्लेद युक्त, विभक्त एवं मृदु अन्न को पकाती है। अर्थात् यह उदीरित अग्नि उचित समय में सेवित अन्न, जो सम मात्रा में लिया गया है, आयु की वृद्धि के लिए, उसे उचित रूप से पकाती है। यह अग्नि आहार को उसी प्रकार पकाती है जिस प्रकार स्थाली (हाड़ी) में रखा हुआ चावल एवं जल को बाह्याग्नि (बाहरी अग्नि) पकाकर भात का निर्माण करती है, उसी प्रकार जाठराग्नि (पाचकाग्नि) जो आशय (कोष्ठ) के अधः भाग में रहती है, अन्न को पकाकर रस एवं मल का निर्माण करती है।

चक्रपाणि-प्राप्त अन्न का जिस प्रकार पाचकाग्नि के द्वारा पाक होता है तथा जिस प्रकार पच्यमान अन्न रसादि रूपों को प्राप्त करता है, उसी को यहाँ 'अन्नमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। यहाँ अन्न के मुख में प्रवेश करने से लेकर अन्न पाचन तक की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है।

आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा प्रकर्षतीति नयति-आहार प्रणयन (ग्रहण) तथा प्रकर्षण (खींच कर कोष्ठ में ले जाने) का कार्य जो वायु करती है, वह प्राण वायु कही गयी है। अर्थात् यह कर्म प्राण वायु का है। [**यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते** ॥ (सु.नि.अ. १/१३) यह वायु मुख में विचरण करती है तथा देह को धारण करती है, वही (प्राण वायु) गृहीत आहार को अन्दर खींच कर ले जाती है एवं अग्नि आदि के संयोग से अन्न-पाक की क्रियाओं को करने में मदद करती है।]

द्रवैरिति पानीयादिभिः-द्रव-जल आदि के संयोग से, अथवा क्लेदक कफ के द्रव अंश द्वारा [द्रवैः- क्लेदकश्लेष्म द्रवैः-गंगाधर] **भिन्नसंघातमिति अवयवशैथिल्यमापन्नम्**-आहार अवयव का शिथिल होना। अर्थात् आहार का छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाना। काले इति-बुभुक्षा काल में, भोजन ग्रहण करने का काल, जिसमें व्यक्ति को भूख लग जाती है। **भुक्तं सममिति**-मात्रा, प्रकृति आदि के अनुसार ग्रहण

Scanned by CamScanner

किया हुआ हितकर आहार। **समानेनावधूत इति अग्निपार्श्वस्थितेन समानेन संधुक्षितः**-अग्नि के पार्श्व स्थित समान वायु के द्वारा संधुक्षित (प्रेरित), यह समान वायु अपने स्वाभाविक अवस्था में रहकर उसी प्रकार जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है जिस प्रकार बाहरी वायु स्वाभाविक रूप से बाह्य अग्नि को प्रज्ज्वलित करती है। यह वायु (समान वायु) अपने प्राकृत स्थिति में रहते हुए अग्नि को विषम (Irregular) नहीं करती, लेकिन विकृत होने पर अग्नि को विषम करती है। इस प्रकार वायु के अस्वाभाविक अवस्था में रहने पर अग्नि की वैषम्यता उत्पन्न होती है, यथा-वायु के तीव्र होने पर अग्नि तीव्र (तीक्ष्ण), मन्द होने पर अग्नि मन्द हो जाती है (यह स्थिति बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों अग्नियों की है, ऐसा जानना चाहिए।)

ये द्रवादि भाव पाचकाग्नि के ही कार्यों में सहायक हैं, यही शास्त्रकार का मत है, यथा-**''आहारपरिणामकरास्त्विमे भावाः भवन्ति; तद्यथा-ऊष्मा, वायुः, क्लेदः, स्नेहः, कालः, समयोगश्च''** (शा.अ. ६) [आहारपरिणामकर निम्न लिखित भाव हैं-१. ऊष्मा (पाचकाग्नि), २. वायु, ३. क्लेद, ४. स्नेह, ५. काल, ६. समयोग] उदर्यः पाचक इत्यर्थः-उदर्य से यहाँ 'पाचक' अर्थ लिया गया है।

[उदर्य के स्थान पर 'उदीर्णः पवनेन तु' पाठ प्राप्त होता है।] 'पवनोद्वह' को अग्नि की विशेषता के रूप में कुछ लोग पढ़ते हैं जिसका अभिप्राय वायु के साथ मिलने से बढ़ी हुई जाठराग्नि योग्य काल में किये हुए हितकर भोजन का उचित रूप में पाचन करती है, से है।

सम्यगिति-इसके द्वारा भोजन की विशेषता को बताया गया है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, तब सम्यक् शब्द से मात्रा की साम्यता का भाव प्राप्त होता है। अर्थात् सम मात्रा में आहार का ग्रहण करना। इसी से प्रकृति, करण आदि की सम्पत्ति (सम्पद्) का भी ग्रहण है।

आयुर्विवृद्धये इति-आयु की वृद्धि हेतु, अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व, (मन), आत्मा के संयोग रूप आयु के अनुवर्तन के लिये एवं उसकी विशेष वृद्धि के लिए। **रसमलायेति तादर्थ्ये चतुर्थी**-'तादर्थ्य' के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है, अर्थात् उपकार्य एवं उपकारक के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। [जिस कार्य की सिद्धि के लिए जो कार्य किया जाता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे-भक्तः मुक्तये हरिं भजति (भक्त मुक्ति के लिए हरि को भजता है।) ज्ञानाय गुरुः सेव्यते (ज्ञान के लिए गुरु की सेवा की जाती है।)-डा० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी]

'रसमलाय' से जाठराग्नि द्वारा अन्न का पाचन रस एवं मल के निर्माण के लिए होता है, अर्थात् रस निर्माण से उत्तरोत्तर धातुओं की पुष्टि होती है।

आशयस्थमिति आमाशयस्थम्-आमाशय के अधो भाग में स्थित, अग्नि की स्थिति आमाशय के अधोभाग में होती है। अर्थात् आमाशय के दो भाग करने पर-१. ऊर्ध्व आमाशय, इसे Stomach कहा जा सकता है, २. अधो आमाशय-इससे ग्रहणी व छोटी आंत्र का ग्रहण होता है जहाँ विशेष रूप से पाचक रसों का स्राव होता है, इसलिये इसे अग्नि का स्थान कहा गया है।

अधः स्थित इत्यनेन अग्नेरूर्ध्वज्वलनस्वभावतया ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति-अग्नि का स्वभाव-'ऊर्ध्व ज्वलन' होने से ऊर्ध्व स्थित अन्न के पाक में इसकी सामर्थ्य प्रदर्शित होती है। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त 'अधेत्यादि' के द्वारा दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार बटलोई या हाड़ी में रखे हुए जल व तण्डुल को बाहरी अग्नि पकाकर भात बना देती है उसी प्रकार शरीर की पाचकाग्नि भी अन्न को पकाकर रस एवं मल का निर्माण करती है। ॥६-८॥

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः। मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते ॥९॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥१०॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥११॥

अणु पाक का क्रम-सेवन किया हुआ षड् रस युक्त आहार सर्वप्रथम मधुर भाव को प्राप्त होता है, जिसके कारण फेन रूप कफ की वृद्धि होती है। इसके बाद यह अन्न आमाशय से आगे बढ़ जाता है, वह पच्यमान अन्न विदग्ध होकर अम्ल रस युक्त हो जाता है, जिससे अच्छ पित्त की वृद्धि होती है। अर्थात् अम्ल अवस्थापाक में अच्छ (स्वच्छ) पित्त की वृद्धि होती है। इसके बाद वह अन्न पक्वाशय में पहुँचता है, वहाँ पिण्ड रूप होकर अग्नि द्वारा उसका द्रवांश शोषित हो जाने से कटु रस में परिवर्तित हो जाता है, जिसके कारण वायु की वृद्धि होती है।

चक्रपाणि-अन्न के स्थूल रूप पाक के क्रम विवेचन के बाद अणुपाक के क्रम को 'अन्नस्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

भुक्तमात्रस्येति-भोजन करने के बाद ही। **षड्रसस्येति**-गृहीत भोजन छः रसों से युक्त होता है। यह कथन भोजन की प्रशस्ति के रूप में किया गया है अथवा सबसे पहले आहार में स्थित मधुर रस युक्त घटक द्रव्यों का पाक होता है।

[After the in take of food, first of all the action of sweet taste (leading to kapha production) is manifested]

प्रपाकत इति प्रथमपाकतः-प्रथम पाक का होना, अर्थात् मुख द्वारा गृहीत आहार जब ऊर्ध्व आमाशय (Stomach) में पहुँचता है तब सर्वप्रथम उसमें स्थित मधुर रस वाले घटक द्रव्यों का पाक होता है। 'प्र' शब्द आदि कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

Scanned by CamScanner

मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः; किंवा 'मधुरात् प्राक् कफो भावात्' इति पाठः-सबसे पहले मधुर रस पर क्रिया होती है। अथवा मधुर रस वाले द्रव्यों अथवा आहार में स्थित मधुर रस युक्त घटकों पर पहले क्रिया (पाक क्रिया) होती है, परिणामतः कफ की वृद्धि होती है।

फेनभूत इति-फेनवत् अघन (फेन के समान अल्प द्रव युक्त)। **परमिति**-प्रथम मधुर अवस्थापाक के अनन्तर। विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य-वह अन्न जो कुछ पक्व एवं कुछ अपक्व रूप में रहता है, अर्थात् मधुर अवस्थापाक के बाद अन्न आमाशय (ऊर्ध्व आमाशय) से आगे की ओर बढ़ता है, उस समय उसका स्वरूप पक्वापक्व रूप में रहता है।

अम्लभावत इति-पक्वापक्व अन्न अम्ल स्वरूप को प्राप्त होता है, अर्थात् पक्वापक्व अन्न जब अधो आमाशय में पहुँचता है, वहाँ विभिन्न पाचक रसों की क्रिया के परिणाम स्वरूप अम्लीभाव को प्राप्त होता है। आशय से यहाँ 'आमाशय' अर्थ लिया गया है।

च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य-जब वह पक्वापक्व अन्न वायु के द्वारा अधो आमाशय में पहुँचता है तब वहाँ पित्त स्थान से सम्बन्ध होने के कारण उस पर पित्त की क्रिया होती है जिससे अन्न विदग्ध होकर अम्ल स्वरूप को प्राप्त होता है। अच्छम्=अघनम् (जो घन न हो) उदीर्यते-पित्त की उत्पत्ति होती है। आहार पर अम्लरस युक्त पित्त की क्रिया से सम्पूर्ण अन्न अम्ली भाव को प्राप्त हो जाता है। परिणामतः इस अवस्था पाक में पित्त की वृद्धि होती है। अधो आमाशय से आगे जब आहार (पक्व आहार) पक्वाशय में पहुँचता है तब वहाँ वह मल रूप में हो जाता है। यद्यपि आमाशय में स्थित अग्नि आहार पाचन में सक्षम होती है। (अन्न के दहन में समर्थ होती है), लेकिन पक्वाशयस्थ अग्नि अन्नरस के शोषण का कार्य करती है। अतः अधो आमाशय के आगे बढ़ने पर अग्नि की क्रिया नहीं होती, यहाँ आहार का पाचन न होकर 'शोषण' (Absorption) कार्य होने से 'पच्यमान' शब्द का प्रयोग न करते हुए 'शोष्यमाणस्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

परिपिण्डितपक्वस्य इति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्वस्य-पक्व आहार का मलरूप होने से, अर्थात् पक्वाशय में द्रवांश का शोषण हो जाने के कारण आहार का मल रूप भाग ही पिण्ड रूप में होता है।

वायुः स्यात् कटुभावतः-पिण्डरूप अवस्था से उत्पन्न कटुता ही वायु की उत्पत्ति का कारण है। इस पिण्डरूप मल का विपाक कटु होता है जिससे वायु की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार षड्रस युक्त आहार के तीन अवस्थापाक होते हैं-१. मधुर अवस्थापाक, २. अम्ल अवस्थापाक, ३. कटु अवस्थापाक। यहाँ यह शङ्का है-यदि यहाँ अवस्थापाक के ही परिणाम स्वरूप षड् रस युक्त आहार से कफादि के कर्तृत्व को बताया गया है तब "कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः" (सू.अ. २६) के द्वारा जो विपाक का कथन किया गया है, वह विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि यह सिद्धान्त अवस्थापाक के द्वारा बाधित होता है। ऐसा नहीं है, निश्चित रूप से अवस्थापाक के द्वारा रसों के निष्ठापाक की प्रक्रिया बाधित नहीं होती। अवस्थापाक के अनुसार अन्न (आहार) का पाक भी होता है तथा रसादि भी अपने-अपने कार्य करते हैं एवं अवस्थापाक अपना कार्य करता है, यथा-मधुर, तिक्त आदि षड् रस युक्त अन्न में मधुर रस अपना कार्य करता है तथा तिक्तादि रस भी अपने-अपने कार्य करते हैं लेकिन यह विशेष होता है-मधुर अवस्थापाक में-मधुर रस प्रधान आहार से मधुर रस की कफ से तुल्यता होने के कारण विशेष रूप से कफ की वृद्धि होती है, यदि कटु आदि विपरीत गुण वाले द्रव्य प्रधान हैं तब मधुर अवस्थापाक में अल्प मात्रा में कफ की वृद्धि होती है। इसी प्रकार अन्य अवस्थापाकों की भी स्थिति समझनी चाहिए। [अम्ल अवस्थापाक में पित्त की वृद्धि एवं कटु अवस्थापाक में वात की वृद्धि का ज्ञान करना चाहिए।] कटुतिक्तकषायाणां (सू.अ. २६) इत्यादि के द्वारा वर्णित तीन प्रकार के विपाक रसमल विभजन के काल में होते हैं। भिन्न काल में होने वाले अवस्थापाक के साथ इसका कोई विरोध नहीं है।

और वह भिन्न काल में होते हुए भी अवस्थापाक का कार्य दोषों के अनुगुण होने से अथवा अननुगुण (विपरीत) होने से अवस्थापाक में दोषों की वृद्धि अथवा क्षय होता है। उसका अभिधान शास्त्र में प्रयोजन के ही कारण किया गया है। यद्यपि सभी अन्न अवस्थापाक के काल में विदाह को प्राप्त होते हैं, फिर भी जो अत्यधिक विदाही होते हैं उन्हीं को 'विदाहिनः' शब्द से कहा गया है। अर्थात् जिनके सेवन करने से शरीर में अत्यधिक दाह (Burning sensation) उत्पन्न होता है उसे 'विदाहिनः' कहा जाता है, ऐसा विशेष विदाह उत्पन्न करने के कारण कहा गया है।

कुछ आचार्यों के अनुसार षड् रस युक्त अन्न से सामान्यतः अवस्थापाक में कफादि की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु षड् रस युक्त अन्न के प्रथम अवस्था पाक में मधुर रस युक्त आहार से जो रस उत्पन्न होता है वह कफ को उत्पन्न करता है तथा अन्न के विदाहावस्था से उत्पन्न अम्लरस से पित्त की वृद्धि होती है उसी प्रकार आहार के कटु अवस्थापाक से वायु की उत्पत्ति होती है।

अन्य आचार्यों के अनुसार-अन्न के साथ अग्नि के संयोग से मधुरादि **अवस्थापाकों** की उत्पत्ति होती है, किन्तु मनुष्य के शरीर में जो कफादि के स्थान हैं उसमें स्वाभाविक रूप से मधुरादि रस (मधुर, अम्ल व कटु) स्थित रहते हैं, वे अन्न जब स्वभावतः उन स्थानों पर पहुँचते हैं तब वे उनसे कफादि को उत्पन्न करते हैं। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा-"मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः। ततः

Scanned by CamScanner

संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः ॥ नाभिहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः । स्वाभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते ॥ अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः । प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः । तस्माद्विपाकस्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः'' [हृदय के ऊर्ध्व भाग में अर्थात् हृदय प्रदेश के ऊर्ध्व भाग में आने वाले कोष्ठ में मधुर रस का स्थान है, उससे कफ की वृद्धि होती है, यह कफ शारीरिक बल को बढ़ाता है । नाभि व हृदय के मध्य भाग में स्थित कोष्ठ (महास्रोतस् के भाग) में अम्ल रस व्यवस्थित होता है । वहाँ स्वाभाविक रूप से मनुष्यों में पित्त की वृद्धि होती है । नाभि के नीचे के भाग में स्थित महास्रोतस् के भाग में कटुरस का स्थान है जहाँ प्राणियों में श्रेष्ठतम रूप से प्रायः वात की वृद्धि (उत्पत्ति) होती है । इस प्रकार रसों के विपाक तीन हैं, इसमें कोई संशय नहीं है ।] यहाँ तंत्रेत्यादि के द्वारा ग्रन्थार्थ की समीक्षा करने से ग्रन्थ में वर्णित विषय जिस रूप में कहा गया है उसका वैसा ही अर्थ करना (भाव ग्रहण करना) न्याय पूर्ण है। अन्य शास्त्रों में श्लेष्म-पित्त के अन्तर्गत मधुर व अम्ल रस का वर्णन किया गया है । वे कफादि के अधिगत आने वाले रस पाक में सहकारी होने से हम लोगों द्वारा अनुमत ही है । अर्थात् मैं भी इस विचार से सहमत हूँ ।

यत्तु श्लेष्मजनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं, तदनुमतमेव-जो कफ जनक अंश का **अवस्थापाक** में कफ कर्तृत्व कहा गया है वह भी अनुमत ही है । अर्थात् उससे भी मैं सहमत हूँ । (आहार में उपस्थित कफ वर्धक अंश से, मधुर अवस्थापाक जो ऊर्ध्व आमाशय (Stomach) में होता है, कफ की वृद्धि होती है) तथा आहार के अन्तर्गत कफ वर्धक घटक द्रव्यों के स्थान के प्रभाव से आहार का मधुर विपाक होने से विशेष रूप से कफ की वृद्धि होती है, यह बताया गया है । जो लोग यह कहते हैं कि अवस्थापाक में कफ व पित्त का मात्र ईरण (Stimulation) होता है, दोषों की वृद्धि नहीं होती, वृद्धि तो निष्ठापाक में ही होती है । उपपत्ति (हेतु) सम्बन्धी यह विचार शून्य प्रतीत होता है, अर्थात् मैं (चक्रपाणि) इस विचार से सहमत नहीं हूँ ।

अवस्थापाक (प्रथम एवं द्वितीय) में कफ व पित्त की वृद्धि तो होती है । निष्ठापाक अथवा विपाक की अवस्था में दोष मल रूप उत्पाद हैं, ऐसा विचार करेंगे । ॥९-११॥

[At the stage of Niṣṭhā-Pāka or Vipāka, these doṣas (kapha and pitta) are produced as a by-product (Mala Rūpa)-Baidya Bhagvan Das]

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् । देहे प्रीणाति गन्धादीन् प्राणादीनीन्द्रियाणि च ।।१२।।

इष्ट अन्न सेवन से लाभ-मनोनुकूल गन्ध आदि से युक्त भोजन सेवन करने पर वह भोजन शरीर में जाकर गन्धादि भावों एवं उन्हे ग्रहण करने वाली प्राणादि इन्द्रियों को तृप्त करता है ।

चक्रपाणि-पूर्व श्लोकों में अवस्थापाक एवं निष्ठा पाक का उल्लेख किया गया है । अब यहाँ आहार पाक के भिन्न क्रम को बतलाया गया है, जिसे 'अन्नमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । **अन्नमिष्टं ह्युपहितमिति हि शब्दो अवधारणे**-यहाँ 'हि' शब्द का प्रयोग 'अवधारणा' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इष्ट शब्द से प्रिय एवं हितकर अन्न का ग्रहण है न कि केवल मन के लिए प्रिय आहार का । प्रिय एवं अहितकर अन्न के सेवन से शरीर व्यवस्थित (स्वस्थ) नहीं रहता, लेकिन गन्धादि का तर्पक तो होता है । उपहित=उपयुक्त । **इष्टैरिति**-इष्ट का अभिप्राय आहार का स्वादिष्ट (प्रिय-Delicious) एवं हितकर (Wholesome) होने से है । अर्थात् आहार ऐसा हो जिसकी गन्ध से क्षुधा दीप्त हो जाय, स्वाद ऐसा होना चाहिए जिसके सेवन से मन प्रसन्न हो जाय, आहार का रूप (Colour) भी प्रिय हो, इसी प्रकार उसके स्पर्श एवं शब्द भी प्रिय एवं हितकर हों । यद्यपि आहार पथ्य होने पर ही शरीरस्थ गन्धादि भावों को पुष्ट (पोषण) करने में प्रधान होते हैं । अर्थात् पथ्य (हितकर) अन्न में विद्यमान गन्धादि भाव शरीरस्थ गन्धादि भावों को पुष्ट करने में मुख्य होते हैं । फिर भी प्रिय होने से आहारगत गन्धादि भाव तत्कालिक रूप से उपकारक होने से प्रियत्व एवं हितत्व दोनों का ही यहाँ ग्रहण किया गया है ।

देहे प्रीणाति-आहार में विद्यमान गन्धादि भाव शरीरगत गन्धादि भावों को पोषण प्रदान करते हैं । साथ ही साथ इष्ट गन्धादि के द्वारा प्राणादि इन्द्रियों को भी पोषण प्रदान करते हैं, क्योंकि आयुर्वेद शास्त्र में इन्द्रियों को पाञ्च भौतिक स्वीकार किया गया है । अतः आहार में विद्यमान पाञ्चभौतिक द्रव्यों द्वारा इन्द्रियाँ भी तृप्त होती हैं । इस प्रकार नित्य क्षय को प्राप्त होने वाले भावों का पोषण आहार के द्वारा होता रहता है । ॥१२॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वान्पार्थिवादीन्यचन्ति हि ।।१३।।

भूताग्नि के कार्य-भौम (पृथ्वी), आप्य (जल), आग्नेय, (अग्नि) वायु एवं आकाश; ये पञ्च ऊष्मा (पञ्चभूताग्नि) आहार में विद्यमान पञ्चभूतों का पाचन (परिपाक) कर अलग-अलग करती हैं तथा अपने-अपने शरीरस्थ द्रव्यों को अलग-अलग पुष्ट करती हैं, यथा-

Scanned by CamScanner

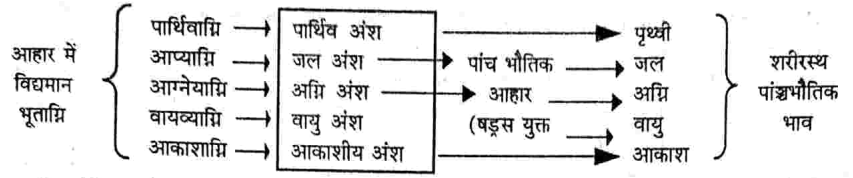

चक्रपाणि–भौमेत्यादि के द्वारा भूताग्नि के व्यापार को बतलाया गया है। पार्थिवादि पञ्च ऊष्मा जो पार्थिवादि द्रव्यों में व्यवस्थित होती है, महास्रोतस् में इन पर जब जाठराग्नि की क्रिया होती है तब ये क्रियाशील (Active) हो जाती हैं एवं आहार में विद्यमान भौतिक अंशों को अलग-अलग कर देती हैं एवं ये गुण शरीस्थ गुणों के अनुकूल होते हैं। इसी को यहाँ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा-**विविधमशितपीतलीढ़खादितं जन्तोर्हितमन्तराग्निसंधुक्षितबलेन यथा-स्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं''** (सू.अ. २८) इति [चतुर्विध प्रकार के आहार पर जब जाठराग्नि की क्रिया होती है तब आहार में विद्यमान भूताग्नियाँ क्रियाशील होकर आहारस्थ पार्थिवादि घटक द्रव्यों को अलग-अलग कर देती हैं।]

यद्यपि भूताग्नि के द्वारा पार्थिवादि द्रव्यों का पाचन होता है, फिर भी पार्थिवादि द्रव्यों के पाक से जो विशेष गुणों की उत्पत्ति होती है अर्थात् पार्थिवादि द्रव्य अपने घटक द्रव्यों में विभक्त होने के साथ-साथ उनके गुण भी उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया है। इस प्रकार गुण जनन का कार्य अग्नि के द्वारा ही होता है, द्रव्य नहीं उत्पन्न होता, यहाँ गुण से गुरु, स्निग्ध, रुक्ष, लघु भावों की उत्पत्ति से है।

किंवा आहाराश्च गुणाश्चेति–इसका विग्रह करने पर आहार शब्द से आहार के अधिकरण रूप द्रव्य का ग्रहण है। **पार्थिवादीनिति**=पृथ्वी, आप्य, तैजस, वायवीय एवं नाभस भावों का ग्रहण है। इस प्रकार जाठराग्नि आहार, रस, मल एवं विपाकों का पाक करती है तथा भूताग्नि अपने-अपने गुणों को उत्पन्न करती है। अर्थात् पार्थिवादि अग्नियाँ आहारस्थ पार्थिवादि द्रव्यों पर क्रिया करके पार्थिवादि गुणों को उत्पन्न करते हैं। कहा भी गया है, यथा-**जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघात भेदे पश्चाद्भूताग्नयः पञ्च स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति''** इति [जाठराग्नि द्वारा पूर्वकृत अन्न का संघात भेद होने पर (टूट जाने पर) पञ्चभूताग्नियाँ अपने-अपने द्रव्यों का पाचन करती हैं।] यह भूताग्नि व्यापार धातुओं में भी होता है। चूकि धातुओं में भी पञ्चभूत होते हैं। अतः धात्वाग्नि एवं भूताग्नि व्यापार जाठराग्नि के क्रम में ही कहा गया है। ॥१३॥

विशेष (Comments)–भुक्तान्न के गन्ध द्वारा शरीरस्थ गन्ध का प्रीणन (पोषण) होता है, रस के द्वारा रस, रूप के द्वारा रूप, स्पर्श के द्वारा स्पर्श, शब्द के द्वारा शब्द तथा गुरु गुण के द्वारा गुरु आदि भावों का पोषण होता है।

प्राणादि इन्द्रियों को ये आहार गुण कैसे पोषण प्रदान करते हैं, क्योंकि अन्न में प्राण एवं इन्द्रियाँ तो नहीं रहती; इसी का विवेचन यहाँ 'भौमेत्यादि' के द्वारा किया गया है। भू (पृथ्वी) बहुल पाञ्चभौतिक अन्न में भौम ऊष्मा (अग्नि), अप् बहुल पाञ्चभौतिक अन्न में आप्य ऊष्मा, तेज बहुल पाञ्चभौतिक अन्न में आग्नेय ऊष्मा, वायु बहुल पाञ्चभौतिक अन्न में वायव्य ऊष्मा तथा आकाश बहुल पाञ्चभौतिक अन्न में नाभस् ऊष्मा रहती है, ये पार्थिवादि भूताग्नियाँ अलग-अलग अपने-अपने पञ्च आहार गुणों, पार्थिव-गन्ध, अप्-रस, आग्नेय-रूप, वायव्य-स्पर्श, आकाश-शब्द को उत्पन्न करती हैं, इन गुणों द्वारा देह के द्रव्य (पार्थिवादि धातुयें) एवं गुण (स्निग्ध, उष्ण, रुक्ष, शीत आदि भाव) अलग-अलग पुष्ट होते हैं।

किन भूतों के कौन से गुण होते हैं, अर्थात् पार्थिवादि द्रव्यों के अलग-अलग कौन-कौन से गुण हैं ? इसका उत्तर पार्थिव इत्यादि के द्वारा दिया गया है।

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥१४॥

अग्नि द्वारा पक्व आहार के गुण–इस प्रकार पञ्च भूताग्नि के पाक से उत्पन्न आहार-गुण शरीर के द्रव्य एवं गुण (रसादि धातुयें एवं गुरु, शीतादि भाव) को अलग-अलग पोषित करते हैं; यथा-पार्थिव आहार गुण पार्थिव देह गुण को तथा आप्यादि आहार गुणों द्वारा आप्यादि आहार गुण पुष्ट होते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है।

चक्रपाणि–अग्नि द्वारा पक्व आहार के गुणों का विवेचन 'यथास्वत्यादि के द्वारा किया गया है।

यथास्वमिति यद्यस्यात्मीयं–जो जिसके अनुकूल (समान) हो; सजातीय द्रव्य एवं गुण सजातीय (समान) द्रव्य-गुणों को पुष्ट करते हैं, अर्थात् जो आहार द्रव्य एवं गुण देह धातुओं (द्रव्य) एवं गुणों में तुल्य हैं वे उनको पोषित (पुष्ट) करते हैं। इस प्रकार पार्थिवादि द्रव्यों द्वारा देह धातुओं, दोषों (वातादि) एवं मलों की पुष्टि होती है।

आहारद्रव्यगुणा इति–इससे यहाँ द्रव्यगत गुणों का ही ग्रहण किया गया है। 'गुण पोषण' से द्रव्य पोषण का भी भाव प्राप्त हो जाता है, क्योंकि बिना द्रव्य के पोषण के गुणों की उत्पत्ति नहीं होती है।

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)–किस द्रव्य के कौन से गुण हैं, इसे यहाँ 'पार्थिवा इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। पार्थिव (पृथ्वी महाभूत प्रधान) आहार के गुण-गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल एवं गन्ध, ये गुण देह में विद्यमान पार्थिव गुणों गुरु, खर आदि को पोषण प्रदान करते हैं। अर्थात् आहारगत गुरु गुण शरीरगत गुरु गुण को, खर-खर को, काठिन्य-काठिन्य को, मन्द-मन्द को, स्थैर्य-स्थैर्य को, विशद-विशद को, सान्द्र-सान्द्र को, स्थौल्य-स्थौल्य को तथा गन्ध-गन्ध को पुष्ट करता है। इसी प्रकार शेष आप्यादि भी शरीरस्थ आप्यादि भावों को पोषित करते हैं।

आप्य प्रधान अन्न में विद्यमान गुण-द्रव, स्निग्ध, शीत, मन्द, सर, सान्द्र, मृदु, पिच्छिल एवं रस; ये भाव अपने ही समान शरीरस्थ भावों को पोषण प्रदान करते हैं।

आग्नेय (अन्न) में विद्यमान भाव, यथा-उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, लघु, रुक्ष, विशद (Clear) एवं रूप; अपने समान शरीरस्थ भावों को पुष्ट करते हैं।

वात प्रधान अन्न में विद्यमान ये भाव-लघु, शीत, रुक्ष, खर, विशद (Clear), सूक्ष्म एवं स्पर्श; तदनुरुप देह गुणों को पोषण प्रदान करते हैं। उसी प्रकार आकाशीय द्रव्यों (आकाश महाभूत प्रधान द्रव्यों) में रहने वाले ये भाव-मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (Smoothness) एवं शब्द; अपने समान शरीरस्थ भावों को पोषण प्रदान करते हैं-

मुख द्वारा गृहीत पार्थिव अन्न (पृथ्वी महाभूत प्रधान) के पाक से तीन भागों का निर्माण होता है-

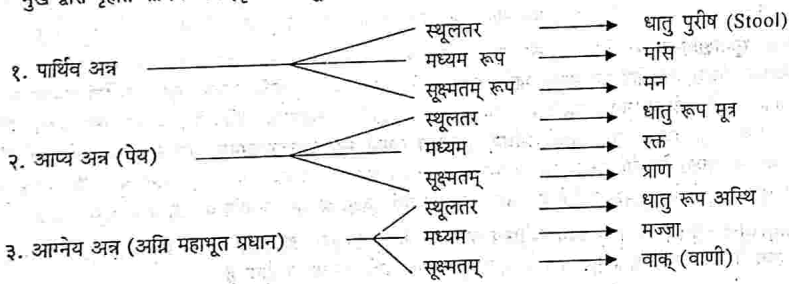

इस प्रकार अन्न के सौम्यांश से मन (सौम्य रूप), प्राण जल रूप तथा वाणी तेज रूप होती है। वह मन स्थूल शरीर के निर्माण में गर्भाशय गत शुक्र व आर्तव के साथ प्रविष्ट होकर सूक्ष्म शरीर व आत्मा में स्थित होकर, पञ्चमहाभूतों का निर्माण करते हुए पञ्चभूतों एवं उनसे दस इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। साथ में सत्त्वादि तीन गुणों का निर्माण करते हुए सत्त्वादि को उत्पन्न करता है। उन गुणों के साथ, सूक्ष्म शरीर में स्थित त्रिगुणात्मक मन स्थूल शरीर में प्रवेश करके स्थूल मन का निर्माण करता है। वही मन, भौम (पार्थिव) आहार द्रव्यों में स्थित सत्त्वादि गुण जो स्थूल रूप में हैं, से पाक के परिणाम स्वरूप पुष्ट होते हैं। मन भौतिक नहीं होता। मन के आत्मजत्व का विवेचन शारीर स्थान में आचार्य ने स्वयं किया है। साथ में आहार पाक का विवेचन 'विविधाशितपीतीय' अध्याय (सू.अ. २८) में पूर्व में ही किया जा चुका है, यथा-"पुष्यन्ति स्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रिय द्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि" इति [आहार रस से रसधातु, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र एवं ओज तथा धातुओं के प्रसाद रूप पञ्चज्ञानेन्द्रियों के द्रव्य, शरीर सन्धियाँ, बन्ध (Ligaments) व पिच्छा आदि अवयवों का निर्माण होता है।] इस प्रकार इन्द्रियाँ धातुओं के प्रसाद अंश से पोषित होती हैं।

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥१५॥

धात्वाग्नि पाक की प्रक्रिया-पुनः देह को धारण करने वाली सातों धातु अपनी-अपनी अग्नियों द्वारा किट्ट एवं प्रसाद रूप, दो प्रकार के पाक को प्राप्त होते हैं।

चक्रपाणि-भूताग्नि व्यापार के विवेचन के बाद धात्वाग्नि व्यापार का अभिधान यहाँ 'सप्तभिरित्यादि' के द्वारा किया गया है।

देहधातार इति-विशेष रूप से देह (शरीर) को धारण करने वाली सात धातुएं होती हैं, यथा-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र। **द्विविधमिति**-दो प्रकार का पाक, धात्वाग्नि पाक दो प्रकार का होता है-१. किट्ट रूप, २. प्रसाद रूप। यद्यपि शुक्र का किट्ट रूप पाक नहीं होता, चूंकि अधिकांश रस से लेकर मज्जा तक की धातुओं का किट्ट रूप पाक होता है। अतः छत्रिणो गच्छन्ति न्याय (बहुमत के आधार पर निर्देशित होने वाला न्याय) के अनुसार इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

Scanned by CamScanner

पुनरिति–जाठराग्नि पाक के अनन्तर ।

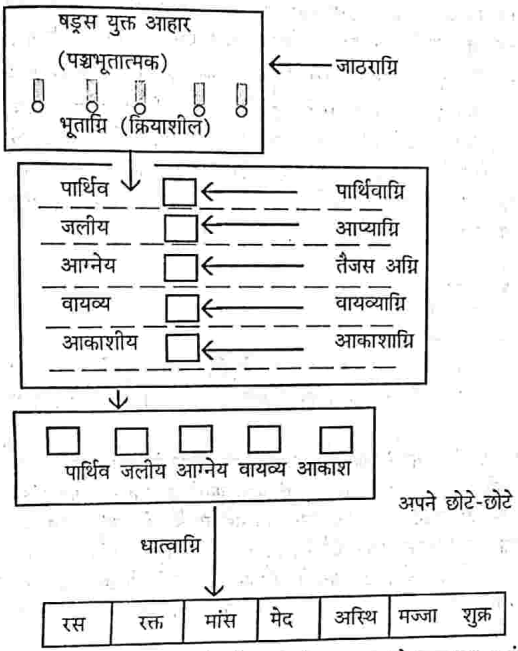

रसाद्रक्तं ततो मांस मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च । अथ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।।१६।।

रसादि धातुओं के निर्माण का क्रम–रस के प्रसाद भाग के उत्पाद प्रसाद अंश से रक्त का पोषण, रक्त के प्रसाद अंश से मांस (Muscle tissue), मांस के प्रसाद अंश से मेद (Fat) एवं मेद के प्रसाद अंश से अस्थि (Bone), अस्थि के प्रसाद अंश से मज्जा (Bone marrow), मज्जा के प्रसाद अंश से शुक्र (Semen) तथा शुक्र के प्रसाद अंश से गर्भ (Foetus) का पोषण होता है ।

चक्रपाणि–पाक से उत्पन्न रसादि धातुओं के उत्पत्ति क्रम को यहाँ 'रसादित्यादि' के द्वारा बताया गया है । रसाद्रक्तं प्रसादजम्-रस के प्रसाद अंश से रक्त की उत्पत्ति होती है, इसके बाद रक्त के प्रसाद अंश से मांस, मांस के प्रसाद अंश से मेद तथा शुक्र के प्रसाद अंश से गर्भ का निर्माण अथवा पोषण होता है ।

प्रसादजशब्देन रसादिभ्यः प्रसादांशजन्या रक्तादयः-रसादि के प्रसाद अंश से रक्तादि धातुओं की उत्पत्ति या पोषण होता है तथा किट्टांश से कफादि उत्पन्न होते हैं । शुक्र के निर्मल रूप प्रसाद अंश से अथवा शुक्र स्वयं प्रसाद रूप ही होता है, उससे गर्भ की उत्पत्ति होती है, उसमें कुछ भी मल अंश नहीं होता । कुछ आचार्य शुक्र का मल श्मश्रु (दाढ़ी के बाल) होता है, ऐसा कहते हैं । जब कि ऐसा नहीं है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा निर्देश नहीं है । यदि शुक्र का मल श्मश्रु होता तो स्त्रियों में भी श्मश्रु उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि स्त्रियों में शुक्र होता है । यह स्त्री शुक्र गर्भारम्भक नहीं होता, इसका प्रतिपादन पूर्व में ही किया जा चुका है ।

अन्ये तु गर्भप्रसादजशब्देन नपुंसकेन ओजोऽभिदधति–अन्य आचार्य नपुंसक पुरुष में शुक्र के प्रसाद (सार) से ओज का ग्रहण करते हैं । 'प्रसादज' से यहाँ 'जात' शब्द पोषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, । अपूर्वोत्पत्ति के अर्थ में नहीं । [The Jan (ja) used in the compound form 'Prasādaja' Signifies nourishment and not creation or new production.-Dr. R.K. Sharma and Vaidya Bhagvan Das] **'प्रसादज इत्यत्र जातशब्दः पोषण एव वर्तते, नापूर्वोत्पादे'** जात शब्द से यहाँ उत्पन्न होना न ग्रहण कर 'पोषण' अर्थ लिया गया है यह वाक्य C.K. Sen संपादित चक्रपाणि टीका में उपलब्ध नहीं होता, इस कारण भ्रम बना हुआ है । रक्तादि से लेकर गर्भ तक का पोषण रसादि द्वारा ही होता है । धातु पोषण क्रम से सम्बन्धित तीन न्याय (वाद या विचार) प्रचलित हैं जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है–

Scanned by CamScanner

१. **क्षीरदधि न्याय (The Law of Transformation)**—इस न्याय के अनुसार रस धातु पर रसाग्नि की क्रिया के परिणाम स्वरूप वह रक्त में परिवर्तित हो जाती है, रक्त रक्ताग्नि के पाक से मांस में बदल जाता है, इसी प्रकार पूर्व धातु उत्तर धातुओं में बदल जाती है। यह परिवर्तन उसी प्रकार होता है जैसे क्षीर से दधि, दधि से नवनीत, नवनीत से घृत तथा घृत से घृतमण्ड; यह एक पक्ष हुआ।

२. **केदारीकुल्या न्याय (The Law of Transmission)**—इस न्याय के अनुसार रस धातु सर्वप्रथम रक्तधातु को पोषित करता है, अर्थात् रस धातु रक्त के स्थान पर पहुँचाता है। वहाँ रक्त स्थान के सम्बन्ध से, रक्त की सादृश्यता के कारण तथा रक्त के समान अंश होने से रक्त का पोषण करता है। रक्त के पोषण के बाद रस अगली धातु मांस के क्षेत्र में पहुँचता है, वहाँ रस में विद्यमान मांस पोषक भावों द्वारा मांस का पोषण होता है। यह कार्य मांस की सादृश्यता के कारण होता है। इस प्रकार रस द्वारा उत्तरोत्तर धातुओं का पोषण होता है। यह कार्य ठीक उसी प्रकार होता है जैसे नालियों में बहने वाला जल छोटी क्यारी (खेत) को भरने के बाद, बगल (पास) की क्यारी में जाता है। इस प्रकार जल एक क्यारी से होकर दूसरी क्यारी को तृप्त करता है।

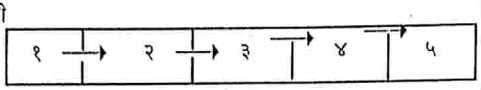

सबसे पहले जल द्वारा पहली क्यारी पूर्ण होती है, उसके भर जाने के बाद किसान दूसरी क्यारी के लिए पहली क्यारी के मेढ़ को काटता है अब जल पहली क्यारी से दूसरी क्यारी में आने लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर क्यारियाँ जल से पूर्ण होती हैं। इसी क्रम से धातुओं का पोषण भी होता है।

३. **खले कपोत न्याय (The Law of Selectivity)**—इस न्याय के अनुसार आहार रस से भिन्न-भिन्न मार्गों के द्वारा रसादि धातुएं अपने समान अंशों से तृप्त होती हैं। अर्थात् सभी धातुएं अपने-अपने स्रोतसों द्वारा आहार रस को प्राप्त करती हैं तथा तत्समान अंशों से पुष्ट होती हैं। जो धातु आहार रस के सन्निकट (पास) होता है, उसे पुष्ट करने वाला धातु भाग शीघ्र पहुँचता है, जो धातुएं दूरस्थ हैं, उनके स्रोतस् लम्बे होने से उनके पोषक भाग देर में पहुँचते हैं। इस कारण उनका पोषण देर से होता है। इस न्याय में भिन्न-भिन्न धातु मार्गों द्वारा धातुओं का पोषण होता है। यह पोषण क्रम ठीक उसी प्रकार होता है जैसे खलिहान में विद्यमान अन्न कणों को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के रहने वाले कपोत ग्रहण करके विभिन्न दिशाओं में उड़ जाते हैं, जिसका घर पास होता है वह शीघ्र घर पहुँच जाता है तथा जिसका दूर होता है वह देर में पहुँचता है।

इस प्रकार यहाँ क्षीरदधिन्याय, केदारीकुल्या न्याय एवं खलेकपोत न्याय के अनुसार धातुपोषण क्रम को स्वीकार किया गया है। यद्यपि यहाँ विचार करने पर दो न्याय केदारीकुल्या न्याय एवं क्षीरदधि न्याय संगत (उपयुक्त) प्रतीत होते हैं, खलेकपोत न्याय उतना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार करने पर 'रसाद्रक्तं प्रसादजं' की व्याख्या नहीं हो सकेगी। इस विषय का विस्तार विविधाशितापीतीय नामक अध्याय (सू.अ. २८) में किया जा चुका है, वहीं द्रष्टव्य है। विविधाशितपीतीय अध्याय (सू.अ. २८) में आहार रस से रसादि धातुओं का पुष्ट होना बताया गया है, यथा-"पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरं" (आहाररस से रस, रक्त आदि पुष्ट होते हैं।) इस सूत्र के द्वारा रस के दो भेद स्वीकृत किये गये हैं (१) आहाररस (Chyle] which is the end porduct of food digestion), (२) रसधातु (Rasa as a dhātu)। इस प्रकरण में एक मात्र रस को स्वीकृत किया गया है जो रक्त का पोषण करता है, तो यहाँ कैसे विरोध नही है ? यह शङ्का है। ऐसा नहीं है, अर्थात् कथन की विरुद्धता नहीं है, वहाँ भी 'आहाररस' शब्द से आहार के प्रसाद अंश का ग्रहण है। उसका ग्रहण यहाँ 'रस' शब्द से ही हो जाता है। जहाँ रस के दो भेद माने गये हैं वहाँ- १. स्थायी रस (पोष्य stable tissue element) २. अस्थायी (पोषक-unstable tissue element which provides nourishment to the successive tissue elements); रस के ये भेद धातुपोषक व पोष्य रस के अंश के आधार पर किये गये हैं। यहाँ स्थायी व पोषक एक ही रस के भाग हैं, स्थायी रस एवं पोषक रस के स्थान भेद न होने से दोनों का ही ग्रहण 'रस' से ही होता है। ऐसा अर्थ करते हुए इस शरीर को सप्तधातुक कहा गया है। इस विषय का भी विस्तृत विवेचन विविधाशितपीतीय नामक अध्याय (सू.अ. २८) में किया गया है। ॥१६॥

रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः ॥१७॥

उपधातुओं का पोषण (Nourishment of Upadhātus)—रस से **स्तन्य** (Breast milk) एवं रक्त (**आर्तव** Menstrual discharge), रक्त से कण्डरा (Principal vessels of the body) एवं सिरा (Vein), मांस से वसा (Muscle- fat) एवं त्वचा के छः स्तर (Six layers of the skin) तथा मेद से स्नायु (Ligament) का निर्माण होता है।

चक्रपाणि-धातु पोषण क्रम के अभिधान के पश्चात् उपधातुओं के पोषण क्रम का विवेचन यहाँ 'रसात् स्तन्यमिति' के द्वारा किया गया है।

Scanned by CamScanner

रसात् स्तन्यं प्रसादजं, तथा रक्तमपि रजः संज्ञं रसादेव प्रसादभागजन्यम्–रस के प्रसाद अंश से स्तन्य एवं रक्त का भी निर्माण होता है। यहाँ 'रक्त' से रज (Menstrual discharge) का ग्रहण किया गया है, वह भी रस के ही प्रसाद भाग से पोषित होता है। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा–**"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्तते"** (सु.सू. १४) [रस से ही स्त्रियों में रक्त, जिसे रज कहा गया है, की उत्पत्ति होती है।] यह रज रसज होते हुए भी सूक्ष्म रूप होने से देर में उत्पन्न होता है। जिसके बारे में आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है, यथा- "एवं मासेन रसः शुक्री भवति, स्त्रीणां चार्तवम्" (सु.सू.अ. १४) इति [इस प्रकार एक महीने में पुरुषों में रस से शुक्र का निर्माण होता है तथा स्त्रियों में आर्तव का निर्माण होता है।

असृजः कण्डराः स्थूलस्नायवः–रक्त से कण्डरा एवं सिरा की उत्पत्ति होती है। कण्डरा स्थूल स्नायु को कहा गया है। **मेद** से सूक्ष्म स्नायु का निर्माण होता है अथवा पोषण होता है। यहाँ 'कण्डरा' शब्द के द्वारा स्थूल स्नायु को लिया गया है जबकि सुश्रुत ने स्थूल सिरा अर्थ लिया है। स्थूल सिरा=शरीर की मुख्य सिराओं (Principal vessels of the body)। **ते च स्तन्यादयो धात्वन्तरापोषणाच्छरीरपोषका अप्युपधातुशब्देनोच्यन्ते**–स्तन्यादि उपधातुयें उत्तरोत्तर धातुओं को पोषित नहीं करते, लेकिन सामान्य रूप से शरीर का पोषण करते हैं। इस कारण इसे 'उपधातु' शब्द से कहा गया है। जबकि रसादि धातुयें शरीर धारण के साथ-साथ सम्बद्ध धातु को भी पुष्ट करते हैं। इस कारण इन्हें 'धातु' कहा गया है। आचार्य भोज ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट कर दिया है, यथा-"सिरास्नायुरजः स्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात उपधातवः" इति [सिरा, स्नायु, रज, षड् त्वचा; इनमें गति नहीं होती तथा ये धातुओं से उत्पन्न होते हैं, इस कारण इन्हें 'उपधातु' कहते हैं।] यहाँ 'धातुभ्यश्चोपजायन्ते' का अभिप्राय उत्पन्न होना अर्थ है अर्थात् स्तन्यादि, धातुओं द्वारा उत्पन्न होते हैं, न कि उत्पन्न करते हैं, यह कहा गया है। शुक्र ओज को उत्पन्न करने के कारण धातु के ही अन्तर्गत आता है। इस प्रकरण में ओज न तो धातु एवं न तो उपधातु के ही अन्तर्गत रखा गया है। चूकि वह (ओज) सप्तधातुओं का सार रूप होने से सप्तधातु के ही अन्तर्गत आ जाता है। इसलिये उसकी अग्नि का पृथक् से उल्लेख नहीं किया गया है। ॥१७॥

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं, रसस्य तु कफोऽसृजः। पित्तं, मांसस्य खमला, मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥१८॥
स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो, मज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचां प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवंविधश्चितः ॥१९॥
परस्परोपसंस्तम्भ्या धातुस्नेहपरम्परा।

(ख) मल भाग के उत्पाद

अन्न एवं धातुओं के मल (Waste products of food and dhātus)–अन्न एवं धातुओं के मल इस प्रकार विवेचित हैं–

	अन्न/धातु		मल (Waste products)
१.	अन्न (आहार)	⟶	विड् (Stool) एवं मूत्र (Urine)
२.	रस (Chyle)	⟶	कफ
३.	रक्त (Blood)	⟶	पित्त
४.	मांस (Muscle tissue)	⟶	कर्ण, अक्षि (चक्षु), नासिका, मुख एवं प्रजननाङ्गों के मल (कर्ण का मल-wax खोंट) चक्षु का मल- आँख से निकलने वाला कीचड़, नासिका-नेटा (सिंघाणक) मुख का मल- जननेन्द्रिय के मल-
५.	मेद (Fat tissue)	⟶	स्वेद (पसीना Sweat)
६.	अस्थि (Bones)	⟶	केश (सिर के बाल) लोम (छोटे बाल- Small hair)
७.	मज्जा	⟶	चक्षु, पुरीष एवं त्वचा के स्नेहांश (the unctuous substance present in the eyes, stool and skin)

इस प्रकार धातु पाक से दो भाग प्राप्त होते हैं (क) प्रसाद अंश, (ख) किट्ट अंश, ये प्रसाद व किट्ट भाग, धातुस्नेह परम्परा से परस्पर एक दूसरे को धारण करते हैं।

चक्रपाणि–प्रसाद भाग के उत्पाद के विवेचन के बाद मल भाग के उत्पाद को यहाँ 'किट्टमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **रसस्य कफ इति**-रस के पाकोपरान्त उसके मल रूप कफ की उत्पत्ति होती है। (रस का रसाग्नि के पाक के परिणाम स्वरूप प्राप्त सार अंश (प्रसाद

Scanned by CamScanner

अंश) से रक्त एवं रस का पोषण तथा किट्ट (मल) रूप में कफ की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार रक्तादि के मल का भी ज्ञान करना चाहिए। **मांसस्य खमला इति**-कर्ण, अक्षि, नासिका, मुख एवं प्रजननांगों के मल। मलः स्वेदस्तु मेदस इति-यद्यपि स्वेद शरीरस्थ द्रव भाग ही है फिर भी यह मेद के मल के रूप में उत्पन्न होता है। अथवा स्वेद उदक से भी उत्पन्न होता है तथा मेद का मल रूप भी होता है, यथा- मधुर अवस्था पाक में कफ की वृद्धि होती है तथा रस के मल के रूप में भी कफ की वृद्धि होती है। अस्थि का मल नख (Nails) भी होता है, इसका ज्ञान **सुश्रुत** के वचन से करना चाहिये, यथा-"नखलोम च" (सु.सू.अ. ४६) के द्वारा नख को अस्थि का मल बताया गया है। विविधाशितपीतीय (सू.अ. २८) अध्याय में कहा भी गया है, यथा-"किट्टात् केशनखादयः पुष्यन्ति" (सू.अ. २८) [अस्थि के किट्ट (मल) से केश एवं नखादि पुष्ट होते हैं।] किन्तु शारीरस्थान में अस्थियों की गणना के क्रम में-"विंशतिर्नखा" (शा.अ. ७) इति के द्वारा नखों को अस्थि के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रसाद एवं किट्ट दो भेदों में ही धातुपाक की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

सम्प्रति पोष्य रक्त के द्वारा रस का तथा मांस के द्वारा रक्त आदि धातुओं का परस्पर आप्यायन होता रहता है, इसी का निर्देश यहाँ 'परस्परेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

धातुस्नेहपरम्परा परस्परोपसंस्तम्भेति-एक धातु दूसरी धातु के उपस्नेहन से ही तृप्त होती है। अर्थात् धातु पोषण का यह क्रम एक दूसरे की सहायता से ही पूर्ण होता है। ॥१८-१९॥

विशेष (Comments)-भुक्त अन्न पाक के परिणाम स्वरूप दो भागों में विभक्त होता है-**१. प्रसाद अंश** (जिसे रस कहा जाता है) तथा **२. किट्ट अंश** (मल भाग)-इससे पुरीष (Stool) एवं मूत्र (Urine) का निर्माण होता है। अर्थात् पाकोपरान्त मल रूप में पुरीष एवं मूत्र का निर्माण होता है। अन्न के पार्थिव अंश से पुरीष एवं आप्य (जलीय) भाग से मूत्र बनता है। इसका प्रसाद भाग 'रस' कहा जाता है।

रस —पाक (रसाग्नि)→ प्रसाद भाग → रक्त, सूक्ष्मांश-प्राण
रस —पाक (रसाग्नि)→ किट्ट भाग → कफ
रक्त —रक्ताग्नि→ प्रसाद भाग → मांस (पार्थिव अंश-पाञ्चभौतिक अन्न का मध्यम भाग) सूक्ष्मांश भाग-मन
रक्त —रक्ताग्नि→ किट्ट भाग → पित्त
मांस —मांसाग्नि→ प्रसाद भाग → मेद
मांस —मांसाग्नि→ किट्ट भाग → (श्रोत्रादि के छिद्रों से निकलने वाला मल)
मेद —मेदोऽग्नि→ प्रसाद भाग → अस्थि
मेद —मेदोऽग्नि→ किट्ट भाग → स्वेद
अस्थि —अस्थ्यग्नि→ प्रसाद भाग → मज्जा
अस्थि —अस्थ्यग्नि→ किट्ट भाग → केश, लोम
मज्जा —मज्जाग्नि→ प्रसाद भाग → शुक्र
मज्जा —मज्जाग्नि→ किट्ट भाग → शरीरगत स्नेह [अक्षि का स्नेह, विट् (पुरीष) का स्नेह, त्वचा का स्नेह]

इस प्रकार धातुपाक का यह क्रम सर्वमान्य है। [जल्पकल्पतरु टीका पर आधारित]

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥२०॥
षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्। संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥२१॥
(इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्। रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते ॥२२॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्। द्रवाद्रक्तास्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥२३॥
द्रवथातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः संभवः कथम्। श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥२४॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा। मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥२५॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः। तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥२६॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्। एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥२७॥
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥२८॥
वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्। स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ॥२९॥
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते। पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः ॥३०॥

Scanned by CamScanner

खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् । करोति तत्र सौषिर्यमस्थां मध्ये समीरणः ।।३१।।
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः । तस्मान्मज्ज्ञास्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ।।३२।।
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु । तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ।।३३।।
स्रोतोभिः स्यन्दते देहात् समन्ताच्छुक्रवाहिभिः । हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात् ।।३४।।
विलीनं घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् । बस्तौ संभृत्य नियति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ।।३५।।)

वृष्यादि द्रव्य अपने प्रभाव से शरीर के बल एवं धातुओं का पोषण शीघ्र करते हैं । अर्थात् वृष्यादि द्रव्यों के सेवन से शुक्र की वृद्धि शीघ्र होती है, उसमें उन द्रव्यों का प्रभाव कारण है । कुछ आचार्यों के अनुसार- रस से शुक्र का परिवर्तन छः दिन-रात में होता है । भोज्य धातुओं का यह परिवर्तन चक्रवत् निरन्तर होता रहता है ।

अग्निवेश के प्रश्न–भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के यह कहने पर शिष्य अग्निवेश ने अपने प्रश्नों को इस प्रकार पूछा-

१. शरीर में रस, रक्त के समान नहीं है, फिर भी रस से रक्त की उत्पत्ति किस प्रकार होती है [असमान रस से रक्त की उत्पत्ति कैसे होती है ?], रस में रक्त वर्णता नही है, फिर उससे रक्त वर्ण वाला रक्त कैसे बनता है ?

२. द्रवरूप रक्त से स्थिर मांस धातु पुरुषों में कैसे उत्पन्न होता है ?

३. द्रव धातु-रस, रक्त तथा स्थिर मांस से मेद की उत्पत्ति कैसे होती है ?

४. श्लक्ष्ण मांस एवं मेद से अस्थियों में खरता कैसे उत्पन्न होती है ?

५. खर अस्थियों में किस प्रकार स्निग्ध व मृदु गुण युक्त मज्जा की उत्पत्ति होती है ?

६. यदि मज्जा के परिणमन से शुक्र की उत्पत्ति होती है तब शुक्र को मनीषी गण क्यों 'सर्वशरीरगत' कहते हैं ?

७. यदि अस्थियों के मध्य स्थित मज्जा से ही शुक्र का निर्माण होता है एवं अस्थियों में छिद्र दिखाई नहीं देता, तब उस अस्थि से शुक्र निकलता कैसे है । अर्थात् अस्थियों से शुक्र का स्राव कैसे होता है ?

आत्रेय के उत्तर–शिष्य के द्वारा ऐसा पूछने पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने यह कहा–

१. आहार रस का जो तेज (प्रसाद) भाग है उस पर पित्तोष्मा की क्रिया से रागत्व (Redness) उत्पन्न होता है, जिससे रस, रक्त में परिणत हो जाता है ।

[The essence of RASA gets transformed into RAKTA by Virtue of the colour (RĀGA) imparted by the heat of pitta. -Vaidya Bhagvan Das].

२. वायु, अम्बु तथा पित्त की ऊष्मा तथा स्वयं की अग्नि (रक्ताग्नि) की क्रिया जब रक्त पर होती है । अर्थात् इनके द्वारा जब रक्त का पाक होता है तब रक्त मांस में परिवर्तित हो जाता है ।

३. मांस का जब मांसाग्नि से पाक होता है तब उसमें जल (द्रव) एवं स्निग्ध गुण की वृद्धि हो जाती है, फलतः मांस से मेद की उत्पत्ति होती है ।

४. मेद पर मेदोऽग्नि की क्रिया से तथा पृथ्वी अग्नि एवं वायु के संयोग से उसमें खरता की उत्पत्ति होती है । इस खर रूप मेद को ही अस्थि कहा जाता है ।

५. अस्थि जो वृद्ध हैं, उसमें वायु बढ़कर सुषिरता (Porosity) को उत्पन्न करती है उस सुषिर (खाली स्थान) में मेद धातु का स्नेह भाग भर जाता है, उसे मज्जा कहते हैं ।

६. मज्जा के स्नेह भाग से शुक्र की उत्पत्ति होती है । अस्थियों में सुषिरता (Porosity) वायु, आकाशादि भावों के द्वारा उत्पन्न होती है अर्थात् अस्थियों में छिद्र होता है । उन छिद्रों से शुक्र का स्राव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार एक जल से पूरित नवीन घड़े से जल का स्राव होता है । वह शुक्र मैथुन जन्य संकल्प (जो मन के द्वारा होता है।) एवं हर्ष से प्रेरित होकर सम्पूर्ण शरीर के स्रोतसों से चू-चू कर शुक्रवाही स्रोतों में बहने लगता है । यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अग्नि के संयोग से घृत पिघल जाता है, वैसे ही मैथुन जन्य ऊष्मा के द्वारा द्रवीभूत शुक्र स्थान च्युत होकर शुक्राशय से बाहर निकल जाता है, जैसे ऊँचे स्थान से जल बहकर नीचे की ओर चला जाता है ।

चक्रपाणि–वृष्यादि द्रव्यों से शुक्रादि उत्पत्ति का क्रम धातुपरम्परा क्रम के अनुसार नहीं होता, इसे **'वृष्यादीनामित्यादि'** के द्वारा बताया गया है । 'आदि' शब्द से बल्य, भेदन आदि द्रव्यों का ग्रहण किया गया है ।

Scanned by CamScanner

वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां प्रभावो बलं शीघ्रं पुष्णाति–वृष्यादि द्रव्य, यथा– मुसली, शतावरी, केंवाच, सालमपञ्जा, बलवर्धक द्रव्य, यथा-बला, नागबला, एवं विरेचक (Purgatives)-कुटकी, निशोथ अपने प्रभाव से कार्य करती हैं । अर्थात् यहाँ धातुपोषण क्रम की प्रक्रिया लागू नहीं होती । अतः दुग्ध आदि के सेवन से शीघ्र ही शुक्रादि की उत्पत्ति होती है । यह द्रव्यों का अपना प्रभाव है । अथवा वृष्य, विरेचक, बलवर्धक आदि द्रव्यों के सेवन करने से धात्वोत्पत्ति क्रम के अनुसार धातुओं का निर्माण (पोषण) न होकर सीधे (Direct) शुक्र निर्माण अथवा विरेचक कार्य होने लगते हैं । अर्थात् रस से शुक्र का निर्माण Direct हो जाता है । 'हि' शब्द अवधारणा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार वृष्यादि द्रव्यों के प्रभाव से शुक्रादि की उत्पत्ति शीघ्र हो जाती है ।

वस्तुतः कितने समय में रस से शुक्र पर्यन्त धातुओं का निर्माण हो जाता है, इसे यहाँ 'षड्भिरित्यादि' के द्वारा बताया गया है । कुछ आचार्यों के अनुसार छः अहोरात्रि (दिन-रात) में रस से शुक्र का निर्माण हो जाता है । उत्पन्न रस एक दिन-रात (२४ घण्टे) में रक्त में बदल जाता है । इस प्रकार रसोत्पत्ति के दिन को छोड़कर छठवें दिन रस शुक्र में बदल जाता है, यदि रसोत्पत्ति के दिन को भी जोड़ दें तब यह कार्य सातवें दिन में पूर्ण हो जाता है । आचार्य पाराशर ने कहा भी है, यथा-"आहारोऽद्यतनः श्वो हि रसत्वं गच्छति नृणाम् । शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि, चतुर्थे मांसतामपि ॥ मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमे त्विपात् । मज्जतां, शुक्रतां याति नियमादष्टमे नृणाम्" इति [पुरुषों में आहार से रस की उत्पत्ति पहले दिन (प्रथम दिन) में होती है । अर्थात् आज भोजन किया गया तो उससे रस की उत्पत्ति दूसरे दिन होती है। तीसरे दिन रस से रक्त बनता है, रक्त (Blood) से मांस (Muscle tissue) चौथे दिन, मांस से मेद पाँचवें दिन, मेद से अस्थि छठवें दिन, अस्थि से मज्जा (Bone marrow) सातवें दिन तथा मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति या पोषण आठवें दिन होता है ।] यद्यपि यहाँ आहार ग्रहण करने के दिन को छोड़कर ही यह व्याख्या करनी चाहिये । अथवा रस धातु से रक्त का परिवर्तन अर्थात् रस धातु रक्त में छः दिन में बदल जाती है । आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है, यथा-"स खल्वाप्यो रस एकैकस्मिन् धातौ त्रीणि-त्रीणि कलासहस्राण्यवतिष्ठति पञ्चदश च कलाः, एव मासेन रसः शुक्रीभवति" (सु.सू.अ. १४) इति [पुरुषों में वह रस धातु जो द्रव रूप में होता है एक-एक धातु में ३०१५ कला तक रुकते हुए एक महीने में शुक्र में बदल जाता है तथा स्त्रियों में आर्तव का रूप ले लेता है।] इस प्रकार इन दोनों मतों को **'केचिदित्यादि'** के द्वारा दर्शाया गया है । **'संतत्येत्यादि'** के द्वारा आचार्य (पुनर्वसु आत्रेय) ने अपने विचार को स्पष्ट किया है ।

भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत् परिवृत्तिर्भवति अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति–हितकर भोजन करने के बाद उससे रसादि धातुओं का निर्माण (पोषण) चक्रवत् होता रहता है, अर्थात् जैसे एक गतिशील पहिया लगातार घूमता रहता है उसी प्रकार शरीर में रसादि धातुओं के निर्माण की प्रक्रिया सतत चलती रहती है । चक्रदृष्टान्त से आचार्य ने धातु निर्माण में नियत काल के सिद्धान्त (षड् दिन में रस से शुक्र का पोषण एवं एक महीने में रस से शुक्र पोषण सिद्धान्त) को स्वीकार नहीं किया है । जिस प्रकार कुएं में लगी हुई घिरनी (Wheel) पर रस्सी डालकर व्यक्ति कुएं से पानी निकालता है, यदि पुरुष बलवान है तो घिरनी तेजी से घूमती है तथा दुर्बल रहने पर घिरनी की गति धीमी होती है उसी प्रकार यदि व्यक्ति की धात्वाग्नि प्रदीप्त है तब धातु निर्माण शीघ्रता से होता है यदि मन्द है तो गति धीमी होगी, अर्थात् रस से शुक्र के पोषण में समय ज्यादा लगेगा । इस प्रकार सुश्रुत संहिता में भी "शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम्" के द्वारा धातु की गति शरीर में (धातु पाक की गति शरीर में) शब्द के तरंगों की तरह, प्रकाश की किरणों की तरह अथवा जल की तरंगों की तरह होती है ।

According to **Suśruta**, the rasa, in a subtle way moves (lit.gets transformed metabolically) through these dhātus like the waves of sound, light and water.] के द्वारा रसपरिणमन के सम्बन्ध में अग्न्यादि भेद से तीन दृष्टान्त दिये गये हैं । यहाँ जलसंतान के दृष्टान्त से रस से शुक्र का निर्माण देर में अर्थात् १ मास में होता है । शब्दसंतान के दृष्टान्त के अनुसार रस से शुक्र का निर्माण न तो अधिक धीमे न तो अधिक शीघ्रता से अर्थात् मध्यम गति से होता है । अर्चि (अग्नि की ज्वाला Light प्रकाश) संतान के दृष्टान्त के अनुसार अत्यन्त शीघ्र गति से रस से शुक्र का निर्माण होता है । इसकी पुष्टि अन्य स्थानों (अन्य शास्त्रों) में भी की गयी है, यथा-"केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे, परे । मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति" [कुछ आचार्यों के अनुसार रस से शुक्र का निर्माण एक दिन में हो जाता है, अन्य छः रात्रि में होना स्वीकार करते हैं तथा कुछ के अनुसार एक महीने में होता है ।] इन सभी मतों का अन्तर्भाव आचार्य चरक ने **चक्रदृष्टान्त** में ही कर लिया है । ॥२०-३५॥

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा । युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥३६॥
क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः । करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥३७॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ।

रस का परिभ्रमण (Circulation of Rasa)–व्यान वायु अपने विक्षेपण एवं उपचित कर्म से **रसधातु** को सम्पूर्ण शरीर में एक साथ बिना रुके पहुँचाती रहती है [Vyāna-Vāyu, which by nature stimulates the process of circulation, always causes circulation of Rasa-Dhātu all over the body simultaneously and continuously. Dr. R.K. Sharma] व्यान वायु के द्वारा

Scanned by CamScanner

प्रक्षेपित रसधातु स्रोतोवैगुण्य के कारण जिस स्थान पर रुक जाता है वहीं विकृति को उत्पन्न करता है, जिस प्रकार आकाश में गमन करने वाले बादल जहाँ रुकते हैं उसी स्थान पर वर्षा करते हैं। यही स्थिति दोषों की भी होती है। ये जहाँ रुकते हैं उसी स्थान पर व्याधि उत्पन्न करते हैं। [दोषों का अवरोध जिस नियत स्थान पर होता है, वहीं व्याधि को उत्पन्न करते हैं।]

चक्रपाणि–अन्नरस, जो रक्तादि धातुओं को पोषण (Nourishment) प्रदान करता है। इस कार्य के लिए उसे कौन प्रेरित करता है, जिसके कारण वह उस-उस स्थान तक जाता है, जिसे यहाँ 'व्यानेनेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। रस से यहाँ रस रूप धातु का ग्रहण किया गया है।

किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते, तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति–'रसति इति रसः' अर्थात् जो गमन करे, इससे द्रव धातु का ग्रहण होता है। इस प्रकार यहाँ रस से रक्तादि द्रव रूप धातुओं का ग्रहण होता है। विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा-जिसका प्राकृत कर्म ही धातुओं को उचित रूप से विक्षेपित (फैलाना) करना है अर्थात् जो द्रव धातुओं को सम्पूर्ण शरीर में फैला (पहुँचा) दे, वह 'विक्षेपोचित कर्मा' कहा जाता है। अर्थात् व्यानवायु का कार्य रस-रक्त संवहन का है। वह व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में द्रव धातुओं को एक साथ विक्षेपित करती है। तेन व्यानेन=उस व्यानवायु द्वारा, युगपदिति=एक साथ (एक समय में), सर्वत इति=सर्वस्मिन् देहे (सम्पूर्ण शरीर में), विक्षिप्यते इति नीयते- द्रव धातुओं को लाया (पहुँचाया) जाता है। अर्थात् व्यानवायु रसधातु (द्रव रूप धातु) को शरीर के समस्त भागों में शीघ्रता पूर्वक पहुँचा देती है। विक्षेपण का यह कार्य व्यानवायु बिना रुके दिन-रात करती रहती है। सदेति=सर्वकालम् (हमेशा)।

जब रस का विक्षेपण सम्पूर्ण शरीर में होता है तब स्थान विशेष पर रसादि विकार क्यों उत्पन्न होते हैं या दिखायी देते हैं, जिसे यहाँ 'क्षिप्यमाण इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। खवैगुण्यादिति=स्रोतों में विगुणता होने से (यदि स्रोतस् विशेष विकृत है तब उसमें वहन होने वाली धातुएं उस स्थान विशेष पर अवरुद्ध होंगी, परिणामतः व्याधि भी स्थान विशेष (स्रोतस् विशेष) में ही उत्पन्न होगी। **सज्जतीति तिष्ठति**-रुकता है, [स्रोतस् की विकृति के कारण अपने नियत समय से ज्यादा समय तक दोषादि का रुकना।] स्रोतस् की विगुणता दो रूपों में हो सकती है- १. क्रियात्मक विकृति-स्रोतस् में मलादि के बढ़ने से, २. संरचनात्मक विकृति (Anatomical deformity)]

विकारं कुरुते इति–रसाश्रयिविकारं कुरुते-रसादि संवहन की प्रक्रिया में यदि रसधातु के स्रोतस् में विगुणता है तब दोष रस के आश्रित होकर व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् रसाश्रित व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। रस भी विकार उत्पन्न करने में एक आश्रय है, इसलिये उसके कर्तृत्व को स्वीकार किया गया है।

खे वर्षमिव तोयद इति–जिस प्रकार चण्ड (तीव्र) वायु के द्वारा लाया गया बादल जहाँ (जिस स्थान पर) रुक जाता है वहीं जल की वर्षा कर देता है उसी प्रकार रस भी जिस स्थान (स्रोतस्) में रुक जाता है उस स्थान पर व्याधि को उत्पन्न करता है। यह स्थिति रस एवं दोष दोनों में ही पायी जाती है। जिसे यहाँ 'दोषाणामित्यादि के द्वारा बताया गया है। सुश्रुत संहिता में भी कहा गया है, यथा-"कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते" [प्रकुपित हुये दोष शरीर में भ्रमण करते रहते हैं, स्रोतों में विगुणता के कारण वे जिस स्थान पर रुक जाते हैं वहीं व्याधि उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् स्रोतस् का जो भाग विगुण (विकृत) होता है, दोष वहीं रुक कर व्याधि को उत्पन्न करते हैं।] ॥३६-३७॥

इति भौतिकधात्वन्नपक्तॄणां कर्म भाषितम् ।।३८।।
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः । तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ।।३९।।
तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः । पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ।।४०।।
यो हि तुष्टे विधिं त्यक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् । स लौल्याल्लभते शीघ्रं, वक्ष्यतेऽतः परं तु ते ।।४१।।

इस प्रकार यहाँ पञ्च भूताग्नि, सात धात्वाग्नि एवं एक जाठराग्नि अर्थात् १३ अग्नियों के कर्मों का विवेचन किया गया।

पाचकाग्नि का महत्त्व–शरीर में विद्यमान सभी अग्नियों (५ भूताग्नि, ७ धात्वाग्नि व १ जाठराग्नि या पाचकाग्नि) में पाचकाग्नि (जाठराग्नि) प्रधान है। पाचकाग्नि ही शेष अग्नियों का हेतु है। पाचकाग्नि (जाठराग्नि) के वृद्ध रहने पर शेष १२ अग्नियाँ वृद्ध होती हैं, अर्थात् बल प्राप्त करती है। इसके घटने (क्षय होने) पर शेष अग्नियाँ भी क्षय को प्राप्त होती हैं। इसलिये उस अग्नि की विधिवत (भली भाँति) तैयार की हुई एवं हितकर अन्न-पान रूपी ईन्धन द्वारा रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् पुरुष उस पाचकाग्नि की रक्षा विधिपूर्वक निर्मित हितकर अन्न-पान द्वारा करे। उस पाचकाग्नि के सम स्थिति में रहने पर ही शरीर आयु एवं बल से युक्त रहता है।

जो पुरुष जिह्वा की लौल्यता के कारण विधिपूर्वक आहार (आहार की विधियों) का सेवन (पालन) नहीं करता, वह ग्रहणी आश्रित विकारों को शीघ्र ही प्राप्त करता है। अर्थात् उस पुरुष को ग्रहणी जन्य विकार शीघ्र ही हो जाते हैं। अब आगे ग्रहणीजन्य विकारों का वर्णन किया जा रहा है– ॥३८-४१॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–पूर्व वर्णित अग्नियों (भूताग्नि-५, धात्वाग्नि-७, जाठराग्नि-१) के कर्म का उपसंहार यहाँ **'इति' भौतिकेत्यादि'** के द्वारा किया जा रहा है । भौतिका=५ भूताग्नियाँ, धात्वग्न्यः=धात्वाग्नियाँ-७ (रसाग्नि, रक्ताग्नि आदि), अन्नपक्तैकः=पाचकाग्नि (जाठराग्नि) -१ । **अत्र च यान्यग्न्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यप्यवरुद्धानि भूताग्निष्वेव**-यहाँ जो अग्नियाँ इन अग्नियों से भिन्न हैं, यथा-उपधातु एवं मलों में विद्यमान अग्नियाँ, उनका भी अवरोध यहाँ भूताग्नियों में कर लिया गया है । अथवा हो ही जाता है । अथवा अप्रधान होने से कुछ अन्य अग्नियों का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है । सभी अग्नियों में जाठराग्नि की प्रधानता को 'अन्नस्येत्यादि' के द्वारा दर्शाया गया है । अर्थात् जाठराग्नि ही सभी अग्नियों में प्रधान है, यह बताया गया है । 'तन्मूला इत्यादि' से प्रधानत्व के हेतु को स्पष्ट किया गया है । उसके मूलत्व में हेतुगर्भ विशेषण (कार्य-कारणवाद) को 'तद्वृद्धि इत्यादि' से समझाया गया है । उस जाठराग्नि के बली (वृद्ध) होने पर अन्य १२ अग्नियाँ भी बली होती हैं एवं क्षीण होने पर अन्य अग्नियाँ भी क्षीण हो जाती हैं । अर्थात् जाठराग्नि वृद्ध है तो अन्य अग्नियाँ भी वृद्ध होंगी । (अन्वय सिद्धान्त), यदि अन्य १२ अग्नियाँ मन्द हैं तो जाठराग्नि भी मन्द होंगी (व्यतिरेक सिद्धान्त) के आधार पर जाठराग्नि को ही सभी अग्नियों का कारण कहा गया है, यह भाव है । अन्तराग्नि (जाठराग्नि) ही सभी का कारण है, इसलिये इसकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये ।

'विधिवद्युक्तैरिति' से यहाँ 'आहार विधि के उपयुक्त योग से' अर्थ ग्रहण किया गया है । अर्थात् विधिपूर्वक निर्मित आहार का विधिपूर्वक पालन (सेवन) करने से पुरुष दीर्घजीवी एवं बलयुक्त बना रहता है । **आयुर्बलस्थितिरिति अन्नपाचकाग्निस्थितौ आयुर्बलस्थित्या अन्येऽप्यतिप्रेया वर्णादयो लक्षणीयाः**-हितकर अन्न एवं जाठराग्नि दोनों सम स्थिति में हों तब व्यक्ति की आयु, बल एवं वर्ण आदि भाव सम स्थिति में बने रहते हैं । जाठराग्नि सम स्थिति में रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उसे उचित एवं हितकर अन्न मिलता रहे । यह स्थिति रहने पर ही पुरुष की आयु एवं बल (शारीरिक बल) स्थिर रहते हैं, इसी से शरीरस्थ अन्य भावों का भी ग्रहण हो जाता है । **विपर्यये दोषमाह-यो हीत्यादि**-'यो हीत्यादि' के द्वारा विपरीत स्थिति के दोषों का अभिधान किया गया है । अर्थात् पाचकाग्नि (जाठराग्नि) यदि विकृत या विषम है या उसे विधि-विहित अन्न-पान नहीं मिल पा रहा हो या व्यक्ति विधि विहित भोजन नहीं कर पा रहा है तब उसकी अग्नि (जाठराग्नि) जो ग्रहणी कला के आश्रित रहती है विकृत या विषम हो जाती है ।

ग्रहणीदोषजानिति ग्रहण्याश्रितदोषजान्-ग्रहणी के आश्रित दोषों को यहाँ ग्रहणीदोष शब्द से कहा गया है । आगे वर्णित चार लक्षण जो विशेष रूप से ग्रहणी विकार से सम्बन्धित हैं, का ग्रहण 'ग्रहणीदोष' से होता है । अग्निमांद्य (Suppression of the power of digestion) एवं अर्जीर्ण आदि भी ग्रहणी आश्रित दोषों से उत्पन्न होते हैं । अग्निमांद्य एवं अजीर्ण आदि व्याधियाँ ग्रहणी आश्रित दोषों से उत्पन्न होने से ग्रहणीरोग ही हैं, फिर भी यहाँ ग्रहणी रूप नाड़ी व्यापार के विपरीत होने पर जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं वही मुख्य रूप से ग्रहणी शब्द से कही जाती हैं । इसके अन्तर्गत चार रोग आते हैं ।

"अधस्तु पक्वमामं वा" (श्लोक. ५१-५२) के द्वारा ग्रहणीरोग (ग्रहणीगद) के सामान्य व विशेष लक्षणों को बताया गया है, उसमें ग्रहणी [ग्रहणी आश्रित अग्नि=ग्रहणी (Duodenum) एवं छोटी आंत्र से स्रवित होने वाले पाचक रस] का कार्य ही (प्राकृत कार्य ही) बाधित होता है, जिसके कारण ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । ग्रहणी के दूषित होने एवं अदूषित होने के लक्षणों को-"अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः । सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति" [ग्रहणी-अपक्व अन्न को धारण करती है तथा पक्व अन्न को अपनी पार्श्व की दीवारों से त्यागती है । (Normally retains the undigested food and releases the digested stuff through the side of its lumen) यह ग्रहणी के सामान्य कर्म हैं । विकृत होने पर अत्यधिक मात्रा में भुक्त आम (अपक्व) मल का त्याग करने लगती है ।] के द्वारा बताया गया है । ग्रहणी द्वारा पक्व अन्न का त्याग किया जाना अग्निदुष्टि, (अग्नि की विकृति) व आमादि अजीर्ण (आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण एवं विष्टब्धाजीर्ण) का लक्षण नहीं है । इस प्रकार ग्रहणी शब्द से जो विशेष अभिधेय है ग्रहणी आश्रित दोषों से उत्पन्न ग्रहणीगद का ही यहाँ ग्रहण है । अतः 'अग्नि की दुष्टि का होना' यहाँ विशेष रूप से ग्रहणी रोग नहीं माना गया है। यद्यपि अतिसार में भी पक्वान्न मल का पुरुष त्याग करता है, फिर भी उसकी भिन्न संप्राप्ति (Pathogenesis) एवं चिकित्सा में भेद होने से इसे ग्रहणीदोष के अन्तर्गत नहीं रखा गया है । ॥३८-४१॥

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् । असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसंदुष्टभोजनात् ।।४२।।
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद्व्याधिकर्षणात् । देशकालर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ।।४३।।
दुष्यत्यग्निः, स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि । अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ।।४४।।

अजीर्ण के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Ajīrṇa)–भोजन न करने से, अजीर्ण भोजन, अति भोजन एवं विषम रूप में भोजन करने से, असात्म्य, गुरु, अतिशीत एवं दूषित भोजन करने से, वमन, विरेचन एवं स्नेहन कर्म के विभ्रम से, व्याधि के द्वारा दुर्बल हो जाने से, देश, काल व ऋतु की विषमता से अधारणीय वेगों के धारण करने से । इन हेतुओं के सेवन से जाठराग्नि दूषित हो जाती है । वह दूषित अग्नि लघु अन्न को भी नहीं पचा पाती । वह अपच्यमान अन्न शुक्तत्व को प्राप्त करता है । अर्थात् वह अपच्यमान अन्न अम्लरस युक्त हो जाता है तथा शरीर में विष जैसा हानिकारक प्रभाव दर्शाता है । ॥४२-४४॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-'अभोजनादित्यादि' के द्वारा यहाँ ग्रहणी आश्रित विकारों के हेत्वादि का अभिधान किया गया है। काल शब्द से यहाँ संवत्सरात्मक काल का ग्रहण किया गया है। देशवैषम्यं=देशव्यापद् (देश-स्थान की विकृति); इसका स्पष्टीकरण जनपदोद्ध्वंशनीय प्रकरण में विशेष रूप से किया जा चुका है। 'ऋतु' शब्द से शिशिरादि षड् ऋतुओं का ग्रहण किया गया है। 'कालवैषम्येण' अर्थात् काल की विषमता' से ही सभी ऋतुओं की वैषम्यता का भाव प्राप्त हो जाता है। अतः 'ऋतुर्वैषम्य' से विशेष रूप से एक ऋतु का विषम होना अर्थ गृहीत है। **शुक्तत्वमिति**-अपक्व अन्न का अम्लरस युक्त हो जाना। **विषरूपतामिति**-विष के सदृश होना, वह अम्ल रस युक्त (शुक्तत्व को प्राप्त) अपक्व अन्न शरीर में विष जैसा हानिकारक प्रभाव दर्शाता है। अर्थात् जिस प्रकार विष अनेक विकारों का उत्पादक होता है वैसा ही प्रभाव शुक्तत्व को प्राप्त अन्न का भी होता है। इस प्रकार इसी के अन्तर्गत सभी प्रकार के अजीर्णों का भी ग्रहण हो जाता है। तन्त्रान्तर में भी यही कहा गया है, यथा-"आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः" (सु.सू.अ. ४६) [सुश्रुत संहिता में वर्णित अजीर्ण के ४ भेदों-१. आमाजीर्ण-कफ की प्रधानता से, २. विदग्धाजीर्ण-पित्त की प्रधानता से, ३. विष्टब्धाजीर्ण-वात की प्रधानता से होता है। कुछ आचार्य चौथा अजीर्ण-रसशेषाजीर्ण को मानते हैं; का विवेचन है।] ॥४२-४४॥

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा। शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥४५॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम्। अरोचकोऽविपाकश्च, घोरमन्नविषं च तत् ॥४६॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्। जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥४७॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम्। करोति वातसंसृष्टं वातजांश्च गदान् बहून् ॥४८॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम्। रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥४९॥

अजीर्ण के सामान्य लक्षण (Signs and Symptoms of Ajirna in general)—उस अजीर्ण के अधोलिखित लक्षण हैं–

विष्टम्भ (मल का उदर में रुकना या मल का अवरुद्ध हो जाना-Obstruction of the urine and feces), सदन (शरीर का शिथिल होना), सिर में दर्द होना (Headache-शिरःशूल), मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (Giddiness), पीठ एवं कमर में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the back and Lumber region), जृम्भा (जम्भाई का आना-Yawning), अङ्गमर्द (सम्पूर्ण शरीर में दद्राने जैसी पीड़ा का होना Malaise), तृष्णा (प्यास का लगना Morbid thirst), ज्वर (Fever), वमन (Vomiting), प्रवाहण (कांख करके मल का निकलना अथवा मलोत्सर्ग करने में ऐंठन होने की क्रिया-Tenesmus), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion)।

जब वह आमविष (अपक्व अन्न से उत्पन्न होने वाला घोर आमविष) पित्त के साथ मिलता है तब उससे दाह (Burning sensation), तृष्णा (Morbid thirst), मुखगत रोग, अम्लपित्त (Hyper acidity) एवं अन्य पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं।

यदि वह आमविष कफ के साथ संयुक्त होता है तब यक्ष्मा (Tuberculosis), पीनस (Coryza), प्रमेह आदि कफज व्याधियों को उत्पन्न करता है, वात के साथ संसृष्ट (मिलने) होने पर अनेक वातज व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि यह आमविष मूत्रवहस्रोतस् में जाता है तब मूत्र रोगों, पुरीषगत होने पर उदर रोगों एवं रसादि धातुओं में पहुँचने पर रसादि धातुगत रोगों को उत्पन्न करता है। ॥४५-४९॥

चक्रपाणि-'तस्येत्यादि' के द्वारा सामान्य अजीर्ण के लक्षणों का अभिधान किया गया है। **विष्टम्भ इति**-महास्रोतस् में दोषों का गतिमान न होना, अर्थात् अपक्व अन्न का आमाशय में रुक जाना। **घोरमन्नविषं च तत् पित्तेन संसृज्यमानमित्यादिना पित्तादिदुष्टस्याजीर्णस्य लक्षणमाह**–वह घोर अन्नविष पित्त के साथ मिलकर पित्तज अजीर्ण के लक्षणों को उत्पन्न करता है। दाह, आदि के द्वारा पित्तादि संसर्गकृत लक्षणों को बताया गया है। यदि अजीर्ण के दोष कोष्ठ, में गमन करते हैं तो वे यक्ष्मा आदि विकारों को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। अर्थात् इनकी सामर्थ्य नहीं होती। 'अम्लपित्त' से यहाँ 'पित्त के अम्ल गुणों की वृद्धि का होना है' कहा गया है। तन्त्रान्तर में कहा भी गया है, यथा-**"अविपाकक्लमोत्क्लेदतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः। हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं विनिर्दिशेत्"** इति [अविपाक (आहार का न पच पाना-Indigestion), क्लम (Mental fatigue), उत्क्लेद का होना (शरीर का क्लेद युक्त होना-मुख से पानी का आना-Nausea), तिक्त एवं अम्लरस युक्त उद्गार का आना (Sour and bitter eructations), हृदय एवं कण्ठ प्रदेश में जलन का होना एवं अरुचि (Anorexia)-ये सभी लक्षण अम्लपित्त में पाये जाते हैं।]

यद्यपि यक्ष्मा त्रिदोषज होते हुए भी **स्रोतोऽवरोध** में कफ दोष की ही मुख्य भूमिका होती है, इस कारण इसे यहाँ कफज कहा गया है। [राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में **स्रोतोवरोध** एक मुख्य कारण है, यह स्रोतोवरोध कफ दोष के कारण उत्पन्न होता है। इस कारण यक्ष्मा त्रिदोषज होते हुए भी कफज व्याधि में पढ़ा गया है।] आमविष का संयोग किट्ट धातु (मूत्र एवं पुरीष) के साथ होता है तब अवशिष्ट अन्न के रस से उत्पन्न होने वाले रोग-मूत्रगत रोग एवं पुरीषगत रोग उत्पन्न होते हैं। इसे यहाँ 'मूत्ररोगांश्चेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'रसादिजान्' से यहाँ-रसादिगत दोषों से उत्पन्न व्याधियाँ यथा– अरुचि आदि का ग्रहण है, ऐसा जानना चाहिये। ॥४५-४९॥

Scanned by CamScanner

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् । तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः ।।५०।।

विषमाग्नि एवं तीक्ष्णाग्नि के कार्य–विषमाग्नि आहार का विषम रूप से पाक करते हुए धातुओं में वैषम्यता उत्पन्न करती है तथा तीक्ष्णाग्नि मन्द ईन्धन ग्रहण करने वाले (अल्प आहार ग्रहण करने वाले) पुरुषों की रसादि धातुओं को सूखा डालती है । ।।५०।।

चक्रपाणि–अजीर्ण के लक्षणों के अभिधान के बाद-'विषमेत्यादि' के द्वारा 'अग्निदोष' के लक्षणों को बताया गया है । 'तीक्ष्णमित्यादि' के द्वारा तीक्ष्णाग्नि के कार्य को विवेचित किया गया है । यहाँ मन्द ईन्धन का अभिप्राय आहार के अल्प प्रमाण में ग्रहण करने से है । यदि अग्नि तीक्ष्ण है एवं व्यक्ति तदनुसार आहार का सेवन कर रहा है तब उसके द्वारा धातुओं का पोषण उचित रूप में होगा, अन्यथा वह अग्नि आहार उचित रूप में न प्राप्त होने पर शरीरस्थ धातुओं का ही शोषण करती है । ।।५०।।

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।

समाग्नि के कार्य–**समाग्नि**-उचित मात्रा में ग्रहण किये गये आहार का पाचन कर धातुओं में समता (साम्यता) उत्पन्न करती है ।

चक्रपाणि–'युक्तमित्यादि' के द्वारा 'अग्नि' का प्रसङ्ग होने से समाग्नि के कार्यों को बताया गया है । युक्त इति=समः, सम प्रमाण (उचित मात्रा) में गृहीत आहार, अर्थात् समाग्नि उचित मात्रा में गृहीत आहार को पचाते हुए धातुओं को **सम स्थिति** में लाती है । यहाँ **सम** शब्द से समान वायु, जो अग्नि की सहायता करती है, का ग्रहण होता है ।

किंवा युक्तवायुतया धातुसाम्यं करोति-सम वायु के द्वारा प्रेरित अग्नि आहार का पाचन करते हुए धातु साम्यता उत्पन्न करती है । कफपित्त की साम्यता भी 'समाग्नि' के द्वारा ही उत्पन्न की जाती है । अर्थात् कफ पित्त भी सम स्थिति में तभी रहते हैं जब अग्नि अपना कार्य उचित रूप में करे । जहाँ-"समः समैः" (वा.सू.अ. १) के द्वारा दोषों के सम स्थिति में रहने पर ही अग्नि भी सम रहती है, कहा गया है । अर्थात् समाग्नि दोषसाम्य से ही उत्पन्न होती है ।

दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ।।५१।।
अथस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः । उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ।।५२।।
अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपदिश्यते । तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः ।।५३।।
शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः । लोहामगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ।।५४।।

मन्दाग्नि के कार्य–मन्दाग्नि, आहार का पाक न करते हुए अन्न में विदाह उत्पन्न करती है । इस विदाह युक्त अन्न को ऊर्ध्व या अधः मार्ग द्वारा बाहर निकालती है । अर्थात् भोजन का सम्यक् पाक न होकर उसमें विदाह हो जाता है जो वमन या विरेचन द्वारा बाहर निकलता है ।

'ग्रहणीगद' का स्वरूप–इस व्याधि में मन्दाग्नि द्वारा अन्न विदग्ध होकर पक्व या आम (कच्चा) अवस्था में गुदमार्ग से बाहर निकलता है । इसलिये इसे ग्रहणीगद (ग्रहणी रोग) कहते हैं । इस रोग में अन्न प्रायः विदग्ध होकर ही बाहर निकलता है ।

ग्रहणी गद (रोग) के लक्षण (Signs and Symptoms of Grahanī-Gada)–

→ आतुर कभी पतला (dilute) तथा कभी बँधा हुआ अथवा द्रव रूप, बार-बार अधिक मात्रा में मल त्याग करता है ।

→ रोगी तृष्णा (Morbid thirst), अरोचक (Anorexia), आस्यवैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना), प्रसेक (Excessive salivation) एवं तमक (आँखों के सामने अन्धकार छा जाना); लक्षण पाये जाते हैं ।

→ रोगी के हाथ एवं पैरों में शोथ रहता है, अस्थि एवं पर्वों में वेदना होती है । (Pain in the Bones and phalanges)

→ छर्दि (Vomiting), ज्वर (Fever) का होना ।

→ रोगी के मुख से लौह व आम गन्ध युक्त, तिक्त व अम्लरस युक्त उद्गार का निकलना । ।।५१-५४।।

चक्रपाणि–'दुर्बल इत्यादि' के द्वारा मन्दाग्नि व्यापार को बताया गया है । उक्त विकारों में प्रधान होने से ग्रहणी दोष जनित विकार (ग्रहणी रोग) का निर्धारण यहाँ **'अथस्त्वित्यादि'** के द्वारा किया गया है । अर्थात् यहाँ ग्रहणी रोग के स्वरूप का निर्धारण किया गया है ।

पक्वमामं वेति वा शब्दः समुच्चये–यहाँ 'वा' शब्द समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ग्रहणी रोग में गुदा से निकलने वाला पुरीष कुछ पक्व एवं कुछ अपक्व रहता है । अर्थात् रोगी अर्द्ध पक्व एवं अर्द्ध अपक्व मल का त्याग करता है । रोगी पक्वापक्व मल का त्याग क्यों करता है ? इसे यहाँ 'सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते' के द्वारा बताया गया है । मन्दाग्नि के कारण इसके अन्न का अधिकांश भाग विदग्ध हो जाता है । इस कारण वह पक्वापक्व [Partly pakva-Product of digested food and partly Apakva- Product of undigested food] मल का त्याग करता है ।

Scanned by CamScanner

अतिसृष्टमिति–त्याग करना। **तम एव तमकः**-तम ही तमक है। अर्थात् आँखों के सामने अन्धकार का छाना ॥५१-५४॥

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः। विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥५५॥

ग्रहणी गद (रोग) के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Grahaṇī-gada)–

१. प्यास का लगना (Morbid thirst)

२. आलस्य (काम करने की इच्छा का न होना-Feeling of laziness)

३. शारीरिक बल का क्षय होना (दिन-प्रतिदिन व्यक्ति का दुर्बल होना)

४. विदाह (शरीर में उष्णता का अनुभव होना)

५. आहार का पाचन देर से होना (delay in the digestion of food)

६. शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body)

चक्रपाणि–पूर्वरूपे विदाहोऽन्नस्येति-विदाह से यहाँ विशेष रूप से दाह का होना, अर्थ गृहीत है। अर्थात् भोजन करने पर **विशेष प्रकार का दाह** का होना, अर्थ लिया गया है। ॥५५॥

विशेष (Comments)–यहाँ 'विदाह' से अन्न का अर्द्ध पक्व होना, अर्थ ग्रहण किया गया है।

विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्–अन्न का विदग्ध होना अर्थात् अपक्व होना [कुछ पक्व एवं कुछ अपक्व (अर्द्ध पक्व) रह जाना] अथवा देर से पाक का होना, ग्रहणीरोग के पूर्वरूप में पाया जाता है। विदाह की यह स्थिति पाचक पित्त के द्रवांश की दुष्टि के कारण होती है। द्रवांश की दुष्टि का अभिप्राय-पित्त के सामान्य घटक अंशों में द्रवांश की वृद्धि का होना, से है। ऐसा होने पर पित्त तनु (dilute) हो जाता है एवं उसमें तैजस् भाव का सान्द्रण (Concentration) कम हो जाता है, परिणामतः पित्त अधिक स्रवित होने पर भी आहार का पाचन करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होता।

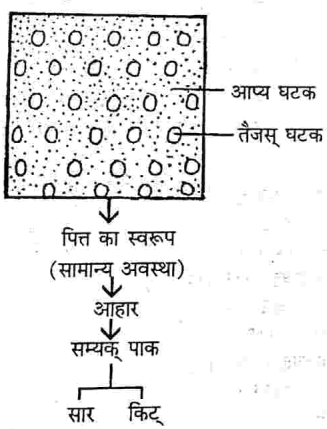

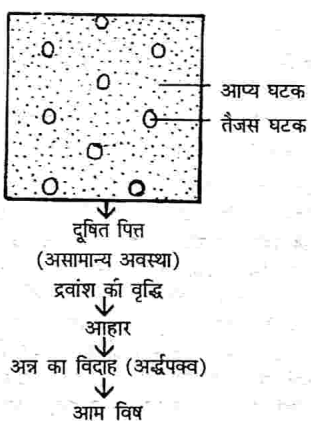

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता। नाभेरुपर्यग्न्यबलेनोपष्टब्धोपबृंहिता ॥५६॥
अपक्वं धारत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥५७॥

ग्रहणी के प्राकृत कर्म (Normal Functions of the Grahaṇī)–ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान है; अन्न का ग्रहण करने के कारण इसे ग्रहणी कहा जाता है। जो नाभि के ऊपरी भाग में स्थित, अग्नि के बल से अवलम्बित एवं उपबृंहित होती है। अर्थात् ग्रहणी नाभि के ऊपरी भाग में स्थित रहती है, अग्नि इसे धारण करती हैं एवं इसका पोषण भी अग्नि के द्वारा ही होता है। अविकृत (सामान्य अवस्था) होने पर यह अपक्व अन्न को धारण करती है तथा पक्व अन्न का पार्श्व की दीवारों से मुञ्चन (त्याग) करती है। जाठराग्नि (अग्नि) के दुर्बल होने पर ग्रहणी भी दूषित हो जाती है, तब यह आम अन्न का मुञ्चन (त्याग) करती है। अर्थात् गुद मार्ग से आम (पक्वापक्व) अन्न बाहर निकलने लगता है। ॥५६-५७॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–ग्रहणी रोग का आसानी से ज्ञान किया जा सके, इस हेतु यहाँ ग्रहणी के स्वरूप एवं प्राकृत कर्म का अभिधान-**अग्न्यधिष्ठानमित्यादि** के द्वारा किया गया है।

अग्न्यधिष्ठानम् अग्नेराश्रय इत्यर्थः–अग्नि अधिष्ठान=अग्नि का आश्रय, अग्नि का आश्रय ग्रहणी है [The organ Grahanī (the organ representing duodenum and small intestine) is the site of agni (digestive enzyme)], यहाँ ग्रहणी से Duodenum एवं छोटी आंत्र का ग्रहण है। पाचकाग्नि (अग्नि) इनकी दीवारों को आश्रित करके रहती है। 'अन्नस्येत्यादि' के द्वारा 'ग्रहणी नाम' के हेतु को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इसका ग्रहणी नाम क्यों दिया गया है ? यह बताया गया है।

ग्रहणादिति धारणात्, नाभेरुपर्यन्नस्य धारणादित्यर्थः–ग्रहण का अभिप्राय धारण करने से है, नाभि के ऊपरी भाग में स्थित **ग्रहणी** अन्न को धारण करती है, अपक्व अन्न (आहार) को पचाती है तथा पचे हुए अन्न को अपनी पार्श्व की दीवारों से आगे की ओर छोड़ती है।

किंवा नाभेरुपरि अग्नेरूर्ध्वज्वलनेन बलेनोपस्तम्भिता उपबृंहिता च सति अपक्वमन्नं धारयति–अथवा नाभि के ऊपरी भाग में स्थित अग्नि के ऊर्ध्व ज्वलन के बल से उपस्तंभित एवं उपबृंहित ग्रहणी अपक्व अन्न का धारण करती है एवं पक्व अन्न को अपनी वामपार्श्व की दीवारों से छोड़ती है, क्योंकि ग्रहणी एवं गुदा का आश्रय (स्थान) वामपार्श्व ही होता है। इसलिये उसके द्वारा 'वाम पार्श्व से पक्व अन्न का त्याग' कहना उचित है।

उपस्तंभिता इति अग्निना पित्तव्यापारकरणेन अनुकूलिता–अग्नि द्वारा पित्त की क्रिया के अनुकूल होना। अर्थात् ग्रहणी में अपक्व अन्न आते ही उस पर पित्त की क्रिया होती है। अतः **अपक्व अन्न** पर पित्त की क्रिया होने के लिए ग्रहणी उसे धारण किये रहती है।

उपबृंहितेति–अग्नि के द्वारा बृंहण व्यापार होने से वह शक्ति प्राप्त करती है। अथवा उपस्तंभन होने से उपबृंहित होती है। इस पक्ष में उपस्तम्भन (धारण करना या रोकना) सामान्य कर्म होने से उसे ग्रहणी कहा गया है।

ग्रहणी के प्राकृत कर्म के अभिधान के बाद अब-'दुर्बलेत्यादि' के द्वारा उसके विकृत कार्यों का विवेचन किया जा रहा है। दुर्बलाग्नि से ग्रहणी की दुर्बलता अथवा अग्नि का मन्द हो जाना, अर्थ गृहीत है।

किंवा दुर्बलमग्निबलं यस्याः सा दुर्बलाग्निबला–अथवा जिसका अग्निबल दुर्बल हो अथवा जिसके अग्नि एवं बल दुर्बल हों उसे 'दुर्बलाग्निबला' कहा गया है। **दुष्टा इति दोषदुष्टा**-दोषों के द्वारा दूषित होना, अर्थात् दोष दूषित होकर अग्नि को दूषित कर दे।

आमं विमुञ्चतीति–आम अन्न का मुञ्चन (त्याग) करती है । ग्रहणी आश्रित अग्नि जब दोषों के द्वारा दूषित हो जाती है तब वह अपक्व अन्न को ही छोड़ने लगती है। ग्रहणी रोग के पूर्वरूप में वर्णित 'पक्वमामं वा विमुञ्चति' के द्वारा विदग्धरूप आम को कहा गया है। यहाँ नियम पूर्वक आम के त्याग से इसका विरोध नहीं है। अर्थात् ग्रहणी रोग में रोगी नियमित 'आम' (अपक्व) अन्न का त्याग करता है, यह भी संभव है। ॥५६-५७॥

वातात् पित्तात् कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च। हेतुं लिङ्गं रूपभेदाञ् शृणु तस्य पृथक् पृथक् ॥५८॥
कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीतलभोजनैः। प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥५९॥
करोति कुपितो मन्दमग्निं संछाद्य मारुतः। तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥६०॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः। पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥६१॥
हृत्पीडा काश्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका। गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥६२॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च। स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥६३॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत्। पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥६४॥
कटूवजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम् ॥६५॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभ पीताभः सार्यते द्रवम्। पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥६६॥
गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्। भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥६७॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्दिरोचकाः। आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः ॥६८॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु। दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥६९॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम्। अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥७०॥
यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः। तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥७१॥
पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे। त्रिदोषं निर्दिशेत्तेषां भेषजं शृण्वतः परम् ॥७२॥

ग्रहणी रोग के भेद–ग्रहणी रोग ४ प्रकार का होता है। १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज व ४. सन्निपातज। उनके हेतु (Etiology) एवं लक्षण रूप भेदों का वर्णन अलग-अलग आगे किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

Scanned by CamScanner

१. वातज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Vātaja Grahaṇī)–

→ कटु, तिक्त व कषाय रस युक्त द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करने से ।
→ अतिरूक्ष, अतिशीत एवं नपा-तुला भोजन करने से ।
→ अत्यधिक पैदल चलने से तथा अधारणीय वेगों के धारण करने से ।
→ अत्यधिक मैथुन करने से ।

इन हेतुओं के सेवन से प्रकुपित हुई वायु अग्नि (जाठराग्नि) को आच्छादित (अवरुद्ध) कर, अग्नि को मन्द करके ग्रहणी रोग को उत्पन्न करती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

→ अन्न का पाचन कष्ट के साथ होना
→ अन्न का पाक शुक्त (अम्ल रस युक्त) हो जाता है । (Hyperacidity)
→ शरीर का रूक्ष होना अथवा अङ्गों में खरता का उत्पन्न होना (Roughness of the body)
→ कण्ठ एवं मुख का शुष्क होना (dryness of throat and mouth)
→ अत्यधिक भूख एवं प्यास का लगना ।
→ आँखों के सामने अंधकार छा जाना ।
→ शब्द न होते हुए भी कानों में आवाज का सुनाई देना ।
→ पार्श्व (Sides of the chest), ऊरु (Thighs), वंक्षण (Pelvic region) एवं ग्रीवा (Neck) में भयंकर पीड़ा का होना ।
→ विसूचिका (Choleric diarrhoea), हृद् पीड़ा (Cardiac pain), शरीर का कृश होना (Emaciation), दुर्बलता (Weakness), आस्य वैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना), परिकर्तिका (आमाशय या गुदा में कैंची से काटने जैसी वेदना का होना) ।
→ सभी रसों के सेवन की इच्छा का होना ।
→ मानसिक अवसाद (Mental frustration) का होना ।
→ भोजन के पच जाने पर अथवा पाचन काल में आध्मान का होना एवं भोजन करने के बाद स्वस्थता का अनुभव होना । अर्थात् आध्मान में आराम का मिलना ।
→ रोगी वातज गुल्म, हृद्रोग, प्लीहा रोग से आशंकित रहता है । अर्थात् वह समझता है कि उसे ये व्याधियाँ हो न गयी हों । अथवा इन व्याधियों के होने की उसे शंका बनी रहती है ।
→ ग्रहणी का रोगी देर में कष्ट के साथ द्रव युक्त, शुष्क, तनु आम युक्त, शब्द के साथ फेन युक्त मल का त्याग बार-बार करता है ।
→ रोगी कास व श्वास से पीड़ित रहता है ।
→ ये सभी लक्षण वातज ग्रहणी में पाये जाते हैं ।

२. पित्तज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण (Etiology; Signs and Symptoms of Pittaja Grahaṇī)–

कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल एवं क्षार युक्त भोजन के अत्यधिक सेवन करने से वृद्ध (बढ़ा हुआ) पित्त अग्नि को आप्लावित कर वैसे ही नष्ट कर देता है जैसे उष्ण जल का प्रयोग अग्नि पर करने से अग्नि बुझ जाती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

→ पित्तज ग्रहणी वाला रोगी अजीर्ण से पीड़ित रहता है ।
→ मल पतला, अपक्व पीतवर्ण अथवा नील-पीत वर्ण का होता है ।
→ रोगी का वर्ण पीत (Yellowish) हो जाता है ।
→ दुर्गन्धित खट्टी डकार का आना ।
→ हृदय एवं कण्ठ प्रदेश में जलन का होना ।
→ रोगी अरुचि (Anorexia) एवं तृड् (प्यास-Morbid thirst) से पीड़ित रहता है ।

३. कफज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Kaphaja Grahaṇī)–

→ अत्यधिक गुरु, अति स्निग्ध, अति शीत आदि आहार-विहार के सेवन से ।
→ भोजन न करने से ।

Scanned by CamScanner

→ अत्यधिक भोजन करने से ।
→ भोजन करने के बाद तत्काल शयन करने से ।

उपर्युक्त हेतुओं के द्वारा प्रकुपित कफ अग्नि को मन्द कर देता है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

→ आहार का पाचन कष्ट के साथ होना ।
→ हृल्लास (Nausea), छर्दि (Vomiting), अरुचि (Anorexia) ।
→ मुख में मल की प्रतीति का होना ।
→ मुख में मधुर रस की प्रतीति का होना ।
→ कास (Cough खाँसी), ष्ठीवन (मुख से थूक का निकलना- excessive salivation) एवं पीनस (Chronic rhinitis) का होना ।
→ हृदय का स्त्यान युक्त होना (Heaviness in the cardiac region) ।
→ उदर में जकड़हाट एवं भारीपन का होना (Stiffness and heaviness of the abdomen) ।
→ दूषित मधुर रस युक्त उद्‌गार (डकार) का आना ।
→ शरीर का अवसादित रहना (शरीर में थकावट का होना) ।
→ मैथुन के प्रति इच्छा का न होना (Suppression libido) ।
→ मल टूट-टूट कर टुकड़ों में आता है, जो आम, कफ युक्त एवं भारी होता है ।
→ रोगी कृश न होते हुए भी दुर्बल एवं आलस्य (काम करने की इच्छा न होना) युक्त होता है ।

ये सभी लक्षण कफज ग्रहणी में पाये जाते हैं ।

विकृत अग्नि ही ग्रहणी रोग का कारण है–पूर्व वर्णित रोगानीक अध्याय (वि.अ. ६) में जिन चार अग्नियों का उल्लेख किया गया है उनमे 'समाग्नि' को छोड़कर शेष ३ अग्नियाँ ग्रहणी गद (रोग) का हेतु (कारण) होती हैं ।

४. सन्निपातज ग्रहणी के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Sānnipātaja Graganī)–

इसमें तीनों दोषों के हेतु एवं लक्षण संयुक्त (मिश्रित) रूप में पाये जाते हैं, जिनका वर्णन अलग-अलग किया जा चुका है । अब आगे उनकी चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । हे अग्निवेश ! सुनो–॥५८-७२॥

चक्रपाणि–'वातादित्यादि' के द्वारा वात, पित्त, कफ एवं सन्निपात भेद से ग्रहणी रोग के प्रकारों एवं उनके हेतु व लक्षणों का पृथक्‌शः अभिधान किया गया है । **त्रिभ्य इति**-सन्निपात से । **रूपभेदानिति ग्रहणीदोषलिङ्गत्वेन वक्ष्यमाणान्**-रूपभेद का अभिप्राय वर्णित ग्रहणीरोग के लक्षणों से है । शुक्त (सिरके) की तरह अन्न का पाक होना । अर्थात् अन्न का अम्लरस युक्त हो जाना ।

गृद्धिः सर्वरसानामिति सप्तम्यर्थे षष्ठी–'सप्तमी' के अर्थ में भी षष्ठी का प्रयोग होता है । सभी रस वाले द्रव्यों के सेवन की इच्छा का होना (इस लक्षण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वातिक ग्रहणी में व्यक्ति की सभी शरीरस्थ धातुएं क्षीण हो जाती हैं । इसलिये उसमें सभी रसों के प्रति इच्छा होती है ।) 'जीर्णे जीर्यति' के साथ 'अन्ने' भी जुड़ा हुआ है; इस आधार पर यह वाक्य **'जीर्णे जीर्यति अन्ने'** बनता है । जिसका भाव-अन्न के जीर्ण हो जाने पर उदर में आध्मान (पेट का फूलना-Flatulence) का होना तथा भोजन करने के बाद आराम का मिलना, निकलता है ।

गुल्मादिशङ्कित्वं गुल्मादिसदृशपीडायुक्तत्वेन भवति–रोगी को गुल्म आदि व्याधियों में जैसी पीड़ा होती है वैसी पीड़ा का होना । इस कारण रोगी को यह शङ्का बनी रहती है कि कहीं उसे ये व्याधियाँ तो नहीं हो रही हैं ।

पैत्तिक ग्रहणी में पित्त की अग्नि से तुल्यता होने के कारण अग्नि की वृद्धि होनी चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता, क्योंकि पित्त के द्रवांश की दुष्टि (वृद्धि) होने से अग्नि हनन कार्य होता है । इससे यहाँ 'आप्लावयद्धन्त्यनलमिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । अर्थात् जिस प्रकार जलती हुई अग्नि गरम जल डालने पर बुझ जाती है, वैसे ही पित्त में द्रवांश की वृद्धि होने पर वह पाचन कार्य नहीं कर पाता ।

आप्लावनं द्रवेण आर्द्रीकरणम्-द्रव के द्वारा आर्द्रीकरण करना । अग्नि के बुझने में उष्ण द्रव का दृष्टान्त 'जल तप्तमित्यादि' के द्वारा दिया गया है । दौर्बल्यं=बल हानि ।

Scanned by CamScanner

यश्चाग्निरित्यादिश्लोक (श्लोक नं.७१) को कुछ आचार्य वैशेषिक ग्रहणी रोग के अतिरिक्त तीन विकृत अग्नियों (विषम, मन्द एवं तीक्ष्ण) से होने वाले ग्रहणी रोग को इसके अन्तर्गत निवेशित न करते हुए अनार्ष स्वीकार करते हैं। किन्तु 'तं चापि इति' पद के द्वारा अग्निमांद्य आदि द्वारा सामान्य ग्रहणी के सामान्य कार्यों में बाधा उत्पन्न होने से उत्पन्न ग्रहणी रोग से इसका कोई विरोध नहीं है।

सामान्य ग्रहणी रोग में भी अग्निमांद्य आदि होते ही हैं, ऐसा दर्शाया गया है। **समवर्जमिति**-सम प्रकृति युक्त पुरुष में विद्यमान अग्नि 'सम' होती है, उसे छोड़कर शेष विषमाग्नि, मन्दाग्नि एवं तीक्ष्णाग्नि के कारण ग्रहणी विकृत होती है। ॥५८-७२॥

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ॥७३॥
आमलिङ्गान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्। फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥७४॥
लीनं पक्वाशयस्थं वाऽऽप्यामं स्रावयं सदीपनैः। शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥७५॥
विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम्। दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ॥७६॥
ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम्। दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक् ॥७७॥
किंचित्सन्दुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम्। द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं निरूहयेत् ॥७८॥
तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा। सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥७९॥
शुद्धं रूक्षाशयं बद्धवर्चसं चानुवासयेत्। दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥८०॥
निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम्। लघ्वन्नं प्रतिसंभुक्तं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥८१॥

ग्रहणी गद (रोग) की चिकित्सा (Treatment of Grahaṇī)

आम ग्रहणी रोग के लक्षण एवं चिकित्सा–यदि दोष ग्रहणी के आश्रित हो एवं ग्रहणी आश्रित आहार विदग्ध (अपक्व) हो अर्थात् विदग्ध आहार के कारण ग्रहणी आश्रित दोष प्रकुपित होकर विष्टम्भ (Constipation), प्रसेक (मुख से पानी का आना Excessive salivation) उदर में वेदना का होना, विदाह, अरुचि (Anorexia), गौरव (शरीर में भारीपन का होना) आदि लक्षणों को उत्पन्न करें। तो उसे **आमज ग्रहणी** समझना चाहिये। ऐसी अवस्था में आतुर को उष्ण जल पिलाकर वमन कराना चाहिये। अथवा मदनफल कषाय (Decoction) में पिप्पली एवं सर्षप के कल्क को मिलाकर रोगी को पिलावें एवं वमन करावें। अर्थात् मदनफल क्वाथ+पिप्पली व सर्षप (कल्क) का प्रयोग वमनार्थ करें।

यदि दोष पक्वाशय में लीन हो अथवा स्थित हो तब उसे दीपन औषधियों के प्रयोग द्वारा पक्व बनावें अर्थात् उसका (आम) पाचन करें। पश्चात् विरेचक औषधियों द्वारा उसे बाहर निकालें। यदि आम रस का प्रसरण सम्पूर्ण शरीर में हो गया हो, उस अवस्था में लंघन एवं पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् सर्वशरीरगत आम के पाचनार्थ दीपन एवं लंघन कारक औषधियों की योजना करनी चाहिये।

विरेचन, वमन अथवा लंघन आदि उपक्रमों के प्रयोग से जब आमाशय शुद्ध हो जाय, तब आतुर को पञ्चकोलादि के क्वाथ से साधित पेया अथवा लघु अन्नों का प्रयोग करना चाहिए। पश्चात् दीपनीय औषधियों का प्रयोग करें। (इस प्रकार ग्रहणी आश्रित आम दोषों का पाचन हो जाता है।)

वातज ग्रहणी की चिकित्सा (Treatment of Vataja Grahaṇī)

१. **घृत का प्रयोग**–आम पाचन उपक्रमों के द्वारा आम का पाचन हो जाने पर भी यदि ग्रहणी में वात दोष की वृद्धि हो। अर्थात् वातज ग्रहणी रोग में पूर्व उपक्रम द्वारा आम का पाचन हो जाने पर वात की शान्ति हेतु गोघृत में दीपनीय द्रव्यों के चूर्ण को मिश्रित कर अथवा दीपनीय द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग (पान) अल्प मात्रा में करना चाहिये।

२. **निरूह बस्ति का प्रयोग**–घृत के पान से अग्नि के कुछ प्रदीप्त हो जाने पर मल (पुरीष), मूत्र एवं वायु का अवरोध होने लगे। अथवा जाठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर भी मल, मूत्र एवं वायु की प्रवृत्ति उचित रूप से न हो अथवा कुछ रुक-रुक कर होती हो, ऐसी अवस्था में दो-दो दिन अथवा तीन-तीन दिन पर अभ्यंग एवं स्वेदन कराकर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

३. **विरेचन का प्रयोग**–निरूह बस्ति के द्वारा पुरीषादि दोषों का निर्हरण हो जाने पर **एरण्ड तैल+क्षार** अथवा **तिल्वक घृत+क्षार** के द्वारा रोगी का विरेचन कराना चाहिये।

४. **अनुवासन बस्ति का प्रयोग**–निरूह वस्तियों अथवा विरेचन के प्रयोग द्वारा जब आशय (महास्रोतस) रूक्ष हो जाय तथा मलबद्धता उत्पन्न हो, ऐसी अवस्था में वातनाशक, दीपनीय एवं अम्ल रस युक्त द्रव्यों द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग मात्रापूर्वक करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार वातज ग्रहणी में निरूह बस्ति, विरेचन, अनुवासन बस्ति के प्रयोग के पश्चात् पञ्चकोल साधित पेया, विलेपी आदि लघु अन्नों का प्रयोग एवं घृत का प्रयोग बार-बार करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'ग्रहणीमाश्रितमिति' के द्वारा सामान्य वचन से ही वातादि तीनों दोषों का ग्रहण किया गया है ।

आमस्यापक्वस्य लिङ्गैरन्वितमिति–आम का अर्थ अपक्व अन्न के लक्षणों से है । यदि दोष ग्रहणी के आश्रित है तथा उसमें आम (अपक्व) के लक्षण पाये जाते हैं । **उद्धरेदिति वमेत्**-वमन कराना चाहिये । **फलानामिति**-मदनफल का, मदनफल के क्वाथ में पिप्पली एवं सर्षप का कल्क मिलाकर रोगी को वमनार्थ पीने के लिए देना चाहिये । **लीनमिति अनुत्क्लिष्टम्**-लीन का अभिप्राय दोषों के उत्क्लेश न होने से है । अर्थात् दोषों का उत्क्लेशित न होना है । उत्क्लेश=निकलने के लिए उद्यत होना (To expel) । अनुत्क्लेश=निकलने के लिए उद्यत न होना ।

पक्वाशयस्थमिति-अधोगतत्वेन पक्वाशयसमीपगतम्–अधोगत होने से दोष **पक्वाशयगत** न होकर पक्वाशय के समीप भाग में हो अर्थात् अधो आमाशय (क्षुद्रान्त) में हो तब उन्हें विरेचन द्वारा बाहर निकालना चाहिये । अथवा आम दोष क्षुद्रान्त के भाग में होने पर दीपनीय द्रव्यों के साथ विरेचन का प्रयोग करना चाहिए ।

सदीपनैरिति–दीपनीय द्रव्यों के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये । **शरीरानुगते इति**-सम्पूर्ण शरीर में फैल जाने पर । **सामे रसे इति**-अपक्व रस, आम से यहाँ **अपक्वरस रूप आम** का ग्रहण है । आहार रस का रस से संयुक्त होकर सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित होना अत्यन्त कठिनता से होता है, अर्थात् असम्भव है । लङ्घनम्=अनशन (Fasting), पाचन से यवागू आदि का ग्रहण किया गया है, अर्थात् दीपनीय द्रव्यों से साधित यवागू का ग्रहण करना चाहिए ।

विशुद्धामाशये इति–से यहाँ वमन, विरेचन, लंघन आदि का यथावश्यक प्रयोग करके आमाशय को शुद्ध करें, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । **दीपनीययुतमिति**–षड्विरेचनशताश्रितीय (सू.अ. ४) में वर्णित दीपनीय महाकषाय (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, अम्लवेतस, कालीमिर्च, अजमोदा, भल्लातक की गुठली एवं हींग) द्वारा साधित घृत का प्रयोग करना चाहिये ।

स्विन्नाभ्यक्तमिति–अभ्यङ्ग के पश्चात् स्वेदन करना, (अभ्यंग एवं स्वेदन करना स्विन्नाभ्यक्त' कहा गया है ।) अर्थात् बाह्य अभ्यंग के पश्चात् स्वेदन करावें । इसके बाद निरूह बस्ति का प्रयोग करें ।

स्रस्तदोषमिति निरूहेण स्रस्तदोषम्–निरूह बस्ति के प्रयोग द्वारा अवरुद्ध दोषों का निर्हरण करना चाहिए । अथवा एरण्ड तैल एवं तिल्वक घृत में यवक्षार मिलाकर विरेचनार्थ पीने के लिए देना चाहिए ॥७३-८१॥

विशेष (Comments)–'ग्रहणीमित्यादि' के द्वारा ग्रहणीरोग के आम युक्त होने पर कौन-कौन से लक्षण उत्पन्न होते हैं, बताया गया है । दोष के ग्रहणी में आश्रित होने पर (मन्दाग्नि के होने पर) यदि आहार विदग्ध (अपक्व) रह जाता है तब विष्टम्भ आदि लक्षण मिलते हैं, उस अवस्था में सुखोष्ण जल पिलाकर रोगी का वमन कराना चाहिए । अथवा मदनफल के क्वाथ (Decoction) में **पिप्पली** एवं **सरसो** का कल्क मिलाकर वमन करावें ।

- यदि आम दोष पक्वाशय (अधोआमाशय) में लीन हो उस अवस्था में पञ्चकोलादि चूर्ण के साथ विरेचन चूर्ण (निशोथ) आदि मिलाकर दोषों का निर्हरण करना चाहिये ।

- यदि आमरस सम्पूर्ण शरीर में फैल गया हो तब लङ्घन एवं पाचन कार्य करना चाहिए ।

'विशुद्धामाशयाय' से वमनादि के प्रयोग से सर्वप्रथम आमाशय को शुद्ध करना चाहिए, पश्चात् पञ्चकोल आदि दीपनीय द्रव्यों के क्वाथ से साधित **पेयादि** एवं लघु अन्नों का प्रयोग करना चाहिए ।

वातज ग्रहणी के रोगी में आम का पाचन हो जाने पर पिप्पल्यादि द्रव्यों (दीपनीय महाकषाय) से साधित घृत का प्रयोग थोड़ी-थोड़ी (अल्प) मात्रा में बार-बार करना चाहिये । दीपनीय घृत के प्रयोग से जाठराग्नि यदि थोड़ी प्रदीप्त हो जाय तथा रोगी के मल, मूत्रादि की प्रवृत्ति उचित रूप से न हो रही हो तो रोगी को दो-दो दिन या तीन-तीन दिन पर स्नेहन एवं स्वेदन कराकर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । निरूह बस्ति के प्रयोग के पश्चात् वात की शान्ति हो जाने पर एवं दोषों के अपने स्थान से च्युत हो जाने पर एरण्ड तैल में यवक्षार या तिल्वक घृत में यवक्षार मिलाकर विरेचन कराना चाहिये । इन उपक्रमों के प्रयोग से यदि आमाशय रूक्ष हो जाय, ऐसा जानकर रोगी को दीपनीय वातनाशक सिद्ध तैलों की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये ।

द्वे पञ्चमूले सरलं देवदारु सनागरम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥८२॥
शणबीजं यवान् कोलान् कुलत्थान् सुषवीं तथा । पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥८३॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत्तेन घृताढकम् । स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ दत्त्वा च युक्तितः ॥८४॥

Scanned by CamScanner

सैन्धवौद्भिदसामुद्रबिडानां रोमकस्य च । ससौवर्चलपाक्यानां भागाद्विपलिकान् पृथक् ।।८५।।
विनीय चूर्णितान् तस्मात् पाययेत् प्रसृतं बुधः । करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ।।८६।।
इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

दशमूलाद्य घृत–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–दोनों प्रकार के पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोखरू, बृहत् पञ्चमूल-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी) सरल (चीड़ Pinus longifolia), देवदारु (Cedrus deodara), नागर (शुण्ठी), पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, शणबीज (सन का बीज), यव, कोल (बेर), कुलत्थी एवं सुषवी (करेला-Momordia charantia); प्रत्येक द्रव्य को सम मात्रा में लेकर यवकुट कर लें । इसे आरनाल (कांजी), दही का पानी अथवा सौवीर (बेर का क्वाथ) के साथ पकावें, चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ को छान कर पृथक् कर लें ।

इस क्वाथ में १ आढक गोघृत सिद्ध करें । घृत सिद्ध हो जाने पर इसमें स्वर्जिकाक्षार (सज्जीक्षार) एवं यवक्षार उचित मात्रा में मिलावें तत्पश्चात् इसमें सैन्धव नमक, उद्भिद नमक, सामुद्र नमक, बिड् नमक, रोमक नमक, सौवर्चल नमक एवं पाक्य नमक, प्रत्येक २-२ पल मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें एवं इसे घृत में अच्छी प्रकार से मिला दें । अब इस घृत को एक घृत भावित पात्र में सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–यह घृत मात्रा पूर्वक सेवन करने पर अग्नि, बल व वर्ण को बढ़ाता है, वात का नाशक है एवं खाए हुए अन्न का समुचित पाचन करता है ।

चक्रपाणि–द्वे पञ्चमूले के साथ पठित सुषवी स्वरस से जलीय स्थानों में पायी जाने वाली सुषवी का ग्रहण है । [आचार्य डल्हण सुषवी से पानीयवल्ली का ग्रहण करते हैं, पानीय वल्ली का अभिप्राय जिसकी लता में जल रहता हो, से है ।]

आरनालादिक्वाथ्यं च मिलित्वा द्रोणं मानं ग्राह्यम्–आरनाल आदि द्रव्यों का संयुक्त मान १ द्रोण ग्रहण करें । इसमें दशमूल आदि द्रव्यों को पकाना चाहिये । चतुर्थांश शेष बचावें, इसमें एक आढ़क घृत (गोघृत) सिद्ध करें । इस घृत में युक्ति पूर्वक क्षार का प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् यवक्षार एवं सज्जीक्षार का प्रयोग यथावश्यक अल्प मात्रा में करना चाहिये । 'युक्तिः' से योग्य काल में क्षार को मिलाना चाहिये । योग्य काल का अभिप्राय घृत के अवतारण काल से लिया गया है । अर्थात् घृत को अग्नि पर से उतारने के बाद ही क्षार (यवक्षार व सज्जीक्षार) को मिलाना चाहिये । क्षार की कितनी मात्रा का प्रयोग करना चाहिए । आचार्यों के अनुसार यह मात्रा लवण के मान के अनुसार अर्थात् २-२ पल मात्रा में ग्रहण करें । आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा-**''दशमूलं पञ्चकोलं कुलत्थं सुरभिं यवम् । देवदारुं च सरलं शणबीजं च साधयेत् । दध्ना सौवीरकेणैव तेन पक्वे घृताढके । द्वौ क्षारौ सप्तलवणान्यावपेद् द्विपलानि तु''** [दशमूल, पञ्चकोल, कुलत्थी, सुरभि, यव, देवदारु, सरल, शणबीज; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर यवकुट कर लें । इसे दही एवं सौवीरक के साथ पकावें, चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । इस क्वाथ में १ आढ़क घृत सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत में- यवक्षार, सज्जीक्षार, सात प्रकार के लवण, प्रत्येक दो-दो पल मात्रा में प्रक्षेप के रूप में डालें ।] औद्भिदलवण=उत्कारिका लवण (An exudate from the saline soil-सैन्धव नमक) । **रोमकं रुमाहृदभवम्**=सांभर नमक (It is collected from the heart of the salt/lake called rumā) वर्तमान में यह नमक राजस्थान के सांभर नामक झील से प्राप्त होता है ।

पाक्यम् पाकजम्–जो नमक जल को पकाकर तैयार किया जाता है । (Obtained by cooking or evaporation-a kind of salt, पांशुज लवण) ।।८२-८६।।

जल्पकल्पतरु टीका–द्वे पञ्चमूल्यौ-दोनों प्रकार के पञ्चमूल-१. लघु पञ्चमूल एवं २. बृहत् पञ्चमूल, मिलाकर दशमूल हो जाता है । सुषवी=काला जीरा, यहाँ दशमूल आदि कुल २२ द्रव्यों को अलग-अलग बराबर-बराबर मात्रा में लेना चाहिये । इस क्वाथ्य द्रव्य को आरनाल (कांजी) अथवा दधि का पानी- ४ द्रोण, अथवा सौवीरक- ४ द्रोण डालकर पाक करें, चतुर्थांश अवशेष रखें । १ द्रोण क्वाथ में १ आढ़क (१६ शराव) गोघृत सिद्ध करें । घृत के सम्यक् सिद्ध होने पर उसे स्वच्छ वस्त्र से छानकर एक साफ-सुथरे कांच के पात्र में सुरक्षित रखें । उसमें स्वर्जिका क्षार, यवक्षार युक्ति पूर्वक २-२ पल से कुछ अल्प मात्रा में तथा सैन्धवादि लवण अलग-अलग २-२ पल मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें एवं घृत में मिला दें । पाक्य से यहाँ पांशुज लवण का ग्रहण किया गया है । मात्रा-इस घृत की मात्रा १ प्रसृत (८ तोला) ग्रहण करनी चाहिए ।

त्र्यूषणत्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात् पले । सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत् ।।८७।।
इति त्र्यूषणाद्यं घृतम् ।

त्र्यूषणाद्य घृत–सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा एवं आँवला; सभी द्रव्य मिलित रूप में १ पल (४ तोले) ग्रहण करें, इसे सील पर महीन पीस कर कल्क (Paste) बना लें, अर्थात् कल्क-१ पल, गुड़- १ पल, गोघृत- ८ पल, लेकर विधि पूर्वक घृत सिद्ध करें ।

Scanned by CamScanner

इस सिद्ध घृत का सेवन उचित मात्रा में मन्दाग्नि वाले पुरुषों को करना चाहिये ।

चक्रपाणि-बिल्व मात्रे इति-कल्क की मात्रा- १ पल (संयुक्त) ग्रहण करनी चाहिये । यहाँ घृत ८ पल लेकर कल्क एवं चतुर्गुण जल के साथ पाक करना चाहिये । महर्षि के वचन के अनुसार यह घृत अत्यन्त लाभदायक होता है । ।।८७।।

विशेष (Comments)–'त्र्यूषणेत्यादि' के द्वारा त्र्यूषणाद्य घृत का अभिधान किया गया है । घृत का निर्माण इस प्रकार करना चाहिये-

कल्क–सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला (मिश्रित मात्रा)- १ पल (४ तोला)

गुड़– १ पल, गोघृत- ८ पल, क्वाथ- ३२ पल (जल) । निर्दिष्ट द्रव्यों को निर्धारित मान में लेकर विधिपूर्वक गोघृत सिद्ध करें।

पञ्चमूलाभयाव्योषपिप्पलीमूलसैन्धवैः । रास्नाक्षारद्वयाजाजीविडङ्गशटिभिर्घृतम् ।।८८।।
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च । शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च ।।८९।।
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः । काञ्जिकेन च तत् पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ।।९०।।
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् । सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद्घृतम् ।।९१।।
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च तैलमेतैः प्रयोजयेत् । एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ।।९२।।
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते । दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ।।९३।।
इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च ।

पञ्चमूलाद्यघृत एवं चूर्ण

पञ्चमूलाद्य घृत-कल्क द्रव्य-बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी), हरड़, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली. पिप्पलीमूल, सैन्धव, रास्ना, यवक्षार, सर्ज्जी क्षार, अजाजी (जीरा), विडंग (वायविडंग), कचूर (शटी); प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें ।

क्वाथ द्रव्य अथवा द्रव पदार्थ-शुक्त, बिजौरे नींबू का स्वरस, आर्द्रक स्वरस, शुष्क मूली का स्वरस (क्वाथ), कोल (बेर) का क्वाथ, इमली का स्वरस, दाडिम का स्वरस, तक्र, दही का पानी, सुरामण्ड, सौवीर (तुष रहित यव से निर्मित मद्य), तुषोदक (तुष युक्त यव से निर्मित मद्य एवं काञ्जी) ।

गोघृत, कल्क एवं द्रव पदार्थों द्वारा विधि पूर्वक घृत सिद्ध करें । यह घृत अत्यन्त श्रेष्ठ अग्निदीपक होता है ।

उपयोग-यह घृत शूल, गुल्म, उदररोग, श्वास रोग, कास एवं वात-कफज विकारों को दूर करता है । अथवा घृत-१ भाग, बिजौरा नींबू का स्वरस ४ भाग, इन्हें पकाकर घृत को सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग पानार्थ करना चाहिये । इन्हीं द्रव्यों के कल्क व द्रव पदार्थों में तैल को सिद्ध करें एवं इसका प्रयोग अभ्यंग हेतु करें ।

इन्हीं पञ्चमूल आदि द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें एवं इसका प्रयोग उष्ण जल के साथ करें । इन योगों (पञ्चमूलाद्य घृत, पञ्चमूलाद्य तैल, पञ्चमूलादि चूर्ण) के प्रयोग से वात एवं कफ से आवृत ग्रहणी विकार, आम कफ की वृद्धि व वायु प्रकोप प्रशमित हो जाता है । पाचनार्थ विशेष रूप से इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए । अग्नि के दीपनार्थ इस चूर्ण का प्रयोग करें, क्योंकि यह चूर्ण श्रेष्ठ दीपन का कार्य करता है

चक्रपाणि-पञ्चमूलाद्य घृत में प्रयुक्त होने वाले शुक्त आदि १३ द्रव पदार्थों का मान अलग-अलग घृत के मान के बराबर होना चाहिये । अर्थात् घृत- १ भाग, द्रव पदार्थ संयुक्त रूप में १३ भाग ग्रहण करें । 'सबीजपूरकरसमिति' से यहाँ पञ्चमूलादि द्रव्यों के कल्क एवं द्रव पदार्थ के रूप में बिजौरा नींबू का रस- ४ भाग, घृत- १ भाग को मिलाकर घृत सिद्ध करें । अथवा पूर्व घृत में बिजौरा नींबू का स्वरस मिलाकर पीना चाहिये । पञ्चमूलादि तैल का निर्माण कल्क (पञ्चमूलादि द्रव्यों)-१/४ भाग, तैल- १ भाग व द्रव पदार्थ अलग-अलग तैल की मात्रा के बराबर लें । इस प्रकार विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें । इस सिद्ध तैल का प्रयोग अभ्यङ्ग हेतु करना चाहिये । इसी प्रकार इन्हीं पञ्चमूल आदि कल्क द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करना चाहिये । यह चूर्ण किन-किन व्याधियों में उपयोगी है, इसे यहाँ 'वाते इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । इस चूर्ण का प्रयोग वात कफ से आवृत ग्रहणी रोग अथवा आमज ग्रहणी रोग में करना चाहिये, कुछ आचार्य 'आमे पुरीषे' (आम पुरीष) की अवस्था में इसके प्रयोग का निर्देश करते हैं । आम के अनेक भेद बताये गये हैं, कहा भी गया है, यथा-"आममन्नरसं केचिद् केचित्तु मलसंचयम् । प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते" इति [कुछ लोग **आम अन्न रस** को आम कहते हैं (Digestive product of food which is called Āma) तथा कुछ लोग मलों के संचय [Accumulated waste product (during the process of digestion and metabolism)] को आम कहते हैं । कुछ लोग रसधातु की प्रथम दुष्टि को आम कहते हैं । आचार्य भोज ने आम की परिभाषा इस प्रकार दी है, यथा-"**आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः । आद्य आहारधातुर्यः स आम इति**

Scanned by CamScanner

संज्ञितः'' इति (जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण आमाशय में विद्यमान अपक्व अन्न के परिपाक अथवा अन्न के सम्यक् परिपाक न होने से उत्पन्न आद्य आहार धातु (आहाररस) को **आम रस** कहते हैं ।]

ईश्वरसेन का मत इस प्रकार है, यथा-''एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ्नः जीर्यति । चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात्'' इत्यादि [व्यक्ति द्वारा भोजन के रूप में गृहीत अधिक मात्रा में अन्न आमाशय में पहुँचकर जब उचित रूप में पाक को नहीं प्राप्त होता है तथा वह अपक्व अन्न आमाशय में संचित होता रहता है । बाद के काल में उसी को आम कहा जाता है ।]

इस प्रकरण में भी आचार्यों के वचनों के आधार पर सही अर्थ ग्रहण करना चाहिये । ॥८१-९३॥

मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनाऽतिद्रवसङ्घातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ।।९४।।
परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणम् । विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ।।९५।।

साम एवं निराम (पक्व) पुरीष के लक्षण-आम पुरीष (मल Stool) भारी होने के कारण पानी में डालने पर नीचे बैठ (डूब) जाता है तथा पक्व (निराम) जल के ऊपर तैरता रहता है ।

यह स्थिति उन मलों में नहीं होती जो अधिक द्रव युक्त, अत्यधिक गाढ़ा, अत्यधिक शीत तथा अत्यधिक कफ से दूषित होता है । अर्थात् इस प्रकार के मल पक्व होने पर भी जल में डूब जाते हैं, यथा-संघात् युक्त पुरीष (गाढ़ा) तथा अपक्व होते हुए भी जल में तैरते रहते हैं, यथा-द्रव युक्त पुरीष ।

अतः सर्वप्रथम मल की सामता एवं निरामता की परीक्षा करें । मल के आम युक्त होने पर विधिपूर्वक आम पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा उसे पक्व (निराम) करें । यदि मल निराम है तब संशमन औषधियों का प्रयोग करें ।

चक्रपाणि-आम एवं निराम ग्रहणी गद (रोग) के ज्ञानार्थ यहाँ साम व निराम पुरीष के लक्षणों का अभिधान-''मज्जतीत्यादि'' के द्वारा किया गया है । आमेति=आम का आश्रय (अपक्व पुरीष) । **गुरुत्वादिति**- आम (अपक्व) पुरीष भारी होने से । 'पक्व' से यहाँ निराम अर्थ लिया गया है ।

'परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं वा' इति के द्वारा आम एवं पक्व के लक्षणों का उपसंहार किया गया है । 'विनाऽतिद्रवेत्यादि' के द्वारा आम-पक्व पुरीष के लक्षणों के अपवाद को बताया गया है ।

सामान्य लक्षण-आम पुरीष (अपक्व मल) जल में डालने पर डूब जाता है एवं पक्व मल जल के ऊपर तैरता रहता है ।

अपवाद-निम्न लिखित स्थितियों में अपक्व मल तैरता है एवं पक्व मल जल में डूब जाता है-

- अत्यधिक द्रव युक्त आम मल जल में तैरता है ।
- अत्यधिक बँधा हुआ पक्व मल भी जल में डूब जाता है ।
- अत्यधिक शीत एवं कफ युक्त पक्व मल भी अत्यधिक गुरु होने के कारण जल में डूब जाता है ।

ननु सविष्टम्भप्रसेकार्तीत्यादिनैव सामस्योक्तत्वात् किमनेन सामता लक्षणेन पुनरुक्तेन ?-'सविष्टम्भप्रसेकादि' (श्लोक नं. ७३) के द्वारा ही साम ग्रहणी के लक्षणों का कथन कर दिया गया है, फिर भी साम के लक्षणों का यहाँ अभिधान क्यों किया गया है ? यह शंका है । वात कफ के अधिकार से ऐसा किया गया है । यहाँ विशेष रूप से आम पुरीष के ज्ञान हेतु यह सूत्र (श्लोक नं. ९४) कहा गया है । आम रोगी में निराम की परीक्षा कैसे सम्भव है, जब तक निरामता नहीं है तभी तक तो आम दोषता है । अर्थात् जब तक व्यक्ति निराम नहीं होता तभी तक उसे आम रोगी कहा जाता है, यह शङ्का है ? ऐसा नहीं है, आम दोष शब्द से यहाँ ग्रहणी रोग का ग्रहण किया गया है । अर्थात् ग्रहणी रोग में सर्वप्रथम आम एवं पक्व मल की परीक्षा करनी चाहिये । यदि आम के लक्षण मिलते हैं तो उसे आम पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा निराम करना चाहिये । निराम हो जाने पर दोष शामक उपचार करना चाहिये ।

इतरेणेति-ग्रहणीरोग शामक उपचार करना चाहिये । अर्थात् शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । ॥९४-९५॥

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च । व्योषं हिङ्गवजमोदां च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ।।९६।।
गुटिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा । कृता विपाचयत्यामं दीपयत्याशु चानलम् ।।९७।।
इति चित्रकाद्या गुटिका ।

चित्रकाद्य गुटिका-चित्रक, पिप्पलीमूल, दो प्रकार के क्षार-यवक्षार, सज्जीक्षार, पाँच प्रकार के नमक-सोंचर, सैन्धव, विड्, सामुद्र एवं औद्भिक नमक, सौंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग, अजमोदा एवं चव्य ।

सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण में बिजौरा नीबू का स्वरस अथवा दाडिम स्वरस की भावना देकर (६-६ रत्ती की) वटिका बनाकर छाया शुष्क करके सुरक्षित रख लें ।

Scanned by CamScanner

यह वटी सेवन करने पर आम का पाचन करती है एवं जाठराग्नि को शीघ्र ही दीप्त करती है ।

चक्रपाणि–चित्रक से प्रारम्भ करके 'लवणानि च' से यहाँ कपिञ्जलाधिकरण न्याय के अनुसार 'लवणानि' से त्रय लवण के प्रयोग की कुछ लोग इच्छा करते हैं, यह न्याय अनियत (अनिश्चय- not fixed) अर्थ में लागू होता है । इस प्रसंग में लवणों में प्रधान होने से तथा दीर्घञ्जीवितीय अध्याय में निर्दिष्ट होने से 'पञ्च लवण' का ही ग्रहण किया गया है । ॥९६-९७॥

विशेष (Comments)–चित्रकाद्य गुटिका (वटी) एक पाचन योग है । चित्रकमूल से लेकर चव्य तक के द्रव्यों को अलग-अलग बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को मातुलुंग स्वरस अथवा दाडिम स्वरस के साथ मर्दन कर वटिका बना लें तथा छाया में सुखाकर सुरक्षित कर लें ।

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः । मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा ॥९८॥
देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः । वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत् ॥९९॥
वर्चस्यामे सशूले च पिबेद्वा दाडिमाम्बुना । विडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥१००॥
सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत् । कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥१०१॥
छर्दार्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा । पथ्यासौवर्चलाजाजीचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥१०२॥
अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम् । पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥१०३॥
पिबेन्निष्काथ्य चूर्णं वा कृत्वा कोष्णेन वारिणा । पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥१०४॥
सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गु च । निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥१०५॥
पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम् । चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥१०६॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः । पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ॥१०७॥
मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक् । पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलार्धिकम् ॥१०८॥
सौवर्चलं विडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः । शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिका ॥१०९॥
तत् सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् । हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥११०॥

इति मरिचाद्यं चूर्णम् ।

आम पाचन योग–१. नागर (शुण्ठी अथवा सोंठ), अतिविषा (अतीस) एवं मुस्तक; इनका क्वाथ (Decoction)

२. नागर, अतिविषा एवं मुस्तक; का कल्क (Paste)

३. पथ्या (हरीतकी) चूर्ण

४. नागरं (शुण्ठी=सोंठ) चूर्ण

इन योगों का प्रयोग उष्ण जल से करने पर आमदोष का पाचन होता है ।

→ देवदारु, वचा, मुस्तक, नागर (सोंठ), अतिविषा (अतीस) एवं अभया (हरड़); प्रत्येक द्रव्य को सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को वारुणी अथवा उष्ण जल में डालकर, अल्प मात्रा में सैन्धव लवण मिश्रित कर रोगी को पीने के लिए दें । अथवा बिल्व, चित्रकमूल एवं शुण्ठी (सोंठ) के सम भाग से निर्मित चूर्ण में विड् लवण द्वारा रुचिकर बनाकर अनार के रस के साथ देना चाहिए। यह योग **मल के साथ आम युक्त शूल** में लाभदायक है ।

→ ग्रहणी रोग से पीड़ित व्यक्ति का मल आम (Mucus) युक्त हो, अथवा वात कफ की अधिकता हो अथवा कोष्ठ में शूल होता हो तो उसे कलिङ्ग (इन्द्रयव), हिंगु (हींग), अतिविषा (अतीस), वचा (मीठा वच), सौवर्चल लवण एवं अभया (हरड़) के सम भाग निर्मित चूर्ण का सेवन उष्ण जल अथवा तक्र के साथ करना चाहिये ।

→ यदि रोगी (ग्रहणी रोगी) छर्दि (Vomiting), अर्श (Piles), ग्रन्थि एवं शूल रोग से पीड़ित हो तब उसे पथ्या (हरड़), सौवर्चल लवण, अजाजी (जीरा) एवं काली मिर्च के सम भाग द्वारा निर्मित चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करना चाहिए ।

→ अभया (हरड़), पिप्पलीमूल, मीठा वच, कटुक रोहिणी (कुटकी), पाठा, वत्सकबीज (इन्द्रयव), चित्रकमूल एवं विश्वभेषज (सोंठ); प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा में लेकर चूर्ण अथवा क्वाथ बनावें । इस योग का प्रयोग उष्ण जल के साथ करें । (क्वाथ का प्रयोग गरम-गरम करें) इसके प्रयोग से कफ पित्त जन्य ग्रहणी में उत्पन्न शूल शीघ्र ही दूर हो जाता है ।

→ यदि कफपित्तजन्य ग्रहणी से आने वाला पुरीष अपक्व (आम युक्त) हो तब उसे अतिविषा (अतीस), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च व पिप्पली के क्वाथ में सैन्धव लवण, यवक्षार एवं घृत में भुनी हुई हींग मिलाकर पिलाना चाहिये अथवा इन्हीं द्रव्यों से निर्मित चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

→ पिप्पली, नागर (सोंठ), पाठा, सरिवा, बृहतीद्वय-कण्टकारी,वनभण्टा, चित्रकमूल, कुटज बीज (इन्द्रयव), पञ्च लवण (सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण, विड् लवण, सामुद्र लवण, औद्भिद लवण) एवं यवक्षार; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग जाठराग्नि की वृद्धि हेतु एवं कोष्ठगत वायु को दूर करने के लिए दधि, उष्ण जल अथवा सुरा (मदिरा) के साथ करना चाहिए। मात्रा- ३-६ ग्राम -पिप्पल्यादि चूर्ण।

मरिचाद्य चूर्ण– कालीमिर्च, कुञ्चिका (मगरैला=कलौंजी Nigella sativa), अम्बष्ठा (पाठा), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक); प्रत्येक द्रव्य १-१ कुडव, अम्लवेतस- १० पल, सौवर्चल नमक, विड् नमक, पाक्य नमक (रेह का नमक), यवक्षार, सैन्धव नमक, शटी (कचूर), पुष्करमूल, हिङ्गु (हींग), हिङ्गु शिवाटिका (वंशपत्री)- १/२-१/२ पल (प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ पल मात्रा में लें); सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर सूक्ष्म चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग वातज ग्रहणी तथा अरुचि (Anorexia) में ३-६ ग्राम की मात्रा में उष्ण जल के साथ करना चाहिये। ॥९८-११०॥

चक्रपाणि–मुस्तान्तकल्क इति-ब्राद में वर्णित नागरादि कल्क का यहाँ ग्रहण है, यद्यपि यहाँ बाद में इस नाम से किसी भी योग का उल्लेख नहीं है। अतः यहाँ श्लोक नं. ९८ में वर्णित नागर, अतिविषा व मुस्तक के चूर्ण का ग्रहण करना चाहिए।

अर्शोग्रन्थिः अर्शोऽनुग्रथितवर्चस्त्वम्–अर्श के कारण पुरीष का अनुग्रथित होना (Stool becoming hard and knotty because of piles).

मरिचसंयुतमिति–मरिच तक के द्रव्यों का चूर्ण बनाकर प्रयोग करना। अर्थात् पथ्या (हरड़), सौवर्चल लवण, अजाजी एवं कालीमिर्च; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें एवं इस चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करें।

सामे दोषे सति–आम दोष की अवस्था में पिप्पलीमूलादि के क्वाथ में अतिविषादि के चूर्ण को डालकर पीयें, यह अभिप्राय है, अर्थात् ग्रहणी रोग में आम के लक्षण-विष्टम्भ, अरुचि, गौरव आदि के मिलने पर पिप्पलीमूलादि के क्वाथ में अतिविषादि के चूर्ण को प्रक्षिप्त कर पीना चाहिये। **श्लोक नं. १०७** में वर्णित 'सुरादिभिः' से यहाँ 'आदि' शब्द का अर्थ काञ्जी, सौवीर आदि से है। अर्थात् इनका भी प्रयोग अनुपान के रूप में करना चाहिये। ॥९८-११०॥

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणस्य पलत्रयम्। लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम्।
संचूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत् ॥१११॥
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत्।

अम्ल द्रव्यों का प्रयोग–चारो अम्ल द्रव्य मिश्रित रूप से- १ प्रस्थ, त्र्यूषण- ३ पल (सोंठ- १ पल, कालीमिर्च- १ पल, पिप्पली- १ पल), पञ्च लवण- ४ पल (सैन्धवनमक, सौवर्चलनमक, विड्नमक, सामुद्रनमक एवं औद्भिद लवण), शर्करा- ८ पल। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें।

इस चूर्ण का प्रयोग शाक, दाल, अन्न, राग आदि के साथ कास (Cough), अजीर्ण (Indigestion), अरुचि (Anorexia), श्वास (Asthma), हृद्रोग (Heart disease), पाण्डु (Anaemia), एवं शूल (Colic pain) के विनाशार्थ करना चाहिए।

चक्रपाणि–'चतुर्णां प्रस्थमम्लानामिति' से यहाँ हृद्य वर्ग में पठित चार अम्ल द्रव्य, जो पहले पढ़े गये हैं, का ग्रहण किया गया है, यथा-वृक्षाम्ल, अम्लवेतस, दाडिम एवं बदर। अन्य आचार्य चव्य, त्वग् आदि के प्रयोग में वर्णित-कपित्थ, चुक्रिका (तीनपतिया), वृक्षाम्ल, एवं दाडिम का ग्रहण करते हैं। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा-"वृक्षाम्लमातुलुङ्गाम्लबदराम्लाम्लवेतसैः। चतुरम्लमिदं प्रोक्तं पञ्चाम्लं तु सदाडिमम्" इति [वृक्षाम्ल, मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू), अम्ल बदर एवं अम्लवेतस; चतुरम्ल कहे गये हैं तथा दाडिम को लेकर (जोड़कर) पञ्चाम्ल कहे गये हैं।]

त्र्यूषणाच्च पलत्रयमिति–त्र्यूषण मिश्रित रूप से तीन पल मात्रा में ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् शुण्ठी (सोंठ) १ पल, कालीमिर्च- १ पल एवं पिप्पली- १ पल ग्रहण करें।

रागः कपित्थादिद्रव्यकृतो व्यञ्जनविशेषः–कपित्थ आदि द्रव्यों से निर्मित होने वाला एक विशेष प्रकार का व्यञ्जन 'राग' कहलाता है। ॥१११॥

विशेष (Comments)– राग का निर्माण शर्करा (Sugar), रुचक, सैन्धवलवण, वृक्षाम्ल (Garcinia indica अंग्रेजी नाम Kokam butter tree), परुषक (फालसा) एवं जम्बुफल (जामुन) के रस में राजिका (राई) मिलाकर किया जाता है।

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान् ॥११२॥
कपित्थं बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम्। शिलोद्भेदं तथाऽजाजीं पिष्ट्वा बदरसंमितम् ॥११३॥

Scanned by CamScanner

परिभृज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक् । रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ।।११४।।
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी । पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ।।११५।।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः । क्रव्यादस्वरसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ।।११६।।
तक्रारनालमद्यानि पानायारिष्ट एव च ।

ग्रहणी नाशक यवागू–१. चव्य (चाभ), त्वक् (दालचीनी), पिप्पलीमूल, धातकी पुष्प, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रकमूल, कपित्थ, (कैथ की गुद्दी), बिल्व, अम्बष्ठा (पाठा), शाल्मली निर्यास (मोचरस), हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), शिलोद्भेद (पाषाणभेद) एवं अजाजी (जीरक या जीरा); प्रत्येक द्रव्य बदर (कोल=आधा कर्ष) मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर कल्क बना लें। अब कल्क, गोघृत, दधि के साथ यवागू को सिद्ध करें। अथवा चव्यादि द्रव्यों के कल्क को घृत में भून कर कपित्थ (कैथ) के रस अथवा चुक्रिका (चाङ्गेरी) स्वरस अथवा वृक्षाम्ल स्वरस अथवा दाडिम स्वरस के साथ यवागू को सिद्ध करें।

यह यवागू सभी प्रकार के अतिसार (diarrhoea), ग्रहणी (Sprue Syndrome), गुल्म, अर्श (Piles) एवं प्लीहा रोग को दूर करती है।

→ पञ्चकोल के कल्क अथवा क्वाथ से साधित मुद्ग आदि के यूष में कालीमिर्च मिलाकर प्रयोग करें या शुष्क मूली के कल्क अथवा क्वाथ से साधित मुद्गादि के यूष में काली मिर्च मिलाकर प्रयोग करें।

→ जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस को दीपन औषधियों से साधित कर उसमें खट्टे दाडिम स्वरस अथवा अम्ल तक्र व घृत मिलाकर प्रयोग करें।

→ क्रव्याद (कच्चे मांस खाने वाले पशु-पक्षियों) के मांसरस को दीपन द्रव्यों से संस्कारित कर भोजन के रूप में प्रयोग करना चाहिये।

अनुपान या पान के रूप में तक्र, आरनाल (काञ्जी), मदिरा (मद्य) एवं अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणि–शाल्मलं शाल्मलीवेष्टकम्-सेमल की गोंद या निर्यास (मोचरस)। शिलोद्भवं शैलजम्=पाषाणभेद। चुक्रिका से चाङ्गेरी अर्थ ग्रहण किया गया है। **सोषण इति**=ऊषण से काली मिर्च अर्थ गृहीत है। ॥११२-११६॥

विशेष (Comments)–अम्बष्ठकी=पाठा। **बिल्वशलाटु**=अपक्व बिल्व (कच्चे बेल की गुद्दी)। शाल्मलं= शाल्मलीवेष्टम् (शाल्मली निर्यास=मोचरस)। शिलोद्भेदं=शालिञ्च। सभी औषधियों को अर्ध कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बनावें, इसे १४ गुने, ६ गुने या ४ गुने जल में साधित अल्प चावल के तण्डुल से निर्मित मण्ड, पेया या विलेपी जो घृत से मिश्रित हो, में मिलावें तथा प्रयोग करें। अर्थात् पञ्चकोल आदि द्रव्यों के क्वाथ से साधित मण्ड, पेया या विलेपी को घृत से छौंक कर उसमें इन चूर्णों को मिलाकर प्रयोग करें। मण्ड का निर्माण- १ भाग तण्डुल, १४ भाग जल से करें, पेया को ६ गुने जल एवं विलेपी ४ गुने जल में तैयार करें। इसी प्रकार कैथ के रस, चुक्रीका स्वरस (अम्ल चाङ्गेरी), वृक्षाम्ल स्वरस अथवा क्वाथ तथा अम्ल दाडिम स्वरस के साथ यवागू को सिद्ध करें। इस प्रकार ११२ से लेकर श्लोक संख्या ११४ तक ५ यवागुओं के निर्माण विधि को बताया गया है।

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात् ।।११७।।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् । कषायोष्णविकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे हितम् ।।११८।।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् । तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम् ।।११९।।
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत् । यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम् ।।१२०।।
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत् । तक्रे तदासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः ।
दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम् ।।१२१।।
इति तक्रारिष्टः ।

तक्र के गुण–दीपन (अग्नि को दीप्त करने वाला), ग्राही एवं लघु गुण के कारण तक्र ग्रहणी के रोगी के लिए अत्यन्त लाभकर होता है। इसका विपाक मधुर होने से यह पित्त को प्रकुपित नहीं करता। कषाय रस (Astringent taste), उष्ण वीर्य (Hot potency), विकाशी व रूक्ष गुण के कारण यह कफ दोष की वृद्धि में भी उपयोगी है। मधुर, अम्ल एवं सान्द्र (density) गुण के कारण वात के प्रकोप में भी उपयोगी है। सद्यः निर्मित तक्र (ताजा तक्र) अविदाही (दाह न उत्पन्न करने वाला) होता है। इसलिये उदर रोगों, अर्श एवं ग्रहणी रोग में जिस प्रकार के तक्र का विधान बताया गया है उन का प्रयोग करना चाहिये।

तक्रारिष्ट–यवानी (अजवाइन), आँवला, पथ्या (हरड़ का छिलका) तथा कालीमिर्च-प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल, पाँचों प्रकार के नमक (सैन्धव, सौवर्चल, विड्, सामुद्र, औद्भिद नमक); प्रत्येक १-१ पल लेकर सभी द्रव्यों को एकत्र पीसकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को तक्र में मिलाकर उसे एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में रख दें, ऊपर से ढक्कन को बंद कर संधानार्थ यव की राशि में ढक कर रख दें। अरिष्ट

Scanned by CamScanner

तैयार हो जाने पर इसे छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। यह अरिष्ट जाठराग्नि को दीप्त करने वाला, शोथ, गुल्म, प्रमेह, कृमि, अर्श एवं उदर रोगों को दूर करता हैं, अर्थात् इसके प्रयोग से निर्दिष्ट सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

चक्रपाणि–'तक्रमित्यादि' के द्वारा तक्र के गुणों को बताया गया है। **मधुरपाकित्वान्न च पित्त प्रकोपणम्**–तक्र का विपाक मधुर होने से यह पित्त को प्रकुपित नहीं करता। तक्र को अम्लरस युक्त होने के कारण पित्त को प्रकुपित करना चाहिये, लेकिन विपाक मधुर होने से पित्त को प्रकुपित नहीं करता तथा पित्त को प्रशमित भी नहीं करता है।

सद्यस्कमविदाहीति सद्यो मथितमेव तक्रं पच्यमानावस्थायां विदाहकृन्न भवति–ताजी दही को तत्काल मथकर तैयार किया गया तक्र विदाह कारक नहीं होता, जबकि वही कुछ समय बीत जाने पर विदाह कारक हो जाता है।

यवानीत्यादौ तक्रे तदासुतमिति तक्राढके आसुतम्–यवानी आदि द्रव्यों के चूर्ण को तक्र में डालकर आसुत होने के लिए रखें। यहाँ तक्र की मात्रा- १ आढक ग्रहण करनी चाहिये।

जातमिति अम्लरसतया जातम्–अरिष्ट तैयार हो जाने पर अम्लरस युक्त (कुछ खट्टा) हो जाता है। ॥११८-१२१॥

विशेष (Comments)–श्लोक नं. १२१ में वर्णित सूत्र "तक्रे तदासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः" के स्थान पर पाठ भेद 'तक्रकंसासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः' प्राप्त होता है। इस आधार पर यहाँ तक्र का मान १ कंस (आढक) ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार १ आढक तक्र को आसुत होने के लिए रखा जाता है। इसे संधानार्थ कितने दिन रखना चाहिए, इसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी घृत भावित घड़े में संधान हेतु तक्र (१ आढ़क)+चूर्ण को ३ दिन के लिए रखें। ३-८ दिन रखने के बाद तक्र का स्वाद खट्टा हो जाता है। इस आधार पर यह जान लें कि अरिष्ट तैयार हो गया है।

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निर्निर्वापकं भिषक्। पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा ॥१२२॥
अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः। जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥१२३॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः। तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैः ॥१२४॥

पित्तज ग्रहणी की चिकित्सा (Treatment of Pittaja Grahaṇī)–यदि पित्त अपने स्थान में हो तथा निकलने के लिए उद्यत हो एवं अग्नि को बाधित कर रहा हो। अर्थात् पित्त बढ़कर अपने से निकलने के लिए उद्यत हो तब उसकी इस अवस्था का ज्ञान कर उसे वमन या विरेचन द्वारा बाहर निकालना चाहिए।

रोगी (पित्तज ग्रहणी) को अविदाही अन्न जो लघु एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित हो, का प्रयोग करना चाहिए। जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस, मुद्ग आदि के यूष, खडयूष (a sour drink), दीपन व ग्राही द्रव्यों से संस्कारित भोज्य पदार्थ जिसे अम्ल दाडिम के रस से संस्कारित किया गया हो, खाने के लिए देना चाहिए। अथवा तिक्त घृतों एवं दीपनीय द्रव्यों के चूर्ण द्वारा जाठराग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये।

चक्रपाणि–यदि पित्त ऊर्ध्व आमाशय में प्रकुपित हो अथवा उत्क्लेशित हो तो उसे वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए तथा आधो आमाशय में प्रकुपित होने पर विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

सर्पिर्भिश्चापि तिक्तकैरित्यत्र जात्याख्यायां बहुवचनं–तिक्त द्रव्यों से साधित घृतों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् पित्तज ग्रहणी में तिक्त द्रव्यों द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग करना चाहिए। अथवा कुष्ठ चिकित्सा में वर्णित दोनों प्रकार के घृत तिक्तषट्पल घृत व महातिक्त घृत का प्रयोग इन रोगियों में करना चाहिये। अथवा तिक्त द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिए। इस आधार पर यहाँ बहुवचन का प्रयोग करना उचित है। ॥१२२-१२४॥

विशेष (Comments)–'स्वस्थानेत्यादि' के द्वारा पित्तज ग्रहणी रोग की चिकित्सा को बताया गया है। अर्थात् पित्त के द्रव अंश की दुष्टि होने पर वह **ग्रहणी रोग** को उत्पन्न करता है। अतः पित्त द्वारा अग्नि की हानि को जानकर चिकित्सक को विरेचन द्वारा पित्त के **वृद्ध द्रवांश** को दूर करना चाहिए अथवा निर्हरण करना चाहिये। पित्त के द्रवांश के निर्हरण के पश्चात् आतुर को कौन से आहार देने चाहिये। इसे यहाँ 'अविदाहीत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम्। षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥१२५॥
पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनाम्। कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥१२६॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत्। किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥१२७॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे। तिक्तकं यद्घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥१२८॥
इति चन्दनाद्यं घृतम्।

चन्दनाद्य घृतम्–क्वाथ्य द्रव्य-रक्तचन्दन, पद्मक (पद्मकाठ), उशीर (खश), पाठा, मूर्वा (मरुजा बेल), कुटन्नट (केवटी मोथा), षड्ग्रन्था (वचा), सारिवा (अनन्तमूल सारिवा), स्फोता (अपराजिता), सप्तपर्ण, अट्रूषक (अड़ूसा), पटोल (परवल), उदुम्बर (गूलर),

Scanned by CamScanner

अश्वत्थ (पीपल), वट (बरगद), प्लक्ष (पाकड़), कपीतन, कटुका, नागरमुस्तक एवं निम्ब की छाल; प्रत्येक द्रव्य २-२ पल लेकर १ द्रोण जल में पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर द्रव को छानकर एक अलग पात्र में रख लें ।

कल्क द्रव्य-चिरायता, इन्द्रयव, वीरा, पिप्पली एवं उत्पल; प्रत्येक द्रव्य एक-एक कर्ष लेकर कल्क बना लें ।

अब क्वाथ एवं कल्क को एक छोटे भगौने में डालकर १ प्रस्थ गोघृत सिद्ध करें । सम्यक् सिद्ध हो जाने पर छानकर स्वच्छ कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें । पित्तज ग्रहणी रोग में इस सिद्ध चन्दनाद्य घृत का प्रयोग करना चाहिये । इसके अतिरिक्त कुष्ठरोग चिकित्सा प्रकरण में जो तिक्त घृत बतलाये गये हैं, उनका भी प्रयोग करना चाहिये ।

चक्रपाणि-कुटन्नटं कैवर्तमुस्तकम्=केवटीमोथा [The grass Cyperus rotundus Linn] । षड्ग्रन्था=वचा (छः गाँठों वाली) [A kind of aromatic root. According to some Acorus calamus]

आस्फोता स्फुरमल्लिका' इति लोके ख्याता-अस्फुरमल्लिका के नाम से लोक में प्रसिद्ध । कपीतन-गन्धमुण्ड नाम से प्रसिद्ध । ॥१२५-१२८॥

विशेष (Comments)-'आस्फोता' से अनेक द्रव्यों का ग्रहण किया गया है- १. अर्क [Calotropis gigantea (Sušrut)]

२. Bauhinia variegata- काञ्चनार, Echites dichotoma (Linn) ३. Clitoria ternatea (of two kinds, with white and blue flowers- इसकी दो प्रजातियाँ हैं जिसमें श्वेत एवं नीले पुष्प आते हैं, श्वेत पुष्प-श्वेत अपराजिता एवं नील पुष्प वाले को नील अपराजिता कहते हैं । [भाव प्रकाश] M.M. Williams Sanskrit english Dictionary Corrected edition 2002.

निर्दिष्ट द्रव्यों में से गुण-विरुद्धता न हो, ऐसा विचार करते हुए ग्रहण करें ।

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं च रसाञ्जनम् । वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम् ।।१२९।।
पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना । पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ।।१३०।।
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम् । नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ।।१३१।।
इति नागराद्यं चूर्णम् ।

नागराद्य चूर्ण-नागर (शुण्ठी=सोंठ), अतिविषा, मुस्तक (नागरमुस्तक), धातकी (धाय का फूल), रसाञ्जन, वत्सक त्वक (कुटज की छाल), वत्सकफल (इन्द्रयव), बिल्व (बेल की गुद्दी), पाठा (पाठामूल), कुटकी; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर सुरक्षित रख लें ।

इस चूर्ण का प्रयोग (३-६ ग्राम की मात्रा में) मधु के साथ करें एवं ऊपर से तण्डुलोदक (चावल के धोवन का पानी) का पान करें। इस चूर्ण का प्रयोग पित्तज ग्रहणी रोग, जिसमें मल (Stool) के साथ रक्त आता हो, अर्श (Piles) व गुदशूल (Pain in the anal region) में करना चाहिये । यह योग प्रवाहिका (Dysentery) को भी दूर करता है । यह नागराद्य चूर्ण कृष्णात्रेय द्वारा पूजित है ।

चक्रपाणि-नागराद्ये सक्षौद्रमिति मधुप्रक्षेपयुक्तम्-नागराद्य चूर्ण में मधु का प्रक्षेप डालकर प्रयोग करना चाहिए । **तण्डुलाम्बुनेति**-चावल के धोवन से (धुले हुए चावल का पानी) । कुछ आचार्यों के अनुसार उबले हुए चावल में दूनी मात्रा में जल डालकर लम्बे समय के लिए रख देते हैं, बाद में यह अम्ल रस युक्त (खट्टा) हो जाता है । उसी को तण्डुलाम्बु कहते हैं । 'यह योग कृष्णात्रेय द्वारा पूजित हैं, इसका अभिप्राय यह योग अत्यन्त लाभदर है । अर्थात् इस शब्द के प्रयोग से इस योग की सिद्धता को दर्शाया गया है ।

कृष्णात्रेयः पुनर्वसु अभिन्न एव इति-कृष्णात्रेय पुनर्वसु से भिन्न नहीं हैं । अर्थात् दोनों व्यक्ति एक ही हैं । ॥१२९-१३१॥

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान् समान् । द्वौ चित्रकाद्दत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ।।१३२।।
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत् । कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ।।१३३।।
इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम् ।

भूनिम्बाद्य चूर्ण- घटक द्रव्य-भूनिम्ब (Gentiana chirata), कटुका (कुटकी), सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, कालीमिर्च, नागरमुस्तक (नागरमोथा), इन्द्रयव (कुटज बीज); प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग लें, चित्रकमूल- दो भाग, कुटज की छाल- १६ भाग लें । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण का प्रयोग पित्तज ग्रहणी में गुड़ के शरबत के साथ करना चाहिये ।

मात्रा- ३-६ ग्राम, अनुपान- गुड़ का शरबत

उपयोगिता-यह चूर्ण पित्तज ग्रहणी, गुल्म, कामला (Jaundice), ज्वर (Fever), पाण्डु (Anaemia), प्रमेह, अरुचि (Anorexia) एवं अतिसार (diarrhoea) आदि व्याधियों को नष्ट करता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–भूनिम्बाद्ये गुडयुतं शीताम्बु गुडशीताम्बु-शीतल जल में गुड़ डालकर बनाया गया शरबत 'गुडशीताम्बु' कहा गया है। यहाँ जल में गुड़ उतना ही डालना चाहिए जिससे उचित रंग एवं स्वाद (मधुर) आ जाय । ॥१३२-१३३॥

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम् । श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः ।।१३४।।
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम् । पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान् ।।१३५।।
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च । तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत् ।।१३६।।
किराततिक्तः षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम् । चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी ।।१३७।।
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यवानी देवदारु च । पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ।।१३८।।
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकस्तथा । तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्येर्जलेन वा ।।१३९।।
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् । कामलां सन्निपातं च मुखरोगांश्च नाशयेत् ।।१४०।।

इति किराताद्यं चूर्णम् ।

वचाद्यादि चूर्ण–घटक द्रव्य-वचा (मीठा वच), अतिविषा (अतीस), पाठा (मूल), सप्तपर्णी, रसाञ्जन, श्योनाक, उदीच्य (सुगन्धवाला), कट्वंग की छाल, कुटज की छाल, दुरालभा, दार्वी (दारुहरिद्रा), पर्पटक (पित्तपापड़ा), पाठा की पत्ती, यवानी (अजवाइन), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन), पटोलपत्र (परवल की पत्ती), सिद्धार्थक (White mustard-sus'ruta), यूथिका (जुही की पत्ती), जातीपत्र (चमेली की पत्ती), जामुन की गुठली, आम की गुठली, बिल्व की गुद्दी, निम्बपत्र एवं नीम का फल या गुठली । सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें ।

यह चूर्ण भी इन्हीं व्याधियों में प्रयुक्त होता है जिनमें भूनिम्बादि चूर्ण का प्रयोग किया जाता है । अर्थात् पित्तज ग्रहणी, कामला, गुल्म, ज्वर आदि व्याधियों को प्रशमित करता है ।

किराताद्य चूर्ण–घटक द्रव्य-किराततिक्त (चिरायता), षड्ग्रन्था (मीठा वच), त्रायमाणा, कटुत्रिक-(सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), रक्तचन्दन, पद्मकाठ, उशीर (खस), दार्वी (दारुहरिद्रा), त्वक्, कटुरोहिणी (कुटकी), कुटज की छाल, इन्द्रयव, नागर मुस्तक, यवानी (अजवाइन), देवदारु, पटोल पत्र (परवल की पत्ती), नीम की पत्ती, एला (बड़ी इलायची), सौराष्ट्री (फिटकरी), अतिविषा (अतीस), त्वक् (दालचीनी), मीठा सहिजन का बीज, मूर्वा (मरोड़फली) ।

सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण करके एक में मिलाकर रख लें । इस चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ मिलाकर करें ।

मात्रा- ३-६ ग्राम, अनुपान- मद्य अथवा जल (चूर्ण को मधु के साथ मिश्रित कर चाटें तथा ऊपर से मद्य अथवा जल पीवें ।)

उपयोग–
- हृद् रोग (Heart disease)
- पाण्डुरोग (Anaemia)
- ग्रहणी रोग (Sprue syndrome)
- गुल्म
- शूल (Colic pain)
- अरुचि (Anorexia)
- ज्वर (Fever)
- कामला (Jaundice)
- सन्निपातज रोग
- मुखरोग

यह चूर्ण सभी व्याधियों को दूर करता है ।

चक्रपाणि–वचाद्य चूर्ण के द्रव्यों में वर्णित श्योनाक व कट्वंग शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं । अर्थात् दोनों से श्योनाक का ही ग्रहण किया गया है । श्योनाक से यहाँ बड़ी फली वाली श्योनाक तथा कट्वङ्ग से अल्प (छोटी) फली वाली श्योनाक का ग्रहण है ।

तद्रोगशममन्विच्छन्निति–भूनिम्बाद्य चूर्ण में वर्णित ग्रहणी दोष आदि रोगों को ही वचाद्य चूर्ण भी प्रशमित करता है ।

भूनिम्बाद्येनेति भूनिम्बाद्युक्तद्रव्यगणेन यथोक्तमानेन योजयद् वचादीन्-भूनिम्बादि गण में वर्णित औषधियों की जो मात्रा ग्रहण करें, वही मात्रा वचाद्य योग में पठित द्रव्यों की ग्रहण करें । अन्य आचार्यों के अनुसार भूनिम्बाद्य चूर्ण के अनुपान के रूप में प्रयुक्त गुड़ के शरबत का प्रयोग यहाँ भी (वचाद्य चूर्ण के साथ भी) करें, यह भाव है । ॥१३४-१४०॥

विशेष (Comments)–भूनिम्बादि चूर्ण का अनुपान गुड़ का शरबत बताया गया है । यही अनुपान वचाद्य चूर्ण के साथ भी प्रयोग करें। वचाद्य चूर्ण में वर्णित श्योनाक व कट्वङ्ग शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं, अतः श्योनाक की मात्रा दूनी ग्रहण करें । जम्बु, आम्र एवं बिल्व के बीज के अन्दर की मज्जा का ग्रहण करें न कि बीज का । -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि । कट्वम्ललवणक्षारैस्तिक्तैश्चाग्निं विवर्धयेत् ।।१४१।।
पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम् ।।१४२।।
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम् । पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधयेत् ।।१४३।।

Scanned by CamScanner

शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः । कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ।।१४४।।
अम्लं चानु पिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा । मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं सीधुमेव वा ।।१४५।।

कफज ग्रहणी की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Grahaṇī)—यदि ग्रहणी रोग कफ के दूषित (वृद्ध) होने से उत्पन्न हुआ है तब निर्दिष्ट विधि के अनुसार वमन कराना चाहिये। इसके बाद कटु, अम्ल, लवण रस युक्त द्रव्यों, क्षारों एवं तिक्त द्रव्यों के प्रयोग द्वारा जाठराग्नि (Power of digestion) को प्रदीप्त करना चाहिये।

कफज ग्रहणी में पेय पदार्थ (Drinks for Kaphaja Grahaṇī)—पलाश (Butea monosperma-किंशुक), चित्रकमूल, चव्य, मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू), हरीतकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, शुण्ठी (सोंठ) एवं धान्यक (धनियाँ); प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष मात्रा में लेकर १ प्रस्थ जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट रखें। इस जल का प्रयोग कफज ग्रहणी का रोगी पीने के लिए करे एवं इसी से यवागू भी सिद्ध करे।

अन्न का प्रयोग—पेया, विलेपी के प्रयोग द्वारा जब जाठराग्नि कुछ प्रदीप्त हो जाय तब रोगी को शुष्क (सूखी) मूली का यूष अथवा कुलथी के यूष को तिक्त, अम्ल, क्षार एवं लवण द्रव्यों द्वारा सिद्ध कर लघु अन्न (शाठी एवं शाली चावल के भात) के साथ भोजन के रूप में देना चाहिये। भोजन के बाद रोगी को अम्ल तक्र (खट्टा छाछ), तक्रारिष्ट, मदिरा, मध्वरिष्ट (मधु से निर्मित अरिष्ट) या सीधु पीने के लिए देना चाहिये।

चक्रपाणि—पानीयार्थं पानाय=पीने के लिए। **कट्वम्लक्षारपटुनेति-कटूवादियोगात् पटुना इन्द्रियोत्तेजकेनेत्यर्थः**-कटु, अम्ल, क्षार आदि द्रव्यों को संयोग के साथ इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ पटु से 'इन्द्रयोत्तेजक' द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। कफज ग्रहणी में सद्यस्क (ताजा) तक्र कषाय रस युक्त होने से उपयुक्त है फिर भी अग्नि दीपन कार्य करने के कारण अम्ल तक्र का ही विधान 'अम्लं चानुपिबेत्' इति के द्वारा बताया गया है। **निगदं सीधुमिति**-दोष रहित सीधु का प्रयोग करें। ।।१४१-१४५।।

विशेष (Comments)-'पटु' से आचार्य चक्रपाणि ने 'इन्द्रियोत्तेजक द्रव्यों का ग्रहण किया है। आचार्य गंगाधर ने इससे 'लवण' का ग्रहण किया है। लवण=सैन्धव लवण। पटु से- Momordica Charantia (करेला) एवं Tricosanthes Dioeca (पटोलपत्र) भी गृहीत होते हैं। (M.M. Williams)

व्यवहारतः तिक्त द्रव्यों का प्रयोग विशेष रूप से यकृत पर कार्यकारी होता है एवं इसके प्रयोग से पाचन क्रिया सुधरती है। अतः मेरी दृष्टि से तिक्त द्रव्यों का प्रयोग कफज ग्रहणी में अग्नि की दीप्ति हेतु अवश्य करना चाहिये।

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः । चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात्तथा भल्लातकाढकम् ।।१४६।।
मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत् । द्रोणशेषं तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ।।१४७।।
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते । कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ।।१४८।।
ग्रहणीं दीपयत्येव बृंहणः कफपित्तजित् । शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत् ।।१४९।।
इति मधूकासवः ।

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् । क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ।।१५०।।
तं पिबन् ग्रहणीदोषाञ्जयेत् सर्वान् हिताशनः । तद्वद्राक्षेक्षुखर्जूरस्वरसानासुतान् पिबेत् ।।१५१।।

मधूकासव (प्रथम)—मधूक पुष्प (महुए का पुष्प)-१ द्रोण, उसका आधा भाग विडंग (१/२ द्रोण), विडंग का आधा भाग चित्रकमूल (१/४ द्रोण), भल्लातक- १ आढक, मञ्जिष्ठा (मजीठ)- ८ पल, जल- ३ द्रोण। सभी द्रव्यों को यवकुट करके ३ द्रोण जल में पकावें। एक द्रोण द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें, क्वाथ के शीतल होने पर उसमें आधा आढक मधु मिला दें। अब एक मिट्टी के घड़े के भीतरी भाग में एला (इलायची), मृणाल, अगरु एवं चन्दन के कल्क को लेपित करें, शुष्क हो (सूख) जाने पर उसमें मधु मिश्रित क्वाथ डालें। घड़े के मुख को बन्द करके एक महीने के लिए धान्य की राशि में रख दें। आसव तैयार हो जाने पर इसका प्रयोग मात्रानुसार करें।

उपयोग—यह आसव ग्रहणी को उत्तेजित करता है। अर्थात् यह आसव ग्रहणी (duodenum) एवं आँत्र (Small intestine) से स्रवित होने वाले पाचक रसों के स्राव को उत्तेजित (Stimulate) करता है।

-ग्रहणी कला को पोषण प्रदान करता है।

-कफ व पित्त को प्रशमित करता है।

-इस आसव के प्रयोग से शोथ (oedema), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), किलास (Leucoderma) एवं प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes) जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

Scanned by CamScanner

मधूकासव (द्वितीय)–मधूकपुष्प स्वरस को उबालें, उबलकर जब आधा शेष रह जाय, तब उसे ठण्डा कर लें। अब इसमें १/४ भाग मधु मिलावें, पश्चात् मधु मिश्रित मधूक स्वरस को एक घड़े में रखकर संधानार्थ एक महीने के लिए धान्य की राशि में गाड़ दें। संधान होने के बाद उसे निकालें एवं छानकर सुरक्षित रख लें। इस आसव के पीने से सभी प्रकार के ग्रहणी रोग दूर हो जाते हैं। सेवन काल में व्यक्ति को हितकर भोजन करना चाहिये।

इसी प्रकार द्राक्षा स्वरस, इक्षु स्वरस तथा खर्जूर स्वरस को संधान कर पीना चाहिए। अर्थात् इनसे निर्मित आसवों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–अर्धक्षयीकृतमिति-महुए के फूल के स्वरस को पकाकर आधा कर लें। **पूर्ववत्संन्निधापयेदिति**-एला आदि औषधियों के कल्क द्वारा लेपित कुम्भ (घड़ा) में मधूक पक्व स्वरस (एकभाग)+१/४ भाग मधु को डालकर संधानार्थ रखें। ॥१४६-१५१॥

विशेष (Comments)–'मधूकेत्यादि' के द्वारा द्वितीय मधूकासव का अभिधान किया गया है। आर्द्र महुए के पुष्प को कूटकर स्वरस निकालें, अथवा शुष्क पुष्प का क्वाथ तैयार करें। अब स्वरस अथवा क्वाथ को पकाकर आधा कर लें। अब इस आधे पक्व क्वाथ अथवा स्वरस के मान का १/४ भाग मधु मिलावें अर्थात् अर्ध पक्व स्वरस में इनके मान का चतुर्थांश मधु मिलाकर, एलादि के कल्क से लिप्त घृत भावित घड़े में डालकर रखें, संधि बन्धन कर इसे यव अथवा धान्य की राशि में संधानार्थ एक महीने के लिए गाड़ दें। इसी विधि से द्राक्षा, इक्षु, काश्मर्य के स्वरस या क्वाथ को आधा पकाकर उसमें मधु मिलाकर आसव तैयार करें एवं ग्रहणी रोग में प्रयोग करें। –जल्पकल्पतरु टीका हिन्दी अनुवाद।

प्रस्थौ दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च। दन्तीचित्रकमुष्टी द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥१५२॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम्। संगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥१५३॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितैः। कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥१५४॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत्। स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः ॥१५५॥
इति दुरालभासवः।
हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम्। एषां पञ्चपलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥१५६॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक्। चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान् ॥१५७॥
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान्। लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत्तु तम् ॥१५८॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित्। आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥१५९॥
इति मूलासवः।

दुरालभासव (Durālabhāsava)–दुरालभा (धन्वयास)- २ प्रस्थ, आँवला- १ प्रस्थ, दन्ती (Baliospermum montanum)- २ पल (२ मुष्टि), चित्रकमूल- २पल, मध्यम आकृति के हरड़- १००, इन सभी द्रव्यों को लेकर यवकुट कर लें एवं ४ द्रोण जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव (१ द्रोण) शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें। अब इस क्वाथ में- २०० पल गुड़ एवं १ कुडव मधु मिश्रित करें, फिर इसमें प्रियङ्गु, पिप्पली एवं विडङ्ग-प्रत्येक द्रव्य १-१ कुडव लेकर चूर्ण करके मिला दें। अब इस क्वाथ को एक घृत भावित घड़े में रखकर सन्धानार्थ १५ दिन के लिए धान्य की राशि में रख दें। अच्छी तरह से आसव के तैयार हो जाने पर पुनः इसे निकालकर एक स्वच्छ वस्त्र से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। उचित मात्रा में भोजन के बाद इसका प्रयोग पानार्थ (पीने के लिए) करें।

यह आसव ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डुरोग (Anaemia), अर्श (Piles), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), विसर्प एवं प्रमेह को दूर करता है। यह योग स्वर एवं वर्ण को ठीक करने वाला है, साथ में रक्त पित्त एवं कफज विकार भी इसके सेवन से दूर हो जाते हैं। [मात्रा- २०-३० मिली, सम भाग जल के साथ, भोजन के बाद लें।]

मूलासव (Mūlāsava)–हरिद्रा (हल्दी), दोनों प्रकार के पञ्चमूल [बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी-बृहत् पञ्चमूल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू-लघु पञ्चमूल] वीरा, ऋषभक, जीवक; सभी द्रव्य अलग-अलग ५-५ पल लेकर यवकुट कर लें एवं इसे ४ द्रोण जल में क्वाथ करें, चतुर्थांश अवशिष्ट बचने पर छानकर अलग पात्र में रख लें, शीतल हो जाने पर १ द्रोण अवशिष्ट छने हुए क्वाथ में २०० पल गुड़ मिश्रित करें, साथ में मधु, प्रियङ्गु, मुस्तक, मजीठ, विडङ्ग, यष्टीमधु, प्लव (केवटी मोथा) एवं सांभर लोध्र; प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर मिला दें। अब इस गुड़, मधु एवं चूर्ण मिश्रित क्वाथ को एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर १५ दिन के लिए संधान हेतु रख दें। यह मूलासव अग्निदीपक, रक्तपित्त नाशक, आनाह, कफ रोग, हृद्रोग (Heart diseases), पाण्डुरोग एवं अंगसाद को दूर करता है।

चक्रपाणि–दन्तीचित्रकमुष्टी द्वे इति-चित्रक एवं दन्ती दोनों को मिलाकर २ पल मात्रा लेनी चाहिए। अर्थात् १ पल चित्रक एवं १ पल दन्ती लें। **तद्वत् इति**-एलादि द्रव्यों के कल्क से लेपित बड़े घड़े में क्वाथ आदि द्रव्यों को डालकर संधानार्थ स्थापित करें। ॥१५२-१५९॥

Scanned by CamScanner

प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यं बिभीतकात् । उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ।।१६०।।
तस्मात् पलं सुजातातु सलिलाञ्जलिसंयुतम् । पिबेत्पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ।।१६१।।
स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः स्निग्धरसाशनः । इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां येऽत्र कीर्तिताः ।।१६२।।
इति पिण्डासवः ।

पिण्डासव–पिप्पली चूर्ण- १ प्रस्थ, गुड़- १ प्रस्थ, बहेड़े की मज्जा का चूर्ण- १ प्रस्थ, जल- १ प्रस्थ। इन सभी द्रव्यों को एक घृत भावित मिट्टी के बड़े घड़े में रखकर यव की राशि में रख दें। सम्यक् संधान हो जाने पर इसे सुरक्षित बोतलों में भर कर रख लें। मात्रा- १ पल (२-४ तोला) में ४ पल जल मिलाकर भोजनोत्तर सेवन करें। यह आसव सभी व्याधि समुदाय को दूर करता है। यदि स्वस्थ व्यक्ति भी स्निग्ध आहार का सेवन करते हुए इस आसव का सेवन एक महीने तक करता है तो उसे रसायन का लाभ प्राप्त होता है। अर्थात् उसकी रसादि धातुयें पुष्ट होती हैं। जो व्यक्ति यह चाहते हैं कि उन्हें कोई भी व्याधि न हो तो उनको भी इस आसव का सेवन करना चाहिये।

चक्रपाणि–प्रास्थिकमित्यादौ पिप्पलीगुडबिभीतकमज्जानः प्रत्येकं प्रस्थमानाः–पिप्पली चूर्ण, गुड़ एवं विभीतक फल की मज्जा, प्रत्येक का मान १-१ प्रस्थ ग्रहण करना चाहिये। **स्निग्धरसासन इति**-स्निग्ध रसों का सेवन करते हुए। अर्थात् मांसरस के साथ शाली या शाठी चावल के भात का सेवन करते हुए स्निग्ध होना। ॥१६०-१६२॥

नवे पिप्पलीमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते । मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ।।१६३।।
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा । चतुर्धिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च ।।१६४।।
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनान् । हरेण्वेल्वालुतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ।।१६५।।
कार्षिकांस्तत् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् । मन्दं संदीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ।।१६६।।
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान् । वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ।।१६७।।
इति मध्वरिष्टः ।

मध्वरिष्ट–एक नवीन मिट्टी के घड़े के आभ्यन्तर भाग को पिप्पलीचूर्ण एवं मधु मिश्रित कल्क से लेपित करें, पश्चात् इसमें अगरु का धूपन करें। अब इसमें १ आढक मधु+१ आढ़क जल का घोल बनाकर डालें तथा इसमें अधोलिखित औषधियों का चूर्ण मिला दें, यथा-विडङ्ग का चूर्ण-१/२ कुड़व, पिप्पली चूर्ण- १ कुड़व, त्वक्क्षीरी (वंशलोचन)- १ पल, नागकेशर, कालीमिर्च, दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, शटी (कचूर), क्रमुक (सुपारी), अतिविषा, घन (मुस्तक की जड़), हरेणु (निर्गुण्डी का बीज), एलुआ, तेजाह्वा (चव्य), पिप्पलीमूल एवं चित्रक मूल सभी द्रव्यों का चूर्ण अलग-अलग १-१ कर्ष लें।

अब इस घृत भावित घड़े जिसमें सभी औषधियाँ डाली गयी हैं, के मुख को बन्द करके एक महीने के लिए सन्धानार्थ यव की राशि में रख दें। एक महीने बाद अरिष्ट तैयार हो जाने पर इसे निकालकर प्रयोग करें। मात्रा-२-४ तोला।

उपयोग–यह अरिष्ट मन्दाग्नि को दूर करता है, अर्थात् इसके सेवन से जाठराग्नि तीव्र हो जाती है एवं विषम अग्नि सम हो जाती है।

इसके सेवन से हृद्रोग (Heart disease), पाण्डुरोग (Anaemia), ग्रहणीरोग (Sprue syndrome), कुष्ठ (Skin disease including leprosy), अर्श (Piles), श्वयथु (oedema), ज्वर (Fever) एवं अन्य वातकफज रोग भी दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि–नवे इत्यादौ त्वगेलादीनां कार्षिकत्वम्=मध्वरिष्ट में प्रयुक्त त्वक् एला आदि औषध द्रव्यों के चूर्ण की अलग-अलग मात्रा एक-एक कर्ष ग्रहण करनी चाहिए।

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च । मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ।।१६८।।
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना । श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ।।१६९।।
एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते । गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ।।१७०।।

पिप्पल्यादि चूर्ण–पिप्पलीमूल (पिपरामूल), पिप्पली, यवक्षार, सज्जीक्षार, पञ्च लवण (सैन्धव, विड, सौवर्चल, रेह का नमक एवं सामुद्र नमक), बिजौरा नीबू, अभया (हरीतकी का छिलका), रास्ना, शटी (कचूर), कालीमिर्च, शुण्ठी; प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग ३-६ ग्राम की मात्रा में उष्ण जल के साथ करें। यह चूर्ण कफज ग्रहणी को दूर करता है तथा बल, वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है।

इन्हीं पिप्पल्यादि औषध द्रव्यों के कल्क से सिद्ध घृत तथा गुल्माधिकार में वर्णित षट्पलघृत व भल्लातक घृत का पान वात-कफज ग्रहणी रोग में करना चाहिये।

चक्रपाणि–समूलां पिप्पलीमिति-से यहाँ पिप्पली एवं पिप्पलीमूल दोनों का ग्रहण किया गया है। गुल्म चिकित्सा प्रकरण में वर्णित भल्लातक घृत का यहाँ ग्रहण किया गया है। ॥१६८-१७०॥

Scanned by CamScanner

बिडं कालोत्थलवणं सर्जिकायवशूकजम् । सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत् ।।१७१।।
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य ह्याढकेन तु । आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम् ।।१७२।।

इति क्षारघृतम् ।

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम् । चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ।।१७३।।
वचां च कार्षिकं पञ्चलवणानां पलानि च । दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये ।।१७४।।
खण्डीकृतानि निष्काथ्य शनैरन्तर्गते रसे । अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ।।१७५।।
पिबेत् पाणितलं तस्मिन्नीर्णे स्यान्मधुराशनः । वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगरांश्च सः ।।१७६।।
भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रयम् । अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ।।१७७।।
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये वाऽप्यवचूर्णितः । हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत् ।।१७८।।

क्षारघृत–विडलवण, कालोत्थलवण, सर्जिका क्षार (सज्जीक्षार), यवक्षार, सप्तला, कण्टकारी (भटकटैया) एवं चित्रक; सभी द्रव्यों को एक घड़े में डालकर जला दें। जले हुए राख (भस्म) को छः गुने जल में घोलकर सात बार छान लें। इन छने हुए क्षारीय जल का मान २ आढ़क लें। इसमें एक आढक घृत मिलाकर मन्दाग्नि पर पाक करें। घृत के सिद्ध हो जाने पर छानकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। उचित मात्रा में इसके सेवन से जाठराग्नि की वृद्धि होती है। अर्थात् यह घृत अग्निवर्धक है।

अन्य योग (पिप्पलीमूलाद्य क्षार)–पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, चव्य, इन्द्रयव (कुटज बीज), नागर (शुण्ठी या सोंठ), चित्रक, अतिविषा (अतीस), हिङ्गु (हींग), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), कटुरोहिणी (कुटकी) और वचा; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष, पञ्च लवण (सैन्धव नमक, विड नमक, सामुद्र नमक, सौवर्चल नमक, औद्भिद नमक) प्रत्येक १-१ पल लें, दही- २ प्रस्थ, तिल तैल- १ कुड़व, गोघृत- १ कुडव। सभी द्रव्यों को एक में मिला कर कूट लें एवं इसे आग पर पकावें, पकते-पकते जब जल सूख जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर एक मिट्टी के घड़े में रखकर मुख बंद करके गजपुट में फूँक दें। फिर घड़े को निकालकर संधिबंधन खोलकर दग्ध क्षार निकाल कर चूर्ण कर लें। इस क्षार चूर्ण की मात्रा- १ पाणितल (१ कर्ष) लेकर घृत में फेंट (Mixed) कर प्रयोग करें। इसके पच जाने पर मधुर भोजन का सेवन करना चाहिए। इसके सेवन से वात-कफज रोग दूर हो जाते हैं, साथ में विष (Natural poison) एवं गरविष (Artificially prepared poison) जनित विकार भी दूर हो जाते हैं।

भल्लातकक्षार–भल्लातक, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सैन्धवलवण, विडलवण, सौवर्चललवण; प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लेकर कूट लें एवं इसे मिट्टी के मटके में भर कर मुख बंद कर दें। अर्थात् ढक्कन लगाकर संधि बन्धन कर दें। अब इसे गजपुट में गोबर के कण्डे के बीच में रखकर कण्डों को जला दें। प्रातः अग्नि शान्त हो जाने पर इसे निकालकर मटके के अन्दर स्थित दग्ध क्षार को निकालकर चूर्ण कर लें। इस क्षार का प्रयोग घृत के साथ अथवा भोजन के साथ करना चाहिये। यह हृद्रोग (Heart disease), पाण्डुरोग (Anaemia), ग्रहणीदोष (Sprue syndrome), गुल्म (Phantom tumour), उदावर्त [A class of diseases-marked by retention of the feces] एवं शूल (Colic pain) रोग को दूर करता है। ॥१७१-१७८॥

चक्रपाणि–बिडं कालोत्थलवणमिति-विड से बिडलवण एवं कालोत्थ से सौवर्चललवण अर्थ लिया गया है। **खण्डीकृतानीति**= खण्ड-खण्ड करके (छोटे-छोटे टुकड़े करके)। **अनुगते रसे इति**-रस के अनुगत होने पर अथवा द्रव्यों के द्रवांश आपस में Mixed हो जाने पर। **पाणितलमिति**-१ कर्ष, अर्थात् पिप्पलीमूलाद्यक्षार की मात्रा १ कर्ष (१ तोले) निर्धारित की गयी है।

मधुराशनत्वमिह क्षारप्रयोगाभिच्छेदकत्वहन्तृतया यौगिकत्वाज्ज्ञेयम्–मधुररस प्रधान अन्न का सेवन यहाँ क्षार के छेदक गुण को दूर करने के कारण उपयोगी है, ऐसा जानना चाहिये। अर्थात् क्षार के प्रयोग से महास्रोतस् की दीवारों को कोई हानि न हो, इसलिए मधुररस प्रधान आहार का विधान बताया गया है। ॥१७१-१७८॥

दुरालभां करञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम् । षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ।।१७९।।
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत् । दग्ध्वा च तं पिबेत् क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम् ।।१८०।।

दुरालभाद्यक्षार–दुरालभा (धन्वयास Fagoni cretica), दोनों प्रकार के करञ्ज (१. पूति करञ्ज, २. कंटकीकरञ्ज), सप्तपर्ण (छतिवन), वत्सक (कुटज की छाल), षड्ग्रन्था (वचा-छः गाँठों वाली Acorus calamus), मदनफल, मूर्वा, पाठा, आरग्वध (अमलतास); सभी द्रव्य सम मात्रा में ग्रहण करें। दुरालभा से लेकर अमलतास तक के द्रव्यों का चूर्ण बना लें एवं संयुक्त चूर्ण की मात्रा के बराबर इसमें गोमूत्र मिलावें। इस चूर्ण को मिट्टी के घड़े (छोटे आकार के) में रखकर गटपुट में फूंक दें। प्रातः घड़े के शीतल हो जाने पर दग्ध क्षार को निकालकर चूर्ण बना लें। इस क्षार का प्रयोग घृत के साथ अथवा भोजन के साथ करें। यह क्षार अग्निवर्धक है।

चक्रपाणि–गोमूत्रेण समांशानीति-गोमूत्र के साथ मिलित चूर्ण की मात्रा बराबर होनी चाहिए। चूर्ण - १ भाग (संयुक्त)+गोमूत्र १ भाग लें। इस क्षार का भी प्रयोग पूर्ववत् क्षारों की तरह घृत के साथ करना चाहिये। ॥१७९-१८०॥

Scanned by CamScanner

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम् । दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ।।१८१।।
द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी । मुस्तं च वस्तमूत्रेण दहेत् क्षारोऽग्निवर्धनः ।।१८२।।

भूनिम्बाद्य क्षार–भूनिम्ब (चिरायता)- १ भाग, तिक्तरोहिणी (कुटकी)- १ भाग, पटोल- १ भाग, निम्ब की छाल- १ भाग, पित्तपापड़ा- १ भाग; सभी द्रव्यों को लेकर चूर्ण कर लें एवं इसमें चूर्ण के समान मात्रा में भैंस का मूत्र मिलाकर कूट लें । इस कुटे हुए द्रव्य को मिट्टी की हाड़ी में भरकर गजपुट में डालकर जला दें । प्रातः ठण्डा होने पर इसे निकालकर क्षार को पीसकर चूर्ण बना लें । यह क्षार जाठराग्नि को दीप्त करता है । अर्थात् इसके सेवन से भूख बढ़ती है ।

चक्रपाणि–'माहिषमूत्रेणेत्यादौ' से भैंस के मूत्र की मात्रा के बराबर चूर्ण (मिश्रित) का प्रयोग करना चाहिए अथवा चूर्ण के मान के बराबर मूत्र का ग्रहण करें, क्योंकि यह निर्देश पूर्व के योगों में दिया गया है । ।।१८१-१८२।।

चतुष्पलं सुधाकाण्डात्रिपलं लवणत्रयात् । वार्ताकीकुडवं चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात् पले ।।१८३।।
दग्धानि वार्ताकुरसे गुटिका भोजनोत्तराः । भुक्तं भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः ।।१८४।।
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः । इत्येषा क्षारगुटिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता ।।१८५।।
इति क्षारगुडिका ।

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शां हिङ्गु चित्रकम् । चूर्णीकृत्य पलाशाग्रक्षारे मूत्रप्लुते पचेत् ।।१८६।।
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात् कोलं सुखाम्बुना । मद्यैर्वा ग्रहणीदोषशोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ।।१८७।।
इति चतुर्थक्षारः ।

क्षारगुडिका–सेहुण्ड का डण्ठल- ४ पल, सैन्धवलवण- १ पल, विडलवण- १ पल, सौवर्चललवण- १ पल, वार्ताकी- १ कुडव, अर्कपत्र- ८ पल, चित्रकमूल- २ पल; सभी द्रव्यों को लेकर कूट लें एवं इसे एक मिट्टी की हाड़ी में भरकर सन्धिबन्धन करके गजपुट में फूँक (जला) दें । प्रातः काल अग्नि के ठण्डा हो जाने पर हाड़ी को खोलकर दग्ध क्षार को निकालकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को वार्ताकी स्वरस के साथ घोंटकर वटिका (वटी) का निर्माण करें । इस वटी का सेवन भोजनोत्तर उष्ण जल के साथ करना चाहिये । यह वटी भुक्त अन्न का पाचन शीघ्र करती है एवं कास (Cough), श्वास (Asthma) व अर्श (Piles) को दूर करती है । इसके सेवन से विसूचिका (Choleric diarrhoea), प्रतिश्याय (Common cold) एवं हृदय रोग (Heart disease) में आशातीत लाभ होता है । इस क्षारगुटिका का निर्माण आचार्य कृष्णात्रेय ने किया है ।

चतुर्थक्षार–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–वत्सक (कुटज) की छाल, अतिविषा (अतीस), पाठा, दुरालभा, हिङ्गु (हींग), चित्रक; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को गोमूत्र डालकर बनाये गये पलाश क्षारोदक में मिलाकर, एक लोहे की कड़ाही में पकावें । पकते-पकते जब यह कुछ गाढ़ा (Semi solid) हो जाय तो इसे अग्नि पर से उतार कर सुरक्षित रख लें । इस क्षार अवलेह की **मात्रा** १ कोल (आधा कर्ष) ग्रहण करनी चाहिए । **अनुपान**-उष्ण जल अथवा मद्य । **उपयोग**-ग्रहणीरोग (Sprue syndrome), शोथ (oedema), अर्श (Piles) व पाण्डुरोग (Anaemia) में क्षार अवलेह का प्रयोग करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'चतुष्पलं सुधाकाण्डात्रिपलं लवणत्रयात्' के स्थान पर जो लोग **'चतुष्पलं सुधाकाण्डात्रिफलालवणानि च** का पाठ करते हैं उनके अनुसार **त्रिफला व लवण** को मिलाकर ४ पल लेना चाहिए । अर्थात् हरड़- १ पल, बहेड़ा- १ पल, आंवला- १ पल, सैन्धव लवण- १ पल मात्रा में ग्रहण करना चाहिए । **दग्धानि वार्ताकुरसे इति क्षारीभूतानि पुनर्वार्ताकुरसे गुटिकाः कर्तव्या**-दग्ध क्षार को चूर्ण कर लें, इसे वनभण्टे (बृहती) के स्वरस के साथ रगड़कर गोली बना लें एवं सुखा कर रख लें । ।।१८३-१८७।।

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः । रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिङ्गु च ।।१८८।।
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम् । विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ ।।१८९।।
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च । कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक् ।।१९०।।
भागान् दध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितम् । अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात् पाणितलं पिबेत् ।।१९१।।
सर्षपा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान् । प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान् ।।१९२।।
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान् । हन्यात् सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः ।।१९३।।
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात् पयसाऽपि वा ।
इति पञ्चमक्षारः ।

पञ्चमक्षार–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–हरड़, बहेड़ा, आँवला, कटभी (श्वेत शिरीष-ठाकुर बलवन्त सिंह), चव्य, बेल की गुद्दी, अयोरज (लौह भस्म), कटुरोहिणी (कुटकी), नागरमुस्तक, कूठ, पाठा, हिङ्गु (हींग), यष्टीमधु (मुलेठी), मुष्ककक्षार, यवक्षार, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, वचा, विडङ्ग, पिप्पलीमूल, स्वर्जिकाक्षार, निम्ब की छाल, चित्रक मूल, मूर्वा, अजमोदा, इन्द्रयव (कुटजबीज),

Scanned by CamScanner

गुडूची, देवदारु; सभी द्रव्य १-१ कर्ष (१ तोला) लें, पाँचों नमक पृथक्-पृथक् १-१ पल, दही- १ कुड़व, घृत- १ कुड़व, तैल- १ कुड़व तीनों मिश्रित रूप से ३ कुड़व लें । सर्वप्रथम हरड़ से लेकर देवदारु तक के द्रव्यों को लेकर कूट लें, इसमें दही, घृत व तैल मिश्रित रूप से मिलावें, अन्त में पाँचों लवण मिलाकर पुनः कूटें । अब इसे एक मिट्टी की हाड़ी में रखकर संधिबन्धन करके, गजपुट में जला दें । प्रातः पुट के ठण्डा होने पर इसे निकालकर चूर्ण कर लें ।

मात्रा- १ पाणितल (१ कर्ष) घृत के साथ मिलाकर ग्रहण करें ।

उपयोग-वातकफ जन्य अर्श, ग्रहणी एवं पाण्डु रोगी को इसका सेवन करना चाहिए । यह क्षार प्लीहा रोग (Splenic disorders), मूत्रग्रह (Anuria), श्वास (Asthma), हिक्का (hic-cup), कास (Cough), क्रिमि (Parasitic infection), ज्वर (Fever), शोष (Consumption), अतिसार (diarrhoea), शोथ (Oedema), प्रमेह (Urinary disorders including diabetes), आनाह (मलबद्धता-Constipation), हृद्ग्रह एवं सभी प्रकार के विषजन्य रोगों को दूर करता है । यह क्षार जाठराग्नि दीपन में श्रेष्ठ होता है । औषधि के पच जाने पर रोगी को शाली चावल के भात के साथ मधुर मांसरस अथवा दूध का सेवन करना चाहिये ।

चक्रपाणि-त्रिफला आदि के साथ वर्णित 'मुष्कक' से यहाँ 'घण्टापाटलक' अर्थ लिया गया है । अर्थात् इससे पाटला अर्थ लिया गया है, क्योंकि इसके फल घण्टे की तरह लटके रहते हैं । इसलिये इसे घण्टापाटलक कहा गया है । 'घृततैलेनेन' से यहाँ दधि के साहचर्य से घृत व तैल की मिलित रूप से ३ कुड़व मात्रा लेनी चाहिये । अर्थात् दधि- १ कुड़व, तैल- १ कुड़व, गोघृत- १ कुड़व ग्रहण करें ॥१८८-१९३॥

त्रिदोषे विधिनिद्वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ।।१९४।।
घृतक्षारासवारिष्टान् दद्याच्चाग्निविवर्धनान् । क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ।।१९५।।
व्यत्यासात्तां समस्तां वा कुर्याद्दोषविशेषवित् ।

त्रिदोषज ग्रहणी में पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रयोग-त्रिदोषज ग्रहणी रोग में चिकित्सक को (पञ्चकर्म विशेषज्ञ को) पञ्चकर्ग चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये । तत्पश्चात् अग्निवर्धक घृत, क्षार, आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग करावें अथवा जो चिकित्सा वातादिजन्य ग्रहणी की अलग-अलग बतायी गयी है उनका प्रयोग क्रमशः बदल-बदल कर अथवा मिश्रित रूप में करनी चाहिए ।

चक्रपाणि-त्रिदोषे पञ्चकर्माणीति-से यहाँ त्रिदोषज ग्रहणी रोग में शिरोविरेचन अयौगिक होते हुए भी अन्य सभी कर्म उपयोगी होने से इस शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् पाँच में एक अनुपयोगी होते हुए भी बहुलता के आधार पर यह शब्द प्रयुक्त है अथवा शिरोरोग आदि के होने पर शिरोविरेचन का भी प्रयोग करना चाहिए ।

व्यत्यासात्तां समस्तां चेति-पूर्व वर्णित वातादिनाशक चिकित्सा को क्रमशः बदल-बदल कर करना चाहिये । अथवा संयुक्त रूप से सभी क्रियाओं को एक समय में करना चाहिये । 'क्रियामेलक' का अभिप्राय वातादि द्रव्यों को मिलाकर प्रयोग करने से है । ॥१९४-१९५॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत् ।।१९६।।
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः । विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम् ।।१९७।।
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः,

उपसंहार (ग्रहणीरोग)-**[Summary of Therapies]**-ग्रहणीरोग से पीड़ित व्यक्ति को अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग कराना चाहिये-स्नेहन (Oleation therapy), स्वेदन (Fomentation therapy), शोधन (Elimination therapy), लङ्घन (Fasting therapy), दीपन (Therapy for the stimulation of the power of digestion), चूर्ण योग, लवण, क्षार, मध्वरिष्ट (Alcoholic preparation containing honey), सुरा, आसव (Type of Alcoholic preparation) विविध प्रकार के तक्र तथा दीपनीय घृतों का प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि-'स्नेहनमित्यादि' के द्वारा ग्रहणीरोग की चिकित्सा का उपसंहार किया गया है । ॥१९६-१९७॥

क्रियां चावस्थिकीं शृणु । ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ।।१९८।।
सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम् । परीक्ष्यामं शरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ।।१९९।।
दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम् । बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम् ।।२००।।
सन्युक्षति तथा वह्निरेषां विधिवदित्यनैः ।

अवस्था विशेष के अनुसर ग्रहणी की चिकित्सा-पूर्व में दोषानुसार ग्रहणीरोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । अब आगे अवस्थानुसार चिकित्सा बतायी जा रही है; हे अग्निवेश ! उसे सुनो-

Scanned by CamScanner

कफज ग्रहणी में रूक्ष, दीपन एवं तिक्त द्रव्यों का कवल धारण करते हुए बार-बार थूकना चाहिए। [In Kaphaja type of grahaṇī Ṣṭhīvana (Spitting therapy) which is ununctuous and digestive stimulant and which contains bitter drugs should be administered.]-Baidya Bhagvandas.

→ यदि रोगी कृश हो एवं उसमें कफ की वृद्धि हो तो उसे कभी रूक्ष तथा कभी स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए अर्थात् रूक्ष एवं स्निग्ध चिकित्सा का प्रयोग बदल-बदल कर करना चाहिए। यदि रोगी में आम दोष की अधिकता है तब उसमें दीपनीय द्रव्यों से साधित स्नेह/स्नेह+दीपनीय चूर्णों का प्रयोग करना चाहिये।

→ यदि रोगी पैत्तिक ग्रहणी से आक्रान्त है अथवा उसमें पित्त की वृद्धि हो तब तिक्त एवं मधुररस युक्त दीपनीय द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये। वायु की अधिकता होने पर स्नेह, लवण तथा अम्लरस युक्त दीपनीय (जाठराग्नि दीपक) द्रव्यों की योजना करनी चाहिए। ये द्रव्य जाठराग्नि को उसी प्रकार दीप्त करते हैं जिस प्रकार बाह्य अग्नि ईन्धन पाकर दीप्त हो जाती है।

चक्रपाणि-क्रियां चावस्थिकीमिति-ग्रहणीरोग की ही यहाँ अवस्था विशेष के अनुसार चिकित्सा बतायी जा रही है।

सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृश इति-यदि रोगी (ग्रहणी का रोगी) कृश (दुर्बल) हो तथा उसमें कफ का प्रकोप हो तब उसे कभी स्नेह तथा कभी रूक्ष द्रव्यों के प्रयोग द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रूक्ष द्रव्यों का प्रयोग कराते हैं तब रोगी के बल की हानि होती है तथा स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करने पर कफ की वृद्धि होती है, अतः दोनों उपक्रमों का प्रयोग अदल-बदल कर (Alternate) करना चाहिये, यह भाव है।

स्नेहलवणाम्लयुतमिति-स्नेह, अम्ल व लवणरस युक्त द्रव्य जो अग्नि को दीप्त करते हों उनका प्रयोग करें। यहाँ 'दीपन' अर्थ ही गृहीत है। **संधुक्षति विधिवदिन्धनैरिति** यथाविधानदीपित इत्यर्थ-जिस प्रकार बाह्य अग्नि को इन्धन (लकड़ी आदि) प्रदीप्त करती है उसी प्रकार दीपनीय द्रव्यों के प्रयोग से जाठराग्नि भी दीप्त हो जाती है। ॥१९८-२००॥

विशेष (Comments)-ग्रहणीरोग में आम की परीक्षा करनी चाहिए। आम की अवस्था में दीपनीय द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करें, यदि पित्त की वृद्धि हो तब मधुर व तिक्त द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिये। यदि वात का प्रकोप हो तब स्नेह अम्ल व लवण द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिए।

स्नेहमेव परं विद्याद्दुर्बलानलदीपनम् ॥२०१॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि। मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते ॥२०२॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः। तया समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमास्थितः ॥२०३॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम्। काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ॥२०४॥
सघृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं पिबेत्। रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ॥२०५॥

स्नेह की महत्ता (Importance of Sneha)-दुर्बल अग्नि को प्रदीप्त करने में स्नेह ही श्रेष्ठ औषधि है। जिस पुरुष की अग्नि स्नेह के सेवन से दीप्त हुई है, वह गुरु अन्न के सेवन करने पर भी शान्त नहीं होती। अर्थात् स्नेह द्वारा दीप्त अग्नि को गुरु अन्न शान्त करने में सक्षम नहीं होता।

आमातिसार में दीपनीय घृत-यदि व्यक्ति की जाठराग्नि मन्द हो तथा अपक्व पुरीष (आमातिसार) का निर्हरण हो रहा हो तो ऐसी अवस्था में उसे दीपनीय औषधियों से सिद्ध घृत का मात्रा पूर्वक सेवन कराना चाहिये। अथवा पीना चाहिये। घृत के सेवन से प्रकुपित वायु शान्त होकर अपने स्थान पर स्थित हो जाती है। समान वायु अग्नि के पास स्थित होने के कारण अपनी क्रिया द्वारा अग्नि को बल प्रदान करती है।

मलबद्धता में घृत का प्रयोग-यदि रोगी का पुरीष कठिन (Hard) होने के कारण कष्ट के साथ निकल रहा हो तब उसे घृत के साथ नमक मिलाकर भोजन के मध्य में लेना चाहिये। यदि रूक्षता के कारण अग्निमांद्य हो गया हो तब उसे दीपनीय द्रव्यों से साधित तैल अथवा घृत का सेवन कराना चाहिये।

चक्रपाणि-'स्नेहमेवेत्यादि' के द्वारा पूर्व में उक्त एवं अनुक्त (जिनका वर्णन नहीं किया गया है) स्नेहों के फल का वर्णन किया गया है। अर्थात् यहाँ सिद्ध घृत एवं तैलों के गुणों का वर्णन किया गया है। स्नेह के दीपन कार्य में श्रेष्ठत्व के हेतु को 'नालमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **नालमिति न समर्थम्**-समर्थ नहीं होता। **स्नेहसमिद्धस्येति**-जिस पुरुष की अग्नि स्नेह के सेवन से दीप्त (बढ़ी) हुई है। स्नेह शब्द यहाँ सामान्यतया घृत के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यहाँ सर्पि के प्रकरण के कारण ऐसा कहा गया है। श्लोक नं. २०२ में वर्णित 'अविपक्वमिति' शब्द पुरीष के विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् अविपक्व से अपक्व पुरीष (Undigested stool) अर्थ गृहीत है। (पुरीष में अपक्व अन्न की मात्रा ज्यादा होना)। यहाँ अपक्व शब्द से आमरस का ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि आमरस की

Scanned by CamScanner

अवस्था में "जठरामगरार्दिता:" (सू.अ. १३) के द्वारा यहाँ भी स्नेह का निषेध है। दीपनीय औषधियों के संस्कार से भी स्नेह एवं संस्कारक के गुणों का आपस में विघात न होने से भी अपक्व पुरीष की अवस्था में सिद्ध घृत का प्रयोग हितकर माना गया है। यद्यपि घृत वायु के स्वाभाविक कार्यों में सहायक होने से उपयोगी है। अर्थात् सिद्ध घृत वायु के कार्यों को सामान्य बनाता है। इसे "तया समान इत्यादि" के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

प्रसन्न इति दुष्टिविरहतः-दोष रहित होना, । **मार्गमास्थित इति**-अपने स्वाभाविक मार्ग में आ जाना, अर्थात् घृत के सेवन से समान वायु दोष रहित होकर अपने स्वाभाविक मार्ग में आ जाती है।

समीपचारित्वादिति-अपने प्रसन्नत्व आदि गुणों के योग से समान वायु अग्नि के पार्श्व स्थित होने से अग्नि के बल को बढ़ाती है न कि उसे विषम बनाती है। अर्थात् अग्निदीपक स्वभाव के कारण ऐसा होता है, यह अभिप्राय है। अन्नावग्रहमिति-अन्न (भोजन) को बीच में रोकना' अन्नावग्रह' (भोजन के मध्य) कहलाता है। अर्थात् दीपनीय घृतों का सेवन अन्न के मध्य में करें, यह अभिप्राय है। ॥२०१-२०५॥

अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः। भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥२०६॥
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः। दोषवृद्ध्या तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ॥२०७॥
व्याधियुक्तस्य मन्दे तु सर्पिरेवाग्निदीपनम्। उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद्घृतम् ॥२०८॥
अन्नावपीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत्। दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान् ॥२०९॥
प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत् पिशिताशिनाम्। लघु, तीक्ष्णोष्णशोथित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ॥२१०॥
मांसोपचितमांसत्वात्तथाऽऽशुतरबृंहणाः।

आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग-अति स्नेह के सेवन के कारण यदि रोगी की जाठराग्नि मन्द हो गयी हो तब उसे अग्निवर्धक (दीपनीय) चूर्ण, आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग कराना हितकर होता है।

→ गुदा में उपलेप होने से यदि मल (भिन्न) पतला होकर निकल रहा हो तब तैल, सुरा एवं आसव का प्रयोग कराना चाहिये।

→ यदि उदावर्त के कारण मन्दाग्नि हो तब निरूह एवं स्नेह बस्तियों की योजना करनी चाहिए।

→ वातादि दोषों की अत्यधिक वृद्धि के कारण यदि जाठराग्नि मन्द हो गयी हो तब शोधन के पश्चात् तद्दोष शामक उपचार करना चाहिये।

→ यदि व्याधि के कारण अग्निमांद्य उत्पन्न हो तब घृत के प्रयोग से ही अग्नि को दीप्त करना चाहिए। अर्थात् अग्निवर्धक घृतों का प्रयोग करना चाहिये।

→ यदि उपवास के कारण अग्निमांद्य हो तब यवागू के साथ घृत की योजना करनी चाहिए। क्योंकि अन्न के साथ मिश्रित घृत बल्य, अग्निवर्धक एवं बृंहण कार्य करता है।

→ दीर्घ काल तक अति स्त्रीसेवन आदि कारणों के कारण यदि रोगी क्षाम (Indolent), क्षीण (Weak) एवं कृश (Emaciated) हो गया हो तब उसे कच्चे मांस खाने वाले पशु-पक्षियों के मांसरस को अम्ल द्रव्यों (अनार के रस, आँवला के रस आदि) से संस्कारित कर सेवन करना चाहिए, क्योंकि प्रसह प्राणियों का मांस लघु, तीक्ष्ण, उष्ण एवं शोधन गुण के कारण अग्निदीपक होता है। मांस से मांस की पुष्टि होने के कारण मांस सेवन से शरीरस्थ मांस की शीघ्र ही वृद्धि होती है।

चक्रपाणि-अतिस्नेहान्मन्देऽग्नौ सति चूर्णारिष्टादीनि योज्यानि-स्नेहों (घृत, तैल आदि) के अति सेवन के कारण यदि जाठराग्नि (पाचक रसों का स्राव) कम (मन्द) हो गया हो तब दीपनीय चूर्णों (पञ्चकोल, चित्रकादि) आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिये।

भिन्ने इति विशिष्टगुदोपलेपादग्नौ मन्दे-गुदोपलेप (गुदा में मल का चिपका रहना) के कारण बार-बार मल की प्रवृत्ति हो रही हो तब उसे तैल (Medicated oil), सुरा (Alcohol) एवं आसव (Medicated wine) का प्रयोग करना चाहिये।

दोषविधिं चरेदिति अग्निमांद्यकारकदोषौषधविधिं कुर्यात्-अग्निमांद्य कारक दोषों के अनुसार औषध चिकित्सा करनी चाहिए। जिस प्रकार भोजन के मध्य में घृतों की योजना की जा सके, तदनुसार करना चाहिए। अर्थात् यवागू आदि के साथ घृत का पान करना चाहिए। 'अन्नावपीडित' से भोजन के मध्य पीने वाला घृत अर्थ लिया गया है। **क्षामो व्यवसाय शून्यः**-संकल्प शून्य होना। क्षीण=दुर्बल (शारीरिक रूप से दुर्बल होना)। कृश=हीन मांसता (मांस क्षीण होना)। **प्रसहानां द्वैविध्यान्मांसाशिनामिति विशेषणं, तेन तृणादप्रसहानां गवादीनां निषेधः**-दो प्रकार के प्रसहों में मांसभक्षी पशु-पक्षियों का ग्रहण है। इससे तृण (घास भूसा) खाने वाले गाय आदि प्रसह प्राणियों का निषेध हो जाता है। प्रसह प्राणियों के मांस-गुरु, स्निग्ध, उष्ण एवं मधुर रस युक्त होते है, यथा-'गुरूष्णस्निग्धमधुरा' [सू.अ. २७] इति, लेकिन यहाँ इनके गुण लघु, तीक्ष्ण, उष्ण आदि बताये गये हैं, यह शङ्का है। ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ 'भोजयेल्लघ्विति' शब्द का प्रयोग किया

Scanned by CamScanner

गया है, जिसका अभिप्राय 'उन प्रसह प्राणियों में से जिसका मांस लघु होता है उसे भोजन के रूप में ग्रहण करना चाहिये। 'तीक्ष्णेत्यादि' के द्वारा प्रसह प्राणियों के मांस के गुणों का अभिधान किया गया है। अन्य आचार्यों के अनुसार अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन प्रसह प्राणियों का मांस लघु होता है उनका यहाँ लघु शब्द से ग्रहण होता है, दूसरे आचार्य अम्ल आदि द्रव्यों के संस्कार से प्रसह प्राणियों के मांस को लघु बनाकर प्रयोग करने का विधान बताते हैं। प्रमाणार्थ राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रकरण में प्रसह प्राणियों के मांस तीक्ष्ण उष्ण एवं लघु गुण युक्त होते है, यह कहा गया है। अतः यह कथन न्याय पूर्ण है।।२०६-२१०।।

विशेष (Comments)–अत्यधिक स्त्री-प्रसंगादि कारणों से क्षीण पुरुष जिसकी अग्नि मन्द हो गयी हो, उन्हें प्रसह प्राणियों के मांसरस, जिसे अम्ल द्रव्यों द्वारा साधित किया गया हो, भोजन के रूप में देना चाहिए। ऐसा क्यों करना चाहिए ? क्योंकि प्रसह प्राणियों का मांस लघु आदि गुणों से युक्त होने के कारण शीघ्रता पूर्वक अग्नि को दीप्त करता है तथा मांस से मांस का उपचय होने से शीघ्रता पूर्वक बृंहण कार्य भी करता है।-जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ।।२११।।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः । स्नेहान्नविधिभिश्चित्रैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः ।।२१२।।
सम्यक्प्रयुक्तैर्भिषजा बलमग्नेः प्रवर्धते । यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः संतिष्ठते चिरम् ।।२१३।।
स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत् स्थिरः । हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते ।।२१४।।
अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना । समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः ।।२१५।।
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये । दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद्गदान् ।।२१६।।
वाच्यं मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते ।

अग्नि एवं भोजन का सम्बन्ध–जाठराग्नि न तो भोजन के अभाव में तथा न तो अति भोजन करने पर भी प्रदीप्त होती है। जिस प्रकार बाहर जलने वाली अग्नि में इन्धन (लकड़ी) न डालने पर वह स्वयं बुझ जाती है तथा अल्प अग्नि के ऊपर अधिक लकड़ी डाल दी जाय तो वह भी लकड़ी से दवकर बुझ जाती है। अतः अतिभोजन एवं अभोजन दोनों ही अग्नि का विनाशक होता है। [इसलिये पुरुष को मात्रापूर्वक आहार ग्रहण करना चाहिये।]

चिकित्सक स्नेह (घृत), अन्न, पान, चूर्ण, आसव एवं अरिष्टों के सम्यक् प्रयोग द्वारा जाठराग्नि के बल को बढ़ा देते हैं। अर्थात् चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त स्नेह, अन्न-पान आदि के प्रयोग से जाठराग्नि की वृद्धि हो जाती है। जिस प्रकार सारयुक्त लकड़ी को जलाने पर उसकी अग्नि एवं ज्वाला देर तक बनी रहती है, उसी प्रकार स्नेह, अन्न-पान, चूर्ण, आसव एवं अरिष्टों के प्रयोग से व्यक्ति की जाठराग्नि भी चिरकाल तक स्थिर एवं वृद्ध बनी रहती है।

इस प्रकार अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर पूर्व का किया हुआ भोजन पच जाने पर, मित (अल्प) आहार के सेवन से व्यक्ति बहुत दिनों तक नीरोग बना रहता है। रसादि धातुओं एवं दोषों में वैषम्यता न उत्पन्न हो, इसलिये व्यक्ति को अग्नि को बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। शरीर के मध्य भाग में रहने वाली **जाठराग्नि** दोषों के सम बने रहने पर ही **सम** बनी रहती है तथा वही अग्नि शरीर के आरोग्य, पुष्टि, आयु व बल की वृद्धि हेतु गृहीत आहार का पाचन करती है। दोषों के द्वारा मन्द, अतिवृद्ध अथवा विषम होने पर वह अग्नि विविध प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार अग्निमांद्य के विषय में जो कुछ वाच्य है वह कह दिया गया। अब आगे अतिवृद्ध अग्नि के बारे में बताया जा रहा है–

चक्रपाणि–'नाभोजनेन' इत्यादि के द्वारा **अभोजन** एवं **अतिभोजन** का निराकरण करते हुए आहार के सम्यक् प्रयोग से अग्नि की वृद्धि होती है, यह बताया गया है। 'अभोजन' से यहाँ अभोजन (भोजन का प्रयोग न करना) एवं अल्प भोजन दोनों ही अर्थ ग्रहण किया गया है।

अल्पो वा अतीन्धनावृतो वा न दीप्यते इति योजना–यदि अत्यधिक अल्प भोजन ग्रहण किया जाय अथवा ईन्धन द्वारा आवृत अग्नि (अत्यधिक भोजन कर लेने पर भी अग्नि) दीप्त (Stimulate) नहीं होती। अर्थात् मात्रापूर्वक गृहीत आहार से ही अग्नि (जाठराग्नि) प्रदीप्त होती है।

सारदार्वग्निरिति सारदार्वाश्रयोऽग्निः सारदार्वग्निः-लकड़ी के सार भाग में स्थित अग्नि 'सारदार्वाग्नि' कही गयी है। स्नेहवदन्नं स्नेहान्नम्=स्नेह युक्त अन्न। मितमिति=मात्रावत्। यद्यपि व्यक्ति अल्प एवं हितकर भोजन ग्रहण करते हुए भी कालविपर्यय आदि कारणों के द्वारा रोगी होता ही है, फिर भी हितकर एवं मित (मात्रावत्) आहार ग्रहण करने वाले व्यक्ति को आहारजन्य व्याधि नहीं उत्पन्न होती, यह भाव है।

चिरमारोग्यमश्नुते इति–आहारजन्य व्याधियों का न उत्पन्न होना, यह भाव है। अर्थात् व्यक्ति चिरकाल तक स्वस्थ बना रहता है।

अवैषम्येण धातूनामिति–धातुओं का विषम न होना। धातुओं में समता बनी रहे, इस हेतु व्यक्ति को अग्नि की वृद्धि हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए। इस प्रकार दोष वैषम्यता के द्वारा पित्तोद्रेक रूप जिस अग्नि की वृद्धि होती है, उसका यहाँ निषेध किया गया है।

Scanned by CamScanner

सभैरित्यादिनाऽग्निभेदान् समाग्निपरिपालनार्थमाह–'समैरित्यादि' के द्वारा अग्नि भेदों को स्पष्ट करते हुए 'समाग्नि' की रक्षा करनी चाहिए, यह बताया गया है। **मध्ये इति**-देह के मध्य भाग में स्थित, (अत्यधिक समीप में न होना)।

अग्निसंज्ञित इति–इस कथन से ऊष्मा रूप जाठराग्नि का ग्रहण किया गया है, इससे 'बाह्याग्नि' की साम्यता का निषेध किया गया है।

दोषैरिति–सामान्य रूप से वर्णित होते हुए भी कफ के द्वारा मन्दाग्नि, पित्त के द्वारा तीक्ष्णाग्नि तथा वात के द्वारा विषमाग्नि का निर्माण होता है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् कफ प्रधान शरीर वाले व्यक्ति की अग्नि मन्द, पित्त की तीक्ष्ण, वात की विषम होती है, ऐसा समझें।

वाच्यमिति प्रतिक्रियार्थं वचनीयं चिकित्सितं इति–'मन्दाग्नि' की चिकित्सा का अभिधान किया गया है, आगे तीक्ष्णाग्नि की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है।

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ।।२१७।।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति । तदा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ।।२१८।।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्याद्याशु मुहुर्मुहुः । पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन् पचत्यपि ।।२१९।।
ततो दौर्बल्यमातङ्कान्मृत्युं चोपनयेन्नरम् । भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ।।२२०।।
तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः । तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ।।२२१।।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः । मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ।।२२२।।
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् । पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ।।२२३।।
अद्यात्तथौदकानूपपिशितानि भृतानि च । मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान्स्थिरतोयचरांस्तथा ।।२२४।।
आविकं च भृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम् । यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ।।२२५।।
गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत् । पयो वा शर्करासर्पिर्जीवनीयौषधैः श्रृतम् ।।२२६।।
फलानां तैलयोनीनामुत्कुड्याश्च सशर्कराः । मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ।।२२७।।
पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन संयुतम् । गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ।।२२८।।
आनूपरससिद्धान् वा त्रीन् स्नेहांस्तैलवर्जितान् । पयसा संमितं चापि घनं त्रिस्नेहसंयुतम् ।।२२९।।
नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् । ताभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ।।२३०।।
श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् । असकृत् पित्तशान्त्यर्थं पायसप्रतिभोजनम् ।।२३१।।
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित् । यत्किञ्चिन्मधुरं मेद्यं श्लेष्मलं गुरुभोजनम् ।।२३२।।
सर्वं तदत्यग्निहितं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा । मेद्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः समश्नुते ।।२३३।।
न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च । कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ।।२३४।।
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ।

तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग)–यदि पुरुष में कफ क्षीण हो, पित्त बढ़ा हो एवं वायु पित्त के साथ लगा हो तब वह वायु पित्त की ऊष्मा के साथ मिलकर अग्नि स्थान (ग्रहणी कला) में स्थित अग्नि को बल प्रदान करता है। अर्थात् जाठराग्नि अत्यधिक तीव्र हो जाती है वह वृद्ध अग्नि रूक्ष शरीर में वायु के साथ मिलकर गृहीत आहार को शीघ्र ही पचा डालती है। अर्थात् तीक्ष्ण जाठराग्नि गृहीत आहार को बार-बार शीघ्र ही पचा डालती है। ऐसी अवस्था में यदि उसे आहार (ईन्धन) नहीं मिलता है तब वह रक्तादि धातुओं का भी पाक करने लगती है, जिसके कारण व्यक्ति दुर्बल एवं अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रसित हो जाता है, फलतः उसकी मृत्यु हो जाती है। भोजन कर लेने के बाद कुछ समय के लिए उसे आराम मिल जाता है, तथा पच जाने पर पुनः बेचैन हो जाता है। अर्थात् उसके हाथ व पैर में कम्पन होने लगता है। अत्यग्नि के कारण रोगी को तृष्णा (Morbid thirst), श्वास (Dyspnoea), शरीर में दाह का होना (Burning sensation), मूर्च्छा (Fainting) आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है।

चिकित्सा (अत्यग्नि-भस्मक रोग की चिकित्सा)–प्रदीप्त अग्नि को जिस प्रकार जल शान्त करता है उसी प्रकार गुरु (Heavy), स्निग्ध (Unctous), शीत (Cold), मधुर (Sweet) एवं पिच्छिल अन्न-पान के प्रयोग द्वारा बढ़ी हुई अग्नि (अत्यग्नि) को शान्त करना चाहिए। अजीर्ण होने पर भी बार-बार इन्हीं अन्न-पानों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् पूर्व के किये हुए आहार के न पचने पर भी बार-बार गुर्वादि अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से ईन्धन का अभाव न होने से प्रदीप्त जाठराग्नि रोगी को मार नहीं पाती।

अत्यग्नि में सेवनीय आहार द्रव्य–अत्यग्नि वाले रोगी को पायस (खीर), कृशरा (तिल मिश्रित उड़द की खिचड़ी Thick gruel prepared of rice and lentils), स्नेह युक्त पीठी के पदार्थ (मालपुआ आदि), गुड़ से निर्मित पदार्थ, औदक एवं आनूप प्राणियों के मांस को घृत में भूनकर, आनूप प्राणियों विशेष रूप से स्थिर जल में विचरण करने वाली मछलियों का सेवन करना चाहिए। अर्थात् इन मछलियों का सेवन अग्नि पर भूनकर करें।

Scanned by CamScanner

भेंड़ के मांस को अग्नि पर भूनकर सेवन करने से अत्यग्नि (भस्मक रोग) का नाश हो जाता है। अथवा यवागू के साथ मधूच्छिष्ट (मोम bee's Wax) मिलाकर अथवा यवागू के साथ घृत मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। अथवा गेहूँ के चूर्ण (आटे), को घृत में अच्छी प्रकार से भून लें। इस भुने हुए चूर्ण में शर्करा मिलाकर जल में घोलकर मन्थ बना लें। इस मन्थ का प्रयोग सिरावेध के पश्चात् करें। अथवा जीवनीयगण की औषधियों द्वारा साधित दूध में शर्करा एवं घृत मिलाकर पान करें।

तैलयुक्त फलों का प्रयोग–तैलीय फलों के उत्क्लुञ्च (उत्कारिका-Paste) अर्थात् तैल युक्त फलों के बीज को सील पर कूट कर कल्क बना लें, इसमें शर्करा (चीनी), घृत एवं मांसरस मिलाकर सेवन करें। इसके सेवन से तीक्ष्णाग्नि कम हो जाती है।

मोम एवं घृत का प्रयोग–अत्यग्नि (तीक्ष्णाग्नि) में घृत के साथ मधूच्छिष्ट (Bee'wax) मिलाकर शीतल जल के साथ सेवन करना चाहिए।

अथवा घृत में भुने हुए गेहूँ के चूर्ण (आटा) में घृत एवं दूध मिलाकर भस्मक (अत्यग्नि वाले) रोगी को पानार्थ देना चाहिये।

अन्य योग–अत्यग्नि (भस्मक रोग) को दूर करने के लिए व्यक्ति को अधोलिखित योगों का सेवन करना चाहिये–

१. आनूप प्राणियों के मांसरस से सिद्ध तीन स्नेह (तैल को छोड़कर)- घृत, वसा व मज्जा का प्रयोग भस्मक रोगी को करना चाहिए। अर्थात् घृत, वसा व मज्जा जो आनूप प्राणियों के मांसरस से साधित हों, का प्रयोग तीक्ष्णाग्नि की शान्ति हेतु करें।

२. दूध में पकाये गये गेहूँ के आटे में घृत, वसा व मज्जा मिश्रित कर प्रयोग करें।

३. उदुम्बर की छाल के कल्क को स्त्री दुग्ध में मिलाकर पीने के लिए दें।

४. स्त्री दुग्ध एवं उदुम्बर की छाल से निर्मित पायस (खीर) का प्रयोग भस्मक रोग में करें। इसके सेवन से वृद्ध अग्नि शान्त हो जाती है।

अत्यग्नि में विरेचन–रोगी के बलाबल का ज्ञान रखने वाला योग्य चिकित्सक जो चिकित्सा विधान को जानता है उसे पित्त की शान्ति हेतु श्यामा त्रिवृत् को दूध में पकाकर, पके हुए दूध का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए। अथवा इस दूध को पिलाकर रोगी का विरेचन करावें। विरेचनोत्तर भोजन के रूप में खीर (पायस) का प्रयोग करना चाहिए।

सेवनीय आहार–अत्यग्नि (भस्मक) में उन सभी अन्न-पानों का प्रयोग करना चाहिए जो मधुर, मेदवर्धक, श्लेष्मवर्धक एवं गुरु हों। अर्थात् रोगी को मधुररस युक्त, मेद को बढ़ाने वाले, कफ बढ़ाने वाले एवं गुरु आहार-विकारों का सेवन करना चाहिए। इसके साथ-साथ दिन में शयन करें। ऐसा करना अत्यग्नि में हितकर होता है।

जो अत्यग्नि वाला रोगी मेदवर्धक अन्न (आहार) का सेवन करता है वह व्यक्ति अत्यग्नि से होने वाले उपद्रवों को नहीं प्राप्त करता है तथा उसका शरीर पुष्ट बना रहता है।

इस प्रकार कफ के बढ़ जाने से तथा वृद्ध वायु एवं पित्त का प्रशमन हो जाने पर जाठराग्नि सम अवस्था में आ जाती है। धातु सम होने पर वातादि दोष भी अपने सम अवस्था में आ जाते हैं। ऐसे व्यक्ति द्वारा गृहीत आहार से शरीर की पुष्टि, आयु एवं बल की वृद्धि होती है। ॥२१७-२३४॥

चक्रपाणि–पित्तं पावकस्थाने कुपितमिति संबन्धः-पित्त प्रकोप से यहाँ पाचक स्थान में प्रकुपित पित्त अर्थ गृहीत है। पित्त के साथ वायु होने के कारण वह अत्यधिक तीव्र हो जाती है। अर्थात् वायु के संयोग से अग्नि अत्यधिक तीव्र हो जाती है। यह तीव्राग्नि अपने स्वाभाविक कार्यों से भिन्न कार्यों को करती है, ऐसा जानना चाहिए। **पित्तोष्मरूपस्यापि च वह्नेः प्रादेशिकपित्तोष्मणो हानिजनकत्वं जन्यजनकयोर्भेदत्वादुपपन्नमेव ज्ञेयम्**-अग्नि पित्त की ऊष्मा रूप होते हुए भी स्थानीय पित्त की ऊष्मा हानिकारक होते हुए भी जन्य एवं जनक में अभेद होने से ऐसा होता है, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए। [Agni is the heating attribute of Pitta (Ūṣmā)] That is to say, Agni is the substance which originates (Janya) and pitta is the source of origin (Janaka). Because of this difference between the **janaka** and janya. The aggravated pitta might even reduce the agni. It is only in association with Vāyu that the aggravated pitta causes atyagni- Dr. Bhagvan Das.]

स्थिरतोयचरानित्यनेन–स्थिर जल में विचरण करने वाले प्राणी के निष्क्रिय होने से उनका मांस अत्यधिक गुरु होता है, यह दर्शाया गया है। अर्थात् स्थिर जल में रहने वाले प्राणियों का मांस भारी होता है।

उत्क्लुञ्च–तिल, बादाम आदि के गिरी को दृषद् (सील) पर पीसकर उसमें उष्ण जल मिलाकर, मसल लें एवं उसे पिण्ड रूप में बनावें, इस पिण्ड रूप को उत्क्लुञ्च कहते हैं। अन्य आचार्य इससे उत्कारिका (लप्सी) अर्थ ग्रहण करते हैं। लप्सी को तैयार करने के लिए

Scanned by CamScanner

तिल आदि को पीसकर कल्क बनाते हैं एवं इसमें जल मिलाकर पकाते हैं, पकाते-पकाते जब वह कुछ गाढ़ा हो जाता है तो उसे अग्नि पर से उतार लेते हैं, पकाते समय ही उसमें घृत, शर्करा आदि मिला लेते हैं ।

घनं त्रिस्नेहसंयुतमिति–'घन' शब्द से यहाँ 'दधि' अर्थ लिया गया है । अर्थात् दधि (Curd) में घृत, वसा (Muscle fat) एवं मज्जा (Bone marrow) को मिलाकर सेवन करें । (व्यवहारतः दधि में घृत, या वसा या मज्जा मिलाकर अथवा तीनों मिलाकर सेवन करना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करें ।]

पायसेन प्रतिभोजनं यस्मिन् पित्तहरणे तत् पायसप्रतिभोजनम्–जिस रोगी में श्यामा त्रिवृत् से साधित क्षीर द्वारा विरेचन कराया गया हो उसे भोजन के रूप में पायस का प्रयोग कराना चाहिए । अर्थात विरेचन वाले रोगी को भूख लगने पर खाने के लिए खीर देना चाहिये ।

मेद्यमिति–मेदस्वी प्राणियों का मांस, यथा-सूअर, भैंस । अथवा मेदवर्धक द्रव्यों का प्रयोग । अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति मांस का सेवन करते हैं उन्हे मेदस्वी प्राणियों का मांस तथा जो शाकाहारी हैं उन्हें मेदवर्धक द्रव्य-पनीर, घी, मक्खन आदि का सेवन कराना चाहिए ।

अप्रतान्त इति अबुभुक्षितः=भूखा न रहना, अत्यग्नि के रोगी को मेदस्वी आहार द्रव्यों के सेवन करने से भूख नहीं लगती, परिणामतः इससे उत्पन्न होने वाले उपद्रव नहीं होते । व्यसनम्=मरण (मृत्यु)

अग्नि के सम होने पर धातुएं भी सम हो जाती हैं, ऐसे व्यक्ति द्वारा गृहीत आहार से आयु, बल एवं धातुओं की पुष्टि होती है । अर्थात् सम अग्नि अन्न का पाचन करते हुए आयु, बल एवं शरीरस्थ धातुओं की वृद्धि करती है ।

विशेष (Comments)–जिस व्यक्ति का कफ क्षीण हो, वायु के साथ पित्त प्रकुपित होकर अपनी ऊष्मा के साथ नाभि के ऊर्ध्व भाग में स्थित अग्नि को बल प्रदान करती है । वह अग्नि रूक्ष शरीर में वायु के साथ मिलकर अत्यधिक तीक्ष्ण हो जाती है । वह तीक्ष्ण अग्नि अभिभूय अन्न को शीघ्रता पूर्वक पचा डालती है, अन्न के पच जाने पर, ईन्धन के अभाव में रक्तादि धातुओं को भी पचाने लगती है । अतः धातुपाक के परिणामस्वरूप व्यक्ति अत्यधिक दुर्बल एवं रोगी हो जाता है, उस वृद्ध पित्त के कारण व्यक्ति की मृत्यु भी हो जाती है ।

अन्न के पच जाने पर भस्मक रोगी को पुनः भूख लग जाती है, अन्न के प्राप्त होने पर क्षुधा शान्त हो जाती है । इस प्रकार बार-बार अन्न देने के कारण रोगी को अत्यग्नि जन्य उपद्रव नहीं होते । यदि रोगी को समय से आहार न प्राप्त हो तो उसे तृड् (प्यास), श्वास, मोह आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । यहाँ भस्मक (अत्यग्नि) की चिकित्सा का अभिधान 'तमित्यादि' के द्वारा किया जा रहा है । अत्यग्नि वाले रोगी की चिकित्सा हेतु गुरु (Heavy), स्निग्ध, शीतल एवं मधुर अन्न-पान की योजना करनी चाहिए । इसके प्रयोग से भस्मक की शान्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि जल के छिड़काव द्वारा शान्त हो जाती है । विज्जल=पिच्छिल । पूर्वकृत आहार के अजीर्ण (सम्यक् पाचन न) होने पर भी बार-बार गुरु स्निग्ध आदि अन्न-पान रोगी को खाने के लिए देना चाहिए । ऐसा क्यों करना चाहिए ? ईन्धन न प्राप्त होने पर बढ़ी हुई अग्नि रोगी को कोई व्यापत्ति न उत्पन्न कर दे, इसलिए ऐसा करना चाहिए । भस्मक रोगी को दिया जाने वाला भोजन कैसा हो, उसको यहाँ 'कृशरामित्यादि' के द्वारा बताया गया है । कृशरा=तिल शष्कुली (तिल की बनी हुई रोटी) । विशेष रूप से स्थिर जल मे विचरण करने वाली अर्थात् सरोवर, वापी, पुष्करिणी आदि के जल में रहने वाली चिकनी (श्लक्ष्ण-Smooth) एवं कोमल (मृदु) मछलियों का सेवन करना चाहिए । भेड़ी के घृत एवं मांस के सेवन से भी अत्यग्नि की शान्ति होती है । Bee's wax के साथ यवागू का प्रयोग अथवा स्वच्छ घृत का प्रयोग किया जाना चाहिये । अत्यग्नि वाले रोगी को सिरावेध के पश्चात् गेहूँ के चूर्ण अथवा मन्थ का सेवन करना चाहिए । गेहूँ के चूर्ण (आँटे) को घृत में भूनकर उसमें द्रव व शर्करा मिलाकर घोल बना लें । इस घोल (मन्थ) का पान अत्यग्नि वाला रोगी करे । अथवा श्यामा त्रिवृत् (काली निशोथ) से साधित दूध का प्रयोग विरेचनार्थ करें । अर्थात् त्रिवृत् साधित दूध पिलाकर रोगी का विरेचन करावें । विरेचनोत्तर भोजन के रूप में पायस (खीर) का प्रयोग करें । –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

भवन्ति चात्र–

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ।।२३५।।
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः । भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ।।२३६।।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान् व्याधीन्सृजन्ति वा । प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।।२३७।।
दिवा प्रबुध्यतेऽकेंण हृदयं पुण्डरीकवत् । तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।।२३८।।
व्यायामाच्च विहाराच्च विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः । न क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ।।२३९।।
अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु न दुष्यति । अविदग्ध इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ।।२४०।।
नैव दूष्यति तेनैव समं संपद्यते यथा । रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च । यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते देहधातवः ।।२४१।।
क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति । विदग्धेषु पयःस्वन्यत् पयस्तप्तमिवार्पितम् ।।२४२।।
नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् । तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ।।२४३।।

Scanned by CamScanner

समशन–पथ्य एवं अपथ्य आहार को एक साथ मिलाकर सेवन करना 'समशन' कहलाता है ।

विषमाशन–मात्रा में अधिक, अथवा अल्प आहार जो आहार काल से पूर्व अथवा बीत जाने पर सेवन किया जाता है 'विषमाशन' कहलाता है ।

अध्यशन–पूर्व गृहीत आहार के शेष रहने पर पुनः भोजन कर लेना, अध्यशन कहलाता है । अर्थात् पूर्व आहार के उचित पाक न होने पर भी पुनः भोजन करना ।

ये तीनों प्रकार के आहार मृत्यु अथवा भयङ्कर व्याधियों के उत्पादक होते हैं । प्रातः काल में गृहीत आहार के अजीर्ण (सम्यक् पाक न होने) होने पर भी सायं काल में सेवित आहार से कोई हानि नहीं होती है क्योंकि जिस प्रकार दिन में सूर्य की किरणों द्वारा कमल विकसित (खिला) रहता है उसी प्रकार हृदय भी विकसित रहता है । हृदय के विकसित रहने से शरीर के सम्पूर्ण स्रोतस् भी खुले होते हैं। व्यक्ति दिन में शारीरिक व्यायाम (Physical exercise), विहार (इधर-उधर घूमना) एवं मानसिक कार्यों को करता रहता है, जिससे उसके शरीर के स्रोत खुले रहते हैं । परिणामतः दिन में गृहीत आहार से क्लेद नहीं उत्पन्न होता । इस अवस्था में सायं काल में गृहीत आहार पूर्व आहाररस में मिश्रित होकर कोई हानि नहीं पहुँचाता । यह कार्य ठीक वैसे ही होता है जैसे कच्चे दूध में दूसरा कच्चा दूध मिला देने पर विकृत नहीं होता । अर्थात् प्रातः के किये हुए भोजन के न पचने पर भी सायंकाल में गृहीत आहार से कोई हानि नहीं होती ।

रात्रि में हृदय के म्लान होने पर अर्थात् दिन की तुलना में कम क्रियाशील होने पर तथा स्रोतों के बन्द होने अथवा अल्प खुले होने से रात्रिकाल में गृहीत आहार से क्लेद उत्पन्न हो जाता है एवं शरीर धातुयें भी क्लेद युक्त हो जाती हैं । रात्रिकालीन गृहीत आहार जो क्लिन्न रहता है यदि उसमें दूसरा अपक्व आहार रस मिलता है तो वह दूषित हो जाता है । यह कार्य ठीक वैसे ही होता है जैसे उष्ण दूध में कच्चा दूध मिला देने पर वह फट जाता है । इसलिये आतुर के बल एवं आयु की रक्षा करने में तत्पर पुरुष को चाहिये कि रात्रिकालीन गृहीत आहार के अजीर्ण होने पर अर्थात् सम्यक् पाचन न होने पर प्रातः काल (दूसरे दिन) भोजन न करें ।

चक्रपाणि–'पथ्यापथ्यमित्यादि' के द्वारा पूर्व वर्णित समशन आदि के लक्षणों को बताया गया है ।

'समशन' से पथ्य एवं अपथ्य आहार को मिलाकर खाना, अर्थ गृहीत है, यथा-रक्तशाली एवं यवक को मिलाकर सेवन करना । **'विषमाशन'** के ४ भाग किये गये हैं–मात्रा से अधिक भोजन करना, अथवा अल्प मात्रा में भोजन करना, भोजनकाल से पूर्व भोजन करना अथवा भोजनकाल के व्यतीत हो जाने पर भोजन करना, विषमाशन कहलाता है ।

'पूर्वान्नेत्यादि' से दिन में भोजन करने के बाद पुनः उसी दिन भोजन करना अध्यशन कहलाता है, बताया गया है । उसी का निषेध यहाँ 'प्रातराशेत्यादि' से किया गया है । 'अशनम्' से भोजन अर्थ गृहीत है । प्रातः गृहीत भोजन के अजीर्ण होने पर भी सायं काल में गृहीत भोजन दोषोत्पादक नहीं होता । इसे यहाँ 'दिवेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

स्फुटत्वमिति विवृतत्वं=फैला होना या खुला होना, स्रोतों के विवृत (dilate- खुले) होने से उसमें वहने वाली रस की गति अवरुद्ध नहीं होती । जिससे स्रोतों में क्लेद नहीं उत्पन्न होता । व्यायाम आदि के कारण स्रोतों में विद्यमान आमांश सूख जाते हैं, अतः क्लेदांश का संचय नहीं होता । व्यायाम से यहाँ 'गमनादि' अर्थ गृहीत है । अर्थात् व्यक्ति दिन में ज्यादा चलता फिरता रहता है । विहार से यहाँ अंगक्षेपण आदि चेष्टाओं का ग्रहण किया गया है । स्रोतस् में क्लेदांश न हो तो क्या होता है ?, इसका उत्तर 'अक्लिन्नेष्वित्यादि' के द्वारा दिया गया है । महास्रोतस् में यदि क्लिन्न अन्न (अपक्व अन्न) न हो, अर्थात् पूर्वकृत आहार का पाचन सम्यक् हो गया हो तब पुनः गृहीत आहार से कोई हानि नहीं होती । आसिक्तमिति=प्रक्षिप्त । अविदग्धे इत्यादि के द्वारा यहाँ दृष्टान्त को स्पष्ट किया गया है । म्लाने=संकुचित होना ।

अपक्वेष्विति अन्येषु– रात्रिकालीन भोजन के अपक्व होने पर अर्थात् सम्यक् पाचन न होने पर अन्य कालों में (दूसरे दिन) भोजन नहीं करना चाहिए ।

'नैशेष्वित्यादि' के द्वारा इस प्रकरण का उपसंहार किया गया है । **नान्यत् समश्नीयादिति**-अन्य भोजन का ग्रहण न करें, रात्रिकालीन भोजन का पाचन न होने पर प्रातः काल पुनः भोजन नहीं लेना चाहिए । ॥२३५-२४३॥

विशेष (Comments)–हितकर एवं अहितकर भोजन को एक में मिलाकर खाना 'समशन' कहलाता है । मात्रा में अधिक अथवा अल्प, आहारकाल के पूर्व या पश्चात् जो कुछ भी पथ्य (हितकर) अथवा अहितकर (अपथ्य) आहार ग्रहण किया जाता है, वह विषमाशन के अन्तर्गत आता है । पूर्वान्नशेषे=पूर्व अन्न के शेष रहने पर अर्थात् दिन में गृहीत आहार का पूर्ण पाक न होने पर भी पुनः आहार सेवन करना अध्यशन कहलाता है । इन तीनों प्रकार के आहार (समशन, विषमाशन एवं अध्यशन) के सेवन से मृत्यु हो जाती है, अथवा

Scanned by CamScanner

भयङ्कर व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तब सद्यः अजीर्ण की अवस्था में भोजन ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं ग्रहण करना चाहिये। इसका उत्तर 'प्रातरित्यादि' के द्वारा दिया गया है। प्रातः काल में ग्रहण किये गये आहार के अजीर्ण होने पर भी सायंकाल अथवा रात्रि में लिया गया भोजन दोष नहीं उत्पन्न करता। किसलिये ? क्योंकि दिन में व्यक्ति का हृदय पुण्डरीकवत् प्रबुद्ध (क्रियाशील) रहता है, हृदय के क्रियाशील रहने पर शरीर के सभी अन्नादिवह स्रोतस् भी क्रियाशील रहते हैं, जिससे रसादि धातुओं का गमन सम्पूर्ण शरीर में होता है। व्यक्ति व्यायाम, गमन आदि कार्यों में लगा रहने के कारण उसका मन भी व्यस्त रहता है। फलतः पूर्वकृत आहार के अजीर्ण होने पर भी सायंकाल में सेवित आहार से रस रक्त आदि धातुओं में क्लेद नहीं उत्पन्न होता, यथा-कच्चे दूध में अल्प गरम किया हुआ अथवा अनम्ल दूसरा दूध मिलाने पर विकृत नहीं होता।

रात्रिकालीन सेवित आहार के अजीर्ण रहने पर दूसरे दिन प्रातः काल गृहीत आहार से क्या होता है, इसे 'रात्रावित्यादि' के द्वारा समझाया गया है। रात्रिकाल में सूर्य की किरणों के अभाव से जिस प्रकार कमल म्लान (बन्द) हो जाता है उसी प्रकार रसादि धातुओं के स्रोतस् भी संवृत ही (सिकुड़) जाते हैं, यही स्थिति कोष्ठ की भी होती है। परिणामतः आहाररस स्रोतो में रुक कर क्लिन्न (सड़ना अथवा अम्लरस युक्त होना) हो जाता है। इस क्लिन्नरस (आम अपक्व रस) के साथ पुनः प्रातः काल का सेवित आहाररस जब मिलता है तो वह भी दूषित हो जाता है, यथा-विदग्धीभूत दूध में अन्य तप्त दूध मिश्रित करना। ऐसा करने से दूध विकृत हो जाता है। -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

तत्र श्लोकाः-

अन्तरग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः। यथाऽन्नं पच्यते यांश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि ॥२४४॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान्। रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥२४५॥
वृष्याणामाशुकृच्छ्रेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः। रोगैकदेशकृच्छ्रेतुरन्तरग्निर्यथाऽधिकः ॥२४६॥
प्रदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि। ग्रहणी या यथा यच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥२४७॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम्। चतुर्विधस्य निर्दिष्टं तथा चावस्थिकी क्रिया ॥२४८॥
जायते च यथाऽत्यग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम्। उक्तवानिह तत् सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥२४९॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने ग्रहणीचिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार (To sum up)-इस ग्रहणी चिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित विषयों पर प्रकाश डाला है-

अन्तराग्नि (जाठराग्नि) के गुण एवं वह जिस प्रकार शरीर को धारण करती है, जिस प्रकार अन्न का पाचन करती है, वह आहार जो लाभकर होता है, (Ultimate functions of food) जितने प्रकार की अग्नियाँ हैं तथा वे जिन-जिन धातुओं को पुष्ट करती हैं तथा जिनका वे पाचन करती हैं, रसादि धातुओं की उत्पत्ति का क्रम तथा उनसे उत्पन्न होने वाले मल, वृष्य द्रव्यों के शीघ्र प्रभाव में हेतु, धातुओं की उत्पत्ति क्रम में लगने वाला समय (कालानुसार धातूत्पत्ति क्रम), एक देशज रोगोत्पत्ति में हेतु (शरीर के निश्चित भाग में उत्पन्न होने वाले रोग का हेतु), अन्तराग्नि की प्रधानता में हेतु, जिस प्रकार जाठराग्नि दूषित होती है तथा जिस प्रकार रोग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जाठराग्नि के दूषित होने पर जिस प्रकार रोग उत्पन्न होते हैं, ग्रहणी की निरुक्ति, ग्रहणीदोष के लक्षण (Signs and Symptoms of Grahaṇī disease), पूर्वरूप (Premonitary Signs and Symptoms of Grahaṇī-doṣa), विभिन्न प्रकार के ग्रहणी रोग (४ प्रकार के ग्रहणी रोग) एवं उनकी आवस्थिक चिकित्सा, अत्यग्नि किस प्रकार उत्पन्न होती है एवं उसकी चिकित्सा।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल पूरित अंश में चिकित्सास्थान के अन्तर्गत ग्रहणी चिकित्सा नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। ॥१५॥

चक्रपाणि-'अन्तरग्निरित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का संग्रह (उपसंहार) किया गया है। **येऽग्नय इति**-इसका उल्लेख 'भौमाप्याग्नेय' इत्यादि के द्वारा किया गया है। अर्थात् पञ्चभूताग्नियों के कार्य। पञ्चभूताग्नि एवं पञ्चभूतात्मक आहार के गुणों का संग्रह। पुष्यन्ति यावन्त इति-जिनसे ये पुष्ट होती हैं, इसका विवेचन 'यथास्वं स्वं च' (श्लोक नं. १४) के द्वारा किया गया है। **ये पचन्ति यानिति**-वे जिनका पाचन करती हैं, अर्थात् धात्वाग्नि व्यापार का विवेचन जिसे 'सप्तभिर्देहधातारः' इत्यादि (श्लोक नं. १५) के द्वारा बताया गया है। आशुकारित्वेन हेतुना आशुकृच्छ्रेतुः-वृष्य द्रव्यों के आशुकारी प्रभाव के हेतु को भी यहाँ बताया गया है। शेष स्पष्ट है।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में ग्रहणीचिकित्सा नामक पञ्चदश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥१५॥

Scanned by CamScanner

षोडशोऽध्यायः ।

अथातः पाण्डुरोगचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे पाण्डुरोगचिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ।।१-२।।

चक्रपाणि–ग्रहणीरोग चिकित्सा में पित्त वृद्धि के अनेक कारणों का उल्लेख किया गया । अब इसके बाद पित्त प्रधान पाण्डुरोग की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है ।

पाण्डुना वक्ष्यमाणहरितादिवर्णेभ्यः प्रधानेन वर्णेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः–पाण्डु के द्वारा वक्ष्यमाण, हरितादि वर्णों में प्रधान होने से तथा वर्ण के द्वारा ही इस व्याधि की पहचान होने से इसे पाण्डुरोग कहा जाता है । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"सर्वेषु चैतेषु हि पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः" (सु.उ.अ. ४४) इति । [इस व्याधि में पाण्डुभाव अत्यधिक रूप से व्यक्त होता है, इसलिये इसे पाण्डुरोग कहते हैं ।] कामला एवं हलीमक आदि भी पाण्डुरोग के ही भेद होने से उनकी चिकित्सा का अभिधान इस अध्याय में किया गया है ।

किंवा 'पाण्डुरोगादीनां चिकित्सितं पाण्डुरोगचिकित्सितम्' इति [पाण्डुरोग आदि की चिकित्सा पाण्डुरोगचिकित्सा कही गयी है, इसी से कामला आदि की भी चिकित्सा का भाव प्राप्त हो जाता है । ।।१-२।।

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः । चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ।।३।।

पाण्डुरोग के भेद–पाण्डुरोग पाँच प्रकार के होते हैं–

(क) वातज पाण्डुरोग (ख) पित्तज पाण्डुरोग (ग) कफज पाण्डुरोग
(घ) सन्निपातज पाण्डुरोग (ङ) मृद्भक्षण जन्य पाण्डुरोग

चक्रपाणि–त्रिशोथीय अध्याय (सू.अ. १८) में यद्यपि पाँच प्रकार के पाण्डुरोग का उल्लेख किया गया है, फिर भी यहाँ पुनः उसी का अनुवाद रूप होने से सुश्रुतोक्त चार संख्या (सुश्रुत ने ४ प्रकार के पाण्डुरोग बतलाये हैं) का निषेध हो जाता है । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-**पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक्समस्तैर्युगपच्चदोषैः**" (सु.उ.अ. ४४) इति [पाण्डुरोग अष्ट का आधा अर्थात् ४ प्रकार के होते हैं–१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज ।] अतः मृद्भक्षणजन्य पाण्डु का समावेश सुश्रुतोक्त सन्निपातज पाण्डु के अन्तर्गत हो जाता है । ।।३।।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु । शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ।।४।।
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः । व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ।।५।।
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः । वैवर्ण्यं भजते, तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ।।६।।

पाण्डुरोग की सामान्य संप्राप्ति (Pathogenesis in General)–पित्त प्रधान दोष जिस पुरुष की धातुओं में प्रकुपित होते हैं, उन धातुओं में गुरुता (Heaviness) एवं शिथिलता उत्पन्न हो जाती है, इसके बाद व्यक्ति के वर्ण (Complexion), बल (Strength), स्नेह (unctuousness) तथा और दूसरे ओज के गुणों का अत्यन्त क्षय हो जाता है, ऐसा दोषों द्वारा रक्तादि दूष्यों के दूषित होने से होता है । अर्थात् दोषों द्वारा धातुओं के दूषित होने से होता है । धातु- गुणों की क्षीणता के कारण व्यक्ति अल्प रक्त युक्त, अल्प मेद एवं अल्प ओज युक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषयों को उचित रूप से ग्रहण नहीं कर पाती तथा व्यक्ति का वर्ण विकृत हो जाता है । हे अग्निवेश ! अब आगे पाण्डुरोग के हेतु (Etiology and Pathogenesis) एवं लक्षणों (Signs and Symptoms) का विवेचन किया जा रहा है, उसे सुनो- ।।४-६।।

चक्रपाणि–'दोषा इत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग की संप्राप्ति को बताया गया है । 'दोषाः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है जिसका अभिप्राय वात, पित्त एवं कफ दोष से है । प्रधान रूप से पित्त प्रकुपित हो साथ में वात व कफ भी हो । यहाँ बहुवचन शब्द का प्रयोग अनेक व्यक्तियों के अर्थ में आया है, जो कि वास्तविक नहीं है । अर्थात् पाण्डुरोग में पित्त विशेष प्रकुपित होता है तथा कफ व वात सामान्यतः प्रकुपित होते हैं ।

गौरवं क्रियास्वसामर्थ्यात्–धातुओं में 'गुरुता' के उत्पन्न होने का अभिप्राय उनकी कार्यकारी क्षमता में कमी का होना है । पाण्डु रोगी में यह गुरुता धातुओं की निःसारता (रक्तादि धातुओं की अल्पता) के कारण उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं ।

Scanned by CamScanner

ओजसो गुणा इति–रक्तधातु रूप ओज के जो गुण होते हैं, क्योंकि पाण्डु में रक्तधातु (Blood) का क्षय होता है अथवा ओज के दस गुण जो दूध (Milk) के गुणों के तुल्य हैं, उनका ग्रहण है। 'ओज के क्षय' से ही स्नेहक्षय का भाव प्राप्त हो जाता है, फिर भी स्नेहक्षय का अभिधान होना, पाण्डुरोग में विशेष रूप से शरीर के स्नेहांश का क्षय होता है, यह दर्शाने के लिए किया गया है।

निःसारः अपगतधातुसारः–अष्टविध सार युक्त पुरुषों के जो गुण (लक्षण) बताये गये हैं (वि.अ. ८) उन गुणों से रहित होना 'निःसार' कहा गया है।

शिथिलेन्द्रियः दुर्बलेन्द्रियः–इन्द्रियों का दुर्बल होना, अर्थात् अपने कार्यों को करने में पूरी तरह से समर्थ न होना। स इति=वह (पुरुष)।

यद्यपि रक्त व पित्त दोनों सजातीय हैं, क्योंकि दोनों की ही उत्पत्ति तेज से होती है। अतः पित्त की वृद्धि होने पर रक्त की भी वृद्धि होनी चाहिये, जबकि यहाँ (पाण्डुरोग में) पित्त की वृद्धि होती है तथा रक्त का क्षय होता है ? पित्त की वृद्धि के कारण रक्तपोषक रस के सार भाग का उत्पादन नहीं होने से रक्त का क्षय होता है, यद्यपि पित्त तेज रूप होने से वर्णोत्पादक कहा गया है। कहा भी गया है, यथा– "तेजोधातुरप्युदकान्तरीक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरः" (शा.अ. ८) इति [तेजधातु के साथ जल एवं आकाश महाभूत की प्रधानता होने से प्रायः गौर (अवदात) वर्ण की उत्पत्ति होती है।] फिर भी यहाँ पित्त के विकृत होने से उसके द्वारा यहाँ वर्ण की विकृति होती है। ॥४-६॥

विशेष (Comments)–'पाण्डुरोगा इत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के भेद (प्रकार) का अभिधान किया गया है। पञ्चमो मृदो भक्षणादिति-पाण्डुरोग का पांचवा भेद मिट्टी खाने से होता है। अपने कारणों से प्रकुपित हुए वातादि दोषों द्वारा ही दूसरे भी रोग उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हीं कारणों से पाण्डुरोग को विभेदित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कषाय मिट्टी आदि के सेवन से प्रकुपित वातादि दोष अन्य रोगों के साथ पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है, फिर किस लिये मृद्भक्षण कारण से इसे विभेदित किया जाता है, ऐसा नहीं है। कषाय आदि मृद्भक्षण से प्रकुपित वातादि दोष 'पाण्डुरोग' को ही उत्पन्न करते हैं, अन्य व्याधियों को नहीं। इस आधार पर मृद्भक्षण जन्य पाण्डु एक भेद किया गया है। मात्र वातादिहर चिकित्सा के द्वारा इसका प्रशमन नहीं होता, मृद्भक्षण से जिस प्रकार वातादि का प्रकोप होता है तथा पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है। अतः व्याधि एवं हेतु दोनों के आधार पर पाण्डुरोग का भेद किया गया है। शोथ का कारण मृद्भक्षण भी कहा गया है, वह कषाय, ऊषर एवं मधुर मिट्टी के आधार पर विभेदित हो जाता है। अर्थात् कषायरस युक्त मिट्टी के सेवन से वातिक शोथ, ऊषररस युक्त मिट्टी से पैत्तिक एवं मधुररस युक्त मिट्टी से कफज शोथ की उत्पत्ति होती है। अथवा कषाय-वात, ऊषर-पित्त, मधुररस से कफ का प्रकोप होता है। अर्थात् इन हेतुओं के द्वारा प्रकुपित वातादि दोष शोफ के अतिरिक्त अन्य रोगों को उत्पन्न करते हैं। इसके साथ ही अन्य कारणों के द्वारा भी दोषों का प्रकोप होता है। जिससे शोथ की उत्पत्ति होती है। इसलिये मृत्तिकाजन्य शोफ के भेद को स्वीकार नहीं किया गया।

पाण्डुरोग की सामान्य संप्राप्ति का अभिधान-'दोषा इत्यादि' के द्वारा किया गया है। **पित्तप्रधाना इति**-अलग-अलग दोषों से उत्पन्न होने वाले पाण्डुरोग में, सबका उत्पादक (आरम्भक) कारण पित्त को ही कहा गया है तब किस प्रकार शेष दो दोष सबमें विद्यमान होते हैं। यहाँ 'दोषाः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। सभी पाण्डुरोग पित्त प्रधान होते हुए भी अन्य दोष की प्रधानता के कारण दोषज पाण्डुरोग उत्पन्न होता है। जिसके कारण पाण्डुरोग के अलग-अलग भेदों का अभिधान किया गया है। यह भेद अप्रधान दोषों के आधार पर नहीं किया गया है। पित्त को छोड़कर अन्य दो दोष व्याधि आरम्भक नहीं होते। उसी प्रकार कोपक कारण के अभाव की तरह द्वन्द्वज पाण्डुरोग भी होता है। उसी प्रकार पित्त की प्रधानता होने तथा अन्य दो दोषों के प्रकुपित होने से सन्निपातज पाण्डुरोग होता है। कोई भी पाण्डुरोग समत्रिदोषज नहीं होता, इस प्रकार यहाँ सन्निपात के ही अन्तर्गत द्विदोषज पाण्डुरोग का अन्तर्भाव होना चाहिए। 'पित्त दोष' की प्रधानता, सन्निपातज पाण्डुरोग में भी होती है, यह भाव 'दोषाःपित्तप्रधानास्तु' के द्वारा ही प्राप्त हो जाता है।

ये चान्येऽप्योजसो गुणा माधुर्यलाजगन्धादयः–जो दूसरे ओज के गुण बताये गये हैं, यथा- मधुररस, लाजा के समान गन्ध आदि के अत्यधिक क्षय हो जाने से व्यक्ति अल्प रक्तादि वाला हो जाता है, परिणामतः उसका वर्ण बदल जाता है। वह वर्ण पाण्डु वर्ण से भिन्न नहीं होता, इसलिये, इस व्याधि को पाण्डुरोग कहा जाता है। उसके लक्षण एवं हेतुओं का अभिधान आगे किया जा रहा है, उसे सुनो–

–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद

क्षाराम्ललवणात्युष्णविरुद्धासात्म्यभोजनात्। निष्यावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥७॥
विदग्धेऽन्ने दिवास्वप्राद्व्यायामान्मैथुनात्तथा। प्रतिकर्मर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥८॥
कामचिन्ताभयक्रोधशोकोपहतचेतसः। समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम् ॥९॥
वायुना बलिना क्षिप्तं संप्राप्य धमनीर्दश। प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम् ॥१०॥
प्रदूष्य कफवातासृक्त्वङ्मांसानि करोति तत्। पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधांस्त्वचि ॥११॥
स पाण्डुरोग इत्युक्तः

Scanned by CamScanner

पाण्डुरोग के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis)—अत्यधिक क्षार, अम्ल, लवणरस युक्त आहार के सेवन करने से, निष्पाव (A type of Śimba-सेम), माष (उड़द), पिण्याक (तिल की खली) एवं तिल तैल के अत्यधिक सेवन करने से, भोजन के विदग्ध होने (सम्यक् पाक न होने) पर भी दिन में शयन करने से, अत्यधिक व्यायाम एवं अत्यधिक मैथुन करने से, पञ्चकर्म के अनुचित प्रयोग से, ऋतुओं की विषमता से, अधारणीय वेगों के धारण करने से, काम, चिन्ता, भय, क्रोध एवं शोक आदि द्वारा व्यक्ति का मन उपहत हो जाता है, परिणामतः हृदयाश्रित पित्त की वृद्धि हो जाती है, वह बढ़ा हुआ पित्त वायु के द्वारा बलपूर्वक दस धमनियों में प्रक्षिप्त कर दिया जाता है जो सम्पूर्ण शरीर में पहुँचकर त्वचा व मांस के बीच आश्रित हो जाता है, वह पित्त-कफ, वायु, रक्त, त्वचा व मांस को दूषित करके त्वचा को पाण्डु, हरित, हारिद्रा तथा अनेक वर्ण युक्त कर देता है। इस रोग को पाण्डुरोग कहते हैं।

चक्रपाणि—'क्षारेत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के अनुकूल हेतुओं को बताया गया है। निष्पावः शिम्बः-सेम (फली)।

व्यायाममैथुने विदग्धेऽन्ने एव क्रियमाणे रोगहेतुनी—अन्न के विदग्ध होने पर (सम्यक् पाक न होने पर) मैथुन या व्यायाम करना रोगोत्पादक होता है। **प्रतिकर्मणां वमनादीनां ऋतूनां च वैषम्यं प्रतिकर्मर्तुवैषम्यम्**-वमनादि कर्मों का विषम होना तथा ऋतुओं का विषम होना प्रतिकर्म ऋतुवैषम्य कहा जाता है। अर्थात् पञ्चकर्म का अनुचित प्रयोग एवं ऋतुवैषम्यता पित्त प्रकोप का कारण है। **धमनीर्दश इति**-हृदय के आश्रित दस धमनियाँ। केवलम्=कृत्स्नम् (सम्पूर्ण) 'प्रदूष्यकफवातासृक्' इति पाठ में विक्षिप्त करने वाली वायु, पित्त द्वारा दूषित होती है। जब इसके स्थान पर 'कफपित्ताऽसृक' पाठ हो तब हृदयस्थ पित्त (साधक पित्त) बढ़कर अन्य स्थानों पर पहुँचकर तदाश्रित पित्त को दूषित करता है, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। 'समुदीर्णमित्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग की सामान्य संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। ॥७-११॥

विशेष (Comments)—'क्षारेत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के हेतुओं का अभिधान किया गया है। निष्पावः शिम्बि. Legume (फली) [सुश्रुत- Phaseolus trilobus Linn; Mucuna pruritus (कपिकच्छू की फली), अथवा Leguminous grain. Caraka. -M.M. Williams] पिण्याक=तिल का कल्क।

विदग्धेऽपक्वे=अपक्व अन्न, पूर्वकृत आहार के अजीर्ण रहने पर भी दिन में सोने से। अर्थात् वैसे भी दिन में सोने से कफ की वृद्धि होती है। अतः भोजन करने के बाद दिन में सोना नहीं चाहिये।

प्रतिकर्मवैषम्यादपररोगप्रतिकारार्थ कर्मणाम् सम्यक् योगात्-अन्य रोगों के चिकित्सार्थ प्रयुक्त कर्मों के अनुचित प्रयोग से। ऋतुवैषम्यात्=ऋतुओं में विषमता उत्पन्न होने से। इन सभी हेतुओं द्वारा पित्त का प्रकोप होता है। इन हेतुओं के द्वारा जिस प्रकार पित्त प्रकुपित होकर हृदय में स्थित होता है तथा उन क्षारादि कारणों द्वारा प्रकुपित होकर बली वायु के द्वारा हृदयाश्रित दस धमनियों को प्राप्त होकर सम्पूर्ण शरीर में फैलकर त्वचा व मांस के बीच स्थित होकर तदाश्रित कफ, वात, रक्त, त्वचा व मांस को दूषित करके त्वचा में पाण्डु आदि विविध वर्णों को उत्पन्न करता है। पाण्डु वर्ण की प्रधानता होने से इस रोग को पाण्डुरोग कहा गया है।

-तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा ॥१२॥

पाण्डुरोग का पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)—

-हृदय की धड़कन का बढ़ जाना (Palpitation)
-शरीर में रूक्षता का बढ़ना (ununctuousness)
-पसीना का न आना (Absence of sweating)
-शरीर में थकावट का होना,

चक्रपाणि—'तस्येत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के पूर्वरूप को बताया गया है। 'स्वेदाबाधः' इति कुछ आचार्य इसका पाठ 'स्वेदाभावः' के स्थान पर करते हैं, जिसका अर्थ 'पसीने का अधिक निकलना' है। ॥१२॥

संभूतेऽस्मिन् भवेत् सर्वः कर्णक्ष्वेडी हतानलः। दुर्बलः सदनोऽन्नद्विट् श्रमभ्रमनिपीडितः ॥१३॥
गात्रशूलज्वरश्वासगौरवारुचिमान्नरः। मृदितैरिव गात्रैश्च पीडितोन्मथितैरिव ॥१४॥
शूनाक्षिकूटो हरितः शीर्णलोमा हतप्रभः। कोपनः शिशिरद्वेषी निद्रालुः ष्ठीवनोऽल्पवाक् ॥१५॥
पिण्डिकोद्वेष्टकट्यूरुपादरुक्सदनानि च। भवन्त्यारोहणायासैर्विशेषश्चास्य वक्ष्यते ॥१६॥

पाण्डुरोग के सामान्य लक्षण (Signs and Symptoms of Pāṇḍu in General)—पाण्डुरोग के उत्पन्न होने पर रोगी में सामान्यतः अधोलिखित लक्षण मिलते हैं—

→ कर्णक्ष्वेड (कानों में आवाज का सुनाई देना) का होना।

Scanned by CamScanner

- → जाठराग्नि का मन्द हो जाना (Suppression of the power of digestion)
- → दुर्बलता (Weakness)
- → सदन (परिश्रम न करने पर भी शरीर में थकावट का होना) अथवा अन्न के प्रति द्वेष का होना।
- → श्रम (थकावट) एवं भ्रम (giddiness) का होना
- → गात्रशूल (शरीर में दर्द का होना bodyache), ज्वर (Fever), श्वास (dyspnoea), गौरव (शरीर में भारीपन का होना-Heaviness of the body), अरुचि (Anorexia) का होना।
- → शरीर को दबाने अथवा मथने की तरह पीड़ा का होना। अर्थात् रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शरीर अच्छी तरह से दबाया गया हो अथवा खूब हिला दिया गया हो।
- → अक्षिकूट में शोथ का होना (Swelling of the orbital region)
- → रोगी का वर्ण हरित होना व लोमों का टूट कर गिरना।
- → रोगी की कान्ति का क्षीण होना, अर्थात् चेहरे की चमक कम हो जाना;
- → बिना कारण के ही क्रोधित होना अथवा बात-बात में क्रोधित हो जाना,
- → शीतल अन्न-पान से द्वेष करना (dislikes cold things)
- → अत्यधिक निद्रा का आना, मुख से थूक का निकलना, बोलने की इच्छा न करना (कम बोलना), पिण्डलियों में ऐंठन का होना (Cramps in the calf region), कटि, ऊरु एवं पाद में वेदना एवं थकावट का होना (Pain and weakness in the Lumber region, thighs and feet), ये लक्षण विशेष रूप से सीढ़ियों पर चढ़ने से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सीढियों पर चढ़ने से रोगी के कटि (कमर) ऊरु एवं पैर में दर्द होने लगता हैं एवं थकावट उत्पन्न हो जाती है। पाण्डुरोग के विशेष लक्षणों का अभिधान आगे किया जायेगा।

चक्रपाणि-संभूतेऽस्मिन्निति-उत्पन्न पाण्डुरोग में। 'कर्णक्ष्वेडीत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के सामान्य लक्षणों का अभिधान किया गया है। कर्णक्ष्वेडी=बिना आवाज के ही कानों में आवाज का सुनाई देना। अन्नद्विडिति=अन्नाग्रह उच्यते (अन्न के प्रति विशेष इच्छा का होना)।

अरुचिमानित्यनेन-'अरुचि' से यहाँ-प्रार्थित वस्तु के भक्षण में समर्थ न होना, अर्थ गृहीत है। अर्थात् भोजन के प्रति इच्छा तो उत्पन्न होती है, लेकिन इच्छित वस्तु मिल जाने पर रोगी उसे खा नहीं पाता।

शिशिरद्वेषी इति-शीतल आहार-विहार के प्रति द्वेष करना। शिशिरद्वेषिता पित्त रोग में भी इस व्याधि (पाण्डुरोग) के प्रभाव के कारण है। यद्यपि पाण्डुरोग पित्त की वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है। अतः इसमें व्यक्ति को शीतल-अन्न-पान के प्रति प्रेम (रुचि) होना चाहिए, अपितु ऐसा न होकर शीतल वस्तुओं के प्रति द्वेष (अरुचि) उत्पन्न होता है। यह इस व्याधि के विशेष प्रभाव के कारण है। जो कि इस व्याधि का **विशिष्ट लक्षण** है।

पिण्डिकोद्वेष्टनम्-पिण्डलियों में पीड़ा का होना (Pain in call muscle)

आरोहणेनायासैरिति-आरोहण से आयास (थकावट) का होना। कुछ आचार्य इसे दो भागों में विभाजित कर अर्थ ग्रहण करते हैं- १. आरोहण, २. आयास, आरोहण एवं आयास (Physical exertion) के द्वारा रोगी के कटि, ऊरु एवं पाद (पैरों) में वेदना का होना अथवा थकावट का होना।

विशेषश्चास्य वक्ष्यते इति-पाण्डुरोग के वातजादि भेद के अनुसार हेतु एवं लक्षणों का अभिधान आगे करेंगे। अर्थात् वातज पाण्डु, पित्तज पाण्डु आदि भेदों के अनुसार हेतु एवं लक्षणों का विवेचन आगे करेंगे। ॥१३-१६॥

आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः। जनयेत्कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम् ॥१७॥
अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्। वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान् ॥१८॥

(क) वातज पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Vātaja Pāṇḍu)—वातवर्धक आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित हुई वायु शरीर में कृष्ण एवं पाण्डु वर्ण को उत्पन्न करता है। शरीर रूक्ष एवं अरुण (Redness) वर्ण का हो जाता है, इसके साथ ही और भी लक्षण उत्पन्न होते हैं, यथा- अंगमर्द (शरीर में दबाने जैसी पीड़ा का होना-Malaise), वेदना का होना, शरीर में सूई चुभाने जैसी पीड़ा का होना, कम्प (Tremor), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), शिरःशूल (Headache), पुरीष का शुष्क होना (dryness of the stool), आस्यवैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना distaste in mouth), शोफ (Oedema), आनाह (मलबद्धता-Constipation) एवं बल क्षय -Weakness) का होना।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'आहारैरित्यादि' के द्वारा वातज पाण्डु के हेतु एवं लक्षणों को बताया गया है। सामान्य लक्षण तो हर समय मिलते हैं, जबकि विशेष लक्षण व्याधि की विशेष अवस्था में मिलते हैं। ॥१७-१८॥

पित्तलस्याचितं पित्तं यथोक्तैः स्वैः प्रकोपणैः । दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते ॥१९॥
स पीतो हरिताभो वा ज्वरदाहसमन्वितः । तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः पीतमूत्रशकृन्नरः ॥२०॥
स्वेदनः शीतकामश्च न चान्नमभिनन्दति । कटुकास्यो न चास्योष्णमुपशेतेऽम्लमेव च ॥२१॥
उद्गारोऽम्लो विदाहश्च विदग्धेऽन्नेऽस्य जायते । दौर्गन्ध्यं भिन्नवर्चस्त्वं दौर्बल्यं तम एव च ॥२२॥

(ख) पित्तज पाण्डु के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Pittaja Pāṇḍu)–यदि पित्त प्रकृति वाला व्यक्ति पित्तवर्धक आहार-विहार का सेवन करता है तब उसके द्वारा प्रकुपित पित्त रक्तादि धातुओं को दूषित करते हुए पित्तज पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है। उस पित्तज पाण्डुरोग में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं–

→ रोगी हरा अथवा पीत वर्ण का हो जाता है। इसके साथ ही वह ज्वर (Fever) एवं दाह (Burning sensation) से युक्त होता है।
→ तृष्णाधिक्य (Excessive thirst), मूर्च्छा (Fainting), एवं पिपासा (Morbid thirst) से युक्त होना।
→ रोगी का मल (Stool) एवं मूत्र (Urine) पीत (Yellow) वर्ण का हो जाता है।
→ अत्यधिक पसीने का होना, शीतल वस्तुओं के सेवन की इच्छा का होना।
→ अन्न के प्रति द्वेष होना, मुख में कटु रस की प्रतीति का होना।
→ उष्ण एवं अम्ल द्रव्यों के सेवन से व्याधि का प्रशमित न होना, अर्थात् उष्ण एवं अम्लरस युक्त आहार-विहार आतुर के लिए अनुकूल नहीं होते।
→ खट्टी डकार का आना (अम्लोद्गार का होना), विदाह (छाती में जलन का होना), अन्न का विदाह युक्त होना, अर्थात् गृहीत आहार का सम्यक् पाक न होना
→ मुख में दुर्गन्ध का आना (Foul smell), अतिसार (diarrhoea), दुर्बलता (Weakness) एवं आँखों के सामने अंधकार का छाना।

चक्रपाणि–'पित्तलस्येत्यादि' के द्वारा पैत्तिक पाण्डु के हेतु एवं लक्षणों को बताया गया है।

सर्वोऽपि पाण्डुरोगः पित्तजः, तथाऽप्ययं विशेषेण दोषान्तरासंपृक्तप्रबलपित्तजन्यत्वात् पैत्तिक इत्युच्यते-सभी प्रकार के पाण्डुरोग पित्त की वृद्धि के कारण उत्पन्न होते हैं, फिर भी यह विशेष रूप से पित्त दोष की ही वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है, अन्य दोष इसकी संप्राप्ति में भाग नहीं लेते, यथा-पैत्तिक रक्तपित्त। इसलिये यहाँ पित्त की प्रबलता को दर्शाने हेतु 'पितलस्य इति' (पित्त प्रकृति वाले पुरुष को) कारण के रूप में बताया गया है। अन्य भेदों की संप्राप्ति में 'वातलस्य, श्लेष्मलस्य' का अभिधान नहीं किया गया है। अर्थात् इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है।

यथोक्तैरिति–जो हेतु 'अम्ललवणात्युष्ण' इत्यादि के द्वारा श्लोक नं. ७ में वर्णित हैं, उनका यहाँ ग्रहण है।

रक्तादीनिति रक्तप्रकारान्–रक्त के प्रकारों को, उससे बल (Strength), वात आदि भावों का भी ग्रहण होता है।

तृष्णामूर्च्छापिपासार्त इति–तृष्णा के कारण उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा 'तृष्णामूर्च्छा' कही गयी है (Fainting caused by excessive thirst) अतः पिपासा के साथ यह शब्द प्रयुक्त होने से पुनरुक्त नहीं कहा जा सकता। अन्य आचार्य तृष्णा से यहाँ 'क्षुधा' (भूख का लगना-Appetite) अर्थ ग्रहण करते हैं। कुछ लोग 'तृष्णामूर्च्छापिपासार्तः' के स्थान पर तृष्णामूर्च्छापरीतस्य' पाठ करते हैं जिसका अभिप्राय-रोगी तृष्णा (Morbid thirst) एवं मूर्च्छा (Fainting) से आक्रान्त रहता है, से है। ॥१९-२२॥

विवृद्धः श्लेष्मलैः श्लेष्मा पाण्डुरोगं स पूर्ववत् । करोति गौरवं तन्द्रां छर्दिं श्वेतावभासताम् ॥२३॥
प्रसेकं लोमहर्षं च सादं मूर्च्छां भ्रमं क्लमम् । श्वासं कासं तथाऽऽलस्यमरुचिं वाक्स्वरग्रहम् ॥२४॥
शुक्लमूत्राक्षिवर्चस्त्वं कटुरूक्षोष्णकामताम् । श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात् ॥२५॥

(ग) कफज पाण्डु के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Kaphaja Pāṇḍu)–कफ प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित कफ रक्तादि को दूषित करके पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है। इसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body)।
→ छर्दि (Vomiting), त्वचा का श्वेत वर्ण का होना (Whitish complexion)।

Scanned by CamScanner

→ मुख से पानी का आना (Salivation), रोमहर्ष (रोओं का खड़ा होना Horripilation), अंगसाद (Prostration), मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (चक्कर का आना-Giddiness), क्लम (मानसिक थकावट का होना), श्वास (Dyspnoea), कास (खाँसी का आना-Cough), आलस्य (काम करने की इच्छा का न होना-Laziness), अरुचि (Anorexia), वाणी एवं स्वर में रुकावट का होना (वाक्ग्रह एवं स्वरग्रह)।

→ मूत्र एवं पुरीष का वर्ण श्वेत (White) होना, आँखों का श्वेत वर्ण का होना (Whitness of the eyes)।

→ कटु, उष्ण एवं रूक्ष आहार द्रव्यों के सेवन की इच्छा का होना।

→ शरीर का शोथ युक्त होना (Oedema), मुख का स्वाद मधुर प्रतीत होना। अथवा पाठ भेद से मुख में लवण रस की प्रतीति का होना, अर्थ प्राप्त होता है।

चक्रपाणि–'विवृद्धः' इत्यादि के द्वारा कफज पाण्डुरोग का अभिधान किया गया है। **पूर्ववदिति**-पूर्व की तरह, अर्थात् कफवर्धक आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित कफ रक्तादि को दूषित करके पूर्व की भाँति पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है।।२३-२५।।

सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिदोषलिङ्गं कुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ।।२६।।

(घ) त्रिदोषज पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Tridosaja Pāṇḍu)–त्रिदोष प्रकोपक आहार-विहार के सेवन से तीनों दोष प्रकुपित होकर रक्तादि को दूषित करके अत्यन्त कष्टकारी त्रिदोषज पाण्डु रोग को उत्पन्न करते हैं। इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–'सर्वान्नेत्यादि' के द्वारा सान्निपातिक पाण्डुरोग का अभिधान किया गया है।

त्रिदोषलिङ्गमिति प्रत्येकदोषलिङ्गसमुदाययुक्तम्–प्रत्येक दोष के लक्षण मिलित रूप में प्राप्त होना। अर्थात् इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलित रूप से प्राप्त होते हैं।।२६।।

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः। कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम् ।।२७।।
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्युक्तं विरूक्षयेत्। पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च ।।२८।।
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा। पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ।।२९।।
शूनगण्डाक्षिकूटभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः। क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक् कफान्वितम् ।।३०।।

(ङ) मृद् भक्षण जन्य पाण्डुरोग के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Mrid-Bhakṣanaja Pāṇḍu)–ऐसे व्यक्ति जिन्हें मिट्टी खाने का स्वभाव है। अर्थात् जो मिट्टी खाने के अभ्यस्त हैं, उनके शरीर में वातादि दोषों में से कोई एक अत्यधिक प्रकुपित होकर पाण्डुरोग को उत्पन्न करता है, यथा-यदि व्यक्ति कषायरस युक्त मिट्टी का सेवन करता है तो वायु, क्षार युक्त अर्थात् क्षारीय मिट्टी के सेवन से पित्त तथा मधुररस युक्त मिट्टी के सेवन से कफ प्रकुपित हो जाता है। मिट्टी में विद्यमान विभिन्न रस एवं रूक्षता के कारण रसादि धातुएं भी रूक्ष हो जाती हैं। अर्थात् मिट्टी में विद्यमान रस एवं रूक्षता से सेवन किया हुआ भोजन भी रूक्ष हो जाता है, परिणामतः रसादि धातुएं रूक्ष हो जाती हैं। वह अपक्व मिट्टी (Undigested clay) स्रोतस् में जमा होकर अवरोध उत्पन्न करता है जिससे रसादि धातुओं का उचित निर्माण नहीं हो पाता। इस प्रकार सेवन की हुई मिट्टी से प्रकुपित तीनों दोष इन्द्रियों के बल (क्षमता) को नष्ट (अल्प) करते हुए आतुर के वीर्य, तेज तथा ओज को क्षीण कर देते हैं जिससे शीघ्र ही पाण्डुरोग उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

→ इस व्याधि में व्यक्ति के बल (Strength), वर्ण (Complexion) एवं अग्नि का नाश हो जाता है।

→ गण्ड (Cheek), अक्षिकूट (अक्षिगोलक) एवं भ्रू (eye brow) में शोथ उत्पन्न हो जाता है।

→ दोनों पैर, नाभि एवं मेहन (मूत्रेन्द्रिय) का शोथ युक्त होना।

→ कोष्ठ का क्रिमि युक्त होना (Appearance of worms in the intestine)

→ अतिसार (diarrhoea)

→ पुरीष के साथ रक्त व कफ का मिश्रित होना,

चक्रपाणि–'मृत्तिकेत्यादि' के द्वारा मृद्भक्षणजन्य पाण्डु को स्पष्ट किया गया है। इस पाण्डुरोग (मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग) में दोषों का सम्बन्ध होते हुए भी हेतु के रूप में मिट्टी का ही उपदेश दिया गया है न कि दोषों का, क्योंकि उससे ही चिकित्सा एवं लक्षणों में भेद

Scanned by CamScanner

उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् मृद् भक्षणजन्य पाण्डुरोग के लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) दोषज पाण्डुरोग से भिन्न है।

'कषाया मारुतमिति'-के द्वारा मिट्टी भी वातादि दोषों के लक्षणों के अनुसार अलग-अलग होती है, यह बताया गया है, यथा- कषायरस प्रधान मिट्टी-वातवर्धक, ऊषरेति=क्षारानुरस युक्त मिट्टी-पित्तवर्धक एवं मधुररस युक्त मिट्टी कफ वर्धक होती है। इस प्रकार मृद्-भक्षण जन्य पाण्डुरोग के भी अलग-अलग भेद हो जाते हैं-१. वात प्रधान मृद्-भक्षण जन्य पाण्डु, २. पित्त प्रधान मृद्-भक्षण जन्य पाण्डु, ३. श्लेष्म प्रधान मृद्-भक्षण जन्य पाण्डु आदि।

रसादीन् भुक्तं च विरूक्षयेदिति योज्यम्-मिट्टी के सेवन से अन्नरस रूक्ष हो जाता है। अर्थात् **मिट्टी**-अन्नरस को अपने गुणों से युक्त कर देती है तथा इसका पाक न होने से महास्रोतस् (स्रोतस्) में अवरोध उत्पन्न करता है अर्थात् आँतों की दीवारों में जम जाता है, जिससे अन्नरस का आचूषण सम्यक् नहीं हो पाता, परिणामतः रसादि धातुओं का पोषण सम्यक् नहीं होता, जिससे धातुएं दुर्बल या क्षीण हो जाती हैं।

'बलवर्णाग्निनाशनम् इति' के द्वारा पाण्डुरोग में बल वर्णादि की हानि होती है, यह दर्शाया गया है। अर्थात् इस व्याधि में व्यक्ति का शारीरिक बल (Strength) कम हो जाता है, वर्ण बदल जाता है (due to loss of blood) तथा जाठराग्नि (Power of digestion and Metabolism) मन्द हो जाती है। ॥२७-३०॥

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति। कालप्रकर्षाच्छ्नो ना यश्च पीतानि पश्यति ॥३१॥
बद्धाल्पविट्कं सकफं हरितं योऽतिसार्यते। दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृषार्दितः ॥३२॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात्। इति पञ्चविधस्योक्तं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥३३॥

असाध्य पाण्डुरोग के लक्षण (Prognosis)-निम्नलिखित लक्षण पाण्डुरोग की असाध्यता के द्योतक हैं-

- → व्याधि का चिरकाल तक बने रहना।
- → रोगी में अत्यधिक रूक्षता का उत्पन्न होना (Excessive dryness)
- → शरीर अत्यधिक रूक्ष हो जाने के कारण रोगी के शरीर में शोथ (oedema) उत्पन्न हो जाता है तथा रोगी को सभी वस्तुएं पीत वर्ण की दिखाई देती हैं, इस अवस्था का रोगी असाध्य होता है।
- → जिस पाण्डु रोगी का मल (Stool) बंधा हुआ (कड़ा), अल्प मात्रा में कफ युक्त हरित वर्ण का, बार-बार निकलता है, वह रोगी असाध्य होता है।
- → जो व्यक्ति मानसिक रूप से अत्यन्त दुःखी हो तथा उसका शरीर ऐसा प्रतीत होता हो जैसे कोई श्वेत वर्ण की वस्तु लेपित कर दी गयी हो। अर्थात् शरीर अत्यन्त श्वेत वर्ण का हो गया हो, साथ में वह छर्दि (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting) व तृषा (Morbid thirst) से पीड़ित हो, ऐसा रोगी असाध्य होता है।
- → वह पाण्डु रोगी जीवित नहीं रहता जिसका शरीर अत्यधिक रक्तक्षय के कारण पाण्डु वर्ण का न होकर श्वेत वर्ण का हो गया हो अर्थात् पाण्डु वर्ण (Pale colour) का परिवर्तन श्वेत वर्ण (White colour) में हो जाता है। अर्थात् यह स्थिति Severe anaemia में आती है।

इस प्रकार पाँच प्रकार के पाण्डुरोग के लक्षणों का वर्णन कर दिया गया।

चक्रपाणि-'पाण्डुरोग इत्यादि' के द्वारा पाण्डुरोग के असाध्य लक्षणों का अभिधान किया गया है। **खरीभूत इति अत्यर्थरूक्षः**=रूक्षता का अत्यधिक बढ़ जाना, यह स्थिति स्नेहांश के अत्यधिक क्षय हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। 'कालेत्यादि' के द्वारा अत्यन्त असाध्य दूसरे लक्षणों को बताया गया है, अर्थात् रोगी का शरीर शोथयुक्त होना तथा सभी वस्तुओं का पीत वर्ण का दिखाई देना, असाध्य लक्षण हैं।

श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इत्यर्थ-रोगी का शरीर किसी श्वेत वर्ण की वस्तु से लेप दी गयी हो, ऐसा प्रतीत होना, अर्थात् त्वचा का वर्ण अत्यन्त श्वेत हो जाना। यह अवस्था रक्तकणों के अत्यधिक क्षय की अवस्था में पायी जाती है। ॥३१-३३॥

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते। तस्य पित्तमसृग्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥३४॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः। रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥३५॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः। कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥३६॥
कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात् कुम्भकामला। कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः ॥३७॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति। दाहारुचितृषानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥३८॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान् विपद्यते।

Scanned by CamScanner

कामला [KĀMALĀ-JAUNDICE]

संप्राप्ति–यदि पाण्डु रोगी अत्यधिक पित्तवर्धक आहार-विहार का सेवन करता है, तब इनसे (इन हेतुओं द्वारा) पित्त प्रकुपित होकर रक्त एवं मांस को दग्ध करके कामला रोग को उत्पन्न करता है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

→ रोगी के नेत्र, त्वचा, नख एवं आनन (मुख) का अत्यधिक पीतवर्ण का हो जाना ।

→ रोगी के मूत्र (Urine) एवं पुरीष (Stool) का वर्ण रक्त एवं पीत वर्ण का होना,

→ रोगी का शरीर भेक के वर्ण का होना (बरसाती मेढ़क के वर्ण के समान होना) अर्थात् पीत वर्ण का होना ।

→ हतेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रियाँ अपने कार्यों को नहीं कर पाती,

→ दाह (Burning sensation), अविपाक (भोजन का पाचन न हो पाना-Indigestion), दौर्बल्य (Weakness-दुर्बलता), सदन (काम करने की इच्छा का न होना), अरुचि (Anorexia) एवं शरीर का अत्यधिक कृश हो जाना ।

कामला रोग पित्त की अत्यधिक वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है, यह दो प्रकार का होता है–१. कोष्ठाश्रयी कामला-यह कामला कोष्ठ Gastrointestinal tract) के आश्रित होती है । २. शाखाश्रित कामला-यह कामला शाखाओं (रक्तादि) के आश्रित होती है । ३. **कुम्भ कामला**-कुछ काल के बाद कामला के रोगी में रूक्षता अत्यधिक बढ़ जाती है । अर्थात् व्याधि के जीर्ण हो जाने पर रोगी का शरीर अधिक रूक्ष हो जाता है, व्याधि की इस अवस्था को 'कुम्भ कामला' कहते हैं । यह अवस्था कृच्छ्रसाध्य होती है ।

कुम्भ कामला के असाध्य लक्षण–अधोलिखित लक्षणों के मिलने पर कुम्भकामला का रोगी असाध्य समझा जाता है–

१. पुरीष एवं मूत्र का कृष्ण (काला) एवं पीत (पीला) वर्ण का होना ।
२. शरीर में शोथ का अत्यधिक बढ़ जाना ।
३. आँखें व मुख का रक्तवर्ण का होना ।
४. वमन में निकलने वाला पदार्थ (Vomit), पुरीष (Stool) एवं मूत्र (Urine) में रक्त का आना ।
५. शरीर में कम्पन का होना ।
६. रोगी के शरीर में दाह (Burning sensation), अरुचि (Anorexia), तृषा (प्यास का लगना-Morbid thirst), आनाह (मलबद्धता-Constipation), तन्द्रा (drowsiness) एवं मूर्च्छा (Fainting) का होना ।
७. जाठराग्नि का नष्ट हो जाना (Loss of power of digestion and Metabolism)
८. संज्ञा रहित होना (Unconsciousness)

इन लक्षणों से युक्त कुम्भकामला का रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है । ॥३४-३८॥

चक्रपाणि–'पाण्डुरोगीत्यादि' के द्वारा कामला (Jaundice) का विवेचन किया गया है । 'पाण्डुरोगीति' वचन से पाण्डु रोग के ही हेतु की विशेषता से कामला आदि की अवस्था प्राप्त होती है, यह बताया गया है । अर्थात् पाण्डु रोगी जब अत्यधिक पित्तवर्धक निदानों का सेवन करता है तब अत्यधिक प्रकुपित पित्त रक्त एवं मांस को दग्ध करके 'कामला' को उत्पन्न करता है । अतः पाण्डुरोग की एक विशेष अवस्था 'काम्ला' कही गयी है । आचार्य हारीत ने भी कामला आदि की उत्पत्ति में पाण्डुरोग के ही रोगत्व को स्वीकार किया है । कहा भी गया है, यथा– **'वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसंभवे च । द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः''** [पाण्डुरोग ८ प्रकार के होते हैं–१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. त्रिदोषज, ५. मृद् भक्षणजन्य, ६. कोष्ठाश्रित कामला, ७. शाखाश्रित कामला, (दो प्रकार के कामला) ८. हलीमक] अतः स्पष्ट है कि पाण्डु का ही एक भेद कामला भी है । अन्य आचार्यों के अनुसार सुश्रुत में वर्णित कामला चरकोक्त कामला से भिन्न है, यथा-**''यो ह्यामयान्ते सहसाऽम्लमन्नमद्यादपथ्यान्यपि तस्य पित्तम् । करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च''** (सु.उ.अ. ४४) इति [जो व्यक्ति किसी व्याधि के समाप्त होने पर अचानक अम्लरस प्रधान आहार, मद्य अथवा अन्य दूसरे अपथ्य का सेवन करता है, उसका पित्त प्रकुपित हो करके मुख (वदन) को पाण्डु वर्ण का कर देता है तथा पूर्व वर्णित तन्द्रा, बलक्षय आदि लक्षणों को विशेष रूप से उत्पन्न करता है ।] के द्वारा कामला के पृथक् हेतुओं का वर्णन किया गया है । आचार्य वाग्भट ने भी स्वतंत्र रूप से भी कामला उत्पन्न होता है, बताया है, यथा-''भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च'' (वा.नि.अ. १३) इति [पित्त की उल्बणता से पाण्डुरोग के बिना भी कामला उत्पन्न होती है ।] इस प्रकार कामला पाण्डु रोग के पश्चात् उत्पन्न होती है तथा पाण्डुरोग के बिना भी उत्पन्न होती है । अर्थात् परतंत्र एवं स्वतंत्र दोनों रूप में कामला (Jaundice) की उत्पत्ति होती है, यथा-प्रमेह

Scanned by CamScanner

पिडिका-प्रमेह के उपद्रव रूप में तथा विना प्रमेह के भी उत्पन्न होती है। उसी प्रकार कामला भी पाण्डुरोग के उपद्रव के रूप में एवं स्वतंत्र रूप में भी उत्पन्न होता है। कोष्ठशाखाश्रित कामला, जिसमें पित्त की अत्यधिक उल्वणता रहती है, पाण्डुरोग के पश्चात् उत्पन्न होती है तथा शाखाश्रित कामला जिसमें पित्त का प्रकोप अल्प रूप में रहता है, वह स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होता है; ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इसलिये उसके हेतुओं एवं लक्षणों का अभिधान 'रूक्षशीतेत्यादि' के द्वारा अध्याय के अन्त में किया जायेगा।

'बहुपित्तेत्यनेन' के द्वारा शाखाश्रयी कामला में पित्त अल्प रूप में प्रकुपित होता है, बताया गया है। क्योंकि इसकी चिकित्सा हेतु अम्ल, कटु एवं तीक्ष्ण आहार द्रव्यों के उपयोग का निर्देश दिया गया है, ऐसा निर्देश शाखाश्रित पित्त को कोष्ठ में लाने हेतु किया गया है।

खरीभूतेति=कठोरता को प्राप्त होना, कालान्तर में आतुर का शरीर कठिन (Hard) हो जाता है, कामला की यह अवस्था कुम्भकामला के नाम से निर्दिष्ट है, जिसकी चिकित्सा कृच्छ्र साध्य होती है। **कुम्भकामला**-अवस्था भेद से कोष्ठगत कामला का ही नाम कुम्भकामला दिया गया है। **कुम्भः=कोष्ठः, तदाश्रया कामला कुम्भकामला**-कुम्भ का अर्थ कोष्ठ लिया गया है, उसके आश्रित होने वाली कामला को कुम्भकामला कहते हैं। इसमें शोथ (Oedema) विशेष रूप से पाया जाता है। अर्थात् शोथ इसका विशिष्ट लक्षण है। सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा-"भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्नः शोथो महांस्तत्र च पर्वभेदः" (सु.उ.अ. ४४) इति [कुम्भकामला, कामला का ही भेद है-इसमें शरीर में अत्यधिक शोथ एवं पर्वों में पीड़ा (Pain in small joints) होती है।] ॥३४-३८॥

साध्यानामितरेषां तु प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ॥३९॥
तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमिकैः । संशोध्यो मृदुभिस्तिक्तैः कामली तु विरेचनैः ॥४०॥
ताभ्यां संशुद्धकोष्ठाभ्यां पथ्यान्यन्नानि दापयेत् । शालीन् सयवगोधूमान् पुराणान् यूषसंहितान् ॥४१॥
मुद्गाढकीमसूरैश्च जाङ्गलैश्च रसैर्हितैः । यथादोषं विशिष्टं च तयोर्भैषज्यमाचरेत् ॥४२॥
पञ्चगव्यं महातिक्तं कल्याणकमथापि वा । स्नेहनार्थं घृतं दद्यात् कामलापाण्डुरोगिणे ॥४३॥

पाण्डुरोग की चिकित्सा (Treatment of Pāṇḍu Roga)-इन लक्षणों से भिन्न (असाध्य से भिन्न) साध्य पाण्डु एवं कामला की चिकित्सा आगे बतायी जा रही है-

१. साध्य पाण्डुरोग में सम्यक् स्नेहन (बाह्य एवं आभ्यन्तर) के पश्चात् तीक्ष्ण ऊर्ध्वानुलोमक द्रव्यों (औषधियों) के प्रयोग द्वारा आतुर को शुद्ध करना चाहिए।

२. कामला रोग में मृदु एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। अर्थात् इस व्याधि में स्नेहपान के पश्चात् मृदु विरेचन करावें। वमन व विरेचन के द्वारा कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर आतुर को पथ्य (हितकर) अन्न का सेवन कराना चाहिये।

३. पथ्य अन्न के रूप में पुराना शालि चावल, यव (Barley), गेहूँ का प्रयोग करें। यूष के रूप में मूंग, अरहर, मसूर, तथा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन (प्रयोग) हितकर होता है। रोगी को (पाण्डु एवं कामला के रोगी को) दोष विशेष के अनुसार जो आहार एवं औषधि हितकर (अनुकूल) हो, उसका प्रयोग करना चाहिए।

४. पाण्डु तथा कामला के रोगी को आभ्यन्तर स्नेहन कराने के लिए पञ्चगव्य घृत, महातिक्त घृत अथवा कल्याणक घृत का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् इन घृतों द्वारा रोगी का स्नेहन कराना चाहिए।

चक्रपाणि-'तत्रेत्यादि' के द्वारा पाण्डु एवं कामला रोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। ऊर्ध्वानुलोमकैरित्यनेन-से ऊर्ध्वहर एवं अनुलोमन से वमन व विरेचन का ग्रहण किया गया है। अर्थात् ऊर्ध्वहर से वमन तथा अनुलोमन से विरेचन का भी ग्रहण किया जाता है। लेकिन यहाँ ऊर्ध्वभागहर अनुलोमन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा रोगी का संशोधन कराने का निर्देश है। पाण्डुरोग में भी 'कफपाण्डुस्तु गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां हरीतकीम्' इत्यादि के द्वारा विरेचन का निर्देश किया गया है। अर्थात् गोमूत्र भावित हरीतकी चूर्ण के प्रयोग द्वारा कफज पाण्डुरोग में विरेचन कराना चाहिए, [क्योंकि हरीतकी ऊर्ध्वमार्गी दोषों को अधः मार्ग से प्रवृत्त करातीं हैं, गोमूत्र कफ पित्त स्रावक होता है। गोमूत्र की भावना से हरीतकी में तीक्ष्णादि गुणों की वृद्धि हो जाती है।]

ताभ्यामिति-पाण्डु एवं कामला रोगी का ग्रहण किया गया है। दोनों के कोष्ठ की शुद्धि होने के बाद। अथवा ऊर्ध्व एवं अधः शुद्धि के बाद हितकर अन्न का प्रयोग (संसर्जन क्रम का प्रयोग) करना चाहिए।

'विशिष्टमित्यादि'-कामला व पाण्डुरोग की विशेष औषधियों का प्रयोग उनकी विशेष अवस्थाओं मे करना चाहिए। अथवा संशोधनोत्तर शमन औषधियों (दोषशामक औषधियों) का प्रयोग करना चाहिए। ॥३९-४३॥

दाडिमात् कुडवो धान्यात् कुडवार्धं पलं पलम् । चित्रकाच्छृङ्गवेराच्च पिप्पल्यष्टमिका तथा ॥४४॥
तैः कल्कैर्विंशतिपलं घृतस्य सलिलाढके । सिद्धं हृत्पाण्डुगुल्मार्शःप्लीहवातकफार्तिनुत् ॥४५॥

Scanned by CamScanner

दीपनं श्वासकासघ्नं मूढवाते च शस्यते । दुःखप्रसविनीनां च वन्ध्यानां चैव गर्भदम् ।।४६।।
इति दाडिमाद्यं घृतम् ।

कटुका रोहिणी मुस्तं हरिद्रे वत्सकात् पलम् । पटोलं चन्दनं मूर्वा त्रायमाणा दुरालभा ।।४७।।
कृष्णा पर्पटको निम्बो भूनिम्बो देवदारु च । तैः कार्षिकैर्घृतप्रस्थः सिद्धः क्षीरचतुर्गुणः ।।४८।।
रक्तपित्तं ज्वरं दाहं श्वयथुं सभगन्दरम् । अर्शांस्यसृग्दरं चैव हन्ति विस्फोटकांस्तथा ।।४९।।
इति कटुकाद्यं घृतम् ।

दाडिमाद्यघृत–अनारदाना- १ कुडव, धनिया- १/२ कुडव, चित्रकमूल-१ पल, शृंगबेर- १ पल, पिप्पली- १ अष्टमिका (२ कर्ष); सभी द्रव्यों को सील पर पीस कर कल्क बना लें । इस कल्क को २० पल गोघृत एवं १ आढक जल में मिलाकर, मन्दाग्नि में पाक करें । घृत के सिद्ध हो जाने पर छानकर बोतलों में सुरक्षित रख लें । इस सिद्ध घृत के प्रयोग से हृद्रोग (Heart disease), पाण्डुरोग (Anaemia), गुल्म, अर्श (Piles), प्लीहा रोग (Splenomegaly) तथा वात कफ जनित रोग दूर हो जाते हैं । यह घृत अग्नि को दीप्त करता है, श्वास एवं कास का नाशक है, मूढवात एवं कष्ट प्रसव में अत्यन्त हितकर होता है । इसके सेवन से बन्ध्या स्त्री भी गर्भ धारण कर लेती है ।

कटुकाद्य घृत–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–कल्क द्रव्य-कुटकी, नागरमुस्तक, हल्दी, दारुहल्दी, वत्सक (इन्द्रयव); प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लें । पटोल, लालचन्दन, मूर्वा, त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली, पित्तपापड़ा, निम्ब की छाल, भूनिम्ब (चिरायता) तथा देवदारु; प्रत्येक १-१ कर्ष लें । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कल्क बना लें । गोघृत- १ प्रस्थ, गोदुग्ध- ४ प्रस्थ लें । अब कल्क, गोघृत एवं गोदुग्ध को एक पात्र में रखकर मिला दें । अब इसे मन्दाग्नि पर पाक करें । घृत के सिद्ध हो जाने पर छान कर चौड़े मुह के बोतल में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस घृत के सेवन से रक्तपित्त, ज्वर (Fever), दाह (सम्पूर्ण शरीर में जलन का होना), श्वयथु (Oedema), भगन्दर (Fistula-in ano), अर्श (Piles), असृग्दर (Menorrhagia) तथा विस्फोटक (A disease characterised by pastular eruptions in the body) आदि व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं ।

चक्रपाणि–अष्टमिका=२ कर्ष, कहा भी गया है, यथा-"द्वे सुवर्णे पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिकाऽपि च" (क.अ. १२) इति [दो सुवर्ण=अर्धपल अर्थात् १ पलार्ध, इसी का नाम सुक्ति अथवा अष्टमिका भी है । ।।४४-४९।।

पथ्याशतरसे पथ्यावृन्तार्धशतकल्कवान् । प्रस्थः सिद्धो घृतात् पेयः स पाण्ड्वामयगुल्मनुत् ।।५०।।
इति पथ्याघृतम् ।

पथ्याघृत–घटक द्रव्य- (क) शतपथ्यारस (१०० हरड़ का रस)
(ख) ५० हरड़ की फलवृन्त (डण्ठल) का कल्क,
(ग) गोघृत- १ प्रस्थ

एक पात्र में हरीतकी स्वरस (क्वाथ), कल्क एवं गोघृत लेकर एक में मिला लें । अब इसे मन्दाग्नि पर पकावें । घृत के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर छानकर चौड़े मुह के बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें । इस सिद्ध घृत के सेवन से पाण्डु एवं गुल्मरोग दूर हो जाता है ।

चक्रपाणि–पथ्याशतेन क्वाथः कर्तव्यः-१०० हरड़ का क्वाथ बनाना चाहिए, यहाँ क्वाथ निर्माण हेतु द्रव (जल) की मात्रा उतनी लेनी चाहिए जो चतुर्थांश अवशिष्ट होने पर भी घृत का चतुर्गुण हो । अर्थात् निर्मित क्वाथ की मात्रा ४ प्रस्थ होनी चाहिए तथा ४ प्रस्थ क्वाथ के निर्माण हेतु १६ प्रस्थ जल का ग्रहण करें ।

अतः १६ प्रस्थ जल में १०० हरड़ को पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । अब क्वाथ- ४ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ तथा कल्क का पाक करें ।

पथ्यावृन्तार्धशतं हरीतकीफलबन्धनार्धशतम्–इससे वृन्तयुक्त हरीतकी- ५० संख्या में लेकर कल्क बनाना चाहिए, कुछ आचार्य पथ्यावृन्त चूर्ण से हरीतकी फल के चूर्ण का ग्रहण करते हैं, अर्थात् बीज रहित हरीतक फल चूर्ण का प्रयोग करने का भाव है । ।।५०।।

दन्त्याश्चतुष्पलरसे पिष्टैर्दन्तीशलाटुभिः । तद्वत्प्रस्थो घृतात्सिद्धः प्लीहपाण्ड्वर्तिशोफजित् ।।५१।।
इति दन्तीघृतम् ।

दन्तीघृत– १. दन्ती स्वरस (क्वाथ)- ४ पल
२. दन्ती के कच्चे फल की मज्जा का कल्क
३. गोघृत- १ प्रस्थ ।

Scanned by CamScanner

एक पात्र में तीनों द्रव्यों को लेकर विधिवत पकावें। घृत के सिद्ध हो जाने पर छानकर सुरक्षित रख लें। मात्रापूर्वक इस घृत के सेवन करने से प्लीह रोग (Splenic disorders), पाण्डु (Anaemia) एवं शोफ (Oedema) दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि–दन्ती का क्वाथ गोघृत की मात्रा के ४ गुनी ग्रहण करें, अर्थात् ४ पल दन्ती को १६ प्रस्थ जल में पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर क्वाथ को छान लें। इस प्रकार ४ प्रस्थ क्वाथ तैयार हो जाता है। अन्य शास्त्रों में क्वाथ की मात्रा १ प्रस्थ बतायी गयी है। कहा भी गया है, यथा-"निकुम्भकुडवक्वाथे प्रस्थे तत्कल्कसंयुतम्। सर्पिः प्रस्थं पचेत् प्लीहकामलापाण्डुरोगनुत्" इति। ॥५१॥

पुराणसर्पिषः प्रस्थो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः। कामलागुल्मपाण्ड्वर्तिज्वरमेहोदरापहः ॥५२॥
इति द्राक्षाघृतम्।

द्राक्षाघृत–१ प्रस्थ गोघृत, १/२ प्रस्थ द्राक्षा कल्क, जल- ४ प्रस्थ। एक बड़े पात्र में १ प्रस्थ गोघृत, कल्क एवं जल डालकर मन्दाग्नि पर घृत को सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर छानकर चौड़े मुख के बोतलों में भर कर सुरक्षित रख लें। इस घृत के मात्रापूर्वक सेवन करने से कामला (Jaundice), गुल्म, पाण्डु (Anaemia), ज्वर (Fever), प्रमेह (Urinary diseases including diabetes) एवं उदररोग (Abdominal diseases including Ascites) नष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि–'पुराणेत्यादि' के द्वारा द्राक्षाघृत का अभिधान किया गया है। यहाँ द्रव के मान का उल्लेख न होने से द्रव के स्थान पर घृत की मात्रा का ४ गुना जल ग्रहण करते हैं। कल्क के रूप में १/२ प्रस्थ द्राक्षा का ग्रहण करें। ॥५२॥

हरिद्रात्रिफलानिम्बबलामधुकसाधितम्। सक्षीरं माहिषं सर्पिः कामलाहरमुत्तमम् ॥५३॥
इति हरिद्रादिघृतम्।

हरिद्रादि घृत-घटक द्रव्य-१. कल्क- हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम की छाल, बलामूल, यष्टीमधु; २. भैंस का दूध, ३. भैंस का घृत।

कल्क, दूध एवं घृत को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत कामला रोग (Jaundice) को दूर करने में श्रेष्ठ है।

चक्रपाणि–हरिद्रेत्यादि के द्वारा हरिद्रादिघृत के निर्माण की विधि को बताया गया है। इस घृत में दूध के अतिरिक्त अन्य द्रव का अभिधान नहीं किया गया है। अतः दूध का मान घृत के मान से चतुर्गुण तथा कल्क का मान घृत के मान से चतुर्थांश होना चाहिए। ॥५३॥

विशेष–इस प्रकार हरिद्रादि घृत के द्रव्यों का मान निम्नवत् है–१. कल्क- १/४ भाग, २. घृत- भैंस का घृत- १ भाग, ३. द्रव- भैंस का दूध- ४ भाग, ४. जल- ४ भाग

कल्क, घृत एवं द्रव पदार्थ को एक में मिलाकर मन्दाग्नि पर पाक करें, भैंस का दूध पक जाने पर (जलीयांश उड़ जाने पर) खोये के पाक हेतु पुनः चतुर्गुण (दूध के बराबर मात्रा में) जल मिलाकर पुनः पाक करें, गन्ध, वर्ण एवं घृत सिद्धि के परीक्षोपरान्त घृत को अग्नि पर से उतारकर कुछ गरम रहने पर ही कपड़े से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। घृतपाक में जब मात्र दुग्ध का पाक करना हो तब उसे अन्त में जल डालकर अवश्य पकाना चाहिए, अन्यथा खोये का पाक नहीं हो पाता, यह विशेष ध्यान रखें।

गोमूत्रे द्विगुणे दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितः। दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे कल्के कालीयके परः ॥५४॥
माहिषात् सर्पिषः प्रस्थः पूर्वः पूर्वे परे परः।

पाण्डु एवं कामला नाशक अन्य घृत–

१. क. भैंस का घृत- १ प्रस्थ
   ख. गोमूत्र- २ प्रस्थ
   ग. दारुहरिद्रा का कल्क- २ अक्ष (तोला)
   } इन द्रव्यों द्वारा घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें।

२. क. दारुहल्दी का क्वाथ- ५ पल
   ख. कालीयक का कल्क- १/४ प्रस्थ
   ग. भैंस का घृत- १ प्रस्थ

क्वाथ, कल्क एवं घृत को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह घृत पूर्वोक्त गुणों को दर्शाता है, अर्थात् यह घृत पाण्डु एवं कामला रोग को नष्ट करता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-दार्व्याः कल्काक्षद्वयसाधितो माहिषसर्पिषः प्रस्थ इति-भैंस का घृत- १ प्रस्थ, दार्वी (दारुहल्दी) का कल्क- २ अक्ष (२ तोला) लेकर सिद्ध करें। **दार्व्याः पञ्चपलक्वाथे इत्यत्रापि पूर्वघृतानुसारात् पञ्चपलदार्वीक्वाथोऽपि घृतादिद्विगुण एव कर्तव्यः-**दार्वी के पञ्चपल क्वाथ से यहाँ पूर्व घृत (नं. १) के अनुसार पञ्चपल दार्वी से निर्मित क्वाथ का परिमाण घृत के मान का दूना होना चाहिए। कालीयक कल्क का मान- २ अक्ष (२ तोला) ग्रहण करें। पूर्वः पूर्वे इति- पूर्व वर्णित योग (नं. १), जो गोमूत्र साधित है पाण्डु रोग को दूर करता है। 'परे' से दूसरा योग जो दार्वी क्वाथ एवं कालीयक कल्क द्वारा साधित है, कामला रोग को दूर करता है। अथवा इन दो व्याधियों में इस घृत का प्रयोग करना चाहिए। ॥५४॥

स्नेहैरेभिरुपक्रम्य स्निग्धं मत्वा विरेचयेत् ॥५५॥
पयसा मूत्रयुक्तेन बहुशः केवलेन वा। दन्तीफलरसे कोष्णे काश्मर्याञ्जलिना शृतम् ॥५६॥
द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वा वा दद्यात् पाण्ड्वामयापहम्। द्विशर्करं त्रिवृच्चूर्णं पलार्धं पैत्तिकः पिबेत् ॥५७॥
कफपाण्डुस्तु गोमूत्रक्लिन्नयुक्तां हरीतकीम्। आरग्वधं रसेनेक्षोर्विदार्यामलकस्य च ॥५८॥
सत्र्यूषणं बिल्वपत्रं पिबेन्ना कामलापहम्। दन्त्यर्धपलकल्कं वा द्विगुडं शीतवारिणा ॥५९॥
कामली त्रिवृतां वाऽपि त्रिफलाया रसैः पिबेत्। विशालात्रिफलामुस्तकुष्ठदारुकलिङ्गकान् ॥६०॥
कार्षिकानर्धकर्षांशां कुर्यादितिविषां तथा। कर्षौ मधुरसाया द्वौ सर्वमेतत् सुखाम्बुना ॥६१॥
मृदितं तं रसं पूतं पीत्वा लिह्याच्च मध्वनु। कासं श्वासं ज्वरं दाहं पाण्डुरोगमरोचकम् ॥६२॥
गुल्मानाहामवातांश्च रक्तपित्तं च नाशयेत्। त्रिफलाया गुडूच्या वा दार्व्या निम्बस्य वा रसम् ॥६३॥
शीतं मधुयुतं प्रातः कामलार्तः पिबेन्नरः। क्षीरमूत्रं पिबेत् पक्षं गव्यं माहिषमेव वा ॥६४॥
पाण्ड्वर्गोमूत्रयुक्तं वा सप्ताहं त्रिफलारसम्। तरुजान् ज्वलितान्मूत्रे निर्वाप्यामृद्य चाङ्गुरान् ॥६५॥
मातुलुङ्गस्य तत् पूतं पाण्डुशोथहरं पिबेत्। स्वर्णक्षीरी त्रिवृच्छ्यामे भद्रदारु सनागरम् ॥६६॥
गोमूत्राञ्जलिना पिष्टं मूत्रे वा क्वथितं पिबेत्। क्षीरमेभिः शृतं वाऽपि पिबेद्दोषानुलोमनम् ॥६७॥
हरीतकीं प्रयोगेण गोमूत्रेणाथवा पिबेत्। जीर्णे क्षीरेण भुञ्जीत रसेन मधुरेण वा ॥६८॥
सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः। पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद्भिषक् ॥६९॥

संशोधन चिकित्सा (Purgation therapy)–पूर्व निर्दिष्ट घृतों के द्वारा रोगी को सम्यक् स्निग्ध करने के बाद विरेचन हेतु अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिये–

१. गोमूत्र मिश्रित दूध के प्रयोग द्वारा

२. अथवा केवल दुग्ध के प्रयोग द्वारा

३. दन्तीफल के सुखोष्ण क्वाथ में गम्भारी का चूर्ण १ अञ्जलि अथवा द्राक्षा का कल्क १ अञ्जलि मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिए। यह योग पाण्डुरोग (Anaemia) को दूर करता है।

४. पित्तज पाण्डुरोग में अर्धपल (२ तोले) त्रिवृत् चूर्ण में दूनी शर्करा (गुड़- ४ तोले) मिलाकर रोगी को विरेचनार्थ देना चाहिये।

५. यदि रोगी कफज पाण्डु से ग्रसित है तो उसे गोमूत्र भावित हरीतकी का प्रयोग करावें। आरग्वध (अमलतास) की गुद्दी को बिल्वपत्र व त्रिकटु चूर्ण के साथ इक्षुरस, विदारीकन्द स्वरस अथवा आमलकी स्वरस के साथ पानार्थ दें। यह योग कामला रोग को दूर करता है।

६. कामला रोगी को विरेचनार्थ १/२ पल दन्ती का कल्क १ पल गुड़ के साथ शीतल जल के साथ दें।

७. अथवा त्रिवृत् कल्क का प्रयोग त्रिफला क्वाथ के साथ पीने के लिए देना चाहिए।

विशालादि फाण्ट–विशाला (इन्द्रायण की जड़), त्रिफला (हरड़, बहेड़, आँवला), मुस्तक (नागरमुस्तक), कुष्ठ (कूठ), दारु (देवदारु), इन्द्रयव; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष, अतिविषा (अतीस)- १/२ कर्ष, मधुरसा- २ कर्ष लें। सभी द्रव्यों का चूर्ण बना लें। इसे गुनगुने जल में डालकर हाथ से मसल कर जल (द्रव) को छान लें। इस छने हुए जल में मधु मिलाकर पीयें।

मात्रापूर्वक इस फाण्ट के पीने से कास (Cough), श्वास (Asthma), ज्वर (Fever), दाह (Burning sensation), पाण्डुरोग (Anaemia), अरोचक (Anorexia), गुल्म, आनाह (मलबद्धता-Constipation), आमवात (Rheumatism) एवं रक्तपित्त (A disease characterised by bleeding from different parts of the body) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। अर्थात् यह योग निर्दिष्ट व्याधियों को दूर कर देता है।

Scanned by CamScanner

उपयोगी अन्य योग–अधोलिखित योगों का प्रयोग करना भी हितकर होता है–

१. यदि रोगी **कामला रोग** से ग्रसित है तो उसे प्रातः काल त्रिफला, गुडूची, देवदारु अथवा नीम के क्वाथ को ठण्डा करके उसमें मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए ।

२. (क) पाण्डुरोग (Anaemia) से पीड़ित व्यक्ति को गोदुग्ध में गोमूत्र मिलाकर अथवा भैंस के दुग्ध में भैंस का मूत्र मिलाकर १५ दिन तक पीना चाहिए ।

(ख) त्रिफला के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर सात दिन तक पीना चाहिए ।

३. **मातुलुङ्ग का प्रयोग**–बिजौरा नीबू के नूतन अङ्कुरों को अग्नि में जलाकर गोमूत्र में बुझा दें । इसे हाथ से मसलकर छान लें; इस छने हुए द्रव (मूत्र) का सेवन पाण्डु एवं शोथ के रोगी को करना चाहिए ।

४. **स्वर्णक्षीर्यादि योग**–स्वर्णक्षीरी, त्रिवृत् (काला निशोथ), देवदारु एवं शुण्ठी (सोंठ); प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर एक अञ्जली गोमूत्र में पीसकर कल्क बनाकर अथवा गोमूत्र में क्वाथ बनाकर पीयें । अथवा इन्हीं द्रव्यों के कल्क से साधित क्षीर का प्रयोग करें । इसके सेवन से दोषों का अनुलोमन (विरेचन) होता है । अर्थात् दोष अधोमार्ग से बाहर निकल जाते हैं ।

५. **गोमूत्र हरीतकी**–हरीतकी चूर्ण का प्रयोग गोमूत्र के साथ करें । औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध (गोदुग्ध) के साथ अन्न अथवा मांसरस के साथ साठी या शाली चावल के भात का सेवन करें ।

६. अयोरज (Rust of Iron लौह भस्म) में सात दिन तक गोमूत्र की भावना दें । पश्चात् सुखाकर चूर्ण बना लें । इस गोमूत्र भावित **लौह चूर्ण** का प्रयोग दूध के साथ चिकित्सक को पाण्डुरोग के प्रशमन हेतु करना चाहिए ।

चक्रपाणि–काश्मर्य=गम्भारी का फल । **शृतमिति फाण्टकषायविधिना प्रक्षिप्तं, द्राक्षाञ्जलिं मृदित्वेत्यनेन स्फुटमेव फाण्टकषायं दर्शयति**-फाण्ट कषाय विधि से निर्मित दन्तीरस में १ अञ्जलि द्राक्षा को डालकर मसल लें, पश्चात् छान लें । इस छने हुए रस का पान कामला के रोगी को करना चाहिए । इस प्रकार यहाँ यह योग फाण्ट कषाय की तरह निर्माण किया जाता है, यह दर्शाया गया है ।

'द्विशर्करमित्यादौ' से श्लोक नं. ५७ में वर्णित योग का ग्रहण है । इसमें त्रिवृत् चूर्ण- १/२ पल तथा शर्करा १ पल दोनों मिश्रित रूप में डेढ़ पल लेकर पित्तज पाण्डु रोगी को सेवन करना चाहिये ।

गोमूत्रक्लिन्नयुक्तामिति–श्लोक नं. ५८ में वर्णित कफज पाण्डु में हरीतकी को गोमूत्र से क्लिन्न कर लें । यहाँ क्लिन्न से गीला करना (कल्क बनाना) अर्थात् गोमूत्र के साथ हरीतकी को पीस कर कल्क बनाना अथवा हरीतकी को गोमूत्र में घोलकर प्रयोग करना, अर्थ गृहीत है । अन्य आचार्य गोमूत्र भावित हरीतकी (हरीतकी कल्क) को आरग्वध क्वाथ के साथ पीने का निर्देश देते हैं । अर्थात् आरग्वध क्वाथ के साथ गोमूत्र से क्लिन्न (गीला) हुई हरीतकी कल्क का प्रयोग करना चाहिये, अर्थ ग्रहण करते हैं । इक्षुरस, विदारीकन्द स्वरस अथवा आँवले के स्वरस के साथ त्रिकटु चूर्ण एवं बिल्व पत्र का कल्क मिलाकर पीना चाहिए अथवा आरग्वध को त्रिकटु, बिल्व पत्र, विदारीकन्द स्वरस, ईक्षुरस व आँवले के स्वरस साथ पीना चाहिए, अर्थात् सभी द्रव्यों को मिलाकर पीना चाहिए ।

'विशालेत्यादि' के द्वारा वर्णित द्रव्यों को फाण्ट की तरह बनाकर पीना चाहिए । अर्थात् विशालादि द्रव्यों को यवकुट करके ४ तोले मात्रा में लेकर १६ तोले जल में भिगोवें, पुनः उसे मसलकर छान लें; ऐसा वृद्ध आचार्यों का मत है ।

त्र्यूषणत्रिफलामुस्तविडङ्गचित्रकाः समाः । नवायोरजसो भागास्तच्चूर्णं क्षौद्रसर्पिषा ।।७०।।
भक्षयेत् पाण्डुहृद्रोगकुष्ठार्शःकामलापहम् । नवायसमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण भाषितम् ।।७१।।

इति नवायसचूर्णम् ।

नवायस चूर्ण (लौह)–घटक द्रव्य-शुण्ठी (सोंठ) का चूर्ण- १ भाग, पिप्पली चूर्ण- १ भाग, कालीमिर्च का चूर्ण- १ भाग, आमलकी चूर्ण- १ भाग, बहेड़ा (विभीतकी) चूर्ण- १ भाग, हरड़ का चूर्ण–१ भाग, नागरमुस्तक चूर्ण- १ भाग, विडङ्ग चूर्ण- १ भाग, चित्रक चूर्ण- १ भाग, अयोरजस् (Reddish crust formed on Iron by oxidation.)- मारित लौह चूर्ण–९ भाग लें ।

सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर एक पात्र में रख लें । इन सभी द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग मात्रापूर्वक घी व मधु के साथ करना चाहिये । यह चूर्ण पाण्डु (Anaemia), कामला (Jaundice), हृद्रोग (Heart disease), कुष्ठ (Skin disease including leprosy) व अर्श (Piles) रोग को दूर करता है । इस चूर्ण का उपदेश भगवान् कृष्णात्रेय ने किया था ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–नवायोरजसो भागा इति-एक भाग की तुलना में ९ गुना अयोरजस् (लौह भस्म) का प्रयोग करना चाहिए। उससे त्र्यूषणादि द्रव्यों की मिलित मात्रा के बराबर अयोरजस् मारित (लौहचूर्ण) भस्म मिलानी चाहिए । [वर्तमान में लौहचूर्ण के स्थान पर लौहभस्म का प्रयोग करना चाहिये ।]

गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान् । पिप्पलीद्विगुणां कुर्याद्गुटिकां पाण्डुरोगिणे ।।७२।।
त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ । दार्वीत्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिकं देवदारु च ।।७३।।
एतान् द्विपलिकान्भागांश्चूर्णं कुर्यात् पृथक् पृथक् । मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ।।७४।।
गोमूत्रेऽष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तत् प्रक्षिपेत्ततः । उदुम्बरसमान्कृत्वा वटकांस्तान् यथाग्नि ना ।।७५।।
उपयुञ्जीत तक्रेण सात्म्यं जीर्णे च भोजनम् । मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ।।७६।।
कुष्ठान्यजीर्णकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान् । अर्शांसि कामलां मेहं प्लीहान शमयन्ति च ।।७७।।

इति मण्डूर वटकाः ।

ताप्याद्रिजतुरूप्यायोमलाः पञ्चपलाः पृथक् । चित्रकत्रिफलाव्योषविडङ्गैः पलिकैः सह ।।७८।।
शर्कराष्टपलोन्मिश्राश्चूर्णिता मधुनाऽऽप्लुताः । अभ्यस्यास्त्वक्षमात्रा हि जीर्णे हितमिताशिना ।।७९।।
कुलत्थकाकमाच्यादिकपोतपरिहारिणा ।

मण्डूर वटक (प्रथम)–गुड़, नागर (सोंठ), मण्डूर एवं तिल; सभी द्रव्य एक-एक भाग ग्रहण करें, पिप्पली चूर्ण- २ भाग लें । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर जल के साथ महीन पीसकर गुटिका बना लें । इस गुटिका का प्रयोग पाण्डु रोगी में करना चाहिए।

मण्डूर वटक (द्वितीय)–घटक द्रव्य-सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, कालीमिर्च, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमुस्तक, विडङ्ग, चव्य, चित्रकमूल, दारुहल्दी की छाल, स्वर्णमाक्षिक (Copper pyrite), ग्रन्थिका (पिप्पली-मूल), देवदारु; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बनावें, चूर्ण की मात्रा अलग-अलग २-२ पल ग्रहण करें, अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग २-२ पल मात्रा में लेकर चूर्ण बनावें । मण्डूरचूर्ण जो अञ्जन (काले वर्ण) के समान हो, चूर्ण की मात्रा का दूना (१४ औषधियाँ २-२ पल ली गयी हैं अतः मण्डूर की मात्रा ५६ पल) लें ।

निर्माण विधि–५६ पल मण्डूर चूर्ण को ८ गुने गोमूत्र में पकावें, पाक जब गाढ़ा हो जाय तथा उससे गुटिका बन सकती है, यह समझते हुए उसमें शेष औषध द्रव्यों के चूर्ण डालकर अच्छी प्रकार से कलछुल से मिलावें तथा पिण्ड बनाकर अग्नि पर से उतार लें । इस पिण्ड से उदुम्बर की आकृति की वटिका बनाकर छाया शुष्क करके सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस वटिका का सेवन तक्र के साथ अग्नि बल के अनुसार पाण्डु रोगी को करना चाहिए, औषधि के जीर्ण हो जाने पर पथ्य आहार का सेवन करना चाहिए । यह मण्डूर वटक पाण्डुरोगी के लिए जीवन दायक है । इसके सेवन से कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), अजीर्ण (Indigestion), शोथ (Oedema), ऊरुस्तम्भ (Stiffness of the thigh), कफ जनित रोग, अर्श (Piles), कामला (Jaundice), प्रमेह एवं प्लीहा रोग (Splenic disorders) दूर हो जाते हैं ।

अन्य योग-'ताप्यादि योग'–ताप्य (स्वर्णमाक्षिक), अद्रिजतु (शिलाजतु), रौप्य (चाँदी) तथा मण्डूर; प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण अलग-अलग ५-५ पल मात्रा में लें, चित्रक- १ पल, हरीतकी- १ पल, विभीतक (बहेड़ा)- १ पल, आँवला- १ पल, शुण्ठी (सोंठ)- १ पल, पिप्पली- १ पल, कालीमिर्च- १ पल, विडंग- १ पल लेकर चूर्ण कर लें । अथवा इन द्रव्यों के चूर्ण १-१ पल मात्रा में लें, गुड़- ८ पल लें । सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित कर एक चौड़े मुख के कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें । इस योग का सेवन नित्य मधु के साथ करना चाहिए । मात्रा- १ अक्ष (१ तोला), औषधि के जीर्ण हो जाने पर पथ्य (हितकर) अन्न का सेवन करना चाहिए । औषध सेवन काल में कुलथी, काकमाची (मकोय) आदि के शाक तथा कपोत का मांस निषिद्ध है । अर्थात् इनका सेवन न करें ।

चक्रपाणि–मण्डूरं पुराणं लोहकिट्टम्-पुराने लोह का मल ।

त्रिफलायास्त्रयो भागाश्चतुर्विकटुकस्य च ।।८०।।
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च । पञ्चाश्मजतुनो भागास्तथा रूप्यमलस्य च ।।८१।।
माक्षिकस्य च शुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा । अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णितम् ।।८२।।
माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे । उदुम्बरसमां मात्रां ततः खादेद्यथाग्नि ना ।।८३।।
दिने दिन प्रयुञ्जीत जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम् । वर्जयित्वा कुलत्थानि काकमाचीं कपोतकम् ।।८४।।
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः । रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं शिवम् ।।८५।।
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् । कुष्ठान्यजीर्णकं मेहं शोषं श्वासमरोचकम् ।।८६।।
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ।

इति योगराजः ।

Scanned by CamScanner

योगराज-घटक द्रव्य-

१.	हरड़ चूर्ण	- १ भाग	८.	वायविडङ्ग चूर्ण	- १ भाग
२.	बहेड़ा चूर्ण	- १ भाग	९.	शुद्ध शिलाजीत	- ५ भाग
३.	आँवला चूर्ण	- १ भाग	१०.	रुप्यमल (रौप्यमाक्षिक भस्म)	- ५ भाग
४.	शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण	- १ भाग	११.	शुद्ध स्वर्णमाक्षिक भस्म	- ५ भाग
५.	कालीमिर्च चूर्ण	- १ भाग	१२.	शुद्धलौह भस्म	- ५ भाग
६.	पिप्पली चूर्ण	- १ भाग	१३.	सिता (मिश्री)	- ८ भाग
७.	चित्रकमूल चूर्ण	- १ भाग			

विधि-सभी द्रव्यों को एक में मिला लें तथा इसमें इतना मधु मिलावें कि लेहवत् (अवलेह की तरह) हो जाय। अब इसे लोहे के पात्र में भरकर रख लें। मात्रा- उदुम्बर (गुलर) के वजन (Weight) के बराबर इसकी मात्रा सेवन करनी चाहिए। अर्थात् पुरुष को अपनी अग्नि बल के अनुसार इसकी मात्रा ग्रहण करनी चाहिए। अर्थात् १/२ से १ तोला की मात्रा में योगराज (अवलेह) का सेवन करें। औषध के पच जाने पर पथ्य एवं इच्छित अन्न का सेवन करें। औषध सेवन काल में कुलथी व काकमाची का शाक तथा कपोतमांस का सेवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अमृत के समान हितकारी यह योग 'योगराज' के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक श्रेष्ठ रसायन है तथा सभी रोगों का नाशक है, अर्थात् इसके सेवन से सभी रोग दूर हो जाते है तथा सभी प्रकार के लोगों के लिए यह अनुकूल होता है।

उपयोग-मात्रापूर्वक इस योग के सेवन करने से पाण्डुरोग (Anaemia), विषविकार (Poisoning), कास (Cough), यक्ष्मा (Tuberculosis), विषमज्वर (Irregular fever), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), अजीर्ण (Indigestion), मेह (प्रमेह), शोष (Consumption), श्वास (Dyspnoea) एवं अरोचक (Anorexia) आदि व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं, अर्थात् यह योग इन व्याधियों को दूर करता है। **विशेष रूप से अपस्मार** (Epilepsy), कामला (Jaundice) एवं **अर्श में इस योग का प्रयोग करना चाहिए।**

चक्रपाणि-'त्रिफलेत्यादि' के द्वारा योगराज के निर्माण की विधि का अभिधान किया गया है। रौप्यमल से यहाँ रुप्य (चाँदी) का जो किट्ट होता है उसका ग्रहण करते हैं। माक्षिक से माक्षिकधातु (स्वर्णमाक्षिक) का ग्रहण है।

अश्मजत्वादीनां चतुर्णां पञ्चभागाः प्रत्येकं, किंवा पञ्चाश्मजतुनो भागाः--अश्मजत्वादि चारो धातुओं को अलग-अलग ५-५ भाग ग्रहण करना चाहिये। अथवा अश्मजतु (शिलाजतु) को अकेले- ५ भाग लें, शेष तीन १-१ भाग ग्रहण करे। **रूप्यमलस्य चेति**-रूप्यमल यहाँ शिलाजीत के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। उससे रूप्यमल रूप जिस शिलाजीत के लक्षणों को "राजतं कटुकं" (चि.अ. १, पाठ ३) इत्यादि के द्वारा बताया गया है, उनका ग्रहण है। अर्थात् रौप्य शिलाजीत का प्रयोग करना चाहिए। ॥८०-८६॥

कौटजत्रिफलानिम्बपटोलधवनागरैः ॥८७॥
भावितानि दशाहानि रसैर्द्वित्रिगुणानि वा। शिलाजतुपलान्यष्टौ तावती सितशर्करा ॥८८॥
त्वक्क्षीरी पिप्पली धात्री कर्कटाख्या पलोन्मिता। निदिग्धाः फलमूलाभ्यां पलं युक्त्या त्रिगन्यकम् ॥८९॥
चूर्णितं मधुनः कुर्यात्प्रपलेनाक्षिकान् गुडान्। दाडिमाम्बुपयःपक्षिरसतोयसुरासवान् ॥९०॥
तान् भक्षयित्वाऽनुपिबेन्निरन्नो भुक्त एव वा। पाण्डुकुष्ठज्वरप्लीहतमकार्शोभगन्दरान् ॥९१॥
पूतिहृच्छुक्रमूत्राग्निदोषशोथगरोदरान्। कासासृग्दरपित्तासृक्शोथगुल्मगलामयान् ॥९२॥
ते च सर्वव्रणान् हन्युः सर्वरोगहराः शिवाः।

इति शिलाजतुवटकाः।

पुनर्नवा त्रिवृद्व्योषविडङ्गं दारु चित्रकम् ॥९३॥
कुष्ठं हरिद्रे त्रिफला दन्ती चव्यं कलिङ्गकाः। पिप्पली पिप्पलीमूलं मुस्तं चेति पलोन्मितम् ॥९४॥
मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाद्गोमूत्रे द्व्याढके पचेत्। कोलवद्गुटिकाः कृत्वा तक्रेणालोड्य ना पिबेत् ॥९५॥
ताः पाण्डुरोगान् प्लीहानमर्शांसि विषमज्वरम्। श्वयथुं ग्रहणीदोषं हन्युः कुष्ठं क्रिमींस्तथा ॥९६॥

इति पुनर्नवमण्डूरम्।

दार्वीत्वक् त्रिफला व्योषं विडङ्गमयसो रजः। मधुसर्पिर्युतं लिह्यात् कामलापाण्डुरोगवान् ॥९७॥
तुल्या अयोरजःपथ्याहरिद्राः क्षौद्रसर्पिषा। चूर्णिताः कामली लिह्याद्गुडक्षौद्रेण वाऽभयाः ॥९८॥
त्रिफला द्वे हरिद्रे च कटुरोहिण्ययोरजः। चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां स लेहः कामलापहः ॥९९॥

Scanned by CamScanner

शिलाजतु वटक–कुटज की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नीम की छाल, पटोल पत्र, धन (नागरमुस्तक), शुण्ठी (सोंठ); इन द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथ से ८ पल शिलाजीत को भावित करें। अर्थात् ८ पल शुद्ध शिलाजीत में कुटजादि द्रव्यों के क्वाथ की १०, २० या ३० दिन तक भावना देनी चाहिए। तत्पश्चात् भावित शिलाजीत में ८ पल मिश्री, त्वक्क्षीरी (वंशलोचन) चूर्ण- १ पल, पिप्पली चूर्ण- १ पल, धात्री (आँवला) चूर्ण- १ पल, काकड़ासींगी- चूर्ण- १ पल, कण्टकारी (भटकटैया) की जड़ का चूर्ण- १ पल, कण्टकारी फल चूर्ण- १ पल; मिलावें। इसके बाद इसमें त्रिसुगन्ध (छोटी इलायची, दालचीनी एवं तेजपत्र) चूर्ण- १ पल मात्रा में लेकर मिश्रित करें जिससे चूर्ण सुगन्धित हो जाय। अब इस चूर्ण में ३ पल मधु मिलाकर १-१ कर्ष (तोले) की वटिका बना लें। इस वटी का सेवन खाली पेट अथवा भोजन के बाद अनार के रस (दाडिम स्वरस), दूध (गोदुग्ध), पक्षियों के मांसरस, जल, सुरा अथवा आसव के साथ करें। इस वटिका के सेवन से पाण्डु (Anaemia), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), ज्वर (Fever), प्लीह रोग (Splenic disorders), तमकश्वास, अर्श (Piles), भगन्दर (Fistula-in-ano), शरीर से दुर्गन्ध का आना, हृद्रोग (Heart disease), शुक्रदोष (८ प्रकार के शुक्रदोष), मूत्रदोष, शोष, गरदोष, उदररोग, कास (Cough), असृग्दर (Menorrhagia-रक्तप्रदर), रक्तपित्त, शोथ (Oedema), गुल्म (Phantom tumour) एवं गले के रोग दूर हो जाते हैं। यह योग सभी प्रकार के व्रणों (All types of ulcer) को नष्ट करता है तथा साथ में इसके सेवन से सभी प्रकार की व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं। यह एक कल्याणकारी योग है।

पुनर्नवा मण्डूर–पुनर्नवा (गदहपूर्ना), त्रिवृत् (सफेद निशोथ), शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली, कालीमिर्च, वायविडङ्ग, देवदारु, चित्रकमूल, कूठ, हरिद्रा (हल्दी), दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्ती की जड़, चव्य, कालिङ्गक (इन्द्रयव), पिप्पली, पिप्पलीमूल, एवं नागरमुस्तक; सभी द्रव्य अलग-अलग एक-एक पल मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। अर्थात् चूर्ण की कुल मात्रा- २० पल होती है। इस २० पल चूर्ण में ४० पल (चूर्ण की दूनी मात्रा) मण्डूर चूर्ण (शुद्ध) मिलावें तथा इसे २ आढक गोमूत्र में पकावें। पकते-पकते जब यह गाढ़ा हो जाय तब इसे अग्नि पर से उतार कर बेर की गुठली के बराबर गोली (वटी) बना लें। पुरुष को इस वटी का प्रयोग तक्र में घोलकर करना चाहिए, अर्थात् रोगी इस वटी का सेवन तक्र में घोलकर करे। इस वटी के सेवन से पाण्डुरोग (Anaemia), प्लीहारोग (Splenic disorders), अर्श (Piles), विषमज्वर (Irregular fever), श्वयथु (Oedema), ग्रहणीरोग (Sprue syndrome), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy) तथा कृमिरोग नष्ट हो जाते हैं।

दार्व्यादि लेह–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–दार्वीत्वक् (दारुहल्दी) की छाल का चूर्ण, हरड़ चूर्ण, बहेड़ा चूर्ण, आमलकी चूर्ण, शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, कालीमिर्च चूर्ण, विडङ्ग चूर्ण, अयो रज (Rust of Iron-लौह चूर्ण); सभी द्रव्य सम प्रमाण में लेकर आपस में मिश्रित कर उसमें मधु व घृत मिलाकर अवलेह जैसा बना लें। इस अवलेह का प्रयोग कामला (Jaundice) एवं पाण्डु (Anaemia) रोगी को करना चाहिए।

[व्यवहार में यहाँ मण्डूर चूर्ण के स्थान पर मण्डूर भस्म का प्रयोग करना चाहिए।]

अन्य योग–१. क. - अयोरज (मारितलौह चूर्ण या लौहभस्म)- १ भाग
ख. - पथ्या (हरीतकी) चूर्ण - १ भाग
ग. - हरिद्रा चूर्ण - १ भाग
घ. - मधु एवं घृत यथावश्यक - १ भाग

सभी द्रव्यों को लेकर आपस में मिला लें तथा उसमें मधु व घृत उतनी मात्रा में डालें जिससे यह अवलेह की तरह हो जाय। अब इस अवलेह को चौड़े मुख के कांच के बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें।

२. हरीतकी को गुड व मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिए।

३. त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), प्रत्येक एक-एक भाग, हल्दी- १ भाग, दारुहल्दी- १ भाग, कटुरोहिणी (कुटकी)- १ भाग, अयोरज (लौह चूर्ण या भस्म)- १ भाग। सभी द्रव्यों के चूर्ण को निर्दिष्ट मात्रा में लेकर आपस में मिला लें। इस मिश्रित चूर्ण में मधु व घृत असमान मात्रा में मिलाकर अवलेह जैसा बना लें, ताकि चाटने योग्य हो जाय। इन तीनों योगों का प्रयोग कामला के रोगी में करना चाहिये।

चक्रपाणि–'भावितानीत्यादि' के द्वारा 'शिलाजतु वटक' के निर्माण विधि का उल्लेख किया गया है। **द्विगुणत्रिगुणदशाहानि भावितानि**- दस दिन का दोगुना अथवा तीन गुना अर्थात् २० दिन अथवा ३० दिन तक भावना देनी चाहिए। यह भावना किन द्रव्यों की देनी चाहिए, इसे यहाँ **रसैरिति** के द्वारा बताया गया है, अर्थात् कुटज आदि द्रव्यों के क्वाथ की भावना देनी चाहिए। शिलाजतु में यह भावना निर्दिष्ट विधि के अनुसार ही देनी चाहिए। क्वाथ एवं क्वाथ्य के मान के सम्बन्ध में शास्त्रों में अलग-अलग विचार हैं, यथा-"तुल्यं गिरिजेन जले चतुर्गुणे भावनौषधं क्वाथ्यम्। तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद्गिरिजम्॥ तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः" इति (शिलाजीत को इस प्रकार भावित करना चाहिए-भावना देने वाली औषधियों का मान- १ भाग, जल- ४ भाग, लेकर क्वाथ बनावें।

Scanned by CamScanner

चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को महीन साफ कपड़े से छान लें। अब क्वाथ- १ भाग लेकर उसमें उतनी ही मात्रा शिलाजीत की डालें, ध्यान यह रखें कि क्वाथ कुछ गुनगुना (कोष्ण) हो। इस क्वाथ को शिलाजीत सोख (Absorbed) लेता है, अर्थात् जब क्वाथ सूख जाय तब इसमें दूसरा क्वाथ मिलावें, पुनः छाया शुष्क करें, इस प्रकार यह प्रक्रिया बार-बार दुहरानी चाहिये।) इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी यही भावना विधि तथा क्वाथ्य से क्वाथ तैयार करने की विधि का पालन करना चाहिए। **फलमूलाभ्यां पलमिति मिलित्वा पलम्**-कण्टकारी के फल एवं मूल दोनों को मिलाकर- १ पल मात्रा लेनी चाहिए।

युक्त्या त्रिगन्धकमिति-तेजपत्र, दालचीनी एवं छोटी इलायची की उतनी ही मात्रा का ग्रहण करें जितने से द्रव्य सुगन्धित हो जाय। त्रिगन्ध से यहाँ तेजपत्र, दालचीनीत्वक् एवं एला का ग्रहण किया जाता है। इसमें तीनों द्रव्यों की मात्रा बराबर लेनी चाहिये। यदि इन्हीं द्रव्यों में नागकेशर मिला दिया जाता है तो इसे 'चतुर्जातक' कहते हैं, यथा-त्रिगंधं तु समाख्यातं त्वगेलापत्रकैः समैः। तदेव तु समाख्यातं चातुर्जातं सकेसरम्'' इति

पूत्यादिभिर्दोषशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते-दोष शब्द पूत्यादि प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है, यथा-पूति दोष, हृत् दोष, शुक्र दोष, मूत्र दोष एवं अग्नि दोष। ॥८७-९९॥

द्विपलांशां तुगाक्षीरीं नागरं मधुयष्टिकाम्। प्रास्थिकीं पिप्पलीं द्राक्षां शर्करार्धतुलां शुभाम् ॥१००॥
धात्रीफलरसद्रोणे चूर्णितं लेहवत् पचेत्। शीतं मधुप्रस्थयुतं लिह्यात् पाणितलं ततः ॥१०१॥
हन्त्येष कामलां पित्तं पाण्डुं कासं हलीमकम्।

इति धात्र्यवलेहः।

धात्र्यवलेह (Dhātryavaleha)-

१. वंशलोचन का चूर्ण	- २ पल	५. मुनक्का	-	१ प्रस्थ
२. सोंठ (शुण्ठी) चूर्ण	- २ पल	६. शर्करा	-	अर्ध तुला
३. यष्टीमधु चूर्ण	- २ पल	७. धात्री स्वरस (आँवले का स्वरस)	-	१ द्रोण
४. पिप्पली चूर्ण	- १ प्रस्थ	८. मधु	-	१ प्रस्थ

निर्माण विधि-आँवले के स्वरस में सभी द्रव्यों (क्रमांक १ से ७ तक) के चूर्ण को मिलाकर मन्दाग्नि पर पकावें, जब यह स्वरस पकते-पकते अवलेह की भाँति गाढ़ा हो जाय तब इसे अग्नि पर उतार लें। शीतल होने पर इसमें मधु डालकर मिला दें, तत्पश्चात् घृतभावित पात्र में सुरक्षित रख लें।

मात्रा-एक पाणितल (१ कर्ष) अर्थात् १ तोला।

उपयोग-यह अवलेह कामला (Jaundice), पित्तज पाण्डु, कास (Cough) एवं हलीमक (कामला का एक विशेष प्रकार) को नष्ट करता है।

चक्रपाणि-'द्विपलांशामित्यादौ' से 'धात्र्यवलेह' की निर्माण विधि को बताया गया है। द्राक्षा का मान १ प्रस्थ ग्रहण करना चाहिये। धात्रीफलरसः=धात्री स्वरस (आमलकी स्वरस) ॥१००-१०१॥

त्र्यूषणं त्रिफला चव्यं चित्रको देवदारु च ॥१०२॥
विडङ्गान्यथ मुस्तं च वत्सकं चेति चूर्णयेत्। मण्डूरतुल्यं तच्चूर्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ॥१०३॥
शनैः सिद्धास्तथा शीताः कार्याः कर्षसमा गुडाः। यथाग्नि भक्षणीयास्ते प्लीहपाण्ड्वामयापहाः ॥१०४॥
ग्रहण्यर्शोनुदश्चैव तक्रवाट्याशिनः स्मृताः ॥

इति मण्डूरवटकाः।

मण्डूरवटक (Maṇḍūra Vaṭaka)-घटक द्रव्य-

सोंठ (शुण्ठी) चूर्ण	- १ भाग	आमलकी चूर्ण	- १ भाग	मुस्तक चूर्ण	- १ भाग
कालीमिर्च चूर्ण	- १ भाग	चव्य चूर्ण	- १ भाग	कुटज त्वक चूर्ण	- १ भाग
पिप्पली चूर्ण	- १ भाग	चित्रक चूर्ण	- १ भाग	मण्डूर चूर्ण (भस्म)	- १२ भाग
हरीतकी चूर्ण	- १ भाग	देवदारु चूर्ण	- १ भाग	(चूर्ण की बराबर मात्रा)	
विभीतकी चूर्ण	- १ भाग	विडंग चूर्ण	- १ भाग	गोमूत्र-मण्डूर भस्म मिश्रित चूर्ण का ८ गुना	

(अर्थात् शुण्ठ्यादि चूर्ण-१२ भाग+मण्डूर भस्म-१२ भाग= २४ भाग का ८ गुना १९२ भाग गोमूत्र ग्रहण करें।)

Scanned by CamScanner

निर्माण विधि–अब १९२ भाग गोमूत्र को एक भगोने में लेकर उसमें सभी चूर्ण मिला दें। अब इसे मन्दाग्नि पर धीरे-धीरे पकावें, जब पकते-पकते यह गाढ़ा हो जाय तथा उससे गोली बनने की अवस्था उत्पन्न हो जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर ठण्डा कर लें तथा १-१ कर्ष की गोलियाँ बना लें।

उपयोग–रोगी को अग्निबल के अनुसार इसका सेवन करना चाहिये। यह वटी प्लीहरोग (Splenic disorders), पाण्डु (Anaemia), ग्रहणीरोग (Sprue Syndrome) तथा अर्श (Piles) को दूर करती है। औषधि सेवन काल में तक्र एवं वाट्य (A preparation of roasted barley) का सेवन करना चाहिये।

चक्रपाणि–त्र्यूषण आदि द्रव्यों की कुल मात्रा- २८ पल ग्रहण करें, मण्डूर इसका दूना ग्रहण करें, अर्थात् ५६ पल। इस प्रकार चूर्ण की कुल मात्रा ८४ पल हो जाती है। पृथागिति-पाठ से मण्डूर चूर्ण को ही गोमूत्र में अलग से पकाना चाहिये, पाक सिद्ध हो जाने पर त्र्यूषणादि चूर्ण को उसमें डालकर गोलियाँ बनानी चाहिये। **शुद्धमिति** पद से मण्डूर को ध्मापित कर गोमूत्र में डुबाकर शुद्ध कर लेना चाहिये, यह दर्शाया गया है। कुछ आचार्य गोमूत्र को मण्डूर का ८ गुना लेने का निर्देश करते हैं। यही पक्ष उचित प्रतीत होता है। ॥१०२-१०४॥

विशेष (Comments)–आचार्य चक्रपाणि के व्याख्या के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि इसके स्थान पर कोई अन्य पाठ था। वर्तमान पाठ में मण्डूर की मात्रा चूर्ण के बराबर रखी गयी है, जबकि चक्रपाणि पाठ के अनुसार दूनी होनी चाहिए, उसी प्रकार 'शुद्धमण्डूर' शब्द का भी प्रयोग वर्तमान पाठ में उपलब्ध नहीं होता। मण्डूर को तप्त करके गोमूत्र में बुझा देने पर वह शुद्ध हो जाता है, यह विचार आचार्य चक्रपाणि के हैं।

मञ्जिष्ठा रजनी द्राक्षा बलामूलान्ययोरजः ॥१०५॥
लोध्रं चैतेषु गौड· स्यादरिष्टः पाण्डुरोगिणाम्।

इति गौडोऽरिष्टः।

बीजकात्षोडशपलं त्रिफलायाश्च विंशतिः ॥१०६॥
द्राक्षायाः पञ्च लाक्षायाः सप्त द्रोणे जलस्य तत्। साध्यं पादावशेषे तु पूतशेषे समावपेत् ॥१०७॥
शर्करायास्तुलां प्रस्थं माक्षिकस्य च कार्षिकम्। व्योषं व्याघ्रनखोशीरं क्रमुकं सैलवालुकम् ॥१०८॥
मधुकं कुष्ठमित्येतच्चूर्णितं घृतभाजने। यवेषु दशरात्रं तद्ग्रीष्मे द्विः शिशिरे स्थितम् ॥१०९॥
पिबेत्तद्ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःशोथगुल्मनुत्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलासन्निपातजित् ॥११०॥
बीजकारिष्ट इत्येष आत्रेयेण प्रकीर्तितः।

इति बीजकारिष्टः।

गौडोऽरिष्ट (Gauḍāriṣṭa)–मञ्जिष्ठा, रजनी (हल्दी), द्राक्षा (मुनक्का), बलामूल, अयोरज (अयोरज=लौह चूर्ण डल्हण, अथवा Rust of Iron) एवं गुड़ के साथ निर्मित अरिष्ट पाण्डुरोग को दूर करता है।

बीजकारिष्ट (Bījakāriṣta)–बीजक (विजयसार) की लकड़ी- १६ पल, त्रिफला (संयुक्त रूप से)- २० पल, द्राक्षा- ५ पल, लाक्षा (लाख)- ७ पल; सभी द्रव्यों को १ द्रोण जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को एक स्वच्छ पतले कपड़े से छानकर पृथक् कर लें। अब इस क्वाथ में शर्करा- १ तुला, मधु- १ प्रस्थ, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, व्याघ्रनखी, उशीर (खस), क्रमुक (सुपारी), ऐलवालुक (एलुआ), यष्टीमधु तथा कूठ का चूर्ण १-१ तोला लेकर मिला दें। इस चूर्ण मिश्रित क्वाथ को एक घृत भावित पात्र में रखकर गरमी के दिनों में यव की राशि में १० दिन के लिए तथा जाड़े के दिनों में २० दिन के लिए रख दें। यव की राशि में रखने से पूर्व पात्र के ढक्कन को अच्छी प्रकार से बंद कर दें। अरिष्ट तैयार हो जाने पर छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें।

मात्रा–२ से ४ तोला, भोजनोत्तर सम भाग जल के साथ।

उपयोग–मात्रापूर्वक इस अरिष्ट के सेवन करने से ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डुरोग (Anaemia), अर्श (Piles), शोथ (Oedema), गुल्म (Phantom tumour), मूत्रकृच्छ्र (dysuria), अश्मरी, प्रमेह, कामला (Jaundice) तथा अन्य सन्निपातज रोग भी दूर हो जाते हैं।

इस अरिष्ट का विधान भगवान् आत्रेय के द्वारा किया गया है।

चक्रपाणि–**'बीजकात् षोडशपलमिति'** से यहाँ कुछ आचार्य **'द्विर्बीजक पलान्यष्टौ'** पाठ करते हैं। दोनों का अर्थ एक ही है। बीजक=असन (विजय सार)। व्याघ्रनख:-नखी का यह एक भेद है।

Scanned by CamScanner

द्वि:शिशिरे इति-विंशतिरात्रस्थितम्-आड़े के दिनों में २० दिन तक Ferment होने के लिए यव की राशि में भाण्ड को रखना चाहिये। ॥१०५-११०॥

धात्रीफलसहस्रे द्वे पीडयित्वा रसं तु तम् ॥१११॥
क्षौद्रशर्कराक्षेप संयुक्तं कुम्भार्धकुडवेन च । शर्करार्धतुलोन्मिश्रं पक्वं स्निग्धघटे स्थितम् ॥११२॥
प्रविधेयावधा मात्राजीर्णे हितमिताशनः । कामलापाण्डुहृद्रोगवातासृग्विषमज्वरान् ॥११३॥
कासहिक्कारुचिश्वासांश्चोपरिष्टः प्रणाशयेत् ।

इति धात्र्यरिष्टः ।

धात्र्यरिष्ट (Dhātryariṣṭa)—धात्रीफल- २००० संख्या में लेकर स्वरस निकाले अर्थात् आँवले का स्वरस- १ भाग, मधु- १/८ भाग लेकर आपस में मिला ले, अब इसमें पिप्पली चूर्ण- १/२ कुडव, शर्करा- अर्ध तुला मिलाकर एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में डाल दे अथवा भर दे। ऊपर से उसके ढक्कन को बन्द कर १५ दिन के लिए यव की राशि में गाड़ दे। १५ दिन पश्चात् अरिष्ट तैयार हो जाने पर ढक्कन खोलकर अरिष्ट को साफ कपड़े से छान कर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख ले। आतुर को इस अरिष्ट का सेवन मात्रापूर्वक करना चाहिए।

मात्रा-२-४ तोले, समभाग जल के साथ, प्रातःकाल ग्रहण करे। औषधि के पच जाने पर पथ्य आहार उचित मात्रा (कुछ अल्प मात्रा) में लेना चाहिए।

उपयोग-धात्र्यरिष्ट के सेवन से कामला (Jaundice), पाण्डु (Anaemia), हृद्रोग (Heart disease), वातरक्त (Gout), विषमज्वर (Irregular fever), कास (Cough), हिक्का (हिचकी आ आना), अरुचि (Anorexia) एवं श्वास (Asthma) आदि व्याधियाँ दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि-'धात्रीत्यादि' के द्वारा धात्र्यरिष्ट का अभिधान किया गया है। २००० आँवले को लेकर उसका स्वरस निकालें। जितना स्वरस निकले, उसका १/८ भाग मधु मिलावें। इस मधु मिश्रित स्वरस में निर्दिष्ट पिप्पली आदि का चूर्ण मिलाकर संधानार्थ यव की राशि में रखें। ॥१११-११३॥

स्थिरादिभिः शृतं तोयं पानाहारे प्रशस्यते ॥११४॥
पाण्डूनां, कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः ।

पेय द्रव्य-पाण्डुरोग से पीड़ित व्यक्ति को पान (पीने के लिए) एवं आहार (पथ्य आहार के निर्माण हेतु) के रूप में लघु पञ्चमूल से साधित जल का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इसी जल से भोजन बनाना चाहिए तथा इसका प्रयोग पीने के लिए भी करना चाहिए। कामला के रोगी को मुनक्के अथवा आमलकी से सिद्ध जल का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि-कामलार्तानां मृद्वीकामलकीरसः पानाहारे प्रशस्यत इत्यर्थः-पान एवं आहार के रूप में कामला के रोगी को मृद्वीका रस (मुनक्का साधित जल) एवं आमलकी रस (आमलकी स्वरस अथवा आमलकी साधित जल) का प्रयोग करना हितकर माना गया है, यह अभिप्राय है। ॥११४॥

पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थमिति प्रोक्तं महर्षिणा ॥११५॥
विकल्प्यमेतद्भिषजा पृथग्दोषबलं प्रति । वातिके स्नेहभूयिष्ठं, पैत्तिके तिक्तशीतलम् ॥११६॥
श्लैष्मिके कटुतिक्तोष्णं, विमिश्रं सान्निपातिके ।

पाण्डुरोग की सामान्य चिकित्सा-इस प्रकार पाण्डुरोग की शान्ति हेतु पूर्वोक्त योगों का उल्लेख भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा किया गया। इन्हीं योगों का प्रयोग चिकित्सक को दोष-बलानुसार प्रत्येक रोगी (पाण्डु रोगी) में करना चाहिए। वातज पाण्डु में स्नेह प्रधान योगों, पित्तज पाण्डु में तिक्त रस एवं शीत वीर्य प्रधान औषधियों तथा कफज पाण्डु में कटु, तिक्त एवं उष्ण वीर्य औषधियों एवं सान्निपातज पाण्डु में मिश्रित औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि-दोषानुसार पाण्डुरोग के भेद में कौन सी चिकित्सा करनी चाहिए, इसे यहाँ वातिके इत्यादि के द्वारा बताया गया है। ॥११५-११६॥

निवातेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक् ॥११७॥
युक्तैः शोधनैस्तीक्ष्णैः प्रसमीक्ष्य बलाबलम् । शुद्धकायस्य सर्पींषि बलायानानि योजयेत् ॥११८॥
व्योषं बिल्वं हरिद्रे द्वे त्रिफला द्वे पुनर्नवे । मुस्तान्ययोरजः पाठा विडङ्गं देवदारु च ॥११९॥

Scanned by CamScanner

वृश्चिकाली च भार्गी च सक्षीरैस्तैः समैर्घृतम् । साधयित्वा पिबेद्युक्त्या नरो मृद्दोषपीडितः ।।१२०।।
तद्वत् केशरयष्ट्याह्वपिप्पलीक्षारशाद्वलैः । मृद्भक्षणादातुरस्य लौल्यादविनिवर्तिनः ।।१२१।।
द्वेष्यार्थं भावितां कामं दद्यात्तद्दोषनाशनैः । विडङ्गैलातिविषया निम्बपत्रेण पाठया ।।१२२।।
वार्ताकैः कटुरोहिण्या कौटजैर्मूर्वयाऽपि वा ।

मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की चिकित्सा–युक्तिज्ञ चिकित्सक को रोगी के बलाबल का विचार करते हुए तीक्ष्ण शोधन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा आतुर के शरीर से खायी हुई मिट्टी को बाहर निकालना चाहिए, अर्थात् तीक्ष्ण संशोधन द्वारा शरीरस्थ मिट्टी को बाहर निकालना चाहिए। वमन एवं विरेचन द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर रोगी के बल की वृद्धि हेतु बलवर्धक घृतों का प्रयोग करना चाहिए।

व्योषाद्य घृत (Vyoshādya-Ghṛita)–शुण्ठी (सोंठ), कार्लीमिर्च, पिप्पली, हल्दी, दारुहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, श्वेत पुनर्नवा, रक्त पुनर्नवा, नागरमुस्तक, अयोरज (Rust of Iron-लौह भस्म अथवा त्रिफला मारित लौह चूर्ण), पाठा, विडङ्ग, देवदारु, वृश्चिकाली (काकनासा), भार्गी; सभी द्रव्यों को समप्रमाण में लेकर चतुर्गुण जल के साथ क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष बचने पर द्रव को छानकर अलग कर लें, इन्हीं द्रव्यों से कल्क का निर्माण करें। इस प्रकार कल्क- १ भाग, क्वाथ- ४ भाग, गोघृत- १ भाग, गोदुग्ध- १ भाग लेकर घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का सेवन मृद्भक्षणजन्य पाण्डु रोगी को मात्रापूर्वक करना चाहिये।

व्योषादि घृत की ही तरह नागकेशर, यष्टीमधु, पिप्पली, यवक्षार एवं दूर्वा द्वारा साधित घृत के सेवन करने से मृद्-भक्षणजन्यपाण्डुरोग शान्त हो जाता है। यदि जिह्वा की लौल्यता के कारण रोगी मिट्टी खाना नहीं छोड़ता है तब रोगी को मिट्टी से द्वेष उत्पन्न हो जाय इस हेतु रोगी को पाण्डुरोग नाशक औषधियों-विडङ्ग, अतिविषा (अतीस), निम्बपत्र, पाठा, बड़ी कण्टकारी (वार्ताक), कुटकी, कुटज एवं मूर्वा के स्वरस अथवा क्वाथ (Decoction) द्वारा भावित (भावना दी हुई) मिट्टी खाने के लिए देना चाहिये।

चक्रपाणि–'निपातयेदित्यादि' के द्वारा मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोगी की चिकित्सा को बताया गया है। 'शाद्वलं' से दूर्वा अर्थ लिया गया है। **मृद्भक्षणादविनिवर्तिनः सक्तस्येत्यर्थः**-मृद्भक्षण कार्य से निवृत्त न होना, अर्थात् लगे रहना (रोगी मिट्टी खाना नहीं छोड़ता है।)। **भावितामितद्दोषनाशनैर्द्रव्यैः संस्कृताम्**-पाण्डुरोग नाशक द्रव्यों, यथा-विडंग, अतिविषा आदि के स्वरस अथवा क्वाथ द्वारा भावना दी हुई मिट्टी का प्रयोग रोगी को खाने के लिए देना चाहिये।

मूर्वयाऽपि वेत्यन्तो ग्रन्थः पूर्वेण संबध्यते–मूर्वा का भी संबन्ध पूर्व की औषधियों से है। इन द्रव्यों द्वारा भावित मिट्टी खाने से व्यक्ति मिट्टी खाना छोड़ देता है। ।।११७-१२२।।

यथादोषं प्रकुर्वीत भैषज्यं पाण्डुरोगिणाम् ।।१२३।।
क्रियाविशेष एषोऽस्य मतो हेतुविशेषतः ।

सामान्यतया पाण्डुरोग की चिकित्सा दोषानुसार करनी चाहिये। मृद्भक्षणजन्य पाण्डु में हेतु के अनुसार चिकित्सा भी विशेष होती है। अर्थात् व्योषादि घृत का प्रयोग एवं पाण्डुरोग नाशक औषधियों के रस से भावित मिट्टी का सेवन। शोधन के रूप में तीक्ष्ण वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन कराना चाहिए, ताकि स्रोतों में जमी हुई मिट्टी शरीर से बाहर निकल जाय।

चक्रपाणि–पाण्डु रोगोक्त चिकित्सा दोष विशेष के अनुसार मृद्भक्षणजन्य पाण्डु में भी की जाती है जिसे 'यथादोषमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **एष इति**-मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग में विशेष रूप से कहा गया है। ।।१२३।।

विशेष (Comments)–मृद्भक्षणजन्य पाण्डुरोग की विशेष चिकित्सा इस प्रकार है–

१. तीक्ष्ण वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन के प्रयोग द्वारा खायी हुई मिट्टी को शरीर से बाहर निकालना।

२. संसर्जन क्रम का प्रयोग।

३. बलवर्धक घृतों की योजना, यथा-व्योषादि घृत

४. पाण्डुरोग नाशक औषधियों के रस से भावित मिट्टी का सेवन कराना जिससे व्यक्ति मिट्टी खाना छोड़ दे।

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली ।।१२४।।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत् । रूक्षशीतगुरुस्वादुव्यायामैर्वेगनिग्रहैः ।।१२५।।
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली । हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः ।।१२६।।
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च । दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः ।।१२७।।
क्रमेणाल्पेऽनुसज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते ।

Scanned by CamScanner

शाखाश्रितकामला के लक्षण एवं चिकित्सा (Signs, Symptoms and Treatment of Śākhāśrita-Kāmalā)–जो कामला का रोगी तिल के कल्क के समान वर्ण का मल (पुरीष) त्याग करता हो, उसके पित्त का मार्ग कफ द्वारा अवरुद्ध हो गया है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसी अवस्था में कफ नाशक औषधियों द्वारा पित्त के मार्गावरोध को दूर करना चाहिए।

रूक्ष, शीत, गुरु एवं मधुर आहार द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से, अत्यधिक व्यायाम करने से, अधारणीय वेगों के अत्यधिक रोकने से प्रकुपित वायु, कफ के साथ मिलकर पित्त को अपने स्थान से दूर फेंक देती है। ऐसी अवस्था में रोगी के नेत्र, मूत्र एवं त्वक् (त्वचा) का वर्ण हल्दी के समान पीला हो जाता है तथा पुरीष का रंग सफेद (White) व रोगी का उदर आटोप युक्त (Tympanitis-पेट का फूलना) हो जाता है। विष्टम्भ (Constipation) तथा हृदय प्रदेश भारी हो जाता है। जब पित्त शाखाओं (रक्तादि त्वक्) में फैल जाता है तब रोगी में अधोलिखित लक्षण क्रमशः मिलते हैं, यथा-दुर्बलता (Weakness), अल्पाग्नि (भूख का कम लगना (Suppression of the power of digestion), पार्श्व पीड़ा (Pain in the sides of the chest), हिक्का (हिचकी का आना), श्वास (Dyspnoea), अरुचि (Anorexia) एवं ज्वर (Fever)।

चक्रपाणि-'तिलपिष्टनिभमित्यादि' के द्वारा शाखाश्रित कामला की चिकित्सा एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है।

श्लेष्मणा रुद्धमार्गमिति-कोष्ठस्थ कफ के द्वारा शाखाश्रयी पित्त जो कामला का उत्पादक है, का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिससे यह पित्त कोष्ठ में न आकर शाखाओं में गमन करने लगता है। जिससे व्यक्ति के नेत्र, मूत्र एवं त्वचा का वर्ण हल्दी (Yellowish) के समान हो जाता है।

एतदेव रूक्षेत्यादिना विस्तरेणाह–इसी को 'रूक्षेत्यादि' के द्वारा विस्तार से बताया गया है। **श्वेतवर्चा इति**-पुरीष का वर्ण श्वेत होना, कोष्ठस्थ पित्त के कारण पुरीष का रञ्जन होता है, अर्थात् पुरीष का अपना वर्ण कोष्ठस्थ पित्त के कारण होता है। इस कामला (शाखाश्रित) में पित्त का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से पित्त कोष्ठ में नहीं आ पाता, परिणामतः पुरीष का वर्ण श्वेत (तिल के कल्क के समान सफेद) हो जाता है। **क्रमेणेति**-शाखाश्रित कामला में धीरे-धीरे दुर्बलता से लेकर ज्वर तक सभी लक्षण मिलने लगते हैं। 'अल्पे पित्ते' का अभिप्राय शाखाश्रित पित्त से है। ॥१२४-१२७॥

विशेष (Comments)–'तिलेत्यादि' के द्वारा कामला की विशेष चिकित्सा का अभिधान किया गया है। जो कामला का रोगी तिल्ली (तिल) के कल्क के समान अर्थात् श्वेत वर्ण का मल त्याग करता है उसका पित्तमार्ग कफ के द्वारा अवरुद्ध है, ऐसा जानकर कफपित्त द्रव्यों द्वारा उसके मार्ग के अवरोध को दूर करना चाहिए।

कोष्ठाश्रित कामला के लक्षणों एवं चिकित्सा के विवेचनोपरान्त शाखाश्रित कामला के लक्षण एवं चिकित्सा का अभिधान-'रूक्षेत्यादि' के द्वारा किया जा रहा है। कामला के रोगी में रूक्षादि हेतुओं के सेवन से वायु एवं कफ प्रकुपित होकर अपने स्थान से पित्त को बलपूर्वक शाखाओं में फेंक देते हैं। अर्थात् पित्त सामान्यतया पित्ताशय से कोष्ठ में आता है एवं उसका निर्माण भी यकृत में होता है, लेकिन संचय पित्ताशय में होता है। कफ के द्वारा पित्त का कोष्ठागमन मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिससे यह पित्त रक्तादि धातुओं में फैल जाता है, इस कारण रोगी के नेत्र आदि हल्दी के वर्ण के हो जाते हैं तथा रोगी का मल (पुरीष) श्वेत वर्ण का हो जाता है।

बर्हितित्तिरिदक्षाणां रूक्षाम्लैः कटुकै रसैः ॥१२८॥
शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्। मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम् ॥१२९॥
सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम्।

शाखाश्रित कामला में पथ्य–शाखाश्रित कामला के रोगी को मोर, तित्तिर एवं मुर्गे के मांसरस को रूक्ष, अम्ल एवं कटुरस युक्त द्रव्यों से सिद्ध कर देना चाहिए। अथवा सूखीमूली व कुलथी के यूष के साथ अन्न का सेवन कराना चाहिए। अथवा मातुलुङ्ग स्वरस (बिजौरा नीबू के स्वरस) में मधु, पिप्पली, कार्लामिर्च एवं शुण्ठी का चूर्ण डालकर रोगी को पिलाना चाहिए, ऐसा करने से पित्त अपने आशय में आ जाता है।

चक्रपाणि-'बर्हीत्यादि' के द्वारा कफ नाशक एवं पित्त वर्धक दोनों चिकित्सा एक साथ बतायी गयी है। शाखाश्रित दोषों की वृद्धि कोष्ठ में लाने के लिए की गयी है अथवा कही गयी है, यथा-"वृद्ध्याऽभिष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्। शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्" (सु.अ. २८) इति (शाखाश्रित दोष निम्नलिखित कारणों द्वारा पुनः कोष्ठ में आ जाते हैं, यथा-दोषों को बढ़ाने से (By Aggravation of dōsha), विष्यन्दन द्वारा (increase in fluidity- दोषों के द्रवांश को बढ़ाकर), दोषों का पाक करके (दोष आम युक्त रहने पर स्रोतस् में ही चिपके रहते हैं), स्रोतोवरोध को दूर करके, वायु का निग्रह करके (Reduced pressure of Vāyu)।

अतः स्पष्ट है कि यहाँ पित्त वर्धक द्रव्यों का सेवन कराकर पित्त की मात्रा को बढ़ाकर, उसे कोष्ठ में लाना ही उद्देश्य है ॥१२८-१२९॥

Scanned by CamScanner

कटुतीक्ष्णोष्णलवणैर्भृशाम्लैश्चाप्युपक्रमः ।।१३०।।
आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमाद्भवेत् । स्वस्थानमागते पित्ते पुरीषे पित्तरञ्जिते ।।१३१।।
निवृत्तोपद्रवस्य स्यात् पूर्वः कामलिको विधिः ।

कटु, तीक्ष्ण, उष्ण एवं लवण व अम्लरस युक्त आहार द्रव्यों का प्रयोग तब तक करना चाहिए जब तक कि पुरीष का रंग (Colour) स्वाभाविक न हो जाय एवं वायु भी प्रशमित हो जाय । अर्थात् पुरीष का रञ्जन होने लगे, वात प्रशमित हो जाय, पित्त अपने स्थान पर आ जाय, (नेत्र, त्वक् एवं मूत्र का वर्ण सामान्य हो जाय) तथा उपद्रवों की शान्ति हो जाय तब पूर्व वर्णित कामला की चिकित्सा करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–आपित्तरागाच्छकृत इति यावत् कोष्ठमार्गस्थो मलो न रञ्जते तावत् पित्तवर्धनम्-जब तक कोष्ठमार्ग में स्थित मल का रञ्जन न होने लगे तब तक पित्तवर्धक चिकित्सा करनी चाहिए । पूर्व इति-पूर्व में वर्णित । कामलिको विधिरिति-कोष्ठाश्रयी कामला की चिकित्सा करनी चाहिये ।

[जब मल का रञ्जन होने लगे, यह जानकर व्यक्ति को सामान्य कामला की चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् कोष्ठाश्रित कामला की चिकित्सा करनी चाहिये ।] ।।१३०-१३१।।

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः ।।१३२।।
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः । खीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ।।१३३।।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ।

हलीमक का विवेचन (Halīmaka)–यदि पाण्डु रोगी का वर्ण हरित (green), श्याव (Black) अथवा पीत (Yellow) हो जाय, उसके शारीरिक बल एवं उत्साह में कमी आ जाय, जाठराग्नि मन्द हो जाय, शरीर में हलका-हलका ज्वर रहे, अर्थात् रोगी को मृदु ज्वर (Mild fever) हो, मैथुनेच्छा का अभाव हो (Lack of libido), अङ्गमर्द (Malaise), श्वास (Dyspnoea), तृष्णा (Morbid thirst), अरुचि (Anorexia) तथा भ्रम (Giddiness) आदि लक्षण रोगी में मिलते हों । यह व्याधि हलीमक कही जाती है । इसकी उत्पत्ति वात व पित्त की वृद्धि के कारण होती है ।

चक्रपाणि–'यदेत्यादि' के द्वारा हलीमक के लक्षणों को बताया गया है । इसी को अन्य शास्त्रों में 'लाघव' एवं 'अलस' नाम दिया गया है । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-**''ज्वराङ्गमर्दभ्रमदाहतन्द्राक्षयान्वितो लाघवकोऽलसश्च। तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं हलीमकं केचिदुदाहरन्ति''** (सु.उ.अ. ४४) इति [ज्वर, अङ्गमर्द, भ्रम, दाह, तन्द्रा एवं क्षय; के लक्षणों से युक्त लाघवक एवं अलस होता है । ये दोनों वायु एवं पित्त की वृद्धि के कारण उत्पन्न होते हैं । इसमें रोगी की त्वचा हरित, पीत अथवा नील वर्ण की हो जाती है, कुछ आचार्य इसे हलीमक भी कहते हैं ।]

इस व्याधि में 'भिन्नवर्चस्त्व' मल की भिन्नता (diarrhoea) एक लक्षण के रूप में है अर्थात् कामला के एक लक्षण के रूप में है, न कि एक पृथक् रोग है । अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा-"संतापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्ते च पीनता । पाण्डुता नेत्ररागश्च पानकीलक्षणं मतम्" इति [शरीर में जलन का होना (Burning sensation), अतिसार (diarrhoea), शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर भाग में पीतवर्णता, पाण्डुता (Pale-yellow colouration), आँखों का वर्ण रक्त होना (Redness in the eyes); ये लक्षण कामला के विशेष भेद 'पानकी' में पाये जाते हैं ।] ।।१३२-१३३।।

विशेष (Comments)–पाण्डुरोग की एक विशेष अवस्था कामला तथा दूसरी अवस्था हलीमक होती है, जिसे यदा तु इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है । जब पाण्डु रोगी वातपित्त वर्धक निदानों का सेवन करता है तब उसका पाण्डु वर्ण हरितादि वर्ण में परिवर्तित हो जाता है तथा बलादि क्षय के लक्षणों से वह युक्त हो जाता है । उसकी यह अवस्था 'हलीमक' कही जाती है । हलीमक में वात व पित्त की वृद्धि रहती है ।

पाण्डु रोगी —पित्त वर्धक निदान→ कामला वर्ण-भेकवर्ण-पीला

पाण्डु रोगी —वात, पित्त वर्धक निदान→ हलीमक वर्ण-हरित पीत

गुडूचीस्वरसक्षीरसाधितं माहिषं घृतम् ।।१३४।।
स पिबेत्त्रिवृतां स्निग्धो रसेनामलकस्य तु । विरिक्तो मधुरप्रायं भजेत् पित्तानिलापहम् ।।१३५।।

Scanned by CamScanner

द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तं सर्पींषि मधुराणि च । यापनान् क्षीरबस्तींश्च शीलयेत्सानुवासनान् ।।१३६।।
मार्द्वीकारिष्टयोगांश्च पिबेद्वुक्त्याऽग्निवृद्धये । कासिकं चाभयालेहं पिप्पलीं मधुकं बलाम् ।।१३७।।
पयसा च प्रयुञ्जीत यथादोषं यथाबलम् ।

हलीमक रोग की चिकित्सा (Treatment of Halimaka)—गुडूची स्वरस व गोदुग्ध से साधित भैंस के घृत का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् गुडूची स्वरस से सिद्ध माहिष घृत को पिलाकर रोगी का आभ्यन्तर स्नेहन करें । तत्पश्चात् आमलकी स्वरस के साथ निशोथ चूर्ण का सेवन करावें । निशोथ चूर्ण का प्रयोग जब हम आमलकी स्वरस के साथ करते हैं तो रोगी को विरेचन होता है । अतः सम्यक् विरेचन के बाद रोगी को पित्त वात नाशक, मधुर रस प्रधान अन्न का सेवन करावें । पूर्व वर्णित द्राक्षालेह, मधुर गण की औषधियों से साधित घृत, सिद्ध स्थान में वर्णित यापन, क्षीर एवं अनुवासन बस्तियों का अभ्यास करावें । बस्तियों के प्रयोग से अग्निमांद्य आदि उत्पन्न होने की संभावना रहती है । अतः जाठराग्नि की वृद्धि हेतु मुनक्का आदि से निर्मित **अरिष्ट योगों** का प्रयोग युक्तिपूर्वक करना चाहिए । साथ में 'कास रोग चिकित्सा में वर्णित अभयावलेह (अगस्त्य हरीतकी) तथा पिप्पली, यष्टीमधु एवं बलामूल से साधित क्षीर का प्रयोग रोगी के दोष एवं बल का विचार करते हुए करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'गुडूचीत्यादि' के द्वारा हलीमक की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । **द्राक्षालेहं च पूर्वोक्तमिति**-'द्विपलांशां तुगाक्षीरीं' इत्यादि के द्वारा इसी अध्याय में पूर्व में 'द्राक्षावलेह' का विधान बताया गया है । यापना बस्तियों का निर्देश सिद्धिस्थान में विशेष रूप से किया गया है । कासरोगाधिकार में अभयालेह अर्थात् अगस्त्य हरीतकी को बताया गया है । ।।१३४-१३६।।

तत्र श्लोकौ–

पाण्डोः पञ्चवियस्योक्तं हेतुलक्षणभेषजम् ।।१३८।।
कामला द्विविधा तेषां साध्यासाध्यत्वमेव च । तेषां विकल्पो यश्चान्यो महाव्याधिर्हलीमकः । तस्य चोक्तं समासेन व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ।।१३९।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने पाण्डुरोगचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ।।१६।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस पाण्डुरोग चिकित्सा नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

१. पाँच प्रकार के पाण्डुरोग, उनके हेतु (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) ।

२. दो प्रकार के कामला एवं उनकी साध्यताऽसाध्यता ।

३. कामला के अन्य भेद महाव्याधि हलीमक के लक्षण एवं चिकित्सा का संक्षिप्त विवेचन ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल पूरित चिकित्सास्थान में पाण्डुरोगचिकित्सा नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ । ।।१६।।

चक्रपाणि–'पाण्डोः पञ्चविधस्येत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है । **स च व्यक्त** एव- वह स्पष्ट ही है । ।।१३८-१३९।।

विशेष (Comments)—इस अध्याय में जो विषय विवेचित किये गये हैं, उनमें मुख्यतः यह विषय विशेष रूप से विचारणीय है- पाण्डुरोग चिकित्सा के प्रसङ्ग में-"तत्र पाण्ड्वामयी स्निग्धस्तीक्ष्णैरूर्ध्वानुलोमकैः" (च.चि. १६-४० का अर्ध भाग) शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय रोगी को सम्यक् स्निग्ध करके (सम्यक् स्नेहन के पश्चात्) तीक्ष्ण, ऊर्ध्व अनुलोमक द्रव्यों के प्रयोग द्वारा ऊर्ध्व एवं अधोभाग का शोधन करावें, है । हिन्दी टीकाओं में इससे तीक्ष्ण वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन अर्थ लिया गया है । लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि पाण्डु रोगी वैसे भी दुर्बल होता है, अतः तीक्ष्ण वमन एवं तीक्ष्ण विरेचन कराने पर रोगी को हानि की ही ज्यादा संभावना है । शङ्का का एक अन्य कारण भी है-पाण्डुरोग के पूरे चिकित्सा प्रकरण में कहीं भी तीक्ष्ण वामक योगों का उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि तीक्ष्ण वमन कराना इष्ट होता तो आचार्य निश्चय ही इसका उल्लेख करते । यद्यपि कफज पाण्डु की चिकित्सा में आचार्य द्वारा गोमूत्र भावित हरीतकी का प्रयोग किया गया है, गोमूत्र कफ शोधक एवं हरीतकी अनुलोमक कार्य करने के कारण इस योग (गोमूत्र हरीतकी) द्वारा ऊर्ध्वभाग के दोष कफ एवं अधोभाग (अधो आमाशय) के दोष पित्त नीचे से निकल जाते हैं । यह योग ऊर्ध्व एवं अधः दोनों भागों की शुद्धि करता है । अतः मेरे विचार से मृद्भक्षणजन्य पाण्डु को छोड़कर शोधन हेतु इसी प्रक्रिया का सहारा लेना चाहिए, अर्थात् तीक्ष्ण वमन न कराकर गोमूत्र भावित हरीतकी के प्रयोग द्वारा ऊर्ध्व एवं अधः आमाशय की शुद्धि कर लेनी चाहिए । पश्चात् शामक योगों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थ ग्रहण करना ज्यादा सुकर है ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्तकृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में पाण्डुरोग चिकित्सा नामक सोलहवें अध्याय की "आयुषी" हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ।।१६।।

Scanned by CamScanner

सप्तदशोऽध्यायः ।

अथातो हिक्काश्वासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे हिक्का-श्वास चिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–हिक्का व श्वास का कारण पाण्डुरोग है । अर्थात् पाण्डुरोग के कारण हिक्का व श्वास की उत्पत्ति होती है । इसलिये पाण्डुरोग के अनन्तर हिक्का-श्वास चिकित्सा का अभिधान किया गया है । आगे इसी अध्याय में कहा गया है, यथा-पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ (चि.अ. १७/१४) इति [पाण्डुरोग एवं विष के सेवन से ये दोनों व्याधियाँ (हिक्का-श्वास) उत्पन्न होती हैं ।] हिक्का एवं श्वास का कथन एक साथ-समान हेतु एवं समान चिकित्सा होने के कारण किया गया है, अर्थात् श्वास एवं हिक्का दोनों के उत्पादक कारण (Etiological factor) एक ही हैं तथा एक ही चिकित्सा द्वारा दोनों व्याधियाँ ठीक हो जाती हैं ।

विशेष (Comments)–सुश्रुतसंहिता में भी यही हेतु दर्शाया गया है, यथा-"यैरेव कारणैर्हिक्का बहुभिः संप्रवर्तते । तैरेव कारणैः श्वासो घोरो भवति देहिनाम्" (सु.उ.अ. ५१/३) इति [जिन अनेक कारणों, यथा-विदाही गुरु आदि द्रव्यों के सेवन से हिक्का की उत्पत्ति होती है, उन्हीं कारणों द्वारा भयङ्कर श्वासरोग भी उत्पन्न होते हैं ।]

वेदलोकार्थतत्त्वज्ञमात्रेयमृषिमुत्तमम् । अपृच्छत् संशयं धीमानग्निवेशः कृताञ्जलिः ।।३।।
य इमे द्विविधाः प्रोक्तास्त्रिदोषास्त्रिप्रकोपणाः । रोगा नानात्मकास्तेषां कस्को भवति दुर्जयः ।।४।।
अग्निवेशस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा मतिमतां वरः । उवाच परमप्रीतः परमार्थविनिश्चयम् ।।५।।
कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा । यथा श्वासश्च हिक्का च प्राणानाशु निकृन्ततः ।।६।।
अन्यैरप्युपसृष्टस्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः । अन्ते संजायते हिक्का श्वासो वा तीव्रवेदनः ।।७।।

अग्निवेश की शङ्का–वैदिक एवं लौकिक ज्ञान में श्रेष्ठ, ऋषियों में उत्तम भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के समक्ष शिष्य अग्निवेश ने हाथ जोड़कर अपनी शङ्का इस रूप में प्रकट की-हे आचार्य ! जो दो प्रकार के रोग-त्रिदोषज तथा त्रिप्रकोपजन्य (असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम जन्य) बताये गये हैं । उन नानात्मक रोगों में से कौन ऐसा रोग है जो कठिनता से प्रशमित होता है ।

भगवान् आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर–अग्निवेश के उन वाक्यों को सुनकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ, अर्थतत्व का निश्चय करने वाले भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यह कहा-इस संसार में प्राण को नष्ट करने वाले प्रायः बहुत से रोग हैं, लेकिन वे इतने तीव्र नहीं है जितने श्वास व हिक्का हैं । क्योंकि श्वास व हिक्का प्राण को शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं ।

अन्य किसी भी रोग से आक्रान्त पुरुष जब मृत्यु के सन्निकट होता है तब उसे अत्यन्त कष्टकारी हिक्का व श्वास रोग निश्चय ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

चक्रपाणि–वैदिकं लौकिकं च अर्थतत्त्वं जानातीति वेदलोकार्थतत्त्वज्ञः-वेद प्रतिपादित विषयों को जानने वाला तथा लौकिक विषयों के ज्ञाता को 'वेदलोकार्थतत्त्वज्ञ' कहा गया है । अर्थात् व्यक्ति वैदिक विषयों का ही ज्ञाता न हो अपितु वह संसारिक (व्यावहारिक) विषयों का भी ज्ञाता हो । यह विशेषण भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के लिए आया है ।

द्विविधा इति–सामान्य असामान्य भेद से । अर्थात् रोग दो प्रकार के बताये गये हैं–१. सामान्य, २. असामान्य । अथवा मृदु-दारुण भेद से भी रोग दो प्रकार के होते हैं तथा निज– आगन्तुज (अनिज) भेद से भी दो भाग में विभाजित हो जाते हैं ।

त्रिदोषा इति–वातादिभिः पृथङ्मिलितै वा-वातादि दोषों के द्वारा अलग-अलग अथवा मिलित रूप से । अर्थात् व्याधियाँ अलग-अलग दोषों के प्रकोप से तथा मिलित रूप से भी उत्पन्न होती हैं ।

त्रिप्रकोपणा इति–असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध एवं परिणाम; इन तीन कारणों के प्रकुपित होने से भी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । काममिति अनुमतौ-अनुमोदित हैं । अर्थात् हिक्का व श्वास के द्वारा प्राणों का शीघ्र ही नाश होता है, यह निर्दिष्ट है । **बहव इति**-ज्वर, शंखक, रोहिणी आदि व्याधियाँ भी प्राणनाशक हैं, लेकिन वैसी नहीं हैं जैसी हिक्का व श्वास हैं । 'यथा श्वासश्च हिक्का च' के द्वारा श्वास व हिक्का के शीघ्र प्राणनाशकत्व गुण को दर्शाया गया है । **अन्ते इति**-मृत्यु काल उपस्थित होने पर । **संजायते इति अवश्यं हिक्काश्वासयोरन्यतरो जायते**-हिक्का व श्वास मृत्यु काल उपस्थित होने पर अन्य व्याधियों के साथ अवश्य ही उत्पन्न हो जाते हैं । ॥३-७॥

कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ । हृदयस्य रसादीनां धातूनां क्षोभशोषणौ ।।८।।
तस्मात् साधारणावेतौ मतौ परमदुर्जयौ । मिथ्योपचरितौ क्षुद्रौ इत आशीविषाविव ।।९।।

Scanned by CamScanner

हिक्का व श्वास में तुल्यता–१. ये दोनों व्याधियाँ वात एवं कफ जन्य होती हैं। २. ये दोनों ही व्याधि पित्त के स्थान से उत्पन्न होती हैं। इन दोनों में ही हृदय एवं रसादि धातुओं में शुष्कता उत्पन्न होती है। इसलिये ये साधारण रूप से उत्पन्न होते हुए भी अत्यन्त कठिनता से प्रशमित होती हैं।

३. हिक्का व श्वास के उत्पन्न होने पर यदि रोगी मिथ्या आहार-विहार करता है तो व्याधि प्रकुपित होकर आशी विष (क्रुद्ध साँप) की भाँति रोगी को मार डालती है। अर्थात् जिस प्रकार क्रोधित सांप व्यक्ति की मृत्यु का कारण होता है उसी प्रकार हिक्का व श्वास भी मिथ्योपचार के द्वारा प्रकुपित होकर रोगी की मृत्यु का कारण बनते हैं।

चक्रपाणि–'पित्तस्थानसमुद्भवावित्यनेन' पित्तस्योर्ध्वस्थानसम्बन्ध एव-'पित्तस्थानसमुद्भवौ' से यहाँ पित्त के ऊर्ध्व स्थान के सम्बन्ध को दर्शाया गया है। अर्थात् इस स्थान से हिक्का व श्वास की उत्पत्ति होती है, न कि वात-कफ की तरह हिक्का व श्वास का आरम्भक होता है। इसका अभिप्राय यह है कि इन व्याधियों की सामान्य संप्राप्ति में पित्त भाग नहीं लेता है। 'पित्तस्थान' शब्द से यहाँ आमाशय अर्थ अभिप्रेत है। पित्तस्थ ऊर्ध्वस्थान सम्बन्ध एव' से ऊर्ध्व आमाशय (Stomach) अर्थ लिया जाता है।

साधारणाविति प्रायस्तुल्यचिकित्स्यत्वात्–हिक्का व श्वास की चिकित्सा प्रायः समान होने से। आशीविषाविव दृष्टिनिःश्वासविषसर्पाविव-आशीविष की भाँति, जिस प्रकार **धायल सर्प** अपनी दृष्टि एवं निःश्वास में विद्यमान विष के द्वारा व्यक्ति को मार डालता है उसी प्रकार हिक्का व श्वास के उचित उपचार न होने से अथवा अपथ्य आहार के सेवन करने पर यह व्याधि शीघ्र ही रोगी के प्राणों को हर लेती है। ॥८-९॥

पृथक् पञ्चविधावेतौ निर्दिष्टौ रोगसंग्रहे। तयोः शृणु समुत्थानं लिङ्गं च सभिषग्जितम् ॥१०॥
रजसा धूमवाताभ्यां शीतस्थानाम्बुसेवनात्। व्यायामाद्ग्राम्यधर्माध्वरूक्षान्नविषमाशनात् ॥११॥
आमप्रदोषादानाहाद्रौक्ष्यादत्यपतर्पणात्। दौर्बल्यान्मर्मणो घाताद्वन्द्वाच्छुद्ध्यतियोगतः ॥१२॥
अतीसारज्वराच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात्। रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥१३॥
पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ। निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥१४॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात्। जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥१५॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात्। कण्ठोरसः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥१६॥

हिक्का व श्वास के भेद–ये दोनों व्याधियाँ पृथक्-पृथक् पाँच प्रकार की होती हैं। इसका उल्लेख अष्टोदरीय अध्याय (सू.अ. १९) में संक्षेप में किया जा चुका है। अब आगे इनके समुत्थान (Etiological factor), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का विवेचन किया जा रहा है। हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

हिक्का व श्वास के हेतु (Etiological factor of the Hikkā and Śvāsa)–

→ वायु, धूल अथवा धूम के सम्पर्क से।

→ शीतल स्थान पर रहने से अथवा शीतल जल के अत्यधिक सेवन करने से।

→ अत्यधिक व्यायाम करने से, अत्यधिक मैथुन, अत्यधिक पैदल चलना, अत्यधिक रूक्ष अन्न के सेवन से अथवा विषम आहार सेवन से।

→ शरीर में आमदोष के अत्यधिक बढ़ जाने से, आनाह के कारण, शरीर के अत्यधिक रूक्ष हो जाने से, शरीर का अत्यधिक अपतर्पण होने से।

→ शरीर के अत्यधिक दुर्बल हो जाने से, मर्म स्थानों पर चोट लगने से,

→ साथ-साथ शीत व उष्ण हेतुओं के सम्पर्क से अर्थात् शीतल हेतु के सम्पर्क के तत्काल बाद उष्ण हेतुओं के सेवन से।

→ वमन व विरेचन का अतियोग होने से।

→ अतिसार (Diarrhoea), ज्वर (Fever), छर्दि (Vomiting), प्रतिश्याय (Coryza), क्षतक्षय (उरःक्षत एवं धातु क्षय), रक्तपित्त (A disease characterised by bleeding from different parts of the body), उदावर्त [A class of diseases (marked by retention of the feces)], विसूचिका (cholera), अलसक (दोषों का आमाशय में रुक जाना अथवा आहार का आमाशय में रुक जाना), पाण्डुरोग (Anaemia) तथा विष (Poisoning) के कारण इन दो व्याधियों (हिक्का एवं श्वास) की उत्पत्ति होती है।

→ निष्पाव (सेम), माष (उड़द) पिण्याक (तिल की खली) एवं तिल तेल के अत्यधिक सेवन करने से।

Scanned by CamScanner

→ पिष्ट (चावल का आटा), शालूक (कमलकन्द-Rhizome of Lotus), विष्टम्भी (वातवर्धक), विदाही (शरीर में विदाह उत्पन्न करने वाले अन्न) एवं गुरु (पचने में भारी) अन्न के सेवन से।

→ जलज एवं आनूप प्राणियों के मांस (Meat of the aquatic and marshy animals and birds), दही एवं कच्चे दूध के अत्यधिक सेवन से।

→ अभिष्यन्दी (Ingredients which cause obstruction to the Channels of circulation) एवं कफवर्धक आहार-विहार के सेवन से।

→ कण्ठ एवं उरः प्रदेश पर आघात लगने से तथा विभिन्न हेतुओं से उत्पन्न होने वाले विबन्ध के कारण।

इन सभी हेतुओं के सेवन से हिक्का व श्वास की उत्पत्ति होती है।

चक्रपाणि-पृथगिति प्रत्येकं पञ्चविधौ-हिक्का व श्वास, दोनों पृथक्तः पाँच प्रकार के होते हैं, यह प्रतिपादन अष्टोदरीय अध्याय (सू.अ. १९) में किया गया है। यहाँ 'रजसेत्यादि' के द्वारा वात प्रकोपक कारणों का उल्लेख किया गया है। अर्थात् **रजसेति** से प्रारम्भ करके-'पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ' तक के हेतु प्रायः वातप्रकोपक हैं। निष्पावेत्यादि से प्रारम्भ करके प्रतिघाताद्विबन्धैश्च तक के हेतु कफ को प्रकुपित करते हैं। यहाँ वात जनक एवं कफ जनक हेतु वर्ग का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। इससे यहाँ हिक्का व श्वास में वात व कफ दोनों ही अपने स्वतंत्र कारणों से प्रकुपित होते हैं, यह दर्शाया गया है, न कि अनुबन्ध रूप में। ॥१०-१६॥

विशेष (Comments)-'द्वन्द्व' से यहाँ गुरु-लघु, शीत-उष्ण, मन्द-तीक्ष्ण, मृदु-कठिन, खर-मसृण, विशद-पिच्छिल, स्थिर-सर, स्थूल-सूक्ष्म, स्निग्ध-रुक्ष, सान्द्र-द्रव, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रवृत्ति-निवृत्ति; भावों का ग्रहण किया गया है। अर्थात् इन 'द्वन्द्व' भावों का सेवन हिक्का व श्वास का कारण है। यथा-गुरु आहार का अभ्यस्त व्यक्ति अचानक लघु आहार सेवन करने लगे। शीत पदार्थों के सेवन के बाद अचानक उष्ण पदार्थों का सेवन-आइसक्रीम सेवन के तत्काल बाद काफी या चाय पीना।

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति। उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः ॥१७॥
घोरान् प्राणोपरोधाय प्राणिनां पञ्च पञ्च च।

हिक्का व श्वास की सामान्य सम्प्राप्ति (General Pathogenesis of Hikkā and Śvāsa)-पूर्वोक्त हेतुओं के सेवन से वृद्ध वायु प्राणवह स्रोतों में प्रवेश करके प्रकुपित हो जाती है। वह प्रकुपित वायु उरः प्रदेश में स्थित कफ को लेकर (उभार कर) प्राणों में अवरोध उत्पन्न करने वाले भयङ्कर हिक्का व श्वास रोग को उत्पन्न करती है। ये दोनों व्याधियाँ अलग-अलग ५ प्रकार की होती हैं।

चक्रपाणि-'मारुतः प्राणवाहीनीति' के द्वारा हिक्का व श्वास की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। यहाँ हिक्का व श्वास की सामान्य संप्राप्ति को बताया गया है, विशेष संप्राप्ति का अभिधान आगे किया जायेगा। **प्राणोपरोधायेति**-प्रायः हिक्का व श्वास प्राणों को नष्ट करने के लिए उत्पन्न होते हैं। **पञ्च-पञ्च चेति**-हिक्का के ५ भेद तथा श्वास के ५ भेद, होते हैं; यह अभिप्राय है। ॥१७॥

उभयोः पूर्वरूपाणि शृणु वक्ष्याम्यतः परम् ॥१८॥
कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता। हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥१९॥
आनाहः पार्श्वशूलं च पीडनं हृदयस्य च। प्राणस्य च विलोमत्वं श्वासानां पूर्वलक्षणम् ॥२०॥

हिक्का व श्वास के पूर्वरूप-१. हिक्का के पूर्वरूप के रूप में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

→ कण्ठ एवं उरः प्रदेश में गुरुता (भारीपन) का होना।
→ मुख में कषायरस की प्रतीति का होना।
→ कुक्षि में आटोप का होना (Distension in the pelvic region)

२. श्वास के पूर्वरूप (Premonitory signs and Symptoms of Asthma)

→ आनाह (Constipation) होना,
→ पार्श्वशूल का पाया जाना (Pain in sides of the chest)
→ पीडनं हृदयस्य च (हृदय को कोई अन्दर से दबा रहा है, ऐसा प्रतीत होना)
→ प्राणवायु का विलोम होना (अथवा प्राणों का व्याकुल होना)

[श्वास नलिकाओं में शोथ हो जाने से श्वासोच्छ्वास की क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है। Reversion of the respiratory functions-Dr. R.K. Sharma and Vaidya Bhagvandas.]

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'कण्ठोरसोः' इत्यादि के द्वारा हिक्का के पूर्वरूप एवं 'आनाहः' इत्यादि के द्वारा श्वास के पूर्वरूप को बताया गया है।

विलोमत्वमिति–व्याकुल होना, इन्द्रियों का व्याकुल होना, इसे ही प्राण का विलोमत्व कहा गया है। ॥१८-२०॥

विशेष (Comments)–हिक्का के पूर्वरूप के लक्षणों में 'कुक्षेराटोप एव च' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय आंतों में गुड़गुड़ शब्द उत्पन्न होने से है।

प्राणस्य च विलोमत्वं, प्राणोऽत्र श्वासनिर्गमनं, तस्य विलोमत्वं अनुलोमाभाव इति-प्राण से श्वासनिर्गमन अर्थ गृहीत है, उसका विलोमत्व होना अर्थात् अनुलोम का अभाव होना; अर्थ लिया गया है। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

प्राणोदकान्नवाहीनि स्रोतांसि सकफोऽनिलः। हिक्काः करोति संरुध्य तासां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥२१॥
क्षीणमांसबलप्राणतेजसः सकफोऽनिलः। गृहीत्वा सहसा कण्ठमुच्चैर्घोषवतीं भृशम् ॥२२॥
करोति सततं हिक्कामेकद्वित्रिगुणां तथा। प्राणः स्रोतांसि मर्माणि संरुध्योष्माणमेव च ॥२३॥
संज्ञां मुष्णाति गात्राणां स्तम्भं संजनयत्यपि। मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्धि शुपहतस्मृतेः ॥२४॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः। सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छतः ॥२५॥
महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला। महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥२६॥

इति महाहिक्का।

हिक्का रोग की विशिष्ट संप्राप्ति–कफ के साथ प्रकुपित हुई वायु प्राणवह, उदकवह एवं अन्नवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके 'हिक्का' (Hiccup) को उत्पन्न करती है। उसके अलग-अलग लक्षणों को हे अग्निवेश ! मुझसे सुनो–

हिक्का के भेद

१. महाहिक्का के लक्षण (Signs and Symptoms of Mahā-Hikkā)–जिस व्यक्ति के मांस, बल, प्राण एवं तेज क्षीण हो गये हों, उनके शरीर में कफ के साथ प्रकुपित वायु सहसा कण्ठ में पहुँचकर अत्यन्त उच्च शब्दों वाली हिक्का को सतत् उत्पन्न करती है। यह हिक्का एक, दो या तीन वेगों से युक्त होती है। इसमें कफ के साथ प्रकुपित वायु प्राणवह स्रोतस्, मर्म एवं ऊष्मा (जाठराग्नि) को अवरुद्ध करते हुए संज्ञा को नष्ट करके शरीर में जड़ता (Stiffness) उत्पन्न करती है। साथ ही व्यक्ति के अन्नवाही एवं जलवाही स्रोतों को अवरुद्ध करके स्मृति को भी नष्ट कर देती है। ऐसी अवस्था में उस पुरुष के नेत्र आँसुओं से पूर्ण, शंख प्रदेश में जकड़ाहट तथा भ्रू अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं, आवाज का रुक जाना, बोलने पर अनर्थक बोलना, किसी भी अवस्था में रोगी को शान्ति का अनुभव न होना। अर्थात् व्यक्ति को किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं मिलती। वह हिक्का महामूल (deep rooted), महावेग (इसके वेग अत्यन्त तीव्र होते हैं-Its attack is enormous), महाशब्द (इसमें हिक्-हिक् की आवाज अत्यधिक तेज होती है-Its causes the patient to produce exceedingly loud sound) एवं महाबल वाली होती है। यह हिक्का प्राणों को शीघ्र हरने वाली होती है। इस कारण इसे महाहिक्का कहा जाता है।

चक्रपाणि–'प्राणोदकेत्यादि' के द्वारा हिक्का की विशिष्ट सम्प्राप्ति को बताया गया है। **क्षीणमांसबलप्राणतेजस इति**-यहाँ प्राण से वायु अथवा उत्साह अर्थ लिया गया है, तेज से अग्नि अर्थ गृहीत है। **उच्चैर्गृहीत्वा घोषवतीमिति योज्यम्**-अत्यन्त ऊँची आवाज के साथ हिक्का का आना, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

द्विसंततां त्रिसंततामनेकगुणां वा करोति–एक उपक्रम में दो बार अथवा लगातार दो बार हिचकी का आना। **संरुध्योष्माणमिति**-शारीरिक ऊष्मा का अवरुद्ध होना अथवा जाठराग्नि का मन्द होना अर्थ ग्रहण करना चाहिए। संसक्तवचनतया प्रलापो यस्य स सक्तजल्पप्रलापः-वाणी अवरुद्ध होने से जो प्रलाप करता हो, उसे 'सक्तजल्पप्रलापः' कहा गया है। **महामूलेति**-से दोषों का गम्भीर धातुओं में आश्रित होना, अर्थ इष्ट है। महाशब्दत्वं च उच्चैर्घोषवतीमित्यनेन - तेज आवाज के साथ हिचकी का आना।

विशेष (Comments)–यह हिक्का महामूल, महावेग, महाशब्द एवं महाबल से युक्त होने के कारण 'महाहिक्का' नाम से कही जाती है। महामूल का अभिप्राय-इसमें दोष गम्भीर धातुओं तक पहुँच जाते हैं, से है। **महावेग**-हिक्का के वेगों का देर तक बने रहना, **महाशब्द**-हिक्-हिक् शब्द का बलवान् होना। **महाबला**-हिक्का का बली होना, यथा-इसमें व्यक्ति अपने पृष्ठ को झुका लेता है। अथवा व्याधि का बल इतना तीव्र होता है कि रोगी का सम्पूर्ण शरीर कम्पन करने लगता है। इसके लक्षणों को आचार्य सुश्रुत ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा-"मर्माण्यार्पाडयन्तीव सततं या प्रवर्तते। देहमायम्य वेगेन घोषयत्यतितृष्यतः। महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी" (सु.उ.तं. ५०/१४) इति [जो हिक्का मर्मो-(वस्ति, हृदय एवं सिर) को पीड़ित करते हुए उत्पन्न होती हो, इसमें शरीर झुक जाता है तथा हिक्का बड़े वेग व तीव्र शब्द के साथ उत्पन्न होती है, इसमें रोगी को अत्यधिक प्यास लगती है, हिक्का उत्पन्न होने पर आतुर का सम्पूर्ण शरीर कम्पन करने लगता है; ऐसी हिक्का को महाहिक्का कहते हैं।]

Scanned by CamScanner

हिक्कते यः प्रसृजस्तु कृशो दीनमना नरः । गजरिणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ।।२७।।
संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन् । पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ।।२८।।
नाभेः पक्वाशयाद्वाऽपि हिक्का चास्योपजायते । क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ।।२९।।
रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं तु प्रनष्टबलचेतासः । गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ।।३०।।

इति गम्भीरा हिक्का ।

२. गम्भीरा हिक्का (Gambhīrā-Hikkā)—गम्भीरा हिक्का में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं—

→ इस हिक्का का रोगी प्राय वृद्ध, कृश (Emaciated) व मानसिक रूप से दुःखी होता है ।

→ यह बार-बार हिचकी लेता है, हिचकी लेते समय दर्द के साथ छाती से गम्भीर आवाज आती है । (He frequently hiccups and produces deep painful and resonant sounds with his afflicted chest.)

→ जम्हाई आना एवं शरीर को फैलाना एवं सिकोड़ना । अर्थात् रोगी को जम्हाई आती है तथा वह अपने शरीर को फैलाता एवं सिकोड़ता है ।

→ श्वास लेते समय दोनों पार्श्वों को संकुचित करता है तथा मुख से निकलने वाले शब्द स्पष्ट नहीं होते, सीने (Chest) में जकड़ाहट एवं दर्द होता है ।

→ हिक्का का उद्गम नाभि एवं पक्वाशय से होता है । अर्थात् नाभि एवं पक्वाशय से उत्पन्न होते हुए यह हिक्का शरीर में भयङ्कर क्षोभ उत्पन्न करती है जिससे उसका शरीर आगे की ओर झुक जाता है ।

→ रोगी के आँखों के सामने अन्धकार छा जाता है ।

→ हिक्का के कारण उच्छ्वास (Expiration) का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, रोगी का बल एवं चेतना शक्ति नष्ट हो जाती है ।

इन लक्षणों वाली हिक्का को गम्भीरा हिक्का कहा जाता है । यह हिक्का रोगी के प्राणों को नष्ट करने वाली होती है ।

चक्रपाणि—तत्र हिगिति कायति शब्दं करोतीति हिक्का- इस व्याधि के वेगकाल में रोगी के मुख से हिक्-हिक् शब्द निकलता है । इस कारण इस व्याधि को हिक्का कहा जाता है ।

गम्भीरमनुनादयन्निति हिक्काया अनु गम्भीरं शब्दं कुर्वन्-गम्भीर शब्दों को उत्पन्न करते हुए हिक्का का उत्पन्न होना । **संक्षिपन्नङ्गानि इति योज्यम्**-अंगों को संकुचित करना, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । गम्भीरदेशभवत्वात् 'गम्भीरा' इति संज्ञा-यह हिक्का गम्भीर स्थान (नाभि एवं पक्वाशय-मर्मस्थान) से उत्पन्न होने के कारण 'गम्भीरा' नाम से कही गयी है । ।।२६-३०।।

विशेष (Comments)—आचार्य सुश्रुत ने गम्भीरा हिक्का के लक्षणों को इस प्रकार बताया है, यथा-"नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरागम्भीरनादिनी । शुष्कौष्ठकण्ठजिह्वास्यश्वासपार्श्वरूजाकरी ।। अनेकोपद्रवयुता गम्भीरा नाम सा स्मृता" (सु.उ.अ. ५०/१२) इति [यह हिक्का नाभि से उत्पन्न होती है, इसमें कष्ट के साथ गम्भीर आवाज आती है, ओष्ठ, कण्ठ, जिह्वा एवं मुख में शुष्कता उत्पन्न हो जाती है, श्वास (Dyspnoea) एवं पार्श्वशूल उत्पन्न होता है साथ में और भी उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं । इन लक्षणों से युक्त हिक्का को गम्भीरा हिक्का कहते हैं ।]

जिस हिक्का की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) नाभि से होती है, उसे गम्भीरा हिक्का कहा गया है । घोरा=कष्ट साध्य । अर्थात् यह व्याधि कष्ट साध्य होती है । शुष्क शब्द यहाँ ओष्ठ, कण्ठ एवं जिह्वा; प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है । अर्थात् इस हिक्का में रोगी के ओष्ठ, कण्ठ, जिह्वा एवं मुख सूखने लगते हैं । अनेक उपद्रवों से युक्त होने के कारण भी इस हिक्का को गम्भीरा कहा गया है, उपद्रव से यहाँ ज्वर, श्वास, तृष्णा आदि लक्षणों का पाया जाना अर्थ लिया गया है ।

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे । आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम् ।।३१।।
प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः । जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः ।।३२।।
पर्याध्मातस्य हिक्का या जन्तुमूलादसन्तता । सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी ।।३३।।

इति व्यपेता हिक्का ।

३. व्यपेता हिक्का के लक्षण (Signs and Symptoms of Vyapetā-Hikkā)—यह हिक्का चतुर्विध (अशित, खादित, पीत एवं लीढ) अन्न-पान के सेवन से उत्पन्न होती है । आहार पाचन के बाद के समय (आहारपरिणामान्ते) में इस हिक्का का वेग बढ़ जाता है ।

→ वेगकाल में प्रलाप (delirium), वमन (Vomiting), अतिसार (diarrhoea), तृष्णा (Morbid thirst), एवं ज्ञान शून्य की अवस्था उत्पन्न हो जाती है ।

Scanned by CamScanner

→ जम्हाई का आना, आँखों में आँसुओं का भर जाना (Tearful eyes) मुख का शुष्क होना, शरीर का आगे की ओर झुक जाना, उदर में आध्मान का उत्पन्न होना; लक्षण मिलते हैं ।

→ यह हिक्का जत्रुमूल (Base of the clavicle) से उत्पन्न होती है, इसके वेग लगातार नहीं आते । अर्थात् रुक्-रुक् कर आते हैं । प्राणों का अन्त करने वाली इस प्रकार की हिक्का को व्यपेता हिक्का कहते हैं ।

चक्रपाणि-व्यपेता परिणतेत्यर्थः-व्यपेता का अभिप्राय आहार के पाचन से है । **आहारपरिणामान्ते इति**-आहार के पाचन होने पर, अर्थात् आहार का पाचन हो जाने पर । यह हिक्का आहार सेवन करने से उत्पन्न होती है, भोजन के पच जाने पर इसका वेग बढ़ जाता है । इस कारण इसका नाम व्यपेता दिया गया है ।

विनामिन इति-शरीर का आगे की ओर झुक जाना । अर्थात् हिक्का के वेग के समय रोगी आगे की ओर झुक जाता है ।

असंततेति-वेग का अति दीर्घकाल तक न आना । अर्थात् वेगों का रुक-रुक कर आना । ॥३१-३३॥

क्षुद्रवातो यदा कोष्ठाद्व्यायामपरिघट्टितः । कण्ठे प्रपद्यते हिक्कां तदा क्षुद्रां करोति सः ।।३४।।
अतिदुःखा न सा चोरःशिरोमर्मप्रबाधिनी । न चोच्छ्वासान्नपानानां मार्गमावृत्य तिष्ठति ।।३५।।
वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम् । यतः प्रवर्तते पूर्वं तत एव निवर्तते ।।३६।।
हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता । मृद्वी सा क्षुद्रहिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता ।।३७।।
इति क्षुद्रहिक्का ।

४. क्षुद्रहिक्का के लक्षण (Signs and Symptoms of Kṣudra-Hikkā)—व्यायाम द्वारा प्रकुपित कोष्ठस्थ वायु (अल्प रूप में प्रकुपित होकर) कोष्ठ से कण्ठ प्रदेश में पहुँचकर क्षुद्रहिक्का को उत्पन्न करता है ।

→ इस हिक्का में रोगी को अत्यधिक कष्ट नहीं होता एवं इसमें रोगी का उरः प्रदेश (Chest), सिर (Head) एवं मर्म (Heart) अत्यधिक प्रभावित नहीं होता ।

→ क्षुद्रहिक्का में दोष श्वासवहस्रोतस्, अन्नवहस्रोतस् एवं जलवहस्रोतस् में आश्रित होकर अवरोध उत्पन्न नहीं करते ।

→ परिश्रम करने पर इस हिक्का (क्षुद्रहिक्का) का वेग बढ़ जाता है तथा तत्काल भोजन करने के बाद उसमें आराम गिल जाता है ।

→ जिन आयास आदि कारणों से यह हिक्का उत्पन्न होती है उन्हीं कारणों से शान्त भी हो जाती है ।

→ इस हिक्का में दोष हृदय (Cardiac region), क्लोम (Lungs) तथा तालु (Palate) में मृदु रूप में आश्रित रहते हैं । अर्थात् वेग का प्रादुर्भाव इन्हीं स्थानों से होता है । पुरुषों में उत्पन्न होने वाली मृदु स्वरूप वाली यह क्षुद्रहिक्का साध्य होती है ।

चक्रपाणि-'क्षुद्रेत्यादि' के द्वारा क्षुद्रहिक्का का अभिधान किया गया है । **क्षुद्रवातः अल्पवातः**-क्षुद्रहिक्का में वायु का अल्प रूप में प्रकोप होता है । कुछ आचार्य क्षुद्र वायु (वात) से यहाँ उदानवायु का ग्रहण करते हैं । **आयस्यत इति आयासं कुर्वतः मार्दवं यातीति सम्बन्धः**-आयास का सम्बन्ध मृदुता से है । जिन कारणों से पहले यह हिक्का उत्पन्न होती है, उत्पन्न होने पर अर्थात् वेग प्रादुर्भाव होने पर उन्हीं कारणों के सेवन से शान्त भी हो जाती है । इसके वेग महाहिक्का की तरह अनुबद्ध नहीं होते । **उत्पादकहेतोर्व्यायामादेरेव निवर्तते** अपने उत्पादक हेतु-व्यायाम आदि के द्वारा इसके वेग शान्त हो जाते हैं । अर्थात् व्यायाम आदि के द्वारा हिक्काजनक अल्प प्रकुपित वात का विक्षेप होने से सम्प्राप्ति विघटित हो जाने के कारण व्याधि की शान्ति हो जाती है, यह भाव है ।

क्षुद्रवातजनितत्वात् क्षुद्रा हिक्का—वायु के अल्प प्रकोप से उत्पन्न होने के कारण इस हिक्का को **क्षुद्रहिक्का** कहते हैं । ॥३४-३७॥

विशेष (Comments)—आचार्य सुश्रुत ने क्षुद्रहिक्का के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है, यथा-"विकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते । क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात् प्रधावति" (सु.उ.तं.अ. ५०/११) इति [जो हिक्का विकृष्ट काल में मन्द वेग के साथ जत्रुमूल से प्रारम्भ होती है उसे 'क्षुद्रिका' कहते हैं । विकृष्टकालैः=देर से वेग का उत्पन्न होना । अर्थात् इस हिक्का के वेग देर से उत्पन्न होते हैं । यह हिक्का कहाँ से उत्पन्न होती है, इसका उत्तर 'जत्रुमूलात् प्रधावति' द्वारा दिया गया है । अर्थात् जत्रुमूल से प्रारम्भ होती है । जत्रु से यहाँ कण्ठ एवं उरः की संधि का ग्रहण किया गया है । [जत्रुः कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः] आचार्य गयदास ने जत्रु से ग्रीवामूल का भी ग्रहण किया है । इससे हृदय, क्लोम एवं कण्ठ का भी ग्रहण होता है ।-सु.उ.तं.अ. ५०/११ पर डल्हण टीका का हिन्दी अनुवाद ।

सहसाऽत्यध्यवहृतैः पानान्नैः पीडितोऽनिलः । ऊर्ध्वं प्रपद्यते कोष्ठान्महौर्वाऽतिमदप्रदैः ।।३८।।
तथाऽतिरोषभाष्याध्यवहास्यभारातिवर्तनैः । वायुः कोष्ठगतो धावन् पानभोज्यप्रपीडितः ।।३९।।
उरःस्थाः समाविश्य कुर्याद्धिक्कां ततोऽग्रजाम् । तथा शनैरसंबन्धं क्षुद्यंश्चापि स हिक्कते ।।४०।।

Scanned by CamScanner

न मर्मबाधाजननी नेन्द्रियाणां प्रबाधिनी । हिक्का पीते तथा भुक्ते शमं याति च साऽन्नजा ।।४१।।
इत्यन्नजा हिक्का ।

५. अन्नजा हिक्का के लक्षण (Signs and Symptoms of Annajā-Hikkā)—अचानक अतिमात्रा में अन्न एवं जल के ग्रहण करने से कोष्ठस्थ पीडित वायु शरीर के ऊर्ध्व भाग में चली जाती है अथवा अत्यधिक मदकारी अन्न-पान के सेवन से या अत्यधिक मद्यपान करने से वायु प्रकुपित होकर कोष्ठ से ऊर्ध्व प्रदेश में चली जाती है ।

→ अथवा अत्यधिक क्रोध (Excessive anger), अत्यधिक बोलना (Excessive speech), अत्यधिक पैदल चलना (Excessive walk), अत्यधिक हँसना एवं अत्यधिक भार ढोने से प्रकुपित हुई कोष्ठगत वायु अन्न-पान के सेवन से पीड़ित होकर उरः प्रदेश में आश्रित होकर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करती हैं ।

→ इस हिक्का में धीरे-धीरे मन्द ध्वनि के साथ हिक्का आती है इसी के साथ रोगी को छींके आती हैं ।

→ इस हिक्का से मर्म प्रदेश एवं इन्द्रियों में कोई बाधा नहीं आती । अर्थात् इन भागों में रोगी को किसी भी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं होता ।

→ यह हिक्का जल पीने अथवा कुछ खा लेने के बाद स्वतः ही शान्त हो जाती है ।

चक्रपाणि—'सहसेत्यादि' के द्वारा अन्नजा हिक्का का अभिधान किया गया है । यद्यपि यह हिक्का अन्नजा (अन्न से उत्पन्न) कही गयी है, फिर भी यह प्रकुपित दोषादि के द्वारा ही उत्पन्न होती है । **पानभोज्यप्रपीडित इति**-सेवित अन्न-पान के दबाव के कारण कोष्ठस्थ वायु पीडित होकर ऊर्ध्वगामी होकर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करती है । अतः अन्न-पान के कारण ही यह हिक्का उत्पन्न होती है, इसलिये इसका नाम 'अन्नजा' दिया गया है । ।।३८-४१।।

विशेष (Comments)—अत्यधिक अन्न-पान के सेवन से पीड़ित हुई वायु अचानक कोष्ठ से निकलकर ऊर्ध्व प्रदेश में गमन करती है । अथवा अति मद्योत्पादक अन्न-पान के सेवन या अत्यधिक मद्य के सेवन से पीड़ित हुई वायु अचानक कोष्ठ से निकलकर ऊर्ध्व भाग की ओर गमन करती है । अथवा अति क्रोधादि कारणों के उपरान्त कोष्ठगत वायु उरः स्रोतस् में आश्रित होकर अन्नजा हिक्का को उत्पन्न करती है ।

अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च । व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ।।४२।।
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् । यमिका च प्रलापार्तितृष्णामोहसमन्विता ।।४३।।
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः । तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ।।४४।।

साध्यताऽसाध्यता—जिस व्यक्ति के शरीर में वातादि दोष अत्यधिक संचित हो गये हों । अर्थात् जिसके शरीर में वातादि दोषों का अत्यधिक संचय हो ।

→ भोजन न करने के कारण जो कृश हो । अथवा व्याधि के कारण जिसका शरीर दुर्बल हो ।

→ जो अत्यधिक वृद्ध हो ।

→ जो अत्यधिक व्यवायशील हो । अर्थात् जो अत्यधिक मैथुन करता हो ।

ऐसे व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाली हिक्का प्राणों का अन्त करने वाली होती है । अर्थात् असाध्य होती है ।

→ प्रलाप (delirium), अर्ति (वेदना-Pain), तृष्णा (Morbid thirst) एवं मोह (unconsciousness) से युक्त यमिका हिक्का भी असाध्य होती है । अर्थात् रोगी को यम लोक तक पहुँचाने वाली होती है ।

→ जो व्यक्ति दुर्बल न हो, दीन न हो (मानसिक रूप से दुर्बल न हो, या प्रबल सत्त्व वाला हो), तथा जिसकी शरीरस्थ धातुएं एवं ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हों; ऐसे पुरुषों में उत्पन्न होने वाली यमिका हिक्का साध्य होती है । इससे भिन्न शरीर में उत्पन्न होने वाली हिक्का असाध्य होती है ।

चक्रपाणि—'अतीत्यादि' के द्वारा हिक्का की साध्यासाध्य विभाग को बताया गया है, अर्थात् हिक्का की साध्यता एवं असाध्यता को स्पष्ट किया गया है । **अतिशयेन संचिता दोषा यस्य स तथा**-जिस व्यक्ति में दोषों का अत्यधिक संचय हो । अर्थात् जिसके शरीर में वातादि दोष अत्यधिक रूप से बढ़ गये हों ।

भक्तच्छेदकृशस्येति—भोजन न करने के कारण जो दुर्बल हो । **आसां पञ्चानां या हिक्का अतीत्यादिना प्रोक्तलक्षणस्य पुरुषस्य भवति सा जीवितं हन्ति**-अतीत्यादि के द्वारा वर्णित लक्षण वाले पुरुष में जो पाँच प्रकार की हिक्का उत्पन्न होती है, वह रोगी के प्राणों को नष्ट कर देती है । अर्थात् अतिसंचित दोष युक्त पुरुष, भोजन न करने से कृश पुरुष, व्याधि से क्षीण पुरुष, वृद्ध पुरुष एवं अति व्यवाय शील पुरुष में उत्पन्न होने वाली पाँचों प्रकार की हिक्का असाध्य होती है ।

Scanned by CamScanner

'यमिका' से यहाँ क्षुद्रा हिक्का एवं अन्नजा हिक्का जो साध्य होने से कही गयी है, वह यमल वेग से उत्पन्न होने के कारण यमिका कही जाती है। अर्थात् क्षुद्रा एवं अन्नजा दोनों प्रकार की हिक्का में एक दौरे के साथ दो वेग आने से 'यमिका' नाम दिया गया है।

पूर्वोक्तानुवेगेन या जायमाना सा महाहिक्का–पूर्ववर्णित वेगों के बाद जो हिक्का उत्पन्न होती है उसे 'महाहिक्का' कहते हैं। अर्थात् महाहिक्का में एक आक्रमण के समय दो वेग आते हैं। महाहिक्का स्वरूपतः असाध्य होती है। अतः **यमिका** का अभिप्राय एक Attack (दौरे) में दो वेगों का आना है। यह अवस्था हिक्का के किसी भी प्रकार में उत्पन्न हो सकती है। [यद्यपि अन्नजा एवं क्षुद्रा हिक्का साध्य है, लेकिन अतिसंचित आदि कारणों के संयोग से वे असाध्य हो जाती हैं।] लेकिन प्रारम्भ के तीन महाहिक्का, गम्भीरा एवं व्यपेता में अतिसंचित आदि कारणों के संयोग से असाध्यता का अभिधान कोई अर्थ नहीं रखता। यद्यपि महाहिक्का, गम्भीरा एवं व्यपेता में असम्पूर्ण लक्षणों का मिलना, साध्यत्व का परिचायक है, जबकि क्षुद्रा एवं अन्नजा हिक्का सम्पूर्ण लक्षण मिलने पर भी साध्य होती हैं। महाहिक्कादि तीन स्वभावतः असाध्य होती है। इसी विषय को दूसरे आचार्य इस प्रकार समझाते हैं-महाहिक्का आदि तीन कभी-कभी साध्य होते ही हैं। 'प्राणान्तिके' शब्द से प्रायः प्राणों को नष्ट करने वाली होना अर्थ अभिहित है। अर्थात् महाहिक्का, गम्भीरा एवं व्यपेता प्रायः प्राणों को नष्ट कर देती हैं, कभी-कभी रोगी इनसे बच भी जाता है।

जतूकर्ण संहिता में कहा भी गया है, यथा-"आद्या दुः साध्या, यमिका तृष्णामोहवतां सद्यः प्राणहत्, गम्भीरा व्यपेते च" (महाहिक्का दुःसाध्य है, यमिका, व्यपेता एवं गम्भीरा हिक्का जो तृष्णा एवं मोह (unconsciousness) से युक्त हो, तब सद्यः मृत्योत्पादक होती है।) **अक्षीण इति**-मांस का क्षीण न होना। ॥४२-४४॥

विशेष (Comments)–पाँचों प्रकार की हिक्का की असाध्यता को यहाँ 'अतीत्यादि' के द्वारा बताया गया है। इन पाँचों प्रकार के हिक्का के बीच में जो हिक्का-दोषों के अति संचय से उत्पन्न होती है, अथवा अरुचि के कारण भोजन के अभाव से उत्पन्न है, अथवा व्याधिजन्य कृशता से उत्पन्न है अथवा वृद्धावस्था में उत्पन्न, अथवा अति व्यवाय के कारण उत्पन्न है, वह रोगी के प्राणों को शीघ्र ही हर लेती है। महाहिक्का सद्यः प्राणों को नष्ट करने वाली होती है। गम्भीरा 'प्राणान्तिकी' बतायी गयी है। प्यास आदि से युक्त व्यपेता हिक्का प्राणों में अवरोध उत्पन्न करने वाली होती है, यह प्राणों का नाश नहीं करती। -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

आचार्य सुश्रुत ने हिक्का की असाध्यता का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा-आयम्यते हिक्कतोऽङ्गानि यस्य दृष्टिश्चोर्ध्वं ताम्यते यस्य गाढम् ॥ क्षीणोऽन्नद्विट् कासते यश्च हिक्की तौ द्वावन्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥ (सु.उ.तं. ५०/१५) इति [हिक्का का जो रोगी अपने अंगों को अत्यधिक फैलाता हो, जिसकी आँखें ऊपर चढ़ गयी हो, जिसके अंगों में अत्यधिक संकोच हो रहा हो, अन्न व मल (पुरीष) जिसके क्षीण हों अर्थात् भूख न लगती हो तथा पुरीष अल्प मात्रा में निकलता हो, जो कास (Cough) से युक्त हो, जो मोह युक्त हो। वे दोनों (गम्भीरा व महाहिक्का के) रोगी असाध्य होते हैं।]

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः। विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान्करोति सः ॥४५॥

श्वास रोग की संप्राप्ति [Pathogenesis of Śvāsa (Asthma)]–जब वायु बढ़कर कफ के साथ मिलकर प्राणवह एवं उदकवह स्रोतस को अवरुद्ध कर देती है, परिणाम स्वरूप स्वयं भी अवरुद्ध होकर सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित होकर श्वास रोग को उत्पन्न करती है।

चक्रपाणि–'यदेत्यादि' के द्वारा श्वास रोग की संप्राप्ति को बताया गया है। 'स्रोतांसीति' से यहाँ प्राणवह स्रोतस् एवं उदकवह स्रोतस् दोनों का ग्रहण किया गया है। **कफपूर्वक इति**-कफ प्रधान दोष। **विष्वग्व्रजति सर्वतो गच्छति**-दोष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं।

विशेष-'यदेत्यादि' के द्वारा श्वास के निदान को बताया गया है। **कफपूर्वकः कफेन संयुक्तः**-पहले कफ के साथ वायु मिलकर प्राणवह स्रोतस् को अवरुद्ध कर देती है। परिणामतः वायु व कफ अवरुद्ध होकर (स्रोतस् के अवरुद्ध होने से) सम्पूर्ण शरीर में फैलकर वैकारिक श्वास रोग को उत्पन्न करते हैं।

सुश्रुतसंहिता में इसकी संप्राप्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है, यथा- "विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः। श्वासयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तं श्वासं परिचक्षते" (सु.उ.तं. ५१/०४) इति [प्राणवायु अपनी प्रकृति को छोड़कर अर्थात् विकृत होकर कफ के साथ मिलकर ऊर्ध्वगामी होकर व्यक्ति के श्वास को बढ़ा देता है जिसे विद्वान् लोग श्वास कहते हैं।]

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः। उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥४६॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः। विकृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥४७॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्। महाश्वासोपसृष्टः स क्षिप्रमेव विपद्यते ॥४८॥

इति महाश्वासः।

Scanned by CamScanner

महाश्वास के लक्षण (Signs and Symptoms of Mahā-Śvāsa)—जो रोगी मत्त (मतवाले) सांड की तरह वायु की गति ऊर्ध्वगति हो जाने के कारण उच्च शब्द के साथ कष्ट के साथ दिन-रात श्वास लेता है। वायु की गति अवरुद्ध हो जाने से उस व्यक्ति की ज्ञान-विज्ञान की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसकी आँखें विभ्रान्त हो जाती हैं (Eye balls become bewildered), आँखें एवं आनन (face) विकृत हो जाती है, मूत्र एवं मल (पुरीष) अवरुद्ध हो जाते हैं, आवाज धीमी हो जाती है, रोगी दीन (मानसिक रूप से दुर्बल) हो जाता है, रोगी इतना लम्बा श्वास (Deep breathing) खींचता है कि दूर खड़े व्यक्ति को भी पता चल जाता है। महाश्वास से युक्त पुरुष की मृत्यु शीघ्र हो जाती है। ॥४६-४८॥

चक्रपाणि-'उद्धूयमानेत्यादि' के द्वारा महाश्वास के लक्षणों को बताया गया है। **उद्धूयमान इति ऊर्ध्वंधूयमानवातः**-श्वास का तेजी के साथ छोड़ना। उच्चैरिति=दीर्घ। **मत्तर्षभः मत्तबलीवर्दः**-मतवाला सांड (बैल) जिस प्रकार अपनी श्वास को आवाज के साथ छोड़ता है वैसी ही आवाज महाश्वास के रोगी में भी होती है। **दीन इति दीनवत्**-दीन की तरह। 'दीनं प्रश्वसितं' पाठ होने पर श्वास का धीमा होना (Shallow breathing) अर्थ होगा। तब दूरात् विज्ञायते कथन का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा। [अतः यहाँ दीन से मानसिक रूप से दुःखी अर्थ गृहीत होगा।]

विशेष (Comments)—श्वास रोग की संप्राप्ति के विवेचन के बाद 'उद्धूयेत्यादि' के द्वारा 'महाश्वास' के लक्षणों का अभिधान किया गया है। जो रोगी कष्ट के साथ श्वास को अन्दर तेजी के साथ खींचने लगता है, उसकी इस श्वास गति को दूर खड़ा हुआ व्यक्ति भी सुन लेता है।

दीर्घं श्वसिति यस्तूर्ध्वं न च प्रत्याहरत्यधः। श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥४९॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंश्च विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः। प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥५०॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते। मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥५१॥
इत्यूर्ध्वश्वासः।

ऊर्ध्वश्वास के लक्षण (Signs and Symptoms of Ūrdhva-Śvāsa)—ऊर्ध्वश्वास के रोगी में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. श्वास लम्बा छोड़ना (Prolonged expiration), अर्थात् ऊर्ध्वश्वास का रोगी श्वास दीर्घ लेता है, लेकिन वह वायु अन्दर नहीं जा पाती (Inability to have inspiration)।

२. इस व्याधि में स्रोतों के मुख कफ से आवृत हो जाते हैं, जिसके कारण वायु कुपित होकर रोगी को कष्ट देती है।

३. रोगी की दृष्टि (Eye-balls) ऊपर की ओर हो जाती है (Eye-balls moved upwards) [ऐसा लगता है कि रोगी ऊपर की ओर देख रहा है।]

४. रोगी की दृष्टि विभ्रान्त हो जाती है, अर्थात् रोगी इधर-उधर देखता रहता है।

५. मोह युक्त होना (To become unconsciousness), मुख का शुष्क होना (Dryness of the mouth), अत्यधिक वेदना का होना (Excessive pain), अरति (शरीर में बेचैनी का बढ़ना)

६. जब रोगी के ऊर्ध्वश्वास की गति बढ़ जाती है, उस अवस्था में अधः श्वास (Inspiration) की गति अवरुद्ध हो जाती है, तब रोगी मोह (unconsciousness) एवं कम्प (Tremors) से युक्त होता है।

इन लक्षणों से युक्त ऊर्ध्वश्वास का रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है।

चक्रपाणि-'दीर्घमिति' के द्वारा 'ऊर्ध्वश्वास' के लक्षणों को बताया गया है। **दीर्घं श्वसिति श्वासस्य बहिर्निर्गमनं दीर्घकालं करोति**-श्वास के बहिर्निगमन का कार्य देर तक होना, अर्थात् देर तक श्वास छोड़ना। ऊर्ध्वश्वास का रोगी श्वास को देर तक छोड़ता है।

न च प्रत्याहरत्यध इति श्वासमधो न नयति-श्वास खींच न पाना। क्रुद्धगन्धवहः-वायु का दूषित होना अथवा विकृत होना। श्वास का दीर्घकाल तक छोड़ने एवं न खींच पाने के हेतुओं को 'ऊर्ध्वश्वासे इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यहाँ कफवह स्रोतस् का मुख कफ से आवृत होना तथा इस स्रोतस् में रहने वाली वायु का विकृत होना; ऊर्ध्व श्वास का कारण है।

विशेष (Comments)—आचार्य सुश्रुत ने ऊर्ध्वश्वास के लक्षणों में- मर्मों (सिर, हृदय एवं बस्ति) में खिचावट का होना, मोह (Unconsciousness), श्वास का लगातार आना, दृष्टि का ऊपर टंग जाना (ऊर्ध्वप्रेक्षणशीलः), रोगी का न बोल पाना (आवाज का बैठ जाना) बताया है, यथा-"मर्मस्वायम्यमानेषु श्वसन्मूढो मुहुश्च यः। ऊर्ध्वप्रेक्षी हतरवस्तमूर्ध्वश्वासमादिशेत्" (सु.उ.अ. ५१/१३) इति।

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः। न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥५२॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना। विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥५३॥

Scanned by CamScanner

विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः । छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं प्रजहात्यसून् ।।५४।।
इति छिन्नश्वासः ।

छिन्नश्वास के लक्षण (Signs and Symptoms of Chinna-Śvāsa)–

→ जो रोगी रुक-रुक कर श्वास लेता है तथा उसकी इन्द्रियों में अत्यन्त पीड़ा होती है । अथवा श्वास नहीं लेता अर्थात् अवरुद्ध हो जाता है ।

→ रोगी के मर्म स्थान को काट दिया गया है, ऐसी वेदना का होना । रोगी को अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है ।

→ आनाह (Constipation associated with flatulence), स्वेद (Sweating) एवं मूर्च्छा (Fainting) का होना ।

→ बस्ति प्रदेश में दाह का होना (Burning sensation in the region of urinary bladder)

→ आँखों से अत्यधिक अश्रुस्राव का होना (Excessive tears)

→ शरीर का कृश होना (Emaciation)

→ श्वास लेते समय एक नेत्र का रक्तवर्ण का होना ।

→ चेतना का न होना (मन का व्याकुल होना), मुख का सूखना (Dryness of the mouth), त्वचा का वर्ण बदल जाना (discolouration of the skin), प्रलाप (delirium) युक्त होना ।

→ संधियों का ढीला पड़ जाना (Looseness of the joints)

इन लक्षणों से युक्त छिन्नश्वास का रोगी शीघ्र ही अपने प्राणों को त्याग देता है ।

चक्रपाणि–'यस्त्वित्यादि' के द्वारा छिन्नश्वास के लक्षणों को बताया गया है । **श्वसिति विच्छिन्नमिति निःश्वस्य पुनः क्षणान्तेन श्वसिति** रुक-रुक कर श्वास लेना ।

न वा श्वसिति-अथवा श्वास नहीं लेता । **मर्मच्छेदरूपा रुक्**-मर्मों को काटने जैसी पीड़ा का होना ।

बस्तिनिरोधः मूत्रनिरोध इत्यर्थः–बस्ति निरोध से यहाँ मूत्र का अवरुद्ध होना अर्थ लिया गया है । अर्थात् Obstruction of Urine **रक्तैकलोचनत्वमिह व्याधिप्रभावात्**–'एक आँख रक्त वर्ण का होना' व्याधि के प्रभाव के कारण होता है । **विच्छिन्नः विमुक्तसंधिबन्धः**-संधि बन्धनों का ढीला होना (Looseness of the joints) । इस प्रकार महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास, ये तीन स्वभावतः असाध्य होते हैं ।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने छिन्नश्वास का वर्णन इस प्रकार किया है, यथा-"आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः । सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्" (सु.उ.तं. ५१/११) इति [इस श्वास के रोगी में-आध्मान, बस्ति में दाह होना; वेदना तथा रोगी सम्पूर्ण शक्ति लगाने के बाद भी बीच-बीच में रुक-रुक कर श्वास लेता है ।]

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते । ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणां समुदीर्य च ।।५५।।
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरुकं तथा । अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ।।५६।।
प्रताम्यत्यतिवेगाच्च कासते सन्निरुध्यते । प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ।।५७।।
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः । तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ।।५८।।
अथास्योद्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् । न चापि निद्रां लभते शयानः श्वासपीडितः ।।५९।।
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः । आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ।।६०।।
उच्छ्वासक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमर्तिमान् । विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ।।६१।।
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्चाभिवर्धते । स याप्यस्तमकश्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ।।६२।।
इति तमकश्वासः ।

तमकश्वास के लक्षण (Signs and Symptoms of Tamaka Śvāsa)–जब वायु प्रतिलोम होकर प्राणवह स्रोतस् में पहुँचती है तब ग्रीवा एवं सिर के आश्रित होकर तथा कफ को उदीरित (प्रेरित) करते हुए पीनस (rhinitis) को उत्पन्न करती है । यही वायु जब अवरुद्ध (Obstructed) हो जाती है तब अधोलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है–

१. गले में घरघराहट (घुर्घुरुक) का उत्पन्न होना, यह अवस्था कफ से वायु के अवरुद्ध होने के कारण उत्पन्न होती है ।

Scanned by CamScanner

२. प्राणों को अत्यन्त कष्ट देने वाले श्वास वेग का अत्यन्त बढ़ जाना (Dyspnoea of exceeding by deep velocity)

३. श्वास के तीव्र वेग के कारण रोगी का शरीर अत्यधिक टेढ़ा हो जाता है, बार-बार खाँसी आती है, तथा कास के वेग में रुकावट उत्पन्न हो जाती है।

४. रोगी खाँसते-खाँसते मूर्च्छित हो जाता है, यह अवस्था बार-बार उत्पन्न होती है।

५. कफ (श्लेष्मा) के न निकलने पर रोगी को अत्यधिक कष्ट होता है तथा निकल जाने पर कुछ समय (१ मुहूर्त=४८ मिनट) के लिए आराम मिल जाता है।

६. रोगी का गला बैठ जाता है। अर्थात् आवाज बैठ जाती है तथा रोगी को बोलने में कष्ट का अनुभव होता है।

७. रोगी को नींद (Sleep) नहीं आती, सोने के लिए जब वह विस्तर पर जाता है, तब उस समय श्वास (Dyspnoea) बढ़ जाता है।

८. सोने पर रोगी के दोनों पार्श्वों में प्रकुपित हुई वायु वेदना उत्पन्न करती है। बैठने पर रोगी को सुख का अनुभव होता है।

९. रोगी को उष्ण आहार-विहार सेवन करने की विशेष इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् उष्ण आहार-विहार आतुर के लिए अनुकूल होता है।

१०. रोगी की आँखे सूजी हुई (शोथ युक्त) रहती हैं, ललाट से पसीना निकलता रहता है तथा रोगी अत्यधिक दुःखी रहता है।

११. मुख का सूखना (Dryness of the mouth), बार-बार श्वास के वेग का आना एवं रुकना।

१२. मेघ, जल (वर्षा का होना), शीतल वायु, पूर्वी हवाओं एवं कफ वर्धक आहार-विहार के सेवन से श्वास का बढ़ना।

इन लक्षणों से युक्त तमकश्वास याप्य होता है। यदि यह व्याधि एक वर्ष के भीतर उत्पन्न है अर्थात् नवीन हो, तब वह साध्य होती है।

चक्रपाणि–'प्रतिलोममित्यादि' के द्वारा 'तमकश्वास' को स्पष्ट किया गया है। 'श्लेष्माणं समुदीर्य चेति' के द्वारा श्वास की सामान्य संप्राप्ति के कथन के बाद भी 'श्लेष्मा' के पुनः कथन से यहाँ श्वास के विशेष कारणत्व को दर्शाया गया है।

[Aggravation of Kapha is already described in the general pathogenesis of S'vāsa-roga. It is repeated here in order to emphasise the special nature of this variety of S'vāsa.- Dr. Bhagvandas]

घुर्घुरुकमिति–कण्ठ में 'घुर्घुर' शब्द का होना।

सन्निरुध्यते इति–चेष्टा रहित होना। 'तस्यैव' के साथ ही यहाँ 'श्लेष्मणः' भी जुड़ा हुआ है। अर्थात् उस कफ के निकल जाने पर रोगी को १ मुहूर्त के लिए सुख का अनुभव होता है। आसीन=बैठना। तमकश्वास का रोगी जब लेटता है तब श्वास-कृच्छ्रता (Dyspnoea) बढ़ जाती है तथा जब उठकर बैठ जाता है तब उसे कुछ आराम मिल जाता है।

उच्छ्रताक्ष इति उच्छ्रनाक्षः–आँखों का शोथ युक्त होना।

मुहुश्चैवावधम्यते इति–बार-बार श्वास के वेगों का आना, अर्थात् श्वास के वेगों का रुक-रुक कर बार-बार आना।

विशेष (Comments)–'प्रतिलोममित्यादि' के द्वारा तमकश्वास के लक्षणों को बताया गया है। वायु प्रतिलोम गामी होकर प्राणवह स्रोतस् में आश्रित होती है तब वह सिर व ग्रीवा में रुक कर कफ को प्रेरित करते हुए प्रतिश्याय विशेष को उत्पन्न करती है। उस पीनस (प्रतिश्याय) में निकलने वाला कफ स्रोतों को अवरुद्ध करके वायु के मार्ग में रुकावट उत्पन्न करता है। फलतः व्यक्ति के मुख से घुर्घुर शब्द निकलता है तथा प्राणों के लिए अत्यन्त कष्टदायक श्वास का तीव्र वेग उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण रोगी अपने को अत्यधिक थका हुआ महसूस करता है, कास के वेग रुक जाने से निश्चेष्ट (चेष्टा रहित) हो जाता है। खाँसते-खाँसते रोगी बार-बार मुर्च्छित हो जाता है। खाँसते-खाँसते यदि कफ नहीं निकलता है तो उसे अत्यधिक कष्ट होता है। उस कफ के खाँसी के साथ निकल जाने पर तत्काल ही रोगी को कुछ समय के लिए लाभ मिल जाता है, अर्थात् पूर्व के कष्ट की तुलना में कष्ट कुछ कम हो जाता है। बार-बार कास के वेग आने से रोगी की आवाज बैठ जाती है तथा [due to hoarseness of the voice] गला बैठ जाने के कारण रोगी बोलने में कष्ट का अनुभव करता है। शयन करने पर रोगी को निद्रा नहीं आती, ऐसा बार-बार कास के वेग आने के कारण होता है। –जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद

मुहुश्चैवावधम्यते-बार-बार श्वास के वेग आने से रोगी का शरीर आगे एवं पीछे की ओर उसी प्रकार हिलता है जिस प्रकार हाथी सवार का शरीर हिलता रहता है। (गंगाधर सेन)

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात् प्रतमकं तु तम्। उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ।।६३।।

Scanned by CamScanner

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति । मज्जतस्तमसीवाऽस्य विद्यात् संतमकं तु तम् ।।६४।।
इति प्रतमकसंतमकश्वासौ ।

प्रतमक एवं संतमक श्वास के लक्षण–तमकश्वास वाले रोगी में जब ज्वर (Fever) एवं मूर्च्छा (Fainting); ये दो लक्षण विशेष रूप से पाये जाते हैं तब उसे 'प्रतमक' नाम दिया जाता है ; संतमक श्वास-इसकी उत्पत्ति उदावर्त (Upward movement of Vāyu in the abdomen), धूल (dust), अजीर्ण (Indigestion), क्लिन्नता (क्लेद, Humidity, नमी) तथा अधारणीय वेगों के रोकने से होती है । अर्थात् ये इसके उत्पादक कारण हैं । रात्रि में इसकी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तथा शीतल आहार-विहार के सेवन से इसमें आराम मिलता है ।

चक्रपाणि–पित्त के सम्बन्ध से ज्वरादि योग के कारण तमकश्वास की ही प्रतमक संज्ञा दी गयी है जिसे यहाँ 'ज्वरेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । तमकश्वास में जब ज्वर एवं मूर्च्छा, ये दो विशेष लक्षण मिलते हैं तो उसे प्रतमक कहा जाता है । प्रतमक के हेतु एवं लक्षणों को यहाँ 'उदावर्तेत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

प्रतमक एव संतमकः–प्रतमक ही संतमक है । रजो धूलिः=(dust-धूल) । कायनिरोधो वेगानां निरोधः=अधारणीय वेगों को रोकना ।

किंवा क्लिन्नकायो वृद्धः, निरोधः वेगनिरोधः-क्लिन्नकाय=वृद्ध पुरुष (Old person), निरोध=अधारणीय वेगों का अवरोध । अर्थात् वृद्ध पुरुषों द्वारा अधारणीय वेगों को धारण करने से । तमसेति=अंधकार से, अथवा तमोगुण की वृद्धि होने से । यद्यपि तमकश्वास की वृद्धि शीत के द्वारा होती है, यह कहा गया है, फिर भी प्रतमक का पित्त से सम्बन्ध होने के कारण 'शीतैश्चाशु प्रशाम्यति' शब्द का प्रयोग करना उचित है अथवा जिस प्रकार मद्य जनित विकारों की शान्ति मद्य के द्वारा होती है उसी प्रकार यह विकार शीतसमुत्थ होते हुए भी शीत के द्वारा प्रशमित होता है, ऐसा जानना चाहिये । प्रतमक श्वास को तमक का ही भेद स्वीकार करते हुए यहाँ श्वास की ५ संख्या भेद की सिद्धि की जाती है । ।।६३-६४।।

विशेष (Comments)–तमकश्वास का ही अवस्था भेद प्रतमक एवं संतमक होता हैं । ज्वरादि लक्षणों से युक्त होने के कारण तमक का ही नाम प्रतमक हो जाता है । वही कारण विशेष से उत्पन्न होने के कारण अन्य संज्ञा को प्राप्त करता है, जिसे 'उदावर्तेत्यादि' के द्वारा यहाँ स्पष्ट किया गया है ।

तमसि चायं मज्जतीवास्य तमसि मज्जत इव तमकश्वासं तं सन्तमकं विद्यात्–'अपने को अंधकार में डूबता हुआ महसूस करना' यह भाव जब तमक श्वास वाले रोगी में पाया जाता हैं तब उसी तमक श्वास को संतमक नाम दे दिया जाता है, ऐसा जानना चाहिए ।

कुछ आचार्य 'सन्तमकं तं विद्यात्' वचन से प्रतमक में उदावर्त आदि हेतु जब सम्मिलित हो जाते हैं तब उसे संतमक कहा जाता है, अर्थ करते हैं, जो कि उचित नहीं है ।

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् । क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ।।६५।।
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे । न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ।।६६।।
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्बलम् । स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ।।६७।।
इति श्वासाः समुद्दिष्टा हिक्काश्चैव स्वलक्षणैः ।

क्षुद्रश्वास के लक्षण (Signs and Symptoms of Kṣudra-Śvāsa)–रुक्ष आहार-विहार व व्यायाम के करने से कोष्ठ में अल्प रूप से प्रकुपित वायु उरोवह स्रोतस् में बढ़कर (ऊर्ध्व प्रदेश में आश्रित होकर), क्षुद्रश्वास को उत्पन्न करती है । यह श्वास रोगी के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में अत्यधिक बाधा नहीं उत्पन्न करता, इसमें रोगी को अन्य श्वासों की तरह अत्यधिक कष्ट नहीं होता, इसमें अन्न-पान की गति (सामान्य गति) में अवरोध नहीं उत्पन्न होता, इन्द्रियों में व्यथा नहीं उत्पन्न होती, न तो किसी प्रकार के रोग पैदा होते हैं । यह श्वास (क्षुद्रश्वास) साध्य होता है ।

बलवान पुरुष को होने वाले सभी श्वासरोग, जिनके लक्षण पूर्णतः व्यक्त न हों, साध्य होते हैं ।

इस प्रकार यहाँ हिक्का एवं श्वास के अपने-अपने लक्षणों का अभिधान किया गया । अर्थात् इनका विवेचन किया गया ।

चक्रपाणि–'रूक्षेत्यादि' के द्वारा क्षुद्रश्वास को बताया गया है । **रूक्षादायासाच्च उद्भवो यस्य स रूक्षायासोद्भवः**-रूक्ष आहार एवं व्यायाम से जिसका श्वास उत्पन्न होता हो, वह 'रूक्षायासोद्भः' कहा गया है । अर्थात् क्षुद्रश्वास रूक्ष आहार एवं व्यायाम जन्य हेतुओं से उत्पन्न होता है । क्षुद्रवात इति=स्वल्प वात (इसमें वायु अल्प रूप में प्रकुपित होती है ।) **न सोऽत्यर्थमिति नात्यर्थं दुःखकरः**-क्षुद्रश्वास अत्यधिक कष्टदायी नहीं होता । अर्थात् इसमें रोगी को अत्यधिक कष्ट का अनुभव नहीं होता । न दुःख इति न दुःखसाध्यः-यह कृच्छ्र साध्य भी नहीं है । अर्थात् सुख-साध्य होता है ।

Scanned by CamScanner

'सर्वे चाव्यक्त लक्षणा इति' से महाश्वास आदि (महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास) के व्यक्त सभी लक्षणों के अतिरिक्त की अवस्था साध्य होती है, यह प्रतिपादित किया गया है ।

विशेष (Comments)—श्वास रोग की साध्यता का वर्णन 'सेति' से किया गया है । **स साध्य उक्तः**, स क्षुद्रश्वासो बलिनः पुंसः साध्य उक्तः-बलवान पुरुष में होने वाला क्षुद्रश्वास साध्य होता है, महाश्वास आदि में लक्षण जब पूर्णतः व्यक्त न हों, अर्थात् व्याधि की पूर्वरूपावस्था हो, तब ये व्याधियाँ साध्य होती हैं । कहा भी गया है, यथा-"क्षुद्रः साध्यतमस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते । त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च" [क्षुद्रश्वास सभी श्वासों मे साध्यतम् होता है, तमकश्वास को कृच्छ्र साध्य कहा गया है, शेष तीन श्वास असाध्य होते हैं । यदि तमकश्वास दुर्बल पुरुष को उत्पन्न हो तब वह भी असाध्य होता है ।] इस प्रकार यहाँ पाँच प्रकार के श्वासरोग की उनके लक्षणों द्वारा व्याख्या की गयी, साथ ही पाँच प्रकार के हिक्का का भी विवेचन कर दिया गया । -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

एषां प्राणहरा वर्ज्या घोरास्ते ह्याशुकारिणः ।।६८।।
भेषजैः साध्ययाप्यांस्तु क्षिप्रं भिषगुपाचरेत् । उपेक्षिता दहेयुर्हि शुष्कं कक्षमिवानलः ।।६९।।

साध्यताऽसाध्यता (Prognosis)—इनमें (पाँचों प्रकार के श्वासरोग में) जो प्राणहर हैं, उन्हें छोड़ देना चाहिए, क्योंकि वे घोर (Serious) एवं आशुकारी (Acuteness) हैं । अर्थात् महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास आशुकारी एवं घोर (Serious nature) होने के कारण अचिकित्स्य हैं । दूसरे वे जो साध्य एवं याप्य हैं, चिकित्सक को औषधों द्वारा इनकी चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिये । यदि इनकी उपेक्षा कर दी गयी तो ये सूखे हुए तृण में विद्यमान उस अग्नि के समान हैं जो शीघ्र ही तृण को जलाकर राख कर देती हैं । अर्थात् इनकी उपेक्षा करने पर ये शीघ्र ही प्राणों को नष्ट कर देते हैं ।

चक्रपाणि-प्राणहरा महाश्वासादयः संपूर्णलक्षणा वर्ज्याः-प्राणहर महाश्वास आदि व्याधियाँ (महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास) जिसके सम्पूर्ण लक्षण अभिव्यक्त हो गये हों, को त्याग देना चाहिये । साध्ययाप्यनिति-इस शब्द का प्रयोग यहाँ बहुवचन में किया गया है । क्योंकि साध्य व याप्य भेद से इनकी संख्या अधिक है । [ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ हिक्का व श्वास दोनों की ही साध्यताऽसाध्यता का विवेचन किया गया है । अतः प्राणहर हिक्का-महाहिक्का, गम्भीरा हिक्का एवं व्यपेता तथा श्वास-महा, ऊर्ध्व एवं छिन्न अचिकित्स्य हैं । अर्थात् इनको त्याग देना चाहिये । जो हिक्का एवं श्वास साध्य एवं याप्य हैं, उनकी चिकित्सा योग्य औषधियों द्वारा चिकित्सक को शीघ्र करनी चाहिये, अर्थात् क्षुद्रश्वास, तमकश्वास, अन्नजा हिक्का एवं क्षुद्र हिक्का की चिकित्सा समय न व्यतीत करते हुए शीघ्र करनी चाहिए ।] अथवा तमक, क्षुद्रश्वास, प्रतमक, संतमक, इनकी चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिये ।

कारणस्थानमूलैक्यादेकमेव चिकित्सितम् । द्वयोरपि यथादृष्टमृषिभिस्तन्निबोधत ।।७०।।
हिक्काश्वासार्दितं स्निग्धैरादौ स्वेदैरुपाचरेत् । आक्तं लवणतैलेन नाडीप्रस्तरसंकरैः ।।७१।।
तैरस्य ग्रथितः श्लेष्मा स्रोतःस्वभिविलीयते । खानि मार्दवमायान्ति ततो वातानुलोमता ।।७२।।
यथाऽद्रिकुक्षेष्वर्काशुतप्तं विष्यन्दते हिमम् । श्लेष्मा तप्तः स्थिरो देहे स्वेदैर्विष्यन्दते तथा ।।७३।।
स्विन्नं ज्ञात्वा ततस्तूर्णं भोजयेत् स्निग्धमोदनम् । मत्स्यानां शूकराणां वा रसैर्दध्युत्तरेण वा ।।७४।।
ततः श्लेष्मणि संवृद्धे वमनं पाययेत्तु तम् । पिप्पलीसैन्धवक्षौद्रैर्युक्तं वातविरोधि यत् ।।७५।।
निर्हृते सुखमाप्नोति न कफे दुष्टविग्रहे । स्रोतःसु च विशुद्धेषु चरत्यविहतोऽनिलः ।।७६।।

हिक्का व श्वास की चिकित्सा (Treatment of Hikkā and Śvāsa)—कारण (Etiology), स्थान (Location) एवं मूल (प्रधान दोष-Dosas involved in their pathogenesis) एक होने से हिक्का एवं श्वास दोनों व्याधियों की चिकित्सा भी एक होती है । ऋषियों ने अपने अनुभव के आधार पर इनकी जो चिकित्सा बतायी है, हे अग्निवेश ! उसे सुनो-

हिक्का व श्वास रोगी को सर्वप्रथम तिल तैल में सैन्धव नमक मिलाकर वक्ष प्रदेश पर अभ्यङ्ग कराना चाहिए, पश्चात् स्निग्ध द्रव्यों से युक्त नाड़ी, प्रस्तर अथवा संकर स्वेद का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रक्रिया के करने के बाद, अर्थात् स्नेहन, स्वेदन के बाद स्रोतों में जमा हुआ कफ पिघल जाता है, स्रोतस् मृदु (Soft) हो जाते हैं तथा वात का अनुलोमन हो जाता है । अर्थात् वात अपने स्वाभाविक मार्ग में गमन करने लगती है । यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जिस प्रकार वृक्षों की शाखाओं पर जमा हुआ बर्फ सूर्य की किरणों के पड़ने पर वह तप्त होकर शीघ्रता पूर्वक पिघलने लगता है । अर्थात् स्वेदन के द्वारा स्रोतों में जमा हुआ कफ पिघल जाता है ।

रोगी का सम्यक् रूप से स्नेहन एवं स्वेदन हो गया है, यह जानकर चिकित्सक को घी मिश्रित भात (स्निग्ध ओदन) को सूअर अथवा मछली के मांसरस, अथवा दही के साथ खिलाना चाहिए । इस आहार के सेवन के बाद रोगी में जब कफ की वृद्धि हो जाय तब उसे पिप्पली चूर्ण, सैन्धव नमक एवं मधु मिलाकर वमन हेतु देना चाहिए । वामक द्रव्यों का प्रयोग करते समय यह ध्यान रखें कि प्रयुक्त द्रव्य वातकारक न हों । शरीर से दूषित कफ के निकल जाने पर रोगी (श्वास-हिक्का) को आराम मिल जाता है, एवं शुद्ध स्रोतस् में वायु बाधा रहित होकर गमन करती है । ।।७०-७६।।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–यद्यपि हिक्का व श्वास दोनों व्याधियाँ भिन्न होते हुए भी जिस प्रकार इनकी चिकित्सा समान होती है उसी को दर्शाते हुए उनकी समान चिकित्सा को यहाँ 'कारणेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। कारण से यहाँ **बाह्य कारण** (Exogenous factor-Etiology) अर्थ लिया गया है। स्थान से यहाँ नाभि आदि का ग्रहण है। मूल=वातादि दोष। स्निग्धैरिति स्वेदैरित्यस्य विशेषणम्-यहाँ स्निग्ध शब्द के द्वारा स्वेदन की विशेषता को बताया गया है। अर्थात् स्नेहन के पश्चात् स्निग्ध स्वेदन करावें। अन्य आचार्य 'स्निग्धम्' पाठ करते हैं। अर्थात् स्नेहन के पश्चात् रोगो को स्निग्ध द्रव्यों द्वारा स्वेदन कराना चाहिए।

लवणवत्तैलं लवणतैलम्–स्नेहन हेतु तिल तैल में **सैन्धव** नमक मिलाकर रोगी के वक्ष प्रदेश का अभ्यंग करें। लवण मिश्रित तैल को लवणतैल कहा गया है। (लवण की तरह तैल का होना लवणतैल कहलाता है।) **कुञ्जेष्विति विटपेषु**-पेड़ों की टहनियों, शाखाओं अथवा पत्तियों पर। [जिस प्रकार पर्वतीय क्षेत्रों में वृक्षों की शाखाओं एवं पत्तियों पर जमी हुई बर्फ सूर्य की तप्त किरणों के स्पर्श से पिघल जाती है, उसी प्रकार स्रोतों में जमा हुआ कफ भी स्नेहन-स्वेदन द्वारा पिघल जाता है एवं स्रोतस् का मार्ग खुल जाता है।]

मत्स्यादीनामित्यादौ मत्स्यादीनामपि रसः स्वरसः कल्केन कर्तव्यः-मत्स्य आदि के स्वरस अथवा मांसरस का प्रयोग भात के साथ करना चाहिए। अर्थात् मांसरस एवं भात का सेवन करना चाहिए। दध्युत्तरं दधिसरः=दही की मलाई [दधि की मलाई के साथ भात का सेवन करना चाहिये।

ईदृशं च भोजनं वमनानुगुणकफवृद्ध्यर्थम्-इस प्रकार का भोजन वमन के अनुकूल एवं कफ को बढ़ाने हेतु दिया जाता है। अर्थात् कफ के वृद्ध रहने पर ही वमन कराना सुविधाजनक होता है। कहा भी गया है, यथा-"श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखम्" (सि.अ. १) इति [कफ प्रधान प्रकृति या व्यक्ति को वमन सरलता से हो जाता है। अर्थात् जो व्यक्ति कफ प्रकृति वाला हो अथवा जिसमें कफ की अधिकता हो, वमन कराने पर कष्ट रहित वमन हो जाता है।]

'वातविरोधीति'–वात शामक (वात का विशेष विरोध करने वाले) इससे यहाँ रूक्ष अन्न का सेवन एवं तीक्ष्ण वमन दोनों का निषेध हो जाता है। अर्थात् स्निग्ध आहार खिलाकर रोगी को मृदु वमन कराना चाहिए।

दुष्टः विग्रहो यस्य स दुष्टविग्रहः–जिसका कफ दूषित (विकृत) होकर थक्के के रूप में परिवर्तित (ग्रथित) हो गया हो, उसे 'दुष्टविग्रह' कहा गया है। [ऐसे कफ के वमन द्वारा निकल जाने पर स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं, हिक्का व श्वास में आराम मिल जाता है तथा वायु की गति सामान्य हो जाती है।] ॥७०-७६॥

लीनश्लेष्मोपशेषः स्याद्भूमैस्तं निर्हरेद्भृशः। हरिद्रां पत्रमेरण्डमूलं लाक्षां मनःशिलाम् ॥७७॥
सदेवदार्वलं मांसीं पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत्। तां घृताक्तां पिबेद्धूमं यवैर्वा घृतसंयुतैः ॥७८॥
मधूच्छिष्टं सर्जरसं घृतं मल्लकसंपुटे। कृत्वा धूमं पिबेच्छृङ्गं बालं वा स्नायु वा गवाम् ॥७९॥
श्योनाकवर्धमानानां नाडीं शुष्कां कुशस्य वा। पद्मकं गुग्गुलं लोहं शल्लकीं वा घृताप्लुतम् ॥८०॥

हिक्का-श्वास में शोधनोत्तर (वमनोत्तर) धूमपान का प्रयोग–वमन कराने के बाद भी शेष दोष जो स्रोतस् में लीन होने के कारण छूट गये हैं। अर्थात् शरीर में बच गये हैं, उनका निर्हरण धूमपान के द्वारा कराना चाहिये। (अवशिष्ट कफ के निर्हरणार्थ धूमपान की योजना करनी चाहिए।

१. इस हेतु हारिद्रा (हल्दी), पत्र (तेजपत्र), एरण्डमूल, लाक्षा, मैनशिल, देवदारु, आल (हरिताल) एवं जटामांसी; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क से वर्ति तैयार करें। अर्थात् धूमवर्ति का निर्माण करें एवं इसका प्रयोग धूमपान के रूप में करें।

२. यव के चूर्ण को घी में मिलाकर (यव चूर्ण में थोड़ा गोघृत मिलाकर) चीलम पर रखकर धूमपान करें।

३. मोम (Wax), राल, घृत; सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित कर चीलम पर रखकर धूमपान करें।

४. गो सींग, बाल अथवा गाय की स्नायु को चीलम पर रखकर धूमपान करना चाहिए।

५. श्योनाक की नाल, एरण्डनाल अथवा कुश की शुष्क नली को घृत में डूबोकर धूमपान करना चाहिये।

६. पद्मक, गुग्गुलु, अगर तथा शल्लकी; इन द्रव्यों के समभाग निर्मित चूर्ण में घृत मिलाकर धूमपान हेतु प्रयोग करना चाहिये।

धूमपान के द्रव्यों को मल्लक सम्पुट (चीलम) में रखकर पीना चाहिए।

चक्रपाणि–वमन द्वारा जो दोष शेष बच गये हैं, अर्थात् अवशिष्ट कफ दोष के निर्हरणार्थ धूमपान की योजना करनी चाहिए। इसका अभिधान यहाँ 'लीन इत्यादि' के द्वारा किया गया है। इस प्रकार धूमपान का प्रयोग अल्प दोष वृद्धि (अल्प रूप में कफ की वृद्धि) में वमन

Scanned by CamScanner

के बिना भी किया ही जाता है। अर्थात् यदि शरीर में अल्प रूप में कफ का प्रकोप है तब वहाँ वमन न कराकर सीधे धूमपान का भी प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि यहाँ धूमपान के अनुकूल दोषों की विद्यमानता है। अलं=हरिताल। धूमवर्ति का निर्माण तस्या शितीय अध्याय में वर्णित विधान के अनुसार ही करना चाहिए। [यहाँ आचार्य चक्रपाणि ने मात्राशितीय अध्याय का उल्लेख न करके, तस्याशितीय अध्याय का उल्लेख किया है जबकि धूमपान एवं धूमवर्ति के निर्माण का विधान तस्याशितीय अध्याय में न होकर मात्राशितीय अध्याय में बताया गया है।] यहाँ धूमपान नलिका की लम्बाई वर्णित कासहर धूमनलिका के बराबर होनी चाहिए, क्योंकि हिक्का एवं श्वास, ये दोनों ही कास के समान होते हैं। मधूच्छिष्टं=सिक्थकम् (मधुमक्खियों के छत्ते से निर्मित मोम)।

मल्लकसंपुटे चात्रानुक्तमपि पातव्यधूमनिर्गमार्थमूर्ध्वं च्छिद्रं कर्तव्यम्–धूमपान के द्रव्यों को मल्लक सम्पुट में रखकर पीना (धूमपान करना) चाहिये। यहाँ मल्लकसम्पुट का उल्लेख न होते हुए भी पीने योग्य धूम के निकलने हेतु मल्लक सम्पुट के ऊपर एक छेद बना देना चाहिए, ताकि अग्नि के साथ धूमपान के द्रव्यों से निकलने वाला धुँआ बाहर निकल सके। [Mallaka Samputa-A vessels consisting of two halves (a cup and a cover) -M.M. Williams].

पद्मकादि द्रव्यों को भी मल्लकसम्पुट में रखकर धूमपान करना चाहिए। वर्धमान=एरण्ड। लोहः=अगरु। शल्लकी=इस नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। ॥७७-८०॥

स्वरक्षीणातिसारासृक्पित्तदाहानुबन्धजान्। मधुरस्निग्धशीताद्यैर्हिक्काश्वासानुपाचरेत् ॥८१॥

उपद्रवों की चिकित्सा (Treatment of Complication)–यदि हिक्का एवं श्वास के साथ रोगी को अनुबन्ध के रूप में स्वरक्षीण (inability to speak), अतिसार (diarrhoea), रक्तपित्त (A disease characterised by bleeding from different parts of the body) एवं दाह (Burning Sensation) हो तब रोगी की मधुर, स्निग्ध, शीतल आदि द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–'शीताद्यैरित्यादि' शब्द से पित्तनाशक पिच्छिल आदि द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिये। ॥८१॥

विशेष (Comments)–यदि हिक्का व श्वास के उपद्रव के रूप में स्वरक्षीणता, अतिसार, रक्तपित्त एवं दाह उत्पन्न होता है तब इसमें पित्त की वृद्धि जानकर रोगी की चिकित्सा मधुर, स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों द्वारा करनी चाहिए।

न स्वेद्याः पित्तदाहार्ता रक्तस्वेदातिवर्तिनः। क्षीणधातुबला रूक्षा गर्भिण्यश्चापि पित्तलाः ॥८२॥
कोष्णैः कामसुरः कण्ठं स्नेहसेकैः सशर्करैः। उत्कारिकोपनाहैश्च स्वेदयेन् मृदुभिः क्षणम् ॥८३॥
तिलोमामाषगोधूमचूर्णैर्वातहरैः सह। स्नेहैश्चोत्कारिका साम्लैः सक्षीरैर्वा कृता हिता ॥८४॥
नवज्वरामदोषेषु रूक्षस्वेदं विलङ्घनम्। समीक्ष्योल्लेखनं वाऽपि कारयेल्लवणाम्बुना ॥८५॥
अतियोगोद्धतं वातं दृष्ट्वा वातहरैर्भिषक्। रसाद्यैर्नातिशीतोष्णैरभ्यङ्गैश्च शमं नयेत् ॥८६॥
उदावर्ते तथाऽऽध्माने मातुलुङ्गाम्लवेतसैः। हिङ्गुपीलुबिडैश्चान्नं युक्तं स्यादनुलोमनम् ॥८७॥

स्वेदन के अयोग्य रोगी–अधोलिखित व्यक्तियों में स्वेदन नहीं कराना चाहिए–

१. जिनके शरीर में दाह हो।
२. जिनके शरीर में पित्त की अत्यधिक वृद्धि हो अथवा कोई पित्तज व्याधि हो।
३. जिनके शरीर से अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो (Excessive Bleeding)
४. शरीर से अत्यधिक पसीना निकलता हो (Excessive sweating)
५. जिसकी शारीरिक धातुएं एवं बल क्षीण हो गये हों।
६. जिसका शरीर अत्यधिक रूक्ष हो।
७. गर्भिणी स्त्री (Pregnant woman) एवं पित्तप्रकृति वाले व्यक्ति।

यदि उपरोक्त व्यक्तियों को हिक्का व श्वास उत्पन्न होता है तो उनमें स्वेदन नहीं कराना चाहिए।

मृदु स्वेद का प्रयोग–यदि इनमें भी स्वेदन अत्यन्त आवश्यक हो तब उसे उष्ण (सुखोष्ण) स्नेहों से परिषेक, अथवा शर्करा मिश्रित उत्कारिका (लप्सी) से उपनाहस्वेद कण्ठ तथा उरःप्रदेश पर क्षणभर के लिए **मृदु रूप में कराना चाहिए**।

उत्कारिका–तिलचूर्ण, उमा (तीसी) चूर्ण, उड़द का आटा, गेहूँ का आटा, वातनाशक स्नेह, नारायण तैल, बला तैल आदि एवं काञ्जी; सभी को एक में मिलाकर उत्कारिका तैयार करें। इस उत्कारिका को एक पोट्टली में रखकर गरम-गरम सेंक करें। अथवा काञ्जी या दूध को गुनगुना करके सुखोष्ण परिषेक करावें।

Scanned by CamScanner

→ नवज्वर एवं आम दोष से युक्त हिक्का व श्वासरोग में रोगी के शारीरिक बल एवं दोषों का विचार करते हुए रूक्ष स्वेदन एवं लंघन का प्रयोग करना चाहिए। अथवा सुखोष्ण जल में सैन्धव नमक मिलाकर वमन कराना चाहिए। अर्थात् सैन्धव मिश्रित गुनगुने जल को पिलाकर वमन कराना चाहिये।

→ वमन के अतियोग होने पर यदि वात की अतिवृद्धि हो गयी हो तब वातनाशक मांसरस आदि के साथ भोजन का प्रयोग करना चाहिए तथा अभ्यङ्ग हेतु उन वातनाशक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए, जो न तो अधिक उष्ण एवं न तो अधिक स्निग्ध हो। अर्थात् अतिशीतोष्ण द्रव्यों द्वारा साधित तैल का प्रयोग अभ्यङ्गार्थ करना चाहिए, जिससे वात का प्रशमन हो जाय।

→ यदि हिक्का व श्वास रोगी को उदावर्त एवं आध्मान उत्पन्न हो जाय तब अम्लवेतस, हिङ्गु (हींग), पीलू फल व विडनमक; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग बिजौरा नीबू के स्वरस के साथ करें तथा भोजनार्थ रोगी को वातानुलोमक आहार दें।

चक्रपाणि-पित्तदाहार्ता इति पित्तार्ता दाहार्ताश्च-'पित्तदाहार्ता' से यहाँ पित्त रोगी एवं दाह युक्त रोगी अर्थ लिया गया है। **रक्तं स्वेदश्चातिवर्तमानो येषां ते रक्तस्वेदातिवर्तिनः**-जिनके शरीर से अत्यधिक रक्तस्राव अथवा अत्यधिक पसीना निकलता हो, उन्हें 'रक्तस्वेदातिवर्तिनः' कहा गया है। 'पित्तला' से पित्त प्रकृति का ग्रहण किया गया है। 'कोष्णैरित्यादि' के द्वारा स्वेद्य पुरुषों के स्थान विशेष में किये जाने वाले स्वेद को बताया गया है। **काममिति**-इच्छानुसार स्वेदन करना, अर्थात् जब तक रोगी की इच्छा हो तब तक उरः एवं कण्ठ प्रदेश में सेंक करना चाहिये। **उत्कारिकोपनाहैः स्वेदयेत्**-उत्कारिका एवं उपनाह के द्वारा स्वेदन करावें। उल्लेखनम् से 'वमन' अर्थ लिया गया है।

अतियोगाद्धतमिति-वमन आदि के अतियोग से वृद्ध वायु, अथवा अतिमात्रा में दोषों (वातादि) के निर्हरण होने पर मांसरस के साथ भात का सेवन कराना चाहिये। ॥८२-८७॥

हिक्काश्वासामयी ह्येको बलवान् दुर्बलोऽपरः। कफाधिकस्तथैवैको रूक्षो वह्निलोऽपरः ॥८८॥
कफाधिके बलस्थे च वमनं सविरेचनम्। कुर्यात् पथ्याशिने धूमलेहादिशमनं ततः ॥८९॥
वातिकान् दुर्बलान् बालान् वृद्धांश्चानिलसूदनैः। तर्पयेदेव शमनैः स्नेहयूषरसादिभिः ॥९०॥

चिकित्सा की दृष्टि से हिक्का-श्वास के भेद-हिक्का व श्वास के रोगी ४ प्रकार के होते हैं-१. बलवान, २. दुर्बल, ३. कफाधिक्य (जिसके शरीर में कफ की अधिकता होती है।), ४. वाताधिक्य (जिसके शरीर में रूक्षता की अत्यधिक वृद्धि होती है।)

यदि रोगी बलवान है तथा उसमें कफ की वृद्धि है तब उसमें पथ्य आहार का प्रयोग करते हुए सम्यक् रूप से वमन एवं विरेचन करावें, तत्पश्चात् धूम (Smoking), लेह (Linctus) आदि के प्रयोग द्वारा दोषों को प्रशमित करें। अर्थात् पहले शोधन करावें, पश्चात् शामक उपचार करें।

यदि वात की अधिकता हो, आतुर दुर्बल हो, अथवा बाल (infant) अथवा वृद्ध (old) हो तब उसे वातशामक औषधियों यथा-स्नेह, यूष, मांसरस आदि के द्वारा तृप्त करें। अर्थात् शोधन चिकित्सा का प्रयोग न करते हुए हिक्का-श्वास नाशक शामक उपचार करना चाहिए।

चक्रपाणि-चिकित्सा की दृष्टि से हिक्का व श्वास की अवस्था भेद को यहाँ 'हिक्केत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यहाँ हिक्का व श्वास की चार अवस्थाओं का साक्षात् विवेचन किया गया है-

१. बलवान (जो शारीरिक दृष्टि से बली हो), २. दुर्बल (Weak), ३. वाताधिक (जिनके शरीर में वायु की अधिकता हो), ४. कफाधिक (जिनके शरीर में कफ की अत्यधिक वृद्धि हो)। रूक्ष शरीर वाले पुरुष में वायु की विशेष अधिकता होती है, इस आधार पर रूक्ष एवं स्निग्ध दो अवस्थायें होती है। अर्थात् रूक्ष शरीर में वात की अधिकता तथा स्निग्ध शरीर में कफ की अधिकता होती है। यदि कफ से बल अर्थ स्वीकार कर लिया जाय। अर्थात् 'कफाधिक्य' से बलाधिक्य अर्थ लिया जाय तब दो अवस्थायें हो जाती हैं, जिसे 'कफाधिकेत्यादि' से स्पष्ट किया गया है।

तत इति-वमन व विरेचन के बाद, अर्थात् कफाधिक्य एवं बलवान रोगी में संशोधन कराना चाहिए। यहाँ संशोधन से वमन व विरेचन अर्थ लिया गया है, पश्चात् शमन चिकित्सा करनी चाहिये। दूसरे दो अवस्थाओं (दुर्बल एवं वाताधिक्य) में समान चिकित्सा बतायी गयी है, जिसे यहाँ 'वातिकानित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

बालवृद्धयोश्चात्रासंपूर्णक्षीणधातुत्वेन दुर्बलयोर्दुर्बलोदाहरणार्थमेवोपादानम्-बालक में शरीरस्थ धातुयें अविकसित (अपरिपूर्ण) तथा वृद्ध में क्षीण होने से ये दोनों ही दुर्बल होते हैं। यहाँ दुर्बल को ही स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है।

Scanned by CamScanner

एतच्च संक्षेपेण चिकित्सासूत्रमुक्तम्-इसके चिकित्सासूत्र का अभिधान यहाँ संक्षेप में किया गया है। यदि रोगी बलवान हो एवं उसमें वात की अधिकता हो तब उस अवस्था में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् पूर्व वर्णित उपक्रमों को आपस में मिश्रित कर औषधियों की योजना करनी चाहिये, यथा- अलग-अलग दोषों की वर्णित चिकित्सा का प्रयोग दोषों के संसर्ग में (दो दोषों के मिलने पर) मिश्रित चिकित्सा (दो दोषों की मिश्रित चिकित्सा) करनी चाहिये। ॥८८-९०॥

विशेष (Comments)—हिक्का व श्वास के रोगी बलवान व दुर्बल भेद से दो प्रकार के होते हैं, अन्य भेद से ये दोनों पुनः दो प्रकार के होते हैं- एक में कफ की अधिकता होती है अर्थात् कफाधिक्य तथा दूसरा जिसका शरीर रूक्ष होता है, उसमें वात की अधिकता होती है।

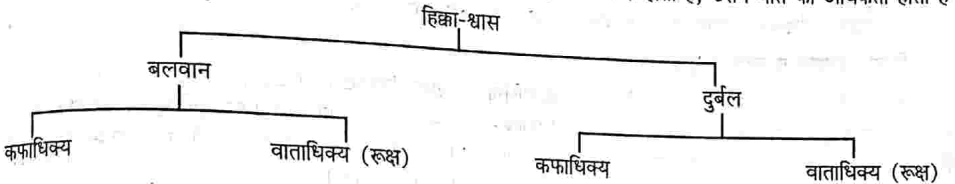

१. रोगी बलवान एवं कफ की अधिकता से युक्त है तब उसे सर्वप्रथम वमन व विरेचन कराना चाहिए, पश्चात् पथ्य भोजन कराते हुए हिक्का-श्वास नाशक धूम एवं अवलेहों का प्रयोग करना चाहिए।

२. वे रोगी जिनमें वात की उल्बणता है, अथवा दुर्बल हैं, वृद्ध हैं (old Person), जिनमें कफ की अति वृद्धि है, अथवा बाल (बालक); ऐसे हिक्का व श्वास के रोगी को वातनाशक शमन योगों यथा-स्नेह यूष, मांसरस आदि के द्वारा तृप्त करना चाहिये।

अनुत्क्लिष्टकफास्त्विन्नदुर्बलानां विशोधनात्। वायुर्लब्धास्पदो मर्म संशोष्याशु हरेदसून् ॥९१॥
दृढान् बहुकफांस्तस्माद्रसैरानूपवारिजैः। तृप्तान्विशोधयेत्स्विन्नान् बृंहयेदितरान् भिषक् ॥९२॥
बर्हितित्तिरिदक्षाश्च जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः। दशमूलीरसे सिद्धाः कौलत्थे वा रसे हिताः ॥९३॥

संशोधन के अयोग्य पुरुष-१. हिक्का व श्वास के वे रोगी जिसमें कफ उत्क्लेशित न हो, २. जिन्हें स्वेदन न कराया गया हो, ३. जो रोगी अत्यधिक दुर्बल हो; इन व्यक्तियों में शोधन (वमन-विरेचन) कराने से प्रकुपित हुई वायु मर्म प्रदेशों का शोषण करती हुई शीघ्र ही प्राणों को हर लेती है।

संशोधन एवं बृंहण के योग्य पुरुष-अतः जो रोगी (हिक्का व श्वास रोगी) दृढ़ (बलवान) है, जिसके शरीर में कफ की अत्यधिक वृद्धि है। अर्थात् बलवान एवं कफाधिक्य वाले रोगी को आनूप एवं औदक पशु-पक्षियों के मांसरस से तृप्त कराकर, पश्चात् सम्यक् स्वेदन करके वमन कराना चाहिये। इससे भिन्न रोगियों को जो दुर्बल हैं तथा जो वाताधिक्य वाले हैं उनमें बृंहण कराना चाहिये। बृंहण हेतु बर्हि (मोर), तित्तिर (तीतर), दक्ष (मुर्गा) तथा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस को दशमूल के क्वाथ अथवा कुलथी के क्वाथ में पकाकर पिलाना चाहिये।

चक्रपाणि-शोधन के अयोग्य पुरुष में शोधन कराने पर कौन से दोष उत्पन्न होते हैं, इसका अभिधान यहाँ 'अनुत्क्लिष्ट इत्यादि' के द्वारा किया गया है। **मर्म इति**-इससे यहाँ हृदय, बस्ति आदि का ग्रहण किया गया है। दृढ़ानिति=बलवान।

रसैरानूपवारिजैस्तृप्तानित्यनेन-'आनूप तथा जलज प्राणियों के मांसरस से तृप्त होना' कफ के उत्क्लेशनार्थ दर्शाया गया है, अर्थात् वमन कराने से पूर्व रोगी में कफोत्क्लेश हेतु आनूप एवं जलज प्राणियों के मांसरस की योजना करनी चाहिये।

स्विन्नानिति=स्वेदन करावें, पहले मांसरसादि से रोगी को स्निग्ध करें, पश्चात् स्वेदन करावें।

इतरानिति दुर्बलान् बहुवातांश्च-इतरान्=इससे भिन्न व्यक्तियों को अर्थात् जो अत्यधिक दुर्बल हैं तथा जिनमें वात की अत्यधिक वृद्धि है, उनको। कफ की अधिकता वाले अवस्था में तर्पणरूप विपरीत क्रिया के करने में अनुक्त होते हुए भी कफ की वृद्धि होने से दोषोत्क्लेश तो होता है। यहाँ दशमूल क्वाथ के साथ मोर, तीतर आदि के मांस को पकाकर **दशमूल साधित मांसरस** तैयार करना चाहिए। अर्थात् मांसरस विधान के अनुसार ही इस मांसरस को तैयार करना चाहिए। ॥९१-९३॥

विशेष (Comments)—'उत्क्लेशन' से 'स्रोतो में चिपके हुए दोषों का बाहर निकलना' अर्थ गृहीत है। उत्क्लेश=Excitement। दोषों का शरीर से बाहर निकलने के लिए उद्यत होना उत्क्लेश कहा जाता है।

निदिग्धिकां बिल्वमध्यं कर्कटाख्यां दुरालभाम्। त्रिकण्टकं गुडूचीं च कुलत्थांश्च सचित्रकान् ॥९४॥
जले पक्त्वा रसः पूतः पिप्पलीघृतभर्जितः। सनागरः सलवणः स्याद्यूषो भोजने हितः ॥९५॥
रास्नां बलां पञ्चमूलं ह्रस्वं मुद्गान् सचित्रकान्। पक्त्वाऽम्भसि रसे तस्मिन् यूषः साध्यश्च पूर्ववत् ॥९६॥

Scanned by CamScanner

पल्लवान्मातुलुङ्गस्य निम्बस्य कुलकस्य च । पक्त्वा मुद्गांश्च सव्योषान् क्षारयूषं विपाचयेत् ।।९७।।
दत्त्वा सलवणं क्षारं शिग्रूणि मरिचानि च । युक्त्या संसाधितो यूषो हिक्काश्वासविकारनुत् ।।९८।।
कासमर्दकपत्राणां यूषः शोभाञ्जनस्य च । शुष्कमूलकयूषश्च हिक्काश्वासनिवारणः ।।९९।।
सदधिव्योषसर्पिष्को यूषो वार्ताकजो हितः । शालिषष्टिकगोधूमयवान्नान्यनवानि च ।।१००।।
हिङ्गुसौवर्चलाजाजीबिडपौष्करचित्रकैः । सिद्धा कर्कटशृङ्ग्या च यवागूः श्वासहिक्किनाम् ।।१०१।।
दशमूलीशटीरास्नापिप्पलीमूलपौष्करैः । शृङ्गीतामलकीभार्गीगुडूचीनागराम्बुभिः ।।१०२।।
यवागूं विधिना सिद्धां कषायं वा पिबेन्नरः । कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिहिक्काश्वासप्रशान्तये ।।१०३।।
पुष्कराह्वशटीव्योषमातुलुङ्गाम्लवेतसैः । योजयेदन्नपानानि ससर्पिर्बिडहिङ्गुभिः ।।१०४।।

हिक्का एवं श्वास में उपयोगी यूष–

१. निदिग्धिका (कण्टकारी), बिल्व की गुद्दी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, त्रिकण्टक (गोखरू), गुडूची, कुलथी तथा चित्रकमूल; प्रत्येक द्रव्य समप्रमाण में लेकर यवकुट करें, पश्चात् जल के साथ पकाकर यूष (Soup) का निर्माण करें। इस यूष को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर उसे घृत, पिप्पली, सैन्धव नमक एवं शुण्ठी मिलाकर छौंक दें। इस यूष का प्रयोग हिक्का व श्वास के रोगी को भोजन के साथ करना चाहिये। यह यूष इस व्याधि के लिए अत्यन्त हितकर होता है। –निदिग्धिकादि यूष।

२. रास्ना, बलामूल, लघुपञ्चमूल [शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती (वनभण्टा) एवं गोखरू], चित्रकमूल एवं मुद्ग; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लें तथा षडंगपानीय विधि से यूष का निर्माण करें। इस यूष को पूर्व यूष की भाँति पिप्पली, सोंठ, सैन्धव नमक व घृत से संस्कारित करके रोगी को पिलाना चाहिये। –रास्नादि यूष

३. मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) के पत्र, निम्बपत्र, कुलक पत्र (पटोल=परवल पत्र); ये द्रव्य सम प्रमाण में लेकर षडंगपानीय विधि से क्वाथ तैयार करें। इस क्वाथ में मुद्ग (मूंग) को पकाकर यूष बना लें तथा इसमें सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली के चूर्ण डालकर रोगी को पीने के लिए, भोजनार्थ प्रयोग करें।

४. विधिपूर्वक निर्मित मुद्गयूष में सैन्धव लवण, यवक्षार, सहिजन के बीज एवं कालीमिर्च का चूर्ण डालकर आतुर को पीने के लिए देना चाहिये। यह यूष हिक्का-श्वास नाशक है।

५. कासमर्द (कसौंदी) के पत्तों से निर्मित यूष, शोभाञ्जन यूष (सहिजन के पत्तों से निर्मित यूष) अथवा शुष्क मूली के यूष का प्रयोग हिक्का व श्वासरोग के निवारणार्थ करना चाहिये।

६. वार्ताक (बड़ी कण्टकारी=वनभण्टा) के मूल से निर्मित यूष (षडंगपानीय विधि) में दधि, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली का चूर्ण व घृत मिलाकर हिक्का व श्वास रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। अर्थात् यह यूष हिक्का व श्वास रोग में उपयोगी है।

पथ्य के रूप में शाली एवं साठी चावल का भात, गेहूँ, यव जो पुराने हों, का सेवन करना चाहिए।

हिक्का व श्वास नाशक यवागू–१. हिङ्गु (हींग), सौवर्चलनमक, अजाजी (जीरा), विडलवण, पुष्करमूल एवं चित्रकमूल; इन द्रव्यों द्वारा साधित यवागू अथवा काकड़ासिंगी द्वारा साधित यवागू का प्रयोग हिक्का व श्वास रोग में करना चाहिये। –हिङ्गवादि यवागू।

२. दशमूल (लघु पञ्चमूल एवं बृहत् पञ्चमूल), शटी (कचूर), रास्ना, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, काकड़ाशृंगी, तामलकी (भूम्यामलकी), भार्गी, गुडूची, नागर (शुण्ठी); इन द्रव्यों के जल से विधिपूर्वक यवागू का निर्माण करें। इस सिद्ध यवागू का प्रयोग कास (Cough), हृद्ग्रह, पार्श्वशूल, हिक्का व श्वास रोग की शान्ति हेतु (प्रशमनार्थ) करना चाहिये। अथवा उपर्युक्त द्रव्यों के क्वाथ का भी प्रयोग किया जा सकता है। –दशमूलादि यवागू।

३. अथवा हिक्का व श्वास रोगी के अन्नपान (Food and drink) में पुष्करमूल, शटी (कचूर), शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, मातुलुङ्ग, (बिजौरा नीबू) एवं अम्लवेतस के चूर्ण के साथ घृत, विडलवण एवं हींग मिलाकर देना चाहिये। ।।९४-१०४।।

चक्रपाणि–'निदिग्धिकामित्यादि' के द्वारा यूष के विधान को बताया है। अर्थात् हिक्का व श्वास नाशक उपयोगी यूषों का अभिधान किया गया है। **यूषविधानसामान्यपठितस्यापि कुलत्थस्य यूषप्रकृतित्वाद्यूषसाधनोपयौगिकं मानं गृह्यते**-सामान्यतः यूष विधान का पाठ होते हुए भी कुलथी की प्रकृति यूष की होने के कारण, यूष निर्माण हेतु कुलथी का प्रमाण उचित रूप से ग्रहण करना चाहिए, शेष द्रव्यों का प्रयोग यूष साधन के रूप में करना चाहिये। यूष को पिप्पली, अथवा घृत अथवा दोनों (पिप्पली+घृत) से तड़का देना 'पिप्पलीघृतभर्जितः' कहा गया है। उसी प्रकार रास्नादि द्रव्यों के षडंगपानीय विधि से निर्मित जल से मुद्गयूष का निर्माण करना चाहिए तथा इसमें पूर्व की भाँति पिप्पली व घृत से तड़का देना चाहिये।

Scanned by CamScanner

क्षारेण युक्तो यूषः क्षारयूषः–यूष मे अल्पक्षार मिलाना अथवा अल्परूप में क्षार युक्त करना 'क्षारयूष' कहलाता है। क्षार से यहाँ अपामार्ग आदि के क्षार का ग्रहण किया गया है । श्लोक नं. ९९ में वर्णित कासमर्द आदि द्रव्यों के पत्र को यथावश्यक मात्रा में मिलाना चाहिये। जल आदि का मान संस्कार के अनुसार ग्रहण करें ।

दशमूली आदि–में वर्णित कषाय शब्द से दशमूल आदि द्रव्यों को जल में डालकर पकावे तथा अर्द्ध जल अवशिष्ट रहने पर उन्हें छान ले । इस अर्द्ध अवशिष्ट जल से यवागू आदि का निर्माण करें, अर्थ लिया गया है । ॥९४-१०४॥

जल्पकल्पतरु टीका–बिल्वमध्यं बिल्वफलशस्यम्=बिल्वफल का गूदा । कर्कटाख्यां कर्कटीशृंगीम्=काकड़ासिंगी (Pistacia integerrima), निदिग्धिका (कण्टकारी), बिल्व की गुद्दी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, त्रिकण्टक, गुडूची एवं चित्रक; इन सात द्रव्यों को १-१ कर्ष मात्रा में लेकर १ प्रस्थ जल में पकावें । अर्द्ध भाग जल अवशिष्ट बचने पर जल को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर पृथक् कर लें। इस अर्द्ध प्रस्थ रस में कुलत्थी १/१८ भाग डालकर यूष का निर्माण करें। इस यूष को पिप्पली चूर्ण, शुण्ठी चूर्ण, सैन्धव नमक को घी में भूनकर तड़का लगा दें । इस यूष का प्रयोग भोजन के रूप में हिक्का व श्वास रोगी को करना चाहिये । इसी प्रकार रास्नादि यूष का भी निर्माण करना चाहिये । पूर्व की तरह रास्नादि द्रव्यों को पकाकर क्वाथ का निर्माण करें । इस अर्द्ध अवशिष्ट क्वाथ से मुद्ग यूष बनावें तथा इसे भी पिप्पली, शुण्ठी, सैन्धव व घृत से संस्कारित करें । इस यूष का प्रयोग हिक्का व श्वास रोगी भोजन के रूप में करे ।

बिजौरा नीबू की पत्ती, निम्ब की पत्ती तथा पटोल (परवल) की पत्ती अलग-अलग अथवा संयुक्त रूप में लेकर १ प्रस्थ जल में पकावें, अर्द्ध अवशिष्ट रखें । इस अर्द्ध अवशिष्ट क्वाथ से मुद्ग यूष का निर्माण करें तथा इस यूष को त्रिकटु चूर्ण एवं क्षार डालकर संस्कारित करें । इस क्षारयूष का निर्माण किस प्रकार करना चाहिये, इसे यहाँ स्पष्ट किया गया है-क्षार=यवक्षार, सहिजन का फल, कार्ष्णिर्च को पुनः यूष में डालकर पकाना चाहिये । इस प्रकार निर्मित क्षारयूष हिक्का व श्वास रोग का नाशक होता है ।

दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः । तृप्तो मदिरां वाऽपि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः ।।१०५।।
पाठां मधुरसां रास्नां सरलं देवदारु च । प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य सुरामण्डे निधापयेत् ।।१०६।'
तं मन्दलवणं कृत्वा भिषक् प्रसृतसंमितम् । पाययेत्तु ततो हिक्का श्वासश्चोपशाम्यति ।।१०७।।
हिङ्गु सौवर्चलं कोलं समङ्गां पिप्पलीं बलाम् । मातुलुङ्गरसे पिष्टमारनालेन वा पिबेत् ।।१०८।।
सौवर्चलं नागरं च भार्गीं द्विशर्करायुतम् । उष्णाम्बुना पिबेदेतद्धिक्काश्वासविकारनुत् ।।१०९।।
भार्गीनागरयोः कल्कं मरिचक्षारयोस्तथा । पीतहुचित्रकास्फोतामूर्वाणां चाम्बुना पिबेत् ।।११०।।
मधूलिका तुगाक्षीरी नागरं पिप्पली तथा । उत्कारिका घृते सिद्धा श्वासे पित्तानुबन्धजे ।।१११।।
शाविधं शशमांसं च शल्लकस्य च शोणितम् । पिप्पलीघृतसिद्धानि श्वासे वातानुबन्धजे ।।११२।।
सुवर्चलारसो दुग्धं घृतं त्रिकटुकान्वितम् । शाल्योदनस्यानुपानं वातपित्तानुगे हितम् ।।११३।।
शिरीषपुष्पस्वरसः सप्तपर्णस्य वा पुनः । पिप्पलीमधुसंयुक्तः कफपित्तानुगे मतः ।।११४।।
मधुकं पिप्पलीमूलं गुडो गोश्वशकृद्रसः । घृतं क्षौद्रं कासश्वासहिक्काभिष्यन्दिनां शुभम् ।।११५।।
खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च । शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत् ।।११६।।
क्षारं चाप्यश्वगन्धाया लिह्याद्वा क्षौद्रसर्पिषा । मयूरपादनालं वा शकलं शल्लकस्य वा ।।११७।।
श्वाविज्जाण्डकचाषाणां रोमाणि कुररस्य वा । गृध्रश्येनद्विशफानां वा चर्मास्थीनि खुरांस्तथा ।।११८।।
सर्वाण्येकैकशो वाऽपि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् । चूर्णं लीढ्वा जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ।।११९।।
एते हि कफसंरुद्धगतिप्राणप्रकोपजाः । तस्मात्तन्मार्गशुद्ध्यर्थं देया लेहा न निष्कफे ।।१२०।।

हिक्का-श्वास में प्रयुक्त पेय (Drinks for Hiccup and Asthma)–

१. हिक्का-श्वास के रोगी को यदि बार-बार प्यास लगती हो तो उसे दशमूल क्वाथ अथवा देवदारु का क्वाथ अथवा मदिरा (A type of Alcoholic drink) का सेवन कराना चाहिये ।

२. पाठा, मधुरसा, रास्ना, सरल, देवदारु; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर जल में अच्छी प्रकार से धो लें, फिर इन्हें छोटे-छोटे टुकड़े करके कूट लें तथा सुरामण्ड में डाल दें, पश्चात् पात्र का मुख बन्द कर एक सप्ताह तक के लिए रख दें । एक सप्ताह के बाद इसे खोलकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें । इस आसव का प्रयोग १ प्रसृत (६ तोले) की मात्रा में अल्प मात्रा में सैन्धव नमक मिलाकर हिक्का व श्वास रोगी को पीने के लिए देना चाहिये । यह योग हिक्का व श्वास को प्रशमित करता है । –पाठासव

३. **हिंग्वादि चूर्ण**–हिङ्गु (हींग), सौवर्चल लवण, खट्टी बेर, समङ्गा (लज्जालु-Mimosa pudica Linn), पिप्पली, बलामूल; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को बिजौरा नीबू के रस अथवा काञ्जी के साथ पीसकर रोगी को पिलाना चाहिए। इसके सेवन से हिक्का व श्वास रोग दूर हो जाता है ।

Scanned by CamScanner

४. सौवर्चल नमक-१ भाग, शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण- १ भाग, भारङ्गी चूर्ण- १ भाग, शर्करा (चीनी)- ६ भाग (चूर्ण की दूनी मात्रा में शर्करा) लें। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर रख लें। इस चूर्ण का प्रयोग ३-६ ग्राम की मात्रा में उष्ण जल के साथ करने से हिक्का व श्वास रोग दूर हो जाते हैं। -सौवर्चलादि चूर्ण।

५. (क) भारङ्गी व नागर (शुण्ठी) का कल्क. (ख) कालीमिर्च व यवक्षार, (ग) दारुहल्दी, (घ) चित्रकमूल, (ङ) आस्फोता (सारिवा), (च) मूर्वा; इन द्रव्यों के कल्क का प्रयोग उष्ण जल के साथ हिक्का व श्वास रोगी को करना चाहिये।

उत्कारिका का प्रयोग-मधूलिका (अल्प मात्रा में गेहूँ), तुगाक्षीरी, नागर (शुण्ठी) एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को घृत में पकाकर उत्कारिका का निर्माण करें। इस उत्कारिका को पितानुबन्धी श्वासरोग के रोगी को खाने के लिए दें।

सिद्ध घृत का प्रयोग-श्वावित् (शल्लक) अथवा खरगोश के मांस अथवा शल्लक के रक्त (छोटी साही के रक्त) एवं पिप्पली कल्क के साथ गोघृत को सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग वातानुबन्धी श्वासरोग में करना चाहिए।

वातपित्तानुबन्धी श्वास में कर्तव्य-वातपित्तानुबन्धी श्वासरोग में सुवर्चला (हुरहुर) के स्वरस में दूध, घृत एवं त्रिकटु चूर्ण मिलाकर शाली चावल के भात के सेवन के बाद अनुपान के रूप में देना चाहिये।

कफपित्तानुबन्धी श्वास में कर्तव्य-कफ पित्तानुबन्धी श्वास में शिरीष के पुष्प का स्वरस अथवा सप्तपर्ण पत्र स्वरस में मधु व पिप्पली चूर्ण मिलाकर पीने के लिए देना चाहिये।

मधुकादि योग-मधुक (यष्टीमधु=मुलेठी), पिप्पलीमूल, गुड़, गाय के गोबर का रस एवं घोड़े के पुरीष (गोबर) का रस, घृत एवं मधु मिलाकर आतुर को पिलाना चाहिये। इसके सेवन करने से कास (Cough), श्वास (Asthma), हिक्का एवं अभिष्यन्द रोग दूर हो जाते हैं।

कफ प्रधान हिक्का व श्वास में उपयोगी योग-गधा, घोड़ा, ऊँट, सूअर या हाथी; इनमें से किसी एक के ताजे पुरीष (लीढ) के स्वरस में मधु मिलाकर कफ की अधिकता वाले हिक्का या श्वास रोगी को पिलाना चाहिये।

हिक्का व श्वास नाशक अन्य योग-१. अश्वगन्धा क्षार में मधुक घृत मिलाकर हिक्का व श्वास रोगी को चाटना चाहिये।

२. मयूर पादनाल (मयूर के पंख में विद्यमान नाल) क्षार अथवा शल्लकी (साही) के कांटे की क्षार, बड़ी साही के कंटक की क्षार अथवा जाण्डक (मरुस्थल में होने वाला एक विशेष पशु) की अस्थि का क्षार, आस् पक्षी (नीलकण्ठ) के पंख का क्षार अथवा कुरटी पक्षी के पंख का क्षार अथवा शृंग (सींग), त्वचा एवं हड्डी उन प्राणियों का लें, जो एक या दो खुर वाले हैं, क्षार बना लें। अथवा सभी को एक में मिलाकर जलाकर क्षार बना लें। इस क्षार में मधु व घृत मिलाकर रोगी को चाटने के लिए दें। इसके सेवन से भयंकर से भयङ्कर कास (Cough), हिक्का (Hiccup) व श्वास (Asthma) दूर हो जाते हैं। यदि श्वासमार्ग कफ से अवरुद्ध न हो तब इन क्षारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। यदि किसी अन्य कारणों से श्वासरोग उत्पन्न है तब उनमें क्षारों की योजना नहीं करनी चाहिए। ॥१०५-१२०॥

चक्रपाणि-आस्फोता अपरमल्लिकेति ख्याता-अपरमल्लिका नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। मधूलिका अल्प गोधूमा=अल्प मात्रा में गेहूँ अथवा गेहूँ की दलिया। श्वाविधमिति=साही का मांस। मयूरपादनालमिति=मयूर के पंख की नाल। 'घृत' से यहाँ १ प्रस्थ घृत का ग्रहण करना चाहिये। शकलमिति=मत्स्य के खाल की आकृति की अर्थात् शल्लक की शकल (खाल)। **जाण्डकः मरुदेशोद्भवः प्राणी पृष्ठमात्रे संकोचमुपयाति**-मरुदेश में उत्पन्न होने वाला एक प्राणी जिसके पीठ पर एक गड्ढा होता है। एकोऽद्विधाभिन्नः शफो येषां ते एकशफा-जिन प्राणियों का खुर दो भाग में बँटा न हो, अर्थात् एक खुर वाले प्राणी, यथा-अश्व आदि। जिनके खुर दो भाग में बँटे हुए होते हैं उन्हें 'द्विशफा' कहते हैं, जैसे-हिरण आदि। **तन्मार्गशुद्ध्यर्थमिति**-प्राणवह (श्वास) मार्ग की शुद्धि हेतु। ॥१०५-१२०॥

कासिने च्छर्दनं दद्यात् स्वरभङ्गे च बुद्धिमान्। वातश्लेष्महरैर्युक्तं तमके तु विरेचनम् ॥१२१॥
उदीर्यते भृशतरं मार्गरोधाद्बहज्जलम्। यथा तथाऽनिलस्तस्य मार्गं नित्यं विशोधयेत् ॥१२२॥

श्वास में संशोधन-कास एवं स्वरभङ्ग युक्त श्वास में योग्य चिकित्सक को वमन का प्रयोग कराना चाहिए, अर्थात् वमन कराना चाहिये। तमकश्वास के रोगी को वात-कफ नाशक द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिए।

जिस प्रकार वहते हुए जल के मार्ग को अवरुद्ध करने पर वह भयङ्कर रूप से बढ़कर बाँध को तोड़कर बहने लगता है, उसी प्रकार कफ के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध होने से वायु अत्यन्त प्रकुपित होकर शरीर के लिए अत्यधिक हानिकर होता है, इसलिये वमन-विरेचन द्वारा शरीर का नियमित शोधन करना चाहिये।

चक्रपाणि-कासिन इति-हिक्का व श्वास से युक्त कास का रोगी 'कासी' कहलाता है। **उदीर्यत इति-अनिलः कफमार्गनिरोधादुदीर्यत**

Scanned by CamScanner

इति दर्शयति-वायु कफ के मार्ग अवरुद्ध होने से प्रकुपित हो जाता है। अर्थात् कफ द्वारा प्राणवह स्रोतस् का मार्ग अवरुद्ध होने से वायु का गमनागमन बाधित हो जाता है, फलतः अवरुद्ध वायु प्रकुपित हो जाती है। ॥१२१-१२२॥

जल्पकल्पतरु टीका–श्वास युक्त कास के रोगी में वामक औषधि का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् वमन कराना चाहिये। स्वरभेद (Hoarseness of the voice) से युक्त श्वास रोगी में वातकफनाशक द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिये। मार्गशोधन का कार्य कैसे होता है, इसे यहाँ 'उदीर्य्यत इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। जिस प्रकार नदी के बहते हुए जल को रोक देने से वह भयङ्कर रूप से बढ़कर बाँध को तोड़ देता है, उसी प्रकार श्वास के रोगी में कफ द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध होने से वायु अत्यधिक प्रकुपित हो जाती है, इसलिये उस वायु के मार्गावरोध को नित्य दूर करना चाहिये।

शटीचोरकजीवन्तीत्वङ्मुस्तं पुष्करार्द्धयम्। सुरसं तामकक्येला पिप्पल्यगुरु नागरम् ॥१२३॥
बालकं च समं चूर्णं कृत्वाऽष्टगुणशर्करम्। सर्वथा तमके श्वासे हिक्कायां च प्रयोजयेत् ॥१२४॥

शट्यादि चूर्ण (Śaṭyādi-Cūrṇa)–शटी (गन्धमूलिका=कपूरकचरी)- १ भाग, चोरक पुष्पी- १ भाग, जीवन्ती- १ भाग, दालचीनी- १ भाग, नागरमुस्तक- १ भाग, पुष्करमूल- १ भाग, तुलसी की पत्ती- १ भाग, भुई आँवला- १ भाग, इलायची- १ भाग, पिप्पली- १ भाग, अगरु- १ भाग, शुण्ठी (सोंठ)- १ भाग, सुगन्धबाला- १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में संयुक्त चूर्ण का आठ गुना (१०४ भाग) चीनी मिलाकर एक स्वच्छ काँच के जार में रख लें। इस चूर्ण का प्रयोग तमकश्वास व हिक्का में उचित मात्रा (३-६ ग्राम) में करना चाहिये।

चक्रपाणि–**शटीत्यादिके समं चूर्णमिति**-शटी से लेकर बालक तक के द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बनावें।

अष्टगुणशर्करमिति-एकभागापेक्षयाष्टगुणशर्करम्-यदि संयुक्त की मात्रा- १ भाग है तब शर्करा ८ गुना ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् कुल चूर्ण का ८ गुना शर्करा मिलाना चाहिये।

सर्वथेति-हर प्रकार से इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। इस चूर्ण का उपयोग पान, भोजन एवं अवलेह के रूप में हिक्का श्वास के रोगी को करना चाहिये। ॥१२३-१२४॥

जल्पकल्पतरु टीका–'शटीत्यादि' के द्वारा शट्यादि चूर्ण का विवेचन किया गया है। 'चोरक' के स्थान पर **पाठ भेद** से 'ग्रन्थिकं' प्राप्त होता है, ग्रन्थिकं=पिप्पलीमूलम् (पिप्पलीमूल)। शटी से लेकर बालक तक के द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण बनावें तथा इस चूर्ण का ८ गुना शर्करा मिलावें। शर्करा मिश्रित चूर्ण को हिक्का व श्वास रोगी को मधु के साथ खाने के लिए दें।

मुक्ताप्रवालवैदूर्यशङ्खस्फटिकमञ्जनम्। ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ॥१२५॥
ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिकसीसकम्। जातीफलं शणाद्बीजमपामार्गस्य तण्डुलाः ॥१२६॥
एषां पाणितलं चूर्णं तुल्यानां क्षौद्रसर्पिषा। हिक्कां श्वासं च कासं च लीढमाशु नियच्छति ॥१२७॥
अञ्जनातिमिरं काचं नीलिकां पुष्यकं तमः। मल्यं कण्डूमभिष्यन्दमर्म चैव प्रणाशयेत् ॥१२८॥

इति मुक्ताद्यं चूर्णम्।

मुक्ताद्य चूर्ण- घटक द्रव्य–

१.	मुक्ता (मोती) चूर्ण	- १ भाग	११.	सौवर्चल लवण	- १ भाग
२.	प्रवाल चूर्ण	- १ भाग	१२.	सैन्धव लवण	- १ भाग
३.	वैदूर्य चूर्ण	- १ भाग	१३.	ताम्र चूर्ण	- १ भाग
४.	शङ्ख चूर्ण	- १ भाग	१४.	लौह चूर्ण	- १ भाग
५.	स्फटिक चूर्ण	- १ भाग	१५.	रजत चूर्ण	- १ भाग
६.	अञ्जन चूर्ण	- १ भाग	१६.	सौगन्धिक चूर्ण	- १ भाग
७.	ससार चूर्ण	- १ भाग	१७.	सीसक चूर्ण	- १ भाग
८.	गन्धक चूर्ण	- १ भाग	१८.	जायफल चूर्ण	- १ भाग
९.	अर्कमूल चूर्ण	- १ भाग	१९.	सन बीज का चूर्ण	- १ भाग
१०.	छोटी इलायची चूर्ण	- १ भाग	२०.	अपामार्ग बीज का चूर्ण	- १ भाग

प्रत्येक द्रव्यों के चूर्ण को सम मात्रा में लेकर एक में मिलाकर एक कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। इस चूर्ण का प्रयोग पाणितल (१ कर्ष) की मात्रा में १ तोले (१ कर्ष) मधु-घृत के साथ मिलाकर रोगी को चाटने के लिए देना चाहिये। इस चूर्ण के सेवन करने से हिक्का,

Scanned by CamScanner

श्वास व कास रोग शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। इसके साथ इस चूर्ण का अञ्जन करने से तिमिर, काच, नीलिका, पुष्पक, तम, मल्य, कण्डू, अभिष्यन्द एवं अर्म रोग दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि-'ससार' स्फटिक मणि होता है। लवणद्वयं=सौवर्चल तथा सैन्धव लवण। **सौगन्ध्यं माणिक्य भेदः**-सौगन्ध्य माणिक्य मणि का एक भेद है। सीसक=सौवीराञ्जन। कुछ आचार्य सीसक से कसेरुक मणि का ग्रहण करते हैं जो अल्प रूप में नील-पीत वर्ण का होता है। पाणितल=१ कर्ष (१ तोला)। मल्यमिति मलदिग्धाक्षिताम्-नेत्रों का कलुषित रहना। ॥१२५-१२८॥

जल्पकल्पटीका- मुक्तेत्यादि के द्वारा मुक्तादि चूर्ण का अभिधान किया गया है। वैदूर्य=वैदूर्य मणि। मुक्ता, प्रवाल, वैदूर्य, शङ्ख एवं स्फटिक इन पाँच द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण को ग्रहण करें, न कि लघुपुट द्वारा निर्मित भस्मों का ग्रहण करना चाहिये। **ससारकाचमणि**-इससे दृढ़ काच का ग्रहण है। अर्थात् काचमणि का ग्रहण करें। 'गन्ध' से शोधित गन्धक का ग्रहण करना चाहिए। अर्क=अर्कमूल की त्वचा का चूर्ण (अर्कमूलत्वक् चूर्ण)। ताम्रायो रजसी=मारित ताम्र व लौह भस्म। रुप्य-मारित रजत भस्म। सौगन्धिक=कह्लार पुष्प। जातीफल एवं शण के फल का ग्रहण करना चाहिये। अपामार्ग के छिलका रहित बीज (तण्डुल) का ग्रहण करें। सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर आपस में मिला लें। इस चूर्ण को मधु व घृत में मिलाकर देहबल के अनुसार लेना चाहिये। इस चूर्ण का अञ्जन करने से तिमिर आदि व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं।

विशेष -तिमिर [Partial blindness (A class of morbid affections of the coats of the eye), काच=A class of the diseases of the eye (especially an affection of the optic nerve or Gutta serena) काच को मोतियाबिन्द भी कहते हैं। दोष जब नेत्र के प्रथम व द्वितीय पटल पर विद्यमान होता है, तो वह तिमिर कहलाता है, जब तृतीय पटल में पहुँचकर दृष्टि का रञ्जन कर देता है तब उसे काच संज्ञा दी जाती है जो कि याप्य होता है। पुष्पक रोग=नेत्रों में फुल्ली पड़ना (A partic disease of the eyes (Albugo), तम=आँखों से दिखाई न देना।

मल्य=आँखों का गन्दा होना, 'मल्य' के स्थान पर 'पिल्लम्' प्राप्त होता है जिसका अर्थ चौंधिआई आँखों का होना (Bleared eyes) है। कण्डू=आँखों में खुजली का होना। अर्म=यह नेत्र के शुक्ल मण्डल (Sclera) में होने वाली व्याधि है। इसे Pterygium भी कहते हैं। 'अभिष्यन्द' यह सर्वगत रोगों में आता है। अर्थात् नेत्र के समस्त भागों में इस व्याधि के लक्षण मिलते हैं। अभिष्यन्द=Conjunctivitis भी कह सकते हैं।

शटीपुष्करमूलानां चूर्णमामलकस्य च। मधुना संयुतं लेह्यं चूर्णं वा काललोहजम् ॥१२९॥
सशर्करां तामलकीं द्राक्षां गोश्वशकृद्रसम्। तुल्यं गुडं नागरं च प्राशयेन्नावयेत्तथा ॥१३०॥
लशुनस्य पलाण्डोर्वा मूलं गृञ्जनकस्य वा। नावयेच्चन्दनं वाऽपि नारीक्षीरेण संयुतम् ॥१३१॥
सुखोष्णं घृतमण्डं वा सैन्धवेनावचूर्णितम्। नावयेन्माक्षिकीं विष्ठामलक्तककरसेन वा ॥१३२॥
नारीक्षीरेण सिद्धं वा सर्पिर्मधुरकैरपि। पीतं नस्तो निषिक्तं वा सद्यो हिक्कां नियच्छति ॥१३३॥
सकृदुष्णं सकृच्छीतं व्यत्यासाद्धिक्किनां पयः। पाने नस्तःक्रियायां वा शर्करामधुसंयुतम् ॥१३४॥

शट्यादि योग-शटी (कपूरकचरी) व पुष्करमूल का चूर्ण अथवा आमलकी चूर्ण अथवा तीक्ष्ण लौहभस्म का सेवन मधु के साथ करे। इसके सेवन से हिक्का व श्वास रोग दूर हो जाते हैं।

हिक्का व श्वास नाशक नस्य-१. शर्करा, भूम्यामलकी स्वरस, मुनक्का का रस, गाय एवं अश्व की पुरीष का स्वरस (रस); सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर हिक्का व श्वास रोगी को सेवन करावें तथा नस्य के रूप में प्रयोग करें।

२. गुड़ व शुण्ठी चूर्ण सम मात्रा में लेकर रोगी को खिलावें तथा नस्य दें।

३. हिक्का व श्वास के प्रबल वेग आने पर लशुन स्वरस, अथवा पलाण्डु स्वरस अथवा गृञ्जनक स्वरस का नस्य देना चाहिए।

४. स्त्री दुग्ध में चन्दन को घिसकर, नस्य देना चाहिये। अर्थात् चन्दन मिश्रित स्त्री दूध का प्रयोग नस्य के रूप में करना चाहिये।

५. सुखोष्ण घृतमण्ड में सैन्धव नमक मिलाकर नस्य दें।

अलक्तक रस में मक्षिका का बीट (पुरीष) घिसकर नस्य दें अथवा स्त्री के दूध का नस्य दें अथवा मधुर गण की औषधियों से सिद्ध घृत का प्रयोग पान व नस्य के रूप में करने से हिक्का शीघ्र ही शान्त हो जाती है। अथवा एक बार उष्ण दूध, बाद में शीतल दूध में चीनी व मधु मिलाकर पीने अथवा नस्य देने से हिचकी शीघ्र ही बन्द हो जाती है। उष्ण एवं शीत दूध का प्रयोग क्रमश करना चाहिए। अर्थात् पहले उष्ण पश्चात् शीतल दूध का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–काललोह लौह ही होता है। कुछ आचार्य इससे तीक्ष्णलौह का ग्रहण करते हैं। गृञ्जनक=लोहित पलाण्डु (लाल प्याज), माक्षिकीमिति=मक्षिका से उत्पन्न। मधुरकैरिति=जीवनीय द्रव्यों द्वारा अर्थात् जीवनीय द्रव्यों के कल्क से साधित घृत का **पान एवं नस्य** के रूप में प्रयोग करें। सकृदि=कभी-कभी। व्यत्यासादिति=बदल-बदल कर। अर्थात् पहले उष्ण दूध में मधु व शर्करा मिलाकर पीयें, इसके बाद शीतल दूध, पुनः उष्ण दूध का प्रयोग करें।

मधुसंयोगश्चात्र विरुद्धत्वात् उष्णे न कर्तव्यम्–उष्ण दूध में मधु नहीं मिलाना चाहिये, क्योंकि मधु को गरम कर प्रयोग करना विरुद्ध होता है।

विशेष (Comments)–In the last recipe mentioned above, honey should be added only to cold milk (Which is to be administered alternately) because administration of honey with any thing hot, is unwholesome (Viruddha)

–Dr. R.K. Sharma and Bhagvan Das

अधोभागैर्घृतं सिद्धं सद्यो हिक्कां नियच्छति । पिप्पलीमधुयुक्तौ वा रसौ धात्रीकपित्थयोः ।।१३५।।
लाजालाक्षामधुद्राक्षापिप्पल्यश्वशकृद्रसान् । लिह्यात् कोलमधुद्राक्षापिप्पलीनागराणि वा ।।१३६।।
शीताम्बुसेकः सहसा त्रासो विस्मापनं भयम् । क्रोधहर्षप्रियोद्वेगा हिक्काप्रच्यावना मताः ।।१३७।।
हिक्काश्वासविकाराणां निदानं यत् प्रकीर्तितम् । वर्ज्यमारोग्यकामैस्तद्धिक्काश्वासविकारिभिः ।।१३८।।
हिक्काश्वासानुबन्धा ये शुष्कोरःकण्ठतालुकाः । प्रकृत्या रूक्षदेहाश्च सर्पिर्भिस्तानुपाचरेत् ।।१३९।।
दशमूलरसे सर्पिर्दधिमण्डे च साधयेत् । कृष्णासौवर्चलक्षारवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।।१४०।।
कायस्थया च तत् पानाद्धिक्काश्वासौ प्रणाशयेत् ।

हिक्का नाशक योग (Recipes for Hiccup)–

१. अधोभाग हर (विरेचक) द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ (Decoction) से साधित घृत का प्रयोग नस्य एवं पान के रूप में करने से हिक्का शीघ्र ही दूर हो जाती है।

२. आँवले के स्वरस में मधु व पिप्पली चूर्ण मिलाकर अथवा कैथ के स्वरस में पिप्पली चूर्ण व मधु मिलाकर पीने से शीघ्र ही हिक्का रोग दूर हो जाता है।

३. लाजा (धान का लावा), लाक्षा चूर्ण, द्राक्षा (मुनक्का), पिप्पली; सभी द्रव्यो को लेकर कल्क (Paste) बनावें, इसमें घोड़े के लीद का रस व मधु मिलाकर हिक्का पीड़ित रोगी को चाटने के लिए दें। अथवा कोल चूर्ण (खट्टी बेर का चूर्ण), द्राक्षा (मुनक्का), पिप्पली चूर्ण, शुण्ठी चूर्ण; प्रत्येक द्रव्य सम भाग में लेकर मधु के साथ चाटें। इसके सेवन से हिक्का शीघ्र ही दूर हो जाती है।

हिक्का वेगनाशक उपाय–हिक्का का वेग जब प्रबल रूप में हो तो उस समय- १. शीतल जल रोगी के मुख पर छिड़कना (Sprinkling of cold water), २. अचानक त्रास उत्पन्न करना (Intimidation) ३. विस्मापन (आश्चर्य उत्पन्न करना), ४. भय (प्राणभय) उत्पन्न करना ५. सहसा (अचानक) क्रोध या हर्ष उत्पन्न करना, प्रिय वस्तु की प्राप्ति या उद्वेग उत्पन्न करने से हिक्का के वेग शान्त हो जाते हैं।

निदान परिवर्जन–हिक्का व श्वास रोग में जो निदान बताये गये हैं, आरोग्य प्राप्ति के इच्छुक पुरुष को उनका त्याग कर देना चाहिये।

हिक्का श्वास में घृत का प्रयोग–हिक्का व श्वास रोगी में यदि उपद्रव स्वरूप उरः, कण्ठ एवं तालु प्रदेश में शुष्कता उत्पन्न हो गयी हो, अथवा रोगी प्रकृतितः रूक्ष शरीर वाला हो तब ऐसी अवस्था में सिद्ध घृतों का प्रयोग करना चाहिये।

दशमूलादि घृत–दशमूल का क्वाथ, दधिमण्ड, पिप्पली, सौवर्चल नमक, यवक्षार, वयस्था, हिङ्गु, चोरक एवं कायस्था; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर, पीसकर कल्क बना लें (कल्क)। अब कल्क, दधिमण्ड व क्वाथ के साथ गोघृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। इस घृत के सेवन करने से हिक्का व श्वास रोग नष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि–अधोभागैरिति=विरेचन द्रव्यों के द्वारा। दधिमण्डः मस्तु=दही का पानी। दधिमण्ड (दही का पानी) एवं दशमूल क्वाथ दोनों मिश्रित रूप से स्नेह (घृत) का ४ गुना होना चाहिए। वयस्था=ब्राह्मी। कायस्था=सुरसा (तुलसी) ॥१३५-१४०॥

विशेष (Comments)–इस प्रकार दशमूलादिघृत के निर्माण हेतु द्रव्यों को गोघृत- १ भाग, क्वाथ (दशमूल)- २ भाग, दधिमण्ड (मस्तु)- २ भाग, कल्क- १/४ भाग; प्रमाण में ग्रहण करें।

तेजोवत्यभया कुष्ठं पिप्पली कटुरोहिणी ।।१४१।।
भूतीकं पौष्करं मूलं पलाशश्चित्रकः शटी । सौवर्चलं तामलकी सैन्धवं बिल्वपेशिका ।।१४२।।

Scanned by CamScanner

तालीसपत्रं जीवन्ती वचा तैरक्षसंमितैः । हिङ्गुपादैर्घृतप्रस्थं पचेत्तोये चतुर्गुणे ।।१४३।।
एतद्यथाबलं पीत्वा हिक्काश्वासौ जयेन्नरः । शोथानिलार्शोग्रहणीहृत्पार्श्वरुजं एव च ।।१४४।।
इति तेजोवत्यादिघृतम् ।

तेजोवत्यादि घृत–घटक द्रव्य

१. **कल्क द्रव्य**–तेजोवती (तेजबल), अभया (हरड़ का छिलका), कुष्ठ, पिप्पली, कुटकी, भूतीक, पुष्करमूल, पलाश, चित्रकमूल, शटी (कचूर), सौवर्चल लवण, भूई आँवला, सैन्धव नमक, बिल्व (बेल की गुद्दी), तालीसपत्र, जीवन्ती एवं वचा; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) तथा हींग १/४ कर्ष (तोला) लेकर कल्क बना लें । २. **जल**- ४ प्रस्थ, ३. **गो घृत**- १ प्रस्थ, सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें । इस घृत का सेवन बलानुसार करने से हिक्का व श्वास रोग दूर हो जाते हैं, साथ ही साथ यह घृत शोथ (Oedema), वातजन्य अर्श (Piles), ग्रहणी (Sprue syndrome), हृदय रोग (Heart disease) एवं पार्श्व शूल (पसलियों में पीड़ा का होना) को भी दूर करता है ।

चक्रपाणि–तेजोवती=चविका (चव्य) । हिङ्गुपादैरिति- से यहाँ हींग का ग्रहण १ कर्ष का १/४ भाग (शाण) करना चाहिये । यही योग आचार्य हारीत द्वारा 'तेजोवती' इत्यादि के द्वारा पढ़कर कहा गया है, यथा-"कल्कैस्तैरक्षसंमितैः । हिङ्गुशाणेन संयुक्तैर्घृतप्रस्थम् विपाचयेत्" इत्यादि [कल्क द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष मात्रा में लें, हींग- १ शाण (१/४ कर्ष), गोघृत- १ प्रस्थ, जल- ४ प्रस्थ लेकर घृत को सिद्ध करें ।] ।।१४१-१४४।।

मनःशिलासर्जरसलाक्षारजनिपद्मकैः । मञ्जिष्ठैलैश्च कर्षांशैःप्रस्थः सिद्धो घृताद्धितः ।।१४५।।
जीवनीयोपसिद्धं वा सक्षौद्रं लेहयेद्घृतम् । त्र्यूषणं दाधिकं वाऽपि पिबेद्वासाघृतं तथा ।।१४६।।
इति मनःशिलादिघृतम् ।

मनः शिलादि घृत–(घटक द्रव्य)

१. **कल्क द्रव्य**– मैनशिल, सर्जरस (राल), लाक्षा, हल्दी, पद्मकाठ, मञ्जिष्ठा, छोटी इलायची; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोले) मात्रा में लेकर कल्क बना लें ।

२. **गोघृत**– १ प्रस्थ, ३. **जल**– ४ प्रस्थ, सभी द्रव्यों को एक पात्र में निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत हिक्का व श्वास रोग में उपयोगी है ।

→ जीवनीय गण की औषधियों के कल्क व क्वाथ से सिद्ध घृत में मधु मिलाकर हिक्का-श्वास के रोगी को चाटना चाहिये।

→ अथवा कासरोग चिकित्सा में वर्णित त्र्यूषणादि घृत अथवा गुल्मरोग में वर्णित वासा घृत का सेवन हिक्का व श्वास रोगी को करना चाहिये।

चक्रपाणि–वासाघृतमिति-गुल्म चिकित्सा में वर्णित वासाघृत का सेवन हिक्का व श्वास रोगी को करना चाहिये । त्र्यूषणमिति-"त्र्यूषणं त्रिफला" (चि.अ. १८) के द्वारा वर्णित 'त्र्यूषणाद्य घृत' जिसका उल्लेख 'कासचिकित्सा' में किया गया है । ।।१४५-१४६।।

यत्किंचित् कफवातघ्नमुष्णं वातानुलोमनम् । भेषजं पानमन्नं वा तद्धितं श्वासहिक्किने ।।१४७।।
वातकृद्वा कफहरं कफकृद्वाऽनिलापहम् । कार्यं नैकान्तिकं तांभ्यां प्रायः श्रेयोऽनिलापहम् ।।१४८।।
सर्वेषां बृंहणे ह्याल्पः शक्यश्च प्रायशो भवेत् । नात्यर्थं शमनेऽपायो भृशोऽशक्यश्च कर्शने ।।१४९।।
तस्माच्छुद्धानशुद्धांश्च शमनैर्बृंहणैरपि । हिक्काश्वासार्दिताञ्जन्तून् प्रायशः समुपाचरेत् ।।१५०।।

श्वास-हिक्का रोग की सामान्य चिकित्सा (Line of Treatment in General)–जो कोई भी द्रव्य कफ व वात नाशक हों, वीर्य में उष्ण हों तथा वात का अनुलोमन करने वाले हों उन सभी औषधि, अन्न एवं पान का प्रयोग हिक्का व श्वास में करना हितकर होता है ।

वे औषधि, अन्न एवं पान जो वातवर्धक व कफनाशक हों अथवा कफवर्धक व वातनाशक हो, का प्रयोग हिक्का व श्वासरोग में करना चाहिए । औषधियों का एकान्तिक प्रयोग नहीं करना चाहिए अर्थात् मात्र कफनाशक या वातनाशक औषध, अन्न व पान का प्रयोग न करें। उन दोनों उपक्रमों की तुलना में प्रायः वातनाशक उपक्रम ही श्रेष्ठ होता है ।

हिक्का व श्वास से पीड़ित सभी रोगियों में **बृंहण चिकित्सा** प्रायः अल्प शक्य होती है, अर्थात् अल्प परिश्रम द्वारा ही साध्य हो जाती है । (बृंहण चिकित्सा द्वारा सुख-साध्य हैं) । यदि **शमन चिकित्सा** का प्रयोग करते हैं तो अधिक उपद्रव होने का भय नहीं रहता । यदि **कर्शन चिकित्सा** करते हैं तब व्याधि भयङ्कर रूप से बढ़कर असाध्य हो जाती है ।

इसलिये हिक्का व श्वास रोगी का शोधन हुआ हो अथवा न हुआ हो तो भी प्रायः शमन एवं बृंहण औषधियों द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'यत्किंचिदित्यादि' के द्वारा हिक्का व श्वास रोग की अनुक्त (जिसका वर्णन नहीं किया गया है ।) चिकित्सा के पक्ष को प्रस्तुत किया गया है । 'वातकृदित्यादि' के द्वारा अनैकान्तिक कर्तव्य की विधि को स्पष्ट किया गया है । यहाँ हिक्का व श्वास की चिकित्सा में तीन विधियों का विवेचन किया गया है । इन तीनों में प्रधान रूप से कफ वात नाशक उपक्रम को बताया गया है । जो अवशिष्ट हैं, वहाँ दोष की विद्यमानता के आधार पर अनैकान्तिक रूप से साधनों का प्रयोग करना चाहिये । ऐसा कहते हुए भी अनैकान्तिक रूप से दोनों की चिकित्सा करने में वातनाशक चिकित्सा ही प्रधान रूप से की जाती है, वातनाशक व बृंहण दोनों चिकित्सा समान होती है । उसके हेतु को यहाँ 'सर्वेषामित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । हिक्का-श्वास के अतिरिक्त ज्वरादि व्याधियों में भी जो बृंहण के योग्य हैं, उनमें बृंहण चिकित्सा करने से उपद्रव कम उत्पन्न होते हैं तथा उनकी चिकित्सा शक्य है । अर्थात् बृंहण चिकित्सा के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले उपद्रव की चिकित्सा आसानी से हो जाती है, यह भाव है । शमन चिकित्सा के प्रयोग से उपद्रव अधिक नहीं उत्पन्न होते, जबकि कर्षण चिकित्सा के द्वारा भयङ्कर उपद्रव उत्पन्न होते हैं, जिनकी चिकित्सा शक्य नहीं है । अर्थात् असाध्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं । इस पर भी कर्शन के द्वारा अल्प बल पुरुष में भेषजादि के प्रयोग से व्याधि का प्रशमन करना अत्यन्त कष्टकारी होता है, ऐसा जानना चाहिये । इसलिये शमन एवं बृंहण के द्वारा ही इस विषय का उपसंहार करेंगे । अर्थात् हिक्का व श्वास रोग में शमन एवं बृंहण चिकित्सा का ही प्रयोग करना चाहिये । अथवा बृंहण रूप शमन चिकित्सा करने से निश्चय ही उपद्रव नहीं उत्पन्न होते, यदि होते हैं तो अल्प प्रयास से ही चिकित्स्य हैं । कर्शण चिकित्सा करने पर उपद्रव उत्पन्न होते हैं, ऐसा समझना चाहिये । इसलिये हिक्का-श्वास रोग में उचित तो यही है कि बृंहण-शमन अथवा बृंहण चिकित्सा का ही प्रयोग प्रायः करना चाहिये, यही तथ्य 'तस्मादित्यादि' के द्वारा उपसंहार में प्रस्तुत किया गया है ।

अत्र शमनमशुद्धविषयं, बृंहणं च शुद्धविषयं केचिदाहुः-कुछ आचार्य शमन चिकित्सा को अशुद्ध तथा बृंहण को शुद्ध चिकित्सा स्वीकार करते हैं, जबकि कुछ आचार्य शमन चिकित्सा को ही बृंहण के उदाहरण के रूप में स्वीकार करते हैं । ॥१४७-१५०॥

विशेष (Comments)–श्वास व हिक्का में यदि शोधन कराना आवश्यक हो तब मृदु वमन एवं मृदु विरेचन ही कराना चाहिये, यथा-"बलीयसि कफग्रस्ते वमनं सविरेचनम्" (सु.उ.तं.अ. ५१/५३) इति [बलीयसि बलयुक्ते पुरुषे (बलवान पुरुष में) । वमनं सविरेचनं 'मृदु हितम्' इत्यत्राध्याहार्यम्-यहाँ 'वमनं सविरेचनं' के साथ मृदुहितम्' शब्द भी जुड़ा हुआ है । अर्थात् मृदु वमन व मृदुविरेचन कराना हितकर होता है । -डल्हण टीका का हिन्दी अनुवाद ।]

तत्र श्लोकः–

दुर्जयत्वे समुत्पत्तौ क्रियैकत्वे च कारणम् । लिङ्गं पथ्यं च हिक्कानां श्वासानां चेह दर्शितम् ।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने हिक्काश्वासचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।१७।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस अध्याय में अधोलिखित विषयों को स्पष्ट किया गया है–

१. हिक्का व श्वास के दुर्जयत्व के हेतु ।
२. हिक्का व श्वास की उत्पत्ति ।
३. हिक्का व श्वास की समान चिकित्सा का कारण ।
४. हिक्का व श्वास के लक्षण ।
५. हिक्का व श्वास में उपयोगी पथ्य (हितकर आहार-विहार) ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित भाग में चिकित्सा स्थान के अन्तर्गत हिक्काश्वासचिकित्सा नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'दुर्जय इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को स्पष्ट किया गया है । ॥१५१॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में हिक्का-श्वास चिकित्सा 'नामक सप्तदश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

अष्टादशोऽध्यायः ।

अथातः कासचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब इसके बाद कासचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–हिक्का व श्वास के अनन्तर, समान चिकित्सा होने से तथा हिक्का, श्वास व कास परस्पर सम्बन्धित होने से, कासचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ॥१-२॥

तपसा यशसा धृत्या धिया च परयाऽन्वितः । आत्रेयः कासशान्त्यर्थं प्राह सिद्धं चिकित्सितम् ।।३।।
वातादिजास्त्रयो ये च क्षतजः क्षयजस्तथा । पञ्चैते स्युर्नृणां कासा वर्धमानाः क्षयप्रदाः ।।४।।

विषयारम्भ–श्रेष्ठ तप, यश, धृति एवं बुद्धि से युक्त भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कासरोग की शान्ति हेतु सिद्ध चिकित्सा का उपदेश इस प्रकार किया–

कास के भेद (Varieties of Kāsa)–वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले ३ (तीन)- वातज, पित्तज एवं कफज तथा क्षतज व क्षयज (दो); पाँच प्रकार के कास मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं । उपेक्षा करने पर ये सभी बढ़कर शरीर का क्षय (नाश) करते हैं ।

चक्रपाणि–शिष्य के प्रश्नों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि यह कथन भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का है । क्योंकि बिना पूछे गुरु अपनी बात को नहीं कहता, यह न्याय सिद्ध है । **क्षयज इति**- क्षय से यहाँ 'धातुक्षय' अर्थ लिया गया है । राजयक्ष्मा के सम्बन्ध से जिन पुरुषों की शारीरिक धातुएं क्षीण हो गयी हैं, वृद्धावस्था जनित कास तथा धातुक्षय से उत्पन्न कास, सबका ग्रहण यहाँ 'क्षयज' शब्द से हीं हो जाता है । ['क्षय' शब्द से रसादि धातुओं की क्षीणता अर्थ लिया गया है, यह क्षीणता राजयक्ष्मा जनित कास एवं वृद्धावस्था जनित कास दोनों में ही पायी जाती है ।]

क्षतजेन उरःक्षतपूर्वकयक्ष्मभवस्य तथा क्षतक्षीणस्य च कासस्य ग्रहणं भवति–क्षतज से उरःक्षत पूर्वक यक्ष्मा का उत्पन्न होना तथा क्षतक्षीण पुरुष का कास दोनों का ही ग्रहण होता है । **पञ्चेति**-इस पाँच संख्या के ही अन्तर्गत सभी कासों का अन्तर्भाव हो जाता है, यह अभिप्राय पूर्व व्याख्यान (श्लोक नं. ४) से ही स्पष्ट हो जाता है । **क्षयप्रदा इति**- देहक्षयप्रदा (देह का क्षय करने वाली-Emaciation of the body leading to death) अथवा धातुओं (रसादि) का क्षय करने वाली [Diminution of the tissue elements] । क्षयज कास में धातुओं का क्षय विशेष रूप से होता है, यथा-ज्वरोत्पन्नं रक्तपित्तं पुनर्ज्वरकरं भवति (ज्वर से उत्पन्न रक्तपित्त, पुनः ज्वर का कारण हो जाता है ।)। कहा भी गया है- "ज्वरसंतापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते । रक्तपित्ताज्ज्वरः" [ज्वर के संताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है तथा रक्तपित्त से ज्वर उत्पन्न होता है । (नि.अ. ८) इति] ॥३-४॥

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता । कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ।।५।।

कास के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Kāsa)– कास के पूर्वरूप में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. शूकपूर्णगलास्यता-रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसके मुख व गले में शूक (टूड़) भर गये हों, अथवा मुख व गले में शोथ के कारण गड़ने जैसा प्रतीत होना ।

२. कण्ठ में कण्डू का होना (Itching sensation of the throat), ३. भोजन निगलने में कष्ट का अनुभव होना ।

चक्रपाणि–'पूर्वेत्यादि' के द्वारा कास रोग के पूर्वरूप को बताया गया है । **शूकैरिव पूर्णः शूकपूर्णः गलं आस्यं च यस्य तस्य भावः शूकपूर्णगलास्यता**-जिस पुरुष का गला (Throat) व मुख (Mouth) शूकों (गेहूँ या धान के टूड़ों) से भर गया हो, इस प्रकार की प्रतीति या भाव का होना **'शूकपूर्णगलास्यता'** कहा गया है । **भोज्यानामवरोधः अरुचिः, अशक्तिर्वाऽभ्यवहरणे**-भोजन करने में अवरोध का होना अर्थात् अरुचि का होना अथवा भोजन को न निगल पाना, या निगलने में कष्ट का अनुभव होना अर्थ गृहीत है । ॥५॥

अधःप्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतःसमाश्रितः । उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि ।।६।।
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन् । आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी ।।७।।
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः । शुष्को वा सकफो वाऽपि कसनात्कास उच्यते ।।८।।

कास रोग की संप्राप्ति (Pathogenesis)–शरीर के अधोभाग में रहने वाली अपान वायु जब प्रतिहत (अवरुद्ध) होकर, शरीर के ऊर्ध्व भाग के स्रोतों में आश्रित होकर उदान भाव (ऊर्ध्व गति) को प्राप्त करती है तब वह कण्ठ, उरः प्रदेश तथा सिर के सम्पूर्ण स्रोतसों

Scanned by CamScanner

में व्याप्त होकर शरीर के विशेष भागों-हनु (Jaws), मन्या (Sides of the Neck) तथा नेत्रों को आक्षेप एवं भग्न युक्त करती हुई नेत्र (Eyes), पृष्ठ (Back), उरः (छाती) एवं पार्श्व (Sides of the chest) को आक्षेप युक्त एवं स्तंभित कर देती है, जिसके कारण व्यक्ति को सूखी (dry) अथवा कफ युक्त खाँसी आती है। गले से कुत्सित शब्द उत्पन्न होने के कारण इस व्याधि को 'कास' कहा जाता है।

चक्रपाणि-अध इत्यादि के द्वारा कास रोग की संप्राप्ति (Pathogenesis) का अभिधान किया गया है। **उदानभावमापन्न इति ऊर्ध्वगतिस्वभावमापन्नः**-ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर। स्रोतांसीति=स्रोतसों में। निर्भुज्येति आक्षिप्य=आक्षेप उत्पन्न करते हुए अथवा आक्षेप उत्पन्न करके। स्तम्भयन् नेत्रादीन्येव=नेत्रादि को स्तंभित करते हुए।

कसनादितीति यथोक्तगतिमत्त्वात् तथा उरःप्रभृतिशातनाच्च 'कास' इत्यन्वर्थसंज्ञयोच्यते-वायु की गति ऊर्ध्व होने से तथा उरः आदि भागों को दुर्बल अथवा कष्ट देने के कारण इसे कास कहा जाता है।

'कस्' धातु का प्रयोग **गति** एवं **शातन** (दुर्बल) दो अर्थों में होता है। यहाँ भी इसी अर्थ में प्रयुक्त है। ॥६-८॥

विशेष (Comments)-'कासृ' कु शब्दे। कुशब्दं भिन्नस्वरविशेषं कुर्वन् निरेतीति। यहाँ 'कु' शब्द भिन्नस्वर विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् इस व्याधि में व्यक्ति की आवाज फटी हुई निकलती है।

आचार्य सुश्रुत ने कासरोग की उत्पत्ति में प्राण वायु व उदान वायु की विकृति का होना ही मुख्य रूप से माना है, यथा-"प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः संभिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः। निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषः कासः स विद्वद्भिरुदाहृतस्तु ॥" (सु.उ.तं. ५२/५) इति। दूषित हुई प्राण वायु उदान वायु के साथ मिलकर फटे हुए (टूटे हुये) कांस्य के पात्र से जैसा शब्द निकलता है वैसी आवाज को उत्पन्न करती हुई दोष सहित (विकृत कफादि दोषों के साथ) सहसा मुख से बाहर निकलती है, जिसे विद्वान लोग कास कहते हैं।] अतः यहाँ **'अधः प्रतिहत'** से अपान वायु का अवरुद्ध होना न अर्थ लेकर श्वासवाहिनीयों में गमन करने वाली प्राण वायु का अवरुद्ध होना अर्थ लिया जाना चाहिये। यह अवरुद्ध अथवा दूषित वायु उदान वायु के साथ मिलकर उदान वायु को भी दूषित कर देती है।

प्रतिघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते ॥९॥

वेदना के वैशिष्ट्य का कारण (Causes of Variation in Pain)-उस वायु के वेग प्रतिघात की विशेषता से कास में विशिष्ट वेदना एवं शब्द की उत्पत्ति होती है। अर्थात् विभिन्न प्रकार के कास में उत्पन्न वाले विशिष्ट वेदना एवं शब्द का कारण वायु के वेगों का भिन्न-भिन्न प्रकार से अवरुद्ध होना है।

चक्रपाणि-यहाँ सामान्यतया कास के भेद के हेतुओं को 'प्रतिघातेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'प्रतिघात' से यहाँ 'आवरण' (ढकना) अर्थ लिया गया है, वह आवरण कफादि के द्वारा होता है। अर्थात् प्राणवह स्रोतस् में कफादि के कारण वायु की गति अवरुद्ध होती है। **सरंहसः सवेगस्य**-वेगों का (वायु के वेगों का)। वेदना=पीड़ा, शब्दः कासशब्दः, कास शब्द से; कास नाम दिया जाता है। **तयोर्वैशिष्ट्यं विशिष्टत्वं भिन्नत्वमिति यावत्**-उन दोनों की विशिष्टता अथवा भिन्नता, खाँसी (कास) में होने वाली विशेष प्रकार की वेदना एवं शब्दों (आवाज) का कारण-वायु के वेगों का वैशिष्ट्य एवं विशेष प्रकार से उनका आवरित होना है अथवा कास में उत्पन्न होने वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदना तथा विभिन्न प्रकार के भेदों का हेतु वायु के वेगों का विभिन्न प्रकार से अवरुद्ध होना है। ॥९॥

रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥१०॥
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥११॥
निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्। शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥१३॥
स्निग्धाम्ललवणोष्णैश्च भुक्तपीतैः प्रशाम्यति। ऊर्ध्ववातस्य जीर्णेऽन्ने वेगवान्मारुतो भवेत् ॥१४॥

वातज कास के हेतु (Etiology of Vātaja Kāsa)-वातज कास की उत्पत्ति में अधोलिखित कारण हैं-

१. रूक्ष, शीत एवं कषायरस प्रधान भोजन का सेवन करना।
२. नपा-तुला भोजन करना अथवा अल्प मात्रा में भोजन ग्रहण करना अथवा भोजन का सेवन न करना।
३. अत्यधिक मैथुन करना (Excessive indulgence in sex.)
४. अधारणीय वेगों को रोकना (Suppression of natural urges.)
५. अत्यधिक व्यायाम करना (Excessive physical exercise)

वातज कास के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Kāsa)-

१. हृदय, पार्श्व, उरः एवं सिर में भयङ्कर शूल का होना।

Scanned by CamScanner

२. भयङ्कर रूप से व्यक्ति की आवाज का बैठ जाना (स्वरभेद-Hoarseness of the voice)
३. उरः (Chest), कण्ठ (throat) एवं मुख (Mouth) का शुष्क होना ।
४. रोंगटे खड़े होना (रोमहर्ष) एवं आँखों के सामने अंधकार छा जाना (Fainting) ।
५. खाँसते समय निर्घोष युक्त (Resonant-निदान) आवाज का आना, दैन्य (उत्साह हीन-Depression) अर्थात् मुख पर दीनता का भाव, दुर्बलता (Weakness), क्षोभ एवं मोह युक्त होना, ।
६. सूखी खाँसी का आना, अथवा खाँसते समय शुष्क कफ का निकलना अर्थात् कष्ट के साथ सूखे कफ का अल्प रूप में निकलना। कफ निकलने के बाद खाँसी में कुछ आराम मिल जाता है ।
७. स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण अन्न-पान के सेवन से कास के वेगों का शान्त होना अथवा खाँसी में कमी का होना ।
८. आहार के पच जाने पर ऊर्ध्व वात के वेगों का बढ़ जाना ।

चक्रपाणि-'रूक्षेत्यादि' के द्वारा वातज कास के हेतु (Etiology) एवं लक्षण (Signs and Symptoms) को बताया गया है। **प्रताम्यत इति तमसीव प्रविशतः**=अंधकार में प्रवेश करने के समान प्रतीत होना, अर्थात् आँखों के सामने अंधकार छा जाना। **ऊर्ध्ववातस्येति**-प्रकुपित हुई वायु का गमन ऊर्ध्व की ओर होना अथवा ऊर्ध्व की ओर गमनशील वायु का प्रकुपित हो जाना । ॥१०-१३॥

विशेष (Comments)—आचार्य सुश्रुत ने कास के लक्षणों में हृदय, शंख, मूर्धा (सिर), उदर एवं पार्श्व में शूल का होना, मुख की क्रियाओं का क्षीण हो जाना, शारीरिक बल, स्वर एवं ओज का क्षीण होना, उरः भाग में जमे हुए कफ को निकालने के लिये बार-बार कास के वेगों का आना, कास के साथ कफ का न निकलना अर्थात् सूखी खाँसी का आना, खाँसते-खाँसते आवाज का बैठ जाना; बताया है । कहा भी गया है, यथा-"हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजः प्रसक्तमन्तः कफमीरणेन कासेत्तु शुष्कं स्वरभेदयुक्तः" (सु.उ.तं. ५२/८) इति ।

कटूष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम् । पित्तकासकरं क्रोधः संतापश्चाग्निसूर्यजः ।।१४।।
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः । उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ।।१५।।
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति । श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ।।१६।।

पित्तज कास के हेतु (Etiology of Pittaja Kāsa)—पित्तज कास के अधोलिखित उत्पादक कारण (Causitive factors) हैं, यथा-

१. कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल एवं क्षारीय द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करना ।
२. अत्यधिक क्रोध करना ।
३. अग्नि एवं सूर्य के ताप का अत्यधिक सेवन करना ।

पित्तज कास के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Kāsa)—

१. निष्ठीवन एवं आँखों का वर्ण पीत होना (yellowness of the sputum and eyes)।
२. मुख का स्वाद तिक्त हो जाना (Bitterness in the mouth)
३. स्वर का बदल जाना ।
४. हृदय प्रदेश से धुँआ निकल रहा है, इस प्रकार की प्रतीति का होना (Smoky eructation) ।
५. रोगी को तृष्णा (Morbid thirst), दाह (Burning sensation-शरीर में जलन का होना), मोह (unconsciousness), अरुचि (Anorexia) एवं भ्रम (Giddiness-चक्कर का आना) का आना ।
६. कास के वेगों का कुछ समय तक बने रहना ।
७. खाँसते समय जुगनू के समान चमकीली वस्तुओं का दिखाई देना ।
८. खाँसते समय व्यक्ति के मुख से कफ मिश्रित पित्त का निष्ठ्यूत (थूक) निकलना ।

ये सभी लक्षण पित्तज कास में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि-'कट्वित्यादि' के द्वारा यहाँ पित्तज कास के हेतु एवं लक्षण को बताया गया है । **अग्निसूर्यज इति अग्निसूर्यभवः संताप इत्यर्थः**-अग्नि एवं सूर्य के ताप का अत्यधिक सेवन करना। उरोधूमायनमिति-उरसो धूमोद्वमनमिव-हृदय प्रदेश से धूम का बाहर निकलना अथवा धूम के समान डकार का आना (धुँआइन डकार का आना) । यह व्याधि पित्त जनित होते हुए भी इसमें श्लेष्मा का निष्ठीवन होना व्याधि के कफस्थान से उद्भूत होने के कारण कफ व पित्त के संसर्ग से होता है, ऐसा जानना चाहिए । [पित्तज कास में श्लेष्म (कफ) रूप निष्ठीवन

Scanned by CamScanner

(Sputum) का बाहर निकलना व्याधि के कफस्थान से सम्बन्ध होने के कारण होता है, अर्थात् दोष पित्त तथा स्थान कफ का होने के कारण यहाँ कफ व पित्त के संसर्ग के कारण कफ के साथ पित्त भी निष्ठीवन के रूप में बाहर निकलना है ।] ॥१४-१६॥

गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः । वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥१७॥
मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः । लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥१८॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम् । कासमानो ह्यरुग् वक्षः संपूर्णमिव मन्यते ॥१९॥

कफज कास के हेतु (Etiology of Kaphaja Kāsa)–

१. गुरु, अभिष्यन्दी (Ingredients which cause obstruction to the channels of circulation-Oozing substance), मधुर (Sweet) व स्निग्ध आहार द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करना ।

२. अत्यधिक निद्रा का सेवन (Excessive sleep) ।

३. चेष्टा न करना अथवा किसी भी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं को न करना (आलसी बने रहना) ।

इन हेतुओं के सेवन से प्रकुपित हुआ कफ वायु की गति अथवा मार्ग को अवरुद्ध करके कफज कास को उत्पन्न करता है ।

कफज कास के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Kāsa)–

१. जाठराग्नि का मन्द होना । (Suppression of the power of digestion)

२. अरुचि (Anorexia), छर्दि (Vomiting), पीनस (chronic rhinitis), उत्क्लेश (मिचली का आना-Nausea) एवं भारीपन का होना (Heaviness of the body) ।

३. लोमहर्ष (Horripilation), मुख में मधुररस की प्रतीति का होना, क्लेद (मुख से पानी का आना) एवं सदन (शारीरिक थकावट का होना - exhaustion) का होना ।

४. रोगी, मधुररस युक्त, स्निग्ध तथा गाढ़े कफ का अत्यधिक मात्रा में निष्ठीवन (थूकना) करता है ।

५. खाँसते समय रोगी की छाती (Chest) में दर्द का अनुभव नहीं होता ।

६. वक्ष में कफ भरा है, ऐसा प्रतीत होना ।

ये सभी लक्षण कफज कास में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–'गुर्वित्यादि' के द्वारा कफज कास का अभिधान किया गया है । ॥१७-१९॥

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः । रूक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमावहेत् ॥२०॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत् सशोणितम् । कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥२१॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना । दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥२२॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः । पारावत इवाकूजन् कासवेगात्क्षतोद्भवात् ॥२३॥

क्षतज कास के हेतु (Etiology of Kshataja Kāsa)–क्षतज कास के अधोलिखित उत्पादक कारण होते हैं–

१. अत्यधिक मैथुन करना ।

२. अत्यधिक भार ढोना ।

३. अत्यधिक पैदल चलना ।

४. अपने से शक्तिशाली व्यक्ति के साथ लड़ाई करना ।

५. घोड़े एवं हाथी से युद्ध करना ।

इन हेतुओं के अत्यधिक सेवन से व्यक्ति का शरीर रूक्ष हो जाता है, परिणामतः उरःक्षत हो जाता है । उस क्षत स्थान पर वायु आश्रित होकर कास को उत्पन्न करती है [इस कास को क्षतज कास कहते हैं ।]

क्षतज कास के लक्षण (Signs and Symptoms of Kshataja kāsa)–

१. सबसे पहले सूखी खाँसी का आना, पश्चात् रक्तमिश्रित कफ का निष्ठीवन होना ।

२. कास के वेग एवं क्षत होने से कण्ठ एवं उरःप्रदेश (वक्ष प्रदेश) में अत्यधिक वेदना का होना । यह वेदना इस प्रकार की होती है जैसे कोई तीक्ष्ण सूई वक्ष में चुभोई जा रही हो ।

Scanned by CamScanner

३. वेदना के स्थान को स्पर्श करने पर वेदना की वृद्धि का होना। वक्ष को कोई फाड़ रहा है, इस प्रकार की पीड़ा का होना।

४. वक्ष प्रदेश में अभिताप का अनुभव होना अर्थात् कष्ट का अनुभव होना (Chest pain)।

५. रोगी का पर्वभेद (छोटी सन्धियों में पीड़ा का होना- Pain in the joints of the fingers and toes), ज्वर (Fever), श्वास (Dyspnoea), तृष्णा (Thirst), वैस्वर्य (स्वर का बदल जाना-Hoarseness of the voice) से पीड़ित होना।

६. जब रोगी खाँसता है अथवा कास के वेग के आने से रोगी की आवाज कबूतर की आवाज के समान अस्पष्ट निकलती है।

चक्रपाणि-'अतिव्यवायेत्यादि' के द्वारा क्षतज कास के हेतुओं को स्पष्ट किया गया है। **उरःक्षतं गृहीत्वेति क्षतमुरः प्राप्येत्यर्थः**-वक्ष के क्षत युक्त भाग में वायु प्रवेश करके कास को उत्पन्न करती है। यह कास साहस जन्य यक्ष्मा का ही एक रूप है, ऐसा जानना चाहिये। ॥२०-२३॥

विशेष (Comments)—आष्टाङ्ग हृदयकार ने क्षतज कास के लक्षणों में वीर्य, पक्ति, रुचि, बल एवं वर्ण का क्षीण होना, मूत्र के साथ रक्त का आना तथा पीठ एवं कमर में जकड़ाहट का होना भी बताया है, यथा-"क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्ता बलं वर्णश्च हीयते। क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः" |क्रमशः रोगी के वीर्य, रुचि, पाचन क्षमता, बल (शारीरिक बल) एवं वर्ण (Complexion) का क्षय होने लगता है, शरीर दुर्बल होने से मूत्र के साथ रक्त आने लगता है, साथ में कटिग्रह (Stiffness of the Lumber region) एवं पृष्ठग्रह (पीठ में जकड़ाहट) उत्पन्न हो जाता है। (अ०हृ०नि० ३/३१)]

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात्। घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ॥२४॥
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्दिहक्षयप्रदम्। दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम् ॥२५॥
स्थानादुत्कारमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम्। अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः ॥२६॥
स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः। पाणिपादतलैः श्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी ॥२७॥
ज्वरी मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः। भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥२८॥
इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः। साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥२९॥
नवौ कदाचित् सिध्येतामेतौ पादगुणान्वितौ। स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ॥३०॥

क्षयज कास के हेतु (Etiology of Kshayaja Kāsa)—

१. विषम एवं असात्म्य भोजन का अत्यधिक सेवन करना।

२. अत्यधिक स्त्री सेवन करना।

३. अधारणीय वेगों को धारण करना।

४. घृणोत्पादक वस्तुओं का चिन्तन करना।

५. अत्यधिक चिन्तित होना।

इन हेतुओं के सेवन से व्यक्ति की जाठराग्नि विकृत हो जाती है, परिणामतः तीनों दोष (वातादि) प्रकुपित होकर क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं। जिसके कारण व्यक्ति का शरीर अत्यधिक क्षीण हो जाता है।

क्षयज कास के लक्षण (Signs and Symptoms of Kshayaja Kāsa)—

१. क्षयज कास का रोगी दुर्गन्धित, हरित या लाल (रक्त) वर्ण के पूययुक्त कफ को थूकता है।

२. खाँसने पर रोगी को यह अनुभव होता है कि उसका हृदय अपने स्थान से नीचे खिसक गया है।

३. अचानक शीत अथवा उष्ण आहार-विहार के सेवन से उसका कष्ट बढ़ जाता है।

४. रोगी भोजन अधिक करता है, फिर भी वह दुर्बल व कृश बना रहता है।

५. रोगी का मुख (Face), वर्ण (Complexion) एवं त्वचा स्निग्ध (स्नेहयुक्त) एवं साफ-सुथरा बना रहता है।

६. आँखें देखने पर कान्तियुक्त दिखाई देती हैं।

७. हाथ व पैर के तलवों का चिकना होना, हमेशा दूसरे के गुणों को न देखकर दोष देखना अर्थात् दोष निकालना।

८. सभी वस्तुओं से घृणा करना।

९. ज्वर (Fever), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), पीनस (Chronic rhinitis) एवं अरुचि (Anorexia) से युक्त होना। अर्थात् रोगी ज्वर, पार्श्वशूल, पीनस अथवा अरुचि से पीड़ित रहता है।

Scanned by CamScanner

१०. रोगी कभी पतला कभी बँधा हुआ मल (पुरीष) त्याग करता है।
११. बिना कारण के ही (अकस्मात) गले का बैठ जाना (स्वरभेद Hoarseness of the voice)।
इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण क्षयज कास में पाये जाते हैं, यह क्षयज कास क्षीण पुरुषों को नष्ट कर देता है।

क्षयज कास की साध्यताऽसाध्यता–यदि क्षयज कास का रोगी बली (बलवान) है तो साध्य होता है। अर्थात् बलवान् पुरुषों को होने वाला क्षयज कास साध्य कहा गया है। तद्वत् बली पुरुषों में होने वाला क्षतज कास याप्य (Palliable) होता है तथा दुर्बल व्यक्ति में होने वाला क्षतज कास असाध्य होता है।

यदि ये दोनों (क्षतज एवं क्षयज) अपने प्रारम्भिक अवस्था में (नवीन) हों तथा चिकित्सा के चारो पादों से युक्त हों, तो साध्य होते हैं। वृद्ध पुरुषों में होने वाला जराजन्य कास (वृद्धावस्था में उत्पन्न सभी प्रकार के कास) याप्य होते हैं। ॥२४-३०॥

चक्रपाणि–'विषमेत्यादि' के द्वारा क्षयज कास का अभिधान किया गया है। **अत्र च विषमासात्म्यभोज्येन तथा व्यवायेन तथा वेगनिग्रहेण विषमाशनजधातुक्षयज, वेगसंधारणजानां यक्ष्मणां लक्षणभूतकासहेतुत्रयं पृथगुक्तं भवति**-विषम व असात्म्य भोजन-विषमाशन जनित, यक्ष्मा का हेतु, व्यवाय (अति व्यवाय)-धातु क्षयज यक्ष्मा का हेतु, अधारणीय वेगों का धारण-संधारणजन्य यक्ष्मा का हेतु है। अर्थात् ये तीन हेतु तीनों प्रकार के यक्ष्मा में उत्पन्न होने वाले कास के हैं।

अत्र प्रसन्नदृष्टित्वादि व्याधिप्रभावाद् भवति–यहाँ दृष्टि की प्रसन्नता व्याधि के प्रभाव के कारण उत्पन्न होती है। **मिश्राकृतिरिति**-ज्वर के साथ ही तीनों दोषों के लक्षणों का मिश्रित रूप से पाया जाना, अर्थ लिया गया है।

'भिन्नेत्यादि' से पुरीष का कभी बँधा हुआ तथा कभी पतला निकलना, बिना निमित (हेतु) के ही पाया जाता है। उसी प्रकार स्वरभेद (Hoarseness of the voice) भी बिना कारण के ही हो जाता है। 'देहनाशन' से यहाँ असाध्य अर्थ लिया गया है। **पादगुणान्विताविति**-वैद्यादि चारो पादों का गुणवान होना।

न चात्र कदाचित् सिध्येतामिति–इस कथन से ये दोनों व्याधियाँ याप्य एवं असाध्य होती हैं, यह स्पष्ट होता है। जब ये दोनों नवीन हो एवं चतुष्पाद से युक्त (गुणवान) हों तब साध्य होती हैं। इसके विपरीत होने पर क्षतज कास याप्य होता है, क्योंकि इसका विषय अलग है। 'स्थविराणामिति' के द्वारा यहाँ क्षयज कास की याप्यता को दर्शाया गया है। 'स्थविराणामिति' के कथन के बाद भी 'जराकास' शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका अभिप्राय वृद्ध पुरुषों में जो जराजन्य (देह धातुओं के क्षय के कारण) कास उत्पन्न होता है वह याप्य होता है। जो दोषादि जन्य उत्पन्न होता है, वह साध्य होता है। अन्य आचार्य जराजन्य कास को दोषज कास में ही समावेशित कर लेते हैं ॥२४-३०॥

त्रीन्साध्यान्साधयेत्पूर्वान् पथ्यैर्याप्यांश्च यापयेत्। चिकित्सामत ऊर्ध्वं तु शृणु कासनिबर्हिणीम्॥३१॥

कास रोग की साध्यताऽसाध्यता–पूर्व वर्णित तीन कास (वातज, पित्तज एवं कफज) साध्य होते हैं। अतः इनकी चिकित्सा करनी चाहिये। शेष दो (क्षतज एवं क्षयज) याप्य होते हैं। अतः इनका यापन पथ्य आहार-विहारों द्वारा करना चाहिये। अब आगे कास को दूर करने वाली चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

चक्रपाणि–त्रीन् पूर्वान् इति-पूर्व वर्णित तीन दोषज कासों को, अर्थात् वातज, पित्तज एवं कफज कास को।

साध्यानिति–साध्य होने से कहा गया है। अर्थात् सबसे पहले वातज, पित्तज एवं कफज कास का वर्णन किया गया है, क्योंकि ये साध्य होते हैं। **याप्यानिति बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया**-यहाँ 'याप्यं' के साथ बहुवचन का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय वातज, पित्तज एवं कफज कास में ही जब लक्षण अधिक व्यक्त हो जाते हैं तब ये ही 'याप्य' हो जाते हैं। अथवा क्षतज एवं क्षयज कास याप्य होते हैं, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये। ॥३१॥

विशेष (Comments)–अष्टाङ्गहृदयकार ने कास की साध्यताऽसाध्यता का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा–"साध्या दोषैः पृथक् त्रयः मिश्रा याप्या द्वयात्सर्वं जरासाध्यविरस्य च" (रक्तपित्तकास निदान ३/३७) इति [अलग-अलग दोषों से उत्पन्न तीन कास साध्य, दो दोषों के संसर्ग (द्वन्द्वज)-याप्य, वृद्ध पुरुषों में उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कास याप्य होते हैं।]

रूक्षस्यानिलजं कासमादौ स्नेहैरुपाचरेत्। सर्पिर्भिर्बस्तिभिः पेयायूषक्षीररसादिभिः॥३२॥
वातघ्नसिद्धैः स्नेहाद्यैर्धूमैर्लेहैश्च युक्तितः। अभ्यङ्गैः परिषेकैश्च स्निग्धैः स्वेदैश्च बुद्धिमान्॥३३॥
बस्तिभिर्बद्धविड्वातं शुष्कोर्ध्वं चोर्ध्वभक्तिकैः। वृतैः सपित्तं सकफं जयेत् स्नेहविरेचनैः॥३४॥

कास रोग की चिकित्सा (Treatment of Kāsa)

१. वातज कास की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Kāsa)–वातज कास के रोगी में यदि रूक्षता अधिक हो तो सबसे पहले स्नेहन का प्रयोग करना चाहिए। इस हेतु (स्नेहनार्थ) वातघ्न (वातनाशक) द्रव्यों से साधित घृत, वस्ति, पेया, यूष, क्षीर, मांसरस,

Scanned by CamScanner

स्निग्ध धूम, स्निग्ध अवलेह, अभ्यङ्ग तथा परिषेक का युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिये। यदि पुरीष एवं वायु का अवरोध हो तब उस समय बस्ति का प्रयोग करना चाहिये। यदि रोगी का मल सूख गया हो एवं अपान वायु की गति ऊर्ध्व हो गयी हो (डकारें आती हों) तब उस समय भोजन के बाद घृतपान कराना चाहिये। यदि वातज कास में पित्त एवं कफ का अनुबन्ध हो तब स्नेह विरेचन द्रव्यों द्वारा रोगी का विरेचन कराना चाहिये।

चक्रपाणि–'रूक्षस्येत्यादि' के द्वारा वातज कास के चिकित्सा सूत्र का अभिधान किया गया है।

शुष्क ऊर्ध्वः देहो यस्य स शुष्कोर्ध्वस्तं–वातिक कास के जिस रोगी के ऊर्ध्व भाग (उरः भाग) में शुष्कता उत्पन्न हो गयी हो (Dryness in the upper part of the body) अथवा रोगी को सूखी खाँसी आती हो, यदि इसमें पित्त का अनुबन्ध हो तब रोगी को भोजन के बाद घृतपान कराना चाहिये। अर्थात् घृतपान कराकर व्याधि का प्रशमन करना चाहिये। यदि शरीर के ऊर्ध्व भाग में शुष्कता हो एवं कफ का अनुबन्ध हो तब स्नेह विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए (घृत के साथ विरेचन द्रव्यों की योजना करनी चाहिये अथवा एरण्ड तैल/एरण्ड तैल साधित सैन्धवादि तैल के प्रयोग द्वारा विरेचन कराना चाहिये।) ॥३२-३४॥

विशेष (Comments)–'रूक्षस्येत्यादि' के द्वारा वातज कास की चिकित्सा को बताया गया है। वातज कास का रोगी जिसका शरीर रूक्ष है, उसे वातनाशक सिद्ध घृतादि के प्रयोग द्वारा सर्वप्रथम बाह्य एवं आभ्यन्तर स्नेहन कराना चाहिए। **स्निग्धैः श्वेदैश्च बुद्धिमानुपाचरेत्**- रोगी को स्निग्ध स्वेदन कराना चाहिए, न कि रूक्ष स्वेदन।

यदि पुरीष एवं वात का अवरोध हो तब बस्ति के प्रयोग द्वारा इसका प्रशमन (निर्हरण) करना चाहिये। यदि पुरीष शुष्क हो गया हो अथवा ऊर्ध्ववात (अपान वायु की गति का ऊर्ध्व होना, डकारों का आना) हो तब भोजन के बाद घृतपान कराना चाहिये। यदि वातज कास के साथ पित्त एवं कफ का अनुबन्ध हो तब स्नेह विरेचन (एरण्ड तैल) के प्रयोग द्वारा व्याधि को जीतना चाहिए।-जल्पकल्पतरुटीका।

कण्टकारीगुडूचीभ्यां पृथक् त्रिंशत्पलाद्रसे। प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातकासनुद्वह्निदीपनः ॥३५॥
इति कण्टकारीघृतम्।

कण्टकारीघृत–	(क)	कण्टकारी का क्वाथ	-	३० पल
	(ख)	गुडूची का क्वाथ	-	३० पल
	(ग)	गोघृत	-	१ प्रस्थ

उपर्युक्त द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत वातज कास एवं अग्निमांद्यता को दूर करता है।

चक्रपाणि–कण्टकारीत्यादौ रसे इति क्वाथे-कण्टकारी घृत के प्रकरण में वर्णित कण्टकारी रस एवं गुडूची रस से इनके क्वाथ (Decoction) का ग्रहण किया गया है।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः। धान्यपाठावचारास्नायष्ट्याह्वक्षारहिङ्गुभिः ॥३६॥
कोलमात्रैर्घृतप्रस्थाद्दशमूलीरसाढके। सिद्धाच्चतुर्थिकां पीत्वा पेयामण्डं पिबेदनु ॥३७॥
तच्छ्वासकासहृत्पार्श्वग्रहणीदोषगुल्मनुत्। पिप्पल्याद्यं घृतं चैतदात्रेयेण प्रकीर्तितम् ॥३८॥
इति पिप्पल्यादिघृतम्।

पिप्पल्यादिघृत (Pippalyādi-Ghṛita)–घटकद्रव्य-१.कल्कद्रव्य-पिप्पली, पिप्पलीमूल (पीपरामूल), चव्य, चित्रकमूल, शुण्ठी (सोंठ), धनियाँ, पाठा, वचा (मीठा वच), रास्ना, यष्टीमधु, यवक्षार एवं हिङ्गु (हींग); प्रत्येक द्रव्य १-१ कोल प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें।

२. क्वाथ द्रव्य-दशमूल क्वाथ- १ आढ़क, **३. गोघृत**-१ प्रस्थ।

निर्माण विधि-कल्क, क्वाथ एवं गोघृत को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें।

मात्रा-चतुर्थिका (१ पल), अनुपान-मण्ड या पेया

उपयोग-यह घृत श्वास (Asthma), कास (Bronchitis), हृद् रोग (Heart diseases), पार्श्वशूल (Pain in sides of the chest), ग्रहणी (Sprue syndrome) एवं गुल्मरोग को दूर करता है। इस पिप्पल्यादि घृत का विधान भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने बताया है। अर्थात् यह घृत भगवान् आत्रेय द्वारा निर्मित है।

चक्रपाणि–चतुर्थिकामिति-१ पल (४ तोला) ॥३६-३८॥

Scanned by CamScanner

त्र्यूषणं त्रिफलां द्राक्षां काश्मर्याणि परूषकम् । द्वे पाठे देवदार्वृद्धिं स्वगुप्तां चित्रकं शटीम् ।।३९।।
ब्राह्मीं तामलकीं मेदां काकनासां शतावरीम् । त्रिकण्टकं विदारीं च पिष्ट्वा कर्षसमं घृतात् ।।४०।।
प्रस्थं चतुर्गुणे क्षीरे सिद्धं कासहरं पिबेत् । ज्वरगुल्मारुचिप्लीहशिरोहृत्पार्श्वशूलनुत् ।।४१।।
कामलार्शोऽनिलाष्ठीलाक्षतशोषक्षयापहम् । त्र्यूषणं नाम विख्यातमेतद्घृतमनुत्तमम् ।।४२।।

इति त्र्यूषणाद्यं घृतम् ।

त्र्यूषणाद्यघृत-कल्कद्रव्य-सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, द्राक्षा (मुनक्का), काश्मर्य (गम्भारी), परूषक (फालसा), दो प्रकार की पाठा (छोटे पत्रों वाली एवं बड़े पत्रों वाली पाठा), देवदारु, ऋद्धि, स्वगुप्ता (कौंच का बीज), चित्रकमूल, शटी (कचूर), ब्राह्मी (पाठ भेद-व्याघ्री=कण्टकारी), तामलकी (भुई आँवला), मेदा, काकनासा, शतावरी, त्रिकण्टक (गोखरू), विदारी (विदारीकन्द); प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोले) मात्रा में लेकर कल्क बना लें। **गोघृत- १ प्रस्थ, गोदुग्ध- ४ प्रस्थ**। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। इस कासनाशक सिद्ध घृत के पीने से ज्वर (Fever), गुल्म, अरुचि (Anorexia), प्लीहा (Splenic disorders), शिरःशूल (Headache), हृद्शूल (Pain in the cardiac region), पार्श्वशूल (पसलियों में दर्द होना), कामला (Jaundice), अर्श (Piles), वातष्ठीला, क्षतज कास, शोष (Consumption) एवं क्षय (Tuberculosis) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती है। त्र्यूषण नाम से विख्यात यह घृत अत्यन्त श्रेष्ठ होता है।

चक्रपाणि-'द्वे पाठे' से यहाँ छोटी पत्ती वाली एवं बड़ी पत्ती वाली पाठा का ग्रहण किया गया है। स्वगुप्ता=शूकशिम्बी (Mucuna pruritus-केंवाच) ॥३९-४२॥

जल्पकल्पतरु टीका-द्वे पाठे द्वयं क्षुद्रबृहद्भेदात्-क्षुद्र (छोटी पत्ती वाली) एवं बृहत् (बड़ी पत्ती वाली) भेद से दो प्रकार की पाठा। काकनासा=कौआ ठोड़ी।

द्रोणेऽपां साधयेद्रास्नां दशमूलीं शतावरीम् । पलिकां माणिकांशांस्तु कुलत्थान्बदरान्यवान् ।।४३।।
तुलार्धं चाजमांसस्य पादशेषेण तेन च । घृताढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।।४४।।
सिद्धं तद्दशमैः कल्कैर्नस्यपानानुवासनैः । समीक्ष्य वातरोगेषु यथावस्थं प्रयोजयेत् ।।४५।।
पञ्चकासान् शिरःकम्पं शूलं वङ्क्षणयोनिजम् । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च सप्लीहोर्ध्वानिलाञ्जयेत् ।।४६।।

इति रास्नाघृतम् ।

रास्नाघृत-रास्ना, बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षरू एवं शतावरी, प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोला), कुलथी, खट्टी बेर एवं यव- १-१ मानिका (१ मानिका =२ कुडव), बकरे का मांस- १/२ तुला। सभी द्रव्यों को यवकुट कर एक पात्र में डालकर उसमें एक द्रोण जल मिलाकर मध्यमाग्नि पर पाक करें, चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर द्रव (क्वाथ) को छानकर एक अलग पात्र में रख लें। अब इस छने हुए क्वाथ में १ आढ़क गोघृत, १ आढ़क गोदुग्ध, जीवनीय गण की औषधियाँ- जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं यष्टीमधु-प्रत्येक १-१ पल लेकर कल्क बना लें। (१० पल कल्क) मिलाकर मन्दाग्नि पर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। घृत के सिद्ध हो जाने पर उसे एक स्वच्छ कपड़े से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग वातरोगों में रोगी के बलाबल के अनुसार नस्य, पान एवं अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिये। यह घृत पाँच प्रकार के कास, शिर में कम्पन होना, वंक्षण (Inguinal region) एवं योनि (Genital tract) में शूल का होना, सर्वाङ्ग एवं एकाङ्ग रोगी, प्लीहा रोग (Splenic disorders), ऊर्ध्ववात (Upward movement of Vāyu) आदि व्याधियों को दूर करता है।

चक्रपाणि-द्रोणेऽपामित्यादौ वक्ष्यमाणानि अजमांसान्तानि क्वाथ्यानि द्रोणे एव साध्यानि-१ द्रोण जल में रास्ना से लेकर अजमांस तक पठित द्रव्यों को यवकुट करके क्वाथ का निर्माण करें। अर्थात् रास्ना आदि द्रव्यों को लेकर १ द्रोण जल में पकावें। जब औषधियों का रस द्रव में आ जाय एवं द्रव पकते-पकते चतुर्थांश शेष बचे तब उसे छानकर पृथक् कर लें। माणिका=८ पल।

जीवनीयानीति जीवन्त्यादीनि दश षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानि-षड्विरेचनशताश्रितीय (च.सू.४) अध्याय में वर्णित जीवन्ती आदि दस द्रव्यों के वर्ग जो जीवनीयगण के नाम से पठित हैं, ग्रहण किया गया है। ॥४३-४६॥

विडङ्गं नागरं रास्ना पिप्पली हिङ्गु सैन्धवम् । भार्गी क्षारश्च तच्चूर्णं पिबेद्वा घृतमात्रया ।।४७।।
सकफेऽनिलजे कासे श्वासहिक्काहताग्निषु । द्वौ क्षारौ पञ्चकोलानि पञ्चैव लवणानि च ।।४८।।
शटीनागरकोदीच्यकल्कं वा वल्गुगालितम् । पाययेत घृतोन्मिश्रं वातकासनिबर्हणम् ।।४९।।
दुरालभां शटीं द्राक्षां शृङ्गवेरं सितोपलाम् । लिह्यात् कर्कटशृङ्गीं च कासे तैलेन वातजे ।।५०।।
दुःस्पर्शां पिप्पलीं मुस्तं भार्गीं कर्कटकीं शटीम् । पुराणगुडतैलाभ्यां चूर्णितं वाऽपि लेहयेत् ।।५१।।
विडङ्गं सैन्धवं कुष्ठं व्योषं हिङ्गु मनःशिलाम् । मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन् ।।५२।।

Scanned by CamScanner

विडङ्गादि चूर्ण–वायविडंग- १ भाग, नागर (सोंठ)- १ भाग, रास्ना- १ भाग, पिप्पली- १ भाग, हींग (१ भाग), सैन्धवनमक- १ भाग, भार्गी- १ भाग, यवक्षार- १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग (३-६ ग्राम) उचित मात्रा में घृत के साथ करें। यह चूर्ण कफानुबन्धजन्य वातज कास, हिक्का, श्वास एवं अग्निमांद्य को दूर करता है अर्थात् इन रोगों में इस चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

वातज कासनाशक योग–१. दो प्रकार के क्षार-यवक्षार- १ भाग, सज्जीक्षार- १ भाग, पिप्पली-१ भाग, पिप्पली मूल- १ भाग, चव्य- १ भाग, चित्रक- १ भाग, शुण्ठी- १ भाग, पाँचों नमक (सैन्धव नमक- १ भाग, सौवर्चल नमक- १ भाग, विडनमक- १ भाग, सांभर नमक- १ भाग, सामुद्र नमक- १ भाग); सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें, इस चूर्ण को आपस में मिला लें। **२.** अथवा शटी (कचूर), शुण्ठी (सोंठ), उदीच्य (सुगन्ध वाला)-प्रत्येक द्रव्य सम मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इस चूर्ण अथवा कल्क का प्रयोग घृत के साथ करने से वातज कास दूर हो जाता है। अर्थात् इन दोनों योगों का प्रयोग घृत के साथ करने पर वातज कास दूर हो जाता है।

दुरालभादि अवलेह (लेह)–दुरालभा- १ भाग, शटी (कचूर)- १ भाग, द्राक्षा- १ भाग, शृंगबेर (आर्द्रक)- १ भाग, मिश्री- १ भाग, काकड़ासिंगी- १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को तैल (तिल तैल) के साथ मिलाकर वातज कास के रोगी को चाटने के लिए देना चाहिये।

दुःस्पर्शादि अवलेह (लेह)–दुःस्पर्शा (यवासा), पिप्पली, मुस्तक (नागरमोथा), भारङ्गी, काकड़ासिंगी तथा शटी (कचूर); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को पुराने गुड़ व तेल (तिल तैल) में मिलाकर वातज कास के रोगी को चाटने के लिए देना चाहिये।

[चूर्ण में गुड़ व तैल की इतनी मात्रा डालनी चाहिए जिससे वह अवलेह जैसा बन जाय]

विडङ्गादि लेह–वायविडंग- १ भाग, सैन्धवनमक- १ भाग, कूठ- १ भाग, सोंठ- १ भाग, कालीमिर्च- १ भाग, पिप्पली- १ भाग, घी में भुनी हुई हींग- १ भाग, शुद्ध मैनशिल- १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मधु व घृत में मिलाकर चाटना चाहिए। इसके प्रयोग से कास (Cough), श्वास (Asthma) एवं हिक्का रोग दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि–घृतमात्रयेति चूर्णालोडनौचितया घृतमात्रया चूर्ण में घृत का प्रयोग (संयोग) उतनी ही मात्रा में करें जितने से वह अवलेह जैसा (चाटने लायक) हो जाय। **वस्त्रगालितमिति वस्त्रपूतम्**-वस्त्र (कपड़े) से छना हुआ, अर्थात् कपड़छन चूर्ण बना लें। [द्रव्यों के चूर्ण करें, पश्चात् उसे मारकीन के कपड़े से छान लें।] कर्कटकीमिति कर्कटशृङ्गीम्=काकड़ासिंगी को।

चित्रकं पिप्पलीमूलं व्योषं हिङ्गु दुरालभाम्। शटीं पुष्करमूलं च श्रेयसीं सुरसां वचाम्॥५३॥
भार्गीं छिन्नरुहां रास्नां शृङ्गीं द्राक्षां च कार्षिकान्। कल्कानर्धतुलाक्काथे निदिग्ध्याः पलविंशतिम्॥५४॥
दत्त्वा मत्स्यण्डिकायाश्च घृताच्च कुडवं पचेत्। सिद्धं शीतं पृथक् क्षौद्रपिप्पलीकुडवान्वितम्॥५५॥
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याश्चूर्णितं तत्र दापयेत्। लेहयेत् कासहृद्रोगश्वासगुल्मनिवारणम्॥५६॥

इति चित्रकादिलेहः।

चित्रकादिलेह–घटकद्रव्य-१. कल्क द्रव्य-चित्रकमूल, पिप्पलीमूल (पीपरामूल), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग, दुरालभा, शटी (कचूर), पुष्करमूल, श्रेयसी (गजपिप्पली), सुरसा (तुलसी), वचा, भार्गी, छिन्नरुहा (गुडूची), रास्ना, शृंगी (काकड़ासिंगी) एवं द्राक्षा (मुनक्का); सभी द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोले) मात्रा में लेकर कल्क बना लें। **२. क्वाथ्य द्रव्य**-निदिग्धिका (कण्टकारी=भटकटैया)-अर्ध तुला क्वाथ (Decoction of Kantakārī) [अर्ध द्रोण जल में कण्टकारी को पकावें, द्रव जब चतुर्थांश शेष बचे तब क्वाथ को कपड़े से छानकर पृथक् कर लें।]

मत्स्यण्डिका (रवेदार गुड़)-२० पल, लेकर क्वाथ के साथ चासनी बना लें, १ कुड़व गोघृत में कल्क को अच्छी प्रकार से भून लें। अब चाशनी में कल्क द्रव्यों को अच्छी प्रकार से मिलाकर अवलेह को सिद्ध कर लें। अर्थात् कल्क मिश्रित चाशनी को मन्दाग्नि पर पकाना चाहिये। जब अवलेह सिद्ध हो जाय तब उसे अग्नि पर से उतारकर कुछ शीतल कर लें, पश्चात् उसमें मधु- १ कुड़व, पिप्पलीचूर्ण- १ कुड़व, वंशलोचन- ४ पल मिलावें।

उपयोग–मात्रापूर्वक इस अवलेह के सेवन करने से कास (खाँसी Cough), हृद्रोग (Heart diseases), श्वास (Asthma) एवं गुल्म रोग दूर हो जाते हैं।

चक्रपाणि– श्रेयसीमिति हस्तिपिप्पलीम् - यहाँ श्रेयसी से गजपिप्पली का ग्रहण किया गया है।

Scanned by CamScanner

अर्धतुलाक्वाथ इति–क्वाथ की मात्रा-अर्ध तुला ग्रहण करें। यहाँ अर्ध तुला शब्द के उल्लेख का अभिप्राय अर्ध द्रोण जल से क्वाथ का निर्माण करें, से है। ॥५३-५६॥

विशेष (Comments)–निदिग्धिका (कण्टकारी) के क्वाथ के निर्माण हेतु-निदिग्धिका का पञ्चाङ्ग- १/२ तुला लें, इसे काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें तथा इसे १/२ द्रोण जल में पकावें, जब द्रव चतुर्थांश शेष बचे तब उसे छानकर पृथक् कर लें। इस प्रकार अर्ध तुला क्वाथ तैयार हो जाता है।

दशमूलीं स्वयङ्गुप्तां शङ्खपुष्पीं शटीं बलाम्। हस्तिपिप्पल्यपामार्गपिप्पलीमूलचित्रकान् ॥५७॥
भार्गीं पुष्करमूलं च द्विपलांशं यवाढकम्। हरीतकीशतं चैकं जले पञ्चाढके पचेत् ॥५८॥
यवैः स्विन्नैः कषायं तं पूतं तच्चाभयाशतम्। पचेद्गुडतुलां दत्त्वा कुडवं च पृथग्घृतात् ॥५९॥
तैलात् सपिप्पलीचूर्णात् सिद्धशीते च माक्षिकात्। लिह्याद्वह्नेि चाभये नित्यमतः खादेद्रसायनात् ॥६०॥
तद्वलीपलितं हन्ति वर्णायुर्बलवर्धनम्। पञ्चकासान् क्षयं श्वासं हिक्कां च विषमज्वरम् ॥६१॥
हन्यात्तथाऽर्शोग्रहणीहृद्रोगारुचिपीनसान्। अगस्त्यविहितं श्रेष्ठं रसायनमिदं शुभम् ॥६२॥

इत्यगस्त्यहरीतकी।

अगस्त्यहरीतकी (Agastya-Harītakī)–घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि– क्वाथ्य द्रव्य- दशमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), स्वयंगुप्ता (आत्मगुप्ता=केंवाच बीज), शंखपुष्पी, शटी (कचूर), बला, गजपिप्पली, अपामार्ग, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, भारङ्गी, पुष्करमूल-प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लें, यव (जौ)- १ आढ़क, हरीतकी का फल मध्यम आकार के - १०० संख्या, जल- ५ आढक। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर क्वाथ करें अर्थात् पकावें। जब यव अच्छी प्रकार से पक जाय तब हरीतकी (उबली हुई) को पृथक् करके शेष क्वाथ को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर पृथक् (अलग) कर लें। अब इस क्वाथ में १ तुला गुड़, गोघृत- १ कुड़व, तिल तैल- १ कुडव एवं भुनी हुई हरीतकी को मिलाकर अग्नि पर पाक करें। जब अवलेह तैयार हो जाय तो उसे अग्नि पर से उतार लें, कुछ शीतल होने पर उसमें पिप्पली चूर्ण- ४ पल एवं मधु- ४ पल अच्छी प्रकार से मिलाकर कांच के पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें।

मात्रा एवं उपयोग–दो हरीतकी के साथ उसमें लगा हुआ अवलेह [दो हरीतकी को खाकर उसके साथ लगे हुए अवलेह] को चाट लें। इस रसायन का सेवन व्यक्ति को नित्य करना चाहिए। इसके सेवन से वली (शरीर पर झुर्रियों का पड़ना) एवं पलित (बालों का सफेद होना) का नाश होता है। व्यक्ति की आयु (Age), वर्ण (Complexion) एवं बल (Strength) की वृद्धि होती है। यह रसायन पाँचों प्रकार के कास (Cough), क्षय, श्वास (Asthma), हिक्का (Hiccup), विषमज्वर (Irregular fever), अर्श (Piles), ग्रहणी (Sprue syndrome), हृद्रोग (Heart disease), अरुचि (Anorexia) व पीनस (Coryza) को दूर करता है। आचार्य अगस्त्य द्वारा निर्मित यह रसायन श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी है। ॥५७-६२॥

चक्रपाणि–'दशमूलीत्यादि' से 'अगस्त्यहरीतकी' का अभिधान किया गया है। **हरीतकीशतमिति**-हरीतकी के १०० फल का ग्रहण करें।

यवैः स्विन्नैरिति-जब यव अच्छी प्रकार से उबल जाय तब उस क्वाथ को छान लेना चाहिए तथा उससे १०० हरीतकी, जो स्विन्न हो चुकी है, पृथक् कर लें। यहाँ क्वाथ सम्यक् बन गया है, इसका परीक्षण यव की स्विन्नता से दर्शाया गया है। अर्थात् जब यव उबल जाय तब क्वाथ तैयार हो गया है, यह समझ लें। यव की स्विन्नता तभी होती है जब क्वाथ चतुर्थांश अवशिष्ट बचता है, ऐसा समझना चाहिए। भाव यह है कि क्वाथ्य द्रव उबलते-उबलते जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब क्वाथ को अग्नि पर से उतार कर छान लें।

घृततैलकुडवे चात्राष्टपलमाने एव–घृत (गोघृत)- ४ पल, तैल (तिलतैल)- ४ पल, कुल ८ पल मात्रा में ग्रहण करें। १ कुडव=४ पल (यहाँ गोघृत एवं तिलतैल का ग्रहण अलग-अलग १-१ कुडव मात्रा में करें।) द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार- "द्विगुणं तद्द्रवेष्विष्टं तथा सद्योद्धृतेषु च ॥ यद्धि मानं तुलाप्रोक्ता पलं वा तत् प्रयोजयेत्। अनुक्ते परिमाणे तु तुल्यं मानं प्रकीर्तितम्" (च.क. १२/९८-९९) इति [घृत, तैल आदि द्रव पदार्थों एवं तत्काल उखाड़ी गयी औषधियों को निर्दिष्ट मान का दूना ग्रहण करना चाहिये जहाँ मान में पल अथवा तुला शब्द का प्रयोग हो वहाँ द्रव्यों का ग्रहण निर्दिष्ट मान के ही अनुसार ही करना चाहिये। जहाँ मान का निर्देश नहीं है वहाँ सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में ग्रहण करना चाहिये।] प्रतिपादित है। अन्य शास्त्रों में इसी योग को "मधुनश्च पलांष्टकम्" के द्वारा बताया गया है।

तुल्यमानत्वेऽपि चात्र घृतमधुनोर्द्रव्यान्तरयोगस्य विद्यमानत्वान्न विरुद्धत्वम्–यहाँ घृत व मधु का मान (मात्रा) समान होते हुए भी अन्य द्रव्यों का संयोग होने से विरुद्धता नहीं आती। अर्थात् विरोधी नहीं होता। अन्य द्रव्यों के संयोग होने से घृत व मधु की समान मात्रा भी विरोधी नहीं होती। यहाँ स्विन्न (उबली हुई) हरीतकी के फल को गोघृत एवं तिल तैल (मिश्रित) में अल्प रूप में भून लेना चाहिए। ऐसा इसलिये करते हैं ताकि हरीतक का फल कुछ कड़ा हो जाय। इसके बाद क्वाथ में गुड़ व हरीतकी डालकर पाक करें। अवलेह सिद्ध हो जाने

Scanned by CamScanner

पर अग्नि पर से उतार लें, पश्चात् उसमें पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप मिलावें ।.अवलेह के ठण्डा हो जाने पर उसमें मधु मिलाकर सुरक्षित रख लें । यही अनुभवी वैद्यों का मत है ।

लिह्यादिति–इस प्राकृत लेह को चाटना चाहिये । द्वे चाभये अतो रसायनात् खादेत्-मात्रा-इस रसायन की मात्रा दो हरीतकी है । अर्थात् दो हरीतकी को लेकर खायें । नित्यं निरन्तरम्- प्रतिदिन इस रसायन का सेवन करना चाहिये ।

किंवा द्वे अभये लिह्यात् तथा द्वे चाभये खादेत्- (दो हरीतकी को चाटें तथा दो हरीतकी को खायें)-इससे दो हरीतकी पर लगे (चिपके) हुए अवलेह को चाटकर, हरीतकी को खा लें, यह अर्थ गृहीत है ।

अगस्त्यविहितमिति–यह रसायन महर्षि अगस्त्य जैसे महान व्यक्ति द्वारा निर्मित होने के कारण अत्यधिक प्रभावी है, ऐसा कहा गया है । ॥५७-६२॥

विशेष (Comments)–इस योग में हरीतकी (स्विन्न) के गुठली को निकालने का निर्देश नहीं दिया गया है । व्यवहारतः सबसे पहले क्वाथ के साथ ही हरीतकी को उबाल लेते हैं । इसके बाद स्विन्न हरीतकी के गुठली को निकालकर गुद्दे को Mixer में पीसकर कल्क जैसा बना लें, पश्चात् उसे गोघृत एवं तिल तैल में भून लें । अब गुड़ एवं क्वाथ की चासनी बना लें, बनी हुई चासनी में भुना हुआ कल्क मिला लें । ऊपर से प्रक्षेप (पिप्पली चूर्ण) डाल दें, अवलेह शीतल होने पर उसमें मधु मिलाकर रख लें ।

सैन्धवं पिप्पलीं भार्गीं शृङ्गवेरं दुरालभाम् । दाडिमाम्लेन कोष्णेन भार्गीनागरमम्बुना ।।६३।।
पिबेत् खदिरसारं वा मदिरादधिमस्तुभिः । अथवा पिप्पलीकल्कं घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।।६४।।

सैन्धवादि योग–सैन्धव नमक, पिप्पली, भार्गी, शृंगबेर (शुण्ठी=आर्द्रक) एवं दुरालभा; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण करके आपस में मिला लें । इस चूर्ण का सेवन अम्ल दाडिम (अनार) के स्वरस के साथ करना चाहिए । अथवा भारंगी एवं शुण्ठी (सोंठ) के सम भाग से निर्मित चूर्ण का सेवन उष्ण जल के साथ करें । अथवा खदिर सार (Solid extract from the heart wood of the Khadira) के चूर्ण का सेवन मदिरा या दही के पानी के साथ करें । अथवा पिप्पली के कल्क को घृत में भूनकर उसमें सैन्धव नमक मिलाकर सेवन करें ।

इन सभी योगों का प्रयोग वातज कास के रोगी को करना चाहिये ।

चक्रपाणि–खदिरसारमिति खदिरकाष्ठसारम्- (Heart wood of the Khadira) । ससैन्धवमिति-सैन्धव नमक का प्रयोग अल्प मात्रा में करना चाहिए । अर्थात् अन्य द्रव्यों के बराबर इसकी मात्रा न लें । नमक उतनी ही मात्रा में मिलावें जितने से योग खाने योग्य हो जाय, योग का स्वाद लवणरस युक्त न हो ।

अत्र मदिरादिभिः 'पिबेत्' इत्यनुवर्तते–यहाँ मदिरा आदि के साथ 'पिबेत्' शब्द जुड़ा हुआ है । अर्थात् खदिरसार के चूर्ण का सेवन मदिरा, या दही के पानी के साथ करना चाहिये । ॥६३-६४॥

शिरसः पीडने स्रावे नासाया हृदि ताम्यति । कासप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ।।६५।।
दशाङ्गुलोन्मितां नाडीमथवाऽष्टाङ्गुलोन्मिताम् । शरावसंपुटच्छिद्रे कृत्वा जिह्मां विचक्षणः ।।६६।।
वैरेचनं मुखेनैव कासवान् धूममापिबेत् । तमुरः केवलं प्राप्तं मुखेनैवोद्वमेत् पुनः ।।६७।।
स ह्यस्य तैक्ष्ण्याद्विच्छिद्य श्लेष्माणमुरसि स्थितम् । निष्कृष्य शमयेत् कासं वातश्लेष्मसमुद्भवम् ।।६८।।

वातज कास में धूमपान–यदि कास एवं प्रतिश्याय के रोगी में सिर में दर्द (Headache), नासास्राव अथवा हृद् गति का बढ़ना पाया जाता हो तो उस अवस्था में चिकित्सक को धूमपान (Smoking therapy) की योजना करनी चाहिए ।

धूमपान विधि–चिकित्सक कास रोगी को धूमपान हेतु १० अङ्गुल अथवा ८ अङ्गुल लम्बी टेढ़ी नली को शरावसम्पुट (चिलम) के छिद्र से जोड़कर विरेचन धूमपान हेतु मुख से ही धूमपान करावे । मुख द्वारा गृहीत यह धूम जब सम्पूर्ण उरः प्रदेश में व्याप्त हो (फैल) जाय तब उसे पुनः मुख द्वारा ही बाहर निकालें । मुखमार्ग से गृहण किया गया यह धूम अपनी तीक्ष्णता के कारण उरःप्रदेश (Chest) में जमे हुए कफ को काटकर बाहर निकाल देता है जिससे वातकफजन्य कास का प्रशमन हो जाता है ।

चक्रपाणि–'शिरस इत्यादि' के द्वारा धूमपान के योग्य अवस्था का उल्लेख करते हुए धूमपान की विधि को यहाँ बताया गया है । **शिरसः पीडने**- से शिरःशूल (Headache) एवं शिरोगौरव (Heaviness of the head-सिर में भारीपन) अर्थ लिया गया है ।

'दशाङ्गुलोन्मितामिति' से सूत्रस्थान अध्याय ५ में वर्णित धूमपान की विधि एवं विशेष नलिका (धूमपान हेतु प्रयुक्त नलिका) आदि के विधान को यहाँ कासचिकित्सा प्रकरण में कहा गया है । यहाँ धूम एवं वमनार्थ धूम का वर्णन अन्य शास्त्रों में पृथक् से किया गया है ।

Scanned by CamScanner

उसी धूम के पाँच भेदों, यथा- १ स्नेहन, २. प्रायोगिक, ३. वैरेचनिक, ४. कासघ्न, ५. वामनीय, का वर्णन आचार्य सुश्रुत ने किया है। सुश्रुतोक्त कासघ्न, वामनीय एवं रेचन (वैरेचनीय) का अन्तर्भाव चरकोक्त विरेचनीय के अन्तर्गत कर लिया गया है, ऐसा समझना चाहिये। परन्तु विरेचनीय होते हुए भी यह धूम नलिका की लम्बाई आदि के भेद से विशेष रूप से कासनाशक हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

छिद्रे इति उपरि नलिकामाने च छिद्रे–नलिका के ऊपर भाग के छिद्र में। जिह्वामिति=वक्र (टेढ़ी)। **मुखेन एव इति**-धूम, जिसका पान कर लिया गया है, उसका निर्हरण मुख द्वारा ही करना चाहिए। यद्यपि यहाँ धूमपान (कासघ्न) मुख द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये, इस शब्द से नासा पान (नासिका से धूमपान करना) का यहाँ निषेध हो जाता है। ॥६५-६८॥

मनःशिलालमधुकमांसीमुस्तेङ्गुदैः पिबेत्। धूमं तस्यानु च क्षीरं सुखोष्णं सगुडं पिबेत् ॥६९॥
एष कासान् पृथग्दोषसन्निपातसमुद्भवान्। धूमो हन्यादसंसिद्धानन्यैर्योगशतैरपि ॥७०॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं शार्ङ्गेष्टां समनःशिलाम्। मरिचं पिप्पलीं द्राक्षामेलां सुरसमञ्जरीम् ॥७१॥
कृत्वा वर्तिं पिबेद्धूमं क्षौमचेलानुवर्तिताम्। घृताक्तामनु च क्षीरं गुडोदकमथापि वा ॥७२॥
मनःशिलैलामरिचक्षाराञ्जनकुटन्नटैः। वंशलेखनसेव्यालक्षौमलक्तकरोहिषैः ॥७३॥
पूर्वकल्पेन धूमोऽयं सानुपानो विधीयते। मनःशिलाले तद्वच्च पिप्पलीनागरैः सह ॥७४॥
त्वगैङ्गुदी बृहत्यौ द्वे तालमूली मनःशिला। कार्पासास्थ्यश्वगन्धा च धूमः कासविनाशनः ॥७५॥

मनःशिलादि धूम (Manaḥ Śīladi-Dhūma)–मैनशिल, हरताल, मधुक (यष्टीमधु), जटामांसी, नागरमुस्तक, इंगुदी; इन सभी द्रव्यों को लेकर धूमवर्ति का निर्माण करें। पूर्व विधान के अनुसार धूमपान करें। पश्चात् गरम दूध में गुड़ मिलाकर पीयें अथवा गुड़ मिश्रित दूध को धूमपान करने के बाद पीना चाहिये। यह धूम वातादि जन्य कास, सन्निपातज कास जो शतशः औषध योगों के प्रयोग से सिद्ध नहीं होते, प्रशमित कर देता है।

प्रपौण्डरीकादिधूमवर्ति (Prapauṇḍarikādi-dhūma-Varti)– पुण्डरियाकाठ, मधुक (यष्टीमधु), गुञ्जा, मनःशिला (मैनशिल), कालीमिर्च, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), एला (छोटी इलायची), तुलसी की मञ्जरी; इन सभी द्रव्यों को पीस कर कल्क बना लें एवं इस कल्क को रेशम के कपड़े में लपेट कर वर्ति बना लें। इस वर्ति में घृत लगाकर चीलम पर रखकर धूमपान करें। धूमपान के पश्चात् गुड़ मिश्रित गरम-गरम दूध का पान करें।

विविध धूमवर्तियाँ–

१. मनःशिला, इलायची, कालीमिर्च, यवक्षार, अञ्जन, कुटन्नट (सोनापाठा), वंशलेखन (वंशलोचन), सेव्य, हरताल, क्षौम, अलक्तक (महावर), रोहिषतृण; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कूट-पीसकर विधिपूर्वक वर्ति का निर्माण करें। पूर्वोक्त विधि के अनुसार इस धूम का सेवन करें पश्चात् गुड़ मिश्रित उष्ण (गुनगुने) दूध का पान करें।

२. मनःशिला, हरताल, पिप्पली एवं शुण्ठी (सोंठ); सभी द्रव्यों को लेकर वर्ति बना लें। इसका प्रयोग पूर्वोक्त विधि के अनुसार करें।

३. इङ्गुदी, दोनों प्रकार की बृहती (भण्टा एवं वनभण्टा), मूसली कन्द, मैनशिल, कपास का बीज एवं अश्वगन्धा; सभी द्रव्यों को कूट-पीस कर वर्ति बना लें एवं विधिपूर्वक इस धूम का पान करें। ये सभी धूम कास रोग नाशक हैं।

चक्रपाणि–'मनःशिलेति' से मनःशिलादि धूम का अभिधान किया गया है। अलं=हरताल। इङ्गुदः=पुत्रजीवक।

अस्य च धूमस्य पश्चात् क्षीरपानं तीक्ष्णेनानेन धूमेन क्रियमाणौजः क्षयादिभयपरिहारार्थम्-यह धूम अत्यन्त तीक्ष्ण होता है, अतः इसके प्रयोग से ओज क्षय आदि का भय रहता है (रक्तस्राव आदि होने की संभावना रहती है)। इसलिये यह स्थिति न उत्पन्न हो इस हेतु यहाँ धूमपान के पश्चात् गुड़ मिश्रित दूध पीने का निर्देश दिया गया है। यद्यपि सन्निपातज कास का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी प्रकृति समसन्निपातजन्य कास तो होता ही है। अथवा सान्निपातिक से क्षयज कास का ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है, यथा- "सन्निपातभवो ह्येष क्षयकासः सुदारुणः। सन्निपातहितं तस्मात् कार्यमत्र भिषग्जितम्" इति [सन्निपात से उत्पन्न होने वाला यह क्षयज कास अत्यन्त दारुण होता है।] "प्रपौण्डरीकेति' से प्रपौण्डरीकादि धूमवर्ति का अभिधान किया गया है। शार्ङ्गेष्टा=गुञ्जा। **कृत्वा वर्तिमिति**-वर्ति बनाकर, वर्ति का निर्माण सूत्रस्थान अध्याय ५ में वर्णित विधि के अनुसार करनी चाहिए। अर्थात् मात्राशितीय अध्याय में वर्णित विधि के अनुसार वर्ति का निर्माण करें।

क्षौमस्य चेलः क्षौमचेलः-रेशम का कपड़ा-क्षौमचेल कहा गया है। क्षौम=रेशम, चेलः=कपड़ा। वंशलेखनं=वंशनालिका। आलं=हरिताल अथवा हरताल अर्थ लिया गया है। सेव्यम्=उशीर। रोहिष=गन्धतृण। पूर्वकल्पेन पूर्वोक्तविधिना=पूर्ववर्णित विधि के अनुसार।

Scanned by CamScanner

नागरैरित्यन्तेनैको योगः–जिसके अन्त में नागर (शुण्ठी) है, एक योग है। अर्थात् मनःशिला, हरताल, पिप्पली एवं शुण्ठी द्वारा एक योग बनता है। ॥६९-७५॥

विशेष (Comments)–इङ्गुदी=इङ्गुदीफल।, सुरसामञ्जरी=तुलसी की मञ्जरी। एला=बड़ी इलायची। कुटन्नट=केवटी मोथा। वंशलेखन=वंशनीली। आल=हरताल (शोधित हरताल) –जल्पकल्पतरुटीका।

ग्राम्यानूपौदकैः शालियवगोधूमषष्टिकान्। रसैर्मांषात्मगुप्तानां यूषैर्वा भोजयेद्धितान् ॥७६॥
यवानीपिप्पलीबिल्वमध्यनागरचित्रकैः। रास्नाजाजीपृथक्पर्णीपलाशशटिपौष्करैः ॥७७॥
स्निग्धाम्ललवणां सिद्धां पेयामनिलजे पिबेत्। कटीहृत्पार्श्वकोष्ठार्तिश्वासहिक्काप्रणाशिनीम् ॥७८॥
दशमूलरसे तद्वत्पञ्चकोलगुडान्विताम्। सिद्धां समतिलां दद्यात्क्षीरे वाऽपि ससैन्धवाम् ॥७९॥
मात्स्यकौक्कुटवाराहैरामिषैर्वा घृतान्विताम्। सिद्धां ससैन्धवां पेयां वातकासी पिबन्नरः ॥८०॥
वास्तुको वायसीशाकं मूलकं सुनिषण्णकम्। स्नेहास्तैलादयो भक्ष्याः क्षीरेक्षुरसगौडिकाः ॥८१॥
दध्यारनालाम्लफलप्रसन्नापानमेव च। शस्यते वातकासे तु स्वाद्वम्ललवणानि च ॥८२॥
इति वातकासचिकित्सा।

वातज कास में पथ्य अन्न (Food Preparations for Vātaja-Kāsa)–ग्राम्य, आनूप एवं जलीय प्राणियों के मांसरस के साथ अथवा उड़द (माष) यूष अथवा केंवाच के बीज के यूष के साथ शाली चावल का भात, यव का भात अथवा रोटी, गेहूँ की दलिया अथवा रोटी एवं साठी चावल के भात का सेवन, कासरोगी को करना चाहिये। यह आहार कास रोगी के लिए पथ्य (हितकर) होता है।

पेया–अजवाइन, पिप्पली, बिल्व का मध्यभाग (बेल की गुद्दी), शुण्ठी (सोंठ), चित्रक, रास्ना, अजाजी (जीरा), पृथक्पर्णी (पृश्निपर्णी), पलाश, कचूर, पुष्करमूल; इन द्रव्यों को समभाग में लेकर षडंगपानीय विधि से जल (द्रव) तैयार करें। इस जल से पेया का निर्माण करें। इस पेया में घृत, अम्लद्रव्य (खट्टे अनार का रस) एवं अल्प मात्रा में नमक डालकर वातज कास के रोगी को पीने के लिए दें अथवा वातज कास का रोगी इस पेया का सेवन करे। इस सिद्ध पेया के सेवन करने से कटि शूल (Lumber pain), हृद् शूल (Pain in cardiac region), पार्श्वशूल (Pain in sides of the chest), कोष्ठशूल, उदरशूल, हिक्का (Hiccup) एवं श्वास (Asthma) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

उसी प्रकार षडङ्गपरिभाषा द्वारा साधित दशमूल के जल से निर्मित पेया में पञ्चकोल एवं गुड़ मिलाकर पीना चाहिए अथवा शाली चावल एवं काले तिल को सम मात्रा में लेकर दूध से पेया तैयार करें। अथवा तिल व चावल को सम भाग में लेकर दशमूल के जल से पेया का निर्माण करें। इसमें सैन्धव नमक मिलाकर कास रोगी को सेवन करावें।

मछली, मुर्गे एवं सूअर के मांसरस से साधित पेया में घृत एवं सैन्धव नमक डालकर वातज कास के रोगी को पीने के लिए देना चाहिये।

वातज कास में हितकर शाक–वातज कास से पीड़ित रोगी को वास्तुक (बथुआ) का शाक, मकोय का शाक, मूली का शाक, सुनिषण्णक (तिनपतिया) का शाक, स्नेह एवं तैलादि के संयोग से तैयार करके देना चाहिए। दूध, इक्षु रस (गन्ने का रस) व गुड़ से निर्मित पदार्थ भी खाने के लिए देना चाहिए। इसके साथ ही दधि, काञ्जी, खट्टे फल का रस, प्रसन्ना (मदिरा के ऊपर का स्वच्छ भाग), अन्य मधुर, अम्ल एवं लवण रस प्रधान आहार द्रव्यों का सेवन कास रोगी के लिए हितकर होता है।

चक्रुपाणि–आत्मगुप्तानामिति-केंवाच का फल। **पञ्चकोलगुडान्वितामिति**-दशमूल के क्वाथ (षडंग परिभाषा द्वारा निर्मित क्वाथ) द्वारा साधित पेया में गुड़ एवं पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं शुण्ठी के सम भाग से निर्मित चूर्ण) मिलाकर सेवन करना चाहिए। अर्थात् पेया में पञ्चकोल एवं गुड़ का प्रक्षेप देकर। **समतिलामिति**-तिल एवं चावल की बराबर मात्रा से निर्मित पेया। **आमिषैरिति**-मछली आदि के मांसरस में चावल डालकर पकायी गयी पेया। वायसी=काकमाची (मकोय)। ॥७६-८२॥

जल्पकल्पतरुटीका–ग्राम्यादि मांसरस के साथ शाली आदि से निर्मित भात का सेवन कास रोगी के लिए पथ्य (हितकर) होता है।

माषात्मगुप्तफलविदलानां यूषैर्वा तान् भोजयेत्–उड़द एवं कौंच बीज के यूष के साथ भात का सेवन पथ्य होता है। पृथक्पर्णी= पृश्निपर्णी। यवानी, पिप्पली आदि द्रव्यों की संयुक्त मात्रा- १ कर्ष लें। अर्थात् सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण कर एक में मिश्रित कर लें। षडङ्गपानीय विधि से क्वाथ तैयार करने के लिए संयुक्त द्रव्य की मात्रा- १ कर्ष लेकर १ प्रस्थ जल में पकावें। पकते-पकते जल जब आधा बच जाय (अर्ध प्रस्थ अवशिष्ट रहे) तब उसे अग्नि पर से उतारकर छान लें। इस छने हुए द्रव (क्वाथ) से पेया का निर्माण करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

पैत्तिके सकफे कासे वमनं सर्पिषा हितम् । तथा मदनकाश्मर्यमधुकक्वथितैर्जलैः ।।८३।।
यष्ट्याह्वफलकल्कैर्वा विदारीक्षुरसायुतैः । कृतदोषस्ततः शीतं मधुरं च क्रमं भजेत् ।।८४।।
पैत्ते तनुकफे कासे त्रिवृतां मधुरैर्युताम् । दद्याद्घनकफे तिक्तैर्विरिकार्थे युतां भिषक् ।।८५।।
स्निग्धशीतस्तनुकफे रूक्षशीतः कफे घने । क्रमः कार्यः परं भोज्यैः स्नेहैर्लेहैश्च शस्यते ।।८६।।
शृङ्गाटकं पद्मबीजं नीलीसाराणि पिप्पली । पिप्पलीमुस्तयष्ट्याह्वद्राक्षामूर्वाभयौषधम् ।।८७।।
लाजाऽमृतफला द्राक्षा त्वक्क्षीरी पिप्पली सिता । पिप्पलीपद्मकद्राक्षा बृहत्याश्च फलाद्रसः ।।८८।।
खर्जूरं पिप्पली वांशी श्रृंदंष्ट्रा चेति पञ्च ते । घृतक्षौद्रयुता लेहाः श्लोकार्धैः पित्तकासिनाम् ।।८९।।
शर्करा चन्दनद्राक्षामधुधात्रीफलोत्पलैः । पैत्ते, समुस्तमरिचः सकफे, सघृतोऽनिले ।।९०।।
मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीः शर्करापलम् । लेहयेन्मधुना गोर्वा क्षीरपं च शकृद्रसम् ।।९१।।
त्वगेलाव्योषमृद्वीकापिप्पलीमूलपौष्करैः । लाजामुस्तशटीरास्नाधात्रीफलविभीतकैः ।।९२।।
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्लेहः कासविनाशनः । श्वासं हिक्कां क्षयं चैव हृद्रोगं च प्रणाशयेत् ।।९३।।
पिप्पल्यामलकं द्राक्षां लाक्षां लाजां सितोपलाम् । क्षीरे पक्त्वा घनं शीतं लिह्यात् क्षौद्राष्टभागिकम् ।।९४।।
विदारीक्षुमृणालानां रसान् क्षीरं सितोपलाम् । पिबेद्वा मधुसंयुक्तं पित्तकासहरं परम् ।।९५।।
मधुरैर्जाङ्गलरसैः श्यामाकयवकोद्रवाः । मुद्गादियूषैः शाकैश्च तिक्तकैर्मात्रया हिताः ।।९६।।
घनश्लेष्मणि लेहास्तु तिक्तका मधुसंयुताः । शालयः स्युस्तनुकफे षष्टिकाश्च रसादिभिः ।।९७।।
शर्कराम्भोऽनुपानार्थं द्राक्षेक्षूणां रसाः पयः । सर्वं च मधुरं शीतमविदाहि प्रशस्यते ।।९८।।
काकोलीबृहतीमेदायुग्मैः सवृषनागरैः । पित्तकासे रसान् क्षीरं यूषांश्चाप्युपकल्पयेत् ।।९९।।
शरादिपञ्चमूलस्य पिप्पलीद्राक्षयोस्तथा । कषायेण शृतं क्षीरं पिबेत् समधुशर्करम् ।।१००।।
स्थिरासितापृश्निपर्णीश्रावणीबृहतीयुगैः । जीवकर्षभकाकोलीतामलक्यृद्धिजीवकैः ।।१०१।।
शृतं पयः पिबेत् कासी ज्वरी दाही क्षतक्षयी । तज्जं वा साधयेत् सर्पिः सक्षीरेक्षुरसं भिषक् ।।१०२।।
जीवकाद्यैर्मधुरकैः फलैश्चाभिषुकादिभिः । कल्कैस्त्रिकार्षिकैः सिद्धे पूतशीते प्रदापयेत् ।।१०३।।
शर्करापिप्पलीचूर्णं त्वक्क्षीर्या मरिचस्य च । शृङ्गाटकस्य चावाप्य क्षौद्रगर्भान्पलोन्मितान् ।।१०४।।
गुडान् गोधूमचूर्णेन कृत्वा खादेद्धिताशनः । शुक्रासृग्दोषशोषेषु कासे क्षीणक्षतेषु च ।।१०५।।
शर्करानागरोदीच्यं कण्टकारीं शटीं समम् । पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम् ।।१०६।।
महिष्यजाविगोक्षीरधात्रीफलरसैः समैः । सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या पित्तकासनिबर्हणम् ।।१०७।।

इति पित्तकासचिकित्सा ।

२. पित्तज कास की चिकित्सा (Treatment of Pittaja Kāsa)

पित्तज कास में वमन–१. पित्तज कास में यदि कफ का अनुबन्ध हो तो रोगी को वामक द्रव्यों से सिद्ध घृत का पान कराकर वमन कराना चाहिये । अथवा मदनफल, काश्मर्य, यष्टीमधु से साधित जल (द्रव) को पिलाकर वमन करावें, अथवा यष्टीमधु (मुलेठी) व मदनफल के कल्क को विदारीकन्द स्वरस व इक्षुरस के साथ खिलाकर वमन करावें । सम्यक् रूप से दोष (कफ व पित्त) निर्हरित हो जाने के बाद शीत एवं मधुररस प्रधान द्रव्यों द्वारा निर्मित पेयादि क्रम का पालन करना चाहिये ।

२. पित्तज कास में यदि अल्प रूप में कफ का अनुबन्ध हो तब रोगी को त्रिवृत् चूर्ण में चीनी मिलाकर विरेचनार्थ खिलाना चाहिये । अर्थात् विरेचन हेतु चीनी के साथ त्रिवृत् (निशोथ) चूर्ण का सेवन कराना चाहिये ।

३. पित्तज कास के साथ खाँसने पर यदि घन (गाढ़ा=जमा हुआ) कफ निकल रहा हो तब विरेचन हेतु-निशोथ चूर्ण के साथ तिक्त द्रव्यों के चूर्ण (पटोल, गुडूची, निम्ब आदि के चूर्ण) मिलाकर रोगी को खिलाना चाहिये ।

४. पित्तकास के रोगी को खाँसते समय पतला (dilute-तनु) कफ निकल रहा है तो उसे स्निग्ध एवं शीतवीर्य वाले स्नेह एवं अवलेहों का सेवन कराना चाहिये । यदि कफ गाढ़ा निकल रहा है तब रूक्ष एवं शीतल स्नेह एवं अवलेहों का सेवन करावें ।

पित्तज कासनाशक अवलेह (५ योग)–

१. शृङ्गाटक (सिंघाड़ा), पद्मबीज (कमलगट्टा), नीली सार (नील का रंग) एवं पिप्पली ।

२. पिप्पली, नागरमुस्तक, यष्टीमधु (मुलेठी), द्राक्षा, मूर्वा एवं शुण्ठी (सोंठ) ।

३. लाजा (धान का लावा), अमृतफल (आँवला), द्राक्षा (मुनक्का), त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), पिप्पली एवं मिश्री ।

४. पिप्पली, पद्मकाठ, द्राक्षा (मुनक्का), वृहती के फल का रस (स्वरस) ।

५. खर्जूर, पिप्पली, वंशलोचन एवं गोखरू ।

Scanned by CamScanner

ये पाँच योग जो आधे-आधे श्लोक में पड़े गये हैं, इन्हे सम प्रमाण में लेकर चूर्ण कर लें। इन योगों को अलग-अलग मधु व घृत मिलाकर अवलेह जैसा बनाकर उचित मात्रा में पित्तकास के रोगी को चाटना चाहिये।

६. शर्करा, चन्दन, द्राक्षा (मुनक्का), मधु, धात्रीफल (आँवला) एवं उत्पल; के सम भाग से निर्मित चूर्ण का प्रयोग पित्तज कास में करना चाहिये। यदि कफ का अनुबन्ध हो तब पूर्वोक्त चूर्ण में नागरमुस्तक एवं कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। यदि वात का अनुबन्ध हो इस चूर्ण का प्रयोग घृत के साथ करना चाहिये।

७. मृद्वीका (मुनक्का) अर्धशत (५०), पिप्पली-३०, शर्करा- १ पल; सभी द्रव्यों को एक साथ सील पर पीसकर कल्क जैसा बना लें। इस कल्क में मधु मिलाकर आतुर को चटाना चाहिए। अथवा दूध पीने वाले गाय के बछड़े के ताजे गोबर के रस में मधु मिलाकर रोगी को पीना चाहिये।

८. त्वक् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), व्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), मृद्वीका (मुनक्का), पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, लाजा (धान का लावा), मुस्तक (नागरमोथा), शटी (कचूर), रास्ना, धात्रीफल (आँवला), बहेड़ा, शर्करा (चीनी), मधु एवं घृत द्वारा निर्मित अवलेह को चाटने से कासरोग दूर हो जाता है, साथ ही साथ यह अवलेह श्वास (Asthma), हिक्का (Hiccup), क्षय (Phthisis) एवं हृद्रोगों (Heart diseases) को भी दूर करता है। -त्वगादि लेह।

९. पिप्पली, आमलकी, द्राक्षा (मुनक्का), लाक्षा, लाजा (धान का लावा) एवं सिता (मिश्री); सभी द्रव्यों को समभाग में लेकर दूध के साथ पकावें। जब दूध ठण्डा हो जाय तब उसमें अष्टमांश मधु मिलाकर पित्तज कास के रोगी को चाटने के लिये दें।

१०. विदारीकन्द स्वरस, इक्षुरस (गन्ने का रस), मृणाल का रस (स्वरस), दुग्ध, मिश्री; सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर मधु के साथ अथवा मधु मिश्रित करके पीना चाहिये। यह योग पित्तज कास को दूर करने में श्रेष्ठ होता है।

पित्तज कास में पथ्य–मधुररस युक्त जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ, अथवा मुद्गादि के यूष अथवा तिक्त रस वाले शाकों के साथ श्यामाक (साँवा), कोद्रव (कोदो) एवं यव के भात का सेवन पित्तज कास में करना पथ्य होता है। (मधुररस युक्त जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ साँवा, यव व कोदो के भात का सेवन कराना चाहिये। अथवा मुद्गादि के यूष अथवा तिक्त रस युक्त शाकों के साथ श्यामाक आदि के भात का सेवन करना चाहिए।)

यदि पित्तज कास के रोगी को खाँसने पर गाढ़ा कफ (घन कफ) निकल रहा हो तब उसे तिक्त द्रव्यों से साधित अवलेह में मधु मिलाकर चाटने के लिए देना चाहिये तथा भोजन के रूप में शाली चावल का भात प्रयोग करना चाहिये। तनु कफ (पतले कफ) के निकलने पर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ साठी चावल के भात का सेवन करना चाहिये।

पित्तज कास में अनुपान–चीनी का शर्बत, द्राक्षा रस (मुनक्के का रस), इक्षु रस (गन्ने का रस), गोदुग्ध तथा अन्य सभी प्रकार के मधुररस प्रधान द्रव्यों का स्वरस, जो विदाह न उत्पन्न करते हों, उनका प्रयोग अनुपान के रूप में करना प्रशस्त है, अथवा हितकर है। काकोली, बृहती (वनभण्टा), मेदा, महामेदा, वासा (अडूसा) एवं शुण्ठी (सोंठ); इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित क्वाथ से सिद्ध मांसरस, अथवा दूध (सिद्ध क्षीरपाक) अथवा यूष का प्रयोग पित्तज कास के रोगी को अनुपान के रूप में करना चाहिये।

शरमूलादि क्षीरपाक–शरादि पञ्चमूल (तृणपञ्चमूल– कुश, कास, नल, दर्भ, काण्डेक्षु), पिप्पली व द्राक्षा के समभाग से निर्मित क्वाथ से सिद्ध क्षीर में मधु व चीनी मिलाकर पित्तज कास के रोगी को पिलाना चाहिये। यहाँ क्वाथ का निर्माण षडङ्गपानीय विधि से करना चाहिए। अर्थात् तृणपञ्चमूल, पिप्पली व मुनक्का की संयुक्त मात्रा- १ तोला लें, उसे १ प्रस्थ जल में पकावें, पकते-पकते जब वह आधी शेष बचे तो अग्नि पर से उतार कर छान लें। इस जल (द्रव) से गोदुग्ध को सिद्ध करें।

स्थिरादि क्षीरपाक–स्थिरा (सरिवन), सिता (मिश्री), पृश्निपर्णी (पिठिवन), श्रावणी (गोरखमुण्डी), बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (भटकटैया), जीवक, ऋषभक, काकोली, भुई आँवला, ऋद्धि एवं जीवक; इनके समभाग से निर्मित क्वाथ से साधित क्षीर जो शीतल कर दिया गया है, का प्रयोग करने से कास (Cough), ज्वर (Fever), दाह (Burning sensation), क्षत एवं क्षय रोग दूर जाते हैं।

स्थिरादि क्षीर से निकाले गये घृत को इक्षुरस, जीवकादि द्रव्यों (मधुर गण की औषधियाँ) के कल्क, अभिषुक (पिस्ता) आदि द्रव्यों के फल १-१ कर्ष लेकर कल्क बनावें एवं विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। घृत के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर स्वच्छ कपड़े से छान लें एवं उसमें शर्करा (चीनी), पिप्पली चूर्ण, त्वक् क्षीरी (वंशलोचन) चूर्ण, कालीमिर्च चूर्ण, शृंगाटक (सिंघाड़े) का चूर्ण व मधु; प्रत्येक १-१ पल मिलाकर कल्क बना लें। इस कल्क में घृत में भुने हुए गेहूँ का आटा मिलाकर बड़ी-बड़ी गोलियाँ बना लें अथवा लड्डू जैसा बना लें। हितकर भोजन करते हुए रोगी इस लड्डू का सेवन करें। इसके प्रयोग से शुक्र एवं आर्तव जन्य दुष्टि, शोष (Consumption), कास (Cough), क्षीण एवं क्षत रोग दूर हो जाते हैं।

Scanned by CamScanner

शर्करादियोग–शर्करा (मिश्री), नागर (शुण्ठी), उदीच्य (सुगन्धबाला), कण्टकारी (भटकटैया), शटी (कचूर), इन छः द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल डालकर पीस लें एवं इसे स्वच्छ कपड़े में रखकर इसके रस को निचोड़ लें। इस रस में घृत मिलाकर पित्तज कास के रोगी को सेवन करना चाहिए।

घृतयोग–

भैंस का दुग्ध	-	१ भाग
बकरी का दुग्ध	-	१ भाग
भेंड़ का दुग्ध	-	१ भाग
गाय का दुग्ध	-	१ भाग
आँवले का स्वरस	-	१ भाग
गोघृत	-	१ भाग

सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस घृत का सेवन मात्रापूर्वक करने से पित्तज कास दूर हो जाता है।

चक्रपाणि–वमनं सर्पिषेति वमनद्रव्ययुक्तेन सर्पिषा वमनं कर्तव्यम्–वामक द्रव्यों को घृत के साथ मिलाकर वमन करावें, अथवा वामक द्रव्यों से सिद्ध घृत को पिलाकर वमन करावें। यष्ट्याह्वफलकल्कैरिति-यष्ट्याह्व=यष्टीमधु, फल=मदनफल-यष्टीमधु व मदनफल कल्क द्वारा, अर्थात् यष्टीमधु, मदनफल, काश्मर्य आदि के क्वाथ के साथ मदनफल व यष्टीमधु के कल्क सेवन कराकर वमन करावें। पित्तज कास में कास के वेग के साथ यदि पतला अथवा गाढ़ा कफ निकल रहा है तब इस अवस्था की यहाँ अलग-अलग चिकित्सा 'पैत्ते इत्यादि' के द्वारा बतायी गयी है।

तिक्तकैर्युतां त्रिवृतामिति संबन्धः–त्रिवृत् चूर्ण के साथ तिक्त द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर विरेचनार्थ देना चाहिए। अथवा तिक्त द्रव्यों के क्वाथ के साथ त्रिवृत् चूर्ण का सेवन कराना चाहिये। क्रम से यहाँ पेयादि क्रम का ग्रहण किया गया है। परमिति=पेयादि क्रम के बाद। शस्यत इत्यत्र 'उपचार' इति शेषः-शस्यत के साथ उपचार शब्द यहाँ शेष है, अर्थात् जुड़ा हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। [लेहादि से उपचार करना हितकर होता है, यह भाव है।] नीलीसारमिति=नीलिनीफल का सार (घनसत्व)। अमृतफल=आँवला।

शर्करादिः केवलः केवले पैत्ते–मात्र पित्तज कास में शर्करादि का प्रयोग करना चाहिये। यदि पित्तज कास में कफ का अनुबन्ध है तब शर्करादि के साथ नागरमुस्तक एवं कालीमिर्च के भी चूर्ण को मिलाना चाहिये। वात का अनुबन्ध होने पर शर्करादि योग के साथ घृत का प्रयोग करना चाहिये।

मृद्वीकार्धशतं त्रिंशत्पिप्पलीश्च व्यक्ते, संख्यापरिग्रहात्–मृद्वीका (मुनक्का)- ५०, पिप्पली- ३०, शर्करा- १ पल; सबको एक में मिलाकर पीस लें एवं इसमें मधु मिलाकर पित्तज कास के रोगी को चाटना चाहिये। **अथवा गोः क्षीरपमिति क्षीरमात्राशनम्**–गाय का बछड़ा जो मात्र दूध पीता हो, उसके गोबर के रस में मधु मिलाकर सेवन करना चाहिए।

पिप्पल्यामलकमित्यादौ घनश्लेष्मणि इति घनतामापन्नकफे–पित्तज कास में गाढ़ा कफ निकलने पर पिप्पली, आँवला, द्राक्षा, लाक्षा, लाजा व मिश्री को दूध में पका लें, अर्थात् क्षीरपाक तैयार करें, इसमें १/८ भाग मधु मिलाकर, रोगी को पिलावें।

काकोलीत्यादौ प्रत्येकं युग्मैरिति सम्बध्यते–काकोली आदि से काकोली, बृहती, मेदा के युग्म का ग्रहण है, अर्थात् काकोली-क्षीरकाकोली, मेदा-महामेदा, बृहती-कण्टकारी, इन छः द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। इनके साथ वासा (अडूसा) एवं शुण्ठी (सोंठ) को भी मिलाकर, इनके क्वाथ से मांसरस अथवा क्षीरपाक, अथवा यूष का निर्माण करें।

शरादिपञ्चमूल से 'तृणपञ्चमूल' का ग्रहण किया गया है। **अभिषुकादय औत्तरापथिका वातपित्तहरा ''वातामाभिषुका-क्षोडमुकूलकनिकोचकाः''** (सू.अ. २७) इति-अभिषुक (पिस्ता) आदि उत्तरापथ में होने वाले वातपित्त हर द्रव्य हैं। वाताम (बादाम), अभिषुक (पिस्ता), आक्षोड (अखरोट), मुकूलक एवं निकोचक-ये द्रव्य उत्तरापथ में होने वाले हैं।

जीवकादयश्च जीवनीयगणोक्ताः–जीवनीयगण में पठित-जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं यष्टीमधु (मुलेठी); ये दस द्रव्य जीवनीय द्रव्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। शर्करा आदि का मान यहाँ क्षय प्रकरण में वर्णित सर्पिगुड के मान के अनुसार ग्रहण करना चाहिये।

श्लोक १०६ में शर्करादि के रस का अभिप्राय-कल्क द्वारा प्राप्त रस से है।

बलिनं वमनैरादौ शोधितं कफकासिनम्। यवान्नैः कटुरूक्षोष्णैः कफघ्नैश्चाप्युपाचरेत् ।।१०८।।
पिप्पलीक्षारिकैर्यूषैः कौलत्थैर्मूलकस्य च। लघून्यन्नानि भुञ्जीत रसैर्वा कटुकान्वितैः ।।१०९।।

Scanned by CamScanner

धान्वबैलरसैः स्नेहैस्तिलसर्षपबिल्वजैः । मध्वम्लोष्णाम्बुतक्रं वा मद्यं वा निगदं पिबेत् ।।११०।।
पौष्करारग्वधं मूलं पटोलं तैर्निशास्थितम् । जलं मधुयुतं पेयं कालेष्वन्नस्य वा त्रिषु ।।१११।।

३. कफज कास की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Kāsa)

१. यदि कफज कास से पीड़ित रोगी बलवान है तो उसे सर्वप्रथम वामक द्रव्यों के प्रयोग द्वारा वमन कराकर, पश्चात् कफनाशक यव तथा कटु, रूक्ष एवं उष्ण आहार द्रव्य जो कफघ्न हों, का सेवन कराना चाहिए ।

२. आहार के रूप में रोगी को पिप्पली एवं यवक्षार द्वारा साधित कुलथी एवं मूली के यूष अथवा इससे सिद्ध जाङ्गल पशु-पक्षियों एवं विलेशय (बिल में रहने वाले प्राणी) प्राणियों के मांसरस अथवा तिलतैल व सरसो के तैल तथा बिल्व के द्वारा साधित स्नेहों के साथ लघु अन्न का सेवन कराना चाहिए । अर्थात् कुलथी व मूली के यूष को पिप्पली तथा यवक्षार द्वारा सिद्ध करें । इस सिद्ध यूष के साथ लघु आहार द्रव्यों- साठी एवं शालि चावल के भात का सेवन करें । इसी प्रकार जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस जो कटु द्रव्यों-पिप्पली आदि द्वारा संस्कारित किये गये हैं, के साथ लघु अन्न का सेवन करना चाहिये । अनुपान के रूप में-मधु, उष्णजल, अम्लरस युक्त द्रव (काञ्जी), तक्र अथवा निगद (दोष रहित मदिरा) का सेवन करना चाहिये ।

३. **पौष्करादि हिम**–पुष्करमूल (पोहकरमूल), आरग्वध (अमलतास) का फल, पटोलमूल; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर यवकूट कर लें । इसे एक पात्र में लेकर उसमें जल डालकर रातभर के लिये भिगों दें । प्रातः काल उसे मसलकर छान लें । इन छने हुए हिम (द्रव भाग) में मधु डालकर प्रातः दोपहर एवं सायंकाल सेवन करें । अथवा इस योग को भोजन के पूर्व, भोजन के मध्य एवं अन्त में सेवन करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'बलिनमित्यादि' के द्वारा कफज कास की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । **पिप्पलीक्षारिकैरिति**-पिप्पली, यवक्षार, स्नेह, लवण आदि द्रव्यों द्वारा यूष (शुष्कमूली अथवा कुलथी का यूष) को संस्कारित करके उससे साठी अथवा शालि चावल के भात को खाना चाहिये । **धान्वबैलरसैरिति**-जाङ्गल एवं बिल में रहने वाले प्राणियों के मांसरस को पिप्पली आदि द्रव्यों से संस्कारित कर प्रयोग करें ।

कालेष्वन्नस्य च त्रिष्विति- भोजनादिमध्यावसानेषु च–भोजन के आदि, मध्य तथा अन्त में, अर्थात् इन तीन कालों में पौष्करादि हिम का सेवन करें । ॥१०८-१११॥

विशेष (Comments)–'पौष्करेत्यादि' के द्वारा पौष्करादि हिम का अभिधान किया गया है । पुष्करमूलमारग्वधमूलं पटोलपत्रं समं, तैः सह निशास्थितं जलं शीतकषायाख्यं मधुयुतमन्नस्य कालेषु च तथा रात्रिषु पेयम्-पुष्करमूल, आरग्वधमूल व पटोलपत्र, तीनों द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर यवकुट करके रात भर जल में भिगो दें । प्रातः इसे मसलकर छान लें । इस जल को शीतकषाय कहते हैं । इस कषाय में मधु मिलाकर रोगी को प्रातः दोपहर एवं सायंकाल सेवन करना चाहिए । –जल्पकल्पतरुटीका ।

कट्फलं कतृणं भार्गी मुस्तं धान्यं वचाभये । शुण्ठीं पर्पटकं शृङ्गीं सुराह्वं च शृतं जले ।।११२।।
मधुहिङ्गुयुतं पेयं कासे वातकफात्मके । कण्ठरोगे मुखे शूने श्वासहिक्काज्वरेषु च ।।११३।।
पाठां शुण्ठीं शटीं मूर्वां गवाक्षीं मुस्तपिप्पलीम् । पिष्ट्वा घर्माम्बुना हिङ्गुसैन्धवाभ्यां युतां पिबेत् ।।११४।।
नागरातिविषे मुस्तं शृङ्गीं कर्कटकस्य च । हरीतकीं शटीं चैव तेनैव विधिना पिबेत् ।।११५।।
तैलघृष्टं च पिप्पल्याः कल्काक्षं ससितोपलम् । पिबेद्वा श्लेष्मकासघ्नं कुलत्थरससंयुतम् ।।११६।।
कासमर्दश्चिविट्भृङ्गराजवार्ताकजो रसः । सक्षौद्रः कफकासघ्नः सुरसस्यासितस्य च ।।११७।।
देवदारु शटी रास्ना कर्कटाख्या दुरालभा । पिप्पली नागरं मुस्तं पथ्याधात्रीसितोपलाः ।।११८।।
मधुतैलयुतावेतौ लेहौ वातानुगे कफे । पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ।।११९।।
पथ्या त्रामलकी धात्री भद्रमुस्ता च पिप्पली । देवदार्वभया मुस्तं पिप्पली विश्वभेषजम् ।।१२०।।
विशाला पिप्पली मुस्तं त्रिवृता चेति लेहयेत् । चतुरो मधुना लेहान् कफकासहरान् भिषक् ।।१२१।।
सौवर्चलाभयाधात्रीपिप्पलीक्षारनागरम् । चूर्णितं सर्पिषा वातकफकासहरं पिबेत् ।।१२२।।

विविध प्रकार के कफज कास नाशक क्वाथ

कट्फलादि क्वाथ–कट्फल, कतृण (गन्धतृण), भारङ्गी, नागरमुस्तक (नागरमोथा), धनियाँ, मीठा वच, अभया (हरीतकी), शुण्ठी (सोंठ), पित्तपापड़ा, शृंङ्गी (काकड़ासिंगी), देवदारु; इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ (Decoction) बना लें । इस क्वाथ में मधु व घी में भुनी हुई हींग मिलाकर वातकफज कास के रोगी को पिलाना चाहिए ।

इस क्वाथ के पीने से कण्ठ में होने वाले रोग (Throat diseases), मुख में शोथ (Oedema in face), हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma) व ज्वर (Fever) रोग दूर हो जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

२. **पाठादियोग**–पाठा, शुण्ठी (सोंठ), शटी (कचूर), मूर्वा, गवाक्षी (इन्द्रायण की जड़), नागरमोथा, पिप्पली; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर गरम जल में पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क में हींग व सैन्धव नमक मिलाकर आतुर को सेवन करना चाहिये। कल्क को उष्ण जल में घोलकर पीना चाहिये।

३. **नागरादि योग**–नागर (सोंठ), अतिविषा, मुस्तक (नागरमोथा), शृंगी (काकड़ासिंगी), हरीतकी, शटी (कचूर); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क में गुनगुना जल मिला लें व इसमें हींग व सैन्धव नमक (अल्प मात्रा) डालकर पीवें।

४. तैल में भुने हुए पिप्पली का कल्क (Paste)- १ कर्ष (१ तोला), मिश्री- १ कर्ष (तोला); इन दो द्रव्यों को कुलथी के रस (Decoction-क्वाथ) में घोलकर पीवें। यह योग कफज कास को नष्ट करता है।

५. कासमर्द (कसौंदी), अश्वविट् (घोड़े का लीद-Stool of the horse), भृंगराज (भंगरैया=भांगरा), वार्ताक (भण्टे की जड़) एवं काली तुलसी के स्वरस में मधु मिलाकर कफज कास के रोगी को पीना चाहिए। [इन द्रव्यों के स्वरस या रस का प्रयोग मधु के साथ एकल अथवा संयुक्त दोनों रूपों में किया जा सकता है।]

विविध प्रकार के कफज कास नाशक अवलेह (लेह)

१. यदि कफज कास में वात का अनुबन्ध हो तब रोगी को अधोलिखित योगों को चाटने के लिए देना चाहिये–

(क) देवदारु, शटी (कचूर), रास्ना, कर्कट (काकड़ासिंगी) एवं दुरालभा।

(ख) पिप्पली, नागर (सोंठ), मुस्तक (नागरमोथा), पथ्या (हरीतकी) एवं धात्री (आँवला)।

दोनों योगों के द्रव्यों को अलग-अलग सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में मधु व तिल तैल मिलाकर अवलेह जैसा बना लें। इसका प्रयोग वातानुबन्धित कफज कास के रोगी में करें। अर्थात् कफज कास के रोगी मे यदि वात का अनुबन्ध हो तो रोगी को इसे चाटना चाहिये।

२. (क) पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रकमूल, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली)।

(ख) पथ्या (हरीतकी), तामलकी (भुई आँवला), धात्री (आँवला), भद्रमुस्ता (नागरमुस्तक=नागरमोथा) एवं पिप्पली।

(ग) देवदारु, हरीतकी, मुस्तक (नागरमोथा), पिप्पली व विश्वभेषज (शुण्ठी=सोंठ)।

(घ) विशाला (गवाक्षी=इन्द्रायण) की जड़, पिप्पली, मुस्तक (नागरमोथा) एवं त्रिवृत्।

इन चार योग में वर्णित द्रव्यों को अलग-अलग सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें तथा इन चार योगों के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर कफज कास के रोगी को चाटना चाहिये

सौवर्चलादि चूर्ण–सौवर्चल नमक, हरीतकी, धात्री (आँवला), पिप्पली, यवक्षार एवं शुण्ठी (सोंठ); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन घृत के साथ वातकफज कास के रोगी को करना चाहिये। अर्थात् घृत के साथ इस चूर्ण के सेवन से वातकफज कास नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणि–'मधुहिङ्गुयुतमिति' से यहाँ 'माक्षिकं हिङ्गुसिन्धूत्थ' इत्यादि वचन के अनुसार कट्फलादि योग में हींग व मधु का प्रक्षेप डालकर पीना चाहिये। यह योग वातकफज कास को दूर करता है।

तेनैव विधिनेति उष्णोदकेन हिङ्गुसैन्यवोपेतं पिबेदित्यर्थः–उसी विधि द्वारा निर्मित योग, अर्थात् नागरादि योग का कल्क बनाकर उसे उष्ण जल में घोलकर उसमें हींग व सैन्धव नमक मिलाकर पीना चाहिये।

सुरसस्यासितस्य कृष्णपर्णाशस्य मधुना लेहानिति अत्रार्धश्लोकोक्ता लेहा ज्ञेयाः–कृष्ण पर्णाश (काली तुलसी) (श्लोक नं. ११७) कासमर्द आदि द्रव्यों के स्वरस में मधु मिलाकर चाटना चाहिए। मधुना लेहानिति– आधे-आधे श्लोक में पठित योगों में मधु मिलाकर चाटना चाहिये।

जल्पकल्पतरु टीका–असितस्य सुरसस्य कृष्णतुलसीपत्रस्य च रसो मधुयुतः कफकासहरः – काली तुलसीपत्र स्वरस में मधु मिलाकर सेवन करने से कफज कास दूर होता है। अर्थात् यह योग कफज कास नाशक है।

दशमूलाढके प्रस्थं घृतस्याक्षसमैः पचेत्। पुष्कराह्वशटीबिल्वसुरसव्योषहिङ्गुभिः ।।१२३।।
पेयानुपानं तत् पेयं कासे वातकफात्मके। श्वासरोगेषु सर्वेषु कफवातात्मकेषु च ।।१२४।।
इति दशमूलादिघृतम्।

Scanned by CamScanner

दशमूलादि घृत (Daśamūlādi-Ghṛita)

घटक द्रव्य-	दशमूल का क्वाथ	-	१ आढक,
	गोघृत	-	१ प्रस्थ,
	पुष्करमूल, शटी (कचूर), बिल्व, तुलसी की पत्ती, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, हींग; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) लेकर कल्क बना लें।		८ कर्ष (तोला)

निर्माण विधि–सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें।

इस सिद्ध घृत का प्रयोग वातकफज कास रोग में पेयादि के निर्माण एवं अनुपान के रूप में करना चाहिये। विशेष रूप से यह घृत सभी प्रकार के वातकफज श्वास में उपयोगी है।

चक्रपाणि–'दशमूलाढके इति'-दशमूल के द्रव्य- १ आढ़क लेकर ४ आढ़क जल में पकावें चतुर्थांश शेष रखें। इस प्रकार बने हुए क्वाथ (Decoction) की मात्रा- १ आढक होती है। "क्वाथः क्वाथ्यसमो मतः" वचन से क्वाथ का भी मान १ आढक होता है। ॥१२३-१२४॥

समूलफलपत्राया: कण्टकार्या रसाढके। घृतप्रस्थं बलाव्योषविडङ्गशटिचित्रकैः ॥१२५॥
सौवर्चलयवक्षारपिप्पलीमूलपौष्करैः। वृश्चीरबृहतीपथ्यायवानीदाडिमर्धिभिः ॥१२६॥
द्राक्षापुनर्नवाचव्यदुरालम्भाम्लवेतसैः। शृङ्गीतामलकीभार्गीरास्नागोक्षुरकैः पचेत् ॥१२७॥
कल्कैस्तत् सर्वकासेषु हिक्काश्वासेषु शस्यते। कण्टकारीघृतं ह्येतत् कफव्याधिनिसूदनम् ॥१२८॥
इति कण्टकारीघृतम्।

कुलत्थरसयुक्तं वा पञ्चकोलशृतं घृतम्। पाययेत् कफजे कासे हिक्काश्वासे च शस्यते ॥१२९॥
इति कुलत्थादिघृतम्।

कण्टकारीघृत–कण्टकारी (भटकटैया) का मूल, फल व पत्ती द्वारा निर्मित क्वाथ (Decoction)- १ आढ़क, घृत- १ प्रस्थ, बला, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, वायविडङ्ग, शटी (कचूर), चित्रक, सौवर्चल नमक, यवक्षार, पिप्पलीमूल, पुष्करमूल, वृश्चीर (रक्तपुनर्नवा), चव्य, दुरालभा, अम्लवेतस, काकड़ासिङ्गी, वृहती (वनभण्टा), हरीतकी, अजवाइन, दाडिम, ऋद्धि, द्राक्षा, तामलकी (भूई आँवला), भार्गी, रास्ना व गोखरू; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोले) लेकर कल्क बना लें। अब क्वाथ, कल्क व घृत को एक लोहे के पात्र में लेकर मन्दाग्नि पर घृत को सिद्ध करें। घृत के सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर कुछ ठण्डा कर लें, पश्चात् घृत को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर चौड़े मुह के कांच की शीशियों में भरकर सुरक्षित रख लें।

यह घृत सभी प्रकार के कास, श्वास व हिक्का में अत्यन्त उपयोगी है। इस कण्टकारीघृत के सेवन से सभी प्रकार की कफज व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

कुलत्थादि घृत–कुलथी के रस (कुलथी के क्वाथ) एवं पञ्चकोल क्वाथ द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma) एवं कफज कास (Cough) रोग में करना हितकर होता हैं।

[Ghee cooked with the decoction of Kulattha and Pañcakola is useful in kaphaja Kāsa, Hiccup and Asthma.- Baidya Bhagvan das]

चक्रपाणि–कण्टकारीघृत के निर्माण हेतु वलादि द्रव्यों के कल्क की मात्रा मिलित रूप में १ कुड़व लेनी चाहिये। ॥१२५-१२९॥

जल्पकल्पतरु टीका–'कुलत्थेत्यादि' के द्वारा कुलत्थादि घृत का अभिधान किया गया है। पाठ भेद से- "कुलत्थरससंयुक्तं पञ्चमूलशृतं घृतम्" प्राप्त होता है। इस आधार पर कल्क हेतु पञ्चमूल के द्रव्य, स्नेह का १/४ भाग ग्रहण करते हैं, अर्थात् स्नेह (गोघृत)- १ भाग, कल्क- १/४ भाग, कुलथी का क्वाथ- ४ भाग, लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करते हैं। इस सिद्ध घृत का प्रयोग सभी प्रकार के कासों में करना चाहिये।

धूमांस्तानेव दद्याच्च ये प्रोक्ता वातकासिनाम्। कोशातकीफलान्मध्यं पिबेद्वा समनःशिलम् ॥१३०॥

धूमपान का प्रयोग–वातज कास की चिकित्सा में जिन धूमों का निर्देश दिया गया है उन्हीं का प्रयोग यहाँ भी (कफज कास की चिकित्सा में) करना चाहिये। अथवा कोशातकी फल का मध्य भाग (बीज सहित फल का खुज्झा) व मैनशिल को मिलाकर धूमपान करना चाहिए।

चक्रपाणि–कोशातकी=घोषक।

Scanned by CamScanner

निशेष (Comments)–"ज्योत्स्निकायां च घोषे च कोशातकी" अमरकोष (कोशातकी से चिचिण्ढा (चिचिढ़ा), एवं तरोई दो अर्थ होते हैं।)

सुश्रुतसंहिता के क्षार प्रकरण में चार प्रकार के कोशातकी का उल्लेख किया गया है। इस पर आचार्य डल्हण के विचार चिन्तनीय हैं, यथा-कोशातकी घोषकः, सा चतुर्विधा बृहत्फला, अल्पफला, पीतपुष्पा श्वेतपुष्पा इति। अर्थात् कोशातकी ४ प्रकार की होती है- १. बड़े फल वाली, २. छोटे फल वाली, ३. पीले पुष्प वाली, ४. श्वेत पुष्प वाली।

तमकः कफकासे तु स्याच्चेत् पित्तानुबन्धजः। पित्तकासक्रियां तत्र यथावस्थं प्रयोजयेत् ।।१३१।।
वाते कफानुबन्धे तु कुर्यात् कफहरीं क्रियाम्। पित्तानुबन्धयोर्वातकफयोः पित्तनाशिनीम् ।।१३२।।
आर्द्रे विरूक्षणं, शुष्के स्निग्धं, वातकफात्मके। कासेऽन्नपानं कफजे सपित्ते तिक्तसंयुतम् ।।१३३।।
इति कफजकासचिकित्सा।

→ यदि कफज कास में पित्त का अनुबन्ध होकर तमकश्वास उत्पन्न हो जाय तब अवस्था का विचार करते हुए पित्तकास की चिकित्सा विधि को अपनाना चाहिये।

→ वातज कास में कफ का अनुबन्ध होने पर कफनाशक उपक्रम को अपनाना चाहिए।

→ वातकफ जन्य कास में पित्त का अनुबन्ध होने पर पित्तहर (पित्तघ्न) चिकित्सा करनी चाहिये।

→ यदि वातकफज कास में आर्द्र कफ निकल रहा हो तो उस समय रूक्ष औषध, अन्न एवं पान का प्रयोग करें, यदि शुष्क खाँसी हो अथवा सूखी खाँसी आती हो, कफ नहीं निकल रहा हो तब उस स्थिति में स्निग्ध अन्न-पान की योजना करनी चाहिये।

→ यदि कफज कास में पित्त का अनुबन्ध होने पर तिक्त द्रव्यों से संस्कारित अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणि–तमकः कासोपद्रवरूपः-कास के उपद्रव रूप में तमकश्वास के उत्पन्न होने पर अवस्थानुसार (यथावश्यक) पित्तज कास की चिकित्सा करनी चाहिये। यहाँ कफज कास में पित्त के अनुबन्ध से तमक श्वास की उत्पत्ति होती है, यह बताया गया है।

कफोऽनुबन्धोऽस्येति कफानुबन्धः, तस्मिन् कफानुबन्धे पवने–इसके साथ कफ का अनुबन्ध (प्रधान रूप से सम्बन्ध) होना, अर्थात् वातज कास में प्रधान रूप से कफ प्रकुपित होने पर कफनाशक उपक्रम (चिकित्सा) करना चाहिये।

'पित्तानुबन्धयोरिति' से यहाँ वातकफज कास में पित्त की प्रधानता का होना अर्थ गृहीत है, अर्थात् प्रधान रूप से पित्त के लक्षण मिलते हों तब वहाँ पित्तनाशक उपक्रम विशेष रूप से अपनाना चाहिये।

आर्द्र से यहाँ तनु (dilute) कफ अर्थ लिया गया है। [यदि वातकफज कास में खाँसने पर पतला (गीला) कफ निकलता हो तब रोगी को रूक्ष अन्न-पान का सेवन कराना चाहिये।] ।।१३१-१३३।।

कासमात्ययिकं मत्वा क्षतजं त्वरया जयेत्। मधुरैर्जीवनीयैश्च बलमांसविवर्धनैः ।।१३४।।
पिप्पली मधुकं पिष्टं कार्षिकं ससितोपलम्। प्रास्थिकं गव्यमाजं च क्षीरमिक्षुरसस्तथा ।।१३५।।
यवगोधूममृद्वीकाचूर्णमामलकाद्रसः। तैलं च प्रसृतांशानि तत् सर्वं मृदुनाऽग्निना ।।१३६।।
पचेल्लेहं घृतक्षौद्रयुक्तः स क्षतकासहा। श्वासहृद्रोगकार्श्येषु हितो वृद्धेऽल्परेतसि ।।१३७।।

क्षतज कास की चिकित्सा (Treatment of Kshataja Kāsa)–क्षतज कास को आत्ययिक (Emergency) स्वीकार करते हुए इसकी चिकित्सा मधुर व जीवनीय गण की औषधियों जो बल व मांस को बढ़ाने वाली हैं, के द्वारा शीघ्रतापूर्वक करनी चाहिये।

पिप्पल्यादि लेह–पिप्पली, यष्टीमधु (मुलेठी) एवं मिश्री-प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) लेकर कल्क बना लें, गोदुग्ध- १ प्रस्थ, बकरी का दुग्ध- १ प्रस्थ, इक्षुरस- १ प्रस्थ, यवचूर्ण- १ प्रसृत, गेहूँ का चूर्ण- १ प्रसृत, मृद्वीका चूर्ण- १ प्रसृत, आँवले का रस- १ प्रसृत, तिल तैल- १ प्रसृत। सभी द्रव्यों को एक लौह पात्र में लेकर मृदु अग्नि पर पाक करें, पकते-पकते जब यह अवलेह जैसा हो जाय तब इसे अग्नि पर से उतार कर, ठण्ढा कर लें। बाद में इसमें मधु व घृत मिलाकर सुरक्षित रख लें। इस अवलेह के सेवन से क्षतज कास दूर हो जाता है। साथ ही साथ यह योग श्वास (Asthma), हृद्रोग (Heart diseases), कृशता (कार्श्य) [Emaciation] एवं अल्प शुक्रता को भी दूर करता है।

चक्रपाणि–'कासमित्यादि' के द्वारा क्षतज कास की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **पिप्पल्यादिके लेहे यवादयस्तैलान्ताः प्रत्येकं प्रसृतमानाः**-पिप्पल्यादि लेह में यव से लेकर तैल तक के प्रत्येक द्रव्य का मान १-१ प्रसृत ग्रहण करने का विधान है। ।।१३४-१३७।।

क्षतकासाभिभूतानां वृत्तिः स्यात् पित्तकासिकी। क्षीरसर्पिर्मधुप्राया संसर्गे तु विशेषणम् ।।१३८।।
वातपित्तार्दितेऽभ्यङ्गो गात्रभेदे घृतैर्हितः। तैलैर्मरुत्तरोगघ्नैः पीड्यमाने च वायुना ।।१३९।।

Scanned by CamScanner

हृत्पार्श्वर्तिषु पानं स्याज्जीवनीयस्य सर्पिषः । सदाहं कासिनो रक्तं ष्ठीवतः सबलेऽनले ।।१४०।।
मांसोचितेभ्यः क्षामेभ्यो लावादीनां रसा हिताः । तृष्णार्तानां पयश्छागं शरमूलादिभिः श्रृतम् ।।१४१।।
रक्ते स्रोतोघ्न आस्याद्वाऽप्यागते क्षीरजं घृतम् । नस्यं पानं यवागूर्वा श्रान्ते क्षामे हतानले ।।१४२।।
स्तम्भायामेषु महतीं मात्रां वा सर्पिषः पिबेत् । कुर्याद्वा वातरोगघ्नं पित्तरक्ताविरोधि यत् ।।१४३।।
निवृत्ते क्षतदोषे तु कफे वृद्धे उरः क्षते । दाल्यते कासिनो यस्य स धूमान्ना पिबेदिमान् ।।१४४।।
द्वे मेदे मधुकं द्वे च बले तैः क्षौमलक्तकैः । वर्तितैर्धूममापीय जीवनीयघृतं पिबेत् ।।१४५।।
मनःशिलापलाशाजगन्धात्वक्क्षीरिनागरैः । भावयित्वा पिबेत् क्षौममनु चेक्षुगुडोदकम् ।।१४६।।
पिष्ट्वा मनःशिलां तुल्यामार्द्रया वटशुङ्गया । ससर्पिष्कं पिबेद्धूमं तित्तिरिप्रतिभोजनम् ।।१४७।।
भावितं जीवनीयैर्वा कुलिङ्गाण्डरसायुतैः । क्षौमं धूमं पिबेत् क्षीरं श्रृतं चायोगुडैरनु ।।१४८।।

इति क्षतजकासचिकित्सा ।

क्षतज कास में पित्तनाशक चिकित्सा–क्षतज कास के रोगियों में विशेष रूप से पित्तज कास की चिकित्सा विधि को अपनाना चाहिये। इस हेतु प्रधान रूप से क्षीर, घृत एवं मधु का प्रयोग करना चाहिए। दो दोषों के संसर्ग में विशेष रूप से वातपित्तजन्य कास में रोगी के शरीर में यदि विशेष रूप से वेदना होती हो तब उसे घृत का अभ्यङ्ग कराना चाहिये, अर्थात् इस अवस्था में घृत का अभ्यङ्ग करना विशेष हितकारी होता है। यदि वात की वृद्धि के कारण शरीर में पीड़ा हो रही हो तब वातघ्न औषधियों से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये।

यदि रोगी क्षतज कास से पीड़ित हो, साथ ही उसके हृद्प्रदेश (Cardiac region) एवं पार्श्व (Side of the chest) में पीड़ा हो, यह पीड़ा दाह युक्त हो (Burning sensation), खाँसते समय रोगी रक्त का ष्ठीवन करता हो, अर्थात् खाँसते समय कफ के साथ रक्त आता हो (Hemoptysis) तथा रोगी की जाठराग्नि प्रबल हो, ऐसी अवस्था में रोगी को जीवनीय गण की औषधियों से साधित घृत का पान करना चाहिये।

जिन रोगियों को मांस सात्म्य है, अर्थात् जो मांस का भक्षण करते हैं एवं जो कृश हैं उन्हें लाव आदि पक्षियों के मांसरस का सेवन कराना चाहिये। अथवा क्षतज कास के वे रोगी जिन्हें बार-बार प्यास लगती हो, उन्हें तृणपञ्चमूल से साधित बकरी का दूध पिलाना चाहिये।

→ यदि क्षतज कास के रोगी के मुख से अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से रक्तस्राव (Bleeding) हो रहा हो तब उसे दूध से निकाले गये घृत का नस्य एवं पान कराना चाहिये।

→ यदि कास का रोगी अत्यन्त दुर्बल हो तथा बिना परिश्रम किये ही उसे थकावट महसूस होती है एवं उसकी जाठराग्नि अत्यन्त दुर्बल हो तब उसे आहार के रूप में यवागू का प्रयोग करना चाहिये।

→ यदि क्षतज कास के रोगी का शरीर स्तम्भ (Stiffness) एवं आयाम (Stretching) से युक्त हो तब उसे अत्यधिक मात्रा में घृत पिलाना चाहिये।

→ अथवा क्षतज कास के रोगी में वातनाशक एवं पित्त व रक्त को प्रकुपित न करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् यहाँ वह चिकित्सा करनी चाहिए जो वातनाशक हो, लेकिन पित्त व रक्त का प्रकोप न करे।

→ क्षतदोष के निवृत हो जाने पर यदि रोगी के उरःप्रदेश (छाती) में कफ की वृद्धि हो जाय, उस अवस्था में खाँसने पर रोगी को क्षत के स्थान पर फाड़ने जैसी पीड़ा होती है तब आतुर को निर्दिष्ट धूमों का पान कराना चाहिए। अर्थात् क्षत दोष के दूर हो जाने पर कफ वृद्धि में धूमपान की योजना करनी चाहिये।

धूमवर्ति का निर्माण–दोनों प्रकार के मेदा (मेदा, महामेदा), यष्टीमधु (मुलेठी), दोनों प्रकार की बला (बला, महाबला); इन चार द्रव्यों को महीन पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क को क्षौमवस्त्र (रेशम के कपड़े) में लपेटकर वर्ति बनाकर सूखा लें। इस वर्ति को घृत से स्नेहित करके चिलम पर रखकर पीना चाहिये। धूमपान करने के बाद रोगी को जीवनीय गण के औषधियों से साधित घृत का पान करना चाहिये।

मनःशिलादि धूम–मनःशिला (शुद्ध मैनशिल), पलाश, अजगन्धा (अजमोदा), त्वग्क्षीरी एवं सोंठ; सभी द्रव्यों को पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क को क्षौम वस्त्र में लपेटकर वर्ति बना लें एवं सुखा लें। इस सूखी वर्ति को घृत से आप्लावित कर चिलम पर रखकर पीवें। धूमपान के पश्चात् रोगी को ईख का रस अथवा गुड़ का शर्बत पीना चाहिये।

मनः शिला एवं आर्द्र वटशुङ्ग को एक साथ पीसकर उसमें घृत मिलाकर धूमपान करें। धूमपान के पश्चात् तीतर के मांसरस का सेवन हितकर अन्न के साथ करें।

गौरैया के अण्डे के रस को जीवनीय गण की औषधियों से भावित करें अर्थात् जीवनीय गण की औषधियों को अण्डे के रस में मिलाकर कल्क बना लें इस कल्क की क्षौमवस्त्र पर लपेट कर वर्ति बना लें। इस वर्ति को घृत से आप्लावित कर धूमपान करें। धूमपान के पश्चात् लोहे के गोले को तप्त कर गोदुग्ध में बुझाकर, दूध का पान करें।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–वृत्तिरिति=चिकित्सा, अर्थात् क्षतज कास की चिकित्सा पित्तज कास के समान करनी चाहिये ।

संसर्गे त्विति वातपित्तादिसंसर्गे-वातपित्तादि के संसर्ग में । [संसर्ग से यहाँ दो दोषों के संयोग का ग्रहण किया गया है, यथा-वातपित्त, पित्तकफ एवं वातकफ ।] **विशेषणमिति**-संसर्ग की अवस्था में चिकित्सा भी विशेष हो जाती है, इसका उल्लेख 'वातपित्तार्दित' इत्यादि के द्वारा बताया गया है, ऐसा जानना चाहिये । वातपित्तार्दित इत्यादि के द्वारा क्षतज कास की ही अवस्था विशेष की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । जीवनीय घृत का वर्णन वातरक्त चिकित्सा (च.चि.अ. २९) प्रकरण में किया गया है । **महतीं मात्रामिति**-स्नेह की जो मात्रा अहोरात्रि (२४ घण्टे) में जीर्ण हो जाती है, महती मात्रा कहलाती है । यह मात्रा प्रायः अष्टपल (८ पल) प्रमाण की होती है ।

निवृत्ते क्षतदोषे इति–क्षतव्रण के शान्त हो जाने पर या क्षतव्रण चिकित्सा द्वारा जब ठीक हो जाय तब कफ की वृद्धि में धूमपान कराना चाहिये । क्षौमलक्तकैर्वर्तितैरिति-निर्दिष्ट औषधियों का कल्क बनाकर क्षौम वस्त्र पर लेपकर वर्ति बनाकर सुखा लें । इस क्षौम भावित वर्ति को स्नेह (घृत) से लिप्त कर चिलम पर रखकर धूमपान करना चाहिये ।

तित्तिरप्रतिभोजनमिति–अनुपान के रूप में तीतर के मांसरस का सेवन करें । **क्षौमं धूमं पिबेदिति**-क्षौमवर्ति को जलाकर धूम का पान करें । अयोगुडैरिति-लौह गुड से साधित क्षीर का पान करें । ॥१३८-१४८॥

विशेष (Comments)–मनःशिलादि धूमवर्ति के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली मैनशिल की मात्रा अत्यल्प होनी चाहिये, न कि घटक द्रव्यों के बराबर मात्रा में । ऐसा करने पर धूमपान करने से पित्तादि प्रकोप की ज्यादा संभावना होती है ।

संपूर्णरूपं क्षयजं दुर्बलस्य विवर्जयेत् । नवोत्थितं बलवतः प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ।।१४९।।
तस्मै बृंहणमेवादौ कुर्यादग्रेश्च दीपनम् । बहुदोषाय सस्नेह मृदु दद्याद्विरेचनम् ।।१५०।।
श्यामाकेन त्रिवृतया मृद्वीकारसयुक्तया । तिल्वकस्य कषायेण विदारीस्वरसेन च ।।१५१।।
सर्पिः सिद्धं पिबेद्युक्त्या क्षीणदेहो विशोधनम् । (हितं तद्देहबलयोरस्य संरक्षणं मतम् ।।१५२।।)
पित्ते कफे च संक्षीणे परिक्षीणेषु धातुषु । घृतं कर्कटकीक्षीरद्विबलासाधितं पिबेत् ।।१५३।।
विदारीभिः कदम्बैर्वा तालसस्यैस्तथा शृतम् । घृतं पयश्च मूत्रस्य वैवर्ण्ये कृच्छ्रनिर्गमे ।।१५४।।
शूने सवेदने मेढ्रे पायौ सश्रोणिवंक्षणे । घृतमण्डेन मधुनाऽनुवास्यो मिश्रकेण वा ।।१५५।।
जाङ्गलैः प्रतिभुक्तस्य वर्तकाद्या बिलेशयाः । क्रमशः प्रसहाश्चैव प्रयोज्याः पिशिताशिनः ।।१५६।।
औष्ण्यात् प्रमाथिभावाच्च स्रोतोभ्यश्चयवयन्ति ते । कफं, शुद्धैश्च तैः पुष्टिं कुर्यात्सम्यग्वहन्नसः ।।१५७।।

क्षयज कास की चिकित्सा (Treatment of Kshayaja Kāsa)

यदि रोगी दुर्बल हो तथा उसमें क्षतज कास के सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हों, तब ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । यदि व्याधि नयी हो, अर्थात् शीघ्र उत्पन्न हुई हो, रोगी बली हो ऐसी स्थिति में यह बताकर चिकित्सा करनी चाहिए कि व्याधि असाध्य है । अर्थात् रोगी के घर वालों को यह बताकर चिकित्सा करनी चाहिए कि मैं मात्र प्रयास कर रहा हूँ, इसमें कुछ कहा नहीं जा सकता ।

→ नवीन क्षयज कास में सर्वप्रथम बृंहण एवं अग्निदीपक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । यदि दोष अत्यधिक बढ़े हुए हों तब आतुर का स्नेहन करने के बाद मृदु विरेचक योगों का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् मृदु विरेचन कराना चाहिए ।

→ क्षयज कास के रोगी में मृदु विरेचन हेतु-अमलतास के फल की गुद्दी, त्रिवृत् चूर्ण, मृद्वीका स्वरस, तिल्वक क्वाथ तथा विदारीकन्द स्वरस के द्वारा गोघृत को विधिपूर्वक सिद्ध करके क्षीण देह वाले रोगी का शोधन कराना चाहिये । अर्थात् विरेचक औषधियों द्वारा साधित घृत का पान कराकर विरेचन कराना चाहिये । (इस प्रक्रिया द्वारा रोगी के देह बल की रक्षा भी होती है तथा दोषों का सम्यक्तया निर्हरण भी होता है ।

→ क्षयज कास के रोगी में यदि पित्त व कफ का क्षय हो एवं रसादि धातुएं भी अत्यन्त क्षीण हो गयी हों, तब इस अवस्था में काकड़ासिंगी गोदुग्ध, बला एवं महाबला के कल्क से साधित घृत का पान करना चाहिये ।

→ क्षयज कासी के मूत्र में विवर्णता हो अर्थात् रोगी के मूत्र का रंग सामान्य न हो, अथवा कष्ट के साथ मूत्र त्याग करता हो, तब उसे विदारीकन्द अथवा कदम्ब की छाल अथवा ताड़ के बाल का क्वाथ (Decoction) एवं कल्क (Paste) से सिद्ध घृत या गोदुग्ध का पान करना चाहिये ।

→ क्षयज कास में अनुवासन बस्ति का प्रयोग–यदि रोगी के मेढ्र (Penis-मूत्रेन्द्रिय), पायु (Anus गुदा), श्रोणि (Hip and loins) एवं वंक्षण (The groin, Pubic and Iliac regions or thigh-joints) में शोथ एवं वेदना हो तब घृतमण्ड (घृत के ऊपर का भाग) एवं मधु मिलाकर अथवा मिश्रक स्नेह (तिलतैल+घृत) की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये । अनुवासन बस्ति देने के बाद क्षयज कास के रोगी को भोजनार्थ जाङ्गल पशु-पक्षियों (वर्तकादि), बिल में रहने वाले प्राणी-शशक आदि तथा प्रसह (जो प्राणी

Scanned by CamScanner

अपना भोजन दूसरे से छीन कर खाते हैं, यथा-बाज, चील) के मांस का सेवन अथवा मांसरस के साथ साठी एवं शाली चावल के भात को खाना चाहिये। इन पशु-पक्षियों का मांस उष्ण एवं प्रमाथी होने से स्रोतों में जमे हुये कफ को बाहर निकाल देता है, जिसके कारण स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं। परिणामतः आहार का सम्यक् पाचन होकर रसादि धातुओं की पुष्टि होती है।

चक्रपाणि–प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियामित्यनेन-प्रत्याख्येय का निर्देश करके चिकित्सा करना, क्षयज कास में यदि शास्त्र वर्णित सभी लक्षण रोगी में मिलते हैं तो रोगी असाध्य ही होता है, इसकी चिकित्सा करने पर कभी-कभी ही सिद्धि मिलती है, यह अभिप्राय है।

शम्पाकः आरग्वधः-शम्पाक से यहाँ आरग्वध (अमलतास) अर्थ गृहीत है। कर्कटकी=काकड़ासिंगी। तालशस्यम=ताड़ का फल। **घृतमण्डो घृतोपरिस्त्यानभागः**-घृत के ऊपर का गाढ़ा भाग (The Scum of Melted butter)

जाङ्गल (धन्व क्षेत्र=जहाँ वर्षा कम होती हो, मरुस्थलीय क्षेत्र) क्षेत्र में रहने वाले प्रसह आदि पशु-पक्षियों के मांस उष्ण एवं प्रमाथी (दोषों को क्षुब्ध करके स्रोतस् से बाहर निकालने वाले द्रव्यों को प्रमाथी कहते हैं, यथा-विष) गुण के कारण स्रोतस् में चिपके हुए कफ को बाहर निकाल कर स्रोतोवरोध को दूर कर देते हैं। परिणामतः स्रोतसों के शुद्ध हो जाने पर रसादि धातुओं का अभिवहन सम्यक् होने लगता है। ॥१४९-१५७॥

विशेष (Comments)—अनुवासन बस्ति के पश्चात् रोगी को सर्वप्रथम जाङ्गल पशु-पक्षियों, यथा-शशक आदि के मांसरस के साथ साठी एवं शाली चावल का भात खिलाना चाहिये। बाद में विलेशय एवं प्रसह प्राणियों के मांस का सेवन करावें। प्रमाथी का अर्थ व्यवायी लिया गया है। व्यवायी द्रव्य सेवन करने पर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर बाद में पाक को प्राप्त होते हैं। अर्थात् इन द्रव्यों का शरीर में शोषण पहले होता है, पाचन (पक्व) बाद में होता है।

द्विपञ्चमूलीत्रिफलाचविकाभार्गिचित्रकैः । कुलत्थपिप्पलीमूलपाठाकोलयवैर्जले ॥१५८॥
शृतैर्नागरदुःस्पर्शापिप्पलीशटिपौष्करैः । कल्कैः कर्कटशृङ्ग्या च समैः सर्पिर्विपाचयेत् ॥१५९॥
सिद्धेऽस्मिंश्चूर्णितौ क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च । दत्त्वा युक्त्या पिबेन्मात्रां क्षयकासनिपीडितः ॥१६०॥
इति द्विपञ्चमूलादिघृतम् ।

द्विपञ्चमूलादि घृत–दोनों प्रकार के पञ्चमूल (बृहत्-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, लघु-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोक्षरू), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), चविका (चव्य=चाभ), भारङ्गी, चित्रक, कुलथी, पिप्पलीमूल, पाठा, कोल (खट्टी बेर) एवं यव; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ (Decoction) बना लें। शुण्ठी (सोंठ), दुःस्पर्शा, पिप्पली, शटी (कचूर), पुष्करमूल एवं काकड़ासिंगी-प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। अब इस क्वाथ व कल्क द्वारा गोघृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। घृत के सम्यक् सिद्ध होने पर छानकर अलग कर लें। अब इस सिद्ध घृत में यवक्षार, सज्जीक्षार तथा पाँचों प्रकार के नमक (सैन्धव नमक, सौवर्चल नमक, विड नमक, समुद्र नमक एवं औद्भिद नमक) का प्रक्षेप युक्तिपूर्वक मिलाकर क्षयज कास के रोगी को मात्रापूर्वक पीने के लिए दें।

चक्रपाणि–द्विपञ्चमूलीत्यादौ क्षारलवणानां च युक्त्या दानवचनेन स्तोकमात्रं दानं लवणीकरणप्रयोजनार्थम्-द्विपञ्चमूलादि घृत में लवणादि द्रव्यों का प्रक्षेप युक्तिपूर्वक मिलाना चाहिए। यहाँ युक्तिपूर्वक का अभिप्राय-अल्पमात्रा से है जिसके कारण घृत का स्वाद कुछ लवणरस युक्त हो जाय; से है। ॥१५८-१६०॥

विशेष (Comments)—'द्विपञ्चमूलीत्यादि' से द्विपञ्चमूलादि घृत का वर्णन किया गया है। द्विपञ्चमूली से लेकर यव तक के द्रव्यों का क्वाथ बनावें। इस क्वाथ की मात्रा घृत की मात्रा का ४ गुना होना चाहिए। कल्क स्नेह से चतुर्थांश होना चाहिए। इस प्रकार गोघृत-१ भाग, कल्क द्रव्य- १/४ भाग, क्वाथ-४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। सिद्ध घृत को एक महीन कपड़े से छानकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें तथा इसमें अल्प मात्रा में दोनों प्रकार के क्षार व पाँचों प्रकार के नमक चूर्ण करके मिला दें, ताकि घृत का स्वाद कुछ लवण रस युक्त हो जाय।

गुडूचीं पिप्पलीं मूर्वां हरिद्रां श्रेयसीं वचाम् । निदिग्धिकां कासमर्दं पाठां चित्रकनागरम् ॥१६१॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा पादशेषेण तत्समम् । सिद्धं सर्पिः पिबेद्गुल्मश्वासार्तिक्षयकासनुत् ॥१६२॥
इति गुडूच्यादिघृतम् ।

गुडूच्यादिघृत–गिलोय (गुडूची), पिप्पली, मूर्वा, हरिद्रा (हल्दी), श्रेयसी (रास्ना), वचा, निदिग्धिका (कण्टकारी= भटकटैया), कासमर्द (कसौंदी), पाठा, चित्रकमूल एवं सोंठ (शुण्ठी); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। अब इसमें ४ गुना जल डालकर मध्यमाग्नि पर पकावें। चतुर्थांश जल शेष बचने पर क्वाथ को छान कर पृथक् कर लें। इस क्वाथ से १ प्रस्थ गोघृत को सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत के सेवन करने से गुल्म (Phantom tumour), श्वास (Asthma) एवं क्षयज कास दूर हो जाते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–श्रेयसी=रास्ना । **तत्सममिति**=क्वाथ के बराबर मात्रा, अर्थात् क्वाथ (Decoction) एवं घृत बराबर मात्रा में लेना चाहिए। [यहाँ क्वाथ के बराबर मात्रा में गोघृत को लेकर सिद्ध करना बताया गया है ।]

विशेष (Comments)–सामान्य परिभाषा के अनुसार जहाँ मात्रा का निर्देश नहीं होता वहाँ स्नेह के चतुर्गुण क्वाथ लेना चाहिए, जबकि यहाँ मात्रा का निर्देश है । अतः यहाँ सामान्य परिभाषा के सिद्धान्त लागू नहीं होंगे । अतः यहाँ क्वाथ व स्नेह दोनों तुल्य मात्रा में ही लेना चाहिए। लेकिन जहाँ क्वाथ से ही स्नेह को सिद्ध करना बताया गया हो, वहाँ क्वाथ्य द्रव्य का कल्क भी देकर स्नेह सिद्ध किया जाता है, यथा-"क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रेरितः क्वचित् । क्वाथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते" (शा.सं.म.ख. ९/१०) इति । अतः यहाँ गुडूच्यादि द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में करना चाहिए ।

यदि समं का अर्थ 'साथ में' हो तब क्वाथ- ४ भाग, कल्क-१/४ भाग, स्नेह- १ भाग लेकर सिद्ध करें । यह भी अर्थ ग्रहण किया जा सकता है । यहाँ सामान्य परिभाषा के नियम लागू होंगे ।

कासमर्दाभयामुस्तपाठाकट्फलनागरैः । पिप्पलीकटुकाद्राक्षाकाश्मर्यसुरसैस्तथा ।।१६३।।
अक्षमात्रैर्घृतप्रस्थं क्षीरद्राक्षारसाढके । पचेच्छोषज्वरप्लीहसर्वकासहरं शिवम् ।।१६४।।
धात्रीफलैः क्षीरसिद्धैः सर्पिर्वाऽप्यवचूर्णितम् । द्विगुणे दाडिमरसे विपक्वं व्योषसंयुतम् ।।१६५।।
पिबेदुपरि भक्तस्य यवक्षारघृतं नरः । पिप्पलीगुडसिद्धं वा च्छागक्षीरयुतं घृतम् ।।१६६।।
एतान्यग्निविवृद्ध्यर्थं सर्पींषि क्षयकासिनाम् । स्युर्दोषबद्धकोष्ठोरःस्रोतसां च विशुद्धये ।।१६७।।

१. कासमर्द (कसौंदी), अभया (हरीतकी), मुस्तक (नागरमोथा), पाठा, कट्फल (कायफल), सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, कुटकी, द्राक्षा, (मुनक्का), काश्मर्य (गम्भारी की छाल) तथा तुलसी; प्रत्येक द्रव्य १-१ अक्ष (तोला) लेकर कल्क (Paste) बना लें, गोदुग्ध- १ आढक, द्राक्षा (मुनक्के) का रस [Grape juice]- १ आढक, गोघृत- १ प्रस्थ । सभी द्रव्यों को एक पात्र में मिलाकर विधिपूर्वक गोघृत सिद्ध करें । यह सिद्ध घृत शोष (Consumption), ज्वर (Fever), प्लीहा रोग (Splenic diseases) एवं सभी प्रकार के कास रोगों को नष्ट करता है ।

२. आँवले को गोदुग्ध में पकाकर स्विन्न कर लें । इस स्विन्न आँवले को सूखा कर चूर्ण बना लें । इस आमलकी चूर्ण को खाकर घृत का पान करें ।

३. गोघृत से दूनी मात्रा में दाडिम का स्वरस लें । इस स्वरस से गोघृत सिद्ध करें । इस घृत में व्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) चूर्ण मिलाकर सेवन करें । इस घृत का सेवन भोजन के बाद करना चाहिये अथवा इस घृत में यवक्षार मिलाकर सेवन करना चाहिये ।

४. पिप्पली व गुड़ का कल्क, बकरी का दूध एवं गोघृत को आपस में पकाकर सिद्ध कर लें । अर्थात् गोघृत को पिप्पली व गुड़ के कल्क, बकरी के दूध में विधिवत पकाकर सिद्ध कर लें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग रोगी को करना चाहिए ।

ये सभी घृत अग्नि को बढ़ाने वाले अर्थात् जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाले, क्षयज कास नाशक, जिन रोगियों के कोष्ठ एवं उरःप्रदेश के स्रोतस् दोषों से आबद्ध हो गये हैं, उनको शुद्ध कर देते हैं । अर्थात् घृत के सेवन से यह अवरुद्धता दूर हो जाती है ।

चक्रपाणि–क्षीरसिद्धैरिति-क्षीर के द्वारा सिद्ध धात्रीफल अथवा दूध में पकाया गया आँवला, इसे सूखाकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण के सेवन के बाद अनुपान के रूप में घृत का पान करें ।

यवक्षारसाधितं घृतं यवक्षारघृतम्–यवक्षार द्वारा सिद्ध किया गया घृत यवक्षार घृत कहलाता है । ।।१६३-१६७।।

विशेष (Comments)–'धात्रीत्यादि' के द्वारा धात्रीफल चूर्ण की उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है । आँवले के फल को गोदुग्ध में उचित रूप स पकाकर उसकी गुठली निकाल लें । पिष्टी को सुखाकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण के साथ चार गुनी मात्रा में घृत का सेवन करें अथवा चूर्ण- ३-६ ग्राम लेकर उसमें १२-२४ ग्राम घृत मिलाकर सेवन करें ।

पादिकव्योषेण कल्केन द्विगुणे दाडिमरसे सिद्धं वा सर्पिः पिबेत्-शुण्ठी, कालीमिर्च व पिप्पली; समभाग लेकर कल्क बना लें, कल्क की संयुक्त मात्रा-१/४ भाग, दाडिम स्वरस-२ भाग, गोघृत- १ भाग । इन द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । भोजन के बाद इस घृत का पान करें । अथवा गोघृत- १ भाग, यवक्षार कल्क- १/८ भाग, जल- ४ भाग लेकर घृत सिद्ध करें । इस यवक्षार साधित घृत का सेवन भोजन के बाद करें ।

हरीतकीर्यवक्वाथद्व्याढके विंशतिं पचेत् । स्विन्ना मृदित्वा तास्तस्मिन् पुराणं गुडषट्पलम् ।।१६८।।
दद्यान्मनःशिलाकर्षं कर्षार्धं च रसाञ्जनात् । कुडवार्धं च पिप्पल्याःस लेहः श्वासकासनुत् ।।१६९।।
इति हरीतकीलेहः ।

श्वाविधः सूचयो दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः । श्वासकासहरा बर्हिपादौ वा क्षौद्र सर्पिषा ।।१७०।।
एरण्डपत्रक्षारं वा व्योषतैलगुडान्वितम् । लिह्यादेतेन विधिना सुरसैरण्डपत्रजम् ।।१७१।।

Scanned by CamScanner

द्राक्षापद्मकवार्ताकिपिप्पलीः क्षौद्रसर्पिषा । लिह्यात्त्रयूषणचूर्णं वा पुराणगुडसर्पिषा ।।१७२।।
चित्रकं त्रिफलाजाजी कर्कटाख्या कटुत्रिकम् । द्राक्षां च क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लिह्यादद्याद्गुडेन वा ।।१७३।।
पद्मकं त्रिफलां व्योषं विडङ्गं सुरदारु च । बलां रास्नां च तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।।१७४।।
सर्वैरेभिः समं चूर्णैः पृथक् क्षौद्रं घृतं सिताम् । त्रिमध्य लेहयेल्लेहं सर्वकासहरं शिवम् ।।१७५।।
जीवन्तीं मधुकं पाठां त्वक्क्षीरीं त्रिफलां शटीम् । मुस्तैले पद्मकं द्राक्षां द्वे बृहत्यौ वितुन्नकम् ।।१७६।।
सारिवां पौष्करं मूलं कर्कटाख्यां रसाञ्जनम् । पुनर्नवां लोहरजस्त्रायमाणां यवानिकाम् ।।१७७।।
भार्गीं तामलकीमृद्धिं विडङ्गं धन्वयासकम् । क्षारचित्रकचव्याम्लवेतसव्योषदारु च ।।१७८।।
चूर्णीकृत्य समांशानि लेहयेत् क्षौद्रसर्पिषा । चूर्णात्पाणितलं पञ्च कासानेतद् व्यपोहति ।।१७९।।

इति पद्मकादिलेहः ।

हरीतकीलेह–मध्यम प्रमाण की २० हरीतकी को लेकर दो आढक यव के क्वाथ में उबालें । जब हरीतकी अच्छी प्रकार से स्विन्न हो (पक) जाय तब इसे क्वाथ से निकालकर हरीतकी की गुठली निकालकर फेंक दें । गुद्दे को अच्छी तरह से गसलकर महीन कपड़े से छान लें ताकि उससे रेशें पृथक् हो जाय । अब इस कल्क (हरीतकी कल्क) को क्वाथ में डालकर पकावें तथा उसमें पुराना गुड़ ६ पल, शुद्ध मनःशिला- १ कर्ष (१ तोला), रसाञ्जन- १/२ कर्ष, पिप्पली चूर्ण-१/२ कुडव डालकर अवलेह जैसा बना लें । इस हरीतकीलेह के मात्रापूर्वक सेवन करने से श्वास व कास रोग दूर हो जाते हैं, अर्थात् यह अवलेह श्वास-कास नाशक है ।

श्वास-कास नाशक अन्य योग–

→ शाही के कण्टक या मोर के पंख को शराब सम्पुट में रखकर जला लें (अथवा फूंक दें) । इसके भस्म (राख) को मधु, घृत एवं शर्करा मिलाकर चाटें । इसके सेवन से श्वास व कास रोग नष्ट हो जाते हैं ।

→ एरण्डपत्रक्षार में त्रिकटु चूर्ण, तिलतैल व गुड़ मिलाकर सेवन करें । इसी प्रकार तुलसीपत्र एवं एरण्डपत्र क्षार में त्रिकटु चूर्ण, गुड़ एवं तिलतैल मिलाकर सेवन करने से श्वास व कास रोग दूर हो जाते हैं ।

→ **द्राक्षादिलेह**– द्राक्षा, पद्मक, वार्ताक (वनभण्टा=बृहती), पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण में मधु व घृत मिलाकर चाटें ।

→ सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च एवं पिप्पली; के सम भाग से निर्मित चूर्ण में पुराना गुड़ व घृत मिलाकर चाटें या चाटना चाहिये ।

→ चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, जीरा, काकड़ासिंगी, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली व मुनक्का; प्रत्येक द्रव्य सम भाग में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को मधु व घृत के साथ श्वास व कास रोगी को चाटने के लिए देना चाहिये । अथवा इस चूर्ण का सेवन मात्र गुड़ के साथ करना चाहिए ।

→ **पद्मकादिलेह**–पद्मक (पद्मकाठ), हरड़, बहेड़ा, आँवला, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, विडङ्ग (वायविडङ्ग), सुरदारु (देवदारु), बला, रास्ना; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण के समान मात्रा (मिलित चूर्ण के बराबर मात्रा) में अलग-अलग मधु, घृत व शर्करा को मिलाकर आपस में मथकर अवलेह जैसा बना लें । यह अवलेह सभी प्रकार के कास रोगों को दूर करने में श्रेष्ठ है ।

→ **जीवन्त्यादिलेह**–जीवन्ती, मधुक (मुलेठी), पाठा, त्वग् क्षीरी (वंशलोचन), हरड़, बहेड़ा, आँवला, शटी (कचूर), नागरमोथा, एला, पद्मक, द्राक्षा, दोनों प्रकार की बृहती (छोटी कण्टकारी, बड़ी कण्टकारी), वितुन्नक (सुनिषण्णक), सारिवा (अनन्तमूलसारिवा), पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, रसवत (रसाञ्जन), पुनर्नवा, लोहरज (मण्डूर), त्रायमाणा, यवानिका (अजवाइन), भारङ्गी, तामलकी (भूई आँवला), ऋद्धि, विडङ्ग, धन्वयास (यवासा), यवक्षार, चित्रकमूल, चव्य, अम्लवेतस, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली एवं देवदारु; इन सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बनाकर आपस में मिश्रित कर लें । इस चूर्ण को १ पाणितल (१ तोला) मात्रा में लेकर मधु व घृत मिलाकर सेवन करें । यह जीवन्त्यादिलेह पाँचों प्रकार के कासरोग को दूर करता है । अथवा इस योग के सेवन से पाँचों प्रकार के कासरोग दूर हो जाते हैं ।

चक्रपाणि–एतेन विधिनेति-श्लोक नं. १७१ में वर्णित विधि का अभिप्राय तुलसीपत्रक्षार एवं एरण्डपत्रक्षार के साथ त्रिकटु चूर्ण एवं गुड़ मिलाकर सेवन करने से है । पाणितल=१ कर्ष (१ तोला) । [पाणितलं कर्षः] ॥१६८-१७९॥

विशेष (Comments)–हरीतकीलेह प्रकरण में वर्णित यव के क्वाथ का निर्माण ८ गुने जल में करना चाहिये, अर्थात् १ आढ़क यव लेकर ८ आढ़क जल में पकावें, चतुर्थांश (२ आढक) द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें । इस २ आढ़क क्वाथ में २० हरीतकी को स्विन्न (उबालें) करें । यद्यपि इस क्वाथ में हरीतकी को उबालने से क्वाथ की मात्रा काफी कम हो जाती है । व्यवहार में एक छोटे कुकर में हरीतकी डालकर उसमें डेढ़ से दो लीटर की मात्रा में यव का क्वाथ डालकर, उबाल लें ऐसा करने से हरीतकी अच्छी

Scanned by CamScanner

प्रकार स्निग्ध हो जाती है तथा क्वाथ भी उचित प्रमाण में बना रहता है। अब हरीतकी की गुठली को निकालकर उसके गुदे को Mixer में पीसकर कल्क बना लें।

अब कल्क, क्वाथ व छः पल पुराना गुड़ एक पात्र में लेकर पाक करें। अवलेह के समान गाढ़ा हो जाने पर अग्नि पर से उतार लें। कुछ शीतल होने पर उसमें १ तोला शुद्ध मैनशिल चूर्ण, १/२ कर्ष रसौत, १/२ कुडव पिप्पली चूर्ण मिलाकर सुरक्षित रख लें।

लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्। बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् ।।१८०।।
स्वरभेदे च कासे च लेहमेतं प्रयोजयेत्। पत्रकल्कं घृतैर्भृष्टं तिल्वकस्य सशर्करम् ।।१८१।।
पेया चोत्कारिका च्छर्दितृट्कासामातिसारनुत्। गौरसर्षपगण्डीरविडङ्गव्योषचित्रकान्। साभयान् साधयेत्तोये यवागूं तेन चाम्भसा ।।१८२।।
ससर्पिर्लवणां कासे हिक्काश्वासे सपीनसे। पाण्ड्वामये क्षये शोथे कर्णशूले च दापयेत् ।।१८३।।
कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः। सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम् ।।१८४।।
वातघ्नौषधनिष्क्वाथं क्षीरं यूषान् रसानपि। वैष्किरप्रतुदान् वैलान् दापयेत् क्षयकासिने ।।१८५।।
क्षतकासे च ये धूमाः सानुपाना निदर्शिताः। क्षयकासेऽपि तानेव यथावस्थं प्रयोजयेत् ।।१८६।।

१. कालीमिर्च के चूर्ण में घृत, मधु व शर्करा मिलाकर चाटें अथवा चाटना चाहिये।

२. ताजी बेर के पत्र को घी में भुनकर उसमें सैन्धव नमक मिलाकर कल्क बनाकर, सेवन करें। ये दोनों योग स्वरभेद (Hoarseness of the voice) एवं कास (Cough) में प्रयोग करने चाहिये।

३. तिल्वक (लोध्र) की ताजी पत्ती को घृत में भून लें एवं कल्क बना लें। इस कल्क में शर्करा मिलाकर पेया अथवा उत्कारिका के रूप में प्रयोग करें। यह उत्कारिका अथवा पेया छर्दि (Vomiting), तृड् (Morbid thirst), कास (Cough) एवं आमातिसार [diarrhoea associated with Āma (Product of Improper digestion)] रोग को दूर करती है।

४. श्वेत सरसो, गण्डीर, वायविडङ्ग, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चित्रकमूल, अभया (हरड़); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर षडंगपरिभाषा के अनुसार द्रव तैयार करें, (सर्षप आदि द्रव्यों की मिश्रित मात्रा- १ तोला, जल- १ प्रस्थ लेकर पकावें, अर्ध जल (द्रव) अवशिष्ट बचने पर द्रव को छान लें।) इस जल से यवागू का निर्माण करें। इस यवागू में सैन्धवनमक एवं घृत उचित मात्रा में डालकर हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma), पीनस (Coryza), पाण्डु (Anaemia), क्षय, शोथ (Oedema) एवं कर्णशूल (Earache) के रोगी को सेवन कराना चाहिए।

५. षडंगपानीय विधि से तैयार कण्टकारी के रस (क्वाथ) से मुद्गयूष तैयार करें। इस मुद्गयूष में श्वेत सरसो, आँवले का कल्क एवं खट्टे अनार का रस डालकर कुछ अम्लरस युक्त कर लें। यह यूष सभी प्रकार के कास को दूर करता है। अर्थात् इस यूष का सेवन कास रोगी को करना चाहिए।

६. वातनाशक औषधियों के क्वाथ से साधित क्षीर, यूष तथा विष्किर, प्रतुद एवं विलेशय जन्तुओं के मांसरस का सेवन क्षयज कास के रोगी को कराना चाहिए।

७. **धूमपान**–क्षतकास की चिकित्सा में जिन धूमों एवं धूमपान के अनुपानों का निर्देश किया गया है, उन्ही का प्रयोग क्षयज कास में अवस्था विशेष के अनुसार करना चाहिये।

चक्रपाणि–पत्रकल्कं तिल्वकस्येति सम्बन्धः-पत्रकल्क से यहाँ तिल्वकपत्र के कल्क का ग्रहण किया गया है। **उत्कारिकेति**-'पत्रकल्कं' इत्यादि के द्वारा वर्णित उत्कारिका का ग्रहण है। अर्थात् तिल्वकपत्र कल्क से निर्मित उत्कारिका अर्थ गृहीत है। गण्डीर=शमठ। गौरामलक=आर्द्र आमलक (पक्व आँवले का ताजा फल अर्थात् आँवले का ताजा फल जो पका हुआ हो)।

साम्ल इति–कण्टकारी के क्वाथ से साधित मुद्गयूष में दाडिमादि के रस डालकर कुछ खट्टा बनाना (दाडिमादि के योग से अम्लरस युक्त करना।) ।।१८०-१८६।।

विशेष (Comments)–मरीच चूर्ण एवं शर्करा (चीनी) बराबर मात्रा में लेकर मधु व घृत मिलाकर चाटना चाहियें।

बदरीपत्रकल्कं ससैन्धवं घृते भृष्टं तेनैव भर्ज्जनघृतेन लिह्यादेतं लेहं स्वरोपघाते कासे च प्रयोजयेत्–बदरीपत्र कल्क को घी से भून लें। इस भुने हुए कल्क का प्रयोग घृत के साथ करें। इस अवलेह का प्रयोग स्वरोपघात (Hoarseness of the voice) एवं कासरोग में करना चाहिए। –जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

दीपनं बृंहणं चैव स्रोतसां च विशोधनम्। व्यत्यासात्क्षयकासिभ्यो बल्यं सर्वं हितं भवेत् ।।१८७।।
सन्निपातभवोऽप्येष क्षयकासः सुदारुणः। सन्निपातहितं तस्मात् सदा कार्यं भिषग्जितम् ।।१८८।।
दोषानुबलयोगाच्च हरेद्रोगबलाबलम्। कासेष्वेषु गरीयांसं जानीयादुत्तरोत्तरम् ।।१८९।।

Scanned by CamScanner

क्षयज कास का सामान्य चिकित्सासूत्र-

१. क्षयज कास से पीड़ित रोगी में दीपन (Digestive stimulants), बृंहण (Nourishing therapy) एवं स्रोतस् को शुद्ध करने वाली औषधियों का प्रयोग व्यत्यास से (अदल-बदल कर alternate) करना चाहिये। जो औषध, अन्न एवं विहार आतुर के बल को बढ़ाते हैं, वे सभी क्षयज कास में हितकर होते हैं।

२. यदि सन्निपातज क्षयज कास है तो वह अत्यधिक भयङ्कर होता है तब इस अवस्था में त्रिदोषशामक उपचार हमेशा करना चाहिए। अर्थात् त्रिदोषशामक औषध, अन्न एवं विहार का प्रयोग करना अत्यन्त हितकर होता है।

३. कास में दोषों के बलाबल के अनुसार व्याधि के बलाबल का ज्ञान करके चिकित्सा करने का प्रयास करना चाहिये। वातज, पित्तज, कफज, क्षतज एवं क्षयज, पाँच प्रकार के ये कास उत्तरोत्तर क्रमशः बली होते हैं। अर्थात् ये कास वातज→पित्तज→कफज→क्षयज→क्षतज बली (बलवान) होता है। [सभी कासों में क्षयज कास सबसे बलवान होता है।

चक्रपाणि-व्यत्यासादिति क्रियापरिवर्तनात्-क्रिया परिवर्तन से, अर्थात् क्षयज कास की चिकित्सा में क्रमशः बदल-बदल करके चिकित्सा करनी चाहिए, यथा- दीपन→बृंहण→संशोधन→दीपन→बृंहण→संशोधन-----चिकित्सा का प्रयोग करें।

'क्षयजकासस्य सन्निपातोद्भव' इत्यादि के द्वारा क्षयज कास सन्निपातिक होता है, यह बताया गया है। अतः दोषों की अत्यधिक वृद्धि की अवस्था में चिकित्सा भी विशेष होती है। इसी को यहाँ 'दोषानुबन्धयोगाच्च हरेद्रोगबलाबलमिति' के द्वारा बताया गया है। यहाँ 'बुध्वा' शब्द अध्याहार्य (छूटा हुआ) है। अतः यहाँ इसे जोड़ देने पर 'दोषानुबन्धयोगाच्च हरेद्रोगबलाबलं बुध्वा' [दोषों के अनुबन्ध एवं रोग के बलाबल को जान करके] वाक्य बनता है।

दोषाणामनुबन्धः उत्कर्षापकर्षादिना सम्बन्धः-दोषों के अनुबन्ध से यहाँ दोषों की अत्यधिक वृद्धि अथवा क्षय का होना, अर्थ लिया गया है। तदपेक्षो योगः, योग उसकी अपेक्षा करता है। योग=संयोग। यहाँ पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग हेतु के अर्थ में हुआ है। अर्थात् दोषों के उत्कर्ष (अत्यधिक वृद्ध) होने पर व्याधि का बल अधिक तथा अपकर्ष (क्षीण=कम) होने पर व्याधि का बल क्षीण होता है, यह अभिप्राय है। अतः दोषों के अनुबन्ध (उत्कर्ष एवं अपकर्ष) योग को जानकर व्याधि के बली एवं क्षीणता का ज्ञान करके औषधियों के उचित योग से क्षयज कास के बली एवं दुर्बल दोषों का निर्हरण करना चाहिये।

अन्य आचार्य "दोषानुबन्धयोगाच्च कुर्याद्रोगबलाबलम्" पाठ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दोषों के उत्कर्ष एवं अपकर्ष सम्बन्ध से व्याधि के बलाबल का ज्ञान करके चिकित्सक को तदनुसार औषधियों की योजना करनी चाहिये, यह भाव है।

कासेष्विति-कास से यहाँ-वातज, पित्तज, कफज, क्षतज एवं क्षयज पाँचों प्रकार के कास का ग्रहण किया गया है। ॥१८७-१८९॥

भोज्यं पानानि सर्पिषि लेहाश्च सह पानकैः। क्षीरं सर्पिर्गुडा धूमाः कासभैषज्यसंग्रहः ॥१९०॥

कासनाशक विविध कल्पनायें-कासनाशक विविध कल्पनाओं, यथा-भोज्य (कासनाशक भोज्य पदार्थ Food preparations), पान (drinks-कासनाशक पानक), घृत (Medicated ghee), लेह (Recipes Linctus), अनुपानों के साथ (अनुपानों के साथ लेहों का विवेचन), क्षीर (औषध सिद्ध क्षीर), सर्पिर्गुड एवं धूमों का इस कासचिकित्सा नामक अध्याय में संग्रह किया गया है।

चक्रपाणि-'भोज्यमित्यादि' के द्वारा कास में प्रयुक्त औषधियों का उपसंहार किया गया है। अर्थात् यहाँ कास की चिकित्सा का उपसंहार किया गया है। [विस्तृत रूप से वर्णित कासनाशक चिकित्सा का यहाँ उपसंहार किया गया है।] ॥१९०॥

तत्र श्लोकः-

संख्या निमित्तं रूपाणि साध्यासाध्यत्वमेव च। कासानां भेषजं प्रोक्तं गरीयस्त्वं च कासिनः ॥१९१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने कासचिकित्सितं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार-इस कासचिकित्सा नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

१. कास की संख्या (Types of Kāsa)
२. निमित्त (हेतु Etiological factor)
३. रूप (कास के लक्षण-Signs and Symptoms of Kāsa)
४. कास रोगों की साध्यताऽसाध्यता (Curability and Incurability of Kāsa)
५. कासरोग चिकित्सा में प्रयुक्त औषधियाँ।
६. विविध प्रकार के कासों की उत्तरोत्तर बलवत्ता।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त, चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान में कासचिकित्सा नामक अठ्ठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि-'संख्या इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है, जो कि अत्यन्त सरल है। ॥१९१॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में कासचिकित्सा नामक अष्टादश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥१८॥

Scanned by CamScanner

एकोनविंशोऽध्यायः ।

अथातोऽतीसारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे 'अतिसार चिकित्सा' की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–अग्निबलहानिसामान्याद् ग्रहणीदोषचिकित्सितमनु अतीसारचिकित्सिते वक्तव्ये उपोद्घातायातैः पाण्डुरोगादिभिः व्यवधानं कृतम्-सामान्यतः अग्निबल की हानि [अग्निमांद्यता Diminution of the Agni (Power of digestion)] ग्रहणीरोग एवं अतीसार दोनों ही व्याधियों में पायी जाती है । अतः ग्रहणी चिकित्सा के अभिधान के बाद अतीसार चिकित्सा का कथन होना चाहिए था, लेकिन पाण्डुरोग आदि का विवेचन होने से इस प्रक्रिया में व्यवधान उत्पन्न हो गया । अतः यथोक्त प्रस्तावना से पाण्डु रोगादि के अभिधान के पश्चात् प्रकृत (पूर्व निर्धारित) विषय अतीसार चिकित्सा का विवेचन किया जा रहा है । ।।१-२।।

विशेष (Comments)–ग्रहणीरोग (Sprue syndrome) एवं अतीसार (diarrhoea) दोनों ही व्याधियों का कारण अग्निमांद्य है । अतः ग्रहणी चिकित्सा के बाद अतीसार चिकित्सा का अभिधान होना चाहिए था, लेकिन इसका वर्णन न करके पाण्डुचिकित्सा, पश्चात् हिक्का-श्वास चिकित्सा व कासचिकित्सा का वर्णन किया गया, इसका कारण ग्रहणी चिकित्सा के अन्त में पित्त की अतिवृद्धि जन्य भस्मक व्याधि का उल्लेख है, इसी का प्रसङ्ग आ जाने से पाण्डुरोग चिकित्सा का उल्लेख किया गया, क्योंकि अग्नि की तीक्ष्णता के कारण पित्त की अधिकता होने से पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है,। चूँकि पाण्डु के उपद्रव रूप में हिक्का व श्वास उत्पन्न होता है, अथवा पाण्डुरोग, हिक्का व श्वास का हेतु होने से पाण्डुरोग के बाद हिक्का व श्वास चिकित्सा का अभिधान किया गया, यथा-**पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ'** इति । इस प्रकार चिकित्सा में समानता होने के कारण-हिक्का-श्वास चिकित्सा के बाद कास चिकित्सा का वर्णन किया गया है ।

भगवन्तं खल्वात्रेयं कृताह्निकं हुताग्निहोत्रमासीनमृषिगणपरिवृतमुत्तरे हिमवतः पार्श्वे विनयादुपेत्याभिवाद्य चाग्निवेश उवाच-भगवन् ! अतीसारस्य प्रागुत्पत्तिनिमित्तलक्षणोपशमनानि प्रजानुग्रहार्थमाख्यातुमर्हसीति ।।३।।

विषयारम्भ–किसी समय (एक बार) जब भगवान् आत्रेय अपने नित्य कर्म एवं अग्निहोत्र आदि क्रियाओं से निवृत्त होकर ऋषि गणों के साथ उत्तरी हिमालय के पार्श्व में बैठे हुए थे । उस समय शिष्य अग्निवेश उनके पास जाकर, अभिवादन करके विनयपूर्वक यह बोले-हे भगवान् ! अतीसार रोग की सबसे पहले उत्पत्ति कैसे हुई, अतिसार के हेतु (Etiology of atīsāra), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं उनकी चिकित्सा (Treatment) को प्रजा पर दयाभाव रखने के लिए बतावें, क्योंकि आप ऐसा करने में समर्थ हैं । अर्थात् यह उपदेश आप ही दे सकते हैं ।

चक्रपाणि–प्रागुत्पत्तिरिति प्राक्कालोत्पत्तिः-अतिसार की उत्पत्ति सबसे पहले कब हुई?, 'प्रागुत्पत्ति' से यहाँ अतीसार का सर्वप्रथम उत्पन्न होना, अर्थ गृहीत है । ।।३।।

अथ भगवान् पुनर्वसुरात्रेयस्तदग्निवेशवचनमनुनिशम्योवाच-श्रूयतामग्निवेश ! सर्वमेतदखिलेन व्याख्यायमानम् । आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः । अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता । पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः । तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् पशवः प्रोक्षणमवापुः । अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता । पशूनामलाभाद्गवामालम्भः प्रवर्तितः । तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः, तेषां चोपयोगादुपाकृतानां गवां गौरवादौष्ण्यादसात्म्यत्वादशस्तोपयोगाच्चोपहताग्नीनामुपहतमनसां चातीसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ।।४।।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा अग्निवेश के प्रश्नों का उत्तर–अग्निवेश के वचनों को सुनने के बाद भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा–हे अग्निवेश ! सुनो-आपके द्वारा पूछे गये सभी प्रश्नों का उत्तर मैं विस्तार से दूंगा । प्राचीन काल में यज्ञ में पशु समालभनीय होते थे, अर्थात् मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके छोड़ दिये जाते थे, न कि वध किया जाता है । इसके बाद के काल में दक्ष के यज्ञ के बाद मनु के पुत्र नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति आदि के यज्ञों में पशुओं को वैदिक नियमानुसार अभिमन्त्रित कर वध किया जाने लगा । इसके बाद राजा पृषध्र ने दीर्घकाल तक चलने वाले यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें निरन्तर पशुओं का वध होता रहा, परिणाम स्वरूप पशुओं की कमी पड़ने लगी, तब बाद में गायों को अभिमन्त्रित कर वध किया जाने लगा । उसे देखकर सभी प्राणी अत्यन्त दुःखी हो गये अथवा अत्यन्त व्यथित हो गये । उस यज्ञ में बलि हेतु प्रयुक्त गायों के मांस जो अत्यधिक गुरु (Heavy), उष्ण, असात्म्य एवं अप्रशस्त थे, के उपयोग (सेवन) करने से लोगों की जाठराग्नि मन्द हो गयी एवं उनका मन अत्यन्त दुःखी हो गया । परिणाम स्वरूप अग्निमांद्य एवं मानसिक व्यथा के कारण पृषध्र के यज्ञ में सबसे पहले अतीसार की उत्पत्ति हुई ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-आदिकाले इति= कृतयुग में। **समालभनीया इति-** पशुओं को मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित करके ही छोड़ दिया जाता था। न आलम्भार्थं प्रक्रियन्ते स्म इति=वध करने की प्रक्रिया (संस्कार) को नहीं किया जाता था, यह अभिप्राय है। [वैदिक रीति के अनुसार पशुओं को अभिमन्त्रित करके ही छोड़ दिया जाता था उनका वध नहीं किया जाता था।] यदि नरिष्यन्, नाभाग आदि मनु के पुत्रों में से किसी एक का उदाहरण देकर 'आदि' शब्द का प्रयोग किया जाता तब अन्य स्थानों पर मनु के पुत्रों की संख्या भिन्न है, पाठ होने से यह भ्रम उत्पन्न हो जाता। अतः उसके साक्षात् ज्ञान हेतु इस पाठ को रखा गया है। अपठित आदि शब्द प्रकारवाची है, अतः इसका ज्ञान पुराणों के आधार पर जानना चाहिये।

पशूनामभ्यनुज्ञानादिति पशूनामेव प्रेरणया; प्रेरणा चैषां विशिष्टापूर्वोत्पादार्थमेवोच्यते आगमेषु-वेदों में यज्ञ हेतु पशुओं को ही अभिमन्त्रित करने का विधान है। ऐसा करने से विशिष्ट अपूर्व की उत्पत्ति होती है, ऐसा शास्त्रों का मत है। **"क्रत्वर्थहिंसायां वधकवध्ययोरुभयोरपि महत्पुण्यमुत्पद्यते"** [क्रत्व (यज्ञ) हेतु की गयी हिंसा से वधक (वध करने वाला) एवं वध्य (जिसका वध किया जाता है) दोनों को ही महान पुण्य प्राप्त होता है।] ऐसा निर्देश शास्त्रों में प्राप्त होता है।

किंवा पशूनामेवाभ्यनुज्ञानादिति-वेदों में यज्ञानुष्ठान हेतु पशुओं के वध की अनुमति दी गयी है। प्रोक्षणमिति-अभिमन्त्रित करके वध करना। विधिपूर्वकं मारणम्=विधिपूर्वक पशुओं की बलि चढ़ाना।

पृषध्रः राजविशेषः=एक विशेष राजा। दीर्घसत्रेण इति=दीर्घकाल तक चलने वाला यज्ञ। **व्याथिता इति अदृष्टपूर्वं गवां वधं दृष्ट्वा दुःखिताः सन्तः-** राजा द्वारा यज्ञ में गायों के वध को देखकर जनमानस अत्यन्त दुःखी हुआ। [अदृष्टपूर्व-Never seen before जिस कार्य को व्यक्ति ने कभी देखा नहीं हो, यज्ञ में गायों का वध किया जाना यह पहले कभी नहीं हुआ था। इसलिये यह देखकर लोग बहुत दुःखी हुए।]

उपाकृतानामिति-पशुओं को अभिमन्त्रित करके वध करने की क्रिया। कहा भी गया है, यथा-"उपाकृतः पशुरसौ योऽभिमन्त्र्य क्रतौहतः" [जो व्यक्ति यज्ञ में पशुओं को अभिमन्त्रित करके वध करता है] इस प्रकार अतीसार रोग की पूर्व उत्पत्ति के निर्देश से यह स्पष्ट होता है कि-**मन का उपघात व गुरु आदि द्रव्यों का सेवन** ही इसका मुख्य कारण है।।४।।

अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमितशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते; स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य, ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य, अतीसाराय प्रकल्पते। तस्य रूपाणि-विज्जलमामं विप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दमशब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्। पक्वं वा विबद्धमल्पाल्पं सशब्दं सशूलफेनपिच्छापरिकर्तिकं हृष्टरोमा विनिःश्वसञ् शुष्कमुखः कट्यूरुत्रिकजानुपृष्ठपार्श्वशूली भ्रष्टगुदो मुहुर्मुहुर्विग्रथितमुपवेश्यते पुरीषं वातात्; तमाहुरनुग्रथितमित्येके, वातानुग्रथितवर्चस्त्वात्।।५।।

वातज अतीसार का निदान एवं संप्राप्ति-राजा पृषध्र के यज्ञ के बाद के समय में वातप्रकृति के लोग जब अत्यधिक वायु, आतप (धूप), व्यायाम का सेवन करने लगे, रूक्ष, अल्प, प्रमित (नपा-तुला) भोजन करने लगे, प्रतिदिन तीक्ष्ण मद्य एवं व्यवाय (स्त्री-सेवन) करने लगे तथा मल, मूत्र एवं अपान वायु को रोकने लगे तब उनके शरीर में वायु प्रकुपित होकर जाठराग्नि को मन्द कर दी, पश्चात् वह प्रकुपित वायु अग्नि को उपहत करके मूत्र एवं स्वेद को पुरीषाशय में ला करके तथा इन दोनों के द्वारा पुरीष को द्रवीभूत करके अतीसार को उत्पन्न कर दी।

वातज अतीसार के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja atīsāra)—वातज अतीसार में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

वातज आमातीसार के लक्षण-वातज अतीसार में यदि आम का (आमदोष का) सम्बन्ध हो तब पुरीष विज्जल (जल युक्त) एवं आमयुक्त (आँव युक्त, पुरीष के साथ Mucus भी आता है।), विप्लुत (शीघ्र फैलने वाला), अवसादि (नीचे बैठे जाने वाला-जल में नीचे डूब जाने वाला), रुक्ष, द्रव युक्त (अत्यन्त पतला), सशूल (मलत्याग के समय मरोड़ने जैसी वेदना का होना), आमगन्ध युक्त (कच्चेमांस के समान गन्ध युक्त), अल्प शब्द युक्त अथवा अशब्द युक्त, मूत्र एवं वात को अवरुद्ध करते हुए पुरीष का निकलना, रुकी हुई वायु शब्द एवं शूल को उत्पन्न करती हुई आन्त्र में इधर-उधर घुमती है। इस प्रकार यह **आमातिसार** वात के कारण उत्पन्न होता है।

वातज पक्वातीसार के लक्षण-१. पुरीष बंधा हुआ एवं अल्प मात्रा में निकलता है (Hard stool in small quantities)।

२. पुरीष निकलने के साथ ही आवाज का आना अर्थात् शब्द के साथ पुरीष का निकलना, पेट में दर्द का होना, मल का झाग युक्त होना।

३. परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा का होना), रोमहर्ष (Horripilation), श्वास का बढ़ जाना, मुख का सूखना (dryness of the mouth), कटि, उरु, त्रिक, जानु एवं पार्श्व में शूल का होना।

Scanned by CamScanner

४. गुदभ्रंश का होना (Prolapse of Rectum)।

५. बार-बार ग्रथित (गांठदार) मल का निकलना, कुछ आचार्य इसे अनुग्रथित कहते हैं, यह वात के कारण होता है। अर्थात् वायु की वृद्धि के कारण पुरीष शुष्क होकर गांठदार हो जाता है।

चक्रपाणि–'अथ इत्यादि' के द्वारा वातज अतीसार आदि के अलग-अलग निमित्त (Etiology) एवं लक्षणों (Signs and Symptoms) का अभिधान किया गया है। 'वातलस्य इत्यनेन' के द्वारा वातप्रकृति वाले व्यक्ति द्वारा सेवित वात, आतप आदि हेतु विशेष रूप से वातातीसार को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। अर्थात् ये हेतु वातप्रकृति वाले व्यक्ति में विशेष रूप से वातज अतिसार को उत्पन्न करने में सक्षम होता है। उससे अन्य प्रकृति वाले व्यक्ति में भी ये हेतु वातज अतिसार के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए, लेकिन वातप्रकृति विशेष है। इसी प्रकार पित्तल एवं श्लेष्मल शब्द की भी व्याख्या करनी चाहिये।

प्रमिताशनम् अतीतकालाशनम्-भोजन काल व्यतीत हो जाने पर भोजन करना, अर्थात् भोजन काल में भोजन न ग्रहण करके बाद के समय में भोजन करना। **वेगानुदावर्तयत इति उद्वृत्तमावर्तयतो वेगानित्यर्थः**– नित्य मूत्रादि के वेगों को रोकने से या अधारणीय वेगों को रोकने से [स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः-पानी का गोलाकार घूमना अथवा भँवर आवर्त का अभिप्राय है। -अमरकोष १/१०/५]

पुरीषाशयमुपहत्य इति–पक्वाशय में लाकर के। ताभ्यामिति=उन दोनों-मूत्र व स्वेद। [वातप्रकृति का व्यक्ति जब वातवर्धक निदानों (वात, आतप, व्यायाम, रूक्ष, तीक्ष्णादि अन्न-पान) का सेवन करता है तब वायु प्रकुपित होकर अग्नि को उपहत कर देती है, पश्चात् वह वायु मूत्र व स्वेद को पक्वाशय में लाती है जिससे पुरीष द्रव रूप में हो जाता है।]

'तस्य रूपाणीत्यादि' के द्वारा आम वातातिसार के लक्षण को बताया गया है। **आममिति**-आम युक्त वातातिसार, अर्थात् वातातिसार में आम का सम्बन्ध होना। विप्लुत=प्रसरणशील (फैल जाना)। **अवसादीति भूमौ पतितं लीनं भवति**=जमीन पर गिरते ही लीन हो जाना, अर्थात् द्रवांश अधिक होने से जमीन पर गिरते ही सूख जाता है। 'पक्वं वा इत्यादिना' से पक्व वातातिसार के लक्षणों का अभिधान किया गया है। **विनिःश्वसन्निति**-शब्द को उत्पन्न करते हुए। **तमाहुरनुग्रथितमिति**-अतिसार की इस विशेष अवस्था में पुरीष सूख कर ग्रथित (गांठ युक्त) हो जाता है। लेकिन यदि पक्व वातातिसार में पुरीष गांठ युक्त (ग्रथित) न हो तो उसे अनुग्रथित नाम नहीं दिया जाता, यह अभिप्राय है। ॥५॥

पित्तलस्य पुनरम्ललवणकटुकक्षारोष्णातीक्ष्णातिमात्रनिषेविणः प्रतताग्निसूर्यसंतापोष्णमारुतोपहतगात्रस्य क्रोधेर्ष्याबहुलस्य पित्तं प्रकोपमापद्यते। तत् प्रकुपितं द्रवत्वादूष्माणमुपहत्य पुरीषाशयविसृतमौष्ण्याद् द्रवत्वात् सरत्वाच्च भित्त्वा पुरीषमतिसाराय प्रकल्पते। तस्य रूपाणि-हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं, तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाशूलब्रध्नसंतापपाकपरीत् इति पित्तातिसारः ॥६॥

२. **पित्तज अतिसार का निदान एवं सम्प्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Pittaja Atisāra)**–पित्तप्रकृति वाला व्यक्ति यदि अत्यधिक अम्ल, लवण, कटु, क्षार, उष्ण एवं तीक्ष्ण द्रव्यों का उपयोग (सेवन) करता है एवं उसका शरीर लगातार सूर्य के संताप, अग्नि अथवा उष्ण वायु के सम्पर्क में हो, अथवा वह व्यक्ति क्रोध एवं ईर्ष्या के वशीभूत हो, ऐसे व्यक्ति में पित्त शीघ्र ही प्रकुपित हो जाता है। वह प्रकुपित पित्त अपने द्रव गुण के कारण शरीर की ऊष्मा (अग्नि) को उपहत करके पुरीषाशय (पक्वाशय) में पहुँचाता है, वहाँ अपनी उष्णता, द्रवता, सरता (उष्णत्व, द्रवत्व एवं सरत्व) के कारण मल को पतला करके पित्तज अतिसार को उत्पन्न करता है।

पित्तज अतिसार के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Atisāra)–

- रोगी बार-बार पतले मल (पुरीष) का त्याग करता है, पुरीष का वर्ण पीत (Yellow), हरा (Green), नील (Blue) अथवा काला (Black) होता है।
- पुरीष में पित्त एवं रक्त मिश्रित होता है। अर्थात् रोगी रक्त व पित्त मिश्रित मल का त्याग करता है। रोगी के मल से अत्यधिक दुर्गन्ध निकलती है।
- सार्वदैहिक लक्षणों में रोगी को तृष्णा (Morbid thirst), दाह (Burning sensation), पसीना का आना (Excessive sweating), मूर्च्छा (Fainting), उदरशूल (Colic pain) आदि लक्षण मिलते हैं।
- रोगी की गुदा **सन्ताप** एवं **पाक** से युक्त होती है। अर्थात् गुदा में जलन एवं पाक की प्रवृत्ति पायी जाती है।

ये सभी लक्षण पित्तज अतिसार में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–'पित्तलस्येत्यादि' के द्वारा पित्तातिसार का विवेचन किया गया है। द्रवत्वादूष्माणमुपहत्येति-यद्यपि पित्त अपने उष्ण गुण के कारण अग्नि के तुल्य होने से अग्निवर्धक होता है फिर भी यहाँ द्रव गुण के अत्यधिक वृद्ध होने से ऊष्मा रूप अग्नि को नष्ट करता है,

Scanned by CamScanner

यह अभिप्राय है। **पुरीषाशयविसृतमिति पुरीषाशयगतं पित्तम्**- पित्त पुरीषाशय (पक्वाशय) में जाकर पित्तज अतिसार को उत्पन्न करता है। ब्रध्नः=गुद । ॥६॥

श्लेष्मलस्य तु गुरुमधुरशीतस्निग्धोपसेविनः संपूरकस्याचिन्तयतो दिवास्वप्नपरस्यालसस्य श्लेष्माप्रकोपमापद्यते । स स्वभावाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धः स्रस्तोऽग्निमुपहत्य सौम्यस्वभावात् पुरीषाशयमुपहत्योपक्लेद्य पुरीषमतिसाराय कल्पते । तस्य रूपाणि-स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूलमल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं, गुरूदरगुदबस्तिवंक्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलोमहर्षः सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः ।।७।।

कफज अतिसार का निदान एवं सम्प्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Kaphaja Atisāra)- कफप्रकृति वाला व्यक्ति जब गुरु (Heavy), मधुर (Sweet), शीत (Cold) एवं स्निग्ध आहार द्रव्यों का सेवन अत्यधिक रूप से करता है, अथवा अत्यधिक भोजन करने का जिन्हें अभ्यास है, जिन्हें किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं है, जो प्रतिदिन दिन में सोते हों अथवा जो आलसी हैं, ऐसे व्यक्तियों में कफ प्रकुपित हो जाता है। वह प्रकुपित कफ अपने गुरु, मधुर, शीत व स्निग्ध स्वभाव के कारण नीचे की ओर जाकर अग्नि को उपहत करते हुए अपने सौम्य स्वभाव से पुरीषाशय (पक्वाशय) में जाकर वहाँ क्लेद उत्पन्न करके पुरीष को पतला करके अतिसार को उत्पन्न करता है।

कफज अतिसार के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Atisāra)—कफज अतिसार में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. रोगी स्निग्ध (unctuous), श्वेत (white), पिच्छिल (Slimy), तन्तुवत् (Fibrous), आम (Mixed with mucus as well as undigested food particles), गुरु (भारी), दुर्गन्धित (foul Smell) एवं कफ से युक्त मल (पुरीष) का त्याग करता है।

२. रोगी को लगातार शूल होता रहता है। (Continuous colic pain)

३. अल्प-अल्प मात्रा में बार-बार मल त्याग करता है, मल त्याग करते समय रोगी को प्रवाहण करना पड़ता है। अर्थात् मरोड़ के साथ मल त्याग करता है।

४. रोगी के उदर (Abdomen), गुदा (Anus), बस्ति (Pelvis) एवं वंक्षण (groin) में भारीपन महसूस (प्रतीत) होता है।

५. मलत्याग करने पर भी मल त्याग नहीं किया है, यह आशंका बनी रहती है। [Patient feels the urge for passing Another bout of stool even after evacuation.)

६. व्यक्ति रोमहर्ष (रोमाञ्च-Horripilation), उत्क्लेश (Nausea), अतिनिद्रा (निद्राधिक्य-Excessive sleep), आलस्य (Indolence), सदन (Prostration), अन्नद्वेष (भोजन के प्रतिद्वेष का होना (Aversion to food), से ग्रसित हो जाता है।

चक्रपाणि-'श्लेष्मलस्येत्यादि' के द्वारा कफज अतिसार का वर्णन किया गया है। संपूरकस्येति-जिसे अतिमात्रा में भोजन करने का अभ्यास है। अर्थात् जो नित्य अत्यधिक मात्रा में आहार ग्रहण करता है।

'सौम्यस्वभावादिति' से कफ के द्वारा जाठराग्नि का उपघात कैसे होता है, उसके हेतु को बताया गया है। कफ का सौम्य स्वभाव अग्नि के विरुद्ध होने से, उपघात करता है, यह कहना उचित है। अर्थात् कफ के सौम्य गुण के कारण अग्नि का उपघात होता है, यह भाव है।

पुरीषाशयमुपहत्येति=पुरीषाशय (पक्वाशय) को उपहत करके। पुरीषाशय में जाकर, **हन्तेर्गतिहिंसार्थकत्वादत्र गत्यर्थता**-'हन्' शब्द का प्रयोग गति एवं हिंसा दोनों अर्थों में होता है, जबकि यहाँ गति अर्थ में प्रयुक्त है। अथवा पुरीषाशय शब्द से 'स्थान-स्थानिन (गुण-गुणी) के ज्ञान की भाँति पुरीष का ग्रहण होता है। **यथा-'मञ्चाः क्रोशन्ति' इतिवत्**-यथा-'मञ्च चिल्ला रहे हैं' की भाँति मञ्च पर बैठे हुए लोग चिल्ला रहे हैं अर्थ ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार 'पुरीषाशयं उपहत्य' का अर्थ 'पुरीषमुपहत्य' ग्रहण करते हैं।

कृतेऽप्यकृतसंज्ञ इति-कृतेऽपि वेगे न वेगं कृतं बुध्यत इत्यर्थः-पुरीष त्याग करने के बाद भी मल त्याग की इच्छा का बने रहना। यद्यपि कि यहाँ पित्तातिसार एवं श्लेष्मातिसार में 'सामता' के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया गया है, फिर भी सामवातातिसार के सम्बन्ध से विज्जलत्व एवं आम गन्धित्व भाव दोनों अतिसार (पित्तातिसार एवं कफातिसार) में मिलने से इनमें भी आम की इस अवस्था का ज्ञान करना चाहिए। अर्थात् पित्तातिसार एवं कफातिसार में भी आमवातातिसार की भाँति सामता के लक्षण पाये जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए। चिकित्सा करते समय 'पित्तातिसार पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयं विदित्वा' [पित्तातिसार में निदान (Etiology), उपशय (Homologation), आकृति (Signs and Symptoms) एवं आम के सम्बन्ध का ज्ञान करके ही चिकित्सा करनी चाहिए।] के द्वारा आमज पित्तातिसार की अलग से चिकित्सा का विधान बताया गया है। श्लेष्मातिसार में साम एवं निराम दोनों ही अवस्थाओं में रूक्ष व

Scanned by CamScanner

उष्ण आदि द्रव्यों द्वारा चिकित्सा होने से पृथक् रूप से आम श्लेष्मातिसार की चिकित्सा का उल्लेख नहीं किया गया है। [कफज अतिसार में-आम व पक्व दोनों ही अवस्थाओं में रूक्ष उष्णादि रूप एक ही चिकित्सा की जाती है। अर्थात् आम व पक्व की अलग-अलग चिकित्सा नहीं होती, इस कारण विशेष न होने से अलग चिकित्सा का विधान प्राप्त नहीं होता। कहा भी गया है, यथा-"वातातिसारः सामश्च सशूलः फेनिलस्तनुः। श्यावः सशब्दो दुर्गन्धो विबद्धोऽल्पाल्प एव च॥ एवं पित्तकफे साममतीसारं विनिर्दिशेत्" इति (क्षारपाणि) आचार्य क्षारपाणि ने सभी प्रकार की अतिसार की आमता (सामता) का पृथक् से उल्लेख किया है, यथा-वातातिसार (साम)-

- मल का आम (Mucus) के साथ निकलना (Stool is associated with Āma)
- मलत्याग के समय शूल का होना।
- पुरीष झागयुक्त (Frothy), पतला (dilute) एवं श्याव वर्ण (greyish black in colour) का होना।
- मलत्याग के समय शब्द का होना, यह शब्द वात के निःसरण के कारण होता है।
- पुरीष दुर्गन्ध युक्त, कुछ बँधा हुआ निकलता है।
- रोगी मलत्याग अल्प मात्रा में बार-बार करता है।

यही लक्षण पित्तज एवं कफज आमातिसार में पाये जाते हैं।] यहाँ भी प्रासृतयोगीयसिद्धि (सिद्धि अ. ८/२८) अध्याय में सभी दोषों के साथ आम के सम्बन्ध से उनके अलग भेद किये गये हैं। ॥७॥

अतिशीतस्निग्धरूक्षोष्णगुरुखरकठिनविषमविरुद्धासात्म्यभोजनादभोजनात् कालातीतभोजनाद् यत्किंचिदभ्यवहरणात् प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानादसंशोधनात् प्रतिकर्मणां विषमगमनादनुपचाराज्ज्वलनादित्यपवनसलिलातिसेवनादस्वप्नादतिस्वप्नाद्वेगविधारणाद्ऋतुविपर्ययादयथाबलमारम्भाद्भयशोकचित्तोद्वेगातियोगात् कृमिशोषज्वरार्शोविकारातिकर्षणाद्वा व्यापन्नाग्नेरन्नयो दोषाः प्रकुपिता भूय एवाग्निमुपहत्य पक्वाशयमनुप्रविश्यातीसारं सर्वदोषलिङ्गं जनयन्ति ॥८॥

त्रिदोषज अतिसार का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Tridosaja Atisāra)–

- अति शीत, स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, गुरु, खर (कठिन), आहार द्रव्यों का सेवन करना।
- विषम भोजन (उचित समय पर भोजन न करना), असात्म्य भोजन (unwholesome food) अथवा भोजन न करना।
- कालातीत भोजन करना (भोजन काल के बीत जाने पर भोजन करना, यथा-दोपहर का भोजन यदि व्यक्ति १.०० P.M. पर करता है तो कभी ५.०० P.M. बजे व कभी ६.०० P.M. पर करना।)
- जो कुछ भी मिल जाय, उसको खा लेना, अर्थात् पथ्य एवं अपथ्य का विचार न करते हुए कुछ भी खा लेना।
- दूषित मद्य अथवा अन्य पेय पदार्थ (दूषित) के पीने से (To drink polluted Alcohol and other drinks)
- मद्य के अति सेवन करने से (To drink excessive quantity of Alcohol)
- उचित काल में संशोधन चिकित्सा न करने से, अर्थात् वात का निर्हरण-प्रावृट्, पित्त-शरद एवं कफ का वसन्त में न करना। अथवा संशोधन चिकित्सा का सम्यक् प्रयोग न करना।
- विपरीत उपचार से (विषम रूप से चिकित्सा करना) व्याधि की सम्यक् चिकित्सा न करना।
- अग्नि, सूर्य, जल व वायु के अति सेवन से।
- अति निद्रा सेवन (अत्यधिक सोना), अधारणीय वेगों के धारण करने से (Suppression of natural urges.).
- ऋतु विपर्यय (ऋतुओं का मिथ्यायोग)।
- अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने से।
- भय (Fear), शोक (Grief) एवं चित्तोद्वेग (Anxiety) के अतियोग से, अर्थात् व्यक्ति को बार-बार भय, शोक एवं चिन्ता बनी रहती हो।
- कृमि (Worm infection), शोष (Consumption), ज्वर (Fever) एवं अर्श (Piles) के कारण व्यक्ति का शरीर अत्यधिक कृश हो गया हो एवं जाठराग्नि विकृत हो गयी हो।

Scanned by CamScanner

उपर्युक्त हेतुओं के सेवन करने से प्रकुपित हुए तीनों दोष (विकृत तीनों दोष) अग्नि (जाठराग्नि) को उपहत करके पक्वाशय में प्रवेश करके त्रिदोषज अतिसार के लक्षणों को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–'अतिशीतेत्यादि' के द्वारा त्रिदोषज अतिसार का विवेचन किया गया है। यहाँ वर्णित शीतादि हेतु अपनी सामर्थ्य के अनुसार वातादि दोषों को प्रकुपित करते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। अथवा सभी हेतु त्रिदोष कोपक होते हैं, यह समझना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-"समप्रकोपौ सर्वेषां दोषाणामग्नि संश्रितौ" (चि.अ.५) इति [दोषों का सम बने रहना अथवा प्रकुपित होना, ये दोनों भाव अग्नि के ही आश्रित होते हैं।]

यत्किञ्चिदभ्यवहरणादिति–कुछ भी खा लेना अर्थात् पथ्य एवं अपथ्य का सेवन करना। **अनुपचारादिति प्रतिकर्मणामेवासम्यगुपचारादित्यर्थः**– अनुपचार से 'चिकित्सा का असम्यक् प्रयोग करना' अर्थ लिया गया है। सलिलातिसेवनादित्यत्र अवगाहादिना बाह्य सेवनं सलिलस्य उच्यते-'जल के अति सेवन से' से यहाँ स्नानादि के रूप में बाह्य प्रयोग करना अर्थ ग्रहण किया गया है। अतिपान को पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। **व्यापन्नाग्नेरिति**-वचन से त्रिदोषज अतिसार में निर्दिष्ट हेतुओं के सेवन से अग्निमांद्य उत्पन्न होता है। यह अग्निमांद्य प्रायः त्रिदोष प्रकोप में कारण होता है, यह दर्शाया गया है। ॥८॥

विशेष (Comments)–यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त हेतुओं के अतिसेवन से जाठराग्नि अत्यधिक दुर्बल हो जाती है, परिणाम स्वरूप त्रिदोष प्रकुपित होते हैं।

अपि च शोणितादीन् धातूनतिप्रकृष्टं दूषयन्तो धातुदोषस्वभावकृतानतीसारवर्णानुपदर्शयन्ति। तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनीलमाञ्जिष्ठमांसधावनसन्निकाशं रक्तं कृष्णं श्वेतं वराहमेदःसदृशमनुबद्धवेदनमवेदनं वा समासव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथितमामं सकृत्, सकृदपि पक्वमनतिक्षीणमांसशोणितबलो मन्दाग्निर्विहतमुखरसश्च; तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात्। एभिर्वर्णैरतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत; तद्यथा-पक्वशोणिताभं यकृत्खण्डोपमं मेदोमांसोदकसन्निकाशं दधिघृतमज्जतैलवसाक्षीरवेसवाराभमतिनीलमतिरक्तमतिकृष्णमुदकमिवाच्छं पुनर्मेचकाभमतिस्निग्धं हरितनीलकषायवर्णं कर्बुरमाविलं पिच्छिलं तन्तुमदामं चन्द्रकोपगतमतिकुणपपूतिपूयगन्ध्यामाममत्स्यगन्धि मक्षिकाकान्तं कुथितबहुधातुस्रावमल्पपुरीषमपुरीषं वाऽतिसार्यमाणं तृष्णादाहज्वरभ्रमतमकहिक्काश्वासानुबन्धमतिवेदनमवेदनं वा स्रस्तपक्वगुदं पतितगुदवलिं मुक्तनालमतिक्षीणबलमांसशोणितं सर्वपर्वास्थिशूलिनमरोचकारतिप्रलापसंमोहपरीतं सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात्; इति सन्निपातातिसारः ॥९॥

त्रिदोषज अतिसार (सन्निपातज अतिसार) के लक्षण (Signs and Symptoms of Sānnipātaja Atisāra)–उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित तीनों दोष रक्तादि धातुओं को अत्यधिक रूप से दूषित करते हुए धातु एवं दोषों के स्वभाव के अनुसार अतिसार में अपने-अपने वर्णों को उत्पन्न करते हैं। रक्तादि के अत्यधिक रूप से दूषित होने पर रोगी हारिद्र (Yellowish-हल्दी के समान पीला), हरित (हरा), नीला, मञ्जिष्ठा के समान लाल, मांस के धोवन के समान रक्त, कृष्ण व श्वेत वर्ण युक्त, सूअर के मेद के समान, वेदना के साथ अथवा वेदना रहित मल का त्याग करता है। ये सभी भाव (रंग) रोगी में मिलते हैं अथवा इनमें से कुछ ही मिलते हैं।

→ रोगी कभी गाँठदार आम (Mucus) युक्त मल का त्याग करता है तथा कभी पक्व (आम रहित) मल का त्याग करता है।

→ यदि रोगी के मांस, रक्त एवं बल अत्यधिक क्षीण न हों, लेकिन जाठराग्नि विशेष रूप से मन्द हो, रोगी के मुख का स्वाद परिवर्तित (बदल) हो गया हो अर्थात् विकृत हो गया हो तो ऐसे रोगी को कृच्छ्र-साध्य समझना चाहिए।

इस प्रकार के वर्णों से युक्त मल त्याग करने वाले रोगी, जिसमें उपद्रव के रूप में अतिसार हुआ हो उसे असाध्य समझना चाहिये, यथा-

१. यदि रोगी के पुरीष का रंग पक्व रक्त (Digested blood) [Malena], यकृत खण्ड के समान (Piece of liver), वसा एवं मांस के धोवन के समान, दही (Curd), घृत, मज्जा (Bone marrow), तेल (Oil), वसा (Fat) अथवा वेसवार के सदृश हो।

२. आतुर के पुरीष का वर्ण अत्यधिक नील (Blue), अत्यधिक रक्त, अत्यधिक कृष्ण, (Excessive Black), जल के समान स्वच्छ (Transparent like water) अथवा मेचक के समान (स्याही के रंग के समान) होता है।

३. पुरीष अत्यधिक स्निग्ध, हरित, नीला; कषाय वर्ण युक्त, कर्बुर (चितकबरा-Variegated in colour), आविल (dirty-गंदला), पिच्छिल (Slimy fibrous), तन्तु की तरह आमयुक्त (Mixed with mucus), मयूर के पंख सदृश चन्द्रिकाओं से युक्त (Coloured patches circular in shape like moon.) होता है।

४. रोगी के पुरीष का गन्ध-सड़े मुर्दे के गन्ध के समान, पूति एवं पूय गंध से युक्त, आम गन्ध युक्त, मछली के समान गंध युक्त होता है।

Scanned by CamScanner

५. पुरीष के ऊपर मक्खियाँ अधिक बैठती हैं ।

६. रोगी कुथित एवं अति धातुस्राव से युक्त मल का त्याग करता है [The stool contains Sloughs (Kuthita) and tissue element in excess.- Dr. Bhagvandas Page-213]

७. रोगी के मल में कुथित अंश (सड़े अंश) एवं धातु का अंश ज्यादा रहता है, मल कम रहता है, अथवा नहीं रहता ।

८. रोगी प्रायः तृष्णा (Thirst), दाह (Burning sensation), ज्वर (Fever), भ्रम (Giddiness), मूर्च्छा (Fainting), तमक (आँखों के सामने अंधकार छा जाना), हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma) आदि उपद्रवों से युक्त हो अथवा कभी वेदना होती हो कभी नहीं होती हो (Excessive pain or no pain)

९. अतिसार बार-बार होने से गुदा अपने स्थान से च्युत हो गयी हो, पाक को प्राप्त हो (Inflammed) हो जाना अथवा गुदभ्रंश हो अथवा गुद बलियाँ अपने स्थान से च्युत हों, अथवा गुद नाल भ्रंश हो गया हो (मुक्त नाल) ।

१०. जिस अतिसार के रोगी का बल (Strength), मांस (Muscle tissue) एवं रक्त (Blood) अत्यधिक क्षीण हो गया हो, जिसके सभी पर्वों (छोटी संधियाँ) एवं अस्थियों में वेदना होती हो, जो अरोचक (Anorexia), अति प्रलाप, अरति (dullness), मोह (unconsciousness) से युक्त हो ।

११. जिसमें व्याधि के लक्षण अचानक समाप्त अथवा कम हो जाय ।

इन प्रकार के रोगियों (उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अतिसार के रोगी) की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये । इस प्रकार यहाँ सन्निपातज अतिसार का विवेचन किया गया ।

चक्रपाणि–'अपि चेत्यादि' के द्वारा विकृतविषमसमवाय से होने वाले (विकृतविषमसमवायजन्य) त्रिदोषज अतिसार के लक्षणों को बताया गया है । [इस प्रकार के अतिसार में दोषों के स्वभाव के अनुसार लक्षण नहीं मिलते ।]

अतिप्रकृष्टं प्रदूष्यन्त इति–दोष जब अत्यधिक रूप से प्रकुपित होते हैं तभी धातुओं को विशेष रूप से दूषित करते हैं, यह अभिप्राय है ।

मांसधावनं मांसप्रक्षालनोदकम्–मांस का धोवन (धुले हुए मांस का पानी) ।

समासव्यत्यासादुपवेश्यत इति–समास एवं व्यत्यास रूप में निर्दिष्ट लक्षणों का मिलना । समासः यथोक्तलक्षणानां मेलकः-बताये गये लक्षणों का मिश्रित रूप से मिलना, व्यत्यासः अमेलकः=अलग-अलग मिलना (विपरीत क्रम में मिलना) अर्थात् कभी कुछ लक्षण मिलना, कुछ समय बाद भिन्न लक्षणों का मिलना ।

सकृदिति कदाचित्–कभी पुरीष का ग्रथित (बंधा हुआ) एवं आम युक्त होना तथा कभी पक्व निकलना ।

विगतरसं मुखं यस्य स विरसमुखः-जिसके मुख का रस नष्ट हो गया हो वह 'विरसमुख' कहा गया है । अर्थात् स्वाद रहित होना । एभिः वक्ष्यमाणैः=निर्दिष्ट वर्णों एवं उपद्रवों से युक्त त्रिदोषज अतिसार को असाध्य समझना चाहिये । वेसवारसदृशम्-वेसवार के समान, वेसवार के लक्षणों को-'निरस्थि पिशितं पिष्टं' (सु.सू.अ. ४६) के द्वारा बताया गया है । **मेचकाभमिति**-स्निग्ध कृष्ण वर्ण (Dark Blue) या मेचक (स्याही) के वर्ण के सदृश ।

मक्षिकाकान्तमिति-मक्खी को प्रिय, 'मक्षिकाक्रान्तं' इति पाठ होने पर-मक्खियों से घिरा हुआ, अर्थात् पुरीष (Stool) के ऊपर मक्खियों का भिनभिनाना; अर्थ गृहीत करना चाहिये ।

'तृष्णेत्यादिना सोपद्रवमिति'–तृष्णा इत्यादि के द्वारा सन्निपातज अतिसार के उपद्रवों का अभिधान किया गया है । **मुक्तनालमिति मुक्तगुदम्**-गुदा का बाहर निकल आना (Prolapse of Rectum)

सहसोपरतविकारत्वं यद्यपि रिष्टे संशयितमरणमुक्तम्–अचानक विकार का शान्त हो जाना, यद्यपि रिष्ट में संशयित मरण कहा गया है, अर्थात् उसके जीवन के प्रति संदेह है, यह कहा गया है । लेकिन यह स्थिति यदि अतिसार में मिलती है तो निश्चित मरण की सूचक है, ऐसा समझना चाहिये । ॥९॥

तमसाध्यतामसंप्राप्तं चिकित्सेद् यथाप्रधानोपक्रमेण हेतूपशयदोषविशेषपरीक्षया चेति ॥१०॥

चिकित्सासूत्र (Line of Treatment)–यदि अतिसार असाध्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है तब ऐसे रोगी में हेतु (Causitive factors), उपशय (Homologatory therapy) एवं दोष विशेष की सम्यक् परीक्षा करके प्रधान दोष की चिकित्सा पहले तथा शेष की बाद में करनी चाहिये ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि-यथाप्रधानोपक्रमेणेति-तीनों दोषों (वात, पित्त व कफ) में जिस दोष की प्रधानता होती है, उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिये। हेत्वादि की परीक्षा तो बाद के काल में की जाती है। **तेनात्र विशिष्टा चिकित्सैवोच्यते**-उससे या उसके द्वारा यहाँ विशिष्ट चिकित्सा को ही कहा गया है। ॥१०॥

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ। तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम् ॥११॥

आगन्तुक अतिसार (Exogenous diarrhoea)—मानसिक दोषों से उत्पन्न होने वाले भयज एवं शोकज, ये दो अतिसार आगन्तुक होते हैं। इन दोनों के लक्षण वातज अतिसार के लक्षणों के समान होते हैं।

चक्रपाणि-'आगन्तू इत्यादि' के द्वारा भय एवं शोक से उत्पन्न होने वाले दो प्रकार के अतिसार जो आगन्तुक की श्रेणी में आते हैं, को बताया गया है। आगन्तू इति-आगन्तुहेतुजनितभयशोकजा-आगन्तु कारणों से उत्पन्न होने वाले भयज एवं शोकज अतिसार। **मानसाविति**-भय व शोक से उत्पन्न।

यहाँ मानस एवं आगन्तुज में कोई विरोध नहीं है। इन दोनों (शोकज एवं भयज अतिसार) के लक्षणों को 'अतिदेश' से 'तत्तयोर्लक्षणं' के द्वारा बताया गया है। ॥११॥

मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति। तयोः क्रिया वातहरी हर्षणाश्वासनानि च ॥१२॥
इत्युक्ताः षडतीसाराः, साध्यानां साधनं त्वतः। प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वेण यथावत्तन्निबोधत ॥१३॥

आगन्तुक अतिसार का चिकित्सासूत्र-भय एवं शोक के द्वारा वायु शीघ्र ही प्रकुपित हो जाती है, अतः भयज एवं शोकज अतिसार में वातनाशक, हर्षण एवं आश्वासन चिकित्सा करनी चाहिये। इस प्रकार यहाँ छः प्रकार के अतिसारों का विवेचन किया गया। अब आगे साध्य अतिसारों की चिकित्सा का यथावत् वर्णन किया जा रहा है। हे अग्निवेश ! उसे सुनो-

चक्रपाणि-भयज एवं शोकज अतिसार में वातातिसार के लक्षण किस कारण से मिलते हैं, इसे यहाँ 'मारुत इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यस्मात् भयशोकजनितोऽत्र मारुतः कारणं भवति-भय व शोक के कारण प्रकुपित वायु ही यहाँ अतिसार का कारण होती है, इसलिये इस अतिसार (भयज एवं शोकज अतिसार) में वातातिसार के लक्षण मिलते हैं, यह कहना उचित है। ये दोनों वात से उत्पन्न होने व वातज अतिसार के लक्षणों से युक्त हैं, इस कारण से इन्हें वातज अतिसार में अन्तर्भावित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनकी चिकित्सा वात से भिन्न-हर्षण (हर्ष उत्पन्न करने वाली) एवं आश्वासन भी बतायी जायेगी। अतः यहाँ चिकित्सा भेद से ही व्याधियों के भेद किये गये हैं।

किं च, लक्षणभेदोऽप्यत्र 'मारुतः शीघ्रं हि परिकुप्यति' इत्यनेनोक्तः-भयज एवं शोकज अतिसार वातज अतिसार से लक्षणों के आधार पर भी भिन्न होता है। इसमें वायु शीघ्र ही प्रकुपित होती है, यह कहा गया है। जहाँ भयजन्य एवं शोकजन्य अतिसार होता है उसमें वायु शीघ्रकारी होती है। अर्थात् शीघ्र प्रकुपित हो जाती है। अतः निदान (Etiology-भय एवं शोक) के प्राप्त होते ही वात प्रकुपित होकर शीघ्र ही अतिसार को उत्पन्न कर देता है। इस कारण भयज एवं शोकज अतिसार का यह विशिष्ट लक्षण है। सन्निपातज अतिसार की उत्पत्ति में भय (Fear) एवं शोक (Grief) को कारण के रूप में कहा गया है। ये दोनों यहाँ (सन्निपातज अतिसार) अन्य हेतुओं के साथ रहने पर कारण होते हैं, न कि मात्र इन दोनों हेतुओं (भय व शोक) के कारण त्रिदोषज अतिसार उत्पन्न होता है। यद्यपि यहाँ भयज एवं शोकज अतिसार में तुल्य (समान) लक्षण बताये गये हैं, फिर भी चिकित्सा में भिन्नता होने से ये दोनों अलग-अलग कहे गये हैं। **भयजे आश्वासनं, शोकजे हर्षणमिति चिकित्साभेदः**-भयज अतिसार में **आश्वासनकारी** एवं शोकज अतिसार में हर्षण चिकित्सा की जाती है। आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है, यथा-'तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः' (सु.उ.तं.अ. ४०) [उ.-उन भावों के द्वारा शोक करने से अल्प भोजन करने वाले व्यक्ति के अश्रुवेग जाठराग्नि को उपहत करके रक्त को क्षुभित करते हुए गुञ्जा फल के समान वर्ण वाला रक्त अधोमार्ग से बाहर निकलता है। अथवा मल (पुरीष) के साथ बाहर निकलता है, । निकलने वाला पुरीष दुर्गन्ध अथवा निर्गन्ध एवं कष्ट के साथ बाहर आता है। इस अतिसार को शोकज अतिसार कहते हैं।] के द्वारा शोकज अतिसार का विवेचन किया गया है। सुश्रुत द्वारा वर्णित शोकज अतिसार यहाँ वर्णित शोकज अतिसार से भिन्न है, जबकि चरकानुमत शोकज अतिसार के विशिष्ट हेतु हैं। अतः सुश्रुतोक्त शोकज अतिसार का अन्तर्भाव चरकोक्त सन्निपातज अतिसार में हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये। इसमें वर्णित बाष्पोष्मा को ही कारण माना गया है। शोक एवं अनशन (अल्प आहार) से वायु, बाष्पोष्मा से पित्त व कफ प्रकुपित होता है, इसलिए उसकी असाध्यता का भी कथन वहाँ किया गया है। यहाँ भी त्रिदोषज अतिसार में शोक को भी हेतु स्वीकार किया गया है। जिसे सुश्रुत ने "अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः (सु.उ.तं.अ. ४०) इत्यादि के द्वारा अजीर्ण से उत्पन्न अतिसार का पृथक् से उल्लेख किया है उसका भी समावेश यहाँ त्रिदोषज में ही कर लिया गया है। आमातिसार (अन्नाजीर्णजन्य अतिसार) के लक्षणों में 'दोषाः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है जिसका

Scanned by CamScanner

अभिप्राय त्रिदोष प्रकोप से है, यहाँ अजीर्ण को त्रिदोष प्रकोप का कारण बताया गया है । यहाँ वर्णित: "व्यापन्नाग्नेस्त्रयो दोषाः प्रकुपिता" (श्लोक नं. ८) के द्वारा अग्निमांद्य जनित अजीर्ण का त्रिदोषज (सन्निपातज) अतिसार में ही 'कारणत्व' बताया गया है । इस प्रकार सुश्रुतोक्त सभी अतिसारों का समावेश चरकोक्त अतिसारों में हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये । ॥१२-१३॥

दोषाः सन्निचिता यस्य विदग्धाहारमूर्च्छिताः । अतीसाराय कल्पन्ते भूयस्तान् संप्रवर्तयेत् ।।१४।।
न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे । विबध्यमानां प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ।।१५।।
दण्डकालसकाध्मानग्रहण्यर्शोगदांस्तथा । शोथपाण्ड्वामयप्लीहकुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ।।१६।।
तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान् । कृच्छ्रं वा वहतां दद्यादभयां संप्रवर्तिनीम् ।।१७।।
तया प्रवाहिते दोषे प्रशाम्यत्युदरामयः । जायते देहलघुता जठराग्निश्च वर्धते ।।१८।।
प्रमथ्यां मध्यदोषाणां दद्यादीपनपाचनीम् । लङ्घनं चाल्पदोषाणां प्रशस्तमतिसारिणाम् ।।१९।।

अतिसार रोग की चिकित्सा (Treatment of Atisāra)

शोधन क्रम–यदि विदग्ध आहार (Undigested food) के कारण प्रकुपित दोष संचित होकर अतिसार को उत्पन्न करते हैं तब ऐसी अवस्था में बढ़े हुए दोषों को बाहर निकालना चाहिये । अर्थात् विरेचक औषधियों द्वारा दोषों का निर्हरण करना चाहिये ।

आमातिसार में संग्राही औषधि का निषेध–आमातिसार में पहले संग्राही औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि संग्राही औषधि का प्रयोग किया जाता है तब वृद्ध दोष विबद्ध (अवरुद्ध) होकर-दण्डालसक (A type of Alasaka which stiffens the body), आध्मान (Tympanitis), ग्रहणी (Grahaṇī disorder), अर्श (Piles), शोथ (Oedema), पाण्डु (Anaemia), प्लीह रोग (Splenic disorders), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), गुल्म (Phantom tumour) एवं ज्वर (Fever) आदि व्याधियों को उत्पन्न करता है । इसलिये चिकित्सक को उत्क्लेशित एवं स्वयं प्रवृत्त दोषों की पहले उपेक्षा करनी चाहिये । अथवा ये दोष यदि कष्ट के साथ बाहर निकल रहे हों तब उन्हें बाहर निकालने हेतु हरीतकी चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए ।

हरीतकी चूर्ण के प्रयोग से दोषों के निकल जाने पर उदररोग (अतिसार) शान्त हो जाता है । शरीर में लघुता उत्पन्न हो जाती है तथा अग्नि बढ़ जाती है ।

मध्य दोषों की वृद्धि से यदि अतिसार उत्पन्न हुआ है तब रोगी को दीपन-पाचन प्रमथ्या (Decoction) का प्रयोग कराना चाहिये तथा अल्प दोषों के प्रकोप की अवस्था में लंघन कराना प्रशस्त है ।

चक्रपाणि–'दोषाः सन्निचिता इत्यादि' के द्वारा अतिसार की चिकित्सा का अभिधान किया गया है ।

विदग्ध शब्देनात्रापक्वाहारवाचिना चतुर्विधमप्यामं, विदग्धं, विष्टब्धं, रसशेषं चाजीर्णं गृह्यते–विदग्ध शब्द से यहाँ अपक्व आहार वाची-आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण एवं रसशेषाजीर्ण, ४ प्रकार के अजीर्ण का ग्रहण किया गया है ।

'संप्रवर्तयेदिति' से अतिसार में सबसे पहले स्वयं प्रवृत्त होने वाले आमदोष की उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् यदि आमदोष स्वयं निकल रहा है तो उसे निकलने देना चाहिए । यदि रुक-रुक करके अल्प मात्रा में निकल रहा है तब उसे विरेचन योगों के प्रयोग से बाहर निकाल देना चाहिए । जिसके बारे में कहा गया है, यथा–"कृच्छ्रं वा वहतां दद्यात् अभयां संप्रवर्तिनीम्" इति [यदि दोष कष्ट के साथ अल्प-अल्प मात्रा में बाहर निकल रहे है तब हरीतकी के प्रयोग द्वारा उसे बाहर निकाल देना चाहिए । अर्थात् उनकी सम्यक् प्रवृत्ति के लिए हरीतकी कल्क का प्रयोग कराना चाहिये ।]

'न तु संग्रहणं पूर्वं देयमामातिसारिणे इति' से यहाँ 'पूर्वमिति' विशेषण द्वारा आमातिसार में बाद के काल में संग्राही औषध का प्रयोग करना चाहिये, यह दर्शाया गया है । पहले आमातिसार में स्वयं प्रवृत्त दोषों की उपेक्षा करना अथवा उसे निकलने देना चाहिये । यदि कृच्छ्रता के साथ दोष निकल रहे हों तब उसे विरेचन कराकर बाहर निकाल देना चाहिये । इसके विरोध में यह व्यवस्था की गयी है–

१. रोगी के शरीर में आमदोष की अत्यधिक वृद्धि हो, रोगी बलवान हो तब आमदोष की प्रवृत्ति हेतु विरेचन कराना चाहिए । अर्थात् विरेचन कराकर आमदोष का निर्हरण करना चाहिये ।

२. यदि रोगी दुर्बल हो तथा शरीर में आमदोष अल्प हो तब सर्वप्रथम प्रवृत्त आमदोष की उपेक्षा करनी चाहिए पश्चात् संग्राही औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । इस अवस्था में यदि संग्राही औषधि द्वारा अतिसार को नहीं रोका गया तब बल का अत्यधिक क्षय हो जाने से रोगी की मृत्यु भी हो सकती है । कुछ आचार्य 'पूर्वं संग्रहणं न देयमिति' से अम्बष्ठा, शाल्मली, कुटजत्वक् आदि संग्राही औषधियों की योजना नहीं करनी चाहिये, यह अर्थ ग्रहण करते हैं । लेकिन 'मुस्तोदीच्यादि' पाचन-संग्राही औषधियों का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कहते हैं । यहाँ वर्णित आमातिसार की चिकित्सा सभी प्रकार के आमातिसारों की साधारण (सामान्य) चिकित्सा है, ऐसा कहते हैं ।

Scanned by CamScanner

जानना चाहिये। **कृच्छ्रं वा वहतामिति**-कृच्छ्रता (कष्ट) के साथ दोषों का प्रवृत्त होना अर्थात् विबन्ध के साथ दोषों का बाहर निकलना। **प्रमथ्यामिति**-प्रमथ्या से यहाँ दीपन-पाचन कषाय (क्वाथ) का ग्रहण किया गया है। प्रमथ्या शब्द पुरानी परम्परा के अनुसार दीपन-पाचन कषाय के रूप में वैद्यक शास्त्र में परिभाषित है, ऐसा सुना जाता है। यथा-विडङ्ग कषाय, शैखरिक कषाय आदि का प्रयोग वैद्यों द्वारा किया जाता है।

इस प्रकार दोषों की अत्यधिक प्रकोपावस्था में प्रवर्तन; अर्थात् विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकालना, मध्यावस्था में या मध्यम प्रकोप में प्रमथ्या (दीपन-पाचन कषाय) व अल्प दोषों में लंघन का प्रयोग सर्वप्रथम कराना चाहिये। ॥१४-१९॥

पिप्पली नागरं धान्यं भूतीकमभया वचा। ह्रीवेरं भद्रमुस्तानि बिल्वं नागरधान्यकम् ॥२०॥
पृश्निपर्णी श्वदंष्ट्रा च समङ्गा कण्टकारिका। तिस्रः प्रमथ्या विहिताः श्लोकार्धैरतिसारिणाम् ॥२१॥
वचाप्रतिविषाभ्यां वा मुस्तपर्पटकेन वा। ह्रीवेरशृङ्गवेराभ्यां पक्वं वा पाययेज्जलम् ॥२२॥

मध्यम दोषों में प्रयुक्त प्रमथ्यायें-मध्यम दोषों से उत्पन्न अर्थात् यदि अतिसार में दोषों का प्रकोप मध्यम प्रकार का है तब उसमें अधोलिखित प्रमथ्या (क्वाथ-Decoction) का प्रयोग करना चाहिये।

१. पिप्पली, सोंठ (शुण्ठी), धनिया, भूतीक (अजवाइन), अभया (हरीतकी) एवं वचा।

२. ह्रीवेर (सुगन्धवाला), भद्रमुस्तक (नागरमोथा), बिल्व, शुण्ठी (सोंठ) एवं धनिया।

३. पृश्निपर्णी, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), समङ्गा एवं कण्टकारी।

इस प्रकार अतिसार नाशक तीन प्रमथ्याओं का उल्लेख श्लोक के आधे-आधे भाग में किया गया।

आमदोष पाचक जल-अधोलिखित द्रव्यों से साधित जल का प्रयोग अतिसार में (आमातिसार में) आम पाचनार्थ करना चाहिए।

१. वचा एवं अतीस, २. नागरमुस्तक एवं पित्तपापड़ा, ३. ह्रीबेर (सुगन्धवाला) एवं सोंठ (शुण्ठी)

चक्रपाणि-तिस्रः प्रमथ्या इति यथाक्रमं कफपित्तवातेषु विभज्य देया इति वदन्ति-तीनों प्रमथ्याओं का प्रयोग क्रमशः कफ, पित्त एवं वात दोषोत्पन्न अतिसार में करना चाहिये। अर्थात् कफज अतिसार (कफ प्रधान अतिसार) में प्रथम प्रमथ्या (पिप्पल्यादि), पित्तज अतिसार में ह्रीबेरादि अर्थात् द्वितीय तथा वातज में तृतीय (पृश्निपर्ण्यादि) प्रमथ्या का प्रयोग करना चाहिये। तद्वत् जल का भी प्रयोग क्रमशः-'वचा+अतिविषा' साधित जल-कफज अतिसार, मुस्तक+पित्तपापड़ा साधित जल-पित्तज अतिसार, एवं ह्रीवेर+शृंगबेर (शुण्ठी) साधित जल वातज अतिसार, में करते हैं।

षडङ्गपानीय विधिनाऽत्र जलसाधनं ज्ञेयम्-यहाँ जल का साधन षडङ्गपानीय विधि के अनुसार करते हैं, ऐसा जानना चाहिये। [शुण्ठी आदि द्रव्य १ तोला लेकर ६४ तोले जल में पकावें, पकाते-पकाते जब आधा जल शेष रह जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें। इस अर्ध अवशिष्ट जल (द्रव) का प्रयोग आमपाचनार्थ करना चाहिये। यही षडङ्गपानीय विधि है। अर्थात् इसी विधि से जल को सिद्ध करना चाहिये।] ॥२०-२२॥

युक्तेऽन्नकाले क्षुत्क्षामं लघून्यन्नानि भोजयेत्। तथा स शीघ्रमाप्नोति रुचिमग्निबलं बलम् ॥२३॥
तक्रेणावन्तिसोमेन यवाग्वा तर्पणेन वा। सुरया मधुना चादौ यथासात्म्यमुपाचरेत् ॥२४॥
यवागूभिर्विलेपीभिः खडैर्यूषै रसौदनैः। दीपनग्राहिसंयुक्तैः क्रमश्च स्यादतः परम् ॥२५॥

अतिसार में लघु अन्न का प्रयोग-यदि अन्नकाल उपस्थित हो, रोगी को बहुत भूख लगी हो तब उसे लघु अन्न (आहार) खिलाना चाहिये, ऐसा करने से उसमें शीघ्र ही अन्न के प्रति रुचि एवं जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा बल की वृद्धि होती है।

तक्रादि का प्रयोग-रोगी की सात्म्यता का विचार करते हुए तक्र, अवन्तिसोम (काञ्जी A Sour drink), यवागू (thick Gruel), तर्पण (जल में घोलकर बनाया हुआ सत्तू), सुरा या मधु के साथ लघु अन्न का सेवन कराना चाहिए। अर्थात् काञ्जी आदि पेयों में से जो सात्म्य हो उसके साथ लघु अन्न का सेवन कराना चाहिये।

इसके बाद क्रमशः रोगी को दीपन एवं ग्राही औषधियों से साधित यवागू, विलेपी (Thick gruel-यवागू, विलेपी-A sticky Gruel), खड (A sour appetiser), यूष (Vegetable soup), मांसरस एवं भात का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि-युक्तेऽन्नकाले इति-सम्यग्बुभुक्षाकाले-जिस समय व्यक्ति को अच्छी प्रकार से भूख लगे उसी काल को 'उचित अन्नकाल' कहा गया है। अर्थात् इस काल में व्यक्ति को भोजन करना चाहिए। अवन्तिसोमं=काञ्जी। **काञ्जितक्रादीनां च द्रवाणां तर्पणालोडनार्थमिह अभिधानम्**-काञ्जी एवं तक्र आदि द्रव्यों का अभिधान यहाँ लघु अन्न के साथ मिलाकर प्रयोग करने के लिए अथवा तर्पणार्थ (जिसके सेवन से बल की शीघ्र प्राप्ति हो; उसे तर्पण कहा जाता है) किया गया है।

Scanned by CamScanner

यवागूर्विरलद्रवा विलेपी बहुसिक्था च–यवागू में द्रव कम रहता है जबकि विलेपी में चावल के कण ज्यादा रहते हैं। यवागू हेतु अन्न-अन्न १ भाग एवं जल- १६ भाग लेकर पकाते हैं। पकाते-पकाते जब जल आधा बच जाय तथा अन्न पक जाय तब समझें कि यवागू तैयार हो गया।

दीपनग्राहिगणौ षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तौ-दीपन एवं ग्राही गण (महाकषाय) का उल्लेख षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में किया गया है। [दीपनीय महाकषाय (गण)-पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शृंगबेर (सोंठ), अम्लवेतस, कालीमिर्च, अजमोदा, भल्लातक की गुठली एवं हिङ्गु निर्यास (हींग); ये दस द्रव्य क्षुधा को वृद्ध करते हैं। संधानीय महाकषाय (ग्राही गण)-मुलेठी, मधुपर्णी, पृश्निपर्णी, अम्बष्ठकी (पाठा), समङ्गा, मोचरस, धातकी, लोध्र, प्रियङ्गु व कट्फल; ये दस द्रव्य ग्राही के अन्तर्गत रखे गये हैं।] **अतः परमिति यवाग्वाद्युपचारानन्तरम्**-यवागू आदि के उपचार के अनन्तर दीपन एवं ग्राही द्रव्यों से साधित यवागू, यूष, खडयूष, मांसरस एवं साठी व शालि चावल का भात सेवन करना चाहिए। ॥२३-२५॥

शालपर्णीं पृश्निपर्णीं बृहतीं कण्टकारिकाम्। बलां श्वदंष्ट्रां बिल्वानि पाठां नागरधान्यकम् ॥२६॥
शटीं पलाशं हपुषां वचां जीरकपिप्पलीम्। यवानीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥२७॥
वृक्षाम्लं दाडिमाम्लं च सहिङ्गु बिडसैन्धवम्। प्रयोजयेदन्नपाने विधिना सूपकल्पितम् ॥२८॥
वातश्लेष्महरो ह्येष गणो दीपनपाचनः। ग्राही बल्यो रोचनश्च तस्माच्छस्तोऽतिसारिणाम् ॥२९॥

अतिसार में उपयोगी द्रव्य–शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (भटकटैया), बला, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), बिल्व, पाठा, नागर (सोंठ), धान्यक (धनियाँ), शटी (कचूर), पलाश, हपुषा (हाऊबेर Juniperus communis Linn), वचा, जीरा, पिप्पली, यवानी (अजवाइन), पिप्पलीमूल, चित्रक, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), वृक्षाम्ल, दाडिमाम्ल (खट्टे अनार के बीज), हिङ्गु (हींग), बिडलवण, सैन्धवलवण; इन द्रव्यों का प्रयोग विधिपूर्वक अन्नपान के साथ मिलाकर करना चाहिए। यह गण (द्रव्यों का समूह) वातकफनाशक है। ये सभी द्रव्य दीपन (जाठराग्नि की दीप्त करने वाले), पाचन (अन्न को पचाने वाले (Digestive), संग्राही (दोष एवं धातुओं को रोकने वाले), बल्य (शरीर को बल प्रदान करने वाले), रोचन अर्थात् आहार में रुचि उत्पन्न करने वाले हैं। इसलिये अतिसार के रोगी को इन द्रव्यों का सेवन कराना हितकर माना गया है, अर्थात् ये द्रव्य अतिसार के रोगी में पथ्य होते हैं।

चक्रपाणि–'शालपर्णीत्यादि' के द्वारा यवागू आदि के संस्कार में उपयोगी द्रव्यों का अभिधान किया गया है। अर्थात् इन्हीं द्रव्यों के षडंगपानीय विधि से निर्मित क्वाथ (द्रव्य) द्वारा यवागू आदि का निर्माण कर प्रयोग करना चाहिये। ॥२६-२९॥

जल्पकल्पतरु टीका–'शालपर्णीत्यादि' के द्वारा दीपन व ग्राही द्रव्यों का कथन किया गया है। इस गण में पठित अलग-अलग अथवा समस्त द्रव्यों से विधिपूर्वक पेयादि का निर्माण कर अतिसार के रोगी को देना चाहिए।

गणोक्तानां यथालाभं प्रयोगात्-गण में पठित जितने भी द्रव्य प्राप्त हो सकें उन्हीं से यवागू आदि को सिद्ध करें, कोई आवश्यक नहीं है कि सभी द्रव्यों का ही प्रयोग किया जाय।

आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। सशूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥३०॥
यूषेण मूलकानां तं बदराणामथापि वा। उपोदिकायाः क्षीरिण्या यवान्या वास्तुकस्य वा ॥३१॥
सुवर्चलायाश्चञ्चोर्वा शाकेनावल्गुजस्य वा। शट्याः कर्कारुकाणां वा जीवन्त्याश्चिर्भटस्य वा ॥३२॥
लोणिकायाः सपाठायाः शुष्कशाकेन वा पुनः। दधिदाडिमसिद्धेन बहुस्नेहेन भोजयेत् ॥३३॥

अतिसार में शाक का प्रयोग–आम के पक्व हो जाने पर व्यक्ति शूल (Colic pain) के साथ एवं आमयुक्त बँधा हुआ मल प्रवाहिका (कांख-कांख करके) के साथ बार-बार अल्प मात्रा में त्याग करता है तो उसे मूली या बेर के यूष अथवा उपोदिका (पोई का शाक), क्षीरिणी (खिरनी), यवानी (अजवाइन), वास्तुक (बथुआ), सुवर्चला (हुरहुर), चञ्चु, अवल्गुज (बाकुची), शटी (कचूर), कर्कारुक, जीवन्ती, चिर्भट, लोणिका (नोनिया शाक), पाठा अथवा शुष्क शाक को दधि एवं दाडिम डालकर निर्मित करें। पश्चात् इस शाक का सेवन प्रभूत मात्रा में घृत डालकर करें।

चक्रपाणि–'सप्रवाहिकमिति' से यहाँ प्रवाहिका के लक्षण को-"वायुर्विवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य। प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः" (सु.उ.तं.अ. ४०) [अहितकर भोजन करने वाले व्यक्ति में वायु बढ़कर संचित कफ को अधोमार्ग से निकलने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार बार-बार प्रवाहण करने पर अल्प मात्रा में मल युक्त कफ गुदमार्ग से बाहर निकलता है। इस व्याधि को विद्वान लोग प्रवाहिका कहते हैं।] के द्वारा सुश्रुत संहिता में बताया गया है।

क्षीरिणी=दुग्धिका। सुवर्चला=सूर्यभक्ता। चञ्चुः=नाडीच। कर्कारु=कुष्माण्ड भेद। चिर्भट=कर्कटी (ककड़ी)। लोणिका=इस नाम से प्रसिद्ध शाक (नोनिया शाक)। शुषा=कासमर्द, कुछ आचार्य रूक्ष क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले शाक को कहते हैं। ॥३०-३३॥

Scanned by CamScanner

कल्कः स्याद्बालबिल्वानां तिलकल्कश्च तत्समः । दध्नः सरोऽम्लस्नेहाद्यः खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ।।३४।।
यवानां मुद्गमाषाणां शालीनां च तिलस्य च । कोलानां बालबिल्वानां धान्ययूषं प्रकल्पयेत् ।।३५।।
ऐकध्यं यमके भृष्टं दधिदाडिमसारिकम् । वर्चःक्षये शुष्कमुखं शाल्यन्नं तेन भोजयेत् ।।३६।।
दध्नः सरं वा यमके भृष्टं सगुडनागरम् । सुरां वा यमके भृष्टां व्यञ्जनार्थे प्रदापयेत् ।।३७।।
फलाम्लं यमके भृष्टं यूषं गृञ्जनकस्य वा । लोपाकरसमम्लं वा स्निग्धाम्लं कच्छपस्य वा ।।३८।।
बर्हितित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां तथा रसाः । स्निग्धाम्लाः शालयश्चाढ्या वर्चःक्षयरुजापहाः ।।३९।।
अन्तराधिरसं पूत्वा रक्तं मेषस्य चोभयम् । पचेद्दाडिमसाराम्लं सर्वान्यस्नेहनागरम् ।।४०।।
ओदनं रक्तशालीनां तेनाद्यात् प्रपिबेच्च तत् । तथा वर्चःक्षयकृतैर्व्याधिभिर्विप्रमुच्यते ।।४१।।

खडयूष का प्रयोग–बालबिल्व का कल्क (कच्चे बेल की गुद्दी का कल्क)- १ भाग, तिल का कल्क- १ भाग, खट्टी दही की मलाई एवं घृत या तेल (अत्यधिक मात्रा); सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर खड तैयार करें । इस खड के सेवन करने से प्रवाहिका (मरोड़ के साथ मल का आना) दूर हो जाती है ।

पुरीषक्षय में धान्ययूष का प्रयोग–यदि रोगी के पुरीष का क्षय हो गया हो (यह स्थिति अत्यधिक अतिसार के कारण उत्पन्न हो जाती है ।) एवं उसका मुख सूख रहा हो तब उसे यव, मुद्ग, माष (उड़द), शाली चावल, तिल, खट्टीबेर, बालबिल्व (कच्चे बेल की गुद्दी); द्वारा निर्मित धान्य यूष को यमक द्वारा छौंक कर उसमें खट्टी दही एवं दाडिम स्वरस मिलाकर शाली चावल के भात के साथ खाने को देना चाहिये ।

→ दधिसर (दही की मलाई) को यमक (घृत व तैल की सम मात्रा) में भूनकर उसमें गुड़ व शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण को मिलाकर आतुर को खिलाना चाहिए ।

→ अथवा सुरा (Alcohol) को यमक में भूनकर उसमें गुड़ व सोंठ मिलाकर व्यक्ति को व्यञ्जन के रूप में खिलाना चाहिए । अथवा फलों के रस को यमक (घृत- १ भाग, तिल तैल- १भाग) में भूनकर रोगी को खाने के लिए देना चाहिए । अथवा गृञ्जनक स्वरस को यमक में भूनकर अथवा लोपाक (लोमड़ी) के मांसरस में खट्टे अनार का रस मिलाकर अथवा कच्छप (कछुये) के मांसरस में घृत मिलाकर अथवा मोर, तीतर, मुर्गा अथवा वटेर के मांसरस में घृत एवं खट्टे अनार का रस मिलाकर शाली चावल के भात के साथ खाने के लिए आतुर को देना चाहिए ।

→ इनके सेवन से अतिसार में होने वाली वेदना एवं पुरीषक्षय दूर हो जाता है, अर्थात् ये योग पुरीषक्षय को दूर करने में श्रेष्ठ हैं ।

→ यहाँ शाली चावल के भात के साथ घृत एवं अम्ल रसों का संयोग करके ही सेवन का विधान है ।

→ भेड़ के मध्य शरीर के मांस को विधिपूर्वक पकाकर मांसरस तैयार करें । इस मांसरस को एक स्वच्छ कपड़े से छान लें । इसमें भेड़ का रक्त मिलावें, पश्चात् उसमें खट्टे अनार का रस, धनिया चूर्ण, घृत एवं शुण्ठी चूर्ण मिलाकर पकावें। इस पक्व मांसरस को साठी चावल के भात के साथ खाने के लिए दें एवं भोजन के बाद रोगी इसका पान करे । इस मांसरस के सेवन से पुरीषक्षय जनित व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं ।

चक्रपाणि–कल्कः स्यादित्यादिना खडः-इसके द्वारा खड निर्माण की विधि को बताया गया है । [Buttermilk boiled with acid vegetables and spices.] बेल की गुद्दी का कल्क, तिलकल्क (Paste of the Tila) बराबर मात्रा में लें, इसमें दधिसर, काञ्जी, स्नेह आदि द्रव्यों को डालकर खडयूष का निर्माण करें ।

धान्ययूषमिति–धान्य प्रधान यूष को धान्ययूष कहा गया है । धान्य से यहाँ अन्न अर्थ लिया गया है, अर्थात् जिस यूष में अन्न की मात्रा ज्यादा हो उसे धान्ययूष कहते हैं । यव, मुद्ग, माष (उड़द), शाली चावल, तिल, बेर एवं अपक्व बिल्व के गुदे से निर्मित यूष धान्ययूष कहलाता है । **यमके इति घृततैले**-गोघृत- १ भाग, तिलतैल- १ भाग, घृत व तैल की सम मात्रा से निर्मित योग 'यमक' कहलाता है ।

दधिदाडिमसाराभ्यां संस्कृतं दधिदाडिमसारिकम्–धान्यक यूष को यमक में भुनें, पश्चात् उसमें खट्टी दही एवं दाडिम स्वरस मिलावें अथवा संस्कारित करें ।

दधि व दाडिम के सार भाग से संस्कारित करना । यद्यपि शाली चावल का भात मलबद्धता को उत्पन्न करता है, फिर भी यहाँ खडयूष, मांसरस विशेष के साथ प्रयोग करने पर अपनी संयोग शक्ति के द्वारा पुरीषक्षय में हितकारी है, यथा-"स्निग्धाम्लाः शालयश्चाढ्या वर्चःक्षय रुजापहा" इति [स्निग्ध एवं अम्ल द्रव्यों से संस्कारित शाली चावल का भात पुरीष क्षय एवं वेदना को दूर करने में श्रेष्ठ है ।

Scanned by CamScanner

तेनाद्यात् प्रपिवेत् च तमिति–उक्त अन्तराधि (भेड़ के शरीर के मध्य भाग) के मांस+रक्त से निर्मित यूष या मांसरस को शाली चावल के भात के साथ सेवन करें। भात के सेवन करने के बाद थाली में बचे हुए मांसरस को पी जाये। अर्थात् सबसे पहले मांसरस के साथ भात का सेवन करें, पश्चात् अवशिष्ट मांसरस का पान करें। पुरीषक्षय से होने वाली व्याधियाँ, यथा–मुखशोष (dryness of the mouth), दौर्बल्य (Weakness), उदावर्त आदि। इन व्याधियों में शाली चावल के साथ मांसरस का सेवन कराना चाहिए। ॥३४-४१॥

जल्पकल्पतरु टीका–यव आदि सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर अथवा जितना आवश्यक हो उतने द्रव्यों को लें, द्रव्य का १४ गुना अथवा १८ गुना पानी मिलाकर यूष का निर्माण करें। इस यूष को यमक में भून लें, पश्चात् उसे दधि एवं दाडिम के रस से सिद्ध करें। इस यूष का प्रयोग पुरीषक्षय एवं मुखशुष्कता में शाली चावल के भात के साथ करावें।

गुदनिःसरणे शूले पानमम्लस्य सर्पिषः। प्रशस्यते निरामाणामथवाऽप्यनुवासनम् ॥४२॥
चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम्। घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥४३॥

इति चाङ्गेरीघृतम्।

सचव्यपिप्पलीमूलं सव्योषविडदाडिमम्। पेयमम्लं घृतं युक्त्या सधान्याजाजिचित्रकम् ॥४४॥

इति गुदभ्रंशे चव्यादिघृतम्।

गुदभ्रंश की चिकित्सा–यदि अतिसार के रोगी में गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum) हो एवं गुदा मे शूल हो रहा हो, रोगी निराम हो; ऐसी अवस्था में अम्ल द्रव्यों से साधित घृत का पान करना चाहिये अथवा अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

चाङ्गेरीघृत–चाङ्गेरी (तिनपतिया=खटमिठवा-Oxalis corniculata), बेर, अम्लदधि (खट्टी दधि), सोंठ (शुण्ठी) एवं यवक्षार से साधित घृत के पीने से गुदभ्रंश में होने वाली वेदना दूर हो जाती है।

चव्यादिघृत–पूर्व वर्णित चाङ्गेरीघृत के द्रव्यों में चव्य, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, विडनमक, दाडिम (अनारदाना), धनिया, जीरा एवं चित्रकमूल के कल्क से घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum) में उपयोगी है।

चक्रपाणि–'चाङ्गेरीत्यादि' के द्वारा सूत्रित अम्लघृत का अभिधान किया गया है। यहाँ चाङ्गेरी का स्वरस (क्वाथ), बेर का क्वाथ, एवं दधि द्रव रूप में ग्रहण किये गये हैं। नागर (सोंठ) एवं यवक्षार का कल्क ग्रहण करना चाहिए। [स्नेह (गोघृत)- १ भाग, चाङ्गेरी स्वरस, बेर का क्वाथ एवं दही; तीनों द्रव्य मिलित रूप से स्नेह का ४ गुना- ४ भाग, कल्क- शुण्ठी चूर्ण+यवक्षार संयुक्त रूप से १/८ भाग लें। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक स्नेह सिद्ध करें।]

पेयमम्लं घृतमिति–से यहाँ पूर्व वर्णित-चाङ्गेरी स्वरस, कोल स्वरस (Decoction) एवं दधि के साथ कल्क के रूप में-चव्य, पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, विडनमक, अनारदाना, धनिया, जीरा एवं चित्रक का प्रयोग करें, पश्चात् स्वरसादि, कल्क द्रव्यों से घृत को सिद्ध करें। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा–"पञ्चकोलविडाजाजीधान्यदाडिमवेतसैः। पचेदम्लं घृतं तद्वन्नागरक्षारसंयुतम्" इति। ॥४२-४४॥

दशमूलोपसिद्धं वा सबिल्वमनुवासनम्। शटीशताह्वाबिल्वैर्वा वचया चित्रकेण वा ॥४५॥

इति गुदभ्रंशेऽनुवासनम्।

दशमूलादि अनुवासन बस्ति–दशमूल के क्वाथ (Decoction) अथवा बिल्व क्वाथ, अथवा शटी (कचूर), सौंफ एवं बिल्व के क्वाथ अथवा वचा एवं चित्रक के क्वाथ से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum) में करना चाहिये।

चक्रपाणि–**दशमूलोपसिद्धमित्यादौ अनुवासनमिति**-इसके द्वारा अनुवासन स्नेह का उल्लेख किया गया है। यहाँ अनुवासन में प्रयुक्त स्नेह से अनुवासनोपयोगी तैल का ग्रहण किया गया है, क्योंकि अनुवासन बस्ति हेतु प्रायः सिद्ध तैल का ही प्रयोग किया जाता है। अन्य आचार्य प्रकारान्तर से सिद्ध घृतों का ग्रहण करते हैं। शटी इत्यादि के द्वारा अनुवासनार्थ तीन स्नेहों का कथन किया गया है। अर्थात् शटी के क्वाथ, सौंफ के क्वाथ अथवा बिल्व क्वाथ द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग गुदभ्रंश में हितावह है।

विशेष (Comments)–अब यहाँ अम्ल घृत के अभिधान के बाद अनुवासन में उपयोगी स्नेहों का वर्णन किया गया है।

१. दशमूल के क्वाथ+बाल बिल्व (कच्चे बेल का गुदा) कल्क से साधित घृत की अनुवासन बस्ति गुदभ्रंश में दें।

२. शटी, सौंफ एवं कुष्ठ के क्वाथ एवं कल्क से साधित घृत का प्रयोग अनुवासनार्थ करें।

[शटीशताह्वाबिल्वैर्वा के स्थान पर शटीशताह्वा कुष्ठैर्वा पाठ होने पर बिल्व के स्थान पर कुष्ठ का ग्रहण किया गया है। पाठ भेद से प्राप्त होता है।

Scanned by CamScanner

३. वचा के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग।

४. चित्रक के क्वाथ एवं कल्क से सिद्ध घृत का प्रयोग गुदभ्रंश में अनुवासनार्थ करें।

स्तब्यभ्रष्टगुदे पूर्वं स्नेहस्वेदौ प्रयोजयेत्। सुस्विन्नं तं मृदूभूतं पिचुना संप्रवेशयेत् ।।४६।।

भ्रष्टगुद को यथास्थान स्थापित करना–यदि भ्रष्ट गुद (Prolapse of rectum) में जकड़ाहट उत्पन्न हो गयी हो तो सर्वप्रथम उसे स्नेहन स्वेदन कराना चाहिये। स्वेदनोपरान्त मृदु (Soft) हो जाने पर उसे पिचु से दबाकर अन्दर प्रवेश कराना चाहिये।

[If the prolapsed rectum becomes stiff or strangulated and does not go inside of its own, then oil should be applied over it and fomentation should be given. There after, when the prolapsed rectum is well fomented and it has become soft, then with the help of a cotton pad, it should be pushed inside and restored to its original place.–Dr. R.K. Sharma.]

चक्रपाणि–पिचुना संप्रवेशयेदिति-पिचु के द्वारा अन्दर प्रवेश करावें, पिचु से दबाकर बाहर निकली हुई गुदा को यथा स्थान स्थापित करें। पिचु **स्थूल कर्पटिका** (मोटा कपड़े का टुकड़ा, जो स्नेहित किया गया हो।) ।।४६।।

विबद्धवातवर्चास्तु बहुशूलप्रवाहिकः। सरक्तपिच्छस्तृष्णार्तः क्षीरसौहित्यमर्हति ।।४७।।
यमकस्योपरि क्षीरं धारोष्णं वा पिबेन्नरः। शृतमेरण्डमूलेन बालबिल्वेन वा पयः ।।४८।।
एवं क्षीरप्रयोगेण रक्तं पिच्छा च शाम्यति। शूलं प्रवाहिका चैव विबन्धश्चोपशाम्यति ।।४९।।

विबन्ध की अवस्था में कर्तव्य–यदि अतिसार के रोगी में वात एवं पुरीष की विबद्धता हो, रोगी शूल एवं प्रवाहिका से अत्यधिक आक्रान्त हो, मल के साथ रक्त एवं पिच्छा का स्राव अधिक निकल रहा हो, रोगी को प्यास अधिक लग रही हो, ऐसी अवस्था में उसे तृप्ति भर (अपनी इच्छा भर) दूध पीना चाहिये। अथवा यमक (सम मात्रा में तिल तैल एवं घृत) का पान करने के बाद धारोष्ण दूध को भर पेट पीना चाहिए। अथवा एरण्डमूल क्वाथ अथवा कच्चे बेल की गुद्दी को दूध में पकाकर पीना चाहिये। इस प्रकार क्षीरपान करने से अतिसार में रक्त का आना, झाग आना, शूल, प्रवाहिका एवं विबन्ध (Constipation) का प्रशमन हो जाता हैं।

चक्रपाणि–सौहित्यम्=तृप्ति (भरपेट) ।।४७-४९।।

विशेष (Comments)–एरण्डमूलेन वा बालबिल्वेन वा सिद्धं शृतं क्षीरं पिबेत्-एरण्डमूल क्वाथ (Decoction of Aruṇḍa mūla) अथवा कच्चे बिल्व के क्वाथ से सिद्ध क्षीर का पान करना चाहिए। इस सिद्ध क्षीर के पीने से शूल, पिच्छास्राव, रक्तस्राव, आम आदि का आना रुक जाता है।

पित्तातिसारं पुनर्निदानोपशयाकृतिभिरामान्वयमुपलभ्य यथाबलं लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत्। तृष्यतस्तु मुस्तपर्पटकोशीरसारिवाचन्दन-किराततिक्तकोदीच्यवारिभिरुपचारः लङ्घितस्य चाहारकाले बलातिबलासूर्पपर्णीशालपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकाशतावरीश्वदंष्ट्रानिर्यूहसंयुक्तेन यथासात्म्यं यवागूमण्डादिना तर्पणादिना वा क्रमेणोपचारः। मुद्गमसूरहरेणुमकुष्ठकाढकीयूषैर्वा लावकपिञ्जलशशहरिणैणकालपुच्छकर-सैरीषदम्लैरनम्लैर्वा क्रमशोऽग्निं सन्धुक्षयेत्। अनुबन्ये त्वस्य दीपनीयपाचनीयोपशमनीयसंग्रहणीयान् योगान् संप्रयोजयेदिति ।।५०।।

पित्तातिसार की चिकित्सा (Treatment of Pittātisāra)–यदि पित्तातिसार में आम का अनुबन्ध हो तब उसके निदान (Causitive factor), उपशय (Homologation) एवं आकृति (Signs and Symptoms) का विचार करते हुए रोगी एवं रोग के बलाबल के अनुसार लंघन (Fasting therapy) एवं पाचन (Digestive therapy) उपक्रमों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए अर्थात् चिकित्सार्थ लंघन एवं पाचन द्रव्यों की योजना करनी चाहिए।

यदि पित्तातिसार में रोगी को अत्यधिक प्यास लगती हो तब मुस्तक (नागरमोथा), पर्पटक (पित्तपापड़ा), उशीर (खश), सरिवा (अनन्तमूल), चन्दन, किराततिक्तक (चिरायता), उदीच्य (सुगन्ध), इन द्रव्यों द्वारा षडंगपानीय विधि से साधित जल का पान रोगी को कराना चाहिए। यदि रोगी का सम्यक् लङ्घन हो गया हो तथा आहारकाल उपस्थित हो अर्थात् क्षुधा दीप्त हो तब उसे बला, अतिबला, मुद्गपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी, शतावरी, श्वदंष्ट्रा (गोखरू) आदि द्रव्यों के षडंगपानीय विधि से निर्मित क्वाथ से मण्ड, यवागू आदि अथवा तर्पणादि को सिद्ध करके रोगी को क्रमशः भोजनार्थ देना चाहिए। यवागू आदि के प्रयोग के समय रोगी की सात्म्यता आदि का विशेष ध्यान रखना चाहिए। अथवा मुद्ग, मसूर, हरेणु (मटर), मकुष्ठ, आढ़की (अरहर) के यूष के साथ अथवा लाव (लवा), कपिञ्जल, शश, हरिण, एण व कालपुच्छक के मांसरस को अम्ल दाडिम स्वरस के साथ कुछ अम्लरस युक्त करके अथवा बिना अनार का रस डाले ही शाठी चावल के भात का सेवन कराना चाहिए। यूष एवं मांसरसों के सेवन से जाठराग्नि क्रमशः दीप्त होती है। अर्थात् इनके प्रयोग द्वारा क्रमशः जाठराग्नि को प्रदीप्त करें।

Scanned by CamScanner

यदि पूर्वोक्त चिकित्सा द्वारा भी पित्तज अतिसार बना रहता है तब दीपनीय (Digestive stimulant), पाचनीय (Digestive), उपशमनीय (दोषशामक) एवं संग्रहणीय योगों का प्रयोग करना चाहिये ।

चक्रपाणि-आमान्वयमिति आमयुक्तम्-आम युक्त अतिसार का होना अथवा पित्तातिसार में आम का सम्बन्ध होना । लङ्घनपाचनाभ्यामुपाचरेत् इति- पूर्व में आमातिसार की जो चिकित्सा बतायी गयी है उसको यहाँ अनुमोदित नहीं किया गया है । पित्त सर गुण युक्त होता है, अतः उसकी यहाँ प्रवृत्ति (प्रवर्तन) कराने पर अतियोग होने का भय रहता है, यह अभिप्राय है । जो विरेचन का विधान बताया गया है वह सामग्री विशेष की संपत्ति (उपयुक्तता) के अनुसार है । 'लङ्घितस्य इत्यादि' के द्वारा जिस पुरुष का सम्यक् लङ्घन किया जा चुका है उसे मुद्गपर्णी, माषपर्णी आदि औषधियों से साधित यवागू, मण्ड अथवा तर्पण आदि का सेवन क्रमशः कराना चाहिए । निर्यूह शब्द से यहाँ षडङ्गपानीय निर्माण की विधि के अनुसार मुद्गपर्णी आदि औषधियों से जल का निर्माण करना चाहिए । इस सिद्ध जल से यवागू आदि का निर्माण करें, यह बताया गया है । [मुद्गपर्णी आदि औषधि द्रव्य (संयुक्त रूप)- १ तोला लें, इसे १ प्रस्थ (६४ तोले) जल में पकावें, पकते-पकते जब जल (द्रव) अर्ध अवशिष्ट रह जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें । इस अर्ध अवशिष्ट जल से पेयादि का निर्माण करना चाहिए ।] क्योंकि यवागू आदि के निर्माण में इसी जल का प्रयोग किया जाता है, ऐसा विधान है ।

अनुबन्धे त्वस्येति-पित्तातिसार के बने रहने पर, अर्थात् यदि पूर्वोक्त चिकित्सा करने पर भी पित्तातिसार शान्त नहीं होता है तब उसमें दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय एवं संग्रहणीय योगों का प्रयोग करना चाहिये । इमानिति=आगे वर्णित चिकित्सा ।

सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचम् । पिबेत् पित्तातिसारघ्नं तण्डुलोदकसंयुतम् ।।५१।।
किराततिक्तको मुस्तं वत्सकः सरसाञ्जनः । बिल्वं दारुहरिद्रा त्वक् ह्रीबेरं सदुरालभम् ।।५२।।
चन्दनं च मृणालं च नागरं लोध्रमुत्पलम् । तिला मोचरसो लोध्रं समङ्गा कमलोत्पलम् ।।५३।।
उत्पलं धातकीपुष्पं दाडिमत्वङ्महौषधम् । कट्फलं नागरं पाठा जम्ब्वाम्रास्थिदुरालभाः ।।५४।।
योगाः षडेते सक्षौद्रास्तण्डुलोदकसंयुताः । पेयाः पित्तातिसारघ्नाः श्लोकार्धेन निदर्शिताः ।।५५।।
जीर्णोषधानां शस्यन्ते यथायोगं प्रकल्पितैः । रसैः सांग्राहिकैर्युक्ताः पुराणा रक्तशालयः ।।५६।।

पित्तातिसार में उपयोगी योग (Useful recipes for Pittaja Atisāra)-अधोलिखित योगों का प्रयोग पित्तज अतिसार में करना चाहिए-

१. अतिविषा, इन्द्रयव एवं कुटज की छाल; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क को मधु के साथ मिलाकर, चावल के पानी के साथ सेवन करें । इसके सेवन से पित्तज अतिसार शान्त हो जाता है ।

२. किराततिक्तक (चिरायता), नागरमुस्तक, इन्द्रयव (कुटज की छाल) एवं रसाञ्जन; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें ।

३. बिल्व (बिल्व की छाल), दारुहल्दी, त्वक् (दालचीनी), ह्रीवेर (सुगन्धवाला) एवं दुरालभा; सभी द्रव्य सम मात्रा में ग्रहण करें एवं चूर्ण बना लें ।

४. चन्दन (लालचन्दन), मृणाल, सोंठ (शुण्ठी), लोध्र (पठानीलोध्र) एवं उत्पल ।

५. तिला (काला तिल), मोचरस, लोध्र, समङ्गा, कमल, उत्पल ।

६. उत्पल, धातकीपुष्प, दाडिमत्वक् (अनार का छिलका) एवं सोंठ ।

७. कट्फल (कायफल), नागर (शुण्ठी=सोंठ), पाठा, जामुन की गुठली, आम की गुठली व दुरालभा ।

क्रमाङ्क २ से लेकर क्रमाङ्क ७ तक के द्रव्यों द्वारा ६ योगों का निर्माण करें, जिसमें प्रत्येक योग में वर्णित घटक द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें । इसमें मधु मिलाकर तण्डुलोदक के साथ सेवन करें । ये सभी योग पित्तातिसार नाशक हैं ।

पित्तातिसार में मांसरस का उपयोग-इन औषधियों के जीर्ण (पच) हो जाने पर आतुर की सात्म्यता के अनुसार सांग्राहिक औषधियों द्वारा मांसरस को संस्कारित कर पुराने शाली चावल के भात के साथ खिलाना चाहिए ।

चक्रपाणि-फलत्वचमिति फलं च त्वक् चेति फलत्वचम्-फल एवं त्वचा दोनों का ग्रहण करना, अर्थात् वत्सक फल (इन्द्रयव) तथा त्वचा (कुटज की छाल) अर्थ गृहीत है । मृणालं=उशीर (खश) । समङ्गा=खादिरी । कुछ आचार्य समङ्गा से 'वाराहक्रान्ता' का ग्रहण करते हैं । ॥५१-५६॥

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति । अजाक्षीरप्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते ।।५७।।
बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति । पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ।।५८।।

Scanned by CamScanner

पलाशफलनिर्यूहं पयसा सह पाययेत् । ततोऽनुपाययेत् कोष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ।।५९।।
प्रवाहिते तेन मले प्रशाम्यत्युदरामयः । पलाशवत् प्रयोज्या वा त्रायमाणा विशोधिनी ।।६०।।
सांसर्ग्यां क्रियमाणायां शूलं यद्यनुवर्तते । स्रुतदोषस्य तं शीघ्रं यथावदनुवासयेत् ।।६१।।
शतपुष्पावरीभ्यां च पयसा मधुकेन च । तैलपादं घृतं सिद्धं सबिल्वमनुवासनम् ।।६२।।

पित्तातिसार में अजा दुग्ध का प्रयोग–१. यदि रोगी पित्तातिसार से पीड़ित हो, उसकी जाठराग्नि दीप्त हो तब उसे अजा (बकरी) का दूध पिलाना चाहिए । इसके सेवन से अतिसार शान्त हो जाता है तथा रोगी के बल एवं वर्ण की वृद्धि होती है ।

२. यदि पित्त दोष की अत्यधिक वृद्धि हो, चिकित्सा करने पर भी अतिसार शान्त नहीं हो रहा हो, जाठराग्नि दीप्त हो, रोगी बली हो तो ऐसी अवस्था में गाय के दूध के साथ विरेचन योगों का प्रयोग करना चाहिये ।

३. पलाशफल क्वाथ को गोदुग्ध के साथ पिलावें, पश्चात् भर पेट सुखोष्ण दूध का सेवन; रोगी के बलादि का विचार करते हुए प्रयोग करावें । इसके सेवन से रोगी के पुरीष (मल) का निर्हरण सम्यक् रूप से हो जाता है एवं अतिसार शान्त हो जाता है । अर्थात् व्यक्ति आरोग्य प्राप्त कर लेता है ।

४. पलाशवत् त्रायमाणा (त्रिवृत्) के प्रयोग से भी उदर की सम्यक् शुद्धि हो जाती है, अर्थात् दूध के साथ त्रिवृत् चूर्ण के सेवन से दोषों का सम्यक् निर्हरण हो जाता है ।

५. विरेचन (दोष निर्हरण) के बाद संसर्जनक्रम का प्रयोग कराने के बाद भी यदि रोगी के उदर में शूल हो रहा हो तब दोषादि का विचार कर शीघ्र ही अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । अनुवासनार्थघृत-सौफ, शतावरी, दूध, यष्टीमधु, एवं तिलतैल; सभी द्रव्यों को आपस में मिलाकर कल्क बना लें । इस कल्क की मात्रा स्नेह (घृत) का चतुर्थांश रखें । अब इस कल्क से विधिपूर्वक गोघृत सिद्ध करें, इस सिद्ध घृत का प्रयोग अनुवासनार्थ करना चाहिए । (शतपुष्पादि अनुवासन बस्ति)

चक्रपाणि–न तिष्ठति न निवर्तते-व्याधि का प्रशमन न होना, अर्थात् चिकित्सा करने पर भी व्याधि का बने रहना । **पलाशवदिति उक्त पलाशफलविधानेन**-पलाशफल के विधान के समान (पलाशफल के विधान की तरह त्रायमाणा का भी प्रयोग करना चाहिए ।) पलाशफल का क्वाथ बनावें, इसके क्वाथ को दूध के साथ पीवें, पश्चात् भरपेट गोदुग्ध का सेवन करें । इसके सेवन से सम्यक् विरेचन होकर उदर की शुद्धि हो जाती है, परिणामतः पित्तातिसार शान्त हो जाता है । **सांसर्ग्यामिति पेयादिक्रमे**-विरेचन के बाद पेयादि संसर्जनक्रम का पालन करावें, यदि इसके बाद भी उदरशूल बना रहता है तब शतपुष्पादि अनुवासन बस्ति देनी चाहिए ।

'अनुवासनं दद्यात्' इति शेषः–'सबिल्वमनुवासनं' के आगे दद्यात् शब्द जोड़ना चाहिए । 'दद्यात्' शब्द यहाँ शेष (छूटा हुआ) है । ॥५७-६२॥

कृतानुवासनस्यास्य कृतसंसर्जनस्य च । वर्तते यद्यतीसारः पिच्छाबस्तिरतः परम् ।।६३।।
परिवेष्ट्य कुशैरार्द्रैरार्द्रवृन्तानि शाल्मलेः । कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद्गोमयाग्निना ।।६४।।
सुशुष्कां मृत्तिकां ज्ञात्वा तानि वृन्तानि शाल्मलेः । शृते पयसि मृद्नीयादापोथ्योलूखले ततः ।।६५।।
पिण्डं मुष्टिसमं प्रस्थे तत् पूतं तैलसर्पिषोः । स्नेहितं मात्रया युक्तं कल्केन मधुकस्य च ।।६६।।
बस्तिमभ्यक्तगात्राय दद्यात् प्रत्यागते ततः । स्नात्वा भुञ्जीत पयसा जाङ्गलानां रसेन वा ।।६७।।
पित्तातिसारज्वरशोथगुल्मजीर्णातिसारग्रहणीप्रदोषान् । जयत्ययं शीघ्रमतिप्रवृद्धान् विरेचनास्थापनयोश्च बस्तिः ।।६८।।

विरेचनादि चिकित्सा के प्रयोग के बाद भी यदि रोगी को अनुवासन बस्ति दी गयी हो फिर भी पित्तातिसार शान्त नहीं होता हो, अथवा सभी क्रियाओं- (विरेचन, संसर्जनक्रम, अनुवासन बस्ति आदि) के करने के बाद भी यदि अतिसार शान्त नहीं होता हो तब पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

पिच्छाबस्ति तैयार करने की विधि–सेमल के आर्द्र (गीले) वृन्त (डण्ठल) को लेकर उसके ऊपर हरे कुश की पत्तियाँ लपेटकर बाँधे । अब इसके ऊपर काली मिट्टी का लेप कर दें । इस मिट्टी लिपटी हुई वृन्त को गोबर की आग में स्विन्न करें, जब पाक से मिट्टी सूख जाय तब उसे अग्नि में से निकाल कर मिट्टी को हटा दें । अब इस वृन्त को ओखली में कूट कर कल्क बना लें । इसमें १ प्रस्थ उष्ण गोदुग्ध डालकर, मसलकर कपड़े से छान लें । शाल्मली कल्क- १ पल, गोदुग्ध-१ प्रस्थ लेकर Mixed कर लें, पश्चात् इसे एक स्वच्छ कपड़े से छान लें । इस कल्क मिश्रित दुग्ध में मात्रापूर्वक तैल, घृत व यष्टीमधु का कल्क मिलाकर सम्यक् अभ्यंग किये हुए व्यक्ति को बस्ति दें । अर्थात् इस पिच्छाबस्ति का प्रयोग सम्यक् अभ्यंग किये हुए व्यक्ति में करना चाहिए । बस्ति देने के बाद जब बस्ति के द्रव्य एवं पुरीष का निर्हरण हो जाय तब रोगी को स्नान कराकर दूध अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का सेवन कराना चाहिये ।

Scanned by CamScanner

यह पिच्छाबस्ति पित्तातिसार, ज्वर (Fever), शोथ (Oedema), गुल्म (Phantom tumour), जीर्ण अतिसार (Chronic diarrhoea), ग्रहणी (Sprue syndrome), आदि विकारों को शीघ्र ही दूर करती है। इसके साथ ही विरेचन एवं निरुहबस्ति के अतियोग से होने वाले उपद्रवों को भी यह बस्ति शीघ्र ही प्रशमित करती है।

चक्रपाणि–'परिवेष्ट्य इत्यादि' के द्वारा पिच्छाबस्ति के निर्माण विधि को बताया गया है।

शृते पयसीत्यत्र पानीयमात्रेणैव पयः शृतं ज्ञेयम्-इससे यहाँ जल युक्त दुग्ध का ग्रहण किया गया है। (स्विन्न शाल्मली वृन्त को लेकर उसमें कुछ उष्ण दुग्ध डालकर उखल में कूट कर कल्क बना लें। इस कल्क की मात्रा- १ पल ग्रहण करें)

प्रस्थ इति शृते पयसीत्यस्य विशेषणम्–उष्ण (क्वथित) दूध की विशेषता बतायी गयी है, अर्थात् क्वथित दुग्ध- १ प्रस्थ ग्रहण करें। इस प्रकार थोड़ा उष्ण दूध डालकर कूटा हुआ शाल्मली वृन्त (शाल्मली कल्क) की मात्रा १ मुष्टि (१ पल) लेकर उसमें १ प्रस्थ क्वथित (शृत) दुग्ध मिलाकर घोल लें। इसमें तेल व घृत की उतनी ही मात्रा डालें जितने से स्नेहन कार्य हो जाय तथा यष्टीमधु कल्क का प्रमाण उतना ही लें जिससे बस्ति का घोल गाढ़ा हो जाय, ज्यादा तनु (dilute) न रहे। ॥६३-६८॥

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते। पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम् ॥६९॥
कुर्याद्रक्तातिसारं तु रक्तमाशु प्रदूषयेत्। तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम् ॥७०॥

रक्तातिसार के हेतु (Etiology of Raktātisāra)–यदि पित्तातिसार का रोगी पित्तनाशक उपक्रमों का प्रयोग नहीं करता है, अपितु अन्य पित्तवर्धक अन्न-पान का सेवन करता है तब उसका पित्त अत्यधिक प्रकुपित होकर रक्त को दूषित करते हुए रक्तातिसार को उत्पन्न करता है।

इस अतिसार (रक्तातिसार) में भयङ्कर रूप से तृष्णा (Morbid thirst), शूल (Colic pain), शरीर में जलन (विदाह-Burning sensation) एवं गुदपाक (Suppuration of the anus) उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

चक्रपाणि–'पित्तातिसारी' इत्यादि के द्वारा पित्तज अतिसार के ही हेतु विशेष से उत्पन्न एक भेद रक्तातिसार होता है, दर्शाया गया है। यह रक्तातिसार यद्यपि पित्तातिसार के बाद में उत्पन्न होने वाली अवस्था विशेष है, क्योंकि यह बाद में उत्पन्न होता है, ऐसा कहा गया है। फिर भी यह पित्त के अतिप्रकोप एवं रक्त दुष्टि के कारण पहले भी उत्पन्न होता है, ऐसा दिखायी देता है। इसलिये यहाँ इसके उत्पत्ति क्रम का अभिधान नहीं किया गया है। जिस प्रकार-"पाण्डुरोगी तु योत्यर्थं" (चि.अ. १६) के द्वारा वर्णित कामला की उत्पत्ति में यथोक्त क्रम के बिना भी कामला (Jaundice) की उत्पत्ति होती है (पाण्डु के बाद की अवस्था कामला होती है), फिर भी पाण्डुरोग प्रकरण में स्वतन्त्र रूप से भी कामला उत्पन्न होती है, यह दर्शाया गया है तद्वत् पित्तातिसार के बाद की अवस्था रक्तातिसार होते हुए भी, स्वतन्त्र कारणों द्वारा भी रक्तातिसार उत्पन्न होता है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार रक्तातिसार पित्त से उत्पन्न होने के कारण पित्तज अतिसार में ही समावेशित हो जाता है, अर्थात् इसका अन्तर्भाव पित्तातिसार में ही कर लिया जाता है। जिससे अतिसार की षड्त्व का विरोध नहीं होता। अतिसार के जो भेद प्राप्तयोगीयसिद्धि अध्याय (सि.अ. ८) में आमरक्तशकृत्पित्तवातकफ से किये गये हैं, यथा-षण्णामेषां द्विसंसर्गात्त्रिंशद्भेदा भवन्ति ते। केवलैः सह षट्त्रिंशत्" (सिद्धि अ. ८) इति [छः प्रकार के अतिसारों के दो दोषों के संसर्ग से ३० भेद हो जाते हैं। यदि अलग-अलग भेदों को जोड़ दें तो यह संख्या ३६ हो जाती हैं।] का समावेश इन छः भेदों के ही अन्तर्गत हो जाता है। इस प्रकार यह ३६ भेद सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर होते हैं। अतः इनका छः के साथ विरोध नहीं है, अर्थात् मोटे तौर पर (स्थूल दृष्टि से) अतिसार के छः भेद तथा सूक्ष्म आधार पर ३६ भेद हो जाते हैं। ॥३६-७०॥

तत्र च्छागं पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्। पानार्थं भोजनार्थं च गुदप्रक्षालने तथा ॥७१॥
ओदनं रक्तशालीनां पयसा तेन भोजयेत्। रसैः पारावतादीनां घृतभृष्टैः सशर्करैः ॥७२॥
शशपक्षिमृगाणां च शीतानां वन्यचारिणाम्। रसैरनम्लैः सघृतैर्भोजयेत्तं सशर्करैः ॥७३॥
रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते। काश्मर्यफलयूषो वा किंचिदम्लः सशर्करः ॥७४॥
नीलोत्पलं मोचरसं समङ्गा पद्मकेशरम्। अजाक्षीरयुतं दद्याज्जीर्णे च पयसौदनम् ॥७५॥
दुर्बलं पाययित्वा वा तस्यैवोपरि भोजयेत्। प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् ॥७६॥

रक्तातिसार की चिकित्सा (Treatment of Raktātisāra)–१. रक्तातिसार के साथ तृष्णा आदि उपद्रव उत्पन्न होने पर रोगी को बकरी के दूध के साथ मधु व शर्करा मिलाकर पीने के लिए देना चाहिये तथा भोजन के रूप में भी ठण्डा किया हुआ बकरी के दूध में मधु व शर्करा मिलाकर दें। इसी दुग्ध का प्रयोग गुदप्रक्षालनार्थ करना चाहिये।

२. मधु व शर्करा मिश्रित बकरी के शीतल दूध के साथ लाल शाली चावल के भात का सेवन करें। इसी प्रकार कपोत आदि पक्षियों के मांसरस को घृत में भूनकर उसमें शर्करा मिलाकर शाली चावल के भात का सेवन करें।

Scanned by CamScanner

३. शश (खरगोश) आदि जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस जो वीर्य में शीत हो, में घृत व शर्करा मिलाकर, अम्लरस युक्त न करते हुए, को लाल शाली चावल के भात के साथ खाने के लिए देना चाहिए। अर्थात् शीतवीर्य युक्त जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस में घृत व शर्करा मिलाकर रक्तशाली चावल के भात के साथ खिलाना चाहिये, अथवा हरिण अथवा बकरी के रक्त को घृत में भूनकर रक्तातिसार में खिलाना चाहिए।

४. गम्भारी के फल से निर्मित यूष को किञ्चिद् अम्लरस युक्त करके, उसमें कुछ शर्करा मिलाकर रक्तातिसार के रोगी को भोजनार्थ देना चाहिये।

५. **नीलोत्पलादि योग**–नीलोत्पल, मोचरस, समङ्गा (लाजवन्ती) व पद्मकेशर; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को रक्तातिसार के रोगी को अजा दुग्ध के साथ देना चाहिये। औषध के पच जाने पर दूध (अजा दुग्ध) के साथ शाली चावल के भात का सेवन करावें।

यदि आतुर दुर्बल है तब उसे बकरी के दूध के साथ नीलोत्पलादि चूर्ण का सेवन करावें, पश्चात् खाने के लिए अजा दुग्ध के साथ शाली चावल के भात का प्रयोग करें। अथवा भोजन से पूर्व नवनीत (मक्खन) के साथ मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को खाने के लिए दें।

चक्रपाणि–तत्र छागमित्यादौ व्यञ्जनार्थमिति भोज्योपकरणार्थम्-'छागमिति' से रक्तातिसार में उपयोगी अन्न-पान का विवेचन किया गया है। पयसा तेनेति=बकरी के दूध से (उस दूध से)। मार्ग=मृग (मृगस्येदं मार्गम्), अजस्येदं आजं (अज=बकरी)-हिरण का रक्त अथवा बकरी के रक्त को घृत में भूनकर प्रयोग करें अर्थात् रक्तातिसार में सेवन करें। ॥७१-७६॥

विशेष (Comments)–'तत्रेत्यादि' के द्वारा रक्तातिसार की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। पानार्थ=पीने के लिए, अर्थात् बकरी के दूध का प्रयोग रक्तातिसार में प्यास लगने पर करना चाहिये। व्यञ्जन से यहाँ भोज्य अन्न के साथ भी अजा दुग्ध का प्रयोग किया जाता है, अर्थ गृहीत है। न कि फल पत्रादि शाकों एवं मांसरस के साथ इसका विधान है। गुदपाक एवं गुद प्रक्षालनार्थ पक्व दुग्ध जो ठण्डा किया गया हो, उसमें मधु व शर्करा मिलाकर प्रयोग करना चाहिए।

प्राश्य क्षीरोत्थितं सर्पिः कपिञ्जलरसाशनः। त्र्यहादारोग्यमाप्नोति पयसा क्षीरभुक् तथा ॥७७॥
पीत्वा शतावरीकल्कं पयसा क्षीरभुग्जयेत्। रक्तातिसारं पीत्वा वा तया सिद्धं घृतं नरः ॥७८॥
घृतं यवागूमण्डेन कुटजस्य फलैः शृतम्। पेयं तस्यानु पातव्या पेया रक्तोपशान्तये ॥७९॥

रक्तातिसार नाशक अन्य योग–१. कपिञ्जल (गौरैया) के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का सेवन करते हुए व्यक्ति क्षीरोत्थित (दूध से निकाले गये) घृत का सेवन अजा दूध के साथ तीन दिन तक करने पर रक्तातिसार से मुक्त हो जाता है, अर्थात् आरोग्य प्राप्त कर लेता है।

२. शतावरी कल्क का प्रयोग–दूध के साथ शतावरी कल्क को पी करके व्यक्ति को मात्र दुग्धाहार पर रहना चाहिए अथवा शतावरी के क्वाथ एवं कल्क से विधिपूर्वक साधित घृत के सेवन के बाद मात्र दुग्ध का ही सेवन करने से (भोजन के रूप में दुग्ध का ही प्रयोग करें) व्यक्ति रक्तातिसार से मुक्त हो जाता है।

३. इन्द्रयव के कल्क से साधित घृत का सेवन यवागू के मण्ड के साथ करें, पश्चात् पेया का पान करें। इसके सेवन करने से रक्तातिसार का प्रशमन होता है, अर्थात् अतिसार के साथ रक्त का आना रुक जाता है।

चक्रपाणि–प्राश्येत्यादौ क्षीरोत्थितं सर्पिः पयसा प्राश्येति सम्बन्धः-'प्राश्य' का सम्बन्ध क्षीरोत्थित सर्पि से है। क्षीरोत्थित घृत का पान अजा दुग्ध के साथ करना चाहिये। कपिञ्जल=गौरतीतर (सफेद तीतर)। क्षीरं भुङ्क्ते इति=दुग्ध आहार पर रहते हुए। तयेति=शतावरी के द्वारा, अर्थात् शतावरी साधित घृत सेवन करने के बाद ऊपर से गोदुग्ध का पान करें अथवा दुग्धाहार पर अपने को रखते हुए।

यवागूमण्डेन पेयमिति संबन्धः-यवागू के मण्ड का पान करें, यहाँ 'यवागूमण्डेन' का सम्बन्ध 'पेयम्' के साथ है। ॥७७-७९॥

त्वक् च दारुहरिद्रायाः कुटजस्य फलानि च। पिप्पली शृङ्गवेरं च द्राक्षा कटुकरोहिणी ॥८०॥
षड्भिरेतैर्घृतं सिद्धं पेयामण्डावचारितम्। अतीसारं जयेच्छीघ्रं त्रिदोषमपि दारुणम् ॥८१॥

दार्व्यादि घृत–दारुहरिद्रा की छाल, कुटजफल (इन्द्रयव), पिप्पली, शृंगवेर (सोंठ), द्राक्षा, कुटकी; इन छः द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ से घृत को सिद्ध कर लें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग मण्ड एवं पेया के साथ करना चाहिए। इस घृत के प्रयोग से शीघ्र ही दारुण त्रिदोषज अतिसार भी शान्त हो जाता है, अर्थात् सभी प्रकार के अतिसारों को यह घृत दूर करता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'षड्भिरेतैः' शब्द का अभिप्राय 'यथालाभं' नहीं लिया गया है। अर्थात् इस घृत के निर्माण में छः द्रव्यों के कल्क एवं क्वाथ का प्रयोग अनिवार्य रूप से करना चाहिए। ॥८०-८१॥

कृष्णमृन्मधुकं शङ्खं रुधिरं तण्डुलोदकम्। पीतमेकत्र सक्षौद्रं रक्तसंग्रहणं परम् ॥८२॥
पीतः प्रियङ्गुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्भसा। रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥८३॥
कल्कस्तिलानां कृष्णानां शर्करापञ्चभागिकः। आजेन पयसा पीतः सद्यो रक्तं नियच्छति ॥८४॥

रक्तस्तम्भन योग (Haemostatic Recipes)–१. कालीमिट्टी, यष्टीमधु, शंख, रुधिर (बकरे का रक्त); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर आपस में मिश्रित कर लें। इसे तण्डुलोदक+मधु के साथ पीने से रक्तस्राव रुक जाता है एवं यह योग उत्तम रक्तस्तम्भक योग है।

२. प्रियङ्गुफल के कल्क (Paste) में मधु मिलाकर तण्डुलोदक (चावल का धोवन) के साथ पीने से रक्तस्राव शीघ्र रुक जाता है। इसके साथ ही व्यक्ति को जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का सेवन करना।

३. काले तिल का कल्क- १ भाग, में शर्करा-४ भाग मिला लें। इसे बकरी के दूध के साथ पीवें, ऐसा करने से रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है। ॥८२-८४॥

चक्रपाणि–'कृष्णमृदित्यादौ' से रक्तस्तम्भक योगों का विवेचन किया गया है। रुधिर से रक्त अर्थ गृहीत है, कुछ आचार्य इससे कुङ्कुम (केशर) का ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रथम योग में कुङ्कुम अर्थ लेने पर रुधिर के स्थान पर केशर मिलाना चाहिए।

शर्करापञ्चभागिक इति–तृतीय योग में शर्करा के साथ यह योग ५ भाग होता है-तिल कल्क- १ भाग+शर्करा- ४ भाग=कुल- ५ भाग। इसी विचार का अनुमोदन आचार्य जतूकर्ण ने भी किया है, यथा-**"कृष्णातिलाञ् शर्करापादिकाञ्छागीपयसा"** [कृष्ण तिल के कल्क की मात्रा शर्करा की पादिका (चतुर्थांश) होनी चाहिए। इसका सेवन छाग (बकरी) के दूध के साथ करना चाहिये। ॥८२-८४॥

पलं वत्सकबीजस्य श्रपयित्वा रसं पिबेत्। यो रसाशी जयेच्छीघ्रं स पैत्तं जठरामयम् ॥८५॥
पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं चन्दनं तण्डुलाम्भसा। दाहतृष्णाप्रमेहेभ्यो रक्तस्रावाच्च मुच्यते ॥८६॥

पित्तज अतिसार में इन्द्रयव का प्रयोग–इन्द्रयव (कुटज का बीज)- १ पल (४ तोले) लेकर क्वाथ (Decoction) बनावें एवं इसका पान करें। पश्चात् भोजन के रूप में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस+शाली चावल के भात का सेवन करें। इस योग को सेवन करने वाला व्यक्ति शीघ्र ही पित्तज अतिसार से मुक्त हो जाता है।

चन्दन चूर्ण का प्रयोग–चन्दन चूर्ण, शर्करा (चीनी) एवं मधु का सेवन तण्डुलोदक (चावल के धोवन) के साथ करने से व्यक्ति दाह (Burning sensation), तृष्णा (प्यास का लगना-Thirst), प्रमेह (Obstinate Urinary diseases including diabetes) एवं रक्तस्राव (Bleeding) आदि व्याधियों से मुक्त हो जाता है। ॥८५-८६॥

चक्रपाणि–पलमित्यादौ रसमिति=रस से यहाँ वत्सकबीज (इन्द्रयव) के क्वाथ (Decoction) का ग्रहण है। [१ पल वत्सकबीज को लेकर ४ पल जल में क्वाथ बनावें, चतुर्थांश शेष रहने पर छान लें। इस प्रकार क्वाथ की मात्रा- १ पल होती है। यहाँ वत्सकबीज क्वाथ की मात्रा- १ पल लेनी चाहिए।]

रसाशी इति मांसरसेन भुञ्जानः–मांसरस (जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस) के साथ भोजन करने वाला व्यक्ति, अर्थात् इन्द्रयव क्वाथ के सेवन काल में मांसरस युक्त आहार लेना चाहिये।

गुदो बहुभिरुत्थानैर्यस्य पित्तेन पच्यते। सेचयेत्तं सुशीतेन पटोलमधुकाम्बुना ॥८७॥
पञ्चवल्कमधूकानां रसैरिक्षुरसैर्घृतैः। छागैर्गव्यैः पयोभिर्वा शर्कराक्षौद्रसंयुतैः ॥८८॥

गुद प्रक्षालनार्थ योग–बार-बार मलत्याग करने से तथा पित्त की वृद्धि के कारण जिसकी गुदा पक गयी हो, । ऐसी स्थिति में गुदा के प्रक्षालन हेतु अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिये–

१. परवल की पत्ती एवं यष्टीमधु के क्वाथ को शीतल करके गुदा का प्रक्षालन करना चाहिये।

२. पञ्चवल्कल [न्यग्रोध (वट), उदुम्बर, अश्वत्थ, वेतस एवं प्लक्ष] त्वक् (छाल) एवं महुए की छाल से निर्मित क्वाथ से गुदा का प्रक्षालन करें अथवा इक्षुरस के साथ गुद प्रक्षालन करें।

३. गाय अथवा बकरी के दूध अथवा घृत में मधु व शर्करा मिलाकर प्रक्षालन करें।

चक्रपाणि–**क्षौद्रसंयुतैरित्यन्तं सेचयेदित्यनुवर्तते**-क्षौद्रसंयुतैः के साथ अन्त में सेचयेत् शब्द भी जुड़ा है। अर्थात् बकरी अथवा गाय के दूध अथवा घृत में शर्करा व मधु डालकर गुदा का प्रक्षालन करना चाहिये। ॥८७-८८॥

Scanned by CamScanner

प्रक्षालनानां कल्कैर्वा ससर्पिष्कैः प्रलेपयेत् । एषां वा सुकृतैश्चूर्णैस्तं गुदं प्रतिसारयेत् ।।८९।।
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा समांशैः प्रतिसारयेत् । तथा स्रवति नो रक्तं गुदं तैः प्रतिसारितम् ।।९०।।
पक्वता प्रशमं याति वेदना चोपशाम्यति । यथोक्तैः सेचनैः शीतैः शोणितेऽतिस्रवत्यपि ।।९१।।
गुदवङ्क्षणकटयूरु सेचयेद्घृतभावितम् । चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा ।।९२।।
कार्पाससंगृहीतेन सेचयेद्गुदवङ्क्षणम् ।

प्रतिसारण योग–पूर्व में गुद प्रक्षालनार्थ जिन द्रव्यों का निर्देश दिया गया है उन्हीं द्रव्यों के कल्क में घृत मिलाकर लेप जैसा बना लें एवं इसका लेप गुदा के ऊपर करना चाहिए अथवा चूर्ण बनाकर गुदा के ऊपर प्रतिसारण करना चाहिए।

[The paste of the drugs mentioned above for washing (Sprinkling over) the anus may be mixed with ghee and applied over the suppurated anus.

The powder of the above mentioned drugs may also be used for Pratisāraṇa (Dusting) over the suppurated anus. –Dr. R.K. Sharma and Baidy Bhagvan das]

धातक्यादि प्रतिसारण–धातकीपुष्प- १ भाग, लोध्र- १ भाग, दोनों द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रतिसारण (छिड़काव) गुदा के ऊपर करें। इसके प्रयोग से गुदपाक शान्त हो जाता है तथा गुदा से निकलने वाला रक्तस्राव रुक जाता है। साथ ही इसके कारण उत्पन्न होने वाली वेदना भी शान्त हो जाती है।

अतिरक्तस्राव की चिकित्सा–यदि गुदा से अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो तब पूर्व वर्णित द्रव्यों के क्वाथ को ठण्डा करके घृत से चुपड़े हुए गुदा पर सेचन (छिड़काव) करें, अथवा क्वाथ द्वारा गुद, वंक्षण (Pelvic region), कटि (Lumber region) एवं ऊरु (Thighs) प्रदेश पर घृत का अभ्यङ्ग करके परिषेचन (Sprinlke) करावें अथवा चन्दनादि तैल या शतधौतघृत को Cotton Pad के ऊपर लेकर गुदा एवं वंक्षण प्रदेश पर चुपड़ना चाहिए।

(चन्दनादितैल अथवा शतधौतघृत अत्यन्त शीत वीर्य होता है, । इसके प्रयोग से गुदपाक एवं उसमें होने वाली वेदना तथा रक्तस्राव दोनों प्रशमित हो जाता है।

चक्रपाणि–'प्रक्षालनानामिति' के द्वारा गुद प्रक्षालनार्थ वर्णित पूर्व के द्रव्य यथा-पटोल, यष्टीमधु आदि को ग्रहण किया गया है। प्रतिसारयेत् अवचूर्णयेत्–पटोल, यष्टीमधु आदि द्रव्यों के चूर्णों का गुदा (पक्व गुदा) पर अवचूर्णन (Dusting) करना चाहिये।

विशेष (Comments)–बहुशः उत्थानैः बारं बारं विड्विसर्गैः पित्तेन यस्य गुदः पच्यते- बार-बार मलत्याग के कारण पित की वृद्धि होने से जिस पुरुष की गुदा पक गयी हो। ऐसी अवस्था में पटोल एवं यष्टीमधु के शीत किये हुए क्वाथ का प्रयोग गुदा के प्रक्षालनार्थ करना चाहिए, अर्थात् इसी जल से रोगी बार-बार अपनी गुदा को धोवे। अथवा पञ्चवल्कल क्वाथ+महुए के क्वाथ का प्रयोग करे। अथवा इक्षुरस का प्रयोग करे। अथवा गाय या बकरी के दूध में शर्करा व मधु मिलाकर गुदा का प्रक्षालन करे। अथवा पटोल, यष्टीमधु से लेकर इक्षु पर्यन्त तक के द्रव्यों को सिल पर महीन पीसकर कल्क बना लें, इस कल्क (Paste) में घृत मिलाकर गुदा पर लेप करें।

कल्कवचनाच्छागगव्यघृतपयः शर्करामधूनां कल्कत्वासंभवान्नेह प्रलेपविधिः–कल्क (Paste) शब्द से बकरी व गाय के घृत, दूध, शर्करा व मधु के द्वारा कल्क का निर्माण संभव न होने से इनका प्रयोग कल्क हेतु नहीं किया गया है।

प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को पीसकर महीन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को पकी हुई गुदा के ऊपर छिड़के। इसके प्रयोग से रक्तातिसार में निकलने वाले रक्त का स्राव रुक जाता है। -जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

अल्पाल्पं बहुशो रक्तं सशूलमुपवेश्यते ।।९३।।
यदा वायुर्विबद्धश्च कृच्छ्रं चरति वा न वा । पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमुपकल्पयेत् ।।९४।।
प्रपौण्डरीकसिद्धेन सर्पिषा चानुवासयेत् । प्रायशो दुर्बलगुदाश्चिरकालातिसारिणः ।।९५।।
तस्मादभीक्ष्णशस्तेषां गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् ।

पिच्छाबस्ति का प्रयोग–यदि रक्तातिसार का रोगी रुक-रुक करके शूल के साथ रक्त मिश्रित पुरीष (मल) का अल्प मात्रा में बार-बार त्याग करता है, तथा उसके कोष्ठ (उदर) में रुकी हुई वायु कष्ट के साथ इधर-उधर भ्रमण करती है अथवा अवरुद्ध हो जाती है। ऐसी अवस्था में पूर्व वर्णित औषधियों के द्वारा पिच्छाबस्ति का निर्माण कर पिच्छाबस्ति देनी चाहिए। अर्थात् ऐसी अवस्था में पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना लाभदायक होता है। पिच्छाबस्ति देने के बाद प्रपौण्डरीक के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत की अनुवासन बस्ति देनी चाहिये।

Scanned by CamScanner

प्रायः अतिसार के अधिक दिन तक रह जाने के कारण व्यक्ति की गुदा दुर्बल हो जाती है। इसलिये इस अवस्था में गुदबलियों की दुर्बलता को दूर करने के लिए गुदा में स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् अल्प मात्रा में स्नेह (सिद्ध घृत या तैल) का प्रयोग गुदा में करें या डालें।

चक्रपाणि–पिच्छाबस्तिं तदा तस्य यथोक्तमिति- तब उस व्यक्ति को पूर्व में वर्णित पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। पिच्छाबस्ति के निर्माण विधि का वर्णन इस अध्याय में 'परिवेष्टय' (श्लोक नं. ६४-६६) के द्वारा किया गया है।

गुदे स्नेहं प्रयोजयेदिति–'स्नेह भावित पिचु का प्रयोग करना' अर्थ अभीष्ट है। अर्थात् गुदा में स्नेह भावित पिचु का प्रयोग करना चाहिए। गुदा में स्नेह प्रयोग का यही भाव है। कुछ आचार्य गुदे स्नेहं प्रयोजयेत् का अर्थ-स्वाभाविक होने से अनुवासन बस्ति के प्रयोग का विधान बताते हैं।

[व्यवहार में इस अवस्था में नारायणतैल, महानारायणतैल, जात्यादितैल आदि का प्रयोग लगभग २५-३० ml.+३०ml. जल (गुनगुने) के साथ किया जाता है। इसके प्रयोग से गुदा की दुर्बलता (गुदबलियों की दुर्बलता) दूर हो जाती है।]

पवनोऽतिप्रवृत्तो हि स्वे स्थाने लभतेऽधिकम् ।।९६।।
बलं तस्य सपित्तस्य जयार्थे बस्तिरुत्तमः । रक्तं विट्सहितं पूर्वं पश्चाद्वा योऽतिसार्यते ।।९७।।
शतावरीघृतं तस्य लेहार्थमुपकल्पयेत् । शर्करार्धांशिकं लीढं नवनीतं नवोद्धृतम् ।।९८।।
क्षौद्रपादं जयेच्छीघ्रं तं विकारं हिताशिनः । न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गानापोथ्य वासयेत् ।।९९।।
अहोरात्रं जले तप्ते घृतं तेनाम्भसा पचेत् । तदर्धशर्करायुक्तं लिह्यात् सक्षौद्रपादिकम् ।।१००।।
अधो वा यदि वाऽप्यूर्ध्वं यस्य रक्तं प्रवर्तते ।

अतिसार (रक्तातिसार) में बस्ति का प्रयोग–१. मल की अति प्रवृत्ति के कारण, वायु अपने स्थान पर प्रकुपित होकर अत्यधिक बली हो जाती है, वह वायु पित्त को भी प्रकुपित कर देती है। ऐसी अवस्था में (वातपित्तजन्य अतिसार में) बस्ति का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक है।

२. यदि अतिसार में पुरीष के साथ रक्त निकलता हो अथवा मल प्रवृत्ति के पूर्व या बाद में रक्त का स्राव हो रहा हो (यह अवस्था Piles अथवा Fissure में पायी जाती है।) तब रोगी को शतावरीघृत चटाना चाहिये।

३. अथवा नवनीत (ताजा मक्खन)- १ भाग, शर्करा- १/२ भाग एवं मधु-१/४ भाग; सभी द्रव्यों को आपस में अच्छी प्रकार मिश्रित करके रक्तातिसार के रोगी को चटाना चाहिये। इसके प्रयोग से रक्तातिसार अथवा मल के पूर्व एवं पश्चात् निकलने वाले रक्त का स्राव रुक जाता है। इस योग के सेवन काल में हितकर (पथ्य) भोजन लेना चाहिए।–नवनीत प्रयोग

४. **घृत प्रयोग**–न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर) एवं अश्वत्थ (पीपल); इन द्रव्यों के शुङ्ग (ताजे अङ्कुर) को लेकर यवकुट कर लें, पश्चात् उष्ण जल में रात भर भिगों दें। प्रातः काल इसे मसलकर जल को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर अलग कर लें। इस छने हुए जल (शीतकषाय-Cold infusion) से विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत में आधा भाग शर्करा एवं चतुर्थांश मधु मिलाकर रोगी को चटाना चाहिए। इसके प्रयोग से अतिसार के पूर्व (मल प्रवृत्ति के पूर्व) एवं पश्चात् होने वाला रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है।

चक्रपाणि–स्वे स्थाने इति-वात का अपने स्थान पर प्रकुपित होना, इससे-पक्वाशय, कटि आदि का ग्रहण किया गया है। 'बस्ति' शब्द से सामान्यतया अनुवासन एवं निरूह का ही ग्रहण किया जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

'शतावरीघृतमिति' से "शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः" (चि.अ. ३०) इत्यादि के द्वारा योनिव्यापद् चिकित्सा में वर्णित शतावरीघृत का ग्रहण करना चाहिये।

'विकार' से यहाँ रक्तातिसार में 'मल के साथ रक्त का आना' अर्थ अभीष्ट है। जिसे यहाँ 'रक्तं सविट्' इत्यादि के द्वारा बताया गया है। ॥९६-१००॥

यस्त्वेवं दुर्बलो मोहात् पित्तलान्येव सेवते ।।१०१।।
दारुणं स वलीपाकं प्राप्य शीघ्रं विपद्यते ।

गुदपाक की असाध्यता–जो व्यक्ति अत्यन्त दुर्बल होते हुए भी मोह के वशीभूत (अज्ञानता वश) होकर पित्तवर्धक अन्न-पान का अतिशय रूप में सेवन करता है, उस व्यक्ति की गुदबलियाँ (Anal sphincters) भयङ्कर रूप से पक जाती हैं, जिसके कारण व्यक्ति की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'वर्लीपाकं' से यहाँ गुदवली का पकना (Suppuration of Anal Sphincters) अर्थ गृहीत है । ॥१०१॥

श्लेष्मातिसारे प्रथमं हितं लङ्घनपाचनम् ।।१०२।।
योज्यश्चामातिसारघ्नो यथोक्तो दीपनो गणः । लङ्घितस्यानुपूर्व्या च कृतायां न निवर्तते ।।१०३।।
कफजो यद्यतीसारः कफघ्नैस्तमुपाचरेत् ।

कफज अतिसार की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Atisāra)

कफज अतिसार के रोगी में सर्वप्रथम लङ्घन (Fasting) एवं पाचन (Digestive) चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् इसमें दीपन एवं पाचन औषधियों का प्रयोग कराना हितकर होता है । इसके बाद आम अतिसार नाशक दीपनीय गण की औषधियों की योजना करनी चाहिए । दीपनीय गण की औषधियों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है । यदि लङ्घन व पाचन उपक्रमों के प्रयोग से भी कफज अतिसार की शान्ति नहीं होती है तब कफनाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–दीपनो गण इति 'शालपर्णी पृश्निपर्णी' इत्यादिनोक्तः– दीपनीय गण का विवेचन यहाँ 'शालपर्णी पृश्निपर्णी इत्यादि (श्लोक नं. २६-२९) के द्वारा किया गया है । ॥१०२-१०३॥

बिल्वं कर्कटिका मुस्तमभया विश्वभेषजम् ।।१०४।।
वचा विडङ्गं भूतीकं धान्यकं देवदारु च । कुष्ठं सातिविषा पाठा चव्यं कटुकरोहिणी ।।१०५।।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पली । योगाञ्श्लोकार्धविहितांश्चतुरस्तान् प्रयोजयेत् ।।१०६।।
शृताञ्श्लेष्मातिसारेषु कायाग्निबलवर्धनान् । अजाजीमसितां पाठां नागरं मरिचानि च ।।१०७।।
धातकीद्विगुणं दद्यान्मातुलुङ्गरसाप्लुतम् । रसाञ्जनं सातिविषं कुटजस्य फलानि च ।।१०८।।
धातकीद्विगुणं दद्यात् पातुं सक्षौद्रनागरम् । धातकी नागरं बिल्वं लोध्रं पद्मस्य केशरम् ।।१०९।।
जम्बूत्वङ्नागरं धान्यं पाठा मोचरसो बला । समङ्गा धातकी बिल्वमध्यं जम्ब्वाम्रयोस्त्वचः ।।११०।।
कपित्थानि विडङ्गानि नागरं मरिचानि च । चाङ्गेरीकोलतक्राम्लांश्चतुरस्तान् कफोत्तरे ।।१११।।
श्लोकार्धविहितान् दद्यात् सस्नेहलवणान् खडान् । कपित्थमध्यं लीढ्वा तु सव्योषक्षौद्रशर्करम् ।।११२।।
कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात् ।

कफज अतिसार नाशक योग (Recipes for Kaphaja Atisāra)– १. बिल्व, कर्कटिका (काकड़ासिंगी), नागरमुस्तक, हरड़ एवं शुण्ठी (विश्वभेषज=सोंठ) ।

२. वचा, विडङ्ग (वायविडङ्ग), भूतीक (अजवाइन), धान्यक (धनियाँ) एवं देवदारु ।

३. कुष्ठ (कूठ), अतिविषा (अतीस), पाठा, चव्य एवं कुटकी ।

४. पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक एवं गजपिप्पली ।

ये चार योग जो अर्ध श्लोक में वर्णित है । अर्थात् प्रत्येक योग आधे श्लोक में पढ़ा गया है । इस प्रकार ४ योग का पाठ २ श्लोक में हुआ है, के क्वाथ (Decoction)) का प्रयोग कफज अतिसार के रोगी में कराने से जाठराग्नि (Power of Digestion and Metabolism) एवं बल की वृद्धि होती है तथा व्याधि का प्रशमन होता है ।

अजाज्यादि योग–अजाजी (मगरैल), पाठा, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च; प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें, धातकी पुष्प- २ भाग लें । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बना लें । इस चूर्ण का सेवन उचित मात्रा में (३-६ ग्राम की मात्रा में) बिजौरे नीबू के रस के साथ करें ।

रसाञ्जनादि चूर्ण–रसाञ्जन (रसवत)- १ भाग, अतिविषा- १ भाग, कुटजफल (इन्द्रयव)- १ भाग, धातकीपुष्प (धाय का फूल)- २ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बना लें । इस चूर्ण में मधु व सोंठ का चूर्ण मिलाकर कफज अतिसार के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए ।

कफज अतिसार में उपयोगी अन्य योग–

→ धातकीपुष्प (धाय का फूल), नागर (शुण्ठी=सोंठ), बिल्व, लोध्र एवं कमलकेशर ।
→ जम्बू त्वक् (जामुन की छाल), सोंठ (शुण्ठी), धनिया, पाठा, मोचरस तथा बला ।
→ समङ्गा (लाजवन्ती=लज्जालु), धातकीपुष्प, बिल्व की गुद्दी, जामुन की छाल व आम की छाल ।
→ कपित्थ (कैथ), विडङ्ग, शुण्ठी (सोंठ) एवं कालीमिर्च ।

Scanned by CamScanner

आधे-आधे श्लोक में पठित इन चार योगों के द्रव्यों को अलग-अलग बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना ले तथा इस योग में (अलग-अलग योग में) चाङ्गेरी स्वरस, अम्लबेर का क्वाथ एवं खट्टी दधि की भावना देकर खड रूप में तैयार कर लें। इनका प्रयोग कफज अतिसार में स्नेह एवं सैन्धव लवण मिलाकर करना चाहिये।

→ **कपित्थादि चूर्ण**-कैथ की गुद्दी, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन कफज अतिसार के रोगी को मधु व घृत के साथ करना चाहिये। अथवा कट्फल के चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ करने से व्यक्ति कफज अतिसार से मुक्त हो जाता है।

चक्रपाणि-कफघ्नैस्तमुपाचरेदिति उक्तम्-कफनाशक द्रव्यों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये, यह कहा गया है। उस कफघ्न योगों का वर्णन (विवेचन) 'बिल्वकर्कटिका' इत्यादि के द्वारा किया गया है।

धातकीद्विगुणमिति एकद्रव्यापेक्षया द्विगुणया धातक्या युक्तम्-एक द्रव्य की तुलना में धातकीपुष्प चूर्ण का परिमाण दूना ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् श्लोक नं. १०८-१०९ में वर्णित सभी द्रव्य १-१ भाग तथा धातकीपुष्प चूर्ण-२ भाग लें, यह बताया गया है।

'अजाजीमित्यादि' से अजाज्यादि चूर्ण का अभिधान किया गया है। 'असितामिति' से पिप्पली अर्थ लिया गया है, अर्थात् अजाज्यादि योग में 'असितां' से पिप्पली का ग्रहण करें। आचार्य जतूकर्ण ने इस योग का पाठ इस प्रकार किया है, यथा- "पाठाऽजाजीव्योषफलपूरं धातकीद्विगुणम्" [पाठा, अजाजी (कलौंजी=मगरैल), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली-प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें, धातकीपुष्प- २ भाग लें। सभी द्रव्यों को अच्छी प्रकार से कूट कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें।]

कणां मधुयुतां पीत्वा तक्रं पीत्वा सचित्रकम् ।।११३।।
जग्ध्वा वा बालबिल्वानि मुच्यते जठरामयात् । बालबिल्वं गुडं तैलं पिप्पलीं विश्वभेषजम् । लिह्याद्वाते प्रतिहते सशूलः सप्रवाहिकः ।।११४।।
भोज्यं मूलकषायेण वातघ्नैश्चोपसेवनैः । वातातिसारविहितैर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ।।११५।।
पूर्वोक्तमम्लसर्पिर्वा षट्पलं वा यथाबलम् । पुराणं वा घृतं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ।।११६।।

१. पिप्पली चूर्ण को मधु के साथ (मधु मिश्रित करके) कफज अतिसार के रोगी को चाटने के लिए देना चाहिए, पश्चात् चित्रकचूर्ण के साथ तक्र पीने के लिए दें।

२. कच्चे बेल को अग्नि में भून लें। इस भूने हुए बेल की गुद्दी को रोगी को खाने के लिए दें। इसके सेवन से अतिसार (कफज) शान्त हो जाता है।

३. यदि कफज अतिसार में वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से रुकी हुई वायु उदर में शूल उत्पन्न कर रही हो तथा रोगी आम युक्त मल का त्याग कर रहा हो तब उसे कच्चे बिल्व की गुद्दी, गुड़, तिलतैल, पिप्पली एवं शुण्ठी (सोंठ) के सम भाग से निर्मित **चूर्ण अवलेह** को चाटने के लिए देना चाहिए। इसके साथ ही रोगी वातनाशक द्रव्यों से साधित मूली के यूष का प्रयोग भोजन के रूप में करे।

इसके अतिरिक्त वातज अतिसार की चिकित्सा में वर्णित यूष, मांसरस एवं खडों का भी प्रयोग कराना चाहिये।

४. **घृत का प्रयोग**-पूर्व वर्णित अम्लघृत (चाङ्गेरीघृत), या षट्पलघृत अथवा पुराणघृत का सेवन यवागू व मण्ड के साथ मिलाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिये।

चक्रपाणि-'कणां मधुयुतां इति' से यहाँ 'कणां' से **पिप्पली** अर्थ लिया गया है। दूसरे आचार्य इसके स्थान पर 'कणान्' पाठ करते है, अतः कणान् से षष्टि धान्य के तण्डुल (चावल) का ग्रहण करते हैं। **वाते प्रतिहते इति**-वात के अवरुद्ध होने पर। **उपसेवनैरितिव्यञ्जनैः**-सभी प्रकार के भोज्य पदार्थों (रुचिकर) का सेवन करें। इन भोज्य पदार्थों को वातनाशक औषधियों द्वारा संस्कारित करके तैयार करें।

'पूर्वोक्तमम्लसर्पिरिति'-अम्ल सर्पि (घृत) का अभिधान "चाङ्गेरीकोलदध्यम्ल" इत्यादि (श्लोक नं. ४३) के द्वारा किया गया है। अर्थात् चाङ्गेरीघृत को यवागू अथवा मण्ड में मिलाकर सेवन करना चाहिए, यह बताया गया है।

वातश्लेष्मविबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि । शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छाबस्तिं प्रयोजयेत् ।।११७।।
पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वावचयोरपि । कल्कैः सलवणैर्युक्तं पूर्वोक्त सन्निधापयेत् ।।११८।।
प्रत्यागते सुखं स्नातं कृताहारं दिनात्यये । बिल्वतैलेन मतिमान्सुखोष्णेनानुवासयेत् ।।११९।।
वचान्तैरथवा कल्कैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् । बहुशः कफवातार्तस्तथा स लभते सुखम् ।।१२०।।

पिच्छाबस्ति एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग-यदि वायु एवं कफ कोष्ठ (Colon) में अवरुद्ध हों, अथवा कफ का अत्यधिक स्राव हो रहा हो एवं मरोड़ के साथ दर्द (Pain) हो रहा हो अथवा प्रवाहिका हो [If Vāyu and Kapha are obstructed in the colon, If there

Scanned by CamScanner

is excessive voiding of Kapha (Mucus) and if there is colic pain as well as griping pain then Picchā-Basti should be administered. –Baidya Bhagvan Das]

ऐसी अवस्था में पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिये। पिच्छाबस्ति के रूप में पूर्व वर्णित पिच्छा बस्ति के द्रव्यों के साथ पिप्पली, कच्चे बेल का गुदा, कूठ, सौंफ एवं वचा; इन द्रव्यों के कल्क+सैन्धव नमक, का प्रयोग करना चाहिए।

पिच्छाबस्ति के सम्यक् रूप से देने के बाद जब बस्ति सुखपूर्वक बाहर निकल आती है तब रोगी को स्नान कराकर, सायंकाल पथ्य अन्न का सेवन करावें। इसके बाद मतिमान चिकित्सक आतुर को सुखोष्ण बिल्वतैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करे।

अथवा पिप्पली, बिल्व, कूठ, सौंफ एवं वचा के कल्क (Paste) से साधित तैल की अनुवासन बस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। इस तैल की अनुवासन बस्ति देने से कफवात जन्य अतिसार से अत्यधिक पीड़ित रोगी भी सुख प्राप्त करता है, अर्थात् वातकफज अतिसार में यह अनुवासन बस्ति अत्यन्त उपयोगी है।

चक्रपाणि–पिच्छाबस्ति प्रयोजयेदिति-'पिच्छाबस्ति का प्रयोग करना चाहिये' यह जो कहा गया है वहाँ पिच्छाबस्ति के विशेष निर्माण विधि को 'पिप्पलीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

पूर्वोक्तमिति–पूर्व वर्णित पिच्छाबस्ति में पिप्पल्यादि कल्क को मिलाकर देना चाहिए। **सन्निधापयेदिति**-दापयेत्-देना चाहिए। [श्लोक नं. ६४ से ६७ में वर्णित पिच्छाबस्ति में पिप्पली आदि द्रव्यों के कल्क को मिलाकर बस्ति दें।]

बिल्वतैलेनेति–सिद्धिस्थान में- 'दशमूलबलारास्ना' (सि.अ. ४) इत्यादि के द्वारा वर्णित बिल्वतैल (दशमूल बलादि तैल) की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

वचान्तैरिति–'वचान्तैः' से यहाँ "पिप्पलीबिल्वकुष्ठानां शताह्वा वचयोरपि" [पिप्पली, बिल्व, कूठ, सौंफ एवं वचा] पठित द्रव्यों को वचान्त कहा गया है। 'वचान्तैं' से जिन द्रव्यों के अन्त में वचा हो, अर्थ गृहीत है। इस प्रकार पिप्पली, बिल्व, कूठ, सौंफ व वचा के कल्क से सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दें।

स्वे स्थाने मारुतोऽवश्यं वर्धते कफसंक्षये। स वृद्धः सहसा हन्यात्तस्मात्तं त्वरया जयेत् ।।१२१।।

लंघन, पाचन आदि उपक्रमों के करने के बाद कफ के क्षय होने से वायु अपने स्थान पर निश्चय ही बढ़ जाती है। वह वृद्ध (बढ़ी हुई) वायु के रोगी को अचानक मार डालती है। इसलिये वृद्ध वायु का शीघ्रता पूर्वक प्रशमन करना चाहिये।

चक्रपाणि–संप्रति सर्वातिसारेषु पक्वाशयव्यापकत्वेन वायुरवश्यं वृद्धो भवति-सभी प्रकार के अतिसारों में पक्वाशय व्यापक होने से इसमें वायु का निश्चय ही प्रकोप होता है। वह प्रकुपित वायु आशुकारी होने से, उसका प्रशमन शीघ्रता पूर्वक करना चाहिए। अर्थात् इसकी चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिए। इसी को यहाँ 'स्वे इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कफसंक्षयादित्यनेन–अतिसार में कफ का क्षय होने से व्यक्ति का शरीर रुक्ष हो जाता है। फलतः वायु प्रकुपित हो जाती है। चिकित्सा के द्वारा कफ व रक्त की वृद्धि होने से व्यक्ति का शरीर स्निग्ध हो जाता है, परिणामतः प्रकुपित हुई वायु प्रशमित हो जाती है।।१२१।।

वातस्यानु जयेत् पित्तं, पित्तस्यानु जयेत् कफम्। त्रयाणां वा जयेत् पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः ।।१२२।।

सन्निपातज अतिसार का चिकित्सा-सूत्र (Treatment of Sānnipātaja Atisāra)–सन्निपातज अतिसार में सर्वप्रथम वात की चिकित्सा करनी चाहिए, पश्चात् पित्त का प्रशमन करें अन्त में कफ को जीतना चाहिए। अथवा तीनों दोषों में जो दोष सबसे अधिक बली हो, उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिए।

चक्रपाणि–पूर्वं ज्वराध्याये सन्निपातचिकित्सायां "कफस्थानानुपूर्व्या वा" (चि.अ. ३) इत्यनेन कफपित्तवातानां क्रमेण चिकित्सोक्ता अतिसारेऽपि त्रिदोषजे कदाचित् स्यादित्याशङ्क्याह विशिष्टं क्रममाह–वातस्यान्वित्यादि। (पूर्व वर्णित ज्वर चिकित्सा अध्याय में 'सन्निपात ज्वर की चिकित्सा' कफस्थानानुपूर्व्या वा" इत्यादि के द्वारा कफ, पित्त एवं वात के क्रम में बतायी गयी है, त्रिदोषज (सन्निपातज) अतिसार में भी कभी-कभी यहीं क्रम अपनाया जाता है, यह शङ्का उत्पन्न होती है। (त्रिदोषज अतिसार में भी क्या यही क्रम है, यह शंका उत्पन्न होती है।) इसलिये उस विशेष क्रम को यहाँ 'वातस्यान्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् कफ, पित्त व वात का क्रम न होकर वात, पित्त एवं कफ की चिकित्सा क्रमशः करनी चाहिये, यह भाव है। चिकित्सा का यह क्रम निराम सन्निपातज अतिसार का ही है, ऐसा समझें। साम में (साम सन्निपातज अतिसार में) सर्वप्रथम आम की ही चिकित्सा की जाती है।

Scanned by CamScanner

समत्रिदोषातिसारचिकित्साक्रममभिधाय विषमत्रिदोषातिसारचिकित्साक्रममाह–त्रयाणामित्यादि–यहाँ सबसे पहले समत्रिदोषज अतिसार का चिकित्साक्रम बताया गया है । अर्थात् समत्रिदोषज अतिसार में सबसे पहले वात, पश्चात् पित्त अन्त में कफ की चिकित्सा करनी चाहिए, यह बताया गया है । इसी को यहाँ आचार्य ने 'वातस्यानुजयेत् पित्त', पित्तस्यानुजयेत् कफम्' के द्वारा स्पष्ट किया है ।

'त्रयाणां वा जयेत् पूर्व यो भवेद्बलवत्तमः' से विषमसन्निपातज अतिसार की चिकित्सा का विवेचन किया गया है । अर्थात् इसमें जो दोष सबसे बली हो उसको जीतने का प्रयास पहले करना चाहिये, यह अभिप्राय है । ॥१२२॥

तत्र श्लोकः–

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि लक्षणं साध्यता न च । क्रिया चावस्थिकी सिद्धा निर्दिष्टा ह्यतिसारिणाम् ।।१२३।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थानेऽतिसारचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ।।१९।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस अतिसारचिकित्सा नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

- → अतिसार की पूर्व उत्पत्ति (Mythological origin of Atisāra)
- → अतिसार के हेतु (Etiology of Atisāra)
- → अतिसार के लक्षण (Signs and Symptoms of Atisāra)
- → साध्यता-असाध्यता (Curability and Incurability)
- → अतिसार की अवस्थानुसार प्रभावी चिकित्सा (Effective treatment for different stages of Atisāra)

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चिकित्सास्थान में अतिसारचिकित्सा नामक उन्नीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–प्रागुत्पत्ति इत्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है । ॥१२३॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में अतिसारचिकित्सा नामक उन्नीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥१९॥

●

Scanned by CamScanner

विंशोऽध्यायः ।

अथातश्छर्दिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद छर्दिचिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ।।१-२।।

चक्रपाणि–शरीर में मुख्य रूप से दो मार्ग हैं–१. अधोमार्ग, जिसे गुदा कहते हैं या गुदमार्ग, २. ऊर्ध्वमार्ग अथवा मुखमार्ग। अतिसार में अधोमार्ग द्वारा दोषों की अति प्रवृत्ति होती है । अतः दोषों की अतिप्रवृत्ति रूप अतिसार के विवेचन के बाद ऊर्ध्व मार्ग द्वारा दोषों की अतिप्रवृत्ति रूप व्याधि छर्दि का अभिधान किया जा रहा है । यही इस अध्याय का पूर्व अध्याय से सम्बन्ध है । ।।१-२।।

यशस्विनं ब्रह्मतपोद्युतिभ्यां ज्वलन्तमग्न्यर्कसमप्रभावम् । पुनर्वसुं भूतहिते निविष्टं पप्रच्छ शिष्योऽत्रिजमग्निवेशः ।।३।।

अग्निवेश के छर्दि विषयक प्रश्न–ब्रह्मज्ञान एवं तप की कान्ति से देदीप्यमान, अग्नि व सूर्य के समान प्रभाव वाले, सभी प्राणियों के हित की कामना करने वाले, यशस्वी भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से शिष्य अग्निवेश ने यह पूछा–

चक्रपाणि–ब्राह्मणः तत्त्वज्ञानस्य तपसश्च द्युती ब्रह्मतपोद्युति, ताभ्यां ज्वलन्तम्-तत्त्वज्ञान एवं तप के प्रकाश से जो प्रकाशित हो उसे 'ब्रह्मतपोद्युती' कहा जाता है । अर्थात् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय एक परम् तत्त्वज्ञानी एवं तपस्वी थे ।

ताभ्यां ज्वलन्तम्–इन दोनों गुणों से प्रकाशित होना (जलना=चमकना)

याश्छर्दयः पञ्च पुरा त्वयोक्ता रोगाधिकारे भिषजां वरिष्ठ ! । तासां चिकित्सां सनिदानलिङ्गां यथावदाचक्ष्व नृणां हितार्थम् ।।४।।
तदग्निवेशस्य वचो निशम्य प्रीतो भिषक्श्रेष्ठ इदं जगाद । याश्छर्दयः पञ्च पुरा मयोक्तास्ता विस्तरेण ब्रुवतो निबोध ।।५।।

हे चिकित्सकों में श्रेष्ठ आचार्य ! आपके द्वारा जिन पाँच प्रकार की छर्दि का पूर्व रोगाधिकार प्रकरण (अष्टोदरीय अध्याय-सू.अ. १९) में विवेचन किया गया है, उनके निदान (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का यथावत् उपदेश प्राणियों के हित के लिए मुझे (हम लोगों को) बतावें ।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर–उस अग्निवेश के वचनों को सुनकर चिकित्सकों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने प्रेमपूर्वक यह कहा-हे अग्निवेश ! जिन पाँच प्रकार की छर्दिरोग का पूर्व में मेरे द्वारा उल्लेख किया गया है उसे अब विस्तार से बता रहा हूँ सुनो-

चक्रपाणि–रोगाधिकारे इति– अष्टोदरीय (सू.अ. १९) रोगाधिकार से यहाँ सूत्रस्थान में वर्णित अष्टोदरीय अध्याय का ग्रहण किया गया है ।

दोषैः पृथक्त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात् ।

छर्दि के प्रकार (Types of Chardi)–छर्दि पाँच प्रकार की होती है ।

१. वातज छर्दि, २. पित्तज छर्दि, ३. कफज छर्दि, ४. त्रिदोषज (सन्निपातज) छर्दि, ५. द्विष्टार्थ योगज छर्दि

चक्रपाणि–पृथक् वातादिषु त्रिषु मिलितेषु च प्रभव उत्पत्तिर्यासां ताः पृथक् त्रिप्रभवाश्चतस्रः-अलग-अलग दोषों से तीन, मिलित तीनों दोषों से होने वाली छर्दि एक होती है । इस प्रकार दोषज ४ प्रकार की छर्दि होती है ।

द्विष्टार्थयोगादपीत्यत्र–द्विष्टार्थ योग से यहाँ-द्विष्ट शब्द से प्रतीप (अप्रिय), अपवित्र, पूति आदि कारणों से होने वाली घृणा के द्वारा जो छर्दि उत्पन्न होती है उसका ग्रहण किया गया है । द्विष्टार्थ शब्द जिसका वर्णन छर्दिनिदान में किया गया है, गोबलीवर्द न्याय के अनुसार प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग होता है । अर्थात् किसी व्यक्ति को सर्षप तैल के गन्ध से वमन हो सकता है तथा दूसरे को इससे नहीं भी हो सकता है । उससे यहाँ वर्णित शब्द का जो अर्थ प्रतिपादित है उसी से उत्पन्न होने वाली छर्दि का ग्रहण किया जाना चाहिए ।

[The fifth variety of Chardi is caused by the contact with despisable and unwanted objects. The despisability of the object is by and large subjective in character. This differs from person to person. On the analogy of the usages of the term 'Go' (Generally used for cow) connate both the cows and bulls (Go Balīvarda-nyāya) this term 'dviṣṭa' (despisable) includes objects which are unwanted, impure, putrified, etc- Dr. R.K. Sharma and Vaidya Bhagvan das]

द्विष्टार्थ संयोग का अभिप्राय अप्रिय या घृणित शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से लिया गया है ।

तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम् ।।६।।

Scanned by CamScanner

छर्दि के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Chardi)–

- → हृदयोत्क्लेश का होना (मिचली का आना-Nausea)
- → कफप्रसेक का होना (Excessive salivation)
- → भोजन के प्रति द्वेष का होना

ये लक्षण छर्दि के पूर्वरूप में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–यद्यपि हेत्वादि के अभिधान के बाद पूर्वरूप का कथन किया जाता है, क्योंकि हेतुओं के सेवन के बाद ही पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है । लेकिन इस प्रकरण में उत्पादक कारण (Causitive factor) के विवेचन के पूर्व पूर्वरूप का कथन किया गया है, क्योंकि पूर्वरूप के लक्षण इस व्याधि में अत्यन्त अल्प रूप में मिलते हैं । यही व्याख्या अन्य स्थानों पर भी अन्य व्याधियों के प्रसङ्ग में समझनी चाहिए ।

व्यायामतीक्ष्णौषधशोकरोगभयोपवासाद्यतिकर्शितस्य । वायुर्महास्रोतसि संप्रवृद्ध उत्क्लेश्य दोषांस्तत ऊर्ध्वमस्यन् ।।७।।
आमाशयोत्क्लेशकृतां च मर्म प्रपीडयंश्छर्दिमुदीरयेत्तु । हृत्पार्श्वपीडामुखशोषमूर्धनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ।।८।।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् । कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम् ।।९।।

१. वातज छर्दि के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of the Vātaja Chardi)–अत्यधिक व्यायाम (Excessive exercise) करने, अत्यधिक तीक्ष्ण औषध के सेवन करने, शोक, भय, उपवास आदि कारणों के अतिसेवन से जिस व्यक्ति का शरीर अत्यधिक कृश हो गया हो, ऐसे व्यक्ति के महास्रोतस् में प्रकुपित वायु वहाँ स्थित दोषों (कफ-पित्त) को उभारकर तथा आमाशय में उत्क्लेश उत्पन्न करते हुए तथा मर्म प्रदेश (हृदय प्रदेश) को पीड़ित करते हुए ऊर्ध्वमार्ग से दोषों को बाहर निकालती है । इसे छर्दि कहते हैं ।

वातज छर्दिरोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Chardi)–वातज छर्दि में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

- → हृदय के पार्श्व भाग में पीड़ा का होना (Pain in cardiac region)
- → मुखशोष (मुख का सूखना (dryness of the mouth)
- → ऊर्ध्व (सिर) एवं नाभि (umblical region) प्रदेश में पीड़ा का होना ।
- → खाँसी (Coughing), स्वरभेद (गले का बैठ जाना-Hoarseness of the voice) एवं तोद । (गले में सूई चुभाने जैसी पीड़ा का होना-Pricking pain)
- → उल्टी (छर्दि) करते समय तेज आवाज का आना (Eructation with loud sound)
- → मुख से निकलने वाले वमन के पदार्थ फेन युक्त, कट-कट करके टुकड़े के रूप में बाहर निकलते हैं, उनका वर्ण (Colour) काला, पतला (dilute) एवं कषायरस युक्त होता है ।
- → वमन के वेग तीव्र होते हैं, लेकिन निकलने वाला पदार्थ अल्प मात्रा में कष्ट के साथ निकलता है ।

इस प्रकार इन लक्षणों से युक्त छर्दि को वातज समझना चाहिए । इसमें रोगी अपने को अत्यधिक दुःखी महसूस करता है ।

चक्रपाणि–'व्यायामेत्यादि' के द्वारा वातज छर्दि के हेतु (Etiology) एवं लक्षणों (Signs and Symptoms) को बताया गया है । महास्रोतस् से यहाँ कोष्ठ अर्थ गृहीत है ।

'दोषानिति'-'दोष' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है जिसका अभिप्राय अनेक उत्क्लेशनीय कारणों के विद्यमान होने से है, अर्थात् पित्त व कफ के अतिरिक्त रक्तादि भी वमन के रुप में निकलते हैं । इन भावों का ग्रहण दोष शब्द से ही हो जाता है ।

ऊर्ध्वक्षेपणमामाशयोत्क्लेशेनोदीरितो वायुरेव करोति–आमाशय में उत्क्लेश उत्पन्न करके दोषों को प्रेरित करके बाहर निकालने का कार्य वायु ही करती है ।

किंवा आमाशयोद्वेगकृतानिति द्वितीयाबहुवचनं दोषानित्यस्य विशेषणम्–अथवा 'आमाशयोत्क्लेशकृतां' के स्थान पर 'आमाशयोद्वेगकृतान्' शब्द होने पर आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करके दोषों का बाहर निकालना । अर्थात् 'दोषान्' के विशेषण के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । मर्म=हृदय । **कषायमिति** से यहाँ कषायरस अथवा कषाय वर्ण अर्थ गृहीत है । कषाय वर्ण= Yellowish Red or dull Red colour-M.M. Williams Sanskrit-English Dictionary].

Scanned by CamScanner

अजीर्णकद्वम्लविदाह्यशीतैरामाशये पित्तमुदीर्णवेगम् । रसायनीभिर्विसृतं प्रपीड्य मर्माण्यभागम्य वमिं करोति ।।१०।।
मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धतालक्षिसंतापतमोभ्रमार्तः । पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत् सदाहम् ।।११।।

२. पित्तज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Pittaja chardi)—अजीर्ण भोजन, कटु, अम्ल, विदाही एवं उष्ण आहार के सेवन करने से पित्त वृद्ध होकर आमाशय में संचित होता है अथवा इन अन्न-पानों के सेवन करने से आमाशय में पित्त की वृद्धि हो जाती है । वह बढ़ा हुआ पित्त वेग के प्रबल होने से रसायनियों में फैल जाता है । परिणामतः शरीर के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर हृदय को पीड़ित करते हुए वमन के रूप में बाहर निकलता है ।

पित्तज छर्दि के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja chardi)—पित्तज छर्दि में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. मूर्च्छा (Fainting), तृष्णा (बार-बार प्यास का लगना) एवं मुख का सूखना (Dryness of the mouth) ।
२. शरीर का ऊर्ध्व भाग अर्थात् सिर, तालु (Palate) एवं आँखों में उष्णता का अनुभव होना ।
३. रोगी के आँखों के सामने अन्धकार का छा जाना, भ्रम (चक्कर का आना) ।
४. वमन द्वारा निकलने वाले आमाशयिक पदार्थ का वर्ण पीला एवं हरा होता है, रस-तिक्त एवं उष्ण हो जाता है ।
५. रोगी के मुख से धुएं के निकलने जैसी प्रतीति का होना ।
६. वमन करते समय गले में दाह का होना ।

ये सभी लक्षण पित्तज छर्दि में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि-'अजीर्णेत्यादि' के द्वारा पित्तज छर्दि के हेतु एवं लक्षणों का अभिधान किया गया है । **अजीर्णेति अजीर्णे भोजनम्**-अजीर्ण अवस्था में भोजन करना, अर्थात् पूर्व आहार के बिना पचे ही पुनः भोजन करना 'अजीर्ण भोजन' कहलाता है ।

रसायनीभिरिति स्रोतोभि-बढ़ा हुआ पित्त अपने वेग के कारण स्रोतसों में व्याप्त हो जाता है । प्रकुपित पित्त का स्रोतसों के द्वारा फैलना ।

मूर्धेत्यादि संतापेन संबध्यते-मूर्धा आदि का सम्बन्ध संताप के साथ है । मूर्धा संताप (सिर में गर्मी का अनुभव होना), तालुसंताप (तालु प्रदेश में जलन होना), अक्षिसंताप (आँखों में जलन का होना), अर्थ गृहीत है ।

धूम्रं धूम्रवर्णम्-धुएं के वर्ण का (Smoke coloured Dark grey, dark red) वमन करता है । ।।१०-११।।

स्निग्धातिगुर्वामविदाहिभोज्यैः स्वप्नादिभिश्चैव कफोऽतिवृद्धः । उरः शिरो मर्म रसायनीश्च सर्वाः समावृत्य वमिं करोति ।।१२।।
तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसंतोषनिद्रारुचिगौरवार्तः । स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सलोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ।।१३।।

३. कफज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Kaphaja chardi)—स्निग्ध, अतिगुरु (देर से पचने वाले), आम (असम्यक् रूप से पके हुए अन्न), विदाही (विदाहोत्पादक) अन्न के सेवन करने से, अत्यधिक सोने से व्यक्ति के शरीर में कफ की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है । वह प्रकुपित कफ उरः प्रदेश, सिर, मर्म (हृदय) तथा सम्पूर्ण स्रोतसों में व्याप्त होकर कफज छर्दि को उत्पन्न करता है ।

कफज छर्दि के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja chardi)—

१. तन्द्रा (drowsiness), मुख का स्वाद मधुररस युक्त होना (Sweet taste), मुख से अत्यधिक पानी का आना (Excessive salivation).
२. संतोष (आत्म संतुष्टि का होना), अत्यधिक निद्रा का आना, अरुचि (Anorexia), गौरव (शरीर में भारीपन का अनुभव होना)।
३. वमन के रूप में निकलने वाले आमाशयिक पदार्थ स्निग्ध, घन, (गाढ़ा), मधुररस युक्त एवं विशुद्ध होते हैं।
४. वमन करते समय रोमहर्ष का होना एवं वेदना का कम होना अर्थात् अल्प वेदना के साथ वमन का होना ।

ये सभी लक्षण कफज छर्दि में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि-'स्निग्धेत्यादि' के द्वारा कफज छर्दि का अभिधान किया गया है । **संतोषोऽत्र तृप्तिः**-संतोष से यहाँ तृप्ति अर्थ लिया गया है । अर्थात् व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका पेट भरा हुआ है । अन्य आचार्य संतोष एक मानसिक भाव है, जो यहाँ व्याधि के प्रभाव के कारण उत्पन्न होता है, ऐसा स्वीकार करते हैं । संतोष=मानसिक संतुष्टि । **अल्परुजमिति**-यह क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् अल्प वेदना के साथ वमन का होना । ।।१२-१३।।

Scanned by CamScanner

समश्नतः सर्वरसान् प्रसक्तमामप्रदोषर्तुविपर्ययैश्च । सर्वे प्रकोपं युगपत् प्रपन्नाश्छर्दिं त्रिदोषां जनयन्ति दोषाः ।।१४।।
शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् । छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्ननीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ।।१५।।

४. त्रिदोषज छर्दि का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Tridoshaja chardi)—हितकर एवं अहितकर आहार द्रव्यों का विचार न करते हुए सभी प्रकार के द्रव्यों के सेवन करने से, आम अन्न के सेवन करने से तथा ऋतुओं में विपरीतता आने से तीनों दोष एक साथ प्रकुपित होकर त्रिदोषज (सन्निपातज) छर्दि को उत्पन्न करते हैं ।

त्रिदोषज छर्दि के लक्षण (Signs and Symptoms of Tridoshaja chardi)—१. उदर में शूल का होना (Colic pain), अविपाक (आहार का पाचन सम्यक् रूप से न हो पाना Indigestion), अरुचि (Anorexia), दाह (Burning sensation) एवं प्यास का अत्यधिक लगना, श्वास (श्वास-कृच्छ्रता-Dyspnoea) एवं मोह (Fainting) का प्रबल रूप से होना ।

२. वमन के रूप में निकलने वाला पदार्थ लवण एवं अम्लरस युक्त, वर्ण में नील, गाढ़ा, उष्ण एवं रक्त मिश्रित होता है ।

ये लक्षण त्रिदोषज छर्दि में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि—'समश्नत इत्यादि' के द्वारा त्रिदोषज छर्दि का विवेचन किया गया है । **समश्नतः सर्वरसानिति**-सभी रसों को मिलाकर खाना, अर्थात् जो व्यक्ति पथ्य एवं अपथ्य अन्न को मिलाकर खाता हो । कहा भी गया है-"पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्" (चि.अ. १५) इति (पथ्य एवं अपथ्य अन्न को एक साथ मिलाकर खाना समशन कहलाता है । समशन से सभी रसों का प्रयोग करना अर्थ गृहीत नहीं है, क्योंकि सर्वरस युक्त आहार को पथ्य ही कहा जाता है । ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर सर्वरस युक्त आहार का त्रिदोषकर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । **प्रसक्तमिति** निरन्तरम् (लगातार सेवन करना) । **आमस्य प्रदोषः आमप्रदोषः**-आम दोष के अत्यधिक बढ़ जाने से । ॥१४-१५॥

विशेष (Comments)—यहाँ सन्निपातज छर्दि के उत्पादक हेतुओं में तीन हेतुओं का उल्लेख किया गया है—

१. सर्वरस युक्त पथ्य-अपथ्य अन्न को एक साथ मिलाकर सेवन करना ।

२. आम अन्न की विशेष दुष्टि (आमविष)

३. ऋतु विपर्यय

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति । उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ।।१६।।
विण्मूत्रयोस्तत् समवर्णगन्धं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम् । प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ।।१७।।

त्रिदोषज (सन्निपातज) छर्दि के उपद्रव—प्रकुपित हुई वायु जब पुरीषवह, स्वेदवह, मूत्रवह एवं अम्बुवह स्रोतस् को अवरुद्ध करके शरीर के ऊर्ध्व भाग में पहुँचती है तब वह कोष्ठ में संचित उत्सन्न दोषों को वहाँ से ऊर्ध्व मार्ग के द्वारा बाहर निकालती है । उस समय कोष्ठ से निकलने वाले द्रव्य—पुरीष एवं मूत्र के समान वर्ण एवं गन्ध युक्त होते हैं । अर्थात् वमन के रूप निकलने वाले पदार्थ का गंध एवं वर्ण (Colour) मूत्र एवं पुरीष के समान होता है, रोगी को प्यास अधिक लगती है, वह हिक्का व श्वास से आक्रान्त रहता है । वमन का वेग बहुत तीव्र होता है एवं उससे निकलने वाला पदार्थ अत्यन्त दूषित रहता है ।

इन लक्षणों (उपद्रवों) से युक्त रोगी की मृत्यु शीघ्र हो जाती है ।

चक्रपाणि—'विट् स्वेदेत्यादि' के द्वारा उपद्रव युक्त छर्दि में उपद्रव के कारण आने वाली असाध्यता को बताया गया है ।

विण्मूत्रयोस्तत्समगंधवर्णं छर्दयतीति वायुना विण्मूत्रस्रोतसां दूषितत्वाज्ज्ञेयम्—वमन के रूप में निकलने वाले द्रव्यों का गन्ध एवं वर्ण मूत्र व पुरीष के गन्ध एवं वर्ण के समान होता है । यह अवस्था वायु के द्वारा पुरीषवह एवं मूत्रवह स्रोतस् के दूषित होने से उत्पन्न होती है, ऐसा समझना चाहिए । ॥१६-१७॥

द्विष्टप्रतीपाशुचिपूत्यमेध्यबीभत्सगन्धाशनदर्शनैश्च । यच्छर्दयेत्तप्तमना मनोघ्नैर्द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ।।१८।।

५. द्विष्ट योगज छर्दि (Dvishtārātha-Yogaja Chardi)—द्विष्ट (घृणित), प्रतीप (विरुद्ध), अशुचि (अपवित्र), पूति (दुर्गन्ध युक्त=सड़े हुए), अमेध्य (जो मेधा के लिए हितकर न हो) तथा बीभत्स (अत्यन्त घृणित) गन्ध, अशन (भोजन) तथा दृश्य जो मनोविघातक हों, के सेवन (गन्ध के सुघने, अशन (भोजन) के करने तथा दृश्यों के देखने) से व्यक्ति का मन संतप्त हो जाता है । परिणामतः व्यक्ति वमन (छर्दि) करने लगता है । इस प्रकार की छर्दि को द्विष्टार्थ संयोग जन्य समझना चाहिये ।

चक्रपाणि—'द्विष्टेत्यादि' के द्वारा द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि को बताया गया है ।

Scanned by CamScanner

द्विष्टादयो गन्धेनाशनेन दर्शनेन च यथायोग्यतया संबध्यन्ते-द्विष्ट, प्रतीप, अशुचि, पूति, अमेध्य एवं बीभत्स का सम्बन्ध गन्ध, अशन एवं दर्शन से यथा योग्यतया ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् जैसा संभव हो वैसा ग्रहण करें । [यथा-द्विष्ट (जिसे मन न चाहता हो अर्थात् मन के विपरीत)- गन्ध, आहार, दृश्य । **प्रतीप**-(विरुद्ध) अन्न (आहार) । अशुचि (uncleaned)-भोजन, दृश्य । पूति (दुर्गन्धित)-अन्न (आहार), गन्ध । अमेध्य (जो मेधा के लिए हितकर न हो)- अन्न । बीभत्स-दृश्य ।]

अशन=भोजन । **द्विष्टं प्रतिपुरुषाप्रीतिजनकम्**-आपस में प्रेम न उत्पन्न करने वाला भाव, अर्थात् द्वेषोत्पादक भाव प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग होते है । [प्रतीप से असात्म्य (अपथ्य) आहार का ग्रहण किया गया है, प्रतीपं सात्म्यविपरीतम्-गंगाधर]

प्रतीप (अप्रिय)-वचादि के अर्थ में प्रयुक्त है । अर्थात् वचा आदि के समान उग्र गन्ध, कटुरस युक्त द्रव्यों के सेवन से भी वमन हो जाता है, कुछ आचार्य प्रतीप से वात का ग्रहण करते हैं । अशुचि उच्छिष्टादि=त्यक्त आहार (जूठन) । अमेध्य-मलीन । बीभत्स जुगुप्सितम्=निन्दित ।

मनोघ्नैरित्यनेन द्विष्टादीनां मध्ये यत्किंचित् अशुच्यादि यं पुरुषं प्राप्य मनोघ्नं न भवति तं प्रति तच्छर्दिकारकं न भवति-मनोविनाशक द्विष्टादि भावों के बीच अशुचि आदि जिस किसी भाव के सेवन से यदि पुरुष का मन विकृत, नहीं होता है तब उस भाव के सेवन करने पर भी छर्दि नहीं होती, ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि वह भाव (सेवन करने वाला भाव) मनोपघातक नहीं होता । ॥१८॥

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रवृद्धा सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता । सचन्द्रिकां तां प्रवदन्त्यसाध्यां साध्यां चिकित्सेदनुपद्रवां च ॥१९॥

छर्दिरोग की असाध्यता (Incurability of chardi)-यदि रोगी अत्यधिक दुर्बल हो, छर्दि लगातार हो रही हो, छर्दिरोग में बताये गये सभी उपद्रव मिलते हो, वमन के रूप में निकलने वाले द्रव्यों के साथ रक्त एवं पूय भी निकल रहा हो साथ में चन्द्रिकायें भी दिखायी देती हों, ऐसे रोगी को असाध्य समझना चाहिए । इसके विपरीत रोगी साध्य होता है । अर्थात् उपद्रव रहित व बलवान रोगी को साध्य समझकर चिकित्सा करनी चाहिये । [साध्य एवं उपद्रव रहित रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए ।]

चक्रपाणि-असाध्य लक्षणों से युक्त छर्दि के रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, जिसे यहाँ 'क्षीणस्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

अतिप्रवृद्धेति सदाऽनुबद्धा-हमेशा अनुबद्ध रहने वाली (जिसे हमेशा वमन होता रहता है ।)

सोपद्रवेति-विट्स्वेद इत्यादि के द्वारा छर्दिरोग के उपद्रवों का कथन श्लोक नं. १६-१७ में किया गया है । [उपद्रवों में वमन के रूप में निकलने वाले पदार्थ का गंध व वर्ण पुरीष एवं मूत्र के गंध व वर्ण के समान होना, साथ में हिका, श्वास एवं तृषा आदि से ग्रसित होना, बताया गया है ।]

सचन्द्रिकामिति धातुस्नेहमण्डलाकारयुक्ताम्-मेद आदि धातुओं का स्नेहांश मण्डल के रूप में निकलना, चन्द्रिका कहलाता है । **[मेदः प्रभृति धातुर्मयूरपुच्छचन्द्रकवत् प्रतिभाति, सा चन्द्रिका, तद्युक्ताम्**-मेद आदि धातुओं का मयूरपुच्छ के समान गोल-गोल चमकते हुए दिखायी देना, चन्द्रिका कहा जाता है । -गंगाधर]

विशेष (Comments)-'क्षीणस्येत्यादि' के द्वारा असाध्य छर्दि के लक्षणों का अभिधान किया गया है । क्षीण पुरुष का अभिप्राय व्याधि के द्वारा क्षीण (दुर्बल) होने से है । अर्थात् व्यक्ति दुर्बल हो, निरन्तर प्रबल रूप से जिसे वमन होता हो, अथवा छर्दि के उपद्रवों से युक्त होना अथवा वमन के रूप में निकलने वाले पदार्थ के साथ रक्त एवं पूय से युक्त चन्द्रिकाओं का दिखाई देना, [चन्द्रिकाओं से यहाँ मयूरपुच्छ पर विद्यमान चमकीले गोल आकृति के समान रक्त, पूय एवं मेदादि धातुओं की गोल-गोल संरचना दिखाई देना, अर्थ गृहीत है ।] जिस छर्दि में ये चन्द्रिकाएं मिलती हैं उसे असाध्य समझना चाहिए । अनुपद्रवां से-कासादि उपद्रव से रहित वातादिजन्य छर्दि को साध्य समझकर चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थ ग्रहण करना चाहिये । -जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद ।

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् । प्राक्कारयेन्मारुतजां विमुच्य संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥२०॥
चूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयानां हृद्यानि वा यानि विरेचनानि । मद्यैः पयोभिश्च युतानि युक्त्या नयन्त्यधो दोषमुदीर्णमूर्ध्वम् ॥२१॥
वल्लीफलाद्यैर्वमनं पिबेद्वा यो दुर्बलस्तं शमनैश्चिकित्सेत् । रसैर्मनोज्ञैर्लघुभिर्विशुष्कैर्भक्ष्यैः सभोज्यैर्विविधैश्च पानैः ॥२२॥

छर्दि रोग की चिकित्सा (Treatment of Chardi)

→ सभी प्रकार के छर्दिरोग आमाशय में उत्क्लेश होने से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये इसमें सर्वप्रथम लङ्घन अथवा कफपित्तहर संशोधन (वमन-विरेचन) का प्रयोग करना चाहिए । यह प्रक्रिया (लङ्घन एवं वमन-विरेचन) मात्र वातज छर्दि में नहीं अपनानी चाहिए ।

Scanned by CamScanner

→ छर्दिरोग में विरेचनार्थ हरीतकी चूर्ण को मधु के साथ चाटने के लिए देना चाहिये अथवा अन्य विरेचन द्रव्य जो हृद्य हों, उनका प्रयोग मद्य या दूध के साथ युक्तिपूर्वक करना चाहिए। इनके प्रयोग से ऊर्ध्व मार्ग से निकलने वाले दोषों की प्रवृत्ति अधोगामी हो जाती है।

→ अथवा वल्लीफल (तितलौकी) आदि द्रव्यों के क्वाथ को पिलाकर वमन कराना चाहिये। अथवा जो रोगी दुर्बल हों, उसमें शमन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिये। इस हेतु मन के अनुकूल रस, लघु एवं शुष्क द्रव्य, विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य एवं पेय पदार्थों का प्रयोग रोगी को कराना चाहिये।

चक्रपाणि–'आमाशयेत्यादि' के द्वारा साध्य छर्दि की चिकित्सा को बताया गया है। सभी प्रकार के **छर्दिरोग** आमाशय [ऊर्ध्व आमाशय (Stomach)] में क्षोभ होने से ही होते हैं। आमाशय जनित रोगों में लङ्घनादि एवं कफहर चिकित्सा ही उपयोगी है। इसलिये यहाँ लङ्घन कराने का निर्देश दिया गया है, यह भाव है। लङ्घन का प्रयोग अल्प रूप में दोषों के वृद्ध होने पर करना चाहिये, जबकि शोधन की व्यवस्था दोषों की अत्यधिक वृद्धि में की गयी है।

संशोधनशब्देन चेह विरेचनवमने अपि गृह्येते–संशोधन शब्द से यहाँ विरेचन व वमन का भी ग्रहण होता है, **अन्य आचार्य यहाँ संशोधन शब्द से प्रतिमार्ग हरण चिकित्सा होने से छर्दिरोग में अत्यधिक उपयोगी विरेचन को ही स्वीकार करते हैं**। 'चूर्णानीत्यादि' के द्वारा संशोधन योगों का वर्णन किया गया है। 'फलाद्यैरिति' से यहाँ फलमात्रासिद्धि अध्याय (सि.अ. ११) में पठित जीमूतक, इक्ष्वाकु आदि के फलों का ग्रहण करना चाहिये।

शमनैरिति–दोषों को निकाले बिना दोषनाशक (दोष साम्यकर) औषधियों के प्रयोग द्वारा उनका शमन करना, शमन कहा जाता है। आचार्य **पुष्कलावत** ने कहा भी है, यथा-"न शोधयति यद्दोषान् समान्नोदीरयत्यपि। समी करोति विषमांस्तत् संशमनमुच्यते" इति [जो दोषों का शोधन (निर्हरण) न करता हो, सम दोषों को उत्क्लेशित भी न करता हो तथा विषम दोषों को सम अवस्था में लाता हो, उसे संशमन कहा जाता है। ॥२०-२२॥

सुसंस्कृतास्तित्तिरिबर्हिलावरसा व्यपोहन्त्यनिलप्रवृत्ताम्। छर्दिं तथा कोलकुलत्थधान्यबिल्वादिमूलाम्लयवैश्च यूषः ॥२३॥
वातात्मिकायां हृदयद्रवार्तो नरः पिबेत् सैन्धववद्घृतं तु। सिद्धं तथा धान्यकनागराभ्यां दध्ना च तोयेन च दाडिमस्य ॥२४॥
व्योषेण युक्तां लवणैस्त्रिभिश्च घृतस्य मात्रामथवा विदध्यात्। स्निग्धान्न हृद्यानि च भोजनानि रसैः सयूषैर्दधिदाडिमाम्लैः ॥२५॥

१. वातज छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Chardi)–अधोलिखित योगों का प्रयोग वातज छर्दि में करना चाहिये–

(क) विधिपूर्वक संस्कारित तीतर, बर्हि (मोर) एवं लाव पक्षी के मांसरस का सेवन।

(ख) कोल (बेर), कुलत्थी, धान्यक (धनियाँ), बिल्वादिमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी का मूल), अम्लरस (अनार का रस) एवं यव; से निर्मित यूष।

(ग) वातज छर्दि के कारण रोगी को यदि घबराहट (Palpitation) हो रहा हो तब उसे घृत में सैन्धव नमक मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए। अथवा धान्यक (धनियाँ), शुण्ठी (सोंठ), दधि एवं खट्टे अनार के रस के साथ घृत को सिद्ध कर पीने के लिए देना चाहिए।

अथवा शुण्ठी, कालीमिर्च, पिप्पली, सैन्धवनमक, सौवर्चलनमक एवं विडलवण के चूर्ण को घृत में मिलाकर उचित मात्रा में रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। भोजन के रूप में रोगी को खट्टे अनार के रस एवं दधि से सिद्ध किये हुए स्निग्ध एवं हृद्य (मन के अनुकूल) मांसरस एवं यूष का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणि–'सुसंस्कृता इत्यादि' के द्वारा वातज छर्दि की विशेष चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **हृदयद्रव इति परिश्रान्तस्येव हृदयक्षोभः**=अत्यधिक थकान के कारण हृदय का क्षुब्ध होना। **सैन्यववदिति**-घृत में सैन्धवनमक डालकर (प्रक्षिप्त करके) रोगी को पीने के लिए देना चाहिए, कुछ आचार्य सैन्धव की तरह सिद्ध करना अर्थ ग्रहण करते हैं। [घृत को सैन्धवनमक के साथ सिद्ध करना]

तोयेन च दाडिमस्य इति–दाडिम के जल अर्थात् दाडिम स्वरस के साथ। 'व्योषेणेत्यादौ'-घृत में व्योष आदि के चूर्ण को डालकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। ॥२३-२५॥

विशेष (Comments)–हृदयद्रवः वक्षसि धग्धक् कृतस्पन्दः-वक्ष प्रदेश में धक्-धक् जैसा स्पन्दन होना (धड़कन का तीव्र हो जाना)।

सैन्धवद्घृतं सैन्धवमिश्रितं चतुर्गुणजले सिद्धं घृतं यथेच्छं पिबेत्–सैन्धव चूर्ण-(कल्क)-१/४ भाग, घृत-१ भाग, जल-४ भाग डालकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का पान व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार करना चाहिए। उसी प्रकार नागर+शुण्ठी-

Scanned by CamScanner

कल्क १/४ भाग, दही (जल मिलाकर)- ४ भाग, स्नेह (घृत)- १ भाग को सिद्ध करके रोगी को पीना चाहिए। -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

पित्तात्मिकायामनुलोमनार्थं द्राक्षाविदारीक्षुरसैस्त्रिवृत् स्यात्। कफाशयस्थं त्वतिमात्रवृद्धं पित्तं हरेत् स्वादुभिरूर्ध्वमेव ।।२६।।
शुद्धाय काले मधुशर्कराभ्यां लाजैश्च मन्थं यदि वाऽपि पेयाम्। प्रदापयेन्मुद्गरसेन वाऽपि शाल्योदनं जाङ्गलजै रसैर्वा ।।२७।।
सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभिः कुल्माषलाजायवसक्तुगृञ्जान्। खर्जूरमांसान्यथ नारिकेलं द्राक्षामथो वा बदराणि लिह्यात् ।।२८।।
स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाऽभयां च। कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्लाजासितामागधिकाकणान् वा ।।२९।।
द्राक्षारसं वाऽपि पिबेत् सुशीतं मृद्वृष्टलोष्टप्रभवं जलं वा। जम्ब्याम्रयोः पल्लवजं कषायं पिबेत् सुशीतं मधुसंयुतं वा ।।३०।।
निशि स्थितं वारि समुद्गकृष्णं सोशीरधान्यं चणकोदकं वा। गवेधुकामूलजलं गुडूच्या जलं पिबेदिक्षुरसं पयो वा ।।३१।।
सेव्यं पिबेत् काञ्चनगैरिकं वा सबालकं तण्डुलधावनेन। धात्रीरसेनोत्तमचन्दनं वा तृष्णावमिघ्नानि समाक्षिकाणि ।।३२।।
कल्कं तथा चन्दनचव्यमांसीद्राक्षोत्तमाबालकगैरिकाणाम्। शीताम्बुना गैरिकशालिचूर्णं मूर्वां तथा तण्डुलधावनेन ।।३३।।

२. पित्तज छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Pittaja Chardi)

संशोधन–पित्तज छर्दि में दोषों के अनुलोमनार्थ (वमन द्वारा निकलने वाले दोषों को अधोमार्ग से बाहर निकालने के लिए) द्राक्षा स्वरस, अथवा विदारीकन्द स्वरस या क्वाथ अथवा इक्षुरस (गन्ने का रस) के साथ निशोथ (श्वेत निशोथ) के चूर्ण का सेवन कराना चाहिए। यदि अत्यधिक बढ़ा पित्त कफाशय (आमाशय=ऊर्ध्व आमाशय (Stomach) में स्थित हो तब उसे मधुररस युक्त औषधियों के प्रयोग से वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिये। (ऊर्ध्व आमाशय में पित्त के कारण यदि उत्क्लेश हो रहा हो तब वमन द्वारा पित्त का निर्हरण करना चाहिये।

संशोधन के पश्चात् कर्तव्य–१. पित्तज छर्दि में सम्यक् शोधन हो जाने पर भोजन काल (अन्न काल) में धान के लावा के सत्तू में मधु व शर्करा (चीनी) मिलाकर अथवा पेया में मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये। अथवा मुद्ग यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का प्रयोग करना चाहिये। [यूषभात का अथवा मांसरस-भात का सेवन करावें।]

२. कुल्माष, लाजा, यव के सत्तू, गृञ्जन, खर्जूर की गुद्दी, नारियल, द्राक्षा अथवा बेर के चूर्ण में सिता (मिश्री), मधु एवं पिप्पली का चूर्ण मिलाकर चाटने के लिए दें।

३. स्रोतोञ्जन का चूर्ण, लाजा (धान का लावा), उत्पल, बेर की गुद्दी के चूर्ण में मधु मिलाकर पित्तज छर्दि के रोगी को चाटने के लिए देना चाहिए। अथवा हरीतकी चूर्ण को मधु के साथ चाटें।

४. खट्टी बेर की गुठली (कोलास्थि) एवं गुद्दी, शुद्ध अञ्जन, मक्षिका विट्, लाजा (धान का लावा), सिता (मिश्री), मागधिका (पिप्पली -grains of Pippali); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ करना चाहिये।

पित्तज छर्दि में पेय पदार्थ का प्रयोग–१. द्राक्षा के शीतल रस का प्रयोग पीने हेतु करना चाहिए। अथवा पक्व मिट्टी के ढेले को अग्नि पर तप्त कर शीतल जल में बुझा दें, इस बुझे हुए जल का प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए।

२. जम्बु (जामुन) एवं आम के कोमल पत्तों का क्वाथ (Decoction) बनावें। इस क्वाथ को ठण्ढा करके उसमें मधु मिलाकर पित्तज छर्दि के रोगी को पिलाना चाहिए।

३. मुद्ग (मूंग), पिप्पली, उशीर (खश) एवं धनिया के चूर्ण को रात भर पानी में भिगो दें, प्रातः काल चूर्ण को छानकर शेष शीतल जल का प्रयोग पीने के लिए करें। अथवा चने (देशी चने) को रात भर पानी में भिगो दें। प्रातः काल चने को अलग करके उसके पानी को पी जाँय।

इसी प्रकार गवेधुक की जड़ अथवा गुडूची को कुचलकर ६ गुने जल में रात्रि भर के लिए भिगों दें, प्रातः काल मसलकर द्रव्य को जल से अलग कर लें। शेष जल का उपयोग पानार्थ करें।

४. ईख के रस (गन्ने का रस) को रात भर चन्द्रमा की शीतल किरणों में रखें। प्रातः काल इस शीत रस का पान करें। अथवा रोगी को गोदुग्ध का पान करावें।

५. खश चूर्ण एवं सुगन्धवाला के चूर्ण का सेवन चावल के धोवन में मधु मिलाकर करें। अथवा स्वर्णगैरिक चूर्ण+सुगन्धवाला चूर्ण का प्रयोग चावल के धोवन में मधु मिलाकर करें। अथवा श्वेत चन्दन को घिसकर आँवले के रस में मिलावें। अब चन्दन मिश्रित आँवले के रस में मधु मिलाकर पित्तज छर्दि के रोगी को पीने के लिए दें। ये तीनों योग तृष्णा एवं वमन को शान्त करते हैं।

Scanned by CamScanner

६. चन्दन, सेव्य (खश), मांसी (जटामांसी), द्राक्षा, सुगन्धवाला, स्वर्णगैरिक: सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें। ३-६ ग्राम की मात्रा में इस कल्क का प्रयोग शीतल जल के साथ करना चाहिये। अथवा स्वर्णगैरिक, शालिचावल तथा मूर्वा के चूर्ण का प्रयोग तण्डुलोदक (चावल के धोवन) में मधु मिलाकर पित्तज छर्दि के रोगी में करें। ॥२६-३३॥

चक्रपाणि-कफाशयस्थमिति कफस्थानमामाशयोर्ध्वभागो वक्षः, तत्स्थम्-कफाशय में रहने वाला, कफस्थान से आमाशय के ऊर्ध्व भाग अथवा वक्ष (Chest) का ग्रहण किया गया है, वहाँ रहने वाला कफ। **हरेत् ऊर्ध्वमेवेति वमनेनैव हरेत्**-आमाशय में (ऊर्ध्व आमाशय या वक्ष में) रहने वाले कफादि दोषों का निर्हरण वमन द्वारा करना चाहिए।

यदि वाऽपि पेयामिति-संशोधनोत्तर मन्दाग्नि उत्पन्न होने पर रोगी को पेया का सेवन कराना चाहिए। अर्थात् मन्दाग्नि की अवस्था में पेया का प्रयोग करें।

कुल्माषा उत्सिन्नयवपिष्टकृता भक्ष्या=उबाले हुए यव को पीसकर बनाया जाने वाला खाद्य पदार्थ। **पारियात्रास्तु मुद्गगान्मसूरानुत्स्विन्न मृदितान् कुल्माषान् आहु**-पारियात्र क्षेत्र के लोग मूंग व मसूर को उबालकर उससे बनने वाली घुघनी को भी कुल्माष कहते हैं।

गृञ्जः समण्डो यवौदनः-मण्ड युक्त यव के भात को गृञ्ज कहते हैं। खर्जूरमांसानि इति खर्जूरफलसस्यानि=खर्जूर फल की मज्जा अर्थात् गुठली रहित खर्जूर का छिलका।

'खर्जूर से लेकर लिह्यात् इति' तक (श्लोक नं. २८) के साथ "सितोपलामाक्षिकपिप्पलीभि" को भी जोड़ना चाहिए। अर्थात्-

१. खर्जूर+मिश्री+मधु+पिप्पली, २. नारिकेल चूर्ण+मिश्री+मधु+पिप्पली

३. द्राक्षा+मिश्री+मधु+पिप्पली, ४. बेरचूर्ण+मिश्री+मधु+पिप्पली

इन चार योगों का प्रयोग चाटने के लिए करना चाहिये। स्रोतोजम्=स्रोतोञ्जन। कोलमज्जा कोलाभ्यन्तरम्=बेर की गुद्दी। अभयां वेत्यत्रापि 'मधुना लिह्यात्' इति संबध्यते अर्थात् मधु के साथ हरीतकी चूर्ण को चाटना चाहिये। श्लोक नं. २९ में वर्णित कोलास्थि (बेर की गुठली) आदि के चूर्णों का प्रयोग मधु के साथ करना चाहिये। [कोलास्थीत्यादि के साथ 'मधुना लिह्यात्' शब्द जुड़ा हुआ है।]

मृद्भृष्टलोष्टप्रभवं जलं वेति मृन्मयलोष्टनिर्वापणभवं जलमित्यर्थः-पक्व मिट्टी के टुकड़े को तप्त करके उसे जल में बुझावें, इस बुझे हुए जल का प्रयोग पीने के लिए करें। (तप्त ईंट से बुझा हुआ जल)। **समुद्गकृष्णं पिप्पलीमुद्गसहितम्**-पिप्पली एवं मूंग, को रात भर पानी में भिगो दें। प्रातः मसलकर छान लें, इस जल का प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए। प्रथम योग। 'सोषीरधान्यं' से द्वितीय योग को बताया गया है। उशीर (खश) व धनियाँ को रात भर भिगो दें। प्रातः काल इसके जल का प्रयोग पीने के लिए करें। चने का योग तृतीय योग हैं, अर्थात् चने को रात भर भिगावें, प्रातः काल इसके जल का प्रयोग करें। **तथा गवेधुकादियोगद्वयेऽपि शीतकषायविधिर्ज्ञेयः**-श्लोक नं. ३१ में वर्णित गवेधुक आदि दो योगों का प्रयोग शीतकषाय विधि से करना चाहिये, अर्थात् गवेधुक की मूल को यवकूट करके छः गुने जल में रातभर भिगो दें। प्रातः काल इसे मसलकर जल को छान लें एवं प्रयोग करें। इसी प्रकार गुडूची के शीत कषाय का प्रयोग करना चाहिये।

काञ्चनगैरिकमिति गैरिकं दाक्षिणात्यप्रसिद्धं काञ्चनवर्णम्-काञ्चनगैरिक से स्वर्णगैरिक अर्थ लिया गया है। दक्षिण देश (दक्षिण भारत) में यह काञ्चन वर्ण नाम से प्रसिद्ध है।

सबालकं तण्डुलधावनेनेति-इससे १. खश+सुगन्धवाला, २. स्वर्णगैरिक+सुगन्धवाला इन दो योगों का सम्बन्ध है। अर्थात् प्रथम योग एवं द्वितीय योग के चूर्ण को तण्डुलोदक में मधु मिलाकर सेवन करावें।

द्राक्षोत्तमा गोस्तनी द्राक्षा इत्यर्थः-द्राक्षा से यहाँ गोस्तनी द्राक्षा का ग्रहण किया गया है। उत्तमचन्दनं धवल चन्दनम्=श्वेतचन्दन। ॥२६-२३॥

कफात्मिकायां वमनं प्रशस्तं सपिप्पलीसर्षपनिम्बतोयैः। पिण्डीतकैः सैन्धवसंप्रयुक्तैर्वम्यां कफामाशयशोधनार्थम् ॥३४॥
गोधूमशालीन् सयवान् पुराणान् यूषैः पटोलामृतचित्रकाणाम्। व्योषस्य निम्बस्य च तक्रसिद्धैर्यूषैः फलाम्लैः कटुभिस्तथाऽद्यात् ॥३५॥
रसांश्च शूल्यानि च जाङ्गलानां मांसानि जीर्णान्मधुसीध्वरिष्टान्। रागांस्तथा षाडवपानकानि द्राक्षाकपित्थैः फलपूरकैश्च ॥३६॥
मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कलायान् भृष्टान् युताञ्जागरमाक्षिकाभ्याम्। लिह्यात्तथैव त्रिफलाविडङ्गचूर्णं विडङ्गप्लवयोरथो वा ॥३७॥
सजाम्बवं वा बदराम्लचूर्णं मुस्तायुतं कर्कटकस्य शृङ्गीम्। दुरालभां वा मधुसंप्रयुक्तां लिह्यात् कफच्छर्दिविनिग्रहार्थम् ॥३८॥
मनःशिलायाः फलपूरकस्य रसैः कपित्थस्य च पिप्पलीनाम्। क्षौद्रेण चूर्णं मरिचैश्च युक्तं लिहञ्जयेच्छर्दिमुदीर्णवेगाम् ॥३९॥

Scanned by CamScanner

३. कफज छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Chardi)

→ कफज छर्दि में पिप्पली, सर्षप एवं नीम के क्वाथ में मदनफल चूर्ण एवं सैन्धव नमक मिलाकर कफाशय (कफ स्थान) एवं आमाशय का शोधन करना चाहिए। अर्थात पिप्पली, सरसो एवं निम्ब क्वाथ में मदनफल चूर्ण एवं सैन्धव नमक मिलाकर रोगी को पिलावें जिससे ऊर्ध्व आमाशय एवं कफाशय की शुद्धि हो जाय। (इस योग के सेवन से रोगी को वमन होता है, यहाँ वमन कराकर आमाशय की शुद्धि करने का निर्देश दिया गया है।)

→ पुराने गेहूँ, शालीचावल एवं यव का प्रयोग पटोल, गुडूची एवं चित्रकमूल साधित जल से निर्मित यूष के साथ करना चाहिए।

→ व्योष (सोंठ=शुण्ठी, कालीमिर्च एवं पिप्पली) साधित जल अथवा नीमपत्र साधित जल से यूष अथवा तक्र का निर्माण कर उसमें खट्टे अनार का रस एवं कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर अन्न द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। अर्थात् गेहूँ, चावल व यव से बने खाद्य पदार्थों का सेवन यूष या तक्र के साथ करना चाहिए।

→ **मांसरस का प्रयोग**–जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस अथवा जाङ्गल क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले पशु-पक्षियों के शूल्य मांस, जीर्णमधु (पुराना शहद), सीधु जो पुराना हो, पुराने अरिष्ट, राग, षाडव एवं पानक का प्रयोग करना चाहिये। ये पानक द्राक्षा, कपित्थ (कैथ) एवं बिजौरा नींबू के रस से बने होने चाहिये।

→ **छर्दिनाशक योग-**

(क) मुद्ग, मसूर, चना, कलाय (मटर); सभी द्रव्यों को भूनकर सतू बना लें। इस सतू में शुण्ठी चूर्ण एवं मधु मिलाकर चाटें।

(ख) अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला, वायविडंग; सभी द्रव्यों का चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में शुण्ठी चूर्ण व मधु मिलाकर सेवन करें।

(ग) वायविडंग एवं केवटीमोथा के स्वरस अथवा क्वाथ में शुण्ठी चूर्ण एवं मधु मिलाकर चाटें।

[विडङ्गप्लवयोरथो के स्थान पर विडङ्गप्लवयोरसं प्राप्त होने पर यह अर्थ होगा, पाठ भेद से यह प्राप्त होता है।]

(घ) जामुन एवं खट्टी बेर के चूर्ण, अथवा नागरमुस्तक व काकड़ासिंगी के चूर्ण अथवा दुरालभा के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटना चाहिए। ये तीनों योग कफज छर्दि को दूर करते हैं।

→ यदि कफज छर्दि में वमन के वेग अत्यधिक तीव्र हों तब उस समय रोगी को शुद्ध मनःशिला चूर्ण में नींबू का रस मिलाकर मधु+कालीमिर्च चूर्ण के साथ चटावें अथवा कैथ के रस में पिप्पली चूर्ण+कालीमिर्च चूर्ण मिलाकर मधु के साथ चाटने के लिए दें।

चक्रपाणि–समाक्षिकाणीति पश्चात् उक्तयोगत्रयद्रव्याणि समाक्षिकाणि कर्तव्यानि–'समाक्षिकाणि' शब्द का प्रयोग श्लोक नं. ३२ के अन्त में किया गया है। इसका अभिप्राय श्लोक नं. ३३ में वर्णित योगों का प्रयोग भी मधु के साथ करना चाहिये, से है।

पिण्डितकैरिति मदनै–मदनफल चूर्ण के साथ। **कफस्यामाशयस्य च शोधनार्थं कफामाशयशोधनार्थम्**-कफस्थान एवं आमाशय (ऊर्ध्व आमाशय-Stomach) के शोधन के लिए, 'कफामाशयशोधनार्थम्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि गोधूम (गेहूँ) एवं यव दोनों मधुररस युक्त होने से कफ वर्धक होते हैं, फिर भी पुराना होने से कफ को न बढ़ाने के कारण इसका प्रयोग कफज छर्दि में किया गया है। कहा भी गया है, यथा-**''प्रायः श्लेष्मलं मधुरमन्यत्र मधुनः पुराणाच्च शालियवगोधूमात्''** (सू.अ. २७) इति। **रागाः कपित्थादिद्रव्यकृताः**-राग कपित्थ आदि द्रव्यों से निर्मित एक प्रकार का खाद्य पदार्थ है।

मनः शिलायाश्च चूर्णं मरिचैश्च युक्तं क्षौद्रेण युतं फलपूरकरसैर्लिहन्, तथा कपित्थस्य रसैः पिप्पलीनां चूर्णं मरिचैश्च युक्तं क्षौद्रेण युतं लिहन्निति योज्यम्-शुद्धमैनशिल चूर्ण+कालीमिर्च चूर्ण मिला लें, इस चूर्ण में बिजौरा नींबू का रस व मधु मिलाकर चाटें। इसी प्रकार ताजे कैथ के स्वरस अथवा क्वाथ (Decoction) में पिप्पली चूर्ण व कालीमिर्च चूर्ण मिला लें। इसे मधु के साथ मिलाकर चाटें ॥३४-३९॥

यैषा पृथक्त्वेन मया क्रियोक्ता तां सन्निपातेऽपि समस्य बुद्ध्या। दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रविदप्रमत्तः ॥४०॥

४. सन्निपातज छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Sānnipātaja Chardi)–मेरे द्वारा अलग-अलग दोषों से होने वाली छर्दि की चिकित्सा का जो निर्देश किया गया है। उन्हीं को मिश्रित करके अथवा मिलाकर बुद्धिमान पुरुष सन्निपातज छर्दि में भी दोष, ऋतु, रोग, अग्निबल आदि का सम्यक् विचार करके अप्रमत्त भाव से प्रयोग करें।

चक्रपाणि–'येषैत्यादि' के द्वारा सन्निपातज छर्दि की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है। समस्येति एकीकृत्य=मिला करके, उपक्रमों को आपस में मिला करके। अर्थात् दोषों की वृद्धि के अनुसार उपक्रमों को भी मिश्रित करके प्रयोग करना चाहिये। **दोषर्तुरोगाग्निबलान्यवेक्ष्येति**-दोषादि के बल का विचार करके जो बलवान हो उसी की प्रधान रूप से चिकित्सा करनी चाहिये। रोग से यहाँ छर्दिरोग का ग्रहण किया गया है। ॥४०॥

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)—सन्निपातज छर्दि में दोषादि के बल का ज्ञान करके बली दोष की चिकित्सा पहले, पश्चात् अन्य दोष की चिकित्सा करनी चाहिये ।

मनोभिघाते तु मनोनुकूला वाचः समाश्वासनहर्षणानि । लोकप्रसिद्धाः श्रुतयो वयस्याः शृङ्गारिकाश्चैव हिता विहाराः ।।४१।।
गन्धा विचित्रा मनसोऽनुकूला मृत्पुष्पशुक्ताम्लफलादिकानाम् । शाकानि भोज्यान्यथ पानकानि सुसंस्कृताः षाडवरागलेहाः ।।४२।।
यूषा रसाः काम्बलिका खडाश्च मांसानि धाना विविधाश्च भक्ष्याः । फलानि मूलानि च गन्धवर्णरसैरुपेतानि वमिं जयन्ति ।।४३।।
गन्धं रसं स्पर्शमथापि शब्दं रूपं च यद्यत् प्रियमप्यसात्म्यम् । तदेव दद्यात् प्रशमाय तस्यास्तज्जो हि रोगः सुख एव जेतुम् ।।४४।।

५. द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Dvishtārtha-Samyogaja-Chardi)—मन के प्रतिकूल कारणों के सेवन से मनोभिघात के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली छर्दि में निम्नलिखित क्रियाओं को करना चाहिये–

१. रोगी के मन के अनुकूल शब्दों को बोलना चाहिए । अर्थात् रोगी को अच्छी लगने वाली बातों को कहना चाहिए । (मनोनुकूल शब्दों को बोलना) ।

२. आश्वासन एवं हर्षण क्रियाओं को करना चाहिए । अर्थात् रोगी को उचित आश्वासन देकर हमेशा प्रसन्न रखने का प्रयास करना चाहिये ।

३. लोक प्रसिद्ध शृंगाररस युक्त कथाओं को सुनाना ।

४. मनोनुकूल विहार का प्रयोग अर्थात् रोगी को घूमने-फिरने की जैसी इच्छा हो उसे उपलब्ध कराना ।

५. विचित्र एवं मनोनुकूल गन्धों को सुंघाना, यथा-मिट्टी, पुष्प, शुक्त, अम्लफल आदि के गन्ध ।

६. मनोनुकूल शाकों का सेवन, मनोनुकूल भोज्य पदार्थ, पानक (शर्बत), विभिन्न प्रकार के द्रव्यों से संस्कारित षाडवराग, अवलेह, यूष, मांसरस, काम्बलिक (Sour curry of fish and meat), खडयूष (Sour drinks prepared of fruits), मांस (Meat preparations), धाना (Popped cereals) एवं विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थ जो उचित गंध, वर्ण, रस से युक्त मूल एवं फलों से निर्मित हों, के सेवन से द्विष्टार्थ संयोगजन्य छर्दि दूर हो जाती है ।

७. इस छर्दि में रोगी को मनोनुकूल गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्द युक्त आहार-विहारों का प्रयोग करना चाहिए । यदि गंध, रस एवं स्पर्शादि भाव रोगी को प्रिय हैं लेकिन असात्म्य (अपथ्यकर) हैं फिर भी उनके प्रयोग से कोई हानि नहीं होती । जो चिकित्सक द्विष्टजन्य छर्दि को सुखपूर्वक जीतने की इच्छा रखता है उसे रोगी को इन भावों का सेवन कराना चाहिए ।

चक्रपाणि–मनोभिघाते इति-मनोभिघात से उत्पन्न होने वाली छर्दि में । **लोकप्रसिद्धाःश्रुतय इति लौकिकार्थानुगता आख्यायिकेतिहासाः**-लौकिक विषयों का अनुकरण करने वाली ऐतिहासिक कथानकों को रोगी को सुनाना चाहिये । विहाराः क्रीड़ाः=आमोद-प्रमोद (हँसी-मजाक), मनोनुकूल हँसी मजाक करना ।

रागादीनां लक्षणमसकृदुक्तम्–रागादि के लक्षणों का अभिधान बार-बार किया जा चुका है ।

गन्धवर्णरसैरुपेतानीति–प्रशस्त गन्धादि से युक्त यूष, रसादि खाद्य पदार्थ छर्दि को दूर करते हैं ।

'गन्धमित्यादि' से यहाँ आत्ययिक छर्दि (Vomiting) के प्रशमन हेतु असात्म्य गन्ध युक्त द्रव्य जो रोगी के मनोनुकूल (प्रिय) हों, देने का विधान है । यह प्रयोग केवल विशेष परिस्थिति के लिए है, अन्यथा असात्म्य गंधादि का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

प्रशमे हि तस्या इति–प्रिय गन्धादि के उपयोग से द्विष्टार्थ संयोगज छर्दि के प्रशमित होने पर । **तज्जो हि रोग इति**-असात्म्य गंधादि के प्रयोग से होने वाले रोग की चिकित्सा सरल है । अर्थात् इसकी चिकित्सा आसान है । अतः मूल व्याधि की चिकित्सा अत्यन्त आत्ययिक होने के कारण पहले करनी चाहिए, यह अभिप्राय है । [वमन (छर्दि) की चिकित्सा पहले करें भले ही असात्म्य गन्धादि का प्रयोग करना पड़े, क्योंकि असात्म्य गन्धादि से होने वाले रोग मूल व्याधि की तुलना में कम कष्टकारी हैं ।]

'सुखमेव जेतुं' पाठ होने पर 'सुखं यथा भवति तथा जेतुं पार्यते' इति शेषः, जिस प्रकार रोगी को आराम मिले वैसा करना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए । ।।४१-४४।।

छर्दुत्थितानां च चिकित्सितात् स्वाच्चिकित्सितं कार्यमुपद्रवाणाम् । अतिप्रवृत्तासु विरेचनस्य कर्मातियोगे विहितं विधेयम् ।।४५।।

उपद्रव की चिकित्सा (Treatment of Complications)—छर्दि की चिकित्सा करते समय यदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं तब उनके लिए उन-उन चिकित्सा प्रकरणों में जिन-जिन औषधियों का निर्देश है, उनका प्रयोग करना चाहिए । वमन के अतियोग की स्थिति में विरेचन के अतियोग की जो चिकित्सा सिद्धिस्थान ६ में बतायी गयी है, उनका प्रयोग करना चाहिये ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'अतिप्रवृत्तास्वित्यादि' के द्वारा छर्दि के उपद्रव की चिकित्सा को बताया गया है। छर्दि एवं विरेचन के अतियोग में जो चिकित्सा संशोधन व्यापत्ति सिद्धि अध्याय (सि.अ. ६) में वर्णित है, उसी को यहाँ अपनाना चाहिये, अर्थात् वही चिकित्सा करनी चाहिए। ॥४५॥

वमिप्रसङ्गात् पवनोऽप्यवश्यं धातुक्षयाद्बृंहणमुपैति तस्मात्। चिरप्रवृत्तास्वनिलापहानि कार्याण्युपस्तम्भनबृंहणानि ॥४६॥
सर्पिर्गुडाः क्षीरविधिर्धृतानि कल्याणकञ्यूषणजीवनानि। वृष्यास्तथा मांसरसाः सलेहाश्चिरप्रसक्तां च वमिं जयन्ति ॥४७॥

जीर्ण छर्दि की चिकित्सा (Treatment of Chronic Chardi)–यदि छर्दि (Vomiting) लम्बे समय से हो रही है, तब उस छर्दि में धातुओं के क्षय होने से निश्चित ही वात की वृद्धि हो जाती है। इसलिये जीर्ण छर्दि में वातनाशक स्तम्भन एवं बृंहण उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् वातनाशक स्तम्भन एवं बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त क्षतक्षीण चिकित्सा में वर्णित सर्पिगुड, क्षीरपाक, कल्याणघृत, त्र्यूषणादिघृत व जीवनीय गण की औषधियों से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिये। वृष्ययोग, वृष्यमांसरस एवं अवलेह का भी प्रयोग करना चाहिये। इन योगों के प्रयोग से जीर्ण वमनरोग प्रशमित हो जाता है।

चक्रपाणि–वमिप्रसङ्गात् छर्द्यनुबन्धात् पवनस्य वृद्धिर्भवति; तत्रोपस्तम्भनं छर्दीनां पवनस्य वा, बृंहणं धातूनाम्-वमन का प्रसङ्ग होने से छर्दि (Vomiting) चिरकाल तक बने रहने पर रोगी में वात की वृद्धि हो जाती है। अतः छर्दि (Vomiting) को रोकने हेतु उपस्तम्भन तथा वायु के प्रकोप (वृद्धि) को दूर करने के लिए धातुओं का बृंहण कराना चाहिए। अतः यहाँ स्तम्भन एवं बृंहण चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है।

लेह से यहाँ च्यवनप्राश आदि अवलेहों का ग्रहण करना चाहिये। ॥४६-४७॥

तत्र श्लोकः–
हेतुं संख्यां लक्षणमुपद्रवान् साध्यतां न योगांश्च। छर्दीनां प्रशमार्थं प्राह चिकित्सितं मुनिवर्यः ॥४८॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने छर्दिचिकित्सितं नाम विंशोऽध्यायः ॥२०॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इस अध्याय में छर्दिरोग के हेतु (Etiology), संख्या (छर्दि के प्रकार), लक्षण (Signs and Symptoms), उपद्रव (Complications), साध्यता-असाध्यता एवं छर्दिरोग नाशक अनेक योगों का विवेचन किया है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान के अन्तर्गत छर्दिचिकित्सा नामक बीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'हेतुमित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। उपद्रव का वर्णन इस अध्याय में 'विट्स्वेदेत्यादि' के द्वारा किया गया है। मुनिवर्य इति=मुनियों में श्रेष्ठ। ॥४८॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के चिकित्सास्थान के अन्तर्गत छर्दिचिकित्सा नामक बीसवें अध्याय की "आयुषी" हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥२०॥

Scanned by CamScanner

एकविंशोऽध्यायः ।

अथातो विसर्पचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे विसर्पचिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–पूर्व अध्याय में छर्दि वेग के अवरोध से विसर्प की उत्पत्ति होती है, यह प्रतिपादित किया गया है । इसलिये छर्दिचिकित्सा के बाद विसर्पचिकित्सा का यहाँ विवेचन किया गया है । छर्दि निग्रह से रक्त की दुष्टि का होना एक सामान्य हेतु है । अर्थात् छर्दि वेगावरोध से रक्त की दुष्टि होती है, इसका विवेचन विधिशोणितीय अध्याय (च.सू.अ. २४) में "छर्देर्वेगप्रतिघातात्" से लेकर "शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदूष्यति" तक किया गया है । अर्थात् रक्त प्रदूषक कारणों में छर्दि वेगावरोध की भी गणना की गयी है । [विसर्प भी रक्तप्रदोषज व्याधि है, यथा-"वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः । कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः" (सू.अ. २८/११) इति, अतः छर्दिचिकित्सा के अभिधान के बाद विसर्पचिकित्सा का विवेचन किया जाना उचित है ।]

कैलासे किन्नराकीर्णे बहुप्रस्रवणौषधे । पादपैर्विविधैः स्निग्धैर्नित्यं कुसुमसंपदा ।।३।।
वमद्भिर्मधुरान् गन्धान् सर्वतः स्वभ्यलङ्कृते । विहरन्तं जितात्मानमात्रेयमृषिवन्दितम् ।।४।।
महर्षिभिः परिवृतं सर्वभूतहिते रतम् । अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमुक्तवान् ।।५।।
भगवन् ! दारुणं रोगमाशीविषविषोपमम् । विसर्पन्तं शरीरेषु देहिनामुपलक्षये ।।६।।
सहसैव नरास्तेन परीताः शीघ्रकारिणा । विनश्यन्त्यनुपक्रान्तास्तत्र नः संशयो महान् ।।७।।
स नाम्ना केन विज्ञेयः संज्ञितः केन हेतुना । कतिभेदः कियद्धातुः किंनिदानः किमाश्रयः ।।८।।
सुखसाध्यः कृच्छ्रसाध्यो ज्ञेयो यश्चानुपक्रमः । कथं कैर्लक्षणैः किं च भगवन् ! तस्य भेषजम् ।।९।।
तदग्निवेशस्य वचः श्रुत्वाऽऽत्रेयः पुनर्वसुः । यथावदखिलं सर्वं प्रोवाच मुनिसत्तमः ।।१०।।

अध्यायोक्त विषयों का प्रारम्भ–किन्नरों से व्याप्त, जहाँ अनेक प्रकार के निर्झर (झरने=प्रस्रवण) विद्यमान हों, विविध प्रकार की औषधियों से व्याप्त, स्निग्ध वनस्पतियों से युक्त, विविध प्रकार के पुष्पों से आच्छादित, जहाँ का वातावरण पुष्पों की सुगन्ध से युक्त हो; ऐसे कैलाश पर्वत पर विहार करते हुए ऋषियों में वन्दनीय, जितेन्द्रिय भगवान् पुनर्वसु आत्रेय, जो महर्षियों से घिरे हुए तथा प्राणियों के कल्याण में तत्पर रहने वाले हैं, से शिष्य अग्निवेश ने विनय पूर्वक उचित समय में यह पूछा–

अग्निवेश के विसर्प विषयक प्रश्न–हे आचार्य ! प्राणियों के शरीर में आशीविष (सर्प विष) के समान फैलने वाली एक भयङ्कर व्याधि को मैं देख रहा हूँ । अचानक ही पुरुष उस रोग से ग्रसित होकर मृत्यु को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् यह व्याधि मनुष्य के शरीर में सहसा प्रवेश करती है, चिकित्सा न करने पर इस व्याधि से रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है । अतः इस व्याधि के विषय में मेरी आशङ्का इस प्रकार की है–

१. इस व्याधि को किस नाम से जाना जाय, अर्थात् इस व्याधि का क्या नाम है (What is the name of this disease ?) २. किस कारण से यह नाम दिया गया है ? ३. इसके कितने भेद (प्रकार) हैं ?, ४. इस व्याधि में कौन-कौन सी धातुयें दूषित होती हैं?, ५. इस व्याधि का निदान क्या है (What are the etiological factors of this disease ?) ६. व्याधि का आश्रय (अधिष्ठान) क्या है ?, ७. यह व्याधि सुख साध्य, कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य है, इसका ज्ञान किन लक्षणों के द्वारा होता है? ८. इस व्याधि के लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) क्या है ?

इस प्रकार अग्निवेश के उन वचनों को सुनकर ऋषियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने उनका यथावत् उत्तर इस प्रकार दिया ।

चक्रपाणि–'कैलासे इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का प्रारम्भ किया गया है । **प्रश्नोऽत्र देशगुणोपदर्शनपरः**-प्रश्न से यहाँ देशगुणानुसार प्रश्न का ग्रहण किया गया है ।

शोभने हि देशे सुमनसो गुरवः शिष्यैः पृष्टा सम्यक् वदन्ति–अच्छे स्थान पर, मन के प्रसन्न रहने पर अर्थात् आचार्य जहाँ बैठा हो यदि वह स्थान मनोनुकूल है एवं उनका मन प्रसन्न है तो ऐसे समय पर शिष्य द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर उनके द्वारा सम्यक् रूप से दिया जाता है ।

कुसुमसंपदा–वनस्पतियों का पुष्प एवं फलों से युक्त होना । मधुर गन्ध से यहाँ मनोनुकूल गंध का ग्रहण किया गया है । अर्थात् जिस गन्ध को सूंघकर व्यक्ति का मन प्रसन्न हो जाय, ऐसे गन्धयुक्त वातावरण में विचरण करना । **जितात्मानं**=जितेन्द्रिय (इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला) । आशीविषाः=सर्पविष, सर्पविष के समान भयङ्कर ।

Scanned by CamScanner

उपलक्षये पश्यामि=देख रहा हूँ, प्राणियों में व्याप्त सर्पविष के समान भयङ्कर व्याधि को देख रहा हूँ।

अनुपक्रान्ता गदाः केचिद्विनश्यन्ति, यथा-व्यङ्गतिलकादयः–चिकित्सा न करने पर व्याधि कुछ लोगों को नष्ट कर देती है, यथा-व्यङ्ग (Freckles-Pigmented spot on the skin) तथा तिलक (शरीर पर तिल के समान काला निशान-Black moles) तथा कुछ व्याधियाँ ऐसी होती हैं जो चिकित्सा करने पर भी चिरकाल (लम्बे समय के बाद) में रोगी को नष्ट करती हैं, यथा-प्रमेह एवं गुल्म आदि।

अनेन तु गृहीताः शीघ्रमेव विनश्यन्तीति त्वराविशेषं चिकित्सिते दर्शयति–यह व्याधि अचानक उत्पन्न होती है एवं उचित चिकित्सा न करने पर शीघ्र ही रोगी को नष्ट कर देती है। इसलिये इसकी विशेष चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है। [There is a third category of diseases which if not treated appropriately cause death instantaneously.]

संज्ञितः केन हेतुनेति–किस हेतु से वक्ष्यमाण (आगे वर्णित होने वाले) विसर्प की विसर्प संज्ञा (नाम) दी गयी है?

कियद्धातुरिति कतिधातुकारणकः–इस व्याधि में कौन-कौन सी धातुयें दूषित होती है? अर्थात् इस व्याधि में कौन-कौन सी धातुयें कारण हैं ?

कथं कैर्लक्षणैरिति– यह व्याधि कैसे उत्पन्न होती है एवं किन लक्षणों द्वारा इसका ज्ञान होता है, यह अभिप्राय है। ॥३-१०॥

जल्पकल्पतरुटीका–कैलासो नाम पर्वतविशेषः-कैलास एक विशेष पर्वत का नाम है। किन्नराकीर्ण इत्यादि के द्वारा कैलास पर्वत की विशेषताओं को बताया गया है। जो क्षेत्र किन्नरों से व्याप्त हो, जहाँ बहुत से जल प्रपात (झरने) हों, जहाँ अनेक औषधियाँ विद्यमान हों, जहाँ के पेड़ व पौधे पुष्प एवं फलों से आच्छादित हों, जहाँ मनोनुकूल, हृदय को प्रिय लगने वाली सुगन्धित वायु बह रही हो, ऐसे सुरम्य कैलास क्षेत्र में विहार करते हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से अग्निवेश ने यह वाक्य कहा–इस व्याधि का नाम क्या है? किस आधार पर इसे विसर्प कहा गया ? हेतु (इस व्याधि के उत्पादक कारण - Etiological factors) क्या हैं ? कतिधातु (यह व्याधि किन-किन धातुओं में व्याप्त होती है, अर्थात् इसकी संप्राप्ति क्या है, किन हेतुओं के द्वारा यह व्याधि उत्पन्न होती है, यह व्याधि कितने प्रकार की है?, यह व्याधि सुखसाध्य है या कृच्छ्रसाध्य अथवा प्रत्याख्येय (असाध्य) है; इसका ज्ञान कैसे होता है, इस व्याधि के लक्षण क्या हैं ? एवं इसकी चिकित्सा कैसे की जाती है।

विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात् ॥११॥

पुनर्वसु आत्रेय द्वारा विसर्प विषयक शङ्का का समाधान

विसर्प की निरुक्ति–विविध प्रकार की गतियों द्वारा शरीर में प्रसरित होने के कारण इस व्याधि को विसर्प कहा जाता है। यह व्याधि 'परिसर्प' नाम से भी जानी जाती है, क्योंकि इसका प्रसार (फैलाव) सम्पूर्ण शरीर में होता है। अर्थात् सम्पूर्ण शरीर में फैलने के कारण इसे परिसर्प भी कहा जाता है।

चक्रपाणि–'विविधमित्यादि' के द्वारा क्रमानुसार प्रश्नों के उत्तर को दिया गया है।

विविधं सर्पतीति अधः ऊर्ध्वं तिर्यक् तथा स्फोटशोफादिभिः प्रसरतीति विसर्पः–'विविध' अनेक प्रकार से, सर्पति=फैलना, जिस व्याधि का प्रसार (फैलाव) स्फोट एवं शोफ आदि के रूप में शरीर के अधः, ऊर्ध्व एवं तिर्यक भागों में हो, उसे विसर्प कहते हैं।

'परिसर्पोऽथवेत्यादि' के द्वारा परिसर्प शब्द की व्याख्या की गयी है। परितः=सर्वतः, यहाँ परि शब्द सर्वतः के ही अर्थ में प्रयुक्त है। परितः=चारो ओर, जिस व्याधि का प्रसरण सम्पूर्ण शरीर में हो उसे परिसर्प कहते हैं। अथवा परिसर्पण शब्द से सर्पण मात्र अर्थ गृहीत है तथा सर्वतः से परिशब्द का भाव प्राप्त हो जाता है, इस प्रकार 'सर्वतः परिसर्पणादिति' का अर्थ चारो ओर (सम्पूर्ण शरीर में) फैलने के कारण इसे परिसर्प भी कहा जाता है। ॥११॥

विशेष (Comments)–विसर्प=वि+सर्पति, वि शब्दो विविधार्थः– जो अनेक प्रकार से फैले उसे विसर्प कहते हैं। यहाँ विविध का अर्थ ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यग् गति द्वारा प्रसार होने से है।

परिसर्प=परि शब्द सर्वतो अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् जिसका प्रसार सम्पूर्ण शरीर अथवा धातुओं में हो जाय उसे परिसर्प कहा जाता है।

इस प्रकार यहाँ व्याधि के नाम तथा नामकरण के हेतु दोनों को स्पष्ट किया गया है।

स च सप्तविधो दोषैर्विज्ञेयः सप्तधातुकः। पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१२॥
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः। चत्वार एते विसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ॥१३॥

Scanned by CamScanner

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः । यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।।१४।।

विसर्प के भेद (Varieties of Visarpa)—यह विसर्प रोग, जो सातों धातुओं के आश्रित होता है । अर्थात् दोष सातों धातुओं को दूषित करके इसे उत्पन्न करते हैं । दोष भेद से सात प्रकार का होता है-अलग-अलग दोषों से उत्पन्न-३, तीनों दोषों के मिलित रूप (सन्निपातज) से-१, द्वन्द्वज अर्थात् दो दोषों से उत्पन्न ३ । जैसे-१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. वातपित्तज अर्थात् वातपित्त से उत्पन्न विसर्प को आग्नेय, ६. पित्तकफज को कर्दम तथा ७. वातकफज को ग्रन्थिविसर्प कहा जाता है ।

चक्रपाणि–'सप्तविधो दोषैरिति'-दोष भेद से विसर्प सात प्रकार का होता है । इन्हीं के साध्यता-असाध्यता के आधार पर भी भेद हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है । ।।१२-१४।।

विशेष (Comments)—कैर्हेतुभिः कतिविधः कतिधातुश्चेति-किन हेतुओं द्वारा, कितने प्रकार का तथा किन धातुओं को दूषित करके विसर्प उत्पन्न होता है, इन सभी प्रश्नों का उत्तर यहाँ 'स चेत्यादि' के द्वारा दिया गया है ।

स विसर्पः सप्तविधौ दोषैर्भवति–दोषों द्वारा वह विसर्प सात प्रकार का होता है । इसकी उत्पत्ति सप्तधातुक होती है । अर्थात् इसमें सातों धातु दूषित होते हैं । दोषों द्वारा ७ प्रकार के विसर्प उत्पन्न होते हैं–१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. वातपित्तज (आग्नेयविसर्प), ६. पित्तकफज (कर्दमविसर्प), ७. वातकफज (ग्रन्थिविसर्प) ।

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।।१५।।

विसर्प में दोष व दूष्य–दोष-वात, पित्त व कफ तथा दूष्य-रक्त, लसीका, त्वक् व मांस । इस प्रकार विसर्प में ३ दोष व ४ दूष्य कुल ७ धातुएं दूषित होती हैं, ऐसा समझें । अर्थात् विसर्परोग की उत्पत्ति में इनकी दुष्टि ही कारण है ।

चक्रपाणि–पृथक् इत्यादि के द्वारा विसर्प के ७ भेदों का अभिधान किया गया है । 'रक्तमित्यादि' से विसर्प में दूषित होने वाले ७ धातुओं (३ दोष एवं ४ दूष्य) को स्पष्ट किया गया है । यद्यपि रक्तादि धातुओं की दुष्टि कुष्ठ में भी होती है । अर्थात् कुष्ठ में भी इन्हीं ७ धातुओं की दुष्टि होती है फिर भी इस व्याधि में दोष विसर्पण स्वभाव वाले होने से विसर्प कहा गया है । अर्थात् इस व्याधि में दोष शीघ्रता पूर्वक सम्पूर्ण शरीर में फैलते हैं । कुष्ठ (Leprosy) में दोष स्थिर स्वभाव वाले होते हैं । अर्थात् कुष्ठ जल्दी नहीं फैलता । इस विषय का विस्तार कुष्ठचिकित्सा अध्याय में विशेष रूप से किया गया है ।

दोषास्त्रयो मला इति-दोषशब्देनैव वातादिप्राप्तौ मला इति–दोष शब्द से ही वातादि दोष जो मल भाव को प्राप्त हो गये हैं, का ग्रहण किया गया है । अर्थात् वातादि दोष अत्यधिक दूषित होकर व्याधि की उत्पत्ति में कारण बनते हैं । अभिप्राय यह है कि दोष अत्यन्त दूषित होकर शरीरस्थ धातुओं को दूषित करके व्याधि को उत्पन्न करते हैं । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-**"शरीरदूषणाद्दोषा मलिनीकरणान्मलाः । धारणाद्धातवश्च स्युर्वातपित्तकफास्त्रयः"** इति [यहीं वात, पित्त व कफ शरीर को दूषित करने के कारण दोष, मलिन करने के कारण मल एवं धारण करने के कारण धातु कहे जाते हैं ।] ।।१५।।

लवणाम्लकटूष्णानां रसानामतिसेवनात् । दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ।।१६।।
व्यायन्नबहुमद्योष्णरागषाडवसेवनात् । शाकानां हरितानां च सेवनाच्च विदाहिनाम् ।।१७।।
कूर्चिकानां किलाटानां सेवनान्मन्दकस्य च । दध्नः शाण्डाकिपूर्वाणामासुतानां च सेवनात् ।।१८।।
तिलमाषकुलत्थानां तैलानां पैष्टिकस्य च । ग्राम्यानूपौदकानां च मांसानां लशुनस्य च ।।१९।।
प्रक्लिन्नानामसात्म्यानां विरुद्धानां च सेवनात् । अत्यादानाद्दिवास्वप्नादजीर्णाध्यशनात् क्षतात् ।।२०।।
क्षतबन्ध्यप्रपतनाद्धर्मकर्मातिसेवनात् । विषवाताग्निदोषाच्च विसर्पाणां समुद्भवः ।।२१।।
एतैर्निदानैर्व्यामिश्रैः कुपिता मारुतादयः । दूष्यान् संदूष्य रक्तादीन् विसर्पन्त्यहिताशिनाम् ।।२२।।

विसर्परोग के सामान्य हेतु (Etiology of Visarpa in general)–

- लवण, अम्ल, कटु एवं उष्ण वीर्य वाले रसों (द्रव्यों) के अत्यधिक सेवन करने से ।
- अम्लरस युक्त दधि (खट्टी दही), मस्तु (दही का पानी), शुक्त (सिरका), सुरा एवं सौवीरक के अत्यधिक प्रयोग करने से ।
- विकृत मद्य के अति प्रयोग अथवा उष्ण वीर्य युक्त द्रव्यों से निर्मित राग एवं षाडव के अति सेवन से ।
- विदाही शाक एवं हरीतक, कूर्चिका, किलाट एवं मन्दक दधि के अति प्रयोग से, शाण्डाकी आदि आसुतों के अति उपयोग करने से।
- तिल, माष (उड़द), कुलथी, तैल एवं आटे से निर्मित पदार्थों (मैदा आदि) के अति सेवन से ।
- ग्राम्य, औदक एवं आनूप प्राणियों के मांस एवं लहसुन के अति प्रयोग से ।

Scanned by CamScanner

→ प्रक्लिन्न, असात्म्य एवं विरुद्ध आहार द्रव्यों के सेवन से ।

→ अत्यधिक मात्रा में भोजन करना, दिवा शयन (Sleeping during day time), अजीर्ण भोजन (पूर्व के भोजन के बिना पचे हुए आगामी अन्न काल में पुनः भोजन करना), अध्यशन (भोजन करने के कुछ समय बाद पुनः भोजन कर लेना (Intake of food immediately after the meal), क्षत (उरःक्षत) के कारण अथवा शस्त्र आदि से कट जाने के कारण, अथवा क्षतबन्ध (Being tied with ropes) [दबाव युक्त बन्ध) के कारण, उँचे स्थान से गिर जाने के कारण, धूपादि (Sunlight) के अत्यधिक सेवन से, अत्यधिक शारीरिक कर्मों (Excessive physical work) के सेवन से ।

→ विष, तीव्र हवाओं एवं अग्नि के अत्यधिक संपर्क से ।

इन सभी हेतुओं के कारण विसर्परोग उत्पन्न होता है । इन हेतुओं के अति सेवन से प्रकुपित हुए वातादि दोष रक्तादि धातुओं को दूषित करके विसर्परोग को उत्पन्न कर देते हैं । यह रोग विशेषतः उन व्यक्तियों को होता है जो अहितकर आहार-विहार सेवन करते हैं ।

चक्रपाणि–'जायते कैश्च हेतुभि इति' [विसर्परोग किन हेतुओं के द्वारा उत्पन्न होता है, अर्थात् इसके उत्पादक कारण (Etiological factors) कौन-कौन से हैं ।] का उत्तर यहाँ लवणाम्लेत्यादि के द्वारा दिया गया है ।

उष्णानामिति–उष्ण वीर्य युक्त द्रव्यों का; सैन्धव, आमलकी (आँवला) आदि द्रव्य लवण, अम्लरस युक्त होते हुए भी शीत वीर्य वाले होते हैं । इसलिये यहाँ उष्ण शब्द का प्रयोग किया गया है ।

हरितानामिति–से हरित शाक वर्ग (सू.अ. २७) में पठित आर्द्रक आदि द्रव्यों का ग्रहण किया गया है । कूर्चिका से यहाँ दधिकूर्चिका अथवा तक्रकूर्चिका का ग्रहण किया गया है । किलाटः नष्टक्षीरपिण्डः-फाड़े हुए दूध का घन भाग अर्थात् पनीर । **मन्दकस्येति मन्दजातस्य दध्नः**-मन्दक दधि (पूरी न जमी हुई दधि, अर्ध जमी हुई दधि) ।

शाण्डाकि पूर्वाणामिति शाण्डाकी संधानानाम्–संधान की प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाने वाला एक विशेष प्रकार का पेय । [इसे भावप्रकाशनिघण्टु में शिण्डाकी नाम दिया गया है । इसके निर्माण विधि का वर्णन आचार्य ने इस प्रकार किया है, यथा–"शिण्डाकी राजिका युक्तैः स्यान्मूलकदलद्रवैः । सर्षपस्वरसैर्वाऽपि शालिपिष्टक संयुतैः ॥ सन्धितैरिति शेषः" राई व मूली के पत्तों के रस व शालि चावल के चूर्ण द्वारा संधानविधि से जो पेय बनता है उसे शिण्डाकी कहते हैं । यह अन्न में रुचि उत्पन्न करने वाली, पचने में भारी तथा पित्त व कफवर्धक होती है ।]

अजीर्णेऽशनम् अजीर्णाशनम्–अजीर्ण (अपक्व) भोजन करना अजीर्णाशन कहलाता है, अथवा आहार का सम्यक् परिणमन हुए बिना पुनः भोजन ग्रहण करना [पूर्व आहार के बिना पचे ही पुनः भोजन करना] अजीर्णाशन कहलाता है ।

अविदग्धे पूर्वदिनान्नेऽशनमध्यशनम्–पूर्व दिन के गृहीत भोजन के बिना विदग्ध हुए ही पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है । अर्थात् भोजन करने के बाद तत्काल पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है । **व्यामिश्रैः संमिश्रैः**-विसर्पोत्पादक हेतुओं का मिश्रित रूप से सेवन करना । ॥१६-२२॥

विशेष (Comments)–कूर्चिका से तक्रकूर्चिका व दधिकूर्चिका अर्थ लिया गया है । उबले हुए दूध व दधि का मिश्रण दधिकूर्चिका तथा उबले हुए दूध व तक्र का मिश्रण तक्रकूर्चिका कहलाता है ।

[Milk boiled with takra is called Takra Kūrcikā. Milk boiled with curd is called Dadhi-Kūrcikā-Baidya Bhagvan Das.]-

बहिःश्रितः श्रितश्चान्तस्तथा चोभयसंश्रितः । विसर्पो बलमेतेषां ज्ञेयं गुरु यथोत्तरम् ॥२३॥
बहिर्मार्गाश्रितं साध्यमसाध्यमुभयाश्रितम् । विसर्पं दारुणं विद्यात् सुकृच्छ्रं त्वन्तराश्रयम् ॥२४॥
अन्तःप्रकुपिता दोषा विसर्पन्त्यन्तराश्रये । बहिर्बहिःप्रकुपिताः सर्वत्रोभयसंश्रिताः ॥२५॥

स्थानानुसार विसर्प के भेद (Classification of Visarpa according to location)–स्थान के अनुसार विसर्प के ३ भेद किये गये हैं–१. बाह्य धातुओं के आश्रित विसर्प, २. आभ्यन्तर धातुओं के आश्रित होने वाला विसर्प, ३. बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों भागों के आश्रित होने वाला विसर्प । ये क्रमशः उत्तरोत्तर गुरु होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ।

साध्यता-असाध्यता–बहिर्मार्ग के आश्रित विसर्प साध्य तथा उभयाश्रित विसर्प असाध्य होता है, जो विसर्प अन्तःमार्ग के आश्रित होता है वह कृच्छ्र-साध्य व अत्यन्त कठिन होता है ।

Scanned by CamScanner

संप्राप्ति (Pathogenesis)—अन्तः भाग में प्रकुपित हुए दोष आभ्यन्तर विसर्प को उत्पन्न करते है । अर्थात् जब दोष शरीर के आन्तरिक भाग में फैलकर विसर्प को उत्पन्न करते हैं तब वह आभ्यन्तर विसर्प कहलाता है । जब दोष शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों भागों में आश्रित होकर व्याधि उत्पन्न करते है तब उसे उभयाश्रित विसर्प कहते हैं ।

चक्रपाणि–'बहिरित्यादि' के द्वारा विसर्प के साध्यासाध्य विभाग के ज्ञान हेतु शाखाश्रित आदि भेदों का अभिधान किया गया है ।

यथोत्तरमिति बहिःश्रितादन्तःश्रितः, अन्तःश्रितादुभयाश्रितो गुरुरित्यर्थः–क्रमशः आगे वर्णित विसर्प उसी क्रम से गुरु होते जाते हैं, अर्थात् उनकी चिकित्सा कठिन होती जाती है । बाह्याश्रित विसर्प (Visarpa located in the periphery– बाह्य धातुओं के आश्रित विसर्प) की तुलना में आभ्यन्तर विसर्प (Visarpa located in the interior part of the body), आभ्यन्तर विसर्प की तुलना में उभयाश्रित विसर्प (Visarpa located in the both the periphery and interior part of the body) की चिकित्सा कठिन होती है अथवा व्याधि की आशुकारिता बढ़ती जाती है ।

अन्तराश्रये इति–शरीर के अन्तः भाग में । बहिरिति-शाखाओं में । शाखा से यहाँ रक्तादि धातुओं से लेकर त्वक् तक का ग्रहण किया गया है । सर्पति=फैलना । ॥२३-२५॥

मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् । तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमाणां प्रवर्तनात् ॥२६॥
विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यैर्विद्यात् स्वलक्षणैः ॥२७॥

आभ्यन्तर विसर्प के लक्षण (Signs and Symptoms of Internal Visarpa)—जब विसर्प शरीर के आभ्यन्तर भाग में आश्रित होता है तब मर्म में उपघात [Affliction of Marma (Vital organs specially heart), संमोह (मूर्च्छा-unconsciousness) एवं स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, परिणामतः अत्यधिक प्यास का लगना (Excessive thirst) मल, मूत्र एवं अपान वायु की विषम रूप से प्रवृत्ति तथा अग्निबल का अत्यन्त क्षय हो जाता है । इन लक्षणों से भिन्न (विपरीत) विसर्प के लक्षण जिसमें पाये जाँय उसे बाह्य विसर्प समझना चाहिए । अर्थात् आभ्यन्तर विसर्प के लक्षण न मिले, शेष सभी लक्षण विसर्प के मिलें उसे बाह्य विसर्प समझें ।

चक्रपाणि–'मर्मोपघातादित्यादि' के द्वारा आभ्यन्तर एवं बाह्य विसर्प के लक्षणों को बताया गया है । **मर्म** से यहाँ हृदय अर्थ लिया गया है । **विद्यात् स्वलक्षणैरिति**-आगे वर्णित विसर्प के लक्षणों द्वारा । मर्मोपघात, संमोह (unconsciousness), स्रोतों का अवरुद्ध होना, अत्यधिक प्यास का लगना एवं मल मूत्रादि के वेगों का विषम रूप से निकलना; इन लक्षणों को छोड़कर शेष विसर्प में वर्णित लक्षण जिस विसर्प में पाये जाते हैं, उसे बाह्य विसर्प समझना चाहिए । ॥२६-२७॥

यस्य सर्वाणि लिङ्गानि बलवद्यस्य कारणम् । यस्य चोपद्रवाः कष्टा मर्मगो यश्च हन्ति सः ॥२८॥

असाध्य विसर्प के लक्षण (Characteristics of Incurable Visarpa)–

१. विसर्प में वर्णित सम्पूर्ण लक्षणों का पाया जाना ।

२. बलवान् उत्पादक कारणों द्वारा विसर्प का उत्पन्न होना ।

३. मर्माश्रित कष्टकारी उपद्रवों का पाया जाना ।

जिस विसर्प में ये लक्षण मिलते हैं वह विसर्प उस रोगी को शीघ्र ही यमलोक पहुँचा देता है अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है ।

चक्रपाणि–यस्य सर्वाणीति-आभ्यन्तर एवं बाह्य मार्गाश्रित विसर्प, दोनों में ही निर्दिष्ट लक्षणों का पाया जाना असाध्यता का द्योतक है । ॥२८॥

जल्पकल्पतरु टीका–यस्य विसर्पस्य वक्ष्यमाणानि सर्वाणि लिङ्गानि भवन्ति, यस्य च बलवत् कारणं यस्य च कष्टा उपद्रवा यश्च मर्मग उरोगतो विसर्पः स तमातुरं हन्ति । [जिस विसर्प के रोगी में आगे वर्णित (वातादि) विसर्प के सभी लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाँय, अथवा जो विसर्प बलवान् उत्पादक कारणों द्वारा उत्पन्न हो अथवा जो कष्टकारी उत्पद्रवों से युक्त हो अथवा जो विसर्प मर्माश्रित (हृदयाश्रित) हो । वह (विसर्प) उस रोगी को नष्ट कर देता है ।]

रूक्षोष्णैः केवलो वायुः पूरणैर्वा समावृतः । प्रदुष्टो दूषयन् दूष्यान् विसर्पति यथाबलम् ॥२९॥

तस्य रूपाणि- भ्रमदवथुपिपासानिस्तोदशूलाङ्गमर्दोद्विष्टनकम्पज्वरतमककासास्थिसंधिभेदविश्लेषणवेपनारोचकाविपाकाश्चक्षुषोराकुलत्वमस्रागमनं पिपीलिकासंचार इव चाङ्गेषु, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशः श्यावारुणाभासः श्वयथुमान् निस्तोदभेदशूलायामसंकोचहर्षस्फुरणैरतिमात्रं प्रपीड्यते, अनुपक्रान्तश्चोपचीयते शीघ्र भेदैः स्फोटकैस्तनुभिररुणाभैः श्यावैर्वा तनुविशदारुणाल्पास्रावैः, विबद्धवातमूत्रपुरीषश्च भवति, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति वातविसर्पः ॥३०॥

Scanned by CamScanner

१. वातज विसर्प का निदान व संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Vātaja Visarpa)—रूक्ष एवं उष्ण हेतुओं के सेवन से मात्र वायु प्रकुपित होकर, अथवा अत्यधिक आहार-विहार के सेवन से आवृत्त हुई वायु दूषित होकर दूष्यों (रक्तादि) को दूषित करते हुए अपने बल के अनुसार सम्पूर्ण शरीर में फैलकर वातज विसर्प को उत्पन्न करती है।

वातज विसर्प के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Visarpa)—वातज विसर्प में अधोलिखित लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाते हैं–

१. भ्रम (Giddiness), दवथु [आँखों में जलन का होना-Inflammation (of the bile, eyes)-M.M Williams], पिपासा (प्यास का अधिक लगना), निस्तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना का होना-Pricking pain), शूल (Colic pain), अङ्गमर्द (Malaise), उद्वेष्टन (पिण्डलियों में ऐठन का होना-Cramps), कम्प (Tremors), ज्वर (Fever), तमकश्वास (A type of asthma), कास (Cough), संधिभेद (संधियों में भेदने जैसी पीड़ा का होना), संधिविश्लेष (संधियों में ढीलापन-dislocation of the joints), वेपन (Trembling), अरुचि (Anorexia), अविपाक (Indigestion), चक्षुरेन्द्रिय का व्याकुल होना (Cloudiness of the eyes), आँखों से अश्रु का निकलना (Lachrymation), शरीर पर चीटियाँ चल रही हैं, ऐसा अनुभव होना।

२. शरीर के जिस स्थान पर विसर्प फैलता है वह स्थान श्याव (greyish), अरुण वर्ण युक्त Pinkish colour) एवं शोथ (Oedematous) युक्त हो जाता है। उस स्थान पर तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा Pricking pain), भेद (भेदवत् पीड़ा-Breaking pain), शूल (Colic pain), आयाम (खिंचाव-Expansion), संकोच (Contraction), हर्ष (झुनझुनाहट-tingling sensation) एवं स्फुरण (फरकाहट-throbbing sensation) उत्पन्न हो जाता है; जिससे रोगी को अत्यधिक कष्ट होता है। यदि इस अवस्था में व्याधि की चिकित्सा न की जाय तब उस स्थान पर शीघ्र फूटने वाली, पतली, अरुण (लाल) वर्ण की अथवा श्याव वर्ण की छोटी-छोटी पीडिकायें अत्यधिक मात्रा में इकट्ठा हो जाती हैं। इनसे निकलने वाला स्राव (Secretion) तनु (पतला-thin), विशद (Transparent), रक्त वर्ण (Pink colour) एवं अल्प (Small quantity) होता है।

३. वात, मूत्र एवं पुरीष का अवरुद्ध हो जाना।

४. वातज विसर्प के उत्पादक हेतुओं के सेवन से विसर्प (व्याधि) का प्रशमन न होना, अर्थात् व्याधि का बढ़ जाना। निदानविपरीत कारणों के सेवन से व्याधि का प्रशमित होना।

इस प्रकार वातज विसर्प के लक्षणों का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि–'रूक्षोष्णैरित्यादि' के द्वारा अलग-अलग दोषों से उत्पन्न होने वाले विसर्प के हेतु एवं लक्षणों को बताया गया। यहाँ रूक्षादि कारणों से उत्पन्न होने वाला **स्वतन्त्र वातज विसर्प का** वर्णन किया गया है। अर्थात् रूक्षादि हेतुओं के सेवन से स्वतन्त्र रूप से भी वायु का प्रकोप होता है, यह बताया गया है।

पूरणेन च मार्गावरोधात् कुपितः परतंत्रो वायुर्ज्ञेयः-अत्यधिक आहार के सेवन से मार्गावरोध होने के कारण परतन्त्र रूप से वायु प्रकुपित होती है, ऐसा समझना चाहिए। [यहाँ वायु का प्रकोप दो रूपों में बताया गया है-१. स्वतंत्र रूप-वात प्रकोपक कारणों के सेवन से वायु स्वतंत्र रूप से प्रकुपित होती है। २. परतंत्र रूप-अत्यधिक आहार के सेवन से कफ व पित्त के द्वारा वायु के आवृत्त (आवरित) हो जाने पर।]

उष्णं च यद्यपि न साक्षाद्वातजनकम्–यद्यपि उष्ण हेतुओं के सेवन से साक्षात् (सीधे) वात की वृद्धि नहीं होती, फिर भी रूक्ष सम्बन्ध से उष्णता वात को बढ़ाती है।

उष्णसंबद्धत्व सामान्यसंप्राप्तिसंप्राप्तमिह यत् पित्तं तज्जन्यत इति ज्ञेयम्–दवथुः चक्षुरादिष्वत्यर्थतापः-दवथु से यहाँ चक्षु आदि इन्द्रियों में अत्यधिक ताप का अनुभव होना, अर्थ गृहीत है। दवथु की गणना यहाँ पैत्तिक लक्षणों में की गयी है, यही वास्तविकता है, क्योंकि विसर्प में पित्त व रक्त की दुष्टि होती है। [Appearance of this signs in Vātaja Visarpa indicates that pitta and also rakta are generally vitiated to cause all the different types of Visarpa. –Dr. R.K. Sharma and Bhagvan Das.]

यद्यपि यह लक्षण यहाँ वातज विसर्प में बताया गया है, इससे स्पष्ट होता है कि सभी विसर्पों में रक्त व पित्त की दुष्टि होती ही है। ॥२९-३०॥

विशेष (Comments)—रूक्षोष्णैरित्यादि के द्वारा वातज विसर्प की निदान पूर्वक संप्राप्ति का वर्णन किया गया है। "रूक्षोष्णैः प्रदुष्टः कुपितो वायुरथवा पूरणैः स्वकारणैः रूक्षोष्णपूरणद्रव्यैः समाहितः सन् दूष्यान् रक्तलसीकात्वङ्मांसानि दूषयन् यथाबलं विसर्पति विसर्प

Scanned by CamScanner

करोति" रूक्ष व उष्ण आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित वायु अथवा रूक्ष-उष्ण आहार द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से वायु प्रकुपित होकर रक्त, लसीका, त्वक् व मांस को अपने बल के अनुसार दूषित करते हुए सम्पूर्ण शरीर में फैलकर विसर्प को उत्पन्न करता है । -जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

पित्तमुष्णोपचारेण विदाह्यम्लाशनैश्चितम् । दूष्यान् संदूष्य धमनीः पूरयन् वै विसर्पति ।।३१।।
तस्य रूपाणि–ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा मोहश्छर्दिररोचकोऽङ्गभेदः स्वेदोऽतिमात्रमन्तर्दाहः प्रलापः शिरोरुक् चक्षुषोराकुलत्वमस्वप्नमरतिर्भ्रमः शीतवातवारितर्षोऽतिमात्रं हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं हरितहारिद्ररूपदर्शनं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशस्ताम्रहरितहारिद्रनीलकृष्णरक्तानां वर्णानामन्यतमं पुष्यति, सोत्सेधैश्चातिमात्रं दाहसंभेदनपरीतैः स्फोटकैरुपचीयते तुल्यवर्णास्रावैश्चिरपाकैश्च, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति पित्तविसर्पः ।।३२।।

२. पित्तज विसर्प का निदान तथा संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of the Pittaja Visarpa)–उष्ण उपचार (Hot regimens), विदाही (Which causes burning sensation) एवं अम्लरस (Sour) युक्त आहार द्रव्यों के सेवन करने से संचित पित्त प्रकुपित होकर दूष्यों (रक्त, लसीका, त्वक् व मांस) को दूषित करके धमनियों को पूरित करते हुए सम्पूर्ण शरीर में फैलकर पित्तज विसर्प को उत्पन्न करते हैं ।

पित्तज विसर्प के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Visarpa)–पित्तज विसर्प में अधोलिखित लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाते हैं–

१. ज्वर (Fever), तृष्णा (Morbid thirst), मूर्च्छा (Fainting), मोह (unconsciousness), छर्दि- (Vomiting-स्वतः वमन का होना), अरोचक (Anorexia), अङ्गभेद (Piercing pain in the limbs-हाथ व पैरों में भेदनवत् पीड़ा का होना), अत्यधिक पसीने का निकलना (Excessive sweating), अन्तर्दाह (Burning sensation in the internal organs), प्रलाप (delirium), शिरःशूल (Headache), चक्षु में व्याकुलता (Congestion of eyes), निद्रा का न आना (Sleeplessness), अरति (बेचैनी Restlessness), भ्रम (Giddiness), शीतल वायु एवं जल की अत्यधिक इच्छा होना (Intense desire for cold air and water) ।

२. नेत्र, मूत्र एवं पुरीष का वर्ण हरित (green) एवं हारिद्र (Yellow-हल्दी) के वर्ण का होना ।

३. व्यक्ति सभी वस्तुओं को हरे अथवा पीले वर्ण का देखता है, अर्थात् सभी वस्तुओं का हरा व पीला दिखाई देना ।

४. जिस स्थान पर विसर्प उत्पन्न होता है अथवा फैलता है शरीर का वह भाग ताम्र वर्ण युक्त (Coppery coloured), हरित (green), हारिद्र (हल्दी के वर्ण का-yellow), नील (Blue), कृष्ण (Black) अथवा रक्त (Red) वर्ण का हो जाता है [इन वर्णों में से कोई एक वर्ण का हो जाता है ।]

५. विसर्प प्रभावित भाग में अत्यधिक उत्सेध युक्त, दाह युक्त एवं भेदनवत् पीड़ा युक्त पिडिकाएं उत्पन्न हो जाती है । इन पिडिकाओं का जैसा वर्ण (Colour) होता है तदनुरूप उनसे निकलने वाला स्राव भी होता है । अर्थात् जिस वर्ण की पिडिकायें होती हैं उनसे वैसा ही स्राव निकलता है । इनमें शीघ्र पाक की प्रवृत्ति पायी जाती है । ('तुल्यवर्णास्रावैश्चिरपाकैश्च' के स्थान पर 'तुल्यवर्णास्रावैरचिरपाकैश्च प्राप्त होता है ।)

६. निदानोक्त हेतुओं के सेवन से व्याधि की वृद्धि होती है तथा निदान विपरीत कारणों के सेवन से व्याधि में आराम मिलता है अथवा व्याधि की शान्ति होती है ।

इस प्रकार पित्तज विसर्प का वर्णन किया गया ।

चक्रपाणि–'पित्तमित्यादि' के द्वारा पित्तज विसर्प का अभिधान किया गया है । 'धमनीः पूरयन्निति' पद का प्रयोग यद्यपि पित्तज विसर्प में ही किया गया है अथवा कहा गया है फिर भी "समानेष्वर्थेष्वेकत्राभिहितो विधिरन्यत्राप्यनुसंजनीयः" [समान विषयों में एक स्थान पर लागू होने वाली विधि का प्रयोग अन्य स्थानों पर भी किया जाता है या करना चाहिए] न्याय से अन्य विसर्पों में भी 'धमनीः पूरयन्निति' पद का प्रयोग है, ऐसा समझना चाहिए ।

अयं च समानो विधिः पित्तप्रधानत्वाद्विसर्पाणां पित्तविकारे एवोक्तः–यह समान विधि विसर्प के पित्त प्रधान होने से पित्त विकार में (पित्तज विसर्प में) ही कही गयी है ।

शीतवातशीततोयोत्सृष्णा शीतवातवारितर्षः–शीतल वायु एवं शीतल जल की विशेष इच्छा का होना 'शीतवातवारितर्षः' कहा गया है । **अवकाशे इति** देशे-स्थान में, जिस स्थान पर विसर्प उत्पन्न होता है उस भाग पर । ।।३१-३२।।

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)—**शीतवातवारितर्षः अतिमात्रं शीतवाते शीतवारिण्यभिलाषः**-अत्यधिक शीतल वायु एवं जल के सेवन की इच्छा का होना। (जल्पकल्पतरुटीका)

स्वाद्वम्ललवणस्निग्धगुर्वन्नस्वप्नसंचितः। कफः संदूषयन् दूष्यान् कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति ।।३३।।

तस्य रूपाणि—शीतकः शीतज्वरो गौरवं निद्रा तन्द्राऽरोचको मधुरास्यत्वमास्योपलेपो निष्ठीविका छर्दिरालस्यं स्तैमित्यमग्निनाशो दौर्बल्यं च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः श्वयथुमान् पाण्डुर्नातिरक्तः स्नेहसुप्तिस्तम्भगौरवैरन्वितोऽल्पवेदनः कृच्छ्रपाकैश्चिर-कारिभिर्बहुलत्वगुपलेपैः स्फोटैः श्वेतपाण्डुभिरनुबध्यते, प्रभिन्नस्तु श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमद्घनमनुबद्धं स्निग्धमास्रावं स्रवति, ऊर्ध्वं च गुरुभिः स्थिरैर्जालावततैः स्निग्धैर्बहुलत्वगुपलेपैर्व्रणैरनुबध्यतेऽनुषङ्गी च भवति, श्वेतनखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चस्त्वं, निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत इति श्लेष्मविसर्पः ।।३४।।

३. कफज विसर्प का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Kaphaja Visarpa)—मधुर, अम्ल, लवणरस युक्त, स्निग्ध (unctuous) एवं गुरु (Heavy - जो पचने में भारी हो अर्थात् जिसका पाचन देर से हो) द्रव्यों के सेवन करने से, अत्यधिक सोने से (दिवा शयन) संचित कफ, रक्तादि (रक्त, त्वक्, लसीका व मांस) दूष्यों को दूषित करते हुए धीरे-धीरे अंङ्गों में फैलता हुआ विसर्प को उत्पन्न करता है।

कफज विसर्प के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Visarpa)—कफज विसर्प में अधोलिखित लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाते हैं-

१. शीतकः (अत्यधिक शीत का लगना-Feeling of cold), शीतज्वर (Cold fever-Fever with shivering), गौरव (भारीपन-Heaviness of the body), निद्रा (अत्यधिक निद्रा का आना-excessive sleep), तन्द्रा (drowsiness), अरुचि (Anorexia), मुख में मधुररस की प्रतीति का होना (Sweet taste in the of mouth), आस्य उपलेप (मुख में कफ का लिप्त रहना), निष्ठीविका (बार-बार थूकने की प्रवृत्ति का होना-Spitting of saliva), छर्दि (Vomiting), आलस्य (Lassitude), स्तैमित्यता (शरीर के ऊपर गीला कपड़ा ओढ़ा दिया गया है, ऐसा प्रतीत होना), जाठराग्नि का अत्यन्त मन्द हो जाना (loss of digestive power) एवं दुर्बलता (Weakness) का होना।

२. शरीर के जिस भाग पर विसर्प की उत्पत्ति होती है वह भाग शोथ युक्त (Oedematous), पाण्डु वर्ण युक्त (Pale-yellow), अनति रक्त वर्ण युक्त एवं स्निग्ध हो जाता है।

३. विसर्प प्रभावित भाग में शून्यता (Numbness), स्तब्धता (Stiffness), भारीपन (Heaviness) एवं अल्प वेदना (Slight pain) पायी जाती है।

४. इस भाग (विसर्प प्रभावित भाग) में उत्पन्न होने वाली पिडिकायें कृच्छ्र-पाकी (देर से पाक को प्राप्त होने वाली Suppurated very late), चिरकाल तक बनी रहने वाली, अत्यधिक संख्या में उत्पन्न होने वाली तथा इनके ऊपर की त्वचा' (पिडिकाओं के ऊपर की त्वचा) मोटी हो जाती है। इनका वर्ण श्वेत (White) अथवा पाण्डु (pale-yellow) होता है।

५. जब ये पिडिकायें फूटती हैं तब उनसे श्वेत वर्ण युक्त (White), पिच्छिल (Slimy), तन्तुयुक्त (Fibrous), घन (dense), अनुबद्ध (थक्का युक्त Knotty), स्निग्ध (unctuous), स्राव (Exudate) बाहर निकलता है।

६. पिडिकाओं के फूटने के बाद उस स्थान पर गहरा घाव (deep seated ulcer) उत्पन्न हो जाता है, जो स्थिर (Stable कुछ दिन तक बने रहने वाला), जालयुक्त, चिकनी एवं मोटी त्वचा तथा घने मल के लेप से युक्त घाव के रूप में विद्यमान रहता है। ये व्रण (Ulcer) काफी समय तक बने रहते हैं।

७. रोगी के नख (Nails), नयन (eyes), वदन (Face), त्वक् (Skin), मूत्र (Urine) एवं पुरीष (Stool) का वर्ण श्वेत (White) हो जाता है।

८. निदानोक्त कारणों के सेवन से व्याधि की वृद्धि होती है तथा विपरीत (निदान-विपरीत) आहार-विहार के सेवन से व्याधि का प्रशमन होता है।

इस प्रकार यहाँ कफज विसर्प के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

चक्रपाणि-'स्वाद्वम्लेत्यादि' के द्वारा कफज विसर्प के हेतु एवं लक्षणों का विवेचन किया गया है।

हेत्वन्तरेष्वपि श्लेष्मणो विद्यमानेषु स्वाद्वादीनामभिधानमेषामेव प्रायो विसर्पजनकत्वात्—यहाँ मधुरादि द्रव्य जो निदान के रूप में वर्णित किये गये है, उनमें भिन्नता होते हुए भी ये निदान प्रायः कफज विसर्प को उत्पन्न करने के कारण यहाँ वर्णित हैं। अर्थात् वर्णित

Scanned by CamScanner

निदानों में कुछ कफ वर्धक हैं लेकिन विशेष रूप से कफज विसर्प के उत्पादक भी हैं। इसलिये उनका यहाँ वर्णन किया गया है। यही भाव वातज विसर्प एवं पित्तज विसर्प के निदानों के भी सम्बन्ध में है, ऐसा समझना चाहिये।

कृच्छ्रमङ्गे विसर्पति शीघ्रं शरीरे न विसर्पति–कफज विसर्प शीघ्रता पूर्वक शरीर में नहीं फैलता। शीतकः=शीतम् (शीत लगना)। ऊर्ध्वमिति=इसके बाद, पिडिकाओं के फूट कर स्राव निकल जाने के बाद। किंवा ऊर्ध्वकाये=शरीर के ऊर्ध्व भाग में, । क्योंकि कफ का स्थान शरीर के ऊर्ध्व भाग में ही है।

जालावततैरिति जालावतते इव इत्यर्थः–जाल की तरह (Furnished with a net)। **अनुषङ्गी चिरकालस्थायी**-चिरकाल तक बने रहने वाला। ॥३३-३४॥

वातपित्तं प्रकुपितमतिमात्रं स्वहेतुभिः । परस्परं लब्धबलं दहत्यात्रं विसर्पति ॥३५॥

तदुपतापादातुरः सर्वशरीरमङ्गारैरिवाकीर्यमाणं मन्यते, छर्दतीसारमूर्च्छादाहमोहज्वरतमकारोचकास्थिसंधिभेदतृष्णाविपाकाङ्गभेदादिभिश्चाभिभूयते, यं यं चावकाशं विसर्पोऽनुसर्पति सोऽवकाशः शान्ताङ्गारप्रकाशोऽतिरक्तो वा भवति, अग्निदग्धप्रकारैश्च स्फोटैरुपचीयते, स शीघ्रगत्वादाशैव मर्मानुसारी भवति, मर्मणि चोपतप्ते पवनोऽतिबलो भिनत्त्यङ्गान्यतिमात्रं प्रमोहयति संज्ञां, हिक्काश्वासौ जनयति, नाशयति निद्रां, स नष्टनिद्रः प्रमूढसंज्ञो व्यथितचेता न क्वचन सुखमुपलभते, अरतिपरीतः स्थानादासनाच्छय्यां क्रान्तुमिच्छति, क्लिष्टभूयिष्ठश्चाशु निद्रां भजति, दुर्बलो दुःखप्रबोधश्च भवति; तमेवंविधमग्निविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ॥३६॥

४. वातपित्तज विसर्प (अग्निविसर्प) का निदान एवं संप्राप्ति [Etiology and Pathogenesis of Agni-Visarpa (Vāta-Pittaja Visarpa)]–वात व पित्त अपने प्रकोपक कारणों द्वारा अत्यधिक प्रकुपित होकर परस्पर बली होकर शरीर में दाह उत्पन्न करते हुए विसर्प को उत्पन्न करते हैं।

वातपित्तज विसर्प (अग्निविसर्प) के लक्षण (Signs and Symptoms of Vāta-Pittaja Visarpa)–

१. इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को ऐसा प्रतीत होता है कि उसके शरीर पर आग का ढेर फैला दिया गया है। अर्थात् उसका शरीर जलता हुआ प्रतीत होता है।

२. रोगी छर्दि (Vomiting), अतिसार (diarrhoea), मूर्च्छा (Fainting), दाह (Burning sensation), मोह (Unconsciousness), ज्वर (Fever), तमक (तमकश्वास), अरोचक (Anorexia) अस्थि एवं संधियों में भेदनवत् पीड़ा का होना (Pain in bones and joints), तृष्णा (Morbid thirst), अविपाक (Indigestion), अङ्गभेद (Breaking pain in all over the body) आदि लक्षणों से आक्रान्त रहता है।

३. शरीर के जिस-जिस भाग पर यह विसर्प फैलता है वह भाग बुझी हुई आग के समान काला (Black), अथवा आग के समान अत्यधिक प्रकाशित अर्थात् अत्यधिक रक्त वर्ण का हो जाता है। प्रभावित भाग में अग्नि से जलने के समान स्फोट (फफोले Pustules) उत्पन्न हो जाते हैं।

४. इस विसर्प का स्वभाव शीघ्र फैलने वाला होने के कारण यह शीघ्र ही मर्म-स्थान (हृदय) तक फैल जाता है। मर्म को उपतप्त करने के बाद वायु अत्यधिक बढ़कर शरीर में भेदनवत् पीड़ा (Breaking pain in the Limbs) उत्पन्न करती है, साथ में संज्ञानाश (unconsciousness) को उत्पन्न करती है।

५. वह बढ़ी हुई वायु हिक्का (हिचकी Hiccup), श्वास (Asthma) एवं अनिद्रा (Insomnia) को उत्पन्न करती है। वह व्यक्ति जिसे निद्रा नहीं आती, जिसे ज्ञान नहीं रहता तथा जिसका मन व्यथित है, ऐसे रोगी को कहीं भी आराम नहीं मिलता। ऐसा व्यक्ति हमेशा बेचैन रहता है, वह स्थान, आसन एवं शय्या से उठकर भागना चाहता है।

६. वातपित्तज विसर्प के रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है अथवा इसे अनेक प्रकार के कष्ट रहते हैं, जिसके कारण उसे शीघ्र निद्रा नहीं आती, यदि उसे निद्रा आती है तब वह दुर्बल व्यक्ति आसानी से नही जागता।

इस प्रकार के लक्षणों से युक्त अग्निविसर्प के रोगी को अचिकित्स्य समझना चाहिए।

चक्रपाणि–'वातपित्तमित्यादि' के द्वारा अग्निविसर्प के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

परस्परं लब्धबलमिति वातपितं चान्योन्यं वर्धितशक्तिकम्–एक-दूसरे से बल प्राप्त करना। वात एवं पित्त का एक-दूसरे हेतुओं द्वारा बली होना। **शान्ताङ्गारप्रकाश इति**-आग के प्रकाश का शान्त हो जाना अथवा बुझी हुई आग की तरह (निर्वाणाङ्गारसदृशः) काला हो जाना, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए। विसर्प प्रभावित शरीर का भाग काला हो जाता है।

Scanned by CamScanner

स्थानात् ऊर्ध्वावस्थानात्–ऊर्ध्व स्थान से । क्रान्तुं गन्तुम=भागने की इच्छा वाला [इस विसर्प का रोगी जिस जगह, जिस विस्तर अथवा जिस आसन पर बैठा रहता है, बेचैनी के कारण वहाँ से हट जाना चाहता है ।]

एवं विधमित्यनेन अग्निविसर्पस्य 'अनुपहते मर्मणि' इत्यादिना साध्यत्वेन वक्ष्यमाणाऽवस्था व्यवस्थिता–इस प्रकार अग्निविसर्प की 'अनुपहते मर्मणि' इत्यादि के द्वारा जो लक्षण बताये गये हैं, वह अवस्था साध्य होती है, ऐसा समझना चाहिए । अर्थात् अग्निविसर्प में निर्दिष्ट लक्षणों के मिलने पर, यदि विसर्प का प्रसार मर्म प्रदेश में नहीं हुआ है तो वह विसर्प (अग्निविसर्प) साध्य होता है, ऐसा समझना चाहिए । ॥३५-३६॥

जल्पकल्पतरुटीका–'वातपित्तमित्यादि' के द्वारा आग्नेय विसर्प का क्रमशः वर्णन किया गया है । **स्वहेतुभिः वातहेतुभिर्व्यायामादिभिर्वातः प्रकुपितः**– अपने हेतु, अर्थात् वायु अपने प्रकोपक हेतु, यथा-व्यायाम आदि के द्वारा प्रकुपित होता है तथा पित्त-कटु, अम्ल, लवण एवं उष्ण आहार-विहार के द्वारा प्रकुपित होता है । ये दोनों परस्पर एक दूसरे के हेतुओं से बल प्राप्त करके शीघ्रता पूर्वक सम्पूर्ण शरीर में फैलकर विसर्प को उत्पन्न करते हैं ।

[वात प्रकोपक हेतुओं द्वारा पित्त भी बल प्राप्त करता है, क्योंकि वायु को योगवाही बताया गया है, यथा-गर्मी के दिनों में वायु के बहने से उष्णता की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है, अर्थात् वातावरण उष्ण हो तथा उसमें हवा भी बहने लगे तो लू की वृद्धि हो जाती है, यह व्यवहार सिद्ध है । अतः वायु के योग से पित्त और अधिक प्रकुपित हो जाता है।]

कफपित्तं प्रकुपितं बलवत् स्वेन हेतुना । विसर्पत्येकदेशे तु प्रक्लेदयति देहिनम् ।।३७।।

तद्विकाराः-शीतज्वरः शिरोगुरुत्वं दाहः स्तैमित्यमङ्गावसदनं निद्रा तन्द्रा मोहोऽन्नद्वेषः प्रलापोऽग्निनाशो दौर्बल्यमस्थिभेदो मूर्च्छा पिपासा स्रोतसां प्लेपो जाड्यमिन्द्रियाणां प्रायोपवेशनमङ्गविक्षेपोऽङ्गमर्दोऽरतिरौत्सुक्यं चोपजायते, प्रायश्चामाशये विसर्पत्यलसक एकदेशग्राही च, यस्मिंश्चावकाशे विसर्पो विसर्पति सोऽवकाशो रक्तपीतपाण्डुपिडकावकीर्ण इव मेचकाभः कालो मलिनः स्निग्धो बहूष्मा गुरुः स्तिमितवेदनः श्वयथुमान् गम्भीरपाको निरास्रावः शीघ्रक्लेदः स्विन्नक्लिन्नपूतिमांसत्वक् क्रमेणाल्परुक् परामृष्टोऽवदीर्यते कर्दम इवापीडितोऽन्तरं प्रयच्छत्युपक्लिन्नपूतिमांसत्यागी सिरास्नायुसंदर्शी कुणपगन्धी च भवति संज्ञास्मृतिहन्ता च; तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यात् ।।३८।।

५. कफपित्तज विसर्प का निदान तथा संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Kapha-Pittaja Visarpa (Karadama Visarpa)–अपने अलग-अलग हेतुओं के द्वारा अत्यधिक रूप से प्रकुपित कफ व पित्त दोष शरीर के एक भाग में संचित होकर कफपित्तज विसर्प को उत्पन्न करते हैं । यह विसर्प शरीर के जिस भाग में होता है वहाँ क्लेद की अधिकता पायी जाती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)–कफपित्तज विसर्प (कर्दमविसर्प) में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. शीतज्वर (Cold Fever), सिर में भारीपन (Heaviness of the head), दाह (Burning sensation), स्तैमित्य (रोगी का शरीर गीले कपड़े से ढक दिया गया हो, इस प्रकार का प्रतीत होना), अंगों में अवसाद का होना (Prostration of the Limbs), अत्यधिक निद्रा का आना (Excessive sleep), तन्द्रा (drowsiness), मोह (unconsciousness), अन्नद्वेष (Aversion to food), प्रलाप (delirium), अग्निनाश (जाठराग्नि का अत्यन्त मन्द हो जाना-diminution of the power of digestion), शरीर का दुर्बल होना (Weakness), अस्थिभेद (हड्डियों में टूटने की तरह पीड़ा होना), मूर्च्छा (Fainting), पिपासा (अत्यधिक प्यास का लगना-Morbid thirst), स्रोतों में कफादि पदार्थों का लिप्त रहना (Adhesion of sticky material in the channels of circulation), इन्द्रियों में जड़ता का होना अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का अपने कार्यों को न कर पाना (Insensibility of sense organs or stiffness of sense organs) प्रायः उपवेशन– बार-बार मलत्याग की इच्छा का होना [evacuation or motion of bowels-caraka; M.M. Williams-Page 207], अङ्गविक्षेप (हाथ-पैरों का इधर-उधर पटकना-Stretching of limbs), अङ्गमर्द (शरीर में मर्दनवत् पीड़ा का होना-A Vague feeling of bodily discomfort), अरति (काम करने में मन का न लगना-dis satisfaction) तथा औत्सुक्यता (Anxiety) का बने रहना ।

२. यह विसर्प प्रायः आमाशय क्षेत्र में ही धीरे-धीरे उत्पन्न होता है तथा वहीं उत्पन्न होकर स्थिर हो जाता है ।

३. यह विसर्प शरीर के जिस भाग में उत्पन्न होता है शरीर का वह भाग रक्त, पीत अथवा पाण्डु (Pale-yellow) वर्ण की पिडिकाओं से युक्त हो जाता है । अर्थात् उस भाग पर लाल, पीली अथवा पाण्डु वर्ण की पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं ।

पिडिकाओं से युक्त यह भाग मेचक के समान (स्याही के समान) चमकीला, अथवा काला (Black), मलिन (मटमैला) व स्निग्ध हो जाता है । साथ ही साथ वह भाग अत्यधिक गरम, भारी (Heavy), अल्पवेदना युक्त, शोथ युक्त, गम्भीर पाक युक्त (deep seated suppuration), स्राव रहित (Free from any exudation) तथा शीघ्र क्लेद युक्त होता है ।

४. इन पिडिकाओं की त्वचा व मांस में शीघ्र ही स्वेदता (अत्यधिक पसीने का आना), क्लिन्नता (गीलापन Wetness) एवं सड़न उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार के विसर्प में वेदना कम होती है एवं धीरे-धीरे उत्पन्न होती है ।

Scanned by CamScanner

५. पिडिका से आक्रान्त स्थान को स्पर्श करने पर अथवा रगड़ने पर वह भाग टूट कर निकलने लगता है। यदि उस स्थान को अंगुली से दबाया जाय तब उस स्थान पर कर्दम (कीचड़-Mud) के समान गड्ढा बन जाता है।

६. विसर्प प्रभावित शरीर का भाग गीला (क्लिन्न) एवं सड़ा हुआ भाग कट कर गिरता रहता है। जिस स्थान से सड़े हुए मांसादि भाग निकलते रहते हैं उस स्थान की सिरा व स्नायु स्पष्ट रूप से दिखायी देने लगती हैं तथा वहाँ से सड़े हुए मुर्दे के समान गंध निकलती रहती है। (ऐसा मांसादि धातुओं के सड़ने के कारण होता है।)

७. रोगी की ज्ञानशक्ति एवं स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है।

इस विसर्प को कर्दमविसर्प कहते हैं तथा यह विसर्प असाध्य (Incurable) होता है।

चक्रपाणि–'कफपित्तमित्यादि' के द्वारा कर्दमविसर्प को बताया गया है। **प्रायश्चामाशये विसर्पतीति**-कर्दमविसर्प कफपित्त जन्य होने से तथा कफ व पित्त का स्थान आमाशय होने के कारण आमाशय के क्षेत्र में यह विशेष रूप से होता है, यह अभिप्राय है।

अलसक इति-मन्दविसर्पी–धीरे-धीरे फैलने वाला, यह विसर्प धीरे-धीरे फैलता है। यह शरीर के एक भाग में स्थिर रहता है, न कि सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है। मलिनः मलदिग्धः– मल से गन्दा होना। स्तिमितवेदन इति=अल्प वेदना का होना। गम्भीरपाकः= अन्दर से पक जाना (अन्तः धातुओं में पाक का होना)।

अन्तरं प्रयच्छतीति=अन्दर की ओर दब जाना (धँसना), विसर्प प्रभावित भाग को दबाने पर गड्ढा पड़ जाता है।

एतस्य कर्दमसारूप्यात् कर्दम संज्ञा ज्ञेया–इसकी कर्दम (कीचड़) से समानता होने के कारण कर्दम संज्ञा दी गयी है, ऐसा जानना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कीचड़ में जाने पर व्यक्ति का पैर धँस जाता है, उसी प्रकार कर्दम विसर्प में भी प्रभावित भाग दबाने पर गड्ढा बन जाता है।

तं कर्दमविसर्पपरीतमचिकित्स्यं विद्यादिति–यहाँ वर्णित सभी लक्षणों से युक्त कर्दमविसर्प को असाध्य समझना चाहिए तथा जिस कर्दमविसर्प में यहाँ वर्णित सम्पूर्ण लक्षण न मिले अथवा कुछ ही लक्षण मिलते हों उसे साध्य समझें, उसी की ही चिकित्सा का यहाँ वर्णन किया गया है। ॥३७-३८॥

स्थिरगुरुकठिनमधुरशीतस्निग्धान्नपानाभिष्यन्दिसेविनामव्यायामादिसेविनामप्रतिकर्मशीलानां श्लेष्मा वायुश्च प्रकोपमापद्यते, तावुभौ दुष्टप्रवृद्धावतिबलौ प्रदूष्य दूष्यान् विसर्पाय कल्पेते; तत्र वायुः श्लेष्मणा विबद्धमार्गस्तमेव श्लेष्माणमनेकधाभिन्दन् क्रमेण ग्रन्थिमालां कृच्छ्रपाकसाध्यां कफाशये संजनयति, उत्सन्नरक्तस्य वा प्रदूष्य रक्तं सिरास्नायुमांसत्वगाश्रितं ग्रन्थीनां मालां कुरुते तीव्ररुजानां स्थूलानामणूनां वा दीर्घवृत्तरक्तानां, तदुपतापाज्ज्वरातिसारकासहिक्काश्वासशोषप्रमोहवैवर्ण्यारोचकाविपाकप्रसेकच्छर्दिर्मूर्च्छाङ्गभङ्ग-निद्रारतिसदनाद्याः प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः; स एतैरुपद्रुतः सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो विवर्जनीयो भवतीति ग्रन्थिविसर्पः ।।३९।।

६. ग्रन्थिविसर्प का निदान, संप्राप्ति एवं लक्षण (Etiology, Pathogenesis, Signs and Symptoms of Granthi-Visarpa)–स्थिर (ठोस-Solid), गुरु (Heavy-पचने में भारी), कठिन (Hard) मधुर (मधुररस युक्त), शीत (Cold) एवं स्निग्ध (Unctuous) अन्न-पान के अत्यधिक सेवन करने से, अभिष्यन्दी (स्रोतोवरोध उत्पादक आहार द्रव्यों) के प्रयोग से, व्यायाम न करने से अथवा जो व्यक्ति व्यायाम नहीं करते हैं अथवा उचित समय पर दोषों का निर्हरण न करने से (वमन विरेचनादि उपक्रमों का प्रयोग समय से न करने पर) वायु व कफ प्रकुपित हो जाते हैं। परिणामतः ये दोनों (वायु व कफ) अत्यन्त दूषित (विकृत) होकर, अत्यन्त वृद्ध होकर तथा अत्यन्त बली होकर रक्तादि दूष्यों (रक्त, मांस, त्वक् व लसीका) को अत्यन्त दूषित करके ग्रन्थिविसर्प को उत्पन्न करते हैं।

वह वायु कफ के द्वारा मार्गावरोध हो जाने से, कफ को अनेक भागों में तोड़ती हुई, क्रमशः ग्रन्थियों की माला को कफाशय (कफ के स्थान) में उत्पन्न करती है जो धीरे-धीरे पाक को प्राप्त होती है। अर्थात् देर से पकने वाली ग्रन्थियों की माला को उत्पन्न करती है तथा इनकी चिकित्सा भी कठिन होती है। अथवा जिस व्यक्ति के शरीर में रक्त अधिक बढ़ा हुआ रहता है ऐसे व्यक्ति में कफ-वायु प्रकुपित होकर रक्त, सिरा, स्नायु, मांस व त्वक् को दूषित करते हुए ग्रन्थियों की माला (ग्रन्थियों का समूह) को उत्पन्न करते हैं। इनमें वेदना अधिक होती है। इनमें कुछ ग्रन्थियाँ आकृति में बड़ी तथा कुछ छोटी होती हैं, कुछ लम्बी (elongated) तथा कुछ गोल (Round) होती हैं। इनका वर्ण (Colour) रक्त (Red) वर्ण का होता है।

इस प्रकार के विसर्प का रोगी-ज्वर (Fever), अतिसार (diarrhoea), कास (Cough), हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma), शोष (Consumption), मोह (unconsciousness), वैवर्ण्य (त्वचा का रंग बदल जाना-Discolouration of Skin), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion), प्रसेक (मुख से पानी का आना Salivation), छर्दि (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), अङ्गभंग (Fractures in the Limbs), निद्रा का आना (Excessive sleep), अरति (किसी भी काम में मन का न लगना, अच्छा न

Scanned by CamScanner

लगना), सदन (शारीरिक थकावट) आदि उपद्रवों से युक्त हो जाता है। ग्रन्थिविसर्प का रोगी इन उपद्रवों से युक्त होने पर सभी प्रकार के चिकित्सा कर्मों के अयोग्य हो जाता है। अर्थात् इन उपद्रवों से युक्त रोगी असाध्य होता है। इस अवस्था में यह रोगी त्याज्य होता है। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थिविसर्प की व्याख्या की गयी।

चक्रपाणि–'स्थिरेत्यादि' के द्वारा यहाँ ग्रन्थि विसर्प का वर्णन किया गया है। दुष्टप्रवृद्धाविति-परस्पर एक दूसरे को दूषित करने के कारण वृद्ध (बढ़े हुए) [वातोत्पादक हेतुओं से बढ़ा हुआ वायु विशेष रूप से कफ को प्रकुपित करता है, अर्थात् वात के संयोग से कफ की क्षमता में विशेष वृद्धि हो जाती है।]

कृच्छ्रपाकसाध्यामिति च कृच्छ्रपाकां कृच्छ्रसाध्यां च–कृच्छ्रपाक तथा कृच्छ्र साध्य अर्थ गृहीत है। ये पिडिकायें देर से पकती (Suppurated) हैं तथा देर से ठीक होती हैं, अर्थात् कष्टसाध्य हैं। 'कृच्छ्रपाकता' से देर से पाक को प्राप्त होती हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

उत्सन्नरक्तस्येति–जिस पुरुष का रक्त अत्यधिक बढ़ा हुआ हो, अर्थात् वृद्धरक्त।

सिरास्नायुमांसेत्यादौ ग्रन्थिविसर्पं कुरुत इति योज्यम्–ग्रन्थिविसर्प में वायु व कफ प्रकुपित होकर सिरा, स्नायु, मांस, रक्त एवं त्वक् धातुओं को दूषित करके विसर्प उत्पन्न करता है, ऐसा जोड़ना चाहिए। उस ग्रन्थिविसर्प में अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है। इस प्रकार वह तीव्र पीड़ा से युक्त ग्रन्थियों के समूह (आश्रय) को उत्पन्न करता है।

तदुपतापादिति तेन ग्रन्थिविसर्पेण–उस ग्रन्थविसर्प के कष्ट से, इसकी वेदना (pain) से व्यक्ति को ज्वर, अतिसार आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

सर्वकर्मणां विषयमतिपतितो भवतीति सर्वचिकित्साविषयतामतिक्रान्तो भवतीत्यर्थः–सभी कर्मों (चिकित्सा कर्मों) के विषय को अतिक्रान्त कर देता है। अर्थात् उपद्रवों से युक्त ग्रन्थिविसर्प अचिकित्स्य होता है। स शब्द से यहाँ निर्दिष्ट लक्षणों एवं उपद्रवों से युक्त ग्रन्थिविसर्प का विचार किया गया है। कुछ आचार्य इस ग्रन्थिविसर्प को तन्त्रान्तर में अपची नाम देते हैं। ॥२९॥

विशेष (Comments)–"कफाशये नाभेरूर्द्ध्वमधस्ताद्वक्षसः"-गंगाधर, कफाशय से नाभि के ऊर्ध्व एवं अध भाग अर्थात् वक्ष प्रदेश का ग्रहण किया गया है।

मूल में कफाशये संजनयति' का प्रयोग है। इससे उरः प्रदेश (वक्षप्रदेश) का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यहीं कफ का स्थान है।

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा, रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः। तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्; तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत ॥४०॥

उपद्रव की परिभाषा (Definition of Upadrava)–उपद्रव उसे कहते हैं जो व्याधि होने के बाद के समय में उत्पन्न हो, रोग के आश्रित होने से उसे रोग ही कहा जाता है, चाहे वह छोटा हो या बड़ा। रोग के बाद उत्पन्न होने के कारण इसकी संज्ञा उपद्रव दी गयी है। वहाँ प्रधान व्याधि होती है तथा उपद्रव अप्रधान रूप में होता है, क्योंकि व्याधि के ही अन्तर्गत उपद्रव उत्पन्न होता है। अतः प्रायः प्रधान व्याधि का प्रशमन होने से उपद्रव भी प्रशमित हो जाता है। वह (उपद्रव) शरीर में तुलनात्मक रूप से (प्रधान की तुलना में) पीड़ा अधिक उत्पन्न करता है। क्योंकि वह प्रधान व्याधि के द्वारा शरीर के दुर्बल हो जाने के कारण बाद में उत्पन्न होता है। इसलिये उपद्रव को प्रशमित करने का उपाय शीघ्र करना चाहिए। अर्थात् उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिये। ॥४०॥

चक्रपाणि–'उपद्रवस्त्वित्यादि' के द्वारा उपद्रव के स्वरूप को यहाँ स्पष्ट किया गया है। **तु शब्दः मूलव्याधिव्यवच्छेदे– 'तु' शब्द का प्रयोग मूल व्याधि के व्यवच्छेदार्थ हुआ है, अर्थात् उपद्रव एवं व्याधि में भेद बताने के लिए हुआ है, अथवा प्रकाशनार्थ हुआ है। रोगोत्तरकालज इति रोगमध्यकालजः**-व्याधि के बीच के काल में उत्पन्न होना अर्थात् व्याधि के रहते हुए उपद्रव का भी उत्पन्न होना। इस प्रकार रोग के साथ उत्पन्न होने वाले लक्षणों (रोग के लक्षणों) से इसका विभेद होता है। व्याधि के जो लक्षण रोग के कुछ समय बाद उत्पन्न होते हैं वे प्रायः रोग के साथ ही उत्पन्न होने वाले हैं। इसलिये उन्हें **रोगोत्तरकालज** नहीं कहते। अतः वे उपद्रव नहीं हैं।

रोगाश्रय इति रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्यतया रोगेण समं तुल्यकारणः–रोगोत्पादक दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने से रोग के साथ इसकी समानता है।

उपद्रव को रोगाश्रय भी कहते हैं, क्योंकि रोगोत्पादक दोषों के प्रकोप से यह उत्पन्न होता है। यहाँ उपद्रव एवं व्याधि दोनों के हेतु तुल्य (समान) होते हैं। अर्थात् उपद्रव एवं व्याधि दोनों के कारण एक ही हैं। इस प्रकार गलगण्ड (Goiter) में उत्पन्न होने वाला ज्वर (Fever) आदि रोगोत्तर काल में उत्पन्न होने के बाद भी उपद्रव (Complication) के अन्तर्गत नहीं आता।

Scanned by CamScanner

'रोग एव इति' से यहाँ रोगाश्रय (उपद्रव) को रोग ही है, कहा है। अतः यहाँ मूल व्याधि से भिन्न रोग शब्द से व्यवहियमाण (प्रयुक्त) उपद्रव का ग्रहण किया गया है। अर्थात् उपद्रव को एक प्रकार से रोग माना गया है, लेकिन उपद्रव रोग (प्रधान व्याधि) नहीं होता, यह ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार यहाँ व्याधि की अवस्था एवं रोगोत्तर काल में उत्पन्न उपद्रव अलग-अलग हो जाते हैं। इस प्रकार शोथ की व्रण रूप अवस्था से यह भिन्न हो जाता है। अर्थात् **व्रण रूप अवस्था** को उपद्रव न मानकर मूल व्याधि (शोथ) की ही एक अवस्था स्वीकार किया गया है। सभी प्रकार की व्याधियों के अवस्था विशेष में जो लक्षण (Signs-Symptoms) उत्पन्न होते हैं वे मूल व्याधि के ही रूप हैं, ऐसा समझना चाहिये। यह अवस्था उस मूलव्याधि में अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसलिये यह निश्चित रूप से उपद्रव नहीं होता।

यद्यपि केचिन्महाबलदोषारब्धा व्याधय उपद्रवयुक्ता एवोत्पद्यन्ते–यद्यपि अत्यन्त बली दोषों से उत्पन्न होने वाली कुछ व्याधियाँ उपद्रव युक्त ही उत्पन्न होती हैं। साथ में उत्पन्न होने से वे उपद्रव का कार्य नहीं करती अथवा उपद्रव के विषय नहीं हैं फिर भी जो व्याधियाँ उपद्रव रूप उत्पन्न होती हैं, वे वहाँ साथ में उत्पन्न होते हुए भी अपनी योग्यता के कारण उपद्रव कही जाती हैं। वास्तव में साथ में होने से वे उपद्रव के लक्षणों से युक्त नहीं होती, किन्तु रोग संकर होने से वहाँ उत्पन्न होती हैं। आचार्य सुश्रुत ने उपद्रव के लक्षणों का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा-**"तत्रौपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञः"** (सु.सू.अ. ३५) इति [औपसर्गिक या उपद्रव उसे कहा जाता है जो पूर्वोत्पन्न व्याधि के बाद के काल में उत्पन्न हो तथा उसका मूल (हेतु) पूर्व व्याधि के मूल में ही निहित हो।]

'स्थूलोऽणुर्वेति' के द्वारा उपद्रव के भेद को बताया है। **'पश्चाज्जायत इति उपद्रवसंज्ञ इति'** के द्वारा यहाँ उपद्रव की निरुक्ति को स्पष्ट किया गया है, अर्थात् मूल व्याधि के बाद उत्पन्न होने के कारण इसे उपद्रव कहा जाता है।

एतेन उपद्रवति व्याध्युत्पादसमीपे उपैतीति उपद्रवः, इति निरुक्तिः कृता भवति–व्याधि की उत्पत्ति के साथ ही जो उत्पन्न हो उसे उपद्रव कहते हैं, अथवा व्याधि की उत्पत्ति के साथ अचानक उत्पन्न हो जाना।

[**उपद्रवः** पुं. [उप् +द्रु+अप्] उत्पातः रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्यो अन्यः विकारः [रोगोत्पादक दोषों के प्रकोप से होने वाला दूसरा विकार अर्थात् एक ही प्रकोपक कारणों से होने वाला दूसरा विकार जो मुख्य व्याधि के अतिरिक्त हो।]

यो व्याधिस्तस्य यो हेतुर्दोषस्तस्य प्रकोपतः। योऽन्योविकारो भवति स उपद्रव उच्यते-जिस व्याधि का जो कारण होता है, उसी कारणों के द्वारा जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है उसे उपद्रव कहते हैं। अर्थात् मूल व्याधि के अतिरिक्त मूल हेतु से जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है उसे उपद्रव कहते हैं।

'व्याधेरुपरि यो व्याधिः उपद्रव उदाहृतः'–व्याधि के ऊपर जो दूसरी व्याधि उत्पन्न होती है वह उपद्रव कहलाती है। उत्पात=अचानक उत्पन्न होने वाले अनिष्ट (अनिच्छित) विकार। –हलायुधकोश, पृष्ठसंख्या-१६५।

व्याधेर्गुणभूत इति मूलव्याध्यपेक्षयाऽप्रधानमित्यर्थः–मूल व्याधि की तुलना में अप्रधान होना। अर्थात् उपद्रव मुख्य व्याधि की तुलना में अप्रधान होता है। उसके गुणभूतत्व (अप्रधानता) के कारण को यहाँ-'तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे शम इति' के द्वारा बताया गया है अर्थात् प्रायः प्रधान के प्रशमन से इसका भी प्रशमन हो जाता है। मूल व्याधि के प्रशमन के अधीन उपद्रव का प्रशमन होने से, उपद्रव को अप्रधान कहा गया है। प्रायः शब्द का अभिप्राय यहाँ भी कहीं-कहीं व्यभिचार (अपवाद) होता है, से है। कहीं-कहीं उपद्रवों की स्वतन्त्र चिकित्सा भी बतायी गयी है, अर्थात् अपवाद रूप कुछ उपद्रव हैं जो प्रधान की चिकित्सा द्वारा प्रशमित नहीं होते।

'स त्वित्यादि' से उपद्रव की शीघ्र चिकित्सा करने का निर्देश दिया गया है। **व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वादिति; दिग्योगे पञ्चमी; तेन व्याधिपरिक्लिष्टस्य पश्चादुत्पद्यमानतया पीडा करतरो भवतीति वाक्यार्थः**–दिग् के योग में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होता है, व्याधि से ग्रस्त दुर्बल शरीर से उत्पन्न होने के कारण उपद्रव व्याधि की तुलना में ज्यादा कष्टदायी होना है, यही वाक्य का अभिप्राय है।

'तस्मादित्यादि' के द्वारा विषय का उपसंहार किया गया है। **अभिबाधेतेति त्वरया चिकित्सेत्**-उपद्रव की चिकित्सा में शीघ्रता करनी चाहिए। इसमें मूल व्याधि की चिकित्सा के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से भी उपद्रव की चिकित्सा की जाती है, यह कहा गया है। अर्थात् यहाँ उपद्रव की चिकित्सा दो रूप में करने का निर्देश दिया गया है–१. मूल व्याधि की चिकित्सा, २. स्वतंत्र रूप से उपद्रव की चिकित्सा करना। यहाँ इन दोनों ही उपायों का प्रयोग करना चाहिए। ॥४०॥

सर्वायतनसमुत्थं सर्वलिङ्गव्यापिनं सर्वधात्वनुसारिणमाशुकारिणं महात्ययिकमिति सन्निपातविसर्पमचिकित्स्यं विद्यात् ॥४१॥

७. सन्निपातज विसर्प (Sānnipātaja Visarpa)–यह विसर्प अलग-अलग दोषों से उत्पन्न होने वाले वातादि विसर्प के जो हेतु बताये गये हैं, उन्हीं हेतुओं के सम्मिलित (मिलित) प्रयोग से होता है तथा वातादि दोषों के ही लक्षण मिश्रित रूप से इसमें भी पाये जाते हैं। यह विसर्प सभी धातुओं में फैलने वाला होता है। अर्थात् इस विसर्प का आश्रय सभी धातुयें हैं। यह शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त

Scanned by CamScanner

होकर रोगी को नष्ट कर देता है तथा अत्यन्त आत्ययिक होता है अर्थात् इसकी चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए अन्यथा इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार सन्निपातज विसर्प को अचिकित्स्य समझना चाहिए।

चक्रपाणि–'सर्वेत्यादि' के द्वारा प्रक्रान्त से सन्निपातज विसर्प का अभिधान किया गया है। [प्रक्रान्त=पूर्व वर्णित विषय को स्पष्ट करना, पृथक्-पृथक् दोषों से उत्पन्न विसर्प का अभिधान (कथन) पूर्व में हो चुका है, वही लक्षण एवं वही हेतु सम्मिलित रूप से सन्निपातज विसर्प के भी होते हैं।]

सर्वायतनसमुत्थमिति सर्वहेतु भवम्–वातादि जन्य विसर्प के जो हेतु बताये गये हैं, उन्हीं सब हेतुओं से सन्निपातज विसर्प उत्पन्न होता है। अर्थात् त्रिदोष प्रकोपक हेतुओं से यह उत्पन्न होता है।

सर्वलिङ्गव्यापिनमिति–वातादि जन्य विसर्प के वर्णित सभी लक्षणों का मिलना, अर्थात् तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण इसमें पाये जाते हैं। **सर्वधात्वनुसारिणमिति विसर्पाश्रयत्वेनोक्तानामनुक्तानामपि च धातूनामाश्रयित्वम्**-सभी धातुओं में फैलने वाला, विसर्प में दूषित होने वाली वर्णित ४ धातुएं- त्वक्, रक्त, मांस एवं लसीका के अतिरिक्त और भी धातुयें इसमें दूषित होती हैं, यह दर्शाया गया है। अन्य शास्त्रों में मसूरिका को विसर्प का ही रूप माना गया है, जिसमें सभी धातुएं दूषित होती हैं, ऐसा कहा गया है। वास्तव में विसर्प में (विशेष अवस्था में) दोषों की अति दुष्टि के कारण ७ धातुओं (वात, पित्त, कफ, त्वक्, रक्त, मांस व लसीका) के साथ-साथ और भी धातुयें (सिरा, स्नायु, मेद आदि) दूषित होती हैं, ऐसा समझना चाहिए। ॥४१॥

तत्र वातपित्तश्लेष्मनिमित्ता विसर्पास्त्रयः साध्या भवन्ति; अग्निकर्दमाख्यौ पुनरनुपसृष्टे मर्मणि अनुपगते वा सिरास्नायुमांसक्लेदे साधारणक्रियाभिरुभावेवाभ्यस्यमानौ प्रशान्तिमापद्येयाताम्, अनादरोपक्रान्तः पुनस्तयोरन्यतरो हन्यादेहमाशेवाशीविषवत्; तथा ग्रन्थिविसर्पमजातोपद्रवमारभेत चिकित्सितुम्, उपद्रवोपद्रुतं त्वेनं परिहरेत्; सन्निपातजं तु सर्वधात्वनुसारित्वादाशुकारित्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्चासाध्यं विद्यात्॥४२॥

साध्यताऽसाध्यता (Prognosis)–वात, पित्त व कफ के कारण उत्पन्न होने वाले वातज, पित्तज व कफज विसर्प साध्य (Curable) होते हैं। अग्निविसर्प (वातपित्तज) एवं कर्दमविसर्प (पित्तकफज) जो उपद्रव युक्त न हों तथा मर्म स्थान (हृदय प्रदेश) को आक्रान्त न किये हों, सिरा, स्नायु, मांस व क्लेद को न प्राप्त हुए हों, तब ये दोनों साधारण चिकित्सा कुछ दिन तक लगातार करने पर प्रशमित हो जाते हैं। यदि इनकी (इन दोनों की) उपेक्षा (अनादर) की जाती है, अर्थात् उचित चिकित्सा नहीं की जाती है तब इनमें से कोई एक ही आशीविषवत् (सर्प विष के समान) शीघ्र ही रोगी के शरीर को नष्ट कर देता है। ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा उपद्रव उत्पन्न होने से पहले ही करनी चाहिए, उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा न करें अर्थात् उपद्रव युक्त ग्रन्थिविसर्प असाध्य (Incurable) होता है। सन्निपातज विसर्प सर्वधातुओं में प्रसरणशील होने, आशुकारी होने एवं विरुद्धोपक्रम (चिकित्सा विरुद्ध) होने से असाध्य होता है, ऐसा समझना चाहिए।

चक्रपाणि–मर्मणीति-हृदयादि प्रधान मर्म प्रदेशों में फैल जाने पर। **साधारणक्रियाभिरिति आरम्भकदोषयोः समानाभिः क्रियाभिः**-विसर्प उत्पादक दोष के विपरीत चिकित्सा करने पर, अर्थात् अग्निविसर्प में वात-पित्त नाशक, तथा कर्दम में वात-कफ नाशक उपक्रमों के निरन्तर प्रयोग से व्याधि प्रशमित हो जाती है।

अभ्यस्यमानाविति सततमुपचर्यमाणौ–कुछ दिन लगातार इन दोनों की चिकित्सा करने पर, सतत उपचार=लगातार चिकित्सा करना। (कुछ दिन तक चिकित्सा करने से)

अनादरोपक्रान्त इति असम्यगुपक्रान्तः–उपेक्षा करने से अथवा सम्यक् उपचार न करने पर।

तेन पूर्वं सर्वथाऽनुपक्रमे "ये हन्युरनुपक्रान्ताः" (सू.अ. १८) इति अनेन मारकत्वमुक्तम्–यदि दारुण साध्य (कृच्छ्र-साध्य) व्याधि की चिकित्सा ही न की जाय तो वे व्याधियाँ रोगी को नष्ट कर देती हैं, यह विवेचन "ये हन्युरनुपक्रान्ताः" इति के द्वारा सू.अ. १८ में किया गया है। इस प्रकरण में **असम्यक् उपचार** का ही विशेष निर्देश दिया गया है, अर्थात् असम्यक् उपचार से ही यह व्याधि मारक हो जाती है। ॥४२॥

तत्र साध्यानां साधनमनुव्याख्यास्यामः ॥४३॥
लङ्घनोल्लेखने शस्ते तिक्तकानां च सेवनम्। कफस्थानगते सामे रूक्षशीतैः प्रलेपयेत् ॥४४॥
पित्तस्थानगतेऽप्येतत् सामे कुर्याच्चिकित्सितम्। शोणितस्यावसेकं च विरेकं च विशेषतः ॥४५॥
मारुताशयसंभूतेऽप्यादितः स्याद्विरूक्षणम्। रक्तपित्तान्वयेऽप्यादौ स्नेहनं न हितं मतम् ॥४६॥
वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते। लघुदोषे, महादोषे पैत्तिके स्याद्विरेचनम् ॥४७॥
न घृतं बहुदोषाय देयं यत्र विरेचयेत्। तेन दोषो ह्युपष्टब्यस्त्वङ्मांसरुधिरं पचेत् ॥४८॥

Scanned by CamScanner

तस्माद्विरेकमेवादौ शस्तं विद्याद्विसर्पिणः । रुधिरस्यावसेकं च तद्धयस्याश्रयसंज्ञितम् ।।४९।।

विसर्प की चिकित्सा (Treatment of Visarpa)—अब आगे साध्य विसर्प की चिकित्सा का विवेचन किया जा रहा है—१. यदि विसर्प रोग में **आमदोष कफस्थान** (आमाशय अथवा उर:प्रदेश) **में विद्यमान हो** तब रोगी को लङ्घन (Fasting), वमन एवं तिक्त रसों का सेवन कराना चाहिए । प्रलेप हेतु रूक्ष एवं शीत वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

२. **यदि आमदोष पित्तस्थान में विद्यमान** हो तब रक्तमोक्षण (Blood Letting) एवं विरेचन (Purgation) चिकित्सा का विशेष प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् उपर्युक्त-लङ्घन, वमन, तिक्त रसों के प्रयोग के साथ-साथ विरेचन एवं रक्तमोक्षण भी कराना चाहिए ।

३. **यदि आमदोष वात के स्थान (पक्वाशय) में हो** एवं तदाश्रित होकर विसर्प को उत्पन्न करता हो तब सबसे पहले रूक्ष औषधियों के प्रयोग से पक्वाशय का रूक्षण करना चाहिए । यदि वात का सम्बन्ध रक्त एवं पित्त से हो तब सर्वप्रथम स्नेहन का प्रयोग करना हितकर नहीं होता ।

४. वात प्रधान विसर्प में एवं अल्प दोष युक्त पित्तज विसर्प में **तिक्तघृत** का पान कराना हितकर है । **पित्तज विसर्प** में दोष (पित्त) के अत्यधिक प्रकोप (वृद्धि) की अवस्था में 'विरेचन' कराना चाहिए ।

५. **घृत सम्बन्धी निर्देश**-पित्त के अत्यधिक प्रकोप (दोष के अत्यधिक वृद्धावस्था) में उस घृत का प्रयोग नहीं कराना चाहिए, जो विरेचन न कराता हो । अर्थात् इस अवस्था में विरेचक घृतों का ही प्रयोग करना चाहिए । यदि विरेचक घृतों का प्रयोग न करके सामान्य घृत का प्रयोग करते हैं तब दोष अवरुद्ध होकर त्वचा (Skin), रक्त (Blood), मांस (Muscles) का पाक करने लगते हैं । अर्थात् पित्त का निर्हरण न होने से रक्तादि धातुओं में पाक होने लगता है । इसलिये विसर्प रोगी में सर्वप्रथम विरेचक औषधियों का प्रयोग करना चाहिये तश्चात् रक्तमोक्षण (Blood Letting) करावें, क्योंकि इस व्याधि का आश्रय रक्त होता है । रक्तमोक्षण द्वारा रक्त का निर्हरण हो जाने पर व्याधि का प्रशमन स्वत: हो जाता है ।

चक्रपाणि–'साध्यानामित्यादि' के द्वारा विसर्परोग की चिकित्सा का वर्णन किया गया है । उल्लेखनम्=वमनम् (वमन)। **कफस्थानगत इति**-कफस्थान में दोषों के विद्यमान रहने पर, अर्थात् आम दोष कफ स्थान में रुक कर व्याधि को उत्पन्न कर रहा हो । **कफस्थान** से यहाँ शरीर के ऊर्ध्व भाग का ग्रहण है । पित्तस्थान से शरीर के **मध्य भाग** का ग्रहण किया गया है । मारुताशय से शरीर का **अध:भाग पक्वाशय** गृहीत है ।

वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते लघुदोषे इति च्छेद:–वातज विसर्प में अथवा पित्तज विसर्प में पित्त के अल्प रूप में प्रकुपित होने पर (विसर्प में वात की प्रधानता होने पर तथा पित्तज विसर्प में अल्प रूप में दोष के प्रकुपित होने पर) तिक्तघृत का पान कराना चाहिए, लघुदोषे इति तक यह वाक्य पूर्ण होता है अर्थात् यह वाक्य इस प्रकार है–

'वातोल्बणे तिक्तघृतं पैत्तिके च प्रशस्यते लघुदोषे' लघुदोषे के साथ पैत्तिके जुड़ा हुआ है ।

बहुदोषायेति पित्तस्य प्रकृतत्वाद् बहुपित्तायेत्यर्थ:–अत्यधिक दोषयुक्त विसर्प रोगी के लिए; विसर्प की उत्पत्ति में पित्त की कारणता होने से 'बहुदोषाय' का अर्थ 'बहुपित्ताय' लिया गया है । अत: इसका अभिप्राय अत्यधिक पित्त दुष्टि वाले रोगी को विरेचक घृत का ही प्रयोग कराना चाहिए, अर्थात् यहाँ उस घृत के सेवन का निषेध किया गया है जो विरेचन न कराता हो । तेनेति=अविरेचन घृत के द्वारा ।

तद्धयस्याश्रितसंज्ञितमिति तत् शोणितमस्य विसर्पस्य आश्रयत्वेन कथितं–यह रक्त इस विसर्प का आश्रय होने से कहा गया है । अत: रक्त का निर्हरण होने से विसर्प स्वत: शान्त हो जाता है । (आश्रय के विनाश से आश्रित का भी विनाश हो जाता है, यहाँ रक्त को आश्रय तथा विसर्प को आश्रित कहा गया है । ।।४३-४९।।

इति वीसर्पनुत् प्रोक्तं समासेन चिकित्सितम् । एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ।।५०।।
मदनं मधुकं निम्बं वत्सकस्य फलानि च । वमनं संप्रदातव्यं विसर्पे कफपित्तजे ।।५१।।
पटोलपिचुमर्दाभ्यां पिप्पल्या मदनेन च । विसर्पे वमनं शस्तं तथा चेन्द्रयवैः सह ।।५२।।
यांश्च योगान् प्रवक्ष्यामि कल्पेषु कफपित्तिनाम् । विसर्पिणां प्रयोज्यास्ते दोषनिर्हरणाः शिवाः ।।५३।।

इस प्रकार विसर्परोग की संक्षेप में चिकित्सा का अभिधान किया गया । अब पुन: इसी का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है–

कफपित्तज विसर्प में वमन का प्रयोग–१. कफपित्तज विसर्प के रोगी में मदनफल, यष्टीमधु (मुलेठी), नीम, वत्सकबीज (इन्द्रयव) द्रव्यों का प्रयोग वमन हेतु करना चाहिए । अर्थात् इन द्रव्यों के द्वारा रोगी को वमन कराना चाहिए ।

२. पटोल (परवल) का पञ्चाङ्ग, पिचुमर्द (नीम की छाल), पिप्पली एवं मदनफल व इन्द्रयव का प्रयोग वमनार्थ करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

३. जिन कफपित्तनाशक योगों का विवेचन कल्पस्थान में किया जायेगा, उन्हीं योगों का प्रयोग कफपित्तज विसर्प में भी दोषनिर्हरणार्थ करना चाहिये। क्योंकि वही योग दोष संशोधनार्थ उपयोगी हैं।

चक्रपाणि–व्यासत इति-विस्तार से। **कफपित्तजे इति व्यस्तसमस्तकफपित्तजे**-कफ व पित्त की दुष्टि से होने वाले अलग-अलग विसर्प एवं मिलित रूप से होने वाले विसर्प में वमन कराना, अर्थात् इससे कफज विसर्प, पित्तज विसर्प एवं कफपित्तज विसर्प, तीनों का ग्रहण होता है। ॥५०-५३॥

मुस्तनिम्बपटोलानां चन्दनोत्पलयोरपि । सारिवामलकोशीरमुस्तानां वा विचक्षणः ।।५४।।
कषायान् पाययेद्वैद्यः सिद्धान् वीसर्पनाशनान् । किराततिक्तकं लोध्रं चन्दनं सदुरालभम् ।।५५।।
नागरं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलं सबिभीतकम् । मधुकं नागपुष्पं च दद्याद्वीसर्पशान्तये ।।५६।।
प्रपौण्डरीकं मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् । नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ।।५७।।
द्राक्षां पर्पटकं शुण्ठीं गुडूचीं धन्वयासकम् । निशापर्युषितं दद्यात्तृष्णावीसर्पशान्तये ।।५६।।
पटोलं पिचुमर्दं च दार्वीं कटुकरोहिणीम् । यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च दद्याद्वीसर्पशान्तये ।।५९।।
पटोलादिकषायं वा पिबेत्रिफलया सह । मसूरविदलैर्युक्तं घृतमिश्रं प्रदापयेत् ।।६०।।
पटोलपत्रमुद्गानां रसमामलकस्य च । पाययेत घृतोन्मिश्रं नरं वीसर्पपीडितम् ।।६१।।

विसर्प नाशक द्रव्यों का प्रयोग

१. **मुस्तादि क्वाथ**–नागरमुस्तक (नागरमोथा), नीम की छाल, परवल की पत्ती; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर, यवकुट करके क्वाथ बनावें एवं इसे विसर्प के रोगी को पिलावें।

२. चन्दन एवं उत्पल (नीलकमल) के क्वाथ का प्रयोग विसर्प रोगी में करना चाहिए।

३. **सारिवादि क्वाथ**–सारिवा, आमलकी, उशीर (खश), नागरमोथा; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं उसका क्वाथ (Decoction) बना लें। इसका पान विसर्प रोगी करे।

उपर्युक्त तीन कषाय (क्वाथ) अत्यन्त उपयोगी हैं। इनका प्रयोग चिकित्सक को वीसर्प विनाशार्थ अवश्य करना चाहिए।

४. किराततिक्तक (चिरायता), लोध्र, चन्दन (लालचन्दन), दुरालभा, नागर [सोंठ], पद्मकिञ्जल्क (कमलकेशर), उत्पल (नीलकमल) [Blossom of the blue lotus (Nymphaea caerulea)], बिभीतक का छिलका, यष्टीमधु व नागकेशर; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बना लें तथा इस क्वाथ का पान प्रतिदिन करें। इसके प्रयोग से विसर्परोग दूर हो जाता है।

प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ-The Root of Nymphaea Lotus, car-नीलकमल की जड़), मधुक (यष्टीमधु=मुलेठी), पद्मकिञ्जल्क (कमलकेशर), नीलकमल, नागकेशर एवं लोध्र; इन द्रव्यों का विधि पूर्वक क्वाथ बनाकर विसर्प रोगी को पिलाना चाहिए।

६. द्राक्षादि शीत कषाय का प्रयोग-द्राक्षा (मुनक्का), पर्पटक (पित्तपापड़ा) शुण्ठी, गुडूची (गुड़बेल, गिलोय या गुडुच) एवं धन्वयास; द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इसे रातभर जल में भिगो दें, प्रातः काल हाथ से मसलकर जल को छान लें। इस छने हुए जल का प्रयोग विसर्प रोगी को प्रातः एवं सायं काल करना चाहिए।

७. **पटोलादि शीतकषाय**–पटोलपत्र, निम्बपत्र, या नीम की छाल, दारुहल्दी, कंटुरोहिणी (कुटकी), त्रायमाणा; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर यवकुट कर लें। इसे रात भर जल में भिगों दें; प्रातः काल मसलकर छान लें। इस छने हुए शीतकषाय का प्रयोग विसर्प रोगी को करना चाहिए।

८. पटोलादि शीतकषाय के द्रव्यों के साथ ही त्रिफला व मसूर की दाल मिलाकर क्वाथ (Decoction) बनावें। इस क्वाथ में घृत मिलाकर विसर्प के नाश हेतु आतुर को पिलाना चाहिए।

९. परवल की पत्ती, मूंग की दाल एवं आँवला; के सम भाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) में घृत मिलाकर विसर्प से पीडित रोगी को पिलाना चाहिए।

चक्रपाणि–किराततिक्तक आदि भी कषाय योग ही हैं। **तेनैव विधिनेति मुस्तादियोगोक्तकषायविधिना**-'उस विधि के द्वारा' इससे मुस्तादि योग की विधि के अनुसार कषाय (क्वाथ) का निर्माण करना, अर्थ गृहीत है।

निशापर्युषितमिति–यवकुट किये हुए द्राक्षा आदि द्रव्यों को रातभर जल में भिगोकर प्रातः काल मसलकर छान लें। इस छने हुए द्रव पदार्थ को शीतकषाय कहा गया है। इस शीतकषाय विधि का प्रयोग पटोलादि शीतकषाय में भी करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

मसूरविदलैरिति मसूराणां विदलैः, न चात्र विदला श्यामा, तस्या स्त्रीलिङ्गत्वात्-मसूर की दली हुई दाल। यहाँ विदला से श्यामा (त्रिवृत्) का ग्रहण नहीं होता है, उसके स्त्रीलिङ्ग होने के कारण ऐसा हुआ है। ॥५४-६१॥

विशेष-यहाँ मसूर एवं विदला का अलग-अलग अर्थ नहीं ग्रहण किया गया है, यह शंका यहाँ इसलिये उत्पन्न हुई है कि मसूर पुल्लिङ्ग एवं विदला स्त्रीलिङ्गी शब्द है। यहाँ विदला से श्यामा त्रिवृत् का ग्रहण न होकर 'मसूरविदला' से मसूर की दाल का ग्रहण किया गया है। **मसूरविदला**=Fragment, मसूर की दाल के छोटे-छोटे टुकड़े, विदला-Ipomoea terpethum (त्रिवृत्) M.M. Williams]

यच्च सर्पिर्महातिक्तं पित्तकुष्ठनिबर्हणम्। निर्दिष्टं तदपि प्राज्ञो दद्याद्वीसर्पशान्तये ॥६२॥
त्रायमाणाघृतं सिद्धं गौल्मिके यदुदाहृतम्। विसर्पाणां प्रशान्त्यर्थं दद्यात्तदपि बुद्धिमान् ॥६३॥
त्रिवृच्चूर्णं समालोड्य सर्पिषा पयसाऽपि वा। धर्माम्बुना वा संयोज्य मृद्वीकानां रसेन वा ॥६४॥
विरेकार्थप्रयोक्तव्यं सिद्धं वीसर्पनाशनम्। त्रायमाणाशृतं वाऽपि पयो दद्याद्विरेचनम् ॥६५॥
त्रिफलारससंयुक्तं सर्पिस्त्रिवृतया सह। प्रयोक्तव्यं विरेकार्थं विसर्पज्वरनाशनम् ॥६६॥
रसमामलकानां वा घृतमिश्रं प्रदापयेत्। स एव गुरुकोष्ठाय त्रिवृच्चूर्णयुतो हितः ॥६७॥
दोषे कोष्ठगते भूय एतत् कुर्याच्चिकित्सितम्।

विसर्परोग में सिद्ध घृतों का प्रयोग-पित्तज कुष्ठ नाशक जिस महातिक्तघृत का उल्लेख कुष्ठचिकित्सा प्रकरण में किया गया है। बुद्धिमान चिकित्सक को उसी घृत का प्रयोग विसर्परोग की शान्ति हेतु भी करना चाहिए। अथवा गुल्मचिकित्सा में त्रायमाणाघृत का जो उदाहरण दिया गया है, बुद्धिमान पुरुष को उसका प्रयोग विसर्परोग की शान्ति हेतु करना चाहिए।

विसर्प में विरेचन योग-१. त्रिवृत् चूर्ण का प्रयोग घृत, दुग्ध, उष्ण जल अथवा मुनक्के के रस के साथ विरेचनार्थ करें। यह विसर्प नाशक उत्तम (सिद्ध) योग है।

२. त्रायमाणा के क्वाथ (Decoction) को गोदुग्ध में पकाकर विरेचनार्थ विसर्प के रोगी को पीने के लिए दें।

३. अथवा विसर्प में उत्पन्न ज्वर के शमन हेतु त्रिवृत् चूर्ण को घृत के साथ मिलाकर त्रिफला के क्वाथ से पीने के लिए देना चाहिए। इससे सम्यक् रूप से विरेचन होकर ज्वर की शान्ति हो जाती है।

४. अथवा आमलकी स्वरस (क्वाथ) में घृत मिलाकर विरेचनार्थ विसर्प रोगी को देना चाहिए। यदि रोगी गुरु कोष्ठ वाला है अर्थात् क्रूर कोष्ठी है तब उसे आमलकी स्वरस के साथ निशोथ चूर्ण मिलाकर प्रयोग करना ही अत्यन्त हितकर होता है।

दोषों के कोष्ठ में आ जाने पर बार-बार इन्हीं योगों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि-त्रिफलारसेत्यादौ त्रिफलारसादिभिः समं मिश्रितं घृतं देयम्-त्रिफलारस (त्रिफला क्वाथ) आदि के साथ घृत मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये। **गुरुकोष्ठायेति**-क्रूर कोष्ठ वाले रोगियों के लिए, अन्य आचार्य दोषों से भरे हुए कोष्ठ को गुरुकोष्ठ कहते हैं। **'दोषे कोष्ठगते भूय'** इति में यहाँ 'भूय' शब्द प्रायो वाची है। प्रायः=अधिकतर, दोषों के कोष्ठगत होने पर प्रायः (सामान्यतः) यही चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् आमलकी स्वरस में त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ रोगी को देना चाहिए। ॥६२-६७॥

शाखादुष्टे तु रुधिरे रक्तमेवादितो हरेत् ॥६८॥
भिषग्वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिर्हरेत्। पित्तान्वितं जलौकोभिः, कफान्वितमलाबुभिः ॥६९॥
यथासन्नं विकारस्य व्यधयेदाशु वा सिराम्। त्वङ्मांसस्नायुसंक्लेदो रक्तक्लेदाद्धि जायते ॥७०॥

शाखागत विसर्प में रक्तमोक्षण चिकित्सा (Blood-Letting therapy for Peripheral Visarpa)-यदि विसर्प रोग में शाखागत रक्त की दुष्टि हो तब सर्वप्रथम चिकित्सक को रक्तमोक्षण करना चाहिये। यदि रक्त में वायु का प्रकोप है तब शृंग से रक्त का निर्हरण करना चाहिए। यदि पित्त द्वारा रक्त की दुष्टि है अर्थात् रक्त में पित्त का प्रकोप है तब जलौका लगाकर रक्त का निर्हरण करें, यदि रक्त में कफ का प्रकोप हो, अथवा कफ द्वारा रक्त की दुष्टि हो तब तुम्बी (अलाबू) द्वारा रक्त का निर्हरण करना चाहिए। जिस स्थान पर विसर्परोग उत्पन्न हुआ है, उस स्थान की समीप की सिरा का ही वेध करना चाहिए, जिससे दूषित रक्त शीघ्रता पूर्वक निकल जाय। यदि इस व्याधि में शीघ्रता पूर्वक रक्त का निर्हरण नहीं किया जाता है तब रक्त में क्लेदांश की मात्रा बढ़ जाती है, परिमाणतः त्वक्, मांस एवं स्नायु में भी क्लेद उत्पन्न हो जाता है।

चक्रपाणि-शाखाश्रयी दोषों द्वारा दूषित रक्त की चिकित्सा को यहाँ 'शाखादुष्ट इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। यहाँ शाखा से रक्तादि धातुओं से लेकर त्वक् तक का ग्रहण किया गया है, शाखा के दूषित होने में रक्त विशेष है, रक्त की दुष्टि दोषों द्वारा होती है। अतः यहाँ रक्तमोक्षण के उपाय को 'वातान्वितमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। रक्तमोक्षण के विधान को यहाँ अन्य का अधिकार (शल्यतन्त्र का अधिकार) होने से नहीं कहा गया है। उसका वर्णन सुश्रुतसंहिता में देखना चाहिए।

Scanned by CamScanner

यथासन्नमिति या विकारप्रत्यासन्ना सिरा तां व्यधयेत्-व्याधि के सन्निकट जो सिरा स्थित हो उसका वेध करना चाहिए। अर्थात् शरीर के जिस भाग में विसर्प फैला हो उसी के आस-पास की सिरा का वेध करना चाहिए।

सिराव्यधश्च सर्वसाधारणः-सिरावेध का यह सामान्य सिद्धान्त है। 'रक्तानपहरणे दोषमाह-त्वङ्मांसेत्यादि' रक्तमोक्षण न कराने पर उत्पन्न होने वाले दोषों का विवेचन यहाँ 'त्वङ्मांसेत्यादि' के द्वारा किया गया है, अर्थात् विसर्प रोग (शाखागत) में यदि समय से रक्तमोक्षण नहीं करते हैं तब रक्त में क्लेद (Putrefying-सड़ने की प्रवृत्ति) उत्पन्न हो जाता है।

विशेष (Comments)—Kleda-Wetness, dampness, moistures Running discharge (From a sore) घाव से स्राव का निकलना-Suśruta; Putrefying Car.- M.M. Williams.]

अन्तःशरीरे संशुद्धे दोषे त्वङ्मांससंश्रिते । आदितो वाऽल्पदोषाणां क्रिया बाह्या प्रवक्ष्यते ।।७१।।
उदुम्बरत्वङ्मधुकं पद्मकिञ्जल्कमुत्पलम् । नागपुष्पं प्रियङ्गुश्च प्रदेहः सघृतो हितः ।।७२।।
न्यग्रोधपादास्तरुणाः कदलीगर्भसंयुताः । बिसग्रन्थिश्च लेपः स्याच्छतधौतघृताप्लुतः ।।७३।।
कालीयं मधुकं हेम वन्यं चन्दनपद्मकौ । एला मृणालं फलिनी प्रलेप स्याद्घृताप्लुतः ।।७४।।
शाद्वलं च मृणालं च शङ्खं चन्दनमुत्पलम् । वेतसस्य च मूलानि प्रदेहः स्यात् सतण्डुलः ।।७५।।
सारिवा पद्मकिञ्जल्कमुशीरं नीलमुत्पलम् । मञ्जिष्ठा चन्दनं लोध्रमभया च प्रलेपनम् ।।७६।।
नलदं च हरेणुश्च लोध्रं मधुकपद्मकौ । दूर्वा सर्जरसश्चैव सघृतं स्यात् प्रलेपनम् ।।७७।।
यावकाः सक्तवश्चैव सर्पिषा सह योजिताः । प्रदेहो मधुकं वीरा सघृता यवसक्तवः ।।७८।।
बलामुत्पलशालूकं वीरामगुरुचन्दनम् । कुर्यादालेपनं वैद्यो मृणालं च बिसान्वितम् ।।७९।।
यवचूर्णं समधुकं सघृतं च प्रलेपनम् । हरेणवो मसूराश्च समुद्गाः श्वेतशालयः ।।८०।।
पृथक् पृथक् प्रदेहाः स्युः सर्वे वा सर्पिषा सह । पद्मिनीकर्दमः शीतो मौक्तिकं पिष्टमेव वा ।।८१।।
शङ्खः प्रवालः शुक्तिर्वा गैरिकं वा घृताप्लुतम्। (पृथगेते प्रदेहाश्च हिता ज्ञेया विसर्पिणाम्) । प्रपौण्डरीकं मधुकं बला शालूकमुत्पलम् ।।८२।।
न्यग्रोधपत्रदुग्धीके सघृतं स्यात् प्रलेपनम् । बिसानि च मृणालं च सघृताश्च कशेरुकाः ।।८३।।
शतावरीविदार्योश्च कन्दौ धौतघृताप्लुतौ । शैवालं नलमूलानि गोजिह्वा वृषकर्णिका ।।८४।।
इन्द्राणिशाकं सघृतं शिरीषत्वग्बलाघृतम् । न्यग्रोधोदुम्बरप्लक्षवेतसाश्वत्थपल्लवैः ।।८५।।
त्वक्कल्कैर्बहुसर्पिर्भिः शीतैरालेपनं हितम् । प्रदेहाः सर्व एवैते वातपित्तोल्बणे शुभाः ।।८६।।
सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान् । त्रिफलां पद्मकोशीरं समङ्गा करवीरकम् ।।८७।।
नलमूलान्यनन्तां च प्रदेहमुपकल्पयेत् । खदिरं सप्तपर्णं च मुस्तमारग्वधं धवम् ।।८८।।
कुरण्टकं देवदारु दद्यादालेपनं भिषक् । आरग्वधस्य पत्राणि त्वचं श्लेष्मातकस्य च ।।८९।।
इन्द्राणिशाकं काकाह्वां शिरीषकुसुमानि च । शैवालं नलमूलानि वीरां गन्धप्रियङ्गुकाम् ।।९०।।
त्रिफलां मधुकं वीरां शिरीषकुसुमानि च । प्रपौण्डरीकं ह्रीबेरं दार्वीत्वङ्मधुकं बलाम् ।।९१।।
पृथगालेपनं कुर्याद्द्वन्द्वशः सर्वशोऽपि वा । प्रदेहाः सर्व एवैते देयाः स्वल्पघृताप्लुताः ।।९२।।
वातपित्तोल्बणे ये तु प्रदेहास्ते घृताधिकाः । घृतेन शतधौतेन प्रदिह्यात् केवलेन वा ।।९३।।
घृतमण्डेन शीतेन पयसा मधुकाम्बुना । पञ्चवल्ककषायेण सेचयेच्छीतलेन वा ।।९४।।
वातासृक्पित्तबहुलं विसर्पं बहुशो भिषक् । सेचनास्ते प्रदेहा ये त एव घृतसाधनाः ।।९५।।
ते चूर्णयोगा वीसर्पव्रणानामवचूर्णनाः । दूर्वास्वरससिद्धं च घृतं स्याद्व्रणरोपणम् ।।९६।।
दार्वीत्वङ्मधुकं लोध्रं केशरं चावचूर्णनम् । पटोलः पिचुमर्दश्च त्रिफला मधुकोत्पले ।।९७।।
एतत् प्रक्षालनं सर्पिर्व्रणचूर्णं प्रलेपनम् ।

विसर्प में उपयोगी बहिःपरिमार्जन चिकित्सा (Useful External therapy in the Visarpa)

शरीर की आन्तरिक शुद्धि हो जाने के बाद जब दोष त्वक् व मांस के आश्रित रह जाय अथवा दोषों के अल्प प्रकोप की स्थिति में उपयोग में आने वाले बाह्य प्रलेपों का विवेचन किया जा रहा है, अर्थात् अब आगे उपयोगी बाह्य चिकित्सा (External therapy) का वर्णन किया जा रहा है–

१. **उदुम्बरादि प्रदेह**–उदुम्बरत्वक् (गूलर की छाल), मधुक (यष्टीमधु), पद्मकिंजल्क (कमलकेशर), उत्पल (नीलकमल), नागपुष्प (नागकेशर) एवं प्रियङ्गु; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ महीन पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क में गोघृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर लेप (मोटा लेप=प्रदेह) करें।

२. **न्यग्रोधपादादि लेप**–वटपाद (वट का प्ररोह), केले का 'मुलायम तना अर्थात् केले के तने के भीतर का कोमल भाग, बिसग्रन्थि (कमलकन्द); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर पीस लें एवं कल्क बना लें। इसमें शतधौतघृत मिलाकर विसर्प वाले स्थान पर लेप करें।

Scanned by CamScanner

३. **कालीयादि प्रलेप**–कालीयक [Kālīyaka- A yellow Fragrant wood perhaps sandal-Wood-चन्दन भेद], मधुक (यष्टीमधु=मुलेठी), हेम (नागकेशर चूर्ण), वन्य (केवटीमोथा), चन्दन (श्वेतचन्दन) पद्मक (पद्मकाठ), एला (छोटी इलायची), उशीर एवं फलिनी; इन सभी द्रव्यों को जल के साथ पीस कर कल्क बना लें एवं घृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर लेप करें ।

४. **शाद्वलादि प्रदेह** (Śādvalādi-Pradeha)-शाद्वल (दूर्वा), मृणाल (उशीर), शंख, चन्दन, उत्पल, वेतसमूल तथा तण्डुल (Rice); सभी द्रव्यों का प्रदेह बना लें एवं इनका प्रयोग विसर्प रोगी में करें ।

५. **सारिवादि प्रलेप** (Sārivādi-Pralepa)–सारिवा (अनन्तमूल सारिवा), पद्मकिञ्जल्क (कमलकेशर), उशीर (खश), नीलउत्पल (नीलकमल), मञ्जिष्ठा (मजीठ), चन्दन, लोध्र (पठानी लोध्र) एवं हरीतकी; इन सभी द्रव्यों का कल्क (Paste) बनाकर विसर्प प्रभावित शरीर पर लेप करें ।

६. **नलदादि प्रलेप** (Naladādi-Pralepa)–नलद, हरेणु, लोध्र, यष्टीमधु (मुलेठी), पद्मक, दूर्वा, सर्जरस (राल); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क (Paste) में गोघृत मिलाकर विसर्प युक्त शरीर पर लेप करें ।

७. **यावक प्रदेह** (Yāvaka-Pradeha)–यावक अथवा यव के सत्तू को जल के साथ घोलकर प्रलेप जैसा बना लें एवं इसमें गोघृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर प्रदेह के रूप में लगावें अथवा यष्टीमधु (मुलेठी), शतावरी एवं यव के सत्तू को एकत्र कर जल के साथ कल्क बना लें एवं इसमें गोघृत मिलाकर प्रदेह के रूप में प्रयोग करें ।

८. **बलादि आलेप** (Balādi-Ālepa)–बला, उत्पलशालूक (कमलकन्द), वीरा (शतावर अथवा विदारीकन्द), अगरु, चन्दन; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क में घृत मिलाकर लेप के रूप में प्रयोग करें ।

९. मृणाल एवं बिस को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें एवं लेप करें ।

१०. यव चूर्ण, यष्टीमधु (मुलेठी का चूर्ण) दोनों द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ कल्क बनावें तथा इस कल्क में गोघृत मिलाकर विसर्प युक्त शरीर के ऊपर लेप लगावें । इसी प्रकार हरेणु (निर्गुण्डी का बीज अथवा बड़ी मटर का आटा), अथवा मसूर का आटा अथवा मुद्गचूर्ण (मूंग का आटा) अथवा शाली चावल के चूर्ण (आटा) को जल में पीसकर कल्क बनावें उसमें गोघृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर लेप लगावें । अर्थात् इन द्रव्यों का एकल प्रयोग लेप के रूप में करें अथवा इन चारों द्रव्यों को समप्रमाण में लेकर आपस में मिश्रित कर जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें तथा इसमें गोघृत मिलाकर लेप करें ।

अथवा पद्मिनी कर्दम (कमल का कीचड़-Mud of the lotus), शीतल मोती का चूर्ण, शंख, प्रवाल, शुक्ति अथवा गैरिक; प्रत्येक द्रव्य को अलग-अलग चूर्ण कर लें । सभी द्रव्यों का अलग-अलग प्रयोग, उसके चूर्ण में घृत मिलाकर लेप जैसा बना लें एवं विसर्प प्रभावित भाग पर प्रदेह के रूप में प्रयोग करें । इस प्रकार पदमिनी कर्दम आदि से कुल छः प्रदेह बनते हैं । ये छः प्रदेह विसर्परोग में अत्यन्त लाभदायक होते हैं ।

११. इसी प्रकार प्रपौण्डरीक, यष्टीमधु, बला, कमलकन्द एवं नीलकमल; सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें एवं इसमें घृत मिलाकर लेप के रूप में प्रयोग करें अथवा इन द्रव्यों का एकल (अलग-अलग) लेप भी बनाकर प्रयोग किया जा सकता है ।

विसर्प नाशक अन्य प्रलेप–

१. न्यग्रोधपत्र (वटपत्र) एवं दुग्धिकापत्र को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें एवं इसमें यथावश्यक गोघृत मिलाकर प्रलेप करना चाहिये ।

२. बिस (Lotus root), मृणाल (कमलनाल-Lotustalk) एवं कशेरुक; सभी द्रव्यों को कूट-पीस कर कल्क जैसा बना लें तथा उसमें गोघृत मिलाकर प्रलेप करें ।

३. शतावरीकन्द एवं विदारीकन्द के कल्क में शतधौत घृत मिलाकर प्रलेप बना लें ।

४. शैवाल (Moss), नलमूल (Root of the nala), गोजिह्वा, वृषकर्णिका (मूषिकपर्णी), निर्गुण्डीपत्र; सभी द्रव्यों को एकत्र पीसकर कल्क (Paste) बना लें एवं इसमें गोघृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर लेप करें ।

५. शिरीष की छाल के कल्क में घृत मिलाकर शरीर पर लेप करें । इसके प्रयोग से विसर्प जनित दाह का शमन होता है ।

६. न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), प्लक्ष (पाकड़), वेतस एवं अश्वत्थ (पीपल); इनसे निर्मित कल्क (Paste) में अत्यधिक मात्रा में घृत मिलाकर, शीतल बनाकर विसर्प प्रभावित शरीर के ऊपर लेप लगावें । यह लेप अत्यन्त हितकारी होता है ।

Scanned by CamScanner

ये सभी लेप वातपित्त की प्रधानता वाले विसर्प में हितकारी होते हैं। अर्थात् इन लेपों का प्रयोग वातपित्तोल्वण विसर्प में करना चाहिए।

कफज विसर्प में उपयोगी प्रदेह–अब आगे कफज विसर्प में प्रयुक्त होने वाले हितकर प्रदेहों का वर्णन किया जा रहा है–

१. **त्रिफलादि प्रदेह**–हरड़, बहेड़ा, आँवला, पद्मक, उशीर (खस), समङ्गा (लाजवन्ती), करवीर (कनेर का मूल), नलमूल (नरकट का मूल) एवं अनन्तमूल सारिवा; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें एवं इसका प्रयोग प्रदेह के रूप में कफज विसर्प में करें।

२. **खदिरादि आलेप**–खदिर, सप्तपर्ण, मुस्तक, आरग्वध (अमलतास की पत्ती), धव की छाल, कुरण्टक तथा देवदारु; सभी द्रव्यों को बराबर भाग में लेकर कूट-पीस कर कल्क (Paste) बना लें एवं विसर्प रोगी के ऊपर इसका लेप लगावें।

३ अमलतास के पत्ते एवं श्लेष्मातक की छाल से निर्मित कल्क (Paste) का लेप लगावें।

४. इन्द्राणी शाक (निर्गुण्डी का शाक), मकोय एवं शिरीष का पुष्प; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित कल्क का लेप विसर्प रोगी को करना चाहिए।

५. शैवाल, नरकट की जड़, वीरा (विदारीकन्द) एवं गन्धप्रियङ्गु से निर्मित कल्क का लेप विसर्प रोगी को करना चाहिए।

६. हरड़, बहेड़ा, आँवला, मधुक (यष्टीमधु), वीरा (विदारीकन्द) एवं शिरीषपुष्प से निर्मित कल्क का लेप करें।

७. प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ), ह्रीवेर (सुगन्धवाला), दार्वीत्वक् (दारुहल्दी की छाल), मुलेठी एवं बलामूल। इन द्रव्यों के कल्क (Paste) बनाकर कफज विसर्प के रोगी के ऊपर लेप लगावें। क्रमाङ्क ०३ से वर्णित ७ तक के ५ योगों का प्रयोग अलग-अलग अथवा दो-दो योगों को मिलाकर या दो-दो औषध द्रव्यों को मिलाकर लेप बना लें एवं इनका प्रयोग करें। अथवा सभी औषधियों को एक में मिलाकर कूट-पीस कर कल्क जैसा बना लें एवं लेप के रूप में प्रयोग करें।

कफज विसर्प में उपयोगी सभी प्रदेहों में अल्प मात्रा में घृत मिलाकर प्रयोग करना चाहिए, जबकि वातपित्त प्रधान विसर्प में जिन प्रदेहों का निर्देश किया गया है उनमें घृत अधिक मात्रा में मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

वातरक्तपित्त प्रधान विसर्प की चिकित्सा–वात, रक्त व पित्त प्रधान विसर्प में अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिये–

१. शतधौतघृत का प्रयोग प्रदेह के रूप में करें। अथवा मात्र इस घृत का विसर्प प्रभावित शरीर पर लेप लगावें।

२. अथवा शीत घृतमण्ड (घृत के ऊपर का भाग) का लेप करें।

३. विसर्प प्रभावित भाग पर शीतल दूध, या मुलेठी का शीतकषाय (शीतल क्वाथ) अथवा शीतल पञ्चवल्कल क्वाथ से बार-बार सिञ्चन करें।

जिन प्रदेहों का यहाँ वर्णन किया गया है उनमें प्रयुक्त द्रव्यों के शीतल क्वाथ का छिड़काव विसर्प प्रभावित भाग पर बार-बार करें अथवा उन द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से सिद्ध घृतों का लेप करें। अथवा उन द्रव्यों के चूर्ण का अवचूर्णन (dusting) विसर्प युक्त व्रणों पर करें।

दूर्वास्वरस साधित घृत का लेप विसर्प के व्रणों पर करने पर व्रणों का रोपण (Healing) सरलता से हो जाता है।

४. दार्वीत्वक् (दारुहल्दी की छाल), मधुक (मुलेठी), लोध्र व नागकेशर।

५. पटोलपत्र (परवल की पत्ती), नीम की छाल, हरड़, बहेड़ा व आँवला। इन दो योगों के सम भाग से निर्मित क्वाथ से प्रक्षालन, अथवा इनके चूर्णों का अवचूर्णन अथवा इनसे साधित घृत का लेप विसर्पगत व्रणों पर करना चाहिए। इनके प्रयोग से विसर्प के व्रणों का सम्यक् रोपण हो जाता है।

चक्रपाणि–संशुद्धे इति विरेचनशोणितमोक्षणाभ्याम्-विरेचन एवं रक्तमोक्षण के प्रयोग से शरीर के शुद्ध हो जाने पर। **आदित इति**-प्रारम्भ में, अर्थात् यहाँ प्रारम्भ का अर्थ व्याधि की प्रारम्भिक अवस्था से है (व्याधि के उत्पन्न होते ही)। इस अवस्था में दोष अल्प रूप में प्रकुपित रहते हैं।

बाह्या इति आलेपपरिषेकादिकाः–से आलेप (Ointment) एवं परिषेक आदि बाह्य लेपों का ग्रहण किया गया है। 'न्यग्रोधपादा' से वट के प्ररोह का ग्रहण है। **कदलीगर्भः**-गर्भस्था कदली (गर्भस्थकदली या केला)।

कालेयं कालेयककाष्ठमिति ख्यातम्-कालेयक की लकड़ी नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। हेम इति=नागकेशर चूर्ण। वन्य=केवटीमोथा। शाद्वल=दूर्वा। **मृणालम् उशीरम्**-मृणाल से उशीर का ग्रहण किया गया है। वीरा=विदारीकन्द। हरेणु=वर्तुल कलाय। **श्वेतशालयः अकण्डितशुक्लधान्यानि**– तुष युक्त शुक्ल शाली धान्य। दुग्धिका=इस नाम से प्रसिद्ध द्रव्य। मृणाल=पद्मनालिका (कमलनाल)। वृषकर्णी=मूषिकपर्णिका (Salvina cucullata L.-Sanskrit-English Dictionary- M.M. Williams.]

Scanned by CamScanner

काकाह्वा काष्ठोदुम्बरिका=कठगूलर । इन्द्राणिः=निर्गुण्डी । 'बलाघृतमिति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है, अर्थात् शिरीषत्वग्बलाघृतम् से शिरीष की छाल का कल्क बनाकर उसमें बलाघृत मिलाकर विसर्प प्रभावित भाग पर लेप लगावें। इस लेप के लगाने से विसर्प में होने वाली दाह (Burning sensation) की शान्ति होती है ।

प्लक्षः अल्पदीर्घपत्रः पर्कटी–अल्प लम्बे पत्तों वाली पकड़ी का इससे ग्रहण होता है । **प्रदेहानपरानित्यनेन**-श्लोक नं. ८७ में वर्णित "सकफे तु प्रवक्ष्यामि प्रदेहानपरान् हितान्" से यद्यपि पूर्ववर्णित प्रदेह कफज विसर्प में हितकर होते हैं, ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है । पूर्वोक्त पद के तुलनार्थ ही 'अपरान्' पद का प्रयोग यहाँ किया गया है । अतः पूर्व वर्णित प्रदेहों से यह विषय भिन्न है, अर्थात् कफज विसर्प में पूर्व प्रदेहों का उपयोग नहीं किया जाता । अब आगे कफज विसर्प में उपयोगी प्रदेहों का वर्णन किया गया है ।

अनन्ता=उत्पलसारिवा । कुरण्टक=अम्लानकः । श्लेष्मातक=बहुवारक नाम से प्रसिद्ध द्रव्य । इन्द्राणीशाक को कुछ आचार्य मत्स्याक्षक भी कहते हैं, अन्य आचार्य इससे निर्गुण्डी का ग्रहण करते हैं । गन्धप्रियङ्गु=प्रियङ्गु का ही ग्रहण होता है ।

शैवालमित्यादिर्व्यस्तसमस्तयोगः–शैवाल आदि द्रव्यों से वर्णित योगों का प्रयोग अलग-अलग एवं संयुक्त (मिश्रित) रूप से भी लेप बनाकर किया जाता है ।

सर्व एवेत्यत्र एते इति-ये सभी प्रदेह कफज विसर्प में उपयोगी हैं । 'वातपित्तोल्बणे इत्यत्र' से यहाँ वात प्रधान विसर्प में साक्षात प्रदेहों का वर्णन नहीं किया गया है फिर भी रक्तपित्त प्रधान अथवा कफ प्रधान विसर्प में जिन प्रदेहों का उल्लेख किया गया है उन्हीं द्रव्यों के गुणों का विचार करते हुए जो द्रव्य तुलनात्मक रूप से वात का अधिक प्रशमन करते हैं उनका ही प्रयोग यहाँ भी करना चाहिए ।

घृतमण्डःघृतसंतानिका घृतोपरिभवा-घृत से उत्पन्न होने वाले घृत के ऊपर का भाग घृतमण्ड कहलाता है । [The scum of melted butter, fattiest part of the grease Car.-M.M. Williams] [नवनीत को उबालकर जब घृत तैयार करते हैं उस समय घृत के ऊपरी सतह पर जो झाग आ जाता है उसे घृतमण्ड कहते हैं ।]

तन्त्रान्तर में पञ्चवल्कल के बारे में कहा भी गया है, यथा– **न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः । सर्वैरेकत्रसंयुक्तैः पञ्चवल्कलमुच्यते** [न्यग्रोध-वट, उदुम्बर-गूलर, अश्वत्थ=पीपल, प्लक्ष-पाकड़ एवं वेतस; सभी द्रव्यों की छाल को मिश्रित रूप से या संयुक्त रूप से पञ्चवल्कल कहते हैं ।]

अन्य आचार्य इसमें वेतस के स्थान पर 'गन्धमुण्ड' का ग्रहण करते हैं । प्रदेह में उपयोगी द्रव्यों द्वारा ही परिषेचन घृत की सिद्धि (घृत साधन) अथवा अवचूर्णन (dusting) करना चाहिए [प्रदेह में वर्णित द्रव्यों का क्वाथ बनाकर विसर्प के व्रण पर परिषेचन, अथवा इन्हीं द्रव्यों द्वारा घृत पकाकर घृत का लेप, अथवा इन्हीं द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग अवचूर्णन के रूप में करें । इसके उपयोग से व्रणों का रोपण हो जाता है ।

दार्वीत्यादौ एतत्प्रक्षालनमिति–दार्वी (दारुहल्दी) आदि द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) से विसर्प के व्रण का प्रक्षालन करना चाहिए । इन्ही द्रव्यों-(दार्वी, मधुक आदि) द्वारा घृत को सिद्ध करना चाहिए तथा इनके चूर्ण का प्रयोग अवचूर्णनार्थ एवं प्रलेपार्थ प्रयोग करना चाहिए । ॥७१-९७॥

प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः संप्रसादनाः ॥९८॥
क्षणे क्षणे प्रयोक्तव्याः पूर्वमुद्धृत्य लेपनम् । अधावनोद्धृते पूर्वे प्रदेहा बहुशोऽघनाः ॥९९॥
देयाः प्रदेहाः कफजे पर्यायानोद्धृते घनाः । त्रिभागाङ्गुष्ठमात्रः स्यात् प्रलेपः कल्कपेषितः ॥१००॥
नातिस्निग्धो न रूक्षश्च न पिण्डो न द्रवः समः । न च पर्युषितं लेपं कदाचिदवचारयेत् ॥१०१॥
न च तेनैव लेपेन पुनर्जातु प्रलेपयेत् । क्लेदवीसर्पशूलानि सोष्माभावात् प्रवर्तयेत् ॥१०२॥
लेपो ह्युपरि पट्टस्य कृतः स्वेदयति व्रणम् । स्वेदजाः पिडकास्तस्य कण्डूश्चैवोपजायते ॥१०३॥
उपर्युपरि लेपस्य लेपो यद्यवचार्यते । तानेव दोषाञ्जनयेत् पट्टस्योपरि यान् कृतः ॥१०४॥
अतिस्निग्धोऽतिद्रवश्च लेपो यद्यवचार्यते । त्वचि न श्लिष्यते सम्यङ्न दोषं शमयत्यपि ॥१०५॥
तन्वालिप्तं न कुर्वीत संशुष्को ह्यापुटायते । न चौषधिरसो व्याप्तिं प्राप्नोत्यपि च शुष्यति ॥१०६॥
तन्वालिप्तेन ये दोषास्तानेव जनयेद्भृशम् । संशुष्कः पीडयेद्व्याप्तिं निःस्नेहो ह्यवचारितः ॥१०७॥

प्रदेह लगाने की विधि (Methods of using ointment)–यहाँ वर्णित सभी प्रदेह संप्रसादन का कार्य करते हैं अर्थात् त्वचा का वर्ण सामान्य बनाते हैं । इसलिये पूर्व के लेप को हटाकर बार-बार ताजे लेपों का प्रयोग करना चाहिए ।

पूर्व के प्रदेह को बिना धोये ही उतार कर अधिकतर जो प्रदेह गाढ़े न हों उनको लगाना चाहिए, लेकिन कफज विसर्प में पूर्व प्रयुक्त प्रदेह के सूख जाने ही पर उसे उतार कर दूसरा ताजा प्रदेह (लेप) लगावें ।

Scanned by CamScanner

पीसे हुए कल्क का लेप मोटाई में अंगुठे के १/३ भाग के बराबर होना चाहिए। प्रलेप न तो अधिक स्निग्ध तथा न अधिक रूक्ष होना चाहिए, न तो पिण्ड (Solid) के समान, न तो अधिक पतला हो, अपितु सभी स्थानों पर सम (बराबर) लगाना चाहिये।

कभी भी व्यक्ति को बासी लेप का प्रयोग नहीं करना चाहिये, न तो लगाये हुए लेप का प्रयोग दुबारा (पुनः) करना चाहिये। लेप लगाकर ऊपर से कपड़ा (बन्धन) नहीं बाँधना चाहिए। ऐसा करने से व्रण का स्वेदन हो जाता है। स्वेद के कारण व्रण प्रदेश पर पिडिकायें उत्पन्न हो जाती हैं एवं उसमें कण्डू (Itching) होने लगता है। लेप लगाकर कपड़े से बाँधने पर शरीर की उष्णता बाहर नहीं निकल पार्ता, परिणामतः विसर्प प्रभावित भाग में क्लेद एवं शूल उत्पन्न होने लगता है।

लेप के ऊपर पुनः (दुबारा) लेप न लगावें-ऐसा करने से इसमें भी वही दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो लेप लगातार कपड़े से बाँधने पर होते हैं।

यदि अत्यधिक स्निग्ध अथवा अत्यधिक द्रव युक्त लेप का प्रयोग किया जाता है तब लेप शरीर पर चिपक नहीं पाता अथवा ठहर नही पाता तथा न तो दोषों का सम्यक् प्रशमन ही कर पाता है। इसलिये चिकित्सक को अत्यधिक पतले (dilute) लेप का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पतले लेप का प्रयोग करने से लेप शीघ्र ही सूखकर फट जाता है, जिसके कारण औषधि के रस, वीर्य आदि गुण व्याधि के स्थान तक नहीं पहुँच पाते। अर्थात् मूल स्थान तक जाने से पूर्व ही सूख जाते हैं। पतले लेप के प्रयोग से जो दोष शरीर में उत्पन्न होते हैं वही दोष लेप में स्नेह के न डालने से होते हैं, अर्थात् लेप शीघ्र ही सूख जाता है तथा लेप के स्थान पर पीड़ा होती है।

चक्रपाणि-संप्रसादना इति सवर्णकराः-त्वचा के वर्ण (Colour) को सामान्य बनाने वाले, [विसर्प में व्याधि के कारण प्रभावित भाग का वर्ण विकृत हो जाता है। अतः त्वचा की वर्णगत विकृति को दूर करने का कार्य लेप करते हैं।]

सवर्णत्वे साध्ये कर्तव्या इत्यर्थः-लेपों का प्रयोग साध्य विसर्प में करना चाहिये, यह अभिप्राय है। अथवा **संप्रसादना इति रक्तपित्तप्रसादनाः**-ये लेप रक्त पित्त के प्रसादन का कार्य करते हैं अर्थात् रक्त एवं पित्त की दुष्टि को दूर करते हैं। यदि यह अर्थ स्वीकार करते हैं तब इसका अर्थ यह होगा-यहाँ वर्णित प्रदेह (लेपों) का प्रयोग रक्त व पित्त की दुष्टि में करना चाहिये, इनको वार-वार बदलना चाहिए। अर्थात् पूर्व के लेप को हटाकर दूसरे लेप का प्रयोग करें।

न चिरेण नापि पूर्वप्रलेपनोपरीत्यर्थः-देर तक एक ही लेप न लगावें न तो पूर्व के तैयार लेप को पुन लगावें। अर्थात् वार-वार ताजे लेपों का प्रयोग करें।

अशुष्कावस्थायां पूर्वलेप उद्भूते सति बहुशः अघना प्रतनुकाश्च कर्तव्या-पूर्व के लेप के सूखने से पूर्व ही उसे हटाकर बार-बार कम गाढ़े एवं पतले लेपों को लगावें। **यह प्रक्रिया रक्त एवं पित्त दुष्टि जन्य विसर्पो में करनी चाहिये।**

कफज विसर्प में प्रयुक्त होने वाले प्रदेहों (लेपों) की विशिष्टता को यहाँ-'देया इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

पर्याधानोद्भूत इति शुष्कोद्भूते-कफज विसर्प में प्रयुक्त लेप के सूख जाने पर ही हटाकर दूसरे लेप को लगावें। ॥९८-१०७॥

विशेष (Comments)-श्लोक नं. ९८ "प्रदेहाः सर्व एवैते कर्तव्याः **संप्रसादनाः**" में संप्रसादना के स्थान पर पाठ भेद से 'संप्रधावनाः' प्राप्त होता है। जिसका अर्थ इन्हीं प्रदहों के क्वाथ का प्रयोग व्रण (विसर्पगत व्रण) के धावन (धोने) में भी करना चाहिए, होगा।

"यस्मिन् विसर्पे ये प्रदेहास्ते सर्व एव क्वाथयित्वा संप्रधावना कर्तव्याः"-जल्पकल्पतरु।

अन्नपानानि वक्ष्यामि विसर्पाणां निवृत्तये। लङ्घितेभ्यो हितो मन्थो रूक्षः सक्षौद्रशर्करः ॥१०८॥
मधुरः किंचिदम्लो वा दाडिमामलकान्वितः। सपरूषकमृद्वीकः सखर्जूरः शृताम्बुना ॥१०९॥
तर्पणैर्यवशालीनां सस्नेहा चावलेहिका। जीर्णे पुराणशालीनां यूषैर्भुञ्जीत भोजनम् ॥११०॥
मुद्गान्मसूरांश्चणकान् यूषार्थमुपकल्पयेत्। अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह ॥१११॥
जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत्। रूक्षान् परूषकद्राक्षादाडिमामलकान्वितान् ॥११२॥
रक्ताः श्वेता महाह्लाश्च शालयः षष्टिकैः सह। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते पुराणाः सुपरिस्रुताः ॥११३॥
यवगोधूमशालीनां सात्म्यान्येव प्रदापयेत्। येषां नात्युचितः शालिर्नरा ये च कफाधिकाः ॥११४॥

विसर्प में हितकर अन्न-पान (Wholesome food and drink)-अब आगे विसर्प नाशक पथ्य अन्न-पान का वर्णन करेंगे-सर्वप्रथम विसर्प रोगी को लङ्घन (Fasting) करावें, पश्चात् उसे रूक्ष यव के सत्तू में शर्करा व मधु मिलाकर मन्थ (घोल-जल में घोलकर) के रूप में पीने के लिए दें। इस मन्थ में जल की मात्रा अधिक होनी चाहिए। इस मन्थ को मधुररस युक्त एवं कुछ खट्टा बनाकर पीना चाहिये। मन्थ को अम्लरस युक्त करने के लिए उसमें आँवले का रस अथवा अनार का रस मिलाना चाहिए। तत्पश्चात् रोगी को परूषक (फालसा), मृद्वीका (मुनक्का) एवं खर्जूर का क्वाथ बनाकर उस क्वाथ में यव या शालि चावल के सत्तू को घोलकर (तर्पण बनाकर) तथा

Scanned by CamScanner

यथावश्यक गोघृत डालकर चाटने के लिए देना चाहिए (यव एवं शालि के तर्पण में घृत मिलाकर रोगी को चटावें)। जब तर्पण का पाचन हो जाय तब रोगी को मुद्ग, मसूर या चने के यूष के साथ पुराने साठी चावल के भात को खाने के लिए देना चाहिए। अर्थात् भोजन के रूप में पुराने साठी चावल के भात को मुद्ग आदि के यूष के साथ देना चाहिये। यूष का निर्माण अनम्ल अथवा किञ्चिद् अम्लरस युक्त करना चाहिए। अम्लरस युक्त करने के लिए मुद्गादि के यूष के साथ ही अनारदाने का रस अथवा परवल एवं आँवला का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् यूष का निर्माण परवल एवं आँवला डालकर साथ ही करना चाहिए।

मांसरस का निर्माण–जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस को विधिवत् पकाकर मांसरस तैयार करें उस मांसरस में परूषक, द्राक्षा, दाडिम एवं आँवले का रस या क्वाथ (Decoction) मिलावें। यह मांसरस रूक्ष होना चाहिए अर्थात् इसके निर्माण करते समय घृत आदि का प्रयोग न करें। इस मांसरस के साथ पुराना लाल चावल, श्वेत चावल, महाशालि चावल अथवा साठी चावल के भात का सेवन रोगी को कराना चाहिये। भात का प्रयोग मण्डरहित करना चाहिए, अर्थात् चावल को पकाकर उसमें से मण्ड (माड़) निकाल लें। ऐसा करने से भात, मण्डयुक्त भात की तुलना में लघु हो जाता है।

रोगी को यव, गेहूँ अथवा शालि चावल में से जो पथ्य (हितकर) हो उसी का प्रयोग करना चाहिए। जिन लोगों को शाली चावल का अभ्यास नहीं है या जिसे सात्म्य नहीं है अथवा जिसमें कफ की अधिकता है ऐसे लोगों को शाली चावल के भात का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि–विसर्प की औषधियों के विवेचन के बाद 'अन्नपानानीत्यादि' के द्वारा उपयोगी अन्न-पान का निर्देश किया जा रहा है। **जीर्णे इति अवलेहिका रूपे अन्ने जीर्णे**-सबसे पहले लङ्घन करावें, पश्चात् तर्पण का प्रयोग करें। तर्पण रूप अवलेह का पाचन हो जाने पर हितकर (पथ्य) अन्न का सेवन करावें।

जाङ्गलानामित्यादौ रूक्षानित्यनेन–जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांसरस जो संस्कार द्वारा रूक्ष बना दिया गया हो। मांसरस निर्माण करते समय स्नेह का प्रयोग न करना (मांसरस को स्नेह से संस्कारित न करना अथवा अतिस्निग्ध गुण युक्त मत्स्य आदि के मांस की तुलना में रुक्ष गुण वाले मांस से मांसरस तैयार करना)।

[ऐसे प्राणियों के मांस से मांसरस तैयार करना जिसमें (Fat) की मात्रा कम हो।] इस प्रकार का मांसरस रूक्ष कहलाता है।

रक्ता श्वेता महाह्वाश्चेति–इससे रक्त शालि, महाशालि एवं श्वेतशालि का ग्रहण होता है। श्वेतशालि को मगध क्षेत्र में पुण्डरीक शालि के नाम से जाना जाता है।

जिन लोगों को यव, गेहूँ आदि सात्म्य हों उन्हें इनका प्रयोग कराना चाहिए। जब रोगी को इनसे कुछ हानि होने लगे तब इन्हें बन्द कर देना चाहिए। जिन्हें शालि सात्म्य नहीं है अथवा जो लोग इसका सेवन नही करते हैं, उन्हें यव एवं गेहूँ का ही प्रयोग कराना चाहिए। क्योंकि ये दोनों यव एवं गोधूम कफ के विरोधी होने से विसर्प में पथ्य होते हैं। कहा भी गया है, यथा–"सर्वं मधुरं कफकरं अन्यत्र पुराणाच्छालियवगोधूमात्" (सू.अ. २७) इति [पुराण शालि, यव एवं गेहूँ को छोड़कर सभी मधुररस युक्त धान्य कफवर्धक होते हैं।] ॥१०८-११४॥

विदाहीन्यन्नपानानि विरुद्धं स्वपनं दिवा। क्रोधव्यायामसूर्याग्निप्रवातांश्च विवर्जयेत् ॥११५॥

विसर्प में निषिद्ध आहार-विहार–विसर्प रोग से पिडित व्यक्ति को अधोलिखित आहार-एवं विहार का त्याग करना चाहिये–

१. विदाही अन्न-पान का सेवन।
२. विरुद्ध अन्न-पान का सेवन। (विरुद्ध=संयोग विरुद्ध)
३. दिवा शयन (दिन में सोना)।
४. अत्यधिक क्रोध करना एवं अत्यधिक व्यायाम करना।
५. सूर्य के ताप, अग्नि एवं तीव्र हवा के झोंको का अधिक सेवन।

चक्रपाणि–'विदाहीत्यादि' के द्वारा विसर्प में निषिद्ध आहार-विहार का वर्णन किया गया है। अर्थात् निषिद्ध अन्न-पानों का उल्लेख किया गया है।

कुर्याच्चिकित्सितादस्माच्छीतप्रायाणि पैत्तिके। रूक्षप्रायाणि कफजे स्नैहिकान्यनिलात्मके ॥११६॥
वातपित्तप्रशमनमग्निवीसर्पणे हितम्। कफपित्तप्रशमनं प्रायः कर्दमसंज्ञिते ॥११७॥

दोषानुसार विसर्प की चिकित्सा–पूर्ववर्णित योग जो प्रायः शीतवीर्य वाले हैं उनका प्रयोग पित्तज विसर्प में करना चाहिए। जो द्रव्य प्रायः रूक्ष गुण वाले हैं उनका प्रयोग कफज विसर्प में करना चाहिये, स्नेह प्रधान द्रव्यों का प्रयोग वातज विसर्प में करें।

Scanned by CamScanner

वातपित्त शामक चिकित्सा अग्निविसर्प में उपयोगी है तथा कफपित्त नाशक उपचार प्राय: कर्दमविसर्प में करना चाहिये।

चक्रपाणि–दोषानुसार विसर्प की चिकित्साा को यहाँ-'कुर्यादित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा ग्रन्थिवीसर्पमादित: । रूक्षणैर्लङ्घनै: सेकै: प्रदेहै: पाञ्चवल्कलै: ।।११८।।
सिरामोक्षैर्जलौकोभिर्वमनै: सविरेचनै: । घृतै: कषायतिक्तैश्च कालज्ञ: समुपाचरेत् ।।११९।।
ऊर्ध्वं चाधश्च शुद्धाय रक्ते चाप्यवसेचिते । वातश्लेष्महरं कर्म ग्रन्थिवीसर्पिणे हितम् ।।१२०।।
उत्कारिकाभिरुष्णाभिरुपनाह: प्रशस्यते । स्निग्धाभिर्वेशवारैर्वा ग्रन्थिवीसर्पशूलिनाम् ।।१२१।।
दशमूलोपसिद्धेन तैलेनोष्णेन सेचयेत् । कुष्ठतैलेन चोष्णेन पाक्यक्षारयुतेन च ।।१२२।।
गोमूत्रै: पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत् । सुखोष्णया प्रदिह्याद्वा पिष्टया चाश्वगन्धया ।।१२३।।
शुष्कमूलककल्केन नक्तमालत्वचाऽपि वा । बिभीतकत्वचां वाऽपि कल्केनोष्णेन लेपयेत् ।।१२४।।
बलां नागबलां पथ्यां भूर्जग्रन्थिं बिभीतकम् । वंशपत्राण्यग्निमन्थं कुर्याद्ग्रन्थिप्रलेपनम् ।।१२४।।
दन्ती चित्रकमूलत्वक् सुधार्कपयसी गुड: । भल्लातकास्थि कासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि ।।१२५।।
बहिर्मार्गस्थितं ग्रन्थिं किं पुन: कफसंभवम् । दीर्घकालस्थितं ग्रन्थिं भिन्द्याद्वा भेषजैरिमै: ।।१२७।।
मूलकानां कुलत्थानां यूषै: सक्षारदाडिमै: । गोधूमान्नैर्यवान्नैर्वा ससीधुमधुशर्करै: ।।१२८।।
सक्षौद्रैर्वरुणीमण्डैर्मातुलुङ्गरसान्वितै: । त्रिफलाया: प्रयोगैश्च पिप्पलीक्षौद्रसंयुतै: ।।१२९।।
मुस्तभल्लातशक्तूनां प्रयोगैर्माक्षिकस्य च । देवदारुगुडूच्योश्च प्रयोगैर्गिरिजस्य च ।।१३०।।
धूमैर्विरिकै: शिरस: पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनै: । अयोलवणपाषाणहेमताम्रप्रपीडनै: ।।१३१।।
आभि: क्रियाभि: सिद्धाभिर्विविधाभिर्बली स्थिर: । ग्रन्थि: पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति ।।१३२।।
अथास्य दाह: क्षारेण शरैर्हेम्नाऽथ वा हित: । पाकिभि: पाचयित्वा वा पाटयित्वा समुद्धरेत् ।।१३३।।
मोक्षयेद्बहुशश्चास्य रक्तमुत्क्लेशमागतम् । पुनश्चापहृते रक्ते वातश्लेष्मजिदौषधम् ।।१३४।।
धूमो विरेक: शिरस: स्वेदनं परिमर्दनम् । अप्रशाम्यति दोषे च पाचनं वा प्रशस्यते ।।१३५।।
प्रक्लिन्नं दाहपाकाभ्यां भिषक् शोधनरोपणै: । बाह्यैश्चाभ्यन्तरैश्चैव व्रणवत् समुपाचरेत् ।।१३६।।
कम्पिल्लकं विडङ्गानि दार्वी कारञ्जकं फलम् । पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं ग्रन्थिव्रणचिकित्सितम् ।।१३७।।
द्विव्रणीयोपदिष्टेन कर्मणा चाप्युपाचरेत् । देशकालविभागज्ञो व्रणान् वीसर्पजान् बुध: ।।१३८।।

ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा (Treatment of Granthi-Visarpa)

ग्रन्थिविसर्प में रक्त एवं पित्त की प्रधानता को देखकर सर्वप्रथम रूक्षण (Drying therapy), लङ्घन (Fasting therapy), पञ्चवल्कल क्वाथ द्वारा सेंक (Affusion) एवं प्रदेह (External application) का प्रयोग, रक्तमोक्षण (Blood Letting) एवं जलौका द्वारा रक्त का निर्हरण, वमन एवं विरेचन कराना तथा कषाय एवं तिक्त रस युक्त द्रव्यों द्वारा घृत को सिद्ध कर प्रयोग (पान) कराना हितकर होता है। इन सभी उपक्रमों का प्रयोग कालज्ञ चिकित्सक को उचित समय में करना चाहिये।

→ जिस व्यक्ति के ऊर्ध्व एवं अध: भाग की शुद्धि हो गयी हो तथा रक्तमोक्षण या जलौका द्वारा रक्तगत दोष का भी निर्हरण हो गया हो। इसके बाद ग्रन्थिविसर्प में वात-कफ नाशक चिकित्सा का उपयोग करना हितकर होता है।

→ यदि ग्रन्थिविसर्प के रोगी को शूल हो रहा है तब उसमें स्निग्ध एवं उष्ण उत्कारिका (लप्सी) स्निग्ध एवं उष्ण द्रव्यों की लप्सी बनाकर अथवा वेशवार में घृतादि डालकर उपनाह बाँधना चाहिये। [उपनाह=पुल्टिश]

→ **परिषेचन**-१. दशमूल साधित तैल को सुखोष्ण करके ग्रन्थिविसर्प वाले रोगी के शरीर पर परिसेचन (Sprinkled) कराना चाहिये।

२. कुष्ठ साधित तैल को गरम करके उसमें पाक्यक्षार मिलाकर परिषेचन करावें।

३. गोमूत्र द्वारा ग्रन्थिविसर्प के रोगी का परिषेचन करावें।

४. वात-कफ नाशक द्रव्यों के पत्तों के क्वाथ (Decoction) द्वारा गरम-गरम परिषेक करावें।

[परिषेचन-Sprinkling over-छिड़काव करना, अर्थात् विसर्प प्रभावित भाग पर दशमूलतैल या गोमूत्र या कुष्ठ तैल का गरम-गरम छिड़काव करना चाहिए।]

→ **प्रदेह (लेप)**–अश्वगंधा के कल्क (Paste) को गुनगुना करके ग्रन्थिविसर्प के ऊपर लेप लगावें। अथवा शुष्क मूली के कल्क का गरम-गरम लेप करें अथवा नक्तमाल (करञ्ज) की छाल के कल्क, अथवा विभीतक की छाल के कल्क (Paste) का गरम-गरम लेप लगावें। अर्थात् निर्दिष्ट लेपों को गुनगुना करके लगाना चाहिये।

Scanned by CamScanner

→ **बलादि लेप** (Balādi Lepa)–बला का मूलत्वक् (बला की जड़ का छिलका), नागबला, पथ्या (हरीतकी), भोजपत्र की गांठ, बहेड़ा, बांस की पत्ती; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क को गरम करके ग्रन्थिविसर्प के ऊपर लेप करना चाहिये।

दन्त्यादि लेप (Dantyādi Lepa)–दन्तीमूल, चित्रकमूल (दोनों द्रव्यों के मूल का छिलका प्रयोग करें), स्नुही का दुग्ध, मदार का दुग्ध, गुड़, भल्लातक अस्थि (भल्लातक की गुठली) एवं कसीस; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कूट-पीस कर कल्क बना लें। इस लेप को ग्रन्थिविसर्प के ऊपर लगाना चाहिए। इसके लगाने से पत्थर भी फूट (टूट) जाता है। अर्थात् यह लेप पत्थर को भी फोड़ देता है। बाह्य मार्ग में स्थित ग्रन्थि जो कफज है अर्थात् ग्रन्थिविसर्प के बारे में क्या कहना ?

मूलकादि लेप (Mūlakādi-Lepa)–यदि ग्रन्थि अत्यधिक पुरानी हो गयी हो तब निर्दिष्ट लेपों में सूखी मूली, कुलथी का यूष एवं खट्टे अनार का रस मिलाकर प्रयोग करना चाहिये।

उपयोगी आहार द्रव्य–गोधूम अथवा यव का प्रयोग सीधु, मधु एवं शर्करा के साथ करना चाहिए। अर्थात् गेहूँ एवं यव निर्मित अन्न का प्रयोग सीधु, मधु एवं शर्करा के साथ करें। अथवा वारुणी मण्ड में मधु एवं बिजौरा नीबू का रस मिलाकर विसर्प के रोगी को पीने के लिए दें।

ग्रन्थिविसर्प में उपयोगी अन्य योग–१. हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली; सभी द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ करें।

२. मुस्तकादि सत्तू (चि.अ. ७) एवं भल्लातक सत्तू (रसायन प्रकरण) का प्रयोग मधु के साथ करें।

३. स्वर्णमाक्षिक भस्म, ४. देवदारु एवं गुडूची के क्वाथ अथवा, ५. शिलाजतु के प्रयोग द्वारा ग्रन्थिविसर्प को शान्त करें। ५. धूमपान, ६. शिरोविरेचन अथवा ७. गुल्म प्रकरण में वर्णित गुल्म भेदक औषधियों के प्रयोग से ग्रन्थि विसर्प का भेदन करें। इन औषधियों का प्रयोग आभ्यन्तर करना चाहिए। ८. लौह, सैन्धवनमक, स्वर्ण, पाषाण (पत्थर) अथवा ताम्र को अग्नि से उष्ण करके ऊपर कपड़ा लपेटकर ग्रन्थि का सेंक करें। ऐसा करने से ग्रन्थियाँ बैठ जाती हैं अर्थात् प्रशमित हो जाती हैं।

दाह कर्म–पूर्व निर्दिष्ट विविध उपक्रमों के प्रयोग से यदि बलवान् (Strong), स्थिर (Stable) एवं पत्थर के समान कठिन ग्रन्थि शान्त न हो तब उसे क्षार (Alkalis), गरम शर (बाण) अथवा सुवर्ण (तप्त स्वर्ण) के द्वारा दाह करना चाहिए।

शस्त्रकर्म का प्रयोग–पूर्व उपक्रमों के प्रयोग द्वारा भी यदि ग्रन्थिविसर्प का प्रशमन न हो तब पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा ग्रन्थि को पकाकर शस्त्रकर्म द्वारा ग्रन्थि को बाहर निकाल देना चाहिये। ग्रन्थि निकल जाने पर रक्त में उत्क्लेश उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् उस स्थान से रक्त अधिक निकलने लगता है। दूषित रक्त के निकल जाने पर उस स्थान पर वातकफनाशक औषधियों का लेप लगाना चाहिए। इसके बाद रोगी को धूमपान (Smoking therapy), शिरोविरेचन, स्वेदन एवं परिमर्दन (Rubbing therapy) का प्रयोग करावें। स्वेदन एवं परिमर्दन का प्रयोग विसर्प प्रभावित भाग पर करें।

दोषनाशक चिकित्सा करने पर भी यदि ग्रन्थिविसर्प प्रशमित न हो तब पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा ग्रन्थि को पकाना चाहिए। दाह एवं पाक से युक्त प्रक्लिन्न (सड़े हुए) ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा आभ्यन्तर एवं बाह्य रूप में शोधन एवं रोपण औषधियों द्वारा व्रण की तरह करें।

कम्पिल्लकादि तैल–कम्पिल्लक, विडङ्ग (वायविडङ्ग), दार्वी (दारुहल्दी) एवं करञ्जफल; सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क से विधि पूर्वक तैलपाक करें। यह तैल ग्रन्थि व्रण की चिकित्सा में उत्तम माना गया है। अर्थात् इस तैल के लगाने से ग्रन्थिव्रण निश्चय ही ठीक हो जाता है। (ग्रन्थिगत घाव भर जाता है।)

इन चिकित्सा विधियों के प्रयोग के साथ-साथ देश एवं काल के ज्ञाता चिकित्सक को चाहिये कि वह द्विव्रणीय अध्याय में वर्णित चिकित्सा विधियों का प्रयोग विसर्पगतव्रण की चिकित्सा हेतु करे। इस प्रकार यहाँ ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि–'रक्तपित्तोत्तरमित्यादि' के द्वारा ग्रन्थिविसर्प की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। 'उत्कारिकाभिरित्यादि' के द्वारा इसमें उपयोगी उपनाह को बताया गया है।

उपनाह उष्णो बहलो लेपः–उष्ण मोटे लेप को उपनाह कहा गया है। [अर्थात् द्रव्यों को पीसकर कल्क (Paste) बना लें तथा इसे गरम करके शरीर पर मोटा (बहल-Thick) लेप लगावें।]

Scanned by CamScanner

पाक्यक्षारयुतेनेति–सुश्रुत आदि आचार्यों के विधान के अनुसार क्षारीय द्रव्यों को जलाकर तैयार किया हुआ क्षार पाक्यक्षार कहलाता है । अथवा 'यवक्षारयुतेन' पाठ होने पर कुष्ठतैल में यवक्षार मिलाकर गरम करके ग्रन्थिविसर्प के ऊपर लगाना चाहिए । श्लोक नं. १२३ में वर्णित-"गोमूत्रैः पत्रनिर्यूहैरुष्णैर्वा परिषेचयेत्" सूत्र में गोमूत्र का प्रयोग अथवा एरण्डपत्र के क्वाथ (उष्ण) द्वारा विसर्पगत व्रण को धोना चाहिए अथवा इस पर इनका छिड़काव करना चाहिए. अर्थ ग्रहण किया गया है । यहाँ पत्र से एरण्ड आदि के पत्र का ग्रहण किया गया है ।

नक्तमालः करञ्जः=करञ्ज । **विभीतकत्वचामिति**-से यहाँ बहेड़े के बीज को निकाल कर छिलके को पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का प्रयोग लेप के रूप में करना चाहिए । अर्थात् कल्क का लेप विसर्प प्रभावित भाग पर लगाना चाहिये ।

श्लोक नं. १२६ में वर्णित दन्त्यादि लेप के बारे में बताया गया है कि जो लेप पत्थर (शिला) को भी भेद सकता है वह कफग्रन्थि को तो निश्चय ही भेद (फोड़) देगा । **इमैरिति**=वर्णित योगों के प्रयोग द्वारा ।

गिरिजं शिलाजतुः, गिरिजप्रयोगश्च रसायनोक्तो ज्ञेयः–'गिरिज से शिलाजीत अर्थ गृहीत है । शिलाजीत का प्रयोग रसायन प्रकरण में वर्णित विधि के अनुसार करना चाहिए, ऐसा समझें ।

मुस्तसक्तवः–"मुस्तं व्योषं" (चि.अ. ७) इत्यादि के द्वारा कुष्ठचिकित्सा में वर्णित मुस्तादि चूर्ण का ग्रहण किया गया है । [मुस्तादि चूर्ण-मुस्तक, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मञ्जिष्ठा, देवदारु, दोनों पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), सप्तपर्ण की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायण की जड़, चित्रकमूल एवं मूर्वा (मरोड़फली); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण करके एक में मिला लें । चूर्ण १ भाग एवं ९ भाग यव के सत्तू को मधु व घृत के साथ खाने के लिए देना चाहिए । अर्थात् औषधि चूर्ण एवं सत्तू को जल में घोल लें उसमें यथावश्यक मात्रा में मधु व घृत मिलाकर प्रयोग करें ।]

भल्लातकसक्तवः रसायनोक्ताः–भल्लातक सत्तू का निर्देश रसायन प्रकरण में किया गया है । [भल्लातक एवं सत्तू के संयोग को भल्लातक सत्तू कहा गया है ।]

माक्षिकस्येति धातुमाक्षिकस्य–माक्षिक से माक्षिक धातु का ग्रहण किया गया है ।

पूर्वोक्तैर्गुल्मभेदनैरिति विमार्गाजपदादर्शैः–गुल्मचिकित्सा अध्याय ५ में वर्णित गुल्म भेदक द्रव्यों, यथा-विमार्ग, अजपद एवं आदर्श (Mirror) में से किसी एक के द्वारा विसर्पगत (ग्रन्थिविसर्प गत) दोषों को पीडन करके बाहर निकालें । अर्थात् इनमें से किसी एक यन्त्र के द्वारा ग्रन्थि को पीडित (दबा) करके उसमें विद्यमान पूय आदि दोषों को बाहर निकालें ।

अयोलवणेत्यादि तप्तायः प्रभृतिभिः पीडनैरित्यर्थः–लौह, सैन्धव लवण, पत्थर, सुवर्ण (Gold) एवं ताम्र को तप्त करके ग्रन्थिविसर्प के ऊपर कपड़ा रखकर अपनी सह्यता के अनुसार सेंक करें । अथवा इनसे ग्रन्थि को दबावें ।

शरैर्हेम्नेति शरेण हेम्ना वा तापितेन–बाण अथवा सुवर्ण को अग्नि पर तप्त (Red hot) करके दाहकर्म करें ।

पाकिभिरिति पाचनपिण्डैः–पाचन द्रव्यों के लेप के द्वारा ग्रन्थि को पकावें ।

'पुनश्चेत्यादि' के द्वारा वर्णित होते हुए भी, धूमादि का पुनः उल्लेख ग्रन्थिविसर्प का विषय न होते हुए भी किया गया है । उससे यहाँ पुनरुक्त दोष नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । अर्थात् ग्रन्थिविसर्प में धूमादि (धूमपान, सिरोविरेचन आदि) जब कार्यकारी नहीं होते तब उसका उपचार व्रण की तरह करना चाहिए । ॥११८-१३८॥

य एव विधिरुद्दिष्टो ग्रन्थीनां विनिवृत्तये । स एव गलगण्डानां कफजानां निवृत्तये ।।१३९।।
गलगण्डास्तु वातोत्था ये कफानुगता नृणाम् । घृतक्षीरकषायाणामभ्यासात्र भवन्ति ते ।।१४०।।

गलगण्ड की चिकित्सा (Treatment of Galaganda (Goiter)–ग्रन्थिविसर्प में ग्रन्थि (Nodules) के नाश हेतु जिस चिकित्सा विधि का पूर्व में उल्लेख किया गया है, कफज गलगण्ड की शान्ति हेतु उसी विधि का ही प्रयोग करना चाहिये । जो व्यक्ति घृत, क्षीर (दुग्ध) एवं कषायों (Decoction) का नित्य सेवन करता है उसे वातजनित गलगण्ड (Goiter) तथा कफानुबन्धी गलगण्ड नहीं उत्पन्न होते । ॥१३९-१४०॥

चक्रपाणि–ग्रन्थिव्रण की चिकित्सा में जो कहा गया है वही चिकित्सा अन्य व्याधियाँ जो ग्रन्थि जैसी हैं, यथा गलगण्ड आदि में भी अपनाना चाहिये । जिसे यहाँ 'य एवेत्यादि' के द्वारा बताया गया है । यहाँ 'गलगण्डानां' में बहुवचन का प्रयोग है जिससे गलगण्ड (Goiter), गण्डमाला एवं अपची तीनों का ग्रहण होता है ।

यानीहोक्तानि कर्माणि विसर्पाणां निवृत्तये । एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः ।।१४१।।

Scanned by CamScanner

विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन जायते । तस्मात् साधारणं सर्वमुक्तभेतच्चिकित्सितम् ।।१४२।।
विशेषो दोषवैषम्यान्न च नोक्तः समासतः । समासव्यासनिर्दिष्टां क्रियां विद्वानुपाचरेत् ।।१४३।।

रक्तमोक्षण चिकित्सा का महत्व (Importance of Blood-Letting therapy)—इस विसर्प चिकित्सा नामक अध्याय में विसर्प नाशक जिन-जिन उपक्रमों का उल्लेख किया गया है वे सभी एक ओर तथा रक्तमोक्षण एक तरफ होता है । अर्थात् रक्तमोक्षण अकेले ही सभी में प्रधान होता है । विसर्प की उत्पत्ति बिना रक्त व पित्त की दुष्टि के नहीं होती । इसलिये यहाँ सामान्य चिकित्सा का ही निर्देश किया गया है । दोषों की विषमता के कारण उत्पन्न होने वाले विसर्प की विशेष चिकित्सा का उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है, ऐसा भी नही है, अर्थात् दोनों चिकित्सा विधियाँ-सामान्य व विशेष का भी यहाँ संक्षेप में वर्णन किया गया है । अतः बुद्धिमान पुरुष को संक्षेप व विस्तार में वर्णित दोनों ही उपक्रमों का अपने विवेक के अनुसार प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'यानीत्यादि' के द्वारा विसर्प में रक्तमोक्षण के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है । रक्तमोक्षण को ही क्यों प्रधान कहा गया है ? इसका उत्तर यहाँ 'विसर्पो नेत्यादि' के द्वारा दिया गया है । अर्थात् कोई भी विसर्प बिना रक्त व पित्त की दुष्टि के नहीं होता, अर्थात् सभी प्रकार के विसर्पो में रक्त व पित्त की दुष्टि होती है ।

साधारणमिति वातकफविसर्पे रक्तपित्तहरं चिकित्सितं–वातकफ विसर्प में रक्तपित्तनाशक (रक्तपित्त शामक) चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् विसर्प की संप्राप्ति में रक्त व पित्त की ही दुष्टि मुख्य है अतः उसकी सामान्य चिकित्सा रक्तपित्त नाशक ही की जाती है । यहाँ विसर्प की विशेष चिकित्सा का वर्णन नहीं किया गया है, ऐसा भी नहीं है ।

तत्र श्लोकाः–

निरुक्तं नामभेदाश्च दोषा दूष्याणि हेतवः । आश्रयो मार्गतश्चैव विसर्पगुरुलाघवम् ।।१४४।।
लिङ्गान्युपद्रवा ये च यल्लक्षण उपद्रवः । साध्यत्वं, न च, साध्यानां साधनं च यथाक्रमम् ।।१४५।।
इति पिप्रक्षवे सिद्धमग्निवेशाय धीमते । पुनर्वसुरुवाचेदं विसर्पाणां चिकित्सितम् ।।१४६।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विसर्पचिकित्सितं नामैकविंशोऽध्यायः ।।२१।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस विसर्प चिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने जिज्ञासु एवं बुद्धिमान अपने प्रिय शिष्य अग्निवेश के लिए अधोलिखित विषयों को प्रस्तुत किया है–

१. विसर्प की निरुक्ति अथवा निवर्चन (Derivation of the Visarpa) ।

२. विसर्प के विविध नाम एवं भेद (Synonyms of Visarpa) ।

३. दोष, दूष्य एवं हेतुओं का विवेचन [Doshas, dūshyas (tissue elements) and other causitive factors of Visarpa]

४. विसर्प के आश्रय (Location) एवं मार्ग ।

५. विसर्प की गुरुता (Seriousness) एवं लघुता (Non seriousness)

६. विभिन्न प्रकार के विसर्पो के लक्षण (Signs and Symptoms) एवं उपद्रव (Complications) तथा जिस विसर्प के जो लक्षण उपद्रव रुप में होते है । (Nature of Upadrava)

७. विसर्प की साध्यता एवं असाध्यता ।

८. साध्य विसर्प की क्रमानुसार चिकित्सा ।

(ये सभी विषय विसर्पचिकित्सा नामक इस अध्याय में वर्णित हैं ।)

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में विसर्पचिकित्सा नामक इक्कीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'निरुक्तमित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है ।

यल्लक्षण उपद्रव इति यादृग्लक्षण उपद्रवः-विसर्प के जो लक्षण उपद्रव रूप में होते हैं अर्थात् जो लक्षण साध्य नहीं होते ।

पिप्रक्षवे प्रष्टुमिक्षवे–पूछने की इच्छा से, अर्थात् अग्निवेश द्वारा विसर्प सम्बन्धी पूछे गये सभी प्रश्नों का उत्तर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने यथाक्रम (क्रमानुसार) दिया है । ॥१४४-१४६॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में विसर्पचिकित्सा नामक इक्कीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥२१॥

●

Scanned by CamScanner

द्वाविंशोऽध्यायः ।

अथातस्तृष्णा चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे तृष्णारोग चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था । ॥१-२॥

चक्रपाणि–पूर्व अध्याय में वर्णित विसर्प रोग के उपद्रव के रूप में प्रायः तृष्णा उत्पन्न होती है । अतः विसर्प चिकित्सा के बाद तृष्णा चिकित्सा का अभिधान (कथन) किया जा रहा है । ॥१-२॥

ज्ञान प्रशमतपोभिः ख्यातोऽत्रिसुतो जगद्धितेऽभिरतः । तृष्णानां प्रशमार्थं चिकित्सितं प्राह पञ्चानाम् ।।३।।

विषयारम्भ–ज्ञान (आध्यात्म एवं सांसारिक ज्ञान), प्रशम (बाधा प्रशम) एवं तप के द्वारा जो लोक कल्याण में लीन हैं, ऐसे ख्याति प्राप्त अत्रि पुत्र भगवान् आत्रेय ने पाँचों प्रकार की तृष्णा रोग की शान्ति हेतु चिकित्सा का उपदेश किया, अर्थात् भगवान् आत्रेय ने पाँचों प्रकार की तृष्णा रोग की चिकित्सा का वर्णन किया है ।

चक्रपाणि–ज्ञान=तत्त्वज्ञान । प्रशम=शान्ति । तप से चान्द्रायण आदि तप का ग्रहण किया गया है । **चिकित्सितं चिकित्साभिधायको ग्रन्थः**-चिकित्सा से यहाँ चिकित्सा अभिधायक ग्रन्थ का ग्रहण किया गया है, अर्थात् जिस ग्रन्थ में तृष्णा रोगी की चिकित्सा का वर्णन किया गया है । चिकित्सा का अर्थ निदानादि के ज्ञान के साथ चिकित्सा का होना स्वीकार किया गया है । 'पञ्चानामिति' शब्द से पाँचों प्रकार के तृष्णारोग चिकित्सा के विषय हैं अर्थात् ये सभी साध्य हैं, यह अभिप्राय है, न कि कास (Cough) व श्वास (Asthma) के कुछ भेदों की तरह यह असाध्य होता है । सुश्रुत संहिता में वर्णित ७ प्रकार के तृष्णा रोग का भी समावेश चरकोक्त ५ प्रकारों में ही हो जाता है । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा–**"तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च । स्यात् सप्तमी भक्तनिमित्तजा च"** (सु.उ.तं.अ. ४८) इति [तृष्णारोग सात प्रकार के होते हैं, यथा-१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. क्षतज, ५. क्षयज, ६. आमजन्य, ७. भक्तनिमित्तज ।] ॥३॥

क्षोभाद्व्यायच्छ्रमादपिशोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात् । क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः ।।४।।
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसंतापैः । पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान्धातूंश्च शोषयतः ।।५।।
रसवाहिनीश्च नालीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ ।।६।।
पीतं पीतं हि जलं शोषयतस्तावतो न याति शमम् । घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा ।।७।।

तृष्णा रोग का निदान एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Trishnā)–

१. अत्यधिक क्षोभ (Irritation), भय (Fear), श्रम (थकान), शोक (Grief), क्रोध (Anger) एवं लङ्घन (Fasting) के कारण ।
२. अत्यधिक मद्य के सेवन करने से ।
३. क्षार, अम्ल, लवण, कटु, उष्ण, रूक्ष एवं शुष्क अन्न के अत्यधिक सेवन करने से ।
४. रसादि धातुओं के अत्यधिक क्षय होने से ।
५. जीर्ण व्याधियों के द्वारा शरीर के अत्यधिक कृश हो जाने से ।
६. वमनादि के अतियोग होने से (Excessive administration of Emetic therapy) ।
७. अत्यधिक धूप के सेवन से ।

उपर्युक्त हेतुओं के अत्यधिक सेवन करने पर पित्त व वायु प्रकुपित होकर शरीर की सौम्य (द्रव प्रधान) धातुओं का शोषण करने लगते हैं । साथ में रसवाही स्रोतस्, जिह्वामूल (Root of the tongue), गल (throat) तालु (Palate) एवं क्लोम को सुखा करके अत्यन्त बली ये दोनों (वात एवं पित्त) तृष्णा रोग (Morbid thirst) को उत्पन्न करते हैं ।

इस व्याधि से पीड़ित व्यक्ति बार-बार जल पीता है फिर भी उसका मुख सूखता रहता है । उसकी तृष्णा नहीं बुझती, अर्थात् प्यास शान्त नहीं होता । इस प्रकार की तृष्णा रोग (Morbid thirst) यदि कृश पुरुष में उपद्रव रुप में होती है, तो वह अत्यन्त घातक होती है । अर्थात् कृश पुरुषों में उत्पन्न होने वाली यह घोर व्याधि उपसर्ग (due to complication of the disease) होती है ।

चक्रपाणि–क्षोभादित्यादि उक्तनिदानस्य यथायोग्यतया वातकर्तृत्वं वातपित्तकर्तृत्वं चोन्नेयम्–क्षोभ, भयादि जो निदान यहाँ तृष्णा के कहे गये हैं वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार वातवर्धक अथवा वातपित्त वर्धक होते हैं । अर्थात् ये निदान अपनी-अपनी क्षमता के

Scanned by CamScanner

अनुसार वात या वातपित्त प्रकोपक होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। [निर्दिष्ट निदानों में कुछ वात प्रकोपक, कुछ पित्त कोपक, कुछ दोनों को प्रकुपित करते हैं, ऐसा समझें।]

पित्तानिलावित्यादिः सर्वतृष्णा संप्राप्तिग्रन्थः-**'पित्तानिलावित्यादि'** के द्वारा यहाँ तृष्णा रोगी की सामान्य संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। **सौम्यान् धातूनिति**-सौम्य गुण युक्त धातुओं को; इससे कफ, रस एवं उदक (जल), जिसमें सौम्य अंश (जलीयांश) की अधिकता होती है, का ग्रहण किया गया है।

प्रदूषयत इति शोषणेन दूषयतः-शोषण के द्वारा दूषित करना, अर्थात् इस व्याधि में अपने प्रकोपक हेतुओं के द्वारा वायु व पित्त प्रकुपित होकर शरीरस्थ कफ, रस धातु एवं उदक को सुखा देते हैं। **क्लोम्न इति द्वितीयाबहुवचनान्तम्**-'क्लोम्न' शब्द यहाँ द्वितीया बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। जिसका अभिप्राय रसवाही स्रोतस्, जिह्वा मूल, गल, तालु एवं क्लोम को प्रकुपित वायु एवं पित्त, सुखा डालता है परिणामतः व्यक्ति में **शारीरिक तृष्णा रोग** की उत्पत्ति होती है, से है। मानसिक तृष्णा का विवेचन कतिधापुरुषीय अध्याय (शा.अ. १) में "इच्छा द्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते" के द्वारा पहले ही किया जा चुका है। यह तृष्णा शारीरिक दोषों के कारण उत्पन्न होने से देहज ही होती है, यह भाव है।

स्वाभाविकतृष्णायामपि वातपित्ते आरम्भके एव तत् किं साऽपि अत्र न गृह्यते- स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाली तृष्णा का भी वात पित्त ही आरम्भक कारण है फिर उसका यहाँ क्यों नहीं ग्रहण होता ? ऐसा नहीं है, स्वाभाविक तृष्णा उचित मात्रा में द्रव पदार्थों के पीने से प्रशमित हो जाती है तथा अस्वाभाविक व्याधि का प्रकरण होने के कारण उसको यहाँ स्वीकार नहीं किया गया है। स्वाभाविक तृष्णा (Physiological thirst) एवं व्याधि रूप तृष्णा की उत्पत्ति का कारण वात पित्त का प्रकोप है। इन दोनों के अन्तर को यहाँ 'पीतं पीतमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। अस्वाभाविक तृष्णा (व्याधि रूप तृष्णा) में बार-बार जल पीने के बाद भी व्यक्ति का मुख सूखता रहता है, अर्थात् प्यास लगी ही रहती है, जबकि स्वाभाविक तृष्णा जल पीने के बाद प्रशमित हो जाती है। यद्यपि दोनों ही प्रकार की तृष्णा का कारण पित्त व वात की अधिक या अल्प प्रकोप का होना है।

[व्याधिरूप तृष्णा-अधिक प्रकोप; स्वाभाविक तृष्णा में अल्प प्रकोप (या स्वाभाविक अल्प प्रकोप) कारण होता है।]

उपद्रव रूप तृष्णा की उत्पत्ति को यहाँ 'घोरेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **उपसर्गभूता इति**-उपद्रवरूप तृष्णा का होना। ॥४-७॥

प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्। तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥८॥

तृष्णा रोग के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Morbid Thirst)–'मुख का सूखना' (Dryness of the mouth) तृष्णा रोग का पूर्वरूप है। 'निरन्तर जल पीने की इच्छा का होना' इस व्याधि का अपना लक्षण है। पूर्वरूप की अवस्था में तृष्णा के लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं अथवा कुछ लक्षण नहीं भी मिलते हैं। अर्थात् तृष्णा रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Trishnā) ही पूर्वरूप की अवस्था में अल्प रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

चक्रपाणि–'प्राग्रूपमित्यादि' के द्वारा यहाँ तृष्णा रोग के पूर्वरूप को बताया गया है। पूर्वरूप के कथन के साथ ही तृष्णा रोग के अव्यभिचारी लक्षण (Invariable Characteristic feature) को भी यहाँ 'स्वलक्षणमित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

'स्वलक्षणमिति' अव्यभिचारी लक्षण–स्वलक्षण से यहाँ अव्यभिचारी लक्षण (जो लक्षण इस व्याधि में निश्चित रूप से मिले उसे अव्यभिचारी लक्षण कहते हैं।) का ग्रहण किया गया है, यथा-ज्वर में संताप (ताप की वृद्धि) का पाया जाना, श्वयथु में उत्सेध (Swelling) का पाया जाना। अब आगे तृष्णा में पाये जाने वाले पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms) को **'लिङ्गानां लाघवमपाय इति'** के द्वारा बताया गया है।

लिङ्गानां वक्ष्यमाणवातादिजतृष्णालिङ्गानां लाघवमल्पत्वं केषांचिच्चाभावः पूर्वरूपं तृष्णानामित्यर्थः–वातादि जनित तृष्णा के जो लक्षण यहाँ कहे जायेंगे उनका अल्प रूप में पाया जाना अथवा कुछ लक्षणों का न मिलना, ही तृष्णारोग का पूर्वरूप होता है। [पूर्वरूप में वातादि जनित तृष्णा के ही लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं अथवा कुछ लक्षण नहीं मिलते हैं जो बाद में रूप की अवस्था में स्पष्ट हो जाते हैं।] इस प्रकार पूर्वरूप की अवस्था में वर्णित लक्षणों में से ही कुछ लक्षण नहीं मिलते हैं तथा जो लक्षण मिलते हैं वे अल्प रूप में मिलते हैं, पूर्णतः व्यक्त नहीं होते। कहा भी गया है, यथा-**"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्"** (चि.अ. ११) इति [व्याधि के लक्षणों का ही अल्प रूप में व्यक्त होना पूर्वरूप कहलाता है।]

अथवा इसका पूर्वरूप मुखशोष (Dryness of the mouth) तथा आत्म लक्षण (Invariable signs and Symptoms)-सर्वदाऽम्बुकामित्व (लगातार जल पीने की इच्छा का बने रहना), है तब ये दोनों ही लक्षण पूर्वरूप में मिलते हैं लेकिन प्रबल रूप में नहीं मिलते,

Scanned by CamScanner

यह समझना चाहिये। जो लोग 'प्राग्रूपं मुखशोषः स्वरक्षयः सर्वदाऽम्बुकामित्वम्' इति पाठ करते हैं अर्थात् श्लोक नं. ८ के स्थान पर यह पाठ स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार तृष्णा के स्वलक्षण का पाठ नहीं होना चाहिये। हारीत संहिता में भी तृष्णा के स्वलक्षण (आत्म लक्षण) को स्पष्ट किया गया है, यथा-"स्वलक्षणं तु तृष्णानां सर्वदाऽम्बुपिपासिता" इति [सर्वदा जल पीने की इच्छा का बने रहना, तृष्णा रोग का आत्मलक्षण है।] अथवा इसे इस रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-मुखशोष (Dryness of the mouth) एवं स्वरक्षय (diminution of voice) ही तृष्णा रोग का पूर्वरूप है। सर्वदाऽम्बुकामित्व (हमेशा जल पीने की इच्छा का होना) इसका आत्मलक्षण है। **लिङ्गानां च लाघवं रोगरूपायास्तृष्णाया अपायो गमनमित्यर्थः–** व्याधि रूप तृष्णा के जो लक्षण बताये गये हैं, पूर्वरूप में वही लक्षण अल्परूप में पाये जाते हैं। तृष्णा के शान्त होने पर यही लक्षण कम हो जाते हैं तथा पूर्ण रूप से व्याधि के प्रशमित हो जाने पर तृष्णारोग में वर्णित लक्षण नहीं पाये जाते। स्वाभाविक तृष्णा में यही लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं, ऐसा अवस्था विशेष के कारण होता है।

कुछ आचार्य 'अचानक लक्षणों का अल्प होना' व्याधि की असाध्यता का द्योतक है, अर्थ करते हैं। यह 'अल्पता' रोगी की मृत्यु को ही लाती है, ऐसा अर्थ करना उपयुक्त नहीं है। ॥८॥

मुखशोषस्वरभेदभ्रमसंतापप्रलापसंस्तम्भान्। ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाकर्कशतां चित्तनाशं च ॥९॥
जिह्वानिर्गममरुचिं बाधिर्यं मर्मदूयनं सादम्। तृष्णोद्भूता कुरुते, पञ्चविधां लिङ्गतः शृणु ताम् ॥१०॥

तृष्णा रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Trishṇā)–सामान्यतया तृष्णा रोग में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. मुखशोष (मुख का सूखना-Dryness of the mouth)।
२. स्वरभेद (आवाज का बैठ जाना-Hoarseness of the voice)।
३. भ्रम (चक्कर का आना-Giddiness)।
४. संताप (Burning sensation)।
५. प्रलाप (delirium)।
६. शरीर में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the body)।
७. तालु, ओष्ठ, कण्ठ एवं जिह्वा का रूक्ष होना।
८. चित्तनाश (Loss of consciousness)।
९. जिह्वा का बाहर निकल आना (Protrusion of the tongue)।
१०. अरुचि (Anorexia)।
११. बधिरता (बहरापन-deafness)
१२. मर्म स्थानों में पीड़ा का होना (Pain in the vital parts of the body)।
१३. शरीर का शिथिल होना।

अब आगे पाँच प्रकार के तृष्णारोग के लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है। हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

चक्रपाणि–'मुखशोषेत्यादि' के द्वारा तृष्णारोग में पाये जाने वाले उपद्रवों (Complications) को बताया गया है। उद्भूतेति से वृद्ध (बढ़ा हुआ) अर्थ लिया गया है। जो आचार्य मुखशोष आदि को तृष्णारोग के लक्षण (रूप) के रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार यहाँ वर्णित लक्षण उपद्रव नहीं हैं, होने चाहिये। उपद्रवों का उल्लेख अध्याय के उपसंहार में किया गया है। इस प्रकार मुखशोष आदि लक्षण जब अत्यधिक बढ़ जाते हैं तो वे उपद्रव कहलाते हैं, अन्यथा सामान्य रूप से बढ़े हुए इन्हीं लक्षणों को रूप (Signs-Symptoms) कहा जाता है। यही व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिये। ॥९-१०॥

अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति। तस्मिञ्शुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन् ॥११॥

१. वातज तृष्णा रोग की संप्राप्ति (Pathogenesis of Vātaja Tṛishṇā)–कुपित हुई वायु जब शरीरस्थ जल धातु का शोषण करने लगती है, अर्थात् शरीरस्थ जलीयांश को सुखा डालती है, तब व्यक्ति अत्यन्त दुर्बल होकर सूख जाता है तथा शुष्क होकर तृष्णा रोग से ग्रसित हो जाता है। ॥११॥

चक्रपाणि–'अब्धातुमित्यादि' के द्वारा पाँचों प्रकार की तृष्णारोग की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। **देहस्थमिति देहे नानारसादिरूपतया स्थितम्**–देह में विद्यमान जल जो अनेक प्रकार के रसादि रूप धातुओं में स्थित है।

शुष्केऽब्धातौ शुष्यतीति–शरीर में विद्यमान द्रव रूप (जलरूप) धातुओं के सूखने पर व्यक्ति का शरीर भी सूख जाता है। फलतः वह शुष्क शरीर वाला व्यक्ति तृष्णारोग से ग्रसित हो जाता है। ॥११॥

Scanned by CamScanner

निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ।।१२।।

वातजतृष्णा के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Tṛishṇā)—निद्रा का न आना (Insomnia), शिरोभ्रम (चक्कर का आना), मुख का सूखना, मुख का स्वाद बदल जाना तथा स्रोतोवरोध का होना ।

चक्रपाणि—**स्रोतोवरोध इति अत्युपघातः**-उदकवहस्रोतस् में अत्यधिक उपघात होना अथवा स्रोतस् का अत्यधिक विकृत हो जाना । [पाठ भेद से अत्युपघात के स्थान पर 'अग्न्युपघात' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ 'जाठराग्नि का मन्द होना' है ।]।।१२।।

पित्तं मतमाग्नेयं कुपितं चेत्तापयत्यपां धातुम् । संतप्तः स हि जनयेत्तृष्णां दाहोल्बणां नृणाम् ।।१३।।
तिक्तास्यत्वं शिरसो दाहः शीताभिनन्दता मूर्च्छा । पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वमाकृतिः पित्ततृष्णायाः ।।१४।।

२. पित्तज तृष्णा की संप्राप्ति एवं लक्षण (Pathogenesis, Signs and Symptoms of Pittaja Tṛishṇā)—पित्त को आग्नेय स्वीकार किया गया है । प्रकुपित हुआ यह पित्त उदक धातु में ताप उत्पन्न कर देता है । उदक धातु के तप्त होने से शरीर में अत्यधिक दाह के साथ तृष्णारोग की उत्पत्ति होती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)—मुख का तिक्त रस युक्त होना, शरीर में दाह का होना, शीतल वस्तुओं के सेवन की इच्छा का होना, मूर्च्छा, चक्षु, मूत्र एवं पुरीष का पीत वर्ण का होना; ये सभी लक्षण पित्तज तृष्णा में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि—'पित्तमित्यादि' के द्वारा पित्तज तृष्णा को बताया गया है । शरीरसंख्याशारीर नामक अध्याय (शा.अ. ७) में पित्त के बारे में कहा भी गया है, यथा-**यद्द्रवसरस्निग्धमन्दमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च''** (शा.अ. ७) इति [शरीर के जलीय भाव-द्रव, सर, मन्द, मृदु, स्निग्ध, पिच्छिल, रुधिर, वसा, कफ, पित्त, मूत्र एवं स्वेदादि, रस एवं रसना (रसनेन्द्रिय) शरीर के जलीय भाव हैं ।] तथा वहाँ ही-**''यत् पित्तमूष्मा यो, या च शरीरे भाः, तत् सर्वमाग्नेयम्''** [शरीर में जो पित्त है, जो शारीरिक ऊष्मा है तथा जो तेज (भा) है, वे सभी भाव आग्नेय होते हैं ।] के द्वारा यद्यपि पित्त के दोनों रूपों को कहा गया है, फिर भी आग्नेय गुण प्रधान होने से पित्त को आग्नेय ही कहा गया है, जिसे यहाँ **'पित्तं मतमाग्नेयमिति'** के द्वारा स्पष्ट किया गया है । पित्त में द्रव एवं आग्नेय दोनों गुण होते हुए भी आग्नेय अंश की प्रधानता होने से अन्य स्थानों पर भी सौम्य, आग्नेय एवं वायु (वात) विकार के भेद में पैत्तिक विकारों को आग्नेय रूप में ही माना गया है ।

संतप्तः स हीति अब्धातुः संतप्तः– शरीरस्थ जलीयांश का संतप्त होना अथवा उष्ण हो जाना । 'संतप्तं हि' इति पाठ होने पर 'संतप्तं हि' के साथ 'पित्तमेव जनयेदिति' को संयुक्त समझना चाहिये, जिसका अर्थ शरीररस्थ जल धातु संतप्त होकर पित्त को उत्पन्न करता है । जैसे-जैसे जल धातु उत्पन्न होता है उस समय संतप्त पित्त की वृद्धि होती है । यह उष्णता पित्त के कारण उत्पन्न होती है । अप् धातु का संतप्त होना उसमें विद्यमान पित्तांश की वृद्धि के कारण होता है । ।।१३-१४।।

जल्पकल्पतरु टीका–'पित्तमित्यादि' के द्वारा पित्तज तृष्णा के लक्षणों का अभिधान किया गया है । आग्नेयमग्निस्तेजोनाम्-आग्नेय, अग्नि अथवा तेज गुण वाला पित्त प्रकुपित होकर शरीरस्थ जल धातु को उष्ण बना देता है । वह संतप्त जलधातु पुरुषों में दाह युक्त तृष्णा रोग को उत्पन्न करता है । इस व्याधि में मुख में तिक्त रस की प्रतीति का होना आदि लक्षण पाये जाते हैं । यहाँ अप् धातु कुपित पित्त के द्वारा संतप्त होता है, यह जो कहा गया है उससे कुपित पित्त के द्वारा संतप्त कफ रूप अप् धातु (जलीयांश) तृष्णा को उत्पन्न करता है, यह स्पष्ट किया गया है ।

तृष्णा याऽऽमप्रभवा साऽप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात् । लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मानकफप्रसेकौ च ।।१५।।

आमज तृष्णा के लक्षण (Signs and Symptoms of Āmaja Tṛishṇā)— जो तृष्णा 'आम' के कारण उत्पन्न होती है वह भी आमपित्तजन्य होने के कारण 'आग्नेय' होती है । इस तृष्णा में अरुचि (Anorexia), आध्मान (Flatulence) तथा कफप्रसेक (मुख में पानी का आना-Excessive salivation) जैसे लक्षण पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–'तृष्णेत्यादि' के द्वारा 'आमज तृष्णा' को स्पष्ट किया गया है ।

आमशब्देन चेह लक्षणया आमसमानचिकित्सित आमसमानलक्षणश्च कफोऽपि गृह्यते-आम शब्द से यहाँ आम के समान चिकित्सा (आमदोष नाशक चिकित्सा) एवं आम दोष के लक्षण मिलने से कफ का भी अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । इस प्रकार आमज तृष्णा में ही सुश्रुतोक्त कफज तृष्णा का अन्तर्भाव हो जाता है । यह तृष्णा भी आग्नेय गुण युक्त होती है जैसा कि पूर्व से ही ज्ञात है कि सभी प्रकार की तृष्णाओं में वातपित्त दोष की उल्बणता रहती है । वात तृष्णा का कारण होते हुए भी यहाँ उसकी प्रधानता को नहीं बताया गया है अथवा वह यहाँ अप्रधान होता है, पित्त को यहाँ प्रधान स्वीकार किया गया है, ऐसा वात का कथन न होने से अनुमान लगाया जाता है । अन्य स्थानों

Scanned by CamScanner

पर भी कहा गया है, यथा-**दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् । प्रभा प्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम्''** (सू.अ. १८) इति [दर्शन, आहार का पाचन, शारीरिक उष्णता, भूख लगना, प्यास लगना, शरीर का मृदु होना, प्रभा एवं प्रसाद (मन की प्रसन्नता) एवं मेधा; इन सभी भावों का अपने सामान्य स्वरूप में बने रहना, पित्त के कारण होता है अर्थात् ये सभी कार्य अविकृत पित्त द्वारा संपादित होते हैं ।]

आमपित्तजनितत्वादिति आमावरोधवृद्धपित्तजनितत्वादित्यर्थः–आमावरोध से जनित वृद्ध पित्त से उत्पन्न होता है, अर्थात् आमज तृष्णा की उत्पत्ति आमावरोध से वृद्धपित्त के कारण होती है, यह अभिप्राय है । ॥१५॥

जल्पकल्पतरु टीका–तृष्णोत्यादि के द्वारा आमज तृष्णा को बताया गया है । **उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते**-जाठराग्नि के मन्द होने तथा आमाशय के दूषित होने पर आहार रस का सम्यक् पाचन न होकर आमरस का निर्माण होता है अर्थात् आमरस अपक्व आहाररस होता है ।

तस्मादामात् प्रभवा तु या तृष्णा साप्याग्नेयी योऽन्नरस आग्नेयान्नज एवापाचित आमः स्यात् तदामजातृष्णा भवतीत्याग्नेयी न तु पित्तजनितत्वादाग्नेयी-इसलिये जो तृष्णा आम से उत्पन्न होती है वह भी आग्नेय रूप वाली होती है, जो अन्नरस आग्नेय अन्न से उत्पन्न होकर अपाचित आम रूप में है उसी से आमज तृष्णा उत्पन्न होती है, न कि पित्त से उत्पन्न होने के कारण आग्नेय रूप वाली है । आमज तृष्णा के यहाँ ३ लक्षण बताये गये हैं-१. अरुचि, २. आध्मान, ३. कफप्रसेक । वातज, पित्तज, तृष्णा से आमज तृष्णा भिन्न होने के कारण इसका पाठ अलग से किया गया है । अन्य स्थानों पर आमज तृष्णा को त्रिदोषज स्वीकार किया गया है ।

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि । दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालुः ।।१६।।

क्षयज तृष्णा की संप्राप्ति एवं लक्षण (Pathogenesis, Signs and Symptoms of Kshayaja Tṛishṇā)–यह शरीर रसज है अर्थात् रस से उत्पन्न होता है तथा रस की उत्पत्ति जल से होती है । रस के क्षय से व्यक्ति को क्षयज तृष्णा की उत्पत्ति होती है । इसमें रोगी की आवाज धीमी हो जाती है, अर्थात् स्वर दीन हो जाता है, रोगी काँपता है, उसका हृदय, गला एवं तालु सूखने लगता है ।

चक्रपाणि–'देहो रसज इत्यादि' के द्वारा क्षयज तृष्णा का अभिधान किया गया है । **आहाररसात् सर्वधातुपोषको धातुरस उत्पद्यते**-आहार रस से सर्वधातु पोषक रसधातु की उत्पत्ति होती है तथा वह रस (आहाररस) जो धातु पोषक रूप होता है जल से उत्पन्न होता है । जल से उत्पन्न होने के कारण यह आप्य कहा जाता है । [आप्य = जलमय] उस रस के क्षय से व्यक्ति को प्यास लगती है । रस के क्षय से अम्बु (जल=द्रव) का क्षय होता है । अतः शरीरस्थ जल के क्षय से व्यक्ति को जल पीने की इच्छा रूप तृष्णा होती है, यह दर्शाया गया है । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-**''दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः । स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकांक्षति''** (सु.सू.अ. १५) इति [दोष, धातु एवं मल के क्षीण होने पर व्यक्ति बल से भी क्षीण हो जाता है । अतः व्यक्ति को दोष, धातु एवं मलो को बढ़ाने वाले जो-जो आहार एवं विहार होते हैं (अर्थात् इनको बढ़ाने वाले अन्न-पान के सेवन की इच्छा बढ़ जाती है) के सेवन की इच्छा होने लगती है ।] यहाँ भी 'तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि' इति [उस रस के क्षय से तृष्णा उत्पन्न होती है ।] के द्वारा इसी विषय को स्पष्ट किया गया है ।

भवति खलु योपसर्गातृष्णा सा शोषिणी कष्टा । ज्वरमेहक्षयशोषश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।।१७।।

उपसर्गज तृष्णा (Upasargaja Tṛishṇā)– जो तृष्णा ज्वर (Fever), प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes), क्षय (Phthisis), शोष (Consumption), श्वास (Asthma) आदि व्याधियों के उपद्रव रूप में उत्पन्न होती है उसे उपसर्गज तृष्णा कहते हैं । इससे रोगी का शरीर सूख जाता है एवं उसे अत्यधिक कष्ट होता है ।

चक्रपाणि–'भवतीत्यादि' के द्वारा उपसर्गज तृष्णा का अभिधान किया गया है । **उपसर्गादिति ज्वराद्युपद्रवात्**-ज्वरादि के उपद्रव रूप में उत्पन्न होने वाली तृष्णा अत्यन्त कष्टकारी होती है, अर्थात् कष्टसाध्य होती है ।

एवं प्राक्सूत्रितवातपित्तामाम्बुक्षयोपसर्गात्मिकाः पञ्च तृष्णा व्याहृताः–इस प्रकार यहाँ पूर्व सूत्रित पाँच प्रकार के तृष्णा रोग, यथा-वातज, पित्तज, आमज, अम्बुक्षयज एवं उपसर्गज; का विवेचन किया गया । सुश्रुतोक्त कफज तृष्णा का अन्तर्भाव यहाँ आमज तृष्णा में कर लिया गया है तथा क्षतज का अन्तर्भाव उपसर्गज में हो जाता है । 'अन्नजा' का अन्तर्भाव आमज में होता है । [सुश्रुतोक्त कफज तृष्णा का आमज में, क्षतज का उपसर्गज में तथा अन्नजा का आमज में अन्तर्भाव हो जाता है ।] ॥१७॥

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रसक्तानाम् । घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ।।१८।।

असाध्य तृष्णा के लक्षण– जो व्यक्ति जीर्ण रोगों से अत्यधिक कृश हो गया हो, जिस तृष्णा के रोगी को निरन्तर वमन हो रहा हो, भयङ्कर उपद्रवों से युक्त तृष्णा का होना । ऐसी स्थिति में तृष्णा का उत्पन्न होना आतुर की मृत्यु का कारण होती है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'सर्वास्त्वित्यादि' के द्वारा तृष्णा की असाध्यता के लक्षणों को बताया गया है ।

घोरोपद्रवयुक्तेति–अत्यन्त कष्टदायी उपद्रवों का होना ।

नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू । अब्यातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि ।।१९।।
गुर्वन्नपयः स्नेहैः संमूर्च्छद्भिर्विदाहकाले च । यस्तृष्येद्हेतमार्गे तत्राप्यनिलानलौ हेतू ।।२०।।
तीक्ष्णोष्णरूक्षभावान्मद्यं पित्तानिलौ प्रकोपयति । शोषयतोऽपां धातुं तावेव हि मद्यशीलानाम् ।।२१।।
तप्तास्विव सिकतासु हि तोयमाशु शुष्यति क्षिप्तम् । तेषां संतप्तानां हिमजलपानाद्भवति शर्म ।।२२।।

तृष्णा रोग की संप्राप्ति में पित्त एवं वायु का महत्त्व–अग्नि एवं वायु के अभाव में 'तृष्णा' की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि ये दोनों ही शरीरस्थ द्रव धातु के शोषण में कारण हैं । जब ये दोनों (पित्त व वात) अत्यधिक बढ़कर शरीरस्थ जल (अप्) धातु को सुखाने लगते हैं तब जलीयांश के क्षय के कारण व्यक्ति को प्यास लगने लगती है ।

अन्नजा तृष्णा–गुरु अन्न (पचने में भारी अन्न Heavy food), दूध (Milk) एवं स्नेह पदार्थों का जब व्यक्ति सेवन करता है । अर्थात् सभी अन्न जब आपस में मिश्रित होते हैं तब इनके पाक काल में स्रोतों के आवृत हो जाने से व्यक्ति को तृष्णा की उत्पत्ति होती है, या प्यास लगती है । इस तृष्णा को अन्नजा तृष्णा कहते हैं । इसमें भी अग्नि एवं वायु ही कारण है ।

मद्यजा तृष्णा–जो व्यक्ति नित्य मद्य का सेवन करते हैं, उनके शरीर में मद्य के तीक्ष्ण, उष्ण एवं रूक्ष गुणों की अधिकता से पित्त व वायु प्रकुपित हो जाते हैं, फलतः ये शरीरस्थ द्रवांश का शोषण करने लगते हैं, जिससे व्यक्ति को मद्यजा तृष्णा उत्पन्न हो जाती है ।

मद्यजा तृष्णा की उपमा–जिस प्रकार तप्त बालू पर जल का छिड़काव करने पर जल शीघ्र सूख जाता है तथा अधिक मात्रा में शीतल जल डाल देने पर बालू की उष्णता शान्त हो जाती है एवं जल का शोषण भी नहीं होता उसी प्रकार मदिरापान से संतप्त शरीर वाले व्यक्ति को अल्प मात्रा में जल देने पर (अल्प पान किया हुआ जल) शीघ्र ही शोषित हो जाता है व रोगी की प्यास शान्त नहीं होती । जब उसे अत्यधिक मात्रा में शीतल जल पिलाते हैं तब उसकी प्यास शान्त होती है ।

चक्रपाणि–तृष्णा रोग के अन्तर्गत मद्यज एवं अन्नज तृष्णा का कथन होना, इसके अन्तर्भाव को दर्शाता है अर्थात् मद्यज व अन्नज तृष्णा- 'तृष्णारोग' के अन्तर्गत आते हैं । यह व्याधि वातपित्तक्षयजन्य होती है, इसे यहाँ 'नाग्निमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

कस्मात् पुनरग्निवातौ विना तर्षो न भवतीति–अग्नि एवं वायु के बिना तर्ष (तृष्णा) कैसे नहीं उत्पन्न होती ? जिसे 'तौ हीत्यादि' के द्वारा समझाया गया है ।

तौ-ये दोनों (पित्त व वायु) जो अग्नि एवं वायु रूप हैं, अर्थात् पित्त से यहाँ अग्नि का ग्रहण किया गया है । ये दोनों शरीरस्थ अप् धातु (जल धातु) के शोषण (drying up-सुखाने) में कारण हैं । इसलिये अग्नि व वायु के बिना तर्ष नहीं उत्पन्न होता, यह कहा गया है। अतः अग्नि एवं वायु द्वारा अप् धातु का क्षय हो जाने पर स्वरूप से ही व्यक्ति को प्यास लगती है । इस प्रकार पित्तवातकृत अप् धातु के क्षय से उत्पन्न तृष्णा के भेद के विवेचन के बाद इसी के अन्तर्गत समावेशित होने वाली तृष्णा के अन्य भेदों को **'गुर्वन्नेत्यादि'** के द्वारा बताया (कहा) गया है ।

सम्मूर्च्छद्भिरिति एकतां गच्छद्भिः–आपस में मिलना (The act of accumulating), भारी (गुरु) अन्न, दूध एवं स्नेह आदि द्रव्यों का एक साथ सेवन करना ।

अन्न वातो वृद्धः संमूर्च्छनेऽन्नस्य तृष्णाकरः, विदाहकाले च या तृष्णा तत्र पित्तं तृष्णाकरम्–अन्न की संमूर्च्छना की अवस्था में जो तृष्णा उत्पन्न होती है वह वृद्ध वात के कारण होती है तथा अन्न के विदाह काल में जो तृष्णा उत्पन्न होती है वह वृद्ध पित्त के कारण होती है, ऐसा समझना चाहिये । 'तीक्ष्णोष्णेत्यादि' के द्वारा मद्यज तृष्णा का भी अन्तर्भाव इसी के अन्तर्गत कर लिया गया है । सिकता से यहाँ बालू अर्थ लिया गया है । **'तेषामिति'** के द्वारा प्रशमन को बताया गया है । शर्मेति=सुखपूर्वक । प्रचुर मात्रा में शीतल जल के सेवन से शरीर की उष्णता शान्त हो जाती है एवं तृष्णा का भी प्रशमन सुखपूर्वक हो जाता है ।

विशेष (Comments)–'तीक्ष्णेत्यादि' के द्वारा मद्यज तृष्णा का अभिधान किया गया है । इसमें पित्त एवं वात प्रकुपित होते हैं । मद्य के सेवन से प्रकुपित पित्त व वात (वायु) मद्यशील पुरुष के शरीरस्थ अप (जल) धातु को सुखा डालते हैं । परिणाम स्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है । जिस प्रकार तप्त (अत्यधिक उष्ण) बालू पर अल्प मात्रा में जल का छिड़काव करने पर जल शीघ्रता पूर्वक सूख जाता है, वैसे ही मद्यज तृष्णा के रोगी को अल्प मात्रा में जल पीने के लिए देने पर उसकी प्यास नहीं बुझती । जब उसे अत्यधिक मात्रा में शीतल जल पानार्थ दिया जाता है तब उसकी प्यास शान्त होती है । इसलिये वात पित्तज तृष्णा से भिन्न मद्यज तृष्णा नहीं होती ।

–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

Scanned by CamScanner

शिशिरस्नातस्योष्मा रुद्धः कोष्ठं प्रपद्य तर्षयति । तस्मान्नोष्णक्लान्तो भजेत सहसा जलं शीतम् ।।२३।।

उष्णता से क्लान्त व्यक्ति सहसा शीतल जल का सेवन न करें–शीतल जल से स्नान करने वाले पुरुष की शारीरिक ऊष्मा (अग्नि) शीत के कारण अवरुद्ध हो जाती है, यह ऊष्मा कोष्ठ (Gastrointestinal tract) में पहुँचकर तर्ष (प्यास=तृष्णा) को उत्पन्न करती है। इसलिये उष्णता से क्लान्त (पिड़ित) व्यक्ति को शीतल जल का सेवन अचानक नहीं करना चाहिये। ।।२३।।

चक्रपाणि–शीतजन्य कारणों से उत्पन्न होने वाली तृष्णा का विवेचन यहाँ 'शिशिरेत्यादि' के द्वारा किया गया है। शिशिर=शीत (Cold)। **ऊष्मा रुद्ध इति**-शीतल जल द्वारा स्नान करने पर रोमकूपों से बाहर निकलने वाली शरीरस्थ ऊष्मा अवरुद्ध होकर पुनः कोष्ठ में गमन कर जाती है, परिणामतः कोष्ठ में पित्त (अग्नि) की वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार यह तृष्णा भी पित्तज ही होती है।

न सहसेत्यनेन विश्रम्य शीतजलसेवायां न तथाविधा तृष्णा भवतीति दर्शयति–अतः उष्णता से पीड़ित व्यक्ति कुछ समय विश्राम (Rest) करने के बाद यदि शीतल जल का सेवन करता है तब उसे उस प्रकार की (निर्दिष्ट) तृष्णा नहीं उत्पन्न होती। ।।२३।।

लिङ्गं सर्वास्वेतास्वनिलक्षयपित्तजं भवत्यथ तु । पृथगागमाच्चिकित्सितमतः प्रवक्ष्यामि तृष्णानाम् ।।२४।।

तृष्णारोग की सामान्य चिकित्सा–सभी प्रकार के तृष्णा में वायु की वृद्धि, अप् धातु का क्षय एवं पित्त की वृद्धि होती है। अतः अब आगे अलग-अलग हेतुओं द्वारा उत्पन्न होने वाली तृष्णा की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है–

चक्रपाणि–सभी प्रकार के तृष्णा की उत्पत्ति में वायु एवं पित्त की वृद्धि ही कारण है। यहाँ 'अन्नसंमूर्च्छना' आदि के द्वारा निर्दिष्ट क्रम के अनुसार वायु (वृद्धि), क्षय (अप् धातु) एवं पित्त (वृद्धि) की दुष्टि को बताया गया है। अतः सभी प्रकार की तृष्णा में वायु एवं पित्त की वृद्धि के कारण अप् धातु का क्षय होता है। इसे ही यहाँ 'लिङ्गं सर्वास्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

अनिल-क्षय-पित्तजमित्यत्र–क्षय से यहाँ अप् धातु के क्षय का ग्रहण किया गया है तथा अनिल (वायु) एवं पित्त की इसमें प्रबलता होती है।

सामान्यतया अपने अलग-अलग हेतुओं (Etiological factors) द्वारा उत्पन्न होने वाली तृष्णा की चिकित्सा भी अलग-अलग होती है, जिसे यहाँ 'अथ त्वित्यादि' के द्वारा विवेचित किया गया है।

पृथगागमादिति–अलग-अलग हेतुओं के होने से।

आगच्छत्यस्मादिति आगमो हेतुः–जिससे उत्पन्न हो, अथवा जिस कारण से कार्य उत्पन्न हो, उसे आगम कहा जाता है। आगम यहाँ हेतु (Etiological factors) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् व्याधि का उत्पादक कारण। वातादि हेतुओं के भेद से व्याधि के भी भेद हो जाते हैं, जिसके कारण उनकी चिकित्सा (Treatment) भी अलग-अलग होती है। इसी का वर्णन यहाँ किया जा रहा है, यह अभिप्राय है। अथवा **पृथक् चिकित्सितं वक्ष्यामि**-अलग से चिकित्सा बतायी जायेगी, **आगमादिति आयुर्वेदागमप्रामाण्यात्**-आयुर्वेद में शास्त्र प्रमाण के आधार पर, शास्त्रों में तृष्णा के भेदों के अनुसार चिकित्सा का अभिधान होने से मेरे द्वारा भी तृष्णा की अलग-अलग चिकित्सा बतायी जायेगी, यह अभिप्राय है।

अपां क्षयाद्धि तृष्णा संशोष्य नरं प्रणाशयेदाशु । तस्मादैन्द्रं तोयं समधु पिबेत्तहुणं वाऽन्यत् ।।२५।।
किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतलं सुगन्धि सुरसं च । अनभिष्यन्दि च यत्तत्क्षितिगतमप्यैन्द्रवज्ज्ञेयम् ।।२६।।

ऐन्द्र जल की उपयोगिता–तृष्णा रोग में आतुर के शरीरस्थ अप् धातु (जलीयांश-Aquous elements in the body) का क्षय होने से, रोगी का शरीर सूख (Dehydrated) जाता है, जिससे शीघ्र मृत्यु हो जाती है। अतः इस स्थिति में ऐन्द्र जल में मधु मिलाकर आतुर को पिलाना चाहिए अथवा अन्य जल, जो गुणों में ऐन्द्र जल (वर्षा का जल-Rain Water which is collected from the sky before falls on the earth-वह आकाशीय जल जो जमीन पर गिरने से पूर्व ही पात्र में सञ्चित किया गया हो) के समान हो, में मधु मिलाकर प्रयोग करना चाहिए अथवा पिलाना चाहिये।

अन्य जल जिसका सञ्चय जमीन से किया जाता है, उसके भी गुण ऐन्द्र जल के समान होने पर आतुर को पिलाना चाहिए।

अन्य पीने योग्य जल के गुण–जो जल अनुरस में किञ्चित कषाय (Slightly Astringent), पतला, लघु (Light), शीत (Cold), सुगन्धित (अच्छे गन्ध वाला-Free from bad smell), स्वाद युक्त (उचित रस युक्त) एवं अनभिष्यन्दि (स्रोतस् में स्राव न उत्पन्न करने वाला) हो, ऐसा जल पृथ्वी पर होते हुए भी ऐन्द्र जल के समान होता है, ऐसा जानना चाहिए।

चक्रपाणि–'अपां क्षयादित्यादि' के द्वारा तृष्णा रोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **ऐन्द्रमिति आन्तरिक्षम्**-आन्तरिक्ष जल (Rain water)।

Scanned by CamScanner

तद्गुणं वाऽन्यदिति–अन्य जल (कूपादि के जल) जो गुणों में आन्तरिक्ष जल के समान हो, जिसे यहाँ, किञ्चिदित्यादि' के द्वारा बताया गया है। किञ्चिद् से यहाँ मनाक् (अल्प-Slight) अर्थ लिया गया है।

तुवरोऽनुरसतया रस्यते आस्वाद्यते यस्मिन् तत्तुवरानुरसम्–जो जल अनुरस में कषाय हो, अथवा उसका स्वाद कुछ कषैला हो उसे तुवर अनुरस कहा गया है। आन्तरिक्ष जल में सभी रस अव्यक्त होते हैं, अर्थात् यह जल सर्वरस युक्त होते हुए भी स्वाद में कोई भी रस व्यक्त (स्पष्ट) नहीं होता। कहा भी गया है, यथा-"अव्यक्तीभावस्तु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरससमन्विते वा द्रव्ये" (च.सू. २६/९) इति (मधुरादि रसों का अव्यक्त होना रसों की प्रकृति है। यह अव्यक्तता अनुरस में अथवा अनुरस समन्वित द्रव्यों में पायी जाती है।)

ऐन्द्रवदित्यनेन अन्तरिक्षानुकारि क्षितिसमाबद्धं भवति–क्षिति समाबद्ध जल (जमीन पर पाया जाने वाला जल) का अन्तरिक्ष जल के समान गुण युक्त होना, अर्थात् क्षिति समाबद्ध जल गुणों में अन्तरिक्ष जल के समान होता है। अन्य आचार्य तुवर शब्द से कषाय रस का ग्रहण करते हैं, उससे यह जल (क्षिति समाबद्ध जल) गुणों में कुछ कषाय अनुरस वाला होता है, यह भाव प्राप्त होता है।

तनु से यहाँ स्वच्छ (Transparent) अर्थ लिया गया है। **सुगन्धीति अनिष्टगन्धरहितम्**-अनिष्टगन्धरहित (Free from any bad smell) आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है-"अनिष्टगन्धता गन्धदोषः" (सु.सू.अ. ४५) इति [विस्र आदि गंध से युक्त होना दूषित जल के लक्षण हैं]

अप्रातिकूल्येन रसनया आस्वाद्यते इति सुरसं, न तु व्यक्तसुष्ठुरसं सुरसम्–रसना (जिह्वा) के द्वारा जिस जल का स्वाद (Taste) अनुकूल (मनोवांछित) हो, अथवा प्रसन्नता उत्पादक हो, उसे सुरस कहा गया है, न कि जिसका रस व्यक्त हो उसे सुरस कहते हैं। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"व्यक्तरसता रसदोषः" [जिस जल में मधुरादि रस व्यक्त हों अर्थात् स्पष्ट हों वह जल दूषित रस वाला है, ऐसा समझना चाहिये।] ॥२५-२६॥

विशेष (Comments)–अनिष्टगन्धता जल का गंधदोष एवं व्यक्तरसता रसदोष कहा जाता है।

शृतशीतं ससितोपलमथवा शरपूर्वपञ्चमूलेन। लाजासक्तुसिताह्वामधुयुतमैन्द्रेण वा मन्थम् ॥२७॥
वाट्यं वाऽऽमयवानां शीतं मधुशर्करायुतं दद्यात्। पेयां वा शालीनां दद्याद्वा कोरदूषाणाम् ॥२८॥
पयसा शृतेन भोजनमथवामधुशर्करायुतं योज्यम्। पारावतादिकरसैर्घृतभृष्टैर्वाऽप्यलवणाम्लैः ॥२९॥
तृणपञ्चमूलमुञ्जातकैः प्रियालैश्च जाङ्गलाः सुकृताः। शस्ता रसाः पयो वा तैः सिद्धं शर्करामधुमत् ॥३०॥
शतधौतघृतेनाक्तः पयः पिबेच्छीततोयमवगाह्य। मुद्गमसूरचणकजा रसास्तु भृष्टा घृते देयाः ॥३१॥
मधुरैः सजीवनीयैः शीतैश्च सतिक्तकैः शृतं क्षीरम्। पानाभ्यञ्जनसेकेष्विष्टं मधुशर्करायुक्तम् ॥३२॥
तज्जं वा घृतमिष्टं पानाभ्यङ्गेषु नस्यमपि च स्यात्। नारीपयः सशर्करमुष्ट्या अपि नस्यमिक्षुरसः ॥३३॥

तृणपञ्चमूल साधित जल का प्रयोग–षडङ्गपरिभाषा की विधि द्वारा साधित (पकाये गये) तृणपञ्चमूल (शरादि पञ्चमूल) के जल में मिश्री मिलाकर अथवा लाजासत्तू (धान के लावा का सत्तू) में मिश्री व मधु मिलाकर ऐन्द्र जल में घोलकर मन्थ बनाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

मण्ड (वाट्य) का प्रयोग–कच्चे यव का वाट्य बनाकर शीतल होने पर उसमें मधु व शर्करा मिलाकर तृष्णा के रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। कच्चे यव का अभिप्राय बिना भुने हुए यव से है अथवा शाली चावल या कोरदूष (कोदो) से निर्मित पेया में मधु व शर्करा मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें।

→ आहार द्रव्यों को दूध के साथ पकावें। उस अन्न में मधु व शर्करा मिलाकर तृष्णा के रोगी को खाने के लिए दें।

→ मांसरस का प्रयोग–कपोतआदि के मांसरस, जो घृत में भूनकर तैयार किये गये हों, उसमें अम्ल द्रव्यों एवं लवण का संस्कार न कर, मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें।

→ तृणपञ्चमूल (कुश, कास, नल, दर्भ एवं काण्डेक्षु), मुञ्जातक अथवा प्रियाल द्वारा षडंगपानीय विधि से साधित जल द्वारा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस से निर्मित मांसरस अथवा इनके जल से साधित क्षीरपाक में मधु व शर्करा मिलाकर तृष्णा के रोगी को पिलाना चाहिये।

→ तृष्णा के रोगी को शतधौतघृत से अभ्यङ्ग करावें, पश्चात् शीतल जल से स्नान कराकर, गाय का दूध पीने के लिए दें अथवा मुद्ग, मसूर या चने के यूष, जो घृत से छौंका गया हो, पीने के लिए दें।

→ मधुर, जीवनीय, शीत एवं तिक्त द्रव्यों से साधित क्षीर (दूध) में मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें, अथवा इसका प्रयोग अभ्यङ्गार्थ एवं परिषेचनार्थ करना अत्यन्त लाभदायक होता है। [मधुरादि गण की औषधियों से साधित क्षीर में मधु व शर्करा मिलाकर, पानार्थ (पीने के लिए), अभ्यङ्गार्थ (For massage) एवं परिषेचनार्थ (शरीर पर छिड़काव के रूप में - For Sprinkling) करना चाहिये।]

Scanned by CamScanner

नस्य का प्रयोग–

→ १. मधुर, जीवनीय, शीत एवं तिक्त रस युक्त द्रव्यों द्वारा साधित दूध से निर्मित घृत का प्रयोग पान हेतु (For drinking), अभ्यङ्ग हेतु (For Massage) एवं नस्य हेतु करना चाहिए। २. अथवा स्त्री के दूध या ऊटनी के दूध में शर्करा मिलाकर नस्य दें। ३. ईख के रस का प्रयोग तृष्णा के रोगी में नस्य हेतु करें। इनके प्रयोग से तृष्णारोग का प्रशमन हो जाता है।

चक्रपाणि–शरपूर्वपञ्चमूलेनेति "शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च" (चि.अ. १, पा. १) इत्यत्रोक्तेन शरादिपञ्चमूलेन-जिस पञ्चमूल में शर पहले आता है, यथा-शर, इक्षु, दर्भ, काश एवं शालीमूल; इसे शरादि पञ्चमूल कहा गया है। इसका यहाँ ग्रहण किया गया है। [यहाँ तृणपञ्चमूल से शरादि पञ्चमूल का ग्रहण किया गया है।

आमयवानां वाट्यमिति ईषद्भृष्टादलितयवमण्डः–कच्चे यव से निर्मित मण्ड का अभिप्राय-अल्प भुने हुए एवं विना दले हुए (बिना टुकड़े किये हुए) यव निर्मित मण्ड से है।

मुञ्जातक-उत्तरापथ में पाया जाने वाला एक प्रसिद्ध वनस्पति (सालमपञ्जा)। **सुकृता इति-**सुसंस्कृता (अच्छी प्रकार से संस्कारित अर्थात् विधि पूर्वक निर्मित)। तैरिति=तृणपञ्चमूल आदि के द्रव्यों से विधिपूर्वक साधित जल द्वारा पकाये गये दूध अथवा मांसरस में मधु व शर्करा मिलाकर तृष्णा के रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। मधुरैरिति=मधुररसै (मधुर रस युक्त), शीतैरिति शीतवीर्यैः-शीत वीर्य वाले द्रव्यों। **तज्जमिति-**मधुरादि औषधियों से साधित क्षीर से निकाले गये घृत का प्रयोग-पान, अभ्यङ्ग एवं नस्य हेतु करना चाहिये। ॥२७-३३॥

क्षीरेक्षुरसगुडोदकसितोपलाक्षौद्रसीधुमार्द्वीकैः। वृक्षाम्लमातुलुङ्गैर्गण्डूषास्तालुशोषघ्नाः ॥३४॥
जम्ब्वाम्रातकबदरीवेतसपञ्चवल्कपञ्चाम्लैः। ह्रन्मुखशिरःप्रदेहाः सघृता मूर्च्छाभ्रमतृष्णाघ्नाः स्युः ॥३५॥
दाडिमदधित्थलोध्रैः सविदारीबीजपूरकैः शिरसः। लेपो गौरामलकैर्घृतारनालायुतैश्च हितः ॥३६॥
शैवलपङ्काम्बुरुहैः साम्लैः सघृतैश्च शक्तुभिर्लेपः। मस्त्वारनालार्द्रवसनकमलमणिहारसंस्पर्शाः ॥३७॥
शिशिराम्बुचन्दनार्द्रस्तनतटपाणितलगात्रसंस्पर्शाः क्षौमार्द्रनिवसनानां वराङ्गनानां प्रियाणां च ॥३८॥
हिमवद्धरीवनसरित्सरोऽम्बुजपवनेन्दुपादशिशिराणाम्। रम्यशिशिरोदकानां स्मरणं कथाश्च तृष्णाघ्नाः ॥३९॥

गण्डूष का प्रयोग–गोदुग्ध, इक्षुरस (ईख का रस-Sugar-cane juice), गुड का शर्बत (गुडोदक), मिश्री (चीनी) का शर्बत, मधु (Honey), सीधु (Spirituous liquor distilled from molasses or rum), माध्वीक (मधु द्वारा निर्मित मद्य), वृक्षाम्ल स्वरस अथवा बिजौरा नीबू का रस; इन द्रव्यों के रस का गण्डूष धारण करने से तालुशोष (तालु की शुष्कता-dryness of the palate) में आराम मिल जाता है।

तृष्णानाशक प्रलेप–जामुन की छाल, आम्रातक की छाल, बेर की छाल, वेतस की छाल, पञ्चवल्कल वृक्षों की छाल (न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष एवं पारिष पीपल, इनके छाल) एवं पञ्चाम्ल (खट्टीबेर, अम्ल चुक्रिका, मातुलुङ्ग, अम्लवेतस, अम्ल दाडिम); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें अथवा जल के साथ पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क में घृत मिलाकर सिर (Head), मुख एवं हृदय प्रदेश पर लेप करें।

यह लेप मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (Giddiness) एवं तृष्णा (Morbid thirst) को दूर करता है।

तृष्णानाशक अन्य लेप–

१. दाडिम (खट्टा अनारदाना), दधित्थ, लोध्र, विदारीकन्द; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर बिजौरा नीबू के रस के साथ महीन पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस लेप को सिर पर लगावें।

२. गौर आमलक (नवीन आँवला-आर्द्र आँवला) को काञ्जी के साथ पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क में घृत मिलाकर सिर पर लेप करें।

३. शैवाल (सेवार), कमल का कीचड़ तथा कमल के पुष्प को काञ्जी में पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क में घृत मिलाकर सिर पर लेप करें।

४. यव के सत्तू को जल में घोलकर लेप जैसा बना लें, इसमें अल्प मात्रा में घृत मिला लें। इस घृत मिश्रित लेप को सिर पर लगाना चाहिये।

तृष्णानाशक विहार–

१. मस्तु (दही का पानी), आरनाल (काञ्जी); इन द्रव पदार्थों में वस्त्र को भिगोकर रोगी के सिर, हृदय एवं मुख पर स्पर्श करावें अथवा कुछ देर तक रखें अथवा कमल के पुष्प की माला अथवा मणियों की माला को धारण करें।

Scanned by CamScanner

२. शीतल जल एवं चन्दन से आर्द्र (गीला) जिसके स्तन का अग्रभाग, हाथ के तलवे एवं शरीर हो, ऐसी स्त्री जो गीले रेशमी वस्त्र पहनी हो अथवा प्रिय स्त्री का स्पर्श तृष्णानाशक होता है ।

३. हिमालय की गुफायें (Caves of the Himālayas), वन (Forests), नदियाँ (Rivers), तालाब (Ponds), कमल (Lotus), शीतल वायु, चन्द्रमा की शीतल किरणें तथा अन्य सुन्दर शीतल जल युक्त द्रव्यों का स्मरण या उनकी कथाओं का श्रवण तृष्णानाशक होता है अर्थात् उपरोक्त विषयों का स्मरण या उनके बारे में बातचीत करना तृष्णानाशक होता है ।

चक्रपाणि–माद्वींकं मृद्वीकारसकृतं मद्यम्-अंगूर के रस से निर्मित मद्य को 'माद्वींक' कहा गया है । [माद्वींक का पाठ भेद-माध्वीक भी प्राप्त होता है । **माध्वीक**-मधु से निर्मित मद्य की माध्वीक संज्ञा दी गयी है।]

गण्डूषः मुखपूरको द्रवः–मुख में धारण करने वाले द्रव को गण्डूष कहा गया है । ["असञ्चारी तु या मात्रा स गण्डूषः प्रकीर्तितः" (अ.सं.अ. ३१/१०) इति- औषध क्वाथ या सिद्ध द्रव पदार्थों की वह मात्रा जिसे मुख में धारण करने के बाद हिलाया-डुलाया न जा सके गण्डूष कहते हैं अथवा मुख को औषध सिद्ध द्रव पदार्थों से भरना गण्डूष कहलाता है ।]

पञ्चाम्लं "कोलाम्लं चुक्रिकाम्लं च मातुलुङ्गाम्लवेतसम् । चतुरम्लमिति प्रोक्तं पञ्चाम्लं तु सदाडिमम्" इति वचनाज्ज्ञेयम्-पञ्चाम्ल से-खट्टी बेर, अम्ल चुक्रिका (खट्टी इमली), बिजौरा नीबू, अम्लवेतस तथा अम्ल दाडिम का ग्रहण किया गया है । इन पाँचों द्रव्यों को मिलित रूप से पञ्चाम्ल कहते है ।

दधित्थ से कपित्थ का ग्रहण किया गया है ।

गौरामलकैरिति–इससे आर्द्र (गीला) अथवा ताजा गौर वर्ण युक्त आँवले का ग्रहण करना चाहिये ।

मस्त्वारनालस्तिमितं वसनं मस्त्वारनालवसनम्–मस्तु (दही का पानी) अथवा आरनाल (काञ्जी) में भिगोये गये वस्त्र को 'मस्त्वारनालवसनम्' कहते हैं । इस वस्त्र का स्पर्श रोगी के सिर, हृदय एवं मुख आदि पर कराना चाहिए ।

इन्दुपादाः चन्द्ररश्मयः–चन्द्रमा की किरणें (शीतल किरणें), इनका स्पर्श भी तृष्णानाशक होता है । ॥३४-३९॥

वातघ्नमन्नपानं मृदु लघु शीतं च वाततृष्णायाम् । क्षयकासनुच्छृतं क्षीरघृतमूर्ध्ववाततृष्णाघ्नम् ॥४०॥
स्याज्जीवनीयसिद्धं क्षीरघृतं वातपित्तजे तर्षे ।

तृष्णारोग की विशेष चिकित्सा

१. वातिक तृष्णा की चिकित्सा (Treatment of Vātika Tṛishṇā)–इसकी चिकित्सा में-मृदु, लघु, शीतल एवं वातनाशक अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिये । क्षय एवं कास नाशक सिद्ध दुग्ध एवं घृतों के प्रयोग करने से ऊर्ध्ववात एवं तृष्णारोग प्रशमित हो जाते हैं, अर्थात् क्षय एवं कास रोगाधिकार में वर्णित सिद्ध क्षीरपाक एवं घृतों का सेवन तृष्णा रोग की शान्ति हेतु करना चाहिए ।

वातपित्तज तृष्णा रोग में जीवनीय गण की औषधियों से पकाये गये क्षीरपाक अथवा सिद्ध घृत का प्रयोग करना हितकर होता है ।

चक्रपाणि–'वातघ्नेत्यादि' के द्वारा तृष्णा रोग की विशेष चिकित्सा का अभिधान किया गया है । क्षयकासहरैः शृतं क्षयकासनुच्छृतम्-क्षय नाशक एवं कासनाशक द्रव्यों से साधित (Medicated) क्षीर अथवा घृत का प्रयोग करने से ऊर्ध्ववात एवं तृष्णा रोग दूर हो जाते हैं । ऊर्ध्ववात से यहाँ श्वासरोग का ग्रहण किया गया है। 'वातपित्तजे तर्षे' से यहाँ संसर्गज तृष्णा का ग्रहण असूचित (अकथित) होते हुए भी हो जाता है, क्योंकि असूत्रित द्वन्द्वज गुल्म के कथन न्याय की तरह यहाँ भी कहा गया है । ॥४०॥

पैत्ते द्राक्षाचन्दनखर्जूरोशीरमधुयुतं तोयम् ॥४१॥
लोहितशालितण्डुलखर्जूरपरूषकोत्पलद्राक्षाः । मधु पक्वलोष्टमेव च जले स्थितं शीतलं पेयम् ॥४२॥
लोहितशालिप्रस्थः सलोध्रमधुकाञ्जनोत्पलः क्षुण्णः । पक्वामलोष्टजलमधुसमायुतो मृन्मये पेयः ॥४३॥
वटमातुलुङ्गवेतसपल्लवकुशकाशमूलयष्ट्याह्वैः । सिद्धेऽभ्यस्यग्निभां कृष्णमृदं कृष्णासिकतां वा ॥४४॥
तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम् । आपाकशर्करं वाऽमृतवल्ल्युदकं तृषां हन्ति ॥४५॥
क्षीरवतां मधुराणां शीतानां शर्करामधुविमिश्राः । शीतकषाया मृद्वृष्टसंयुताः पित्ततृष्णाघ्नाः ॥४६॥

२. पैत्तिक तृष्णा रोग की चिकित्सा–पैत्तिक तृष्णा रोग में द्राक्षा, चन्दन, खर्जूर एवं उशीर (खश) से सिद्ध जल को ठण्ढा करके, उसमें मधु मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये ।

→ रक्तशाली चावल, खर्जूर, फालसा, उत्पल (नील कमल), द्राक्षा एवं पक्व मिट्टी के ढेले, द्वारा संस्कारित जल को शीतल करके व उसमें मधु मिलाकर तृष्णा के रोगी को पिलाना चाहिये ।

Scanned by CamScanner

→ लाल शाली चावल १ प्रस्थ लें, उसमें ८ प्रस्थ जल मिलावें। इस शाली चावल मिश्रित जल में लोध्र, मधुक (यष्टीमधु), अञ्जन एवं उत्पल (नील कमल), प्रत्येक द्रव्य १-१ पल मात्रा में मिलावें। अब इस जल में पक्व मिट्टी के ढेले (पिण्ड) को तप्त करके बार-बार बुझावें। जल कुछ निथर जाय तो उसे अन्य पात्र में अलग कर लें। इस निथरे हुए जल में मधु मिलाकर तृष्णा के रोगी को पीने के लिए देना चाहिये।

→ वट (वट के पत्ते), मातुलुङ्ग (बिजौरा नींबू की पत्ती), वेतस पत्र, कुशमूल, काशमूल, यष्टीमधु (मुलेठी); इन सभी द्रव्यों को लेकर षडंगपरिभाषा विधि से जल सिद्ध करें। इस सिद्ध जल में कालीमिट्टी या काले बालू को अग्नि तप्त करके बुझावें अथवा नवीन पक्व मिट्टी के घड़े के टुकड़े को अग्नि तप्त करके बार-बार बुझावें। जब बुझा हुआ जल निथर कर स्वच्छ हो जाय तो उस जल को पृथक् कर लें। इस जल में मधु मिलाकर तृष्णा के रोगी को पिलाना चाहिये।

→ गुडूची स्वरस या क्वाथ में शर्करा मिलाकर पाक करें, पाक सिद्ध हो जाने पर तृष्णा के रोगी को पीने के लिए देना चाहिये। पाक से यहाँ Syrup अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

→ क्षीरी वृक्ष, मधुर एवं शीतवीर्य युक्त औषधियों से निर्मित शीत कषाय में पक्व मिट्टी के ढेले को अग्नि तप्त करके बार-बार बुझावें। यह जल जब निथर कर स्वच्छ हो जाय तो इसे अलग पात्र में इकट्ठा कर लें। इस निथरे हुए जल में मधु व शर्करा मिलाकर पैत्तिक तृष्णा के रोगी को पिलावें। इससे पित्तज तृष्णा प्रशमित हो जाती है।

चक्रपाणि–पैत्ते इत्यत्र 'तर्षे' इति शेषः-यहाँ 'पैत्ते' के साथ 'तर्षे' शब्द भी जुड़ा हुआ है, जिसका अभिप्राय पित्तज तृष्णा से है। [द्राक्षा, चन्दन आदि द्रव्यों से षडंगपरिभाषा विधि के अनुसार साधित जल में मधु व शर्करा मिलाकर पीने का निर्देश दिया गया है। यह जल पित्तज तृष्णा को प्रशमित करता है।]

'लोहितशालि' आदि के द्वारा वर्णित योग में लोध्र, मधुक (यष्टीमधु), अञ्जन तथा उत्पल (नीलकमल), इन चार द्रव्यों की संयुक्त मात्रा चार पल (पृथक्-पृथक् १-१ पल) ग्रहण करनी चाहिए। प्रक्षेप न्याय के अनुसार मधु की मात्रा चतुर्थांश होनी चाहिए, अर्थात् मधु की मात्रा पक्व जल का चतुर्थांश होना चाहिए।

पक्वामलोष्टप्रसादनं (चालोडनयोग्यमात्रं) दत्त्वा शालितण्डुलप्रस्थः क्षपायां स्थाप्यते, तदन्नं (तस्य पानयोग्यमात्रमधुप्रक्षेपं) मृन्मये पात्रे पीयत इति वृद्धैरुपदर्शितः कर्ममार्गः-लाल शाली चावल का चूर्ण - १ प्रस्थ, लोध्रादि द्रव्य संयुक्त रूप से ४ पल लेकर ८ गुने जल के साथ पकावें। अर्द्धभाग जल अवशिष्ट रहने पर, उसमें पक्व मिट्टी के ढेले को तप्त करके बुझावें, ऐसा करने से सिद्ध जल कुछ गन्दा हो जाता है। जब यह जल निथर जाय, अर्थात् राख आदि के कण नीचे बैठ जाँय तब इस जल को छानकर पृथक् कर लें। इस स्वच्छ जल में मधु मिलाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिए, ऐसा करने का निर्देश अनुभवी चिकित्सक देते हैं।

नवकपालानि नूतनशरावादि खण्डान्-नव कपाल से यहाँ मिट्टी (पक्व मिट्टी) के नये कसोरे (परई=ढक्कन) के टुकड़े का ग्रहण किया गया है।

आपाकशर्करमिति पाकनिमित्तशर्करासहितम्-विशेष पाक हेतु शर्करा का प्रयोग करना, अर्थात् गुडूची स्वरस या क्वाथ में शर्करा डालकर विशेष रूप से पकावें, अर्थात् Syrup का निर्माण करें। इस पाकशर्करा (Syrup) का प्रयोग तृष्णा की शान्ति हेतु करनी चाहिये। अमृतवल्ली=गुडूची (गुड़बेल या अमृता)।

मृद्भृष्टसंयुता इति भृष्टमृद्युक्ताः-पक्व या भुनी हुई मिट्टी से युक्त करना, अर्थात् क्षीरीवृक्ष, मधुर एवं शीतवीर्य युक्त औषधियों से सिद्ध जल में तप्त पक्व मिट्टी के ढेले या कपाल को बार-बार बुझावें। यह बुझा हुआ जल जब निथर (स्वच्छ हो) जाय तब इसका प्रयोग करें। ॥४१-४६॥

व्योषवचाभल्लातकतिक्तकषायास्तथाऽऽमतृष्णाघ्नाः। यच्चोक्तं कफजायां वम्यां तच्चैव कार्यं स्यात् ॥४७॥
स्तम्भारुच्यविपाकालस्यच्छर्दिषु कफानुगां तृष्णाम्। ज्ञात्वा दधिमथुतर्पणलवणोष्णाजलैर्वमनमिष्टम् ॥४८॥
दाडिममम्लफलं वाऽप्यन्यत् सकषायमथ लेहम्। पेयमथवा प्रदद्याद्राजनीशर्करायुक्तम् ॥४९॥
क्षयकासेन तु तुल्या क्षयतृष्णा सा गरीयसी नृणाम्। क्षीणक्षतशोषहितैस्तस्मात्तां भेषजैः शमयेत् ॥५०॥
पानतृषार्तः पानं त्वर्धोदकमम्ललवणगन्धाढ्यम्। शिशिरस्नातः पानं मद्याम्बु गुडाम्बु वा तृषितः ॥५१॥
भक्तोपरोधतृषितः स्नेहतृषार्तोऽथवा तनुयवागूम्। प्रपिबेद्गुरुणा तृषितो भुक्तेन तदुद्धरेद्भुक्तम् ॥५२॥
मद्याम्बु वाऽम्बु कोष्णं बलवांस्तृषितः समुल्लिखेत् पीत्वा। मागधिकाविशदमुखः सशर्करां वा पिबेन्मन्थम् ॥५३॥
बलवांस्तु तालुशोषे पिबेद्घृतं तृष्यमद्याच्च। सर्पिर्भृष्टं क्षीरं मांसरसांश्चाबलः स्निग्धान् ॥५४॥

Scanned by CamScanner

अतिरूक्षदुर्बलानां तर्षं शमयेत्पृणामिहाशु पयः । छागो वा घृतभृष्टः शीतो मधुरो रसो हृद्यः ।।५५।।
स्निग्धेऽन्ने भुक्ते या तृष्णा स्यात्तां गुडाम्बुना शमयेत् । तर्षं मूर्च्छाभिहतस्य रक्तपित्तापहैर्हन्यात् ।।५६।।

३. आमज तृष्णा की चिकित्सा–व्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), वचा, भल्लातक एवं तिक्त द्रव्यों से साधित क्वाथ (Decoction) आमजन्य तृष्णा को दूर करता है । साथ में कफज वमन (कफज छर्दि) की चिकित्सा हेतु जिन योगों या चिकित्सा विधि का निर्देश किया गया है उनका ही प्रयोग आमज तृष्णा रोग में भी करना चाहिये ।

यदि तृष्णा रोग में स्तम्भ (Stiffness), अरुचि (Anorexia), अग्निपाक (Indigestion), आलस्य (Laziness) एवं छर्दि (Vomiting) लक्षण मिलें तब उसमें कफ का अनुबन्ध है, ऐसा विचार करते हुए रोगी को दधि (दही), मधु, तर्पण (जल में घोला हुआ सत्तू), अथवा पेय में शर्करा व हल्दी मिलाकर पिलाना चाहिये । ['प्रदद्याद्रजनीशर्करायुक्तम्' के स्थान पर अन्य प्रतियों में 'हरिद्राम्बुशर्कराक्षौद्रसंयुक्तम्' पाठ प्राप्त होता है जिसका अभिप्राय-जल में हल्दी, शर्करा एवं मधु मिलाकर घोल बना लें एवं रोगी को पिलावें, से है ।]

४. क्षयज तृष्णा की चिकित्सा–क्षयज कास के ही समान क्षयज तृष्णा की भी चिकित्सा की जाती है । यह तृष्णा (क्षयज तृष्णा) मनुष्यों में होने वाली एक भयङ्कर व्याधि है । क्षतक्षीण एवं शोष चिकित्सा में जिन औषधियों का निर्देश किया गया है उनका प्रयोग क्षयज तृष्णा के प्रशमन हेतु करना चाहिये ।

५. मद्यजन्य तृष्णा की चिकित्सा–यदि मद्य के अतिसेवन से तृष्णा की उत्पत्ति हो तब मद्य में आधा पानी मिलाकर, उसमें खट्टे अनार के रस, सैन्धव नमक, जावित्री एवं जायफर आदि गन्ध द्रव्यों को मिलाकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिये ।

→ यदि शीतजन्य कारणों अथवा शीतल जल में अत्यधिक स्नान करने से तृष्णा की उत्पत्ति हुई है तब उस अवस्था में रोगी को मद्याम्बु (जल मिश्रित मद्य-Alcohol diluted with water) अथवा गुडाम्बु (गुड़ का शरवत Jaggery made to a solution by adding water) पीने के लिए देना चाहिये ।

६. भक्तज तृष्णा की चिकित्सा–

→ यदि तृष्णा (Morbid thirst) की उत्पत्ति उपवास (Fasting) अथवा स्नेह के अनुचित सेवन के कारण हुई हो तब रोगी को तनु यवागू (diluted gruel) का सेवन कराना चाहिये ।

→ यदि गुरु अन्न (Heavy diet) के अतिसेवन से तृष्णा की उत्पत्ति हो तब उस अवस्था में वमन कराकर गुरु अन्न का निर्हरण करना चाहिए, अर्थात् वमन द्वारा गुरु अन्न को निकाल देना चाहिये । अथवा यदि रोगी बलवान है तथा उसे गुरु अन्न के सेवन से तृष्णा रोग उत्पन्न हुआ है तब उसमें मद्याम्बु (जल मिश्रित मद्य) अथवा उष्ण जल पिलाकर वमन कराना चाहिये । अथवा रोगी को पिप्पली चबाने के लिए देना चाहिये, ऐसा करने पर यदि मुख में विशदता उत्पन्न हो जाय, तब उसे शर्करा मिश्रित मन्थ (यव का सत्तू जो जल में घोलकर तैयार किया गया है) पीने के लिये दें ।

यदि रोगी बलवान हो तथा तृष्णा के कारण उसका तालु प्रदेश सूख रहा हो तब उसे सिद्ध तृष्णा नाशक घृतों का पान कराना चाहिए एवं भोजन के रूप में उन आहार द्रव्यों का सेवन कराना चाहिये जो तृष्णा को दूर कर सकें । रोगी के दुर्बल होने पर घृत द्वारा संस्कारित (घृत से छौंके हुए) गोदुग्ध का पान करावें एवं भोजनार्थ घृत द्वारा छौंका लगाये हुए स्निग्ध मांसरस का प्रयोग करें, अथवा पीने के लिये दें ।

अत्यधिक रूक्ष एवं दुर्बल पुरुषों में उत्पन्न होने वाली तृष्णा गोदुग्ध अथवा अजा (बकरी) दुग्ध के पान से शीघ्र ही शान्त हो जाती है। अथवा घृत से संस्कारित बकरे के मांसरस जो शीत, मधुर एवं हृद्य (हृदय के लिए हितकर) हो, का प्रयोग तृष्णाशामक होता है । अर्थात् इन गुणों से युक्त अजा के मांसरस का प्रयोग करने से रूक्ष एवं दुर्बल पुरुषों में उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रशमन शीघ्र हो जाता है ।

यदि अत्यधिक स्निग्ध अन्न के सेवन से तृष्णा रोग की उत्पत्ति हो तब उसमें आतुर को गुडाम्बु (गुड़ का शरवत) पिलाना चाहिए। मूर्च्छा से आक्रान्त रोगी में यदि तृष्णा (प्यास) उत्पन्न हो तब उसे रक्तपित्त चिकित्सा में वर्णित उपक्रमों द्वारा दूर करना चाहिए, अर्थात् रक्तपित्त चिकित्सा में वर्णित औषध योगों के प्रयोग द्वारा प्रशमित करना चाहिये । ॥४७-५६॥

चक्रपाणि–अन्यत् सकषायमिति आमलादिसकषायलेहम्-अन्य तृष्णानाशक कषाय (क्वाथ-Decoction) एवं अवलेह का प्रयोग करना चाहिये, यथा-आमलकादि कषाय अथवा अवलेह ।

पानतृषार्त इति अतिशयमद्यपानजतृट्पीडितः–अत्यधिक मद्यपान जनित तृष्णा से पीडित रोगी । भक्तोपरोधः भक्तच्छेदः (पाठ भेद-अभक्तच्छन्दः)-भूख (Hunger=Appetite) । मागधिकाविशदमुख इत्यत्र-इससे पिप्पली के सेवन से उत्पन्न मुख की विशदता में मन्थ में शर्करा मिलाकर पिलाना चाहिये, अर्थ लिया गया है ।

Scanned by CamScanner

तालुशोष में यद्यपि घृत का निषेध किया गया है, यथा-"तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः" (सू.अ. १३) इति [तृष्णा (Morbid thirst), मूर्च्छा (Fainting), गर्भिणी एवं तालुशोष के रोगी में घृत का सेवन नहीं करना चाहिये) फिर भी यहाँ बलवान रोगी में उत्पन्न तृष्णा रोग में घृतपान विशिष्ट होने से विरोधी नहीं होता अर्थात् घृतपान यहाँ विशेष चिकित्सा होने से विरुद्ध नहीं है।

स्निग्ध अन्न के सेवन से उत्पन्न होने वाली तृष्णा में गुडाम्बु का प्रयोग स्निग्ध गुण युक्त होने के कारण यद्यपि हितकारी नहीं माना गया है। कहा भी गया है, यथा-"यदाहारगुणैः पानं विपरीतं तदिष्यते" (सू.अ. २७) [जो पेय या पान आहार के गुणों से विपरीत गुण युक्त होता है वही उस अन्न का अनुपान होता है। अनुपान धातुओं का किसी भी प्रकार से विरोधी नहीं होता।] फिर भी मधुररस के कारण तृष्णानाशक होने से प्रभाव से यह (गुडाम्बु) उपयोगी होता है।

'तर्षं मूर्च्छेत्यादि' के द्वारा औपसर्गिक तृष्णा की चिकित्सा का अभिधान किया गया है या किया जा रहा है।

तृट्दाहमूर्च्छाभ्रमक्लममदात्ययास्रविषपित्ते । शस्तं स्वभावशीतं, श्रृतशीतं सन्निपातेऽम्भः ।।५७।।
हिक्काश्वासनवज्वरपीनसघृतपीतपार्श्वगलरोगे । कफवातकृते स्त्याने सद्यःशुद्धे च हितमुष्णम् ।।५८।।
पाण्डूदरपीनसमेहगुल्ममन्दानलातिसारेषु । प्लीह्नि च तोयं न हितं काममसह्ये पिबेदल्पम् ।।५९।।
पूर्वमियातुरः सन् दीनस्तृष्णार्दितो जलं काङ्क्षन् । न लभेत स चेन्मरणमाश्वेवाप्नुयाद्दीर्घरोगं वा ।।६०।।
तस्माद्धान्याम्बु पिबेत्तृष्यन् रोगी सशर्कराक्षौद्रम् । यद्वा तस्यान्यत्स्यात् सात्म्यं रोगस्य तच्चेष्टम् ।।६१।।
तस्यां विनिवृत्तायां तज्जन्य उपद्रवः सुखं जेतुम् । तस्मात्तृष्णां पूर्वं जयेद्वहुभ्योऽपि रोगेभ्यः ।।६२।।

शीत जल की उपयोगिता–तृट् (तृष्णा रोग-Morbid thirst), दाह (शरीर में दाह का होना), मूर्च्छा (Fainting), भ्रम (Giddiness), क्लम (मानसिक थकावट-Mental Fatigue), मदात्यय (alcoholism), रक्तस्राव (Bleeding), विष विकार (Poisoning) आदि व्याधियाँ जिसमें पित्त की वृद्धि हो; में स्वाभाविक रूप से शीतल जल का प्रयोग करना हितकर माना गया है।

सन्निपातज रोगों में उबले हुए जल को ठण्डा करके पिलाना चाहिये, अर्थात् उबालकर ठण्ढा किया हुआ जल विशेष रूप से हितकर होता है।

उष्ण जल की उपयोगिता–हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma), नवज्वर (First stage of fever), पीनस (rhinitis), स्नेहपान के बाद, पार्श्व एवं गले के रोग, कफवात जनित विकार जिसमें दोष स्त्यान हो (जम) गये हों तथा तत्काल जिसका शोधन हुआ हो (शीघ्र ही जिसका शरीर वमन-विरेचन द्वारा शुद्ध हो); ऐसे व्यक्तियों में उष्ण जल का पान कराना उपयोगी होता है अर्थात् इस प्रकार के रोगियों को उष्ण जल पिलाना चाहिये।

अल्प जल सेवन के योग्य व्याधियाँ–पाण्डुरोग (Anaemia), उदररोग, पीनस (rhinitis), मेह (Obstinate Urinary disorders including diabetes), गुल्म (Phantom tumour), अग्निमांद्य, अतीसार (diarrhoea) एवं प्लीह रोग (Splenic disorders); इन व्याधियों में जल नहीं पीना चाहिये। यदि व्यक्ति जल पीने की इच्छा को रोक नहीं पा रहा है तब उसे इच्छानुसार अल्प मात्रा में (थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कई बार में) जल पीने के लिए देना चाहिये।

शीघ्र जल-पान की आवश्यकता–पूर्व निर्दिष्ट व्याधियों से आक्रान्त पुरुष यदि अत्यन्त दीन हो, तृष्णा रोग से पीडित हो तथा उसे जल पीने की प्रबल इच्छा हो, ऐसी अवस्था में यदि रोगी को जल पीने के लिए नहीं दिया जाता है तब वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त कर लेता है अथवा उसकी व्याधि चिरस्थायी (जीर्ण-Chronic) हो जाती है।

तृष्णा रोग में धान्याम्बु का प्रयोग–अतः तृष्णा रोग में धान्याम्बु (धनियाँ से साधित जल) में मधु व शर्करा मिलाकर आतुर को पिलाना चाहिए अथवा व्याधि एवं सात्म्यता के अनुसार अन्य जल का प्रयोग करना चाहिये।

तृष्णा के निवृत्त (शान्त) हो जाने पर उससे उत्पन्न होने वाले उपद्रवों की चिकित्सा सुखपूर्वक (आसानी से) की जा सकती है। इसलिये अनेक रोगों के होते हुए भी तृष्णा रोग की चिकित्सा सबसे पहले करनी चाहिये।

चक्रपाणि–शीत एवं उष्ण जल का प्रयोग कहाँ करना चाहिए एवं कहाँ नहीं करना चाहिये, इसका विवेचन यहाँ 'तृडित्यादि' के द्वारा किया गया है। **विषपित्ते इति विषे पित्ते च**-विषजन्य विकार एवं पित्तज विकारों में। **संनिपाते इति संनिपातज्वरोद्भूततृष्णायाम्**-सन्निपात ज्वर के कारण उत्पन्न होने वाली तृष्णा में-उबाले हुए जल को ठण्डा करके पिलाना चाहिये।

न हितमिति–पाण्डु आदि रोगों में तृष्णा (प्यास) के उत्पन्न होने पर भी जल का प्रयोग करना हितकर नहीं माना गया है अथवा जल पीने के लिए नहीं देना चाहिये।

Scanned by CamScanner

असह्ये 'तर्षे' इति शेषः–असह्य के साथ 'तर्ष' शब्द भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार इन व्याधियों (पाण्डु, उदररोग आदि) में असह्य तृष्णा के उत्पन्न होने पर पानार्थ जल न देने से होने वाले दोष को यहाँ 'पूर्वेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है अथवा दीर्घकालीन (जीर्ण-लम्बे समय तक रहने वाली) व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

पूर्वामयातुर इति-पूर्वोत्पन्नगदपीडितः–पूर्वोत्पन्न व्याधियों से पीडित होने पर, अर्थात् पाण्डु, उदररोग, गुल्म आदि व्याधियों से आक्रान्त होने पर।

तज्जन्योपद्रव इति तृष्णाप्रशमनार्थं पीयमानपानीयजः–उससे उत्पन्न होने वाले उपद्रव, तृष्णा के प्रशमनार्थ जल के पीने पर, जल के पीने से होने वाले उपद्रव की चिकित्सा सुखपूर्वक की जा सकती है।

सुखं जेतुमिति–अत्यन्त आत्ययिक तृष्णारोग की तुलना में जल पीने से होने वाली उपद्रवों की चिकित्सा सुखकर होती है, यह अभिप्राय है अथवा तृष्णा की अपेक्षा उससे उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा सरलता से हो जाती है। अतः अनेक उपद्रवों के होने पर भी सर्वप्रथम तृष्णा का ही प्रशमन करना चाहिये ॥५७-६२॥

तत्र श्लोकः–

हेतू यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां च पञ्चानाम्। तृष्णानां पृथगाकृतिरसाध्यता साधनं चोक्तम् ॥६२॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने तृष्णारोगचिकित्सितं नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–अग्नि एवं वायु जिन कारणों (हेतुओं) द्वारा प्रकुपित होकर तृष्णारोग को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् तृष्णारोग के हेतु (Etiological factors), उपद्रव, पाँचों प्रकार की तृष्णा के अलग-अलग लक्षण (Signs and Symptoms), असाध्य तृष्णारोग के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा का विवेचन 'तृष्णाचिकित्सा' नामक इस अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल संपूरित चिकित्सास्थान में तृष्णारोगचिकित्सा नामक बाइसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'हेतुरित्यादि' के द्वारा इस अध्याय में वर्णित विषयों का संग्रह किया गया है। अग्निपवनौ इति-यहाँ 'यथाऽग्निपवनौ कुरुतः सोपद्रवां' के साथ 'तृष्णां' शब्द भी जुड़ा हुआ है,अर्थात् अग्नि व वायु जिस प्रकार प्रकुपित होकर तृष्णा एवं तद्जन्य उपद्रवों को उत्पन्न करते हैं। [इससे यहाँ तृष्णा रोग के हेतु (Etiology), संप्राप्ति (Pathogenesis) एवं उपद्रव (Complications) का ग्रहण होता है।]

उपद्रवांश्च मुखशोषादयः पूर्वमुक्ताः–उपद्रव के रूप में उत्पन्न होने वाले-मुखशोष आदि लक्षणों का अभिधान पूर्व में ही किया जा चुका है। ॥६३॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में तृष्णाचिकित्सा नामक बाइसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथातो विषचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे विषचिकित्सा नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।।१-२।।

प्रागुत्पत्तिं गुणान् योनिं वेगाँल्लिङ्गान्युपक्रमान् । विषस्य ब्रुवतः सम्यगग्निवेश निबोध मे ।।३।।

विषयारम्भ–हे अग्निवेश! ध्यानपूर्वक सुनो-इस अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया जा रहा है–

१. विष की सर्वप्रथम उत्पत्ति (Mythological origin of poison),
२. विष के गुण (Properties of poison),
३. विष की योनि (Source of poison),
४. विष के वेग (Virulence of poison),
५. विष सेवन से उत्पन्न होने वाले लक्षण (Signs and Symptoms of poisoning),
६. विष की चिकित्सा (Treatment of Poisoning),

चक्रपाणि–पूर्व वर्णित तृष्णारोग में शीतल उपचार की प्रमुखता दी गयी है । अतः चिकित्सा की समानता के कारण तृष्णारोग के बाद विषचिकित्सा का अभिधान-'प्रागित्यादि' के द्वारा किया जा रहा है । प्रागुत्पत्ति=आद्योत्पत्ति (सबसे पहले-First Appearance) । योनिरिति अधिष्ठानम्-Base=आधार ।

लिङ्गानीति–विष सेवन के बाद शरीर में उत्पन्न होने वाले विष के लक्षण (Signs and Symptoms of poisoning), इसके साथ ही विषाक्त भोजन के लक्षणों का भी ग्रहण इसी से हो जाता है ।

अत्र नापृष्टा गुरवो वदन्तीति न्यायाच्छिष्यप्रश्न उन्नेयः–'बिना पूछे गुरु (आचार्य) कुछ नहीं कहते' इस न्याय से शिष्य के प्रश्नों का अनुमान लगाना चाहिये । अर्थात् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने विष सम्बन्धी विषय का उपदेश तभी प्रारम्भ किया होगा जब अग्निवेश ने इससे सम्बन्धित प्रश्न किया होगा ।

यद्यपि रोगाधिकार (सू.अ. १९/३-४) में साक्षात् विष का अभिधान नहीं किया गया है, फिर भी विषज मद का अभिधान होने से उसका कारण रूप विष होने के कारण उस प्रकरण में वह सूत्रित है, ऐसा जानना चाहिये । इसलिये विष का अभिधान नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । ।।१-३।।

विशेष (Comments)–'रोगाधिकार' से यहाँ महारोगाध्याय (सू.अ. १९) का ग्रहण किया गया है । उस प्रकरण में साक्षात् विष का वर्णन नहीं किया गया है, अपितु चार प्रकार के 'मद' का उल्लेख हुआ है । चूँकि मद के प्रकरण (सू.अ. २४) में विषज मद का भी अभिधान हुआ है, जिसका कारण विष है । अतः परोक्ष रूप से रोगाधिकार प्रकरण में विष का वर्णन है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है।

अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः । जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ।।४।।
दीप्ततेजाश्चतुर्दंष्ट्रो हरिकेशोऽनलेक्षणः । जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः ।।५।।

विष की आद्योत्पत्ति (प्रथमोत्पत्ति) का वर्णन–देवताओं एवं राक्षसों द्वारा अमृत प्राप्ति हेतु जब समुद्र मन्थन किया जा रहा था, तब उस यज्ञ में अमृत की उत्पत्ति से पूर्व एक भयङ्कर रूप वाला पुरुष उत्पन्न हुआ । जो अत्यन्त तेजस्वी था, उसके चार दांत थे, केश पिङ्गल वर्ण के तथा नेत्र अग्नि के समान लाल थे । उसको देखकर सभी प्राणी विषाद (दुःखी) को प्राप्त हो गये । जिसके कारण उसका नाम 'विष' रखा गया ।

चक्रपाणि–'अमृतार्थमिति' के द्वारा विष की प्रागुत्पत्ति का अभिधान विष के महाप्रभाव को दर्शाने के लिए किया गया है ।

हरिकेश इति पिङ्गलकेशः–भूरा वर्ण, जिसके बाल (Hair) भूरे वर्ण के हों, यथा-बन्दर के बाल के वर्ण जैसा बालों का वर्ण होना ।

स पुरुषः विषमुच्यते विषादनाद्धेतोः–विषाद उत्पन्न करने के कारण उस पुरुष को विष कहा गया अथवा उसका नाम विष रखा गया । इस प्रकार यहाँ विष शब्द की निरुक्ति का अभिधान किया गया । ।।४-५।।

Scanned by CamScanner

जल्पकल्पतरु टीका–समुद्रमन्थन के समय अमृत की उत्पत्ति से पूर्व अत्यन्त भयङ्कर रूप वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। उसके शरीर से बहती हुई नदी के जल के समान द्रव विशेष (विष रूप द्रव) का स्राव हो रहा था। उस द्रव रूप विष का पान भगवान् शिव ने किया तथा शेष (बचा हुआ) द्रव रूप विष को ब्रह्मा ने स्थावर एवं जङ्गम योनियों में बाँट दिया। अर्थात् शेष विष को स्थावर व जङ्गम योनियों में ब्रह्मा ने विभक्त कर व्यवस्थित कर दिया।

विषादनादिति-विषाद (दुःख) का कारण। द्वे योनि-दो योनियाँ (Source of origin)।

जङ्गमस्थावरायां तद्योनौ ब्रह्मा न्ययोजयत्। तदम्बुसंभवं तस्माद्विविधं पावकोपमम् ।।६।।
अष्टवेगं दशगुणं चतुर्विंशत्युपक्रमम्।

विष की योनि (Source of poison)–वह विष ब्रह्मा द्वारा स्थावर एवं जङ्गम योनियों में बाँट दिया गया। अर्थात् उस विष को ब्रह्मा ने जन्तुओं (जङ्गम Living beings) एवं स्थावर (जो गति न करें, स्थिर रहें, यथा-पेड़, पौधे) योनियों में विभक्त कर दिया। वह विष जल (समुद्रमन्थन) से उत्पन्न एवं अग्नि के समान दीप्त होते हुए भी स्थावर एवं जङ्गम भेद से दो प्रकार का होता है। इसके आठ वेग, दस गुण एवं चौबीस प्रकार के उपक्रम होते हैं।

चक्रपाणि–**तदम्बुसंभवं तस्माद् द्विविधमिति**-वह विष जल से उत्पन्न है, अर्थात् इसकी उत्पत्ति समुद्र से हुई है, इसलिये समुद्र से उत्पन्न होने के कारण यहाँ 'अम्बुसंभव' शब्द का प्रयोग किया गया तथा ब्रह्मा द्वारा इसे दो योनियों में विभक्त किये जाने से इसके दो प्रकार बताये गये। जल (समुद्र) से इसकी उत्पत्ति के कारण वर्षा ऋतु में विष के प्रभाव में वृद्धि होना, यह कहना युक्ति युक्त है। अर्थात् वर्षा ऋतु में विष का प्रभाव बढ़ता है। विष की योनि अम्बु होते हुए भी जल के द्वारा यह प्रशमित होता है, ऐसा जल के विशेष प्रभाव के कारण है। अर्थात् प्रशमन में जल का विशेष प्रभाव ही कारण है। भगवान् व्यास ने कहा भी है, यथा-"अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्। तस्मात् सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति" इति [अग्नि की उत्पत्ति जल से, क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्रह्मा जी से व लौह की उत्पत्ति पत्थर से हुई अतः सभी के अन्दर विद्यमान तेज (अग्नि) की शान्ति अपने-अपने उत्पादक कारण से ही होती है, अर्थात् अग्नि का प्रशमन जल से, क्षत्रिय का प्रशमन ब्राह्मण से तथा लौह का पत्थर से होता है।]

अष्टवेगमिति मनुष्यापेक्षयाऽष्टवेगम्–मनुष्य की अपेक्षा से विष के आठ वेग होते हैं, अर्थात् मनुष्य में विष के आठ वेग होते हैं। विष के दस गुणों का विवेचन आगे किया जायेगा।

उपक्रमाः चिकित्सानुष्ठानभेदाः–चिकित्सा के प्रकार, अर्थात् विष की चिकित्सा २४ प्रकार से की जाती है। ॥६॥

तद्वर्षास्वम्बुयोनित्वात् संक्लेदं गुडवद्गतम् ।।७।।
सर्पत्यम्बुधरापाये तदगस्त्यो हिनस्ति च। प्रयाति मन्दवीर्यत्वं विषं तस्माद्घनात्यये ।।८।।

विष के स्वाभाविक प्रकोप एवं प्रशमन का कारण–विष की योनि जल होने से वर्षा ऋतु में गुड़ के समान क्लेद युक्त (गीला) होकर वह सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित हो (फैल) जाता है तथा इसके समाप्त होते ही तथा अगस्त्य नक्षत्र के प्रभाव के कारण विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इसलिये शरद् ऋतु में विष की शक्ति मन्द पड़ जाती है। अर्थात् वर्षा ऋतु में विष का प्रभाव शरीर पर सबसे अधिक पड़ता है तथा शरद् ऋतु में अगस्त्य नक्षत्र के प्रभाव के कारण विष का प्रभाव कम हो जाता है।

चक्रपाणि–वर्षा ऋतु में विष के विशेष प्रकोप (Aggravation) एवं शरद् ऋतु में शमन (Alleviation) के हेतु को यहाँ 'तद्वर्षास्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है। जिस प्रकार गुड़ का पिण्ड (भेली-Solid piece of Jaggery) वर्षा ऋतु की नमी के संपर्क से पिघल कर फैल जाता है अथवा चिपचिपा हो जाता है उसी प्रकार विष भी वर्षा ऋतु की क्लिन्नता (Humidity) से पिघल कर शरीर में फैल जाता है तथा अत्यधिक शक्ति युक्त हो जाता है। इसलिये दूषी विष से आक्रान्त रोगी इस ऋतु में अत्यधिक कष्ट पाते हैं।

अम्बुधराणां वृद्धिकारणं वर्षागमः–बादलों की वृद्धि का कारण वर्षागमन काल है। इसी ऋतु में विष के प्रभाव की वृद्धि होती है। तथा शरद् ऋतु में अगस्त्य नक्षत्र के प्रभाव से विष का प्रभाव कम हो जाता है। ॥७-८॥

सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः। जलौकामत्स्यमण्डूकाः कणभाः सकृकण्टकाः ।।९।।
श्वसिंहव्याघ्रगोमायुतरक्षुनकुलादयः। दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम् ।।१०।।

जङ्गम विष के उदाहरण–सर्प (Snakes), कीट (Insects), उन्दुर (Mouse-चूहा), लूता (मकड़ी-Spiders), वृश्चिका (Scorpions-बिच्छू), गृहगोधिका (छिपकली-house Lizards), जलौका (जोंक-Leeches), मत्स्य (मछली), मण्डूक (मेढक), कणभ (A kind of fly with a Sting, पाठ भेद से कणभ के स्थान पर शलभ प्राप्त होता है। शलभ=टिड्डी), सकृकण्टका (गिरगिट Chameleon), श्व

Scanned by CamScanner

(कुत्ता), सिंह (Lion), व्याघ्र (Tiger), गोमायु (Jackal- गीदड़), तरक्षु (Hyena-लकड़बग्घा एवं नकुल (नेवला); ये सभी दाढ़ वाले प्राणी हैं। उनकी दाढ़ में उत्पन्न होने वाले विष को जङ्गम विष कहा जाता है। ॥९-१०॥

चक्रपाणि–पराधिकार होने से 'सर्पा इत्यादि' के द्वारा यहाँ जङ्गम एवं स्थावर दोनों प्रकार के विषों का विवेचन संक्षेप में ही किया जा रहा है। [चरकसंहिता कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है तथा विषों का वर्णन विष विद्या (दंष्ट्रा) के अन्तर्गत आता है। चूँकि आचार्य अन्य के विषय में हस्तक्षेप नहीं करना चाहता, लेकिन अष्टांग के विषयों का वर्णन करना आवश्यक होने से इस विषय को संक्षेप में विवेचित किया है, ताकि संहिता की अपूर्णता का दोष उन पर आरोपित न हो।] यद्यपि विष के गुणों का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, फिर भी गुण-गुणी की अपेक्षा करता है, अतः ऐसा होने से स्थावर एवं जङ्गम भेद से विषों के गुण-कर्मों का अलग-अलग अभिधान किया जा रहा है। अर्थात् स्थावर एवं जङ्गम विष के गुण-कर्म अलग-अलग होते हैं। इस कारण से उनका यहाँ अलग-अलग विवेचन किया जा रहा है। उद्देश्य में सबसे पहले विष के गुणों का अभिधान किया गया है, कार्य सम्पादन में गुण ही प्रधान होने से ऐसा किया गया है। सर्पादि के भेदों का वर्णन आगे किया गया है, इसलिये इन विषयों पर दृष्टिपात उन्हीं स्थानों में करना चाहिए। अर्थात् इनसे सम्बन्धित विशेष विवेचन उन्हीं प्रकरणों में है, ऐसा समझें।

आदिग्रहणादुच्चिटिङ्गादीनां तन्त्रान्तरोक्तानां ग्रहणम्–आदि शब्द से तन्त्रान्तर (अन्य शास्त्रों) में वर्णित 'उच्चिटिङ्गादि' का अन्तर्भाव इसमें हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

[In addition to animals described here, there are several other poisonous creatures like uccitinga. Details about these poisonous creatures are to be studied from other text. -Dr. Bhagvan Das]

यहाँ उन जन्तुओं या प्राणियों का उल्लेख किया गया है जिनकी दाढ़ (मसूड़ों) में विष नहीं होता, फिर भी दंष्ट्रि सर्प की प्रधानता होने से उन्हें भी 'दंष्ट्रि' कह दिया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

दंष्ट्रोत्थमिति–दाढ़ से उत्पन्न होने वाले विष को जङ्गम विष कहा गया है, यथा-सर्पादि के विष, इर्सा से उन्दुरु (चुहे) आदि के विष जो दाढ़ से उत्पन्न नहीं हैं, उनका भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् प्रधान रूप से यहाँ दंष्ट्रा विष का उल्लेख किया गया है लेकिन अप्रधान रूप में इसी के अन्तर्गत अदंष्ट्रा विषों का भी समावेश है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-

"जङ्गमस्य विषस्योक्तान्यधिष्ठानानि षोडश। तत्र दृष्टिदंष्ट्रानिःश्वासनखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशविशर्धित-गुदास्थिपित्तशूकशवानि" (सु.क.अ. ३) इति [जङ्गम विष के षोडश (१६) अधिष्ठान हैं, यथा-दृष्टि (Vision), दंष्ट्रा (Fangs-दांत, A Serpent's Venom tooth-दांत की जड़ या सांप का विषैला दांत), निःश्वास (Breath), नख (Nails), मूत्र (Urine), पुरीष (Stool), शुक्र (Semen), लाला (लार Saliva), आर्तव (मासिकस्राव Menstrual fluid), मुख संदंश (Bite), विशर्धित (गुदा से निकलने वाली गैस-Flatus, पायुकृतः कुत्सितशब्दः), गुदा (Anus), अस्थि (Bones), पित्त (Bile), शूक (कीटों के लोम-Bristles) तथा शव (मृत प्राणियों के शरीर-dead body)]। अन्य स्थलों पर भी जङ्गम विष के अधिष्ठानों का उल्लेख किया गया है, यथा-'शुक्रमूत्रपुरीषाणि देहे निपतितानि तु। दारुणं गरमित्याहुः' इति [शरीर से निकलने वाले शुक्र, मूत्र एवं पुरीष आदि गरविष के अन्तर्गत आते हैं। इनके सेवन से भयङ्कर व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।] ॥९-१०॥

विशेष (Comments)–दृष्टि एवं निःश्वास (फूत्कार) से जिसके विष निकलता है, अर्थात् जिन जन्तुओं की दृष्टि एवं फूत्कार विषैली होती है, यथा-दिव्य सर्प। भूमि पर विचरण करने वाले सर्पों के दाढ़ विषैले होते हैं, इसलिये इन्हें दंष्ट्रा विष कहते हैं। मार्जार (बिल्ली), कुत्ता, बन्दर, मकर, मण्डूक (मेढक), पाकमत्स्य, गोधा, शम्बूकप्रचलाक, गृहगोधिका (छिपकली), चतुष्पाद (पशु) तथा अन्य, दंष्ट्रा एवं नख विष वाले होते हैं, अर्थात् इनके नख एवं दाढ में विष पाया जाता है। चिपिट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, वर्चःकीट तथा कौण्डिन्यक; इनके पुरीष (Stool) एवं मूत्र (Urine) विषैले होते हैं। मूषिका (चूहा) के शुक्र में विष होता है। लूता (मकड़ी)-के लाला (Saliva), मूत्र (Urine), पुरीष (Stool), मुख संदंश, नख, शुक्र एवं आर्तव विषैले होते हैं अर्थात् इनमें विष होता है। वृश्चिक (बिच्छू), विश्वम्भर, वरटी, राजीवमत्स्य, उच्चिटिंग (विषखोपरा) तथा समुद्र वृश्चिक (समुद्री बिच्छू); इनके आर (डंक-पूंछ में स्थित काँटे) में विष होता है।

- → चित्रशिर, सराव, कुर्दिशत, दारुकारि, मेदक, सारिका मुख; इनके मुख संदंश (Bite), विशर्धित (Flatus), मूत्र (Urine) एवं पुरीष (Stool) विष युक्त होते हैं।
- → मक्षिका, कणभ एवं जोंक (जलौका)-मुखसंदंश विषाक्त होता है।
- → विष से हत (मृत) प्राणी की अस्थि, सर्पकण्टक (सर्प की दाँत-सर्पदन्त), वरटी एवं मत्स्य के अस्थि विषाक्त होते हैं।

Scanned by CamScanner

→ शकुली मत्स्य, रक्तराजी, वरटी तथा मत्स्य; इनके पित्त (Bile) में विष होता है ।

→ कीट एवं सर्प का मृत शरीर शवविष के अन्तर्गत आता है ।

→ सूक्ष्मतुंड, उच्चिटिंग, वरटी, शतपदी (कनखजूरा), शृंगी, भ्रमर; इनके शूक व तुण्ड विषैले होते हैं ।

मुस्तकं पौष्करं क्रौञ्चं वत्सनाभं बलाहकम् । कर्कटं कालकूटं च करवीरकसंज्ञकम् ।।११।।
पालकेन्द्रायुधं तैलं मेघकं कुशपुष्पकम् । रोहिषं पुण्डरीकं च लाङ्गलक्यञ्जनाभकम् ।।१२।।
सङ्कोचं मर्कटं शृङ्गीविषं हालाहलं तथा । एवमादीनि चान्यानि मूलजानि स्थिराणि च ।।१३।।

स्थावरविष या मूलज विष (Poison of immobile origin)–निम्नलिखित वनस्पतियों के मूल (Root) स्थावर विष के अन्तर्गत आते है, अर्थात् इनके मूल में विष पाया जाता है या विषैले होते हैं–मुस्तक, पौष्कर, क्रौञ्च, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, कालकूट, करवीर (कनेर), पालक, इन्द्रायुध, तैल (तेलिया विष), मेघक, कुशपुष्पक, रोहिष, पुण्डरीक, लाङ्गली, अञ्जनाभ, सङ्कोच, मर्कट, शृंगीविष, हालाहल आदि इसके साथ और दूसरे विष जो मूल से उत्पन्न होते है उन्हें भी स्थावर विष कहते हैं । ॥११-१३॥

चक्रपाणि–स्थावरजे विषे मूलजानीति पदं मूलजस्य बहुत्वात् प्राधान्याच्च-स्थावर विष में 'मूलज' पद का प्रयोग किया गया है, क्योंकि मूल से उत्पन्न होने वाले विषों की संख्या ज्यादा है तथा ये विष मुख्य है । इस प्रकार पत्र पुष्पादि से प्राप्त विषों का भी अन्तर्भाव स्थावर या मूलज विष में ही हो जाता है अर्थात् जिन पौधों के पुष्प, पत्रादि विषैले होते हैं, उनका भी ग्रहण इसी में किया गया है । सुश्रुतसंहिता मे कहा भी गया है, यथा-**''मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च । निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः''** (सु.क.अ. २/४) इति [स्थावर विष के दस अधिष्ठान हैं, यथा- १. मूल, २. पत्र, ३. फल, ४. पुष्प, ५. छाल, ६. दूध (Latex) ७. सार, ८. निर्यास (गोंद), ९. धातु (धातु के अन्तर्गत फेनाश्म एवं हरताल की गणना की गयी है ।) १०. कन्द ।]

कन्दस्त्विह मूलविशेषत्वात् मूलशब्देनैव गृहीतः–यहाँ कन्द भी विशेष रूप से मूल होने के कारण 'मूल' शब्द से कहा गया है अर्थात् मूल में ही कन्द का भी अन्तर्भाव हो जाता है । इनके नाम के सम्बन्ध में शबर, किरातादि (कोल, भील आदि वनवासी) जो इनके (जंगली पौधों के) जानकार हैं, वही प्रमाण हैं । वे ही लोग गुरु-परम्परा से इसका व्याख्यान करते हैं अर्थात् परम्परागत रूप से इन औषधियों की पहचान एवं प्रयोग की विधि इनके ही पास है । ॥११-१३॥

गरसंयोगजं चान्यद्गरसंज्ञं गदप्रदम् । कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ।।१४।।

गरविष (संयोगज विष)–स्थावर एवं जङ्गम विषों के अतिरिक्त संयोग से उत्पन्न होने वाले विष को 'गरविष' कहते हैं । इसका पाचन कालान्तर (कुछ काल के बाद) से होने के कारण रोगी के प्राणों को शीघ्र नहीं हरता, अर्थात् इसके सेवन करने के बाद रोगी की मृत्यु कुछ समय के बाद होती है । इसके सेवन करने से व्यक्ति रोगी हो जाता है ।

चक्रपाणि–स्थावर एवं जङ्गम आरब्ध (प्रारम्भ) के विष हैं, इसके साथ तीसरे विष का अभिधान 'गरसंयोगजमिति' के द्वारा किया जा रहा है ।

गरार्थः संयोगो येषां ते गरसंयोगा द्रव्यभेदाः, तेभ्यो जातं गरसंयोगजम्-विभिन्न द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने वाला विष गरविष कहलाता है । अतः यह एक संयोगज (संयोग से उत्पन्न) विष है । 'गर' शब्द आयुर्वेद शास्त्र का अपना नामकरण है, जो संयोगज विष (कृत्रिम विष-Artificial poisons) के लिए प्रयुक्त हुआ है । यह विष अपना प्रभाव शरीर पर देर में डालता है, इसके प्रभाव के कारण व्यक्ति रोगी हो जाता है, पश्चात् उसकी मृत्यु हो जाती है । (चिरकारी या देर से प्रभाव डालने वाला रोगों को उत्पन्न करने वाला एवं अप्राणहर है) । इसी का विवेचन यहाँ 'कालान्तरेत्यादि' के द्वारा किया गया है ।

सुश्रुत संहिता में भी तीन प्रकार के विषों का वर्णन किया गया है, यथा-''स्थावरं जङ्गमं चैव कृत्रिमं चापि यद्विषम्'' (सु.क.अ. २) इति [विष तीन प्रकार के होते हैं, यथा-१. स्थावर, २. जङ्गम, ३. कृत्रिम] जिस दूषीविष का वर्णन आगे किया जायेगा, उसका भी समावेश इसी तीन के अन्तर्गत करेंगे । गर विष (संयोगज विष) दो प्रकार का होता है-१. निर्विष द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न विष, २. सविष द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न विष । प्रथम–निर्विष द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न विष को 'गरविष' कहा जाता है तथा द्वितीय जो विष युक्त द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होता है उसे कृत्रिम विष कहा जाता है । यही व्यवस्था रसायन प्रकरण में भी अपनायी गयी है, यथा-''दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे'' (चि.अ. १ पा.) इति [विष ४ प्रकार का होता है-१. दंष्ट्राविष, २. मूलविष, ३. गरविष, ४. कृत्रिम विष] । वृद्ध काश्यप के द्वारा भी इसी का अनुमोदन किया गया है, यथा-**संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्''** इति [जङ्गम एवं स्थावर विष के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का विष संयोगज विष होता है । यह दो प्रकार का होता है-१. गरविष- इसे विष नहीं कहा जा सकता, अर्थात् यह विष नहीं होता, अपितु विष रहित द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होता है। २. कृत्रिम विष-यह विष युक्त होता है अर्थात् इसके सेवन से शरीर में विषाक्तता के लक्षण शीघ्र मिलने लगते हैं ।] ॥१४॥

Scanned by CamScanner

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहं सपाकं लोमहर्षणम् । शोफं चैवातिसारं च जनयेज्जङ्गमं विषम् ।।१५।।
स्थावरं तु ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम् । फेनवम्यरुचिश्वासमूर्च्छाश्च जनयेद्विषम् ।।१६।।
जङ्गमं स्यादूर्ध्व भागमधो भागन्तु मूलजम् । तस्मादंष्ट्राविषं मौलं हन्ति मूलञ्च दंष्ट्रिजम् ।।१७।।

जङ्गम विष के प्रभाव (Effects of Jaṅgama-Visha)–जङ्गमविष का सम्पर्क शरीर से होने पर व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं–अत्यधिक निद्रा का आना (Somnolence), तन्द्रा (drowsiness), क्लम (मानसिक थकावट-Mental fatigue), शरीर में दाह का होना (Burning sensation), पाक का होना (Inflammation), रोमहर्ष (Horripilation), शोफ (Oedema) एवं अतीसार (Diarrhoea)।

स्थावर विष के प्रभाव (Effects of Sthāvara-Visha)–इस विष के सेवन करने पर शरीर में-ज्वर (Fever), हिक्का (Hiccup), दन्तहर्ष (Tingling sensation in the teeth), गलग्रह (गले में अवरोध का होना), फेन युक्त वमन का होना या मुख से झाग का आना, अरुचि (Anorexia), श्वास कृच्छ्रता (Dyspnoea) तथा मूर्च्छा (Fainting) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

विषों की गति–जङ्गम विष (Animal poisons) की गति शरीर के ऊर्ध्व भाग, अर्थात् जङ्गम विष का वेग ऊपर की ओर तथा मूलज विष (स्थावर विष) की गति शरीर के अधो भाग की ओर होती है। इसलिये दंष्ट्राविष (जङ्गमविष) को मूलविष तथा मूलविष के प्रभाव को दंष्ट्राविष (जङ्गमविष) दूर करता है।

चक्रपाणि–'निद्रामित्यादि' के द्वारा जङ्गम विष का तथा ज्वरमित्यादि के द्वारा स्थावर विष के लक्षण जो सभी वेगों के साथ मिलते हैं, बताया गया है। जङ्गम एवं स्थावर विषों के परस्पर उपघातक धर्म (गुण) को बताने के लिये हेतु पूर्वक परस्पर उपघातकत्व को यहाँ 'जङ्गममित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

तस्मादिति परस्परं विरुद्धमार्गगामित्वात्–इसलिये परस्पर विपरीत मार्ग गामी होने से, अर्थात् जङ्गम विष एवं स्थावर विष के वेगों की गति परस्पर विरुद्ध होती है। इसे इस प्रकार बताया गया है, यथा-"विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते" [डंक युक्त विष (जङ्गम विष) के प्रभाव को विषपान (स्थावर विष के सेवन) द्वारा, विषपान (स्थावर विष) के प्रभाव को दंशविष (जङ्गम विष) नष्ट कर देता है।] ऐसा स्वीकार करने पर आत्रेयभद्रकाप्यीय अध्याय मे वर्णित सूत्र-'विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम्' [विष को विषघ्न कहा गया है, उसमें उसका प्रभाव ही कारण है] के द्वारा विष के विषनाशक प्रभाव की उत्पत्ति का जो अभिधान किया गया है, वह विरुद्ध हो जाता है, यह शङ्का है। ऐसा नहीं है, यदि इसमें द्रव्यों का प्रभाव (द्रव्य प्रभाव) कारण नहीं होता तब जो कोई भी द्रव्य जो ऊर्ध्व भाग के दोषों पर कार्यकर है, यथा-मदनफल आदि उनको दंष्ट्राविषनाशक होना चाहिए तथा त्रिवृत् आदि जो अधोभागहर द्रव्य हैं उनको मूलविषनाशक (स्थावर विष नाशक) होने चाहिये, जबकि ऐसा दिखाई नहीं देता। इसलिये विषों की ऊर्ध्वभाग एवं अधोभाग की गति में प्रयुक्त द्रव्यों का अपना प्रभाव ही कारण है। [इस प्रकार स्थावर एवं जङ्गम विषों की गति, जो परस्पर विरुद्ध होती है, उसमें उनका प्रभाव (Specific action) ही कारण है एवं इस प्रभाव का ही फल है कि वे एक दूसरे द्वारा परस्पर उपघातित होते हैं ।।१५-१७।।

विशेष (Comments)–ऐसा नहीं कहा जा सकता कि परस्पर विरुद्ध गति के कारण ये दोनों प्रकार के विष एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करते हैं। ऐसा होने में विषों का अपना प्रभाव ही कारण है। पाठ भेद से विष के वेग के सम्बन्ध में - 'जङ्गमं स्यादधोभागमूर्ध्वभागं तु मूलजम्' सूत्र प्राप्त होता है। जो व्यवहारिक दृष्टि से विरुद्ध प्रतीत होता है। चक्रपाणि टीका एवं विष में प्रयुक्त बन्धन का विचार करने पर भी यहीं विचार पुष्ट होता है।

तृष्मोहदन्तहर्षप्रसेकवमथुक्लमा भवन्त्याद्ये । वेगे रसप्रदोषादसृक्प्रदोषाद्द्वितीये तु ।।१८।।
वैवर्ण्यभ्रमवेपथुमूर्च्छाकृष्माङ्गचिमिचिमातमकाः । दुष्टपिशितात्तृतीये मण्डलकण्डूश्चयथुकोठाः ।।१९।।
वातादिजाश्चतुर्थे दाहच्छर्द्यङ्गशूलमूर्च्छाद्याः । नीलादीनां तमसश्च दर्शनं पञ्चमे वेगे ।।२०।।
षष्ठे हिक्का, भङ्गः स्कन्धस्य तु सप्तमेऽष्टमे मरणम् । नृणां, चतुष्पदां स्याच्चतुर्विधः, पक्षिणां त्रिविधः ।।२१।।
सीदत्याद्ये भ्रमति च, चतुष्पदो वेपते, ततः शून्यः । मन्दाहारो म्रियते श्वासेन हि चतुर्थवेगे तु ।।२२।।
ध्यायति विहगः प्रथमे वेगे, प्रभ्राम्यति द्वितीये तु । स्रस्ताङ्गश्च तृतीये विषवेगे याति पञ्चत्वम् ।।२३।।

विष के आठ वेग

प्रथम वेग के लक्षण–यह अवस्था रसधातु की दुष्टि से उत्पन्न होती है, अर्थात् इस अवस्था में रसधातु की विकृति होती है, इसके कारण रोगी को तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना-Morbid thirst), मोह (Unconsciousness), दन्तहर्ष (Morbid sensitiveness of the teeth), प्रसेक (Salivation-मुख से लार का निकलना), वमथु (वमन-Vomiting) एवं क्लम (Exhausted-अत्यन्त थका हुआ); लक्षण मिलते हैं।

Scanned by CamScanner

२. द्वितीय वेग के लक्षण–इस वेग में रक्त की दुष्टि (विकृति) होती है अर्थात् विष का प्रभाव रक्त में परिलक्षित होने लगता है। इस अवस्था में रोगी में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं–क. वैवर्ण्यता (त्वचा के वर्ण का विकृत हो जाना-discolouration of the skin), ख. सिर में चक्कर का आना (Giddiness), ग. वेपथु (Trembling-शरीर में तीव्र कम्पन का होना), घ. मूर्च्छा (Fainting), ङ. जृम्भा (जम्भाई का आना-yawning), च. शरीर में चुनचुनाहट का होना (Tingling sensation in the body), ज. तमकश्वास (श्वासकृच्छ्रता-Dyspnoea)।

३. तृतीय वेग के लक्षण–तृतीय वेग में विष मांसधातु को दूषित करता है, जिससे शरीर में चकत्तों का निकलना (गोल चकत्ते का निकलना-Circular eruptions), कण्डू (Excessive itching), श्वयथु (Oedema) एवं कोठ (Urticaria) उत्पन्न हो जाते हैं।

४. चतुर्थ वेग के लक्षण–इस वेग में वातादि दोष अत्यधिक प्रकुपित हो जाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर में अत्यन्त दाह का होना (Burning sensation), छर्दि (वमन का होना-Vomiting), अङ्गशूल (हाथ व पैरों में अत्यधिक वेदना का होना एवं मूर्च्छा (Fainting) आदि लक्षण मिलते हैं।

५. पञ्चम वेग के लक्षण–व्यक्ति को सभी वस्तुयें नीले वर्ण की दिखाई देने लगती हैं तथा उसके आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है।

६. षष्ठवेग के लक्षण–रोगी को हिचकी आने लगती है।

७. सप्तम वेग के लक्षण–इस वेग में व्यक्ति के कन्धे लटक जाते हैं (स्कन्ध भङ्ग Paralysis of the muscles in the shoulder region)

८. अष्टम वेग के लक्षण–इस अवस्था में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

अन्य प्राणियों (मनुष्य के अतिरिक्त) में विष के वेग

चतुष्पाद (पशुओं) में स्थावर एवं जङ्गम विष के चार वेग तथा पक्षियों में तीन वेग आते हैं।

चतुष्पाद में विष के वेग–प्रथम वेग में पशु में अवसाद (Depression) एवं भ्रम (Giddiness) मिलता है, द्वितीय वेग में कम्प (कम्पन होना), तृतीय वेग में पशु अपने शरीर को हलका महसूस करता है (शून्यता) तथा आहार लेना बन्द कर देता है। [शून्यता का पाठभेद शूनः भी प्राप्त होता है जिसका अर्थ शोथ (Oedema) से है, अर्थात् तृतीय वेग में पशु के शरीर में शोथ उत्पन्न हो जाता है।] चतुर्थ वेग में श्वासावरोध के कारण पंशु की मृत्यु हो जाती है।

पक्षियों में विष के वेग–१. प्रथम वेग में पक्षी चिन्तायुक्त हो जाता है।

२. द्वितीय वेग में इधर-उधर चक्कर काटने लगता है।

३. तृतीय वेग में पक्षी के अङ्ग शिथिल हो जाते हैं, परिणामतः उसकी मृत्यु हो जाती है, अर्थात् पञ्चत्व को प्राप्त हो जाता है।

चक्रपाणि–'तृष्मोहेत्यादि' के द्वारा क्रमशः विष के आठ वेगों के लक्षणों को बताया गया है। आचार्य सुश्रुत ने एक-एक कला के अतिक्रमण से सात वेग उत्पन्न होते हैं, कहा है। यहाँ कला से बाहर निकलने पर सात वेग हो जाते हैं। आठवें वेग में सात कला (सप्त धातुओं) से विष आगे बढ़ जाता है, जिससे यह मारक वेग उत्पन्न होता है। सातवें वेग के बाद दंष्ट्राविष का गमन अपने दंष्ट्र स्थान की ओर तथा स्थावरविष जो मुखमार्ग द्वारा ग्रहण किया गया है, उसका गमन हृदय की ओर होता है, इसलिये सुश्रुत के कथन से इसका कोई विरोध नहीं है। विष की यह अवस्था आठवें वेग की है। **वातादिजा इति यथायोग्यतया उद्धतान्यतरैकदोषद्विदोषत्रिदोषजा**–विष के चतुर्थ वेग में वातादि दोषों की वृद्धि यथायोग्यतया (विष की जैसी क्षमता है तदनुसार)-एक दोष की वृद्धि अथवा द्विदोष अथवा त्रिदोष (तीनों दोषों की एक साथ वृद्धि) की वृद्धि होती है, ऐसा जानना चाहिये।

मूर्च्छाद्या इति–से यहाँ प्रयुक्त आदि शब्द प्रकारवाची है। चतुर्थादि वेगों में अनुक्त होते हुए भी मेद आदि दूष्यों की दुष्टि का अनुमान करना चाहिये। अर्थात् इन दूष्यों की दुष्टि होती है, ऐसा सुश्रुत के वचन से ज्ञात होता है। 'नीलादि' से यहाँ आदि शब्द प्रधानवाची होते हुए प्रधान रूप से नील वर्ण के दर्शन के साथ और वर्ण के भी दर्शन होते हैं, अर्थ लिया गया है। छठवें वेग में व्यक्ति को केवल हिचकी आती है। अतः 'षष्ठे हिक्का' से ही वाक्य पूर्ण हो जाता है।

विषवेगप्रस्तावाच्चतुष्पादपक्षिणोऽपि विषवेगानाह–यहाँ विषों के वेग का प्रस्ताव (संकेत=भूमिका) होने से चतुष्पाद (पशुओं) एवं पक्षियों में पाये जाने वाले विष के वेगों का अभिधान किया गया है।

यहाँ विष वेग (पशु-पक्षियों या मनुष्यों) के कथन का प्रयोजन यह है कि-यदि स्थावर विष से पशु या पक्षी की मृत्यु हुई है तब उसका हृदय विषाक्त होता है, अर्थात् विष का प्रभाव उसके हृदय पर ज्यादा पड़ता है तथा दंष्ट्र विष का प्रभाव अष्टम वेग में या अन्त में दंष्ट्रा स्थान पर होता है। इसलिये इनके मांस का प्रयोग हृदय या दंष्ट्र स्थान को काटकर अलग करने के बाद करना चाहिये।

Scanned by CamScanner

वेगज्ञानेनाप्राप्तनैष्ठिकवेगस्य यथोक्तविधिना मांसं नोपादेयम्–वेग ज्ञान से अप्राप्त नैष्ठिक वेग युक्त पशु-पक्षी का मांस उपयोगी नहीं होता। अर्थात् पशु-पक्षी में विष के अन्तिम वेग नहीं उत्पन्न हैं अथवा निर्दिष्ट वेगों को नहीं प्राप्त हुआ है तब ऐसे पशु-पक्षी का मांस उपादेय नहीं है। [If the animals dies while the poison is spreading through different stages. then the meat of such animals or birds should not be eaten at all because the poison spreads all over their bodies during these different stages. –Dr. Bhagvan Das]

चतुष्पदादीनामल्पवेगत्वं सत्त्वाल्पत्वात्–चतुष्पदादि (पशुओं एवं पक्षियों) का सत्त्व अल्प होने से मनुष्य की भाँति इनमें विष के सात वेग न उत्पन्न होकर कम वेग उत्पन्न होते हैं। अवसाद का उत्पन्न होना, पशुओं के द्वितीय वेग का लक्षण है तथा शून्यतादि तृतीय वेग का लक्षण है। ॥१८-२३॥

विशेष (Comments)–यहाँ सातों वेगों की उत्पत्ति में विष द्वारा क्रमशः सातों धातुओं (रसादि) का विकृत होना ही कारण है, बताया गया है। चरक ने विष के ८ वेग तथा सुश्रुत ने ७ वेग माने हैं। आचार्य चक्रपाणि ने दोनों आचार्यों के मतों में एकरूपता स्थापित की है। जिनके अनुसार स्थावर विष क्रमशः सप्त कलाओं का लंघन कर रोगी को मारने के लिए हृदय में आता है तथा जङ्गम विष दंश स्थान में आ जाता है। यह अवस्था सप्तम वेग के बाद होती है। अतः दोनों ही प्रकार के विषों में सात वेग ही मुख्य होते हैं।

सुश्रुत के अनुसार स्थावर विषों के द्वारा होने वाले सातों वेगों में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

प्रथम वेग–जिह्वा का श्याव वर्ण युक्त होना (Blackish colour), जिह्वा का जकड़ जाना, मूर्च्छा, श्वास (Dyspnoea)।

द्वितीय वेग–वेपथु (शरीर में कम्प का होना), अवसाद (शरीर का शिथिल हो जाना), दाह (Burning sensation), कण्ठ में वेदना का होना। विष के आमाशय में पहुँचने पर हृदय में वेदना का होना।

तृतीय वेग–तालुशोष (तालु प्रदेश का सूखना), आमाशय में तीव्र शूल का होना (भयङ्कर शूल का होना), नेत्रों व मुख का विवर्ण हो जाना अथवा हरे वर्ण का होना, आँखें शोथ युक्त।

चतुर्थ वेग–पक्वाशय एवं आमाशय में तोद का होना, हिक्का (हिचकी), कास (Cough), आँतों में गुड़गुड़ाहट का होना, सिर में भारीपन।

पञ्चम वेग–कफप्रसेक (मुख से कफ का स्राव होना), विवर्णता (Discolouration of the Skin), पर्ववेदना [जोड़ों (छोटी संधियों) में टूटने जैसी वेदना का होना] सभी दोषों का प्रकुपित हो जाना, पक्वाशय में वेदना का होना।

षष्ठ वेग–बुद्धि एवं प्राणों का नाश होना, तीव्र अतिसार का होना।

सप्तम वेग–स्कन्ध, पृष्ठ एवं कटि का भंग (Paralysis of the muscles of Shoulder, Back and Lumber region), श्वासावरोध से रोगी की मृत्यु। (सुश्रुत कल्पस्थान २/३५-३९)

लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥२४॥
रौक्ष्याद्वातमशैत्यात्पित्तं सौक्ष्म्यादसृक् प्रकोपयति। कफम् व्यक्तरसत्वादन्नरसांश्चानुवर्तते शीघ्रम् ॥२५॥
शीघ्रं व्यवायिभावादाशु व्याप्नोति केवलं देहम्। तीक्ष्णत्वान्मर्मघ्नं प्राणघ्नं तद्विकासित्वात् ॥२६॥
दुरुपक्रमं लघुत्वाद्वैशद्यात् स्यादसक्तगतिदोषम्। दोषस्थानप्रकृतीः प्राप्यान्यतमं ह्युदीरयति ॥२७॥

विष के गुण–विष विशेषज्ञों द्वारा विष के दस गुण बताये गये हैं–

१. लघु (lightness), २. रूक्ष (Ununctuousness), ३. आशु (quickness), ४. विशद (Nonsliminess) ५. व्यवायी [पाचन होने से पूर्व विष का सम्पूर्ण शरीर में फैल जाना (Which pervades the whole body before getting digested अर्थात् पहले विष का सम्पूर्ण शरीर में फैलना, पश्चात् उसका पाचन होना] ६. तीक्ष्ण (Sharpness), ७. विकासी (जो सन्धियों एवं ओज में शिथिलता उत्पन्न करे), ८. सूक्ष्म (Subtleness), ९. उष्ण (Heat), १०. अनिर्देश्यरस (अव्यक्त रस-जिसके रस का ज्ञान न हो सके)।

विष अपने रूक्ष गुण से वात को, उष्ण गुण के कारण पित्त को, सूक्ष्म गुण के कारण रक्त को प्रकुपित करता है। अव्यक्त रस के कारण कफ को प्रकुपित करता है एवं साथ-साथ कफ के प्रकुपित होने से यह शीघ्र ही अन्नरस में पहुँच जाता है। अपने व्यवायी एवं आशु गुण के कारण सम्पूर्ण शरीर में शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है। तीक्ष्ण (Sharpness) गुण के कारण मर्मस्थान (Vital organs) को नष्ट करता है तथा विकासी गुण के कारण प्राणों का नाशक है। लघु होने से इसकी चिकित्सा करना अत्यन्त कष्टदायक होती है, अर्थात् चिकित्सा में कठिनता आती है। विशद होने से प्रकुपित दोषों की गति स्थिर नहीं रहती। दोष स्थान (Location of the Dosas) व आतुर की प्रकृति (Constitution of the patient) के अनुसार विष अन्य उपद्रवों को भी उत्पन्न करता है। ॥२४-२६॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'लघ्वित्यादि' के द्वारा विष के गुणों को बताया गया है। 'रौक्ष्यादित्यादि' के द्वारा प्रत्येक गुण के कार्य को स्पष्ट किया गया है। अशैत्यात्=उष्ण होने से विष पित्त को प्रकुपित करता है। सूक्ष्म होने से रक्त प्रकोपक होता है, क्योंकि रक्त का प्रसार (गति) शरीर के सूक्ष्म स्रोतस् तक होता है। अव्यक्त रसत्व विष एवं जल दोनों का ही गुण है। अत: अव्यक्त रस के कारण विषाश्रित कफ गुण की वृद्धि होती है। **अन्नरसांश्चानुवर्तते इति अव्यक्तरसत्वेन जलं यथा गन्धग्रहणे योगवाहि भवति तथा विषमपि अन्नरसान् झटित्यनुगतं भवति**–जिस प्रकार जल गन्ध ग्रहण में योगवाही होता है उसी प्रकार विष भी अपने अव्यक्त रस के कारण जल से भावित अन्नरस में शीघ्र ही फैल जाता है। इसके बाद अन्न उसके द्वारा प्रभावित हो जाता है। शीघ्रता से अभिप्राय-अत्यन्त कम समय में विष सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है, से है।

व्यवायित्वात् केवलं देहं व्याप्नोति इति ज्ञेयम्–व्यवायि होने से विष पहले सम्पूर्ण शरीर में फैलता है, ऐसा समझना चाहिये।

व्यवायी का अभिप्राय विष का सम्पूर्ण शरीर में फैलने से है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार पानी के ऊपर तैल फैलता है।

विष तीक्ष्ण गुण युक्त होने से मर्मों का नाशक है। मर्म (Vital organs) सौम्य अथवा मृदु स्वरूप के होते हैं। अत: तीक्ष्ण गुण मर्मों के स्वभाव के विरुद्ध होता है।

विकासित्वादिति हिंसनशीलत्वात्–विकासी होने से या हिंसा स्वभाव से, विपूर्वो हि कसति हिंसार्थ:-यहाँ विकासी शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है-वि-विशेष रूप से, व 'कसति' शब्द हिंसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका भाव विशेष हिंसा से है, अर्थात् जिसके द्वारा अत्यधिक हिंसा (excessive violence) होती है उसे विकासी कहा जाता है। अत: विकासी द्रव्य ओज का क्षय करते हुये संधि बन्धनों को ढीला करते हैं।

लघुत्वादिति अनवस्थितत्वात्–लघु का सामान्य अर्थ हलकापन (Lightness) लिया गया है, लेकिन यहाँ अनवस्थितता (Instability अस्थिरता) गृहीत है, जिसके कारण चिकित्सा कार्यकारी नहीं होती। अर्थात् विष एक स्थान पर स्थिर न होने से चिकित्सा सफल नहीं होती।

असक्ता: अविश्रान्ता दोषेषु गतिर्यस्य तत् असक्तगतिदोषम्–जिसके दोषों की गति न रुकती हो अर्थात् दोष धातुओं में रुकते न हों, इसे 'असक्तगति दोषम्' कहा गया है, अर्थात् दोष स्रोतस् में सदा गतिमान हों। चूकि विष विशद गुण युक्त होता है। विशद (पिच्छिलता रहित) होने के कारण विष धातुओं में कहीं भी नहीं रुकता, फलत: वह शीघ्रता पूर्वक शरीर में फैल जाता है।

अत्र च गुणानां प्रतिनियमेन विरुद्धकर्मकरणे विषस्याशिवत्वमेव नियामकं ज्ञेयम्–यहाँ गुणों के विरुद्ध कर्म करने पर विष का अमंगलकारी रुप ही नियमत: देखने में आता है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् गुणविरुद्ध चिकित्सा करने पर भी परिणाम हितकर नहीं मिलता। इस प्रकार विष के रूक्षादि गुणों से श्लेष्मादि के क्षय के प्रति आशङ्का नहीं करनी चाहिये। सुश्रुतसंहिता में विष के गुणों में जो 'पाकित्व' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह आशुकारी विष में निष्प्रयोज्य होने से उसका यहाँ अभिधान नहीं किया गया है, फिर भी विष इतने अधिक समय तक काल (समय) की अपेक्षा नहीं करता, जिससे उसका पाक हो जाय। अर्थात् विष अपने पाक के काल का विचार नहीं करता। अत: पाक का विषय यहाँ विचारणीय नहीं है। सुश्रुतसंहिता में कालान्तर में प्रकुपित होने वाले दूषीविष का उल्लेख हुआ है। इसका विचार यहाँ भी (चरकसंहिता में भी) दूषीविष के प्रसंग में किया गया है। ॥२४-२७॥

स्याद्वातिकस्य वातस्थाने कफपित्तलिङ्गमीषत्तु । तृष्मोहारतिमूर्च्छागलग्रहच्छर्दिफेनादि ॥२८॥
पित्ताशयस्थितं पैत्तिकस्य कफवातयोर्विषं तद्वत् । तृट्कासज्वरवमथुक्लमदाहतमोतिसारादि ॥२९॥
कफदेशगं कफस्य च दर्शयेद्वातपित्तयोश्चेषत् । लिङ्गं श्वासगलग्रहकण्डूलालावमथ्वादि ॥३०॥

प्रकृति के अनुसार दोषों का प्रकोप–१. वातिक प्रकृति वाले पुरुष के शरीर में विष वात के स्थान पर आश्रित होकर कफ व पित्त के लक्षणों को अल्प दर्शाते हुए निम्नलिखित लक्षणों को व्यक्त करता है। अर्थात् इस प्रकार के पुरुष में पित्त व कफ के लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं।

तृष्णा (Morbid thirst), मोह (Unconsciousness), अरति (किसी भी वस्तु के प्रति इच्छा का न होना-disliking for every things), मूर्च्छा (Fainting), गलग्रह (गले में जकड़ाहट का होना), छर्दि (Vomiting) तथा मुख से फेन (झाग) का निकलना।

२. पैत्तिक प्रकृति वाले पुरुष के पित्ताशय में विष आश्रित होकर कफ एवं वात के लक्षणों को अल्प रूप में उत्पन्न करते हुए पित्त के लक्षणों को अत्यधिक रूप में उत्पन्न करता है, यथा-तृष्णा (Morbid thirst), कास (Cough), ज्वर (Fever), वमथु (वमन की इच्छा का होना), क्लम (बिना परिश्रम किये ही शरीर में थकावट का होना-exhaustion), दाह (Burning sensation), तम (आँखों के सामने अन्धकार छा जाना-darkness) एवं अतिसार (diarrhoea) आदि।

Scanned by CamScanner

३. यदि विष कफ प्रकृति वाले पुरुष के कफस्थान पर आश्रित होता है तब उसमें वात व पित्त के लक्षण अल्प तथा कफ के लक्षण तुलनात्मक रूप में ज्यादा एवं गंभीर मिलेंगे, यथा-श्वास (Dyspnoea), गलग्रह (गले में अवरोध), कण्डू (Itching), लालास्राव का होना (Excessive salivation); वमथु (वमन करने की इच्छा का होना), आदि ।

चक्रपाणि–यहाँ स्थान एवं प्रकृति के अनुसार विषरोगी में मिलने वाले विशेष लक्षणों का विवेचन 'वातिकस्येत्यादि' के द्वारा किया गया है । विष एवं मद्य, ये दोनों ही यद्यपि त्रिदोष प्रकोपक होते हैं फिर भी स्थान एवं प्रकृति की विशेषता के कारण अनुकूल गुण वाले दोष ज्यादा प्रकुपित होते हैं, शेष दोष अल्प रूप में प्रकुपित होते हैं ।

वातिकस्य इति–वात प्रकृति वाले पुरुषों में, वात स्थान से यहाँ पक्वाशय अर्थ लिया गया है ।

कफपित्तलिङ्गमीषदिति–कफ-पित्त के लक्षणों का अल्प रूप में मिलना, इस वचन से इस प्रकार के पुरुषों में (वातिक प्रकृति वाले पुरुषों में) वात के लक्षण अत्यन्त प्रबल रूप में मिलते हैं, जिसका विवेचन 'तृण्मूर्च्छेत्यादि' के द्वारा यहाँ किया गया है, ऐसा जानना चाहिये । ऐसा ही पित्त एवं कफ प्रकृति के बारे में जोड़ना चाहिये अथवा अर्थ लगाना चाहिये । अर्थात् पित्त प्रकृति वाले पुरुष में पित्त तथा कफ प्रकृति वाले पुरुष में कफ दोष के लक्षण अत्यन्त प्रबल रुप में मिलते हैं । कफवातयोस्तद्वत् इति ईषदित्यर्थः–पित्त प्रकृति वाले पुरुष में कफ व वात के लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं । तृडादि लक्षणों का अत्यन्त प्रबल रूप में मिलना, पित्त के अत्यधिक प्रकोप का द्योतक है।

कफेत्यादौ चकारात्–'कफदेशगं कफस्य च' से कफ प्रकृति वाले पुरुषों में विष कफस्थान के आश्रित होकर अपने लक्षणों को उत्पन्न करता है । इसमें कफ दोष के लक्षण अत्यन्त प्रबल तथा वात-पित्त के लक्षण अल्प रूप में मिलते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिये । ॥२८-३०॥

दूषीविषं तु शोणितदुष्ट्यारुःकिटिमकोठलिङ्गं च । विषमेकैकं दोषं संदूष्य हरत्यसूनेवम् ।।३१।।

दूषीविष के लक्षण (Signs of Dūshī-Visha)–दूषीविष रक्त को दूषित करते हुए अरु (Eczema in the head-सिर में छोटी-छोटी फुंसियों का निकलना), किटिभ (Psoriasis) एवं कोठ (Urticaria) जैसी व्याधियों को उत्पन्न करता है । अर्थात् रक्त के प्रकुपित (दूषित) होने पर अरु, किटिभ (म) एवं कोठ उत्पन्न हो जाते हैं । इस प्रकार यह विष एक-एक दोष को प्रकुपित करके रोगी के प्राणों को हर लेता है ।

चक्रपाणि–'दूषीत्यादि' के द्वारा यहाँ दूषीविष के लक्षणों को बताया गया है । **कोठः वरटीदंशशोथाकारः**-बर्रे के काटने (डंक) से उत्पन्न शोथ की तरह शोथ का होना कोठ (Urticaria) कहलाता है ।

कालान्तरप्रकोपि विषं दूषीविषम्–कालान्तर में दोषों को प्रकुपित करने वाला विष दूषीविष कहलाता है । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-"दूषितं देशकालादिदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः । यस्माद्दूषयते धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम्" (सु.क. २/३३) इति [दूषीविष देश, काल, अन्न, दिवास्वप्न आदि कारणों के प्राप्त होने पर धातुओं को दूषित करता है, जिसके कारण इसे दूषीविष कहा जाता है । देश से यहाँ आनूप देश का ग्रहण है, जहाँ अत्यधिक शीतल हवायें व वर्षा होती हो । काल=अत्यधिक शीतल हवाओं का बहना या दुर्दिन (अत्यधिक शीत, या उष्ण या वर्षा का होना) । 'अन्न' से सुरा, तिल या कुलथी का सेवन करना, अन्न के साथ ही व्यवाय, व्यायाम, क्रोध आदि का भी ग्रहण है । इन हेतुओं के प्राप्त होते ही पूर्व का विद्यमान विष (दूषीविष) पुनः बली होकर धातुओं को दूषित कर अपने लक्षणों को उत्पन्न करता है।] यही लक्षण प्रायः गरविष में भी पाये जाते हैं, यद्यपि कि स्थावर एवं जङ्गम विष में भी यही लक्षण पाये जाते हैं । जिसके बारे में आचार्य सुश्रुत ने भी कहा है, यथा-"जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति" (सु.क.अ. २) इति [यह विष स्थावर, जङ्गम या कृत्रिम प्रकार का विष है, जो शरीर से पूर्णतः बाहर नहीं निकलता, किन्तु शरीर में इसका पाचन हो जाने के कारण अथवा विषघ्न औषधियों द्वारा अभिहत होकर, अथवा दावाग्नि, आतप, वायु आदि से शुष्क हो जाने के कारण या स्वभावतः इसके गुणों में कुछ कमी (अल्पता) आ जाती है, इस विष को दूषीविष कहते हैं । अल्प शक्ति युक्त होने के कारण इससे व्यक्ति की मृत्यु शीघ्र नहीं होती ।]

यहाँ भी दूषीविष के अन्तर्गत कीटों के विष जो अल्प वीर्य युक्त होते हैं, उनका ग्रहण किया गया है, या आते हैं। 'विषमेकैकमित्यादि' से 'स्याद्वातिकस्येत्यादि' के द्वारा जो एक-एक दोष के अत्यधिक प्रकोप को बताया गया है, उसी का यहाँ भी ग्रहण है। अर्थात् दूषीविष भी अनुकूल देश, काल, अन्नादि के प्राप्त होते ही प्रकृति एवं स्थान की विशेषता से दोषों को अत्यधिक प्रकुपित करके रोगी के प्राणों को नष्ट कर देता है । संदूष्येति अत्यर्थं दूषयित्वा-अत्यधिक दूषित करके । ॥३१॥

क्षरति विषतेजसाऽसृक् तत् खानि निरुध्य मारयति जन्तुम् । पीतं मृतस्य हृदि तिष्ठति दष्टविद्धयोर्दशदेशे स्यात् ।।३२।।

विष के द्वारा मृत्यु का कारण–विष के तेज से रक्त का स्राव होने लगता है, वह रक्त (स्रवित रक्त) स्रोतसों को अवरुद्ध करके प्राणी को मार देता है । अर्थात् स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने से व्यक्ति की शीघ्र मृत्यु हो जाती है । यदि विष मुखमार्ग द्वारा ग्रहण किया गया है तब

Scanned by CamScanner

वह विष हृदय में स्थित हो जाता है। यदि विष दंश के कारण अथवा विद्धता के कारण है, अर्थात् किसी प्राणी के दंश के कारण फैला है अथवा विषाक्त बाण या गोली के कारण शरीर में फैला है तब उसका अवस्थान दंश या विद्ध स्थान तक रहता है या होना चाहिये। [यह स्थिति रोगी के मृत्यु के समय की है, अभिप्राय यह है कि मृत्यु के समय ऐसे व्यक्ति में फैलने वाला विष हृदय स्थान (पीत विष) या दंश स्थान (विद्ध अथवा दंष्ट्रा विष) पर ठहर (रुक) जाता है।

चक्रपाणि–ऐसे विष जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उससे होने वाली मृत्यु को यहाँ 'क्षरतीत्यादि' के द्वारा बताया गया है। (अनुक्त प्राणहर सामाग्री को यहाँ बताया गया है।) **पीतं विषं विशेषेण मृतस्य हृदि तिष्ठति**– पीत विष विशेष रूप से मृत पुरुष के हृदय में विद्यमान रहता है। यदि किसी की मृत्यु विष पीने से हुई है तब वह विष मृत पुरुष के हृदय में अवस्थित (विद्यमान) रहता है। यदि व्यक्ति की मृत्यु दष्ट विष (जङ्गम प्राणी के काटने से) अथवा विद्ध विष (विषाक्त बाण या गोली आदि के लगने) से हुई है तब उस प्राणी या पुरुष के दंश स्थान या विद्धस्थान पर विष का अवस्थान होता है।

विद्धः दिग्धविद्धः–विष (Poison) से बुझे हुए तीर या अन्य सामाग्री का शरीर में चुभना अथवा विषाक्त बाण का शरीर में चुभना।

इस विषाक्तता के कारण कुछ व्यक्ति मृतक के समान हो जाते हैं तथा कुछ वायु के निकल जाने से बच जाते हैं। इसके बारे में काश्यपसंहिता में कहा गया है, यथा-"मृत इव चेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च। स जीवयितुं शक्यः कृता चैतस्य हृदयरक्षा चेत्" इति [यदि पुरुष मृतक के तुल्य हो जाय तथा उसमें असाध्यता के लक्षणों का अभाव हो अर्थात् न मिलते हों तब उसे बचाना संभव है। ऐसे पुरुष के हृदय की रक्षा करनी चाहिये।] ॥३२॥

विशेष (Comments)–पीतविष एवं दंष्ट्राविष से मृत प्राणियों में विष का अवस्थान हृदय एवं दंशस्थान होने से यह भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि ऐसे प्राणियों का भक्षण **हृदयस्थान** अथवा **दंशस्थान** (Heart or bite place) को शरीर से निकालकर किया जा सकता है। ऐसा नहीं है, दोनों ही प्रकार से मृत प्राणियों के मांस का भक्षण नहीं करना चाहिए। यदि करना अत्यन्त आवश्यक ही है तब प्रहार या दंश स्थान को मृत मात्र के एक मुहूर्त के बाद काटकर शरीर से अलग कर दें, शेष भाग का भक्षण करें। [लौल्याद्विषान्वितं मासं य खादेन्मृतमात्रयोः॥ यथा विषं स रोगेण क्लिश्यते मृयतेऽपि वा। अतश्चाप्यनयोर्मांसमभक्ष्यं मृतमात्रयो॥ मुहूर्तात्तदुपादेयं प्रहारादंशवर्जित्-(सु.क.अ. ३/३३-३४) इति।]

नीलौष्ठदन्तशैथिल्यकेशपतनाङ्गभङ्गविक्षेपाः। शिशिरैर्न लोमहर्षो नाभिहते दण्डराजी स्यात्॥३३॥
क्षतजं क्षताच्च नायात्येतानि भवन्ति मरणलिङ्गानि। एभ्योऽन्यथा चिकित्स्यास्तेषां चोपक्रमाञ्छृणु मे॥३४॥

विषजन्य मृत्यु के लक्षण–

- → ओष्ठ का नील वर्ण का होना।
- → दाँतों का शिथिल होना।
- → केश या सिर के बालों का गिरना।
- → अङ्ग-भङ्ग होना (स्कन्ध, सिर आदि का लटक जाना)
- → विक्षेप (हाथ-पैर का इधर-उधर पटकना)
- → ठण्डे पानी के स्पर्श से शरीर में रोमाञ्च का न होना।
- → डण्डे से प्रहार करने पर भी उसका चिह्न शरीर पर न बनना।
- → व्रणस्थान से रक्त का स्राव न होना।

इन लक्षणों को देखकर यह जान लें कि रोगी की मृत्यु विष से हुई है, अर्थात् रोगी मृत हो गया है। यदि रोगी में इन (निर्दिष्ट) लक्षणों से भिन्न लक्षण मिलते हैं तब उस विषरोगी की चिकित्सा करनी चाहिये अथवा रोगी चिकित्स्य है, यह जानें। उसकी चिकित्सा का वर्णन आगे किया जा रहा है, हे अग्निवेश ! उसे ध्यानपूर्वक सुनो–

चक्रपाणि–'नीलौष्ठेत्यादि' के द्वारा विषजन्य मृत्यु के विशेष लक्षणों को बताया गया है। **दण्डराजिः दण्डाकारा रेखा**-शरीर पर डण्डे से प्रहार करने पर साटा (डण्डे के आकार की सूजन या निशान) बनना। ॥३३-३४॥

मन्त्रारिष्टोत्कर्तननिष्पीडनचूषणाग्निपरिषेकाः। अवगाहरक्तमोक्षणवमनविरेकोपधानानि॥३५॥
हृदयावरणाञ्जननस्यधूमलेहौषधप्रशमनानि। प्रतिसारणं प्रतिविषं संज्ञासंस्थापनं लेपः॥३६॥

Scanned by CamScanner

मृतसञ्जीवनमेव च विंशतिरेते चतुर्भिरधिकाः । स्युरुपक्रमा यथा ये यत्र योज्याः शृणु तथा तान् ।।३७।।

विष की चिकित्सा में प्रयुक्त २४ प्रकार के उपक्रम–विष से आक्रान्त रोगी की चिकित्सा हेतु २४ प्रकार के उपक्रमों (Therapeutic measures) का विवेचन किया जा रहा है-१. मंत्र (विषनाशक मंत्रों का प्रयोग अथवा मन्त्र द्वारा चिकित्सा करना), २. अरिष्टा बन्धन (दंशस्थान के कुछ ऊपर रस्सी या सुतली से कस कर बाँधना, जिससे विष की गति ऊपर न बढ़ सके), ३. उत्कर्तन (शरीर से विष प्रभावित भाग को काटकर अलग करना), ४. निष्पीडन (दंशस्थान को दबाकर विष युक्त रक्त को बाहर निकालना), ५. चूषण (दंशस्थान से चूषकर विष को बाहर निकालना (Sucking out the poison from the place of bite) ६. अग्निकर्म (Cauterization-Destruction of tissue with a cautery), ७. परिषेक (शरीर पर शीतल पानी का छिड़काव करना अथवा शरीर को पानी से तर करना), ८. अवगाहन (औषधि सिद्ध जल से स्नान करना), ९. रक्तमोक्षण (Blood letting), १०. वमन (Emesis), ११. विरेचन (Purgation), १२. उपधान (सिर के ऊपर की त्वचा को काटकर औषध लगाना) १३. हृदयावरण (हृद्य औषधियों का प्रयोग करना), १४. अञ्जन, १५. नस्य, १६. धूम (Smoking therapy), १७. अवलेह या लेह, १८. औषध का प्रयोग (विषघ्न औषधियों का प्रयोग करना), १९. प्रशमन, २०. प्रतिसारण, २१. प्रतिविषों का प्रयोग, २२. संज्ञास्थापन, २३. लेप (Application of medicines in the form of a paste or ointment), २४. मृतसंजीवन ।

इन २४ उपक्रमों में जो जहाँ उपयोगी हैं, उनका निर्देश आगे किया जा रहा है । हे अग्निवेश! उसे सुनो–

चक्रपाणि–'मन्त्रेत्यादि' के द्वारा २४ प्रकार के उपक्रमों का निर्देश किया गया है ।

मन्त्रस्य विषहरेषु श्रेष्ठत्वादयेऽभिधानः–विषनाशक द्रव्यों या कर्मों में मन्त्र का प्रयोग श्रेष्ठ माना गया है, इसलिये इसका अभिधान पहले किया गया है । जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा-"विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः । यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः (सु.क.अ. ५) इति [सत्यवादी, ब्रह्मज्ञानी, तपस्वी एवं तेजस्वी ऋषियों द्वारा कहे गये मन्त्र जितनी शीघ्रता से विष को दूर करते हैं उतनी शीघ्रतापूर्वक औषधि दूर नहीं करती ।]

अरिष्टा द्विविधा मन्त्रेण रज्ज्वादिभिर्वा विषोपरिबन्धः–अरिष्टाबन्धन दो प्रकार से किया जाता है–१. मन्त्र के द्वारा, २. रज्जु (रस्सी) अथवा सुतली के द्वारा । इन दो विधियों द्वारा विष की गति को अवरुद्ध किया जाता है ।

उपधानं विषसंक्रमणार्थं मस्तके भेषजदानम्–विष के स्थानान्तरण हेतु मस्तक पर औषध का प्रयोग करना उपधान कहलाता है ।

हृदयावरणं हृदयरक्षाकरमौषधम्–हृदयरक्षक औषधियों का प्रयोग करना 'हृदयावरण' कहलाता है । प्रतिविषं विषान्तरप्रयोगः-विष के प्रभाव को दूर करने के लिए उसके प्रभाव नाशक अन्य विष का प्रयोग करना 'प्रतिविष' कहलाता है ।

मृतसंजीवनं विषेण मृतस्यामृत इव संजीवनकरं भेषजम्–मृतसंजीवन विष के द्वारा मृत या मृत तुल्य के लिए अमृत की भाँति जीवन को देने वाली औषधि है । शेष विषय स्पष्ट है, इसका विवेचन ग्रन्थ में आगे करेंगे । ।।३५-३७।।

दंशात्तु विषं दष्टस्याविसृतं वेणिकां भिषग्वद्ध्वा । निष्पीडयेद्भृशं दंशमुद्धरेन्मर्मवर्जं वा ।।३८।।
तं दंशं वा चूषेन्मुखेन यवचूर्णपांशुपूर्णेन ।

शरीर में अव्याप्त विष की चिकित्सा हेतु उपयोगी उपक्रम– यदि दंश के कारण विष दंशस्थान से शरीर में फैला न हो तब भिषक् दंशस्थान से कुछ ऊपर के भाग को वेणिका (रस्सी या सुतली) से कसकर बांध दे । इसके बाद दंशस्थान को अच्छी प्रकार से दबाकर विष को निकालना चाहिये अथवा मर्मस्थान को छोड़कर दंशस्थान (दंश से प्रभावित भाग) को काटकर शरीर से पृथक् कर देना चाहिये । अथवा मुख में यव का चूर्ण या कोयले का चूर्ण भरकर दंशस्थान में स्थित रक्त मिश्रित विष को चूषकर बाहर निकालना चाहिए ।

चक्रपाणि–अविसृतमिति अव्याप्तशरीरम्-शरीर में विष का व्याप्त न होना । [अरिष्टा बन्धन, आचूषण एवं उत्कर्तन ये तीन उपक्रम तभी उपयोगी होते हैं जब विष का प्रसार शरीर में न हुआ हो ।]

वेणिकां बद्ध्वेति विषवा (था) रणिकां बद्ध्वा–वेणिका को बांध करके । विष के वेग को रोकने के लिए दंशस्थान से कुछ ऊपर के भाग को फीते या पतली रस्सी से कसकर बांध दें ताकि विष सिरा के द्वारा ऊपर न फैले ।

इस प्रकार यहाँ सामान्य कथन से मन्त्र प्रक्रिया द्वारा भी अरिष्टा बन्धन करने का निर्देश है तथा मन्त्रादि से अलग भी अरिष्टा बन्धन का अभिधान है । अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा-"अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः । सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता" सु.क.अ. ५/८ [मन्त्र विशेषज्ञों को मन्त्रों के द्वारा विष के प्रतिकार हेतु अरिष्टाबन्धन बाँधना चाहिए तथा जो लोग बिना मन्त्र के द्वारा अर्थात् औषध आदि के द्वारा चिकित्सा करते हैं उन्हें रज्जु (रस्सी) आदि के द्वारा अरिष्टा बन्धन करना चाहिए ।]

Scanned by CamScanner

निष्पीडयेदिति निष्पीडनेन विषं गालयेत्-दंशस्थान को कसकर दबाते हुए विष को बाहर निचोड़े या निकालें, अर्थात् दबाकर विष को बाहर निकालना चाहिए। **उद्धरेदिति**-दंश प्रभावित भाग को काटकर शरीर से अलग करना। मर्मवर्ज्यमिति-मर्मस्थान को छोड़कर, क्योंकि मर्म के उपघात का निषेध है, अर्थात् मर्म पर आघात नहीं होना चाहिए।

विष को चूषने से पूर्व चूषने वाले व्यक्ति को अपने मुख में यव के चूर्ण अथवा धूल (कोयले का चूर्ण) भरकर विष का आचूषण करना चाहिये। ऐसा इसलिए बताया गया है कि विष के हानिकारक प्रभाव से व्यक्ति बचा रहे। ॥३८॥

प्रच्छनशृङ्गजलौकाव्यधनैः स्राव्यं ततो रक्तम् ॥३९॥
रक्ते विषप्रदुष्टे दुष्येत् प्रकृतिस्ततस्त्यजेत् प्राणान्। तस्मात् प्रघर्षणैरसृगवर्तमानं प्रवर्त्यं स्यात् ॥४०॥
त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणरोचनाः सवार्ताकाः। घर्षणमतिप्रवृत्ते वटादिभिः शीतलैर्लेपः ॥४१॥
रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत्। शीतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने व्यपयाति विषवेगः ॥४२॥
विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते। शीतैर्निवर्तयेत्तान् वीज्यश्चालोमहर्षात् स्यात् ॥४३॥

अन्य उपक्रमों का प्रयोग-पूर्व वर्णित अरिष्टा बन्धन, निष्पीडन, पश्चात् आचूषण के प्रयोग के बाद प्रच्छन (Scratching), शृङ्ग (Application of horn), जलौका (Application of Leeches), अथवा सिरावेध (Venesection) के प्रयोग द्वारा विष युक्त रक्त का निर्हरण करना चाहिये। विष द्वारा रक्त के दूषित होने पर व्यक्ति की प्रकृति दूषित हो जाती है। जिसके कारण वह अपने प्राणों को त्याग देता है। अतः निर्दिष्ट उपक्रमों द्वारा रक्त की प्रवृत्ति न होने पर प्रघर्षण (रगड़कर- Rubbing therapy) क्रिया द्वारा रक्त को प्रवृत्त करना चाहिये।

इस हेतु सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, गृहधूम (घर का धुआँ), हल्दी, पञ्च लवण (सैन्धव, सौवर्चल, विड, सामुद्र एवं औद्भिद), गोरोचन (गाय का पित्त), वार्ताक (बड़ी कटेरी के फल); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग घर्षणार्थ (रगड़ने के लिये) करना चाहिए। ऐसा करने से विष प्रभावित भाग से जब रक्त निकलने लगे तब उस स्थान पर वट आदि क्षीरी वृक्ष के छाल द्वारा निर्मित कल्क (Paste) का शीतल लेप लगावें।

शीतल लेप का महत्त्व-जिस प्रकार विष का प्रसार रक्त के माध्यम से होता है तथा अग्नि वायु के द्वारा फैलती है उसी प्रकार शीतल प्रदेह (शीतल लेप Application of cooling ointment) एवं सेक (परिषेक-शरीर पर शीतल जल का छिड़काव करना) के द्वारा रक्त स्कन्दित हो, (जम जाना) जाता है, परिणाम स्वरूप विष का वेग रुक जाता है या कम हो जाता है।

विष के वेगावरोध के परिणाम स्वरूप होने वाले उपद्रव एवं चिकित्सा-शीतल लेप एवं परिषेक के परिणाम स्वरूप जब विष का वेग रुक जाता है, ऐसी अवस्था में रोगी में निम्नलिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, यथा-१. मद (Intoxication), २. मूर्च्छा (Fainting), ३. विषाद (Depression), ४. हृदयद्रव (Tachycardia)।

इन उपद्रवों की चिकित्सा में शीतल उपक्रमों (शीतल लेप, परिषेक, शीतवीर्य औषधियों का प्रयोग, शीतल वायु आदि) का ही प्रयोग करना चाहिये। साथ में शीतल पंखे की हवा तब तक करनी चाहिये जब तक की शरीर में रोमाञ्च (रोंगटे खड़े होना) न उत्पन्न हो जाय।

चक्रपाणि-'प्रच्छनादि' के द्वारा रक्तमोक्षण चिकित्सा का अभिधान किया गया है।

उपक्रमाणां च व्यतिक्रमाभिधानेन नियमेन क्रमयोगं निषेधयति-यहाँ उपक्रमों के व्यतिक्रम अभिधान से नियमतः क्रमानुसार उपक्रम के प्रयोग का निषेध हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए। [श्लोक नं. ३५ से ३७ तक २४ प्रकार के उपक्रमों का जो उल्लेख किया गया है, चिकित्सा में इनका प्रयोग क्रमशः न होकर आगे-पीछे (क्रमविरुद्ध) किया गया है। अतः संख्यात्मक दृष्टि से वहाँ २४ प्रकार के उपक्रमों की गणना की गयी है। चिकित्सार्थ उनका प्रयोग क्रमानुसार नहीं होता।]

रक्तस्राव के हेतु को यहाँ 'रक्ते इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'प्रकृति' से यहाँ देह, धातु आदि के स्वभाव का ग्रहण किया गया है। **प्रघर्षणैरिति प्रघर्षणैरपि**-प्रघर्षणों के द्वारा भी, इससे यहाँ प्रच्छन आदि प्रघर्षणों के द्वारा अप्रवृत्त रक्त की प्रवृत्ति कराने का निर्देश है।

प्रघर्षणं पत्रादिभि=पत्रादि के द्वारा दंशस्थान को खुरचकर साफ करें जिससे रक्तस्राव होने लगे। प्रघर्षण का उल्लेख प्रतिसारण उपक्रम के अन्तर्गत किया गया है।

'त्रिकटुगृहधूमरजनीपञ्चलवणरोचनाः सवार्ताकाः घर्षणम्' तक यह वाक्य पूर्ण हो जाता है। अर्थात् त्रिकटु, गृहधूम, हल्दी, पञ्चलवण, गोरोचन एवं बड़ी कण्टकारी; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण का घर्षण दंशस्थान पर करके रक्तस्राव को प्रवृत्त कराना चाहिये।

विषाधानमिति विषस्य प्रसारकम्-विष का प्रसार या विष का फैलना, अर्थात् विष रक्त के द्वारा ही सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। स्कन्दति=स्थिर होना। **स्कन्ने इति स्थिरे**- रक्त के जम जाने पर विष का प्रवाह रुक जाता है। **वीज्य व्यजनपवनैः**-पंखे द्वारा हवा करना। ॥३९-४३॥

Scanned by CamScanner

तरुरिव मूलच्छेदाद्दंशच्छेदान्न वृद्धिमेति विषम् । आचूषणमानयनं जलस्य सेतुर्यथा तथाऽरिष्टाः ।।४४।।
त्वङ्मांसगतं दाहो दहति विषं स्रावणं हरति रक्तात् । पीतं वमनैः सद्यो हरेद्विरेकैर्द्वितीये तु ।।४५।।

उत्कर्तन, आचूषण एवं अरिष्टाबन्धन के लाभ

१. दंशस्थान के उत्छेद (उत्कर्तन) से लाभ–जिस प्रकार एक वृक्ष के मूल (Root) को काट देने से वह पूर्णतः नष्ट हो जाता है, उसकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार दंशस्थान (Bite place) का उत्छेद (काटकर निकालने) कर देने से विष का वेग शरीर में नहीं फैल पाता, अपितु नष्ट हो जाता है ।

२. आचूषण का महत्त्व–आचूषण के द्वारा विष का वेग आगे न बढ़कर दंशस्थान की ओर होने लगता है, अर्थात् आचूषण के द्वारा रक्त के साथ विष का भी निर्हरण शरीर से किया जाता है । फलतः विष की तीव्रता कम हो जाती है ।

३. अरिष्टाबन्धन का महत्व–बढ़ते हुए जल को रोकने के लिए जिस प्रकार बाँध बनाया जाता है उसी प्रकार विष के वेग को कम करने या अवरुद्ध करने के लिए अरिष्टाबन्धन का प्रयोग किया जाता है ।

दाहक्रिया या अग्निकर्म का प्रयोग–त्वचा व मांस में विष के वेग के पहुँचने पर दाह या अग्निकर्म का प्रयोग करना चाहिये । इसके प्रयोग से त्वक्गत एवं मांसगत विष का वेग नष्ट हो जाता है ।

रक्तविस्रावण या रक्तमोक्षण–यदि विष का वेग रक्त धातु के आश्रित हो तब उस समय रक्तविस्रावण कराकर विष के वेग को शान्त करना चाहिए, अर्थात् रक्तगत विष का निर्हरण रक्तमोक्षण के द्वारा करें ।

यदि रोगी ने विष का पान किया है उस समय तत्काल वमन कराकर विष को निकालना चाहिए । विष के द्वितीय वेग में विरेचन का प्रयोग करना चाहिये ।

चक्रपाणि–'तरुरिवेत्यादि' के द्वारा छेदनादि का विषहरण में क्या उपयोगिता है, उसे स्पष्ट किया गया है । अर्थात् उच्छेदन, आचूषण आदि उपक्रम किस प्रकार विष को दूर करते हैं, उसे स्पष्ट किया गया है ।

सेतुर्यथेति–जिस प्रकार बाँध जल के प्रसार में अवरोधक का कार्य करता है उसी प्रकार अरिष्टाबन्धन (दंश स्थान से ४ अंगुल उपर कस कर बाँधी गयी पट्टी) भी विष के वेग को शरीर के शेष भाग में पहुँचने से रोकने का कार्य करता है ।

द्वितीये वेगे इति शेषः–'द्वितीये' के साथ 'वेगे' शब्द छुटा हुआ है, अर्थात् इसका अर्थ संयुक्त करके निकालना चाहिए । इस प्रकार द्वितीय वेग में विरेचन कराना चाहिए, यह अर्थ हुआ ।

विशेष (Comments)–ऊर्ध्व आमाशयगत विष में वमन तथा अधो आमाशयगत विष में विरेचन द्वारा विष का निर्हरण करना चाहिये । यह विवेचन पीतविष के सम्बन्ध में है, ऐसा जानें ।

आदौ हृदयं रक्ष्यं तस्यावरणं पिबेद्यथालाभम् । मधुसर्पिर्मज्जपयोगैरिकमथ गोमयरसं वा ।।४६।।
इक्षुं सुपक्वमथवा काकं निष्पीड्य तद्रसं वरणम् । छागादीनां वाऽसृग्भस्म मृदं वा पिबेदाशु ।।४७।।
क्षारागदस्तृतीये शोफहरैर्लेखनं समध्वम्बु । गोमयरसश्चतुर्थे वेगे सकपित्थमधुसर्पिः ।।४८।।
काकाण्डशिरीषाभ्यां स्वरसेनाश्योतनाञ्जने नस्यम् । स्यात्पञ्चमेऽथ षष्ठे संज्ञायाः स्थापनं कार्यम् ।।४९।।
गोपित्तयुता रजनी मञ्जिष्ठामरिचपिप्पलीपानम् । विषपानं दष्टानां विषपीते दंशनं चान्ते ।।५०।।

हृदयावरण आदि उपक्रम-(द्वितीय वेग की चिकित्सा)

हृदयावरण–विषाक्रान्त पुरुष के हृदय की रक्षा सर्वप्रथम करनी चाहिये । उसकी रक्षा हेतु यहाँ निर्दिष्ट औषधियों में से जो प्राप्त हो सकें, उनका प्रयोग यथाशीघ्र करना चाहिये । हृदय की रक्षा हेतु-१. मधु (Honey), २. गाय का घृत, ३. मज्जा (Bone-marrow), ४. गोदुग्ध, ५. गैरिक (शुद्ध स्वर्णगैरिक), ६. गाय के गोबर का रस, ७. सुपक्व इक्षुरस ८. कौवे के मांस का रस, ९. बकरे आदि पशुओं का ताजा (Fresh) रक्त, १०. राख (गोवर की राख), ११. काली मिट्टी; इन द्रव्यों का पान शीघ्र करना चाहिए ।

तृतीय वेग की चिकित्सा–तृतीय वेग में लेखन एवं शोफ नाशक क्षारागद को मधु व जल के साथ पीने के लिए देना चाहिए [श्लोक नं. ४८ के प्रथम पाद में 'लेखनं' के स्थान पर 'छर्दनं' पाठ प्राप्त होता है, जिसका अर्थ वामक लेना चाहिए, अर्थात् शोथ नाशक एवं वामक क्षारागद का प्रयोग करना चाहिये ।]

चतुर्थ वेग की चिकित्सा–गोबर के रस (गाय के गोबर का निचोड़ा हुआ रस) + कपित्थ स्वरस में मधु व गोघृत मिलाकर पिलाना चाहिये ।

Scanned by CamScanner

पञ्चम वेग की चिकित्सा–काकाण्ड एवं शिरीष के स्वरस का नेत्र में आश्योतन अञ्जन एवं नस्य का प्रयोग करना चाहिये ।

छठें वेग की चिकित्सा–संज्ञास्थापन कार्य करें । इस हेतु गोपित्त (गोरोचन), हल्दी, मञ्जिष्ठा, कालीमिर्च एवं पिप्पली के सम भाग से निर्मित कपड़छन चूर्ण को पानी में घोलकर आतुर को पिलाना चाहिये ।

सप्तम वेग की चिकित्सा–अन्तिम अर्थात् सप्तम वेग में विषपान करावें । यदि रोगी ने विषपान किया है तब उसे विषैले सर्प के द्वारा कटवाना चाहिये ।

चक्रपाणि–आदाविति सर्वोपक्रमादौ-सभी उपक्रमों में सर्वप्रथम हृदय की रक्षा करने हेतु हृद्य औषधियों का प्रयोग करना चाहिये । तस्येति=हृदय का । **यथालाभमिति**-कहे जाने वाले हृद्य योगों में से जितने प्राप्त हो जाय अर्थात् उस समय जो उपलब्ध हों, उनका प्रयोग हृदय की रक्षा हेतु करना चाहिये । 'क्षारागद' का उल्लेख इस अध्याय में आगे किया गया है । **तृतीये वेगे इति शेषः**- 'तृतीये' के साथ 'वेगे' शब्द शेष है अर्थात् छुटा हुआ है । अतः इसे जोड़कर इसका भाव ग्रहण करें । इस प्रकार इसका भाव-'तीसरे वेग में' हुआ ।

काकाण्डा शिम्बीभेदः–शिम्बीभेद, यहाँ काकाण्डा से शिम्बी (वर्ग) का एक भेद लिया गया है । [काकाण्डा=कृष्णशिम्बी या काली केंवाच]

'गोपित्तयुता रजनी'-गोपित्त, हल्दी आदि द्रव्यों का प्रयोग आश्योतन आदि के रूप में करना चाहिए, ऐसा समझें ।

अन्ते इति–सभी उपक्रमों के प्रयोग के बाद भी यदि चिकित्सा सफल नहीं होती है, तब अन्त में सप्तम वेग की स्थिति में सर्प द्वारा रोगी को कटवाना चाहिए, यह निर्देश है । ॥४६-५०॥

शिखिपित्तार्थयुतं स्यात् पलाशबीजमगदोमृतेषु वरः । वार्ताकुफाणितागारधूमगोपित्तनिम्बं वा ॥५१॥
गोपित्तयुतैर्गुटिकाः सुरसाग्रन्थिद्विरजनीमधुककुष्ठैः । शस्ताऽमृतेन तुल्या शिरीषपुष्पकाकाण्डकरसैर्वा ॥५२॥
काकाण्डसुरसगवाक्षीपुनर्नवावायसीशिरीषफलैः । उद्वन्यविषजलमृते लेपौपधिनस्यपानानि ॥५३॥

अष्टम वेग की चिकित्सा–अष्टम वेग में व्यक्ति मृत तुल्य हो जाता है, उस स्थिति में निम्नलिखित योगों का प्रयोग कराना चाहिये–

१. पलाशबीज चूर्ण में आधा भाग मोर का पित्त मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये ।

२. अथवा वार्ताकु, फाणित (राव), गृहधूम (घर का धुआँ), गोपित्त (गोरोचन) एवं निम्बपत्र स्वरस; सभी द्रव्यों को सम भाग में लेकर निम्बपत्र स्वरस के साथ रोगी को पिलावें अथवा इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित कल्क का पान जल के साथ रोगी को करावें ।

३. तुलसीपत्र, ग्रन्थि, द्विरजनी (हल्दी व दारुहल्दी), यष्टीमधु (मुलेठी) एवं कुष्ठ (कूठ); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को गोपित्त (गोरोचन) के साथ पीस कर गोली बना लें । इसका प्रयोग रोगी को विषनाशार्थ करना चाहिए ।

४. तुलसीपत्र आदि द्रव्यों (क्रमांक ३ में वर्णित द्रव्यों) के चूर्ण को शिरीषपुष्प स्वरस व कौंचपत्र स्वरस में पीसकर गोली (गुटिका) बना लें । इस गुटिका का आभ्यन्तर प्रयोग, आठवें वेग में अमृत के समान कार्य कारी होता है, अर्थात् अत्यन्त लाभदायक है । इसके प्रयोग से विष के वेग उतर जाते है ।

५. काकाण्ड (कौंचबीज), तुलसी की पत्ती, गवाक्षी (इन्द्रायण का बीज), पुनर्नवा (गदहपुरना) मूल, वायसी (मकोय का फल), शिरीष का फल; इन औषधियों से निर्मित लेप, उपाधि नस्य एवं पान का प्रयोग उन रोगियों में कराना चाहिए जो गलें में फांसी लगाने, जल में डूब जाने अथवा विषपान के द्वारा मृततुल्य (मृतक के समान) हो गये हों ।

चक्रपाणि–अष्टम वेग की चिकित्सा में 'शिखिपित्तेत्यादि' के द्वारा मृतसंजीवन योगों (जो व्यक्ति विषादि के सेवन से मृतक के तुल्य हो गये हों, उनको ये योग जीवन देने वाले हैं) का अभिधान किया गया है ।

मृत इति मृत इव–मृत से यहाँ मृतक के समान होना, न कि मरा हुआ अर्थ लिया गया है ।

उद्वन्येत्यादौ मृते इति–से मृत तुल्य होने के तीन हेतुओं उद्वन्धमृते, विषमृते व जलमृते का ग्रहण है अर्थात् उद्वन्धमृत-गले में फांसी लगाने से जो मृतक के समान हो गया हो, उसे उद्वन्धमृत कहा गया है । जलमृते=जलमृत=जल में डूब जाने के कारण जो मृतक के समान हो गया हो उसे जलमृत कहा गया है । विषमृते=विषमृत-विषपान के कारण जो मृततुल्य हो, ऐसे तीनों प्रकार के व्यक्तियों में यहाँ निर्दिष्ट मृतसंजीवन योगों का प्रयोग करना चाहिये ।

लेपौपधीनस्यपानानीति–मृतसंजीवन योगों से निर्मित लेप, उपधि (सिर पर धारण करना-सिर की त्वचा को खुरचकर वहाँ औषधि को रखना उपधि कहलाता है ।), नस्य एवं पान का प्रयोग उद्वन्ध, विष एवं जल से मृत (मृत तुल्य) रोगियों में यथावश्यक, विष हरण हेतु करना चाहिये । उपधि उसे कहा गया है जिसमें औषधि का प्रयोग रोगी के सिर पर काकपद बनाकर किया जाता है ।

Scanned by CamScanner

स्पृक्काप्लवस्थौणेयकांक्षीशैलेयरोचनातगरम् । ध्यामककुङ्कुममांसीसुरसाग्रैलालकुष्ठघ्नम् ।।५४।।
बृहती शिरीषपुष्पं श्रीवेष्टकपद्मचारटिविशालाः । सुरदारुपद्मकेशरसावरकमनःशिलाकौन्त्यः ।।५५।।
जात्यर्कपुष्परसरजनीद्वयहिङ्गुपिप्पलीलाक्षाः । जलमुद्गपर्णिचन्दनमधुकमदनसिन्धुवाराश्च ।।५६।।
शम्पाकलोध्रमयूरकगन्ध्यफलानाकुलीविडङ्गाश्च । पुष्ये संहृत्य समं पिष्ट्वा गुटिका विधेयाः स्युः ।।५७।।
सर्वविषघ्नो जयकृद्विषमृतसंजीवनो ज्वरनिहन्ता । प्रेयविलेपनधारणधूमग्रहणैर्गृहस्थश्च ।।५८।।
भूतविषजन्त्वलक्ष्मीकार्मणमन्त्राग्र्यशन्यरीन् हन्यात् । दुःस्वप्नस्त्रीदोषानकालमरणाम्बुचौरभयम् ।।५९।।
धनधान्यकार्यसिद्धिः श्रीपुष्ट्यायुर्विवर्धनो धन्यः । मृतसंजीवन एष प्रागमृताद्ब्रह्मणा विहितः ।।६०।।
इति मृतसंजीवनोऽगदः ।

मृतसंजीवन अगद (Mṛita-Sañjīvana-Agada)-घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–स्पृक्का (Trigonella corniculata), प्लव (कैवर्त मुस्तक), स्थौणेय (गठिवन), काक्षी (फिटकरी), शैलेय, रोचन (गोरोचन), तगर, ध्यामक, कुङ्कुम (केशर), मांसी (जटामांसी), सुरसाअग्र (तुलसी की मञ्जरी), एला (इलायची), आल (हरताल), कुष्ठघ्न (खदिर), बृहती (बड़ी कण्टकारी), शिरीष का पुष्प, श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), पद्म, चारटि, विशाला (इन्द्रायण), सुरदारु (देवदारु), पद्मकेशर (कमल का केशर), सावरक (साबर लोध्र), मनःशिला (मैनशिल), कौन्ती (रेणुका), चमेली का पुष्प व अर्कपुष्प (मदार का पुष्प) का रस, रजनी द्वय (हल्दी एवं दारुहल्दी), हिंगु (हींग), पिप्पली, लाक्षा (लाख), जल (सुगन्धवाला), मुद्गपर्णी, चन्दन (श्वेतचन्दन), मधुक (यष्टीमधु या मुलेठी), मदनफल (मैनफल), सिन्धुवार (निर्गुण्डी की पत्ती), शम्पाक (अमलतास), लोध्र, मयूरक (अपामार्ग), गन्धफला [प्रियंगु), नाकुली (रास्ना) तथा विडङ्ग (वायविडंग); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में **पुष्यनक्षत्र** में एकत्र करके चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को जल के साथ पीसकर वटिका का निर्माण करें। इस वटी को छाया शुष्क करके कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–इस मृतसंजीवन अगद के प्रयोग से सभी प्रकार के विषों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, अर्थात् यह वटी सभी प्रकार के विषों का नाशक है। यह उत्तम ज्वरघ्न है। इसका उपयोग नस्य, विलेपन (लेप), धारण (हाथ में धारण), धूम ग्रहण एवं घर में रखने हेतु किया जाता है। ऐसा करने से यह अपने प्रभाव से भूत-प्रेत, विषजन्तु (विषैले जन्तु यथा-सर्पादि का विष), अलक्ष्मी प्रद मन्त्रों के प्रयोगजन्य बाधा, अग्नि का प्रभाव, वज्र प्रयोग (आकाशीय बिजली का प्रभाव) एवं शत्रुओं का भय; दूर कर देता है, अर्थात् व्यक्ति को सभी प्रकार के बाधाओं से मुक्त करता है।

बुरे स्वप्नों का दिखाई देना, स्त्री दोष अर्थात् स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त कृत्रिम विष के प्रभाव, अकालमृत्यु, जल में डूबने के भय तथा चोर का भय आदि विकार इस वटी के सेवन करने, धारण करने अथवा रखने (घर में रखने) से ही दूर हो जाते हैं।

इस अगद को अपने पास रखने से व्यक्ति-धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाता है, उसके सभी कार्य सिद्ध (सफल) होते हैं तथा धन की वृद्धि (लक्ष्मी की वृद्धि) एवं आयु की वृद्धि होती है।

इस मृतसंजीवन अगद को ब्रह्मा ने अमृत की उत्पत्ति से पहले बनाया था।

चक्रपाणि–'स्पृक्केत्यादौ' के द्वारा मृतसंजीवन अगद का वर्णन किया गया है। कांक्षी=सौराष्ट्रिका (फिटकरी)। कुष्ठघ्नः=खदिर। सावरक=लोध्र। कौन्ती=रेणुका। मयूरकः=अपामार्ग। गन्धफला=प्रियङ्गु। नाकुली=रास्ना।

धारणशब्देन शरीरे धारणं ब्रूते–'धारण' शब्द से शरीर में धारण करना अर्थ गृहीत है। औषध धारण से चिकित्सा के एक उपक्रम के अन्तर्गत इसका ग्रहण होता है। अर्थात् यहाँ धारण शब्द का अर्थ शरीर में धारण है तथा औषध धारण शब्द-चिकित्सा के उपक्रम के अन्तर्गत आ जाता है।

गृहस्थ इति–घर में रखना, अर्थात् मृतसंजीवन अगद की गोली को अपने जेब में रखें (जेब में रखना-धारण) या घर की आलमारी या किसी कोनें में रखना गृहस्थ कहलाता है।

कार्मणः परद्रोहार्थो मन्त्रादियोगः–दूसरे का अशुभ (अमंगल) करने हेतु मन्त्रादि का प्रयोग 'कार्मण' कहलाता है। इस प्रकार के मन्त्रों के प्रभाव को यह अगद दूर करता है। मन्त्र से यहाँ अभिचार मन्त्र का ग्रहण है।

स्त्रीदोषान्=स्त्री से सम्बन्धित दोषों को, स्त्री द्वारा दिये गये गरविष के प्रभाव को यह अगद दूर करता है या गरविष का कोई प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ने देता।

प्रागमृतादिति–अमृत की उत्पत्ति से पूर्व, इससे यहाँ यह मृतसंजीवन अगद का प्रभाव अमृत जैसा है, यह भाव प्राप्त होता है, ऐसा जानना चाहिये। ।।५४-६०।।

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)–स्पृक्का आदि सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण करें तथा इस चूर्ण में यथावश्यक जल मिलाकर मर्दन करके छोटी-छोटी गोलियाँ बना लें । इन गोलियों को छाया में सुखाकर प्रयोग करें, एला=बड़ी इलायची । ध्यामक=गन्धतृण । पद्मचारटी=कोंहड़े की लता । गन्धफली=प्रियंगु । -जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद

मन्त्रैर्धमनीबन्धोऽवमार्जनं कार्यमात्मरक्षा च । दोषस्य विषं यस्य स्थाने स्यात्तं जयेत्पूर्वम् ।।६१।।
वातस्थाने स्वेदो दध्ना नतकुष्ठकल्कपानं च । घृतमधुपयोऽम्बुपानावगाहसेकाश्च पित्तस्थे ।।६२।।
क्षारागदः कफस्थानगते स्वेदस्तथा सिराव्यधनम् । दूषीविषेऽथ रक्तस्थिते सिराकर्म पञ्चविधम् ।।६३।।
भेषजमेवं कल्प्यं भिषग्विदाऽऽलक्ष्य सर्वदा सर्वम् । स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च ।।६४।।

स्थान विशेष के अनुसार विष की चिकित्सा–जङ्गमविष की चिकित्सा हेतु मन्त्रों के द्वारा धमनीबन्धन, अवमार्जन (विष के वेग को अधोमार्ग की तरफ प्रवृत्त कराना या विष के वेग को दंश स्थान की ओर लाना) एवं आत्मरक्षा करनी चाहिए । जिस दोष के स्थान पर विष व्याप्त हो, उस स्थान के दोष की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिए ।

यदि वातस्थान पर सर्प आदि ने दंश किया हो या स्थावर विष की व्याप्ति (विद्यमान) हो । तब सर्वप्रथम रोगी को स्वेदन करावें तथा नत एवं कुष्ठ (कूठ) के कल्क को दधि में मिलाकर पीने के लिए दें ।

पित्त के स्थान पर विष व्याप्त होने पर रोगी को मधु, घृत (गोघृत), गोदुग्ध एवं जल पीने के लिए देना चाहिए, साथ में रोगी को अवगाहन (शीतल जल, गोदुग्ध आदि से स्नान-Bath) एवं परिषेक (शीतल जल का छिड़काव शरीर पर करना-Affusion) कराना चाहिये ।

विष के कफस्थान पर फैलने पर रोगी को क्षारागद, स्वेदन एवं सिरावेध कराना चाहिये ।

दूषीविष द्वारा रक्त के दूषित होने पर या रक्ताश्रित दूषीविष की अवस्था में सिरावेध व पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए (अथवा पाँच प्रकार की सिराओं का वेध करना चाहिये ।)

इस प्रकार चिकित्सक को विष आदि मे सम्बन्धित सभी प्रकार के विचारों को ध्यान में रखते हुए विष के अवस्थान वाले भाग (The place where poison is located) की चिकित्सा सबसे पहले करनी चाहिए । ऐसा करने से उस स्थान में रहने वाले दोष वृद्ध या प्रकुपित नहीं हो पाते, अर्थात् विष आगे या अन्य स्थानों पर नहीं फैल पाता ।

चक्रपाणि–'मन्त्रैरित्यादौ' से स्थान विशेष के अनुसार विष की चिकित्सा का अभिधान किया गया है ।

अवमार्जनमिति विषस्य प्रतिलोमेन मार्जनं मन्त्रैरेव कार्यम्–विष का प्रतिलोम मार्ग द्वारा निर्हरण मन्त्रों द्वारा करना चाहिए अर्थात् मन्त्रों द्वारा विष का निर्हरण दंशस्थान पर लाकर (फैले हुए विष को दंश स्थान पर लाकर) किया जाता है ।

आत्मरक्षा भूतावेशनिषेधार्थम्-विष युक्त पुरुष को भूतादि ग्रहों के आवेश से बचाने के लिए मन्त्रादि का प्रयोग करना चाहिए । **जयेदिति**-स्थानीय दोष को पहले जीतें या प्रशमित करें, अर्थात् यह ध्यान रखें कि वे प्रकुपित न हों । स्वेदो यद्यपि प्रतिषिद्धः स्वेदाध्याये, तथाऽप्यवस्थाविशेषे 'वातस्थाने' इत्यादिना विधीयते-यद्यपि स्वेदाध्याय (सू.अ. १४) में विषरोगी हेतु स्वेदन का निषेध किया गया है, फिर भी अवस्था विशेष में 'वातस्थाने' इत्यादि के द्वारा उसका निर्देश यहाँ किया गया है । अर्थात् विष के वातस्थान में अवस्थान होने पर यथावश्यक स्वेदन का प्रयोग किया जा सकता है । स्वेदन (Fomentation) पेया आदि भोजन विधान की तरह प्रयुक्त होने से विष चिकित्सा के २४ उपक्रमों के अन्तर्गत निर्दिष्ट नहीं है अथवा चौबीस उपक्रमों के अन्दर निर्दिष्ट 'अग्नि' शब्द से 'स्वेदन' का अर्थ (भाव) प्राप्त हो जाता है । पेयादि का अन्तर्भाव उपशमन के अन्तर्गत होता है, ऐसा निश्चित रूप से समझना चाहिए । [स्वेदन का 'अग्नि' में एवं पेयादि का उपशमन में ग्रहण किया गया है, ऐसा निश्चित रूप से जानें ।]

पित्तस्थे इति पित्तस्थानस्थे-विष का अवस्थान पित्तस्थान (पिताशय, ग्रहणी, अधो आमाशय) में होने पर ।

'दूषीविष इति' से दूषीविष की चिकित्सा को बताया गया है । सिरा शब्द से यहाँ सिरावेध अर्थ लिया गया है ।

कर्म पञ्चविधम् से वमनादि पाँच कर्मों का ग्रहण है, यथा-वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन (दो प्रकार की बस्तियाँ) एवं नस्य । अथवा **सिराकर्म पञ्चविधमिति**-पाँच प्रकार की सिराओं का वेध करना । स्थानमिति-स्थानगत वातादि दोषों का ग्रहण किया गया है ।

स्थानस्थस्येति स्थानगतविषस्याविरुद्धं च 'कुर्यात्' इति शेषः-स्थानगत विष का विरोध न करते हुए स्थान की चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिए । ।।६१-६४।।

विषदूषितकफमार्गः स्रोतःसंरोधरुद्धवायुस्तु । मृत इव श्वसेन्मर्त्यः स्यादसाध्यलिङ्गैर्विहीनश्च ।।६५।।
चर्मकषायाः कल्कं बिल्वसमं मूर्ध्नि काकपदमस्य । कृत्वा दद्यात्कटभीकटुकद्फलप्रथमनं च ।।६६।।

Scanned by CamScanner

छागं गव्यं माहिषं वा मांसं कौक्कुटमेव वा । दद्यात् काकपदे तस्मिंस्ततः संक्रमते विषम् ।।६७।।
नासाक्षिकर्णजिह्वाकण्ठनिरोधेषु कर्म नस्तः स्यात् । वार्ताकुबीजपूरज्योतिष्मत्यादिभिः पिष्टैः ।।६८।।
अञ्जनमक्ष्युपरोधे कर्तव्यं बस्तमूत्रपिष्टैस्तु । दारुव्योषहरिद्राकरवीरकरञ्जनिम्बसुरसैस्तु ।।६९।।
श्वेता वचाऽश्वगन्धा हिङ्गूवमृता कुष्ठसैन्यवे लशुनम् । सर्षपकपित्थमध्यं टुण्टुककरञ्जबीजानि ।।७०।।
व्योषं शिरीषपुष्पं द्विरजन्यौ वंशलोचनं च समम् । पिष्ट्वाऽजस्य मूत्रेण गोश्वपित्तेन सप्ताहम् ।।७१।।
व्यत्यासभावितोऽयं निहन्ति शिरसि स्थितं विषं क्षिप्रम् । सर्वज्वरभूतग्रहविसूचिकाजीर्णमूर्च्छार्तीः ।।७२।।
उन्मादापस्मारौ काचपटलनीलिकाशिरोदोषान् । शुष्काक्षिपाकपिल्लार्बुदार्मकण्डूतमोदोषान् ।।७३।।
क्षयदौर्बल्यमदात्ययपाण्डुगदांश्चाञ्जनात्तथामोहान् । लेपाद्विषदिग्धक्षतलीढदष्टपीतविषघाती ।।७४।।
अर्शःस्वानद्धेषु च गुदलेपो योनिलेपनं स्त्रीणाम् । मूढे गर्भे दुष्टे ललाटलेपः प्रतिश्याये ।।७५।।
वृद्धौ किटिमे कुष्ठे श्वित्रविचर्चिकादिषु लेपः । गज इव तरून् विषगदान्निहन्त्यगदगन्धहस्त्येषः ।।७६।।

इति गन्धहस्तीनामाऽगदः ।

उपधान, नस्य एवं अञ्जन चिकित्सा का प्रयोग–जब कफ का मार्ग विष द्वारा दूषित हो जाता है, अर्थात् विष के कारण कफ वृद्ध होकर स्रोतों में अवरोध उत्पन्न कर देता है जिससे वायु की गति रुक जाती है । जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति मृत तुल्य श्वास लेने लगता है, अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है । ऐसी अवस्था में यदि रोगी मे असाध्यता के लक्षण न मिल रहे हो तब उसके सिर पर काकपद के समान आकृति (कौआ के पैर के समान सिर पर व्रण (घाव) बनाना काकपद आकृति कहा जाता है ।) बना करके उस पर बिल्व प्रमाण (१ पल=४ तोला) में चर्मकषा (सप्तधार सेहुण्ड) का कल्क रखें अर्थात् सिर पर चर्मकषा का कल्क धारण करें । इसके साथ ही प्रधमन नस्य के रूप में कटभी (मालकांगनी), कालीमिर्च एवं कायफल के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए ।

काकपद (Incision on the scalp) के ऊपर बकरे, भैंस, गाय अथवा मुर्गे के मांस को रखना चाहिए । ऐसा करने से मांस शरीरस्थ विष को शीघ्र ही सोख (Absorb) लेता है, अर्थात् रक्त में फैला हुआ विष मांस में आ जाता है ।

नस्य का प्रयोग–यदि नासिका, चक्षु (नेत्र), कर्ण, जिह्वा एवं कण्ठ विष के कारण अवरुद्ध हो गये हों तब वार्ताक (बड़ी कण्टकारी) बिजौरा नींबू का रस, ज्योतिष्मती (मालकांगनी) आदि द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क के रस (कल्क के द्वारा निचोड़ा गया रस) का प्रयोग नस्य के रूप में करें । अर्थात् इन औषधियों का अवपीड नस्य देने से कण्ठादि का अवरोध दूर हो जाता है ।

अञ्जन की उपयोगिता–चक्षु में अवरोध (दिखाई न देना) होने पर व्यक्ति को देवदारु, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरिद्रा (हल्दी), करवीर (कनेर की पत्ती), करञ्ज, नीम का बीज, तुलसी की मञ्जरी; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर अञ्जनार्थ प्रयोग करें । (इन द्रव्यों को पीसकर कल्क जैसा बना लें, पश्चात् इस कल्क से छोटी-छोटी वटिका बना लें । इस वटिका को जल में घिसकर अञ्जन के रूप में लगावें ।)

गन्धहस्तीनामक अगद– १. घटक द्रव्य–श्वेता, वचा, अश्वगन्धा, हिङ्गु (हींग), अमृता (गुडूची), कुष्ठ (कूठ), सैन्धव लवण, रसोन (लशुन), सर्षप (पीली सरसों), कपित्थ (कैथ की गुदी), टुण्टुक (श्योनाक), करञ्जबीज, सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, कालीमिर्च, शिरीष का पुष्प, हल्दी, दारुहल्दी एवं वंशलोचन ।

२. निर्माण विधि–निर्दिष्ट घटक द्रव्यों को सम मात्रा (प्रत्येक बराबर) में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को बकरे के मूत्र में पीसकर कल्क बनावें । पश्चात् इसमें गोपित्त एवं अश्व पित्त (घोड़े का पित्त) की क्रमशः (एक-एक दिन के अन्तराल पर) संयुक्त रूप से सात भावना दें । अन्त में वटिका या वर्ति बनाकर छाया शुष्क कर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें ।

[भावना देने का क्रम-सर्वप्रथम कल्क द्रव्य (अजा मूत्र से तैयार कल्क) को गोपित्त (गोरोचन) की भावना दें, इसके बाद दूसरे दिन घोड़े के पित्त की, तीसरे दिन पुनः गोपित्त की भावना देते हुए यही क्रम सात दिन तक अपनाना चाहिए।]

३. उपयोग–इस अगद का लेप सिर पर करने से सिर में व्याप्त विष शीघ्र ही दूर हो जाता है । यह अगद सभी प्रकार के ज्वर, भूतग्रह, विसूचिका, अजीर्ण, मूर्च्छा, उन्माद (Insanity), अपस्मार (Epilepsy), विभिन्न प्रकार के चक्षु विकार-कांच, पटल, नीलिका, सिर के विकार (शिरोरोग), शुष्काक्षिपाक, पिल्ल, अर्बुद, अर्म, कण्डू, तम (आँखों के सामने अंधकार छा जाना), क्षय (Consumption), दौर्बल्य (शरीर का दुर्बल होना), मदात्यय (Alcoholism), पाण्डु रोग (Anaemia) एवं मोह को दूर करता है । अर्थात् इस अगद का अञ्जन लगाने से उन्माद-अपस्मार आदि विकार दूर हो जाते हैं । विषदिग्ध (विषाक्त बाण के द्वारा बना हुआ व्रण), विषपान से निर्मित व्रण, चाटे हुए या पीये हुए या दंष्ट्रा विष के वेगों को इस अगद के पान एवं लेप से दूर किया जाता है । अर्थात् इस अगद का लेप व्रणस्थान पर लगाने एवं आभ्यन्तर पान से उपरोक्त विष के वेग उतर जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

अर्श रोग (Piles) में इस अगद का लेप गुदा पर किया जाता है तथा मूढ गर्भ (अवरुद्ध प्रसव) में स्त्री की योनि पर इसका लेप लगाते हैं। दुष्ट प्रतिश्याय में ललाट पर इसे लगाते हैं।

वृद्धि रोग (Enlargment of scrotum), किटिभ(म) कुष्ठ (जो कुष्ठ वर्ण में श्याव, खुरदुरा-स्पर्श युक्त एवं कठोर (Hard) होता है उसे किटिम कहा जाता है।), कुष्ठ (Leprosy), श्वित्र (Leucoderma), विचर्चिका (Eczema) आदि रोगों में प्रभावित भाग पर इस अगद का लेप लगाते हैं।

जिस प्रकार एक मतवाला हाथी वृक्षों को उखाड़कर फेंक देता है उसी प्रकार गन्धहस्ती नामक यह अगद विभिन्न प्रकार के विषजन्य विकारों को दूर कर देता है।

चक्रपाणि-स्रोतःसंरोधेन रुद्धो वायुरुच्छ्वासनिश्वासलक्षणो यस्य स तथा-स्रोतस् में अवरोध होने से वायु के गमनागमन का प्रतीक उच्छ्वास-निःश्वास रूपी लक्षण अवरुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् व्यक्ति को श्वास लेने एवं छोड़ने में कठिनाई होने लगती है। [श्वास कृच्छ्रता-Dyspnoea) उत्पन्न हो जाती है]

असाध्यलिङ्गैरिति-श्लोक नं. ३३ एवं ३४ में वर्णित नीलौष्ठादि लक्षण-असाध्य कहे गये हैं। यदि विषाक्त रोगी (विष से आक्रान्त रोगी) में ये लक्षण न पायें जाँय तब उसकी चिकित्सा मृतसंजीवन अगद द्वारा करनी चाहिये। चर्मकषाया इति चर्मचटिकाया-चर्मकषा से चर्मचटिका अर्थ लिया गया है। [चर्मचटिका=सप्तला] सप्तला का, कल्क विषरोगी के सिर पर काकपद चिह्न बनाकर धारण करावें।

काकपदमिति काकपदाकारं व्रणम्-कौवे के पैर की आकृति का व्रण बनाना। [रोगी के सिर के बाल साफ करके अर्थात् जहाँ 'काकपदाकृति' बनाना हो वहाँ बाल साफ करें, पश्चात् ब्लेड या Scalpel से तीन पतली क्रास करती हुई रेखा खिंचे जिससे रक्त का स्राव (Bleeding) होने लगे अब इस स्थान पर लेप या मांस के टुकड़े को रखें। ऐसा करते ही मांस में रक्त का विष आ जाता है, कुछ समय के बाद दूसरा मांस का टुकड़ा रखें, यही क्रम बार-बार दुहरावें।]

कटभी इत्यादि द्वारा वर्णित प्रधमन नस्य में कटुकफला से तिक्तालाबु (तितलौकी) अर्थ लिया गया है अथवा त्रिकटु -सोंठ (शुण्ठी), कार्लामिर्च एवं पिप्पली का ग्रहण है; क्योंकि ये तीनों द्रव्य कटुरस युक्त होते हैं।

अञ्जनार्थ प्रयुक्त-'ज्योतिष्मती इत्यादि' से षट्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (अ.सू.अ. ४) में वर्णित शिरोविरेचन के द्रव्यों [शिरोविरेचनोपग महाकषाय के द्रव्यों, यथा-ज्योतिष्मती, क्षवक (नकछींकनी), मरिच, पिप्पली, विडंग, शिग्रु, सर्षप (सरसों), अपामार्गतण्डुल, श्वेता व महाश्वेता। यहाँ श्वेता से अपराजिता अर्थ लिया गया है तथा महाश्वेता से कटभी का ग्रहण है।] का ग्रहण करना चाहिये।

'दार्वीत्यादि' के द्वारा वर्णित द्रव्यों में श्वेता से कटभी (मालकांगनी) अर्थ लिया गया है।

व्यत्यासभावित इति गोपित्तेन भावयित्वा अश्वपित्तेन भावितः तथा अश्वपित्तेन भावयित्वा गोपित्तेन भावितः-व्यत्यास भावित का अभिप्राय क्रमशः बदलकर भावना देने से है, यथा-गोपित्त की भावना देने के बाद अश्व (घोड़े) के पित्त की भावना दें, तत्पश्चात् गोपित्त (गोरोचन) की भावना दें। इस प्रकार क्रमशः बदल करके कुल सात भावना देनी चाहिए। ॥६५-७६॥

विशेष (Comments)-जल्पकल्पतरु टीका के चरक मूल पाठ में 'पिष्ट्वाऽजस्य मूत्रेण गोश्वपित्तेन सप्ताहं' (श्लोक नं. ७१ का द्वितीय पाद) के स्थान पर 'पिष्ट्वाऽथ वस्तमूत्रेण च गोश्व पित्तेन सप्ताहं' पाठ प्राप्त होता है। जिसका अभिप्राय श्वेतादि द्रव्यों को बकरे के मूत्र में पीसकर कल्क बनावें, पश्चात् गाय के पित्त अर्थात् गोरोचन की सात भावना दें, से है।

पत्रागुरुमुस्तैला निर्यासाः पञ्च चन्दनं स्पृक्का। त्वङ्नलदोत्पलबालकहरेणुकोशीरवन्यनखाः ॥७७॥
सुरदारुकनककुङ्कुमध्यामककुष्ठप्रियङ्गवस्तगरम्। पञ्चाङ्गानि शिरीषाद्व्योषालमनःशिलाजाज्यः ॥७८॥
श्वेतकटभीकरञ्जौ रक्षोघ्नी सिन्धुवारिका रजनी। सुरसाञ्जनगैरिकमञ्जिष्ठानिम्बनिर्यासाः ॥७९॥
वंशत्वगश्वगन्याहिङ्गुदधित्थाम्लवेतसं लाक्षा। मधुमधुकसोमराजीवचारुहारोचनातगरम् ॥८०॥
अगदोऽयं वैश्रवणायाख्यातस्त्र्यम्बकेण षष्ट्यङ्गः। अप्रतिहतप्रभावः ख्यातो महागन्धहस्तीति ॥८१॥
पित्तेन गवां पेय्यो गुटिकाः कार्यास्तु पुष्ययोगेन। पानाञ्जनप्रलेपैः प्रसाधयेत् सर्वकर्माणि ॥८२॥
पिल्लं कण्डूं तिमिरं रात्र्यान्ध्यं काचमर्बुदं पटलम्। हन्ति सततप्रयोगाद्धितमितपथ्याशिनां पुंसाम् ॥८३॥
विषमज्वरानजीर्णान्दद्रुं कण्डूं विसूचिकां पामाम्। विषमूषिकलूतानां सर्वेषां पन्नगानां च।
आशु विषं नाशयति समूलजमथ कन्दजं सर्वम् ॥८४॥
एतेन लिप्तगात्रः सर्पान् गृह्णाति भक्षयेच्च विषम्। कालपरीतोऽपि नरो जीवति नित्यं निरातङ्कः ॥८५॥
आनद्धे गुदलेपो योनौ लेपश्च मूढगर्भाणाम्। मूर्च्छार्तिषु च ललाटे प्रलेपनमाहुः प्रधानतमम् ॥८६॥

Scanned by CamScanner

भेरीमृदङ्गपटहाञ्छत्राण्यमुना तथा ध्वजपताकाः । लिप्त्वाऽहिविषनिरस्त्यै प्रध्वनयेद्दर्शयेन्मतिमान् ।।८७।।
यत्र च सन्निहितोऽयं न तत्र बालग्रहा न रक्षांसि । न च कार्मणवेताला वहन्ति नाथर्वणा मन्त्राः ।।८८।।
सर्वग्रहा न तत्र प्रभवन्ति न चाग्निशस्त्रनृपचौराः । लक्ष्मीश्च तत्र भजते यत्र महागन्धहस्त्यस्ति ।।८९।।
पिष्यमाण इमं चात्र सिद्धं मन्त्रमुदीरयेत् । 'मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता ।।९०।।
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च । नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ।।९१।।
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च । तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ।।९२।।
यथाऽहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम् । मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ।।९३।।
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्ययम् । हिलिमिलिसंस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा ।।९४।।

इति महागन्धहस्तीनामाऽगदः ।

ऋषभकजीवकभार्गीमधुकोत्पलधान्यकेशराजाज्यः ।
ससितगिरिकोलमध्याः पेयाः श्वासज्वरादिहराः ।।९५।।
हिङ्गु च कृष्णायुक्तं कपित्थरसयुक्तमभ्यलवणं च । समधुसितौ पातव्यौ ज्वरहिक्काश्वासकासघ्नौ ।।९६।।
लेहः कोलास्थ्यञ्जनलाजोत्पलमधुघृतैर्वम्याम् । बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी ।।९७।।
शिखिबर्हिबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम् । धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत् ।।९८।।
घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च । धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहृच्च ।।९९।।
जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुकुभपुष्पसर्जरसाः । श्वेता च थूम उरगाखुकीटवस्त्रक्रिमिनुदश्यः ।।१००।।
तरुणपलाशक्षारं स्रुतं पचेच्चूर्णितैः सह समांशैः । लोहितमृद्रजनीद्वयशुक्लसुरसमञ्जरीमधुकैः ।।१०१।।
लाक्षासैन्यवमांसीहरेणुहिङ्गुद्विसारिवाकुष्ठैः । सव्योषैर्बाह्लीकैर्दर्वीविलेपनं घट्टयेद्यावत् ।।१०२।।
सर्वविषशोथगुल्मत्वग्दोषार्शोभगन्दरप्लीहः । शोथापस्मारक्रिमिभूतस्वरभेदपाण्डुगदान् ।।१०३।।
मन्दाग्नित्वं कासं सोन्मादं नाशयेयुरथ पुंसाम् । गुटिकाश्छायाशुष्काः कोलसमास्ताः समुपयुक्ताः ।।१०४।।

इति क्षारागदः ।

महागन्धहस्ती नामक अगद–१. घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–१. तेजपत्र (तेजपत्ता), २. अगरु (अगर), ३. मुस्तक (नागरमोथा), ४. एला, पञ्च निर्यास, (यथा- ५. राल, ६. गुग्गुलु, ७. अफीम, ८. शिलाजीत, ९. लोहवान), १०. चन्दन, ११. स्पृक्का, १२. त्वक् (दालचीनी त्वक्), १३. नलद, १४. उत्पल, १५. बालक (सुगन्धवाला), १६. हरेणु, १७. उशीर (खश), १८. वन्य नख (जल्पकल्पतरु व्याख्या के चरक मूल पाठ में वन्य नख के स्थान पर व्याघ्र-नख प्राप्त होता है।), १९. देवदारु, २०. कनक (धतूर), २१. कङ्कुम, २२. ध्यामक (सुगन्धतृण), २३. कुष्ठ (कूठ), २४. प्रियङ्गु, २५. तगर, २६-३०. शिरीष के पञ्चाङ्ग (२६. मूल, २७. छाल, २८. पत्र, २९. पुष्प, ३०. फल), ३१. सोंठ (शुण्ठी), ३२. कालीमिर्च, ३३. पिप्पली, ३४. हरताल, ३५. मनःशिला, ३६. अजाजी (जीरक), ३७. श्वेता (श्वेत पुष्प वाली अपराजिता), ३८. कटभी, ३९-४०. करञ्ज द्वय (करञ्ज तथा लताकरञ्ज), ४१. रक्षोघ्नी, ४२. सिन्धुवारिका, ४३. रजनी (हल्दी), ४४. सुरसा, ४५. रसाञ्जन, ४६. गैरिक, ४७. मञ्जिष्ठा, ४८. निम्ब का निर्यास (नीबावट), ४९. वंशत्वक् (बांस का छिलका), ५०. अश्वगन्धा, ५१. हिङ्गु (हींग), ५२. दधित्थ, ५३. अम्लवेतस, ५४. लाक्षा, ५५. मधु, ५६. मधुक (यष्टीमधु) ५७. रोमराजी, ५८. वचा, ५९. रुहा, ६०. रोचनातगर (पीत तगर); निर्दिष्ट सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को गाय के पित्त (गोरोचन) में पीसकर छोटी-छोटी गोलियाँ बना लें। पीसकर गोली बनाने का कार्य पुष्य नक्षत्र में करना चाहिये। इन साठ द्रव्यों से युक्त अगद का उपदेश भगवान् त्र्यम्बक (शिव) ने कुबेर के लिए किया था। इस प्रकार यह 'महागन्धहस्ती' नामक अगद अत्यन्त प्रभाव वाला है। इसका प्रयोग पान, अञ्जन, प्रलेप आदि के रूप में करने से सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती है अर्थात् यह सभी प्रकार के कर्मों में उपयोगी है।

२. उपयोग–

इस अगद का लगातार कुछ दिनों तक पथ्य अन्न के साथ प्रयोग करने पर पिल्ल, कण्डू (आँख की खुजली), तिमिर (Cataract), रात्र्यान्ध (रात्रि में दिखाई न देना), काँच (तृतीय पटल गत तिमिर को कांच कहा जाता है), अर्बुद, पटल आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। इसके साथ ही विषम ज्वर (Irregular fever), अजीर्ण (Indigestion), दद्रु (Ring worm), कण्डू (Itching), विसूचिका (Choleric diarrhoea) एवं पामा (Scabies) को भी दूर करता है। यह अगद लूता, मूषिक आदि के विष, सभी प्रकार के सर्पों के विष, सभी प्रकार के मूल एवं कन्द विषों के प्रभाव को बहुत शीघ्र ही नष्ट कर देता है। इस अगद से लिप्त शरीर वाला पुरुष सभी प्रकार के सर्पों को पकड़ सकता है तथा विष का सेवन कर सकता है। अर्थात् इस अगद का लेप शरीर पर करने के पश्चात् व्यक्ति को विष का भय नहीं रह जाता।

विष से मरणासन्न व्यक्ति भी इसके सेवन से रोग रहित होकर सुखी जीवन जीता है। यदि रोगी के उदर में आनाह हो तो इस अगद का लेप गुदा पर करना चाहिये। मूढ़गर्भ की अवस्था में स्त्री की योनि पर इसका लेप लगाना चाहिये तथा मूर्च्छा से पीड़ित रोगी के ललाट

Scanned by CamScanner

पर लेप लगावें । अर्थात् आनाह (Constipation) में- गुदा पर, मूढ़गर्भ-स्त्री की योनि पर, मूर्च्छा (Fainting) से पीड़ित रोगी में ललाट पर इसका लेप विशेष रूप से लगाना चाहिए । बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिए कि भेरी, मृदंग, पटह (नगाड़ा), छत्र, ध्वजा एवं पताकाओं पर इस अगद का लेप लगाकर सर्प विष को दूर करने हेतु भेरी आदि को बजवावें तथा पताका आदि को फहरावें । अर्थात् विष के प्रभाव को दूर करने हेतु भेरी आदि वाद्यों के ऊपर इस महागन्धहस्ती नामक अगद का लेप लगाकर, उसे सुखावें पश्चात् उन वाद्यों को बजाना चाहिए । उसी प्रकार ध्वज एवं पताकाओं के ऊपर भी लेप लगावें । इसके बाद उसे सुखा लें तथा फहरावें । जिस स्थान पर यह अगद रहता है वहाँ बालग्रह एवं राक्षस आदि नहीं आते, न तो उस स्थान पर मोहन, मारण आदि कर्मों का प्रभाव पड़ता है । वेताल तथा अथर्ववेद के अशुभ मंत्र प्रभावी नहीं होते ।

यदि व्यक्ति के पास यह अगद है (रखा हुआ है या धारण किया हुआ है) तो उसे नवग्रहादि, अग्नि, शस्त्र, राजा एवं चोर आदि का भय नहीं रहता । उस स्थान पर लक्ष्मी सदा निवास करती है जहाँ यह महागन्धहस्ती नामक अगद विद्यमान रहता है ।

अगद तैयार करने का शास्त्रीय विधान-१-६० तक के घटक द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें, पश्चात् उसे बकरे के मूत्र में पीसकर कल्क बना लें । चूर्ण निर्माण का कार्य पुष्य नक्षत्र में ही करना चाहिए । बकरे के मूत्र में चूर्ण को पीस कर कल्क जैसा बनावें पश्चात् सुखा लें । इसके पश्चात् गाय के पित्त एवं अश्व के पित्त में व्यत्यास क्रम (Alternate क्रम) से भावना देनी चाहिए । भावना देते समय अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण करते हुए वटिका बनाने का कार्य करना चाहिए-

"मम माता जया नाम जयो नामेति मे पिता ॥
सोऽहं जयजयापुत्रो विजयोऽथ जयामि च । नमः पुरुषसिंहाय विष्णवे विश्वकर्मणे ॥
सनातनाय कृष्णाय भवाय विभवाय च । तेजो वृषाकपेः साक्षात्तेजो ब्रह्मेन्द्रयोर्यमे ॥
यथाऽहं नाभिजानामि वासुदेवपराजयम् । मातुश्च पाणिग्रहणं समुद्रस्य च शोषणम् ॥
अनेन सत्यवाक्येन सिध्यतामगदो ह्यम् । हिलिमिलिसंस्पृष्टे रक्ष सर्वभेषजोत्तमे स्वाहा ॥"

[मेरी माँ का नाम जया तथा पिता का नाम जय है । अतः मैं जय व जया का पुत्र 'विजय' हूँ । इसलिये मैं सभी व्याधियों एवं विषों पर विजय प्राप्त करना चाहता हूँ । पुरुषों में सिंह के समान बलशाली अथवा नृसिंह, विश्वकर्मा, भगवान् विष्णु, सनातन भगवान् कृष्ण, भगवान् शंकर (शिव) एवं विभव (कुबेर) को नमस्कार है । वृषाकपि (विष्णु, शिव एवं अग्नि) में विद्यमान तेज तथा ब्रह्मा, इन्द्र व यम के तेज को मैं नहीं जानता हूँ, अर्थात् इनका तेज अपरिमित प्रभाव वाला है, जिस प्रकार मैं भगवान् वासुदेव के पराजय को नहीं जानता हूँ अर्थात् इनका पराजय कभी नहीं होता, जिस प्रकार माता के पाणिग्रहण तथा समुद्र के सूखने का ज्ञान नहीं है उसी प्रकार यह अगद कभी निष्फल होता है, इसकी भी जानकारी नहीं है । अर्थात् यह अगद सभी व्याधियों में अत्यन्त प्रभावशाली है । इस प्रकार सत्य वाक्य के द्वारा यह अगद सिद्ध हो । इस **हिलिमिलि** नामक मन्त्र का उच्चारण करते हुए गुटिका का निर्माण करना चाहिये ।]

ऋषभकादि अगद-घटक द्रव्य-१. ऋषभक, २. जीवक, ३. भारङ्गी (बभनैटी), ४. मधुक (यष्टीमधु या मुलेठी), ५. उत्पल (नीलकमल), ६. धनिया, ७. केशर (नागकेशर), ८. जीरक (जीरा), ९. ससितगिरि (श्वेतअपराजिता), १०. कोलमध्या (बेर की गुठली की मज्जा)

निर्माण विधि-उपर्युक्त सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें । मात्रा-३-६ ग्राम ।

उपयोग-इस चूर्ण का सेवन ३-६ ग्राम की मात्रा में जल के साथ करने से श्वास (Asthma), ज्वर (Fever) आदि उपद्रव जो विषजनित होते हैं, दूर हो जाते हैं ।

हिंग्वादि योग-हिङ्गु (हींग) व पिप्पली का कपड़छन चूर्ण बना लें अथवा कैथ के स्वरस (कपित्थ स्वरस) में सैन्धव नमक यथावश्यक मात्रा में मिलाकर मधु व शर्करा के साथ पीवें । [यहाँ दो योग बताये गये हैं-१. हींग+पिप्पली चूर्ण में मधु व शर्करा मिलाकर तथा २. कपित्थ स्वरस+सैन्धवनमक में मधु व शर्करा मिलाकर ।]

ये दोनों ही योग ज्वर, हिक्का, श्वास व कास नाशक हैं । अर्थात् विष सेवन से होने वाले उपद्रव, यथा-ज्वरादि को यह योग दूर करता है ।

वमननाशक योग-यदि विषपान के कारण रोगी को वमन हो रहा हो तब उसे कोलास्थि (बेर की गुठली की मज्जा), रसाञ्जन (रसवत), लाजा (धान का लावा), उत्पल (नील कमल); से निर्मित चूर्ण को मधु व घृत के साथ उचित मात्रा में पीने के लिए देना चाहिये ।

यदि रोगी (विष पान का रोगी) को हिचकी आ रही हो तब उसे-बड़ी कण्टकारी (वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कण्टकारी), अरहर की पत्ती (आढ़की पत्र); से निर्मित वर्ति का धूम पीना चाहिये । अर्थात् इस योग की वर्ति बनावें तथा धूमपान करें ।

Scanned by CamScanner

विषनाशक धूम–१. शिखिवर्हि (मोर का पंख), बलाका अस्थि (बगुले की हड्डी), सर्षप (पीली सरसों) तथा चन्दन चूर्ण, सभी द्रव्यों को घृत में मिलाकर रख लें। इनका प्रयोग धूम के रूप में करें। अर्थात् इनको अग्नि पर डालकर धुआँ करें। इसके धुएं के प्रभाव से गृह (घर), आसन, शयन एवं वस्त्र आदि में विद्यमान विष नष्ट हो जाता है।

२. तगर, कुष्ठ (कूठ), सांप का सिर व शिरीष का फूल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर घृत मिश्रित करके रख ले। इस घृत मिश्रित धूम को अग्नि पर डालकर धुआँ करने से सभी प्रकार के विष दूर हो जाते है तथा विषजन्य शोथ (Oedema) नष्ट हो जाता है। अर्थात् यह धूम विषों के प्रभाव एवं शोथ को दूर करता है।

३. जतु (लाक्षा), सेव्य (उशीर), पत्र (तेजपत्र), गुग्गुलु, भल्लातक, ककुभ पुष्प (अर्जुन का फूल), सर्जरस (राल), तथा श्वेत अपराजिता; सभी द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण का धूम प्रयोग करने से अथवा इन्हें अग्नि पर जला कर धुआँ करने से उरग (सर्प), आखु (चूहा), कीट तथा वस्त्र में रहने या पड़ने वाले कृमि नष्ट हो जाते हैं अथवा इसके धुँएं से सर्पादि घर में नहीं रहते अर्थात् भाग जाते हैं।

क्षारागद–स्रुत तरुण पलाशक्षार को अग्नि पर पकावें, पकते-पकते जब वह कुछ गाढ़ा हो जाय अर्थात् अवलेह जैसा हो जाय तब उसमें-लाल मिट्टी (गैरिक), रजनी (हल्दी), दारुहल्दी, शुक्ल सुरसा मञ्जरी (सफेद तुलसी की मञ्जरी), मधुक (यष्टीमधु या मुलेठी), लाक्षा, सैन्धव लवण, मांसी (जटामांसी), हरेणु, हिङ्गु (हींग), दोनों प्रकार की सारिवा (श्वेत सारिवा एवं कृष्ण सारिवा), कुष्ठ (कूठ), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली तथा हींग; इन द्रव्यों के सम प्रमाण से निर्मित चूर्ण मिलाकर गाढ़ा करें तथा करछुल से चलाते रहें। जब करछुल में अवलेह चिपकने लगे तब उसे अग्नि पर से उतार दें। पश्चात् बेर के बराबर गोली बनाकर, इसे छाया में सुखा लें। सूखी हुई गोलियों को कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें।

इस अगद के मात्रापूर्वक सेवन करने से सभी प्रकार के विषजन्य विकार, विषजन्य सभी प्रकार के शोथ (Inflammation caused by all types of poisoning), गुल्म (Phantom tumour), त्वक् दोष (Skin diseases), अर्श (Piles), भगन्दर (Fistula-in-ano), प्लीहा रोग (Splenic disorder), शोथ (Oedema), अपस्मार (Epilepsy), क्रिमि (Parasitic infection), भूतादि के आवेश, स्वरभेद (Hoarseness of the voice), पाण्डुरोग (Anaemia), अग्निमांद्य (जाठराग्नि का मन्द होना या भूख का न लगना), कास (Cough) एवं उन्माद (Insanity) आदि विकार नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् इन व्याधियों में क्षारागद का प्रयोग करना चाहिये।

चक्रपाणि–'ऋषभकेत्यादि' के द्वारा विष के उपद्रव रूप में होने वाले श्वास आदि की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। सितगिरि=श्वेत अपराजिता (श्वेत पुष्प वाली अपराजिता)। कोलमध्यं=बेर के बीज की गुठली (बीज की गुद्दी)। भुजगपतिशिर इति=दो मुख वाले सर्प का सिर। वस्त्रकृमिः=यूका (वस्त्र में रहने वाले कृमि यथा-जू व चीलर)

पलाशक्षारं स्रुतमिति सुश्रुतोक्तक्षारपरिस्रावणविधिना स्रावितम्–स्रुतपलाशक्षार से यहाँ सुश्रुतसंहिता में वर्णित क्षारपरिस्रावणविधि द्वारा निकाले हुए क्षार (स्रवित क्षार) का ग्रहण किया गया है। लोहितमृत=लालमिट्टी (गैरिक)। सुरस मञ्जरी=तुलसी की मञ्जरी (सफेद तुलसी या रामा तुलसी की मञ्जरी)। यह पर्णास का भेद है। ॥७७-१०४॥

विशेष (Comments)–पलाश के तरुण वृक्ष को काटकर छोटे-छोटे टुकड़े करके सुखा लें, पश्चात् इसे जला दें। इस जले हुए राख को ४ गुने या ६ गुने पानी में घोलकर २१ बार छान लें। यह छना हुआ जल चूर्ण का ४ गुना लेकर पकावें। सुरसा से शुक्ल वर्ण वाली निर्गुण्डी की मञ्जरी अथवा सफेद तुलसी की मञ्जरी का ग्रहण है। द्विसरिवा=१. श्यामलता, २. अनन्तमूल सरिवा। वाह्लीक से हिङ्गु (हींग) अर्थ लिया गया है। यहाँ हिङ्गु की मात्रा-२ भाग ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि क्षारागद के निर्माणार्थ हिङ्गु व वाह्लीक का प्रयोग हुआ है।

–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

विषपीतदष्टविद्धेष्वेतद्दिग्धे च वाच्यमुद्दिष्टम्। सामान्यतः, पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृणु यथावत् ॥१०५॥
रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यःस्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवाभयं नृपतेः। आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत ॥१०६॥
अत्यर्थशङ्कितःस्याद्बहुवागथवाऽल्पवाग्विगतलक्ष्मीः। प्राप्तः प्रकृतिविकारं विषप्रदाता नरो ज्ञेयः ॥१०७॥
दृष्ट्वैवं न तु सहसा भोज्यं कुर्यात्तदन्नमग्नौ तु। सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः ॥१०८॥
शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णाक्षमरूक्षकुणपधूमश्च। स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात् ॥१०९॥
पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकांश्च मारयति। क्षामस्वरांश्च काकान् कुर्याद्विरजेच्चकोराक्षि ॥११०॥
पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वां च नेक्षते छायाम्। पश्यति विकृतामथवा लवणाक्ते फेनमाला स्यात् ॥१११॥
पानान्नयोःसविषयोर्गन्धेन शिरोरुग्धृदि च मूर्च्छा च। स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यङ्गुलिदाहतोदनखभेदाः ॥११२॥
मुखगे त्वोष्ठचिमिचिमा जिह्वा शूना जडा विवर्णा च। द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥११३॥
आमाशयं प्रविष्टे वैवर्ण्यं स्वेदसदनमुत्क्लेदः। दृष्टिहृदयोपरोधो बिन्दुशतैश्चीयते चाङ्गम् ॥११४॥

Scanned by CamScanner

पक्वाशयं तु याते मूर्च्छामदमोहदाहबलनाशाः । तन्द्रा कार्श्यं च विषे पाण्डुत्वं चोदरस्थे स्यात् ।।११५।।
दन्तपवनस्य कूर्चो विशीर्यते दन्तौष्ठमांसशोफश्च । केशच्युतिः शिरोरुग्ग्रन्थयश्च सविषेऽथ शिरोभ्यङ्गे ।।११६।।
दुष्टेऽञ्जनेऽक्षिदाहस्रावात्युपदेहशोथरागाश्च । खाद्यैरादौ कोष्ठः स्पृश्यैस्त्वग्दूष्यते दुष्टैः ।।११७।।
स्नानाभ्यङ्गोत्सादनवस्त्रालङ्कारवर्णकैर्दुष्टैः । कण्ड्वर्तिकोठपिडकारोमोद्गमचिमिचिमा शोथाः ।।११८।।
एते कर्चरणदाहतोदक्लमाविपाकाश्च । भूपादुकाश्वगजवर्मकेतुशयनासनैर्दुष्टैः ।।११९।।
माल्यमगन्धं म्लायति शिरोरुजालोमहर्षकरम् । स्तम्भयति खानि नासामुपहन्ति दर्शनं च धूमः ।।१२०।।
कूपतडागादिजलं दुर्गन्धं सकलुषं विवर्णं च । पीतं श्वयथुं कोठान् पिडकाश्च करोति मरणं च ।।१२१।।
आदावामाशयगे वमनं त्वक्स्थे प्रदेहसेकादि । कुर्याद्विषक् चिकित्सां दोषबलं चैव हि समीक्ष्य ।।१२२।।
इति मूलविषविशेषाः प्रोक्ताः–

विष सम्बन्धी सामान्य चिकित्सा का उपसंहार–इस प्रकार विषपीत (पीये गये विष), दष्टविष (जाङ्गम विष), विद्ध विष (विषाक्त बाण आदि के लगने से जो विषाक्तता उत्पन्न हुई है) तथा दिग्धविष का वर्णन किया गया। अर्थात् इनकी सामान्य चिकित्सा का अभिधान किया गया। अब आगे इनकी अलग-अलग चिकित्सा (विशेष चिकित्सा) का वर्णन यथावत् रूप में किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे ध्यान पूर्वक सुनो–

राजा के अधीन रहने वाले कर्मचारियों की परीक्षा–राजा को अपने अधीन रहने वाले उन व्यक्तियों जो शत्रु से मिले हुए हैं तथा स्त्रियों से भय रहता है। अतः आहार-विहार से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों की परीक्षा करनी चाहिए।

विषदाता के लक्षण–

१. विष देने वाला व्यक्ति अत्यन्त शंकित होता है।
२. बहुत अधिक बोलता है या बहुत ही कम बोलता है।
३. उसके शरीर (चेहरे) की कान्ति नष्ट हो जाती है।
४. उसका स्वभाव बदल जाता है, अर्थात् उसके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है।

उपरोक्त सभी लक्षण विष देने वाले व्यक्ति में पाये जाते हैं।

विष युक्त अन्न (विष मिश्रित अन्न) की विविध परीक्षायें–

यदि उपरोक्त लक्षण परिचारक में पाये जाँय तब उसके द्वारा प्रदत्त भोजन (अन्न) का सेवन अचानक नहीं करना चाहिये, अपितु उस अन्न की अग्नि आदि के द्वारा उचित प्रकार से परीक्षा करें–

अग्नि परीक्षा–अन्न को जलती हुई अग्नि के ऊपर डालने पर उसमें निम्नलिखित परिवर्तन मिलते हैं–

१. विष युक्त अन्न को ज्यों हि अग्नि के ऊपर डालते हैं उसकी ज्वाला में अनेक परिवर्तन होते हैं। मयूर के पंख के समान वर्ण वाली आभा का निकलना अर्थात् नील, लाल एवं पीत वर्ण की मिश्रित आभा का निकलना।
२. अग्नि से निकलने वाली धूम अत्यन्त तीक्ष्ण, न सह सकने योग्य, रूक्ष एवं सड़े मुर्दे के समान गंध का निकलना। अर्थात् विष युक्त अन्न को जब अग्नि पर डालते हैं तब उससे सड़े मुर्दे के समान तीक्ष्ण गन्ध निकलती है।
३. चटचट ध्वनि का निकलना।
४. अग्नि की ज्वाला का एक चक्कर काटकर बुझ जाना अथवा ज्वाला न निकलकर केवल धूम (धुँये) का निकलना।

अन्य परिक्षायें–

१. पात्र में रखा हुआ अन्न अपने स्वाभाविक वर्ण में नहीं रहता, अर्थात् अन्न का वर्ण विकृत हो जाता है।
२. विषाक्त अन्न पर बैठी हुई मक्षिकायें मृत हो जाती हैं।
३. कौआ आदि जब विषाक्त अन्न का सेवन करता है तब उसकी आवाज क्षीण (दुर्बल) हो जाती है, अर्थात् कौए की आवाज क्षीण हो जाती है। चकोर पक्षी अन्धा हो जाता है अथवा उसके नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते हैं।

विषाक्त पेय पदार्थों की परीक्षा–यदि पेय पदार्थों, यथा-जल, दूध, शरबत, लस्सी आदि में विष दिया गया है तब पेय पदार्थ के ऊपरी परत पर नीलराजी (नीली रेखाएं) का मिलना, पेय पदार्थ का अपने स्वाभाविक वर्ण में न रहना (अर्थात् वर्ण का विकृत हो जाना), पेय द्रव्य में व्यक्ति को अपनी छाया का न दिखाई देना अथवा विकृत छाया का दिखाई देना। यदि पेय पदार्थ में कुछ नमक मिला है तब उसमें विष डालने पर पेय पदार्थ अत्यधिक फेन युक्त हो जाता है अर्थात् उसमें झाग अधिक दिखाई देता है।

Scanned by CamScanner

गन्ध एवं स्पर्श परीक्षा–विष युक्त अन्न-पान का गंध सूंघने पर व्यक्ति को शिरः शूल (Headache), हृद् शूल (Pain in Cardiac region) तथा मूर्च्छा (Fainting) उत्पन्न हो जाती है ।

यदि विषाक्त अन्न या पान का शरीर पर कहीं स्पर्श (Touch) हो जाता है तब स्पर्श वाले भाग में शोथ (Oedema) एवं शून्यता (Numbness) उत्पन्न हो जाता है । यह स्थिति प्रायः हाथों में ही मिलती है । इसलिये व्यक्ति की हाथों में शोथ, शून्यता, अंगुलियों में जलन, तोद (Pricking pain) होने लगती है । नख टूटने लगते हैं । मुख से विषाक्त अन्न या पान का स्पर्श होने पर त्वचा एवं ओष्ठ में चिमचिमाहट, जिह्वा का शोथयुक्त, जड़ (कड़ी हो जाना-Stiffness of the tongue) एवं विकृत् (Discolouration of the tongue) हो जाना । दांतों में हर्ष उत्पन्न हो जाता है (Tingling sensation), जबड़े का जकड़ जाना (हनुस्तम्भ Stiffness of the mandible), मुख में अत्यधिक दाह का होना (Burning sensation in the mouth), लालास्राव (Salivation) तथा गले के रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

विष युक्त अन्न-पान के आमाशय में पहुँचने पर–१. शरीर के वर्ण में परिवर्तन (Discolouration of the body), २. शरीर से अत्यधिक पसीने का निकलना (Sweating), ३. सदन (Loss of strength and energy-asthenia), ४. उत्क्लेद (मिचली का आना-Nausea), ५. दृष्टि उपरोध (आँखों से दिखाई न देना), ६. हृदय उपरोध (arrest of cardiac function), ७. शरीर पर अनेक फुंसियों का निकलना (बिन्दु के समान शरीर पर छोटी-छोटी फुंसियों का निकलना) आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

पक्वाशयस्थ विष के लक्षण–विषाक्त अन्न-पान जब पक्वाशय में पहुँचता है तब उस अवस्था में रोगी में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं, यथा–१. मूर्च्छा (Fainting), २. मद (Intoxication), ३. मोह (unconsciousness), ४. दाह (Burning sensation), ५. बलनाश (Weakness)

उदरस्थ विष के लक्षण–विष के उदर में स्थित होने पर- १. तन्द्रा (drowsiness), २. कृशता (Emaciation), ३. पाण्डुरोग (Anaemia) उत्पन्न होते हैं ।

दन्तपवन (ब्रश-दातौन) में स्थित विष के लक्षण–दातौन या ब्रश (Tooth Brush) में विष का संयोग होने पर-१. दंतपवन की कूंची टूट कर गिरने लगती है । २. दांत, ओष्ठ एवं मसूढ़ों में सूजन आ जाती है ।

यदि शिरोऽभ्यङ्ग हेतु प्रयुक्त तैल आदि में विष मिला हो तब विषाक्त तैलादि के स्पर्श से मिलने वाले लक्षण-बालों का गिरना (Hair-fall), शिरःशूल (Headache), शिरोग्रन्थि (सिर में ग्रन्थियों का निकलना) आदि पाये जाते हैं ।

→ विष युक्त अञ्जन के लगाने से- १. आँखों में जलन, २. स्राव (Lacrymation-अश्रुस्राव), ३. आँखों से अत्यधिक कीचड़ का निकलना (Excessive production of sticky material from eyes), ४. चक्षु शोथ (आँखों का सूज जाना-Oedema in the eyes), ५. राग (आँखों में लालिमा-Redness of the eyes) आदि लक्षण मिलते हैं ।

→ यदि खाद्य-पदार्थ के साथ विष मिला हुआ है तब व्यक्ति में सर्वप्रथम कोष्ठ (Gastro-intestinal tract) की विकृति एवं विष का स्पर्श त्वचा से होने पर त्वचा की विकृति मिलती है, ऐसा जानना चाहिए ।

→ यदि स्नान हेतु प्रयुक्त जल, अभ्यङ्ग के द्रव्यों, उत्सादन (उबटन), वस्त्र, आभूषण एवं वर्णक (अलता आदि अंगराग से सम्बन्धित सामग्री) आदि में विष मिश्रित हो अथवा विष मिलाया गया हो तब व्यक्ति में खुजली (Itching), वेदना (Pain), कोठ (Urticaria), पिडिकायें (Pimples), रोमोद्गम (रोमाञ्च का होना-Horripilation), शरीर में चुनचुनाहट का होना (Tingling sensation) एवं शोथ (Oedema) उत्पन्न हो जाते हैं ।

→ यदि विष का प्रयोग भूमि (मिट्टी), पादुका (खड़ाऊँ-Shoes), घोड़े एवं हाथी की पीठ, वर्म (कवच), केतु (पताका), शयन (Bed) एवं आसन (Seat) आदि में किया गया है तब विष के स्पर्श से रोगी में अथवा विष का संपर्क रोगी के शरीर के जिस भाग में होता है उसमें दाह (Burning sensation), तोद (सुई चुभने जैसी पीड़ा का होना-Pricking pain), क्लम (शरीर में थकावट का होना) एवं अविपाक (शोथ जो पके न) उत्पन्न हो जाते हैं ।

→ विषाक्त माला के लक्षण-यदि फूलों के माध्यम से विष का प्रयोग किया गया है तब पुष्प से उसकी स्वाभाविक गन्ध नहीं आती, पुष्प मलीन हो (मुरझा) जाते हैं । पुष्प के सुँघने पर शिरःशूल (Headache) एवं रोमाञ्च (Horripilation) होने लगता है ।

→ यदि धूम के साथ विष का प्रयोग किया गया है तब प्रयोग करने वाले व्यक्ति के स्रोतस् (नासा, मुख आदि) जकड़ जाते हैं । नासिका से गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता एवं नेत्रों से दिखाई न देना, ये लक्षण मिलते हैं ।

→ यदि कूप (कुएं) एवं तालाब आदि के जल में विष डालने पर- जल से दुर्गन्ध का आना, जल गंदा एवं विकृत वर्ण का हो जाता है। इस जल के पीने पर शोथ (Oedema), कोठ (Urticaria) एवं पीडिका (Pimples) शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं । यदि अत्यधिक तीक्ष्ण विष का प्रयोग किया गया है तो उससे रोगी की मृत्यु भी हो सकती है ।

Scanned by CamScanner

मूलविष चिकित्सा विषयक उपसंहार–यदि विष (स्थावर विष) आमाशय (ऊर्ध्व आमाशय) में स्थित हो तब वमन कराकर विष का निर्हरण करना चाहिए। यदि विष का अवस्थान त्वचा में हो तब विषनाशक प्रदेह (लेप) एवं परिषेक आदि का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद चिकित्सक को दोष व बल अर्थात् दोषों के बलाबल एवं रोगी के बल का विचार करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

इस प्रकार मूलविष (स्थावर विष) की विशेषताओं का विशेष रूप से वर्णन कर दिया गया।

चक्रपाणि–पृथक्त्वान्निर्देशमतः शृण्वति-अनेक प्रकार के विष के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा के निर्देश को सुनो। [यह वाक्य भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश के लिए कहा है।]

रिपुयुक्तेभ्य इति-ऐसे व्यक्ति जिनका प्रयोग शत्रु अपने हित के लिए करते हैं, अर्थात् अपने वे लोग जो शत्रुओं से मिले हुए हैं। राजा को ऐसे व्यक्तियों से बचाना चाहिए। **स्त्रीभ्य इति सौभाग्यार्थं अभक्ष्यदानेऽप्यज्ञानात् प्रवृत्ताभ्यः स्त्रीभ्यः**-ऐसी स्त्रियाँ जो अपने पति को वश में रखने के लिए अज्ञानतावश अभक्ष्य पदार्थों, यथा-रज, नख आदि का प्रयोग करती हैं। (ऐसी स्त्रियों से राजा या राजपुरुषों को बचना चाहिए।)

आहारविहारगत इति–आहार-विहार के द्वारा सेवा करना (ऐसे नौकर या कर्मचारी जो राजा या राजपुरुषों को आहार-विहार प्रदान करने का कार्य करते है अथवा आहार-विहार के समय साथ रहते हैं, ये भी विष का प्रयोग कर सकते हैं।)

प्रेष्यानिति–सूपकार (रसोइया) आदि की।

[राजा की सुरक्षा हेतु-स्त्री, भृत्य, सूपकार आदि की विशेष परीक्षा करनी चाहिये।]

'अत्यर्थेत्यादि' के द्वारा यहाँ परीक्षा के उपाय को बताया गया है।

विगतलक्ष्मीः निःशोभः–कान्ति का नष्ट हो जाना। भोज्यमिति=खाने योग्य अन्न अथवा ग्रहण किया जाने वाला अन्न।

तद् अन्नमग्नौ प्रक्षिपेत्–उस अन्न को अग्नि में डालना चाहिए अर्थात् अन्न की अग्नि-परीक्षा करनी चाहिये।

'पात्रस्थं' के पूर्व 'सविषं' शब्द प्रयुक्त है। इस आधार पर-'सविषं पात्रस्थं' बनता है जिसका अर्थ-पात्र में रखे हुए विषयुक्त अन्न का ग्रहण करना चाहिए, से है।

विरज्येत चकोराक्षीति–विष को देखने मात्र से ही चकोर पक्षी की आँखे लालवर्ण की हो जाती हैं तथा कौए का स्वर क्षीण हो जाता है।

पाने इति–मद्य आदि पेय पदार्थों में। छाया=परछाई (प्रतिबिम्ब)। लवणाक्ते इति पानविशेषणम्-विशेष रूप से लवण मिश्रित पेय पदार्थों में। (ऐसे पेय पदार्थ जो लवण मिलाकर बनाये जाते हैं उनमें विष मिला होने पर)

'मुखगे इत्यादि' के द्वारा मुखादि से सम्बन्धित विष के लक्षण। (यदि विष का सम्बन्ध मुख आदि से हो, तब उनमें कौन-कौन से लक्षण मिलते हैं, इसका विवेचन 'मुखगे इत्यादि' के द्वारा किया गया है।)

बिन्दुः बिन्द्वाकारा त्वग्विकृतिः–त्वचा पर बिन्दु (drop) के आकार की रचना अर्थात् त्वचा पर छोटी-छोटी फुन्सियों का निकलना, जो त्वक् विकृति कही जाती है, उत्पन्न हो जाती हैं। यह लक्षण अन्न-पान के साथ विष आदि आमाशय में प्रविष्ट हो गया है, तब मिलते हैं।

'दन्तेत्यादि' के द्वारा दन्तधावन की कूची (या ब्रश) आदि विष से दूषित होने पर मिलने वाले लक्षणों को बताया गया है। इसका विवेचन प्रकरण आ जाने के कारण कर दिया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

दन्तपवनस्य कूर्चः दन्तमलशोधनकूर्चः–दातौन की कूंची जिसे व्यक्ति चबा-चबाकर तैयार करता है, जो दाँत के मल को साफ करने के लिए प्रयुक्त होती है। **विशीर्यत इति शीर्णः स्यात्**-टूटने लगती है। खाद्यैरिति=भोज्यै (भोज्य पदार्थों के द्वारा)। स्पृश्यैरिति=अभ्यंगादि के द्वारा, अर्थात् अभ्यंगादि हेतु प्रयुक्त पदार्थों में विष मिलने से। माल्यमिति=विष से दूषित माला के धारण से। **नासामुपहन्ति इति च्छेदः**-'नासामुपहन्ति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है, अर्थात् विष से दूषित पुष्पों की माला के धारण करने पर-मुख का मलीन होना, सिर में वेदना, लोमहर्ष का होना (रोंगटों का खड़ा होना), मुख आदि का जकड़ जाना एवं घ्राणेन्द्रिय का विकृत होना आदि लक्षण मिलते हैं।

दर्शनमिति=दर्शन से यहाँ नेत्र अर्थ लिया गया है अथवा स्तम्भन आदि लक्षण विष युक्त धूमपान से उत्पन्न होते हैं। (स्तम्भन आदि कार्य विषयुक्त धूम के होते हैं।) ॥९५-१२३॥

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने विष देने के साधनों में अन्न, पान (पेय पदार्थ), दन्तकाष्ठ (दातौन), अभ्यङ्ग में प्रयुक्त

Scanned by CamScanner

होने वाले पदार्थ, अवलेखन (कंघी), उत्सादन (उबटन), कषाय, वस्त्र, अनुलेपन, पुष्प मालाओं, शय्या, कवच, पादुका, हाथी या घोड़े की पीठ, नस्य, धूम एवं अञ्जन की गणना की है। अर्थात् इनके माध्यम से व्यक्ति को गरविष दिया जा सकता है।[१]

शृणु जङ्गमस्यातः ।
सविशेषचिकित्सितमेवादौ तत्रोच्यते तु सर्पाणाम् ।।
इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति । त्रयो यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः ।।१२४।।
दर्वीकरः फणी ज्ञेयो मण्डली मण्डलाफणः । बिन्दुलेखविचित्राङ्गः पन्नगः स्यात्तु राजिमान् ।।१२५।।
विशेषाद्रूक्षकटुकमम्लोष्णं स्वादु शीतलम् । विषं यथाक्रमं तेषां तस्माद्वातादिकोपनम् ।।१२६।।
दर्वीकरकृतो दंशः सूक्ष्मदंष्ट्रापदोऽसितः । निरुद्धरक्तः कूर्माभो वातव्याधिकरो मतः ।।१२७।।
पृथ्वर्पितः सशोथश्च दंशो मण्डलिना कृतः । पीताभः पीतरक्तश्च सर्वपित्तविकारकृत् ।।१२८।।
कृतो राजिमता दंशः पिच्छिलः स्थिरशोफकृत् । स्निग्धः पाण्डुश्च सान्द्रासृक् श्लेष्मव्याधिसमीरणः ।।१२९।।

जङ्गम विष (Animal-Poisons) का वर्णन

अब आगे जङ्गमविष की चिकित्सा का विवेचन किया जा रहा है उनमें भी सबसे पहले विशेष रुप से सर्पदंश एवं उनकी चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे ध्यानपूर्वक सुनो–

सर्पो के भेद–सर्प तीन प्रकार के होते हैं- १. दर्वीकर, २. मण्डली, ३. राजिमान्। ये तीनों सर्प क्रमशः वात, पित्त एवं कफ को प्रकुपित करने वाले होते हैं। अर्थात् इनके काटने से वात (दर्वीकर), पित्त (मण्डली) एवं कफ (राजिमान्) का प्रकोप भयङ्कर रूप से होता है।

सर्पो का परिचय–जिस सांप का फण दर्वीकर (चम्मच) की भाँति होता है उसे दर्वीकर कहते हैं। जिस सांप का फण गोल होता है उसे मण्डली कहते है, अर्थात् इसका फण मण्डल के आकार का होता है।

जिस सर्प का सम्पूर्ण शरीर बिन्दवत् रेखाओं से चित्रित रहता है उसे राजिमान् कहते हैं।

(Rājimān type of snake has its body of variegated colour with drop like spots.-Dr. Bhagvan Das)

इन तीन प्रकार के सर्पो में दर्वीकर का विष विशेष रूप से रूक्ष (ununctuous) एवं कटु (Pungent), मण्डली का विष अम्ल (Sour) एवं उष्ण तथा राजिमान् का विष मधुर एवं शीत गुण युक्त होता है, जो क्रमश वात, पित्त एवं कफ को प्रकुपित (दूषित) करता है।

दर्वीकर द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण–१. दंशस्थान सूक्ष्म एवं काला होता है। २. दंशस्थान से रक्त नहीं निकलता, ३. दंशस्थान कछुए के पीठ के समान उभार युक्त होता है, ४. वातव्याधि के लक्षणों का पाया जाना।

ये सभी लक्षण दर्वीकर सर्प के काटने पर पुरुष में पाये जाते हैं।

मण्डली सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण–यदि व्यक्ति को मण्डली सर्प ने काट लिया है तब दंशस्थान में दाढ़ अच्छी प्रकार से धसे हुये (दाढो के गहरे निशान-Gross and deep marks of teeth (fangs), शोथ युक्त, काटे हुए स्थान में कुछ पीलापन तथा वहाँ से स्रवित होने वाला रक्त कुछ पीत या पीत-रक्त वर्ण का होता है। इस प्रकार के व्यक्ति में पित्तजन्य व्याधियों के सभी लक्षण पाये जाते हैं।

राजिमान् द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण–दंशस्थान पिच्छिल (Sliminess), स्थिर शोथ युक्त (Stable oedema), स्निग्ध (Unctuousness), पाण्डुवर्ण युक्त (Paleness) होता है। दंशस्थान से निकलने वाला रक्त गाढ़ा होता है। इसमें कफ वृद्धि के सभी लक्षण पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–मण्डलीति=मण्डल युक्त। **बिन्दुना लेखया च विचित्रमङ्गं यस्य स बिन्दुलेखविचित्राङ्गः**-जिस सर्प का शरीर बिन्दु एवं रेखा द्वारा विशेष रूप से रंगा हुआ हो अर्थात् जिसका शरीर बिन्दु एवं रेखाओं द्वारा विशेष रूप से चित्रित हो या चितकबरे शरीर वाला हो उसे 'बिन्दुलेखविचित्राङ्ग' कहा गया है। इस प्रकार का शरीर राजिमान् सर्प का होता है।

दर्वीकरादीनां प्रपञ्चस्त्विह पराधिकारत्वेन न कृतः–दर्वीकर आदि सर्पो का विस्तार से यहाँ वर्णन पराधिकार होने के कारण नहीं किया गया है।

'विशेषादित्यादि' से यहाँ-यद्यपि सभी प्रकार (तीनों प्रकार) के सांपों का विष त्रिदोष कोपक होता है, लेकिन विशेष रूप से दर्वीकर में-रूक्षता अधिक पायी जाती है, मण्डली में अम्ल एवं उष्ण गुण की अधिकता होती है तथा राजिमान् में मधुर एवं शीत गुण की प्रबलता

१. अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाऽभ्यङ्गेऽवलेखन ..... नस्य धूमाञ्जनादिषु ॥ सु.क. ११/२५-२६

Scanned by CamScanner

होती है, बताया गया है। ये तीनों ही प्रकार के सर्पों के विष त्रिदोषकोपक होते हुए भी-दर्वीकर में वात, मण्डली में पित्त तथा राजिमान् में कफ प्रकोपक गुण विशेष रूप से पाया जाता है, ऐसा जानना चाहिये। यद्यपि विष **अव्यक्त रस** युक्त होता है फिर भी यहाँ कटुकादि रसों का अभिधान अनुरस की दृष्टि से किया गया है, ऐसा समझें। अर्थात् क्रमशः कटु (दर्वीकर), अम्ल (मण्डली) एवं मधुर (राजिमान्) अनुरस वाले इनके विष होते हैं। जिस प्रकार आतप (ग्रीष्म ऋतु) में स्वाभाविक रूप से कटुरस की वृद्धि होती है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है।

किंवा अव्यक्तरसतायामेव मनाक्कटुकादीनां अधिकत्वं ज्ञेयम्–अथवा अव्यक्त रसता में ही अल्प रूप में कटुकादि रसों (अनुरस) का व्यक्त होना, अर्थ लिया गया है

पृथ्वर्पित इति अवगाढदंष्ट्रापदः–दांतों का गहरा धंसना=दांतों के गहरे निशान का पाया जाना (Gross and deep marks of teeth); यह लक्षण मण्डली सांप के काटने पर पाये जाते हैं। ॥१२३-१२९॥

विशेष (Comments)–दर्वीकर आदि तीनों प्रकार के सर्प क्रमशः वात, पित्त एवं कफ को प्रकुपित करने वाले होते हैं। दर्वीकर नामक सर्प-चम्मच के आकार के फणवाला एवं तेज चलने वाला होता है। मण्डली-मण्डलाकार फणयुक्त, चपटा (चौड़ा) एवं मन्द गति (धीमी चाल) वाला होता है। जो सर्प बिन्दु, रेखा युक्त एवं चित्रित (चितकबरे) रंग वाला हो उसे राजिमान् कहा जाता है। दर्वीकर, मण्डली एवं राजिमान् का विष विशेष रूप से क्रमशः कटु रूक्ष, अम्ल उष्ण एवं मधुर शीत गुण युक्त होता है, इसलिये ये वातादि को प्रकुपित करते हैं। दर्वीकर का विष-कटु, रूक्ष एवं वातकोपक, मण्डली का विष अम्ल, उष्ण, पित्त प्रकोपक तथा राजिमान् का विष मधुर, शीतल एवं कफ प्रकोपक होता है। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

वृत्तभोगो महाकायः श्वसन्नूर्ध्वेक्षणः पुमान्। स्थूलमूर्धा समाङ्गश्च स्त्री त्वतः स्याद्विपर्ययात् ।।१३०।।
क्लीबस्त्वसत्ययोदृष्टिः स्वरहीनः प्रकम्पते। स्त्रिया दष्टो विपर्यस्तैरेतैः पुंसा नरो मतः ।।१३१।।
व्यामिश्रलिङ्गैरेतैस्तु क्लीबदष्टं नरं वदेत्। इत्येतदुक्तं सर्पाणां स्त्रीपुंक्लीबनिदर्शनम् ।।१३२।।
पाण्डुवक्त्रस्तु गर्भिण्या शूनौष्ठोऽप्यसितेक्षणः। जृम्भाक्रोधोपजिह्मार्तः सूतया रक्तमूत्रवान् ।।१३३।।
सर्पो गौधेर (य) को नाम गोधायां स्याच्चतुष्पदः। कृष्णसर्पेण तुल्यः स्यान्नाना स्युर्मिश्रजातगः ।।१३४।।
गूढसंपादितं वृत्तं पीडितं लम्बितार्पितम्। सर्पितं च भृशाबाधं, दंशा येऽन्ये न ते भृशाः ।।१३५।।

लिङ्ग के आधार पर सर्पों की पहचान (Identification of Sex of the Snakes)–जिस सर्प का फण (Hood) गोलाकार (Rounded), महाकाय (बड़े शरीर वाला big body), श्वसन (श्वास लेने वाला या फुंफकारने वाला) तथा जो हमेशा ऊपर की ओर देखता हो उसे पुरुष (Male) सर्प जानना चाहिये। पुमान सर्प का सिर (Head) मोटा तथा शेष शरीर सम आकार का होता है।

इसके विपरीत लक्षण स्त्री जाति के सांपों में पाये जाते हैं। नपुंसक सर्प स्वभावतः डरपोक होते हैं।

स्त्री (Female) **सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण**–स्त्री जाति के सर्प द्वारा दष्ट पुरुष में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. व्यक्ति की दृष्टि हमेशा नीचे की ओर रहती है, अर्थात् व्यक्ति हमेशा नीचे की ओर देखता रहता है।

२. दष्ट पुरुष का स्वर बन्द (Voiceless-स्वररहित) हो जाता है।

३. रोगी के शरीर में अत्यधिक कम्पन होता है।

पुरुष (Male) **सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण**–इसमें स्त्री जाति के सर्प के दंश से जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उससे विपरीत लक्षण पाये जाते हैं, यथा-दष्ट पुरुष की दृष्टि हमेशा ऊपर की ओर रहती है।

यदि दोनों के लक्षण मिश्रित रूप से मिलें तो समझना चाहिये कि नपुंसक सर्प ने काटा है।

गर्भिणी सर्प द्वारा दष्ट पुरुष के लक्षण–गर्भवती सर्पिणी के काटने पर व्यक्ति का मुख पाण्डु वर्ण का, ओष्ठ सूजे हुए एवं नेत्र काले वर्ण के हो जाते हैं। यदि व्यक्ति को प्रसूता सर्पिणी ने काटा है तो व्यक्ति जृम्हा (जम्हाई), क्रोध एवं उपजिह्विका से पीड़ित हो जाता है तथा व्यक्ति के मूत्र में रक्त आता है, अर्थात् वह Hematuria से पीड़ित होता है।

गोधेरक (गोह)–गोह से उत्पन्न होने वाला गोधेरक नामक सर्प होता है। इसके चार पैर होते हैं। इसके विष का प्रभाव कृष्णसर्प (दर्वीकर) के विष के समान होता है। इसके अतिरिक्त अन्य मिश्र जाति वाले अनेक सर्प होते हैं।

गूढ संपादित दंश के लक्षण–यदि साँप ने अपना दंश अधिक गहरा धँसाया हो (दंश चिह्न का गहरा होना-Mark of bite is very deep), दंशस्थान गोल उठा हो, दंशस्थान का पीडित होना या अत्यधिक दबा हुआ होना या शूल युक्त होना, दंशस्थान का लम्बा होना (दांतों के चिह्न स्पष्ट होना-रोगी के दंशस्थान में सभी दांतों के चिह्न का मिलना) एवं सर्पित (फैलने का स्वभाव) होना।

इस प्रकार के दंश अत्यधिक कष्टकर होते हैं। अन्य प्रकार के दंश स्थानों के विकृत होने पर इसके समान कष्ट नहीं होता।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'वृत्तभोग इत्यादि' के द्वारा-सर्पो के पुरुषादि भेद को उनके विष की तीव्रता आदि के ज्ञान एवं उसमें संपादित होने वाली चिकित्सा भेद के ज्ञान के लिए, बताया गया है। लिङ्ग के आधार पर सर्पादि का भेद यहाँ अनुक्त होते हुए भी तन्त्रान्तर से जानना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**''सावित्रे पच्यते, रात्रौ स्त्रियस्तीव्रविषाः तथाऽह्नि पुरुषा सदा'' इति** सविता (सूर्य) के नक्षत्र में पाक होता है। रात्रि में स्त्रियों (मादा) का विष तीव्र होता है तथा पुरुषों का विष हमेशा दिन में तीव्र होता है।

''स्त्री दष्टे भिषजाकार्यः सूपचारस्त्वनारम्भे'' इति– स्त्रियों के दंश होने पर वैद्य को सूपचार (अच्छी तरह अथवा मृदु उपचार) करना चाहिए। अगर उपचार का प्रारम्भ न किया जाय तो विष की शरीर में वृद्धि होकर आतुर के लिए घातक होगा।

महाकायः=बड़े शरीर वाला। क्लीबः=नपुंसक। गाढ़संपादितम्=सर्प के दांत मांसादि धातुओं में अन्दर तक धंसे हों।

ऊर्ध्वं परिवृत्तमुद्वृत्तम्-दंशस्थान अत्यधिक उभरा हो या शोथ युक्त हो। **पीडितम् अतिमात्ररुजाकरम्**-दंशस्थान में अत्यधिक पीड़ा का होना। **लम्बितार्पितम् अर्पितसकलदंष्ट्राप्राप्तलक्षणम्**-दंशस्थान में सांप द्वारा धंसाये गये सभी दांतों के चिह्न का दिखाई देना अर्थात् दंशस्थान में सर्प ने अपने सम्पूर्ण दांतों को धंसाया हो, इसका चिह्न मिलना। ॥१३०-१३५॥

विशेष (Comments)–यहाँ लिङ्ग के आधार पर सर्पदष्ट के लक्षण एवं उनकी शारीरिक बनावट का जो विवेचन किया गया है वह मात्र सर्पविष की गम्भीरता के ज्ञान के आधार पर चिकित्सा के उपक्रमों को चयन करने के लिए है।

तरुणाःकृष्णसर्पास्तु गोनसाः स्थविरास्तथा। राजिमन्तो वयोमध्ये भवन्त्याशीविषोपमाः ॥१३६॥

आयु के आधार पर सर्पविष की गम्भीरता–काला सर्प (दर्वीकर)-तरुणावस्था (Young age), गोनस (मण्डली) सर्प-वृद्धावस्था एवं राजिमान सर्प-मध्यावस्था में आशीविष के समान मारक होते हैं।

चक्रपाणि–तरुणा इत्यादि के द्वारा वय के भेद से दर्वीकर आदि सर्पो के विष की तीव्रता को बताया गया है।

सर्पितं यदनतिमग्नदंष्ट्रापदम्– यहाँ 'सर्पित' शब्द 'दाढ़ का निशान ज्यादा गहरा न हो' इस अर्थ में है।

आशी विषोपमा इति आशीविषा दृष्टिनिःश्वासविषाः–आशीविष के सदृश, जिसकी दृष्टि एवं श्वास (फुत्कार) में विष हो अर्थात् इसके देखने एवं फुत्कार के स्पर्श से व्यक्ति की मृत्यु हो जाय। ॥१३६॥

विशेष (Comments)–जल्पकल्पतरुटीका की चक्रपाणि पाठ में 'सर्पित' शब्द न होकर 'गोनसा इति मण्डलिनः' प्राप्त होता है। गोनस=मण्डली सर्प।

दर्वीकराः कृष्णसर्पास्तरुणा युवान आशीविषोपमा भवन्ति–दर्वीकर (काले सांप युवावस्था में अत्यन्त विषैले होते हैं, मण्डली सर्प वृद्धावस्था में आशीविष के समान होते हैं तथा राजिमान् वय के मध्य-यौवन के बाद व वृद्धावस्था से पूर्व भयंकर विषैले हो जाते हैं।

सर्पदंष्ट्राचतस्रस्तु तासां वामाधरा सिता। पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाऽधरोत्तरा ॥१३७॥
यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात् सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम् ॥१३८॥
एकद्वित्रिचतुर्वृद्धविषभागोत्तरोत्तराः। सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषा भृशाः ॥१३९॥

सर्प के दाढ (विष दन्त) एवं उनके रंग–सर्प की चार दाढ़े (विषदन्त) होती हैं अर्थात् सर्प के मुख में स्थित ४ प्रकार के विष के दांत होते हैं। जो दांत उसके मुख में नीचे की ओर बायें भाग की ओर होती है उसका रंग असित (काला) होता है, जो ऊपर की ओर वाम भाग (Left side) की ओर होती है उसका वर्ण पीला (Yellow) होता है। दक्षिण भाग (Right side) में नीचे के जबड़े में स्थित दांत लाल होती है तथा ऊपर (ऊपर के जबड़े) में दक्षिण पार्श्व में स्थित दांत श्याव (भूरे) वर्ण की होती है।

विष की मात्रा (Quantity of Poison in the fangs)–१. नीचे के वाम भाग में स्थित दाढ़ (दन्त) में विष की मात्रा-गाय की पूंछ को पानी में डुबाने के बाद, पुनः निकालने पर जल की जो बूंदे बाहर गिरती हैं उन बूंदों की मात्रा के बराबर विष का होना। इसी प्रकार क्रमशः शेष दाढ़ों में २ भाग, ३ भाग व ४ भाग विष की मात्रा होती है अर्थात् प्रथम दाढ़ में-१ भाग, द्वितीय दाढ़ में २ भाग, तृतीय दाढ़ में ३ भाग तथा चतुर्थ दाढ़ में ४ भाग विष होता है। सर्प जिस दाढ़ का विष रोगी के शरीर में डालता है उसी के वर्ण (दाढ़ के वर्ण) के समान दंश स्थान का वर्ण हो जाता है। इसी प्रकार क्रमशः दाढ़ों के विष कष्ट साध्य होते हैं अर्थात् प्रथम दाढ़-१ भाग विष, की तुलना में द्वितीय दाढ़ में २ भाग विष होने से इनकी साध्यता क्रमशः घटती जाती है अर्थात् असाध्यता बढ़ती जाती है।

चक्रपाणि–दंष्ट्रा (विषैले दांतों के) भेद (प्रकार) का विवेचन दंश विष के ज्ञान हेतु यहाँ 'सर्पदंष्ट्रा इत्यादि' के द्वारा किया गया है। **रक्तश्यावाऽधरोत्तरेति दक्षिणाधरा रक्ता, दक्षिणोत्तरातु श्याव**ा-दाहिने भाग में स्थित नीचे का दांत रक्त वर्ण का, ऊपर का दांत श्याव (भूरे) रंग का होता है।

Scanned by CamScanner

एकद्वित्रिचतुर्वृद्धविषभागोत्तरोत्तरा इति–पहले दांत में एक भाग, दूसरे में दो भाग, तीसरे में तीन भाग, चौथे में चार भाग विष क्रमशः उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, । यही वाक्य का अभिप्राय है ।

सवर्णा यथास्वदंष्ट्रासमानवर्णाः–दंश स्थान का वर्ण उसके दांतों के वर्ण के समान होना अर्थात् सर्प ने अपने जिस दांत से काटा है, उसी के समान वर्ण दंश स्थान का भी होता है ।

बहूत्तरविषा इति उत्तरोत्तरं बहुविषा–उत्तरोत्तर विष की मात्रा बढ़ती जाती है । भृशा इति दुःखसाध्या-कठिनता से अच्छा होने वाला । दांतों के क्रम के अनुसार विष की मात्रा एवं दुःख साध्यता भी बढ़ती जाती है, ऐसा जानना चाहिये ।

यहाँ यह शङ्का है कि-पूर्व में दर्वीकर आदि सर्पों के काटने से उत्पन्न दंशस्थान का वर्ण (Colour) कैसा होता है, यह बताया गया है। अब यहाँ दांतों के भेद से दंशस्थान के वर्ण भेद का कथन किया गया है । [इस आधार पर यह आशंका उत्पन्न होती है कि जब एक ही प्रकार के सर्प के काटने से अनेक वर्ण दंशस्थान में हो सकते हैं तब दर्वीकर आदि के वर्ण के आधार पर पूर्व में जो दंशस्थान के वर्ण भेद का कथन किया गया है, उसमें विरुद्धता आती है, या इसका निर्धारण कैसे होगा ।] इस प्रकार दर्वीकर आदि सांपों के काटने से सभी वर्णों की उत्पत्ति होती है, या संभव है । इस प्रकार पूर्ववर्णित दंशस्थान के वर्ण का यहाँ विरोध होता है । इस विषय पर आषाढ़वर्मा द्वारा कहा गया है, यथा-"दर्वीकरमण्डलिनोरसितः पीतश्च वर्णतो दंशः" [दर्वीकर के काटने पर दंशस्थान असित (काले) वर्ण का एवं मण्डली के काटने पर पीत (Yellow) वर्ण का हो जाता है ।] इस लक्षण से दंशस्थान में अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं, यह संदेह है । इसका समाधान इस प्रकार किया जा रहा है-दांतों के वर्ण के अनुसार दंशस्थान का वर्ण होना, दंशस्थान में स्थित विष के ऊपर निर्भर करता है । इस प्रकरण में इसी विष का वर्णन किया गया है, अर्थात् दांतों के वर्ण के अनुसार (दांतों में स्थित विष की मात्रा के अनुसार) दंशस्थान (Site of the snake bite) का वर्ण होता है । जबकि पूर्व में दर्वीकर आदि के काटने से शरीर में उत्पन्न होने वाले एवं दंशस्थान में होने वाले वर्ण का जो उल्लेख किया गया है वह दोषों द्वारा उत्पन्न इसकी उत्पत्ति विष के सम्पूर्ण शरीर में फैलने पर होती है । अतः अवस्था भेद से पूर्वापर विरोध नहीं होता । **परिहारवार्तिक** में भी यही कहा गया है, यथा-"दंशे त्वेते वर्णाः, सावर्ण्यं दोषजे विसृते" [ये वर्ण (Colour) दंशस्थान में उत्पन्न होते हैं तथा दोषज वर्णों की उत्पत्ति विष के शरीर में फैलने से होती है । ॥१३७-१३९॥

सर्पाणामेव विण्मूत्रात् कीटाः स्युः कीटसंमताः । दूषीविषाः प्राणहरा इति संक्षेपतो मताः ॥१४०॥
गात्रं रक्तं सितं कृष्णं श्यावं वा पिडकान्वितम् । सकण्डूदाहवीसर्पपाकि स्यात् कुथितं तथा ॥१४१॥
कीटैर्दूषीविषैर्दष्टं लिङ्गं प्राणहरं शृणु । सर्पदष्टे यथा शोथो वर्धते सोग्रगन्ध्यसृक् ॥१४२॥
दंशोऽक्षिगौरवं मूर्च्छा स रुगार्तः श्वसित्यपि । तृष्णारुचिपरीतश्च भवेद्दूषीविषार्दितः ॥१४३॥

कीट विष (Insect Poison)–

सर्पों के ही पुरीष एवं मूत्र से कीटों की उत्पत्ति होने के कारण इन्हें कीट कहा जाता है । संक्षेप में कीट दो प्रकार के होते हैं–१. दूषीविष कीट, २. प्राणहर कीट ।

१. दूषीविष कीट दंश के लक्षण–दूषीविष कीट व्यक्ति के जिस भाग मे काटता है, वह भाग लाल (Red), श्वेत (white) या श्याव (Black or Brownish) वर्ण का हो जाता है । दंशस्थान पर छोटी-छोटी पीडिकायें निकल आती हैं। इसके साथ ही रोगी कण्डू (Itching), दाह (Burning sensation), विसर्प (Erysipelas), पाक (Suppuration) से आक्रान्त हो जाता है अर्थात् दंशस्थान पर कण्डू (खुजली), जलन, एवं पाक उत्पन्न हो जाता है । इसके साथ ही प्रभावित भाग सड़ने लगता है ।

इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को यह समझ लेना चाहिये कि व्यक्ति को दूषीविष ने काटा है ।

२. प्राणहरकीट दंश के लक्षण–इसमें रोगी में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं, यथा–

- → सर्पविष के समान शोथ का बढ़ना ।
- → दंशस्थान से स्रवित होने वाले रक्त का अत्यधिक दुर्गन्धित होना ।
- → नेत्र का भारी होना (Heaviness of the eyes) ।
- → मूर्च्छा (Fainting)
- → शरीर में अत्यधिक वेदना का होना ।
- → श्वासकृच्छ्रता (Dyspnea)

दूषीविष कीट के काटने पर व्यक्ति विशेष रूप से तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना) एवं अरुचि (Anorexia) से आक्रान्त रहता है । ॥१४०-१४३॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–कीटों की उत्पत्ति को यहाँ 'सर्पाणामित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **विण्मूत्रादिति कीटशब्दनिरुक्त्यर्थमनयोरूपादान**-कीट शब्द की निरुक्ति हेतु ये दोनो विड् एवं मूत्र उपादान (नियत) कारण हैं। उससे और भी दूसरे हेतु सर्प के शव, शुक्र, सड़े अण्डे भी कीट के कारण हैं, अर्थात् इनसे कीट उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। [कीट की उत्पत्ति में विड् (पुरीष) एवं मूत्र (सर्प के विड् एवं मूत्र) के साथ-साथ उनके मृत शरीर, शुक्र एवं सड़े हुए अण्डे भी कारण हैं, ऐसा जानना चाहिए।] **सुश्रुतसंहिता** में कहा भी गया है, यथा-"सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसंभवाः। वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु वि (त्रि) विधाः स्मृताः।" (सु.क.अ. ८/३) इति [सर्पों के शुक्र, विड्, मूत्र, शव, एवं सड़े हुए अण्डे से कीटों की उत्पत्ति होती है। वायु (वात), अग्नि (पित्त) एवं अम्बु (जल=कफ) प्रकृति के आधार पर कीट भी तीन प्रकार के होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।] यद्यपि सुश्रुतसंहिता में वात, पित्त, कफ एवं सन्निपात कोपक ६७ प्रकार के 'कुम्भीनसादि' कीटों का प्रतिपादन किया गया है फिर भी यहाँ संक्षेपतः इन दो वर्गों-दूषीविष एवं प्राणहर में ही सुश्रुतोक्त चतुर्भेद-वात, पित्त, कफ व सन्निपात कोपक ६७ प्रकार के कीटों को समावेशित कर लिया गया है। इसी प्रकार लूता आदि के भी संक्षेप में दो भेद किये गये है, ऐसा जानना चाहिये, जिसका उल्लेख आगे किया जायेगा।

दूषीविषाः चिरकारिविषा–जिस विष का प्रभाव दीर्घकाल तक रहता हो उसे दूषीविष कहते हैं।

प्राणहराः झटिति प्राणहरविषाः–जो विष तत्काल (शीघ्र) ही प्राणों को हर ले अर्थात् जिसके सेवन से शीघ्र ही मृत्यु हो जाय उसे प्राणहर कहते हैं। ऐसे विषैले कीटों को प्राणहर कीट कहा गया है।

सह उग्रगन्ध्यसृजा वर्तत इति–सोग्रगन्ध्यसृक् सोग्रगन्धि लोहितम्–रक्त से अत्यधिक तीक्ष्ण गन्ध का आना। ॥१४०-१४३॥

दंशस्य मध्ये यत् कृष्णं श्यावं वा जालकावृतम्। दग्धाकृति भृशं पाकि क्लेदशोथज्वरान्वितम्॥१४४॥
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तं दष्टमिति निर्दिशेत्। सर्वासामेव तासां च दंशे लक्षणमुच्यते॥१४५॥
शोफः श्वेतासिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः। प्राणान्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः॥१४६॥

दूषीविष लूता के दंश से उत्पन्न लक्षण–

१. दंश प्रभावित भाग (दंश स्थान) के मध्य का भाग काला (Black) या श्याव (Blackish brown) वर्ण युक्त होना।
२. दंशस्थान पर सिराजाल बन जाना।
३. दंशस्थान की आकृति जले हुए के समान होना।
४. दंशस्थान भयंकर पाक युक्त, शोथ युक्त व क्लेदयुक्त (मवाद का निकलना-Sloughish) होना।
५. रोगी का ज्वर से आक्रान्त होना (Fever)

रोगी में उपरोक्त लक्षणों को देखकर यह समझ लें कि उसे दूषीविष लूता ने काटा है।

प्राणहर लूताओं के काटने पर उत्पन्न होने वाले लक्षण–सभी प्रकार के प्राणहर लुताओं के काटने से रोगी मे अधोलिखित लक्षण मिलते हैं–

१. दंश प्रभावित भाग का शोथ युक्त होना।
२. दंश स्थान पर श्वेत (White), काली (Black), रक्त (Red) एवं पीत (Yellow) वर्ण की पीडिकाओं (फुंसियों) का निकलना।
३. ज्वर का होना, श्वास के वेग का बढ़ जाना।
४. दाह (शरीर में अत्यधिक जलन होना), हिक्का (हिचकी का आना) एवं शिरोग्रह (सिर में जकड़ाहट-Stiffness of head) आदि लक्षणों का पाया जाना।

व्यक्ति में उपरोक्त लक्षणों को देखकर यह जान लें कि उसे प्राणहर लूताओं ने काटा है।

चक्रपाणि–'दंशस्य मध्य इत्यादि' के द्वारा दूषीविष लूता के काटने से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को बताया गया है। लूताश्चान्यत्राष्टौ साध्या असाध्याश्चाष्टौ त्रिमण्डलासौवर्णिकादय उक्तास्तासां तथा मूषिककृकण्टकवृश्चिकोच्चिटिङ्गमण्डूकमत्स्यजलौकाशतपदीमशकमक्षिकाणां सुश्रुतादिषु प्रपञ्चार्थिभिः प्रपञ्चोऽनुसरणीयः-अन्य स्थानों (सुश्रुतसंहिता) में आठ प्रकार की लूतायें कृच्छ्रसाध्य तथा आठ प्रकार की लूतायें त्रिमण्डलादि असाध्य कही गयी हैं। इसके साथ ही आचार्य ने मूषिक (चूहा), कृकण्टक, वृश्चिक (बिच्छू), उच्चिटिङ्ग, मण्डूक (मेढक), मत्स्य, जलौका, शतपदी (कनखजूरा-गोजर) आदि के विषों का वर्णन विस्तार से किया है।

Scanned by CamScanner

यहाँ तन्त्रकार द्वारा इस विषय का विस्तार पराधिकार (अन्य का अधिकार-यह विषय अगद तंत्र का विषय) होने से नहीं किया गया है। (इसका विस्तृत विवेचन अगद तन्त्र के ग्रन्थों में देखना चाहिये) । ॥१४४-१४६॥

विशेष (Comments)—सुश्रुत संहिता में लूता की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है-एक बार ऋषि वशिष्ठ को राजर्षि विश्वामित्र ने उनके आश्रम में जाकर कुपित (क्रोधित) कर दिया । क्रोध के कारण वशिष्ठ के ललाट से पसीने की कुछ बूँदें निकलकर गायों के लिए रखी हुई चारे (घास) पर गिरी । इन पसीने की बूँदों से अत्यन्त विषैली लूतायें (मकड़ियाँ) उत्पन्न हो गयी । [विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृषि सत्तमम् । वशिष्ठं कोपयामास गत्वाऽऽश्रमपदं किल ॥ कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदबिन्दवः । अपतन् दर्शनादेव रवेस्तत्समतेजसः ॥ तृणे महर्षिणा लूने धेन्वर्थं संभृतेऽपि च । ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः ॥ सु.क. ८/९०-९२॥]

लूता के १६ भेद बताये गये हैं जो कृच्छ्रसाध्य एवं असाध्य की दृष्टि से किये गये हैं । कृच्छ्र साध्य में-१. त्रिमण्डला, २. श्वेता, ३. कपिला, ४. पीतिका, ५. आलविषा, ६. मूत्रविष, ७. रक्ता, ८. कसना तथा असाध्य की श्रेणी में-१. सौवर्णिका, २. लाजवर्णा, ३. जालिनी, ४. एणीपदी, ५. कृष्णा, ६. अग्निवर्णा, ७. काकाण्डा, ८. मालागुणा की गणना की गयी है ।

आदंशाच्छोणितं पाण्डु मण्डलानि ज्वरोऽरुचिः । लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥१४७॥
मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः । शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥१४८॥
श्यावत्वमथ कार्ष्ण्यं वा नानावर्णत्वमेव वा । मोहः पुरीषभेदश्च दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥१४९॥
दहत्यग्निरिवादौ तु भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च । वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥१५०॥
दष्टोऽसाध्यस्तु दृग्घ्राणरसनोपहतो नरः । मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥१५१॥
विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च । लक्ष्णं कणभैर्दष्टे दंशश्चैव विशीर्यते ॥१५२॥
हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् । दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥१५३॥
एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुक् स्यात् पीतकः सतृट् । छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम् ॥१५४॥
मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहशोफरुजस्तथा । कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥१५५॥
दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गृहगोधिका । दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥१५६॥
कण्डूमान्मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः । असाध्यकीटसदृशमसाध्यमशकक्षतम् ॥१५७॥
सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता । पीडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसृहृत् ॥१५८॥

आखुविष (Rat Poison)—दूषीविष (Slow poisoning) प्रकार के चूहों के काटने पर व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-दंशस्थान से पाण्डु वर्ण का रक्तस्राव होना, शरीर में चकत्तों का निकलना (चकत्ते-Circular patches का उत्पन्न होना), ज्वर (Fever), अरुचि (Anorexia), लोमहर्ष (Horripilation) एवं शरीर में जलन का होना (Burning sensation) ।

यदि रोगी को प्राणहर प्रकार के चूहे ने काटा है तब उसमें-मूर्च्छा (Fainting), अङ्गशोथ (हाथ व पैरों में शोथ का होना), वैवर्ण्य (त्वचा का रंग बदल जाना-Discolouration of the skin), क्लेद (दंशस्थान से गाढ़ा स्राव (पूय) का निकलना, शब्दों का सुनाई न देना (बहरापन), ज्वर (Fever), सिर में भारीपन का होना (Heaviness of the head), मुख से अत्यधिक लार का निकलना (Excessive salivation) एवं रक्त का वमन होना (Hematemesis) आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

कृकलास (गिरगिट-Chameleon) विष–

१. दंशस्थान का वर्ण-श्याव या काला या अनेक वर्ण युक्त (मिश्रित वर्ण युक्त) हो जाता है ।
२. मोह (Unconsciousness) का होना ।
३. पुरीष भेद (अतिसार का होना-Diarrhoea)

बिच्छू विष (Scorpion Poison)—दूषीविष प्रकार के बिच्छू के काटने पर–

१. दंशस्थान पर अग्नि की भाँति जलन होती है, पश्चात् भेदनवत् पीड़ा (=फाड़ने जैसी पीड़ा का होना-Piercing pain)
२. विष का वेग शीघ्र ही ऊपर की ओर चढ़ता है ।
३. अन्त में इसका वेग पुनः दंशस्थान पर आकर स्थिर हो जाता है ।

प्राणहर प्रकार के बिच्छू के काटने पर (असाध्य के काटने पर) व्यक्ति की दृग् (दृष्टि), घ्राण एवं रसना उपहत हो जाती है । अर्थात् व्यक्ति को दिखाई नहीं देता, गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता एवं व्यक्ति को किसी भी वस्तु के स्वाद का ज्ञान नहीं हो पाता । दंशस्थान का मांस कट कर गिरने लगता है । दंशस्थान में भयङ्कर वेदना होती है । ऐसा व्यक्ति अपने प्राणों को शीघ्र ही त्याग देता है ।

Scanned by CamScanner

कणभ दंश के लक्षण–व्यक्ति को यदि कणभ (भौंरा) काट ले तो उसे-विसर्प, श्वयथु (Oedema), शूल (Pain), ज्वर (Fever) एवं वमन होता है, दंशस्थान का मांस कट कर स्वतः गिरने लगता है।

उच्चिटिङ्ग (झींगुर) विष के लक्षण–झींगुर के काटने पर-रोमाञ्च का होना (Horripilation), लिङ्ग स्तब्धता (शिश्न का जकड़ जाना-(Stiffness of the Penis), शरीर में भयङ्कर वेदना का होना तथा रोगी को ऐसा महसूस (प्रतीत) होता है कि उसके शरीर के ऊपर शीतल जल का छिड़काव किया गया है; ये लक्षण पाये जाते हैं।

मण्डूक (टोड) विष के लक्षण–टोड (विषाक्त मेढक) के काटने पर दंशस्थान पर एक दांत के उभार का दिखाई देना, दंशस्थान शोथ एवं वेदना युक्त होता है। रोगी का शरीर पीत वर्ण का हो जाता है। सार्वदैहिक लक्षणों में अत्यधिक प्यास का लगना, छर्दि (वमन का होना) एवं निद्रा (अत्यधिक निद्रा का आना) पाया जाता है। ये लक्षण विषाक्त मण्डूक के काटने पर उत्पन्न होते हैं।

मत्स्य एवं जलौका विष (Poison of Fishes and Leeches)–विषैली मछलियाँ जिस स्थान पर काटती हैं या डंक मारती हैं उस स्थान में अत्यधिक जलन, शोथ (Oedema) एवं वेदना होती है।

विषाक्त जलौका के काटने पर दंशस्थान में अत्यधिक खुजली, (कण्डू-Itching) एवं शोथ (Inflammation) उत्पन्न हो जाता है। रोगी ज्वर (Fever) एवं मूर्च्छा (Fainting) से आक्रान्त हो जाता है।

गृहगोधिका (छिपकली) विष के लक्षण–छिपकली के काटने पर रोगी में दाह (Burning sensation), तोद (Pricking pain-सुई चुभोने जैसी वेदना का होना), स्वेद (पसीने का आना) एवं शोथ (Oedema) उत्पन्न हो जाता है।

शतपदी (कनखजूरा=गोजर) के काटने से दंशस्थान में शोथ (Oedema), वेदना (Pain) एवं दाह (जलन) उत्पन्न होता है।

मच्छर विष के लक्षण–मच्छर के काटने पर काटने वाले स्थान पर अल्प शोथ एवं हलकी पीड़ा होती है। असाध्य मच्छर के काटने पर जो लक्षण प्राणहर कीटों के काटने से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार के लक्षण इसमें भी पाये जाते हैं।

मक्षिका विष के लक्षण–मक्षिका (मधुमक्खी) के काटने पर व्यक्ति में-दंशस्थान से स्राव का होना, दंशस्थान पर श्याव (Blackish brown) वर्ण की पीडिकाओं का उत्पन्न होना, दाह (दंशस्थान में अत्यधिक जलन का होना), मूर्च्छा (Fainting) एवं ज्वर (Fever) पाया जाता है। मक्षिकाओं में स्थगिका नामक मक्खी के काटने पर व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। अर्थात् यह मक्खी असाध्य प्रकार की मक्खी होती है।

चक्रपाणि–'आदंशादित्यादि' के द्वारा आखुविष (चूहे के विष) के लक्षण को बताया गया है। **कणभश्च कीटविशेष इति**-कणभ एक विशेष प्रकार का कीट होता है। आचार्य सुश्रुत ने इसे कीट के ही अन्तर्गत पढ़ा है।

एकदंष्ट्रार्पित इति एकयैव दंष्ट्रया कृत इत्यर्थः–एक ही विषाक्त दांत से काटा जाना। **मत्स्यानु पित्तास्थ्यारविषा उक्ता**-मत्स्य विष से-मछली के पित्त (Bile), अस्थि (Bone=काटें) एवं आर (पूंछ) को विष युक्त कहा गया है। छः प्रकार की सविष जलौका का उल्लेख शास्त्रों में किया गया है, जिसमें कृष्णा (काली), कर्बूर आदि के दंश विषैले होते हैं।

गृहगोधिका को ज्येष्ठा कहा गया है, अन्य आचार्य इसे 'सरट' भी कहते हैं। शतपदी=कारुण्डा [शतपदी=सौ पैरों वाला या कनखजूरा (गोंजर)]

असाध्यमशकक्षतमिति–पाँच प्रकार के मशकों में पार्वतीय (पर्वतों पर रहने वाले) मच्छर असाध्य होते हैं। मशक=मच्छर। सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा–**"पार्वतीयस्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणः"** (सु.क.अ. ८) इति [पार्वतीय मशक (मच्छर) प्राणहर कीटों के समान होते हैं। अर्थात् इनके काटने पर व्यक्ति में विषाक्तता के लक्षण प्राणहर कीटों के लक्षणों जैसे मिलते हैं।]

स्थगिकाऽसुहृदिति कान्तारिकादिषु सुश्रुतोक्तषण्मक्षिकासु स्थगिकाख्या मक्षिका प्राणहरीत्यर्थः–कान्तारिका आदि सुश्रुतोक्त छः प्रकार की मक्षिकाओं में स्थगिका नामक मक्खी प्राणहर होती है। अर्थात् इसके विष से रोगी की मृत्यु हो जाती है। ॥१४७-१५८॥

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने कणभ के ४ भेद, यथा-१. त्रिकण्ट, २. करिणी, ३. हस्तिकक्ष तथा ४. अपराजित, बताये हैं। इसी प्रकार गोधेरक (विषखोपरा)-गलगोलिका, शतपदी, मण्डूक, पिपीलिका आदि के भेदों को यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है–

गोधेरक (विषखोपरा)–५ भेद-
१. प्रतिसूर्यक
२. पिङ्गाभास
३. बहुवर्ण
४. निरुपम
५. गोधेरक-प्राणहर

Scanned by CamScanner

गलगोलिका (छिपकली)–६ भेद

१. श्वेता
२. कृष्णा
३. रक्तराजी
४. रक्तमण्डला
५. सर्वश्वेता

} इनके काटने पर दंशस्थान पर दाह (जलन), शोथ एवं क्लेद उत्पन्न हो जाता है।

६. सर्षपिका–प्राणहर → हृदय में पीडा -अतिसार

शतपदी (गोजर)–८ भेद

१. परुषा, २. कृष्णा, ३. चित्रा, ४. कपिला, ५. पीतिका, ६. रक्ता, ७. श्वेता, ८. अग्निप्रभा। इनके काटने पर दंश स्थान पर शोफ व वेदना उत्पन्न हो जाती है तथा हृदय में दाह (जलन) होता है।

मण्डूक–८ भेद-

१. कृष्ण
२. सार
३. कुहक
४. हरित
५. रक्त
६. यववर्णाभ
७. भृकुटी
८. कोटिक

} इनके काटने पर दंशस्थान (काटे हुए स्थान) में खुजली (Itching), तथा मुख से पीला झाग निकलता है भृकुटी व कोटिक दंश में इन लक्षणों के साथ-साथ दाह, वमन व मूर्च्छा अति मात्रा में मिलते हैं।

मक्षिका– ६ भेद

१. कान्तारिका	४. मधूलिका
२. कृष्णा	५. काषायी
३. पिङ्गला	६. स्थालिका

मशक (मच्छर)– ५ भेद- १. सामुद्र, २. परिमण्डल, ३. हस्तिमशक, ४. कृष्णमशक, ५. पार्वतीय।

इनके काटने पर दंशस्थान में तीव्र कण्डू (Itching) एवं शोथ उत्पन्न हो जाता है। पार्वतीय मशक के लक्षण प्राणहर कीटों के समान होता है।

श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये। पक्षसन्धियु मध्याह्ने सार्धरात्रेऽष्टमीषु च ।।१५९।।
न सिद्ध्यन्ति नरा दष्टाः पाषण्डायतनेषु च। दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैराशीविषैस्तथा ।।१६०।।
विनश्यन्त्याशु संप्राप्ता दष्टाः सर्वेषु मर्मसु।

स्थान, काल एवं स्वभाव के अनुसार सर्प दंष्ट की असाध्यता–श्मशान में (Crematorium-मुर्दा जलाने का स्थान), चैत्य वृक्ष (गाँव के बाहर स्थित पीपल का वृक्ष, जिसे लोग पूजते हों) के नीचे, वल्मीक (दीमक की बाबी), यज्ञ भूमि, तथा देवालय (मन्दिर); इन स्थानों पर विषैले जन्तुओं का काटना असाध्य माना जाता है। अर्थात् इन स्थानों पर जिस व्यक्ति को सर्पादि विषैले जन्तु काट लेते हैं, वह नहीं बचता। इसी प्रकार पक्षसन्धि (अमावस्या एवं पूर्णिमा), मध्याह्न (दोपहर), अर्धरात्रि (आधी रात) एवं अष्टमी; इन तिथियों में विषैले सर्पादि द्वारा काटा हुआ व्यक्ति नहीं बचता।

पाखण्डी (कापालिक) के आश्रम में सर्पादि द्वारा दष्ट व्यक्ति आरोग्य नहीं प्राप्त करते अथवा जीवित नहीं बचते।

दृष्टि विष, श्वास विष, मलविष (पुरीष विष) तथा स्पर्श विष के द्वारा भी लोग नहीं बचते, अर्थात् आशीविष (दिव्य सर्प) द्वारा देखे हुए, फुत्कार, मल, तथा स्पर्श से भी लोग नहीं बचते अथवा आशीविष द्वारा दष्ट व्यक्ति भी नहीं बचता। मर्मस्थान पर यदि सर्पादि ने काट लिया हो तो उस व्यक्ति की मृत्यु शीघ्र हो जाती है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'श्मशानेत्यादि' से यहाँ स्थान, काल, स्वभाव एवं शरीर के भाग के आधार पर सर्पदष्ट की असाध्यता को बताया गया है। [**स्थान**-वह स्थान जहाँ सर्प काटता है, यथा-श्मशान, चैत्य वृक्ष। **काल**-से यहाँ समय अर्थ लिया गया है, यथा-पक्षसन्धि, मध्यरात्रि, मध्याह्न। **स्वभाव**-दिव्यसर्प, पाषण्डी का घर, दिव्य सर्प स्वभावतः मारक होता है। **शरीर के भाग**-मर्म प्रदेश, यथा-हृदय, नाभि, ग्रीवा आदि; इन भागों में यदि विषधर सांप ने काटा है तो व्यक्ति की मृत्यु शीघ्र हो जाती है।]

चैत्यः ग्रामदेवताश्रयो महातरुः–ग्राम देवता के आश्रय रूप बड़ा पेड़ [गाँव के बाहर स्थित बड़ा वृक्ष जिस पर ग्राम देवता का वास (निवास) रहता है, यथा-पीपल का बड़ा वृक्ष।]

पक्षसंधिषु इति–पक्ष सन्धियों में, यथा-अमावस्या एवं पौर्णमासी (पूर्णिमा) की तिथि में।

पाषण्डा=कपालिक आदि; इनके घर में यदि सांप ने काट लिया हो तो ऐसा व्यक्ति भी जीवित नहीं बचता।

आशीविषैरिति अस्य एव लक्षणं-दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैरिति–आशीविष से यहाँ इसके ही लक्षणों को 'दृष्टिश्वासमलस्पर्शविषैः' के द्वारा बताया गया है। अर्थात् आशीविष की दृष्टि (नेत्र), श्वास (फुत्कार), मल (पुरीष), स्पर्श (त्वचा) में विष रहता है। इनका सम्पर्क होना ही व्यक्ति के लिए मारक होता है।

अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा–"दृष्टिश्वासादिभिर्दिव्याः सर्पा आशीविषाः, आशुघातित्वात्" [वे दिव्य सर्प आशीविष कहे जाते हैं जिनकी दृष्टि, श्वास आदि में विष होता है। शीघ्र ही मारक होने के कारण इन्हें आशीविष कहते हैं।] ॥१५९-१६०॥

(येन केनापि सर्पेण संभवः सर्व एव च) ॥१६१॥
भीतमत्ताबलोष्णाक्षुत्तृषार्तं वर्धते विषम्। विषं प्रकृतिकालौ च तुल्यौ प्राप्याल्पमन्यथा ॥१६२॥
वारिविप्रहताः क्षीणा भीता नकुलनिर्जिताः। वृद्धा बालास्त्वचो मुक्ताः सर्पा मन्दविषाः स्मृताः ॥१६३॥
सर्वदेहाश्रितं क्रोधाद्विषं सर्पो विमुञ्चति। तदेवाहारहेतोर्वा भयाद्वा न प्रमुञ्चति ॥१६४॥

[किसी भी प्रकार के सर्प ने यदि व्यक्ति के मर्मस्थान पर काट लिया है तो उस व्यक्ति का बचना असंभव है। यह विवेचन (असाध्यता) सभी प्रकार के सर्पों के लिए बताया गया है, जो विषाक्त हैं।]

विष की वृद्धि एवं अल्पता का कारण–भीत (डरे हुए व्यक्ति), मत्त (नशे मे चूर या पागल), अबल (दुर्बल), क्षुत् (अत्यधिक भूखा), तृषा (अत्यधिक प्यासा); ऐसे व्यक्तियों में विष का वेग (प्रभाव) शरीर में बहुत तेजी से बढ़ता है। अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को सर्पादि काटते हैं तो विष का प्रसार बहुत तीव्र होता है। ये विष अपनी प्रकृति एवं काल के तुल्य होने पर प्रबल एवं विपरीत स्थिति में अल्प प्रभावी होते हैं।

मन्द विष युक्त सर्प के लक्षण–जल से पीड़ित (जल के तीव्र बहाव में सांप का फंसना), क्षीण (Emaciated), भीत (अत्यधिक डरा हुआ), नकुल निर्जिता (नेवले से पराजित), वृद्ध (अत्यधिक वृद्ध सांप), बालक (अत्यधिक छोटा), केचुल छोड़े हुए इन अवस्थाओं में विष का वेग कम (अल्प) होता है, ऐसा जानना चाहिए।

विष का स्थान–विष सर्पों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। क्रोधित होने पर सर्प अपने विष को विषदंत द्वारा बाहर निकलता है। जब वह भूखा रहता है अथवा भयभीत (डरा) रहता है उस समय वह अपने विष को पूरी तरह से नहीं निकाल पाता। ॥१६२-१६४॥

चक्रपाणि–'भीतेत्यादि' के द्वारा सर्प विष की वृद्धि में हेतु को बताया गया है। अर्थात् डरे हुए, दुर्बल, भूख से पीड़ित पुरुष को यदि सर्प काटता है तो उसका विष शरीर में बहुत तीव्र फैलता है।

प्रकृतिकालौ तुल्यौ विषस्य, यथा-प्रबलपित्तप्रकृतिरुष्णश्च काल इति ज्ञेयम्–विष की प्रकृति एवं काल तुल्य हो यथा-पित्त प्रकृति वाले पुरुष को उष्ण काल में (ग्रीष्म काल में) सांप (मण्डली) का काटना, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

अल्पमन्यथेति–इनसे भिन्न या विपरीत, यथा-वारि द्वारा प्रतिहत, दुर्बल, डरे हुए आदि प्रकार के सांपों के काटने पर विष का वेग धीमा होता है, अथवा विषाक्तता कम होती है

वारीत्यादौ वृद्धा इति–वारि इत्यादि के द्वारा उन हेतुओं का विवेचन किया गया है जिनके विद्यमान होने पर सांप का विष कम प्रभावी होता है। वारि विप्रतिहत=जो सांप जल के तीव्र प्रवाह में फंस गया हो, उसके काटने पर विषाक्तता कम होती है। वृद्धा इति=वृद्ध, वृद्ध सर्प, गोनस को छोड़कर शेष वृद्ध सर्प कम विषैले होते हैं। गोनस (मण्डली) सर्प का विष वृद्धावस्था में ही अत्यधिक बढ़ता है, इसे पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

Scanned by CamScanner

सर्वदेहाश्रितं क्रोधादिति–सर्वदेहाश्रित होते हुए भी विष सर्प के क्रोधित होने पर विषदंत के माध्यम से छोड़ा जाता है, ऐसा विशेष रूप से जानना चाहिए। अर्थात् सर्प के सम्पूर्ण शरीर में विष रहता है, लेकिन जब वह क्रुद्ध होकर किसी को काटता है तभी वह विषदंत से बाहर निकलता है, यथा-जिस प्रकार शुक्र सम्पूर्ण शरीर में रहते हुए भी विशेष रूप से वह वृषण (Testis) में ही रहता है, उसी प्रकार विष भी सर्प के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होते हुए भी क्रोध के परिणाम स्वरूप विषदन्त द्वारा बाहर निकलता है अथवा विषदंत में विशेष रूप से रहता है। ॥१६१-१६४॥

वातोल्बणविषाः प्राय उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः । वातपित्तोल्वणाः कीटाः श्लेष्मिकाः कणभादयः ॥१६५॥
यस्य यस्य हि दोषस्य लिङ्गाधिक्यानि लक्षयेत् । तस्य तस्यौषधैः कुर्याद्विपरीतगुणैः क्रियाम् ॥१६६॥
हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक् । घूर्णनोद्वेष्टनं गात्रश्यावता वातिके विषे ॥१६७॥
संज्ञानाशोष्णनिश्वासौ हृद्दाहः कटुकास्यता । दंशावदरणं शोथो रक्तपीतश्च पैत्तिके ॥१६८॥
वम्यरोचकहृल्लासप्रसेकोत्क्लेशगौरवैः । सशैत्यमुखमाधुर्यैर्विद्याच्छलेष्माधिकं विषम् ॥१६९॥

विषैले जन्तुओं का दोषों से सम्बन्ध–

उच्चिटिङ्ग (विषैले झींगुर) - ┐
वृश्चिक (बिच्छू) - ┘ इनका विष प्रायः वात प्रधान होता है।

कीटों का विष - वात पित्त प्रधान।

कणभ आदि के विष प्रायः कफ प्रधान होते हैं।

दोष विपरीत चिकित्सा–विषैले जन्तुओं के दंश से पुरुष में जिस-जिस दोषों की वृद्धि के लक्षण मिलें, उसमें-उसमें विपरीत (दोष विपरीत) गुण वाली औषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये।

वातिक विष के लक्षण–१. हृदय में पीड़ा का होना (Pain in the Cardiac region), २. वायु की ऊर्ध्व गति का होना (upword movement of the Vāyu), ३. स्तम्भ (Stiffness of the body), ४. सिरा आयाम (dilatation of the vein) ५. अस्थि में वेदना का होना (Pain in Bones), ६. पर्वों में पीड़ा को होना (Pain in joints), ७. सिर में चक्कर का आना (Giddiness), ८. शरीर में ऐंठन का होना, ९. शरीर का वर्ण श्याव होना (Blackish brown colouration of the body)

ये सभी लक्षण वात प्रधान विष वाले जन्तुओं (कीटों) के काटने पर उत्पन्न होते हैं।

पैत्तिक विष के लक्षण–पित्त प्रधान विष वाले कीटों के काटने पर व्यक्ति में अधोलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं–

१. संज्ञानाश (Unconsciousness-चेतना शून्य हो जाना)।
२. गरम-गरम श्वास का निकलना (Hot Breath)।
३. हृदय प्रदेश में जलन का होना (Burning sensation in the Cardiac region)
४. मुख में कटुरस की प्रतीति का होना (Pungent taste in mouth)
५. दंशस्थान का फट जाना एवं शोथ युक्त होना।
६. दंशस्थान का रक्त एवं पीत वर्ण का होना।

श्लैष्मिक विष के लक्षण–वमन का होना (Vomiting), अरोचक (अरुचि-Anorexia), हृल्लास (मिचली का आना-Nausea), प्रसेक (मुख से अत्यधिक पानी का निकलना-Salivation), उत्क्लेश (दोषों का बाहर निकलने के लिए उद्यत होना), गौरव (शरीर में भारीपन का होना-Heaviness of the body), शरीर का ठण्डा होना (Coldness of the body), मुख में मधुररस की प्रतीति का होना; इन लक्षणों को देखकर रोगी श्लैष्मिक विष से आक्रान्त है, ऐसा समझना चाहिये।

चक्रपाणि–वातोल्वणेत्यादि के द्वारा उच्चिटिङ्गादि कीटों में विद्यमान विष की प्रधानता दोषों के आधार पर बतायी गयी है। अर्थात् दोषों की उल्बणता के आधार पर कीटों के भेद को बताया गया है। यह भेद चिकित्सा की सुविधा को ध्यान में रखकर किया गया है।

'हृत्पीडेत्यादि' के द्वारा विषगत दोषाधिक्य के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् वातादि दोष प्रधान कीटों के काटने से रोगी में मिलने वाले दोषज लक्षणों का अभिधान किया गया है। ॥१६५-१६९॥

खण्डेन च व्रणालेपस्तैलाभ्यङ्गश्च वातिके । स्वेदो नाडीपुलाकाद्यैर्बृंहणश्च विधिर्हितः ॥१७०॥

Scanned by CamScanner

सुशीतैः स्तम्भयेत् सेकैः प्रदेहैश्चापि पैत्तिकम् । लेखनच्छेदनस्वेदवमनैः श्लैष्मिकं जयेत् ।।१७१।।
विषेष्वपि च सर्वेषु सर्वस्थानगतेषु च । अवृश्चिकोच्चिटिङ्गेषु प्रायः शीतो विधिर्हितः ।।१७२।।
वृश्चिके स्वेदमभ्यङ्गं घृतेन लवणेन च । सेकांश्छोष्णान् प्रयुञ्जीत भोज्यं पानं च सर्पिषः ।।१७३।।
एतदेवोच्चिटिङ्गेऽपि प्रतिलोमं च पांशुभिः । उद्वर्तनं सुखाम्बूष्णैस्तथाऽवच्छादनं घनैः ।।१७४।।

कीट विष की चिकित्सा

१. वातिक विष की चिकित्सा–यदि रोगी को वात प्रधान विषैले जन्तु ने काट लिया है तब दंश या कटे हुए स्थान पर खण्ड (खाड-गुड़) का लेप लगावें । वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग करें । स्वेदन में नाडीशाक एवं पुलाक आदि का प्रयोग करें । अथवा इन द्रव्यों द्वारा स्वेदन करावें । इसके साथ-साथ बृंहण चिकित्सा करनी चाहिए ।

२. पैत्तिक विष की चिकित्सा–शीतल परिषेक (शीतल जल का रोगी के शरीर पर छिड़काव करना) तथा प्रदेह (शीतल लेप) के प्रयोग से दोषों को स्तंभित करना चाहिए ।

३. कफज (श्लैष्मिक) विष की चिकित्सा–लेखन (Scratching-खुरचना, वे औषधियाँ जो शरीर से दोषों को खुरच कर बाहर निकालें, लेखनीय कही गयी हैं), छेदन (जो दोषों को काट-काट कर बाहर निकाले), स्वेद (शरीर से पसीना निकलना) एवं वमन क्रिया के द्वारा विष को नष्ट करना चाहिए अथवा शरीर से बाहर निकलना चाहिए ।

बिच्छू एवं उच्चिटिङ्ग (झींगुर) इन दो के विषों को छोड़कर प्रायः शेष सभी प्रकार के कीट विषों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने (फैल जाने) पर शीतल उपचार करना चाहिये ।

वृश्चिक (बिच्छू) दंश की चिकित्सा–बिच्छू के काटने पर स्वेदन, लवण मिश्रित घी से अभ्यङ्ग, उष्ण जल का शरीर पर छिड़काव करना चाहिए । रोगी के अन्न एवं पान (पेय पदार्थों) में घी मिलाकर दें ।

उच्चिटिङ्ग विष (झींगुर विष) की चिकित्सा–बिच्छू दंश की ही चिकित्सा झींगुर के काटने पर भी करना चाहिए । विशेष रूप इसमें धूल के उबटन का प्रयोग बालों की विपरीत दिशा में करें । (उबटन लगाकर बालों की विपरीत दिशा में रगड़कर छुड़ावें) इसके साथ ही दंशस्थान पर गरम-गरम मिट्टी का लेप लगावें ।

चक्रपाणि–'खण्डेनेत्यादि' के द्वारा वातादि दोष प्रधान जन्तुओं के काटने पर दोषानुसार उनकी चिकित्सा का अभिधान किया गया है । पुलाकः तुच्छधान्यम्=पइया धान्य ।

घनैरिति पांसुभिरेव घनैः–दंशस्थान पर-धूल में जल मिलाकर गाढ़ा लेप लगावें, अर्थात् धूल द्वारा निर्मित गाढ़ा (मोटा) लेप । ।।१७०-१७४।।

विशेष (Comments)–वृश्चिक एवं उच्चिटिंग का विष वात प्रधान होने से वृश्चिक विष में स्वेदन व अभ्यङ्ग हेतु घृत में नमक मिलाकर प्रयोग करना चाहिए । रोगी के ऊपर उष्ण द्रव्यों से निर्मित क्वाथ या उष्ण जल का छिड़काव करें । भोजन के रूप में उष्ण द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिए तथा पीने के लिए उष्ण घृत का प्रयोग करें । यही विधान झींगुर विष की चिकित्सा में अपनाना चाहिये । धूल से प्रतिलोम उद्वर्तन करना चाहिए । अर्थात् धूल छिड़कर बालों के विपरीत दिशा में रगड़ना चाहिये तथा दंशस्थान पर धूल मिश्रित उष्ण लेप (मिट्टी का गरम-गरम लेप) लगाना चाहिए । –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

आचार्य सुश्रुत ने वृश्चिक को विष की उग्रता के आधार पर ३ वर्गों में बांटा है–

१. उग्र विष– (संख्या–१५) इनकी उत्पत्ति सर्पों के सड़ने अथवा विष से मृत प्राणियों के शरीर से होती है ।

लक्षण–सर्प विष के वेग के समान इनका वेग, शरीर में स्फोटों का होना, भ्रम (चक्कर का आना), दाह (जलन), ज्वर, रोमकूप, नासिका व मुख से श्याव (काले) वर्ण का रक्त निकलना ।

२. मध्य विष– (संख्या–३) इनका रंग-लाल, पीत एवं कपिल वर्ण युक्त । इनकी पूंछ पर तीन पर्व होते हैं । ईंट व काष्ठ से ये उत्पन्न होते हैं अथवा लकड़ी आदि के सड़ने से इनकी उत्पत्ति होती है । लक्षण-जिह्वा में शोथ का होना, भोजन में अवरोध, तीव्र मूर्च्छा का आना ।

३. मन्द विष– (संख्या–१२) गोबर एवं कण्डे (गोइठा) के सड़ने से इनकी उत्पत्ति । इनका वर्ण पीत, श्याव, लाल, गोमूत्र सदृश होता है । इनका उदर श्वेत वर्ण का होता है । पूँछ पर अनेक पर्व होते हैं ।

लक्षण–दंशस्थान में वेदना का होना, कंपन, शरीर में स्तब्धता, दंशस्थान से कृष्ण वर्ण का रक्त निकलना, वेदना का ऊर्ध्वगामी होना । दाह, स्वेद, दंशस्थान का शोथ युक्त होना ।

Scanned by CamScanner

चिकित्सा–तीव्र (उग्र) एवं मध्यम प्रकार के विष युक्त बिच्छुओं के दंश में सर्पदंश की भाँति चिकित्सा करनी चाहिये। दंशस्थान का स्वेदन करें, पश्चात् उस स्थान को खुरचकर उस स्थान पर हल्दी, सैन्धव नमक, त्रिकटु, शिरीष के फल एवं पुष्प का घर्षण करें या रगड़ें। तुलसी पत्र को बिजौरा नींबू के रस एवं गोमूत्र में पीसकर कल्क बना लें व इसका दंशस्थान पर लेप करें। कण्डे (गोहरी) को गरम करके अथवा शुष्क गोबर की पोटली बनाकर रूक्ष स्वेदन करें। रोगी को पीने के लिए मधु मिश्रित घृत, अथवा शर्करा मिश्रित दुग्ध अधिक मात्रा में दें।

मन्दविष युक्त बिच्छू के काटने पर-रोगी को कोल्हू के ताजे तैल से परिषेक अथवा विदारीगण वाले द्रव्यों से साधित तैल से कोष्ठ की सेकाई करें। शिरीषादि विषघ्न द्रव्यों से निर्मित उत्कारिका (लप्सी) से स्वेदन अथवा विषघ्न द्रव्यों का प्रयोग उपनाह के रूप में करें। रोगी को पीने के लिए गुड़ मिश्रित दुग्ध का प्रयोग करें। मोर, मुर्गे का पंख, सैन्धव नमक, तैल, घृत; इन द्रव्यों को मिलाकर धुआँ करें। यह धूम बिच्छू के विष को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोऽभितापी लालास्रावव्यथोवक्त्रस्तथा भवेत् ।।१७५।।
अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः। हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः ।।१७६।।
कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्। विदाहरागरुक्पाकाः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम् ।।१७७।।
दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च। ज्वरश्च सविषे लिङ्गं विपरीतं तु निर्विषे ।।१७८।।
तत्र सर्वे यथावस्थं प्रयोज्याः स्युरुपक्रमाः। पूर्वोक्ता विधिमन्यं च यथावद्ब्रुवतः शृणु ।।१७९।।
हृद्विदाहे प्रसेके वा विरेकवमनं भृशम्। यथावस्थं प्रयोक्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ।।१८०।।
शिरोगते विषे नस्तः कुर्यान्मूलानि बुद्धिमान्। बन्युजीवस्य भार्ग्याश्च सुरसस्यासितस्य च ।।१८१।।
दक्षकाकमयूराणां मांसासृङ्मस्तके क्षते। उपधेयमथोदष्टस्योर्ध्वदष्टस्य पादयोः ।।१८२।।
पिप्पलीमरिचक्षारवचासैन्यवशिग्रुकाः। पिष्टा रोहितपित्तेन घ्नन्त्यक्षिगतमञ्जनात् ।।१८३।।
कपित्थमामं ससिताक्षौद्रं कण्ठगते विषे। लिह्यादामाशयगते ताभ्यां चूर्णपलं नतात् ।।१८४।।
विषे पक्वाशयगते पिप्पलीं रजनीद्वयम्। मञ्जिष्ठां च समं पिष्ट्वा गोपित्तेन नरः पिबेत् ।।१८५।।
रक्तं मांसं च गोधायाः शुष्कं चूर्णीकृतं हितम्। विषे रसगते पानं कपित्थरससंयुतम् ।।१८६।।
शेलोर्मूलत्वगग्राणि बादरौदुम्बराणि च। कटभ्याश्च पिबेद्वक्तगते, मांसगते पिबेत् ।।१८७।।
सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा। सर्वेषु च बले द्वे तु मधूकं मधुकं नतम् ।।१८८।।

पागल कुत्ते के लक्षण (Signs and Symptoms of Rabid Dog)–कुत्ते में जब तीनों दोष प्रकुपित होते हैं तब धातुओं में विपरीतता आ जाती है अथवा त्रिदोष प्रकोप एवं धातुओं में विपरीतता आने के कारण-उसके सिर में वेदना, मुख से लार का निकलना तथा मुख को नीचे की तरफ रखना; ये लक्षण पाये जाते हैं।

अन्य पागल जन्तुओं के लक्षण–इसी प्रकार और भी दूसरे हिंसक जन्तु-वात-कफ प्रकोप के कारण पागल हो जाते हैं। इनके काटने पर व्यक्ति में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. हृत्शूल का होना (Pain in Cardiac region)।
२. सिर में वेदना का होना (Headache)
३. ज्वर (Fever)
४. शरीर का जकड़ जाना (Stiffness of the body)
५. अत्यधिक प्यास का लगना (Morbid thirst)
६. रोगी का मूर्छित होना (Fainting)

विष युक्त जन्तुओं के काटने से उत्पन्न लक्षण–यदि व्यक्ति को विषैला जन्तु काट ले तो उसके शरीर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं– कण्डू (Itching), सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना (Piercing pain in the bite place), वैवर्ण्य (त्वचा के वर्ण का विकृत होना-Discolouration of the skin), शून्यता का होना (Numbness), क्लेद (Oozing-दंश स्थान का नम होना), शुष्कता (Dryness), जलन का होना (Burning sensation), राग (लालिमा का होना-Redness), वेदना, पाक (Suppuration), शोफ (Oedema) ग्रन्थि का बन जाना; ये सभी लक्षण दंशस्थान में पाये जाते हैं। संकोच (अंगों का संकुचित होना), दंशस्थान का फटना, विस्फोट (दंशस्थान पर फफोले का निकलना-Blister formation=skin filled with serum), कर्णिका (अङ्कुरों का निकलना), मण्डल (शरीर में गोल-गोल चकते का निकलना) तथा ज्वर; ये सभी लक्षण व्यक्ति में विषैले जन्तुओं के काटने से उत्पन्न होते हैं। यदि व्यक्ति में ये लक्षण न मिलें तो उसे निर्विष जन्तु ने काटा है, यह समझें।

Scanned by CamScanner

जन्तु विष की चिकित्सा

विषैले जन्तुओं के काटने पर पूर्व वर्णित विष चिकित्सा के २४ प्रकार के उपक्रमों में से अवस्थानुसार अथवा रोगी की आवश्यकता के अनुसार सभी का प्रयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी जो आवश्यक हों, उन विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

इन उपक्रमों का वर्णन आगे किया जा रहा है, हे अग्निवेश! उसे सुनो–

१. शोधन चिकित्सा–यदि रोगी के हृद् प्रदेश में दाह अथवा मुख से लालास्राव (Salivation) हो रहा हो तब इस अवस्था में रोगी की अवस्था (Condition) का विचार करते हुए तीक्ष्ण वमन एवं विरेचन कराना चाहिए। वमन व विरेचन द्वारा कोष्ठ के शुद्ध हो जाने पर संसर्जनक्रम का पालन करना चाहिये।

२. नस्य का विधान–यदि विष शिरः प्रदेश में फैल रहा हो तब उसे वन्धुजीव का मूल, भारङ्गी का मूल तथा काली तुलसी के मूल में से किसी एक के मूल का चूर्ण बनाकर नस्य हेतु प्रयोग करें, अर्थात् इन द्रव्यों के चूर्ण का नस्य दें।

३. काकपद द्वारा सिर या पैर में मांस का प्रयोग–यदि विषैले जन्तु ने रोगी के सिर (Head) या ऊर्ध्व प्रदेश अथवा अधःप्रदेश (पैर आदि) में काट लिया है तथा विष रोगी के सम्पूर्ण शरीर में फैल गया हो उस समय रोगी के सिर का बाल (केश) उस्तरे (चाकू) से साफ करके उसके ऊपर काकपद जैसा चिह्न चाकू से बनावें, जब उसमें से रक्त का स्राव होने लगे तब उसके ऊपर मोर, कौवे अथवा मयूर के मांस का टुकड़ा रखें। ऐसा करने से ऊर्ध्वभाग में प्रसरित विष मांस के टुकड़े में आ जाता है।

४. पिप्पल्यादि अञ्जन–यदि विष रोगी के आँखों तक फैल गया हो तथा उसके कारण रोगी को दिखाई न देता हो उस समय पिप्पली, कालीमिर्च, यवक्षार, वचा, सैन्धव लवण एवं सहिजन के बीज; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण को रोहू मछली के पित्त में अच्छी प्रकार से पीसकर छोटी-छोटी गोली या वर्ति बना लें। इसका प्रयोग अञ्जन के रुप में करें। इस वर्ति का प्रयोग अञ्जन के रूप में करने से नेत्रगत विष नष्ट हो जाता है।

५. यदि विष का प्रभाव गले में हो जिसके कारण रोगी को स्वरभेद आदि लक्षण उत्पन्न हों उस स्थिति में आम कपित्थ (कैथ) की गुद्दी के चूर्ण में मधु व शर्करा मिलाकर चाटने के लिए देना चाहिये। यदि यही विष आमाशय तक फैल गया हो तब रोगी को तगर चूर्ण १ पल लेकर मधु व शर्करा मिलाकर चटाना चाहिये।

६. पक्वाशय गत विष की चिकित्सा–यदि जन्तु विष पक्वाशय तक फैल गया हो तब रोगी को पिप्पली, हल्दी, दारूहल्दी तथा मञ्जिष्ठा; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बनावें तथा इस चूर्ण को गाय के पित्त के साथ पीसकर रोगी को पिलावें। इसके पिलाने से पक्वाशयगत विष नष्ट हो जाता है।

७. रसगत विष की चिकित्सा–विष के रस धातु में प्रविष्ट होने पर गोह (गोधा) के सूखे मांस एवं रक्त का चूर्ण बनाकर कपित्थ स्वरस के साथ रोगी को पिलाना चाहिये।

८. रक्तगत एवं मांसगत विष की चिकित्सा–रक्त धातु में विष के प्रविष्ट हो जाने पर शेल (लिसोड़ा), बदर (बेर), उदुम्बर (गूलर) एवं कटभी के मूलत्वक तथा कोमल पत्तियों को जल में पीसकर रोगी को पिलाना चाहिए। मांस धातु में विष के प्रवेश करने पर खदिरारिष्ट में मधु मिलाकर रोगी को पिलावें अथवा कुटज मूलत्वक को जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें तथा इसका पान रोगी को जल के साथ करावें।

९. यदि विष सम्पूर्ण धातुओं में फैल गया हो तब रोगी को दोनों प्रकार की बला का मूल, महुआ, यष्टीमधु एवं तगर; के समभाग से निर्मित चूर्ण को जल मिलाकर पीस लें एवं कल्क बना लें। इस कल्क का सेवन जल के साथ कराना चाहिए। [यदि बलादि द्रव्य आर्द्र मिलें तो इनका कल्क बनाकर सेवन करावें, यदि सूखें हों तब चूर्ण का सेवन जल के साथ करावें।]

चक्रपाणि–'श्वा त्रिदोषे' इत्यादि के द्वारा विषैले कुक्कुर आदि में पाये जाने वाले लक्षणों को बताया गया है। [विषैले कुत्ते से यहाँ पागल कुत्ता अर्थ लिया गया है, जो 'रेबीज' से आक्रान्त हो] दैव के प्रभाव से अलर्क ग्रह के आवेश के कारण ही जिस कुत्ते में त्रिदोष प्रकुपित होते हैं उसी में ही शिरःशूल (Headache), मुख से लार का टपकना, सिर का झुक जाना आदि लक्षण मिलते हैं, ऐसा जानना चाहिए। [अलर्क विष का प्रभाव जिस कुत्ते में होता है उसी में शिरःशूल आदि लक्षण मिलते हैं, अन्य में नहीं।] कुछ आचार्यों का कहना है कि यहाँ निर्दिष्ट शिरो अभिताप आदि लक्षण सामान्य कुत्ते में न मिलकर-अलर्क विष से आक्रान्त कुत्ते में तथा उसके काटने पर रोगी में मिलते हैं। इस विषय का विस्तार सुश्रुतसंहिता में किया गया है।

Scanned by CamScanner

अन्येऽप्येवंविधा इति अन्येऽपि शृगालतरक्ष्वादय एवं विधाः सन्तः कृच्छ्रशिरोरोगादिकरा भवन्तीत्यर्थः–और भी इस प्रकार के दूसरे सियार (गीदड़), लकड़बग्घा आदि जन्तु हैं जिनके काटने पर कृच्छ्र शिरोरोग आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अर्थात् ये जन्तु भी विषैले होते हैं। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"श्वशृगालतरक्ष्वर्क्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः। श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः॥ तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्। अत्यर्थबधिरोऽन्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति॥ (सु.क.अ. ७) इति [कुत्ता, शृगाल (गीदड़), तरक्षु (लकड़बग्घा), रीक्ष (भालू) तथा व्याघ्र आदि के विष के द्वारा दूषित कफ संज्ञावहस्रोतस् में रुककर संज्ञा को नष्ट कर देता है। जिसके कारण पशु के पूंछ, हनु एवं स्कन्ध (कन्धे) अत्यन्त ढीले (loose) हो जाते हैं, अथवा लटक जाते हैं। उसका अपने अङ्गों पर नियन्त्रण नहीं रह जाता। मुख से अत्यधिक लार निकलता रहता है, पशु बहरा एवं अंधा हो जाता है तथा वह बेचैनी के कारण इधर-उधर भागता रहता है।]

कण्डूनिस्तोद इत्यादि के द्वारा सामान्यतया विषैले कीट आदि दंश के लक्षण तथा विषाक्त प्राणिदंश के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। कर्णिका से मांस के अङ्कुर का ग्रहण किया गया है।

सर्वे इति–पूर्व निर्दिष्ट २४ उपक्रमों का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिये।

पूर्वोक्तमित्यत्र वक्ष्यमाणचिकित्सितं पूर्वोक्तविधावपि अवस्थाविशेषविधेयतया कर्तव्यमित्यर्थः–'पूर्वोक्त' से यहाँ पूर्व वर्णित चिकित्सा के उपक्रमों का अवस्था विशेष के अनुसार प्रयोग करना चाहिये, यह अभिप्राय है।

यदा 'पूर्वोक्ता' इति पाठः, तदा उपक्रमा इत्यस्य विशेषणमेतत्– जब 'पूर्वोक्ता' पाठ हो तब यह उपक्रम की विशेषता को बतलाता है।

ऊर्ध्वं दष्टस्य पादयोरित्यत्रापि क्षतयोरेव पादयोर्विषसंक्रमणार्थं मांसासृग्दानं ज्ञेयम्–यदि पैर के ऊपरी भाग पर विषैले जन्तु (सर्पादि) ने काट लिया हो तब क्षत स्थान को संक्रमण रहित (विष रहित) करने के लिए उस स्थान पर काकपाद चिह्न बनाकर मोर या कौए के रक्त मिश्रित मांस को बाँधना चाहिए।

ताभ्यामिति–शर्करा व मधु मिलाकर, कण्ठगत विष में रोगी को कच्चे कैथ के स्वरस में मधु व शर्करा मिलाकर पीने के लिये देना चाहिए।

नत से यहाँ तगर अर्थ लिया गया है। शेलुः=श्लेष्मातक (लिसोढ़ा)। मांसगते इत्युत्तरेण संबध्यते-'मांसगते' का सम्बन्ध आगे के सूत्रों से है। इस प्रकार यहाँ-'मांसगते सक्षौद्रं खदिरारिष्टं कौटजं मूलमम्भसा' ग्रहण करना चाहिये।

[मांसगत विष में रोगी को-खदिरारिष्ट में मधु मिश्रित करके अथवा कुटजमूल त्वक् चूर्ण को जल के साथ पीने के लिए देना चाहिये।]

खदिरश्चारिष्टश्चेति खदिरारिष्टः–खदिर एवं अरिष्ट को 'खदिरारिष्ट' कहा गया है। अर्थात् खदिर एवं अरिष्टों का प्रयोग करना चाहिए। अथवा-**खदिरकृतोऽरिष्टः खदिरारिष्टः**-खदिर से निर्मित अरिष्ट को खदिरारिष्ट कहा गया है।

समधुकं नतमितिच्छेदः–'समधुकं नतमिति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। अर्थात् सभी धातुओं में विष के फैल जाने पर दोनों प्रकार की बला-बरियार एवं कंघी, महुआ, मुलेठी एवं तगर; इनका कल्क बनाकर जल के साथ रोगी को पिलानी चाहिये। ॥१७५-१८८॥

पिप्पलीं नागरं क्षारं नवनीतेन मूर्च्छितम्। कफे भिषगुदीर्णे तु विदध्यात्प्रतिसारणम्॥१८९॥
मांसीकुङ्कुमपत्रत्वग्रजनीनतचन्दनैः। मनःशिलाव्याघ्रनखसुरसैरम्बुपेषितैः॥१९०॥
पाननस्याञ्जनालेपाः सर्वशोथविषापहाः। चन्दनं तगरं कुष्ठं हरिद्रे द्वे त्वगेव च॥१९१॥
मनःशिला तमालश्च रसः कैशर एव च। शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना॥१९२॥
हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरान्। रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम्॥१९३॥
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम्। द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां घृतक्षौद्रचतुष्पलम्॥१९४॥
अपि तक्षकदष्टानां पानमेतत् सुखप्रदम्। सिन्धुवारस्य मूलं च श्वेता च गिरिकर्णिका॥१९५॥
पानं दर्वीकरैर्दष्टे नस्यं समधु पाकलम्। मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च जीवकर्षभकौ सिता॥१९६॥
काश्मर्यं वटशुङ्गानि पानं मण्डलिनां विषे। व्योषं सातिविषं कुष्ठं गृहधूमो हरेणुका॥१९७॥
तगरं कटुका क्षौद्रं हन्ति राजीमतां विषम्। गृहधूमं हरिद्रे द्वे समूलं तण्डुलीयकम्॥१९८॥
अपि वासुकिना दष्टः पिबेन्मधुघृताप्लुतम्।

कफ वृद्धि में प्रतिसारण–जब रोगी के गले में कफ की वृद्धि हो जाय तब प्रतिसारण हेतु-पिप्पली, सोंठ (शुण्ठी), यवक्षार; के समभाग निर्मित चूर्ण को मक्खन में मिलाकर, देना चाहिए, अर्थात् इनका मुख में लेप करना चाहिए। अथवा कफजनक (वर्धक) लक्षणों के मिलने पर व्यक्ति को दंशस्थान पर इस लेप को लगाना चाहिये।

Scanned by CamScanner

मांसादि योग–जटामांसी, कुङ्कुम, तेजपत्र, त्वक् (दालचीनी), रजनी (हल्दी), नत (तगर), चन्दन, मनःशिला, व्याघ्रनखी (नखी), सुरसा (तुलसी); इन सभी द्रव्यों को जल के साथ पीस कर पान (पीने), नस्य; अञ्जन एवं लेप के रूप में प्रयोग करना चाहिये। यह योग सभी प्रकार के शोथ (Oedema) एवं विष को दूर करता है। अर्थात् इसके प्रयोग से सभी प्रकार के शोथ एवं विषविकार नष्ट हो जाते हैं।

चन्दनादि योग–१. रक्तचन्दन, २. तगर, ३. कूठ (कुष्ठ), ४. हल्दी, ५. दारूहल्दी, ६. त्वग् (दालचीनी), ७. मैनशिल, ८. तमालपत्र स्वरस, ९. केशर (नागकेशर), १०. शार्दूल नख या व्याघ्रनखी; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर तण्डुलोदक (चावल व धोवन) के साथ पीसकर विष के रोगी को पीने के लिए दें।

उपयोग–इस योग को तण्डुलोदक के साथ पीसकर पीने से सभी प्रकार के विष विकार नष्ट हो जाते हैं। यह कार्य ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार इन्द्र के वज्र से असुरों का विनाश होता है।

[इस योग का भी प्रयोग पान, नस्य, अञ्जन एवं लेप के रूप में करना चाहिये।]

शिरीष पुष्प का प्रयोग–शिरीष पुष्प स्वरस में सात दिन तक श्वेतमिर्च को डुबोयें। सात दिन के पश्चात् उसे निकालकर सुखा लें एवं चूर्ण बना लें। इस श्वेतमिर्च चूर्ण का प्रयोग सर्पविष के रोगी में नस्य, पान एवं अञ्जन के रूप में करना चाहिए।

तक्षकसर्पविषहर योग–नत (तगर)-१ पल, कूठ-१ पल, गोघृत एवं मधु ४ पल लें। अर्थात् नत एवं कूठ को चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को गोघृत एवं मधु में मिश्रित करके सेवन करें अथवा पान करें। यह योग तक्षक सर्प के विष को नष्ट करता है।

दर्वीकरसर्प विषनाशक योग–सिन्धुवार की जड़, श्वेत अपराजिता की जड़; इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर पीसकर कल्क या चूर्ण बना लें। इसका प्रयोग जल के साथ रोगी को पानार्थ करना चाहिए अथवा कूठ चूर्ण के साथ मधु मिलाकर नस्यार्थ प्रयोग करें। इसके प्रयोग से दर्वीकर सर्प के विष का वेग कम हो जाता है।

मण्डलीसर्पविषनाशक योग–१. मञ्जिष्ठा, २. यष्टीमधु (मुलेठी), ३. जीवक, ४. ऋषभक, ५. चीनी (शर्करा), ६. काश्मर्य (गम्भारी की छाल), ७. वट के शुङ्ग (अंकुर); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। मण्डली सांप के काटने पर इस कल्क का पान रोगी को करावें।

राजिमान सर्पविषनाशक योग–व्योष (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली), अतिविषा, कुष्ठ (कूठ), घर का धुँआ, हरेणु, तगर, कुटकी; सभी द्रव्यों को सम भाग में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन मधु के साथ करें। इसके सेवन से राजिमान सर्प का विष नष्ट हो जाता है अथवा विष का प्रभाव कम हो जाता है।

वासुकि सर्पविष नाशक योग–१. घर का धुँआ, २. हल्दी, ३. दारुहल्दी, ४. तण्डुलीयक (चौलाई की जड़ एवं पत्रादि); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन मधु व घृत के साथ करना चाहिए। इसके सेवन से वासुकि साँप का काटा हुआ व्यक्ति बच जाता है, अर्थात् इस योग के सेवन से वासुकि सांप का विष उतर जाता है।

चक्रपाणि–श्लोक नं. १८९ में वर्णित पिप्पली इत्यादि द्रव्यों के प्रतिसारण का प्रयोग दंश स्थान पर करना चाहिए। अर्थात् पिप्पली, नागर, यवक्षार इन तीन द्रव्यों के चूर्ण को नवनीत (मक्खन) में मिलाकर दंशस्थान पर लगाना चाहिये।

मरिचं सितमिति शोभाञ्जनकबीजम्– यहाँ श्वेत मरिच से सहिजन (शिग्रु) बीज का ग्रहण किया गया है।

श्वेता चेति–'श्वेता' के द्वारा गिरिकर्णिका का विशेषण बताया गया है। इससे श्वेत पुष्पों वाली अपराजिता का ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्य गिरिकर्णिका से 'स्यन्दन' का ग्रहण करते हैं। पाकल=कूठ। ॥१८९-१९८॥

विशेष (Comments)–पिप्पली इत्यादि के द्वारा दंशस्थान पर घर्षण (प्रतिसारण) करना चाहिए, यह बताया गया है। मांसी से लेकर सुरसा तक के द्रव्यों को जल के साथ पीसकर कल्क जैसा बना लें। इसका लेप (प्रदेह), पान (आभ्यन्तर पान), नस्य एवं अञ्जन के रूप में करने से सभी प्रकार के शोथ एवं विष विकार दूर हो जाते हैं। 'शिरीषेत्यादि' से सर्पदष्ट में हितकर योग का वर्णन किया गया है। सितं मरिचं=श्वेतमरिच (शिग्रुबीज अथवा शोभाञ्जन बीज)। शिग्रु बीज को एक सप्ताह तक शिरीष पुष्प स्वरस में भावित करें। इस बीज का प्रयोग नस्य, पान एवं अञ्जन के रूप में सर्पदष्ट के रोगी को करना चाहिए। 'द्विपलं नतकुष्ठाभ्यां' से नत (तगर)-१ पल तथा कूठ -१ पल मिश्रित रूप से २ पल ग्रहण करें। इसके चूर्ण में २ पल गोघृत एवं २ पल मधु मिलाकर तक्षकदष्ट के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। यह योग तक्षकदष्ट में प्रयुक्त होते हुए भी अन्य सर्पों के विष को दूर करने में प्रभावी है।

सिन्धुवारमूल एवं श्वेत अपराजिता के मूल-को जल के साथ पीसकर कल्क जैसा बना लें। दर्वीकर सर्प के काटने पर रोगी को इस कल्क का पान करना चाहिए। नस्यं स मधु पाकलम्-कूठ के चूर्ण में मधु मिलाकर नस्य दें। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

Scanned by CamScanner

क्षीरीवृक्षत्वगालेपः शुद्धे कीटविषापहः ।।१९९।।
मुक्तालेपो वरः शोथदाहतोदज्वरापहः । चन्दनं पद्मकोशीरं शिरीषः सिन्धुवारिका ।।२००।।
क्षीरशुक्ला नतं कुष्ठं पाटलोदीच्यसारिवाः । शेलुस्वरसपिष्टोऽयं लूतानां सार्वकार्मिकः ।।२०१।।
(यथायोगं प्रयोक्तव्यः समीक्ष्यालेपनादिषु) । मधूकं मधुकं कुष्ठं शिरीषोदीच्यपाटलाः ।
सनिम्बसारिवाक्षौद्राः पानं लूताविषापहम् ।।२०२।।
कुसुम्भपुष्पं गोदन्तः स्वर्णक्षीरी कपोतविट् । दन्ती त्रिवृत्सैन्धवं च कर्णिकापातनं तयोः ।।२०३।।
कटभ्यर्जुनशैरीषशेलुक्षीरिद्रुमत्वचः । कषायकल्कचूर्णाः स्युः कीटलूताव्रणापहाः ।।२०४।।
त्वचं च नागरं चैव समांशं श्लक्ष्णपेषितम् । पेयमुष्णाम्बुना सर्वं मूषिकाणां विषापहम् ।।२०५।।
कुटजस्य फलं पिष्टं तगरं जालमालिनी । तिक्तेक्ष्वाकुश्च योगोऽयं पानप्रथमनादिभिः ।।२०६।।
वृश्चिकोन्दुरुलूतानां सर्पाणां च विषं हरेत् । समानो ह्यमृतेनायं गराजीर्णं च नाशयेत् ।।२०७।।
सर्वेऽगदा यथादोषं प्रयोज्याः स्युः कृकण्टके । कपोतविण्मातुलुङ्गं शिरीषकुसुमाद्रसः ।।२०८।।
शङ्खिन्यार्कं पयः शुण्ठी करञ्जो मधु वार्श्चिके । शिरीषस्य फलं पिष्टं स्नुहीक्षीरेण दार्दुरे ।।२०९।।
मूलानि श्वेतभण्डीनां व्योषं सर्पिश्च मत्स्यजे । कीटदष्टक्रियाः सर्वाः समानाः स्युर्जलौकसाम् ।।२१०।।
वातपित्तहरी चापि क्रिया प्रायः प्रशस्यते । वार्श्चिको ह्युच्चिटिङ्गस्य कणभस्यौन्दुरोऽगदः ।।२११।।

कीट विषनाशक योग–दंशस्थान को शुद्ध कर लेने के पश्चात् क्षीरीवृक्ष (वट, पीपल, पाकड़, गूलर, पारीष पीपल) की छाल के कल्क (Paste) का लेप लगावें । यह लेप कीटविष के प्रभाव को दूर करता है । यदि दंशस्थान पर शोथ (सूजन), दाह (जलन), तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना) हो रहा हो तथा रोगी विष के कारण ज्वर से पीड़ित हो तब इस अवस्था में दंशस्थान पर मोती को पीसकर लेप लगाना चाहिए, अर्थात् मोती का लेप करें । यह विशेष लाभदायक होता है ।

लूताविषनाशक योग–चन्दन (लाल चन्दन), पद्मक (पद्मकाठ), उशीर (खश), शिरीष, सिन्धुवारिका (मेउड़ी) की पत्ती, विदारीकन्द, नत (तगर), कूठ, पाटला, उदीच्य (सुगन्धवाला) एवं सारिवा (अनन्तमूल); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर लिसोड़े (शेलु) स्वरस (पत्रस्वरस) में पीसकर कल्क जैसा बना लें अथवा उपर्युक्त द्रव्यों के चूर्ण को लिसोड़े स्वरस में पीसकर वटिका बना लें ।

इस वटी का प्रयोग-पान (आभ्यन्तर सेवन), नस्य, अञ्जन आदि के रूप में करें । यह योग सभी प्रकार के लूताविष की चिकित्सा में उपयोगी है । [चिकित्सक को विष की अवस्था का सम्यक् विचार करके इस योग का प्रयोग लेपादि के रुप में करना चाहिए ।]

लूताविष नाशक अन्य योगों में–

१. मधूक (महुआ), मधुक (यष्टीमधु), कूठ, शिरीष, उदीच्य (सुगन्धवाला), पाटला की छाल, निम्ब की छाल तथा सारिवा । इन सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को जल के साथ पीसकर उसमें मधु मिलाकर रोगी को पिलावें । इस योग के पान करने से लूता का विष दूर (नष्ट) हो जाता है ।

२. कर्णिका पातन योग–लूता विष से व्यक्ति के शरीर में मांसांकुर निकलने लगते हैं । इन्हें नष्ट करने के लिए-निम्नलिखित द्रव्यों का लेप बनाकर मांसाङ्कुरों पर लगाना चाहिये -कुसुम्भ (बर्रे) का पुष्प, गाय की दांत, स्वर्ण क्षीरी (भड़भाड़) की जड़, कपोतविट् (कबूतर का बीट), दन्तीमूल, त्रिवृत् (निशोथ) एवं सैन्धव लवण; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें अथवा यदि हरे हों तब भी इन्हें ग्रहण करें । चूर्ण को जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) जैसा बना लें । इस कल्क का लेप मांसाङ्कुरों पर करें । इसके प्रयोग से मांसाङ्कुर कट कर गिर जाते हैं ।

३. कीट एवं लूता विषजन्य व्रणनाशक योग–कटभी, अर्जुन, शिरीष, लिसोढ़ा (शेलु) तथा क्षीरी वृक्षों की छाल; इन द्रव्यों की छाल को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण (Powder), क्वाथ (Decoction) अथवा कल्क बना लें । क्वाथ के पीने से, अथवा कल्क का दंशस्थान पर लेप लगाने से अथवा चूर्ण का जल के साथ सेवन करने से लूता अथवा कीट के दंश से उत्पन्न व्रण (घाव) भर जाता है ।

४. मूषक विष नाशक योग–त्वक् (दालचीनी त्वक्), नागर (सोंठ); इन दोनों द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर महीन चूर्ण बना लें । यह चूर्ण ३-६ ग्राम की मात्रा में लेकर उष्ण जल के साथ पीवें । यह योग सभी प्रकार के चूहों के विष को दूर करता है ।

५. विष नाशक प्रधमन नस्य–१. कुटज का फल (इन्द्रयव); २. तगर, ३. जालमालिनी (देवदाली), ४. तिक्त इक्ष्वाकु (तितलौकी); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को ३-६ ग्राम की मात्रा में जल के साथ पीने से अथवा इसका प्रधमन नस्य आदि के रूप में प्रयोग करने से वृश्चिक (बिच्छू), मूषक (चूहा), लूता एवं सर्प आदि के विष नष्ट हो जाते हैं । अर्थात् इस योग का सेवन अथवा प्रधमन नस्य के रूप में प्रयोग करने से वृश्चिक आदि के विष नष्ट हो जाते हैं । यह योग विष विकारों में अमृत के समान कार्य करता है साथ में गरविष एवं अजीर्ण के रोगियों में भी अत्यन्त लाभदायक है ।

Scanned by CamScanner

कृकणटक विष में उपर्युक्त सभी विषनाशक योगों का प्रयोग वातादि दोषों के अनुसार, करना चाहिए।

६. वृश्चिक विष नाशक योग–कबूतर का बीट, मातुलुङ्ग स्वरस (बिजौरा नींबू का रस), शिरीष के फूल का स्वरस, शङ्खिनी व मदार का अर्क (दूध), शुण्ठी (सोंठ) एवं करञ्ज की गुद्दी; प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर दंशस्थान पर लेप करें। इस लेप से बिच्छू (वृश्चिक) का विष उतर जाता है।

७. दार्दुर (मेढ़क) विषनाशक योग–शिरीष के फल को स्नुहीक्षीर (सेहुण्ड=सेहुंड क्षीर) के साथ पीसकर लेप बना लें। इस लेप को दंशस्थान के ऊपर लगावें। यह लेप मेढक के विष को नष्ट कर देता है।

८. मत्स्य विषनाशक योग–श्वेत भण्डी का मूल (श्वेत अपराजिता का मूल), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में गोघृत मिलाकर दंशस्थान पर लेप करें। यह लेप मत्स्यविष नाशक है।

९. जलौका विष नाशक योग–जलौका विष में कीट दंश नाशक सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् कीटदंशनाशक योगों का प्रयोग इसमें भी करना चाहिये। विशेष रूप से जलौका विष में वातपित्त नाशक चिकित्सा प्रशस्त है।

उच्चिटिङ्ग (झींगुर) के काटने पर वृश्चिक विष नाशक एवं कणभ (भौंरे) विष में मूषक विष नाशक चिकित्सा हितकर होती है।

चक्रपाणि–मुक्ता=मोती। क्षीरशुक्ला=विदारीकन्द।

कर्णिकापतनं तयोरिति अनन्तरोक्तकीटलूतादंशयोर्या कर्णिका तस्याः पातनमित्यर्थः–कीटदंश एवं लूतादंश से व्यक्ति के शरीर में जो मांसाङ्कुर उत्पन्न होते हैं, उनका पातन (गिराना) अथवा उनको गिराने वाले योग 'कर्णिका पातन योग कहे गये हैं, अर्थात् मांसाङ्कुरों के ऊपर इसका लेप करने से मांसाङ्कुर टूट कर गिर जाते हैं।

जालमालिनी=देवडताक: (देवदाली) [घोषक विशेष-गंगाधर]। तिक्तेक्ष्वाकु=कटुकालाबू [कटुरस वाली अलाबू=तितलौकी]

वार्श्चिके इति–वृश्चिक विष में। दर्दुरः=भेकः (मेढक)। श्वेतभण्डी=अपराजिता।

वार्श्चिके इत्यादि उच्चिटिङ्गस्य विषे वार्श्चिके यो योग उक्तः स कर्तव्यः–उच्चिटिङ्ग (झींगुर) विष में वृश्चिक विषनाशक (बिच्छू के विष नाशक) जो योग बताये गये हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए। इसे यहाँ 'वार्श्चिके इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। इसी प्रकार कणभ (भौंरे) के काटने पर उन्दुर (Mouse) विषनाशक (मूषक विषनाशक) योगों का प्रयोग करना चाहिए। ॥१९९-२११॥

वचा वंशत्वचं पाठां नतं सुरसमञ्जरीम्। द्वे बले नाकुलीं कुष्ठं शिरीषं रजनीद्वयम् ॥२१२॥
गुहामतिगुहां श्वेतामजगन्धां शिलाजतु। कत्तृणं कटभीं क्षारं गृहधूमं मनःशिलाम् ॥२१३॥
रोहितकस्य पित्तेन पिष्ट्वा तु परमोऽगदः। नस्याञ्जनादिलेपेषु हितो विश्वम्भरादिषु ॥२१४॥
स्वर्जिकाऽजशकृत्क्षारः सुरसाऽथाक्षिपीडकः। मदिरामण्डसंयुक्तो हितः शतपदीविषे ॥२१५॥
कपित्थमक्षिपीडोऽर्कबीजं त्रिकटुकं तथा। करञ्जो द्वे हरिद्रे च गृहगोधाविषं जयेत् ॥२१६॥
काकाण्डरससंयुक्तो विषाणां तण्डुलीयकः। प्रधानो बर्हिपित्तेन तद्वद्वायसपीलुकः ॥२१७॥
शिरीषफलमूलत्वक्पुष्पपत्रैः समैर्धृतैः। श्रेष्ठ पञ्चशिरीषोऽयं विषाणां प्रवरो वधे ॥२१८॥

इति पञ्चशिरीषोऽगदः।

वचादियोग–घटक द्रव्य-वच, वंशत्वक् (बांस की छाल), पाठा, नत (तगर), सुरसा की मञ्जरी (तुलसी की मञ्जरी), दोनों प्रकार की बला-बरियार की जड़ एवं कंघी की जड़, नाकुली, कूठ, शिरीष, हल्दी, दारूहल्दी, गुहा (पृश्निपर्णी), अतिगुहा (शालपर्णी), श्वेता (श्वेत पुष्प वाली अपराजिता), अजमोदा, शिलाजीत, कत्तृण (गन्धतृण), कटभी, यवक्षार, गृहधूम (घर का धुँआ), मनःशिला एवं रोहितक की छाल।

निर्माण विधि–सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को गाय के पित्त में पीसकर नस्य, अञ्जन एवं लेप के रूप में प्रयोग करें। यह योग विषनाशक योगों में अत्यन्त श्रेष्ठ है। इस योग का प्रयोग विश्वंभरादि कीट विषों के प्रकोप में करना चाहिए।

शतपदी (गोंजर) विषनाशक योग–स्वर्जिका क्षार (सज्जी क्षार), अजशकृत्क्षार (बकरी की लेंड़ी की राख), तुलसी पत्र, अक्षिपीडक; इन द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर मदिरा के मण्ड के साथ श्लक्ष्ण पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क (Paste) का प्रयोग अञ्जन, पान, लेप एवं नस्य आदि के रूप में करने से कनखजूरा (गोजर) का विष दूर हो जाता है।

गृहगोधाविषनाशक योग–गृहगोधा (छिपकली) के विष में रोगी को-कपित्थ (कैथ), अक्षिपीड, अर्कबीज (मदार का बीज), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, करञ्ज, हल्दी, दारूहल्दी; के सम भाग से निर्मित चूर्ण का लेप दंशस्थान पर करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

सर्वविषनाशक योग–किसी प्रकार के विषैले कीट आदि के काटने पर रोगी को काकाण्ड के मूलस्वरस के साथ चौलाई के मूल को पीसकर पीवें अथवा इसका लेप दंशस्थान पर करें। यह योग सभी प्रकार के विष के प्रभाव को नष्ट करता है, अथवा काकमाची (मकोय) के मूल को मोर के पित्त के साथ पीस लें। इसका प्रयोग पान एवं लेप के रूप में करें। यह योग सर्वविषनाशक है।

पञ्चशिरीष अगद–शिरीष के फल (Fruits), मूल (Roots), त्वक् (Barks), पुष्प (Flowers) एवं पत्र (Leaves); सभी को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क में घी मिलाकर पान करें अथवा दंशस्थान पर लेप करें। यह अगद सभी प्रकार के कीट विषों को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

चक्रपाणि–नाकुली=रास्ना। गुहा=पृश्निपर्णी। अतिगुहा=शालपर्णी। अजगन्धा=फोफान्धी [यवानी अर्थात् अजवाइन अर्थ गृहीत है।] पित्तेनेति=गोपित्त से।

विश्वम्भरादयः कीटा एव श्लेष्मकोपनाः सुश्रुतोक्ताः–विश्वंभर आदि कफ कोपक कीट ही हैं, जिसका विवेचन सुश्रुत संहिता में किया गया है। [आचार्य सुश्रुत ने कीटों के ६७ भेद किये हैं जिसमें-वातज-१८, पित्त-२४, कफज-१३ एवं सन्निपातज १२ होते हैं। कफ दोष को प्रकुपित करने वाले कीटों में विश्वम्भर की गणना है, यथा-"विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः" (सु.क.अ. ८/१२) इति]

अक्षपीडकः श्वेतपीतशिम्बीभेदः (आक्षिपीड़क)–श्वेत व पीत पुष्पों वाली शिम्बी भेद। वायसी=काकमाची (मकोय)।

श्रेष्ठःपञ्चशिरीषोऽयमिति पदं त्रिशिरीषाद्यपेक्षया पञ्चशिरीषस्य श्रेष्ठत्वं ब्रूते–'पञ्चशिरीष' शब्द से यहाँ त्रिशिरीषादि की अपेक्षा शिरीष के पाँच भागों (फल, पुष्प, मूल, त्वक एवं पत्र) का प्रयोग श्रेष्ठ बताया गया है।

प्रवर इति पदं विषहरयोगान्तरेषु श्रेष्ठतामाह–प्रवर पद से यहाँ विषनाशक अन्य योगों की तुलना में पञ्चशिरीष अगद प्रवर (उत्तम) है। इस प्रकार यहाँ 'श्रेष्ठः पञ्चशिरीषोऽयं' एवं 'प्रवरो वधे' शब्दों का प्रयुक्त होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता। अथवा श्रेष्ठ शब्द से यहाँ-श्रेष्ठ शिरीष फल, मूल, त्वक्, पुष्प एवं पत्र से निर्मित अगद भी श्रेष्ठ होता है। यह भाव ग्रहण किया गया है। ॥२१२-२१८॥

चतुष्पद्विद्विपद्विर्वा नखदन्तक्षतं तु यत्। शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥२१९॥
सोमवल्कोऽश्वकर्णश्च गोजिह्वा हंसपद्यपि। रजन्यौ गैरिकं लेपो नखदन्तविषापहः ॥२२०॥

दन्त एवं नख क्षत के लक्षण–चतुष्पाद (चौपायों=४ पैर वाले पशुओं) एवं द्विपद (दो पैर वाले मनुष्यों) के नख एवं दन्त से क्षत (घाव) होने पर दंशस्थान या कटे हुए स्थान पर शोथ, पाक, एवं स्राव होने लगता है। साथ में रोगी ज्वर से युक्त हो जाता है।

चिकित्सा (Treatment)–सोमवल्क (श्वेतखदिर), अश्वकर्ण सर्जभेद (साखूभेद), गोजिह्वा, हंसपदी, हल्दी, दारुहल्दी, स्वर्ण गैरिक; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर लेप बना लें। इस लेप को दन्त एवं नख से क्षत स्थान पर लगावें। ऐसा करने से कटे हुए स्थान से विष का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

चक्रपाणि–'द्विपदा' से वनमानुष एवं मर्कट (बंदर) आदि का ग्रहण किया गया है। अश्वकर्ण=सर्जभेद। [साखू वृक्ष का एक भेद-Vatica robusta- M.M. Williams Dictionary]

दुरन्धकारे विद्धस्य केनचिद्विषशङ्कया। विषोद्वेगाज्ज्वरश्छर्दिर्मूर्च्छा दाहोऽपि वा भवेत् ॥२२१॥
ग्लानिर्मोहोऽतिसारश्चाप्येतच्छङ्काविषं मतम्। चिकित्सितमिदं तस्य कुर्यादाश्वासयन् बुधः ॥२२२॥
सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु। पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं सान्वहर्षणम् ॥२२३॥

शङ्का विष के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा–घने अन्धकार में व्यक्ति को किसी भी प्रकार के कांटे आदि के धंस जाने पर व्यक्ति को यह आशङ्का उत्पन्न हो जाती है कि उसे किसी विषैले जन्तु ने काट लिया है। ऐसा होते ही उसके शरीर में विषवेग के लक्षण, यथा- ज्वर (Fever), छर्दि (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), दाह (Burning sensation), ग्लानि (Prostration), मोह (unconsciousness) एवं अतिसार (Diarrhoea) आदि उत्पन्न होने लगते हैं। व्यक्ति की इस अवस्था को **शङ्का विष** कहते हैं।

रोगी को इस अवस्था में आश्वासन देना चाहिए कि उसे कुछ नहीं हुआ है। इसके बाद उसे शुद्धगन्धक, शर्करा, मुनक्का, पयस्या (क्षीरकाकोली) तथा यष्टीमधु; के समभाग से निर्मित चूर्ण को मधु के साथ चटाना चाहिए। अथर्ववेद के मन्त्रों से सिद्ध जल का पान एवं रोगी के शरीर पर छिड़काव करें तथा अन्य उपायों द्वारा भी रोगी को प्रसन्न रखने का प्रयास करना चाहिये।

चक्रपाणि–दुरन्धकारे इत्यादि के द्वारा यहाँ शंका विष का वर्णन किया गया है। **केनचिदिति**-निर्विष कीट या जन्तु के द्वारा काट लिये जाने पर। अर्थात् अंधकार में शरीर में कोई वस्तु धंस जाय या निर्विष कीट आदि के काट लेने पर व्यक्ति को यह शंका हो जाती है कि उसे सर्पादि ने काट लिया है।

Scanned by CamScanner

विषशङ्कया विषोद्वेगादिति–विष की शंका होने से उसके शरीर में विष के वेग उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् विष के लक्षण मिलने लगते है। विष वेग के उत्पन्न होने में मात्र शङ्का (भय) ही कारण है, अर्थात् शंका के प्रभाव से विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

वैगन्धिकः गन्धक एव शोधितः–शुद्ध किया हुआ गन्धक, गन्धक को शुद्ध करके गन्ध रहित बनाना, अर्थात् यहाँ शुद्ध गंधक का ग्रहण किया गया है। ॥२२१-२२३॥

विशेष (Comments)–निर्विष जन्तु के रात्रि में काटने पर व्यक्ति को यह आशंका हो जाती है कि उसे विषैले सांप आदि ने काट लिया है तब शङ्का के प्रभाव से उसके शरीर में विषाक्तता के लक्षण मिलने लगते हैं। ऐसी अवस्था में उसके मनोबल को बढ़ाने के लिए आश्वासन आदि देना चाहिए।

आचार्य वाग्भट ने शङ्का विष की चिकित्सा का वर्णन इस प्रकार किया है, यथा–"सिता वैगन्धिको द्राक्षा पयस्या मधुकं मधु। पानं समन्त्रपूताम्बु प्रोक्षणं शान्त्यहर्षणम्" (अ.ह.उ. ३६/८९) इति [सर्पाभिहत तथा शंका विष से पीड़ित रोगी को शर्करा, शुद्ध गंधक, द्राक्षा, विदारीकन्द, यष्टीमधु एवं मधु का पान कराना चाहिए अर्थात् शर्करा से यष्टीमधु तक के द्रव्यों का चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को शंका विष वाले रोगी को मधु के साथ सेवन करावें, अथर्ववेद के मन्त्रों से साधित जल का प्रोक्षण करावें, रोगी को यह आश्वासन दें कि उसे कुछ भी नहीं हुआ है, शीघ्र ही ठीक हो जायेगा।] वैगन्धिक के स्थान पर पाठ भेद त्रिगन्धिकम् भी प्राप्त होता है जिसका अर्थ त्रिसुगन्धि द्रव्यों से है।

शालयः षष्टिकाश्चैव कोरदूषाः प्रियङ्गवः। भोजनार्थे प्रशस्यन्ते लवणार्थे च सैन्धवम्॥२२४॥
तण्डुलीयकजीवन्तीवार्ताकसुनिषण्णकाः। चुच्चूर्मण्डूकपर्णी च शाकं च कुलकं हितम्॥२२५॥
धात्री दाडिममम्लार्थे यूषा मुद्गहरेणुभिः। रसाश्चैणशिखिश्वाविल्लावतैत्तिरपार्षताः॥२२६॥
विष्किरौषधसंयुक्ता रसा यूषाश्च संस्कृताः। अविदाहीनि चान्नानि विषार्तानां भिषग्जितम्॥२२७॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधक्षुद्भयायासमैथुनम्। वर्जयेद्विषमुक्तोऽपि दिवास्वप्नं विशेषतः॥२२८॥

हितकर अन्न-पान–विष पीड़ित रोगी को शाली चावल, साठी चावल, कोदो; इनके बने हुए भात, प्रियङ्गु का भात एवं सैन्धव नमक का प्रयोग करना हितकारी होता है। शाक के रूप में तण्डुलीयक (चौलाई), जीवन्ती, वार्ताक (बैगन), सुनिषण्णक, चुच्चू, मण्डूकपर्णी, कुलक (कारवेल्लक=करेला) का प्रयोग करना चाहिए। अम्ल द्रव्यों में धात्री (आंवला) तथा अम्ल दाडिम (खट्टा अनार) का प्रयोग करें। यूष के रूप में मुद्ग (मूंग) एवं हरेणु (मटर) की दाल का प्रयोग अम्लरस युक्त करके करें। इस हेतु आँवले अथवा खट्टे अनार के रस का प्रयोग करना चाहिए। एण, शिखि (मयूर), श्वावित् (साही भेद), लाव, तीतर एवं चितकबरे हिरण के मांसरस का प्रयोग करें। विष्किर द्रव्यों से संस्कारित मांसरस एवं यूष का सेवन अविदाही अन्न के साथ करना चाहिये।

निषिद्ध आहार-विहार–विष से मुक्त हो जाने पर रोगी को विरुद्ध आहार, अध्यशन, क्रोध, भूख (भूखा रहना), भय, आयास (श्रम जनक कार्य अर्थात् थकावट उत्पन्न करने वाले कार्य), मैथुन तथा दिवा शयन (दिन में सोना) का त्याग विशेष रूप में करना चाहिए। अर्थात् इन कार्यों को नहीं करना चाहिये।

चक्रपाणि–कोरदूषः=कोदो। कुलक कारवेल्लकम् (करैला)। कुछ आचार्य कुलक से पटोल भेद का ग्रहण करते हैं। ॥२२४-२२८॥

विशेष (Comments)–विष के रोगी को आहार आदि के रूप में क्या देना चाहिए। इसका विवेचन यहाँ 'शालय इत्यादि' के द्वारा किया गया है। 'प्रियङ्गु' से धान्य विशेष का ग्रहण किया गया है। लवण के रूप में सैन्धव नमक का प्रयोग करें। शाक के रूप में तण्डुलीयक (चौलाई) आदि। यूष के रूप में मुद्ग एवं मटर का प्रयोग हितकर है। हरेणु=वर्तुल कलाय (गोल मटर) अर्थ गृहीत है। यूष आदि को अम्लरस युक्त बनाने के लिए धात्री एवं दाडिम स्वरस का प्रयोग करना चाहिये।

एणादीनां मांसस्य रसाः–एण आदि पशुओं एवं लावादि पक्षियों के मांसरस का प्रयोग करना हितावह होता है। अविदाहीनि सर्वाण्यन्नानि-सभी प्रकार के अन्न अविदाही होने चाहिए। अर्थात् ऐसे अन्न का सेवन करें जो शरीर में विदाह (जलन) न उत्पन्न करें।
–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद

सुश्रुत मतानुसार विष के रोगी को निम्नलिखित आहार-विहार का त्याग करना चाहिए– १. विरोधी अन्न, राब, सहिजन, काञ्जी, अध्यशन, नव धान्यादि गण। २. दिवा शयन, मैथुन, व्यायाम, क्रोध, धूप सेवन। ३. सुरापान (मद्य सेवन), तिल एवं कुलत्थी का प्रयोग।

["फाणितं शिग्रुसौवीरमर्जीर्णाध्यशनं तथा। वर्जयेच्च समासेन नवधान्यादिकं गणम्॥
दिवास्वप्नं व्यवायं च व्यायामं क्रोधमातपम्। सुरातिलकुलत्थांश्च वर्जयेद्धि विषातुरः॥" (सु.क.अ. ६/३०-३१]

मूल में 'कुलत्थांश्च' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ चकार से कुलथी के साथ-साथ पिण्याक (तिल का कल्क), मूली, लहसुन, मटर, कुसुम्भ (बर्रे), अतसी, शिशुमार, कछुआ, निष्पाव, जामुन, आम्रातक, कच्चे आम आदि का निषेध किया गया है।]

Scanned by CamScanner

मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता । ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम् ।।२२९।।
रोमापगमनं ग्लानिररतिर्वेपथुर्भ्रमः । चतुष्पदां भवत्येतद्दष्टानामिह लक्षणम् ।।२३०।।
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलं चन्दनागुरु । रास्ना गोरोचनाऽजाजी गुग्गुल्विक्षुरसो नतम् ।।२३१।।
चूर्णं ससैन्धवानन्तं गोपित्तमधुसंयुतम् । चतुष्पदानां दष्टानामगदः सार्वकार्मिकः ।।२३२।।
सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदरजोनानाङ्गजान्मलान् । शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ।।२३३।।
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते । मर्मप्रधमनाध्मानं श्वयथुं हस्तपादयोः ।।२३४।।
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः । एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ।।२३५।।
स्वप्ने मार्जारगोमायुव्यालान् सनकुलान् कपीन् । प्रायः पश्यति नद्यादीञ्शुष्कांश्च सवनस्पतीन् ।।२६६।।
कालश्च गौरमात्मानं स्वप्ने गौरश्च कालकम् । विकर्णनासिकं वाऽपि प्रपश्येद्विहतेन्द्रियः ।।२३७।।
तमवेक्ष्य भिषक् प्राज्ञः पृच्छेत् किं कैः कदा सह । जग्धमित्यवगम्याशु प्रदद्याद्वमनं भिषक् ।।२३८।।
सूक्ष्मं ताम्ररजस्तस्मै सक्षौद्रं हृद्विशोधनम् । शुद्धे हृदि ततः शाणं हेमचूर्णस्य दापयेत् ।।२३९।।
हेम सर्वविषाण्याशु गरांश्च विनियच्छति । न सज्जते हेमपात्रे विषं पद्मदलेऽम्बुवत् ।।२४०।।
नागदन्तीत्रिवृद्दन्तीद्रवन्तीस्नुकूपयःफलैः । साधितं माहिषं सर्पिः सगोमूत्राढकं हितम् ।।२४१।।
सर्पकीटविषार्तानां गरार्तानां च शान्तये ।

चौपायों में सर्पादि दंश के लक्षण–यदि पशुओं को सर्पादि विषैले जन्तुओं ने काट लिया है तब उसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–१. शिरोन्यास (बार-बार सिर को हिलाना), २. शोथ (Oedema), ३. ओष्ठ एवं कर्ण का लटक जाना (drooping of the lips and ears), ४. ज्वर का आना (Fever), ५. स्तब्ध अक्षता (पलकों का न झपकना), ६. शरीर का स्तम्भित हो जाना (Stiffness of the body), ७. हनु का कम्पित होना (Tremors in the jaw), ८. अङ्गमर्द (Avague feeling of bodily discomfort), ९. रोमों का गिरना (Hair fall), १०. ग्लानि-malaise (exhaustion), ११. अरति (Disliking for everything), १२. वेपथु (शरीर में कम्प का होना), १३. भ्रम (चक्कर का आना)

चिकित्सा–देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरल, रक्तचन्दन, अगरु (काला अगर), रास्ना, गोरोचन, अजाजी (काला जीरा), गुग्गुलु, इक्षुरस, नत (तगर), सैन्धव नमक, अनन्तमूल, गाय का पित्त एवं मधु; का प्रयोग विष पीड़ित पशुओं में करना चाहिए। अर्थात् इन्हीं द्रव्यों का प्रयोग पान, लेह, नस्य एवं अञ्जन के रूप में करना चाहिए।

गरविष के लक्षण एवं चिकित्सा

अपने पति को वश में रखने के लिए स्त्रियाँ प्रायः अपने स्वेद (पसीना-Sweat), रज (Menstrual discharge) अथवा शरीर के अन्य भागों के मल का प्रयोग अन्न के साथ करती हैं। अथवा शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त गरविष का प्रयोग खाद्य पदार्थों के साथ करती हैं। अर्थात् अपने पति को वश में रखने के लिए स्त्रियाँ अपने रज आदि का प्रयोग अन्न के साथ मिलाकर करती हैं अथवा शत्रु द्वारा गरविष का प्रयोग खाद्य पदार्थ के साथ मिलाकर राजा के नौकर आदि भृत्यों के द्वारा कर दिया जाता है।

लक्षण (Signs and Symptoms)–गरविष (कृत्रिम विष) सेवन करने के बाद व्यक्ति में कुछ समय (कालान्तर) के बाद अधोलिखित लक्षण मिलने लगते हैं–१. पाण्डु वर्ण का होना (रोगी में रक्त की कमी का होना), २. व्यक्ति कृश हो जाता है (Emaciation), ३. अल्पाग्नि (जाठराग्नि का मन्द हो जाना), ४. मर्म प्रधमन (हृदय की धड़कन का बढ़ना Palpitation), ५. आध्मान (Flatulence), ६. हाथ व पैर में शोथ का होना (Oedema in hands and feet)। ७. व्यक्ति जठर (उदर रोग), ग्रहणी रोग (Sprue syndrome), यक्ष्मा (Tuberculosis), गुल्म, क्षय (Consumption), ज्वर आदि अन्य व्याधियों के लक्षणों से पीड़ित हो जाता है, अर्थात् व्यक्ति में इन व्याधियों के लक्षण मिलने लगते हैं। ८. रोगी स्वप्न में मार्जार (बिल्ली), गोमायु (Jackal-सियार) आदि हिंसक पशुओं, नेवला, बन्दर को प्रायः देखता है। १०. स्वप्न में व्यक्ति को शुष्क नदी एवं सूखी वनस्पतियों का दिखाई देना, स्वप्न में काला व्यक्ति अपने को गोरा तथा गोरा व्यक्ति अपने को काला समझता है, अथवा कर्ण या नासिका का विकृत दिखाई देना, अर्थात् व्यक्ति स्वप्न में अपने को बिना नाक व कान का देखता है। ११. रोगी की इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में सक्षम नहीं होती।

उपर्युक्त लक्षणों को देखकर बुद्धिमान चिकित्सक रोगी से यह पूछे कि उसने किसके साथ, कब एवं किस वस्तु का सेवन किया है। इन प्रश्नों से विष का सम्यक् निश्चय करके उसे शीघ्र ही वमन कराना चाहिये अथवा वमनार्थ वामक औषधि का प्रयोग करना चाहिये।

वमन हेतु रोगी को ताम्र रज (ताम्र भस्म) में मधु मिलाकर चटाना चाहिये। वमन होने के बाद रोगी का हृदय शुद्ध हो जाता है। हृदय की शुद्धि के पश्चात् शाण मात्रा (चार माशा-Weight of four Māśā) भर सुवर्ण चूर्ण में मधु मिलाकर रोगी को चटाना चाहिये। [यदि भस्म का प्रयोग करना हो तो अत्यल्प मात्रा में करना चाहिए।] सुवर्ण चूर्ण या भस्म अपने प्रभाव से सभी प्रकार के विष एवं गरविष

Scanned by CamScanner

के वेगों को नष्ट कर देता है। अर्थात् इसके सेवन से रोगी पर विष का प्रभाव नहीं पड़ता। जिस प्रकार कमलदल के ऊपर जल की बूँदें नहीं ठहर पाती उसी प्रकार स्वर्ण चूर्ण या भस्म सेवन करने वाले व्यक्ति में विष नही रुक पाता।

नागदन्त्यादि घृत–नागदन्ती (दन्ती भेद), त्रिवृत् (निशोथ), दन्तीमूल (दन्ती की जड़), द्रवन्ती (बड़ी दन्ती), स्नुही क्षीर (सेहुण्ड का दुग्ध), मदनफल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क में १ आढ़क गोमूत्र डालकर भैंस के घृत को विधिपूर्वक सिद्ध करें। अर्थात् कल्क एवं गोमूत्र के साथ घृत को विधिपूर्वक पकाकर सिद्ध कर लें। यह घृत सभी प्रकार के सर्प एवं कीटविष व गरविष से पीड़ित रोगियों को पिलाना चाहिए। इसके सेवन से विष का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणि–अन्नमिश्रितानि भक्ष्यमिश्रितान्– दुष्ट प्रकृति वाली स्त्रियाँ अपने पति को वश में रखने के लिए स्वेद, रज, आदि मल युक्त पदार्थों को अन्न में मिलाकर खिलाती हैं।

गरश्चास्योपजायत इति–गरविष सेवन करने वाले व्यक्ति में वर्णित मर्मप्रधमन आदि लक्षणों से युक्त व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

विहतेन्द्रिय इति–रोगी होने के कारण व्यक्ति की इन्द्रियाँ अपना कार्य उचित रूप से नहीं कर पाती।

पृच्छेदित्यादौ पृच्छायां गरावधारणमेव फलमवगम्यते–रोगी में मर्मप्रधमन (Palpitation) आदि लक्षण मिलने पर प्रश्न पूछकर गरविष के प्रकारों का निश्चय करें, सम्यक् निश्चय होने पर ही उचित चिकित्सा हो सकेगी। [गरविष के निश्चय से ही फल का निश्चय हो पायेगा]

अवगम्येति=गरविष के कारणों को जान करके। 'सूक्ष्ममित्यादि' के द्वारा गरविष की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। अमृतताम्रचूर्णं माषमानं यावद्देयम्-अमृत (जिसका मारण न किया गया हो) अर्थात् ताम्र चूर्ण का प्रयोग १ माष (उड़द की मात्रा के बराबर) की मात्रा में मधु के साथ गरविष के रोगी को वमनार्थ देना चाहिए। क्योंकि बिना मारण किये हुए ताम्र चूर्ण के प्रयोग से ही वमन होता है।

हेमप इति हेम यः पिबति इति सहेमपः–जो व्यक्ति स्वर्ण का पान करता है, उसे 'हेमप' कहा गया है। नागदन्ती=दन्तीभेद। फल=मदनफल, नतु "पलैः' इति पाठः- यहाँ 'पलैः' पाठ नहीं किया गया है। यह योग 'नागदन्त्यादि घृत' जतूकर्ण संहिता में भी वर्णित है, यथा-"नागदन्तीस्नुक् क्षीरफलैर्गोमूत्रसिद्धं माहिषं घृतं पाययेत्" इति [नागदन्ती, स्नुही क्षीर, मदनफल, गोमूत्र एवं माहिष घृत-सभी द्रव्यों को एकत्र मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध कर लें। इस घृत का सेवन गरविष के रोगी को करना चाहिए।] ॥२२९-२४१॥

विशेष (Comments)–'नागदन्ती इत्यादि' के द्वारा नागदन्त्यादि घृत का अभिधान किया गया है। दन्ती तीन प्रकार की होती है। **दीर्घमूला नागदन्तीह्रस्वमूला त्रिवृद्दन्ती, ह्रस्वमूलक्षुद्रवृक्षा द्रवन्ती**-जिस दन्ती की जड़ (Root) लम्बी होती है उसे नागदन्ती कहते है, जिसकी जड़ छोटी हो उसे त्रिवृद्दन्ती कहते है, जिसका मूल छोटा तथा वृक्ष छोटा हो उसे द्रवन्ती कहते हैं। अर्थात् द्रवन्ती की तुलना में नागदन्ती एवं त्रिवृद्दन्ती का वृक्ष बड़ा होता है। स्नुक्पयः=स्नुही क्षीर। फल=मदनफल। नागदन्ती, त्रिवृत् दन्ती, द्रवन्ती, स्नुही क्षीर, मदनफल; इन सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें, कल्क की मात्रा स्नेह का चतुर्थांश रखें, भैंस का पुराना घृत- १ प्रस्थ, गोमूत्र- १ आढ़क। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग सर्पादि के विष से आक्रान्त रोगी को पिलाना चाहिये। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

शिरीषत्वक् त्रिकटुकं त्रिफलां चन्दनोत्पले ।।२४२।।
द्वे बले सारिवास्फोतासुरभीनिम्बपाटलाः । बन्धुजीवाढकीमूर्वावासासुरसवत्सकान् ।।२४३।।
पाठाङ्कोलाश्वगन्धार्कमूलयष्ट्याह्वपद्मकान् । विशालां बृहतीं लाक्षां कोविदारं शतावरीम् ।।२४४।।
कटभीदन्तपामार्गान् पृश्निपर्णीं रसाञ्जनम् । श्वेतभण्डाश्वखुरकौ कुष्ठदारुप्रियङ्गकान् ।।२४५।।
विदारीं मधुकात् सारं करञ्जस्य फलत्वचौ । रजन्यौ लोध्रमक्षांशं पिष्ट्वा साध्यं घृताढकम् ।।२४६।।
तुल्याम्बुच्छागगोमूत्रत्र्याढके तद्विषापहम् । अपस्मारक्षयोन्मादभूतग्रहगरोदरम् ।।२४७।।
पाण्डुरोगक्रिमीगुल्मप्लीहोरुस्तम्भकामलाः । हनुस्कन्धग्रहादींश्च पानाभ्यञ्जननावनैः ।।२४८।।
हन्यात् संजीवयेच्चापि विषोद्वन्थमृतान्नरान् । नाग्नेदमृतं सर्वविषाणां स्याद्घृतोत्तमम् ।।२४९।।

इत्यमृतघृतम् ।

अमृतघृत (Amrita-Ghrita)-घटक द्रव्य एवं निर्माण विधि–शिरीष त्वक् (शिरीष की छाल), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चन्दन, उत्पल (नील कमल), दोनों प्रकार की बला-बरियार (Sida cordifolia), अतिबला (कंघी-Abutilon indicum), सारिवा (अनन्तमूल), स्फोता (पाठ भेद से श्वेता प्राप्त होता है। अतः श्वेता से श्वेत पुष्पों वाली अपराजिता का ग्रहण करते हैं।), सुरभी (गन्ध रास्ना), निम्ब की छाल, पाटला की छाल, बन्धुजीव (पुत्रजीवक), आढकी (अरहर), मूर्वा, वासा (अडूसा), सुरसा (तुलसी), वत्सक (कुटज), पाठा, अङ्कोल, अश्वगन्ध (अश्वगंधा), अर्कमूल (मदार की जड़), यष्टीमधु (मुलेठी), पद्मकाठ, विशाला (इन्द्रायण की जड़), बृहती (बड़ी कण्टकारी या वनभण्टा), लाक्षा (लाख), कोविदार (काञ्चनार भेद), शतावरी, कटभी (ज्योतिष्मती या मालकांगनी), दन्तीमूल, अपामार्ग मूल, पृश्निपर्णी, रसाञ्जन (रसवत), श्वेतभण्डा (कटसरैया या पियावासा), अश्वखुरक

Scanned by CamScanner

[स्यन्दन अथवा कोकिलाक्ष, कोकिलाक्ष से तालमखाना अर्थ लिया गया है।], कूठ, देवदारु, प्रियङ्गु, विदारीकन्द, मधूक सार (महुए का सार), करञ्ज की गुद्दी एवं त्वक्, हल्दी, दारुहल्दी, लोध्र; प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला ग्रहण करें। इन सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क (Paste) बना लें। **गोघृत**- १ आढ़क, जल- १ आढ़क, गोमूत्र- १½ आढ़क, बकरी का मूत्र १½ आढ़क।

निर्दिष्ट मान के अनुसार द्रव्यों को लेकर एक बड़े पात्र में डालकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। सिद्ध होने के बाद घृत को कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–मात्रा पूर्वक इस घृत के सेवन करने से सभी प्रकार के विष विकार दूर हो जाते हैं। इस घृत के प्रयोग करने से उन्माद (Insanity), अपस्मार (Epilepsy), क्षय (Consumption), भूतग्रह, गरविष (कृत्रिम विषजन्य विकार), उदररोग, पाण्डु (Anaemia), कृमिरोग, गुल्म (Phantom tumour), प्लीहारोग (Splenic disorders), ऊरुस्तम्भ (Stiffness of the thighs), कामला (Jaundice), हनुग्रह (Stiffness of the jaws), स्कन्धग्रह (कन्धे में जकड़ाहट का होना) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। इस घृत का प्रयोग रोगी को पान, अभ्यङ्ग (मालिश करने के लिए) एवं नस्य के रूप में करना चाहिए। जो व्यक्ति फांसी लगाकर मृतक के तुल्य हो गये हैं अथवा विष पान या विषदंश के कारण मृतक के समान हो गये हैं, ऐसे व्यक्तियों को इस घृत के प्रयोग द्वारा जीवन मिल जाता है। अर्थात् इस घृत के सेवन से मृततुल्य पुरुष जीवन प्राप्त कर लेता है।

यह अमृत नामक घृत सभी प्रकार के विष विकारों को दूर करने में श्रेष्ठ है।

चक्रपाणि–'शिरीष त्वगित्यादि' के द्वारा अमृत घृत का अभिधान किया गया है। **आस्फोता अपरमल्लिका**-आस्फोता से अपरमल्लिका अर्थ लिया गया है। [आस्फोता से निम्नलिखित वनस्पतियों का ग्रहण किया जाता है–

१. Calotropis gigantia (मदार)- सुश्रुत २. Bauhinia variegata
३. Jasminam sambac (सुश्रुत) ४. Clitoria ternatea (अपराजिता-श्वेत एवं नील पुष्प) –M.M. Williams Dictionary]

सुरभी=पर्णास भेद। वन्धुजीव=पुत्रजीवक। **अश्वखुरकः स्यन्दनः किंवा कोकिलाक्षः**-अश्वखुरक से स्यन्दन (तिनिश) अथवा कोकिलाक्ष (तालमखाना) अर्थ लिख गया है। ॥२४२-२४९॥

भवन्ति चात्र–

छत्री झर्झरपाणिश्च चरेद्रात्रौ तथा दिवा। तच्छायाशब्दवित्रस्ताः प्रणश्यन्त्याशु पन्नगाः ॥२५०॥
दष्टमात्रो दशेदाशु तं सर्पं लोष्टमेव वा। उपर्यरिष्टां बध्नीयादंशं छिन्द्याद्दहेत्तथा ॥२५१॥
वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका। कर्केतनः सर्पमणिर्वैदूर्यं गजमौक्तिकम् ॥२५२॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः। खगाश्च शारिकाक्रौञ्चशिखिहंसशुकादयः ॥२५३॥

और भी–

व्यक्ति को दिन में छाता लेकर तथा रात में फटे हुए बांस को लेकर शब्द करते हुए चलना चाहिए। दिन में छाता की छाया को देखकर तथा रात्रि में झर्झर शब्द सुनकर सर्प डर कर दूर भाग जाते हैं।

यदि व्यक्ति को सर्प ने काट लिया है तब शीघ्र ही उसे उस सर्प को या मिट्टी के ढेले (पिण्ड) को दांतों से काटना चाहिए। शीघ्र ही दंश स्थान के ४ अंगुल ऊपर पतली रस्सी या सुतली से कसकर बांध दें ताकि विष शरीर के अन्य भागों में न फैले, अथवा दंशस्थान को काटकर शरीर से अलग कर दें अथवा दंशस्थान को जला दें।

सर्पादि के विष का प्रभाव शरीर पर न पड़े, इस हेतु व्यक्ति को वज्र (हीरा), मरकतमणि (Emerald), सार पिचुक (मणि विशेष), विषमूषिका, कर्केतन (पद्मराग), सर्प की मणि, वैदुर्य (लहसनिया), गजमुक्ता एवं विषनाशक अन्य मणियों को भी धारण करना चाहिए। इसके साथ ही विषनाशक श्रेष्ठ औषधियों, यथा-सोमराजी, पुनर्नवा, द्रोणी आदि को भी धारण करें।

अपने घर में सारिका (मैना), क्रौंच (जलकुक्कुटी=जलमुर्गी), मोर, हंस, शुक (तोता) आदि पक्षियों को पालना चाहिए। [इन पक्षियों के घर में रहने से विष मिश्रित अन्न का परिज्ञान अच्छी प्रकार से हो सकेगा तथा ये पक्षी सर्पादि से भी व्यक्ति की रक्षा करते हैं। सर्प के रहने पर ये पक्षी शान्ति से नहीं बैठते, बहुत शोर मचाते हैं। इनके चिल्लाहट को सुनकर व्यक्ति को आभास हो जाता है कि वहाँ कुछ है।]

चक्रपाणि–'छत्रीत्यादि' के द्वारा सर्पादि से सुरक्षा के उपाय को बताया गया है। **छत्री दिवा रात्रौ झर्झरपाणिश्चरेदिति वदन्ति**-दिन में व्यक्ति को छाता धारण करना चाहिए तथा रात्रि में हाथ में झर्झर (फटे बांस) को लेकर चलना चाहिए। अन्य आचार्य दोनों अवस्थाओं में दोनों ही वस्तुओं का ग्रहण करते हैं, अर्थात् दिन में झर्झर एवं छाता के प्रयोग एवं रात्रि में भी इसका प्रयोग बताते हैं।

१. द्वे बले सरिवे श्वेता सुरभी निम्ब पाटला।

Scanned by CamScanner

झर्झरकः 'खुर्खुरक' इति ख्यातः–ऐसा फटा हुआ बांस का डण्डा जिसको पटकने पर 'खुर्खुर' शब्द होता है। यह खुर्खुरक नाम से प्रसिद्ध है। छाया शब्द से यहाँ आवश्यकतानुसार छाते एवं झर्झर दोनों की छाया का ग्रहण किया गया है।

ताभ्यां तदात्वे वित्रस्ताः–व्यक्ति जब छाता एवं झर्झर लेकर चलता है तब उस समय इनकी आवाज (शब्द) एवं छाया से सर्प डर जाता है।

यदि व्यक्ति को सर्पादि विषैले जन्तुओं ने काट लिया है उस समय तत्काल क्या करना चाहिए, इसे यहाँ 'दष्टमात्र इत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

धारणादेव विषापहमाह-'वज्रमित्यादि'–के द्वारा विषनाशक मणियों का उल्लेख किया गया है।

सार इति सरजू विशेषणम्–'सार' शब्द 'सरजू' का विशेषण है। (?)। पिचुक-पिचुकमणि, यह उत्तरापथ (काबुल, कान्धार) में प्रसिद्ध है।

विषमूषिका=विषमणि। कर्केतन=पद्मराग मणि।

'गरमणि' शब्द से अन्य मणियों का ग्रहण किया गया है जो विष के प्रभाव को दूर करती हैं।

वरौषध्य इति–अन्य शास्त्रों में वर्णित विषनाशक औषधियों-अक्षीव, जातपिप्पली, अजरुहा, कायोषी आदि का ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है, यथा-"अक्षीवजातस्य पिप्पलस्य मणिसर्ववषापहाः' इत्यादि

["वरौषध्य इति-तन्त्रान्तरोक्ताः अक्षीरा-जलपिप्पली-अजरुहा-काकोली प्रभृतयः" पाठ भेद प्राप्त होता है, जिसका अर्थ अन्य शास्त्रों में वर्णित विषनाशक औषधियाँ, यथा-अक्षीरा, जलपिप्पली, अजरुहा एवं काकोली का ग्रहण 'वरौषध' से करना चाहिये]

विशेष (Comments)–यहाँ वर्णित श्लोक नं. २५३ के सूत्र–

'धार्य गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहा' के स्थान पर-'धार्य्य वरमणिर्याश्च वरौषधो विषापहा' पाठ प्राप्त होता है। जिसका अर्थ-विषनाशक श्रेष्ठ मणियों एवं वनस्पतियों को व्यक्ति धारण करे; होगा।

आचार्य वाग्भट ने भी विष नाशक मणियों एवं औषधियों को धारण करने का निर्देश दिया है, यथा-कर्केतनं मरकतं वज्रं वारणमौक्तिकम्। वैदुर्यं गर्दभमणिं पिचुकां विषमुष्टिकाम् ॥ हिमवद्गिरिसम्भूतां सोमराजीं पुनर्नवाम्। तथा द्रोणं महाद्रोणं मानसीं सर्पजं मणिम्। विषाणि विषशान्त्यर्थं वीर्यवन्ति च धारयेत् ॥ अ.सं.उ.अ. ४२/१०७-१०८

[कर्केतन (माणिक्य-Ruby), मरकत (Emerald-पन्ना), वज्र (हीरा-Diamond), वारणमौक्तिक (गजमुक्ता), गर्दभमणि (धूम्र वर्ण का एक विशेष रत्न), वैदूर्यमणि, पिचुका (रत्नपुष्प अथवा इसे कुछ लोग वनस्पति स्वीकार करते हैं), विषमुष्टिका (श्रेष्ठ औषधि); इन मणियों एवं वनस्पति द्रव्यों को धारण करने से व्यक्ति के ऊपर विष का प्रभाव नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त हिमालय पर्वत पर होने वाली वीर्ययुक्त ओषधियों, यथा-सोमराजी, पुनर्नवा, द्रोण, महाद्रोण, मानसी (मण्डूकपर्णी) तथा सर्पज मणि; को धारण करने से सर्पादि के विष प्रभावी नहीं होते।]

तत्र श्लोकः–

इतीदमुक्तं द्विविधस्य विस्तरैर्बहुप्रकारं विषरोगभेषजम्। अथीत्य विज्ञाय तथा प्रयोजयन् व्रजेद्विषाणामविषह्यतां बुधः ॥२५४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने विषचिकित्सितं नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस विष चिकित्सा नामक अध्याय में दो प्रकार के विषों (स्थावर एवं जाङ्गम) का विस्तार से विवेचन किया गया है साथ ही साथ विषरोगों की अनेक प्रकार से चिकित्सा का वर्णन किया गया है अर्थात् विष नाशक २४ उपक्रमों का वर्णन किया गया है। यदि विद्वान् चिकित्सक इन सूत्रों का सम्यक् अध्ययन करके एवं विचार करके चिकित्सा में प्रवृत्त होता है तो वह व्यक्ति रोगी को विष के प्रभाव से मुक्त कर लेता है, अर्थात् निर्दिष्ट चिकित्सा के प्रयोग द्वारा रोगी की जीवन रक्षा करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में विषचिकित्सा नामक तेइसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'इतीदमित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का संग्रह किया गया है, अर्थात् अध्यायोक्त विषयों का संक्षिप्तीकरण किया गया है।

व्रजेद्विषाणामविषह्यतामिति विषाणि तं सोढुं न पारयन्तीति भावः–इन पुरुषों में विष का प्रभाव नहीं हो पाता, यह अभिप्राय है। अर्थात् चिकित्सा के समुचित प्रयोग से विषाक्रान्त रोगी के जीवन को बचा लिया जाता है। ॥२५०-२५४॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरक भावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में विषचिकित्सा नामक तेइसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

चतुर्विंशोऽध्यायः ।

अथातो मदात्ययचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे मदात्यय चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–मदात्यय (Alcoholism) एवं विषरोग दोनों में ही मोह (unconsciousness) उत्पन्न होने के कारण विषचिकित्सा के बाद मदात्यय चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ।।१-२।।

सुरैः सुरेशसहितैर्या पुरा परिपूजिता । सौत्रामण्यां हूयते या कर्मिभिर्या प्रतिष्ठिता ।।३।।
यज्ञौही या यया शक्रः सोमातिपतितो भृशम् । निरोजस्तमसाऽविष्टस्तस्माद्गर्गात् समुद्धृतः ।।४।।
मद्य की महिमा–इन्द्र के साथ देवताओं द्वारा प्राचीनकाल में जो सुरा (मदिरा) पूजित हुई, अर्थात् प्राचीनकाल में इन्द्र के साथ देवों ने जिस मदिरा का सेवन किया । जिस मदिरा की श्रौत्रामणि यज्ञ में होताओं द्वारा आहुति दी गयी थी। जिसका प्रयोग वैदिक कार्यों में आदर पूर्वक किया जाता था, अर्थात् वैदिक कर्मकाण्डियों द्वारा जिसका प्रयोग यज्ञादि में सम्मान पूर्वक किया जाता था । जिस सोमरस के अत्यधिक सेवन से इन्द्र ओजरहित एवं दुर्बल हो गये थे, उनके इस दुःख को मदिरा ने दूर किया । यज्ञ कराने वाले अथवा वैदिक कर्म कराने वाले आचार्य या ऋषि यज्ञ की सिद्धि हेतु जिसके दर्शन एवं स्पर्श को उत्तम मानते थे । अतः उन्हीं कार्यों को करने के लिए मद्य का निर्माण किया गया ।

चक्रपाणि–'सुरैरित्यादि' के द्वारा मदिरा की प्रशंसा तथा वर्णित निन्दा के द्वारा विधिपूर्वक सेवित सुरा के शुभ फल को तथा अविधिपूर्वक सेवित सुरा के निन्दित (अशुभ) फल को बताया गया है ।

या पुरा परिपूजितेत्यनेन प्रथमं देवैरेवेयं परिपूजिता, ततः सुरयोगात् सुरेति चोपदिष्टेति दर्शयति–सबसे पहले यह देवों (सुर) द्वारा पूजित हुई । अतः इसके बाद सुर के योग से सुरा शब्द प्रचलित हुआ, अर्थात् सबसे पहले इसका सेवन सुरों (देवताओं) ने किया । इस कारण इसका नाम 'सुरा' पड़ा ।

सौत्रामणिः सुराहविर्यज्ञान्तर्निविष्टो यज्ञविशेषः, तस्यां हूयते सुरा– ––एक विशेष प्रकार का यज्ञ, जिसके अन्त में सुरा की आहुति दी जाती है 'सौत्रामणि' कहा जाता है । इसमें सुरा की ही आहुति डाली जाती है ।

कर्मिभिर्या प्रतिष्ठितेति याज्ञिकैरभिषवणादिभिः प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठां प्रापिता–याज्ञिकों (पुरोहित) द्वारा अभिषवण (स्नान या आचमन) आदि के रूप में जो प्रतिष्ठित है, अर्थात् याज्ञिक जिसका प्रयोग आचमन आदि कार्यों के लिए करते हैं ।

यज्ञं वहतीति यज्ञौही–यज्ञ को धारण करने के कारण, इसे यज्ञौही कहा गया है । इस प्रकार लौकिक यज्ञ के अन्तर्गत होते हुए भी यह यज्ञ सुरा के द्वारा किया जाता है, सौत्रामणि यज्ञ में आहुति के रूप में सुरा ही प्रधान होती है, यह बताया गया है ।

शक्रश्च सोमातिपतित इति–इन्द्र सोमपान करके अतिपतित हो गये, श्रुतियों में भी कहा गया है, यथा-**''शक्रोऽतिपीतेन सोमेन क्षपितबलो निरोजस्को निर्वीर्यीभूतः स किल पुनराप्याय निजं वीर्यमापादितः''** इति – शक्र (इन्द्र) सोम के अतिपान से जब अत्यधिक दुर्बल, ओजरहित एवं वीर्य रहित (मानसिक रुप से दुर्बल) हो गये तब अश्विनी कुमारों ने इन्हें औषधि सिद्ध (संस्कारित) मद्य के प्रयोग द्वारा पुनः वीर्यवान बनाया, अर्थात् इसके सेवन से पुनः वे शक्तिशाली हो गये ।

अतिपानेन पतितः अतिपतितः–सोम के अति सेवन से नैतिक रूप से पतित (गिर) होना । (पाठभेद-अतियोगेन परितोऽतिपरितः)। **प्रकल्प्या इति अभिषोतव्या संधानायेति यावत्**- मद्य के निर्माण का कार्य, यज्ञीया यज्ञसिद्धय इति-यज्ञ की सिद्धि हेतु पूजनीय या पवित्र, कुछ लोग यज्ञ क्रत्वर्थानि (शक्ति) की प्राप्ति हेतु या अपने को शक्तिशाली स्वीकार कराने के लिए, यथा-राजसूय एवं अश्वमेघ यज्ञ करते हैं, इसमें खदिर एवं कुश आदि का प्रयोग किया जाता है, कुछ लोग पुरुषार्थ की प्राप्ति हेतु वासगर्भ (घर के अन्दर) आदि में करते हैं । कुछ लोग यज्ञ फल एवं पुरुषार्थ हेतु घृत एवं गंध द्रव्यों का प्रयोग करते हैं । उसी प्रकार यहाँ सुरा ('यज्ञीया इति'-यज्ञ सम्बन्धी) भी वासन (संस्कारक द्रव्यों) की तरह उपयोगी है ।

'यज्ञसिद्धये भवतीति'–यूपादि की तरह यज्ञ के फल की प्राप्ति हेतु सुरा का अभिधान किया गया है ।

योनिसंस्कारनामाद्यैर्विशेषैर्बहुधा च या । भूत्वा भवत्येकविधा सामान्यान्मदलक्षणात् ।।६।।

निरुक्ति–मद्य योनि (उत्पत्ति स्थल), संस्कार, नाम आदि विशेषताओं से अनेक होते हुए भी 'मद' सामान्य लक्षण होने से एक प्रकार की होती है, अर्थात् सभी प्रकार के मदिरा के सेवन से मद उत्पन्न होता है । इसलिये 'मद' लक्षण के आधार पर इसका एक ही भेद होता है ।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'योनित्यादि' के द्वारा 'मद' की निरुक्ति को बताया गया है। यहाँ विशेष शब्द प्रत्येक से जुड़ा हुआ है, अर्थात् योनि विशेष, संस्कार विशेष तथा नामविशेष। योनि से यहाँ कारण (उत्पादक कारण) अर्थ लिया गया है। उसकी विशेषता अर्थात् उत्पादक कारण की विशेषता यथा-धान्य, फल, मूल, सार, पुष्प, पत्र, काण्ड, त्वचा एवं शर्करा; इन ९ द्रव्यों से मद्य का निर्माण होता है। इसका विवेचन सूत्रस्थान में किया गया है। संस्कारोऽपि बहुप्रकारसंस्कारयोगः-यद्यपि संस्कार के द्वारा मद्य के अनेक भेद हो जाते हैं, यथा-सुरा, मधु, मैरेय आदि। उस आधार पर उनके नाम भी अलग-अलग हो जाते हैं। 'आदि' शब्द से यहाँ प्रभाव एवं गुणों का ग्रहण किया गया है।

मदो लक्षणं यस्य तस्मान्मदलक्षणात् सामान्यात् मद्यस्वरूपात्–जिसके सेवन करने से व्यक्ति में मद (नशा) उत्पन्न हो। इसलिये मद लक्षण सामान्य से इसे मद्य कहा जाता है।

या देवानमृतं भूत्वा स्वधा भूत्वा पितॄंश्च या। सोमो भूत्वा द्विजातीन् या युङ्क्ते श्रेयोभिरुत्तमैः ।।७।।

मद्य एवं अमृत की तुल्यता–मद्य मद सामान्य से एक प्रकार का होते हुए भी अमृत बनकर देवताओं को, स्वधा (अग्नि अथवा पितरों को दी जाने वाली आहुति) बनकर पितरों को, सोम के रूप में द्विजातियों (ब्राह्मणों) को उत्तम कल्याणकारी सिद्ध होती है, अर्थात् सभी का हित करती है।

चक्रपाणि–अमृतं भूत्वा इत्यादि के द्वारा सुराधिष्ठात्री देवता अमृत आदि के रूप में देवताओं को तृप्त करता है। श्रेयोभिरिति महत्कल्याणैः-अत्यन्त हितकारी, अर्थात् सुरा सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

आश्विनं या महत्तेजो बलं सारस्वतं च या। वीर्यमैन्द्रं च या सिद्धा सोमः सौत्रामणौ च या ।।८।।
शोकारतिभयोद्वेगनाशिनी या महाबला। या प्रीतिर्या रतिर्या वाग्या पुष्टिर्या च निर्वृतिः ।।९।।
या सुरा सुरगन्धर्वयक्षराक्षसमानुषैः। रतिः सुरेत्यभिहिता तां सुरां विधिना पिबेत् ।।१०।।

सुराधिष्ठात्री देवता के गुण (सुरा के गुण)–जो मदिरा अश्विनीकुमारों का महातेज स्वरूप है, सरस्वती का जो बल है, इन्द्र का वीर्य है, सौत्रामणि यज्ञ में जो सोम रूप में सिद्ध है, जिसके सेवन से शोक, अरति (बैचेनी), भय एवं उद्वेग का नाश हो जाता है, जो अत्यन्त बल देने वाली है, जो प्रीति (प्रेम), रति, वाग् (वाणी), पुष्टि एवं निवृत्ति को प्रदान करने वाली है। अर्थात् जिसके सेवन से प्रेम, कामशक्ति, वाग्शक्ति (बोलने की क्षमता), शारीरिक पुष्टि व निवृत्ति (सांसारिक दुःखों से मुक्त होना या दुःखादि भावों से मुक्त होना) आदि भाव बढ़ जाते हैं।

जिस सुरा को देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस एवं मनुष्य रति कहते हैं। अर्थात् इनके द्वारा सुरा को 'रति' कहा जाता है। उस सुरा का पान व्यक्ति को विधिपूर्वक करना चाहिए।

चक्रपाणि–'आश्विनं या महत्तेज' इत्यादि के द्वारा सबसे पहले सुरा की अधिष्ठात्री देवता ही अश्विनौ आदि में विद्यमान तेजादि का कारण रूप है या कारण है, कहा गया है। अर्थात् सुरा में विद्यमान देवत्वगुण (दिव्य शक्ति) के द्वारा ही तेज आदि भाव बढ़ते हैं। (देवता=दिव्यप्रतिष्ठा या दिव्यशक्ति-संस्कृत हिन्दी शब्द कोश) तेजः सर्वदेवतादिगं-सभी देवताओं में विद्यमान तेज या देवताओं का तेज तथा सरस्वती के बल से यहाँ मन्त्रबल (मन्त्र का बल) अर्थ गृहीत है।

सोमः सौत्रामणौ च येत्यनेन सोमरूपतोच्यते–सौत्रामणि में जिसका प्रयोग सोम रूप में किया जाता है। [एक पौधे का नाम जो प्राचीनकाल के यज्ञों में आहुति देने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण औषधि]। पूर्व 'सौत्रामण्यां हूयत इति' शब्द का प्रयोग किया गया है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं होता। [यहाँ प्रयुक्त सोम शब्द सोम नामक औषधि के लिए आया है जबकि पूर्व में सौत्रामणि यज्ञ में सुरा की आहुति देने के लिए प्रयुक्त है। अतः यहाँ पूर्वापर विरोध नहीं आता।] 'या प्रीतिरित्यादि' के द्वारा प्रीति आदि का कारण होने से इसका निर्देश प्रीति आदि के रूप में किया गया है। अर्थात् मद्य के विधिपूर्वक सेवन से व्यक्ति में प्रीति आदि गुण बढ़ जाते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥८-१०॥

विशेष (Comments)–उद्देश्य क्रमानुसार विष के ही समान गुण मद्य में होने से विषचिकित्सा के अनन्तर मद्यविकार चिकित्सा का अभिधान-'अथात इत्यादि' के द्वारा किया जा रहा है। मद्यविकार, विशेष रूप से मदात्यय चिकित्सा को अधिकृत करके बना अध्याय 'मदात्ययचिकित्सित' है। मदात्ययरोग में मद्य के गुणादि का वर्णन किया गया है।

इन्द्रसहितः सुरैः पुरा या सुरा प्रतिपूजिता–जो सुरा इन्द्र सहित सभी देवताओं द्वारा प्राचीन समय में सेवित हुई या पूजित हुई। सौत्रामण्यां इष्टौ या सुरायते-सौत्रामणि यज्ञ में जिस सुरा का प्रयोग किया गया अथवा इसका प्रयोग आहुति के रूप में किया गया। **कर्मभिर्वैदिकैः प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठां गता**-जो सुरा वैदिक कर्म करने वाले आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई अथवा जिसका प्रयोग शक्र के यज्ञ में हुआ। निरजोऽब्जः सोमः समुद्रमन्थने जलादुत्थितः सोमस्तमसाविष्टोऽतिपतितस्तस्मात् तमस् आवेशाद् दुर्गात् यया सुरया समुद्धृतः-समुद्रमन्थन के समय जल से उत्पन्न चन्द्रमा ओज के क्षय होने से अत्यन्त दुर्बल हो गये अर्थात् ओज क्षय होने से तम से आक्रान्त

Scanned by CamScanner

हो गये उन्हें जिसके मात्रावत् प्रयोग से ओज युक्त बनाया गया, वह सुरा ही थी, अर्थात् सुरा के विधिपूर्वक सेवन से वह पुनः ओज युक्त हो गये। वेद के विद्वानों एवं महात्माओं द्वारा जिसका सदा प्रयोग यज्ञ कार्यों में किया जाता है।

या यज्ञसिद्धये यज्ञे महात्मभिदृश्यादृश्यत्वेन प्रकल्प्या, स्पृश्यास्पृश्यत्वेन प्रकल्प्या च–यज्ञ की सिद्धि (सफलता) हेतु महात्माओं के द्वारा जो दृश्य-अदृश्य एवं स्पृश्य (स्पर्श करने मात्र) अस्पृश्य (मात्र बिना स्पर्श किये, उपस्थिति मात्र) रूप में जो नियत (निश्चित) की गयी है। अर्थात् यज्ञ में सुरा भी एक आवश्यक साधन है, जिसका प्रयोग किया जाता है। यह योनि आदि भेद से अनेक प्रकार की होती हैं। यज्ञ में प्रयुक्त होते हुए भी सामान्य मद लक्षण के आधार पर एक प्रकार की होती है। अर्थात् सभी प्रकार के मद्यों के सेवन से मद (नशा) उत्पन्न होता है, अतः मद भेद से सुरा का एक ही प्रकार है।

या सुरा खल्वमृतं भूत्वा देवानुत्तमैः श्रेयोभिर्युङ्क्ते–जो सुरा अमृत रूप में होकर देवों को उत्तम श्रेय से युक्त करती है, अर्थात् जिसे पीकर देव अत्यन्त प्रसन्न होते हैं।

या च स्वधा पितृयजने कव्यरूपा भूत्वा पितृनुत्तमैः श्रेयोभियुङ्क्ते–जो सुरा कव्य रूप (पितरों को दी जाने वाली आहुति रूप) में होकर उन्हें तृप्त करती है। अर्थात् जब इसका प्रयोग पितृयज्ञ में करते हैं तो यह पितरों के लिए अन्न का कार्य करती है, जिसे प्राप्त करके वे प्रसन्न होते हैं।

या सोमोभूत्वा यज्ञकर्मसूत्तमैः श्रेयोभिर्द्विजान् युङ्क्ते–यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों को यह सोमरस के रूप में तृप्त करती है, अर्थात् यज्ञ करते समय ब्राह्मण इसका सेवन करके तृप्त होते हैं। जो सुरा अश्विनीकुमारों का महान तेज है। अर्थात् जो सुरा अश्विनीकुमारों का आत्मबल है, जो सरस्वती का वीर्य (प्रभाव) है, जो इन्द्र का बल है, जो सोम के यज्ञ में सुरा के नाम से प्रसिद्ध है तथा जो सौत्रामणि यज्ञ में भी प्रयुक्त होती है, जो सुर एवं असुरों द्वारा 'रति' के रूप में प्रसिद्ध है। उस सुरा का सेवन व्यक्ति को विधिपूर्वक करना चाहिये।

–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

शरीरकृतसंस्कारः शुचिरुत्तमगन्धवान्। प्रावृतो निर्मलैर्वस्त्रैर्यथर्तूद्दामगन्थिभिः ।।११।।
विचित्रविविधस्रग्वी रत्नाभरणभूषितः। देवद्विजातीन् संपूज्य स्पृष्ट्वा मङ्गलमुत्तमम् ।।१२।।
देशे यथर्तुके शस्ते कुसुमप्रकरीकृते। सरसासंमते मुख्ये धूपसंमोदबोधिते ।।१३।।
सोपधाने सुसंस्तीर्णे विहिते शयनासने। उपविष्टोऽथवा तिर्यक् स्वशरीरसुखे स्थितः ।।१४।।
सौवर्णे राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि। भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा ।।१५।।
रूपयौवनमत्ताभिः शिक्षिताभिर्विशेषतः। वस्त्राभरणमाल्यैश्च भूषिताभिर्यथर्तुकैः ।।१६।।
शौचानुरागयुक्ताभिः प्रमदाभिरितस्ततः। संवाह्यमान इष्टाभिः पिबेन्मद्यमनुत्तमम् ।।१७।।
मद्यानुकूलैर्विविधैः फलैर्हरितकैः शुभैः। लवणैर्गन्धपिशुनैरवदंशैर्यथर्तुकैः ।।१८।।
भृष्टैर्मांसैर्बहुविधैर्भूजलाम्बरचारिणाम्। पौरोगवर्गविहितैर्भक्ष्यैश्च विविधात्मकैः ।।१९।।
पूजयित्वा सुरान् पूर्वमाशिषः प्राक् प्रयुज्य च। प्रदाय सजलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधातले ।।२०।।

मदिरा (मद्य) सेवन की विधि–मद्य सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम अपना शरीर संस्कारित करना चाहिये। स्नान आदि करके, गंध युक्त होकर अर्थात् सुगन्धित द्रव्यों का लेप या छिड़काव करके, ऋतु के अनुकूल स्वच्छ वस्त्रों को धारण करके, ऋतु के अनुकूल चित्र-विचित्र पुष्पों की माला एवं रत्नों के आभूषण को धारण करके, देवता एवं ब्राह्मणों की पूजा करके, उत्तम मंगलार्थक पदार्थों को स्पर्श करके, प्रशस्त ऋतु एवं देश (स्थान) पर जहाँ पुष्प बिखेरे गये हों, जो स्थान रुचिकर हो, धूप से धूपित एवं सुगन्धित हो, जहाँ सोने एवं बैठने के लिए पलंग एवं कुर्सियाँ रखी हों, पलङ्ग पर तकिये के साथ बिस्तर लगा हो, ऐसे स्थान पर सुखपूर्वक बैठकर अथवा मनोनुकूल तकिये (मसनद) आदि के सहारे लेटकर सोने, चाँदी अथवा मणियों से युक्त सुन्दर, चित्र-विचित्र पात्रों में अनेक प्रकार के मद्यों को पीना चाहिये।

ऋतुओं के अनुसार रूप एवं यौवन के मद से युक्त, शिक्षित (काम कला में विशेष रूप से निपुण), सुन्दर वस्त्र, आभूषण एवं मालाओं से सुसज्जित होकर पवित्र एवं अनुराग से युक्त सुन्दर स्त्रियों से शरीर का संवाहन कराते हुए या अंगों को इधर-उधर दबवाते हुए उत्तम मद्य का सेवन करें अथवा इन गुणों से युक्त स्त्रियाँ व्यक्ति को मद्य पिलावें।

मद्यपान के समय प्रयोग में आने वाले खाद्य पदार्थ–मद्य सेवन के समय व्यक्ति को मद्य के अनुकूल, ऋतु के अनुसार विविध प्रकार के स्वादिष्ट फल, हरीतक (Green salāda), नमकीन पदार्थ, गंधयुक्त चटनियाँ, भूमि, जल एवं आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के भुने हुए मांस तथा आहार निर्माण के विशेषज्ञों द्वारा निर्मित विविध प्रकार के भक्ष्यों का प्रयोग करना चाहिए।

मद्य पीने से पूर्व व्यक्ति को सर्वप्रथम देवताओं की पूजा करके मद्य में से अल्प मात्रा में जल युक्त मद्य निकालकर भूमि पर डालें।

चक्रपाणि–'विधिना पिबेदिति'-विधिपूर्वक मद्य का सेवन करना चाहिये। इसी विधि को यहाँ-'शरीरेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

Scanned by CamScanner

शरीरे स्नानवस्त्रादिभिर्बाह्य आभ्यन्तरश्च प्रकृत्याद्यपेक्षया स्निग्धोष्णान्नादिभिः कृतः संस्कारो येन स शरीरकृतसंस्कारः-शरीर में स्नान, वस्त्रादि के द्वारा बाह्य शुद्धि एवं आभ्यन्तर शुद्धि प्रकृति आदि का विचार करते हुए स्निग्ध, उष्ण आदि अन्न के द्वारा करना शरीरसंस्कार कहा जाता है। शुचिरिति मनःशुचिः=मानसिक शुद्धि। **यथर्तूद्दामगन्धिभिरिति ऋत्ववस्थानुगुणतया विहितै**-ऋतु के अनुसार पुष्पों की माला पहन करके अथवा ऋतु के अनुसार गन्ध आदि द्रव्यों को धारण करके।

यथर्तुके सर्वर्तुसुखे-ऋतु के अनुसार सुखकर स्थान, जहाँ पुष्पादि बिखरें हो। कुसुमप्रकरीकृते विसृजत्कुसुमे-जहाँ पुष्पादि बिखेरे गये हो। सरसाः प्रियाः, तासां संमते-जो स्थान अपने प्रिय के लिए अनुकूल हो। **स्वशरीरसुखे स्थित इति**-यथाशरीरसुखं स्थितः-जिस स्थिति में शरीर को आराम मिल सके, उस स्थिति में आराम से बैठकर अथवा लेटकर मद्य पीना चाहिये। सुकृतैरिति=संस्कारित। **शिक्षिताभिरिति अभ्यस्तोपचाराभिः**-शुश्रुषा करने में कुशल, [मद्यादि पिलाने में कुशल]

गन्धपिशुनैरिति-सुगन्धित चटनी। अम्बरचारिणः-आकाश में विचरण करने वाले-बाज आदि पक्षी। **पौरोगवर्गा इति**-सूदशास्त्री (पाकशास्त्री) अथवा पाक विद्या के कुशल। **अर्थिभ्य इति-अर्थिनो बलदेव-चण्डी-यक्षादयः, तेभ्यः**-चण्डी, बलदेव, यक्ष आदि देवों की पूजा करके, उनके के लिए कुछ जल युक्त सुरा निकालकर भूमि पर डालना चाहिये। ॥११-२०॥

विशेष (Comments)-'प्रदामं जलं मद्यमर्थिभ्यो वसुधा तले' देवताओं की पूजा करने के बाद कुछ जलयुक्त मद्य निकालकर पृथ्वी पर डालना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि मद्य में कुछ पानी मिलाकर पीना चाहिए।

'शरीरेत्यादि' के द्वारा मद्यपान की विधि को बताया गया है। ऋतु के अनुसार उपयुक्त स्थान पर, अर्थात् जिस ऋतु में जो स्थान उपयुक्त है उस देश में उसी प्रकार का मद्य हमेशा पीना चाहिये। रूपादि गुणों से युक्त स्त्रियों के द्वारा जो हमेशा इधर-उधर टहलते हुए मद्य को पिलावें, उनके द्वारा उत्तम मद्य को पीना चाहिए, अथवा ऐसी स्त्रियों के हाथों से मद्य का पान करना चाहिये।

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानवासोधूपानुलेपनैः। स्निग्धोष्णैर्भावितश्चान्नैर्वातिको मद्यमाचरेत् ॥२१॥
शीतोपचारैर्विविधैर्मधुरस्निग्धशीतलैः। पैत्तिको भावितश्चान्नैः पिबन्मद्यं न सीदति ॥२२॥
उपचारैरशिशिरैर्यवगोधूमभुक् पिबेत्। श्लैष्मिको धन्वजैर्मांसैर्मद्यं मारिचकैः सह ॥२३॥
विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्विभवाश्च ये। यथोपपत्ति तैर्मद्यं पातव्यं मात्रया हितम् ॥२४॥
वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम्। कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवं च यत् ॥२५॥

प्रकृति के अनुसार मद्यपान की विधि-

१. वातिक प्रकृति वाले व्यक्ति को अभ्यङ्ग (Massage), उत्सादन (उबटन-Unction), स्नान (Bath), आदि करके, धूपादि से सुगन्धित होकर, गन्ध द्रव्यों का शरीर पर लेप लगाकर एवं स्निग्ध, उष्ण गुण युक्त आहार द्रव्यों का सेवन करने के बाद मद्य का पान करना चाहिये।

२. पैत्तिक प्रकृति वाले व्यक्ति विविध प्रकार के शीतल उपचारों से युक्त होकर तथा मधुर, स्निग्ध एवं शीत वीर्य वाले आहार द्रव्यों का सेवन करने के बाद मद्य पान करें। ऐसा करने से उन्हें कोई कष्ट नहीं होता।

३. श्लैष्मिक प्रकृति वाले व्यक्ति को उष्ण उपचार तथा यव, गेहूँ के पदार्थ का सेवन व जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करना चाहिये। पश्चात् कालीमिर्च से संस्कारित मद्य का सेवन करें।

मद्य सेवन की यह विधि धनवान् या सम्पन्न लोगों के लिए बतायी गयी है। जो धनादि से सम्पन्न नहीं हैं अपितु भविष्य में होने वाले हैं, ऐसे व्यक्तियों को अपने साधन के अनुसार सामग्रियों को एकत्र कर मात्रापूर्वक मद्य का पान करना चाहिये। अर्थात् उचित सामग्रियों के साथ मात्रापूर्वक मद्य का सेवन करना हितकर होता है।

→ वातिक प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए प्रायः गुड़ एवं चावल के आटे से बनी हुई मदिरा विशेष लाभदायक होती है। कफ प्रकृति वाले पुरुषों में मधु से निर्मित मदिरा एवं पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए मृद्वीका (मुनक्के) से बनी मदिरा विशेष उपयोगी है।

चक्रपाणि-मद्यपान की सामान्य विधि के वर्णन के बाद प्रकृति के अनुसार पान की विशेष विधि का विवेचन 'अभ्यङ्गेत्यादि' के द्वारा किया जा रहा है। **मारिचकैरिति**-कालीमिर्च द्वारा संस्कारित। वसुमतामिति=धनवान।

भविष्यद्विभवा उत्पद्यमानधनाः-जिसे धन आने की संभावना हो अर्थात् भविष्य में धनी होने वाला है।

यथोपपत्ति यथापरिच्छदोपपत्ति-अपनी साधनसम्पन्नता के अनुसार अथवा जिसके पास जैसा साधन हो, तदनुसार। 'कफपित्ताधिकेभ्य इत्यादि' से-विपरीत तंत्रयुक्ति के अनुसार कफ की अधिकता में मधु द्वारा निर्मित मद्य, पित्ताधिक्य में मुनक्के द्वारा निर्मित मद्य का सेवन करना विशेष लाभदायक होता है, बताया गया है।

Scanned by CamScanner

मार्द्वीकं मृद्वीका कृतम्-मुनक्के द्वारा निर्मित मद्य को 'मार्द्वीक' कहा जाता है। मधुकृतं तु माधवम्-मधु द्वारा निर्मित मद्य को 'माधव' संज्ञा दी गयी है। ॥२१-२५॥

बहुद्रव्यं बहुगुणं बहुकर्म मदात्मकम्। गुणैर्दोषैश्च तन्मद्यमुभयं चोपलक्ष्यते ॥२६॥
विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्। प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥२७॥
यथोपेतं पुनर्मद्यं प्रसङ्गाद्येन पीयते। रूक्षव्यायामनित्येन विषवद्याति तस्य तत् ॥२८॥

मद्य के गुण एवं दोष (Useful and Harmful effects of Alcohol)—मद्य विविध प्रकार के द्रव्यों से बनायी जाती है, इस कारण इसके गुण एवं कर्म भी बहुत हैं। इसके सेवन से मद (नशा) उत्पन्न होता है। अतः उस मद्य के सेवन से व्यक्ति में गुण (लाभ) एवं दोष (हानि) दोनों ही दिखाई देते हैं।

जो व्यक्ति प्रसन्न मन से अर्थात् अत्यन्त प्रसन्न होकर, विधि पूर्वक (मद्य सेवन की निर्दिष्ट विधि के अनुसार), मात्रा पूर्वक, उचित काल में, हितकर अन्न के साथ तथा अपने बल के अनुसार मद्य का सेवन करता है, उसके लिये मद्य अमृत के समान लाभदायक है।

जो व्यक्ति रूक्ष शरीर वाले हैं अथवा जिसके शरीर में रूक्षता अत्यधिक बढ़ी हुई है, जो नित्य व्यायाम करने वाले हैं, जो कभी भी, किसी भी प्रकार का मद्य बिना विचार किये ही पी लेता है। उस पुरुष को वह मदिरा विष के समान हानि करती है।

चक्रपाणि-**बहुद्रव्यमिति नानाविधद्रव्यसंपादितम्**-अनेक प्रकार के द्रव्यों से निर्मित, अर्थात् मदिरा का निर्माण अनेक प्रकार के द्रव्यों के संयोग से किया जाता है। बहुगुणमिति-वर्णित लघ्वादि अनेक गुणों से युक्त। अर्थात् मदिरा में लघु आदि अनेक गुण होते हैं। **बहुकर्मेति**-मदिरा लेखन, दीपन, पाचनादि अनेक कर्मों को करती है, अर्थात् अनेक कर्मों को करने वाली है।

मदात्मकमिति-मद, मदिरा का आत्मगुण होता है, अर्थात् मदिरा के सेवन से व्यक्ति में मद (नशा) उत्पन्न हो जाता है। नशा उत्पन्न करना मदिरा का स्वभाव है। जिस प्रकार की मदिरा का जो स्वभाव होता है वैसे ही गुण एवं दोष उस मदिरा में अपेक्षित हैं। कुछ पुरुषों की प्रकृति के आधार पर अनुकूल होने से गुणकारी है तथा कुछ में अयौगिक (अनुपयुक्त) होने से दोषकारी भी है, जैसे-मद की प्रथम अवस्था में गुणकारी है तथा द्वितीय अवस्था में हानिकारक होती है।

विधिनेति-मद्य सेवन की जो विधि पूर्व में बतायी गयी है, तदनुसार मद्य पीना चाहिये।

काले इति-जिस मद्य का जो उचित काल (समय) है उसमें मद्य पीना अथवा जिस मद्य का जो अभ्यस्त हो उसको उसी मद्य का सेवन करना चाहिये। उचित से यहाँ विपरीत गुण अर्थ लिया गया है। अर्थात् काल के विपरीत गुण वाले मद्य का सेवन करना चाहिये, यथा-शीत ऋतु में उष्ण द्रव्यों से निर्मित मद्य। **हितैरन्नैरिति**-हितकर अन्नों के साथ मद्य का सेवन करना।

यथोपेतमिति यदेव मद्यमहितमप्युपगतम्-जब मद्य मिल जाय, तभी पी लेना अर्थात् कालादि का विचार न करते हुए मद्य का पान करना, यह स्थिति हानिकारक होती है। अर्थात् इस विधि से मद्य का सेवन हानिकारक होता है। प्रसंगादिति=मद्य का अतिसेवन करने से।

विषवदिति मोहादिकर्तृत्वात्-मोहादि उत्पन्न करने के कारण यह विष की तरह हानिकर होता है, बताया गया है। ॥२६-२८॥

विशेष (Comments)—अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार जो व्यक्ति बल (शारीरिक बल), काल (उचित समय अथवा किस ऋतु में कौन सा मद्य सेवन करना चाहिए), देश (स्थान), सात्म्य (अपनी अनुकूलता), प्रकृति, रोग एवं वय का विचार करके मद्य का सेवन करता है, उसके लिये वह मद्य अमृत के समान कल्याणकारी होता है, यथा-

"बलकालदेशसात्म्यप्रकृतिसहायामयवयांसि।

प्रविभज्य तदनुरूपं यदि पिबति ततः पिबत्यमृतम्॥" (अ.हृ.नि.अ. ६/४१)

मद्यं हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान्। दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥२९॥
लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च। रूक्षं विकाशि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥३०॥
गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्। प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥३१॥
गुरुत्वं लाघवाच्छैत्यमौष्ण्यादम्लस्वभावतः। माधुर्यं मार्दवं तैक्ष्ण्यात्प्रसादं चाशुभावनात् ॥३२॥
रौक्ष्यात् स्नेहं व्यवायित्वात् स्थिरत्वं श्लक्ष्णतामपि। विकासिभावात्पैच्छिल्यं वैशद्यात्सान्द्रतां तथा ॥३३॥
सौक्ष्म्यान्मद्यं निहन्त्येवमोजसः स्वगुणैर्गुणान्। सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् ॥३४॥
रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्। प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥३५॥
अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत्। हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥३६॥

Scanned by CamScanner

मद्य का प्रभाव–मद्य हृदय में प्रविष्ट हो करके अपने दस गुणों द्वारा ओज के दस गुणों को क्षुभित करके मन को विकृत कर देता है।

मद्य के गुण–सभी प्रकार के मद्यों में वे दस गुण पाये जाते हैं, यथा-१. लघु (Lightness), २. उष्ण (Hot), ३. तीक्ष्ण (Sharpness), ४. सूक्ष्म (Subtleness), ५. अम्ल (Sourness), ६. व्यवायी (पहले स्रोतस् में प्रविष्ट होना, पश्चात् पाक को प्राप्त होना), ७. आशुग (शीघ्र गमन करने वाला-Swiftness), ८. रुक्ष (ununctuousness), ९. विकाशी तथा १०. विशद (non-sliminess)।

ओज के गुण–१. गुरु (भारी Heaviness), २. शीत (Cold), ३. मृदु (मुलायम-Softness), ४. श्लक्ष्ण (चिकना-Smoothness, यथा-सनमाइका की चिकनाहट), ५. बहल (गाढ़ा-density), ६. मधुर (Sweetness), ७. स्थिर (Stability), ८. प्रसन्न (Clearness-स्वच्छ), ९. पिच्छिल (Sliminess), १०. स्निग्ध (unctuousness); उपर्युक्त दस गुण ओज में पाये जाते हैं।

मद्य के गुणों का ओज पर प्रभाव (मद्य के दस गुणों द्वारा ओज के दस गुणों का विनष्ट होना)–१. ओज की गुरुता मद्य की लघुता से अर्थात् मद्य पीने पर वह ओज के गुरु गुण को अपने लघु गुण द्वारा विनष्ट कर देता है, २. शीत गुण मद्य के उष्ण गुण द्वारा विनष्ट कर दिया जाता है, ३. मद्य के अम्ल गुण द्वारा ओज का मधुर गुण, ४. तीक्ष्ण गुण द्वारा मृदु गुण, ५. आशुग गुण द्वारा प्रसाद गुण, ६. व्यवायी गुण द्वारा ओज के स्थिर गुण, ७. विकासी गुण द्वारा श्लक्ष्ण गुण, ८. व्यवायी गुण द्वारा स्थिर गुण, ९. विशद गुण द्वारा पिच्छिल गुण तथा १०. सूक्ष्म गुण द्वारा बहल गुण विनष्ट कर दिया जाता है।

इस प्रकार मद्य के दस गुणों द्वारा ओज के १० गुण नष्ट कर दिये जाते हैं। ओज के क्षय या गुण नष्ट होते ही ओज के आश्रित रहने वाले मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। मन के क्षुब्ध होते ही व्यक्ति के ऊपर मद (नशा) छा जाता है।

ओज का स्थान–रसादि धातुओं के मार्ग, दोषों के मार्ग, सत्त्व (मन-Mind), बुद्धीन्द्रिय (रसना बुद्धि, घ्राण बुद्धि आदि), आत्मा एवं 'पर ओज' का स्थान हृदय बताया गया है।

अतिमद्यपान का प्रभाव–व्यक्ति जब मद्य का सेवन अति मात्रा में कर लेता है तब मद्य द्वारा उसका ओज क्षीण (नष्ट) हो जाता है। ओज के नष्ट होने से उसका आश्रय स्थल हृदय विकृत हो जाता है तथा हृदय के विकृत होने से उसमें रहने वाली रसादिधातु, दोषादि के मार्ग, बुद्धीन्द्रिय आदि सभी विकृत हो जाती हैं। ॥२९-३६॥

चक्रपाणि–मद्य के सेवन से जिस प्रकार मद (नशा) उत्पन्न होता है, उसका उसी रूप में वर्णन-'मद्यमित्यादि' के द्वारा किया गया है। **दशभिरिति**-मद्य में विद्यमान लघु आदि दस गुणों के द्वारा ओज में विद्यमान गुरु आदि दस गुण क्षुभित हो जाते हैं, न कि दो या तीन गुणों के द्वारा ओज के गुण क्षुभित होते हैं। [मद्य के दस गुण ओज के दस गुणों से विपरीत गुण युक्त होने के कारण एक-एक गुण अपने विपरीत गुणों के प्रभाव को नष्ट करते हैं। इस प्रकार मद्य में विद्यमान लघु आदि दस गुण ओज में विद्यमान सभी गुणों को नष्ट करते हैं।

चेतो विक्रियां नयति–ओज के नष्ट होने से मन भी विकृत हो जाता है।

मद्य के जिन गुणों के द्वारा ओज के गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है उसे यहाँ-'गुरुत्वं लाघवादित्यादि' के द्वारा बताया गया है। [क्षोभ (disturb)]।

प्रसादं चाशुभावनादिति प्रसादाख्यगुणमाशुगत्वाद्धन्ति–प्रसाद गुण (Clearness) को आशुग गुण नष्ट कर देता है। यद्यपि आशुगत्व (शीघ्र गामी) गुण प्रसाद के विरुद्ध नहीं होता, फिर भी मद्य ही प्रतिकूल (ओज के विरुद्ध) होने से ओज के प्रसाद गुण को नष्ट करता है। अतः आशु गुण 'आहनने' (हत्या) अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका अभिप्राय नष्ट करने से है।

व्यवायित्वात् स्थिरत्वमिति–व्यवायी गुण के द्वारा ओज का स्थिर गुण नष्ट कर दिया जाता है। व्यवायी से शीघ्र व्याप्त होने वाला अर्थ गृहीत है, अर्थात् मद्य सेवन करने पर, वह शरीर में शीघ्र ही व्याप्त हो (फैल) जाता है। मद्य का यह व्यवायी (व्यापकत्व) गुण ओज के स्थिरत्व गुण के विपरीत होता है, जिसके कारण इसका स्थिरत्व गुण नष्ट हो जाता है। आशु गुण से व्यवायी गुण इस आधार पर विशेष है–यदाशुगं शीघ्रं गच्छति-आशुकारी द्रव्य या गुण-शीघ्र जाता है (Moving quickly शीघ्रता पूर्वक गति करने वाला), 'व्यवायी=सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होना।' इस अर्थ में गृहीत है। शीघ्रता पूर्वक गति करना 'आशु' तथा सम्पूर्ण शरीर में फैल जाना व्यवायी कहलाता है। शीघ्र गामी द्रव्य कोई आवश्यक नहीं है कि सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित ही हो जाय।

विकासित्वं विकसनशीलत्वं सरत्वमिति यावत्–विकासित्व से विकसनशीलत्व अर्थ लिया गया है। जो अपने सर गुण के कारण सन्धिबन्धनों को ढीला कर दे, उसे विकासी कहा गया है।

[विकासी द्रव्य शरीर में व्याप्त होकर ओज को क्षीण करके, धातु एवं संधि-बन्धनों में शिथिलता उत्पन्न करते हैं। इसमें वात की प्रबलता होती है।] यह गुण ओज के 'श्लक्ष्ण' गुण को नष्ट करता है। (श्लक्ष्ण=Smoothness, चिक्कण)] सान्द्रता=घनता (गाढ़ापन-Solidness)।

Scanned by CamScanner

यद्यपि विकासित्व एवं आशुगत्व गुण गुर्वादि बीस गुणों के साथ नहीं बताये गये हैं, फिर भी गुण असंख्य होने से इनका भी गुणत्व सिद्ध होता है, अर्थात् ये भी गुण ही हैं। वे जहाँ पढ़े गये हैं, वहाँ अविष्कृततम रूप में हैं, ऐसा जानना चाहिए। 'सत्त्वमित्यादि' के द्वारा आश्रय के उपघात से आश्रित का उपघात होता है, यह दर्शाया गया है।

सत्त्वस्य च ओज आश्रयः–सत्त्व का आश्रय (अधिष्ठान, निर्भर करना) ओज है, अर्थात् ओज में ही मन रहता है, ओज ही उपकार्य है। अर्थात् ओज ही रक्षणीय है, यथा-राजा के आश्रित पुरुष [जिस प्रकार राजा के आश्रित पुरुष रहता है, उसी प्रकार ओज के आश्रित मन रहता है, अर्थात् ओज के द्वारा मन नियंत्रित होता है।] रसवातादिवहानां दशधमनीनां हृदयं स्थानं-रसवातादिवाही दस धमनियों का स्थान हृदय है। रसवाही दस धमनियाँ ही जो हृदय के आश्रित कही गयी हैं वही वातादि दोषों का वहन करती हैं। कहा भी गया है, यथा-**"वातपित्तश्लेष्मणां सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि"** (वि.अ. ५) इति [सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त एवं कफ के लिए ये स्रोतस् मार्ग रूप होते हैं, अर्थात् वातादि दोषों का भी वहन रसादि वाही स्रोतसों के द्वारा ही होता है।]

सम्पूर्ण शरीर में विचरण करने वाले रक्तादि का भी स्थान विशेष रुप से हृदय होता है, यह कहा गया है। यथा- 'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्'। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्' (सू.अ. ३०) इति [षडंग शरीर, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनके विषयों का विशेष रूप से ज्ञान, आत्मा, मन एवं चिन्त्यादि विषय; ये सभी भाव हृदय के ही आश्रित रहते हैं।]

धातव इति–धातु से यहाँ मन एवं बुद्धीन्द्रिय का ग्रहण किया गया है। बुद्धीन्द्रिय=पञ्च ज्ञानेन्द्रिय। ॥२९-३६॥

विशेष (Comments)–मद्य के पीने से सत्त्व (मन) कैसे विकृत होता है; इसका विवेचन यहाँ 'सत्त्वमित्यादि' के द्वारा किया गया है। मन का आश्रय हृदय होता है, अर्थात् मन ओज के आश्रित रहता है तथा ओज हृदय के आश्रित रहता है। मद्य के द्वारा हृदय क्षुब्ध होता है, परिणाम स्वरूप मद की उत्पत्ति होती है। मद्य के द्वारा हृदय कैसे क्षुब्ध होता है ? इसे यहाँ 'रसेत्यादि' से समझाया गया है। रसादि जो मार्ग बताये गये हैं अथवा जो रसादिवाही धमनियाँ हैं उसी में सत्त्वादि तथा ओज का प्रवाह होता है। इन सभी का प्रधान स्थान हृदय होता है। मद इसी हृदय में क्षोभ उत्पन्न करता है, परिणामस्वरूप तदाश्रित सत्त्व एवं बुद्धीन्द्रिय आदि में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। मद्य के अतिसेवन करने पर निश्चय ही ओज के विघात से हृदय विवृत्त (पाठभेद से विकृतिं प्राप्त होता है, विवृत्त=फैल जाना या बड़ा हो जाना dilated, विकृति=विकृत होना) हो जाता है। परिणाम स्वरूप उसमें आश्रित भाव विकृत हो जाते हैं।

[विवृत्ति के स्थान पर विकृतिं पाठ ही उचित प्रतीत होता है।] –जल्पकल्पतरु टीका के हिन्दी अनुवाद पर आधारित।

ओजस्यविहते पूर्वो हृदि च प्रतिबोधिते। मध्यमो विहतेऽल्पे च विहते तूत्तमो मदः ॥३७॥
नैवं विघातं जनयेन्मद्यं पैष्टिकमोजसः। विकाशिरूक्षविशदा गुणास्तत्र हि नोल्बणाः ॥३८॥

मद की अवस्थाएं–मद की तीन अवस्थाएं होती हैं–

१. प्रथम अवस्था–इस अवस्था में ओज का विघात नहीं होता, अपितु हृदय के आश्रित रहने वाले भाव-बुद्ध्यादि अपना कार्य अच्छी प्रकार से करने लगती हैं, अर्थात् व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है।

२. द्वितीयावस्था (मध्यमावस्था)–इस अवस्था में अल्प रूप में ओज का नाश होता है।

३. तृतीयावस्था (उत्तमावस्था)–इस अवस्था में विशेष रूप से ओज का नाश होता है, अर्थात् ओज अधिक रूप में विकृत हो जाता है।

पैष्टिक मद्य–यदि मद्य का निर्माण चावल के आँटे से हुआ है तब यह ओज का ज्यादा विघात नहीं करता, क्योंकि इसमें विकासी, रूक्ष एवं विशद गुण अधिक रूप में नहीं पाये जाते।

चक्रपाणि–वास्तव में मद्य द्वारा मन में विकृति उत्पन्न होती है, अथवा मन विकृत होता है, लेकिन प्रथम मद की अवस्था इसका अपवाद है। जिसे यहाँ ओजस्यविहते इत्यादि के द्वारा बताया है।

हृदयाश्रित बुद्ध्यादौ प्रतिबोधिते–हृदय के आश्रित रहने वाले बुद्धि आदि भाव जग जाते हैं, अर्थात् अपना कार्य सम्यक् रूप से करने लगते हैं। **हृदयशब्देनेह तत्स्थोपचाराद् हृदयाश्रिता बुद्ध्यादयो अभिधीयन्ते**–हृदय शब्द से यहाँ वहाँ से उत्पन्न होने वाले हृदयाश्रित बुद्धि आदि भावों का ग्रहण किया गया है, यथा-मञ्चाः क्रोशन्तीति [मञ्च चिल्ला रहे हैं अर्थात् मञ्च पर बैठे हुए लोग चिल्ला रहे हैं।]

बुद्ध्यादि के बोधन (Consciousness-जगने) का कार्य मद्य के प्रभाव से होता है, अर्थात् मद की प्रथमावस्था में व्यक्ति की बुद्धि आदि इन्द्रियाँ अपना कार्य पहले से अच्छे ढंग से करने लगती हैं, ऐसा मद्य के प्रभाव के कारण होता है। मध्यम एवं उत्तम मद की अवस्था को-'मध्यम इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

विहते इति विघाते–विहत=विघात होने पर । ओजसः अल्पे विघाते मध्यमे मदो भवति-अल्प रूप में ओज के नष्ट (विघात) होने पर मध्यम प्रकार का मद उत्पन्न होता है । 'विहते' से ओज का विशेष रूप से अधिक नष्ट होना, अर्थ गृहीत है । 'उत्तम इति' से मद की तृतीय अवस्था को स्पष्ट किया गया है ।

विशेष (Comments)–मद की प्रथम अवस्था मात्रापूर्वक (अल्प मात्रा में) मद्य के सेवन करने से उत्पन्न होती है । इसमें व्यक्ति के सभी केन्द्र (मस्तिष्कगतकेन्द्र) उत्तेजित होकर अधिक कार्य करने लगते हैं । परिणामस्वरूप व्यक्ति को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान स्पष्ट एवं शीघ्रता पूर्वक होने लगता है । मद की तीनों अवस्थाओं को आचार्य **माधवकर** ने बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया है-

१. प्रथम अवस्था में व्यक्ति की बुद्धि, स्मरण शक्ति, प्रसन्नता (मन का प्रसन्न रहना) तथा सुख की वृद्धि होती है । खाने-पीने की इच्छा का बढ़ जाना, निद्रा का आना, पाठ करने, गीत (गाना गाने) तथा व्याख्यान देने की शक्ति का बढ़ना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते है । इस अवस्था में व्यक्ति अपने को पहले से अच्छा अनुभव करता है ।

[बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च । संपाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ।]

२. द्वितीय अवस्था में–व्यक्ति की बुद्धि, स्मृति (स्मरण शक्ति), वाणी (बोलने की शक्ति) एवं अन्य चेष्टायें विरुद्ध होने लगती है, अर्थात् अस्त-व्यस्त होने लगती हैं [व्यक्ति सम्यक् रुप से किसी वस्तु का ज्ञान नहीं कर पाता, स्पष्ट रूप से बोल नहीं पाता, अर्थात् अव्यक्त रूप में बोलता है ।], व्यक्ति की गतिविधि एवं आकृति पागलों जैसी होने लगती है, अर्थात् अशान्त हो जाता है तथा आलस्य एवं निद्रा आती है । मद की द्वितीय अवस्था में विवेक धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है ।

अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः । आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ।। –माधव निदान

३. तृतीय अवस्था में जिस वस्तु की सवारी नहीं करनी चाहिये, उसकी सवारी करता है, गुरु के आदेशों का पालन नहीं करता, अभक्ष्य वस्तुओं को खाता है, उसकी चेतना शक्ति नष्ट हो जाती है तथा मन में स्थित गुह्य विषयों (गोपनीय बातों) को वह बताने लगता है ।

"गच्छेदगम्यान्न गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।

ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदिस्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतंत्रः ।।" -माधव निदान

हृदि मद्यगुणाविष्टे हर्षस्तर्षो रतिः सुखम् । विकाराश्च यथासत्त्वं चित्रा राजसतामसाः ।।३९।।
जायन्ते मोहनिद्रान्ता मद्यस्यातिनिषेवणात् । स मद्यविभ्रमो नाम्ना 'मद' इत्यभिधीयते ।।४०।।

मद के लक्षण–व्यक्ति जब अतिमात्रा में मद्य का सेवन करता है तब मद्य के गुण उसके हृदय में प्रविष्ट होकर निम्नलिखित लक्षणों को उत्पन्न करता है-

१. हर्ष (Cheerfulness आनन्दातिरेक) का अनुभव होना, व्यक्ति अपने को अत्यधिक आनन्दित महसूस करता है ।
२. तर्ष (Passionate desire-काम सम्बन्धी प्यास का न बुझना)
३. रति (Erotic stimulation-कामुक उत्तेजना) ।
४. सुख की प्रतीति का होना (Sense of pleasure) ।
५. मोह (unconsciousness) एवं निद्रा का आना ।
६. मृत्यु अथवा अन्त का होना ।

इस प्रकार राजस एवं तामस अन्य भाव भी जैसा व्यक्ति का सत्त्व (मन) होता है तदनुसार उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार 'मदविभ्रम' को ही 'मद' नाम से कहा जाता है । ।।३९-४०।।

चक्रपाणि–'हृदीत्यादि' के द्वारा यहाँ मद के **सामान्य लक्षण** को बताया गया है । तर्षः=अभिलाषा ।

यथा सत्त्वं इति प्रकृत्या राजसे सत्त्वे राजसाः, तामसे च तामसाः–जैसी व्यक्ति की मानसिक प्रकृति (मानस प्रकृति) होती है, मद्य सेवन के बाद उसमें उसी के अनुसार लक्षण भी मिलते हैं, यथा-राजस प्रकृति वाले व्यक्ति में राजस तथा तामस प्रकृति वाले व्यक्ति में तामस लक्षण वृद्ध (बढ़े हुए) मिलते हैं । चित्रा=अनेक प्रकार के ।

मोहनिद्रान्ता इति मोहनिद्रावसानाः–मोह, निद्रा एवं अन्त यानि मृत्यु का होना । ।।३९-४०।।

पीयमानस्य मद्यस्य विज्ञातव्यास्त्रयो मदाः । प्रथमो मध्यमोऽन्त्यश्च लक्षणैस्तान् प्रचक्ष्महे ।।४१।।

Scanned by CamScanner

प्रहर्षणः प्रीतिकरः पानान्नगुणदर्शकः । वाद्यगीतप्रहासानां कथानां च प्रवर्तकः ।।४२।।
न च बुद्धिस्मृतिहरो विषयेषु न चाक्षमः । सुखनिद्राप्रबोधश्च प्रथमः सुखदो मदः ।।४३।।
मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहो(ऽ)व्यक्ता सज्जति वाङ्मुहुः । युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च ।।४४।।
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना सविपर्यया । लिङ्गान्यतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ।।४५।।
मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमाप्राप्य चोत्तमम् । न किंचिन्नाशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः ।।४६।।
को मदं तादृशं विद्वानुन्मादमिव दारुणम् । गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः ।।४७।।
तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः । मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ।।४८।।
रमणीयान् स विषयान्न वेत्ति न सुहृज्जनम् । यदर्थं पीयते मद्यं रतिं तां च न विन्दति ।।४९।।
कार्याकार्यं सुखं दुःखं लोके यच्च हिताहितम् । यदवस्थो न जानाति कोऽवस्थां तां व्रजेद्बुधः ।।५०।।
स दूष्यः सर्वभूतानां निन्द्यश्चाग्राह्य एव च । व्यसनित्वादुदर्के च स दुःखं व्याधिमश्नुते ।।५१।।

जब व्यक्ति मद्य का सेवन करता है तब उसके द्वारा उस पुरुष में तीन प्रकार के मद (नशा) उत्पन्न होते हैं । यथा-१. प्रथम, २. मध्यम एवं ३. अन्त्य (तृतीय) अवस्था ।

इन अवस्थाओं में होने वाले लक्षणों का विवेचन आगे किया जा रहा है–

मद की प्रथमावस्था के लक्षण–इस अवस्था में व्यक्ति में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं, यथा–

१. प्रहर्षण (आनन्दातिरेक की अनुभूति) ।
२. प्रीति को उत्पन्न करने वाला, व्यक्ति सबके साथ प्रेमपूर्वक बोलता है ।
३. किये हुए अन्न-पान का प्रभाव शरीर एवं मन पर परिलक्षित होने लगता है ।
४. व्यक्ति वाद्य (बाजा बजाना), गीत (गीत गाना), हँसी-मजाक करना तथा अन्य कथा-वार्ता में रुचि दर्शाता है ।
५. इस अवस्था में रोगी की बुद्धि एवं स्मरण शक्ति बनी रहती है, इन्द्रियों के विषय बाधित नहीं होते हैं । अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करने में सक्षम होती हैं ।
६. व्यक्ति को सुखकर निद्रा आती है एवं आराम से जग भी जाता है ।

इस प्रकार मद का यह प्रथम अवस्था सुख को देने वाली होती है ।

मद की मध्यम अवस्था के लक्षण–

१. बार-बार स्मरण शक्ति का आना एवं लुप्त होना (Memory and Confusion) ।
२. स्पष्ट नहीं बोल पाना (रुक-रुक कर बोलना, अर्थात् जो बात वह करना चाहता है उसे साफ नहीं बोल पाता)
३. कभी उचित, कभी अनुचित अथवा अनर्थक बोलता है । अर्थात् उसके वचनों का कोई अर्थ नहीं होता ।

(युक्तायुक्त प्रलाप करना-delirium- A mental disturbance of relatively short duration usually reflecting a toxic state, marked by illusions, hallucinations, delusions, excitement, restlessness and incoherence.- Dorland's Pocket Medical Dictionary]

४. उसकी गति बढ़ जाती है । (Excessive movements)
५. स्थान, अन्न-पान एवं कथा वार्ता के कार्यों में विपरीतता का आना, अर्थात् जो व्यक्ति इधर-उधर घूमने वाला होता है वह एक स्थान पर स्थिर, ज्यादा खाने-पीने वाला -कम खाने पीने लगता है तथा कथा-वार्ता में रुचि प्रदर्शित करने वाला व्यक्ति रुचि लेना बन्द कर देता है । अथवा उसकी रुचि अत्यधिक रूप से बढ़ जाती है । ये लक्षण मद के मध्यम अवस्था में पाये जाते हैं ।

मद की मध्यम एवं उत्तम अवस्था के बीच के लक्षण–मद के सन्धिकाल की अवस्था [द्वितीय अवस्था का अन्त एवं उत्तम (तृतीय अवस्था के प्रारम्भ] में रज व तम से आक्रान्त व्यक्ति के लिए कोई भी ऐसा अशुभ कार्य नहीं है, जिसे वह न करता हो । अर्थात् कोई भी अनुचित कार्य करने में वह सक्षम रहता है । मद की यह अवस्था उन्माद की भाँति भयङ्कर होती है । जिस प्रकार विनाश की ओर जाने वाले मार्ग को कोई भी पैदल चलने वाला यात्री नहीं अपनाता उसी प्रकार अनेक दोषों से युक्त मद की इस भयङ्कर अवस्था को कौन विद्वान अपनाना (प्राप्त करना) चाहेगा, अर्थात् कोई नहीं चाहेगा ।

मद की तृतीय (अन्त्य) अवस्था के लक्षण–१. मद की इस अवस्था में व्यक्ति का शरीर कटी हुई लकड़ी के समान निष्क्रिय हो जाता है ।

Scanned by CamScanner

२. उस व्यक्ति का मन मद एवं मोह से आवृत्त होने के कारण जीवित होते हुए भी मृतक के समान हो जाता है।

३. उसे रमणीय विषयों एवं इष्ट-मित्रों का ज्ञान नहीं हो पाता।

४. जिस सुख की इच्छा से वह मद्य का पान करता है, वह सुख उसे नहीं प्राप्त होता।

५. व्यक्ति को कार्य-अकार्य, सुख-दुःख, हित एवं अहित का ज्ञान नहीं रहता।

इस प्रकार मद की इस तृतीय अवस्था को कौन व्यक्ति प्राप्त करना चाहेगा, अर्थात् कोई नहीं चाहेगा। मद की यह तृतीय अवस्था सभी प्राणियों के लिए दोषकारी, निन्द्य (निन्दा योग्य) एवं अग्राह्य है। अर्थात् यह अवस्था सबके लिए अहितकारी, निन्दा योग्य एवं ग्रहण न करने योग्य है। जिन व्यक्तियों को मद्य पीने की बुरी आदत है, कालान्तर में वही लोग मद की इस दुःखकारी (व्याधिरूप) अवस्था को प्राप्त करते हैं।

चक्रपाणि–'प्रहर्षण इत्यादि' के द्वारा मद के प्रथम आदि अवस्था में मिलने वाले लक्षणों का अभिधान किया गया है। **पानान्नगुणदर्शक इति पानान्नगुणान् सम्यग्बोधयति इति**-मद की प्रथम अवस्था में अन्न-पान के गुणों का सम्यक् ज्ञान होता है, अर्थात् व्यक्ति जो कुछ भी आहार के रूप में ग्रहण करता है, उसका स्वाद उसे प्राप्त होता है।

विषयेष्विति विषयसेवासु, न चाक्षम इति नाक्षमताकर इत्यर्थः–विषयों को ग्रहण करने में वह अक्षम (असमर्थ) नहीं होता अर्थात् अपना कार्य वह अच्छी प्रकार से करता है।

युक्तायुक्तप्रलाप इति संबद्धासंबद्धवचनः–उसकी कही गयी बातें कभी विषय से सम्बन्धित रहती हैं कभी नहीं रहतीं, अर्थात् वह अनर्थक एवं विषयान्तर बातों को कहता है।

प्रचलायनम्–चक्कर आना, अथवा चक्कर खाकर गिरना, अर्थात् उसे सब कुछ घूमता हुआ नजर आता है।

योजना सविपर्यय इति–किस स्थान पर क्या करना चाहिए, उसके विपरीत कार्य करना, यथा-स्थानादि के अनुसार कभी उचित व्यवहार करता है, कभी विपरीत करता है-जहाँ हँसना चाहिए वहाँ हँसना (उचित व्यवहार), लेकिन वहाँ रोना (अनुचित व्यवहार)। 'मध्यमं मदमुत्क्रम्येत्यादि' के द्वारा मध्यम मद के उत्क्रमण (अतिक्रमण) एवं उत्तम मद के पूर्व की अवस्था (मध्यम एवं तृतीय मद की संधिकाल) का विवेचन किया गया है। यद्यपि मद की तीन अवस्थाएं बताई गयी हैं फिर भी द्वितीय (मध्यम) मद की समाप्ति (अवसान) एवं तृतीय मद के पूर्व की अवस्था को ही अत्यन्त निन्दित कहते हुए तृतीय अवस्था को तुलनात्मक रूप से और निन्दित कहा गया है। इस प्रकार उस तृतीय मद की पूर्वरूपावस्था ही सभी प्रकार के अशुभ करण आदि भावों से युक्त होने के कारण अत्यन्त निन्द्य है। इस अवस्था को मध्यम मद के अन्त (Last) एवं तृतीय मद के प्रारम्भ की अवस्था (मध्यम एवं तृतीय अवस्था की सन्धि अवस्था), समझनी चाहिए, जिसे यहाँ मध्यम मद के अतिक्रम एवं तृतीय मद की अप्राप्ति शब्द से कहा गया है। जैसे-"कुम्भमीनयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमा" [कुम्भ व मीन राशि के बीच में जब चन्द्रमा विचरण करता है] इस उद्धरण में मध्य पद का लोप होने से कुम्भ के अन्त एवं मीन राशि के प्रारम्भ के काल का ग्रहण किया गया है, क्योंकि वास्तव में दोनों राशियों के बीच की कोई अवस्था नहीं होती अर्थात् या तो राशि कुम्भ होगी या मीन। उसी प्रकार द्वितीय एवं तृतीय मद के बीच की भी कोई अवस्था नहीं होती, इस कारण इसके अभिधान (कथन) मात्र से ही मद की तृतीय अवस्था भी अत्यन्त निन्दित है, यह भाव प्राप्त हो जाता है। मद की चतुर्थ अवस्था का कोई उल्लेख नहीं किया गया है।

अस्वन्तमिति अशोभनान्तम्–शीघ्र विनाश करने वाला, जीवन का नाश करने वाला, जिस प्रकार कोई भी व्यक्ति मृत्यु उत्पादक मार्ग की ओर नहीं जाना चाहता, उसी प्रकार कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति मद की इस अवस्था (द्वितीय एवं तृतीय के मध्य की अवस्था) को नहीं प्राप्त करना चाहता।

भग्नदार्विवेति भग्नवृक्ष इव पतितस्तिष्ठति–टूटे हुए वृक्ष की भाँति गिरना। उदर्क=कालान्तर में या उत्तर काल में। स दुःखं व्याधिमिति-मदात्यय जैसी दुःखकारी व्याधि। ॥४१-५१॥

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयः श्रेयो मोक्षे च यत् परम्। मनःसमाधौ तत् सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम् ॥५२॥
मद्येन मनसश्चास्य संक्षोभः क्रियते महान्। महामारुतवेगेन तटस्थस्येव शाखिनः ॥५३॥
मद्यप्रसङ्गं तं चाज्ञा महादोषं महागदम्। सुखमित्यधिगच्छन्ति रजोमोहपराजिताः ॥५४॥
मद्योपहतविज्ञाना वियुक्ताः सात्त्विकैर्गुणैः। श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धा मदलालसाः ॥५५॥
मद्ये मोहो भयं शोकः क्रोधो मृत्युश्च संश्रितः। सोन्मादमदमूर्च्छायाः सापस्मारापतानकाः ॥५६॥
यत्रैकः स्मृतिविभ्रंशस्तत्र सर्वमसाधुवत्। इत्येवं मद्यदोषज्ञा मद्यं गर्हन्ति यत्नतः ॥५७॥
सत्यमेते महादोषा मद्यस्योक्ता न संशयः। अहितस्यातिमात्रस्य पीतस्य विधिवर्जितम् ॥५८॥
किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्। अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥५९॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून्। विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥६०॥

Scanned by CamScanner

मन पर नियंत्रण आवश्यक–सभी शरीरधारियों के लिए इस जन्म एवं जन्मान्तर में प्राप्त होने वाला जो उत्तम श्रेय (कल्याणकारी वस्तु) है, तथा जो परं सुख मोक्ष प्राप्त करने पर प्राप्त होता है। उन सभी भावों की प्राप्ति मन को समाधिस्थ करने पर ही होती है। अर्थात् इन भावों की प्राप्ति हेतु मन पर नियन्त्रण आवश्यक है।

मन का क्षुभित होना–जिस प्रकार नदी के तट (किनारे) पर स्थित वृक्ष की शाखायें हवा के तीव्र झोंको से क्षुब्ध हो जाती हैं उसी प्रकार मद्य के सेवन से व्यक्ति का मन अत्यन्त क्षुब्ध हो जाता है।

मद्य सेवन का निषेध–जो व्यक्ति रज एवं मोह (तम) से आवृत है, अर्थात् जिनके शरीर में रज एवं तम दोष अत्यन्त बढ़े हुए हैं, ऐसे मूर्ख (अज्ञ) व्यक्ति इस महा दोष वाले, भयङ्कर व्याधियों को उत्पन्न करने वाले मद्य प्रसङ्ग (अतिमद्य पान) को सुख समझते हैं, अर्थात् मद्य पीने से सुख उत्पन्न होता है, यह समझते हैं।

मद्य के पीने से जिनकी ज्ञान शक्ति नष्ट हो गयी हो, जो सात्विक गुणों से हीन हो गया हो। ऐसे मद्य के इच्छुक एवं मदान्ध पुरुष कोई भी कल्याणकारी कार्य नहीं करते।

मद्याश्रित रोग–मद्य में मोह (illusion-A mental impression derived from mis-interpretation of an actual experience-माया, छल अथवा मायाजाल में विश्वास करना), भय (Fear), शोक (Grief), क्रोध (Anger), उन्माद (Insanity), अपस्मार (Epilepsy), अपतानक (Convulsion), मद (Intoxication) एवं मूर्च्छा (Fainting) आदि व्याधियाँ आश्रित रहती हैं। अर्थात् मद्य के सेवन से ये व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

जहाँ मद्य के सेवन से व्यक्ति की स्मरण शक्ति (Memory) विकृत हो जाती है वहाँ सब कुछ अनर्थ हो जाता है। [उन व्याधियों में एक स्मृतिविभ्रंश नामक व्याधि है जिसके उत्पन्न होने पर सब कुछ अशुभ ही होता है।] इसलिये मद्य के दोषों को जानने वाले मद्यपान की यत्नपूर्वक निन्दा करते हैं।

इस प्रकार अहित मद्य, अति मात्रा में पीया गया मद्य, मद्य पान की जो विधि बतायी गयी है, उसके विपरीत सेवित मद्य अत्यन्त दोषोत्पादक होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

मद्य के युक्ति युक्त प्रयोग की उपमा–उपर्युक्त दोषों से युक्त होते हुए भी मद्य स्वाभाविक रूप से अन्न के ही समान लाभकर है, ऐसा जानना चाहिए। मद्य के अविधिपूर्वक (विधिविपरीत) सेवन करने से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा विधिपूर्वक प्रयोग करने पर यह अमृत के समान लाभदायक है। अर्थात् अमृत तुल्य कार्य करता है।

अन्न प्राणधारियों (जीवों) का प्राण है, लेकिन अयुक्ति पूर्वक (नियम विपरीत) सेवन करने पर प्राणों का नाशक है। इसी प्रकार विष को प्राणनाशक कहा गया है, लेकिन उसी विष का प्रयोग जब युक्तिपूर्वक (उचितविधि एवं मात्रादि का विचार करते हुए) किया जाता है तब वह रसायन (आयुवर्धक) का कार्य करता है।

चक्रपाणि–'प्रेत्य चेहेत्यादि' के द्वारा एकीय मत से मद्य की निन्दा की गयी है। प्रेत्येति=जन्मान्तर में। 'तटस्थस्येति' इस वचन के द्वारा-तीव्र हवा के द्वारा पेड़ की शाखाओं का तीव्र रूप से हिलना, अर्थ लिया गया है।

(तटस्थस्येति वचनेन वाताक्षोभ्यता दर्शयति-इस शब्द के द्वारा वात की आक्षोभ्यता को दर्शाया गया है।) 'सत्यमित्यादि' के द्वारा अपने विचार को स्पष्ट किया गया है। **एते दोषाः मद्यस्यैकीयमतोक्ता अहितादिधर्मयुक्तस्यैव भवन्ति, न हिताल्पमात्राविधिपीतस्येति भावः**-एकीय मत के अनुसार मद्य के ये दोष-अहितादि धर्म से युक्त होने पर ही होते हैं, न कि हितकारी मद्य अल्पमात्रा एवं विधिपूर्वक पीने से दोषयुक्त होता है, ऐसा जानना चाहिए। विधिवर्जितमिति-क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त है, मद्यपान के जो नियम बताये गये हैं उनका पालन न करते हुए मद्य पीना।

मद्य की अन्न के साथ सारूप्यता बतायी गयी है, अर्थात् जिस प्रकार अन्न शरीर के लिए उपयोगी है उसी प्रकार मद्य भी है। इसका पान विधिपूर्वक करने से वह शरीर के लिए गुणकारी (लाभदायक) तथा अविधिपूर्वक करने पर दोषोत्पादक होता है, जिसे यहाँ 'किंत्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **युक्त्या देशकालमात्राद्यपेक्षया योजनया युक्तं शुभम्, अशुभं चायुक्तियुक्तम्**-युक्ति से यहाँ योजना अर्थ लिया गया है। देश, काल, मात्रा आदि की अपेक्षा से मद्य का प्रयोग करना युक्ति कहलाता है, जो शुभकारक है तथा देश, काल आदि का विचार न करते हुए मद्य का सेवन अयुक्ति कहलाता है, जो व्यक्ति के लिए हानिकारक होता है। 'प्राणा इत्यादि' के द्वारा अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर युक्ति के कार्य को स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

प्राणहेतुत्वात् प्राणाः—प्राण (जीवन) का हेतु होने से अन्न को 'प्राण' कहा जाता है, अर्थात् विधिपूर्वक हितकर अन्न के सेवन से प्राणों की रक्षा होती है (विधिपूर्वक सेवित अन्न जीवन देता है ।) वही अन्न जब विधिपूर्वक नहीं सेवित होता है तो प्राणों का नाशक होता है, अर्थात् रोगोत्पादक होता है । उसी प्रकार विष प्राणहर होता है, लेकिन जब उसका युक्तिपूर्वक प्रयोग किया जाता है तब वह रसायन का कार्य करता है । कहा भी गया है, यथा-"विषस्य तु तिलं दद्यात्" (चि.अ. १/३/२५) [विष का प्रयोग तिल प्रमाण में करना चाहिये] के द्वारा इस योग में तिल प्रमाण में विष का प्रयोग रसायनवत् कार्य करता है, ऐसा जानना चाहिये । ॥५२-६०॥

हर्षमूर्जं मुदं पुष्टिमारोग्यं पौरुषं परम् । युक्त्या पीतं करोत्याशु मद्यं सुखमदप्रदम् ॥६१॥

विधिपूर्वक सेवित मद्य के गुण–विधिपूर्वक सेवित मद्य व्यक्ति मे निम्नलिखित गुणों (लक्षणों) को उत्पन्न करता है-१. हर्ष (अत्यधिक प्रसन्नता), ३. उर्जा की वृद्धि, (Energy) ३. मुद (मानसिक संतोष-Mental satisfaction), ४. पुष्टि (शारीरिक धातुओं, यथा-रस, रक्तादि धातुओं का पुष्ट होना), ५. आरोग्य (शरीर का निरोग रहना), ६. पौरुष की वृद्धि, ७. सुखकारक मद (नशा) का आना।

चक्रपाणि–'हर्षमित्यादि' के द्वारा विधिपूर्वक सेवित मद्य के गुणों का अभिधान किया गया है । हर्षम् उत्साहं कायिकम्-हर्ष से यहाँ शारीरिक उत्साह अर्थ लिया गया है (Sexual excitement) । मुदमिति मनः संतोषम् (आत्म संतोष) । पौरुष=शुक्र 'आश्रिति' इस वचन से मद्य सेवन से शीघ्र ही हर्षादि भाव शरीर में उत्पन्न होते हैं, परिणाम की अपेक्षा नहीं करते । परिणाम से यहाँ पाचन अर्थ गृहीत है, अर्थात् मद्य पाक के पूर्व ही शरीर में व्याप्त होकर 'हर्षादि' भावों को उत्पन्न करता है ।

सुखमदप्रदमिति–सुखकर मद (नशा) को उत्पन्न करता है । इस श्लोक में वर्णित लक्षण प्रथम मद की अवस्था में पाये जाते हैं । अन्य आचार्य 'सुखमदप्रदमिति' के स्थान पर 'मदसुखप्रदं' पाठ करते हैं । इस आधार पर भी 'मद का सुख प्रथम मद के प्रारम्भ में ही मिलता है, अर्थ होगा । अर्थात् दोनों ही अर्थों में कोई भिन्नता नहीं है । ॥६१॥

रोचनं दीपनं हृद्यं स्वरवर्णप्रसादनम् । प्रीणनं बृंहणं बल्यं भयशोकश्रमापहम् ॥६२॥
स्वापनं नष्टनिद्राणां मूकानां वाग्विबोधनम् । बोधनं चातिनिद्राणां विबद्धानां विबन्धनुत् ॥६३॥
वधबन्धपरिक्लेशदुःखानां चाप्यबोधनम् । मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम् ॥६४॥
रतिर्विषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनम् । अपि प्रवयसां मद्यमुत्सवामोदकारकम् ॥६५॥
पञ्चस्वर्थेषु कान्तेषु या रतिः प्रथमे मदे । यूनां वा स्थविराणां वा तस्य नास्त्युपमा भुवि ॥६६॥
बहुदुःखहतस्यास्य शोकेनोपहतस्य च । विश्रामो जीवलोकस्य मद्यं युक्त्या निषेवितम् ॥६७॥

मद्य के गुण (युक्तिपूर्वक सेवित मद्य के गुण)–युक्तिपूर्वक सेवित मद्य व्यक्ति के शरीर में निम्नलिखित गुणों को उत्पन्न करता है-

१. यह भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करता है, अग्नि दीपक (जाठराग्नि को दीप्त करने वाला), हृद्य (हृदय के लिए हितकर), स्वर व वर्ण का प्रसादक है, अर्थात् मद्य के सेवन से व्यक्ति के स्वर (Voice) एवं वर्ण (Complexion) में निखार आता है।

२. प्रीणन (धातु प्रीणन) [रसादि धातुओं को तृप्त करता है ।] बृंहण (धातुओं को पुष्ट करने वाला), शारीरिक बल का वर्धक, भय, शोक व परिश्रम जन्य थकावट को दूर करता है । अर्थात् मद्य के सेवन से रसादि धातुएं तृप्त एवं पुष्ट होती हैं, शारीरिक बल की वृद्धि होती है, भय, शोक एवं थकावट को यह दूर करता है ।

३. जिन व्यक्तियों को निद्रा नहीं आती तथा जो स्पष्ट रूप से बोल नहीं पाते । मद्य के सेवन से अनिद्रा के रोगी को अच्छी प्रकार से निद्रा आने लगती है तथा अव्यक्त बोलने वाला स्पष्ट रूप से बोलने लगता है । अतिनिद्रा वाले रोगी इसके सेवन से समय से जगने लगते हैं तथा जिन्हें विबद्धता रहती है, उनका विबन्ध (Constipation) दूर हो जाता है ।

४. इसके सेवन से व्यक्ति को वध, बन्धन एवं क्लेश आदि के दुःखों का ज्ञान या अनुभव नहीं होता ।

५. अतिमद्य पान के कारण जो रोग उत्पन्न होते हैं अथवा विधि विपरीत (अयुक्ति पूर्वक) सेवित मद्य से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं; वे विधिपूर्वक मद्य के सेवन से दूर हो जाती हैं ।

६. मद्य रति एवं इन्द्रियार्थो के संयोग होने पर प्रीति (प्रेम) का वर्धक है ।

७. वृद्ध व्यक्तियों में यह विषयों के प्रति अभिलाषा एवं हर्ष को उत्पन्न करता है ।

८. युवा अथवा वृद्धावस्था में प्रथम मद की अवस्था में व्यक्ति को अपनी प्रेमिका के पञ्चेन्द्रियार्थो में प्रेम उत्पन्न हो जाता है अर्थात् उसकी बातों को सुनने में, स्पर्श में, रूप अर्थात् उसे देखने में, रस (चुम्बनादि) एवं घ्राणादि विषयों में विशेष आनन्द प्राप्त होता है । इस सुख की उपमा संसार में किसी अन्य सुख से नहीं दी जा सकती । अर्थात् वह अत्यधिक हर्ष एवं आनन्द से युक्त होता है ।

Scanned by CamScanner

९. जो पुरुष अनेक दुःखों से दुःखी है, अथवा जो अत्यधिक शोकाकुल हैं। इस जीवलोक में युक्तिपूर्वक सेवित मद्य ही उनका विश्राम स्थल है, अर्थात् मद्य के युक्तिपूर्वक सेवन से व्यक्ति उन दुःखों का अनुभव नहीं कर पाता। ।।६२-६७।।

चक्रपाणि–'रोचनमित्यादि' के द्वारा मद्य के गुणों का अभिधान किया गया है। **स्वापनं नष्टनिद्राणां तथा बोधनं चातिनिद्राणामिति**–जिन व्यक्तियों को निद्रा नहीं आती है, इसके सेवन से उसे निद्रा आने लगती है तथा अतिनिद्रा के रोगी समय से जगने लगते हैं। ये दोनों कार्य-उचित निद्रा का आना (समय से निद्रा का आना) मद्य के प्रभाव से ही होता है। अथवा नष्ट निद्रा (Insomnia) के रोगी में निद्रा विघातक हेतु-चिन्ता आदि का विस्मारण करने के कारण व्यक्ति को निद्रा आने लगती है। [अनिद्रा का कारण यदि चिन्ता शोक आदि है, तो मद्य के सेवन से व्यक्ति इन चिन्ताओं को भूल जाता है, परिणाम स्वरूप कारण दूर हो जाने के कारण व्यक्ति को निद्रा आने लगती है। इन कारणों से मद्य को निद्राकर कहा गया है।]

अतिनिद्राणां निद्राहेतुमनोवहस्रोतोरोधादिहन्तृतया प्रबोधकं भवतीति ज्ञेयम्–अतिनिद्रा वाले रोगी में कारण रूप मनोवह स्रोतोवरोध को दूर (नष्ट) करने के कारण यह प्रबोधक होता है, ऐसा जानना चाहिए। प्रबोधक=विशेष रूप से जगाने वाला (समय से निद्रा समाप्त करने वाला)।

मद्योत्थानां च रोगाणां मद्यमेव प्रबाधकम्–हेतुविपरीतार्थकारी प्रभाव के कारण मद्य जनित रोगों को मद्य ही दूर करता है। अर्थात् युक्तिविपरीत सेवित मद्य से व्यक्ति में जो रोग उत्पन्न होते हैं वे मद्य के युक्तिपूर्वक सेवन करने से दूर हो जाते हैं। रति से रतिवर्धक अर्थ लिया गया है। अर्थात् मद्य के सेवन से कामोत्तेजना (Sexual passion) बढ़ती है।

विषयसंयोगे प्रीतिसंयोगवर्धनमिति–शब्दादि विषयों के संयोग से प्रेम एवं संयोग बढ़ता है। अर्थात् मद्य पीने से व्यक्ति अपनी कान्ता (प्रेमिका) के शब्दादि भावों के साथ संयुक्त होता है जिससे प्रेम बढ़ता है तथा प्रेम बढ़ने से बार-बार पुनः सुख की इच्छा से व्यक्ति संयुक्त होता है।

प्रवयसामिति–वृद्ध पुरुषों में। **उत्सवः औत्सुक्यं विषयाभिलाष इति यावत्**-उत्सवः=प्रसन्नता (काम की अभिलाषा) आमोद=हर्ष (Cheering up-मानसिक प्रसन्नता)।

ननु विषये स्वाभावादेव प्रीतिर्भवति, तत् किं मद्यं क्रियते?–जब विषयों में व्यक्ति की आसक्ति स्वभावतः होती है, तब यहाँ मद्य क्या कार्य करता है, यह शंका है। इसका निवारण 'पञ्चस्वित्यादि' के द्वारा किया गया है। इसके अनुसार, प्रथम मद अर्थात् मद की प्रथमावस्था में व्यक्ति की रतिशक्ति विशेष रूप से बढ़ती है, यह बताया गया है। यह 'रति' अत्यधिक सुखोत्पादक होने से उपादेय है, ऐसा जानना चाहिये।

विश्राम इति=दुःख को रोकने का कारण [दुःख का अनुभव न होना)। जीवलोक=जीवमान लोक, प्राणिलोक अथवा मृत्युलोक अर्थ गृहीत है। [जीवित प्राणियों के लिए विधिपूर्वक सेवित मद्य ही दुःखों का विश्रामस्थल है अर्थात् व्यक्ति को मद्य पीने के बाद कष्टों का अनुभव नहीं होता।] ।।६२-६७।।

अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्। त्रीन्दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत्सदा ।।६८।।
तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते। यया युक्त्या पिबन्मद्यं मद्यदोषैर्न युज्यते ।।६९।।
मद्यस्य च गुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते। धर्मार्थयोरपीडायै नरः सत्त्वगुणोच्छ्रितः ।।७०।।
सत्त्वानि तु प्रबुध्यन्ते प्रायशः प्रथमे मदे। द्वितीयेऽव्यक्ततां यान्ति मध्ये चोत्तममध्ययोः ।।७१।।
सस्यसंबोधकं वर्षं, हेमप्रकृतिदर्शकः। हुताशः, सर्वसत्त्वानां मद्यं तूभयकारकम् ।।७२।।
प्रथानावरमध्यानां रूपाणां व्यक्तिदर्शकः। यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम् ।।७३।।

षट्त्रिक का विचार–मद्यपान के इच्छुक व्यक्ति को हमेशा अन्न, पान (Drinks-पेय पदार्थ), वय (Age), व्याधि (रोग-disease), बल (शारीरिक बल-Strength) एवं काल (ऋतु आदि) के साथ-साथ तीन दोष (वात, पित्त, कफ) एवं त्रिविध सत्त्व, का सम्यक् विचार करके ही मद्य का सेवन करना चाहिए।

मद्यपान सम्बन्धी युक्ति–इन आठ त्रिकों के अनुसार मद्य की योजना युक्ति कहलाती है। अर्थात् इन त्रिकों का सम्यक् विचार करते हुए मद्य पीना युक्ति कहलाती है। इस युक्ति के अनुसार मद्य पीने से व्यक्ति मद्य के दोषों से प्रभावित नहीं होता। व्यक्ति को पूर्वनिर्दिष्ट मद्य के सभी गुण प्राप्त होते हैं। युक्तिपूर्वक सेवित मद्य व्यक्ति के धर्मार्थ में बाधा नहीं पहुँचाता, अपितु सत्त्व गुण की वृद्धि करता है।

मद्य का मन पर प्रभाव–मद की प्रथम अवस्था में प्रायः सात्त्विक गुण प्रबुद्ध हो जाते हैं [During the first stage of intoxication the mental faculties generally gets stimulated.–Dr. Bhagvan Das] द्वितीय अवस्था तथा द्वितीय एवं तृतीय के बीच की अवस्था में सात्त्विक गुण प्रायः अव्यक्त (लुप्त) होने लगते हैं या लुप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार वर्षा के होने से फसलें हरी-भरी हो जाती हैं, अग्नि

Scanned by CamScanner

के द्वारा सुवर्ण की प्रकृति का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार मद्य सभी सत्त्वों की प्रकृति (उत्तम, मध्यम एवं अवर सत्त्व) एवं प्रबुद्धता दोनों का ज्ञान कराता है ।

जिस प्रकार सुवर्ण की उत्तम, मध्यम एवं हीन स्वभाव का ज्ञान अग्नि के द्वारा होता है, अर्थात् अग्नि पर तप्त करने पर सुवर्ण की उत्तम आदि अवस्थाओं (स्वभाव) का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार मद्य भी मन के स्वभाव का दर्शक होता है, अर्थात् मद्य पीने के बाद व्यक्ति के मन की वास्तविक स्थिति का पता चला जाता है ।

चक्रपाणि-युक्त्या निषेवितमित्यत्रोक्तां मद्यपानयुक्तिमाह-पूर्व में मद्य का सेवन युक्तिपूर्वक करना चाहिए, कहा गया है जिसे यहाँ 'अन्नपानेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । अन्न के तीन भेद होते हैं (दोषों के आधार पर अन्न के ३ प्रकार होते हैं), १. वातकारक (वातवर्धक), २. पित्तकारक (पित्त वर्धक), ३. कफकारक (कफवर्धक), उसी प्रकार पान के भी ३ भेद होते हैं । बाल्यादि अवस्था भेद से वय के भी तीन भेद हो जाते हैं, यथा-१. बाल्यावस्था, २. मध्यावस्था (युवावस्था), ३. वृद्धावस्था । मृदु, मध्य एवं तीव्र भेद से व्याधि भी तीन प्रकार की होती है । अथवा सौम्य, आग्नेय व वायव्य भेद से व्याधि तीन प्रकार की होती है । बल भी प्रवर, मध्यम व अवर भेद से तीन प्रकार का होता है । शीत, उष्ण व वर्षा के लक्षणों के आधार पर काल के तीन प्रकार होते हैं, मन भी शुद्ध (सात्त्विक), राजस एवं तामस भेद से तीन प्रकार का होता है ।

योजनेति-सम्यक् योजनारूपा-अष्ट त्रिकों का सम्यक् विचार करते हुए मद्यपान की योजना करना युक्ति कहलाता है । 'यया युक्त्येत्यादि' के द्वारा युक्ति के परिणाम (फल) को दर्शाया गया है । युक्तिपूर्वक मद्य पीने से व्यक्ति मद्य जनित दोषों से युक्त नहीं होता ।

'सत्त्वगुणोच्छ्रितो' के साथ 'मद्यगुणान् समश्नुते' को भी जोड़ना चाहिये । सत्त्व गुण की वृद्धि के साथ-साथ व्यक्ति मद के गुणों को भी प्राप्त करता है, अर्थात् उसे रोचन, दीपन आदि निर्दिष्ट गुणों की भी प्राप्ति होती है, ऐसा समझना चाहिए ।

षट् त्रिक् (अन्न, पान, वय, व्याधि, बल एवं काल) के साथ-साथ वातादि दोष एवं त्रिविध सत्त्व का विचार करते हुए मद्य सेवन करने का निर्देश दिया गया है । अन्न का विचार करते हुए मद्य का सेवन, यथा-वातवर्धक अन्न सेवन करने के बाद वातनाशक मद्य का सेवन करना चाहिए, पित्त व कफ वर्धक मद्य में पित्तकफनाशक अन्न का सेवन करना चाहिये । इसी प्रकार पान आदि के अनुसार भी योजना करनी चाहिये ।

वय के अनुसार मद्य की योजना-बाल्यावस्था एवं वृद्धावस्था में तीक्ष्ण मद्य का सेवन नहीं करना चाहिए । जबकि युवावस्था में तीक्ष्ण मद्य का सेवन किया जा सकता है ।

व्याधि के अनुसार मद्य की योजना-मृदु व्याधि में तीक्ष्ण व उष्ण मद्य, उष्णकाल (ग्रीष्म काल) में शीत एवं मधुर गुण वाला मद्य, वर्षा काल में स्निग्ध एवं अग्नि दीपक मद्य का सेवन करना चाहिए ।

दोष भेद से मद्य की योजना-वात की वृद्धि में स्निग्ध एवं उष्ण गुण वाले मद्य, यथा-गौडिक आदि का सेवन करना चाहिए । पित्त की वृद्धि में-शीत एवं मधुर गुण युक्त मद्य, यथा-शार्करादि (शर्करा से निर्मित मद्य) व कफ की वृद्धि में रुक्ष, तीक्ष्ण गुण वाले मद्य, यथा-माधवादि (मधु से निर्मित मद्य) का पान करना चाहिये । कहा भी गया है, यथा-वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायो गौडिकपैष्टिकम् । कफपित्ताधिकेभ्यस्तु फालमाधवशार्करम्" [वातिक व्याधियों या वात प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए प्रायः गुड़ एवं चावल के चूर्ण से बने मद्य हितकारी होते हैं, कफ प्रकृति में फल एवं मधु से निर्मित मद्य तथा पित्त प्रकृति वाले के लिए शर्करा से निर्मित मद्य का प्रयोग करना हितावह होता है ।]

दोष शब्द से यहाँ वातलादि प्रकृति का भी ग्रहण कर लिया गया है । अर्थात् दोषों के साथ-साथ प्रकृति का भी ग्रहण 'दोष' से ही कर लिया गया है ।

सत्त्व भेद से मद्यपान-सात्त्विक प्रकृति वाले व्यक्ति को अधिक, राजस एवं तामस प्रकृति वाले पुरुष को अल्प मात्रा में मद्य का सेवन करना चाहिये ।

सत्त्वानिति=मनांसि (मन), मद की प्रथमावस्था में मन प्रबुद्ध होता है । अव्यक्ततांम् ईषद्व्यक्ततां=अल्प रूप में व्यक्त होना, मद की द्वितीय अवस्था में प्रथम मद की अवस्था में जिन लक्षणों का वर्णन किया गया है, उन लक्षणों का अल्प रूप में व्यक्त होना, यह अवस्था द्वितीय (मध्यम) मद में पायी जाती है । उत्तम अवस्था (तृतीय अवस्था) में यही लक्षण पूर्णतः अव्यक्त हो जाते हैं, अर्थात् उसको किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता । कुछ आचार्य 'सस्य संबोधकं वर्ष' श्लोक का पाठ करते हैं, अर्थात् तृतीय (उत्तम) अवस्था के लक्षणों को इस पाठ से बताते हैं । जिस प्रकार फसल की संबोधक वर्षा होती है [वर्षा के होने से फसलें हरी भरी हो जाती हैं] तथा सुवर्ण की शुद्धता-अशुद्धता का ज्ञान अग्नि के द्वारा होता है, अर्थात् अग्नि के द्वारा सुवर्ण की प्रकृति (स्वभाव) का ज्ञान होता है । उसी प्रकार मद्य मन के उभय गुणों का प्रदर्शक है-१. मनः प्रबोधक (मन को जगाने वाला), २. मन के स्वभाव को बताने वाला [प्रायः अत्यधिक मद्य पीने के बाद व्यक्ति मन की गोपनीय बातों को भी कह देता है, इससे उसके मन के स्वभाव का पता चलता है ।]

Scanned by CamScanner

'रूपाणां' से स्वर्ण के रूप का ग्रहण किया गया है, अथवा इसके स्थान पर 'रुक्माणां' पाठ मिलता है। रुक्म=चमक। स्वर्ण को अग्नि पर तप्त करने पर शुद्ध स्वर्ण रक्तवर्ण का हो जाता है, मध्यम कुछ कम एवं अवर में अत्यल्प चमक होती है। इस आधार पर स्वर्ण की शुद्धता का ज्ञान होता है। **व्यक्तिदर्शक इति आकारदर्शकः**-आकार को बताने वाला। ॥६८-७३॥

विशेष (Comments)–१. मद की प्रथमावस्था में प्रायः व्यक्ति का मन प्रबुद्ध होता है, अर्थात् अपने विषयों को सम्यक् रूप से ग्रहण करता है।

२. द्वितीय मद में मन के भाव अल्प रूप में व्यक्त होते हैं, अर्थात् व्यक्ति अपने मन की बातों को (गोपनीय बातों को) अल्प रूप में कहने की स्थिति में आ जाता है।

३. तृतीय मद के प्रारम्भ एवं द्वितीय मद के अन्त की अवस्था में अपने मन की समस्त गोपनीय बातों को बताने लगता है अर्थात् किसी के प्रति उसके मन में क्या भाव हैं, कहने लगता है। उसके लिए कोई भी विषय गोपनीय नहीं रह जाती।

मद्य मन को कैसे प्रबुद्ध (उत्तेजित) करता है उसे यहाँ 'सत्त्वेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। मद्य सभी प्राणियों के सत्त्व को अग्नि की तरह-सत्त्वसंबोधक (सात्त्विक आदि मन के गुणों को उत्तेजित करने वाला) तथा मन की प्रकृति (हर्ष, मोह आदि) को बताने वाला है। मद्य का कार्य अग्नि की तरह कैसे होता है, इसे यहाँ 'प्रधानेत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

अग्निरेव यथा रुक्माणां स्वर्णानां प्रधानादीनां त्रिविधानां व्यक्तिदर्शकः–जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण की त्रिविध रूपों [१.अत्यन्त शुद्ध, २. मध्यम शुद्ध (कुछ शुद्ध कुछ अशुद्ध), ३. अशुद्ध] का दर्शक (बताने वाला) है, उसी प्रकार मद्य व्यक्ति के सात्त्विक, राजस एवं तामस मानसिक प्रकृतियों का ज्ञान कराता है। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

सुगन्ध्यमाल्यगन्धर्वं सुप्रणीतमनाकुलम्। मिष्टान्नपानविशदं सदा मधुरसंकथम् ॥७४॥
सुखप्रपानं सुमदं हर्षप्रीतिविवर्धनम्। स्वन्तं सात्त्विकमापानं न चोत्तमदप्रदम् ॥७५॥
वैगुण्यं सहसा यान्ति मद्यदोषैर्न सात्त्विकाः। मद्यं हि बलवत्सत्त्वं गृह्णाति सहसा न तु ॥७६॥
सौम्यासौम्यकथाप्रायं विशदाविशदं क्षणात्। चित्रं राजसमापन्नं प्रायेणास्वन्तकाकुलम् ॥७७॥
हर्षप्रीतिकथापेतमतुष्टं पानभोजने। संमोहक्रोधनिद्रान्तमापानं तामसं स्मृतम् ॥७८॥

मानस प्रकृति के अनुसार मद्यपान का विधान

१. **सात्त्विक प्रकृति** वाले व्यक्ति को सुगन्धित पुष्पों की माला पहनकर, सुन्दर गीतों को सुनकर, ऐसे स्थान पर जहाँ मन व्याकुल न होता हो अर्थात् मनोनुकूल स्थान पर, मनोनुकूल अन्न-पान के साथ, मनोनुकूल कहानियों को सुनते हुए या कहते हुए, आवश्यक सामग्रियों से युक्त, सुमद (हलका नशा करने वाली मद्य), जो हर्ष एवं प्रीति को बढ़ाती हो, जिसका अन्त सुखकर हो, अर्थात् जिस मद्य के सेवन से परिणाम सुखकर हो, मद की उत्तम अवस्था (तृतीय अवस्था) को उत्पन्न न करने वाली हो, ऐसी मदिरा का सेवन करना चाहिये।

इस विधि से पीये गये मद्य को सात्त्विक मद्यपान कहा जाता है। सात्त्विक पुरुष मद्य के दोषों से सहसा (अचानक) विकृत नहीं होते। बलवान् सत्त्व वाले पुरुषों में मद्य के दोष अचानक नहीं उत्पन्न होते। अर्थात् धीरे-धीरे उत्पन्न होते हैं। [Sättvika type of persons do not exhibit perverted activities immediately after taking alcohol because alcohol is incapable of adversely afflicting the powerful minds of Sättvika persons instantaneously. –Dr. Bhagvan Das]

२ जिस स्थान पर सौम्य-असौम्य कथाएं होती हों, क्षण भर में व्यक्ति का मन प्रसन्न एवं दुःखी होता हो, प्रायः जिसका अन्त व्याकुल करने वाला हो, अर्थात् जिस मद्य के पीने पर परिणाम कष्टकारी हो, अर्थात् जिसमें द्वितीय मद के लक्षण उत्पन्न होने लगें। इस प्रकार के मद्यपान को **राजस** मद्यपान कहते हैं।

३. जो स्थान हर्ष एवं प्रेम युक्त न हो, अर्थात् जहाँ पर हर्ष व प्रेम उत्पादक बातें न होती हों, व्यक्ति अन्न एवं पान से संतुष्ट न हो, जिस मद्य का अन्त मोह, क्रोध एवं निद्रा से होता हो, अर्थात् जिस मद्य के पीने पर व्यक्ति अत्यधिक क्रोधित, मोह (मूर्च्छित) एवं निद्रा युक्त हो जाता है। अर्थात् मद के अन्त में ये लक्षण मिलते हों। इस प्रकार का मद्यपान तामसिक कहा जाता है।

[सात्त्विक प्रकृति वाले लोग क्रमाङ्क १ की तरह, राजस प्रकृति के लोग क्रमाङ्क २ की तरह एवं तामस प्रकृति के लोग क्रमाङ्क ३ की तरह मद्यपान करते हैं।]

चक्रपाणि–सात्त्विक आदि भेद से मद्यपान तीन प्रकार का होता है, जिसे यहाँ 'सुगन्धीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया हैं।

शोभनो गन्धो यस्य तत् सुगन्धि–जिससे सुन्दर गन्ध आती हो वह 'सुगन्धि' कहा जाता है। 'गन्धर्व' से यहाँ गीत अर्थ लिया गया है।

Scanned by CamScanner

शोभनोऽन्तो यस्य तत् स्वन्तम्–जिसका अन्त सुन्दर हो वह 'स्वन्तम्' कहलाता है, अर्थात् जिसका परिणाम अच्छा हो।

सुमदमिति=बराबर नशे का होना, यह भाव प्रथम मद की अवस्था में पाया जाता है।

न चोत्तममदप्रदमिति–उत्तम मद को उत्पन्न करने वाला न होना, अर्थात् इस प्रकार के मद्यपान में व्यक्ति को उत्तम मद के लक्षण नहीं उत्पन्न होते, उत्तम मद के लक्षण सात्विक पुरुषों में नहीं उत्पन्न होते। उत्तम मद की अप्राप्ति के हेतुओं को-'वैगुण्यमित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

सत्त्वसंयोगात् इति–सत्त्व गुण के योग से, सत्त्व गुण प्रकाशक होने से व्यक्ति (सात्विक व्यक्ति) मद के मोह से अभिभूय (पराजित) नहीं होता। इसी का विवेचन यहाँ-'सहसेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

राजस पान को यहाँ-'सौम्यासौम्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है। सौम्यकथा सौम्यसम्बन्धा-जहाँ मन को अच्छी लगने वाली कथाएं होती हों तथा लोगों के आपस में सम्बन्ध अच्छे हों, इसके विपरीत कार्यों का होना असौम्य कहलाता है। अर्थात् सुखद वातावरण सौम्य तथा दुःखद वातावरण असौम्य कहलाता है। जहाँ क्षण भर में ही सुखद एवं क्षण भर में ही दुःखद वातावरण बन जाता हो।

विशदाविशदमिति–प्रसन्न एवं अप्रसन्न, जहाँ लोग क्षण भर में प्रसन्न हो जाते हों तथा क्षण भर में अप्रसन्न (नाराज) हो जाते हों। विशद=शान्त, अविशद=अशान्त।

चित्रमिति संबद्धासंबद्धवाक्यादियोगान्नानाप्रकारकम्–विविध प्रकार के भावों का मिलना, सम्बद्ध एवं असंबद्ध वाक्यादि के योग से अनेन प्रकार का होना। अर्थात् अनेक प्रकार के सुखकर एवं दुःखकर भावों का मिलना। [जहाँ लोग अनेक प्रकार के उचित एवं अनुचित बातें करते हों।]

'तथेत्यादिना'=तथा इत्यादि के द्वारा तामस मद्यपान को बताया गया है। [चरक मूल पाठ में यह पाठ नहीं है, नरेन्द्र नाथ सेन द्वारा संपादित **चक्रपाणि पाठ में 'तथेत्यादि' के स्थान पर 'सम्मोहेत्यादिना'** प्राप्त होता है जो चरक मूल पाठ में विद्यमान है।]

संमोहः क्रोधो निद्रा च अन्ते यस्य तत् सम्मोहक्रोधनिद्रान्तम्–जिस मद्यपान के अन्त में व्यक्ति को सम्मोह, क्रोध एवं निद्रा उत्पन्न हो जाय, तामस मद्यपान कहलाता है।] ॥७४-७८॥

आपाने सात्त्विकान् बुद्ध्वा तथा राजसतामसान्। जह्यात्सहायान् यैः पीत्वा मद्यदोषानुपाश्नुते ॥७९॥

मद्यपान के समय त्याज्य भाव–व्यक्ति को पीने वाले की सात्विक, राजस एवं तामस प्रकृति का विचार कर ही मद्यपान करना चाहिए। जिसके साथ मद्यपान करने पर व्यक्ति में मद्य के दोष उत्पन्न होते हैं उन सहयोगियों अथवा भावों को छोड़ देना चाहिए।

चक्रपाणि–राजस एवं तामस प्रकृति वाले व्यक्ति के साथ मद्य पीने से व्यक्ति को मद दोष उत्पन्न होते हैं, इसी का विचार यहाँ 'यैरित्यनेन' के द्वारा किया गया है। उनके साथ मद्य पीते हुए, व्यक्ति उसकी प्रसक्ति के कारण स्वयं भी अति मात्रा में पीकर मद की द्वितीय एवं तृतीय अवस्था को प्राप्त करता है। ॥७९॥

विशेष (Comments)–सात्विक आदि मानस प्रकृतियों के ज्ञान के महत्व को यहाँ-'आपान इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्रथम मद आदि विशेषताओं के आधार पर व्यक्ति की सात्विक, राजस व तामस प्रकृतियों का विचार करके अपने से भिन्न प्रकृति वाले व्यक्ति के साथ मद्यपान नहीं करना चाहिए, अर्थात् सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति अपने समान प्रकृति वाले व्यक्ति के साथ मद्यपान करे, इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों को भी समझें। भिन्न प्रकृति वाले व्यक्तियों के साथ मद्य पीने पर व्यक्ति को मद्य के दोष उत्पन्न होते हैं। यदि सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति राजस व तामस प्रकृति वाले व्यक्ति के साथ मद्य पीता है तब वह भी राजस स्वरूप का हो जाता है, यदि सात्विक पुरुष तामस प्रकृति वाले व्यक्तियों के साथ मद्यपान करता है तब वह तामस विकारों से युक्त हो जाता है। –जल्पकल्पतरु टीका हिन्दी अनुवाद।

सुखशीलाः सुसंभाषाः सुमुखाः संमताः सताम्। कलास्वबाह्या विशदा विषयप्रवणाश्च ये ॥८०॥
परस्परविधेया ये येषामैक्यं सुहृत्तया। प्रहर्षप्रीतिमाधुर्यैरापानं वर्धयन्ति ये ॥८१॥
उत्सवादुत्सवतरं येषामन्योन्यदर्शनम्। ते सहायाः सुखाः पाने तैः पिबन्सह मोदते ॥८२॥
रूपगन्धरसस्पर्शैः शब्दैश्चापि मनोरमैः। पिबन्ति सुसहाया ये ते वै सुकृतिभिः समाः ॥८३॥
पञ्चभिर्विषयैरिष्टैरुपेतैर्मनसः प्रियैः। देशे काले पिबेन्मद्यं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥८४॥
स्थिरसत्त्वशरीरा ये पूर्वान्ना मद्यपान्वयाः। बहुमद्योचिता ये च माद्यन्ति सहसा न ते ॥८५॥
क्षुत्पिपासापरीताश्च दुर्बला वातपैत्तिकाः। रूक्षाल्पप्रमिताहारा विष्टब्धाः सत्त्वदुर्बलाः ॥८६॥
क्रोधिनोऽनुचिताः क्षीणाः परिश्रान्ता मदक्षताः। स्वल्पेनापि मदं शीघ्रं यान्ति मद्येन मानवाः ॥८७॥

Scanned by CamScanner

मद्यपान के उत्तम सहयोगी–सुखकर स्वभाव वाले, प्रिय बोलने वाले, प्रसन्न रहने वाले, सज्जन लोगों द्वारा प्रशंसित, कलाओं से युक्त (गुण युक्त), शान्त मन वाले, जिनकी इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हों, परस्पर एक-दूसरे का आदर करने वाले, समान विचार वाले, प्रीति, हर्ष एवं मधुर वाणी से मद्यपान के आनन्द को बढ़ाने वाले, जिनके दर्शन मात्र से एक-दूसरे के मन में अत्यन्त हर्ष (प्रसन्नता) उत्पन्न होता हो। ऐसे व्यक्ति मद्यपान के सुखकर सहयोगी होते हैं। उनके साथ मद्यपान करने से व्यक्ति अत्यन्त आनन्दित होता है।

मद्यपान के लिए उत्तम वातावरण–मनोनुकूल रूप, गन्ध, रस, स्पर्श एवं शब्द वाले उत्तम सहयोगियों के साथ जो लोग मद्यपान करते हैं वे पुण्यकर्मा महात्माओं के समान सुख को प्राप्त करते हैं।

मनोनुकूल विषयों से युक्त होकर (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध; जो मन के अनुकूल हों), प्रिय एवं मन के अनुरूप स्थान व काल (उचित समय) में अत्यधिक प्रसन्नचित्त होकर मद्य का पान करना चाहिए।

जिन पुरुषों का सत्त्व (मन) एवं शरीर स्थिर है, जो अन्न सेवन करने के बाद मद्य का पान करते हैं, तथा जो नित्य मद्य पीते हैं अथवा मद्यपान के अभ्यस्त हैं, ऐसे व्यक्ति मद्य के प्रभाव से शीघ्र आक्रान्त नहीं होते।

मद्यपान के अयोग्य पुरुष–जो व्यक्ति भूख (Hunger) एवं प्यास (Thirst) से युक्त हो, जो अत्यधिक दुर्बल हो, वात, पित्त एवं वात-पित्त प्रकृति वाले, जो रूक्ष, अल्प एवं नपा-तुला आहार करता हो, जिसे मलबद्धता (Constipation) हो, दुर्बल मन वाले, अत्यधिक क्रोधित होने वाले, जिन्हें मद्य सात्म्य न हो, क्षीण शरीर वाले, जो अत्यधिक थके हुए हों, जो मद से डरते हों (क्षत=डरना, चोट खाना); ऐसे व्यक्ति अल्प मात्रा में मद्य सेवन करने पर भी शीघ्र ही मदयुक्त हो जाते हैं, अर्थात् उन्हें नशा शीघ्र ही चढ़ जाता है। ॥८०-८७॥

चक्रपाणि–'सुखशीला इत्यादि' के द्वारा उपयोगी (कारण रूप में उपयोगी) सात्त्विक प्रकृति वाले पुरुषों का वर्णन किया गया है। सुमुखा इति प्रियाकाराः=सुन्दर शरीर वाले। विशदा इति अवामा (नीच प्रवृत्ति का न होना)। **आपानं वर्धयन्तीति आपाने प्रसादं वर्धयन्ति न पानप्रसक्तिं वर्धयन्तीत्यर्थः, तस्या निन्दितत्वात्**–प्रहर्ष, प्रीति एवं मधुर वार्तालाप करते हुए मद्यपान करने से व्यक्ति को अत्यधिक आनन्द मिलता है, न कि मद्यपान के प्रति वह और अधिक आसक्त हो जाता है, क्योंकि अत्यन्त 'प्रसक्ति' की निन्दा की गयी है। 'मनोरमैः' के साथ यहाँ 'साधीयांसैः' शब्द भी जोड़ना चाहिये। इस प्रकार यहाँ 'मनोरमैः साधीयांसैः' होना चाहिए, जिसका अभिप्राय अत्यन्त मनोहारी (मन को हरने वाले), से है। अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से सुन्दर (मनोहर) सहायकों के साथ मद्यपान करना चाहिए।

सुकृतिभिःसमा इति एवंभूतपानस्य सुकृतिलभ्यत्वात्–इस प्रकार के सद्गुण युक्त लोगों के साथ मद्य पीना अत्यन्त कल्याणकारक होता है। **स्थिरसत्त्वेत्यादौ पूर्वान्ना इति मद्यपानात् पूर्वमुपयुक्तान्नाः**-मद्यपान से पूर्व उपयुक्त (उचित) अन्न का सेवन करना।

मद्यपान्वया इति–जो शराबी के वंश में उत्पन्न हो। स्थिर सत्त्व (मन) वाले, जो मद्यपान से पूर्व उचित अन्न का सेवन करते हैं, जो मद्य पीने वाले के वंश में उत्पन्न है तथा जिसे अति मद्य सात्म्य हो गया है; ऐसे लोगों को मद्य जनित दोष शीघ्र प्रभावित नहीं करते। क्योंकि उनमें मद्य सात्म्य (अनुकूल) होने से विकारकारी नहीं होता, यह कार्य ठीक उसी प्रकार होता है जैसे विषकन्या को विष। ॥८०-८७॥

ऊर्ध्वं मदात्ययस्यातः संभवं स्वस्वलक्षणम्। अग्निवेश ! चिकित्सां च प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ॥८८॥
स्त्रीशोकभयभाराध्वकर्मभिर्योऽतिकर्शितः। रूक्षाल्पप्रमिताशी च यः पिबत्यतिमात्रया ॥८९॥
रूक्षं परिणतं मद्यं निशि निद्रां विहत्य च। करोति तस्य तच्छीघ्रं वातप्रायं मदात्ययम् ॥९०॥
हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः। विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥९१॥
तीक्ष्णोष्णं मद्यमम्लं च योऽतिमात्रं निषेवते। अम्लोष्णतीक्ष्णभोजी च क्रोधनोऽग्र्यातपप्रियः ॥९२॥
तस्योपजायते पित्ताद्विशेषेण मदात्ययः। स तु वातोल्बणस्याशु प्रशमं याति हन्ति वा ॥९३॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमूर्च्छातीसारविभ्रमैः। विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥९४॥
तरुणं मधुरप्रायं गौडं पैष्टिकमेव वा। मधुरस्निग्धगुर्वाशी यः पिबत्यतिमात्रया ॥९५॥
अव्यायामदिवास्वप्नशय्यासनसुखे रतः। मदात्ययं कफप्रायं स शीघ्रमधिगच्छति ॥९६॥
छर्दिरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः। विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ॥९७॥

मदात्यय रोग (Alcoholism)

हे अग्निवेश! अब इसके आगे मदात्यय रोग के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन क्रमशः किया जा रहा है–

१. वातज मदात्यय के हेतु एवं सम्प्राप्ति–१. जो व्यक्ति अत्यधिक स्त्री सेवन, शोक, भय, भार ढोने एवं पैदल चलने से अत्यधिक दुर्बल (कृश) हो गया हो।

Scanned by CamScanner

२. जो रुक्ष, अल्प एवं प्रमित (नपा-तुला) भोजन करता हो इस प्रकार के व्यक्ति जब अत्यधिक मात्रा में मद्य का सेवन करते हैं तब ऐसे व्यक्ति के शरीर में मद्य भी रुक्ष हो जाता है, अर्थात् मद्य द्वारा शरीर और अधिक रुक्ष हो जाता है, फलस्वरूप वह रात्रि की निद्रा को नष्ट करके उस पुरुष में शीघ्र ही वात प्रधान (वातिक) मदात्यय को उत्पन्न करता है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)—वातिक (वात प्रधान) मदात्यय में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

१. हिक्का (Hiccup)-हिचकी का आना ।

२. श्वास (Dyspnea)

३. शिरःकम्प (Tremors in the head)

४. पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest)

५. रात्रि में निद्रा का न आना (Insomnia)

६. प्रलाप (Delirium)

२. पित्तज मदात्यय के निदान (Etiology of Paittika Madātyaya)—

-जो व्यक्ति तीक्ष्ण, उष्ण एवं अम्ल रस युक्त मद्य का सेवन अत्यधिक मात्रा में करता है ।

-जो अम्ल, उष्ण एवं तीक्ष्ण गुण युक्त अन्न-पान का अत्यधिक प्रयोग करता है ।

-जो अत्यधिक क्रोधित रहता है, अग्नि एवं धूप जिसे अत्यधिक प्रिय है ।

ऐसे व्यक्तियों में पित्तज मदात्यय शीघ्र होता है । **अर्थात्** इस प्रकार के व्यक्तियों में विशेषकर पित्त के प्रकुपित होने से पित्तज मदात्यय होता है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)—१. यदि पित्तज मदात्यय वात प्रधान व्यक्ति को उत्पन्न होता है तब वह शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है अथवा रोगी को शीघ्र ही नष्ट कर देता है ।

२. तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना), दाह (Burning sensation), ज्वर (Fever), स्वेद (शरीर से अत्यधिक पसीने का निकलना), मूर्च्छा (Fainting), अतिसार (Diarrhoea), भ्रम (सिर का घुमना-Giddiness) तथा त्वचा का वर्ण हरा होना (Green colouration of the body) ये सभी लक्षण प्रायः पित्तज मदात्यय में पाये जाते हैं ।

३. कफज मदात्यय के निदान (Etiology of Kaphaja Madātyaya)—जो व्यक्ति व्यायाम नहीं करता है, जो दिन में सोता है, जो सुखकारी विस्तर पर सोता है एवं आरामदेह आसनों पर बैठता है, जो मधुर, गुरु एवं स्निग्ध आहार द्रव्यों का अतिमात्रा में सेवन करता है । इस प्रकार के पुरुष यदि तरुण (नवीन) मधुर रस प्रधान गुड़ अथवा चावल के आटे (चूर्ण) से निर्मित मद्य का सेवन अतिमात्रा में करते हैं तब उन्हें कफ प्रधान मदात्यय रोग शीघ्र हो जाता है । अर्थात् वे कफज मदात्यय से शीघ्र ही आक्रान्त हो जाते हैं ।

लक्षण (Signs and Symptoms)—छर्दि (Vomiting), अरोचक (Anorexia), हृल्लास (मिचली का आना-Nausea), तन्द्रा (drowsiness), स्तैमित्य (शरीर को गीले कपड़े से लपेट दिया गया हो, इस प्रकार की प्रतीति का होना), शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body), शीत लगना (sensation of cold, with convulsive shaking of the body) ये सभी लक्षण कफज मदात्यय में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि-मद्यपान के दोष एवं गुणों के विवेचनोपरान्त मदात्यय रोग के हेत्वादि का वर्णन-'ऊर्ध्वमित्यादि' के द्वारा किया जा रहा है। 'संभवमिति'-मदात्यय किससे संभव है, अर्थात् किससे उत्पन्न होता है । संभव से यहाँ-कारण (Etiology) अर्थ लिया गया है ।

'वातप्रायमिति' से यहाँ प्रायः शब्द अधिक या प्रधान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इससे यहाँ मदात्यय रोग त्रिदोषज होता है, यह भाव प्राप्त होता है । [वात प्रधान मदात्यय से मदात्यय रोग त्रिदोषजन्य होते हुए भी उसमें वात की विशेष वृद्धि होने से निर्दिष्ट लक्षण मिलते हैं, अर्थ गृहीत है ।]

स तु वातेत्यादौ स त्विति पैत्तिकः-वात प्रधान प्रकृति वाले व्यक्ति को यदि पित्तज मदात्यय हो जाय तो वह या तो शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है अथवा रोगी को शीघ्र ही मार डालता है । 'स तु इति' से यहाँ पैत्तिक मदात्यय को स्पष्ट किया गया है । वात प्रधान पित्तज मदात्यय वातपित्त के संयोग से उत्पन्न होने के कारण बाह्य अग्नि की तरह शीघ्र विनाशक होता है । इस सम्बन्ध में यह व्यवस्था दी गयी

Scanned by CamScanner

है-जहाँ चिकित्सा शीघ्र (सद्य) लाभप्रद होती है वहाँ उसके प्रयोग से व्याधि का प्रशमन शीघ्र हो जाता है। चिकित्सा का प्रयोग न करने पर व्याधि शीघ्र ही रोगी को मार डालती है, यथा-शङ्खक, रोहिणी आदि। अर्थात् शङ्खक एवं रोहिणी की तरह उचित चिकित्सा के प्रयोग से या तो रोगी शीघ्र ही अच्छा हो जाता है अन्यथा उसकी मृत्यु हो जाती है। ॥८८-९७॥

विशेष (Comments)—मदात्यय रोग त्रिदोषज होता है, फिर भी यहाँ वातज आदि के लक्षणों का जो अभिधान किया गया है वह प्रधानता की दृष्टि से है। जिसे अष्टाङ्ग-हृदयकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा–

"वातात्पित्तात्कफात्सर्वैश्चत्वारः स्युर्मदात्ययाः। सर्वेऽपि सर्वैर्जायन्ते व्यपदेशस्तु भूयसा॥" अ.हृ.नि. ६/१४

[मदात्यय ४ प्रकार का होता है, यथा-१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज। ये चारो प्रकार सभी दोषों से उत्पन्न होते हैं, लेकिन जिसमें जिस दोष के लक्षण ज्यादा व्यक्त होते हैं उसे उस नाम से कहा जाता है।]

विषस्य ये गुणा दृष्टाः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः॥९८॥
हन्त्याशु हि विषं किंचित् किंचिद्रोगाय कल्पते। यथा विषं तथैवान्त्यो ज्ञेयो मद्यकृतो मदः॥९९॥
तस्मात् त्रिदोषजं लिङ्गं सर्वत्रापि मदात्यये। दृश्यते रूपवैशेष्यात् पृथक्त्वं चास्य लक्ष्यते॥१००॥

मद्य के त्रिदोषकत्व में हेतु–त्रिदोष प्रकोपक गुण जो विष में दिखायी देते हैं वही मद्य में भी पाये जाते हैं, लेकिन विष में त्रिदोष प्रकोपक गुण मद्य की तुलना में प्रबल रूप से पाया जाता है।

जिस प्रकार कुछ विष रोगी को शीघ्र ही समाप्त कर देते हैं तथा कुछ विष व्याधियों को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार मद्य जनित मद की अन्तिम अवस्था रोगकारक अथवा मृत्युकारक होती है। इसलिये सभी प्रकार के मदात्यय में त्रिदोषज लक्षण ही पाये जाते हैं। इस व्याधि के जो वातज आदि भेद किये गये हैं वे लक्षणों की विशेषता के आधार पर ही हैं।

चक्रपाणि–'विषस्येत्यादि' के द्वारा मद्य की त्रिदोष प्रकोप में कारणता को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि मद्य अम्ल रस युक्त तथा विष अत्यक्त मधुर रस युक्त होता है, फिर भी अनेक गुणों की समानता से वही गुण मद्य में दिखायी देते हैं, ऐसा कहा गया है।

तथैवान्त्यो मद इति–उसी प्रकार मद्य का भी अन्तिम रूप (परिणाम) प्राणहर अथवा रोगोत्पादक होता है। **पृथक्त्वमिति**-वातिक आदि मदात्यय के अलग-अलग भेदों का कथन होना। ॥९८-१००॥

शरीरदुःखं बलवत् संमोहो हृदयव्यथा। अरुचिः प्रतता तृष्णा ज्वरः शीतोष्णलक्षणः॥१०१॥
शिरःपार्श्वास्थिसन्धीनां विद्युत्तुल्या च वेदना। जायतेऽतिबला जृम्भा स्फुरणं वेपनं श्रमः॥१०२॥
उरोविबन्धः कासश्च हिक्का श्वासः प्रजागरः। शरीरकम्पः कर्णाक्षिमुखरोगस्त्रिकग्रहः॥१०३॥
छर्दतीसारहृल्लासा वातपित्तकफात्मकाः। भ्रमः प्रलापो रूपाणामसतां चैव दर्शनम्॥१०४॥
तृणभस्मलतापर्णपांशुभिश्चावपूरणम्। प्रधर्षणं विहङ्गैश्च भ्रान्तचेताः स मन्यते॥१०५॥
व्याकुलानामशस्तानां स्वप्नानां दर्शनानि च। मदात्ययस्य रूपाणि सर्वाण्येतानि लक्षयेत्॥१०६॥

मदात्यय रोग के सामान्य लक्षण–

- शरीर में अत्यधिक कष्ट का अनुभव होना
- सम्मोह (पाठभेद से प्रमोह प्राप्त होता है) [unconsciousness]
- हृदय प्रदेश में वेदना का होना (Pain in the cardiac region)
- अरुचि (Anorexia), बार-बार प्यास का लगना।
- शीत एवं उष्ण ज्वर का होना।
- सिर, पार्श्व, अस्थि एवं सन्धियों में विद्युत तुल्य वेदना का होना।
- जम्हाई, अङ्गों में स्फुरण, वेपन (कम्पन) तथा थकावट का अधिक होना।
- उरोविबन्ध (हृदय=छाती में जकड़ाहट) का होना, कास (Cough), हिक्का (हिचकी-Hiccup), श्वास (Dyspnea), अनिद्रा (Insomnia),
- शरीर कम्प (सम्पूर्ण शरीर का कांपना), कर्ण, अक्षि (नेत्र) एवं मुख रोगों का उत्पन्न होना।
- त्रिक् ग्रह (त्रिक् प्रदेश का जकड़ जाना-Stiffness of the Sacral region)
- वात, पित्त एवं कफ जनित छर्दि (Vomiting), अतिसार (diarrhoea), हृल्लास (मिचली-Nausea) का होना।

Scanned by CamScanner

→ भ्रम (Giddiness), प्रलाप (Delirium) एवं अवास्तविक रूपों का दिखायी देना ।
→ तृण (घास-फूस), भस्म (राख), लता, पर्ण (पत्तियों) एवं पांशु (धूल) द्वारा व्यक्ति अपने शरीर को ढकता रहता है । [स्वप्न दर्शन]
→ स्वप्न में व्यक्ति पक्षियों से झगड़ता रहता है, ऐसा मन के भ्रमित होने के कारण दिखायी देता है ।
→ मन को व्याकुल करने वाले अप्रशस्त स्वप्नों का दिखायी देना ।

उपरोक्त सभी लक्षण मदात्यय रोग मे पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–'शरीरदुःखमित्यादि' के द्वारा सभी प्रकार के मदात्यय के सामान्य लक्षणों को बताया गया है, अर्थात् ये लक्षण वातजादि सभी प्रकार के मदात्यय में पाये जाते हैं, अथवा उपरोक्त लक्षण त्रिदोषज (सन्निपातज) मदात्यय के हैं, जिसके बारे में अष्टोदरीय अध्याय (रोग संग्रह अध्याय-सू.अ. १९) में ४ प्रकार के 'मद' रोग होते हैं, कहा गया है, यथा-वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज । "यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः । सर्व एते मदा नर्तें वातपित्तकफत्रयात्" (सू.अ. २४) इति, के द्वारा मद के जो वातादि जन्य ४ भेद किये गये हैं अथवा कहे गये हैं उसी से मदात्यय के भी ४ भेदों का ग्रहण हो जाता है ।

यतो मद एव आत्ययिको मदात्यय इति निरुच्यते–मद की ही आत्ययिक (अमंगलकारी या पीड़ाकारी) अवस्था मदात्यय कहलाती है । **विद्युत्तुल्येति**-विद्युत (आकाशीय विद्युत) के समान क्षणिक, व्यक्ति के सिर, पार्श्व, अस्थि एवं संधियों में कुछ क्षण के लिए वेदना का होना । स्फुरण=हलका कम्पन का होना । वेपन-शरीर के किसी एक भाग में कम्पन का होना । ॥१०१-१०६॥

सर्वं मदात्ययं विद्यात् त्रिदोषमधिकं तु यम् । दोषं मदात्यये पश्येत् तस्यादौ प्रतिकारयेत् ।।१०७।।
कफस्थानानुपूर्व्या च क्रिया कार्या मदात्यये । पित्तमारुतपर्यन्तः प्रायेण हि मदात्ययः ।।१०८।।
मिथ्यातिहीनपीतेन यो व्याधिरुपजायते । समपीतेन तेनैव स मद्येनोपशाम्यति ।।१०९।।
जीर्णाममद्यदोषाय मद्यमेव प्रदापयेत् । प्रकाङ्क्षालाघवे जाते यद्यदस्मै हितं भवेत् ।।११०।।
सौवर्चलानुसंविद्धं शीतं सबिडसैन्धवम् । मातुलुङ्गार्द्रकोपेतं जलयुक्तं प्रमाणवित् ।।१११।।

मदात्यय रोग की चिकित्सा

१. सभी प्रकार के मदात्यय रोग त्रिदोषजन्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिए । मदात्यय रोग में जिस दोष की प्रबलता दिखायी दे, अथवा जिस दोष के लक्षण बढ़े हुए मिलें, उसकी चिकित्सा सर्वप्रथम करनी चाहिये ।

२. इस व्याधि में कफस्थान की चिकित्सा सबसे पहले करनी चाहिए, क्योंकि पित्त एवं वायु का प्रकोप प्रायः अन्त में होता है । [मदात्यय में चिकित्सा का क्रम कफ पित्त वायु के अनुसार होना चाहिये ।]

३. जो मद्य जनित व्याधि मद्य के मिथ्यायोग (अनुचित प्रयोग), अति योग (अत्यधिक मात्रा में मद्य पीना) एवं हीन योग (अल्प मात्रा में मद्यपान करना) के कारण उत्पन्न होती है, अर्थात् मद्य के मिथ्यायोग, अतियोग एवं हीन योग के कारण जो व्याधि उत्पन्न होती है वह मद्य के सम योग (सम मात्रा में पीने) से शान्त हो जाती है ।

४. यदि रोगी में आम मद्य दोष का पाचन हो जाय, अर्थात् मद्य जनित आम दोष का पाचन हो जाय, व्यक्ति को भोजन करने की इच्छा हो, शरीर लघु हो गया हो; ऐसे रोगी को जिस प्रकार का मद्य हितकारी हो उसका प्रयोग करना चाहिए ।

५. मद्य के प्रमाण का ज्ञाता चिकित्सक रोगी को सौवर्चल नमक, विडनमक, सैन्धव नमक, बिजौरा नीबू का रस, अदरक स्वरस अथवा जल मिलाकर शीतल मद्य पिलावे । ॥१०७-१११॥

चक्रपाणि–'सर्वमित्यादि' के द्वारा मदात्यय रोग की दोषों की प्रधानता के आधार पर चिकित्सा का अभिधान किया गया है । [दोषों के उत्क्लेश के आधार पर चिकित्सा बतायी गयी है ।]

कफस्थानानुपूर्व्या चात्र चिकित्सा कफस्थानोद्भूततया प्रथमं कफसंबन्धात् सन्निपातज्वर इव ज्ञेया–'कफस्थानानुपूर्व्या' से यहाँ व्याधि की उत्पत्ति कफस्थान से होने के कारण तथा कफ का सम्बन्ध सर्वप्रथम होने से सन्निपात ज्वर की भाँति सर्वप्रथम कफस्थान की चिकित्सा करनी चाहिए, इसके बाद पित्त की तथा अन्त में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए । इस व्याधि में सर्वप्रथम कफ दोष की ही प्रबलता होती है जिसे यहाँ-'पित्तमारुतपर्यन्त इति' के द्वारा बताया गया है । इस प्रकार मदात्यय में सबसे पहले कफ, पश्चात् पित्त एवं अन्त में वात के लक्षण बढे हुए मिलते हैं ।

समपीतेन तेनैवेति–उसी मद्य का पान सममात्रा में करने पर, जिस जाति (गुण युक्त) के मद्य के अतियोग, अयोग अथवा मिथ्यायोग के कारण मदात्यय उत्पन्न होता है, उसी जाति के मद्य द्वारा इसकी शान्ति भी होती है ।

Scanned by CamScanner

कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार मूलविष (स्थावर विष) दंष्ट्राविष (जङ्गम विष) के प्रभाव को नष्ट करता है उसी प्रकार मद्य जनित मदात्यय की शान्ति भिन्न जाति वाले मद्य के सम प्रमाण में सेवन से होती है। लेकिन 'तेन एव इति' से यहाँ मद्य की उसी जाति का ग्रहण किया गया है। तेनावश्यं तज्जातीयमेव मद्यं ज्ञेयम्-यहाँ निश्चित रुप से समान जाति के मद्य का ग्रहण किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। जिसके बारे में आगे कहा गया है,-'यच्च यस्मै हितं भवेत्' [जो मद्य जिस रोगी के लिए हितकर हो] तथा दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये [वात की शान्ति हेतु चावल के आटे से निर्मित मद्य में लवण मिलाकर रोगी को पिलानी चाहिए।] के द्वारा किसी मद्य द्वारा उत्पन्न वातिक मदात्यय में चावल के आटे से निर्मित मद्य (पैष्टिक मद्य) के सेवन का विधान बताया गया है। **'सशर्करं शार्करं वा' विशेष विधानं बहु करिष्यति**-तथा वातिक मदात्यय में शर्करा से निर्मित मद्य का अभिधान आगे अनेकों बार करेंगे। इस प्रकार समान जाति तथा अन्य जाति वाले मद्य का प्रयोग मदात्यय में करना चाहिए। ॥१००-१११॥

तीक्ष्णोष्णेनातिमात्रेण पीतेनाम्लविदाहिना। मद्येनान्नरसोत्क्लेदो विदग्धः क्षारतां गतः ॥११२॥
अन्तर्दाहं ज्वरं तृष्णां प्रमोहं विभ्रमं मदम्। जनयत्याशु तच्छान्त्यै मद्यमेव प्रदापयेत् ॥११३॥
क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः। श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु ॥११४॥
मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसाः स्मृताः। मधुरश्च कषायश्च तिक्तः कटुक एव च ॥११५॥
गुणाश्च दश पूर्वोक्तास्तैश्चतुर्दशभिर्गुणैः। सर्वेषां मद्यमम्लानामुपर्युपरि तिष्ठति ॥११६॥

तीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल एवं विदाही मद्य के अतिमात्रा में पीने से विदग्ध हुआ अन्नरस क्लिन्न होकर क्षारीय स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। वह क्षारीय रस उदर में अन्तर्दाह (शरीर के आन्तरिक भागों में दाह का होना), ज्वर (Fever), तृष्णा (प्यास का अधिक लगना), प्रमोह (unconsciousness), विभ्रम (Giddiness) तथा मद (Intoxication) को शीघ्र ही उत्पन्न करता है। इन उपद्रवों की शान्ति हेतु व्यक्ति को मद्य ही पीने के लिए देना चाहिए, क्योंकि यह अम्लरस से मिलकर या संयुक्त होकर क्षार मधुररस में परिणत हो जाता है। जिन गुणों के द्वारा अम्ल द्रव्यों में मद्य श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है उन गुणों को हे अग्निवेश! सुनो-

अम्ल स्वभाव वाले मद्य या अम्लरस युक्त मद्य में ४ अनुरस -मधुर, कषाय, तिक्त एवं कटु होते हैं तथा दस गुण पूर्व में ही कहे जा चुके हैं। इस प्रकार मद्य में कुल १४ गुण होते हैं। इन गुणों के कारण सभी अम्लरस युक्त द्रव्यों में मद्य को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है।

चक्रपाणि-अन्नरसोत्क्लेद इत्यत्र 'अम्लरसक्लेदः' इति केचिद् पठन्ति-कुछ आचार्य 'अन्नरसोत्क्लेद' के स्थान पर 'अम्लरसक्लेदः' पाठ करते हैं।

क्षार को मधुररस में बदलने के लिए जब अम्ल मद्य का प्रयोग किया जाता है, तब क्यों अम्ल रस वाले अन्य मद्य का प्रयोग नहीं किया जाता, जिसे यहाँ-'क्षारो हीत्यादि' के द्वारा बताया गया है।

उपर्युपरीति उपरिष्टादप्युपरि अत्यर्थं श्रेष्ठमित्यर्थः-अत्यन्त श्रेष्ठ, अम्लरस वाले द्रव्यों में मद्य सबसे ऊपर स्थित है, अर्थात् सर्वोत्तम है। ॥११२-११६॥

मद्योत्क्लिष्टेन दोषेण रुद्धः स्रोतःसु मारुतः। करोति वेदनां तीव्रां शिरस्यस्थिषु सन्धिषु ॥११७॥
दोषविष्यन्दनार्थं हि तस्मै मद्यं विशेषतः। व्यवायितीक्ष्णोष्णतया देयमम्ले (म्ये)षु सत्स्वपि ॥११८॥
स्रोतोविबन्धनुन्मद्यं मारुतस्यानुलोमनम्। रोचनं दीपनं चाग्नेरभ्यासात् सात्म्यमेव च ॥११९॥
रुजः स्रोतःस्वरुद्धेषु मारुते चानुलोमिते। निवर्तन्ते विकाराश्च शाम्यन्त्यस्य मदोदयाः ॥१२०॥
बीजपूरकवृक्षाम्लकोलदाडिमसंयुतम्। यवानीहपुषाजाजीशृङ्गवेरावचूर्णितम् ॥१२१॥
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तमवदंशैर्विरोचितम्। दद्यात् सलवणं मद्यं पैष्टिकं वातशान्तये ॥१२२॥
दृष्ट्वा वातोल्बणं लिङ्गं रसैश्चैनमुपाचरेत्। लावतित्तिरदक्षाणां स्निग्धाम्लैः शिखिनामपि ॥१२३॥
पक्षिणां मृगमत्स्यानामानूपानां च संस्कृतैः। भूशयप्रसहानां च रसैः शाल्योदनेन च ॥१२४॥
स्निग्धोष्णलवणाम्लैश्च वेशवारैर्मुखप्रियैः। चित्रैर्गौधूमिकैश्चान्नैर्वारुणीमण्डसंयुतैः ॥१२५॥
पिशितार्द्रकगर्भाभिः स्निग्धाभिः पूपवर्तिभिः। मापपूपलिकाभिश्च वातिकं समुपाचरेत् ॥१२६॥
नातिस्निग्धं न चाम्लेन युक्तं समरिचार्द्रकम्। मेद्यं प्रागुदितं मांसं दाडिमस्वरसेन वा ॥१२७॥
पृथक्त्रिजातकोपेतं सधान्यमरिचार्द्रकम्। रसप्रलेपि संपूपैः सुखोष्णैः संप्रदापयेत् ॥१२८॥
भुक्ते तु वारुणीमण्डं दद्यात् पातुं पिपासवे। दाडिमस्य रसं वाऽपि जलं वा पाञ्चमूलिकम् ॥१२९॥
धान्यनागरतोयं च दधिमण्डमथापि वा। अम्लकाञ्जिकमण्डं वा शुक्तोदकमथापि वा ॥१३०॥
कर्मणाऽनेन सिद्धेन विकार उपशाम्यति। मात्राकालप्रयुक्तेन बलं वर्णश्च वर्धते ॥१३१॥
रागषाडवसंयोगैर्विविधैर्भक्तरोचनैः। पिशितैः शाकपिष्टान्नैर्यवगोधूमशालिभिः ॥१३२॥
अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरुष्णैः प्रावरणैर्घनैः। घनैरगुरुपङ्कैश्च धूपैश्चागुरुजैर्घनैः ॥१३३॥

Scanned by CamScanner

नारीणां यौवनोष्णानां निर्दयैरुपगूहनैः । श्रोण्यूरुकुचभारैश्च संरोधोष्णसुखावहैः ।।१३४।।
शयनाच्छादनैरुष्णैरुष्णैश्चान्तर्गृहैः सुखैः । मारुतप्रबलः शीघ्रं प्रशाम्यति मदात्ययः ।।१३५।।

वातिक मदात्यय की संप्राप्ति एवं चिकित्सा (Pathogenesis and treatment of Vātika Alcoholism)—मद्य के द्वारा उत्क्लेशित दोष स्रोतस् में रुक जाते हैं, जिसके कारण वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है, और वह रुकी हुई वायु सिर (Head), अस्थि (Bones) एवं सन्धियों में वेदना उत्पन्न करती है । अतः दोषों के विष्यन्दनार्थ (दोषों को पिघलाने के लिए) अन्य अम्ल द्रव्यों के रहते हुए भी विशेष रूप से व्यवायी, उष्ण, एवं तीक्ष्ण गुण युक्त मद्य का प्रयोग करना चाहिए ।

मद्य के विधिपूर्वक सेवन से स्रोतस् का विबन्ध (अवरोध) दूर हो जाता है तथा वायु अपने मार्ग में स्वाभाविक रूप से गति करने लगती है, अर्थात् वायु का अनुलोम हो जाता है । भोजन के प्रति रुचि बढ़ती है, जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है तथा अभ्यास से सात्म्य भी हो जाता है।

जब स्रोतोवरोध दूर हो जाता है, वायु का अनुलोमन हो जाता है तब मद्य जनित विकार एवं वेदनायें शान्त हो जाती हैं ।

बीजपूरकादि संस्कारित मद्य–बीजपूरकरस (बिजौरा नीबू का रस), वृक्षाम्ल (Garcinia indica), कोल (खट्टा बेर), दाडिम, यवानी (अजवाइन), हपुषा (हाऊबेर), अजाजी (जीरा), शृंगबेर; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को चावल के आटे (चूर्ण) से बनी पुरानी मदिरा में मिला लें, पश्चात् यथावश्यक सैन्धव लवण मिलावें । अब स्नेह युक्त सत्तू को खाकर इस संस्कारित मद्य का पान करें । ऐसा करने से वातिक मदात्यय प्रशमित हो जाता है ।

मांसरस–वातिक मदात्यय में वात के बढ़े हुए लक्षणों को देखकर चिकित्सार्थ लाव, तीतर, मुर्गे तथा मयूर आदि पक्षियों के मांसरस, आनूप, भूशय एवं प्रसह वर्ग के मांसरस को स्निग्ध एवं अम्ल रस वाले द्रव्यों से संस्कारित करके शाली चावल के भात के साथ खाने के लिए देना चाहिये । वातिक मदात्यय से पीड़ित रोगी को खाने के लिए स्निग्ध, उष्ण, अम्ल एवं लवण रस वाले द्रव्यों से संस्कारित वेशवार, जो अत्यन्त स्वादिष्ट बना हो, देना चाहिए, अर्थात् स्वादिष्ट वेशवार खिलाना चाहिए । इसके साथ ही गेहूँ से निर्मित विविध खाद्य पदार्थ, वारुणी मण्ड, मांस एवं अदरक की बनी हुई स्निग्ध कचौड़ी एवं उड़द के आटे की बनी हुई कचौड़ी का सेवन कराना चाहिए ।

पूर्व वर्णित मेदस्वी प्राणियों के मांस को न तो अत्यधिक तैलादि में छौंककर (पकाकर), अथवा न तो अत्यधिक अम्ल द्रव्यों; यथा-आँवला का स्वरस या खट्टे अनार का रस आदि मिलाकर तथा कालीमिर्च एवं आर्द्रक मिलाकर खाना चाहिए । अथवा अलग-अलग त्रिजातक के चूर्ण को मिलाकर अथवा धनिया, कालीमिर्च एवं अदरख का रस मिलाकर अच्छी प्रकार से पकावें, लेप या अवलेह की तरह हो जाने पर उसे गरम-गरम कचौड़ी के साथ वातिक मदात्यय के रोगी को खाने के लिए देना चाहिए ।

वातिक मदात्यय में प्रयुक्त अनुपान–भोजनोत्तर प्यास लगने पर वारुणी मण्ड पीने के लिए देना चाहिए । अथवा दाडिम स्वरस (अनार का रस) अथवा पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी) साधित जल, अथवा धनिया व शुण्ठी (सोंठ) साधित जल, अथवा दधिमण्ड अथवा अम्ल काञ्जी का मण्ड अथवा शुक्तोदक पीने के लिए देना चाहिए ।

मात्रा एवं काल के अनुसार इन औषधियों के प्रयोग से वातिक मदात्यय का प्रशमन हो जाता है तथा व्यक्ति के बल एवं वर्ण की वृद्धि होती है ।

अनेक प्रकार के भोजन में रुचि उत्पन्न करने वाले राग एवं षाडव के प्रयोग से, मांस के सेवन करने से, विविध प्रकार के शाक, पिष्टान्न (चावल का आटे से निर्मित खाद्य पदार्थ), यव, गेहूँ, शाली चावल के सेवन करने से, अभ्यङ्ग (शरीर पर तैल की मालिश करना), उत्सादन (उबटन), उष्ण जल से स्नान, मोटे प्रावरण (कम्बल आदि) के ओढ़ने से, शरीर पर अगरु के मोटे लेप लगाने से, गाढ़े अगरु के धूपन से, अपनी युवावस्था के कारण उष्ण शरीर वाली नारियों के स्पर्श से तथा जिनके नितम्ब, ऊरु, स्तन अधिक मांसल होने के कारण भार युक्त हो गये हों, जिससे शरीर में उष्णता की वृद्धि हो गयी हो, ऐसी स्त्रियों का सुखपूर्वक आलिङ्गन करने से, उष्ण शयन एवं आच्छादन के प्रयोग से, उष्ण तहखाने में निवास करने से वातिक मदात्यय शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है । ।।११७-१३५।।

चक्रपाणि–मदोदया इति-मद के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रव यथा-तर्ष आदि लक्षण । कुछ आचार्य 'ज्वरादयः' पाठ करते हैं। इससे यहाँ मद में उत्पन्न होने वाले ज्वर प्रधान तर्षादि लक्षणों का ग्रहण करना चाहिए । अवदंशो यमुपयुज्य मद्यं पीयते-जिसके खाने के बाद मद्य का पान किया जाता है ।

[अवदंश=ऐसा चटपटा भोजन जिसके खाने के बाद प्यास लगे ।] दक्षः=मुर्गा । **वेशवारः खानिष्कः, स चोक्तलक्षणोऽसकृत् खनिष्क**– एक प्रकार का खाद्य पदार्थ, जिसे मांस के छोटे-छोटे टुकड़ों द्वारा तैयार किया जाता है। इसे अम्ल आदि द्रव्यों द्वारा विधिवत संस्कारित करके प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

पूपवर्ति=वर्ति के आकार की पूड़ी। **रसप्रलेपीति रसप्रलेपनरूपतया निर्वृत्तं 'रसप्रलेह' इति यावत्**-पूड़ी के ऊपर रस (चीनी की चाशनी) का पाग किया गया हो, अथवा एक विशेष प्रकार की पूड़ी जिसे चासनी में डुबोकर तैयार किया जाता हो। **अगुरुपङ्कैरिति**-अगरु के लेप द्वारा। घनैरिति=बहल (गाढ़ा)। **संरोधोष्णसुखावहैरिति**-जिन स्त्रियों का शरीर मेदस्वी है उनके शरीर से ऊष्मा का निस्सरण न होने से वे गरम रहती हैं, ऐसी स्त्रियों के गाढ़ आलिङ्गन के सुख से वातिक मदात्यय के उपद्रव शान्त हो जाते हैं। ॥११७-१३५॥

भव्यखर्जूरमृद्वीकापरूषकरसैर्युतम्। सदाडिमरसं शीतं सक्तुभिश्चावचूर्णितम् ॥१३६॥
सशर्करं शार्करं वा माद्वीकमथवाऽपरम्। दद्याद्बहूदकं काले पातुं पित्तमदात्यये ॥१३७॥
शशान् कपिञ्जलानेणाँल्लावानसितपुच्छकान्। मधुराम्लान् प्रयुञ्जीत भोजन शालिषष्टिकान् ॥१३८॥
पटोलयूषमिश्रं वा छागलं कल्पयेद्रसम्। सतीनमुद्गमिश्रं वा दाडिमामलकान्वितम् ॥१३९॥
द्राक्षामलकखर्जूरपरूषकरसेन वा। कल्पयेत्तर्पणान् यूषान् रसांश्च विविधात्मकान् ॥१४०॥
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं कफपित्तं मदात्यये। विज्ञाय बहुदोषस्य दह्यमानस्य तृष्यतः ॥१४१॥
मद्यं द्राक्षारसं तोयं दत्त्वा तर्पणमेव वा। निःशेषं वामयेच्छीघ्रमेवं रोगाद्विमुच्यते ॥१४२॥
काले पुनस्तर्पणाद्यं क्रमं कुर्यात् प्रकाङ्क्षिते। तेनाग्निर्दीप्यते तस्य दोषशेषान्नपाचकः ॥१४३॥
कासे सरक्तनिष्ठीवे पार्श्वस्तनरुजासु च। तृष्यते सविदाहे च सोत्क्लेशे हृदयोरसि ॥१४४॥
गुडूचीभद्रमुस्तानां पटोलस्याथवा भिषक्। रसं सनागरं दद्यात् तित्तिरिप्रतिभोजनम् ॥१४५॥
तृष्यते चातिबलवद्वातपित्ते समुद्धते। दद्याद्वाक्षारसं पातुं शीतं दोषानुलोमनम् ॥१४६॥
जीर्णे समधुराम्लेन छागमांसरसेन तम्। भोजनं भोजयेन्मद्यमनुतर्षं च पाययेत् ॥१४७॥
अनुतर्षस्य भात्रा सा यया नो दूष्यते मनः। तृष्यते मद्यमल्पाल्पं प्रदेयं स्याद्बहूदकम् ॥१४८॥
तृष्णा येनोपशाम्येत भद्रं येन च नाप्नुयात्। परूषकाणां पीलूनां रसं शीतमथापि वा ॥१४९॥
पर्पिनीनां चतसृणां पिबेद्वा शिशिरं जलम्। मुस्तदाडिमलाजानां तृष्णाघ्नं वा पिबेद्रसम् ॥१५०॥
कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः। पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥१५१॥
शीतलान्यन्नपानानि शीतशय्यासनानि च। शीतवातजलस्पर्शाः शीतान्युपवनानि च ॥१५२॥
क्षौमपद्मोत्पलानां च मणीनां मौक्तिकस्य च। चन्दनोदकशीतानां स्पर्शाश्चन्द्रांशुशीतलाः ॥१५३॥
हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः। पूर्णानां हिमपूर्णानां दृतीनां पवनाहताः ॥१५४॥
संस्पर्शाश्चन्दनार्द्राणां नारीणां च समारुताः। चन्दनानां च मुख्यानां शस्ताः पित्तमदात्यये ॥१५५॥
शीतवीर्यं यदन्यच्च तत् सर्वं विनियोजयेत्। कुमुदोत्पलपत्राणां सित्तानां चन्दनाम्बुना ॥१५६॥
हिताः स्पर्शा मनोज्ञानां दाहे मद्यसमुत्थिते। कथाश्च विविधाः शस्ताः शब्दाश्च शिखिनां शिवाः ॥१५७॥
तोयदानां च शब्दा हि शमयन्ति मदात्ययम्। जलयन्त्राभिवर्षीणि वातयन्त्रवहानि च ॥१५८॥
कल्पनीयानि भिषजा दाहे धारागृहाणि च। फलिनीसेव्यलोध्राम्बुहेमपत्रं कुटन्नटम् ॥१५९॥
कालीयकरसोपेतं दाहे शस्तं प्रलेपनम्। बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः ॥१६०॥
फेनिलाश्च यः फेनस्तैदहि लेपनं शुभम्। सुरा समण्डा दध्यम्लं मातुलुङ्गरसो मधु ॥१६१॥
सेके प्रदेहे शस्यन्ते दाहघ्नाः साम्लकाञ्जिकाः। परिषेकावगाहेषु व्यञ्जनानां च सेवने ॥१६२॥
शस्यते शिशिरं तोयं दाहतृष्णाप्रशान्तये। मात्राकालप्रयुक्तेन कर्मणाऽनेन शाम्यति ॥१६३॥
धीमतो वैद्यवश्यस्य शीघ्रं पित्तमदात्ययः।

पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा [Treatment of Paittika Madātyaya (Alcoholism)]—पैत्तिक मदात्यय के रोगी को भव्य, खर्जूर, मृद्वीका (मुनक्का), फालसा एवं अनार; इन द्रव्यों के रस को मद्य में मिलाकर शीतल बना लें, पश्चात् मद्य में यव का सत्तू एवं चीनी मिलाकर पिलावें। मद्य शर्करा अथवा मुनक्के के रस से निर्मित हो अथवा अन्य मद्य का प्रयोग प्रभूत (अत्यधिक) मात्रा में जल मिलाकर करें।

आहार-विहार—१. शश (खरगोश), कपिञ्जल, एण, लाव एवं काले पूंछ वाले मृग के मांस को मधुर एवं अम्ल द्रव्यों से संस्कारित कर शाली एवं साठी चावल के भात के साथ खाने के लिए देना चाहिये।

२. बकरे के मांसरस में पटोल यूष अथवा मटर का यूष अथवा दाडिम या आँवले का स्वरस मिलाकर साठी अथवा शाली चावल के भात के साथ रोगी को खाने के लिए देना चाहिए।

३. द्राक्षा, आँवला, खर्जूर एवं परूषक (फालसे) के रस से विविध प्रकार के तर्पण, यूष एवं मांसरस की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् द्राक्षा आदि के रस, अनेक प्रकार के तर्पण (मन्थ), यूष एवं मांसरस को रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

पित्तज मदात्यय में वमन—यदि मदात्यय में आमाशयस्थ कफ व पित्त उत्क्लेशित हों अर्थात् निकलने के लिए उद्यत हों, रोगी को अत्यधिक दाह (Burning sensation) एवं प्यास लग रही हो, ऐसी अवस्था में रोगी को मद्य के साथ द्राक्षारस एवं जल मिलाकर अथवा

Scanned by CamScanner

सत्तू को जल में घोलकर पीने के लिए दें, अर्थात् इन द्रव्यों को पिलाकर वमन करायें, जिससे उत्क्लेशित कफ व पित्त निकल जाय। कफपित्त के निकल जाने पर व्यक्ति व्याधि के प्रभाव से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

वमन के बाद भोजन काल के समय अच्छी तरह से भूख लगने पर पुनः तर्पणादि संसर्जन क्रम का पालन करना चाहिए, अर्थात् पेया-विलेपी आदि क्रमों का प्रयोग करें। इसके प्रयोग से जाठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है तथा शेष दोष एवं अन्न का पाचन हो जाता है।

यदि पित्तज मदात्यय के रोगी में कास के साथ थूकने पर रक्त निकलता हो, पार्श्वशूल (Pain in the sides of the Chest), स्तन प्रदेश में शूल हो रहा हो, दाह (Burning sensation), तृष्णा (प्यास का लगना) तथा हृदय एवं उरः प्रदेश में घबराहट हो रही हो। ऐसी अवस्था में चिकित्सक रोगी को गुडूची एवं नागरमुस्तक के स्वरस या क्वाथ में अथवा परवल की पत्ती के स्वरस में शुण्ठी (सोंठ) चूर्ण मिलाकर पीने के लिए दे। औषध के जीर्ण हो (पच) जाने पर तीतर के मांसरस के साथ साठी एवं शाली चावल के भात को खाने के लिए दें।

वायु एवं पित्त की वृद्धि के कारण यदि रोगी को अत्यधिक प्यास लग रही हो तब दोषों के अनुलोमनार्थ शीतल द्राक्षारस (द्राक्षा स्वरस अथवा अंगूर का रस) पीने के लिए देना चाहिए। इसके पच जाने पर मधुर एवं अम्ल द्रव्यों से संस्कारित बकरे के मांसरस के साथ शाली या साठी चावल के भात को खिलाना चाहिए। यदि भोजन के बाद भी प्यास बनी रहती है तब उसे उसकी शान्ति हेतु मद्य का पान कराना चाहिए।

पैत्तिक मदात्यय में मद्यपान का विधान–अनुतर्ष-मद्य की वह मात्रा है जिसके सेवन से व्यक्ति का मन विकृत नहीं होता। जिस रोगी को बार-बार प्यास लग रही हो उसे मद्य में अत्यधिक मात्रा में जल मिलाकर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार पिलावें, जिससे तृष्णा की शान्ति हो जाय एवं रोगी का मद (नशा-Intoxication) भी उतर जाय।

तृष्णानाशक योग–

१. परूषक (फालसा) एवं पीलू के शीतरस (Cold infusion)

२. चारो प्रकार की पर्णिनियों का शीतरस (Cold infusion)
(चतुःपर्णिनी-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी)

३. मुस्तक (नागरमुस्तक), दाडिम व लाजा के शीतकषाय [षडंगपानीय विधि से तैयार जल, जो ठण्डा किया गया हो]
ये द्रव्य मदात्यय जनित तृष्णा को शान्त करते हैं।

४. कोल (बेर), दाडिम (अनार दाना), वृक्षाम्ल, अम्ल चुक्रिका (चांगेरी), चुक्रिका रस; इन द्रव्यों के कल्क का लेप मुख के आभ्यन्तर भाग में करने पर मद्य जनित तृष्णा शीघ्र ही शान्त हो जाती है।

पैत्तिक मदात्यय में बाह्य उपचार (External Therapy for Paittika Alcoholism)–पैत्तिक मदात्यय के रोगी के लिए शीतल अन्न-पान, शीतल शय्या एवं आसन, शीतल वायु एवं शीतल जल के स्पर्श, शीतल उपवनों में टहलना, रेशमी वस्त्र, कमल, उत्पल, अनेक प्रकार की मणियाँ, चन्द्रमा की किरणों द्वारा शीत की हुई मोती या चन्दन के जल से शीत किया हुआ मोती का स्पर्श अथवा चन्दनोदक का स्पर्श, शीतल जल से परिपूर्ण स्वर्ण, रजत या कासे के पात्र का धारण, बर्फ से भरा हुआ चमड़े का थैला जिस पर हवा के झोंके लगते हों; को धारण करना, चन्दन के लेप से लेपित नारियों का आलिङ्गन, मलयागिरि चन्दन का शरीर पर लेप तथा वायु का शरीर से स्पर्श; ये सभी भाव अत्यन्त प्रशस्त माने गये हैं। इसके अतिरिक्त और दूसरे द्रव्य जो शीतलता प्रदान करते हों या शीत वीर्य वाले हों उन सभी का प्रयोग करना चाहिए।

कमल पत्र का प्रयोग–मद्य जनित दाह में चन्दनोदक (चन्दन का जल) से आर्द्र (गीले) किये हुए कमल एवं उत्पल (नील कमल) के पत्र का स्पर्श अत्यन्त हितकर होता है।

अनेक प्रकार की मनोनुकूल कहानियाँ, भौरों के सुन्दर गुञ्जन (शब्द) तथा मेघ की गर्जना भी पित्तज मदात्यय के दाह को शान्त करती है।

दाह में जल यन्त्र आदि का प्रयोग–मद्य जनित दाह में चिकित्सक रोगी को जल यंत्र (जल वर्षा करने वाला यन्त्र-फुहारा) वातयन्त्र (कुलर, पंखे आदि जो ठण्डी हवा दें) अथवा धारागृह (जिस घर में जल की धारायें बहती हों) के पास रखें, जिससे उसके शरीर पर शीतल वायु का स्पर्श होता रहे [रोगी को कूलर, पंखे अथवा वातानुकुलित कक्ष में रखें]।

दाहनाशक लेप–१. फलिनी, सेव्य (खश), लोध्र, अम्बु, हेम (नागकेशर), तेजपत्र एवं कुटन्नट (सोनापाठा); इन द्रव्यों को सम भाग में लेकर कालीयक स्वरस या क्वाथ के साथ पीसकर लेप बना लें। इस लेप का प्रयोग दाह के प्रशमन हेतु करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

२. बेर, नीम अथवा रीठा की कोमल पत्तियों का कल्क बनाकर शरीर पर लेप करें। इसके प्रयोग से पित्त जनित दाह शान्त हो जाता है।

३. सुरा (Alcohol), सुरा मण्ड (Yeast), खट्टी दधि, बिजौरा नींबू का रस, मधु एवं अम्ल काञ्जी; इन द्रव पदार्थों का प्रयोग परिषेक (Sprinkling) एवं प्रदेह (कल्क के रूप में लेप) के रूप में करना चाहिए। इसके प्रयोग से दाह शान्त हो जाता है।

शीतल जल का प्रयोग–दाह एवं तृष्णा की शान्ति हेतु व्यक्ति को शीतल जल का प्रयोग परिषेक (शीतल जल का शरीर पर छिड़काव), स्नान (Bath-शीतल जल से स्नान करना) एवं व्यञ्जनार्थ (पंखे के ऊपर शीतल जल का छिड़काव) करना चाहिये।

[शीतल जल को शरीर पर गिरावें, शीत जल से स्नान अथवा कूलर आदि की ठण्ढी हवा का सेवन करें, इससे शरीर में उत्पन्न होने वाली जलन शान्त हो जाती है।]

उपर्युक्त चिकित्सा विधियों का प्रयोग मात्रा एवं काल के अनुसार करते हुए एक योग्य चिकित्सक पित्तज मदात्यय को शीघ्र ही प्रशमित कर देता है।

चक्रपाणि–'भव्येत्यादि' के द्वारा पैत्तिक मदात्यय की चिकित्सा को बताया गया है। भव्य -उत्तरापथ में होने वाला एक प्रकार का वृक्ष, अन्य आचार्य इससे कमरख के फल का ग्रहण करते हैं। **मार्द्वीकमिति**-मुनक्के के रस द्वारा निर्मित मद्य को मार्द्वीक कहा गया है। सतीनः वर्तुलकलायः=मटर। **रोगाद्विमुच्यत इति प्रकृतपित्तमदात्ययाद्विमुच्यत इत्यर्थः**-पित्तज मदात्यय से मुक्ति मिल जाती है, अर्थात् कफ पित्त के उत्क्लेश में वमन कराने के बाद रोगी पित्तज मदात्यय से मुक्त हो जाता है। **क्रममिति**-क्रम से यहाँ वमन के बाद संसर्जन क्रम के विधान का ग्रहण किया गया है। अर्थात् वमन के बाद पेयादि क्रम का पालन करना चाहिए।

दोषशेष. कोष्ठोपलेपकोऽत्र ज्ञेयः–शेष दोष से यहाँ वमनोत्तर कोष्ठ में लिप्त कफ दोष का ग्रहण किया गया है।

गुडूच्यादौ रसमिति क्वाथम्–गुडूच्यादि के रस से 'यहाँ इन द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) का ग्रहण किया गया है। क्वाथ के पच जाने पर तीतर के मांसरस के साथ भात (अन्न) का सेवन करना चाहिये।

अनुतर्षं च पाययेदिति–भोजन करते समय प्यास लगने पर प्रभूत मात्रा में जलमिश्रित मद्य का पान करना चाहिये। मद्य का प्रयोग अनुपान में करना चाहिए।

'अनुतर्षस्येत्यादि' के द्वारा इस अनुपान की मात्रा को बताया गया है। अनुतर्ष से यहाँ बार-बार दी जाने वाली मद्य की मात्रा का ग्रहण किया गया है। **ययाऽस्य मनो न दूष्यत इति**-मद्य की वह मात्रा जिसके प्रयोग से व्यक्ति का मन विकृत न हो। जिस मद्य के द्वारा व्यक्ति की तृष्णा (Morbid thirst) एवं मन की दीनता दूर होती है, उसे अनुतर्ष नाम दिया गया है, न कि मद (नशा) उत्पन्न होने के बाद मद्य का प्रयोग अनुतर्ष कहलाता है। **तृष्णाघ्नमिति**-शीतकषाय रूप रस तृष्णानाशक होता है, अर्थात् मुस्तक, दाडिम एवं लाजा का शीतकषाय (Cold infusion) तृष्णा नाशक कहा गया है।

[द्रव्यादापोथितात्तोये प्रतप्ते निशि संस्थितात्। कषायो योऽभिनिर्याति स शीतः समुदाहृतः-कूटे हुए द्रव्य के चूर्ण को प्रतप्त जल में रात भर के लिए भिगो दें, प्रातः काल उसे मसलकर छान लें। इस छने हुए जल को शीतकषाय कहते हैं। इसी विधि से मुस्तक, दाडिम एवं लाजा के रस का ग्रहण करना चाहिए।] चुक्रिका=चाङ्गेरी।

बदरी इत्यादि के पत्र को कूट कर कल्क जैसा बना लें, इसमें जल डालकर मथें, पश्चात् उससे निकलने वाले फेन का ग्रहण करें। अरिष्टकः=निम्ब। ॥१३६-१६३॥

उल्लेखनोपवासाभ्यां जयेत् कफमदात्ययम् ॥१६४॥
तृष्यते सलिलं चास्मै दद्याद्भ्रीबेरसाधितम्। बलया पृश्निपर्ण्या वा कण्टकार्याऽथवा शृतम् ॥१६५॥
सनागराभिः सर्वाभिर्जलं वा शृतशीतलम्। दुःस्पर्शेन समुस्तेन मुस्तपर्पटकेन वा ॥१६६॥
जलं मुस्तैः शृतं वाऽपि दद्यादोषविपाचनम्। एतदेव च पानीयं सर्वत्रापि मदात्यये ॥१६७॥
निरत्ययं पीयमानं पिपासाज्वरनाशनम्। निरामं काङ्क्षितं काले सक्षौद्रं पाययेत्तु तम् ॥१६८॥
शार्करं मधु वा जीर्णमरिष्टं सीधुमेव वा। रूक्षतर्पणसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् ॥१६९॥
यावगौधूमिकं चान्नं रूक्षयूषेण भोजयेत्। कुलत्थानां सुशुष्काणां मूलकानां रसेन वा ॥१७०॥
तनुनाऽल्पेन लघुना कट्वम्लेनाल्पसर्पिषा। पटोलयूषमम्लं वा यूषमामलकस्य वा ॥१७१॥
प्रभूतकटुसंयुक्तं सयवान्नं प्रदापयेत्। व्योषयूषमथाम्लं वा यूषं वा साम्लवेतसम् ॥१७२॥
छागमांसरसं रूक्षमम्लं वा जाङ्गलं रसम्। स्थाल्यां वाऽथ कपाले वा भृष्टं निर्द्रववर्तितम् ॥१७३॥

Scanned by CamScanner

कट्वम्ललवणं मांसं भक्षयन् वृणुयान्मधु । व्यक्तमारीचकं मांसं मातुलुङ्गरसान्वितम् ।।१७४।।
प्रभूतकटुसंयुक्तं यवानीनागरान्वितम् । भृष्टं दाडिमसाराम्लमुष्णपूपोपवेष्टितम् ।।१७५।।
यथाग्नि भक्षयेत् काले प्रभूतार्द्रकपेशिकम् । पिबेच्च निगदं मद्यं कफप्राये मदात्यये ।।१७६।।
सौवर्चलमजाजी च वृक्षाम्लं साम्लवेतसम् । त्वगेलामरिचार्धार्धं शर्करार्धांशगोजितम् ।।१७७।।
एतल्लवणमष्टाङ्गमग्निसंदीपनं परम् । मदात्यये कफप्राये दद्यात् स्रोतोविशोधनम् ।।१७८।।
एतदेव पुनर्युक्त्या मधुराम्लैर्द्रवीकृतम् । गोधूमान्नयवान्नानां मांसानां चातिरोचनम् ।।१७९।।
पेषयेत् कटुकैर्युक्तां श्वेतां बीजविवर्जिताम् । मृद्वीकां मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ।।१८०।।
सौवर्चलैलामरिचैरजाजीभृङ्गदीप्यकैः । स रागः क्षौद्रसंयुक्तः श्रेष्ठो रोचनदीपनः ।।१८१।।
मृद्वीकाया विधानेन कारयेत् कारवीमपि । शुक्तमत्स्यण्डिकोपेतं रागं दीपनपाचनम् ।।१८२।।
आम्रामलकपेशीनां रागान् कुर्यात् पृथक्-पृथक् । धान्यसौवर्चलाजाजीकारवीमरिचान्वितान् ।।१८३।।
गुडेन मधुयुक्तेन व्यक्ताम्ललवणीकृतान् । तैरन्नं रोचते दिग्धं सम्यग्भुक्तं च जीर्यति ।।१८४।।
रूक्षोष्णेनान्नपानेन स्नानेनाशिशिरेण च । व्यायामलङ्घनाभ्यां च युक्त्या जागरणेन च ।।१८५।।
कालयुक्तेन रूक्षेण स्नानेनोद्वर्तनेन च । प्राणवर्णकराणां च प्रघर्षणां च सेवया ।।१८६।।
सेवया वसनानां च गुरूणामगुरोरपि । संकोचोष्णसुखाङ्गीनामङ्गनानां च सेवया ।।१८७।।
सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च । मदात्ययः कफप्रायः शीघ्रमेवोपशाम्यति ।।१८८।।

कफज मदात्यय की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Alcoholism)–१. कफज मदात्यय की चिकित्सा में उल्लेखन (वमन) एवं उपवास (Fasting) कराना चाहिए ।

२. यदि रोगी तृष्णा (Morbid thirst) से पीड़ित हो तब उसे ह्रीबेर, बला, पृश्निपर्णी अथवा कण्टकारी (भटकटैया) साधित जल (षडंगपानीय विधि से साधित जल) पीने के लिए देना चाहिए । [पीने के लिए निर्दिष्ट द्रव्यों से पृथक्-पृथक् जल का निर्माण किया जा सकता है, अर्थात् एकल द्रव्य से सिद्ध जल अथवा सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर जल सिद्ध करें ।]

दुरालभा एवं मुस्तक अथवा मुस्तक एवं पित्तपापड़ा अथवा मुस्तक द्वारा षडंगपानीय विधि से साधित जल का प्रयोग दोषों के पाचनार्थ करना चाहिए ।

ये जल सभी प्रकार के मदात्यय में प्रयोग किये जाते हैं । इस जल के पीने से पिपासा एवं ज्वर का प्रशमन होता है । इसके साथ ही ये किसी भी प्रकार से हानिकारक नहीं हैं ।

३. यदि कफज मदात्यय का रोगी निराम हो तथा उसे भोजन करने की इच्छा हो तब उसे शर्करा अथवा मधु से निर्मित पुराने अरिष्ट अथवा सीधु में अजवाइन व सोंठ (शुण्ठी) चूर्ण के साथ सत्तू मिलाकर मधु के साथ रूक्ष तर्पण के रूप में पीने लिए देना चाहिए ।

कफज मदात्यय में उपयोगी अन्न-पान–१. यव एवं गेहूँ से निर्मित आहार द्रव्य (खाद्य पदार्थ) को कुलथी अथवा शुष्क मूली के स्वरस या यूष के साथ खाने के लिए देना चाहिए । कुलथी व मूली का यूष पतला हो, उसे कटु (कालीमिर्च चूर्ण आदि) व अम्ल द्रव्य (आमलकी स्वरस या खट्टे अनार के रस) अल्प मात्रा में डालकर संस्कारित किया गया हो तथा उसमें अल्प मात्रा में घृत भी मिला हो, ऐसा यूष रूक्ष यूष कहलाता है । ऐसे यूष के साथ यव एवं गेहूँ से बने हुए रोटी या भात का सेवन करना चाहिए ।

२. अम्ल द्रव्यों (खट्टे अनार के रस) द्वारा संस्कारित परवल का यूष अथवा आमलकी के यूष को त्रिकटु द्वारा संस्कारित कर यव के भात अथवा रोटी के साथ खाने के लिए देना चाहिए ।

३. अम्ल द्रव्यों द्वारा संस्कारित व्योष यूष (शुण्ठी, कालीमिर्च एवं पिप्पली के सम भाग से निर्मित यूष) अथवा अम्लवेतस का यूष अथवा रूक्ष एवं अम्ल द्रव्यों द्वारा संस्कारित बकरे का मांसरस अथवा रूक्ष एवं अम्ल द्रव्यों द्वारा संस्कारित जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन रोगी को कराना चाहिए । रूक्ष गुण उत्पन्न करने के लिए यूष अथवा मांसरस में घृत आदि स्निग्ध द्रव्यों का संयोग न करें ।

४. कफज मदात्यय में भुने हुए मांस का प्रयोग-कड़ाही या मिट्टी की बटलोई में द्रव रहित घी में भुने हुए मांस को पीस लें तथा उसमें कटु, अम्ल एवं लवण रस युक्त द्रव्यो को मिलाकर सेवन करें । अनुपान के रूप में मधु निर्मित मद्य का पान करें ।

५. भुने हुए मांस को पीस लें, उसमें कालीमिर्च का चूर्ण इतनी मात्रा में मिलावें कि उसका स्वाद पता चले, साथ में बिजौरा नीबू का रस, अजवाइन एवं शुण्ठी चूर्ण मिलाकर तथा उसमें खट्टे अनार का रस भी मिलावें । अब इन सभी द्रव्यों को पीसकर कल्क जैसा बना लें तथा इसे आटे के लोई में भरकर कचौड़ी बना लें । इसका सेवन अग्निबल के अनुसार उचित काल (भोजन काल=क्षुधा काल) में करें । ऊपर से निगद नामक मद्य का सेवन करें ।

Scanned by CamScanner

अष्टाङ्ग लवण–घटक द्रव्य-सौवर्चल लवण, अजाजी (जीरा), वृक्षाम्ल, अम्लवेतस-सभी द्रव्य- १-१ भाग, दालचीनी, छोटी इलायची एवं कालीमिर्च, प्रत्येक १/२-१/२ भाग, शर्करा (चीनी)- १ भाग।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। यह चूर्ण जाठराग्नि को अच्छी प्रकार से प्रदीप्त करता है, अर्थात् उत्तम अग्निदीपक व स्रोतोविशोधक है। इसका सेवन कफज मदात्यय में करना चाहिए।

इसी अष्टांग लवण को युक्तिपूर्वक मधुर एवं अम्ल द्रव्यों द्वारा द्रव रूप बनाकर प्रयोग करने से व्यक्ति को यव एवं गेहूँ से बने खाद्य पदार्थों एवं मांस सेवन के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। अर्थात् अष्टाङ्ग लवण की चटनी का सेवन यव आदि के द्वारा निर्मित रोटी अथवा मांस के साथ करना चाहिए।

मृद्वीका राग–बीज रहित श्वेत मुनक्का, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), सौवर्चल नमक, छोटी इलायची, कालीमिर्च, अजाजी (जीरा), दालचीनी, अजवाइन; इन सभी द्रव्यों को बिजौरा नीबू के रस अथवा अम्ल दाडिम स्वरस के साथ पीसकर चटनी (राग) बना लें। इस राग (चटनी) में मधु मिलाकर सेवन करें। इसके सेवन से भोजन के प्रति रुचि एवं अग्नि की वृद्धि होती है। अर्थात् यह उत्तम रोचन (Appetiser) एवं अग्निदीपक (digestive stimulant) है।

→ मृद्वीका राग के विधान की तरह ही कारवी की चटनी बनावें उसमें सुक्त (सिरका) एवं मत्स्यण्डिका (छोटे दानेदार राब) मिलाकर सेवन करें। यह राग (चटनी) अग्निदीपक एवं पाचक है। अर्थात् इसके सेवन से जाठराग्नि की वृद्धि एवं आहार का सम्यक् पाचन होता है।

→ धनियाँ, सौवर्चल लवण, अजाजी (जीरा), कारवी (मगरैल), कालीमिर्च; सभी द्रव्यों के चूर्ण बना लें। अब आम और आँवले को अलग-अलग पीसकर कल्क जैसा बना लें, उसमें धनियाँ आदि के चूर्ण मिला दें, साथ में गुड़ व मधु डालें। पश्चात् अच्छी प्रकार से मिश्रित कर लें। इसमें यथावश्यक खट्टे अनार का रस एवं सैन्धव लवण मिलावें ताकि इसका स्वाद कुछ अम्ल एवं लवण रस युक्त हो जाय। इस राग (चटनी) का सेवन आहार के साथ करना चाहिए। यह योग उत्तम रुचि उत्पादक एवं अन्न पाचक है। अर्थात् अन्न के साथ इसका सेवन करने से आहार का सम्यक् रूप से पाचन हो जाता है।

कफज मदात्यय में उपयोगी विहार–कफज मदात्यय में अधोलिखित विहार हितकारी होते हैं–

१. रूक्ष, उष्ण अन्न-पान का सेवन (Intake of food and drinks which are ununctuous and hot in potency)
२. उष्ण जल से स्नान करना (Hot water bath)
३. उचित रूप से व्यायाम (Physical exercise) एवं लंघन (उपवास) करना।
४. रात्रि जागरण, रूक्षस्नान एवं उबटन का प्रयोग (रूक्षस्नान-स्नान करते समय तैल का प्रयोग न करना)
५. प्राण व वर्ण वर्धक प्रघर्षणों के प्रयोग द्वारा। अर्थात् शरीर पर प्राणवर्धक एवं वर्णवर्धक (Promoters of life and complexion) चूर्णों की मालिश करना।
६. भारी एवं मोटे वस्त्रों को ओढ़ना।
७. शरीर पर अगर का मोटा लेप लगाना।
८. उष्ण एवं सुखकर अङ्गों वाली स्त्रियों का आलिङ्गन करना।
९. संवाहन कार्य में कुशल स्त्रियों द्वारा शरीर का संवाहन करना।

इन विहारों के समुचित सेवन से कफज मदात्यय शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है। ॥१६४-१८८॥

चक्रपाणि–'उल्लेखनेत्यादि' के द्वारा कफज मदात्यय की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **तृष्यते सलिलमिति**-षडङ्गपरिभाषा की विधि द्वारा साधित जल का प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए। ह्रीबेर साधित जल से यहाँ षडंग परिभाषा द्वारा साधित जल का ग्रहण है। **मधुप्रकृतिकं माधवम्**-मधु द्वारा निर्मित मद्य की संज्ञा 'माधव' दी गयी है।

व्योषप्रधानो यूषो व्योषयूषः–व्योष (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली) द्वारा निर्मित यूष 'व्योषयूष' कहलाता है। इसमें व्योष की मात्रा अधिक होती है।

निर्द्रववर्तितम् इति (पाठ भेद निरसवर्तितमिति)-द्रव की मात्रा कम करना, अर्थात् मांस के द्रवांश को सुखाकर कुछ कम कर लेना। जब रस भाग सूख जाय तब मांस को अच्छी प्रकार से सिल पर पीस लें, फिर उसमें कटु, अम्ल एवं लवण रस युक्त द्रव्यों को मिलाकर सेवन करें। यह एक प्रकार का सूखा व्यञ्जन है। **वृणुयादिति व्याप्नुयात्**-इस व्यञ्जन के खाने के बाद व्यक्ति को मधु निर्मित मद्य पीना चाहिये। वृणु=खाना।

Scanned by CamScanner

आर्द्रकपेशिका आर्द्रक दीर्घखण्डानि–अदरख के बड़े-बड़े टुकड़े (पाठ भेद से 'प्रभूतार्द्रकपेशिकम्' प्राप्त होता है-आर्द्रक के बड़े-बड़े कटे हुए टुकड़े अधिक मात्रा में मिलाकर)।

सौवर्चलमिति से अष्टांग लवण को बताया गया है। इस योग में दालचीनी, एला (छोटी इलायची) एवं कालीमिर्च; प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ भाग ग्रहण करें। शर्करा-पूर्व द्रव्यों के बराबर, अर्थात् १ भाग लें। इस प्रकार **अष्टाङ्ग लवण के घटक द्रव्य**, यथा-सौवर्चल लवण -१ भाग, अजाजी (जीरा)- १ भाग, वृक्षाम्ल- १ भाग, अम्लवेतस- १ भाग, दालचीनी-१/२ भाग, छोटी इलायची- १/२ भाग, कालीमिर्च- १/२ भाग, शर्करा- १ भाग लेकर चूर्ण बना लें।

कटुकैर्युक्तामिति किंचिदूषणाम्–कटु द्रव्यों (त्रिकटु) से युक्त करके अर्थात् इसमें अल्प मात्रा में त्रिकटु चूर्ण मिला लें।

श्वेतामिति–मुनक्का, कश्मीर में उत्पन्न होने वाली द्राक्षा को 'श्वेता' कहा गया है। श्वेता से वह मुनक्का जिसका बीज श्वेत होता है, का ग्रहण किया गया है। [मुनक्के के बीज (श्वेत बीज) को निकालकर गुद्दी को पृथक् कर लें। इस गुद्दी में त्रिकटु, सौवर्चल लवण, छोटी इलायची, कालीमिर्च, जीरा, दालचीनी, अजवाइन को मिलाकर नींबू के रस अथवा खट्टे अनार के रस के साथ सिल-बट्टे पर पीसकर कल्क जैसा (चटनी) बना लें। इसमें मधु मिलाकर सेवन करें।]

कारवीमिति स्वल्पद्राक्षाम्–छोटे आकार वाली द्राक्षा। **आम्रामलकयोः पेशीत्यनेन फलगतं सस्यं गृह्यते**-से आम्र एवं आँवला की गुठली रहित भाग (गुद्दी) का ग्रहण किया गया है।

संकोचोष्णसुखाङ्गीनां संकोचेन संश्लेषेण उष्णसुखमङ्गं यासां तासां– संकुचित, उष्ण एवं सुन्दर अंगो वाली स्त्री के आलिङ्गन से जिसका शरीर गरम एवं सुखकर हो जाय, ऐसी स्त्री का आलिङ्गन करना कफज मदात्यय में उपयोगी होता है। कुछ आचार्य संकोच से कुङ्कुम (केशर) का ग्रहण करते हैं, अर्थात् केशर के लेप से युक्त, उष्ण शरीर एवं सुखकर अङ्गों वाली स्त्री का आलिङ्गन करना। ॥१६४-१८८॥

विशेष (Comments)–'रूक्षेत्यादि' के द्वारा कफज मदात्यय की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। रूक्ष आदि अन्न-पान के सेवन से कफज मदात्यय शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है।

प्राणवर्णकराणां=प्राण वर्धक एवं वर्ण वर्धक उद्वर्तन का प्रयोग। अगुरोः कृष्णागुर्व्वनुलेपनस्य-काले अगर का लेप शरीर पर लगाना।

सुखशिक्षितहस्तानां स्त्रीणां संवाहनेन च–जो हाथ-पैर आदि अङ्गों को दबाने (संवाहन) में कुशल हो, ऐसी स्त्री द्वारा अङ्गों को दबवाना। –जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

यदिदं कर्म निर्दिष्टं पृथग्दोषबलं प्रति। सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं भिषग्विदा ॥१८९॥
यस्तु दोषविकल्पज्ञो यश्चौषधिविकल्पवित्। स साध्यानसाध्यवेद्व्याधीन् साध्यासाध्यविभागवित् ॥१९०॥

सान्निपातिक मदात्यय की चिकित्सा (Treatment of Sānnipātika Alcoholism)–अलग-अलग दोषों के बल के अनुसार जिस चिकित्सा क्रम का निर्देश पूर्व में किया गया है उसी के अनुसार चिकित्सक को दस प्रकार के सन्निपातज मदात्यय में भी योजना करनी चाहिए।

योग्य चिकित्सक–जो दोषों के विकल्प का ज्ञाता हो अर्थात् जो दोषों के ६२ भेदों का ज्ञान रखता हो, जो दोष विकल्प के अनुसार चिकित्सा के विकल्प (भेद) का ज्ञान रखने वाला हो तथा जो व्याधि की साध्यता एवं असाध्यता का ज्ञान रखता है वही चिकित्सक साध्य व्याधियों की चिकित्सा करने में समर्थ होता है।

चक्रपाणि–'यदिदमित्यादि' के द्वारा सान्निपातिक मदात्यय के चिकित्सा क्रम को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि वृद्ध दोषों से १३ प्रकार के सन्निपात होते हैं, यह बताया गया है फिर भी सभी प्रकार के मदात्यय त्रिदोषज होने से पूर्व में वातिक, पैत्तिक एवं श्लैष्मिक मदात्यय की जो चिकित्सा बतलायी गयी है वह एक दोषोल्वण सन्निपात की ही चिकित्सा है। इस प्रकार दो दोषों की उल्बणता, हीन, मध्य अधिक तथा सम सन्निपात भेद से जो दस शेष सन्निपात हैं उनको दृष्टिगत रखते हुए 'सन्निपाते दशविधे तद्विकल्प्यं' का प्रयोग किया गया है। हीन मध्य एवं अधिक दोषों से ६ प्रकार के सन्निपातज मदात्यय होते हैं तदनुसार उनकी चिकित्सा भी करनी चाहिए। सम सन्निपातज मदात्यय में तीनों दोषों को मिलाकर चिकित्सा करनी चाहिए। ॥१८-१९०॥

विशेष (Comments)–मदात्यय सामान्यतया एक त्रिदोषज व्याधि है। अतः वात, पित्त एवं कफ की उल्बणता के आधार पर इसके जो तीन भेद किये गये हैं वे एक दोषोल्बण सन्निपात ही हैं। शेष दो दोषों की उल्बणता से ३ तथा हीन, मध्य व अधिक भेद से-६ तथा सम सन्निपात- १, कुल १० बचते हैं, इन दस की चिकित्सा का यहाँ निर्देश है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए १३ प्रकार के सन्निपात का उल्लेख (नामोल्लेख) किया जा रहा है–

Scanned by CamScanner

१. वात वृद्ध, पित्त व कफ वृद्धतर
२. पित्त वृद्ध, कफ व वात वृद्धतर
३. कफ वृद्ध, वात व पित्त वृद्धतर
} द्व्युल्बण सन्निपात

४. वात व पित्त वृद्ध, कफ वृद्धतर
५. पित्त व कफ वृद्ध, वात वृद्धतर
६. कफ व वात वृद्ध, पित्त वृद्धतर
} एकोल्बण सन्निपात

क्रमांक	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम
१.	वात	पित्त	कफ
२.	वात	कफ	पित्त
३.	पित्त	कफ	वात
४.	पित्त	वात	कफ
५.	कफ	वात	पित्त
६.	कफ	पित्त	वात

हीन, मध्य, अधिक भेद से ६ प्रकार

सम सन्निपात–

वनानि रमणीयानि सपद्माः सलिलाशयाः । विशदान्यन्नपानानि सहायाश्च प्रहर्षणाः ।।१९१।।
माल्यानि गन्धयोगाश्च वासांसि विमलानि च । गान्धर्वशब्दाः कान्ताश्च गोष्ठ्यश्च हृदयप्रियाः ।।१९२।।
संकथाहास्यगीतानां विशदाश्चैव योजनाः । प्रियाश्चानुगता नार्यो नाशयन्ति मदात्ययम् ।।१९३।।
नाक्षोभ्य हि मनो मद्यं शरीरमविहत्य च । कुर्यान्मदात्ययं तस्मादेष्टव्या हर्षणी क्रिया ।।१९४।।
आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिः शमं याति मदात्ययः । न चेन्मद्यविधिं मुक्त्वा क्षीरमस्य प्रयोजयेत् ।।१९५।।
लङ्घनैः पाचनैर्दोषशोधनैः शमनैरपि । विमद्यस्य कफे क्षीणे जाते दौर्बल्यलाघवे ।।१९६।।
तस्य मद्यविदग्धस्य वातपित्ताधिकस्य च । ग्रीष्मोपतप्तस्य तरोर्यथा वर्षं तथा पयः ।।१९७।।
पयसाऽभिहते रोगे बले जाते निवर्तयेत् । क्षीरप्रयोगं मद्यं च क्रमेणाल्पाल्पमाचरेत् ।।१९८।।

हर्षोत्पादक चिकित्सा–रमणीय वन (सुन्दर वनों में विचरण करना), ऐसे सरोवर जिसमें कमल खिले हों, विशद अन्न-पान (Clean food and drinks), मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले सहायक, गन्धयुक्त वस्त्र एवं सुगन्धित पुष्पों की माला का धारण, स्वच्छ वस्त्र, गाने बजाने के शब्द, अपनी प्रेमिका के साथ बैठकर बातचीत करना, मन को प्रिय लगने वाली कथाएं, हँसी-मजाक एवं गीतों का भव्य आयोजन, प्रिय व अपने अनुकूल स्त्रियों का संयोग ।

ये सभी हेतु मदात्यय को दूर करने में सहायक होते हैं । अर्थात् इनके सेवन से मदात्यय रोग नष्ट हो जाता है ।

हर्षणी चिकित्सा का आधार–मद्य के सेवन से मन में क्षोभ एवं शरीर में उपघात होता है । परिणाम स्वरूप मदात्यय की उत्पत्ति होती है । इसलिए मदात्यय में हर्षणी (हर्षोत्पादक) चिकित्सा आवश्यक है ।

मदात्यय में दुग्ध का प्रयोग–उपर्युक्त चिकित्सा क्रमों के प्रयोग से मदात्यय रोग प्रशमित हो जाता है । यदि ऐसा नहीं होता, अर्थात् मदात्यय में लाभ नहीं मिलता है तब मद्यपान की विधि को छोड़कर दुग्ध पान की योजना करनी चाहिए ।

रोगी जब मद्यपान त्याग देता है तथा लङ्घन, पाचन, शोधन एवं शमन चिकित्सा द्वारा उसके शरीर में विद्यमान कफ क्षीण हो जाता है । परिणामस्वरूप शरीर दुर्बल एवं लघु (हलका) हो जाता है । ऐसी अवस्था में मद्य से विदग्ध एवं वातपित्त की वृद्धि से युक्त उस पुरुष के लिए दुग्ध उसी प्रकार लाभकारी है जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु की उष्णता से तप्त पुरुष के लिए वर्षा ।

क्षीरपान के द्वारा जब मदात्यय प्रशमित हो जाय तथा रोगी का बल बढ़ जाय तब क्रमशः अल्प-अल्प मात्रा में पुनः मद्य पीने के लिए देना चाहिये ।

[यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि बल की वृद्धि एवं मदात्यय शान्त हो जाने पर क्षीरपान का क्रम बन्द कर दें ।]

चक्रपाणि–'वनानीत्यादि' के द्वारा मदात्यय में प्रहर्ष उत्पन्न करने वाली चिकित्सा का अभिधान किया गया है । किस कारण से इसमें हर्षोत्पादक चिकित्सा की जाती है ? इसे यहाँ 'नाक्षोभ्येत्यादि' के द्वारा समझाया गया है । **मनः प्रीत्या शरीरप्रशमार्थं प्रहर्षणी क्रिया**

Scanned by CamScanner

कर्तव्येति भावः-मन में प्रीति उत्पन्न करने एवं शारीरिक दोषों का प्रशमन करने के कारण प्रहर्षणी (हर्षोत्पादक) चिकित्सा करनी चाहिए। 'लङ्घनैरित्यादि' के द्वारा क्षीर प्रयोग के विषय एवं गुण को बताया गया है। अर्थात् क्षीर (दुग्ध) का प्रयोग किस अवस्था में करना चाहिए एवं इसके गुण क्या हैं, का विवेचन किया गया है। 'पयसाऽभिहते इत्यादि' से क्षीरपान के द्वारा व्याधि के प्रशमित हो जाने तथा बल की वृद्धि हो जाने के बाद पुनः व्यक्ति को मद्यपान कराना चाहिए। अर्थात् मद्य का अभ्यास क्रमशः कराना चाहिए। क्रमेणेति=कालक्रमेण (समय के अनुसार क्रमशः)

अल्पाल्पमिति–थोड़ी-थोड़ी मात्रा में क्रमशः मद्य पीने के लिए देना चाहिए। ॥१९१-१९८॥

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। ध्वंसको विक्षयश्चैव रोगस्तस्योपजायते ॥१९९॥
व्याध्युपक्षीणदेहस्य दुश्चिकित्स्यतमौ हि तौ। तयोर्लिङ्गं चिकित्सा च यथावदुपदेक्ष्यते ॥२००॥
श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता। तन्द्रानिद्रातियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥२०१॥
हृत्कण्ठरोगः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः। तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षयलक्षणम् ॥२०२॥
तयोः कर्म तदेवेष्टं वातिके यन्मदात्यये। तौ हि प्रक्षीणदेहस्य जायेते दुर्बलस्य वै ॥२०३॥
बस्तयः सर्पिषः पानं प्रयोगः क्षीरसर्पिषोः। अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानान्यन्नपानं च वातनुत् ॥२०४॥
ध्वंसको विक्षयश्चैव कर्मणाऽनेन शाम्यति। युक्तमद्यस्य मद्योत्थो न व्याधिरुपजायते ॥२०५॥

सहसा मद्य सेवन से होने वाले रोग–मद्य त्याग करने के बाद यदि व्यक्ति अचानक अधिक मात्रा में मद्य का पान करने लगता है तब उसे **ध्वंसक** एवं **विक्षय** नामक व्याधि उत्पन्न हो जाती है। मदात्यय के कारण जिन व्यक्तियों का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया है उनमें यदि ये दोनों व्याधि उत्पन्न हो जाँय तब उनकी चिकित्सा अत्यन्त कष्टकारी होती है।

उन दोनों (ध्वंसक एवं विक्षय) के लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का यथावत् उपदेश आगे किया जा रहा है–

ध्वंसक के लक्षण–१. श्लेष्म प्रसेक (मुख से अत्यधिक लार का निकलना (Excessive salivation)। २. गले एवं मुख का सूखना (Dryness of the throat and mouth) ३. शब्द की असहिष्णुता (तेज आवाज को न सह पाना) ४. अत्यधिक निद्रा का आना (Excessive sleep) ५. अत्यधिक तन्द्रा का आना (Excessive drowsiness); ये सभी लक्षण ध्वंसक में पाये जाते हैं।

विक्षय के लक्षण–१. हृद् रोग (Heart disease), २. कण्ठगत रोग, ३. मोह (unconsciousness), ४. छर्दि (वमन-Vomiting), ५. शरीर में पीड़ा का होना (Pain in the Limb), ६. ज्वर (Fever), ७. तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना-Morbid thirst), ८. कास (खाँसी का आना-Cough), ९. शिरःशूल (Headache) ये सभी लक्षण विक्षय में पाये जाते हैं।

ध्वंसक एवं विक्षय की चिकित्सा–पूर्व में वातिक मदात्यय की जो चिकित्सा कर्म निर्दिष्ट है वही चिकित्सा इन दोनों (ध्वंसक एवं विक्षय) में भी इष्ट है। ये दोनों रोग विशेष रूप से क्षीण शरीर एवं दुर्बल पुरुष को होते हैं। [जिनका शरीर क्षीण (दुबला-पतला) है एवं जो दुर्बल (कमजोर-Weak) हैं उनको होते हैं।]

इस व्याधि की चिकित्सा में बस्ति (Medicated), सिद्ध घृत (Medicated ghee) का पान, दूध एवं घृत, अभ्यङ्ग (Massage), उद्वर्तन (उबटन), स्नान एवं वातनाशक अन्न-पान का सेवन करना चाहिए। इन कर्मों के प्रयोग से ध्वंसक एवं विक्षय नामक व्याधि का प्रशमन हो जाता है। युक्तिपूर्वक मद्य के सेवन से मद्यजनित व्याधियाँ नहीं उत्पन्न होती। ॥१९९-२०५॥

चक्रपाणि–'विच्छिन्नेत्यादि' के द्वारा निर्दिष्ट क्रम के विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न होने वाले दोष (विकार) का अभिधान किया गया है। अर्थात् मद्य त्याग के पश्चात् अचानक अतिमात्रा में मद्य सेवन करने से ध्वंसक एवं विक्षय नामक दो व्याधियाँ उत्पन्न होती है। इनके लक्षणों को आगे बताया गया है। ध्वंसक एवं विक्षय का उल्लेख आचार्य सुश्रुत ने भी किया है। कुछ आचार्य **"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि"** पाठ को श्लोक नं. १९९ के स्थान पर स्वीकार करते हैं। इसे स्वीकार करने पर ध्वंसक एवं विक्षय का अवरोध 'पानात्यय' में हो जाता है। 'तयोरित्यादि' से इन दोनों की चिकित्सा को बताया गया है। ये दोनों व्याधियाँ अत्यधिक क्षीण (Emaciated person) एवं अत्यन्त दुर्बल (बल से दुर्बल) व्यक्ति को होती हैं। इस आधार पर इसमें वात की प्रबलता होती है, ऐसा जानना चाहिए। युक्तमद्यस्येति-निर्दिष्ट विधि के अनुसार मद्य का पान करना। ॥१९९-२०५॥

निवृत्तः सर्वमद्येभ्यो नरो यश्च जितेन्द्रियः। शारीरमानसैर्धीमान् विकारैर्न स युज्यते ॥२०६॥

पूर्णमद्यत्याग से लाभ–जो जितेन्द्रिय पुरुष सभी प्रकार के मद्यों से निवृत्त है, अर्थात् किसी भी प्रकार के मद्य का पान नहीं करता है। वह बुद्धिमान पुरुष मद्यजनित शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से आक्रान्त नहीं होता।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–सर्वथा मद्यपरित्याग के फल को यहाँ 'निवृत्त इत्यादि' से स्पष्ट किया गया है। **जितेन्द्रिय इति विशेषण मद्यनिवृत्तावेव प्रयोजकम्**-इन्द्रियों पर संयम रखना (जितेन्द्रिय) इस विशेषता के कारण व्यक्ति मद्य त्याग की तरफ प्रवृत्त होता है, अर्थात् मद्य का सेवन नहीं करना। [प्रयोजक=कारण ।]

शारीरमानसैर्विकारैरिति–व्यक्ति जिस प्रकार का मद्य अति मात्रा में सेवन करता है तदनुसार उससे उत्पन्न होने वाले शारीर एवं मानस विकारों से युक्त नहीं होता, अन्य कारणों से उत्पन्न होने वाले शारीरिक एवं मानसिक व्याधिक व्याधियों में मद्य का त्याग करने से कोई लाभ नहीं होता।

न युज्यत इति–मद्य का त्याग करने से व्यक्ति मद्यजनित शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों द्वारा कभी आक्रान्त नहीं होता। ॥२०६॥

तत्र श्लोकाः–

यत्प्रभावा भगवती सुरा पेया यथा च सा। यद्द्रव्या यस्य या चेष्टा योगं चापेक्षते यथा ॥२०७॥
यथा मदयते यैश्च गुणैर्युक्ता महागुणा। यो मदो मदभेदाश्च ये त्रयः स्वस्वलक्षणाः ॥२०८॥
ये च मद्यकृता दोषा गुणा ये च मदात्मकाः। यच्च त्रिविधमापानं यथासत्त्वं च लक्षणम् ॥२०९॥
ये सहायाः सुखाः पाने चिरक्षिप्रमदा नराः। मदात्ययस्य यो हेतुर्लक्षणं यद् यथा च यत् ॥२१०॥
मद्यं मद्योत्थितान् रोगान् हन्ति यश्च क्रियाक्रमः। सर्वं तदुक्तमखिलं मदात्ययचिकित्सिते ॥२११॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस मदात्यय चिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया है–

१. भगवती सुरा के अपने प्रभाव अर्थात् सुरा की शक्ति, सुरापान के विधान (जिस प्रकार वह पी जाती है), जिन द्रव्यों के साथ इसका सेवन किया जाता है।
२. जिस प्रकार के लोगों के साथ बैठ कर जिस प्रकार की मदिरा पी जाती है।
३. सुरा का उचित प्रयोग (The method of its appropriate use)।
४. जिस प्रकार सेवन करने से यह मद (Intoxication) उत्पन्न करती है।
५. जिन गुणों के कारण यह महागुण वाली कही जाती है।
६. मद के लक्षण (Signs and Symptoms of Alcoholic intoxication), मद के तीन भेद तथा उनके अलग-अलग लक्षण।
७. सुरा (मद) के दोष (Adverse effect of Alcohol), सुरा के गुण।
८. त्रिविध मद्यपान गोष्ठी (सात्त्विक, राजस एवं तामस)
९. सत्त्व के अनुसार मद के लक्षण, मद्यपान गोष्ठी में सुखकर सहायक, जिन पुरुषों में देर से मद उत्पन्न होता है।
१०. मदात्यय के हेतु एवं लक्षण (Etiology, Signs and Symptoms of Alcoholism)।
११. जो मद्य जिस विधि से मद्यजनित रोगों को दूर करता है।
१२. मदात्यय रोग की चिकित्सा।

इन सभी विषयों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

चक्रपाणि–'यत्प्रभावेत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। यहाँ वर्णित विषय स्पष्ट हैं। ॥२०७-२११॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने मदात्ययचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के चिकित्सास्थान में 'मदात्ययचिकित्सा' नामक चौबीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

विशेष (Comments)–पाठ भेद से अध्यायान्त पुष्पिका में कुछ भिन्नता है, यथा-'इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने मदात्यय चिकित्सतं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः'। इस आधार पर यह पाठ दृढ़बल द्वारा प्रतिसंस्कारित है, ऐसा ज्ञात होता है। –जल्पकल्पतरु टीका में प्रतिपादित मूलपाठ से गृहीत।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरक भावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में मदात्यय चिकित्सा नामक चौबीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥२४॥

Scanned by CamScanner

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथातो द्विव्रणीयचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे द्विव्रणीय चिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि-मद्यमत्तस्य संप्रहारादिना व्रणोत्पत्तौ व्रणचिकित्सार्थं द्विव्रणीय उच्यते-मद्य से मत्त (उन्मत्त) व्यक्ति को विशेष रुप से प्रहार आदि के कारण (ठोकर लग जाने के कारण) व्रण उत्पन्न हो जाता है । अतः व्रण की चिकित्सा हेतु द्विव्रणीयचिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । ।।१-२।।

परावरज्ञमात्रेयं गतमानमदव्यथम् । अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमब्रवीत् ।।३।।
भगवन् ! पूर्वमुद्दिष्टौ द्वौ व्रणौ रोगसंग्रहे । तयोर्लिङ्गं चिकित्सां च वक्तुमर्हसि शर्मद! ।।४।।

विषयारम्भ-पर एवं अवर के ज्ञाता (आध्यात्मिक एवं भौतिक विषयों के ज्ञाता), जिनके मान, मद एवं व्यथा नष्ट हो गये हों, ऐसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से शिष्य अग्निवेश ने समय पाकर विनय पूर्वक यह कहा-हे आचार्य ! पूर्व वर्णित रोगसंङ्ग्रह नामक अध्याय (च.सू.अ. १९) में दो प्रकार के व्रणों का उल्लेख किया गया है । उन दोनों के लक्षण एवं चिकित्सा को बताने में आप सक्षम हैं । अतः प्रसन्नतापूर्वक इसका उपदेश कीजिए ।

चक्रपाणि-परः=मोक्ष । अवरं=द्रव्यादि, तज्जानातीति परावरज्ञः-परलोक (मोक्ष) एवं इह लोक (संसारिक विषयों) का जिसे ज्ञान है उसे 'परावरज्ञः' कहा गया है । यह विशेषण भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के लिए आया है ।

तयोर्लिङ्गं चिकित्सां चेत्यत्र हेतोरपि व्याधिगमकतया लिङ्गेनैव ग्रहणम्-'उन दोनों के लक्षण एवं चिकित्सा को' इससे यहाँ हेतु (Etiology) भी व्याधि गमक होने से 'लिङ्ग' के ही अन्तर्गत समावेशित हो जाता है, यह बताया गया है । अर्थात् लक्षण के ही अन्तर्गत हेतु का अन्तर्भाव कर लिया गया है । ।।३-४।।

विशेष (Comments)—**परं यतो यत् परमुत्कृष्टं यतो यदवरमपकृष्टं तदुभयज्ञम्**-उत्कृष्ट एवं अपकृष्ट दोनों का ज्ञाता । कठवल्ली में भी कहा गया है, यथा-"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसश्च परा बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिरिति ।।" [इन्द्रियों से प्रधान उनके विषय, विषय से प्रधान मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से परं अव्यक्त, परं अव्यक्त से प्रधान पुरुष होता है, पुरुष से प्रधान कुछ भी नहीं, उसी को काष्ठा एवं परागति भी कहते हैं ।]

भगवान् आत्रेय से अग्निवेश ने क्या कहा ? इसका उत्तर यहाँ 'भगवन्नित्यादि' के द्वारा दिया गया है । पूर्व वर्णित अष्टोदरीय नामक अध्याय में दो प्रकार के व्रणों का उल्लेख किया गया है-१. निज, २. आगन्तु; इन दोनों के लक्षण एवं चिकित्सा को बताने में आप (आत्रेय) समर्थ हैं, ऐसा अग्निवेश ने कहा ।

निर्णय सागर प्रेस द्वारा संपादित पाठ में चरक मूल-'अग्निवेशो गुरुं काले विनयादिदमब्रवीत्' वर्णित है, जबकि पाठभेद से 'अग्निवेशो गुरुं काले पूजयन्निदमब्रवीत्' प्राप्त होता है । यह भेद नरेन्द्रनाथसेन संपादित पाठ में प्राप्त होता है ।

इत्यग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् । यौ व्रणौ पूर्वमुद्दिष्टौ निजश्चागन्तुरेव च ।।५।।
श्रूयतां विधिवत् सौम्य! तयोर्लिङ्गं च भेषजम् । निजः शरीरदोषोत्थ आगन्तुर्बाह्यहेतुजः ।।६।।
वधबन्धप्रपतनाद्दंष्ट्रादन्तनखक्षतात् । आगन्तवो व्रणास्तद्वद्विषस्पर्शाग्निशस्त्रजाः ।।७।।
मन्त्रागदप्रलेपाद्यैर्भेषजैर्हेतुभिश्च ते । लिङ्गैकदेशैर्निर्दिष्टा विपरीता निजैर्व्रणैः ।।८।।

इस प्रकार अग्निवेश के वचनों को सुनकर गुरु ने कहा-पूर्व अध्याय (अष्टोदरीय) में जो व्रण के दो भेद-निज व आगन्तु, किये गये हैं । हे सौम्य! उन दोनों के लक्षण एवं चिकित्सा का विधिवत विवेचन मैं करने जा रहा हूँ, उसे सुनो-निज व्रण वातादि शारीर दोषों से उत्पन्न होता है, अर्थात् वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले व्रण को निज तथा बाह्य हेतुओं (आघात, आदि) से उत्पन्न होने वाले व्रण को 'आगन्तु' कहते हैं ।

आगन्तु एवं निज व्रण के हेतु (Etiology of Exogenous and Endogenous ulcers)—वध (Wound caused by stabbing), बन्धन (wound caused by tying with a rope, etc.), प्रपतन (ऊँची जगह से गिर पड़ना), दंष्ट्रा (सर्प आदि के दंश से), दन्त, नख, आदि के द्वारा कट जाने से जो व्रण उत्पन्न होता है उसे आगन्तु व्रण कहते हैं ।

Scanned by CamScanner

उसी प्रकार और भी दूसरे व्रण जो विष के स्पर्श, अग्नि से जल जाने एवं शस्त्र से कट जाने के कारण होते हैं। मन्त्रों के प्रयोग, विष नाशक औषधियों के लेप एवं औषध के प्रयोग से जो व्रण शान्त हो जाते हैं वे आगन्तु कहलाते हैं। इस व्रण के लक्षण शरीर के एक भाग में मिलते हैं। इस व्रण में निज व्रण से विपरीत लक्षण पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–दोष से यहाँ शारीर दोष का ही ग्रहण किया गया है फिर भी यहाँ शारीर शब्द का प्रयोग स्नायु क्लेद आदि में विद्यमान दोष के निराकरणार्थ किया गया है। निज व आगन्तु व्रण के भेद को यहाँ-'मन्त्रेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **निजैः सममागन्तवो व्रणा विपरीता मन्त्रादिभिर्भेषजैश्च, तथा हेतुभिश्च वधबन्धनादिभिः**– निज व्रण आगन्तु व्रण से भिन्न होते हैं, इनकी चिकित्सा मन्त्र आदि एवं विषनाशक औषधियों द्वारा की जाती है तथा इसके हेतु वध, बन्धनादि होते हैं।

आगन्तु व्रण के लक्षण शरीर के विशेष भाग में उत्पन्न होते हैं जहाँ चोट आदि लगती है, यथा-आगन्तु व्रण में पहले व्यथा उत्पन्न होती है, पश्चात् दोषों का प्रकोप होता है। निज व्रण में वातादि दोष पहले प्रकुपित होते हैं, पश्चात् वेदना उत्पन्न होती है। कहा भी गया है, यथा-"आगन्तुर्व्यथापूर्वमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति" (सू.अ. २०) इति। ॥५-८॥

व्रणानां निजहेतूनामागन्तूनामशाम्यताम्। कुर्याद्दोषबलापेक्षी निजानामौषधं यथा ॥९॥

आगन्तु व्रण की चिकित्सा–निज हेतुओं (वातादि कारणों) से उत्पन्न होने वाले आगन्तु व्रण यदि प्रशमित न हों तब दोष एवं बल का विचार करते हुए चिकित्सक निज व्रण में प्रयुक्त औषधियों द्वारा उसकी चिकित्सा करे।

चक्रपाणि–आगन्तु व्रण का विषय भिन्न होने से उसका यहाँ विस्तार नहीं किया गया है। अर्थात् शल्य तन्त्र का विषय होने से उसका यहाँ विस्तार नहीं किया है, फिर भी उसकी चिकित्सा का यहाँ संक्षेप में उल्लेख 'व्रणानामित्यादि' के द्वारा किया गया है। जब आगन्तु व्रण में निज हेतु संयुक्त हो (मिल) जाते हैं तब मन्त्रादि चिकित्सा के द्वारा उसका प्रशमन नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में निज व्रण में प्रयुक्त होने वाली औषधियों, जिनका उल्लेख आगे किया जायेगा, रोगी के बल एवं दोष का विचार करते हुए चिकित्सक को प्रयोग करनी चाहिए। अर्थात् आगन्तु व्रण में निज दोषों का अनुबन्ध होने पर मन्त्रादि चिकित्सा के साथ-साथ, निज व्रण की भी चिकित्सा विधि अपनानी चाहिए। आगन्तु व्रण की यह चिकित्सा तब करनी चाहिए जब उसकी चिकित्सा द्वारा व्रण ठीक न हो, यह अवस्था निज दोषों के अनुबन्ध के कारण उत्पन्न होती है। इसलिये यहाँ 'निजहेतूनामिति' शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् आगन्तु व्रण को निज हेतु से उत्पन्न बताया गया है। ॥९॥

यथास्वैर्हेतुभिर्दुष्टा वातपित्तकफा नृणाम्। बहिर्मार्गं समाश्रित्य जनयन्ति निजान् व्रणान्॥१०॥

निज व्रण के हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of the endogenous ulcers)–अपने-अपने हेतुओं द्वारा प्रकुपित (दूषित) वात, पित्त व कफ बाह्य मार्ग के आश्रित होकर व्यक्ति के शरीर में निज व्रण को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि–'यथास्वैरित्यादि' के द्वारा यहाँ निज व्रण के हेतु एवं संप्राप्ति का अभिधान किया गया है। यहाँ 'यथास्वैर्हेतुभिः' के द्वारा वातादि दोषों के स्वतंत्र प्रकोप को दर्शाया गया है। अर्थात् वातादि दोष स्वतंत्र रूप से प्रकुपित होते हैं, यह बताया गया है। दोषों का अपने-अपने प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित होना स्वतंत्र प्रकोप कहलाता है। अथवा इस वचन का अभिप्राय जो हेतु वातादि दोषों को प्रकुपित करते हैं वही निज व्रण के भी कारण हैं। व्रणों का फिर से कोई अन्य विशिष्ट हेतु नहीं है। सामान्यतया वातादि हेतुओं से व्रण में जो विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं वह संप्राप्ति भेद के कारण होता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१०॥

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावोऽतितीव्ररुक्। तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥११॥
संपूरणैः स्नेहपानैः स्निग्धैः स्वेदोपनाहनैः। प्रदेहैः परिषेकैश्च वातव्रणमुपाचरेत् ॥१२॥
तृष्णामोहज्वरस्वे(क्ले)ददाहदुष्टव्रवदारुणैः। व्रणं पित्तकृतं विद्यात्तन्यैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥१३॥
शीतलैर्मधुरैस्तिक्तैः प्रदेहपरिषेचनैः। सर्पिष्मानैर्विरेकैश्च पैत्तिकं शमयेद्व्रणम् ॥१४॥
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरकारी कफव्रणः ॥१५॥
कषायकटुरूक्षौष्णैः प्रदेहपरिषेचनैः। कफव्रणं प्रशमयेत्तथा लङ्घनपाचनैः ॥१६॥

वातज व्रण के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Vraṇa)–स्तब्ध (Firmly fixed-एक स्थान पर स्थित), स्पर्श में कठिन (Hard), अल्प स्राव युक्त (अत्यधिक धीमी स्राव वाला), तीव्र वेदना युक्त, सूई चुभोने जैसी वेदना का होना, व्रण प्रभावित भाग में स्फुरण (कम्पन-Throbbing) होना; व्रण का वर्ण श्याव (Brownish black colour) होता है। ये सभी लक्षण वातज व्रण में पाये जाते हैं।

वातज व्रण का चिकित्सा सूत्र (Treatment of Vātaja a Vraṇa)–वातज व्रण में सम्पूरण (Filling up the cavity of the ulcer-व्रण के छिद्र को भरना), स्नेहपान (oleation therapy), स्निग्ध स्वेदन (Fomentation), उपनाहन (उष्ण औषधियों का लेप लगाना), प्रदेह (Application of ointment) एवं परिषेक (Affusion) का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

पित्तज व्रण के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Vraṇa)—यह व्रण अधोलिखित लक्षणों वाला होता है-तृष्णा (रोगी को प्यास का अधिक लगना), मोह (unconsciousness), ज्वर (Fever), शरीर से या प्रभावित भाग से अत्यधिक पसीने का निकलना (Sweating), शरीर में अत्यधिक दाह का होना (Burning sensation), व्रण का दूषित होना (Putrification-व्रण में सड़न उत्पन्न होना), अवदारण (फटने जैसी पीड़ा का होना), पूति गन्ध एवं पूति स्राव का निकलना ।

पित्तज व्रण का चिकित्सा सूत्र (Treatment of Pittaja Vraṇa)—शीतल, मधुर रस युक्त एवं तिक्त द्रव्यों के कल्क (Paste) का व्रण स्थान पर लेप (प्रदेह) लगाना, इन्हीं गुण युक्त द्रव्यों के क्वाथ का शरीर पर छिड़काव (परिषेचन) करना, तिक्तादि पित्तशामक द्रव्यों से साधित घृत का पान एवं विरेचन कराना । इन सभी उपक्रमों का प्रयोग पित्तज व्रण में करना चाहिये ।

कफज व्रण के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Vraṇa)—इस व्रण से अत्यधिक मात्रा में पिच्छा स्राव (Slimy discharge) निकलता है । यह गुरु, स्निग्ध, स्तिमित (गीला), अल्प वेदना युक्त एवं पाण्डु (Pallor) वर्ण का होता है । यह अल्प क्लेद युक्त एवं चिरकारी (देर तक रहने वाला) होता है ।

कफज व्रण की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Vraṇa)—व्रण की चिकित्सा में कषाय, कटु, रूक्ष एवं उष्ण द्रव्यों के कल्क का शरीर पर (व्रण पर) लेप, इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ द्वारा परिषेचन, लंघन एवं पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'स्तब्ध इत्यादि' के द्वारा वातादि व्रण के लक्षण एवं चिकित्सा सूत्र को बताया गया है । **प्रदेहैः परिषेकैश्चेत्यत्र 'अस्निग्धैः' इत्यनुवर्तते**-वातज व्रण की चिकित्सा में यहाँ 'प्रदेहैः परिषेकैश्च' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ इसके साथ 'अस्निग्धैः' शब्द भी जोड़ना चाहिए । इस आधार पर यहाँ रूक्ष द्रव्यों के कल्क का लेप एवं रुक्ष द्रव्यों के क्वाथ का परिषेक कराने का भाव प्राप्त होता है । [जो कि उचित प्रतीत नहीं होता । नरेन्द्र नाथ सेन संपादित चक्रपाणि पाठ में-'स्निग्धैरित्यनुवर्तते' का प्रयोग किया गया है । अर्थात् स्निग्ध द्रव्यों के कल्क का लेप एवं स्निग्ध क्वाथ का परिषेक कराना, अर्थ प्राप्त होता है जो उचित प्रतीत होता है ।]

चिरं विकारं करोतीति चिरकारी–देर से विकार उत्पन्न करना, व्रण का अधिक समय तक बने रहना ।

संक्षेप में चिकित्सा सूत्र का अभिधान होना, सुविधा की दृष्टि से किया गया है, अर्थात् आसानी से विषय समझ में आने के लिए किया गया है । ॥११-१६॥

तौ द्वौ नानात्वभेदेन निरुक्ता विंशतिर्व्रणाः । तेषां परीक्षा त्रिविधा, प्रदुष्टा द्वादश स्मृताः ॥१७॥
स्थानान्यष्टौ तथा गन्धाः, परिस्रावाश्चतुर्दश । षोडशोपद्रवा दोषाश्चत्वारो विंशतिस्तथा ॥१८॥
तथा चोपक्रमाः सिद्धाः षट्त्रिंशत् समुदाहृताः । विभज्यमानाञ्शृणु मे सवनितान् यथेरितान् ॥१९॥

व्रणों के अन्य भेद–निज व आगन्तु भेद से व्रण दो प्रकार के होते हैं । वही व्रण (वे दोनों ही) अन्य भेदों के आधार पर २० प्रकार के बताये गये हैं । उन व्रणों की तीन प्रकार से परीक्षा की जाती है । १२ प्रकार के **दुष्ट व्रण** होते हैं ।

व्रण के ८ स्थान, ८ प्रकार के गन्ध, १४ प्रकार के परिस्राव (discharge), १६ प्रकार के उपद्रव (Complications), २४ प्रकार के दोष एवं ३६ प्रकार के सिद्ध उपक्रम (चिकित्सा) बताये गये हैं । इन सभी विषयों का विवेचन क्रमानुसार एक-एक करके क्रमशः किया जा रहा है । हे अग्निवेश! उसे सुनो-

चक्रपाणि–'तौ द्वावित्यादि' के द्वारा निज व आगन्तु व्रण के अन्य आधार पर किये गये भेदों को बताया गया है। विभिन्न कारणों के आधार पर इसके अनेक भेद हो जाते हैं ।

प्रकर्षेण दुष्टाः प्रदुष्टाः–दोष एवं धात्वादि का अत्यधिक दूषित होना प्रदुष्ट कहलाता है । दुष्ट व्रण की संख्या यहाँ १२ बतायी गयी है । ॥१७-१९॥

कृत्योत्कृत्यस्तथा दुष्टोऽदुष्टो मर्मस्थितो न च । संवृतो दारुणः स्रावी सविषो विषमस्थितः ॥२०॥
उत्सङ्ग्युत्सन्न एषां च व्रणान् विद्याद्विपर्ययात् । इति नानात्वभेदेन निरुक्ताः विंशतिर्व्रणाः ॥२१॥

नानात्व भेद से व्रण के २० भेद–१. कृत्य, २. उत्कृत्य, ३. दुष्ट, ४. अदुष्ट, ५. मर्माश्रित, ६. मर्म के आश्रित न रहने वाला, ७. संवृत, ८. असंवृत, ९. दारुण, १०. मृदु, ११. स्रावी, १२. अस्रावी, १३. सविष, १४. निर्विष, १५. विषम, १६. सम, १७. उत्सङ्गी १८. अनुत्सङ्गी, १९. उत्सन्न, २०. अनुत्सन्न । इस प्रकार नानात्व भेद से २० प्रकार के व्रणों का उल्लेख किया गया ।

चक्रपाणि–एते च व्रणभेदादयोऽग्रे कृत्योत्कृत्य इत्यादिना व्याक्रियन्ते-'कृत्योत्कृत्य इत्यादि' के द्वारा आगे व्रण के भेदादि का विशेष वर्णन किया गया है । कृत्य से यहाँ उस व्रण का ग्रहण किया गया है जो छेदन आदि उपक्रमों द्वारा चिकित्स्य हो, अथवा साध्य हो । उत्कृत्य

Scanned by CamScanner

व्रण-इस व्रण में छेदन, भेदन आदि क्रिया का प्रयोग नहीं किया जाता अपितु रोपण चिकित्सा की जाती है, अर्थात् व्रण् स्वयं फूटकर बह जाता है, पश्चात् उसमें शोधन एवं रोपण क्रिया की जाती है, अथवा 'कृत्य' से साध्य एवं 'अकृत्य' से असाध्य व्रण का ग्रहण किया गया है। [कहीं-कहीं 'कृत्योत्कृत्य' के स्थान पर 'कृत्याकृत्य' पाठ भी प्राप्त होता है।]। **कृत्यादयः षट् सविपर्यया एवोक्ता**-कृत्यादि ६ संख्या विपरीत क्रम के साथ पूरी होती है, यथा-कृत्य-उत्कृत्य (अकृत्य), दुष्ट-अदुष्ट, मर्माश्रित-मर्म अनाश्रित। इसी प्रकार संवृतादि ७ के विपरीतता के साथ १४ संख्या पूर्ण होती है, यथा-१. संवृत-असंवृत, २. दारुण-मृदु, ३. स्रावी-अस्रावी, ४. सविष-निर्विष, ५. विषम-सम, ६. उत्सङ्गी-अनुत्सङ्गी, ७. उत्सन्न-अनुत्सन्न।

उत्सन्न उद्गतमांसः-व्रण के ऊपर मांस का उठना। **उत्सङ्गी स्थूलपर्यन्त**-व्रण के चारो ओर का किनारा मोटा होना, अथवा जिस व्रण में पूय रूपी अवकाश बन गया हो, अर्थात् व्रण से पूय (Pus) निकलने के कारण मार्ग बन गया हो उसे उत्सङ्गी व्रण कहा जाता है।

सुश्रुतसंहिता में "तत्रातिसंवृतोऽतिविवृत्तः" (सू.अ. २२) इत्यादि के द्वारा जो दुष्ट व्रण के लक्षणों को बताया गया है वही अति संवृतादि का भी विषय है। इसलिये यहाँ दुष्ट व्रण में संवृत का भी ग्रहण करना चाहिए। ॥२०-२१॥

विशेष (Comments)-**कृत्यव्रण**-जो व्रण सुख साध्य हो, अर्थात् चिकित्सा के द्वारा आसानी से ठीक हो जाता हो। अथवा जिस व्रण की चिकित्सा हेतु छेदन, भेदन आदि क्रिया की आवश्यकता हो कृत्य कहा जाता है। इसके विपरीत लक्षणों वाला व्रण अकृत्य कहा जाता है। अकृत्योऽसाध्यः तद्विपरीतो याप्यः-'अकृत्य' को असाध्य कहते हैं, इसके विपरीत याप्य होता है। दुष्ट के विपरीत लक्षणों वाला अदुष्ट व्रण कहा जाता है।

मर्मस्थितस्तद्विपरीतस्त्वमर्मस्थितः-जो व्रण मर्म प्रदेश में हो उसे मर्माश्रित व्रण कहते हैं। इसके विपरीत अमर्माश्रित व्रण होता है। अर्थात् जो व्रण मर्म प्रदेश (स्थान) में न हो। नया, उसका विपरीत पुराण [नरेन्द्र नाथ सेन संपादित चरक पाठ में 'न च' के स्थान पर 'नवः' प्राप्त होता है।], **दारुण उत्सन्न** के विपरीत अदारुण उत्सन्न होता है। सविष के विपरीत निर्विष, विषम स्थित के विपरीत समस्थित, अस्रावी उत्संग का विपरीत स्रावी उत्संग होता है। इस प्रकार कृत्यादि १० के विपरीत लक्षणों वाले १० व्रण होते हैं। कुल मिलाकर नानात्व भेद से इनकी संख्या २० हो जाती है।

१. कृत्य (सुख साध्य) व्रण- कृच्छ्र साध्य व्रण
२. अकृत्य (असाध्य) व्रण- याप्य व्रण
३. दुष्ट व्रण- अदुष्ट व्रण
४. मर्माश्रित व्रण- अमर्माश्रित व्रण
५. नवीन व्रण- पुराण व्रण
६. संवृत व्रण- असंवृत व्रण
७. दारुण उत्सन्न व्रण- अदारुण उत्सन्न व्रण
८. सविष व्रण- निर्विष व्रण
९. विषम स्थित व्रण- सम स्थित व्रण
१०. अस्रावी उत्सङ्ग व्रण- स्रावी उत्सङ्ग व्रण

-जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृता। वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्॥२२॥
हेत्वार्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद्बुधैः। स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये॥२३॥

परीक्षा के प्रकार (Methods of Examination)-व्रण की परीक्षा तीन प्रकार से की जाती है, यथा- दर्शन (Inspection) [रोगी को देखकर या व्रण को देखकर], प्रश्न के द्वारा अर्थात् रोगी से प्रश्न पूछकर (Interrogation) तथा स्पर्श के द्वारा, अर्थात् रोगी के प्रभावित भाग को स्पर्श करके (Palpation)।

रोगी के वय (Age), वर्ण (Colour), शारीरिक बनावट (Physique) एवं इन्द्रियों की परीक्षा दर्शन (Inspection) द्वारा करनी चाहिए।

व्याधि के हेतु (Etiology), वेदना के स्वरूप का ज्ञान (Nature of the pain), सात्म्यता-असात्म्यता का ज्ञान एवं अग्निबल (Power of digestion and metabolism) का ज्ञान रोगी से प्रश्न पूछकर (Interrogation) करना चाहिए।

व्रण की मृदुता, शीतता तथा इसके विपरीत भाव कठोरता एवं उष्णता का ज्ञान (परीक्षा) स्पर्श द्वारा (By palpation) करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'दर्शनेत्यादि' के द्वारा त्रिविध परीक्षा को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होने से अनुमान गम्य हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय होने से उनकी परीक्षा अनुमान द्वारा की जाती है। फिर भी यहाँ उनकी परीक्षा से अधिष्ठान रूप इन्द्रिय का ग्रहण है, अर्थात् चक्षुरेन्द्रिय से आँख, घ्राणेन्द्रिय से नासिका, रसनेन्द्रिय से रसना (जिह्वा), श्रवणेन्द्रिय से बाह्य कर्ण एवं त्वगेन्द्रिय से त्वचा का ग्रहण होता है। अग्नि यद्यपि "अग्निं जरणशक्त्या" (वि.अ. ४) वचन से अनुमान का विषय है, यह कहा गया है फिर भी प्रश्न पूछकर अग्नि का ज्ञान किया जाता है। इसलिये अग्नि प्रश्न द्वारा ही परीक्षणीय है। [अग्नि की परीक्षा पाचन शक्ति के आधार पर की जाती है, जबकि पाचन शक्ति का अनुमान- रोगी से प्रश्न पूछकर करते हैं, यथा-तुम कितनी रोटी खाते हो ? उत्तर-आठ रोटी खाता हूँ। इस उत्तर से चिकित्सक यह अनुमान लगा लेता है कि रोगी की जाठराग्नि प्रबल है, अगर दुर्बल होती तो वह आठ रोटी नहीं खा पाता।]

सविपर्यये इति–मृदु व शीत के विपरीत कठिन एवं उष्ण भाव का ग्रहण होना, अर्थात् स्पर्शन के द्वारा व्रण की मृदुता, शीतता, कठिनता एवं उष्णता का ज्ञान होता है।

अनुमानं च यद्यपि परीक्षाधिकारे प्रोक्तं "द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च" (वि.अ. ४) इत्यादिना– यद्यपि अनुमान का विवेचन "द्विविधा परीक्षा ज्ञानवतां प्रत्यक्षमनुमानं च" के द्वारा त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीय विमान नामक अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। फिर भी यहाँ अनुमान व्यापार का प्रायः अभाव होने से उपयोग नहीं है, यह बताया गया है। अर्थात् व्रण की परीक्षा में इसका ज्यादा उपयोग नहीं होता, किन्तु दर्शनादि पूर्वक जो रोगी की परीक्षा की जाती है वह अप्रत्यक्ष रूप से अनुमान के अन्तर्गत समावेशित की गयी है। 'दर्शन' (Inspection) शब्द से यहाँ साक्षात् प्रत्यक्ष का ग्रहण किया गया है। उससे व्रणगत गन्ध ज्ञान के आधार पर की जाने वाली व्रण परीक्षण का भी ग्रहण होता है। स्पर्श परीक्षा भी प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत आती है फिर भी यहाँ उसका विशेष कथन व्रण में अति उपयोगी होने के कारण किया गया है। ॥२२-२३॥

श्वेतोऽवसन्नवर्त्माऽतिस्थूलवर्त्माऽतिपिङ्गरः। नीलः श्यावोऽतिपिडको रक्तः कृष्णोऽतिपूतिकः ॥२४॥
रोप्यः कुम्भीमुखश्चेति प्रदुष्टा द्वादश व्रणाः। चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा दोषाः कल्पान्तरेण वै ॥२५॥

बारह प्रकार के दुष्टव्रण–१. श्वेत (व्रण का श्वेत वर्ण का होना Paleness of the ulcer), २. अवसन्न वर्त्म (व्रण का किनारा धँसा हुआ होना-Depression of the margin of the ulcer), ३. अतिस्थूलवर्त्म (व्रणं का किनारा अधिक मोटा होना (Excessive thickness of the margin of the ulcer), ४. अतिपिङ्गर (व्रण का रंग अत्यधिक रक्त-पीत वर्ण हरताल के वर्ण जैसा होना, ५. नील वर्ण युक्त व्रण का होना, ६. श्याव (Blackish brown) वर्ण का होना, ७. अतिपिडक-व्रण में अत्यधिक पिडिकाओं का निकलना, ८. रक्तवर्ण युक्त व्रण का होना, ९. कृष्ण वर्ण युक्त व्रण का होना, १०. अतिपूतिक (व्रण से अत्यधिक पूय का निकलना), ११. रोप्य (रोपण करने योग्य व्रण), १२. कुम्भी मुख (पूय युक्त व्रण जिसमें पतला छिद्र हो अर्थात् नीचे पूय ज्यादा हो तथा निकलने का मार्ग पतला हो।)

ये १२ प्रकार के व्रण दुष्टव्रण कहे जाते हैं। दोषों की कल्पना-भिन्नता के कारण उन्हीं १२ भेदों के २४ भेद हो जाते हैं।

चक्रपाणि–'श्वेतोऽवसन्नेत्यादि' के द्वारा यहाँ विशेष रूप से १२ प्रकार के दुष्टव्रण का वर्णन किया गया है। रोप्य दुष्ट व्रण के लक्षण का ज्ञान तन्त्रान्तर में वर्णित लक्षणों के आधार पर करना चाहिए, यथा-**"रूढा रूढाः प्रकुप्यन्ति सान्तर्दोषाः पुनः पुनः। बहिः शुद्धा इवाभान्ति रोप्यास्ते संप्रकीर्तिताः" (भोज)** [बार-बार व्रण के रोपित हो जाने के बाद भी अन्तः दोषों के प्रकुपित होने से वह बार-बार उत्पन्न हो जाता है। व्रण बाहर से शुद्ध हो जाने के कारण इसका ऊपर से रोपण हो जाता है, जबकि अन्तः भाग अशुद्ध होने के कारण दोष पुनः प्रकुपित होकर व्रण को उत्पन्न कर देते हैं, ऐसे व्रण को 'रोप्य' कहते हैं।]

यहाँ वर्णित १२ प्रकार के दुष्ट व्रण जो श्वेतादि लक्षणों के आधार पर विभेदित हैं, पुनः अन्य कारणों के आधार पर २४ प्रकार के हो जाते हैं। अर्थात् कारणान्तर भेद से यही २४ प्रकार के हो जाते हैं, जिसे यहाँ चतुर्विंशतिरित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। कल्पान्तरेणेति व्रणदुष्टिकारककारणयोगभेदेन स्नायुक्लेदादिना भिद्यमानाश्चतुर्विंशतिभेदा भवन्तीत्यर्थः-व्रण दुष्टि के उत्पादक कारण एवं धातु आदि के योग के आधार पर दुष्ट व्रण के २४ भेद हो जाते हैं, यह अभिप्राय है। ॥२४-२५॥

त्वक्सिरामांसमेदोऽस्थिस्नायुमर्मान्तराश्रयाः। व्रणस्थानानि निर्दिष्टान्यष्टावेतानि संग्रहे ॥२६॥

व्रण के आठ आश्रय (स्थान)–संक्षेप में व्रण के ८ स्थान बताये गये हैं, यथा-१. त्वक् (Skin), २. सिरा (Vessels), ३. मांस (Muscle tissue), ४. मेद (Fat tissue), ५. अस्थि (Bones), ६. स्नायु (Ligaments), ७. मर्म (Vital organs), ८. अन्तराश्रय (कोष्ठ)।

चक्रपाणि–'त्वगित्यादि' के द्वारा व्रण के स्थान का निर्देश किया गया है। अन्तराश्रय से यहाँ 'कोष्ठ' का ग्रहण किया गया है। ॥२६॥

सर्पिस्तैलवसापूयरक्तश्यावाम्लपूतिकाः। व्रणानां व्रणगन्धज्ञैरष्टौ गन्धाः प्रकीर्तिताः ॥२७॥

Scanned by CamScanner

व्रण में मिलने वाले ८ प्रकार के गन्ध–१. सर्पि (व्रण में घृत के समान गन्ध का आना), २. तैल (तैलवत् गन्ध का आना), ३. वसा (वसा की गन्ध के समान गन्ध का निकलना), ४. पूय (व्रण से पूय की तरह दुर्गन्ध का निकलना-Smell of pus), ५. रक्त (रक्त के समान गन्ध), ६. श्याव (ताम्र के ऊपर दही के रगड़ने से जिस प्रकार की गन्ध निकलती है उसे श्याव गन्ध कहते हैं।), ७. अम्ल (अम्ल की तरह गंध का आना या सिरके जैसी गन्ध का आना), ८. पूति (सड़ी हुई गन्ध का आना)

चक्रपाणि–'सर्पिरित्यादि' के द्वारा व्रण में पाये जाने वाले गन्ध का निर्देश किया गया है। **श्यावगन्धं दध्यादेस्ताम्रघृष्टसमानं गन्धमाहुः**-दधि आदि अम्ल द्रव्यों को ताम्र पर रगड़ने से जिस प्रकार की गन्ध निकलती है, वैसे गन्ध का आना श्याव गंध कहा जाता है। कुछ आचार्य 'श्याव' के स्थान पर 'शावं' पाठ करते हैं। इस आधार पर **शवस्य गन्धः शावः** से शव (मुर्दे) के गन्ध के समान गन्ध का निकलना, अर्थ गृहीत है।

अम्लसहचरितगन्धोऽम्लगन्ध उच्यते–अम्ल द्रव्यों से जिस प्रकार की गन्ध निकलती है वैसी गंध का आना (खट्टी गंध) अम्लगंधि कहा जाता है। ॥२७॥

विशेष (Comments)–'श्यावगन्धि' धूएं के समान गंध का आना। (गंगाधर)

लसिकाःजलपूयासृग्घारिद्रारुणपिञ्जराः। कषायनीलहरितस्निग्धरूक्षसितासिताः ॥२८॥
इति रूपैः समुद्दिष्टा व्रणस्रावाश्चतुर्दश। विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ॥२९॥
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः। कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ॥३०॥
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः।

व्रणों से निकलने वाले चौदह प्रकार के स्राव–१. लसीका स्राव (लसीका के समान स्राव निकलना), २. जल स्राव (जल के समान स्राव का आना-Watery discharge), ३. पूयस्राव [पूय (pus) का स्राव होना], ४. असृग्स्राव (रक्त का स्राव होना), ५. हारिद्रा स्राव (हल्दी के वर्ण के समान स्राव का वर्ण होना), ६. अरुण वर्ण युक्त स्राव (हलके रक्त वर्ण का स्राव निकलना), ७. पिञ्जर स्राव (रक्त एवं पीत वर्ण मिश्रित स्राव का होना), ८. कषाय स्राव (काढ़े के सदृश वर्ण वाला-Brownish black colour), ९. नीले रंग का स्राव, १०. हरित स्राव (हरे वर्ण का स्राव निकलना), ११. स्निग्ध स्राव (Discharge of unctuous nature), १२. रूक्ष स्राव (Discharge of ununctuous nature), १३. सित स्राव (श्वेत वर्ण का स्राव), १४. असित स्राव (काले वर्ण का स्राव निकलना)।

व्रण के १६ उपद्रव (Sixteen Complications of Ulcers)–व्रण विशेषज्ञों द्वारा इसके १६ उपद्रव बतलाये गये हैं, जो अधोलिखित हैं, यथा-

१. विसर्प (Erysipelas)
२. पक्षाघात (Hemiplegia)
३. सिरास्तम्भ (Stiffness of the vessels)
४. अपतानक (Convulsions)
५. मोह (unconsciousness)
६. व्रण में वेदना का होना (Acute pain in ulcers)
७. उन्माद (Insanity)
८. ज्वर (Fever)
९. तृष्णा (प्यास का लगना-Morbid thirst)
१०. हनुग्रह (जबड़े का जकड़ जाना-Stiffness of the Mandible)
११. कास (Cough)
१२. छर्दि (वमन का होना-Vomiting)
१३. अतिसार (Diarrhoea)
१४. हिक्का (Hiccup)
१५. श्वास (Dyspnea)
१६. वेपथु (शरीर में कंपन का होना-Trembling)

चक्रपाणि– 'लसीकेत्यादि' के द्वारा व्रण से निकलने वाले विभिन्न प्रकार के स्रावों को बताया गया है। ॥२८-३०॥

स्नायुक्लेदात्सिराक्लेदाद्गाम्भीर्यात्कृमिभक्षणात् ॥३१॥
अस्थिभेदात् सशल्यत्वात् सविषत्वाच्च सर्पणात्। नखकाष्ठप्रभेदाच्च चर्मलोमातिघट्टनात् ॥३२॥
मिथ्याबन्धादति स्नेहादतिभैषज्यकर्षणात्। अजीर्णादतिभुक्ताच्च विरुद्धासात्म्यभोजनात् ॥३३॥
शोकात् क्रोधाद्दिवास्वप्राद्व्यायामान्मैथुनात्तथा। व्रणा न प्रशमं यान्ति निष्क्रियत्वाच्च देहिनाम् ॥३४॥
परिस्रावाच्च गन्धाच्च दोषाच्चोपद्रवैः सह। व्रणानां बहुदोषाणां कृच्छ्रत्वं चोपजायते ॥३५॥

व्रण के चौबीस दोष–१. स्नायु क्लेद (स्नायु के सड़ने से-Sloughing of Ligaments)

२. सिरा क्लेद (सिराओं में सड़न का उत्पन्न होना-Sloughing of vessels)

Scanned by CamScanner

३. गाम्भीर्य (व्रण का अवस्थान गम्भीर धातुओं में होना-Deep seated ulcer)
४. कृमि भक्षण (व्रण में कृमि का उत्पन्न होना-Appearance of Maggots)
५. अस्थिभेद (व्रण के पास की हड्डी के टूट जाने से)।
६. व्रण में शल्य (Foreign bodies) के रह जाने से।
७. विष का संयोग व्रण में होने पर (Presence of toxins)
८. विसर्पण स्वभाव होने से (यदि व्रण एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैल रहा हो)।
९. नखभेद (नख के अधिक कट जाने से) या लकड़ी के टुकड़े के धँसने से।
१०. त्वचा की रगड़ से होने वाले व्रण।
११. लोम घर्षण से उत्पन्न व्रण या व्रण पर रोम रगड़ खा रहे हों।
१२. मिथ्याबन्धन (व्रण का उचित बन्धन न करने से)।
१३. अति स्नेहन करने से (व्रण पर अत्यधिक तैल के प्रयोग से)
१४. अत्यधिक औषध प्रयोग द्वारा व्रण का अधिक कर्षण होने से, अथवा अत्यधिक औषधि खाने से रोगी का शरीर कृश हो जाने से।
१५. अजीर्ण (Indigestion),
१६. अतिभुक्त (अत्यधिक भोजन करने से)
१७. विरुद्ध भोजन करने से।
१८. असात्म्य भोजन करने से, अर्थात् अहितकर भोजन करने से।
१९. शोक के कारण (अत्यधिक चिन्तित रहने से)
२०. अत्यधिक क्रोध युक्त होना।
२१. दिवा शयन (दिन में सोने से)।
२२. व्यायाम (Excessive physical exercise)
२३. अत्यधिक मैथुन करना,
२४. निष्क्रिय रहने से (उचित चिकित्सा का प्रयोग न करने से)।

इन कारणों के विद्यमान रहने पर व्यक्ति के व्रण का रोपण नहीं होता, अर्थात् व्रण आसानी से ठीक नहीं होता।

व्रणों की कृच्छ्रसाध्यता–जिस व्रण में वातादि दोष अत्यधिक रूप से प्रकुपित हों तथा उसमें से अत्यधिक स्राव निकल रहा हो, गन्ध युक्त हो, उपद्रव युक्त हो तथा २४ व्रण दोषों से युक्त हो ऐसा व्रण कृच्छ्र साध्य होता है।

[जो व्रण वातादि दोषों से अत्यधिक दूषित हो, जिसमें उत्यधिक स्राव निकल रहा हो, जिसमें से गंध निकल रहा हो, जो व्रण उपद्रव युक्त हो तथा जो व्रण २४ दोषों से युक्त हो वह कृच्छ्रसाध्य होता है।]

चक्रपाणि–प्रकारान्तर से यहाँ व्रण के २४ दोषों को-स्नायुक्लेदादित्यादि के द्वारा बताया गया है। **अत्र नखकाष्ठप्रभेद एकमेव कारणम्**-यहाँ नख या काष्ठभेद से एक हेतु को बताया गया है। [नख या काष्ठ (लकड़ी का छोटा टुकड़ा) भेद (धंस जाना)]

चर्मलोमातिघट्टनं तु कारण द्वयम्-चर्म घट्टन (त्वचा की रगड़ से) एवं लोम घट्टन (बालों का रगड़ना); ये दो कारण हो जाते हैं। यदि व्रण की त्वचा बार-बार घिस कर छूट जाती है तब घाव जल्दी नहीं भरता। यही स्थिति बालों की रगड़ से भी होती है। **चिकित्सावर्जनीयत्वं निष्क्रियत्वम्**-व्रण उत्पन्न होने पर चिकित्सा न करना 'निष्क्रिय' कहलाता है, अर्थात् चिकित्सा न कराना भी एक हेतु है। ॥३१-३५॥

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः। धीमतोऽभिनवः काले सुखसाध्यः स्मृतो व्रणः ॥३६॥
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः। सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो निरुपक्रमः ॥३७॥

सुखसाध्य व्रण के लक्षण–१. जो व्रण त्वचा एवं मांस के आश्रित हो।
२. जो व्रण सुखकर देश (स्थान) में उत्पन्न हो, अर्थात् जहाँ से उसकी चिकित्सा आसानी से की जा सकती हो।
३. रोगी युवा हो (Young age of the patient)
४. व्रण का उपद्रव रहित होना।

Scanned by CamScanner

५. रोगी का बुद्धिमान होना अर्थात् रोगी बुद्धिमान हो ।

६. व्याधि का नवीन होना (Recent origin of the ulcer)

७. उचित काल में व्रण का होना ।

इन लक्षणों से युक्त व्रण सुख-साध्य होता है ।

असाध्य व्रण के लक्षण–सुख-साध्य व्रण के जो लक्षण यहाँ कहे गये हैं उनमें एक, दो या तीन गुणों (लक्षणों) की हीनता से (कमी से) व्रण **कृच्छ्र-साध्य** हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए । यदि व्रण में सुख-साध्यता के कोई भी लक्षण न मिलते हों तब उसे असाध्य समझना चाहिए । इस प्रकार के व्रण की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए या असाध्य की कोई चिकित्सा नहीं होती ।

चक्रपाणि–असाध्यो निरुपक्रम इति-असाध्य के कथन के बाद भी निरुपक्रम का अभिधान होना 'याप्य' के निषेधार्थ हुआ है, क्योंकि याप्य में चिकित्सा की जाती है तथा रोगी को आराम (लाभ) मिलता है, अर्थात् प्रत्याख्येय में उपक्रम कार्यकर नहीं होता । ॥३६-३७॥

व्रणानामादितः कार्यं यथासन्नं विशोधनम् । ऊर्ध्वभागैरधोभागैः शस्त्रैर्बस्तिभिरेव च ॥३८॥
सद्यः शुद्धशरीराणां प्रशमं यान्ति हि व्रणाः ।

व्रण की चिकित्सा (Treatment of Ulcers)

शोधन चिकित्सा (Elimination Therapy)–सभी प्रकार के व्रणों में सर्वप्रथम शोधन कराना चाहिए । यह शोधन यथावश्यक रूप में कराना चाहिए, अर्थात् जो उपक्रम आवश्यक हो उसका प्रयोग कराना चाहिए । उपक्रमों (शोधन उपक्रमों) में- वमन, विरेचन, शस्त्र कर्म एवं बस्ति के प्रयोग द्वारा दोषों को आसन्न मार्ग (नजदीक के मार्ग) से बाहर निकालना चाहिए । [ऊर्ध्वगत दोषों को वमन द्वारा, अधोगत दोषों को विरेचन द्वारा तथा पक्वाशयगत दोषों को वस्ति द्वारा निकालना चाहिए तथा स्थानिक दोषों का निर्हरण शस्त्र कर्म द्वारा करना चाहिए ।]

शरीर के सद्यः शुद्ध हो जाने पर व्रणों का शीघ्र ही प्रशमन हो जाता है ।

चक्रपाणि–व्रण में ३६ उपक्रम रूपी चिकित्सा की जाती है । इस कथन से पूर्व संशोधन की प्रधानता को दिखाने के लिए अलग से 'व्रणानामित्यादि' के द्वारा शोधन चिकित्सा का उल्लेख किया गया है । ॥३८॥

विशेष (Comments)–अवसर प्राप्त होने पर ३६ उपक्रमों का विवेचन आगे किया जायेगा, लेकिन संशोधन चिकित्सा प्रधान होने के कारण अलग से उसका यहाँ विवेचन किया गया है ।

यथाक्रममतश्चोर्ध्वं शृणु सर्वानुपक्रमान् ॥३९॥
शोफघ्नं षड्विधं चैव शस्त्रकर्माविपीडनम् । निर्वापणं ससन्धानं स्वेदः शमनमेषणम् ॥४०॥
शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ सप्रलेपनौ । द्वे तैले तद्व्रणे पत्रं छादने द्वे च बन्धने ॥४१॥
भोज्यमुत्सादनं दाहो द्विविधः सावसादनः । काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने शुभे ॥४२॥
व्रणावचूर्णनं वर्ण्यं रोपणं लोमरोहणम् । इति षट्त्रिंशदुद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः ॥४३॥

व्रण के ३६ उपक्रम–इसके बाद व्रण के ३६ उपक्रमों का विवेचन किया जा रहा है-

१. शोफ नाशक उपक्रम, २-७. षड्विध शस्त्रकर्म, ८. अवपीडन, ९. निर्वापण (व्रणगत दाह को शान्त करने के लिये शीतल औषधियों के क्वाथ का प्रयोग व्रण प्रक्षालनार्थ करना । निर्वापण=विशेष रूप से शीतल उपचार), १०. सन्धानकर्म, ११. स्वेद (Fomentation), १२. शमन, १३. एषण (Probing), १४. शोधनकषाय, १५. रोपणकषाय, १६. शोधनप्रलेप, १७. रोपणप्रलेप, १८-१९. शोधन एवं रोपण गुणों से युक्त दो प्रकार के तैल या घृत, अर्थात् शोधन तैल एवं रोपण तैल । २०. शोधनघृत, २१. रोपणघृत, २२. बाह्य पत्र छादन (व्रण को ढकने के लिए पत्तों का प्रयोग), २३. आभ्यन्तर पत्र छादन, २४. बन्धन (दो प्रकार के बन्धन), २५. पथ्य भोजन, २६. उत्सादन (गम्भीर धातुओं में स्थित व्रण को बाहर निकालना या उठाना), २७-२८. दो प्रकार के दाहकर्म, २९. अवसादन (Removal of excessively projected tissues in the ulcer -उभरे हुए व्रण को नीचे बैठाना), ३०. कठिनता उत्पन्न करने वाले धूप, ३१. व्रण में मृदुता उत्पन्न करने वाले आलेप, ३२. मृदुता उत्पादक धूप, ३३. कठिनता उत्पन्न करने वाले आलेप, ३४. अवचूर्णन (प्राकृत वर्ण उत्पन्न करने वाले चूर्णों का व्रण पर छिड़काव (dusting), ३५. रोपण (घाव को भरने वाले) चूर्णों का छिड़काव, ३६. रोम उत्पन्न करने वाले चूर्ण का व्रण पर छिड़काव ।

इस प्रकार व्रण के ३६, उपक्रमों का यहाँ वर्णन किया गया ।

चक्रपाणि–'शोफघ्नमित्यादि' के द्वारा उपक्रमों का निर्देश किया गया है । **शोफघ्न उपक्रमो रक्तावसेकादिर्वक्ष्यमाणः**-शोफ नाशक उपक्रमों में-रक्तमोक्षण आदि का उल्लेख आगे किया जायेगा । **षड्विधं शस्त्रकर्मेति**-छः प्रकार के शस्त्र कर्म, यथा-पाटन आदि । शल्यतन्त्र

Scanned by CamScanner

में आहरण व एषण दो कर्म अधिक बताये गये हैं। इन दोनों का भी समावेश छः के ही अन्तर्गत हो जाता है, अथवा एषण (Probing) शस्त्रकर्म का अङ्ग है न कि शस्त्रकर्म, इसलिए वह अलग है।

अवपीडनं कल्कादिना आलेपनं पूयनिर्गमनार्थं वक्ष्यति–पूय (Pus) को निकालने के लिए व्रण पर कल्क आदि (औषधियों के कल्क) का लेप लगाना 'अवपीडन' कहलाता है। [Avapīḍāna implies the application of the paste of drugs because of whose compressing effect, the pus comes out of the ulcer or wound.– Dr. Bhagvan Das]

निर्वापणम् दाहौष्ण्यशमनम्–दाह एवं उष्णता शामक चिकित्सा।

शोधनौ रोपणीयौ च कषायौ स प्रलेपनौ इति–शोधन कषाय एवं रोपणीय कषाय, कषाय से क्वाथ (Decoction) का ग्रहण किया गया है। लेपन से व्रणशोधन लेप एवं व्रण रोपण लेप का ग्रहण है।

द्वै तैले तद्वृणे इति–यहाँ स्नेहत्व सामान्य से तैल से घृत का भी ग्रहण कर लिया गया है। उससे यद्यपि तैल व घृत शोधन-रोपण भेद से ४ प्रकार के हो जाते हैं (व्रणशोधकतैल, व्रणरोपणतैल, व्रणशोधकघृत, व्रणरोपणघृत) फिर भी शोधन एवं रोपण कर्म दो होने से तैल व घृत की चार संख्या को दो ही माना गया है। चरकसंहिता के काश्मीर पाठ में- 'दौ स्नेहौ तद्वृणौ' इति पठन्ति, पढ़ा गया है। पत्रछादन-व्रण को पत्र (पत्तियों) से ढकना, यह भी एक चिकित्सा है। छादन के दो भेद होते हैं-१. बाह्य छादन, २. आभ्यन्तर छादन, इसका वर्णन आगे किया जायेगा।

उत्सादनं निम्नव्रणोत्थानम्–धाव को ऊपर उठाना। **अवसादनम् उत्सन्नव्रणमांसक्षयकरम्**-उठे हुए व्रण के मांस को कम करना (Removing proud flesh by escharotic application-व्रण में मृत ऊतकों को औषधि के प्रयोग से हटाना, जिससे व्रण का शीघ्रता पूर्वक रोपण हो सके।)

काठिन्यमार्दवकरे धूपनालेपने इति–व्रण में कठिनता उत्पन्न करने वाला धूपन, आलेपन, उसी प्रकार मृदुता उत्पादक धूपन एवं आलेपन। इस प्रकार दो प्रकार के धूपन एवं दो प्रकार के आलेपन मिलाकर इनकी संख्या चार हो जाती है।

व्रण पर छिड़कने वाले चूर्ण (Powder) जिसे अवचूर्णन कहा गया है, दो प्रकार के होते हैं-१. त्वचा की वर्ण को सामान्य बनाने वाले चूर्ण जिसे त्वक् वर्णकर कहते हैं, २. रोमजनक -ये चूर्ण घाव भर जाने के बाद छिड़कने से त्वचा से रोम निकल आते हैं। इस प्रकार ३६ उपक्रमों का यहाँ उल्लेख कर दिया गया। **शल्यतन्त्रे तु षष्टिरुपक्रमा उक्तास्तेऽप्यत्रैवान्तर्भावनीयाः**– शल्य तन्त्र में जिन ६० उपक्रमों का वर्णन किया गया है उनका भी अन्तर्भाव ३६ में ही हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥३९-४३॥

पूर्वरूपं भिषग्बुद्ध्वा व्रणानां शोफमादितः। रक्तावसेचनं कुर्यादजातव्रणशान्तये ॥४४॥
शोधयेद्बहुदोषांस्तु स्वल्पदोषान् विलङ्घयेत्। पूर्वं कषायसर्पिर्भिर्जयेद्वा मारुतोत्तरान् ॥४५॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः। ससर्पिष्कैः प्रलेपः स्याच्छोफनिर्वापणः परम् ॥४६॥
विजया मधुकं वीरा बिसग्रन्थिः शतावरी। नीलोत्पलं नागपुष्पं प्रदेहः स्यात् सचन्दनः ॥४७॥
सक्तवो मधुकं सर्पिः प्रदेहः स्यात् सशर्करः। अविदाहीनि चान्नानि शोफे भेषजमुत्तमम् ॥४८॥

१. रक्तमोक्षण–व्रण के पूर्वरूप शोफ (Swelling) को देखकर के चिकित्सक को अजात व्रण (जो व्रण अभी उत्पन्न होने वाला है) की शान्ति हेतु सबसे पहले रक्तमोक्षण कराना चाहिए।

२. यदि शरीर में दोष अत्यधिक प्रकुपित हों तब रोगी का शोधन कराना चाहिए। अल्प प्रकोप की स्थिति में लङ्घन कराना चाहिए। यदि व्रण में वात की प्रधानता हो तब वातनाशक क्वाथ (Decoction) एवं घृतों का प्रयोग करना चाहिए।

३. न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पाकड़) एवं वेतस; सभी द्रव्यों की छाल को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस लेप में घृत मिलाकर शोथ पर लेप करें। इसके प्रयोग से शोथ बैठ जाता है अथवा प्रशमित हो जाता है।

–न्यग्रोधादि प्रलेप।

४. विजया, मुलेठी, वीरा (क्षीरकाकोली), बिसग्रन्थि (कमल की गांठ), शतावरी, नीलोत्पल, नागपुष्प (नागकेशर) एवं चन्दन; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क का लेप शोथ युक्त भाग पर करें। इसके प्रयोग से शोथ शान्त हो जाता है।

–विजयादि प्रदेह।

५. सत्तू, मधुक (यष्टीमधु), घृत एवं शर्करा द्वारा निर्मित प्रदेह (मोटा लेप) शोथ पर लगावें तथा रोगी को अविदाही अन्न का सेवन करावें।

इस प्रकार व्रण के पूर्वरूप (Premonitory signs and symptoms) -शोफ की चिकित्सा का अभिधान किया गया।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'पूर्वरूपमित्यादि' के द्वारा अवस्थानुसार व्रण की चिकित्सा को बताया गया है। शोथस्तु व्रणपूर्वरूपम्-व्रण के पूर्वरूप में शोथ (Swelling) का उत्पन्न होना। व्रण का पूर्वरूप होने के कारण व्रण की चिकित्सा के ही अन्तर्गत शोथचिकित्सा का वर्णन किया गया है। **कषायपानैः सर्पिर्भिश्चेति कषायसर्पिभिः**-वातनाशक कषाय (क्वाथ) एवं घृतों के पान द्वारा पहले वातिक शोथ का प्रशमन करना चाहिए। विजया=बला ॥४४-४८॥

विशेष (Comments)–**न्यग्रोधादीनां वल्कलं जलेन पिष्ट्वा घृतं मिश्रयित्वा प्रदेहःकार्यः सर्वशोफे**-सभी प्रकार के शोफ (Swelling) में न्यग्रोध (वट) आदि के वल्कल (छाल) को जल के साथ पीस कर गाढ़ा कल्क (Paste) बना लें व इस कल्क में घृत मिलाकर लेप करें। सत्तू से यहाँ यव आदि के सत्तू का ग्रहण किया गया है। अविदाही अन्न-पान का प्रयोग आमशोथ को दूर करने के लिए किया गया है, अर्थात् इसके सेवन से आमशोथ प्रशमित हो जाता है।

स चेदेवमुपक्रान्तः शोफो न प्रशमं व्रजेत्। तस्योपनाहैः पक्वस्य पाटनं हितमुच्यते ॥४९॥
तैलेन सर्पिषा वाऽपि ताभ्यां वा सक्तुपिण्डिका। सुखोष्णा शोफपाकार्थमुपनाहः प्रशस्यते ॥५०॥
सतिला सातसीबीजा दध्यम्ला सक्तुपिण्डिका। सकिण्वकुष्ठलवणा शस्ता स्यादुपनाहने ॥५१॥
रुग्दाहरागतोदैश्च विदग्धं शोफमादिशेत्। जलबस्तिसमस्पर्शं संपक्वं पीडितोन्नतम् ॥५२॥
उमाऽथो गुग्गुलुः सौधं पयो दक्षकपोतयोः। विट् पलाशभवः क्षारो हेमक्षीरी मुकूलकः ॥५३॥
इत्युक्तो भेषजगणः पक्वशोथप्रभेदनः। सुकुमारस्य, कृच्छ्रस्य शस्त्रं तु परमुच्यते ॥५४॥

१. **पाटन क्रिया**–यदि शोफ पूर्व उपक्रमों के द्वारा शान्त न हो तब उसे उपनाह के प्रयोग द्वारा पकावें पश्चात् उसका पाटन (Incision) करें, यही हितकर है।

२. **उपनाह**-आम शोथ (शोफ) को पकाने के लिए तैल या घृत अथवा दोनों में सत्तू घोलकर या मिलाकर पिण्ड बना लें। इस पिण्ड को कपड़े पर फैलाकर शोथ पर बाँधे। यह पिण्ड कुछ गुनगुना होना चाहिए। (उपनाह=Poultice)

३. **तिलादि उपनाह**-तिल, अतसी (तीसी=अलसी) बीज, खट्टी दही, किण्व (सुरा किट्ट) व कूठ डालकर बनायी सत्तू पिण्डिका का उपनाह आमशोथ पर करने से शोथ का पाचन (Suppuration) होता है, अर्थात् व्रण पक जाता है। तिलादि उपनाह आमशोथ को पकाने में श्रेष्ठ माना गया है।

पच्यमान व्रणशोथ के लक्षण–यदि व्रणशोथ में रुक् (वेदना-Pain), दाह (Burning sensation), राग (Redness-लालिमा) एवं तोद (Pricking pain-सुई चुभोने जैसी वेदना) आदि लक्षण मिल रहे हों तब व्रणशोथ पक रहा है, ऐसा समझना चाहिए।

पक्व व्रण के लक्षण–१. व्रणशोथ को स्पर्श करने पर जल से भरे हुए थैली की तरह प्रतीत होना, २. दबाने पर गड्ढा बनना। इन दो लक्षणों के मिलने पर यह जान लें कि व्रणशोथ पक गया है।

पक्व व्रण भेदक लेप–उमा (अलसी), गुग्गुलु, सौध (सेहुण्ड का दूध), दक्ष (मुर्गा) व कपोत (कबूतर) का बींट, पलाशक्षार, हेमक्षीरी (कड्डुष्ठ) एवं मुकूलक (दन्ती); ये औषधियाँ पक्व व्रण का भेदन करती हैं। सुकुमार पुरुषों में व्रण के भेदनार्थ इनका प्रयोग लेप आदि के रूप में करना चाहिए।

जो व्यक्ति सुकुमार नहीं है, अर्थात् शस्त्रकर्म को सह सकने में सक्षम हैं, उनमें शस्त्रकर्म का प्रयोग श्रेष्ठ बताया गया है।

चक्रपाणि–'उपनाह' से यहाँ उष्ण द्रव्यों के कल्क का गुनगुना मोटा लेप, अर्थ लिया गया है। [तैल आदि में सत्तू मिलाकर आटे के लोई (पिण्ड) जैसा बना लें। इसे थोड़ा गुनगुना करके आम व्रणशोथ पर लेप करें, अथवा महीन कपड़े पर फैलाकर शोथ के ऊपर बाँधें।] किण्व=सुराबीजं (सुराबीज)। उमा=अलसी। सौधं पयः=स्नुहीक्षीरम् (स्नुही का दूध)। हेमक्षीरी=कड्डुष्ठ। मुकूलकः=दन्ती। 'सुकुमारस्येति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। अर्थात् सुकुमार व्यक्तियों के पक्व व्रणशोथ के भेदन हेतु उमा, गुग्गुलु आदि द्रव्य जो यहाँ 'भेदनगण' के रूप में बताये गये हैं, उनका प्रयोग एकल या मिश्रित रूप से लेप आदि के रूप में करना चाहिए। कृच्छ्रस्येति=असुकुमार, जो व्यक्ति मानसिक रूप से बली हैं, उनमें शस्त्र के द्वारा व्रणशोथ (पक्व) का भेदन करना चाहिए। ॥४९-५४॥

जल्पकल्पतरु टीका–यदि व्रणशोफ में वेदना, दाह, राग (लालिमा) तथा तोद (चींटी काटने जैसी वेदना) हो तब व्रणशोथ पच्यमान (अर्धपक्व) है, ऐसा समझें। यदि शोथ जल से भरे थैले की भाँति स्पर्श करने पर प्रतीत हो एवं दबाने पर दब जाय तब पक्व समझना चाहिए। १. रक्तावसेचन, २. संशोधन, ३. लङ्घन, ४. कषायसर्पि पान, ५. निर्वापण, ६. पाचन; ये छः कर्म शोथ (शोफ) नाशक बताये गये हैं। 'उमेत्यादि' के द्वारा सुकुमार पुरुषों में पाटन कर्म को बताया गया है। उमा=अलसी। **सौधं सुधायाः पयः**=सेहुड़ का दूध। **दक्षस्य कुक्कुटस्य कपोतस्य पारावतस्य विट्**-मुर्गे एवं कपोत के पुरीष (विट्) का प्रयोग। स्वर्णक्षीरी=हेमक्षीरी। मुकूलक=दन्ती। इन औषधियों में से किसी एक का प्रयोग पक्व शोथ के मुख पर लेप लगाने से व्रण का मुख खुल जाता है, परिणामस्वरूप उससे पूय बाहर निकलने लगता है।

Scanned by CamScanner

पाटनं व्यधनं चैव छेदनं लेखनं तथा । प्रच्छनं सीवनं चैव षड्विधं शस्त्रकर्म तत् ।।५५।।

छः प्रकार के शस्त्रकर्म–व्रणशोथ की चिकित्सा में छः प्रकार के शस्त्रकर्म प्रयुक्त किये जाते हैं–

१. पाटन (पक्व व्रणशोथ को विदीर्ण करना या फाड़ना-Incision)

२. व्यधन (छिद्र बनाना-Puncturing)

३. छेदन (Excision-Cutting out of a part of the body)

४. लेखन (Scraping=खुरचना) ।

५. प्रच्छन (Scarification or rubbing)

६. सीवन (Suturing)

चक्रपाणि–'पाटनमित्यादि' के द्वारा छः प्रकार के शस्त्रकर्म का वर्णन किया गया है । इन छः में ही तिस्रैषणीय अध्याय (च.सू.अ. ११) में वर्णित दारण आदि कर्म जो अधिक बताये गये हैं, उनका समावेश हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए । उससे इसका विरोध नहीं है । ॥५५॥

नाडीव्रणाः पक्वशोथास्तथा क्षतगुदोदरम् । अन्तःशल्याश्च ये शोफाः पाट्यास्ते तद्विधाश्च ये ।।५६।।
दकोदराणि संपक्वा गुल्मा ये ये च रक्तजाः । व्यध्याः शोणितरोगाश्च विसर्पपिडकादयः ।।५७।।
उद्वृत्तान् स्थूलपर्यन्तानुत्सन्नान् कठिणान् व्रणान् । अर्शःप्रभृत्यधीमांसं छेदनेनोपपादयेत् ।।५८।।
किलासानि सकुष्ठानि लिखेल्लेख्यानि बुद्धिमान् । वातासृग्ग्रन्थिपिडकाः सकोठा रक्तमण्डलम् ।।५९।।
कुष्ठान्यभिहतं चाङ्गं शोथांश्च प्रच्छयेद्भिषक् । सीव्यं कुक्ष्युदराद्यं तु गम्भीरं यद्विपाटितम् ।।६०।।
इति षड्विधमुद्दिष्टं शस्त्रकर्म मनीषिभिः ।

१. पाटनकर्म के योग्य व्याधियाँ–अधोलिखित व्याधियों में पाटन कर्म (Incision) का प्रयोग करना चाहिए–

१. नाड़ीव्रण (Sinus), २. पक्व व्रणशोथ (Suppurated abscess or ulcer), ३. क्षतोदर (Intestinal perforation), ४. बद्धगुदोदर (Intestinal obstruction), ५. अन्तःशल्य, ६. इसी प्रकार के अन्य शोफ ।

२. व्यधनकर्म के योग्य व्याधियाँ–१. दकोदर (जलोदर-Ascites) २. पक्वगुल्म, ३. पक्व रक्तज गुल्म, ४. रक्तज व्याधियाँ, यथा-विसर्प, पिडका आदि, उन सभी में व्यधन कर्म करना चाहिए ।

३. छेदन के योग्य व्याधियाँ–१. जिन व्रणों के मुख पर मांस वृद्ध होकर ऊपर आ गया हो (Ulcer having over grown granulation tissue), २. स्थूल पर्यन्त (व्रण का किनारा मोटा होना), ३. उत्सन्न व्रण (व्रण का ऊपर की ओर उठना), ४. कठिन व्रण (व्रण का कठोर हो जाना), ५. अधिमांस (व्रण में अर्श के समान मांसांकुरों का निकलना । इन सभी व्याधियों में छेदन कर्म करना चाहिए।

४. लेखनकर्म के योग्य व्याधियाँ–किलास (Leucoderma) व कुष्ठ (Skin diseases including leprosy); इन दो व्याधियों में चिकित्सक को विशेष रुप में लेखनकर्म (Scraping) कराना चाहिए । इसके अतिरिक्त अन्य त्वक् संबन्धी रोगों में जो लेख्य हों, इसका प्रयोग करें ।

५. प्रच्छन्नकर्म के योग्य व्याधियाँ–वातरक्त (Gout), ग्रन्थि, पिडका (Pimples), कोठ (Urticaria), रक्त मण्डल, कुष्ठ, आघात युक्त अंग एवं शोथ; इन व्याधियों में प्रच्छन्नकर्म कराना चाहिए ।

६. सीवनकर्म के योग्य व्याधियाँ–कुक्षि एवं उदर आदि प्रदेश में स्थित गम्भीर व्रण जिसमें चीरा लगाया गया हो, उनमें सीवन कर्म करना चाहिए । इस प्रकार यहाँ मनीषियों द्वारा वर्णित छः प्रकार के शस्त्र कर्म का उल्लेख कर दिया गया ।

चक्रपाणि–नाड़ीव्रणा इत्यादि के द्वारा पाटनादि के योग्य व्याधियों का विवेचन पृथक्शः किया गया है । **संपक्वगुल्मा ये ते व्यध्याः**-जो गुल्म पक्व हों उनमें वेधन करना चाहिए या वे वेधन के योग्य होते हैं । **तथा ये च रक्तजा इति रक्तगुल्माः**-जिन गुल्मों की उत्पत्ति रक्त के दूषित होने से होती है उसे रक्तज गुल्म कहा गया है, उनमें भी वेधन कर्म कराना चाहिए । **शोणितरोगा विधिशोणितीयोक्ताः**-रक्तज रोगों का विवेचन च.सू.अ. २४ (विधिशोणितीय अध्याय) में किया गया है ।

व्यध्या इति सिराव्यधादिसाध्याः–सिरावेध आदि के द्वारा साध्य हैं, अर्थात् जो व्याधियाँ सिरावेध (रक्तमोक्षण) आदि के प्रयोग द्वारा साध्य हैं । **लेख्यानीति लेखनावस्था प्राप्तानि**-किलास एवं कुष्ठ के अतिरिक्त जो लेखन के योग्य हों, उनमें लेखन कर्म प्रशस्त होता है । ॥५६-६०॥

Scanned by CamScanner

सूक्ष्माननाः कोषवन्तो ये व्रणास्तान्प्रपीडयेत् ।।६१।।
कलायाश्च मसूराश्च गोधूमाः सहरेणवः । कल्कीकृताः प्रशस्यन्ते निःस्नेहा व्रणपीडने ।।६२।।

पीडन के योग्य व्रण–१. जिस व्रण का मुख अत्यन्त सूक्ष्म हो, २. जो व्रण कोषयुक्त हो (Expanded base or pouch formation), ऐसे व्रणों का पीडन (Compression) करना चाहिए ।

पीडनार्थ उपयोगी द्रव्य–कलाय (छोटी मटर), मसूर, गोधूम (गेहूँ) एवं हरेणु (मटर का भेद); इन द्रव्यों को जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें । स्नेह रहित इस कल्क का लेप व्रण के अवपीडनार्थ करें ।

चक्रपाणि–व्रणपीडने इति व्रणपीडनश्च लेपो निःस्नेहो व्रणमुखं वर्जयित्वा कर्तव्यः-स्नेह रहित इस व्रण पीडन लेप का प्रयोग व्रण के मुख (Opening) को छोड़कर लगाना चाहिए । ।।६१-६२।।

शाल्मलीत्वग्बलामूलं तथा न्यग्रोधपल्लवाः । न्यग्रोधादिकमुद्दिष्टं बलादिकमथापि वा ।।६३।।
आलेपनं निर्वपणं तद्विद्यात्तैश्च सेचनम् । सर्पिषा शतधौतेन पयसा मधुकाम्बुना ।।६४।।
निर्वापयेत् सुशीतेन रक्तपित्तोत्तरान् व्रणान् ।

शाल्मलीत्वक् (सेमल का छिलका), बलामूल, वट पत्र; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें । इस स्नेह रहित कल्क को व्रण पर अवपीडनार्थ लेप करें । यह योग अत्यन्त उत्तम योग है ।

निर्वापण–न्यग्रोध (वट) एवं बलामूल आदि द्रव्यों के कल्क का प्रयोग आलेप के रूप में अथवा इनके क्वाथ का प्रयोग व्रण को धोने के लिए अथवा परिषेक हेतु करना चाहिए अथवा शतधौत घृत, दूध अथवा यष्टीमधु साधित शीतल जल से रक्त एवं पित्त प्रधान व्रण का निर्वापण (Sprinkling) करें ।

चक्रपाणि–न्यग्रोधादिकमिति-'न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षवेतसवल्कलैः' के द्वारा वर्णित द्रव्यों-वट, उदुम्बर, पीपल, प्लक्ष एवं वेतस के कल्क का लेप अथवा इन द्रव्यों से सिद्ध जल का व्रण पर छिड़काव (निर्वापण-Sprinkling) करना चाहिए । जिसका विवेचन श्लोक नं. ४६ के प्रथम पाद में यहाँ किया गया है । बलादिकं का वर्णन 'विजयामधुकं वीरा' इत्यादि के द्वारा व्रणशोथ की चिकित्सा (श्लोक नं. ४७) में उपदिष्ट है । ।।६३-६४।।

लम्बानि व्रणमांसानि प्रलिप्य मधुसर्पिषा ।।६५।।
संदधीत समं वैद्यो बन्धनैश्चोपपादयेत् । तान्समान्सुस्थिताञ्ज्ञात्वा फलिनीलोध्रकट्फलैः ।।६६।।
समङ्गाधातकीयुक्तैश्चूर्णितैरवचूर्णयेत् । पञ्चवल्कलचूर्णैर्वा शुक्तिचूर्णसमायुतैः ।।६७।।
धातकीलोध्रचूर्णैर्वा तथा रोहन्ति ते व्रणाः ।

मांससंधान–यदि व्रण से मांस लटक रहे हों तब उसमें मधु व घृत का लेप लगाकर यथा स्थान स्थापित करके बाँध दें (Bandage के द्वारा बाँध दें) ।

अवचूर्णन–लटके हुए मांस जब अपने स्थान पर अच्छी तरह से स्थापित हो जाँय तब उसके ऊपर निम्नलिखित द्रव्यों के चूर्ण का अवचूर्णन (Dusting) करना चाहिये–

१. फलिनी, लोध्र, कट्फल, समङ्गा (मजीठ) एवं धातकी; के चूर्ण ।

२. पञ्चवल्कल (वट, पीपल, पाकड़, उदुम्बर एवं वेतस) चूर्ण के साथ शुक्ति भस्म (चूर्ण) मिलाकर ।

३. धातकीपुष्प व लोध्र के चूर्ण में शुक्ति भस्म (चूर्ण) मिलाकर ।

इन चूर्णों के अवचूर्णन से व्रण का शीघ्रतापूर्वक रोहण (Healing) होता है ।

चक्रपाणि–'लम्बानीत्यादि' के द्वारा संधान चिकित्सा का विवेचन किया गया है । शुक्तिः बदरिका=बेर का फल । ।।६५-६७।।

अस्थिभग्नं च्युतं सन्धिं संदधीत समं पुनः ।।६८।।
समेन सममङ्गेन कृत्वाऽन्येन विचक्षणः । स्थिरैः कवलिकाबन्धैः कुशिकाभिश्च संस्थितम् ।।६९।।
पट्टैः प्रभूतसर्पिष्कैर्बध्नीयादचलं सुखम् । अविदाहिभिरन्नैश्च पैष्टिकैस्तमुपाचरेत् ।।७०।।
ग्लानिर्हि न हिता तस्य सन्धिविश्लेषकारिका । विच्युताभिहताङ्गानां विसर्पादीनुपद्रवान् ।।७१।।
उपाचरेद्यथाकालं कालज्ञः स्वाच्चिकित्सितात् ।

Scanned by CamScanner

अस्थिसंधान–यदि व्यक्ति की हड्डी भग्न (टूट) हो जाय या संधि च्युत (अपने स्थान से हट जाय-Dislocation) हो जाय तब चिकित्सक को अन्य समान अङ्गों के साथ भग्न अस्थि अथवा अपने स्थान से हटी हुई हड्डी को बराबर करके स्थिर या च्युत भाग की कवलिका (Cotton pad) द्वारा बन्धन करे, अर्थात् टूटे हुए को बराबर करके उसके ऊपर Cotton pad लगाकर बांध दे। पश्चात् उसके ऊपर कुशा (Splint-A Strip of Wood for holding broken bone when set-कमठी-टूटी हुई हड्डी के बैठाने के लिए बाँधी जाने वाली खपाची) रखकर भग्न अस्थि या स्थान च्युत संधि को स्थिर (Fix) करें। अब इसके ऊपर अत्यधिक घृत चुपड़े हुए कपड़े की पट्टी को इस प्रकार बाँधें कि बन्धन स्थिर भी रहे तथा रोगी को कष्ट भी न हो। अर्थात् सुखकर बन्धन बाँधें जो अत्यधिक कसा न हो।

रोगी को आहार के रूप में अविदाही व पैष्टिक (चावल को आटे से निर्मित) आहार देना चाहिए। इन रोगियों में ग्लानि करना हितकर नहीं होता, क्योंकि इससे संधियों में विश्लेष उत्पन्न होता है, अर्थात् संधियाँ या अस्थियाँ आपस मे जुड़ नहीं पाती। (ग्लानि=मानसिक थकावट)।

[अस्थिभग्न या संधिच्युत (Dislocation) वाले रोगी को प्रसन्न रखना चाहिए।]

संधि च्युत एवं अस्थिभङ्ग के रोगियों में यदि विसर्प आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाय तब कालज्ञ चिकित्सक को उचित समय पर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् इन रोगियों की चिकित्सा करते समय यदि विसर्प आदि उपद्रव उत्पन्न हों तब अवस्था का विचार करते हुए चिकित्सक उनकी उचित चिकित्सा करे।

चक्रपाणि–समेन सममङ्गेन कृत्वेति समेनाविकृतेनान्येनाङ्गेन समं सदृशं कृत्वा संदधीतेति योज्यम्-अस्थिभङ्ग अथवा सन्धि च्युत में विकृति को सामान्य बना करके अर्थात् टूटे हुए अस्थि या संधि को अपनी सामान्य अवस्था में लाकर जोड़ देना चाहिए। कवलिका एवं कुशिका बन्ध के बारे में सुश्रुतसंहिता में देखना चाहिए।

विच्युताभिहताङ्गानामित्यादौ 'आनाहादीनुपक्रमान्' इति केचित् पठन्ति-कुछ आचार्य संधि च्युत एवं अस्थिभङ्ग के रोगी में आनाह आदि उपक्रमों का प्रयोग करना बताते हैं।

स्वाच्चिकित्सितादिति विसर्पादिचिकित्सितात्–विसर्प आदि उपद्रवों की चिकित्सा करनी चाहिए। (भग्न आदि में प्लास्टर लगाने से प्रभावित भाग में खुजली, जलन आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः अवस्था विशेष के अनुसार इनकी भी चिकित्सा करनी चाहिए। ॥६८-७१॥

शुष्का महारुजः स्तब्धा ये व्रणा मारुतोत्तराः। स्वेद्याः सङ्करकल्पेन ते स्युः कृशरपायसैः ॥७२॥
ग्राम्यबैलाम्बुजानूपैर्वेशवारैश्च संस्कृतैः। उत्कारिकाभिश्चोष्णाभिः सुखी स्याद्व्रणितस्तथा ॥७३॥
सदाहा वेदनावन्तो ये व्रणा मारुतोत्तराः। तेषामुमां तिलांश्चैव भृष्टान् पयसि निर्वृतान् ॥७४॥
तैनैव पयसा पिष्ट्वा कुर्यादालेपनं भिषक्। बला गुडूची मधुकं पृश्निपर्णी शतावरी ॥७५॥
जीवन्ती शर्करा क्षीरं तैलं मत्स्यवसा घृतम्। संसिद्धा समधूच्छिष्टा शूलघ्नी स्नेहशर्करा ॥७६॥
द्विपञ्चमूलक्वथितेनाम्भसा पयसाऽथवा। सर्पिषा वा सतैलेन कोष्णेन परिषेचयेत् ॥७७॥
यवचूर्णं समधुकं सतिलं सह सर्पिषा। दद्यादालेपनं कोष्णं दाहशूलोपशान्तये ॥७८॥
उपनाहश्च कर्तव्यः सतिलो मुद्गपायसः। रुग्दाहयोः प्रशमनो व्रणेष्वेष विधिर्हितः ॥७९॥

स्वेदन उपक्रम का प्रयोग–शुष्क, अत्यन्त वेदनायुक्त तथा स्तब्ध व्रण जिसमें वात की प्रधानता है, उसमें संकर स्वेद कराना चाहिए। इस हेतु कृशरा (खिचड़ी-Preparation of rice and mudga dāla), पायस (खीर) का प्रयोग करें एवं ग्राम्य पशु-पक्षियों के मांस, बिल में रहने वाले प्राणी, आनूप एवं जलीय प्राणियों के मांस से निर्मित वेसवार को कार्लीमिर्च आदि के द्वारा संस्कारित कर गरम-गरम उत्कारिका (लप्सी) जैसा बनाकर व्रण पर रखना चाहिए। इससे व्रण का सुखपूर्वक स्वेदन हो जाता है।

वात प्रधान व्रण में लेप का प्रयोग–व्रण में जब वात की प्रधानता हो तथा उसमें अत्यन्त वेदना हो रही हो साथ में दाह भी हो तब तीसी व तिल को भून कर दूध में भिगावें, पश्चात् उसे पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का लेप चिकित्सक को व्रण के ऊपर करना चाहिए।

शूलनाशक मलहर–बला, गुडूची, मधुक (यष्टीमधु), पृश्निपर्णी, शतावरी, जीवन्ती; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में शर्करा, दूध, तिल तैल, मत्स्य वसा (मछली की चर्बी) एवं घृत मिलाकर पकावें, जब पक जाय तब उसमें मोम (Wax) मिला दें। इस मलहर का नाम शूलघ्न स्नेह शर्करा है। इसका प्रयोग व्रणगत शूल में करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

परिषेचन–द्विपञ्चमूल (दशमूल) साधित जल (दशमूल के क्वाथ) अथवा दूध अथवा घृत अथवा तैल को गुनगुना (सुखोष्ण) करके व्रण का परिषेचन (Sprinkling) करना चाहिए । अर्थात् दशमूल घृत, तैल अथवा क्वाथ द्वारा व्रण को धोना चाहिए । ऐसा करने से व्रणगत वेदना शान्त हो जाती है ।

दाह व शूलनाशक आलेप–यव का चूर्ण, मधुक (यष्टीमधु) चूर्ण, काला तिल; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर घृत के साथ महीन पीसकर कल्क (Paste) बना लें । दाह एवं शूल की शान्ति हेतु इस कल्क का गुनगुना लेप व्रण पर करें ।

उपनाह–काला तिल व मुद्ग द्वारा पकायी गयी खीर का उपनाह (Poultice) व्रण पर करें । इसके प्रयोग से व्रणगत वेदना एवं दाह की शान्ति होती है ।

चक्रपाणि–'बला गुडूची' इत्यादि के द्वारा शूल नाशक मलहर (Ointment) का उल्लेख किया गया है । यहाँ बला आदि द्रव्यों का चूर्ण (मिश्रित)- १ भाग, शर्करा- १ भाग, दूध- १ भाग, तिल तैल- १ भाग, मछली की वसा- १ भाग, घृत- १ भाग, लेकर पाक करें, जब लप्सी जैसा बन जाय तब उसमें मधूच्छिष्ट (Wax-मोम) मिलावें । इस मलहर का लेप व्रणगत शूल में करें अथवा इसके द्वारा व्रण का स्वेदन करें ।

कुछ आचार्य बलादि कल्क व चतुर्गुण क्षीर से तैलादि स्नेह को सिद्ध करके, पश्चात् उसमें मधूच्छिष्ट (Wax) मिलाने का निर्देश देते हैं । यह स्नेह मधुशर्करा की तरह गाढ़ा हो जाने से स्नेहशर्करा के नाम से उपदेशित किया गया है ।

द्विपञ्चमूलक्वथितेनेति अम्भसा पयसा सर्पिषा तैलेन वेति योजनीयम्–इससे दशमूल साधित जल, अथवा दशमूल साधित क्षीर, दशमूल साधित तैल एवं घृत का ग्रहण करना चाहिए । ॥७२-७९॥

सूक्ष्मानना बहुस्रावाः कोषवन्तश्च ये व्रणाः । न च मर्माश्रितास्तेषामेषणं हितमुच्यते ॥८०॥
द्विविधामेषणीं विद्यान्मृद्वीं च कठिनामपि । औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैर्लोहानां वा शलाकया ॥८१॥
गम्भीरे मांसले देशे पाट्यं लौहशलाकया । एष्यं विद्याद्व्रणं नालैर्विपरीतमतो भिषक् ॥८२॥

एषण (Probing)–एषण (Probing) का प्रयोग निम्न अवस्थाओं में करना हितकर माना गया है-१. सूक्ष्म आनन (व्रण का मुख अत्यन्त पतला होना - Narrow opening), २. बहु स्रावा (जिस व्रण से अत्यधिक स्राव निकल रहा हो-Excessive secretion), ३. व्रण का कोष युक्त होना (Expanded base), ४. मर्मस्थान के आश्रित व्रण का न होना ।

एषणी के भेद–एषणी दो प्रकार की होती है, यथा-मृदु व कठिन । जो एषणी पौधों के कोमल तनों से बनायी जाती है वह मृदु कहलाती है तथा जिसका निर्माण लौह आदि धातुओं (Metals) द्वारा होता है वह कठिन (Hard) होती है ।

जो व्रण गम्भीर (deep seated) एवं मांसल धातुओं (मांसल प्रदेश) में स्थित हो उसका एषण लोहे की कठिन शलाका द्वारा करना चाहिए । इसके विपरीत जो व्रण मांसल प्रदेश में न स्थित हो, गम्भीरा न हो उसका एषण मृदु शलाका द्वारा करना चाहिए ।

चक्रपाणि–**द्विविधामित्यादौ औद्भिदैर्मृदुभिर्नालैः मृद्वीं, लोहैः कठिनाम्**-इसके द्वारा एषणी के दो भेदों को बताया गया है । पौधों की कोमल तनों द्वारा निर्मित एषणी मृदु तथा लौह आदि धातुओं द्वारा निर्मित एषणी कठिन होती है । **पाट्यमिति एषणीयं पाट्यं च**-व्रण के मार्ग की परीक्षा करना एवं उसे नष्ट करना, अर्थात् पाट्य से फाड़ना अर्थ लिया गया है । ॥८०-८२॥

पूतिगन्धान् विवर्णांश्च बहुस्रावान्महारुजः । व्रणानशुद्धान् विज्ञाय शोधनैः समुपाचरेत् ॥८३॥
त्रिफला खदिरो दार्वी न्यग्रोधादिर्बला कुशः । निम्बकोलकपत्राणि कषायाः शोधना मताः ॥८४॥
तिलकल्कः सलवणो द्वे हरिद्रे त्रिवृद्घृतम् । मधुकं निम्बपत्राणि प्रलेपो व्रणशोधनः ॥८५॥

व्रण शोधन–

१. अशुद्ध व्रण के लक्षण–१. व्रण से पूति (सड़े हुए पदार्थों के समान) गन्ध का आना (Putrid odour) ।

२. व्रण के ऊपर की त्वचा का रंग विकृत होना (Discolouration of skin) ।

३. व्रण से अत्यधिक स्राव का निकलना (Profuse discharge)

४. अत्यधिक वेदना का होना ।

चिकित्सक को उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर व्रण की अशुद्धता का ज्ञान करना चाहिए । ऐसे व्रणों को शोधन करने वाली औषधियों के क्वाथ आदि के प्रयोग से शुद्ध (Cleansed) करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

२. व्रणशोधक कषाय–हरीतकी, विभीतकी, आमलकी, खदिर, दार्वी (दारुहल्दी), न्यग्रोध (वट), पीपल, प्लक्ष (पाकड़), उदुम्बर एवं वेतस (पञ्च वल्कल की छाल), बला, निम्बपत्र, कुश, कोलक की पत्ती; इन द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) से व्रण का प्रक्षालन करने से व्रण शुद्ध हो जाता है, अर्थात् इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग व्रण शोधनार्थ करते हैं ।

व्रणशोधक प्रलेप–लवण मिश्रित तिल कल्क, हल्दी, दारूहल्दी, त्रिवृत् (निशोथ), यष्टीमधु (मुलेठी) एवं निम्ब पत्र; सभी द्रव्यों को पीस कर कल्क बना लें । इस कल्क में घृत मिलाकर व्रण के ऊपर प्रलेप लगावें । इस प्रलेप के प्रयोग से व्रण शुद्ध हो जाता है ।

चक्रपाणि–निम्बकोलकपत्राणि इति-निम्ब को ही यहाँ मृदुनिम्ब कोलक कहा गया है । इससे यहाँ नीम की कोमल पत्तियों का ग्रहण किया गया है, अथवा 'कोलक' के स्थान पर 'कुलक' पाठ स्वीकार करने पर पटोलपत्र का ग्रहण करना चाहिए, कुलकः=पटोल । ॥८३-८५॥

नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिश्यावो न चातिरुक् । न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥८६॥
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकदम्बप्लक्षवेतसाः । करवीरार्ककुटजाः कषाया व्रणरोपणाः ॥८७॥
चन्दनं पद्मकिञ्जल्कं दार्वीत्वङ्नीलमुत्पलम् । मेदे मूर्वा समङ्गा च यष्ट्याह्वं व्रणरोपणम् ॥८८॥
प्रपौण्डरीकं जीवन्ती गोजिह्वा धातकी बला । रोपणं सतिलं दद्यात् प्रलेपं सघृतं व्रणे ॥८९॥
कम्पिल्लकं विडङ्गानि वत्सकं त्रिफलां बलाम् । पटोलं पिचुमर्दं च लोध्रं मुस्तं प्रियङ्गुकम् ॥९०॥
खदिरं धातकीं सर्जमेलामगुरुचन्दने । पिष्ट्वा साध्यं भवेत्तैलं तत् परं व्रणरोपणम् ॥९१॥
प्रपौण्डरीकं मधुकं काकोल्यौ द्वे च चन्दने । सिद्धमेतैः समैस्तैलं परं स्याद्व्रणरोपणम् ॥९२॥
दूर्वास्वरसिद्धं वा तैलं कम्पिल्लकेन वा । दार्वीत्वचश्च कल्केन प्रधानं व्रणरोपणम् ॥९३॥
येनैव विधिना तैलं घृतं तेनैव साधयेत् । रक्तपित्तोत्तरं दृष्ट्वा रोपणीयं व्रणं भिषक् ॥९४॥

शुद्ध व्रण के लक्षण–१. जो व्रण अत्यधिक रक्त (Red) अथवा श्याव (Brownish black), अथवा पाण्डु (Pale) वर्ण का न हो। २. जिस व्रण में अत्यधिक वेदना न होती हो, ३. जो व्रण न तो अत्यधिक उठा हो एवं न तो अत्यधिक गतियुक्त हो । ऐसा व्रण शुद्ध कहा जाता है, उसमें रोपण उपक्रम का प्रयोग करना चाहिए ।

व्रणरोपण कषाय–न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल-Ficus religiosa Linn), कदम्ब (Anthocephalus indicus), प्लक्ष (पाकड़), वेतस (वेंत), करवीर (कनेर), अर्क (मदार) एवं कुटज; इन द्रव्यों का क्वाथ (Decoction) व्रणरोपण का कार्य करता है ।

व्रणरोपण प्रलेप–१. चन्दन, पद्मकिञ्जल (कमलकेशर), दार्वीत्वक् (दारुहल्दी की छाल), नीलकमल, मेदा, मूर्वा, समङ्गा (लज्जालु), यष्टीमधु (मुलेठी); सभी द्रव्यों की बराबर मात्रा से निर्मित क्वाथ एवं कल्क का प्रयोग व्रणरोपणार्थ करना चाहिए । क्वाथ (Decoction) का प्रयोग व्रण के प्रक्षालन हेतु एवं कल्क का प्रयोग प्रलेप के रूप में करें ।

२. प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ), जीवन्ती, गोजिह्वा, धातकी (धातकी पुष्प), बलामूल, काला तिल; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें । इस कल्क में कुछ घृत डालकर मिश्रित कर लें एवं इसका प्रलेप व्रण के ऊपर करें । इसके प्रयोग से व्रण का सम्यक् रूप से रोपण होता है ।

व्रणरोपण तैल–१. कम्पिल्लक, वायविडंग, वत्सक (कुटज की छाल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, बला, पटोल (परवल की पत्ती), पिचुमर्द (निम्बपत्र), लोध्र, मुस्तक, प्रियङ्गु, खदिर, धातकीपुष्प, सर्जरस (राल), एला (छोटी इलायची), अगुरु, लालचन्दन; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें तथा इस कल्क द्वारा तैल सिद्ध करें । यह सिद्ध तैल श्रेष्ठ व्रणरोपण है, अर्थात् इस तैल को व्रण के ऊपर लगाने से व्रण का रोपण अच्छी प्रकार से होता है । –कम्पिल्लकादितैल

२. पुण्डरिया काठ, मधुक (मुलेठी), काकोली, क्षीरकाकोली, श्वेतचन्दन एवं रक्तचन्दन; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क द्वारा सिद्ध तैल व्रणरोपण में श्रेष्ठ होता है । –प्रपौण्डरीकादितैल ।

३. दूर्वा स्वरस+दारुहल्दी के कल्क से सिद्ध तैल अथवा कम्पिल्लक स्वरस+दारुहल्दी के कल्क से सिद्ध तैल व्रण का उत्तम रोपण करता है ।

४. चिकित्सक को व्रण में रक्त एवं पित्त की उल्वणता को देखकर जिस विधि द्वारा तैल को सिद्ध किया गया है उसी विधि द्वारा सिद्ध घृत का प्रयोग व्रणों के रोपणार्थ करना चाहिए ।

चक्रपाणि–नातिरक्त इत्यादि के द्वारा शुद्ध व्रण के लक्षणों के विवेचन के बाद व्रणरोपण योगों का वर्णन किया गया है । न्यग्रोधेत्यादि से व्रणरोपण कषाय (Decoction) को स्पष्ट किया गया है ।

Scanned by CamScanner

कषाया इति–'कषाया व्रणरोपणाः' में बहुवचन का प्रयोग है, इससे न्यग्रोध आदि द्रव्यों के क्वाथ एकल अथवा संयुक्त रूप में प्रयोग करना चाहिए, यह भाव प्राप्त होता है ।

दार्व्यास्त्वक्–दारुहल्दी की छाल व्रण शोधन एवं रोपण दोनों कार्य करती है । **घृतं तैरेव साधयेदिति**-व्रणरोपण तैल को सिद्ध करने में जिन द्रव्यों का उपयोग किया गया है उन्हीं द्रव्यों द्वारा घृत को भी सिद्ध करना चाहिए । 'रक्तपित्तोत्तरमित्यादि' के द्वारा घृत के विषय को स्पष्ट किया गया है । यदि व्रण में रक्त एवं पित्त दोष की प्रधान दुष्टि है तब व्रणरोपण घृतों का प्रयोग करना चाहिए ।

रोपणीयमिति वचनाद्–इस वचन से 'यहाँ व्रणरोपण का कार्य घृत द्वारा कराना चाहिए, न कि व्रणशोधनार्थ घृत का प्रयोग करना चाहिए' अर्थ लिया गया है । ॥८६-९४॥

कदम्बार्जुननिम्बानां पाटल्याः पिप्पलस्य च । व्रणप्रच्छादने विद्वान् पत्राण्यर्कस्य चादिशेत् ।।९५।।
वार्क्षोऽथवाऽऽजिनः क्षौमः पट्टो व्रणहितः स्मृतः । बन्धश्च द्विविधः शस्तो व्रणानां सव्यदक्षिणः ।।९६।।

पत्र आच्छादन का प्रयोग–चिकित्सक को व्रण का आच्छादन-कदम्ब, अर्जुन, नीम, पाटला, पीपल एवं मदार के पत्रों द्वारा करना चाहिए, अर्थात् इन पत्रों को घी लगाकर हलका गरम कर लें, पश्चात् व्रण के ऊपर रखें या ढकें ।

व्रणबन्ध–वृक्षों की छाल, मृगचर्म अथवा रेशम के कपड़े की पट्टी का प्रयोग व्रण को बाँधने में करना चाहिए । व्रण में दो प्रकार के बन्धनों (वाम एवं दक्षिण) का प्रयोग हितकर माना गया है ।

चक्रपाणि–वृक्षभवं वल्कलं वार्क्षम्-वृक्ष से उत्पन्न होने वाली छाल को 'वार्क्ष' कहा गया है, अर्थात् वृक्षों की पतली छाल का प्रयोग व्रणबन्धन के रूप में करना चाहिए ।

सव्यदक्षिण इति–बन्धन के दो भेद बताये गये हैं-१. सव्य (वाम) २. दक्षिण । **वामपरिक्षेपः सव्यः**-बन्धन को बाँयी भाग से बाँधना या लपेटना वाम (सव्य) बन्ध तथा दाहिने भाग से बाँधना या लपेटना दक्षिण बन्ध कहलाता है । यहाँ शल्य तन्त्र में वर्णित १४ प्रकार के बन्धों का समावेश इसी दो के अन्तर्गत कर लिया गया है, ऐसा जानना चाहिए ॥९५-९६॥

लवणाम्लकटूष्णानि विदाहीनि गुरूणि च । वर्जयेदन्नपानानि व्रणी मैथुनमेव च ।।९७।।
नातिशीतगुरुस्निग्धमविदाही यथाव्रणम् । अन्नपानं व्रणहितं हितं चास्वपनं दिवा ।।९८।।
स्तन्यानि जीवनीयानि बृंहणीयानि यानि च । उत्सादनार्थं निम्नानां व्रणानां तानि कल्पयेत् ।।९९।।
भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमथोभागानि गुग्गुलुः । व्रणावसादनं तद्वत् कलविङ्ककपोतविट् ।।१००।।

व्रण में त्याज्य आहार-विहार–व्रण के रोगी को अधोलिखित अन्न-पान का त्याग करना चाहिए–

१. लवण, अम्ल, कटु, उष्ण, विदाही (शरीर में दाह उत्पन्न करने वाले) एवं गुरु (पचने में भारी अथवा जो शरीर में भारीपन उत्पन्न करें) अन्न-पान का सेवन ।

२. अत्यधिक व्यवाय अथवा मैथुन का सेवन ।

सेव्य आहार-विहार–न तो अत्यधिक स्निग्ध, न तो अत्यधिक शीतल, न तो अत्यधिक गुरु एवं अविदाही अन्न-पान का सेवन व्रण के रोगी को करना चाहिए, अर्थात् व्रण रोगी हेतु अनति स्निग्ध, शीत, गुरु एवं अविदाही अन्न-पान हितकर माना गया है । व्रण के रोगी को दिन में नहीं सोना चाहिए ।

उत्सादन चिकित्सा–जो व्रण नीचे की ओर धँसा हो उसे ऊपर उठाने के लिए स्तन्यजनक (दुग्धवर्धक), जीवनीय, एवं बृंहणीय गण की औषधियों का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इन गणों में पठित द्रव्यों के कल्क, क्वाथ द्वारा सिद्ध तैल अथवा घृत का प्रयोग करना चाहिए। इससे निम्न व्रण ऊपर की ओर उठ जाते हैं ।

अवसादन चिकित्सा (Removal of Excessive Granulation)–जब व्रण भरकर ऊँचा उठ गया हो तब उसके ऊपर भोजपत्र की गाँठ, अश्म कसीस, विरेचन कराने वाले द्रव्य, यथा-दंतीमूल, अमलतास तथा गुग्गुलु आदि द्रव्यों के कल्क (Paste) का लेप करना चाहिए। इसी प्रकार गौरेया अथवा कपोत विट् (पुरीष) के कल्क का लेप व्रण पर करने से व्रण का अवसादन होता है ।

चक्रपाणि–स्तन्यजनन, जीवनीय एवं बृंहणीय द्रव्यों (गणों) का वर्णन षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में किया गया है। अश्मकसीस से धातुकसीस का ग्रहण किया गया है । **अधोभागानि त्रिवृतादीनिविरेचनद्रव्याणि**-अधोभागहर से विरेचन कारक त्रिवृत् आदि द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए । ॥९७-१००॥

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु छिन्ने च्छेद्येऽधिमांसके । कफग्रन्थिषु गण्डेषु वातस्तम्भानिलार्तिषु ।।१०१।।

Scanned by CamScanner

गूढपूयलसीकेषु गम्भीरेषु स्थिरेषु च । क्लप्तेषु चाङ्गदेशेषु कर्माग्रेः संप्रशस्यते ।।१०२।।
मधूच्छिष्टेन तैलेन मज्जक्षौद्रवसाघृतैः । तप्तैर्वा विविधैर्लोहैर्दहेद्दाहविशेषवित् ।।१०३।।
रूक्षाणां सुकुमाराणां गम्भीरान्मारुतोत्तरान् । दहेत् स्नेहमधूच्छिष्टैर्लोहैः क्षौद्रैस्ततोऽन्यथा ।।१०४।।
बालदुर्बलवृद्धानां गर्भिण्या रक्तपित्तिनाम् । तृष्णाज्वरपरीतानामबलानां विषादिनाम् ।।१०५।।
नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च । सविषेषु च शल्येषु नेत्रकुष्ठव्रणेषु च ।।१०६।।

अग्निकर्म का प्रयोग–१. जिस व्रण से रक्त का अत्यधिक स्राव हो रहा हो, २. शरीर का कोई भाग कट जाने पर, ३. छेदन के योग्य रोगों में, ४. अधिमांस विकार (Muscular over growth), ५. कफजग्रन्थि, ६. गलगण्ड, ७. वात वृद्धि के कारण उत्पन्न जकड़ाहट, ८. वातिक वेदना ९. जिन व्रणों के भीतर पूय (Pus) एवं लसिका भरा हो, १०. गम्भीर (deep seated) एवं स्थिर व्रण तथा शरीर के वे भाग जो व्रण के कारण शून्य हो गये हों। इस प्रकार के व्याधियों में अग्निकर्म का प्रयोग करना विशेष हितकर होता है।

अग्निकर्म में उपयोगी द्रव्य–मधूच्छिष्ट (Wax-मोम), तैल, मज्जा (Bone marrow), मधु (Honey), वसा (Fat) अथवा घृत को तप्त करके अथवा अनेक प्रकार के लौह यन्त्रों को अग्नि पर तप्त (Red hot) करके अग्निकर्म विशेषज्ञ द्वारा अग्निकर्म (दाहकर्म) कराना चाहिए, अर्थात् अग्निकर्म विशेषज्ञ इन द्रव्यों की सहायता से अथवा यन्त्रों द्वारा अग्निकर्म करे।

अग्निकर्म के योग्य पुरुष–जो पुरुष रूक्ष शरीर वाले एवं कोमल प्रकृति (सुकुमार=कष्टों को न सह सकने वाले) वाले हैं, यदि इस प्रकार के पुरुषों में व्रण गम्भीर व वात प्रधान है तब उनमें स्नेह (घृत, तैल, वसा, मज्जा) एवं मधूच्छिष्ट (मोम) द्वारा दाह (अग्नि) कर्म करना चाहिए। इसके विपरीत जो रोगी स्निग्ध शरीर एवं क्लेशों को सह सकने में सक्षम हैं, व्रण अगम्भीर एवं कफ प्रधान हो उनमें लोहे के यन्त्र एवं मधु द्वारा अग्निकर्म करना चाहिए।

अग्निकर्म के अयोग्य रोग-रोगी–बालक, दुर्बल (जो शारीरिक रूप से कमजोर हों), वृद्ध, गर्भिणी स्त्री (Pregnant women), रक्तपित्त के रोगी, तृष्णा एवं ज्वर से पीड़ित व्यक्ति, स्त्रियाँ, विषरोग से पीड़ित व्यक्ति, स्नायु एवं मर्मस्थान में होने वाले व्रण, विषाक्त व्रण (जो व्रण विषाक्त बाण या गोली लगने से बना हो), नेत्रव्रण एवं कुष्ठ के व्रण; इस प्रकार के रोग एवं रोगियों में अग्निकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि–छेद्यो इति छेदनार्हे-छेदन के योग्य रोगियों में। क्लप्तेष्विति कर्तितेषु=शरीर के कटे हुए भाग पर। **रूक्षस्निग्धदाहभेदविषयं दाहकवस्तुभेदं च दर्शयन्नाह-सुकुमाराणामित्यादिना**-रूक्ष दाह एवं स्निग्ध दाह के योग्य रोग एवं रोगी के साथ-साथ दाहक वस्तुओं के भेद को यहाँ 'सुकुमाराणामित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

दाहविशेषविदिति दाहानां विशेषं स्निग्धरूक्षादिरूपं तथा विन्दुवलयादिरूपं जानातीति दाहविशेषवित्–स्निग्ध रूक्षादि रूप एवं विन्दु, वलय आदि रूप दाहकर्म (अग्निकर्म) का जिसे विशेष ज्ञान हो उसे दाहविशेषवित् (दाह विशेषज्ञ=अग्निकर्म विशेषज्ञ) कहते हैं। विषादिनामिति=विष आदि के सेवन से उत्पन्न व्रण। ।।१०१-१०६।।

रोगदोषबलापेक्षी मात्राकालाग्निकोविदः । शस्त्रकर्माग्निकृत्येषु क्षारमप्यवचारयेत् ।।१०७।।
कठिनत्वं व्रणा यान्ति गन्धैः सारैश्च धूपिताः । सर्पिर्मज्जवसाधूपैः शैथिल्यं यान्ति हि व्रणाः ।।१०८।।
रुजः स्रावाश्च गन्धाश्च कृमयश्च व्रणाश्रिताः । शैथिल्यं मार्दवं चापि धूपनेनोपशाम्यति ।।१०९।।

क्षारकर्म का प्रयोग–चिकित्सक व्याधि बल, दोषबल, मात्रा, काल एवं अग्नि का विचार करते हुए उन रोगियों में क्षार का प्रयोग करे जिसमें शस्त्रकर्म एवं अग्निकर्म निर्देशित है।

व्रण में धूपन का प्रयोग (Fumigation therapy)–सुगन्धित गन्ध एवं सार (विजय सार) आदि द्रव्यों के धूपन से व्रण में कठिनता (Hardness) उत्पन्न हो जाती है। घृत, वसा एवं मज्जा के धूपन से कठिन व्रण मृदु हो जाते हैं। धूपन के प्रयोग से व्रणगत रुजा (व्रण में होने वाली पीड़ा), स्राव (Discharge-व्रण से निकलने वाला स्राव), दुर्गन्धि (Foul odour), कृमि, शैथिल्य एवं मृदुता दूर हो जाती है।

चक्रपाणि–यद्यपि ३६ उपक्रमों में क्षार की गणना अलग से नहीं की गयी है, फिर भी शस्त्र एवं अग्नि कर्म की तरह कार्य करने से शस्त्र एवं अग्नि उपक्रम के अन्तर्गत ग्रहण करते हुए क्षार का भी प्रयोग करना चाहिए। ।।१०७-१०९।।

लोध्रन्यग्रोधशुङ्गानि खदिरस्त्रिफला घृतम् । प्रलेपो व्रणशैथिल्यसौकुमार्यप्रसाधनः ।।११०।।
सरुजः कठिनाः स्तब्धा निरास्रावाश्च ये व्रणाः । यवचूर्णैः ससर्पिष्कैर्बहुशस्तान् प्रलेपयेत् ।।१११।।
मुद्गषष्टिकशालीनां पायसैर्वा यथाक्रमम् । सघृतैर्जीवनीयैर्वा तर्पयेत्तानभीक्ष्णशः ।।११२।।

Scanned by CamScanner

व्रणकाठिन्यकर प्रलेप–लोध्र, वटशुङ्ग (leaf bud-वट की पत्रकलिका), खदिर, हरड़, बहेड़ा, आँवला; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इसमें घृत मिलाकर शिथिल एवं मृदु व्रण के ऊपर इसका प्रलेप करें। इस प्रलेप के प्रयोग से व्रण की शिथिलता एवं मृदुता दूर हो जाती है।

जो व्रण वेदना युक्त (Painful), कठिन (Hard), स्तब्ध (Stiff) एवं स्राव रहित (dry) हैं उन पर यव के चूर्ण में घृत मिलाकर बार-बार प्रलेप करना चाहिए।

व्रणतर्पण लेप–मुद्ग, साठी चावल एवं शाली चावल; इन द्रव्यों से अलग-अलग खीर तैयार करें। इस खीर (पायस) का क्रमशः सुखोष्ण लेप व्रण पर करें। [सर्वप्रथम मुद्ग पायस का लेप करें, तत्पश्चात् साठी चावल से निर्मित पायस का लेप करें, अन्त में शाली चावल के पायस का लेप करें।] अथवा जीवनीयगण की औषधियों से निर्मित कल्क में घृत मिलाकर, सुखोष्ण प्रलेप व्रण पर बार-बार करें। इस लेप के प्रयोग से व्रणगत रूक्षता दूर हो जाती है।

चक्रपाणि–तर्पयेदिति तर्पणार्थं लेपं कारयेत्-व्रण के तर्पणार्थ लेप का प्रयोग करना चाहिए। ॥११०-११२॥

ककुभोदुम्बराश्वत्थलोध्रजाम्बवकट्फलैः। त्वचमाश्वेव गृह्णन्ति त्वक्चूर्णैश्चूर्णिता व्रणाः ॥११३॥
मनःशिलैला मञ्जिष्ठा लाक्षा च रजनीद्वयम्। प्रलेपः सघृतक्षौद्रस्त्वग्विशुद्धिकरः परः ॥११४॥
अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च। करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि ॥११५॥
कालीयकनताम्रास्थिहेमकान्तारसोत्तमैः। लेपः सगोमयरसः सवर्णीकरणः परः ॥११६॥
ध्यामकाश्वत्थनिचुलमूलं लाक्षा सगैरिका। सहेमश्चामृतासङ्गः कासीसं चेति वर्णकृत् ॥११७॥
चतुष्पदानां त्वग्लोमखुरशृङ्गास्थिभस्मना। तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेल्लोमवती पुनः ॥११८॥
षोडशोपद्रवा ये च व्रणानां परिकीर्तिताः। तेषां चिकित्सा निर्दिष्टा यथास्वं स्वे चिकित्सिते ॥११९॥

१. **त्वक्जननयोग**–ककुभ (अर्जुन), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), लोध्र, जम्बु (जामुन), कट्फल (कायफल); इन वृक्षों की छाल को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का अवचूर्णन (dusting) व्रण के ऊपर करें। इसके प्रयोग से व्रण (घाव) के ऊपर की त्वचा शीघ्र उत्पन्न हो जाती है।

२. **त्वक्शुद्धिकरप्रलेप**–मनःशिला, एला (छोटी इलायची), मञ्जिष्ठा (मजीठ), लाक्षा, हल्दी, दारूहल्दी; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इसमें यथावश्यक मधु व घृत मिलाकर कल्क (Paste) जैसा बनाकर व्रण पर लेप करें। इसके प्रयोग से व्रणस्थान की त्वचा अपने स्वाभाविक (Normal) वर्ण में आ जाती है, अर्थात् त्वचा का वर्ण सामान्य हो जाता है।

३. अयोरज (लौह भस्म), हीरा कसीस, हरड़, बहेड़ा, आँवला एवं इसके पुष्प; इन द्रव्यों को लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस लेप का प्रयोग नयी त्वचा के ऊपर करना चाहिए। इसके प्रयोग से नयी त्वचा की श्वेत वर्णता दूर होकर सामान्य हो जाती है, अर्थात् कृष्ण वर्ण की हो जाती है।

४. कालीयक काष्ठ, नत (तगर), आम की गुठली, हेम (नागकेशर), कान्ता (मञ्जिष्ठा), रसोत्तम (पारा अथवा घृत); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोबर के रस में पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इसका प्रयोग व्रणस्थान पर उत्पन्न होने वाली नवीन त्वचा के ऊपर करें। यह योग त्वचा का वर्ण सामान्य बना देता है।

५. ध्यामक (सुगन्धितृण), अश्वत्थ (पीपल), निचुल (वेतस) का मूल, लाक्षा (कच्ची लाख), गैरिक, हेम (नागकेशर), अमृतासङ्ग (तुतिया) एवं कसीस; इन द्रव्यों से निर्मित लेप का प्रयोग व्रण की नवीन त्वचा पर करने से त्वचा का वर्ण सामान्य (कृष्ण) हो जाता है। इसलिये इसे वर्णकारक योग कहा गया है।

रोमसंजनन योग–चार पैर वाले प्राणियों की त्वचा (Skin), लोम (Hair), खुर (Hoof), शृंग (Horn) एवं अस्थि (Bones) की भस्म बनाकर रख लें। यदि व्रणस्थान की त्वचा पर रोम नहीं उगें है तब उसके ऊपर तैल चुपड़कर अस्थि आदि के भस्म को छिड़कें या dusting करें। कुछ दिन तक इस प्रयोग के करने से उस स्थान पर नवीन रोम उग जाते हैं।

उपद्रवों की चिकित्सा–व्रणों के जो १६ उपद्रव बताये गये हैं। उनकी चिकित्सा उन व्याधियों के अपने-अपने चिकित्सा प्रकरणों में बतायी गयी है।

चक्रपाणि–ककुभेत्यादि प्रकरण से यहाँ त्वग्जनन (त्वचा को उत्पन्न करने वाले), सवर्णकरण [त्वचा की असामान्य वर्ण को सामान्य (Normal) वर्ण में बदलने वाले, अथवा वर्ण को सामान्य बनाने वाले] एवं रोमजनन (रोम को उत्पन्न करने वाले) तीन उपक्रमों का अभिधान किया गया है।

Scanned by CamScanner

त्वचमाशु एव गृह्णन्तीति सत्वचो भवन्ति–व्रण के ऊपर की त्वचा का शीघ्र उत्पन्न होना, अर्थात् व्रण का रोहण होकर उसके ऊपर त्वचा का आ जाना। **त्रिफलाकुसुमानीति**-हरड़, बहेड़ा व आँवला तीनों के पुष्प। लता=प्रियङ्गु। कान्ता=मञ्जिष्ठा। 'रसोत्तमः' से पारद अथवा घृत अर्थ लिया गया है। अमृतासङ्ग=कर्परिका तुत्थ (नीलाथोथा)। ॥११३-११९॥

तत्र श्लोकौ–

द्वौ व्रणौ व्रणभेदाश्च परीक्षा दुष्टिरेव च। स्थानानि गन्धाः स्रावाश्च सोपसर्गाः क्रियाश्च याः ॥१२०॥

व्रणाधिकारे सप्रश्नमेतन्नवकमुक्तवान्। मुनिर्व्याससमासाभ्यामग्निवेशाय धीमते ॥१२१॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने द्विव्रणीयचिकित्सितं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–द्विव्रणीय नामक इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित नव विषयों को संक्षेप व विस्तार में शिष्य अग्निवेश के लिए बताया है–

१. दो प्रकार के व्रण (Two categories of ulcers)।

२. व्रण के भेद (Classification of ulcers)।

३. व्रण की परीक्षा (Examination of ulcers)।

४. व्रण की दुष्टि। (१२ प्रकार के दुष्ट व्रण)।

५. व्रण के स्थान (Location of ulcers)।

६. व्रणों के गंध (Odour of ulcers)।

७. व्रण से निकलने वाले स्राव (Discharge from ulcers)।

८. व्रण के उपद्रव (Complications)।

९. व्रण की चिकित्सा या उपक्रम।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत दृढबल द्वारा संपूरित चरक-संहिता के चिकित्सास्थान में द्विव्रणीयचिकित्सा नामक पच्चीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–द्वौ व्रणावित्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। ॥१२०-१२१॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में द्विव्रणीयचिकित्सा नामक पच्चीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥२५॥

Scanned by CamScanner

षड्विंशोऽध्यायः ।

अथातस्त्रिमर्मीयचिकित्सितमध्यायं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे त्रिमर्मीयचिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि-द्विव्रणीय नामक अध्याय में दो प्रकार के व्रणों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है, लेकिन यहाँ मर्म के तीन भेद- सिर (Head), हृदय (Heart एवं वस्ति (Urinary bladder) सम्बन्धित रोगों की चिकित्सा के अभिधानार्थ त्रिमर्मीय चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है ।

त्रिमर्मशब्देन हि त्रिमर्माश्रिता रोगास्तस्योपचारश्चाभिधीयते-त्रिमर्म शब्द से यहाँ त्रिमर्म (सिर, हृदय एवं वस्ति) के आश्रित होने वाले रोग एवं उनकी चिकित्सा को कहा गया है । उस त्रिमर्म के आश्रित होने वाले रोगों को अधिकृत करके की जाने वाली चिकित्सा को त्रिमर्मीय चिकित्सा कहते हैं, अर्थात् इस अध्याय में त्रिमर्म के आश्रित होने वाले रोगों की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । ।।१-२।।

सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेभ्यः । मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतानि वदन्ति तज्ज्ञाः ।।३।।

प्राणाश्रयात्, तानि हि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति । तत्संश्रितानामनुपालनार्थं महागदानां शृणु सौम्य रक्षाम् ।।४।।

त्रिमर्म का विवेचन-शारीरसंख्याशारीर (शा.अ. ७) नामक अध्याय में जिन १०७ मर्मों का उल्लेख किया गया है उन मर्मों में बस्ति, हृदय एवं सिर प्रधान होते हैं, ऐसा मर्म विशेषज्ञों का मत है । प्राण का आश्रय होने से, दोषों द्वारा उनके पीडित होने से वातादि दोष प्रकुपित होकर शीघ्र ही जीवन (प्राण) को नष्ट कर देते हैं । इसलिये हे सौम्य ! मर्माश्रित होने वाले महागद (महारोग) से प्राणों की सुरक्षा हेतु रक्षा उपायों को मैं बता रहा हूँ उसे सुनो-

चक्रपाणि-'सप्तोत्तरमित्यादि' के द्वारा प्रकृत (स्वाभाविक) रूप से प्रधान तीन मर्मों को बताया गया है । **शरीरसंख्यामधिकृत्येति**-'शारीरसंख्याशारीर (शा.अ. ७) में वर्णित विषयों को अधिकृत करके, यह अर्थ है, अर्थात् शरीरसंख्याशारीर में जिन १०७ मर्मों का वर्णन किया गया है उन मर्मों में प्रधान-सिर, हृदय एवं बस्ति माने गये हैं, या होते हैं ।

'प्राणाश्रयादिति' के द्वारा हृदयादि मर्मों की प्रधानता में हेतु (कारण) को स्पष्ट किया गया है । **हृदयादीनां प्राणाश्रयत्वे एवोपपत्तिमाह**-हृदय आदि के ही आश्रित प्राण रहता है, इसके हेतु को यहाँ 'तानित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । **हृदयाद्युपघातेन यस्मात् विशेषतः प्राणोपघातो भवति**-जिस कारण से हृदय आदि (सिर, वस्ति एवं हृदय) का विनाश होता है, विशेषतः उन्हीं कारणों से प्राणों का भी विनाश हो जाता है, अर्थात् हृदय आदि के उपघात से प्राण का भी उपघात होता है । इसलिये हृदयादि के आश्रित प्राण रहता है, ऐसा कहते है । जिस प्रकार दीवार पर बना हुआ भित्ति चित्र दीवार के ढह जाने से नष्ट हो जाता है उसी प्रकार हृदयादि के आश्रित रहने वाला प्राण आश्रय के नष्ट हो जाने से नष्ट हो जाता है ।

तत्संश्रितानामिति प्राणाश्रयाणां हृदयादीनां; संश्रितशब्देन हि संश्रय उच्यते-प्राणाश्रय (प्राणों का आश्रय=प्राण जिसमें रहता है) इससे यहाँ हृदय आदि (हृदय, सिर एवं वस्ति) का ग्रहण किया गया है । संश्रित शब्द से यहाँ संश्रय अर्थ गृहीत है ।

महान्तो गदा येषु भवन्ति तेषां महागदानां बस्त्यादीनामनुपालनार्थं रक्षां शृणु-महाव्याधियाँ जिनमें होती हैं उन महाव्याधियों के आश्रय बस्ति, हृदय एवं सिर की रक्षा हेतु की जाने वाली रक्षा (चिकित्सा) को मुझसे सुनो अथवा **'तत्संश्रितानामिति'** से बस्ति आदि के आश्रित रहने वाले प्राणों के अनुपालनार्थ महाव्याधियाँ जो जो इन त्रिमर्म के आश्रित होती हैं, यथा-उदावर्त आदि की चिकित्सा (रक्षा) का अभिधान यहाँ किया गया है । ।।३-४।।

कषायतिक्तोषणरूक्षभोज्यैः संधारणाभोजनमैथुनैश्च । पक्वाशये कुप्यति चेदपानः स्रोतांस्यधोगानि बली स रुद्ध्वा ।।५।।
करोति विण्मारुतमूत्रसङ्गं क्रमादुदावर्तमतः सुघोरम् । रुग्बस्तिहृत्कुक्ष्युदरेष्वभीक्ष्णं सपृष्ठपार्श्वेष्वतिदारुणा स्यात् ।।६।।
आध्मानहल्लासविकर्तिकाश्च तोदोऽविपाकश्च सबस्तिशोथः । वर्चोऽप्रवृत्तिर्जठरे च गण्डान्यूर्ध्वश्च वायुर्विहतो गुदे स्यात् ।।७।।
कृच्छ्रेण शुष्कस्य चिरात् प्रवृत्तिः स्याद्वा तनुः स्यात् खररूक्षशीता । ततश्च रोगा ज्वरमूत्रकृच्छ्रप्रवाहिकाहृद्ग्रहणीप्रदोषाः ।।८।।
वष्यान्ध्यबाधिर्यशिरोऽभितापवातोदराष्ठीलमनोविकाराः । तृष्णास्रपित्तारुचिगुल्मकासश्वासप्रतिश्यार्दितपार्श्वरोगाः ।।९।।
अन्ये च रोगा बहवोऽनिलोत्था भवन्त्युदावर्तकृताः सुघोराः । चिकित्सितं चास्य यथावदूर्ध्वं प्रवक्ष्यते तच्छृणु चाग्निवेश! ।।१०।।

Scanned by CamScanner

बस्तिरोग (Diseases of Urinary Bladder)

उदावर्त के हेतु एवं संप्राप्ति–कषाय, कटु, तिक्त रस प्रधान एवं रूक्ष आहार द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से, अधारणीय वेगों के धारण करने से, उपवास करने से तथा अत्यधिक स्त्री सेवन करने से पक्वाशय में स्थित अपान वायु अत्यन्त प्रकुपित होकर अधोगामी मूत्रवह एवं पुरीषवह स्रोतस् में अवरोध उत्पन्न करते हुए मूत्र एवं पुरीष की गति को अवरुद्ध करके उदावर्त रोग को उत्पन्न कर देता है। यह एक अत्यन्त कष्टकारी व्याधि है।

लक्षण (Signs and Symptoms)–इस व्याधि में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. वस्ति, हृदय, कुक्षि एवं उदर में बार-बार पीड़ा का होना।

२. पार्श्व एवं पृष्ठ (पीठ) में दारुण वेदना (Excruciating pain) का होना।

३. आध्मान (पेट का फूलना-Flatulence)

४. हल्लास (Nausea), परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा का होना), तोद (शरीर में सूई चुभोने जैसी वेदना का होना), अविपाक (भोजन का न पचना-Indigestion), बस्तिशोथ (Inflammation of the urinary bladder) का होना।

५. मल (पुरीष) की अप्रवृत्ति, उदर में मल की गाँठों का बनना।

६. गुदामार्ग से अपान वायु की प्रवृत्ति न होने से उसका ऊपर की ओर गमन होना।

७. शुष्क पुरीष का कष्ट के साथ बाहर आना, अथवा शरीर का खर, रूक्ष एवं शीतल होना।

उदावर्त जनित व्याधियाँ-उदावर्त से होने वाली व्याधियों में-ज्वर (Fever), मूत्रकृच्छ्र (Dysuria), प्रवाहिका (Dysentery), हृदयरोग (Heart disease), ग्रहणीरोग (Sprue syndrome), वमन (Vomiting), अन्धत्व (Blindness), बाधिर्य (बहरापन), शिरोऽभिताप (सिर का गरम रहना), वातोदर, अष्ठीला, मनोविकार, तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना), रक्तपित्त, अरुचि (Anorexia), गुल्म (Phantom tumour), कास (Cough), श्वास (Asthma), प्रतिश्याय (Coryza), अर्दित, पार्श्वरोग (diseases in the sides of the chest) आदि। इसके अतिरिक्त और भी भयंकर वातिक व्याधियाँ उदावर्त के कारण उत्पन्न हो जाती हैं।

हे अग्निवेश! अब आगे उदावर्त रोग की चिकित्सा का यथावत वर्णन किया जा रहा है, उसे सुनो–

चक्रपाणि–बस्ति आदि मर्मो के आश्रित होने वाली व्याधि के हेतुओं का विवेचन यहाँ-'कषायेत्यादि' के द्वारा किया गया है। अर्थात् इससे उदावर्त के हेतुओं को बताया गया है। ऊषणः=कटुकः (कटुरस) युक्त द्रव्य, यथा-कालीमिर्च आदि। पक्वाशये इत्यादि के द्वारा उदावर्त की संप्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा को बताया गया है।

ननु कथमपानः कुपितोऽपानस्यैव सङ्गं करोतीति मारुतसंगशब्देनोच्यते–किस प्रकार प्रकुपित हुई अपान वायु द्वारा अपान वायु का अवरोध होता है, जिसे यहाँ **'मारुतसंग'** शब्द से कहा गया है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है- स्वयं के द्वारा यह (अपान वायु) दूषित होकर सम्यक् प्रवृत्त न होते हुए स्वयं का अवरोध करता है, यथा-जिस प्रकार मन स्वयं अपना निग्रह करता है। कहा भी गया है- "इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः" (शा.अ. १) इति [इन्द्रियों में अधिष्ठित होकर उनका नियंत्रण करना, स्वयं को अहित विषयों से रोकना, ऊह्य (तर्क-वितर्क) एवं विचार करना; ये सभी मन के कर्म हैं।]

ऊर्ध्वश्चेति ऊर्ध्वगमनस्वभावः–ऊर्ध्व की ओर जाने का स्वभाव होना (वायु अपने ऊर्ध्वगामी स्वभाव के कारण गुदमार्ग के अवरुद्ध होने पर ऊपर की ओर गमन करती है।) ॥५-१०॥

विशेष (Comments)–अपने हेतुओं के द्वारा प्रकुपित हुई अपान वायु अधोवाही स्रोतस् (गुदा) में अवरोध उत्पन्न करती है, परिणाम स्वरूप अपान वायु नीचे की तरफ प्रवृत्त न होकर, स्वतः ही ऊर्ध्वगमन करने लगती है, जिसके कारण उदावर्त की उत्पत्ति होती है।

तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं स्वेदैर्यथोक्तैः प्रविलीनदोषम्। उपाचरेद्वर्तिनिरूहबस्तिस्नेहैर्विरेकैरनुलोमनाद्यैः ॥११॥
श्यामात्रिवृन्मागधिकां सदन्तीं गोमूत्रपिष्टां दशभागमाषाम्। सनीलिकां द्विर्लवणां गुडेन वर्तिं कराङ्गुष्ठनिभां विदध्यात् ॥१२॥
पिण्याकसौवर्चलहिङ्गुभिर्वा ससर्षपत्र्यूषणयावशूकैः। क्रिमिघ्नकम्पिल्लकशङ्खिनीभिः सुधार्कजक्षीरगुडैर्युताभिः ॥१३॥
स्यात् पिप्पलीसर्षपराळवेश्मधूमैः सगोमूत्रगुडैश्च वर्तिः। श्यामाफलालाबुकपिप्पलीनां नाड्याऽथवा तत् प्रथमेत्तु चूर्णम् ॥१४॥
रक्षोघ्नतुम्बीकरहाटकृष्णाचूर्णं सजीमूतकसैन्धवं वा। स्निग्धे गुदे तान्यनुलोमयन्ति नरस्य वर्चोऽनिलमूत्रसङ्गम् ॥१५॥
तेषां विघाते तु भिषग्विदध्यात् स्वभ्यक्तसुस्विन्नतनोर्निरूहम्। ऊर्ध्वानुलोमौषधमूत्रतैलक्षाराम्लवातघ्नयुतं सुतीक्ष्णम् ॥१६॥
वातेऽधिकेऽम्लं लवणं सतैलं, क्षीरेण पित्ते तु, कफे समूत्रम्। स मूत्रवर्चोऽनिलसङ्गमाशु गुदं सिराश्च प्रगुणीकरोति ॥१७॥

Scanned by CamScanner

चिकित्सा (Treatment)–उदावर्त के रोगी में सर्वप्रथम शीतज्वरनाशक तैलों का अभ्यङ्ग कराकर यथावश्यक स्वेदन द्रव्यों द्वारा स्वेदन कराना चाहिए। इससे स्रोतस् (स्रोतों) में चिपके हुए दोष पिघलकर कोष्ठ में आ जाते हैं। इसके बाद इन कोष्ठगत दोषों को निकालने के लिए वर्ति (गुदवर्ति-Suppository) निरूह बस्ति व स्नेह विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। भोजन के रूप में रोगी को वातानुलोमक आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

उदावर्त में गुदवर्ति–१. श्यामा (काली निशोथ), त्रिवृत् (सफेद निशोथ), मागधिका (पिप्पली), दन्तीमूल तथा नीलीमूल; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लें, उड़द-१० भाग, लवण-२ भाग। अब सभी द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पीस लें। उसमें यथावश्यक गुड़ मिलाकर अंगुठे के बराबर मोटी वर्ति बना लें तथा छाया शुष्क कर लें। (यहाँ श्यामा आदि द्रव्य १-१ भाग लें, कुल संयुक्त मात्रा- ५ भाग ग्रहण करें।)

२. पिण्याक (तिल का कल्क), सौवर्चल लवण, हींग, पीली सरसो, शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली एवं यवक्षार; प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें। सभी द्रव्यों को एक साथ पीस लें एवं यथावश्यक गुड़ मिलाकर अंगुठे के बराबर मोटी वर्ति बना लें।

३. क्रिमिघ्न (वायविडंग), कम्पिल्लक, शंखिनी, सुधा (सेहुड़) का दूध, मदार का दूध एवं गुड़; सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर पीस लें एवं पूर्व की तरह वर्ति बना लें।

४. पिप्पली, सरसो, राढ (मदनफल), घर का धुआँ; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र एवं गुड़ के साथ पीसकर अंगुठे के बराबर मोटी वर्ति बनावें।

उदावर्त में प्रधमन–

१. श्यामा (काली निशोथ), फल (मदनफल), अलाबु के बीज एवं पिप्पली; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को नाड़ीयन्त्र में भरकर गुद मार्ग से प्रधमन करें, अर्थात् गुदा के अन्दर प्रवेश करावें।

२. रक्षोघ्न (पीली सरसों), तुम्बी (कटुतुम्बी के बीज), मैनफल, पिप्पली, जीमूतक एवं सैन्धव लवण; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को नाड़ी में भरकर गुदमार्ग से प्रधमन करें। प्रवेश कराने से पूर्व गुदा को तैलादि से स्निग्ध कर लेना चाहिए। इन चूर्णों के प्रधमन से वायु, मल एवं मूत्र का अवरोध दूर हो जाता है और वातादि अपने स्वाभाविक मार्ग से गमन करने लगते हैं।

निरूह बस्ति का प्रयोग–यदि वर्ति एवं प्रधमन के प्रयोग से वातादि की रुकावट दूर न हो तब चिकित्सक रोगी को सम्यक् स्नेहन-स्वेदन कराकर वमन एवं विरेचन कारक द्रव्यों (औषध), गोमूत्र, तैल, अम्ल, क्षार तथा वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से तैयार की गयी तीक्ष्ण निरूह बस्ति का प्रयोग करे।

यदि उदावर्त रोग में वात की उल्बणता (प्रधानता) हो तब काञ्जी, लवण एवं तिल तैल मिश्रित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। पित्त की प्रधानता में दूध के साथ तथा कफ की उल्बणता में गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् पित्त की प्रधानता में पित्तनाशक द्रव्यों के क्वाथ के साथ दुग्ध मिलाकर एवं कफ की प्रधानता में कफनाशक द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए। इसके प्रयोग से मूत्र, मल (पुरीष) एवं वायु का अवरोध शीघ्र ही दूर हो जाता है तथा गुदा व सिरायें अपना कार्य सम्यक् रूप से करने लगती हैं।

चक्रपाणि–**तैलज्वरनाशनाक्तमिति**-शीत ज्वरनाशक अगुर्वाद्यतैल का अभ्यङ्ग कराकर पूर्वनिर्दिष्ट द्रव्यों द्वारा रोगी का सम्यक् स्वेदन करावें। श्यामा इत्यादि के द्वारा वर्णित फलवर्ति के द्रव्यों में श्यामा से त्रिवृत्भेद (काली निशोथ) का ग्रहण किया गया है। **दशभागा माषस्य यस्यां सा दशभागमाषा**-जिसमें माष की मात्रा-१० भाग हो। द्विर्लवणामिति-लवण की मात्रा- २ भाग।

गुडेनेतिवचनेन यावता गुडेन वर्तिः कर्तुं युज्यते तावन्मानो गुडो देयः–गुड़ शब्द से यहाँ गुड़ की उतनी ही मात्रा का ग्रहण करना चाहिए जितने के प्रयोग से वर्ति का निर्माण हो जाय, अर्थ लिया गया है। (श्यामा-१ भाग, त्रिवृत्- १ भाग, मागधिका (पिप्पली)- १ भाग, दन्ती- १ भाग, नीलीमूल- १ भाग, उड़द- १० भाग, लवण- २ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर सील पर पीस कर चूर्ण कर लें। इसमें गोमूत्र एवं गुड़ मिलाकर अंगूठे के बराबर मोटी वर्ति बना लें।)

यावशूकैरित्यनेन द्वितीया वर्तिगुडेनैव कर्तव्या–यावशूकैः जिसके अन्त में है, अर्थात् पिण्याक से लेकर यावशूकैः तक के द्रव्यों से दूसरी वर्ति के निर्माण को बताया गया है। [पिण्याक (तिल कल्क) आदि द्रव्यों को पीस लें एवं उसमें यथावश्यक गुड़ मिलाकर वर्ति बनावें] इस वर्ति का निर्माण गुड़ डालकर ही करना चाहिए। शङ्खिनी=श्वेतबुह्वा। राढः=मदनफल। वेश्मधूमः=घर का धुआँ। रक्षोघ्नः=सर्षपः (पीली सरसो)। करहाट=मदनफल।

Scanned by CamScanner

तेषां विघाते इति फलवर्तिचूर्णानामुक्तानां कार्याकरणे–वर्णित फलवर्ति एवं प्रधमन चूर्णों के प्रयोग से उदावर्त में लाभ न होने पर स्नेहन-स्वेदन के पश्चात् निरूह वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ऊर्ध्व एवं अनुलोम औषध से यहाँ वामक एवं विरेचक औषधियों का ग्रहण किया गया है।

वातेऽधिक इत्यादि के द्वारा दोषभेद से बस्ति में प्रयुक्त प्रक्षेप द्रव्यों को बताया गया है।

उदावर्ते पित्तकफौ वातकोपितावेव ज्ञेयौ–उदावर्त में पित व कफ का प्रकोप वात के प्रकोप के ही कारण होता है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् वायु ही प्रकुपित होकर पित्त व कफ को भी प्रकुपित कर देती है।

स इति–'स' से यहाँ पूर्व वर्णित 'बस्ति' (निरूह बस्ति) का ग्रहण है। अर्थात् इसके प्रयोग से मूत्र, पुरीष एवं वायु का अवरोध दूर हो जाता है। ॥११-१७॥

त्रिवृत्सुधापत्रतिलादिशाकग्राम्यौदकानूपरसैर्यवान्नम्। अन्यैश्च सृष्टानिलमूत्रविड्भिरद्यात् प्रसन्नागुडसीधुपायी ॥१८॥

अन्न-पान–उदावर्त के रोगी को प्रसन्ना (Spirituous liquor made of rice), गुड़ एवं सीधु [खाड़ (गुड़) से बने मद्य Spirituous liquor distilled from molasses] का सेवन करते हुए, त्रिवृत्, सुधापत्र (सेहुण्ड की पत्ती) एवं तिल आदि के शाक, ग्राम्य, औदक एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ यव के बने हुए भोज्य पदार्थों (रोटी, भात आदि) का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन सभी आहार द्रव्यों का भी सेवन करना चाहिए जो मल (पुरीष), मूत्र एवं वायु को निकालने वाले हों।

चक्रपाणि–प्रसन्ना मद्योपरि स्वच्छो भागः-मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग। **गुडकृतः सीधुः गुडसीधुः**–गुड़ द्वारा निर्मित मद्य गुडसीधु कहलाता है। ॥१८॥

भूयोऽनुबन्धे तु भवेद्विरेच्यो मूत्रप्रसन्नादधिमण्डशुक्तैः। स्वस्थं तु पश्चादनुवासयेत्तं रौक्ष्याद्धि सङ्गोऽनिलवर्चसोश्चेत् ॥१९॥

उदावर्त में विरेचन का प्रयोग–यदि उपर्युक्त चिकित्सा के प्रयोग से भी रोगी (उदावर्त के रोगी) में बार-बार दोषों का अनुबन्ध बना रहता है, अर्थात् मल मूत्रादि की प्रवृत्ति नहीं होती तब उसे गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमण्ड अथवा शुक्त (सिरका) के साथ विरेचन द्रव्यों को खिलाकर (पिलाकर) विरेचन कराना चाहिए। बार-बार विरेचन के प्रयोग से व्यक्ति का शरीर रूक्ष हो जाता है, फलतः मूत्रादि पुनः अवरुद्ध होने लगते हैं। इस अवस्था में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–भूयोऽनुबन्धे इति-बस्ति (निरूह) के प्रयोग के बाद भी यदि उदावर्त का अनुबन्ध बना हुआ है तब रोगी को गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमण्ड अथवा शुक्त (सिरका) के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए, अर्थात् विरेचन देना चाहिए। विरेचन द्रव्यों का प्रयोग निरूहबस्ति देने के सात दिन बाद करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा-**''नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम्। शुद्धोनिरूहेण विरेचनं च''** (सि.अ. १) इति [विरेचन द्वारा शुद्ध व्यक्ति को सात दिन तक निश्चय ही निरूह बस्ति का प्रयोग न करावें, अर्थात् विरेचन के सात दिन बाद तक निरूह बस्ति का प्रयोग निषिद्ध है तथा निरूह के बाद सात दिन तक विरेचन निषिद्ध है।] ॥१९॥

हिङ्गुत्तरं हिङ्गु वचाग्निकुष्ठं सुवर्चिका चैव विडङ्गचूर्णम्। सुखाम्बुनाऽऽनाहविसूचिकार्तिहृद्रोगगुल्मोर्ध्वसमीरणघ्नम् ॥२०॥
वचाभयाचित्रकयावशूकान् सपिप्पलीकातिविषान् सकुष्ठान्। उष्णाम्बुनाऽऽनाहविमूढवातान् पीत्वा जयेदाशु रसौदनाशी ॥२१॥
हिङ्गूग्रगन्धाबिडशुण्ठ्यजाजीहरीतकीपुष्करमूलकुष्ठम्। यथोत्तरं भागविवृद्धमेतत् प्लीहोदराजीर्णविसूचिकासु ॥२२॥

हिंग्वादिचूर्ण (प्रथम)–हिङ्गु (हींग)- १ भाग, वचा- २ भाग, अग्नि (चित्रकमूल)- ४ भाग, कुष्ठ (कूठ)- ८ भाग, सुवर्चिका (सज्जीक्षार)- १६ भाग, वायविडंग- ३२ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। (मात्रा-३-६ ग्राम) अनुपान- सुखोष्ण (गुनगुना) जल।

उपयोग–
१. आनाह (Constipation)
२. विसूचिका (Choleric diarrhoea)
३. हृद्रोग (Heart disease)
४. गुल्मरोग (Phantom tumour)
५. ऊर्ध्व वायु (अपान वायु) का ऊर्ध्वगमन।

इस चूर्ण के मात्रा पूर्वक प्रयोग से निर्दिष्ट सभी व्याधियों में लाभ मिलता है।

वचादिचूर्ण–वचा (वालवच=मीठा वचा), अभया (हरड़), चित्रकमूल, यावशूक (यवक्षार), पिप्पली, अतीस (अतिविषा), एवं कुष्ठ (कूठ); सभी द्रव्यों को एक-एक भाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। [मात्रा- ३ से ६ ग्राम], अनुपान-उष्णजल।

Scanned by CamScanner

प्रयोग–उष्ण जल के साथ इस चूर्ण के सेवन से मूढ़वात एवं आनाह शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। औषध के पच जाने पर रोगी को आहार के रूप में शाली चावल के भात के साथ मांसरस का सेवन करना चाहिए।

हिंग्वादिचूर्ण (द्वितीय)–हींग- १ भाग, उग्रगंधा (बालवच)- २ भाग, विडलवण- ३ भाग, शुण्ठी (सोंठ)- ४ भाग, अजाजी (जीरक=जीरा)- ५ भाग, हरड़- ६ भाग, पुष्करमूल- ७ भाग एवं कुष्ठ (कूठ)- ८ भाग। [क्रमशः एक-एक भाग की वृद्धि क्रम में द्रव्यों का ग्रहण करना है।) सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। (मात्रा- ३ से ६ ग्राम, अनुपान- उष्ण जल] इस चूर्ण का प्रयोग चिकित्सक को प्लीहोदर, अजीर्ण (Indigestion) एवं विसूचिका रोग में करना चाहिए।

चक्रपाणि–'द्विरुत्तरेत्यादि' से यहाँ उत्तरोत्तर द्विगुण (दूनी) मात्रा में द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए, अर्थ लिया गया है, यथा-हिंगु (हींग)- १ भाग, वचा- २ भाग, अग्नि (चित्रकमूल)- ४ भाग, कुष्ठ- ८ भाग, सुवर्चिका- १६ भाग, विडंग- ३२ भाग। सुवर्चिका=स्वर्जिकाक्षार। **सुखाम्बुना 'पीतम्' इति शेषः**- सुखाम्बुना के साथ पीतम् शब्द को भी जोड़ना चाहिए। इस प्रकार इसका अर्थ- 'सुखोष्ण जल के साथ हिंग्वादि चूर्ण का सेवन करना चाहिए' होगा।

उग्रगन्धा=अजमोदा।

स्थिरादिवर्गस्य पुनर्नवायाः शम्पाकपूतीकंकरञ्जयोश्च। सिद्धः कषाये द्विपलांशिकानां प्रस्थो घृतात् स्यात् प्रतिरुद्धवाते ।।२३।।

स्थिरादिघृत–लघुपञ्चमूल के द्रव्य- [शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कण्टकारी), कण्टकारी (छोटी कण्टकारी),गोखरू], पुनर्नवा, शम्पाक (अमलतास), पूतिकरञ्ज; प्रत्येक द्रव्य दो-दो पल लेकर विधिपूर्वक क्वाथ (Decoction) बना लें। इस क्वाथ के साथ १ प्रस्थ गोघृत सिद्ध करें। इस घृत का सेवन अवरुद्ध वात में करना चाहिए।

चक्रपाणि–स्थिरादि वर्ग से यहाँ लघुपञ्चमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। **'शम्पाकपूतिककरञ्जयोश्चेति'** से यहाँ पूतिक शब्द करञ्ज के विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः यहाँ पूतिकरञ्ज का ग्रहण करना चाहिए। उसी का विवेचन आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार किया है, यथा- **''आरग्वधपूतिकपुनर्नवास्थिराद्यैर्घृतं सिद्धम्''** [आरग्वध, पूतिकरञ्ज, पुनर्नवा एवं स्थिरादि गण के द्रव्यों द्वारा घृत को सिद्ध करना चाहिए।] ।।२३।।

विशेष–घृत को सिद्ध करने के लिए क्वाथ आदि द्रव्यों का मान निम्नलिखित अनुपात में ग्रहण करना चाहिए–

१. क्वाथ - ४ प्रस्थ, २. कल्क - १/४ प्रस्थ, ३. घृत - १ प्रस्थ।

क्वाथ्य द्रव्यों को २-२ पल मात्रा में लेने पर कुल १६ पल मात्रा आती है। १६ पल क्वाथ्य द्रव्यों को लेकर १६ गुने जल में पकावें, चतुर्थांश बचावें। इस प्रकार क्वाथ की मात्रा ६४ पल आती है। इस ६४ पल (४ प्रस्थ) क्वाथ के साथ १ प्रस्थ गोघृत एवं क्वाथ्य द्रव्यों का कल्क ४ पल (प्रत्येक द्रव्य १/२-१/२ पल लेने पर कुल मात्रा ४ पल आती है।) मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करना चाहिए।

फलं च मूलं च विरेचनोक्तं हिङ्ग्वर्कमूलं दशमूलमग्र्यम्। स्नुक् चित्रकश्चैव पुनर्नवा च तुल्यानि सर्वैर्लवणानि पञ्च ।।२४।।
स्नेहैः समूत्रैः सह जर्जराणि शरावसन्थौ विपचेत् सुलिप्ते। पक्वं सुपिष्टं लवणं तदन्नैः पानैस्तथाऽऽनाहरुजाघ्नमद्यात् ।।२५।।

उदावर्तनाशक अन्य योग–विमानस्थान में वर्णित विरेचनोपयोगी द्रव्यों के मूल व फल, हिङ्गु (हींग), अर्कमूल (मदार की जड़), दशमूल के द्रव्य (बृहत्पञ्चमूल एवं लघुपञ्चमूल), स्नुही, चित्रकमूल एवं पुनर्नवा-प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लें। इन सभी द्रव्यों की मात्रा के बराबर ५ प्रकार के नमक (सैन्धव, सौवर्चल=सोंचर, सामुद्र, औद्भिद् तथा विड् लवण) लें। सभी द्रव्यों को कूट-पीस कर गोमूत्र एवं स्नेह (घृत) के साथ मिलाकर एक मिट्टी की हाड़ी (छोटा घड़ा जिसका मुख चौड़ा हो) में भरकर उसका ढक्कन बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखा लें। इस हाड़ी को गोहरे की अग्नि में फूँक दें (गजपुट में पाक करें)। अग्नि के शीतल हो जाने पर हाड़ी के ढक्कन को खोलकर औषध (लवण युक्त औषध) को निकाल कर चूर्ण बना लें। इस लवण का प्रयोग आनाह से उत्पन्न होने वाली वेदना में अन्न के साथ अथवा पेय पदार्थों के साथ करना चाहिए।

चक्रपाणि–फलं च मूलं च विरेचनोक्तमिति-दीर्घञ्जीवितीय अध्याय (सू.अ. १) में वर्णित विरेचन कर्मोपयोगी मूलिनी एवं फलिनी द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, अथवा इससे कल्पस्थान में वर्णित विरेचन योगों का ग्रहण किया गया है। [यहाँ मूलिनी एवं फलिनी द्रव्यों में से उनका ग्रहण किया गया है जो विरेचन कर्म में उपयोगी हैं।] ।।२४-२५।।

हृत्स्तम्भमूर्धामयगौरवाभ्यामुद्गारसङ्गेन सपीनसेन। आनाहमामप्रभवं जयेत्तु प्रच्छर्दनैर्लङ्घनपाचनैश्च ।।२६।।
(गुल्मोदरब्रध्नार्शःप्लीहोदावर्तयोनिशुक्रगदे। मेदःकफसंसृष्टे मारुतरक्तेऽवगाढे च ।।२७।।
गृध्रसिपक्षवधादिषु विरेचनार्हेषु वातरोगेषु। वाते विबद्धमार्गे मेदःकफपित्तरक्तेन ।।२८।।

Scanned by CamScanner

पयसा मांसरसैर्वा त्रिफलारसयूषमूत्रमदिराभिः । दोषानुबन्धयोगात् प्रशस्तमेरण्डजं तैलम् ।।२९।।
तद्वातनुत्स्वभावात् संयोगवशाद्विरेचनाच्च जयेत् । मेदोसृक्पित्तकफोन्मिश्रानिलरोगजित्तस्मात् ।।३०।।
बलकोष्ठव्याधिवशादापञ्चपला भवेन्मात्रा । मृदुकोष्ठाल्पबलानां सह भोज्यं तत्प्रयोज्यं स्यात् ।।३१।।
इत्युदावर्तचिकित्सा ।

आनाह रोग के लक्षण–१. हृदय का स्तम्भित होना (Stiffness in the cardiac region) । २. शिरोरोग (Headache), ३. शरीर में भारीपन (Heaviness of the body), ४. उद्गार का रुकना तथा प्रतिश्याय (Coryza); ये सभी लक्षण आनाह रोग में पाये जाते हैं । आनाह रोग आम जनित दोषों के कारण उत्पन्न होता है । अतः इसकी चिकित्सा वामक, लङ्घन एवं पाचन औषधियों द्वारा करनी चाहिए ।

आनाह में एरण्ड तैल का प्रयोग–गुल्म, उदररोग, ब्रध्न रोग, अर्श, प्लीहावृद्धि, उदावर्त, योनिरोग (diseases of the female genital tract), शुक्ररोग, कफसंसृष्टमेद, गम्भीर वातरक्त, गृध्रसी (Sciatic pain), पक्षवध (Hemiplegia) आदि एवं अन्य विरेचन के योग्य वातज व्याधियों में, मेद, कफ, पित्त एवं रक्त द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाने पर दोषों के अनुबन्ध का विचार करते हुए दूध के साथ, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस; त्रिफलारस, मुद्गयूष, गोमूत्र अथवा मदिरा के साथ एरण्ड तैल का पान करना विशेष हितकर होता है ।

एरण्ड तैल के गुणकर्म–एरण्ड तैल स्वभावतः वातनाशक होता है । विरेचन द्रव्यों के संयोग से यह मेद, रक्त, पित्त एवं कफ मिश्रित वात जन्य व्याधियों को नष्ट करता है । इसलिए रोगी के बल, कोष्ठ एवं व्याधि के बल का विचार करते हुए इसकी मात्रा ५ पल बतायी गयी है । मृदु कोष्ठ एवं अल्प बल वाले पुरुषों में एरण्ड तैल का प्रयोग भोजन के साथ करना चाहिए ।

[इस प्रकार उदावर्तचिकित्सा का विवेचन किया गया ।]

चक्रपाणि–हृदित्यादि के द्वारा उदावर्त के ही विशेष हेतु एवं लक्षणों से उत्पन्न 'आनाह' नामक व्याधि के हेतु एवं लक्षणों के साथ चिकित्सा का विवेचन किया गया है । ।।२६-३१।।

विशेष (Comments)–आचार्य सुश्रुत ने आनाह के दो भेद माने हैं- १. आमज आनाह, २. पुरीषज आनाह ।

आमज आनाह में आमाशय में गुरुता, तृष्णा (प्यास का लगना), सिर में जलन, हल्लास (मिचली का आना), उद्गार की असम्यक् प्रवृत्ति आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

पुरीषज आनाह में कटी (कमर), पृष्ठ (पीठ), में जकड़ाहट, मूत्र व पुरीष का रुक जाना, शूल का होना, श्वास (Dyspnoea) आदि लक्षण पाये जाते हैं । पुरीषज आनाह का स्थान पक्वाशय एवं आमज आनाह का स्थान आमाशय होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

आमज आनाह की उत्पत्ति अपक्व अन्नरस के संचय एवं पुरीषज की पुरीष के संचय के कारण होती है । आमाशय में अपक्व अन्नरस एवं पक्वाशय में पुरीष का संचय जब अधिक हो जाता है, तब इनके द्वारा अपान वायु अवरुद्ध होकर अपने स्वाभाविक मार्ग की ओर गमन न करते हुए आनाह रोग को उत्पन्न करती है । आमज आनाह रोग में वमन कराना चाहिए । पश्चात् संसर्जनक्रम के रूप में दीपनीय द्रव्यों से साधित पेयादि की योजना करनी चाहिए । पुरीषज आनाह में वमन न कराकर स्वेदन एवं पाचन उपक्रमों का प्रयोग कराना चाहिए । ["आमोद्भवे वान्तमुपक्रमेत् संसर्गभक्तं क्रमदीपनीयैः । अथेतरं यो न शकृत्तवमेत्तमामं जयेत् स्वेदनपाचनैश्च"]

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् । आनूपमत्स्याध्यशनादजीर्णात् स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणामिहाष्टौ ।।३२।।
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ । मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ।।३३।।
तीव्रा रुजो वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मुत्रयतीह वातात् । पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रान्मुहुर्मुत्रयतीह पित्तात् ।।३४।।
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे । सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत् कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ।।३५।।

मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा

मूत्रकृच्छ्र के निदान–

- अत्यधिक व्यायाम करना (Excessive physical exercise) ।
- अत्यधिक तीक्ष्ण एवं रूक्ष औषधियों का प्रयोग करना ।
- अत्यधिक मद्य का सेवन ।
- तीव्र दौड़ने वाले वाहनों (अश्वादि) की पीठ पर बैठना ।
- आनूप पशु-पक्षियों एवं मछलियों के मांस का अत्यधिक सेवन ।
- पूर्व के अन्न के अपक्व रहने पर भी पुनः भोजन करना (अध्यशन करना) ।
- अजीर्ण के कारण (Indigestion)

Scanned by CamScanner

उपरोक्त हेतुओं के सेवन करने पर व्यक्ति को ८ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

संप्राप्ति (Pathogenesis)–अपने प्रकोपक कारणों के द्वारा प्रकुपित हुए वातादि दोष अलग-अलग अथवा मिलकर बस्ति प्रदेश में पहुँचकर मूत्रमार्ग में अत्यन्त कष्ट उत्पन्न करते हैं। उस समय व्यक्ति अत्यन्त कष्ट के साथ मूत्रत्याग करता है।

लक्षण (Signs and Symptoms)–

१. वात के कारण होने वाले मूत्रकृच्छ्र में वंक्षण (Groin), वस्ति (Urinary bladder) एवं मेढ्र (Genitals) में अत्यन्त तीव्र पीड़ा का होना, मूत्र का अल्प मात्रा में बार-बार निकलना लक्षण पाये जाते हैं।

२. **पित्त दोष की उल्बणता** (अधिकता) से होने वाले मूत्रकृच्छ्र में मूत्र का वर्ण पीला, कुछ रक्त मिश्रित, होता है। इसमें रोगी को मूत्र त्यागं करते समय अत्यन्त पीड़ा के साथ बार-बार मूत्र त्याग, दाह एवं कष्ट होता है।

३. वस्ति (Urinary bladder) एवं लिङ्ग (Penis) में भारीपन तथा शोथ का होना व पिच्छिल (चिपचिपा) मूत्र का कष्ट के साथ त्याग करना; ये लक्षण **कफज** मूत्रकृच्छ्र में पाये जाते हैं।

४. सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में तीनों दोषों के लक्षण मिले हुए होते हैं। अतः यह मूत्रकृच्छ्र कृच्छ्रतम होता है, अर्थात् इसकी चिकित्सा अत्यन्त कष्ट के साथ होती है।

चक्रपाणि–'व्यायामेत्यादि' के द्वारा बस्ति के आश्रित होने वाले रोगों में मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख किया गया है। 'पृथगित्यादि' के द्वारा वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है।

तीव्रा हि रुगित्यादिना चतुर्णां प्रत्येकं रूपमाह–'तीव्रा हि रुगित्यादि' के द्वारा चारो प्रकार के मूत्रकृच्छ्र के अलग-अलग लक्षणों को बताया गया है।

जल्पकल्पतरुटीका–स्युमूत्रकृच्छ्राणीति मूत्रस्य कृच्छ्रेण प्रवृत्तिर्विघात इत्यनर्थान्तरम्-मूत्रकृच्छ्र से यहाँ कष्ट के साथ मूत्रत्याग करना अथवा मूत्रविघात अर्थ लिया गया है। सुश्रुतसंहिता में मूत्राघात एवं मूत्रकृच्छ्र दोनों का उल्लेख करते हुए मूत्राघात में ही मूत्रकृच्छ्र को भी समावेशित कर लिया है। कहा भी गया है, यथा-"वातेन पित्तेन कफेन सर्वैस्तथाऽभिघातैः शकृदश्मरीभ्याम्। तथाऽपरः शर्करया सुकष्टो मूत्रोपघाताऽष्टमस्तु" [मूत्राघात के आठ भेद होते हैं, यथा- १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज, ५. पुरीषज, ६. अश्मरीजन्य, ७. शर्करा ८. कष्ट के साथ मूत्रत्याग का होना अर्थात् कृच्छ्रमूत्र।]

यहाँ शकृत् प्रतिघात से मूत्राघात होना बताया गया है, लेकिन शुक्र प्रतिघात से उत्पन्न मूत्राघात का उल्लेख नहीं किया गया है। यहाँ वातादि के लक्षणों के उल्लेख से वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज, अश्मरीजन्य, शर्कराजन्य एवं शुक्राभिघातज का उल्लेख किया गया है, लेकिन पुरीषज मूत्राघात या मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यहाँ विरुद्धता की आशंका नहीं करनी चाहिए। सुश्रुतसंहिता में अश्मरीजन्य मूत्रकृच्छ्र में ही चरकोक्त शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का अन्तर्भाव होने से शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का उल्लेख नहीं किया गया है। चरकसंहिता में शकृतप्रतिघातज मूत्रकृच्छ्र का अन्तर्भाव वातज मूत्रकृच्छ्र में होने से उसका अलग कथन नहीं किया गया है। सुश्रुतसंहिता में शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र का पाठ नहीं है जबकि यहाँ (चरकसंहिता में) है। आचार्य सुश्रुत ने इसे अश्मरी का एक भेद माना है, यथा- "एषाश्मरीमारुतभिन्नमूत्रिः स्यात् शर्करा मूत्रपथात् क्षरन्तीति" सुश्रुतसंहिता में अश्मरी व शर्करा के लक्षण समान बताये गये हैं, यथा- "अश्मरी शर्करा चैव तुल्ये संभवलक्षणैः" इसलिए अश्मरी के ही अन्तर्गत शर्करा का भी ग्रहण हो जाता है। पृथङ्मला इत्यादि के द्वारा मूत्रकृच्छ्र की संप्राप्ति को बताया गया है। इसके यहाँ ४ भेद बताये गये हैं-१. वातज, २. पित्तज, ३. कफज, ४. सन्निपातज। पुरीषप्रतिघातज का अन्तर्भाव वातज मूत्रकृच्छ्र में हो जाता है। सुश्रुतसंहिता में भी पुरीषज मूत्राघात के कारणों में वात का प्रकुपित होना बताया गया है,यथा-"**शकृतस्तु प्रतिघाताद् वायुर्विगुणतां गतः। आध्मानञ्च सशूलञ्च मूत्रसङ्गं करोति हि**" [पुरीष के प्रतिघात से वायु विगुण होकर आध्मान, शूल एवं मूत्रसङ्ग (मूत्रावरोध) को उत्पन्न करता है।] पीतमित्यादि के द्वारा यहाँ पित्तज मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों को बताया गया है। वस्ति इत्यादि से कफज एवं सर्वाणि इत्यादि के द्वारा सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा। यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥३६॥

अश्मरी रोग की संप्राप्ति–वस्तिगत वायु प्रकुपित होकर शुक्र, मूत्र, पित्त एवं कफ को सुखाकर अश्मरी को उत्पन्न करती है। यह अश्मरी वस्ति (Urinary bladder) में बनती है। इसका निर्माण ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार गाय के पित्त के सूखने से गोरोचन का निर्माण होता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'विशोषयेदित्यादि' के द्वारा ४ प्रकार के अश्मरी रोग का वर्णन किया गया है। अन्य शास्त्रों में भी वातज, पित्तज, कफज एवं शुक्रज अश्मरी का उल्लेख किया गया है। यद्यपि सभी प्रकार की अश्मरियाँ वातादि तीन दोषों से ही उत्पन्न होती हैं, यह कहा गया है। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"संहन्त्यापो यथा दिव्या मारुतोऽग्निश्च वैद्युतः तद्वद्वलासं बस्तिस्थमूष्मा संहन्ति सानिलः" [जिस प्रकार हवा व आकाशीय अग्नि (विद्युत) आकाशीय जल के साथ मिलकर ओले का निर्माण करती है उसी प्रकार वस्ति के आश्रित रहने वाली अग्नि व वायु मूत्रगत कफ के साथ मिलकर अश्मरी का निर्माण करती है।] (सु.नि.अ. ३) इति। अश्मरी में जिस दोष की उल्बणता (प्रधानता) होती है तदनुसार उसका नामकरण किया जाता है, यथा-वातज- (वात की प्रधानता), पित्तज (पित्त की प्रधानता) आदि।

वातजायामश्मर्यां प्रबलेन वायुना मूत्रशोषे क्रियमाणे तद्गतः कफ एवाश्मरीरूपः क्रियते–वातज अश्मरी में प्रकुपित वायु द्वारा मूत्र के सूखने पर उसमें विद्यमान कफ ही सूखकर अश्मरी (Stone) के रूप में बदल जाता है। इसी प्रकार पित्तज, अश्मरी को भी समझना चाहिए। इसलिए सुश्रुत संहिता में सभी प्रकार के अश्मरियों का अधिष्ठान कफ को ही बताया गया है। 'पित्तेष्विव रोचना गोरिति' के द्वारा अश्मरी उत्पत्ति के दृष्टान्त को यहाँ बताया गया है। **पित्तेष्विति**-'पित्तेषु' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है। इससे यहाँ पित्त की अधिकता अर्थ लिया गया है। ॥३६॥

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्ष्णा त्रिपुट्यप्यथवाऽपि मृद्वी। मूत्रस्य चेन्मार्गमुपैति रुद्ध्वा मूत्रं रुजं तस्य करोति बस्तौ ॥३७॥
ससेवनीमेहनबस्तिशूलं विशीर्णधारं च करोति मूत्रम्। मृद्नाति मेढ्रं स तु वेदनार्तो मुहुः शकृन्मुञ्चति मेहते च ॥३८॥
क्षोभात् क्षते मूत्रयतीह सासृक् तस्याः सुखं मेहति च व्यपायात्।

अश्मरियों के लक्षण (Signs and Symptoms of Urinary calculus)–अश्मरी कदम्बपुष्प की आकृति के समान, पत्थर के समान चिकनी, त्रिपुटी (तीन पुटक वाली) तथा स्पर्श में मृदु (Soft) होती है। जब अश्मरी (Calculus) मूत्रमार्ग में आकर अवरुद्ध हो (रुक) जाती है तब वृक्क प्रदेश (Kidney region), सीवनी (Perineum), मेहन (मूत्रेन्द्रिय-Phallus) एवं बस्तिप्रदेश में तीव्र शूल उत्पन्न करती है। जब रोगी मूत्रत्याग करता है तब उस समय मूत्र की धारा टूटी हुई निकलती है। अर्थात् उसका मूत्र धारा के रूप में नहीं निकलता, तीव्र वेदना से पीड़ित वह रोगी अपने मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) को हाथ से मसलता है एवं बार-बार मल (पुरीष) एवं मूत्र का त्याग करता है। अश्मरी के क्षोभ (इधर-उधर टकराने) से मूत्रमार्ग, गवीनी (Ureter), बस्ति या वृक्क में क्षत हो जाता है जिसके कारण रोगी रक्तयुक्त (रक्तमिश्रित) मूत्र का त्याग करता है। यदि अश्मरी मूत्रमार्ग से इधर-उधर हो जाती है, अर्थात् हट जाती है तब व्यक्ति बिना कष्ट के मूत्र त्याग करता है।

चक्रपाणि–**कदम्बपुष्पाकृत्यादयो विशेषा यथायोग्यतया दोषभेदादुन्नेयाः**-'कदम्बपुष्पाकृति' आदि के द्वारा विशेष रूप से दोषों के अनुसार अश्मरी की आकृति को बताया गया है, ऐसा जानना चाहिए। यथायोग्य=दोषों की योग्यता के अनुसार, अर्थात् यहाँ दोषों की जैसी योग्यता है तदनुसार दोषादि भेद से अश्मरी की आकृति का अभिधान किया गया है। **वात की वृद्धि** से होने वाली अश्मरी कदम्बपुष्प की आकृति के समान एवं त्रिपुटी (तीन स्तरों वाली-having three layers) होती है। यह लक्षण वातज अश्मरी में पाया जाता है। पित्तज अश्मरी पत्थर के समान श्लक्ष्ण (Smooth) होती है। कफज एवं शुक्रज अश्मरी मृदु (Soft) होती है।

क्षोभात् क्षत इति–अश्मरी के क्षोभ से मूत्रमार्ग (Ureter) अथवा बस्ती- द्विवचन का प्रयोग है इससे यहाँ दोनों वृक्कों का ग्रहण करना चाहिए। वृक्क (Kidney) में क्षत (घाव) हो जाता है जिससे रोगी रक्तयुक्त मूत्र का त्याग करता है। **तस्या इति**-अश्मरी के। व्यपायादिति मूत्रमार्गापगमात्-मूत्रमार्ग से हट जाने के कारण। **सुखमिति**=निर्वेदनम् (वेदना रहित)। [किन्हीं कारणों से अश्मरी जब मूत्रमार्ग अथवा गवीनी में आकर रुक जाती है तब रोगी भयंकर वेदना एवं रक्त मिश्रित मूत्र का त्याग कष्ट के साथ करता है। जब अश्मरी मार्ग से हट जाती है तब रोगी की वेदना भी कम हो जाती है एवं वह सुखपूर्वक मूत्रत्याग भी करता है। रोगी रक्तमिश्रित मूत्र का त्याग अश्मरी द्वारा वस्ति अथवा मूत्रमार्ग में क्षत होने के कारण करता है।] ॥३७-३८॥

एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती ॥३९॥
(रेतोऽभिघाताभिहतस्य पुंसः प्रवर्तते यस्य तु मूत्रकृच्छ्रम्। स्याद्वेदना वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे तस्यातिशूलं वृषणातिवृत्ते ॥४०॥
शुक्रेण संरुद्धगतिप्रवाहो मूत्रं स कृच्छ्रेण विमुञ्चतीह। तमण्डयोः स्तब्ध्मिति ब्रुवन्ति रेतोऽभिघातात् प्रवदन्ति कृच्छ्रम् ॥४१॥)

मूत्रशर्करा–यही अश्मरी जब वायु के द्वारा अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट कर बालू का रूप धारण कर लेती है तब उसे शर्करा कहा जाता है। यही छोटे-छोटे कण मूत्र के वेग के साथ मूत्रमार्ग से बाहर निकलते रहते हैं।

शुक्रावरोधजन्य मूत्रकृच्छ्र–शुक्र के वेग के अवरोध से व्यक्ति में जो मूत्रकृच्छ्रता उत्पन्न होती है उसे शुक्रावरोधज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। इसमें रोगी के वंक्षण (Groin), वस्ति (Urinary bladder) एवं मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) में पीड़ा होती है। वृषण शोथ युक्त हो जाता है एवं उसमें तीव्र पीड़ा होने लगती है। शुक्र द्वारा मूत्रमार्ग अवरुद्ध हो जाने से रोगी कष्ट के साथ मूत्रत्याग करता है। इसमें रोगी के दोनों अण्डकोष शुक्र के अवरुद्ध होने से जकड़ जाते है, इसलिए इसे अण्डस्तम्भ भी कहते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–'एषेत्यादि' के द्वारा मूत्रशर्करा का विवेचन किया गया है। भिन्नमूर्तिरिति-अश्मरी का वायु द्वारा अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ा जाना। अर्थात् अश्मरी को बढ़ी हुई वायु जब अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़कर बालू के समान आकृति वाला बना देती है तब वह मूत्र के वेग के साथ मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाती है। इस बालू के समान आकृति वाले अश्मरी को ही शर्करा नाम दिया गया है।

अतएव मूत्रपथात् क्षरन्तीति उक्तम्–अत्यन्त सूक्ष्म होने से यह मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाती है, यह कहा गया है। इस प्रकार वात द्वारा अश्मरी ही दो, तीन या अनेक भागों में टूटकर शर्करा (बालू) के रूप में मूत्रमार्ग से बाहर निकलती है। [इस कारण इसे शर्करा कहा गया है।] ॥३९-४१॥

शुक्रं मलाश्चैव पृथक् पृथग्वा मूत्राशयस्थाः प्रतिवारयन्ति। तद्व्याहतं मेहनबस्तिशूलं मूत्रं सशुक्रं कुरुते विबद्धम् ॥४२॥
स्तब्धश्च शूनो भृशवेदनश्च तुद्येत बस्तिर्वृषणौ च तस्य।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र–मूत्राशय में स्थित वातादि दोष अलग-अलग अथवा संयुक्त रूप से प्रकुपित होकर शुक्र की प्रवृत्ति को रोक देते हैं। इस प्रकार शुक्र के अवरुद्ध होने से मूत्रेन्द्रिय एवं वस्ति में शूल उत्पन्न हो जाता है तथा रोगी शुक्र के साथ मूत्र का त्याग रुक-रुक कर करने लगता है। रोगी की मूत्रेन्द्रिय स्तब्ध (Stiffness) एवं शोथ युक्त हो जाती है। उसमें भयङ्कर वेदना होने लगती है। उसकी बस्ति (Urinary bladder) एवं वृषण (Scrotum) में सुई चुभोने जैसी पीड़ा होने लगती है।

चक्रपाणि–'शुक्रं मला इत्यादि' के द्वारा शुक्रज मूत्रकृच्छ्र के लक्षणों को बताया गया है। **मूत्राशयस्था इति**-मूत्रमार्ग में स्थित। ॥४२॥

जल्पकल्पतरु टीका–शुक्रमित्यादि के द्वारा शुक्रज मूत्रकृच्छ्र का अभिधान किया गया है। वातादि दोष शुक्र को जब मूत्रमार्ग में रोक देते हैं उस समय रोगी के मूत्रेन्द्रिय (Penis) एवं वस्ति में तीव्र शूल उत्पन्न हो जाता है, साथ में रोगी शुक्र युक्त मूत्र का रुक-रुक कर त्याग करता है। उस व्यक्ति की बस्ति (Urinary bladder) में जकड़ाहट उत्पन्न हो जाती है। साथ में दोनों वृषण भी जकड़ जाते हैं। शुक्रप्रतिघातज मूत्रकृच्छ्र का वर्णन सुश्रुतसंहिता में नहीं किया गया है, अपितु इसका समावेश **शुक्राश्मरी** के अन्तर्गत कर लिया गया है।

क्षताभिघातात् क्षतजं क्षयाद्वा प्रकोपितं बस्तिगतं विबद्धम् ॥४३॥
तीव्रार्ति मूत्रेण सहाश्मरीत्वमायाति तस्मिन्नतिसंचिते च। आध्माततां विन्दति गौरवं च बस्तेर्लघुत्वं च विनिःसृतेऽस्मिन् ॥४४॥
इति मूत्रकृच्छ्रनिदानम्।

रक्तज मूत्रकृच्छ्र–मूत्र नलिका के अन्दर क्षत अथवा आघात के कारण अथवा शुक्र के अत्यधिक क्षय के कारण प्रकुपित दोष (रक्त) बस्ति में रुक जाता है। यह रक्त मूत्र के साथ मिलकर वेदना के साथ अल्प-अल्प मात्रा में अश्मरी के कणों की भाँति बाहर निकलता है। अर्थात् मूत्र त्याग करते समय रोगी को भयङ्कर कष्ट होता है। रक्त के अति सञ्चित होने पर बस्ति में आध्मान एवं गुरुता उत्पन्न हो जाती है। जब रक्त मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाता है तब आध्मान एवं गुरुता (Heaviness) कम हो जाती है। इस प्रकार यहाँ मूत्रकृच्छ्र के निदान का विवेचन किया गया।

चक्रपाणि–'क्षतेत्यादि' के द्वारा रक्तज मूत्रकृच्छ्र का वर्णन किया गया है। क्षतज से यहाँ रक्त अर्थ लिया गया है। अर्थात् मूत्रमार्ग अथवा बस्ति में अश्मरी आदि के कारण क्षत होने से रक्तस्राव (Bleeding) होने लगता है। **क्षयाद्वा प्रकोपितं इति**-अति व्यवाय करने के कारण उत्पन्न शुक्रक्षय से प्रकुपित वायु रक्त को वस्ति प्रदेश में लाती है। अर्थात् धातुक्षय के कारण भी क्षत उत्पन्न होता है। परिणाम स्वरूप स्रवित रक्त का संचय बस्ति में होने लगता है।

आध्मातताभिति–बस्ति में रक्त के अति सञ्चय से वस्ति भरी हुई प्रतीत होती है, अर्थात् रक्त से बस्ति का भर जाना।

तस्मिन्निति–रक्त के अत्यधिक संचित होने पर। सूत्रस्थान में वर्णित आठ प्रकार के मूत्राघात को ही यहाँ मूत्रकृच्छ्र शब्द से निर्देशित किया गया है। त्रिमर्मीय सिद्धि नामक अध्याय में जिन १३ प्रकार के मूत्रघातों का विवेचन आगे किया जायेगा। वे सूत्रस्थान में विवेचित न होते हुए भी एकादश क्षुद्रकुष्ठ की भाँति ८ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र के अन्तर्गत स्वीकार किये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए।

मूत्राघातमूत्रकृच्छ्रयोश्चायं विशेषः–मूत्राघात से मूत्रकृच्छ्र इस प्रकार भिन्न है-मूत्रकृच्छ्र में मूत्र कष्ट के साथ निकलता है, अर्थात् मूत्र त्याग करते समय रोगी को अत्यन्त पीड़ा होती है। मूत्राघात में मूत्र का निर्माण नहीं होता अथवा मूत्र का पूर्णतः अवरोध हो जाता है [Painful micturation (Dysuria) while the latter implies absence or complete obstruction of the urination (Anuria). – Dr. Bhagvan Das.]

सुश्रुतसंहिता में भी मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्राघात में भिन्नता होने के कारण इसका विवेचन अलग-अलग अध्यायों में किया है, अन्य आचार्य मूत्रकृच्छ्र को ही विशेष रूप से मूत्राघात के रूप में स्वीकार करते हैं, वे अपने योग्यता के अनुसार (लक्षणों के अनुसार) वातादि चार प्रकार के दोषज मूत्रकृच्छ्र के अन्तर्गत ही मूत्राघात का समावेश कर लेते हैं। इसलिए अलग से मूत्राघात का अभिधान यहाँ नहीं किया गया है। ॥४३-४४॥

Scanned by CamScanner

अभ्यञ्जन स्नेह निरूहबस्तिस्नेहोपनाहोत्तरबस्तिसेकान् । स्थिरादिभिर्व्रातहरैश्च सिद्धान् दद्याद्रसांश्चानिलमूत्रकृच्छ्रे ।।४५।।
पुनर्नवैरण्डशतावरीभिः पत्तूरवृश्चीरबलाश्मभिद्भिः । द्विपञ्चमूलेन कुलत्थकोलयवैश्च तोयोत्क्थिते कषाये ।।४६।।
तैलं वराहर्क्षवसा घृतं च तैरेव कल्कैर्लवणैश्च साध्यम् । तन्मात्रयाऽऽशु प्रतिहन्ति पीतं शूलान्वितं मारुतमूत्रकृच्छ्रम् ।।४७।।
एतानि चान्यानि वरौषधानि पिष्टानि शस्तान्यपि चोपनाहे । स्युर्लाभतस्तैलफलानि चैव स्नेहाम्लयुक्तानि सुखोष्णवन्ति ।।४८।।

मूत्रकृच्छ्र रोग की चिकित्सा (Treatment of Mūtra Kṛicchra)

१. वातज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा–स्थिरादि पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल) के द्रव्यों एवं अन्य वातनाशक द्रव्यों द्वारा साधित जल में पकाये गये जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का पान वातज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को कराना चाहिए । इसके साथ ही वातनाशक द्रव्यों से साधित स्नेह एवं क्वाथ (Decoctions) का प्रयोग-अभ्यङ्ग (Massage), स्नेहवस्ति (अनुवासनबस्ति), निरूहवस्ति, स्नेह उपनाह (स्नेह युक्त उपनाह), उत्तरबस्ति (Urethral and Vaginal douche) एवं परिषेक के रूप में यथावश्यक करना चाहिए ।

२. वातज मूत्रकृच्छ्र में मिश्रक स्नेह का प्रयोग–पुनर्नवा (गदहपुर्ना) की जड़, एरण्ड (अण्डी) मूल, शतावरी, पत्तूर, वृश्चिर (श्वेत पुष्पों वाली पुनर्नवा- A Punarnavā with white flowers– M.M. Williams), बला (बरियार), अश्म (पाषाणभेद), दोनों प्रकार के पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल एवं लघु पञ्चमूल) के द्रव्य, कुलथी, कोल (खट्टी बेर) एवं यव; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर यवकुट कर लें । इस यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्य में यथावश्यक जल डालकर क्वाथ बनावें । इन्हीं द्रव्यों से कल्क का भी निर्माण करें । अब क्वाथ (Decoction)- ४ भाग, स्नेह [तैल (तिल तैल), सूअर की वसा, भालू की वसा एवं गोघृत- प्रत्येक १/४-१/४ भाग लें]- १ भाग (सम्मिलित रूप से), कल्क- १/४ भाग । कल्क द्रव्यों के एकल मान के बराबर सैन्धव लवण भी मिलावें । अब सभी द्रव्यों को निर्धारित मान में लेकर स्नेह को विधिपूर्वक सिद्ध करें । सम्यक् सिद्ध होने पर स्नेह को छानकर एक कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें । इस स्नेह के मात्रा पूर्वक सेवन करने से शूल युक्त वातज मूत्रकृच्छ्र का शीघ्र ही प्रशमन हो जाता है ।

३. मूत्रकृच्छ्र में उपनाह का प्रयोग–पूर्व निर्दिष्ट वातनाशक औषधियों के कल्क (Paste) का प्रयोग उपनाह के रूप में करना चाहिए । इसके साथ ही उन तैल युक्त फलों, यथा-तिल, अलसी, एरण्ड में अम्ल द्रव्यों (काञ्जी आदि) को मिलाकर सुखोष्ण उपनाह लगाने से रोगी का स्वेदन होता है ।

चक्रपाणि–'अभ्यञ्जनेत्यादि' के द्वारा मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है । स्थिरादि पञ्चमूल से-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू [लघुपञ्चमूल] का ग्रहण किया गया है ।

वातहरैरिति तत्र तत्र वातहरत्वेन प्रतिपादितैः–शास्त्र में जहाँ-जहाँ वातनाशक द्रव्यों की गणना की गयी है, उन सभी वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ एवं उनसे साधित तैल आदि का प्रयोग अभ्यञ्जन आदि के रूप में करना चाहिए, यह बताया गया है । पत्तूर=शालिञ्चिका । अश्मभित्=पाषाणभेद । **अन्यानीति**-इसी प्रकार के गुण वाले अन्य द्रव्यों का प्रयोग ।

तैलफलानि–उन द्रव्यों के फल का प्रयोग करना जिनसे तैल निकलता हो, यथा-तिल, उमा (अलसी) एवं आस्फोता आदि । ।।४५-४८।।

सेकावगाहाः शिशिराः प्रदेहा ग्रैष्मो विधिर्बस्तिपयोविरेकाः । द्राक्षादिदारीक्षुरसैर्घृतैश्च कृच्छ्रेषु पित्तप्रभवेषु कार्याः ।।४९।।
शतावरीकाशकुशश्वदंष्ट्रादारिशालीक्षुकशेरुकाणाम् । क्काथं सुशीतं मधुशर्कराभ्यां युक्तं पिबेत् पैत्तिकमूत्रकृच्छ्री ।।५०।।
पिबेत् कषायं कमलोत्पलानां शृङ्गाटकानामथवा विदार्याः । दण्डैरकाणामथवाऽपि मूलं पूर्वेण कल्पेन तथाऽम्बु शीतम् ।।५१।।

पित्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा–१. पित्तनाशक द्रव्यों के शीतल क्वाथ से परिषेक (Cold affusion), शीतल द्रव्यों के क्वाथ से स्नान (क्वाथ को शीतल करके स्नान करना), शीतल प्रदेह, ग्रीष्म ऋतु की चर्या का पालन, बस्ति प्रयोग, गोदुग्ध को ठण्डा करके पीना, विरेचन द्रव्यों का प्रयोग, द्राक्षा स्वरस, विदारीकन्द स्वरस अथवा इक्षुरस का पान तथा सिद्ध शीत घृतों का अभ्यङ्ग आदि उपक्रमों का प्रयोग पित्तज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिए ।

२. शतावरी, काश, कुश, गोखरू, विदारीकन्द, शाली धान का मूल, इक्षु एवं कसेरू; इन द्रव्यों के क्वाथ को शीतल करके उसमें मधु व शर्करा मिलाकर पित्तज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पिलाना चाहिए ।

३. कमल, उत्पल (नील कमल), सिंघाड़ा, विदारीकन्द अथवा दण्डैरका की जड़ का क्वाथ पूर्व योग की भाँति बना करके उसमें मधु व चीनी मिलाकर पित्तज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पिलावें ।

चक्रपाणि–ग्रैष्मोविधिरिति-तस्याशितीय नामक अध्याय (च.सू.अ. ६) में ग्रीष्म ऋतुचर्या की जो विधि बतायी गयी है, अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में व्यक्ति को जो आहार-विहार सेवनीय है, उनका प्रयोग पित्तज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिए । वहाँ शीत ऋतु में भी परिषेक एवं अवगाहन का विधान बताया गया है फिर भी विशेष रूप से शीतल परिषेक एवं अवगाहन हेतु पुनः इसका अभिधान किया गया है ।

Scanned by CamScanner

[शीतऋतु में उष्ण जल का परिषेक एवं अवागाहन का निर्देश है, जबकि ग्रीष्म ऋतु में शीतल परिषेक एवं अवगाहन का विधान है।]

'दण्डैरका'-होग्गल नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वेण कल्पेनेति क्वाथेन मधुशर्करयोर्योगेन च-क्वाथ (शीतल क्वाथ) में मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए। ॥४९-५१॥

एर्वारुबीजं त्रपुषात् कुसुम्भात् सकुङ्कुमः स्याद्वृषकश्च पेयः। द्राक्षारसेनाश्मरिशर्करासु सर्वेषु कृच्छ्रेषु प्रशस्त एषः ॥५२॥
एर्वारुबीजं मधुकं सदारु पैत्ते पिबेत्तण्डुलधावनेन। दार्वी तथैवामलकीरसेन समाक्षिकां पित्तकृते तु कृच्छ्रे ॥५३॥

४. अन्य योग-

(क) ककड़ी के बीज, खीरा के बीज, कुसुम्भ (बरें) के बीज, नागकेशर, अङ्डूसा एवं द्राक्षा; इन द्रव्यों के शीत कषाय का पान अश्मरी, शर्करा एवं सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र में करने से व्याधि शीघ्र ही प्रशमित हो जाती है।

(ख) ककड़ी के बीज, यष्टीमधु, देवदारु; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन चावल के धोवन के साथ करें। इस योग के सेवन करने से पित्तज मूत्रकृच्छ्र शीघ्र ही प्रशमित हो जाता है।

(ग) दारूहल्दी के चूर्ण को मधु मिलाकर सेवन करें, बाद में (ऊपर से) आँवला के स्वरस का पान करें। यह योग पित्तज मूत्रकृच्छ्र में अत्यन्त लाभदायक है।

चक्रपाणि-त्रपुषात् कुसुम्भादित्यत्र बीजमिति संबध्यते-त्रपुषात् कुसुम्भात् के आगे 'बीजम्' भी जोड़ना चाहिए। इससे त्रपु (खीरा) एवं कुसुम्भ (बरें) के बीज का ग्रहण होता है। ॥५२-५३॥

क्षारोष्णतीक्ष्णौषधमन्नपानं स्वेदो यवान्नं वमनं निरूहाः। तक्रं सतिक्तौषधसिद्धतैलमभ्यङ्गपानं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५४॥
व्योषं श्वदंष्ट्रात्रुटिसारसास्थि कोलप्रमाणं मधुमूत्रयुक्तम्। पिबेत्रुटिं क्षौद्रयुतां कदल्या रसेन कैडर्यरसेन वाऽपि ॥५५॥
तक्रेण युक्तं शितिवारकस्य बीजं पिबेत् कृच्छ्रविनाशहेतोः। पिबेत्तथा तण्डुलधावनेन प्रवालचूर्णं कफमूत्रकृच्छ्रे ॥५६॥
सप्तच्छदारग्वधकेबुकैलाधवं करञ्जं कुटजं गुडूचीम्। पक्त्वा जले तेन पिबेद्यवागूं सिद्धं कषायं मधुसंयुतं वा ॥५७॥

कफज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा-कफज मूत्रकृच्छ्र रोग में क्षार, उष्ण, एवं तीक्ष्ण गुण युक्त औषध, अन्न एवं पान का सेवन, स्वेदन का प्रयोग, यव के बने हुए आहार द्रव्यों का सेवन, वमन, निरूह बस्ति, तक्र, तिक्त द्रव्यों से सिद्ध तैल का अभ्यंग एवं पान कराना चाहिए।

कफज मूत्रकृच्छ्र रोग में अधोलिखित योग प्रशस्त माने गये हैं-

१. **व्योषादि चूर्ण**-सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, गोखरू, त्रुटि (छोटी इलायची), सारस पक्षी की हड्डी-प्रत्येक द्रव्य १-१ कोल मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में मधु एवं गोमूत्र मिलाकर पीवें, २. अथवा छोटी इलायची के चूर्ण को मधु के साथ चाटकर ऊपर से केले का रस या बकायन की पत्तियों का स्वरस पीवें।

३. शितिवारक के बीज का चूर्ण तक्र में मिलाकर पान करें।

४. प्रवाल के चूर्ण (भस्म) का सेवन चावल के धोवन के साथ करना चाहिए।

५. सप्तच्छद (छतिवन) की छाल, आरग्वध (अमलतास), केबुक, छोटी इलायची, धव की छाल, करञ्ज की छाल, कुटज, एवं गुडूची; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर षडङ्ग पानीय विधि से क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में मधु मिलाकर रोगी को पिलावें एवं इस क्वाथ से यवागू को सिद्ध कर रोगी को खिलावें।

चक्रपाणि-क्षारोष्णेत्यादि के द्वारा कफज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **कफकृच्छ्रे क्षारादिभिर्युक्तं भेषजमन्नपानं च प्रयोज्यम्**-कफज मूत्रकृच्छ्र में क्षार आदि द्रव्यों से युक्त औषध, अन्न एवं पान का प्रयोग करना चाहिए। **व्योषं त्रिकटुकम्**-व्योष से त्रिकटु अर्थ लिया गया है। त्रिकटु-सोंठ (शुण्ठी)- १ भाग, कालीमिर्च- १ भाग एवं पिप्पली- १ भाग, तीनों द्रव्यों को मिश्रित रूप से त्रिकटु कहा जाता है। त्रुटिः=छोटी इलायची। **सारसः पक्षी स्वनामख्यातः**- सारस पक्षी। **कोलप्रमाणमिति अष्टमाषकमानम्**- ८ माषा का १ कोल होता है। १ कोल= १ तोला। **कैटर्यः पार्वतो निम्बः**-पर्वतीय नीम (महानिम्ब या बकायन)। **शितिवारकः शालिश्चः**-शितिवारक से शालिञ्च अर्थ लिया गया है। [शितिवार-**Marsilea quadrifolia** -M.M. Williams] ॥५४-५७॥

सर्वं त्रिदोषप्रभवे तु वायोः स्थानानुपूर्व्या प्रसमीक्ष्य कार्यम्। त्रिभ्योऽधिके प्राग्वमनं कफे स्यात् पित्ते विरेकः पवने तु बस्तिः ॥५८॥

इति मूत्रकृच्छ्रचिकित्सा।

Scanned by CamScanner

त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा–सभी प्रकार के त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में वायु के स्थान का विचार करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए। कफ की अधिकता में- वमन, पित्त में- विरेचन तथा वात की उल्बणता होने पर बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए। इस प्रकार यहाँ मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि–'सर्वमिति' के द्वारा त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। इसमें वातादि दोषनाशक औषधियों को मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। वातनाशक, पित्तनाशक एवं कफनाशक, तीनों प्रकार की औषधियों को मिश्रित करके प्रयोग करना चाहिए। सभी दोषों के सम रूप से प्रकुपित होने पर वायु की चिकित्सा पहले करनी चाहिए, न कि सन्निपातज ज्वर की भाँति कफस्थान की चिकित्सा पहले करनी चाहिए। अर्थात् मूत्रकृच्छ्र समत्रिदोषज होते हुए भी वातस्थान से उत्पन्न होने के कारण उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिए, यह भाव है। [यहाँ सर्वमित्यादि के द्वारा समत्रिदोषज (सम सन्निपातारब्ध) मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा का निर्देश दिया गया है।]

त्रिभ्योऽधिके इत्यादि के द्वारा विषमसन्निपातारब्ध मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सासूत्र को स्पष्ट किया गया है।

त्रिभ्योऽधिके इति–कफ की अधिकता में वमन, पित्त में विरेचन एवं वात में वस्ति का प्रयोग क्रमशः करना चाहिए, अर्थात् तीनों दोषों में से जो दोष अत्यधिक प्रकुपित हो उसकी चिकित्सा पहले करनी चाहिए। ॥५८॥

क्रिया हिता साऽश्मरिशर्कराभ्यां कृच्छ्रे यथैवेह कफानिलाभ्याम्। कार्याऽश्मरीभेदनपातनाय विशेषयुक्तं शृणु कर्म सिद्धम् ॥५९॥
पाषाणभेदं वृषकं श्वदंष्ट्रापाठाभयाव्योपशटीनिकुम्भाः। हिंस्राखराश्वाशितिवारकाणामेर्वारुकाणां त्रपुषस्य बीजम् ॥६०॥
उत्कुञ्चिका हिङ्गु सवेतसाम्लं स्याद्वे बृहत्यौ हपुषा वचा च। चूर्णं पिबेदश्मरिभेदपक्वं सर्पिश्च गोमूत्रचतुर्गुणं तैः ॥६१॥
मूलं श्वदंष्ट्रेक्षुरकोरुबूकात् क्षीरेण पिष्टं बृहतीद्वयाच्च। आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय ॥६२॥
पुनर्नवायोरजनीश्वदंष्ट्राफल्गुप्रवालाश्च सदर्भपुष्पाः। क्षीराम्बुमद्येक्षुरसैः सुपिष्टं पेयं भवेदश्मरिशर्करासु ॥६३॥
त्रुटिं सुराह्वं लवणानि पञ्च यवाग्रजं कुन्दुरुकाश्मभेदौ। कम्पिल्लकं गोक्षुरकस्य बीजमेर्वारुबीजं त्रपुषस्य बीजम् ॥६४॥
चूर्णीकृतं चित्रकहिङ्गुमांसीयवानितुल्यं त्रिफलाद्विभागम्। अम्लैरशुक्तै रसमद्ययूषैः पेयं हि गुल्माश्मरिभेदनार्थम् ॥६५॥
बिल्वप्रमाणो घृततैलभृष्टो यूषः कृतः शिग्रुकमूलकल्कात्। शीतोऽश्मभित् स्याद्दधिमण्डयुक्तः पेयः प्रकामं लवणेन युक्तः ॥६६॥
जलेन शोभाञ्जनमूलकल्कः शीतो हिताश्चाश्मरिशर्करासु। सितोपला वा समयावशूका कृच्छ्रेषु सर्वेष्वपि भेषजं स्यात् ॥६७॥
पीत्वाऽथ मद्यं निगदं रथेन हयेन वा शीघ्रजवेन यायात्। तैः शर्करा प्रच्यवतेऽश्मरी तु शाम्येन्न चेच्छल्यविदुद्धरेत्ताम् ॥६८॥
रेतोभिघातप्रभवे तु कृच्छ्रे समीक्ष्य दोषं प्रतिकर्म कुर्यात्। कार्पासमूलं वृषकाश्मभेदौ बला स्थिरादीनि गवेधुका च ॥६९॥
वृश्चीर ऐन्द्री च पुनर्नवा च शतावरी मध्वसनाख्यपर्ण्यौ। तत्क्वाथसिद्धः पवने रसः स्यात् पित्तेऽधिके क्षीरमथापि सर्पिः ॥७०॥
कफे च यूषादिकमन्नपानं संसर्गजे सर्वहितः क्रमः स्यात्। एवं न चेच्छाम्यति तस्य युञ्ज्यात् सुरां पुराणां मधुकासवं वा ॥७१॥
विहङ्गमांसानि च बृंहणाय बस्तींश्च शुक्राशयशोधनार्थम्। शुद्धस्य तृप्तस्य च वृष्ययोगैः प्रियानुकूलाः प्रमदा विधेयाः ॥७२॥

अश्मरी एवं शर्करा जन्य मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा–सभी प्रकार के अश्मरी एवं शर्कराजन्य मूत्रकृच्छ्र में कफ वातनाशक मूत्रकृच्छ्र की जो चिकित्सा बतायी गयी है, उसका प्रयोग करना चाहिए। अश्मरी को फोड़ने एवं उसे निकालने के लिए जो विशेष चिकित्सा की जाती है, उस सिद्ध चिकित्सा का विवेचन आगे किया जा रहा है। उसे ध्यान पूर्वक सुनो–

१. पाषाणभेदादिचूर्ण-घटक द्रव्य–पाषाणभेद, वासा (अडूसा) पत्र, गोखरू, पाठा, अभया (हरड़), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, शटी (कचूर), निकुम्भ, हिंस्रा (हंसपदी), खराह्वा (अजवाइन), शितिवारक (शालिञ्च) के बीज, ककड़ी के बीज, खीरा के बीज, उत्कुञ्चिका (स्याह जीरा), हींग, अम्लवेतस, छोटी कण्टकारी, बड़ी कण्टकारी, हपुषा (हाऊबेर) एवं वचा। सभी द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग जल के साथ अश्मरी के भेदनार्थ (तोड़ने हेतु) करना चाहिए, अर्थात् इसके प्रयोग से अश्मरी गलकर मूत्रमार्ग द्वारा बाहर आ जाती है।

इन द्रव्यों के कल्क- १/४ भाग, गोघृत- १ भाग, गोमूत्र- ४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध कर लें। इस घृत के सेवन करने से अश्मरी छोटे-छोटे टुकड़ों में टूट जाती है।

२. श्वदंष्ट्रा मूल (गोखरू की जड़), इक्षुरक (तालमखाना), एरण्डमूल, बृहती द्वय (छोटी कण्टकारी की जड़ एवं वनभण्टे की जड़); सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर दूध के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क में मीठा दही मिलाकर घोल लें। अर्थात् इस कल्क को मीठे दही के साथ घोलकर सात दिन तक सेवन करें। इस योग के सेवन करने से अश्मरी टूट कर विभक्त हो जाती है।-गोक्षुरादि कल्क।

३. पुनर्नवा (गदहपुर्ना), अयोरज (लौह भस्म), हल्दी, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), फल्गु (कठगुलर) पत्र, कुश की जड़ एवं पुष्प; प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर दूध, जल, मद्य अथवा इक्षुरस के साथ पीसकर इन्हीं द्रव पदार्थों के अनुपान के साथ पीना चाहिए। इसके सेवन से अश्मरी एवं शर्करा रोग में लाभ मिलता है। -पुनर्नवादि योग

Scanned by CamScanner

४. त्रुटि (छोटी इलायची), सुराह्वा (देवदारु), पञ्चलवण (सैंधव, सौवर्चल, सामुद्र, औद्भिद् एवं विड्), यवक्षार, कुन्दरू, पाषाणभेद, कम्पिल्लक (कबीला), गोक्षुर का बीज, ककड़ी का बीज, खीरा का बीज, चित्रकमूल, हींग, जटामांसी एवं अजवाइन-प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग, हरड़- २ भाग, बहेड़ा- २ भाग, आँवला- २ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग गुल्म एवं अश्मरी के भेदनार्थ अम्ल द्रव्यों (सिरके को छोड़कर) अथवा मांसरस अथवा मद्य अथवा मुद्गयूष के साथ करना चाहिए। -त्रुट्यादि चूर्ण।

५. **सहिजन का प्रयोग**-शिग्रु (सहिजन) मूलत्वक् कल्क- ४ तोला (बिल्व प्रमाण) लेकर उसे घृत एवं तैल में भूनकर यूष का निर्माण करें। इसमें दही का पानी व हलका नमक मिलाकर शीतल कर लें। इस यूष का सेवन नित्य करने से अश्मरी टूट कर मूत्र के साथ बाहर निकल जाती है।

६. शिग्रुमूलत्वक् से निर्मित कल्क (शिग्रुमूलत्वक् कल्क) का सेवन शीतल जल मिलाकर करने से अश्मरी व शर्करा रोग में लाभ मिलता है अथवा सितोपला (शर्करा)- १ भाग + यवक्षार- १ भाग जल के साथ सेवन करने से सभी प्रकार के मूत्रकृच्छ्र रोग दूर हो जाते हैं।

अश्मरीनाशक विहार-यदि पूर्वोक्त चिकित्सा से अश्मरी अथवा शर्करा के रोगी को लाभ नहीं मिलता है तब रोगी दोषनाशक (निगद) मद्य को पीकर शीघ्रगामी (शीघ्र चलने वाले) रथ अथवा घोड़े अथवा क्षोभ उत्पन्न करने वाली सवारियों पर बैठकर कुछ दूर यात्रा करे। ऐसा करने से शर्करा अथवा अश्मरी टूटकर मूत्रमार्ग से बाहर निकल जाती हैं। इस प्रक्रिया के द्वारा भी यदि अश्मरी का भेदन नहीं हो पाता है तब शल्यविद् द्वारा शल्यकर्म की सहायता से इसका निर्हरण करना चाहिए।

शुक्रज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा-यदि शुक्र वेग के अवरोध के कारण मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हुआ है तब उसमें वातादि दोषों का विचार करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

कार्पासमूलादि योग-कपास की जड़, वासामूल, पाषाणभेद, बला (बरियार), लघु पञ्चमूल के द्रव्य (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षरू), गवेधुक, वृश्चीर (श्वेतपुनर्नवा), ऐन्द्री (इन्द्रायण की जड़), पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा), शतावरी, मधुपर्णी एवं असनपर्णी; सभी द्रव्यों को १-१ भाग लेकर क्वाथ बनावें। इस क्वाथ (Decoction) का प्रयोग वातज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। पित्तज मूत्रकृच्छ्र में इन्हीं औषधियों से साधित क्षीर (दूध) अथवा घृत का प्रयोग करें। कफज मूत्रकृच्छ्र के रोगी को इन्हीं औषधियों के षडंगपानीयविधि से साधित जल का प्रयोग यूष एवं अन्न के रूप में करें। साथ-साथ अन्य पेयों का निर्माण कर सेवन करें। संसर्गज एवं सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में दो दोषों एवं तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए।

यदि पूर्व उपक्रमों के द्वारा शुक्रावरोध जन्य मूत्रकृच्छ्र रोग प्रशमित नहीं होता है तब रोगी को पुरानी सुरा अथवा मधुकासव पीने के लिए देना चाहिए तथा शरीर के बृंहण हेतु पक्षियों के मांस का प्रयोग करना चाहिए एवं शुक्राशय की शुद्धि हेतु **निरूह एवं अनुवासन बस्तियों** का प्रयोग करें। इस प्रकार शुक्राशय के शुद्ध होने एवं वृष्य योगों द्वारा शरीर के तृप्त हो जाने पर व्यक्ति प्रिय एवं मनोनुकूल स्त्रियों के साथ मैथुन करे।

चक्रपाणि-क्रिया हिता सेति-जो चिकित्सा कफ वात जनित मूत्रकृच्छ्र में बतायी गयी है उसी का प्रयोग मिश्रित रूप से शर्करा एवं अश्मरी रोग में भी करना चाहिए। (खराह्वा)=अजमोदा।

चूर्णं पिबेदित्यत्र जलेनैव पानम्-'चूर्णं पिबेत्' से यहाँ जल के साथ चूर्ण को पीना चाहिए, अर्थ लिया गया है। इक्षुरकः कोकिलाक्षः=तालमखाना।

कुन्दुरुः स्वनामख्यातः-'कुन्दरू' यह नाम प्रसिद्ध है। **त्रिफलाद्विभागमिति**-त्रिफला के प्रत्येक द्रव्य मूल भाग से २-२ भाग ग्रहण करें, यथा- हरड़- २ भाग, बहेड़ा- २ भाग, आँवला- २ भाग। आम्लैरिति:= काञ्जी आदि के द्वारा। अशुक्लैरिति शुक्लवर्जितैः=सिरके को छोड़कर।

मद्यं चात्राम्लग्रहणगृहीतमपि बस्तिशोधनत्वादश्मरीभेदकत्वप्रकर्षख्यापनार्थं पुनरुच्यते-अम्ल रस युक्त होते हुए भी मद्य का यहाँ ग्रहण बस्तिशोधन एवं अश्मरीभेदक विशेष गुण के कारण पुनः किया गया है। **अश्मभिदिति**= अश्मरी का भेदन करने वाला। सितोपला=शर्करा।

शल्यविदुद्धरेदिति शल्यशास्त्रवेत्ता तदुक्तविधानेनाश्मरीमाकर्षेत्-शल्य चिकित्सक को शल्य कर्म के द्वारा अश्मरी को बाहर निकालना चाहिए, अर्थात् औषध प्रयोग द्वारा अश्मरी का भेदन एवं निर्हरण न होने पर शल्यकर्म के द्वारा उसे बाहर निकालना चाहिए। समीक्ष्य दोषमिति- दोषों की उल्बणता (प्रबलता) का विचार करते हुए। प्रतिकर्म कुर्यात्-चिकित्सा कर्म करना चाहिए, अर्थात् शुक्रावरोध जन्य मूत्रकृच्छ्र में जिस दोष के लक्षण बढ़े हुए मिलते हैं उस दोष की चिकित्सा करनी चाहिए।

मध्वसनाख्यपर्ण्यौ-से यहाँ मधुपर्णी (गुडूची) एवं असनपर्णी (अपराजिता) अर्थ लिया गया है। कुछ आचार्य असन से 'दारुपर्णी' का ग्रहण करते हैं।

Scanned by CamScanner

संसर्गजे इति–त्रिदोषानुगते-तीनों दोषों के मिलने पर अर्थात् त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए। विहङ्गः=पक्षी। ॥५९-७२॥

रक्तोद्भवे तूत्पलनालतालकासेक्षुबालेक्षुकशेरुकाणि। पिबेत् सिताक्षौद्रयुतानि खादेदिक्षुं विदारीं त्रपुषाणि चैव ॥७३॥
घृतं श्वदंष्ट्रास्वरसेन सिद्धं क्षीरेण चैवाष्टगुणेन पेयम्। स्थिरादिकानां कनकादिकानामेकैकशो वा विधिनैव तेन ॥७४॥
क्षीरेण बस्तिर्मधुरौषधैः स्यात्तैलेन वा स्वादुफलोत्थितेन। यन्मूत्रकृच्छ्रे विहितं तु पैत्ते कार्यं तु तच्छोणितमूत्रकृच्छ्रे ॥७५॥

रक्तज मूत्रकृच्छ्र की चिकित्सा–१. उत्पलनाल (नीलकमल की नाल), ताल (ताड़ का फल), कास, इक्षुबालिका मूल, इक्षु (ईख) की जड़ एवं कशेरुक; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में मधु व शर्करा मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें। रोगी को खाने के लिए खीरा, विदारीकन्द तथा ईख का प्रयोग करें।

२. गोखरू का स्वरस, गोघृत, घृत से ८ गुना गाय का दूध लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस घृत का सेवन मात्रानुसार करने से रक्तज मूत्रकृच्छ्र प्रशमित हो जाता है। इसी प्रकार स्थिरादि (लघु पञ्चमूल के) द्रव्यों के कल्क, क्वाथ एवं गोदुग्ध से साधित घृत अथवा कतकादि वर्ग के द्रव्यों के कल्क, क्वाथ एवं गोदुग्ध से साधित घृत का सेवन करने से रक्तज मूत्रकृच्छ्र शान्त हो जाता है।

३. मधुरगण की औषधियों से साधित क्षीर (दुग्ध) की बस्ति अथवा मधुररस युक्त फलों के तैल की बस्ति का प्रयोग रक्तज मूत्रकृच्छ्र में करना चाहिए, अथवा पित्तज मूत्रकृच्छ्र की जो चिकित्सा बतायी गयी है वही रक्तज मूत्रकृच्छ्र में भी उपयोगी होती है।

चक्रपाणि–खादेदिति असिद्धान्येव खादेत्-बिना सिद्ध किये ही खाना चाहिए, अर्थात् ईख चूषना, विदारीकन्द एवं खीरा को कच्चे ही खाना चाहिए। **घृतं श्वदंष्ट्रेत्यादौ साहचर्यात् केचिच्छ्वदंष्ट्रास्वरसमप्यष्टगुणं वदन्ति-श्वदंष्टा घृत में** श्वदंष्ट्रा के साहचर्य से निर्मित होने के कारण कुछ आचार्य इसमें श्वदंष्ट्रा (गोखरू) स्वरस की मात्रा ८ गुनी डालने का निर्देश देते हैं, जबकि ऐसा नहीं है।

स्वरसः स्नेहसम एव स्नेहेषु भवति–सिद्ध स्नेहों में स्वरस की मात्रा स्नेह की मात्रा के बराबर ही डाली जाती है, अर्थात् स्नेह सिद्ध करते समय स्नेह की मात्रा के बराबर स्वरस का ग्रहण किया जाता है। **जतूकर्णसंहिता** में कहा भी गया है, यथा-"कल्काच्चतुर्गुणः स्नेहः, स्वरसः स्नेहसंमितः" इति [स्नेह सिद्ध करने के लिए कल्क- १ भाग, स्नेह- ४ भाग, स्वरस- ४ भाग लें अर्थात् कल्क का ४ गुना स्नेह तथा स्नेह के बराबर स्वरस का ग्रहण करें।] इस प्रकार क्षीर की तरह सभी स्नेहों में स्वरस का भी विधान है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार स्थिरादि वर्ग एवं कतकादि वर्ग के द्रव्यों से साधित घृत का प्रयोग करना चाहिए। कतकादि द्रव्यों का वर्णन वि.अ. ८ में मधुरस्कन्ध के अन्तर्गत कतककाश्मर्य (पाठभेद से कालङ्कतकाश्मर्य) इत्यादि के द्वारा किया गया है।

विधिनैव तेनेति–पूर्व घृत निर्माण के विधान की तरह ही, वहाँ वर्णित श्वदंष्ट्रा स्वरस (गोखरू स्वरस) के स्थान पर शालपर्णी आदि द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। [यहाँ घृत का निर्माण एक-एक द्रव्यों से भी किया जा सकता है, अर्थात् शालपर्णीघृत, पृश्निपर्णीघृत आदि।] **स्वादुफलोत्थितेनेति**-मधुर रस युक्त फलों से निकाले गये तैल के द्वारा। यहाँ मधुरफल से मधूक (महुआ के बीज=कोइना), अखरोट आदि के फल से निकले तैल का ग्रहण किया गया है। ॥७३-७५॥

व्यायामसंधारणशुष्करूक्षपिष्टान्नवातार्ककरव्यवायान्। खर्जूरशालूककपित्थजम्बूबिसं कषायं न रसं भजेत् ॥७६॥

इत्यश्मरीचिकित्सा।

मूत्रकृच्छ्र रोग में अपथ्य–

१. अत्यधिक व्यायाम करना (Excessive exercise)।

२. अधारणीय वेगों को रोकना (Suppression of the manifested natural urges)।

३. शुष्क, रूक्ष एवं पिष्टान्न (मैदे के पदार्थ) का सेवन।

४. अत्यधिक वायु, सूर्य का ताप (धूप) का सेवन।

५. अत्यधिक मैथुन करना।

६. खर्जूर, शालूक (कमलकन्द), कपित्थ (कैथ), जामुन, बिष (कमल की जड़) एवं कषाय रस युक्त आहार का सेवन।

उपर्युक्त सभी प्रकार के आहार-विहार मूत्रकृच्छ्र रोगी के लिए अहितकर माने गये है, अर्थात् मूत्रकृच्छ्र का रोगी इन आहार-विहारों का सेवन न करे।

इस प्रकार मूत्रकृच्छ्र चिकित्सा का विवेचन पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'व्यायामेत्यादि' के द्वारा मूत्रकृच्छ्र रोगी में जो आहार-विहार हितकर नहीं हैं, उनका वर्णन किया गया है। ॥७६॥

Scanned by CamScanner

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासगदातिचाराः । छर्द्यामसंधारणकर्शनानि हृद्रोगकर्तृणि तथाऽभिघातः ।।७७।।
वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः । छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये ।।७८।।
हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः । पित्तात्तमोदूयनदाहमोहाः संत्रासतापज्वरपीतभावाः ।।७९।।
स्तब्धं गुरु स्यात् स्तिमितं च मर्म कफात् प्रसेकज्वरकासतन्द्राः । विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं कृमिजं सकण्डूम् ।।८०।।

हृद्रोग चिकित्सा प्रकरण (Treatment of Heart diseases)

निदान (Etiology of Heart-diseases)—अधोलिखित हेतुओं के सेवन से हृद्रोग की उत्पत्ति होती है–

१. अत्यधिक व्यायाम करना (Excessive exercise)
२. अत्यधिक तीक्ष्ण आहार द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करना ।
३. वमन, विरेचन कारक औषधियों का अत्यधिक प्रयोग अर्थात् अत्यधिक वमन व विरेचन करना ।
४. निरूह अथवा अनुवासन वस्तियों का अत्यधिक प्रयोग ।
५. चिन्ता, भय एवं त्रास (घबराहट) का अत्यधिक होना ।
६. व्याधि की समुचित चिकित्सा का न होना ।
७. अत्यधिक छर्दि व आमाधिक्य का होना ।
८. अधारणीय वेगों का अवरोध ।
९. शरीर को कृश करने वाले आहार-विहार का अत्यधिक सेवन ।
१०. शरीर अथवा हृदय पर आघात का लगना (शारीरिक एवं मानसिक आघात)

सामान्य लक्षण–वैवर्ण्य (त्वचा का रङ्ग बदल जाना-Discolouration of skin), मूर्च्छा (Fainting), ज्वर (Fever), कास (Cough), हिक्का (Hiccup), श्वास (Asthma), आस्यवैरस्य (मुख का स्वाद बदल जाना), तृष्णा (प्यास का लगना-Morbid thirst), प्रमोह (unconsciousness), छर्दि (Vomiting), कफोत्क्लेश (मिचली-Nausea), रुजा (Pain), अरुचि (Anorexia) तथा इसी प्रकार के अन्य लक्षणों का मिलना ।

ये सभी लक्षण सामान्यतया हृद्रोग से आक्रान्त पुरुष में पाये जाते हैं ।

हृद्रोग के विशिष्ट लक्षण

१. वातज हृद्रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja-Hṛidroga)–

→ हृदय में शून्यता का प्रतीत होना ।
→ हृद्द्रव का होना (Tachycardia)
→ हृद् शोष (हृदय सूख रहा है, इस प्रकार की प्रतीति का होना) ।
→ हृदय में फटने जैसी पीड़ा का होना (Pricking pain)
→ हृदय में जकड़ाहट का अनुभव होना ।
→ मोह (unconsciousness)

ये सभी लक्षण वातज हृदयरोग में पाये जाते हैं ।

२. पित्तज हृद्रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Hṛid-Roga)–

→ तम (आँखों के सामने अन्धकार छा जाना)
→ दूयन (शरीर के आन्तरिक भागों में उष्णता का प्रतीत होना)
→ दाह (Burning sensation) का होना
→ मोह का होना (unconsciousness)
→ संत्रास (Feeling of distress)
→ शरीर का उष्ण होना

Scanned by CamScanner

→ ज्वर (Fever)
→ त्वचा का वर्ण पीला हो जाना (Yellowish colouration)

ये सभी लक्षण पित्त की वृद्धि में पाये जाते हैं।

३. कफज हृद्रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Hṛid-Roga)–

→ हृदय का स्तंभित होना (हृदय में जकड़ाहट का होना-रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसका हृदय जकड़ गया है।)
→ हृदय प्रदेश में भारीपन का होना (Heaviness of the heart region)
→ स्तैमित्य (रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका हृदय गीले कपड़े से ढक दिया गया है।)
→ मुख से पानी का आना (excessive salivation)
→ ज्वर (Fever), कास (Cough) एवं तन्द्रा (drowsiness) का आना।

ये सभी लक्षण कफज हृद्रोग में पाये जाते हैं।

४. सन्निपातज हृद्रोग के लक्षण (Signs and symptoms of Sannipātaja Hṛid-Roga)–

सन्निपातज हृद्रोग में तीनों दोषों के सभी लक्षण मिश्रित रूप में पाये जाते हैं।

५. कृमिज हृद्रोग के लक्षण (Signs and Symptoms of Krimija Hṛid-Roga)–

→ हृदय में तीव्र पीड़ा का होना।
→ तोद का होना (हृदय में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना)
→ कण्डू (शरीर में खुजली का होना-Itching)

चक्रपाणि–निदान आदि के क्रम से हृद्रोग की चिकित्सा का विवेचन किया गया है। **गदातिचार इति रोगाणामसम्यगुपचाराः**-व्याधि का सम्यक् (उचित) उपचार न हो पाना (Improper treatment of disease)।

हृद्रोगकर्तृणीति यथा "भीष्मः कुरूणां भयशोकहर्ता", तेन "तृजकाभ्यां कर्तरि", (पा.अ. २/२/१५) इत्यनेनात्र समासः-हृदय रोग को उत्पन्न करने वाला, यथा-भीष्म कुरुओं के भय व शोक को दूर करने वाले हैं। यह व्याख्या 'तृजकाभ्यां कर्तरि' सूत्र से निष्पन्न हुई है, यथा-**अपांस्रष्टा**-जल की सृष्टि करने वाला वरुण, **वज्रस्य भर्ता**-वज्र को धारण करने वाला इन्द्र। वैवर्ण्येत्यादौ हृद्रोगजा इति-इस वचन से हृदय रोग उत्पन्न होने के बाद व्याधि के प्रभाव से वैवर्ण्य आदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण किया गया है। जो आचार्य वैवर्ण्य आदि को हृद्रोग के सामान्य लक्षण के रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार ये लक्षण व्याधि के साथ ही उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार 'हृद्रोगजा इति' की व्याख्या की गयी। हृद्रोग का विस्तार से वर्णन सूत्रस्थान के कियन्तःशिरसीय नामक अध्याय में किया गया है, फिर भी यहाँ चिकित्सा का प्रकरण होने से उसका विवेचन संक्षेप में कर दिया गया है। मर्मेति=हृदय।

तैलं ससौवीरकमस्तुतक्रं वाते प्रपेयं लवणं सुखोष्णम्। मूत्राम्बुसिद्धं लवणैश्च तैलमानाहगुल्मार्तिहृदामयघ्नम् ।।८१।।
पुनर्नवां दारु सपञ्चमूलं रास्नां यवान् बिल्वकुलत्थकोलम्। पक्त्वा जले तेन विपाच्य तैलमभ्यङ्गपानेऽनिलहृद्दघ्नम् ।।८२।।
हरीतकीनागरपुष्कराह्वैर्वयःकयस्थालवणैश्च कल्कैः। सहिङ्गुभिः साधितमभ्यसर्पिर्गुल्मे सहत्पार्श्वगदेऽनिलोत्थे ।।८३।।
सपुष्कराह्वं फलपूरमूलं महौषधं शट्यभया च कल्काः। क्षाराम्बुसर्पिर्लवणैर्विमिश्राः स्युर्वातहृद्रोगविकर्तिकाघ्नाः ।।८४।।
क्वाथः कृतः पौष्करमातुलुङ्गपलाशभूतीकशटीसुराह्वैः। सनागराजाजिवचायवानीक्षारः सुखोष्णो लवणश्च पेयः ।।८५।।
पथ्याशटीपौष्करपञ्चकोलात् समातुलुङ्गाद्यमकेन कल्कः। गुडप्रसन्नालवणैश्च भृष्टो हृत्पार्श्वपृष्ठोदरयोनिशूले ।।८६।।
स्यात्प्रयूषणं द्वे त्रिफले सपाठे निदिग्धिकागोक्षुरकौ बले द्वे। ऋद्धिस्त्रुटिस्तामलकी स्वगुप्ता मेदे मधूकं मधुकं स्थिरा च ।।८७।।
शतावरी जीवकपृश्निपर्ण्यौ द्रव्यैरिमैरक्षसमैः सुपिष्टैः। प्रस्थं घृतस्येह पचेद्विधिज्ञः प्रस्थेन दध्ना त्वथ माहिषेण ।।८८।।
मात्रां पलं चार्धपलं पिचुं वा प्रयोजयेन्माक्षिकसंप्रयुक्ताम्। श्वासे सकासे त्वथ पाण्डुरोगे हलीमके हृद्ग्रहणीप्रदोषे ।।८९।।

१. वातज हृद्रोग की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Hṛid-Roga)–

१ सौवीरक (Sour Gruel), मस्तु (दही का पानी), तक्र एवं सैन्धव लवण से साधित तिल तैल का पान (सुखोष्ण) वातिक हृद्रोग के रोगी को करना चाहिए। अथवा गोमूत्र, जल एवं पांचों प्रकार के लवण (सैन्धव, विड्, सौवर्चल, औद्भिद् एवं सामुद्र) से सिद्ध तैल (तिल तैल) का पान करने से आनाह, गुल्म एवं हृदय रोग में उत्पन्न होने वाली पीड़ा प्रशमित हो जाती है।

Scanned by CamScanner

२. पुनर्नवादि तैल–पुनर्नवा, देवदारु, पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी); इन द्रव्यों की छाल बराबर-बराबर मात्रा में लें), रास्ना, यव, बिल्व की गुद्दी, कुलथी तथा कोल (झड़बेर); सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं इनका क्वाथ बनावें । इस क्वाथ में तिल तैल को विधिपूर्वक सिद्ध करें । वातिक हृद्रोग में इस तैल का प्रयोग अभ्यङ्ग (Massage) एवं पान (आभ्यन्तर प्रयोग) के रूप में करना चाहिए ।

३. हरीतक्यादि घृत–हरीतकी, शुण्ठी (सोंठ), पुष्करमूल, वयस्था (गुडूची), कायस्था (आँवला), सैन्धव लवण एवं हिङ्गु (हींग); सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क से विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें । यह घृत वातज हृद्रोग, वातज गुल्म एवं वातजन्य पार्श्वशूल में अत्यन्त लाभदायक होता है ।

४. पुष्करमूल, फलपूरमूल (बिजौरा नीबू की जड़), शुण्ठी (सोंठ), शटी (कचूर) एवं हरड़; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें । इसमें यवक्षार, जल, गोघृत एवं सैन्धव नमक मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए । इसके प्रयोग से वातज हृद्रोग एवं विकर्तिका (हृदय में कैंची से काटने के समान वेदना का होना) रोग दूर हो जाते हैं ।

५. पुष्करमूलादि क्वाथ (Puskara mūlādi Kvātha)–पुष्करमूल, बिजौरा नीबू की जड़, पलाश वृक्ष की छाल, भूतीक, शटी (कचूर), सुराह्वा (देवदारु); प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ (Decoction) बनावें । इस गुनगुने क्वाथ में सोंठ (शुण्ठी), अजाजी (जीरा), वचा, यवानी (अजवाइन), यवक्षार एवं सैन्धव लवण के समभाग से निर्मित चूर्ण को पिलाना चाहिए ।

६. पथ्यादि कल्क (Pathyaādi Kalka)–पथ्या (हरड़), शटी (कचूर), पुष्करमूल, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी (सोंठ) एवं बिजौरानीबू की जड़; सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें । इस कल्क (Paste) को यमक स्नेह (तिल तैल-१ भाग+घृत- १ भाग) में भून लें । इस भुने हुए कल्क में गुड़, प्रसन्ना एवं लवण (सैन्धव) मिलाकर रोगी को पिलावें । इसके प्रयोग से हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, उदर एवं वौनि की पीड़ा दूर हो जाती है ।

७. त्र्यूषणादि घृत (Trayūshaṇādi-Ghṛita)–त्र्यूषण (सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली), दो प्रकार के त्रिफला (१. हरड़, बहेड़ा, आँवला, २. गम्भारी का फल, मुनक्का एवं फालसा), पाठा, निदिग्धिका (छोटी कण्टकारी), गोखरू, बला, अतिबला, ऋद्धि, छोटी इलायची, तामलकी (भूम्यामलकी-भुई आँवला), स्वगुप्ता (केंवाच के बीज), मेदा, महामेदा, मधूक (महुआ), यष्टीमधु (मुलेठी), स्थिरा (शालपर्णी), शतावरी, जीवक, पृश्निपर्णी; सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ अक्ष (१ तोले) मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें । भैंस के दुग्ध की दही-१ प्रस्थ, गोघृत-१ प्रस्थ, यथावश्यक जल (३ प्रस्थ) लें । अब कल्क, दधि, जल एवं गोघृत को मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें । इस सिद्ध घृत की मात्रा १ पिचु से लेकर १ पल तक (१ तोले से ४ तोले) की है । इस घृत में मधु मिलाकर प्रयोग करने से श्वास (Asthma), कास (Cough), पाण्डुरोग (Anaemia), हलीमक (Serious types of Jaundice), हृद् रोग (Heart disease) एवं ग्रहणी रोग दूर हो जाते हैं ।

चक्रपाणि–"तैलमित्यादि" के द्वारा क्रमानुसार (वातादि क्रम के अनुसार) हृद्रोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है ।

तैलादीनामत्र समभागानां पेयत्वं ज्ञेयम्–श्लोक नं. ८१ में वर्णित तैल आदि द्रव्यों की मात्रा बराबर ग्रहण करनी चाहिए, अर्थात् तिल तैल, सौवीरक, मस्तु एवं तक्र; सभी द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें, इसमें यथावश्यक सैन्धव लवण मिलाकर गुनगुना करके रोगी को पीने के लिए दें ।

वयः कयस्थेति वयःस्थाकायस्थयोर्गुडूच्यामलकयोः स्वरसग्रहणम्–वयस्था से गुडूची एवं कायस्था से आमलकी स्वरस का ग्रहण किया गया है ।

अभ्यसर्पिरिति अत्राभ्यपदमस्य सर्पिषः प्राधान्यख्यापनार्थम्–यहाँ अभ्य सर्पि शब्द से घृत की प्रधानता को दर्शाया गया है । विकर्तिका से यहाँ-हृदय में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना, अर्थ गृहीत है ।

'क्वाथः कृतः' से यहाँ नागरादि द्रव्यों के कल्क को पौष्करादि द्रव्यों के क्वाथ में प्रक्षेप के रूप में डालकर पीना चाहिए, अर्थ लिया गया है ।

पथ्याशटीत्यादौ यमकेन भृष्टः कल्कः गुडप्रसन्नालवणैश्च पेय इति व्याख्येयम्–पथ्या, शटी आदि द्रव्यों के कल्क को यमक में भून कर, उसमें गुड़, प्रसन्ना एवं लवण मिलाकर रोगी को पीना चाहिये ।

'द्वे त्रिफले' से यहाँ द्राक्षा, काश्मर्य एवं फालसा के फल का ग्रहण किया गया है । इन तीनों की बराबर-बराबर मात्रा **द्वितीय त्रिफला** कही जाती है । त्रुटिः=सूक्ष्मैला (छोटी इलाचयी) ॥८१-८९॥

Scanned by CamScanner

शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे । द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम् ।।९०।।
यष्ट्याह्विकातिक्तकरोहिणीभ्यां कल्कं पिबेच्चापि सिताजलेन । क्षते च सर्पींषि हितानि सर्पिर्गुडाश्च ये तान् प्रसमीक्ष्य सम्यक् ।।९१।।
दद्याद्भिषग्धन्वरसांश्च गव्यक्षीराशिनां पित्तहृदामयेषु । तैरेव सर्वे प्रशमं प्रयान्ति पित्तामयाः शोणितसंश्रया ये ।।९२।।
द्राक्षाबलाश्रेयसिशर्कराभिः खर्जूरवीरर्षभकोत्पलैश्च । काकोलिमेदायुगजीवकैश्च क्षीरेण सिद्धं महिषीघृतं स्यात् ।।९३।।
कशेरुकाशैवलशृङ्गवेरप्रपौण्डरीकं मधुकं बिसस्य । ग्रन्थिश्च सर्पिः पयसा पचेत्तैः क्षौद्रान्वितं पित्तहृदामयघ्नम् ।।९४।।
स्थिरादिकल्कैः पयसा च सिद्धं द्राक्षारसेनेक्षुरसेन वाऽपि । सर्पिर्हितं स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः सुशीता हृदि पित्तदुष्टे ।।९५।।

२. पित्तज हृद्रोग की चिकित्सा (Treatment of Pittaja Hrid-Roga)—यदि दूषित पित्त के कारण हृदय रोग की उत्पत्ति हुई है तब रोगी को शीतल प्रदेह एवं शीतल परिषेक (Affusion) का प्रयोग करना चाहिए। विरेचनार्थ द्राक्षा, मधु, मिश्री एवं फालसा के रस का प्रयोग करें। विरेचन के द्वारा रोगी का शरीर शुद्ध हो जाने पर पित्तनाशक अन्न-पान की योजना करनी चाहिए।

१. यष्टीमधु (मुलेठी), तिक्तकरोहिणी (कुटकी); दोनों द्रव्य एक-एक भाग लेकर कल्क बना लें। इस कल्क को मिश्री के जल (शर्बत) में घोलकर पित्तज हृद्रोग के रोगी को विरेचनार्थ पीने के लिए दें।

क्षत क्षीण चिकित्सा में वर्णित सिद्ध घृत एवं सर्पिर्गुड का भी प्रयोग विचार करके करें, अर्थात् उस अध्याय में जो सिद्ध घृत एवं सर्पिर्गुड का उल्लेख किया गया है उनका प्रयोग यथावश्यक करना चाहिए। जो पित्तज हृद्रोगी गाय के दूध का सेवन करते हैं उन्हें चिकित्सक जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का सेवन करावे। ['दद्याद्भिषग्धन्वरसांश्च' के स्थान पर जल्पकल्पतरुटीका के चरक पाठ में 'दद्याद् भिषक् धन्वरसान्गव्यक्षीराशिनां' पाठ प्राप्त होता है। जिसके अनुसार पित्तज हृद्रोग के वे रोगी जो गाय के दूध का सेवन कर रहे हैं उन्हें जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस की योजना नहीं करनी चाहिए, अर्थ लिया गया है। जिस पर आचार्य गंगाधर कविराज ने अपना मत इस प्रकार दिया है-

उरसः क्षतेषु यानि सर्पींषि ये च सर्पिर्गुडा उक्तास्थान् धन्वरसान्नगव्यक्षीराशिनां दद्यात्—उरःक्षत प्रकरण में जो घृत एवं सर्पिर्गुड वर्णित हैं, उनके साथ गाय के दूध का ही प्रयोग कराना चाहिए, जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस की योजना न करें।] (मेरे विचार से यह विचार ज्यादा उपयुक्त है।) इस चिकित्सा के प्रयोग से सभी प्रकार के पित्तज विकार एवं रक्ताश्रित व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं।

२. **द्राक्षादि घृत (Drākshādi-Ghrita)**—द्राक्षा (मुनक्का=मृद्वीका), बला, श्रेयसी (रास्ना), शर्करा, खर्जूर, वीरा (शतावरी), ऋषभक, उत्पल (नीलकमल), काकोली, मेदा, महामेदा, जीवक; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। स्नेह-(भैंस का घृत)-१ भाग, कल्क-१/४ भाग, गोदुग्ध-४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें।

इस घृत का सेवन पित्तज हृद्रोगी को करना चाहिए।

३. **कशेरुकादि घृत (Kaśerukādi-Ghrita)**—कशेरू, शैवाल, शृङ्गवेर (अदरख), प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ), यष्टीमधु (मुलेठी), बिसग्रन्थि (कमलनाल की गाँठ); प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में ग्रहण करें (कल्क)। घृत (भैंस का घृत)-१ भाग, गोदुग्ध-४ भाग, कल्क-१/४ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मान में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। इस घृत में मधु मिलाकर पित्तज हृदय के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। इसके प्रयोग से पित्तज हृद्रोग शीघ्र प्रशमित हो जाता है।

४. **स्थिरादि घृत (Sthirādi-Ghrita)**—स्थिरादिवर्ग-शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू; का कल्क १/४ भाग, गोदुग्ध-४ भाग, गोघृत-१ भाग।

स्थिरादि पञ्चमूल के द्रव्यों के कल्क, गोदुग्ध एवं गोघृत को निर्धारित मात्रा में लेकर घृत को सिद्ध करें। अथवा इन्हीं द्रव्यों के कल्क व मुनक्के के रस (४ भाग) के साथ घृत सिद्ध करें अथवा ईख के रस (४ भाग)+स्थिरादि द्रव्यों के कल्क के साथ घृत सिद्ध करें। इस प्रकार ये तीनों घृत अत्यन्त शीतल एवं पित्तज हृद्रोग नाशक होते हैं।

चक्रपाणि—'शीता इत्यादि' के द्वारा पित्तहृद्रोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **क्षते इति**-क्षतक्षीण चिकित्सा में वर्णित। श्रेयसी=रास्ना। खर्जूरम्=खर्जूरफल।

क्षौद्रान्वितमिति साधनोत्तरकालं पादिकमधुयुक्तम्-घृत के सिद्ध हो जाने के बाद उसमें चतुर्थांश मधु मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। **स्वादुफलेक्षुजाश्च रसाः**-इससे ईख के स्वरस (रस) का ग्रहण किया गया है। ।।९०-९५।।

जल्पकल्पतरु टीका—'द्राक्षेत्यादि' के द्वारा सिद्ध घृतों का वर्णन किया गया है। द्राक्षादि द्रव्यों के कल्क से प्रथम घृत, खर्जूरादि द्रव्यों द्वारा द्वितीय तथा काकोल्यादि द्रव्यों द्वारा तृतीय घृत को सिद्ध किया गया है। इन सब में क्षीर (गोदुग्ध) का प्रयोग स्नेह का ४ गुना ग्रहण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

'क्वशेरुकेत्यादि' के द्वारा साधित घृत में मधु की मात्रा चतुर्थांश डालनी चाहिए। अर्थात् घृत के ठण्डा हो जाने पर उसमें चतुर्थांश मधु मिलावें।

स्थिरादि द्रव्यों से तीन प्रकार के घृत तैयार होते हैं, अर्थात् ३ योग बनते हैं-१. स्थिरादि द्रव्यों के कल्क - १/४ भाग + स्नेह (गोघृत)-१ भाग + गोदुग्ध - ४ भाग द्वारा साधित घृत।

२. स्थिरादि द्रव्यों का कल्क - १/४ भाग + स्नेह (गोघृत) - १ भाग + द्राक्षा स्वरस - ४ भाग द्वारा साधित घृत।

३. स्थिरादि द्रव्यों का कल्क - १/४ भाग + गोघृत - १ भाग + इक्षुरस - ४ भाग द्वारा साधित घृत।

इस प्रकार द्राक्षादि फलों के रस एवं इक्षुरस से साधित घृत अत्यन्त शीत होता है एवं पित्तज हृद्रोग में अत्यन्त लाभकर होता है।

स्विन्नस्य वान्तस्य विलङ्घितस्य क्रिया कफघ्नी कफमर्मरोगे। कौलत्थयाव्यैश्च रसैर्यवान्नं पानानि तीक्ष्णानि च शङ्कराणि ।।९६।।
भूत्रे श्रृताः कट्फलशृङ्गवेरपीतद्रुपथ्यातिविषाः प्रदेयाः। कृष्णाशटीपुष्करमूलरास्नावचाभयानागरचूर्णकं च ।।९७।।
उदुम्बराश्वत्थवटार्जुनाख्ये पालाशरौहीतकखादिरे च। क्वाथे त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णसिद्धो लेहः कफघ्नोऽशिशिराम्बुयुक्तः ।।९८।।
शिलाह्वयं वा भिषगप्रमत्तः प्रयोजयेत् कल्पविधानदिष्टम्। प्राशं तथाऽगस्त्यमथापि लेहं रसायनं ब्राह्ममथामलक्याः ।।९९।।

३. कफज हृद्रोग की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Hrid-Roga)–

→ कफज हृदयरोग में स्वेदन (Sudation), वमन (Emetic), लङ्घन (Fasting) आदि कफनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। आहार के रूप में - कुलथी एवं धान्यक (शमी धान्य - सेम, फली वाले दाल) से निर्मित यूष का सेवन यव के भात के साथ करना चाहिए। पीने के लिए तीक्ष्ण द्रव्यों (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हींग आदि) से संस्कारित जल का प्रयोग करना चाहिए।

→ **कट्फलादि कषाय**–कायफल (कट्फल), शृंङ्गबेर (अदरख), पीतद्रु (देवदारु), हरड़, अतिविषा (अतीस); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर गोमूत्र में पकाकर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ का प्रयोग कफज हृद्रोग के रोगी को पीने के लिए करें।

→ कृष्णा (पिप्पली), शटी (कचूर), पुष्करमूल (पोहकरमूल), रास्ना, वचा (बालवच), अभया (हरीतकी), सोंठ (शुण्ठी); प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। (इस चूर्ण को ३-६ ग्राम की मात्रा में गोमूत्र के साथ रोगी को पीने के लिए दें।

→ उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), वट, अर्जुन, पलाश, रोहीतक एवं खदिर; सभी द्रव्यों की छाल बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इस यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्य में १६ गुना जल मिलाकर पकावें, अष्टमांश शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक कर लें। अब इस छने हुए क्वाथ में त्रिवृत् (सफेद निशोथ), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च एवं पिप्पली के चूर्ण को मिलाकर मंदाग्नि पर पाक करें। अवलेह जैसा हो जाने पर अग्नि पर से उतार कर रख लें तथा गुनगुने पानी के साथ इसका सेवन करें। यह लेह कफ नाशक होता है। –उदुम्बरादिलेह।

→ **शिलाजीत का प्रयोग**–चिकित्सक को प्रमाद रहित होकर कफज हृद्रोग में रसायन चिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट शिलाजीत रसायन का विधिपूर्वक सेवन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त च्यवनप्राश, अगस्त्य-हरीतकी अवलेह, ब्राह्मरसायन एवं आमलकीरसायन का भी प्रयोग करें।

चक्रपाणि–'स्विन्नस्येत्यादि' से कफज हृद्रोग चिकित्सा को बताया गया है। शङ्कराणि=कल्याणकारी होना, कफज हृद्रोग में स्वेदन, वमन, लङ्घन एवं कफनाशक क्रियाएं हितकर होती हैं, अर्थात् उपयोगी हैं। **उदुम्बरेत्यादौ उदुम्बरादिक्वाथे भागत्रये त्रिवृत्त्र्यूषणचूर्णं पादिकं प्रक्षेप्यम्**-उदुम्बरादि द्रव्यों के क्वाथ में क्वाथ की मात्रा का १/३ भाग त्रिवृत् एवं त्र्यूषण का चूर्ण (मिलित रूप) मिलाकर अवलेह बनावें। (क्वाथ - १ भाग, चूर्ण - त्रिवृत् + त्र्यूषण चूर्ण - १/३ भाग)।

अशिशिराम्बुयुक्त इति–अनुपान के रूप में उष्ण जल का प्रयोग करें। **कल्पविधानदिष्टमिति**-रसायन चिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट। कल्प शब्द से यहाँ क्षुद्र रसायन का ग्रहण किया गया है।

[क्षुद्र रसायन-जो रसायन कम प्रभाव वाला हो।] प्राश इति-च्यवनप्राश। अगस्त्यमिति से अगस्त्य हरीतकी अवलेह का ग्रहण किया गया है। ।।९६-९९।।

त्रिदोषजे लङ्घनमादितः स्यादन्नं च सर्वेषु हितं विधेयम्। हीनातिमध्यत्वमेक्ष्य चैव कार्यं त्रयाणामपि कर्म शस्तम् ।।१००।।

४. त्रिदोषज हृद्रोग की चिकित्सा (Treatment of Tridoshaja Hrid-Roga)–त्रिदोषज हृद्रोग में सर्वप्रथम लङ्घन कराना चाहिए, पश्चात् रोगी को त्रिदोष शामक आहार का सेवन कराना चाहिए। त्रिदोषज हृद्रोग में दोषों की उल्बणता (अधिकता) का विचार करते हुए हीन, मध्य एवं अधिक के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–त्रिदोषज हृद्रोग में सर्वप्रथम लङ्घन का विधान बताया गया है, क्योंकि हृदय कफ का स्थान होने व उसके आश्रित रहने वाले या होने वाले त्रिदोषज हृद्रोग में भी कफ ही सबसे पहले जीतने योग्य है, ऐसा मानकर यह निर्देश दिया गया है । 'हीनातीत्यादि' के द्वारा त्रिदोषज हृद्रोग में दोषों की उल्बणता के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए, बताया गया है, अर्थात् दोषों की अतिवृद्धि, मध्यम वृद्धि एवं हीन वृद्धि का विचार करते हुए चिकित्सा करें । सर्वप्रथम जो दोष सबसे अधिक प्रकुपित हो उसको प्रशमित करें, पश्चात् मध्यम रूप से वृद्ध दोष को तथा अन्त में अल्प रूप में प्रकुपित दोष को प्रशमित करना चाहिए । ॥१००॥

भुक्तेऽधिकं जीर्यति शूलमल्पं जीर्णे स्थितं चेत् सुरदारुकुष्ठम् । सतिल्वकं द्वे लवणे विडङ्गमुष्णाम्बुना सातिविषं पिबेत् सः ॥१०१॥
जीर्णेऽधिके स्नेहविरेचनं स्यात् फलैर्विरेच्यो यदि जीर्यति स्यात् । त्रिष्वेव कालेष्वधिके तु शूले तीक्ष्णं हितं मूलविरेचनं स्यात् ॥१०२॥
प्रायोऽनिलो रुद्धगतिः प्रकुप्यत्यामाशये शोधनमेव तस्मात् । कार्यं तथा लङ्घनपाचनं च ।

हृद् शूल में उपयोगी योग–१. जिस हृद् रोगी में भोजन करने के बाद शूल अत्यधिक तीव्र हो जाता है, भोजन के पाक काल में कम हो जाता है, भोजन के सम्यक् पच जाने पर पूर्णतः शान्त हो जाता है, ऐसे व्यक्ति में-देवदारु, कुष्ठ (कूठ), तिल्वक (पठानी लोध्र), सैन्धव लवण, सौवर्चल लवण, विडंग एवं अतिविषा (अतीस) के सम भाग से निर्मित चूर्ण का प्रयोग उष्ण जल के साथ करना चाहिए ।

२. यदि आहार के पच जाने पर शूल की तीव्रता बढ़ जाय तब रोगी को स्नेहविरेचन कराना चाहिए । (स्नेहविरेचन हेतु एरण्ड तैल का प्रयोग किया जा सकता है ।)

३. यदि भोजन के पाक काल (पित्त की वृद्धावस्था) में शूल की वृद्धि हो तब द्राक्षा आदि मधुर द्रव्यों के स्वरस से विरेचन कराना चाहिए ।

४. यदि भोजन के तीनों कालों (१. भोजन करने के बाद, २. भोजन पच जाने के बाद, ३. भोजन के पाक काल) में शूल तीव्र हो तब दन्तीमूल अथवा निशोथ मूल (मूल द्रव्यों) के द्वारा तीव्र विरेचन कराना चाहिए ।

५. मलादि के कारण जब वायु का मार्ग प्रायः रुक जाता है तब वह आमाशय में पहुँचकर प्रकुपित हो जाता है । ऐसी अवस्था में शोधन, लंघन एवं पाचन-चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'भुक्तेऽधिकमित्यादि' के द्वारा सान्निपातिक हृद्रोग में प्रायः उत्पन्न होने वाले शूल के आधार पर विभाजित करके चिकित्सा बतायी गयी है, अर्थात् शूल रूपी लक्षण के आधार पर सन्निपातज हृदय रोग का विभाजन किया गया है तथा उसके आधार पर चिकित्सा का निर्देश है ।

'भुक्तमधिकमित्यादि' के द्वारा कफशूल को बताया गया है । **स्थितमिति**=शूल का शान्त हो जाना । **'जीर्णेऽधिकमित्यादि'** के द्वारा वातशूल का निर्देश है, अर्थात् भोजन के पच जाने पर शूल (हृद्शूल) का बढ़ना वात की वृद्धि का द्योतक है । **'जीर्यत्यधिकमित्यनेन'** से पैत्तिक शूल का निर्देश किया गया है, अर्थात् भोजन के पाक काल में शूल का बढ़ना पित्त वृद्धि का परिचायक है ।

फलैरिति द्राक्षाकाश्मर्यादिभिः–पित्तोल्बण त्रिदोषज हृद्शूल (जो शूल भोजन के पाक काल में बढ़े) में द्राक्षा आदि फलों के रस (स्वरस) से विरेचन कराना चाहिए ।

'त्रिष्वेवेत्यादि' के द्वारा सान्निपातिक शूल को स्पष्ट किया गया है । अर्थात् जब तीनों दोष समान रूप से वृद्ध हो (सम त्रिदोषज सन्निपात) तब उसमें मूलविरेचन (जिन द्रव्यों के मूल विरेचन कारक हों) द्रव्यों, यथा-त्रिवृत्मूल एवं दन्तीमूल आदि द्रव्यों के प्रयोग द्वारा विरेचन कराना चाहिए । यहाँ **'प्रायोऽनिल इत्यादि'** के द्वारा विरेचन के हेतु को स्पष्ट किया गया है । यद्यपि वात की वृद्धावस्था मे बस्ति का प्रयोग करना हितकारी होता है फिर भी यहाँ आमाशय की अपेक्षा से आमाशय के शोधन हेतु विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । ॥१०१-१०२॥

सर्वं कृमिघ्नं कृमिहृद्रदे च ॥१०३॥
इति हृद्रोग चिकित्सा ।

५. कृमिज हृद्रोग की चिकित्सा (Treatment of Kṛimija-Hṛid roga)–कृमिज हृद्रोग में सभी प्रकार की कृमिनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि–कृमिघ्नमिति-व्याधितरूपीय विमान अध्याय (वि.अ. ७) में कृमिनाशक जिस चिकित्सा का वर्णन किया गया है, उन सभी का प्रयोग कृमिज हृद्रोग में भी करना चाहिए ॥१०३॥

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः । प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ॥१०४॥
संस्थानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु । प्राणार्तितोदौ क्षवथुर्जलाभः स्रावोऽनिलात् सस्वरमूर्धरोगः ॥१०५॥

Scanned by CamScanner

नासाग्रपाकज्वरवक्त्रशोषतृष्णोष्णपीतस्रवणानि पित्तात्। कासारुचिस्रावघनप्रसेकाः कफाद्गुरुः स्रोतसि चापि कण्डूः ॥१०६॥
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्युः पीनसे तीव्ररुजेऽतिदुःखे।

शिरोरोग प्रकरण

प्रतिश्याय रोग का निदान एवं संप्राप्ति–अधारणीय वेगों को धारण करने से (मूत्र, पुरीष आदि के वेगों को रोकने से), अजीर्ण (आहार का सम्यक् पाचन न होने से-Indigestion), अत्यधिक धूल के सम्पर्क में रहने से, अत्यधिक बोलने से, अत्यधिक क्रोध करना, ऋतुओं की वैषम्यता (ऋतुओं का मिथ्या योग अथवा अचानक मौसम का बदल जाना), सिर में वेदना का होना, अत्यधिक रात्रि जागरण, दिन में अत्यधिक सोना, अत्यधिक शीतल जल का प्रयोग, ओस की बूंदों का सेवन, अत्यधिक मैथुन करना, अत्यधिक आसुओं का निकलना, अत्यधिक धुँआ लगना।

इन हेतुओं के अत्यधिक सेवन करने से शिरः प्रदेश में स्थित कफ वृद्ध होकर वायु को प्रकुपित करके प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है।

१. वातज प्रतिश्याय के लक्षण–

→ नासिका में पीड़ा का होना, अथवा तोद (सूई चुभाने जैसी वेदना) का होना। [Excessive pain and pricking sensation in the nose]
→ छींक का अत्यधिक आना (Sneezing)।
→ नासिका से जल के समान स्राव का होना (Watery discharge)
→ स्वरभेद (आवाज का बैठ जाना-Hoarseness of the voice)
→ सिर में वेदना का होना (Headache)

ये सभी लक्षण वातज प्रतिश्याय में पाये जाते हैं।

२. पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण–

→ नासिका के अग्र भाग में पाक का होना (Inflammation of the tip of the nose)
→ ज्वर (Fever), वक्त्रशोष (मुख का सूखना-Dryness of the mouth)
→ अत्यधिक प्यास का लगना (Morbid thirst)
→ नासिका से उष्ण एवं पीत वर्ण का स्राव निकलना।

ये सभी लक्षण पित्तज प्रतिश्याय में पाये जाते हैं।

३. कफज प्रतिश्याय के लक्षण–

→ खाँसी का आना (Cough), अरुचि (Anorexia)।
→ नासिका से गाढ़ा स्राव का निकलना (Thick discharge)।
→ मुख से पानी का निकलना (excessive salivation)।
→ सिर का भारीपन (Heaviness of the head)।
→ नासिका में खुजली (कण्डू-Itching sensation) का होना।

ये सभी लक्षण कफज प्रतिश्याय में पाये जाते हैं।

४. **सन्निपातज प्रतिश्याय के लक्षण**–इसमें अत्यन्त तीव्र वेदना होती है तथा तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। यह व्याधि अत्यन्त कष्टकारी होती है।

चक्रपाणि–क्रमानुसार अब शिरोरोग चिकित्सा का विवेचन किया जा रहा है। सिर के आश्रित होने वाली व्याधियों में प्रधान होने तथा शिरोगत अनेक व्याधियों का कारण होने से प्रतिश्याय का विवेचन सबसे पहले किया जा रहा है। **शालाक्य** में भी कहा गया है- **''भूयिष्ठं व्याधयः सर्वे प्रतिश्यायनिमित्तजाः। तस्माद्रोगः प्रतिश्यायः पूर्वमेवोपदिश्यते''** इति [सभी व्याधियाँ प्रधान रूप से प्रतिश्याय के ही कारण उत्पन्न होती हैं। इसलिए शिरोगत व्याधियों में सबसे पहले प्रतिश्याय का ही विवेचन किया गया है।] यद्यपि राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रकरण में प्रतिश्याय का विवेचन किया गया है फिर भी वहाँ यक्ष्मा के पूर्वरूप होने से ऐसा किया गया है। इस प्रकरण में प्रतिश्याय का स्वतन्त्र रूप से विवेचन है, यह विशेष है। अर्थात् अपने स्वतन्त्र कारणों से प्रतिश्याय की उत्पत्ति को स्वीकार किया गया है। [यहाँ वर्णित प्रतिश्याय

Scanned by CamScanner

अन्य व्याधि का लक्षण न होकर स्वतन्त्र व्याधि है, यह बताया गया है ।] रजः=धूल (dust), अतिस्वप्रः=दिवा शयन । अवश्याय=ओस की बूंदें । **संस्त्यान दोषे इति**-कफ के गाढ़ा हो जाने पर । (दोष के घनीभूत हो जाने पर) ।

'घ्राणार्तीत्यादि' के द्वारा चार प्रकार के वातादि प्रतिश्याय के लक्षणों को क्रमशः बताया गया है । **सस्वरमूर्धरोग इति स्वररोगः स्वरभेदः**- स्वररोग (Hoarseness of the voice-गले का बैठ जाना ।) 'कफादुरुरित्यादि' में कफ वृद्धि के कारण नासिका में गुरुता का होना, अर्थात् गुरु शब्द विशेष रूप से कण्डू के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है । स्रोतसीति=नासिका में । नासिका कफ से पूर्ण होने के कारण उसमें विशेष प्रकार की खुजली होती है । ॥१०४-१०६॥

सर्वोऽतिवृद्धोऽहितभोजनात्तु दुष्टप्रतिश्याय उपेक्षितः स्यात् ।।१०७।।
ततस्तु रोगाः क्षवथुश्च नासाशोषः प्रतीनाहपरिस्रवौ च । घ्राणस्य पूतित्वमपीनसश्च सपाकशोथार्बुदपूयरक्ताः ।।१०८।।
अरूंषि शीर्षश्रवणाक्षिरोगखालित्यहर्यर्जुनलोमभावाः । तृट्श्वासकासज्वररक्तपित्तवैस्वर्यशोषाश्च ततो भवन्ति ।।१०९।।

दुष्टप्रतिश्याय (Dushṭa-Pratiśyāya)

पूर्व वर्णित प्रतिश्याय ही अहितकर आहार-विहार के सेवन एवं उचित चिकित्सा न करने से, बढ़कर दुष्ट प्रतिश्याय में बदल जाता है जिसके कारण रोगी में अधोलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं-

क्षवथु (बार-बार छींक का आना-Sneezing), नासाशोष -Atrophy of nasal mucous membrane), प्रतीनाह (नासिका के मार्ग में रुकावट का होना-Nasal obstruction), परिस्राव (नासिका से अत्यधिक स्राव का होना-excessive discharge from the nose), पूतिघ्राण (नासिका से दुर्गन्ध का निकलना), अपीनस (Chronic rhinitis-जीर्ण प्रतिश्याय), नासापाक (Suppurative rhinitis), नासाशोथ (नासिका का शोथ युक्त होना), नासार्बुद (Nasal tumour), नासापूयरक्त (नासिका से पूय एवं रक्त मिश्रित स्राव का निकलना), अरूंषि (छोटी-छोटी फुंसियों का निकलना), सिर, कान एवं आँख के रोगों का होना (Diseases of the head, ears and eyes), खालित्य (गंजापन-सिर के बालों का गिर जाना), हरि व अर्जुन वर्ण युक्त लोम का होना (लोम का भूरा एवं सफेद हो जाना), प्यास का लगना (Morbid thirst), श्वास (Asthma), खाँसी का आना (Cough), ज्वर (Fever), रक्तपित्त, वैस्वर्य (Hoarseness of the voice) एवं शोष (Consumptions) आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं ।

चक्रपाणि-'सर्वोऽतिवृद्ध इत्यादि' के द्वारा प्रतिश्याय से उत्पन्न होने वाले क्षवथु आदि व्याधियों को बताया गया है । **अत्र मुखरोगं ये न पठन्ति ते शिरोरोगग्रहणेनैव मुखरोगस्य ग्रहणमिति मन्यन्ते**-यहाँ मुख रोग को जो लोग नहीं पढ़ते हैं उनके अनुसार शिरोरोग के ही अन्तर्गत मुखरोग का ग्रहण हो जाता है, यह भाव है । दुष्ट प्रतिश्याय, क्षवथु आदि व्याधियों का विस्तार से विवेचन शालाक्य तन्त्र में किया गया है । अर्थात् इन व्याधियों का विस्तृत वर्णन शालाक्य आदि ग्रन्थों में किया गया है । यहाँ पराधिकार होने से इस विषय का संक्षेप में वर्णन है । [चरकसंहिता कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है, अतः यहाँ अन्य विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है ।] ॥१०७-१०९॥

रोधाभिघातस्रवशोषपाकैर्घ्राणं युतं यश्च न वेत्ति गन्धम् । दुर्गन्धि चास्यं बहुशःप्रकोपि दुष्टप्रतिश्यायमुदाहरेत्तम् ।।११०।।
संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति । क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु नासाशृङ्गाटकघ्राणविशोषणं च ।।१११।।
उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् । यो मस्तुलुङ्गाद्घनपीतपक्वः कफः स्रवेदेष परिस्रवस्तु ।।११२।।
वैवर्ण्यदौर्गन्ध्यमुपेक्षया तु स्यात् पूतिनस्यं श्वयथुर्धूमश्च । आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।।११३।।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन । तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ।।११४।।
सदाहरागः श्वयथुः सपाकः स्याद् घ्राणपाकोऽपि च रक्तपित्तात् । घ्राणाश्रितासृक्प्रभृतीन् प्रदूष्य कुर्वन्ति नासाश्वयथुं मलाश्च ।।११५।।
घ्राणे तथोच्छ्वासगतिं निरुध्य मांसास्रदोषादपि चार्बुदानि । घ्राणात् स्रवेद्वा श्रवणान्मुखाद्वा पित्तात्तमस्रं त्वपि पूयरक्तम् ।।११६।।
कुर्यात् सपित्तः पवनस्त्वगादीन् संदूष्य चारूंषि सपाकवन्ति । नासा प्रदीप्तेव नरस्य यस्य दीप्तं तु तं रोगमुदाहरन्ति ।।११७।।

इति नासारोगनिदानम् ।

दुष्टप्रतिश्याय के लक्षण (Signs and Symptoms of Dushṭa-pratiśyāya)-

- → नासिका में अवरोध का होना (Nasal obstruction) ।
- → नासिका में अभिघात हो जाना या घाव का बन जाना ।
- → स्राव का होना (Nasal discharge) ।
- → नासाशोष (नासिका के अन्दर की श्लेष्मकला का शुष्क होना), नासिका का पक जाना ।
- → गन्ध ज्ञान का अभाव होना (Loss of sensation of smell)
- → मुख से दुर्गन्ध का निकलना (Foul smell of the mouth)

Scanned by CamScanner

→ बार-बार प्रतिश्याय का होना ।

ये सभी लक्षण दुष्टप्रतिश्याय में पाये जाते हैं ।

१. **क्षवथु के लक्षण (Signs and Symptoms of Kshavathu-Sneezing)**–अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुई वायु सिर के सभी भागों में व्याप्त होकर विशेष रूप से नासिका मर्म में आश्रित होकर क्षवथु (छींक) रोग को उत्पन्न करती है ।

२. **नासाशोष के लक्षण**–इस व्याधि में प्रकुपित हुई वायु नासिका एवं शृंगाटक मर्म के आश्रित कफ को सुखा देती है । जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति को गन्ध का ज्ञान नहीं हो पाता ।

३. **नासाप्रतीनाह**–अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुई वायु कफ के साथ मिलकर उच्छ्वासमार्ग (नासिका मार्ग-श्वास लेने के मार्ग) को अवरुद्ध कर देता है, जिसके कारण श्वास लेने में कठिनाई होती है । इस व्याधि को नासा प्रतिनाह कहते हैं ।

४. **नासापरिस्राव**–इसमें मस्तुलुङ्ग से गाढ़ा (Thick), पीला (Yellow) एवं पक्व (Matured) कफ का स्राव होने लगता है । इस व्याधि को नासापरिस्राव कहते हैं ।

५. **पूतिनस्य (Ozena)**–प्रतिश्याय (rhinitis) रोग की उचित समय पर चिकित्सा न करने पर वैवर्ण्यता (नासिका के स्वाभाविक रंग का बदल जाना), दौर्गन्ध्य (मुख से दुर्गन्ध का निकलना), शोथ (Oedema-शोथ युक्त होना) एवं भ्रम (Giddiness) उत्पन्न हो जाते हैं । इन लक्षणों से युक्त व्याधि को **पूतिनस्य** कहते हैं ।

६. **अपीनस (Chronic rhinitis)**–नासानाह (श्वास लेने में रुकावट का अनुभव होना-obstruction), नासिका का शुष्क होना (dryness), क्लेदयुक्त होना, नासिका से धुँआं निकलने की अनुभूति का होना, गन्ध एवं रस का ज्ञान न हो पाना । इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति को अपीनस रोगी समझना चाहिए । यह व्याधि वायु एवं कफ की विकृति से उत्पन्न होता है । इसके लक्षण प्रतिश्याय के ही समान होते हैं ।

७. **नासापाक (Suppurative rhinitis)**–इसमें रक्त व पित्त की विकृति होती है । इसमें दाह (Burning sensation), राग (Redness), श्वयथु (Oedema) एवं पाक आदि लक्षण पाये जाते हैं । इसमें नासिका में पाक उत्पन्न हो जाता है । इस कारण इस व्याधि को नासापाक कहते हैं ।

८. **नासाशोथ (Oedematous rhinitis)**–इसमें घ्राण (नासिका) के आश्रित रहने वाले वातादि दोष कुपित हो करके रक्तादि धातुओं को दूषित करके नासिका में शोथ को उत्पन्न कर देते हैं, जिसे **नासाशोथ** कहते हैं ।

९. **नासार्बुद (Nasal tumour)**–घ्राण में स्थित वातादि दोष प्रकुपित हो करके मांस एवं रक्तादि धातुओं को दूषित करके श्वास की गति को रोककर नासिका में अर्बुद को उत्पन्न कर देते हैं । इस व्याधि को नासार्बुद कहते हैं ।

१०. **पूयरक्त (Purulent and sanguineous rhinitis)**–इस व्याधि में घ्राण (नासिका), मुख अथवा कर्ण से पित्त मिश्रित रक्त का स्राव होता है ।

११. **अरूंषिका (Furunculosis)**–पित्त के साथ प्रकुपित वायु त्वक् आदि धातुओं को दूषित करके नासिका के अन्दर छोटी-छोटी फुंसियों को उत्पन्न करता है, इसे अरूंषिका कहते हैं ।

१२. **दीप्त (नासादीप्त) रोग**–इस व्याधि में पित्त की वृद्धि के कारण व्यक्ति के नासिका के अन्दर जलन (Burning sensation) होती रहती है, अर्थात् जिस पुरुष की नासिका जलती हुई प्रतीत हो उसे दीप्तरोग कहते हैं ।

चक्रपाणि–'रोधाभिघातेत्यादि' के द्वारा दुष्टप्रतिश्याय से लेकर अर्जुनलोम तक के व्याधियों के लक्षणों का क्रमशः वर्णन किया गया है। **क्रुद्ध इत्यादौ स इति अनिलः**- श्लोक नं. १११ में वर्णित 'क्रुद्धः स संशोष्य कफं तु' में 'स' का अर्थ वायु से लिया गया है । अर्थात् वायु अपने प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित होकर के नासिका एवं शृंगाटक में स्थित कफ को सुखाकर **नासाशोष** को उत्पन्न करता है । **मस्तुलुङ्गात् इति**-मस्तिष्क से निकलने वाला पीत वर्ण का गाढ़ा एवं पक्व कफ का स्राव होना । 'कुर्यात् सपित्त इत्यादि' के द्वारा अरूंषिका को बताया गया है । यह अरूंषिका सिर में उत्पन्न होती है, ऐसा जानना चाहिए । ॥११०-११७॥

भृशार्तिशूलं स्फुरतीह वातात् पित्तात् सदाहार्ति कफाद्गुरु स्यात् । सर्वैस्त्रिदोषं क्रिमिभिस्तु कण्डूर्दौर्गन्ध्यतोदार्तियुतं शिरः स्यात् ॥११८॥
इति शिरोरोगनिदानम् ।

शिरोरोग के निदान–१. वातिक शिरोरोग में तीव्र शिरः शूल का होना (Excruciating pain in the head), तीव्र शिरोवेदना (Headache) एवं सिर की धपनियों का फड़कना (सिर को स्पर्श करने पर Palpitation का अनुभव होना) आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

२. पित्त के कारण सिर में दाह (Burning sensation) एवं पीड़ा (Pain) होती है।

३. कफ के कारण अथवा कफज शिरोरोग में Headache (सिरदर्द) के साथ-साथ सिर में भारीपन भी रहता है।

४. सन्निपातज शिरोरोग में तीनों दोषों के बढ़े हुए लक्षण रोगी में एक साथ ही पाये जाते हैं।

५. कृमिज शिरोरोग में सिर में खुजली (Itching) का होना, सिर से दुर्गन्ध का आना, सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना तथा शिरोवेदना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–'भृशार्तीत्यादि' के द्वारा यद्यपि प्रतिश्याय से उत्पन्न होने वाले शिरोरोग के लक्षणों को बताया गया है, अर्थात् प्रतिश्याय के कारण उत्पन्न होने वाले सिर से सम्बन्धित रोगों के लक्षणों को यहाँ बताया गया है। फिर भी स्वतन्त्र कारणों से उत्पन्न होने वाले शिरोरोग में भी यही लक्षण पाये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार मुखरोगों के भी लक्षणों को समझना चाहिए।

सर्वैस्त्रिदोषमिति वातादिलक्षणैर्मिलितैस्त्रिदोषं स्यादित्यर्थः–वातादि दोषों के लक्षणों का मिलित (मिश्रित) रूप में पाया जाना, अर्थात् सन्निपातज शिरोरोग में तीनों दोषों के लक्षण मिश्रित रूप से रोगी में पाये जाते हैं। ॥११८॥

मुखामये मारुतजे तु शोषकार्कश्यरौक्ष्याणि चला रुजश्च। कृष्णारुणं निष्पतनं सशीतं प्रस्रंसनस्पन्दनतोदभेदाः ॥११९॥
तृष्णाज्वरस्फोटकतालुदाहा धूमायनं चाप्यवदीर्णता च। पित्तात् समूर्च्छा विविधा रुजश्च वर्णाश्च शुक्लारुणवर्णवर्ज्याः ॥१२०॥
कण्डूर्गुरुत्वं सितविज्जलत्वं स्नेहोऽरुचिर्जाड्यकफप्रसेकौ। उत्क्लेशमन्दानलता च तन्द्रा रुजश्च मन्दाः कफवक्त्ररोगे ॥१२१॥
सर्वाणि रूपाणि तु वक्त्ररोगे भवन्ति यस्मिन् स तु सर्वजः स्यात्। संस्थानदूष्याकृतिनामभेदाच्चैते चतुःषष्टिविधा भवन्ति ॥१२२॥
शालाक्यतन्त्रेऽभिहितानि तेषां निमित्तरूपाकृतिभेषजानि। यथाप्रदेशं तु चतुर्विधस्य क्रियां प्रवक्ष्यामि मुखामयस्य ॥१२३॥

इति मुखरोगनिदानम्।

मुखरोग-विवेचन

मुखरोग निदान (Diagnosis of mouth diseases)–मुख रोग चार प्रकार के होते हैं, यथा- १. वातज, २. पित्तज, ३. कफज ४. सन्निपातज।

१. **वातज मुखरोग में**–मुख की शुष्कता (Dryness of the mouth-मुख का बार-बार सूखना), कर्कशता का होना (खुरदरापन-Roughness), रूक्षता का बढ़ जाना, वेदना का बदल-बदल कर होना अर्थात् वेदना का स्थान नियत नहीं रहता, त्वचा का कृष्ण (काला) अथवा अरुण वर्ण का होना मुख से अत्यधिक लालास्राव का निकलना, मुख का ठण्ढा होना (Coldness), दाँतों का गिरना, शरीर में कंपन का होना, सूई चुभाने अथवा फटने जैसी पीड़ा का होना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

२. **पित्तज मुखरोग में** तृष्णा (Morbid thirst), ज्वर (Fever), फफोलों का निकलना (Pustular eruptions), तालु प्रदेश में जलन का होना (Burning sensation in the palates), मुख से धुँआ निकलने जैसी प्रतीति का होना, ओष्ठ (lips) का फटना, मूर्च्छा (Fainting), अनेक प्रकार की वेदनाओं का होना, सफेद एवं अरुण वर्ण को छोड़कर शेष वर्णों का दिखलाई पड़ना आदि सभी लक्षण पित्तज मुखरोग में पाये जाते हैं।

३. **कफज मुखरोग में**–मुख में खुजली का होना (Itching), भारीपन (Heaviness), मुख का वर्ण-श्वेत वर्ण का होना, पिच्छिलता की वृद्धि (Sliminess), स्निग्धता की वृद्धि, अरुचि (Anorexia), जाड्यता (मुख में रस ज्ञान का न हो पाना), कफप्रसेक (Excessive salivation), जी मिचलाना (Nausea), अग्निमांद्यता (Suppression of the power of digestion), तन्द्रा (drowsiness), अल्प पीड़ा का होना आदि लक्षण पाये जाते हैं।

४. **सन्निपातज मुखरोग में** तीनों दोषों के सभी लक्षण मिलित रूप में मिलते हैं। उपर्युक्त चारो प्रकार के मुखरोग संस्थान, दूष्य, आकृति आदि के भेद से ६४ प्रकार के हो जाते हैं। इन भेदों का विस्तृत वर्णन शालाक्य तन्त्र में निमित्त (निदान), रूप (लक्षण), आकृति तथा औषध के साथ किया गया है। चार प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा का वर्णन यथास्थान आगे किया गया है।

चक्रपाणि–**निष्पतनमिति**=मुख से स्राव का निकलना। 'तृष्णेत्यादि' के द्वारा पित्तज मुखरोग के लक्षणों को बताया गया है। शालाक्यतन्त्र में मुखरोगों का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसका समावेश यहाँ वर्णित ४ प्रकार के मुखरोगों में ही हो जाता है, इसे यहाँ संस्थानेत्यादि के द्वारा बताया गया है। संस्थान से यहाँ स्थान (Place) का ग्रहण किया गया है, यथा-ओष्ठ आदि, दूष्य से रक्तादि दूष्यों का ग्रहण है। आकृति=लक्षण, नाम- नाम के आधार पर भी व्याधियों के अनेक भेद हो जाते हैं, यथा-शीताद आदि। इन भेदों के आधार पर मुखरोग ६४ प्रकार के हो जाते हैं। शालाक्य तन्त्र से इसका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। आचार्य सुश्रुत ने मुखरोगों की संख्या ६५

Scanned by CamScanner

बतलाई है, फिर भी यहाँ विदेह के विचार से भिन्नता न होने के कारण यह संख्या ६४ बतलायी गयी है, अर्थात् आचार्य विदेह भी इसका अनुमोदन करते हैं।

यथा प्रदेशमिति यथाचिकित्सा प्रदेशम्–आगे चिकित्सा प्रकरण में ही चारों प्रकार के मुखरोगों की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। ॥११९-१२३॥

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनगन्धरूपैः। अरोचकाः स्युः परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१२४॥
कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्। माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन ॥१२५॥
अरोचके शोकभयानिलोभक्रोधाद्यहृद्याशनगन्धजे स्यात्। स्वभाविकं वक्त्रमथारुचिश्च त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥१२६॥
इत्यरोचकनिदानम्।

अरोचक रोग निदान-प्रकरण

अरोचक रोग के हेतु (Diagnosis of Arocaka)–

१. वातादि दोषों के प्रकुपित होने से।

२. अत्यधिक शोक व भय के कारण, अतिलोभ व अति क्रोध से।

३. मन से प्रतिकूल भोजन, गन्ध एवं रूप का प्राप्त होना।

इन कारणों के द्वारा अरोचक रोग (Anorexia) उत्पन्न हो जाता है।

अरोचक के लक्षण–१. वातज अरोचक-में दंतहर्ष तथा मुख में कषाय रस की प्रतीति का होना, अर्थात् मुख का बंध जाना, लक्षण पाये जाते हैं।

२. पित्तज अरोचक में मुख का स्वाद कटु एवं अम्ल रस युक्त होना, मुख में उष्णता का अनुभव होना, मुख का स्वाद बदल जाना, मुख से दुर्गन्ध का आना; लक्षण पाये जाते हैं।

३. कफज अरोचक में व्यक्ति के मुख का स्वाद लवणरस युक्त अथवा मधुररस युक्त होना, मुख में चिपचिपाहट का होना (Sliminess), भारीपन (Heaviness) का होना, शीतल होना (मुख का ठण्डा होना) पाया जाता है। इसके साथ ही मुख से बंधा हुआ कफ (Knotty mucus) निकलता है।

४. आगन्तुज अरोचक– यदि अरोचक शोक, भय, अतिलोभ, अतिक्रोध अथवा अहृद्य आहार के सेवन अथवा अहृद्य गन्ध के सेवन से उत्पन्न है तब उसमें व्यक्ति के मुख का स्वाद अपने स्वाभाविक रूप में रहता है, लेकिन व्यक्ति को भोजनादि के प्रति अरुचि बनी रहती है।

५. सन्निपातज अरोचक में व्यक्ति के मुख का स्वाद मिश्रित रसयुक्त होता है, अर्थात् एक रसयुक्त नहीं होता है।

चक्रपाणि–मुखरोगों के ही अन्तर्गत **अरोचक** का भी समावेश हो जाता है। यद्यपि राजयक्ष्मा चिकित्सा में भी अरोचक का वर्णन किया गया है, फिर भी उस अरोचक से यह अरोचक पृथक् है। [शोष अथवा यक्ष्मा में वर्णित अरोचक व्याधि के एक लक्षण के रूप में है जबकि यहाँ अरोचक एक स्वतन्त्र व्याधि के रूप में वर्णित है।] इसलिये अरोचक का वर्णन होना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता। अतिलोभ के द्वारा यहाँ अरुचि को बताया गया है। अतिलोभ के कारण भी अरुचि उत्पन्न होती है, अर्थात् लोभ के कारण वस्तु का लगातार अभ्यास (सेवन) करने से भी अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

विबद्धसंबद्धयुतमिति बन्धनयुक्तमित्यर्थः–मुख से बंधा हुआ कफ का निकलना। **नैकरसमिति**-व्यक्ति को मुख का स्वाद अनेक रस युक्त प्रतीत होता है। ॥१२४-१२६॥

नादोऽतिरुक्कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्। शोफः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिश्रवणं च पित्तात् ॥१२७॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोफशुक्लस्निग्धश्रुतिः श्लेष्मभवेऽल्परुक् च। सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१२८॥
इति कर्णरोगनिदानम्।

कर्णरोगनिदान-प्रकरण

१. वातज कर्णरोग के लक्षण–वातज कर्णरोग में कर्णनाद (Tinnitus), कान में तीव्र वेदना का होना (Excessive pain), कर्ण में विद्यमान मल का सूखना (drying of the ear-wax), कर्णस्राव (discharge) एवं अश्रवणता (कानों से सुनायी न देना); लक्षण पाये जाते हैं।

Scanned by CamScanner

२. पित्तज कर्णरोग के लक्षण–पित्त की वृद्धि होने से-कर्णशोथ (oedema), रागयुक्त होना (Redness in the ear), कर्णपाली का फट जाना या घाव युक्त होना, जलन का होना (Burning sensation) तथा कान से पीत वर्ण का दुर्गन्धयुक्त स्राव का निकलना; लक्षण पाये जाते हैं।

३. कफज कर्णरोग के लक्षण–कफज कर्णरोग में व्यक्ति में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ कानों से सुनाई न देना, अथवा विकृत सुनायी देना।
→ कर्ण के अन्दर या बाहर खुजली (कण्डू-Itching) का होना।
→ शोफ का देर तक बने रहना।
→ कान से श्वेत वर्ण युक्त चिकना स्राव का निकलना।
→ अल्प वेदना का होना।

४. सन्निपातज कर्णरोग के लक्षण–इसमें मिश्रित रूप से तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। जिस दोष की उल्बणता होती है, स्राव का वर्ण उसी के अनुसार होता है।

चक्रपाणि–'नादोऽतिरुगित्यादि' के द्वारा कर्णरोगों को बताया गया है। शालाक्यतन्त्र में यद्यपि कर्णरोगों की संख्या २८ बतायी गयी है, फिर भी यहाँ वर्णित चार प्रकार के कर्णरोगों में ही शेष सभी कर्ण रोगों का अवरोध हो जाता है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। क्योंकि शेष कर्णरोग भी वातादि दोषों से ही उत्पन्न हाते हैं। ॥१२७-१२८॥

अल्पस्तु रागोऽनुपदेहवांश्च सतोदभेदोऽनिलजाक्षिरोगे। पित्तात् सदाहोऽतिरुजः सरागः पीतोपदेहः सुभृशोष्णवाही ॥१२९॥
शुक्लोपदेहं बहुपिच्छिलाश्रु नेत्रं कफात् स्याद्गुरुता सकण्डुः। सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपातान्नेत्रामयाः षण्णवतिस्तु भेदात् ॥१३०॥
तेषामभिव्यक्तिरभिप्रदिष्टा शालाक्यतन्त्रेषु चिकित्सितं च। पराधिकारे तु न विस्तरोक्तिः शस्तेति तेनात्र न नः प्रयासः ॥१३१॥
इति नेत्ररोगनिदानम्।

नेत्ररोग-प्रकरण

१. वातज नेत्ररोग के लक्षण–वातज नेत्ररोग में आँखों में हल्की लालिमा (Slight Redness), अनुपदेह (नेत्रमल-कीचड़ का अभाव-Absence of sticky discharge), सुई चुभोने या फाड़ने जैसी पीड़ा का होना; लक्षण पाये जाते हैं।

२. पित्तज नेत्ररोग के लक्षण–पित्त की वृद्धि होने पर आँखों में जलन (Burning sensation), अत्यधिक पीड़ा का होना (excessive pain in the eyes), आँखों का लाल हो जाना (Redness), नेत्र से पीत वर्ण का कीचड़ निकलना, आँखों से गरम आँसुओं का निकलना; पाया जाता है।

३. कफज नेत्ररोग के लक्षण–कफ की वृद्धि होने पर नेत्रों से श्वेत वर्ण का गाढ़ा स्राव निकलना, आँसू अत्यधिक चिपचिपे निकलते हैं, आँखों में भारीपन (Heaviness in the eyes) तथा कण्डू (Itching) आदि लक्षण पाये जाते हैं।

४. सन्निपातज नेत्ररोग के लक्षण–अलग-अलग वर्णित वातादि दोषों के लक्षणों का एक साथ पाया जाना। नेत्ररोग स्थान, आकृति तथा दोष भेद से ९६ प्रकार के होते हैं। इनके लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का विस्तृत विवेचन शालाक्यतन्त्र के ग्रन्थों में किया गया है। यह विषय अपना (कायचिकित्सा का) न होने के कारण उसका कथन विस्तार से नहीं किया गया है, क्योंकि अन्य के अधिकार में विस्तार पूर्वक कहना उचित नहीं होता।

चक्रपाणि–'अल्पस्तु राग' इत्यादि के द्वारा चार प्रकार के नेत्ररोगों का अभिधान किया गया है। उपदेह: दूषिका=आँखों का कीचड़ (नेत्रों का मल)। **सुभृशोष्णवाहीति अत्यर्थोष्णस्रावी**-आँखों से निकलने वाले अश्रुस्राव का अत्यन्त उष्ण होना।

अनुक्त नेत्ररोगों की संख्या को यहाँ 'नेत्रामयाः षण्णवतिरिति' के द्वारा बताया गया है, अर्थात् अभिव्यक्ति आदि के आधार पर नेत्ररोग ९६ प्रकार के होते हैं। नेत्ररोगों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में मतैक्यता नहीं है, यथा-आचार्य **विदेह** के अनुसार नेत्ररोगों की संख्या-७६ है, जबकि आचार्य **कराल** ९६ स्वीकार करते हैं। आचार्य सात्यकि यह संख्या ८० मानते हैं। इस प्रकार यहाँ आचार्य **कराल** के मत का ही अनुमोदन किया गया है। कहा भी गया है, यथा-**''विंशतिःसप्त वर्त्मस्था, नव संधौ प्रकीर्तिताः। त्रयोदश तु शुक्लस्थाः, षड्रोगाः कृष्णभागजाः ।। विंशतिःपञ्च दृष्टिस्थाः, षोडशैव च सर्वगाः।''** [वर्त्म के आश्रित - २७, सन्धि के आश्रित - ०९, शुक्ल भाग के आश्रित - १३, कृष्ण भाग के आश्रित - ०६, दृष्टि के आश्रित - २५, सर्वाश्रयी - १६; इस प्रकार कुल नेत्ररोगों की संख्या - ९६ होती है।]। इन ९६ प्रकार के नेत्ररोगों का विस्तृत विवेचन शालाक्यतन्त्र के ग्रन्थों में किया गया है, उसको वहीं देखना चाहिए।

Scanned by CamScanner

यहाँ उसका विस्तृत विवेचन क्यों नहीं है, इसके हेतु को-'पराधिकारेष्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् 'पराधिकार में विस्तार से कहना' उचित नहीं है, इस कारण विषय को विवेचित करने का प्रयास नहीं किया गया है। (चरकसंहिता कायचिकित्सा प्रधान ग्रन्थ है, अतः शालाक्य के विषय को पराधिकार समझते हुए संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है) ॥१२९-१३१॥

तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वाऽऽशु कुर्यात् खलतिं नरस्य। किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम् ॥१३२॥
इत्यूर्ध्वजत्रूत्थगदैकदेशस्तन्त्रे निबद्धोऽयमशून्यतार्थम्। अतः परं भेषजसंग्रहं तु निबोध संक्षेपत उच्यमानम् ॥१३३॥

इति खालित्यरोगनिदानम्।

खालित्यरोग निदान-प्रकरण

वातादि दोषों के साथ प्रकुपित पित्त (तेजधातु) पुरुष के केशभूमि (Hair root) को जलाकर शीघ्र ही बालों को गिरा देते हैं, अर्थात् बाल (सिर के बाल) गिर जाने के कारण व्यक्ति गंजा हो जाता है। इस व्याधि को **खालित्य** कहते हैं। यदि यही पित्त अल्प रूप में केशभूमि (Hair root) को जलाता है तब व्यक्ति के बाल (Hair) पक जाते हैं, अर्थात् श्वेत वर्ण के हो जाते हैं। इस व्याधि को **पालित्य** कहते हैं। यदि यही प्रकुपित पित्त (अल्प प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त) अत्यल्प रूप में केशभूमि (Hair root) को दग्ध (जलाना) करता है तब व्यक्ति के बाल पिङ्गल या कपिल या हरि वर्ण (भूरा) के हो जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ ऊर्ध्वजत्रुगत होने वाली व्याधियों का एक देशज वर्णन किया गया है, ताकि यह ग्रन्थ अष्टाङ्ग से परिपूर्ण हो सके।

अब इसके आगे ऊर्ध्वजत्रुगत व्याधियों की चिकित्सा का संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे सुनो-

चक्रपाणि-तेज इत्यादि के द्वारा **खालित्य** के लक्षण को बताया गया है। तेज शब्द से यहाँ शारीरिक उष्णता (देहोष्मा) का ग्रहण किया गया है। यह देहोष्मा वातादि दोषों के द्वारा प्रकुपित होकर के खालित्य रोग को उत्पन्न करती है। ये तु **'तेजः सवातं' इति पठन्ति, ते तेजः शब्देन पित्तमपि वर्णयन्ति**-जो आचार्य 'तेजोऽनिलाद्यैः' के स्थान पर 'तेजः सवातं' का पाठ करते हैं उनके अनुसार 'तेज' शब्द से पित्त का ग्रहण होता है। **हरिप्रभवत्वमिति**=हरि प्रभाव वाला, अर्थात् बालों का कपिल वर्ण का होना। शिरोरुहाणामिति=सिर के बालों का।

अशून्यतार्थमिति-इस कायचिकित्सा के ग्रन्थ में शालाक्य में अभिधेय रोगों का विवेचन होना, तन्त्र को अष्टाङ्ग से पूर्ण बनाने के लिए ऐसा किया गया है। **भेषजसंग्रहमिति**-औषधियों को बताने वाला ग्रन्थ, अर्थात् इन व्याधियों की चिकित्सा (भेषज) का संक्षेप में विवेचन आगे किया जा रहा है।

वातात् सकासवैस्वर्ये सक्षारं पीनसे घृतम्। पिबेद्रसं पयश्चोष्णं स्नैहिकं धूममेव वा ॥१३४॥
शताह्वा त्वग्बला मूलं स्योनाकैरण्डबिल्वजम्। सारग्वधं पिबेद्वर्ति मधूच्छिष्टवसाप्लुतैः ॥१३५॥
अथवा सघृतान् सक्तून् कृत्वा मल्लकसंपुटे। नवप्रतिश्यायवतां धूमं वैद्यः प्रयोजयेत् ॥१३६॥
शङ्खमूर्धललाटार्तौ पाणिस्वेदोपनाहनम्। स्वभ्यक्ते क्षवथुस्रावरोधादौ संकरादयः ॥१३७॥
प्रेयाश्च रोहिषाजाजीवचातकारिचोरकाः। त्वक्पत्रमरिचैलानां चूर्णा वा सोपकुञ्चिकाः ॥१३८॥
स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे तैलं च नावनम्। प्रभाव्याजे तिलान् क्षीरे तेन पिष्टांस्तदुष्मणा ॥१३९॥
मन्दस्विन्नान् सयष्ट्याह्वचूर्णांस्तैनैव पीडयेत्। दशमूलस्य निष्काथे रास्नामधुककल्कवत् ॥१४०॥
सिद्धं ससैन्धवं तैलं दशकृत्वोऽणु तत् स्मृतम्। स्निग्धस्यास्थापनैर्दोषं निर्हरिद्वातपीनसे ॥१४१॥
स्निग्धाम्लोष्णैश्च लघ्वन्नं ग्राम्यादीनां रसैर्हितम्। उष्णाम्बुना स्नानपाने निवातोष्णप्रतिश्रयः ॥१४२॥
चिन्ताव्यायामवाक्चेष्टाव्यवायविरतो भवेत्। वातजे पीनसे धीमानिच्छन्नेवात्मनो हितम् ॥१४३॥

पीनस रोग की चिकित्सा

१. वातज पीनस की चिकित्सा-वात से उत्पन्न पीनस (Coryza) में यदि कास (Cough), स्वरभेद (Hoarseness of the voice) लक्षण मिलें तब रोगी को यवक्षार में गोघृत मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए अथवा उष्ण मांसरस या गोदुग्ध अथवा स्नैहिक धूम पीने के लिए देना चाहिए।

शताह्वादि धूमवर्ति-शताह्वा (सोया), त्वक् (दालचीनी त्वक्), बला (बरियार) का मूल, श्योनाक की छाल, एरण्डमूलत्वक्, बिल्व की छाल एवं अमलतास; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में मोम, वसा एवं घृत मिलाकर वर्ति बना लें। इस वर्ति का प्रयोग धूमपान के रूप में करें अथवा नवीन प्रतिश्याय के रोगियों को यव के सत्तू में घृत मिलाकर चीलम (मल्लक संपुट) में भरकर पीने (धूमपान) के लिए देना चाहिए।

प्रतिश्याय जनित वेदना में कर्तव्य-यदि प्रतिश्याय के कारण रोगी के शंखप्रदेश (Temples), मूर्धा (Head) एवं ललाट (Forehead) में वेदना होती हो तब अपने दोनों हथेलियों को गरम करके उन-उन अवयवों को सेंकना चाहिए अथवा उन अङ्गों पर उष्ण उपनाह (Hot Poultice) बाँधना चाहिए।

Scanned by CamScanner

यदि प्रतिश्याय के कारण नासिका से छींक आ रही हो अथवा नासास्राव हो रहा हो अथवा नासिका में अवरोध उत्पन्न हो रहा हो तब ऊर्ध्व भाग का सम्यक् अभ्यङ्ग करके संकर आदि स्वेद कराना चाहिए।

नस्य का प्रयोग–रोहिष, अजाजी (जीरा), वचा, तर्कारी (अरणी), चोरक (चोरपुष्पी) अथवा त्वक् (दालचीनी त्वक्), पत्र (तेजपत्र), मरिच (कालीमिर्च), एला (छोटी इलायची) तथा उपकुञ्चिका (कालाजीरा=स्याह जीरा); इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण का प्रयोग नस्य के रूप में करना चाहिए। इस नस्य से नवीन प्रतिश्याय जन्य नासावरोध में लाभ मिलता है।

[निर्दिष्ट द्रव्यों के चूर्ण को लगभग दस ग्राम की मात्रा में लेकर महीन कपड़े में बाँधकर पोट्टली बना लें। इस पोट्टली को हथेली पर रगड़कर सूंघे। इसके प्रयोग से शिरःशूल, नासानाह आदि में लाभ मिलता है।]

स्निग्ध नस्य का प्रयोग–यदि नासिका, शृंगाटक, नासा स्रोतस् एवं नेत्रों में शोष (dryness or Atrophy) हो रहा हो तब रोगी में नस्य के रूप में सिद्ध तैलों (Medicated oils) का प्रयोग करना चाहिए।

अणुतैल निर्माण विधि–सर्वप्रथम साफ सुथरे तिल को बकरी के दूध में भिगोवें। प्रातः काल तिल के फूल जाने पर बकरी के दुग्ध के साथ पीसकर कल्क बना लें। अब एक मिट्टी के पात्र में अजा दुग्ध लेकर उबालें। पात्र के मुख को महीन मारकीन के कपड़े से बाँध दें। इस कपड़े के ऊपर (मुख के ऊपर) पीसे हुए तिल का कल्क रखें। इसके ऊपर मिट्टी का ढक्कन रखकर कल्क को ढक दें। जब अजा दुग्ध की वाष्प से कल्क का सम्यक् स्वेदन हो जाय तब कल्क को उतार कर उसमें यष्टीमधु का चूर्ण मिलाकर मिट्टी के पात्र में रखे हुए दुग्ध में निचोड़ दें। ऐसा करने से तिल का तेल निकलकर दुग्ध में आ जाता है। इस विधि से निकले हुए तेल को दशमूल क्वाथ, रास्ना, यष्टीमधु के कल्क व सैन्धव नमक मिलाकर दस बार सिद्ध करें। यह सिद्ध तैल अणुतैल कहलाता है।

आस्थापन बस्ति का प्रयोग–वातज प्रतिश्याय में स्निग्ध रोगी को आस्थापन बस्ति के प्रयोग द्वारा दोषों का निर्हरण करना चाहिए। अर्थात् रोगी को सर्वप्रथम स्निग्ध करें, पश्चात् आस्थापन बस्ति द्वारा दोषों का निर्हरण करें।

वातज प्रतिश्याय में पथ्य आहार-विहार–

१. स्निग्ध, अम्ल एवं उष्ण द्रव्यों का सेवन करना।
२. ग्राम्य पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ लघु एवं सुपाच्य अन्न का सेवन करना।
३. स्नान एवं पीने के लिए उष्ण जल का प्रयोग करना।
४. ऐसे स्थानों पर रहना जहाँ हवा के तीव्र झोंकों का आगमन न हो, अर्थात् पंखे की सीधी हवा से बचना।

वातज प्रतिश्याय में अपथ्य आहार-विहार–वातज प्रतिश्याय से ग्रसित व्यक्ति यदि अपना हित चाहता है तो उसे अधोलिखित हेतुओं से बचना चाहिए।

१. अत्यधिक चिन्ता करना,
२. अत्यधिक व्यायाम करना,
३. अत्यधिक बोलना,
४. अत्यधिक मैथुन करना,

चक्रपाणि–अब आगे पूर्व निर्दिष्ट व्याधियों की चिकित्सा का क्रमानुसार विवेचन किया जा रहा है। प्रतिश्याय में धूम का निषेध है। अतः धूम से यहाँ वैरेचनिक धूम का ग्रहण करना चाहिए, यह अभिप्राय है। उससे यहाँ स्नैहिक धूम का भी **कथन** हो जाता है, अर्थात् वैरेचनिक धूम के कथन से स्नैहिक धूम का विरोध नहीं होता। **पाणिस्वेदं च उपनाहनं चेति पाणिस्वेदोपनाहनम्**-अपने दोनों हथेलियों को उष्ण करके मुख, ललाट आदि भागों का स्वेदन करना एवं उपनाहन (Poultice) बाँधना।

क्षवथुस्रावरोधादावित्यत्र रोधशब्देन प्रतिनाहोऽभिधीयते–क्षवथु स्राव के अवरोध से यहाँ प्रतिनाह का ग्रहण किया गया है।

'संकरादयः' से संकर, प्रस्तर आदि स्वेदों का ग्रहण किया गया है, जिसका विवेचन स्वेदाध्याय (सू.अ. १४) में किया गया है। तर्कारी=जयन्ती।

स्रोतःशृङ्गाटनासाक्षिशोषे इति घ्राणश्रोत्राक्षि तर्पणीनां सिराणां सन्निपातः शृङ्गाटकः–घ्राण, श्रोत्र (कर्ण) एवं नेत्रों को तर्पित करने वाली सिराओं का संधिस्थान शृंगाटक कहलाता है।

'प्रभाव्याजे इत्यादि' के द्वारा **नावन तैल** का अभिधान किया गया है। तदुष्मणेति-उसकी ऊष्मा द्वारा, अजा दुग्ध की ऊष्मा द्वारा पिष्टी का धीरे-धीरे स्वेदन हो जाने पर। कपड़े से स्विन्न तिलकल्क को लेकर उसमें चतुर्थांश यष्टीमधु चूर्ण मिलाकर बकरी के दुग्ध के साथ निचोड़ें। निचोड़ने पर निकले हुए तिलतैल को दशमूल के क्वाथ एवं रास्ना+यष्टीमधु के कल्क+सैन्धव नमक के साथ दस बार पाक करें। इस विधि से साधित तैल को अणुतैल कहा जाता है। यह तैल सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतों में फैल जाता है, इसलिये इसे अणुतैल नाम दिया

Scanned by CamScanner

गया है। अणुतैल का यह गुण पाक की अधिकता एवं तिल से तैल निकालने की विशेष क्रिया के कारण होता है। आचार्य विदेह ने कहा भी है, यथा-**''भावनात् पाचनाद्वाऽपि तैलानामणुतैलता। मर्दनादपि सर्वेषां देहानामणुतैलता''** [इस तैल को दस बार भावना देने अथवा पकाने के कारण अणुतैल कहा जाता है। इस तैल का शरीर में मर्दन (Massage) करने से यह शरीर के सम्पूर्ण स्रोतसों में फैल जाता है। यह इसका प्रभाव है। अर्थात् यह तैल अपने प्रभाव के कारण शरीर पर लगाने से अल्प समय में ही शरीर के सम्पूर्ण स्रोतसों में फैल जाता है।]

'स्निग्धाम्लेत्यादि' के द्वारा वातज प्रतिश्याय (पीनस) में हितकर (पथ्य) आहार एवं आचार (विहार) का निर्देश किया गया है। **निवातोष्णप्रतिश्रय इति**-निवात एवं उष्ण घर में रहना। निवातस्थान=ऐसी जगह जहाँ हवा के तेज झोंके न आते हों। ॥१३४-१४३॥

पैत्ते सर्पिः पिबेत् सिद्धं शृङ्गवेरशृतं पयः। पाचनार्थं पिबेत् पक्के कार्यं मूर्धविरेचनम् ॥१४४॥
पाठाद्विरजनीमूर्वापिप्पलीजातिपल्लवैः। दन्त्या च साधितं तैलं नस्यं स्यात् पक्वपीनसे ॥१४५॥
पूयास्ते रक्तपित्तघ्नाः कषाया नावनानि च। पाकदाहाढ्यरूक्षेषु शीता लेपाः ससेचनाः ॥१४६॥
प्रेयनस्योपचाराश्च कषायाः स्वादुशीतलाः। मन्दपित्ते प्रतिश्याये स्निग्धैः कुर्याद्विरेचनम् ॥१४७॥
घृतं क्षीरं यवाः शालिर्गोधूमा जाङ्गला रसाः। शीताम्लास्तिक्तशाकानि यूषा मुद्गादिभिर्हिताः ॥१४८॥

२. पित्तज प्रतिश्याय की चिकित्सा-पित्तज प्रतिश्याय में रोगी को शृङ्गबेर के क्वाथ एवं कल्क से साधित घृत एवं दुग्ध का पान करना चाहिए। दोषों का सम्यक् पाचन हो जाने पर मूर्ध विरेचन (शिरोविरेचन) हेतु नस्य का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् विरेचन नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

→ पाठा, हल्दी, दारूहल्दी, मूर्वा, पिप्पली, जाती (चमेली की पत्ती) तथा दन्ती की जड़; सभी द्रव्यों को सम भाग में लेकर कल्क (Paste) बनावें। इस कल्क से साधित तिलतैल का प्रयोग **पक्वपीनस** में नस्य के रूप में करें।

→ नासा से पूय एवं रक्त का स्राव होने पर रक्तपित्तनाशक क्वाथ एवं रक्तपित्तनाशक नस्यों का प्रयोग करना चाहिए।

→ यदि नासिका में पाक, दाह (जलन) एवं शुष्कता की वृद्धि हो तब रोगी को शीतवीर्य द्रव्यों का लेप एवं शीतवीर्य द्रव्यों से निर्मित क्वाथ (Decoction) को ठण्ढा करके, परिषेचन करावें। कषाय, मधुर एवं शीत वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग प्रेय नस्य के रूप में करें अर्थात् इन द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग सूंघने के लिए करें। यदि पित्त अल्प रूप में प्रकुपित है तब रोगी को स्नेहविरेचन कराना चाहिए।

पित्तज प्रतिश्याय में पथ्य-पित्तज प्रतिश्याय के रोगी को अधोलिखित अन्न-पान का सेवन नियमित रूप से करना चाहिए-

१. गोघृत, गोदुग्ध, यव, शालि चावल एवं गेहूँ का प्रयोग।

२. जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का प्रयोग।

३. शीत वीर्य, अम्ल एवं तिक्त रस युक्त शाकों का प्रयोग, यथा-पटोल, करेला, लौकी आदि।

४. मुद्ग, चना आदि के दालों से निर्मित यूष का प्रयोग।

ये सभी अन्न-पान पित्तज प्रतिश्याय के रोगी के लिए लाभदायक होते हैं।

चक्रपाणि-पैत्ते सर्पिः पिबेत् सिद्धमित्यत्र शृङ्गबेरसिद्धमेव सर्पिर्देयम्-पित्तज प्रतिश्याय में शृङ्गवेर (अदरख) के क्वाथ एवं कल्क द्वारा सिद्ध घृत का पान कराना चाहिए। **रक्तपित्तघ्ना इति**-रक्तपित्त चिकित्सा में वर्णित रक्तपित्तनाशक क्वाथों (Decoctions) का प्रयोग नासिका से पूय (Pus) एवं रक्त का स्राव होने पर करना चाहिए। **मन्दपित्ते इति ईषत्पित्ते**-पित्त के अल्प रूप में प्रकुपित होने पर स्नेहविरेचन का प्रयोग करना चाहिए, यथा-एरण्ड तैल का प्रयोग दुग्ध के साथ करना। ॥१४४-१४८॥

गौरवारोवकेष्वादौ लङ्घनं कफपीनसे। स्वेदाः सेकाश्च पाकार्थं लिप्ते शिरसि सर्पिषा ॥१४९॥
लशुनं मुद्गचूर्णेन व्योषक्षारघृतैर्युतम्। देयं कफघ्नवमनमुत्क्लिष्टश्लेष्मणे हितम् ॥१५०॥
अपीनसे पूतिनस्ये घ्राणस्रावे सकण्डूके। धूमः शस्तोऽवपीडश्च कटुभिः कफपीनसे ॥१५१॥
मनःशिला वचा व्योषं विडङ्गं हिङ्गु गुग्गुलुः। चूर्णो घ्रेयः प्रधमनं कटुभिश्च फलैस्तथा ॥१५२॥
भार्गीमदनतर्कारीसुरसादिविपाचिते। मूत्रे लाक्षा वचा लम्बा विडङ्गं कुष्ठपिप्पली ॥१५३॥
कृत्वा कल्कं करञ्जं च तैलं तैः सार्षपं पचेत्। पाकान्मुक्ते घने नस्यमेतन्मेदोनिभे कफे ॥१५४॥
स्निग्धस्य व्याहते वेगे च्छर्दनं कफपीनसे। वमनीयशृतक्षीरतिलमाषयवागुना ॥१५५॥
वार्तककुलकव्योषकुलत्याढकिमुद्गजाः। यूषाः कफघ्नमन्नं च शस्तमुष्णाम्बुसेच(व)नम् ॥१५६॥
सर्वजित् पीनसे दुष्टे कार्यं शोफे च शोफजित्। क्षारोऽर्बुदाधिमांसेषु क्रिया शेषेष्ववेक्ष्य च ॥१५७॥

इति पीनसनासारोगचिकित्सा।

Scanned by CamScanner

३. कफज प्रतिश्याय की चिकित्सा–कफज प्रतिश्याय के रोगी में यदि सिर में भारीपन (Heaviness of the head) एवं अरुचि आदि लक्षण मिलने पर सबसे पहले लङ्घन (Fasting therapy) कराना चाहिए। इसके पश्चात् सिर के ऊपर घृत का लेप कराकर अर्थात् शिरोऽभ्यङ्ग कराकर कफ दोष के पाचन हेतु स्वेदन एवं परिषेक कराना चाहिए।

→ कफनाशन हेतु रोगी को मुद्ग, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली व यवक्षार; इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित चूर्ण को घृत के साथ लशुन का स्वरस मिलाकर चटावें। यदि दोष (कफ दोष) उत्क्लेशित (निकलने के लिए उद्यत) हो तब वमन कराना हितकर होता है। अर्थात् ऐसी अवस्था में वामक द्रव्यों द्वारा वमन कराना चाहिए।

धूमपान एवं अवपीड नस्य का प्रयोग–यदि व्यक्ति कण्डू के साथ अपीनस, पूतिनस्य, नासास्राव (नासिका से स्राव का होना) अथवा कफज प्रतिश्याय से ग्रसित हो तब ऐसी अवस्था में कटु द्रव्यों से निर्मित धूम का सेवन एवं अवपीड नस्य का प्रयोग करना हितकर होता है।

→ मनः शिला (मैनशिल), वचा, शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली, कालीमिर्च, विडङ्ग (वायविडङ्ग), हिङ्गु (हींग) एवं गुग्गुलु; इन द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग नस्य के रूप में करें तथा कटु रस वाले द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग, यथा-मरिच एवं पिप्पली, प्रधमन नस्य के रूप में करना चाहिए।

भार्ग्यादि तैल–भारंगी (भार्गी), मदनफल, तर्कारी (अरणी), सुरसा (तुलसी); इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पकाकर क्वाथ का निर्माण करें, उस क्वाथ में लाक्षा, वचा, लम्बा (तिललौकी के बीज), वायविडङ्ग, कूठ, पिप्पली तथा करञ्ज की गुद्दी का कल्क बना कर मिला दें। अब उस कल्क मिश्रित क्वाथ में सरसो के तैल का विधिपूर्वक पाक करें। तैल के सिद्ध हो जाने पर छानकर पृथक् पात्र में रख लें। प्रतिश्याय की पाकावस्था में जब कफ थक्का बनकर मेद के सदृश निकलने लगे तब ऐसी अवस्था में इस तैल का नस्य लेना चाहिए।

वमन का प्रयोग–कफज प्रतिश्याय के वेग कम होने पर रोगी को स्नेहन कराकर वमन कराना चाहिए। वमन हेतु मदनफल के कल्क से पकाये गये दूध में तिल या उड़द की यवागू बनाकर रोगी को पिलानी चाहिए। इसके सेवन से रोगी को आसानी से वमन हो जाता है, अर्थात् कोई कष्ट नहीं होता।

पथ्य अन्न-पान–वार्ताक (बैंगन), कुलक (परवल), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, कुलथी, आढकी (अरहर) एवं मुद्ग से निर्मित यूषों का सेवन, कफनाशक आहार एवं उष्ण जल का प्रयोग प्रतिश्याय रोग में लाभदायक होता है।

दुष्टप्रतिश्याय आदि अन्य व्याधियों (नासा रोगों) की चिकित्सा–दुष्टप्रतिश्याय में तीनों दोषों की शामक चिकित्सा अथवा नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए, नासाशोथ में शोथनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। नासार्बुद (Nasal tumour) एवं अधिमांस में क्षारों की योजना करनी चाहिए। शेष व्याधियों (जिन व्याधियों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है) में दोष-दूष्य आदि की अवस्था का सम्यक् विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–**देयं कफघ्नवमनमिति कफघ्नद्रव्यकृतं वमनं देयमित्यर्थः**; कफनाशक द्रव्यों के साथ वमन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए। **कटुभिः फलैरिति**-मरिच एवं पिप्पली के चूर्ण का प्रयोग प्रधमन नस्य के रूप में करना चाहिए। **पाकान्मुक्ते इति**-पक्व कफ का अपने स्थान से निकलने पर। **व्याहते वेग इति**-पीनस का वेग अल्प (मन्द) हो जाने पर। शोफे चेति-नासाशोफ में। ॥१४९-१५७॥

वातिके शिरसो रोगे स्नेहान् स्वेदान् सनावनान्। पानान्नमुपनाहांश्च कुर्याद्वातामयापहान् ॥१५८॥
तैलभृष्टैरगुर्वाद्यैः सुखोष्णैरुपनाहनम्। जीवनीयैः सुमनसा मत्स्यैर्मांसैश्च शस्यते ॥१५९॥
रास्नास्थिरादिभिः सिद्धं सक्षीरं नस्यमर्तिनुत्। तैलं रास्नाद्विकाकोलीशर्कराभिरथापि वा ॥१६०॥
बलामधूकयष्ट्याह्वविदारीचन्दनोत्पलैः। जीवकर्षभकद्राक्षाशर्कराभिश्च साधितः ॥१६१॥
प्रस्थस्तैलस्य सक्षीरो जाङ्गलार्धतुलारसे। नस्यं सर्वोर्ध्वजत्रूत्थवातपित्तामयापहम् ॥१६२॥
दशमूलबलारास्नात्रिफलामधुकैः सह। मयूरं पक्षपित्तान्त्रशकृत्तुण्डाङ्घ्रिवर्जितम् ॥१६३॥
जले पक्त्वा घृतप्रस्थं तस्मिन् क्षीरसमं पचेत्। मधुरैः कार्षिकैः कल्कैः शिरोरोगार्दितापहम् ॥१६४॥
कर्णाक्षिनासिकाजिह्वातालवास्यगलरोगनुत्। मायूरमितिविख्यातमूर्ध्वजत्रुगदापहम् ॥१६५॥

इति मयूरघृतम्।

वातज शिरोरोग की चिकित्सा–वातज शिरोरोग में वातनाशक तैलों के नस्य के साथ-साथ स्नेहन एवं स्वेदन का भी प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वातनाशक अन्न-पान के साथ-साथ उपनाह का भी प्रयोग करना चाहिए। अगरु आदि द्रव्यों के कल्क को तैल में भूनकर अथवा जीवनीय गण के कल्क, मछली तथा अन्य प्राणियों के मांस को पकाकर गुनगुना उपनाह लगावें।

Scanned by CamScanner

→ रास्ना, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कण्टकारी), कण्टकारी (छोटी कण्टकारी) एवं गोखरू; इन द्रव्यों के कल्क व गोदुग्ध से साधित तिलतैल अथवा रास्ना, काकोली, क्षीरकाकोली एवं शर्करा के कल्क व गोदुग्ध द्वारा साधित तैल का प्रयोग नस्य के रूप में करने से वातज शिरःशूल नष्ट हो जाता है।

बलादि तैल-घटक द्रव्य–

१. **कल्क द्रव्य**–बलामूल (बरियार की जड़), मधूक (महुआ), यष्टीमधु (मुलेठी), विदारीकन्द, लालचन्दन, नीलकमल, जीवक, ऋषभक, द्राक्षा (मुनक्का) एवं शर्करा-प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लें।

२. जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस-अर्ध तुला।

३. तिलतैल - १ प्रस्थ (६४ तोला)

४. गाय का दूध - १ प्रस्थ (६४ तोला)

अब कल्क, मांसरस, गोदुग्ध एवं तिलतैल को एक पात्र में मिला लें तथा विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें। तैल के सिद्ध हो जाने पर ठण्डा करके बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस सिद्ध तैल का नस्य लेने से सभी प्रकार के वात पित्त जन्य ऊर्ध्व जत्रुगत व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

मायूर घृत-घटक द्रव्य–

१. **क्वाथ्य द्रव्य**–दशमूल (बिल्व, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, अग्निमन्थ, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू), बला (बरियार की जड़), रास्ना, हरड़, बहेड़ा, आँवला, यष्टीमधु; सभी द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लें। इसके साथ ही मयूर के पंख, पित्त, आन्त्र, पुरीष, तुण्ड (चोंच) एवं पैर को छोड़कर शेष भाग को पानी में डालकर क्वाथ (Decoction) तैयार करें। क्वाथ की मात्रा- ४ प्रस्थ।

२. **कल्क**–जीवनीय गण की औषधियाँ, यथा-जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु-सभी द्रव्य १-१ भाग ग्रहण करें। (१६ तोला)

३. **गोदुग्ध**– १ प्रस्थ (६४ तोला)

४. **गोघृत**– १ प्रस्थ (६४ तोला)

निर्माण विधि– अब क्वाथ - ४ प्रस्थ, कल्क - १/४ प्रस्थ (१६ तोला), गोदुग्ध - १ प्रस्थ, गोघृत - १ प्रस्थ को लेकर एक लोहे के पात्र में रख लें तथा मन्दाग्नि पर पकावें। घृत के सिद्ध हो जाने पर एक स्वच्छ कांच के पात्र में छानकर सुरक्षित रख लें।

इस घृत का सेवन मात्रानुसार करने से शिरोरोग (Head diseases), अर्दित (Facial paralysis), कर्ण, अक्षि (नेत्र), नासिका, जिह्वा, तालु, मुख एवं गले के रोग-दूर हो जाते हैं। यह मायूरघृत ऊर्ध्वजत्रुगत सभी व्याधियों को नष्ट कर देता है।

चक्रपाणि–दशमूलेत्यादौ दशमूलादिभिः प्रत्येकं त्रिपलमानैः समं मयूरं पक्षादिवर्जितं जलद्रोणे एव पचेत्–यहाँ दशमूल के अलग-अलग द्रव्यों का मान तीन-तीन पल ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार कुल द्रव्यों की मात्रा के बराबर पंख आदि से रहित मोर के मांस को लें। [इस योग में दशमूल के दस, त्रिफला के तीन, रास्ना, बला, यष्टीमधु, मिलाकर १६ द्रव्य होते है। अतः कुल मात्रा ४८ पल हुई। इसमें मयूर का मांस ४८ पल मिलावें] इन सबको १ द्रोण जल में पकावें। चतुर्थांश अवशेष बचने पर क्वाथ को छान कर अलग कर लें। यह क्वाथ घृत का ४ गुना होता है, अर्थात् क्वाथ की मात्रा ४ प्रस्थ रखनी चाहिए।

किंच दशमूलादीनां चत्वारिंशत्पलेन मयूरेणैकेन सममदूरान्तरं चतुःषष्टिपलं क्वाथ्यं द्रोणमाने जले देयम्–दशमूल आदि द्रव्य - ४० पल + मयूर का मांस - ४० पल लेकर १ द्रोण जल में पकावें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतारकर छान लें। यह छना हुआ क्वाथ ४ प्रस्थ (६४ पल) हुआ। अथवा दशमूलादि के द्रव्य + मयूर के मांस का ४ गुना जल डालकर पकावें, चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छान लें। इस क्वाथ में जीवनीय गण की औषधियों का कल्क + गोदुग्ध १ प्रस्थ एवं १ प्रस्थ घृत मिलाकर घृतपाक करें। मधुरैरिति - च. सू. अध्याय ४ में वर्णित दस औषधियाँ जो जीवनीयगण के अन्तर्गत पढ़ी गयी हैं। ये द्रव्य प्रधान रूप से मधुर रस युक्त होने के कारण मधुर शब्द से कहे गये हैं। अर्थात् इस वर्ग के अधिकांश द्रव्य मधुररस युक्त होते हैं। ॥१५८-१६५॥

एतैर्व कषायेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। चतुर्गुणेन पयसा कल्कैरेभिश्च कार्षिकैः ॥१६६॥
जीवन्तीत्रिफलामेदामृद्वीकर्धिपरूषकैः। समङ्गाचविकाभार्गीकाश्मरीसुरदारुभिः ॥१६७॥
आत्मगुप्तामहामेदातालखर्जूरमस्तकैः। मृणालबिसशालूकशृङ्गीजीवकपद्मकैः ॥१६८॥
शतावरीविदारीक्षुबृहतीसारिवायुगैः। मूर्वाश्विदंष्ट्रर्षभकशृङ्गाटककसेरुकैः ॥१६९॥
रास्नास्थिरातामलकीसूक्ष्मैलाशटिपौष्करैः। पुनर्नवातुगाक्षीरीकाकोलीधन्वयासकैः ॥१७०॥

Scanned by CamScanner

खर्जूराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकैरपि । द्रव्यैरेभिर्यथालाभं पूर्वकल्पेन साधितम् ।।१७१।।
नस्ये पाने तथाऽभ्यङ्गे बस्तौ चैव प्रयोजयेत् । शिरोरोगेषु सर्वेषु कासे श्वासे च दारुणे ।।१७२।।
मन्यापृष्ठग्रहे शोषे स्वरभेदे तथाऽर्दिते । योन्यसृक्शुक्रदोषेषु शस्तं वन्ध्यासुतप्रदम् ।।१७३।।
ऋतुस्नाता तथा नारी पीत्वा पुत्रं प्रसूयते । महामायूरमित्येतद्घृतमात्रेयपूजितम् ।।१७४।।
इति महामायूरघृतम् ।
आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् । कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ।।१७५।।

महामायूर घृत (Mahā-Māyūra Ghṛita)

घटक द्रव्य–१.क्वाथ्य द्रव्य-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेंरी), छोटी कटेंरी (कण्टकारी), गोखरू- प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल लें, हरड़ - ३ पल, बहेड़ा - ३ पल, आँवला - ३ पल, यष्टीमधु - ३ पल, वला - ३ पल, रास्ना - ३ पल [(संयुक्त मात्रा - ४८ पल)], ४८ पल मोर का मांस (पंख आदि से रहित) । क्वाथ्य द्रव्य की कुल मात्रा - ९६ पल।

२. गोदुग्ध - ४ प्रस्थ, **३. गोघृत** - १ प्रस्थ

४. कल्क द्रव्य–जीवन्ती, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मेदा, मृद्वीका, ऋद्धि, परूषक (फालसा), समङ्गा (मञ्जिष्ठा), चव्य, भार्गी (भारंगी), काश्मर्य (गम्भारी), देवदारु, आत्मगुप्ता (कौंच बीज), महामेदा, तालमस्तक (ताड़ का फल), खर्जूरमस्तक (खर्जूर का फल), मृणाल, बिस (कमलनाल), शालूक (कमलकन्द), शृंगी (काकड़ासिंगी), जीवक, पद्मक (पद्मकाठ), शतावरी, विदारीकन्द, इक्षुरस, बृहती (बड़ी कटेंरी), सारिवा (दोनों प्रकार की सारिवा-अनन्त मूल व श्यामलता), मूर्वा, गोखरू, ऋषभक, सिंघाड़ा, कसेरू, रास्ना, स्थिरा (शालपर्णी), तामलकी (भुई आँवला), शटी (कचूर), पुष्करमूल, पुनर्नवा, तुगाक्षीरी, काकोली, धन्वयास, खर्जूर, आक्षोट (अखरोट), बादाम, मुञ्जातक (चिलगोजा) एवं अभिषुक (पिस्ता); निर्दिष्ट द्रव्यों में से जितने उपलब्ध हो सकें उन्हें १-१ कर्ष (१-१ तोला) मात्रा में लेकर कल्क बना लें ।

निर्माण विधि– अब निर्दिष्ट मात्रा में द्रव्यों के क्वाथ, कल्क, गोदुग्ध एवं घृत को लेकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध करें । सम्यक् सिद्ध हो जाने पर घृत को महीन कपड़े से छानकर एक चौड़े मुख के कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस घृत का प्रयोग अभ्यङ्ग (मालिश करने), नस्य, पान एवं बस्ति के रूप में करना चाहिए । इसके सेवन से सभी प्रकार के शिरोरोग, दारुण कास (Cough) व श्वास (Dyspnea), मन्याग्रह (Stiffness of the neck), पृष्ठग्रह (Stiffness of the back-पीठ की जकड़ाहट), शोष (consumption), स्वरभेद (Hoarseness of the voice), अर्दित (Facial paralysis), योनिरोग, रक्तज व्याधियाँ, शुक्रदोषज विकार आदि दूर हो जाते हैं । वन्ध्या स्त्री यदि इस घृत का नियमित रूप से सेवन करती है तब उसे पुत्र की प्राप्ति होती है ।

जो स्त्री ऋतुस्नान के ही काल से इस घृत का सेवन करती है उसे पुत्र की प्राप्ति होती है । यह महामायूर नामक घृत भगवान् आत्रेय के द्वारा प्रशंसित है ।

इसी प्रकार बुद्धिमान चिकित्सक को मयूरघृत में वर्णित द्रव्यों के साथ चूहे, मुर्गे, हंस अथवा शश (खरगोश) के मांसरस से घृत को पकाना चाहिए । ये घृत भी ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के नाशक हैं । अर्थात् इन घृतों का प्रयोग पान, अभ्यङ्ग, नस्य एवं बस्ति के रूप में करने से सभी प्रकार की व्याधियाँ (विशेष रूप से ऊर्ध्वजत्रुगत) दूर हो जाती हैं । ।।१६६-१७५।।

चक्रपाणि–एतेनैवेति दशमूलादिमयूरक्वाथेन यथोक्तविधानकृतेन-मयूरघृत प्रकरण में वर्णित दशमूलादि द्रव्यों एवं मयूर के मांस का क्वाथ बनाकर, [मात्रा - दशमूलादि के प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल एवं मयूर का मांस - दशमूलादि द्रव्यों के संयुक्त मात्रा के बराबर, जल - १ द्रोण । सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर क्वाथ बनावें, चतुर्थांश जल अवशिष्ट रहने पर क्वाथ को छानकर एक अलग पात्र में रख लें ।] **द्वितीयखर्जूरशब्देन खर्जूरफलं गृह्यते-**महामायूरघृत के कल्क द्रव्यों में वर्णित द्वितीय खर्जूर शब्द से खर्जूरफल का ग्रहण किया गया है । [**तालखर्जूरयोर्यरमस्तकम्-**ताड़ व खर्जूर के मस्तक अर्थात् ताड़फल का कठोर कपाल वाला भाग एवं खर्जूर के बीज की गुठली]

अक्षोट वादाम आदि द्रव्य औत्तरापथ में पाये जाने वाले द्रव्य हैं । मायूरघृत में वर्णित क्वाथ्य द्रव्यों का ग्रहण यद्यपि यहाँ भी किया गया है एवं उसी विधान के अनुसार क्वाथ का निर्माण भी करना चाहिए, लेकिन कल्क द्रव्यों का ग्रहण पूर्वोक्त विधान के अनुसार न करके यहाँ निर्दिष्ट कल्क द्रव्यों में से जो प्राप्त हो सकें अथवा जितना आवश्यकता हो उतने का ही ग्रहण करना चाहिए । इन द्रव्यों का कल्क बनावें न कि क्वाथ । इसके प्रयोग भेद को आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा–"तत्क्वाथोचितशिखिनं दशमूल-श्रेयसीबलामधुकैस्त्रिफलैः सह सर्पिषा जीवनीयकर्षैः पचेत् पयसा क्वाथेऽस्मिन्नेव चतुष्के प्रस्थं घृतं यथालाभं जीवनबृंहणवातामाक्षोटत्रिफलापूगमधुकैः खर्जूरतालमस्तकत्वगेलापौष्करश्वदंष्ट्रातामलकीबिसभार्गीकसेरुशृङ्गाटकमृणालरास्नास्थिरासमङ्गाशृङ्गयजडाभिः सह तु मायूरं चतुष्प्रयोगादूर्ध्वगाजत्रुगदेष्वमृतवत्" इति [दशमूल के द्रव्य, श्रेयसी (Number of various plants– Rāsnā, Ambaṣṭhā and Priyangu. –

Scanned by CamScanner

M.M. Williams), बला व यष्टीमधु (१३ द्रव्य) - प्रत्येक - ३-३ पल लें, मयूर का मांस दशमूलादि द्रव्यों के बराबर लेकर १ द्रोण जल में पकावें, चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ (Decoction) को छान लें। इन छने हुए क्वाथ की मात्रा - ४ प्रस्थ होती है। अब इसमें १ प्रस्थ गोघृत एवं जीवनीय व बृंहणीय वाताभ, अक्षोट आदि द्रव्यों में से जो प्राप्त हो सकें, प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लेकर कल्क बनाकर उसमें डालें, गोदुग्ध ४ प्रस्थ मिलाकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। यह घृत अमृत के समान ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में कार्य करती है।]

श्लोक नं. १७५ में मयूर के मांस के स्थान पर मूषक आदि के मांस से घृत सिद्ध करने का निर्देश दिया गया है। मूषक आदि के मांस का मान (प्रमाण) मयूर की तुलना में अल्प होता है। इस प्रकार यहाँ घृत को सिद्ध करते समय आखु (चूहे), कुक्कुट एवं हंस में से किसी एक के ही मांस का प्रयोग करना चाहिए। मांस के रूप में एक चूहे, या एक हंस या एक कुक्कुट के ही मांस का प्रयोग करना चाहिए। ॥१६६-१७५॥

पैत्ते घृतं पयः सेकाः शीता लेपाः सनावनाः। जीवनीयानि सर्पींषि पानान्नं चापि पित्तनुत् ॥१७६॥
चन्दनोशीरयष्ट्याह्वबलाव्याघ्रनखोत्पलैः। क्षीरपिष्टैः प्रदेहः स्याच्छृतैर्वा परिषेचनम् ॥१७७॥
त्वक्पत्रशर्कराकल्कः सुपिष्टस्तण्डुलाम्बुना। कार्योऽवपीडः सर्पिश्च नस्यं तस्यानु पैत्तिके ॥१७८॥
यष्ट्याह्वचन्दनानन्ताक्षीरसिद्धं घृतं हितम्। नावनं शर्कराद्राक्षामधुकैर्वाऽपि पित्तजे ॥१७९॥

पित्तज शिरोरोग की चिकित्सा–पित्तज शिरोरोग में घृतपान, दुग्धपान, शीतल परिषेक, शीतल लेप, नस्य, जीवनीय द्रव्यों से साधित घृत एवं पितघ्न अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिए।

चन्दन, उशीर (खस), यष्टीमधु (मुलेठी), बरियार की जड़, व्याघ्रनखी एवं उत्पल (नीलकमल); इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर दूध के साथ पीस कर सिर या ललाट के ऊपर प्रदेह (लेप) लगावें अथवा इनसे निर्मित क्वाथ (Decoction) को ठण्डा करके सिर का परिषेक करें।

अवपोड नस्य का प्रयोग–दालचीनी, तेजपत्र एवं शर्करा (चीनी) को तण्डुलोदक के साथ पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क को महीन मारकीन के कपड़े के ऊपर फैलाकर, पोट्टली जैसा बनाकर स्वरस निकालें एवं इसका अवपीड नस्य के रूप में प्रयोग करें। अर्थात् स्वरस का नस्य दें। पश्चात् गोघृत का नस्य दें।

मधुयष्ट्यादि घृत–यष्टीमधु (मुलेठी), चन्दन, अनन्तमूल; प्रत्येक द्रव्य को सम प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें। अब कल्क - १/४ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, गोघृत - १ भाग, जल - ४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें अथवा शर्करा, द्राक्षा (मुनक्का) एवं यष्टीमधु का कल्क - १/४ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, गोघृत - १ भाग, जल - ४ भाग से सिद्ध घृत का प्रयोग पित्तज शिरोरोग में लाभदायक होता है।

चक्रपाणि–शृतैर्वेत्यत्र क्षीरशृतैः-चन्दन, उशीर (खस), यष्टीमधु, बला (बरियार), व्याघ्रनखी एवं उत्पल (नील कमल); प्रत्येक द्रव्य सम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें एवं इस क्वाथ से साधित क्षीर का प्रयोग परिषेक के रूप में करें।

सर्पिश्च नस्यमिति–सर्वप्रथम अवपीड नस्य का प्रयोग करें, पश्चात् घृत का नस्य दें। [अवपीड नस्य द्रव्यों के स्वरस का दिया जाता है, स्वरस के प्रयोग से नासिका में रूक्षता की वृद्धि होती है। इसे दूर करने के लिए घृत का नस्य दिया जाता है।] ॥१७६-१७९॥

विशेष (Comments)–'पैत्ते घृतमित्यादि' के द्वारा पित्तज शिरोरोग की चिकित्सा को बताया गया है। पित्तज शिरोरोग में घृत का परिषेक, शीतल लेप (शीत वीर्य द्रव्यों से निर्मित लेप) एवं शीतल नस्य का प्रयोग करना चाहिए। जीवनीय द्रव्यों से साधित घृत पित्तनाशक होता है। अर्थात् जीवनीय घृत का पान, अभ्यंग एवं नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए। पित्तनाशक अन्न एवं पान (पेय पदार्थों) का प्रयोग करना चाहिए। 'चन्दनेत्यादि' के द्वारा शीतल प्रदेह का वर्णन किया गया है।

क्षीरपिष्टैश्चन्दनादिभिर्लेपः शिरसि–चन्दनादि द्रव्यों को दूध के साथ पीसकर लेप बना लें। इस लेप का प्रयोग सिर पर करें, अथवा चन्दनादि द्रव्यों से निर्मित क्वाथ को ठण्डा करके सिर पर गिरावें। –जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

कफजे स्वेदितं धूमनस्यप्रथमनादिभिः। शुद्धं प्रलेपपानान्नैः कफघ्नैः समुपाचरेत् ॥१८०॥
पुराणसर्पिषः पानैस्तीक्ष्णैर्बस्तिभिरेव च। कफानिलोत्थिते दाहः शेषयो रक्तमोक्षणम् ॥१८१॥
एरण्डनलदक्षौमगुग्गुल्वगुरुचन्दनैः। धूमवर्तिं पिबेद्गव्यैरकुष्ठतगरैस्तथा ॥१८२॥
सन्निपातभवे कार्या सन्निपातहिता क्रिया। क्रिमिजे चैव कर्तव्यं तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम् ॥१८३॥
त्वग्दन्तीव्याघ्रकरजविडङ्गनवमालिकाः। अपामार्गफलं बीजं नक्तमालशिरीषयोः।
क्षवकोऽश्मन्तको बिल्वं हरिद्रा हिङ्गु यूथिका ॥१८४॥
फणिज्झकश्च तैस्तैलमविमूत्रे चतुर्गुणे। सिद्धं स्यान्नावनं चूर्णं चैषां प्रथमनं हितम् ॥१८५॥

Scanned by CamScanner

फलं शिग्रुकरञ्जाभ्यां सव्योषं चावपीडकः । कषायः स्वरसः क्षारश्चूर्णं कल्कोऽवपीडकः ।।१८६।।
इति शिरोरोगचिकित्सा ।

कफज शिरोरोग की चिकित्सा–कफज शिरोरोग में स्वेदन (Sudation), धूमपान (Smoking therapy), नस्य (नावन) एवं प्रधमन नस्य के प्रयोग द्वारा सिर का शोधन करना चाहिए । शिर: प्रदेश का सम्यक् शोधन हो जाने पर रोगी को कफनाशक द्रव्यों का लेप सिर एवं ललाट पर लगाना चाहिए, आहार के रूप में कफघ्न अन्न-पान की योजना करें । इसके साथ ही पुराने घृत का सेवन एवं तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

वातकफज शिरोरोग में दाहकर्म का प्रयोग एवं शेष (सन्निपातज एवं कृमिज शिरोरोग) में रक्तमोक्षण का प्रयोग करना चाहिए ।

→ एरण्डमूल (रेड़ी की जड़), नलद (जटामांसी), क्षौम वस्त्र (रेशमी वस्त्र), गुग्गुलु, अगरु, चन्दन; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर पीसकर कल्क बनाकर धूमवर्ति बना लें । धूमवर्ति में प्रयुक्त गन्ध द्रव्यों में कूठ एवं तगर को छोड़कर अन्य गन्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

→ सन्निपातज शिरोरोग में त्रिदोषनाशक चिकित्सा हितकारी होती है, अथवा जिस दोष की प्रधानता होती है उस दोषनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

→ कृमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण शिरोविरेचन कराना चाहिए ।

→ त्वक् (दालचीनी), दन्तीमूल, व्याघ्रनखी, विडङ्ग (वायविडङ्ग), नवमालिका का मूल (Jasminum sambac–बेला की जड़), अपामार्ग का फल (अपामार्ग का बीज), नक्तमाल (करञ्ज) के बीज, शिरीष का बीज, क्षवक (नकछीकनी), अश्मन्तक, बिल्व की गुद्दी, हल्दी, हींग, यूथिका (जूही), फणिज्झक (वनतुलसी); सभी द्रव्य सम प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें । कल्क - १/४ भाग, भेड़ का मूत्र - ४ भाग, तिल तैल - १ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें । सम्यक् सिद्ध होने पर छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें । इस तैल का प्रयोग शिरोरोगों में नस्य के रूप में करना चाहिए, अथवा कल्क में प्रयुक्त द्रव्यों का कपड़छन चूर्ण कर लें एवं इसका प्रयोग **प्रधमन नस्य** के रूप में करें ।

→ शिग्रु के फल, करञ्ज के फल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली; सभी द्रव्यों को जल के साथ पीस कल्क बना लें । इस कल्क को कपड़े में रखकर निचोड़ लें । इसके स्वरस का प्रयोग अवपीड नस्य के रूप में करें । अर्थात् स्वरस का अवपीड नस्य दें । अथवा इन द्रव्यों के क्वाथ (Decoction), स्वरस (Juice), क्षार (Alkali preparations) एवं कल्क का प्रयोग अवपीड नस्य हेतु करना चाहिए ।

चक्रपाणि–कफानिलोद्भवे दाह इति-इससे यहाँ कफजन्य एवं वातजन्य शिरोरोग में सुश्रुत के अनुसार ललाट एवं शङ्ख प्रदेश पर **दाहकर्म करना** चाहिए । **सुश्रुतसंहिता** में कहा भी गया है, यथा-**''शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु भ्रूललाटशङ्खप्रदेशेषु दहेत्''** (सू.अ. १२) इति [**अधिमन्थ** आदि शिरोरोगों में चिकित्सक को रोगी के भ्रू, ललाट एवं शङ्खप्रदेश में दाह करना चाहिए ।]

गन्धैरकुष्ठतगरैरिति–अगरु आदि गन्ध द्रव्यों द्वारा, यहाँ गन्ध द्रव्यों में कुष्ठ व तगर को छोड़कर अगरु आदि द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये द्रव्य मस्तुलुङ्ग का स्राव कराते हैं, अत: इनका प्रयोग निषिद्ध है । **शालाक्य** में कहा भी गया है, यथा-**''नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते । मस्तुलुङ्गं प्रकर्षेण तस्मात्ते नैव योजयेत्''** इति [तगर एवं कूठ का प्रयोग धूमवर्ति में करने पर मस्तुलुङ्ग का अत्यधिक रूप में स्राव होने लगता है । इसलिये इनका प्रयोग धूमवर्ति में नहीं करना चाहिए ।] व्याघ्रकरज: = नखी । क्षवक: = छींक को उत्पन्न करने वाला (नकछींकनी)।।१८०-१८६।।

शुक्तिक्तकटुक्षौद्रकषायैः कवलग्रहः । धूमः प्रथमनं शुद्धिरधश्छर्दनलङ्घनम् ।।१८७।।
भोज्यं च मुखरोगेषु यथास्वं दोषनुद्धितम् । पिप्पल्यगुरुदार्वीत्वग्यवक्षाररसाञ्जनम् ।।१८८।।
पाठां तेजोवतीं पथ्यां समभागं विचूर्णयेत् । मुखरोगेषु सर्वेषु सक्षौद्रं तद्विधारयेत् ।।१८९।।
सीधुमाधवमाध्वीकैः श्रेष्ठोऽयं कवलग्रहः । तेजोह्वामभयामेलां समङ्गां कटुकां घनम् ।।१९०।।
पाठां ज्योतिष्मतीं लोध्रं दार्वीं कुष्ठं च चूर्णयेत् । दन्तानां घर्षणं रक्तस्रावकण्डूरुजापहम् ।।१९१।।
पञ्चकोलकतालीसपत्रैलामरिचत्वचः । पलाशमुष्ककक्षारयवक्षाराश्च चूर्णिताः ।।१९२।।
गुडे पुराणे द्विगुणे क्वथिते गुटिकाः कृताः । कर्कन्धुमात्राः सप्ताहं स्थिता मुष्ककभस्मनि ।।१९३।।
कण्ठरोगेषु सर्वेषु धार्याः स्युरमृतोपमाः । गृहधूमो यवक्षारः पाठा व्योषं रसाञ्जनम् ।।१९४।।
तेजोह्वा त्रिफला लोध्रं चित्रकश्चेति चूर्णितम् । सक्षौद्रं धारयेदेतद्गलरोगविनाशनम् ।।१९५।।
कालकं नाम तच्चूर्णं दन्तास्यगलरोगनुत् ।

इति कालकचूर्णम् ।

Scanned by CamScanner

मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम् ।।१९६।।
दार्वीत्वक् चेति तच्चूर्णं माक्षिकेण समायुतम् । मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् ।।१९७।।
मुखरोगेषु च श्रेष्ठं पीतकं नाम कीर्तितम् ।

इति पीतकचूर्णम् ।

मृद्वीका कटुका व्योषं दार्वीत्वक् त्रिफला घनम् ।।१९८।।
मूर्च्छितं घृतमण्डेन कण्ठरोगेषु धारयेत् । पाठा रसाञ्जनं मूर्वा तेजोह्वति च चूर्णितम् ।।१९९।।
क्षौद्रयुक्तः विधातव्यं गलरोगे भिषग्जितम् । योगास्त्वेते त्रयः प्रोक्ता वातपित्तकफापहाः ।।२००।।
कटुकातिविषापाठादार्वीमुस्तकलिङ्गकाः । गोमूत्रक्वथिताः पेयाः कण्ठरोगविनाशनाः ।।२०१।।
स्वरसः क्वथितो दार्व्या घनीभूतो रसक्रिया । सक्षौद्रा मुखरोगासृग्दोषनाडीव्रणापहा ।।२०२।।
तालुशोषे त्वतृष्णस्य सर्पिरौत्तरभक्तिकम् । नावनं मधुराः स्निग्धाः शीताश्चैव रसा हिताः ।।२०३।।
मुखपाके सिराकर्म शिरःकायविरेचनम् । मूत्रतैलघृतक्षौद्रक्षीरैश्च कवलग्रहाः ।।२०४।।
सक्षौद्राम्लिफलापाठामृद्वीकाजातिपल्लवाः । कषायतिक्तकाः शीताः क्काथाश्च मुखधावनाः ।।२०५।।

मुखरोगों की चिकित्सा–मुखरोगों में शुक्त (सिरका), तिक्त एवं कटु द्रव्यों के क्वाथ व मधु का कवल मुख में धारण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त धूमपान, प्रधमन नस्य, वमन, विरेचन एवं लङ्घन उपक्रम को भी अपनाना चाहिए। आहार के रूप में जिस दोष की वृद्धि हो, तद् दोषनाशक अन्न-पान का सेवन करना चाहिए।

पिप्पल्यादि चूर्ण–पिप्पली, अगरु, दार्वीत्वक् (देवदारु की छाल), यवक्षार, रसाञ्जन, पाठा, तेजोवर्ता, पथ्या (हरड़); प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। सभी प्रकार के मुखरोगों में मधु के साथ इस चूर्ण को मिलाकर धारण करें। अर्थात् कवल के रूप में मुख में धारण करें। इसके अतिरिक्त सीधु (spirituous liquor distilled from molasses), माधव (मधु से निर्मित मदिरा) अथवा माध्वीक (महुए के पुष्प से निर्मित मदिरा) के साथ इस चूर्ण का कवल धारण करना श्रेष्ठ होता है।

तेजोह्वादि चूर्ण–तेजोह्वा (तिमूर या नेपाली धनियाँ), अभया (हरड़), एला (इलायची), समङ्गा (मंजिष्ठा), कटुका (कुटकी), धन (मोथा), पाठा, ज्योतिष्मती, लोध्र (पठानीलोध), दार्वी (दारुहल्दी) एवं कुष्ठ (कूठ); प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का मंजन करने अथवा दांतों पर घिसने से मसूड़ों से निकलने वाला रक्तस्राव (Bleeding), कण्डू (Itching) एवं शूल (दंतशूल) दूर हो जाते हैं।

क्षार गुटिका–पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रकमूल, सोंठ (शुण्ठी), तालीसपत्र, एला (इलायची), कालीमिर्च, त्वक् (दालचीनी), पलाश वृक्ष की छाल, मुष्कक क्षार, यवक्षार; सभी द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। चूर्ण के संयुक्त मान का दूना गुड़ लेकर पकावें, गुड़ अवलेह जैसा हो जाने पर उसमें चूर्ण मिलाकर बेर के बराबर वटिकाएं बना लें। इन वटिकाओं को मुष्कक भस्म में एक सप्ताह के लिए ढक कर रख दें। सभी प्रकार के कण्ठगत रोगों में इन गोलियों के चूषने से अमृत के समान लाभ मिलता है।

कालक चूर्ण–गृहधूम (घर का धुआँ), यवक्षार, पाठा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, रसाञ्जन (रसवत), तेजोह्वा (तेजबल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र एवं चित्रकमूल। सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर मुख में धारण करें। इसके धारण करने से दंत, गले एवं मुख के रोग दूर हो जाते हैं। कालक नामक यह चूर्ण दन्त, मुख एवं गले के रोगों को दूर करने में श्रेष्ठ है।

पीतक चूर्ण–शुद्ध मनःशिला, यवक्षार, हरताल (शुद्ध), सैन्धवनमक एवं दारुहल्दी की छाल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इसमें मधु एवं घृतमण्ड मिलाकर मुख में धारण करें। इस चूर्ण का धारण कण्ठ एवं मुख के रोगों में करना चाहिए। पीतक नामक यह चूर्ण सभी प्रकार के मुखरोगों को दूर करने में श्रेष्ठ है।

मृद्वीकादि चूर्ण–घटक द्रव्य-

- मृद्वीका (मुनक्का) - १ भाग
- कटुका (कुटकी) - १ भाग
- सोंठ (शुण्ठी) - १ भाग
- कालीमिर्च - १ भाग
- पिप्पली (छोटी) - १ भाग
- दार्वीत्वक् (दारुहरिद्रा की छाल) - १ भाग
- हरड़ - १ भाग
- बहेड़ा - १ भाग
- आँवला - १ भाग
- नागरमुस्तक - १ भाग

Scanned by CamScanner

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को घृतमण्ड के साथ घोलकर कण्ठरोगों में धारण करना चाहिए अर्थात् चूर्ण का कवल धारण करने से सभी प्रकार के कण्ठ संबन्धी रोग दूर हो जाते हैं।

पाठादि चूर्ण–पाठा, रसाञ्जन, मूर्वा एवं तेजोबल; सभी द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर कण्ठगत रोगों में धारण करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ वात, पित्त एवं कफ नाशक तीन योगों, यथा-कालकचूर्ण (वातनाशक), पीतकचूर्ण (पित्तनाशक) एवं मृद्वीकादि चूर्ण (कफनाशक) का उल्लेख किया गया है।

कटुकादि क्वाथ–कटुका (कुटकी), अतिविषा (अतीस), पाठा, दारुहल्दी, मुस्तक (नागरमुस्तक) एवं इन्द्रयव; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ क्वाथ (Decoction) बना लें। रोगी को कण्ठगत रोगों में इस क्वाथ को पीने के लिए देना चाहिए।

दार्वीत्वक् रसक्रिया–दारुहल्दी का क्वाथ बनावें। पश्चात् इस क्वाथ को मन्दाग्नि पर धीरे-धीरे पकावें जब यह अवलेह जैसा गाढ़ा हो जाय तब इसमें मधु मिलाकर मुख में धारण करें। इसके प्रयोग से मुखरोग, रक्तविकार एवं नाड़ीव्रण दूर हो जाते हैं।

→ तालुशोष (Dryness of the Palate) में यदि रोगी को बहुत अधिक प्यास लगे तब भोजन करने के बाद घृत का पान कराना चाहिए, इसके साथ-साथ घृत का नस्य लें। भोजन के रूप में स्निग्ध, शीत एवं मधुर रस युक्त अन्न के साथ मांसरस का प्रयोग करना चाहिए।

→ मुखपाक (Stomatitis) में सिराकर्म (सिरावेध), कायविरेचन (विरेचन) व शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कवलग्रह (मुख में धारण के लिए) के रूप में गोमूत्र, तैल, घृत, मधु एवं गोदुग्ध का प्रयोग करना चाहिए। मुख धावन (Mouth wash) हेतु-हरड़, बहेड़ा, आँवला, पाठा, मृद्वीका एवं चमेली पत्र से निर्मित क्वाथ में मधु मिलाकर प्रयोग करें, अर्थात् इन द्रव्यों के क्वाथ से मुख को धोवें। इसके अतिरिक्त जो द्रव्य कषाय, तिक्त एवं शीत वीर्य वाले हैं, उनके क्वाथ में मधु मिलाकर मुख धावन हेतु प्रयोग किया जा सकता है।

चक्रपाणि–'शुक्तेत्यादि' के द्वारा मुखरोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। अर्थात् मुखरोगों की चिकित्सा में सिरके, तिक्त व कटु रस वाले द्रव्यों के क्वाथ में मधु मिलाकर कवल ग्रह (मुख में धारण) करना चाहिए। इसके साथ ही धूमपान, प्रधमन नस्य, विरेचन, वमन एवं लङ्घन उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

शुद्धिरध इति–अधः शुद्धि से यहाँ विरेचन अर्थ लिया गया है। दार्वीत्वक्=दारुहल्दी की छाल। रुजापहमिति=व्याधि की पीड़ा (कष्ट) को दूर करने वाला, अर्थात् व्याधि को नष्ट करने वाला।

पञ्चकोलेत्यादौ चूर्णसमुदायाद्गुडो द्विगुणः–पिप्पली - १ भाग, पिप्पलीमूल - १ भाग, चव्य - १ भाग, चित्रकमूल - १ भाग, शुण्ठी (सोंठ) - १ भाग [इन द्रव्यों के मिश्रित चूर्ण - ५ भाग] गुड़ - १० भाग लें। अर्थात् पञ्चकोल से दूनी मात्रा में गुड़ का ग्रहण करें। कर्कन्धूमात्रा इति अष्टमाषकमानाः = ८ माशा। कुछ आचार्य कालक चूर्ण के घटक द्रव्यों में रोध्र के स्थान पर लोह का पाठ करते हैं। शालाक्य तन्त्र में कहा भी गया है, यथा-"पाठा रसाञ्जनं व्योषं तेजोह्वा त्रिफलाऽग्निकः। गृहधूमो यवक्षारो शस्त्रं चूर्णं तु कालकम्" इति [पाठा, रसाञ्जन, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, तेजोह्वा (तेजोवती), हरड़, बहेड़ा, आँवला, अग्निक (चित्रकमूल), गृहधूम, यवक्षार एवं लोहचूर्ण; सभी द्रव्य एक-एक भाग लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को कालक चूर्ण कहते हैं।]

वातपित्तकफापहा इति प्रत्येकमेव कालादयस्त्रयो योगास्त्रिदोषहराः–कालक चूर्ण, पीतक चूर्ण एवं मृद्वीकादि चूर्ण; ये तीनों योग अलग-अलग त्रिदोषनाशक होते हैं।

रसक्रियेति घनीभूतरसस्य संज्ञा–क्वाथ या रस (स्वरस) को पकाकर अवलेह के समान गाढ़ा बनाना **रसक्रिया** कहलाता है। यहाँ दारुहल्दी के क्वाथ को पकाकर अवलेह जैसा बनाने का निर्देश है। इस दारुहल्दी के **रसक्रिया** में मधु मिलाकर मुख में धारण करना चाहिए।

तालुशोषे इत्यादौ अतृष्णस्येतिपदेन तृष्णायुक्तस्य तालुशोषे औत्तरभक्तिकमपि सर्पिःपानं निषेधयति–यहाँ 'अतृष्णस्य' के स्थान पर पाठ भेद से 'सतृष्णस्य' प्राप्त होता है। सामान्यतया तृष्णायुक्त तालुशोष में भोजन के बाद घृतपान का निषेध है, यथा-तालुशोष में - "तृष्णामूर्च्छापरीताश्च गर्भिण्यश्तालुशोषिणः" (सू.अ. १३) इत्यादि के द्वारा यद्यपि स्नेहपान का निषेध किया गया है फिर भी यहाँ भोजनोत्तर सर्पिःपान (घृतपान) का विशेष विधान है, ऐसा समझना चाहिए। सिराकर्म से सिरावेध अर्थ गृहीत है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार तालुशोष में रोगी के तालु एवं जिह्वा में सिरावेध करना चाहिए। ॥१८७-२०५॥

तुलां खदिरसारस्य द्विगुणामरिमेदसः। प्रक्षाल्य जर्जरीकृत्य चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥२०६॥
द्रोणशेषं कषायं तं पूत्वा भूयः पचेच्छनैः। ततस्तस्मिन् घनीभूते चूर्णीकृत्याक्षभागिकम् ॥२०७॥
चन्दनं पद्मकोशीरं मञ्जिष्ठा धातकी घनम्। प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वत्वगेलापद्मकेशरम् ॥२०८॥

Scanned by CamScanner

लाक्षां रसाञ्जनं मांसीत्रिफलालोध्रवालकम् । रजन्यौ फलिनीमेलां समङ्गां कट्फलं वचाम् ।।२०९।।
यवासागुरुपत्तङ्गैरिकाञ्जनमावपेत् । लवङ्गनखकक्कोलजातिकोशान् पलोन्मितान् ।।२१०।।
कर्पूरकुडवं चापि क्षिपेच्छीतेऽवतारिते । ततस्तु गुटिकाः कार्याः शुष्काश्चास्येन धारयेत् ।।२११।।
तैलं चानेन कल्केन कषायेण च साधयेत् । दन्तानां चलनभ्रंशशौशिर्यक्रिमिरोगनुत् ।।२१२।।
मुखपाकास्यदौर्गन्ध्यजाड्यारोचकनाशनम् । स्रावोपलेपपैच्छिल्यवैस्वर्यगलशोषनुत् ।।२१३।।
दन्तास्यगलरोगेषु सर्वेष्वेतत् परायणम् । खदिरादिगुटीकेयं तैलं च खदिरादिकम् ।।२१४।।
इति खदिरादिगुटिका तैलं च ।

खदिरादि गुटिका एवं तैल–

खदिरसार - १ तुला (१०० पल)

अरिमेद (विट्खदिर) - २ तुला (२०० पल)

इन दोनों द्रव्यों को साफ सुथरा करके पानी से धो लें, पश्चात् छोटे-छोटे टुकड़े करके यवकुट कर लें। अब यवकुट किये हुए द्रव्य (खदिरसार + अरिमेद) को ४ द्रोण जल के साथ पकावें। पकते-पकते जब द्रव चतुर्थांश शेष बचे तब इसे अग्नि पर से उतार कर छान लें। अब इस छने हुए क्वाथ रस को पुनः पकाकर गाढ़ा करें। इस अवलेह जैसे (गाढ़े) क्वाथ में अधोलिखित द्रव्यों के चूर्ण १-१ तोले की मात्रा में मिला दें - चन्दन, पद्मकाठ, उशीर (खस), मञ्जिष्ठा (मजीठ), धातकी, घन (नागरमुस्तक), प्रपौण्डरीक (पुण्डरिया काठ), यष्टीमधु (मुलेठी), त्वक् (दालचीनी), एला (छोटी इलायची), पद्मकेशर, लाक्षा, रसाञ्जन, जटामांसी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र (पठानीलोध्र), वालक (सुगन्धबाला), हल्दी, दारुहल्दी, फलिनी (प्रियङ्गु), बृहद् एला (बड़ी इलायची), समङ्गा (लज्जालु), कट्फल, वचा, यवासा, अगरु, पत्तङ्ग, गैरिक, शुद्ध अञ्जन। (इन द्रव्यों के चूर्ण को स्वरस द्वारा निर्मित अवलेह में मिलावें)

इसके बाद जब अवलेह ठण्ढा हो जाय तब उसमें लवङ्ग, नखी, शीतलचीनी एवं जावित्री का चूर्ण १-१ पल एवं कर्पूरचूर्ण - ४ पल मिलाकर छोटी-छोटी वटिकाएं बना लें। इस वटी को छाया में सुखाकर चौड़े मुख के कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। इस गुटिका को मुख में रखकर चूषना चाहिए।

इसी प्रकार खदिरसार एवं अरिमेद (इरिमेद) के क्वाथ में चन्दनादि द्रव्यों के कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करें।

उपयोग–खदिरादि गुटिका एवं खदिरादि तैल के सेवन से अधोलिखित व्याधियाँ दूर हो जाती हैं–

१. दंत चलन (दाँतों का हिलना) (Looseness of teeth)

२. दंतभ्रंश एवं दंतशौषिर्य (Displacement and porosity of teeth)

३. दंतकृमि (Dental carries), मुखपाक (Stomatitis)।

४. मुख से दुर्गन्ध का निकलना (Foul odour from the mouth)

५. मुख जाड्यता (मुख में स्वाद का ज्ञान न होना)।

६. अरोचक (Anorexia), मुख से कफ का स्राव होना (excessive salivation) व मुखोपलेप (मुख का कफ से लिप्त रहना) का होना।

७. मुखपैच्छिल्यता (मुख में चिपचिपाहट का होना)।

८. स्वरभेद (गले का बैठ जाना-Hoarseness of the voice)

९. गले में शुष्कता का अनुभव होना (Dryness of the throat)

इस प्रकार दन्त, मुख एवं गले में होने वाली सभी व्याधियों को खदिरादि गुटिका एवं तैल दूर करता है। इन व्याधियों को नष्ट करने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी औषधि नहीं है।

चक्रपाणि–'तुलामित्यादि' के द्वारा खदिरादि गुटिका की निर्माण विधि को बताया गया है। **द्विगुणामरिमेदस इति**-अरिमेद से विट्खदिर का ग्रहण करना चाहिए। इसकी मात्रा २ तुला (२०० पल) लें। पत्तङ्ग = रक्तचन्दन। लवङ्ग आदि द्रव्य प्रत्येक १-१ पल ग्रहण करें।

दन्तास्यगलरोगाः शालाक्योक्ता ज्ञेयाः–'दन्तास्यगलरोगाः' से शालाक्यतन्त्र में वर्णित दन्तरोग, मुखरोग एवं गले के रोगों का ग्रहण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

परायणमिति परमयनं श्रेष्ठं भेषजमिति यावत्–दन्त, मुख एवं गले के रोगों को दूर करने के लिए खदिरादि गुटिका एवं तैल श्रेष्ठ औषधि स्वीकार की गयी है। इस प्रकार यहाँ मुखरोगों की चिकित्सा का विवेचन किया गया। ॥२०६-२१४॥

अरुचौ कवलग्राहा धूमाः समुखधावनाः। मनोज्ञमन्नपानं च हर्षणाश्वासनानि च ॥२१५॥
कुष्ठसौवर्चलाजाजीशर्करामरिचं विडम्। धात्र्येलापद्मकोशीरपिप्पल्युत्पलचन्दनम् ॥२१६॥
लोध्रं तेजोवती पथ्या त्र्यूषणं सयवाग्रजम्। आर्द्रदाडिमनिर्यासश्चाजाजीशर्करायुतः ॥२१७॥
सतैलमाक्षिकास्त्वेते चत्वारः कवलग्रहाः। चतुरोऽरोचकान् हन्युर्वाताद्येकजसर्वजान् ॥२१८॥
कारवीमरिचाजीद्राक्षावृक्षाम्लदाडिमम्। सौवर्चलं गुडः क्षौद्रं सर्वारोचकनाशनम् ॥२१९॥
वस्तिं समीरणे, पित्ते विरेकं, वमनं कफे। कुर्याद्बुद्ध्यानुकूलानि हर्षणं च मनोऽजे ॥२२०॥
इत्यरोचकचिकित्सा।

अरोचक रोग की चिकित्सा (Treatment of Anorexia)–इस व्याधि में चिकित्सक को कवलग्रह, धूमपान, मुख धावन, मनोनुकूल अन्न-पान का सेवन, हर्षण एवं आश्वासन (रोगी को आश्वासन देना) के द्वारा व्याधि को दूर करने का प्रयारा करना चाहिए।

कवलग्रह का प्रयोग–

१. कूठ, सौवर्चल लवण (काला नमक), अजाजी (जीरा), शर्करा (चीनी), कालीमिर्च एवं विड्लवण (नौसादर-नरसार)।
२. धात्री (आमलकी), एला (छोटी इलायची), पद्म (कमल), उशीर (खस), पिप्पली, उत्पल (नीलकमल) एवं चन्दन ।
३. लोध्र (पठानी लोध्र), तेजोवती, पथ्या (हरड़), सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली व यवक्षार।
४. आर्द्रक स्वरस, दाडिम स्वरस, अजाजी (जीरा) एवं शर्करा (चीनी)।

ये चार योग अलग-अलग बताये गये हैं। इनमें मधु व तैल (तिल तैल) मिलाकर मुख में धारण करना चाहिए। ये योग क्रमशः वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज अरोचक का नाश करते हैं।

अरोचक नाशक वटी–घटक द्रव्य-कारवी (मगरैल) - १ भाग, कालीमिर्च - १ भाग, अजाजी (जीरा) - १ भाग, द्राक्षा (मुनक्का) - १ भाग, वृक्षाम्ल - १ भाग, दाडिम के बीज - १ भाग, सौवर्चल नमक - १ भाग, गुड़ - १ भाग, शहद (मधु) - १ भाग।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कूट पीस कर वटी बना लें। इस वटी को छाया में सुखाकर चौड़े मुख के कांच के पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें। इस वटी का सेवन सभी प्रकार के अरोचक में करना चाहिए।

अरोचक चिकित्सासूत्र–वातज अरुचि में बस्ति, पित्तज अरुचि में विरेचन, कफज अरुचि में वमन का प्रयोग कराना चाहिए। मनोविघात से होने वाले अरोचक में मन को प्रसन्न करने वाली तथा हृदय के लिए हितकारी अन्न-पान की योजना करनी चाहिए।

चक्रपाणि–'अरुचावित्यादि' के द्वारा अरोचक की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। कुष्ठ इत्यादि के द्वारा आधे-आधे श्लोक में ४ योग बताये गये हैं, जो क्रमशः वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज अरोचक को दूर करते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

कर्णशूले तु वातघ्नी हिता पीनसवत् क्रिया। प्रदेहाः पूरणं नस्यं पाकस्रावे व्रणक्रियाः ॥२२१॥
भोज्यानि च यथादोषं कुर्यात् स्नेहांश्च पूरणान्। हिङ्गुतुम्बरुशुण्ठीभिस्तैलं तु सार्षपं पचेत् ॥२२२॥
एतद्धि पूरणं श्रेष्ठं कर्णशूलनिवारणम्। देवदारुवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥२२३॥
तैलं सिद्धं बस्तमूत्रे कर्णशूलनिवारणम्। वराटकान् समाहृत्य दहेन्मृद्भाजने नवे ॥२२४॥
तद्भस्म श्रोतयेत्तेन गन्धतैलं विपाचयेत्। रसाञ्जनस्य शुण्ठ्याश्च कल्काभ्यां कर्णशूलनुत् ॥२२५॥
शुष्कमूलकशुण्ठानां क्षारो हिङ्गु महौषधम्। शतपुष्पा वचा कुष्ठं दारु शिग्रु रसाञ्जनम् ॥२२६॥
सौवर्चललवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्। भूर्जग्रन्थिबिडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम् ॥२२७॥
मातुलुङ्गरसश्चैव कदल्या रस एव च। सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैः क्षारतैलं विपाचयेत् ॥२२८॥
बाधिर्यं कर्णनादश्च पूयस्रावश्च दारुणः। क्रिमयः कर्णशूलं च पूरणादस्य नश्यति ॥२२९॥
मुखकर्णाक्षिरोगेषु यथोक्तं पीनसे विधिम्। कुर्याद्भिषक् समीक्ष्यादौ दोषकालबलाबलम् ॥२३०॥
इति कर्णरोगचिकित्सा।

कर्णरोग चिकित्सा–कर्णशूल (Earache) में प्रतिश्याय के समान वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वातनाशक द्रव्यों के प्रदेह (प्रलेप), वातनाशक द्रव्यों से साधित तैल का कर्णपूरण (कानों में भरना) एवं नस्य करना चाहिए। कर्णपाक एवं कर्णस्राव में व्रणनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। आहार के रूप में तद्-तद् दोषनाशक अन्न-पान का प्रयोग करें अर्थात् जिस दोष का प्रकोप हो उस दोषनाशक आहार-विहार का सेवन करना चाहिए। साथ में कानों में व्रणरोपणतैल डालना चाहिए।

Scanned by CamScanner

कर्णशूलनाशक तैल

१. हिंग्वादि तैल–हींग, तुम्बरु (नेपाली धनियाँ), शुण्ठी (सोंठ); प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग लेकर कल्क बना लें। इस कल्क के द्वारा सरसो के तैल को सिद्ध करें। इस तैल का कर्णपूरण करने से कर्णशूल विनष्ट हो जाता है। यह तैल कर्णपूरण में श्रेष्ठ होता है।

२. देवदार्वादि तैल–देवदारु, वचा, शुण्ठी (सोंठ), शताह्वा (सोया), कूठ एवं सैन्धव नमक; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। कल्क-१/४ भाग, सरसो का तैल - १ भाग, बकरे का मूत्र - ४ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध कर लें। इस तैल को कान में डालने से सभी प्रकार के कर्णशूल दूर हो जाते हैं।

३. गन्धतैल–साफ सुथरी पुष्ट वराटिका (कौड़ी) को लेकर शराव (परई) में भरकर इसके ऊपर दूसरी शराव (परई) से ढक दें। अब कपड़मिट्टी लगाकर संधिबन्धन कर दें एवं बन्धन को सुखा लें। अब इसे कण्डे की आग में फूंक (जला) दें, अर्थात् फूंक कर भस्म बना लें। इस भस्म से क्षारोदक या क्षारजल तैयार करें। इसमें (क्षारोदक में) रसौत एवं सोंठ का कल्क डालकर तिलतैल सिद्ध करें। अन्त में सुगन्धित द्रव्यों को मिलाकर इस तैल को सुगन्धित कर लें। इस तैल का प्रयोग कर्णशूल में कर्णपूरण के रूप में करना चाहिए, अर्थात् कानों में इस तैल को डालने से कान का दर्द दूर हो जाता है।

४. क्षारतैल–शुष्क मूली का क्षार, हींग; महौषध (सोंठ), शतपुष्पा (सोया), वचा, कूठ, दारु (देवदारु), शिग्रु (सहिजन की छाल), रसाञ्जन (रसवत), सौवर्चल लवण (कालानमक), यवक्षार, स्वर्जिका क्षार (सज्जीक्षार), औद्भिद नमक, सैन्धवलवण, भोजपत्र की गांठ, विड् नमक (नौसादर), नागरमुस्तक; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क (Paste) बना लें।

कल्क - १/४ भाग, तिल तैल - १ भाग, मधुशुक्त - ४ भाग, केले (कदली) के तने का स्वरस - १ भाग, बिजौरा नीबू का रस - १ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें। [सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को ठण्डा करके छान लें एवं बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें।]

उपयोग–इस तैल का कर्णपूरण (कानों में डालना) करने से अधोलिखित व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं–

१. कर्णवाधिर्य (deafness)
२. कर्णनाद (Tinnitus)
३. दारुण कर्णपूय एवं कर्णस्राव (Serious type of pus discharge from the ears)
४. कर्णकृमि (Parasitic infestation of the ears)
५. कर्णशूल (Earache)

इस प्रकार मुख, कर्ण एवं अक्षि (नेत्र) रोगों में सर्वप्रथम दोष एवं काल के बलाबल का विचार करते हुए प्रतिश्याय चिकित्सा विधि का ही पालन करना चाहिए।

चक्रपाणि–वराटकानित्यादौ तद्भस्मेति वराटकदाहभस्म-वराटिका (कौड़ी) को जलाकर तैयार की हुई भस्म। **श्च्योतयेत् गालयेत्**-पिघलाना चाहिए, अर्थात् भस्म से क्षारोदक तैयार करें।

गंधतैलमिति सुगन्धद्रव्यकल्कयुक्तं तैलं-सुगन्धित द्रव्यों के कल्क से युक्त तैल अथवा गन्ध द्रव्यों के साथ तिल को पेरकर निकाला गया तैल 'गन्धतैल' कहलाता है। शुष्कमूलक इत्यादि से वर्णित क्षारतैल में 'मधुशुक्तं चतुर्गुणं' पाठ है, जिससे अनुसार मधुशुक्त (मधु प्रधान शुक्त) - स्नेह का ४ गुना ग्रहण करना चाहिए। शुक्त को यहाँ- **''यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रनागरम्। धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते''** इति, के द्वारा बताया गया है। [एक साफ सुथरे घड़े में तक्र, गुड़, मधु एवं नागर (शुण्ठी) चूर्ण डालकर संधिबन्धन करके तीन दिन के लिए धान्य की राशि में रख दें। तीन दिन के बाद घड़े का मुख खोलकर शुक्त को निकालें एवं प्रयोग करें, इसे चुक्र भी कहते हैं।] **मातुलुङ्ग कदलीरसौ तेलसमौ**-बिजौरा नीबू का स्वरस व केले के तने का स्वरस दोनों की मात्रा अलग-अलग स्नेह की मात्रा के बराबर होना चाहिए।

कुछ आचार्य **'मधुशुक्त'** से मधु एवं शुक्त (सिरका) दोनों का ही ग्रहण करते हैं, तब मधु की मात्रा तैल की मात्रा के बराबर एवं शुक्त, तैल का चार गुना ग्रहण करते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं है। आचार्य **जतूकर्ण** इस तैल के निर्माण में मधु का पाठ नहीं करते, क्योंकि मधु का ग्रहण शुक्त से ही हो जाता है। कहा भी है, यथा– मूलकभस्मशताह्वाद्विक्षारवचाचतुर्लवणकुष्ठदारुरसाञ्जननागर-शोभाञ्जनहिङ्गुघनभूर्जैर्मातुलुङ्गकदलीरसैश्चतुर्गुणशुक्तैस्तैलं विपक्वं श्रुतिनादबाधिर्यशूलजन्तुघ्नम्'' इति [आचार्य जतूकर्ण के अनुसार क्षारतैल के निर्माण हेतु-मूली का भस्म, सोया, यवक्षार, सज्जीक्षार, वचा, चारो प्रकार के नमक (सैन्धव, सौवर्चल, विड् एवं औद्भिद), कूठ, देवदारु, रसाञ्जन, नागर (सोंठ), शोभाञ्जन (सहिजन), हींग, घन (नागरमुस्तक) एवं भोजपत्र; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर कल्क बनावें, कल्क - १/४ भाग, बिजौरा नीबू का रस - १ भाग, केले के तने का रस (स्वरस) - १ भाग, शुक्त - ४ भाग, तिल तैल - १ भाग।

Scanned by CamScanner

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध कर लें। इस तैल को कान में डालने या पूरण करने से कर्णनाद, कर्णबाधिर्य, कर्णशूल एवं कर्णकृमि रोग दूर हो जाते हैं] ॥२२१-२३०॥

उत्पन्नमात्रे तरुणे नेत्ररोगे बिडालकः । कार्यो दाहोपदेहाश्रुशोफरागनिवारणः ।।२३१।।
नागरं सैन्धवं सर्पिर्मण्डेन च रसक्रिया । निघृष्टं वातिके तद्वन्मधुसैन्धवगैरिकम् ।।२३२।।
तथा शावरकं लोध्रं घृतभृष्टं बिडालकः । तद्वत् कार्यो हरीतक्या घृतभृष्टो रुजापहः ।।२३३।।
पैत्तिके चन्दनानन्तामञ्जिष्ठाभिर्बिडालकः । कार्यः पद्मकयष्ट्याह्वमांसीकालीयकैस्तथा ।।२३४।।
गैरिकं सैन्धवं मुस्तं रोचना च रसक्रिया । कफे कार्या तथा क्षौद्रं प्रियङ्गुः समनःशिला ।।२३५।।
सन्निपाते तु सर्वैः स्याद्बहिरक्ष्णोः प्रलेपनम् । पक्ष्माण्यस्पृश्यता कार्यं संपक्के त्वञ्जनं त्र्यहात् ।।२३६।।
आश्च्योतनं मारुतजे क्वाथो बिल्वादिभिर्हितः । कोष्णः सैरण्डतकारीबृहतीमधुशिग्रुभिः ।।२३७।।
पृथ्वीकादार्विमञ्जिष्ठालाक्षाद्विमधुकोत्पलैः । क्वाथः सशर्करः शीतः पूरणं रक्तपित्तनुत् ।।२३८।।
नागरत्रिफलामुस्तनिम्बवासारसः कफे । कोष्णमाश्च्योतनं मिश्रैरोषधैः सान्निपातके ।।२३९।।
बृहत्येरण्डमूलत्वक् शिग्रोः पुष्पं ससैन्धवम् । अजाक्षीरेण पिष्टं स्याद्वर्तिर्वाताक्षिरोगनुत् ।।२४०।।
सुमनःकोरकाः शङ्खखिफला मधुकं बला । पित्तरक्तापहा वर्तिः पिष्टा दिव्येन वारिणा ।।२४१।।
सैन्धवं त्रिफला व्योषं शङ्खनाभिः समुद्रजः । फेनः शैलेयकं सर्जो वर्तिः श्लेष्माक्षिरोगनुत् ।।२४२।।
अमृताह्वा बिसं बिल्वं पटोलं छागलं शकृत् । प्रपौण्डरीकं यष्ट्याह्वं दार्वी कालानुसारिवा ।।२४३।।
एषामष्टपलान् भागान् सुथौताञ्जर्जरीकृतान् । तोये पक्त्वा रसे पूते भूयः पक्के रसे घने ।।२४४।।
कर्षं च श्वेतमरिचाज्जातीपुष्पान्नवात् पलम् । चूर्णं क्षिप्त्वा कृता वर्तिः सर्वघ्नी दृक्प्रसादनी ।।२४५।।
शङ्खप्रवालवैदूर्यलोहताम्रप्लवास्थिभिः । स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ।।२४६।।
शाणार्धं मरिचाद्वौ च पिप्पल्यर्णवफेनयोः । शाणार्धं सैन्धवाच्छाणा नव सौवीरकाञ्जनात् ।।२४७।।
पिष्टं सुसूक्ष्मं चित्रायां चूर्णाञ्जनमिदं शुभम् । कण्डूकाचकफार्तानां मलानां च विशोधनम् ।।२४८।।
बस्तमूत्रे त्र्यहं स्थाप्यमेलाचूर्णं सुभावितम् । चूर्णाञ्जनं हि तैमिर्यक्रिमिपिल्लमलापहम् ।।२४९।।
सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला । चक्षुष्या मधुकं लोहा मणयः पौष्पमञ्जनम् ।।२५०।।
सैन्धवं शौकरी दंष्ट्रा कतकं चाञ्जनं शुभम् । तिमिरादिषु चूर्णं वा वर्तिर्वेयमनुत्तमा ।।२५१।।
कतकस्य फलं शङ्खः सैन्धवं त्र्यूषणं सिता । फेनो रसाञ्जनं क्षौद्रं विडङ्गानि मनःशिला ।।२५२।।
कुक्कुटाण्डकपालानि वर्तिरेषा व्यपोहति । तिमिरं पटलं काचं मलं चाशु सुखावती ।।२५३।।

इति सुखावती वर्तिः ।

त्रिफलाकुक्कुटाण्डत्वक्कासीसमयसो रजः । नीलोत्पलं विडङ्गानि फेनं च सरितां पते ।।२५४।।
आजेन पयसा पिष्ट्वा भावयेत्ताम्रभाजने । सप्तरात्रं स्थितं भूयः पिष्ट्वा क्षीरेण वर्तयेत् ।।२५५।।
एषा दृष्टिप्रदा वर्तिरन्यस्याभिन्नचक्षुषः ।

इति दृष्टिप्रदा वर्तिः ।

वदने कृष्णसर्पस्य निहितं मासमञ्जनम् ।।२५६।।
ततस्तस्मात् समृद्धृत्य सुशुष्कं चूर्णयेद्बुधः । सुमनःकोरकैः शुष्कैरर्धांशैः सैन्धवेन च ।।२५७।।
एतन्नेत्राञ्जनं कार्यं तिमिरघ्नमनुत्तमम् । पिप्पल्यः किंशुकरसो वसा सर्पस्य सैन्धवम् ।।२५८।।
जीर्णं घृतं च सर्वाक्षिरोगघ्नी स्याद्रसक्रिया । कृष्णसर्पवसा क्षौद्रं रसो धात्र्या रसक्रिया ।।२५९।।
शस्ता सर्वाक्षिरोगेषु काचार्बुदमलेषु च । धात्रीरसाञ्जनक्षौद्रसर्पिर्भिस्तु रसक्रिया ।।२६०।।
पित्तरक्ताक्षिरोगघ्नी तैमिर्यपटलापहा । धात्रीसैन्धवपिप्पल्यः स्युरल्पमरिचाः समाः ।।२६१।।
क्षौद्रयुक्ता निहन्त्यान्ध्यं पटलं च रसक्रिया ।

इति नेत्ररोगचिकित्सा ।

नेत्ररोग चिकित्सा (Treatment of Eye-diseases)–नेत्ररोग के तत्काल उत्पन्न होते ही दाह (Burning sensation), उपलेह (Mucous discharge), अश्रु (Lachrymation), शोथ (Swelling) एवं राग (Redness) को दूर करने वाले बिडालक का प्रयोग करना चाहिए। [बिडालक-"शालाक्येऽक्ष्णोः बहिर्दत्तो लेपो बिडालको मतः" आँख के आसपास चारो ओर जो लेप किया जाता है उसे 'बिडालक' कहते हैं- Application of ointment to the eye, आँखों के ऊपर लगाया जाने वाला लेप, यह लेप आँख को बन्द करके लगाते हैं।]

१. वातज नेत्ररोग नाशक बिडालक–(क) नागर (शुण्ठी), सैन्धव लवण एवं सर्पिःमण्ड (घृत के ऊपर का भाग); तीनों द्रव्यों को मिलाकर रसक्रिया (अवलेह) जैसा बना लें। इसका लेप नेत्रों पर लगावें।

Scanned by CamScanner

(ख) मधु, सैन्धव लवण एवं गैरिक चूर्ण का लेप नेत्रों पर करें।

(ग) सफेद लोध्रचूर्ण को घृत में भून लें एवं इसका बिडालक के रूप में प्रयोग करें।

(घ) हरीतकी चूर्ण में घृत को मिलाकर नेत्रों पर लेप करें। (हरीतकी चूर्ण को घृत में भुनने के पश्चात् थोड़ा घृत मिलाकर लेप बनावें)

ये चारो योग नेत्रगत पीड़ा को दूर करते हैं।

२. पित्तज नेत्ररोगनाशक बिडालक–

(क) चन्दन, अनन्तमूल व मञ्जिष्ठा, । (ख) पद्मकाठ, यष्टीमधु (मुलेठी), जटामांसी एवं कालीयक।

यहाँ दो योग बताये गये हैं। इन्हें ठण्ढे जल के साथ पीसकर बिडालक के रूप में नेत्रों पर लगावें।

३. कफज नेत्ररोगनाशक बिडालक–

(क) गैरिक (गेरू), सैन्धव नमक, मुस्तक, गोरोचन; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर मधु अथवा जल के साथ पीसकर नेत्रों पर लेप करें।

(ख) मधु, मैनशिल (शुद्ध मनःशिला) एवं प्रियङ्गु; से निर्मित लेप को नेत्रों पर लगावें।

४. सन्निपातज नेत्ररोग में बिडालक–सन्निपातज नेत्ररोग में जिस दोष की उल्वणता (प्रमुखता) हो तद् दोषनाशक बिडालक का प्रयोग पक्ष्म (बरौनियों) को बचाते हुए करना चाहिए। दोषों के पक्व हो जाने पर तीन-तीन दिन पर अञ्जन का प्रयोग करें।

[दोषों की पक्वता से यहाँ व्याधि की समाप्ति अर्थ गृहीत है।]

नेत्र रोगों में आश्च्योतन का प्रयोग–

- **वातज नेत्ररोग में**–एरण्ड की जड़, तर्कारी (अग्निमन्थ या अरणी), बृहती (वनभण्टा), मधुशिग्रु (मीठा सहिजन), बिल्व की छाल, श्योनाक, अग्निमन्थ, पाटला एवं गम्भारी; इन द्रव्यों से निर्मित गुनगुने क्वाथ (Decoction) का नेत्रों में आश्च्योतन करना चाहिए। [आश्च्योतन-उन्मीलिते दृङ्मध्ये क्वाथक्षौद्रासवस्नेहबिन्दूनां पातनं आश्च्योतनम्-औषधियों के क्वाथ, मधु, आसव, तैल एवं घृत की बूंदों को आँखों में डालना 'आश्च्योतन' कहलाता है।]
- **पित्तज नेत्ररोग** में पृथ्वीका (मगरैला - कलौंजी), दारुहल्दी, मजीठ, कच्ची लाख, दोनों प्रकार के यष्टीमधु (आनूप यष्टीमधु एवं स्थलज यष्टीमधु) एवं उत्पल (नीलकमल); इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित क्वाथ में शर्करा मिलावें एवं शीतल कर लें। इस शीतल शर्करा मिश्रित क्वाथ को आँखों में डालने से रक्तज एवं पित्तज विकार नष्ट हो जाते हैं।
- **कफज नेत्ररोग** में शुण्ठी (सोंठ), हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुस्तक, नीमपत्र, वासापत्र; इन द्रव्यों के क्वाथ अथवा स्वरस को गुनगुना करके आँखों में डालें।
- **सन्निपातज नेत्ररोग** में वातादि नाशक औषधियों के क्वाथ की मिश्रित रूप से योजना करनी चाहिए।

वर्ति का प्रयोग–

बृहत्यादिवर्ति–बृहती (बड़ी कटेरी), एरण्डमूलत्वक्, सहिजन के पुष्प एवं सैन्धव नमक; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर वर्ति बना लें एवं छाया में सुखा लें। इस वर्ति को बकरी के दूध के साथ घिसकर नेत्रों में लगावें। इसके प्रयोग से समस्त वातज नेत्ररोग दूर हो जाते हैं।

सुमनःकोरकादिवर्ति–चमेली की पत्ती (कली), शंखभस्म, हरड़, बहेड़ा, आँवला, यष्टीमधु, बला (बरियार की जड़); इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर वर्ति बनाकर छाया शुष्क कर लें। इस वर्ति को दिव्य जल (आकाशीय जल) के साथ घिसकर नेत्रों में लगाने से सभी प्रकार के पित्तज एवं रक्तज नेत्ररोग दूर हो जाते हैं।

सैन्धवादि वर्ति– सैन्धव नमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, कालीमिर्च, शङ्खनाभि, समुद्रफेन, शैलेयक एवं सर्ज (राल); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर वर्ति वना लें एवं छाया में सुखा लें। इस वर्ति को जल के साथ घिस कर नेत्रों में लगाने से कफज नेत्ररोग दूर हो जाते हैं।

Scanned by CamScanner

अमृताद्यादि वर्ति–	अमृता (गुडूची)	-	१ भाग	सभी द्रव्यों को साफ-सुथरा करके छोटे-छोटे टुकड़े करके चतुर्गुण जल के साथ पकावें, कुल मात्रा (८ पल)
	बिस (कमलनाल)	-	१ भाग	
	बिल्व की छाल	-	१ भाग	
	पटोल पत्र (परवल की पत्ती)	-	१ भाग	
	बकरी की लेंड़ी	-	१ भाग	
	पुण्डरिया काठ	-	१ भाग	
	यष्टीमधु (मुलेठी)	-	१ भाग	
	दारुहल्दी	-	१ भाग	
	कालानुसारिवा (अनन्तमूल)	-	१ भाग	

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें। जब क्वाथ तैयार हो जाय तब उसे एक साफ सुथरे मारकीन के कपड़े से छानकर अलग पात्र में रख लें। इस अलग छने हुए क्वाथ को पुनः पकाकर गाढ़ा करें। अच्छी प्रकार से गाढ़ा हो जाने पर उसमें श्वेतमरिच (सहिजन का बीज) - १ कर्ष (तोला) व नूतन जाती (चमेली) पुष्प - १ पल का कपड़छन चूर्ण मिलाकर वर्ति बनाकर, छाया में सुखा लें। इस वर्ति को घिसकर नेत्रों में लगाने से सभी प्रकार के नेत्ररोग (वातज, पित्तज, कफज एवं सन्निपातज) प्रशमित हो जाते हैं एवं व्यक्ति की दृष्टि निर्मल हो जाती है।

शङ्खादिवर्ति–शङ्खभस्म, प्रवालभस्म, वैदूर्यभस्म, लौहभस्म, ताम्रभस्म, प्लव पक्षी की अस्थि की भस्म, स्रोतोञ्जन एवं सहिजन का बीज; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीस कर वर्ति बना लें एवं इसे छाया में सुखा लें। इस वर्ति को जल के साथ घिसकर आँखों में लगाने से सभी प्रकार के नेत्ररोग दूर हो जाते हैं।

नेत्र रोगों में अञ्जन का प्रयोग–

चूर्णाञ्जन–	कालीमिर्च	-	अर्ध शाण (२ माशा)
	पिप्पली	-	एक शाण (४ माशा)
	समुद्रफेन	-	अर्ध शाण (२ माशा)
	सैन्धव लवण	-	अर्धशाण (२ माशा)
	सौवीराञ्जन (काला सुरमा)	-	९ शाण (३ तोला)

चित्रानक्षत्र में निर्दिष्ट द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर श्लक्ष्ण पीसकर चूर्ण बना लें। इस शुभ चूर्णाञ्जन का प्रयोग - नेत्रगत कण्डू (Itching), काचरोग एवं कफज नेत्र रोगों में अञ्जन के रूप में करें। इसके प्रयोग से ये व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

→ छोटी इलायची को बकरे के मूत्र में तीन दिन तक भावित करके सुखा लें। इसके बाद चूर्ण बनाकर सुरक्षित रख लें। इस **चूर्णाञ्जन** को आँखों में लगाने से तिमिर (A type of cataract), कृमि (Parasitic infestation), पिल्ल [(Bleared eye, not able to see clearly, especially because you are tired-Oxford Advanced Dictionary), यह एक वर्त्मगत रोग है।] एवं नेत्र से मल (आँखों से कीचड़ का निकलना- discharge of mucoid matter from the eyes) का निकलना आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

→ सौवीराञ्जन (काला सुरमा), शुद्ध तुत्थ (शुद्ध तूतिया), स्वर्णमाक्षिक भस्म, मनःशिला (शुद्ध मैनशिल), चक्षुष्या, मधुक (यष्टीमधु), लौहभस्म अथवा सप्त लोह धातुओं की भस्में, मणियों की भस्में, पौष्पाञ्जन, सैन्धव लवण, सूअर की दाढ़, कतक (निर्मली फल); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कूट पीस कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें अथवा इससे वर्ति का निर्माण करें। यह वर्ति या अञ्जन सभी प्रकार के नेत्ररोगों के लिए उपयोगी है। नेत्ररोगों में इस योग से श्रेष्ठ कोई अन्य योग नहीं है।

सुखावती वर्ति–कतक (निर्मलीफल), शंखभस्म, सैन्धव लवण, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, छोटी पिप्पली, मिश्री, फेन (समुद्रफेन), रसाञ्जन, मधु, वायविडङ्ग, मैनशिल (शुद्ध मनःशिला) व मुर्गी के अण्डे का छिलका; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ कूट-पीस कर वर्ति बनाकर छाया में सुखाकर सुरक्षित रख लें। इस वर्ति का नाम सुखावती वर्ति है। इसे नेत्रों में घिसकर लगाने से तिमिररोग, पटलगत रोग, काचरोग एवं आँखों से कीचड़ का निकलना आदि नेत्रगत व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

[इस वर्ति को मधु के साथ घिसकर नेत्रों में लगाना चाहिए।]

Scanned by CamScanner

दृष्टिप्रदावर्ति–घटक द्रव्य-

- हरड़ - १ भाग
- बहेड़ा - १ भाग
- आँवला - १ भाग
- मुर्गी के अण्डे का छिलका - १ भाग
- शुद्ध कासीस - १ भाग
- अयोरज (लौह भस्म) - १ भाग
- नील कमल - १ भाग
- वायविडङ्ग - १ भाग
- समुद्रफेन - १ भाग

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क को एक ताम्र पात्र में लीपकर (चिपकाकार) सात दिन के लिए रख दें। सात दिन बाद इसे पात्र से खुरचकर दूध (बकरी के दूध) में पीसकर वर्ति बनाकर छाया शुष्क कर लें।

इस वर्ति को बकरी के दूध में घिसकर नेत्रों में लगानी चाहिए। इस वर्ति के प्रयोग से, जो अन्धा नहीं है, लेकिन कम दिखाई देता है, ऐसा व्यक्ति सम्यक् देखने लगता है। इसलिये इसे 'दृष्टिप्रदावर्ति' कहते हैं।

तिमिरनाशक नेत्राञ्जन–काले सांप के मुख में काले सुरमे को एक मास तक के लिए रखें। एक मास पश्चात् काले सुरमे को मुख से निकालकर उसमें, सुरमे की मात्रा की आधी सूखी चमेली की कली एवं सैन्धव नमक मिलाकर श्लक्ष्ण चूर्ण कर लें। यह नेत्राञ्जन तिमिरोग को दूर करने में अत्यन्त श्रेष्ठ है।

पिप्पल्यादि रसक्रिया–छोटी पिप्पली, किंशुक (पलाश) स्वरस, सर्प की वसा, सैन्धव लवण एवं पुराना घृत; सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर महीन पीस लें एवं पकाकर गाढ़ा कर लें। ["क्वाथादेर्यत् पुनः पाकात् घनत्वं वा रसक्रिया" किसी द्रव्य के क्वाथ को पकाकर गाढ़ा करना **रसक्रिया** कहलाता है। इसे घन, अवलेह या प्राश भी कहते हैं।] इस रसक्रिया का प्रयोग अञ्जन के रूप में करने से सभी प्रकार के अक्षिरोग नष्ट हो जाते हैं।

कृष्णसर्पवसादि रसक्रिया–काले सांप की वसा - १ भाग, मधु - १ भाग, आमलकी स्वरस - १ भाग; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर पकावें, पकते-पकते जब यह अवलेह जैसा गाढा हो जाय तब अग्नि पर से उतार कर शीतल होने के लिए रख दें। ठण्डा होने पर इसे निकालकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। इसका प्रयोग अञ्जन के रूप में करने से सभी प्रकार के नेत्ररोग विशेष रूप से काचरोग, अर्बुद एवं आँखों से कीचड़ का निकलना आदि दूर हो जाते हैं।

अन्धत्वनाशक योग–आमलकी स्वरस - १ भाग, रसवत - १ भाग, मधु - १ भाग, गोघृत - १ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर अग्नि पर पकावें। पकते-पकते जब यह गाढ़ा हो जाय तब अग्नि पर से उतार कर ठण्डा होने के लिए रख दें। शीतल होने पर पात्र से निकालकर कांच के पात्र में सुरक्षित रख लें। इसका प्रयोग पित्त एवं रक्त जनित नेत्ररोगों में करते हैं। इसका अञ्जन करने से तिमिरोग एवं नेत्रपटल के रोग दूर हो जाते हैं।

धात्र्यादिरसक्रिया–आँवला - १ भाग (शुष्क आँवला), सैन्धव नमक - १ भाग, पिप्पली - १ भाग, कालीमिर्च - अत्यल्प मात्रा। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को मधु के साथ अवलेह जैसा बनाकर आँखों में लगावें। इस धात्र्यादि रसक्रिया का प्रयोग अञ्जन के रूप में करने से आँखों का अंधापन एवं पटलगत व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चक्रपाणि–'उत्पन्नमात्रे इत्यादि' के द्वारा नेत्ररोग चिकित्सा का विवेचन किया गया है। **बिडालकः नेत्रबहिर्लेपः शालाक्ये उच्यते**-शालाक्यतन्त्र में नेत्रों के बाहर लगाये जाने वाले लेप को बिडालक कहते हैं। **निघृष्टमित्यादौ तद्वत् इति रसक्रियेत्यर्थः**-मधु, सैन्धव एवं गैरिक निर्मित रसक्रिया का प्रयोग वातज नेत्ररोग में करें।

हरीतकी तद्वदिति–भुनी हुई हरीतकी एवं घृत को मिश्रित करके लेप जैसा बना लें एवं इस लेप को नेत्रों के ऊपर लगावें। नेत्रों (पलकों) के ऊपर लेप लगाना बिडालक कहा जाता है।

सन्निपातज नेत्ररोग में वातादि नाशक वर्णित बिडालक द्रव्यों का लेप लगाना चाहिए।

नेत्राञ्जनं त्र्यहादित्यत्र प्रायोऽक्षिरोगाणां त्र्यहेण पाकात् त्र्यहादित्युक्तम्–'नेत्राञ्जनं त्र्यहादिति' से यहाँ प्रायः अक्षिरोगों का पाक तीन दिन में हो जाता है। इसलिए नेत्राञ्जन का प्रयोग तीन दिन पर करना चाहिए, यह बताया गया है। अन्य शास्त्रों में भी पाक के लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया गया है, यथा-**"प्रशस्त वर्त्मता चाक्ष्णोः संरम्भाश्रुप्रशान्तता। मन्दवेदनता कण्डूः पक्वाक्षिगदलक्षणम्"** इति [नेत्ररोग के पक्व होने पर-आँखों की लालिमा एवं अश्रुस्राव का शान्त होना, आँखों की वेदना एवं कण्डू (Itching) का कम हो जाना, लक्षण पाये जाते हैं।]

Scanned by CamScanner

आश्योतनम् अक्षिसेकः–औषधीय क्वाथ, मधु, आसव, तैल, घृत आदि की बूंदों को आँखों में डालना आश्योतन कहलाता है। अक्षिसेक - आँखों को तृप्त करना (औषधीय द्रव्यों के क्वाथ आदि से आँखों को डूबोना)

सुमनःकोरका जातीमुकुलकाः–चमेली की कली। **श्वेतमरिचम्**-शिग्रु का बीज। **प्लवःपक्षिविशेषः प्रसेवकगलः**-एक विशेष प्रकार का पक्षी (प्लव) प्रसेवकगल।

द्वौ च पिप्पत्यर्णवफेनयोरिति शाणावित्यर्थ–पिप्पली+समुद्रफेन दोनों मिश्रित रूप से दो शाण ग्रहण करें, अर्थात् पिप्पली - १ शाण एवं समुद्रफेन १ शाण ग्रहण करें। **चित्रायामिति**= चित्रा नक्षत्र में। **ताप्योधातुः तापीनदीभवो माक्षिकथातुः**- 'ताप्य धातुः' से तापी नदी से उत्पन्न होने वाला स्वर्णमाक्षिक। चक्षुष्या = वनकुलथी अर्थात् जङ्गली कुलथी। पौष्पमञ्जनम् = पुष्पाञ्जन।

अभिन्न चक्षुष इति अभिन्नतारकस्य–आँखों की पुतली का नष्ट न होना, अर्थात् जिस पुरुष की आँखों की पुतली नष्ट न हुई हो। यदि अन्य किसी कारण से उसे दिखाई न दे तो दृष्टिप्रदावर्ति के प्रयोग से उसे दिखाई देने लगता है।

कृष्णसर्पस्येति मृतकृष्णसर्पस्य–मृत काले सांप के मुख में काले सुरमे को कुश की पत्तियों में लपेट कर एक मास तक रखें। एक महीने पश्चात् मुख से निकालकर सुरमे की मात्रा की आधी मात्रा में चमेली की कली एवं सैन्धव नमक मिलाकर श्लक्ष्ण पीस लें। इसका अञ्जन तिमिररोग में करने से रोगी को दिखाई देने लगता है। ॥२३१-२६१॥

खालित्ये पलिते वल्यां हरिलोम्नि च शोधितम् ।।२६२।।
नस्यैस्तैलैः शिरोवक्त्रप्रलेपैश्चाप्युपाचरेत् । सिद्धं विदारीगन्धाद्यैर्जीवनीयैरथापि च ।।२६३।।
नस्यं स्यादणुतैलं वा खालित्यपलितापहम् । क्षीरात् सहचराद्भृङ्गराजाच्च सौरसाद्रसात् ।।२६४।।
प्रस्थैस्तु कुडवस्तैलाद्यष्ट्याह्वपलकल्कितः । सिद्धः शिलासमे भाण्डे मेषशृङ्गादिषु स्थितः ।।२६५।।
नस्यं स्याद्भिषजा सम्यग्योजितं पलितापहम् । भिषजा क्षीरपिष्टौ वा दुग्धिकाकरवीरकौ ।।२६६।।
उत्पाट्य पलिते देयौ तावुभौ पलितापहौ । मार्कवस्वरसात् क्षीराद्विप्रस्थं मधुकात् पलम् ।।२६७।।
तैः पचेत् कुडवं तैलात्तन्नस्यं पलितापहम् । आदित्यवल्ल्या मूलानि कृष्णशैरेयकस्य च ।।२६८।।
सुरसस्य च पत्राणि पत्रं कृष्णशणस्य च । मार्कवः काकमाची च मधुकं देवदारु च ।।२६९।।
पृथग्दशपलांशानि पिप्पल्यस्त्रिफलाऽञ्जनम् । प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम् ।।२७०।।
आम्रास्थि कर्दमः कृष्णो मृणालं रक्तचन्दनम् । नीली भल्लातकास्थीनी कासीसं मदयन्तिका ।।२७१।।
सोमराज्यसनः शस्त्रं कृष्णौ पिण्डीतचित्रकौ । पुष्करार्जुनकाश्मर्याण्याम्रजम्बूफलानि च ।।२७२।।
पृथक् पञ्चपलांशानि तैः पिष्टैराढकं पचेत् । बैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम् ।।२७३।।
कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः । लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत् ।।२७४।।
पाने नस्यक्रियायां च शिरोभ्यङ्गे तथैव च । एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत् ।।२७५।।
महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम् ।

इति महानीलतैलम् ।

प्रपौण्डरीकमधुकपिप्पलीचन्दनोत्पलैः ।।२७६।।
कार्षिकैस्तैलकुडवो द्विगुणामलकीरसः । सिद्धः स प्रतिमर्शः स्यात् सर्वमूर्धगदापहः ।।२७७।।
(पलितघ्नो विशेषेण कृष्णात्रेयेण भाषितः ।) क्षीरं प्रियालयष्ट्याह्वे जीवकाद्यो गणस्तिलाः ।।२७८।।
कृष्णा वक्त्रे प्रलेपः स्याद्धरिलोमनिवारणः । तिलाः सामलकाश्चैव किञ्चल्को मधुकं मधु ।।२७९।।
बृंहयेद्भ्रञ्जयेच्चैतत् केशान्मूर्धप्रलेपनात् । पचेत्सैन्यवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम् ।।२८०।।
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमूषितं निशि । तत् प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात् कृष्णमृदुमूर्धजम् ।।२८१।।
अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो वरः । कुर्याच्छेषेषु रोगेषु क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ।
शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते ।।२८२।।

इति खालित्यादिचिकित्सा ।

शिरोरोग चिकित्सा–खालित्य (Alopecia), पालित्य (Graying of the hair-बालों का पक जाना), वली (चेहरे पर झुर्रियों का आना-Appearance of wrinkles over the face) एवं हरि लोम (बालों का पिङ्गल वर्ण का होना) व्याधियों में सर्वप्रथम वमन, विरेचनादि द्वारा आतुर का शोधन करें, तत्पश्चात् तैल द्वारा नस्य दें। सिर का अभ्यङ्ग एवं सिर व ललाट पर प्रलेपों का प्रयोग करें।

विदारीगन्धादि तैल–विदारीगन्धादि अथवा जीवनीय गण की औषधियों के कल्क एवं क्वाथ से सिद्ध तैल अथवा अणुतैल का नस्य देने से खालित्य एवं पालित्य रोग दूर हो जाते हैं, अर्थात् ये तैल खालित्य एवं पालित्य का नाश करते हैं।

Scanned by CamScanner

[**विदारीगन्धादिगण**–विदारीगन्धा (शालपर्णी), विदारी, विश्वदेवा, सहदेवा, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), पृथक्पर्णी, शतावर, सारिवा (अनन्तमूल सारिवा), कृष्ण सारिवा, जीवक, ऋषभक, महासहा, क्षुद्रसहा, बृहती, कण्टकारी, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपादी, वृश्चिकाली, ऋषभी । [विदारीगन्धा=शालपर्णी] । **विश्वदेवा गाङ्गेरुकी प्रसिद्धा-गुलशकरी** नाम से प्रसिद्ध - नागबला । अन्य आचार्य इससे बला का ग्रहण करते हैं । सहदेवी=पीले पुष्पों वाली बला । दूसरे आचार्य बला से नील पुष्पों वाली बला का ग्रहण करते हैं । पृश्निपर्णी=पृथक्पर्णी (पिठिवन) । **सारिवा जम्बूपत्रा दुग्धगर्भा वल्ली स्वनामप्रसिद्धा**-सारिवा से जम्बुपत्रसारिवा का ग्रहण किया गया है । महासहा=माषपर्णी । क्षुद्रसहा=मुद्गपर्णी । हंसपादी=मधुश्रवा (हंसपाई) । वृश्चिकाली= (मेषशृंगी भेद या बिछिया शाक । ऋषभी=कपिकच्छू का बीज । –डल्हण]

सहचरादि तैल–घटक द्रव्य-	गोदुग्ध	-	१ प्रस्थ (६४ तोला)
	सहचर (कटसरैया) स्वरस	-	१ प्रस्थ
	भृंगराज (भंगरैया) की पत्तियों का स्वरस	-	१ प्रस्थ
	तुलसी की पत्ती का स्वरस	-	१ प्रस्थ
	तिल तैल	-	१ कुडव (१६ तोला)
	यष्टीमधु कल्क	-	१ पल

निर्माण विधि–एक भगौने में सभी द्रव्यों को लेकर विधिपूर्वक तैलपाक करें । तैल के सिद्ध हो जाने पर भेड़ के सींग अथवा असन वृक्ष की लकड़ी से बने पात्र में सुरक्षित रख लें । इस तैल का विधिपूर्वक नस्य देने से पलित रोग नष्ट हो जाता है ।

पलितनाशक अन्य योग–१. चिकित्सक को रोगी के पके हुए बालों को उखाड़कर या उस्तरे से बाल को बनाकर उसके मूल (Hair root) पर दुग्धिका या कनेरमूल त्वक् के कल्क (Paste) का लेप करना चाहिए । ये दोनों ही योग पलित रोग को दूर करते हैं ।

२. भृंगराज स्वरस - १ प्रस्थ, गोदुग्ध - १ प्रस्थ, यष्टीमधु का कल्क - १ पल, तिल तैल - १ कुडव (१६ तोला) । सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर तैलपाक विधि से तैल सिद्ध कर लें । इस तैल का नस्य लेने से पलित रोग दूर हो जाता है ।

महानीलतैल–घटक द्रव्य-१. कल्क द्रव्य-आदित्यवल्ली मूल (सूरजमुखी की जड़), काली कटसरैया की जड़, तुलसी की पत्ती, काले फूल वाली सन की पत्ती, मार्कव (भृंगराज) की पत्ती, काकमाची (मकोय) पत्र, यष्टीमधु (मुलेठी), देवदारु; प्रत्येक द्रव्य १०-१० पल ग्रहण करें । पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, काला सुरमा (अञ्जन), पुण्डरिया काठ, मञ्जिष्ठा (मजीठ), लोध्र, काला अगरु, उत्पल (नील कमल), आम्रास्थि (आम की गुठली), कृष्ण कीचड़ (कमल की जड़ का कीचड़), रक्तचन्दन, नीली (नील का बीज), भल्लातक की गुठली, कर्कास, मेहदी का पत्र, सोमराजी का बीज (बाकुची का बीज), खदिरसार, कृष्णशस्त्र (कृष्णलौह), पिण्डितक (मैनफल), चित्रकमूल, पुष्करमूल, अर्जुन की छाल, काश्मर्य (गम्भारी) की छाल, आम्र की छाल, जम्बु (जामुन) का फल; प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग ५-५ पल ग्रहण करें । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें एवं जल के साथ पीसकर कल्क बना लें ।

२. बहेड़े का तैल-१ आढ़क (२५६ तोला)

३. आँवले का स्वरस-४ आढ़क

निर्माण विधि–अब एक बड़े पात्र में कल्क द्रव्य, बहेड़े का तैल, आमलकी स्वरस मिलाकर सूर्य के प्रकाश (धूप) में रख दें । जब सूर्य के धूप से आँवले का रस सूख जाय तब तैल को छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें, अथवा अग्नि पर पकाकर तैल को सिद्ध कर लें ।

उपयोग–१. इस तैल का पान, नस्य एवं शिरोऽभ्यङ्ग करने से सभी प्रकार के शिरोरोग दूर हो जाते हैं ।

२. यह तैल चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकर), आयुष्यकर (आयुवर्धक) एवं पलित रोग को दूर करने में उत्तम होता है । इस तैल को महानीलतैल कहते हैं ।

प्रपौण्डरीकादि तैल–घटक द्रव्य-१. कल्क द्रव्य– पुण्डरिया काठ, मधुक (मुलेठी), पिप्पली, लाल चन्दन, उत्पल (नीलकमल); सभी द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष (१-१ तोला) ग्रहण करें । इन द्रव्यों को कूटकर जल के साथ पीसकर कल्क बना लें ।

२. तिल तैल–१ कुड़व (१६ तोले) ३. आमलकी स्वरस–२ कुड़व (३२ तोला) । सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर तैलपाक विधि से तैल सिद्ध करें । [तैल पाक हेतु जल की मात्रा - २ कुड़व (३२ तोला) ग्रहण करें, क्योंकि स्नेह का चतुर्गुण द्रव होना चाहिए ।] इस तैल का प्रतिमर्श लेने से सभी प्रकार के शिरोरोग दूर हो जाते हैं । [इस तैल का उपदेश भगवान् कृष्णात्रेय ने किया था, विशेष रूप से यह तैल पलितरोग को दूर करता है ।]

Scanned by CamScanner

प्रियालादि योग–गोदुग्ध, प्रियाल (चिरौंजी), यष्टीमधु, जीवनीय वर्ग की औषधियाँ, काला तिल, पिप्पली; सभी द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कूट पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क का लेप सिर पर करना चाहिए। इसके लेप से बालों की पिङ्गल वर्णता दूर हो जाती है तथा बाल काले निकलते हैं।

तिलादि योग–आँवला, कालातिल, कमलकेशर, यष्टीमधु; सभी द्रव्यों को सम मात्रा में लेकर मधु के साथ पीसकर लेप तैयार करें। इस लेप का प्रयोग सिर के बालों में करें, अर्थात् इस लेप को सिर पर लगावें। इसके प्रयोग से सिर के बाल काले हो जाते हैं एवं खूब बढ़ते हैं। [यह योग केशरञ्जन योग है।]

पलितनाशक योग–सैन्धव लवण, शुक्त (सिरका), अम्ल (काञ्जी), इनके द्वारा चावलचूर्ण एवं लौह चूर्ण (लौह चूर्ण) को पकावें। पककर जब यह द्रव्य गाढ़ा हो जाय तब इसे अग्नि पर से उतार लें। सिर को शुद्ध करके तैल आदि से रहित कर रात में सोते समय इस लेप को लगावें। प्रातः काल लेप को छुड़ा दें, तत्पश्चात् त्रिफला के क्वाथ से सिर को धोवें। इस लेप के प्रयोग से सिर के बाल काले एवं मुलायम हो जाते हैं, अथवा हरड़, बहेड़ा, आँवला एवं लौह चूर्ण को काञ्जी में पीसकर लेप लगाने से बालों का रञ्जन हो जाता है। यह केशराग (खिजाब) बालों का अच्छी प्रकार से रञ्जन करता है। इसके अतिरिक्त रोगों की चिकित्सा चिकित्सास्थान के उन-उन व्याधि प्रकरणों में निर्दिष्ट हैं उनको वहीं देखना चाहिए। शेष रोगों की चिकित्सा सिद्धिस्थान में बतायी जायेगी।

चक्रपाणि–'खालित्ये इत्यादि' के द्वारा खालित्य रोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **हरिलोम्नीति**-रोम का कपिल वर्ण का होना। सहचर=झिण्टी (कटसरैया)। शिलासमे भाण्डे इति-पत्थर के समान पात्र में, अथवा भेड़ के सींग में रखना चाहिए।

आदित्यपर्ण्या मूलानीति–आदित्यपर्णी=सूर्यावर्त (जिसका पुष्प सूर्य की दिशा में भ्रमण करता हो, अर्थात् सूर्य के साथ-साथ पुष्प की भी दिशा बदलती हो। [आदित्यपर्णी से अर्कमूल अथवा तिलपर्णी (हुरहुर) का ग्रहण किया जा सकता है।]

कृष्णसैरीयक=कृष्ण झिण्टी [काले पत्ते-dark green वाली कटसरैया]। सोमराजी=बाकुची। शस्त्र से कृष्णलौह का ग्रहण किया गया है।

'कृष्णापिण्डितचित्रकाविति' इससे कृष्ण मदन एवं कृष्ण चित्रक अर्थ गृहीत है। **आदित्यपाकमिति**-सूर्य की किरणों के सम्पर्क से तैल का पाक करना। अर्थात् कल्क, क्वाथ एवं स्नेह को एक पात्र में मिलाकर सूर्य के प्रकाश में रखें। सूर्य के ताप द्वारा जब क्वाथ (Decoction) उड़ जाय तब तैल को सिद्ध समझें। यहाँ 'भागैः' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त है। इससे यहाँ त्रिफला के घटक द्रव्यों-हरड़, बहेड़ा एवं आँवला का अलग-अलग ग्रहण है।

कल्कभूयस्त्वं चात्र वचनादेव भवन्नपि कल्पनीयम्-यहाँ कल्क द्रव्य अधिक होने से कल्क के आधिक्य की कल्पना नहीं करनी चाहिए, अर्थात् कल्क स्नेह का चतुर्थांश ही होना चाहिए। तिलाःसामलका इत्यादि से पठित योग केशरञ्जक योग (खिजाब) है। अर्थात् श्लोक नं. २७९ में पठित योग-तिल, आँवला, किञ्जल्क (कमलकेसर) एवं मधु से निर्मित लेप एक प्रकार का खिजाब है।

पचेत्सैन्यवेत्यादौ–सैन्धव नमक; अयस् चूर्ण (लौह चूर्ण) एवं चावल चूर्ण की मात्रा १-१ भाग ग्रहण करें, अर्थात् सभी द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लें।

शुद्धमिति=प्रक्षालितं (बालों को धोकर या साफ-सुथरा करके)। **शेष रोग से** यहाँ तृट् (प्यास का लगना), श्वास, कास, ज्वर, रक्तपित्त, शोष, पीनस आदि उपद्रवों का ग्रहण किया गया है। **शेषेष्वादौ च निर्दिष्टा इति**-सामान्यतया यहाँ शेष शब्द से त्रिमर्मज अन्य रोग जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, का ग्रहण है।

आदौ निर्दिष्टा इति–इससे पूर्व में निर्दिष्ट त्रिमर्मज रोगों की चिकित्सा का ग्रहण करना चाहिए।

सिद्धौ चान्या प्रवक्ष्यते इति–जिन व्याधियों का त्रिमर्मीय अध्याय में उल्लेख नहीं किया गया है, उनकी चिकित्सा त्रिमर्मीयासिद्धि नामक अध्याय में आगे बतायेंगे। ॥२६२-२८२॥

सर्पींष्युपरिभक्तानि स्वरभेदेऽनिलात्मके। तैलैश्चतुर्व्योगैश्च बलारास्नामृताह्वयैः ॥२८३॥
बर्हितित्तिरिदक्षाणां पञ्चमूलशृतान् रसान्। मायूरं क्षीरसर्पिर्वा पिबेत्त्र्यूषणमेव वा ॥२८४॥
पैत्तिके तु विरेकः स्यात् पयश्च मधुरैः शृतम्। सर्पिर्गुडा घृतं तिक्तं जीवनीयं वृषस्य वा ॥२८५॥
कफजे स्वरभेदे तु तीक्ष्णं मूर्धविरेचनम्। विरेको वमनं धूमो यवान्नकटुसेवनम् ॥२८६॥
चव्यभार्ग्यभयाव्योषक्षारमाक्षिकचित्रकान्। लिह्याद्वा पिप्पलीपथ्ये तीक्ष्णं मद्यं पिबेच्च सः ॥२८७॥
रक्तजे स्वरभेदे तु सघृता जाङ्गला रसाः। द्राक्षाविदारीक्षुरसाः सघृतक्षौद्रशर्कराः ॥२८८॥
यच्चोक्तं क्षयकासघ्नं तच्च सर्वं चिकित्सितम्। पित्तजस्वरभेदघ्नं सिरावेधश्च रक्तजे ॥२८९॥

Scanned by CamScanner

सन्निपाते हिताः सर्वाः क्रिया न तु सिराव्यधः । इत्युक्तं स्वरभेदस्य समासेन चिकित्सितम् ।।२९०।।

इति स्वरभेदचिकित्सा ।

स्वरभेद चिकित्सा (Treatment of Svara-Bheda)—**१. वातिक स्वरभेद** (Hoarseness of voice) में चिकित्सक रोगी को भोजन के बाद सिद्ध घृत का पान करावे । बला, रास्ना एवं अमृता द्वारा अलग-अलग साधित बला तैल, रास्ना तैल एवं अमृता तैल का प्रयोग-पान, नस्य, अभ्यङ्ग एवं अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए अथवा पञ्चमूल (लघु) के क्वाथ से साधित मयूर, तीतर अथवा मुर्गे के मांसरस अथवा इनसे साधित क्षीर (मायूर दुग्ध अथवा घृत) अथवा लघु पञ्चमूल के क्वाथ एवं त्र्यूषण साधित घृत का प्रयोग करना चाहिए । रक्तज स्वरभेद में सामान्यतया पित्तज स्वरभेद नाशक चिकित्सा करनी चाहिए । क्षीर अथवा घृत का सेवन करना चाहिए ।

२. पित्तज स्वरभेद में रोगी को सबसे पहले विरेचन कराना चाहिए । इसके बाद मधुर गण की औषधियों से साधित क्षीर का पान अथवा सर्पिर्गुड अथवा तिक्तघृत, अथवा जीवनीय घृत या वासाघृत का सेवन कराना चाहिए ।

३. कफज स्वरभेद में-तीक्ष्ण शिरोविरेचन, विरेचन, वमन, धूमपान, यव से निर्मित अन्न का सेवन एवं कटुरस प्रधान आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

→ चव्य, भारङ्गी, अभया (हरड़), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार, चित्रक; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में मधु मिलाकर चाटें अथवा पिप्पली एवं हरड़ सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को मधु के साथ चाटना चाहिए। औषध सेवन करने के बाद तीक्ष्ण मद्य का सेवन करना चाहिए ।

४. रक्तज स्वरभेद में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस में घृत मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए अथवा द्राक्षा स्वरस, अथवा विदारीकन्द स्वरस अथवा इक्षुरस में मधु व घृत मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें । रक्तज स्वरभेद में सामान्यतया पित्तज स्वरभेद नाशक तथा पूर्व वर्णित क्षय व कासनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए । इसमें सिरावेध अथवा रक्तमोक्षण विशेष रूप से कराना चाहिए ।

५. सन्निपातज स्वरभेद में पूर्व वर्णित दोषशामक चिकित्सा विधि को अपनाना चाहिए, अर्थात् त्रिदोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए। इसमें सिरावेध नहीं करना चाहिए । इस प्रकार यहाँ संक्षेप में स्वरभेद चिकित्सा का विवेचन कर दिया गया है ।

चक्रपाणि-'सर्पीष्युपरिभक्तानीत्यादि' के द्वारा स्वरभेद चिकित्सा का वर्णन किया गया है, अर्थात् वातज स्वरभेद में सर्वप्रथम भोजन के बाद घृतपान करावें । वातादि स्वरभेद के लक्षणों का विवेचन यद्यपि यहाँ नहीं किया गया है, फिर भी राजयक्ष्मा चिकित्सा में स्वरभेद के लक्षणों को बताया गया है, ऐसा समझना चाहिए । यद्यपि वहाँ भी (राजयक्ष्मा चिकित्सा प्रकरण में भी) स्वरभेद की चिकित्सा का अभिधान किया गया है, फिर भी यहाँ स्वरभेद को अधिकृत करके पुनः उसे कहा गया है । **चतुष्प्रयोगैरिति**-चतुष्प्रयोग से यहाँ तैल का आभ्यन्तर पान, अभ्यङ्ग, गण्डूष एवं अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग का निर्देश है ।

बलारास्नामृताह्वयतैलानि वातव्याधौ वक्ष्यमाणानि-बला, रास्ना एवं अमृताह्वय तैल का विवेचन वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण में आगे किया जायेगा । **त्र्यूषणं**-त्र्यूषणादि घृत का विवेचन कासचिकित्सा (चि.अ. १८) में विशेष रूप से किया गया है । जीवनीय घृत का वर्णन आगे वातरक्तचिकित्सा (चि.अ. २९) में किया जायेगा । वृषघृतं=वासाघृत, इसका वर्णन रक्तपित्त चिकित्सा में किया गया जा चुका है ।

रक्तज स्वरभेद में पित्तज स्वरभेदनाशक चिकित्सा करनी चाहिए । विशेष रूप से **रक्तज स्वरभेद में** रक्तमोक्षण करावें, अर्थात् रक्तमोक्षण विशेष चिकित्सा है । इस प्रकार स्वरभेद चिकित्सा प्रकरण समाप्त हुआ । ॥२८३-२९०॥

भवन्ति चात्र—

वातपित्तकफा नृणां बस्तिहृन्मूर्धसंश्रयाः । तस्मात्तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः ।।२९१।।

दोषानुसार चिकित्सा-बस्ति में वात, हृदय में पित्त एवं सिर में कफ आश्रित रहता है । इसलिए चिकित्सक दोषों को उनके समीप के मार्ग से बाहर निकाले, अर्थात् सिरस्थ दोष को वमन द्वारा, हृदयाश्रित दोषों को विरेचन द्वारा एवं बस्ति प्रदेश के आश्रित दोषों को बस्ति द्वारा निर्हरित करे ।

चक्रपाणि-त्रिमर्म के आश्रित रहने वाले अनुक्त व्याधियों की चिकित्सा को यहाँ 'वातपित्तकफा इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

बस्तिहृन्मूर्धसंश्रया इति-बस्ति प्रदेश, हृदय प्रदेश एवं सिर के आश्रित रहने वाले दोष क्रमशः वात, पित्त एवं कफ हैं । **तत्स्थानसामीप्यादिति**-उस स्थान के समीप होने से, वातादि स्थानों में, यथा-वात का स्थान बस्ति, पित्त का स्थान हृदय प्रदेश एवं कफ का स्थान शरीर का ऊर्ध्वभाग-सिर होने से वमन द्वारा सिर के दोष, विरेचन द्वारा हृदय प्रदेश के दोष एवं बस्ति द्वारा बस्ति प्रदेश के दोष निकल जाते हैं । वमनादि कर्म ही इन स्थानों के दोषों को निकालने का सुगम मार्ग हैं । इन्हीं कर्मों में समीप मार्ग दोषहरण गुण है । अतः इन्हीं कर्मों का प्रयोग करना चाहिए । ॥२९१॥

Scanned by CamScanner

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः । पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा ।।२९२।।

त्रिदोष का महत्त्व–जिस प्रकार यह संसार (बाह्य लोक) वायु, सूर्य एवं चन्द्रमा की स्वाभाविक गतियों के अधीन रहता है, अर्थात् इनकी स्वाभाविक गति से ही बाह्य लोक स्थित है, इनकी गतियों में विषमता होने पर संसार में भूकम्प प्रलयादि होने लगते हैं उसी प्रकार मनुष्य शरीर (जीव शरीर) में वात, पित्त व कफ के सम भाव से बने रहने पर शरीर स्वस्थ एवं विषम होने पर अस्वस्थ हो जाता है ।

चक्रपाणि–'अध्यात्मेत्यादि' के द्वारा वातादि के विकृत एवं अविकृत होने से देह पीडकत्व एवं अपीडकत्व (धारकत्व) गुण के दृष्टान्त को स्पष्ट किया गया है । **अध्यात्मलोकः चेतनलोकः**-अध्यात्म लोक से चेतन शरीर का ग्रहण किया गया है । **लोक** से बाह्य जगत्, यथा– वृक्षादि का ग्रहण है ।

इस दृष्टान्त में इन्दु (चन्द्रमा) का सम्बन्ध कफ से, रवि (सूर्य) का पित्त से एवं वायु का वात से है । विकृतैः पीड्यते=विकृत होना (कष्टों को उत्पन्न करना), अर्थात् जिस प्रकार बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु की गति में वैषम्यता आने पर आँधी, तूफान आदि भाव देखने को मिलते हैं एवं सम बने रहने पर ऋतु आदि लक्षण सम बने रहते हैं, वातावरण ठीक रहता है, जगत् स्थिर रहता है उसी प्रकार जीव शरीर में भी वातादि दोषों के विकृत होने पर शरीर रोगी एवं अविकृत होने पर नीरोग बना रहता है । ॥२९२॥

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्विषं घोरमहीनिव ।।२९३।।

वातादि दोष परस्पर घातक नहीं होते–जिस प्रकार सर्प के शरीर में रहने वाला भयङ्कर विष, सहज सात्म्य होने से उसे हानि नहीं पहुँचाता, उसी प्रकार वातादि दोष परस्पर विरुद्ध होते हुए भी एक दूसरे के गुणों को नष्ट नहीं करते ।

चक्रपाणि–दोषों के गुण परस्पर विरुद्ध होने से एक साथ कार्य करने में जिस प्रकार वे आपस में विरोध नहीं करते उसे यहाँ विरुद्धैरपीति के द्वारा बताया गया है । **परस्परविरुद्धैरपि**-परस्पर विरुद्ध गुण युक्त होते हुए भी, यथा-कफ के स्नेह, पिच्छिल, गुरु आदि गुण वात के लघु, रुक्ष आदि विपरीत गुणों के द्वारा परस्पर एक दूसरे को उपघातित करते हैं, यह दिखाई देता है वह यहाँ दोषों के संसर्ग में (साथ-साथ रहने पर) नहीं होता । ऐसा क्यों नहीं होता, इसे यहाँ **'सहजसात्म्यत्वादिति'** के द्वारा स्पष्ट किया गया है । सहजसात्म्य से यहाँ स्वाभाविक रूप से सात्म्य होना, अर्थ गृहीत है । सात्म्यी भाव का अभिप्राय-वात, पित्त, कफ परस्पर गुण विरुद्ध होते हुए भी आपस में एक दूसरे का विरोध नहीं करते, या हानि नहीं पहुँचाते, से है । त्रिदोष का यह स्वभाव कर्म जन्य हो या स्वाभाव के अधीन हो अथवा दोनों ही कारण हो, फिर भी **अचिन्त्य** ही है ! ऐसा दिखायी देने के कारण, यहाँ युक्ति बाधा प्रभावी नहीं है । इस प्रकार चन्द्रिकाकार द्वारा सुश्रुत संहिता में परस्पर गुणोपघात के व्यभिचार का जो उल्लेख किया गया है, वह नहीं होता ।

'घोरं विषमहीनिवेति' के द्वारा वातादि के विरुद्ध गुण युक्त होते हुए भी परस्पर अनुपघात के दृष्टान्त को बताया गया है । अर्थात् जिस प्रकार भयङ्कर विष सर्प को कोई हानि नहीं पहुँचाता उसी प्रकार वातादि दोष भी परस्पर विरुद्ध होते हुए शरीर को कोई हानि नहीं पहुँचाते हुए साथ-साथ रहते हैं ॥२९३॥

तत्र श्लोकः–

त्रिमर्मजानां रोगाणां निदानाकृतिभेषजम् । विस्तरेण पृथग्दिष्टं त्रिमर्मीये चिकित्सिते ।।२९४।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय में त्रिमर्म (वस्ति, सिर एवं हृदय) के आश्रित होने वाली व्याधियों के निदान, आकृति (लक्षण) एवं चिकित्सा का विस्तार से अलग-अलग उपदेश किया गया है ।

चक्रपाणि–'त्रिमर्मजानामिति' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है । ॥२९४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल संपूरिते चिकित्सास्थाने त्रिमर्मीय चिकित्सितं नाम षड्विंशोऽध्यायः ।।२६।।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल संपूरित चिकित्सास्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक छब्बीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक छब्बीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ॥२६॥

Scanned by CamScanner

सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथात ऊरुस्तम्भचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे ऊरुस्तम्भ चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–त्रिमर्मीय अध्याय में अनेक रोग, जो पञ्चकर्म की दृष्टि से साध्य हैं, बताया गया है । अर्थात् त्रिमर्म के आश्रित होने वाली अधिकांश व्याधियाँ पञ्चकर्म चिकित्सा द्वारा साध्य हैं । अतः पञ्चकर्म की दृष्टि से असाध्य व्याधि-ऊरुस्तम्भ का सहज स्मरण हो जाने से ऊरुस्तम्भचिकित्सा का अभिधान यहाँ किया जा रहा है ।

भवति हि विरोधिदर्शनात् तद्विरोधिस्मरणं, यथा नकुल स्मरणात् सर्पस्मरणम्–विरोधी के दर्शन से उसके विरोधी भाव का स्मरण हो जाता है, यथा-नेवले के स्मरण से सर्प का स्मरण होना । ॥१-२॥

विशेष–ऊरुस्तम्भ एक ऐसी व्याधि है जिसमें पञ्चकर्म का प्रयोग नहीं कराया जाता ।

श्रिया परमया ब्राह्मया परया च तपःश्रिया । अहीनं चन्द्रसूर्याभ्यां सुमेरुमिव पर्वतम् ।।३।।
धीधृतिस्मृतिविज्ञानज्ञानकीर्तिक्षमालयम् । अग्निवेशो गुरुं काले संशयं परिपृष्टवान् ।।४।।
भगवन् पञ्च कर्माणि समस्तानि पृथक् तथा । निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम् ।।५।।
दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्य तानि भिषग्वर! । न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः ।।६।।
अस्त्यूरुस्तम्भ इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम् । सलिङ्गभेषजं भूयः पृष्टस्तेनाब्रवीद्गुरुः ।।७।।
स्निग्धोष्णलपुशीतानि जीर्णाजीर्णे समश्नतः । द्रवशुष्कदधिक्षीरग्राम्यानूपौदकामिषैः ।।८।।
पिष्टव्यापन्नमद्यातिदिवास्वप्नप्रजागरैः । लङ्घनाध्यशनायासभयवेगविधारणैः ।।९।।
स्नेहाच्चामं चितं कोष्ठे वातादीन्मेदसा सह । रुद्ध्वाऽऽशु गौरवादूरू यात्यधोगैः सिरादिभिः ।।१०।।
पूरयन् सक्थिजङ्घोरु दोषो मेदोबलोत्कटः । अविधेयपरिस्पन्दं जनयत्यल्पविक्रमम् ।।११।।
महासरसि गम्भीरे पूर्णेऽम्बु स्तिमितं यथा । तिष्ठति स्थिरमक्षोभ्यं तद्वदूरुगतः कफः ।।१२।।
गौरवायाससङ्कोचदाहरुक्सुप्तिकम्पनैः । भेदस्फुरणतोदैश्च युक्तो देहं निहन्त्यसून् ।।१३।।
ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु । स्तम्भयेत्स्थैर्यशैत्याभ्यामूरुस्तम्भस्ततस्तु सः ।।१४।।
प्राग्रूपं ध्याननिद्रातिस्तैमित्यारोचकज्वराः । लोमहर्षश्च छर्दिश्च जङ्घोर्वोः सदनं तथा ।।१५।।

अध्यायोक्त विषयों की प्रस्तावना–उत्कृष्ट ज्ञान एवं तप की शोभा से युक्त, सूर्य एवं चन्द्रमा के समान अक्षीण उग्र एवं सौम्य आभा वाले, सुमेरु पर्वत के समान अचल, धी (बुद्धि Wisdom), धृति (धारणा शक्ति या धैर्यवान्), स्मृति (स्मरण शक्ति वाले), विज्ञान, ज्ञान, कीर्ति (Fame) एवं क्षमा के भण्डार भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से शिष्य अग्निवेश ने उचित समय में ऊरुस्तम्भ सम्बन्धी अपने संदेह को पूछा–

अग्निवेश द्वारा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से पूछे गये प्रश्न–हे भगवन् ! आपके द्वारा सभी प्रकार की व्याधियों की चिकित्सा में पञ्चकर्म का अलग-अलग एवं संयुक्त रूप से प्रयोग बताया गया है । हे भिषग्वर ! क्या उन व्याधियों में से कोई भी ऐसी व्याधि है, जो शमन चिकित्सा द्वारा साध्य हो, लेकिन पञ्चकर्म द्वारा साध्य न हो, अर्थात् उसमें पञ्चकर्म निषिद्ध हो ।

आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर–हाँ, 'ऊरुस्तम्भ' एक रोग है, भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा ।

गुरु के ऐसा कहने पर शिष्य अग्निवेश ने पुनः कहा । हे आचार्य ! उस व्याधि के कारण (हेतु), लक्षण एवं चिकित्सा को विस्तार से बताइये । इसके बाद भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा–

ऊरुस्तम्भ के हेतु (Etiology) एवं संप्राप्ति (Pathogenesis)–निम्नलिखित कारणों द्वारा ऊरुस्तम्भ (Spasticity of the thighs) उत्पन्न होता है–

१. भोजन के जीर्ण होने अथवा अजीर्ण की अवस्था में जो व्यक्ति अत्यधिक स्निग्ध, उष्ण, लघु एवं शीतल आहार द्रव्यों का सेवन करता है ।
२. अत्यधिक मात्रा में द्रव एवं शुष्क पदार्थों का सेवन करना ।
३. दधि, दूध, ग्राम्य (पालतू), आनूप (जिन क्षेत्रों में वर्षा अधिक होती है) एवं औदक (जलीय) पशु-पक्षियों के मांस का अत्यधिक सेवन करना ।

Scanned by CamScanner

४. पिष्ट (चावल का आटा) के बने हुए खाद्य पदार्थ एवं विकृत मद्य का सेवन करना ।

५. दिन में अत्यधिक सोना एवं अत्यधिक रात्रि जागरण करना ।

६. लङ्घन (Fasting), अध्यशन (भोजन के अजीर्ण रहने पर भी पुनः भोजन ग्रहण करना-Taking food while the previous meal is not digested), आयास (Over exertion), भयभीत रहना आदि ।

७. अधारणीय वेगों को धारण करना ।

८. स्नेहयुक्त आहार का अत्यधिक सेवन करना ।

इन हेतुओं के बार-बार सेवन करने से व्यक्ति के कोष्ठ में सञ्चित आमदोष मेद धातु के साथ मिलकर वातादि दोषों को अवरुद्ध करते हुए गुरुता के कारण अधोगामी सिराओं के द्वारा स्वयं ऊरु प्रदेश में चला जाता है । मेद के बल से प्रवृद्ध वातादि दोष सक्थि, जंघा (Calf muscle) एवं ऊरु (thighs) में अविधेयपरिस्पंदता उत्पन्न करता है, अर्थात् हिलाने-डुलाने की इच्छा होने पर भी गति नहीं करते तथा ये भाग कमजोर हो जाते हैं ।

ऊरुस्तम्भ की उपमा–जिस प्रकार जल से पूर्ण महासरोवर का जल स्थिर एवं शान्त रहता है उसी प्रकार ऊरुप्रदेश में व्याप्त कफ स्थिर (Stable) एवं अक्षोभ्य (क्षोभ न होना) हो जाता है, अर्थात् इस भाग में व्याप्त कफ का भी निर्हरण नहीं किया जा सकता ।

ऊरुस्तम्भ के मारक लक्षण–

→ ऊरु प्रदेश में भारीपन (Heaviness of the thighs)

→ आयास (ऊरु प्रदेश में अत्यधिक थकावट का अनुभव होना)

→ संकोच (Contraction), दाह (Burning sensation), रुक् (Pain), सुप्ति (Numbness), कम्पन (Tremor) का होना (ये सभी लक्षण प्रभावित भाग में पाये जाते हैं ।)

→ भेद (काटने जैसी पीड़ा का होना), तोद (सुई चुभाने जैसी पीड़ा का होना) एवं स्फुरण (अंग विशेष का फड़कना) आदि लक्षण प्रभावित भाग में पाये जाते हैं ।

जिस रोगी में ये लक्षण पाये जाते हैं वह रोगी जीवित नहीं बचता, अथवा इन लक्षणों से युक्त रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करता है।

ऊरुस्तम्भ की निरुक्ति (Definition of Ūrustambha)–मेद के साथ प्रकुपित कफ, वात एवं पित्त दोष को अभिभूय (Suppress) करके ऊरु भाग में पहुँचकर अपने स्थिर एवं शैत्य गुण के कारण ऊरु (Thigh) को स्तंभित कर देता है । इस व्याधि को ऊरुस्तम्भ (Spasticity of thighs) कहते हैं ।

ऊरुस्तंम्भ के पूर्वरूप (Premonitory Signs and symptoms)–

१. रोगी का ध्यानमग्न होना अर्थात् चिन्तित बने रहना ।

२. अत्यधिक निद्रा का आना (Excessive sleep)

३. स्तैमित्य (रोगी का शरीर गीले कपड़े से ढक दिया गया हो, इस प्रकार की प्रतीति का होना) ।

४. अरोचक (Anorexia), ज्वर (Fever), लोमहर्ष (Horripilation)

५. छर्दि (वमन का होना-Vomiting)

६. जंघा (Calf muscles) एवं ऊरु (Thighs) में थकावट का अनुभव होना ।

ये सभी लक्षण ऊरुस्तंभ के पूर्वरूप में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–अहीनमिति सर्वदा युक्तम्-सूर्य एवं चन्द्रमा के समान जिसका तेज सर्वदा एक समान बना रहता हो । **समस्तानि**=मिलित रुप से । **दोषज इति पदं मानसागन्तुनिरासार्थम्**-दोषज शब्द का प्रयोग यहाँ आगन्तु एवं मानस व्याधियों के निराकरणार्थ किया गया है । क्योंकि इन दोनों में पञ्चकर्म प्रायः उपयोगी नहीं होता, यह प्रसिद्ध है । लेकिन दोषज व्याधियों में भी असाध्य व्याधियों को पञ्चकर्म द्वारा ठीक नहीं किया जा सकता । अतः उसके निराकरणार्थ-'साध्यस्येत्यादि' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् क्या साध्य दोषज व्याधियों में कोई भी ऐसी व्याधि है, जिसमें पञ्चकर्म उपयोगी नहीं होता ? यहाँ साध्य का सम्बन्ध 'सत्' से है ।

भूय ऊरुस्तम्भस्य कारणादीनि पृष्टो गुरुरब्रवीदिति सम्बन्धः–ऊरुस्तम्भ के कारणादि का वर्णन विस्तार से करना, अर्थात् अग्निवेश द्वारा ऊरुस्तंभ के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा के बारे में पूछने पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने विस्तार से उत्तर दिया । अर्थात् 'भूयः' का सम्बन्ध गुरु के विस्तृत उत्तर से है ।

Scanned by CamScanner

जीर्णाजीर्णे इति–अल्प मात्रा में अन्न का पाचन, शेष का अपक्व रहना 'जीर्णाजीर्ण' कहलाता है। आमं चितमिति-आहार का रसशेषाजीर्ण रूप को प्राप्त होना, अर्थात् आमरस का सञ्चय होना। कोष्ठ में उपलेप करते हुए आम का संचित होना।

मेदसा सहेति–मेद के साथ आमरस के मिलने पर, अर्थात् मेद मिश्रित आम वातादि का अवरोधक होता है, ऐसा जानना चाहिए। **आमं च ऊरुं गच्छत् त्रिदोषसहितमेव याति**-आमरस मेद के साथ संयुक्त होकर (मिलकर) दोषों के साथ ही उरु प्रदेश में चला जाता है। (कोष्ठ से ऊरु में पहुँच जाता है।)। सिरादिभिरिति=सिरा, स्रोतस् एवं धमनियों द्वारा मेद के साथ आमरस मिलकर दोषों के साथ ही ऊरु प्रदेश में गमन कर जाता है। **दोषो मेदोबलोत्कट इति**-आमरस द्वारा अवरुद्ध वातादि दोष बली होकर। जब 'दोषमेदोत्कट' पाठ होता तब भी इसका अर्थ-आम रस के द्वारा दूषित वातादि दोष, यह अर्थ होता। 'सक्थि' शब्द से यद्यपि जंघा एवं ऊरु (thighs) दोनों का ही ग्रहण हो जाता है, फिर भी उन दोनों (जंघा एवं ऊरु) का वर्णन होना उनमें दोषों का विशेष व्याप्त होना, अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् सक्थि, ऊरु एवं जंघा में आमदोष विशेष रूप से भर जाते हैं।

अविधेयपरिस्पंदमिति अस्वाधीनेन्द्रियम्–इन्द्रियों का अपने वश में न रहना, अर्थात् कार्य करने की इच्छा होने पर भी ऊरु, जंघा आदि अंगों के जकड़ जाने से न चल पाना। **अल्पविक्रममिति**-अल्प क्रियाशील होना अथवा कार्य न कर पाना, अर्थात् जंघा, ऊरु आदि का गति रहित होना।

'महासरस्रोत्यादि' के दृष्टान्त द्वारा 'ऊरुस्तम्भ' के उत्पादक प्रधान दोष कफ की प्रबलता को बताया गया है। यद्यपि यहाँ ऊरुस्तम्भ को त्रिदोषज व्याधि कहा गया है तथा सूत्रस्थान १९ वें अध्याय में भी- "एक ऊरुस्तम्भ आमत्रिदोषसमुत्थानः" के द्वारा इसे **आमत्रिदोषजन्य** स्वीकार किया गया है; फिर भी यहाँ कफ की प्रधानता होने से कफ का उपदेश किया गया है। इसी विषय को आगे ऊरु श्लेष्मेत्यादि (श्लोक नं. १४) के द्वारा ऊरुस्तंभ की निरुक्ति के साथ स्पष्ट किया गया है।

स्थैर्यशैत्याभ्यामित्यनेन–कफ के स्थैर्य (Stability) एवं शैत्य (Coldness) गुण के द्वारा ऊरु एवं जंघा में स्तंभन क्रिया होती है, यह दर्शाया गया है।

[सक्थि से सामान्यतया पूरे पैर का ग्रहण होता है, लेकिन जकड़ाहट या जड़ता विशेष रूप से ऊरु (Thighs) एवं जंघा (Calf muscle) में पायी जाती है।] ॥३-१५॥

विशेष–The spasticity (stambha) is associated with stiffness (Sthairya) and coldness (Śaitya) which are the attributes of Kapha. This implies the predominance of Kapha in the pathogenesis of this disease.

Dr. Bhagvan das.

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥१६॥

ऊरुस्तम्भ में स्नेहन क्रिया का निषेध–अज्ञानता के कारण इस व्याधि में चिकित्सक **वात व्याधि** की शङ्का करते हुए यदि स्नेहन चिकित्सा का प्रयोग करता है तब उसके पैरों की पीड़ा, सुप्तता तथा पैरों की जड़ता (Stiffness of the legs), कृच्छता (कठिनाई) से ठीक हो पाती है, अर्थात् रोगी अपने पैरों को कठिनाई से उठा पाता है।

चक्रपाणि–'वातशङ्किभिरित्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ रोग में स्नेह प्रयोग से होने वाले दोष को बताया गया है।

वातशङ्का चास्मिन् सुप्तिसंकोचादिवातसमानलिङ्गदर्शनाद्भवति-इस व्याधि में वात व्याधि का भ्रम-पैरों में सुप्ति का होना, संकोच आदि लक्षण मिलने के कारण होता है, क्योंकि यही लक्षण वातव्याधि में भी पाये जाते हैं। स्नेहन के प्रयोग से इस व्याधि की निवृत्ति आसानी से नहीं होती, अर्थात् व्याधि के लक्षण बढ़ जाते हैं। ॥१६॥

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदना। पदं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥१७॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः। अन्यनेयौ हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥१८॥
यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत्। ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात् साधयेदन्यथा नवम् ॥१९॥

ऊरुस्तम्भ के लक्षण (Signs and Symptoms of Ūrustambha)–

१. जङ्घा एवं ऊरु में अत्यधिक ग्लानि का होना (Excessive exhaustion of calf muscles and thighs)
२. ऊरु एवं जंघा में लगातार दाह एवं वेदना का होना (Constant pain with slight burning sensation)।
३. पैर (Foot) को जमीन पर रखने पर अत्यधिक पीड़ा का होना।
४. शीत स्पर्श का पैरों पर अनुभव न होना (Insensitivity to cold touch)।

Scanned by CamScanner

५. रोगी खड़ा होने, पैरो को दबाने, इधर-उधर हिलाने तथा चलने में स्वयं को असमर्थ पाता है। रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि उसके पैरों को कोई दूसरा चला रहा है, उसे अपने ऊरु एवं पैर टूटे हुए प्रतीत होते हैं।

ऊरुस्तम्भ की साध्यताऽसाध्यता (Prognosis of Ūrustambha)–जिस ऊरुस्तंभ के रोगी में पैरों में दाह (Burning sensation), पीड़ा (Pain), तोद (सुई चुभाने जैसी पीड़ा का होना) व वेपथु (सम्पूर्ण शरीर में कंपन का होना) मिलते हैं वह रोगी नहीं बचता, अर्थात् ऐसा रोगी असाध्य होता है। जिस रोगी में ये लक्षण नहीं मिलते हैं तथा व्याधि नवीन हो (शीघ्र उत्पन्न हुआ हो), वह रोगी साध्य होता है।

चक्रपाणि–'जङ्घोरुग्लानिरित्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ के भिन्न लक्षणों को बताया गया है। अन्य आचार्य इन लक्षणों से ऊरुस्तम्भ में स्नेहन चिकित्सा (ऊर्ध्व एवं अधः स्नेहन प्रयोग) द्वारा होने वाले असाध्य लक्षणों को बताते हैं, अर्थात् स्नेहन चिकित्सा के प्रयोग से व्याधि असाध्य हो जाती है।

शश्वच्चादाहवेदनेति–अल्परूप में दाह एवं वेदना का होना। अन्य आचार्य इससे 'बिना दाह के स्थिर वेदना का होना' अर्थ ग्रहण करते हैं। ॥१७-१९॥

तस्य न स्नेहनं कार्यं न बस्तिर्न विरेचनम्। न चैव वमनं यस्मात्तन्निबोधत कारणम् ॥२०॥
वृद्धये श्लेष्मणो नित्यं स्नेहनं बस्तिकर्म च। तत्स्थस्योद्धरणे चैव न समर्थं विरेचनम् ॥२१॥
कफं कफस्थानगतं पित्तं च वमनात् सुखम्। हर्तुमामाशयस्थौ च स्रंसनात्तावुभावपि ॥२२॥
पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि बस्तिभिर्मूलनिर्जयात्। शक्या न त्वामभेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः ॥२३॥
वातस्थाने हि तच्छैत्याद्वयोः स्तम्भाच्च तद्गताः। न शक्याः सुखमुद्धर्तुं जलं निम्नादिव स्थलात् ॥२४॥

पञ्चकर्म की निषिद्धता का हेतु–ऊरुस्तम्भ रोग में स्नेहन, बस्ति, विरेचन एवं वमन का प्रयोग जिन कारणों से नहीं कराया जाता, उन कारणों को मैं बतला रहा हूँ। हे अग्निवेश! उसे सुनो–

१. प्रतिदिन स्नेहन एवं बस्तिकर्म (अनुवासन बस्ति) के प्रयोग से कफ दोष की वृद्धि होने लगती है। ऊरु एवं जंघा में स्थित श्लेष्म दोष को निकालने में विरेचन क्रिया समर्थ (सक्षम) नहीं होती।

२. कफस्थान गत कफ व पित्त वमन द्वारा सुखपूर्वक निर्हरित हो जाता है। जब ये दोनों दोष आमाशय के अधोभाग में स्थित हों, अर्थात् पित्त व कफ आमाशय के अधोभाग में स्थित हो तब विरेचन द्वारा इनका निर्हरण किया जा सकता है एवं जब ये तीनों दोष (वात, पित्त व कफ) पक्वाशय के आश्रित होते हैं तब विविध प्रकार की बस्तियों के प्रयोग से इनका निर्हरण किया जाता है। अथवा इनके मूल दोष का निर्हरण कर दिया जाता है। लेकिन आम एवं मेद धातु के द्वारा स्तंभित (जकड़े) हुए वातादि दोष यदि जङ्घा एवं ऊरु के भाग में स्थित हों तब वमन, विरेचन एवं बस्ति द्वारा उनका निर्हरण नहीं किया जा सकता। जंघा एवं ऊरु ये दोनों वात के स्थान हैं, रोगी अवस्था में ये दोनों अवयव शीतल हो जाते हैं जिसके कारण प्रविष्ट दोष स्वाभावतः जकड़ जाते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त गहरे स्थान में स्थित जल का निष्कासन आसानी से नहीं हो पाता उसी प्रकार ऊरुप्रदेश में जकड़े हुए श्लेष्म प्रधान दोषों का भी निर्हरण सरलता से नहीं हो पाता।

चक्रपाणि–'तस्येत्यादि' के द्वारा स्नेहन, बस्ति आदि पञ्चकर्म चिकित्सा के निषेध के कारण को स्पष्ट किया गया है। स्नेहन चिकित्सा के दोष को यद्यपि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है, फिर भी यहाँ जिस प्रकार स्नेहन दोष युक्त होता है उसका प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् स्नेह के प्रयोग से कफ दोष की वृद्धि होती है, यह प्रतिपादित किया गया है। शिरोविरेचन की तो यहाँ कोई भूमिका ही नहीं है, क्योंकि प्रकुपित दोष कफ, आम, मेद **वात-पित्त** को दबाकर ऊरुप्रदेश में स्थित हो जाते हैं। स्नेहन से यहाँ स्नेहपान (आभ्यन्तर पान) एवं अभ्यङ्ग दोनों का ही ग्रहण किया गया है। बस्तिकर्म से स्नेहबस्ति या अनुवासन बस्ति का ग्रहण होता है। इन दोनों (स्नेहन एवं अनुवासन बस्ति) के द्वारा कफ की वृद्धि होती है। अथवा बस्तिकर्म से स्नेहबस्ति का ही भाव प्राप्त होता है, इससे अनुवासन बस्ति का ग्रहण करते हैं। **निरुह बस्ति** का भाव विरेचन शब्द से प्राप्त होता है, जो शोधन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ विरेचन शब्द से अधोविरेचन एवं निरूह बस्ति दोनों का ग्रहण होता है। अतएव **ऊरुस्तम्भ व्याधि** को दूर करने मे (ऊरुस्तम्भ के दोषों को दूर करने में) **निरूह बस्ति से लेकर सम्पूर्ण पञ्चकर्म चिकित्सा असमर्थ होती है,** यह कहा गया है। उक्त दोष के निर्हरण की असमर्थता को वमन, विरेचन एवं निरूह के क्रम को 'श्लेष्मस्थानगत' इत्यादि के द्वारा भी बताया गया है।

हर्तुं सुखमिति विभक्तिलिङ्गविपरिणामाद्वक्ष्यमाणेऽपि योजनीयम्–"हर्तुं सुखम्" यह कफ व पित्त में से एक-एक को वमन से निकालने में सरल है, अर्थात् सुखकर है। वे दोनों अगर आमाशय में स्थित हों तो उन्हें स्रंसन (विरेचन) द्वारा निकालना सुखकर है। आमाशयस्थ दोषों को निकालने में 'हर्तुं सुखम्' एक वचन का प्रयोग ठीक न होने से 'हर्तुं सुखे' अथवा 'हर्तुं सुखौ' करना चाहिए। 'पक्वाशयस्थाः सर्वेऽपि' में भी "बस्ति हर्तुं सुखाः" इस प्रकार करना चाहिए। इस प्रकार शब्दों का परिवर्तन विभक्ति अथवा लिङ्ग विशेष

Scanned by CamScanner

के बदलने पर विशेषण का बदलना भाषा का नियम है । 'सर्वेऽपि' से यहाँ वात, पित्त एवं कफ तीनों का ग्रहण किया गया है । 'मूलनिर्जयादिति'=व्याधि के मूल कारण के नष्ट हो जाने से, श्लेष्म स्थान गत दोष-वमन द्वारा, आमाशयस्थ दोष-विरेचन द्वारा तथा पक्वाशयस्थ दोष बस्ति द्वारा निर्हरित हो जाते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए । 'मूलनिर्जयादिति' से मूलोच्छेद होना अर्थ गृहीत है । वमनादि के साध्य विषय को दर्शाकर अब 'शक्या इत्यादि' के द्वारा असाध्य विषय को स्पष्ट किया गया है ।

'शक्या न त्वाममेदोभ्यां स्तब्धा जङ्घोरुसंस्थिताः'–आम एवं मेद के द्वारा स्तंभित दोष जङ्घा एवं ऊरु भाग में स्थित हो जाते हैं । अतः **आम व मेद** द्वारा स्तंभित दोषों को वमनादि प्रक्रिया द्वारा ऊरु एवं जंघा से नहीं निकाला जा सकता । दोषों के जंघा एवं ऊरु से न निकलने के अन्य हेतु को यहाँ-'वातस्थाने' इत्यादि के द्वारा बताया गया है ।

वातस्थाने इति-जङ्घा एवं ऊरु रूप वातस्थान में । **तच्छैत्यादिति–** वात के शैत्य गुण के कारण । ॥२०-२४॥

तस्य संशमनं नित्यं क्षपणं शोषणं तथा । युक्तपेक्षी भिषक् कुर्यादधिकत्वात्कफामयोः ।।२५।।
सदा रूक्षोपचाराय यवश्यामाककोद्रवान् । शाकैरलवणैर्दद्याज्जलतैलोपसाधितैः ।।२६।।
सुनिषण्णकनिम्बार्कवेत्रारग्वधपल्लवैः । वायसीवास्तुकैरन्यैस्तिक्तैश्च कुलकादिभिः ।।२७।।
क्षारारिष्टप्रयोगाश्च हरीतक्यास्तथैव च । मधूदकस्य पिप्पल्या ऊरुस्तम्भविनाशनाः ।।२८।।
समङ्गां शाल्मलीं बिल्वं मधुना सह ना पिबेत् । तथा श्रीवेष्टकोदीच्यदेवदारुनतान्यपि ।।२९।।
चन्दनं धातकीं कुष्ठं तालीसं नलदं तथा ।

ऊरुस्तम्भ व्याधि की चिकित्सा (Treatment of Ūrustambha)

१. इस व्याधि में कफ एंवं आम की अधिकता होने से चिकित्सक को युक्तिपूर्वक नित्य दोषों का शमन, क्षपण (दोषों को क्षीण करना) एवं शोषण कराना चाहिए ।

२. **रूक्षण क्रिया का प्रयोग**–शरीर में रूक्षता उत्पन्न करने के लिए रोगी को नित्य-यव, श्यामाक (साँवा), कोद्रव (कोदो) के आटे की रोटियाँ अथवा इनका भात एवं जल व तैल से साधित पत्रशाक जो लवण रहित हों अथवा अल्प लवण डालकर पकाये गये हों, खाने के लिए देना चाहिए ।

३. **ऊरुस्तम्भ रोग में पत्रशाकों का प्रयोग**–सुनिषण्णक (चतुष्पत्री=चौपतिया-Marsilea minuta), निम्बपत्र (नीम की पत्ती), अर्कपत्र (मदार की पत्ती), वेतसपत्र, अमलतास की पत्ती, वायसी (मकोय) की पत्ती, बथुआ की पत्ती, पटोलपत्र अथवा अन्य तिक्तवर्ग के द्रव्यों की पत्तियों का प्रयोग शाक के रूप में करना चाहिए ।

४. **ऊरुस्तम्भनाशक अन्य द्रव्य**–क्षार एवं अरिष्टों का प्रयोग, हरड़ का प्रयोग, मधूदक (जल में मधु घोलकर पीना) प्रयोग, पिप्पली का सेवन; इनके प्रयोग से ऊरुस्तम्भ रोग दूर हो जाता है । इन योगों का कुछ दिनों तक निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ।

५. समङ्गा (छुईमुई), शाल्मली (सेमल की गोंद) व बिल्व की गुद्दी ।

६. श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), उदीच्य (सुगन्धवाला), देवदारु एवं तगर ।

७. चन्दन, धातकीपुष्प, कूठ, तालीशपत्र एवं नलद (खश) ।

इन तीनों योगों (क्रमाङ्क ५,६,७) के द्रव्यों को अलग-अलग बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर ३-५ ग्राम की मात्रा में प्रातः दोपहर एवं सायं सेवन करें ।

चक्रपाणि–'तस्येत्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । ऊरुस्तम्भ में शमन चिकित्सा का ही प्रयोग करना चाहिए, शोधन चिकित्सा उपयोगी नहीं है ।

क्षपणं शोषणमामकफयोः कुर्यादिति योजना–आम एवं कफ दोष नाशक क्षपण (दोष नाशक=दोषों को अपने स्थान पर दबा देना) तथा शोषण (द्रव अंश को सुखाना-Absorption of the liquid fraction) चिकित्सा करनी चाहिए ।

तत्र क्षपणं सर्वथोच्छेदेन–दोषों को पूर्णतः नष्ट करना क्षपण कहलाता है । शोषण- से द्रवांश का शोषण करना (सुखाना) अर्थ गृहीत है । शोषण हेतु रूक्ष गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए । वायसी=काकमाची (मकोय) । कुलकं=कारवेल्लकम् (करेला) । शाल्मलं शाल्मलीवेष्टकम्-सेंमल की गोंद । इन सभी द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ करें । ॥२५-२९॥

मुस्तं हरीतकीं लोध्रं पद्मकं तिक्तरोहिणीम् ।।३०।।
देवदारु हरिद्रे द्वे वचां कटुकरोहिणीम् । पिप्पलीं पिप्पलीमूलं सरलं देवदारु च ।।३१।।

Scanned by CamScanner

चव्यं चित्रकमूलानि देवदारु हरीतकीम् । भल्लातकं समूलां च पिप्पलीं पञ्च तान् पिबेत् ।।३२।।
सक्षौद्रानर्धश्लोकोक्तान् कल्कानूरुग्रहापहान् ।

ऊरुस्तम्भनाशक अन्य योग–

१. नागरमुस्तक, हरड़, लोध्र (पठानीलोध्र), पद्मक (पद्मकाठ) एवं कुटकी ।

२. देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, वचा व कुटकी ।

३. पिप्पली, पिप्पलीमूल, सरल (चीड़) एवं देवदारु ।

४. चव्य, चित्रकमूल, देवदारु एवं हरीतकी ।

५. भिलावा की गुठली, पिप्पली एवं पिप्पलीमूल ।

अर्ध श्लोक में पठित इन पाँचों योगों के अलग-अलग कल्क बनाकर मधु के साथ सेवन करने से ऊरुस्तम्भ रोग नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणि–'मुस्तमित्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ रोग नाशक पाँच योगों का वर्णन आधे-आधे श्लोक में किया गया है । ॥३०-३२॥

शार्ङ्गेष्टां मदनं दन्तीं वत्सकस्य फलं वचाम् ।।३३।।
मूर्वामारग्वधं पाठां करञ्जं कुलकं तथा । पिबेन्मधुयुतं तुल्यं चूर्णं वा वारिणाऽऽप्लुतम् ।।३४।।
सक्षौद्रं दधिमण्डैर्वाऽप्यूरुस्तम्भविनाशनम् । मूर्वामितिविषां कुष्ठं चित्रकं कटुरोहिणीम् ।।३५।।
पूर्ववद्गुग्गुलुं मूत्रे रात्रिस्थितमथापि वा । स्वर्णक्षीरीमितिविषां मुस्तं तेजोवतीं वचाम् ।।३६।।
सुराढ्यं चित्रकं कुष्ठं पाठां कटुकरोहिणीम् । लेहयेन्मधुना चूर्णं सक्षौद्रं वा जलाप्लुतम् ।।३७।।
फलीं व्याघ्रनखं हेम पिबेद्वा मधुसंयुतम् । त्रिफलां पिप्पलीं मुस्तं चव्यं कटुकरोहिणीम् ।।३८।।
लिह्याद्वा मधुना चूर्णमूरुस्तम्भार्दितो नरः ।

शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण–घटक द्रव्य-

१. शार्ङ्गेष्टा (गुञ्जा फल)	-	१ भाग	६. अमलतास की गुद्दी	-	१ भाग
२. मदनफल	-	१ भाग	७. पाठा	-	१ भाग
३. दन्तीमूल	-	१ भाग	८. करञ्ज	-	१ भाग
४. इन्द्रयव	-	१ भाग	९. पटोलपत्र	-	१ भाग
५. बालवच (पाठ भेद-त्वचाम् - दालचीनीत्वक्)	-	१ भाग	१०. मूर्वा	-	१ भाग

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट करके Mixer में पीस कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें ।

अनुपान–मधु या जल अथवा दही का पानी + मधु

मात्रा–३-६ ग्राम प्रातः एवं सायंकाल । यह योग ऊरुस्तम्भ नाशक है ।

मूर्वादि योग–१. मूर्वा, अतिविषा (अतीस), कूठ, चित्रकमूल, एवं कुटकी; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर यवकुट करके सूक्ष्म चूर्ण बनाकर रख लें । इस चूर्ण का सेवन ३-६ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ करें । अथवा मधूदक के साथ सेवन करें । अथवा दही का पानी + मधु के साथ लें ।

२. शोधित गुग्गुलु को गोमूत्र में घोलकर रात भर रखें, पश्चात् प्रातः काल छानकर पीवें ।

१. स्वर्णक्षीर्यादि योग–घटक द्रव्य-

→ स्वर्णक्षीरी की जड़	-	१ भाग	→ देवदारु	-	१ भाग
→ अतिविषा	-	१ भाग	→ चित्रक की जड़	-	१ भाग
→ नागरमुस्तक	-	१ भाग	→ कूठ	-	१ भाग
→ तेजोवती (नेपाली धनियाँ)	-	१ भाग	→ पाठामूल	-	१ भाग
→ बालवच	-	१ भाग	→ कुटकी	-	१ भाग

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कूट पीस कर सूक्ष्म चूर्ण बना लें । इस चूर्ण को ३-६ ग्राम की मात्रा में मधु अथवा मधूदक (मधु को पानी में घोलकर) के साथ सेवन करें ।

Scanned by CamScanner

२. फली (वरगद की छाल या प्ररोह), व्याघ्रनखी, हेम (नागकेशर); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन मधु के साथ करें।

३. हरड़, बहेड़ा, आँवला, पिप्पली, नागरमुस्तक, चव्य एवं कुटकी; सभी द्रव्य १-१ भाग लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग मधु के साथ करने से ऊरुस्तम्भ रोग से व्यक्ति मुक्त हो जाता है।

चक्रपाणि–शार्ङ्गेष्टा=गुञ्जा। स्वादुकण्टक=विकङ्कत। **पूर्ववदिति**-मूर्वादि योग का प्रयोग पूर्वयोग की भाँति करें। अर्थात् मूर्वादि चूर्ण को मधु के साथ अथवा जल के साथ अथवा दही के पानी में मधु मिलाकर सेवन करें।

गुग्गुलुं च मूत्रे उषितं पिबेदिति योज्यम्–गुग्गुलु को गोमूत्र में उबालकर पीना चाहिए, अथवा जल में घोलकर पीना चाहिए। फली से न्यग्रोध (वट) के प्ररोह का ग्रहण किया गया है। हेम=नागकेशर। ॥३३-३८॥

अपतर्पणजश्चेत् स्याद्दोषः संतर्पयेद्धि तम् ।।३९।।
युक्त्या जाङ्गलजैर्मांसैः पुराणैश्चैव शालिभिः । रूक्षणाद्वातकोपश्चेन्निद्रानाशार्तिपूर्वकः ।।४०।।
स्नेहस्वेदक्रमस्तत्र कार्यो वातामयापहः । पीलुपर्णी पयस्या च रास्ना गोक्षुरको वचा ।।४१।।
सरलागुरुपाठाश्च तैलमेभिर्विपाचयेत् । सक्षौद्रं प्रसृतं तस्मादञ्जलिं वाऽपि ना पिबेत् ।।४२।।
कुष्ठश्रीवेष्टकोदीच्यसरलं दारु केशरम् । अजगन्धाऽश्वगन्धा च तैलं तैः सार्षपं पचेत् ।।४३।।
सक्षौद्रं मात्रया तच्चाप्यूरुस्तम्भार्दितः पिबेत् । (रौक्ष्यान्मुक्तं ऊरुस्तम्भात्ततश्च स विमुच्यते ।।४४।।)
द्वे पले सैन्धवात् पञ्च शुण्ठ्या ग्रन्थिकचित्रकात् । द्वे द्वे भल्लातकास्थीनि विंशतिर्द्वे तथाऽऽढके ।।४५।।
आरनालात् पचेत् प्रस्थं तैलस्यैतैरपत्यदम् । गृध्रस्यूरुग्रहाशोर्तिसर्ववातविकारनुत् ।।४६।।
पलाभ्यां पिप्पलीमूलनागरादष्टकट्वरः । तैलप्रस्थः समो दध्ना गृध्रस्यूरुग्रहापहः ।।४७।।

इत्यष्टकट्वरतैलम् ।

ऊरुस्तम्भरोग में मांसरस का प्रयोग–१. यदि अपतर्पण चिकित्सा या आहार के सेवन से दोष प्रकुपित है तब रोगी को युक्तिपूर्वक जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ पुराने शाली चावल का भात खाने के लिए देना चाहिए।

२. यदि रूक्षण चिकित्सा के कारण वायु प्रकुपित है तथा रोगी में अनिद्रा एवं बेचैनी बढ़ रही हो, ऐसी अवस्था में स्नेहन स्वेदन के प्रयोग के साथ-साथ वातनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

[रूक्षण चिकित्सा द्वारा आम की अवस्था दूर हो जाने एवं निराम वायु की वृद्धि की अवस्था में वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।]

पीलुपर्ण्यादि तैल–घटक द्रव्य-१. कल्क द्रव्य- १/४ भाग (स्नेह का १/४ भाग)

• पीलुपर्णी	-	१ भाग	• वच	-	१ भाग
• पयस्या (विदारीकन्द)	-	१ भाग	• सरल (चीड़)	-	१ भाग
• रास्ना	-	१ भाग	• अगरु	-	१ भाग
• गोखरू	-	१ भाग	• पाठा	-	१ भाग

२. तिल तैल - १ भाग

३. जल - ४ भाग (स्नेह का ४ गुना)

निर्माण विधि–तिल तैल - १ भाग, जल - ४ भाग, कल्क (संयुक्त रूप से स्नेह का १/४ भाग) लेकर एक पात्र में मिलावें एवं तैलपाक विधि के अनुसार तैल को सिद्ध करें।

इस तैल को १ प्रसृत = (८ तोला) से १ अञ्जलि (४ पल) मात्रा में लेकर मधु मिलाकर रोगी को पीना चाहिए।

(वर्तमान में यह मात्रा कम ग्रहण करनी चाहिए।)

कुष्ठादि तैल–घटक द्रव्य-कूठ, श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा), उदीच्य (सुगन्धवाला), सरल (चीड़), देवदारु, नागकेशर, अजगन्धा (अजमोदा) तथा अश्वगंधा- इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित कल्क स्नेह (सरसो के तैल) का १/४ भाग ग्रहण करें। सरसो का तैल १ भाग एवं जल - ४ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल को पकावें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर एक पात्र में सुरक्षित रख लें। ऊरुस्तम्भ रोग में इस तैल को मात्रापूर्वक सेवन करें।

[मात्रा ४-८ तोला, मधु के साथ] इसके सेवन से ऊरुस्तम्भ व्याधि दूर हो जाती है।

Scanned by CamScanner

सैन्धवादि तैल–सैन्धव लवण - २ पल (८ तोला), शुण्ठी (सोंठ) - ५ पल (२० तोला), ग्रन्थि (पिपरामूल) - २ पल (८ तोला), चित्रकमूल - २ पल (८ तोला), भिलावा की गुठली - २० (संख्या); सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क द्रव्यों को लेकर उसमें काञ्जी - २ आढक (५१२ तोला), सरसो का तैल - १ प्रस्थ (६४ तोला) डालकर, तैल सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–मात्रापूर्वक इस तैल के सेवन करने से गृध्रसी (Sciatic pain), ऊरुस्तम्भ (Spasticity of the thighs), अर्श (Piles) एवं सभी प्रकार की वातव्याधियाँ दूर हो जाती हैं। इसके साथ ही इस तैल के पीने से अपत्य (पुत्र) की प्राप्ति होती है, अर्थात् यह तैल अपत्योत्पादक भी है।

अष्टकट्वर तैल–पिप्पलीमूल - १ पल (४ तोला), शुण्ठी (सोंठ) - १ पल (४ तोला) लेकर कल्क बना लें। इस कल्क में कल्क से ८ गुना कट्वर (सार युक्त दही का मट्ठा) - १६ पल (१ प्रस्थ = ६४ तोला), सरसो का तेल - १ प्रस्थ (१६ पल), गाय के दूध की दही १ प्रस्थ (६४ तोला) डालकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर उसे छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस तैल के मात्रापूर्वक सेवन करने से गृध्रसी (Sciatic pain) एवं ऊरुस्तम्भ (Spasticity of thighs) दोनों व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चक्रपाणि–'अपतर्पणज इत्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ की अवस्थानुसार चिकित्सा को बताया गया है। 'रूक्षणादित्यादि' के द्वारा अवस्थानुसार इस व्याधि में स्नेह विधान का निर्देश दिया गया है। अर्थात् ऊरुस्तम्भ में प्रयुक्त रूक्षण चिकित्सा द्वारा यदि रोगी में वात की वृद्धि हो जाय तथा अनिद्रा एवं वेदना होने लगे तब ऐसी अवस्था में स्नेहन, स्वेदन के पश्चात् वातनाशक चिकित्सा करने का विधान बताया गया है। अतः ऊरुस्तम्भ की सामान्य चिकित्सा में निर्देशित **स्नेह निषेध के विधान** का यहाँ विरोध नहीं होता, क्योंकि स्नेह प्रयोग व्याधि की विशेष अवस्था में किया गया है। यह विधि अपवाद स्वरूप है। पीलुपर्णी=मोरट, अन्य आचार्य इससे 'रास्नाभेद' का ग्रहण करते हैं। (पीलुपर्णी को रास्ना का एक भेद स्वीकार करते हैं।) **सक्षौद्रमिति पादिकक्षौद्रम्**-स्नेह का चतुर्थांश मधु मिलावें, यथा-स्नेह की मात्रा १ प्रसृत (८ तोले) है तब उसमें २ तोले मधु मिलाकर सेवन करें। अजगन्धा=अजमोदा (वन्य यवानी)। **भल्लातकास्थीनि विंशतिरिति**-भल्लातक की गुठली संख्या में बीस लें।

पलाभ्यामिति पिप्पल्यादिसमुदायात् पलाभ्याम्–पिप्पली आदि प्रत्येक द्रव्य १-१ पल ग्रहण करें।

अष्टकट्वर इति तैलादष्टगुणं कट्वरं यस्मिन् तैलप्रस्थे स अष्टकट्वरः; तैल से ८ गुना कट्वर (तक्र) को लेना चाहिए। तैल की मात्रा - १ प्रस्थ, कट्वर (तक्र) - ८ प्रस्थ लें। ॥३९-४७॥

इत्याभ्यन्तरमुद्दिष्टमूरुस्तम्भस्य भेषजम्। श्लेष्मणः क्षपणं त्वन्यद्बाह्यं शृणु चिकित्सितम् ॥४८॥
वल्मीकमृत्तिका मूलं करञ्जस्य फलं त्वचम्। इष्टकानां ततश्चूर्णैः कुर्यादुत्सादनं भृशम् ॥४९॥
मूलैर्वाऽप्यश्वगन्धाया मूलैर्कस्य वा भिषक्। पिचुमर्दस्य वा मूलैरथवा देवदारुणः ॥५०॥
क्षौद्रसर्षपवल्मीकमृत्तिकासंयुतैर्भिषक्। गाढमुत्सादनं कुर्यादूरुस्तम्भे प्रलेपनम् ॥५१॥
दन्तीद्रवन्तीसुरासर्षपैश्चापि बुद्धिमान्। तर्कारीशिग्रुसुरसाविश्वदत्सकनिम्बजैः ॥५२॥
पत्रमूलफलैस्तोयं श्रृतमुष्णं च सेचनम्। पिष्टं तु सर्षपं मूत्रेऽभ्युषितं स्यात् प्रलेपनम् ॥५३॥
वत्सकः सुरसं कुष्ठं गन्धास्तुम्बुरुशिग्रुकौ। हिंस्रार्कमूलवल्मीकमृत्तिकाः सकुठेरकाः ॥५४॥
दधिसैन्धवसंयुक्तं कार्यमेतैः प्रलेपनम्। (ऊरुस्तम्भविनाशाय भिषजा जानता क्रमम् ॥५५॥)
श्योनाकं खदिरं बिल्वं बृहत्यौ सरलासनौ। शोभाञ्जनकतर्कारीश्चदंष्ट्रासुरसार्जकान् ॥५६॥
अग्निमन्थकरञ्जौ च जलेनोत्क्वाथ्य सेचयेत्। प्रलेपो मूत्रपिष्टैर्वाऽप्यूरुस्तम्भनिवारणः ॥५७॥
कफक्षयार्थं शक्त्येषु व्यायामेष्वनुयोजयेत्। स्थलान्याक्रामयेत् कल्यं शर्कराः सिकतास्तथा ॥५८॥
प्रतारयेत् प्रतिस्रोतो नदीं शीतजलां शिवाम्। सरश्च विमलं शीतं स्थिरतोयं पुनः पुनः ॥५९॥
तथा विशुष्केऽस्य कफे शान्तिमूरुग्रहो व्रजेत्।

इस प्रकार ऊरुस्तम्भ में प्रयुक्त होने वाली आभ्यन्तर चिकित्सा का विवेचन किया गया। अब आगे कफ दोष को क्षीण करने वाली बाह्य चिकित्सा का विवेचन किया जा रहा है। हे अग्निवेश ! उसे सुनो–

ऊरुस्तम्भ में उपयोगी बाह्य औषधियाँ–

१. बाल्मीक मिट्टी (दीमक या चींटी द्वारा चाली गयी मिट्टी), करञ्जमूल (करञ्ज की जड़), करञ्ज फल, करञ्ज की छाल तथा ईंट का चूरा; सभी द्रव्य एक-एक भाग लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग उत्सादन के रूप में करें। अर्थात् इस चूर्ण में यव का आटा, सरसो का तैल आदि मिलाकर उबटन के रूप में प्रभावित भाग पर लगावें।

Scanned by CamScanner

२. **अश्वगन्धादि उत्सादन**–ऊरुस्तम्भ रोग में अधोलिखित द्रव्यों से उत्सादन करना चाहिए–क. अश्वगंधा चूर्ण, ख. मदार (अर्क) मूलत्वक चूर्ण, ग. नीम की छाल का चूर्ण, घ. देवदारु की छाल का चूर्ण ।

चिकित्सक को इन द्रव्यों के चूर्ण में (किसी एक द्रव्य के चूर्ण में) मधु, सरसो का कल्क व वल्मीक मिट्टी मिलाकर उबटन बनाना चाहिए। इस प्रकार यहाँ चार योग बताये गये हैं ।

३. **दन्त्यादि प्रलेप**–दन्ती, द्रवन्ती, तुलसी का वीज, सरसो; सभी द्रव्य १-१ भाग लेकर जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस लेप को ऊरुस्तम्भ का रोगी प्रभावित भाग पर लगावे ।

४. **तर्कार्यादि लेप**–तर्कारी, शोभाञ्जन, तुलसी, शुण्ठी (सोंठ), नीम, कुटज; इन द्रव्यों के पत्र, मूल (जड़) एवं फल के कल्क का लेप करें तथा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से प्रभावित भाग को धोना (परिषेचन करना) चाहिए ।

५. सरसों को पीसकर गोमूत्र में रातभर भिगो दें । प्रातः काल इसके कल्क का ऊरु एवं जंघा पर लेप करें । [गोमूत्र उतना ही डालें जिससे लेप बन जाय]

६. **वत्सकादि लेप**–कुटज वृक्ष की छाल, तुलसी पत्र, कूठ, अगर, तुम्बरु (नेपाली धनियाँ), शिग्रु (सहिजन की छाल), हिंस्रा की जड़, अर्क (मदार) की जड़ (जड़ से मूलत्वक् का ग्रहण करते हैं), वल्मीक मिट्टी (बामी की मिट्टी), कुठेरक (तुलसी भेद); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर दही एवं सैन्धव नमक के साथ पीसकर लेप बना लें । इस लेप को ऊरु एवं जङ्घा पर लगावें । इसके प्रयोग से ऊरुस्तम्भ रोग दूर हो जाता है ।

७. **श्योनाकादि प्रलेप एवं परिषेक**–श्योनाक की छाल, खदिरवृक्ष की सार, बिल्व की छाल, बृहतीमूल, कण्टकारी की जड़, सरल (चीड़) वृक्ष की लकड़ी, असनसार (विजयसार), शोभाञ्जन (सहिजन की छाल), तर्कारी, श्वदंष्ट्रा (गोखरू), सुरसा (तुलसी पत्र), अर्जक (तुलसी भेद), अग्निमन्थ की छाल एवं करञ्ज बीज; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण को गोमूत्र में पीसकर कल्क बनाकर प्रभावित भाग पर लेप करें, अथवा इन द्रव्यों से निर्मित गुनगुने (कोष्ण) क्वाथ (Decoction) से प्रभावित भाग पर परिषेक (Sprinkling– छिड़काव या धोना) करें । लेप भी गुनगुना करके लगावें । यह योग ऊरुस्तम्भ नाशक है ।

ऊरुस्तम्भ रोग में उपयोगी विहार–इस व्याधि में कफ के क्षय के लिए रोगी जिन व्यायामों को कर सके, उसे करने के लिए प्रेरित करना चाहिए । रोगी को उन स्थानों पर टहलाना चाहिए जहाँ कंकड़ पत्थर अथवा बालू हो, अर्थात् कंकरीली एवं बालू वाली भूमि पर टहलाना चाहिए । शीतल जल युक्त व कल्याणकारी (जहाँ हानि होने की संभावना न हो) नदी में बहाव के विपरीत दिशा में रोगी को तैराना चाहिए अथवा स्वच्छ, शीतल, स्थिर एवं बहाव रहित तालाब में रोगी को बार-बार तैरावें । इन क्रियाओं के प्रयोग से ऊरु प्रदेश में अवरुद्ध कफ सूख जाता है, अथवा क्षीण हो जाता है । फलतः ऊरुस्तम्भ व्याधि दूर हो जाती है ।

चक्रपाणि–पिचुमर्द=नीम । द्रवन्ती=दन्तीभेद । तर्कारी=जयन्ती 'गन्धा इति' से अगरु आदि गन्ध द्रव्यों का ग्रहण किया गया है । कुठेरक=पर्णासभेद । **शक्येषु वोढुं शक्येषु**-जिन व्यायामों को रोगी कर सके, उन व्यायामों को कराना चाहिए । कल्यम्=प्रातः, रोगी को व्यायाम आदि कराने का कार्य प्रातः काल करना चाहिए ।

शिवामिति=कल्याणकारी जल या तालाब अथवा नदी, जल ऐसा होना चाहिए जिसमें हिंसक जलीय जन्तु सर्प, जोंक आदि न हो तथा जिसमें रोगी सुगमता पूर्वक तैर सके । अर्थात् सरोवर आदि ऐसा हो जहाँ रोगी सुगमता पूर्वक तैर सके । (ज्यादा गहरा न हो) यहाँ यह शंका है कि जल प्रतरण (जल में तैरना) कैसे कफ क्षय कारक होता है ? प्रायः देखा जाता है कि जल सम्बन्ध मात्र से ही कफ की वृद्धि होती है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

ऊरुस्तम्भ व्याधि में वायु एवं कफ की वृद्धि होती है । सामान्यतया तैरते समय जल के सम्पर्क से कफ की वृद्धि होती है । लेकिन इस व्याधि की अवस्था में शारीरिक व्यायाम करने अथवा जल में तैरने पर शरीर से जो ऊष्मा निकलती है वह शरीर से बाहर न निकलकर शरीर में रहते हुए कफ को तोड़ डालती है अथवा कफ का भेदन कर देती है । इस प्रकार जल में तैरने एवं व्यायाम से कफ का क्षय होता है । कभी-कभी समान क्रिया के द्वारा विरुद्ध प्रभाव भी दिखता है, अर्थात् 'ठण्डे जल में तैरना' कफ क्षय का कारण होता है । कहा भी गया है, यथा-"भवेत् कदाचित् कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया" [कभी-कभी सम हेतु द्वारा विरुद्ध कार्य भी हो जाता है ।] (चि.अ. ३०) इति । ॥४८-५९॥

श्लेष्मणः क्षपणं यत् स्यान्न च मारुतमावहेत् ॥६०॥
तत् सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम् । शरीरं बलमग्निं च कार्यैषा रक्षता क्रिया ॥६१॥

Scanned by CamScanner

सामान्य चिकित्सा सूत्र–जो औषध, अन्न एवं विहार कफ के नाशक हों तथा वात प्रकोपक न हों। उन्हीं औषधियों का प्रयोग हमेशा ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा में करना चाहिए। इस प्रकार चिकित्सक हमेशा रोगी के शारीरिक बल एवं जाठराग्नि की रक्षा करते हुए ऊरुस्तम्भ व्याधि की चिकित्सा करे।

चक्रपाणि–'श्लेष्मण इत्यादि' के द्वारा ऊरुस्तम्भ की चिकित्सा को संक्षेप में बताया गया है। ॥६०-६१॥

तत्र श्लोकः–

हेतुः प्राग्रूपलिङ्गानि कर्मायोग्यत्वकारणम्। द्विविधं भेषजं चोक्तमूरुस्तम्भचिकित्सिते ॥६२॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने ऊरुस्तम्भचिकित्सितं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–इस ऊरुस्तम्भचिकित्सा नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों को स्पष्ट किया गया है–

१. ऊरुस्तम्भ के उत्पादक कारण (Etiology of the disease)।
२. ऊरुस्तम्भ रोग के पूर्वरुप (Premonitory signs and symptoms)।
३. व्याधि के लक्षण (Signs and Symptoms of the disease)।
४. पञ्चकर्म की अयोग्यता का हेतु।
५. दो प्रकार की चिकित्सा (बाह्य एवं आभ्यन्तर चिकित्सा)।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित अंश में चिकित्सा स्थान के अन्तर्गत ऊरुस्तम्भचिकित्सा नामक सत्ताइसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि–'हेतुरित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों को संक्षेप में बताया गया है, अथवा विषय का उपसंहार किया गया है। **कर्मायोग्यत्वकारणमिति पञ्चकर्मायोग्यत्वे हेतुः 'वृद्ध्ये श्लेष्मण' इत्यादिनोक्तो ज्ञेयः**-पञ्चकर्म चिकित्सा यहाँ असफल होती है, अथवा कार्यकारी नहीं है, इसके हेतु को 'वृद्धये श्लेष्मण' इत्यादि के द्वारा श्लोक नं. २१ में स्पष्ट किया गया है। **द्विविधमिति**-दो प्रकार की चिकित्सा से यहाँ-बाह्य (लेप, उत्सादन आदि) एवं आभ्यन्तर (रूक्ष आहार का सेवन तथा तैल का आभ्यन्तर सेवन) चिकित्सा का ग्रहण किया गया है। भेषजमिति=औषध।

विशेष–संक्षेप में चक्रदत्त में ऊरुस्तम्भ की चिकित्सासूत्र को आचार्य चक्रपाणि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

"श्लेष्मणः क्षपणं यत् स्यान्न च मारुतकोपनम्।
तत् सर्वं सर्वदा कार्यमूरुस्तम्भस्य भेषजम्॥
न तस्य स्नेहनं कार्य्यं न वस्तिर्न विरेचनम्।
सर्वो रूक्षःक्रमः कार्यस्तत्रादौ कफनाशनः।
पश्चात् वातविनाशाय कृत्स्नः कार्यः क्रियाक्रमः॥

१. ऊरुस्तम्भ व्याधि की चिकित्सा हेतु उन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए जो कफ का नाश करती हों एवं वात प्रकोपक न हों।

२. इसमें स्नेहन (वाह्य एवं आभ्यन्तर स्नेह), बस्ति (अनुवासन बस्ति) एवं विरेचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

३. सबसे पहले ऊरुस्तम्भ रोग में कफनाशक रूक्षण चिकित्सा करनी चाहिए। इसके बाद आम के नष्ट हो जाने अथवा कफ के क्षय हो जाने पर वात प्रकोप की स्थिति में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में ऊरुस्तम्भचिकित्सा नामक सत्ताइसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥२७॥

Scanned by CamScanner

अष्टविंशोऽध्यायः ।

अथातो वातव्याधिचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद वातव्याधि चिकित्सा की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि–ऊरुस्तम्भ भेषजेन विरूक्षणाद्वातप्रकोपो भवतीति संबन्धादूरुस्तम्भानन्तरं वातव्याधि चिकित्सितमुच्यते- ऊरुस्तम्भ व्याधि में रूक्षण चिकित्सा के द्वारा वात का प्रकोप होता है, इस सम्बन्ध से ऊरुस्तम्भ चिकित्सा के बाद वातव्याधि की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । (जहाँ वातव्याधि की निरुक्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है)- तत्र 'वात एव व्याधि'-'वात ही व्याधि है' इस पक्ष के अनुसार-वायु अपने प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित (वृद्ध) होकर उस-उस दूष्य (रसादि धातुओं) को प्राप्त होकर अथवा उसमें पहुँचकर शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों अथवा एक भाग में विविध प्रकार की पीड़ा को उत्पन्न करती है, इस कारण इसे वातव्याधि कहते हैं ।

जब 'वाताद्व्याधिः वातव्याधि': इस पक्ष को स्वीकार करते हैं तब 'वात से उत्पन्न व्याधि वातव्याधि' कही जाती है। इस पक्ष के अनुसार वायु अपने विशेष प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित होकर दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के परिणाम स्वरूप सर्वाङ्ग एवं एकाङ्ग रूप जिस विशेष व्याधि को उत्पन्न करती है, उसे **वातव्याधि** कहते हैं ।

यद्यपि ज्वरादि व्याधियाँ भी वात से उत्पन्न होती हैं फिर भी वे बिना वायु के अन्य दोषों के द्वारा भी उत्पन्न हो जाती हैं, ऐसा स्वीकार करते हुए उन्हें यहाँ (शास्त्र में) वातव्याधि शब्द से नहीं कहा गया है । [No doubt, fever, etc. are also caused by vāyu. But they can not be called vāta-vyādhi because there is possibility of such diseases being caused by other doṣas also (Without Vāyu) - Dr. Bhagvan Das]

इस अध्याय में कफपित्तावृत वातविकारों को वातव्याधि के रूप में कहा गया है; वे व्याधियाँ भी बिना वात की प्रधानता के नहीं होती । अतः वे वातव्याधि के ही समान हैं, ऐसा कहा जा सकता है ।

इस अध्याय में वातिक नानात्मज व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन अलग से किया गया है तथा पित्तज एवं कफज नानात्मक व्याधियों की चिकित्सा अन्त में बतायी गयी है । अतः पित्तज व कफज नानात्मक व्याधियों में वायु (वात) उतना मुख्य (प्रधान) नहीं होता जितना वातिक नानात्मक व्याधियों में होता है । इसलिये आविष्कृततम वातज व्याधियों की पृथक् चिकित्सा का उल्लेख है तथा आविष्कृततम कफज व पित्तज व्याधियों की वमन-विरेचन रूप कफपित्तनाशक चिकित्सा की जाती है, ऐसा जानना चाहिए । [अतः उनका यहाँ विस्तार नहीं किया गया है ।] ।।१-२।।

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम् । वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ।।३।।

वायु का महत्त्व (Importance of Vāyu)–वायु ही शरीर धारियों की आयु, बल एवं धाता है । वायु ही विश्वरूप है, अर्थात् सम्पूर्ण संसार में वायु ही व्याप्त है तथा वायु ही सबका स्वामी (प्रभु) है, ऐसा कहा जाता है ।

चक्रपाणि–वायु के विकारों को बताने के लिए, यह आवश्यक है कि पहले उसके स्वाभाविक गुणों को स्पष्ट किया जाय, अतः यहाँ 'वायुरित्यादि' के द्वारा उसके स्वाभाविक गुणों को बताया गया है ।

यद्यपि शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोग आयुः, तथाऽपि तादृशसंयोगे प्रधानत्वात् प्रकृतिस्थो वायुरप्यायुरुच्यते–यद्यपि शरीर (Physique), इन्द्रिय (Senses), मन (Mind) एवं आत्मा (Soul) के संयोग को आयु कहा जाता है, फिर भी वैसा संयोग होने में प्रकृतिस्थ वायु की ही मुख्य भूमिका होने से उसे (वायु को) 'आयु' कहा जाता है । इसी प्रकार बल का भी हेतु वायु है' ऐसा करते हुए-वायु शरीर का आधार कारण होने से बल का भी कारण 'वायु' ही होता है, इस कारण वायु को ही बल कहा गया है । वायु ही सम्पूर्ण विश्व एवं प्रभु (भगवान्) है, इसका विवेचन सू.अ. १२ (वातकलाकलीय अध्याय) में किया जा चुका है । ।।३।।

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः । वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ।।४।।

वायु ही आयु का हेतु है–जिस पुरुष के शरीर में वायु की गति कहीं अवरुद्ध न होती हो, अर्थात् जिसके सम्पूर्ण स्रोतस् खुले हों, अवरुद्ध न हों एवं जिसके शरीर में वायु अपने प्राकृत रूप में अपने-अपने स्थान पर स्थित हो । ऐसा व्यक्ति नीरोग रहते हुए सौ वर्ष से अधिक जीवन व्यतीत करता है ।

चक्रपाणि–वायु ही आयु का हेतु है जिसे यहाँ-'अव्याहतेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । **अव्याहतगतिः अपरित्यक्तस्वमार्गः**-वायु का गमन स्रोतावरोध के कारण अन्य मार्गों में न हुआ हो, अर्थात् वायु का मार्ग आवृत (अवरुद्ध) न हो ।

Scanned by CamScanner

स्थानस्थ इति न विमार्गः–वायु अपने स्वाभाविक मार्ग में स्थित हो, अर्थात् विमार्गगमन न की हो (अन्य मार्गों में न पहुँचना)।

प्रकृतौ स्थित इति अक्षीणवृद्धः–प्राकृत मान से यहाँ क्षय व वृद्धि का न होना अर्थ लिया गया है। **वीतरोग इति नीरोगः**-रोग रहित होना अर्थात् आरोग्य युक्त रहते हुए सौ वर्ष तक जीना। (वेदों में आरोग्य युक्त रहते हुए कम से कम १०० वर्ष तक जीने की कामना की गयी है, यथा-"जीवेम शरदः शतम्")

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा । देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ।।५।।
स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकण्ठजिह्वास्यनासिकाः । ष्ठीवनक्षवथूद्गारश्वासाहारादि कर्म च ।।६।।
उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च । वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौर्जोबलवर्णादि कर्म च ।।७।।
स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः । अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ।।८।।
देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम् । गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ।।९।।
वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम् । अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च ।।१०।।
सृजत्यार्तवगर्भौ च युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते । स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते तैरनामयः ।।११।।

वायु के भेद (Divisions of Vāyu)–वायु पाँच प्रकार की होती है,- यथा-१. प्राणवायु, २. उदानवायु, ३. समानवायु, ४. व्यानवायु एवं ५. अपानवायु। इन पाँचों भागों में विभक्त होकर वायु अपने-अपने स्वाभाविक स्थान पर अव्याहत रूप में (बिना रुकावट के) गति करते हुए सम्यक् प्रकार से शरीर का सञ्चालन करती है।

१. प्राणवायु के स्थान एवं कर्म–मूर्धा (सिर Head), उरः (छाती-Chest), कण्ठ (Throat-गला, पाठभेद में 'मूर्धोरः कर्णजिह्वास्यनासिका' के द्वारा कण्ठ के स्थान पर 'कर्ण' प्राप्त होता है।), जिह्वा (जीभ), आस्य (मुख) एवं नासिका; मुख्य रूप से प्राणवायु के स्थान हैं। ष्ठीवन (Spitting-थूकना), क्षवथु (छींकना-Sneezing), उद्गार (डकारों का आना-eructation), श्वास (Respiration-श्वास लेना एवं छोड़ना) एवं आहार (आहार निगलना) आदि कर्म प्राणवायु के होते हैं।

२. उदानवायु के स्थान एवं कर्म–**स्थान**-नाभि (Umbilicus), उरः (Chest), एवं कण्ठ (Throat) तथा **कर्म**-वाक्प्रवृत्ति (बोलना Manifestation of the speech), प्रयत्न करना (कार्य करने के लिए प्रयत्नशील रहना), ओज (उत्साह का होना), शारीरिक व मानसिक बल एवं वर्ण (Complexion) को बनाये रखना उदानवायु के कर्म होते हैं।

३. समानवायु के स्थान एवं कर्म–**स्थान**-स्वेदवह, दोषवह एवं अम्बुवह स्रोतस्। **कर्म**-जाठराग्नि के पार्श्व (Sides) में स्थित रहकर जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है, अथवा जाठराग्नि के बल को बनाये रखती है।

४. व्यानवायु के स्थान एवं कर्म–शीघ्र गति करने वाली व्यान वायु देहधारियों के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त (फैली हुई) रहती है। इस वायु का कार्य शारीरिक गति, प्रसारण (अङ्गों को फैलाना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), उन्मेष-निमेष (आँखों की पलकों को खोलना एवं बन्द करना) आदि हैं। ये सभी क्रियाएं शरीर में सदैव होती रहती हैं।

५. अपानवायु के स्थान एवं कर्म–**स्थान**-दोनों वृषण (Two testicles), बस्ति (Urinary bladder), मेढ्र (शिश्न-Penis), नाभि (umbilicus), ऊरु (thighs), वंक्षण (groins) व गुदा (Anus); ये सभी प्रायः अपानवायु के स्थान हैं, अर्थात् अपानवायु मुख्य रूप से इन्हीं स्थानों पर रहते हुए अपने स्वाभाविक कर्मों को करती है। **कर्म**-आन्त्रस्थ अपानवायु– शुक्र, मूत्र, पुरीष (Stool), आर्तव (Menstrual discharge) एवं गर्भ को निकालने का कार्य करती है।

पाँचों प्रकार की वायु अपने-अपने स्थान पर रहते हुए अपने स्वाभाविक कार्यों को करती हैं जिससे शरीर नीरोग बना रहता है। इस प्रकार वायु शरीर को धारण करती है।

चक्रपाणि–'प्राणोदानेत्यादि' के द्वारा व्यवहारार्थ प्राण आदि नाम से प्रचलित वायु के स्थान एवं कर्म को बताया गया है।

देहं तन्त्रयते इति धारयते–प्राण आदि वायु शरीर को धारण करती है। **स्थानेष्विति वक्ष्यमाणात्मीय स्थानेषु**-प्राण आदि वायु अपने-अपने स्थानों में रहते हुए। 'आहारादि' से यहाँ आहार आदि अन्न को धारण करना अर्थ गृहीत है। **कर्म चेति**-प्राणवायु के कर्म। प्राणवायु एवं उदानवायु दोनों का ही स्थान उरः (Chest) बताया गया है, फिर भी कर्मभेद से इनमें अन्तर होता ही है, यथा- एक घर में स्थित माली (मालाकारः) एवं कुम्भकार में। प्रयतनम्=प्रयत्न। ऊर्ज=उत्साह। शरीर व मन में उत्साह को बनाये रखना, प्रयत्नादि कर्म से ही प्रयत्न, ओज, बल एवं वर्ण का निष्पादन होता है, यह कहा गया है। 'स्वेददोषाम्बुवाहीनीत्यादि' से-स्वेदवाही एवं अम्बुवाही स्रोतस् का वर्णन वि.अ. ५ (स्रोतोविमानीय नामक अध्याय) में अलग से किया गया है, जानना चाहिए। दोषवाही स्रोतस् तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त ही

Scanned by CamScanner

रहते हैं। कहा भी गया है, यथा-''**वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांस्ययनभूतानि**'' वि.अ. ५) इति [सर्व शरीर में विचरण करने वाले वात, पित्त एवं कफ के लिए ये स्रोतस् अयन (मार्ग) रूप हैं।]

गतीत्यादौ में प्रयुक्त आदि शब्द से आकुञ्चन, प्रसारण आदि कर्मों का ग्रहण किया गया है। गति शब्द से यहाँ- हिलना, डुलना या Movement अर्थ लिया गया है।

अन्त्रस्थ इति–आन्त्र, अपानवायु का स्थान होता है, आन्त्र में स्थित (रहने वाली) अपान वायु। सृजतीति=निष्कासन करता है या निकालता है। 'सृजति' का सम्बन्ध आर्तव एवं गर्भ से भी है, अर्थात् अपानवायु सामान्य अवस्था में शुक्र, मूत्र एवं पुरीष का उचित समय में उत्सर्जन (निष्कासन) कराती है तथा गर्भ एवं आर्तव को भी समय से शरीर से निर्हरण करने में सहायक है।

ये सभी कर्म कब होते हैं ? इसका उत्तर 'युक्ता इति' के द्वारा दिया गया है, अर्थात् प्राण आदि वायु अविकृत अवस्था में रहते हुए इन सभी कर्मों को करते हैं। **स्थानस्थिता इति यथोक्तस्थानस्थिताः**-अपने-अपने निर्दिष्ट स्थान पर रहते हुए ही प्राणादि वायु अपने-अपने स्वाभाविक कार्यों को करते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

यस्मादेवंभूता अतो देहो धार्यते तैरनामयः–जब प्राणादि वायु अपने स्वाभाविक स्थान में रहकर अपने-अपने सामान्य कर्मों को करते हैं, तभी व्यक्ति नीरोग रहता है। इस प्रकार वायु शरीर को धारण करती है, यह स्पष्ट है ॥५-११॥

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः। शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च ॥१२॥
सङ्क्षयामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानतः। अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः ॥१३॥
तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमाञ्छृणु। केवलं वायुमुद्दिश्य स्थानभेदात्तथाऽऽवृतम् ॥१४॥

विकृत वायु के कार्य (Functions of Impaired Vāyu)–विमार्ग में स्थित (अस्वाभाविक मार्ग में स्थित) अथवा अन्य मार्गों में विचरण करने वाली विकृत प्राणादि वायु अपने स्थान एवं कर्म के अनुसार अनेक रोगों को उत्पन्न करती हुई व्यक्ति को कष्ट देती हैं तथा शीघ्र ही रोगी के प्राणों को हर लेती हैं।

वात के अत्यधिक प्रकोप से उत्पन्न होने वाली अनेक व्याधियों में मुख्य रूप से नखभेद आदि ८० (अस्सी) **वातविकार** होते हैं। इनकी संख्या का उल्लेख सूत्र स्थान अ. २० (महारोगाध्याय) में किया गया है।

वहाँ वर्णित वातविकारों के पर्याय, हेतु एवं चिकित्सा तथा वायु को प्रधान मानकर केवल वातविकारों (नानात्मज वातविकारों) के स्थान एवं भेद तथा आवृत वातविकारों, का विवेचन आगे किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे सुनो–

चक्रपाणि–'विमार्गस्था इत्यादि' के द्वारा विकृत वात (पाँचों प्रकार की वायु) के कार्य को बताया गया है।

स्वस्थानकर्मजैरिति यस्य वायोर्यत् स्थानमुक्तं तत्स्थानगतैः, तथा ष्ठीवनादि यद्वायोः कर्मोक्तं तज्जैश्च रोगैः शरीरं पीडयन्ति प्राणान् वा महता रोगेण हरन्ति च–जिस वायु का जो स्थान बताया गया है उस स्थान पर रहते हुए तथा ष्ठीवन आदि जो वायु के कर्म बताये गये हैं, उन कर्मों को करते हुए व उनसे उत्पन्न होने वाले रोग शरीर को पीड़ित करते हुए प्राणों को हर लेते हैं, अथवा शरीर में कोई बड़ी व्याधि उत्पन्न हो जाती है।

अत्र च वायोरेव भूरिप्रधानरोगकर्तृतया भिन्नचिकित्साप्रयोजकाः पञ्चभेदा उक्ता न पित्तकफयोः, अनतिप्रयोजनत्वात्- यहाँ वायु द्वारा ही मुख्य रूप से अधिक व्याधियों को उत्पन्न करने तथा उनकी भिन्न-भिन्न चिकित्सा होने के कारण पाँच भेद बताये गये हैं। कफ व पित्त के भेद नहीं किये गये हैं, क्योंकि उनका (कफ-पित्त) यहाँ अल्प प्रयोजन है। (प्रकरण वातव्याधि का होने से ऐसा कहा गया है।) उसी प्रकार अन्य शास्त्रों में पित्त के भी पांच भेद किये गये हैं, यथा-पाचक पित्त, रञ्जकपित्त, साधकपित्त, आलोचकपित्त एवं भ्राजकपित्त, क्रमानुसार इनका स्थान जठर, आमाशय, हृदय (साधक), दृष्टि (आलोचक) एवं त्वचा (भ्राजक) है, कफ के भी पाँच भेद, यथा-अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक एवं श्लेषक होते हैं, इनके स्थान क्रमशः हृदय, आमाशय, जिह्वा (जीभ), सिर (Head) एवं अस्थि-संधियाँ हैं। इनके कर्म क्रमशः १. हृदय का अवलम्बन करना, २. अन्न का क्लेदन (गीला) करना, ३. रस का ज्ञान करना, ४. नेत्रों का तर्पण करना, ५. श्लेषण (सन्धियों को चिकना बनाना) होते हैं। इनका उल्लेख अलग से किया गया है।

प्रकृतवातव्याधिकथनायात्र संख्यादिनिर्देशः–प्रकृत वातव्याधि के कथन के लिए यहाँ वात व्याधि (नानात्मज) की संख्या का निर्देश किया गया है। **तज्जानामिति** (उससे उत्पन्न),-पाँचों प्रकार की वायु से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ। **सूत्रे इति**-महारोग नामक अध्याय में।

उच्यमानानिति नखभेदादीन् यथास्थूलमुच्यमानान्–यद्यपि वातव्याधियाँ असंख्य होती हैं, लेकिन उनमें भी मोटे तौर पर (मुख रूप से) नखभेद आदि ८० व्याधियों की ही गणना की गयी है।

Scanned by CamScanner

पर्यायैः=नामान्तर, भिन्न नामों के द्वारा। जब वातव्याधियाँ असंख्य हैं तब उनके नखभेद आदि अस्सी भेदों को कैसे कहा गया है? इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-१. केवल वायु को प्रधान मानकर कुछ व्याधियाँ, यथा-वेपथु आदि को बताया गया है। २. आवृत वायु को मुख्य मानकर कुछ व्याधियों का वर्णन किया गया है। इसे इस अध्याय में "लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा" इत्यादि लक्षणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥१२-१४॥

विशेष (Comments)-इस अध्याय में ८० वात व्याधियों का वर्णन न करके मात्र कुछ ही नानात्मज व्याधियों के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है, साथ में वातावृत पित्त व कफ के लक्षणों एवं उनकी संक्षिप्त चिकित्सा का उल्लेख किया गया है।

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः। विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादति ॥१५॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामातिविचेष्टितैः। धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥१६॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद्दिवास्वप्नाद्भयादपि। वेगसंधारणादामादभिघाताद्भोजनात् ॥१७॥
मर्माघाताद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात्। देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ॥१८॥
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान्।

वात प्रकोपक हेतु (Etiology of Ailments caused by Vāyu)-

१. रूक्ष, शीतल, अल्प एवं लघु आहार का सेवन।

२. अत्यधिक मैथुन करना, रात्रि जागरण, विषम उपचार (व्याधि की उचित चिकित्सा न करना)।

३. दोषों का अति निर्हरण होना (वमनविरेचनादि के द्वारा दोषों का अत्यधिक निकल जाना)

४. अधिक रक्तस्राव होना।

५. उपवास करना (अत्यधिक), अत्यधिक तैरना, अत्यधिक पैदल चलना, अत्यधिक व्यायाम करना तथा अन्य अनुचित चेष्टाओं को करना।

६. रसादि धातुओं का अत्यधिक क्षय होना।

७. चिन्ता, शोक व रोग (चिरकालिक व्याधियों) के कारण शरीर के अत्यधिक कृश हो जाने से।

८. कष्टकारी शय्या एवं आसन पर सोने या बैठने से।

९. अत्यधिक क्रोधित होना, अत्यधिक दिवाशयन अथवा अत्यधिक भयभीत होना।

१०. अधारणीय वेगों (मल, मूत्रादि के वेग) को धारण करना।

११. आम दोष, अभिघात लगना (चोट लगना), भोजन न करना एवं मर्मप्रदेश पर चोट लग जाना।

१२. हाथी, ऊँट, घोड़े, अथवा तीव्रगामी यानों से गिर जाना अथवा इनकी सवारी करना।

उपर्युक्त हेतुओं के अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित हुई वायु शरीर के रिक्त (खाली) या दुर्बल स्रोतसों में भरकर अपने रूक्ष शीतादि गुणों के द्वारा सर्वांगाश्रित अथवा शरीर के किसी विशेष भाग (एकाङ्ग) में आश्रित होकर अनेक वातव्याधियों को उत्पन्न करती है।

चक्रपाणि-'रूक्षेत्यादि' के द्वारा यहाँ वातप्रकोपक कारणों का अभिधान किया गया है। **विषमादुपचारादिति**-उपचार की विषमता, अर्थात् व्याधि की कमी उचित चिकित्सा होना तथा कभी न होना, विषम उपचार कहा जाता है। **दोषासृगिति**-दोष शब्द से पुरीष का भी ग्रहण होता है, अर्थात् पित्त, कफ, रक्त व पुरीष का शरीर से अत्यधिक निकलना। **अपतंसनं गजादिभ्यः पतनं**- हाथी, घोड़े, ऊँट आदि की सवारी करते समय गिर जाना अथवा 'अवतंसन' पाठ होने पर धातुओं का कृश होना, अर्थ गृहीत है। आचार्य **खरनाद** ने कहा भी है, यथा-"विलिखत्यतितैक्ष्ण्याद्यत् स्मृतमुल्लेखनं हि तत्। विकर्षत्यतिधातून् यतच्चोक्तमव(प)तंसनम्" इति (लेखन द्रव्य अपने तीक्ष्ण गुण के कारण शरीर से धातुओं को खुरचकर बाहर निकालते हैं उन्हें लेखन कहते हैं, यथा-मुस्तक, कूठ, वचा, कुटकी, चित्रक, यव आदि। ये द्रव्य लघु एवं तीक्ष्ण गुण के कारण कार्य करते हैं। विशेष रूप से मांसधातु पर ये द्रव्य कार्य करते हैं तथा जो द्रव्य विशेष रूप से धातुओं में कृशता उत्पन्न करते हैं उसे अपतंसन कहते हैं। [लेखन-Scratching=खुरचना। अवसंतन=Pushing on a carriage घोड़ागाड़ी को खींचना-M.M. Williams Sanskrit-English Dictionary

यहाँ 'अवतंसनम्' से दो अर्थ लिया गया है- (१) हाथी आदि की सवारी करते समय ऊपर से गिर जाना, (२) अथवा घोड़ागाड़ी आदि को खींचना।]

Scanned by CamScanner

इन हेतुओं के द्वारा धातुओं में कृशता उत्पन्न हो जाती है, अथवा धातुएं कृश हो जाती है । रिक्तानि इति तुच्छानि=अल्प होना, धातुओं अथवा स्रोतस् का स्नेह आदि गुण से शून्य (रहित) होना । ॥१५-१८॥

विशेष (Comments)–'रूक्षेत्यादि' के द्वारा वातव्याधि के हेतुओं को स्पष्ट किया गया है । **विषमादसम्यगुपचारात्**-असम्यक् उपचार विषम उपचार कहलाता है ।

दोषाणां वमनादिनाऽतिस्रवणादऽसृजश्चाभिघातादिनाऽतिस्रवणात्–वमनादि के कारण दोषों के अतिस्राव के कारण अथवा अभिघात (Trauma) के कारण रक्त का अतिस्राव हो जाने से शरीर में वात की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है ।

यहाँ लङ्घन एवं अभोजन में भिन्नता बताई गयी है । लंघन की इससे भिन्नता को-"चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ । पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्" (च.सू. २२/१८) इति, के द्वारा बताया गया है । अभोजन से भोजन न करना (उपवास) अर्थ लिया गया है, जबकि लंघन से उन सभी क्रियाओं का ग्रहण किया गया है जिससे शरीर में लघुता की वृद्धि हो ।

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।।१९।।
आत्मरूपं तु तद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ।

वातव्याधि के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms)–वातव्याधियों में उनके लक्षणों का ही अव्यक्त रूप (अस्पष्ट रूप) से मिलना (प्राप्त होना) पूर्वरूप होता है । जब इनके लक्षणों में अल्पता (कमी) आने लगती है तब यह समझना चाहिए कि व्याधि कम हो रही है, अर्थात् व्याधि के आत्मरूप (लक्षणों) में कमी का होना ही व्याधि की अपाय (अल्पता) का सूचक है ।

चक्रपाणि–'अव्यक्तं लक्षणमित्यादि' के द्वारा वातव्याधियों के पूर्वरूप को बताया गया है । **आत्मरूपमिति**-वर्तमान व्याधि के लक्षणों का मिलना । **अपायो लघुता पुनरिति**-पुनः व्याधि के लक्षणों में लघुता (कमी) का मिलना वातव्याधि की कमी का द्योतक है, अथवा अपाय से शरीर में लघुता का होना अथवा लघु गुण की वृद्धि का होना, लक्षण व्याधि के अपगमन होने पर मिलते हैं । अर्थात् जब शरीर स्वस्थ हो जाता है तब ये भाव मिलते हैं । अथवा व्याधि के लक्षणों में अल्पता का मिलना पूर्णतः वातव्याधि के अभाव का द्योतक नहीं है । क्योंकि स्वस्थ पुरुष में वायु के प्राकृत लक्षण तो मिलते ही हैं । ॥१९॥

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थां पर्वणामपि ।।२०।।
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः । खाड्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।।२१।।
गर्भशुक्रजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता । शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।।२२।।
भेदस्तोदार्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च । एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।।२३।।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ।

कुपित वायु के कार्य (Functions of Aggravated Vāyu)–शरीर में प्रकुपित हुई वायु अधोलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है–

१. शरीरावयवों का संकुचित होना (Contraction), संधियों में स्तब्धता का उत्पन्न होना (Stiffness of the joints), शरीर की अस्थि (Bones) एवं संधियों (Joints) में फटने जैसी पीड़ा का होना ।

२. लोमहर्ष (रोंगटे खड़े होना-Horripilation), प्रलाप (Delirium-ज्ञानशून्यता-अनाब सनाब बकना), रोगी के हाथ, पीठ एवं सिर में जकड़ाहट का होना ।

३. खञ्जता (लँगड़ापन), कुब्जता (कुबड़ापन) एवं पंगुता का होना । [खञ्ज=पैर का लंगड़ापन, पंगु=हाथ का काम न करना, कुब्ज=पीठ पर निकला हुआ उभार या कूबड़, जिसमें ये लक्षण मिलते हैं उसे कुब्ज कहा जाता है।]

४. अङ्गों का सूखना (Atrophy of limbs) एवं अनिद्रा (Insomnia) का आना ।

५. गर्भ का नाश होना, शुक्र का नष्ट हो जाना अथवा शुक्रस्राव का न निकलना एवं रजःस्राव का न होना।

६. शरीर में कम्पन का होना अथवा अङ्गों का सुन्न हो जाना ।

७. सिर, नासिका, अक्षि, जत्रु (स्कन्ध) एवं ग्रीवा का लटक जाना अथवा इनके कार्यों का आघात (Paralyzed) होना ।

८. शरीर में भेदने जैसी पीड़ा (Piercing pain) अथवा तोद (सूई चुभोने जैसी पीड़ा (Pricking pain) का होना ।

९. आक्षेप (Convulsions), मोह (unconsciousness) एवं आयास (बिना परिश्रम किये ही थकावट का होना) आदि लक्षण पाये जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार वायु के प्रकुपित होने पर उपरोक्त लक्षण पाये जाते हैं। हेतु विशेष एवं स्थान विशेष के आधार पर वातव्याधियों में भी विशेषता (भिन्नता) उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् विशिष्ट हेतु एवं स्थान के आधार पर वातव्याधि भी विशेष हो जाती है।

चक्रपाणि–'संकोच इत्यादि' के द्वारा प्रकुपित वायु के कार्यों को स्पष्ट किया गया है। यही संकोच आदि लक्षण व्याधियों में भी पाये जाते हैं। कहा भी गया है, यथा-**''व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः''** (नि.अ. ८) इति [व्याधियों के ज्ञान हेतु निदानस्थान में व्याधियों के जो लक्षण कहे गये हैं, वे स्वतंत्र रूप से उत्पन्न होने पर व्याधि एवं परतंत्र रूप में उत्पन्न होने पर लिङ्ग (लक्षण) कहे जाते हैं।

हुण्डनं शिरः प्रभृतीनामन्तः प्रवेशः–'हुण्डन' से सिर आदि अङ्गों का अन्दर की ओर धँस जाना, यथा-सिर का लटक जाना, अन्य आचार्य इससे सिर में बालों के मूल (Hair root) के स्थान पर फटना एवं ललाट में तीव्र वेदना का होना अर्थ ग्रहण करते हैं। [Cracking of the scalp forming the base of hair and pain in the temporal region as well as forehead. –Dr. Bhagvan Das]

नासाहुण्डनम्=गन्ध ज्ञान का नष्ट ेना (Loss of olfactory sensation)। अक्षिहुण्डनम् (आँख की पलकों का लटक जाना) अथवा आँखों की पलकों का खुला होना। जत्रुहुण्डनम्=वक्ष का जकड़ जाना (Stiffness of the chest)। ग्रीवाहुण्डनम्=ग्रीवा में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the neck)। विशेष प्रकार की वात व्याधियों, यथा-पक्षाघात, अर्दित आदि की उत्पत्ति में विशेष हेतु तथा विशेष स्थान कारण होते हैं। इसे यहाँ-'हेतुस्थानविशेषादित्यादि' के द्वारा बताया गया है। कहा भी गया है, यथा-**''प्रकुपितास्तु प्रकोपणविशेषाद् दूष्यविशेषान् दूषयन्तः''** (वि.अ. ६) इति [प्रकुपित दोष-दोष विशेष प्रकोपक कारणों एवं दूष्यों द्वारा कुपित होकर विशेष विकारों को उत्पन्न करते हैं।] कुछ आचार्य 'हेतुस्थानविशेषाच्च' के स्थान पर देहे स्थानविशेषाच्च का पाठ करते हैं। इसे स्वीकार करने पर स्थान विशेष के आधार पर व्याधि के भी अलग-अलग नाम हो जाते हैं, अर्थ होगा। यथा-कफदोष रसधातु के आश्रित होने पर अरुचि, क्लैव्य आदि व्याधियों को उत्पन्न करता है, यही यदि संधियों के आश्रित हो तब संधियों में शोथ एवं गुरुत्व आदि लक्षणों को उत्पन्न करता है। ॥२०-२३॥

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ।।२४।।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते । सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।।२५।।
वेदनाभिः परीतश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः । ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।।२६।।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदस्थिते । हन्नाभिपार्श्वोदररुक्कृष्णोद्गारविसूचिकाः ।।२७।।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते । पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।।२८।।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् । श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्टसमीरणः ।।२९।।
त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते । आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ।।३०।।
रुजस्तीव्राः ससंतापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः । गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ।।३१।।
गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा । सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ।।३२।।
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः । अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ।।३३।।
क्षिप्रं सुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा । विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ।।३४।।
बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ।।३५।।
शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा । सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ।।३६।।
वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले । प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ।।३७।।
(इत्युक्तं स्थानभेदेन वायोर्लक्षणमेव च ।)

स्थान भेद से प्रकुपित वायु के लक्षण

कारण एवं स्थान भेद से प्रकुपित हुई वायु भिन्न-भिन्न व्याधियों को उत्पन्न करती है–

१. कोष्ठाश्रित वायु के लक्षण–जब प्रकुपित वायु (दूषित वायु) कोष्ठ के आश्रित होती है तब वह मूत्र एवं पुरीष में रुकावट का होना (Retention of urine and feces), ब्रध्नरोग (Hernia), हृद्रोग (Heart disease), गुल्मरोग (Phantom tumour), अर्श (Piles), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest) आदि को उत्पन्न करता है।

२. सर्वाङ्ग कुपित वायु के लक्षण–जब बढ़ी हुई वायु शरीर के सभी अङ्गों में फैल जातीं है तब रोगी में अधोलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं–

- → शरीर में कम्पन का होना।
- → शरीर में टूटने जैसी पीड़ा का होना।

Scanned by CamScanner

→ सन्धियों को पुटकाने पर चट-चट की आवाज का आना ।

→ सन्धियों में पीड़ा का होना ।

३. गुदागत वायु के लक्षण–गुदागत वायु (अपान वायु) प्रकुपित होकर अधोलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है–

(क) पुरीष, मूत्र एवं अपान वायु में रुकावट का होना ।

(ख) शूल एवं आध्मान (Flatulence) का होना ।

(ग) अश्मरी (Urinary stone) एवं शर्करा (अश्मरी के छोटे-छोटे कणों का मूत्रमार्ग से निकलना) का बनना (Formation of stone and sand in the Urinary tract or bladder)

(घ) जंघा (Calf muscle), ऊरु (thighs) एवं त्रिक् (Sacro-illiac joint) का दुर्बल होना ।

(ङ) पृष्ठ (पीठ-Back) में पीड़ा का होना एवं शोष रोग (शरीर का कृश हो जाना) का होना ।

४. आमाशयाश्रित वायु के लक्षण–

१. हृदय, नाभि, पार्श्व व उदर में वेदना का होना ।

२. तृष्णा (प्यास का अधिक लगना-excessive thirst) ।

३. मुख से डँकार का आना (Eructation) एवं विसूचिका (Choleric diarrhoea)

४. खाँसी का आना (Cough), मुख एवं कण्ठ (गला) का सूखना ।

५. श्वास (Dyspnea) ।

ये सभी लक्षण आमाशयाश्रित वात में पाये जाते हैं ।

५. पक्वाशयाश्रित वायु के लक्षण–

१. आन्त्रकूंजन (आँतों में वायु के कारण गुड़गुड़ाहट का होना)

२. आन्त्रशूल (Colic pain), आटोप (Tympanites), कष्ट के साथ मूत्र का निकलना (Dysuria) ।

३. कृच्छ्रपुरीषत्व (कष्ट के साथ मल का निकलना-constipation) ।

५. आनाह (Flatulence) एवं त्रिक् प्रदेश (Lumber region) में वेदना का होना (कमर दर्द) ।

ये सभी लक्षण पक्वाशयाश्रित वात में पाये जाते हैं ।

६. इन्द्रियगत वायु के लक्षण–जब वायु प्रकुपित होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों के आश्रित होती है तब श्रोत्रादि इन्द्रिय अपने स्वाभाविक कार्यों को नहीं कर पाती, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर पाती ।

७. त्वक्गत प्रकुपित वायु के लक्षण–

१. त्वचा का रूक्ष होना (Dryness of the skin) ।

२. त्वचा का फटना (Cracking of the skin) ।

३. त्वचा का सुन्न होना (Numbness of the skin) ।

४. त्वचा पतली एवं काली हो जाती है ।

५. त्वचा में सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना ।

६. त्वचा में खिंचाव का महसूस होना (त्वचा का तनना) एवं रक्त वर्ण युक्त होना (Stretching and redness of the skin)

७. छोटी-सन्धियों मे पीड़ा का होना (Joint pain)

उपरोक्त लक्षणों को देखकर त्वक्गत वायु प्रकुपित है, ऐसा अनुमान करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

८. रक्तगत प्रकुपित वायु के लक्षण–

१. तीव्र पीड़ा का होना (Acute pain), शरीर में जलन का होना (Burning sensation), विवर्णता (त्वचा का रंग बदल जाना (Discolouration of the skin) ।

२. शरीर का कृश होना (Emaciation) ।

३. अरुचि (Anorexia), शरीर में छोटी-छोटी फुंसियों का निकलना ।

४. गृहीत आहार का आमाशय में बना रहना, अथवा आहार का सम्यक् पाचन न हो पाना ।

९. मांस-मेदोगत प्रकुपित वायु के लक्षण–

१. भारीपन (Heaviness of the body), शरीर में सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना, (यह पीड़ा अत्यन्त तीव्र होती है) यह पीड़ा ऐसी प्रतीत होती है जैसे शरीर को डण्डे या मुक्के से खूब पीटा गया हो ।

२. शरीर में अत्यधिक थकावट का होना । (बिना परिश्रम किये ही शरीर में थकावट का अनुभव होना)

ये लक्षण मांस व मेद में वायु के प्रकुपित होने पर मिलते हैं ।

१०. अस्थि एवं मज्जा में प्रकुपित वायु के लक्षण–

१. अस्थि एवं पर्वों (छोटी संधियाँ) में भेदनवत् पीड़ा का होना (फाड़ने जैसी पीड़ा का होना)

२. सन्धिशूल (Joints pain) ।

३. मांस क्षय एवं बल क्षय (शारीरिक कमजोरी) का होना ।

४. अनिद्रा (Insomnia) एवं हमेशा शरीर में पीड़ा का बने रहना (Constant pain in the body) ।

ये लक्षण अस्थि एवं मज्जागत प्रकुपित वायु में पाये जाते हैं ।

११. शुक्रगत प्रकुपित वायु के लक्षण–शुक्रगत वायु के दूषित होने पर शुक्र का स्राव शीघ्र हो जाना (Premature ejaculation) अथवा शुक्र का स्राव देर से होना या न होना, गर्भ का समय से पूर्व गिर जाना, अथवा देर में पैदा होना एवं शुक्र व गर्भ का विकृत होना; लक्षण पाये जाते हैं ।

१२. स्नायुगत प्रकुपित वायु के लक्षण–यदि वायु स्नायु (Nerves and Ligament) में प्रकुपित होती है तब वह अधोलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है–

(क) बाह्य आयाम (शरीर का बाहर की ओर तनना या झुकना Opisthotonos-A form of spasm in which the head and heels are bent back ward and the body bowed forward.) एवं आभ्यन्तरायाम (Tetanic forward flaxure of the body) का होना ।

(ख) खल्ली (पाद, जंघा, ऊरु एवं हाथों में मसलने जैसी वेदना का होना) एवं कुब्जत्व (कुबड़ापन-Hunch back) का पाया जाना।

(ग) सर्वांगवात, एकाङ्गवात आदि व्याधियाँ ।

१३. सिरागत प्रकुपित वायु के लक्षण–

१. शरीर में मन्द-मन्द वेदना का होना ।

२. शरीर का शोथ युक्त होना (Oedema)

३. शरीर का कृश होना (Emaciation)

४. अङ्गों में स्पन्दन का होना ।

५. सिराशून्यता (Lack of pulasation in the vessels-धमनियों में स्पन्दन का कम हो जाना)

६. सिरातनुत्व (सिराओं का पतला होना) या सिराओं का मोटा (महत) हो जाना (Thinness or excessive thickness of the vessels)

सिरा = Vessels अर्थ गृहीत है ।

Scanned by CamScanner

१४. सन्धिगत प्रकुपित वायु के लक्षण–जब वायु संधियों में आश्रित होकर प्रकुपित (दूषित) हो जाती है तब शरीर में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं–

१. सन्धियाँ शोथ युक्त हो जाती हैं, इन्हें स्पर्श करने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसा हवा से भरा हुआ चमड़े का बैग । (शोथ युक्त स्थान को दबाने पर गड्ढा पड़ जाता है, पश्चात् पुनः गड्ढा समाप्त हो जाता है ।)

२. हाथ-पैर को फैलाने में कष्ट का अनुभव होता है, अथवा फैलाने या सिकोड़ने में पीड़ा का होना ।

[इस प्रकार यहाँ स्थान भेद से प्रकुपित वायु के लक्षणों का अभिधान कर दिया गया ।]

चक्रपाणि–स्थान भेद से उत्पन्न होने वाली विशेष व्याधियों को यहाँ-'तत्र कोष्ठाश्रिते इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । **सर्वाङ्गकुपिते इति**-सम्पूर्ण शरीर में प्रकुपित वायु । **गुदस्थिते**-उत्तरगुद में स्थित वायु, उत्तरगुद (Rectum) में वायु का प्रकोप होने पर मल, मूत्र एवं वायु का अवरुद्ध होना आदि लक्षण मिलते हैं । **आतन्यते**=विस्तृत होना या फैलना; त्वचा का फैलना या तनाव युक्त होना, राग युक्त होना (Redness of the skin) आदि लक्षण त्वक् आश्रित प्रकुपित वायु में पाये जाते हैं । **भुक्तस्य स्तम्भ इति भुक्तवतो गात्रस्तम्भो भवतीति**-भोजन करने के बाद शरीर में जकड़ाहट का उत्पन्न होना (Stiffness of the body after taking food)। **गुर्वङ्गमित्यादि** के द्वारा मांस व मेद आश्रित वायु के लक्षण समान होते हैं, यह बताया गया है तथा 'भेदोऽस्थिपर्वणामित्यादि' के द्वारा अस्थि एवं मज्जागत प्रकुपित वायु के लक्षण समान होते हैं, यह समझना चाहिए । **समानेऽपि लक्षणे विविधाशितपीतीयोक्तविशिष्टधातुलक्षणौर्विशेष उन्नेयः**-समान लक्षणों के होते हुए भी विविधाशितपीतीय अध्याय (सू.अ. २८) में धातुगत दोषों के कारण उत्पन्न होने वाले विशेष धातु के लक्षणों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है, अर्थात् अस्थिगत वायु एवं मज्जागत वायु के अलग-अलग लक्षणों का उल्लेख किया गया है । संतते इति सानुबन्धः=अनुबन्ध के साथ, लगातार पीड़ा का बने रहना ।

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नातीति व्यवायकाले क्षिप्रं मुञ्चति वा चिरं धारयते–व्यवाय काल में शीघ्र ही शुक्रस्राव का होना (Premature ejaculation) अथवा देर से शुक्र का स्राव होना उसी प्रकार गर्भ का समय से पूर्व गिर जाना (गर्भपात) या गर्भस्राव का होना अथवा गर्भकाल से ज्यादा समय तक गर्भ का धारण करना; ये लक्षण शुक्रगत विकृत वायु में मिलते हैं ।

विकृतमिति–गर्भ का विकृत होना, व्यङ्ग आदि अनेक विकारों से युक्त बालक को स्त्री जन्म देती है ।

'बाह्येत्यादि' के द्वारा स्नायुगत प्रकुपित वात के लक्षणों का विवेचन किया गया है, जिसे बहिरायाम आदि के द्वारा आगे बताया जायेगा या बताया गया है ।

मन्दरुक्शोफमिति–अल्प वेदना एवं अल्प शोथ का होना । सुप्ता इति निःस्पन्दाः=स्पन्द रहित या अल्प होना (धमनियों का स्पन्दन अल्प होना (Lack of pulsation in the vessels) ॥२४-३६॥

अतिवृद्धः शरीरार्धमेकं वायुः प्रपद्यते । यदा तदोपशोष्यासृग्बाहुं पादं च जानु च ॥३८॥
तस्मिन् सङ्कोचयत्यर्धे मुखं जिह्मं करोति च । वक्रीकरोति नासाभ्रूललाटाक्षिहनूस्तथा ॥३९॥
ततो वक्त्रं व्रजत्यास्ये भोजनं वक्त्रनासिकम् । स्तब्धं नेत्रं कथयतः क्षवथुश्च निगृह्यते ॥४०॥
दीना जिह्मा समुत्क्षिप्ता कला सज्जति चास्य वाक् । दन्ताश्चलन्ति बाध्येते श्रवणौ भिद्यते स्वरः ॥४१॥
पादहस्ताक्षिजङ्घोरुशङ्खश्रवणगण्डरुक् । अर्धे तस्मिन्मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम् ॥४२॥

अर्दित के लक्षण (Signs and Symptoms of Ardita)–प्रकुपित हुई वायु शरीर के अर्ध भाग में पहुँचकर रक्त का शोषण करते हुए बाहु, पैर एवं जानु को संकुचित कर देती है । शरीर के जिस भाग की ओर वात का प्रकोप होता है, यह संकोच उसी ओर होता है । इस संकोच के कारण मुख का आधा भाग टेढ़ा हो जाता है एवं उस भाग की नासिका, भौंह, ललाट, चक्षु एवं हनु वायु के प्रभाव से टेढ़े हो जाते हैं । इसके बाद भोजन मुख में वक्र गति से प्रवेश करता है, उसकी नासिका टेढ़ी हो जाती है, नेत्र स्तब्ध (जकड़) हो जाते हैं, छींक में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । उसकी वाणी दीन (दुर्बल), टेढ़ी, लड़खड़ाती हुई एवं अस्पष्ट (रुक-रुक कर) निकलती है । दांत हिलने लगते हैं, कान में सुनाई नहीं देता या कम सुनाई देता है तथा गला बैठ जाता है या स्वरभेद (Hoarseness of the voice) उत्पन्न हो जाता है । रोगी के पाद (Foot), हाथ (Hand), अक्षि (नेत्र), जंघा (Calf muscle), ऊरु (thighs), शंख (Temporal region), श्रवण (कर्ण), गण्ड (Cheek-गाल) में शूल (वेदना-Pain)) होता है ।

उपरोक्त लक्षण रोगी के शरीर के आधे भाग में अथवा मात्र मुख के आधे भाग में पाये जाते हैं । इस कारण इस व्याधित (रोगी) को अर्दित कहते हैं अथवा इस व्याधि में निर्दिष्ट लक्षण शरीर के अर्धभाग अथवा मुख के आधे भाग में पाये जाते हैं ।

चक्रपाणि–अब यहाँ अति बलवान् वातव्याधि के रूप में अर्दित का अभिधान 'अतिवृद्ध इत्यादि' के द्वारा किया जा रहा है । 'अतिवृद्ध' शब्द से वायु का अत्यधिक प्रकुपित होना अर्थ गृहीत है । **एकमिति वामं दक्षिणं वा संकोचयति बाहुं, पादं जानु च; वक्त्रं च**

Scanned by CamScanner

जिह्मं करोति-शरीर के वाम अथवा दक्षिण (दायें) भाग की बाहु, पैर व जानु को प्रकुपित वायु टेढ़ा कर देती है। रोगी का मुख टेढ़ा हो जाने के कारण रोगी भोजन को टेढ़ा ही ग्रहण करता है, अर्थात् भोजन को एक भाग से ही ग्रहण करता है। **दीनेति**=अगम्भीर (चञ्चल होना)। **जिह्मेति कुटिला**=टेढ़ा होना। **समुत्क्षिप्तेति अतित्वरिता**=तेजी से चलना [जिह्मा के स्थान पर जिह्वा पाठ होने पर जिह्वा दीन, शीघ्र चलने वाली एवं कार्यरहित हो जाती है, अर्थ होगा। दीना जिह्मा समुत्क्षिप्ताऽफला सज्जति चास्य वाक् पाठ- 'दीना जिह्मा समुत्क्षिप्ता कला सज्जति चास्य वाक्' के स्थान पर प्राप्त होता है।]

कलेति=अव्यक्त, रोगी की आवाज साफ नहीं आती, अर्थात् अस्पष्ट आती है अथवा आवाज ही नहीं निकलती।

बाध्ये ते श्रवणाविति-कानों से सुनाई न देना, यद्यपि यह शरीर के एक पार्श्व में होने वाला विकार है, लेकिन इस व्याधि के प्रभाव के कारण दोनों कानों में बाधा उत्पन्न होती है।

केवल इति-शरीर का आधा भाग ही विकृत होता है, न कि पूरा भाग।

जब देह के अर्ध भाग में ही अर्दित होता है तब अर्दित एवं अर्धाङ्गवात में क्या अन्तर है, यह शङ्का है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-अर्दित का वेग सभी समय नहीं होता, अर्थात् इसका प्रभाव अस्थायी रहता है, जबकि **अर्धाङ्ग वात** का प्रभाव स्थायी बना रहता है, अर्थात् इसमें स्थायी विकृति उत्पन्न हो जाती है। कहा भी गया है, यथा-**"स्वस्थः स्यादर्दितादीनां मुहुर्वेगागमे गते"** इति [अर्दितादि के वेग समाप्त हो जाने पर व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।] अथवा यहाँ बताये गये विशिष्ट लक्षण अर्दित में पाये जाते हैं, जबकि अर्धाङ्गवात में ये सभी नहीं पाये जाते हैं। ॥३८-४२॥

विशेष (Comments)-'अतिवृद्ध इत्यादि' के द्वारा अर्दित के लक्षणों को बताया गया है। अत्यधिक प्रकुपित वायु जब शरीर के अर्ध भाग (आधे भाग) में अथवा शरीर के केवल एक भाग में पहुँचता है तब वह रक्तादि धातुओं को सुखाते हुए शरीर के अर्ध भाग (ऊर्ध्व भाग) में संकोच उत्पन्न करता है। इससे मुख टेढ़ा हो जाता है। नासादि भी वक्र हो जाती हैं। हनु भी टेढ़ा हो जाता है। वाणी में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, रोगी बोल नहीं पाता, दांत हिलने लगते हैं, कानों से सुनाई नहीं देता, स्वरभेद उत्पन्न हो जाता है (आवाज बैठ जाती है), पाद आदि में वेदना होती है। उस व्यक्ति के आधे शरीर में, अथवा मुख के आधे भाग में अथवा सम्पूर्ण मुख में वेदना होने लगती है। इस कारण उसे अर्दित वातरोग कहा जाता है।

कविराज नरेन्द्रनाथसेन एवं बलाइचन्द्र सेन द्वारा संपादित चक्रपाणि अंश में अर्दित से अर्धाङ्ग वात की भिन्नता को इस प्रकार स्पष्ट किया है-अर्दितेऽवेगितया सर्वकालं वेदना न भवति, अर्धाङ्गे तु व्याप्ता सर्वदा एव भवति-[अर्दित के वेग न आने से वेदना भी हमेशा नहीं बनी रहती, जबकि अर्धाङ्ग वात में वेदना हमेशा होती रहती है।]

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते । मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ।।४३।।
अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् । दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठायामः शिरोग्रहः ।।४४।।
जृम्भा वदनसङ्गश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ।
(इत्युक्तस्त्वन्तरायामो

अन्तरायाम (मन्यास्तम्भ) के लक्षण-प्रकुपित हुई वायु जब मन्या नामक दोनों नाड़ियों के आश्रित होती है तब मन्या को स्तम्भित करते हुए अन्तरायाम नामक व्याधि को उत्पन्न करती है। अर्थात् इस व्याधि में मन्या नामक नाड़ी स्तंभित हो जाती है, इसलिए इसे 'मन्यास्तम्भ' भी कहते हैं।

इस व्याधि में ग्रीवा (Neck) आगे की ओर झुक जाती है तथा मन्या (Sternomastoid region) भयङ्कर रूप से जकड़ जाती है, दांत लग जाते हैं (Clenching of the teeth), मुख से लालास्राव निकलता है (Salivation), ग्रीवा पीछे की ओर खिंच जाती है। सिर में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the head), जम्हाई का आना एवं वदन संग (Rigidity of the face-मुख पर खिंचावट का होना); ये सभी लक्षण **अन्तरायाम** रोग में पाये जाते हैं।

इस प्रकार अन्तरायाम के लक्षणों का अभिधान किया गया। मन्यास्तम्भ (Stiffness of the Neck)=ग्रीवा का जकड़ जाना।

चक्रपाणि-'मन्येत्यादि' के द्वारा 'अन्तरायाम' के लक्षण को बताया गया है।

अन्तर्यदा नाड़ीः प्रपद्यते इति-ग्रीवा (ग्रीवा के पिछले भाग) में स्थित सिरा में जब वायु प्रकुपित होती है तब वह अन्तरायाम नामक व्याधि को उत्पन्न करती है।

अन्तरायामसंज्ञितमिति-यहाँ इस प्रकार के मन्यास्तम्भ (Stiffness of the Neck) को ही अन्तरायाम कहा गया है। इससे भिन्न प्रकार के मन्यास्तम्भ को 'बहिरायाम' कहते है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है। अन्य शास्त्रों में मन्यास्तम्भ 'आयाम' के पूर्वरूप में पाया जाता है, यह बताया गया है। अर्थात् दोनों प्रकार के आयाम (अन्तरायाम एवं बहिरायाम) के पूर्वरूप के रूप में पाया जाता है।

Scanned by CamScanner

अन्तरायम्यत इति अन्तः आकृष्यते=शरीर का आगे की ओर झुकना (Forward contraction) । बहिरायाम=शरीर का पीछे की ओर झुकना (Backward contraction) ।

पृष्ठायाम इति पृष्ठबर्हिर्निर्गति=पीठ का बाहर निकल जाना । ॥४३-४४॥

जल्पकल्पतरु टीका–'मन्ये इत्यादि' के द्वारा अन्तरायाम के लक्षणों को बताया गया है । प्रकुपित हुई वायु जब दोनों मन्या नाडी के आश्रित होती है तब अन्तरायाम नामक मन्यास्तम्भ व्याधि को उत्पन्न करता है । उस समय ग्रीवा में तनाव (खिंचाव) उत्पन्न हो जाता है एवं मन्या में भयङ्कर रूप से जकड़ाहट उत्पन्न हो जाती है । दांत लग जाते हैं एवं मुख से लालास्राव निकलने लगता है, पीठ टेढ़ी हो जाती है तथा मुख बन्द हो जाता है, अर्थात् रोगी मुख को नहीं खोल पाता (जबड़े का जकड़ जाना=हनुस्तम्भ) ।

बहिरायाम उच्यते ।।४५।।

पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बली । वायुः कुर्याद्धनुस्तम्भं बहिरायामसंज्ञकम् ।।४६।।
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः । उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते ।।४७।।
दन्तानां दशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः । जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ।।४८।।

बहिरायाम के लक्षण (Signs and Symptoms of opisthotonos)–अब यहाँ बहिरायाम का विवेचन किया जा रहा है । प्रकुपित हुई वृद्ध वायु पृष्ठ (Back) एवं मन्या (ग्रीवा Sides of the neck) के आश्रित रहने वाली बाह्य सिराओं (Vessels or nerves) को सुखाकर धनुस्तम्भ के समान बहिरायाम नामक रोग को उत्पन्न करती है । इसमें वायु द्वारा व्यक्ति का शरीर धनुष के समान पीछे की ओर झुका दिया जाता है, सिर पीछे की ओर मुड़ जाता है, छाती (Chest) आगे की ओर बाहर निकल जाती है, मन्या (ग्रीवा का पार्श्व भाग Sides of the Neck) स्तब्ध हो (Stiff=जकड़) जाता है, ऐसा लगता है कि ग्रीवा को दबा दिया (कुचल दिया) गया हो । दांत लग जाते हैं (Teeth become clenched), रोगी को जम्हाई आती है, मुख से लार निकलने लगता है, रोगी बोल नहीं पाता । वातव्याधि के इस वेग में रोगी की या तो मृत्यु हो जाती है अथवा रोगी के शरीर में कोई गम्भीर विकृति उत्पन्न हो जाती है ।

चक्रपाणि–'पृष्ठेत्यादि' के द्वारा **बहिरायाम** के लक्षणों का अभिधान किया गया है । **पृष्ठमन्याश्रिता इति पृष्ठानुगतमन्यासम्बद्धाः**-पीठ से लगी हुई ग्रीवा के दोनों पार्श्व के आश्रित बाह्य सिराओं । बाह्य इति=सिराओं की विशेषता को बतलाया गया है, अर्थात् पार्श्व की बाह्य सिराओं (External Vessels) । बाह्य सिरायें पृष्ठगत ही होती हैं । कुछ आचार्य **पृष्ठमन्याश्रिता** से वात के वैशिष्ट्य का ग्रहण करते हैं, अर्थात् वायु-पृष्ठ व मन्या के आश्रित होकर बहिरायाम व्याधि को उत्पन्न करती है ।

पृष्ठतो नीयते इति पृष्ठं प्रति आकृष्यते–पीठ का पीछे की ओर तनना अथवा धनुष के समान झुकना=पीठ का पीछे की ओर झुक जाना । जातवेग इति उद्वेगः=वात के वेग के तीव्र होने पर अर्थात् Acute Attack की अवस्था में रोगी की मृत्यु हो जाती है, अथवा शरीर में कोई गम्भीर विकृति (Serious deformity) उत्पन्न हो जाती है ।

एतौ च आयामौ ''बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लीं कुब्जत्वमेव च । सर्वैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः'' इत्यनेन स्नायुगतानिलजन्यावुक्तौ–ये दोनों आयाम-अन्तरायाम एवं बहिरायाम स्नायुगत वायु के विकृत होने पर उत्पन्न होते हैं, इसलिये ये दोनों स्नायुगत वात जन्य ही हैं, यह कहा गया है । इस प्रकरण में इसे सिरागत वात से उत्पन्न माना गया है । अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा-''महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्या संशोष्यायामयेद्बहिः'' इत्यादि [अपने प्रकोपक हेतुओं से तीव्र रूप में प्रकुपित वायु मन्या व पृष्ठ के आश्रित बाह्य सिरा, स्नायु एवं कण्डरा को सुखाकर **बहिरायाम** रोग को उत्पन्न करती है ।] ॥४५-४८॥

विशेष (Comments)–सुश्रुतसंहिता में अन्तरायाम एवं बहिरायाम का विवेचन इस प्रकार किया गया है, यथा-''स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् । विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ॥ अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवः । तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ॥ बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च । तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकटच्रुरुभञ्जनम् ॥ (सु.नि.अ. १/५५-५६) इति

[जब अत्यधिक प्रकुपित हुई प्रबल वायु अंगुली, गुल्फ, जठर, हृदय, वक्ष के आश्रित होकर सिरा एवं स्नायु में आक्षेप उत्पन्न करती है उस समय रोगी की आँखें विष्टब्ध (गतिहीन), हनु स्तब्धता (हनुग्रह-Stiffness of the mandible), पार्श्व भग्न (कन्धा लटक जाना), कफ का वमन होना (मुख से कफ का निकलना) तथा रोगी का धनुष की भाँति आगे की ओर झुकना लक्षण पाये जाते हैं । इस व्याधि को अन्तरायाम कहते हैं । जब वही प्रकुपित वायु बाह्य स्नायु प्रतानों के आश्रित होती है तब वह शरीर को पीछे की ओर झुकाती है, इस व्याधि को बहिरायाम कहते हैं । जब इसमें वक्ष, कटि एवं ऊरु में भञ्जनत्व के लक्षण पाये जाते हैं तब यह व्याधि असाध्य हो जाती है ।]

हनुमूले स्थितो बन्धात् संस्रयत्यनिलो हनू । विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम् ।।४९।।
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुं(नू)संवृतवक्त्रताम् ।

Scanned by CamScanner

हनुस्तब्ध के लक्षण (Stiffness of the Mandible)–हनु के मूल में रहने वाली वायु प्रकुपित होकर हनु बन्धन को ढीला करके मुख को खोल देती है, अथवा मुख को स्तंभित कर देती है, इसमें वेदना नहीं होती । अथवा हनु में जकड़ाहट उत्पन्न करते हुए मुख को बन्द कर देती है । इस व्याधि को **हनुग्रह** कहते हैं ।

चक्रपाणि–हनुस्तम्भ एवं हनुसंकोच के लक्षणों को यहाँ-'हनुमूले स्थित इत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

संस्रवतीति व्यावयति–हनु का ढीला हो जाना (Looseness of the Mandible) । **विवृतास्यत्वमथवेति**-मुख का खुला रह जाना। यहाँ 'अथवा' शब्द से संवृत्त वक्त्रता (मुख का बन्द हो जाना) भी एक पक्ष है, अर्थात् यह भी पक्ष हो सकता है ।

संस्तभ्येति निश्चलीकृत्य संवृतमुखतां करोति=हनुसंस्तम्भ से मुख का बन्द हो जाना, अर्थात् दोनों हनु का आपस में जकड़ जाना, अर्थ गृहीत है । मुख का खुला रहना भी हनुस्तंभ ही है । इस प्रकार यहाँ दो प्रकार के हनुस्तम्भ का वर्णन किया गया है ॥४९॥

जल्पकल्पतरु टीका–हनुमूल में स्थित वायु प्रकुपित होकर हनुबन्धन में विपरीतता उत्पन्न कर देती है अथवा हनुबन्धनों को ढीला कर देती है परिणाम स्वरूप रोगी का मुख खुल जाता है अथवा बन्द हो जाता है । हनु में जकड़ाहट के साथ मुख का बन्द होना हनुग्रह कहलाता है ।

मुहुराक्षिपति क्रुद्धो गात्राण्याक्षेपकोऽनिलः ॥५०॥
पाणिपादं च संशोष्य सिराः सस्नायुकण्डराः ।

आक्षेपक–अत्यधिक प्रकुपित हुई वायु हाथ, पैर, सिरा, स्नायु एवं कण्डरा को सुखाकर शरीर में बार-बार आक्षेप (खिंचाव) उत्पन्न करती है । इस कारण इसे आक्षेपक कहते हैं ।

[इस व्याधि में रोगी का शरीर बार-बार तनने लगता है, अथवा Convulsion का बार-वार आना आक्षेपक कहा जाता है । आक्षेपक व्याधि नहीं है, अपितु एक लक्षण है जो विभिन्न प्रकार की व्याधियों में पाया जाता है ।]

चक्रपाणि–'मुहुरित्यादि' के द्वारा **आक्षेपक** के लक्षण को बताया गया है ।

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः ॥५१॥
दण्डवत्तस्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ।

दण्डक के लक्षण–इस व्याधि में प्रकुपित हुई वायु– हाथ, पैर, सिर (Head), पृष्ठ (पीठ-Back) एवं श्रोणी (कमर) में जकड़ाहट (Stiffness) उत्पन्न कर देती है । जब इस व्याधि में व्यक्ति का शरीर दण्ड के समान कड़ा (Stiff) हो जाता है तब उसे **दण्डक** कहते है। दण्डक रोग असाध्य होता है ।

चक्रपाणि–'पाणिपादं च संशोष्येत्यादि' के द्वारा **दण्डाक्षेपक** की संप्राप्ति का अभिधान किया गया है तथा पाणिपादशिर इत्यादि के द्वारा दण्डक के लक्षणों को बताया गया है । ॥५१॥

स्वस्थः स्यादर्दितादीनां मुहुर्वेगे गतेऽगते ॥५२॥
पीड्यते पीडनैस्तैस्तैर्भिषगेतान् विवर्जयेत् ।

अर्दितादि व्याधियों की समानता–अर्दित आदि व्याधियों में आक्षेप (Convulsions) आते हैं । इनमें आक्षेप के वेग के नष्ट (समाप्त) हो जाने पर रोगी अपने को स्वस्थ समझने लगता है । यदि वात के वेग (आक्षेप) बार-बार आते हैं तब व्यक्ति उन-उन व्याधियों से बार-बार पीड़ित (आक्रान्त) होता है । बार-बार वेग युक्त अर्दितादि व्याधियों की चिकित्सा चिकित्सक को नहीं करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–अर्दित से लेकर दण्डक तक की व्याधियों में आक्षेप पाया जाता है । इनके लक्षण भी समान ही होते हैं, जिसे 'स्वस्थः स्यादित्यादि' के द्वारा बताया गया है । अर्दित, हनुस्तम्भ आदि व्याधियों में बार-बार वात के वेग (आक्षेप) आते हैं, इसलिये उसे अर्दित के ही अन्तर्गत समझना चाहिए ॥५२॥

हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा ॥५३॥
कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च । गृहीत्वाऽर्थं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥५४॥
पादं संकोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् । एकाङ्गरोगं तं विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम् ॥५५॥

पक्षवध के लक्षण–प्रकुपित हुई वायु शरीर के वाम (Left) अथवा दक्षिण (Right) पक्ष को हत (नष्ट) करके शारीरिक चेष्टाओं का अभाव (वाम या दक्षिण भाग की चेष्टाओं का अभाव), अत्यन्त पीड़ा होना (प्रभावित भाग में अत्यधिक वेदना का होना) एवं वाणी में रुकावट (आवाज का न निकलना) आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है ।

Scanned by CamScanner

एकाङ्ग व सर्वाङ्ग रोग के लक्षण–प्रकुपित हुई वायु अर्ध शरीर की सिरा व स्नायु का शोषण करते हुए पैर अथवा हाथ को संकुचित कर देती है । इसके साथ ही रोगी के शरीर में सूई चुभाने जैसी पीड़ा एवं शूल भी होता है । शरीर के एक अङ्ग (हाथ या पैर) में होने के कारण इस व्याधि को एकाङ्ग रोग कहते हैं । यदि यही लक्षण सम्पूर्ण शरीर में मिलने लगें तो उसे सर्वाङ्ग रोग समझना चाहिए ।

चक्रपाणि–'हत्वैकमित्यादि' के द्वारा **पक्षवध** के लक्षण को स्पष्ट किया गया है । 'गृहीत्वार्धमित्यादि' के द्वारा एकाङ्ग रोग एवं सर्वाङ्ग सर्वदेहजमिति से सर्वाङ्ग रोग को स्पष्ट किया गया है ।

[एकाङ्ग रोग में शरीर के किसी विशेष अङ्ग में संकोच (Contraction) एवं वेदना उत्पन्न होती है, जबकि सर्वाङ्ग रोग में यही लक्षण सम्पूर्ण शरीर में पाये जाते हैं ।] ॥५३-५५॥

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात् । गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥५६॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता । खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥५७॥

गृध्रसी के लक्षण–इस व्याधि में स्तब्धता (Stiffness=जकड़ाहट), वेदना (दर्द का होना) एवं सुई चुभाने जैसी पीड़ा का होना (Pricking pain) सर्वप्रथम स्फिक् (नितम्ब प्रदेश) से प्रारम्भ होकर कटि (Lumber region), पृष्ठ (पीठ), ऊरु (thighs), जानु (Knee joint), जङ्घा (Calf muscles) एवं पैर तक होती है । इसमें बार-बार प्रभावित भाग में स्पंदन (झनझनाहट) उत्पन्न होती है । गृध्रसी दो प्रकार की होती है-(१) वात जन्य अर्थात् वात से उत्पन्न गृध्रसी, जिसमें प्रभावित भाग में तीव्र वेदना पायी जाती है । २. वातकफजन्य गृध्रसी-इसमें पूर्व लक्षणों के साथ-साथ तन्द्रा (drowsiness), शरीर में भारीपन (Heaviness of the body) एवं अरुचि (Anorexia) आदि कफ के लक्षण पाये जाते हैं । [यहाँ वर्णित लक्षण वातजन्य गृध्रसी के हैं ।]

खल्ली के लक्षण–वायु के प्रकोप के कारण इस व्याधि में पाद, जङ्घा (Calf muscles), ऊरु (thighs) एवं हाथों के मूल भाग में दबाने जैसी पीड़ा होती है ।

चक्रपाणि–'स्फिक्पूर्वेत्यादि' के द्वारा गृध्रसी (Sciatic pain) के लक्षण को स्पष्ट किया गया है । प्रथमं स्फिचं स्तम्भरुक्तोदैः गृह्णाति=सर्वप्रथम स्फिक् (Buttock) में जकड़ाहट (Stiffness), पीड़ा का होना एवं तोद (सुई चुभाने जैसी वेदना) का होना पाया जाता है। अर्थात् सर्वप्रथम स्फिक् प्रदेश में जकड़ाहट, पीड़ा एवं तोद उत्पन्न होता है, इसके बाद यही लक्षण क्रमशः कटि, पृष्ठ, ऊरु, जानु, जङ्घा एवं पाद तक पहुँच जाते हैं । ये लक्षण वातज गृध्रसी के हैं । वातकफजन्य गृध्रसी में पूर्वोक्त लक्षणों के साथ-साथ तन्द्रा, अरुचि एवं गौरव (गुरुता) भी पाया जाता है । इस प्रकार गृध्रसी के दो भेदों-१. वातज, २. वातकफज जिसे सू.अ. १९ में-"द्वे गृध्रस्यौ वाताद् वातकफाच्च" (सु.अ. १९) इत्यादि के द्वारा वर्णित किया गया है, की व्याख्या की गयी । ॥५६-५७॥

स्थानानामनुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान् विनिर्दिशेत् ।

शेष वातव्याधियों के ज्ञान का उपाय–इसी प्रकार अनुक्त वातव्याधियों का ज्ञान स्थान (दोषों के समान), नाम, एवं लक्षणों के अनुसार समझना चाहिए । अर्थात् जिन वातव्याधियों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है उनका ज्ञान-स्थान, नाम एवं लक्षणों के अनुसार करना चाहिए।

चक्रपाणि–अनुक्त नखभेद आदि व्याधियों का संक्षेप में वर्णन-'स्थानानामित्यादि' के द्वारा कर दिया गया है । शेष व्याधियों से यहाँ, जिन वातव्याधियों का इस अध्याय में उल्लेख नहीं किया गया है, यथा-नखभेद आदि को नखगुल्फ आदि के लक्षणों, नाम के अनुरूप लक्षणों अथवा भेद आदि लक्षणों के द्वारा समझना चाहिए । कुछ आचार्य "स्थानानामनुरूपैः" के स्थान पर 'स्थाननामानुरूपैः' पाठ करते हैं । ऐसा होने पर अर्थों में कोई भिन्नता नहीं आती ।

तत्र नखस्थानानुरूपं भेदसंज्ञानुरूपं च लिङ्गं नखस्फुटनरूपं भवति–नख स्थान के अनुरूप एवं भेद (नखों का फटना) के लक्षणों के आधार पर व्याधि का ज्ञान करना चाहिए । इसी प्रकार महारोग अध्याय (सू.अ. २०) में वर्णित अन्य वात व्याधियों का ज्ञान स्थान (Location of the Doshas) एवं नाम (Name) के अनुसार करना चाहिए ।

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥५८॥
वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च (वा) । वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ॥५९॥
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद्द्वयोस्तत्राप्युदीरणः । कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र क्षिपन् गदान् ॥६०॥
करोत्यावृतमार्गत्वाद्रसादींश्चोपशोषयेत् ।

वातव्याधि के साथ अन्य दोषों के अनुबन्ध का ज्ञान–इसी प्रकार (पूर्व सूत्र की भाँति) वातव्याधि के साथ पित्त एवं कफ के संसर्ग का भी ज्ञान करना चाहिए, अर्थात् व्याधि में विद्यमान अन्य दोषों के लक्षणों के आधार पर उन-उन दोषों का ज्ञान करें ।

Scanned by CamScanner

आवरण-प्रकरण

वात प्रकोप का कारण–मुख्यत: वात का प्रकोप दो कारणों से होता है-१. धातुओं के क्षय से (Due to Diminution of tissue elements), २. वायु के मार्ग में रुकावट आने से (Due to occlusion of its channel of circulation) । शरीर के समस्त स्रोतों में ये तीन दोष-वात, पित्त एवं कफ भ्रमण करते रहते हैं । वायु ही सबसे सूक्ष्म होने के कारण पित्त व कफ को प्रेरित करने का कार्य करती है।

प्रकुपित हुई वायु इन दो दोषों (पित्त व कफ) को साथ लेकर शरीर के विभिन्न भागों में पहुँचाती है । इससे (पित्त व कफ) स्रोतस् के मार्ग अवरुद्ध होते हैं, जिससे रसादि धातुओं का शोषण होने लगता है, अर्थात् रसादि धातुएं सूखने लगती हैं । अन्ततः शरीर के उन-उन भागों में व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है ।

चक्रपाणि–'सर्वेष्वित्यादि' के द्वारा वात के साथ पित्तादि के संसर्ग को बताया गया है । **पित्ताद्यैरिति**-इससे यहाँ पित्त, कफ, रक्त, पुरीष आदि का ग्रहण किया गया है । अर्थात् वात के साथ पित्तादि दोषों के संसर्ग का भी ज्ञान पूर्वसूत्र की भाँति-**स्थान एवं नाम** के आधार पर करना चाहिए । अब आगे आवृत (अवरुद्ध) हुई वायु किस प्रकार प्रकुपित होती है, जबकि आवृत दोष दुर्बल ही होता है । इसे यहाँ 'वायोरित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । **धातुक्षयादिति**=धातु पोषक अंश के क्षय होने से । **मार्गावरणेन वेगप्रतिबन्धादेव कुपितो भवति**-स्रोतस् में पित्तादि के अवरुद्ध हो जाने से वायु का वेग प्रभावित होता है, परिणाम स्वरूप वायु की गति में अवरोध उत्पन्न होता है, जिससे वायु प्रकुपित होती है । इस प्रकार मार्गावरोध के कारण वात का प्रकोप होता है । पित्त व कफादि जो आवरक (आवृत करने वाले) है, उनका इससे (वायु) सम्बन्ध कैसे नहीं है? इसे यहाँ **'वातपित्तेत्यादि'** के द्वारा बताया गया है । अर्थात् ये तीनों (वात, पित्त व कफ) शरीर के समस्त स्रोतों में गति करते रहते हैं । ये एक साथ रहते हुए भी इनमें वायु मुख्य (प्रधान) है, क्योंकि वायु ही सबसे सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतस् में गमन करने वाली एवं प्रेरक है । अतः तीनों दोषों में वायु ही शक्तिमान है । इसलिए वह प्रकुपित वायु, पित्त व कफ के द्वारा मार्ग का आवरण (अवरोध) होते हुए भी उन-उन प्रदेशों में व्याधि को उत्पन्न करती है तथा रसादि धातुओं का शोषण करती है । ॥५८-६०॥

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः ।।६१।।
कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता । शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ।।६२।।
लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते । रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम् ।।६३।।
भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च । कठिनाश्च दिवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा ।।६४।।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे । चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा ।।६५।।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः । स्पर्शमस्थ्नाऽऽवृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति ।।६६।।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते । मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम् ।।६७।।
शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम् । शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे ।।६८।।
भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले । मूत्रावृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ।।६९।।
वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति । व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ।।७०।।
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत् । श्रोणीवंक्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः ।।७१।।
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ।

१. पित्तावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Pitta)–पित्त के द्वारा वायु के आवृत होने से शरीर में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं–

(क) दाह (Burning sensation), तृष्णा (प्यास का लगना-Morbid thirst), शूल (Colic pain) एवं भ्रम (चक्कर का आना-Giddiness)

(ख) आँखों के सामने अंधकार छा जाना (रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंधकार में प्रवेश कर रहा है।)

(ग) कटु, उष्ण, अम्ल एवं लवण रस वाले पदार्थों के सेवन से शरीर में दाह की वृद्धि का होना ।

(घ) शीतल जल या अन्न के सेवन की इच्छा का होना ।

२. कफावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by kapha)

(क) शैत्य एवं गुरुता का अनुभव होना (Feeling of coldness and heaviness)

(ख) उदर में शूल का होना (Colic pain)

Scanned by CamScanner

(ग) कटु, अम्ल आदि उष्ण द्रव्यों के सेवन से लक्षणों में अल्पता का होना।

(घ) लंघन (Fasting), आयास (अत्यधिक परिश्रम करना-Excessive physical exercise), रूक्ष एवं उष्ण आहार-विहार के सेवन की इच्छा का होना।

ये सभी लक्षण कफावृत वायु में पाये जाते हैं।

३. रक्तावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Rakta)

(क) त्वचा व मांस के बीच के भाग में भयंकर रूप से दाह एवं वेदना का होना।

(ख) रागयुक्त शोथ का होना।

(ग) त्वचा पर गोल-गोल चकत्ते का निकलना।

ये सभी लक्षण रक्तावृतवात में पाये जाते हैं।

४. मांसावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Māmṣa)

(क) त्वचा पर कठोर (Hard) एवं वर्णरहित पिडिकाओं का निकलना।

(ख) शरीर में शोथ का होना।

(ग) रोंगटे खड़े होना (Horripilation)

(घ) शरीर पर चिटियाँ रेंग (चल) रही हैं, इस प्रकार की प्रतीति का होना।

ये लक्षण वायु के मांस में आश्रित होने पर पाये जाते हैं, अर्थात् मांस द्वारा आवृत वायु के ये लक्षण होते हैं।

५. मेद द्वारा आवृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Medas (fat)

(क) अङ्गों में चल, स्निग्ध, गतियुक्त एवं शीत युक्त शोथ का उत्पन्न होना।

(ख) भोजन करने की इच्छा का न होना (Anorexia)

इन लक्षणों से युक्त व्याधि को **आढ्यवात** कहते हैं, जो कृच्छ्र साध्य होता है।

६. अस्थ्यावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Bone-tissue)

(क) रोगी को उष्ण स्पर्श एवं अपने शरीर को दबवाना अच्छा लगता है, अर्थात् वह चाहता है कि कोई उसके शरीर को जोर लगाकर दबावे।

(ख) शरीर में टूटने जैसी पीड़ा का होना (Breaking pain in the body)

(ग) अत्यधिक दुखी महसूस करना (Depression)

(घ) शरीर में सुई चुभाने जैसी पीड़ा का अनुभव होना।

ये लक्षण अस्थ्यावृत वात में पाये जाते हैं।

७. मज्जावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Bone-marrow)

(क) शरीर का आगे की ओर झुकना (Forward bending)

(ख) शरीर में ऐंठन युक्त पीड़ा का होना (Twisting pain)

(ग) जम्हाई एवं शूल का होना (Yawning and colic pain)

(घ) रोगी के शरीर को हाथों से दबाने पर आराम महसूस होता है, अर्थात् रोगी सुख का अनुभव करता है।

८. शुक्रावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by semen)

(क) शुक्र का अत्यधिक वेग युक्त निकलना, अथवा वेग रहित होना।

(ख) फल रहित होना अर्थात् गर्भ धारण करने में समर्थ न होना

ये लक्षण शुक्रावृत वात में पाये जाते हैं।

Scanned by CamScanner

९. अन्नावृत वायु के लक्षण (Occlusion of Vāyu by food)

(क) भोजन करने के बाद कुक्षि (उदर) में शूल का होना ।

(ख) भोजन पच जाने के बाद शूल का शान्त हो जाना ।

ये दो लक्षण अन्नावृत वात में पाये जाते हैं ।

१०. मूत्रावृत वात के लक्षण (Occlusion of Vāyu by Urine)

(क) मूत्र का न निकलना (Retention of urine)

(ख) मूत्राशय में आध्मान का होना (Distension of urinary bladder)

ये लक्षण मूत्रावृत वात में पाये जाते हैं ।

११. पुरीषावृत वायु के लक्षण (Signs and Symptoms of Purīsāvṛita vāta)

(क) पुरीष का अत्यन्त बँध जाना (मल का) अपने स्थान से नीचे की ओर न जा पाना तथा परिकर्तिका का होना ।

(ख) भोजन करने के बाद स्नेहांश का शीघ्र पाचन हो जाना अर्थात् भोजन के स्नेहांश का शीघ्र पच जाना । भोजन जीर्ण होने (पच जाने) के बाद उदर में आध्मान का होना ।

(ग) अन्न का पाक देर से होने के कारण अथवा देर तक होने के कारण रोगी शुष्क मल (Dry stool) का त्याग कष्टपूर्वक करता है ।

(घ) रोगी के श्रोणि (Hips), वंक्षण (Groin) एवं पृष्ठ (पीठ-Back) में पीड़ा का होना ।

(ङ) वायु की ऊर्ध्व गति का होना, अर्थात् वायु की गति अनुलोम (नीचे की ओर) न होकर प्रतिलोम (ऊर्ध्व) होने लगती है ।

(च) हृदय का अस्वस्थ रहना । (रोगी अपने को स्वस्थ नहीं महसूस करता)

ये सभी लक्षण पुरीषावृत वात के बताये गये हैं ।

चक्रपाणि–आवरण कृत वात प्रकोप का वर्णन करने के बाद आवरण विशेष से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को यहाँ-'लिङ्गं पित्तावृते इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । **कट्वाद्युपशय इति**-कटु, उष्ण आदि कफ विपरीत आहार द्रव्यों के सेवन से कफावृत वात के लक्षण प्रशमित हो जाते हैं । **अधिकमिति वातहरैरप्युपशयो नाधिको भवतीति दर्शयति**-वातनाशक अन्न-पान के सेवन करने पर लक्षणों का अत्यधिक प्रशमन नहीं होता, यह दर्शाया गया है । अर्थात् कफावृत वात के रोगी में वातनाशक चिकित्सा करने पर व्याधि के लक्षण पूरे प्रशमित नहीं होते । **मांसगे इति**-मांसवृत वात में । **मांसगतस्य रक्तादिगतस्य च वातस्य पूर्वमेव लक्षणमुक्तम्**-मांसगत एवं रक्तादिगत वात के लक्षण पूर्व में विवेचित किये जा चुके हैं, जबकि यहाँ रक्तादि आवृत वात के लक्षणों को विशेष रूप से बताया गया है । अर्थात् यहाँ रक्तादि आवृत वात के लक्षणों का विशेष विवेचन किया गया है ।

'आढ्यवात' से यहाँ आयुर्वेद मतानुसार मेदावृत वात के लक्षणों का ग्रहण किया गया है । **स्वस्थाने इति**-पक्वाशय में । **परिकृन्तति**-परिकर्तिका (Fissure) को उत्पन्न करता है । इस व्याधि में गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा होती है । इस लक्षण को पुरीषावृत वात के लक्षणों में पढ़ा गया है । ॥६१-७१॥

सन्धिच्युतिर्हनुस्तम्भः कुञ्चनं कुब्जताऽर्दितः ॥७२॥
पक्षाघातोऽङ्गसंशोषः पङ्गुत्वं खुडवातता । स्तम्भनं चाढ्यवातश्च रोगा मज्जास्थिगाश्च ये ॥७३॥
एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा । नवान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ॥७४॥

वातव्याधियों की साध्यता-असाध्यता (Prognosis of the Vāta Vyādhi)–

१. संधिच्युति (Dislocation of joints)

२. हनुस्तम्भ (हनु का जकड़ जाना-Lock jaw)

३. अङ्गों का सिकुड़ना अथवा टेढ़ा होना (Contraction of the body)

४. कुब्जता (कुबड़ापन Hunch-Back)

५. अर्दित (मुख का टेढ़ा होना Facial paralysis)

६. पक्षाघात (Hemiplegia)

Scanned by CamScanner

७. अङ्गों का सूखना (Atrophy of limbs-हाथ व पैरों की मांस पेशियों का सूखना)

८. पंगुता (Inability to walk due to muscular dystrophy)

९. खुड्वात (वातरक्त), १०. स्तम्भ (Stiffness of the body-शरीर में जकड़ाहट का होना)

११. अस्थि एवं मज्जागत व्याधियाँ

इस प्रकार उपरोक्त व्याधियाँ स्थान की गम्भीरता के कारण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने पर भी कभी अच्छी हो जाती हैं तथा कभी अच्छी नहीं होंगी, अर्थात् रोगी कभी आरोग्य हो जाता है कभी नहीं हो पाता। अतः ये व्याधियाँ जब शीघ्र उत्पन्न हों, अर्थात् नवीन हों, रोगी बलवान् हो तथा इनमें कोई उपद्रव न हो, तभी साध्य होती हैं। ऐसी अवस्था में इनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–वातव्याधियों की साध्यता-असाध्यता के विभाग को 'सन्धिच्युतिरित्यादि' के द्वारा बताया गया है। इस प्रकरण में कुब्जत्व एवं पंगुत्व आदि का साक्षात् वर्णन नहीं किया गया है फिर भी शेषातिदेश के द्वारा ही उसके लक्षणों को जानना चाहिए। अर्थात् श्लोक नं. ५८ के अनुसार उसका भी ज्ञान करना चाहिए। खुडवात से गुल्फवात (Ankle joint pain) का ग्रहण करना चाहिए, अथवा संधिगतवात (संधिवात) का ग्रहण करें।

मज्जास्थिगा इति–मज्जा एवं अस्थि आवृतवात अथवा मज्जा व अस्थिगत वात से उत्पन्न व्याधियों का ग्रहण करना चाहिए।

स्थानस्य गाम्भीर्यादिति–गम्भीर स्थान (गम्भीर धातुओं) में आश्रित होने से (स्थान की गम्भीरता से), अन्य आचार्य इस शब्द से अस्पन्दत्व का ग्रहण करते हैं, अर्थात् गति रहित होना, अर्थात् जो अङ्ग चलायमान न हों।

यत्नात् सिध्यन्ति वा नवेति–अन्य आचार्य 'यत्नात् सिध्यन्ति' से एक पक्ष में व्याधि में आराम होता है, ऐसा अर्थ करते हैं। इस कार्य को आयुर्वेद का आचार्य या उसके तुल्य कोई वैद्य (चिकित्सक) ही परिश्रम से कर सकता है। इससे भिन्न चिकित्सक जिसे विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं है, नहीं कर सकता। इसलिए यहाँ संदेह व्यक्त किया गया है कि व्याधि परिश्रम पूर्वक चिकित्सा करने पर भी ठीक हो सकती है अथवा नहीं भी हो सकती है। अतः यहाँ निर्दिष्ट साध्य व्याधियों की चिकित्सा वास्तव में संदिग्ध नहीं है, अर्थात् साध्य है एवं चिकित्स्य है। साध्य व्याधियों के लक्षणों को यहाँ 'नवानित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है-१. व्याधि का नवीन होना (शीघ्र उत्पन्न व्याधि), २. रोगी का बलवान् होना, ३. उपद्रव का न होना, इन अवस्थाओं में पूर्वोक्त व्याधियाँ साध्य होती हैं।

उपद्रवाश्चात्र शृङ्गग्राहिकयाऽनुक्तापि सामान्योपद्रवलक्षणयुक्ता एव केचिद्दा विज्ञेया–उपद्रव से यहाँ शृङ्ग ग्राहिक न्याय के अनुसार अनुक्त होते हुए भी कुछ व्याधियाँ सामान्य उपद्रवों से युक्त होती हैं, उनका भी ग्रहण करना चाहिए। अथवा अध्याय के अन्त में 'हृद्रोगो विद्रधिः' आदि के द्वारा कहे जाने वाले उपद्रवों का ग्रहण करना चाहिए ॥७२-७४॥

विशेष (Comments)–"एते स्थानस्य गाम्भीर्याद्यत्नात् सिध्यन्ति वा न वा"-सन्धिच्युति आदि निर्दिष्ट व्याधियाँ गम्भीर धातुओं के आश्रित होती हैं, इसलिए इनकी चिकित्सा वातव्याधि विशेषज्ञ चिकित्सक अथवा आचार्य (शिक्षक-चिकित्सक) ही कर सकता है, सामान्य चिकित्सक सफल नहीं होता।

क्रियामतः परं सिद्धां वातरोगापहां शृणु। केवलं निरुपस्तम्भमादौ स्नेहैरुपाचरेत् ॥७५॥
वायुं सर्पिर्वसातैलमज्जपानैर्नरं ततः। स्नेहक्लान्तं समाश्वास्य पयोभिः स्नेहयेत् पुनः ॥७६॥
धूपैर्मांस्याम्बुजानूपरसैर्वा स्नेहसंयुतैः। पायसैः कृशरैः साम्ललवणैरनुवासनैः ॥७७॥
नावनैस्तर्पणैश्चान्नैः सुस्निग्धं स्वेदयेत्ततः। स्वभ्यक्तं स्नेहसंयुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः ॥७८॥
तथाऽन्यैर्विविधैः स्वेदैर्यथायोगमुपाचरेत्। स्नेहाक्तं स्विन्नमङ्गं तु वक्रं स्तब्धमथापि वा ॥७९॥
शनैर्नामयितुं शक्यं यथेष्टं शुष्कदारुवत्। हर्षतोदरुगायामशोथस्तम्भग्रहादयः ॥८०॥
स्विन्नस्याशु प्रशाम्यन्ति मार्दवं चोपजायते। स्नेहश्च धातूनसंशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः ॥८१॥
बलमग्निबलं पुष्टिं प्राणांश्चाप्यभिवर्धयेत्। असकृत्तं पुनः स्नेहैः स्वेदैश्चाप्युपपादयेत् ॥८२॥
तथा स्नेहमृदौ कोष्ठे न तिष्ठन्त्यनिलामयाः।

वातव्याधि चिकित्सा-प्रकरण

वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा–हे अग्निवेश! अब आगे वातव्याधि नाशक सिद्ध चिकित्सा विधियों को मुझसे सुनो–

१. स्नेह क्रिया–सर्वप्रथम आवरण रहित (क्षय जनित) वात व्याधियों में घृत, वसा, तैल एवं मज्जा द्वारा रोगी का स्नेहन करना चाहिए, अर्थात् इनको पिलाकर (स्नेहपान के द्वारा) रोगी का स्नेहन करें।

जब रोगी का सम्यक् स्नेहन हो जाय तब आगे बताये गये विधियों का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

स्नेहपान से क्लान्त (थके) रोगी को पुनः आश्वासन देकर दूध, यूष (मुद्गयूष), ग्राम्य, जलीय एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस में घृत आदि स्नेहों को मिलाकर, अथवा पायस, कृशरा को अम्लरस एवं सैन्धव नमक से सिद्ध कर, अनुवासन बस्ति, नावन एवं स्निग्ध नस्यों तथा तृप्त करने वाले आहार द्रव्यों को खिलाकर रोगी का सम्यक् स्नेहन करना चाहिए।

२. स्वेदन का प्रयोग–सम्यक् स्निग्ध (आभ्यन्तर स्नेहपान द्वारा स्निग्ध) रोगी के शरीर के जिस भाग में वायु का प्रकोप है उस भाग का तैलादि द्वारा उचित प्रकार से अभ्यङ्ग (मालिश) करके स्नेहयुक्त नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद आदि तथा अन्य यथावश्यक स्वेदों द्वारा स्वेदन करना चाहिए।

३. स्नेहन-स्वेदन से लाभ–जिसका शरीर वक्र हो गया हो अथवा टेढ़ा हो एवं जकड़ाहट से युक्त हो, सम्यक् स्नेहन (अभ्यङ्ग आदि) एवं स्वेदन के द्वारा उसी प्रकार ठीक किया जाता है जिस प्रकार सूखी हुई लकड़ी को तैल के अभ्यङ्ग एवं स्वेदन द्वारा अपनी इच्छानुसार मोड़ लिया जाता है, अथवा सीधा कर लिया जाता है।

४. स्वेदन से लाभ– १. हर्ष (शरीर में झनझनाहट का होना-Tingling sensation)
२. शरीर में सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना (Pricking pain)।
३. पीड़ा का होना (ache)
४. आयाम (शरीर में संकोच का होना-Contraction)
५. अङ्गों में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the body)
६. अंगग्रह (शरीर के किसी एक भाग में जकड़ाहट का होना) आदि वातव्याधियाँ।

निर्दिष्ट व्याधियाँ स्वेदन के प्रयोग से शीघ्र ही प्रशमित हो जाती हैं एवं व्यक्ति का शरीर मृदु (Soft) हो जाता है।

→ स्नेहन के प्रयोग से शरीरस्थ शुष्क धातुएं शीघ्र ही पुष्ट हो जाती हैं। इसके साथ ही व्यक्ति के बल (Strength), जाठराग्नि (Enzymes responsible for digestion and metabolism), पुष्टि (Plumpness of the body) एवं प्राण (जीवनीय शक्ति) की वृद्धि होती है।

→ वात व्याधि से पीड़ित व्यक्ति को बार-बार स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए। स्नेहन के प्रयोग से व्यक्ति का कोष्ठ मृदु हो जाता है तथा मृदु कोष्ठ (स्नेह के प्रयोग से उत्पन्न मृदु कोष्ठ) में वात रोग रुक नहीं पाते।

चक्रपाणि–'क्रियामत इत्यादि' के द्वारा वात व्याधि की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **केवलमिति**-इससे यहाँ असंसृष्ट (शुद्ध) वातव्याधि की चिकित्सा का ग्रहण किया गया है, अर्थात् शुद्ध वातिक व्याधियों की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। निरुपस्तम्भमिति=आवरण रहित वात व्याधि, अर्थात् धातुक्षय जन्य कारणों से उत्पन्न वात व्याधियों में।

धातुक्षय जन्य कारणों से उत्पन्न वातव्याधियों में सर्वप्रथम स्नेहन का प्रयोग कराना चाहिए। स्नेहन किन स्नेहों के द्वारा करना चाहिए ? इसका उत्तर-**'सर्पिर्वसातैलमज्जपानैरिति'** के द्वारा दिया गया है, अर्थात् घृत, वसा, तैल एवं मज्जा को पिलाकर करना चाहिए। **'नरं ततः स्नेहक्लान्तमिति'** के द्वारा स्नेहपान के पश्चात् क्या करना चाहिए, इसे बताया गया है। 'स्नेहक्लान्त' से यहाँ स्नेहपान से उद्विग्न होना एवं स्नेह के प्रति अरुचि का होना, अर्थ लिया गया है। [इसका अभिप्राय यह है कि अच्छ स्नेह (घृत, तैल, वसा व मज्जा) के एकान्तिक प्रयोग से व्यक्ति को अरुचि हो जाय अथवा वह किसी कारण से स्नेह पी नहीं पाता है तब प्रविचारणा विधि-कृशरा, क्षीर, पायस आदि के साथ घृतादि मिलाकर पिलाना चाहिए।]

समाश्वास्येति विश्रमयित्वा=विश्रामकराकर (पाठभेद से 'विश्वासयित्वा' प्राप्त होता है, जिसका अभिप्राय रोगी को आश्वासन देकर अथवा विश्वास दिलाकर स्नेह (कृशरादि+स्नेह) पिलाना चाहिए। स्नेहयेदिति=विभिन्न प्रकार के द्रव्यों (यूष, मांसरस, आदि) द्वारा रोगी को तृप्त करना चाहिए, जिससे उसका भलीभाँति स्नेहन हो जाय। 'अन्यैः' से यहाँ कुटी, भूस्वेद आदि स्वेदविधियों का ग्रहण करना चाहिए।

यथायोगमिति–रोगी का स्वेदन तभी कराना चाहिए जब उसका पूर्णतः (बाह्य एवं आभ्यन्तर) स्नेहन हो जाय। 'स्नेहाक्तं स्विन्नमित्यादि' के द्वारा स्नेहपूर्वक स्वेदन कराने के गुणों को विवेचित किया गया है। स्नेहाध्याय (सू.अ. १४) में "स्नेहपूर्वं प्रयुक्तेन" (सू.अ. १४) के द्वारा स्नेहपूर्वक स्वेद के गुणों का विवेचन किया गया है, फिर भी स्वेद का प्रकरण आ जाने के कारण उस विषय को यहाँ पुनः कह दिया गया है।

'स्नेहश्च धातून्संशुष्कान् पुष्णात्याशु प्रयोजितः' में आशुप्रयोजितः का सम्बन्ध पुष्णातीति के साथ है, अर्थात् स्नेहन के प्रयोग से शरीरस्थ शुष्क धातुएं (रसरक्तादि धातुएं) शीघ्र ही पुष्ट (वृद्धि को प्राप्त) हो जाती हैं, यह भाव है। अनिलामया न तिष्ठन्ति-वातविकार

Scanned by CamScanner

शरीर में नहीं होते (वात व्याधियाँ शरीर में स्थायी रूप से रुक नहीं पाती) अर्थात् स्नेहन-स्वेदन द्वारा मृदुता प्राप्त कोष्ठ में वातरोग अपना स्थायी निवास नहीं बना पाते, अर्थात् शीघ्र ही प्रशमित हो जाती हैं । ॥७५-८२॥

यद्यनेन सदोषत्वात् कर्मणा न प्रशाम्यति ॥८३॥
मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैरौषधैस्तं विशोधयेत् । घृतं तिल्वकसिद्धं वा सातलासिद्धमेव वा ॥८४॥
पयसैरण्डतैलं वा पिबेद्दोषहरं शिवम् । स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः ॥८५॥
स्रोतो बद्ध्वाऽनिलं रुन्ध्यात्तस्मात्तमनुलोमयेत् । दुर्बलो योऽविरेच्यः स्यात्तं निरूहैरुपाचरेत् ॥८६॥
पाचनैर्दीपनीयैर्वा भोजनैस्तद्युतैर्नरम् । संशुद्धस्योत्थिते चाग्नौ स्नेहस्वेदौ पुनर्हितौ ॥८७॥
स्वाद्वम्ललवणस्निग्धैराहारैः सततं पुनः । नावनैर्धूमपानैश्च सवनिवोपपादयेत् ॥८८॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं वातरोगचिकित्सितम् ।

वातव्याधि में मृदुविरेचन–अत्यधिक दोषों की वृद्धि के कारण स्नेहन-स्वेदन के प्रयोग से यदि व्याधि प्रशमित (शान्त) न हो तब ऐसी अवस्था में चिकित्सक को मृदु औषधियों (विरेचन) में स्नेह मिलाकर रोगी का विरेचन कराना चाहिए, अर्थात् स्नेह विरेचन कराना चाहिए। (मृदु विरेचक औषधियों द्वारा शोधन करें)

मृदु विरेचक योग–१. तिल्वक घृत, २. सातला द्वारा साधित घृत, ३. एरण्ड तैल + दूध; ये तीनों योग दोषहर एवं कल्याण कारक होते हैं, अर्थात् इनके सेवन से उचित रूप से विरेचन होता है ।

वातानुलोमक द्रव्यों का प्रयोग–स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण गुण युक्त आहार द्रव्यों के प्रयोग से स्रोतों में संचित मल स्रोतस् में अवरोध उत्पन्न करते हैं जिससे वायु अवरुद्ध हो जाती है । इसलिये संचित मल एवं वायु के अवरोध को दूर करने के लिए वातानुलोमक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

निरूहबस्ति का प्रयोग–जो रोगी अत्यन्त दुर्बल है, अथवा जो विरेचन के अयोग्य है उसमें निरूह बस्ति के प्रयोग द्वारा दोषों का निर्हरण करना चाहिए अथवा दीपन-पाचन द्रव्यों को भोजन के साथ मिलाकर खाने के लिए देना चाहिए।

संशोधन (विरेचन) के बाद संसर्जन क्रम के प्रयोग से जब रोगी की जाठराग्नि तीव्र हो जाय तब पुनः उसे स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए। ऐसे रोगी की चिकित्सा हेतु बार-बार मधुर, अम्ल, लवण एवं स्निग्ध गुण युक्त आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए ।

सभी प्रकार की वातव्याधियों में **नावन** एवं **धूमपान** का प्रयोग कराना उपयोगी होता है ।

इस प्रकार वातव्याधि की सामान्य चिकित्सा का अभिधान किया गया ।

चक्रपाणि–'यद्यनेन' से वातव्याधि की चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है । **अत्र केवलो निरुपस्तम्भश्च वायुश्चिकित्स्यत्वेनाधिकृतः**-यहाँ मात्र आवरण रहित वात की चिकित्सा को अधिकृत करके विषय को स्पष्ट किया गया है, अर्थात् आवरण रहित वातव्याधि की चिकित्सा का अभिधान किया गया है । आवरण रहित वात में **सदोषत्व** नहीं होता । अतः सदोषत्व के साथ 'कर्मणि' शब्द को जोड़ना चाहिए, अर्थात् चिकित्साकर्म- स्नेहन, स्वेदन, कर्म के दोष युक्त होने पर यदि वात का प्रशमन न हो, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

अथवा मात्र स्नेहन, स्वेदन द्वारा शरीर का शोधन न होने से वायु शान्त नहीं होती, अपितु इनसे अशुद्ध मल की वृद्धि होती है। कहा भी गया है, यथा-"स्निग्धाम्ललवणोष्णाद्यैराहारैर्हि मलश्चितः" [स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण गुण वाले आहार द्रव्यों के प्रयोग से शरीर में मल का सञ्चय होता है ।]

किंवा सदोषत्वादिति–स्नेहन, स्वेदन के प्रयोग के बाद भी शरीर में यदि दोष (वात) बढ़ा है तब उसका प्रशमन करना चाहिए । यहाँ असंसृष्टत्व एवं अनुपस्तम्भत्व शब्द का जो प्रयोग किया गया है उसका अर्थ-**चिकित्सा के प्रारम्भ में**, लेना चाहिए । अर्थात् उपक्रम के प्रारम्भ में ही आवरण एवं शुद्ध वातिक व्याधियों का विचार कर लेना चाहिए ।

सदोषत्वं च स्नेहप्रयोगेणानुपशमे संशोधनकरणे च हेतुः–स्नेहन-स्वेदन चिकित्सा (पूर्वकर्म) के प्रयोग से यदि वातव्याधि का प्रशमन नहीं होता है तब वहाँ संशोधन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए । अतः स्पष्ट है कि वातव्याधि में सर्वप्रथम स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग तो निश्चित ही कराना चाहिए ।

स्नेहन-स्वेदन के बाद शरीर में मलों (दोषादि) की वृद्धि कैसे होती है, जिसे यहाँ 'स्निग्धेत्यादि' के द्वारा समझाया गया है । अर्थात् स्नेहन-स्वेदन के समय भी रोगी को खाने के लिए स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण आहार द्रव्यों का निर्देश दिया गया है, जो कि वात शामक हैं लेकिन इनसे कफादि की वृद्धि होती है । जिससे स्रोतस् में अवरोध उत्पन्न होता है । **दुर्बलो योऽविरेच्य इति**-दुर्बल व्यक्ति विशेष रूप से विरेचन के अयोग्य होता है । ऐसे व्यक्ति में आस्थापन बस्ति का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए । जिसे इस रूप में स्पष्ट किया गया

Scanned by CamScanner

है, यथा-"अनास्थाप्यास्त्वजीर्णी" (सि.अ. २) इति- [यहाँ अजीर्ण रोगी का अभिप्राय ऐसे रोगी से है जो अन्न को पचाने में समर्थ नहीं हो पाता, इससे यहाँ अति दुर्बल का ही भाव प्राप्त होता है ।

अत्यर्थंदुर्बलतया बस्त्यनर्हेऽपि विधिमाह—पाचनैर्दीपनीयैश्चेति; अत्यधिक दुर्बल व्यक्ति यद्यपि निरूह बस्ति के अयोग्य होता है फिर भी उसे दीपन एवं पाचन द्रव्यों से साधित क्वाथ की निरूह बस्ति देनी चाहिए । जिसे यहाँ 'पाचनैर्दीपनीयैश्चेति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो मात्र पाचन का कार्य करते हैं, दीपन का नहीं, यथा-पटोल तथा कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो मात्र दीपन का कार्य करते हैं पाचन का नहीं, यथा-त्रिफला । सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा-"त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशनी । चक्षुष्या दीपनी च" सु.सू.अ. ३८ । अतः बस्ति द्रव्यों में दीपन एवं पाचन दोनों प्रकार के द्रव्यों की योजना करनी चाहिए । इसी प्रकार आहार द्रव्यों के साथ भी दीपन-पाचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए । **उत्थिते चाग्नौ इति-** दीपनीय-पाचनीय द्रव्यों के प्रयोग से जाठराग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर, अथवा संसर्जन क्रम के पश्चात् जब जाठराग्नि प्रवृद्ध हो जाय तब पुनः स्नेहन-स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए । ॥८३-८८॥

विशेषतस्तु कोष्ठस्थे वाते क्षारं पिबेन्नरः ॥८९॥
पाचनैर्दीपनैर्युक्तैरम्लैर्वा पाचयेन्मलान् । गुदपक्वाशयस्थे तु कर्मोदावर्तनुद्धितम् ॥९०॥
आमाशयस्थे शुद्धस्य यथादोषहरीः क्रियाः । सर्वाङ्गकुपितेऽभ्यङ्गो वस्तयः सानुवासनाः ॥९१॥
स्वेदाभ्यङ्गावगाहाश्च हृद्यं चान्नं त्वगाश्रिते । शीताः प्रदेहा रक्तस्थे विरेको रक्तमोक्षणम् ॥९२॥
विरेको मांसमेदःस्थे निरूहाः शमनानि च । बाह्याभ्यन्तरतः स्नेहैरस्थिमज्जगतं जयेत् ॥९३॥
हर्षोऽन्नपानं शुक्रस्थे बलशुक्रकरं हितम् । विबद्धमार्गं दृष्ट्वा वा शुक्रं दद्याद्विरेचनम् ॥९४॥
विरिक्तप्रतिभुक्तस्य पूर्वोक्तां कारयेत् क्रियाम् । गर्भे शुष्के तु वातेन बालानां चापि शुष्यताम् ॥९५॥
सिताकाश्मर्यमधुकैर्हितमुत्थापने पयः । हृदि प्रकुपिते सिद्धमंशुमत्या पयो हितम् ॥९६॥
मत्स्यान्नाभिप्रदेशस्थे सिद्धान् बिल्वशलादुभिः । वायुना वेष्ट्यमाने तु गात्रे स्यादुपनाहनम् ॥९७॥
तैलं संकुचितेऽभ्यङ्गो माषसैन्धवसाधितम् । बाहुशीर्षगते नस्यं पानं चौत्तरभक्तिकम् ॥९८॥
बस्तिकर्म त्वधो नाभेः शस्यते चावपीडकः ।

१. कोष्ठगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Koshṭa)–वायु के कोष्ठ में आश्रित होने पर विशेष रूप से क्षार (यवक्षार) का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् क्षारोदक का पान करना चाहिए । अथवा अम्ल द्रव्यों के क्वाथ अथवा रस (अनार का रस या आमलकी स्वरस या फालसे का रस) में दीपन-पाचन द्रव्यों के चूर्ण को मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिए । इससे मलों का पाचन हो जाता है ।

२. गुदा एवं पक्वाशयगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Anus and Colon)–गुदा एवं पक्वाशय में वायु के प्रकुपित होने पर उदावर्त नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

३. आमाशयगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Āmāśaya)–सर्व प्रथम आमाशय का शोधन करना चाहिए, पश्चात् जो दोष वृद्ध हों उसको शान्त करने का उपाय करना चाहिए, अर्थात् संशोधनोत्तर तद्दोषशामक चिकित्सा करनी चाहिए ।

४. सर्वाङ्ग प्रकुपित वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in the whole body)–इस अवस्था में रोगी के सम्पूर्ण शरीर पर तैलादि का अभ्यंग कराकर स्वेदन करावें । स्वेदन से यहाँ सर्वांग स्वेदन अर्थ गृहीत है । तत्पश्चात् निरूह एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

५. त्वगाश्रित वात की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Skin)–स्वेदन, अभ्यङ्ग, अवगाहन एवं हृद्य (मन को प्रसन्न करने वाले) अन्न-पान का प्रयोग करना चाहिए ।

६. रक्तगत वात की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in the Blood)–वायु के रक्त में आश्रित होने पर शीतल प्रदेह (Ointment for external application), विरेचन (Purgation) एवं रक्तमोक्षण (Blood-letting) चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

७. मांस व मेद के आश्रित वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Muscle tissue and Fat)– जब वायु मांस व मेद धातु के आश्रित हो तब उसमें विरेचन, निरूह बस्ति एवं दोषशामक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

८. अस्थि एवं मज्जागत वायु की चिकित्सा–इसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर स्नेहन कराना चाहिए । बाह्य स्नेहन के रूप में-वातनाशक तैलों से शरीर का अभ्यङ्ग (मालिश) करावें तथा आभ्यन्तर स्नेह के रूप में-घृत, तैल, वसा, मज्जा का यथावश्यक (जो आवश्यक हो) पान करावें । इनके प्रयोग द्वारा अस्थि व मज्जागत वायु को प्रशमित करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

९. शुक्रगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in Śukra)–शुक्रगत वायु के प्रकुपित होने पर हर्षोत्तेजक (हर्ष उत्पन्न करने वाले), बल (शारीरिक बल) एवं शुक्र वर्धक अन्न-पान का सेवन करना चाहिए। यदि शुक्रमार्ग अवरुद्ध हो गया हो अथवा मार्गावरोध के कारण शुक्र निकल नहीं रहा हो तब विरेचन का प्रयोग करना चाहिए अथवा विरेचन के प्रयोग से मार्गावरोध को दूर करना चाहिए। विरेचनोत्तर संसर्जनक्रम के प्रयोग से शरीर के पुष्ट होने के बाद (जातबलोपरान्त) शुक्र एवं बलवर्धक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

१०. गर्भाशयगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in the Uterus)–गर्भाशय में वायु के प्रकुपित होने पर गर्भ सूखने लगता है। ऐसी अवस्था में सिता (मिश्री), काश्मर्य (गम्भारी) एवं यष्टीमधु; के समभाग से निर्मित कल्क एवं क्वाथ से विधिवत् गोदुग्ध को सिद्ध करें। इस सिद्ध क्षीरपाक के पान करने से गर्भ पुष्ट हो जाता है।

११. हृदयगत एवं नाभिगत वायु की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in the Heart and Umbilicus)–वायु के हृदय में प्रकुपित होने पर शालपर्णी के कल्क द्वारा साधित क्षीर का पान रोगी को करना चाहिए।

नाभि प्रदेश में प्रकुपित वायु में बिल्व की गुद्दी मिलाकर पकायी गयी मछली का सेवन करना चाहिए।

१२. कम्प एवं संकोच की चिकित्सा (Treatment of Tremors and Contractions)–वायु के कारण शरीर में कम्प अथवा ऐंठन हो रही हो तब उपनाह का प्रयोग करना चाहिए एवं संकोच (Contractures) होने पर प्रभावित भाग में माष (उड़द) व सैन्धव डालकर पकाये गये तैल की मालिश (अभ्यङ्ग) करनी चाहिए।

१३. बाहुशीर्ष एवं अधोनाभिगत वात की चिकित्सा (Treatment of Vāyu located in the head of the Arm and below Umbilicus)–बाहुसिर अथवा बाहु एवं सिर में वात के प्रकुपित होने पर रोगी को वातनाशक तैलों का नस्य दें एवं भोजनोत्तर वातघ्न घृत का पान करावें। नाभि के अधः भाग में वात के प्रकुपित होने पर बस्तिकर्म एवं अवपीडक स्नेह का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–स्थान भेद से वात की चिकित्सा के भेद को यहाँ-'विशेषतस्त्विवत्यादि' से प्रारम्भ करके 'चावपीडकः' तक बताया गया है। अर्थात् अलग-अलग स्थान के अनुसार चिकित्सा भी अलग-अलग होती है, यह स्पष्ट किया गया है। क्षार से यवक्षार अर्थ लिया गया है। कहा भी गया है, यथा-"यावशूकः स्रंसनीयपाचनीयार्शोघ्नानां" [यवक्षार स्रंसनीय, पाचनीय एवं अर्शोघ्न द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है।] (सू.अ. २५) इति, अथवा क्षार से यहाँ ग्रहणी आदि के प्रकरण में निर्दिष्ट दीपन क्षारों का ग्रहण होता है। त्रिमर्मीय अध्याय में क्षार के उदावर्तनाशक कर्म का उल्लेख है, जिसे वहाँ-"तं तैलशीतज्वरनाशनाक्तं" (चि.अ. २६) इत्यादि के द्वारा कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए।

'स्वेदा इत्यादि' से त्वक्गत वात की चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है। प्रहर्षः=मनोहर्षणम् (मन में हर्ष उत्पन्न करने वाला)।

विरेचनानन्तरं प्रतिभोजितो विरिक्तप्रतिभुक्तः–विरेचन कराने के बाद संसर्जनक्रम का प्रयोग करावें, तत्पश्चात् सामान्य बल हो जाने पर बलवर्धक एवं शुक्रवर्धक औषधियों का प्रयोग करावें। 'पूर्वोक्त' से यहाँ-'शुक्रजनन एवं हर्षोत्पादक औषधियों का सेवन कराना' अर्थ गृहीत है। हर्षोत्पादक=मन में हर्ष उत्पन्न करने वाली औषधियाँ, जिनके सेवन से व्यक्ति मैथुन में प्रवृत्त हो।

उत्थापने इति पुष्टिजनने सितादिभिः सिद्धं पयो हितम्–उत्थापन से गर्भ पुष्टिकर अर्थ गृहीत है। सितादि साधित क्षीर के पीने से शुष्क गर्भ पुष्ट होकर बढ़ने लगता है। अतः सितादि साधित क्षीर गर्भ के लिए हितकर (कल्याणकारी) माना गया है। अंशुमती=शालपर्णी।

मत्स्यानिति नाभिप्रदेशे कुपिते वाते मत्स्या बिल्वशलाटुभिः समं सिद्धा देयाः–नाभि प्रदेश में वात के प्रकुपित होनेपर कच्चे बिल्व की गुद्दी के साथ पकाये गये मछली का सेवन रोगी को कराना चाहिए। नाभि प्रदेश में वात के प्रकुपित होने पर रोगी में तोद, भेद, शूल आदि लक्षण मिलते हैं, ऐसा समझना चाहिए।

वेष्ट्यमान इति अवमोट्यमाने–हाथ व पैरों में मे मरोड़ने जैसी पीड़ा का होना चाहिए।

उपनाहनं च वातहरद्रव्यैरेव कर्तव्यम्–वातनाशक द्रव्यों के कल्क का उपनाह बाँधना। **नस्यपाने च औत्तरभक्तिकं माषसैन्धवसाधितमेव तैलं ज्ञेयम्**-उड़द एवं सैन्धव नमक डालकर पकाये गये तैल का प्रयोग भोजनोत्तर नस्य एवं पान के रूप में करना चाहिए। यहाँ माषतैल का निर्माण-उड़द के क्वाथ, तिल तैल एवं सैन्धवनमक के कल्क द्वारा करना चाहिए। [क्वाथ - ४ भाग, तैल - १ भाग, कल्क - १/४ भाग, द्वारा तैल सिद्ध करें।]

सर्पिषोऽवपीडकः यत्र सर्पिः पीत्वा तत्पीडकमन्नं भुज्यते–जहाँ घृतपान कराने के बाद उसके पीडक रूप अन्न का सेवन कराया जाता है उसे 'सर्पिषोऽवपीडकः' कहा गया है, अर्थात् घृतपान के पश्चात् अन्न का सेवन करना। नाभिगत वात में बस्ति कर्म एवं अवपीडक का प्रयोग करना चाहिए। ॥८९-९८॥

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)–'बाहुशीर्षगते वाते नस्यं चौत्तरभक्तिकं स्नेहपानञ्च' बाहुशीर्ष गत वात में भोजनोत्तर नस्य एवं स्नेहपान कराना चाहिए। **नाभिरधो वाते बस्तिकर्म शस्यतेऽवपीडकश्च**–नाभि के अधोभाग में वात के प्रकुपित होने पर बस्तिकर्म एवं अवपीडक का प्रयोग करना चाहिए। –गंगाधर कविराज।

Avapīḍaka method of taking medicated oil involves the intake of oil first, and taking food there after, So that the food exerts pressure (Pīḍana) over the oil.– Dr. Bhagvan Das.

अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च ।।९९।।
नाडीस्वेदोपनाहाश्चाप्यानूपपिशितैर्हिताः । स्वेदनं स्नेहसंयुक्तं पक्षाघाते विरेचनम् ।।१००।।
अन्तराकण्डरागुल्फं सिरा बस्त्यग्रिकर्म च । गृध्रसीषु प्रयुञ्जीत खल्ल्यां तूष्णोपनाहनम् ।।१०१।।
पायसैः कृशरैर्मांसैः शस्तं तैलघृतान्वितैः । व्यात्तानने हनुं स्विन्नामङ्गुष्ठाभ्यां प्रपीड्य च ।।१०२।।
प्रदेशिनीभ्यां चोन्नाम्य चिबुकोन्नामनं हितम् । स्रस्तं स्वं गमयेत्स्थानं स्तब्धं स्विन्नं विनामयेत् ।।१०३।।

अर्दित रोग की चिकित्सा (Treatment of Ardita)–इस व्याधि में नावननस्य, मूर्ध्नि तैल धारण (सिर पर तैल का धारण), यथा-शिरोभ्यंग, शिरोबस्ति, पिचु धारण आदि एवं संतर्पण आहार का सेवन करना चाहिए। नाड़ी स्वेद एवं जलीय व आनूप पशु-पक्षियों के मांस का उपनाह कराना विशेष हितकर होता है। उपनाह=पुल्टिस।

पक्षाघात की चिकित्सा (Treatment of Ardhānga vāta)–पक्षाघात या अर्धाङ्गवात (Hemiplegia) की चिकित्सा में रोगी को स्वेदन एवं स्नेहविरेचन कराना चाहिए।

गृध्रसी की चिकित्सा (Treatment of Gridhrasī)–

१. कण्डरा एवं गुल्फ के बीच में स्थित सिरा का वेध करना।
२. अनुवासन एवं निरूह बस्ति का प्रयोग।
३. कण्डरा एवं गुल्फ संधि (Ankle joint) के बीच के भाग में अग्रिकर्म करना।

खल्ली रोग की चिकित्सा (Treatment of Khallī)–

१. पायस (खीर) में तैल व घृत मिलाकर सुखोष्ण करके अर्थात् कुछ गुनगुना करके उपनाह (पुल्टिस) बाँधें।
२. कृशरा (खिचड़ी) + तैल + घृत, गुनगुना करके उपनाह के रूप में प्रयोग करें।
३. मांस को सिल पर पीस कर महीन कल्क बना लें। इस कल्क में तैल व घृत मिलाकर सुखोष्ण गरम करें एवं इसकी पुल्टिस प्रभावित भाग पर बाँधे।

हनुग्रह की चिकित्सा (Treatment of Hanu-Graha)–यदि हनुस्तंभ (हनुग्रह) रोग में रोगी का मुख खुला हुआ है तब हनुसंधि (Mandibular joint) का सम्यक् स्वेदन करना चाहिए। इसके बाद अंगुठे को रोगी के मुख में डालकर उससे हनुसंधि को दबाना चाहिए। इसके बाद प्रदेशनी अंगुली को मुख के भीतर डालकर हनु एवं चिबुक को उठाना चाहिए। यदि हनुसंधि अपने स्थान से नीचे आ गया हो तब उसे ऊपर उठाकर यथास्थान स्थिर (fix) करें। यदि हनु प्रदेश जकड़ (Stiff) गया हो तब उसे स्वेदनोत्तर ऊपर-नीचे करके स्थिर करना चाहिए।

चक्रपाणि–'अर्दिते इत्यादि' के द्वारा अर्दित आदि व्याधियों की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **तर्पणमिति नावनविशेषणम्**–यहाँ अर्दित रोग के चिकित्सा सूत्र के रूप में-"अर्दिते नावनं मूर्ध्नि तैलं तर्पणमेव च" का प्रयोग किया गया है। जिसका अभिप्राय नावन नस्य एवं मूर्ध्नि तैल (शिरोबस्ति एवं पिचु धारण) द्वारा सिर का तर्पण करना चाहिए। यहाँ तर्पण शब्द के द्वारा नावन एवं मूर्ध्नि तैल धारण के वैशिष्ट्य को बताया गया है, अथवा तर्पण से संतर्पण आहार द्रव्यों का ग्रहण किया गया है।

अन्तराकण्डरा गुल्फं सिरेति–गृध्रसी (Sciatic pain) में कण्डरा एवं गुल्फ (Ankle joint) के मध्य में स्थित सिरा का वेध करना चाहिए।

गृध्रसीष्विति बहुवचनं व्यक्तिभेदतया–'गृध्रसी' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा लक्षणों के आधार पर विभिन्न भेद होने से किया गया है। व्यात्याननमिति=मुख का खुला हुआ होना। प्रदेशिनी से अंगुठे की पास की अंगुली अर्थात् तर्जनी अंगुली का ग्रहण किया गया है। ॥९९-१०३॥

प्रत्येकं स्थानदूष्यादिक्रियावैशेष्यमाचरेत् ।

Scanned by CamScanner

संक्षेप में वातव्याधि की चिकित्सा का सिद्धान्त–इस प्रकार उक्त एवं अनुक्त वात व्याधियों में स्थान, दूष्य आदि के अनुसार चिकित्सा भी अलग-अलग हो जाती है, अर्थात् स्थान एवं दूष्य आदि का विचार करते हुए वातव्याधि की चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि–'प्रत्येकमित्यादि' के द्वारा अनुक्त (जिनका कथन यहाँ नहीं किया गया है) वात व्याधियों की चिकित्सा का संक्षेप में उपसंहार किया गया है। स्थान से यहाँ पक्वाशय, आमाशय आदि स्थानों का ग्रहण किया गया है। दूष्य=रस, रक्त आदि धातुएं। आदि शब्द से आवरण का ग्रहण किया गया है। अर्थात् इस सूत्र में संक्षेप में संपूर्ण वातव्याधियों की चिकित्सा का अभिधान कर दिया गया है। स्थान एवं दूष्य के भेद से चिकित्सा भी अलग-अलग हो जाती है, ऐसा जानना चाहिए। जिसे यहाँ-विशेषस्तु कोष्ठस्थे इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। [स्थानभेद से अलग-अलग चिकित्सा का निर्देश दिया गया है।]

सर्पिस्तैलवसामज्जसेकाभ्यञ्जनबस्तयः ।।१०४।।
स्निग्धाः स्वेदा निवातं च स्थानं प्रावरणानि च। रसाः पयांसि भोज्यानि स्वाद्वम्ललवणानि च ।।१०५।।
बृंहणं यच्च तत् सर्वं प्रशस्तं वातरोगिणाम्।

वातव्याधि में उपयोगी औषध, अन्न एवं विहार–सामान्यतया अधोलिखित औषध, अन्न एवं विहारों का सेवन करना वातव्याधि में उपयोगी होता है–

१. घृत, तैल, वसा, मज्जा का आभ्यन्तर (स्नेहपान) एवं बाह्य प्रयोग (अभ्यङ्ग करना)।
२. अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग।
३. स्निग्ध स्वेदन कराना एवं निवात स्थान (ऐसे स्थान जहाँ हवा के तीव्र झोंके न आते हों) पर निवास करना, यथा-कुलर एवं पंखे की सीधी हवा का सेवन न करना।
४. शरीर को कपड़े से ढककर रखना।
५. जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का सेवन, गोदुग्ध एवं मधुर, अम्ल; लवण रस युक्त आहार द्रव्यों का सेवन करना। इसके अतिरिक्त दूसरे अन्न-पान जो शरीर का बृंहण करने वाले हों, वे सभी वातव्याधि में उपयोगी होते हैं, अर्थात् उन सबका सेवन करना चाहिए।

चक्रपाणि–'सर्पिस्तैलमित्यादि' के द्वारा सभी प्रकार की वात व्याधियों में सामान्य रूप से उपयोगी चिकित्सा का अभिधान किया गया है। ।।१०४-१०५।।

बलायाः पञ्चमूलस्य दशमूलस्य वा रसे ।।१०६।।
अजशीर्षाम्बुजानूपमांसादपिशितैः पृथक्। साधयित्वा रसान् स्निग्धान्दध्यम्लव्योषसंस्कृतान् ।।१०७।।
भोजयेद्वातरोगार्तं तैर्व्यक्तलवणैर्नरम्। एतैरेवोपनाहांश्च पिशितैः संप्रकल्पयेत् ।।१०८।।
घृततैलयुतैः साम्लैः क्षुण्णस्विन्नैरनस्थिभिः। पत्रोत्क्राथपयस्तैलद्रोण्यः स्युरवगाहने ।।१०९।।
स्वभ्यक्तानां प्रशस्यन्ते सेकाश्चानिलरोगिणाम्। आनूपौदकमांसानि दशमूलं शतावरीम् ।।११०।।
कुलत्थान् वदरान्माषांस्तिलाम्लास्नां यवान् बलाम्। वसादध्यारनालाम्लैः सह कुम्भ्यां विपाचयेत् ।।१११।।
नाडीस्वेदं प्रयुञ्जीत पिष्टैश्चाप्युपनाहनम्। तैश्च सिद्धं घृतं तैलमभ्यङ्गं पानमेव च ।।११२।।
मुस्तं किण्वं तिलाः कुष्ठं सुराह्वं लवणं नतम्। दधिक्षीरचतुःस्नेहैः सिद्धं स्यादुपनाहनम् ।।११३।।
उत्कारिकावेसवारक्षीरमाषतिलौदनैः। एरण्डबीजगोधूमयवकोलस्थिरादिभिः ।।११४।।
सस्नेहैः सरुजं गात्रमालिप्य बहलं भिषक्। एरण्डपत्रैर्वध्नीयाद्रात्रौ कल्यं विमोक्षयेत् ।।११५।।
क्षीराम्बुना ततः सिक्तं पुनश्चैवोपनाहितम्। मुञ्चेद्रात्रौ दिवाबद्धं चर्मभिश्च सलोमभिः ।।११६।।
फलानां तैलयोनीनाम्लपिष्टान् सुशीतलान्। प्रदेहानुपनाहांश्च गन्धैर्वातहरैरपि ।।११७।।
पायसैः कृशरैश्चैव कारयेत् स्नेहसंयुतैः।

वातव्याधि में मांसरस का उपयोग–बला अथवा बृहत् पञ्चमूल अथवा दशमूल द्वारा निर्मित क्वाथ से बकरे के सिर का मांस अथवा जल में पाये जाने वाले मत्स्य आदि के मांस अथवा आनूप क्षेत्र (जहाँ वर्षा ज्यादा होती है) के पशु-पक्षियों के मांस, अथवा मांसभक्षी पशु-पक्षियों के मांस को घृत, दधि, सोंठ, कालीमिर्च एवं पिप्पली डालकर विधिपूर्वक पकावें। अन्त में सैन्धव नमक डालकर कुछ लवण रस युक्त कर लें। इस मांसरस को वात रोगी शाली अथवा साठी चावल के भात के साथ सेवन करे।

पूर्वोक्त अजा आदि के मांस को सम्यक् रूप से उबालें, पश्चात् सील पर महीन पीस कर कल्क जैसा बना लें। अब इसमें घृत, तैल, काञ्जी आदि डालकर कुछ गरम करके वातव्याधि से आक्रान्त रोगी के शरीर पर उपनाह (पुल्टिस) बाँधे। [यहाँ उबले हुए मांस में घृत, तैल व काञ्जी, यथावश्यक मात्रा (अल्प प्रमाण) में डालकर पीसना चाहिए, पश्चात् कल्क को कुछ गुनगुना करके प्रभावित भाग पर बाँधना चाहिए।]

Scanned by CamScanner

वातव्याधि में अवगाहन–वात व्याधि से पीड़ित रोगी को वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ (Decoction), अथवा वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से साधित क्षीर अथवा वातनाशक तैल से अवगाहन (Tub bath) कराना चाहिए। [क्वाथ, अथवा सिद्ध क्षीर अथवा सिद्ध घृत को एक बड़े टब में भर दें, फिर रोगी को इसमें बैठाकर स्नान करावें।]

वातव्याधि में परिषेक–रोगी का अभ्यङ्ग कराने के बाद पूर्वोक्त द्रव्यों के क्वाथ, सिद्ध क्षीर अथवा सिद्ध तैल द्वारा वात व्याधि से प्रभावित भाग का परिषेक करें, अर्थात् इन द्रव्यों को प्रभावित भाग पर बार-बार गिरावें। क्वाथ आदि को गुनगुना करके ही शरीर पर गिराना चाहिए।

[अवगाह-क्वाथ आदि में शरीर को अच्छी प्रकार से डुबाना।

परिषेक-क्वाथ आदि का शरीर के ऊपर छिड़काव करना, अथवा शरीर के किसी विशेष भाग पर गुनगुने क्वाथ आदि को गिराना परिषेक कहलाता है। अवगाहन-सर्वांग में कराया जाता है, अर्थात् सामान्यतया सर्वांगाश्रित वातव्याधियों में अवगाहन का प्रयोग होता है, जबकि परिषेक एकाङ्ग आश्रित व्याधियों में कराया जाता है।]

वातव्याधि में नाड़ी स्वेद का प्रयोग–आनूप (जलीय क्षेत्र-ऐसा क्षेत्र जहाँ वर्षा ज्यादा होती हो, में रहने वाले -Marshy land-belonging to a watery place), औदक (Aquatic=जल में रहने वाले) पशु-पक्षियों के मांस, यथा-मछली, कच्छप आदि, दशमूल के द्रव्य [बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी (भटकटैया) एवं गोखरू] शतावरी, कुलथी, बेर, उड़द, तिल, रास्ना, यव, बलामूल, वसा, दधि, काञ्जी; सभी द्रव्यों को लेकर एक बड़े घड़े में पानी डालकर पकावें तथा उसकी वाष्प से नाड़ी स्वेदन करें। नाड़ी स्वेदन की विधि का वर्णन पूर्व अध्याय (सू.अ. १४) में किया जा चुका है। अथवा इन्हीं द्रव्यों का प्रयोग उपनाह के रूप में भी करना चाहिए। अथवा इन द्रव्यों के क्वाथ, कल्क एवं मांस के साथ विधिपूर्वक सिद्ध घृत या तैल का पान करना चाहिए।

वातव्याधि में उपयोगी उपनाह–

१. मुस्तक (नागरमुस्तक), किण्व (सुराकिट्ट), तिल, कूठ, सुराह्वा (देवदारु), सैन्धव लवण, नत (तगर); सभी द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में दधि, दूध एवं चतुःस्नेह (घृत, तैल, वसा व मज्जा) डालकर पाक करें। पकाते-पकाते जब गाढ़ा हो जाय। तब प्रभावित भाग पर इसका उपनाह करें।

२. वेसवार (A type of meat preparation with hot spices), दूध, उड़द, तिल, भात, एरण्ड का बीज, गेहूँ का आटा, यव का आटा, कोल (खट्टी बेर), लघु पञ्चमूल के द्रव्य (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू); सभी द्रव्यों को पीसकर उसमे घृत मिलाकर उत्कारिका बना लें। इस उत्कारिका को गरम करके वात से पीड़ित भाग पर मोटा लेप करें। इसके बाद ऊपर से एरण्ड के पत्ते बांध दें। लेप सायंकाल लगावें तथा प्रातःकाल खोल दें। तत्पश्चात् पूर्व में लेप किये हुए भाग को दूध+जल (दुग्ध मिश्रित उष्ण जल) से धो दें। पुनः अर्थात् प्रातः काल पूर्वोक्त द्रव्यों का मोटा लेप लगाकर उसे रोमयुक्त चमड़े से बाँध दें। इस बन्धन को सायं काल खोल दें।

३. तिल, सरसो, अलसी आदि तैलीय फलों को लेकर काञ्जी के साथ पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क का प्रयोग प्रदेह एवं उपनाह के रूप में करें। अथवा वातनाशक गन्ध द्रव्यों के कल्क में स्नेह मिलाकर अथवा पायस (खीर) एवं कृशरा (खिचड़ी) में स्नेह मिलाकर शीतल प्रदेह अथवा उपनाह बाँधना चाहिए।

चक्रपाणि–'बलादि' से वातव्याधि की चिकित्सा में मांसरसों के प्रयोग को स्पष्ट किया गया है। श्लोक नं. १०७ में 'पृथक्' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय तीन प्रकार के द्रव्यों का अलग-अलग क्वाथ बनाना चाहिए, से है। इन तीन प्रकार के क्वाथ से चार प्रकार के मांस को पृथक्-पृथक् सिद्ध (पाक) किया जाता है। इस प्रकार यहाँ १२ प्रकार के मांसरस तैयार होते हैं।

१. बला क्वाथ में बकरे का सिर पकाकर मांसरस तैयार करना।
२. बला क्वाथ + जलीय प्राणियों के मांस द्वारा साधित मांसरस।
३. बला क्वाथ + आनूप पशु-पक्षियों के मांस से तैयार मांसरस।
४. बला क्वाथ + मांस भक्षी पशु-पक्षियों के माँस से तैयार मांसरस।
५. लघु पञ्चमूल का क्वाथ + बकरे के सिर द्वारा साधित मांसरस।
६. लघु पञ्चमूल का क्वाथ + जलीय प्राणियों के मांस द्वारा साधित मांसरस।
७. लघु पञ्चमूल का क्वाथ + आनूप पशु पक्षियों के मांस द्वारा साधित मांसरस।
८. लघु पञ्चमूल का क्वाथ + मांस भक्षी पशु-पक्षियों के मांस द्वारा साधित मांसरस।

Scanned by CamScanner

९. दशमूल क्वाथ + बकरे के सिर द्वारा साधित मासंरस ।
१०. दशमूल क्वाथ + जलीय प्राणियों के मांस द्वारा साधित मांसरस ।
११. दशमूल क्वाथ + आनूप पशु-पक्षियों के मांस द्वारा साधित मांसरस ।
१२. दशमूल क्वाथ + मांस भक्षी पशु पक्षियों के मांस द्वारा साधित मांसरस ।

कल्पमिति=प्रातः काल में । **फलानां तैलयोनीनामिति-तैलीय फल,** यथा-तिल, अतसी, सर्षप आदि । प्रदेहानुपनाहांश्चेति-प्रदेह, उपनाह की तुलना में पतला लेप होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

गन्धैरिति–इससे अगरु आदि गन्ध द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए । ॥१०६-११७॥

विशेष (Comments)–उपनाह में द्रव्यों के कल्क आदि को कुछ गरम करके शरीर पर लगाकर पत्ते आदि से बाँध देते हैं, जबकि प्रदेह में बाँधते नहीं हैं । अतः उपनाह प्रदेह की तुलना में गाढ़ा होता है ।

रूक्षशुद्धानिलार्तानामतः स्नेहान् प्रचक्ष्महे ।।११८।।
विविधान् विविधव्याधिप्रशमायामृतोपमान् । द्रोणेऽम्भसः पचेद्भागान् दशमूलाच्चतुष्पलान् ।।११९।।
यवकोलकुलत्थानां भागैः प्रस्थोन्मितैः सह । पादशेषे रसे पिष्टैर्जीवनीयैः सशर्करैः ।।१२०।।
तथा खर्जूरकाश्मर्यद्राक्षाबदरफल्गुभिः । सक्षीरैः सर्पिषः प्रस्थैः सिद्धैः केवलवातनुत् ।।१२१।।
निरत्ययैः प्रयोक्तव्यैः पानाभ्यञ्जनबस्तिषु । चित्रकं नागरं रास्नां पौष्करं पिप्पलीं शटीम् ।।१२२।।
पिष्ट्वा विपाचयेत् सर्पिर्वातरोगहरं परम् । बलाबिल्वशृते क्षीरे घृतमण्डं विपाचयेत् ।।१२३।।
तस्य शुक्तिः प्रकुञ्चो वा नस्यं मूर्धगतेऽनिले । ग्राम्यानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले ।।१२४।।
तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत् । जीवकर्षभकास्फोताविदारीकपिकच्छुभिः ।।१२५।।
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकम् । तत्सिद्धं नावनाभ्यङ्गात्तथा पानानुवासनात् ।।१२६।।
सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम् । ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये ।।१२७।।
बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम् । तद्वत्सिद्धा वसा नक्रमत्स्यकूर्मचुलूकजा ।।१२८।।
प्रत्यग्रा विधिनाऽनेन नस्यपानेषु शस्यते । प्रस्थः स्यात्त्रिफलायास्तु कुलत्थकुडवद्वयम् ।।१२९।।
कृष्णागन्धात्वगाढक्योः पृथक् पञ्चपलं भवेत् । रास्नाचित्रकयोर्द्वे द्वे दशमूलं पलोन्मितम् ।।१३०।।
जलद्रोणे पचेत् पादशेषे प्रस्थोन्मितं पृथक् । सुरारनालदध्यम्लसौवीरकतुषोदकम् ।।१३१।।
कोलदाडिमवृक्षाम्लरसं तैलं वसां घृतम् । मज्जानं च पयश्चैव जीवनीयपलानि षट् ।।१३२।।
कल्कं दत्त्वा महास्नेहं सम्यगेनं विपाचयेत् । सिरामज्जास्थिगे वाते सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिषु ।।१३३।।
वेपनाक्षेपशूलेषु तदभ्यङ्गे प्रयोजयेत् । निर्गुण्ड्या मूलपत्राभ्यां गृहीत्वा स्वरसं ततः ।।१३४।।
तेन सिद्धं समं तैलं नाडीकुष्ठानिलार्तिषु । हितं पामापचीनां च पानाभ्यञ्जनपूरणम् ।।१३५।।
कार्पासास्थिकुलत्थानां रसे सिद्धं च वातनुत् ।

शुद्ध वातव्याधिनाशक (नानात्मज वातव्याधिनाशक) घृत

अब इसके बाद रूक्ष एवं शुद्ध वात रोगियों (नानात्मज वात व्याधि के रोगियों) के लिए रूक्षता एवं नानात्मज वातव्याधि नाशक विविध प्रकार के स्नेह, जो अमृत तुल्य होते हैं, का विवेचन किया जा रहा है–

१. दशमूलादि घृत–क्वाथ्य द्रव्य-दशमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोखरू) - ४ पल (संयुक्त रूप से), यव - १ प्रस्थ, कोल (खट्टीबेर) - १ प्रस्थ, कुलथी - १ प्रस्थ, जल - १ द्रोण, सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं १ द्रोण जल के साथ पकावें । जब जल चतुर्थांश अवशिष्ट बचे तब क्वाथ को छानकर एक पात्र में अलग रख लें ।

कल्क द्रव्य–शर्करा, जीवनीय गण की दस औषधियाँ (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं यष्टीमधु; ये दस द्रव्य जीवनीय महाकषाय के अन्तर्गत आती हैं ।) खर्जूर, गम्भार की छाल, द्राक्षा (मुनक्का), बदर (बेर) व फल्गु (अंजीर) । इन द्रव्यों को पीसकर कल्क बना लें ।

गोदुग्ध - १ प्रस्थ, **गोघृत** - १ प्रस्थ लें ।

अब क्वाथ, कल्क, गोदुग्ध एवं गोघृत को एक पात्र में डालकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध कर लें । यह सिद्ध घृत सभी प्रकार के वातव्याधियों को दूर करता है । इस घृत का सेवन-पान (आभ्यन्तर), अभ्यंग एवं अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए । इसके प्रयोग

Scanned by CamScanner

से शरीर में किसी भी प्रकार की कोई हानि नहीं होती । [यहाँ कल्क की मात्रा का निर्देश नहीं दिया गया है, लेकिन स्नेह का चतुर्थांश कल्क ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि यही सामान्य नियम है । अत: कल्क की संयुक्त मात्रा १६ तोला ग्रहण करें । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (१-१ तोला) लेकर कल्क बना लें ।]

२. चित्रकादि घृत–चित्रक - १ भाग, सोंठ (शुण्ठी) - १ भाग, रास्ना - १ भाग, पुष्करमूल - १ भाग, पिप्पली - १ भाग, शटी (कपूरकचरी) - १ भाग; सभी द्रव्यों को कूट पीस कर कल्क बना लें । कल्क की संयुक्त मात्रा - १ भाग, घृत - ४ भाग, क्वाथ - १६ भाग (जल - १६ भाग) [यहाँ कल्क द्रव्यों को १-१ भाग कहा गया है, जिसका अभिप्राय बराबर मात्रा से लिया गया है, अर्थात् कल्क का चार गुना घृत, घृत का चार गुना क्वाथ या जल ग्रहण करना चाहिए।] लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । यह घृत सभी प्रकार की वात व्याधियों को दूर करने में श्रेष्ठ है ।

३. बलादि घृत–बला क्वाथ - १ भाग, बिल्व क्वाथ - १ भाग, गोदुग्ध - २ भाग, स्नेह (घृतमण्ड) - १ भाग, कल्क - बला व बिल्व का कल्क - १/४ भाग लें । सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें । इस घृत का प्रयोग शिरोगत वातरोग में १ शुक्ति (अर्ध पल) अथवा १ प्रकुञ्च (एक पल) मात्रा में लेकर नस्य दें ।

४. दशमूलादि मज्जस्नेह–ग्राम्य पशुओं (भेंड़, बकरी, भैंस आदि), आनूप पशुओं (सूअर, भैंस) अथवा औदक (जलीय-मछली, कच्छप, मगर आदि) की हड्डियों को कुचलकर जल के साथ पकाकर मज्जा निकालें । अब प्राप्त स्नेह (मज्जा) - १ भाग, दशमूल क्वाथ - ४ भाग, कल्क - जीवक, ऋषभक, आस्फोता (सारिवा), विदारीकन्द, कपिकच्छु (केंवाच बीज), वात नाशक अन्य रास्ना आदि औषधियों एवं जीवनीय द्रव्य (जीवनीय महाकषाय वर्ग में पठित दस द्रव्य) - १/४ भाग, गोदुग्ध - १/२ भाग । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर एक पात्र में डालकर विधिपूर्वक स्नेह (मज्जा) को सिद्ध करें । सम्यक् सिद्ध हो जाने पर चौड़े मुख के बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस सिद्ध स्नेह का प्रयोग नस्य (नावन नस्य), अभ्यंग, पान (पीने के लिए) एवं अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए । इसके प्रयोग से सिरा पर्व (छोटी-छोटी संधियाँ-हाथ व पैर की अंगुलियों के जोड़), अस्थि एवं कोष्ठ में प्रकुपित वायु शीघ्र ही प्रशमित हो जाती है । जिन व्यक्तियों की मज्जा अत्यन्त क्षीण हो गयी है, अथवा जिनके ओज एवं शुक्र का अत्यन्त क्षय हो गया हो, ऐसे व्यक्तियो के बल एवं शारीरिक पुष्टि हेतु यह योग अमृत तुल्य कार्य करता है ।

इसी विधि से नक्र (मगर), मत्स्य (मछली), कूर्म (कछुआ) एवं चुलकी नामक मत्स्य की वसा को सिद्ध करें तथा इसका प्रयोग नस्य एवं पान के रूप में करें । इन स्नेहों के भी गुणधर्म पूर्ववत् ही हैं ।

५. त्रिफलादि चतु:स्नेह–घटक द्रव्य-

क. क्वाथ्य द्रव्य–त्रिफला - ३ प्रस्थ (हरड़ - १ प्रस्थ, बहेड़ा - १ प्रस्थ व आँवला - १ प्रस्थ), कुलथी - २ कुडव, कृष्णगंधा- ५ पल, अरहर की दाल - ५ पल, रास्ना - २ पल, चित्रकमूल - २ पल, दशमूल के द्रव्य - १ पल (प्रत्येक द्रव्य १-१ पल)

[त्रिफला के द्रव्यों को यथा - हरड़ - १ प्रस्थ, बहेड़ा - १ प्रस्थ एवं आँवला - १ प्रस्थ मात्रा में ग्रहण करना चाहिए ।]

सभी द्रव्यों को यवकुट करके एक बड़े भगौने में डालकर १ द्रोण (३२ प्रस्थ) जल के साथ क्वाथ करें । चतुर्थांश अवशेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । इस प्रकार क्वाथ की मात्रा ८ प्रस्थ हुई ।

ख. द्रव्य पदार्थ–सुरा, आरनाल (काञ्जी), अम्लदधि (खट्टी दधि), सौवीर, तुषोदक, कोल (खट्टी बेर) का रस, खट्टे अनार का रस एवं गोदुग्ध - प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रस्थ लें ।

ग. स्नेह पदार्थ– तिल तैल - १ प्रस्थ, वसा - १ प्रस्थ, गोघृत - १ प्रस्थ, मज्जा - १ प्रस्थ । इस प्रकार चतु: स्नेह - ४ प्रस्थ लें ।

घ. कल्क द्रव्य–जीवनीय महाकषाय के दस द्रव्य, यथा- जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, यष्टीमधु - प्रत्येक द्रव्य ६-६ पल ग्रहण करें । सभी द्रव्यों को कूट-पीस कर कल्क बना लें ।

निर्माण विधि–अब एक बड़े पात्र में क्वाथ, कल्क एवं स्नेह (चतु: स्नेह) को मिलाकर द्रव पदार्थ- सुरादि से क्रमश: स्नेह को सिद्ध करें । स्नेह के सिद्ध हो जाने पर इसे साफ किये हुए चौड़े मुख के बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

[स्नेह सिद्ध करते समय दुग्ध का प्रयोग सबसे अन्त में करें, अर्थात् सुरा के बाद काञ्जी, काञ्जी के बाद अम्लदधि आदि के साथ क्रमश: स्नेह को सिद्ध करें, अन्त में दूध डालना चाहिए ।]

उपयोग–इस स्नेह का प्रयोग अभ्यङ्ग के रूप में करने से सिरा, मज्जा एवं अस्थि में प्रकुपित वायु, सर्वाङ्ग में प्रकुपित वायु अथवा

Scanned by CamScanner

सर्वाङ्ग रोग, एकाङ्ग रोग (शरीर के किसी विशेष भाग में प्रकुपित वायु), वेपन (कम्पवात), आक्षेप (Convulsions) एवं शूल (उदरशूल-Colic pain) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ।

६. निर्गुण्डी तैल–निर्गुण्डी (मेऊड़ी) की जड़ एवं पत्र का स्वरस - ४ भाग, पत्र कल्क (निर्गुण्डी के पत्ते का कल्क) - १/४ भाग, तिल तैल - ४ भाग के द्वारा विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें । इस तैल का आभ्यन्तर पान, अभ्यङ्ग एवं कर्णपूरण करने से नाड़ी व्रण (Sinus), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), वात जन्य पीड़ा, पामा (Scabies), एवं अपची (Adenitis in the submandibular and axillary regions) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ।

इसी प्रकार कपास के बीज (बिनौला) का क्वाथ एवं कुलथी के क्वाथ से सिद्ध स्नेह (तैल) भी अत्यन्त वातनाशक होता है, अर्थात् इस स्नेह के प्रयोग से वात व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं ।

चक्रपाणि–रूक्षशुद्धेत्यादौ शुद्धानिलार्ताः केवलवातपीडिता-इससे यहाँ रूक्ष शरीर वाले एवं शुद्ध वात रोगी अर्थ गृहीत है, अर्थात् ऐसे रोगियों में स्नेह का प्रयोग कराना चाहिए ।

घृतमण्डः घृतस्योपरितनो भागः–घृत के ऊपर का भाग (The scum of melted butter, or fattiest part of grease) । शुक्तिः=अर्धपल (२ तोला) । प्रकुञ्चः = १ पल (४ तोला) । **तद्वत्सिद्धेति बलाबिल्वप्रभृतिशृतक्षीरसिद्धा**- बला एवं बिल्व के क्वाथ व क्षीर से नक्र (मगर), मत्स्य (मछली), कूर्म (कुछुआ) अथवा चुलूकी मछली की वसा को सिद्ध करें । चुलूकी से शिशुमार (सूंस) का ग्रहण किया गया है ।

प्रत्यग्र=अभिनव । **नस्य पानेष्विति नस्येषु पानेषु च**-नक्रादि की वसा को पूर्वोक्त विधान से सिद्ध करके-पान (आभ्यन्तर पान) एवं नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए ।

कृष्णगन्धात्वक्=सहिजन की छाल । महास्नेहमिति-चतुःस्नेहम् (चारों प्रकार के स्नेह- घृत, तैल, वसा व मज्जा, प्रत्येक बराबर-बराबर मात्रा में ग्रहण करें, इसे महास्नेह कहा जाता है ।) तेन सिद्धं तैलमिति-निर्गुण्डी तैल के निर्माण हेतु तिल तैल के बराबर निर्गुण्डी मूल व पत्र स्वरस (क्वाथ) का ग्रहण करना चाहिए । यहाँ 'समं' का अर्थ 'साथ' में नहीं है, अर्थात् इसका प्रयोग साकं या सार्धम् के अर्थ में नहीं है । सम का अर्थ यहाँ 'बराबर मात्रा' से लिया गया है, क्योंकि यहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है ।

नाडी नाडीव्रणः, नाडीव्रणस्य सुश्रुतादिषु पञ्चविधत्वमुक्तं ज्ञेयम्-नाडी से नाड़ीव्रण (Sinus) का ग्रहण किया गया है । सुश्रुत आदि आचार्यों ने इसके पाँच भेद स्वीकार किये हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

अपची च हन्वस्थिकक्षादिदेशभवा-अपची शरीर के हनु तथा कक्षा (Axilla) आदि भागों में पायी जाती है । ॥११८-१३५॥

विशेष (Comments)-'द्रोणेऽम्भस इत्यादि' से दशमूलादि घृत का विवेचन किया गया है । दशमूल के प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग ४-४ पल मात्रा में लें । यव, कोल, कुलथी प्रत्येक द्रव्य एक-एक प्रस्थ मात्रा में लें । सभी द्रव्यों को एक द्रोण जल में पकाकर क्वाथ बना लें । अब बने हुए क्वाथ में जीवनीय गण के द्रव्य पृथक्-पृथक् एक-एक कर्ष एवं शर्करा - १ कर्ष लेकर कल्क बना लें । अब कल्क, क्वाथ एवं घृत मिलाकर स्नेह सिद्ध करें । यह एक योग है । इसी प्रकार दशमूलादि क्वाथ - ४ भाग, घृत - १ भाग (१ प्रस्थ), कल्क - १/४ भाग, गोदुग्ध १ भाग, द्वारा विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें, यह द्वितीय योग है । बलेत्यादि के द्वारा बलादि घृत के निर्माण विधि को स्पष्ट किया गया है । बलामूलत्वक् एवं बिल्व की छाल – १ भाग, गोदुग्ध - ८ भाग, जल - ४ भाग लेकर पाक करें, जब क्षीर - ४ भाग शेष बचे तो सिद्धक्षीर को अग्नि पर से उतार कर छान लें । अब बलादि साधित क्षीर - ४ भाग, बलादि कल्क - १/४ भाग, घृतमण्ड - १ भाग लेकर स्नेहपाक विधि से घृत को सिद्ध कर लें । इस सिद्ध घृत का प्रयोग आभ्यन्तर पान एवं नस्य के रूप में करना चाहिए । नस्य की मात्रा १ शुक्ति (२ तोला) से लेकर १ प्रकुञ्च (४ तोले) तक । –जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद ।

मूलकस्वरसे क्षीरसमे स्थाप्यं त्र्यहं दधि ।।१३६।।
तस्याम्लस्य त्रिभिः प्रस्थैस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् । यष्ट्याह्वशर्करारास्नालवणार्द्रकनागरैः ।।१३७।।
सुपिष्टैः पलिकैः पानात्तदभ्यङ्गाच्च वातनुत् ।

मूलकतैल-घटक द्रव्य–

१. द्रव पदार्थ

मूली स्वरस	-	एक भाग	(१ प्रस्थ)
गोदुग्ध	-	एक भाग	(१ प्रस्थ)
दधि	-	एक भाग	(१ प्रस्थ)

Scanned by CamScanner

२. कल्क–यष्टीमधु (मुलेठी), शर्करा, रास्ना, सैन्धव लवण, आर्द्रक (अदरख) एवं शुण्ठी (सोंठ) - प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर कूट- पीस कर कल्क बना लें।

३. तिल तैल– १ प्रस्थ

निर्माण विधि–सर्वप्रथम मूली के स्वरस (१ प्रस्थ) में समान भाग दूध (१ प्रस्थ) व १ प्रस्थ दही मिलाकर तीन दिन तक रखें। इस प्रकार इस विधि से निर्मित दही काफी खट्टी हो जाती है। अब इस दधि की मात्रा - ३ प्रस्थ लेकर उसमें १ प्रस्थ तिल तैल व कल्क द्रव्यों को डालकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध कर लें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर चौड़े मुख के बोतलों में सुरक्षित रख लें।

यह तैल पान एवं अभ्यङ्ग के रूप में प्रयोग करने से सभी प्रकार की वातव्याधियों को दूर करता है।

चक्रपाणि–मूलकस्वरस इत्यादि के द्वारा मूलकतैल के निर्माण विधि को स्पष्ट किया गया है। मूली का रस व दूध बराबर मात्रा में लेकर एक में मिलाकर कुछ दही डालकर तीन दिन तक रखें, अर्थात् दधि जमा लें। मूली के रस के कारण दधि भी अम्ल रस युक्त हो जाती है। अब यहाँ मूली के रस व क्षीर से निर्मित दधि - १ प्रस्थ, गोदुग्ध - १ प्रस्थ, मूली स्वरस - १ प्रस्थ, तिल तैल - १ प्रस्थ एवं कल्क द्रव्य को आपस में मिलाकर तैलपाक विधि से तैल को सिद्ध कर लें। जिसे जतूकर्ण संहिता में इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा– "विपचेद् दधिमूलकरसपयसा" इत्यादि [दधि, मूलक स्वरस एवं गोदुग्ध के साथ स्नेह (तैल) को सिद्ध करें।] ॥१३६-१३७॥

विशेष (Comments)–क्षीरसमे मूलकस्वरसे दधि दत्त्वा त्र्यहं स्थाप्यम्- १ प्रस्थ गोदुग्ध, १ प्रस्थ दधि व १ प्रस्थ मूली स्वरस को एक पात्र में लेकर तीन दिन के लिए रखकर दधि बना लें। यह दधि काफी खट्टी होती है। इस प्रकार निर्मित दधि - ३ प्रस्थ, १ प्रस्थ तिल तैल व यष्टीमधु आदि कल्क द्रव्य - प्रत्येक १-१ पल मात्रा में लेकर तैलपाक विधि से तैल सिद्ध कर लें। इस मूलकतैल का प्रयोग वात रोगी को पीने एवं अभ्यङ्ग हेतु करना चाहिए। यह योग अत्यन्त वातनाशक है।

पञ्चमूलकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम् ॥१३८॥
पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा तैलप्रस्थं विपाचयेत्। पयसाऽष्टगुणेनैतत् सर्ववातविकारनुत् ॥१३९॥
संसृष्टे श्लेष्मणा चैतद्वाते शस्तं विशेषतः। यवकोलकुलत्थानां श्रेयस्याः शुष्कमूलकात् ॥१४०॥
बिल्वाच्चाञ्जलिमेकैकं द्रवैरम्लैर्विपाचयेत्। तेन तैलं कषायेण फलाम्लैः कटुभिस्तथा ॥१४१॥
पिष्टैः सिद्धं महावातैरार्तः शीते प्रयोजयेत्।

लघुपञ्चमूलतैल–लघु पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू) के क्वाथ में पुराने तिल तैल की खली को पकावें, जब खली का रस क्वाथ में आ जाय तब क्वाथ को छानकर अलग पात्र में रख लें। अब पञ्चमूल साधित खली का रस - ४ प्रस्थ, तिलतैल - १ प्रस्थ, गोदुग्ध - ८ प्रस्थ लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध कर लें। यह सिद्ध तैल सभी प्रकार की वात व्याधियों को दूर करता है, विशेष रूप से इसका प्रयोग कफ संसृष्ट वातव्याधि में करना चाहिए।

यवादि तैल–**१. क्वाथ्य द्रव्य-** यव - १ अञ्जली (४ पल = १६ तोला), बेर - १६ तोला, कुलथी - १६ तोला, गजपिप्पली- १६ तोला, सूखी मूली - १६ तोला, बिल्व की गुद्दी - १६ तोला;

इन द्रव्यों को यवकुट करके ८ गुने अम्ल काञ्जी में पकावें। चतुर्थांश अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें। इस प्रकार क्वाथ की मात्रा ४८ पल ग्रहण करना चाहिए। **२. स्नेह (तिल तैल)-** १ प्रस्थ (१६ पल), **३. कल्क-** अम्ल फल एवं कटुरस वाले द्रव्य, यथा-आमलकी, सोंठ, पिप्पली का कल्क - १/४ प्रस्थ (४ पल) ग्रहण करें।

अब क्वाथ, कल्क व स्नेह को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक स्नेह को सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर इसे छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस तैल का प्रयोग उग्र रूप से प्रकुपित वात रोगों में शीत काल में करना चाहिए।

चक्रपाणि–पञ्चमूलकषायेण इति- इस सूत्र में कुछ आचार्य लघुपञ्चमूल का क्वाथ व जल में पकाये गये तिल की खली का क्वाथ, अलग-अलग ग्रहण करने का निर्देश देते हैं, अर्थात् कुछ आचार्यों के अनुसार अलग-अलग दोनों क्वाथों को ग्रहण करना चाहिए। लेकिन मेरे मत (चक्रपाणि) के अनुसार लघुपञ्चमूल के क्वाथ में कुछ जल मिलाकर तिल की खली को पकाना चाहिए तथा खली का रस क्वाथ में आ जाने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लेना चाहिए।

पञ्चमूलीकषायेण पिण्याकं बहुवार्षिकम्। पक्त्वा तस्य रसं पूत्वा–पाठ के अनुसार पञ्चमूल क्वाथ के साथ पुराने तिल की खली को पकाकर उसके रस को छान लेना चाहिए, अर्थ होगा। आचार्य जतूकर्ण ने भी इस विचार पर अपनी सहमति दी है, यथा–"पिण्याकं बहुवार्षिकं स्थिरादिसलिले पचेत्। रसेऽस्मिनष्टगुणेन पयसा तैलं साध्यम्" [पञ्चमूल (स्थिरादि पञ्चमूल) साधित खली का रस - १ भाग, गोदुग्ध - ८ भाग, तिल तैल - १ भाग के द्वारा तैल को सिद्ध करें।]

Scanned by CamScanner

द्रवैरम्लैरिति काञ्जिकतक्रादिभिः–अम्ल रस युक्त द्रव पदार्थों, यथा- अम्ल काञ्जी, खट्टा तक्र आदि के द्वारा।

फलाम्लैरिति–दाडिम आदि अम्लरस युक्त फलों के द्वारा।

विशेष (Comments)–पञ्चमूल क्वाथ के बराबर मात्रा में तिल की खली + चतुर्गुण (खली का चार गुना) जल डालकर पकावें। चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर अर्थात् पञ्चमूल के क्वाथ के बराबर जल बचने पर साधित जल को छानकर अलग कर लें। यहाँ खली के क्वाथ के मान का निर्देश नहीं है। अतः यह मात्रा तैल के मात्रा के बराबर ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार पञ्चमूल क्वाथ - १ भाग, साधित खली का रस - १ भाग, स्नेह - १ भाग, गोदुग्ध - ८ भाग लेकर स्नेह को सिद्ध करें। [इस प्रकार यहाँ पञ्चमूल क्वाथ एवं खली के रस का निर्माण अलग-अलग किया गया है।]–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः शृणु ।।१४२।।
चतुष्प्रयोगाण्यायुष्यबलवर्णकराणि च। रजःशुक्रप्रदोषघ्नान्यपत्यजननानि च ।।१४३।।
निरत्ययानि सिद्धानि सर्वदोषहराणि च। सहाचरतुलायाश्च रसे तैलाढकं पचेत् ।।१४४।।
मूलकल्काद्दशपलं पयो दत्त्वा चतुर्गुणम्। सिद्धेऽस्मिञ्छर्करार्धादिष्टादशपलं भिषक् ।।१४५।।
विनीय दारुणेष्वेतद्वातव्याधिषु योजयेत्। श्वदंष्ट्रास्वरसप्रस्थौ द्वौ समौ पयसा सह ।।१४६।।
षट्पलं शृङ्गवेरस्य गुडस्याष्टपलं तथा। तैलप्रस्थं विपक्वं तैर्दद्यात् सर्वानिलार्तिषु ।।१४७।।
जीर्णे तैले च दुग्धेन पेयाकल्पः प्रशस्यते। बलाशतं गुडूच्याश्च गादं रास्नाष्टभागिकम् ।।१४८।।
जलाढकशते पक्त्वा दशभागस्थिते रसे। दधिमस्त्विक्षुनिर्यासशुक्तैस्तैलाढकं समैः ।।१४९।।
पचेत् साजपयोऽर्धांशैः कल्कैरेभिः पलोन्मितैः। शटीसरलदार्वेलामञ्जिष्ठागुरुचन्दनैः ।।१५०।।
पद्मकातिविषामुस्तसूर्पपर्णीहरेणुभिः। यष्ट्याह्वसुरसव्याघ्रनखर्षभकजीवकैः ।।१५१।।
पलाशरसकस्तूरीनलिकाजातिकोषकैः। स्फूकाकुङ्कुमशैलेयजातीकटुफलाम्बुभिः ।।१५२।।
त्वचाकुन्दुरुकर्पूरतुरुष्कश्रीनिवासकैः। लवङ्गनखकक्कोलकुष्ठमांसीप्रियङ्गुभिः ।।१५३।।
स्थौणेयतगरध्यामवचामदनपल्लवैः। सनागकेशरैः सिद्धे क्षिपेच्चाऽवतारिते ।।१५४।।
पत्रकल्कं ततः पूतं विधिना तत् प्रयोजयेत्। श्वासं कासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं गुल्मान् क्षतं क्षयम् ।।१५५।।
प्लीहशोषापस्मारमलक्ष्मीं च प्रणाशयेत्। बलातैलमिदं श्रेष्ठं वातव्याधिविनाशनम् ।।१५६।।
(अग्निवेशाय गुरुणा कृष्णात्रेयेण भाषितम्।)

इति बलातैलम्।

वातव्याधि नाशक अन्य उपयोगी तैल–हे अग्निवेश! अब आगे सभी प्रकार के वात विकारों को दूर करने वाले उपयोगी तैलों का वर्णन किया जा रहा है, अर्थात् मैं बता रहा हूँ, उसे सुनो–ये तैल पान, अभ्यङ्ग, नस्य एवं अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग किये जाते हैं। रोगी के आयु, वर्ण एवं वल की वृद्धि करते हैं। रज एवं शुक्र दोष नाशक हैं, अर्थात् रज एवं शुक्र गत दोषों को दूर करके सन्तान उत्पन्न करने वाले हैं। ये शरीरस्थ सभी दोषों को दूर करते हैं तथा इनके प्रयोग से शरीर में किसी प्रकार के उपद्रव नहीं उत्पन्न होते हैं।

सहाचर तैल–सहचर (कटसरैया) - १ तुला (१०० पल) लेकर यवकुट करके जल के साथ पकाकर क्वाथ तैयार कर लें। अर्थात् ८ गुने जल में पकाकर क्वाथ तैयार करें। इस प्रकार चतुर्थांश द्रव अवशेष रखने पर क्वाथ की मात्रा २ तुला (२०० पल) हुई। कटसरैयामूल - १० पल लेकर कल्क बना लें। तेल (तिलतैल) - १ आढक (४ प्रस्थ), गोदुग्ध - ४ आढक लें। अब एक बड़े पात्र में तिलतैल, क्वाथ व कल्क को डालकर मन्दाग्नि पर तैल को पकावें, क्वाथ का जलीयांश उड़ जाने पर पुनः उसमें ४ आढक गोदुग्ध डालकर सिद्ध करें। सम्यक् रूप से तैल के सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतारकर छान लें। तत्पश्चात् इसमें १८ पल शर्करा (चीनी) मिलाकर सुरक्षित रख लें। भयङ्कर से भयङ्कर वात व्याधियों में इस तैल का प्रयोग पान, अभ्यङ्ग, नस्य एवं बस्ति के रूप में करना चाहिए।

श्वदंष्ट्रातैल-घटक द्रव्य–

गोदुग्ध	-	२ भाग (२ प्रस्थ)
श्वदंष्ट्रा क्वाथ	-	२ भाग (२ प्रस्थ)
अदरख का कल्क	-	६ पल
गुड़	-	८ पल
तिल तैल	-	१ प्रस्थ (१ भाग)

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर तैलपाक विधि से तैल को सिद्ध कर लें। इस तैल के पान एवं अभ्यङ्ग के रूप में प्रयोग करने से सभी प्रकार के वातविकार शान्त हो जाते हैं। तैल के जीर्ण हो (पच) जाने पर रोगी को दुग्ध के साथ पेया का सेवन करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

बला तैल-घटक द्रव्य-

१. क्वाथ्य द्रव्य-बलामूल - १०० पल, गुडूची - २५ पल, रास्ना - १२½ पल, जल - १०० आढक (४०० प्रस्थ)।

बलादि द्रव्यों को काट कर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें एवं इसे यवकुट करके ४०० प्रस्थ (१०० आढ़क) जल में पकावें। जब क्वाथ्य द्रव्यों का रस जल में आ जाय एवं द्रवांश - दशमांश शेष रह जाय। तब इसे अग्नि पर से उतारकर कपड़े से छान ले। छने हुए क्वाथ की मात्रा - ४० प्रस्थ (१० आढक) होती है।

२. द्रव पदार्थ-दही का पानी - १ आढक (४ प्रस्थ), इक्षुरस - १ आढक (४ प्रस्थ), शुक्त (सिरका) - १ आढक (४ प्रस्थ), बकरी का दूध - १/२ आढक।

३. स्नेह (तिलतैल)-१ आढक (४ प्रस्थ)।

४. कल्कद्रव्य-शटी (कचूर), सरल (चीड़), देवदारु, एला (छोटी इलायची), मञ्जिष्ठा (मजीठ), अगरु, चन्दन, पद्मक (पद्मकाठ), अतिविषा (अतीस), मुस्तक (मोथा), मुद्गपर्णी, माषपर्णी, हरेणु (रेणुका), यष्टीमधु (मुलेठी), सुरसा (तुलसीपत्र), व्याघ्रनखी, ऋषभक, जीवक, पलाशरस (पलाश का गोंद), कस्तूरी (लता कस्तूरी), नलिका (नरकट), जातिकोषक (जावित्री), स्पृक्का, कुङ्कुम (केशर), शैलेय (छर्रीरा), जायफल, कटुफल (कायफल), सुगन्धबाला, त्वचा (दालचीनी त्वक्), कुन्दरु, कर्पूर, तुरुष्क (सिल्हक), श्रीनिवासक (गंधविरोजा), लवङ्ग, नख, शीतलचीनी, कूठ, जटामांसी, प्रियङ्गु का फूल, स्थौणेय, तगर, ध्यामक (सुगन्धतृण), वचा, मदनफल, केवटीमोथा एवं नागकेशर; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर, यवकुट करके सील पर पीस कर कल्क बना लें।

निर्माण विधि-अब क्वाथ, कल्क एवं स्नेह को एक बड़े पात्र में लेकर मिश्रित कर लें तथा मन्दाग्नि पर पाक करें, क्वाथ के पाक के बाद क्रमशः द्रव पदार्थों को डालकर स्नेह को सिद्ध करें। अन्त में बकरी के दूध से स्नेह को पकावें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को अग्नि पर से उतार कर नीचे रख दें। ठण्ढा हो जाने पर उसमें पत्रकल्क डाल दें। पत्रकल्क के प्रयोग से तैल सुगन्धित हो जाता है। अब इस सुगन्धित तैल को स्वच्छ महीन मारकीन के कपड़े अथवा छननी से छानकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग-यह तैल श्वास (Dyspnea), कास (Cough), ज्वर (Fever), हिक्का (Hiccup), छर्दि (Vomiting), गुल्म (Phantom tumour), क्षतक्षय (उरः क्षत, उरः क्षय), प्लीहरोग (Splenic disorders), शोष, अपस्मार (Epilepsy) एवं अलक्ष्मी (दरिद्रता) को दूर करता है। यह बला नामक तैल, अर्थात् बलातैल सभी प्रकार के वातविकारों को दूर करने में सर्वश्रेष्ठ है।

[इस तैल का उपदेश अग्निवेश के गुरु आचार्य कृष्णात्रेय ने किया था।]

चक्रपाणि-चतुष्प्रयोगाणीति-यहाँ निर्दिष्ट तैलों, यथा-सहाचरतैल, श्वदंष्ट्रातैल एवं बलातैल का प्रयोग ४ प्रकार से करना चाहिए।

१. पान के रूप में- इनको पीना चाहिए, अर्थात् वातव्याधि का रोगी २-४ तोले की मात्रा में इनका सेवन करे।

२. अभ्यङ्ग- शरीर पर मालिश करना, अर्थात् इन तैलों का शरीर पर वातरोगी अभ्यङ्ग करे।

३. नस्य के रूप में।

४. अनुवासन बस्ति के रूप में।

सहाचरतैल में सहाचर के मूल का कल्क - १० पल मात्रा में लेना चाहिए। आचार्य जतूकर्ण ने भी सहचरमूल का ही कल्क ग्रहण किया है।

जीर्णे तैले इति-पान किये हुए तैल के पच जाने पर क्षीर साधित पेया का सेवन करना चाहिए (दूध में पकायी गयी गेहूँ की पतली दलिया का सेवन करना चाहिए।) पेया का विधान प्रयोग की सात्म्यता के कारण किया गया है।

गुडूच्या पादमिति-गुडूची की मात्रा बलामूल की मात्रा का १/४ होना चाहिए। इस योग में बलामूल - १०० पल निर्देशित है, अतः गुडूची का ग्रहण २५ पल करना चाहिए।

रास्नाष्टभागिकमिति गतापेक्षया रास्नाया अष्टभागेनार्धद्वादशपलानि भवन्ति-रास्ना - १/८ भाग, अर्थात् बलामूल से १/८ भाग रास्ना का ग्रहण करना चाहिए। बलामूल की मात्रा - १०० पल होने पर रास्ना की मात्रा १२½ पल होती है। साजपयोऽर्धांशमिति-बकरी का दूध अर्ध आढक (२ प्रस्थ)। सूर्पपर्ण्यौ - मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी। रस से गन्ध रस का ग्रहण किया गया है। **नलिका**-इस नाम से प्रसिद्ध द्रव्य। कटुफला = लताकस्तूरी। अन्य आचार्य इससे दक्षिणापथ में प्रसिद्ध पद्मल (?) नामक सुगन्धित द्रव्य का ग्रहण करते हैं। तुरुष्क = सिल्हक। नखी=छोटी नखी।

Scanned by CamScanner

पत्रकल्कमिति–तैल को सुगन्धित बनाने के लिए गन्धशास्त्र की परिभाषा के अनुसार तैल के ठण्ढा होने पर सुगन्धित द्रव्यों के कल्क को डालना चाहिए, अथवा कल्क (सुगन्धित) डालने का विधान बताया गया है । कहा भी गया है, यथा-"चूर्णस्वरसपुष्पाणां सिद्धशीतेऽवतारिते । दीयते गन्धवृद्ध्यर्थं पत्रकल्को मनीषिभिः" इति [सिद्ध तैल के शीतल हो जाने पर, इसमें सुगन्ध को बढ़ाने के लिए अथवा सुगन्धित करने के लिए पत्रकल्क डालने का विधान है । पत्रकल्क हेतु सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण, पुष्प का स्वरस अथवा पत्रस्वरस या इनके कल्क का ग्रहण करना चाहिए ।] इससे यहाँ कर्पूरादि के पत्रकल्क का प्रयोग तैल के शीतल हो जाने पर ही करने का निर्देश दिया गया है । ॥१४२-१५६॥

अमृतायास्तुलाः पञ्च द्रोणेऽष्टस्वपां पचेत् ।।१५७।।
पादशेषे समक्षीरं तैलस्य द्व्याढकं पचेत् । एलामांसीनतोशीरसारिवाकुष्ठचन्दनैः ।।१५८।।
बलातामलकीमेदाशतपुष्पर्धिजीवकैः । काकोलीक्षीरकाकोलीश्रावण्यतिबलानखैः ।।१५९।।
महाश्रावणिजीवन्तीविदारीकपिकच्छुभिः । शतावरीमहामेदाकर्कटाख्याहरेणुभिः ।।१६०।।
वचागोक्षुरकैरण्डरास्नाकालासहाचरैः । वीराशल्लकिमुस्तत्वक्पत्रर्षभकबालकैः ।।१६१।।
सहैलाकुङ्कुमस्पृक्काद्विदशाह्वैश्च कार्षिकैः । मञ्जिष्ठायाश्चिकर्षेण मधुकाष्टपलेन च ।।१६२।।
कल्कैस्तत् क्षीणवीर्याग्निबलसंमूढचेतसः । उन्मादारत्यपस्मारैरार्तांश्च प्रकृतिं नयेत् ।।१६३।।
वातव्याधिहरं श्रेष्ठं तैलाभ्यममृताह्वयम् । (कृष्णात्रेयेण गुरुणा भाषितं वैद्यपूजितम् ।।१६४।।)
इत्यमृताद्यं तैलम् ।

अमृताद्य तैल-घटक द्रव्य–

१. क्वाथ्य द्रव्य–गुडूची - ५ तुला (५०० पल), जल - ८ द्रोण (२५६ प्रस्थ), गुडूची को छोटे-छोटे टुकड़े करके यवकुट कर लें एवं इसे ८ द्रोण जल (२५६ प्रस्थ) में पकावें । चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् पात्र में रख लें । क्वाथ की मात्रा - ६४ प्रस्थ ।

२. द्रव पदार्थ–गोदुग्ध - ३२ प्रस्थ ।

३. तिल तैल– २ आढ़क (८ प्रस्थ)

४. कल्क द्रव्य– एला (छोटी इलायची), जटामांसी, नत (तगर), उशीर (खश), सारिवा (अनन्तमूल), कूठ, चन्दन (लाल चन्दन), बला, तामलकी, मेदा, शतपुष्पा, ऋद्धि, जीवक, काकोली, क्षीरकाकोली, श्रावणी (गोरखमुण्डी), अतिबला, नख, महाश्रावणी (बड़ी गोरखमुण्डी), जीवन्ती, विदारीकन्द, कपिकच्छू, शतावरी, महामेदा, कर्कटी (काकड़ा सिंगी), हरेणु, वच, गोखरू, एरण्डमूल, रास्ना, काला (कालानुसारिवा), सहचर (कटसरैया), वीरा (क्षीरविदारी), शल्लकी (सलई), मुस्तक, त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपत्र), ऋषभक, बालक (सुगन्धवाला), सहा (नील झिण्टी), एला (छोटी इलायची), कुङ्कुम (केशर), स्पृक्का व त्रिदशाह्व (देवदारु), प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला), मञ्जिष्ठा (मजीठ) - ३ कर्ष (तोला), यष्टीमधु - ८ पल (३२ तोला), ग्रहण करें ।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कूट-पीस कर कल्क बना लें ।

निर्माण विधि–अब एक भगौने में क्वाथ, गोदुग्ध, तिलतैल एवं कल्क द्रव्यों को डालकर मन्दाग्नि पर पाक करें । सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को अग्नि पर से उतार कर, चौड़े मुख के कांच पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग–इस तैल के प्रयोग से क्षीण वीर्य, अग्निमांद्यता, मन का विभ्रम, उन्माद, अरति (बेचैनी) एवं अपस्मार जैसी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं एवं रोगी अपने प्राकृत अवस्था में आ जाता है । अमृताद्य नामक यह तैल वात व्याधियों को दूर करने में सर्वश्रेष्ठ होता है । (वैद्यों में प्रशंसित इस तैल का वर्णन कृष्णात्रेय ने अपने शिष्य अग्निवेश के लिए किया था।)

चक्रपाणि–महाश्रावणी=बड़ी गोरखमुण्डी । काला = कालानुसारिवा । त्रिदशाह्वः = देवदारु । ॥१५७-१६४॥

विशेष (Comments)–तैलपाक करते समय यहाँ तैल+क्वाथ+कल्क को एक साथ पकाना चाहिए, जब पात्र में क्वाथ पककर कुछ कम हो जाय तब उसमें गोदुग्ध डालें, गोदुग्ध पाक के पश्चात् कुछ जल डालकर तैलपाक करें । रस गन्ध के अनुरूप पाक हो जाने पर एवं तैल सिद्धि के लक्षण मिलने पर तैल को अग्नि पर से उतारकर ठण्डा कर लें । पश्चात् छानकर सुरक्षित रखें ।

जब भी तैल में दुग्ध का पाक करें तब दुग्धपाक के बाद जल डालकर पुनः पाक करें । ऐसा करने से दुग्ध में स्थित खोवे का सम्यक् पाक होता है ।

Scanned by CamScanner

रास्नासहस्रनिर्यूहे तैलद्रोणं विपाचयेत् । गन्धैर्हैमवतैः पिष्टैरेलाद्यैश्चानिलार्तिनुत् ।।१६५।।
कल्पोऽयमश्वगन्धायां प्रसारण्यां बलाद्वये । क्वाथकल्कपयोभिर्वा बलादीनां पचेत् पृथक् ।।१६६।।
इति रास्नातैलम् ।

रास्नातैल–रास्ना १००० पल, लेकर यवकुट कर लें । इसे ८ गुने जल में पकावें, चतुर्थांश अवशेष रहने पर क्वाथ को छानकर पृथक् रख लें । इस क्वाथ में एक द्रोण तिल तैल एवं अमृताद्य तैल में वर्णित कल्क द्रव्यों को डालकर पकावें । तैल के सिद्ध हो जाने पर छानकर सुरक्षित रख लें । यह तैल वातजन्य वेदना को दूर करता है ।

इसी प्रकार अश्वगन्धा, गन्ध प्रसारणी, बला एवं अतिबला द्वारा अलग-अलग तैल का निर्माण करना चाहिए । तैल को क्वाथ, कल्क एवं दूध के द्वारा सिद्ध करना चाहिए ।

[रास्नातैल में प्रयुक्त कल्क-पूर्व तैल में वर्णित कल्क द्रव्यों-एला से लेकर वचा तक, का प्रयोग करना चाहिए।]

चक्रपाणि–रास्ना सहस्रनिर्यूहे इत्यादौ हैमवतैरिति- रास्ना - १००० पल ग्रहण करें । अमृतादि तैल में वर्णित कल्क - एला से लेकर वचा तक के द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए । यहाँ **हैमवतैरिति** से हिमालय क्षेत्र में उत्पन्न अगरु, कूठ, क्षेमक आदि द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में करने का निर्देश दिया गया है ।

एलाद्यैरिति–इससे अमृताद्य तैल में वर्णित एला, जटामांसी आदि द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में इस तैल में भी करना चाहिए। रास्नातैल के निर्माण विधि के अनुसार अलग-अलग बलादि तैल का निर्माण करना चाहिए । बलादि से यहाँ बला, अतिबला, अश्वगन्धा एवं गन्धप्रसारिणी का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् इनसे अलग-अलग तैल का निर्माण करना चाहिए । ॥१६५-१६६॥

मूलकस्वरसं क्षीरं तैलं दध्यम्लकाञ्जिकम् । तुल्यं विपाचयेत् कल्कैर्बलाचित्रकसैन्धवैः ।।१६७।।
पिप्पल्यतिविषारास्नाचविकागुरुशिग्रुकैः । भल्लातकवचाकुष्ठश्वदंष्ट्राविश्वभेषजैः ।।१६८।।
पुष्कराह्वशटीबिल्वशताह्वानतदारुभिः । तत्सिद्धं पीतमत्युग्रान् हन्ति वातात्मकान् गदान् ।।
इति मूलकाद्यं तैलम् ।
वृषमूलगुडूच्योश्च द्विशतस्य शतस्य च । चित्रकात् साश्वगन्धाच्च क्वाथे तैलाढकं पचेत् ।।१७०।।
सक्षीरं वायुना भग्ने दद्याज्जर्जरिते तथा । प्राक्तैलावापसिद्धं च भवेदेतद्गुणोत्तरम् ।।१७१।।
इति वृषमूलादितैलम् ।

मूलकाद्यतैल-घटक द्रव्य-

१. द्रव पदार्थ–

१.	मूली का स्वरस	-	१ भाग
२.	दूध	-	१ भाग
३.	तिलतैल	-	१ भाग
४.	खट्टी दही	-	१ भाग
५.	काञ्जी	-	१ भाग

२. कल्क द्रव्य– बला, चित्रकमूल, सैन्धव नमक, पिप्पली, अतिविषा (अतीस), रास्ना, चव्य, अगर, सहिजन की छाल, भल्लातक, वचा, कूठ, गोखरू, शुण्ठी (सोंठ), पुष्करमूल, कचूर, बिल्व की छाल, सौंफ, तगर एवं देवदारु; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर कूट-पीस कर कल्क बना लें । कल्क (संयुक्त मात्रा) - १/४ भाग लें ।

निर्माण विधि–सर्वप्रथम एक पात्र में मूर्च्छित तिल तैल लेकर उसमें कल्क द्रव्य एवं मूली स्वरस डालकर पकावें । मूली स्वरस की मात्रा पकते-पकते जब लगभग समाप्त हो जाय तब उसमें गोदुग्ध डालकर पाक करें, इसके बाद खट्टी दही डालकर पकावें तथा अन्त में कांजी को डालकर तैल को सिद्ध कर लें । इस तैल के पीने से उग्र से उग्र वात व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ।

वृषमूलादि तैल-घटक द्रव्य–

१. क्वाथ्य द्रव्य–वासामूल - १०० पल, गुडूची - १०० पल, चित्रकमूल - १०० पल, अश्वगन्धा-१०० पल।

सभी द्रव्यों को अलग-अलग १००-१०० पल लेकर चार गुने जल के साथ क्वाथ बनावें । चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग-अलग पात्रों में रख लें ।

Scanned by CamScanner

२. **तिल तैल**–१ आढक (४ प्रस्थ), ३. **गोदुग्ध**– ४ प्रस्थ

निर्माण विधि–सर्व प्रथम एक पात्र में मूर्च्छित तिलतैल डालें। उसमें १०० पल वासामूल क्वाथ डालकर पकावें। वासा क्वाथ के पक जाने पर क्रमशः गुडूची क्वाथ, चित्रकमूल क्वाथ, अश्वगंधा क्वाथ व गोदुग्ध डालकर तैल को पकावें, अन्त में जल डालकर स्नेह को सम्यक् सिद्ध कर लें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को ठण्ढा करके साफ कपड़े से छानकर चौड़े मुख के बोतलों में सुरक्षित रख लें।

उपयोग–इस तैल का प्रयोग वायु द्वारा भग्न एवं जर्जरित शरीर वाले रोगियों में करना चाहिए। यदि इस तैल को मूलकाद्यतैल में वर्णित कल्क द्रव्यों के साथ पकाया जाता है तब इसकी गुणवत्ता और बढ़ जाती है।

चक्रपाणि–इस योग में अश्वगंधा एवं चित्रक की मिलित मात्रा १ तुला (१०० पल) ग्रहण की गयी है। **प्राक्तैलावापसिद्धमिति**-पूर्व में वर्णित मूलकाद्यतैल के कल्क+वृषमूलादि क्वाथ से तैल को सिद्ध करने पर निर्मित वृषमूलादितैल कल्क रहित **वृषमूलादि तैल** की तुलना में द्विगुण श्रेष्ठ होता है। ॥१६७-१७१॥

रास्नाशिरीषयष्ट्याह्वशुण्ठीसहचरामृताः ॥१७२॥
स्योनाकदारुशम्पाकहयगन्धात्रिकण्टकाः। एषां दशपलान् भागान् कषायमुपकल्पयेत् ॥१७३॥
ततस्तेन कषायेण सर्वगन्धैश्च कार्षिकैः। दध्यारनालमाषाम्बुमूलकेक्षुरसैः शुभैः ॥१७४॥
पृथक् प्रस्थोन्मितैः सार्धं तैलप्रस्थं विपाचयेत्। प्लीहमूत्रग्रहश्वासकासमारुतरोगनुत् ॥१७५॥
एतन्मूलकतैलाख्यं वर्णायुर्बलवर्धनम्।

इति मूलकतैलम्।

यवकोलकुलत्थानां मत्स्यानां शिग्रुबिल्वयोः ॥रसेन मूलकानां च तैलं दधिपयोन्वितम् ॥१७६॥
साधयित्वा भिषग्दद्यात् सर्ववातामयापहम्। लशुनस्वरसे सिद्धं तैलमेभिश्च वातनुत् ॥१७७॥
तैलान्येतान्यृतुस्नातामङ्गनां पाययेत च। पीत्वाऽन्यतममेषां हि वन्ध्याऽपि जनयेत् सुतम् ॥१७८॥
यच्च शीतज्वरे तैलमगुर्वाद्यमुदाहृतम्। अनेकशतशस्तच्च सिद्धं स्याद्वातरोगनुत् ॥१७९॥
वक्ष्यन्ते यानि तैलानि वातशोणितकेऽपि च। तानि चानिलशान्त्यर्थं सिद्धिकामः प्रयोजयेत् ॥१८०॥
नास्ति तैलात् परं किंचिदौषधं मारुतापहम्। व्यवाय्युष्णगुरुस्नेहात् संस्काराद्बलवत्तरम् ॥१८१॥
गणैर्वातहरैस्तस्माच्छतशोऽथ सहस्रशः। सिद्धं क्षिप्रतरं हन्ति सूक्ष्ममार्गस्थितान् गदान् ॥१८२॥

मूलकतैल–घटक द्रव्य-

१. **क्वाथ्य द्रव्य**–रास्ना, शिरीष की छाल, यष्टीमधु (मुलेठी), शुण्ठी (सोंठ), सहचर (कटसरैया), अमृता (गुडूची), श्योनाक, देवदारु, आरग्वध (अमलतास), अश्वगन्धा एवं गोखरू; सभी द्रव्य अलग-अलग १०-१० पल मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। अब इस यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्य को ८ गुने जल में पकावें, जब चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट रह जाय तब उसे छानकर एक अलग पात्र में रख लें।

२. **कल्क द्रव्य**–सर्वगन्ध द्रव्य-प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर कल्क बना लें। [सर्वगन्ध से यहाँ पूर्वोक्त बलातैल में वर्णित गन्ध द्रव्यों के कल्क से है, अर्थात् बलातैल में प्रयुक्त गन्ध द्रव्यों से है, उनका कल्क बनावें।

३. **द्रव पदार्थ**–दही, काञ्जी, उड़द का क्वाथ, मूली स्वरस, इक्षुरस; प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रस्थ।

४. **तिल तैल**–१ प्रस्थ।

निर्माण विधि–सर्वप्रथम एक पात्र में तिलतैल, क्वाथ एवं कल्क द्रव्यों को डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, पकते-पकते जब क्वाथ कुछ शेष रह जाय तब उसमें अन्य द्रव पदार्थों- दही, काञ्जी आदि डालकर क्रमशः स्नेह सिद्ध करें, अर्थात् एक द्रव पदार्थ का पाक हो जाने पर दूसरे द्रव पदार्थ को डालें। इस प्रकार तैल के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर अग्नि पर से उतार कर शीत कर लें। बाद में एक स्वच्छ कपड़े से छानकर चौड़े मुख के काँच पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग–इस तैल के प्रयोग से प्लीहा रोग (Splenic disorders), मूत्रग्रह (Retention of Urine), श्वास (Asthma), कास (Bronchitis) तथा अन्य वात विकार दूर हो जाते हैं। यह मूलकतैल रोगी के बल (Strength), वर्ण (Complexion) एवं आयु का वर्धक है।

अन्य वातनाशक तैल–

१. यव, खट्टीबेर, कुलथी, मछली, सहिजन (शिग्रु) की छाल, बिल्व की गुद्दी; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें। अब क्वाथ (Decoction), मूलीस्वरस, दही व दूध के साथ तिल तैल को सिद्ध करें। यह सिद्ध तैल सभी प्रकार की वात व्याधियों का नाशक है।

Scanned by CamScanner

२. इसी प्रकार यव, कोल आदि द्रव्यों के क्वाथ के साथ रसोन स्वरस से सिद्ध तिल तैल सभी प्रकार की वात व्याधियों को दूर करता है।

ऋतुस्नान करने के पश्चात् स्त्री को इन तैलों में से किसी एक का आभ्यन्तर सेवन करना चाहिए। इस तैल के पीने से वन्ध्या स्त्री भी पुत्र को उत्पन्न करती है।

३. शीत ज्वर की चिकित्सा में जिस अगुर्वादितैल का उल्लेख किया गया है उसे १०० बार अथवा १००० बार सिद्ध करने पर परम वातनाशक हो जाता है, अर्थात् वातव्याधि के रोगी को शत या सहस्र बार साधित अगुर्वादि तैल का आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयोग करना चाहिए।

४. वातरक्त चिकित्सा प्रकरण में वातरक्त नाशक जिन तैलों का वर्णन आगे किया जायेगा, सफलता के इच्छुक चिकित्सक को वातरोग की शान्ति हेतु उनका प्रयोग करना चाहिए।

वातव्याधि में तैल का महत्व–तैल से भी श्रेष्ठ वात को दूर करने वाली कोई अन्य औषधि नहीं है, अर्थात् तैल वातव्याधि या वात को दूर करने में सर्वोत्तम है। यदि इसे व्यवायी, उष्ण, गुरु एवं स्निग्ध गुणयुक्त द्रव्यों से संस्कारित कर दिया जाय तब तैल के गुण और अधिक बढ़ जाते हैं। यदि तैल को वातहर द्रव्यों से सौ या हजार बार सिद्ध कर दें, तब यह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतस् में फैले हुए व्याधि को शीघ्रता पूर्वक दूर कर देता है।

चक्रपाणि–सर्वगन्धैश्चेति-बला तैल में वर्णित सभी गन्ध द्रव्यों यथा- शटी, सरल, कूठ, जटामांसी आदि का कल्क बनावें, मात्रा- प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लें। सार्धम्=सहितम् (साथ में) [यद्यपि सर्वगन्ध के रूप में - "चातुर्जातककर्पूरकङ्कोलागुरुशिल्हकम्। लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत्"-चतुर्जातक, कर्पूर, कंकोल, अगरु, शिल्हक एवं लवंग का ग्रहण किया जाता है।]

मूलक तैलाख्यमिति-मूलक तैल नाम होने से यहाँ रास्नादि के मूल (Root) से निर्मित क्वाथ द्वारा ही तैल सिद्ध करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

लशुनस्वरसे इत्यादौ एभिश्चेति–यवादि के क्वाथ + लशुन स्वरस से सिद्ध तैल अत्यन्त वात नाशक होता है।

अनेकशतशस्तच्च सिद्धमिति अनेकशतशस्तेनैव विधानेन साधितं सदित्यर्थः– अनेक सौ बार सिद्ध उस तैल के प्रयोग से, यहाँ तैल को वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ+कल्क द्वारा स्नेह सिद्धि के विधान द्वारा १०० बार से लेकर १००० बार तक सिद्ध करना बताया गया है। ॥१७२-१८२॥

क्रिया साधारणी सर्वा संसृष्टे चापि शस्यते। वाते पित्तादिभिः स्रोतःस्वावृतेषु विशेषतः ॥१८३॥
पित्तावृते विशेषेण शीतामुष्णां तथा क्रियाम्। व्यत्यासात् कारयेत् सर्पिर्जीवनीयं च शस्यते ॥१८४॥
धन्वमांसं यवाः शालिर्यापनाः क्षीरबस्तयः। विरेकः क्षीरपानं च पञ्चमूलीबलाशृतम् ॥१८५॥
मधुयष्टिबलातैलघृतक्षीरैश्च सेचनम्। पञ्चमूलकषायेण कुर्याद्वा शीतवारिणा ॥१८६॥
कफावृते यवान्नानि जाङ्गला मृगपक्षिणः। स्वेदास्तीक्ष्णा निरूहाश्च वमनं सविरेचनम् ॥१८७॥
जीर्णं सर्पिस्तथा तैलं तिलसर्षपजं हितम्। संसृष्टे कफपित्ताभ्यां पित्तमादौ विनिर्जयेत् ॥१८८॥

संसृष्ट वात की चिकित्सा–यदि वात के साथ अन्य दोष (पित्त व कफ) मिले हुए हैं तब साधारण चिकित्सा करनी चाहिए। विशेषरूप से यदि पित्त व कफ के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध है तब साधारण चिकित्सा करनी चाहिए। साधारण से यहाँ त्रिदोषशामक चिकित्सा अर्थ लिया गया है, अर्थात् पित्त व कफ को दूर करने के साथ-साथ वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

पित्तावृत वात की चिकित्सा–१. यदि पित्त के द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो तब व्यत्यास क्रम से (अदल-बदल कर अथवा बारी-बारी से) शीत एवं उष्ण चिकित्सा करनी चाहिए। इस अवस्था में जीवनीय गण की औषधियों से साधित घृत का प्रयोग करना विशेष उपयोगी है।

२. पथ्य के रूप में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस, यव, शालि चावल, क्षीर बस्ति, विरेचन, यापन बस्तियाँ, लघु पञ्चमूल अथवा बलामूल से साधित दुग्ध का सेवन करना चाहिए।

३. पित्तावृत वायु में मधुयष्टितैल, बलातैल, गोदुग्ध, लघुपञ्चमूल साधित जल अथवा शीतल जल से रोगी को परिषेक अथवा स्नान कराना चाहिए।

कफावृत वात की चिकित्सा–यदि कफ द्वारा वायु का मार्ग आवृत (अवरुद्ध) हो तब रोगी को यव से निर्मित खाद्य पदार्थ (भात अथवा रोटी), जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस, स्वेदन, तीक्ष्ण निरूहबस्तियाँ, वमन, विरेचन, पुराना घृत, तिलतैल एवं सर्षपतैल (सरसो का तैल) का सेवन करना चाहिए, अर्थात् इन द्रव्यों का सेवन करना हितकर होता है।

Scanned by CamScanner

यदि वात व्याधि में कफ व पित्त दोनों ही मिले हों तब सर्वप्रथम पित्त की चिकित्सा करनी चाहिए ।

चक्रपाणि–पूर्व में शुद्ध वातिक व्याधियों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है । अब यहाँ 'क्रिया साधारणीत्यादि' के द्वारा संसृष्ट वात (आवृत वात) की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है ।

साधारणीति या वाते सा संसर्गिणी च पित्तादौ समाना संसर्गहितेति यावत्–वातव्याधि में पित्त व कफ का समान रूप से मिलना, इस अवस्था में त्रिदोष शामक चिकित्सा करनी चाहिए ।

न केवलं संसृष्टे वायौ साधारणी–न केवल संसृष्ट वायु (वायु के साथ पित्त व कफ का अनुबन्ध होना) में ही साधारणी (त्रिदोषशामक) चिकित्सा करनी चाहिए, अपितु वातपित्त के द्वारा स्रोतस् के मार्ग आवृत होने पर भी यही चिकित्सा की जाती है, अर्थात् आवरण (वातावरण) में भी त्रिदोषशामक उपचार ही करना चाहिए । वायु के द्वारा वायु के आवरण का उल्लेख आगे किया जायेगा । कुछ आचार्य 'वाते पित्तादिभिः' पाठ पढ़ते हैं [पित्तादि द्वारा वायु का मार्ग आवृत होने पर, अर्थ गृहीत है ।] यही पाठ उचित है । 'पित्तावृते इत्यादि' से यहाँ विशेष चिकित्सा को बताया गया है । अर्थात् पित्त द्वारा वात का मार्ग अवरुद्ध होने पर व्यत्यास क्रम (Alternate) में शीत एवं उष्ण चिकित्सा करनी चाहिए । [शीतल चिकित्सा करने के बाद उष्ण चिकित्सा करना, उष्ण चिकित्सा के बाद पुनः शीत चिकित्साा करना व्यत्यास क्रम कहलाता है ।]

यापनाबस्ति का उल्लेख सिद्धिस्थान में किया जायेगा । **पित्तमादौ विनिर्जयेदिति**-इस वचन से कफ की तुलना में पित्त आशुकारी होता है, इस कारण से पित्त की चिकित्सा कफ से पहले करनी चाहिए, यह बताया गया है । ॥१८३-१८८॥

आमाशयगतं मत्वा कफं वमनमाचरेत् ।।१८९।।
पक्वाशये विरेकं तु पित्ते सर्वत्रगे तथा । स्वेदैर्विष्यन्दितः श्लेष्मा यदा पक्वाशये स्थितः ।।१९०।।
पित्तं वा दर्शयेल्लिङ्गं बस्तिभिस्तौ विनिर्हरेत् । श्लेष्मणाऽनुगतं वातमुष्णैर्गोमूत्रसंयुतैः ।।१९१।।
निरूहैः पित्तसंसृष्टं निर्हरेत् क्षीरसंयुतैः । मधुरौषधसिद्धैश्च तैलैस्तमनुवासयेत् ।।१९२।।
शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत् । हृते पित्ते कफे यः स्यादुरःस्रोतोऽनुगोऽनिलः ।।१९३।।
सशेषः स्यात् क्रिया तत्र कार्या केवलवातिकी । शोणितेनावृते कुर्याद्वातशोणितकीं क्रियाम् ।।१९४।।
प्रमेहवातमेदोघ्नीमामवाते प्रयोजयेत् । स्वेदाभ्यङ्गरसक्षीरस्नेहा मांसावृते हिताः ।।१९५।।
महास्नेहोऽस्थिमज्जस्थे पूर्ववद्रेतसाऽऽवृते । अन्नावृते तदुल्लेखः पाचनं दीपनं लघु ।।१९६।।
मूत्रलानि तु मूत्रेण स्वेदाः सोत्तरबस्तयः । शकृता तैलमैरण्डं स्निग्धोदावर्तवत्क्रिया ।।१९७।।
स्वस्थानस्थो बली दोषः प्राक् तं स्वैरौषधैर्जयेत् । वमनैर्वा विरेकैर्वा बस्तिभिः शमनेन वा ।।१९८।।
(इत्युक्तमावृते वाते पित्तादिभिर्यथायथम् ।)

कफपित्तानुबन्ध जनित वात की चिकित्सा

१. यदि बढ़ी हुई वायु कफ के साथ मिलकर आमाशय में स्थित है तब रोगी को वमन कराना चाहिए, यदि कफ के साथ मिलकर पक्वाशय में स्थित हो तब विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । यदि वायु पित्त के साथ मिलकर सम्पूर्ण शरीर में प्रकुपित हो तब विरेचन का प्रयोग करना चाहिए ।

२. स्वेदन के द्वारा पिघला हुआ कफ यदि पक्वाशय में आ जाय, अथवा पित्त के लक्षण पक्वाशय में मिले, (पित्त का प्रकोप पक्वाशय में हो) तब इन दोनों ही अवस्थाओं में बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । अर्थात् बस्ति के प्रयोग द्वारा पित्त व कफ का निर्हरण करना चाहिए ।

यदि वायु कफ के साथ मिली हुई हो तब बस्ति के द्रव्यों में उष्ण (गुनगुना) गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, यदि पित्त के साथ वायु का अनुबन्ध हो तब क्षीरबस्ति (दुग्ध मिश्रित निरूह बस्ति) के प्रयोग से पित्त का निर्हरण करना चाहिए । तत्पश्चात् (निरूह बस्ति देने के बाद) सायंकाल मधुर गण की औषधियों से साधित तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए ।

३. यदि प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर सिर में स्थित हो, अर्थात् वायु के साथ कफ का अनुबन्ध शिरः प्रदेश में हो तब धूमपान एवं नस्य का प्रयोग करना चाहिए ।

४. पित्त व कफ के शरीर से निकल जाने के बाद यदि शेष वायु (अल्प प्रकुपित वायु) उरः प्रदेश में जाकर रुक जाती है, अर्थात् अल्प रूप में उरः प्रदेश में प्रकुपित हो जाती है तब ऐसी अवस्था में केवल वातनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

५. यदि रक्त द्वारा वायु आवृत हो जाती है, अथवा रक्त द्वारा वायु के आवरण से कोई व्याधि उत्पन्न होती है तब **वातरक्त नाशक** उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

६. आम के आवरण में–यदि वायु का आवरण आम द्वारा है, अर्थात् आमावृत वात की अवस्था में प्रमेह, वात एवं मेदनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

७. मांसावृत वात की अवस्था–इस अवस्था में स्वेदन (Fomentation), अभ्यङ्ग (Massage), मांसरस (Meat-soup), क्षीर एवं तैल आदि स्नेहों का प्रयोग कराना चाहिए ।

८. अस्थि व मज्जागत वात में–अस्थि (Bones) एवं मज्जा (Bone-marrow) में वायु के प्रकुपित होने पर महास्नेह (घृत - १ भाग, तैल - १ भाग, वसा - १ भाग, मज्जा - १ भाग; सभी को मिलाने पर महास्नेह बनता है ।) का प्रयोग करना चाहिए।

९. शुक्रावृत वात में–वायु के शुक्र से आवृत होने पर विरेचन करावें । जातबलोपरान्त शुक्र एवं बलवर्धक अन्न-पान एवं औषधियों का सेवन करावें ।

१०. अन्नावृत वात में–अन्न द्वारा वायु के आवृत हो जाने पर वमन, दीपन, पाचन एवं लघु अन्न का सेवन कराना चाहिए ।

११. मूत्रावृत वात में–मूत्र द्वारा वायु के आवृत होने पर पेडू (नाभि एवं मूत्रेन्द्रिय के मध्य भाग) के ऊपर स्वेदन एवं उत्तर बस्तियों (Urethral douches) का प्रयोग करना चाहिए ।

१२. पुरीषावृत वात में–इस अवस्था में एरण्डतैल का प्रयोग, अर्थात् गोदुग्ध के साथ एरण्डतैल पिलाना चाहिए, स्वेदन एवं उदावर्तनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए ।

स्थानिक दोष की सर्वप्रथम चिकित्सा–यदि दोष प्रकुपित होकर अपने स्थान में स्थित हो, अथवा स्थानीय दोष बली हो तब सबसे पहले उस दोषनाशक औषधियों के प्रयोग से उसे जीतना चाहिए । अर्थात् वमन, विरेचन, बस्ति अथवा संशमन चिकित्सा द्वारा स्थानीय दोष की सर्वप्रथम चिकित्सा करे, पश्चात् उस स्थान पर पहुँचे हुए अन्य दोष को प्रशमित करें ।

[इस प्रकार यहाँ पित्तादि दोष से आवृत वात के लक्षण एवं चिकित्सा का सम्यक् विवेचन कर दिया गया है ।]

चक्रपाणि–आमाशयगतं मत्वा कफमिति-इससे वातानुबन्धी कफ की ही यह चिकित्सा बतायी गयी है, अर्थात् जब कफ के साथ वायु आमाशय के ऊर्ध्व प्रदेश में अवस्थित हो जाय तब इस अवस्था में वमन का प्रयोग करना चाहिए । 'पक्वाशये विरेकं तु' से पक्वाशय में कफ का आना अर्थ गृहीत है, ऐसी अवस्था में विरेचन कराना चाहिए । यदि अन्य स्थानों पर भी पित्त का आगमन हो जाय तब भी विरेचन ही कराना चाहिए । जिस दोष का जो नियत स्थान है, उस पर अन्य दोष के आ जाने पर भी उस प्रधान दोष के अनुसार कर्मों का प्रयोग कराना चाहिए, यथा- वमन या बस्ति अथवा विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । इस प्रकार यहाँ विरेचन भी उपयोगी होता है, यह दर्शाया गया है ।

शिरोगते तु सकफे धूमनस्यादि कारयेत्–कफ के साथ वायु का अनुबन्ध होने पर, अर्थात् जब शिरः प्रदेश में वायु प्रकुपित होकर कफ के साथ मिल गयी हो तब धूमपान एवं नस्य का प्रयोग करना चाहिए । **उरः स्रोतोगते** से वात का सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतस् में अनुगत होना, अर्थ लिया गया है । **प्रमेहवातमेदोघ्नीमिति**- आमावृत वात में (आम द्वारा वायु के आवृत होने पर) मेदनाशक, प्रमेहनाशक एवं वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए ।

पूर्ववद्रेतसाऽऽवृते इति–शुक्रावृत वात अथवा शुक्र धातु में यदि वायु का प्रकोप हो तब शुक्रावृत वात की जो चिकित्सा पूर्व में बतायी गयी है उसी का प्रयोग करना चाहिए । **उल्लेख इति उल्लेखनं वमनम्**- उल्लेखन से वमन अर्थ लिया गया है । मूत्रल से यहाँ मूत्रविरेचनिक द्रव्यों का ग्रहण किया गया है । **शकृता इति**- वात का पुरीष द्वारा आवृत (अवरुद्ध) होना ।

'स्वस्थानस्थ इत्यादि'–स्थान के उपबृंहण करने से स्थानाश्रित दोष बली हो जाता है, अर्थात् प्रबल हो जाता है । अतः सर्वप्रथम उस दोषनाशक औषधों द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिए अथवा उसका प्रशमन करना चाहिए । वे औषधियाँ कौन सी हैं, उसे 'वमनैरित्यादि' के द्वारा बताया गया है । अर्थात् आमाशयस्थ दोष को वमन द्वारा, पित्ताशय गत अथवा अधोग आमाशय गत दोषों को विरेचन द्वारा तथा पक्वाशयगत दोषों का निर्हरण बस्ति द्वारा करना चाहिए ।

शमनैनैव–कफादि दोषों का प्रशमन करना ही चाहिए । शमन चिकित्सा का प्रयोग शोधन करने के बाद करना चाहिए । अथवा जो रोगी शोधन के योग्य नहीं हैं, उनमें कराना चाहिए ।

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु ।।१९९।।
लिङ्गं व्याससमासाभ्यामुच्यमानं मयाऽनघः! । प्राणो वृणोत्युदानादीन् प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि च ।।२००।।
उदानाद्यास्तथाऽन्योन्यं सर्व एव यथाक्रमम् । विंशतिर्वरणान्येतान्युल्वणानां परस्परम् ।।२०१।।
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत् । सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम् ।।२०२।।
व्याने प्राणावृते लिङ्गं कर्म तत्रोर्ध्वजत्रुकम् । स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता ।।२०३।।

Scanned by CamScanner

प्राणे व्यानावृते तत्र स्नेहयुक्तं विरेचनम् । प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः ॥२०४॥
चतुष्ययोगाः शस्यन्ते स्नेहास्तत्र सयापनाः । समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः ॥२०५॥
शूलं चामाशये तत्र दीपनं सर्पिरिष्यते ।

पाँचों प्रकार की वायु के परस्पर आवरण

हे अनघ ! पाँचों प्रकार की वायु के परस्पर आवरण जनित लक्षणों को मैं यहाँ अनतिसंक्षेपविस्तार (न तो अधिक संक्षेप, न तो अधिक विस्तार) से बता रहा हूँ, उसे सुनो–प्राण वायु द्वारा उदानादि के आवरण तथा उदानादि द्वारा प्राण वायु के आवरण का जो एक निश्चित क्रम है, अर्थात् पाँचों प्रकार के वायु एक दूसरे को आवृत करते हैं । इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त पाँचों प्रकार की वायु के परस्पर बीस आवरण होते हैं, जिसका ज्ञान चिकित्सक को भली भाँति तर्क करके (उहापोह करके) करना चाहिए ।

१. प्राणावृत व्यान के लक्षण एवं चिकित्सा–यदि प्राण वायु द्वारा व्यान वायु का आवरण हो, अर्थात् प्राण वायु द्वारा व्यान वायु अवरुद्ध हो जाय तब इन्द्रियों में शून्यता का होना (Loss of functions of all the senses), स्मृतिक्षय (स्मरणशक्ति का क्षीण होना) एवं बल का क्षीण होना (Loss of strength) लक्षण मिलते हैं । इस अवस्था में चिकित्सक को ऊर्ध्वजत्रुगत रोग नाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए ।

२. व्यानावृत प्राणवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–यदि प्राणवायु व्यानवायु द्वारा आवृत हो तब रोगी में अत्यधिक पसीने का निकलना (Excessive sweating), लोमहर्ष (Horripilation), त्वक् विकार एवं अङ्गों में शून्यता का होना (Numbness in the body) आदि लक्षण मिलते हैं । इस अवस्था में रोगी को स्नेह मिलाकर विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए ।

३. प्राणावृत समानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–प्राणवायु के द्वारा समान वायु का आवरण होने पर शरीर में जड़ता, गदगदत्व (हकलाना) एवं मूकत्व (बिल्कुल न बोल पाना) लक्षण मिलते हैं । इस अवस्था में यापन बस्तियों के साथ स्नेह के चार प्रयोगों का उपयोग करना चाहिए ।

४. समानावृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–समान वायु द्वारा अपान वायु के आवृत होने पर ग्रहणीरोग, पार्श्वशूल, हृदय रोग एवं आमाशय में शूल आदि लक्षण मिलते हैं । इस अवस्था में अग्निदीपक घृतों का उपयोग करना हितकारी होता है ।

चक्रपाणि–वायु के परस्पर आवरण को यहाँ 'मारुतानामित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । यद्यपि वायु अमूर्त (अदृश्य) होती है, जिसका विवेचन वातकलाकलीय नामक अध्याय (सू.अ. १२) में किया गया है । फिर भी यहाँ अमूर्तत्व से अकठिनत्व अर्थ लिया गया है न कि अवयव के प्रतिषेध का भाव गृहीत है । इस प्रकार वायु का वायु द्वारा परस्पर आवरण होने पर उसकी गति में अवरोध तो उत्पन्न होता ही है । वायु के परस्पर **उपहतत्व** (आपस में उपघात) का स्वरूप बाह्य जगत् में वातकुण्डली (बवण्डर) के रूप में दिखायी देता है। उसी प्रकार वायु के परस्पर आवरणों में भी यही स्थिति उत्पन्न होती है ।

प्राणो वृणोत्युदानादीनिति–इसके द्वारा वात के परस्पर बीस आवरणों को बताया गया है । प्राणो वृणोत्युदानादीनिति से चार प्रकार के आवरणों का उल्लेख किया गया है । **प्राणं वृण्वन्ति तेऽपि चेति** के द्वारा चार आवरणों का उल्लेख है तथा उदानादि के परस्पर आवरण बारह बताये गये हैं । उदानवायु के द्वारा व्यानादि तीन के तीन आवरण होते हैं तथा व्यानादि द्वारा उदान के तीन आवरण होते हैं । व्यान द्वारा समान व अपान के दो आवरण तथा समान व अपान द्वारा व्यान के दो आवरण, शेष बचे हुए परस्पर दो आवरण होते है । इस प्रकार १२ आवरण तथा पूर्व के ८ मिलाकर कुल बीस आवरण हो जाते हैं । यथा–

१. प्राण द्वारा आवृत उदानवायु
२. प्राण द्वारा आवृत समानवायु
३. प्राण द्वारा आवृत व्यानवायु
४. प्राण द्वारा आवृत अपानवायु

} प्राण द्वारा आवृत शेष ४ वायु (४ आवरण)

५. उदान द्वारा आवृत प्राणवायु
६. समान द्वारा आवृत प्राणवायु
७. व्यान द्वारा आवृत प्राणवायु
८. अपान द्वारा आवृत प्राणवायु

} शेष चार वायु द्वारा आवृत प्राण के ४ भेद (आवरण)

९. समानवायु द्वारा आवृत उदानवायु

Scanned by CamScanner

१०. व्यानवायु द्वारा आवृत उदानवायु

११. अपान द्वारा आवृत उदानवायु

१२. उदानवायु द्वारा समानवायु का आवरण

१३. व्यानवायु द्वारा समानवायु का आवरण

१४. अपानवायु द्वारा समानवायु का आवरण

१५. उदानवायु द्वारा व्यानवायु का आवरण

१६. समानवायु द्वारा व्यानवायु का आवरण

१७. अपानवायु द्वारा व्यानवायु का आवरण

१८. उदानवायु द्वारा अपानवायु का आवरण

१९. समानवायु द्वारा अपानवायु का आवरण

२०. व्यानवायु द्वारा अपानवायु का आवरण

उल्बणानामिति= बढ़े हुए दोषों का अथवा आविष्कृततम मिलित पाँचों प्रकार के वायु का, इस प्रकार इनका एक दो अथवा तीन के संसर्ग से आवर्य एवं आवरक भेद से आवरण के अनेक भेद होते हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।।२०६।।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते । तत्रोर्ध्वभागिकं कर्म कार्यमाश्वासनं तथा ।।२०७।।
कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा । उदानेनावृते प्राणे तं शनैः शीतवारिणा ।।२०८।।
सिञ्चेदाश्वासयेच्चैनं सुखं चैवोपपादयेत् । ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः ।।२०९।।
स्युर्वति तत्र वस्त्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम् । मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते ।।२१०।।
वाते स्याद्वमनं तत्र दीपनं ग्राहि चाशनम् । वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः ।।२११।।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने तं स्निग्धैरनुलोमयेत् । अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम् ।।२१२।।
अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि सर्वं संग्रहणं मतम् । मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः ।।२१३।।
समानेनावृते व्याने व्यायामो लघुभोजनम् । स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम् ।।२१४।।
उदानेनावृते व्याने तत्र पथ्यं मितं लघु । पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः ।।२१५।।
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽदरणे मता । यथास्थूलं समुद्दिष्टमेतदावरणेऽष्टकम् ।।२१६।।
सलिङ्गभेषजं सम्यग्बुधानां बुद्धिवृद्धये ।

५. प्राणावृत उदानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–प्राणवायु द्वारा उदानवायु के आवृत होने पर- सिर में जकड़ाहट (Stiffness of the head), प्रतिश्याय (Rhinitis), निःश्वास एवं उच्छ्वास में अवरोध का होना, हृद्रोग (Heart-disease) एवं मुख का सूखना (Dryness of the mouth) आदि लक्षण मिलते हैं । ऐसी अवस्था में ऊर्ध्व जत्रुगत व्याधियों की जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उनका प्रयोग एवं आश्वासनादि कर्मों को करना चाहिए ।

६. उदानावृत प्राणवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–उदानवायु द्वारा प्राणवायु के आवृत होने पर शारीरिक चेष्टाओं का नाश एवं बल वर्ण व ओज का क्षय हो जाता है, अथवा रोगी की मृत्यु भी हो सकती है । ऐसी अवस्था में शीतल जल को रोगी के शरीर पर धीरे-धीरे छिड़कना चाहिए अथवा गिराना चाहिए । इसके बाद उसे आश्वासन देते हुए सुखपूर्वक विश्राम कराना चाहिए ।

७. उदानवायु द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–उदानवायु द्वारा अपानवायु के आवृत होने पर छर्दि (Vomiting) श्वास (Dyspnea) एवं कास आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं । ऐसी अवस्था में रोगी में बस्ति का प्रयोग एवं वातानुलोमक अन्न-पान का सेवन कराना चाहिए ।

८. अपानवायु द्वारा आवृत उदानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–अपानवायु द्वारा उदानवायु के आवृत होने पर मोह (Unconsciousness), जाठराग्नि का मन्द होना (अग्निमांद्य) एवं अतीसार (diarrhoea) के लक्षण मिलते हैं । ऐसी अवस्था में वमन करावें तथा अग्निदीपक एवं ग्राही अन्न-पान का प्रयोग करें ।

Scanned by CamScanner

९. व्यानवायु द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–इस अवस्था में रोगी को वमन (Vomiting), आध्मान (Abdominal distension), उदावर्त (upward movement of Vāyu), गुल्म (Phantom tumour) एवं परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा का होना) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन व्याधियों में स्निग्ध एवं वातानुलोमक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

१०. अपानवायु द्वारा आवृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–अपानवायु द्वारा व्यानवायु के आवृत होने पर मल (पुरीष), मूत्र एवं शुक्र की अतिप्रवृत्ति होने लगती है। ऐसी अवस्था में ग्राही (संग्राही) औषधि, अन्न एवं पान की योजना करनी चाहिए।

११. समानावृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–समान वायु द्वारा व्यानवायु के आवृत होने पर रोगी में मूर्च्छा (Fainting), तन्द्रा (drowsiness), प्रलाप (delirium), अङ्गावसाद (Prostration), अग्निमांद्यता (diminution of agni) ओज एवं शारीरिक बल का क्षय होना, पाया जाता है।

ऐसे रोगी को व्यायाम एवं लघु भोजन कराना चाहिए।

१२. उदानावृत व्यानवायु के लक्षण एवं चिकित्सा–उदानवायु द्वारा व्यानवायु के आवृत होने पर रोगी में अधोलिखित व्याधियाँ (लक्षण) उत्पन्न होती हैं–

-अंगों में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the body)

-जाठराग्नि का मन्द होना।

-अतिस्वेद का आना

-शारीरिक चेष्टाओं में कमी

-नेत्रों का बन्द रहना

ऐसी अवस्था में रोगी को अल्प एवं लघु भोजन देना हितकर होता है।

उपसंहार–इस प्रकार पाँचों प्रकार के वायु के एक-दूसरे के आवरण का ज्ञान लक्षणों के द्वारा करना चाहिए। आवृत होने वाली वायु के कर्मों की कमी और आवरण करने वाली वायु के कर्मों की वृद्धि से आवृत एवं आवरण का ज्ञान करें।

इस प्रकार यहाँ २० प्रकार के आवरणों में आठ प्रकार के आवरणों का मोटे तौर पर चिकित्सक समुदाय के बुद्धि वृद्धि हेतु लक्षण एवं चिकित्सा का सम्यक् विवेचन कर दिया गया है।

चक्रपाणि–'शिरोग्रह इत्यादि' के द्वारा प्रायः उत्पन्न होने वाले आठ प्रकार के आवरणों के ही अन्तर्गत शेष अनुक्त आवरणों का भी ग्रहण हो जाता है।

ऊर्ध्वभागिकं कर्मेति–इससे नस्य, स्नेहपान आदि कर्मों का ग्रहण करना चाहिए।

श्वासादय इति–श्वास, हिक्का आदि। ऊर्ध्वगेनेति-उदान वायु के द्वारा। 'एषां स्वकर्मणामित्यादि' के द्वारा जिन आवरणों के स्वरूप का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है, उनका ज्ञान किस प्रकार हो जाय, इसे स्पष्ट किया गया है।

अत्र आवार्याणां बलीयसाऽऽवरणात् स्वकर्महानिर्भवति–आवार्य (जिस दोष का आवरण होता है) दोष के बलवान् दोष द्वारा आवृत होने से आवृत दोष के कर्मों में कमी हो जाती है।

आवरकस्य तु उत्सर्गतः स्वकर्मवृद्धिर्भवति–आवरक के कर्म स्वाभाविक रूप से वृद्ध (बढ़े) रहते हैं, लेकिन जब आवरण के द्वारा आवार्य (जिसका आवरण होता है, अर्थात् अवरुद्ध दोष) प्रकुपित हो जाता है उस समय उसके (आवार्य के) अपने कर्मों की वृद्धि हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

अन्य आचार्य जिसका आवरण होता है अर्थात् जो दोष अवरुद्ध होता है उसके कर्म कम हो जाते हैं, ऐसा कहते हैं, क्योंकि आवरक की वृद्धि तो स्वाभाविक रूप से ही होती है। ॥२०६-२१६॥

स्थानान्यवेक्ष्य वातानां वृद्धिं हानिं च कर्मणाम् ॥२१७॥
द्वादशावरणान्यन्यान्यभिलक्ष्य भिषग्जितम्। कुर्यादभ्यञ्जनस्नेहपानबस्त्यादि सर्वशः ॥२१८॥
क्रममुष्णमनुष्णं वा व्यत्यासादवचारयेत्।

Scanned by CamScanner

वायु के स्थान एवं उनके कर्मों की वृद्धि एवं अल्पता का सम्यक् विचार करते हुए तथा अन्य बारह आवरणों का भी ध्यान देते हुए इनकी चिकित्सा हेतु चिकित्सक अभ्यङ्ग, स्नेहपान एवं बस्ति आदि का प्रयोग करे। व्यत्यास क्रम से (अदल-बदल करके) रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए। उष्ण उपचार के बाद शीतल उपचार, शीतल उपचार के बाद उष्ण उपचार, बार-बार करना चाहिए।

चक्रपाणि–जिन आवरणों के लक्षणों का विवेचन यहाँ नहीं किया गया है, उनके ज्ञान के उपाय को यहाँ 'स्थानान्यवेक्ष्येत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **कर्मवृद्धिहानिव्याख्यानमत्रापि पूर्ववत्**-पूर्व व्याख्या की ही भाँति आवरक एवं आवृत के कर्मों की वृद्धि एवं हानि की व्याख्या करनी चाहिए।

स्थानान्यवेक्ष्येत्यनेन वातानामुक्तस्थानगतविकारेण च वातविकृतिर्ज्ञातव्येति दर्शयति–वात के स्थान का विचार करते हुए, पाँचों प्रकार की वायु के बताये गये स्थान के अनुसार ही वात की विकृति (दुष्टि) का ज्ञान करना चाहिए।

'उष्णं क्रममनुष्णं चेति' से यहाँ यद्यपि वात की चिकित्सा में उष्ण उपक्रम का प्रयोग किया जाता है, फिर भी स्थान के अनुसार रक्तादि दूष्य को दृष्टिगत रखते हुए क्रम विपरीतता आती है, ऐसा समझना चाहिए। [वायु के द्वारा रक्त के आवृत होने पर पहले शीत चिकित्सा पश्चात् उष्ण चिकित्सा बारी-बारी से करनी चाहिए।]

उदानं योजयेदूर्ध्वमपानं चानुलोमयेत् ।।२१९।।
समानं शमयेच्चैव त्रिधा व्यानं तु योजयेत्। प्राणो रक्ष्यश्चतुर्भ्योऽपि स्थाने ह्यस्य स्थितिर्ध्रुवा ।।२२०।।
स्वं स्थानं गमयेदेवं वृतानेतान् विमार्गगान्।

विकृत वायु की चिकित्सा–

१. यदि उदानवायु की विकृति है तब उसे चिकित्सा द्वारा ऊर्ध्व मार्ग में लाना चाहिए।

२. अपानवायु की विकृति होने पर वातानुलोमक अन्न, पान एवं औषधियों के प्रयोग द्वारा उसे अपने स्थान पर लाना चाहिए।

३. समानवायु के प्रकुपित होने पर शमन चिकित्सा द्वारा उसे अपने स्थान पर स्थापित करना चाहिए।

४. व्यानवायु के प्रकुपित होने पर उसे ऊर्ध्व, मध्य एवं अधः तीनों मार्गों में स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार इन चारों प्रकार की वायु से प्राणवायु की रक्षा करें। इस प्रकार प्राणवायु के अपने स्थान में स्थित होने पर व्यक्ति का जीवन सुचारु रूप से चलता रहता है। यदि वायु अपने मार्ग से अन्य मार्ग (विपरीत मार्ग) में चली गयी हो अथवा दोषों द्वारा आवृत हो, ऐसी अवस्था में उसे चिकित्सा द्वारा अपने मूलस्थान में लाना चाहिए।

चक्रपाणि–'उदानं योजयेदूर्ध्वमित्यादि' के द्वारा विकृत वायु को अपने मूलस्थान में कैसे स्थापित करें, इसे स्पष्ट किया गया है। अर्थात् विकृत वायु की प्रकृतिस्थापन (चिकित्सा) को बताया गया है।

एतच्च स्वमार्गयोजनं वातानां यथोक्तवमनादिक्रियायोगविधानेन कर्तव्यम्–इन पाँचों प्रकार की वायु, जो दूषित या विकृत हो गये हैं, उन्हें अपने मूलस्थान (स्वस्थान) में लाने के लिए वमनादि उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए, यह अभिप्राय है।

समानं शमयेदिति–समानवायु का शमन करना चाहिए, अर्थात् समानवायु का स्थान शरीर के मध्य में होता है, अतः ऐसा प्रयास करना चाहिए कि वह अपने स्थान में ही बनी रहे। **त्रिधा व्यानं तु योजयेदिति**-व्यानवायु का स्थान सम्पूर्ण शरीर है, इसलिए इसे ऊर्ध्व, अध एवं मध्य (सम्पूर्ण शरीर) में स्थापित करना चाहिए।

प्राणो रक्ष्य इति स्थाने एव यापनीयः-प्राण वायु की रक्षा अपने स्थान पर ही करनी चाहिए, अर्थात् प्राणवायु अपने स्थान पर ही रक्षणीय है। चारों प्रकार की वायु से (उदान, व्यान, समान एवं अपान से) प्राणवायु की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए। प्राणवायु क्यों विशेष रक्षणीय है ? इसे यहाँ 'स्थाने त्वस्य स्थितिर्ध्रुवा' के द्वारा बताया गया है, अर्थात् प्राणवायु के अपने स्थान में स्थित रहने पर ही व्यक्ति का जीवन रहता है।

अस्य प्राणस्य स्थाने सम्यगवस्थाने सति, स्थितिः जीवनरूपा, ध्रुवा निश्चिता–प्राणवायु के अपने स्थान में रहने पर ही व्यक्ति जीवित रहता है, अन्यथा नहीं। इसलिए सभी प्रकार की वायु से प्राणवायु विशेष रक्षणीय है, यह कहा गया है। ।।२१९-२२०।।

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता ।।२२१।।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते। ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः ।।२२२।।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च। मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः ।।२२३।।
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते। आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः ।।२२४।।

Scanned by CamScanner

दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्छोपजायते । अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च ।।२२५।।
पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मणः । अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च ।।२२६।।
कफावृते समाने स्यात्प्राणानां चातिशीतता । व्याने पित्तावृते तु स्याद्दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः ।।२२७।।
गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससंतापः सवेदनः । गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः ।।२२८।।
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसङ्गस्तथाऽधिकः । हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ।।२२९।।
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम् । भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।।२३०।।
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ।

१. पित्त द्वारा आवृत प्राणवायु के लक्षण–पित्त द्वारा प्राणवायु के आवृत होने पर रोगी में मूर्च्छा (Fainting), दाह (Burning sensation), भ्रम (Giddiness), शूल (Colic pain), विदाह (अन्न का विदाह होना-सम्यक् पाक न होना), शीतकामिता (शीतल द्रव्यों के प्रति विशेष इच्छा का होना) एवं अपक्व अन्न का वमन के रूप में निकलना, लक्षण मिलते हैं ।

२. कफ द्वारा आवृत प्राणवायु के लक्षण–कफ द्वारा प्राणवायु के आवृत होने पर रोगी में ष्ठीवन (मुख से बार-बार थूक का निकलना), अत्यधिक छींक का आना (Sneezing), उद्गार (डकार का निकलना-eructation), निःश्वास एवं उच्छ्वास का अवरुद्ध होना, अर्थात् श्वासोच्छ्वास में रुकावट का आना, अरुचि (Anorexia) एवं छर्दि (Vomiting) लक्षण मिलते हैं ।

३. पित्त द्वारा आवृत उदानवायु के लक्षण–पित्त द्वारा उदानवायु के आवृत होने पर रोगी के शरीर में मूर्च्छा आदि (Fainting), नाभि एवं उरः प्रदेश में दाह (Burning sensation), क्लम (थकावट का होना), ओजक्षय एवं अवसाद (Prostration) लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

४. कफावृत उदानवायु के लक्षण–कफ द्वारा उदानवायु के आवृत होने पर आतुर में विवर्णता (Discolouration of the skin), वाणी एवं स्वर में रुकावट का होना, दुर्बलता (Weakness), शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body) एवं अरुचि (Anorexia); लक्षण मिलते हैं ।

५. पित्तावृत समानवायु के लक्षण–पसीने का अत्यधिक निकलना (Excessive sweating), अत्यधिक प्यास का लगना (Thirst), दाह (शरीर में जलन का होना-Burning sensation), मूर्च्छा (Fainting), अरुचि (भोजन में अनिच्छा का होना - Anorexia) तथा शारीरिक ऊष्मा में कमी का होना; ये सभी लक्षण पित्त द्वारा समान वायु के आवृत होने पर मिलते हैं ।

६. कफावृत समान वायु के लक्षण–पसीने का न निकलना अथवा अल्प निकलना, अग्निमांद्यता (जाठराग्नि का मन्द हो जाना), लोमहर्ष (रोंगटे खड़े हो जाना-Horripilation), शरीर में अत्यधिक ठण्ढ़ का लगना; ये सभी लक्षण कफ द्वारा समानवायु के आवृत होने पर मिलते हैं ।

७. पित्त द्वारा आवृत व्यानवायु के लक्षण–सम्पूर्ण शरीर में जलन का होना, सम्पूर्ण शरीर में थकावट का अनुभव होना, शारीरिक अङ्गों की गति में कमी का होना, ज्वर का होना एवं वेदना; ये सभी लक्षण पित्तावृत व्यान वायु के हैं ।

८. कफ द्वारा आवृत व्यानवायु के लक्षण–शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body), सम्पूर्ण अस्थियों एवं सन्धियों में पीड़ा का होना, अंगों की गति में अवरोध का होना, अर्थात् गतिशील अङ्ग, यथा - हाथ, पैर आदि इनकी गति में रुकावट का होना । ये सभी लक्षण कफ द्वारा आवृत व्यानवायु में पाये जाते हैं ।

९. पित्त द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण–मूत्र एवं पुरीष (Stool) का वर्ण पीला होना, गुदा एवं मूत्रेन्द्रिय में ताप (जलन) का अनुभव होना, मासिक स्राव का अत्यधिक निकलना (रक्तप्रदर); लक्षण पित्तावृत अपानवायु में पाये जाते हैं ।

१०. कफ द्वारा आवृत अपानवायु के लक्षण–भिन्न (पतला dilute), आमयुक्त, कफमिश्रित, भारी मल (पुरीष- Stool) का निकलना एवं कफज प्रमेह के लक्षणों का मिलना; ये लक्षण कफावृत अपान वायु में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि–'मूर्च्छा दाहो भ्रम इत्यादि' के द्वारा प्राण आदि वायु के पित्त, अथवा कफ, अथवा कफपित्त दोनों द्वारा आवृत होने पर उत्पन्न लक्षणों को बताया गया है ।

मूर्च्छाद्यानि मूर्च्छा दाह इत्यादिना प्रागुक्तानि–'मूर्च्छाद्यानि' से मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि लक्षणों का ग्रहण करना चाहिए, जिसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

उपघातस्तथोष्मण इति–ऊष्मा का उपघात होना, यहाँ पित्त द्वारा समान वायु के उपघात होने पर अग्नि को प्रेरित (उत्तेजित) करने वाले भाव के अभाव होने से ऊष्मा का उपघात होता है, ऐसा जानना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

गात्रविक्षेपसङ्गः गात्रविक्षेपणोपरमः–शारीरिक चेष्टाओं में कमी का होना, अथवा शरीर के जो भाग गतिशील हैं, उनकी गति का अवरुद्ध होना। रजस् से यहाँ आर्तव का ग्रहण किया गया है। पित्त द्वारा अपान वायु के आवृत होने पर आर्तव का स्राव बढ़ जाता है। ॥२२१-२३०॥

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च ॥२३१॥
उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रभावरणं वदेत्। यद्यस्य वायोर्निर्दिष्टं स्थानं तत्रेतरौ स्थितौ ॥२३२॥
दोषौ बहुविधान् व्याधीन् दर्शयितां यथानिजान्। आवृतं श्लेष्मपित्ताभ्यां प्राणं चोदानमेव च ॥२३३॥
गरीयस्त्वेन पश्यन्ति भिषजः शास्त्रचक्षुषः। विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम् ॥२३४॥
स्यातयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च। सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा ॥२३५॥
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः।

दो दोषों द्वारा आवृत वायु के लक्षण–यदि पित्त व कफ दोनों मिलकर वायु को आवृत करते हैं तब इन दोनों के मिश्रित लक्षणों को देखकर चिकित्सक को आवरण का निश्चय करना चाहिए।

जिस वायु के जो स्थान बताये गये हैं, यदि उन स्थानों पर इतर दोष (कफ व पित्त) पहुँच जाँय तब जिस प्रकार ये दोनों दोष अपने-अपने निज व्याधियों (कफजन्य व पित्तजन्य) को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार यहाँ भी अपने-अपने लक्षणों से युक्त अनेक प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

यदि कफ-पित्त के द्वारा प्राणवायु अथवा उदानवायु आवृत होती है तब इन दोनों की चिकित्सा अन्य की तुलना में कष्टकर होती है, ऐसा शास्त्रज्ञ चिकित्सक स्वीकार करते हैं। (शास्त्रचक्षुषः = शास्त्र ही नेत्र है जिसका, अर्थात् आयुर्वेद चिकित्सक)

प्राण एवं उदान वायु की महत्ता–विशेष रूप से प्राणवायु के आश्रित व्यक्ति का जीवन एवं उदानवायु के आश्रित बल (Physical strength) होता है। इन दोनों के आवृत होने से व्यक्ति के प्राण (जीवन) एवं बल दोनों की हानि होती है।

ये सभी आवृत वात विकार यदि अज्ञानता के कारण (निश्चय न हो पाने के कारण-undiagnosed) अथवा निश्चय (Diagnosed) होने पर भी उचित चिकित्सा न हो पाने के कारण अथवा रोगी की उदासीनता (उपेक्षा) के कारण एक वर्ष से अधिक शरीर में अवस्थान कर जाँय तब असाध्य अथवा कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं।

चक्रपाणि–मिश्रमावरणमितिमिश्रितकफपित्तावरणम्- कफ-पित्त के मिश्रित आवरण से, अर्थात् द्वन्द्वज दोषों द्वारा आवृत वायु।

यथानिजानिति यथात्मीयान्–जिस प्रकार पित्त-कफ द्वारा पित्तज व कफज व्याधियाँ उत्पन्न होती है, अर्थात् इनमें अपने-अपने दोषों के लक्षण उत्पन्न होते है। (पित्त व कफ के आत्म लक्षणों का उत्पन्न होना)। **गरीयस्त्वेनेति-अधिकत्वेन**- कफपित्तावृत प्राणवायु एवं कफपित्तावृत उदानवायु की चिकित्सा ज्यादा कष्टदायी होती है। इसके कष्ट साध्यता के हेतु को यहाँ 'विशेषादित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

संश्रितमिति=अधीन। [प्राणवायु के ही आश्रित (अधीन) व्यक्ति के प्राण (जीवन) तथा उदान वायु के आश्रित बल रहता है। अतः ये दोनों विशेष रूप से रक्षणीय है।]

अपरिज्ञाता इति याथातथ्येनाज्ञाता–वास्तविक रूप से ज्ञान न हो पाना या व्याधि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न हो पाना (undiagnosed)। **सम्यग्ज्ञाता अप्युपेक्षणाद्**-सम्यक् ज्ञान होने पर भी व्याधि की उपेक्षा करना, अर्थात् उचित चिकित्सा न करना। आवरण का सम्यक् ज्ञान होने पर भी चिकित्सक अथवा रोगी की उपेक्षा अथवा असम्यक् चिकित्सा के कारण व्याधि यदि आतुर शरीर में एक वर्ष तक रह जाय तब यह असाध्य अथवा कृच्छ्रसाध्य हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

द्वन्द्वोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च ॥२३६॥
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्। तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥२३७॥
पञ्चात्मकस्य वातेन पित्तेन श्लेष्मणाऽपि वा। भिषग्जितमतः सम्यगुपलक्ष्य समाचरेत् ॥२३८॥
अनभिष्यन्दिभिः स्निग्धैः स्रोतसां शुद्धिकारकैः। कफपित्ताविरुद्धं यद्यच्च वातानुलोमनम् ॥२३९॥
सर्वस्थानावृतेऽप्याशु तत् कार्यं मारुते हितम्। यापना बस्तयः प्रायो मधुराः सानुवासनाः ॥२४०॥
प्रसमीक्ष्य बलाधिक्यं मृदु वा स्रंसनं हितम्। रसायनानां सर्वेषामुपयोगः प्रशस्यते ॥२४१॥
शैलस्य जतुनोऽत्यर्थं पयसा गुग्गुलोस्तथा। लेहं वा भार्गवप्रोक्तमभ्यसेत् क्षीरभुङ्नरः ॥२४२॥
अभयामलकीयोक्तमेकादशसिताशतम्। अपानेनावृते सर्वं दीपनं ग्राहि भेषजम् ॥२४३॥
वातानुलोमनं यच्च पक्वाशयविशोधनम्। इति संक्षेपतः प्रोक्तमावृतानां चिकित्सितम् ॥२४४॥
प्राणादीनां भिषक् कुर्याद्वितर्क्य स्वयमेव तत्। पित्तावृते तु पित्तघ्नैर्मारुतस्याविरोधिभिः ॥
कफावृते कफघ्नैस्तु मारुतस्यानुलोमनैः ॥२४५॥

Scanned by CamScanner

आवृतवायु के उपद्रव–आवृतवायु की उपेक्षा करने पर रोगी में अधोलिखित उपद्रव उत्पन्न होते हैं–हृद्रोग (Heart diseases), विद्रधि (Abscess), प्लीहारोग (Splenic disorders), गुल्म (वातिक गुल्म-Phantom tumour) एवं अतीसार (Diarrhoea)

कफपित्तावृत वायु की चिकित्सा–

१. चिकित्सक सर्वप्रथम पाँचों प्रकार की वायु के वायु, पित्त एवं कफ से होने वाले आवरणों का ज्ञान सम्यक् रूप से करे ।

२. आवरण का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर चिकित्सक को अनभिष्यन्दि (जो औषध, अन्न एवं विहार कफ प्रकोपक न हो), स्निग्ध एवं स्रोतों को शुद्ध करने वाले औषधियों की योजना करनी चाहिए, अर्थात् इनके प्रयोग द्वारा रोगी को शुद्ध करें ।

३. यदि वायु अपने सभी स्थानों में आवृत हो जाय, ऐसी अवस्था में वे औषध एवं अन्न-पान जो कफ-पित्त के वर्धक न हों तथा वातानुलोमक हों, आशुकारी हों (शीघ्र कार्यकारी हों); का प्रयोग चिकित्सा हेतु करना चाहिए ।

४. प्रायः मधुरगण युक्त औषधियों द्वारा साधित स्नेह एवं दुग्ध की अनुवासन बस्तियों के साथ-साथ यापना बस्तियों का प्रयोग कफ-पित्तावृत वायु में करना विशेष हितकर होता है, अथवा आतुर के बल आदि का सम्यक् विचार करते हुए मृदु विरेचन कराना चाहिए ।

अनुवासन एवं आस्थापन बस्तियों अथवा मृदु विरेचन द्वारा रोगी के शुद्ध हो जाने पर सभी प्रकार के रसायन योगों का प्रयोग कराना हितकर होता है । अर्थात् संशोधनोत्तर रसायन योगो का प्रयोग करना विशेष हितकर होता है । रसायन योगों में यथा-शिलाजीत या दूध के साथ गुग्गुलु का प्रयोग करना चाहिए । यह योग अत्यन्त उपयोगी है । [सामान्यतया सभी प्रकार के रसायन योगों का प्रयोग करना हितावह माना गया है ।]

अवलेह का प्रयोग– मात्र दुग्धाहार पर रहते हुए पुरुष को आचार्य भार्गव (च्यवन) द्वारा वर्णित च्यवनप्राश अवलेह का प्रयोग कुछ दिनों तक निरन्तर करना चाहिए अथवा अभयामलकीय रसायनपाद में वर्णित ग्यारह सौ पल मिश्री मिश्रित योग (प्रथमब्राह्मरसायन) का प्रयोग कुछ दिनों तक निरन्तर करना चाहिए, अर्थात् इन योगों का प्रयोग लगातार कुछ दिनों तक करना चाहिए ।

५. पित्त व कफ द्वारा अपानवायु के आवृत होने पर अग्निदीपक, ग्राही, वातानुलोमक पक्वाशय शोधक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए ।

इस प्रकार यहाँ संक्षेप में आवृतवायु की चिकित्सा बतायी गयी, अर्थात् आवरण चिकित्सा का यहाँ संक्षेप में विवेचन किया गया । इसी आधार पर चिकित्सक को स्वयं विचार करके आवृत प्राणादि वायु की चिकित्सा करनी चाहिए ।

पित्तावृत वायु की चिकित्सा–पित्त द्वारा आवृत वायु में पित्तनाशक एवं वातविरोधी (वात का प्रकोप न करने वाले) अन्न-पान एवं औषधियों की योजना करनी चाहिए ।

कफावृत वायु की चिकित्सा–कफ द्वारा आवृत वायु में कफनाशक व वातानुलोमक औषध, अन्न-पान का प्रयोग चिकित्सक को करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'हृद्रोगेत्यादि' के द्वारा आवरण जनित उपद्रवों का अभिधान किया गया है । **पञ्चात्मकस्येति**-प्राणादि भेद से वायु के पाँच प्रकारों यथा- प्राण, उदान, समान, व्यान एवं अपान का । आवृत हुए पञ्चविध वायु का सम्यक् ज्ञान करके ही चिकित्सा करनी चाहिए । प्रसमीक्ष्य=अच्छी प्रकार से विचार करके, यदि रोगी बलवान है तब आवृतवात में मृदु विरेचन कराना चाहिए । इस प्रकार आवृत वात रोगी में संशोधन करने के बाद रसायन योगों का प्रयोग करना चाहिए। 'प्रशस्यत' के पूर्व 'अत्यर्थं' शब्द भी जुड़ा है, ऐसा समझना चाहिये । लेहं वा "भार्गवप्रोक्तमिति'-भार्गव (च्यवन ऋषि) द्वारा वर्णित लेह, अर्थात् **च्यवनप्राश** का सेवन करना चाहिए ।

च्यवनो हि भार्गव उच्यते–भार्गव से यहाँ च्यवन ऋषि का ग्रहण होता है । (च्यवन का ही नाम भार्गव है ।) आयुर्वेद समुत्थानीय रसायनपाद (चि.अ. १/पाठ ४/४४) में कहा भी गया है, यथा-"भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः" इति ।

वातस्य अनुलोमनं चिकित्सितं कुर्यादिति नियोजनीयम्–कफावृत वात में कफनाशक एवं वातानुलोमक चिकित्सा करनी चाहिए ।

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः । तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ।।२४६।।

वातादि ज्ञान की दुर्विज्ञेयता–जिस प्रकार इस लोक में वायु, सूर्य एवं चन्द्रमा की गति का ज्ञान करना कठिन है उसी प्रकार इस शरीर में वात, पित्त एवं कफ की गतियों का ज्ञान करना कष्टकारी होता है ।

चक्रपाणि–'लोक इत्यादि' के द्वारा वातादि की दुर्विज्ञेयता को दृष्टान्त के रूप में समझाया गया है । अर्थात् जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्रमा एवं वायु की गति का ज्ञान सरलता पूर्वक नहीं हो सकता वही स्थिति शरीरस्थ दोषों की भी है ।

Scanned by CamScanner

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक् । विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु ।।२४७।।

जिस चिकित्सक को वातादि दोषों के क्षय, वृद्धि, समत्व (साम्यावस्था) तथा आवरण का ज्ञान है, वह रोगी की चिकित्सा करने में कभी भी मोहित नहीं होता ।

चक्रपाणि–'क्षयमित्यादि' के द्वारा- आवरण को भी दोषों के क्षय, वृद्धि एवं समत्व (साम्यावस्था) में ही अन्तर्भावित कर लिया गया है । फिर भी आवरण का अलग से उल्लेख उसके विशेष लक्षण एवं विशेष चिकित्सा हेतु किया गया है ।

तत्र श्लोकौ–

पञ्चात्मनः स्थानवशाच्छरीरे स्थानानि कर्माणि च देहधातोः । प्रकोपहेतुः कुपितश्च रोगान् स्थानेषु चान्येषु वृतोऽवृतश्च ।।२४८।।
प्राणेश्वरः प्राणभृतां करोति क्रिया च तेषामखिला निरुक्ता । तां देशसात्म्यर्तुबलान्यवेक्ष्य प्रयोजयेच्छास्त्रमतानुसारी ।।२४९।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने
वातव्याधिचिकित्सितं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ।।२८।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार–पाँच प्रकार की वायु, शरीर में उनके स्थान, स्थानानुसार कर्म, प्रकोप का कारण, कुपित होने पर उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ, अन्य स्थानों पर (अपने स्थान को छोड़कर अन्य स्थान पर) गये हुए आवृत अथवा अनावृत प्राण वायु, वायु की देह धारण योग्यता, प्राण वायु के कर्म एवं उसकी निरुक्ति के साथ-साथ देश, सात्म्य, ऋतु एवं बल आदि का सम्यक् विचार करते हुए इनकी चिकित्सा का प्रयोग शास्त्रानुसार करना चाहिए । इन सभी विषयों का विवेचन 'वातव्याधिचिकित्सा' नामक इस अध्याय में किया गया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान में वातव्याधिचिकित्सा नामक अट्ठाइसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि–'पञ्चात्मन इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है ।

पञ्चात्मन स्थानवशादिति च्छेदः–पञ्चात्मन से लेकर स्थानवशात् तक वाक्य पूर्ण हो जाता है, अर्थात् वायु के पाँच भेद एवं उनके स्थान का वर्णन अध्याय के प्रारम्भ में ही संक्षेप में किया गया है ।

देहधातोरिति देहधारकरूपस्य वायोरविकृतस्येत्यर्थः–पञ्चविध वायु की अविकृत अवस्था में देह धारणता, अर्थात् साम्यावस्था में रहकर ये शरीर का धारण करते हैं, इसका वर्णन होना । 'तामित्यादि' के द्वारा चिकित्सा कर्म हेतु अपेक्षित साधनों का विवेचन किया गया है । देश आदि भेद से चिकित्सा के वैशिष्ट्य का विवेचन मेरे द्वारा ही सूत्रस्थान में विशेष रूप से विवेचित किया गया है । अतः विस्तार भय से पुनः उसका विवेचन नहीं किया गया है ।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में वातव्याधिचिकित्सा नामक अट्ठाइसवें अध्याय की 'आयुर्षी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई । ।।२८।।

Scanned by CamScanner

एकोनत्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो वातशोणितचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे वातशोणित चिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।।१-२।।

चक्रपाणि–वातव्याधिप्रभेदादेव वातव्याधिचिकित्सितानन्तरं वातरक्तचिकित्सितमुच्यते-वातव्याधि का एक विशेष भेद होने से ही वातव्याधिचिकित्सा के बाद वातरक्त (वातशोणित) चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है ।

वातरक्ताभ्यां जनितो व्याधिः वातरक्तं, किंवा वातरक्ते एव अवस्थान्तरप्राप्ते वातरक्तम्–वात एवं रक्त, दोनों की दुष्टि से उत्पन्न होने वाली व्याधि को 'वातरक्त' कहते हैं अथवा दूषित वात व रक्त की ही एक विशेष अवस्था 'वातरक्त' होती है ।

[पाठभेद से 'वात एव अवस्थान्तरप्राप्तं वातरक्तम्' प्राप्त होता है, जिसका अभिप्राय - वात ही अवस्थान्तर से वातरक्त हो जाता है, से है ।]

हुताग्निहोत्रमासीनमृषिमध्ये पुनर्वसुम् । पृष्टवान् गुरुमेकाग्रमग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ।।३।।
अग्निमारुततुल्यस्य संसर्गस्यानिलासृजोः । हेतुलक्षणभैषज्यान्यथास्मै गुरुरब्रवीत् ।।४।।
लवणाम्लकटूक्षारस्निग्ध्योष्णाजीर्णभोजनैः । क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ।।५।।
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः । दध्यारनालसौवीरशुक्तक्वसुरासवैः ।।६।।
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः । प्रायशः सुकुमाराणां मिष्टान्नसुखभोजिनाम् ।।७।।
अचङ्क्रमणशीलानां कुप्यते वातशोणितम् । अभिघातादशुद्ध्या च प्रदुष्टे शोणिते नृणाम् ।।८।।
कषायकटुतिक्ताल्परूक्षाहारादभोजनात् । हयोष्ट्रयानयानाम्बुक्रीडाप्लवनलङ्घनैः ।।९।।
उष्णे चात्यध्ववैषम्याद्व्यवायाद्वेगनिग्रहात् । वायुर्विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि ।।१०।।
कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् । खुडं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः ।।११।।

वातरक्त विषयक अग्निवेश के प्रश्न–हवन क्रिया (अग्निहोत्र) आदि कार्यों के पश्चात् ऋषियों के मध्य बैठे हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय, जो अग्नि के समान देदीप्यमान एवं एकाग्रमन वाले हैं, से शिष्य अग्निवेश ने वायु व अग्नि के समान तथा वात व रक्त की दुष्टि (संसर्ग) से होने वाले वातरक्त रोग के कारण (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) को पूछा । इसके बाद गुरु पुनर्वसु आत्रेय ने कहा–

[**भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर**–अग्निवेश के वातरक्त विषयक प्रश्नों को सुनकर भगवान् आत्रेय ने कहा ।]

वातरक्त रोग के हेतु–१. लवण, अम्ल, कटु, क्षार, स्निग्ध, उष्ण एवं अपक्व भोजन करने से ।

२. क्लिन्न (सड़े-गले), शुष्क (सूखा - Dry), जल में रहने वाली मछलियों तथा आनूप क्षेत्र (ऐसा क्षेत्र जहाँ वर्षा ज्यादा होती हो) में रहने वाले पशु-पक्षियों के मांस के सेवन करने से ।

३. पिण्याक (तिल की खली), मूली, कुलथी, उड़द, निष्पाव (सेम) आदि का प्रयोग शाक के रूप में करने से ।

४. पलल (तिल का कल्क), इक्षु, दधि, काञ्जी, सौवीर, सिरका (शुक्त), तक्र, सुरा, आसव के प्रयोग करने से ।

५. विरुद्ध भोजन, अध्यशन (पूर्व भोजन के बिना जीर्ण हुए पुनः भोजन करना) ।

६. अत्यधिक क्रोध करना, दिन में सोना एवं रात्रि में देर तक जगने से ।

इन सभी हेतुओं का सेवन जब प्रायः सुकुमार व्यक्ति जो प्रायः मधुर रस युक्त आहार का सेवन करते हैं, व्यायाम नहीं करते; करने लगते हैं । अर्थात् सुकुमार एवं अव्यायामशील व्यक्ति जब उपरोक्त हेतुओं का सेवन करते हैं तब उनमें प्रायः वात एवं रक्त दोष एक साथ प्रकुपित हो जाते हैं ।

सम्प्राप्ति–

चोट लग जाने से, वमन-विरेचन द्वारा शरीर की सम्यक् शुद्धि न होने से, व्यक्ति का रक्त दूषित हो जाता है ।

तत्पश्चात् दूषित रक्त वाला व्यक्ति जब कषाय, कटु, तिक्त रस प्रधान आहार, अल्प मात्रा में आहार अथवा रूक्ष आहार का सेवन

Scanned by CamScanner

करता है, अथवा घोड़ा, ऊँट की सवारी करना, जल क्रीडा, नदी में तैरना, अत्यधिक उपवास करना, ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक पैदल चलना, विषम स्थानों (उबड़-खाबड़ स्थानों अथवा ऊँची-नीची भूमि) पर चलना, अत्यधिक मैथुन करना एवं अधारणीय वेगों को रोकना आदि हेतुओं का सेवन करता है जिससे उसके शरीर में वायु की वृद्धि हो जाती है । ऐसी अवस्था में उस बढ़ी हुई वायु का मार्ग प्रकुपित रक्त के द्वारा अवरुद्ध कर दिया जाता है, अर्थात् रक्त द्वारा वायु आवृत हो जाती है । [यहाँ आवरक-रक्त एवं आवृत वायु होती है ।] इस प्रकार आवृत वायु शरीरस्थ सम्पूर्ण रक्त को दूषित कर देती है । व्याधि की इस अवस्था को वातरक्त कहते हैं । इसी को अन्य नामों (पर्यायों) खुडवात, वातबलास एवं आढ्यवात के द्वारा जाना जाता है ।

चक्रपाणि–'अग्निमारुततुल्यस्येति' इसके द्वारा वातरक्त की दुर्निवारत्व एवं शीघ्रकारित्व गुण को बताया गया है । [दुर्निवारत्व=कष्टसाध्य (आसानी से ठीक न होना), शीघ्रकारी=सम्पूर्ण शरीर में इसका प्रसार जल्दी हो जाना ।]

'लवणेत्यादि' के द्वारा वातरक्त के हेतु (Etiology) को बताया गया है ।

प्रायशः सुकुमाराणामिति–सुकुमार शरीर में लवणादि हेतु के सेवन करने से वात एवं रक्त शीघ्रता पूर्वक दूषित होकर वातरक्त को उत्पन्न करता है । यह व्याधि प्रायः सुकुमार लोगों को होती है । [सुकुमार से यहाँ आराम तलब जीवन व्यतीत करने वाले लोगों का ग्रहण किया गया है, ऐसे लोग जो प्रोटीन, वसा आदि प्रधान तत्वों का सेवन करते हैं तथा व्यायाम आदि नहीं करते]

मिष्टमन्नं सुखेन भुञ्जते तेषां मिष्टान्नसुखभोजिनाम्–जो लोग मधुर रस प्रधान अन्न का सुखपूर्वक सेवन करते हैं उन्हें 'मिष्टान्न सुखभोजिनाम्' कहा गया है ।

अत्र लवणादि यद्यपि वातशोणितहेतुतयोक्तं तथाऽपि शोणितदुष्टिकारणमेतत् प्राधान्याज्ज्ञेयं–यहाँ लवणादि को यद्यपि वातरक्त के कारण (Etiology) के रूप में बताया गया है फिर भी लवणादि हेतुओं द्वारा मुख्य रूप से रक्त की ही दुष्टि होती है, ऐसा जानना चाहिए । क्योंकि वातदुष्टि के वारणों को यहाँ 'कषायेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । अर्थात् श्लोक नं. ५ से लेकर श्लोक नं. ८ तक के हेतु रक्त दुष्टि के हैं । इस प्रकार लवणादि एवं कषायादि हेतु मिलकर वातरक्त को उत्पन्न करते हैं, जिसको यहाँ 'कुप्यते वातशोणितम्' के द्वारा कहा गया है । इस प्रकार लवणादि को वातरक्त का कारण कहा गया । ये लवणादि हेतु **वातरक्त जनक** रक्त को दूषित करते हैं, ऐसा समझना चाहिए । [रक्त के दूषित होने से और भी रक्तज व्याधियाँ होती हैं, लेकिन यहाँ वर्णित लवणादि हेतु रक्त के उस भाग को दूषित करते हैं जो वातरक्त का कारण है, अर्थात् ये हेतु वातरक्त के विशिष्ट हेतु हैं ।]

अशुद्ध्येति शुद्धिकालेऽसंशोधनात्–संशोधन काल में संशोधन न करने से, अर्थात् उचित काल में संशोधन न करने से । कुछ आचार्य श्लोक नं. ८ में वर्णित 'अभिघातादशुद्ध्या च' के स्थान पर 'अशुद्ध्या वातवैषम्यात्' का पाठ करते हैं । **अशुद्ध्या चेति चकारेण लवणादि प्रजागरैरित्यन्तं शोणितदुष्टिकारणं समुच्चिनोति**-लवणादि से लेकर प्रजागरैः तक वर्णित रक्तदुष्टि के कारणों के साथ ही अभिघात व असम्यक् शोधन का भी ग्रहण करना चाहिए । अर्थात् ये दो हेतु भी रक्त प्रदोषक ही हैं, ऐसा समझें । वातरक्त को अलग करने पर वात व रक्त पाठ प्राप्त होता है । इस पाठ के द्वारा वात व रक्त अपने स्वतन्त्र कारणों द्वारा प्रकुपित होकर वातरक्त को उत्पन्न करता है, यह अर्थ प्राप्त होता है ।

हयोष्ट्ररूपेण यानेन यानं हयोष्ट्रयानयानम्–हय (घोड़ा) व ऊँट की सवारी करना अथवा घोड़ागाड़ी या ऊँटगाड़ी पर बैठना ।

उष्णे चात्यध्ववैषम्यादिति–ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक पैदल चलने के कारण वात की वैषम्यता होने से । **वायुरित्यादि** के द्वारा वातरक्त की संप्राप्ति को बतलाया गया है । **पथीति**-वातवाही स्रोतसों में । **क्रुद्ध इति**– अपने कारणों द्वारा प्रकुपित होते हुए भी वायु रक्त के द्वारा आवृत होने पर विशेष रूप से प्रकुपित हो जाती हैं ।

व्यवहारार्थ अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध नाम भेदों को यहाँ 'खुडमित्यादि' के द्वारा बताया गया है । अर्थात् खुडमित्यादि से वातरक्त के पर्यायों का अभिधान किया गया है ।

खुडदेशप्राप्त्या खुडः, खुडशब्देन सन्धिरुच्यते–खुड देश (स्थान) में होने के कारण इसे खुड कहा जाता है । खुड शब्द सन्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । चूँकि इस व्याधि का प्रारम्भ शरीर की छोटी-छोटी सन्धियों से होता है, इसलिये इसे खुडवात कहते हैं ।

वातस्यावरणेन बलमस्त्यस्मिञ् शोणिते इति वातबलाशः–इस व्याधि में वायु का बल रक्त द्वारा आवृत होने के कारण बढ़ जाता है, इस कारण इसे 'वातबलास' कहा जाता है ।

आढ्यानां प्रायो भवतीति आढ्यरोगः–प्रायः यह व्याधि आढ्य लोगों (धनी पुरुषों) को होती है । इस कारण इसे **आढ्यरोग** कहा जाता है । ॥३-११॥

Scanned by CamScanner

तस्य स्थानं करौ पादावङ्गुल्यः सर्वसन्धयः । कृत्वाऽऽदौ हस्तपादे तु मूलं देहे विधावति ।।१२।।
सौक्ष्म्यात् सर्वसरत्वाच्च पवनस्यासृजस्तथा । तद्वत्वात् सरत्वाच्च देहं गच्छन् सिरायनैः ।।१३।।
पर्वस्वभिहतं क्षुब्धं वक्रत्वादवतिष्ठते । स्थितं पित्तादिसंसृष्टं तास्ताः सृजति वेदनाः ।।१४।।
करोति दुःखं तेष्वेव तस्मात् प्रायेण सन्धिषु । भवन्ति वेदनास्तास्ता अत्यर्थं दुःसहा नृणाम् ।।१५।।

वातरक्त के विशेष स्थान–हाथ व पैर की अंगुलियाँ एवं शरीर की सभी सन्धियाँ, वातरक्त के विशेष स्थान हैं। यह व्याधि सर्वप्रथम हाथ व पैर की छोटी सन्धियों में अपना स्थान बनाती है, पश्चात् सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है ।

वातरक्त की विशेष संप्राप्ति (Specific Pathogenesis of Vāta rakta)–वायु अत्यन्त सूक्ष्म एवं सम्पूर्ण स्रोतसों में प्रसरणशील गुण युक्त होता है तथा रक्त द्रवत्व एवं सरत्व गुण युक्त है, इस कारण ये दोनों (वात व रक्त) सिरावाही स्रोतसों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में गमन करते रहते हैं । सन्धि स्थानों पर रक्तवाहीस्रोतस् वक्र होने से उनमें बहने वाली वायु व रक्त की गति अवरुद्ध होती है, फलतः दोष वहीं रुक जाते है । इस प्रकार संधियों में अवरुद्ध वात-रक्त पित्तादि दोषों से मिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाओं को उत्पन्न करता है । प्रायः सन्धियों में अवरुद्ध वात व रक्त दोष पुरुषों में अत्यन्त कष्टकारी वेदना को उत्पन्न करते हैं । [वातरक्त प्रायः सन्धियों में होता है तथा इसकी पीड़ा बहुत ही कष्ट देने वाली होती है।]

चक्रपाणि–'तस्य स्थानमित्यादि' के द्वारा वातरक्त के विशेष स्थान का उल्लेख किया गया है ।

करपादग्रहणेनैव अङ्गुलीनां ग्रहणे प्राप्ते अङ्गुलीनां बहुपर्वतया विशेषेणाधिष्ठानत्वोपदर्शनार्थं पुनरभिधानम्–हाथ व पैर के ग्रहण से ही अङ्गुलियों का ग्रहण हो जाता है फिर भी अंगुलियों के पर्व (छोटी सन्धियाँ) इसके विशेष अधिष्ठान हैं । इसे दर्शाने हेतु पुनः अङ्गुली शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् हाथ व पैर के अंगुलियों की सन्धियाँ ही वातरक्त का विशेष अधिष्ठान हैं । मूलमास्थायेति=जड़ में स्थित होकर, वातरक्त में दोष हाथ व पैर के मूल में स्थित होकर, बाद में सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित हो जाते हैं । 'सौक्ष्म्यादित्यादि' के द्वारा दोषों का शरीर में गमन (प्रसरण) के हेतु को स्पष्ट किया गया है ।

सूक्ष्ममार्गानुसारित्वात्=शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतसों में फैल जाने से । तद्द्रवत्वादित्यादि- के द्वारा शरीर में प्रसरणशील वातरक्त का पर्वसन्धियों में अवस्थान (अवरुद्धता=रुकावट) के हेतु को बताया गया है । अर्थात् वातरक्त व्याधि में दोषों (वात व रक्त) के पर्वसन्धियों में अवरुद्धता के हेतु को स्पष्ट किया गया है ।

सिरायनैरिति सिरारूपैर्मार्गैः–सिरायन, सिरा रूप मार्गों के द्वारा । वक्रत्वादिति=पर्वों (Joints) के वक्र (टेढ़े-मेढ़े) होने से। **पित्तादिसंसृष्टमिति पित्तेन कफेन च हेत्वन्तरागतेन वायुना च युक्तम्**– वायु के साथ पित्त व कफ रूप अन्य दोषों का मिलना ।

तस्मादिति=सन्धियों में अवस्थान करने से, इस व्याधि में दोषों का अवस्थान संधियों में होता है । परिणाम स्वरूप सन्धियों में भयङ्कर पीड़ा होती है । ।।१२-१५।।

विशेष (Comments)–अष्टाङ्ग हृदयकार ने वातरक्त के विशेष स्थान के बारे में अपना विचार इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा- "पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि । आखोरिव विषं क्रुद्धं कृत्स्नं देहं विधावति" वातरक्त का अवस्थान सर्वप्रथम व्यक्ति के दोनों पैर का मूल होता है, अथवा कभी-कभी दोनों हाथों के मूल (अंगुलियाँ) से व्याधि प्रारम्भ होती है, पश्चात् मूषक विष की भाँति धीरे-धीरे दोष (व्याधि) सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं । वातरक्त में प्रकुपित दोषों की तुलना **मूषक विष** (चूहे के विष) से की गयी है । मूषकविष की भाँति यह व्याधि भी शरीर में धीरे-धीरे प्रसरित होती है ।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा काय्यर्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् । सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ।।१६।।
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु । निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ।।१७।।
कण्डूः संधिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् । वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ।।१८।।

वातरक्त के पूर्वरूप (Premonitory Signs and Symptoms of Vāta rakta)–वातरक्त में अधोलिखित लक्षण पूर्वरूप के रूप में मिलते हैं–

१. शरीर से अत्यधिक पसीने का निकलना, अथवा न निकलना ।
२. शरीर का काला पड़ जाना (Black colouration of the body) ।
३. स्पर्शज्ञान का अभाव होना ।
४. चोट लगने पर शरीर में अथवा क्षतस्थान में अत्यधिक वेदना का होना ।

Scanned by CamScanner

५. सन्धियों का शिथिल होना (Looseness of the joints) ।

६. आलस्य (काम करने की इच्छा का न होना), सदन ।

७. शरीर में पिडिकाओं का उत्पन्न होना ।

८. जानु, जङ्घा (Calf region), ऊरु (thighs), कटि (Lumber region-कमर), अंश (Shoulders), हाथ व पैर की सन्धियों में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना, स्फुरण, भेद (फाड़ने जैसी पीड़ा का होना), भारीपन (सन्धियों में भारीपन का होना), शून्यता (Numbness) एवं खुजली (Itching) का होना ।

९. संधियों में बार-बार पीड़ा का होना एवं अचानक बन्द हो जाना ।

१०. वैवर्ण्यता (Discolouration of the skin) एवं शरीर पर गोल-गोल चकत्ते का निकलना ।

चक्रपाणि–'स्वेदोऽत्यर्थमित्यादि' के द्वारा वातरक्त के पूर्वरूप का अभिधान किया गया है । 'स्वेदोऽत्यर्थं नवेति च' [अत्यधिक पसीने का निकलना अथवा पसीने का न निकलना] यह लक्षण यद्यपि कुष्ठ के पूर्वरूप में भी बताया गया है, फिर भी अन्य दूसरे पूर्वरूप जो कुष्ठ में नहीं मिलते हैं उनके आधार पर इसका निश्चय करना चाहिए । ॥१६-१८॥

जल्पकल्पतरु टीका–'स्वेद इत्यादि' के द्वारा वातरक्त के पूर्वरूप को स्पष्ट किया गया है । **स्वेदोऽत्यर्थं न वा स्वेदः**-पसीने का अत्यधिक निकलना अथवा न निकलना । **काष्ण्यं शरीरस्य**- शरीर कृष्ण वर्ण का होना । यदि शरीर में कहीं भी क्षत हो जाता है तब क्षत स्थान पर तीव्र पीड़ा होती है । **सन्धिषु रुग् भूत्वा भूत्वा नश्यति**- सन्धियों में वेदना होकर, कुछ दिन के बाद शान्त हो जाती है तथा कुछ दिन के बाद पुनः शुरू होती है व शान्त हो जाती है । यही स्थिति बार-बार होती रहती है ।

विशेष-स्वेदोऽत्यर्थं नवेति घर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत्-पसीने का अत्यधिक निकलना अथवा बिल्कुल न निकलना, व्याधि के प्रभाव के कारण है । **क्षतेऽतिरुगिति**-अन्य कारणों द्वारा प्रभावित भाग (संधियों) पर चोट लग जाय अथवा कोई आघात हो जाय तब रोगी को भयंकर पीड़ा होती है । आधुनिक विज्ञान में इसे Gout कहा जा सकता है, क्योंकि इसके लक्षण वातरक्त से मिलते हैं । प्रयोगशालीय परीक्षण में इस व्याधि में रोगी के रक्त में Uric acid की मात्रा सामान्य मात्रा से काफी बढ़ी हुई पायी जाती है ।

Gout– A disease that causes painful swelling in the joints, specially of the toes, knees and fingers.- Oxford Advanced learner's Dictionary.

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत् प्रचक्षते । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ।।१९।।
कण्डूदाहरुगायामतोदस्फुरणकुञ्चनैः । अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथेष्यते ।।२०।।
गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान् । श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ।।२१।।
रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु । छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ।।२२।।
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन् । सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ।।२३।।

वातरक्त के भेद–उत्तान (Superficial) एवं गम्भीर (Deep seated) भेद से वातरक्त दो प्रकार का होता है । उत्तान में दोष त्वचा व मांस के आश्रित रहते हैं जबकि गम्भीर में रक्त, मांस, मेद आदि गम्भीर धातुओं के आश्रित रहते हैं ।

१. उत्तान (Superficial) वातरक्त के लक्षण–उत्तान (बाह्य) वातरक्त में निम्नलिखित लक्षण आतुर शरीर में पाये जाते हैं–

कण्डू (Itching-शरीर में खुजली का होना), दाह (सम्पूर्ण शरीर में जलन का होना-Burning sensation), रुक् (वेदना का होना), आयाम (शरीर में खिंचावट का होना), तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना), स्फुरण (Throbbing sensation), कुञ्चन (अंगों में संकोच या टेढ़ापन का होना), त्वचा का श्याव, रक्त अथवा ताम्र वर्ण का होना ।

२. गम्भीर (Deep seated) वातरक्त के लक्षण–

→ स्तब्धता (Stiffness of the body or joints-शरीर में जकड़ाहट का होना) के साथ शोथ का उत्पन्न होना, शोथ के भीतरी भाग में अत्यन्त पीड़ा का होना ।

→ त्वचा का वर्ण श्याव अथवा ताम्र होना ।

→ संधियों में दाह, तोद, स्फुरण एवं पाक का होना

ये सभी लक्षण गम्भीर वातरक्त में पाये जाते हैं ।

Scanned by CamScanner

३. उभयाश्रित वातरक्त के लक्षण–यदि दोष उत्तान एवं गम्भीर दोनों धातुओं के आश्रित होते है तब उभयाश्रित वातरक्त को उत्पन्न करते हैं । इसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ अपने कारण द्वारा प्रकुपित वायु रुजा व दाह के साथ अस्थि, संधि एवं मज्जा में जब प्रवेश करती है तब अस्थि आदि में काटने जैसी पीड़ा के साथ-साथ हड्डियों को टेढ़ा कर देती है । अर्थात् प्रकुपित वायु संधि, अस्थि एवं मज्जा में वेग के साथ प्रवेश करती है तब रोगी के शरीर में भयंकर दाह व पीड़ा होती है । अस्थि-संधियाँ टेढ़ी हो जाती हैं । यही वायु जब सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है तब व्यक्ति खञ्ज एवं पंगु हो जाता है ।

इसमें उत्तान एवं गम्भीर दोनों के ही लक्षण मिलते हैं । इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को उभयाश्रित वातरक्त का निश्चय करना चाहिए ।

चक्रपाणि–'उत्तानमित्यादि' के द्वारा वातरक्त के अवगाढ व अनवगाढ़ भेद का विवेचन चिकित्सा के सौकर्य (सुविधा) के लिए किया गया है । **अन्तराश्रयमिति**-त्वचा व मांस धातु के अतिरिक्त रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा आदि धातुओं के आश्रित होना, अर्थात् गम्भीर वातरक्त में दोष रक्त, मेद, आदि धातुओं के आश्रित हो जाते हैं । **सर्वैर्लिङ्गैरिति**-उत्तान व गम्भीर वातरक्त में वर्णित लक्षणों का मिश्रित रूप से मिलना, अर्थात् उभयाश्रित वातरक्त में इन दोनों के लक्षण मिश्रित रूप से पाये जाते हैं । वातरक्त के इस तृतीय भेद को बाह्य-आभ्यन्तर प्रकार में स्वीकार करते हुए रोगसंग्रह अध्याय में वातरक्त को दो प्रकार का ही माना गया है । अर्थात् सूत्रस्थान १९ वें अध्याय में वातरक्त के उत्तान व गम्भीर दो ही भेद वर्णित हैं । इन दोनों में ही उभयाश्रित को स्वीकार कर लिया गया है ।

"द्विविधं वातशोणितमुत्तानमवगाढं चेत्येके भाषन्ते; तत्तु न सम्यक्, कस्मात् ? कुष्ठवदुत्तानं भूत्वा कालान्तरेणावगाढी भवति (सु.चि.अ. ५) इति [वातरक्त दो प्रकार का होता है- १. उत्तान, २. अवगाढ (गम्भीर), ऐसा कुछ लोग कहते हें । यह उचित नहीं है, किस कारण से ऐसा कहना ठीक नहीं है ? इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है- कुष्ठ की भाँति वातरक्त भी सर्वप्रथम उत्तान धातुओं (बाह्य धातुओं - त्वचा एवं मांस) के आश्रित होकर प्रारम्भ होता है, कालान्तर में गम्भीर (अवगाढ़) धातुओं के आश्रित हो जाता है ।] सुश्रुत के इस वचन से इसके दो भेदों का खण्डन हो जाता है । इन दोनों श्रेष्ठ आचार्यों (सुश्रुत व अग्निवेश) में से एक को अप्रमाणिक कहना संगत नहीं है । अतः इन दोनों में एकता स्थापित करते हुए इसकी व्याख्या इस प्रकार करेंगे-सुश्रुत के मत के अनुसार उत्तान वातरक्त बाद में कुष्ठवत् गम्भीर धातुओं के आश्रित होकर गम्भीर वातरक्त में परिवर्तित हो जाता है । (यह एक सामान्य कथन है ।) सभी प्रकार के वातरक्त उत्तान से ही प्रारम्भ होकर गम्भीर धातुओं में परिवर्तित होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार जो लोग यह कहते हैं कि वातरक्त के दोष उत्तान धातुओं में ही स्थित रहते हैं उनके लिए सुश्रुत का वचन विरुद्ध है, [क्योंकि इसके अनुसार दोष सर्वप्रथम उत्तान धातुओं में पहुँचता हैं पश्चात् (कालान्तर में) गम्भीर धातुओं में आश्रित हो जाता है] ऐसा नहीं है । चरक के अनुसार भी वातरक्त में दोष उत्तान धातुओं के ही आश्रित रहता है, ऐसा नहीं कहा गया है । किन्तु कुछ वातरक्त के प्रकार उत्तान धातुओं के आश्रित होकर उत्पन्न होते हैं तथा कुछ गम्भीर धातुओं के आश्रित होते हैं । इस प्रकार चरक व सुश्रुत के वचनों में कोई विरुद्धता नहीं है । ॥१९-२३॥

तत्र वातेऽधिके वा स्याद्रक्ते पित्ते कफेऽपि वा । संसृष्टेषु समस्तेषु यच्च तच्छृणु लक्षणम् ॥२४॥
विशेषतः सिरायामशूलस्फुरणतोदनम् । शोथस्य कार्ष्ण्यं रौक्ष्यं च श्यावतावृद्धिहानयः ॥२५॥
थमन्यङ्गुलिसन्धीनां सङ्कोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् । कुञ्चनस्तम्भने शीतप्रद्वेषश्चानिलेऽधिके ॥२६॥
श्वयथुर्भृशरुक् तोदस्तामग्रश्चिमिचिमायते । स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदान्वितोऽसृजि ॥२७॥
विदाहो वेदना मूर्च्छा स्वेदस्तृष्णा मदो भ्रमः । रागः पाकश्च भेदश्च शोषश्चोक्तानि पैत्तिके ॥२८॥
स्तैमित्यं गौरवं स्नेहः सुप्तिर्मन्दा च रुक् कफे । हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्वन्द्वत्रिदोषजम् ॥२९॥

दोषानुसार वातरक्त के भेद– हे अग्निवेश ! वात की अधिकता से, रक्त की अधिकता से, पित्त की अधिकता से, कफ की अधिकता से, संसृष्ट (दो या तीन) दोषों से तथा समस्त दोषों (वात, पित्त, कफ व रक्त) के मिलने से जो वातरक्त होते हैं, उनके लक्षणों को मुझसे सुनो–

१. वातज वातरक्त के लक्षण (Signs and Symptoms of Vātaja Vātarakta)–वातज वातरक्त में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

→ सिराओं में तनाव (सिराओं में खिचावट का होना), शूल, स्फुरण (Throbbing pain), तोद (सूई चुभाने जैसी पीड़ा का होना ।

→ संधियों में शोथ का होना, शोथ श्याव वर्ण का होता है तथा शरीर में रूक्षता की वृद्धि होती है । **शोथ** एवं **श्याव वर्णता** में कभी वृद्धि होती है तथा कभी कमी हो जाती है, अर्थात् ये घटते बढ़ते हैं ।

→ धमनियों, अंगुलियों एवं सन्धियों में संकोच का होना ।

Scanned by CamScanner

→ अङ्गों (हाथ व पैरों) में जकड़ाहट (Stiffness) का होना ।

→ अङ्गों में तीव्र पीड़ा का होना (Excessive pain in the body) ।

→ अङ्गों में टेढ़ापन का होना, अर्थात् हाथ व पैरों का टेढ़ा होना, जकड़ाहट से युक्त होना तथा शीतल आहार-विहार के प्रति अरुचि का होना ।

ये सभी लक्षण वातज वातरक्त में पाये जाते हैं ।

२. रक्तज वातरक्त के लक्षण (Signs and Symptoms of Raktaja Vāta rakta)–

→ खुजली एवं क्लेद से युक्त शोथ का होना, शोथ में भयङ्कर वेदना का होना (शोथ युक्त स्थान पर भयङ्कर रूप से पीड़ा का होना ।

→ तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना) ।

→ त्वचा का वर्ण ताम्र (लालिमा युक्त) होना, अर्थात् जिस-जिस स्थान पर शोथ (Oedema) होता है, उस स्थान की त्वचा रक्त वर्ण की हो जाती है ।

→ त्वचा में चुनचुनाहट का होना ।

→ स्निग्ध एवं रूक्ष चिकित्सा द्वारा व्याधि का प्रशमन न होना । अर्थात् स्निग्ध एवं रूक्ष अन्न-पान के सेवन से व्याधि की वृद्धि का होना ।

३. पित्तज वातरक्त के लक्षण (Signs and Symptoms of Pittaja Vāta rakta)–पित्त के अत्यधिक वृद्ध होने पर वातरक्त में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं–

१. विदाह (Burning sensation), वेदना (Pain), मूर्च्छा (Fainting), अत्यधिक पसीने का निकलना (Sweating), प्यास का अधिक लगना (Morbid thirst), मद (Intoxication), सिर का घूमना (Giddiness) ।

२. प्रभावित भाग में लालिमा (Redness), पाक (Suppuration), भेद (फाड़ने जैसी पीड़ा का होना) ।

३. हाथ व पैरों का सूखना ।

४. कफज वातरक्त के लक्षण (Signs and Symptoms of Kaphaja Vāta rakta)–

→ स्तैमित्य का होना (रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शरीर गीले कपड़े से ढक दिया गया है ।)

→ गौरव (शरीर में भारीपन का होना-Heaviness of the body), स्निग्धता (शरीर का स्निग्ध होना) ।

→ प्रभावित भाग का शून्य होना (Numbness)

→ मन्द-मन्द पीड़ा का होना ।

५. द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज वातरक्त (Signs and Symptoms of Dwandwaja and Tridosaja Vāta rakta)–द्वन्द्वज में दो दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं तथा त्रिदोषज वातरक्त में तीनों दोषों के लक्षण मिले हुए पाये जाते हैं । अर्थात् द्वन्द्वज में दो दोषो के हेतु एवं लक्षण तथा त्रिदोषज में तीनों दोषों के हेतु एवं लक्षण मिलते हैं ।

चक्रपाणि–यहाँ 'तत्र वातेऽधिके' के द्वारा ही रक्ते पित्ते कफे वा' प्रत्येक के साथ 'अधिके' शब्द जोड़ना चाहिए । इससे वातेऽधिके- वात की अधिकता होने पर, रक्ते अधिके- रक्त की अधिकता होने पर अथवा रक्त के अत्यधिक बढ़ने पर, पित्तेऽधिके- पित्त की अधिकता होने पर, कफेऽधिके से कफ की अधिकता होने पर, अर्थ ग्रहण करना चाहिए । इसी से वातज, रक्तज, पित्तज, कफज वातरक्त का भाव प्राप्त होता है। **संसृष्टेष्विति-** दो या तीन दोषों के मिलने पर । **समस्तेष्विति-** चारों दोषों की वृद्धि होने पर, यथा- वात, पित्त, कफ व रक्त; इन चारों के अत्यधिक बढ़ जाने पर । **'सिरायामेति'** के द्वारा वातादि दोषों की वृद्धि से होने वाले चारो प्रकार के वातरक्त (वातज, रक्तज, पित्तज एवं कफज) के लक्षणों को बताया गया है । आयाम= विस्तार (Stretching-सिराओं में खिंचाव का होना) । श्यावता श्यावर्णत्वम्= त्वचा का श्याव वर्ण का होना (dark brown coloured) । 'श्वयथु' इत्यादि से लेकर असृजि तक रक्तज वातरक्त के लक्षणों को बताया गया है ।

द्वन्द्वत्रिदोषजमिति–इससे यहाँ एक दोष से अधिक रक्त के भी अनुबन्ध का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् दोषों के साथ रक्त के भी अनुबन्ध का ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार यहाँ वातादि चतुष्टय के अधिक रूप में मिलने से भी वातरक्त होता है; अर्थात् वात, पित्त, कफ, रक्त में दो के मिलने से (अत्यधिक बढ़ने से) द्वन्द्वज तथा तीन के लक्षण अधिक मिलने से त्रिदोषज तथा सभी के लक्षण वृद्ध होने से संसृष्ट (सन्निपातज) वातरक्त होता है, ऐसा समझना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

[इस प्रकार एक, दो, तीन अथवा सभी के भेद से वातरक्त दो प्रकार का होते हुए भी पूर्व टीकाकारों द्वारा उसके ४५ भेद किये गये हैं, अथवा बताये गये हैं।] आचार्य **खरनाद** ने अन्य प्रकरणों में इसके ३६ भेदों का उल्लेख किया है। कहा भी गया है, यथा- "वातोत्तरं प्रवृद्धासृक् पञ्चत्रिंशद्विधं मतम्। पित्तात्त्रिंशद्विधं योगात् कफाद्दशविधं मतम्" इति [वातज - ३५, पित्तज - ३०, तथा कफज के १० भेद होते हैं।] इन भेदों की कोई उपयोगिता न होने से, यहाँ उनका विवेचन नहीं किया गया है। ॥२४-२९॥

विशेष (Comments)–वात, पित्त, कफ व रक्त में दो-दो का आपस में मिलना द्वन्द्वज कहलाता है। सभी के लक्षणों का प्राप्त होना सभी दोषों के मिलने पर होता है। यद्यपि सभी प्रकार के वातरक्त द्वन्द्वज अथवा सभी लक्षणों वाले होते हैं।

एकदोषानुगं साध्यं नवं, याप्यं द्विदोषजम्। त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥३०॥
अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः। मूर्च्छायमदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ॥३१॥
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः। अङ्गुलीवक्रता स्फोटा दाहमर्मग्रहार्बुदाः ॥३२॥
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत्। संप्रस्रावि विवर्णं च स्तब्धमर्बुदकृच्च यत् ॥३३॥
वर्जयेच्चैव संकोचकरमिन्द्रियतापनम्। अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥३४॥

वातरक्त की साध्यता-असाध्यता–

१. जो वातरक्त एक दोष से उत्पन्न हो, अर्थात् जिसमें एक दोष के बढ़े हुए लक्षण मिलें तथा व्याधि नवीन हो अर्थात् पुराना न हो, वह वातरक्त साध्य होता है।

२. दो दोषों से उत्पन्न होने वाला वातरक्त याप्य होता है।

३. तीनों दोषों से उत्पन्न होने वाला वातरक्त असाध्य होता है तथा उपद्रव से युक्त वातरक्त भी असाध्य होता है।

वातरक्त के उपद्रव (Complications of Vātarakta)

- निद्रा का न आना (Insomnia)
- अरोचक (Anorexia)
- श्वास (Dyspnea)
- मांसकोथ (मांस का सड़ना-Sloughing of muscles)
- शिरोग्रह (सिर में जकड़ाहट का होना-Stiffness of the head)
- मूर्च्छा (Fainting)
- मद (Intoxication)
- वेदना (Pain-रुक्)
- तृष्णा (प्यास का अधिक लगना-Thirst),
- ज्वर (Fever)
- अंगुलियों का टेढ़ा हो जाना (Curvature of fingers and toes)
- स्फोट (Pustular eruptions),
- मोह (unconsciousness)
- प्रवेपक (शरीर में कंप का होना)
- हिक्का (Hiccup)
- पंगुता
- विसर्प (erysipelas)
- पाक (Suppuration) का होना।
- तोद (शरीर में सुई चुभोने जैसी वेदना)
- भ्रम (सिर का घुमना-Giddiness)
- क्लम (बिना परिश्रम के थकावट का होना।)
- दाह (Burning sensation)
- मर्मग्रह (मर्म स्थानों में जकड़ाहट का होना।
- अर्बुद का होना (Tumour)

इन उपद्रवों से युक्त वातरक्त असाध्य होता है। यदि वातरक्त के साथ **केवल मोह** (unconsciousness) भी उपद्रव के रूप में विद्यमान हो तब भी **वातरक्त असाध्य** होता है, अर्थात् मोहयुक्त वातरक्त भी असाध्य होता है, ऐसा समझना चाहिए।

→ जिस वातरक्त में व्रण से स्राव हो रहा हो, त्वचा का वर्ण बदल गया हो, शरीर जकड़ गया हो, संधियों में अर्बुद (Tumour) उत्पन्न हो, अङ्ग टेढ़े हो गये हों तथा रोगी ज्वर से पीड़ित हो, ऐसे रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। अर्थात् इसे **असाध्य** समझना चाहिए।

→ जिस वातरक्त के रोगी में सभी उपद्रव न मिलें, अर्थात् उपद्रव के कुछ ही लक्षण मिलें, वह रोगी याप्य होता है।

→ उपद्रव से रहित रोगी को साध्य समझना चाहिए, अथवा अत्यल्प उपद्रवों का मिलना साध्यता का द्योतक है।

चक्रपाणि-'एकदोषानुगमित्यादि' के द्वारा वातरक्त की साध्यता-असाध्यता को बताया गया है। **यस्य च स्युरुपद्रवा इति**- वातरक्त के साध्य होते हुए भी यदि उसमें निर्दिष्ट उपद्रव दिखायी देते हैं तब वह असाध्य हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए। त्रिदोषज वातरक्त असाध्य होते हुए भी-'खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे' के द्वारा जिसकी चिकित्सा का निर्देश आगे किया जायेगा, अर्थात् त्रिदोषज वातरक्त

Scanned by CamScanner

असाध्य होते हुए भी उसकी चिकित्सा का निर्देश इस अध्याय में आगे किया गया है । ऐसा नहीं है, उससे असम्पूर्ण लक्षण वाले नवीन त्रिदोषज वातरक्त का ग्रहण करना चाहिए । मूर्च्छाय:=मूर्च्छा । पाङ्गुल्यं=पङ्गुता (पैरों से लंगड़ाना) ।

मोहेनैकेनेति इतरोपद्रवाणां मेलकादसाध्यत्वम्–केवल मोहयुक्त वातरक्त के होने पर, अथवा वातरक्त में अनेक उपद्रवों की विद्यमानता से वातरक्त असाध्य हो जाता है । [यदि साध्य वातरक्त में मोहरूपी उपद्रव विद्यमान हो अथवा इसे छोड़कर शेष अन्य बहुत से उपद्रव मिलते हों तब भी वह असाध्य हो जाता है ।]

मोहस्तु एक एव असाध्यताकर इत्यर्थः–एक मात्र **मोह** ही असाध्यता का उत्पादक है ।

जो लोग 'मोहेनैकेन' के स्थान पर 'मेहेनैकेन' पाठ करते हैं । उनके अनुसार प्रमेह एवं वातरक्त की चिकित्सा विरुद्ध होने से, असाध्यता उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं । **वातरक्त** में प्राय: मधुर व शीत उपक्रम (चिकित्सा) की जाती है, जबकि इसके विरुद्ध चिकित्सा प्रमेह की होती है, इसलिए इसमें उपक्रम विरुद्धता आती है ।

विवर्णमिति=विपरीत वर्ण का होना

विवर्णत्वमात्रं तु सर्ववातानुगतोपद्रवः–विवर्णता तो वातरक्त के सभी रोगियों में सामान्यतया पायी जाती है । अत: यहाँ विवर्ण से विपरीत वर्ण का ग्रहण है न कि वर्ण परिवर्तन (Discolouration) का । ॥३०-३४॥

रक्तमार्गं निहन्त्याशु शाखासन्धिषु मारुतः । निविश्यान्योन्यमावार्य वेदनाभिरिदमूनू ।।३५।।
तत्र मुञ्चेदसृक् शृङ्गजलौकःसूच्यलाबुभिः । प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलम् ।।३६।।
रुग्दाहशूलतोदार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा । शृङ्गैस्तुष्णैहरित् सुप्तिकण्डूचिमिचिमायनात् ।।३७।।
देशादेशं व्रजत् स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा । अङ्गग्लानौ न तु स्राव्यं रूक्षे वातोत्तरे च यत् ।।३८।।
गम्भीरं श्वयथुं स्तम्भं कम्पं स्नायुसिरामयान् । ग्लानिं चापि ससङ्कोचां कुर्याद्वायुरसृक्क्षयात् ।।३९।।
खाड्यादीन् वातरोगांश्च मृत्युं चात्यवसेचनात् । कुर्यात्तस्मात् प्रमाणेन स्निग्धाद्रक्तं विनिहरेत् ।।४०।।

वातरक्त की असाध्यता में हेतु–शाखा एवं सन्धियों में प्रकुपित वायु प्रवेश करके शीघ्रतापूर्वक रक्त के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। इस प्रकार बढ़ा हुआ रक्त भी वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है । फलत: दोनों के ही मार्ग एक-दूसरे द्वारा अवरुद्ध हो जाते हैं, इसके कारण रोगी में वेदना की उत्पत्ति होती है । जिससे व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है ।

वातरक्त रोग की चिकित्सा (Treatment of Vāta-Rakta)

१. वातरक्त व्याधि में- शृंग (Horn), जलौका (Leech), सूची (Needle), अलाबु (तितलौकी- Gourd) अथवा प्रच्छन्न-Scratching) द्वारा रोगी के बल एवं दोषों का विचार करते हुए रक्त का निर्हरण करना चाहिए ।

२. यदि वातरक्त के रोगी में रुक् (वेदना-Pain), दाह (Burning sensation-शरीर में जलन का होना), शूल (Colic pain) तथा तोद (सुई चुभाने जैसी वेदना हो) हो तब **जलौका** द्वारा रक्त का निर्हरण करना चाहिए ।

३. यदि अंगों में शून्यता (Numbness), कण्डू (Itching) एवं चिमचिमाहट (Tingling sensation) मिले तब शृंग (Horn) द्वारा रक्तमोक्षण करना चाहिए ।

४. यदि रोगी में वेदना एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करती है अर्थात् दोषों के गतिमान होने से वेदना के भी स्थान में परिवर्तन हो तब सिरावेध अथवा प्रच्छन्न (किसी खुरदरे पदार्थ द्वारा त्वचा को खुरचना) द्वारा रक्त का निर्हरण करना चाहिए ।

रक्तमोक्षण का निषेध–वातज वातरक्त, अङ्गों में रूक्षता की वृद्धि हो, अथवा ग्लानि हो; ऐसी अवस्था में रक्त का निर्हरण नहीं कराना चाहिए । यदि उपरोक्त लक्षणों के मिलने पर भी रक्त का निर्हरण किया जाय तब रोगी में रक्त के क्षय हो जाने से गम्भीर शोथ (Deep seated Oedema), स्तम्भ (जकड़ाहट-Stiffness), कम्प (Trembling), स्नायु एवं सिराओं में खिचावट का होना, अंगों में संकोच का होना (अङ्गों में टेढ़ापन) तथा ग्लानि (हाथ व पैरों का सूख जाना) उत्पन्न हो जाता है ।

अत्यधिक रक्तमोक्षण के उपद्रव–वातरक्त रोगी में रक्त का अत्यधिक निर्हरण हो जाने पर **खञ्जता** (लंगड़ापन), **वातव्याधियाँ** (वातरोग) तथा मृत्यु भी हो सकती है । इसलिये चिकित्सक को सम्यक् स्नेहन कराने के बाद ही उचित मात्रा में रक्त निकालना चाहिए ।

चक्रपाणि–'रक्तमार्गमित्यादि' के द्वारा वातरक्त के रोगी का रक्तनिर्हरण किस प्रकार करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया गया है ।

रक्तस्य मार्गं मारुतो निहन्ति शाखासन्धिषु निविश्येति–इस व्याधि में वायु शाखा एवं सन्धियों के आश्रित होकर रक्त के मार्ग (प्रवाह) को रोक देती है । इसके बाद वायु द्वारा रक्त के अवरुद्ध होने से । **अन्योन्यमावार्येति**-एक-दूसरे द्वारा ये आपस में अवरुद्ध हो जाते हैं, रक्त

Scanned by CamScanner

द्वारा का वायु तथा वायु द्वारा रक्त का आवरण हो जाता है। इस व्याधि में व्यक्ति की मृत्यु वेदना द्वारा ही होती है। अतः इस व्याधि में रक्तमोक्षण (रक्त का निर्हरण) शीघ्र कराना चाहिए, यह भाव है। रक्त मोक्षण द्वारा आवरण के समाप्त हो जाने पर वायु अपने प्राकृत स्वरूप में आ जाती है, परिणाम स्वरूप व्याधि का प्रशमन हो जाता है।

[इस व्याधि में मुख्यतः रक्त द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध होता है, अतः रक्तमोक्षण से यह आवरण हट जाता है।]

देशादेशं व्रजदिति–एक स्थान से अन्य स्थान को जाने वाली, अर्थात् वेदना का स्थान नियत न होना। **अङ्गग्लानाविति**=अङ्गशोषे [हाथ व पैरों के शुष्क होने (सूखने) पर]

रक्त के अति निर्हरण से होने वाले दोष को यहाँ-'गम्भीरमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **खाञ्ज्यादीन्**-इससे खाञ्ज्य (लंगड़ापन-Limping with one leg), पांगुल्य- दोनों पैर का विकृत होना, चल न पाना, कुब्ज (कुबड़ापन) आदि वात विकारों का ग्रहण किया गया है। 'कुर्यादिति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है, अर्थात् यह वाक्य खाञ्ज्यादीन् से प्रारम्भ करके कुर्यात् तक ग्रहण करते हैं।

प्रमाणेनेति अविकारिमात्रया–रक्त निर्हरण उतनी ही मात्रा में कराना चाहिए जिससे रोगी को कोई हानि न हो। 'प्रमाण' से यहाँ **अविकारी मात्रा** का ग्रहण होता है। ॥३५-४०॥

विरेच्यः स्नेहयित्वाऽऽदौ स्नेहयुक्तैर्विरेचनैः। रूक्षैर्वा मृदुभिः शस्तमसकृद्बस्तिकर्म च ॥४१॥
सेकाभ्यङ्गप्रदेहान्नस्नेहाः प्रायोऽविदाहिनः।
वातरक्ते प्रशस्यन्ते

वातरक्त में संशोधन चिकित्सा का प्रयोग–

१. विरेचन के योग्य रोगी को सर्वप्रथम स्नेहन कराने के बाद स्नेह, रूक्ष अथवा मृदु विरेचन द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिए। [विरेचनोत्तर संसर्जनक्रम के बाद] अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग करना अत्यन्त उपयोगी है, अर्थात् बार-बार अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

२. प्रायः अविदाही द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) से परिषेक, अविदाही द्रव्यों के कल्क से प्रदेह तथा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध तैल का प्रयोग अभ्यङ्ग के रूप में करना चाहिए।

आहार में भी अविदाही द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि–विरेचनविधाने स्नेहयुक्तै रूक्षैर्वेति-वातरक्त में विरेचन विधान के अन्तर्गत दो विकल्प बताये गये हैं- १. स्नेह युक्त विरेचन-जो रोगी अल्प स्निग्ध हो (जिसका शरीर कुछ रूक्ष हो) उसमें स्नेहविरेचन का प्रयोग कराना चाहिए, यथा- दुग्ध+एरण्ड तैल। २. **रूक्षविरेचन**–जो रोगी अत्यधिक स्निग्ध हो उसमें रूक्षविरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। **मृदुभिरिति**-विरेचन हेतु मृदु द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए, यहाँ वात क्षोभ के भय से तीक्ष्ण विरेचन का निषेध किया गया है। **बस्तिकर्म** से यहाँ अनुवासन व निरूह बस्ति का ग्रहण किया गया है।

प्रायोऽविदाहिन इति नितरामविदाहिनः–पूर्णतः अविदाही, वे औषध, अन्न व विहार जिसके प्रयोग से शरीर में अल्प मात्र भी दाह (जलन) न उत्पन्न हो उसे अविदाही कहते हैं। ॥४१॥

विशेषं तु निबोध मे ॥४२॥
बाह्यमालेपनाभ्यङ्गपरिषेकोपनाहनैः। विरेकास्थापनस्नेहपानैर्गम्भीरमाचरेत् ॥४३॥
सर्पिस्तैलवसामज्जापानाभ्यञ्जनबस्तिभिः। सुखोष्णैरुपनाहैश्च वातोत्तरमुपाचरेत् ॥४४॥
विरेचनैर्घृतक्षीरपानैः सेकैः सबस्तिभिः। शीतैर्निर्वापणैश्चापि रक्तपित्तोत्तरं जयेत् ॥४५॥
वमनं मृदु नात्यर्थं स्नेहसेकौ विलङ्घनम्। कोष्णा लेपाश्च शस्यन्ते वातरक्ते कफोत्तरे ॥४६॥
कफवातोत्तरे शीतैः प्रलिप्ते वातशोणिते। दाहशोथरुजाकण्डूविवृद्धिः स्तम्भनाद्भवेत् ॥४७॥
रक्तपित्तोत्तरे चोष्णैर्दाहः क्लेदोऽवदारणम्। भवेत्तस्माद्विषग्दोषबलं बुद्ध्वाऽऽचरेत्क्रियाम् ॥४८॥

वातरक्त की विशेष चिकित्सा–हे अग्निवेश! अब मैं वातरक्त की विशेष चिकित्सा को बता रहा हूँ, उसे सुनो–

१. उत्तान वातरक्त (बाह्य वातरक्त) में आलेप (Application of ointments), अभ्यङ्ग (Massage), परिषेक (Affusion) एवं उपनाह (poultice) का प्रयोग चिकित्सक को करना चाहिए।

२. गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा हेतु- विरेचन, आस्थापन बस्ति एवं स्नेहपान का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

३. वात की उल्बणता (प्रधानता) से होने वाले वातरक्त (Gout) में घृत, तैल, वसा एवं मज्जा का यथावश्यक पान करना, अभ्यङ्गन (अभ्यङ्ग Massage) एवं बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। इसके साथ-साथ प्रभावित भाग पर सुखोष्ण उपनाह (Poultice) बाँधना चाहिए।

४. रक्त व पित्त की उल्बणता से होने वाले वातरक्त में विरेचन (Purgation) घृतपान, क्षीरपान, परिषेक (Affusion), अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग तथा शीत निर्वापण (शीतल लेपों अथवा दाह शामक क्वाथों) का प्रयोग करना चाहिए।

५. कफ की उल्बणता से होने वाले वातरक्त में मृदु वमन कराना चाहिए। रोगी को अत्यधिक स्नेहन तथा परिषेक (Affusion) नहीं कराना चाहिए। लङ्घन का प्रयोग करें। प्रभावित भाग पर गुनगुने लेपों का प्रयोग करें।

६. कफ वात की प्रधानता से होने वाले वातरक्त में शीतल लेपों के प्रयोग से दोष स्तम्भित (रुक) हो जाते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप दाह (Burning sensation), शोथ (oedema), रुजा (Pain) एवं कण्डू (Itching) की वृद्धि हो जाती है।

७. रक्त तथा पित्त प्रधान वातरक्त में उष्ण द्रव्यों से निर्मित लेपों का प्रयोग करने से दाह (Burning sensation), क्लेद (त्वचा से स्राव का निकलना) तथा अवदारण (त्वचा का फटना) होने लगता है। इसलिए चिकित्सक को इस व्याधि में दोषों के वल का सम्यक् विचार करते हुए चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि-विशेषमिति विशिष्टचिकित्सितम्- विशेष चिकित्सा, अब आगे वातरक्त की विशेष चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है। **बाह्यमिति-** उत्तान वातरक्त। **मृद्वितिवमनविशेषणम्-** कफज वातरक्त में मृदु द्रव्यों द्वारा वमन कराना चाहिए, अर्थात् मृदु वमन कराना चाहिए।

कफोत्तरे वातोत्तरे च शीतप्रलेपदोषमाह-कफवातोत्तरे इत्यादि-'कफवातोत्तरे इत्यादि' के द्वारा कफ प्रधान एवं वातप्रधान वातरक्त में शीतल प्रलेप से होने वाली हानियों को बताया गया है। शीतल लेप के प्रयोग से ऊष्मा का अवरोध होने से लेप युक्त भाग में जलन (दाह-Burning sensation) होने लगती है। 'रक्तपित्तोत्तरे इत्यादि' के द्वारा पित्त प्रधान तथा रक्तप्रधान वातरक्त में उष्ण प्रलेप के दोष को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् उष्ण लेपों के प्रयोग से दाह तथा क्लेद की वृद्धि हो जाती है। **दोषबलं बुद्ध्वा आचरेदिति-** व्याधि के बल (दोष बल) तथा आतुर बल का विचार करते हुए, तदनुसार चिकित्सा करना। वातकफ की उल्बणता में उष्ण, रक्त व पित्त की उल्बणता में शीत तथा मिश्र दोषों में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए। ॥४२-४८॥

दिवास्वप्नं ससंतापं व्यायामं मैथुनं तथा। कटूष्णं गुर्वभिष्यन्दि लवणाम्लं च वर्जयेत् ॥४९॥
पुराणा यवगोधूमनीवाराः शालिषष्टिकाः। भोजनार्थं रसार्थं वा विष्किरप्रतुदा हिताः ॥५०॥
आढक्यश्चणका मुद्गा मसूराः समकुष्ठकाः। यूषार्थं बहुसर्पिष्काः प्रशस्ता वातशोणिते ॥५१॥
सुनिषण्णकवेत्राग्रकाकमाचीशतावरी। वास्तुकोपोदिकाशाकं शाकं सौवर्चलं तथा ॥५२॥
घृतमांसरसैर्भृष्टं शाकसात्म्याय दापयेत्। व्यञ्जनार्थं, तथा गव्यं माहिषाजं पयो हितम् ॥५३॥
इति संक्षेपतः प्रोक्तं वातरक्तचिकित्सितम्। एतदेव पुनः सर्वं व्यासतः संप्रवक्ष्यते ॥५४॥

वातरक्त में अपथ्य आहार-विहार-वातरक्त के रोगी को अधोलिखित आहार-विहार का त्याग करना चाहिए-

१. दिन में सोना (Sleep during day time)
२. धूप अथवा अग्नि के पास बैठना (Exposure to heat)
३. अत्यधिक व्यायाम करना (Excessive physical exercise)
४. अत्यधिक मैथुन करना।
५. कटु, उष्ण, गुरु (पचने में भारी), अभिष्यन्दी (स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करने वाले), लवण एवं अम्ल रस युक्त अन्न-पान का प्रयोग।

वातरक्त में पथ्य आहार-विहार-वातरक्त के रोगी को निम्नलिखित अन्न-पान का सेवन करना चाहिए।

१. पुराने यव, गेहूँ, नीवार (जङ्गली चावल जो बिना जोते बोये गये हों), शाली एवं साठी चावल का प्रयोग, भोजन के रूप में करना चाहिए। मांसरस हेतु विष्किर एवं प्रतुदवर्ग के पक्षियों के मांस का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् इनके मांस से मांसरस तैयार करके यव आदि के भात के साथ खाना चाहिए।

२. **यूष** (दाल) के रूप में आढकी (अरहर), चणक (चना), मुद्ग (मूंग), मसूर, मकुष्ठक (मोठ) का प्रयोग करना चाहिए। इन दालों के यूष में प्रभूत (अधिक) मात्रा में घृत मिलाकर वातरक्त के रोगी को खाने के लिए देना चाहिए।

Scanned by CamScanner

३. शाक हेतु सुनिषण्णक (चौपतिया), वेतस का अग्र भाग, काकमाची (मकोय), शतावरी, वास्तुक (बथुआ), उपोदिका (पोई का शाक) एवं सौवर्चल (हुरहुर) का प्रयोग करें। इन द्रव्यों से निर्मित शाक को घृत एवं मांसरस में भुनकर शाक सात्म्य रोगी को व्यञ्जनार्थ देना चाहिए। अर्थात् शाकों द्वारा अन्य व्यञ्जनों का निर्माण कर रोगी को खिलाना चाहिए।

४. दूध में- गाय, बकरी एवं भैंस का दूध रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

ये सभी अन्न-पान वातरक्त के रोगी में विशेष उपयोगी हैं। इस प्रकार यहाँ वातरक्त रोग की संक्षेप में चिकित्सा बतायी गयी। इन्हीं का पुनः विस्तार से वर्णन आगे किया जा रहा है–

चक्रपाणि–नीवारः उडिका (तिन्नी का धान)। सौवर्चल=सूर्यावर्त शाक। **व्यञ्जनार्थमिति भोजनसाधनतया व्यञ्जते इति व्यञ्जनम्- व्यञ्जन के रूप में निर्दिष्ट द्रव्यों के शाक आदि का प्रयोग करना चाहिए। व्यञ्जन = पकवान। एतदेवेति संक्षिप्तप्रयोगकथनम्**-संक्षिप्त वर्णित विषयों का, अर्थात् संक्षिप्त कहे गये वातरक्त चिकित्सा का पुनः विस्तार करना। व्यासतः = विस्तारपूर्वक। ॥४९-५४॥

श्रावणीक्षीरकाकोलीजीवकर्षभकैः समैः। सिद्धं समधुकैः सर्पिः सक्षीरं वातरक्तनुत् ॥५५॥
बलामतिबलां मेदामात्मगुप्तां शतावरीम्। काकोलीं क्षीरकाकोलीं रास्नामृद्धिं च पेषयेत् ॥५६॥
घृतं चतुर्गुणक्षीरं तैः सिद्धं वातरक्तनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलाज्वरनाशनम् ॥५७॥
त्रायन्तिकातामलकीद्विकाकोलीशतावरी-। कशेरुकाकपायेण कल्कैरेभिः पचेद्घृतम् ॥५८॥
दत्त्वा परूषकाद्राक्षाकाश्मर्येक्षुरसान् समान्। पृथग्विदार्याः स्वरसं तथा क्षीरं चतुर्गुणम् ॥५९॥
एतत् प्रायोगिकं सर्पिः पारूषकमिति स्मृतम्। वातरक्ते क्षते क्षीणे वीसर्पे पैत्तिके ज्वरे ॥६०॥
इति पारूषकं घृतम्।

श्रावण्यादि घृत-श्रावणी (गोरखमुण्डी), क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक एवं यष्टीमधु (मुलेठी); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। घृत - १ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, कल्क - १/४ भाग, कल्क द्रव्यों से निर्मित क्वाथ - ४ भाग अथवा पानी ४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह घृत सभी प्रकार के वातरक्त को दूर करता है।

बलादि घृत–घटक द्रव्य-

कल्क द्रव्य–बला, अतिबला, मेदा, केंवाच का बीज, शतावरी, काकोली, क्षीरकाकोली, रास्ना, ऋद्धि; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कूट-पीस कर कल्क बना लें। १. कल्क - १/४ भाग, २. घृत - १ भाग, ३. गोदुग्ध - ४ भाग।

अब कल्क, घृत एवं गोदुग्ध को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह सिद्ध घृत वातरक्त को दूर करता है। इस घृत के सेवन से हृदय रोग (Heart diseases), पाण्डुरोग (Anaemia), विसर्प (erysipelas), कामला (Jaundice) तथा ज्वर (Fever) रोग दूर हो जाते हैं।

पारूषकघृत–घटक द्रव्य-

१. क्वाथ एवं कल्क द्रव्य–त्रायमाणा, भुई आँवला (तामलकी), काकोली, क्षीरकाकोली तथा शतावरी; इन द्रव्यों के क्वाथ व कल्क से घृत का पाक करें। क्वाथ - ४ भाग, घृत - १ भाग, कल्क द्रव्य - १/४ भाग, ग्रहण करें।

२. भावना द्रव्य–

१.	फालसा का स्वरस	-	१ भाग
२.	द्राक्षास्वरस (अंगूर का रस)	-	१ भाग
३.	गम्भारी का क्वाथ	-	१ भाग
४.	इक्षुस्वरस	-	१ भाग
५.	विदारीकन्दस्वरस	-	१ भाग
६.	गोदुग्ध	-	४ भाग

निर्माण विधि–सर्वप्रथम घृत, कल्क व क्वाथ द्रव्यों को एक पात्र में लेकर घृत को विधिपूर्वक पकावें। क्वाथ का जलीयांश समाप्त हो जाने के बाद उसे क्रमशः फालसास्वरस, द्राक्षास्वरस, गम्भारीस्वरस, इक्षुस्वरस एवं विदारीकन्द स्वरस द्वारा सिद्ध करें। अन्त में घृत से ४ गुना गोदुग्ध डालकर घृत को पकावें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर इसे अग्नि पर से उतार कर ठण्ढा करके बोतलों या कांच के जार में भरकर सुरक्षित रख लें। इस प्रकार प्रायोगिक पारूषक नामक यह घृत सभी प्रकार के वातरक्त, उरःक्षत, धातुक्षीणता, विसर्प तथा पित्तज ज्वर में विशेष उपयोगी है। अर्थात् इन व्याधियों में इस घृत का सेवन करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि–श्रावणी = मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) । **सक्षीरमिति**-अन्य द्रव पदार्थ का अभाव होने से गोदुग्ध घृत की मात्रा का चार गुना ग्रहण करना चाहिए । [श्रावण्यादि घृत निर्माण हेतु कल्क द्रव्य - १/४ भाग, घृत - १ भाग, गोदुग्ध - ४ भाग लें ।]

त्रायन्तिकेत्यादी कल्कैरेभिरित्यनेन शतावर्यन्तानां कल्कत्वं, कशेरुकाकषायः, परूषकरसादीनां प्रत्येकं घृतसमानत्वं, विदारीरसस्यापि तथा वचनात् समत्वम्- त्रायन्तिका से लेकर शतावरी तक कल्क द्रव्यों का ग्रहण किया गया है । अर्थात् त्रायमाणा, तामलकी (भूम्यामलकी), काकोली, क्षीरकाकोली एवं शतावरी- प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग लेकर कल्क बनावें । कुल कल्क द्रव्य स्नेह का १/४ भाग होना चाहिए। कशेरू का क्वाथ - १ भाग रखें । परूषकस्वरस से लेकर विदारीकन्दस्वरस तक के द्रव्यों का स्वरस या रस अलग-अलग स्नेह के बराबर मात्रा में लें ।

विदारीरसस्यापि तथावचनात् समत्वम्-'तथा' शब्द से विदारीस्वरस का भी मान स्नेह के बराबर लेना चाहिए । आचार्य जतूकर्ण ने भी कहा है, यथा- "तुल्यरसैः परूषककाश्मर्यककशेरुकाविदारीद्राक्षेक्षूणां चतुष्के पयसि द्विकाकोलीतामलकीशतावर्यः पिष्ट्वा पचेद् घृतं, प्रयोगेण तद्वातास्रवीसर्प ज्वरजित् सर्पिः पारूषकं नाम्" इति [परूषक स्वरस - १ भाग, काश्मर्य स्वरस - १ भाग, कशेरुक स्वरस (क्वाथ) - १ भाग, विदारीकन्द स्वरस - १ भाग, इक्षु स्वरस - १ भाग । काकोली, क्षीरकाकोली, शतावरी, तामलकी के सम भाग से निर्मित कल्क - १/४ भाग, गोघृत - १ भाग, गोदुग्ध - ४ भाग । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें । घृत को द्रव पदार्थों से सिद्ध करते समय एक द्रव पदार्थ से पाक करने के बाद दूसरे का प्रयोग करना चाहिए, यह विशेष ध्यान रखें । इस प्रकार यह सिद्ध घृत वातरक्त, वीसर्प एतं ज्वर को नष्ट करता है । अर्थात् इस घृत का कुछ दिनों तक सेवन करने से यह निर्दिष्ट व्याधियों को प्रशमित करता है । इस घृत का नाम पारूषक घृत है ।]

प्रायोगिकमिति– अभ्यास के योग्य । अर्थात् नित्य उपयोगी है । ॥५५-६०॥

विशेष– प्रायौगिकं नित्यं प्रयोगाय सम्पद्यते-इस घृत का प्रयोग निर्दिष्ट व्याधियों में नित्य करना चाहिए ।

द्वे पञ्चमूले वर्षाभूमेरण्डं सपुनर्नवम् । मुद्गपर्णी महामेदां माषपर्णी शतावरीम् ।।६१।।
शङ्खपुष्पीमवाक्पुष्पीं रास्नामतिबलां बलाम् । पृथग्द्विपलिकं कृत्वा जलद्रोणे विपाचयेत् ।।६२।।
पादशेषे समान् क्षीरथात्रीक्षुच्छागलान् रसान् । घृताढकेन संयोज्य शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ।।६३।।
कल्कानावाप्य भेदे द्वे काश्मर्यफलमुत्पलम् । त्वक्क्षीरीं पिप्पलीं द्राक्षां पद्मबीजं पुनर्नवाम् ।।६४।।
नागरं क्षीरकाकोलीं पद्मकं बृहतीद्वयम् । वीरां शृङ्गाटकं भव्यमुरुमाणं निकोचकम् ।।६५।।
खर्जूराक्षोटवाताममुञ्जाताभिषुकांस्तथा । एतैर्घृताढके सिद्धे क्षौद्रं शीते प्रदापयेत् ।।६६।।
सम्यक् सिद्धं च विज्ञाय सुगुप्तं संनिधापयेत् । कृतरक्षाविधिं चौक्षे प्राशयेदक्षसंमितम् ।।६७।।
पाण्डुरोगं ज्वरं हिक्कां स्वरभेदं भगन्दरम् । पार्श्वशूलं क्षयं कासं प्लीहानं वातशोणितम् ।।६८।।
क्षतशोषमपस्मारमश्मरीं शर्करां तथा । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च मूत्रसङ्गं च नाशयेत् ।।६९।।
बलवर्णकरं धन्यं वलीपलितनाशनम् । जीवनीयमिदं सर्पिर्वृष्यं वन्ध्यासुतप्रदम् ।।७०।।

जीवनीय घृत–घटक द्रव्य-

१. क्वाथ्य द्रव्य– दोनों प्रकार के पञ्चमूल [बृहत् पञ्चमूल- बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, लघु पञ्चमूल- शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (भटकटैया), गोखरू], वर्षाभू (पथरचट्टा), पुनर्नवा, एरण्डमूल, मुद्गपर्णी, महामेदा, माषपर्णी, शतावरी, शंखपुष्पी, अवाक्पुष्पी (शतपुष्पा), रास्ना, अतिबला, बला; सभी द्रव्य दो-दो पल मात्रा में लेकर यवकुट कर लें । इस यवकुट किये गये द्रव्यों को एक बड़े पात्र में लेकर एक द्रोण (३२ प्रस्थ) जल में पकावें । चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ (Decoction) को छानकर एक अलग पात्र में रख लें ।

२. द्रव पदार्थ– गोदुग्ध - २ आढ़क (८ प्रस्थ)
आमलकी स्वरस - २ आढ़क (८ प्रस्थ)
इक्षु स्वरस - २ आढ़क (८ प्रस्थ)
बकरे का मांसरस - २ आढ़क (८ प्रस्थ)

३. कल्क द्रव्य– मेदा, महामेदा, काश्मर्य (गम्भार का फल), उत्पल (कमल), त्वक्क्षीरी (वंशलोचन), पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), पद्मबीज (कमलगट्टा), पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा), नागर (सोंठ), क्षीरकाकोली, पद्मक (पद्मकाठ), छोटी कण्टकारी, बड़ी कण्टकारी, वीरा (वृद्धि), शृंगाटक (सिंघाड़ा), भव्य (या कमरख), उरुमाण, निकोचक, खर्जूर, अखरोट, वाताम (बादाम), मुज्ञातक (पिस्ता), अभिषुक (चिलगोजा)- सभी द्रव्यों को कूट-पीस कर कल्क बना लें ।

Scanned by CamScanner

४. गोघृत - १ आढ़क (४ प्रस्थ)

निर्माण विधि– एक बड़े पात्र में स्नेह (घृत), क्वाथ एवं कल्क द्रव्यों को डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, क्वाथ के पक जाने पर उसमें क्रमशः गोदुग्ध, आमलकी स्वरस, इक्षु स्वरस एवं बकरे का मांसरस डालकर पाक करें। घृत के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतारकर घृत के कुछ ठण्ढा हो जाने पर छानकर एक पात्र में रख लें। जब घृत पूर्णतः ठण्ढा हो जाय तब उसमें मधु डालकर मथानी से अच्छी प्रकार से मथकर मिश्रित कर दें। अब इसे एक साफ-सुथरे चौड़े मुख के कांच के जार में भरकर सुरक्षित रख लें। घृत को इस प्रकार से रखें कि इसमें वातादि का स्पर्श न हो।

मात्रा– रक्षाविधान से युक्त रोगी पवित्र होकर १ कर्ष (१ तोले) की मात्रा में इस घृत का सेवन करे, अर्थात् रक्षा विधान कराने के बाद रोगी को पवित्र होकर १ तोले की मात्रा में इस जीवनीयघृत का सेवन करना चाहिए।

उपयोग– इस जीवनीय नामक घृत के मात्रापूर्वक सेवन करने से पाण्डुरोग (Anaemia), ज्वर (Fever), हिक्का (Hiccup), स्वरभेद (Hoarseness of the voice), भगन्दर (Fistula), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), क्षय (Consumption), कास (Cough), प्लीहरोग (Splenic disorders), वातरक्त (Gout), उरःक्षत (Phthisis), शोष (Emaciation), अपस्मार (epilepsy), अश्मरी एवं शर्करा (मूत्राश्मरी एवं मूत्रशर्करा), सर्वाङ्गरोग, एकाङ्गरोग एवं मूत्रसंग व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। इस घृत के सेवन करने से व्यक्ति के शारीरिक बल एवं वर्ण (Complexion) की वृद्धि होती है। शरीर पर झुर्रियों (wrinkles) का दिखाई देना एवं पलित (बालों का सफेद होना) दूर हो जाता है। जीवनीय नामक इस घृत के प्रयोग से व्यक्ति में मैथुन शक्ति की वृद्धि एवं वन्ध्या स्त्री भी प्रजावान हो जाती है। अर्थात् इस घृत के सेवन करने से वन्ध्या स्त्री को भी पुत्र उत्पन्न हो जाता है।

चक्रपाणि–'द्वे पञ्चमूलेत्यादि' के द्वारा जीवनीय घृत का अभिधान किया गया है। वर्षाभू = श्वेतपुनर्नवा। 'अवाक्पुष्पी' अधः पुष्पी नाम से विख्यात एक द्रव्य का ग्रहण किया गया है। क्षीर आदि द्रव्यों को स्नेह (घृत) की मात्रा के बराबर ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् गोदुग्ध, आमलकीस्वरस, इक्षुस्वरस एवं बकरे का मांसरस सभी द्रव्य अलग-अलग स्नेह की मात्रा के बराबर ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् स्नेह पाक करते समय स्नेह को अलग-अलग गोदुग्ध आदि द्वारा सिद्ध करना चाहिए।

वीरा = वृद्धि। **भव्यादय औत्तरापथिका**- भव्य, उरुमाण, निकोचक आदि फल औत्तरापथ (अफगानिस्तान-वर्तमान) में पाये जाते हैं।

सुगुप्तमिति– सिद्ध घृत को कांच के जार में इस प्रकार बन्द करके रखना चाहिए जिससे इसमें वातादि का स्पर्श न हो। चौक्षे इति शुचौ = साफ सुथरा अथवा पवित्र। ॥६१-७०॥

द्राक्षामधु(धू)क तोयाभ्यां सिद्धं वा ससितोपलम्। पिबेद्घृतं तथा क्षीरं गुडूचीस्वरसे शृतम्॥७१॥
जीवकर्षभकौ मेदामृष्यप्रोक्तां शतावरीम्। मधुकं मधुपर्णी च काकोलीद्वयमेव च॥७२॥
मुद्गमाषाख्यपर्णिन्यौ दशमूलं पुनर्नवाम्। बलामृताविदारीश्च साश्वगन्धाश्मभेदकाः॥७३॥
एषां कषायकल्काभ्यां सर्पिस्तैलं च साधयेत्। लाभतश्च वसामज्जधान्वप्रातुदवैष्किरम्॥७४॥
चतुर्गुणेन पयसा तत् सिद्धं वातशोणितम्। सर्वदेहाश्रितं हन्ति व्याधीन् घोरांश्च वातजान्॥७५॥

द्राक्षादि घृत–द्राक्षा (मुनक्का) + यष्टीमधु (मुलेठी) का क्वाथ - ४ भाग, गोघृत - १ भाग, कल्क - (द्राक्षा + यष्टीमधु) - १/४ भाग। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें। इस घृत में चतुर्थांश मिश्री मिलाकर सेवन करें। अथवा गुडूची स्वरस द्वारा साधित दूध में मिश्री मिलाकर पीवें।

जीवकादि महास्नेह–जीवक, ऋषभक, मेदा, ऋष्यप्रोक्ता (अतिबला), शतावरी, यष्टीमधु (मुलेठी), मधुपर्णी (विकङ्कत), काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, दशमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भार, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा), बला, गुडूची, विदारीकन्द, अश्वगन्धा एवं पाषाणभेद; प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं इसे जल के साथ पकाकर क्वाथ का निर्माण करें। क्वाथ की मात्रा - ४ भाग, क्वाथ वाले ही द्रव्यों को लेकर कल्क बनावें, मात्रा - १/४ भाग, **घृत + तैल** - १ भाग। अब क्वाथ, तैल, घृत व कल्क को एक पात्र में लेकर मन्दाग्नि पर पकावें। स्नेह के सम्यक् पक जाने पर, अर्थात् क्वाथ का अंश उड़ जाने पर जाङ्गल प्रतुद एवं विष्किर पक्षियों की वसा व मज्जा, जितना प्राप्त हो सके मिला दें। अब सम्पूर्ण स्नेह की मात्रा का ४ गुना गोदुग्ध डालकर पुनः पाक करें। इस स्नेह के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर स्नेह को छानकर एक सुरक्षित पात्र में रख लें। इस महास्नेह के मात्रापूर्वक सेवन करने से सर्वशरीर में व्याप्त वातरक्त (Gout) तथा अन्य भयङ्कर वात व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं। अर्थात् यह स्नेह सर्वशरीराश्रित वातरक्त तथा भयङ्कर वातज रोगों को दूर करता है।

चक्रपाणि– द्राक्षेति से द्राक्षादि घृत का वर्णन किया गया है। ससितोपलमिति = द्राक्षादि घृत में मिश्री मिलाकर पीना चाहिए। ऋष्यप्रोक्ता = अतिबला। काला = मञ्जिष्ठा [पूर्वोक्त श्लोकों में काला पाठ नहीं प्राप्त होता है।] मधुपर्णी = विकङ्कत।

Scanned by CamScanner

धान्वप्रातुदवैष्किरमिति– इससे वसा व मज्जा की विशेषता को बताया गया है, अर्थात् जाङ्गल विष्किर एवं प्रतुद पक्षियों की वसा व मज्जा, जितना प्राप्त हो सकें, डालकर स्नेह सिद्ध करना चाहिए । ।।७१-७५।।

स्थिरा श्वदंष्ट्रा बृहती सारिवा सशतावरी । काश्मर्याण्यात्मगुप्ता च वृश्चीरो द्वे बले तथा ।।७६।।
एषां क्काथे चतुःक्षीरं पृथक् तैलं पृथग्घृतम् । मेदाशतावरीयष्टिजीवन्तीजीवकर्षभैः ।।७७।।
पक्त्वा मात्रा ततः क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा । खजेन मथिता पेया वातरक्ते त्रिदोषजे ।।७८।।
तैलं पयः शर्करां च पाययेद्वा सुमूर्च्छितम् । सर्पिस्तैलसिताक्षौद्रैर्मिश्रं वाऽपि पिबेत् पयः ।।७९।।
अंशुमत्या शृतः प्रस्थः पयसो द्विसितोपलः । पाने प्रशस्यते तद्वत् पिप्पलीनागरैः शृतः ।।८०।।
बलाशतावरीरास्नादशमूलैः सपीलुभिः । श्यामैरण्डस्थिराभिश्च वातार्तिघ्नं शृतं पयः ।।८१।।
धारोष्णं मूत्रयुक्तं वा क्षीरं दोषानुलोमनम् । पिबेद्वा सत्रिवृच्चूर्णं पित्तरक्तावृतानिलः ।।८२।।
क्षीरैरैण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः । बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीरौदनाशनः ।।८३।।
कषायमभयानां वा घृतभृष्टं पिबेन्नरः । क्षीरानुपानं त्रिवृताचूर्णं द्राक्षारसेन वा ।।८४।।
काश्मर्यं त्रिवृतां द्राक्षां त्रिफलां सपरूषकाम् । शृतं पिबेद्विरेकाय लवणक्षौद्रसंयुतम् ।।८५।।
त्रिफलायाः कषायं वा पिबेत् क्षौद्रेण संयुतम् । थात्रीहरिद्रामुस्तानां कषायं वा कफाधिकः ।।८६।।
योगैश्च कल्पविहितैरसकृत्तं विरेचयेत् । मृदुभिः स्नेहसंयुक्तैर्ज्ञात्वा वातं मलावृतम् ।।८७।।

स्थिरादि घृत एवं तैल-घटक द्रव्य-

१. क्वाथ्य द्रव्य– स्थिरा (सरिवन), श्वदंष्ट्रा (गोखरू), बृहती (बड़ी कण्टकारी अथवा वनभण्टा), सारिवा (अनन्तमूल), शतावरी, काश्मर्य (गम्भार की छाल), वृश्चीर (श्वेत पुष्पों वाली पुनर्नवा Punarnavā with white flower– M.M. Williams.), आत्मगुप्ता (कौंचबीज), बला एवं अतिबला; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें । यवकुट किये हुए द्रव्यों को ४ गुने जल के साथ पकावें, चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर अलग रख लें । क्वाथ की मात्रा स्नेह की मात्रा के बराबर रखें । क्वाथ - १ भाग ।

२. गोदुग्ध– ४ भाग, **३. घृत अथवा तिलतैल** - १ भाग

४. कल्क द्रव्य–मेदा, शतावरी, यष्टीमधु (मुलेठी), जीवन्ती, एवं ऋषभक; इन द्रव्यों का कल्क बना लें । मात्रा - १/४ भाग ।

निर्माण विधि– अब एक पात्र में क्वाथ, कल्क, घृत अथवा तैल एवं गोदुग्ध को डालकर विधिपूर्वक घृत अथवा तैल को सिद्ध कर लें । [यहाँ क्वाथ पाक के बाद गोदुग्ध डालकर स्नेह को पकाना चाहिए, यह ध्यान रखें ।] सम्यक् सिद्ध हो जाने पर घृत या तैल को एक स्वच्छ कपड़े से छानकर पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग विधि–

सिद्ध घृत	-	१ तोला	इन तीनों द्रव्यों को मथानी से मथकर त्रिदोषज वातरक्त के रोगी को सेवन करना चाहिए ।
गोदुग्ध	-	३ तोला	
शर्करा	-	१.५ तोला	

अर्थात् इस घृत का सेवन गोदुग्ध व शर्करा के साथ करना चाहिए ।

वातरक्त नाशक सिद्ध क्षीर के योग-

→ अथवा मात्र मूर्च्छित तैल, गोदुग्ध एवं शर्करा (मिश्री) को एक में मिलाकर वातरक्त रोगी को पिलावें ।

→ अथवा घृत, तैल, मधु व मिश्री को आपस में मिश्रित करके दुग्ध के साथ वातरक्त के रोगी को पीने के लिए दें ।

→ एक प्रस्थ दुग्ध (गोदुग्ध) के साथ अंशुमती (शालपर्णी) को सिद्ध करें, अर्थात् अंशुमती द्वारा साधित क्षीर में २ पल शर्करा डालकर रोगी को पीने के लिए दें ।

→ पिप्पली एवं शुण्ठी (सोंठ) द्वारा साधित गोदुग्ध में २ पल शर्करा डालकर वातरक्त के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए ।

→ **बलादि योग**– बला, शतावरी, रास्ना, बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू एवं पीलू के कल्क से साधित गोदुग्ध का सेवन वातरक्तजन्य वेदना को दूर करने के लिए करना चाहिए ।

→ श्यामा, एरण्डमूल एवं सरिवन द्वारा साधित क्षीर का प्रयोग करने से वातरक्त जन्य वेदना प्रशमित हो जाती है ।

विरेचक योग– वातरक्त के रोगी को अधोलिखित योगों का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए–

१. धारोष्ण दुग्ध में गोमूत्र मिलाकर दोषों के अनुलोमनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए, अथवा पित्त व रक्त द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध (आवृत) हो तब धारोष्ण दुग्ध के साथ त्रिवृत् चूर्ण का प्रयोग करें ।

Scanned by CamScanner

२. यदि दोष शरीर में अधिक रूप से प्रकुपित हों, अथवा वृद्ध हों तब विरेचनार्थ गोदुग्ध के साथ एरण्ड तैल का प्रयोग करना चाहिए। जब सम्यक् विरेचन हो जाय अथवा एरण्डतैल का पाचन हो जाय तब भूख लगने पर रोगी को दूध-भात का सेवन करना चाहिए।

३. घृतभ्रष्ट (घृत में भुनी हुई हरीतकी) या हरीतकी क्वाथ को घृत से संस्कारित करके वातरक्त के रोगी को विरेचनार्थ पिलाना चाहिए।

४. त्रिवृत् चूर्ण को द्राक्षारस के साथ पीने के लिए दें, बाद में रोगी को अनुपान के रूप में गोदुग्ध पीना चाहिए, अथवा त्रिवृत् चूर्ण का सेवन गोदुग्ध अथवा द्राक्षा स्वरस के साथ करें।

५. **काश्मर्यादि क्वाथ–** काश्मर्य (गम्भारी), त्रिवृत् (सफेद निशोथ), द्राक्षा (मुनक्का), हरड़, बहेड़ा, आँवला एवं परूषक (फालसा) के समभाग से निर्मित क्वाथ में सैन्धव नमक व मधु मिलाकर विरेचन हेतु **वातरक्त** के रोगी को पिलाना चाहिए।

६. **त्रिफला क्वाथ–** त्रिफला क्वाथ में मधु मिलाकर अथवा आँवला, हल्दी एवं नागरमुस्तक के सम भाग से निर्मित क्वाथ में मधु मिलाकर **कफज वातरक्त** के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

७. मलावृत वातरक्त की अवस्था में कल्पस्थान में वर्णित मृदु विरेचन योगों के साथ स्नेह मिलाकर बार-बार विरेचन कराना चाहिए।

चक्रपाणि–'स्थिरेत्यादि' के द्वारा स्थिरादि तैल एवं घृत का वर्णन किया गया है। **चतुःक्षीरमिति-** गोदुग्ध, तैल अथवा घृत का चार गुना ग्रहण करें। **पृथक् तैलं पृथग्घृतमिति-** स्थिरादि घृत अथवा तैल का निर्माण अलग-अलग करें, एक में मिश्रित करके (घृत व तैल को मिला करके) न सिद्ध करें, इसका यहाँ निषेध किया गया है।

क्षीरत्रिगुणा सार्धभागा शर्करा यस्यां मात्रायां सा क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा– क्षीर (गोदुग्ध) - ३ भाग, शर्करा क्षीर का अर्धभाग- १.५ भाग तथा घृत या तैल (स्थिरादि) - १ भाग, जिसकी यह मात्रा हो उसे क्षीरत्रिगुणाऽध्यर्धशर्करा कहते हैं। अर्थात् वातरक्त के रोगी को स्थिरादि घृत - **१ तोला + गोदुग्ध - ३ तोला + शर्करा - १.५ तोला** को अच्छी प्रकार से मिश्रित करके पीना चाहिए।

खजः पञ्चाङ्गुलो हस्तः, मन्थानं वा– खज से मथानी अर्थ लिया गया है, जिसकी लम्बाई अंगुलियों से युक्त हाथ (१ हाथ) की होती है। [The hand with the fingers extended- M.M. Williams Dictionary]

मात्रा चात्र मिलितयोस्तैलसर्पिषोर्गाह्या– तैल व घृत दोनों की मात्रा का निर्देश यहाँ मिश्रित रूप से किया गया है। अर्थात् घृत, तैल, मिश्री व मधु को एक में मिलाकर दूध के साथ सेवन करना चाहिए। अंशुमती = शालपर्णी। **द्विसितोपल इति शर्करापलद्वययुक्तः-** शर्करा **दो पल** ग्रहण करें। [अंशुमती साधित क्षीर १ प्रस्थ मात्रा में लेकर उसमें दो पल शर्करा मिलाकर पीवें]

इयं च क्षीरमात्रा उत्तमाग्नीन् प्रति– अंशुमती साधित क्षीर की यह मात्रा उत्तम अग्नि वाले रोगियों के लिए है। [यदि मध्यमाग्नि है तब यह मात्र ३२ तोले तथा अल्पाग्नि (मंदाग्नि) की अवस्था में १६ तोले होती है, ऐसा समझना चाहिए।]

धारोष्णमिति दोहकालधारापतितमग्नियोगाद्विना उष्णीभूतम्– तत्काल दूहा गया दुग्ध जो बिना अग्नि के संयोग के ही उष्ण (कोष्ण) होता है उसे धारोष्ण दुग्ध कहते हैं।

[धारोष्ण दुग्ध = तत्काल दूहा गया दुग्ध।]

धारोष्ण गोदुग्ध में गोमूत्र बराबर मात्रा में मिलाकर दोषों के अनुलोमनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए। यहाँ गोमूत्र की मात्रा दुग्ध के बराबर लेनी चाहिए।

सत्रिवृच्चूर्णं धारोष्णं क्षीरमिति संबन्धः– यहाँ त्रिवृत् चूर्ण का भी सम्बन्ध धारोष्ण क्षीर के साथ है, अर्थात् पित्त एवं रक्त द्वारा आवृत वात में त्रिवृत् चूर्ण के साथ धारोष्ण दूध का पान करना चाहिए।

प्रयोगेणेति = अभ्यासेन (बार-बार सेवन करें), अर्थात् निर्दिष्ट विरेचन योगों का प्रयोग रोगी को बार-बार करना चाहिए। ॥७६-८७॥

विशेष (Comments)– अंशुमती शालपर्णी पयसोऽष्टमांशा जलं चतुःप्रस्थं पयसः प्रस्थः पक्त्वा पयोऽवशिष्टं पादिकां सितोपलां दत्वा पिबेत्- शालपर्णी - १/८ भाग (८ तोला), गोदुग्ध - १ प्रस्थ (६४ तोला), जल - ४ प्रस्थ डालकर पकावें। दुग्ध मात्र अवशेष बचने पर छानकर क्वाथ (सिद्ध क्षीर) को अलग कर लें। अब इस साधित क्षीर में चतुर्थांश (१६ तोला) मिश्री मिलाकर वातरक्त के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। इसी विधि से पिप्पली व शुण्ठी को भी सिद्ध कर साधित क्षीर में मिश्री मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए।
–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

निर्हरेद्वा मलं तस्य सघृतैः क्षीरबस्तिभिः। न हि बस्तिसमं किंचिद्वारक्तचिकित्सितम् ॥८८॥

Scanned by CamScanner

बस्तिवंक्षणपार्श्वोरुपर्वास्थिजठरार्तिषु । उदावर्ते च शस्यन्ते निरूहाः सानुवासनाः ।।८९।।
दद्यात्तैलानि चेमानि बस्तिकर्मणि बुद्धिमान् । नस्याभ्यञ्जनसेकेषु दाहशूलोपशान्तये ।।९०।।
मधुयष्ट्यास्तुलायास्तु कषाये पादशेषिते । तैलाढकं समक्षीरं पचेत् कल्कैः पलोन्मितैः ।।९१।।
शतपुष्पावरीमूर्वापयस्यागुरुचन्दनैः । स्थिराहंसपदीमांसीद्विमेदामधुपर्णिभिः ।।९२।।
काकोलीक्षीरकाकोलीतामलक्यृद्धिपद्मकैः । जीवकर्षभजीवन्तीत्वक्पत्रनखवालकैः ।।९३।।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठासारिवैन्द्रीवितुन्नकैः । चतुष्प्रयोगात्तद्धन्ति तैलं मारुतशोणितम् ।।९४।।
सोपद्रवं साङ्गशूलं सर्वगात्रानुगं तथा । वातासृक्पित्तदाहार्तिज्वरघ्नं बलवर्णकृत् ।।९५।।
इति मधुपर्ण्यादितैलम् ।

वातरक्त में क्षीरबस्ति का प्रयोग– वातरक्त के रोगी में दोषों (मलों) के निर्हरण के लिए घृत मिश्रित क्षीरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि बस्ति के समान श्रेष्ठ वातरक्त की कोई अन्य औषधि नहीं है ।

यदि रोगी के बस्ति (Urinary bladder), वंक्षण (Groin), पार्श्व (Sides of the chest), ऊरु (thighs), पर्व (Joints), अस्थि (Bones) एवं उदर में वेदना हो रही हो अथवा रोगी उदावर्त रोग से पीड़ित हो तब ऐसी अवस्था में निरूह के साथ-साथ अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

अन्य प्रयोग– यदि वातरक्त रोगी के उदर में दाह एवं शूल हो रहा हो तब उसकी शान्ति हेतु बुद्धिमान चिकित्सक को आगे निर्दिष्ट तैलों का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए । साथ ही साथ उन्हीं तैलों का प्रयोग नस्य, अभ्यङ्ग एवं परिषेक के रूप में भी करना चाहिए।

मधुपर्ण्यादि तैल–घटक द्रव्य-

१. क्वाथ्य द्रव्य– यष्टीमधु (मुलेठी) - १ तुला (१०० पल) लेकर यवकुट कर लें । इस यवकुट किये हुए यष्टीमधु को १ द्रोण जल के साथ मध्यमाग्नि पर पकावें, चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । (१ द्रोण = ३२ प्रस्थ) **२. तिलतैल**- १ आढ़क (४ प्रस्थ), **३. गोदुग्ध** - १ आढक (४ प्रस्थ) । **४. कल्कद्रव्य**- सौंफ, शतावरी, मूर्वा, पयस्या, अगरु, चन्दन (लालचन्दन), स्थिरा (शालपर्णी), हंसपादी, जटामांसी, मेदा, महामेदा, मधुपर्णी, काकोली, क्षीरकाकोली, तामलकी (भूम्यामलकी), ऋद्धि, पद्मक (पद्मकाठ), जीवक, ऋषभक, जीवन्ती, त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपत्र), नख, सुगन्धवाला, प्रपौण्डरीक (पुण्डरियाकाठ), मञ्जिष्ठा, सारिवा (अनन्तमूल) एवं वितुन्नक; प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल (४ तोला) मात्रा में लेकर कल्क बना लें ।

निर्माण विधि– सर्वप्रथम एक पात्र में तिलतैल, कल्क एवं क्वाथ को डालकर मन्दाग्नि पर पकावें । पकते-पकते जब क्वाथ का जलीयांश उड़ जाय तब उसमें गोदुग्ध डालकर पाक करें । गोदुग्ध के पाक के बाद उसमें १ आढक जल डालकर तैल को पकावें । सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर तैल को छानकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग पान (पीने के लिए), अभ्यङ्ग (शरीर पर मालिश करने के लिए), बस्ति (अनुवासन एव निरूह बस्ति के रूप में) एवं नस्य, इन चार विधियों द्वारा करना चाहिए । चारों विधियों द्वारा इस तैल के प्रयोग से उपद्रव युक्त वातरक्त (Gout accompanied with complications), हाथ व पैरों में वेदना का होना (Pain in the limbs), सर्वाङ्ग व्याप्त वातरक्त, वात व्याधियाँ, रक्तविकार, पित्तविकार, दाह, वेदना एवं ज्वर दूर हो जाते हैं ।

इस तैल के प्रयोग से व्यक्ति के बल एवं वर्ण की वृद्धि होती है ।

चक्रपाणि– क्षीरप्रधानो बस्तिः क्षीरबस्ति- जिस बस्ति में दूध की प्रधानता होती है उसे क्षीरबस्ति कहते हैं । मधुयष्ट्या इत्यादौ मधुकतुलायां जलद्रोणं दत्त्वा तैलाढकमानः क्वाथो भवति- इस योग में मधुक (यष्टीमधु) १ तुला (१०० पल) लेकर १ द्रोण जल में पकावें, अष्टमांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर अलग कर लें । इस प्रकार क्वाथ की मात्रा तैल की मात्रा के बराबर हो जाती है। क्वाथ = १ आढ़क । वरी = शतावरी । हंसपदी = इस नाम से प्रसिद्ध द्रव्य । पयस्या = अर्कपुष्पी । वितुन्नक = धान्यक (धनियाँ) ।

चतुष्प्रयोगादिति- चार प्रकार से प्रयोग करना, यथा - पान, अभ्यङ्ग, बस्ति एवं नस्य । अर्थात् इस तैल का प्रयोग ४ प्रकार से करना चाहिए । ॥८८-९५॥

विशेष (Comments)– 'मधुयष्ट्या' के स्थान पर पाठ भेद से 'मधुपर्ण्या' पाठ प्राप्त होता है, जो कि उचित प्रतीत होता है । मधुयष्ट्या पाठ होने पर इस तैल का नाम 'मधुयष्ट्यादि तैल होना चाहिए, जो कि यहाँ निर्दिष्ट नहीं है । अतः शुद्धता की दृष्टि से या तो इस तैल का नाम परिवर्तित होना चाहिए अथवा मधुयष्टी के स्थान पर मधुपर्णी का ग्रहण करना चाहिए । मेरी दृष्टि से मधुयष्टी के स्थान पर मधुपर्णी (गुडूची) का ही ग्रहण करना ज्यादा श्रेयस्कर है, क्योंकि वातरक्त की यह मुख्य औषधि है । जल्पकल्पतरु टीकाकार ने 'मधुपर्ण्यादि' पाठ स्वीकार किया है ।

Scanned by CamScanner

मधुकस्य शतं द्राक्षा खर्जूराणि परूषकम् । मधूकौदनपाक्यौ च प्रस्थं मुञ्जातकस्य च ।।९६।।
काश्मर्याढकमित्येतच्चतुर्द्रोणे पचेदपाम् । शेषेऽष्टभागे पूते च तस्मिंस्तैलाढकं पचेत् ।।९७।।
तथाऽऽमलककाश्मर्यविदारीक्षुरसैः समैः । चतुर्द्रोणेन पयसा कल्कं दत्त्वा पलोन्मितम् ।।९८।।
कदम्बामलकाक्षोटपद्मबीजकशेरुकम् । शृङ्गाटकं शृङ्गवेरं लवणं पिप्पलीं सिताम् ।।९९।।
जीवनीयैश्च संसिद्धं क्षौद्रप्रस्थेन संसृजेत् । नस्याभ्यञ्जनपानेषु बस्तौ चापि नियोजयेत् ।।१००।।
वातव्याधिषु सर्वेषु मन्यास्तम्भे हनुग्रहे । सर्वाङ्गैकाङ्गवाते च क्षतक्षीणे क्षतज्वरे ।।१०१।।
सुकुमारकनित्येतद्वातास्रामयनाशनम् । स्वरवर्णकरं तैलमारोग्यबलपुष्टिदम् ।।१०२।।

इति सुकुमारकतैलम् ।

गुडूचीं मधुकं ह्रस्वं पञ्चमूलं पुनर्नवाम् । रास्नामेरण्डमूलं च जीवनीयानि लाभतः ।।१०३।।
पलानां शतकैर्भगिर्वलापञ्चशतं तथा । कोलबिल्वयवान्माषान्कुलत्थांश्चाढकोन्मितान् ।।१०४।।
काश्मर्याणां सुशुष्काणां द्रोणं द्रोणशतेऽम्भसि । साधयेज्जर्जरं धौतं चतुर्द्रोणं च शेषयेत् ।।१०५।।
तैलद्रोणं पचेत्तेन दत्त्वा पञ्चगुणं पयः । पिष्ट्वा त्रिपलिकं चैव चन्दनोशीरकेशरम् ।।१०६।।
पत्रैलागुरुकुष्ठानि तगरं मधुयष्टिकाम् । मञ्जिष्ठाष्टपलं चैव तत् सिद्धं सार्वयौगिकम् ।।१०७।।
वातरक्ते क्षतक्षीणे भारते क्षीणरेतसि । वेपनाक्षेपभग्नानां सर्वाङ्गैकाङ्गरोगिणाम् ।।१०८।।
योनिदोषमपस्मारमुन्मादं खञ्जपङ्गुताम् । हन्यात् प्रसवनं चैततैलाग्र्यममृताह्वयम् ।।१०९।।

इत्यमृताद्यं तैलम् ।

सुकुमारकतैल–घटक द्रव्य- १. क्वाथ्य द्रव्य- यष्टीमधु (मुलेठी) - १०० पल, द्राक्षा (मुनक्का), खर्जूर, परूषक (फालसा), महुआ, ओदनपाकी एवं मुञ्जातक; प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रस्थ लें, गम्भारी की छाल - १ आढक (४ प्रस्थ) । सभी द्रव्यों को लेकर यवकुट कर लें एवं इसे ४ द्रोण (१२८ प्रस्थ) जल में पकावें । द्रव के अष्टमांश शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें । छने हुए क्वाथ की मात्रा १६ प्रस्थ ग्रहण करें ।

२. **तिल तैल**– १ आढ़क (४ प्रस्थ) ।

३. **द्रव पदार्थ**–	आमलकी स्वरस (क्वाथ)	-	१ आढक
	गम्भारी स्वरस (क्वाथ)	-	१ आढक
	विदारीकन्द स्वरस	-	१ आढक
	इक्षुस्वरस (ईख का रस)	-	१ आढक
	गोदुग्ध	-	४ द्रोण (१२८ प्रस्थ)

४. **कल्क द्रव्य**– कदम, आमलकी, अखरोट, पद्मबीज (कवलगट्टा), कसेरू, शृंगाटक (सिंघाड़ा), शृंगबेर (अदरक), लवण (सैन्धव), पिप्पली, सिता (मिश्री), जीवनीय गण की औषधियाँ (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवन्ती, मुलेठी); प्रत्येक द्रव्य १-१ पल लेकर कल्क बना लें ।

निर्माण विधि– सर्वप्रथम तिलतैल, कल्क एवं क्वाथ को एक पात्र में लेकर मन्दाग्नि पर पकावें, क्वाथ के पक जाने के बाद, अर्थात् क्वाथ का जलीयांश उड़ जाने के बाद उसमें आमलकी स्वरस डालकर तैल को पकावें, इसी प्रकार क्रमशः गम्भारी स्वरस, विदारीकन्द स्वरस, इक्षु का रस एवं गोदुग्ध डालकर पकावें । [अन्त में तैल के बराबर जल डालकर स्नेह (तैल) को पकावें ।] जब तैल सम्यक् सिद्ध हो जाय अर्थात् उचित गन्ध व वर्ण से युक्त हो जाय तब उसे महीन कपड़े से छानकर एक पात्र में रख लें । अच्छी प्रकार से ठण्डा हो जाने पर सिद्ध तैल में १ प्रस्थ मधु मिलाकर कांच के जार में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग चिकित्सक को नस्य, अभ्यंग, पान एवं बस्ति के रूप में करना चाहिए । इस तैल के प्रयोग से सभी प्रकार के वातविकार (यथा- मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, सर्वाङ्ग वात - Paralysis of the whole body), एकाङ्ग वात (Paralysis of the one part of the body), क्षतक्षीण रोग एवं ज्वर आदि व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं । यह सुकुमारक नामक तैल **वातरक्त** का विनाशक है, साथ ही साथ यह व्यक्ति के स्वर, वर्ण, आरोग्य, बल एवं पुष्टि का वर्धक भी है । अर्थात् निर्दिष्ट भावों का प्रदाता भी है ।

अमृताद्य तैल–घटक द्रव्य- १. क्वाथ्य द्रव्य- गुडूची (अमृता), यष्टीमधु (मुलेठी), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी-वनभण्टा), कण्टकारी (भटकटैया), गोखरू, पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा), रास्ना, एरण्डमूल तथा जीवनीय गण की औषधियाँ जो मिल सकें- प्रत्येक द्रव्य १००-१०० पल ग्रहण करें । बलामूल- ५०० पल, कोल (बेर)- १ आढक (४ प्रस्थ), बिल्व की छाल- १ आढक, यव- १ आढक, उड़द - १ आढक, कुलथी - १ आढक, गम्भारी का शुष्क फल - १ द्रोण (३२ प्रस्थ) । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर

Scanned by CamScanner

यवकुट कर लें एवं इसे १०० द्रोण जल में पकावें, जब ४ द्रोण जल (द्रव) शेष बच जाय, अर्थात् द्रव्यों का रस जल में आ जाय तब क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें। क्वाथ की मात्रा - ४ द्रोण।

२. तिल तैल - १ द्रोण, **३. गोदुग्ध** - ५ द्रोण।

४. कल्क द्रव्य- लालचन्दन, उशीर (खश), नागकेशर, तेजपत्र, छोटी इलायची, अगरु, कुष्ठ (कूठ), तगर, यष्टीमधु - प्रत्येक द्रव्य ३-३ पल, मंजिष्ठा - ८ पल; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कल्क बना लें, अर्थात् इन्हें गोदुग्ध के साथ पीस कर कल्क (Paste) बना लें।

निर्माण विधि– अब कल्क, क्वाथ एवं स्नेह (तिलतैल) को एक पात्र में लेकर मन्दाग्नि पर पकावें, क्वाथ का जलीयांश उड़ जाने पर उसमें गोदुग्ध डालकर पुनः पाक करें। दुग्धपाक के बाद अवशिष्ट खोवे के अंश के पाक हेतु पुनः तैल की मात्रा के बराबर जल डालकर तैल को पकावें। सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग अभ्यङ्ग, पान, नस्य एवं बस्ति के रूप में करने से अधोलिखित व्याधियाँ दूर हो जाती हैं–

→ वातरक्त (Gout)
→ क्षतक्षीण (Phthisis)
→ अत्यधिक भार ढोने से उत्पन्न दुर्बलता
→ क्षीणशुक्रता (शुक्र का दुर्बल अथवा अल्प होना)
→ वेपन (शरीर में कम्प का होना)
→ आक्षेपक (Convulsions)
→ अस्थि भंगुरता (Osteoporosis) अथवा अस्थि भग्नता
→ सर्वाङ्ग रोग (Paralysis of the whole body)
→ एकाङ्ग रोग (Paralysis of the one part of the body)
→ योनिरोग (Diseases of the female genital organs)
→ अपस्मार (Epilepsy)
→ उन्माद (Insanity)
→ खञ्ज (एक पैर का विकृत होना)
→ पंगुत्व (दोनों पैर का विकृत होना)

अमृताद्य नामक इस तैल के सेवन करने से बन्ध्या स्त्री भी संतानयुक्त हो जाती है। उपरोक्त व्याधियों को दूर करने में यह तैल विशेष उपयोगी है।

चक्रपाणि–गुडूचीत्यादौ- गुडूची आदि द्रव्य अलग-अलग १००-१०० पल मात्रा में ग्रहण करें, अर्थात् क्वाथ्य द्रव्य १००-१०० पल मात्रा में लें। कोल आदि द्रव्य अलग-अलग १-१ आढक लें। काश्मर्य से यहाँ गम्भारी के फल का ग्रहण किया गया है। यहाँ गम्भारी के सूखे हुए फल को लेने का निर्देश है।

सार्वयौगिकमिति पानादिचतुष्प्रयोगे यौगिकम्– सार्वयौगिक से यहाँ पान, नस्य, अभ्यङ्ग एवं बस्ति के रूप में प्रयोग करने से है। अर्थात् इस तैल का प्रयोग पानादि के रूप में करना चाहिए। **प्रसवनमिति**- सन्तानोत्पादक है, पुत्र को उत्पन्न करने वाला। इस तैल के सेवन से स्त्री पुत्रवान् हो जाती है। ॥९६-१०९॥

पद्मवेतसयष्ट्याह्वफेनिलापद्मकोत्पलैः। पृथक्पञ्चपलैर्दर्भबलाचन्दनकिंशुकैः ॥११०॥
जले शृतैः पचेत्तैलप्रस्थं सौवीरसंमितम्। लोध्रकालीयकोशीरजीवकर्षभकेशरैः ॥१११॥
मदयन्तीलतापत्रपद्मकेशरपद्मकैः। प्रपौण्डरीककाश्मर्यमांसीमेदाप्रियङ्गुभिः ॥११२॥
कुङ्कुमस्य पलार्धेन मञ्जिष्ठायाः पलेन च। महापद्मिदं तैलं वातासृग्ज्वरनाशनम् ॥११३॥

इति महापद्मं तैलम्।

Scanned by CamScanner

महापद्मतैल-घटक द्रव्य- १. क्वाथ्य द्रव्य- पद्म (कमल), वेतस, यष्टीमधु, फेनिल (उपोदिका शाक = पोई का शाक), पद्मक (पद्मकाठ), उत्पल (नीलकमल), दर्भ, बला, लालचन्दन तथा पलाश; प्रत्येक द्रव्य ५-५ पल लेकर यवकुट कर लें। इस यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्यों को जल में पकाकर क्वाथ तैय्यार करें।

२. तिल तैल- १ प्रस्थ, **३. काञ्जी (सौवीर) -** १ प्रस्थ।

४. कल्क द्रव्य- लोध्र, कालीयक (काला अगर), उशीर (खश), जीवक, ऋषभक, नागकेशर, मदयन्ती (मेहदी), लताकस्तूरी, तेजपत्र, पद्मकेशर, पद्माख, प्रपौण्डरीक (पुण्डरियाकाठ), गम्भारी, जटामांसी, मेदा व प्रियंगु; सभी द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष लें, कुङ्कुम (नागकेशर) - २ कर्ष तथा मञ्जिष्ठा १ पल (४ तोले) मात्रा में लेकर, इन्हें जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें।

निर्माण विधि- अब एक पात्र में तिलतैल, क्वाथ व कल्क द्रव्यों को लेकर मन्दाग्नि पर पकावें बाद में काञ्जी को डालकर पकावें। तैल के भलीभाँति सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर तैल को महीन कपड़े से छानकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग- महापद्मनामक इस तैल के प्रयोग से वातरक्त (Gout) एवं ज्वर (Fever) रोग प्रशमित हो जाते हैं।

चक्रपाणि- 'पद्मवेतसेत्यादि' के द्वारा महापद्मतैल का वर्णन किया गया है। फेनिला = उपोदिका (पोई)। **सौवीरसंमितमिति-** स्नेह के बराबर मात्रा में काञ्जी (सौवीरक) का ग्रहण करना चाहिए। लोध्र आदि द्रव्यों को १-१ कर्ष लें। कुङ्कुम - २ कर्ष ग्रहण करें।

विशेष (Comments)- पद्म से लेकर किंशुक तक के द्रव्यों को ५-५ पल मात्रा में लेकर ८ गुने जल में पकावें चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें। अब इस क्वाथ में कल्क, तैल व काञ्जी डालकर विधिपूर्वक पाक करें। तैल सिद्ध हो जाने पर इसमें अर्ध पल (२ तोले) कुङ्कुम (केशर) पत्र कल्क के रूप में मिलाना चाहिए।

पद्मकोशीरयष्ट्याह्वरजनीक्वाथसाधितम्। स्यात् पिष्टैः सर्जमञ्जिष्ठावीराकाकोलिचन्दनैः ।।११४।।
खुड्डाकपद्मकमिदं तैलं वातास्रदाहनुत्।

इति खुड्डाकपद्मकं तैलम्।

खुड्डाकपद्मक तैल- पद्मक (पद्मकाठ), उशीर (खश), यष्टीमधु एवं रजनी (हल्दी) से निर्मित क्वाथ (Decoction) में सर्ज (राल), मजीठ (मञ्जिष्ठा), वीरा (क्षीरकाकोली), काकोली तथा चन्दन के कल्क के साथ तिलतैल को सिद्ध करें। इस खुड्डाकपद्मक नामक तैल के प्रयोग से वातरक्त एवं दाह की शान्ति हो जाती है।

चक्रपाणि- खुड्डाकपद्मकमिति अल्पपद्मकसंज्ञम्- महापद्मक तैल के घटक द्रव्यों की तुलना में इसमें द्रव्यों की संख्या कम है। इसलिये इसे अल्पपद्मक तैल नाम दिया गया है। यह नामकरण वैद्य व्यवहारार्थ हुआ है। खुड्डाक शब्द से 'अल्प' अर्थ ग्रहण किया जाता है। [गुणों की दृष्टि से महापद्मक तैल की तुलना में यह कम गुणयुक्त होता है, इसलिये इसे 'खुड्डाकपद्मक' नाम दिया गया है, यह कहा जा सकता है।] ॥११४॥

शतेन यष्टिमधुकात् साध्यं दशगुणं पयः ।।११५।।
तस्मिंस्तैले चतुर्द्रोणे मधुकस्य पलेन तु। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ।।११६।।
मधुपर्ण्याः पलं पिष्ट्वा तैलप्रस्थं चतुर्गुणे। क्षीरे साध्यं शतं कृत्वा तदेवं मधुकाच्छते ।।११७।।
सिद्धं देयं त्रिदोषे स्याद्वातास्रे श्वासकासनुत्। हृत्पाण्डुरोगवीसर्पकामलादाहनाशनम् ।।११८।।

इति शतपाकं मधुकतैलम्।

शतपाक मधुक तैल- सर्वप्रथम १०० पल यष्टीमधु (मुलेठी) के कल्क (Paste) में १००० (हजार) पल गोदुग्ध डालकर पकावें। चतुर्थांश दुग्ध शेष बचने पर दूध को छानकर अलग कर लें। अब यष्टीमधु साधित क्षीर में ४ द्रोण तिलतैल तथा १ पल मुलेठी कल्क डालकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें। अथवा मुलेठी एवं गम्भारी के क्वाथ में यष्टीमधु का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करें। इस तैल के पान, अभ्यङ्ग, नस्य एवं बस्ति के रूप में प्रयोग करने से वातरक्त (Gout) रोग दूर हो जाता है।

शतपाक मधुपर्णी तैल- मधुपर्णी - १ पल (गुडूची का कल्क १ पल), तिल तैल - १ प्रस्थ, गोदुग्ध - ४ प्रस्थ; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर सिद्ध तैल में पुनः १ पल गुडूची कल्क एवं ४ प्रस्थ गोदुग्ध डालकर पकावें। इस प्रकार इसे १०० बार सिद्ध करें। १०० पल गुडूची कल्क से साधित इस तैल के प्रयोग से त्रिदोषज वातरक्त (Gout), श्वास (Dyspnea), कास (Cough), हृद्रोग (Heart-diseases), पाण्डुरोग (Anaemia), वीसर्प, कामला (Jaundice) एवं दाह (शरीर में जलन का होना) दूर हो जाते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि- 'शतेन यष्टीमधुकादिति'- से शतपाक मधुक तैल का अभिधान किया गया है। यहाँ यष्टीमधु का कल्क या चूर्ण - १०० पल लेकर दशगुने (१००० पल) गोदुग्ध में पकाने का निर्देश है। अर्थात् १० गुने दूध में पकावें, चतुर्थांश (२५० पल) दूध शेष बचने पर साधित क्षीर को छानकर अलग कर लें। इस २५० पल दूध में ४ द्रोण तिल तैल तथा एक पल मुलेठी का कल्क मिलाकर तैल को सम्यक् सिद्ध करें। अब एक-एक पल यष्टीमधु कल्क डालकर उस तैल को दूध से १०० बार पकावें। इस प्रकार शतपाक मधुक तैल बनता है। यहाँ कुल १०० पल यष्टीमधु के कल्क से तैल सिद्ध करने का अभिप्राय- अनेक बार (अधिक बार) तैल को सिद्ध करने से है। शत का अर्थ विपुल ग्रहण किया गया है। ॥११५-११८॥

बलाकषायकल्काभ्यां तैलं क्षीरसमं पचेत्। सहस्रं शतवारं वा वातासृग्वातरोगनुत् ॥११९॥
रसायनमिदं श्रेष्ठमिन्द्रियाणां प्रसादनम्। जीवनं बृंहणं स्वर्यं शुक्रासृग्दोषनाशनम् ॥१२०॥
इति सहस्रपाकं शतपाकं वा बलातैलम्।

शतपाक या सहस्रपाक बला तैल- बला का क्वाथ - १ भाग, बला कल्क - १/४ भाग, तिलतैल - १ भाग, गोदुग्ध - १ भाग। एक पात्र में बला क्वाथ, तैल व कल्क डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, क्वाथ के पक जाने पर, अर्थात् क्वाथ का जलीयांश उड़ जाने पर उसमें गोदुग्ध डालकर तैल को सिद्ध करें, पुनः यही प्रक्रिया एक हजार बार अथवा सौ बार करें। इस विधि से निर्मित तैल के प्रयोग से वातरक्त (Gout) एवं वातव्याधियाँ दूर हो जाती हैं। यह तैल रसायन कार्य के लिए श्रेष्ठ होता है। यह इन्द्रियों को प्रसादित करता है, अर्थात् इसके प्रयोग से ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य सुचारु रूप से करती हैं। यह जीवन (जीवन को देने वाला), बृंहण (शरीर धातुओं को पुष्ट करने वाला), स्वर्य (स्वर को साफ रखने वाला), शुक्र एवं आर्तव जन्य दोषों को दूर करता है।

चक्रपाणि- 'बलाकषायेत्यादि' के द्वारा वर्णित तैल में तैल का अत्यधिक पाक होने से स्नेह क्षय को देखते हुए कुछ विद्वान १०० गुने अथवा १००० गुने द्रव (क्वाथ + दुग्ध) द्वारा एक ही बार में तैलपाक का निर्देश करते हैं। लेकिन यहाँ स्नेह की उतनी मात्रा का पाक करना चाहिए जो पकाने के बाद भी काफी कुछ बचे, अर्थात् स्नेहपाक में संभावित स्नेह क्षय को ध्यान में रखते हुए, शुरु में ही स्नेह की मात्रा बढ़ाकर ग्रहण करें, यह भाव है। [आचार्य की पाक सम्बन्धी यह आशंका है, जबकि ऐसा नहीं होता]

क्षीरं चात्र स्नेहवर्धकमस्ति- तैल को बार-बार दुग्ध द्वारा साधित करने पर दुग्ध के स्नेहांश के कारण **तैल में घृत** की मात्रा बढ़ती जाती है, [इसलिये यह शंका नहीं करनी चाहिए कि शतपाक अथवा सहस्रपाक के परिणाम स्वरूप स्नेह का क्षय होगा] अतः यहाँ हम आचार्य के ही वचन को प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। अथवा स्नेह क्षय को ध्यान में रखते हुए स्नेहपाक करते समय द्रवांश के कुछ शेष रहने पर ही स्नेह से कल्क (Paste) निकाल लेना चाहिए, ऐसा करने से पाक की तुलना में स्नेह की मात्रा ज्यादा रहती है। [कल्क निकाल लेने के बाद स्नेह को सम्यक् सिद्ध करके ही अग्नि पर से उतारना चाहिए।]

गुडूचीरसदुग्धाभ्यां तैलं द्राक्षारसेन वा। सिद्धं मधुककाश्मर्यरसैर्वा वातरक्तनुत् ॥१२१॥
आरनालाढके तैलं पादसर्जरसं शृतम्। प्रभूते खजितं तोये ज्वरदाहार्तिनुत् परम् ॥१२२॥

वातरक्त नाशक अन्य तैल-

१. गुडूची क्वाथ अथवा स्वरस - ४ भाग, गुडूची कल्क - १/४ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, तिलतैल - १ भाग ; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें।

२. द्राक्षारस - ४ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, तिल तैल - १ भाग, द्राक्षा कल्क - १/४ भाग के द्वारा विधिपूर्वक स्नेह को सिद्ध कर लें।

३. यष्टीमधु क्वाथ - ४ भाग, यष्टीमधु कल्क - १/४ भाग, तिलतैल - १ भाग, गोदुग्ध - १ भाग के द्वारा विधिपूर्वक स्नेह को सिद्ध करें।

४. काश्मर्य (गम्भारी) का क्वाथ - ४ भाग, गोदुग्ध - १ भाग, काश्मर्य (गम्भारी) का कल्क - १/४ भाग, तिल तैल - १ भाग, के द्वारा विधिपूर्वक स्नेह को सिद्ध कर लें।

ये चारो योग वातरक्त (Gout) को दूर करते हैं। अर्थात् इन तैलों का प्रयोग अभ्यङ्ग, नस्य, बस्ति एवं पान के रूप में करना चाहिए।

५. आरनाल (काञ्जी) - १ आढक, तिलतैल - १ प्रस्थ, कल्क - राल का कल्क - ४ पल। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध कर लें। इस तैल को जल के साथ मिश्रित कर मथानी से मथकर रख लें। इस जल मिश्रित तैल के सेवन करने से वातरक्त एवं दाह दूर हो जाता है।

चक्रपाणि- गुडूचीत्यादौ द्रवात् पादिकः स्नेह इति न्यायात् प्रस्थं तैलस्य भवति- क्वाथ से चतुर्थांश स्नेह के सिद्धान्त से यहाँ तैल की मात्रा - १ प्रस्थ ग्रहण करनी चाहिए। **खजितमिति** - मथानी से मथकर के। ॥१२१-१२२॥

Scanned by CamScanner

समधूच्छिष्टमाञ्जिष्ठं ससर्जरससारिवम् । पिण्डतैलं तदभ्यङ्गाद्वातरक्तरुजापहम् ।।१२३।।

इति पिण्डतैलम् ।

पिण्डतैल (Piṇḍataila)– मधूच्छिष्ट (मोम - Wax), मञ्जिष्ठा, सर्ज (राल) रस, अनन्तमूल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें । अब कल्क - १/४ भाग, जल - ४ भाग, तिलतैल - १ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध कर लें । इस तैल के प्रयोग से वातरक्तजन्य वेदना प्रशमित हो जाती है ।

चक्रपाणि– 'समधूच्छिष्टेत्यादि' के द्वारा **पिण्डतैल** का विवेचन किया गया है । मधूच्छिष्ट (Wax-मोम) आदि द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में करना चाहिए ।

पिण्डतैलभाषया चात्र वस्त्रपूतमेवैततैलं कर्तव्यमित्याहुः– पिण्डतैल के कथन से यहाँ वस्त्र द्वारा छाने गये इस तैल का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा कहा जाता है । किन्तु आढक काञ्जी द्वारा साधित तैल में ही सर्जरस के स्थान पर मधूच्छिष्ट (मोम) आदि प्रक्षेप डालने से पिण्डतैल बन जाता है । अर्थात् काञ्जी = १ आढक, तिलतैल - १ प्रस्थ, मधुच्छिष्ट (Wax-मोम), मजीठ, सर्जरस एवं अनन्तमूल के सम भाग से निर्मित कल्क - १/४ भाग (१६ तोला) [कल्क हेतु प्रत्येक द्रव्य ४-४ तोला ग्रहण करें ।] द्वारा साधित तैल पिण्डतैल कहा जाता है। यह निष्कर्ष आचार्य **जतूकर्ण** के कथन के आधार पर दिया गया है, यथा- "काञ्जिकसर्जरसशृतं खजितं बहुना जलेन सिक्थकसर्जरसैर्युक्तमभ्यञ्जनम्"- [काञ्जी एवं सर्जरस से साधित तैल में अत्यधिक जल मिलाकर मथानी से मथ ले । इस जल मिश्रित तैल (स्नेह) का प्रयोग **दाह** में करना चाहिए। अथवा इस तैल में अनन्ता, सिक्थ (Wax), सर्जरस मिलाकर अभ्यङ्ग करना चाहिए । तैल को गरम करने के बाद उसमें सिक्थ मिलावें, इससे Wax (मोम) पिघलकर तैल में मिश्रित हो जाता है, पश्चात् अनन्ता एवं सर्जरस मिलाना चाहिए । ठण्डा होने पर यह तैल मलहम जैसा (अवलेह जैसा) होता है । इसका प्रयोग अभ्यङ्ग हेतु करना चाहिए ।] ।।१२३।।

दशमूलशृतं क्षीरं सद्यः शूलनिवारणम् । परिषेकोऽनिलप्राये तद्वत् कोष्णेन सर्पिषा ।।१२४।।
स्नेहैर्मधुरसिद्धैर्वा चतुर्भिः परिषेचयेत् । स्तम्भाक्षेपकशूलार्तं कोष्णैर्दहि तु शीतलैः ।।१२५।।
तद्वद्व्याविकच्छागैः क्षीरैस्तैलविमिश्रितैः । क्काथैर्वा जीवनीयानां पञ्चमूलस्य वा भिषक् ।।१२६।।
द्राक्षेक्षुरसमद्यानि दधिमस्त्वम्लकाञ्जिकम् । सेकार्थे तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते ।।१२७।।
कुमुदोत्पलपद्माद्यैर्मणिहारैः सचन्दनैः । शीततोयानुगैर्दहि प्रोक्षणं स्पर्शनं हितम् ।।१२८।।
चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते क्षौमपद्मदलच्छदे । शयने पुलिनस्पर्शशीतमारुतवीजिते ।।१२९।।
चन्दनार्द्रस्तनकराः प्रिया नार्यः प्रियंवदाः । स्पर्शशीताः सुखस्पर्शा घ्नन्ति दाहं रुजं क्लमम् ।।१३०।।
सरागे सरुजे दाहे रक्तं विस्राव्य लेपयेत् । मधुकाश्वत्थवङ्मांसीवीरोदुम्बरशाद्वलैः ।।१३१।।
जलजैर्यवचूर्णैर्वा सयष्ट्याह्वपयोघृतैः । सर्पिषा जीवनीयैर्वा पिष्टैर्लेपोऽर्तिदाहनुत् ।।१३२।।
तिलाः प्रियालो मधुकं बिसं मूलं च वेतसात् । आजेन पयसा पिष्टः प्रलेपो दाहरागनुत् ।।१३३।।
प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठादार्वीमधुकचन्दनैः । सितोपलैरकासक्तुमसूरोशीरपद्मकैः ।।१३४।।
लेपो रुग्दाहवीसर्परागशोफनिवारणः । पित्तरक्तोत्तरे त्वेते, लेपान् वातोत्तरे शृणु ।।१३५।।
वातघ्नैः साधितः स्निग्धः सक्षीरमुत्पायसः । तिलसर्षपपिण्डैर्वाऽप्युपनाहो रुजापहः ।।१३६।।
औदकप्रसहानूपवेशवाराः सुसंस्कृताः । जीवनीयौषधैः स्नेहयुक्ताः स्युरुपनाहने ।।१३७।।
स्तम्भतोदरुगायामशोथाङ्गग्रहनाशनाः । जीवनीयौषधैः सिद्धा सपयस्का वसाऽपि वा ।।१३८।।
घृतं सहचरान्मूलं जीवन्ती च्छागलं पयः । लेपः पिष्टास्तिलास्तद्वद्बृष्टाः पयसि निर्वृताः ।।१३९।।
क्षीरपिष्टमुमालेपमेरण्डस्य फलानि च । कुर्याच्छूलनिवृत्त्यर्थं शताह्वामनिलेऽधिके ।।१४०।।
समूलाग्रच्छदैरण्डक्काथे द्विप्रास्थिकं पृथक् । घृतं तैलं वसा मज्जा चानूपमृगपक्षिणाम् ।।१४१।।
कल्कार्थे जीवनीयानि गव्यं क्षीरमथाजकम् । हरिद्रोत्पलकुष्ठैलाशताह्वाश्वहनच्छदान् ।।१४२।।
बिल्वमात्रान् पृथक् पुष्पं काकुभं चापि साधयेत् । मधूच्छिष्टपलान्यष्टौ दद्याच्छीतेऽवतारिते ।।१४३।।
शूलेनैषोऽर्दिताङ्गानां लेपः सन्धिगतेऽनिले । वातरक्ते च्युते भग्ने खञ्जे कुब्जे च शस्यते ।।१४४।।
शोफगौरवकण्डूवाद्यैर्युक्ते त्वस्मिन् कफोत्तरे । मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम् ।।१४५।।
पद्मकं त्वक् समधुकं सारिवा चेति तैर्घृतम् । सिद्धं समधुशुक्तं स्यात् सेकाभ्यङ्गे कफोत्तरे ।।१४६।।
क्षारस्तैलं गवां मूत्रं जलं च कटुकैः शृतम् । परिषेके प्रशंसन्ति वातरक्ते कफोत्तरे ।।१४७।।
लेपः सर्षपनिम्बार्ककिंस्राक्षीरतिलैर्हितः । श्रेष्ठः सिद्धः कपित्थत्वग्घृतक्षीरैः ससक्तुभिः ।।१४८।।
गृहधूमो वचा कुष्ठं शताह्वा रजनीद्वयम् । प्रलेपः शूलनुद्वातरक्ते वातकफोत्तरे ।।१४९।।
तगरं त्वक् शताह्वैला कुष्ठं मुस्तं हरेणुका । दारु व्याघ्रनखं चाम्लपिष्टं वातकफास्रनुत् ।।१५०।।
मधुशिग्रोर्हितं तद्बीजं धान्याम्लसंयुतम् । मुहूर्तं लिप्तमम्लैश्च सिञ्चेद्वातकफोत्तरम् ।।१५१।।

Scanned by CamScanner

त्रिफलाव्योषपत्रैलात्वक्क्षीरीचित्रकं वचाम् । विडङ्गं पिप्पलीमूलं रोमशं वृषकत्वचम् ।।१५२।।
ऋद्धिं तामलकीं चव्यं समभागानि पेषयेत् । कल्यं लिप्तमयस्पात्रे मध्याह्ने भक्षयेत्ततः ।।१५३।।
वर्जयेद्दधिशुक्तानि क्षारं वैरोधिकानि च । वातास्त्रे सर्वदोषेऽपि हितं शूलार्दिते परम् ।।१५४।।
बुद्ध्वा स्थानविशेषांश्च दोषाणां च बलाबलम् । चिकित्सितमिदं कुर्यादूहापोहविकल्पवित् ।।१५५।।

१. दशमूलसाधित क्षीर एवं घृत का प्रयोग– दशमूल के क्वाथ से साधित क्षीर अथवा दशमूल घृत के उष्ण परिषेक द्वारा वातज वातरक्त जन्य वेदना शीघ्र शान्त हो जाती है ।

२. चतुर्विध स्नेहों का प्रयोग– मधुर गण की औषधियों के कल्क एवं क्वाथ से साधित घृत, तैल, वसा एवं मज्जा के उष्ण परिषेक द्वारा वातरक्त जन्य जकड़ाहट (Stiffness) आक्षेप एवं शूल का विनाश हो जाता है । यदि रोगी के शरीर में भयङ्कर दाह (Burning sensation) हो रहा हो तब इन्हीं स्नेहों को ठण्ढा करके परिषेक कराना चाहिए ।

३. परिषेचनार्थ अन्य द्रवों का प्रयोग– वातरक्त रोगी के शरीर में दाह होने पर– गाय, भेड़ या बकरी के दूध में तैल मिलाकर अथवा जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ में तैल मिलाकर अथवा लघुपञ्चमूल के क्वाथ में तैल मिलाकर चिकित्सक रोगी का परिषेचन करावे । अथवा परिषेचनार्थ द्राक्षारस (अंगूर का रस), इक्षुरस, मद्य, दधि का पानी, अम्ल रस युक्त काञ्जी, तण्डुलोदक, मधूदक या शर्करा मिश्रित जल का प्रयोग करना विशेष हितकर होता है ।

४. वातरक्त जन्य दाह की शान्ति हेतु कुमुदनी के पुष्प, उत्पल (नीलकमल), पद्म (लालकमल का पुष्प), मणियों, हार एवं चन्दन के जल से आतुर के शरीर को पोछना अथवा स्पर्श करना चाहिए।

५. चन्द्रमा की शीतल किरणें, शीतल जल से भीगा हुआ क्षौम वस्त्र, पद्मदल से आच्छादित खाट (चारपायी) जो नदी के किनारे हो, जहाँ शीतल हवा बहती हो, अथवा चन्दन से आर्द्र (गीली) हाथ व स्तन वाली स्त्रियाँ, जो प्रिय बोलती हों उनका शीतल स्पर्श अथवा सुखकर स्पर्श दाह, वेदना एवं क्लम को शान्त करता है । अर्थात् इन भावों के स्पर्श से वातरक्त रोगी के दाह, वेदना एवं क्लम की शान्ति हो जाती है ।

६. दाह नाशक लेपों का प्रयोग– यदि रोगी के शरीर में राग (लालिमा Redness), रुजा एवं दाह (Burning sensation) हो रहा हो तब रक्त का स्राव कराकर के प्रभावित भाग में अधोलिखित लेपों को लगाना चाहिए–

(क) यष्टीमधु (मुलेठी), अश्वत्थ (पीपल=बोधिवृक्ष), त्वक् (दालचीनी), जटामांसी, वीरा (क्षीरकाकोली), उदुम्बर की छाल एवं शाद्वल (हरी दूर्वा); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर लेप बना लें ।

(ख) अथवा जलीय द्रव्यों की पत्तियों को पीसकर लेप लगावें ।

(ग) यष्टीमधु चूर्ण, दूध, घृत एवं यव का आटा; को मिलाकर लेप बना लें एवं इसका लेप प्रभावित भाग पर करें।

(घ) जीवनीय गण की औषधियों को दूध या घृत के साथ पीस कर लेप बना लें अथवा जीवनीय गण की औषधियों से साधित घृत का लेप प्रभावित भाग पर करें ।

ये सभी लेप वातरक्तजन्य वेदना एवं दाह को शान्त करते हैं ।

तिलादि लेप– तिल, प्रियाल (चिरौंजी), यष्टीमधु, बिस (कमलडंडी) एवं वेतस की जड़; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर बकरी के दूध के साथ पीसकर कल्क (Paste) जैसा बना लें । इस कल्क का लेप प्रभावित भाग पर करें । इसके प्रयोग से दाह एवं राग (Redness) दोनों ही समाप्त हो जाते हैं ।

प्रपौण्डरीकादिलेप– प्रपौण्डरीक (पुण्यरियाकाठ), मञ्जिष्ठा, दार्वी (दारुहल्दी), मधुक (यष्टीमधु), चन्दन, सिता (मिसरी), एरक (होग्गल), सक्तू (सत्तू-चने का सत्तू), मसूर (मसूर की दाल), उशीर (खश), पद्मक (पद्मकाठ); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर अथवा बकरी के दूध के साथ पीसकर कल्क बना लें । इस लेप का प्रयोग रक्त पित्त प्रधान वातरक्त में करने से व्याधिजन्य वेदना (Pain), दाह, विसर्प (Erysipelas), राग (Redness) एवं शोथ (Swelling) दूर हो जाता है । उपरोक्त लेपों का प्रयोग रक्त एवं पित्त जन्य वातरक्त में विशेष रूप से करना चाहिए ।

वातज वातरक्त (वात प्रधान वातरक्त) में उपयोगी लेप– हे अग्निवेश । अब आगे वात प्रधान वातरक्त में प्रयुक्त लेपों का वर्णन किया जा रहा है, उसे सुनो–

(१) वातनाशक द्रव्यों द्वारा साधित क्षीर से निर्मित मूँग की खीर (पायस) अथवा तिल व सर्षप (सरसों) के कल्क में घृत मिलाकर

Scanned by CamScanner

पिण्ड बना लें। इस पिण्ड का उपनाह **वातरक्त रोगी** में करने से वातरक्तजन्य वेदना शान्त हो जाती है, अर्थात् खीर एवं तिलकल्क का उपनाह वातरक्तजन्य वेदना का नाशक होता है ।

(२) औदक (जलीय), आनूप (जहाँ वर्षा ज्यादा होती हो, ऐसे क्षेत्र में रहने वाले प्राणि), प्रसह (बाज आदि) पशु-पक्षियों के मांस से निर्मित वेसवार में जीवनीय गण की औषधियों का कल्क व स्नेह (घृत, तैल, वसा अथवा मज्जा) मिलाकर लेप जैसा बना लें। वातरक्त प्रभावित भाग पर इस लेप का उपनाह (Poultice) बाँधने से अंगों की जकड़ाहट (Stiffness of the joints), तोद (सूई चुभोने जैसी वेदना का होना), तनाव (खिचावट) एवं शोथ (Swelling) आदि नष्ट हो जाते हैं । अथवा जीवनीय गण की औषधियों को दूध के साथ पीसकर कल्क बना लें, इस कल्क में वसा मिलाकर प्रभावित भाग पर उपनाह बाँधे । इसके प्रयोग से अङ्गों की जकड़ाहट (Stiffness of the limbs) शरीर में सुई चुभोने जैसी पीड़ा का होना आदि उपद्रव दूर हो जाते हैं ।

३. सहचरमूल (कटसरैया की जड़) एवं जीवन्ती को दूध (बकरी के दूध) के साथ पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क में घृत मिलाकर प्रभावित भाग पर लेप लगावें । इसी प्रकार तिल को बकरी के दूध में भिगों दें, बाद में उस तिल को दूध के साथ पीसकर उसमें कुछ घृत मिलाकर लेप लगावें ।

वेदना नाशक योग– वातरक्त में होने वाले शूल (वेदना) की शान्ति हेतु निम्नलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए–

(क) आजा दुग्ध में उमा (तीसी) को भिगो दें । फूल जाने पर दूध के साथ पीस कर कल्क (Paste) बना लें ।

(ख) बकरी के दूध में एरण्डबीज को भिगोकर कल्क बनावें एवं इसका लेप करें ।

(ग) बकरी के दूध में सौंफ को पीसकर कल्क बनावें एवं इसका लेप करें । इन लेपों के प्रयोग से वातरक्त में वृद्ध वातजन्य वेदना शान्त हो जाती है ।

(घ) एरण्डमूलादि प्रलेप– एरण्डमूल एवं एरण्ड के कोमल पत्र से निर्मित क्वाथ (Decoction) में अलग-अलग घृत, तैल, वसा (आनूप पशु-पक्षियों की वसा) एवं मज्जा (आनूप पशु-पक्षियों की मज्जा) २-२ प्रस्थ डालें तथा कल्क के रूप में जीवनीय गण की दस औषधियाँ (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, सौफ, कनेर की पत्ती एवं अर्जुन की छाल; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल डालकर पाक करें, क्वाथ का जलीयांश कम हो जाने पर उसमें क्रमशः गाय एवं बकरी का दुग्ध डालकर पुनः पकावें। स्नेह के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें । इस छने हुए स्नेह में आठ पल मोम मिला दें । उष्ण तैल में ही मोम मिलाना चाहिए। मोम मिलाने से स्नेह गाढ़ा हो जाता है । इसके बाद तैल को ठण्डा करके सुरक्षित रख लें ।

उपयोग– अर्दित जन्य शूल, सन्धिगत वात, वातरक्त, अस्थिच्युत (संधियों का अपने स्थान से हट जाना), अस्थि भग्न (Fractures of bones), खञ्ज (Lameness) एवं कुब्ज (Hunch-Back) में इस तैल का लेप लगाना हितकर होता है ।

कफज वातरक्त में उपयोगी योग– कफ प्रधान वातरक्त में यदि शोथ (Swelling), शरीर में भारीपन (Heaviness of the body), एवं कण्डू (Itching) आदि उपद्रव उत्पन्न हों तब रोगी को मूत्र, क्षार एवं सुरा द्वारा साधित घृत का अभ्यङ्ग कराना विशेष हितकारी होता है।

१. पद्मकादि घृत– पद्मक (पद्मकाठ), त्वक् (दालचीनी त्वक्), मधुक (यष्टीमधु) तथा अनन्तमूल; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क १/४ भाग, गोघृत- १ भाग, मधुशुक्त-४ भाग; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध कर लें। इस घृत का प्रयोग कफ प्रधान वातरक्त में परिषेक एवं अभ्यङ्ग के रूप में करना विशेष उपयोगी है ।

२. क्षार, तैल, गोमूत्र, जल व कटु आदि द्रव्यों द्वारा साधित तैल का प्रयोग कफ प्रधान वात रक्त में परिषेक के रूप में करना चाहिए, अर्थात् इस तैल का परिषेक (शरीर पर छिड़काव) कराना चाहिए ।

३. सर्षपादि लेप– सर्षप (सरसों), नीम की पत्ती, अर्क (मदार) समान मात्रा में लेकर गोदुग्ध के साथ पीसकर कल्क बना लें । इस कल्क का लेप कफ प्रधान वातरक्त में प्रभावित भाग पर करें ।

४. कपित्थादि लेप– कपित्थ (कैथ) की छाल, घृत, दुग्ध व सक्तू; सभी द्रव्यों को आपस में मिलाकर एवं पीसकर लेप बना लें। इस लेप का प्रयोग कफ प्रधान वातरक्त के रोगी में करना चाहिये ।

वातकफप्रधान वातरक्त में उपयोगी योग– वात कफ प्रधान वातरक्त में– गृहधूम (घर का धुआ), वचा, कूठ, शताह्वा (सोया), हल्दी एवं दारुहल्दी; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें । इस कल्क का लेप वातकफ प्रधान शूल में करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

१. तगरादि लेप– तगर, त्वक् (दालचीनी), शताह्वा (सौंफ), एला (छोटी इलायची), कुष्ठ (कूठ), मुस्तक (मोथा), हरेणुका, दारु (देवदारु) व नखी सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर खट्टी काँजी के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का लेप करने से वात, कफ व रक्त जन्य पीड़ा शान्त हो जाती है।

२. मधुशिग्रु लेप– मीठे सहिजन के बीज को काञ्जी (धान्याम्ल) के साथ पीस कर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का लेप वातकफ प्रधान वातरक्त में करें। बाद में लेप को हटाकर काञ्जी से प्रभावित भाग का परिषेचन करें। इस लेप का प्रयोग एक मुहूर्त तक करना चाहिए।

३. त्रिफलादि कल्क– हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, पत्र (तेजपत्र), एला (छोटी इलायची), त्वक् (दालचीनीत्वक्), क्षीरी (वंशलोचन), चित्रकमूल, वचा, विडङ्ग, पिप्पलीमूल, रोमश (कर्सास), वृषकत्वचा (अडूसा की छाल), ऋद्धि, तामलकी (भूम्यामलकी) एवं चव्य; इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क को प्रातः काल लोहे के पात्र की अन्तः तल में लेप दें। मध्याह्न में इस कल्क को पात्र से हटा कर सेवन करें। कल्क सेवन काल में दही, शुक्त (सिरका), क्षार एवं विरुद्ध भोजन का त्याग करें। इस कल्क के सेवन करने से त्रिदोषज शूल (वातरक्तजन्य) प्रशमित हो जाता है। अर्थात् त्रिदोषजन्य वातरक्त के शूल को दूर करने में यह योग अत्यन्त उपयोगी है।

सामान्य निर्देश– ऊहापोह का ज्ञान रखने वाले अर्थात् तर्क युक्त चिकित्सक को वातरक्त में दोषों के बलाबल एवं स्थान विशेष का ज्ञान रखते हुए निर्दिष्ट चिकित्सा विधियों (उपक्रमों) का पालन करना चाहिये।

चक्रपाणि– मधुरसिद्धैरिति- जीवनीय गण की औषधियों से साधित स्नेहों के द्वारा, अर्थात् जीवनीय गण की औषधियों के कल्क व क्वाथ द्वारा निर्मित घृत, तैल, वसा एवं मज्जा का प्रयोग परिषेक, अभ्यङ्ग, नस्य, पान एवं बस्ति के रूप में करना चाहिए।

सेकार्थे तण्डुलक्षौद्रशर्कराम्बु च शस्यते– इस वाक्य में 'अम्बु' शब्द तण्डुल, क्षौद्र व शर्करा प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है। इस प्रकार तण्डुलाम्बु (तण्डुलोदक = चावल का धोवन), क्षौद्रोदक (मधु का शर्बत) एवं शर्कराम्बु (चीनी का शर्बत) अर्थ निकलता है। इन द्रवों का प्रयोग पित्त प्रधान वातरक्त प्रभावित भाग को धोने के लिए करें।

शीततोयानुगैरिति शीततोयसिक्तैः– कुमुद, उत्पल, पद्म व मणियों की माला का दाह युक्त रोगी को धारण करना चाहिए, अथवा चन्दनादि द्वारा साधित शीतल जल का प्रभावित भाग पर छिड़काव करें। **[अर्थात् दाह युक्त वातरक्त के रोगी को इन द्रव्यों से साधित जल से स्नान आदि कराना चाहिए।] चन्द्रपादाम्बुसंसिक्ते इति तुषारजलसिक्ते–** तुषार के जल द्वारा प्रभावित भाग (दाह युक्त भाग) को धोना अथवा छिड़कना। [ओस की बूदों को लगाना]। पुलिन = नदी का किनारा। **पुलिनस्पर्शेन शीतो मारुतः-** नदी के किनारे बैठकर अथवा चारपायी बिछाकर उस पर सोते हुए, वहाँ बहने वाली शीतल हवाओं का आनन्द लेना (नदी के किनारे को स्पर्श करती हुई बहने वाली शीतल हवा का सेवन)। यहाँ विजिते से शयन अर्थ लिया गया है, यहाँ शयनास्य शब्द अवशेष है। अर्थात् इसको जोड़कर अर्थ ग्रहण करना चाहिए, जिसका भाव- नदी के किनारे चारपाई बिछाकर उस पर सोते हुए अथवा बैठकर वहाँ बहने वाली शीतल हवाओं के सेवन से है।

एरका = होग्गल। **पयसि निर्वृता इति क्षीरे निर्वापिताः-** दूध में भिगोकर, अर्थात् तिल को दूध में भिगोकर फुला लें, पश्चात् फुले हुए तिल को दूध के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का लेप वात प्रधान वातरक्त के रोगी में करें।

उमा = अतसी (अलसी)। **अग्रच्छदाः तरुणपत्राणि–** एरण्ड के तरुण (पुष्ट) पत्र, पाठभेद से **'अग्रच्छदाः'** के स्थान पर वरुणच्छदा प्राप्त होता है, जिसका अर्थ **'वरुणपत्र'** लिया गया है। 'मूत्रक्षारसुरापक्वं घृतमभ्यञ्जने हितम्' सूत्र में क्षार से क्षारोदक अर्थ लिया गया है। **अम्लैरिति** अम्ल रस युक्त काञ्जी अथवा खट्टी काञ्जी के द्वारा। रोमश = कर्सास। कल्यः = प्रातःकाल। 'बुद्धवेत्यादि' के द्वारा वातरक्त की अवस्था के अनुसार संक्षेप में चिकित्सा बतलायी गयी है। **ऊहापोहविकल्पविदिति–** पूर्व वर्णित चिकित्सा विधियों का ऊहापोह पूर्वक (तर्क पूर्वक = युक्ति पूर्वक) प्रयोग करना, अर्थात् युक्तिज्ञ चिकित्सक को युक्तिपूर्वक निर्दिष्ट (पूर्व वर्णित) चिकित्सा विधियों का प्रयोग वातरक्त के रोगी में दोषों के स्थान एवं बलावल का विचार करते हुए करना चाहिए।

कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसो वा कफस्य वा। अतिवृद्ध्याऽनिले नादौ शस्तं स्नेहनबृंहणम् ।।१५६।।
व्यायामशोधनारिष्टमूत्रपानैर्विरेचनैः। तक्राभयाप्रयोगैश्च क्षपयेत् कफमेदसी ।।१५७।।
बोधिवृक्षकषायं तु प्रपिबेन्मधुना सह। वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम् ।।१५८।।
पुराणयवगोधूमसीध्वरिष्टसुरासवैः। शिलाजतुप्रयोगैश्च गुग्गुलोर्माक्षिकस्य च ।।१५९।।

Scanned by CamScanner

आवरण की चिकित्सा (Treatment of Āvarana in Vātarakta)–१. इस व्याधि में कफ अथवा मेद के द्वारा वृद्ध वायु का मार्ग आवृत (अवरुद्ध) हो जाने से वायु और अधिक प्रकुपित हो जाती है। ऐसी अवस्था में प्रारम्भ में वातनाशक स्नेहन व बृंहण चिकित्सा नहीं करना चाहिए।

२. कफ व मेदनाशक उपाय– कफ व मेद से आवृत वातरक्त के रोगी में– व्यायाम, शोधन (वमन-विरेचन अथवा दीपन, पाचन योगों का प्रयोग), अरिष्ट, गोमूत्रपान, तक्र एवं हरीतकी के प्रयोग द्वारा कफ व मेद का क्षय कराना चाहिए।

३. बोधिवृक्षत्वक् कषाय का पान– पीपल (बोधिवृक्ष) के छाल से निर्मित क्वाथ (Decoction) में मधु मिलाकर रोगी को पीना चाहिए। इसके प्रयोग से भयङ्कर त्रिदोषज वातरक्त भी शीघ्र ही दूर हो जाता है।

४. वातरक्त नाशक अन्य द्रव्य– पुराना यव, गेहूँ, सीधु (सिरका), अरिष्ट, सुरा, आसव, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु एवं मधु के नित्य प्रयोग से वातरक्त प्रशमित हो जाता है।

चक्रपाणि– 'कुपित' इत्यादि के द्वारा आवृतवात के मार्ग के शोधन के उपाय को बताया गया है। **मेदसः कफस्य वा अतिवृद्ध्या कृतात् मार्गसंरोधादनिले कुपिते सति आदौ स्नेहनं तथा बृंहणं च न शस्तमिति–** कफ अथवा मेद के अति वृद्ध हो जाने के कारण वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से प्रकुपित वायु में पहले स्नेहन व बृंहण कराना हितकर नहीं है। अतः स्नेहन व बृहणं चिकित्सा के निषेध की अवस्था में चिकित्सक को क्या करना चाहिए, इसे यहाँ 'व्यायामेत्यादि' से लेकर 'माक्षिकस्य च' तक स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इस अवस्था में व्यायाम, शोधन, अरिष्टपान, गोमूत्रपान आदि कफ व मेदनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। ॥१५६-१५९॥

गम्भीरे रक्तमाक्रान्तं स्याच्चेत्तद्वातवज्जयेत्। पश्चाद्वाते क्रियां कुर्याद्वातरक्तप्रसादनीम् ॥१६०॥

वातावृत वातरक्त की चिकित्सा (Treatment of Vātāvṛita Vātarakta)– गम्भीर वातरक्त में यदि रक्त वायु द्वारा आवृत हो, अर्थात् वायु बढ़कर रक्त को आवृत्त (अवरुद्ध) कर रही हो तब ऐसी अवस्था में वातव्याधि की तरह वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। वात के आवरण के दूर हो जाने पर वातरक्त नाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– गम्भीरे इति अवगाढ़े अनुत्ताने वातरक्ते- गम्भीर धातुओं में व्याप्त वातरक्त में। **रक्तमाक्रान्तमिति अभिभूतं वायुना वातवज्जयेदिति-** बढ़ी हुई वायु द्वारा रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने पर चिकित्सक को वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। इस चिकित्सा के बाद क्या करना चाहिए ? इसका स्पष्टीकरण 'पश्चाद्वातेत्यादि' के द्वारा दिया गया है।

कफमेदोवृते एव निर्जितकफमेदसि वाते वातरक्तप्रसादिनी क्रिया अत्रैवोक्तस्नेहप्रयोगादिका कार्या;- वायु द्वारा कफ व मेद के आवृत होते ही कफ व मेद के प्रशमित करने के बाद ही वात वृद्धि में वात व रक्त नाशक चिकित्सा जो पूर्व में बतायी गयी है, यथा– स्नेह प्रयोग आदि करना चाहिए। वात द्वारा रक्त का आवृत होना प्रायः गम्भीर वातरक्त में ही होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए 'गम्भीरे' शब्द का प्रयोग किया गया है। गम्भीर धातुओं के अनुगत वातरक्त में रक्त की मात्रा अल्प होती है, अथवा अधिक नहीं होती, इस कारण वायु द्वारा रक्त का मार्ग आवृत हो जाता है। उत्तान (Superficial) वातरक्त में रक्त वृद्ध रहता है अर्थात् रक्त की मात्रा बढ़ी रहती है, क्योंकि दूसरी त्वचा रक्तधरा कला की होती है, जिसका स्थान त्वचा है। इस प्रकार उत्तान वातरक्त में रक्त बली रहता है, क्योंकि रक्त अपने बाह्य स्थान में रहता है [अतः यहाँ रक्त द्वारा वायु का मार्ग आवृत होता है, समझना चाहिए।] ॥१६०॥

रक्तपित्तातिवृद्ध्या तु पाकमाशु नियच्छति। भिन्नं स्रवति वा रक्तं विदग्धं पूयमेव वा ॥१६०॥
तयोः क्रिया विधातव्या भेदशोधनरोपणैः। कुर्यादुपद्रवाणां च क्रियां स्वां स्वाच्चिकित्सितात् ॥१६२॥

वातरक्त की आवस्थिक चिकित्सा– वातरक्त में रक्त व पित्त के अत्यधिक बढ़ जाने पर व्याधि से आक्रान्त शरीर का भाग शीघ्र ही पककर फूटने लगता है। स्फोट से विदग्ध रक्त अथवा पूय (Pus) का स्राव होने लगता है। अतः इस अवस्था में पाक अथवा पूयस्राव होने पर व्रणवत् चिकित्सा, यथा- भेदन, शोधन एवं रोपण का प्रयोग करना चाहिए। यदि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं तब उपद्रवों की जो चिकित्सा उनके चिकित्सा प्रकरण में बतायी गयी है, उनका प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'रक्तेत्यादि' के द्वारा वातरक्त की अवस्थानुसार चिकित्सा का वर्णन किया गया है। **रक्तवृद्ध्या पित्तवृद्ध्या चेति–** वातरक्त में रक्त व पित्त के अत्याधिक बढ़ने पर अथवा दूषित होने पर 'पाकं नियच्छति' के साथ 'वातरक्तम्' भी संयुक्त है, अर्थात् वातरक्त में पाक उत्पन्न हो जाता है।

तयोरित्यादि से– बढ़े हुए पित्त एवं रक्त के कारण वातरक्त में पाक की प्रवृत्ति का उत्पन्न होना, अर्थ गृहीत है।

'कुर्यादित्यादि' के द्वारा उपद्रव की चिकित्सा का सामान्य निर्देश संक्षेप में किया गया है।

Scanned by CamScanner

तत्र श्लोकाः–

हेतुः स्थानानि मूलं च यस्मात् प्रायेण सन्धिषु । कुप्यति प्राक् च यद्रूपं द्विविधस्य च लक्षणम् ।।१६३।।
पृथग्भिन्नस्य लिङ्गं च दोषाधिक्यमुपद्रवाः । साध्यं याप्यमसाध्यं च क्रिया साध्यस्य चाखिला ।।१६४।।
वातरक्तस्य निर्दिष्टा समासव्यासतस्तथा । महर्षिणाऽग्निवेशाय तथैवावसिकी क्रिया ।।१६५।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते चिकित्सितस्थाने
वातशोणितचिकित्सितं नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ।।२९।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस वातशोणितचिकित्सा नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने शिष्य अग्निवेश के लिए वातरक्त से सम्बन्धित निम्नलिखित विषयों का वर्णन किया है–

(१) वातरक्त के हेतु, स्थान एवं मूल का वर्णन (Etiology, location and root of the disease)

(२) जिस कारण से यह व्याधि संधियों में प्रकुपित होती है, उसका विवेचन ।

(३) वातरक्त के पूर्वरूप (Premonitory signs and symptoms of vātarakta)

(४) दोनों प्रकार के वातरक्त (उत्तान एवं गम्भीर) के लक्षण ।

(५) दोषभेद से होने वाले वातरक्त के अलग-अलग रूपों का विवेचन ।

(६) दोषाधिक्य से होने वाले उपद्रव (Complications)।

(७) वातरक्त की साध्यता, याप्यता एवं असाध्यता का विवेचन ।

(८) साध्यवातरक्त की चिकित्सा तथा अदस्थानुसार व्याधि की चिकित्सा का विवेचन ।

उपरोक्त सभी विषयों का विवेचन भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इस अध्याय में संक्षेप एवं विस्तार से किया है ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल संपूरित चिकित्सास्थान में वातशोणित चिकित्सा नामक उन्तीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि– 'हेतुः स्थानानीति' के द्वारा उपसंहार में दोषों की अधिकता से होने वाले उपद्रव, वातरक्त की साध्यता, याप्यता एवं असाध्यता का संग्रह क्रम विपरीत किया गया है । उपद्रवों के अभाव, भाव एवं अल्पता के द्वारा व्याधि की साध्यता, असाध्यता एवं याप्यता को बताया गया है । ॥१६३-१६५॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में वातरक्त चिकित्सा नामक उन्तीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

त्रिंशोऽध्यायः ।

अथातो योनिव्यापच्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे योनिव्यापत् चिकित्सा की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥१-२॥

चक्रपाणि– वातरक्त चिकित्सा के अनन्तर अवशेष रूप होने से तथा वात से उत्पन्न होने के कारण योनिव्यापत् चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है । कहा भी गया है, यथा– "न हि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदूष्यति" इति [स्त्रियों की योनि वात के बिना विशेष रूप से दूषित नहीं होती, अर्थात् विशेष दुष्टि में वात मुख्य हेतु है ।] ॥१-२॥

दिव्यतीर्थौषधिमतश्चित्रधातुशिलावतः । पुण्ये हिमवतः पार्श्वे सुरसिद्धर्षिसेविते ।।३।।
विहरन्तं तपोयोगात्तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम् । पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽनु पृष्टवान् ।।४।।
भगवन् ! यदपत्यानां मूलं नार्यः परं नृणाम् । तद्विघातो गदैश्चासां क्रियते योनिमाश्रितैः ।।५।।
तस्मात्तेषां समुत्पत्तिमुत्पन्नानां च लक्षणम् । सौपधं श्रोतुमिच्छामि प्रजानुग्रहकाम्यया ।।६।।
इति शिष्येण पृष्टस्तु प्रोवाचर्षिवरोऽत्रिजः । विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।।७।।
मिथ्याचारेण ता स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च । जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक् ।।८।।

विषयारम्भ– दिव्य तीर्थ (नदियाँ अथवा नदियों के बने घाट), औषधियों, अनेक वर्ण युक्त धातुओं एवं शिलाओं से युक्त पुण्यदायी हिमवत पार्श्व में देवता, सिद्ध एवं ऋषियों द्वारा सेवित, तप एवं योग के बल से तत्त्वज्ञान को जानने में समर्थ, जितेन्द्रिय; ऐसे भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से शिष्य आग्निवेश ने विनय पूर्वक अपने प्रश्नों को पूछा ।

अग्निवेश के प्रश्न– हे भगवान् ! मनुष्य की संतानों का परं मूल मुख्य कारण स्त्रियाँ बतायी गयी हैं । उन स्त्रियों की योनि में आश्रित रोगों द्वारा संतान का विघात हो जाता है, अर्थात् योनि की विकृति के कारण संतान नहीं हो पाता। इसलिये योनि प्रदेश में होने वाली व्याधियों का कारण (Etiology), लक्षण (Signs and symptoms) एवं उनकी चिकित्सा को प्रजा कल्याण की कामना (लोक कल्याण की कामना) से मैं सुनने की इच्छा रखता हूँ, अर्थात् आपसे मैं जानना चाहता हूँ ।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उत्तर– शिष्य अग्निवेश के ऐसा कहने पर अत्रि पुत्र आत्रेय ने कहा– हे अग्निवेश! रोग संग्रह नामक अध्याय (सू.अ.१९) में बीस प्रकार के **योनि व्यापद्** का निर्देश किया जा चुका है, अर्थात् योनिव्यापद् बीस प्रकार के होते हैं ।

योनिव्यापत् रोग के निदान– १. मिथ्या आहार-विहार, २. आर्तव का दूषित होना, ३. बीज दोष (शुक्र दुष्टि), ४. दैव (भाग्य का विपरीत होना); इन चार कारणों द्वारा बीस प्रकार के योनिरोग (योनिव्यापत्) होते हैं । उनके अलग-अलग लक्षणों को मुझसे सुनो–

चक्रपाणि– दिव्यानि तीर्थानि– दिव्य तीर्थों (गंगा आदि नदियों के प्राकृतिक घाट), अर्थात् जहाँ गंगा आदि नदियों के मनोहारी घाट हों एवं जहाँ दिव्य औषधियाँ पायी जाँय, दिव्य औषधियों से यहाँ ब्रह्म सुवर्चला, ऐन्द्री आदि औषधियों का ग्रहण किया गया है । अर्थात् हिमालय के जिस क्षेत्र में नदियों के प्राकृतिक घाट हों एवं जहाँ दिव्य औषधियाँ पायी जाती है उस क्षेत्र को **दिव्य तीर्थौषधि** कहा गया है । चित्र धातु– अनेक वर्ण युक्त धातुएं ।

तत्त्वज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन अर्थान् द्रष्टुं शीलं यस्य तं तत्त्वज्ञानार्थदर्शिनम्– तत्त्वज्ञान (सम्यक् ज्ञान) के द्वारा जो विषयों को देखने अथवा समझने में समर्थ हो उसे **तत्त्वज्ञानार्थदर्शी** कहा जाता है। मूल से यहाँ 'कारण' अर्थ लिया गया है । **तद्विघात इति अपत्यकारणविघातः-** अपत्य उत्पादक कारण (पुत्रोत्पादक कारण = स्त्री की योनि) के विघात से, अर्थात् योनिजन्य व्याधियों के कारण योनि के विकृत होने से उसके आश्रित होने वाला अपत्य (संतान) भी विकृत अथवा नष्ट हो जाता है । **तेषामिति–** योनि रोगों का । समुत्पत्तिमिति = उत्पत्ति का कारण, योनि रोगों के उत्पादक कारण (Etiological factors of the Yoni roga) । कार्ये कारणोपचारात् = कारण के उपचार (कथन) से कार्य का ग्रहण होना ।

रोग संग्रहे इति– अष्टोदरीय नामक अध्याय में (सू.अ.१९) बीस प्रकार के योनिव्यापद् का उल्लेख किया गया है ।

मिथ्याचारेण– असम्यक् आहार-विहार के द्वारा । प्रदुष्टेनार्तवेनेति-आर्तव के अत्याधिक दूषित होने से, योनिव्यापद् उत्पन्न हो जाता है । **बीजदोषादिति-** आर्तवगत बीज के दूषित होने पर, इसका विवेचन आगे किया जायेगा। दैवादिति = दैव कारण से अर्थात् पूर्वजन्म कृत अधर्म के द्वारा ।

Scanned by CamScanner

एतेषां च यथायोग्यतया कारणत्वमग्रे वक्ष्यमाणकारणत्वभेदेन योनिव्यापत्सूज्ञेयम्– इन कारणों को यथायोग्य ग्रहण करना चाहिये, जिनका ज्ञान आगे कारणानुसार विवेचित योनि भेदों के आधार पर करना चाहिए ।

दैव रूप कारण को सब जगह साधारण कारण के रूप में माना गया है । विशिष्ट दृष्ट कारण के न होने पर अथवा अविद्यमान होने पर कार्य को देखकर इसका (दैव) का अनुमान किया जाता है, अर्थात् विशिष्ट उत्पादक हेतु के अभाव में व्याधि की उत्पत्ति को देखकर इसका (दैव रूप कारण का) अनुमान लगाया जाता है । ॥३-८॥

वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः । विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम् ॥९॥
स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा । करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान् ॥१०॥
सा स्यात् सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवाऽनिलात् । व्यापत्कद्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत् ॥११॥
दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा । भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता ॥१२॥
कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद्दूषयेत् स्त्रियाः । सकुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूमस्ताल्पवेदनाम् ॥१३॥
पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम् । समश्नन्त्या रसान् सर्वान्दूषयित्वा त्रयो मलाः ॥१४॥
योनिगर्भाशयस्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः । सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥१५॥

वातज योनिव्यापद् के लक्षण– वात प्रकृति वाली स्त्री यदि वात प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करती है तब प्रकुपित वायु उसकी योनि में आश्रित होकर-तोद (सुई चुभोने जैसी वेदना), वेदना, योनिशूल, स्तम्भ (योनि में जकड़ाहट), योनि में चींटियाँ चल रहीं हैं, ऐसी प्रतीति का होना, शुष्कता (योनि का शुष्क होना), सुप्ति (Numbness), शरीर में थकावट का होना, इसके अतिरिक्त अन्य वातज व्याधियों को उत्पन्न करती है । इससे निकलने वाला आर्तव (Menstrual discharge) फेनयुक्त (झाग युक्त), तनु (thin) एवं रूक्ष होता है, जो कि शब्दयुक्त एवं वेदना के साथ निकलता है ।

२. पित्तज योनिव्यापद् के लक्षण– कटु, अम्ल, लवण एवं क्षार आदि अन्न-पान, जो पित्त वर्धक हों, के सेवन करने से पित्तज योनिव्यापद् रोग की उत्पत्ति होती है। इससे योनि में दाह (Burning sensation), पाक (Suppuration) तथा उष्णता की प्रतीति होती है। रोगी ज्वर से पीड़ित रहता है । योनि से निकलने वाला आर्तव स्राव-नील, पीत अथवा कृष्ण वर्ण युक्त होता है । यह आर्तव स्राव भयङ्कर रूप से उष्ण तथा उससे सड़े हुए मुर्दे के समान गन्ध निकलती रहती है ।

३. कफज योनिव्यापद् के लक्षण– कफ वर्धक (अभिष्यन्दि) अन्न-पान के अत्याधिक सेवन करने से प्रकुपित कफ स्त्री की योनि को दूषित कर देता है, परिणाम स्वरूप उसकी योनि पिच्छिल (चिपचिपी), शीतल, कण्डू युक्त तथा अल्प वेदना युक्त होती है, अर्थात् योनि से पिच्छिल स्राव निकलता है, योनि स्पर्श करने पर ठण्ढी रहती है तथा उसमें खुजली एवं अल्प वेदना होती है । स्त्री पाण्डु वर्ण युक्त (रक्ताल्पता से युक्त-पाण्डु वर्ण युक्त) हो जाती है । योनि से निकलने वाला स्राव-पाण्डुवर्ण युक्त एवं पिच्छिल होता है ।

४. त्रिदोषज योनिव्यापद् के लक्षण– जो स्त्री सर्व रस युक्त आहार अत्याधिक मात्रा में करती है तब उसके शरीर एवं गर्भाशय में रहने वाले तीनों दोष प्रकुपित होकर योनि को दूषित करते हुए अपने लक्षणों से योनि को युक्त कर देते हैं । इस व्यापद् में योनि में शूल व दाह होता है, साथ-साथ योनि से निकलने वाला आर्तव श्वेत एवं पिच्छिल गुण युक्त होता है ।

चक्रपाणि– 'वातलेत्यादौ वातलाया इति' विशेषण के द्वारा वातिक योनिव्यापद् की उत्पत्ति को बताया गया है । (यह विवेचन वातिक योनिव्यापद् की उत्पत्ति को बताने के लिए किया गया है ।) । **पिपीलिकासृप्तिमिति-** शरीर पर चींटियों के रेंगने जैसी वेदना का अनुभव होना ।

सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवेति– शब्द युक्त, वेदना के साथ, फेनयुक्त (झाग युक्त), तनु (पतला- dilute) एवं रूक्ष (Dry) आर्तव का निकलना, इस प्रकार का आर्तवस्राव ऋतुकाल के अतिरिक्त काल में भी होता रहता है । इस प्रकार वातिक योनिव्यापद् वातिक प्रदर का ही एक रूप है, ऐसा समझना चाहिए । इसी प्रकार पित्तज, कफज एवं सान्निपातज (त्रिदोषज) योनिव्यापद् को पित्तज, कफज एवं सन्निपातज प्रदर के रूप में समझना चाहिए, ऐसा कहते हैं । रक्तज योनि को यहाँ 'असृग्दर' नाम द्वारा चिकित्सा प्रकरण में कहा गया है। इस प्रकार रक्तज योनिव्यापद भी प्रदर रूप ही है । जो लोग इन योनि व्यापदों को प्रदर से भिन्न स्वीकार करते हैं । वे प्रदर चिकित्सा का विवेचन प्रकरणान्तर से इसी अध्याय में करेंगे, अर्थात् प्रदर चिकित्सा का विवेचन इसी अध्याय में योनिव्यापद् से पृथक् किया गया है। [अतः प्रदर एवं योनि व्यापद् अलग-अलग व्याधियाँ हैं ।]

समश्नन्त्या इति– पथ्य एवं अपथ्य आहारों को मिश्रित रूप से सेवन करने पर, जो लोग पथ्य एवं अपथ्य अन्न का एक साथ सेवन करते हैं, उनमें तीनों दोष एक साथ प्रकुपित होकर योनि को दूषित करते हुए त्रिदोषज (सन्निपातज) योनिव्यापद् रोग को उत्पन्न करते हैं। ॥९-१५॥

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)– यहाँ प्रदर एवं योनिव्यापद् के सम्बन्ध में दो विचार दिये गये हैं–

१. कुछ आचार्य वातिक, पैत्तिक, कफज एवं सन्निपातज योनिव्यापदों को क्रमशः वातज, पित्तज, कफज व सन्निपातज प्रदर का ही रूप स्वीकार करते हैं ।

२. अन्य आचार्य इन्हें पृथक् व्याधि के रूप में निरूपित करते हैं, क्योंकि यहाँ प्रदर एवं योनिव्यापद् की चिकित्सा का अभिधान अलग-अलग किया गया है ।

रक्तपित्तकरैर्नार्या रक्तं पित्तेन दूषितम् । अतिप्रवर्तते योन्यां लब्धे गर्भेऽपि सासृजा ।।१६।।
योनिगर्भाशयस्थं चेत् पित्तं संदूषयेदसृक् । साऽरजस्का मता काश्यर्यवैवर्ण्यजननी भृशम् ।।१७।।

५. रक्तज योनिव्यापद् के लक्षण– जो स्त्री रक्त एवं पित्त प्रदूषक आहार-विहार का अत्यधिक सेवन करती है, तब पित्त द्वारा रक्त दूषित होकर उसके योनिगत रक्त को दूषित कर देता है, परिणामस्वरूप गर्भ के रुकने पर भी उसकी योनि से रक्त का स्राव होता रहता है । इस योनि को रक्तजा योनि कहते हैं ।

६. अरजस्का योनिव्यापद् के लक्षण– यदि स्त्री की योनि एवं गर्भाशय में स्थित पित्त के द्वारा रक्त दूषित हो जाता है तब वह स्त्री भयङ्कर रूप से कृश (दुर्बल) एवं विवर्ण (त्वचा का रंग बदल जाना-पाण्डु वर्ण युक्त) हो जाती है । इस व्याधि को **अरजस्का** योनिव्यापद् कहते हैं ।

चक्रपाणि-'रक्तपित्त करैरित्यादौ'– के द्वारा रक्तज योनिव्यापद् को स्पष्ट किया गया है । इस योनि रोग में गर्भ के रुक जाने पर भी योनि से रक्त का अतिस्राव होता रहता है । इस प्रकार रक्तप्रवृत्ति के कारण उसका गर्भ रुक नहीं पाता । 'सासृजा' से रक्तयोनि अर्थ लिया गया है । जो लोग 'सासृजा' के स्थान पर 'साऽप्रजा' का पाठ करते हैं उनके अनुसार गर्भ के रुक जाने पर भी रक्त के अतिस्राव के कारण उस स्राव के साथ ही गर्भ का भी स्राव हो जाता है जिससे वह योनि अप्रजा (प्रजा रहित) होती है । [इस कारण इसे अप्रजा योनि' भी कहा जाता है ।]

इयं च रक्तयोनिरुच्यत इति– इस व्याधि को 'रक्तयोनि' भी कहा जाता है, ऐसा रक्त के अतिस्राव होने के कारण नाम दिया गया है । ऐसी व्याख्या कुछ लोग करते हैं । **योनौ गर्भाशये च तिष्ठतीति-** योनि एवं गर्भाशयस्थ पित्त के द्वारा रक्त दूषित होकर **अरजस्का योनि** को उत्पन्न करता है । अरजस्का इति = अनार्तवा, आर्तव का समाप्त हो जाना, [रक्तक्षय के कारण आर्तव का न आना] ।।१६-१७।।

योन्यामधावनात् कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः । सा स्यादचरणा कण्ड्वा तयाऽतिनरकाङ्क्षिणी ।।१८।।

७. अचरणा योनिव्यापद् के लक्षण– जो स्त्री अपनी योनि को साफ-सुथरा नहीं रखती, अर्थात् उचित सफाई नहीं करती तब उसकी योनि में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण योनि में कण्डू (Itching) एवं मैथुन की अति इच्छा (पुरुष की आकांक्षा) उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार की योनि को **अचरणा** योनि कहते हैं ।

चक्रपाणि– अचरणेति धावनाचरणादचरणा- योनि धावन का अभ्यास न होना, अर्थात् योनि की उचित सफाई न कर पाने के कारण इसे अचरणा नाम दिया गया है । [चरण = पैर अथवा अभ्यास, अचरणा = जो नित्य अभ्यास न करता हो, अर्थात् जो स्त्री योनि धोने का कार्य नित्य न करती हो । अतः योनि गन्दा होने के कारण उसमें कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं, जिस कारण उसकी योनि में काफी खुजली होने लगती है, खुजली के कारण उस स्त्री को मैथुन की बार-बार इच्छा उत्पन्न होती है ।]

कण्ड्वा तयेति– कृमि के कारण योनि में कण्डू (Itching) का उत्पन्न होना ।

पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः । करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता ।।१९।।

८. अतिचरणा योनिव्यापद् के लक्षण– अतिव्यवाय (Excessive sexual intercourse अत्यधिक मैथुन) के कारण प्रकुपित हुई वायु स्त्री की योनि में शोफ, सुप्ति (Numbness) एवं वेदना (योनिशूल) उत्पन्न कर देती है । इस प्रकार की योनि को **अतिचरणा** नाम दिया गया है, अथवा कहा जाता है ।

चक्रपाणि– व्यवायस्यातिचरणेनोत्पन्ना व्यापदतिचरणा– अत्यधिक मैथुन के अभ्यास के कारण उत्पन्न होने वाले योनिव्यापद् को 'अतिचरणा' कहा जाता है । ।।१९।।

मैथुनादतिबालायाः पृष्ठकट्यूरुवंक्षणम् । रुजन् दूषयते योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा ।।२०।।

Scanned by CamScanner

९. प्राक्चरणा योनिव्यापद् के लक्षण– अति बाला (कम उम्र वाली स्त्रियों) के साथ मैथुन करने से प्रकुपित वायु कटि (Lumber region), पृष्ठ (पीठ-back), ऊरु (thighs) एवं वंक्षण (Groins) में शूल उत्पन्न करते हुए उसकी योनि को दूषित कर देती है। इस प्रकार के योनिव्यापद् को प्राक्चरणा कहते हैं।

चक्रपाणि– रुजन्निति– दुःख (कष्ट) उत्पन्न करते हुए, अर्थात् पृष्ठ, कटि, ऊरु एवं वंक्षण में शूल उत्पन्न करते हुए।

उचितव्यवायकालात् प्राक् व्यवायाचरणात् प्राक्चरणा उच्यते– उचित व्यवायकाल से पूर्व व्यवाय (मैथुन) का आचरण करना प्राक्चरणा कहलाता है। ॥२०॥

गर्भिण्याः श्लेष्मलाभ्यासाच्छर्दिनिःश्वासनिग्रहात्। वायुः क्रुद्धः कफं योनिमुपनीय प्रदूषयेत् ॥२१॥
पाण्डुं सतोदमास्रावं श्वेतं स्रवति वा कफम्॥ कफवातामयव्याप्ता सा स्याद्योनिरुपप्लुता ॥२२॥

१०. उपप्लुता योनिव्यापद् के लक्षण– यदि गर्भिणी स्त्री कफवर्धक आहार-विहार का नित्य अत्यधिक सेवन करती है, छर्दि एवं श्वास के वेगों को धारण करती है तब इन कारणों द्वारा प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर योनि को दूषित कर देती है। ऐसी अवस्था में उसकी योनि से तोद के साथ पाण्डु वर्ण (Yellowish colour) का स्राव अथवा कफ युक्त श्वेत वर्ण का स्राव होता है। यह योनि कफ व वात के रोगों से व्याप्त रहती है। इस योनि को **उपप्लुता** योनि कहते हैं।

चक्रपाणि– 'गर्भिण्या इत्यादौ' के द्वारा उपप्लुता योनिव्यापद् को स्पष्ट किया गया है। **आस्रावमिति श्लेष्मविलक्षणमास्रावतम्-** कफ से भिन्न लक्षणों वाले स्राव का होना।

कफवातामयैरुपप्लुतत्वात् 'उपप्लुता' इत्युच्यते– कफ व वातज रोगों द्वारा व्याप्त होने के कारण इस योनिव्यापद् को 'उपप्लुता' कहा जाता है। अर्थात् इस व्यापद् में योनि कफ-वातज रोगों से आक्रान्त रहती है।

विशेष- आस्रावमिति- श्लेष्मानिलमास्रावम्- कफ व वात जन्य स्राव का होना (चक्रपाणि पाठभेद) अष्टाङ्ग हृदयकार ने उपप्लुता योनिव्यापद् का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा– "वातश्लेष्मामयव्याप्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी" (अ.हृ.उ.तं. ३३/४८) इति [यह योनि वात व कफज रोगों से व्याप्त होती है। इससे श्वेत एवं पिच्छिल स्राव निकलता रहता हैं।]

पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तसंमूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः ॥२३॥
शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत्। श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता ॥२४॥

११. परिप्लुता योनिव्यापद् के लक्षण– जब पित्त प्रकृति वाली स्त्री, मैथुन करते समय छींक एवं उद्गार के वेग को धारण करती है तब पित्त के साथ वायु मिलकर उसकी योनि को दूषित कर देती है। जिसके कारण उसकी योनि में शोथ, स्पर्शासहृता (Tenderness) एवं शूल होने लगता है, निकलने वाले रक्त का स्राव कुछ नील एवं पीत वर्ण का होता है। स्त्री के कमर (Lumber region) वंक्षण (Groins) एवं पीठ (Back) में दर्द होता है तथा वह ज्वर से पीड़ित रहती है। इस प्रकार के लक्षणों वाली योनि को 'परिप्लुता' कहते हैं।

चक्रपाणि– नृसंवासे इति रमणसमये- मैथुन करते समय।

सर्वतो वातपित्तविकारोपप्लुतत्वात् परिप्लुता– योनि का सर्वथा (पूर्णतः) वातपित्त विकारों से युक्त (आवृत) होना परिप्लुता कहा जाता है, अर्थात् इस व्यापद् में योनि पूर्णतया वात व पित्त विकारों से आक्रान्त रहती है। ॥२३-२४॥

विशेष (Comments)– अष्टांगहृदयकार के अनुसार- 'बस्तिकुक्षिगुरुत्वातिसारारोचककारिणी। श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत् सा परिप्लुता" [चरकोक्त लक्षणों के साथ-साथ बस्ति व कुक्षि में भारीपन, अतिसार, अरोचक, श्रोणि एवं वंक्षण में वेदना (शूल), सुई चुभोने जैसी वेदना एवं ज्वर लक्षणों से युक्त परिप्लुता योनि होती है।] के द्वारा परिप्लुता योनिव्यापद् का विवेचन किया गया है।

वेगोदावर्तनाद्योनिमुदावर्तयतेऽनिलः। सा रुगार्ता रजः कृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति ॥२५॥
आर्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्। रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्तिनी बुधैः ॥२६॥

१२. उदावर्तिनी योनिव्यापद् के लक्षण– जब स्त्री उदावर्त के वेग को रोकती है, तब प्रकुपित हुई वायु ऊपर की ओर उठकर योनि को ऊपर की ओर उठा लेती है। ऐसी स्थिति में योनि में भयङ्कर पीड़ा होती है। योनि का मुख ऊर्ध्व हो जाने के कारण कष्ट के साथ आर्तव का स्राव होता है (Painful menstruation)। आर्तव के निकल जाने पर रोगी को तत्काल आराम महसूस होता है। आर्तव की गति ऊर्ध्व होने के कारण इस व्यापद् को 'उदावर्तिनी' कहा जाता है। [योनि का मुख ऊर्ध्व हो जाने से आर्तव स्राव भी ऊर्ध्व मार्ग से ही निकलता है।]

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि- योनिमुदावर्तयते इति- उदावर्त के वेग को धारण करने से प्रकुपित हुई वायु योनि को ऊपर उठा देती है । **उदावृत्त मिति-** ऊपर ले जाना, (यह कार्य अपानवायु के प्रकुपित होने से होता है ।) विकारेण रजस ऊर्ध्वगमनात् 'उदावर्तिनी' इत्युच्यते- आर्तव के ऊर्ध्व गमन रूप विकृति के कारण इसे उदावर्तिनी कहा जाता है । ॥२५-२६॥

विशेष- वेगानामुदावर्त्तनादधो वेगधारणात्-उदावर्त वेग से यहाँ अधो वायु (अपानवायु) के वेगावरोध का होना, अर्थ लिया गया है। अर्थात् अधो वायु के वेग को रोकने से, वायु ऊर्ध्वगामी होकर योनि को ऊपर उठा देती है तथा उसका मुख ऊपर की ओर हो जाता है, जिससे रज का स्राव ऊपर से निकलता है । अतः रज के ऊर्ध्व गमन के कारण इसे उदावर्तिनी नाम दिया गया है ।

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः । कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ।।२७।।
रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता ।

१३. कर्णिनी योनिव्यापद् के लक्षण- गर्भ निष्क्रमण काल में आवी के न उत्पन्न होने पर, स्त्री द्वारा प्रवाहण करने (जोर लगाने) पर गर्भ द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से प्रकुपित वायु रक्त व कफ के साथ मिलकर योनि में कर्णिका (मांसांकुर) को उत्पन्न करती है। कर्णिका द्वारा रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण इसे **कर्णिनी** कहा गया है ।

चक्रपाणि- अकाले वाहमानाया इत्यादि के द्वारा कर्णिनी के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है । अकाले = अप्राप्ते, गर्भ निष्क्रमण काल उपस्थित होने से पूर्व में स्त्री द्वारा प्रवाहण करने पर । **कर्णिकामिति-** कर्णिका के आकार की ग्रन्थि । ॥२७॥

विशेष (Comments)- आचार्य सुश्रुत ने इसे कफ व रक्त जन्य माना है, यथा- "कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते" (सु.उ.तं.३८/१५) इति ।

रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत् ।।२८।।
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता ।

१४. पुत्रघ्नी योनिव्यापद् के लक्षण- रूक्ष आहार-विहार के अतिसेवन से प्रकुपित हुई वायु गर्भ को बार-बार नष्ट कर देती है । इसमें स्त्री का शोणित (गर्भबीज Ovum) दूषित हो जाता है । इस प्रकार की योनि को पुत्रघ्नी कहते हैं ।

चक्रपाणि- रौक्ष्यादिति- रूक्ष गुणों की अत्यधिक वृद्धि होने से, अर्थात् जब स्त्री वातवर्धक अन्न-पान का अत्यधिक सेवन करती है तब प्रकुपित वायु योनि को रूक्ष कर देती है । **दुष्टशोणितजमिति-** इस वचन से यहाँ वायु के द्वारा आर्तव (शोणित) का दूषित होना दर्शाया गया है । **अत्र च यद्यपि सामान्येनैव गर्भविनाश उक्तः-** यहाँ यद्यपि सामान्य रूप से ही **गर्भ का विनाश** होना कहा गया है, फिर भी पुत्र की प्रधानता के कारण 'पुत्रघ्नी' नाम दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए । ॥२८॥

विशेष (Comments)- इस योनिव्यापद् में बार-बार गर्भधारण होता है, लेकिन आर्तव की दुष्टि के कारण बार-बार गर्भ स्रवित हो जाता है। सुश्रुतसंहिता में इसे स्पष्ट किया गया है, यथा- "स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात्" [बार-बार स्थित गर्भ आर्तवस्राव के साथ ही स्रवित हो जाता है ।]

व्यवायमतितृप्ताया भजन्त्यास्त्वन्नपीडितः ।।२९।।
वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः । वक्रयत्याननं योन्याः साऽस्थिमांसानिलार्तिभिः ।।३०।।
भृशार्तिर्मैथुनाशक्ता योनिरन्तर्मुखी मता ।

१५. अन्तर्मुखी योनिव्यापद् के लक्षण- अति भोजन करने के बाद मैथुन करने पर अन्न के द्वारा पीड़ित वायु विषम शयन करने वाली स्त्री की योनि में स्थित होकर योनिमुख को टेढ़ा (वक्र) कर देती है तथा अस्थि व मांस में आश्रित होकर वायु भयङ्कर वेदना को उत्पन्न करती है । भयङ्कर वेदना के कारण यह योनि मैथुन को सह नहीं पाती । इस प्रकार की योनि को **अन्तर्मुखी** कहते हैं ।

चक्रपाणि- 'व्यवायमतितृप्ताया इति' के द्वारा अन्तर्मुखी योनिव्यापद् का अभिधान किया गया है ।

अन्न के अतिसेवन करने के बाद व्यवाय (मैथुन) करने से, मैथुन काल में स्त्री के विषम स्थित अंगों से अन्न द्वारा पीड़ित वायु योनि के अन्तःमुख को टेढ़ा कर देती है ।

वक्रयतीति पदेन वक्रतयाऽन्तर्मुखनयनमभिप्रेतम्- वक्रयतीति पद से योनि के अन्तर्मुखनेत्र (Internal os of Uterus) का टेढ़ा होना, अर्थ गृहीत है ।

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन् ।।३१।।
मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा ।

Scanned by CamScanner

१६. सूचीमुखी योनिव्यापद् के लक्षण– माता के दोष के कारण, रूक्ष आहार-विहार करने से प्रकुपित हुई वायु गर्भस्थ बालिका की योनि को दूषित करते हुए उसके मुख (योनिमुख) को पतला (सूक्ष्म) कर देती है। इस विकृति को सूचीमुखी योनिव्यापद् कहा जाता है। [सूचीमुख = योनिमार्ग का सूई के समान पतला हो जाना]

चक्रपाणि– जब गर्भिणी स्त्री रूक्ष आहार-विहार का अत्यधिक सेवन करती है तब प्रकुपित वात गर्भस्थ बालिका की योनि को विकृत करके उसके मार्ग (Female genital tract) को सूई के समान पतला (Narrow) कर देती है।

मातृदोषादिति– माता द्वारा गर्भकाल में वात प्रकोपक हेतु रूप अपचार के सेवन करने से ॥३१॥

विशेष (Comments)– मातृदोष से यहाँ 'योन्यारम्भक बीज भाग का दूषित होना' अर्थ लिया गया है। यह दुष्टि गर्भिणी द्वारा वात प्रकोपक आहार-विहार के सेवन करने से होती है, अर्थात् रूक्ष आहार-विहार द्वारा प्रकुपित वायु माता के योन्यारम्भक बीज भाग को दूषित करती है, परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली बालिका की योनि का मुख (Female genital tract) सूई के समान पतला हो जाता है।

जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

व्यवायकाले रुन्धन्त्या वेगान् प्रकुपितोऽनिलः ॥३२॥
कुर्याद्विण्मूत्रसङ्गार्तिं शोषं योनिमुखस्य च।

१७. शुष्कयोनिव्यापद् के लक्षण– व्यवाय काल (मैथुनकाल) में स्त्री द्वारा अधारणीय वेगों के रोकने से प्रकुपित हुई वायु मल (पुरीष) एवं मूत्र का अवरोध करते हुए उसके योनिमुख को शुष्क (Dry) कर देती है। इस कारण इसे शुष्क योनिव्यापद् कहा जाता है।

चक्रपाणि– शोषं योनिमुखस्येत्यनेन-योनिमुख की शुष्कता के कारण इसे **'शुष्कयोनि'** नाम विशेष रूप से दिया गया है। ॥३२॥

षडहात् सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम् ॥३३॥
सरुजं नीरुजं वाऽपि या स्रवेत् सा तु वामिनी।

१८. वामिनी योनिव्यापद् के लक्षण– इस योनिव्यापद् में गर्भाशय में गया हुआ शुक्र छः अथवा सात रात्रि में ही वेदना के साथ अथवा बिना वेदना के स्रवित हो जाता है। इस योनि को वामिनी योनि कहते हैं।

चक्रपाणि- 'षडहादिति' के द्वारा वामिनी योनिव्यापद् का उल्लेख किया गया है। **शुक्रवमनाद् 'वामिनी' इत्युच्यते-** शुक्र का वमन करने से इसे वामिनी कहते हैं ॥३३॥

बीजदोषात्तु गर्भस्थमारुतोपहताशया ॥३४॥
नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा।

१९. षण्ढी योनिव्यापद् के लक्षण– बीज दोष के कारण (माता के शोणित के दूषित होने से), गर्भस्थ कन्या की योनि वायु द्वारा दूषित हो जाती है, अर्थात् उसका गर्भाशय दूषित (विकृत) हो जाता है। यह बालिका बाद में पुरुष से द्वेष करती है, इसका स्तन विकसित नहीं होता तथा यह अचिकित्स्य होती है। ऐसी स्त्री को षण्ढी कहते हैं।

चक्रपाणि– बीजदोषादिति- इस सामान्य कथन से यहाँ आर्तव रूप बीज की दुष्टि का ही ग्रहण है, अर्थात् बीजदुष्टि से आर्तवदुष्टि का ग्रहण है। [आर्तवरूप बीजदुष्टि = आर्तव में विद्यमान गर्भाशय उत्पादक बीजभाग का दूषित होना] इस दुष्टि द्वारा ही गर्भस्थ बालिका के गर्भाशय का उपघात (गर्भाशय की विकृति) होता है। कहा भी गया है, यथा- "यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा बन्ध्यां जनयति" (शा.अ.४) इति [जब स्त्री का आर्तवस्थ गर्भाशयबीजभाग विशेष रूप से दूषित होता है तब उसकी उत्पन्न होने वाली संतान बन्ध्या होती है।

मारुतोपहताशयेति– वायु की विकृति के कारण गर्भाशय का नष्ट होना अथवा विकृत होना। **अस्तनी ईषत्स्तनी** = स्तन का अल्प रूप से विकसित होना अर्थात् पूर्ण विकसित न होना। ॥३४॥

विशेष (Comments)– 'नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुपक्रमा' के स्थान पर पाठ भेद से "ऋतुद्वेषिण्यस्तनी या षण्ढी स्यादनुपक्रमा" प्राप्त होता है जिसके अनुसार स्त्री में ऋतुस्राव नहीं होता तथा स्तन पूर्णतः विकसित नहीं होते, लक्षण मिलते हैं।

विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात् कुपितोऽनिलः ॥३५॥
गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः। असंवृतमुखी सार्ती रूक्षफेनास्रवाहिनी ॥३६॥
मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववेक्षणशूलिनी।

Scanned by CamScanner

२०. महायोनिव्यापद् के लक्षण– विषम आसन एवं दुःखकर शय्या पर मैथुन करने से प्रकुपित वायु स्त्री के गर्भाशय एवं योनिमुख को विष्टम्भित (dilated) कर देती है, जिसके कारण योनिमुख (गर्भाशय मुख) बन्द नहीं होता, अर्थात् हमेशा खुला रहता है। योनि में वेदना होती रहती है तथा उससे रूक्ष व झाग युक्त रक्त का स्राव होता रहता है, योनि के मुख का मांस उभर जाता है। स्त्री की वंक्षण एवं पर्वों (छोटी संधियों) में पीड़ा होती है, अर्थात् स्त्री को कमरदर्द एवं संधिशूल होता रहता है। इस व्याधि को महायोनिव्यापद् कहते हैं।

चक्रपाणि- विषममिति– विषम शब्द यहाँ क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। **विषमं यथा भवति तथा मैथुनादित्यर्थः–** विषम की जिस अवस्था में हो, उसी अवस्था में मैथुन करना, अर्थात् मैथुन करने के जो स्वस्थ आसन एवं नियमों का शास्त्र में निर्देश है, उसका पालन न करते हुए, विपरीत विधि से मैथुन करना। विष्टम्भयेदिति = विस्तारयेत् (योनिमुख का विस्तृत हो जाना अथवा खुल जाना। मांसोत्सन्नेति = मांस का उभार होना। ॥३५-३६॥

इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतियोनिजा गदाः ॥३७॥
न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता। तस्मादृर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामयान् बहून् ॥३८॥
गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम्।

उपद्रव– इस प्रकार पूर्व लक्षणों द्वारा बीस प्रकार के योनि व्यापदों का वर्णन किया गया। इन व्यापदों से युक्त योनि शुक्र का धारण नहीं करती, फलस्वरूप गर्भ का धारण नहीं होता तथा स्त्री गुल्म (Phantom tumour), अर्श (Piles) तथा प्रदर (Menorrhagia) आदि अन्य वात व्याधियों से पीड़ित हो जाती है।

चक्रपाणि– दोषैर्योनिरुपद्रुतेत्यनेन– यहाँ दोष शब्द से योनि को विकृत करने वाले पूर्वोक्त व्याधियों का ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है, यथा– "रोगा ह्यपि दोषशब्दं लभन्ते" (वि.अ.६) इति [दोष शब्द रोग अर्थ में भी यहाँ प्रयुक्त होता है।]

तस्मादिति योन्युपद्रवात्- इसलिये योनिव्यापद् के उपद्रव से। 'प्रदरादींश्चेति' से यहाँ योनिव्यापद् का ही एक विशेष प्रकार प्रदर का ग्रहण किया गया है। उससे यहाँ योनिव्यापद् का ही एक विशेष प्रकार प्रदर रूप दोष की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है जो लोग योनिव्यापद् से भिन्न प्रदर को स्वीकार करते हैं उनके अनुसार यहाँ प्रदर पाठ से कोई विरोध नहीं है। ॥३७-३८॥

विशेष– योनि के इन दोषों (व्याधियों = बीस प्रकार की व्यापदों) से आक्रान्त होने पर वह शुक्र का धारण नहीं कर पाती तथा स्त्री गुल्म, अर्श, प्रदर आदि वात व्याधियों से पीड़ित हो जाती है।

आसां षोडश यास्त्वन्त्या आद्ये द्वे पित्तदोषजे ॥३९॥
परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते। कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ॥४०॥
देहं वातादयस्तासां स्वैर्लिङ्गैः पीडयन्ति हि।

योनिव्यापदों का दोषों से सम्बन्ध– पूर्व वर्णित बीस योनिव्यापदों (योनि रोगों) में से जो अन्त के षोडश व्यापद् बताये गये हैं, उनमें प्रारम्भ के दो (रक्तज एवं अरजस्का) पित्त की दुष्टि से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् इनमें पित्त प्रकुपित रहता है, परिप्लुता एवं वामिनी-वात-पित्त प्रधान होते हैं, कर्णिनी तथा उपप्लुता वात-कफ प्रधान होते हैं, शेष दस वात प्रधान (वातज) होते हैं। वातादि दोष अपने-अपने लक्षणों के द्वारा शरीर को कष्ट देते हैं।

चक्रपाणि– 'आसामित्यादि' के द्वारा बीस प्रकार के योनिव्यापदों में प्रारम्भ के चार को छोड़कर शेष षोडश (सोलह) का वातादि दोषों के लक्षणों के अनुसार चिकित्सा के ज्ञान हेतु दोषानुसार विभाग किया गया है।

१६ योनिव्यापद् में से प्रारम्भ के दो– रक्तयोनि तथा अरजस्का पित्त प्रधान होती है। देहं वातादय इत्यादि के द्वारा योनिव्यापद् में क्या घटना घटती है, इसे स्पष्ट किया गया है। वातादि दोषों के अनुसार योनिव्यापद् के जो विभाग किये गये हैं, उनमें वे-वे प्रभावी दोष अपने-अपने लक्षणों को उत्पन्न करते हुए शरीर को पीड़ित करते हैं। अर्थात् इन व्यापदों में प्रमुख दोष के ही लक्षण विशेष रूप से पाये जाते हैं, यह भाव है। अन्य आचार्य देह शब्द से योनिस्थान का ही ग्रहण करते हैं। अर्थात् योनि में वातादि दोषों के ही लक्षण अधिक रूप से उत्पन्न होते हैं, यह भाव है। ॥३९-४०॥

विशेष (Comments)– बीस प्रकार के योनि व्यापदों (योनि रोगों) का दोषानुसार विभाग इस प्रकार किया गया है–

Scanned by CamScanner

योनिव्यापद् (२०)

प्रारम्भ के चार			शेष षोडश (१६)		
१. वातिक (वातज)	-	वात प्रधान	१. रक्त योनि, २. अरजस्का	-	पित्त प्रधान
२. पित्तज	-	पित्त प्रधान	३. अचरणा	-	वात प्रधान
३. कफज	-	कफ प्रधान	४. अतिचरणा	-	वात प्रधान
४. सन्निपातज	-	त्रिदोष प्रधान	५. प्राक्चरणा	-	वात प्रधान
			६. उपप्लुता	-	वात-कफ प्रधान
			७. परिप्लुता	-	वात-पित्त प्रधान
			८. उदावर्तिनी	-	वात
			९. कर्णिनी	-	वात-कफ
			१०. पुत्रघ्नी, ११. अन्तर्मुखी, १२. सूचीमुखी, १३. शुष्का	-	वात प्रधान
			१४. वामिनी	-	वात-पित्त प्रधान
			१५. षण्ढी, १६. महायोनि	-	वात प्रधान

स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातजास्वनिलापहम् ।।४१।।
कारयेद्रक्तपित्तघ्नं शीतं पित्तकृतासु च । श्लेष्मजासु च रूक्षोष्णं कर्म कुर्याद्विचक्षणः ।।४२।।
सन्निपाते विमिश्रं तु संसृष्टासु च कारयेत् । स्निग्धस्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्पुनः ।।४३।।
पाणिना नाभयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत् पुनः । प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत् ।।४४।।
योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः । सर्वा व्यापन्नयोनिं तु कर्मभिर्वमनादिभिः ।।४५।।
मृदुभिः पञ्चभिर्नारीं स्निग्धस्विन्नामुपाचरेत् । सर्वतः सुविशुद्धायाः शेषं कर्म विधीयते ।।४६।।
वातव्याधिहरं कर्म वातार्तानां सदा हितम् । औदकानूपजैर्मांसैः क्षीरैः सतिलतण्डुलैः ।।४७।।
सवातघ्नौषधैर्नाडीकुम्भीस्वेदैरुपाचरेत् । अक्तां लवणतैलेन साश्मप्रस्तरसङ्करैः ।।४८।।
स्विन्नां कोष्णाम्बुसिक्ताङ्गीं वातघ्नैर्भोजयेद्रसैः ।

योनिव्यापद् (योनि रोगों) की चिकित्सा (Treatment of Yonivyāpad)–

१. वात प्रधान योनिव्यापद् (योनि रोग) में वातनाशक द्रव्यों से साधित स्नेहों द्वारा स्नेहन (अभ्यङ्ग अथवा पान), स्वेदन तथा बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए ।

२. पित्तजनित योनिव्यापद् (योनि रोगों) में रक्त एवं पित्त नाशक शीतल उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए ।

३. कफज योनि रोगों में रूक्ष एवं उष्ण चिकित्सा करनी चाहिए ।

४. त्रिदोषज योनिव्यापद् में त्रिदोषशामक उपक्रम तथा संसर्गज में दो दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए । [सन्निपातज एवं संसर्गज में जिस-जिस दोष की उल्बणता हो तद्-तद् दोष नाशक उपक्रमों का मिश्रित रूप में प्रयोग करना चाहिए ।]

यदि योनि अपने उचित स्थान पर न हो, अर्थात् अपने स्थान से हट गयी हो तो उसे पुनः अपने उचित स्थान पर स्थापित करना चाहिए । यदि योनि टेढ़ी हो तब हाथ द्वारा झुकाकर सीधा कर देना चाहिये । यदि योनि का मुख संकुचित हो तब उसे बढ़ाकर चौड़ा (dilate) करना चाहिए । योनिमुख = योनि द्वार (Orifice of Uterus) । बाहर निकली हुई योनि (Uterus prolapse) को अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए । यदि योनि का मुख विवृत (चौड़ा) हो गया हो तब उसके मुख का परिवर्तन करना चाहिए, क्योंकि अपने स्थान से च्युत योनि शल्य के समान दुःखदायी होती है । अतः इन सभी कर्मों को करने से पूर्व योनि का स्नेहन व स्वेदन अवश्य करना चाहिए, अर्थात् स्नेहन-स्वंदन के बाद ही योनि को अपने मूल स्थान पर स्थापित करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

योनिव्यापद् में शोधन चिकित्सा– सभी प्रकार के योनिव्यापदों में स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद मृदु औषधियों द्वारा पञ्चकर्म (वमनादि पञ्चकर्म) कराना चाहिए। शरीर के पूर्णतः शुद्ध हो जाने पर शेष उपक्रमों (शमन चिकित्सा) का प्रयोग करना चाहिए।

वातज योनिव्यापद् की चिकित्सा– वातज योनिव्यापद् में वातनाशक चिकित्सा सर्वदा उपयोगी होती है। अर्थात् इस व्यापद् में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। औदक एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांस द्वारा अथवा तिल + तण्डुल + दूध + वातनाशक औषधियों के मिश्रण द्वारा नाड़ीस्वेद या कुम्भीस्वेद का प्रयोग करते हुए योनि का स्वेदन कराना चाहिए। अथवा लवण युक्त तैल का अभ्यङ्ग करके लोहा, पत्थर या बालू को गरम करके योनि का स्वेदन करना चाहिए। जब स्त्री की योनि पूर्णतः स्विन्न हो जाय तब आतुर को उष्ण (गुनगुने) जल से स्नान करावें, पश्चात् वातनाशक औषधियों के संयोग से निर्मित मांसरस के साथ भात का सेवन करावें। अर्थात् भोजन के रूप में वातनाशक अन्न-पान का प्रयोग करें।

चक्रपाणि– 'स्नेहनेत्यादि' के द्वारा योनिव्यापद् के लक्षणों के अभिधान के पश्चात् चिकित्सा का विवेचन किया गया है। **स्नेहनादीनामनिलापहत्वे सिद्धेऽपि अनिलापहमिति विशेषणं विशेषेणानिलापहद्रव्यकृतस्नेहनादिप्रतिपादनार्थम्–** स्नेहन आदि का वातनाशकत्व सिद्ध होते हुए भी 'अनिलापहमिति' विशेषण के प्रयोग द्वारा विशेष रूप से वातहर द्रव्यों द्वारा निर्मित तैल, क्वाथ आदि के उपयोग को दर्शाया गया है। [यथा- तैल वातनाशक होता है, लेकिन इसे वातनाशक द्रव्यों द्वारा सिद्ध करने पर इसका गुण (वातनाशकत्व गुण) और बढ़ जाता है, इसी प्रकार उष्ण जल द्वारा स्वेदन करने पर वात शान्त (प्रशमित) होता है, लेकिन वातनाशक औषधियों के पत्तों द्वारा साधित जल विशेष रूप से वातनाशक होता है, ऐसा समझना चाहिए।]

संसृष्टास्विति– द्वन्द्वज में (दो-दोषों के मिलने पर)।

स्थापयेदिति सुस्थितां कृत्वा स्थापयेत्– योनि को अपने स्थान पर लाकर स्थापित करना चाहिए। दुःस्थितास्थापनप्रकारमाह- पाणिनेत्यादि-दुःस्थित योनि के (जो योनि अपने उचित स्थान पर नहीं है उसके) स्थापन के प्रकार को यहाँ 'पाणिनेत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। 'स्निग्धस्विन्नमिति'- इन दोनों (स्नेहन, स्वेदन) पूर्वकर्मों का प्रयोग सब जगह करना चाहिए, अर्थात् योनि को अपने स्थान पर स्थापित करने से पूर्व उसका स्नेहन व स्वेदन कराना चाहिए।

जिह्ममिति वक्राम्– जो योनि वक्र हो उसे जिह्म योनि कहा गया है। **विवृतामिति** = मुख (योनिमुख) का चौड़ा होना। **परिवर्तयेदिति परितो वर्तनेन संवृतां कुर्यात्-** चौड़े मुख वाले योनि को चारों ओर से ढककर या सिलकर मुख (मार्ग) को छोटा करें, अर्थात् चौड़ाई कम करें।

पञ्चभिरिति पदं सकलकर्मणां मृदुतया कर्तव्योपदर्शनार्थम्-'पञ्चभिः' पद का प्रयोग मृदु रूप में पाँचों कर्मों के प्रयोग' हेतु किया गया है। अर्थात् वमन, विरेचन, वस्ति एवं नस्य में मृदु औषधियों का प्रयोग करना चाहिए [मृदु वमन, मृदु विरेचन, मृदु द्रव्यों द्वारा साधित निरुह, अनुवासन बस्ति एवं मृदु नस्य का प्रयोग कराना चाहिए।]

यहाँ वमनादि सर्व शरीर में उपकारक होने के कारण योनिगत रोगों को दूर करने में भी समर्थ होते ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। **शेषं कर्मेति-** शेष कर्मों का निर्देश आगे किया गया है। ॥४१-४८॥

बलाद्रोणद्वयक्वाथे घृततैलाढकं पचेत् ॥४९॥
स्थिरापयस्याजीवन्तीवीरर्धभकजीवकैः । श्रावणीपिप्पलीमुद्गपीलुमाषाख्यपर्णिभिः ॥५०॥
शर्कराक्षीरकाकोलीकाकनासाभिरेव च । पिष्टैश्चतुर्गुणक्षीरे सिद्धं पेयं यथाबलम् ॥५१॥
वातपित्तकृतान् रोगान् हत्वा गर्भं दधाति तत् । काश्मर्यत्रिफलाद्राक्षाकासमर्दपरूषकैः ॥५२॥
पुनर्नवाद्विरजनीकाकनासासहाचरैः । शतावर्या गुडूच्याश्च प्रस्थमक्षसमैर्घृतात् ॥५३॥
साधितं योनिवातघ्नं गर्भदं परमं पिबेत् । पिप्पलीकुञ्जिकाजाजीवृषकं सैन्धवं वचाम् ॥५४॥
यवक्षाराजमोदे च शर्करां चित्रकं तथा । पिष्ट्वा सर्पिषि भृष्टानि पाययेत प्रसन्नया ॥५५॥
योनिपार्श्वार्तिहृद्रोगगुल्मार्शोविनिवृत्तये । वृषकं मातुलुङ्गस्य मूलानि मदयन्तिकाम् ॥५६॥
पिबेत् सलवणैर्मद्यैः पिप्पलीकुञ्जिके तथा । रास्नाश्वदंष्ट्रावृषकैः पिबेच्छूले घृतं पयः ॥५७॥
गुडूचीत्रिफलादन्तीक्वाथैश्च परिषेचयेत् । सैन्धवं तगरं कुष्ठं बृहती देवदारु च ॥५८॥
समांशैः साधितं कल्कैस्तैलं धार्यं रुजापहम् । गुडूचीमालतीरास्नाबलामधुकचित्रकैः ॥५९॥
निदिग्धिकादेवदारुयूथिकाभिश्च कार्षिकैः । तैलप्रस्थं गवां मूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् ॥६०॥
वातार्तायाः पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः । वातार्तानां च योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः ॥६१॥
(उष्णाः स्निग्धाः प्रकर्तव्यास्तैलानि स्नेहनानि च ।) हिंस्राकल्कं तु वातार्ता कोष्णमभ्यज्य धारयेत् ।
पञ्चवल्कस्य पित्तार्ता श्यामादीनां कफातुरा ॥६२॥

Scanned by CamScanner

बलाघृत-घटक द्रव्य (Balā-Ghṛita)–

१. बला क्वाथ (Decoction of Balā)– २ द्रोण (६४ प्रस्थ)

२. गोघृत– १ आढक (४ प्रस्थ)

३. तिल तैल– १ आढक (४ प्रस्थ)

४. कल्क द्रव्य– स्थिरा (शालपर्णी), पयस्या, जीवन्ती, वीरा (काकोली), ऋषभक, जीवक, श्रावणी (मुण्डी), पिप्पली, मुद्गपर्णी, पीलुपर्णी, माषपर्णी, शर्करा, क्षीरकाकोली एवं काकनासा; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

५. द्रव्य पदार्थ– गोदुग्ध- ८ आढक (स्नेह का चतुर्गुण- ३२ प्रस्थ)।

निर्माणविधि– सर्वप्रथम एक पात्र में बला क्वाथ, तैल, घृत व कल्क डालकर अच्छी प्रकार से मिला लें, पश्चात् मन्दाग्नि पर पकावें, जब क्वाथ का अधिकांश भाग उड़ जाय तब उसमें गोदुग्ध डालकर पुनः पकावें। गोदुग्ध के पाक के पश्चात् स्नेह में जल डालकर घृत को सिद्ध कर लें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर अग्नि पर से उतार कर कुछ ठण्ढा होने पर चौड़े मुख के पात्र में भरकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग– आतुर के बलाबल का विचार करते हुए मात्रानुसार इसका सेवन करने से वात-पित्त-जन्य योनि रोग दूर हो जाते है तथा स्त्री गर्भ धारण कर लेती है।

काश्मर्यादिघृत (Kāśmaryādi-Ghṛita) घटक द्रव्य–

१. कल्कद्रव्य– गम्भारी की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, द्राक्षा (मुनक्का), कासमर्द (कसौंदी), परूषक (फालसा), पुनर्नवा (गदहपूरना), हल्दी, दारुहल्दी, काकनासा, सहचर, शतावरी तथा गुडूची; सभी द्रव्य एक-एक कर्ष (तोला) लेकर जल से साथ पीस कर कल्क (Paste) बना लें।

२. गोघृत- १ प्रस्थ

३. जल- ४ प्रस्थ

निर्माण विधि– सर्वप्रथम एक पात्र में घृत, कल्क द्रव्य एवं जल मिलाकर विधिपूर्वक मन्दाग्नि पर पाक करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर घृत को अग्नि पर से उतार कर एक साथ-सुथरे कपड़े से छान लें। कुछ ठण्ढा हो जाने पर एक चौड़े मुख के पात्र में इसे रखकर सुरक्षित कर लें।

उपयोग– इस घृत के मात्रापूर्वक सेवन करने से वातज योनिव्यापद् रोग का प्रशमन होता है तथा स्त्री गर्भ धारण कर लेती है।

पिप्पल्यादि कल्क का प्रयोग– पिप्पली, कुञ्चिका (मगरैला), अजाजी (जीरा), वृषक (अडूसा) की पत्ती, सैन्धव लवण, वचा, यवक्षार, अजमोदा, शर्करा (मिश्री) एवं चित्रकमूल; सभी द्रव्यों को अलग-अलग बराबर-बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर कल्क बना लें। इसे घृत से भुनकर प्रसन्ना के साथ सेवन करें। इसके प्रयोग से योनिशूल, पार्श्वशूल, हृद्रोग, गुल्म एवं अर्श दूर हो जाते हैं।

वृषकादिचूर्ण– अडूसे की पत्ती, बिजौरा नीबू की जड़, मेहदी की पत्ती; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में सैन्धव लवण मिलाकर मद्य में घोलकर पिलावें। अथवा पिप्पली व मगरैला के सम भाग निर्मित चूर्ण में नमक (सैन्धव नमक) डालकर मद्य के साथ घोलकर पिलावें। ये दोनों योग योनिशूल को दूर करते हैं।

योनिशूल नाशक अन्य योग– १. रास्ना, गोखरू, वासापत्र; इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित कल्क द्वारा साधित क्षीर का प्रयोग योनिशूल को दूर करने के लिए करना चाहिए।

२. गुडूची, आँवला, हरीतकी, बिभीतकी एवं दन्ती की जड़ से निर्मित क्वाथ (Decoction) द्वारा योनि का परिषेचन करने से योनिशूल दूर हो जाता है।

३. सैन्धवनमक, तगर, कूठ, बृहती (बड़ी कटेरी) एवं देवदारु; प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। कल्क- १/४ भाग, तिल तैल- १ भाग, जल-४ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें। इस सिद्ध तैल का पिचु योनि में धारण करने से योनिशूल प्रशमित हो जाता है। – सैन्धवादि तैल।

४. गुडूच्यादितैल– गुडूची (अमृता), मालतीपत्र, रास्ना, बलामूल, यष्टीमधु, चित्रकमूल, निदिग्धिका (भटकटैया), देवदारु, यूथिका (जूही) का पुष्प; प्रत्येक द्रव्य १-१ तोले की मात्रा में लेकर कल्क बना लें। गोमूत्र-२ प्रस्थ, गोदुग्ध-२ प्रस्थ, तैल-१ प्रस्थ लें।

Scanned by CamScanner

सर्वप्रथम एक पात्र में तिलतैल, कल्क एवं गोदुग्ध डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, गोदुग्ध के पाक के पश्चात् गोमूत्र डालकर पाक करें। तैल के सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर तैल को छानकर सुरक्षित रख लें। वातज योनिव्यापद् वाली स्त्री को इस तैल का पिचु योनि में धारण करने से एवं उत्तरबस्ति के रूप में प्रयोग करने से काफी लाभ होता है, अर्थात् इस तैल का पिचु एवं उत्तरबस्ति के रूप में प्रयोग करने से वातज योनि रोग दूर हो जाते हैं।

वात से पीड़ित योनि रोगों में उष्ण, स्निग्ध एवं वातनाशक द्रव्यों द्वारा साधित तैल का अभ्यङ्ग व पिचु धारण करना तथा इनके क्वाथ से योनि का प्रक्षालन अथवा परिषेचन कराना चाहिए। स्नेहन हेतु उष्ण व स्निग्ध द्रव्यों द्वारा साधित तैल का प्रयोग करना चाहिए।

दोषानुसार योनिव्यापद् रोग की चिकित्सा– १. वातज योनिव्यापद् वाली स्त्री के योनि का गुनगुने तैल से अभ्यङ्ग कराकर उसमें हंसपदी के मूल का कल्क धारण करना चाहिए।

२. पित्तज योनिव्यापद् में पञ्चवल्कल का कल्क योनि में धारण करना चाहिए।

३. कफज योनिव्यापद् में श्यामादि द्रव्यों का कल्क धारण करना चाहिए।

चक्रपाणि– बलाद्रोणद्वयेत्यादौ बलाद्रोणद्वयस्य क्वाथे इति– २ द्रोण बला से निर्मित क्वाथ में, अथवा बला क्वाथ का मान- २ द्रोण ग्रहण करना चाहिए। दोनों ही विधियों द्वारा क्वाथ का मान दो द्रोण ही आता है। [बलामूल- २ द्रोण लेकर चार गुने जल में पकाकर चतुर्थांश द्रव अवशेष रखने पर क्वाथ का मान- दो द्रोण ही होता है।]

पयस्या = अर्कपुष्पी। **मुद्गपीलुमाषाख्यैः पर्णीशब्दः प्रत्येकं अभिसंबध्यते-** मुद्ग, पीलु एवं माष नाम में प्रत्येक के साथ पर्णी शब्द भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार- मुद्गपर्णी, पीलुपर्णी एवं माषपर्णी शब्द बनता है। पीलुपर्णी = मोरट, कुछ आचार्य इससे मूर्वा का ग्रहण करते हैं।

प्रसन्ना मदिराया उपरितनो भागः– मदिरा के ऊपर का स्वच्छ भाग प्रसन्ना कहलाता है। शूले से योनिशूल अर्थ लिया गया है।

तैलं धार्यमिति रुजार्तायां योनौ धार्यम्– रोगी के योनि में तैल धारण करना, अर्थात् तैल का पिचु योनि में धारण करना।

योनौ च प्रणयेदिति– उत्तरबस्ति द्वारा योनि में तैल डालना, यहाँ तैल से वातनाशक द्रव्यों द्वारा साधित तैल का ग्रहण किया गया है।

श्यामादीनामिति– रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ.८) में "श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुल---" के द्वारा वर्णित द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। अर्थात् श्यामा, त्रिवृत्, चतुरङ्गुल (अमलतास), तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला आदि कफ नाशक द्रव्यों के कल्क का धारण कफज योनि रोगों में करना चाहिए। ॥४९-६२॥

पित्तलानां तु योनीनां सेकाभ्यङ्गपिचुक्रियाः। शीताः पित्तहराः कार्याः स्नेहनार्थं घृतानि च ॥६३॥
(पित्तघ्नौषधसिद्धानि कार्याणि भिषजा तथा।) शतावरीमूलतुलाश्चतस्रः संप्रपीडयेत् ॥६४॥
रसेन क्षीरतुल्येन पचेत्तेन घृताढकम्। जीवनीयैः शतावर्या मृद्वीकाभिः परूषकैः ॥६५॥
पिष्टैः प्रियालैश्चाक्षांशैर्द्वियष्टिमधुकैर्भिषक्। सिद्धे शीते च मधुनः पिप्पल्याश्च पलाष्टकम् ॥६६॥
सितादशपलोन्मिश्राल्लिह्यात् पाणितलं ततः। योन्यसृक्शुक्रदोषघ्नं वृष्यं पुंसवनं च तत् ॥६७॥
क्षतं क्षयं रक्तपित्तं कासं श्वासं हलीमकम्। कामलां वातरक्तं च वीसर्पं हृच्छिरोग्रहम् ॥६८॥
उन्मादारत्यपस्मारान् वातपित्तात्मकाञ्जयेत्।

इति बृहच्छतावरीघृतम्।

एवमेव क्षीरसर्पिर्जीवनीयोपसाधितम् ॥६९॥
गर्भदं पित्तलानां च योनीनां स्याद्विषग्जितम्।

पित्तज योनिव्यापद (पित्तज योनि रोग) की चिकित्सा– पित्तज योनिव्यापद् में शीतल एवं पित्तशामक परिषेक (Sprinkling or bath), अभ्यङ्ग (Massage) एवं पिचु क्रिया का प्रयोग करना चाहिए। स्नेहन हेतु पित्तनाशक औषधियों से सिद्ध घृतों का प्रयोग चिकित्सक को करना चाहिए, अर्थात् योनि का परिषेचन आदि क्रियाओं के लिए पित्तघ्न घृतों की योजना करनी चाहिए।

बृहत् शतावरी घृत (Bṛihat Satāvarī ghṛita) घटक द्रव्य–

१. स्वरस- शतावरीमूल (ताजा)- ४ तुला (४०० पल) द्वारा निकाला गया स्वरस

२. गोदुग्ध- स्वरस के मान के बराबर

३. गोघृत- १ आढक (४ प्रस्थ)

Scanned by CamScanner

४. कल्क द्रव्य- जीवनीय वर्ग की दस औषधियाँ- (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं यष्टीमधु) + शतावरी, मुनक्का, परूषक (फालसा), प्रियाल, यष्टीमधु व जल मुलेठी; सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ कर्ष (तोला) मात्रा में लेकर कूट पीस कर कल्क बना लें।

५. प्रक्षेप द्रव्य- मधु- ८ पल, पिप्पली चूर्ण- ८ पल, मिश्री चूर्ण- १० पल।

निर्माण विधि- सर्वप्रथम एक पात्र में शतावरीस्वरस, गोदुग्ध, कल्क एवं घृत डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, सम्यक् सिद्ध हो जाने घृत को छानकर एक पात्र में रखें। ठण्ढा होने पर इसमें मधु- ८ पल, पिप्पली चूर्ण- ८ पल तथा मिश्री- १० पल मिला दें। मात्रा- १ कर्ष।

उपयोग- मात्रापूर्वक इस घृत का सेवन करने से अधोलिखित व्याधियाँ दूर हो जाती हैं-

१. योनि रोग
२. आर्तव विकार
३. शुक्र विकार
४. क्षत क्षय
५. रक्तपित्त (Bleeding disorders)
६. कास (cough)
७. श्वास (Dyspnoea or Asthma)
८. हलीमक (कामला का विशेष भेद)
९. कामला (Jaundice)
१०. वातरक्त (Gout)
११. विसर्प (erysipales)
१२. हृदय रोग (Heart-diseases)
१३. शिरोग्रह (सिर में जकड़ाहट)
१४. पुंसत्व उत्पादक भी है अर्थात् प्रजोत्पादन कार्य करने वाला।
१५. उन्माद (Insanity)
१६. अरति (किसी काम में मन का न लगना अर्थात् बेचैनी का होना)
१७. अपस्मार (Epilepsy)
१८. अन्य वातपित्तजन्य रोग

अन्य सिद्धघृत एवं क्षीर- पूर्व योग की ही भाँति जीवनीय महाकषाय के कल्क एवं क्वाथ द्वारा साधित क्षीर अथवा कल्क, क्वाथ व क्षीर द्वारा साधित घृत के सेवन करने से स्त्री गर्भ धारण करने में समर्थ हो जाती है, इसके साथ ही यह रोग पित्तज योनि रोगों को भी दूर करने में सहायक है।

चक्रपाणि- 'शतावरीमूलतुला इत्यादि' के द्वारा बृहत्शतावरी घृत के निर्माण एवं उपयोग को बताया गया है।

आर्द्रशतावरीमूलपीडनेन यावद्रसो भवति तेन समं क्षीरघृतं वक्ष्यमाणकल्कैः पाचनीयम्- आर्द्र शतावरी की जड़ को कूट कर स्वरस निकालें, इससे निकले हुए स्वरस की मात्रा के बराबर गोदुग्ध ग्रहण करें। अब स्वरस, कल्क, दुग्ध एवं घृत को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। (वर्णित कल्क द्रव्यों के साथ स्वरस व दुग्ध बराबर-बराबर मात्रा में लेकर पाक करें।

द्वियष्टिमधुकैरिति- मधुयष्टि दो भाग लें, अर्थात् दो कर्ष (२ तोला) लें। अथवा जलज एवं स्थलज दोनों प्रकार की मुलेठी १-१ कर्ष मात्रा में लें। **एवमेवेत्यादौ शतावरी चतुः शतपलरससमेनेत्यर्थः-** इस प्रकार यहाँ शतावरी ४०० पल (४ तुला) लेकर उससे निर्मित स्वरस के बराबर दुग्ध का ग्रहण करें।

क्षीरोत्थितं सर्पिः क्षीरसर्पिः- दूध द्वारा निकाले गये घृत को क्षीरसर्पि कहते हैं। **जीवनीयानि अत्र कल्कः-** जीवनीय गण की औषधियों का प्रयोग यहाँ कल्क के रूप में करना चाहिए। ॥६३-६९॥

योन्यां श्लेष्मप्रदुष्टायां वर्तिः संशोधनी हिता ॥७०॥
वाराहे बहुशः पित्ते भावितैर्लक्तकैः कृता। भावितं पयसाऽर्कस्य यवचूर्णं ससैन्धवम् ॥७१॥
वर्तिः कृता मुहुर्धार्या ततः सेच्या सुखाम्बुना। पिप्पल्या मरिचैर्माषैः शताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥७२॥
वर्तिस्तुल्या प्रदेशिन्या धार्या योनिविशोधनी।

कफज योनिव्यापद् की चिकित्सा (Treatment of Kaphaja Yoni-Vyāpad)- कफ द्वारा दूषित योनि रोगों में कपड़े को वाराह (सूअर) के पित्त से भावित कर वर्ति बनाकर संशोधनार्थ स्त्री की योनि में रखना हितकर होता है। ऐसा करने से योनिमार्ग का शोधन हो जाता है।

१. अर्कादिवर्ति- यव चूर्ण (यव का आटा) में सैन्धव नमक व मदार का दूध मिलाकर वर्ति बना लें। इस वर्ति को बार-बार स्त्री की योनि में धारण करावें। धारण करने के बाद वर्ति को निकालकर उष्ण जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए। प्रक्षालन का कार्य प्रत्येक बार करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

२. पिप्पल्यादि वर्ति– पिप्पली चूर्ण- १ भाग, काली मिर्च-१ भाग, उड़द-१ भाग, सौंफ- १ भाग, कूठ- १ भाग, सैन्धव नमक- १ भाग । सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर जल के साथ पीसकर प्रादेशिनी (तर्जनी Index Finger) की लम्बाई एवं चौड़ाई के बराबर वर्ति बनाकर सुखा लें। इस वर्ति का योनि में धारण कफज योनिव्यापद् वाली स्त्री को करना चाहिए । इसके धारण करने से योनि का शोधन होता है । [वर्ति निकालने के बाद उष्ण जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए, यह विशेष ध्यान रखें ।]

चक्रपाणि– पयसाऽर्कस्येति- अर्कक्षीर द्वारा (मदार के दूध द्वारा) । सेच्येति परिषिञ्चनीया- परिषेक कराना चाहिए। अर्थात् वर्ति धारण करने के बाद उष्ण जल से योनि का प्रक्षालन करना चाहिए, क्योंकि ये वर्तियाँ तीक्ष्ण होती है ।

प्रादेशिनीतुल्या प्रादेशिन्यङ्गुलीसमाना परिणाहेन दैर्घ्येण च– प्रादेशिनी अङ्गुली (तर्जनी अङ्गुली Index finger) की मोटाई व लम्बाई के बराबर वर्ति का निर्माण करना चाहिए । ॥७०-७२॥

उदुम्बरशलाटूनां द्रोणमब्द्रोणसंयुतम् ॥७३॥
सपञ्चवल्ककुलकमालतीनिम्बपल्लवम् । निशां स्थाप्य जले तस्मिंस्तैलप्रस्थं विपाचयेत् ॥७४॥
लाक्षाधवपलाशत्वङ्निर्यासैः शाल्मलेन च । पिष्टैः सिद्धस्य तैलस्य पिचुं योनौ निधापयेत् ॥७५॥
सशर्करैः कषायैश्च शीतैः कुर्वीत सेचनम् । पिच्छिला विवृता कालदुष्टा योनिश्च दारुणा ॥७६॥
सप्ताहाच्छुध्यति क्षिप्रमपत्यं चापि विन्दति । उदुम्बरस्य दुग्धेन षट्कृत्वो भावितात्तिलात् ॥७७॥
तैलं क्वाथेन तस्यैव सिद्धं धार्यं च पूर्ववत् । धातक्यामलकीपत्रस्रोतोजमधुकोत्पलैः ॥७८॥
जम्ब्वाम्रमध्यकासीसलोध्रकट्फलतिन्दुकैः । सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः ॥७९॥
अक्षमात्रैरजामूत्रे क्षीरे च द्विगुणे पचेत् । तैलप्रस्थं पिचुं दद्याद्योनौ च प्रणयेत्ततः ॥८०॥
कटीपृष्ठत्रिकाभ्यङ्गं स्नेहबस्तिं च दापयेत् । पिच्छिला स्रावियी योनिर्विप्लुतोपप्लुता तथा ॥८१॥
उत्ताना चोन्नता शून्या सिध्येत् सस्फोटशूलिनी । करीरयवनिम्बार्कवेणुकोशाम्रजाम्बवैः ॥८२॥
जिङ्गिनीवृषमूलानां क्वाथैर्मार्द्वीकसीधुभिः । सशुक्तैर्धावनं मिश्रैर्योन्यास्रावविनाशनम् ॥८३॥
कुर्यात् सतक्रगोमूत्रशुक्तैर्वा त्रिफलारसैः ।

उदुम्बरादितैल (Udumbarādi-taila) घटकद्रव्य– १. हिम (शीत Cold infusion) के द्रव्य– गूलर का कच्चा फल, पञ्चवल्कल (वट, अश्वत्थ, प्लक्ष, उदुम्बर एवं वेतस की छाल), कुलक (पाठभेद कट्वङ्ग), मालतीपत्र, निम्बपत्र; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर छोटे-छोटे टुकड़े करके १ द्रोण (३२ प्रस्थ) जल में रात भर के लिए भिगो दें । प्रातः काल मसलकर द्रव को छान लें । मात्रा- १ द्रोण ।

२. तिल तैल– १ प्रस्थ

३. कल्क द्रव्य– लाक्षा, धव (धाय का पुष्प), पलाश की गोंद, सेमल की छाल; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोला) लेकर जल के साथ पीसकर कल्क बना लें ।

निर्माणविधि– एक पात्र में हिम, कल्क व तैल को लेकर विधिपूर्वक स्नेह को सिद्ध कर लें। अर्थात् मन्दाग्नि पर पकावें । तैल के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर, तैल को साफ-सुथरे कपड़े से छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें ।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग पिचु के रूप में करना चाहिए अर्थात् इस तैल का पिचु योनि में धारण करना चाहिए। [साफ-सुथरे कपड़े के टुकड़े को तैल से भिगोकर योनि में रखना पिचुधारण कहलाता है । पिचु = रूई का मोटा टुकड़ा। पिचु धारण के पश्चात् शर्करा मिश्रित शीतल व कषाय द्रव्यों के क्वाथ से योनि को धुलें या धोंवे । इसके प्रयोग से पिच्छिल योनि (योनि से पिच्छिल स्राव का निकलना), विवृतयोनि (फैली हुई योनि), काल दुष्ट योनि एवं दारुण योनि सात दिन में शुद्ध हो जाती है तथा स्त्री शीघ्र ही गर्भ धारण कर लेती है ।

उदुम्बरादि तैल (द्वितीय Udumbarādi-Taila)– उदुम्बर के दूध से छः बार भावित तिल से निकाला गया तैल- १ भाग, उदुम्बर क्वाथ-४ भाग, द्वारा साधित तिल तैल का प्रयोग पूर्वयोग की भाँति करना चाहिए ।

धातक्यादि तैल (Dhātakyādi-Taila) घटक द्रव्य–

१. कल्क द्रव्य– धातकीपुष्प (धाय का फूल), आमलकी (आँवला), तेजपत्र, स्रोतोञ्जन (काला सुरमा), यष्टीमधु (मुलेठी), उत्पल (नीलकमल), जम्बु की गुठली, आम की गुठली, कासीस, लोध्र, कट्फल (कायफल), तिन्दुक की छाल, सौराष्ट्री (फिटकरी), दाडिमत्वक् (अनार का छिलका) व उदुम्बर शलाटु (गूलर का कच्चा फल); सभी द्रव्यों को १-१ तोला लेकर दुग्ध के साथ पीसकर कल्क बना लें । कल्क की मात्रा- १५ तोला ।

Scanned by CamScanner

२. द्रव पदार्थ– तैल का दूना, बकरे का मूत्र- २ प्रस्थ, अजा दुग्ध- २ प्रस्थ ।

३. तिल तैल– १ प्रस्थ ।

निर्माण विधि– एक पात्र में निर्दिष्ट मात्रा में कल्क द्रव्य, अजामूत्र, अजा दुग्ध व तिलतैल को डालकर विधिपूर्वक स्नेह सिद्ध कर लें । [तैलपाक करते समय मूत्र डालने से पहले दुग्ध डालकर पाक करना चाहिए, यह ध्यान रखें । अन्यथा तैल से बहुत अधिक मात्रा में झाग निकलेगा ।]

उपयोग– इस तैल का पिचु योनि में धारण करें तथा कटि, पृष्ठ, त्रिक प्रदेश पर इसका अभ्यङ्ग करें तथा अनुवासन बस्ति दें ।

इस तैल के प्रयोग से अधोलिखित व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं–

१. पिच्छिल योनि (जिस योनि से पिच्छिल स्राव निकल रहा हो),
२. स्राव युक्त योनि
३. विप्लुता योनि
४. उपप्लुता योनि (श्वेतवर्ण के स्राव वाली योनि, वात-कफज विकृतियों से व्याप्त)
५. उत्तान योनि (अन्तर्मुखी योनि)
६. शोथ, स्फोट एवं शूल युक्त योनि
७. उन्नता योनि

योनि प्रक्षालन में उपयोगी द्रव्य– करीर, धव, नीम की पत्ती, मदार की पत्ती, वेणु, कोशाम्र, जामुन, जिङ्गिनी (मञ्जिष्ठा), अडूसे की जड़, इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) में मुनक्के का सीधु एवं शुक्त (सिरका) मिलाकर अथवा त्रिफला के क्वाथ या रस स्वरस में तक्र, गोमूत्र या सिरका मिलाकर योनि का प्रक्षालन (धावन) करने से योनि से निकलने वाला स्राव बन्द हो जाता है ।

चक्रपाणि- उदुम्बरशलाटूनामिति– पञ्चवल्कल आदि द्रव्यों के साथ उदुम्बर शलाटु का भी ग्रहण करें । इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर सम भाग जल के साथ रात भर भिगो दें, अर्थात् भिगाये जाने वाले द्रव्य की संयुक्त मात्रा- १ द्रोण ग्रहण करें ।

निर्यासैरिति पलाशस्यैव निर्यासैः- पलाश का निर्यास या गोंद ।

लाक्षा च पलाशव्यतिरेकेण भवतीति ज्ञेयम्– लाक्षा पलाश से विपरीत (भिन्न) होता है, ऐसा समझना चाहिए । सशर्करैः कषायैरिति-उदुम्बर शलाटु आदि द्रव्यों के हिम में ही शर्करा डालकर, शर्करा मिश्रित हिम द्वारा योनि का प्रक्षालन करना चाहिए ।

कालदुष्टा चिरकालदुष्टा– चिरकाल (अत्यधिक समय) से दूषित योनि को कालदुष्टा योनि कहा गया है । उदुम्बरस्य दुग्धेनेति- उदुम्बर क्षीर द्वारा । क्वाथेन तस्यैवेति- उदुम्बर के ही क्वाथ द्वारा, अर्थात् उदुम्बर क्षीर भावित तिल द्वारा निष्कासित तैल को उदुम्बर क्वाथ व कल्क के साथ पकाकर सिद्ध कर लें ।

सौराष्ट्रिका तुवरी मृत्तिका– तुवरी मिट्टी (फिटकरी) । **अजामूत्रे क्षीरे चेति-**अजामूत्र एवं अजा क्षीर प्रत्येक २-२ भाग ग्रहण करें, २ भाग का अभिप्राय स्नेह के दो गुने से है । उत्तानेति = उन्नतयोनि । करीर मरुक्षेत्र में उत्पन्न होने वाला वृक्ष, [कांटेदार वृक्ष जो मरुस्थल में पैदा होता है तथा जिसे ऊँट खाते हैं ।]

कोषाम्र = इस नाम से प्रसिद्ध (ओडिआम्र नाम से प्रसिद्ध-गंगाधर) । जिङ्गिनी- इसी नाम से विख्यात (माञ्जिष्ठा-गंगाधर) ॥७३-८३॥

पिप्पल्ययोरजःपथ्याप्रयोगा मधुना हिताः ॥८४॥
श्लेष्मलायां कटुप्रायाः समूत्रा बस्तयो हिताः । पित्ते समधुरक्षीरा वाते तैलाम्लसंयुताः ॥८५॥
सन्निपातसमुत्थायाः कर्म साधारणं हितम् ।

पिप्पल्यादि चूर्ण– पिप्पली चूर्ण- १ भाग, अयोरज (लौह चूर्ण या भस्म)- १ भाग एवं हरीतकी चूर्ण- १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर आपस में मिश्रितकर रख लें । इस चूर्ण का सेवन मधु के साथ योनि से स्राव होने पर करना चाहिए ।

उत्तरबस्ति की उपयोगिता–

१. कफ प्रधान योनिव्यापद् में कटु द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

२. पित्तज योनिव्यापद् में मधुरगण की औषधियों द्वारा साधित क्षीर की उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए ।

Scanned by CamScanner

३. वातज योनिव्यापद् में वातनाशक तैल व अम्ल द्रव्यों के क्वाथ की उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

४. सन्निपातज योनिव्यापद् में त्रिदोषशामक द्रव्यों द्वारा साधित क्वाथ व तैल की उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् तीनों दोषों की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– कर्मसाधारणं-वातादि दोषों से उत्पन्न होने वाले योनिव्यापदों में जो अलग-अलग चिकित्सा बतायी गयी है उन सबका मिश्रित रूप से प्रयोग त्रिदोषज योनिरोग की चिकित्सा हेतु करना चाहिए। ॥८४-८५॥

रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च ॥८६॥
ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम्। तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा ॥८७॥
क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम्। वराहस्य रसो मेद्यः सकौलत्थोऽनिलाधिके ॥८८॥
शर्कराक्षौद्रयष्ट्याह्वनागरैर्वा युतं दधि। पयस्योत्पलशालूकबिसकालीयकाम्बुदम् ॥८९॥
सपयःशर्कराक्षौद्रं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत्।

रक्तयोनि (रक्तयोनिव्यापद्) की चिकित्सा (Treatment of Rakta Yoni)– रक्तयोनि रोग में रक्त के वर्णों को देखकर दोषों के अनुबन्ध का विचार करते हुए दोषनाश रक्तस्थापन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

वातज असृग्दर की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Asṛigdara)–

(क)

१. तिल चूर्ण + मधु का प्रयोग
२. दधि + मधु का प्रयोग
३. फाणित + मधु
४. सूअर की चर्बी (वसा) + मधु

} इन योगों के सेवन करने से वातज असृग्दर दूर हो जाता है।

(ख) सूअर के मांस से निर्मित **मांसरस + मेद** में कुलथी की दाल या रस मिलाकर सेवन करने से वातज असृग्दर विकार दूर हो जाता है।

(ग) शर्करा, मधु, यष्टीमधु व शुण्ठी को दही व घृत के साथ मिलाकर सेवन करने से वातज असृग्दर रोग नष्ट हो जाता है।

पित्तज असृग्दर की चिकित्सा (Treatment of Pittaja Asṛigdara)–

पित्तज असृग्दर में पयस्या (क्षीरविदारी), उत्पल (नीलकमल), शालूक (कमलकन्द), बिस, कालीयक एवं नागरमोथा; इन द्रव्यों में से किसी एक का चूर्ण बनाकर दूध, मधु व चीनी के साथ सेवन करें। अर्थात् चूर्ण को एक कप दूध में घोलकर उसमें चीनी (मिश्री) व मधु मिलाकर पीवें।

चक्रपाणि– 'रक्तयोन्यामित्यादि' के द्वारा रक्तयोनि की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **असृग्वर्णैरनुबन्धं वीक्ष्येति-** योनि से निकलने वाले रक्तस्राव के वर्ण के वैशिष्ट्य के आधार पर दोष विशेष के अनुबन्ध का विचार करके। ॥८६-८९॥

विशेष– 'रक्तयोन्यामित्यादि' के द्वारा रक्तयोनि की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। रक्त योनिव्यापद् से निकलने वाले रक्त के वर्ण (colour) को देखकर वातादि के अनुबन्ध को जानकर तदनुसार रक्तस्थापन औषधियों की योजना करनी चाहिए, जिसका उल्लेख जातिसूत्रीय अध्याय में किया गया है। तिल चूर्ण आदि द्रव्यों को मधु व मिश्रित दूध में मिलाकर पीने से वात प्रदर दूर हो जाता है। अथवा यह योग वातप्रदर नाशक है। **रक्तयोनि को ही** यहाँ प्रदर शब्द से कहा गया है। शौकरी वसा = सूअर की चर्बी। कुलथी का रस + वराह मांसरस का पान वात प्रधान प्रदर अथवा रक्तयोनि में करना चाहिए। पयस्या = क्षीरविदारी।

पाठा जम्ब्वाम्रयोर्मध्यं शिलोद्भेदं रसाञ्जनम् ॥९०॥
अम्बष्ठा शाल्मलीश्लेषं सगङ्गां वत्सकत्वचम्। बाह्लीकातिविषे बिल्वं मुस्तं लोध्रं सगैरिकम् ॥९१॥
कट्वङ्गं मरिचं शुण्ठीं मृद्वीकां रक्तचन्दनम्। कट्फलं वत्सकानन्ताधातकीमधुकार्जुनम् ॥९२॥
पुष्येणोद्धृत्य तुल्यानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्। तानि क्षौद्रेण संयोज्य पिबेत्तण्डुलवारिणा ॥९३॥
अर्शःसु चातिसारेषु रक्तं यच्चोपवेश्यते। दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ॥९४॥
योनिदोषं रजोदोषं श्वेतं नीलं सपीतकम्। स्त्रीणां श्यावारुणं यच्च प्रसह्य विनिवर्तयेत् ॥९५॥
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥

इति पुष्यानुगचूर्णम्।

Scanned by CamScanner

पुष्यानुग चूर्ण (Pushyānuga-Cūrṇa)-घटक द्रव्य–अधोलिखित औषधियों को **पुष्यनक्षत्र** में ही एकत्र कर योग बनावें–

१.	पाठा	- १ भाग	१४.	लोध्र	- १ भाग
२.	जामुन की गुठली	- १ भाग	१५.	गैरिक	- १ भाग
३.	आम की गुठली	- १ भाग	१६.	कट्वङ्ग (श्योनाक)	- १ भाग
४.	पाषाणभेद	- १ भाग	१७.	काली मिर्च	- १ भाग
५.	रसाञ्जन (रसवत)	- १ भाग	१८.	शुण्ठी (सोंठ)	- १ भाग
६.	अम्बष्ठा (पाठा	- १ भाग	१९.	मृद्वीका (मुनक्का)	- १ भाग
७.	शाल्मली श्लेष (मोचरस)	- १ भाग	२०.	रक्तचन्दन	- १ भाग
८.	समङ्गा (मञ्जिष्ठा)	- १ भाग	२१.	कायफल	- १ भाग
९.	वत्सक त्वक् (कुटज की छाल)	- १ भाग	२२.	इन्द्रयव	- १ भाग
१०.	बाह्लीक	- १ भाग	२३.	अनन्तमूल	- १ भाग
११.	अतिविषा (अतीस)	- १ भाग	२४.	धातकी पुष्प	- १ भाग
१२.	बिल्व की गुद्दी	- १ भाग	२५.	मधुक (मुलेठी)	- १ भाग
१३.	नागरमुस्तक	- १ भाग	२६.	अर्जुन की छाल	- १ भाग

निर्माण विधि– सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कूट-पीस कर कपड़ छन चूर्ण बना लें ।

अनुपान– इस चूर्ण को ३-६ ग्राम की मात्रा में मधु के साथ चाटें एवं बाद में **तण्डुलोदक** (चावल का धोवन) का पान करें ।

उपयोग– इस चूर्ण का मात्रापूर्वक सेवन करने से अधोलिखित व्याधियों में लाभ होता है–

१. अर्श (Piles) एवं अतिसार (Diarrhoea) से होने वाला रक्तस्राव ।

२. बालकों में आगन्तुज एवं दोषज कारणों से होने वाला रक्तस्राव ।

३. स्त्रियों में होने वाले योनिदोषजन्य अथवा रजोदोषजन्य योनिस्राव जो श्वेत, नील, पीत, श्याव एवं अरुण वर्ण के होते हैं ।

अर्थात् विविध प्रकार के रक्तस्राव एवं विकृति जन्य योनिस्राव इस चूर्ण के सेवन करने से शीघ्र ही बन्द हो जाते हैं । यह पुष्यानुग नामक चूर्ण भगवान् आत्रेय द्वारा प्रशंसित है एवं उपरोक्त रोगों में अत्यन्त उपयोगी है ।

चक्रपाणि– 'पाठेत्यादौ' के द्वारा पुष्यानुगचूर्ण का वर्णन किया गया है । अम्बष्ठा = पाठा भेद, अन्य आचार्य पाठा-२ भाग ग्रहण करने के लिए पुनः अम्बष्ठा (पाठा का पर्याय) का पाठ किया गया है, ऐसा कहते हैं । कहा भी गया है, यथा– "घृते तैले च योगे च यद्द्रव्यं पुनरुच्यते । भागतो द्विगुणं तद्धि ग्रहणीयं मनीषिभिः" इति [योग में घृत, तैल अथवा जिस द्रव्य का कथन पुनः किया गया है उसका ग्रहण दूना (२ भाग) करना चाहिए, ऐसा ऋषियों का विचार है।]

शाल्मलीश्लेषमिति शाल्मलीवेष्टकम्– शाल्मली श्लेष से शाल्मली वेष्टक (सेंमल का गोंद या रस) अर्थ लिया गया है, [मोचरस] बाह्लीकमिति = कुङ्कुम (केशर) । पुष्येणेति– पुष्य नक्षत्र में उखाड़कर । पुष्य नक्षत्र में औषधियों को उखाड़ना अदृष्टद्वारोपकारक होता है । अर्थात् इस नक्षत्र में औषधियों को उखाड़ना शुभ माना गया है ।

'नीलं श्वेतं सर्पीतकमित्यादि' के द्वारा आर्तव दुष्टि के वैशिष्ट्य को स्पष्ट किया गया है । ॥९०-९५॥

विशेष (Comments)– पाठा एवं अम्बष्ठा पाठ होने से पाठा को दूनी मात्रा में ग्रहण करना चाहिए । वाह्लीक = हींग । कट्वङ्ग = श्योनाक । वत्सक = इन्द्रयव (कुटज का बीज) । पाठा आदि सभी द्रव्यों को पुष्य नक्षत्र में उखाड़े एवं चूर्ण करें । कुछ आचार्य उखाड़ना एवं चूर्ण का निर्माण करना एक ही साथ करने को कहते हैं । अर्थात् पुष्य नक्षत्र में औषधियों को उखाड़कर लावें एवं इसी काल में चूर्ण बना लें, कहते हैं । जबकि ऐसा करना संभव नहीं है । [व्यक्ति पुष्य नक्षत्र में औषधियों को इकट्ठा करे, अथवा हरे द्रव्यों को पुष्य नक्षत्र में उखाड़े तथा बाद में सुखा लें, फिर अगले पुष्य नक्षत्र में पूर्व सुखायी गयी औषधियों को कूट-पीस कर चूर्ण बना लें, ऐसा करना संभव है ।]

तण्डुलीयकमूलं तु सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।।९६।।

रसाञ्जनं च लाक्षां च छागेन पयसा पिबेत् । पत्रकल्कौ घृते भृष्टौ राजादनकपित्थयोः ।।९७।।

–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद ।

Scanned by CamScanner

पित्तानिलहरौ, पैत्ते सर्वथैवास्रपित्तजित् । मधुकं त्रिफलां लोध्रं मुस्तं सौराष्ट्रिकां मधु ।।९८।।
मद्यैर्निम्बगुडूच्यौ वा कफजेऽसृग्दरे पिबेत् । विरेचनं महातिक्तं पैत्तिकेऽसृग्दरे पिबेत् ।।९९।।
हितं गर्भपरिस्रावे यच्चोक्तं तच्च कारयेत् ।

प्रदरनाशक अन्ययोग– (क) तण्डुलीयक (चौलाई) मूल के कल्क में मधु मिलाकर चावल के धोवन के साथ पीवें । (ख) रसाञ्जन का सेवन बकरी के दूध के साथ करें । (ग) कच्ची लाक्षा का सेवन बकरी के दूध के साथ करें । (घ) खिरनी एवं कपित्थ पत्र का कल्क घृत में भुनकर सेवन करने से वातपित्त जन्य प्रदर दूर हो जाता है । (ङ) यष्टीमधु (मुलेठी), हरड़, बहेड़ा, आँवला, लोध्र, नागरमुस्तक एवं फिटकरी; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण का सेवन मधु के साथ करने से पित्तज अथवा रक्तपित्त जन्य प्रदर दूर हो जाता है । (च) नीम की पत्ती एवं गुडूची के कल्क को मद्य के साथ कफज असृग्दर (प्रदर) में पीना चाहिए ।

पित्तज प्रदर में संशोधन (विरेचन) चिकित्सा– पित्तज प्रदर में महातिक्तघृत के द्वारा विरेचन कराना चाहिए तथा गर्भस्राव नाशक जो चिकित्सा बतलायी गयी है, उसका प्रयोग करना चाहिए ।

चक्रपाणि– विरेचनमिति से त्रिवृतादि द्रव्यों के चूर्ण खिलाकर विरेचन कराना चाहिए, यह भी भाव प्राप्त होता है । **महातिक्तकं घृतं कुष्ठोक्तं पिबेदिति योज्यम्–** कुष्ठचिकित्सा में वर्णित महातिक्तघृत का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए, यह भाव है । जातिसूत्रीय अध्याय (वि०अ०८) में गर्भस्राव की जो चिकित्सा निर्देशित है, उसी का पालन यहाँ भी करना चाहिए । ।।९६-९९।।

काश्मर्यकुटजक्काथसिद्धमुत्तरबस्तिना ।।१००।।
रक्तयोन्यरजस्कानां पुत्रघ्न्याश्च हितं घृतम् । मृगाजाविवराहासृग्दध्यम्लफलसर्पिषा ।।१०१।।
अरजस्का पिबेत् सिद्धं जीवनीयैः पयोऽपि वा । कर्णिन्यचरणाशुष्कयोनिप्राक्चरणासु च ।।१०२।।
कफवाते च दातव्यं तैलमुत्तरबस्तिना । गोपित्ते मत्स्यपित्ते वा क्षौमं त्रिःसप्तभावितम् ।।१०३।।
मधुना किण्वचूर्णं वा दद्यादचरणापहम् । स्रोतसां शोधनं कण्डूक्लेदशोफहरं च तत् ।।१०४।।
वातघ्नैः शतपाकैश्च तैलैः प्रागतिचारिणी । आस्थाप्या चानुवास्या च स्वेद्या चानिलसूदनैः ।।१०५।।
स्नेहद्रव्यैस्तथाऽऽहारैरुपनाहैश्च युक्तितः । शताह्वायवगोधूमकिण्वकुष्ठप्रियङ्गुभिः ।।१०६।।
बलाखुपर्णिकाश्याह्वैः संयावो धारणः स्मृतः । वामिन्युपप्लुतानां च स्नेहस्वेदादिकः क्रमः ।।१०७।।
कार्यस्ततः स्नेहपिचुस्ततः संतर्पणं भवेत् । शल्लकीजिङ्गिनीजम्बूधवत्वक्पञ्चवल्कलैः ।।१०८।।
कषायैः साधितः स्नेहपिचुः स्याद्विप्लुतापहः । कर्णिन्यां वर्तिका कुष्ठपिप्पल्यर्काग्रसैन्धवैः ।।१०९।।
बस्तमूत्रकृता धार्या सर्वं च श्लेष्मनुद्धितम् । त्रैवृतं स्नेहनं स्वेदो ग्राम्यानूपौदका रसाः ।।११०।।
दशमूलपयोबस्तिश्चोदावर्तानिलार्तिषु । त्रैवृतेनानुवास्या च बस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः ।।१११।।
एतदेव महायोन्यां स्रस्तायां च विधीयते । वसा ऋक्षवराहाणां घृतं च मधुरैः शृतम् ।।११२।।
पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात् क्षौमलक्तकैः । प्रस्रस्तां सर्पिषाऽभ्यज्य क्षीरस्विन्नां प्रवेश्य च ।।११३।।
बध्नीयाद्देववारस्य पिण्डेनामूत्रकालतः । यच्च वातविकाराणां कर्मोक्तं तच्च कारयेत् ।।११४।।
सर्वव्यापत्सु मतिमान्महायोन्यां विशेषतः । नहि वातादृते योनिर्नारीणां संप्रदुष्यति ।।११५।।
शमयित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम् ।

रक्तयोनि, अरजस्का एवं पुत्रघ्नी योनि व्यापद् की चिकित्सा– १. गम्भारी (काश्मर्य) की छाल, कुटज की छाल; दोनों द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथ (Decoction) द्वारा घृत सिद्ध करें । इस साधित घृत की उत्तरबस्ति देने से रक्त योनि, अरजस्का अथवा पुत्रघ्नी योनिव्यापद् रोग में लाभ मिलता है ।

२. अरजस्का योनिव्यापद् रोग में स्त्री को हरिण अथवा बकरी, अथवा भेड़ अथवा वाराह (सूअर) के रक्त में खट्टी दही, अम्ल फलों के रस एवं घृत मिलाकर पीना चाहिए अथवा जीवनीय द्रव्यों के कल्क द्वारा साधित क्षीर का पान करना चाहिए ।

कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि एवं प्राक्चरणा योनिव्यापद् की चिकित्सा– कर्णिनी, अचरणा, शुष्कयोनि एवं प्राक्चरणा योनिव्यापद् तथा अन्य कफवातज योनिव्यापद् में जीवनीयगण की औषधियों के कल्क एवं क्वाथ द्वारा सिद्ध तैल की उत्तरबस्ति देनी चाहिए ।

३. रेशम के कपड़े के टुकड़े को गाय अथवा मछली के पित्त की इक्कीस भावना देकर सुखा लें । इस कपड़े की वर्ति बनाकर अचरणा योनि में रखें अथवा सुराकिट्ट को मधु के साथ मिश्रित करके एक कपड़े पर रखकर वर्ति बना लें। इस वर्ति को योनि में धारण करने से **अचरणा** योनि शुद्ध हो जाती है, अर्थात् इसके धारण करने से आर्तववह स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं । यह वर्ति योनि में होने वाले **कण्डू** (Itching), क्लेद एवं शोफ (शोथ) को नष्ट करती है ।

Scanned by CamScanner

४. प्राक्चरणा एवं अतिचरणा योनिव्यापद् में १०० बार साधित वातनाशक तैल की अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए अथवा वातनाशक द्रव्यों द्वारा योनि का स्वेदन करें। भोजन के रूप में स्नेह मिश्रित वात नाशक आहार लें अथवा वातनाशक द्रव्यों के कल्क में स्नेह मिलाकर उपनाह बाँधें। इन कार्यों को युक्तिपूर्वक करना चाहिए।

५. अतिचरणा एवं अचरणा योनिव्यापद् में शताह्वा (सौंफ), यव, गेहूँ, किण्व (सुराकिट्ट), कुष्ठ (कूठ), प्रियङ्गु, बला (बरियार), आखुपर्णी (मूषाकर्णी), श्रयाह्वं (गन्धविरोजा), सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क में घृत डालकर पाक करें, जब कल्क उत्कारिका जैसा हो जाय तब इसे कपड़े पर रखकर वर्ति जैसा बनाकर योनि में धारण करें। इसके प्रयोग से अतिचरणा एवं अचरणा योनि शुद्ध होकर गर्भधारण के योग्य हो जाती है।

वामिनी एवं उपप्लुता योनिव्यापद् की चिकित्सा– वामिनी एवं उपप्लुता योनिव्यापद् में स्नेहन, स्वेदन आदि कर्मों के बाद स्नेहपिचु का योनि में धारण करना चाहिए। आहार के रूप में संतर्पण आहार का सेवन करना चाहिए। अर्थात् योनि का स्नेहन, स्वेदन करने के बाद वातनाशक तैल से डुबायी गयी पिचु को योनि में धारण करना चाहिए।

विप्लुता योनिव्यापद् की चिकित्सा–

१. शल्लकी (सलई), जिङ्गिनी (मञ्जिष्ठा), जामुन की छाल, धव की छाल, पञ्चवल्कल (वट, उदुम्बर, प्लक्ष, अश्वत्थ एवं पारस पीपर); इन द्रव्यों के क्वाथ से तैल सिद्ध करें। इस तैल का पिचु योनि में धारण करने से विप्लुता योनि शुद्ध हो जाती है।

२. कूठ, पिप्पली, मदार की पत्ती का अग्र भाग (कोमल पत्तियाँ); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर बकरे के मूत्र के साथ पीसकर तर्जनी अंगुली (Index finger) के बराबर मोटी व लम्बी वर्ति बना लें। इस वर्ति को कर्णिनी योनिव्यापद् वाली स्त्री को योनि में धारण करना चाहिए। इसके साथ ही कफनाशक अन्य उपक्रमों का भी प्रयोग करना चाहिए।

उदावर्ता, वातज, महायोनि तथा प्रस्रस्ता योनिव्यापद् रोग की चिकित्सा–

१. उदावर्ता तथा वातज योनिव्यापद् में वेदना होने पर त्रिवृत् द्वारा सिद्ध तैल से स्नेहन, स्वेदन तथा ग्राम्य, औदक एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस एवं दशमूल साधित क्षीर का पान (आभ्यन्तर सेवन) अथवा उत्तरबस्ति के रूप में प्रयोग करना हितकारी होता है।

२. त्रिवृत् (निशोथ) के क्वाथ व कल्क द्वारा साधित तैल की अनुवासन अथवा उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

इसी चिकित्सा का प्रयोग महायोनि अथवा स्रस्त योनिव्यापद् में भी करना चाहिए। अर्थात् त्रिवृत् स्नेह (तैल) द्वारा योनि का अभ्यङ्ग **एवं** वातनाशक क्वाथ द्वारा स्नेहन करने के बाद त्रिवृत् तैल की अनुवासन बस्ति व उत्तरबस्ति तथा दशमूल के क्वाथ + मांसरस की निरूह रूप उत्तरबस्ति देनी चाहिए। भोजन के रूप में ग्राम्य, औदक एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ भात का सेवन करना चाहिए।

३. मधुर गण की औषधियों के कल्क व दुग्ध द्वारा साधित भालू या सूअर की वसा अथवा इनसे सिद्ध गोघृत को महायोनिव्यापद् वाली स्त्री की योनि में भरकर ऊपर से रेशम के कपड़े द्वारा योनि को बाँध दें, जिससे वसा या घृत योनि से बाहर न निकल सके।

४. प्रस्रस्ता योनिव्यापद् की चिकित्सा (Treatment of the Prolapse Uterus)– अपने स्थान से च्युत (हटी हुई) योनि को घृत द्वारा अभ्यंग करके वातनाशक औषधियों द्वारा सिद्ध क्षीर से स्वेदन करें। सम्यक् स्नेहन व स्वेदन के बाद योनि को अपने स्थान (पूर्व स्थान) पर स्थापित करके। इसके बाद वेशवार के कल्क के पिण्ड को योनिमुख में भरकर कपड़े से बाँध दें। पट्टी तब तक न खोलें जब तक कि मूत्र का वेग उपस्थित न हो जाय। अर्थात् मूत्रत्याग की इच्छा उत्पन्न होने पर पट्टी खोल देनी चाहिए।

योनिव्यापद् में वातनाशक चिकित्सा का महत्व– बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिए कि सभी प्रकार के योनिव्यापद् में एवं विशेष रूप से महायोनि व्यापद् रोग में वातव्याधि चिकित्सा (च.चि.२८) प्रकरण में वातनाशक जिस उपक्रमों का निर्देश किया गया है उनका पालन करना चाहिए।

वात की दुष्टि के बिना स्त्रियों की योनि दूषित नहीं होती, अतः सभी प्रकार के योनिव्यापदों में वात की चिकित्सा के बाद ही अन्य दोषों की चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् सबसे पहले वात को शान्त करें, पश्चात् अन्य दोषों को।

चक्रपाणि– मृगाजावीत्यादि से यहाँ अरजस्का योनिव्यापद् की चिकित्सा बतायी गयी है। इस रोगी को हिरण, बकरी अथवा सूअर के रक्त में दही, अम्लफलों के रस (अनार अथवा आँवला के रस) एवं घृत मिलाकर पीना चाहिए। यथा 'दध्यम्लफलसर्पिषा' के स्थान पर 'दध्यम्लक्षौद्रसर्पिषा' पाठ प्राप्त होता है। इस आधार पर मृगादि के रक्त में अम्ल दधि, मधु व घृत मिलाकर पीना चाहिए, अर्थ होगा।

Scanned by CamScanner

तैलमुत्तरवस्तिनेति– जीवनीय गण की औषधियों से साधित तैल की उत्तरबस्ति देनी चाहिए। गोपित्ते इत्यादौ दद्यादिति-शेष के पित्त अथवा मछली के पित्त से भावित रेशम के कपड़े (टुकड़े) को योनि में धारण करना चाहिए। ऐसा करने से अचरणायोनि शुद्ध हो जाती है। **प्रागतिचारिणीति-** प्राक्चरणा तथा अतिचरणा योनिव्यापद् में। संयाव = उत्कारिका। धारणः स्मृत इति- वामिनी योनि का शुक्र को धारण करने में समर्थ होना।

त्रैवृतं स्नेहनमिति– घृत, तैल व वसा में त्रिवृत् डालकर सिद्ध किया गया स्नेह। इसके द्वारा आतुर एवं योनि का स्नेहन करना चाहिए। इसी त्रिवृत् स्नेह का प्रयोग अनुवासन एवं उत्तरबस्ति के रूप में भी करना चाहिए। **आमूत्रकालत इति मूत्रकालपर्यन्तं बन्धनं कुर्यात्-** योनि का बन्धन मूत्र का वेग आने तक करना चाहिए, वेग आने के बाद बन्धन खोल दें। 'नहि वातादृत इत्यादि' के द्वारा सभी प्रकार के योनिव्यापदों में वातशामक चिकित्सा के हेतुत्व को स्पष्ट किया गया है। ॥१००-११५॥

रोहीतकान्मूलकल्कं पाण्डुरेऽसृग्दरे पिबेत् ।।११६।।
जलेनामलकीबीजं कल्कं वा सशितामधुम् । मधुनाऽऽमलकाच्चूर्णं रसं वा लेहयेच्च ताम् ।।११७।।
न्यग्रोधत्वग्घायेण लोध्रकल्कं तथा पिबेत् । आस्रावे क्षौमपट्टं वा भावितं तेन धारयेत् ।।११८।।
प्लक्षत्वक्चूर्णपिण्डं वा धारयेन्मधुना कृतम् । योन्या स्नेहाक्तया लोध्रप्रियङ्गुमधुकस्य वा ।।११९।।
धार्या मधुयुता वर्तिः कषायाणां च सर्वशः । स्रावच्छेदार्थमभ्यक्तां धूपयेद्वा घृताप्लुतैः ।।१२०।।
सरलागुग्गुलुयवैः सतैलकटुमत्स्यकैः । कासीसं त्रिफला कांक्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी ।।१२१।।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः । पलाशसर्जजम्बूत्वक्समङ्गामोचधातकीः ।।१२२।।
सपिच्छिलापरिक्लिन्नास्तस्मिनः कल्क इष्यते । स्तब्यानां कर्कशानां च कार्यं मार्दवकारकम् ।।१२३।।
धारयेद्वेशवारं वा पायसं कृशरां तथा । दुर्गन्धानां कषायः स्यात्तौवरः कल्क एव वा ।।१२४।।
चूर्णं वा सर्वगन्धानां पूतिगन्धापकर्षणम् । एवं योनिषु शुद्धासु गर्भं विन्दन्ति योषितः ।।१२५।।
अदुष्टे प्राकृते बीजे जीवोपक्रमणे सति ।

श्वेतप्रदर (पाण्डुर असृग्दर) की चिकित्सा–

- रोहितक मूलत्वक् का कल्क (Paste) जल के साथ श्वेतप्रदर रोग में पीना चाहिए।
- अथवा आमलकी बीज के कल्क में मधु व मिश्री मिलाकर जल के साथ आतुर को पीना चाहिए।
- अथवा आमलकी चूर्ण या स्वरस में मधु मिलाकर सेवन करें।
- न्यग्रोध (वट) की छाल का क्वाथ में लोध्र कल्क मिलाकर पीना चाहिए।
- योनि से स्राव (श्वेत वर्ण का स्राव) अधिक आने पर वट के छाल से निर्मित क्वाथ में रेशम के कपड़े के टुकड़े को भिगोकर योनि में धारण करना चाहिए।
- प्लक्षत्वक् चूर्ण (पाकड़ की छाल का चूर्ण) में मधु मिलाकर पिण्ड बना लें। इस पिण्ड को एक पतले कपड़े पर रखकर वर्ति बना लें तथा इसे योनि में धारण करावें। अथवा चूर्ण की पोट्टली बनाकर योनि में धारण करावें।
- लोध्र, प्रियङ्गु एवं यष्टीमधु के सम भाग से निर्मित चूर्ण में मधु मिलाकर वर्ति बना लें। योनि का स्नेहन करने के बाद इसका धारण योनि में करें। अर्थात् स्त्री योनि को तैल से आलिप्त करने के बाद वर्ति का धारण करे।
- कषाय रस प्रधान द्रव्यों के चूर्ण व मधु से निर्मित वर्ति को स्नेहित योनि वाली स्त्री को धारण करना चाहिए। अर्थात् वर्ति डालने से पहले योनि को स्निग्ध कर लेना चाहिए। ऐसा करने से योनि से होने वाला श्वेतस्राव (श्वेत प्रदर) शीघ्र ही बन्द हो जाता है।
- योनि से स्राव को पूर्णतः निकालने के लिए सर्वप्रथम योनि का वातनाशक तैलों द्वारा अभ्यङ्ग करें, पश्चात् सरल, गुग्गुलु, यव एवं घृत से निर्मित धूप द्वारा अथवा सिधरी मछली के ऊपर तैल डालकर निर्मित धूप द्वारा योनि का धूपन करना चाहिए।

पिच्छिल योनिव्यापद् की चिकित्सा– १. योनि के पिच्छिल होने पर अथवा योनि में चिपचिपाहट बने रहने पर कसीस, हरड़, बहेड़ा, आँवला, कांक्षी (फिटकरी), समङ्गा (लाजवन्ती), आम की गुठली एवं धातकी पुष्प; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण में मधु मिलाकर वर्ति बना लें तथा इसे योनि में धारण करें। ऐसा करने से योनि शुद्ध हो जाती है।

२. पलाश की छाल, सर्ज (राल), जम्बू त्वक् (जामुन की छाल), समङ्गा (लाजवन्ती) मोचरस एवं धाय का फूल; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें एवं इस कल्क को कपड़े पर रखकर तर्जनी अंगुली के बराबर वर्ति बना लें। इस वर्ति को योनि में धारण करने से योनि की पिच्छिलता एवं क्लिन्नता नष्ट हो जाती है।

Scanned by CamScanner

३. वात के अत्यधिक प्रकोप के कारण स्तब्ध एवं कर्कश योनि में मृदुता उत्पन्न करने वाले कर्म करने चाहिए। इस हेतु वेशवार, पायस, अथवा कृशरा की पोट्टली योनि में धारण करनी चाहिए।

४. योनि से दुर्गन्ध निकलने पर तुवरक के क्वाथ से योनि का प्रक्षालन अथवा तुवरक के कल्क का योनि में धारण अथवा सर्वगन्ध द्रव्यों के चूर्ण की पोट्टली बनाकर योनि में रखना चाहिए। ऐसा करने से योनि से दुर्गन्ध का आना बन्द हो जाता है।

इस प्रकार स्त्री की योनि के शुद्ध हो जाने पर एवं गर्भबीज के प्राकृत रहने पर यदि जीवात्मा गर्भ में आने को इच्छुक है तब स्त्री गर्भ धारण कर लेती है।

चक्रपाणि– पाण्डुरे प्रदरे इति-श्वेतप्रदर में। **भावितं तेनेति-** न्यग्रोध (वट) की छाल के क्वाथ द्वारा भावित। कटुमत्स्यक: शफरी, शुष्कमत्स्योवा- शफरी (सिधरी) मछली अथवा शुष्क मछली। कांक्षी सौराष्ट्री मृत= फूली फिटकरी (भस्म की हुई फिटकरी)।

अदुष्टे इत्यादौ प्राकृते बीजे इति– अपने सहज गुण से युक्त शुक्र व शोणित के रहने पर अर्थात् शुक्र व शोणित के निर्दुष्ट रहने पर एवं भूतों के संसर्ग से जीव के गर्भ में आने से स्त्री गर्भ धारण कर लेती है। जीव का गर्भाशय में आगमन पूर्वजन्म कृत अच्छे कर्मों के योग के कारण होता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥११६-१२५॥

पञ्चकर्म विशुद्धस्य पुरुषस्यापि चेन्द्रियम् ॥१२६॥
परीक्ष्य वर्णदोषाणां दुष्टं तद्भैरुपाचरेत्।

इसी प्रकार पञ्चकर्म द्वारा शोधित पुरुष के शुक्रगत वर्ण एवं दोषों की सम्यक् परीक्षा करके तद्-तद् दोषनाशक औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– गर्भ की उत्पत्ति में पुरुष का शुक्र भी कारण है। इसलिए शुक्र की भी पूर्व परीक्षा करके चिकित्सा करनी चाहिए, जिसे यहाँ 'पञ्चकर्मेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इन्द्रिय = शुक्र। शुक्र की वर्ण परीक्षा करने पर यदि वातादि दोषों की विकृति का ज्ञान होता है तब वातादि वर्ण के योग से वातादि नाशक औषधियों की योजना करनी चाहिए। ॥१२६॥

भवन्ति चात्र–

सलिङ्गा व्यापदो योनेः सनिदानचिकित्सताः ॥१२७॥
उक्ता विस्तरतः सम्यङ्मुनिना तत्त्वदर्शिना। पुनरेवाग्निवेशस्तु पप्रच्छ भिषजां वरम् ॥१२८॥
आत्रेयमुपसङ्गम्य शुक्रदोषास्त्वयाऽनघ! । रोगाध्याये समुद्दिष्टा ह्यष्टौ पुंसामशेषतः ॥१२९॥
तेषां हेतुं भिषक्श्रेष्ठ! दुष्टादुष्टस्य चाकृतिम्। चिकित्सितं च कात्स्न्र्येन क्लैब्यं यच्च चतुर्विधम् ॥१३०॥
उपद्रवेषु योनीनां प्रदरो यश्च कीर्तितः। तेषां निदानं लिङ्गं च चिकित्सां चैव तत्त्वतः ॥१३१॥
समासव्यासभेदेन प्रब्रूहि भिषजांवर! । तस्मै शुश्रूषमाणाय प्रोवाच मुनिपुङ्गवः ॥१३२॥

योनिव्यापद् प्रकरण का उपसंहार– इस प्रकार योनिव्यापद् के लक्षण (Signs and Symptoms), निदान (Etiology) एवं चिकित्सा (Treatment) का विस्तार पूर्वक वर्णन तत्त्वदर्शी भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कर दिया है।

शुक्रदोष प्रकरण

शुक्रदोष विषयक अग्निवेश की शङ्का– पुनः चिकित्सकों में श्रेष्ठ भगवान् आत्रेय के पास जाकर शिष्य अग्निवेश ने शुक्रदोष विषयक अपनी आशङ्का इस प्रकार प्रकट की– हे अनघ! पूर्व में आपने रोगाध्याय नामक अष्टोदरीय अध्याय (सु.अ. १९) में पुरुषों में आठ प्रकार के शुक्रदोष होते हैं, यह बताया है। हे चिकित्सकों में श्रेष्ठ आचार्य! शुक्र दुष्टि के हेतु (Etiology), दुष्ट एवं अदुष्ट शुक्र के एवं चिकित्सा का तत्त्वतः विवेचन आप संक्षेप एवं विस्तार पूर्वक हमें बतावें या सुनाइये–

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का उत्तर– ऋषियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने सेवा परायण अग्निवेश से कहा–

चक्रपाणि– यहाँ 'पुनरेव' इत्यादि सूत्र पर विवाद है। कुछ आचार्यों के अनुसार शुक्रादि दोषों के लक्षण एवं चिकित्सा विषयक जो वर्णन यहाँ किया गया है वह आचार्य कृत (आर्ष) है तथा कुछ आचार्य इसे अनार्ष स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार शुक्र दोषों की चिकित्सा का वर्णन बाजीकरण चिकित्सा में ही कर दिया गया है एवं शारीर स्थान में क्लैब्य का प्रतिपादन किया गया है। अतः पुनः इन विषयों का यहाँ अभिधान नहीं होना चाहिए। उसी प्रकार प्रदर का वर्णन योनिव्यापद् में ही कर दिया गया है। जो लोग इस पाठ को आर्ष स्वीकार करते हैं उनके अनुसार पूर्व में इसका विवेचन संक्षेप में किया गया है उसी का यहाँ विस्तार किया गया है, ऐसा कहते हैं।

Scanned by CamScanner

एवपस्यार्थत्वविवादेऽपि काश्मीरादिदेशानुमतत्वात् किंचिद् व्याकरणं कुर्म एव– इस प्रकार इसकी प्रमाणिकता (आर्षत्व) विवादित होने पर भी यह पाठ कश्मीर आदि पाठ के अनुकूल होने से मेरे द्वारा विषय कुछ विस्तृत कर दिया गया है। ॥१२७-१३२॥

बीजं यस्माद्व्यवाये तु हर्षयोनिसमुत्थितम् । शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥१३३॥
यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् । न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥१३४॥
अतिव्यवायाद्व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् । अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ॥१३५॥
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् । नारीणामरसज्ञानां गमनाज्जरया तथा ॥१३६॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् । भयात्क्रोधादभीघाराद्व्याधिभिः कर्शितस्य च ॥१३७॥
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात् । दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥१३८॥
शुक्रं संदूषयन्त्याशु

शुक्र के दोष– जिस कारण से मैथुन में हर्ष का हेतु पुरुष का शुक्र कहा गया है उसको मैं बता रहा हूँ। हे अग्निवेश! सुनो– जिस प्रकार धान्य आदि अन्न का बीज अकाल में (अनुचित समय) वर्षा होने पर, कृमि, कीट एवं अग्नि द्वारा विकृत हो जाने पर खेत में बोने पर रोहण (अङ्कुरित) नहीं होता उसी प्रकार दूषित शुक्र गर्भाशय में पहुँचने पर भी गर्भ उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता।

शुक्र दुष्टि के हेतु– अधोलिखित हेतुओं के सेवन करने पर पुरुष का शुक्र विकृत (दूषित) हो जाता है–

१. अत्यधिक मैथुन करना।
२. अत्यधिक व्यायाम करना।
३. असात्म्य आहार-विहार के सेवन करने से।
४. अकाल (अनुचित समय) में मैथुन करना, अकाल से बाल्यावस्था, वृद्धावस्था अथवा व्याधि ग्रस्त अवस्था में मैथुन करना अर्थ लिया गया है।
५. अयोनि गमन से अर्थात् हस्त मैथुन, गुद मैथुन अथवा पशुओं के साथ मैथुन करना।
६. पूर्णतः मैथुन न करना।
७. रूक्ष, तिक्त, कषाय, अम्ल, लवण एवं उष्ण गुणयुक्त आहारों के अत्यधिक सेवन करने से।
८. स्त्री की मैथुन के प्रति रुचि न होने से।
९. वृद्धा स्त्री के साथ गमन करने से।
१०. दिन में या प्रकाश में मैथुन करने से।
११. चिन्तित अथवा शोक युक्त अवस्था में मैथुन करने से अथवा आपस में अविश्वास होने से।
१२. शस्त्र, क्षार अथवा अग्नि कर्म के अनुचित प्रयोग करने से।
१३. भय, क्रोध, अभिचार आदि के कारण उत्पन्न व्याधियों से शरीर के कृश हो जाने पर।
१४. अधारणीय वेगों (मल मूत्रादि के वेगों) के अवरोध से।
१५. शुक्रवाही स्रोतस् के क्षत हो जाने से।
१६. रसादि धातुओं के दूषित होने से।

इन हेतुओं के सेवन से प्रकुपित हुए वातादि दोष पृथक्-पृथक् अथवा मिलित रूप से शुक्रवाही सिराओं में जाकर शीघ्र ही शुक्र को विकृत (दूषित) कर देते हैं।

चक्रपाणि– 'बीजं यस्मादित्यादि' के द्वारा शुक्र के गुणों के उपवर्णन में हेतु को बताया गया है, अर्थात् यहाँ शुक्र के गुणों का जो सूक्ष्म विवेचन किया गया है उसके कारण को स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार शुक्र गर्भ का बीज भूत कारण होता है उसी प्रकार उस कारण भूत शुक्र की दुष्टि के हेतुओं को आगे बताया जा रहा है।

व्यवायेषु हर्ष एव योनिः कारणं तस्मादुत्थितम्– मैथुन की इच्छा या प्रक्रिया में हर्ष (मन की प्रसन्नता, लिङ्गोत्थान) ही कारण है तथा उसके उत्थान (शिश्नोत्थान) में शुक्र कारण है।

पौरुषमिति– पुरुष का चिह्न (लक्षण), शुक्र के द्वारा ही जाना जाता है

मैथुनं न च गच्छत इति– उचित काल में समागन न करना।

Scanned by CamScanner

मैथुनागमनं शुक्रवेगप्रतिघातादेव दर्शयति– मैथुन की प्रक्रिया शुक्रवेग के प्रतिघात के कारण पूरी होती है। अविस्रम्भादिति = अविश्वास करने से (पुरुष का स्त्री पर विश्वास न होने से) ॥१३३-१३८॥

तद्वक्ष्यामि विभागशः ।
फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।।१३९।।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाऽष्टमम् । फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।।१४०।।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते । सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।।१४१।।
दहलिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् । श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ।।१४२।।
स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि । शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम् ।।१४३।।
वेगसंधारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि । कृच्छ्रेण याति ग्रथितमवसादि तथाऽष्टमम् ।।१४४।।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः । स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।।१४५।।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ।

शुक्र के आठ दोष (शुक्र दुष्टि के आठ प्रकार)– शुक्र में अधोलिखित आठ प्रकार की दुष्टि (विकृति) पायी जाती है–

१. फेनिल शुक्र का निकलना (झागयुक्त शुक्र का निकलना Frothy semen) २. तनु (शुक्र का पतला होना), ३. रूक्ष (शुक्र का रूक्ष होना), ४. विवर्ण (शुक्र का अपने स्वाभाविक रंग का न होना), ५. पूति (शुक्र से दुर्गन्ध का निकलना), ६. पिच्छिल (शुक्र में पिच्छिलता अधिक होना- Slimy semen), ७. अन्य धातु उपसंसृष्ट शुक्र (शुक्र में रक्तादि धातुओं का मिला होना), ८. अवसादी (शुक्र को जल युक्त पात्र में रखने पर नीचे की ओर बैठना अथवा डूब जाना।

वात से दूषित शुक्र के लक्षण– १. झाग युक्त, तनु एवं रूक्ष शुक्र का निकलना, २. मैथुन के समय वेदना के साथ अल्प मात्रा में शुक्र का निकलना, ३. गर्भाधान करने में सक्षम न होना। ये लक्षण वात द्वारा दूषित शुक्र में पाये जाते हैं।

पित्त से दूषित शुक्र के लक्षण– १. शुक्र का वर्ण नील अथवा पीत होना, २. मैथुन के समय निकलने वाला शुक्र उष्ण एवं दुर्गन्ध युक्त होता है। ३. शुक्र स्राव होने पर लिङ्ग में दाह (Burning sensation) का होना। इन लक्षणों को देखकर शुक्र पित्त द्वारा दूषित है, ऐसा समझना चाहिए।

श्लेष्म प्रदूषित शुक्र के लक्षण– कफ द्वारा यदि शुक्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है तब निकलने वाला शुक्र अत्यधिक पिच्छिल हो जाता है।

रक्तमिश्रित शुक्र– १. अत्यधिक मैथुन करने से, २. अभिघात के कारण, ३. शस्त्र आदि से कट जाने के कारण; प्रायः रक्त मिश्रित शुक्र निकलने लगता है।

ग्रन्थियुक्त व अवसादी शुक्र– अधारणीय वेगों (मलमूत्रादि के वेगों) के रोकने से, प्रकुपित हुई वायु शुक्र के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है ऐसी अवस्था में शुक्र अवसादी एवं ग्रथित (थक्का युक्त) निकलता है। शुक्र के निकलने से रोगी अत्यधिक अवसाद (थकावट) युक्त हो जाता है। इस कारण इसे अवसादी कहते हैं। इस प्रकार यहाँ आठ प्रकार के शुक्र दोषों का वर्णन किया गया।

शुद्ध शुक्र के लक्षण– जो शुक्र स्निग्ध (unctuous), घन (गाढ़ा-Dense), पिच्छिल (Slimy), मधुररस युक्त, अविदाही (निकलते समय लिङ्ग में जलन का न होना) होता है तथा जिसका वर्ण (Colour) स्फटिक मणि के समान श्वेत होता है, उसे शुद्ध समझना चाहिए।

चक्रपाणि– वक्ष्यामि इति-दूषित शुक्र के लक्षणों को कहूँगा। **रुधिरान्वयमिति–** रक्त मिश्रित शुक्र का होना। शुक्र के कथन का प्रसंग होने से शुद्ध शुक्र के लक्षणों को यहाँ 'स्निग्धमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥१३९-१४५॥

विशेष (Comments)– फेनिल, तनु व रूक्ष गुण वात द्वारा दूषित शुक्र में पाये जाते है। विवर्ण (शुक्र का वर्ण नीला अथवा पीला होना) एवं पूति (शुक्र से दुर्गन्ध का निकलना) पित्त दूषित शुक्र में पाये जाते हैं। पिच्छिल गुण कफ दोष से तथा अवसादी गुण मलमूत्रादि के वेगों को रोकने से उत्पन्न होता है। सुश्रुतसंहिता में आठ प्रकार के शुक्र दोषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है, यथा– वात-पित-श्लेष्म-कुणप-ग्रन्थि-पूतिपूय-क्षीण-मूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति। (सु.शा. २/३)

[वात, पित्त, कफ, कुणप, ग्रन्थि, पूतिपूय, क्षीण एवं मूत्र पुरीष से मिश्रित शुक्र प्रजोत्पादन में समर्थ नहीं होता।]

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्माभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पित्तमारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति। तेषु कुणपग्रन्थि पूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः, मूत्रपुरीषरेतसस्त्वसाध्या इति ॥४॥ सु.शा.अ. २/४॥

Scanned by CamScanner

[१. वात से दूषित शुक्र में वात के समान वर्ण एवं वेदना का मिलना, २. पित्त से दूषित शुक्र में पित्त के समान वर्ण एवं वेदना (लक्षणों) का मिलना। ३. कफ से दूषित शुक्र में कफ के समान वर्ण एवं वेदना का होना। ४. रक्त से दूषित शुक्र में कुणप गन्ध (सड़े मुर्दे के समान गन्ध का निकलना) का आना (अनल्पमिति- अत्यधिक दुर्गन्ध का निकलना) ५. कफ व वात जन्य शुक्र दुष्टि में शुक्र का ग्रन्थियुक्त (थक्का युक्त) होना। ६. पित्त व कफ द्वारा दूषित शुक्र में पूति (सड़े हुए घास आदि के समान गन्ध) का निकलना साथ में पूय (Pus) भी मिश्रित रहना, अर्थात् पूय युक्त गन्ध का निकलना ७. पित्त व वायु के द्वारा दूषित होने पर शुक्र क्षीण हो जाता है। ८. सन्निपातज शुक्रदुष्टि में शुक्र से मूत्र व पुरीष के समान गन्ध निकलती रहती है।

इनमें पूतिपूय, कुणप, ग्रन्थि एवं क्षीणशुक्र वाले रोगी कृच्छ्रसाध्य होते हैं, मूत्र व पुरीषगन्धि शुक्र असाध्य होता है। शेष साध्य होते हैं।]

वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः ।।१४६।।
रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदिकैस्तथा । दुष्टं यदा भवेच्छुक्रं तदा तत् समुपाचरेत् ।।१४७।।
घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च । गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति ।।१४८।।
वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम् ।।१४९।।
मागध्यमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद्भल्लातकस्य च ।।१५०।।
यदन्यधातुसंसृष्टं शुक्रं तद्वीक्ष्य युक्तितः । यथादोषं प्रयुञ्जीत दोषधातुभिषग्जितम् ।।१५१।।
सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः । प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु बस्तिकर्म विशेषतः ।।१५२।।
इत्यष्टशुक्रदोषाणां मुनिनोक्तं चिकित्सितम् ।

शुक्रदुष्टि की चिकित्सा (Treatment of Śukra Dushṭi)– शुक्र की दुष्टि में चिकित्सक को सुखकर उपयोगी एवं हितकर वाजीकरण योगों, रक्तपित्तनाशक योगों एवं योनिव्यापद् नाशक योगों द्वारा आतुर की चिकित्सा करनी चाहिए। पूर्व अध्यायों में वर्णित **जीवनीय घृत**, च्यवनप्राश अवलेह अथवा शिलाजतु के प्रयोग से शुक्रगत विकृतियाँ (शुक्रदोष) दूर हो जाती हैं।

शुक्रदुष्टि की दोषानुसार चिकित्सा–

१. वात द्वारा दूषित शुक्र में निरूह एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना हितकारी माना गया है।

२. पित्त द्वारा दूषित शुक्र में रसायन प्रकरण में वर्णित अभयामलकीय रसायन का प्रयोग करना चाहिए।

३. कफ द्वारा दूषित शुक्र में पिप्पलीरसायन, आमलकीरसायन, लोहरसायन, त्रिफलारसायन एवं भल्लातकरसायन का प्रयोग उपयोगी होता। अर्थात् इसके सेवन करने से शुक्रगत कफज दोष दूर हो जाते हैं।

४. अन्य धातु मिश्रित शुक्रदुष्टि में चिकित्सक युक्तिपूर्वक दोष व धातुओं की अशुद्धि का विचार करते हुए इनकी शुद्धि का उपाय करे, अर्थात् दोष व धातुशोधक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

५. शुक्रदुष्टि में विशेष रूप से घृत, दूध, मांसरस, शाली चावल, गेहूँ, साठी चावल एवं निरूह व अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार आठ प्रकार के शुक्रदोषों की चिकित्सा का यहाँ अभिधान कर दिया गया है।

चक्रपाणि– 'मागध्यमृतेत्यादौ' में अमृता से आमलकीरसायन का ग्रहण किया गया है। **भल्लातकस्येति-** से यहाँ भल्लातकरसायन का ग्रहण है। मागधी = पिप्पली।

विशेष (Comments)– घृतमित्यादि' के द्वारा आठ प्रकार के शुक्र दोषों की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। पाठभेद से 'अभयामलकीयं च पैत्ते शस्तं रसायनम्' के स्थान पर- 'ब्राह्यामलकीयञ्च पैत्ते शस्तं विरेचनम्' प्राप्त होता है जिसके आधार पर इसका अर्थ- 'वातदूषित शुक्र में वातनाशक निरूह व अनुवासन बस्तियों के प्रयोग के बाद ब्राह्य रसायन अथवा आमलकीरसायन का प्रयोग करना चाहिए' अर्थ होगा। पित्त द्वारा दूषित शुक्र में विवर्णता (शुक्र का वर्ण सामान्य वर्ण का न होना, यथा– नील अथवा पीत होना) व दुर्गन्ध (पूतिगन्ध- सड़े पदार्थों के समान गन्ध का निकलना) पाये जाने पर विरेचन कराना चाहिए। मागधीरसायन = वर्धमानपिप्पलीरसायन। अमृतलौह अथवा लौहरसायन तन्त्रान्तर में इसे त्रिफलारसायन कहा गया है। ये सभी रसायन शुक्रगत कफ विकार को दूर करते हैं। भल्लातकरसायन के सेवन से शुक्र में विद्यमान अतिपिच्छिल दोष दूर हो जाता है। अन्य धातु संसृष्ट शुक्रदोष में दोषों के लक्षणों का विचार करते हुए तद्-तद् दोषनाशक चिकित्सा करनी चाहिए।

–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

Scanned by CamScanner

रेतोदोषोद्भवं क्लैब्यं यस्माच्छुद्धयैव सिध्यति ।।१५३।।
ततो वक्ष्यामि ते सम्यगग्निवेश! यथातथम् ।

क्लैब्य रोग प्रकरण (नपुंसकता-प्रकरण)

हे अग्निवेश! शुक्र में दोष (विकृति) आ जाने के कारण क्लैब्य रोग उत्पन्न होता है तथा उसके शुद्ध हो जाने से (शुक्रगत दोष दूर हो जाने से) यह विकृति (क्लैब्य रोग) दूर हो जाती है । इसलिये इसका उचित विवेचन आगे किया जा रहा है, उसे सुनो–

चक्रपाणि– शुद्धयैवेति- शुक्र के शुद्ध होने पर ही (शुक्रगत दोषों के दूर हो जाने पर ही) । **सिध्यति-** प्रशाम्यति (क्लैब्य रोग प्रशमित हो जाता है, अर्थात् नपुंसकता भी दूर हो जाती है ।) ॥१५३॥

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात् ।।१५४।।
क्लैब्यं संपद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् । सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ।।१५५।।
न याति लिङ्गशैथिल्यात् कदाचिद्याति वा यदि । श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ।।१५६।।
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत् क्लैब्यलक्षणम् । सामान्यलक्षणं ह्येतद्विस्तरेण प्रवक्ष्यते ।।१५७।।

क्लैब्य के भेद (Types of Klaibya)– अधोलिखित उत्पादक कारणों द्वारा चार प्रकार के क्लैब्य उत्पन्न होते हैं–

१. बीजोपघातज क्लैब्य– शुक्रबीज के उपघात से उत्पन्न क्लैब्य ।

२. ध्वजभंग जन्य क्लैब्य– शिश्न में चोट आदि लग जाने के कारण उत्पन्न क्लैब्य, अर्थात् शिश्नोत्थान न हो पाना ।

३. जराजन्य क्लैब्य- वृद्धावस्था के कारण उत्पन्न क्लैब्य ।

४. शुक्रक्षयज क्लैब्य– शुक्र के अत्यधिक क्षय हो जाने से उत्पन्न नपुंसकता ।

हे अग्निवेश! उस क्लैब्य के सामान्य लक्षणों को अब आगे कह रहा हूँ । उसे ध्यानपूर्वक सुनो–

क्लैब्य के सामान्य लक्षण (Signs and Symptoms of Klaibya in General)– स्त्री के मनोनुकूल होते हुए भी पुरुष का लिङ्ग शिथिल होने के कारण स्त्री के पास न जाना, अर्थात् मैथुन हेतु जाने की इच्छा का न होना अथवा यदि कभी मैथुन में प्रवृत्त भी हो गया तब श्वास का बढ़ जाना, शरीर से पसीने का निकलना आदि लक्षणों का पाया जाना, शिश्न का ढीला पड़ जाना (Lack of erection), मैथुन की सभी चेष्टाओं का विफल (निष्फल) होना, लिङ्ग शैथिल्य के कारण मैथुन में प्रवृत्त न होने से शुक्र का स्राव न होना।

सामान्यतया क्लैब्य में ये सभी लक्षण व्यक्ति में पाये जाते हैं । इनका विस्तार आगे किया जा रहा है ।

चक्रपाणि– 'संकल्पेति' से क्लैब्य के सामान्य लक्षणों का अभिधान किया गया है । **लिङ्गशैथिल्यादिति-** लिङ्ग में उत्थान (कड़ापन) न होने से । **मोघे निष्फले संकल्पचेष्टिते यस्य सः–** जिस व्यक्ति की मैथुन सम्बन्धी संकल्प एवं चेष्टाएं असफल हो जाती हों उसे 'मोघसंकल्पचेष्टितः' कहा गया है, ऐसा शिश्नोत्थान न हो पाने के कारण होता है । ॥१५४-१५७॥

शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात् । शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ।।१५८।।
अभिचारादविस्रम्भाद्रसादीनां च संक्षयात् । वातादीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात् ।।१५९।।
नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारतः । बीजोपघाताद्भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ।।१६०।।
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः । हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ।।१६१।।
छर्द्यतीसारशूलार्तः कासज्वरनिपीडितः ।
बीजोपघातजं क्लैब्यं

१. बीजोपघातज क्लैब्य के हेतु एवं लक्षण– अधोलिखित हेतुओं के सेवन से शुक्रबीज (Sperm) का उपघात होता है, जिसके कारण बीजोपघातज क्लैब्य की उत्पत्ति होती है–

(क) शीत, रूक्ष, अल्प, संक्लिष्ट, विरुद्ध एवं अजीर्ण भोजन का सेवन करना ।

(ख) शोक, चिन्ता, भय, त्रास के कारण ।

(ग) अत्यधिक मैथुन करना ।

(घ) अभिचार (जादू के मन्त्रों का बुरे कामों के लिए प्रयोग करना अभिचार कहलाता है ।), अविस्रम्भ (स्त्री के प्रति विश्वास का न होना) एवं रसादि धातुओं का अत्यधिक क्षय होना ।

(ङ) दोषों का विषम होना, अत्यधिक उपवास करना ।

Scanned by CamScanner

(च) अत्यधिक शारीरिक श्रम करना ।

(छ) स्त्री का मैथुन के प्रति रुचि न लेना ।

(ज) वमनादि पञ्चकर्म का अनुचित प्रयोग करना ।

उपर्युक्त हेतुओं के सेवन करने से पुरुष के शुक्रबीज का उपघात हो जाता है, अर्थात् शुक्रबीज विकृत हो जाता है परिणाम स्वरूप व्यक्ति बीजोपघातज क्लैब्य से युक्त होता हैं । जिसमें अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. रोगी पाण्डु वर्ण का हो जाता है (Pale colour) ।

२. अत्यधिक दुर्बल होना, अल्प प्राण एवं अल्प हर्ष युक्त होना । अर्थात् मैथुन के प्रति उसकी रुचि का अभाव होना ।

३. रोगी हृद्रोग (Heart-diseases), पाण्डुरोग (Anaemia), तमकश्वास (Asthma), कामला (Jaundice), शारीरिक थकावट (Physical exhaustion), छर्दि (Vomiting), अतिसार (diarrhoea), शूल (Colic pain), कास (Cough), व ज्वर (Fever) रोग से पीड़ित रहता है । इन लक्षणों से युक्त क्लैब्य को **बीजोपघातज** क्लैब्य कहते हैं ।

चक्रपाणि– वायोःक्षयाद् बीजक्षयानुपपत्तेः वातादीनां च संक्षयादिति- प्राकृत वातादि दोषों का क्षय होने पर शरीर में विकृति (विगुणता) उत्पन्न होने से शुक्र का उत्पादन नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए । [ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य चक्रपाणि ने 'रसादीनां च संक्षयात्' पाठ के स्थान पर- 'वातादीनां च संक्षयात्' पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है ।] ॥१५८-१६१॥

ध्वजभङ्गकृतं शृणु ।।१६२।।
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धासात्म्यभोजनात् । अत्यम्बुपानाद्विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात् ।।१६३।।
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद्व्याधिकर्षणात् । कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ।।१६४।।
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् । दुर्गन्धा दुष्टयोनिं च तथैव च परिस्रुताम् ।।१६५।।
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत् कामहर्षितः । चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ।।१६६।।
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् । काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ।।१६७।।
रेतसश्च प्रतीघाताद्ध्वजभङ्गः प्रवर्तते । (भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ।) श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते ।।१६८।।
स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि । मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि ।।१६९।।
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः । वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः ।।१७०।।
ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छा च्छर्दिश्चास्योपजायते । रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम् ।।१७१।।
अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः । वस्तौ वृषणयोर्वाऽपि सीवन्या वङ्क्षणेषु च ।।१७२।।
कदाचित्पिच्छिलो वाऽपि पाण्डुः स्रावश्च जायते । श्वयथुर्जायते मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्रवः ।।१७३।।
चिराच्च पाकं व्रजति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते । जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यते पूतिगन्धि च ।।१७४।।
विशीर्यति मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च । ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत् समुदाहृतम् ।।१७५।।
एतं पञ्चविधं केचिद्ध्वजभङ्गं प्रचक्षते ।

२. ध्वजोपघातज क्लैब्य– हे अग्निवेश! अब ध्वजभङ्गजन्य क्लैब्य का विवेचन कर रहा हूँ, उसे ध्यान पूर्वक सुनो–

हेतु (Etiology)–

(क) अत्यधिक अम्ल, लवण, क्षार, विरुद्ध एवं असात्म्य भोजन का सेवन करना ।

(ख) अत्यधिक जल पीना, विषम, पिष्टान्न एवं गुरु पदार्थों का सेवन करना ।

(ग) दधि, दूध एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करना ।

(घ) व्याधियों द्वारा दुर्बल होना (जीर्ण व्याधियों द्वारा शरीर का अत्यधिक कृश हो जाना ।)

(ङ) कन्यायों के साथ मैथुन करना एवं अयोनि गमन (गुद मैथुन, हस्त मैथुन, मुख मैथुन आदि)

(च) स्त्री का योनि रोगों से दीर्घकाल तक पीड़ित होना, अर्थात् जीर्ण योनि रोगों से पीड़ित स्त्री, रजस्वला स्त्री, दुर्गन्धयोनि वाली स्त्री, दुष्टयोनि वाली स्त्री अथवा परिस्रुता (योनि से स्राव निकलने वाली स्त्री) के साथ कामादि भाव से युक्त होकर मोहवश (अज्ञानता वश) मैथुन करना ।

(छ) पशुओं के साथ मैथुन करना (पशु मैथुन) । इन कारणों के अत्यधिक सेवन से पुरुष के मूत्रेन्द्रिय पर आघात (चोट लग जाना) हो जाता है । अथवा जो पुरुष अपने मूत्रेन्द्रिय को प्रतिदिन साफ नहीं करता ।

Scanned by CamScanner

(ज) शस्त्र, नख, दन्त आदि द्वारा मूत्रेन्द्रिय पर क्षत हो जाना ।

(झ) लकड़ी के प्रहार, मूत्रेन्द्रिय का दब जाना अथवा लिङ्गवर्धक औषधियों का बाह्य प्रयोग करना अर्थात् लेप लगाना ।

(ञ) शुक्र के वेग को रोकना ।

इन हेतुओं के सेवन से ध्वजभङ्गजन्य नपुंसकता उत्पन्न होती है ।

लक्षण (Signs and Symptoms)– अब आगे ध्वजभङ्ग कृत नपुंसकता के लक्षणों को बताया जा रहा है–

१. मूत्रेन्द्रिय में शोथ (Oedema), वेदना (Pain) एवं लालिमा (Redness) का उत्पन्न होना ।

२. तीव्र स्फोटों (Pustular eruptions) का उत्पन्न होना एवं पकना ।

३. मूत्रेन्द्रिय के ऊपर मांस की वृद्धि का होना तथा शीघ्र ही व्रण का बन जाना । व्रण से निकलने वाला स्राव पुलाकोदक (धान के धोवन) के वर्ण सदृश श्याव (Brownish black) अथवा अरुण वर्ण का होना ।

४. लिङ्ग (Glans penis) के नीचे के भाग में चारो ओर कठोर घेरे का बनना ।

५. रोगी का ज्वर (Fever), तृष्णा (अत्यधिक प्यास का लगना), भ्रम (चक्कर का आना-Giddiness), मूर्च्छा (Fainting) एवं छर्दि (Vomiting) रोग से पीड़ित होना ।

६. मूत्रेन्द्रिय के व्रण से रक्त, कृष्ण (काला), नीला व आविल (गंदला) वर्ण का स्राव निकलना । व्रण में अथवा मूत्रेन्द्रिय में अग्नि से जलने के समान तीव्र दाह युक्त वेदना का होना । यह दाह विशेष रूप से बस्ति (दोनों गर्वीनियों-Ureter), वृषण (Testicles), सीवनी (Perineal suture) एवं वंक्षण (Groin) में होता है ।

७. निकलने वाले स्राव कभी-कभी पिच्छिल (Slimy) एवं पाण्डु वर्ण (Yellowish white) होता है ।

८. कभी-कभी श्वयथु (Oedema-शोथ) कम हो जाता है, लिङ्ग का कड़ापन (Hardness) भी कम हो जाता है तथा स्राव में भी कमी आ जाती है । कभी-कभी पाक (Suppuration) देर में होता है । तथा कभी-कभी यह शीघ्र ही पक जाता है । पकने के बाद घाव में कीड़े (Maggots) उत्पन्न हो जाते हैं ।

९. रोगी का लिङ्ग (मूत्रेन्द्रिय) पाकादि से युक्त होने के कारण हमेशा क्लेदयुक्त (सड़न युक्त) रहता है तथा उससे दुर्गन्ध निकलती रहती है । इन गुणों से युक्त होने से मणि (Glans penis), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) व मुष्क (अण्डकोश) सड़कर गिरने लगते हैं ।

इस प्रकार यहाँ ध्वजभङ्ग जन्य नपुंसकता के लक्षणों का वर्णन किया गया । कुछ आचार्य इन लक्षणों के आधार पर ध्वजभङ्ग के पाँच भेद स्वीकार करते हैं ।

चक्रपाणि– शूकानां चाति सेवनादिति- लिङ्गवर्धक लेपों का अत्यधिक प्रयोग करने से । कुछ आचार्य ध्वजभङ्ग के पाँच भेद मानते हैं अर्थात् ध्वजभङ्ग को पाँच प्रकार का स्वीकार करते हैं- १. वातज ध्वजभङ्ग, २. पित्तज ध्वजभङ्ग, ३. कफज ध्वजभङ्ग, ४. रक्तज ध्वजभङ्ग, ५. सन्निपातज ध्वजभङ्ग । वर्णित लक्षणों में लिङ्ग में शोथ एवं वेदना आदि लक्षणों का मिलना- वातज ध्वजभङ्ग में पाये जाते है जिसे श्वयथुर्वेदना इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है । 'स्फोटाश्चेत्यादि' के द्वारा पित्तज, 'मांसवृद्धिरित्यादि' के द्वारा कफज, 'ज्वरस्तृष्णेत्यादि' के द्वारा रक्तज एवं 'अग्निनेवेत्यादि' के द्वारा सन्निपातज ध्वजभङ्ग के लक्षणों का वर्णन किया गया है, ऐसा कहते हैं । ॥१६२-१७५॥

क्लैब्यं जरासंभवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु ।।१७६।।
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते । अतिप्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम् ।।१७७।।
रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात् । बलवीर्येन्द्रियाणां च क्रमेणैव परिक्षयात् ।।१७८।।
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लमात् । जरासंभवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम् ।।१७९।।
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः । विवर्णो दुर्बलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते ।।१८०।।
एतज्जरासंभवं हि

३. जराजन्य (वृद्धावस्था जन्य) क्लैब्य– हे अग्निवेश! अब जराजन्य क्लैब्य का विवेचन करने जा रहा हूँ, उसे सुनो- जघन्य (बाल्यावस्था), मध्य (मध्यावस्था) एवं प्रवर (वृद्धावस्था) भेद से वय को तीन भागों में बाँटा गया है, अथवा वय तीन प्रकार का होता है। प्रवरावस्था (वृद्धावस्था) में पुरुष का शुक्र प्रायः क्षीण हो जाता है ।

Scanned by CamScanner

हेतु एवं संप्राप्ति– रसादि धातुओं के क्षय होने, वृष्य द्रव्यों का उपयोग न करना, बल, वीर्य एवं इन्द्रियों का क्रमशः क्षीण हो जाना, आयु का क्षय होना, पौष्टिक आहारों का सेवन न करना, अधिक परिश्रम करना तथा क्लम (बिना परिश्रम के ही शरीर का थका हुआ होना); इन हेतुओं के अति प्रयोग से पुरुष में जराजन्य क्लैब्य उत्पन्न हो जाता है। इस क्लैब्य में पुरुष की धातुएं अत्यधिक क्षीण एवं दुर्बल हो जाती हैं जिससे व्यक्ति का शरीर कृश एवं दुर्बल रहता है। व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दोनों रूप से दुर्बल हो जाता है तथा वह अनेक प्रकार की व्याधियों से आक्रान्त हो जाता है। ये सभी लक्षण जराजन्य क्लैब्य में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि– 'जघन्येत्यादि' के द्वारा जराजन्य क्लैब्य का विवेचन किया गया है। **प्रवरं वय इति-** वृद्धावस्था। **'प्रायशः क्षीयत इति'** इस वचन से प्रबल वय होने पर भी जो व्यक्ति शुक्रसार है, वृष्य द्रव्यों का नित्य सेवन करने के कारण उनमें शुक्र का क्षय नहीं होता, यह दर्शाया गया है। वृद्ध पुरुषों में शुक्रक्षय के हेतु को यहाँ- 'रसादीनामित्यादि' के द्वारा दर्शाया गया है। यहाँ रसादि धातुओं के क्षय रूप हेतुओं का होना वृद्धावस्था में स्वाभाविक रूप से ही होती है। ॥१७६-१८०॥

चतुर्थं क्षयजं शृणु।
अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद्भयात्तथा ॥१८१॥
ईर्ष्योत्कण्ठामदोद्वेगान् सदा विशति यो नरः। कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥१८२॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि। असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥१८३॥
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम्। रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥१८४॥
शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम्। चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ॥१८५॥
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम्। घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥१८६॥
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता। एवं निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥१८७॥
केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे। वदन्ति शेफसश्छेदाद्दूषणोत्पाटनेन च ॥१८८॥
मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः। गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥१८९॥
शोषयन्त्याशु तन्नाशाद्रेतश्चाप्युपहन्यते। तत्र संपूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥१९०॥
एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात्।

४. क्षयज क्लैब्य के हेतु एवं लक्षण– हे अग्निवेश! अब आगे चतुर्थ क्षयज क्लैब्य के लक्षणों को बता रहा हूँ, उसे सुनो–

अत्यधिक चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, ईर्ष्या, उत्कण्ठा, मद एवं उद्वेग आदि भाव जिस पुरुष में हमेशा बने रहते हैं अथवा कृश व्यक्ति, जब रूक्ष, अन्न-पान एवं औषधियों का निरन्तर सेवन करता है अथवा दुर्बल प्रकृति वाला व्यक्ति सम्यक् आहार का सेवन नहीं करता है, अर्थात् उपवास रखता है, अथवा असात्म्य भोजन का सेवन करता है तब इन कारणों द्वारा पुरुष के हृदय में रहने वाला प्रधान धातु रस का क्षय हो जाता है। इसके बाद उस पुरुष की रक्तादि धातुएं भी क्रमशः क्षीण हो जाती हैं। परिणामतः शरीर का परं तेज शुक्र धातु का भी क्षय हो जाता है। इस अवस्था में भी पुरुष यदि मन में अत्यधिक कामेच्छा के कारण मैथुन में प्रवृत्त होता है तब शेष शुक्र धातु भी क्षय को प्राप्त हो जाती है, अर्थात् शुक्र का और अधिक क्षय हो जाता है जिससे वह पुरुष भयङ्कर व्याधियों से आक्रान्त हो जाता है, अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसलिए आरोग्य की कामना रखने वाले पुरुषों को विशेष रूप से शुक्र की रक्षा करनी चाहिए।

इस प्रकार यहाँ चार प्रकार के क्लैब्य के हेतुओं एवं लक्षणों का वर्णन कर दिया गया।

क्लैब्य की साध्यता-असाध्यता– कुछ आचार्य ध्वजभङ्ग जन्य एवं क्षयज क्लैब्य को असाध्य स्वीकार करते हैं। इसके साथ-साथ मूत्रेन्द्रिय के कट जाने अथवा वृषण (Testicles) के निकाल देने से होने वाली क्लैब्यता भी असाध्य होती है।

सहज क्लैब्य– माता-पिता के **बीजदोष से,** अथवा पूर्वजन्म कृत अशुभ कर्म के परिणाम स्वरूप **गर्भाशयस्थ** दोष प्रकुपित होकर गर्भस्थ शिशु के शुक्रवाही सिराओं में व्याप्त होकर उसे सुखाकर नष्ट कर देते हैं अर्थात् गर्भस्थ शिशु का शुक्रवह स्रोतस् नष्ट हो जाता है, परिणाम स्वरूप आश्रय का अभाव होने से उसमें शुक्र की उत्पत्ति ही नहीं होती। यह उत्पन्न बालक सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों से युक्त होते हुए भी अपुमान होता है। अर्थात् मैथुन करने में असमर्थ होता है।

इस प्रकार यहाँ निर्दिष्ट चारो प्रकार के क्लैब्य यदि सन्निपात से उत्पन्न हैं तो असाध्य होते हैं, अर्थात् बीजोपघातज, ध्वजोपघातज, वृद्धावस्थाजन्य एवं क्षयज क्लैब्य त्रिदोष प्रकोप के कारण होने पर असाध्य होते हैं।

अब आगे संक्षेप व विस्तार से इनकी चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे सुनो–

चक्रपाणि– 'केचिदिति' कुछ आचार्य ध्वजभङ्ग एवं क्षयजन्य कारणों से होने वाली नपुंसकता को असाध्य स्वीकार करते हैं। यहाँ ध्वजभङ्ग एवं क्षयज क्लैब्य ही विशेष असाध्य है। विशेषतया शस्त्रादि आघात से उत्पन्न ध्वजभङ्ग, यथा- वृषण के निकाल देने अथवा

Scanned by CamScanner

मूत्रेन्द्रिय के कट जाने से उत्पन्न ध्वजभङ्ग । उसी प्रकार **सहजक्लैब्य** जिसमें शुक्र का अभाव होता है । इस प्रकार की नपुंसकता को क्षयज नाम दिया गया है, को असाध्य बताया गया है । अर्थात् क्षयज क्लैब्य को यहाँ 'मातापित्रोरित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

स पुमान् स्त्रीषु पुरुषव्यापारकरणासमर्थत्वादपुमान् भवति– वह पुरुष स्त्रियों में पुरुषव्यापार (मैथुन कार्य) करने में असमर्थ होने से अपुमान कहा जाता है । ॥१८१-१९०॥

विशेष (Comments)– कुछ आचार्य ध्वजभङ्गजन्य एवं क्षयज क्लैब्य को असाध्य कहते हैं, अर्थात् ये दो प्रकार के क्लैब्य असाध्य होते हैं । मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय-Penis) के अभाव होने से, इस प्रकार क्लैब्य पूर्णत: असाध्य होता है । प्रसङ्गानुसार आगन्तुज क्लैब्य का विवेचन 'शेफसश्छेदाद् इत्यादि' के द्वारा किया गया है । शेफस् = पुरुष जननेन्द्रिय (Penis) के कट जाने से भी क्लैब्यता उत्पन्न होती है । कर्मज कारणों को यहाँ 'मातेत्यादि' के द्वारा बताया गया है । माता-पिता के बीजदोष (शुक्र- शोणित की दुष्टि) से अथवा पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों के द्वारा जीव के साथ यदि गर्भारम्भक दोष गर्भस्थ शिशु के रेतोवाही सिरा को सुखा देते हैं, जिससे उसके शुक्र का भी नाश हो जाता है । इस प्रकार वह पुरुष सम्पूर्ण अङ्गों से युक्त होते हुए भी पुंसत्व रहित होता है । इस प्रकार सन्निपातज सभी प्रकार के क्लैब्य असाध्य होते हैं।

चिकित्सितमतस्तूर्ध्वं समासव्यासतः शृणु ।।१९१।।
शुक्रदोषेषु निर्दिष्टं भेषजं यन्मयाऽनघ! । क्लैब्योपशान्तये कुर्यात् क्षीणक्षतहितं च यत् ।।१९२।।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि वृष्ययोगाश्च ये मताः । रसायनप्रयोगाश्च सवनितान् प्रयोजयेत् ।।१९३।।
समीक्ष्य देहदोषाग्निबलं भेषजकालवित् । व्यवायहेतुजे क्लैब्ये तथा धातुविपर्ययात् ।।१९४।।
दैवव्यपाश्रयं चैव भेषजं चाभिचारजे । समासेनैतदुद्दिष्टं भेषजं क्लैब्यशान्तये ।।१९५।।

क्लैब्य रोग की चिकित्सा (Treatment of Klaibya)– हे अग्निवेश! अब आगे क्लैब्य रोग की चिकित्सा को संक्षेप एवं विस्तार से बता रहा हूँ, उसे ध्यान पूर्वक सुनो–

१. हे सौम्य! मेरे द्वारा शुक्रदोष की चिकित्सा हेतु एवं क्षीणक्षत प्रकरण (क्षीणक्षतचिकित्सा प्रकरण) में जिन औषध योगों का निर्देश किया गया है उनका प्रयोग क्लैब्य रोग में करना चाहिए ।

२. व्यवायजन्य कारणों, अथवा धातुओं की विषमता से होने वाले क्लैब्य में चिकित्सक को आतुर के शरीर, दोष, अग्निबल, एवं भेषजकाल का सम्यक् विचार करते हुए शुक्रदोषनाशक क्षीरसाधित घृत अथवा क्षीर की बस्ति, वृष्ययोग एवं रसायनयोग जिनका निर्देश रसायन व वाजीकरण प्रकरण में किया गया है, का प्रयोग करना चाहिए ।

३. अभिचारज क्लैब्य (मन्त्रादि के प्रयोग से उत्पन्न क्लैब्य) में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में क्लैब्य शामक चिकित्सा का निर्देश किया गया ।

चक्रपाणि– 'व्यवायहेतुजे इति' (व्यवाय रूपी हेतु से उत्पन्न नपुंसकता में)– इस पद का प्रयोग बीजदोष से उत्पन्न होने वाले सहजक्लैब्य के निराकरणार्थ किया गया है । **धातुविपर्ययादिति-** धातुओं की विषमता से । 'दैवव्यपाश्रयमित्यादि' के द्वारा अभिचार आदि कारणों से होने वाली नपुंसकता की चिकित्सा को बताया गया है । अभिचारादि जन्य क्लैब्य को दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अभिधान से स्वीकार कर लिया गया है । ॥१९१-१९५॥

विस्तरेण प्रवक्ष्यामि क्लैब्यानां भेषजं पुनः । सुस्विन्नस्निग्धगात्रस्य स्नेहयुक्तं विरेचनम् ।।१९६।।
अन्नाशनं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः । प्रदद्यान्मतिमान् वैद्यस्ततस्तमनुवासयेत् ।।१९७।।
पलाशैरण्डमुस्ताद्यैः पश्चादास्थापयेत्ततः । वाजीकरणयोगाश्च पूर्वं ये समुदाहृताः ।।१९८।।
भिषजा ते प्रयोज्याः स्युः क्लैब्ये बीजोपघातजे । ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यं ज्ञात्वा तंस्याचरेत् क्रियाम् ।।१९९।।
प्रदेहान् परिषेकांश्च कुर्याद्वा रक्तमोक्षणम् । स्नेहपानं च कुर्वीत सस्नेहं च विरेचनम् ।।२००।।
अनुवासं ततः कुर्यादथवाऽऽस्थापनं पुनः । व्रणवच्च क्रियाः सर्वास्तत्र कुर्याद्विचक्षणः ।।२०१।।
जरासंभवजे क्लैब्ये क्षयजे चैव कारयेत् । स्नेहस्वेदोपपन्नस्य सस्नेहं शोधनं हितम् ।।२०२।।
क्षीरसर्पिर्वृष्ययोगा बस्तयश्चैव यापनाः । रसायनप्रयोगाश्च तयोर्भेषजमुच्यते ।।२०३।।
विस्तरेणैतदुद्दिष्टं क्लैब्यानां भेषजं मया ।

क्लैब्य में पञ्चकर्म चिकित्सा (संशोधन चिकित्सा) का प्रयोग– हे अग्निवेश! अब मैं क्लैव्य की चिकित्सा को विस्तारपूर्वक कह रहा हूँ, उसे सुनो–

Scanned by CamScanner

१. सर्वप्रथम क्लैव्य रोगी को सम्यक् स्नेहन व स्वेदन कराकर स्नेहविरेचन द्रव्यों द्वारा विरेचन कराना चाहिए । विरेचन के बाद नियमानुसार अन्न का सेवन करावें ।

२. विरेचन कराने के बाद प्रायः मल बद्धता उत्पन्न हो जाती है । अतः मलबद्धता को दूर करने के लिए आस्थापन (निरूह) बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । आस्थापनोत्तर सायंकाल अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए । इसके बाद पुनः पलाश, एरण्डमूल, मुस्तक आदि द्रव्यों के क्वाथ की निरूह बस्ति दें ।

३. रोगी का निरूह व अनुवासन द्वारा अथवा स्नेह विरेचन, निरूह व अनुवासन द्वारा शोधन हो जाने पर पूर्व वर्णित बाजीकरण योगों का प्रयोग चिकित्सक को **बीजोपघातज** क्लैब्य में करना चाहिए । [बाजीकरण योगों का विवेचन चिकित्सा अध्याय दो में किया गया है ।]

४. ध्वजभङ्ग जन्य क्लैव्य का सम्यक् विचार करते हुए तदनुसार चिकित्सा करनी चाहिए । इसमें प्रदेह (Application of warm paste of drugs), परिषेक [औषधियों द्वारा साधित क्वाथ से लिङ्ग (Penis) को धोना], रक्तमोक्षण, स्नेहपान (आभ्यन्तर स्नेहपान) व स्नेह विरेचन का प्रयोग करना चाहिए । इसके बाद आस्थापन एवं अनुवासन का प्रयोग क्रमशः करना चाहिए ।

इस प्रकार बुद्धिमान चिकित्सक को ध्वजभङ्गजन्य क्लैव्य में व्रणनाशक सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए ।

५. जराजन्य (वृद्धावस्थाजन्य) एवं क्षयज क्लैव्य में स्नेहन, स्वेदन के बाद स्नेह युक्त शोधन (स्नेह विरेचन) कराना चाहिए अथवा मृदु औषधियों के क्वाथ द्वारा आस्थापन बस्ति दें, पश्चात् अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें, पुनः निरूह बस्ति दें । इस प्रकार रोगी के शुद्ध हो जाने पर- वृष्यक्षीर, वृष्यघृत, वृष्ययापन वस्तियाँ तथा रसायन औषधियों का प्रयोग करना चाहिये ।

इस प्रकार मेरे द्वारा क्लैव्य चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया गया ।

चक्रपाणि– पलाशैरण्डमुस्ताद्यैरिति एरण्डपलाशाद्यैर्मुस्ताद्यैश्च व्यवस्थितैरित्यर्थः- एरण्ड पलाशादि (एरण्डमूल, पलाश आदि द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित यापन बस्ति) एवं मुस्तादि यापन बस्तियों का प्रयोग विधिवत् करना चाहिए । एरण्डपत्रादि को "एरण्डमूलपलाशात्" (सि.अ. १२) इत्यादि के द्वारा ग्रन्थ में आगे सिद्धिस्थान अध्याय १२ में बताया गया है । अर्थात् इसका विवेचन आगे करेंगे । मुस्तादि से मुस्तादि यापनाबस्ति का ग्रहण किया गया है ।

बस्तिद्वयेऽप्यत्र बहुवचनं व्यक्तिसद्भावापेक्षया ज्ञेयम्– यहाँ दो बस्तियों में भी बहुवचन का प्रयोग विभक्ति में प्रयुक्त प्रत्यय के आधार पर किया गया है । ॥१९६-२०३॥

यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम् ।।२०४।।
याऽत्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च । कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च ।।२०५।।
ग्राम्यौदकानि मेद्यानि कृशरां पायसं दधि । शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः ।।२०६।।
रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः । रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ।।२०७।।
यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता । तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ।।२०८।।
रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः । सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च ।।२०९।।
चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः । अतःपरं प्रवक्ष्यामि हेत्वाकृतिभिषग्जितम् ।।२१०।।
रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत् । कुपितः प्रदरं कुर्याल्लक्षणं तस्य मे शृणु ।।२११।।
फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च । किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।।२१२।।
कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः । कुरुते वेदनां तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः ।।२१३।।
अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा । पूर्ववत् प्रदरं कुर्यात् पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ।।२१४।।
सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा । नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमत् ।।२१५।।
दाहरागतृषामोहज्वरभ्रमसमायुतम् । असृग्दरं पैत्तिकं स्याच्छ्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ।।२१६।।
गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत् कुपितः कफः । प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु ।।२१७।।
पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम् । स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मन्दरुजाकरम् ।।२१८।।
छर्दिरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम् । (वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम् ।।२१९।।
यत्तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु ।) त्रिलिङ्गसंयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम् ।।२२०।।
नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता । सर्वहेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदाऽनिलः ।।२२१।।
रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीकबलं कफम् । दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ।।२२२।।
वसां मेदश्च यावद्धि समुपादाय वेगवान् । सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ।।२२३।।
शश्वत् स्रवत्यथास्रावं तृष्णादाहज्वरान्वितम् । क्षीणरक्तां दुर्बलां स तामसाध्यां विवर्जयेत् ।।२२४।।

Scanned by CamScanner

प्रदर (MENORRHAGIA)

हे अग्निवेश! जिस प्रदर का वर्णन पूर्व में किया गया है । अब उसके हेत्वादि का अभिधान किया जा रहा है, उसे सुनो–

हेतु एवं संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis)– लवण, अम्ल, गुरु, कटु, विदाही एवं स्निग्ध गुण युक्त आहार द्रव्यों के अत्यधिक सेवन करने से, ग्राम्य (पालतू), औदक (जलीय) एवं मेदस्वी प्राणियों के मांस का अत्यधिक सेवन करने से, कृशरा (खिचड़ी), पायस (खीर), दही, शुक्त (सिरका), मस्तु (दही का पानी) एवं सुरा आदि हेतुओं के सेवन करने से प्रकुपित हुई वायु रक्त के प्रमाण (मात्रा) को बढ़ा देती है । बढ़ा हुआ रक्त गर्भाशय गत रजोवाही सिराओं के आश्रित होकर रज के साथ रक्त के मिलने से रज की भी मात्रा शीघ्र ही बढ़ जाती है, ऐसा रक्त के रस भाव के कारण होता है । इस कारण आयुर्वेद शास्त्र के विद्वान इसे 'असृग्दर' कहते हैं । इसमें रज फूट-फूट कर बाहर निकलता है, जिससे इसे प्रदर कहा गया है । इस प्रकार यहाँ प्रदर के सामान्य हेतु एवं लक्षणों का विवेचन कर दिया गया।

प्रदर के भेद– प्रदर चार प्रकार का होता है– १. वातज प्रदर, २. पित्तज प्रदर, ३. कफज प्रदर, ४. सन्निपातज प्रदर । इनका विस्तृत वर्णन आगे किया जा रहा है ।

१. वातज प्रदर के हेतु एवं लक्षण– अब आगे प्रदररोग के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है– यदि स्त्री रूक्ष आहार-विहार का अत्यधिक सेवन करती है तब उसके शरीर में प्रकुपित हुई वायु रक्त को लेकर पूर्व सम्प्राप्ति की भाँति प्रदररोग को उत्पन्न करती है । उस प्रदर के लक्षणों को सुनो–

झागयुक्त (Frothy), पतला (dilute), रूक्ष, श्याव (Brownish black), रक्तवर्ण, पलाश के फूल के जल के समान (पलाश पुष्प को जल में डालने पर जल में जो वर्ण उत्पन्न हो, उसके समान वर्ण का होना), वेदना के साथ अथवा वेदना रहित आर्तव (Menstrual Fluid) का निकलना ।

स्राव काल में स्त्री के कटि (कमर), वंक्षण (Groins), हृदय प्रदेश (Cardiac region), पार्श्व (Side of the chest), पृष्ठ (पीठ-Back) एवं श्रोणि (Buttock) में तीव्र पीड़ा का होना ।

इन लक्षणों को देखकर वातज प्रदर का ज्ञान करना चाहिए ।

२. पित्तज प्रदर के हेतु एवं लक्षण– जब स्त्री अम्ल, उष्ण, लवण, क्षार आदि पित्त प्रकोपक अन्न-पान का सेवन करती है तब पूर्व की भाँति प्रकुपित पित्त रक्त को साथ लेकर गर्भाशयस्थ रज से मिलकर उसकी मात्रा को बढ़ाते हुए पित्तज प्रदर को उत्पन्न करता है । हे अग्निवेश! उसके लक्षणों को सुनो– इस प्रदर में निकलने वाला रज (मासिक स्राव) नील, पीत (yellow), अत्यन्त उष्ण, काला अथवा रक्तवर्ण युक्त वेदना के साथ बार-बार निकलता रहता है । [यह स्राव अपने **सामान्य काल** में दो या तीन बार होता है ।] स्त्री में दाह (शरीर में जलन का होना-Burning sensation), लालिमा (Redness), बार-बार प्यास का लगना (thirst), मोह (unconsciousness), ज्वर (fever) एवं भ्रम (चक्कर का आना) आदि लक्षण मिलते हैं । इन लक्षणों को देखकर पित्तज प्रदर का ज्ञान करना चाहिए ।

३. कफज प्रदर के हेतु एवं लक्षण– अब आगे कफज प्रदर के लक्षणों को बताया जा रहा है । गुरु आदि कफ वर्धक हेतुओं के सेवन करने से प्रकुपित कफ पूर्व की भाँति रक्त के साथ मिलकर कफज प्रदर को उत्पन्न करता है । अब आगे कफज प्रदर के लक्षणों को ठीक-ठीक मुझसे सुनो– इस प्रकार के प्रदर में निकलने वाला स्राव (Menstrual secretion) पिच्छिल, पाण्डु वर्ण युक्त, भारी, शीत, स्निग्ध गाढ़ा एवं कफ युक्त (Mucous) होता है । निकलते समय स्त्री को मन्द-मन्द पीड़ा होती है, साथ में वह छर्दि (Vomiting), अरोचक (Anorexia), हृल्लास (मिचली का आना), श्वास (श्वास का फूलना) एवं कास (Cough) रोग से ग्रसित रहती है ।

४. त्रिदोषज प्रदर के हेतु एवं लक्षण– आगे स्तन्य दुष्टि (क्षीर दुष्टि) के जो सामान्य कारण बताये जायेंगे वही त्रिदोषज प्रदर के भी होते हैं । वातादि दोषों के पूर्व में जो अलग-अलग लक्षण बताये गये हैं वही सभी लक्षण इसमें एक साथ मिलते हैं । अतः वातादि दोषों के सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त इस प्रदर को सन्निपातज प्रदर कहते हैं । रक्त के अत्यधिक निकल जाने के कारण स्त्री अधिक दुर्बल हो जाती है, अथवा थकावट महसूस करती है । हेतुओं के अतिसेवन से प्रकुपित हुई वायु रक्तमार्ग (योनि मार्ग) में आश्रित होकर **बल को कमजोर करने वाले** कफ को रक्तमार्ग (योनि मार्ग) से बाहर निकालती है तथा पित्त के तेज से रक्त को विदग्ध करके दुर्गन्धित, पिच्छिल एवं पीत वर्ण युक्त स्राव को योनि से बाहर निकालती है । इसी प्रकार प्रकुपित वायु मेद व वसा को दूषित करके जब योनि में आश्रित होती है तब अपत्यमार्ग (योनि मार्ग) से घृत, वसा व मज्जा के समान रक्त का स्राव कराती है ।

असाध्य प्रदर के लक्षण–

१. जिस स्त्री की योनि से लगातार स्राव (रजः स्राव) हो रहा हो तथा वह तृष्णा (प्यास), दाह (शरीर में जलन का होना-Burning sensation) एवं ज्वर (Fever) से पीड़ित हो ।

Scanned by CamScanner

२. जिसका रक्त क्षीण हो गया हो, अर्थात् रक्तस्राव के कारण जो रक्ताल्पता से युक्त हो तथा जो अत्यधिक दुर्बल हो।

ऐसी स्त्रियों में होने वाला प्रदररोग असाध्य होता है। इस प्रकार के रोगी की चिकित्सा चिकित्सक को नहीं करनी चाहिए।

चक्रपाणि– यः पूर्वमुक्तः प्रदर इत्यादौ उपद्रवरूपतया पूर्वमुक्तः प्रदर इति- 'यः पूर्वमुक्तः प्रदर इति' के द्वारा उपद्रव रूप होने से जिस प्रदर का उल्लेख पूर्व में किया गया है। अर्थात् पूर्व में जिस प्रदर का उल्लेख 'योनिव्यापद्' के उपद्रव के रूप में किया गया है। किन्तु रक्तयोनि चिकित्सा में असृग्दर नाम के द्वारा ही रक्तयोनि के कथन से तथा निर्दिष्ट दोष भेदों के द्वारा वहाँ भी रक्तयोनि असृग्दर रूप होती है, यह स्पष्ट किया गया है। उससे यहाँ पुनः असृग्दर के लक्षणों का अभिधान होना, पूर्व टीका के कथन से मेल नहीं बैठता। जो लोग इस पाठ को मौलिक रूप में स्वीकार करते हैं उनके अनुसार उसी के भेदों को यहाँ विस्तार से बताया गया है। हम लोग तो अनेक पुस्तकों के पाठों को देख करके ही कुछ कहेंगे। अर्थात् चरक के विभिन्न पाठों को देखने के बाद ही कुछ कहा जा सकता है। [अर्थात् आचार्य चक्रपाणि यह कहने की स्थिति में नहीं है कि यह पाठ मौलिक है, अथवा प्रक्षिप्त।]

गर्भाशयगता इति– गर्भाशय से संबद्ध सिराओं। 'कुपितोऽनिल इत्यादि' के द्वारा असृग्दर शब्द की व्युत्पत्ति को बताया गया है।

रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति– रक्त के प्रमाण (मात्रा) को बढ़ा करके, रजोवाही सिराओं द्वारा गर्भाशयगत सिराओं से रक्त को ग्रहण करने से रज का प्रमाण बढ़ जाता है। [शुक्तादि हेतुओं के अतिसेवन से प्रकुपित हुई वायु रक्त के साथ मिलकर रक्त के प्रमाण को बढ़ाती है। यही वृद्ध रक्त जब गर्भाशय गत सिराओं में पहुँचता है तब इसका ग्रहण रजोवाही सिराओं द्वारा किया जाता है, परिणाम स्वरूप रज (Menstrual fluid) की वृद्धि होती है।

पवनः तस्मादसृग्रजो मेलकरूपत्वादयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते– रक्त (Blood) एवं रज (Menstrual fluid) के मेलक रूप होने से इस व्याधि को असृग्दर कहते हैं।

'प्रदीर्यते इति विस्तारितो भवति' इति प्रदरः– मासिकस्राव का अत्यधिक निकलना अथवा फैलना 'प्रदर' कहलाता है। अथवा **असृग् दीर्यते यस्मिन्निति असृग्दर इति-** जिसमें योनि द्वारा रक्त का अत्यधिक स्राव हो उस व्याधि को असृग्दर कहते हैं।

इस प्रकार यहाँ 'असृग्दर' की तीन निरुक्तियाँ बतायी गयी, ऐसा समझना चाहिए। नैकावस्थमिति- वातकृत अनेक अवस्थाओं से युक्त।

'नारी त्वित्यादि' के द्वारा इसकी अनुबन्धकृत अवस्था को बताया गया है। ॥२०४-२२४॥

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥२२५॥
गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम्। इन्द्रगोपकसङ्काशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥२२६॥
योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत् सर्वं कारयेद्भिषक् ॥२२७॥
रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्। रक्तार्शसां च यत् प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत् ॥२२८॥

शुद्ध आर्तव के लक्षण– १. आर्तव का महीने में एक बार आना, अर्थात् आर्तव का प्रत्येक महीने में आना (Menstruation which appear every month)

२. आर्तव में चिपचिपाहट, दाह (Burning sensation) एवं वेदना का न होना। अर्थात् निकलने वाला स्राव चिपचिपाहट युक्त न हो एवं निकलते समय रोगी को दाह व पीड़ा न होती हो।

३. आर्तवस्राव का लगातार पाँच दिन तक बना रहता। आर्तव का बहुत अधिक व बहुत कम न निकलना, अर्थात् सामान्य मात्रा में निकलना।

४. आर्तव का वर्ण गुञ्जा (रत्ती) के फल, लाल कमल, आलक्तक (महावर) अथवा इन्द्रगोप कीड़े के समान लाल वर्ण का होना। इन लक्षणों से युक्त आर्तव को शुद्ध समझना चाहिए।

प्रदर की सामान्य चिकित्सा– वातलादि योनि व्यापदों की जो चिकित्सा पूर्व में बतायी गयी है। उन्हीं उपक्रमों का प्रयोग चारो प्रकार के प्रदर रोग में भी करना चाहिए।

रक्तातिसार, रक्तपित्त एवं रक्तार्श की जो चिकित्सा पूर्व में बतायी गयी है उन्हीं का प्रयोग यहाँ भी करना चाहिए।

चक्रपाणि– आर्तव का प्रकरण (प्रसङ्ग) होने के कारण यहाँ शुद्ध आर्तव के लक्षणों को 'मासादित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

पञ्चरात्रानुबन्धीति उद्भूततया पञ्चरात्रमनुबध्नातीति पञ्चरात्रानुबन्धि– उत्पन्न आर्तव (रजः स्राव) का पाँच दिन तक बना रहना अथवा

Scanned by CamScanner

निकलते रहना 'पञ्चरात्रानुबन्धी' कहा गया है। बारह रात्रि तक **आर्तव का काल** माना गया है। यहाँ आर्तव से रजः स्राव का ग्रहण न करके गर्भारम्भक आर्तव का ग्रहण किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। 'गुञ्जाफलसवर्णमिति' के द्वारा आर्तव में वर्ण की भिन्नता वातादि प्रकृतियों के कारण होती है, बताया गया है। ॥२२५-२२८॥

विशेष (Comments)– यहाँ आर्तव को पञ्चरात्रानुबन्धी कहा गया है, बारह रात्रकाल का निर्देश क्यों नहीं किया गया है ? क्योंकि बारह रात्रि तक गर्भारम्भक आर्तव (Ovum) की प्रवृत्ति की संभावना रहती है, ऐसा समझना चाहिए।

जो आर्तव प्रति महीने स्त्री की योनि से बाहर निकलता हैं वह पिच्छिलता रहित (Non sliminess), दाहरहित, वेदना रहित एवं पाँच रात्रि तक निकलना चाहिए।

धात्रीस्तनस्तन्यसंपदुक्ता विस्तरतः पुरा। स्तन्यसंजननं चैव स्तन्यस्य च विशोधनम् ॥२२९॥
वातादिदुष्टे लिङ्गं च क्षीणस्य च चिकित्सितम्। तत्सर्वमुक्तं ये त्वष्टौ क्षीरदोषाः प्रकीर्तिताः ॥२३०॥
वातादिष्वेव तान् विद्याच्छास्त्रचक्षुर्भिषक्तमः। त्रिविधास्तु यतः शिष्यास्ततो वक्ष्यामि विस्तरम् ॥२३१॥

स्तन्य रोग की चिकित्सा (TREATMENT OF STANYA-ROGA)

पूर्व में धात्री, स्तन एवं स्तन्य की संपत्ति (संपद्=शुभ लक्षणों) का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। अर्थात् इन सभी विषयों का विवेचन शारीरस्थान में किया जा चुका है। इसके साथ ही स्तन्य संजनन औषधियाँ, स्तन्य (दुग्ध) को शुद्ध करना (स्तन्य शोधन), वातादि द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण तथा क्षीण स्तन्य के लक्षण एवं चिकित्सा तथा आठ प्रकार के क्षीर दोषों का भी विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। शास्त्र ही जिसकी दृष्टि है ऐसे गुणवान् चिकित्सक को चाहिए कि ऊपर बताये गये धात्री आदि के दोषों को वातादि के ही विकार समझें, अर्थात् वातादि के दूषित होने से पूर्वोक्त विकार उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानें। अतः त्रिविध शिष्यों की बुद्धि को ध्यान में रखते हुए इनका विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

चक्रपाणि– 'धात्रीस्तनस्तन्येत्यादि' के द्वारा यहाँ प्रदर एवं उसकी चिकित्सा के अभिधान के बाद स्त्रीरोग के अभिधान का प्रसङ्ग होने से अन्य स्तन्यदोष सम्बन्धी स्त्रीरोग का विवेचन किया गया है। वातादिदुष्टे इत्यादि- वातादि विकारों में ही इसका (क्षीर दुष्टि का) भी समावेश कर लिया गया है। अर्थात् क्षीरदुष्टि के भेद दोषों के अनुसार ही हैं।

त्रिविधास्तु यतो शिष्यास्ततो वक्ष्यामीति– तीन प्रकार के शिष्यों की बुद्धि को ध्यान में रखकर यहाँ निर्दिष्ट विषयों का विस्तार से विवेचन करूँगा। अर्थात् मन्द एवं मध्य बुद्धि वाले शिष्यों को भी विषय सुखपूर्वक समझ में आ जाय, ऐसा विचार करते हुए विषय को समझाऊँगा। ॥२२९-२३१॥

जल्पकल्पतरुटीका– 'धात्रीत्यादि' के द्वारा स्तन्यदोष की चिकित्सा को बताया गया है। पुरा=पूर्व में, धात्रीसंपत्, स्तनसंपद् एवं स्तन्यसंपद् का विस्तार से वर्णन जातिसूत्रीय अध्याय (च.शा.अ. ८) में किया गया है। आठ प्रकार के क्षीर दोषों का विवेचन अष्टोदरीय अध्याय (सू.अ. १९) में किया गया है। **आठ दोष-** १. दुग्ध का वैवर्ण्य (क्षीर का रंग सामान्य न होना), २. वैगन्ध्य (सामान्य गंध का न होना), ३. वैरस्य (स्वाद् का बदल जाना), ४. पैच्छिल्य (दूध का चिपचिपा होना), ५. फेनयुक्त (झाग युक्त होना), ६. रूक्ष होना, ७. गौरव (भारीपन) तथा ८. अति स्नेह युक्त होना, ये ८ दोष दुग्ध में वातादि दोषों की विकृति के ही कारण उत्पन्न होते हैं। ऐसा शास्त्रज्ञ चिकित्सक को समझना चाहिए।

अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात्। लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानां च सेवनात् ॥२३२॥
मनःशरीरसंतापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात्। प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च ॥२३३॥
परमान्नं गुडकृतं कृशरां दधि मन्दकम्। अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च ॥२३४॥
भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्। अनायासादभीघातात् क्रोधाच्चातङ्ककर्शनैः ॥२३५॥
दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य सिराः स्तन्यं प्रदूष्य च। कुर्युरष्टविधं भूयो दोषतस्तन्निबोध मे ॥२३६॥
वैरस्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके। पित्ताद्वेवर्ण्यदौर्गन्ध्ये स्नेहपैच्छिल्यगौरवम् ॥२३७॥
कफाद्भवति रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः। क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत् ॥२३८॥
विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत् पिबन्। न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते ॥२३९॥
तथैव वायुः कुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन्। करोति फेनसङ्घातं ततु कृच्छ्रात् प्रवर्तते ॥२४०॥
तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः। वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाऽधिगच्छति ॥२४१॥
पूर्ववत् कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः। रूक्षं तत् पिबतो रौक्ष्याद्बलह्रासः प्रजायते ॥२४२॥
पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम्। करोति स्तन्यनैवर्ण्यं नीलपीतासितादिकम् ॥२४३॥

Scanned by CamScanner

विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात्तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः । नित्यमुष्णशरीरश्च नाभिनन्दति तं स्तनम् ।।२४४।।
पूर्ववत् कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति । पाण्ड्वामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ।।२४५।।
क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः । स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु ।।२४६।।
छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः । नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निर्द्राक्लमसमन्वितः ।।२४७।।
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः । अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ।।२४८।।
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तत् पिबञ्छिशुः । कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात् क्षीरगौरवम् ।।२४९।।
करोति गुरु तत् पीत्वा बालो हृद्रोगमृच्छति । अन्यांश्च विविधान्रोगान्कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान् ।।२५०।।
क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे संभवन्ति तदात्मकाः । तत्रादौ स्तन्यशुद्ध्यर्थं धात्रीं स्नेहोपपादिताम् ।।२५१।।
संस्वेद्य विधिवद्वैद्यो वमनेनोपपादयेत् । वचाप्रियङ्गुयष्ट्याह्वफलवत्सकसर्षपैः ।।२५२।।
कल्कैर्निम्बपटोलानां क्वाथैः सलवणैर्वमेत् । सम्यग्वान्तां यथान्यायं कृतसंसर्जनां ततः ।।२५३।।
दोषकालबलापेक्षी स्नेहयित्वा विरेचयेत् । त्रिवृतामभयां वाऽपि त्रिफलारससंयुताम् ।।२५४।।
पाययेन्मधुसंयुक्तामभयां वाऽपि केवलाम् । (पाययेन्मूत्रसंयुक्तां विरेकार्थं च शास्त्रवित् ।।२५५)
सम्यग्विरिक्तां मतिमान् कृतसंसर्जनां पुनः । ततो दोषावशेषज्ञैरन्नपानैरुपाचरेत् ।।२५६।।
शालयः षष्टिका वा स्युः श्यामाका भोजने हिताः । प्रियङ्गवः कोरदूषा यवा वेणुयवास्तथा ।।२५७।।
वंशवेत्रकलायाश्च शाकार्थे स्नेहसंस्कृताः । मुद्गान् मसूरान् यूषार्थे कुलत्थांश्च प्रकल्पयेत् ।।२५८।।
निम्ववेत्राग्रकुलकवार्ताकामलकैः शृतान् । सव्योषसैन्धवान् यूषान्दापयेत्स्तन्यशोधनान् ।।२५९।।
शशान् कपिञ्जलानेणान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् । शार्ङ्गेष्टासप्तपर्णत्विगश्वगन्धाशृतं जलम् ।।२६०।।
पाययेताथवा स्तन्यशुद्धये रोहिणीशृतम् । अमृतासप्तपर्णत्वक्क्वाथं चैव सनागरम् ।।२६१।।
किराततिक्तकक्वाथं श्लोकपादेरितान् पिबेत् । त्रीनेतान्स्तन्यशुद्ध्यर्थमिति सामान्यभेषजम् ।।२६२।।
कीर्तितं स्तन्यदोषाणां पृथगन्यं निबोधत । पाययेद्विरसक्षीरां द्राक्षामधुकसारिवाः ।।२६३।।
श्लक्ष्णपिष्टां पयस्यां च समालोड्य सुखाम्बुना । पञ्चकोलकुलत्थैश्च पिष्टैरालेपयेत् स्तनौ ।।२६४।।
शुष्कौ प्रक्षाल्य निर्दुह्यात्तथा स्तन्यं विशुष्यति । फेनसङ्गातवत्क्षीरं यस्यास्तां पाययेत् स्त्रियम् ।।२६५।।
पाठानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना । अञ्जनं नागरं दारु बिल्वमूलं प्रियङ्गवः ।।२६६।।
स्तनयोः पूर्ववत् कार्यं लेपनं क्षीरशोधनम् । किराततिक्तकं शुण्ठीं सामृतां क्वाथयेद्भिषक् ।।२६७।।
तं क्वाथं पाययेद्धात्रीं स्तन्यदोषनिबर्हणम् । स्तनौ चालेपयेत् पिष्टैर्यवगोधूमसर्षपैः ।।२६८।।
पड्विरेकाश्रितीयोक्तैरौषधैः स्तन्यशोधनैः । रूक्षक्षीरा पिबेत् क्षीरं तैर्वा सिद्धं घृतं पिबेत् ।।२६९।।
पूर्ववज्जीवकाद्यं च पञ्चमूलं प्रलेपनम् । स्तनयोः संविधातव्यं सुखोष्णं स्तन्यशोधनम् ।।२७०।।
यष्टीमधुकमृद्वीकापयस्यासिन्युवारिकाः । शीताम्बुना पिबेत्कल्कं क्षीरवैवर्ण्यनाशनम् ।।२७१।।
द्राक्षामधुककल्केन स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् । प्रक्षाल्य वारिणा चैव निर्दुह्यात्तौ पुनः पुनः ।।२७२।।
विषाणिकाजशृङ्ग्यो च त्रिफलां रजनीं वचाम् । पिबेच्छीताम्बुना पिष्ट्वा क्षीरदौर्गन्ध्यनाशिनीम् ।।२७३।।
लिह्याद्वाऽप्यभयाचूर्णं सव्योषं माक्षिकप्लुतम् । क्षीरदौर्गन्ध्यनाशार्थं धात्री पथ्याशिनी तथा ।।२७४।।
सारिवोशीरमञ्जिष्ठाश्लेष्मातककुचन्दनैः । पत्राम्बुचन्दनोशीरैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ।।२७५।।
स्निग्धक्षीरा दारुमुस्तपाठाः पिष्ट्वा सुखाम्बुना । पीत्वा ससैन्यवाः क्षिप्रं क्षीरशुद्धिमवाप्नुयात् ।।२७६।।
पाययेत् पिच्छिलक्षीरां शार्ङ्गेष्टामभयां वचाम् । मुस्तनागरपाठाश्च पीताः स्तन्यविशोधनाः ।।२७७।।
तक्रारिष्टं पिबेच्चापि यदुक्तं गुदजापहम् । विदारीबिल्वमधुकैः स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् ।।२७८।।
त्रायमाणामृतानिम्बपटोलत्रिफलाशृतम् । गुरुक्षीरा पिबेदाशु स्तन्यदोषविशुद्धये ।।२७९।।
पिबेद्वा पिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरम् । बलानागरशार्ङ्गेष्टामूर्वाभिर्लेपयेत् स्तनौ ।।२८०।।
पृश्निपर्णीपयस्याभ्यां स्तनौ चास्याः प्रलेपयेत् । अष्टावेते क्षीरदोषा हेतुलक्षणभेषजैः ।।२८१।।
निर्दिष्टाः क्षीरदोषोत्थास्तथोक्ताः केचिदामयाः ।

स्तन्य रोगों के कारण तथा संप्राप्ति (Etiology and Pathogenesis of Stanya diseases)–

१. अजीर्ण (undigested-पूर्वकृत आहार का सम्यक् पाक न होना), असात्म्य (अहितकर-unwholesome), विषम भोजन (Eating at irregular hours), विरुद्ध भोजन (Mutually contradictory food), अत्यधिक (Excess quantity) भोजन का सेवन करना।

२. लवण, अम्ल, कटु, क्षार प्रधान एवं प्रक्लिन्न (सड़े हुए) द्रव्यों का अत्यधिक सेवन करना।

३. मन एवं शरीर में संताप का होना, निद्रा का न आना, अत्यधिक चिन्ता करना।

Scanned by CamScanner

४. अधारणीय वेगों को रोकना, वेग के न उत्पन्न होने पर भी प्रयास पूर्वक उनको निकालना ।

५. परमान्न (खीर, मालपूआ, हलवा आदि) का सेवन करना, गुड़ के बने हुए विकारों का सेवन करना, कृशरा (खिचड़ी), मन्दक दधि, अभिष्यन्दी आहार (जिस आहार के सेवन करने से स्रोतस् में अवरोध उत्पन्न हो) का सेवन करना ।

६. ग्राम्य (पालतू), आनूप (जिन क्षेत्रों में वर्षा अधिक होती हो उसे आनूप कहते हैं) एवं औदक (जलीय) पशु-पक्षियों के मांस का सेवन करना ।

७. भोजन करने के बाद अथवा बिना किये दिन में शयन करना ।

८. अत्यधिक मद्य का सेवन करना, परिश्रम न करना (Lack of exercise), चोट लग जाना, क्रोधित होना अथवा अन्य किसी भी जीर्ण व्याधि द्वारा कृश होना (Excessive emaciation due to chronic diseases)

इन हेतुओं के अत्यधिक सेवन करने पर प्रकुपित हुए वातादि दोष क्षीरवाही (दुग्धवाही) सिराओं में अवस्थान करके स्तन्य को दूषित करते हुए आठ प्रकार के क्षीर विकारों (स्तन्य दोषों) को उत्पन्न करते हैं । जिनका दोषानुसार विवेचन आगे किया जा रहा है । हे अग्निवेश! उसे सुनो–

दोषानुसार स्तन्य के दोष– १. स्तन्य (Breast milk) में वायु की विकृति (दुष्टि) होने पर उसमें **विरसता** (स्वाद का अच्छा न लगना- distasteful), **झाग का आना** (Frothy) एवं रूक्षता (ununctuous) उत्पन्न हो जाती है । विरसता का ज्ञान शिशु के दुग्ध न पीने से करते हैं ।

२. स्तन्य में पित्त की दुष्टि (विकृति) होने पर- **विवर्णता** (दुग्ध का वर्ण विकृत होना-Discoloured) व **दुर्गन्ध का निकलना** (Foul smelling) ये दो दोष पाये जाते हैं ।

३. कफ के दूषित होने पर स्तन्य **स्नेह** (चिकनापन), पिच्छिल (Slimy) एवं **गुरु** (Heavy-भारी) हो जाता है ।

इस प्रकार स्तन्य में दोषों के कारण ८ विकार (विरसता, फेन युक्त होना, रूक्षता, -वातजन्य; विवर्णता, दुर्गन्धयुक्तता- पित्तजन्य तथा स्नेह, पैच्छिल्य एवं गौरव -कफजन्य) मिलते हैं ।

१. वात द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण– रूक्ष आदि वात प्रकोपक आहार-विहार के सेवन से प्रकुपित हुई वायु माता के स्तन में पहुँचकर (क्षीराशय-स्तनवह स्रोतस् में पहुँचकर) स्तन्य के रस को विकृत कर देता है अर्थात् दुग्ध अपने स्वाभाविक रस में नहीं रहता । इस विकृतरस युक्त क्षीर के पीने से बालक कृश (Emaciated) हो जाता है । बालक प्रसन्नता पूर्वक इस दुग्ध का पान नहीं करता, बालक की वृद्धि रुक जाती है अथवा बहुत धीरे-धीरे होती है ।

अपने कारणों द्वारा प्रकुपित वायु दुग्धवाही सिराओं में पहुँचकर जब दुग्ध को अत्यधिक मथ देती है तब उसमें झाग बन जाता है, यह झागयुक्त दुग्ध स्तन से बहुत ही कष्ट के साथ बाहर निकलता है । शिशु जब इस दुग्ध का पान करता है तब उसकी आवाज (स्वर) क्षीण हो जाती है, मल, मूत्र एवं अपान वायु में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, बालक सिर के रोग अथवा पीनस (Chronic coryza) रोग से आक्रान्त हो जाता है ।

अपने कारणों द्वारा प्रकुपित वायु दुग्धवाही सिराओं में जाकर दुग्ध के स्नेहांश को सूखा देती है, परिणाम स्वरूप उसमें स्नेहांश का क्षय हो जाता है तथा रूक्ष गुण बढ़ जाता है । इस दुग्ध के पान करने से बालक रूक्ष एवं दुर्बल हो जाता है । इस प्रकार यहाँ वायु के कारण स्तन्य में होने वाली तीन विकृतियों (विरसता, फेनिल होना एवं रूक्षता की वृद्धि) का अभिधान कर दिया गया ।

२. पित्त द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण– उष्ण, तीक्ष्ण आदि पित्तवर्धक अन्न-पान के सेवन करने से प्रकुपित पित्त स्तन्याशय (दुग्धवाही स्रोतसों) में जाकर स्तन्य को दूषित करके उसे नील, पीत एवं असित (कृष्ण) वर्ण युक्त बना देता है । बालक इस विकृत वर्ण युक्त दुग्ध को पीना नहीं चाहता, पीने पर बालक के शरीर का वर्ण भी विकृत हो जाता है, शरीर से अत्यधिक पसीना निकलता है, प्यास अधिक लगती है, अतीसार होने लगता है तथा बालक का शरीर हमेशा उष्ण बना रहता है ।

पित्त प्रकोपक आहार-विहार के सेवन करने से प्रकुपित पित्त स्तन्याशय में जाकर स्तन्य को दूषित करते हुए स्तन्य में दुर्गन्ध को उत्पन्न करता है । इस दुर्गन्धित दुग्ध के पीने पर बालक पाण्डु (Anaemia) एवं कामला (Jaundice) रोग से ग्रसित हो जाता है । इस प्रकार स्तन्य में विवर्णता एवं दुर्गन्ध का आना दो दोष पित्त की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

३. कफ द्वारा दूषित स्तन्य के लक्षण– गुरु, स्निग्ध आदि कफ वर्धक आहार-विहार के सेवन करने पर प्रकुपित कफ स्त्री के स्तन्याशय (दुग्धवाही स्रोतस्) में जाकर स्तन्य में मिल जाता है । कफ के स्निग्ध गुण युक्त होने से स्तन्य भी स्निग्ध हो जाता है । अर्थात्

Scanned by CamScanner

उसमें स्निग्धता बढ़ जाती है। इस स्निग्ध दुग्ध के पीने से शिशु को वमन एवं कुन्थन (कांख कर मलत्याग करना- पेट में मरोड़ का होना- Griping pain), मुख से लार का निकलता (Excessive salivation), नासिका, मुख आदि का कफ से भरा रहना लक्षण मिलते हैं। इसके साथ-साथ बालक निद्रा, क्लम (थकावट), श्वास (Asthma), कास (Cough), प्रसेक तथा तमकश्वास आदि रोगों से पीड़ित रहता है।

अपने हेतुओं द्वारा प्रकुपित कफ स्तन्याशय में जाकर स्तन्य को पिच्छिल गुण से युक्त कर देता है। इसके पीने से बालक के मुख से लालास्राव का होना, मुख व नेत्र का शोथ युक्त होना, बालक का जड़ हो जाना अर्थात् चुपचाप अपने स्थान पर बैठे रहना (चञ्चलता कम होना) लक्षण मिलते हैं।

जब कफ अपने गुरु गुण के कारण प्रकुपित होता है तब वह स्तन्याशय में जाकर स्तन्य में गुरुता को बढ़ा देता है जिसके कारण दूध में गुरु गुण की वृद्धि हो जाती है। इस दूध के पीने से शिशु ह्रद्रोग से पीड़ित हो जाता है। इस प्रकार गुरु गुण के कारण क्षीर के आश्रित अन्य दूसरी व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार वातादि दोषों द्वारा दूषित स्तन्य में वातादि जन्य अन्य लक्षण भी मिलते हैं।

स्तन्य दोष की चिकित्सा (Treatment of Stanya Dosha)– वमन का प्रयोग- सर्वप्रथम चिकित्सक स्तन्य शुद्धि हेतु धात्री (दूध पिलाने वाली स्त्री) का विधिपूर्वक स्नेहन (आभ्यन्तर एवं बाह्य स्नेहन) व स्वेदन कराकर वमन करावे। अर्थात् स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद वमन कराना चाहिए।

वमन हेतु- वचा, प्रियङ्गु, यष्टीमधु, मदनफल, इन्द्रयव, सर्षप (पीली सरसो); के सम भाग से निर्मित कल्क (Paste) में सैन्धव नमक डालकर नीम की छाल व पटोल पत्र से निर्मित क्वाथ को पीने के लिए धात्री को देना चाहिए। अर्थात् धात्री इस वामक कल्क का पान क्वाथ के साथ मिलाकर करे।

विरेचन का प्रयोग– धात्री का सम्यक् वमन हो जाने के बाद संसर्जन क्रम का प्रयोग करावें। जब धात्री सम्यक् रूप से अपने सामान्य आहार-विहार पर आ जाय तब उसे पुनः स्नेहन कराकर दोष, काल एवं बल का विचार करते हुए विरेचन कराना चाहिए।

विरेचन हेतु त्रिवृत् (निशोथ) चूर्ण अथवा हरीतकी चूर्ण को त्रिफला के क्वाथ के साथ पीने के लिए दें। अथवा हरीतकी चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर चाटने के लिए दें। अथवा शास्त्रवित् (शास्त्र का ज्ञाता) चिकित्सक हरीतकी चूर्ण को गोमूत्र मिलाकर रोगी को विरेचनार्थ पीने के लिए दे। सम्यक् विरेचन हो जाने के बाद बुद्धिमान चिकित्सक को रोगी का सम्यक् संसर्जन क्रम कराना चाहिए। तत्पश्चात् शेष दोषों की शान्ति हेतु तद्-तद् दोषनाशक अन्न-पान की योजना करनी चाहिए।

पथ्य आहार– शाली चावल, साठी चावल, श्यामाक (साँवा), प्रियङ्गु (कंगुनी), कोरदूष (कोदो), यव, व वेणुयव का प्रयोग भोजन के रूप में धात्री को करना चाहिए। शाक के रूप में बांस के अङ्कुर, वेतस का अग्र भाग व मटर की पत्ती को घृत से संस्कारित कर प्रयोग करें। यूष हेतु- मुद्ग, मसूर, कुलत्थी का प्रयोग करें, अर्थात् मुद्गादि से निर्मित यूष का सेवन करना चाहिए।

नीम की पत्ती, वेतस का अग्र भाग, पटोलपत्र, वार्ताक (वनभण्टा) तथा आँवला द्वारा षडंगपानीय विधि से निर्मित जल से साधित मुद्गादि के यूष में सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली व सैन्धव नमक मिलाकर क्षीर की शुद्धि हेतु धात्री को पिलाना चाहिए।

मांसरस का उपयोग– शश (खरगोश), कपिञ्जल (गौरैया) एवं एण (काले मृग) का मांस संस्कारित करके धात्री (माता) को खाने के लिए देना चाहिए।

स्तन्य शुद्धि कारक अन्य योग–

१. शार्ङ्गेष्टा (काकजङ्घा), सप्तपर्णत्वक् (छतिवन की छाल) एवं अश्वगंधा के समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) का पान स्तन्य शोधनार्थ करावें।

२. कुटकी का क्वाथ स्तन्य शुद्धि हेतु पीने के लिए दें। [इसकी मात्रा कम रखें]

३. अमृता (गुडूची) एवं सप्तपर्ण (छतिवन) की छाल से निर्मित क्वाथ का पान करावें।

४. शुण्ठी से पकाया गया जल स्त्री (धात्री) को पीने के लिए दें।

५. चिरायता के क्वाथ का प्रयोग स्तन्य शुद्ध्यर्थ करें।

इस प्रकार यहाँ क्रमाङ्क ३,४, व ५ वर्णित योग स्तन्य शुद्धि हेतु सामान्य चिकित्सा में प्रयोग किये जाते हैं।

Scanned by CamScanner

स्तन्य दोषों की विशेष चिकित्सा– अब आगे स्तन्य दोषों की विशेष चिकित्सा का वर्णन किया जा रहा है । उसे मुझसे जानो–

१. विरस स्तन्य की चिकित्सा– स्तन्य का स्वाद बदल जाने पर धात्री को द्राक्षा (मुनक्का), यष्टीमधु (मुलेठी), अनन्तमूल एवं पयस्या (क्षीरविदारी); इनके समभाग से निर्मित सूक्ष्म (श्लक्ष्ण) कल्क (Paste) का सेवन सुखोष्ण जल के साथ माता अथवा धात्री को करना चाहिए । अथवा पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं कुलथी को जल के साथ पीसकर कल्क (Paste) बना लें एवं इसका लेप स्तनों पर करें । बाद में इसके सूख जाने पर गुनगुने जल से स्तन को धो दें । पश्चात् दूषित दूध को निकाल दें । इस प्रकार दूषित स्तन्य शुद्ध हो जाता है ।

२. फेन युक्त स्तन्य की चिकित्सा– यदि स्त्री का दुग्ध फेनयुक्त हो गया हो तब उसे निम्नलिखित औषधियों का सेवन कराना चाहिए-

→ पाठा, शुण्ठी (सोंठ), काकजङ्घा एवं मूर्वा के कल्क को सुखोष्ण जल में घोलकर पिलाना चाहिए ।

→ अञ्जन (रसाञ्जन), नागर (सोंठ), देवदारु, बिल्वमूलत्वक् एवं प्रियङ्गु; के कल्क का लेप स्तन पर करें । ऐसा करने से स्तन्य शुद्ध हो जाता है । (लेप सूख जाने के बाद गुनगुने जल से स्तन को धोकर दूषित दूध निकाल दें ।)

→ किराततिक्तक (चिरायता), शुण्ठी (सोंठ) एवं गुडूची; इनके समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) का पान दूषित क्षीर वाली स्त्री को कराना चाहिए । ऐसा करने से स्तन्यदोष दूर हो जाता है ।

→ यव, गेहूँ एवं सरसो; के समभाग से निर्मित कल्क का लेप स्तनों के ऊपर करावें ।

३. रूक्ष स्तन्य की चिकित्सा– स्तन्य के रूक्ष (Fat free milk) हो जाने पर षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में वर्णित स्तन्य शोधन महाकषाय द्वारा साधित क्षीर एवं घृत का पान धात्री को कराना चाहिए । अथवा पूर्व अध्याय (सू.अ. ४) में वर्णित जीवनीय महाकषाय -जीवकादि एवं बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी) के कल्क (Paste) का सुखोष्ण लेप स्तन पर स्तन्यशोधनार्थ करें अथवा लगावें ।

४. विवर्ण स्तन्य की चिकित्सा– (क) स्तन्य की विवर्णता को दूर करने के लिए मुलेठी (यष्टीमधु), गृद्रीका, पयस्या (क्षीरविदारी) एवं सिन्धुवार (निर्गुण्डी) के कल्क का पान शीतल जल के साथ स्त्री (धात्री) को करना चाहिए ।

(ख) द्राक्षा एवं यष्टीमधु के कल्क का लेप स्तनों पर करें । लेप के सूख जाने पर उष्ण जल (सुखोष्ण जल) से स्तन को धुल दें। इसके बाद स्तनों से बार-बार दूषित दूध को निकालें ।

५. दुर्गन्धित स्तन्य की चिकित्सा–

(क) विषाणिका (काकड़ासिंगी), अजशृंगी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, हल्दी एवं वचा; इनके समभाग से निर्मित कल्क का सेवन शीतल जल के साथ करें । यह योग क्षीर के दुर्गन्ध को दूर करता है ।

(ख) पथ्य आहार-विहार का सेवन करते हुए धात्री को स्तन्य की दुर्गन्धता को दूर करने के लिए सोंठ, पिप्पली व कालीमिर्च के चूर्ण के साथ मधु मिश्रित हरीतकी चूर्ण को चाटना चाहिए ।

(ग) अनन्तमूल, उशीर (खश), मञ्जिष्ठा (मजीठ), श्लेष्मातक (लिसोड़ा की छाल) एवं लालचन्दन अथवा तेजपत्र, सुगन्धवाला लालचन्दन एवं खश के कल्क का लेप स्त्री को अपने दोनों स्तनों पर करना चाहिए । लेप के सूख जाने पर स्तन को सुखोष्ण जल से धोकर दूषित दूध को निकाल देना चाहिए ।

६. अतिस्निग्ध स्तन्य की चिकित्सा– स्तन्य के अतिस्निग्ध हो जाने पर अथवा स्तन्य में स्नेहांश के बढ़ जाने पर स्त्री को देवदारु, मुस्तक, पाठा, के कल्क में सैन्धव नमक मिलाकर गुनगुने जल से पीना चाहिए । ऐसा करने से स्तन्य शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है ।

७. पिच्छिल स्तन्य की चिकित्सा– स्तन्य में पिच्छिलता के बढ़ जाने पर स्त्री को निम्नलिखित योगों का सेवन करना चाहिए-

→ काकजङ्घा, अभया (हरड़), वचा; से निर्मित कल्क (Paste) का पान सुखोष्ण जल के साथ करना ।

→ मुस्तक, शुण्ठी (सोंठ) व पाठा के कल्क का पान

→ अर्श चिकित्सा में निर्दिष्ट तक्रारिष्ट का पान ।

→ विदारीकन्द, बिल्व एवं यष्टीमधु से निर्मित कल्क (Paste) का लेप स्तनों पर करें । लेप के सूख जाने पर स्तन से दूध को निकालें ।

Scanned by CamScanner

८. गुरु स्तन्य की चिकित्सा– (क) स्तन्य में गुरुता की वृद्धि हो जाने पर स्त्री को त्रायमाणा, गुडूची, निम्ब, पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा व आँवला, के समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) का पान धात्री (स्त्री) को कराना चाहिए। इसके पीने से दुग्ध का भारीपन दोष दूर हो जाता है एवं स्तन्य शुद्ध हो जाता है।

(ख) पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक एवं सोंठ (शुण्ठी); के सम भाग से निर्मित क्वाथ का पान धात्री को करना चाहिए।

(ग) बला, नागर (सोंठ), काकजङ्घा एवं मूर्वा के कल्क का लेप स्तनों पर करना चाहिए।

(घ) पृश्निपर्णी एवं पयस्या के कल्क का लेप स्तन पर करें। इस प्रकार यहाँ आठ प्रकार के क्षीर दोषों के कारण, लक्षण एवं चिकित्सा के साथ-साथ अन्य क्षीर दोषों से उत्पन्न कुछ व्याधियों का भी वर्णन कर दिया गया है।

चक्रपाणि– क्वाथं चैव सनागरमिति- से यहाँ शुण्ठी (सोंठ) द्वारा निर्मित क्वाथ का ही ग्रहण किया गया है। पूर्ववर्ज्जीकाद्यमिति- से यहाँ षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में वर्णित जीवनीय महाकषाय वर्ग के जीवक आदि दस द्रव्यों (औषधियों) का ग्रहण किया गया है। ॥२३२-२८१॥

दोषदूष्यमलाश्चैव महतां व्याधयश्च ये ॥२८२॥
त एव सर्वे बालानां मात्रा त्वल्पतरा मता। निवृत्तिर्वमनादीनां मृदुत्वं परतन्त्रताम् ॥२८३॥
वाक्चेष्टयोरसामर्थ्यं वीक्ष्य बालेषु शास्त्रवित्। भेषजं स्वल्पमात्रं तु यथाव्याधि प्रयोजयेत् ॥२८४॥
मधुराणि कषायाणि क्षीरवन्ति मृदूनि च। प्रयोजयेद्भिषग्बाले मतिमानप्रमादतः ॥२८५॥
अत्यर्थस्निग्धरूक्षोष्णाम्लं कटुविपाकि च। गुरु चौषधपानान्नमेतद्बालेषु गर्हितम् ॥२८६॥
समासात् सर्वरोगाणामेतद्बालेषु भेषजम्। निर्दिष्टं शास्त्रविद्वैद्यः प्रविचिन्य प्रयोजयेत् ॥२८७॥

बाल रोग चिकित्सा (Treatment of Paediatric diseases)

जो दोष, दूष्य, मल एवं व्याधियाँ युवा अथवा बड़े पुरुषों में होती हैं वही सब (दोष, दूष्य, मल एवं व्याधियाँ) बालकों में अल्प रूप में मिलती हैं।

शास्त्रज्ञ चिकित्सक को बालकों की मृदुता (कोमलता) एवं परतंत्रता का विचार करते हुए संशोधन चिकित्सा का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। अथवा इसका त्याग करना चाहिए। उनकी वचन एवं चेष्टा के सामर्थ्य को देखकर व्याधि के अनुसार अल्प मात्रा में औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

बुद्धिमान चिकित्सक को प्रमाद रहित होकर बालकों की चिकित्सा हेतु मधुर द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) में दूध मिलाकर एवं उसे मृदु बनाकर प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् क्वाथ में दूध मिलाकर औषधि को मृदु कर लें, पश्चात् बालक को क्षीर (औषधि साधित क्षीर) का पान करावें।

त्याज्य द्रव्य– अत्यधिक स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, अम्ल रस युक्त, कटु विपाक वाले व गुरु (पचने में भारी) औषध, अन्न एवं पानों का प्रयोग बालकों में नहीं करना चाहिए। अथवा इन गुणों वाले द्रव्यों का सेवन बालकों को न करावें।

इस प्रकार यहाँ बालकों में होने वाले समस्त रोगों की चिकित्सा का निर्देश संक्षिप्त रूप से कर दिया गया है। शास्त्रज्ञ चिकित्सक को इन निर्देशों का सम्यक् विचार करके चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– दूषित क्षीर (स्तन्य-Breast milk) के सेवन करने से बालकों में होने वाले विकारों के लक्षणों के अभिघात के बाद 'दोषेत्यादि' के द्वारा उनमें प्रयुक्त औषधियों (चिकित्सा) का निर्देश दिया गया है। दोषा=वातादि दोष, दूष्य= रक्त आदि धातुओं का ग्रहण किया गया है। मल से पुरीष, मूत्र व स्वेद आदि मलों का ग्रहण है। ये दोषादि जो बड़े लोगों में होते हैं वही सब बच्चों में भी पाये जाते हैं, किन्तु बड़ों की तुलना में बालकों में इनकी मात्रा कम होती है, यह भाव है। **निवृत्तिर्वमनादीनामिति–** बालकों में वमन आदि संशोधन चिकित्सा का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। बालक दो प्रकार के होते हैं– १. स्वतंत्र वृत्ति (जो माँ के दुग्ध पर निर्भर नहीं रहते), २. परतंत्र वृत्ति- मां के दुग्ध पर निर्भर रहने वाले बालक को परतंत्र वृत्ति वाला कहते हैं।

यहाँ संशोधन (वमनादि) कर्मों का निषेध परतंत्र वृत्ति वाले बालकों की दृष्टि से कहा गया है, अर्थात् इनमें शोधन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। स्वतंत्र वृत्ति वाले बालक में उसकी चेष्टा एवं सामर्थ्य का विचार करते हुए व्याधि के अनुसार शास्त्रज्ञ वैद्य को मृदु संशोधन (मृदु वमन, मृदु विरेचन आदि) का प्रयोग कराना चाहिए एवं व्याधि के अनुसार अल्पमात्रा में संशमन औषधियों का भी प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

'मधुराणीत्यादि' के द्वारा बालकों में प्रयुक्त होने वाली औषधियों (चिकित्सा) का निर्देश दिया गया है। अत्यर्थ से लेकर प्रयोजयेत् तक (श्लोक नं. २८६ व २८७) के विषय की मौलिकता संदिग्ध है अर्थात् इन दो श्लोकों की मौलिकता संदिग्ध है। ॥२८२-२८७॥

भवन्ति चात्र–

इति सर्वविकाराणामुक्तमेतच्चिकित्सितम्। स्थानमेतद्धि तन्त्रस्य रहस्यं परमुत्तमम् ॥२८८॥

चिकित्सास्थान का उपसंहार– इस प्रकार चिकित्सास्थान में सम्पूर्ण रोगों की चिकित्सा का उल्लेख किया गया है। यह स्थान इस शास्त्र का परं उत्तम रहस्य है। अर्थात् इस स्थान में आयुर्वेद के गूढ़ विषयों का भी प्रतिपादन सूक्ष्म रूप से किया गया है।

चक्रपाणि– 'इति सर्वविकाराणामित्यादि' के द्वारा चिकित्सा स्थान में वर्णित विषयों का उपसंहार किया गया है। 'सर्वविकाराणामिति' शब्द से यहाँ अनुक्त विकारों के चिकित्सा बीज रूप सूत्रों का भी निर्देश किया गया है, अर्थात् जिन व्याधियों का उल्लेख चिकित्सास्थान में नहीं किया गया है उनके भी चिकित्सा सूत्रों का यहाँ बीज रूप (सूक्ष्म रूप) में निर्देश किया गया है। **रहस्यमिति–** अत्यन्त उपयोगी चिकित्सा का कथन होने से यह गोप्य (छिपाने योग्य) है। ये सूत्र (आयुर्वेद चिकित्सा सूत्र) किसी बुरे विचार वाले व्यक्ति को बताने नहीं चाहिए। अथवा किसी पापी व्यक्ति के हाथ में नहीं पड़ने चाहिए। ॥२८८॥

अस्मिन् सप्तदशाध्यायाः कल्पाः सिद्धय एव च। नासाद्यनेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते ॥२८९॥
तानेतान् कापिलबलिः शेषान् दृढबलोऽकरोत्। तन्त्रस्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथातथम् ॥२९०॥

संस्कर्ता का योगदान– इस चरक प्रतिसंस्कृत अग्निवेशतन्त्र में चिकित्सा के सत्रह अध्याय, कल्प व सिद्धि स्थान नहीं मिलते हैं। उन अप्राप्त शेष महत्वपूर्ण विषयों की इस तन्त्र में उचित रूप से पूर्ति कापिलबलि के पुत्र दृढ़बल द्वारा किया गया।

चक्रपाणि– 'अस्मिन्नित्यादि' के द्वारा यहाँ आचार्य दृढ़बल ने स्वयं संस्कारित विषयों को स्पष्ट किया है। अर्थात् आचार्य द्वारा कितने अध्याय एवं स्थान संस्कारित किये गये हैं, उसे स्पष्ट किया गया है।

सप्तदशाध्याया इति चिकित्सास्थाने सप्तदशाध्यायाः–चरक संस्कृत चिकित्सा स्थान के सत्रह अध्याय का संस्कार दृढ़बल द्वारा किया गया है। वे इस प्रकार हैं- प्रारम्भ से यक्ष्मा चिकित्सा तक के ८ अध्याय, अर्श, अतीसार, विसर्प, द्विव्रणीय एवं मदात्यय चिकित्सा के कुल १३ अध्याय को छोड़कर शेष १७ अध्यायों को समझना चाहिए।

परिशिष्टसंस्कारस्यादृष्टातिशयसंपाद्यत्वादात्मनोऽदृष्टातिशयमेव दर्शयन्नाह– तच्छङ्करमित्यादि- परिशिष्टसंस्कारस्य- अधूरे भाग का संस्कार अथवा पूर्ति करना, अदृष्टाशयसम्पाद्यत्वात्-अदृष्ट पूर्वकर्म- भाग्य के अतिशय (अति बलवान भाग्य) से ही सिद्ध होने वाला है। इसलिये 'आत्मनो- स्वयं का, अदृष्टातिशयम् एव- कर्म अथवा भाग्य प्रबल ही है, इसे दिखाने के लिए 'तच्छङ्करमित्यादि' शब्द का प्रयोग किया गया है। [तच्छङ्करमित्यादि पाठ यहाँ न उपलब्ध होकर सि.अ. १२/३८ पर प्राप्त होता है।] ॥२८९-२९०॥

विशेष (Comments)– कविराज नरेन्द्र नाथ सेन एवं बलाइचन्द्र सेन गुप्त द्वारा संशोधित एवं संपादित चरक मूल के चक्रपाणि पाठ में निम्न पाठ प्राप्त होता है– सप्तदशाध्याया इति चिकित्सास्थाने सप्तदशाध्यायान्ते। यक्ष्मचिकित्सितान्तान् अष्टौ अध्यायान् तथा अतिसारविसर्पद्विव्रणीयमदात्ययोक्तान् परिशिष्टसंस्कारस्य दृष्ट्वा अतिशयसंपादकत्वादात्मनो निर्दिष्टाविषयमेव दर्शयन्नाह–तन्त्रस्यास्येत्यादि।

[(चिकित्सास्थान के सत्रह अध्याय, जिसमें प्रारम्भ से लेकर आठ अध्याय (यक्ष्माचिकित्सा तक) तथा अतीसार, विसर्प, द्विव्रणीय एवं मदात्यय के परिशिष्टसंस्कार को देखकर, मेरे द्वारा अतिशय संपादन करने पर भी निर्दिष्ट विषय ही उचित प्रतीत होता है। जिसे यहाँ तन्त्रस्थास्येत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है।)] श्री नरेन्द नाथ सेन एवं बलाइचन्द्र गुप्त द्वारा संपादित उपरोक्त चरक पाठ में अर्शचिकित्सा का उल्लेख नहीं है, जो कि त्रुटि पूर्ण प्रतीत होता है, ऐसा निष्कर्ष अर्शचिकित्सा के अध्यायान्त पुष्पिकाओं को पढ़ने से निकलता है। अतः अधोलिखित तेरह अध्याय आचार्य दृढ़बल द्वारा पूर्ण नहीं किये गये हैं, पूर्व से ही विद्यमान थे।

१. रसायनाध्याय
२. बाजीकरणाध्याय
३. ज्वर चिकित्सा
४. रक्तपित्तचिकित्सा
५. गुल्मचिकित्सा
६. प्रमेहचिकित्सा
७. कुष्ठचिकित्सा
८. राजयक्ष्माचिकित्सा

} प्रारम्भ के क्रमशः आठ अध्याय

Scanned by CamScanner

१. अर्शचिकित्सा (१४वाँ अध्याय)
२. अतिसारचिकित्सा (१९वाँ अध्याय)
३. विसर्पचिकित्सा (२१वाँ अध्याय)
४. विषचिकित्सा (२३वाँ अध्याय)
५. मदात्यय चिकित्सा (२४वाँ अध्याय)

(मेरी दृष्टि से पूर्वोक्त १३ अध्याय दृढ़बल के समय उपलब्ध थे। आचार्य चक्रपाणि की दृष्टि से विषचिकित्सा का उल्लेख न होकर उसके स्थान पर द्विव्रणीयचिकित्सा का उल्लेख किया गया है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि यह वचन आचार्य चक्रपाणि का नहीं है, कहीं से प्रक्षिप्त हो गया है, क्योंकि इसका आधार अध्यायान्त पुष्पिकाओं में वर्णित-सूत्र- "इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने -------" ही है, जो कि विषचिकित्सा अध्याय की पुष्पिकाओं में प्राप्त होता है, द्विव्रणीय अध्याय में नहीं। दूसरा कारण ऐतिहासिक दृष्टि से यह भी है कि प्राचीन भारत में विष चिकित्सा उन्नति पर थी, अतः दृढ़बल के काल तक कोई ऐसा परिवर्तन नहीं हुआ जिससे यह लुप्त हो जाय।]

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः। तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम् ।।२९१।।

अनुक्त रोगों की चिकित्सा– नाम व रूप की अधिकता के कारण जिन व्याधियों का इस स्थान (चिकित्सा स्थान) में उल्लेख नहीं किया गया है। उन व्याधियों में भी दोष, दूष्यादि का विचार कर इन्हीं निर्दिष्ट औषधियों (चिकित्सास्थान में निर्दिष्ट औषधियों) द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'रोगा येऽप्यत्रेत्यादि' के द्वारा चिकित्सास्थान में वर्णित व्याधियों की चिकित्सा सिद्धान्त एवं योगों के द्वारा ही जिन व्याधियों का यहाँ निर्देश नहीं किया गया है, उनकी चिकित्सा दोष, दूष्यादि का विचार करते हुए करनी चाहिए, बताया गया है। 'एतदेवेत्यादि'- अनिर्दिष्ट व्याधियों की भी चिकित्सा इस चिकित्सास्थान में वर्णित औषधियों द्वारा ही करनी चाहिए।

एतदेव हि भेषजं नामरूपादिना विशेषेणानुक्तानां सामान्यतश्च वातादिजन्यतयोक्तान् रोगानपेक्ष्य तथायुक्तं सद् भेषजं भवतीत्यर्थः– जिन व्याधियों के नाम एवं लक्षणों का विशेष रूप से यहाँ वर्णन नहीं किया गया है। अतः यहाँ सामान्य रूप से निर्दिष्ट वातादि दोषों के लक्षण एवं चिकित्सा के आधार पर ही उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् वातादि के लक्षणों के आधार पर अनुक्त रोगों का ज्ञान करके वातादि नाशक औषधियों द्वारा उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

दोषादीनिति– दोष, दूष्य एवं निदान का वर्णन आगे किया जायेगा। अथवा दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति एवं वय का वर्णन सूत्रस्थान में किया जा चुका है। ।।२९१।।

दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्। उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ।।२९२।।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त (Line of Treatment in General)

दोष, दूष्य एवं निदान के विपरीत प्रयुक्त औषधि निश्चय ही लाभकारी होती है। सम्यक् प्रयुक्त औषधि या भेषज उक्त (इस स्थान में वर्णित) व अनुक्त (जिसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है) सभी व्याधियों को दूर करती है।

चक्रपाणि– यहाँ वर्णित भेषज (चिकित्सा) किस प्रकार अनुक्त व्याधियों के लिए उपयोगी है। इसे यहाँ 'दोषदूष्येत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। दोषा= वात, पित्त व कफ दोषों का ग्रहण किया गया है। दूष्य से रक्तादि अर्थ लिया गया है। निदानानि– रूक्ष, शीत, उष्ण आदि गुणयुक्त अन्न-पान जो व्याधि के वर्धक हों। (व्याधि उत्पादक आहार-विहार-causative factors)।

एषां व्यस्तानां समस्तानां वा यद् विपरीतं, हितमिति भेषजम्– हितकर भेषज उसे कहते हैं जो निदान के व्यस्त व समस्त रूप में विपरीत हो। इस प्रकार सम्यक् रूप से प्रयुक्त औषधि (चिकित्सा) उक्त एवं अनुक्त व्याधियों को निश्चित रूप से दूर कर देती है।

उक्तानिति– नाम एवं लक्षणों के द्वारा जिनका यहाँ (चिकित्सा स्थान में) उल्लेख किया गया है उसे उक्त व्याधि नाम दिया गया है, यथा- राजयक्ष्मा, प्रमेह आदि। **अनुक्तानिति–** नाम, रूप आदि विशेषताओं के द्वारा जिनका वर्णन नहीं किया गया है, उसे **अनुक्त** कहा गया है। इनके द्वारा जब दोषादि के विपरीतता का प्रतिपादन होता है तब अनुक्त व्याधियों में भी दोषादि का विचार करके सम्यक् औषधियों का प्रयोग प्रतिपादित कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए। यद्यपि जो औषधि या चिकित्सा निदान विपरीत होती है वह दोषविपरीत के ही कारण ग्रहण की गयी है, ऐसा समझना चाहिए। जहाँ निदान के सेवन से दोषों का प्रकोप होता है, अर्थात् निदान के द्वारा दोष प्रकुपित

Scanned by CamScanner

होता है, वहाँ उस दोष के विपरीत चिकित्सा की जाती है, यथा- रूक्ष निदान के सेवन से वायु प्रकुपित होती है, रूक्षता के विपरीत स्नेह गुण होता है, यह स्नेह गुण निदान में विपरीत है। फिर भी यहाँ दोष के अंशांश विशेष के अनुसार औषधियों के प्रयोग को दर्शाने के लिए निदानविपरीत शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे- यदि वायु अपने सभी अंशों में प्रकुपित है तब उस वायु के गुणों के पूर्णतः विपरीत तैल का प्रयोग करना चाहिए। जब वायु अपने शीत गुण के कारण वृद्ध है अथवा प्रकुपित है तब वायु के सर्वथा विरोधी तैल को छोड़कर जो द्रव्य शीत में विशेष रूप से उपयोगी है; उस शीत गुण के प्रशमन के लिए हेतु विपरीत उष्ण औषधि का प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है, यथा- "शीतेनोष्णकृतान् रोगाञ् शमयन्ति भिषग्विदः" (वि.अ. ३) [उष्णताजन्य व्याधियों का प्रशमन शीत चिकित्सा द्वारा चिकित्सक को करना चाहिए।] यहाँ दोषादि के ही ग्रहण से दोष, दूष्य के समुदाय रूप व्याधि का भी ग्रहण हो जाता है। उसी से व्याधि विपरीत चिकित्सा का भी भाव प्राप्त हो जाता है। अर्थात् दोष व दूष्य विपरीत शब्द से व्याधि विपरीत चिकित्सा का ग्रहण हो जाता है। विपरीत शब्द यहाँ प्रतिकूल अर्थ में कहा गया है, न कि मात्र विपरीत गुण के अर्थ में प्रयुक्त है। उसी से ही विपरीतार्थकारी चिकित्सा का भी ग्रहण हो जाता है।

यत्तु समानमेव क्षीणानां दोषाणां धातूनां वा भेषजं भवति तद् दोषादिक्षयव्याधिवृद्धिजनकतया विपरीतमेव– क्षीण दोष अथवा धातुओं में तत्समान गुण युक्त औषधि का प्रयोग करते हैं अर्थात् दोष अथवा धातुओं के क्षीण होने पर सामान्य सिद्धान्त से इनके समान द्रव्य या गुण युक्त औषधियों का प्रयोग करते हैं जिससे वह औषधि दोषादि के क्षय में व्याधि वृद्धि को (दोष की वृद्धि) उत्पन्न करने के कारण विपरीत ही होती है। इस कारण से वहाँ दोषादि के विपरीत (विरुद्ध) चिकित्सा का निर्देश न देकर उनके क्षय के विरुद्ध चिकित्सा कराने का निर्देश दिया गया है। उनके क्षय होने से, अर्थात् दोषादि के क्षय में, दोषादि क्षय के विपरीत गुण युक्त सम्यक् औषधियों की योजना से दोषादि अपने सामान्य स्वरूप में आ जाते हैं। अतः दोषादि के अनुकूल (समान) चिकित्सा को ही 'विपरीत' कहना दोषयुक्त नहीं है।

देशकालप्रमाणानां सात्म्यासात्म्यस्य चैव हि। सम्यग्योगोऽन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत् ।।२९३।।

चिकित्सा में परीक्ष्य विषय– चिकित्सा करने से पूर्व अधोलिखित भावों का पूर्णतः विचार करके ही औषधियों की योजना करनी चाहिए, अन्यथा पथ्य औषधि भी अपथ्य हो जाती है–

(१) देश (Location) [व्याधि शरीर के किस भाग में है, रोगी किस क्षेत्र का रहने वाला है अथवा औषधियों का संचय कहाँ से किया गया है।]

(२) काल (समय Time), ३. प्रमाण (Dosha), ४. सात्म्य (Wholesomeness), ५. असात्म्य (unwholesomeness)।

चक्रपाणि– जिनके **सम्यक् योग** से औषधियाँ कार्यकर होती हैं उन्हीं विषयों का विवेचन यहाँ- 'देशकालेत्यादि' के द्वारा किया गया है। उन देशकालादि के उदाहरण यहाँ आचार्य द्वारा आगे श्लोक नं. २९४ से लेकर (आस्यादामाशयस्थान् से लेकर) ३२० के पूर्व पाद (नाति दोषं च बहुपि) तक दिया गया है। देश से वहाँ **आतुर रूप शरीर** को कहा गया है। भूमि रूप देश का ग्रहण 'सात्म्य' के अन्तर्गत हो जाता है।

[The term DEŚA means both the patient's body (Deha-deśa) and the place of habitation. In the present context, this term refers to the physiqae of the patient. The place of habitation will be described under the category' SATMYA'– Dr. Bhagvan das]

काल षड् प्रकार का होता है, यथा– दिन (day), आतुर, औषधि, व्याधि, आहार पाचन काल, ऋतु (Season)। जिसमें औषध सेवन काल दस प्रकार का होता है। औषधि की मात्रा के तीन भेद होते हैं- १. अल्पमात्रा, २. बहु मात्रा, ३. सममात्रा। सात्म्य दो प्रकार का होता है- १. देशसात्म्य व २. शरीरसात्म्य, व्याधिसात्म्य का समावेश **औषधि** के अन्तर्गत ऋतुसात्म्य का अन्तर्भाव काल के अन्तर्गत तथा प्रमाणसात्म्य का अन्तर्भाव सम्यक् योग के अन्तर्गत हो जाता है। **असात्म्यं यत् सात्म्यविपरीतम्-** जो औषध, अन्न एवं पान सात्म्य के विपरीत होता है उसे असात्म्य कहा जाता है। (असात्म्य उसे कहते हैं जो सात्म्य के विपरीत होता है।) **सम्यक्योगः यथावत्प्रयोगः-** औषधियों की उचित योजना करना सम्यक् योग कहलाता है। देश आदि के विपरीत औषधियों (भेषज) के प्रयोग से उत्पन्न दोष को यहाँ- 'अन्यथा ह्येषां पथ्यमप्यन्यथा भवेत्' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। एषां से यहाँ देश आदि अर्थ लिया गया है।

अन्यथा इति असम्यग्योगे = असम्यक् योग होने पर, अथवा देश आदि का उचित विचार न करके औषधों का प्रयोग करना।

पथ्यमपीति भेषजं दोषादिपरीतमपि– दोषादि के विपरीत औषधि भी, (दोषादि के विपरीत की जाने वाली चिकित्सा भी अहितकर हो जाती है।)। अन्यथेति = अपथ्यं भवति (हानिकारक हो जाता है।) दशविध दोषादि के अन्तर्गत आने वाले अन्य बल सत्वादि परीक्ष्य भाव, जिनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है उनका भी समावेश इसी के अन्तर्गत हो जाता है। ॥२९३॥

Scanned by CamScanner

आस्यादामाशयस्थान् हि रोगान् नस्तःशिरोगतान् । गुदात् पक्वाशयस्थांश्च हन्त्याशु दत्तमौषधम् ।।२९४।।
शरीरावयवोत्थेषु विसर्पपिडकादिषु । यथादेशं प्रदेहादि शमनं स्याद्विशेषतः ।।२९५।।

१. देश के सम्यक् योग का उदाहरण– मुख से प्रयुक्त औषधि (मुखमार्ग से दी गयी औषधि) आमाशयस्थ (आमाशय में विद्यमान) दोषों को, नासिका द्वारा दी गयी औषधि शिरोगत दोषों को, गुदमार्ग द्वारा दी गयी औषधि पक्वाशयगत दोषों को, शीघ्र ही दूर कर देती है। यदि दोष शरीर के विभिन्न अवयवों में फैल गया हो अथवा शरीरावयवों में उत्पन्न होने वाले रोग, यथा- विसर्प, पिडका आदि हों तब इनमें विशेष रूप से अवयव (शरीर के जिस भाग में व्याधि का प्रसार हो) के अनुसार प्रदेहादि का प्रयोग करना लाभदायक होता है।

चक्रपाणि– यहाँ शरीर रूपी देश के अनुसार सम्यक् योग के उदाहरण को 'आस्यादित्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'आस्यात्' में तृतीया के स्थान पर पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग अलग होने के अर्थ में होता है। अतः यहाँ मुखमार्ग द्वारा औषधियों को पिलाकर या देकर आमाशयस्थ (ऊर्ध्व आमाशय में स्थित) दोषों को वमन द्वारा बाहर निकाल देने से व्याधि में शीघ्र लाभ मिल जाता है, यह भाव है। अर्थात् वमन द्वारा आमाशयस्थ दोष शीघ्र ही बाहर निकल जाते हैं। इसी प्रकार नासिका द्वारा दी गयी औषधि का तात्पर्य- शिरोविरेचन के प्रयोग से शिरोगत दोषों का शीघ्रतापूर्वक निर्हरण हो जाता है तथा गुदा द्वारा प्रयुक्त अनुवासन अथवा निरूह बस्ति पक्वाशयस्थ दोषों को दूर कर देती है, से है।

'शरीरावयवोत्थेष्वित्यादि' के द्वारा शरीर के अवयवानुसार बहिः परिमार्जन चिकित्सा के उपयोग को बताया गया है। 'प्रदेहादीनि' से यहाँ प्रदेह, परिषेक, उपनाह आदि का ग्रहण किया गया है। ॥२९४-२९५॥

दिनातुरौषधव्याधिजीर्णलिङ्गर्त्ववेक्षणम् । कालं विद्याद्दिनावेक्षः पूर्वाह्णे वमनं यथा ।।२९६।।
रोग्यवेक्षो यथा प्रातर्निरन्नो बलवान् पिबेत् । भेषजं लघुपथ्यान्नैर्युक्तमद्यात्तु दुर्बलः ।।२९७।।
भैषज्यकालो भुक्तादौ मध्ये पश्चान्मुहुर्मुहुः । सामुद्गं भक्तसंयुक्तं ग्रासग्रासान्तरे दश ।।२९८।।
अपाने विगुणे पूर्वं, समाने मध्यभोजनम् । व्याने तु प्रातरश्नितमुदाने भोजनोत्तरम् ।।२९९।।
वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते । श्वासकासपिपासासु त्ववचार्यं मुहुर्मुहुः ।।३००।।
सामुद्गं हिक्किने देयं लघुनाऽन्नेन संयुतम् । संभोज्यं त्वौषधं भोज्यैर्विचित्रैररुचौ हितम् ।।३०१।।
ज्वरे पेयाः कषायाश्च क्षीरं सर्पिर्विरिचनम् । षडहे षडहे देयं कालं वीक्ष्यामयस्य च ।।३०२।।
क्षुद्वेगमोक्षी लघुता विशुद्धिर्जीर्णलक्षणम् । तदा भेषजमादेयं स्याद्धि दोषवदन्यथा ।।३०३।।
चयादयश्च दोषाणां वर्ज्यं सेव्यं च यत्र यत् । ऋतावपेक्ष्यं यत् कर्म पूर्वं सर्वमुदाहृतम् ।।३०४।।
(उपक्रमाणां करणं प्रतिषेधे च कारणम् । व्याख्यातमबलानां सविकल्पानामवेक्षणे ।।३०५।।
मुहुर्मुहुश्च रोगाणामवस्थामातुरस्य च । अवेक्षमाणस्तु भिषक् चिकित्सायां न मुह्यति ।।३०६)
इत्येवं षड्विधं कालमनवेक्ष्य भिषग्जितम् । प्रयुक्तमहिताय स्यात् सस्यस्याकालवर्षवत् ।।३०७।।
व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च । विशेषो भिद्यते यस्तु कालावेक्षः स उच्यते ।।३०८।।
वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः । वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ।।३०९।।
निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः । प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ।।३१०।।
वयोन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः । बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद्वयसो नृणाम् ।।३११।।
जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः । श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ।।३१२।।

२. काल का सम्यक् योग– दिन, आतुर, औषध, व्याधि, आहार की जीर्णता के लक्षण (Stage of the digestion of food) एवं ऋतु (Nature of the season) का विचार करते हुए तदनुसार चिकित्सा करना **काल का सम्यक् योग** कहलाता है। यथा- (क) दिन की तुलना में प्रातः काल (पूर्वाह्न काल) में वमन कराना चाहिए। (Morning is the most suitable time for the administration of EMETIC therapy)

(ख) रोगी की दृष्टि से काल– बलवान् रोगी को बिना भोजन किये ही प्रातः काल औषधि का सेवन करना चाहिए तथा दुर्बल रोगी को लघु-हितकर अन्न के साथ औषधि का सेवन करना चाहिए।

(ग) औषधि की दृष्टि से काल– १. भुक्तादौ (भोजन से पूर्व), २. भुक्तमध्य (भोजन के मध्य - during the meal), ३. भुक्त पश्चात् (भोजन के बाद - After the meal), ४. मुहुर्मुहु (बार-बार - Repeatedly during day and night), ५. सामुद्ग (Before as well as after the meal- दो आहार काल के मध्य में), (६) भक्तसंयुक्त (भोजन के साथ मिलाकर) ७. ग्रास (भोजन के ग्रास में), ८. ग्रासान्तर (दो ग्रासों के बीच में); इस प्रकार दस औषध के काल होते हैं, जिन्हें भेषजकाल कहा जाता है।

Scanned by CamScanner

→ अपान वायु की विकृति में औषध को भोजन के पूर्व देना चाहिए ।
→ समान वायु के विकृत होने पर भोजन के मध्य औषध का सेवन करें ।
→ व्यान वायु की विकृति में प्रातः काल का भोजन ग्रहण करने के बाद औषध का सेवन करें ।
→ उदान वायु की विकृति में सायं काल के भोजन लेने के बाद औषध का सेवन करें ।
→ प्राण वायु की विकृति में ग्रास के साथ औषध का सेवन करना चाहिए । इसके साथ ही ग्रासान्तर में भी औषध का सेवन करना चाहिए ।
→ कास, श्वास व पिपासा आदि व्याधियों में बार-बार औषध का प्रयोग रोगी को करना चाहिए, ऐसा आचार्य का निर्देश है ।
→ हिक्का के रोगी को सामुद्ग (दो आहार-काल के मध्य) काल में औषधि सेवन करावें, अथवा लघु अन्न के साथ मिलाकर औषधि सेवन करावें ।
→ अरुचि रोग में विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट व हितकर आहार द्रव्यों के साथ औषधि का सेवन करना चाहिए ।

(घ) व्याधि की दृष्टि से काल– ज्वर में रोग की अवस्था के अनुसार पेया (Dilute gruel), कषाय (ज्वर नाशक क्वाथ-Decoction), क्षीर (Milk), घृत व विरेचन का प्रयोग छ. छः दिन के अन्तराल पर कराना चाहिए ।

(ङ) जीर्ण लक्षण की दृष्टि से काल– भूख का लगना, मल-मूत्रादि के वेगों का सामान्य रूप से निकलना, शरीर में लघुता का होना तथा शुद्ध डकार का आना; ये लक्षण आहार अथवा औषध के जीर्ण होने पर मिलते हैं । इन लक्षणों के मिलने पर औषध का प्रयोग करना चाहिए । इसके विपरीत काल में प्रयुक्त औषध व्याधि को बढ़ा देती है ।

ऋतु की दृष्टि से काल– दोषों के चयादि (संचय, प्रकोप एवं प्रशम), सेव्य एवं असेव्य आहार-विहार इन सब विषयों का विवेचन सूत्रस्थान अध्याय ६ (तस्यांशितीय अध्याय) में किया जा चुका है । अतः प्रत्येक ऋतु में दोषों के संचय, प्रकोप एवं प्रशमन के अनुसार आहार-विहार का सेवन व त्याग करना हितकारी माना गया है ।

उपक्रमों के साधन (लङ्घन, बृंहण आदि) अथवा प्रतिषेध के हेतु, अबल (दुर्बल) पुरुषों में प्रयोग एवं प्रतिषेध की व्याख्या पूर्व में ही की जा चुकी है ।

रोग एवं रोगी की परीक्षा बार-बार करें– रोग एवं रोगी की अवस्था को बार-बार देखकर चिकित्सा करने वाला चिकित्सक चिकित्सा कार्य में कभी भी मोहित नहीं होता ।

इस प्रकार यहाँ छः प्रकार के काल का वर्णन किया गया है, इनकी उपेक्षा कर चिकित्सा करने से रोगी की हानि उसी प्रकार होती है जिस प्रकार अकाल में वर्षा होने से शस्य (फसल) की हानि होती है ।

विशेष काल का विचार– व्याधि, ऋतु, दिन, रात्रि, वय एवं भोजन के भेद से जो काल का विचार किया जाता है वही काल विशेष कहा जाता है ।

ऋतु व रोग का सम्बन्ध– वसन्त ऋतु में- कफज रोग, शरद् ऋतु में पित्तजन्य रोग तथा वर्षा ऋतु में वातज रोग प्रायः उत्पन्न होते हैं ।

दोष एवं अहोरात्रि (दिन-रात) का सम्बन्ध– रात्रि के अन्त तथा दिन के अन्त (२ बजे से ६ बजे तक) व वर्षा काल के अन्त में वातज रोग, प्रातः काल तथा रात्रि के प्रारम्भ में (६ बजे से १० बजे तक) कफज रोग एवं दिन व रात्रि के मध्य काल में (१० बजे से २ बजे तक) पित्तज रोग बढ़ते हैं ।

दोष तथा आयु का संबन्ध– मनुष्यों में प्रायः वय के अन्त (वृद्धावस्था) में वातज, मध्य (युवावस्था) में पित्तज तथा प्रारम्भ (बाल्यावस्था) में कफज रोग बली होते हैं ।

दोष तथा आहार पाक का संबन्ध– भोजन के जीर्ण हो (पच) जाने पर प्रायः वातज रोग, जीर्ण काल (पचते समय) में पित्तज रोग तथा भोजन करने के बाद कफज रोग बली होते हैं ।

चक्रपाणि– 'दिनातुरौषधेत्यादि' के द्वारा देश विवेचन के बाद काल की दृष्टि से सम्यक् योग के उदाहरणों को **काल भेद** के साथ बताया गया है । **दिनादिभिरवेक्षणशब्दः संबध्यते-** अवेक्षण शब्द दिनादि प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है । **अवेक्षणम् अवेक्षा** = विचार करना । यहाँ दिन, आतुर आदि के विचारणीय काल के क्रमशः उदाहरणार्थ 'दिनावेक्ष इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

Scanned by CamScanner

रोगबलेक्ष्य इति रोगिणो विशेषं बलवत्त्वमबलवत्त्वं चावेक्ष्य भवतीत्यर्थः– रोगी के बलाबल की विशेष परीक्षा करके औषध का प्रयोग करना। निरन्न इति औषधमुपयुञ्जापि उपक्षणमभुञ्जानः = खाली पेट औषध का सेवन करना, यदि रोगी बलवान है तब ऐसा करना चाहिए।

'भैषज्यकाला इत्यादि' के द्वारा औषध की दृष्टि से विचारणीय अगद (आरोग्य) काल को बताया गया है, अर्थात् इस काल में औषध के प्रयोग से व्याधि का प्रशमन होकर आरोग्य प्राप्त होता है।

अत्र भुक्तादावित्यनेन कालद्वयमुच्यते, यथा प्रातरेव निरन्नं, तथा प्राग्भोजनं च– यहाँ 'भुक्तादौ' से दो काल का ग्रहण किया गया है– १. प्रातः काल (७ से ८ बजे के लगभग) जिसे निरन्नकाल कहा जाता है। २. भोजन से पूर्व। भुक्तपश्चात् (भोजन के पश्चात्) से भी दो काल का ग्रहण होता है १. प्रातः काल के भोजन के बाद- २. सायंकाल के भोजन के बाद।

मध्येभुक्तं तु यदर्धं भुक्त्वोपयुज्यते, पश्चात् पुनरर्धं भुज्यते– आधा भोजन करने के बाद औषध सेवन करना, पश्चात् पुनः आधा भोजन ग्रहण करना। इसे मध्य भुक्त (भोजन के मध्य) काल कहा जाता है। **मुहुर्मुहुर्भुक्तं नाम यद्भोजनसमये प्रतिक्षणं भुज्यते–** जिस औषधि का सेवन भोजन के समय में भी बार-बार की जाती है, उसे 'मुहुर्मुहु भुक्त' कहा जाता है।

सामुद्गं नाम यद् भक्तस्यादावन्ते च भुज्यते, तत्समुद्गवदाहारावरणात् 'सामुद्गं' इत्यभिधीयते– सामुद्ग उसे कहा जाता है जिसे भोजन के आदि (प्रारम्भ) एवं अन्त में सेवन किया जाता है।

मुद्गवत् आहार का आवरण करने के कारण इसे 'सामुद्ग' नाम दिया गया है। अर्थात् इस काल में औषधि का प्रयोग करने पर वह आहार का मुद्गवत् आवरण करती है। 'भुक्तं' पद का प्रयोग भुक्तादौ आदि में प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है।

अन्तराभक्तं नाम यदन्नेन संयोगात् संस्काराद्वा तद्विमिश्रितं भुज्यते– इसमें औषध का सेवन अन्न (भोजन) के साथ संयोग करके अथवा संस्कारित करके अर्थात् भोजन के साथ मिश्रित करके सेवन किया जाता है। अर्थात् अन्तराभक्त के अन्तर्गत औषध का सेवन अन्न के साथ संयोग अथवा संस्कारित करके मिश्रित रूप में किया जाता है।

ग्रासग्रासान्तरं तु भुक्तं नाम यद् ग्रासानां मध्येषु भुज्यते– ग्रास-ग्रासान्तर भुक्त उसे कहते हैं जिसमें औषधि दो ग्रासों के मध्य सेवन की जाती है। अन्य आचार्य 'ग्रासग्रासान्तरे' पाठ स्वीकार करते हैं जिसके अनुसार इससे एक भेषज काल का ही ग्रहण करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भेषजकाल को स्पष्ट करते हुए दस भेषज काल की संख्या पूर्ण की गयी। [पाठ भेद से 'ग्रासे ग्रासान्तरे' प्राप्त होता है जिसका अर्थ ग्रास (ग्रास के साथ औषध का सेवन करना) तथा ग्रासान्तर (दो ग्रासों के बीच में औषध का सेवन करना) है। अन्तराभक्त से भक्तसंयुक्त की ही व्याख्या की गयी है। इस प्रकार भेषज के दस काल की संख्या पूर्ण हो जाती है। १-२ आदौ भुक्त- (क) निरन्न (प्रातः काल) काल, (ख) प्रातः काल के भोजन के पूर्व का काल। ३-४ भुक्त पश्चात् (क) प्रातः काल के भोजन के पश्चात्, (ख) सायंकाल के भोजन के पश्चात्।

५. मध्य भुक्त, ६. मुहुर्मुहु (बार-बार औषध का सेवन), ७. सामुद्ग, ८. भक्तसंयुक्त (अन्तराभुक्त), ९. ग्रास, १०. ग्रासान्तर]

श्लोक संख्या ३०० में- **'वायौ प्राणे प्रदुष्टे तु ग्रासग्रासान्तरिष्यते'** वचन से आचार्य द्वारा ग्रासग्रासान्तर से एक भेषज काल ही कहा गया है। इस प्रकार ग्रास तथा दो ग्रासों के बीच में जो औषधि ली जाती है उस काल को ग्रास ग्रासान्तर काल कहते हैं।

'भुक्तं लघुनाऽन्नेन संयुतमिति' के द्वारा इसके लक्षणों को बताया गया है। लघु गुण वाली पेया आदि अन्न के साथ जब औषधि को मिलाकर सेवन किया जाता है तब उसे 'भुक्त' कहते हैं। (लघु गुण युक्त पेयादि अन्न के साथ जिसे मिलाकर सेवन किया जाता है उसे भुक्त कहते हैं।)

'संभोज्यं त्वौषधैरित्यादि' के द्वारा जिस औषध संस्कारित अन्न का सेवन किया जाता है, चाहे वह गुरु हो अथवा लघु उसे संभुक्त कहते हैं, बताया गया है। जो लोग ग्रासे-ग्रासान्तरे पाठ का प्रयोग करते हैं उनके अनुसार प्राणवायु के विकृत होने पर ग्रास के साथ अथवा दो ग्रासों के बीच के समय में औषध सेवन का विधान है। इस प्रकार वे ग्रास, ग्रासान्तर से दो भेषज काल स्वीकार करते हैं। 'लघुनाऽन्नेन संयुतमिति' पद को संभोज्य का ही विशेषण बताया गया है, हिक्का के रोगी को सामुद्ग भेषज का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् यह औषधि लघु अन्न के साथ मिलाकर भोजन के प्रारम्भ व अन्त में दी जाती है।

भुक्तमिति तु पदं विवरणग्रन्थेऽपि सर्वात्मकालोपयोजनीय भेषजविशेषणमिति- 'भुक्तामिति' पद की व्याख्या ग्रन्थ में उपयोगी भेषज के विशेषण के रूप में किया गया है। इस प्रकार व्यवस्थित होने पर 'अपाने विगुणे' इत्यादि भेषज काल का विवरण (व्याख्या) स्पष्ट ही है, अतः इसकी पुनः व्याख्या नहीं की गयी है। यहाँ 'अपाने विगुणे' के द्वारा जो भेषज काल का वर्णन किया गया है वह रोग विशेष के विषयानुसार है फिर भी यह विगुणापानादि के आश्रित रहने वाला भेषज का ही काल है। यहाँ अपान वायु आदि की जिन विकृतियों का

Scanned by CamScanner

उल्लेख किया गया है वे भेषज का ही विषय होने से स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार अपान वायु की विकृति होने पर जिस औषधि का प्रयोग किया जाता है उसको भी इन्हीं निर्दिष्ट कालों में अन्तर्भाव कर लिया जाता है। अर्थात् अपान वायु की विकृति में भोजन के पूर्व औषधि (प्राक् भुक्त) का प्रयोग किया जाता है।

यस्तु व्याध्यवेक्षः कालः स व्याध्यवस्थारूप इह वक्तव्य इति विशेषः– जो काल व्याधि के अनुसार विचारणीय है उसका अभिप्राय व्याधि की अवस्था विशेष के अनुसार औषधि के प्रयोग से है। औषधावेक्ष्य (औषध की दृष्टि से) काल का विचार करने के बाद व्याधि अवेक्ष्य काल (व्याधि की दृष्टि से काल) को 'ज्वरे पेया' इत्यादि के द्वारा बताया गया है।

अत्र च पेयाकषायसर्पिः क्षीरविरेचनानामुत्सर्गविधया ज्वराहादारभ्य षडहे यथाक्रमं देयत्वमुच्यते– यहाँ पेया, कषाय (क्वाथ), सिद्धघृत, औषधि साधित क्षीर एवं विरेचन का अपवाद रूप में प्रयोग ज्वर के दिन से प्रारम्भ करके छः छः दिन तक निर्दिष्ट क्रम के अनुसार देना चाहिए। अर्थात् ज्वर के प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम प्रारम्भ के छः दिन पेया, सातवें से लेकर बारहवें दिन कषाय (ज्वरनाशक क्वाथ), तेरहवें से लेकर अट्ठारहवें दिन तक सिद्ध घृत, उन्नीसवें से लेकर चौबीसवें दिन तक सिद्ध दुग्ध का पान करावें, अन्त में विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। छः दिन से अधिक पेया का प्रयोग कराना विरोधी नहीं होता। क्योंकि सामान्यतया विरोध करने से ही विरोध को सर्वत्र अनुमोदित किया जाता है। चूँकि यहाँ कोई विरोध नहीं किया गया है। अतः यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि छः दिन से अधिक पेयादि का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। उससे लंघित पुरुष को छः दिन तक कषायपान एवं पेया का प्रयोग जो "लङ्घितं वमितं काले यवागूभिरुपाचरेत्" के द्वारा निर्दिष्ट है, वह भी विरुद्ध नहीं है। इस श्लोक (लङ्घितं वमितं काले यवागूभिरुपाचरेत् च.चि.३) की व्याख्या ज्वरचिकित्सा में ही कर दिया गया है, इसलिए उसको यहाँ प्रपञ्चित नहीं किया गया है।

कालं वीक्ष्यामयस्य च– व्याधि की अवस्था रूप काल का विचार करना, ज्वर के लक्षणों का विचार करते हुए छः दिन पेया का प्रयोग करें, यह अर्थ है। जीर्ण लक्षणों की दृष्टि से काल को 'क्षुद्वेगेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **क्षुदिति बुभुक्षा भवति** = भूख का लगना, रोगी में भूख का लगना। वेगमोक्ष इति = मूत्र, पुरीष आदि का सम्यक् रूप से निकलना। **लघुता विशुद्धिरिति** = लघुता से शरीर में भारीपन का न रह जाना अर्थ लिया गया है। 'विशुद्धि' से शुद्ध डकार का आना, अर्थ गृहीत है, अर्थात् उद्गार का शुद्ध निकलना।

जीर्णलक्षणामिति– सम्यक् रूप से जीर्ण अन्न के लक्षण, यद्यपि जीर्णान्न के लक्षणों का अभिधान रसविमान अध्याय (वि.अ. १) में भी किया गया है फिर भी काल की दृष्टि से प्रकरणानुसार उसका कथन होना पुनरुक्तदोष के अन्तर्गत नहीं आता।

'तदा भेषजमादेयमिति' इस वचन के द्वारा प्रातः काल (निरन्न काल में) बिना अन्न के साथ जब औषध का सेवन कराया जाता है तब वह औषधि विचारणीय है, बताया गया है।

यदन्नोत्तरकालं तदजीर्ण एव प्रातराशे दीयते– जो औषधि भोजन के बाद दी जाती है, वह अजीर्ण होते हुए भी प्रातः के भोजन के साथ दी जाती है। अथवा भोजनोत्तर काल में भी जो औषधि दी जाती है वह पूर्वकाल में गृहीत आहार के पच जाने पर ही दी जाती है।

'अन्यथा स्याद्धि दोषवदिति'–से यहाँ कुछ आचार्य 'दोषवदिति' के स्थान पर 'द्विदोषवत्' पाठ करते हैं।

तेन जीर्यति जीर्यमाणे च दोषद्वययुक्तं स्यादित्यर्थ– उससे जीर्ण एवं जीर्यमाण दोनों अवस्थाओं के दोष (जीर्ण- वात, जीर्यमाण- पित्त दोष की वृद्धि) उत्पन्न हो जाते हैं।

'स्यात्तु दोषवदन्यथा' यही पाठ मौलिक (आर्ष) है। 'चयादयश्चेत्यादि' के द्वारा ऋतु की दृष्टि से काल के सम्यक् योग के भेद को स्पष्ट किया गया है। **चयादय इति-** दोषों के संचय, प्रकोप व प्रशमन का काल। वे चयादि के काल, जिस प्रकार- शिशिर व हेमन्त ऋतु में कफ का संचय, वसन्त में प्रकोप तथा ग्रीष्म में प्रशमन स्वाभाविक रूप से होता है, उसी प्रकार वायु का संचय ग्रीष्म में, प्रकोप- वर्षा में एवं प्रशमन शरद् में होता है तथा पित्त का संचय- वर्षा में, प्रकोप शरद् में तथा प्रशमन हेमन्त में हो जाता है। इसी के अनुसार सेव्य एवं वर्ज्य (निषिद्ध) आहार विहारों का उल्लेख ऋतु प्रकरण (तस्याशितीय अध्याय) में किया गया है उसका अवलोकन वहीं करना चाहिए।

उपक्रमाणामित्यादिकं सार्धं श्लोकं केचित् पठन्ति; तमनार्षं वदन्ति– कुछ आचार्य श्लोक नं. ३०५ (उपक्रमाणां से लेकर न मुह्यति तक) व ३०६ को अनार्ष स्वीकार करते हैं। [एतच्छलोकद्वयं हस्तलिखितपुस्तके न पठ्यते– ये दो श्लोक हस्तलिखित पाठों में नहीं मिलते] कुछ आचार्य श्लोक ३०५ व श्लोक नं. ३०६ का आधा 'उपक्रमाणां' से लेकर 'रोगाणामवस्थामातुरस्य च' तक स्वीकार करते हैं, लेकिन यह भी अनार्ष है।

कहे गये छः प्रकार के कालों का सम्यक् विचार न करते हुए चिकित्सा करने पर होने वाले अहितकर परिणाम के दृष्टान्त को 'इत्येवमित्यादि' के द्वारा बताया गया है। जिस प्रकार खेतों में अनुचित समय पर वर्षा होने पर फसलें गिर जाती हैं अथवा नष्ट हो जाती

Scanned by CamScanner

है उसी प्रकार षड्विध काल का बिना विचार किये ही चिकित्सा करने पर (औषधि प्रयोग करने पर) आतुर को अत्यधिक कष्ट होता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है। कुछ आचार्य श्लोक नं. ३०८ से ३१२ में अन्य तरीके से काल के सम्यक् योग को स्पष्ट किया गया है, ऐसा कहते हैं, फिर भी ये चार श्लोक अतिप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् 'व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां' से लेकर 'प्रायशो बलम्' तक वर्णित श्लोक प्रसिद्ध नहीं हैं। ॥२९६-३१२॥

नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽऽपोऽल्पा महानलम्। दोषवच्चातिमात्रं स्यात्सस्यस्यात्युदकं यथा ॥३१३॥
संप्रधार्य बलं तस्मादामयस्यौषधस्य च। नैवातिबहु नात्यल्पं भैषज्यमवचारयेत् ॥३१४॥

३. प्रमाण का सम्यक् योग– जिस प्रकार प्रवृद्ध अग्नि को अल्प मात्रा में प्रयुक्त जल बुझा नहीं पाता उसी प्रकार अल्प मात्रा में प्रयुक्त औषधि भी व्याधि को दूर नही कर पाती। जिस प्रकार अत्यधिक बढ़ा हुआ वर्षा का जल फसलों को गला (नष्ट कर) देती है वैसे ही अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त औषधि भी व्याधि के उपद्रव को बढ़ा देती है।

इसलिए चिकित्सक को **रोग तथा औषध के बल** का सम्यक् निश्चय करके न तो बहुत अधिक न तो बहुत कम मात्रा में औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'नाल्पमित्यादि' के द्वारा प्रमाण विशेष के अनुसार औषधि के सम्यक् योग को स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यहाँ भेषज का प्रमाण शृङ्ग ग्राहिक न्याय के अनुसार नहीं कहा गया है फिर भी यहाँ- "दोषप्रमाणानुरूपो हि भैषज्यप्रमाणविकल्पो बलप्रमाणविशेषापेक्षो भवति-" (वि.अ. ८) इति [दोष प्रमाण एवं बल प्रमाण विशेष के अनुसार औषधि की मात्रा निश्चित की जाती है अथवा औषधि की मात्रा दोष प्रमाण व बल प्रमाण के ऊपर निर्भर करती है।] द्वारा वर्णित सूत्र से मध्य भेषज प्रमाण का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् औषधि की मध्यम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। ॥३१३-३१४॥

औचित्याद्यस्य यत् सात्म्यं देशस्य पुरुषस्य च। अपथ्यमपि नैकान्तात्तत्त्यजंल्लभते सुखम् ॥३१५॥
बाह्लीकाः पह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः। मांसगोधूममाध्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः ॥३१६॥
मत्स्यसात्म्यास्तथा प्राच्याः क्षीरसात्म्याश्च सैन्धवाः। अश्मकावन्तिकानां तु तैलाम्लं सात्म्यमुच्यते ॥३१७॥
कन्दमूलफलं सात्म्यं विद्यान्मलयवासिनाम्। सात्म्यं दक्षिणतः पेया मन्थश्चोत्तरपश्चिमे ॥३१८॥
मध्यदेशे भवेत् सात्म्यं यवगोधूमगोरसाः। तेषां तत्सात्म्ययुक्तानि भैषजान्यवचारयेत् ॥३१९॥
सात्म्यं ह्याशु बलं धत्ते नातिदोषं च बृंहपि।

४. सात्म्य का सम्यक् योग– नित्य प्रयोग किये जाने के कारण जो आहार-विहार पुरुष अथवा देश के लिए सात्म्य (अनुकूल) हो गया हो, यदि वह अपथ्य भी हो तब भी अचानक त्याग से सुख नहीं प्राप्त होता। अर्थात् अपथ्य सात्म्य अन्न-पान का त्याग सहसा नहीं करना चाहिए। जैसे- बाह्लीक, पह्लव, चीन, शूलीक, यवन व शक देशवासी पुरुषों को मांस, गेहूँ, माध्वीक (महुए के पुष्प से बनी मदिरा), शस्त्र (हथियार को अपने पास रखना) एवं अग्नि सेवन के अभ्यस्त होते हैं। अर्थात् मांसादि सेवन के ये लोग अभ्यस्त होते हैं। पूर्वी क्षेत्र (पूर्वी भारत) के लोगों को मछली सात्म्य होता है। सिन्धु देश के लोगों के लिए दूध सात्म्य होता है। अश्मक एवं अवन्ती देश के लोगों को तैल व अम्लरस युक्त आहार सात्म्य होता है। मलय क्षेत्र के लोगों (मलय पर्वत पर रहने वाले पुरुषों) को कन्द, मूल व फल सात्म्य होता है। दक्षिण देश के लोगों को पेया, उत्तर-पश्चिम के लोगों को मन्थ (जल में घोला हुआ यव का सत्तू) सात्म्य (अनुकूल) होता है। देश के मध्य भाग (मध्य भारत) के लोगों को यव, गेहूँ एवं दूध के बने पदार्थ सात्म्य होते हैं। इस प्रकार उन लोगों को सात्म्य आहार के साथ औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार के पुरुष के लिए जो आहार अनुकूल होता है उसी के साथ औषधियों की योजना करनी चाहिए।

सात्म्य का महत्व– सात्म्य आहार विहार के सेवन करने से व्यक्ति के बल की शीघ्र वृद्धि होती है। यदि यह आहार अधिक मात्रा में ग्रहण कर भी लिया जाय तो अत्यधिक हानि नहीं होती।

चक्रपाणि– 'औचित्याद्यस्येत्यादि' के द्वारा सात्म्य की दृष्टि से सम्यक् योग के भेद को बताया गया है। औचित्यादिति = अभ्यास करने से, यदि अपथ्य आहार भी व्यक्ति को सात्म्य (अनुकूल) हो गया है तब उसके तत्काल त्याग करने पर भी व्यक्ति को आराम नहीं मिलता, ऐसा समझना चाहिए। **एकान्तात् झटिति सर्वथा च त्यजन्–** तत्काल पूर्णतः त्याग करना। इससे अहितकर आहार या औषधि जो व्यक्ति को अभ्यास के द्वारा सात्म्य हो गयी हो, उसके सहसा त्याग देने पर भी लाभ नहीं मिलता, यह दर्शाया गया है।

पथ्यस्य सात्म्यस्य परित्यागे तु नितरामेव दुःखं भवतीति दर्शयति– सात्म्य पथ्य के परित्याग करने पर पूर्णतः दुःख (कष्ट) ही होता है, यह दर्शाया गया है। **देशशब्देन चेह देशवाचिनो जनपदा अभिप्रेता–** देश शब्द से यहाँ देशवाचक 'जनपद' अर्थ अभिप्रेत है।

Scanned by CamScanner

देशसात्म्य शब्द का अर्थ- उस विशेष देश में उत्पन्न या रहने वाले लोगों के लिए जो आहार-विहार अनुकूल हो अर्थात् उस विशेष क्षेत्र में रहने वाले लोगों के द्वारा जो आहार-विहार सेवन किया जाता है । उसे **साधारण सात्म्य** से ग्रहण किया गया है ।

पुरुषसात्म्यग्रहणेन तु यत् प्रतिनियतपुरुषस्यैवाभ्यासात् सात्म्यतां याति तत पुरुषप्रतिनियतं सात्म्यं गृह्यते– पुरुष सात्म्य शब्द से नियत पुरुष द्वारा पथ्य या अपथ्य अन्न-पान के अभ्यास से उसमें जो सात्म्यता (आहार-विहार के प्रति अनुकूलता) उत्पन्न होती है वह उस **नियत पुरुष की सात्म्यता** कही जाती है, कहा गया है । अर्थात् पथ्य या अपथ्य आहार विहार को अभ्यास द्वारा व्यक्ति विशेष द्वारा सात्म्य बना लेना पुरुष सात्म्य कहलाता है । [यह सात्म्यता प्रतिपुरुष की अलग-अलग होती है जब कि देश सात्म्यता देश विशेष के लोगों की एक ही होती है ।]

''देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः । सात्म्यमिच्छन्ति'' (सू.अ. ६) के द्वारा देश सात्म्य का जो वर्णन किया गया है वह देश विपरीत गुण के कारण उस देश में रहने वाले पुरुषों के लिए सात्म्य होता है, यह कहा गया है । यहाँ देशविपरीत गुण हो या न हो लेकिन उस देश के लोगों के द्वारा अभ्यास के कारण जो आहार-विहार (पथ्य या अपथ्य) अनुकूल (सात्म्य) हो गये हों उसको यहाँ सात्म्य कहा गया है, यह विशेष है ।

पुरुष सात्म्यता प्रायः प्रतिपुरुष भिन्न होने से निश्चित न होने के कारण शृंग ग्राहिक न्याय से उसका उदाहरण नहीं दिया गया है ।

बाह्लीका इत्यादि के द्वारा देश व अभ्यास सात्म्य के प्रसिद्ध उदाहरणों को दिया गया है । **वैश्वानरोचिता इति–** यहाँ उचित शब्द से अभ्यास अर्थ लिया गया है । वैश्वानर= अग्नि, इस क्षेत्र (बाह्लीक, चीन आदि) के लोग अग्नि के द्वारा अपने शरीर को गरम (उष्ण) बनाये रखते हैं, अर्थात् इन क्षेत्रों में ठण्ड अधिक पड़ती है ।

तैलं चाम्लं चेति तैलाम्लम्- तैल एवं अम्ल रस युक्त आहार का सात्म्य होना । **दक्षिणत इति–** दक्षिणापथ में (दक्षिण भारत में)। उत्तरे पश्चिमे चेति- उत्तर-पश्चिम देश में ।

तेषामिति– यहाँ वर्णित 'तत्' शब्द से जनपद अथवा पुरुष का ग्रहण किया गया है । **तेन तत्सात्म्ययुक्तानीति–** कहे गये देश के अनुसार पुरुष का सात्म्य होना, अर्थात् वर्णित देशों के लोगों को निर्दिष्ट आहार-विहार सात्म्य (अनुकूल) हो जाते हैं । सात्म्य आहार द्रव्यों के सेवन से मिलने वाले लाभ (फल) को यहाँ- 'सात्म्यं ह्याशु बलमित्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

बह्वपीति अतिमात्रमपि– अत्यधिक मात्रा में भी, अपने अनुकूल आहार द्रव्य मात्रा से अधिक सेवन करने पर भी अतिदोषकर नहीं होते । ॥३१५-३१९॥

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति ।।३२०।।
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः ।

देश आदि का ज्ञान न रखते हुए मात्र योगों के बल पर चिकित्सा करने वाला चिकित्सक इच्छित फल नहीं प्राप्त कर पाता । अर्थात् ऐसे चिकित्सक द्वारा की गयी चिकित्सा सफल नहीं होता । क्योंकि वय, बल आदि के भेद से चिकित्सा के भी अनेक भेद हो जाते हैं ।

चक्रपाणि– उक्त देश आदि की परीक्षा का विचार न करते हुए मात्र निर्दिष्ट योगों के द्वारा चिकित्सा करने से होने वाले दोषों को यहाँ- 'योगैरेवेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । **देशाद्यज्ञ इत्यनेन देशाद्यज्ञानाद् देशादिविगुणचिकित्साकारकं पुरुषं लक्षयति–** देशादि का ज्ञान न होने से, देशादि के गुणों का विचार न करते हुए चिकित्सा करना, अर्थात् चिकित्सा करते समय रोगी में देशादि के गुणों का विचार न करना ।

अपराध्यति न ईप्सितं साधयति– इच्छित सफलता नहीं प्राप्त करता । **देशाद्यज्ञ इति** (देशादि+अज्ञः)- में यहाँ 'आदि' शब्द से पूर्व वर्णित काल आदि तथा अन्य स्थानों पर कहे गये वय, बल, शरीर, प्रकृति व सत्त्वादि का ग्रहण किया गया है ।

देशादि का अज्ञ (न ज्ञान रखने वाला) चिकित्सक कैसे इच्छित सफलता नहीं प्राप्त करता, जिसे यहाँ 'वगो बलेत्यादि' के द्वारा बताया गया है । आदि शब्द से यहाँ प्रकृति, सत्त्व आदि का ग्रहण किया गया है । जिस प्रकार वय, बल, प्रकृति, सत्त्व आदि के भेद से चिकित्सा के भी असंख्य भेद हो जाते हैं, ऐसा चिकित्सकों का विचार है । उसी प्रकार देशादि के निरपेक्ष (देशादि का विचार न करते हुए) चिकित्सा करने से चिकित्सक इच्छित साध्य को प्राप्त नहीं कर पाता, यह अभिप्राय है । ॥३२०॥

तथाऽन्तःसन्धिमार्गाणां दोषाणां गूढचारिणाम् ।।३२१।।
भवेत् कदाचित् कार्याऽपि विरुद्धाभिमता क्रिया । पित्तमन्तर्गतं गूढं स्वेदसेकोपनाहनैः ।।३२२।।
नीयते बहिरुष्णैर्हि तथोष्णं शमयन्ति ते । बाह्यैश्च शीतैः सेकाद्यैरूष्माऽन्तर्याति पीडितः ।।३२३।।

Scanned by CamScanner

सोऽन्तर्गूढं कफं हन्ति शीतं शीतैस्तथा जयेत् । श्लक्ष्णपिष्टो घनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत् ।।३२४।।
त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथाऽगुरोः । छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत् ।।३२५।।
द्रव्येषु स्विन्नजग्धेषु चैव तेष्वेव विक्रिया ।

विपरीतार्थकारी चिकित्सा के उदाहरण– शरीर के अन्तः मार्ग तथा सन्धिमार्ग में भी छिपकर रहने वाले दोष छिपे रहते हैं । इन दोषों में कभी-कभी विरुद्ध चिकित्सा भी करनी पड़ती है ।

पित्त के अन्तर्गत छिपे हुए दोषों को निकालने के लिए उष्ण स्वेद, उष्ण परिषेक तथा उष्ण उपनाह का प्रयोग किया जाता है । इस प्रकार यहाँ उष्ण चिकित्सा के प्रयोग द्वारा प्रकुपित पित्त को शान्त किया जाता है । इसी प्रकार बाह्य शीतल क्रियाओं के करने पर शरीर के बाहर निकलने वाली ऊष्मा शरीर के अन्तः भाग में रह जाती है । वह ऊष्मा प्रकुपित कफ को शीघ्र ही पचा डालती है, अतः शीत गुण युक्त कफ को शीतल परिषेक नष्ट करता है । अथवा अन्तः प्रकुपित कफ को शीतल क्रियाओं द्वारा प्रशमित करना चाहिए । चन्दन मूलतः शीत गुण युक्त (शीतल) होता है । यदि चन्दन को श्लक्ष्ण (महीन) पीसकर मोटा लेप लगावें तब इससे त्वचा से निकलने वाली ऊष्मा का अवरोध होकर उष्णता बढ़ जाती है, अर्थात् शरीर की गर्मी बाहर नहीं निकल पाती, परिणामतः दाह की वृद्धि हो जाती है ।

इस प्रकार चन्दन शीत होते हुए भी दाह को उत्पन्न करता है । इसके विपरीत उष्ण गुण युक्त अगरु का पतला लेप लगाने पर त्वक्गत निकलने वाली ऊष्मा अवरुद्ध नहीं होती, फलतः दाह शान्त हो जाता है । मक्षिकाविष्ठा (मक्खी का विट्) छर्दि नाशक होता है तथा मक्षिका सेवन करने पर वमन होता है । इसी प्रकार द्रव्यों को उबाल कर खाने पर अलग गुण तथा बिना उबाले सेवन करने पर अलग गुण होते हैं । अर्थात् एक ही द्रव्य बिना उबाले (कच्चा) सेवन करने पर अलग गुण तथा उबालकर सेवन करने पर भिन्न गुण दर्शाता है ।

चक्रपाणि– सामान्य रूप से वर्णित चिकित्सा से प्रकारान्तर में विशेष कार्य होता है, अर्थात् प्रकारान्तर में **सामान्य चिकित्सा** विशिष्ट चिकित्सा का कार्य करने लगती है, जिसे यहाँ 'तथाऽन्तरित्यादि' के द्वारा बताया गया है । अन्तर्मार्गाः कोष्ठाश्रयिणः = कोष्ठ के आश्रित रहने वाले दोष । सन्धिमार्गा = मध्य मार्ग के आश्रित दोष । **गूढचारिणामिति–** सन्धि के अन्तः भाग में रहने वाले दोष, जिनकी गति स्पष्ट नहीं है, उनमें कभी-कभी विरुद्ध चिकित्सा भी करनी पड़ती है । अर्थात् ऐसी अवस्था में कभी-कभी विरुद्ध चिकित्सा की जाती है । विरुद्ध अभिमत से विपरीत अर्थ लिया गया है । अथवा न केवल वय, बल आदि के भेद से चिकित्सा के अनेक भेद होते हैं, अपितु अन्तः संधि मार्गों में छिपे रहने वाले दोषों के भेद के आधार पर भी चिकित्सा के अनेक भेद होते हैं । अतः गूढचारी (अव्यक्त रूप से विद्यमान) दोषों के भेद के आधार पर भी कभी-कभी चिकित्सा के भेद हो जाते हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिए । 'पित्तमन्तर्गतमित्यादि' के द्वारा विरुद्ध चिकित्सा के उदाहरण को स्पष्ट किया गया है । **नीयते बहिरिति–** उष्ण चिकित्सा (क्रिया) के प्रयोग द्वारा बाह्य रोमकूपों द्वारा दोषों को बाहर निकाल दिया जाता है । उसी प्रकार वही उष्ण पित्त को उष्ण स्वेदादि क्रियाएं प्रशमित करती हैं । 'बाह्यैश्चेत्यादि' के द्वारा शीत चिकित्सा से शीतगुण युक्त कफ के प्रशमन के उदाहरण को दर्शाया गया है । **पीडित इति बहिर्गच्छन् निरुद्धः–** बाहर निकलने वाली ऊष्मा का अवरुद्ध हो जाना, अर्थात् शीतल परिषेक आदि क्रियाओं द्वारा त्वचा द्वारा बाहर निकलने वाली ऊष्मा अवरुद्ध होकर शरीर के अन्दर ही रह जाती है । परिणाम स्वरूप वृद्ध ऊष्मा द्वारा कफ का पाचन हो जाता है । यह चिकित्सा प्रत्यनीक (विरुद्ध) होते हुए भी कल्पना विशेष से भिन्न कार्य करती है, जिसे यहाँ 'श्लक्ष्णपिष्ट इत्यादि' के द्वारा बताया गया है । **त्वग्गतस्योष्मणो रोधादिति–** त्वक् मार्ग द्वारा निकलने वाली ऊष्मा के रुक जाने से, अर्थात् शरीर में दाह की अवस्था में चन्दन के महीन पीसे हुए कल्क का मोटा लेप शरीर पर लगाने पर लेप द्वारा त्वक्गत ऊष्मा का निर्हरण नहीं हो पाने से, अथवा ऊष्मा अवरुद्ध हो जाने से दाह की और अधिक वृद्धि हो जाती है । इसके विपरीत उष्ण गुण युक्त अगुरु का पीसा हुआ पतला लेप लगाने पर, इससे त्वचा से निकलने वाली ऊष्मा अवरुद्ध नहीं होती । परिणाम स्वरूप शरीर ठण्ढा हो जाता है, अर्थात् दाह शान्त हो जाता है । विरुद्ध चिकित्सा का प्रसंग होने से समुदाय की तुलना में एक देश के विरुद्ध कार्य व करण के उदाहरण को यहाँ 'छर्दिर्घ्नीत्यादि' के द्वारा बताया गया है ।

द्रव्येषु स्विन्नजग्धेष्वेवं तेष्वेव विक्रियेति अनेन मक्षिकाविष्ठारम्भकेषु द्रव्येषु मक्षिकाजठराग्निस्विन्नेषु एवं विक्रिया मक्षिकाशरीरगततया विष्ठागततया च विरुद्धा क्रिया यथोक्ता भवतीति वाक्यार्थः– द्रव्यों पर जाठराग्नि की क्रिया होने से उनमें विशेष क्रिया होती है, अर्थात् बिना जाठराग्नि संयोग में भिन्न क्रिया तथा संयोग होने पर अलग क्रिया होती है । इस प्रकार मक्षिकाविष्ठा (पुरीष) एवं मक्षिका की जाठराग्नि से पाक होने पर शरीरगत एवं विष्ठागत क्रियाएं विरुद्ध होती हैं । यही वाक्य का अभिप्राय है । **स्विन्नजग्धेष्विति–** मक्खी की विष्ठा के सेवन के बाद उस पर जाठराग्नि की क्रिया होने से । **विक्रियेति–** विरुद्ध क्रिया होती है, अर्थात् इसके सेवन से छर्दि बन्द हो जाती है । अथवा संस्कार के द्वारा द्रव्यों के गुण परिवर्तित हो जाते हैं, अर्थात् द्रव्यों के कार्य बदल जाते हैं, इसके उदाहरण को यहाँ 'द्रव्येष्वित्यादि' के द्वारा बताया गया है । कुछ लोग इस पक्ष के स्वीकार करने पर 'जग्धेषु' के स्थान पर 'दग्धेषु' पाठ पढ़ते हैं । इस प्रकार लाजसत्तू से सिद्ध या निर्मित लाजपिण्ड (लड्डू) लाजा के विपरीत गुरु गुण युक्त होने से अग्निबध अग्निमांद्यता आदि कार्यों को करती

Scanned by CamScanner

है। उसी प्रकार उत्पलनाल को जलाकर तैयार किया गया उत्पलक्षार का शीत विरुद्ध कार्य यथा– कफ छेदन (कफ निस्सारक) के उदाहरण हैं। जब यहाँ 'जग्धेषु' पाठ स्वीकार करते हैं तब 'स्विन्नानन्तरं जग्धेष्विति' इससे उबालकर (स्विन्न करके) सेवन करना अर्थ ग्रहण करते है। इस प्रकार इसका उदाहरण 'सतूपिण्डक' ही ग्रहण करते हैं। ॥३२१-३२५॥

विशेष (Comments)– "छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिकैव तु वामयेत्। द्रव्येषु स्विन्नजग्धेषु चैव तेष्वेव विक्रिया" के स्थान पर पाठ भेद से– "छर्दिघ्नी मक्षिकाविष्ठा मक्षिका बहु वामयेत्। द्रव्येषु च विदग्धेषु चैवं तेषु च विक्रिया" प्राप्त होता है। जिसका अर्थ मक्षिका विष्ठा छर्दिनाशक गुण दर्शाती है तथा मक्षिका तीव्र वामक होती है। द्रव्यों के पाक के पश्चात् उनके गुणों में अन्तर आ जाता है। कच्चे द्रव्य के गुण कुछ, पाक के पश्चात् कुछ हो जाते हैं, अथवा बिना संस्कारित द्रव्य के गुण एवं संस्कारित द्रव्य के गुण अलग-अलग होते हैं।

तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः ।।३२६।।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।

परीक्षा विषयक उपसंहार– इस प्रकार बुद्धिमान चिकित्सक को औषध आदि दस परीक्ष्य भावों की सम्यक् परीक्षा करके ही चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए, मात्र योगों के द्वारा चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'तस्मादित्यादि' के द्वारा परीक्षा फल के उपसंहार को स्पष्ट किया गया है। दोष, औषध आदि ग्यारह परीक्ष्य भाव उपकल्पनीय अध्याय (सू.अ. १५) में पढ़े गये हैं। उपकल्पनीय अध्याय में वर्णित परीक्ष्य भाव– १. दोष, २. भेषज, ३. देश, ४. काल, ५. बल, ६. शरीर, ७. आहार, ८. सात्म्य, ९. सत्त्व, १०. प्रकृति, ११. वय तथा विमानस्थान में बारह पढ़े गये हैं। अतः ऐसा होने से यहाँ वर्णित दस संख्या में विरुद्धता आती है। इस प्रकार यहाँ दृढ़बल द्वारा सिद्धि अ. ३ में निरूह बस्ति के प्रस्ताव में जिन दोषौषध आदि दस का अभिधान– **"समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि"** के द्वारा आगे किया गया है उनका ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इन दस परीक्ष्य भावों का अवरोध उपकल्पनीय अध्याय में वर्णित ग्यारह परीक्ष्य भाव तथा विमानस्थान में वर्णित बारह परीक्ष्य भाव में ही हो जाता है। यही दस अन्य रूप में उपकल्पनीय अध्याय में प्रकृति, शरीर एवं आहार के रूप में बताये गये हैं। **शरीर व प्रकृति** को यहाँ देश शब्द जो भूमि व आतुर दोनों के रूप में ग्राह्य है, ग्रहण किया गया है। कहा भी गया है, यथा– "देशो भूमिरातुरश्च" (वि.अ.. ८) इति। **आहारस्य तु सात्म्यग्रहणेनैव ग्रहणम्–** आहार का अन्तर्भाव सात्म्य में ही हो जाता है। विमानस्थान १/३ में वर्णित १२ भावों में विकार का अन्तर्भाव यहाँ 'दोष' में हो जाता है। (वर्तमान में उपलब्ध चरक पाठ में वि.अ. १/३ में 'विकार' शब्द का उल्लेख नहीं मिलता, जबकि गंगाधर कृत पाठ में 'विकार' शब्द प्राप्त होता है।) इस प्रकार उपकल्पनीय तथा विमान स्थानोक्त परीक्ष्य भावों का अन्तर्भाव इन्हीं दस में हो जाता है। आषाढ वर्मा आदि टीकाकारों द्वारा अतद्गुण बहुव्रीहि पक्ष का आश्रय लेकर उपकल्पनीय अध्याय में वर्णित ग्यारह परीक्ष्य भावों की व्याख्या दस में ही की है। लेकिन यह कथन (व्याख्या) अप्रमाणिक (अनार्ष) एवं असंगत है।

न योगैरेवेति– मात्र औषधि योगों के बल पर अथवा मात्र औषधियों के प्रयोग से। ॥३२६॥

निवृत्तोऽपि पुनर्व्याधिः स्वल्पेनायाति हेतुना ।।३२७।।
क्षीणे मार्गीकृते देहे शेषः सूक्ष्म इवानलः। तस्मात्तमनुबध्नीयात् प्रयोगेणानपायिना ।।३२८।।
सिद्ध्यर्थं प्राक्प्रयुक्तस्य सिद्धस्याप्यौषधस्य तु।

व्याधि मुक्ति के पश्चात् चिकित्सा का महत्व– जिस प्रकार अल्प रूप में बची हुई अग्नि बाद में धीरे-धीरे बढ़कर तृण की राशि को जला डालती है उसी प्रकार शरीर में बचे हुए अल्प दोष, अथवा स्रोतसों में विद्यमान अल्प दोष, अल्प हेतुओं के प्राप्त होने पर शीघ्र ही बढ़कर पुनः व्याधि को उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये शरीर को दृढ़ रखने के लिए हानि रहित, सिद्ध तथा पूर्व प्रयुक्त औषधियों का बार-बार प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– चिकित्सा द्वारा व्याधि के निवृत्त हो जाने पर भी कुछ दिन तक चिकित्सा करनी चाहिए, इसे यहाँ 'निवृत्तोऽपि पुनरित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **निवृत्त इव निवृत्तः–** निवृत्त की तरह होना 'निवृत्त' कहलाता है, अर्थात् रोगी व्याधि से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ है, अपितु 'मुक्त' की तरह हो गया है। अभिप्राय यह है कि उसके शरीर में कुछ दोष अवशिष्ट हैं, अर्थात् कारण रूप दोष कुछ शेष हैं, इस कारण वह सर्वथा स्वस्थ नहीं है। उसे तुल्य (समान) हेतु नहीं मिल पा रहे हैं, जिसके कारण व्याधि की वृद्धि नहीं हो पाती तथा सूक्ष्म अग्नि के विरोधी दृष्टान्त से भी यहाँ व्याधि की वृद्धि शीघ्र नहीं हो पाती। **क्षीणे–** मांसादि के क्षीण होने पर। **मार्गीकृते इति व्याध्यप्रतिबन्धकतया मार्गसदृशी कृते–** व्याधि के अनुरूप स्रोतस् के होने से। 'शेष इति' अनल शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। **अपिशब्देन निवृत्तोऽपि यदा स्वल्पेन हेतुना आयाति तदा प्रशमाभिमुखो नितरामेवायातीति दर्शयति–** 'अपि' शब्द से यहाँ व्याधि के निवृत्त होते हुए भी अल्प हेतु के प्राप्त होने पर प्रशमाभिमुख (प्रशमन को प्राप्त होने वाली) व्याधि पूर्णतः प्रकट हो जाती है, दर्शाया गया है। ऐसी अवस्था में चिकित्सक के कर्तव्य को यहाँ– 'तस्मादित्यादि' के द्वारा बताया गया है। **अनुबध्नीयात् प्रयोगेणेति–** अनुबन्ध रूप

Scanned by CamScanner

औषधियों की फिर से योजना करनी चाहिए, अर्थात् कुछ दिन तक लगातार पथ्य आहार-विहार का पालन करना चाहिए। **अनपायिनेति=** हानि रहित, अथवा रोग को न उत्पन्न करने वाला (अन्य रोगों का जो कारण न हो)। ऐसा क्यों करते हैं ? इसका उत्तर 'दार्ढ्यार्थमिति' के द्वारा दिया गया है। शरीर की दृढ़ता के लिए पथ्यादि औषधियों या अन्न-पान की योजना की जाती है।

प्रयुक्तसिद्धौषधकृतव्याधिनिवृत्तिलक्षणस्यार्थस्य दार्ढ्यार्थं, स्थैर्यार्थमिति यावत्– सिद्ध औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न व्याधि निवृत्ति का लक्षण- शरीर की दृढ़ता से है, अर्थात् इनके प्रयोग से शरीर में दृढ़ता उत्पन्न होती है। इनका प्रयोग तब तक करना चाहिए जब तक कि यह दृढ़ता (मजबूती) स्थिरता में न बदल जाय।

विशेष (Comments)– निवृत्तो व्याधिः स्वल्पेनापि हेतुना पुनरायाति– निवृत्त व्याधि अल्प कारणों के प्राप्त होने पर पुनः उत्पन्न हो जाती है। निवृत्त रोग (शान्त रोग) किस कारण से पुनः उत्पन्न हो जाते हैं, उसी को यहाँ 'क्षीणेति' के द्वारा बताया गया है। व्याधि के अनुरूप स्रोतसों के होने पर अल्प दोष भी सूक्ष्म अग्नि की भाँति बढ़ जाता है। इसलिये व्याधि के प्रशमित होने के बाद भी हानि रहित, पूर्व सिद्ध योगों का प्रयोग करते हुए शरीर को बलवान बनाना चाहिए। अर्थात् जिन औषधियों के प्रयोग से व्याधि शान्त हुई है उनका प्रयोग कुछ दिन तक लगातार करना चाहिए।

काठिन्यादूनभावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान् ।।३२९।।
पथ्यैर्मृद्वल्पतां नीतो भृदुदोषकरो भवेत् । पथ्यमप्यश्नतस्तस्माद्यो व्याधिरुपजायते ।।३३०।।
ज्ञात्वैवं वृद्धिमभ्यासमथवा तस्य कारयेत् ।

पथ्य अन्न का महत्व– यदि कठिनता के कारण अथवा ऊन भाव के कारण शरीर के अन्तः भाग में स्थित दोष अत्यधिक प्रकुपित हो गये हैं तब उन्हें पथ्य आहार-विहार के द्वारा मृदु व अल्प बना लेने पर अत्यधिक दोषकारक नहीं होते, अर्थात् मृदु व्याधि को उत्पन्न करते हैं। पथ्य अन्न या औषधि का सेवन करते हुए भी यदि कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तब उसके कारणों एवं प्रकार का सम्यक् ज्ञान करके उसी पथ्य की मात्रा को बढ़ाकर के कुछ दिन सेवन कराना चाहिए।

चक्रपाणिः– 'काठिन्यादित्यादि' के द्वारा दूसरे प्रयोगानुबन्ध के विषय को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् यहाँ अन्य औषध प्रयोगों के अभ्यास को बताया गया है। **काठिन्यादिति-दोषचयरूपसंहतत्वात्** चयरूप दोषों का जमना, अर्थात् दोषों का संचित होना (Process of accumulation) [दोषों के चय होने से] **ऊन भावात् अचयप्रकोपात्** = अचय पूर्वक प्रकुपित होने से, अर्थात् वे भाव जिनमें दोषों का संचय आदि क्रम न होकर सीधे प्रकोप होता है। अचय पूर्वक भी दोष प्रकुपित होते ही हैं, यथा– बलवान व्यक्ति से संघर्ष करने पर वायु का प्रकोप होता है, क्रोध आदि कारणों से पित्त का प्रकुपित होना, दिवा शयन आदि कारणों से कफ का प्रकुपित होना। इस अचय पूर्वक प्रकोप में घन अवयवों में उपचय न होने से इसे 'ऊनभाव के कारण दोषों का प्रकुपित होना– ऊनभावात् प्रकोप' कहा जाता है, अर्थात् दोषों का संचयादि क्रम से प्रकुपित न होकर सीधे प्रकुपित होना 'ऊनभावात् प्रकोप' कहा जाता है।

दोषोऽन्तः कुपितो महानिति– से यहाँ दोषों का संचय पूर्वक तीव्र रूप में प्रकुप्ति होना तथा अचय पूर्वक तीव्र रूप में प्रकुपित होना अर्थ लिया गया है। **काठिन्याद्धि अचयप्रकोपोऽन्तरेव प्रायो भवति–** 'काठिन्यात्' से अचय प्रकोप के बिना ही प्रायः दोषों का प्रकोप होता है, अर्थ लिया गया है। अर्थात् दोष प्रायः चयपूर्वक ही प्रकुपित होते हैं।

ऊनभावात्तु अचयप्रकोपः प्रसरणस्वभावत्वात्तु लघुचय बन्धसारो (?)ऽपि महान् भवति– अचय पूर्वक प्रकोप में दोष प्रसरणशील होते हैं तथा ये अल्प चय व अल्प बंधने वाले होते हुए भी प्रकुपित होकर भयंकर व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

मृद्वल्पतां नीत इति यथाक्रमं– प्रकुपित दोषों को पथ्य औषधों या अन्न-पान के प्रयोग से उन्हें क्रमशः मृदु व अल्प बनाया जाता है। अर्थात् जो दोष स्रोतस् में कठिन होकर (Hard होकर= जमकर) प्रकुपित हैं, अर्थात् स्रोततावरोध के कारण दोषों का प्रकोप है ऐसी अवस्था में कठिनता को प्राप्त दोषों को मृदु (Soft) बनाना चाहिए। मृदु करने से दोष स्रोतस् को छोड़कर निकल जाते हैं।

स्थूलभावान् महान् कुपितोऽल्पतां नीतः– अत्यधिक रूप से वृद्ध दोषों को कम करना। मृदुदोषकर इति– अल्प व्याधि उत्पन्न करने वाले; दोषों की तीव्रता कम हो जाने पर वे अल्प विकारोत्पादक होते हैं। किंवा काठिन्यादिति– दोष-दूष्य सम्बन्ध कृत स्थिरता के कारण। ऊनभावादिति– दोष-दूष्य कृत स्थिरता का न होना, प्रकुपित दोषों का सम्पूर्ण शरीर में फैलना, कहीं स्थित न होना, अर्थात् धातुओं में स्थिर न होना। **अन्तरिति शरीरानुत्तानदेशे** = शरीर के अन्तः भाग में, अनुत्तान भाग = गम्भीर धातुओं में आश्रित होना।

महान् शब्द का प्रयोग दोनों के लिए आया है, अर्थात् चयपूर्वक एवं अचयपूर्वक दोनों प्रकार से दोष तीव्र रूप में प्रकुपित होते हैं। एकस्य कारणप्रचयेन महत्त्वप्– एक हेतु के विशेष संचय का भी महत्व है। **पथ्यमप्यश्नत इति–** हितकर औषधियों के प्रयोग करते हुए भी

Scanned by CamScanner

जो व्याधि उत्पन्न होती है। उपजायत इति- दोषों के मृदु अथवा अल्प होने से जो व्याधि उत्पन्न होती है। ज्ञात्वैवमिति = ऐसा जान करके, यह औषधि इस व्याधि में हितकर (पथ्य) है, यह व्याधि है, दोष वृद्ध हैं अथवा गम्भीर धातुओं के आश्रित होने से पूर्णत: निकले नहीं हैं, ऐसा जान करके पूर्व प्रयुक्त औषधियों को बढ़ाना अथवा पूर्व चिकित्सा को ही नियमित (Continue) रखना चाहिए। पूर्व प्रयुक्त चिकित्सा में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। वृद्धि से यहाँ औषधि की मात्रा बढ़ाना अर्थ लिया गया है। अभ्यास = सतत् प्रयोग करना (कुछ दिन तक एक ही व्यवस्था को बनाये रखना)। यही विषय अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा- "अभ्यस्यमाना: क्रमशस्तु योगा जयन्ति रोगान् बलिन: स्थिरांश्च। तस्मादखिन्न: पुरुषोऽभ्युपेयाद्योगप्रयोगान् समुदीर्णरोगे" इति [इन योगों (व्याधिनाशक योगों) के क्रमश: अभ्यास से पुरुष बलवान एवं स्थिर रोगों को भी जीत लेता है। इसलिए पुरुष (रोगी) को धैर्य पूर्वक व्याधि के उत्पन्न होने पर इन योगों का प्रयोग करना चाहिए। ॥३२९-३३०॥

सातत्यात्स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम् ॥३३१॥
कल्पनाविधिभिस्तैस्तै: प्रियत्वं गमयेत् पुन: । मनसोऽर्थानुकूल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम् ॥३३२॥
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षय: । लौल्याद्दोषक्षयाद्व्याधेर्वैधर्म्याच्चापि या रुचि: ॥३३३॥
तासु पथ्योपचार: स्याद्योगेनाद्यं विकल्पयेत् ।

पथ्य अन्न का रुचिकर होना आवश्यक- लगातार अभ्यास के कारण अथवा स्वाद रहित होने के कारण यदि 'पथ्य' से रोगी द्वेष करने लगे, अर्थात् हितकर अन्न के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाय तब उसी पथ्य अन्न को विभिन्न कल्पनाओं द्वारा संस्कारित करके रोगी के मन के अनुकूल बनाकर अर्थात् रुचिकर बनाकर भोजनार्थ प्रयोग करें।

यदि विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध) मन के अनुकूल हैं तब व्यक्ति का मन प्रसन्न रहता है, व्यक्ति उत्साह युक्त (ऊर्जा युक्त) रहता है, आहार के प्रति वह रुचि रखता है, शारीरिक रूप से बली रहता है, सुख का सम्यक् रूप से उपभोग करता है, अर्थात् नीरोगी बना रहता है तथा व्याधि का बल नहीं बढ़ता।

यदि व्यक्ति में मन की चञ्चलता के कारण (जिह्वा की लोलुपता के कारण), दोषों का क्षय होने से अथवा व्याधि वैधर्म्यता के कारण जो रुचि उत्पन्न होती है उसमें पथ्य अन्न का ही प्रयोग करना चाहिए। यदि पथ्य अन्न के प्रति रोगी की रुचि न हो तब उसे (पथ्य अन्न को) अन्य रुचि कारक द्रव्यों से संस्कारित करके, अर्थात् रुचिकर बनाकर रोगी को खिलाना चाहिए।

चक्रपाणि- उक्तसततोपयोगे यदि पथ्यं सातत्यात् सततोपयोगाद्धेतोर्द्वेष्यत्वमागतं भवति- पथ्य अन्न के सतत् प्रयोग से, एक ही प्रकार के अन्न का लगातार सेवन करने से उसके प्रति व्यक्ति को द्वेष होने लगता है, अर्थात् उसे खाने की इच्छा नहीं होती। अथवा आहार में स्वाद का अभाव होने से (इच्छानुसार अन्न का न होना) अथवा अन्न का इच्छित गंध, वर्ण से रहित होना, इस कारण से भी व्यक्ति आहार से द्वेष करने लगता है। अर्थात् पुरुष की आहार के प्रति रुचि समाप्त हो जाती है। फिर भी उसी पथ्य अन्न को उन-उन कल्पना विधियों, यथा- स्वरस, शृत, कल्क आदि द्वारा एवं सूदशास्त्र (पाक शास्त्र) में वर्णित विधियों द्वारा रुचिकर बनाकर रोगी को खाने के लिए देना चाहिए। अर्थात् सतत् अभ्यास अथवा स्वाद रहित होने के कारण पथ्य अन्न से व्यक्ति जब द्वेष करने लगे तब उसी पथ्य अन्न को विभिन्न कल्पनाओं अथवा सूदशास्त्र में वर्णित विधान द्वारा रुचिकर बनाकर आतुर को खिलाना चाहिए।

स्वाद्वपि सततोपयोगादप्रियं भवतीति दृष्टम्- स्वादिष्ट अन्न (मधुर रस युक्त अन्न अथवा रुचिकर) भी लगातार कुछ दिन सेवन करने पर अप्रिय (अरुचिकर) हो जाता है, ऐसा दिखाई देता है। स्वादु शब्द से यहाँ प्रियरस (मन के लिए प्रिय रस) का ग्रहण किया गया है, न कि मधुर रस का [The term 'Svādu' in the present contex implies palatability in taste [not sweet taste as it generally means] -Dr. Bhagvan Das and R.K. Sharma]

'मनसोऽर्थानुकूल्यादित्यादि' के द्वारा प्रियत्व के प्रतिपादन के प्रयोजन (महत्व) को स्पष्ट किया गया है।

मनसोऽनुकूलभेषजादिरूपानुकल्पनात्- मन के अनुरूप (रुचि के अनुसार) औषध आदि की योजना करने से। ऊर्जा= मनोबलम् (मनोबल= मानसिक बल की वृद्धि अथवा उत्साह)। **सुखोपभोगता भेषजस्याप्रातिकूल्येनोपयोग:-** अनुकूल औषधियों का प्रयोग करना अर्थात् रुचिकर औषधियों के प्रयोग से आरोग्य का प्राप्त होना। **अत्र चातितृष्णादिभ्य: सुखोपभोगान्ते विरेचने अरुचौ कर्तव्यमभिधाय रुचिविशेषे कर्तव्यतामाह- लौल्यादिति।** यहाँ अतितृष्णादि के द्वारा सुखोपभोग के पश्चात् विरेचन एवं अरुचि की चिकित्सा के बाद रुचि विशेष की कर्तव्यता को 'लोल्यादिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया। यहाँ लौल्यता (जिह्वा की लोलुपता) के कारण कुछ पुरुषों को किसी विशेष पदार्थ के प्रति रुचि होती है, दोषों के क्षय के कारण कुछ लोगों को आहार विशेष के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, व्याधि युक्त पुरुषों को पेया के प्रति रुचि उत्पन्न होती है। कुछ लोगों को व्याधि प्रभाव के कारण रुचि उत्पन्न होती है, यथा- पाण्डुरोग में मिट्टी (पक्व मिट्टी)

Scanned by CamScanner

के प्रति रुचि उत्पन्न होती है, अर्थात् रोगी मिट्टी खाता है । विरुद्ध गुण के प्रति कुछ लोगों में रुचि उत्पन्न हो जाती है, यथा– स्निग्ध रोगी रूक्ष अन्न के प्रति रुचि रखता है, मधुर रस की वृद्धि होने पर व्यक्ति की अम्लरस के प्रति रुचि बढ़ जाती है । कहा भी गया है, यथा– अम्लेन केचिद्विहता मनुष्या माधुर्ययोगे प्रणयीभवन्ति (सु.सू.अ. ४६) इति [कुछ मनुष्यों में अम्लरस युक्त द्रव्यों से द्वेष (अरुचि) उत्पन्न होने पर मधुर रस के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती है, अर्थात् व्यक्ति को मधुर रस युक्त (प्रधान) आहार द्रव्य अच्छे लगते हैं ।]

किंवा व्याधिवैधर्म्यादित्येक एव हेतुः– अथवा व्याधि के प्रति विरुद्धगुण का उत्पन्न होना ही इसका एक मात्र कारण है । यहाँ इसके उदाहरण को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– श्लेष्मज्वरे अम्लकटुकेच्छुता– कफज ज्वर में अम्ल व कटु रस वाले द्रव्यों के प्रति रुचि का बढ़ना । इस प्रकार यहाँ लौल्यादि हेतुओं द्वारा उत्पन्न होने वाली रुचि को स्पष्ट किया गया । इन सब रुचियों में पथ्य औषधियों का ही प्रयोग कराना चाहिए, अर्थात् रोगी को हितकर अन्न-पान का ही प्रयोग करना चाहिए । **पथ्यमेव देयं नापथ्यमित्यर्थः–** पथ्य अन्न का ही प्रयोग करना चाहिए, अपथ्य अन्न का प्रयोग किसी भी दशा में नहीं करना चाहिए । यदि पथ्य अन्न-पान व्यक्ति के रुचि के अनुसार है । अर्थात् पथ्य अन्न के प्रति व्यक्ति की रुचि भी है तब तो इसका प्रयोग उचित ही है । यदि व्यक्ति की रुचि अपथ्य (अहितकर अन्न) के प्रति है तब उस स्थिति में चिकित्सक को क्या करना चाहिए, इसे यहाँ 'योगेनाद्यं विकल्पयेदिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है । अर्थात् रोगी की रुचि वाले अपथ्य आहार को औषधियों द्वारा संस्कारित करके खाने के लिए देना चाहिए । अतः अपथ्य आहार को पथ्य बनाकर ही खिलाना चाहिए ।

अन्यैस्तु लौल्यादिदोषजा त्रिविधाऽत्रारुचिरुच्यते– अन्य आचार्य लौल्यादि दोषों के कारण व्यक्ति में तीन प्रकार की अरुचि उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं । अर्थात् इन दोषों से उत्पन्न वाली अरुचि के ३ भेद होते हैं ।

१. **लौल्यजायामरुचौ पथ्योपचारः–** जिह्वा की लोलुपता के कारण व्यक्ति में जो अरुचि उत्पन्न होती है उसमें पथ्य (हितकर) औषधि, अन्न एवं पान का प्रयोग करना चाहिए ।

२. दोषक्षय (दोष अथवा धातुक्षय) के कारण उत्पन्न अरुचि में सम्यक् योगों के द्वारा उपचार करना चाहिए । अर्थात् दोष एवं धातुवर्धक योगों का उचित प्रयोग करना चाहिए ।

३. व्याधिवैधर्म्य के कारण उत्पन्न अरुचि में व्याधि प्रत्यनीक (व्याधि विरुद्ध) औषधियों की योजना करनी चाहिए ।

मेरी दृष्टि से पूर्वकृत व्याख्या ही उचित है । अर्थात् आचार्य चक्रपाणि अन्य आचार्यों द्वारा की गयी अरुचि की इस व्याख्या से सहमत नहीं है । ॥३३१-३३३॥

तत्र श्लोकाः–

विंशतिर्व्यापदो योनेर्निदानं लिङ्गमेव च ।।३३४।।
चिकित्सा चापि निर्दिष्टा शिष्याणां हितकाम्यया । शुक्रदोषास्तथा चाष्टौ निदानाकृतिभेषजैः ।।३३५।।
क्लैब्यान्युक्तानि चत्वारि चत्वारः प्रदरास्तथा । तेषां निदानं लिङ्गं च भैषज्यं चैव कीर्तितम् ।।३३६।।
क्षीरदोषास्तथा चाष्टौ हेतुलिङ्गभिषग्जितैः । रेतसो रजसश्चैव कीर्तितं शुद्धिलक्षणम् ।।३३७।।
उक्तानुक्तचिकित्सा च सम्यग्योगस्तथैव च । देशादिगुणशंसा च कालः षड्विध एव च ।।३३८।।
देशे देशे च यत् सात्म्यं यथा वैद्योऽपराध्यति । चिकित्सा चापि निर्दिष्टा दोषाणां गूढचारिणाम् ।।३३९।।
यो हि सम्यङ्न जानाति शास्त्रं शास्त्रार्थमेव च । न कुर्यात् स क्रियां चित्रमचक्षुरिव चित्रकृत् ।।३४०।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते चिकित्सास्थाने योनिव्यापच्चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः ।।३०।।
अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । चिकित्सितमिदं स्थानं षष्ठं परिसमापितम् ।।६।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस योनिव्यापद् नामक चिकित्सा अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने शिष्यों के हित को ध्यान में रखते हुए अधोलिखित विषयों का प्रतिपादन किया है–

१. २० प्रकार के योनिव्यापद् (योनिरोगों) के निदान (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का विवेचन ।

२. आठ प्रकार के शुक्र दोषों के हेतु (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं उनकी चिकित्सा ।

३. चार प्रकार के क्लैब्य के निदान (Etiology), लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा ।

४. चार प्रकार के प्रदर रोगों का निदान, लक्षण एवं भेषज (चिकित्सा) ।

५. आठ प्रकार के स्तन्य दोषों का निदान, लक्षण एवं चिकित्सा ।

Scanned by CamScanner

६. शुद्ध शुक्र एवं शुद्ध रज (Menstrual discharge) के लक्षण ।

७. उक्त (चिकित्सास्थान में वर्णित) रोगों एवं अनुक्त (जिनका वर्णन चिकित्सास्थान में नहीं किया गया है) रोगों की चिकित्सा एवं सम्यक् योगों का वर्णन ।

८. देश काल आदि के गुणों का वर्णन, ६ प्रकार के काल का वर्णन ।

९. जिस-जिस देश में जो अन्न-पान सात्म्य हैं, उनका विवेचन ।

१०. जिस प्रकार चिकित्सक चिकित्सा में मोहित न हो उसका विवेचन तथा शरीर में अव्यक्त रूप से प्रसरणशील दोषों (गूढ़चारी दोषों) की चिकित्सा ।

शास्त्र ज्ञान एवं प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व– जिसे शास्त्र एवं शास्त्रार्थ का सम्यक् ज्ञान नहीं है । अर्थात् जिसने चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन नहीं किया है एवं शास्त्र के विषयों को प्रत्यक्ष नहीं किया है उसे चिकित्सा नहीं करनी चाहिए । ऐसे व्यक्ति द्वारा की गयी चिकित्सा उसी प्रकार सफल नहीं होती जैसे नेत्रहीन चित्रकार द्वारा निर्मित चित्र ।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित चिकित्सास्थान में योनिव्यापद् चिकित्सा नामक तीसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ । ॥३०॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता का 'चिकित्सा' नामक छठवाँ स्थान पूर्ण हुआ । ॥६॥

चक्रपाणि– विंशतिरित्यादिसंग्रहः सुबोध एव– 'विंशतिरित्यादि' के द्वारा वर्णित विषय वस्तु का अर्थ सरल है, अर्थात् बोधगम्य है । ॥३४१॥

इति श्रीनारायणदत्तात्मजश्रीचक्रपाणिदत्तविरचितायां चरकतात्पर्यटीकायामायुर्वेददीपिकायां चिकित्सास्थाने योनिव्यापद् चिकित्सितं नाम त्रिंशोऽध्यायः ।।३०।।

इस प्रकार श्री नारायणदत्त के पुत्र श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के चिकित्सास्थान में योनिव्यापद् चिकित्सा नामक तीसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

कल्पस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो मदनकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब इसके बाद मदनकल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि–चिकित्सितस्थाने तु तत्र तत्र विहितवमनविरेचनयोः प्रयोगान् विस्तरेणाभिधातुं चिकित्साधिकृतयोगस्थानरूपकल्पस्थानमुच्यते– चिकित्सास्थान में स्थान-स्थान पर वर्णित वमन-विरेचन के प्रयोगों को विस्तार से बताने के लिए चिकित्साधिकृत योग के सिद्धिस्थान भी चिकित्सा का अङ्ग होने से, कहने योग्य है, फिर भी पञ्चकर्म का सामान्य प्रयोग करते समय बस्तिकर्म से पूर्व वमन-विरेचन का प्रयोग करने के कारण वमन-विरेचन को बताने वाला कल्पस्थान का प्रतिपादन बस्ति अभिधायक सिद्धिस्थान से पूर्व किया गया है। अथवा कहा जा रहा है।

वमनविरेचनानां कल्पास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कल्पस्थानम्– जिस स्थान में वमन व विरेचन के कल्पों का वर्णन हो, उस स्थान को कल्पस्थान कहते हैं। कल्पों के अभिधान में भी सामान्यतया विरेचन से पूर्व वमन की प्रवृत्ति होने के कारण विरेचनकल्प से पूर्व वमनकल्प का अभिधान किया गया है। वमन कल्पों में भी वामक द्रव्यों में श्रेष्ठ 'मदनफल' होने से 'मदनफलकल्प' का कथन सबसे पहले हुआ है। मदनफल की श्रेष्ठता को– 'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षतेऽनपायित्वात्' के द्वारा इसी अध्याय में बताया जायेगा।

अथ खलु वमनविरेचनार्थं वमनविरेचनद्रव्याणां सुखोपभोगतमैः सहान्यैर्द्रव्यैर्विविधैः कल्पनार्थ-भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थः, तद्योगानां च क्रियाविधेः सुखोपायस्य सम्यगुपकल्पनार्थं कल्पस्थानमुपदेक्ष्यामोऽग्निवेश! ।।३।।

कल्प स्थान के उपदेश का उद्देश्य– हे अग्निवेश! वमन व विरेचन कराने के लिए, वमन-विरेचन द्रव्यों के सुखपूर्वक कार्य करने हेतु आवश्यक सहायक द्रव्यों की योजना (कल्पना) के लिए, वमन-विरेचन द्रव्यों के प्रयोग भेद एवं विभाग (कल्पना भेद) के लिए वमन-विरेचन योगों की क्रियाविधि तथा आतुर को देने योग्य योगों की सम्यक् योजना हेतु इस कल्पस्थान का उपदेश किया जा रहा है।

चक्रपाणि– 'अथ खल्वित्यादि' के द्वारा कल्पस्थान के विषय को स्पष्ट किया गया है, अर्थात् कल्पस्थान के विषय वस्तु का संक्षेप में उल्लेख किया गया है।

अथशब्दः प्राक्प्रस्तुते– अथ शब्द का प्रयोग सबसे पहले किया गया है। (मंगलार्थक होने के कारण, यह शब्द सबसे पहले प्रयुक्त है।)

खलु शब्दः प्रकाशने– 'खलु' शब्द का प्रयोग विषय को स्पष्ट करने के लिए किया गया है। वमनविरेचनार्थमिति– वमननिमित्तं विरेचननिमित्तं च – वमन के निमित्त तथा विरेचन के निमित्त अर्थात् वमन एवं विरेचन कराने के लिए।

वमनविरेचनद्रव्याणामिति– मदनफल आदि (वामक) द्रव्यों तथा त्रिवृत् आदि (विरेचक) द्रव्यों का। अन्यैरिति सुरासौवीरकाद्यैः कोविदारादि प्रकारैश्च – कोविदार आदि प्रकारों का प्रयोग सुरा, सौवीरक आदि के साथ करना। 'अन्यैः इति' विशेषण को 'सुखोपभोगतमैरिति' के द्वारा बताया गया है।

अत्र सुखायोपभोगो येषां ते सुखोपभोगाः– जिसका उपभोग सुखपूर्वक किया जाय, अथवा सुख के लिए किया जाय उसे 'सुखोपभोग' कहा गया है। तात्कालिक सुख के लिए प्रयुक्त वस्तु को 'सुखोपभोग' नहीं कहा गया है। अर्थात् वे पथ्य आहार जिसके सेवन से आरोग्य की प्राप्ति हो उसे 'सुखोपभोग' कहा गया है। इसी कारण से तदात्वसुख के लिए प्रयुक्त कोविदार आदि का यहाँ ग्रहण नहीं होना चाहिए। [पाठ भेद से "तदात्वसुखोपभोगानां कोविदारादीनां ग्रहणं स्यात्' प्राप्त होता है]

कल्पनार्थमिति पदस्य क्रियया संबन्धमदर्शयित्वैव तद्व्याख्यानप्रत्ययनार्थं व्याकरोति–भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थ इति– 'भेदार्थं विभागार्थं चेत्यर्थ इति' के द्वारा 'कल्पनार्थमिति' पद की क्रिया के साथ सम्बन्ध को न दिखाते हुए ही उस व्याख्यान को विश्वसनीय बनाने के लिए यह विवेचन किया गया है।

'भेदार्थमिति' से यहाँ वमन-विरेचन द्रव्यों के प्रयोग भेद (प्रकार) का ग्रहण किया गया है। वे प्रयोग भेद– "त्रयस्त्रिंशद्योगशतं प्रणीतं

Scanned by CamScanner

फलेषु'' (सू.अ.४) इति [मदनफल के १३३ योग होते हैं] के द्वारा बताये गये हैं। 'विभागार्थमिति' को यहाँ 'फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण' इति के द्वारा श्लोक नं. १६ में आगे स्पष्ट किया गया है।

प्रस्तावना की समाप्ति के बाद मुख्य विषय (अपने मूल विषय) का प्रारम्भ– 'तद्योगानामिति' के द्वारा किया गया है, अर्थात् अब वमन, विरेचन द्रव्यों के प्रयोग को बताया जा रहा है।

क्रियाया इति कर्तव्यताया विधिः क्रियाविधिः– क्रिया की 'इति कर्तव्यता' की विधि को 'क्रियाविधि' कहते हैं। स्वरसादि रूपतया करणान् इति यावत् – स्वरस आदि के रूप में कार्यकारी होना, अर्थात् वमन एवं विरेचन के लिए ये द्रव्य स्वरस आदि के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनकी क्रियाविधि की विशेषताओं को 'सुखोपायस्येति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

सुखार्थः सुखो वा उपायो यस्य स सुखोपायः, तस्य सम्यगुपकल्पनार्थमिति सम्यगुपदेशार्थम्– सुख के लिए (आरोग्य प्राप्ति हेतु) किया जाने वाला उपाय (योजना) 'सुखोपाय' कहलाता है। उन औषधियों (वमन-विरेचन औषधियों) की सम्यक् योजना हेतु अथवा उचित उपदेश करने के लिए 'कल्पस्थान' का अभिधान किया जा रहा है।

तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञकम्, अधोभागं विरेचनसंज्ञकम्; उभयं वा शरीरमलविरेचनाद्विरेचनसंज्ञां लभते ।।४।।

वमन, विरेचन शब्द की व्याख्या– शरीर के ऊर्ध्वभाग से दोष निर्हरण की क्रिया को 'वमन' तथा अधोभाग से निर्हरण की क्रिया को 'विरेचन' नाम दिया गया है। अथवा शरीर से मल रूप दोषों का निर्हरण कराने के कारण इन दोनों (वमन एवं विरेचन) की संज्ञा 'विरेचन' दी गयी है।

चक्रपाणि– 'तत्रेत्यादि' के द्वारा वमन, विरेचन के शब्दार्थ को स्पष्ट किया गया है। **ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजत इति ऊर्ध्वभागम्–** दोषों का निर्हरण मुख द्वारा होना, अथवा ऊर्ध्वभागगत दोष का निर्हरण मुख द्वारा होना, ऊर्ध्वभाग (वमन) कहलाता है। जो दोषों को गुदा द्वारा बाहर निकालता है, अर्थात् अधोगुद के दोषों का निकलना 'अधोभाग' (विरेचन) कहलाता है। वमन एवं विरेचन की भी कभी-कभी विरेचन संज्ञा (नाम) दी जाती है जिसे षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में भी कहा गया है, उसी को यहाँ 'उभयमपीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ऐसा होने पर वमन-विरेचन की तरह निरूह की भी संज्ञा विरेचन हो सकती है, अतः इसे दूर करने के लिए 'पंकज' शब्द की तरह विरेचन संज्ञा वमन-विरेचन के ही अर्थ में योगरूढ है, ऐसा कहा गया है। ।।४।।

विशेष (Comments)– १. ऊर्ध्वं मुखेन दोषनिर्हरणं भजत इति ऊर्ध्वभागम् – मुख द्वारा दोषों का निकालना ऊर्ध्वभाग कहलाता है, अतः यहाँ ऊर्ध्वभाग से 'मुख' का ग्रहण किया गया है।

अधो गुदेन दोषनिर्हरणं भजत इति अधोभागम्– गुदा द्वारा दोषों का निकलना अधोभाग कहा जाता है, अर्थात् अधोभाग से गुदा का ग्रहण किया गया है।

तत्रोष्ण-तीक्ष्ण-सूक्ष्म-व्यवायि-विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणुस्रोतोभ्यः केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वाद् विष्यन्दयन्ति, तैक्ष्ण्याद् विच्छिन्दन्ति, स विच्छिन्नः परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्तभाजनस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणभावादामाशयमार्गम्योदानप्रणुन्नोऽग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते, सलिलपृथिव्यात्मकत्वादधोभागप्रभावाच्चौषधस्याधः प्रवर्तते, उभयतश्चोभयगुणत्वात् । इति लक्षणोद्देशः ।।५।।

वमन-विरेचन द्रव्यों की क्रियाविधि– वामक एवं विरेचक द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी, एवं विकासी गुण के कारण अपने वीर्य के द्वारा हृदय में पहुँचकर, धमनियों में फैलकर सूक्ष्म एवं स्थूल स्रोतसों में प्रसरित होकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त दोषों के समूह को अपने आग्नेय गुण के कारण पिघला देते हैं, तीक्ष्ण गुण के कारण दोष या मलों को तोड़ देते हैं, अथवा छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त कर देते हैं। विच्छिन्न दोष बहते हुए स्नेह भावित शरीर में स्नेह भावित मिट्टी के पात्र में रखे हुए मधु की तरह न चिपकते हुए, सूक्ष्म स्रोतसों में गमन के स्वभाव के कारण (अणु प्रवण भाव-सूक्ष्म स्रोतस् में बहने के स्वभाव के कारण) आमाशय (कोष्ठ) में आकर के उदान वायु द्वारा प्रेरित होकर, अपने अग्नि व वाय्वात्मक स्वभाव के कारण तथा ऊर्ध्वभागहर प्रभाव के कारण औषधि को मुख मार्ग (ऊर्ध्वमार्ग) द्वारा बाहर निकाल देता है।

[वामक द्रव्य ऊर्ध्वभागहर स्वभाव वाले होते हैं।]

तद्वत् विरेचक द्रव्य जल एवं पृथ्वी गुण की प्रकर्षता के कारण तथा अधोभागहर प्रभाव के कारण औषधि को अधोमार्ग (गुदमार्ग) द्वारा बाहर निकालते हैं। उभय गुण युक्त औषधियाँ दोनों ही मार्गों द्वारा प्रवृत्त होती है, अर्थात् मुख एवं गुदा दोनों से ही बाहर निकलती हैं। इस प्रकार यहाँ इन दोनों के ही लक्षणों का विवेचन कर दिया गया।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'तत्रोष्णोत्यादि' के द्वारा यहाँ वामक एवं विरेचक दोनों प्रकार के द्रव्य सामान्य रूप से उष्ण तीक्ष्ण आदि गुणों के कारण दोषों के विष्यन्दन आदि सामान्य कार्यों को करते हुए वाय्वात्मक आदि अपने विशेष गुण के कारण वमन एवं विरेचन रूप विशेष कार्यों को करते हैं, बताया गया है। [वामक द्रव्य-अग्नि एवं वायु महाभूत प्रधान होते हैं तथा विरेचक द्रव्य पृथ्वी एवं जल महाभूत प्रधान होते हैं।] **उष्णमिति** = उष्ण वीर्य । स्ववीर्येण = अपने प्रभाव से। **धमनीरनुसृत्येति सकलदेहगताधमनीरनुसृत्य;** – सम्पूर्ण शरीरगत धमनियों में फैलकर, वामक या विरेचक औषधि अपने वीर्य (प्रभाव) से सम्पूर्ण शरीर में रहने वाली धमनियों में व्याप्त हो जाती है, न कि स्वयं औषधि का गमन शरीरगत धमनियों में होता है।

आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्तीति– (वामक या विरेचक औषधि) अपने आग्नेय गुण के कारण दोषों को पिघला देती हैं, अर्थात् स्रोतस् में जमे हुए दोषों को पिघला देती हैं जिससे दोष अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं। **विच्छिन्दन्ति छिन्नं कुर्वन्ति** = छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ देती हैं। परिप्लवन् इतस्ततो गच्छन् – इधर-उधर जाते हुए [स्रोतस् में जमें हुए कफादि दोष पिघलकर इधर-उधर बहते हुए] **असज्जन् इति–** शरीर में कहीं भी अवरुद्ध न होते हुए। **अणुप्रवणभावादिति अणुत्वात् प्रवणभावाच्च–** सूक्ष्म एवं नीचे बहने के स्वभाव के कारण, 'प्रवण' से यहाँ कोष्ठ से बाहर निकलने के लिए उद्यत होना, अर्थ लिया गया है। 'अणुत्व' से यहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतसों में गमनशील होना, अर्थ लिया गया है।

उदानप्रणुन्न इति– उदान वायु द्वारा प्रेरित होना। अग्निवाय्वात्मकत्वादिति = अग्नि एवं वायु महाभूत की उत्कर्षता से। ऊर्ध्वभागप्रभावादिति = ऊर्ध्व भागगत दोषों के दूर करने के प्रभाव से, अर्थात् वामक द्रव्य ऊर्ध्वभाग गत दोषों के निर्हरण का प्रभाव रखते हैं। इसी प्रकार जल एवं पृथ्वी महाभूत की प्रमुखता वाले विरेचक द्रव्यों की भी व्याख्या करनी चाहिए, अर्थात् विरेचक द्रव्य दोषों को अधोभाग (गुदमार्ग) से बाहर निकालने का प्रभाव रखते हैं।

उभयतश्चेति = ऊर्ध्व (मुख) एवं अधः (गुदा) दोनों मार्गों से दोषों को बाहर निकालना, यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

उभयगुणत्वादिति अग्निवाय्वात्मकत्वात् सलिलपृथिव्यात्मकत्वादूर्ध्वाधोभागप्रभावाच्चेत्यर्थः– वामक एवं विरेचक दोनों गुणों से युक्त होना, ये द्रव्य अग्नि-वायु तथा जल एवं पृथ्वी महाभूत प्रधान होने से ऊर्ध्वाधः भाग प्रभाव वाले कहे जाते हैं।

इस प्रकार यहाँ वमन-विरेचन द्रव्यों के स्वरूप का अभिधान किया गया (इति लक्षणोद्देशः)।

इस प्रकरण में वमन-विरेचन द्रव्यों की सामान्यतया 'आग्नेयत्वाद्विष्यन्दयन्ति' के द्वारा **आग्नेयत्व** गुण का प्रतिपादन किया गया है। पुनः विशेष रूप से 'अग्निवाय्वात्मकत्वात्' इति के द्वारा वमनकारी द्रव्यों के आग्नेयत्व गुण का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार सामान्य एवं विशेष दोनों ही प्रकार से वामक द्रव्यों के आग्नेयत्व गुण के कथन से इनके अतिशय आग्नेयत्व गुण का बोध होता है। जबकि विरेचन द्रव्य सामान्य रूप से कथित आग्नेय सम्बन्ध से विशेष गुण के प्रस्ताव में जल एवं पृथ्वी महाभूत प्रधान होने से वमन द्रव्यों की तुलना में कम आग्नेय गुण वाले होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। इसी विषय को सुश्रुतसंहिता में भी वमन एवं विरेचन, दोनों द्रव्यों के आग्नेयत्व स्वरूप को– "सरत्व-सौक्ष्म्य-तैक्ष्ण्योष्ण्य विकाशित्वैर्विरेचनम् । वमनं च हरेद्दोषान् प्रकृत्या गतमन्यथा" (सु.चि.अ.३३) इति [विरेचन द्रव्य सर, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण एवं विकासी होने से दोषों को अधोमार्ग से बाहर निकालते हैं जबकि वमन द्रव्य अपने स्वभाव के कारण दोषों को भिन्नमार्ग (ऊर्ध्वमार्ग) से बाहर निकालते हैं।]

इसी विषय को यहाँ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– वमनं यद्ऊर्ध्वभागहरत्वप्रभावादूर्ध्वयति - वामक द्रव्य अपने ऊर्ध्वभागहर प्रभाव के कारण दोषों को ऊर्ध्व भाग (मुख मार्ग) से बाहर निकालता है। उस समय अग्नि एवं वायु महाभूत की प्रधानता से यह कार्य होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जहाँ कारण के अनुसार कार्य नहीं होता है, वहाँ उस कार्य की व्याख्या प्रभाव कृत है, ऐसा कहा जाता है। कहा भी गया है, यथा– "प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते" (सु.अ. २६) इति [द्रव्यों की अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहते हैं।] ऐसा नहीं है, वामक द्रव्य प्रभाव से कार्य करते हुए भी उसमें द्रव्यों के वायु + अग्नि महाभूत के प्रधान गुण को हेतु के रूप में उपदेश दिया गया है। अर्थात् वामक द्रव्य अपने प्रभाव से कार्य करते हुए भी, द्रव्यों का वायु व अग्नि महाभूत प्रधान होना भी एक कारण है। इस प्रकार यहाँ द्रव्यों का वायु व अग्नि महाभूत प्रधान होना 'वमन' का स्वतन्त्र कारण नहीं है। क्योंकि अन्य द्रव्य जो वायु व अग्नि महाभूत प्रधान गुण वाले हैं वे ऊर्ध्वभाग दोषहरत्व प्रभाव रहित हैं, अर्थात् इन द्रव्यों के सेवन से वमन नहीं होता, जबकि इनके सेवन से वमन होना चाहिए। यथा– कटुरस युक्त द्रव्यों को वामक होना चाहिए, लेकिन वे ऐसा नहीं करते। इसलिए ये द्रव्य अपने प्रभाव (Specific action) एवं गुण दोनों से ही कार्य करते हैं, ऐसा समझना चाहिए। यही सिद्धान्त विरेचन द्रव्यों में भी अपनाना चाहिए। ॥५॥

विशेष (Comments)– उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायी एवं विकासी गुणयुक्त वामक एवं विरेचक दोनों ही द्रव्य होते हैं। वामक द्रव्य अग्नि एवं वायु महाभूत प्रधान तथा विरेचक द्रव्य जल एवं पृथ्वी महाभूत प्रधान होते हैं। वामक द्रव्य विरेचक द्रव्यों की तुलना में ज्यादा उष्ण होते हैं। फिर भी द्रव्यों का वामक एवं विरेचक गुण उनके अपने प्रभाव के कारण है।

Scanned by CamScanner

तत्र फल-जीमूतकेक्ष्वाकु-धामार्गव-कुटज-कृतवेधनानां, श्यामा-त्रिवृच्चतुरङ्गुल-तिल्वक-महावृक्ष-सप्तला-शङ्खिनी-दन्ती-द्रवन्तीनां च, नानाविधदेशकालसंभवास्वाद-रस-वीर्य-विपाक-प्रभावग्रहणाद् देह-दोष-प्रकृति-वयो-बलाग्नि-भक्ति-सात्म्य-रोगा-वस्थादीनां नानाप्रभाव-वत्त्वाच्च, विचित्रगन्ध-वर्णरस-स्पर्शानामुपयोगसुखार्थमसंख्येयसंयोगानामपि च सतां द्रव्याणां विकल्पमार्गोपदर्शनार्थं षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः ।।६।।

वमन कारक द्रव्य (Emetic drugs)– १. मदनफल, २. जीमूतक (देवदाली), ३. इक्ष्वाकु, ४. धामार्गव, ५. कुटज, ६. कृतवेधन ।

विरेचन कारक द्रव्य (Purgative drugs)– १. श्यामा, २. त्रिवृत् (सफेद निशोथ), ३. चतुरङ्गुल (अमलतास), ४. तिल्वक (लोध्र), ५. महावृक्ष, ६. सप्तला, ७. शङ्खिनी, ८. दन्ती, ९. द्रवन्ती ।

इन दोनों ही प्रकार के औषधियों (वमन एवं विरेचनकारी द्रव्यों) के भिन्न-भिन्न देश (स्थान) एवं भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न होने से उनके आस्वाद, रस (taste), वीर्य (Potency), विपाक एवं प्रभाव अलग-अलग होने के कारण, शरीर (आतुर शरीर-Physique)-दोष (दोषों की अवस्थायें), प्रकृति (व्यक्ति की प्रकृति-शारीरिक बनावट) - वय (Age) - बल (Strength) - अग्नि (Power of digestion and metabolism) - भक्ति (रुचि) - सात्म्य (Wholesomeness) - रोगों की अवस्था (Stage of the disease) पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ने के कारण, द्रव्यों के विचित्र गंध - वर्ण-रस एवं स्पर्श के उपयोग को सुखकर बनाने के लिए, द्रव्यों के असंख्य संयोग होने पर भी कल्पनाओं के मार्ग को (विधान को) बतलाने के लिए छः सौ विरेचन योगों की व्याख्या करेंगे।

चक्रपाणि– 'तत्र फलेत्यादि' से लेकर 'षड्विरेचनयोगशतानि व्याख्यास्यामः' तक, के द्वारा ये सभी विषय कल्पस्थान में वर्णित होते हुए भी यहाँ उनके प्रयोग को अनतिसंक्षेपविस्तार पूर्वक कहा गया है।

तत्र से लेकर कृतवेधन तक के पाठ में वामक द्रव्यों के प्रयोग के प्रयोजन को बताया गया है, अर्थात् यहाँ प्रमुख वामक द्रव्यों की गणना की गयी है। श्यामा आदि से लेकर द्रवन्ती तक विरेचन द्रव्यों का उल्लेख किया गया है।

अत्रैव वमने विरेचने चैकैकेषां पुनर्वस्तूनां मदनफलादीनां श्यामादीनां च बहवः प्रयोगा अभिधीयन्ते– यहाँ ही मदनफल आदि वमन द्रव्यों तथा श्यामा आदि विरेचन द्रव्यों, के अलग-अलग (एक-एक द्रव्यों के साथ) अन्य वस्तुओं के संयोग से अनेक प्रयोग बताये गये हैं। न कि एक-एक द्रव्य ही वमन अथवा विरेचन कार्य करता है, वमन या विरेचन द्रव्यों के साथ अल्परूप में अन्य द्रव्यों के संयोग से ये योग प्रयोग करने योग्य होते हैं।

नानाविधेति से लेकर नानाप्रभाववत्त्वाच्च तक वमन-विरेचन द्रव्यों के कार्यसिद्धि (सफलता) की आशङ्का को स्पष्ट किया गया है। जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–

१. **यस्मान्नानाविधदेशकालसंभवाः–** द्रव्य भिन्न-भिन्न देश एवं भिन्न-भिन्न काल में उत्पन्न होते हैं।

२. **नानाविधास्वादाः–** द्रव्यों के आस्वाद अनेक प्रकार के होते हैं।

३. **नानाविधवीर्याः–** द्रव्यों के वीर्य अनेक प्रकार के होते हैं।

४. **नानाविधविपाकाः–** द्रव्यों के विपाक भी अलग-अलग होते हैं।

५. **नानाविधप्रभावाश्च–** द्रव्य भिन्न-भिन्न प्रभाव वाले होते हैं। अर्थात् ये सभी गुण मदनफल आदि औषधियों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार इन द्रव्यों को संस्कारित करने वाली कोविदार आदि औषधियाँ भी पायी जाती हैं। उसी प्रकार पुरुष भी भिन्न-भिन्न देह, दोष, प्रकृति, वय, बल, अग्नि, भक्ति, सात्म्य एवं रोगावस्था वाले दिखायी देते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्य सभी देहदोषादि वाले पुरुषों में उपयोगी नहीं होता, अथवा एक ही द्रव्य हर समय में नहीं प्राप्त होता है, अथवा एक ही स्थान पर नहीं मिलता है। इसलिये विभिन्न देह, दोष युक्त पुरुषों में अनेक द्रव्यों एवं अनेक प्रयोगों (योगों के प्रयोग) की योजना उनकी योग्यता के अनुसार एवं उपलब्धता के अनुसार करना शक्य है। इसलिए मदनफल आदि अनेक द्रव्यों तथा उनके विभिन्न प्रयोग के भेदों (स्वरस, फाण्ट, लेह आदि के प्रकारों) को अपने पास रखना उचित है। ग्रहणात् उपलम्भात् = जानने या निश्चित करने से। **देहो नाना स्थूलकृशादिभेदेन–** व्यक्ति का शरीर स्थूलता, कृशता आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। 'भक्ति' से यहाँ इच्छा अर्थ लिया गया है, व्यक्ति की द्रव्यों के प्रति इच्छा भी अलग-अलग होती है, यथा- कोई व्यक्ति करेला खाना चाहता है, कोई नहीं खाना चाहता।

अवस्था शब्द से यहाँ रोग की अवस्था (व्याधि की अवस्था) का ग्रहण किया गया है। 'विचित्रेत्यादि' के द्वारा प्रयोजनान्तर में भूरि (प्रचुर) विरेचन के प्रयोग को बताया गया है। (यहाँ विरेचन से वमन एवं विरेचन दोनों अर्थ लिया गया है।)

Scanned by CamScanner

नानाविधगन्ध-वर्ण-रसतया प्रयोगे तत्कालमुत्तरकालं च सुखार्थमित्यर्थः– वमन-विरेचन द्रव्यों के गन्ध (Smell), वर्ण (Colour) तथा रस भिन्न-भिन्न होने से उनके प्रयोग में तत्काल सुख के लिए अथवा उत्तरकालिक सुख के लिए, इन छः सौ विरेचन योगों की योजना की जा रही है। अर्थात् इनका प्रयोग रोगी आसानी से कर सके एवं आरोग्य प्राप्त कर सके, इस हेतु इनका यहाँ उपदेश किया गया है।

अब इसके बाद मदनफल आदि द्रव्यों के कौन-कौन से प्रयोग भेद हैं, जो मिलकर छः सौ होते हैं। इनके जो अधिक प्रयोग भेद हैं, उनको यहाँ नहीं कहा गया है, जिसे यहाँ 'असंख्येयेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

विकल्पमार्गोपदर्शनार्थमिति– विकल्प भेद बताने के लिए, यह निर्देश कल्पना (औषधियों की योजना) करने में समर्थ चिकित्सक के लिए है, क्योंकि वही निर्दिष्ट कल्पनाओं के साथ-साथ अन्य कल्पनाओं को भी कर सकता है। उसी से यहाँ अन्य दूसरी कल्पनाओं को करना चाहिए, यह अर्थ प्राप्त होता है। ग्रन्थ में सम्पूर्ण कल्पनाओं का कथन न होना, प्रयोगों की असंख्यता के कारण है, अर्थात् प्रयोग असंख्य होने से उन सबको कहना संभव नहीं है।

अनतिविस्तरेण षट्प्रयोगशताभिधानं मन्दबुद्धिसंव्यवहारार्थमिति भावः– कल्पस्थान में वमन-विरेचन के छः सौ योगों के प्रयोग का वर्णन होना मन्द बुद्धि वाले चिकित्सक के व्यवहार के लिए किया गया है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है यथा– **''एतावन्तो ह्यलमल्पबुद्धीनां व्यवहाराय, बुद्धिमतां च स्वालक्षण्यानुमानयुक्तिकुशलानामनुक्तार्थज्ञानाय''** (सू.अ.४) इति [यहाँ वर्णित योग (विषय) अल्प बुद्धि वाले चिकित्सकों के व्यवहार हेतु पर्याप्त हैं तथा बुद्धिमान व्यक्ति, जो अनुमान एवं युक्ति कुशल हैं, इन्हीं लक्षणों के आधार पर अन्य अनुक्त विषयों का ज्ञान प्राप्त करें।] अर्थात् चिकित्सक को यहाँ वर्णित कल्पनाओं के आधार पर अन्य कल्पनाओं की भी योजना करनी चाहिए, यह भाव है ।।६।।

तानि तु द्रव्याणि देश-काल-गुण-भाजन-संपद्वीर्यबलाधानात् क्रियासमर्थतमानि भवन्ति ।।७।।

द्रव्यों की कार्यकारिता– वे ही द्रव्य (वमन व विरेचन कारक द्रव्य) देश, काल, गुण एवं भाजन (पात्र) के संपत्त (उपयुक्तता) से वीर्य की वृद्धि हो जाने के कारण अपने कार्यों को करने में समर्थतम् हो जाते हैं। अर्थात् द्रव्यों का वीर्य (Active potency) अत्यधिक बढ़ जाने के कारण वे अपना कार्य उत्तम प्रकार से करने लगते हैं। ।।७।।

चक्रपाणि– 'तानीत्यादि' के द्वारा वमन-विरेचन द्रव्यों की गुणोत्कर्षता को बताया गया है। **देशादिभिश्चतुर्भिः संपच्छब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते–** देशादि चारों के साथ 'संपद्' शब्द जुड़ा हुआ है, अर्थात् देशसंपद्, कालसंपद्, गुणसंपद् एवं भाजनसंपद का ग्रहण करें। **भाजनं भेषजस्थापनस्थानम्–** औषधि को रखने का स्थान। वीर्यस्य बलं वीर्याधिकत्वमेव = वीर्य (Active potency) का प्रबल होना ।।७।।

विशेष (Comments)– १. देशसंपद्– जिस वातावरण (स्थान) में औषधि (द्रव्य) अपने स्वाभाविक रूप में उत्पन्न होती है, वहाँ से उनको ग्रहण (Collection) करना 'देशसंपद्' कहलाता है, यथा– ऐन्द्री एवं ब्राह्मी का ग्रहण हिमालय क्षेत्र से, करना चाहिए।

२. 'कालसंपद्'– उचित काल में औषधि का संग्रह करना 'कालसंपद्' कहलाता है, अर्थात् जिस ऋतु में औषधि द्रव्य का जो भाग (पत्र, पुष्प, त्वक्, मूल आदि) गुणवान हो उसका संग्रह उसी ऋतु में करना चाहिए।

३. गुणसंपद्– औषधि का अपने गुणों से परिपूर्ण होना 'गुणसंपद्' कहलाता है।

४. भाजनसंपद्– द्रव्यों के सुरक्षित रखनें की उचित विधि भाजनसंपद् कहलाती है।

त्रिविधः खलु देशः-जाङ्गलः, आनूपः, साधारणश्चेति । तत्र जाङ्गलः पर्याकाशभूयिष्ठः, तरुभिरपि च कदर-खदिरासनाश्वकर्ण-धव-तिनिश-शल्लकी-साल-सोमवल्क-बदरी-तिन्दुकाश्वत्थ-वटामलकीवनगहनः, अनेकशमी-ककुभ-शिंशपा-प्रायः, स्थिरशुष्कपवनबलविधूयमानप्रनृत्यत्तरुणविटपः, प्रततमृगतृष्णिकोपगूढतनुखरपरुषसिकताशर्कराबहुलः, लावतित्तिरिचकोरानुचरितभूमिभागः, वातपित्तबहुलः, स्थिरकठिनमनुष्यप्रायो ज्ञेयः; अथानूपो हिन्तालतमालनारिकेलकदलीवनगहनः, सरित्समुद्रपर्वन्तप्रायः, शिशिरपवनबहुलः, वञ्जुलवानीरोपशोभिततीराभिः सरिद्भिरुपगत-भूमिभागः, क्षितिधरनिकुञ्जोपशोभितः, मन्दपवनानुवीजितक्षितिरुहगहनः, अनेकवनराजीपुष्पितवनगहनभूमिभागः, स्निग्धतरुप्रतानोपगूढः, हंस-चक्रवाक-बलाका-नन्दीमुख-पुण्डरीक-कादम्ब-मधु-भृङ्गराज-शतपत्र-मत्तकोकिलानुनादिततरुविटपः, सुकुमारपुरुषः, पवनकफप्रायो ज्ञेयः; अनयोरेव द्वयोर्देशयोर्वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्यशकुनिमृगगणयुतः स्थिरसुकुमारबलवर्णसंहननोपपन्नसाधारणगुणयुक्तपुरुषः साधारणो ज्ञेयः ।।८।।

देश विवेचन (Description of Habitats)

देश तीन प्रकार का होता है– जाङ्गल, आनूप एवं साधारण।

१. जाङ्गल देश के लक्षण– यह क्षेत्र खुले आकाश की अधिकता वाला होता है। इस क्षेत्र में कदर (विट् खदिर), खदिर, असन, अश्वकर्ण, धव, तिनिश, शल्लकी, साल, सोमवल्क, बदरी, (बेर), तेंदू, अश्वत्थ (पीपल), वट, आमलकी (आँवला) के सघन (घने)

Scanned by CamScanner

वन पाये जाते हैं। प्रायः इस क्षेत्र में शमी, अर्जुन एवं शीशम के वृक्ष पाये जाते हैं। इस क्षेत्र के स्थिर एवं तरुण पेड़ शुष्क वायु के प्रबल वेग के कारण कंपायमान होकर हिलते रहते हैं। यह क्षेत्र (देश) 'मृगमरीचिका' से युक्त एवं तनु, खर (कर्कश), परुष, सिकता (बालु) व कंकड़ों से युक्त रहता है। यहाँ लाव, तीतर एवं चकोर पक्षी भ्रमण करते रहते हैं, अर्थात् यहाँ की भूमि पर ये पक्षी पाये जाते हैं। यह क्षेत्र वात-पित्त की प्रधानता वाला होता है। इस क्षेत्र के मनुष्य प्रायः स्थिर एवं कठिन शरीर वाले होते हैं।

२. आनूप देश के लक्षण– (१) इस क्षेत्र में हिन्ताल, तमाल, नारिकेल (नारियल) एवं केले (कदली) के घने वन पाये जाते हैं।

(२) यह क्षेत्र प्रायः नदियों एवं समुद्र से घिरा होता है, अर्थात् नदियों एवं समुद्र के किनारे वाला यह क्षेत्र होता है।

(३) इस क्षेत्र में प्रायः शीतल वायु बहती रहती है।

(४) नदियों के किनारे प्रायः वेंत (वञ्जुल) एवं जलवेंत से युक्त रहते हैं।

(५) यह क्षेत्र पर्वत एवं गुफाओं से सुशोभित रहता है।

(६) इस क्षेत्र के घने वृक्ष मन्द-मन्द वायु के बहने से हिलते रहते हैं।

(७) इस क्षेत्र में प्रायः विभिन्न पुष्पों वाली लताओं के कुञ्ज घने जङ्गलों के बीच में दिखायी देते हैं।

(८) यह क्षेत्र स्निग्ध एवं कोमल वृक्षों की टहनियों से घिरा रहता है।

(९) इस भूमि भाग पर प्रायः हंस, चक्रवाक (चकवा), बलाका (बगुला), नन्दीमुख, पुण्डरीक, कादम्ब, मद्गु, भृंगराज, शतपत्र एवं मदमत्त कोयल पेड़ की टहनियों पर बैठ करके कलरव किया करते हैं।

(१०) इस क्षेत्र के पुरुष प्रायः सुकुमार होते हैं।

(११) यह क्षेत्र प्रायः वात एवं कफ प्रधान होता है।

३. साधारण देश के लक्षण– यह क्षेत्र आनूप एवं जाङ्गल दोनों के लक्षणों से युक्त होता है। अर्थात् इस देश में दोनों क्षेत्रों की लतायें, वनस्पति (जिस वृक्ष में मात्र फल दिखायी देते हों, उन्हें वनस्पति कहते हैं, यथा– गूलर, वट आदि), वानस्पत्य (जिसमें पुष्प व फल दोनों पाये जाँय, उसे वानस्पत्य कहते हैं, यथा– आम, जामुन आदि के वृक्ष) पशु एवं पक्षी पाये जाते हैं। इस क्षेत्र के पुरुष स्थिर, सुकुमार, बल, वर्ण एवं संहनन से युक्त होते हैं। अर्थात् इस क्षेत्र के पुरुषों में दोनों क्षेत्रों के गुण समान रूप से पाये जाते हैं। (इस क्षेत्र के पुरुष सम प्रकृति वाले होते हैं।) ॥८॥

चक्रपाणि– तत्र त्रिविध इत्यादि के द्वारा देशादि का सम्यक् विवेचन किया गया है। अत्र केचिज्जाङ्गलादिदेशलक्षणग्रन्थं न पठन्ति, तत्तु जनपदोद्ध्वंसनीये पठितमिति कृत्वा इह अनार्ष वदन्ति– यहाँ वर्णित जाङ्गलादि देश के लक्षण पाठ को कुछ आचार्य नहीं पढ़ते हैं। इसका पाठ जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय (वि.अ.३) में कर दिया गया है, ऐसा मानकर इसे अनार्ष स्वीकार करते हैं। जो आचार्य जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय में वर्णित 'जाङ्गलादि देश के लक्षण' पाठ को नहीं स्वीकार करते वे यहाँ वर्णित पाठ को स्वीकार करते हैं। ॥८॥

तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा यथाकालं शिशिरातपपवनसलिलसेविते समे शुचौ प्रदक्षिणोदके श्मशान-चैत्य-देवयजनागार-सभा-श्वभ्राराम-वल्मीकोषरविरहिते कुशरोहिषास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमधुरमृत्तिके वा मृदावफालकृष्टेऽनुपहतेऽन्यैर्बलवत्तरैर्द्रुमैरौषधानि जातानि प्रशस्यन्ते ।।९।।

देशसंपद् के लक्षण (उपयुक्त देश के लक्षण)– देश साधारण हो या जाङ्गल, जहाँ उचित समय पर शीत, आतप (गर्मी), वायु एवं वर्षा होती हो, अर्थात् जो स्थान समय-समय पर शीत, धूप, वायु एवं जल से युक्त हो, जहाँ की जमीन समतल एवं पवित्र हो, जिसका दक्षिण का भाग जलाशय से युक्त हो, जो भूमि, श्मशान, चैत्य (वह वृक्ष जहाँ ग्राम देवता निवास करते हों, गाँव के बाहर स्थित पीपल का पेड़ जिसकी पूजा की जाती है।), देवागार, यजनागार, सभागार, छिद्रयुक्त भूमि, उद्यान (आराम = उपवन), वल्मीक (बाबी) आदि से रहित हो, जहाँ कुश एवं रोहिष घास उगे हों, जहाँ की मिट्टी स्निग्ध, मधुर एवं काली हो अथवा स्वर्ण के वर्ण के समान पीली एवं मधुर रस वाली हो, जहाँ हल न चलाया गया हो, जहाँ कोई बड़ा पेड़ न हो (बड़े पेड़ के कारण उसके आस-पास उगने वाली वनस्पतियाँ पूर्ण गुण युक्त नहीं होती); ऐसे स्थान पर पायी जाने वाली औषधियाँ गुणों में श्रेष्ठ होती हैं।

चक्रपाणि– यथाकालमिति यथाकालं शिशिरादिभिः सेवितेदेशे– जहाँ अपने समय के अनुसार शीत, आतप, वर्षा एवं वायु बहती हो, ऐसे क्षेत्र अथवा स्थान पर उत्पन्न होने वाली औषधियों का ग्रहण करना चाहिए। **श्मशानादिभिः प्रत्येकं विरहितशब्दः संबध्यते–** विरहित शब्द श्मशान आदि प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है। अर्थात् श्मशान विरहित, चैत्य विरहित, देवागार विरहित, यजनागार विरहित, सभागृहविरहित, शुभ्रविरहित, आरामविरहित, बल्मीककोष विरहित स्थान की औषधियों का ग्रहण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

सभा जनमेलकस्थानम्– ऐसा स्थान जहाँ लोग आकर आपस में मिलते हों, 'सभा' कहलाता है। न फालेन कृष्ट इति– जहाँ की भूमि हल से जोती हुई न हो ।।९।।

विशेष (Comments)– चैत्य वृक्ष– गाँव के बाहर स्थित वट या पीपल का बड़ा पेड़ जिसकी पूजा गाँव के सभी लोग करते हैं।

तत्र यानि कालजातान्युपागतसंपूर्णप्रमाण-रसवीर्य-गन्यानि कालातपाग्निसलिलपवनजन्तुभिरनुपहतगन्ध-वर्ण-रस-स्पर्श-प्रभावाणि प्रत्यग्राण्युदीच्यां दिशि स्थितानि; तेषां शाखापलाशमचिरप्ररूढं वर्षावसन्तयोर्ग्राह्यं, ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्णप्ररूढपर्णानां, शरदि त्वक्कन्दक्षीराणि, हेमन्ते साराणि, यथर्तु पुष्पफलमिति; मङ्गलाचारः कल्याणवृत्तः शुचिः शुक्लवासाः संपूज्य देवता अश्विनौ गोब्राह्मणांश्च कृतोपवासः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा गृह्णीयात् ।।१०।।

औषधियों का संग्रह काल तथा विधि (Appropriate time and method of drug collection)

जो औषधियाँ अपने उचित समय पर उत्पन्न हों, अर्थात् जो औषधि अपने निर्धारित समय पर उत्पन्न हो, औषधि (द्रव्य) अपने सामान्य प्रमाण (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि), रस, गन्ध एवं वीर्य से युक्त हो, औषधि के गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श एवं प्रभाव– काल, आतप, अग्नि, जल, पवन एवं जन्तु के प्रभाव से नष्ट न हुआ हो। ऐसी गुण युक्त औषधियाँ जो उत्तर दिशा में उत्पन्न हों, के नूतन शाखा एवं पत्रों (पत्ते) का संग्रह वर्षा एवं वसन्त ऋतु में करना चाहिए।

१. नूतन पत्र एवं टहनियों का सञ्चय (Collection) **वर्षा एवं वसन्त ऋतु** (Rainy season and spring) में करना चाहिए।

२. मूल (Root) का संग्रह **ग्रीष्म एवं शिशिर** ऋतु में करना चाहिए, जब पुराने पत्ते गिर जाँय।

३. द्रव्यों के त्वक् (छाल- Bark), कन्द एवं दुग्ध (क्षीर) का संग्रह शरद् ऋतु में करना चाहिए।

४. सार (Heart wood including exudates) का संग्रह हेमन्त ऋतु में करना चाहिए।

५. फल एवं पुष्पों का संग्रह ऋतुओं के अनुसार करना चाहिए, अर्थात् जिस ऋतु में फल व पुष्प लगें उसमें करना चाहिए।

औषधि संग्रह करने वाले व्यक्ति को मङ्गलाचार युक्त होकर प्राणि मात्र के कल्याण की भावना से, पवित्र होकर, शुक्ल वस्त्र धारण करके, देवता, अश्विनी कुमारों (नासत्य व दस्र), गो एवं ब्राह्मण की पूजा करके, उपवास धारण करके पूर्व मुख करके अथवा उत्तर मुख करके औषधि का संग्रह करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'तत्र यानि कालजातानीति' के द्वारा ही यहाँ 'कालसंपद्' को स्पष्ट किया गया है। 'कालजातानि' से अपने योग्य काल में औषधियों का उत्पन्न होना, अर्थात् जिस औषधि के उत्पन्न होने का जो काल निर्धारित है, उसका ग्रहण करना चाहिए। [जिस ऋतु में जो औषधियाँ उत्पन्न होती हैं।]

उपागतसम्पूर्ण से लेकर प्रत्यग्राणि तक **'गुणसंपद्'** का अभिधान किया गया है। अर्थात् औषधि अपने पूर्ण प्रमाण, रस, वीर्य एवं गन्ध से युक्त हो, उस औषधि का गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श एवं प्रभाव– काल, आतप (धूप), अग्नि, जल, वायु एवं जन्तुओं द्वारा नष्ट न किया गया हो। अर्थात् औषधि पूर्णतः गुणवान हो।

प्रत्यग्राणीति संपूर्णगुणतयानिष्पन्नानि– औषधि का अपने संपूर्ण गुणों से युक्त होना ।

'तेषां शाखापलाशमित्यादि' के द्वारा **'कालसंपद्'** की व्याख्या की गयी है।

शाखाग्रहणेनैव त्वगादीनामपि ग्रहणम्– 'शाखा' के ग्रहण से ही उसमें विद्यमान त्वक् (छाल) आदि का भी ग्रहण हो जाता है 'शीर्णप्ररूढपर्णानामिति' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार यह वाक्य– 'ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा शीर्णप्ररूढपर्णानाम्' तक है। [द्रव्यों के मूल (जड़-Root) का संग्रह पुरानी पत्तियों के गिर जाने पर ग्रीष्म अथवा शिशिर ऋतु में करना चाहिए।

'ग्रीष्मे मूलानि शिशिरे वा' इस कथन से – आग्नेय द्रव्यों के मूल (जड़) का ग्रहण ग्रीष्म ऋतु में तथा सौम्य (शीत) गुण युक्त द्रव्यों के मूल का ग्रहण शिशिर ऋतु में करना चाहिए; यह व्यवस्था दी गयी है।

अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "सौम्यान्यौषधानि सौम्येष्वृतुष्वाददीत, आग्नेयान्याग्नेयेषु" सु.सू.अ.३६ [सौम्य द्रव्यों का संग्रह सौम्य ऋतुओं तथा आग्नेय द्रव्यों का संग्रह आग्नेय ऋतुओं में करना चाहिए।]

'मङ्गलेत्यादि' के द्वारा भेषजसंग्रह की विधि को स्पष्ट किया गया है। ।।१०।।

गृहीत्वा चानुरूपगुणवद्भाजनस्थान्यागारेषु प्रागुदग्द्वारेषु निवातप्रवातैकदेशेषु नित्यपुष्पोपहारबलिकर्मवत्सु, अग्नि-सलिलोपस्वेद-धूम-रजो-मूषक-चतुष्पदामनभिगमनीयानि स्ववच्छन्नानि शिक्येष्वासज्य स्थापयेत् ।।११।।

Scanned by CamScanner

भाजनसंपद् का विवेचन– पूर्व विधान के अनुसार औषधियों को एकत्र कर औषध के अनुरूप गुण वाले पात्रों में रखते हुए, पूर्व या उत्तर दिशा में जिस घर का द्वार हो, जहाँ हवा के तीव्र झोंके प्रवेश न करते हों, लेकिन घर में वायु का आवागमन सामान्य रूप से होता हो, जिस घर में नित्य पुष्प, उपहार एवं बलिकर्म किये जाते हों, जहाँ अग्नि, जल, उपस्वेद (पसीना या वाष्प), धूम, धूल, चूहे तथा पशु का आवागमन न हो; ऐसे घर में औषधि को अच्छी प्रकार से ढककर, सिकहर के ऊपर स्थापित करके रखना चाहिए।

चक्रपाणि– 'गृहीत्वेत्यादि' के द्वारा 'भाजनसंपद्' को स्पष्ट किया गया है। **अनुरूपगुणवद्भाजनस्थानीति–** पात्र की गुणवत्ता औषधि के अनुरूप होनी चाहिए, अर्थात् जिस पात्र में औषधि को रखा जाय, वह औषधि के गुण को बढ़ाने वाला हो।

स्ववच्छन्नानीति सम्यक्पिहितानि– वस्त्र से ढककर, अथवा पात्र में भरकर अच्छी प्रकार से ढककर रखें। ।।११।।

विशेष (Comments)– वर्तमान में औषधि के गुणों को सुरक्षित रखने के लिए अनेक प्रकार के पात्र एवं विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए। सिकहर आदि के माध्यम से कच्ची औषधियों को सुरक्षित रखने की इस प्राचीन विधि का प्रयोग व्यवहार में काफी कम हो गया है। सिकहर– एक प्रकार की बहंगी (थैला) जिसे घर के छत में लगी हुई खूँटी पर लटका दिया जाता है। गाँवों में प्राय: मक्का, सिरका, दही आदि को सिकहर पर रखते हैं। जिससे बिल्ली, चूहे आदि से सुरक्षित रहते हैं।

सिकहर को संस्कृत में शिक्यम् या 'शिक्या' कहा जाता है, यह रस्सी से बना हुआ एक प्रकार का झोला होता है।

तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत सुरा-सौवीरक-तुषोदक-मैरेय-मेदक-धान्याम्ल-फलाम्ल-दध्यम्लादिभिवति, मृद्वीकामलक-मधु-मधुक-परूषक-फाणित-क्षीरादिभिः पित्ते, श्लेष्मणि तु मधु-मूत्र-कषायादिभिर्भावितान्यालोडितानि च; इत्युद्देशः। तं विस्तरेण द्रव्य-देह-दोष-सात्म्यादीनि प्रविभज्य व्याख्यास्यामः ।।१२।।

दोषानुसार सहपान (अनुपान)– उन संग्रहित औषधियों का प्रयोग दोष के अनुसार करना चाहिए–

१. वात की विकृति होने पर, अथवा वात दोष की उल्बणता में औषधि का सेवन सुरा, सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, धान्याम्ल, खट्टी दही तथा खट्टे फल आदि के साथ (अनुपान के साथ) करना चाहिए।

२. पित्त की वृद्धि में औषधि का सेवन मृद्वीका (मुनक्के का रस), आँवला, मधु, यष्टीमधु (मुलेठी), फालसा, फाणित (राब) एवं दूध आदि के अनुपान से करना चाहिए।

३. कफ की वृद्धि में औषधि का सेवन मधु, गोमूत्र अथवा कफनाशक कषायों के साथ, अथवा उसमें घोलकर अथवा भावना देकर करना चाहिए।

इस प्रकार संग्रहित औषधियों के अनुपान का संक्षेप में उल्लेख किया गया। द्रव्य, देह, दोष एवं सात्म्य आदि के अनुसार विभाजित करके इनका विस्तार से वर्णन आगे किया जायेगा।

चक्रपाणि– संक्षेप में **मदनफल आदि द्रव्यों** के वातादि भेद से भावना तथा आलोडन द्रव्यों को – 'तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीतेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। अर्थात् यहाँ दोषानुसार वमन-विरेचन द्रव्यो के अनुपान एवं भावना द्रव्यों का अभिधान किया गया है। धान्याम्ल = काञ्जी। फलाम्ल से दाडिम आदि के रस का ग्रहण किया गया है।

श्लेष्मणीत्यादौ कषायशब्देन श्लेष्महरद्रव्यक्वाथोऽभिप्रेतः– 'श्लेष्मणि इति' में कषाय शब्द के द्वारा श्लेष्मनाशक द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) का ग्रहण किया गया है। उद्देश इति– भावना एवं आलोडन द्रव्यों का अभिधान संक्षेप में किया गया है। 'द्रव्य-देह-दोष-सात्म्यादीनि' में प्रयुक्त 'आदि' शब्द के द्वारा प्रकृति, बल आदि का भी ग्रहण करना चाहिए, अर्थ लिया गया है ।।१२।।

वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमान्याचक्षते, अनपायित्वात् । तानि वसन्तग्रीष्मयोरन्तरे पुष्याश्वयुग्भ्यां मृगशिरसा वा गृह्णीयान्मैत्रे मुहूर्ते । यानि पक्वान्यकाणान्यहरितानि पाण्डून्यक्रिमीण्यपूतीन्यजन्तुजग्धान्यह्रस्वानि; तानि प्रमृज्य, कुशपुटे बद्ध्वा, गोमयेनालिप्य, यवतु(वु)षमाषशालिकुलत्थमुद्गपलानामन्यतमे निदध्यादष्टरात्रम् । अत ऊर्ध्वं मृदूभूतानि मध्विष्टगन्धान्युद्धृत्य शोषयेत् । सुशुष्काणां फलपिप्पलीरुद्धरेत् । तासां घृतदधिमधुपललविमृदितानां पुनः शुष्काणां नवं कलशं सुप्रमृष्टवालुकमरजस्कमाकण्ठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्येष्वासज्य सम्यक् स्थापयेत् ।।१३।।

मदनफल के संग्रह एवं प्रयोग की विधि– वामक द्रव्यों में 'मदनफल' को श्रेष्ठतम कहा जाता है, क्योंकि अन्य वामक द्रव्यों की तुलना में यह कम उपद्रवों की उत्पत्र करता है, (अर्थात् इससे हानि रहित वमन होता है।) । इसका संग्रहण (Collection) वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु के मध्य में पुष्य, अश्विनी अथवा मृगशिरा नक्षत्र में मैत्रेय मुहूर्त उपस्थित होने पर करना चाहिए। जो द्रव्य (मदनफल) पक्व हो गये हों, काण (छिद्रयुक्त अथवा फटे हुए) न हों, हरे न हों (अपक्व न हो), पाण्डु वर्ण युक्त हो, क्रिमि रहित हो, सड़ा हुआ न हो, जन्तुओं

Scanned by CamScanner

द्वारा खाया हुआ न हो (जिसमें कीड़े न लगे हों) तथा बड़े हों; ऐसे गुण युक्त मदनफल को साफ-सुथरा करके कुश की पोट्टली में बाँधकर उसके ऊपर गोबर का लेप लगाकर सुखा लें। इस लेप युक्त मदनफल को यव के भूसे, माष (उड़द), शालि चावल, कुलथी अथवा मुद्ग (मूंग) की राशि में आठ दिन के लिए रख दें।

आठ दिन के बाद उसे निकालें, उस समय यह मृदु एवं मधु के समान गन्ध युक्त हो जाता है। अब मदनफल के लेप को हटाकर कुश से पृथक् करके छाया में सुखा लें। इस सुखे हुए मदनफल से फलपिप्पली (बीज) को निकालें। पुनः मदनफलपिप्पली (मदनफल के बीज) को घृत, दधि, मधु एवं पलल (तिल का कल्क) के साथ मर्दन (रगड़) कर सुखा लें। अब शुष्क मदनफलपिप्पली चूर्ण को एक साफ-सुथरे मिट्टी के कलश, जिसका आभ्यन्तर भाग स्वच्छ हों, उसमें धूल या बालू के कण न हो; में आकण्ठ भरकर उसके मुख को ढक्कन से अच्छी प्रकार से बन्द करके सिकहर के ऊपर रखकर लटका दें।

चक्रपाणि– 'वमनद्रव्याणामित्यादि' के द्वारा वामक द्रव्यों में मदनफल ही गुख्य होने से उसी के प्रयोग विधि को यहाँ स्पष्ट किया गया है। **अनयायित्वादिति वमनद्रव्यान्तरापेक्षयाऽल्पव्यापत्तिकत्वात्–** अन्य वमन द्रव्यों की तुलना में मदनफल के उपद्रव अल्प होने से। अन्तरे इति– मध्य में। स च ग्रीष्मवसन्तयोरन्तर्वर्तिकतिपयदिनान्येव मध्यो ज्ञेयः– इससे ग्रीष्म व वसन्त ऋतु के मध्य में पड़ने वाले कुछ दिनों को ही 'मध्य' समझना चाहिए। अश्वयुक् = अश्विनी। **मैत्रे मुहूर्त इति–** शिव, भुजग, मित्र आदि के बीच में **मित्र देवता** का स्थान है।

इस प्रकार के मैत्रेय मुहूर्त में औषधियों का संग्रह करना चाहिए। पलानामिति = राशि (धान्य की राशि)। मधुवदिष्टगन्धो येषां तानि, यानि मध्विष्टगन्धानि भवन्ति तानि ग्राह्याणीति दर्शयति = जिस मदनफल से मधु के समान सुगन्धित गन्ध आती हो उसे ग्रहण करना चाहिए। फलपिप्पली से यहाँ मदनफल के बीच स्थित पिप्पली की आकृति वाले **बीजों** का ग्रहण किया गया है। पूरणवाचक शब्द के योग से 'करण' के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग होता है, जिसे यहाँ 'तासामित्यादि' के द्वारा बताया गया है। स्वनुगुप्तमिति = रक्षाविधान का प्रयोग करके।

अथ च्छर्दनीयमातुरं द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपपन्नं श्वश्छर्दयितव्यमिति ग्राम्यानूपौदकमांसरस-क्षीर-दधि-माष-तिल-शाकादिभिः समुत्क्लेशितश्लेष्माणं व्युषितं जीर्णाहारं पूर्वाह्णे कृतबलिहोममङ्गलप्रायश्चित्तं निरन्नमनतिस्निग्धं यवाग्वा घृतमात्रां पीतवन्तं, तासां फलपिप्पलीनामन्तर्नखमुष्टिं यावद्वा साधु मन्येत जर्जरीकृत्य यष्टिमधुकपायेण कोविदार-कर्बुदार-नीप-विदुल-बिम्बी-शणपुष्पी-सदापुष्पी-प्रत्यक्पुष्पी-कषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधुसैन्धवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्णं शरावं मन्त्रेणानेनाभिमन्त्रयेत् –

'ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः।
ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ।।
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा ।
सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ।।'

इत्येवमभिमन्त्र्योदङ्मुखं प्राङ्मुखं वाऽऽतुरं पाययेच्छ्लेष्मज्वरगुल्मप्रतिश्यायार्तं विशेषेण पुनः पुनरापित्तागमनात्, तेन साधु वमति; हीनवेगं तु पिप्पल्यामलक-सर्षप-वचाकल्कलवणोष्णोदकैः पुनःपुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनात् । इत्येष सर्वश्छर्दनयोगविधिः ।।१४।।

वमन विधि (Procedure of Administering Emetic therapy)

छर्दनीय आतुर को (जिसे वमन कराना हो, उस आतुर को) सर्वप्रथम दो या तीन दिन तक स्नेहन एवं स्वेदन करावें। सम्यक् रूप से स्नेहन एवं स्वेदन हो जाने पर अगले दिन रोगी को वमन कराना है ऐसा विचार करके वमन से एक दिन पूर्व उसे ग्राम्य, आनूप एवं औदक पशु-पक्षियों के मांसरस अथवा दूध, दही, उड़द, तिल व शाक आदि के प्रयोग द्वारा कफ को उत्क्लेशित कर लें। अर्थात् एक दिन पूर्व रोगी को आहार के रूप में इन द्रव्यों को खाने के लिए दें, जिससे कफ का उत्क्लेश होने लगे। रात्रिकालीन आहार के पच जाने के बाद दूसरे दिन प्रातःकाल अनतिस्निग्ध रोगी को बलि, मंगल, होम एवं प्रायश्चित कराकर, निरन्न अवस्था में यवागू के साथ पूर्ण मात्रा में घृत मिलाकर पिलावें। इसके बाद पूर्व से ही विधिपूर्वक तैयार की गयी मदनफल पिप्पली जो बंधी हुई मुट्ठी में जितना आ सके अथवा रोगी को जितनी मात्रा देना आवश्यक है, उतनी मात्रा लेकर कूट कर चूर्ण कर लें। इस कूटे हुए मदनफलपिप्पलीचूर्ण को यष्टीमधु, कोविदार (रक्त काञ्चनार), कर्बुदार (काञ्चनार), नीप (कदम्ब), जलवेत, बिम्बी (कुन्दरू), शणपुष्पी, सदापुष्पी, अथवा प्रत्यकपुष्पी (अपामार्ग) के क्वाथ में भिगोकर रात्रि भर कर लिए रख दें। प्रातःकाल इसे हाथ से मसलकर कपड़े से छान लें। अब इस छने हुए क्वाथ में मधु एवं सैन्धव लवण मिलाकर, थोड़ा गुनगुना करके एक मिट्टी के शराव (परई = कसोरा) में भरकर निम्नलिखित मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करें–

'ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। ऋषयः सौषधिग्रामा भूतसङ्घाश्च पान्तु ते ।।
रसायनमिवर्षीणां देवानामृतं यथा । सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते ।।'

Scanned by CamScanner

[ॐ ब्रह्मा, दक्षप्रजापति, अश्विनीकुमारों, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि, सभी ऋषि, भूमण्डल पर विद्यमान सभी औषधियाँ एवं सम्पूर्ण जीव जगत् तुम्हारी रक्षा करें। जिस प्रकार ऋषियों के लिए रसायन, देवों के लिए अमृत तथा नागों के लिए सुधा उत्तम होती है उसी प्रकार तुम्हारे लिए यह औषधि भी कार्यकारी सिद्ध हो]

इस प्रकार अभिमन्त्रित क्वाथ को उत्तर की ओर मुख किये हुए, अथवा पूर्व की ओर मुख किये हुए कफ ज्वर, गुल्म अथवा प्रतिश्याय के रोगी को विशेष रूप से पिलावें। बार-बार इसे पिलाते रहें, जब तक कि वमित द्रव्य में पित्त न आने लगे। अर्थात् पित्तान्त वमन करावें। इसके प्रयोग से रोगी अच्छी प्रकार से वमन करता है, हीनवेग आने पर (अल्प वमन होने पर) रोगी को सुखोष्ण लवणोदक (सैन्धव नमक मिश्रित गुनगुना जल) के साथ पिप्पली, आँवला, सर्षप एवं वचा के कल्क का प्रयोग बार-बार करना चाहिए, अर्थात् इनके प्रयोग द्वारा वमन को प्रवृत्त करावें, जब तक कि पित्त न आने लगे। अर्थात् पित्त आने पर वमन को रोक देना चाहिए। यही सभी वामक द्रव्यों के प्रयोग की विधि है।

चक्रपाणि– 'द्व्यहं त्र्यहं वा स्नेहस्वेदोपन्नमिति' के द्वारा रोगी को अभ्यङ्ग के साथ-साथ स्वेदन का प्रयोग दो या तीन दिन तक कराना चाहिए, अर्थ लिया गया है। [रोगी को अभ्यङ्ग व स्वेदन का प्रयोग २ या ३ दिन तक करें। अर्थात् आभ्यन्तर 'स्नेहपान' के लिए यह निर्देश नहीं है।] इससे "त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य इष्टः" (सि.अ. १) इति, सूत्र का विरोध नहीं होता। अर्थात् आभ्यन्तर स्नेहपान का प्रयोग अधिक से अधिक सात दिन तथा कम से कम तीन दिन करने का जो निर्देश दिया गया है, उसका विरोध नहीं होता। इस बाह्य स्नेहन (अभ्यङ्ग) एवं स्वेदन का प्रयोग आभ्यन्तर स्नेहपान समाप्ति के दिन से ही करते हैं। अर्थात् इसका प्रारम्भ आभ्यन्तर स्नेहन के पूर्ण होने के दिन से करते हैं। इस प्रकार बाह्य स्नेहन व स्वेदन की प्रक्रिया दो या तीन दिन में पूर्ण हो जाती है। अतः स्नेहपान के विश्राम काल को ही– "एकाहोपरतस्तद्वद्बुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्" (सू.अ.१३) के द्वारा कहा गया है। वही निर्देश यहाँ भी है। अर्थात् आभ्यन्तर स्नेहपान पूरा हो जाने पर एक दिन के अन्तराल के बाद कफोत्क्लेशक आहार खिलाकर वामक द्रव्यों को पीना चाहिए।

'श्वश्छर्दयितव्यमिति' के द्वारा कफोत्क्लेशक आहार को बतलाया गया है। श्व इति परस्मिन्नह्नि = दूसरे दिन (Tomorrow)। व्युषितमिति = रात्रि के बीत जाने पर, अर्थात् प्रातः काल। **निरन्नमिति पदच्छेदः–** निरन्न तक यह पद पूर्ण हो जाता है। [रात्रिकालीन आहार के सम्यक् जीर्ण हो जाने पर, रोगी को बिना कुछ खिलाये बलि, होम, मङ्गल, प्रायश्चित आदि से युक्त करके घृत मिश्रित यवागू का प्रयोग करें।]

'अनतिस्निग्धमित्यादि' के द्वारा– वमन के दिन ही मात्रापूर्वक घृत मिश्रित यवागू को पिलाकर वमन कराना, अनति स्निग्ध पुरुष के लिए कहा गया है। अन्य आचार्य अनतिस्निग्ध पुरुष को एक दिन पूर्व ही मात्रा पूर्वक घृत मिश्रित यवागू पिलाने का निर्देश देते हैं। जैसा कि सुश्रुतसंहिता में कहा गया है, यथा– "पेशलैर्विविधैरन्नैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक् प्रवर्तते ॥ अथापरेद्युः पूर्वाह्णे साधारणे काले वमनद्रव्यकषायकल्कचूर्णस्नेहानामन्यतमस्य" (सु.चि.अ.३३) [स्नेहन-स्वेदन से युक्त पुरुष के दोषों को मृदु एवं विविध प्रकार के आहार द्रव्यों से उत्क्लेशित करके दिया गया वमन सम्यक् रूप से प्रवृत्त होता है। दूसरे दिन प्रातःकाल साधारण समय में आतुर के कोष्ठ आदि की विशेष परीक्षा करके वामक द्रव्यों के कल्क, क्वाथ, चूर्ण अथवा स्नेह में से किसी एक को यथा योग्य (जो उचित हो) पिलाकर वमन करावें।

अन्तर्नखमुष्टिमिति अन्तरीकृतनखमुष्टिपरिमाणम्– नख को अन्दर करके बन्द मुट्ठी में जितनी मात्रा में औषधि आ जाय उसे **अन्तर्नखमुष्टि** कहा गया है, अथवा रोगी के बल दोष आदि के अनुसार वामक द्रव्य (मदनफलपिप्पली) की जितनी मात्रा आवश्यक हो, उतना ग्रहण करना चाहिए।

यष्टीमधुकस्य कोविदारादिषु विच्छेदपाठ उत्तरप्रयोगेषु कोविदारादेर्यष्टीमधुविरहितस्य ग्रहणार्थः– कोविदारादि में से यष्टीमधुक का पाठ अलग कर दिया गया है। अतः कोविदार आदि के साथ यष्टीमधु कषाय का ग्रहण नहीं करना चाहिए। अर्थात् मदनफल चूर्ण को यष्टीमधु के क्वाथ अथवा कोविदार, कर्बुदार आदि द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के क्वाथ में रात भर भिगोकर रख दें, प्रातःकाल मसलकर छान लें।

कोविदारः स्वनामख्यातः– 'कोविदार' नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। जिसमें शरद् ऋतु में पुष्प निकलते हैं। कर्बुदार = काञ्चनार, यह वसन्त ऋतु में पुष्पित होता है। नीप = कदम्ब। विदुल = वेतस। शणपुष्पी = घण्टारवा। सदापुष्पी = अर्कपुष्पी। प्रत्यकपुष्पी = अपामार्ग।

रात्रिमुषितं विमृद्य पूतमिति– वामक द्रव्यों अथवा मदनफलपिप्पली को उपरोक्त द्रव्यों के क्वाथ में रात भर भिगो दें, पश्चात् हाथ से मसलकर कपड़े से छान लें। शृत कषाय से यहाँ अन्य कषाय (शीत कषाय) भी एक पक्ष है, अर्थात् क्वाथ से ही शीत कषाय विधान को स्पष्ट किया गया है। अथवा कषायपान ही शीतकषाय विधान के रूप में कहा गया है।

Scanned by CamScanner

पूर्णं शरावमिति– शराव को वामक क्वाथ से भरकर अभिमन्त्रित करने के लिए रखना, पूर्णकुम्भ (भरे हुए घड़े) की तरह मङ्गल कामना हेतु किया गया है, क्योंकि ऐसा करना शुभ माना गया है।

पुनः पुनरिति यावत् पित्तागमनं न भवति तावत् पुनः पुनः कषायं पिबेदित्यर्थः– जब तक पित्त का आगमन नहीं होता है तब तक बार-बार रोगी को वामक क्वाथ पिलाना चाहिए। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धं" (सि.अ.१) इति [रोगी को पित्तान्त वमन कराना चाहिए तथा वमन में निकलने वाले द्रव्यों की मात्रा विरेचन में निकलने वाले द्रव्यों से आधी होनी चाहिए।] 'हीनवेगमित्यादि' के द्वारा हीन वमन अथवा वेग (वमन वेग) के सम्यक् प्रवृत्त न होने पर की जाने वाली चिकित्सा का निर्देश दिया गया है। ॥१४॥

सर्वेषु तु मधुसैन्धवं कफविलयनच्छेदार्थं वमनेषु विदध्यात् । न चोष्णविरोधो मधुनश्छर्दनयोगयुक्तस्य, अविपक्वप्रत्यागमनाद्दोषनिर्हरणाच्च ।।१५।।

वामक योगों में मधु एवं सैन्धव लवण का प्रयोग– सभी प्रकार के वामक योगों में कफ के विलयन (पिघलाने) एवं छेदन हेतु (काटकर निकालने के लिए) मधु एवं सैन्धव लवण का प्रयोग करना चाहिए। वामक द्रव्यों के उष्ण क्वाथ में मधु मिलाना विरोधी नहीं होता, क्योंकि मधु मिश्रित क्वाथ शरीर में बिना पाक के ही बाहर निकल आता है तथा दोषों का भी निर्हरण करता है। ॥१५॥

चक्रपाणि– यद्यपि वमन के प्रेय योगों (जिन योगों के सूंघने मात्र से वमन हो जाय, उसे 'प्रेय योग' कहते हैं।) में मधु व सैन्धव नमक का प्रयोग नहीं किया जाता, फिर भी यहाँ 'सर्वेषु' पद का प्रयोग होना बहुलता का द्योतक है। अर्थात् अधिकांश वामक योगों में मधु व सैन्धव नमक का प्रयोग किया जाता है। वमन हेतु प्रयुक्त कषाय (क्वाथ) में उष्ण मधु का प्रक्षेप विरोधी होने से नहीं होना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– 'मधूष्णमुष्णार्तमथवा' (सू.अ.२७) इति [उष्ण मधु अथवा उष्ण व्याधि वाले रोगी में मधु का प्रयोग नहीं करना चाहिए।] के द्वारा उत्पन्न संदेह का समाधान यहाँ– 'न चोष्ण विरोधो मधुन' इत्यादि के द्वारा किया गया है।

अविपक्वप्रत्यागमनाद् इति– वामक द्रव्यों के क्वाथ के साथ प्रयुक्त मधु बिना पचे ही वमन के रूप में बाहर निकल जाता है। इससे पच्यमान मधु उष्ण युक्त होने के कारण विरोधी होता है, यह अर्थ निकलता है। अर्थात् उष्ण मधु पाक होने पर विरोधी गुण दर्शाता है।

दोषनिर्हरणाच्चेति मधूष्णविरुद्धमपि वमनयोगे उष्णे इष्यते, तस्य दोषनिर्हरणादेव न विरोधो भवतीति दर्शयति– मधु उष्ण एवं विरोधी होते हुए भी वमन योग में उष्ण प्रयोग की जाती है, ऐसा उसके दोष निर्हरण गुण के कारण कहा गया है, इसलिए विरोधी नहीं होता। इसी प्रकार बस्ति के द्रव्यों में भी उष्ण मधु का प्रयोग करना विरोधी नहीं होता ।

यहाँ वामक द्रव्यों के योग से यष्टीमधु आदि नौ द्रव्यों द्वारा निर्मित नौ कषाय के योग बनते हैं। अर्थात् वामक द्रव्यों के नौ योग हो जाते हैं– १. यष्टीमधु कषाय, २. कोविदार कषाय, ३. कर्बुदार कषाय, ४. नीप कषाय, ५. विदुल कषाय, ६. बिम्बी कषाय, ७. शणपुष्पीकषाय, ८. सदापुष्पी कषाय तथा ९. प्रत्यक्पुष्पी कषाय।

फलपिप्पलीनां द्वौ द्वौ भागौ कोविदारादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः स्रावयेत्, तेन रसेन तृतीयं भागं पिष्ट्वा मात्रां हरीतकीभिर्बिभीतकैरामलैर्वा तुल्यां वर्तयेत्, तासामेकां द्वे वा पूर्वोक्तानां कषायाणामन्यतमस्याञ्जलिमात्रेण विमृद्य बलवच्छ्लेष्मप्रसेकग्रन्थिज्वरोदररुचिषु पाययेदिति समानं पूर्वेण ।।१६।।

मदनफल के आठ योग (वटी योग)– मदनफलपिप्पली के दो भाग कल्क को रक्त काञ्चनार आदि द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) में मिलावें, प्रातःकाल मसलकर स्वच्छ कपड़े से २१ बार छान लें। इस छने हुए क्वाथ में तीसरे भाग मदनफल पिप्पली चूर्ण को मिलाकर हरड़, बहेड़ा अथवा आँवला के मात्रा के बराबर गोलियाँ (वटी) बना लें। पूर्व वर्णित किसी एक क्वाथ को एक अञ्जलि (४ पल) मात्रा में लेकर १ या २ गोली चूर्ण करके इसमें मिश्रित करके तीव्र कफप्रसेक, ग्रन्थिज्वर, उदररोग एवं अरुचि के रोगी को वमनार्थ पीने के लिए देना चाहिए। शेष निर्देश पूर्व के समान है।

चक्रपाणि– फलपिप्पलीनां द्वौ भागौ इति– मदनफलपिप्पली के तीन भाग करें– २ भाग का प्रयोग क्वाथ में भिगोने के लिए तथा १ भाग का प्रयोग छने हुए क्वाथ में डालकर वटी के निर्माण हेतु करें। दो भाग **मदनफलपिप्पली** चूर्ण को छः गुने कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ में डालकर भिगोवे, पश्चात् क्षार परिस्रावण विधि की तरह २१ बार कपड़े से छान लें। इस इक्कीस बार छाने गये क्वाथ में वटी के निर्माण हेतु तीसरे भाग का प्रयोग करें।

इस प्रकार कोविदार आदि आठ कषायों से अलग-अलग आठ कषाय (क्वाथ) छानकर तैयार होते हैं। जिस द्रव्य के क्वाथ में फलपिप्पली के दो भाग डालकर परिस्रावण विधि से शीतकषाय प्राप्त होता है, उसी में तीसरे भाग फलपिप्पली को डालकर वटिका का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यहाँ फलपिप्पली के हरीतकी आदि की आकृति के अनुसार आठ योग बनते हैं। दोष एवं आतुर के बलादि भेद से औषधि की मात्रा का ग्रहण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

समानं पूर्वेणेति– पूर्व योग की तरह यहाँ भी स्नेहन, स्वेदन एवं अभिमन्त्रण विधान का पालन करना चाहिए, यह अभिप्राय है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी प्रयुक्त 'पूर्ववत्' शब्द का अर्थ ग्रहण करें। ॥१६॥

विशेष (Comments)– मदनफल पिप्पली – २ भाग
मदनफल पिप्पली – १ भाग
कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ अलग-अलग – ६-६ भाग

सर्वप्रथम छः भाग **कोविदार** के क्वाथ में २ भाग मदनफलपिप्पली का चूर्ण मिलावें एवं इसे रात भर के लिए भिगो दें। प्रातःकाल मसलकर २१ बार छान लें। इस छने हुए शीतकषाय में १ भाग मदनफलपिप्पली चूर्ण मिलाकर हर्रातकी, विभीतकी अथवा आमलकी की आकृति के बराबर गोली बना लें एवं छाया शुष्क करके सुरक्षित रख लें। इसी प्रकार अन्य सात क्वाथों द्वारा वटिकाओं का निर्माण करें। इस प्रकार यहाँ मदनफलपिप्पली के आठ योग पूर्ण हो जाते हैं।

फलपिप्पलीक्षीरं, तेन वा क्षीरयवागूमथोभागे रक्तपित्ते हृद्दाहे च; तज्जस्य वा दध्न उत्तरकं कफच्छर्दितमकप्रसेकेषुः; तस्य वा पयसः शीतस्य सन्तानिकाञ्जलिं पित्ते प्रकुपिते उरःकण्ठहृदये च तनुकफोपदिग्धे, इति समानं पूर्वेण ।।१७।।

१. मदनफलपिप्पली द्वारा साधित क्षीर अथवा क्षीर साधित यवागू का प्रयोग अधोगरक्तपित्त या हृद् दाह में वमनार्थ करें।

२. अथवा मदनफलपिप्पली साधित क्षीर से निर्मित दधि की मलाई का प्रयोग कफज छर्दि, तमकश्वास एवं प्रसेक (Excessive salivation) में करना चाहिए।

३. अथवा क्षीर साधित (पूर्व विधि द्वारा निर्मित क्षीर से निकाली गयी) शीत सन्तानिका (मलाई) का प्रयोग ४ पल की मात्रा में पित्त प्रकोप, अथवा उरः, कण्ठ एवं हृदय में कफ के उपलेपित होने पर करना चाहिए। शेष निर्देश श्लोक नं. १४ के अनुसार है।

चक्रपाणि– फलपिप्पल्या क्षीरपाकविधिना साधितं क्षीरं फलपिप्पलीक्षीरम्– मदनफलपिप्पली से क्षीरपाक विधि द्वारा सिद्ध क्षीर को 'फलपिप्पलीक्षीर' कहा गया है, यह एक योग है। **तेन इति–** उसी से, फलपिप्पली क्षीर से निर्मित यवागू का प्रयोग अधोगरक्तपित्त एवं हृद्दाह में करना चाहिए।

तज्जस्येति– फलपिप्पली क्षीर से निर्मित दधि। **उत्तरकमिति**–सरम् (दही की मलाई) । फलपिप्पलीक्षीर से निर्मित दधि की मलाई का प्रयोग– कफज छर्दि, तमकश्वास एवं प्रसेक में करना चाहिए।

सन्तानिका क्षीरोपरिस्थः स्त्यानो भागः– दूध के ऊपर जमा हुआ भाग (दूध की मलाई) ॥१७॥

फलपिप्पलीशृतक्षीरान्नवनीतमुत्पन्नं फलादिकल्ककषायसिद्धं कफाभिभूताग्निं विशुष्यद्देहं च मात्रया पाययेदिति समानं पूर्वेण ।।१८।।

मदनफल पिप्पली द्वारा सिद्ध किये गये ठण्डे दूध से मक्खन निकालें। इस मक्खन को मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज व कृतवेधन के कल्क व क्वाथ से सिद्ध करें, अर्थात् पाक करें। इस सिद्ध नवनीत (घृत) का प्रयोग कफवृद्धि जन्य अग्निमांद्य के कारण होने वाले शरीर शुष्कता में मात्रापूर्वक वमनार्थ पिलाना चाहिए। शेष निर्देश पूर्व के समान है।

चक्रपाणि– 'फलादि' से यहाँ मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज तथा कृतवेधन; इन छः द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार ४ क्षीर के योग (१. फलपिप्पली क्षीर, २. क्षीर यवागू, ३. फलपिप्पली क्षीर साधित दधिसर (दही की मलाई), ४. फलपिप्पली क्षीर द्वारा निकाली गयी क्षीर सन्तानिका) के साथ घृतयोग को लेकर मदनफल के कुल पाँच योग बनते हैं, जिसे अध्यायोक्त उपसंहार में बताया गया है। ॥१८॥

फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण त्रिःसप्तकृत्वः सुपरिभावितेन पुष्परजःप्रकाशेन चूर्णेन सरसिसंजातं बृहत्सरोरुहं सायाह्नेऽवचूर्णयेत्, तद्रात्रिव्युषितं प्रभाते पुनरवचूर्णितमुद्धृत्य हरिद्राकृसरक्षीरयवागूनामन्यतमं सैन्धवगुडफाणितयुक्तमाकण्ठं पीतवन्तमाघ्रापयेत् सुकुमारमुत्क्लिष्टपित्त-कफमौषधद्वेषिणमिति समानं पूर्वेण ।।१९।।

मदनफल निर्मित ग्रेय (सूंघने योग्य) योग– मदनफल पिप्पली (मदनफल बीज) को कूटकर फलादि द्रव्यों (मदनफल, जीमूतक आदि) के क्वाथ की २१ भावना दें। पश्चात् इसे सुखाकर पुष्प के रज के समान महीन (श्लक्ष्ण) चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को तालाब में उत्पन्न एक बड़े कमल के पुष्प के ऊपर सायंकाल अवचूर्णन (Dusting) करें। प्रातःकाल पुनः उसी पुष्प पर चूर्ण का अवचूर्णन करके तोड़ लें। वमन के योग्य रोगी जिसे हल्दी, कृशरा, दूध अथवा यवागू में से कोई एक द्रव्य को सैन्धव नमक, गुड़ एवं राब मिलाकर आकण्ठ (भरपेट) सेवन कराया गया हो; को सूंघने के लिए दें। इस ग्रेय योग के सूंघने से सुकुमार प्रकृति वाले, उत्क्लेशित पित्त व कफ वाले तथा वामक औषधियों से जो द्वेष करते हों उन्हें वमन हो जाता है। शेष निर्देश पूर्ववत् है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'फलपिप्पलीनां फलादिकषायेण इति' के द्वारा एक ग्रेय योग को बताया गया है। **पुष्परजः प्रकाशेनेति–** पुष्प के रज के समान महीन चूर्ण कर लें। **हरिद्राभिधानः कृशरो हरिद्राकृशरः–** हल्दी डालकर बनायी गयी कृशरा को हरिद्राकृशरः कहा गया है। ॥१९॥

फलपिप्पलीनां भल्लातकविधिपरिस्रुतं स्वरसं पक्त्वा फाणितीभूतमातन्तुलीभावाल्लेहयेत्; आतपशुष्कं वा चूर्णीकृतं जीमूतकादिकषायेण पित्ते कफस्थानगते पाययेदिति समानं पूर्वेण ॥२०॥

मदनफल स्वरस का प्रयोग– १. मदनफलपिप्पली (मदनफल के बीज) को लेकर **भल्लातक स्वरस** निकालने की विधि के अनुसार स्वरस निकालें। इस स्वरस को अग्नि पर पकाकर राब के समान गाढ़ा करके अवलेह जैसा बनाकर चटावें।

२. मदनफलपिप्पली (बीज) को धूप में सुखाकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग जीमूतक आदि के क्वाथ के साथ करें। इसके पीने से कफस्थानगत पित्त का निर्हरण होता है। शेष निर्देश श्लोक नं.१४ के अनुसार है।

चक्रपाणि– भल्लातकविधिपरिस्रुतमिति– रसायन प्रकरण में वर्णित भल्लातक तैल निकालने की विधि के अनुसार मदन-फलपिप्पली के स्वरस को निकालना चाहिए। अर्थात् पातालयन्त्रविधि द्वारा निकाला गया स्वरस ग्रहण करना चाहिए। मदनफलपिप्पली-स्वरस को फाणित जैसा गाढ़ा करके प्रयोग करना, एक योग है तथा 'आतपशुष्कं वा इत्यादि' के द्वारा चूर्णयोग को बताया गया है। ॥२०॥

फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत् फलादीनां षण्णामन्यतमकषायस्रुतानि वर्तिक्रियाः फलादिकषायोपसर्जनाः पेया इति समानं पूर्वेण ॥२१॥

वर्ति योग– सर्वप्रथम मदनफलपिप्पली (मदनफल के बीज) को चूर्ण कर लें, पूर्व की भाँति मदनफल आदि छः द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में रातभर भिगों दें, प्रातःकाल हाथ से मसलकर छान लें। इस छने हुए शीतकषाय में १ भाग मदनफल पिप्पली चूर्ण डालकर वर्ति का निर्माण करें। इन वर्तियों को मदनफल आदि छः द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के साथ पीने के लिए दें।

चक्रपाणि– फलपिप्पलीचूर्णानि इति– मदनफलपिप्पलीचूर्ण को मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज तथा कृतवेधन; इन छः द्रव्यों से अलग-अलग क्वाथ का निर्माण करें तथा इनके क्वाथों में फलपिप्पली चूर्ण– २ भाग मिलाकर रात भर भिगों दें तथा प्रातः काल मसलकर छान लें। अलग-अलग छने हुए छः प्रकार के क्वाथ में १-१ भाग मदनफल चूर्ण मिलाकर वर्ति का निर्माण करें। इस प्रकार इन क्वाथों से वर्ति के छः योग बनते हैं।

वर्तिक्रियायां चतुर्गुणेन क्वाथेन पाकाद्वर्त्याकारता कर्तव्या– वर्ति क्रिया में चार गुने क्वाथ को पकाकर वर्ति का निर्माण करना चाहिए। यहाँ भी तथा लेह आदि में भी सामान्यतया मधु का प्रक्षेप डालना चाहिए, जबकि कुछ आचार्य मधु के पाक विरोधी होने से ऐसा नहीं करने का निर्देश देते हैं। ॥२१॥

विशेष (Comments)– सर्वप्रथम मदनफलपिप्पली को चूर्ण करें। इसको तीन बराबर-बराबर भागों में बाँट लें। प्रथम दो भाग का प्रयोग क्वाथ में भिगोने हेतु करें तथा अन्तिम एक भाग का प्रयोग शीत कषाय में डालने के लिए करें।

१. मदनफलपिप्पली चूर्ण – २ भाग

२. छः द्रव्यों में से किसी एक का क्वाथ– १२ भाग (चूर्ण का छः गुना)

दोनों द्रव्यों को मिश्रित करके रात भर रख दें, प्रातःकाल फल पिप्पली चूर्ण को मसलकर शीत कषाय को छान लें। इस प्रकार छना हुआ शीत कषाय– ४ भाग लेकर उसमें १ भाग मदनफलपिप्पली चूर्ण मिलाकर पकावें। पकाकर गाढ़ा करके इससे वर्ति बना लें।

फलपिप्पलीनामारग्वध-वृक्षक-स्वादुकण्टक-पाठा-पाटला-शार्ङ्गेष्टा-मूर्वा-सप्तपर्ण-नक्तमाल-पिचुमर्द-पटोल-सुषवी-गुडूची-सोमवल्क-द्वीपिकानां पिप्पली-पिप्पलीमूल-हस्तिपिप्पली-चित्रक-शृङ्गवेराणां चान्यतमकषायेण सिद्धो लेह इति समानं पूर्वेण ॥२२॥

अवलेह के बीस योग– मदनफलपिप्पली चूर्ण को अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के साथ पकाकर अवलेह का निर्माण करें। इस अवलेह का प्रयोग पूर्व निर्दिष्ट विधि (श्लोक नं.१४ में वर्णित विधि) के अनुसार करना चाहिए–

(१) अमलतास की गुद्दी
(२) वृक्षक (कुटज) की छाल
(३) स्वादुकण्टक
(४) पाठा
(५) पाटला
(६) शार्ङ्गेष्टा
(७) मूर्वा
(८) सप्तपर्ण
(९) करञ्ज (नक्तमाल)
(१०) पिचुमर्द (नीम की छाल)
(११) पटोल पत्र
(१२) सुषवी (करैला)

Scanned by CamScanner

(१३) गुडूची (गुड़बेल)
(१४) सोमवल्क
(१५) द्विपिका
(१६) पिप्पली
(१७) पिप्पलीमूल
(१८) हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली)
(१९) चित्रक
(२०) अदरक (आर्दा)

इस प्रकार अवलेह के २० योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'फलपिप्पलीनामारग्वधेत्यादि' के द्वारा आरग्वध आदि २० द्रव्यों के क्वाथ भेद से अवलेह के बीस योग बनते हैं, ऐसा जानना चाहिए। वृक्षक = कुटज। स्वादु कण्टक = विकङ्कत। शार्ङ्गेष्टा = गुञ्जा। सुषर्वा = करैला। द्वीपिका = हिंस्रा, अथवा कुछ आचार्य इससे कण्टकारी का ग्रहण करते हैं। ॥२२॥

फलपिप्पलीध्वेला-हरेणुका-शतपुष्पा-कुस्तुम्बुरु-तगर-कुष्ठ-त्वक्-चोरक-मरुबकागुरु-गुग्गुल्वेलवालुक-श्रीवेष्टक-परिपेलव-मांसी-शैलेयक-स्थौणेयक-सरल-पारावतपद्मशोकरोहिणीनां विंशतेरन्यतमस्य कषायेण साधितोत्कारिका उत्कारिका-कल्पेन, मोदका वा मोदककल्पेन, यथादोषरोगभक्ति प्रयोज्या इति समानं पूर्वेण ।।२३।।

उत्कारिका अथवा मोदक के बीस योग– मदनफल पिप्पली चूर्ण को अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के साथ पकाकर उत्कारिका निर्माण विधि के अनुसार उत्कारिका अथवा मोदक निर्माण विधि से मोदक (लड्डू) बना लें। दोष, रोग एवं रुचि के अनुसार चिकित्सक को इसका प्रयोग मात्रापूर्वक करना चाहिए। शेष निर्देश पूर्ववत् है।

१. एला
२. हरेणुका
३. शतपुष्पा
४. कुस्तुम्बरु
५. तगर
६. कूठ
७. त्वक् (दालचीनी त्वक्)
८. चोरक (चोरपुष्पी)
९. मरुबक (मरुआ)
१०. अगरु
११. गुग्गुलु
१२. एलवालुक
१३. श्रीवेष्टक (गन्धविरोजा)
१४. परिपेलव
१५. मांसी (जटामांसी)
१६. शैलेयक (छड़ीला)
१७. स्थौणेयक
१८. सरल
१९. पारावतपदी
२०. अशोक रोहिणी (कटुरोहिणी)

चक्रपाणि– 'फलपिप्पलीष्वित्यादि' के द्वारा उत्कारिका एवं मोदक के अलग-अलग बीस योग बताये गये हैं। **चोरकः गन्धद्रव्यं स्वनामख्यातम् –** इस नाम (चोरक) से प्रसिद्ध एक प्रकार का गन्ध द्रव्य। परिपेलव = केवटी मोथा। स्थौणेयक = ग्रन्थिपर्णिका। पारावतपदी = ज्योतिष्मती। **अशोकरोहिणी अशोकसदृशपत्रा लता 'कटुरोहिणी' इत्यन्ये–** अशोक के पत्र के समान पत्रों वाली एक प्रकार की लता। कुछ आचार्य इससे कटुरोहिणी (कुटकी) का ग्रहण करते हैं। **केचिदत्र स्थौणेयकं परित्यज्यापाकौपाद्या विंशति पूरयन्ति–** कुछ आचार्य यहाँ स्थौणेयक को छोड़कर 'अपाकौपादी' को ग्रहण करते हुए यह संख्या बीस को पूरा करते हैं। 'अपाकौपादी' – इस नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। उत्कारिका कल्पेनेति– सूदशास्त्र में वर्णित उत्कारिका विधान के अनुसार उत्कारिका का निर्माण करना चाहिए। ॥२३॥

फलपिप्पलीस्वरसकषायपरिभावितानि तिलशालितण्डुलपिष्टानि तत्कषायोपसर्जनानि शष्कुलीकल्पेन वा शष्कुल्यः, पूपकल्पेन वा पूपाः, इति समानं पूर्वेण ।।२४।।

एतेनैव च कल्पेन सुमुख-सुरस-कुठेरक-काण्डीर-कालमालक-पर्णासक-क्षवक-फणिज्झक-गृञ्जन-कासमर्द-भृङ्गराजानां पोटेक्षुवालिका-कालङ्कतक-दण्डैरकाणां चान्यतमस्य कषायेण कारयेत् ।।२५।।

मदनफल साधित अपूप अथवा शष्कुली योग– मदनफल पिप्पली के क्वाथ (Decoction) एवं स्वरस से तिल एवं शाली चावल के तण्डुल को भावित करें, पश्चात् सुखा कर चूर्ण कर लें, अर्थात् आटा बना लें। इस आटे को मदनफल पिप्पली क्वाथ अथवा स्वरस में माड़कर शष्कुली निर्माण विधि अथवा अपूप (मालपूआ) निर्माण विधि द्वारा पूड़ी या अपूप का निर्माण करें। शेष निर्देश पूर्ववत् है।

अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के क्वाथ में मदनफल पिप्पली चूर्ण को डालकर रात भर भिगो दें। पश्चात् प्रातःकाल हाथ से मसलकर क्वाथ (शीतकषाय) को छान लें। इस शीत कषाय से आटे को माड़कर अपूप अथवा शष्कुली (पूड़ी) का निर्माण करें। इस विधि से मदनफल पिप्पली द्वारा साधित अपूप अथवा शष्कुली के १५ योग बनते हैं, यथा–

Scanned by CamScanner

१. सुनुख	२. सुरसा	३. कुठेरक
४. काण्डीर	५. कालमालक	६. पर्णास
७. क्षवक (नकछींकनी)	८. फणिज्झक (दवना)	९. गृञ्जनक
१०. कासमर्द (कसौंदी)	११. भृङ्गराज	१२. पोटा
१३. इक्षुवालिका	१४. कालङ्कतक	१५. दण्डैरका

चक्रपाणि– 'फलपिप्पलीस्वरसेनेत्यादि' के द्वारा शष्कुली (पूड़ी) एवं अपूप (मालपूआ) के अलग-अलग योगों को बताया गया है। 'एतेनैव च कल्पेन' से सुमख आदि १५ द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ से शष्कुली (पूड़ी) अथवा अपूप का निर्माण करें, अर्थात् पकावें। इस प्रकार इन पन्द्रह द्रव्यों के क्वाथ से १५ योग बनते हैं।

यहाँ श्लोक नं.२४ के योग को मिलाकर कुल १६ योग हो जाते हैं। पोटा = इक्षुगन्धा। दण्डैरका-गुन्द्रा नामक एक गुल्म, अथवा इससे 'नल' का ग्रहण किया गया है। ॥२४-२५॥

तथा बदरषाडव-राग-लेह-मोदकोत्कारिका-तर्पण-पानक-मांसरस-यूष-मद्यानां मदनफलान्यन्यतमेनोपसृज्य यथादोषरोगभक्ति दद्यात्; तैः साधु वमतीति ॥२६॥

मदनफलपिप्पली साधित अन्य वामक योग– १. बेर का षाडव (Name of the sour liquid prepared jujube fruit), २. राग (An appetiser and pungent tastes), ३. लेह (Linctus), ४. मोदक (लड्डू), ५. उत्कारिका (Pan-cake), ६. तर्पण, ७. पानक, ८. मांसरस, ९. यूष, १०. मद्य। इनमें से किसी एक के साथ मदनफलपिप्पली चूर्ण को मिलाकर – दोष, रोग एवं इच्छानुसार (रुचि के अनुसार) आतुर को पीने के लिए देना चाहिए। इनके प्रयोग से सम्यक् वमन होता है।

चक्रपाणि– 'तथा बदरषाडव इत्यादि' के द्वारा दस योगों की गणना की गयी है। **बदरकृतः षाडवो बदरषाडवः–** बदर (बेर) द्वारा निर्मित षाडव को बदरषाडव कहा गया है। ॥२६॥

मदनः करहाटश्च राठः पिण्डीतकः फलम् । श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ॥२७॥

मदनफल के पर्याय– मदन, करहाट, राठ, पिण्डीतक, फल एवं श्वसन; मदनफल के पर्याय बताये गये हैं। इस अध्याय में इनकी ही कल्पनाओं का वर्णन किया गया है।

चक्रपाणि– व्यवहारार्थ मदनफल के पर्यायों को यहाँ – 'मदनकरहाटश्चेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **तस्यकल्पनेति–** यहाँ जिन पर्यायों का उल्लेख किया गया है, उन्हीं की कल्पनाओं का यहाँ वर्णन किया गया है। अधिक योगों में प्रयुक्त होने के कारण इसके पर्यायों का यहाँ अभिधान किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। इसी प्रकार अन्य स्थान पर वर्णित पर्यायों का प्रयोजन समझना चाहिए ॥२७॥

तत्र श्लोकाः–

नव योगाः कषायेषु, मात्रास्वष्टौ, पयोघृते । पञ्च, फाणितचूर्णे द्वौ ग्रेये, वर्तिक्रियासु षट् ॥२८॥
विंशतिर्विंशतिर्लेहमोदकोत्कारिकासु च । शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडश ॥२९॥
दशान्ये षाडवाद्येषु त्रयस्त्रिंशदिदं शतम् । योगानां विधिवद्दिष्टं फलकल्पे महर्षिणा ॥३०॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते कल्पस्थाने मदनकल्पो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस प्रकार मदनकल्प नामक इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने मदनफल के कुल १३३ योगों का विधिपूर्वक वर्णन किया है, जिसका उल्लेख नीचे किया जा रहा है–

१. कषाय के नौ (Nine) योग। (९)

२. मात्राओं के आठ योग। (८)

३. दूध व घृत के पाँच योग। (५)

४. फाणित एवं चूर्ण के दो योग (एक योग फाणित + एक योग चूर्ण) (२)

५. ग्रेय योग – एक (१)

६. वर्तिक्रिया के छः योग (६)

७. बीस योग लेह के, बीस योग मोदक के एवं बीस उत्कारिका के (२० + २० + २० = ६०)

Scanned by CamScanner

८. शष्कुली (पूड़ी) के १६ एवं अपूप के १६ योग (१६ + १६ = ३२ योग)

९. षाडव के दस योग (१०)

कुल योगों की संख्या = १३३

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त; चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में 'मदनकल्प' नामक प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'नव योगा इत्यादि' के द्वारा मदनफल योगों के नौ आदि संख्या, जो अधिकतम १३३ हैं, के निराकरणार्थ तथा सुखपूर्वक उन्हें याद रखने के लिए; संक्षेप में उनका अभिधान किया गया है। यहाँ वर्णित विषयों का विवेचन यथास्थान कर दिया गया है। ॥२८-३०॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में मदनकल्प नामक प्रथम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातो जीमूतककल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे जीमूतक कल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– मदनकल्पानन्तरमनपायित्वेनेक्ष्वाक्वादिद्रव्येभ्यः प्राधान्याज्जीमूतकस्य जीमूतककल्पोऽभिधीयते– मदन कल्प के अनन्तर, मदनफल की तुलना में कुछ अधिक उपद्रव करने के कारण तथा इक्ष्वाकु आदि द्रव्यों में प्रधान होने के कारण जीमूतक (देवदाली) कल्प का यहाँ अभिधान किया जा रहा है। [इक्ष्वाकु आदि द्रव्यों की तुलना में जीमूतक के उपद्रव कम होते हैं, इसलिए इसे प्रधान माना गया है।] **एवं यथायथैषामनपायित्वप्रकर्षः, तथा तथा पूर्वनिवेशनं ज्ञेयम्–** जैसे-जैसे इनके उपद्रवों की प्रकर्षता (वृद्धि) होती है, वैसे-वैसे अध्यायों को व्यवस्थित किया गया है, ऐसा जानना चाहिए, अर्थात् उपद्रवों के बढ़ते क्रम के अनुसार अध्यायों को रखा गया है। इस प्रकार मदनकल्प के बाद आने वाले अध्यायों के सम्बन्ध की यहाँ व्याख्या कर दी गयी है, ऐसा जानना चाहिए।

मदनफलस्य स्नेहस्वेदादिपूर्वकत्ववदिहापि क्रमोऽतिदेशादुन्नेतव्यः– जिस प्रकार मदनफल के योगों का प्रयोग स्नेहन स्वेदन के बाद किया जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी उसी पूर्वकर्म का प्रयोग कराते हुए वमन कराना चाहिए। ऐसा अतिदेश (सादृश्यता) के कारण कहा गया है।

कल्पं जीमूतकस्येमं फलपुष्पाश्रयं शृणु । गरागरी च वेणी च तथा स्याद्देवताडकः ।।३।।

जीमूतक के पर्याय– हे अग्निवेश! जीमूतक के फल एवं पुष्प विषयक कल्पों का विवेचन मेरे द्वारा किया जा रहा है, उसे सुनो– गरागरी, वेणी एवं देवताडक; ये तीन जीमूतक के पर्यायवाची हैं। अर्थात् एक ही अर्थ को बताने वाले हैं।

चक्रपाणि– 'फलपुष्पाश्रयमिति' इस वचन के द्वारा जीमूतक के पत्र एवं नाल आदि का प्रयोग वमन के रूप में नहीं किया जाता है, यह भाव प्राप्त होता है। अर्थात् वमन हेतु फल एवं पुष्प का ही प्रयोग किया जाता है। 'गरागरी' इत्यादि के द्वारा जीमूतक के पर्याय का अभिधान किया गया है। जीमूतकः = पीतघोषक ।।३।।

जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम् । प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ।।४।।

जीमूतक के औषधीय गुण– वातादि नाशक औषधियों के साथ जीमूतक का प्रयोग करने पर यह त्रिदोषनाशक गुण को दर्शाता है। इसका प्रयोग विशेष रूप से ज्वर, श्वास, हिक्का आदि रोगों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– त्रिदोषघ्नमिति यथास्वं वातहरादिद्रव्ययुक्तं, तथा वातादिहरद्रव्यकल्पितं च सत् त्रिदोषघ्नं भवति– जीमूतक का प्रयोग वातहर आदि द्रव्यों के साथ करने पर अपने क्रम के अनुसार दोषनाशक गुणों को दर्शाता है। इस प्रकार यह त्रिदोषघ्न होता है। 'हिक्काद्येष्विति' में **आद्य** शब्द का प्रयोग– उरोगत दोषों से उत्पन्न होने वाले कास आदि के अर्थ में हुआ है। ।।४।।

यथोक्तगुणयुक्तानां देशजानां यथाविधि । पयः पुष्पेऽस्य, निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता ।।५।।
लोमशे क्षीरसंतानं, दध्युत्तरमलोमशे । शृते पयसि दध्यम्लं जातं हरितपाण्डुके ।।६।।
जीर्णानां च सुशुष्काणां न्यस्तानां भाजने शुचौ । चूर्णस्य पयसा शुक्तिं वातपित्तार्दितः पिबेत् ।।७।।

जीमूतक के पाँच प्रयोग– अपने निर्धारित गुणों से युक्त, उत्तम गुणों से युक्त भूमि में उत्पन्न तथा विधिपूर्वक संग्रहित किये गये हरे या पाण्डु वर्ण के जीमूतक फल एवं पुष्पों का प्रयोग करना चाहिए।

१. जीमूतक पुष्प साधित क्षीर का प्रयोग।
२. ताजे फल से साधित क्षीर द्वारा निर्मित पेया का प्रयोग।
३. जीमूतक के रोंमश फल द्वारा पकाये गये दूध की मलाई (Cream)
४. रोमरहित जीमूतक फल साधित दूध से निर्मित दधि की मलाई।
५. जीमूतक के फल (हरित एवं पाण्डु वर्णयुक्त) साधित दूध से निर्मित अम्ल (खट्टी) दधि का प्रयोग।

मात्रा– पक्व जीमूतक के फल को लेकर शुष्क कर लें। पश्चात् इसका महीन चूर्ण बनाकर एक साफ-सुथरे पात्र में सुरक्षित रख लें। वात-पित्त जन्य व्याधियों में इस चूर्ण का प्रयोग शुक्ति मात्रा (अर्धपल = २ तोला की मात्रा) में दूध के साथ करना चाहिए अथवा पीना चाहिए।

चक्रपाणि– यथोक्तगुणयुक्तानामिति– शास्त्र निर्दिष्ट गुणों से युक्त होना, अपने समय के अनुसार सम्पूर्ण रसादि गुणों से परिपूर्ण होना, इसका अर्थ मदनफल प्रकरण में कहे गये गुणों के अनुसार लगाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

देशजानामिति– प्रशस्त भूमि में औषधि का उत्पन्न होना, इसका विवेचन मदनकल्प प्रकरण में किया गया है।

यथाविधीति– मदनकल्प में वर्णित विधि के अनुसार औषधियों का ग्रहण करना। 'पयः पुष्पे इति' से जीमूतक के एक योग (प्रयोग) को बताया गया है। अर्थात् जीमूतक पुष्प साधित क्षीर का प्रयोग प्रथम योग है। **निर्वृत्ते इत्यादिको द्वितीयो योगः–** 'निर्वृत्ते इत्यादि' के द्वारा दूसरे योग को बताया गया है। निर्वृत्ते इति उत्पन्नमात्रे फले– उत्पन्न मात्र फल, अर्थात् कच्चे फल; कच्चे फल को दूध में पकावें तथा सिद्ध दूध द्वारा पेया का निर्माण करें। अर्थात् फल द्वारा साधित क्षीर से पेया तैयार करें।

रोमशे (लोमशे) इत्यादि के द्वारा तृतीय योग को बताया गया है। रोमशे इति उपगतरोम्णि फले– रोमयुक्त फल, रोमयुक्त जीमूतक फल द्वारा साधित क्षीर की सन्तानिका (मलाई), अर्थात् क्षीर से निकाली गयी मलाई का ग्रहण करना चाहिए।

दध्युत्तरमित्यादिकश्चतुर्थो योगः– 'दध्युत्तरमित्यादि' के द्वारा चतुर्थ योग को बताया गया है। यहाँ भी रोमावस्था के बीत जाने पर जीमूतक के फल को लेकर क्षीर सिद्ध करें। इस क्षीर से निर्मित दधि के दधिसर (मलाई) का प्रयोग वमनार्थ करना चाहिए। [रोमश अवस्था अत्यधिक अपक्व अवस्था होती है।]

'शृते पयसीति' द्वारा पञ्चम योग को बताया गया है। दध्यम्लमिति– अम्ल अवस्था को प्राप्त दधि, अर्थात् खट्टी दही। **हरितपाण्डुके इति–** हरे अथवा पाण्डु वर्ण युक्त जीमूतक के फल का प्रयोग करें, अर्थात् हरे अथवा पाण्डु वर्ण के जीमूतक फल साधित क्षीर से निर्मित खट्टी दही का प्रयोग करें।

'जीर्णानामिति' के द्वारा षष्टम योग को बताया गया है। ये सभी योग दूध से सम्बन्ध रखने के कारण अविधीयमान क्षीर के समान होते हुए भी व क्षीर के साथ प्रयुक्त होने के कारण ही उपसंहार प्रकरण में 'षट् क्षीरे' इति के द्वारा संग्रहीत किये गये हैं। ॥५-७॥

आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रसुतं पिबेत्। कफजेऽरोचके कासे पाण्डुरोगे सयक्ष्मणि ॥८॥
द्वे चापोथ्याथवा त्रीणि गुडूच्या मधुकस्य वा। कोविदारादिकानां वा निम्बस्य कुटजस्य वा ॥९॥
कषायेष्वासुतं पूत्वा तेनैव विधिना पिबेत्। अथवाऽऽरग्वधादीनां सप्तानां पूर्ववत् पिबेत् ॥१०॥
एकैकस्य कषायेण पित्तश्लेष्मज्वरार्दितः।

मदिरा योग– जीमूतक के फल चूर्ण को सुरामण्ड (Scum of beer or yeast) में रात भर भिगो दें। प्रातःकाल हाथ से मसलकर छान लें एवं रोगी को पिलावें। इस योग का पान कफज अरोचक, कास, पाण्डुरोग एवं यक्ष्मा के रोगी में करना चाहिए। [कफज अरोचक, कफज कास, कफज पाण्डु रोग एवं यक्ष्मा के रोगी में करना चाहिए।]

अन्य बारह योग– सुपक्व जीमूतक के फल को लेकर भलीभाँति कूट कर यवकुट कर लें। इस यवकुट को अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ (Decoction) में रात भर भिगो दें। प्रातःकाल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छान लें। इस क्वाथ का प्रयोग विधिपूर्वक पित्त व कफ ज्वर से पीड़ित रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

१. गुडूची क्वाथ
२. यष्टीमधु क्वाथ
३. रक्त काञ्चनार का क्वाथ
४. श्वेत काञ्चनार का क्वाथ
५. कदम्ब क्वाथ
६. जलवेत का क्वाथ
७. शणपुष्पी क्वाथ
८. मदार का क्वाथ
९. अपामार्ग का क्वाथ
१०. नीम का क्वाथ
११. इन्द्रयव का क्वाथ
१२. कुटज की छाल का क्वाथ

इन द्रव्यों के योग से कुल बारह योग बनते हैं।

इसी विधि द्वारा आरग्वध आदि सात द्रव्यों के क्वाथ में जीमूतक को भिगोकर छान लें। इनमें से किसी एक द्रव्य के क्वाथ का पान पित्त व कफ ज्वर से पीड़ित रोगी को वमनार्थ करना चाहिए। इस प्रकार आरग्वध आदि द्वारा कुल सात योग बनते हैं। [१. आरग्वध, २. वृक्षक, ३. स्वादुकण्टक, ४. पाठा, ५. पाटला, ६. शार्ङ्गेष्टा तथा ७. मूर्वा]

चक्रपाणि– 'आसुत्येत्यादि' के द्वारा मदिरा के एक योग का अभिधान किया गया है। आसुत्येति– रात भर भिगो करके, जीमूतक फल के यवकुट किये हुए चूर्ण को रात भर सुरामण्ड में भिगो दें। प्रातःकाल इसे हाथ से मसलकर छान लें। इस योग में पक्व जीमूतक के फल का ही प्रयोग करना चाहिए। बाद के योगों में भी पक्व फल का ही ग्रहण करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– "फलं पर्यागतं ग्राह्यं" [पूर्णतः पक्व फल का ही ग्रहण करना चाहिए, फलों के बारे में यह सामान्य निर्देश दिया गया है।

'द्वे चेत्यादि' के द्वारा द्वादश कषाय के भेद से बारह योग बनते हैं।

तेनैव विधिनेति– उसी विधि द्वारा, मदनकल्प में वर्णित क्वाथ साधन विधि के द्वारा। 'अथवा इति' से यहाँ पूर्व में वर्णित (क.अ.

Scanned by CamScanner

१/२२) आरग्वध आदि सात द्रव्यों के क्वाथ भेद से सात योग हो जाते हैं। 'आरग्वधादयः' से आरग्वध; वृक्षक, स्वादुकण्टक, पाठा, पाटला, शाङ्गेष्टा एवं मूर्वा का ग्रहण किया गया है, जिसका विवेचन पूर्व अध्याय में किया गया है। ॥८-१०॥

मात्राःस्युः फलवच्चाष्टौ कोलमात्रास्तु ता मताः ।।११।।

आठ मात्रा योग– मदनफल के मात्रा योग की भाँति जीमूतकफल के भी आठ मात्रा योग होते हैं। विशेष रूप से जीमूतक फल की मात्रा १ कोल (अर्ध तोला) की होती है।

चक्रपाणि– 'मात्रा स्युरित्यादि' के द्वारा आठ मात्रा योगों को बताया गया है। **फलवदिति मदनफले यथा अष्टौ मात्रा योगा उक्तास्तथेहापि कर्तव्या–** मदनफल में जिस प्रकार मात्रा के आठ योग कहे गये हैं, वैसा ही यहाँ भी ग्रहण करना चाहिए। विशेष रूप से इनकी मात्रा १ कोल (अर्ध तोले) की होती है, न कि मदनफल की तरह हरीतकी आदि के प्रमाण की बनानी चाहिए। ॥११॥

विशेष– मात्रा से यहाँ वटी (Pills) अर्थ लिया गया है। अथवा **औषधि मात्रा 'वटी'** अर्थ में प्रयुक्त है। जैसा कि मदनफल के चूर्ण को वामक क्वाथों के साथ पीसकर हरीतकी, विभीतकी अथवा आमलकी की आकृति के बराबर गोलियाँ (वटी) बनाने का निर्देश दिया गया है।

जीवकर्षभकेक्षूणां शतावर्या रसेन वा । पित्तश्लेष्मज्वरे दद्याद्वातपित्तज्वरेऽथवा ।।१२।।

जीमूतक फल चूर्ण का प्रयोग– पित्त-कफ ज्वर में अथवा वातपित्त ज्वर में जीवक, ऋषभक, इक्षु अथवा शतावरी के स्वरस या क्वाथ के साथ जीमूतक फल का चूर्ण रोगी को वमनार्थ पीने के लिए देना चाहिए।

चक्रपाणि– 'जीवकेत्यादि' के द्वारा **पानसाधनकषाय** भेद से ४ योग बताये गये हैं। ॥१२॥

तथा जीमूतकक्षीरात् समुत्पन्नं पचेद्घृतम् । फलादीनां कषायेण श्रेष्ठं तद्वमनं मतम् ।।१३।।

घृत योग– जीमूतक साधित क्षीर से उत्पन्न घृत को फलादि द्रव्यों (मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज एवं कृतवेधन) के क्वाथ से विधिवत सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत के प्रयोग से सम्यक् वमन होता है। अर्थात् यह घृत वमन कार्य हेतु श्रेष्ठ माना गया है।

चक्रपाणि– तथेत्यादि के द्वारा एक घृत योग का अभिधान किया गया है। ॥१३॥

तत्र श्लोकौ–

षट् क्षीरे मदिरामण्डे एको द्वादश चापरे । सप्त चारग्वधादीनां कषायेऽष्टौ च वर्तिषु ।।१४।।
जीवकादिषु चत्वारो घृतं चैकं प्रकीर्तितम् । कल्पे जीमूतकानां च योगाश्चिंशन्नवाधिकाः ।।१५।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने जीमूतककल्पो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– जीमूतक कल्प नामक इस अध्याय में जीमूतक के ३९ योगों का विवेचन किया गया है, जो अधोलिखित हैं–

१. क्षीर के छः योग (जीमूतक साधित क्षीर के छः योग)।	(६)
२. मदिरा मण्ड से एक योग।	(१)
३. गुडूची आदि द्रव्यों के क्वाथ से बारह योग।	(१२)
४. आरग्वध आदि द्रव्यों के क्वाथ से सात योग।	(७)
५. वर्ति के आठ योग	(८)
६. जीवकादि द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ से चार योग	(४)
७. घृत योग – एक	(१)
	कुल = ३९

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त; चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में जीमूतककल्प नामक द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'षट् क्षीरे इत्यादि' के द्वारा उपसंहार में वर्णित विषय को यथास्थान स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका कल्पस्थान में जीमूतककल्प नामक द्वितीय अध्याय की 'आयुर्षा' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

तृतीयोऽध्यायः ।

अथात इक्ष्वाकुकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।
सिद्धं वक्ष्याम्यथेक्ष्वाकुकल्पं येषां प्रशस्यते ।

इसके बाद (मैं) इक्ष्वाकु कल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

इस अध्याय में सिद्ध इक्ष्वाकु कल्पों के साथ-साथ जिनमें इनका प्रयोग विशेष लाभदायक होता है उन व्याधियों का भी वर्णन करूँगा।

चक्रपाणि– उक्ताध्यायसंबन्धादिक्ष्वाकुकल्पोऽभिधीयते– पूर्व अध्याय से इसका संबन्ध होने के कारण यहाँ 'इक्ष्वाकुकल्प' का अभिधान किया जा रहा है। **प्रशस्यते इक्ष्वाकुकल्पस्तान् वक्ष्यामीति योज्यम् –** जिन रोगियों के लिए इक्ष्वाकु कल्प विशेष हितकर होता है, उनको बताऊँगा। अर्थात् उन व्याधियों का भी उल्लेख करूँगा, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। ।।१-२।।

लम्बाऽथ कटुकालाबूस्तुम्बी पिण्डफला तथा ।।३।।
इक्ष्वाकुः फलिनी चैव प्रोच्यते तस्य कल्पना ।

इक्ष्वाकु के पर्याय (Synonyms)– १. लम्बा, २. कटुकालाबू (तितलौकी) ३. तुम्बी, ४. पिण्डफला, ५. इक्ष्वाकु, ६. फलिनी। ये सभी इक्ष्वाकु के पर्याय हैं। इसकी कल्पनाओं का वर्णन इस अध्याय में विशेष रूप से किया जा रहा है।

चक्रपाणि– 'लम्बेत्यादि' के द्वारा पर्याय का कथन किया गया है। ।।३।।

कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्ते कफकर्षिते ।।४।।
प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते ।

इक्ष्वाकु कल्पना के योग्य रोग एवं रोगी– इन रोगियों में इक्ष्वाकु द्वारा वमन कराना विशेष हितकर होता है–

१. कास (Cough), २. श्वास (Asthma), ३. विष रोग (toxicosis), ४. छर्दि रोग, ५. ज्वर, ६. शुष्क कफ वाले रोगी अर्थात् जिसमें कफ शुष्क हो गया हो, ७. जिसे घबराहट होती हो।

चक्रपाणि– तदिष्यते इति– इक्ष्वाकु कल्पना का प्रयोग करना हितकारी होता है। ।।४।।

अपुष्पस्य प्रवालानां मुष्टिं प्रादेशसंमितम् ।।५।।
क्षीरप्रस्थे शृतं दद्यात् पित्तोद्रिक्ते कफज्वरे । पुष्पादिषु च चत्वारः क्षीरे जीमूतके यथा ।।६।।
योगा हरितपाण्डूनां सुरामण्डेन पञ्चमः । फलस्वरसभागं च त्रिगुणक्षीरसाधितम् ।।७।।
उरःस्थिते कफे दद्यात् स्वरभेदे च पीनसे । जीर्णे मध्योद्धृते क्षीरं प्रक्षिपेत्तद्यदा दधि ।।८।।
जातं स्यात् सकफेकासे श्वासे वम्यां च तत् पिबेत् । अजाक्षीरेण बीजानि भावयेत् पाययेत च ।।९।।
विषगुल्मोदरग्रन्थिगण्डेषु श्लीपदेषु च । मस्तुना वा फलान्मध्यं पाण्डुकुष्ठविषार्दितः ।।१०।।
तेन तक्रं विपक्वं वा सक्षौद्रलवणं पिबेत् ।

इक्ष्वाकु साधित क्षीर के योग– १. जिस इक्ष्वाकु (तितलौकी) में पुष्प न आये हों, ऐसे इक्ष्वाकु के कोमल पत्र– १ मुट्ठी मात्रा में लेकर एक प्रस्थ (६४ तोले) दूध के साथ पकावें। इस सिद्ध दुग्ध को कफोद्रिक्त (कफोत्क्लेशित) कफज्वर के रोगी को वमन हेतु पीने के लिए दें।

२-६. पूर्व अध्याय में जिस प्रकार जीमूतक पुष्पादि के चार क्षीर साधित योग बताये गये हैं, वैसे ही इक्ष्वाकु के भी ४ योग बनते हैं। पाँचवाँ योग हरित एवं पाण्डु वर्ण के इक्ष्वाकु फल को सुरामण्ड के साथ बनाया जाता है।

७. इक्ष्वाकु फलस्वरस– १ भाग, गोदुग्ध– ३ भाग, जल– ४ भाग; सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, जब दूध मात्र शेष बचे तब उसे छानकर रोगी को वमनार्थ पिलावें। इस क्षीर का प्रयोग कफ से आक्रान्त उरःप्रदेश, स्वरभेद (Hoarseness of the voice) एवं पीनस (coryza) के रोगी में वमनार्थ करना चाहिए।

८. पक्व तितलौकी के मध्य भाग की फलमज्जा को निकालकर खाली कर लें। इस खाली तितलौकी (तुमड़ी) में दूध डालकर दधि जमावें। इस दधि का प्रयोग कफज कास, कफज श्वास एवं कफज वमन रोग में करें।

Scanned by CamScanner

९. तितलौकी के बीज को कूटकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में अजाक्षीर की सात भावना देकर सुखा लें एवं पुनः चूर्ण कर लें। अथवा तितलौकी के बीज में अजाक्षीर की सात भावना देकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग विषविकार (toxicosis), गुल्म, उदररोग, ग्रन्थिरोग, गण्डमाला, गलगण्ड एवं श्लीपद आदि रोगों में बकरी के दूध के साथ पीने के लिए देना चाहिए।

तक्र के योग– तितलौकी की गूदा को लेकर दही के पानी के साथ पाण्डुरोग (Anaemia), कुष्ठ रोग (Skin diseases including leprosy) अथवा विष विकार से पीड़ित रोगी को पीने के लिए दें। अथवा तितलौकी के गुदे को तक्र के साथ पकावें तथा पक्व तक्र में मधु व सैन्धव नमक डालकर पाण्डु (Anaemia), कुष्ठ एवं विष विकार के रोगी को पीने के लिए दें।

चक्रपाणि– 'अपुष्पस्येत्यादि' के द्वारा एक क्षीर योग को बताया गया है। अपुष्पस्य इति अनुत्पन्नपुष्पस्य– ऐसे तितलौकी के पौधे जिसमें पुष्प न आया हो। अर्थात् ऐसे पौधे के पत्तों को ग्रहण करना चाहिए। **मुष्टिं प्रादेशसंमितमिति प्रदेशिन्या मूलपर्यन्तकृतमुष्टिपरिमाणम्–** अङ्गुठे व तर्जनी के बीच के भाग का स्थान या व्यक्ति के हाथ के पञ्जे में जितनी पत्तियाँ पकड़ में आ जाय मुष्टि परिमाण कहा जाता है। यहाँ 'मुष्टि' शब्द एक पल के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है।

क्षीरप्रस्थे शृतमिति– १ प्रस्थ दुग्ध में, निर्धारित मात्रा में इक्ष्वाकुपत्र को डालकर, ४ गुना पानी डालकर दुग्ध सिद्ध करें। दुग्ध मात्र शेष बचने पर दूध को अग्नि पर से उतार लें। 'पुष्पादिष्वित्यादि' के द्वारा चार क्षीर योगों को बताया गया है। कल्प स्थान अ.२ में – जिस प्रकार – "पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता। रोमशे क्षीरसंतानं दध्युत्तरमरोमशे" के द्वारा जीमूतक के चार क्षीर योग बताये गये हैं वैसे ही (उसी विधि द्वारा) यहाँ भी चार योगों का निर्माण करना चाहिए।

१. इक्ष्वाकु के पुष्प से सिद्ध क्षीर का प्रयोग।

२. इक्ष्वाकु फल साधित क्षीर से निर्मित पेया का प्रयोग।

३. रोमश फल साधित क्षीर की सन्तानिका (मलाई)

४. अरोमश फल साधित क्षीर की दधि से निकाली गयी मलाई।

'हरीतेत्यादि' के द्वारा सुरायोग को बताया गया है। हरित एवं पाण्डु वर्ण के इक्ष्वाकु फल को सुरामण्ड में डालकर रात भर भिगो दें, प्रातःकाल हाथ से मसलकर सुरामण्ड को छान लें एवं इसे रोगी को पीने के लिए दें। [इसका निर्माण जीमूतक के मद्य योग की तरह करना चाहिए।] जीमूतक विधान की तरह यहाँ भी– **"आसुत्य च सुरामण्डे मृदित्वा प्रस्तुतं पिबेत्"** ग्रन्थोक्त विधान का पालन करना चाहिए। 'आसुत्य' से यहाँ औषधि को सुरामण्ड में रात भर भिगोना अर्थ लिया गया है।

'फलस्वरसेत्यादि' के द्वारा छठें क्षीर योग को बताया गया है।

त्रिगुणक्षीरसाधितमिति त्रिगुणेन क्षीरेणसाधितं, तच्च चतुर्गुणेन तोयेन साधनीयम् – इक्ष्वाकुफलस्वरस– १ भाग, गोदुग्ध तीन भाग (३ भाग), जल– ४ भाग; डालकर क्षीर सिद्ध करें। यहाँ फलशब्द से इक्ष्वाकुफल का ग्रहण किया गया है। 'जीर्णेत्यादि' के द्वारा सातवाँ **क्षीर योग** बताया गया है।

मध्योद्धृते इति उद्धृत मध्ये– पक्व तितलौकी के मध्य भाग (फलमज्जा + बीज) को निकालकर खाली तुमड़ी में दूध भरकर दही जमावें। इस जमी हुई दही का प्रयोग कास, श्वास व वमन रोग में करें।

'अजाक्षीरेणेत्यादि' के द्वारा अष्टम क्षीरयोग को बताया गया है । 'तेन तक्रमित्यादि' के द्वारा तक्र योग को बताया गया है। **तेन इति–** तुम्बी फल के मध्य भाग द्वारा ॥५-१०॥

तुम्व्या फलरसैः शुष्कैः सपुष्पैरवचूर्णितम् ॥११॥
छर्दयेन्माल्यमाघ्राय गन्धसंपत्सुखोचितः ।

इक्ष्वाकु के घ्रेय योग– तुम्बी (तितलौकी) के पुष्प एवं फलों के रस को धूप में सुखाकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का अवचूर्णन अच्छे पुष्पों की माला अथवा पुष्पों पर करके सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करने वाले सुकुमार व्यक्तियों को सूंघावें। इसके सूंघने मात्र से व्यक्ति को वमन होने लगता है।

चक्रपाणि– 'तुम्व्या इत्यादि' के द्वारा घ्रेय योग का अभिधान किया गया है। गन्धसंपत्सुखोचित इति– उचित प्रकार से सुगन्धित करके, (अनुकूल गन्ध से युक्त करके) । शुष्क चूर्ण किये हुए तुम्बीफल के रस अथवा पुष्प को मनोनुकूल गन्ध वाले पुष्प पर छिड़ककर रोगी को सुंघाना चाहिए। वह रोगी जो नित्य गन्ध युक्त पुष्पों को सूंघने का अभ्यस्त है। उसे नित्य प्रयोग में लाये जाने वाले पुष्प पर इस घ्रेय चूर्ण को छिड़ककर सुंघाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

इक्ष्वाकु फल के रस अथवा पुष्प के चूर्ण से अवचूर्णित पुष्पों की माला को सूंघने मात्र से वमन होने लगता है। जिन्हें इनका अभ्यास नहीं है, उन्हें इसकी गन्ध अच्छी नहीं लगती, यह भाव है। ॥११॥

भक्षयेत् फलमध्यं वा गुडेन पललेन च ।।१२।।
इक्ष्वाकुफलतैलं वा सिद्धं वा पूर्ववद्घृतम् ।

१. तितलौकी (इक्ष्वाकु) फल के गुदे को गुड़ व पलल (तिल का कल्क) के साथ सेवन करें, अथवा

२. इक्ष्वाकु फल के कल्क से सिद्ध तैल अथवा ३. पूर्व अध्याय में वर्णित घृत की तरह इक्ष्वाकु फल साधित क्षीर से निर्मित घृत को मदनफलादि द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध कर वमनार्थ प्रयोग करें।

चक्रपाणि– 'भक्षयेदित्यादि' के द्वारा एक वमन योग का वर्णन किया गया है। **इक्ष्वाकुफलकल्कसाधितं तैलमिक्ष्वाकुफलतैलम्–** इक्ष्वाकु फल के कल्क द्वारा सिद्ध तैल को 'इक्ष्वाकुफलतैल' नाम दिया गया है। यहाँ एक ही तैल योग का वर्णन है, अर्थात् इस अध्याय में यही एक तैल योग है। **पूर्ववदिति–** जीमूतक की भाँति, उससे "तथा जीमूतकक्षीरात्" (क.अ.२) इत्यादि के द्वारा वर्णित विधि के अनुसार जीमूतक के स्थान पर इक्ष्वाकुफल को डालकर यहाँ घृत का साधन करना चाहिए। [इक्ष्वाकु फल के कल्क से साधित क्षीर से घृत बनावें। इस घृत को मदनफल, जीमूतक आदि द्रव्यों के क्वाथ से विधिपूर्वक सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग वमनार्थ करें।]

पञ्चाशद्दशवृद्धानि फलादीनां यथोत्तरम् ।।१३।।
पिबेद्विमृद्य बीजानि कषायेष्वाशतं पृथक् ।

इक्ष्वाकु का वर्धमान योग– तितलौकी के दस बीज को कूटकर पहले दिन मदनफल के क्वाथ में भिगोवें, पश्चात् दूसरे दिन प्रातः काल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छानकर पीवें। यही क्रम दूसरे दिन २० बीज के चूर्ण भिगोकर जीमूतक के क्वाथ से, तीसरे दिन ३० बीज धामार्गव क्वाथ में, चौथे दिन ४० बीज कुटज क्वाथ में, पाँचवें दिन ५० बीज कृतवेधन क्वाथ में भिगोकर शीतकषाय बनावें एवं उसका पान करें। ['कषायेष्वाशतं पृथक्' के स्थान पर पाठभेद से स्वासुतं पृथक् पाठ प्राप्त होता है, यहाँ 'स्वासुतं' पाठ के ही अनुसार अर्थ ग्रहण करें।]

चक्रपाणि– 'पञ्चाशदित्यादि' के द्वारा यहाँ छः वर्धमानक योगों का उल्लेख किया गया है। यहाँ ५० बीज से प्रारम्भ करके १०-१० संख्या प्रतिदिन बढ़ाते हुए १०० संख्या तक लाना चाहिए। इस आधार पर यहाँ इक्ष्वाकु के छः योग बनते हैं। इन बीजों को मदनफल आदि द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के साथ रात भर भिगोकर प्रातःकाल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छानकर पीवें। अन्य आचार्य दस बीज से प्रारम्भ करके पचास बीज तक दोषादि के अनुसार पीने का निर्देश देते हैं, यहाँ मदनफल आदि क्वाथ के आधार पर योगों के भेद को बताया गया है। ॥१३॥

जल्पकल्पतरु टीका– इक्ष्वाकु फल के पीसे हुए बीज दस संख्या में लेकर मदनफल क्वाथ में रात भर भिगो दें, प्रातःकाल मसलकर क्वाथ (शीत कषाय) को छान लें। यह एक योग है। उसी प्रकार दूसरे दिन बीस, तीसरे दिन तीस, चौथे दिन चालीस तथा पाँचवें दिन पचास बीजों के शीतकषाय का पान करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ वर्धमान क्रम से पाँच योग बनते हैं। आसव क्रिया का एक योग है।

यष्ट्याह्वकोविदारार्द्यैर्मुष्टिमन्तर्नखं पिबेत् ।।१४।।

इक्ष्वाकु बीज के नव योग– यष्टीमधु आदि नव द्रव्यों में से किसी एक के क्वाथ में अन्तर्नख मुष्टि भर इक्ष्वाकु बीज के चूर्ण को डालकर रात भर भिगोकर प्रातःकाल हाथ से मसलकर छान लें। इस छने हुए शीतकषाय का प्रयोग वमन हेतु करें। इस प्रकार कषाय भेद से यहाँ नव योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'यष्ट्याह्वेत्यादि' के द्वारा नव क्वाथ के योगों को बताया गया है। जिसमें यष्ट्याह्व एक योग है। कोविदार आदि के द्वारा मदनफल नामक अध्याय में आठ योग बताये गये हैं। ॥१४॥

विशेष (Comments)–

१. यष्टीमधु क्वाथ + इक्ष्वाकु के बीज
२. कोविदार क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
३. कर्बुदार क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
४. नीप (कदम्ब) क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
५. विदुल क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज

Scanned by CamScanner

६. विम्बी क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
७. शणपुष्पी क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
८. सदापुष्पी क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज
९. प्रत्यक् पुष्पी (अपामार्ग) क्वाथ + इक्ष्वाकु बीज

इस प्रकार इन नव क्वाथों द्वारा **इक्ष्वाकु बीज** के नव योग बनते हैं।

कषायैः कोविदाराद्यैर्मात्राश्च फलवत् स्मृताः ।

आठ मात्रा योग– कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ से इक्ष्वाकु के भी आठ मात्रा योगों का निर्माण होता है, जिसका विवेचन मदन कल्प नामक अध्याय में किया जा चुका है।

चक्रपाणि– 'कषायैरित्यादि' के द्वारा मदनफल के समान यहाँ भी आठ मात्रा के योग बताये गये हैं।

बिल्वमूलकषायेण तुम्बीबीजाञ्जलिं पचेत् ।।१५।।
पूतस्यास्य त्रयो भागाश्चतुर्थः फाणितस्य तु । सघृतो बीजभागश्च पिष्टानर्धांशिकांस्तथा ।।१६।।
महाजालिनिजीमूतकृतवेधनवत्सकान् । तं लेहं साधयेद्दर्व्या षट्टयन्मृदुनाऽग्निना ।।१७।।
यावत् स्यात्तन्तुमत्तोये पतितं तु न शीर्यते । तं लिहन्मात्रया लेहं प्रमथ्यां च पिबेदनु ।।१८।।
कल्प एषोऽग्निमन्थादौ चतुष्के पृथगुच्यते ।

लेह योग– बिल्वमूल क्वाथ में अञ्जलि प्रमाण (४ पल) तितलौकी के बीज का चूर्ण डालकर पकावें। क्वाथ (पके हुए क्वाथ) को तीन भाग मानकर उसमें चतुर्थ भाग फाणित मिलावें। इसमें घृत एक भाग तथा धामार्गव (महाजालिनी = पीत कोषातकी), जीमूतक (देवदाली), कृतवेधन एवं कुटज; प्रत्येक द्रव्य अर्ध-अर्ध भाग लेकर मिला दें व मन्दाग्नि पर करछुल से चलाते हुए अवलेह को पकावें। पकाते-पकाते जब यह लेह तन्तु की तरह हो जाय व पानी में डालने पर न फैले तब इसे अग्नि पर से उतार कर सुरक्षित रख लें। इस लेह को चाटकर बाद में प्रमथ्या को पीवें।

इसी प्रकार अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी के क्वाथ द्वारा भी अलग-अलग चार योगों का निर्माण करना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ कुल पाँच लेह योगों की संख्या पूर्ण हुई।

चक्रपाणि– 'बिल्वेत्यादि' के द्वारा लेह के एक योग को बताया गया है। 'कल्प इत्यादि' के द्वारा शेष चार लेह योगों को अन्त में कहा गया है। इस प्रकार यहाँ कुल लेह के पाँच योग वर्णित हैं। अञ्जलि = ४ पल (१६ तोला) । यहाँ– "ततश्च कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत्" इति वचन से बिल्वमूल (१ कुडव) के क्वाथ हेतु ८ कुडव (अञ्जलि) जल डालकर पाक करें। चतुर्थांश द्रव अवशेष रहने पर अर्थात् २ कुडव (२ अञ्जलि) क्वाथ रहने पर छान लें।

फाणितम् अर्धशृत इक्षुरसः– अर्धपक्व (आधा भाग पके हुए) इक्षुरस को फाणित कहते हैं, अर्थात् इक्षुरस को पकाकर आधा कर ले; अर्थात् पकते-पकते जब आधा शेष रह जाय, तो इसे फाणित कहा जाता है। कुछ आचार्य 'चतुर्थः फाणितस्य च' के स्थान पर 'त्र्यस्त्रिकटुकस्य च' इति का पाठ करते हैं। 'सघृत इति' के द्वारा घृत को एक भाग मिलाना चाहिए। **अर्धांशिकानिति–** एक भाग के अर्ध मान के बराबर महाजालिनी आदि द्रव्यों के चूर्ण मिलाकर पकावें। महाजालिनी = पीत कोषातकी । कृतवेधन = घोषक भेद, जिसे ज्योत्स्निका कहा जाता है।

'यावत् स्यात् तन्तुमदित्यादि' के द्वारा लेहपाक के लक्षण को बताया गया है। इन्हीं लक्षणों को अन्य लेहों के पाक में भी समझना चाहिए। न शीर्यते = अवलेह को जल में डालने पर फैलता नहीं है, अर्थात् जहाँ डाला जाय वहीं पड़ा रहता है।

प्रमथ्यां च पिबेदन्विति– अतीसार चिकित्सा में "पिप्पली नागरं धान्यं" के द्वारा वर्णित प्रमथ्या में से किसी एक प्रमथ्या द्वारा निर्मित क्वाथ का पान करना चाहिए, यह अभिप्राय है। प्रमथ्या का पान मध्य दोष वाले रोगियों के लिए निर्देशित है। कुछ आचार्य 'प्रमथ्यां च' के स्थान पर 'मन्थं चापि' इति का पाठ करते हैं, उनके अनुसार अवलेह चाटने के बाद प्रमथ्या का पान न करके मन्थ पीना चाहिए, यह भाव होगा ।

'अग्निमन्थादाविति'– अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी इन चारों के मूल के क्वाथ से अलग-अलग अवलेह का निर्माण करना चाहिए, जिसका उल्लेख रसायन प्रकरण में पञ्चमूलकथन के प्रस्ताव में किया गया है। ।।१५-१८।।

विशेष (Comments)– ये पाँच द्रव्य बृहत् पञ्चमूल के अन्तर्गत आते हैं, जिसका उल्लेख रसायन प्रकरण में किया गया है।

Scanned by CamScanner

शक्तुभिर्वा पिबेन्मन्थं तुम्बीस्वरसभावितैः ।।१९।।
कफजेऽथ ज्वरे कासे कण्ठरोगेष्वरोचके ।

मन्थ योग– तितलौकी (इक्ष्वाकु) स्वरस से भावित सत्तू के मन्थ (जल में घोलकर बनाया गया एक योग; इसमें सत्तू को जल में घोलकर, उसमें शर्करा आदि डालकर पेय बनाते हैं) का प्रयोग कफज ज्वर, कास, कण्ठरोग (गले के रोग) एवं अरुचि में करते हैं।

चक्रपाणि– 'शक्तुभिरित्यादि' के द्वारा एक मन्थ योग का अभिधान किया गया है। ।।१९।।

गुल्मे मेहे प्रसेके च कल्कं मांसरसैः पिबेत् । नरः साधु वमत्येवं न च दौर्बल्यमश्नुते ।।२०।।

मांसरस निर्मित एक योग– तितलौकी के बीज के कल्क को मांसरस में घोलकर गुल्म, प्रसेक व प्रमेह के रोगी को वमनार्थ पिलाना चाहिए। इसके पीने से सम्यक् वमन होता है तथा रोगी को दुर्बलता नहीं आती।

चक्रपाणि– 'गुल्मे ज्वर इत्यादि' के द्वारा मांसरस के एक योग को बताया गया है। कल्क से यहाँ इक्ष्वाकु बीज के कल्क का ग्रहण किया गया है। ।।२०।।

तत्र श्लोकाः–
पयस्यष्टौ सुरामण्ड-मस्तु-तक्रेषु च त्रयः । प्रेयं सपललं तैलं वर्धमानाः फलेषु षट् ।।२१।।
घृतमेकं कषायेषु नवान्ये मधुकादिषु । अष्टौ वर्तिक्रिया लेहाः पञ्च मन्थो रसस्तथा ।।२२।।
योगा इक्ष्वाकुकल्पे ते चत्वारिंशच्च पञ्च च । उक्ता महर्षिणा सम्यक् प्रजानां हितकाम्यया ।।२३।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते कल्पस्थाने इक्ष्वाकुकल्पो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस इक्ष्वाकु कल्प नामक अध्याय में प्रजा के हित की कामना से भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित इक्ष्वाकु के ४५ योगों का वर्णन किया है, यथा–

१. पुष्प, पत्र आदि के दूध के साथ– आठ योग
२. सुरामण्ड के साथ– एक योग
३. दही के पानी के साथ– एक योग
४. तक्र के साथ– एक योग
५. इक्ष्वाकु के प्रेय योग– एक
६. तिल कल्क (पलल) के साथ– एक
७. तैल के साथ– एक
८. मदनफल आदि द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ से वर्धमान योग– छः
९. घृत योग– एक
१०. यष्टीमधु आदि द्रव्यों के क्वाथ से– नव योग
११. मात्रा योग (वर्तियोग)– आठ
१२. अवलेह योग (बृहत् पञ्चमूल के द्रव्यों से अलग-अलग)– पाँच
१३. मन्थ योग– एक
१४. मांसरस योग– एक
कुल योग– ४५

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में इक्ष्वाकु कल्प नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'पयस्यष्टावित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। **अत्र फलेष्विति–** मदनफल आदि द्रव्यों के क्वाथ से इक्ष्वाकु बीज के छः योगों का निर्माण किया गया है। यद्यपि घृत योग वर्धमान योग से पूर्व पढ़ा गया है, फिर भी यहाँ छन्द के नियमों को ध्यान में रखते हुए अर्थात् श्लोक रचना की दृष्टि से बाद में कहा गया है ।।२१-२३।।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में इक्ष्वाकुकल्प नामक तीसरे अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो धामार्गवकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे धामार्गव कल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पूर्व वर्णित संबन्ध के अनुसार धामार्गव कल्प का अभिधान किया जा रहा है ।।१-२।।

कर्कोटकी कोठफला महाजालिनिरेव च । धामार्गवस्य पर्याया राजकोशातकी तथा ।।३।।

धामार्गव के पर्याय (Synonyms of Dhāmārgava)– १. कर्कोटकी, २. कोठफला, ३. महाजालिनी, ४. राजकोशातकी; ये सभी धामार्गव के पर्याय बताये गये हैं।

चक्रपाणि– यहाँ 'कर्कोटकीत्यादि' के द्वारा पर्यायों का कथन किया गया है। **धामार्गवः पीतघोषक–** पीतघोषक- पीले पुष्प वाला नेनुआ जो रस में तिक्त होता है, का ग्रहण किया गया है ।।३।।

[Dhāmārgava– *Luffa foetida* M.M. Williams Sanskrit, English– Dictionary corrected Edition-2002]

गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते । कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसंचयजेषु च ।।४।।
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये ।

धामार्गव के योग्य रोग एवं रोगी– धामार्गव का प्रयोग गरविष के रोगी (toxicosis), गुल्म (Phantom tumour), उदररोग (Obstinate abdominal diseases including ascites), कास (cough), आमाशय में वात व कफ के प्रकुपित होने, मुख व कण्ठ में कफ के प्रकुपित होने तथा अन्य गुरु एवं स्थिर रोगों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– स्थिराश्च गुरवश्च ये इत्यत्र 'गदाः' इति शेषः– 'स्थिराश्च गुरवश्च ये' के साथ यहाँ 'गदाः' शब्द भी जोड़ना चाहिए। अर्थात् जो व्याधियाँ स्थिर एवं गुरु हों, उनमें वमनार्थ धामार्गव का प्रयोग करना चाहिए।

फलं पुष्पं प्रवालं च विधिना तस्य संहरेत् ।।५।।

धामार्गव के वमन हेतु उपयोगी भाग– निर्धारित विधि के अनुसार धामार्गव के फल (Fruits), पुष्प (Flowers), एवं प्रवाल (कोमल पत्तियों) का संग्रह करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'विधिनेति' भेषज संग्रह की जो विधि मदनकल्प अध्याय में बतायी गयी है, उस विधि के द्वारा (उस विधि के अनुसार) धामार्गव के पुष्प, फल एवं प्रवाल का संग्रह करना चाहिए। ।।५।।

प्रवालस्वरसं शुष्कं कृत्वा च गुलिकाः पृथक् । कोविदारादिभिः पेयाः कषायैर्मधुकस्य च ।।६।।

धामार्गव पत्रस्वरस के नव योग– धामार्गव के कोमल पत्तों से स्वरस निकालें। इस स्वरस को सुखाकर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों का सेवन वमनार्थ अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के साथ करें–

१. श्वेत कांचनार (कोविदार)
२. कर्बुदार
३. नीप (कदम्ब)
४. विदुल (वेतस)
५. बिम्बी
६. शणपुष्पी
७. सदापुष्पी
८. प्रत्यक्पुष्पी
९. यष्टीमधु

इस प्रकार नव प्रकार के क्वाथों के आधार पर नव योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'प्रवालेत्यादि' के द्वारा यहाँ ९ योगों का अभिधान किया गया है। **प्रवालस्य स्वरसः प्रवालस्वरसः–** कोमल पत्तियों के द्वारा निकाला गया स्वरस **प्रवालस्वरस** कहलाता है।

यहाँ कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ द्वारा गुटिका का निर्माण करना एवं इन्हीं क्वाथों को पीना दोनों अर्थ ग्रहण करना चाहिए। ।।६।।

पुष्पादिषु पयोयोगाश्चत्वारः पञ्चमी सुरा । पूर्ववत् ....

धामार्गव के चार क्षीर एवं एक सुरामण्ड योग– पूर्व अध्याय में वर्णित क्षीर एवं सुरा योग की तरह धामार्गव के पुष्पादि से भी चार क्षीर योग एवं सुरामण्ड योग का निर्माण होता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'पुष्पादिष्वित्यादि' की तरह जीमूतक कल्प विधान के अनुसार इसके भी चार क्षीर योग बनते हैं तथा पाँचवा सुरामण्ड योग का भी निर्माण पूर्ववत् ही करना चाहिए। इनका निर्देश 'पयः पुष्पेऽस्य' (क.अ.२) इत्यादि के द्वारा किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। **पूर्ववदिति–** पूर्व अध्याय में जैसा कहा गया है, तदनुसार यहाँ भी समझना चाहिए।

जीर्णशुष्काणामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ।।७।।
मधुकस्य कषायेण बीजकण्ठोद्धृतं फलम् । सगुडं व्युषितं रात्रिं कोविदारादिभिस्तथा ।।८।।
दद्याद्गुल्मोदरार्तेभ्यो ये चाप्यन्ये कफामयाः ।

गुल्म एवं उदररोग नाशक क्वाथ योग– आगे यहाँ पक्व एवं शुष्क धामार्गव के कल्पों (योगों) का अभिधान किया जा रहा है। शुष्क धामार्गव फल के भीतर की मज्जा (खुज्झे) को निकाल कर खाली भाग में गुड़ भर दें। रात भर बीत जाने के बाद दूसरे दिन प्रातःकाल इस गुड़ को निकालकर यष्टीमधु क्वाथ अथवा कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के क्वाथ से गुल्म (Phantom tumour) अथवा उदररोग से पीड़ित रोगी को अथवा अन्य कफज रोगों में प्रयोग करावें।

चक्रपाणि– 'जीर्णशुष्काणामिति' के द्वारा नव (Nine) क्वाथ के योगों को बताया गया है तथा 'जात्याः' इत्यादि के द्वारा ग्यारह कषाय योगों का वर्णन आगे करेंगे। इस प्रकार उपसंहार में उल्लिखित बीस कषाय योगों की संख्या पूर्ण हो जायेगी। **बीजकण्ठोद्धृतं फलमिति–** जहाँ बीज बद्ध (चिपके) रहते हैं उस बीजकण्ठ को निकालना, अर्थात् फल से बीज युक्त खुज्झे को बाहर निकालें। इस खुज्झे रहित फल को बीज कण्ठोद्धृत फल कहते हैं। **अत्र च पूर्वनिपातानियम आहिताग्न्यादिपूर्वनिपातवद्वोध्यः–** यह भी व्याकरण का नियम है– "बीजकण्ठोद्धृतं फलम्" कण्ठात् उद्धृतानि बीजानि यस्य तत् 'कण्ठोद्धृतबीजं फलं' ऐसा होना चाहिए । यहाँ पर बीज का कण्ठ से पूर्व निपात हुआ है जैसे आहिताग्नि आदि में होता है वैसे यहाँ भी बीज का पूर्व निपात समझना चाहिए ।

एवंभूतं च फलं कषायेण सगुडेन पूरितं रात्रिव्युषितं कर्तव्यम्– धामार्गव के फल से निकाले गये गुड़ को मदनफल के कषाय (क्वाथ) में रात भर भिगो दें, प्रातःकाल उस गुड़ मिश्रित शीतकषाय को छानकर रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। धामार्गवकल्प प्रकरण में आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा– "धामार्गवफलेषूद्धृतबीजमध्येषु स गुडोषिताः कोविदारादिकषाया नव" इति ।

[धामार्गव के खुज्झे रहित फल में रात भर गुड़ डालकर रखने के बाद, अगले दिन प्रातः काल फल से निकाले गये गुड़ को कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ में घोलकर पीना चाहिए। इस प्रकार यहाँ क्वाथ से नव योग बनते हैं।]

गुल्मिनां चावस्थायां वमनं हितमेव, तेनेह गुल्मविषयतया वमनोपदर्शनं न विरोधि– गुल्म रोग की जिस अवस्था में वमन हितकारी होता है, इससे यहाँ गुल्म की उसी अवस्था का ग्रहण किया गया है। अतः गुल्म में वमन का उपदेश होना विरोधी नहीं है। ॥७-८॥

दद्यादन्नेन संयुक्तं छर्दिहृद्रोगशान्तये ।।९।।

अन्य योग– धामार्गव के फल का प्रयोग अन्न के साथ छर्दि एवं हृद्रोग (Heart-disease) की शान्ति हेतु करना चाहिये। अर्थात् अन्न के साथ मिलाकर रोगी को खिलाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दद्यादित्यादि' के द्वारा एक **अन्न योग** का अभिधान किया गया है। अन्ने च धामार्गवस्य संयोगेनैको योगः– धामार्गव मिलाकर बना हुआ अन्न का एक योग, जिस अन्न को धामार्गव के संयोग से बनाया जाय, उसे अन्नयोग कहा गया है। [अन्न से यहाँ आहार अथवा सामान्य भोजन अर्थ लिया गया है।] ॥९॥

चूर्णैर्वाऽप्युत्पलादीनि भावितानि प्रभूतशः । रसक्षीरयवाग्वादितृप्तो घ्रात्वा वमेत् सुखम् ।।१०।।

धामार्गव का एक घ्रेय योग– धामार्गव के पत्र, पुष्प एवं फलों के चूर्ण को अत्यधिक भावित करके उत्पल आदि के पुष्पों पर छिड़क कर मांसरस, दूध अथवा यवागू से तृप्त रोगी को वमनार्थ सुंघावें। इसके सूंघने मात्र से रोगी को सुखपूर्वक वमन होता है। अर्थात् रोगी को सरलता से वमन होने लगता है।

चक्रपाणि– 'चूर्णैरित्यादि' के द्वारा एक **घ्रेय** योग का वर्णन किया गया है। **उत्पलादीनां चात्र भेदोऽविवक्षितः–** यहाँ उत्पल आदि के भेदों का वर्णन नहीं किया गया है। **उत्पलस्यैक एव घ्रेययोगः–** उत्पल का ही यहाँ एक **घ्रेय योग** बताया गया है। यहाँ **'आदि'** शब्द से सौगन्धिक, पद्म आदि का ग्रहण किया गया है।

प्रभूतशश्चूर्णैर्भावितानीति ज्ञेयम् – अत्यधित भावित चूर्णों का प्रयोग कमल पुष्प पर छिड़कने हेतु करना चाहिए। चूर्णों में भावना देने का कार्य कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथ से करना चाहिए। ऐसा करने से चूर्ण का 'वामक' गुण अत्यधिक बढ़ जाता है। ॥१०॥

चूर्णीकृतस्य वर्तिं वा कृत्वा बदरसंमिताम् । विनीयाञ्जलिमात्रे तु पिबेद्गोऽश्वशकृद्रसे ।।११।।
पृषतर्ष्यकुरङ्गाङ्गजोष्ट्राश्वतरावि के । श्वदंष्ट्रखरखङ्गानां चैवं पेया शकृद्रसे ।।१२।।

Scanned by CamScanner

शकृत (पुरीष) के दो योग– धामार्गव चूर्ण को जल के साथ पीसकर बेर की आकृति के तुल्य गोलियाँ बना लें। इस वटी को एक अञ्जलि मात्रा में गोबर (गाय का गोबर) स्वरस अथवा घोड़े की लीद के स्वरस के साथ पीने के लिए देना चाहिए। अर्थात् इस वटी को खाकर गोबर या अश्वपुरीष स्वरस १ अञ्जलि मात्रा में पीवें।

पुरीष के अन्य दस योग– धामार्गव चूर्ण से निर्मित वटी का सेवन अधोलिखित पशुओं के पुरीष स्वरस के साथ करने से सम्यक् वमन होता है–

१. पृषत (चितकबरा हरिण)
२. ऋष्य (नीले अण्डकोष वाला हरिण)
३. कुरङ्गाह्व
४. गज (हाथी)
५. ऊँट
६. अश्वतर (खच्चर)
७. आविक (भेड़)
८. श्वदंष्ट्र (चार दाढ़ों वाला मृग)
९. खर (गधा)
१०. खड्ग (गैंडा)

इस प्रकार यहाँ दस योग पूर्ण हो जाते हैं।

चक्रपाणि– 'चूर्णीकृतस्येत्यादि' के द्वारा यहाँ गो एवं अश्व के पुरीष स्वरस से दो योगों को बताया गया है। अर्थात् इससे दो योग बनते हैं। पृषत आदि दस पशुओं के शकृत स्वरस (पुरीष स्वरस) के योग से शकृत के कुल बारह योगों का अभिधान किया गया है। **पृषतः बिन्दुचित्रितहरिणः–** पृषत से यहाँ चितकबरा हरिण अर्थ लिया गया है। **ऋष्यः नीलाण्डः–** नीले अण्डकोष वाला हरिण। कुरङ्ग– चार दाढ़ वाला एक विशेष पशु। ॥११-१२॥

जीवकर्षभकौ वीरामात्मगुप्तां शतावरीम् । काकोलीं श्रावणीं मेदां महामेदां मधूलिकाम् ।।१३।।
एकैकशोऽभिसंचूर्ण्य सह धामार्गवेण ते । शर्करामधुसंयुक्ता लेहा हृद्दाहकासिनाम् ।।१४।।
सुखोदकानुपानाः स्युः पित्तोष्मसहिते कफे ।

अवलेह के दस योग– १. जीवक, २. ऋषभक, ३. वीरा (क्षीरकाकोली), आत्मगुप्ता (केंवाच बीज), ५. शतावरी, ६. काकोली, ७. श्रावणी (गोरखमुण्डी), ८. मेदा, ९. महामेदा, १०. मधूलिका; इन द्रव्यों के अलग-अलग चूर्ण बना लें। इनके चूर्ण के बराबर धामार्गव के पत्र, पुष्प एवं फल से निर्मित चूर्ण को मिलावें। इस मिश्रित चूर्ण में शर्करा व मधु मिलाकर अवलेह जैसा बना लें। इस अवलेह को हृद्दाह (Heart burn) एवं कास के रोगी को चाटने के लिए दें। यदि पित्त के साथ कफ प्रकुपित हो तब इस अवलेह को चाटने के बाद ऊपर से गुनगुना (कोष्ण) जल पीना चाहिए। [इन दस द्रव्यों के अलग-अलग चूर्ण में समान मात्रा में धामार्गव चूर्ण मिलावें। इस प्रकार इन दस द्रव्यों के योग से दस अवलेह बनते हैं।]

चक्रपाणि– 'जीवकेत्यादि' के द्वारा दस अवलेहों का अभिधान किया गया है। **मधूलिका 'मर्कटहस्त' इति ख्याता–** मर्कटहस्त नाम से प्रसिद्ध एक द्रव्य। यहाँ लेह हेतु **धामार्गव चूर्ण** के बराबर अन्य द्रव्यों के चूर्ण का ग्रहण करना चाहिए। मधु व शर्करा की मात्रा उतनी ही ग्रहण करें जितने के प्रयोग से चूर्ण अवलेह जैसा हो जाय। **पित्तोष्मसहिते कफे इति–** अपनी ऊष्मा गुण की वृद्धि होने से पित्त युक्त कफ में, अन्य आचार्य यहाँ 'पित्तोष्म' शब्द से पित्तजन्य ज्वर का ग्रहण करते हैं।

['**पित्तोष्मणा**' के स्थान पर पित्तकृतं' पाठ प्राप्त होता है।] ॥१३-१४॥

धान्यतुम्बुरुयूषेण कल्कः सर्वविषापहः ।।१५।।

विषनाशक योग– धामार्गव कल्क का प्रयोग धनिया एवं तेजबल के क्वाथ से करने पर सभी प्रकार के विष दूर हो जाते हैं। अर्थात् विष विकारों को दूर करने के लिए धामार्गव कल्क का पान धनियाँ व तेजोवल (तुम्बरु) के क्वाथ (Decoction) के साथ करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'धान्येत्यादि' के द्वारा एक कल्क योग को बताया गया है। **धान्यतुम्बुरुक्वाथ एव धान्यतुम्बुरुयूषः–** धनियाँ एवं तुम्बरु द्वारा बने हुए क्वाथ (Decoction) को ही धान्यतुम्बरुयूष कहा गया है। **जतूकर्णसंहिता** में कहा भी गया है, यथा– "धान्यतुम्बुरुरसेनकल्को विषघ्नुत्" इति [विष नाशन हेतु धनिया एवं तुम्बरु के क्वाथ के साथ धामार्गव कल्क का सेवन करना चाहिए।] ॥१५॥

विशेष (Comments)– वैद्य वापालाल तुम्बरु से *Zanthoxylum alatum* का ग्रहण करते हैं। यह हिमालय क्षेत्र में पायी जाती है।– निघण्टु आदर्श (प्रथम संस्करण)

Scanned by CamScanner

जात्याः सौमनसायिन्या रजन्याश्चोरकस्य च । वृश्चीरस्य महाक्षुद्रसहाहैमवतस्य च ।।१६।।
बिम्ब्याः पुनर्नवाया वा कासमर्दस्य वा पृथक् । एकं धामार्गवं द्वे वा कषाये परिभृद्य तु ।।१७।।
पूतं मनोविकारेषु पिबेद्वमनमुत्तमम् ।

मनोविकार नाशक ग्यारह योग– १. जाती (चमेली), २. सौमनसायिनी (जूही का पुष्प), ३. रजनी (हल्दी), ४. चोरक (चोरपुष्पी) ५. वृश्चीर (श्वेतपुनर्नवा), ६. महासहा, ७. क्षुद्रसहा, ८. हैमवती (वचा), ९. बिम्बी (कुन्दरु), १०. पुनर्नवा (रक्तपुनर्नवा), ११. कासमर्द (कसौंदी); इन द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य का क्वाथ बनाकर उसमें एक या दो धामार्गव फल के कल्क को घोलकर, क्वाथ को छान लें। इस छने हुए क्वाथ का पान मानसिक रोगों में वमन हेतु करावें। इसके प्रयोग से सम्यक् वमन होता है।

चक्रपाणि– 'जात्या इत्यादि' के द्वारा ग्यारह क्वाथ के योगों का अभिधान किया गया है। **जाती सौमनस्यायिनी–** मालती (गंगाधर)। अन्य आचार्य 'जाती' से यूथिका का ग्रहण करते हैं। वृश्चीर = श्वेत पुनर्नवा ।

महासहा क्षुद्रसहा मुद्गमाषपर्ण्यौ– इससे मुद्गपर्णी एवं माषपर्णी का ग्रहण किया गया है। हैमवती = वचा ।।१६-१७।।

तच्छृतक्षीरजं सर्पिः साधितं वा फलादिभिः ।।१८।।

घृत योग– धामार्गव के क्वाथ से साधित क्षीर से निर्मित घृत को फलादि द्रव्यों के क्वाथ से सिद्ध कर मानसिक विकारों में वमनार्थ पीने के लिए दें।

चक्रपाणि– 'तच्छृतेत्यादि' के द्वारा एक घृत योग का अभिधान किया गया है। ।।१८।।

तत्र श्लोकौ–

पल्लवे नव चत्वारः क्षीर एकः सुरासवे । कषाये विंशतिः कल्के दश द्वौ च शकृद्रसे ।।१९।।
अन्न एकस्तथा प्रेये दश लेहास्तथा घृतम् । कल्पे धामार्गवस्योक्ताः षष्टियोंगा महर्षिणा ।।२०।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने धामार्गवकल्पो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय द्वारा धामार्गव के कुल ६० कल्पों का निर्देश किया गया है, यथा–

१. धामार्गव की कोमल पत्तियों से नव योग ।	०९
२. क्षीर के चार योग	०४
३. सुरा एवं आसव के एक-एक	०२
४. कषाय के २० योग	२०
५. कल्क से दस योग	१०
६. शकृद्रस (पुरीष स्वरस) के दो योग	०२
७. अन्न के साथ एक योग	०१
८. प्रेय योग एक	०१
९. अवलेह योग दस	१०
१०. घृत योग एक	०१
कुल योग –	६०

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत; अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बलसंपूरित कल्पस्थान में धामार्गवकल्प नामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'पल्लवे नवेत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार सामान्य क्रम से भिन्न (विपरीत) क्रम में रखा गया है, ऐसा छन्द रचना की दृष्टि से किया गया है। 'दशद्वौ चेति' से यहाँ बारह अर्थ लिया गया है। अर्थात् कल्क के दस योग एवं शकृद्रस के दो योग मिलाकर कुल बारह हो जाते हैं। ।।१९-२०।।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में धामार्गवकल्प नामक चतुर्थ अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

●

Scanned by CamScanner

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो वत्सककल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे वत्सककल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पूर्व निर्दिष्ट सम्बन्ध से यहाँ वत्सककल्प का अभिधान किया जा रहा है ।।१-२।।

विशेष (Comments)– षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (च.सू.अ.४/४) में निर्दिष्ट सूत्र कुटजस्त्वष्टादशधा योगमेति' से यहाँ कुटज के अट्ठारह योगों का वर्णन किया जा रहा है, शेष पूर्ववत् है।

अथ वत्सकनामानि भेदं स्त्रीपुंसयोस्तथा । कल्पं चास्य प्रवक्ष्यामि विस्तरेण यथातथम् ।।३।।
वत्सकः कुटजः शक्रो वृक्षको गिरिमल्लिका । बीजानीन्द्रयवास्तस्य तथोच्यन्ते कलिङ्गकाः ।।४।।
बृहत्फलः श्वेतपुष्पः स्निग्धपत्रः पुमान् भवेत् । श्यामा चारुणपुष्पा स्त्री फलवृन्तैस्तथाऽणुभिः ।।५।।
रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः । हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते ।।६।।

विषयारम्भ– इस अध्याय में वत्सक के पर्याय, स्त्री एवं पुं वत्सक (कुटज) के भेद एवं इसके कल्पों का उचित रूप में विस्तार से वर्णन किया जायेगा।

वत्सक के पर्याय– वत्सक, कुटज, शक्र, वृक्षक व गिरिमल्लिका; इसके पर्याय है। कुटज के बीज को इन्द्रयव एवं कलिङ्गक भी कहते हैं।

पुं वत्सक (कुटज)– बड़े फल वाला, श्वेत पुष्प युक्त एवं स्निग्ध (चिकनी) पत्तों वाला होता है। जिस वत्सक के फल, पुष्प एवं फलवृन्त छोटे-छोटे हों तथा पुष्प श्याम व अरुण वर्ण के हों, उसे स्त्री वत्सक (कुटज) समझना चाहिए।

[**कुटजः– कुटिलो जायते इति कुटजः–** यह कुटिल होता है तथा पर्वतों के शिखरों पर उत्पन्न होता है, इस कारण इसे कुटज कहा जाता है। **शक्रः– शक्नोति इति, अतीसारादिरोगान् निवारयितुं शक्नोति इति–** अतिसार आदि रोगों को दूर करने के कारण इसे शक्र कहा जाता है। **गिरिमल्लिका– गिरौ मल्लिकावत् शोभते–** यह पर्वतों पर बेला या मोंगरे के समान सुशोभित होता है, इसलिए इसे गिरिमल्लिका कहा गया है। कलिङ्ग– **कलिङ्ग** प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण इसे कलिङ्ग कहते हैं। – वैद्य बापालाल लिखित निघण्टु आदर्श]

कुटज कल्प के योग्य रोग एवं रोगी– दोनों प्रकार (पुं एवं स्त्री) के कुटज के योगों (कल्पों) का प्रयोग सुकुमार व्यक्तियों में होने वाले रक्तपित्त एवं कफज विकारों में करना चाहिए। इसके साथ-साथ हृद्रोग (Heart-diseases), ज्वर (Fever), वातरक्त (Gout) एवं विसर्प आदि रोगों में भी हितकारी होता है।

चक्रपाणि– 'अथेत्यादि' के द्वारा वत्सक के पर्याय एवं उसके स्त्री-पुरुष भेदों का वर्णन व्यवहार हेतु किया गया है। [व्यवहारार्थ– व्यवहार हेतु, हमारे देश में भाषा आदि के अनुसार एक ही द्रव्य के अनेक नाम दिये गये हैं, जिनका प्रयोग भिन्न-भिन्न नामों से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लोग करते हैं। अतः पर्यायों के द्वारा लोग द्रव्यों की पहचान करके उपयोग में ला सकते हैं। अतः जनसामान्य की जानकारी हेतु पर्यायों का अभिधान किया जाता है।]

यहाँ वत्सक के स्त्री एवं पुं के आधार पर दो भेद किये गये हैं, गुण एवं प्रयोग के आधार पर भेद का प्रतिपादन नहीं है। फिर भी स्त्री रूप वत्सक में पुष्प एवं फलादि विशेष रूप से छोटे होते हुए भी (इन विशिष्ट लक्षणों से युक्त होते हुए भी) सामान्य रूप से दोनों का ही प्रयोग व्याधि निवृत्ति हेतु किया जाता है। अर्थात् ये दोनों ही गुणों में समान होते हैं, ऐसा समझना चाहिए। ।।३-६।।

काले फलानि संगृह्य तयोः शुष्काणि निक्षिपेत् । तेषामन्तर्नखं मुष्टिं जर्जरीकृत्य भावयेत् ।।७।।
मधुकस्य कषायेण कोविदारादिभिस्तथा । निशि स्थितं विमृद्यैतल्लवणक्षौद्रसंयुतम् ।।८।।
पिबेत्तद्वमनं श्रेष्ठं पित्तश्लेष्मनिबर्हणम् ।

वत्सक (कुटज) क्वाथ के नव योग– अपने समय पर उत्पन्न वत्सक के सुपक्व एवं शुष्क फलों को संग्रह करके रखें। उन फलों को फोड़कर उसके बीज को अन्तर्नखमुष्टि प्रमाण में लेकर कूट लें। इस कुटे हुए बीज को यष्टीमधु क्वाथ अथवा कोविदार आदि आठ द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) में से किसी एक के क्वाथ में रात भर भिगो दें। प्रातःकाल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छान लें। इन छने हुए

Scanned by CamScanner

शीतकषाय में मधु व सैन्धव नमक मिलाकर वमनार्थ रोगी को पीने के लिए दें। इसके पीने से सम्यक् वमन होता है तथा पित्त व श्लेष्म विकार दूर हो जाते हैं।

[इस प्रकार नव क्वाथों से नव योग बनते हैं।]

चक्रपाणि– काले इति = उचित काल में, ऋतु आदि के अनुसार फलों के उत्पन्न होने एवं पकने का जो काल निर्धारित है, उन कालों में फलों का उत्पन्न होना एवं पकना उचित काल कहा जाता है।

शुष्काणीति पक्वशुष्काणि– वत्सक के पक्व एवं शुष्क फलों का संग्रह करना। 'तेषामन्तर्नखमित्यादि' के द्वारा– नव (Nine) कषायों से नव योगों के निर्माण को बताया गया है। **क्षौद्रसैन्धवयोगो यद्यपि सर्ववमनेष्वेव सामान्येन विहितः–** यद्यपि सभी प्रकार के वामक योगों में ही मधु एवं सैन्धव लवण का प्रयोग सामान्य रूप से करने का विधान है, फिर भी यहाँ 'लवणक्षौद्रसंयुतम्' वचन से **इनका प्रयोग अधिक मात्रा में करना चाहिए,** यह भाव प्राप्त होता है। ॥७-८॥

अष्टाहं पयसाऽऽर्केण तेषां चूर्णानि भावयेत् ॥९॥
जीवकस्य कषायेण ततः पाणितलं पिबेत् । फलजीमूतकेक्ष्वाकुजीवन्तीनां पृथक् तथा ॥१०॥
सर्षपाणां मधूकानां लवणस्याथवाऽम्बुना ।

चूर्ण के पाँच योग– अर्कक्षीर में इन्द्रयव चूर्ण (कुटज बीज चूर्ण) को आठ दिन तक डुबोवें, पश्चात् सुखाकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को पाणितल (१ कर्ष = १ तोला) मात्रा में लेकर जीवक के क्वाथ के साथ पीना चाहिए।

इसी प्रकार अर्कक्षीर भावित कुटज बीज चूर्ण को जीमूतक क्वाथ, अथवा इक्ष्वाकु क्वाथ अथवा जीवन्ती क्वाथ अथवा मदनफलक्वाथ, के साथ वमनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए। इन क्वाथों में मधु एवं सैन्धव लवण मिलाकर ही प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार क्वाथ भेद से चूर्ण के कुल पाँच योग बनते है। [१. जीवक क्वाथ से, २. मदनफल क्वाथ, ३. जीमूतक क्वाथ, ४. इक्ष्वाकु क्वाथ, ५. जीवन्ती क्वाथ]

जल के तीन योग– १. सरसों का क्वाथ, २. मधूक (महुए) के पुष्प स्वरस अथवा क्वाथ, ३. नमक मिश्रित जल; इन तीनों क्वाथों में से किसी एक के साथ कुटज बीज चूर्ण (क्षीर भावित) का प्रयोग वमनार्थ कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अष्टाहमित्यादि' के द्वारा पाँच चूर्ण योगों का अभिधान किया गया है। ॥९-१०॥

विशेष (Comments)– १. सर्षपाणामम्बुना वत्सकबीजकल्कं दद्यात्– सर्षप मिश्रित जल में वत्सक बीज के कल्क को डालकर वमनार्थ पीने के लिए दें।

२. महुए को जल में घोलकर मधूदक तैयार करें, महुए को रात भर जल में घोल लें, पश्चात् प्रातःकाल मसलकर द्रव को छान लें। इसमें वत्सकबीज कल्क मिलाकर रोगी को पिलावें। मधूक से महुए के पुष्प का ग्रहण किया गया है।

३. लवणाम्बुना– सैन्धव लवण मिश्रित जल में वत्सकबीज कल्क को घोलकर रोगी को पिलावें।

इस प्रकार यहाँ जल के तीन योग बताये गये।

कृशरेणाथवा युक्तं विदध्याद्वमनं भिषक् ॥११॥

कृशरा योग– तिल से बनी हुई कृशरा (खिचड़ी) में इन्द्रयव चूर्ण मिलाकर आतुर को खिलाने पर सम्यक् वमन होता है।

चक्रपाणि– 'कृशरेणेत्यादि' के द्वारा कृशरायोग को बताया गया है। **अत्र च इन्द्रयवचूर्णमधिकृतत्वादेवोच्यते–** यहाँ कृशरायोग का कथन इन्द्रयव चूर्ण को ही अधिकृत करके कहा गया है। अर्थात् कृशरा के साथ इन्द्रयव चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। ॥११॥

तत्र श्लोकः–

कषायैर्नव चूर्णैश्च पञ्चोक्ताः सलिलैस्त्रयः । एकश्च कृशरायां स्याद्योगास्तेऽष्टादश स्मृताः ॥१२॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने वत्सककल्पो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस वत्सककल्प नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित १८ योगों का विवेचन किया है–

Scanned by CamScanner

१. कषाय के नव योग	(९)
२. चूर्ण के पाँच योग	(५)
३. जल के तीन योग	(३)
४. कृशरा के एक योग	(१)
	कुल – १८

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में 'वत्सककल्प' नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– कषायैरित्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। इनके अर्थ स्वयं स्पष्ट हैं। ॥१२॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में वत्सककल्प नामक पञ्चम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः कृतवेधनकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे कृतवेधनकल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– वमनकल्पपारिशेष्यात् कृतवेधनकल्पोऽभिधीयते– वमनकल्प का अवशिष्ट भाग (शेष भाग) होने से कृतवेधनकल्प का वर्णन किया जा रहा है। अर्थात् वमनकल्प के अन्तिम कल्प की यहाँ चर्चा की जा रही है। ।।१-२।।

कृतवेधननामानि कल्पं चास्य निबोधत । क्ष्वेडः कोशातकी चोक्तं मृदङ्गफलमेव च ।।३।।
अत्यर्थकटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च । कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोफगुल्मगरादिषु ।।४।।

विषयारम्भ– हे अग्निवेश! अब मैं कृतवेधन के पर्याय एवं कल्पों को बता रहा हूँ। [उसे ध्यानपूर्वक सुनो–]

पर्याय– क्ष्वेड, कोशातकी तथा मृदङ्गफल; कृतवेधन के पर्याय बताये गये हैं।

कृतवेधनकल्प के योग्य रोग एवं रोगी– कृतवेधन के गुण– यह अत्यधिक कटु, तीक्ष्ण एवं उष्ण गुणों वाला होता है। इसका प्रयोग गम्भीर धातुओं में अवस्थित कुष्ठरोग (Skin diseases including leprosy), पाण्डुरोग (Anaemia), प्लीहावृद्धि (Splenic diseases), शोथ रोग (Oedema), गुल्मरोग एवं कृत्रिम विष से पीड़ित रोगियों में वमनार्थ करना चाहिए।

चक्रपाणि– गाढेष्विति– अत्यधिक गम्भीर धातुओं में अवस्थित व्याधियों, यथा– कुष्ठ, पाण्डु, प्लीहा रोग आदि व्याधियाँ, जिसमें दोष गम्भीर धातुओं में अवस्थित हों ।।३-४।।

क्षीरादि कुसुमादीनां सुरा चैतेषु पूर्ववत् ।

चार क्षीर एवं एक सुरा योग– पूर्व की भाँति कृतवेधन के पुष्पादि से साधित चार क्षीर योग एवं एक योग सुरा से बनाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'क्षीरादि इति' के द्वारा क्षीर योगों को कहा गया है। चार क्षीर योग एवं एक मदिरा योग का निर्माण जीमूतककल्प विधान की तरह यहाँ भी करना चाहिए।

क्षीरादिशब्देन क्षीरकृतपेया– क्षीरसंन्तानिका– दध्युत्तराणां ग्रहणम्– 'क्षीरादि' शब्द से यहाँ क्षीर कृत पेया, क्षीर की सन्तानिका (दूध की मलाई) एवं दधि की मलाई का ग्रहण किया गया है।

[१. कृतवेधन के पुष्प साधित क्षीर, २. कृतवेधन के फल द्वारा पकाये गये दूध से निर्मित पेया, ३. रोमयुक्त फल द्वारा साधित क्षीर की मलाई, ४. रोमयुक्त फल (कृतवेधन फल) साधित दूध से निर्मित दही की मलाई का प्रयोग]

एते च संग्रहेऽक्षीररूपा अपि क्षीरविकारतया क्षीरशब्देनैव गृहीताः 'क्षीरे द्वौ दौ इति' वचनेन– 'क्षीरे दौ दौ इति' इस वचन से, जो अध्याय के उपसंहार में पढ़ा गया है, क्षीर रूप न होते हुए भी क्षीर का विकार होने से क्षीर शब्द से ही यहाँ गृहीत है।

[क्षीर के चार योगों में दो योग क्षीर के – १. कृतवेधन पुष्प साधित क्षीर, २. रोमयुक्त कृतवेधन फल साधित क्षीर की मलाई तथा दो योग क्षीर विकार के १. कृतवेधन क्षीर साधित पेया, २. कृतवेधन साधित क्षीर से निर्मित दधि की मलाई, के हैं।]

कुसुमादीनामिति– से यहाँ पूर्व अध्याय में वर्णित सूत्र– "पयः पुष्पेऽस्य निर्वृत्ते फले पेया पयस्कृता । लोमशे क्षीरसन्तानं दध्युत्तरमलोमशे" (क.अ.२) इति, से जीमूतक विधि के अनुसार कृतवेधन के पुष्पादि से चार योगों का निर्माण करना चाहिए। **सुरा चैतेषु पूर्ववदिति–** जिस प्रकार जीमूतककल्प विधान के अनुसार क्षीर के कल्पों का निर्माण करते हैं, तद्वत् सुरा के योग का निर्माण करना चाहिए।

सुशुष्काणां तु जीर्णानामेकं द्वे वा यथाबलम् ।।५।।
कषायैर्मधुकादीनां नवभिः फलवत् पिबेत् । क्वाथयित्वा फलं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत् ।।६।।
कृतवेधनकल्कांशं फलाद्यर्धांशसंयुतम् । पृथक् चारग्वधादीनां त्रयोदशभिरासुतम् ।।७।।

कृतवेधन के अन्य योग– कृतवेधन जो भलीभाँति पक कर शुष्क हो गया हो, ऐसे एक या दो फल लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को रोगी के बलानुसार मधुक (यष्टीमधु) आदि नव द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ में डालकर रात भर के लिए भिगोकर रख दें। प्रातःकाल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छान लें। इस छने हुए शीतकषाय को वमनार्थ रोगी को पीने के लिए दें। इस प्रकार नव द्रव्यों के क्वाथ से नवयोग बनते हैं।

Scanned by CamScanner

→ कृतवेधन के फल का क्वाथ (Decoction) बनावें। इस क्वाथ को पकाकर अवलेह बना लें। इस अवलेह का सेवन यष्टीमधु (मुलेठी) आदि नव द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ से करें। इस प्रकार यहाँ क्वाथ भेद से अवलेह के नवयोग बनते हैं। अथवा मुलेठी आदि नव द्रव्यों के अलग-अलग क्वाथ में कृतवेधन चूर्ण मिलाकर अवलेह का निर्माण करें।

→ कृतवेधन फल का कल्क १ तोला, मदनफल कल्क- १½ तोला, आपस में मिलाकर आरग्वध आदि तेरह द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ के साथ वमनार्थ पान करें।

चक्रपाणि- 'शुष्काणामित्यादि' के द्वारा यहाँ नव क्वाथ के योगों को बताया गया है। **फलवदिति-** जिस प्रकार मदनफल का प्रयोग (पान) यष्टीमधु आदि द्रव्यों के क्वाथ के साथ किया जाता है उसी प्रकार इसको भी पीना चाहिए, यह अभिप्राय है।

एके नवकषायप्रयोगेषु शेषविधिप्रत्यायकं लेहं पठन्ति- कुछ आचार्य नवकषाय के योगों में शेषविधि को प्रमाणित करने वाले लेह को पढ़ते हैं। कहा भी गया है, यथा- "क्वाथयित्वा रसं तस्य पूत्वा लेहं निधापयेत्" [कृतवेधन फल का क्वाथ बनाकर छान लें। इस छने हुए क्वाथ को पकाकर लेह (चाटने योग्य) बना लें। इस अवलेह का प्रयोग निर्दिष्ट क्वाथों के साथ करें।], ऐसा अर्थ करना उचित है। बीज का चूर्ण बनावें। इस चूर्ण को यष्टीमधु आदि द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के क्वाथ में पकाकर अवलेह बनावें। इस प्रकार नव द्रव्यों कषाय के योग होते हैं। आरग्वधादि से १३ योग मदनकल्प अध्याय में वर्णित आरग्वध- वृक्षक से प्रारम्भ करके गुडूची तक के द्रव्यों द्वारा बनते हैं, ऐसा कहा गया है। अर्थात् १. आरग्वध (अमलतास), २. वृक्षक (कुटज), ३. स्वादु कण्टक (विकङ्कत), ४. पाठा, ५. पाटला, ६. शार्ङ्गेष्टा, ७. मूर्वा, ८. सप्तपर्ण, ९. नक्तमाल, १०. पिचुमर्द (नीम), ११. पटोल (परवल), १२. सुषवी (कारवेल्लक) तथा १३. गुडूची; के योग से बनते हैं। ॥५-७॥

शाल्मलीमूलचूर्णानां पिच्छाभिर्दशभिस्तथा ।

पिच्छा योग- शाल्मलीमूल आदि दस द्रव्यों का चूर्ण बनावें। इन चूर्णों को पिच्छा (लुआवदार) बनाकर उसमें कृतवेधन चूर्ण मिलाकर प्रयोग करें।

चक्रपाणि- 'शाल्मलीति' के द्वारा दस पिच्छा योगों का अभिधान किया गया है। **शाल्मलीमूलमादिः येषां ते शाल्मलीमूलाः-** जिस योग में शाल्मलीमूल आदि द्रव्यों की गणना की गयी हो उसे 'शाल्मलीमूलाः' कहा गया है। इसका पाठ विमान अध्याय ८ में किया गया है, यथा- "शाल्मलिशाल्मलिकभद्रपर्णेलापर्ण्युपोदिकोद्दालकधन्वनराजादनोपचित्रागोपी" (वि.अ.८/१३५) इति [शाल्मली (सेंमल), शाल्मलिका (मोंचरस), भद्रपर्णी (गम्भारी), एलापर्णी (रास्ना), उपोदिका (पोई), उद्दालक (श्लेष्मान्तक), धन्वन (धामन), राजादन (क्षीरिणी = खिरनी), उपचित्रा एवं गोपी (अनन्तमूल); इनके चूर्ण को पिच्छिल बनाकर उसमें कृतवेधनफलचूर्ण मिलाकर रोगी को देना चाहिए।] इस प्रकार इन दस द्रव्यों के योग से दस योग बनते हैं।

शाल्मलकः = शाल्मलीभेद, अथवा रोहितक। भद्रपर्णी = गम्भारी। एलापर्णी = नागबला। अन्य आचार्य इससे 'हिंस्रा' का ग्रहण करते हैं। राजादन = क्षीरिका। उपचित्रा = दन्ती । गोपी = सारिवा।

वर्तिक्रियाः षट् फलवत्, फलादीनां घृतं तथा ॥८॥

कृतवेधन के अन्य योग-

१. वर्ति के षट् योग- मदनफल आदि (मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन) द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के छः गुने क्वाथ में २ भाग कृतवेधन चूर्ण भिगों दे। प्रातःकाल उसे हाथ से मसलकर इक्कीस बार (सात तह किये हुए कपड़े से तीन बार) छान लें। इस छने हुए शीतकषाय में शेष एक भाग कृतवेधन चूर्ण मिलाकर वर्ति (वटिका) बना लें। इस प्रकार इन छः क्वाथों से वर्ति के छः योग बनते हैं।

२. घृत योग- कृतवेधन के कल्क से साधित दूध से निकाले गये नवनीत (मक्खन) से घृत तैयार करें। इस घृत को मदनफल आदि द्रव्यों के क्वाथ एवं कल्क में पकाकर विधिपूर्वक सिद्ध कर लें। इस घृत का पान करने से सम्यक् वमन होता है। इसका निर्माण मदनफलघृत विधि की तरह करना चाहिए।

चक्रपाणि- वर्तिक्रियाः षट् फलवदिति- मदनफलवर्ति की तरह यहाँ भी छः वर्ति के योग बताये गये हैं, "फलपिप्पलीचूर्णानि पूर्ववत्" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा मदनकल्प में वर्ति के जो योग बताये गये हैं, उन्हीं के निर्माण विधि से यहाँ भी कृतवेधन चूर्ण द्वारा छः योगों का निर्माण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

'फलादीनां घृतं तथा' इति से कृतवेधन साधित क्षीर के नवनीत को फलादि (मदनफल आदि) द्रव्यों के क्वाथ (एवं कल्क) द्वारा मदनफल घृत की भाँति सिद्ध करें, यह बताया गया है। ॥८॥

कोशातकानि पञ्चाशत् कोविदाररसे पचेत् । तं कषायं फलादीनां कल्कैर्लेहं पुनः पचेत् ।।९।।
क्ष्वेडस्य तत्र भागः स्याच्छेषाण्यर्धांशिकानि तु । कषायैः कोविदाराद्यैरेवं तत् कल्पयेत् पृथक् ।।१०।।

अवलेह योग– कोशातकी के ५० फलों को कोविदार के रस (या क्वाथ) में पकावें, चतुर्थांश अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छान लें। इस छने हुए क्वाथ में मदनफल आदि द्रव्यों के कल्क डालकर पुनः पकाते हुए लेह का निर्माण करें। इस कल्पना में कोशातकी का कल्क- १ भाग तथा शेष मदनफल आदि पाँच द्रव्यों का कल्क आधा भाग डालें। इस प्रकार कोविदार आदि द्रव्यों के क्वाथों से अलग-अलग अवलेह निर्माण करें।

चक्रपाणि– 'कोशातकानीति' से अवलेह योग को बताया गया है। **अत्रैव क्वाथपादिके कल्के कर्तव्ये क्ष्वेडस्य पूर्णो भागो देयः–** यहाँ कल्क का प्रयोग क्वाथ का चतुर्थांश करें।

जिसमें कोशातकी कल्क क्वाथ का चतुर्थांश डालें, शेष चार द्रव्यों के कल्क अलग-अलग कोशातकी का आधा होना चाहिए। अर्थात् १ भाग कोशातकी कल्क, शेष चार (जीमूतक कल्क $^1/_2$ भाग, इक्ष्वाकु कल्क $^1/_2$ भाग, धामार्गव कल्क – $^1/_2$ भाग तथा कुटक कल्क $^1/_2$ भाग) २ भाग होना चाहिए। ॥९-१०॥

विशेष (Comments)– कोविदार स्वरस (क्वाथ) में पकायी गयी कोशातकी का क्वाथ- ४ भाग, कोशातकी कल्क- १ भाग, मदनफलकल्क $^1/_2$ भाग, जीमूतक कल्क $^1/_2$ भाग, इक्ष्वाकु कल्क $^1/_2$ भाग, धामार्गव कल्क $^1/_2$ भाग, कुटज कल्क $^1/_2$ भाग लें। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मिश्रित कर लें एवं पकाकर अवलेह बना लें।

इसी प्रकार कर्बुदार, नीप (कदम्ब), विदुल, बिम्बी, शणपुष्पी, सदापुष्पी एवं प्रत्यकपुष्पी के क्वाथों से अलग-अलग अवलेहों का निर्माण करना चाहिए।

इस प्रकार आठ क्वाथों से अवलेह के आठ योग बनते हैं।

कषायेषु फलादीनामानूपं पिशितं पृथक् । कोशातक्या समं पक्त्वा रसं सलवणं पिबेत् ।।११।।
फलादिपिप्पलीतुल्यं तद्वत् क्ष्वेडरसं पिबेत् ।

मांसरस योग– मदनफल आदि छः द्रव्यों के अलग-अलग बने हुए क्वाथ में आनूप पशु-पक्षियों के मांस तथा मांस की मात्रा के बराबर कृतवेधन चूर्ण डालकर **मांसरस** का निर्माण करें। इस मांसरस में सैन्धव लवण डालकर आतुर को पीने के लिए दें।

इसी प्रकार कोशातकी के क्वाथ में आनूप पशु-पक्षियों के मांस व मांस के बराबर मदनफल आदि द्रव्यों का चूर्ण (संयुक्त रूप में) मिलाकर मांसरस तैयार करें। इस मांसरस का पान आतुर को वमनार्थ करावें। अर्थात् वमन कराने के लिए रोगी को पीने के लिए दें। इस प्रकार यहाँ मांसरस के ७ योगों का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि– 'कषायेष्विति' के द्वारा यहाँ मांसरस के सात योगों को बताया गया है। **सममिति–** कोशातकी की मात्रा के बराबर मांस का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् कोशातकी चूर्ण – १ भाग, मांस- १ भाग ग्रहण करें. यहाँ 'पिबेत्' तक छः मांसरस के योगों की संख्या पूर्ण हो जाती है। 'फलादि' इति से सप्तम योग का अभिधान किया गया है। **'फलादिपिप्पलीतुल्यं तद्वदिति'** – इस वचन से मदनफल आदि द्रव्यों के बीज का चूर्ण- १ भाग, मांस- १ भाग लेकर कोशातकी के क्वाथ में पकाकर मांसरस तैयार करें एवं इस मांसरस को वमनार्थ पीने के लिए दें, अर्थ लिया गया है। ॥११॥

क्ष्वेडं कासी पिबेत् सिद्धं मिश्रमिक्षुरसेन च ।।१२।।

इक्षुरस योग– इक्षुरस में कोशातकी के चूर्ण को मिलाकर पका लें। इस कोशातकी चूर्ण साधित इक्षुरस का प्रयोग कास रोगी में वमन हेतु करें। अर्थात् कास के रोगी को पीने के लिए दें। इसके प्रयोग से सम्यक् वमन होता है।

चक्रपाणि– 'क्ष्वेडमित्यादि' के द्वारा इक्षुरस के एक योग का अभिधान किया गया है। **सिद्धमिति इक्षुरसेन मिश्रितं सत् साधितं पिबेदित्यर्थः–** इक्षुरस में कोशातकी चूर्ण को मिश्रित करके पकावें, चतुर्थांश अवशेष बचने पर इक्षुरस (पक्व) को छानकर आतुर को पीने के लिए दें। **जतूकर्ण** ने कहा भी है, यथा– "क्ष्वेडमिक्षुरसे शृतम्" [क्ष्वेड (कोशातकी) को इक्षुरस के साथ पकाकर पीने के लिए दें। अर्थात् क्ष्वेड चूर्ण साधित इक्षुरस (पक्व) का पान करावें।] ॥१२॥

Scanned by CamScanner

तत्र श्लोकौ–

क्षीरे द्वौ द्वौ सुरा चैका क्काथा द्वाविंशतिस्तथा । दश पिच्छा घृतं चैकं षट् च वर्तिक्रियाः शुभाः ।।१३।।
लेहेऽष्टौ सप्त मांसे च योग इक्षुरसेऽपरः । कृतवेधनकल्पेऽस्मिन् षष्टियोंगाः प्रकीर्तिताः ।।१४।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने कृतवेधनकल्पो नाम षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कृतवेधनकल्प नामक इस छठवें अध्याय में कृतवेधन के अधोलिखित **साठ कल्पों** का वर्णन किया है–

१. दो-दो योग दूध के, अर्थात् दूध के चार योग
२. सुरा से निर्मित योग एक
३. क्वाथ के योग बाइस
४. पिच्छा योग दस
५. घृत योग– एक
६. वर्तियोग – छः
७. लेह के आठ योग
८. मांस रस के सात
९. इक्षु रस – एक

कुल योग – साठ

इस प्रकार आग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में कृतवेधनकल्प नामक छत्वां अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'क्षीरे द्वौ द्वौ' इति के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। द्वौ-द्वौ इति – दो व दो मिलाकर चार होते हैं, यहाँ दूध के ४ योग बताये गये हैं।

विशेष (Comments)– इस प्रकार यहाँ प्रथम से लेकर षष्ठ अध्याय तक वमन के कुल – ३५५ योगों (मदनफल के – १३३ + जीमूतक के ३९ + इक्ष्वाकु के ४५ + धामार्गव के ६० + कुटज के १८ + कोशातकी के ६० योग = ३५५) का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में कृतवेधनकल्प नामक छठवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः श्यामात्रिवृत्कल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद (वमन कल्पों के अभिधान के बाद) श्यामात्रिवृत् कल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पूर्व के छः अध्यायों में वमन कल्पनाओं के विवेचन के बाद वक्तव्य (कहे जाने वाले) विरेचन कल्पों में त्रिवृत् विरेचन द्रव्यों में प्रधान होने से तथा सुखपूर्वक विरेचन कराने के कारण त्रिवृत् कल्प का ही यहाँ अभिधान किया जा रहा है। **त्रिवृताभेद एव च श्यामा, तेन श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पः श्यामात्रिवृत्कल्पः–** त्रिवृत् का ही एक भेद 'श्यामा' है, इस प्रकार श्यामा व त्रिवृत् का कल्प श्यामात्रिवृत्कल्प कहलाता है, यद्यपि अरुण मूल वाली त्रिवृत् ही उत्कृष्ट गुणों वाली होती है, ऐसा कहा गया है । फिर भी श्यामा के आधार पर अध्याय का नामकरण होना विरेचनार्थ श्यामा त्रिवृत् की आशुकारिता का द्योतक है। अर्थात् दोष निर्हरण हेतु (विरेचनार्थ) अरुण की तुलना में श्यामा त्रिवृत् शीघ्र कार्यकारी है, ऐसा समझना चाहिए।

ये चात्र योगा वक्तव्यास्तेऽरुणया वा श्यामया वा उभाभ्यां वा दोषशरीरादिबलाबलमवेक्ष्य कर्तव्याः– यहाँ अरुण अथवा श्याम अथवा दोनों वर्ण वाले त्रिवृत् मूल के जो योग बताये जायेंगे या बताये गये हैं, उनका प्रयोग दोष व शरीरादि के बलाबल का विचार करते हुए ही करना चाहिए। ।।१-२।।

विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः । तस्याः संज्ञा गुणाः कर्म भेदः कल्पश्च वक्ष्यते ।।३।।

श्रेष्ठ विरेचक द्रव्य– मनीषी गण (विद्वान लोग) विरेचन द्रव्यों में त्रिवृत् मूल को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं। अतः उस त्रिवृत् मूल के पर्याय, गुण, कर्म, भेद एवं कल्पों का अभिधान किया जा रहा है।

चक्रपाणि– यहाँ त्रिवृत्मूल शब्द से श्याम एवं अरुण मूल वाली त्रिवृत् का सामान्यतया ग्रहण किया गया है। ।।३।।

त्रिभण्डी त्रिवृता चैव श्यामा कूटरणा तथा । सर्वानुभूतिः सुवहा शब्दैः पर्यायवाचकैः ।।४।।

त्रिवृत् के पर्याय– त्रिभण्डी, त्रिवृत्, श्यामा, कूटरणा, सर्वानुभूति तथा सुवहा; त्रिवृत् के पर्याय हैं। अर्थात् एक ही अर्थ का बोध कराते हैं।

चक्रपाणि– पर्यायत्वेन वाचकैः पर्यायवाचकैः– पाठक गणों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है, अतः पर्याय कहने वाले को पर्यायवाचक कहा गया है। ।।४।।

कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा । कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ।।५।।
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः । कल्पवैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत् ।।६।।

त्रिवृत् के गुण– यह कषाय, मधुर, रूक्ष एवं विपाक में कटु होती है। कफ व पित्त का प्रशमन करती है तथा रूक्ष गुण के कारण वात को प्रकुपित करती है।

निशोथ विशेषतः वात, पित्त व कफ नाशक औषधियों के साथ प्रयोग करने पर अथवा कल्पना विशेष के रूप में सभी रोगों को दूर करती है।

चक्रपाणि– 'सेदानीमिति' के द्वारा त्रिवृत् के विशेष कल्पना को स्पष्ट किया गया है। वातनाशक औषधियों के योग से यह वातनाशक कार्य करता है, जबकि यह स्वभावतः वातवर्धक होता है। इसका स्वाभाविक गुण **पित्त-कफ नाशक** होता है। यदि इसे पित्त कफ नाशक औषधियों के साथ प्रयोग करते हैं तब इसका यह गुण और अधिक बढ़ जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

कल्पवैशेष्यमिति– विशेष कल्पना करना। सर्वरोगहरेति– व्यस्त व समस्त रूप से (अलग-अलग व मिश्रित रूप से) प्रयोग करने पर सभी दोषों से प्रारम्भ होने वाली व्याधियों को दूर करता है। ।।५-६।।

[Because of combination with different drugs and because of preparations according to different pharmaceutical processes, it cures all diseases whether caused by Vāyu, pitta or kapha individually or jointly. – Dr. R.K. Sharma and Bhagvan das.]

मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च । तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम् ।।७।।

Scanned by CamScanner

सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम् । मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्यामा क्षिण्वीत मूर्च्छयेत् ।।८।।
तैक्ष्ण्यात् कर्षति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि । शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः ।।९।।

त्रिवृत् के भेद– मूल (Root) के वर्ण के आधार पर त्रिवृत् के दो भेद होते हैं– १. श्याम मूल वाली त्रिवृत्, २. अरुण मूल वाली त्रिवृत् । इन दोनों में अरुण वर्ण की मूल वाली त्रिवृत् श्रेष्ठ होती है, ऐसा जानना चाहिए। इसका प्रयोग सुकुमार प्रकृति वाले लोगों, शिशुओं, वृद्ध तथा मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों में विरेचनार्थ करना श्रेयस्कर (शुभ) होता है।

श्याम मूल वाली त्रिवृत् अपने आशुकारी गुण के कारण मोह (Unconsciousness) उत्पन्न करती है, धातुओं का क्षय करती है, जिससे व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है। अपने तीक्ष्ण गुण के कारण शीघ्र ही हृदय एवं कण्ठ में खिंचाव उत्पन्न करती है एवं अत्यधिक दोषों को निकालती है। इसलिए इसका प्रयोग क्रूर कोष्ठ एवं अत्यधिक दोष वाले व्यक्तियों में कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'मूलं तु द्विविधमित्यादि' के द्वारा दोनों प्रकार के त्रिवृत् के भेद को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् श्याम व अरुण मूल वाली त्रिवृत् के गुणों के अन्तर को स्पष्ट किया गया है।

मुख्यतरमिति विरेचनक्रियायामेवाव्यापत्तिकरत्वाच्छ्रेष्ठतरम्– विरेचन कार्य में अव्यापत्तिकर होने के कारण (उपद्रव न उत्पन्न करने के कारण) अरुण मूल वाली त्रिवृत् श्यामा त्रिवृत् की तुलना में श्रेष्ठतर होती है।

सुकुमार प्रकृति वाले लोग एवं शिशु (बालक) यद्यपि अविरेचनीय कहे गये हैं फिर भी उनमें अरुण मूल वाली त्रिवृत् से विरेचन कराना हितकर होता है, ऐसा जानना चाहिए। 'मोहयेदित्यादि' के द्वारा श्याम मूल वाली त्रिवृत् (श्यामा त्रिवृत्) के गुण-कर्मों को बताया गया है। **क्षीण्वीतेति धातुक्षयं कुर्यात्–** धातुक्षय को उत्पन्न करता है। ।।७-९।।

विशेष (Comments)– मूल के वर्ण के आधार पर यहाँ त्रिवृत् के दो भेद बताये गये हैं– १. अरुण मूल वाली त्रिवृत्, २. श्याम मूल वाली त्रिवृत् । **तत्र श्याममूला त्रिवृता श्यामा–** श्याम (काली) मूल वाली त्रिवृत् को **श्यामा** नाम दिया गया है तथा अरुण मूल (Root) वाली त्रिवृत् को 'त्रिवृत्' कहा गया है। इन दोनों में अरुण मूल वाली त्रिवृत् को श्रेष्ठतर कहा गया है, क्योंकि यह सुकुमार आदि व्यक्तियों में विरेचनार्थ प्रयुक्त होती है। श्यामा अपने तीक्ष्ण गुण के कारण कण्ठ को क्षीण करती है, हृदय एवं कण्ठ मे खिंचावट उत्पन्न करती है तथा दोषों को भी शीघ्र निकालती है। इसलिये इसका प्रयोग बहुदोष वाले व्याधियों एवं क्रूर कोष्ठ वाले पुरुषों में किया जाता है।

– जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद ।

गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत् । उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ।।१०।।
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् । तद्विपाट्योद्धरेन्नर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ।।११।।

त्रिवृत् का संग्रह– गुणयुक्त भूमि में उत्पन्न दोनों प्रकार की त्रिवृत् मूल को, एक दिन पूर्व व्रत धारण करके, शुक्ल पक्ष में श्वेत वस्त्र पहनकर सावधानी पूर्वक एकाग्र मन से उखाड़ना चाहिए। ऐसे मूल को उखाड़ना चाहिए जो जमीन में गहराई तक गया हो, श्लक्ष्ण (चिकना) हो व टेढ़ा-मेढ़ा न हो। ऐसे मूल को उखाड़कर उसे फाड़ लें एवं उसके मूल त्वक् (जड़ की छाल) को निकालकर सुखा लें। शुष्क मूलत्वक् को एक पात्र में सुरक्षित रख लें।

चक्रपाणि– यद्यपि मदनकल्प (क.अ.१) में ही गुणवान भूमि में उत्पन्न होने वाली, आदि गुणों के अनुसार औषधियों के संग्रह की विधि को सामान्य रूप से बताया गया है फिर भी गम्भीरानुगत आदि विशेष विषयों को वहाँ न कहते हुए प्रसंगानुसार यहाँ कह दिया गया है, जिसे यहाँ 'गुणवत्यामिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'शुक्ले' से यहाँ शुक्लपक्ष अर्थ लिया गया है।

गम्भीरानुगम् इति दूरप्रविष्टम् – दूर तक प्रविष्ट, जिसकी जड़ नीचे की ओर गई हो।

उद्धरेन्नर्भमिति मूलस्यास्थि उद्धरेत्– मूल (Root) की अस्थि को निकाल दें। अर्थात् जड़ से छिलके को पृथक् कर लें। छिलके को सुखाकर प्रयोग में लावें।

निधापयेदिति– निर्दिष्ट भैषज्यसंग्रह विधि द्वारा इसका संग्रहण करें। [इसका निर्देश कल्पस्थान अ. १ में किया गया है।] ।।१०-११।।

स्निग्धस्विन्नो विरेच्यस्तु पेयामात्रोषितः सुखम् ।

त्रिवृत् सेवन की विधि– विरेच्य रोगी को सर्वप्रथम आभ्यन्तर स्नेहपान करावें, सम्यक् स्नेहन हो जाने पर अभ्यङ्ग व स्वेदन कराकर एक दिन पूर्व पेया का सेवन करावें। दूसरे दिन प्रातःकाल त्रिवृत् का प्रयोग करें। इससे रोगी सुखपूर्वक विरेचन करता है।

चक्रपाणि– पेयामात्रोषित इति पूर्वदिने पेयामात्राहारतया उषितः– एक दिन पूर्व यहाँ आहार के रूप में पक्व या उष्ण पेया का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् एक दिन पूर्व पेया खिलानी चाहिए। यद्यपि विरेचन के पूर्व दिनों में अन्य स्थानों पर भी वैसा ही आहार नियमित

Scanned by CamScanner

रूप से देने का निर्देश दिया गया है, यथा– "स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्" (सू.अ. १३) इति [विरेचन से पूर्व ३ दिन के काल में रोगी को स्नेह मिश्रित द्रव एवं उष्ण मांसरस के साथ भात का सेवन करना चाहिए।] फिर भी त्रिवृत् विरेचन प्रयोग में विरेचन के **पूर्व दिन में** (एक दिन पहले) पेया देने का विशेष विधान है, ऐसा जानना चाहिए।

किंचेयमेव तद्वचनात् स्निग्धोष्णमांसरससाधिता च क्रियमाणा न पूर्वोक्तस्नेहवद्द्रवौष्णमांसरसौदनविरुद्धा भवति– इसके साथ ही उस वचन से स्निग्ध, उष्ण मांसरस साधित पेया पूर्व वर्णित (सू.अ.१३ में वर्णित) सूत्र– "स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्" से विरुद्ध नहीं होती, ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं। अर्थात् विरेचन से तीसरे व दूसरे दिन पूर्व मांसरस युक्त भात का सेवन करावें तथा एक दिन पूर्व (त्रिवृत् प्रयोग में) के काल में मांसरस साधित तनु पेया (dilute gruel) का प्रयोग करें।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं विनीयाम्लेन ना पिबेत् ।।१२।।
गोऽव्यजामहिषीमूत्रसौवीरकतुषोदकैः । प्रसन्नया त्रिफलया शृतया च पृथक् पिबेत् ।।१३।।

निशोथ (त्रिवृत्) के नव योग– सामान्यतया दोनों प्रकार के त्रिवृत् मूल को एक अक्ष (१ तोले) मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क को काञ्जी में घोलकर विरेचनार्थ रोगी को पीने के लिए दें। अथवा त्रिवृत् मूल कल्क का प्रयोग अधोलिखित द्रव्यों के क्वाथ में से किसी एक के क्वाथ में घोलकर रोगी को पीने के लिए दें–

१. गोमूत्र, २. भेड़ का मूत्र, ३. अजा मूत्र, ४. भैंस का मूत्र, ५. सौवीर, ६. तुषोदक, ७. प्रसन्ना, ८. त्रिफला क्वाथ।

इस प्रकार काञ्जी को लेकर कुल नव योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'अक्षमात्रमित्यादि' के द्वारा नव अम्ल द्रव्यों द्वारा नव योग बताये गये हैं। **तयोरिति–** श्याम व अरुण मूल वाले दोनों त्रिवृत् मूल त्वक् के कल्क का ग्रहण करें। **एतयोश्च मिलितयोः प्रत्येकं च प्रयोगा इति प्रागेव प्रतिपादितम्–** मिलित रूप एवं अलग-अलग रूप में दोनों के ही प्रयोगों का प्रतिपादन पूर्व में किया जा चुका है। अम्लेनेति = काञ्जी के द्वारा। ।।१२-१३।।

विशेष (Comments)– १. **काञ्जी–** "सन्धितं धान्यमण्डादिकाञ्जिकं कथ्यते जनैः"– भावप्रकाश निघण्टु संधानवर्ग

[धान्य व मण्डादि को किसी पात्र में रखकर उसमें पानी डालकर मुख ढक करके तीन दिन तक रखें। तीन दिन बाद इसका प्रयोग करें। इस विधि से तैयार द्रव पदार्थ को काञ्जी कहा जाता है।]

२. तुषोदक– "तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः" संधानवर्ग/६ इति [भाव प्रकाश निघण्टु] आम अथवा तुष युक्त यव के टुकड़े करके उसके द्वारा संधान विधि से तैयार द्रव को तुषोदक कहते हैं।

३. प्रसन्ना– मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग **प्रसन्ना** कहलाता है। अथवा Spirituous liquor made of rice – Carak (M.M. Williams.)

एकैकं सैन्धवादीनां द्वादशानां सनागरम् । त्रिवृद्द्विगुणसंयुक्तं चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ।।१४।।

चूर्ण के योग– सैन्धवादि बारह द्रव्यों में से अलग-अलग द्रव्यों के साथ समान मात्रा में सोंठ का चूर्ण तथा दोनों के द्विगुण मात्रा में त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर रोगी को खाने के लिए दें, पश्चात् उष्ण जल पीने के लिए दें। अर्थात् चूर्ण को उष्ण जल के साथ खाने के लिए दें। [इस प्रकार बारह द्रव्यों के योग से कुल बारह योग बनते हैं।]

चक्रपाणि– 'एकैकमित्यादि' के द्वारा सैन्धव आदि द्रव्यों से निर्मित होने वाले कुल बारह योगों को बताया गया है। सैन्धवादि बारह द्रव्य रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ.८) में लवणस्कन्ध के अन्तर्गत पढ़े गये हैं। **सनागरमिति–** सैन्धव– १ भाग + शुण्ठी चूर्ण– १ भाग + त्रिवृत् चूर्ण– ४ भाग (सैन्धव व शुण्ठी चूर्ण के मिश्रण का दूना) [शुण्ठी सहित सैन्धादि चूर्ण का द्विगुण त्रिवृत् चूर्ण मिल' करके उष्ण जल के साथ रोगी को पीने के लिए दें।] ।।१४।।

विशेष (Comments)– लवणस्कन्ध (वि.अ. ८/१४१) में अधोलिखित पाठ है, यथा– "सैन्धवसौवर्चलकालविडपाक्यानूप-कूप्यवालूकैलमौलकसामुद्ररोमकौद्भिदौषरपाटेयकपांशुजान्येवं प्रकाराणि चान्यानि लवणवर्ग-परिसंख्येतानि" इति

[लवण स्कन्ध में क्रमशः– १. सैन्धव नमक, २. सौवर्चल लवण, ३. काल लवण, ४. विड लवण, ५. पाक्य लवण, ६. आनूप लवण, ७. कूप्य लवण, ८. बालुक, ९. ऐल, १०. मौलक, ११. सामुद्र, तथा १२. रोमक द्रव्यों का ग्रहण करें।]

इनके योग से १२ योग बनते हैं, यथा– (क) सैन्धव लवण– १ भाग + शुण्ठी चूर्ण १ भाग + त्रिवृत् चूर्ण– ४ भाग, (ख) सौवर्चल लवण– १ भाग + शुण्ठी चूर्ण १ भाग + त्रिवृत् चूर्ण– ४ भाग, (ग) काललवण– १ भाग + शुण्ठी चूर्ण– १ भाग + त्रिवृत् चूर्ण– ४ भाग, आदि।

Scanned by CamScanner

पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं गजपिप्पली । सरलः किलिमं हिङ्गु भार्गी तेजोवती तथा ।।१५।।
मुस्तं हैमवती पथ्या चित्रको रजनी वचा । स्वर्णक्षीर्यजमोदा च शृङ्गवेरं च तैः पृथक् ।।१६।।
एकैकार्धांशसंयुक्तं पिबेद्गोमूत्रसंयुतम् ।

गोमूत्र से निर्मित योग– अधोलिखित द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य के अर्ध भाग चूर्ण में १ भाग त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर गोमूत्र में घोलकर विरेचनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए–

- पिप्पलीचूर्ण
- पिप्पलीमूल
- कालीमिर्च चूर्ण
- गजपिप्पली चूर्ण
- सरल चूर्ण
- किलिम (देवदारु)
- हींग चूर्ण
- भार्गी (भारङ्गी) चूर्ण
- तेजोवती चूर्ण
- नागरमुस्तक चूर्ण
- हैमवती (वचा) चूर्ण
- पथ्या (हरड़) चूर्ण
- चित्रक चूर्ण
- रजनी (हल्दी) चूर्ण
- वचा चूर्ण
- स्वर्णक्षीरी चूर्ण
- अजमोदा चूर्ण
- शृङ्गबेर (सोंठ = शुण्ठी)

[इस प्रकार अट्ठारह द्रव्यों से कुल १८ योग बनते हैं।]

चक्रपाणि– 'पिप्पलीत्यादि' के द्वारा पिप्पली आदि द्रव्यों के भेद से गोमूत्र के कुल १८ योगों का अभिधान किया गया है। ॥१५-१६॥

मधुकार्धांशसंयुक्तं शर्कराम्बुयुतं पिबेत् ।।१७।।

यष्टीमधु के योग– अर्ध भाग यष्टीमधु चूर्ण + एक भाग त्रिवृत् चूर्ण को शर्कराम्बु (चीनी के शरबत) में घोलकर पीवें।

चक्रपाणि– 'मधुकेत्यादि' के द्वारा यष्टीमधु के एक योग को स्पष्ट किया गया है, जबकि अध्यायोक्त उपसंहार में इसके दो योगों को– 'यष्ट्यां द्वौ' के द्वारा बताया गया है। दो में से एक का यहाँ वर्णन किया गया है। ॥१७॥

जीवकर्षभकौ मेदां श्रावणीं कर्कटाह्वयाम् । मुद्गमाषाख्यपर्ण्यौ च महतीं श्रावणीं तथा ।।१८।।
काकोलीं क्षीरकाकोलीमिन्द्रां छिन्नरुहां तथा । क्षीरशुक्लां पयस्यां च यष्ट्याह्वं विधिना पिबेत् ।।१९।।
वातपित्तहितान्येतान्यन्यानि तु कफानिले ।

जीवकादि से निर्मित चौदह योग– १. जीवक, २. ऋषभक, ३. मेदा, ४. श्रावणी (गोरखमुण्डी), ५. कर्कटी (काकड़ासिंगी), ६. मुद्गपर्णी, ७. माषपर्णी, ८. बड़ी श्रावणी (बड़ी गोरखमुण्डी), ९. काकोली, १०. क्षीरकाकोली, ११. इन्द्रा (कोकिलाक्ष = तालमखाना), १२. छिन्नरूहा (गुडूची), १३. क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी), १४. पयस्या (अर्क पुष्पी) एवं १५. यष्टीमधु (यष्टीमधु के योग को श्लोक नं.१७ से जोड़कर देखें); इन द्रव्यों में से किसी एक के चूर्ण को अर्ध भाग (१/२ भाग) लेकर १ भाग त्रिवृत् चूर्ण में मिलावें। इस प्रकार त्रिवृत् मिश्रित चूर्ण को विधिपूर्वक चीनी के शरबत में घोलकर आतुर को पीने के लिए दें। इस प्रकार १५ द्रव्यों के योग से १५ योग बनते हैं। इन चूर्णों का प्रयोग वातपित्तजन्य व्याधियों तथा वात कफ जन्य अन्य व्याधियों (पूर्व वर्णित व्याधियों) में करना हितावह होता है।

चक्रपाणि– 'जीवकेत्यादि' के द्वारा चौदह योगों तथा 'यष्ट्याह्वमिति' से एक योग यष्टीमधु से बताया गया है। यह योग अध्यायोक्त उपसंहार में वर्णित दो योगों में से एक है। क्षीरशुक्ला = क्षीरविदारी । इन्द्राः = कोकिलाक्षः (तालमखाना)। पयस्या = अर्कपुष्पी ॥१८-१९॥

क्षीरमांसेक्षुकाश्मर्यद्राक्षापीलुरसैः पृथक् ।।२०।।
सर्पिषा वा तयोश्चूर्णमभयार्धांशिकं पिबेत् ।

दुग्ध आदि से निर्मित योग– १. गोदुग्ध (Cow's milk), २. मांसरस (meat-soup), ३. इक्षुरस (Juice of sugar cane), ४. काश्मर्य क्वाथ (गम्भारी का क्वाथ), ५. द्राक्षा स्वरस (Grape juice), ६. पीलु स्वरस एवं ७. घृत (गोघृत); सभी द्रव्यों में से किसी एक को अर्ध (१/२ भाग) भाग लेकर १ भाग त्रिवृत् चूर्ण के साथ विरेचनार्थ पीने के लिए दें। इस प्रकार सात द्रव्यों के योग से सात योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'क्षीरेत्यादि' के द्वारा क्षीर आदि के सात योगों को बताया गया है। पीलु– उत्तरापथ में होने वाला एक प्रकार का फल। [पीलु – *Salvadora persica* इसके वृक्ष राजपूताना, सिन्ध, बलूचिस्तान आदि शुष्क स्थानों पर पाये जाते हैं।]

Scanned by CamScanner

लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संयुक्तं ससितोपलम् ।।२१।।
अजगन्धा तुगाक्षीरी विदारी शर्करा त्रिवृत् । चूर्णितं क्षौद्रसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।।२२।।
सन्निपातज्वरस्तम्भदाहतृष्णार्दितो नरः । श्यामात्रिवृत्कषायेण कल्केन च सशर्करम् ।।२३।।
साधयेद्विधिवल्लेहं लिह्यात् पाणितलं ततः । सक्षौद्रां शर्करां पक्त्वा कुर्यान्मृद्भाजने नवे ।।२४।।
क्षिपेच्छीते त्रिवृच्चूर्णं त्वक्पत्रमरिचैः सह । मात्रया लेहयेदेतदीश्वराणां विरेचनम् ।।२५।।
कुडवांशान् रसानिक्षुद्राक्षापीलुपरूषकात् । सितोपलापलं क्षौद्रात् कुडवार्धं च साधयेत् ।।२६।।
तं लेहं योजयेच्छीतं त्रिवृच्चूर्णेन शास्त्रवित् । एतदुत्सन्नपित्तानामीश्वराणां विरेचनम् ।।२७।।
शर्करामोदकान् वर्तीर्गुलिकामांसपूपकान् । अनेन विधिना कुर्यात् पैत्तिकानां विरेचनम् ।।२८।।
पिप्पलीं नागरं क्षारं श्यामां त्रिवृतया सह । लेहयेन्मधुना सार्धं श्लेष्मलानां विरेचनम् ।।२९।।
मातुलुङ्गाभयाधात्रीश्रीपर्णीकोलदाडिमात् । सुभृष्टान् स्वरसांस्तैले साधयेत्तत्र चावपेत् ।।३०।।
सहकारात् कपित्थाच्च मध्यमम्लं च यत् फलम् । पूर्ववद्वह्लीभूते त्रिवृच्चूर्णं समावपेत् ।।३१।।
त्वक्पत्रकेशरैलानां चूर्णं मधु च मात्रया । लेहोऽयं कफपूर्णानामीश्वराणां विरेचनम् ।।३२।।

१. निशोथ चूर्ण को मिश्री के साथ मधु व घृत मिलाकर विरेचन हेतु चाटने के लिए देना चाहिए।

२. अजगन्धा (अजमोदा), तुगाक्षीरी (तबाक्षीर = वंशलोचन), विदारीकन्द, शर्करा (मिश्री) एवं निशोथ; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें एवं मधु व घृत मिलाकर चाटें। इसके प्रयोग से सम्यक् विरेचन होता है। इसके प्रयोग से सन्निपातज ज्वर, शरीर में जकड़ाहट का होना (Stiffness of the body), उदर में दाह का होना तथा प्यास का लगना आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

३. श्यामा त्रिवृत् क्वाथ में श्यामा त्रिवृत् के कल्क तथा शर्करा डालकर विधिवत् अवलेह बनावें। इस अवलेह को १ तोला की मात्रा में रोगी को चाटने के लिए दें। यह एक तीव्र विरेचक योग है। [इसका प्रयोग क्रूर कोष्ठ एवं बहुदोष वाले रोगियों में विरेचनार्थ करना चाहिए।]

४. एक नये मिट्टी के पात्र में शर्करा तथा मधु डालकर पकावें, अवलेह जैसा (गाढ़ा) हो जाने पर, अग्नि पर से उतार कर कुछ ठण्डा कर लें। इस शीत हुई डेढ़ तार की चासनी में त्रिवृत् चूर्ण (अरुण मूल वाली निशोथ चूर्ण), दालचीनी का चूर्ण, तेजपत्र चूर्ण एवं काली मिर्च के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर अच्छी प्रकार से मिला लें। इस अवलेह का प्रयोग मात्रानुसार करें। सुकुमार लोगों में इस अवलेह का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए।

५. **अन्य विरेचक योग–** इक्षुरस (ईख का रस), द्राक्षा स्वरस (अंगूर का रस), पीलु का रस एवं फालसे का रस; प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ कुड़व (१६-१६ तोला), मिश्री– १ पल (४ तोला); सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर पकावें, पकाते पकाते गाढ़ा कर लें। जब अवलेह तैयार हो जाय तब उसे अग्नि पर से उतार कर ठण्डा कर लें। अन्त में उसमें एक कुड़व मधु व आधा कुड़व त्रिवृत् चूर्ण मिलावें। इस अवलेह का प्रयोग शास्त्रविद् चिकित्सक मात्रानुसार उत्सन्नपित्त (वृद्ध पित्त) वाले सुकुमार प्रकृति के रोगियों में विरेचनार्थ करें। अर्थात् इस प्रकार के रोगियों में विरेचनार्थ इस अवलेह का प्रयोग चिकित्सक को कराना चाहिए।

पित्तजन्य रोगों से आक्रान्त व्यक्तियों को पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार– शर्करा, मोदक, वर्ती, गुलिका (गुडिका), मांसरस एवं अपूप (मालपुआ) का निर्माण करके विरेचन हेतु खिलाना चाहिए। अर्थात् इन योगों को त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर ही बनाना चाहिए।

कफज रोगों में विरेचन योग– १. पिप्पली, सोंठ (शुण्ठी), क्षार (यवक्षार) व श्यामा त्रिवृत् (काली मूल वाली निशोथ); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। कफ प्रकृति वाले रोगी को इस चूर्ण का सेवन मधु के साथ मिलाकर करना चाहिए। इसके प्रयोग से सम्यक् विरेचन होता है।

२. बिजौरा नीबू का रस, अभया (हरीतकी) स्वरस अथवा क्वाथ, आमलकी स्वरस या क्वाथ, श्रीपर्णी स्वरस (गम्भारी का क्वाथ), बेर का क्वाथ, अनार का रस; सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ कुड़व की मात्रा में लेकर तिल तैल में भून लें। कुछ गाढ़ा हो जाने पर उसमें आम्रचूर्ण, कपित्थ (कैथ) की गुद्दी का चूर्ण तथा अन्य अम्ल रस वाले द्रव्यों के चूर्ण डालकर पाक करें। अवलेह जब गाढ़ा हो जाय तब उसमें त्रिवृत् चूर्ण मिला दें। इसके बाद पुनः उसमें दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर तथा इलायची के चूर्ण को मिलावें। अवलेह के ठण्डा हो जाने पर उसमें मधु मिला दें। इस अवलेह का प्रयोग कफ से युक्त शरीर वाले सुकुमार प्रकृति के व्यक्तियों में विरेचन हेतु करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'लिह्याद्वा मध्वित्यादि' के द्वारा लेह के आठ योगों का वर्णन किया गया है। लिह्याद्वेत्यादि– से प्रथम अवलेह का अभिधान किया गया है। अर्थात् **त्रिवृत् चूर्ण + सिता (मिश्री)** को मधु व घृत मिलाकर चाटें, (प्रथम योग)। **अजगन्धेत्यादि** से द्वितीय योग का कथन किया गया है। अजगन्धा से यहाँ अजमोदा (Goat's delight, Number of various plants, common Carroway, the species called Ajwaen (Ligusticum ajwaen– अजवाइन की एक प्रजाति– M.M. Williams Dictionary) का ग्रहण है।

Scanned by CamScanner

'श्यामात्रिवृदित्यादि' के द्वारा तृतीय अवलेह को स्पष्ट किया गया है। श्यामा त्रिवृत् के क्वाथ में इसके कल्क व शर्करा डालकर अवलेह बनावें – तृतीय योग। यहाँ शर्करा चूर्ण – १ भाग, श्यामा त्रिवृत् चूर्ण– १ भाग तथा $^1/_4$ भाग श्यामा त्रिवृत् क्वाथ लेकर अवलेह बनावें। 'सक्षौद्रामित्यादि' के द्वारा चतुर्थ योग को स्पष्ट किया गया है। यहाँ मधु को पकाने का निर्देश है, यह योग का अपना प्रभाव है।

त्रिवृत्चूर्णमात्रापादिकत्वं त्वक्पत्रादीनां, सौगन्ध्यमात्रप्रयोजनत्वात्– त्रिवृत् चूर्ण की मात्रा $^1/_4$ भाग ग्रहण करें, तथा सुगन्धित द्रव्यों की मात्रा प्रयोजन के अनुसार लेनी चाहिए। अर्थात् त्वक्, पत्र आदि द्रव्यों की मात्रा सुगन्ध के प्रयोजन के अनुसार ग्रहण करनी चाहिए।

ईश्वराणां विरेचनमिति वचनेन सुकुमारत्वादस्निग्धविषयतामस्य दर्शयति– धनी अथवा आरामदायक जीवन व्यतीत करने वाले लोग सुकुमार होने से रूक्षण के योग्य होते हैं, क्योंकि ऐसे लोग प्रायः सुकुमार व स्निग्ध होते हैं।

'कुडवांशानित्यादि' के द्वारा पंचम योग को स्पष्ट किया गया है। [इक्षुरस – $^1/_4$ कुडव, द्राक्षा स्वरस– $^1/_4$ कुडव, पीलु रस– $^1/_4$ कुडव, परूषक (फालसा) स्वरस– $^1/_4$ कुडव तथा मिश्री १ पल (४ तोले) लेकर अवलेह बनावें। ठण्डा होने पर उसमें आधा कुडव मधु मिला दें तथा इसमें त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर सेवन करें।]

इस योग में शास्त्रकार ने त्रिवृत् चूर्ण की मात्रा का निर्देश नहीं किया है। अतः प्रक्षेप न्याय के अनुसार चूर्ण (प्रक्षेप) की मात्रा लेह की चतुर्थांश होनी चाहिए।

उत्सन्नपित्तानां उद्भूतपित्तानाम्– पित्त की उल्बणता वाले रोगियों में। शर्करेत्यादि के द्वारा पूर्व वर्णित ४ लेहों के ही विधि की तरह इनका (मोदकादि) भी निर्माण करना चाहिए।

[These recipes are prepared according to the process similar to linctus. Therefore, theses are described here. For preparing these recipes, sugar-cane juice. etc., and the powder of Trivrit are to be used. – Dr. Bhagvan Das]

अत्र वर्त्यादयोऽपि शर्कराकृता एव ज्ञेया– यहाँ वर्ति आदि के निर्माण में भी शर्करा का प्रयोग किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

अनेनविधिनेति– इस प्रकार की विधि द्वारा निर्मित योगों अर्थात् इक्षुरस आदि के द्वारा संस्कारित योगों में त्रिवृत् चूर्ण मिलाकर पैत्तिक प्रकृति वाले रोगियों में विरेचनार्थ प्रयोग करना चाहिए।

'पिप्पलीं नागरमित्यादि' के द्वारा छठें अवलेह का अभिधान किया गया है। 'मध्य' से यहाँ **अम्ल कपित्थ** के बीच के भाग का ग्रहण किया गया है। **अम्लं च यत् फलमिति–** जो फल अम्ल रस युक्त हों, यथा– बिजौरा नीबू, फालसा, आमलकी आदि। ॥२१-३२॥

जल्पकल्पतरु टीका– इक्षुरस आदि ४ द्रव्यों (इक्षु, द्राक्षा, पीलु व, परूषक) के स्वरस अलग-अलग एक-एक कुडव मान में लेकर उसमें १-१ पल मिश्री मिलाकर लेह की तरह पकावें। सम्यक् अवलेह बन जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर नीचे रख लें। अवलेह ठण्ढा हो जाने पर उसमें मधु अर्ध कुडव मिला दें। इस अवलेह का प्रयोग त्रिवृत् चूर्ण के साथ करें। यहाँ इक्षुरस आदि चार द्रव्यों से ४ अलवेह के योग बनते हैं। इस प्रकार कुल आठ अवलेह के योग पूर्ण होते हैं।

शर्करेत्यादि के द्वारा **चार सिता** के योगों का विवेचन किया गया है। पूर्व वर्णित लेह विधि द्वारा **शर्करा मोदक** आदि का निर्माण करना चाहिए। शर्करा व त्रिवृत् चूर्ण को बराबर मात्रा में लेकर मोदक का निर्माण करना चाहिए। यहाँ **शर्करा मोदक** एक योग है। शेष तीन योग वर्ति गुलिका (गुडिका) व मांसपूप के हैं।

पानकानि रसान् यूषान्मोदकान् रागषाडवान् । अनेन विधिना कुर्याद्विरेकार्थं कफाधिके ।।३३।।

निशोथ के अन्य पाँच योग– पूर्वोक्त विधि द्वारा निर्मित पानक, मांसरस, यूष, मोदक एवं रागषाडव का प्रयोग कफ की अधिकता वाले रोगियों में विरेचनार्थ करना चाहिए ।

चक्रपाणि– 'पानकानीत्यादि' के द्वारा पूर्वोक्त विधि द्वारा निर्मित पानक आदि के पाँच योगों का अभिधान किया गया है। **रागप्रधानः षाडवो रागषाडवः–** राग प्रधान षाडव **रागषाडव** कहलाता है। ['क्वथितं तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम्। तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः' – गुड़ के साथ नवीन फलों का पाक तैयार करना, पश्चात् इसमें तैल, शुण्ठी व जीरक चूर्ण का प्रक्षेप डालना; इस विधि से तैयार पाक रागषाडव (मुरब्बा) कहलाता है।]

अनेन विधिनेति– पूर्वोक्त अवलेह निर्माण की विधि द्वारा। ॥३३॥

भृङ्गैलाभ्यां समा नीली तैखिवृत्तैश्च शर्करा । चूर्णं फलरसक्षौद्रशक्तुभिस्तर्पणं पिबेत् ।।३४।।
वातपित्तकफोत्थेषु रोगेष्वल्पानलेषु च । नरेषु सुकुमारेषु निरपायं विरेचनम् ।।३५।।

Scanned by CamScanner

तर्पण योग– १. भृङ्ग (दालचीनी त्वक्)– १ भाग, एला (छोटी इलायची) – १ भाग, नीली की जड़ २ भाग, त्रिवृत् चूर्ण – ४ भाग (तीनों द्रव्यों के योग के बराबर), शर्करा– चारों द्रव्यों के योग बराबर (८ भाग) लेकर सभी द्रव्यों के चूर्णों को आपस में मिश्रित करके रख लें। इस चूर्ण को अम्ल फलों के रस, मधु व यव के सत्तू के साथ मिलाकर तर्पण बनाकर रोगी को पिलाना चाहिए। इसका प्रयोग वात पित्त व कफ जन्य रोगों तथा मन्दाग्नि में करते हैं। सुकुमार व्यक्तियों में इसके प्रयोग से उपद्रव रहित विरेचन होता है। अर्थात् उनमें प्रयोग करने से कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न होता है, अपितु सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

चक्रपाणि– "भृङ्गैलाभ्यामित्यादि' के द्वारा प्रथम तर्पण योग का विवेचन किया गया है। द्वितीय तर्पण योग का विवेचन आगे किया जायेगा। भृङ्गम् = गुडत्वक् (दालचीनी) । **तैश्च शर्करेति–** चारों द्रव्यों – दालचीनी, एला, नीली एवं त्रिवृत् के मात्रा के योग के बराबर शर्करा डालनी चाहिए, अर्थात् – आठ भाग शर्करा का प्रयोग करें। फलरसः = अनार का रस ॥३४-३५॥

शर्करात्रिफलाश्यामात्रिवृत्पिप्पलिमाक्षिकैः । मोदकः सन्निपातोर्ध्वरक्तपित्तज्वरापहः ॥३६॥

मोदक योग– शर्करा (Sugar), हरड़, बहेड़ा, आँवला, श्यामा त्रिवृत् पिप्पली तथा मधु; इन द्रव्यों (शर्करादि से लेकर पिप्पली तक के द्रव्यों) के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर मोदक बना लें । इसका प्रयोग सन्निपातज ज्वर, ऊर्ध्वगरक्तपित्त (Apartic disturbance of the blood caused by bile, or spontaneous haemorrhage from the nose or mouth) तथा ज्वर में विरेचनार्थ किया जाता है। यह मोदक इन व्याधियों को दूर करता है।

चक्रपाणि– 'शर्करेत्यादि' के द्वारा प्रथम मोदक योग को बताया गया है। मोदक निर्माण हेतु– "मोदके द्विगुणो गुडः" सूत्र से गुडशर्करा की मात्रा चूर्ण की दूनी ग्रहण करनी चाहिए। ॥३६॥

त्रिवृच्छाणा मतास्तिस्रस्तिस्रश्च त्रिफलात्वचः । विडङ्गपिप्पलीक्षारशाणास्तिस्रश्च चूर्णिताः ॥३७॥
लिह्यात् सर्पिर्मधुभ्यां च मोदकं वा गुडेन तु । भक्षयेन्निष्परीहारमेतच्छोधनमुत्तमम् ॥३८॥
गुल्मं प्लीहोदरं श्वासं हलीमकमरोचकम् । कफवातकृतांश्चान्यान् व्याधीनेतद्व्यपोहति ॥३९॥

मोदक योग– त्रिवृत् (श्वेत निशोथ-अरुण मूल वाली त्रिवृत्)– ३ शाण, त्रिफला चूर्ण– ३ शाण, विडङ्ग, पिप्पली व यवक्षार – तीनों के मिश्रित चूर्ण– ३ शाण (विडंग चूर्ण– १ शाण, पिप्पली चूर्ण– १ शाण, यवक्षार– १ शाण); सभी द्रव्यों को मिश्रित करके किसी चौड़े मुख के पात्र में सुरक्षित रख लें। इस चूर्ण में घृत व मधु मिलाकर रोगी को चटाना चाहिए अथवा इस चूर्ण में गुड़ मिलाकर लड्डू (मोदक) बना लें। इस मोदक को उचित मात्रा में रोगी को खाने के लिए दें। इसके सेवन से उत्तम शोधन होता है। मोदक सेवन काल में **पथ्यापथ्य** के नियमों के विशेष पालन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह मोदक गुल्म, प्लीहोदर, श्वास, हलीमक (कामला की विशेष अवस्था), अरोचक (Anorexia) तथा अन्य कफज व्याधियों को नष्ट कर देता है।

चक्रपाणि– 'त्रिवृच्छाणा इत्यादि' के द्वारा यहाँ इस योग को मोदक में पढ़ा गया है, फिर भी इसको लेह (अवलेह) के साथ ग्रहण करने से यह आठवाँ योग हो जाता है। ॥३७-३९॥

विशेष (Comments)– त्रिवृत् चूर्ण– ३ भाग, त्रिफला चूर्ण– ३ भाग, विडंग– यवक्षार-पिप्पली मिश्रित चूर्ण– ३ भाग; सभी द्रव्यों को आपस में मिलाकर मधु व घृत के साथ चाटें, अथवा इस चूर्ण में द्विगुण गुड़ मिलाकर मोदक बना लें।

[चूर्ण ९ भाग + गुड़– १८ भाग मिलाकर लड्डू बना लें।]

विडङ्गपिप्पलीमूलत्रिफलाधान्यचित्रकान् । मरिचेन्द्रयवाजाजीपिप्पलीहस्तिपिप्पलीः ॥४०॥
लवणान्यजमोदां च चूर्णितं कार्षिकं पृथक् । तिलतैलत्रिवृच्चूर्णभागौ चाष्टपलोन्मितौ ॥४१॥
धात्रीफलरसप्रस्थांस्त्रीन् गुडार्धतुलां तथा । पक्त्वा मृद्वग्निना खादेद्वदरोदुम्बरोपमान् ॥४२॥
गुडान् कृत्वा न चात्र स्याद्विहाराहारयन्त्रणा । मन्दाग्नित्वं ज्वरं मूर्च्छां मूत्रकृच्छ्रमरोचकम् ॥४३॥
अस्वप्नं गात्रशूलं च कासं श्वासं भ्रमं क्षयम् । कुष्ठार्शःकामलामेहगुल्मोदरभगन्दरान् ॥४४॥
ग्रहणीपाण्डुरोगांश्च हन्युः पुंसवनाश्च ते । कल्याणका इति ख्याताः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ॥४५॥

इति कल्याणकगुडः ।

कल्याणक गुड– १. घटक द्रव्य–

१. वायविडङ्ग – १ कर्ष
२. पिप्पली मूल – १ कर्ष
३. हरीतकी – १ कर्ष
४. विभीतकी – १ कर्ष
५. आमलकी – १ कर्ष
६. धनिया – १ कर्ष

Scanned by CamScanner

७. चित्रक – १ कर्ष
८. कालीमिर्च – १ कर्ष
९. इन्द्रयव (कुटज बीज) – १ कर्ष
१०. अजाजी (जीरक) – १ कर्ष
११. गज पिप्पली – १ कर्ष
१२. सैन्धव नमक – १ कर्ष
१३. सौवर्चल नमक – १ कर्ष
१४. समुद्र नमक – १ कर्ष
१५. विड नमक – १ कर्ष
१६. औद्भिद नमक – १ कर्ष
१७. अजमोदा – १ कर्ष
१८. तिल तैल – ८ पल
१९. निशोथ चूर्ण (अरुण मूल वाली त्रिवृत् चूर्ण) – ८ पल
२०. आमलकी स्वरस – ३ प्रस्थ
२१. गुड़ – अर्ध तुला (५० पल)

२. निर्माण विधि– सर्वप्रथम वायविडंग से लेकर अजमोदा तक के द्रव्यों को १-१ कर्ष मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में तिल तैल, निशोथ चूर्ण, गुड़ व आमलकी स्वरस मिलाकर विधिपूर्वक मृदु अग्नि पर पकावें। जब यह पककर गाढ़ा हो जाय तथा पात्र में न चिपके। तब इसे अग्नि पर से उतार कर बेर के बराबर अथवा गूलर फल के समान वटिका बनाकर सुरक्षित रख लें। इसके सेवन काल में पथ्यापथ्य नियम के पालन की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती।

३. उपयोग– इस योग (वटिका) के सेवन करने से अधोलिखित व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं–

- मन्दाग्नि (भूख का न लगना),
- ज्वर (Fever),
- मूर्च्छा (Fainting),
- मूत्रकृच्छ्र (Dysuria),
- अरोचक (Anorexia),
- निद्रानाश (Insomnia),
- गात्रशूल (Bodyache),
- कास (Cough),
- श्वास (Asthma),
- भ्रम (Giddiness),
- क्षय (Consumption),
- कुष्ठ (Skin diseases including leprosy)
- अर्श (Piles),
- कामला (Jaundice),
- प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes)
- गुल्म (Phantom tumour)
- उदररोग
- भगन्दर (Fistula in ano)
- ग्रहणी (Sprue syndrome)
- पाण्डुरोग (Anaemia)

इस योग के प्रयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है, अर्थात् यह योग सन्तानोत्पादक भी है। **कल्याणक गुड** नामक इस योग का प्रयोग सभी ऋतुओं में करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'विडङ्गेत्यादि' के द्वारा द्वितीय मोदक को स्पष्ट किया गया है। ।।४०-४५।।

विशेष (Comments)– मोदक निर्माण विधि– ५० पल गुड़ व ३ प्रस्थ आमलकी स्वरस को एक पात्र में लेकर चासनी बना लें। जब चासनी का निर्माण हो जाय तब उसमें वायविडंग से लेकर अजमोदा तक के द्रव्यों का चूर्ण, निशोथ चूर्ण एवं पक्व तिल तैल को मिलाकर हाथ से अच्छी प्रकार से मसलकर मोदक (लड्डू) बना लें।

व्योषत्वक्पत्रमुस्तैलाविडङ्गामलकाभयाः । समभागा भिषग्दद्याद्विगुणं च गुकूलकम् ।।४६।।
त्रिवृतोऽष्टगुणं भागं शर्कराया्श्च षड्गुणम् । चूर्णितं गुडिकाः कृत्वा क्षौद्रेण पलसंमिताः ।।४७।।
भक्षयेत् कल्यमुत्थाय शीतं चानु पिबेज्जलम् । मूत्रकृच्छ्रे ज्वरे वम्यां कासे श्वासे भ्रमे क्षये ।।४८।।
तापे पाण्ड्वामयेऽल्पेऽग्नौ शस्तो निर्यन्त्रणाशिनः। योगः सर्वविषाणां च मतः श्रेष्ठो विरेचने ।।४९।।
मूत्रजानां च रोगाणां विधिज्ञेनावचारितः ।

व्योषादि मोदक या गुडिका– क. घटक द्रव्य–

१. शुण्ठी (सोंठ) – १ भाग,
२. पिप्पली – १ भाग

Scanned by CamScanner

३. काली मिर्च – १ भाग
४. दालचीनी – १ भाग
५. तेजपत्र (तेजपत्ता) – १ भाग
६. नागरमुस्तक (नागर मोथा) – १ भाग
७. छोटी इलायची – १ भाग
८. वायविडङ्ग – १ भाग
९. आमलकी – १ भाग
१०.हरीतकी – १ भाग
११.दन्तीमूल – २ भाग
१२.त्रिवृत् चूर्ण (सफेद निशोथ – अरुण मूल वाली)– ८ भाग
१३.चीनी – ६ भाग
१४.मधु – यथावश्यक

ख. निर्माण विधि– क्रमाङ्क एक से लेकर तेरह तक के द्रव्यों को चूर्ण कर लें। सभी द्रव्यों के चूर्ण को आपस में मिलाकर उसमें आवश्यकतानुसार मधु मिलाकर कूट लें, तत्पश्चात् गुटिका का निर्माण करें।

ग. मात्रा– इस गुटिका का सेवन १ पल की मात्रा में शीतल जल के साथ करें।

घ. उपयोग– यह गुटिका मूत्रकृच्छ्र (कष्ट के साथ मूत्र का निकलना), ज्वर, वमन (Vomiting), कास (खाँसी का आना), श्वास (Asthma), भ्रम (Giddiness), क्षयरोग (Consumption), शरीर का उष्ण बना रहना, पाण्डु रोग (Anaemia) तथा मन्दाग्नि आदि व्याधियों में अत्यन्त उपयोगी है। इसके प्रयोग काल में पथ्य पालन की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। सभी प्रकार के विष विकारों में विरेचनार्थ इस योग का प्रयोग करना श्रेष्ठ होता है। विरेचन के नियमों का ज्ञाता चिकित्सक को सभी प्रकार के मूत्र विकारों में विधिपूर्वक इस योग का प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'व्योषेत्यादि' के द्वारा तृतीय मोदक योग को बताया गया है। यह मोदक अन्य शास्त्रों में **'अभयाद्य मोदक'** के नाम से प्रसिद्ध है। मुकूलक = दन्ती। **अत्र मुकूलादीनामेकैकद्रव्यापेक्षया द्वैगुण्यादि भवति–** यहाँ दन्ती की मात्रा व्योषादि द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की दूनी ग्रहण करनी चाहिए। मधु उतनी ही मात्रा में मिलावें जितने के प्रयोग से मोदक का निर्माण हो जाय। कुछ आचार्य यहाँ व्योषादि द्रव्यों के मिलित चूर्ण की मात्रा का दूना दन्ती के चूर्ण का ग्रहण करते हैं। ॥४६-४९॥

पथ्याधात्र्युरुबूकाणां प्रसृतौ द्वौ त्रिवृत्पलम् ॥५०॥
दश तान्मोदकान् कुर्यादीश्वराणां विरेचनम् ।

पथ्यादि मोदक– हरड़ चूर्ण, धात्री (आमलकी) चूर्ण एवं एरण्ड की गुद्दी, तीनों द्रव्य मिश्रित रूप से दो प्रसृत लें। इसमें त्रिवृत् मूल चूर्ण (अरुण मूल वाली त्रिवृत्)– १ पल मिलाकर मधु के साथ कूटकर दस मोदक बनावें। इस मोदक का प्रयोग सुकुमार प्रकृति वाले पुरुषों में विरेचनार्थ करें।

चक्रपाणि– 'पथ्येत्यादि' के द्वारा चतुर्थ मोदक योग का अभिधान किया गया है। ॥५०॥

त्रिवृद्धैमवती श्यामा नीलिनी हस्तिपिप्पली ॥५१॥
समूला पिप्पली मुस्तमजप्रोदा दुरालभा । कार्षिकं नागरपलं गुडस्य पलविंशतिम् ॥५२॥
चूर्णितं मोदकान् कुर्यादुदुम्बरफलोपमान् । हिङ्गुसौवर्चलव्योषयवानीबिडजीरकैः ॥५३॥
वचाजगन्त्यात्रिफलाचव्यचित्रकधान्यकैः । मोदकान् वेष्टयेच्चूर्णैस्तान् सतुम्बुरुदाडिमैः ॥५४॥
त्रिकवह्निणहद्वस्तिकोष्ठार्शःप्लीहशूलिनाम् । हिक्काकासारुचिश्वासकफोदावर्तिनां शुभाः ॥५५॥

त्रिवृदादि मोदक योग– १. घटक द्रव्य– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली त्रिवृत्), वचा, श्यामा (काली मूल वाली त्रिवृत्), नीलिनी का मूल, हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली), पिप्पलीमूल, नागरमोथा, अजमोदा व दुरालभा – प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लें। शुण्ठी (सोंठ) - १ पल (४ तोला), गुड़ – २० पल। घी – यथावश्यक ।

मोदक पर अवचूर्णन (dusting) हेतु प्रयोग में आने वाले द्रव्य– घृत में भुनी हुई हींग, सौवर्चल नमक, सोंठ (शुण्ठी), पिप्पली, काली मिर्च, अजवाइन, विडनमक, जीरक (जीरा), वचा (मीठा वच), अजगन्धा (अजमोदा), आमलकी, हरीतकी, विभीतकी, चव्य, चित्रक, धनियाँ, तुम्बरु एवं दाडिम। प्रत्येक द्रव्य १-१ भाग लेकर चूर्ण बना लें।

२. निर्माण विधि– सर्वप्रथम त्रिवृत् आदि द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को गुड़ की बनी हुई चासनी में डालकर गूलर के फल के आकार का मोदक बना लें। इस मोदक को एक थाली में रखकर हींग आदि द्रव्यों के चूर्ण का ऊपर से छिड़काव करें, जिससे अवचूर्णन द्रव्य अच्छी प्रकार से मोदक में लिपट (चिपक जाय) ।

[मात्रा– १-२ मोदक]

Scanned by CamScanner

३. उपयोग– इस योग का प्रयोग अधोलिखित रोगियों मे करना लाभदायक है–

- त्रिक् शूल
- वंक्षण शूल
- हृदय शूल
- वस्ति शूल
- कोष्ठ शूल
- अर्श शूल
- प्लीहा शूल
- हिक्का (Hiccup)
- कास (Cough)
- श्वास (Asthma)
- उदावर्त
- कफज विकार

चक्रपाणि– 'त्रिवृद्धैमवतीत्यादि' के द्वारा **पञ्चम मोदक** के योग को स्पष्ट किया गया है, अथवा पूरा किया गया है। वेष्टयेदिति अवचूर्णयेत् – अवचूर्णन करें, मोदक पर चूर्ण इस प्रकार छिड़कें कि चूर्ण मोदक के चारों ओर लिपट जाय ॥५१-५५॥

त्रिवृतां कौटजं बीजं पिप्पलीं विश्वभेषजम् । क्षौद्रद्राक्षारसोपेतं वर्षास्वेतद्विरेचनम् ॥५६॥
त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम् । द्राक्षाम्बुना सयष्ट्याह्वसातलं जलदात्यये ॥५७॥
त्रिवृतां चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम् । स्वर्णक्षीरीं च हेमन्ते पिष्ट्वा तूष्णाम्बुना पिबेत् ॥५८॥
शर्करा त्रिवृता तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् । त्रिवृत्त्रायन्तिहपुषाः सातलां कटुरोहिणीम् ॥५९॥
स्वर्णक्षीरीं च संचूर्ण्य गोमूत्रे भावयेत्र्यहम् । एष सर्वर्तुको योगः स्निग्धानां मलदोषहृत् ॥६०॥
त्रिवृच्छ्यामा दुरालम्भा वत्सकं हस्तिपिप्पली । नीलिनी त्रिफलाः मुस्तं कटुका च सुचूर्णितम् ॥६१॥
सर्पिर्मांसरसोष्णाम्बुयुक्तं पाणितलं ततः । पिबेत् सुखतमं ह्येतद्रूक्षाणामपि शस्यते ॥६२॥
व्यूषणं त्रिफला हिङ्गु कार्षिकं त्रिवृतापलम् । सौवर्चलार्धकर्षं च पलार्धं चाम्लवेतसात् ॥६३॥
तच्चूर्णं शर्करातुल्यं मद्येनाम्लेन वा पिबेत् । गुल्मपार्श्वार्तिनुत्सिद्धं जीर्णे चाद्याद्रसौदनम् ॥६४॥

तर्पा ऋतु में उपयोगी विरेचन योग– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली त्रिवृत्), इन्द्रयव (कुटज का बीज), पिप्पली तथा सोंठ (शुण्ठी); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। मधु मिश्रित अंगूर के रस के साथ इस चूर्ण का प्रयोग विरेचनार्थ वर्षा ऋतु में सेवन करें।

शरद् ऋतु में उपयोगी विरेचन योग– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ), दुरालभा, मुस्तक (नागरमुस्तक), शर्करा (चीनी), उदीच्य (सुगन्धबाला), रक्तचन्दन, यष्टीमधु (मुलेठी) एवं सप्तला; इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित चूर्ण को द्राक्षास्वरस (अंगूर के रस) में घोलकर शरद् काल में विरेचनार्थ आतुर को पीने के लिए दें।

हेमन्तकाल में उपयोगी विरेचन योग– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली त्रिवृत्), चित्रक, पाठा, अजाजी (जीरा), सरल, वचा एवं स्वर्णक्षीरी; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को हेमन्त ऋतु में उष्ण जल के साथ विरेचनार्थ रोगी को सेवन करावें।

ग्रीष्म ऋतु में उपयोगी विरेचन योग– शर्करा व त्रिवृत् दोनों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का सेवन उष्ण जल के साथ विरेचनार्थ करावें। इस योग का सेवन रोगी को ग्रीष्म काल में करना चाहिए।

सभी ऋतुओं में उपयोगी विरेचन योग– १. त्रिवृत्, त्रायमाणा, हाऊबेर, (हपुषा), कटुरोहिणी (कुटकी); स्वर्णक्षीरी; प्रत्येक द्रव्य समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में गोमूत्र की तीन भावना दें। पश्चात् सुखाकर पुनः चूर्ण कर लें। इस योग का प्रयोग विरेचन हेतु सभी ऋतुओं में करना चाहिए। रोगी को सम्यक् स्नेहन व स्वेदन के बाद इस योग का सेवन करना चाहिए। [स्नेहन = आभ्यन्तर व बाह्य स्नेहन] इसके प्रयोग से मल व दोष निर्हरित हो जाते हैं।

२. निशोथ (अरुण मूल वाली निशोथ), श्यामा (काली निशोथ), दुरालभा, वत्सक (इन्द्रयव), गजपिप्पली, नीलिनी मूल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मुस्तक (मोथा) व कुटकी; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण का प्रयोग रूक्ष शरीर वाले रोगी को १-१ कर्ष (१ तोले) की मात्रा में विरेचन हेतु घृत, मांसरस एवं उष्ण जल में घोलकर पीने के लिए देना चाहिए।

३. सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला एवं हींग; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष (तोले), त्रिवृत् – १ पल, सौवर्चल लवण– आधा कर्ष, अम्लवेतस – अर्ध पल (२ तोले)। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। चूर्ण के बराबर मात्रा में चीनी मिलाकर मद्य अथवा काञ्जी में घोलकर गुल्म तथा पार्श्वशूल के रोगियों में पीने के लिए दें। औषध के पच जाने पर आहार के रूप में मांसरस व भात का सेवन करावें।

चक्रपाणि– 'त्रिवृतां कौटजमित्यादि' के द्वारा प्रारम्भ करके 'रूक्षणामपि शस्यते' तक ऋतुओं के अनुसार विरेचन के योगों का वर्णन किया गया है। सातला = चर्मकशा। जलदात्यये = शरद् ऋतु में।

Scanned by CamScanner

हेमन्ते यद्यपि प्रबलशीतवाते विरेचनं निषिद्धं, तथाऽपि व्याधिविषयविहितं विरेचनमेतज्ज्ञेयम्– हेमन्त ऋतु में यद्यपि प्रबल शीत व वायु के रहने पर विरेचन का निषेध किया गया है फिर भी व्याधि की दृष्टि से विरेचन का विधान है, ऐसा जानना चाहिए। यह निषिद्धता स्वस्थ पुरुष की दृष्टि से निर्देषित है।

सर्वर्तुकयोगौ– सभी ऋतुओं में विरेचनार्थ उपयोगी होना, अर्थात् निर्दिष्ट योगों का प्रयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है। जिससे जो ऋतुएं यहाँ निर्दिष्ट नहीं हैं, यथा– वसन्त आदि, उनका भी ग्रहण करना चाहिए। सभी ऋतुओं में उपयोगी दो योगों का यहाँ निर्देश किया गया है– १. त्रिवृत्श्यामादि योग, २. त्र्यूषण आदि योग, जिसका निर्देश क्रमाङ्क २ व ३ में किया गया है। ॥५६-६४॥

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं सप्तलां व्योषसैन्धवम् । कृत्वा चूर्णं तु सप्ताहं भाव्यमामलकीरसे ॥६५॥
तद्योज्यं तर्पणे यूषे पिशिते रागयुक्तिषु ।

अन्य विरेचक योग– त्रिवृत् (निशोथ), हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्तीमूल, सप्तला, शुण्ठी (सोंठ), काली मिर्च, पिप्पली एवं सैन्धव लवण; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में आमलकी स्वरस की सात भावना दें। तत्पश्चात् इसे सुखाकर पुनः चूर्ण कर लें। विरेचनार्थ इस चूर्ण का प्रयोग तर्पण (यव के सत्तू), यूष, मांसरस अथवा राग में घोलकर करें। अर्थात् इस चूर्ण का सेवन निर्दिष्ट द्रव पदार्थों में घोलकर करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'त्रिवृतां त्रिफलामित्यादि' से एक तर्पण योग का वर्णन किया गया है। इस प्रकार 'सर्वर्तुक योग' को लेकर यहाँ तर्पण के दो योग बताये गये हैं। [**सर्वर्तुक योग** का विवेचन श्लोक नं. ५९ व ६० में किया गया है।] ॥६५॥

तुल्याम्लं त्रिवृताकल्कसिद्धं गुल्महरं घृतम् ॥६६॥
श्यामात्रिवृतयोर्मूलं पचेदामलकैः सह । जले तेन कषायेण पक्त्वा सर्पिः पिबेन्नरः ॥६७॥
श्यामात्रिवृत्कषायेण सिद्धं सर्पिः पिबेत्तथा । साधितं वा पयस्ताभ्यां सुखं तेन विरिच्यते ॥६८॥

त्रिवृत् योग– (क) घृत – १ भाग, काञ्जी– १ भाग, त्रिवृत् कल्क– $^1/_4$ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध कर लें। गुल्म के रोगी में इस घृत का प्रयोग विरेचनार्थ करावें। इसके सेवन से गुल्म रोग नष्ट हो जाता है।

(ख) श्यामा (काली निशोथ) का मूल, त्रिवृत् मूल, आमलकी; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल के साथ पकाकर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ से घृत को सिद्ध करें। इस घृत का पान गुल्म रोगी को करावें।

(ग) त्रिवृत् एवं श्यामा त्रिवृत् के क्वाथ से साधित घृत का पान रोगी को करावें।

(घ) श्यामा त्रिवृत् क्वाथ से साधित क्षीर का पान गुल्म रोगी को करावें। इसके प्रयोग से सुखपूर्वक विरेचन होता है।

चक्रपाणि– 'तुल्याम्लमिति' से एक घृत योग का वर्णन किया गया है। 'श्यामेत्यादि' के द्वारा द्वितीय घृत योग का निर्देश है।

'श्यामात्रिवृत्कषायेणेत्यादि' के द्वारा तृतीय घृत योग का अभिधान किया गया है।

घृतेन क्षीरेण च घृतेन क्षीरेण वा एकेन मिलित्वा चत्वारो घृतक्षीरैर्भवन्ति– घृत एवं क्षीर द्वारा साधित या घृत अथवा क्षीर द्वारा साधित, इस प्रकार एक योग को मिलाकर चार योग बनते हैं। ॥६८॥

विशेष (Comments)– 'तुल्याम्लमित्यादि' के द्वारा घृत के दो योगों को बताया गया है। (क) घृत– १ भाग, त्रिवृत् कल्क– $^1/_4$ भाग, काञ्जी– १ भाग, जल– ३ भाग। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। यह घृत गुल्म का नाश करता है, अर्थात् गुल्म रोगी को इस घृत का पान करना चाहिए।

(ख) दोनों प्रकार के त्रिवृत् मूल– २ भाग, आँवला– १ भाग, जल– २४ भाग (आठ गुना)। एक पात्र में त्रिवृत् मूल त्वक् व जल को लेकर पकावें। चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छान लें। इस क्वाथ से घृत को सिद्ध करें। 'श्यामेत्यादि' के द्वारा क्षीर के दो योगों का अभिधान किया गया है– श्यामा त्रिवृत् मूल त्वक् को लेकर आठ गुने जल में क्वाथ बनावें तथा इस क्वाथ में चार गुना दूध डालकर पकावें। दुग्ध मात्र शेष बचने पर क्षीर को अग्नि पर से उतार कर पीवें। इसी प्रकार अरुण मूल वाली त्रिवृत् से क्षीर को सिद्ध करें।

– जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

त्रिवृन्मुष्टींस्तु सनखानष्टौ द्रोणेऽम्भसः पचेत् । पादशेषं कषायं तं पूतं गुडतुलायुतम् ॥६९॥
स्निग्धे स्थाप्यं घटे क्षौद्रपिप्पलीफलचित्रकैः । प्रलिप्ते मधुना मासं जातं तन्मात्रया पिबेत् ॥७०॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं गुल्मश्वयथुनाशनम् । सुरां वा त्रिवृतायोगकिण्वां तत्क्वाथसंयुताम् ॥७१॥

त्रिवृत् के मद्य योग– (क) त्रिवृत् एवं नखी– ८ मुट्ठी लेकर एक द्रोण जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ

Scanned by CamScanner

(Decoction) को छानकर अलग कर लें। इस छने हुए क्वाथ में १ तुला गुड़ मिला दें। अब एक चिकने मिट्टी के घड़े में, जिसके अन्दर का भाग- पिप्पली, मदनफल व चित्रक के समभाग से निर्मित चूर्ण को मधु के साथ कल्क बनाकर लिप्त कर लिया गया हो, में गुड़ मिश्रित क्वाथ को भरकर सन्धानार्थ एक महीने के लिए रख दें। एक महीने बाद अरिष्ट के तैयार हो जाने पर, छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। इस अरिष्ट को मात्रापूर्वक सेवन करने से ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डुरोग (Anaemia), गुल्म (Phantom tumour) एवं शोथ (Oedema) रोग दूर हो जाते हैं।

(ख) त्रिवृत् के क्वाथ में किण्व डालकर सन्धान विधि द्वारा निर्मित सुरा का प्रयोग ग्रहणी आदि रोगों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'त्रिवृन्मुष्टीन्' इत्यादि के द्वारा प्रथम सुरायोग तथा 'सुरां वा' से द्वितीय सुरायोग का अभिधान किया गया है। इस प्रकार यहाँ सुरा के दो योग पूर्ण हो जाते हैं।

त्रिवृद्योगयुक्तं किण्वं यस्यां सा तथा– त्रिवृत् के क्वाथ में किण्व डालकर संधान विधि से बनायी गयी सुरा।

[पाठभेद से 'त्रिवृताकिण्वां पिबेत्तत्क्वाथसंयुताम्' प्राप्त होता है जिसका अभिप्राय सुरा में त्रिवृत् क्वाथ मिलाकर आतुर को पीने के लिए देना चाहिए।]

यवैः श्यामात्रिवृत्क्वाथस्विन्नैः कुल्माषमम्भसा । आसुतं षडहं पल्ले जातं सौवीरकं पिबेत् ।।७२।।
भृष्टान् वा सतुषाञ्छुद्धान् यवांस्तच्चूर्णसंयुतान् । आसुतानम्भसा तद्वत् पिबेज्जातं तुषोदकम् ।।७३।।

अन्य योग– १. श्यामा (काली मूल वाली निशोथ) एवं त्रिवृत् दोनों के क्वाथ में यव को उबाल लें। पश्चात् इस यव को त्रिवृत् के क्वाथ के साथ पीसकर कल्क बना लें। अब मिट्टी के घड़े, जिसका आभ्यन्तर भाग घृत द्वारा स्निग्ध हो, में क्वाथ एवं कल्क को मिलाकर ऊपर का ढक्कन बन्द करके सन्धानार्थ अन्न की राशि में छः दिन के लिए रख दें। छः दिन बाद (संधान हो जाने के बाद) इसे निकालकर विरेचनार्थ रोगी को पीने के लिए दें। इसका नाम सौवीरक दिया गया है।

२. तुषोदक– भूसी युक्त यव को भुनकर चूर्ण कर लें तथा इसमें श्यामा व त्रिवृत् के चूर्ण मिला दें। इस चूर्ण को जल में घोलकर एक स्नेहित मिट्टी के घड़े में रखें। ढक्कन बन्द करके संधानार्थ इस घड़े को छः दिन तक धान्य की राशि में रख दें। संधान हो जाने के बाद इसे निकालकर विरेचनार्थ रोगी को पिलावें।

चक्रपाणि– 'यवैरित्यादि' के द्वारा **सौवीरक** एवं **तुषोदक** के योग को बताया गया है। ये दोनों ही योग काङ्क्षी के हैं।

कुल्माष उत्स्विन्नयवपिष्टकम्– उबले हुए यव का आटा कुल्माष कहलाता है। **पल्ले इति–** धान्यादि की राशि में। तच्चूर्ण संयुतानिति – त्रिवृत् चूर्ण को मिलाना, अर्थात् भूसी युक्त यव को भुनकर चूर्ण करें, इस चूर्ण में त्रिवृत् चूर्ण को मिश्रित कर लें। इस चूर्ण को जल में घोलकर घृत द्वारा स्निग्ध एक मिट्टी के घड़े में रखें। सन्धानार्थ इस घड़े को छः दिन के लिए यव (अन्न) की राशि में रख दें। **तद्वदिति षडहं पल्ले स्थितान्–** धान्य (अन्न) की राशि में छः दिन के लिए रखना।

तथा मदनकल्पोक्तान् षाडवादीन् पृथग्दश । त्रिवृच्चूर्णेन संयोज्य विरेकार्थं प्रयोजयेत् ।।७४।।

अन्य दस योग– मदनकल्प में वर्णित षाडव आदि दस द्रव्यों के साथ अलग-अलग त्रिवृत् चूर्ण को मिलाकर विरेचनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'तथेत्यादि' के द्वारा षाडव आदि दस योगों का अभिधान किया गया है। मदनकल्प नामक अध्याय में दस षाडव आदि योगों का वर्णन– "तथा बदरषाडव-राग-लेह-मोदकोत्कारिका-तर्पण-पानक-मांसरस-यूष-मद्यानां मदनफलान्यन्यतमेनोपसृज्य यथादोषरोग-भक्ति दद्यात्" (क.अ. १/२६) इति के द्वारा किया गया है।

[१. बेर निर्मित षाडव, २. राग, ३. लेह, ४. मोदक, ५. उत्कारिका, ६. तर्पण, ७. पानक, ८. मांसरस, ९. यूष, १०. मद्य; इनमें से किसी एक के साथ त्रिवृत् चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ षाडव आदि के दस योग बनते हैं। ।।७४।।

भवतश्चात्र–
त्वक्केशराम्रातकदाडिमैलासितोपलामाक्षिकमातुलुङ्गैः । मद्यैस्तथाऽन्यैश्च मनोनुकूलैर्युक्तानि देयानि विरेचनानि ।।७५।।
शीताम्बुना पीतवतश्च तस्य सिञ्चेन्मुखं छर्दिविघातहेतोः ।
हृद्यांश्च मृत्पुष्पफलप्रवालानम्लं च दद्यादुपजिघ्रणार्थम् ।।७६।।

त्वक् (दालचीनी), केशर (नागकेशर), आम्रातक (आमड़ा), दाडिम (अनार), एला (छोटी इलायची), माक्षिक (मधु), मिश्री, मातुलुङ्ग (बिजौरा नीबू) स्वरस, मद्य तथा अन्य मनोनुकूल द्रव्यों के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

विरेचक द्रव्य पीने के बाद, आतुर को वमन न हो इस हेतु उसके मुख पर शीतल जल छिड़कना चाहिए तथा हृद्य (मन को प्रिय लगने वाले) मिट्टी, पुष्प, फल, लताएं तथा अम्ल रस वाले द्रव्य सूँघने के लिए देना चाहिए।

चक्रपाणि– अब ११० योगों के कथन के बाद विरेचन द्रव्यों के सेवन से वमन न हो जाय, इसलिए वमन निवारणार्थ तीन विरेचन प्रयोगों को बताया गया है जिसे यहाँ 'त्वक् केशरेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।।७५-७६।।

विशेष (Comments)– वमन निवारण करने वाले तीन योग अधोलिखित हैं– १. त्वक् केशरादि द्रव्यों के स्वरस अथवा मनोनुकूल द्रव्यों के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग। २. मुख पर जल के छींटे मारना। ३. मनोनुकूल गन्ध वाले द्रव्यों को सूँघना।

तत्र श्लोकाः–

एकोऽम्लादिभिरष्टौ च दश द्वौ सैन्धवादिभिः । मूत्रेऽष्टादश यष्ट्यां द्वौ जीवकादौ चतुर्दश ।।७७।।
क्षीरादौ सप्त लेहेऽष्टौ चत्वारः सितयाऽपि च । पानकादिषु पञ्चैव षड्तौ पञ्च मोदकाः ।।७८।।
चत्वारश्च घृते क्षीरे द्वौ चूर्णे तर्पणे तथा । द्वौ मद्ये काञ्जिके द्वौ च दशान्ये षाडवादिषु ।।७९।।
श्यामायास्त्रिवृतायाश्च कल्पेऽस्मिन् समुदाहृतम् । शतं दशोत्तरं सिद्धं योगानां परमर्षिणा ।।८०।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने श्यामात्रिवृत्कल्पो नाम सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– श्यामात्रिवृत्कल्प नामक इस अध्याय में ऋषियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने त्रिवृत् के अधोलिखित ११० योगों का वर्णन किया है–

१. अम्ल आदि द्रव्यों के योग से एक व आठ योग–	९ योग
२. सैन्धवादि द्रव्यों के योग से बारह योग –	१२ योग
३. गोमूत्र के योग से अट्ठारह योग –	१८ योग
४. यष्टीमधु द्वारा दो योग –	२ योग
५. जीवक आदि द्रव्यों के योग से चतुर्दश अर्थात्	१४ योग,
६. क्षीरादि के सात, लेह के आठ योग अर्थात्	७ + ८ = १५ योग
७. सिता के चार योग, पानक आदि के पाँच योग =	४ + ५ = ९ योग
८. ऋतुओं के अनुसार छः योग, मोदक के पाँच योग,	६ + ५ = ११ योग
९. घृत व दूध से चार योग, चूर्ण व तर्पण के दो,	४ + २ = ६ योग
१०. मद्य के दो योग, काञ्जी के दो योग,	२ + २ = ४ योग
११. षाडव आदि द्रव्यों से दस योग =	१० योग
	कुल योग – ११० योग

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरक संहिता के दृढ़बलसंपूरित कल्पस्थान में श्यामात्रिवृत्कल्प नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'एकोऽम्लादिभिरित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को स्पष्ट किया गया है। **यष्ट्यां द्वावि**ति– इस योग को – 'यष्ट्याह्वं विधिना' के द्वारा श्लोक नं. १९ में स्पष्ट किया गया है, जो कि जीवकादि में से एक है। 'मधुकेत्यादि' के द्वारा द्वितीय योग का विवेचन किया गया है ।।७७-८०।।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में श्यामात्रिवृत्कल्प नामक सप्तम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातश्चतुरङ्गुलकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद चतुरङ्गुलकल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– श्यामात्रिवृत्कल्प के अभिधान के बाद मृदुविरेचन गुण की समता के कारण चतुरङ्गुलकल्प का वर्णन किया जा रहा है। अर्थात् इस कल्प के सेवन से सुखपूर्वक विरेचन होता है। ।।१-२।।

आरग्वधो राजवृक्षः शम्याकश्चतुरङ्गुलः । प्रग्रहः कृतमालश्च कर्णिकारोऽवघातकः ।।३।।

पर्याय (Synonyms)– आरग्वध, राजवृक्ष, शम्पाक, चतुरङ्गुल, प्रग्रह, कृतमाल, कर्णिका तथा अवघातक; ये सभी एक ही अर्थ को बताते हैं।

चक्रपाणि– 'आरग्वध इत्यादि' के द्वारा व्यवहारार्थ पर्यायों को बताया गया है। ।।३।।

ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्तादिरोगिषु । राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ।।४।।
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे । योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरङ्गुलः ।।५।।

आरग्वध के उपयोग– आरग्वध (अमलतास– Cassia fistula) मृदु, मधुर व शीत गुण के कारण ज्वर (Fever), हृद्रोग (Heart diseases), वातरक्त (Gout) एवं उदावर्त आदि के रोगियों में अधिक हितकारी होता है। बालक, वृद्ध, उरः क्षत, क्षीण एवं सुकुमार प्रकृति के पुरुषों में विशेष रूप से इसका प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि मृदु होने के कारण उपद्रवकारी नहीं है। अर्थात् इसके सेवन से व्यक्ति में कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न होता।

चक्रपाणि– अधिकं पथ्यं इति– ज्वर आदि के रोगियों में विरेचन का प्रयोग करना विशेष हितकर होता है। अर्थात् अमलतास द्वारा इन व्याधियों में विरेचन कराना चाहिए। ।।४-५।।

फलकाले फलं तस्य ग्राह्यं परिणतं च यत् । तेषां गुणवतां भारं सिकतासु निधापयेत् ।।६।।
सप्तरात्रात् समुद्धृत्य शोषयेदातपे भिषक् । ततो मज्जानमुद्धृत्य शुचौ भाण्डे निधापयेत् ।।७।।

अमलतास (आरग्वध) के संग्रह की विधि– फल के काल में (जिस ऋतु में अमलतास वृक्ष में फल लगे उस ऋतु में) उत्पन्न तथा पक्व फल को एकत्र करें। इसके बाद उत्तम गुणों वाले एवं भारी फल को बालू के अन्दर सात रात्रि तक गाड़ कर रख दें। सात दिन के बाद इसे निकालकर धूप में सुखा लें। तत्पश्चात् इसकी फलमज्जा (गुद्दी) को निकालकर एक साफ-सुथरे पात्र में सुरक्षित रख लें।

चक्रपाणि– फलकाले इति उचितफलकाले– अपने अनुकूल ऋतु में फल के उत्पन्न होने पर। तेषामिति = उन फलों का (गुणवान् एवं भारी फलों को) । **भारमिति** – भूरिद्रव्योपलक्षणम् – फलों का वजनदार होना, यह शब्द भार (weight) के अर्थ में प्रयुक्त है। अर्थात् भार शब्द द्रव्य की अधिकता का उपलक्षण मात्र है। **मज्जानमिति** = फलमज्जा। ।।६-७।।

द्राक्षारसयुतं दद्याद्दाहोदावर्तपीडिते । चतुर्वर्षमुखे बाले यावद्द्वादशवार्षिके ।।८।।
चतुरङ्गुलमज्जस्तु प्रसृतं वाऽथवाऽञ्जलिम् ।

द्राक्षा रस के साथ योग– चार वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक के बालक में यदि दाह (जलन– Burning sensation) तथा उदावर्त रोग (A class of diseases – marked by retention of the feces) हो तब अमलतास (आरग्वध) फल मज्जा को द्राक्षारस में घोलकर विरेचनार्थ पीने के लिए देना चाहिए। फलमज्जा की मात्रा एक प्रसृत (८ तोले) से लेकर एक अञ्जलि (१६ तोले) तक होनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'द्राक्षेत्यादि' के द्वारा प्रथम योग को बताया गया है। 'चतुर्वर्षमुखे बाले यावद्द्वादशवार्षिके इति' के द्वारा – चार वर्ष से पूर्व के बालकों में तथा बारह वर्ष के बाद के व्यक्तियों में यह मात्रा उपयोगी नहीं है। अथवा इस मात्रा का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यह प्रदर्शित किया गया है। ।।८।।

सुरामण्डेन संयुक्तमथवा कोलसीधुना ।।९।।
दधिमण्डेन वा युक्तं रसेनामलकस्य वा । कृत्वा शीतकषायं तं पिबेत् सौवीरकेण वा ।।१०।।

आरग्वध के छः योग– अमलतास की फल मज्जा एक प्रसृत (८ तोले) अथवा एक अञ्जलि (१६ तोले) मात्रा में लेकर सुरामण्ड,

Scanned by CamScanner

अथवा कोलसीधु अथवा दधिमण्ड, अथवा आमलकी स्वरस अथवा सौवीरक के साथ मिलाकर रात भर भिगो दें। प्रातः काल हाथ से मसलकर शीतकषाय को छान लें। इस शीतकषाय का पान विरेचनार्थ रोगी को करना चाहिए।

चक्रपाणि– सुरामण्डेन इति– इससे द्वितीय योग बताया गया है। 'कोलसीधुनेति' से तृतीय योग का अभिधान किया गया है। **कोलकृतः सीधुः कोलसीधुः–** कोल (बेर) द्वारा निर्मित सीधु 'कोलसीधु' कहा जाता है। 'सौवीरकेण वा' तक शेष तीन योग बताये गये हैं– १. दधिमण्ड २. आमलकी स्वरस ३. सौवीरक द्वारा क्रमशः तीन योग बनते हैं। ॥९-१०॥

विशेष (Comments)– पूर्व श्लोक (श्लोक नं. ८) में प्रथम योग का वर्णन किया है तथा यहाँ ५ योगों का अभिधान किया गया है।

त्रिवृतो वा कषायेण मज्ज्ञः कल्कं तथा पिबेत्। तथा बिल्वकषायेण लवणक्षौद्रसंयुतम् ॥११॥

१. त्रिवृत् के क्वाथ में आरग्वध फल की मज्जा का कल्क (Paste) मिलाकर पीना चाहिए।

२. बिल्व के क्वाथ में आरग्वध फल की मज्जा को घोलकर उसमें मधु व सैन्धव नमक मिलाकर रोगी को पिलावें।

[यहाँ दोनों योगों में मधु व सैन्धव लवण मिलाने का विधान है।]

चक्रपाणि– त्रिवृतो वा कषायेण मज्ज्ञः कल्कं तथा पिबेदिति– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली त्रिवृत्) के क्वाथ में आरग्वध फल की मज्जा (कल्क) मिलाकर पूर्व की भाँति शीतकषाय बनाकर पीना चाहिए। इस प्रकार यह सप्तम योग हुआ।

'तथा' इत्यादि के द्वारा यहाँ अष्टम योग का अभिधान किया गया है। यहाँ भी **कल्क व कषाय** (क्वाथ) दोनों का प्रयोग किया गया है। अर्थात् बिल्व के क्वाथ में आरग्वध फल मज्जा का कल्क डालकर घोल लें एवं उसमें मधु व सैन्धव लवण मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें। आचार्य जतूकर्ण ने भी कहा है, यथा– **''त्रिवृत्बिल्वकषायाभ्यां सक्षौद्रलवणौ द्वौ''** इति [त्रिवृत् व बिल्व दोनों के ही क्वाथ में मधु व लवण मिलाकर प्रयोग करें। उससे यहाँ पाठान्तर को प्रमाण नहीं माना गया है, जिसका उल्लेख– कषाये च त्रिवृतो बिल्वकस्य च' के द्वारा उपसंहार में बतायेंगे। ॥११॥

कषायेणाथवा तस्य त्रिवृच्चूर्णं गुडान्वितम्। साधयित्वा शनैर्लेहं लेहयेन्मात्रया नरम् ॥१२॥

अवलेह योग– आरग्वध (अमलतास फलमज्जा) के क्वाथ में चतुर्थांश त्रिवृत् चूर्ण मिलावें तथा चूर्ण से द्विगुण गुड़ मिलाकर विधिपूर्वक अवलेह बना लें। इस अवलेह का प्रयोग मात्रापूर्वक करें।

चक्रपाणि– 'कषायेणेत्यादि' के द्वारा नौवें अवलेह के योग का विवेचन किया गया है। ॥१२॥

चतुरङ्गुलसिद्धाद्वा क्षीराद्यदुदियाद्घृतम्। मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितं पिबेत् ॥१३॥

क्षीरोद्भूत घृत का प्रयोग– अमलतास के क्वाथ से साधित क्षीर से निकाले गये घृत को आरग्वध फलमज्जा के कल्क व आमलकी स्वरस में विधिपूर्वक सिद्ध कर लें। इस घृत का मात्रापूर्वक प्रयोग विरेचनार्थ करावें। अर्थात् इस घृत के सेवन से सम्यक् विरेचन होता है।

चक्रपाणि– 'चतुरङ्गुलेत्यादि' के द्वारा प्रथम **घृत योग** का वर्णन किया गया है। मज्ज्ञ इति = आरग्वध फलमज्जा ॥१३॥

तदेव दशमूलस्य कुलत्थानां यवस्य च। कषाये साधितं सर्पिः कल्कैः श्यामादिभिः पिबेत् ॥१४॥

पूर्व प्रक्रिया से निकाले गये घृत में श्यामा त्रिवृत् (काली निशोथ व अरुण मूल वाली निशोथ), अमलतास, तिल्वक, (लोध्र), महावृक्ष, सप्तला, शंखिनी, दन्ती व द्रवन्ती के समभाग से निर्मित कल्क को डालकर दशमूल, कुलथी तथा यव के क्वाथ से क्रमशः सिद्ध करके आतुर को पीने के लिए दें। इसके प्रयोग से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

चक्रपाणि– 'तदेवेत्यादि' के द्वारा द्वितीय घृत का विवेचन किया गया है। 'श्यामादि' से यहाँ 'मदनकल्प' में वर्णित श्यामा आदि नव द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। इनका प्रयोग कल्क के रूप में करना चाहिए। ॥१४॥

दन्तीक्वाथेऽञ्जलिं मज्ज्ञः शम्पाकस्य गुडस्य च। दत्त्वा मासार्धमासस्थमरिष्टं पाययेत च ॥१५॥

अरिष्ट योग– विधिपूर्वक निर्मित दन्ती के क्वाथ में एक अञ्जलि अमलतास की गुद्दी व गुड़ मिलाकर एक घृत भावित घड़े में रखकर ढक्कन बन्द करके डेढ़ महीने के लिए संधानार्थ अन्न की राशि में रख दें। सम्यक् सन्धान हो जाने पर विरेचनार्थ इस अरिष्ट का सेवन मात्रापूर्वक करें।

चक्रपाणि– 'दन्तीत्यादि' के द्वारा अरिष्ट योग का विवेचन किया गया है। **गुडस्य चाञ्जलिमिति सम्बन्धः–** गुड का सम्बन्ध यहाँ अञ्जलि से लिया गया है। अर्थात् गुड़ की मात्रा १ अञ्जलि रखनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

मासार्धमासस्थमिति– एक मास + आधा मास अर्थात् डेढ मास ॥१५॥

यस्य यत् पानमन्नं च हृद्यं स्वाद्वथ वा कटु । लवणं वा भवेत्तेन युक्तं दद्याद्विरेचनम् ॥१६॥

मनोनुकूल अनुपान– जो अन्न-पान आतुर के मनोनुकूल (हृदय के लिए हितकर) हो, चाहे वह मधुर रस अथवा कटुरस अथवा लवण रस युक्त ही क्यों न हो, उनके साथ विरेचन द्रव्यों की योजना करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'यस्य यदित्यादि' के द्वारा अनुक्त अन्य अनुपान के साधनों को बताया गया है। **हृद्येन हि विरेचनयोगस्य प्रियता स्यात्–** 'हृद्य' से यहाँ विरेचन योग का प्रिय (स्वादिष्ट, जिसे रोगी स्वेच्छा से पी सके) होना, अर्थ लिया गया है।

पानमन्नं चेति– हृद्य आदि प्रत्येक के साथ 'पानमन्नं' शब्द जुड़ा हुआ है, अर्थात् अन्नपान **हृद्य स्वादु, हृद्य कटु** व **हृद्य लवण** रस युक्त होना चाहिए। ॥१६॥

तत्र श्लोकाः–

द्राक्षारसे सुरासीध्वोर्दध्नि चामलकीरसे । सौवीरके कषाये च त्रिवृतो बिल्वकस्य च ॥१७॥
लेहेऽरिष्टे घृते द्वे च योगा द्वादश कीर्तिताः । चतुरङ्गुलकल्पेऽस्मिन् सुकुमाराः सुखोदयाः ॥१८॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने चतुरङ्गुलकल्पो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– चतुरङ्गुलकल्प नामक इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने सुकुमार पुरुषों के सुखपूर्वक विरेचन हेतु आरग्वध के अधोलिखित बारह योगों का विवेचन किया है–

१. द्राक्षारस द्वारा – १ योग,
२. सुरामण्ड द्वारा – १ योग
३. कोलसीधु द्वारा – १ योग,
४. दधिमण्ड द्वारा – १ योग
५. आँवले के स्वरस द्वारा – १ योग
६. सौवीरक द्वारा – १ योग
७. त्रिवृत् क्वाथ से – १ योग
८. बिल्व क्वाथ से – १ योग
९. अवलेह के – १ योग
१०. अरिष्ट के – १ योग
११. घृत के – २ योग

कुल– १२ योग

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में चतुरङ्गुलकल्प नामक आँठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'द्राक्षेत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार का वर्णन किया गया है, जिसके अर्थ स्पष्ट हैं। ॥१७-१८॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में चतुरङ्गुलकल्प नामक अष्टम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

नवमोऽध्यायः ।

अथातस्तिल्वककल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद तिल्वककल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– चतुरङ्गुल (अमलतास) की भाँति तिल्वक भी उपद्रव रहित विरेचन कराता है, अर्थात् इसके सेवन से विरेचन में कोई व्यापत्ति (उपद्रव) नहीं उत्पन्न होती। अतः यहाँ चतुरङ्गुल कल्प के अभिधान के बाद तिल्वक कल्प का वर्णन किया जा रहा है। ।।१-२।।

तिल्वकस्तु मतो लोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः । तस्य मूलत्वचं शुष्कामन्तर्वल्कलवर्जिताम् ।।३।।
चूर्णयेत्तु त्रिधा कृत्वा द्वौ भागौ श्रोतयेत्ततः । लोध्रस्यैव कषायेण तृतीयं तेन भावयेत् ।।४।।
भागं तं दशमूलस्य पुनः क्वाथेन भावयेत् । शुष्कं चूर्णं पुनः कृत्वा तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।।५।।

तिल्वक के पर्याय (Synonyms)– लोध्र, बृहत्पत्र एवं तिरीटक; ये लोध्र के पर्याय बताये गये हैं, अर्थात् ये सभी एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं।

लोध्र (तिल्वक) का संग्रह– तिल्वक मूल की अन्तर्वल्कल को छोड़कर ऊपर की त्वचा (मूल त्वक) को लेकर सुखा लें एवं चूर्ण कर लें। इस चूर्ण के तीन भाग कर लें। प्रथम दो भाग को लोध्र के क्वाथ में भिगो दें, पश्चात् हाथ से मसलकर शीतकषाय को छान लें। इस छने हुए शीतकषाय में एक भाग तिल्वक चूर्ण को मिलाकर भावित करें, पश्चात् पुनः दशमूल क्वाथ की भावना देकर सुखा लें एवं पुनः चूर्ण कर लें, तत्पश्चात् इसका प्रयोग करें।

चक्रपाणि– अन्तर्वल्कलवर्जितामिति– तिल्वक का अन्तर्वल्कल कठिन (Hard) होता है, इसलिए इसका प्रयोग नहीं करते। अर्थात् इसे छोड़कर मूलत्वक् (जड़ के छिलके) का ग्रहण करते हैं। श्रोतयेत् – इस वचन से षड् गुने द्रव में चूर्ण को भिगो दें, पश्चात् प्रातःकाल हाथ से मसलकर सात तह किये हुए पतले कपड़े से इसे तीन बार छान लें, ऐसा समझना चाहिए। इस विधि का वर्णन मदनकल्प नामक प्रथम अध्याय में किया गया है। भावना देने की विधि तो निरन्तर बतायी ही गयी है। ।।३-५।।

दधितक्रसुरामण्डमूत्रैर्बदरसीधुना । रसेनामलकानां वा ततः पाणितलं पिबेत् ।।६।।

दधि तक्रादि से लोध्र के पाँच योग– १. दधि तक्र, २. सुरामण्ड, ३. गोमूत्र, ४. बदर सीधु (A type of sour drink prepared of jujube), ५. आमलकी स्वरस; द्रव पदार्थों में से किसी एक द्रव पदार्थ के साथ एक पाणि तल (१ कर्ष = १ तोला) मात्रा में लोध्र चूर्ण को मिलाकर विरेचनार्थ आतुर को पिलाना चाहिए। इस प्रकार पाँच द्रव्यों से कुल पाँच योग बनते हैं।

चक्रपाणि– दधितक्रेत्यादि से लेकर पिबेत् तक पाँच योगों का उल्लेख किया गया है। ।।६।।

मेषशृङ्ग्यभयाकृष्णाचित्रकैः सलिले शृते । मरुजान् सुनुयात्तच्च जातं सौवीरकं यदा ।।७।।
भवेदञ्जलिना तस्य लोध्रकल्कं पिबेत् सदा ।

सौवीरक का प्रयोग– मेषशृङ्गी, अभया (हरड़), कृष्णा (पिप्पली) व चित्रकमूल; के समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) में मरुजा (भुसी युक्त भुना हुआ यव) का चूर्ण मिलावें। इस भूसी युक्त क्वाथ को एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में भरकर सन्धानार्थ डेढ़ महीने के लिए धान्य की राशि में रखें। सौवीरक के तैयार हो जाने पर इसे निकालकर प्रयोग करें। १ अञ्जलि (४ पल) सौवीरक में १ कर्ष (तोला) लोध्र कल्क मिलाकर विरेचनार्थ रोगी को देना चाहिए।

चक्रपाणि– 'मेषशृङ्गीत्यादि' के द्वारा विशेष रूप से **सौवीरक** के एक योग का वर्णन किया गया है। मरुजा = भुना हुआ यव। ।।७।।

सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत् ।।८।।
दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक् । समुत्क्वाथ्य गुडस्यैकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम् ।।९।।
आवपेत्तत् परं पक्षान्मद्यपानां विरेचनम् ।

सुरा योग– १. लोध्र के क्वाथ को घृत भावित मिट्टी के पात्र (घड़े) में १५ दिन के लिए सन्धानार्थ रखें। पन्द्रह दिन के बाद **लोध्र सुरा** को निकालकर विरेचनार्थ रोगी को पीने के लिए दें।

Scanned by CamScanner

२. दन्ती की जड़- १ आढ़क व चित्रकमूल - १ आढ़क; इन दोनों द्रव्यों को अलग-अलग लेकर १-१ द्रोण जल में पकावें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छान लें। इन दोनों क्वाथों को एक पात्र में लेकर उसमें १ तुला गुड़ व एक अञ्जलि (४ पल) लोध्रकल्क मिलावें एवं मिश्रित कर लें। अब इस मिश्रित द्रव पदार्थ को एक घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर घड़े का मुख बन्द करके सन्धानार्थ पन्द्रह दिन के लिए धान्य की राशि में रख दें। पन्द्रह दिन बाद इसे छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। जो व्यक्ति मद्यपान के अभ्यस्त हैं, उनके विरेचनार्थ इसका प्रयोग करें।

चक्रपाणि- 'सुरामित्यादि' के द्वारा सुरा योग का वर्णन किया गया है। 'दन्तीत्यादि' के द्वारा एक अरिष्ट योग का अभिधान किया गया है। **दन्तीचित्रकयोराढकं पृथक् सलिलद्रोणे पचेत् -** दन्ती व चित्रक अलग-अलग एक-एक आढक लेकर १ द्रोण जल के साथ पकाकर क्वाथ बना लें।

तिल्वकचूर्णमावाप:- तिल्वक चूर्ण का प्रयोग प्रक्षेप के रूप में करें। ॥८-९॥

जल्पकल्पतरु टीका- 'दन्तीत्यादि' के द्वारा एक अरिष्ट योग को बताया गया है। एक द्रोण जल में एक आढ़क दन्तीमूल को पकावें, चतुर्थांश शेष बचने पर छान कर पृथक् कर लें उसी प्रकार चित्रकमूल को पकाकर क्वाथ तैयार कर लें। इन दोनों क्वाथों को एक घृत भावित पात्र में डालकर, १ तुला गुड़ व १ कुडव लोध्रमूलत्वक् डालकर अच्छी प्रकार से घोल लें। इसके बाद सन्धिबन्धन करके पन्द्रह दिन के लिए धान्य की राशि में रख दें। सम्यक् संधान हो जाने पर इसे निकालकर विरेचनार्थ इसका प्रयोग करें।

विशेष (Comments)- दन्ती व चित्रक मूल से अलग-अलग क्वाथ बनावें। अब दोनों क्वाथों को एक पात्र में लेकर उसमें गुड आदि मिलाकर अरिष्ट तैयार करें।

कम्पिल्लककषायेण दशकृत्वः सुभावितम् ।।१०।।
मात्रां कम्पिल्लकस्यैव कषायेण पुनः पिबेत् ।

कम्पिल्लक योग- लोध्र के चूर्ण में कम्पिल्लक क्वाथ की दस भावना देकर सुखा कर पुनः चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग विरेचनार्थ कम्पिल्लक क्वाथ के साथ करें।

चक्रपाणि- 'कम्पिल्लकेत्यादि' के द्वारा कम्पिल्लक योग का अभिधान किया गया है। कम्पिल्लकः = गुडारोचनिका।

मात्रामिति = तिल्वक चूर्ण, जिसे कम्पिल्लक द्वारा साधित किया गया है, का प्रयोग उचित मात्रा में करें। ॥१०॥

चतुरङ्गुलकल्पेन लेहोऽन्यः कार्य एव च ।।११।।
त्रिफलायाः कषायेण ससर्पिर्मधुफाणितः । लोध्रचूर्णयुतः सिद्धो लेहः श्रेष्ठो विरेचने ।।१२।।
तिल्वकस्य कषायेण कल्केन च सशर्करः । सघृतः साधितो लेहः स च श्रेष्ठो विरेचने ।।१३।।

अवलेह योग- १. चतुरङ्गुल कल्प में वर्णित अवलेह विधि से तिल्वक के भी अवलेह का निर्माण करें।

२. त्रिफला के क्वाथ में तिल्वक चूर्ण व गुड़ मिलाकर पकावें, जब गाढ़ा हो जाय तब उसे अग्नि पर से उतार लें। शीतल होने पर मधु व घृत मिलाकर रख लें। यह योग श्रेष्ठ विरेचक योग है।

३. तिल्वक क्वाथ में तिल्वक कल्क, घृत, शर्करा व मधु डालकर विधिपूर्वक बना हुआ अवलेह विरेचन कार्य हेतु श्रेष्ठ होता है।

इस प्रकार यहाँ अवलेह के तीन योगों का विवेचन किया गया है।

चक्रपाणि- 'चतुरङ्गुलेत्यादि' के द्वारा प्रथम अवलेह का वर्णन किया गया है। चतुरङ्गुल कल्प में वर्णित 'कषायेणाथवा तस्य' सूत्र से यहाँ भी तिल्वक क्वाथ के साथ गुड़ व त्रिवृत् चूर्ण को पकाकर अवलेह का निर्माण करना चाहिए। 'त्रिफलाया इत्यादि' के द्वारा द्वितीय अवलेह का अभिधान किया गया है। तिल्वकस्येत्यादि के द्वारा तृतीय अवलेह को बताया गया है। ॥११-१३॥

अष्टाष्टौ त्रिवृतादीनां मुष्टींस्तु सनखान् पृथक् । द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात् पचेत् ।।१४।।
पिष्टैस्तैरेव बिल्वांशैः समूत्रलवणैरथ । ततो मात्रां पिबेत् काले श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ।।१५।।
लोध्रकल्केन मूत्राम्ललवणैश्च पचेद्घृतम् । चतुरङ्गुलकल्पेन सर्पिषी द्वे च साधयेत् ।।१६।।

घृत योग- १. त्रिवृत् आदि आठ द्रव्यों को अलग-अलग १-१ बन्द मुट्ठी (मुष्टि = १ पल) लेकर एक-एक द्रोण जल में क्वाथ बनावें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतार कर छान लें एवं इन क्वाथों से एक प्रस्थ घृत सिद्ध करें। कल्क के रूप में एक-एक पल त्रिवृत् आदि सभी द्रव्यों का ग्रहण करें। इसके साथ ही एक पल गोमूत्र तथा १ पल सैन्धव लवण भी मिलावें अर्थात् कल्क द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पीस लें तथा उसमें सैन्धव नमक का चूर्ण भी मिला दें।

Scanned by CamScanner

इस सिद्ध घृत का प्रयोग उचित काल व मात्रा में करें। यह एक उत्तम विरेचक योग है।

२. लोध्र कल्क, गोमूत्र, काञ्जी व सैन्धव नमक के साथ गोघृत को विधिपूर्वक पकाकर सिद्ध कर लें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए।

३.-४. चतुरङ्गुलकल्प नामक अध्याय में घृत साधन की जो विधि निर्दिष्ट है, तदनुसार तिल्वक के भी दो घृतों को पकाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अष्टाष्टावित्यादि' के द्वारा प्रथम घृत योग को बताया गया है। **सनखानिति विद्यमाननखान् –** नख युक्त मुट्ठी = बन्द मुट्ठी में जितना द्रव्य आ जाय। मुष्टि = १ पल। यहाँ त्रिवृदादि द्रव्यों में लोध्र प्रधान (मुख्य) होने से अन्य द्रव्यों की तुलना में इसकी मात्रा द्विगुण ग्रहण करनी चाहिए। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा– त्रिवृदादिद्विगुणो लोध्रक्वाथः (– त्रिवृत् आदि के क्वाथ से लोध्र क्वाथ की मात्रा दूनी लेनी चाहिए।) त्रिवृत् आदि के क्वाथ के बराबर लोध्र क्वाथ का ग्रहण करने पर किस आधार पर यह योग विशेष होगा। अतः द्विगुण क्वाथ का ग्रहण करना उचित है। यहाँ सैन्धव लवण की मात्रा एक पल ग्रहण करना चाहिए। **लोध्रेत्यादि** के द्वारा द्वितीय घृत योग का अभिधान किया गया है।

'चतुरङ्गुलेत्यादि' के द्वारा अतिदेश से (पूर्व अध्याय में वर्णित दो घृत योगों के विधान के अनुसार) तिल्वक से भी दो घृत योगों का निर्माण करने का निर्देश है। इस प्रकार यहाँ घृत के चार योगों के निर्माण को बताया गया। चतुरङ्गुल घृत का वर्णन "चतुरङ्गुलसिद्धात्" तथा "तदेव दशमूलस्य" (क.अ. ८) इत्यादि के द्वारा बताया गया है, ऐसा जानना चाहिए। चतुरङ्गुलकल्प में वर्णित घृत की तरह यहाँ भी लोध्र द्वारा दो घृत योगों का निर्माण करना चाहिए। [१. लोध्र द्वारा साधित दूध से निकाले गये घृत में लोध्रकल्क व आमलकी स्वरस डालकर, घृत को सिद्ध कर लें।

२. लोध्र साधित दुग्ध से निकाले गये घृत को श्यामादि के कल्क, दशमूल, कुलत्थी एवं यव के क्वाथ में पकाकर सिद्ध करें।] ॥१४-१६॥

तत्र श्लोकौ–

पञ्च दध्यादिभिस्त्वेका सुरा सौवीरकेण च । एकोऽरिष्टस्तथा योग एकः कम्पिल्लकेन च ॥१७॥
लेहाख्रयो घृतेनापि चत्वारः संप्रकीर्तिताः। योगास्ते लोध्रमूलानां कल्पे षोडश दर्शिताः ॥१८॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने तिल्वककल्पो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस तिल्वककल्प नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने लोध्रमूलत्वक् के अधोलिखित षोडश कल्पों का विवेचन किया है–

१. दधि आदि के पाँच योग,
२. सुरा द्वारा निर्मित एक योग,
३. सौवीरक योग – एक,
४. अरिष्ट योग – एक,
५. कम्पिल्लक योग – एक
६. लेह योग – तीन
७. घृत योग – चार

कुल योग – १६

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में तिल्वककल्प नामक नवम् अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'पञ्च दध्यादिभिरित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। ॥१७॥

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में तिल्वककल्प नामक नवम् अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

दशमोऽध्यायः ।

अथातः सुधाकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद (मैं) सुधाकल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– षोडश संख्या वाले प्रयोग को बताने वाला तिल्वककल्प के विवेचन के बाद क्रमानुसार अधिक संख्या वाले प्रयोग के अभिधान क्रम में बीस योगों वाले **सुधाकल्प** का अभिधान किया जा रहा है। इसके अनन्तर और भी अधिक संख्या वाले योगों के अभिधान के क्रम में ही उन्तालीस (३९) योगों वाले **सप्तलाशङ्खिनीकल्प** नामक अध्याय का अभिधान किया जायेगा। ।।१-२।।

विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता । सङ्घातं हि भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ।।३।।
तस्मात्रैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन । न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गपरिक्रमे ।।४।।

सुधा का प्रभाव (Effects of Sudhā)– सभी विरेचन द्रव्यों में सुधा (सेहुण्ड) को तीक्ष्णतम कहा गया है। यह दोषों के संघात (Compactness) को शीघ्र ही तोड़ देती है। यदि इसका उचित उपयोग नहीं किया गया अर्थात् अनुचित उपयोग करने पर कष्टकारी विभ्रम को उत्पन्न करती है। इसलिये कभी भी इसका प्रयोग मृदु कोष्ठ वाले रोगियों में नहीं करना चाहिए, अथवा दोषों के अल्प संचय की अवस्था में भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए, अथवा अन्य उपक्रमों (विरेचन प्रयोगों) द्वारा लाभ की संभावना होने पर भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– विरेचनानामिति– विरेचन द्रव्यों में । **कष्टविभ्रमेति–** कष्ट से ठीक होने वाली अथवा विभ्रम को उत्पन्न करने वाली (शरीर में अत्यधिक क्षोभ को उत्पन्न करना– Restlessness)

तस्मादिति– इसलिये, अतितीक्ष्ण होने से एवं अत्यधिक विभ्रम उत्पन्न करने के कारण इसका प्रयोग मृदुकोष्ठ वाले रोगियों में नहीं करना चाहिए।

सति मार्गपरिक्रम इति– अन्य विरेचक उपक्रम के विद्यमान होने पर सुधा का प्रयोग विरेचनार्थ नहीं करना चाहिए, अर्थात् जब अन्य योगों द्वारा कार्य सिद्धि की संभावना हो तब सुधाकल्प का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी विरेचक योग द्वारा कार्य सिद्ध न हो सकने की स्थिति में इसका प्रयोग करना चाहिए। ।।३-४।।

पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते । श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ।।५।।
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम् । प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः ।।६।।
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम् ।

सुधा (स्नुही) के योग्य रोग एवं रोगी– पाण्डु रोगी (Anaemia), उदररोग (Obstinate abdominal diseases including ascites), कुष्ठ रोग (Skin diseases including leprosy), गुल्म (Phantom tumour), दूषीविष का रोगी (Poisoning caused by artificially made toxic ingredients), श्वयथु (Oedema), मधुमेह, उन्माद (Insanity) एवं इसी प्रकार अन्य व्याधियों द्वारा आक्रान्त होने पर आतुर के बल का सम्यक् विचार करके विरेचनार्थ महावृक्ष का विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। यह अत्यधिक संचित दोषों को शीघ्र ही बाहर निकाल देता है।

चक्रपाणि– 'पाण्डुरोगेत्यादि' के द्वारा सुधा (सेहुण्ड) के योग्य व्याधियों का विवेचन किया गया है। 'मधुमेह' शब्द से यहाँ प्रमेह अर्थ लिया गया है। विशेष रूप से वातिक मधुमेह (वातिक प्रमेह) को ही असाध्य कहा गया है । यदि वहाँ मधुमेह से वातिक प्रमेह का ग्रहण है तब उसमें विरेचन कराने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अतः यहाँ मधुमेह शब्द से प्रमेह मात्र का ग्रहण करना चाहिए। जिसका प्रतिपादन प्रमेह चिकित्सा प्रकरण में किया गया है। **दोषवृद्ध्या विभ्रान्तं चेतो यस्मिन् तस्मिन् दोषविभ्रान्तचेतसि उन्मादे–** जिस व्याधि में दोषों की वृद्धि के कारण मन विभ्रान्त हो जाय उसे **'दोषविभ्रान्तचेतसि'** कहा जाता है। अर्थात् इससे उन्माद का ग्रहण किया गया है। सप्राणमिति = आतुर का बलवान् होना। ।।५-६।।

द्विविधः स मतोऽल्पैश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः ।।७।।
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः । स नाम्ना स्नुग्गुडा नन्दा सुधा निखिंशपत्रकः ।।८।।
तौ विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक् । द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ।।९।।

Scanned by CamScanner

सुधा (सेहुण्ड) के प्रकार (Varieties of Sudhā)– सेहुण्ड के दो भेद होते हैं– १. अल्प कण्टक युक्त सेहुण्ड, २. अत्यधिक कण्टकों से युक्त सेहुण्ड। दोनों ही प्रकारों में काँटे तीक्ष्ण होते हैं। जिस सेहुण्ड में अत्यधिक काँटे होते हैं वह श्रेष्ठ माना जाता है।

पर्याय (Synonyms)– स्नुक्, गुडा, नन्दा, सुधा तथा निस्त्रिंशपत्रक; ये सभी सेहुण्ड के पर्याय हैं।

सेहुण्ड दुग्ध का संचय या एकत्रीकरण– योग्य चिकित्सक को दो या तीन वर्ष पुराने सेहुण्ड को तीक्ष्ण शस्त्र (छूरी) से चीरा लगाकर दूध को निकालना चाहिए। विशेष रूप से सेहुण्ड के दुग्ध का संचय शिशिर ऋतु के अन्त में करना चाहिए।

चक्रपाणि– प्रवरो बहुकण्टक इति– अनति तीक्ष्ण कण्टकों वाले तथा अल्प कण्टकों वाले महावृक्ष से बहुकण्टक युक्त महावृक्ष श्रेष्ठ होता है। 'तौ' से यहाँ स्वल्प कण्टक एवं बहुकण्टक युक्त दोनों सेहुण्ड का ग्रहण किया गया है।

यद्यपि मदनकल्प नामक अध्याय में – "शरदित्वक्क्षन्दक्षीराणि" [त्वक्, कन्द एवं दुग्ध (क्षीर– latex) का संग्रह शरद् ऋतु में करना चाहिए।] के द्वारा क्षीर का संग्रह शरद् ऋतु में करने का निर्देश है फिर भी सुधाक्षीर (सेहुण्ड के दुग्ध) का संग्रह शिशिर ऋतु के अन्त में करना चाहिए, यह अपवाद रूप है, ऐसा जानना चाहिए ।

शिशिरस्य शेषा दिवसाः शिशिरान्ता– शिशिर ऋतु के शेष दिनों को शिशिरान्त कहा गया है। ॥७-९॥

बिल्वादीनां बृहत्या वा कण्टकार्यास्तथैकशः । कषायेण समांशं तं कृत्वाऽङ्गारेषु शोषयेत् ।।१०।।
ततः कोलसमां मात्रां पिबेत् सौवीरकेण वा । तुषोदकेन कोलानां रसेनामलकस्य वा ।।११।।
सुरया दधिमण्डेन मातुलुङ्गरसेन वा ।

सौवीरक आदि के सात योग– बिल्वादि पञ्चमूल अथवा बृहती (वनभण्टा) अथवा कण्टकारी (छोटी कण्टकारी) के क्वाथ (Decoction) में समान मात्रा में सुधाक्षीर (सेहुण्ड के दुग्ध) को मिलाकर आग पर धीरे-धीरे गरम करके सुखा लें अथवा गाढ़ा करके छोटी बेर के बराबर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों का प्रयोग निम्नलिखित द्रव पदार्थों में से किसी एक के साथ करना चाहिए– १. सौवीरक, २. तुषोदक, ३. बेर का स्वरस अथवा क्वाथ, ४. आमलकी स्वरस, ५. सुरा, ६. दधिमण्ड तथा ७. मातुलुङ्ग स्वरस (बिजौरा नीबू का स्वरस) ।

इस प्रकार सात योग पूर्ण होते हैं।

चक्रपाणि– बिल्वादीनामिति से बिल्वादि पञ्चमूल का ग्रहण किया गया है। बिल्वादि पञ्चमूल के अन्तर्गत बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी के मूलत्वक् का समावेश किया गया है, अर्थात् इन द्रव्यों के मूलत्वक् का ग्रहण करना चाहिए। **अङ्गारेषु शोषयेदिति**– आग पर रखकर सुखा लें, एक पात्र में सुधा क्षीर – १ भाग व बिल्वादि का क्वाथ– १ भाग लेकर मिश्रित कर लें। इस पात्र को अग्नि पर रखकर तब तक गरम करें जब तक कि **क्वाथ + सुधाक्षीर** अवलेह की भाँति गाढ़ा न हो जाय। इसके बाद अग्नि पर से पात्र को उतार कर १-१ कोल की गोलियाँ बनाकर सुखा लें एवं इसे सुरक्षित रख लें। मात्रा– १ गोली। इनका सेवन सौवीरक आदि द्रव पदार्थों में से किसी एक के साथ करना चाहिए। इस प्रकार यहाँ सौवीरक आदि के भेद से कुल सात योग हो जाते हैं। यहाँ बिल्वादि क्वाथ के आधार पर योगों के भेद का अभिप्राय नहीं है। ॥१०-११॥

सातलां काञ्चनक्षीरीं श्यामादीनि कटुत्रिकम् ।।१२।।
यथोपपत्ति सप्ताहं सुधाक्षीरेण भावयेत् । कोलमात्रां घृतेनातः पिबेन्मांसरसेन वा ।।१३।।

घृत अथवा मांसरस के अनुपान से दो योग– सातला, काञ्चनक्षीरी, श्यामा (काली निशोथ मूलत्वक), त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ), चतुरङ्गुल (अमलतास), तिल्वक (लोध्र), महावृक्ष (सुधा = सेहुण्ड), सप्तला, शंखिनी, दन्ती, द्रवन्ती, सोंठ (शुण्ठी), कालीमिर्च, पिप्पली; इन द्रव्यों में से जो प्राप्त हो सकें, उनको सम मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में सेहुण्ड के दुग्ध की सात भावना दें। इसके बाद छोटी बेर की मात्रा के बराबर गोली बनाकर सुखा लें। इसका प्रयोग विरेचनार्थ घृत अथवा मांसरस के साथ करें।

चक्रपाणि– 'सातलामित्यादि' के द्वारा वात की चिकित्सा रूप घृत व मांसरस के भेद से दो योगों का अभिधान किया गया है। सातला = चर्मकशा ।

'श्यामा' आदि द्रव्यों के ग्रहण से ही 'सातला' का भी ग्रहण हो जाता है फिर भी अलग से **सातला** का वर्णन होना, इस योग के महत्व को दर्शाता है। इस योग में सातला का प्रयोग एक बार ही करना चाहिए। ॥१२-१३॥

त्र्यूषणं त्रिफलां दन्तीं चित्रकं त्रिवृतां तथा । स्नुक्क्षीरभावितं सम्यग्विदध्याद्गुडपानकम् ।।१४।।

Scanned by CamScanner

पानक योग– सोंठ (शुण्ठी), कार्लामिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्ती, चित्रकमूल, त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण में सेहुण्ड के दूध की सात भावना देकर छोटी बेर के बराबर गोलियाँ बनाकर सुखा लें। विरेचनार्थ इसका प्रयोग गुड़ के शरबत के साथ करें।

चक्रपाणि– 'त्र्यूषणमित्यादि' के द्वारा पानकयोग का अभिधान किया गया है। **गुडपानकमिति गुडसंस्कृतपानकम्–** गुड़ डालकर बनाया हुआ पानक (शरबत) **गुडपानक** कहा जाता है। ॥१४॥

त्रिवृताग्वधं दन्तीं शङ्खिनीं सप्तलां समम् । गोमूत्रे रजनीं कृत्वा शोषयेदातपे ततः ॥१५॥
सप्ताहं भावयित्वैवं स्नुक्क्षीरेणापरं पुनः । सप्ताहं भावयेच्छुष्कं ततस्तेनापि भावितम् ॥१६॥
गन्धमाघ्यं तदाघ्राय प्रावृत्य पटमेव च । सुखमाशु विरिच्यन्ते मृदुकोष्ठा नराधिपाः ॥१७॥

ध्रेय योग– त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ), अमलतास की फलमज्जा, दन्ती, शंखिनी एवं सप्तला; प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को सायंकाल गोमूत्र में भिगो दें। प्रातःकाल (दूसरे दिन) धूप में सुखा लें। यही प्रक्रिया छः दिन तक करें। इसके बाद सुखाकर चूर्ण बना लें। अब इस चूर्ण में सेहुण्ड के दुग्ध की सात भावना दें। इसके बाद सुखाकर चूर्ण कर लें। इस भावित चूर्ण को सुगन्धित पुष्पों की माला के ऊपर छिड़ककर मृदु कोष्ठ वाले रोगी को सूँघने के लिए दें। इसके सूँघने मात्र से रोगी को सुखपूर्वक विरेचन होने लगता है। अथवा इस चूर्ण को रोगी के वस्त्र के ऊपर छिड़क दें। इसकी गंध सूँघने से ही राजा अथवा मृदु कोष्ठ वाले रोगी को सुखपूर्वक विरेचन होने लगता है।

चक्रपाणि– 'त्रिवृतेत्यादि' के द्वारा एक ध्रेय योग का अभिधान किया गया है।

गोमूत्रे रजनीं कृत्वेति– त्रिवृत् आदि के चूर्ण को गोमूत्र में भिगोकर रात भर के लिए रख दें, दूसरे दिन प्रातःकाल उसे धूप में सुखा लें। इस प्रकार चूर्ण में गोमूत्र की कुल सात भावना दें।

पटमेवेति यथोक्तविधिभावितं पटमावृत्येत्यर्थः– निर्दिष्ट विधि के अनुसार चूर्ण छिड़के हुए वस्त्र को ओढ़कर बैठने अथवा सोने से [इसकी गन्ध के सूँघने से मृदुकोष्ठ वाले अथवा सुकुमार प्रकृति वाले आतुर का सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।] ॥१५-१७॥

श्यामात्रिवृत्कषायेण स्नुक्क्षीरघृतफाणितैः । लेहं पक्त्वा विरेकार्थं लेहयेन्मात्रयानरम् ॥१८॥

लेह योग– श्यामा (काली निशोथ) एवं त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ) के क्वाथ (Decoction) में फाणित, स्नुही क्षीर, दूध एवं घृत मिलाकर विधिपूर्वक पका कर अवलेह सिद्ध कर लें। विरेचनार्थ इस अवलेह का सेवन उचित मात्रा में कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'श्यामेत्यादि' के द्वारा लेह योग का अभिधान किया गया है। मात्रयेति = हानि रहित मात्रा, विरेचक अवलेह का सेवन उतनी ही मात्रा में करें, जिससे कोई हानि न हो ॥१८॥

पाययेत्तु सुधाक्षीरं यूषैर्मांसरसैर्घृतैः ।

अन्य योग– सेहुण्ड (सुधा) के क्षीर का सेवन यूष, मांसरस अथवा घृत के साथ मिलाकर विरेचनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'पाययेदिति' से यहाँ अलग-अलग **यूष**, मांसरस तथा घृत के तीन योगों को बताया गया है।

भाविताञ्छुष्कमत्स्यान् वा मांसं वा भक्षयेन्नरः ॥१९॥

शुष्क मत्स्य अथवा मांस योग– शुष्क मछली अथवा अन्य प्राणियों के मांस को स्नुही क्षीर द्वारा भावित करें। तत्पश्चात् उसे विधिपूर्वक पकाकर सेवन करें।

चक्रपाणि– शुष्क मत्स्य एवं **मांस के** दो योगों का यहाँ वर्णन 'भावितानित्यादि' के द्वारा किया गया है। ॥१९॥

क्षीरेणामलकैः सर्पिश्चतुरङ्गुलवत् पचेत् । सुरां वा कारयेत् क्षीरे घृतं वा पूर्ववत् पचेत् ॥२०॥

घृत योग– १. चतुरङ्गुल कल्प में वर्णित घृत निर्माण की तरह यहाँ भी स्नुही क्षीर द्वारा सिद्ध दूध से घृत निकालें। इस घृत को स्नुही क्षीर के कल्क एवं आमलकी स्वरस से विधिपूर्वक सिद्ध कर लें।

२. अथवा सुधा क्षीर से अमलतास की विधि के अनुसार सुरा का निर्माण करें।

३. अथवा सेहुण्ड के दूध से आरग्वध विधान की तरह घृत सिद्ध करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'क्षीरेणेत्यादि' के द्वारा एक घृत योग का विवेचन किया गया है। 'घृतं वा' के द्वारा एक और घृत योग का उल्लेख किया

Scanned by CamScanner

गया है। **'आमलकैः चतुरङ्गुलवद्इति'** जिस प्रकार चतुरङ्गुलकल्प नामक अध्याय में आमलकी स्वरस के साथ घृत को सिद्ध किया गया है, जिसे वहाँ 'चतुरङ्गुल सिद्धाद्वा' के द्वारा बताया गया है। उसी विधि का यहाँ भी पालन करना चाहिए। [चतुरङ्गुलसिद्धाद्वा क्षीराद्यदुदियात् घृतम् । मज्ज्ञः कल्केन धात्रीणां रसे तत्साधितम्– अमलतास की फलमज्जा द्वारा साधित दूध से निकाले गये घृत को कल्क (अमलतास) व आमलकी स्वरस से सिद्ध करें। इस प्रकरण में स्नुही क्षीर साधित क्षीर (गोदुग्ध) से निकाले गये घृत को स्नुही के कल्क एवं आँवले के स्वरस से विधिपूर्वक सिद्ध करें, यह बताया गया है।]

सुरां वा कारयेत् क्षीरे इति– 'स्नुक्क्षीरभावितमिति' (श्लोक नं. १४ में वर्णित विधि) के द्वारा सुरा का निर्माण करना चाहिए। [सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दन्ती, चित्रक एवं त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को स्नुही क्षीर की सात भावना दें। पुनः सुखाकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में गुड़ व जल मिलाकर घोल लें एवं सन्धान विधि से सन्धान कर लें।]

'घृतं वा पूर्ववत् पचेत्' से यहाँ तिल्वक कल्प में जो निर्देश 'लोध्रकल्केन' (क.स्थान.अ.९) के द्वारा दिया गया है, उसी विधि द्वारा यहाँ भी घृत सिद्ध करना चाहिए।

[सुधा क्षीर द्वारा पकाये गये गोदुग्ध से घृत तैयार करें। इस घृत को सुधा क्षीर (कल्क के रूप में), गोमूत्र, काञ्जी व सैन्धव नमक डालकर विधिपूर्वक सिद्ध करें।] ॥२०॥

तत्र श्लोकौ–

सौवीरकादिभिः सप्त सर्पिषा च रसेन च । पानकं प्रेयलेहौ च योगा यूषादिभिस्त्रयः ।।२१।।
द्वौ शुष्कमत्स्यमांसाभ्यां सुरैका द्वे च सर्पिषी । महावृक्षस्य योगास्ते विंशतिः समुदाहृताः ।।२२।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने सुधाकल्पो नाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– सुधाकल्प नामक इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने महावृक्ष के अधोलिखित बीस योगों का विवेचन किया है–

१. सौवीरक आदि से निर्मित – सात योग	–	(७)
२. घृतानुपान, मांसरसानुपान, पानक, प्रेय एवं लेह के १-१ योग – पाँच योग	–	(५)
३. यूष आदि के तीन योग	–	(३)
४. शुष्क मत्स्य व मांस के एक-एक योग – दो योग	–	(२)
५. सुरा से निर्मित एक योग	–	(१)
६. घृत से दो योग	–	(२)
	कुल योग	– २०

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में सुधाकल्प नामक दशवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'सौवीरकेत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को स्पष्ट किया गया है। ॥२१-२२॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में सुधाकल्प नामक दशवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः सप्तलाशङ्खिनीकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा । शङ्खिनी तिक्तला चैव यवतिक्ताऽक्षि(क्ष)पीडकः ।।३।।

इसके बाद (मैं) सप्तलाशङ्खिनीकल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा था।

पर्याय (Synonyms)– १. सप्तला, चर्मसाह्वा एवं बहुफेनरसा; ये तीनों एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं, अर्थात् पर्याय हैं।

२. शङ्खिनी, तिक्तला, यवतिक्ता एवं अक्षिपीडक; शङ्खिनी के पर्याय हैं।

चक्रपाणि– पूर्व अध्याय में वर्णित सम्बन्ध के कारण यहाँ 'सप्तलाशङ्खिनीकल्प' का वर्णन किया जा रहा है। इस अध्याय में जिन योगों का वर्णन किया गया है वे योग सप्तला अथवा शङ्खिनी अथवा दोनों द्वारा निर्मित हैं। यह विवेचन यहाँ श्यामात्रिवृत्योग की ही तरह किया गया है। ।।१-३।।

ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु । विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ।।४।।
नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शङ्खिन्या निस्तुषीकृतम् । सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत् ।।५।।

सप्तला एवं शङ्खिनी के योग्य रोग एवं रोगी– इनका प्रयोग गुल्म (Phantom tumour, विषविकार (Poisoning), हृद्रोग (Heart-diseases), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), शोफ (Oedema) उदर आदि व्याधियों एवं कफ की वृद्धि में करना चाहिए। ये दोनों ही द्रव्य विकासी (जो द्रव्य संधि बन्धनों को शिथिल करते हैं उन्हें विकासी कहते हैं।), तीक्ष्ण एवं रूक्ष गुण वाले होते हैं। इसलिये जिन व्याधियों में कफ की अधिकता होती है उनमें इसका प्रयोग किया जाता है।

औषधि का संग्रह– १. शङ्खिनी के अनति शुष्क फल (जो फल अत्यधिक सूखा न हो) को लेकर, उसके ऊपर का छिलका निकाल कर हटा दें, छिलके रहित फल का संग्रह करें।

२. सप्तला के मूल का संग्रह उचित पात्र में करें, अर्थात् इसके मूल का प्रयोग किया जाता है।

चक्रपाणि– 'ते' से यहाँ सप्तला व शङ्खिनी का ग्रहण किया गया है। ।।४-५।।

अक्षमात्रं तयोः पिण्डं प्रसन्नालवणायुतम् । हृद्रोगे कफवातोत्थे गुल्मे चैव प्रयोजयेत् ।।६।।
प्रियालपीलुकर्कन्धुकोलाम्रातकदाडिमैः । द्राक्षापनसखर्जूरबदराम्लपरूषकैः ।।७।।
मैरेये दधिमण्डेऽम्ले सौवीरकतुषोदके । सीधौ चाप्येष कल्पः स्यात् सुखं शीघ्रविरेचनः ।।८।।

१. सप्तला एवं शङ्खिनी (यवतिक्ता) दोनों द्रव्यों को १ कर्ष की मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क को सुरामण्ड में घोल लें एवं सैन्धव लवण मिलाकर हृद्रोग, गुल्म तथा कफ-वातजनित रोगों में विरेचनार्थ रोगी को पीने के लिए दें अथवा इसे निम्नलिखित द्रव्यों में से किसी एक के साथ पीने के लिए देना चाहिए–

१. चिरौंजी (प्रियाल)	५. आम्रातक (आमड़ा)	९. पिण्ड खर्जूर
२. पीलु	६. दाडिम (अनार)	१०. बदर (जंगली बेर)
३. कर्कन्धु (छोटी बेर)	७. द्राक्षा (मुनक्का)	११. फालसा
४. कोल (बड़ी बेर)	८. पनस (कटहल – Jack tree)	१२. मैरेय

इन द्रव्यों के कषाय (स्वरस अथवा क्वाथ) का प्रयोग करना चाहिए।

१३. दधिमण्ड (दही का पानी)	१४. सौवीरक	१५. तुषोदक	१६. सीधु

इन योगों के प्रयोग से रोगी को शीघ्र ही सुखपूर्वक विरेचन होता है। इस प्रकार यहाँ १६ द्रव्यों के योग से १६ योग बनते हैं।

चक्रपाणि– 'अक्षमात्रमित्यादि' के द्वारा कल्क, प्रसन्ना (सुरामण्ड) एवं सैन्धव लवण के साथ प्रियाल आदि द्रव्यों के योग से कुल १६ योग बनते हैं। यद्यपि मैरेय गुड़ आदि के संयोग से बनता है, न कि यह एक कषाय कल्पना है फिर भी यहाँ कषायों की संख्या अत्यधिक होने से इसे कषाय के अन्तर्गत पढ़ा गया है। उपसंहार में इसे – 'कषाया दश षट् इति' के द्वारा आगे कहा जायेगा ।

Scanned by CamScanner

कषायशब्देन कल्ककषायोऽभिप्रेतः– कषाय शब्द से यहाँ **कल्क कषाय** (कल्क) अर्थ लिया गया है।

कर्कन्यूकोलबदरशब्देन त्रिप्रकारबदरग्रहणम्– कर्कन्धु, कोल एवं बदर, शब्द से तीनों प्रकार के बेर का ग्रहण किया गया है। ॥६-८॥

विशेष (Comments)– यहाँ **कषाय--** से पञ्चकषाय कल्पनाओं में वर्णित एक विधा– **कल्क** का ग्रहण किया गया है।

तैलं विदारिगन्धाद्यैः पयसि क्वथिते पचेत् । सप्तलाशङ्खिनीकल्के त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके ।।९।।
दधिमण्डेन सन्नीय सिद्धं तत् पाययेत च । शङ्खिनीचूर्णभागौ द्वौ तिलचूर्णस्य चापरः ।।१०।।
हरीतकीकषायेण तैलं तत्पीडितं पिबेत् । अतसीसर्षपैरण्डकरञ्जेष्वेष संविधिः ।।११।।

तैल योग– १. विदारिगन्धादि वर्ग के द्रव्यों अर्थात् लघु पञ्चमूल द्वारा साधित दूध में तैल का पाक करें। इस तैल में सप्तला एवं शङ्खिनी का कल्क १ भाग, त्रिवृत् (अरुण मूल वाली त्रिवृत्) कल्क– $^{1}/_{2}$ भाग, काली निशोथ कल्क (श्यामा) – $^{1}/_{2}$ भाग मिलाकर तैल को सिद्ध करें। इस सिद्ध तैल को दही के पानी के साथ विरेचन हेतु रोगी को पिलाना चाहिए।

२. शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग, तिल – १ भाग; दोनों द्रव्यों को आपस में मिलाकर, कोल्हू में पेर कर तैल निकालें। तैल निकालते समय चूर्ण के ऊपर हरीतकी क्वाथ के छींटे बार-बार दें, जिससे सम्यक् रुप से तैल निकल जाय।

इसी प्रकार अतसी (अलसी), सर्षप (सरसों), एरण्ड एवं करञ्ज से तैल निकालकर विरेचनार्थ रोगी को पिलाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'तैलमित्यादि' के द्वारा प्रथम तैल योग का अभिधान किया गया है। **त्रिवृच्छ्यामार्धभागिके इति–** सप्तला एवं शङ्खिनी के कल्क की आधी मात्रा त्रिवृत् + श्यामा के कल्क की लेनी चाहिए। अर्थात् लघु पञ्चमूल द्वारा सिद्ध क्षीर– १६ भाग, तिल तैल – ४ भाग, $^{1}/_{2}$ भाग (सप्तला + शङ्खिनी) का कल्क + $^{1}/_{2}$ भाग (त्रिवृत् + श्यामा) का कल्क मिलाकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें।

'शङ्खिनीत्यादि' के द्वारा तैल के पाँच योगों को बताया गया है। इस प्रकार तैल से कुल छः योग बनते हैं।

तैलं तत्पीडितमिति शङ्खिनीचूर्णं तिलचूर्णं च हरीतकीकषायेण संघाय पीडितं तत् तैलं पिबेदिति– शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग, तिल– १ भाग लेकर कोल्हू में पेरें, ऊपर से हरीतकी क्वाथ के छींटें देकर सम्यक् प्रकार से तैल को निकाल लें। इस विधि से निकाले गये तैल का पान विरेचन हेतु करें अर्थात् विरेचनार्थ इस तैल का पान करें।

अतस्यादिष्वेष संविधिरिति– इस वचन से तिल के स्थान पर अतसी आदि का प्रयोग करके तैल निकालें। अर्थात् (१) शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग + अतसी चूर्ण – १ भाग, (२) शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग + सर्षप चूर्ण– १ भाग, (३) शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग + एरण्ड– १ भाग, (४) शङ्खिनी चूर्ण– २ भाग + करञ्ज बीज चूर्ण– १ भाग, लेकर ऊपर हरीतकी क्वाथ के छींटे मारकर तैल निकालें। इस प्रकार अतसी आदि से तैल के चार योग बनते हैं। ॥९-११॥

विशेष (Comments)– आचार्य गंगाधर ने इन तैलों को हरीतकी क्वाथ के साथ पीने का निर्देश दिया है।

शङ्खिनीसप्तलासिद्धात् क्षीराद्यदुदियाद्घृतम् । कल्कभागे तयोरेव त्रिवृच्छ्यामार्धसंयुते ।।१२।।
क्षीरेणालोड्य संपक्वं पिबेत्तच्च विरेचनम् । दन्तीद्रवन्त्योः कल्पोऽयमजशृङ्ग्यजगन्धयोः ।।१३।।
क्षीरिण्या नीलिकायाश्च तथैव च करञ्जयोः । मसूरविदलायाश्च प्रत्यक्पर्ण्यास्तथैव च ।।१४।।
द्विवर्गार्धांशकल्केन तद्वत् साध्यं घृतं पुनः । शङ्खिनीसप्तलाधात्रीकषाये साधयेद्घृतम् ।।१५।।
त्रिवृत्कल्पेन सर्पिश्च त्रयो लेहाश्च लोध्रवत् । सुराकम्पिल्लयोर्योगः कार्यो लोध्रवदेव च ।।१६।।

घृत योग– १. शङ्खिनी एवं सप्तला के अलग-अलग क्वाथ से साधित गोदुग्ध से घृत निकालें। घृत– १ भाग, कल्क– $^{1}/_{4}$ भाग (शङ्खिनी + सप्तला + त्रिवृत् + श्यामा, प्रत्येक बराबर मात्रा में लें), जल – ४ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस घृत का सेवन आतुर को दूध के साथ करना चाहिए, अर्थात् दूध में मिलाकर इस घृत का सेवन करें।

इसी प्रकार शङ्खिनी एवं सप्तला के क्वाथ से पकाये गये दूध से निकले हुए घृत २. दन्ती एवं द्रवन्ती के कल्क, ३. अजशृंगी एवं अजमोदा के कल्क, ४. क्षीरिणी व नील के कल्क, ५. दोनों प्रकार के करञ्ज के कल्क, ६. मसूरविदला (काली निशोथ एवं प्रत्यक्पर्णी कल्क)। [दो-दो के वर्ग का कल्क – $^{1}/_{2}$ भाग + सप्तला एवं शङ्खिनी का कल्क– $^{1}/_{2}$ भाग] लेकर विधिपूर्वक घृत को सिद्ध कर लें। इस प्रकार दो-दो के छः वर्ग से छः योग बनते हैं।

७. शङ्खिनी, सप्तला एवं धात्री के सम भाग से निर्मित क्वाथ – ४ भाग, घृत – १ भाग, इन्हीं द्रव्यों का कल्क – $^{1}/_{4}$ भाग लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें।

Scanned by CamScanner

८. त्रिवृत् कल्प में वर्णित घृत की तरह यहाँ भी घृत सिद्ध करें। अर्थात् घृत – १ भाग, काञ्जी – १ भाग, सप्तला व शङ्खिनी का कल्क – $^1/_4$ भाग (संयुक्त रूप से) लें एवं विधिपूर्वक घृत को सिद्ध करें।

९,१०,११. लोध्र के समान इसके भी लेह के तीन योग बनावें।

१२. सुरा से एक योग एवं १३. कम्पिल्लक से एक योग बनावें।

इस प्रकार यहाँ कुल १३ योगों का उल्लेख किया गया है।

चक्रपाणि-- 'शङ्खिनीसप्तलेत्यादि' के द्वारा प्रथम घृत के योग को बताया गया है। 'दन्तीद्रवन्त्योरित्यादि' के द्वारा बनने वाले घृतों में कल्क (दो-दो द्रव्यों के कल्क अर्ध भाग तथा सप्तला एवं शङ्खिनी का कल्क आधा भाग) डालें एवं विधिवत् घृत को सिद्ध करें। इस प्रकार पूर्व घृतों की तरह घृत के पाँच योगों का निर्माण करना चाहिए। द्रवन्ती = दन्तीभेद। अजशृंगी = विषाणिका। क्षीरिणी = दुग्धिका। मसूरविदला = श्यामलता। प्रत्यक्पर्णी = मूषिकपर्णी।

द्विवर्गार्धांशकल्केनेति– दो-दो वर्ग वाले द्रव्यों का प्रयोग कल्क के रूप में अर्ध भाग के रूप में करें। अर्थात् $^1/_2$ भाग द्विवर्ग वाले द्रव्य + $^1/_2$ भाग सप्तला व शङ्खिनी का ग्रहण करें। 'शङ्खिनीत्यादि' के द्वारा सातवें घृत योग का उल्लेख किया गया है। त्रिवृत् कल्क आमलकी स्वरस अथवा क्वाथ का ग्रहण करें।

लोध्रवदिति– लोध्रकल्प की तरह, लोध्रकल्प में जिस प्रकार तीन लेह – "चतुरङ्गुलकल्पेन" (क.अ.९) इत्यादि के द्वारा बताये गये हैं। उससे लोध्र के स्थान पर सप्तला व शङ्खिनी को जोड़ना चाहिए। उसी प्रकार सुरा एवं कम्पिल्लक के योगों का निर्माण लोध्र की विधि से करें। प्रक्षेप में लोध्र के स्थान पर सप्तला व शङ्खिनी के चूर्ण का प्रयोग करें ॥१२-१६॥

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेन सौवीरकतुषोदके । अजगन्याजशृङ्ग्योश्च तद्वत् स्यातां विरेचने ।।१७।।

मद्य योग– दन्तीद्रवन्ती कल्प में वर्णित सौवीरक एवं तुषोदक के समान ही सप्तला एवं शङ्खिनी द्वारा तुषोदक व सौवीरक का निर्माण करें। उसी प्रकार अजगन्धा (अजमोदा) एवं अजशृंगी (काकड़ासिंगी) द्वारा भी मद्य का निर्माण करें।

इस प्रकार ये तीनों योग विरेचनार्थ प्रयुक्त करने चाहिए। अर्थात् इन योगों का प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दन्तीद्रवन्त्योरित्यादि' के द्वारा चार संधान योगों को बताया गया है।

यहाँ संधान के चार योग एवं पूर्व में एक योग (सुरायोग) मिलाकर कुल पाँच योग होते हैं, जिसे उपसंहार में– 'पञ्च मद्ये' से स्पष्ट किया गया है।

सौवीरकादीनां च मद्यशब्देनाभिधानमिहासुतत्वसामान्याज्ज्ञेयम्– यहाँ सौवीरक एवं तुषोदक को भी मद्य शब्द से कहा गया है, क्योंकि ये भी सन्धान (Fermentation) के द्वारा बनते हैं, अर्थात् संधान की प्रक्रिया दोनों में ही की जाती है।

दन्तीद्रवन्त्योः कल्पेनेति– अनागतावेक्षण तन्त्रयुक्ति से दन्ती-द्रवन्ती कल्प (क.अ.१२) में सौवीरक एवं तुषोदक निर्माण की जिस विधि का विवेचन किया जायेगा वही विधि यहाँ भी पालनीय है। इसका वर्णन वहाँ – "अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके" (क.अ. १२/३५) इति, के द्वारा किया जायेगा। उससे यहाँ भी अजगन्धा (अजमोदा) के क्वाथ में सप्तला एवं शङ्खिनी के क्वाथ को भी मिलावें, अर्थात् १ भाग अजगन्धा क्वाथ, १ भाग सप्तला क्वाथ व १ भाग शङ्खिनी क्वाथ मिलाकर विधिपूर्वक सौवीरक एवं तुषोदक का निर्माण करना चाहिए। उसी प्रकार अध्याय १२ (दन्तीद्रवन्तीकल्प) में वर्णित अरिष्ट विधान के अनुसार अजगन्धा एवं अजशृंगी के अरिष्ट का निर्माण करें। वहाँ अरिष्ट विधान का उल्लेख इस प्रकार किया गया है, यथा– "तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः गौडः कार्योऽजशृङ्ग्या च स वै सुखविरेचनः" (क.अ. १२/३३) इति [दन्तीमूल – १ भाग, द्रवन्तीमूल – १ भाग, अजमोदा – १ भाग लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में गुड़ मिलाकर सन्धान विधि से अरिष्ट तैयार करें, उसी प्रकार दन्ती, द्रवन्ती एवं अजशृंगी के मिश्रित क्वाथ से अरिष्ट बनावें] ॥१७॥

तत्र श्लोकौ–

कषाया दश षट् चैव षट् तैलेऽष्टौ च सर्पिषि । पञ्च मद्ये त्रयो लेहा योगाः कम्पिल्लके तथा ।।१८।।
सप्तलाशङ्खिनीभ्यां ते त्रिंशदुक्ता नवाधिकाः । योज्याः सिद्धाः समस्तास्वेकशोऽपि च ते हिताः ।।१९।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे अप्रकाशितसंस्कृतेऽप्राप्ते पुनर्दृष्टसंपूरिते कल्पस्थाने सप्तलाशङ्खिनीकल्पो नामैकादशोऽध्यायः ।।११।।

Scanned by CamScanner

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस अध्याय में कषाय के षोडश (१६), तैल के छः, घृत के आठ, मद्य के पाँच, लेह के तीन तथा कम्पिल्लक के एक योग, अर्थात् कुल ३९ योगों का विवेचन किया गया है। ये सभी योग उपयोगी हैं तथा सप्तला एवं शङ्खिनी के अलग-अलग योग भी आतुर के लिए हितकारी हैं।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढबल संपूरित कल्पस्थान में सप्तलाशङ्खिनीकल्प नामक एकादश अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'कषाया इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। ॥१८-१९॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के कल्पस्थान में सप्तलाशङ्खिनीकल्प नामक एकादश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो दन्तीद्रवन्तीकल्पं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे दन्ती-द्रवन्ती कल्प की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– अवशिष्ट रूप होने से दन्ती-द्रवन्ती कल्प का वर्णन किया जा रहा है, अर्थात् वामक एवं विरेचक द्रव्यों के गणना क्रम में दन्ती-द्रवन्ती का उल्लेख सबसे अन्त में किया गया है। अतः कल्पस्थान के अन्तिम अध्याय में अथवा अन्त में इस विषय का वर्णन किया जा रहा है।

दन्त्युदुम्बरपर्णी स्यान्निकुम्भोऽथ मुकूलकः । द्रवन्ती नामतश्चित्रा न्यग्रोधी मूषिकाह्वया ।।३।।
(तथा मूषिकपर्णी चाप्युपचित्रा च शम्बरी । प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी दन्ती र(च)ण्डा च कीर्तिता ।।)

पर्याय (Synonyms)– १. दन्ती के पर्याय– दन्ती, उदुम्बरपर्णी, निकुम्भ एवं मुकूलक।

२. द्रवन्ती के पर्याय– द्रवन्ती, चित्रा, न्यग्रोधी, मूषिकाह्वया। (मूषिकपर्णी, उपचित्रा, शम्बरी, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, दन्ती, चण्डा); ये सभी द्रवन्ती के पर्याय हैं।

चक्रपाणि– 'दन्तीत्यादि' के द्वारा दन्ती एवं द्रवन्ती दोनों के पर्यायों का उल्लेख किया गया है।

तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च । हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान् ।।४।।

संग्रह विधि– बुद्धिमान चिकित्सक को स्थिर (मजबूत), बहल (thick- having thick root-bark - मोटी जड़ की छाल) एवं हाथी के दांत के समान श्याव (dark-brown) अथवा ताम्रवर्ण (Coppery in colour) की दन्ती या द्रवन्ती के मूल का संग्रह करना चाहिए।

चक्रपाणि– स्थिराणीति = सारभूतानि, सारयुक्त (मजबूत जड़ वाली)। **बहलानि इति** – मूलत्वक (जड़ के छिलके) का मोटा होना। हस्तिदन्तप्रकाराणि इति अन्तः पूर्वोपचितानि– जिसके ऊपर [पूर्व = पहले (आगे)] का भाग उपचित हो।

श्यावताम्राणीति– दन्तीमूल का श्याव वर्ण का होना तथा द्रवन्ती का मूल ताम्र वर्ण का होना, अर्थात श्याव वर्ण युक्त दन्तीमूल तथा ताम्र वर्ण युक्त द्रवन्तीमूल का ग्रहण करें। ।।४।।

पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेन्मृत्कुशान्तरे । शोपयेदातपेऽग्न्यर्की हतो ह्येषां विकाशिताम् ।।५।।

सर्वप्रथम संग्रहीत किये गये दन्ती अथवा द्रवन्ती के मूल पर पिप्पली व मधु के कल्क (Paste) का लेप करके उसके ऊपर कुश की पत्तियों को लपेट दें, तत्पश्चात् मिट्टी का लेप कर इसे अग्नि में पका लें। जब सम्यक् स्विन्न हो जाय तब उसे अग्नि से निकालकर मिट्टी को हटाकर धूप में सुखा लें। ऐसा करने से दन्ती-द्रवन्ती का विकाशी गुण नष्ट हो जाता है।

चक्रपाणि– स्वेदयेन्मृत्कुशान्तर इति– दन्ती अथवा द्रवन्ती के मूल के ऊपर पिप्पली + मधु के कल्क का लेप करें। इसके ऊपर कुश को लपेट कर बाँध दें, अब कुश लपेटे हुए पिण्ड को मिट्टी लगाकर चिकना कर लें। इसके बाद इसे अग्नि में पकावें। अग्निस्वेद एवं आतप (धूप) के प्रयोग के फल को यहाँ – 'अग्न्यर्की हतो ह्येषां विकाशितामिति' के द्वारा बताया गया है। अर्थात् अग्नि में पकाकर धूप में सुखाने से मूल का विकाशी गुण नष्ट हो जाता है। इस प्रकार शोधित मूल अत्यधिक हानिकर नहीं होता।

विकाशी गुण– [toxic effect which causes looseness of the joints]

तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च । विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च ।।६।।

दन्ती एवं द्रवन्ती के गुण– ये दोनों मूल तीक्ष्ण, उष्ण, आशुकारी, विकाशी एवं गुरु गुण युक्त होते हैं। ये पित्त व कफ को पिघलाकर शरीर से बाहर निकालते हैं तथा वायु को प्रकुपित करते हैं।

चक्रपाणि– 'तीक्ष्णोष्णानीति' के द्वारा दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल के गुण को स्पष्ट किया गया है। 'दोषौ' से पित्त व कफ का ग्रहण किया गया है।

विशेष (Comments)– दन्ती की जड़ कटु, उष्ण, शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचन, कफपित्तनाशक होती है। इसका प्रयोग उदर, शोथ, कामला, यकृद्विकार, आध्मान, गुल्म एवं अर्श आदि रोगों में किया जाता है।

Scanned by CamScanner

दधितक्रसुरामण्डैः पिण्डमक्षसमं तयोः । प्रियालकोलबदरपीलुशीधुभिरेव च ।।७।।
पिबेद्गुल्मोदरी दोषैरभिखिन्नश्च यो नरः । गोमृगाजरसैः पाण्डुः कृमिकोष्ठी भगन्दरी ।।८।।
तयोः कल्के कषाये च दशमूलरसायुते । कक्ष्यालजीविसर्पेषु दाहे च विपचेद्घृतम् ।।९।।
तैलं मेहे च गुल्मे च सोदावर्ते कफानिले । चतुःस्नेहं शकृच्छुक्रवातसङ्गानिलार्तिषु ।।१०।।
रसे दन्त्यजशृङ्ग्योश्च गुडक्षौद्रघृतान्वितः । लेहः सिद्धो विरेकार्थे दाहसंतापमेहनुत् ।।११।।
वाततर्षे ज्वरे पैत्ते स्यात् स एवाजगन्धया । दन्तीद्रवन्त्योर्मूलानि पचेदामलकीरसे ।।१२।।
त्रींस्तु तस्य कषायस्य भागौ द्वौ फाणितस्य च । तप्ते सर्पिषि तैले वा भर्जयेत्तत्र चावपेत् ।।१३।।
कल्कं दन्तीद्रवन्त्योश्च श्यामादीनां च भागशः । तत्सिद्धं प्राशयेल्लेहं सुखं तेन विरिच्यते ।।१४।।

दन्ती एवं द्रवन्ती के दस योग– दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का कल्क एक अक्ष (एक कर्ष = १ तोला) मात्रा में लेकर – १. दधि, २. तक्र, ३. सुरामण्ड (Scum of beer), ४. प्रियाल सीधु, ५. कोल सीधु, ६. बदर सीधु, ७. पीलु सीधु में से किसी एक द्रव्य के साथ घोलकर आतुर को पिलाना चाहिए। इसके प्रयोग से गुल्म, उदररोग एवं उत्क्लिष्ट दोष का प्रशमन होता है। अर्थात् जिन व्यक्तियों में दोष (कफ व पित्त) अत्यधिक बढ़ गये हों उनमें इसका प्रयोग करना चाहिए।

इसी प्रकार दन्ती एवं द्रवन्ती का कल्क १ अक्ष (१ तोला) को ८. गो मांसरस, अथवा ९. मृगमांस (हरिण मांस) रस, अथवा १०. बकरी के मांसरस में घोलकर पाण्डु रोग (Anaemia), क्रिमिकोष्ठ (जिनके कोष्ठ में क्रिमि हों) तथा भगन्दर (Fistula-in-ano) के रोगियों को पिलाना चाहिए।

दन्ती-द्रवन्ती के स्नेह योग–

१. दन्ती एवं द्रवन्ती का कल्क – $^{1}/_{4}$ भाग, गोघृत – १ भाग, दन्ती-द्रवन्ती क्वाथ – २ भाग + दशमूल क्वाथ – २ भाग को लेकर विधिपूर्वक घृत सिद्ध करें। इस घृत का प्रयोग कक्षा (Herpes in the axilla), अलजी (Boils), विसर्प (Erysipelas) तथा दाह (Burning syndrome) रोग में करें।

२. दन्ती-द्रवन्ती कल्क – $^{1}/_{4}$ भाग, तिल तैल – १ भाग, दन्ती + द्रवन्ती क्वाथ २ भाग + दशमूल क्वाथ – २ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल सिद्ध करें। इस तैल का प्रयोग वात कफज गुल्म, प्रमेह एवं उदावर्त रोग में करना चाहिए।

३. दन्ती + द्रवन्ती कल्क – $^{1}/_{4}$ भाग, चतुः स्नेह (घृत, तैल, वसा व मज्जा – प्रत्येक सम भाग) – १ भाग, दन्ती-द्रवन्ती क्वाथ – २ भाग + दशमूल क्वाथ – २ भाग; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक स्नेह सिद्ध करें। इस स्नेह का प्रयोग पुरीष, शुक्र एवं वात के अवरोध में तथा वातज रोगों में करना चाहिए।

वातज रोग से यहाँ वातजन्य वेदनाओं का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यहाँ घृत के तीन योगों का वर्णन किया गया है।

लेह योग– १. दन्ती एवं अजशृंगी (काकड़ासिंगी) का क्वाथ, गुड़, मधु व घृत डालकर विधिपूर्वक अवलेह का निर्माण करें। इस अवलेह का प्रयोग विरेचनार्थ करें। इसके प्रयोग से शरीर में दाह का होना, (Burning sensation), सन्ताप (ज्वर) तथा प्रमेह रोग नष्ट हो जाते हैं।

२. दन्ती एवं अजमोदा का क्वाथ, गुड़, मधु एवं घृत डालकर विधिपूर्वक अवलेह बनावें। इस अवलेह का प्रयोग वातज तर्ष (वातज तृष्णा) व पित्तज ज्वर में करें।

३. दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल को आमलकी स्वरस (क्वाथ) में पकावें, जब स्वरस चतुर्थांश भाग अवशिष्ट बचे। तब उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें। अब दन्ती-द्रवन्ती साधित क्वाथ के तीन भाग करें। दो भाग की मात्रा के बराबर क्वाथ में फाणित मिलाकर तप्त घृत अथवा तैल में भून लें। इस भुने हुए गुड़ युक्त क्वाथ में दन्ती-द्रवन्ती को छोड़कर शेष सात द्रव्यों (श्यामा, त्रिवृत्, चतुरङ्गुल, सुधा, तिल्वक, सप्तला व शङ्खिनी) का कल्क मिलाकर अवलेह को तैयार कर लें। इस अवलेह के सेवन करने से रोगी सुखपूर्वक विरेचन करता है।

चक्रपाणि– 'दधित्यादि' के द्वारा सात द्रव्यों से सात योगों को बताया गया है। [१. दधि, २. तक्र, ३. सुरामण्ड, ४. प्रियाल सीधु, ५. कोल शीधु, ६. बदर शीधु तथा ७. पीलु शीधु, ये सात योग कहे गये हैं।] । **शीधुशब्दः प्रियालादिभिश्चतुर्भिः पृथक् संबध्यते–** शीधु शब्द प्रियाल आदि चारों द्रव्यों के साथ अलग-अलग जुड़ा हुआ है।

अभिखिन्न इति आक्रान्तः– दोषों द्वारा आक्रान्त होना, शरीर में पित्त व कफ की अत्यधिक वृद्धि हो जाना।

Scanned by CamScanner

गोमृगाजरसैरित्यत्रापि 'पिण्डमक्षसमं तयोः' इत्यनुवर्तते– दन्ती व द्रवन्ती का मिश्रित कल्क–१ अक्ष (१ तोला) लेकर गाय के मांसरस अथवा हरिण के मांसरस अथवा बकरे के मांसरस में घोलकर विरेचनार्थ पाण्डु, कृमिकोष्ठी अथवा भगन्दर के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। यहाँ भी गो आदि तीन के मांसरस से तीन प्रयोग हो जाते हैं।

'तयोरित्यादि' के द्वारा तीन स्नेह के योगों को बताया गया है। **अनयोः कल्ककषायेण दशमूलरसतुल्यभागेन घृतं पचेद्विसर्पादिषु–** दन्ती व द्रवन्ती का कल्क घृत का चतुर्थांश, दन्ती व द्रवन्ती का क्वाथ घृत का दुगुना (अर्थात् दन्ती क्वाथ– १ भाग, द्रवन्ती क्वाथ– १ भाग) तथा दशमूल क्वाथ घृत का द्विगुण (२ भाग) लेकर एक भाग गोघृत सिद्ध करें। इस घृत का प्रयोग विसर्प आदि व्याधियों में करें। इसी विधि द्वारा साधित तैल का प्रयोग वातकफज प्रमेह, वात कफज गुल्म एवं वातकफज उदावर्त के रोगी में करना चाहिए। चतुः स्नेह का प्रयोग पुरीषसङ्ग (पुरीषावरोध), शुक्रावरोध एवं वातसङ्ग (वायु की रुकावट) आदि वातज व्याधियों में करना चाहिए।

'रसे इत्यादि के द्वारा एक अवलेह का अभिधान किया गया है। 'वाततर्षे इत्यादि' से द्वितीय लेह को बताया गया है।

'स एवाजगन्धयेत्यनेन' से पूर्व वर्णित लेह में ही अजशृंगी के स्थान पर अजमोदा का प्रयोग करने पर विशेष हो जाता है, यह बताया गया है। 'दन्तीत्यादि' के द्वारा तृतीय लेह का अभिधान किया गया है। **भागश इति–** प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग ग्रहण करें। इस प्रकार कुल १६ योग बनते हैं। [दधि तक्रादि के – १०, घृत, तैल एवं स्नेह योग– ३, लेह योग– ३ बनते हैं।] ॥७-१४॥

रसे च दशमूलस्य तथा वैभीतके रसे । हरीतकीरसे चैव लेहानेवं पचेत् पृथक् ॥१५॥
तयोर्बिल्वसमं चूर्णं तद्रसेनैव भावितम् । असृष्टे विशि वातोत्थेगुल्मे चाम्लयुतं शुभम् ॥१६॥
पाटयित्वेक्षुकाण्डं वा कल्केनालिप्य चान्तरा । स्वेदयित्वा ततः खादेत् सुखं तेन विरिच्यते ॥१७॥
मूलं दन्तीद्रवन्त्योश्च सह मुद्गैर्विपाचयेत् । लाववर्तीरकाद्यैश्च ते रसाः स्युर्विरेचने ॥१८॥
तयोर्वाऽपि कषायेण यवागूं जाङ्गलं रसम् । माषयूषं च संस्कृत्य दद्यात्तैश्च विरिच्यते ॥१९॥

लेह के अन्य तीन योग– १. दशमूल क्वाथ, २. हरीतकी क्वाथ, ३. विभीतकी क्वाथ; इनके क्वाथों से अलग-अलग दन्ती व द्रवन्ती के कल्क को मिलाकर (गुड़ादि के संयोग से) लेह का निर्माण करें।

विबन्ध एवं वात गुल्मनाशक योग– दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का चूर्ण– १ बिल्व (१ पल) लेकर इसमें इन दोनों के ही क्वाथ की भावना देकर सुखा लें एवं चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग अम्ल द्रव्यों (काञ्जी, बिजौरा नीबू का रस, नीबू स्वरस आदि) के साथ करें। इसके सेवन करने से विबन्ध (Constipation) तथा वातज गुल्म (Phantom tumour) का शमन हो जाता है।

इक्षुकाण्ड के योग– ईख को फाड़ दें, उसके दोनों भीतरी भागों में दन्ती व द्रवन्ती मूल के कल्क का लेप करें। अब ईख के फटे (चीरे) हुए भाग को आपस में सटाकर कुश से बाँध दें। ऊपर से मिट्टी का लेप लगा दें। इस लेप युक्त इक्षुकाण्ड को पुटपाक विधि से पकावें। सम्यक् स्विन्न हो जाने पर मिट्टी को हटाकर ईख को चूसें। इसके सेवन से आतुर को सुखपूर्वक विरेचन होता है।

मांसरस के योग– दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का कल्क, पानी व मूंग की दाल डालकर यूष बना लें। इस यूष में १. लाव पक्षी का मांस, अथवा २. वर्तीरक पक्षी का मांस, अथवा ३. वार्तीक, अथवा ४. कपिञ्जल, अथवा ५. चकोर, अथवा ६. उपचक्र, अथवा ७. ककुभ, अथवा ८. रक्त चर्मक के मांस डालकर मांसरस का निर्माण करें। इनका प्रयोग विरेचनार्थ करना चाहिए।

इन दोनों (दन्ती एवं द्रवन्ती) के क्वाथ से निर्मित– यवागू, मांसरस, अथवा माष यूष (उड़द का यूष) आतुर को खिलावें। इसके सेवन करने से आतुर का सम्यक् विरेचन हो जाता है।

चक्रपाणि– 'रसे च' से प्रारम्भ करके 'एवमिति' तक के द्वारा पूर्व वर्णित विधि के अनुसार तीन लेहों के निर्माण का निर्देश दिया गया है। 'तयोरित्यादि' के द्वारा चतुर्थ योग का वर्णन किया गया है। **तयोरिति–** से दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का ग्रहण किया गया है। (उन दोनों)। असृष्टे = विबद्धे (मलविबद्धता में)। **'पाटयित्वेत्यादि'** से पञ्चम योग का उल्लेख किया गया है। **कल्केनालिप्य चान्तरेति–** दन्ती + द्रवन्ती के कल्क (Paste) को फटे हुए इक्षुकाण्ड के मध्य भाग में लिप्त करके।

'मूलं दन्तीत्यादि' से आठ कृत एवं अकृत मांसरस के योगों को बताया गया है। यहाँ 'लाववर्तीरकादयः' से सू. स्थान अ.२७ में वर्णित आठ पक्षियों का ग्रहण किया गया है, यथा– "लावो वर्तीरकश्चैव वार्तीकः सकपिञ्जलः । चकोरश्चोपचक्रश्च ककुभो रक्तचर्मकः" (सू.अ.२७) इति [लाव (Common quail), वर्तीरक (Rain quail), वार्तीक, कपिञ्जल (टिटहरी), चकोर, उपचक्र, ककुभ, रक्तवर्त्मक या रक्त चर्मक; ये आठ पक्षी विष्किर वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ये अपना आहार चोंच से बिखेर कर खाते हैं।] इनके अलग-अलग योग से मांसरस के कुल आठ योग बनते हैं।

Scanned by CamScanner

'तयोर्वाऽपीत्यादि' के द्वारा दन्ती-द्रवन्ती के क्वाथ से निर्मित यवागू, अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के क्वाथ में पकाया गया मांसरस, या दन्ती-द्रवन्ती के क्वाथ से साधित माष यूष को बताया गया है।

इस प्रकार इन द्रवों तथा पूर्व योगों को मिलाकर कुल षोडश (१६) योग हो जाते हैं। [लेह योग ३ + चूर्ण योग (भावित) – १ + इक्षुरस योग – १ + मांसरस योग– ८ + यवागू, मांसरस, माषयूष योग– ३ = १६] ॥१५-१९॥

तत्कषायात्त्रयो भागा द्वौ सितायास्तथैव च । एको गोधूमचूर्णानां कार्या चोत्कारिका शुभा ॥२०॥
मोदको वाऽस्य कल्पेन कार्यस्तच्च विरेचनम् । तयोश्चापि कषायेण मद्यान्यस्योपकल्पयेत् ॥२१॥
दन्तीक्काथेन चालोड्य दन्तीतैलेन साधितान् । गुडलावणिकान् भक्ष्यान् विविधान् भक्षयेन्नरः ॥२२॥
दन्तीं द्रवन्तीं मरिचं यवानीमुपकुञ्चिकाम् । नागरं हेमदुग्धां च चित्रकं चेति चूर्णितम् ॥२३॥
सप्ताहं भावयेन्मूत्रे गवां पाणितलं ततः । पिबेद्घृतेन जीर्णे तु विरिक्तश्चापि तर्पणम् ॥२४॥
सर्वरोगहरं मुख्यं सर्वेष्वृतुषु यौगिकम् । चूर्णं तदनपायित्वाद्बालवृद्धेषु पूजितम् ॥२५॥
दुर्भक्ताजीर्णपार्श्वार्तिगुल्मप्लीहोदरेषु च । गण्डमालासु वाते च पाण्डुरोगे च शस्यते ॥२६॥
पलं चित्रकदन्त्योश्च हरीतक्याश्च विंशतिः । त्रिवृत्पिप्पलिकर्षौ द्वौ गुडस्याष्टपलेन तत् ॥२७॥
विनीय मोदकान् कुर्याद्दृशैकं भक्षयेत्ततः । उष्णाम्बु च पिबेच्चानु दशमे दशमेऽह्नि च ॥२८॥
एते निघ्नरिहाराः स्युः सर्वरोगनिबर्हणाः । ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकण्डूकोठानिलापहाः ॥२९॥
दन्तीद्विपलनिर्यूहो द्राक्षार्धप्रस्थसाधितः । विरेचनं पित्तकासे पाण्डुरोगे च शस्यते ॥३०॥
दन्तीकल्कं समगुडं शीतवारियुतं पिबेत् । विरेचनं मुख्यतमं कामलाहरमुत्तमम् ॥३१॥
श्यामादन्तीरसे गौडः पिप्पलीफलचित्रकैः । लिप्तेऽरिष्टोऽनिलश्लेष्मप्लीहपाण्डूदरापहः ॥३२॥
तथा दन्तीद्रवन्त्योश्च कषाये साजगन्धयोः । गौडः कार्योऽजशृङ्ग्या वा स वै सुखविरेचनः ॥३३॥
तच्चूर्णक्काथमाषाम्बुकिण्वतोयसमुद्भवा । मदिरा कफगुल्माल्पवह्निपार्श्वकटिग्रहे ॥३४॥
अजगन्धाकषायेण सौवीरकतुषोदके । सुराकम्पिल्लके योगौ लोध्रवच्च तयोः स्मृतौ ॥३५॥

उत्कारिका योग– दन्ती व द्रवन्ती के मूल का क्वाथ– ३ भाग, मिश्री– २ भाग, गेहूँ का चूर्ण (आटा) – १ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर **उत्कारिका** का निर्माण करें। अर्थात् सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर पकावें तथा उत्कारिका बना लें।

[उत्कारिका– उड़द आदि द्रव्यों द्वारा बनायी हुई लप्सी की आकृति का एक विशेष खाद्य]

मोदक योग– दन्ती व द्रवन्ती के मूल का क्वाथ– ३ भाग, मिश्री– २ भाग, गेहूँ का आटा– १ भाग। सर्वप्रथम क्वाथ में मिश्री डालकर चासनी बना लें, अब चासनी में आटे को मिलाकर मोदक बना लें। [आटे को चासनी में मिलाने से पूर्व घृत में भून लेना चाहिए] इस मोदक का प्रयोग विरेचनार्थ करें।

मद्य योग– दन्ती एवं द्रवन्ती के क्वाथ में गुड़ आदि डालकर घोल लें। इसे घृत भावित मिट्टी के घड़े में रखकर ऊपर से ढक्कन बंद करके सन्धि बन्धन कर दें। इस मुखबन्द घड़े को सन्धानार्थ यव की राशि में पन्द्रह दिन के लिए रख दें। सम्यक् सन्धान हो जाने के बाद घड़े को निकाल कर मद्य को छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें।

भक्ष्य योग– दन्ती के क्वाथ (Decoction) में आटा, गुड़, नमक आदि द्रव्यों को मिलाकर दन्ती के तैल में अपूप आदि पका लें। अर्थात् दन्ती के क्वाथ में घोले हुए मालपूआ, पकौड़ी आदि के द्रव्यों को दन्ती के तैल में छान लें। इस प्रकार मालपुए अथवा पकौड़ी का निर्माण करें। इसके सेवन करने पर सम्यक् विरेचन होता है।

चूर्णयोग– दन्ती की जड़, द्रवन्ती की जड़, कालीमिर्च, यवानी (अजवाइन), उपकुञ्चिका (मगरैला), नागर (सोंठ = शुण्ठी), हेमदुग्धा एवं चित्रक, सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को गोमूत्र से सात बार भावित करें। तत्पश्चात् इसे सुखा कर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण को एक पाणितल की मात्रा में लेकर घृत के साथ आतुर को खाने के लिए दें। इस चूर्ण के जीर्ण हो जाने पर तथा सम्यक् विरेचन हो जाने पर तर्पण का सेवन करना चाहिए। सभी व्याधियों को दूर करने में यह योग मुख्य है। इसका प्रयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है, अर्थात् सभी ऋतुओं में हितकारी होता है। इसका कोई हानिकारक प्रभाव नहीं होता। बालकों एवं वृद्ध पुरुषों के लिए यह प्रशस्त होता है।

अनुचित आहार सेवन करने से उत्पन्न अजीर्ण (Indigestion), पार्श्वशूल, गुल्मरोग, प्लीहा रोग, उदररोग, गण्डमाला, वातरोग एवं पाण्डुरोग में विरेचनार्थ इस चूर्ण का प्रयोग कराना चाहिए।

→ चित्रकमूल – १ पल, दन्तीमूल – १ पल, मध्यम परिमाण की हरीतकी – २० (संख्यात्मक मान), त्रिवृत् (अरुण मूल वाली निशोथ) – २ कर्ष (२ तोला), पिप्पली – २ कर्ष (२ तोला), गुड़ – ८ पल। चित्रकमूल से लेकर पिप्पली तक के द्रव्यों को

Scanned by CamScanner

निर्धारित मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। अब इस चूर्ण को ८ पल गुड़ की चासनी में मिलाकर दस मोदक बना लें। एक मोदक का सेवन उष्ण जल के साथ करें। इस प्रकार दस दिन मोदक का सेवन करना चाहिए। अर्थात् दस-दस दिन पर १-१ मोदक का सेवन चाहिए। मोदक सेवन काल में किसी विशेष पथ्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस मोदक का प्रयोग सभी व्याधियों में करना चाहिए। इसके प्रयोग से ग्रहणी (Sprue syndrome), पाण्डुरोग (Anaemia), अर्श (Piles), कण्डू (Itching), कोठ (Urticaria) एवं वातरोग दूर हो जाते हैं।

→ दन्तीमूल – २ पल व द्राक्षा – अर्ध प्रस्थ; इनसे निर्मित क्वाथ का प्रयोग पित्तज कास तथा पाण्डु रोगी में विरेचनार्थ करना चाहिए। (दन्ती की जड़ – २ पल तथा द्राक्षा आधा प्रस्थ लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें। इस क्वाथ का सेवन पित्तज कास तथा पाण्डु के रोगी को करावें।)

→ दन्तीमूल कल्क एवं गुड़, दोनों को बराबर मात्रा में लेकर जल में घोल लें, तत्पश्चात् आतुर को पीने के लिए दें। यह योग कामला रोग (Jaundice) को दूर करने में अत्यन्त हितकर है।

→ **अरिष्ट योग–** श्यामा (काली मूल वाली निशोथ) एवं दन्ती का क्वाथ बनावें। एक घृत भावित मिट्टी का घड़ा लें, जिसके आभ्यन्तर भाग में पिप्पली, मदनफल एवं चित्रकमूल के कल्क का लेप किया गया हो। इस घड़े में क्वाथ व गुड़ को अच्छी प्रकार से मिलाकर घोल लें, तत्पश्चात् मुख बन्द करके १५ दिन के लिए धान्य की राशि में गाड़ दें। अरिष्ट तैयार हो जाने पर छानकर बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें। यह अरिष्ट वातकफज प्लीहा रोग, पाण्डु रोग एवं उदररोग को दूर करता है।

→ दन्तीमूल – १ भाग, द्रवन्तीमूल – १ भाग, अजमोदा – १ भाग; तीनों द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में गुड़ मिलाकर विधिपूर्वक अरिष्ट का निर्माण करें। अथवा दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल एवं अजशृंगी से निर्मित क्वाथ में गुड़ मिलाकर विधिपूर्वक अरिष्ट का निर्माण करें। इस अरिष्ट के सेवन से व्यक्ति को सुखपूर्वक विरेचन होता है।

→ **मद्य योग (कफज गुल्म नाशक मद्य)–** दन्तीमूलचूर्ण, द्रवन्तीमूलचूर्ण, दन्तीमूल एवं द्रवन्तीमूल क्वाथ, उड़द का क्वाथ एवं किण्व (सुराकिट्ट); इन द्रव्यों के संयोग से निर्मित मदिरा (मद्य) का सेवन कफज गुल्म, अग्निमांद्य, पार्श्वग्रह (Stiffness of the sides) व कटिग्रह (Stiffness of the lumber region) में करना चाहिए। इस अरिष्ट के सेवन से निर्दिष्ट व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

→ **सौवीरक एवं तुषोदक योग–** दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का क्वाथ एवं अजमोदा के क्वाथ को लेकर सौवीरक एवं तुषोदक का निर्माण करें तथा दन्ती एवं द्रवन्ती द्वारा लोध्रकल्प में निर्दिष्ट विधि के अनुसार सुरा एवं कम्पिल्लक योग का भी निर्माण करें। यहाँ वर्णित चारो योग विरेचन का कार्य करते हैं।

चक्रपाणि– 'तत्कषायादित्यादि' के द्वारा उत्कारिका एवं मोदक के योग को बताया गया है। **तत्कषायादिति–** दन्ती एवं द्रवन्ती के क्वाथ से ।

मोदककरणेऽपि तत्कषायात्रयो भागा इत्यादिविधानमनुवर्तते– मोदक निर्माण में भी 'तत्कषायात्रयोभागा' इति विधान का पालन करना चाहिए। अर्थात् दन्ती एवं द्रवन्ती के मूल का क्वाथ – ३ भाग, मिश्री – २ भाग, गेहूँ का आटा – १ भाग, घृत – यथावश्यक लें। सर्वप्रथम गेहूँ के आटे को घृत में अच्छी प्रकार से भून लें। अब मिश्री एवं क्वाथ को एक पात्र में लेकर चासनी का निर्माण करें, चासनी तैयार हो जाने पर गेहूँ के आटे को चासनी में मिला लें तथा पाक कुछ शीतल हो जाने पर (लड्डू बनाने लायक हो जाने पर) मोदक का निर्माण कर लें।

तयोश्चापि कषायेण मद्यानीति तृतीयः– उन दोनों (दन्ती एवं द्रवन्ती मूल) के क्वाथ से विधिपूर्वक मद्य का निर्माण करें। यह तृतीय योग है। 'दन्तीत्यादि' से चतुर्थ **भक्ष्य योग** को बताया गया है। **दन्तीं द्रवन्तीं मरिचमिति** से पाँचवे योग को बताया गया है। अर्थात् चूर्ण योग पञ्चम योग है। हेमदुग्धा = स्वर्णक्षीरी। चूर्णितं से प्रारम्भ करके पिबेदिति तक वाक्य पूर्ण होता है। अर्थात् दन्तीमूल, द्रवन्तीमूल, कालीमिर्च, अजवाइन, उपकुञ्चिका (कलौंजी या मगरैला), शुण्ठी (सोंठ) तथा हेमदुग्धा (स्वर्णक्षीरी) मूल; इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इस चूर्ण को गोमूत्र से सात बार भावित करें, तत्पश्चात् सुखा कर चूर्ण कर लें। इस गोमूत्र भावित चूर्ण का प्रयोग विरेचनार्थ करें। **पलमित्यादि** से छठवें योग को बताया गया है। **हरीतक्याश्च विंशतिरिति–** बीस संख्या हरीतकी की लें, तन्त्रान्तर में (अन्य शास्त्रों में) यह योग **'अगस्त्यमोदक'** के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् श्लोक नं. २७ वें व २८ वें पढ़ा गया योग **अगस्त्यमोदक** के नाम से प्रसिद्ध है। दन्ती द्विपलेति से सप्तम योग का वर्णन किया गया है।

दन्तीमूल – २ पल एवं द्राक्षा – अर्ध प्रस्थ लेकर क्वाथ बनावें, अर्थात् दोनों द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर क्वाथ का निर्माण करें।

Scanned by CamScanner

दन्तीकल्कमित्यादि (श्लोक नं.३१) के द्वारा **अष्टम योग** का वर्णन किया गया है। 'श्यामेत्यादि' से नवम् योग को पढ़ा गया है। 'गौड' से यहाँ गुड़ अर्थ लिया गया है। 'लिप्ते' इति' के साथ 'घटे' इति को जोड़ना चाहिए, अर्थात् **घटे लिप्ते** अर्थ ग्रहण करें। [मिट्टी के घड़े के आभ्यन्तर भाग में **पिप्पली, मदनफल एवं चित्रकमूल** के समभाग से निर्मित कल्क (Paste) का लेप करके सुखा लें।

'तथा दन्तीद्रवन्त्योश्चेत्यादि' के द्वारा दसवें योग को बताया गया है। 'तथा' से यहाँ पूर्वयोग में वर्णित पिप्पली, मदनफल एवं चित्रकमूल के कल्क से लिप्त घड़े का प्रयोग अरिष्ट निर्माण हेतु करना चाहिए, अर्थ लिया गया है। 'अजशृङ्ग्या वेत्यादि' से ग्यारहवें योग का वर्णन किया गया है।

तथा अजशृङ्ग्या दन्तीद्रवन्योश्च कषाये गौडोऽरिष्टः कार्य इति सम्बन्धः– अजशृङ्गी, दन्ती एवं द्रवन्ती के क्वाथ में गुड़ आदि मिलाकर अरिष्ट का निर्माण करना चाहिए।

'तच्चूर्णेत्यादि' के द्वारा द्वादशवें (बारहवें) योग को बताया गया है। यहाँ दन्ती व द्रवन्ती के चूर्ण, दोनों के क्वाथ, उड़द का क्वाथ; सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर किण्वकरण विधि द्वारा सुरा का निर्माण करें। यही वाक्य का अभिप्राय है। 'अजगन्धेत्यादि' के द्वारा दो योगों को बताया गया है। यहाँ अजगन्धा (अजमोदा) व दन्ती-द्रवन्ती के क्वाथ से सौवीरक व तुषोदक का निर्माण करना चाहिए। [अजगन्धा, दन्ती व द्रवन्ती तीनों के समभाग से निर्मित क्वाथ द्वारा सौवीरक व तुषोदक का निर्माण करें। सुरेत्यादि के द्वारा दूसरे दो योगों को बताया गया है। **लोध्रवच्च तयोरिति–** जिस प्रकार लोध्रकल्प में "सुरा लोध्रकषायेण" (क.अ.९) इति के द्वारा सुरा के निर्माण को बताया गया है तथा "कम्पिलककषायेण" (क.अ.९) के द्वारा कम्पिल्लक योग को बताया गया है । उन दोनों योगों में **लोध्र** के स्थान पर दन्ती व द्रवन्ती को डालकर सौवीरक व तुषोदक निर्माण के विधान के अनुसार सुरा योग का निर्माण करना चाहिए। इस प्रकार इसे लेकर तीन षोडश (१६×३ या १६+१६+१६) अर्थात् अड़तालीस योगों की संख्या पूर्ण हो जाती है। ॥२०-३५॥

तत्र श्लोकाः –

(दध्यादिषु त्रयः पञ्च प्रियालाद्यास्त्रयो रसे । स्नेहेषु वै त्रयो लेह्याः षट् चूर्णे त्वेक एव च ॥३६॥
इक्षावेकस्तथा मुद्गमांसानां च रसास्त्रयः । यवाग्वादौ त्रयश्चैव उक्त उत्कारिकाविधौ ॥३७॥
एकश्च मोदके मद्ये चैकस्तत्क्वाथतैलके । चूर्णमेकं पुनश्चैको मोदकः पञ्च चासवे ॥३८॥
एकः सौवीरकेऽथैको योगः स्यात्तु तुषोदके । एका सुरैकः कम्पिल्ले तथा पञ्च घृते स्मृताः ॥३९॥)
दन्तीद्रवन्तीकल्पेऽस्मिन् प्रोक्ताः षोडशकास्त्रयः । नानाविधानां योगानां भक्तिदोषामयान्रति ॥४०॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस प्रकार यहाँ अधोलिखित विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है–

१. दधि के तीन योग
२. प्रियाल आदि के पाँच योग,
३. मांसरस के तीन योग,
४. स्नेह के तीन योग,
५. लेह के छः योग,
६. चूर्ण का एक योग,
७. इक्षु का एक योग
८. मुद्ग एवं मांसरस के तीन योग,
९. यवागू के तीन योग
१०. उत्कारिका का एक योग
११. मोदक का एक योग
१२. मद्य से एक योग
१३. दन्ती क्वाथ– तैल से एक योग
१४. चूर्ण से एक योग
१५. पुनः मोदक का एक योग
१६. आसव – पाँच योग
१७. सौवीरक – एक योग
१८. तुषोदक – एक योग
१९. सुरा का एक योग
२०. कम्पिल्लक एक योग
२१. घृत से पाँच योग

दन्ती-द्रवन्ती कल्प नामक इस अध्याय में कुल ४८ योगों का वर्णन किया गया है। इन योगों का प्रयोग चिकित्सक को रोगी की भक्ति (रुचि), दोष एवं व्याधि की अवस्था का विचार करके करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दन्ती इति' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है, जिनके अर्थ स्पष्ट ही हैं।

भक्तिदोषामयान्रति उक्तानां नानाविधानां योगानां त्रयः षोडशकाः प्रोक्ता इति योजना– रोगी की रुचि, दोष एवं व्याधि की अवस्था का विचार करते हुए यहाँ निर्दिष्ट ४८ योगों में से जो उपयुक्त हों, उनका प्रयोग करना चाहिए, यह भाव ग्रहण करें। भक्तिः = इच्छा ॥३६-४०॥

Scanned by CamScanner

त्रिशतं पञ्चपञ्चाशद्योगानां वमने स्मृतम् । द्वे शते नवकाः पञ्च योगानां तु विरेचने ।।४१।।
ऊर्ध्वानुलोमभागानामित्युक्तानि शतानि षट् । प्राधान्यतः समाश्रित्य द्रव्याणि दश पञ्च च ।।४२।।

इस कल्पस्थान में वमन के ३५५ तथा विरेचन के २४५ योगों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यहाँ वमन एवं विरेचन के पन्द्रह प्रधान द्रव्यों के आश्रय से कुल ६०० योगों का उल्लेख किया गया है।

चक्रपाणि– 'त्रिशतमित्यादि' के द्वारा कल्पस्थान में वर्णित विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

त्रिशतं पञ्चपञ्चाशदिति– तीन सौ से पचपन अधिक, अर्थात् ३५५ योग वामक द्रव्यों के । **प्राधान्यतः समाश्रित्येति–** मुख्य द्रव्यों के आश्रय से, अर्थात् १५ मुख्य द्रव्यों के आश्रय से वमन एवं विरेचन के कुल ६०० योगों का वर्णन यहाँ किया गया है। पन्द्रह मुख्य द्रव्य अधोलिखित हैं- १. फल (मदनफल), २. जीमूतक, ३. इक्ष्वाकु, ४. धामार्गव, ५. कुटज, ६. कृतवेधन, ७. श्यामा, ८. त्रिवृत्, ९. चतुरङ्गुल, १०. तिल्वक, ११. महावृक्ष, १२. सप्तला, १३. शङ्खिनी, १४. दन्ती, १५. द्रवन्ती। ।।४१-४२।।

भवन्ति चात्र–
यद्धि येन प्रधानेन द्रव्यं समुपसृज्यते । तत्संज्ञकः स योगो वै भवतीति विनिश्चयः ।।४३।।
फलादीनां प्रधानानां गुणभूताः सुरादयः । ते हि तान्यनुवर्तन्ते मनुजेन्द्रमिवेतरे ।।४४।।

योगों के नामकरण का आधार–

और भी–

जिस योग में जो द्रव्य प्रधान (मुख्य) होता है उसी के आधार पर उस योग का नामकरण किया जाता है। मदनफल आदि प्रधान द्रव्यों के साथ सुरादि का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि ये गुणभूत सुरादि द्रव्य फलादि के ही गुण को बढ़ाने में सहायक होते हैं। यह कार्य ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपने राजा का अनुकरण करता है।

चक्रपाणि– अथात्र वमनादियोगेषु द्रव्यान्तराणां सुरादीनामपि विद्यमानत्वात् कथं मदनफलाद्याश्रयवत्त्वेनैवामी योगा व्यपदिश्यन्त इत्याह- यद्धीत्यादि। यहाँ वमन आदि योगों में सुरा आदि अन्य द्रव्यों के रहने से किस प्रकार मदनफल आदि के आश्रय होने से उन्हीं के नाम पर इन योगों का नामकरण किया जाता है। इसे यहाँ 'यद्धीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यद्यपि मदनफलादि द्रव्यों के साथ सुरादि द्रव्यों के संयोग से ही योगों का निर्माण होता है फिर भी उनमें फलादि द्रव्यों की प्रधानता होने से उन्हें फलादि के ही नाम से कहा जाता है, न कि सुरादि के योग कहे जाते हैं। गुणभूता इति = अप्रधान भूत, अर्थात् सुरादि द्रव्य मुख्य नहीं होते। सुरादि की अप्रधानता के हेतु को यहाँ '– ते हि तान्यनुवर्तन्त इति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् सुरादि द्रव्य प्रधान द्रव्यों के ही गुणों को बढ़ाते हैं। सुरादि द्रव्य मदनफल आदि वमन-विरेचन कारी द्रव्यों के गुणों के अनुकूल होने से विरोधी न होने से उनके गुणों का ही अनुवर्तन करते हैं। ।।४३-४४।।

विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकम् । अधिकं तुल्यवीर्ये हि क्रियासामर्थ्यमिष्यते ।।४५।।

योगों में विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग– योगों में विरुद्ध वीर्य वाले उन द्रव्यों का भी प्रयोग किया जाता है जो प्रधान द्रव्यों के गुणों में बाधक न हों। समान वीर्य (Active potency) वाले द्रव्यों के प्रयोग से योग की कार्यकारी क्षमता अधिक बढ़ जाती है।

चक्रपाणि– जो द्रव्य मदनफल आदि द्रव्यों के गुणों के अनुगुण (समान) होते हैं वे गुणभूत (अप्रधान) होते हैं इसके विपरीत प्रधान द्रव्य दन्ती-उग्र गुण युक्त होती है तथा मांसरस आदि द्रव्यों के साथ दन्ती का प्रयोग करने पर दन्ती की उग्रता कुछ कम हो जाती है। एला आदि द्रव्य हृद्य होते हैं। जब इनका प्रयोग मदनफल जैसे वामक द्रव्य के साथ किया जाता है तब यह मदनफल के वामक प्रभाव को कुछ कम कर देता है। अतः ये द्रव्य कैसे गुणभूत (अप्रधान) कहे जायेंगे, ऐसी शङ्का है, जिसका समाधान यहाँ 'विरुद्धवीर्यमप्येषां प्रधानानामबाधकमिति' के द्वारा दिया गया है।

विरुद्धवीर्यमपीति– विरेचन रूप कार्य को विशेष बाधित न करने से यह (मांसरस आदि) गुणभूत (अप्रधान) है, यह अभिप्राय है। यदि विरुद्धवीर्य वाले द्रव्य गुणभूत (अप्रधान) नहीं होते तब मदनादि द्रव्यों का कार्य बाधित होता। विरुद्ध होते हुए भी कार्य (प्रधान द्रव्यों का कार्य) बाधित न होना निश्चय ही अबाधकत्व के ही भाव को प्रकट करता है।

[Combination of these drugs having opposite potency, however, does not affect the effects of the principal ingredient. – Dr. Bhagvan Das]

कार्य अबाधन रूप सहायक द्रव्यों के अभिधान के बाद तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों के प्रयोग को यहाँ– 'अधिकमित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

Scanned by CamScanner

तुल्यवीर्ये संयुक्ते सति क्रियासामर्थ्यमधिकं भवतीत्यर्थः– तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों के संयोग से योग की कार्यकारी क्षमता अधिक बढ़ जाती है, यथा– **मदनफल पिप्पली** के चूर्ण के साथ कृतवेधन क्वाथ का प्रयोग करने पर **योग** की **वमनकारिता** अधिक बढ़ जाती है। ॥४५॥

इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धार्थं प्रति चामयम् । अतो विरुद्धवीर्याणां प्रयोग इति निश्चितम् ।।४६।।

अतः व्याधि की अवस्था का विचार करते हुए योग में मनोनुकूल वर्ण, रस, स्पर्श एवं गन्ध उत्पन्न करने के लिए विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, ऐसा निश्चित रूप से समझना चाहिए।

चक्रपाणि– तुल्यवीर्य वाले द्रव्यों के संयोग से योग की क्रिया सामर्थ्य अधिक बढ़ जाती है। अतः इनका प्रयोग तो करना ही चाहिए, लेकिन योग में विरुद्धवीर्य वाले द्रव्यों का संयोग किस लिए किया जाता है, जिसे यहाँ 'इष्टेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इष्टवर्णत्वादिसंपत्त्यर्थम् – विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग योग में मनोनुकूल वर्ण आदि की उचित रूप में उत्पत्ति के लिए किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

अतः मदनफल आदि योग में विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग तथा व्याधि के विरुद्ध विरोधी वीर्य वाले द्रव्यों का प्रयोग वमन-विरेचन के रूप में करना व्याधि विशेष को दूर करने में विशेष उपयोगी होता है, ऐसा समझना चाहिए। ॥४६॥

भूयश्चैषां बलाधानं कार्यं स्वरसभावनैः । सुभावितं ह्यल्पमपि द्रव्यं स्याद्बहुकर्मकृत् ।।४७।।
स्वरसैस्तुल्यवीर्यैर्वा तस्माद्द्रव्याणि भावयेत् ।

भावना द्वारा गुणवृद्धि– वामक या विरेचन कारक द्रव्यों के चूर्णों में उन्हीं द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ की भावना देकर उनके गुणों को बढ़ाना चाहिए। भावित द्रव्य मात्रा में अल्प होते हुए भी अनेक कर्मों को करने वाला होता है, अर्थात् भावना देने से द्रव्य के कार्य करने की क्षमता अत्यधिक बढ़ जाती है। इसलिये उसी द्रव्य के स्वरस से (चूर्ण में उसी द्रव्य के स्वरस से) अथवा तुल्य वीर्य वाले अन्य द्रव्य के स्वरस से भावना देनी चाहिए।

चक्रपाणि– मदनफल आदि द्रव्यों के वीर्य की उत्कर्षता हेतु – भावना देने के विधि को यहाँ 'भूयश्चैषामित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। तुल्यवीर्यैर्वेति – समान वीर्य वाले द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ द्वारा भावना देनी चाहिए। ॥४७॥

अल्पस्यापि महार्थत्वं प्रभूतस्याल्पकर्मताम् ।।४८।।
कुर्यात् संयोगविश्लेषकालसंस्कारयुक्तिभिः ।

संयोग आदि का महत्व– संयोग (Addition of ingredients – द्रव्यों के आपस में मिलाने पर), विश्लेष (योग से कुछ द्रव्यों को निकालना – Elimination of ingredients), काल (उचित समय में औषध का प्रयोग करना – औषध प्रयोग काल), संस्कार (द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ संस्कारित करना) तथा युक्ति (योजना) के द्वारा अल्प कार्यकारी द्रव्य भी अत्यधिक कार्यकारी तथा अत्यधिक कार्यकारी द्रव्य अल्प कार्यकारी हो जाते हैं।

चक्रपाणि– तुल्य एवं अतुल्य वीर्य युक्त द्रव्यों के संयोग आदि के कार्य को यहाँ – 'अल्पस्यापीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

तत्राल्पमात्रस्य समानवीर्यसंयोगान् महार्थत्वं भवति– किसी वमन कारक अथवा विरेचन कारक द्रव्यों के साथ समान वीर्य वाले द्रव्य के अल्प संयोग से भी द्रव्य की कार्यकारी क्षमता अधिक बढ़ जाती है तथा विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्य के संयोग से प्रभूतकार्यकारी द्रव्य की क्षमता में अत्यधिक कमी आ जाती है।

इयं चाल्पकर्मकता प्रभूतभेषजस्य दीप्तिकारणकोष्ठव्याप्त्यादिप्रयोजनात् क्रियते– प्रभूतकार्यकारी द्रव्यों को अल्पकार्यकारी बनाने के पीछे जाठराग्नि तथा कोष्ठ को व्यापत्तियों से बचाना ही प्रयोजन है, अर्थात् औषधि के तीक्ष्ण प्रभाव से रोगी की रक्षा करना ही मुख्य उद्देश्य है।

विश्लेषादप्यल्पस्य महार्थत्वं विरुद्धवीर्यविश्लेषाद्बोद्धव्यम्– योग से कुछ द्रव्यों को निकालना, इससे भी औषधि (योग) की कार्यकारी क्षमता में वृद्धि हो जाती है, यह भाव विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों के हटाने के संबन्ध में है, अर्थात् योग से विरुद्ध वीर्य वाले द्रव्यों को निकाल देने पर योग की गुणवत्ता बढ़ जाती है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों को किसी योग से निकालने पर उसकी गुणवत्ता में कमी आ जाती है। इसी प्रकार संस्कार का भी ग्रहण करना चाहिए, समान द्रव्यों (समान गुण वाले द्रव्यों) से संस्कारित करने पर योग के गुणों की वृद्धि तथा विरुद्ध गुण युक्त द्रव्यों से संस्कारित करने पर गुणों में अल्पता आती है।

अल्पस्यापि महार्थत्वं यथा स्निग्धेऽल्पमात्रमपि शोधनं बहुदोषहरणाय भवति– अल्प औषधि का अधिक कार्यकारी होना, यथा– सम्यक् स्निग्ध पुरुष में अल्प मात्र शोधन औषधि का प्रयोग दोषों को अत्यधिक निकालने वाला होता है, अर्थात् अल्प औषधि के प्रयोग

Scanned by CamScanner

से भी दोषों का अत्यधिक निर्हरण होता है। इसके विपरीत अस्निग्ध पुरुष में प्रभूत औषधि के प्रयोग करने पर भी शोधन कार्य अल्प होता है, अर्थात् औषधि अपना कार्य नहीं कर पाती। ॥४८॥

प्रदेशमात्रमेतावद्द्रष्टव्यमिह षट्शतम् ॥४९॥
स्वबुद्ध्यैवं सहस्राणि कोटीर्वाऽपि प्रकल्पयेत् । बहुद्रव्यविकल्पत्वाद्योगसंख्या न विद्यते ॥५०॥

इस प्रकार यहाँ वमन-विरेचन के छः सौ योगों का सङ्केत मात्र ही किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् वमन-विरेचन के योगों का संक्षेप में विवेचन किया गया है, ऐसा समझें।

एक योग्य चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार इसी प्रकार वमन-विरेचन के हजारों करोड़ों योगों की कल्पना करनी चाहिए, क्योंकि द्रव्यों तथा उनसे बनने वाली कल्पनाओं की असंख्य संख्या होने के कारण योगों का विस्तार से वर्णन करना संभव नहीं है।

चक्रपाणि– यहाँ (कल्पस्थान में) वमन-विरेचन के छः सौ योगों का निर्देश बीज रूप में किया गया है, जिनका निर्देश यहाँ नहीं किया गया है। चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार इसी आधार पर अन्य योगों का भी निर्माण करना चाहिए। इसे यहाँ – 'प्रदेशेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्रदेश एकदेशः, वमन-विरेचन के कुछ योगों का यहाँ निर्देश है। इतनी ही वामक व विरेचक योगों की संख्या नहीं है। किस कारण से सम्पूर्ण योगों का यहाँ अभिधान नहीं किया गया है जिसे – 'बहुद्रव्येत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। चूँकि द्रव्यों की संख्या असंख्य है, अतः योगों की संख्या का भी निर्धारण करना संभव नहीं है।

तीक्ष्णमध्यमृदूनां तु तेषां शृणुत लक्षणम् । सुखं क्षिप्रं महावेगमसक्तं यत् प्रवर्तते ॥५१॥
नातिग्लानिकरं पायौ हृदये न च रुक्करम् । अन्तराशयमक्षिण्वन् कृत्स्नं दोषं निरस्यति ॥५२॥
विरेचनं निरूहो वा तत्तीक्ष्णमिति निर्दिशेत् ।

योगों के तीन भेद (Three categories of recipes)–

वमन एवं विरेचन कारक द्रव्यों के तीन भेद होते हैं–

१. तीक्ष्ण (Strong or sharp), २. मध्य (moderate), ३. मृदु (mild); इनके लक्षणों का विवेचन आगे किया जा रहा है, हे अग्निवेश! उसे सुनो–

तीक्ष्ण योगों के लक्षण– तीक्ष्ण वामक द्रव्य, अथवा विरेचक द्रव्य अथवा निरूह बस्ति में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. जिसके सेवन करने से सुखपूर्वक शीघ्रता से अत्यधिक वेग के साथ बिना अवरोध के वमन या विरेचन हो जाता है।

२. जो शरीर में अत्यधिक ग्लानि (Exhaustion) – शारीरिक थकावट) नहीं उत्पन्न करता।

३. जिसके सेवन से हृदय तथा गुद प्रदेश में अत्यधिक वेदना नहीं उत्पन्न होती।

४. शरीर के भीतरी भागों में हानि न पहुँचाते हुए दोषों को शरीर के बाहर निकाल देता है।

उस विरेचन अथवा निरूह द्रव्य को **तीक्ष्ण** समझना चाहिए।

चक्रपाणि– यहाँ **वमन-विरेचन** का प्रसंग होने से निरूह बस्ति के तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु भेद से लक्षण को 'तीक्ष्णेत्यादि' के द्वारा ही स्पष्ट कर दिया गया है, अर्थात् यहाँ वर्णित लक्षण वामक अथवा विरेचक द्रव्यों के ही नहीं हैं, अपितु यही लक्षण निरूह के भी हैं।

सुखमिति दुःखमकुर्वन्– शरीर को कष्ट न देते हुए अर्थात् जिस वामक, विरेचक अथवा निरूह बस्ति के प्रयोग से शरीर में कोई कष्ट न होता हो, सुखपूर्वक वेग के साथ शरीर में अवरुद्ध न होते हुए दोष बाहर निकल जाते हों।

असक्तमिति– दोषों का कोष्ठ में अवरुद्ध न होना।

नातिग्लानिकरं पायाविति– विरेचन अथवा निरूह बस्ति के प्रयोग से गुदा में अत्यधिक पीड़ा न होती हो।

हृदये न च रुक्करमिति– हृदय में वेदना का न होना, यह लक्षण वमन के सन्दर्भ में है, ऐसा जानना चाहिए, अर्थात् वामक द्रव्यों के प्रयोग से **'हृदय में वेदना का न होना'** अर्थ गृहीत है। **अक्षिण्वन्निति अपीडयन् –** शरीर के आभ्यन्तर भाग (कोष्ठ = अन्तराशय) में कष्ट न पहुँचाते हुए सम्पूर्ण दोषों को शरीर से बाहर निकालना।

विरेचन से यहाँ वमन व विरेचन दोनों अर्थ लिया गया है। कहा भी गया है, यथा– "उभयं हि शरीरदोषमलविरेचनाद्विरेचनशब्दं लभते" (क.अ.१) इति [शरीर के ऊर्ध्व अथवा अधोभाग से दोष व मलों को बाहर निकालने के कारण इसे विरेचन नाम दिया गया है।] ॥५१-५२॥

Scanned by CamScanner

जलाग्निकीटैरस्पृष्टं देशकालगुणान्वितम् ।।५३।।
ईषन्मात्राधिकैर्युक्तं तुल्यवीर्यैः सुभावितम् । स्नेहस्वेदोपपन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजम् ।।५४।।
किंचिदेभिर्गुणैर्हीनं पूर्वोक्तैर्मात्रया तथा । स्निग्धस्विन्नस्य वा सम्यङ्मध्यं भवति भेषजम् ।।५५।।
मन्दवीर्यं विरूक्षस्य हीनमात्रं तु भेषजम् । अतुल्यवीर्यैः संयुक्तं मृदु स्यान्मन्दवेगवत् ।।५६।।

वमन-विरेचक द्रव्यों की तीक्ष्णता में हेतु– जो द्रव्य जल, अग्नि एवं कीटों द्वारा स्पर्श न किया गया हो, अर्थात् द्रव्य के गुण जल, अग्नि एवं कीटों द्वारा नष्ट न किया गया हो, द्रव्य अपने निर्धारित स्थान (क्षेत्र) अथवा काल (उपयुक्त काल) में उत्पन्न हो, गुणयुक्त हो, अपनी सामान्य मात्रा से अल्प मात्रा अधिक हो जाने पर, मात्रा में प्रयोग करने पर भी अधिक कार्य करती हो, तुल्य वीर्य वाले द्रव्यों के स्वरस अथवा क्वाथ से अच्छी प्रकार भावित होने पर, इस प्रकार की औषधि स्नेहन-स्वेदन के बाद प्रयोग करने पर अपने तीक्ष्ण गुणों को दर्शाती है।

वमन-विरेचक द्रव्यों के मध्यम गुण में हेतु– पूर्व निर्दिष्ट गुणों से कुछ अल्प गुणों का होना, अर्थात् औषधि का कुछ भाग जल, अग्नि तथा कीटों द्वारा विकृत हो, औषधि मध्यम देश तथा मध्यम काल में उत्पन्न हो, पूर्ण गुणयुक्त न हो, पूर्व निर्दिष्ट मात्रा में प्रयुक्त होने पर भी गुणों में कुछ कम हो, अर्थात् उतना कार्य न करती हो, सम्यक् स्निग्ध एवं स्विन्न (स्वेदित) पुरुष में प्रयोग कराने पर मध्यम रूप से वमन-विरेचन होता है।

वमन-विरेचक द्रव्यों के मृदु गुण में हेतु– जो औषधि मन्द वीर्य युक्त हो, रूक्ष पुरुषों में प्रयुक्त हो, अल्प मात्रा में दी गयी हो, योग में अतुल्य (असमान) वीर्य वाले द्रव्य मिले हों, मन्द वेग से दोषों का निर्हरण करती हो; ऐसी औषधि मृदु कही जाती है।

चक्रपाणि– 'जलाग्नीत्यादि' के द्वारा औषधि की तीक्ष्णता के हेतु को स्पष्ट किया गया है, अर्थात् किन कारणों द्वारा औषधि तीक्ष्ण गुण युक्त हो जाती है, यह स्पष्ट किया गया है।

देशकालगुणान्वितमिति– अपने अनुकूल देश (स्थान, आतुर शरीर) एवं काल को प्राप्त करके औषधियाँ उत्कृष्ट गुणयुक्त हो जाती हैं। (काल से यहाँ उचित संग्रहण काल का ग्रहण करना चाहिए)। **स्नेहस्वेदोपपन्नस्येति सुस्निग्धस्विन्नस्य–** जिस रोगी का भलीभाँति स्नेहन व स्वेदन किया गया हो, औषध देने पर वह अपने तीक्ष्ण गुण को दर्शाती है।

'किंचिदित्यादि' के द्वारा वमनादि द्रव्यों के मध्यम गुण को दर्शाया गया है।

एभिर्गुणैरित्यनेन क्षिप्रत्वादि जलाग्निकीटास्पृष्टत्वादि च प्रत्यवमृष्यते– पूर्वोक्त गुणों से कुछ हीन होना, जल, अग्नि तथा कीट का स्पर्श शीघ्रता पूर्वक न होना, यह अर्थ लिया गया है।

'मन्दवीर्यमित्यादि' के द्वारा मृदु द्रव्यों के लक्षण एवं हेतुओं को बताया गया है। **'मन्दवेगवदिति'** से मृदु द्रव्यों (वमन-विरेचन द्रव्यों) के लक्षण तथा शेष से कारण को बताया गया है। ।।५३-५६।।

विशेष (Comments)– औषधि की तीक्ष्णता में निम्नलिखित कारण हैं– १. औषधि का गुण जल, अग्नि तथा कीटों द्वारा नष्ट न किया गया हो, अर्थात् औषधि इनके दुष्प्रभाव से रहित हो। २. औषधि उचित देश एवं काल में उत्पन्न हो, गुणयुक्त हो। ३. अपनी सामान्य मात्रा से थोड़ी अधिक मात्रा में प्रयुक्त हो। ४. तुल्य वीर्य वाली औषधियों से भावित हो। ५. सम्यक् स्निग्ध एवं स्विन्न पुरुष में प्रयुक्त हो।

अकृत्स्नदोषहरणादशुद्धी ते बलीयसाम् । मध्यावरबलानां तु प्रयोज्ये सिद्धिमिच्छता ।।५७।।

निर्दिष्ट संशोधनों का प्रयोग– दोषों का पूर्णतः निर्हरण न करने के कारण मध्यम तथा मृदु संशोधन द्रव्य बलवान् व्यक्तियों (क्रूर कोष्ठ वाले व्यक्तियों) के लिए अशुद्ध रूप ही हैं, अर्थात् संशोधन कार्य नहीं कर पाते। अतः इन द्रव्यों का प्रयोग मध्यम तथा अवर बल वाले रोगियों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अकृत्स्नेत्यादि' के द्वारा तीक्ष्णादि संशोधन द्रव्यों के प्रयोग को बताया गया है। यदि बलवान् पुरुषों में मध्यम एवं अल्प (मृदु) संशोधन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तब उनके शरीर से दोषों का पूर्णतः निर्हरण नहीं हो पाता, अर्थात् उनका सम्यक् शोधन नहीं हो पाता, अतः वे शुद्ध नहीं हो पाते।

अकृत्स्नदोषहरणादिति– पूर्णतः दोषों का निर्हरण न होने से, हेतु के कथन से जब बलवान पुरुष अल्प दोष युक्त रहता है तब मध्यम या मृदु संशोधन औषधियों के प्रयोग से उसके सम्पूर्ण दोषों का निर्हरण हो जाता है, फलतः रोगी मध्यम अथवा अल्प रूप में शुद्ध हो जाता है। यह शुद्धि सम्यक् शुद्धि ही होती है, ऐसा समझना चाहिए।

Scanned by CamScanner

'मध्येत्यादि' से मध्य बल वाले पुरुषों में मध्यम संशोधन तथा अवर बल वाले पुरुषों में मृदु संशोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए, यह बताया गया है।

तत्र प्रयोज्यभाषया असम्यक्शुद्धी अपि बलापेक्षया कर्तव्ये– बलवान पुरुषों (क्रूर कोष्ठ वाले पुरुषों) में मृदु तथा मध्य संशोधन द्रव्यों के प्रयोग से दोषों का सम्यक् निर्हरण नहीं हो पाता, जबकि इन्हीं द्रव्यों से मध्य एवं अवर (मृदु) कोष्ठ वाले पुरुष सम्यक् शुद्ध हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है। ॥५७॥

तीक्ष्णो मध्यो मृदुर्व्याधिः सर्वमध्याल्पलक्षणः । तीक्ष्णादीनि बलावेक्षी भेषजान्येषु योजयेत् ॥५८॥

जिस रोगी में व्याधि के सभी लक्षण मिलते हों, अर्थात् अधिकांश लक्षण मिलते हों, अथवा मध्यम लक्षण मिलते हों अथवा अल्प लक्षण मिलते हों, ऐसी व्याधियों को क्रमशः तीक्ष्ण, मध्य व मृदु कहा जाता है। ऐसे रोगियों में बलादि का विचार करके चिकित्सक को क्रमशः तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु औषधियों की योजना करनी चाहिए।

चक्रपाणि– व्याधि की तीक्ष्ण, मध्य एवं मृदु विभाग के आधार पर औषधियों की तीक्ष्णत्व आदि के विधान को – 'तीक्ष्णोमध्य इत्यादि' के द्वारा यहाँ स्पष्ट किया गया है।

सर्वमध्याल्पलक्षण इति– व्याधि के सभी लक्षणों का मिलना – (तीक्ष्ण व्याधि), मध्य लक्षणों का मिलना, अर्थात् कुछ कम लक्षणों का मिलना (मध्यम व्याधि) तथा अल्प लक्षणों का मिलना मृदु व्याधि का द्योतक है। रोगी के बल का विचार करते हुए औषधियों (तीक्ष्णादि संशोधन द्रव्यों) की योजना करनी चाहिए। यदि व्याधि तीक्ष्ण है तथा रोगी बलवान् है तब ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण संशोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। यही विचार मध्य एवं मृदु संशोधन द्रव्यों के भी सम्बन्ध में रखना चाहिए, अर्थात् व्याधि मध्यम हो एवं आतुर का बल मध्यम हो तब मध्य संशोधन तथा व्याधि मृदु हो व रोगी दुर्बल हो तब मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग करना चाहिए। ॥५८॥

देयं त्वनिर्हृते पूर्वं पीते पश्चात् पुनः पुनः । भेषजं वमनार्थीयं प्राय आपित्तदर्शनात् ॥५९॥

वमन के अयोग में कर्तव्य– वमन हेतु रोगी को वामक औषधि पिलायी गयी हो, लेकिन दोषों का समुचित निर्हरण न हुआ हो, ऐसी अवस्था में आतुर को बार-बार वामक औषधि का सेवन कराना चाहिए, जब तक कि वमन में पित्त न आने लगे। पित्त आ जाने पर वमन प्रक्रिया रोक देनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'देयमित्यादि' के द्वारा वामक द्रव्यों के पीने के बाद दोषों के सम्यक् निर्हरण न होने पर क्या विशेष करणीय है, बताया गया है। वामक द्रव्यों के प्रयोग करने पर यदि दोष पूर्णतः नहीं निकले हों तब बार-बार वमन हेतु औषध का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् पुनः औषध देकर दोषों को निकालना चाहिए, अर्थात् वमन कराना चाहिए। **आपित्तदर्शनादिति–** वमन तब तक कराना चाहिए जब तक कि मुख से पित्त न निकलने लगे। पित्त निकलने पर सम्यक् वमन हो गया है, ऐसा समझना चाहिए अर्थात् अन्त में पित्त का निकलना सम्यक् वमन का द्योतक है। कहा भी गया है, यथा– "पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादधं" (सि.स्था.अ.१) इति [अन्त में पित्त का निकलना तथा निकलने वाले दोषों का मान विरेचन की मात्रा का आधा होना, वमन के सम्यक् योग में पाये जाते है। ॥५९॥

बलत्रैविध्यमालक्ष्य दोषाणामातुरस्य च । पुनः प्रदद्याद्भेषज्यं सर्वशो वा विवर्जयेत् ॥६०॥

त्रिविध बल का विचार– वातादि दोष तथा रोगी के त्रिविध बल (प्रवर, मध्यम एवं अवर) का सम्यक् विचार करके ही वमन एवं विरेचक औषधियों का फिर से प्रयोग करें अथवा पूर्णतः बन्द कर दें।

चक्रपाणि– बार-बार औषध प्रयोग के अपवाद रूप विषय तथा उचित विषय को यहाँ – 'बलेत्यादि' के द्वारा दर्शाया गया है। अर्थात् औषध का बार-बार प्रयोग करते समय आतुर के दोष एवं बल का अवश्य विचार करना चाहिए। **बलवति दोषे पुरुषेऽपि पुनः प्रयोज्यं भैषज्यं, हीनबले दोषे पुरुषे च सर्वशो वा भेषजं शोधनार्थं विवर्जयेत्, शोधनं न कुर्यादित्यर्थः–** बलवान दोष युक्त पुरुष (उल्वण दोष वाले पुरुष) में पुनः औषध का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् यदि रोगी बलवान हो तथा दोष अधिक प्रकुपित हों तब उसमें पुनः शोधन औषधि का प्रयोग करना चाहिए। यदि रोगी दुर्बल हो तथा दोषों का अल्प प्रकोप हो तब उसमें शोधन नहीं कराना चाहिए, अर्थात् रोगी शोधन के अयोग्य होता है।

वाशब्देन च मध्यमबले पुरुषे दोषे च न सर्वथा विवर्जनेन एकवारप्रयोगं शोधनस्य दर्शयति– 'वा' शब्द से यहाँ मध्यम बल तथा मध्यम दोष वाले पुरुष में शोधन औषधि का प्रयोग एक बार करने का निर्देश है, यह अर्थ लिया गया है। अर्थात् शोधन औषधि का यहाँ सर्वथा (पूर्णतः) निषेध नहीं है। ॥६०॥

निर्हृते वाऽपि जीर्णे वा दोषनिर्हरणे बुधः । भेषजेऽन्यत्प्रयुञ्जीत प्रार्थयन्सिद्धिमुत्तमाम् ॥६१॥

Scanned by CamScanner

दोष निर्हरण करने वाली औषधि (वमन कारक औषधि) के शरीर से निकल जाने पर अथवा औषधि के जीर्ण हो जाने पर उत्तम सफलता की इच्छा वाले चिकित्सक को पुनः अन्य संशोधन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि– निर्हृते इत्यादौ दोषनिर्हरणे इति– दोषों को निकालने वाली संशोधन औषधि, जो दोषनिर्हरण के प्रयोजन को सिद्ध करती है। **निर्हृते इति–** दोषों को निकाले बिना ही औषधि का निकल जाना, अर्थात् मात्र वामक औषधि का बाहर निकलना। **जीर्णेतिवमनार्थ** प्रयुक्त औषधि का जीर्ण हो (पच) जाना, यहाँ वमन को ही अधिकृत करके यह बात कही गयी है। अतः वमनार्थ औषध के पाककाल की प्रतीक्षा नहीं की जाती, क्योंकि वामक औषधि बिना पचे ही दोषों के साथ स्वयं भी बाहर निकल जाती है। इसका उल्लेख- 'अपक्वं वमनं' इत्यादि के द्वारा किया गया है।

जीर्णसदृशता च वमनस्य क्षोभाकर्तृतया पाकोन्मुखतया च ज्ञेया– औषध का जीर्ण हो जाना, अर्थात् ऐसा प्रतीत होना कि औषध का पाक हो गया है– यह स्थिति वमन के क्षोभ (मिचली आदि) के न होने तथा औषधि पाकोन्मुख (पाक की ओर प्रवृत्त) है, के कारण प्राप्त होती है।

अन्यत् प्रयुञ्जीतेति– दूसरी औषधि का प्रयोग, वमनार्थ प्रयुक्त औषधि पान के अनन्तर उचित काल में वमन न होने पर उसी दिन दिया जाना चाहिए। ॥६१॥

विशेष (Comments)– यदि वामक औषधि कोष्ठ से दोषों को बिना निकाले ही स्वयं बाहर निकल जाय, अथवा बिना वमन कराये ही स्वयं पच जाय तब उसी दिन अन्य वामक योग पिला करके वमन कराना चाहिए।

अपक्वं वमनं दोषं पच्यमानं विरेचनम् । निर्हरेद्वमनस्यातः पाकं न प्रतिपालयेत् ।।६२।।

वामक द्रव्य बिना पचे ही वमन के रूप में दोषों के साथ बाहर निकल जाते हैं तथा विरेचन द्रव्य पाक को प्राप्त होकर (पच कर) दोषों को बाहर निकालते हैं, अर्थात् विरेचक औषधि पाकोपरान्त विरेचन गुण दर्शाती है। अतः वामक औषधि पिलाने के बाद पाक की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

चक्रपाणि– पूर्व श्लोक में वमन प्रयोग में अयोग के प्रतिकार हेतु अन्य औषधियों के प्रयोग का निर्देश दिया गया है । वामक योगों के पाक काल (औषधि के पचने का काल) का इन्तजार (प्रतीक्षा) नहीं करनी चाहिए, इसे यहाँ सहेतुक – 'अपक्वमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥६२॥

विशेष (Comments)– रोगी को वामक औषधि पिलाने के बाद कुछ काल तक प्रतीक्षा करें, यदि वमन के वेग नहीं उत्पन्न होते हैं, तब ज्यादा समय न बिताकर अन्य उपायों द्वारा वेगों को प्रवृत्त करावें, औषधि के पचने का इन्तजार न करें।

विरेचन में **विरेचन प्रक्रिया** औषधि के पचने के साथ प्रारम्भ होती है। अतः इसमें औषधि के पचने की प्रतीक्षा करनी चाहिए, अर्थात् विरेचक औषधि सेवन के तत्काल बाद विरेचन नहीं होता, जब कि वमन औषधि सेवन के कुछ ही समय बाद प्रारम्भ हो जाता है।

पीते प्रस्रंसने दोषान्न निर्हृत्य जरां गते । वमिते चौषधे धीरः पाययेदौषधं पुनः ।।६३।।

विरेचन के अयोग में कर्तव्य– विरेचक औषधि दोषों को बिना निकाले ही पच जाय, अर्थात् औषधि पचने के बाद भी विरेचन न हो, अथवा वमन के रूप में औषधि बाहर निकल जाय, ऐसी स्थिति में चिकित्सक को अपना धैर्य न खोते हुए पुनः विरेचक औषधि का सेवन कराना चाहिए।

चक्रपाणि– वमन के आवश्यक कर्तव्य के अभिधान के बाद विरेचन के कर्तव्य को यहाँ 'प्रस्रंसने इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् विरेचन औषधि सेवन के बाद यदि विरेचन नहीं होता है तब चिकित्सक को क्या करना चाहिए, इसे समझाया गया है। **वमिते चौषधे इति–** विरेचन औषधि का वमन हो जाना, अर्थात् वमन के रूप में औषधि का बाहर निकल जाना अथवा बिना विरेचन कराये ही औषध का पच जाना। ऐसी अवस्था में उसी दिन रोगी को अन्य तीक्ष्ण औषधि सेवन कराकर विरेचन कराना चाहिए। ॥६३॥

दीप्ताग्निं बहुदोषं तु दृढस्नेहगुणं नरम् । दुःशुद्धं तदहर्भुक्तं श्वोभूते पाययेत् पुनः ।।६४।।
दुर्बलो बहुदोषश्च दोषपाकेन यो नरः । विरिच्यते शनैर्भोज्यैर्भूयस्तमनुसारयेत् ।।६५।।

स्वयं प्रवृत्त दोष में कर्तव्य– जिसकी अग्नि दीप्त हो, अथवा जिसमें दोष अत्यधिक बढ़े हुए हों तथा जिसका शरीर अत्यधिक स्निग्ध हो, जिसका पूर्णतः संशोधन न हुआ हो; ऐसे व्यक्तियों को यदि संशोधन कराना आवश्यक है तब उसे उसी दिन भोजन कराकर दूसरे दिन विरेचक औषधि का सेवन करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

यदि दुर्बल तथा अत्यधिक दोष युक्त रोगी में दोषों के पक्व हो जाने के कारण स्वतः मल (दोष) निकल रहा हो ऐसी अवस्था में रोगी को मल निस्सारक आहार का सेवन कराकर धीरे-धीरे दोषों को बाहर निकालना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दीप्ताग्निमित्यादि' के द्वारा कैसे या किस प्रकार के व्यक्तियों में विरेचन द्वारा धीरे-धीरे दोषों का निर्हरण करना चाहिए, बताया गया है।

'दृढ़स्नेहगुणमिति' – शरीर का स्नेह गुणों से युक्त होना, अर्थात् सम्यक् स्निग्ध रोगी। जिसका शरीर सम्यक् स्नेहित नहीं है उसे विरेचक औषधि नहीं देनी चाहिए। सबसे पहले उसका सम्यक् स्नेहन (बाह्य एवं आभ्यन्तर स्नेहन) कराना चाहिए। जो रोगी सम्यक् स्निग्ध नहीं है, उसे पुनः विरेचक औषधि देने पर विरेचन का अयोग ही होगा, अर्थात् सम्यक् विरेचन नहीं होगा। **दुःशुद्धमिति अयोगेनाविशुद्धम्** – विरेचन का अयोग होना।

श्वो भूते = दूसरे दिन, विरेचक औषधि देकर पुनः विरेचन कराना। अथवा 'श्वोभूते' के स्थान पर 'श्वो भूयः' पाठ होने पर– दूसरे दिन अधिक मात्रा में, अथवा तीक्ष्ण औषधि को खिलाकर विरेचन के सम्यक् गुणों को प्राप्त करना, अर्थ होगा।

दोषपाकेनेति पक्वदोषेऽविबद्धत्वाद्बहुत्वाच्च शनैर्विरिच्यते– दोष पक्व हो जाने पर स्रोतस् अथवा कोष्ठ में नहीं चिपकते, 'बहुत्वाच्च' से पक्व दोषों का अत्यधिक वृद्ध होना अर्थ लिया गया है, अर्थात् यदि दोष स्रोतस् में चिपके न हों तथा मात्रा में अधिक हों तब ऐसी अवस्था में धीरे-धीरे उनको शरीर से बाहर निकालना चाहिए।

भोज्यैरिति– वातानुलोमक आहार द्रव्यों के प्रयोग द्वारा।

अत्र च प्रवृत्तदोषेऽतियोगभयान्न पुनर्विरेचनप्रयोगमनुजानीते– स्वतः प्रवृत्त दोषों की अवस्था में अतियोग के भय से पुनः विरेचन के प्रयोग का विधान नहीं किया गया है। ऐसी अवस्था में वातानुलोमक एवं मल निस्सारक आहार द्रव्यों को खिलाकर धीरे-धीरे दोषों को बाहर निकालना चाहिए। ॥६४-६५॥

वमनैश्च विरेकैश्च विशुद्धस्याप्रमाणतः । भोजनान्तरपानाभ्यां दोषशेषं शमं नयेत् ॥६६॥

शेष दोष के प्रशमन के उपाय– वामक एवं विरेचक औषधियों के प्रयोग करने पर भी जिसका शरीर पूर्णतः शुद्ध नहीं हुआ है, अर्थात् दोष पूर्णतः नहीं निकल पाये हों। ऐसे रोगियों में भोजन (वातानुलोमक आहार) एवं अन्तरपान (कषायपान = क्वाथ का पान) कराकर शेष दोषों का प्रशमन करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'वमनैश्चेत्यादि' के द्वारा वमन-विरेचन द्वारा शरीर से कुछ दोष न निकल पाने की स्थिति में (शरीर में कुछ दोष अवशेष बचने की अवस्था में) क्या प्रतिकार करना चाहिए, उसे स्पष्ट किया गया है। यहाँ वमन व विरेचन शब्द बहुवचन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय वमन एवं विरेचन के अनेक वेगों से है। अर्थात् वमन या विरेचन के कई वेग आने पर भी कुछ दोष शरीर में शेष रह गये हों। **अप्रमाणत इति–** शरीर का दोष रहित न होना अर्थात् अल्प मात्रा में दोषों का बने रहना। दोष शब्द यहाँ विकृत दोष के अर्थ में प्रयुक्त है, क्योंकि उसी का निर्हरण वमन या विरेचन द्वारा करने का विधान है। भोजन से यहाँ **पाचन यवागू** आदि का ग्रहण किया गया है। अन्तरपान = कषायपान (दोष नाशक औषधियों के क्वाथ का पान) ।

जो लोग 'अप्रमाणतः' के स्थान पर 'प्रमाणतः' का पाठ करते हैं उनके अनुसार वमन-विरेचन द्वारा सम्यक् शुद्धि हो जाने पर भी कोष्ठोपलेपक दोष (कोष्ठ में चिपके हुए दोष) के प्रशमन हेतु दोषनाशक (वमन से कफ दोषनाशक तथा विरेचन में पित्तनाशक) भोजन एवं कषायपान के प्रयोग का निर्देश दिया गया है, यह व्याख्या करनी चाहिए। ॥६६॥

दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम् । अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेतौषधं मृदु ॥६७॥

मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग– जो व्यक्ति दुर्बल हो, अथवा जिसका पूर्व में संशोधन कराया गया हो, अथवा जिसमें दोष अल्प रूप में प्रकुपित हों अथवा जिसका कोष्ठ ज्ञात न हो; ऐसे रोगियों में मृदु संशोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दुर्बलमित्यादि' के द्वारा मृदु संशोधन औषधि के प्रयोग को बताया गया है। **शोधितं पूर्वमिति–** पूर्व में जिस पुरुष का शोधन किया जा चुका है, उसका शरीर दुर्बल होने के कारण उसमें मृदु औषधि का प्रयोग करना चाहिए,क्योंकि तीक्ष्ण द्रव्यों के प्रयोग से बलभ्रंश (बल का अत्यधिक क्षय) तथा अतियोग की संभावना रहती है। ॥६७॥

श्रेयो मृद्वसकृत्पीतमल्पबाधं निरत्ययम् । न चातितीक्ष्णं यत् क्षिप्रं जनयेत्प्राणसंशयम् ॥६८॥

बार-बार मृदु संशोधन (विरेचक) योग का सेवन करने से कोई हानि नहीं होती अथवा अल्प हानि होती है। अतः मृदु संशोधन योगों

Scanned by CamScanner

का सेवन करना उत्तम माना गया है। यह औषधि अति तीक्ष्ण नहीं होती। तीक्ष्ण संशोधन योग (तीक्ष्ण विरेचक योग) के सेवन से तीव्र विरेचन होता है, जिससे रोगी के प्राणों में संदेह उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् अत्यधिक विरेचन हो जाने के कारण मृत्यु की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

चक्रपाणि– 'श्रेय इत्यादि' के द्वारा मृदु संशोधन द्रव्यों के प्रयोग के हेतु को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् मृदु विरेचक या वामक द्रव्यों का प्रयोग क्यों करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया गया है।

असकृत्पीतमिति असकृत्पीतमल्पबाधं भवतीत्यर्थः– बार-बार मृदु संशोधन द्रव्यों के सेवन से अल्प बाधा उत्पन्न होती है, अर्थात् अल्प हानि की संभावना रहती है। **श्रेय इति–** मृदु योगों का प्रयोग करना तीक्ष्ण योगों की तुलना में श्रेयस्कर है। तीक्ष्ण संशोधन योगों के प्रयोग से अत्यधिक हानि की संभावना रहती है। अतः इसके द्वारा होने वाली व्यापत्तियों (उपद्रवों) का विचार करते हुए मृदु संशोधन द्रव्यों का ही प्रयोग करना चाहिए।

न चाति तीक्ष्णमिति– दुर्बल, पूर्वशोधित, अल्प दोष युक्त अथवा जिसके कोष्ठ का ज्ञान न हो (मृदु, मध्य अथवा क्रूर कोष्ठ में से किस कोष्ठ वाला रोगी है, यह ज्ञात न हो); इस प्रकार के पुरुषों में अतितीक्ष्ण औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि इनमें अतितीक्ष्ण औषधि का प्रयोग करते हैं तब दोषादि का अत्यधिक क्षय हो जाने के कारण शीघ्र प्राणों का संकट उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् दोष-धातुओं के अत्यधिक क्षय से रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। ॥६८॥

दुर्बलोऽपि महादोषो विरेच्यो बहुशोऽल्पशः । मृदुभिर्भेषजैर्दोषा हन्युर्ह्येनमनिर्हृताः ॥६९॥

यदि रोगी दुर्बल हो एवं उसके शरीर में दोष अत्यधिक बढ़े हों। ऐसी अवस्था में मृदु विरेचक औषधियों के प्रयोग से दोषों को थोड़ा-थोड़ा करके कई बार में निकाल देना चाहिए। अर्थात् बार-बार मृदु विरेचन द्रव्यों को खिलाकर अल्प-अल्प मात्रा में दोषों को निकाल देना चाहिए, क्योंकि अनिर्हरित दोष (न निकले हुए दोष) रोगी को नष्ट कर देते हैं। अर्थात् न निकाले गये दोष शरीर में रहते हुए विभिन्न व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

चक्रपाणि– 'दुर्बलोऽपीत्यादि' के द्वारा दुर्बल एवं बहुदोष युक्त रोगी में क्या करना चाहिए, यह बताया गया है। अर्थात् यदि दुर्बल रोगी में दोष अत्यधिक बढ़े हुए हैं तब चिकित्सक को क्या करना चाहिए? इसे स्पष्ट किया गया है।

बहुशो अल्पश इति– बार-बार अल्प मात्रा में, बार-बार मृदु विरेचक द्रव्यों का सेवन कराकर अल्प-अल्प मात्रा में दोषों को शरीर से निकाल दें। ऐसा क्यों करना चाहिए, इसके हेतु को यहाँ– 'दोषा हन्युर्ह्येनमनिर्हृता इति' के द्वारा बताया गया है। अर्थात् अनिर्हरित दोष आतुर को मार डालते हैं, यह अभिप्राय है।

यस्योर्ध्वं कफसंसृष्टं पीतं यात्यानुलोमिकम् । वमितं कवलैः शुद्धं लङ्घितं पाययेत्तु तम् ॥७०॥
विबद्धेऽल्पे चिराद्दोषे स्रवत्युष्णं पिबेज्जलम् । तेनाध्मानं तृषा च्छर्दिर्विबन्धश्चैव शाम्यति ॥७१॥
भेषजं दोषरुद्धं चेन्नोर्ध्वं नाधः प्रवर्तते । सोद्गारं साङ्गशूलं च स्वेदं तत्रावचारयेत् ॥७२॥

यदि विरेचक द्रव्य कफ के साथ मिलकर वमन के रूप में बाहर आ गया हो तब उस रोगी को सम्यक् वमन करावें, पश्चात् कवल द्वारा मुख की शुद्धि कराकर लंघन करावें, अर्थात् ऊर्ध्वगत दोषों को प्रशमित करके पुनः विरेचन द्रव्यों से विरेचन करावें।

यदि दोष पक्वाशय में रुके हुए हों तथा अल्प-अल्प मात्रा में देरी से निकल रहे हों। ऐसी स्थिति में आतुर को उष्ण जल पिलाना चाहिए। इसके प्रयोग से आध्मान (Flatulence), तृषा (morbid thirst), छर्दि (vomiting), एवं विबन्ध (Constipation) का प्रशमन हो जाता है।

यदि रोगी को विरेचन द्रव्यों का सेवन कराया गया हो– औषधि दोषों द्वारा अवरुद्ध होकर ऊर्ध्व या अधः मार्ग द्वारा बाहर नहीं निकल रही हो, रोगी को बार-बार उद्गार (डकार) आ रहे हों, सम्पूर्ण शरीर में दर्द हो रहा हो; ऐसी स्थिति में रोगी के उदर व आमाशय प्रदेश पर स्वेदन करना चाहिए।

चक्रपाणि– यदि आमाशय में कफ की वृद्धि हो, ऐसी अवस्था में प्रयुक्त विरेचक औषधि आमाशयस्थ कफ के साथ मिलकर विरेचन न कराकर वमन के रूप में बाहर निकल जाती है। ऐसे रोगी को सम्यक् वमन कराकर, कवल आदि के प्रयोग से मुख को शुद्ध कर लें, अर्थात् ऊर्ध्व प्रदेश को लघु बनाकर पुनः विरेचन औषधि का सेवन करावें।

कवलैः शुद्धमिति– कवल द्वारा मुख व कण्ठ को शुद्ध करके। तेनेति– उष्ण जल के पीने से आध्मान (Flatulence), तृष्णा, छर्दि एवं विबन्ध जैसी व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं। ॥७०-७२॥

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)– जिस आतुर के आमाशय में कफ की वृद्धि हो अथवा कफज प्रकृति वाले रोगी में बिना वमन कराये विरेचक औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से आमाशयस्थ श्लेष्मा ग्रहणी को आच्छादित कर लेती है। कहा भी गया है, यथा– "अवान्तस्य हि सम्यक् विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं छादयति, गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति ।।" (सु.चि.अ. ३३/१९) इति।

सुविरिक्ते तु सोद्गारमाश्वेवौषधमुल्लिखेत् । अतिप्रवर्तनं जीर्णे सुशीतैः स्तम्भयेद्भिषक् ।।७३।।

अतियोग के आशङ्का में कर्तव्य– यदि रोगी का सम्यक् विरेचन हो गया हो, लेकिन उसे बार-बार डकारें आ रही हों। इस स्थिति में औषध को वमन द्वारा शीघ्र ही बाहर निकालना चाहिए। औषधि के पच जाने पर यदि विरेचन अधिक हो रहा हो तब शीतल उपचार द्वारा स्तम्भन कराना चाहिए, अर्थात् विरेचन के वेगों को रोकना चाहिए। [स्तम्भन चिकित्सा के प्रयोग द्वारा विरेचन के वेगों को रोंके।]

चक्रपाणि– 'सुविरिक्ते इत्यादि' के द्वारा विरेचन के अतियोग की संभावना में चिकित्सक को क्या करना चाहिए, इसे स्पष्ट किया गया है। सुविरिक्ते इति– दोषों के सम्यक् प्रमाण में निकल जाने पर, अर्थात् मानिकी शुद्धि होने पर, विरेचन में दोषों का प्रवर, मध्यम एवं अवर शुद्धि के अनुसार निर्धारित प्रमाण में निकलना मानिकी शुद्धि कहा जाता है, शास्त्र के अनुसार यह मान – २ प्रस्थ (अवर शुद्धि), ३ प्रस्थ (मध्यम शुद्धि) तथा ४ प्रस्थ (प्रवर शुद्धि) के लिए निर्धारित है।

सोद्गारमिति उद्गारेण पच्यमानावस्थाऽभिहिता– औषध की पच्यमान अवस्था (औषध पाक की अवस्था, इस अवस्था में औषधि कुछ पक्व एवं कुछ अपक्व दोनों ही रूप में रहती है।) में उद्गार आदि लक्षण मिलते हैं। इस प्रकार सम्यक् मानिकी शुद्धि के बाद भी यदि औषधि शरीर में विद्यमान है, अथवा रहती है तब उसे उसी दिन वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए, अन्यथा वह अतियोग के लक्षणों को उत्पन्न करेगी। ।।७३।।

तस्याप्यौषधैकदेशस्यापच्यमानतायां विरेचनातियोगः स्यादिति दर्शयति– उस औषध (विरेचक औषध) का कुछ भाग अपक्व होने के कारण विरेचन के अतियोग की सम्भावना रहती है, इसलिए उसे उसी दिन वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए।

कदाचिच्छ्लेष्मणा रुद्धं तिष्ठत्युरसि भेषजम् । क्षीणे श्लेष्मणि सायाह्ने रात्रौ वा तत्प्रवर्तते ।।७४।।

कभी-कभी कफ की उल्बणता (अधिकता) के कारण विरेचक औषधि उरः प्रदेश (ऊर्ध्व आमाशय) में ही रुक जाती है। सायंकाल (२ बजे से ४ बजे) अथवा रात्रिकाल (कफकाल के बाद के समय) में कफ के क्षय होने पर वही औषधि विरेचन कार्य करने लगती है,अर्थात् विरेचन होने लगता है।

चक्रपाणि– 'कदाचिदिति' के द्वारा विरेचक औषधि के न कार्य करने में क्या कारण है, स्पष्ट किया गया है। अर्थात् औषधि सेवन के बाद भी विरेचन के न होने में जो कारण हैं, उसे बताया गया है। यद्यपि यहाँ इस अवस्था में चिकित्सक को क्या करना चाहिए, यह नहीं बताया गया है, फिर भी कफ के द्वारा औषधि की रुकावट को गौरव (शरीर में भारीपन) आदि लक्षणों के द्वारा जानकर रात्रिपर्यन्त (रात्रि भर) औषध के अयोग की उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् विरेचन औषध देने के बाद रात भर इन्तजार करना चाहिए।

प्रवर्तते इति दोषसहितं भेषजं प्रवर्तते– कफकाल के व्यतीत हो जाने पर वही औषधि दोषों के साथ स्वयं बाहर निकल जाती है। ।।७४।।

रूक्षानाहारयोर्जीर्णे विष्टभ्योर्ध्वं गतेऽपि वा । वायुना भेषजे त्वन्यत् सस्नेहलवणं पिबेत् ।।७५।।

रूक्ष शरीर वाले व उपवास अधिक करने वाले रोगी में विरेचक औषधि के पच जाने पर अथवा वायु द्वारा अवरुद्ध होकर औषध के ऊर्ध्व भाग (ऊर्ध्व आमाशय) में स्थित हो जाने पर दूसरी विरेचक औषधियों का प्रयोग स्नेह व लवण के साथ करना चाहिए। अर्थात् स्नेह व लवण मिलाकर दूसरी विरेचक औषधि का सेवन कराकर रोगी के दोषों को निकालना चाहिए।

चक्रपाणि– रूक्षेत्यादावयोगाज्जीर्णे विष्टभ्य ऊर्ध्वं गते वा भेषजे अन्यद्विरेचनं सस्नेहलवणं दातव्यम्– रूक्ष शरीर वाले अथवा वात प्रकृति वाले तथा जो अत्यधिक उपवास रखते हैं ऐसे व्यक्तियों में प्रयुक्त विरेचक औषधि यदि पच जाय अथवा वायु के द्वारा विष्टंभित होकर ऊर्ध्व आमाशय में ही रुक जाय। इस अवस्था में अन्य विरेचक औषधियों के साथ घृत (स्नेह) व सैन्धव लवण मिलाकर आतुर को पिलाना चाहिए। ।।७५।।

तृष्मोहभ्रममूर्च्छायाः स्युश्चेज्जीर्यति भेषजे । पित्तघ्नं स्वादु शीतं च भेषजं तत्र शस्यते ।।७६।।

पित्तावृत भेषज के लक्षण एवं चिकित्सा– यदि औषध के पाक काल में तृष्णा (प्यास का लगना), मोह (Unconsciousness), भ्रम (सिर का घूमना = Giddiness), मूर्च्छा (Fainting) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाय तब रोगी को पित्त नाशक मधुर व शीत गुण युक्त औषध का प्रयोग कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'तृण्मोहेत्यादि' के द्वारा पित्तावृत औषध के लक्षण एवं चिकित्सा का वर्णन किया गया है। औषध के **पाककाल** में तृष्णा आदि लक्षण मिलते हैं। ॥७६॥

लालाहृल्लासविष्टम्भलोमहर्षाः कफावृते । भेषजं तत्र तीक्ष्णोष्णं कट्वादि कफनुद्धितम् ।।७७।।

कफावृत भेषज के लक्षण एवं चिकित्सा– यदि रोगी में लालास्राव (Salivation - मुख से लार का निकलना), हृल्लास (मिचली का आना– Nausea), विष्टब्धता (Intestinal stasis) एवं रोमहर्ष (Horripilation) लक्षण मिलने पर औषधि कफ द्वारा आवृत हो गयी है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसी अवस्था में तीक्ष्ण, उष्ण एवं कट्वादि रस युक्त कफनाशक औषधियों का प्रयोग करना विशेष हितावह होता है।

चक्रपाणि– 'लालेत्यादि' के द्वारा कफावृत औषध के लक्षण एवं चिकित्सा को बताया गया है। ॥७७॥

सुस्निग्धं क्रूरकोष्ठं च लङ्घयेदविरेचितम् । तेनास्य स्नेहजः श्लेष्मा सङ्घश्चैवोपशाम्यति ।।७८।।

लङ्घन का प्रयोग– अच्छी प्रकार से स्निग्ध तथा क्रूर कोष्ठ वाले रोगी में यदि सम्यक् विरेचन नहीं होता है अथवा अल्प विरेचन होता है तब उसे लङ्घन कराना चाहिए। ऐसा करने से स्नेह के प्रयोग से वृद्ध कफ दोष एवं कफ की अवरुद्धता दोनों ही शान्त हो जाती है।

चक्रपाणि– अविरेचितमिति ईषद्विरेचितम्– अल्प विरेचित दोषों का अल्प रूप में अधोमार्ग द्वारा बाहर निकलना।

स्नेहज इति स्नेहप्रयोगजनितः श्लेष्मा– स्नेह के सेवन से उत्पन्न कफ, स्नेहन द्वारा कफ की वृद्धि होती है। सङ्घः– दोषों का अवरुद्ध होना। इस प्रकार लङ्घन के द्वारा अथवा उपवास करने से दोषों का पाक हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप अत्यन्त वृद्ध कफ एवं दोषावरोध का प्रशमन हो जाता है। ॥७८॥

रूक्ष-बद्धनिल-क्रूरकोष्ठ-व्यायामशालिनाम् । दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति ।।७९।।
तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद्द्याद्विरेचनम् । बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम् ।।८०।।

बस्ति देने के बाद विरेचक औषधि का प्रयोग– रूक्ष शरीर वाले, वात प्रधान, क्रूर कोष्ठ वाले, नित्य व्यायाम करने वाले, प्रदीप्त अग्नि वाले व्यक्तियों को विरेचक औषधि देने पर बिना अपना प्रभाव दर्शाये ही औषधि पच जाती है, अर्थात् विरेचन नहीं होता । ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम अनुवासन बस्ति के प्रयोग द्वारा वात को प्रशमित करें। इसके बाद विरेचक औषधि का प्रयोग करें। बस्ति द्वारा चलायमान दोष को विरेचक औषधि शीघ्र ही बाहर निकाल देती है।

चक्रपाणि– 'रूक्षेत्यादि' के द्वारा रूक्षादि कोष्ठ वाले व्यक्तियों में विरेचन प्रयोग के विशेष क्रम को सहेतुक स्पष्ट किया गया है। 'बस्तिं पुरा दत्त्वा' इति से यहाँ 'बस्ति' शब्द से स्नेहबस्ति (स्नेह की बस्ति – अनुवासन बस्ति) का ग्रहण किया गया है। निरूहबस्ति वातप्रकोपक होने से तथा निरूह के पश्चात् विरेचन का निषेध होने से यहाँ इसके प्रयोग का विधान नहीं है। कहा भी गया है, यथा– ''निरूहदानात् पवनाद्भयं स्यात्'' (सि.अ.१) [निरूह के प्रयोग से वात के प्रकोप का भय रहता है।] तथा ''नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम् । शुद्धो निरूहेन विरेचनं तु'' (सि.अ.१) [विरेचन के पश्चात् निरूहबस्ति का प्रयोग तथा निरूहबस्ति के बाद विरेचक औषधि का प्रयोग निश्चित रूप से सात दिन तक नहीं करना चाहिए।]

यद्यपि बस्ति शब्द से निरूह एवं स्नेह बस्ति दोनों का ही ग्रहण होता है।

निरूहस्य यद्वातकर्तृत्वमुक्तं तदेकस्यैव स्नेहबस्तिरहितस्याभ्यासात्– निरूह के वातकर्तृत्व का जो कथन यहाँ किया गया है वह स्नेह बस्ति के बिना प्रयोग के निरूह के देने से होता है। सामान्यतया बस्ति को वातनाशन में श्रेष्ठ कहा गया है, यथा– ''बस्तिर्वातहराणां'' (सू.अ.२५) इति। निरूह बस्ति देने के बाद सामान्यतः विरेचन का निषेध किया गया है, लेकिन यह सूत्र विशेषतः अपवाद रूप में ही प्रयुक्त हुआ है अथवा बस्ति देने के बाद जो विरेचन का यहाँ विधान किया गया है, उसे सात दिन के बाद ही देना चाहिए। इससे यहाँ पूर्व सूत्र का कोई विरोध नहीं है।

प्रवर्तितमिति प्रवृत्त्युन्मुखीकृतम्– दोषों का बाहर निकलने के लिए उद्यत होना। ॥७९-८०॥

रूक्षाशनाः कर्मनित्या ये नरा दीप्तपावकाः । तेषां दोषाः क्षयं यान्ति कर्मवातातपाग्निभिः ।।८१।।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णदोषानपि सहन्ति ते । स्नेह्यास्ते मारुताद्रक्ष्या नाव्याधौ तान् विशोधयेत् ।।८२।।

स्नेहन के योग्य पुरुष– जो व्यक्ति नित्य रूक्ष आहार का सेवन करते हैं, जो नित्य परिश्रम करते हैं, जिनकी जाठराग्नि प्रदीप्त हो ऐसे पुरुषों में व्यायाम आदि कर्म करने से, आतप व अग्नि आदि के द्वारा दोषों का अत्यधिक क्षय हो जाता है। वे लोग विरुद्ध आहार, अध्यशन एव अजीर्ण से उत्पन्न होने वाली व्याधियों के वेग को सह लेते हैं। ऐसे पुरुषों में स्नेहन कराना चाहिए एवं वात प्रकोप से उनकी रक्षा करनी चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में बिना रोग हुए संशोधन औषधियों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'रूक्षाशना इत्यादि' के द्वारा स्नेहन के योग्य होते हुए भी बिना व्याधि के पुरुषों में शोधन नहीं कराना चाहिए, बताया गया है।

कर्मनित्या इति नित्यं व्यायामादिकर्मकराः– नित्य व्यायाम आदि कर्मों को करने वाले। विरोधी भोजन, अध्यशन एवं अजीर्ण से उत्पन्न दोष रूप व्याधियों को नित्य कर्मादि करने वाले पुरुष सह लेते हैं, न कि इनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों को सहने में सक्षम होते हैं। [अतः यहाँ अलसक, विसूचिका आदि का ग्रहण नहीं किया गया है।] विरुद्ध आहार, अध्यशन आदि दोषवर्धक होने से दोष शब्द से ही कहे गये हैं। **नाव्याधौ इति अविद्यमानसंशोधनैकसाध्ये व्याधौ न तान् विशोधयेत् इति–** संशोधन द्वारा साध्य व्याधि के न होने पर संशोधन औषधियों का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। अर्थात् उन्हीं व्यक्तियों में संशोधन कराना चाहिए, जो उसके योग्य हों। अन्य स्थानों पर भी यही बात कही गयी है, यथा– "अनीरितानां दोषाणामीरणं न प्रशस्यते । उपर्युपरि सक्तानामश्मनामिव ताडनम्" [जिस प्रकार मजबूती से जकड़े हुए पत्थर को पीटने पर उसके ऊपर का ही भाग टूट जाता है, अर्थात् पत्थर नहीं निकलता उसी प्रकार अनुत्क्लेशित दोषों को बाहर निकालना हितकर नहीं होता।] ॥८१-८२॥

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम् । स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ॥८३॥
एवं ज्ञात्वा विधिं धीरो देशकालप्रमाणवित् । विरेचनं विरेच्येभ्यः प्रयच्छन्नापराध्यति ॥८४॥
विभ्रंशो विषवद्यस्य सम्यग्योगो यथाऽमृतम् । कालेष्ववश्यं पेयं च तस्माद्यत्नात् प्रयोजयेत् ॥८५॥

जिस पुरुष का शरीर अत्यधिक स्निग्ध है, उसे स्नेहविरेचन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। स्नेहन प्रक्रिया द्वारा दोषों के उत्क्लेशित हो जाने पर रूक्ष विरेचन कराना चाहिए।

इस प्रकार देश, काल एवं औषध के प्रमाण का सम्यक् ज्ञान रखने वाले बुद्धिमान चिकित्सक को विरेच्य के योग्य पुरुषों में विरेचन कराने से कोई अपराध नहीं होता, अर्थात् वह सम्यक् रूप से विरेचन करा लेता है।

सम्यक् योग की महत्ता– संशोधन का विभ्रंश (वमन-विरेचन का असम्यक् योग) विष के समान हानिकारक होता है एवं सम्यक् योग अमृत के समान लाभदायक होता है। इसलिये संशोधन के योग्य पुरुषों को उचित समय में निश्चय ही संशोधन औषधियों का सेवन करना चाहिए। अतः प्रयत्नपूर्वक संशोधन योगों के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

चक्रपाणि– 'एवं ज्ञात्वेत्यादि' के द्वारा वर्णित विधियों (वमन-विरेचन विधियों) का उपसंहार किया गया है। **विरेच्येभ्य इति–** विरेचन के योग्य पुरुषों। विभ्रंश– संशोधन (वमन-विरेचन) का असम्यक् योग विभ्रंश कहलाता है। इससे अयोग एवं अतियोग दोनों का ही ग्रहण होता है। यदि संशोधन का विभ्रंश (असम्यक् योग) विष तुल्य होता है, अर्थात् विष के समान मारक होता है तब किसलिये इसका प्रयोग करना चाहिए, इसे – 'कालेष्ववश्यं पेयं चेति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

संशोधनसाध्यव्याधावश्यं पेयम् – उचित समय में संशोधन साध्य व्याधियों में अवश्य ही इसका पान कराना चाहिए। इसलिए अवस्था विशेष में निश्चित रूप से करणीय (पालनीय) संशोधन चिकित्सा का त्याग नहीं करना चाहिए, अर्थात् आवश्यक होने पर अवश्य ही इसका प्रयोग करना चाहिए। ॥८३-८५॥

द्रव्यप्रमाणं तु यदुक्तमस्मिन्मध्येषु तत् कोष्ठवयोबलेषु । तन्मूलमालम्ब्य भवेद्विकल्प्यं तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभावः ॥८६॥

द्रव्यों के मान का विचार– यहाँ, अर्थात् इस संहिता या स्थान में औषध द्रव्यों के जिस मान (प्रमाण) का निर्देश किया गया है वह मध्यम कोष्ठ, मध्यम वय एवं मध्यम बल वाले पुरुषों के लिए है। अतः इसी को आधार स्वीकार करते हुए कोष्ठादि की तीव्रता (क्रूर) व मृदुता के अनुसार औषधि की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी करनी चाहिए।

चक्रपाणि– शोधन औषधियों की मात्रा कहीं-कहीं पर कर्षादि मान के रूप में बतायी गयी हैं, अर्थात् १ कर्ष मात्रा का निर्देश दिया गया है, यह मात्रा सभी व्यक्तियों के लिए निर्धारित है, ऐसा नहीं है। यह मान मध्य कोष्ठ, मध्य वय एवं मध्यम बल वाले पुरुषों के लिए है, ऐसा समझना चाहिए। इसी का निर्देश यहाँ 'द्रव्येत्यादि' के द्वारा किया गया है। **तन्मूलमालम्ब्येति उक्तप्रमाणमनुक्तप्रमाणानुमानबीजं कृत्वा–** उसी को मुख्य स्वीकार करते हुए, अथवा आधार मानते हुए अनुक्त मात्राओं का निर्धारण करना चाहिए। [निर्दिष्ट मात्राओं के ही आधार पर अनुक्त मात्राओं का अनुमान लगाना चाहिए।]

तेषां विकल्प्योऽभ्यधिकोनभाव इति– औषधि मात्रा के विकल्प (भेदों)– निर्दिष्ट मात्रा से अधिक मात्रा अथवा कम मात्रा में औषधि का प्रयोग करना। इस प्रकार यहाँ औषधि मात्रा के दो विकल्प बताये गये। शास्त्र में औषधि की जो मात्रा निर्देशित है वह मध्यम मात्रा है। अतः प्रबल व क्रूर कोष्ठ आदि वाले व्यक्तियों के लिए औषधि की अधिक मात्रा तथा दुर्बल व मृदु कोष्ठ वाले व्यक्तियों के लिए अल्प मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। ॥८६॥

Scanned by CamScanner

षड् ध्वंश्यस्तु मरीचिः स्यात् षण्मरीच्यस्तु सर्षपः । अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुलश्चापि तद्द्वयम् ।।८७।।
धान्यमाषो भवेदेको धान्यमाषद्वयं यवः । अण्डिका ते तु चत्वारस्ताश्चतस्रस्तु माषकः ।।८८।।
हेमश्च धान्यकश्चोक्तो भवेच्छाणस्तु ते त्रयः । शाणौ द्वौ द्रङ्क्षणं विद्यात् कोलं बदरमेव च ।।८९।।
विद्याद्द्वौ द्रङ्क्षणौ कर्षं सुवर्णं चाक्षमेव च । बिडालपदकं चैव पिचुं पाणितलं तथा ।।९०।।
तिन्दुकं च विजानीयात् कवलग्रहमेव च । द्वे सुवर्णे पलार्धं स्याच्छुक्तिरष्टमिका तथा ।।९१।।
द्वे पलार्धे पलं मुष्टिः प्रकुञ्चोऽथ चतुर्थिका । बिल्वं षोडशिका चाम्रं द्वे पले प्रसृतं विदुः ।।९२।।
अष्टमानं तु विज्ञेयं कुडवौ द्वौ तु मानिका । पलं चतुर्गुणं विद्यादञ्जलिं कुडवं तथा ।।९३।।
चत्वारः कुडवाः प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम् । पात्रं तदेव विज्ञेयं कंसः प्रस्थाष्टकं तथा ।।९४।।
कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वणं च तत् । स एव कलशः ख्यातो घटमुन्मानमेव च ।।९५।।
द्रोणस्तु द्विगुणः शूर्पो विज्ञेयः कुम्भ एव च । गोणीं शूर्पद्वयं विद्यात् खारीं भारं तथैव च ।।९६।।
द्वात्रिंशतं विजानीयाद्वाहं शूर्पाणि बुद्धिमान् । तुलां शतपलं विद्यात् परिमाणविशारदः ।।९७।।
शुष्कद्रव्येष्विदं माननमेवमादि प्रकीर्तितम् ।

मागध मान परिभाषा–

६ ध्वंशी = १ मरीचि

६ मरीचि = १ रक्त सर्षप

८ रक्तसर्षप = १ तण्डुल

२ तण्डुल = १ धान्यमाष

२ धान्यमाष = १ यव

४ यव = १ अण्डिका

४ अण्डिका = १ माषक (माषक का अन्य नाम हेम व धान्यक भी है।)

३ माषक या ३ हेम = १ शाण

२ शाण = १ द्रंक्षण, इसे ही कोल या बदर भी कहते हैं।

२ द्रंक्षण = १ कर्ष (कर्ष के अन्य नाम सुवर्ण, अक्ष, विडालपदक, पिचु, पाणितल, तिन्दुक तथा कवलग्रह भी है।)

२ सुवर्ण = १ पलार्ध, पलार्ध को ही शुक्ति व अष्टमिका भी कहते हैं।

२ पलार्ध = १ पल, पल के अन्य नाम मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, बिल्व, षोडशिका व आम्र है।

२ पल = १ प्रसृत, प्रसृत का ही पर्याय **अष्टमान** है।

४ पल = १ अञ्जलि अथवा १ कुडव

२ कुडव = १ मानिका

४ कुडव = १ प्रस्थ

४ प्रस्थ = १ आढक, आढक का ही पर्याय **पात्र** है।

८ प्रस्थ = १ कंस

४ कंस = १ द्रोण, द्रोण के ही अन्य नाम अर्मण, नल्वण, कलश, घट तथा उन्मान है।

२ द्रोण (२ घट) = १ शूर्प, इसी को **कुम्भ** भी कहा जाता है।

२ शूर्प = १ गोणी, गोणी का ही पर्याय खारी व भार है।

३२ शूर्प = १ वाह, समझना चाहिए।

१०० पल = १ तुला, ऐसा मान विशेषज्ञों का मत है। इस मान का पालन शुष्क द्रव्यों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– षड् ध्वंश्य इत्यादि के द्वारा उदाहरण के रूप में सम्पूर्ण शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले प्रमाणों को निरूपित किया गया है। 'ध्वंशी' को **त्रसरेणुक** कहते हैं, अन्य आचार्य ध्वंशी से धूल के उड़ते हुए कण (Floating dust particle) का ग्रहण करते हैं।

Scanned by CamScanner

अष्टौ ते सर्षपा रक्तास्तण्डुला इत्यत्र रक्ता इति सर्षपाणां विशेषणम्– आठ रक्तसर्षप (सरसो) = १ तण्डुल, यहाँ रक्त शब्द सरसो के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। **तद्द्वय धान्यमाष इति–** दो तण्डुल एक धान्य माष (उड़द के भार) के बराबर होता है।

ते तु चत्वार इति– ४ यव = १ अण्डिका, दूसरे आचार्यों के अनुसार चार उड़द का भार एक अण्डिका के बराबर होता है, अर्थात् ४ उड़द = १ अण्डिका। त्रयोमाषका: शाण:– ३ माषक = १ शाण। यहाँ ४८ माषक = १ पल, १२ माषक = १ कर्ष, वहीं दस रत्ती के मान से ६४ माषक एक पल के बराबर होता है। जहाँ २४ धान्यमाष दस रत्ती के तुल्य होता है वहाँ १० रत्ती के मान से ६४ माषक को २४ धान्य माष से गुणा करने पर १५३६ धान्यमाष आता है। १० रत्ती = १ माषक, तब ६४ माषक (१ पल) = ६४ × २४ = १५३६ धान्यमाषक।

सुश्रुत में भी कहा गया है, यथा– "तत्र द्वादशधान्यमाषा: सुवर्णमाषक: ते च चतु: षष्टि:पलं" (सु.चि.अ.) इति [१२ धान्यमाष = १ सुवर्णमाषक (माषक), ६४ माषक = १ पल] के द्वारा विषय को उपस्थापित किया गया है। ६४ माषक को १२ धान्यमाष से गुणा करने पर कुल ७६८ धान्यमाष होते हैं। इस प्रकार दृढ़बल द्वारा वर्णित मान से आधा सुश्रुत का पल आदि मान होता है। इसी प्रकार सुश्रुत के अनुसार ५ रत्ती = १ माषा होता है। दृढ़बल के मान को मागध मान तथा सुश्रुत के मान को कलिङ्ग मान कहते हैं। आचार्य जतुकर्ण **छः गुञ्जा** एक माषक के बराबर मानते हैं। ॥८७-९७॥

विशेष (Comments)– छः ध्वंशी का एक **मरीचि** होता है। अन्य शास्त्रों में ध्वंशी को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– 'जालान्तरगते भानो करें ध्वंशी विलोक्यते । त्रिसरेणुक संज्ञा सा प्रमाणे प्रथमा तु सा इति' [घर की रोशनदान में आते हुए सूर्य के प्रकाश में उड़ते हुए धूल के कण को ध्वंशी कहते हैं, इसका नाम त्रिसरेणु भी है। वही माप की पहली मात्रा है।]

मनुसंहिता में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– "जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रज:। प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रिसरेणुं प्रचक्षते ।।"

६ ध्वंशी = १ मरीचि। ६ मरीचि = १ सर्षप। मध्यम आकार वाली सरसो को रक्त सर्षप कहते हैं। सर्षप की तीन प्रजातियाँ पायी जाती हैं (३ भेद होते हैं) – १. राजसर्षप, २. मध्यम सर्षप, ३. बृहत् सर्षप।

अष्ट मध्यम सर्षप (रक्तसर्षप) = १ तण्डुल, २ तण्डुल = १ धान्यमाष, २ धान्यमाष = १ यव। आचार्य मनु के अनुसार– छः मध्य सर्षप = १ यव मध्यम, ३ मध्यम यव = १ कृष्णल (१ गुञ्जा)

आचार्य विष्णु के अनुसार– ६ श्वेत सर्षप = १ मध्यम यव, ३ मध्यम यव = १ गुञ्जा (कृष्णल) ।

अण्डका ते तु चत्वार इति – ४ यव = १ अण्डक। ४ अण्डक = १ माषक, माषक को ही हेम तथा धान्यक भी कहते हैं। ३ माषक = १ शाण। अर्थात् ३ माषक के बराबर एक शाण होना चाहिए। १० गुञ्जा वाले ४ माषक के बराबर एक **शाण** होता है। अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा– "गुञ्जाभिर्दशभि: प्रोक्तो माषको ब्रह्मणा पुरा। चत्वारो माषका: शाणस्तद्वयं कोलसंज्ञितम् । वटकं द्रङ्क्षणञ्चैव कर्षस्तद्द्विगुणेन तु। अक्ष: पिचुपाणितलं सुवर्णकमुडुम्बरम्।

विडालपदकं नल्वं किञ्चिच्च कवलग्रहम् । तिन्दुकं विन्दु: कोलञ्च पाणिरप्यभिधीयते" इति [१० गुञ्जा = १ माषक, ४ माषक = १ शाण, २ शाण = १ कोल. कोल को ही वटक व द्रंक्षण भी कहते हैं। २ द्रंक्षण = १ कर्ष, कर्ष को ही **अक्ष, पिचु, पाणितल**, सुवर्णक, उडुम्बर, विडालपद, नल्व एवं कवलग्रह भी कहते हैं।]

इस प्रकार १० गुञ्जा (रत्ती) का १ माषक, तथा ४ माषक = १ शाण, तथा ४ शाण = १ कर्ष होता है। मनु के अनुसार– ५ कृष्णल (५ रत्ती) = १ माषक, १६ माषक = १ सुवर्ण (१ कर्ष) । विष्णु संहिता के अनुसार– ५ कृष्णल (५ गुञ्जा) = १ माषक, १२ माषक = १ अर्ध अक्ष (१ अर्धाक्ष), अर्धाक्ष (१२ माषक) में ४ माषक जोड़ देने पर १ सुवर्ण हो जाता है, अर्थात् १६ माषक = १ सुवर्ण। ४ सुवर्ण = १ निष्क।

यहाँ **अक्षार्ध** एक मानक है न कि कर्ष के पर्याय रूप अक्ष की आधी मात्रा का यहाँ ग्रहण है। अपने-अपने शास्त्रों में व्यवहारार्थ प्रयुक्त मानकों के नाम अलग-अलग होते हुए भी आपस में कोई विरुद्धता नहीं है। सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा– "पञ्च गुञ्जामितो माषको दशरक्तिकश्च यथा भवति तथैव धान्यमाषशिम्बिफलाभ्यामुक्त:" दो कर्ष = १ पलार्ध, पलार्ध का ही पर्याय शुक्ति व अष्टमिका भी है। २ पलार्ध = १ पल, पल का ही पर्याय मुष्टि, प्रकुञ्च, चतुर्थिका, आम्र, निष्क, बिल्व, व षोडशिका है।

आचार्य मनु ने कहा भी है, यथा– 'पलं सुवर्णाश्चत्वार: पलानि धरणं दश' इति [चार सुवर्ण = १ पल, १० पल = १ धरण] २ पल = १ प्रसृत समझना चाहिए। प्रसृत का ही पर्याय अष्टमान भी है।

Scanned by CamScanner

२ कुडव = १ मानिका, मानिका का अन्य नाम 'शराब' है। कुडव का अभिधान यहाँ फिर से क्यों किया गया है? ४ पल = १ अञ्जलि, अञ्जलि का ही पर्याय 'कुडव' है। ४ कुडव = १ प्रस्थ (१६ पल)। ४ प्रस्थ = १ आढक, आढक का अन्य नाम घट भी है। अष्ट शराव (८ शराव) = १ पात्र अथवा पात्री, पात्र को ही **कंस** कहते हैं। ४ आढक = १ द्रोण, द्रोण को ही कलस, घट, उन्मान, अर्मण भी कहा जाता है।

२ द्रोण = १ शूर्प, शूर्प को ही **कुम्भ** कहते हैं। २ शूर्प = १ गोणी, गोणी का ही अन्य नाम खारी अथवा भार है। ३२ शूर्प = १ वाह, तथा १०० पल = १ तुला समझना चाहिए।

द्विगुणं तद्द्रवेष्विष्टं तथा सद्योद्धृतेषु च ।।९८।।
यद्धि मानं तुला प्रोक्ता पलं वा तत् प्रयोजयेत् । अनुक्ते परिमाणे तु तुल्यं मानं प्रकीर्तितम् ।।९९।।

द्विगुण परिमाण में द्रव्यों को ग्रहण करने की सीमा– द्रव पदार्थों अथवा तत्काल उखाड़ी गयी हरी औषधियों को दूनी मात्रा में ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् शास्त्र में निर्दिष्ट मान से दूनी मात्रा में लेना चाहिए। यदि द्रव्यों के मान का निर्देश तुला अथवा पल में किया गया है तब उस द्रव्य को उतनी ही मात्रा में लेना चाहिए, अर्थात् औषधियाँ ताजी होने पर भी उनका प्रमाण दूना न करें। यदि किसी औषधि योग में द्रव्यों की मात्रा का निर्देश नहीं है तब वहाँ बराबर मात्रा में द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'द्विगुणं तद्द्रवेष्विष्टमित्यादि' के द्वारा द्विगुण परिभाषा की सीमा को स्पष्ट किया गया है। यहाँ यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार द्रव पदार्थों का मान निर्दिष्ट मात्रा का दूना ग्रहण करना चाहिए, फिर भी अन्य शास्त्रों में कुडव से पूर्व अथवा कुडव से कम मान वाले द्रव पदार्थों का मान दूना नहीं ग्रहण करना चाहिए, यह बताया गया है। कहा भी गया है, यथा– "रक्तिकादिषु मानेषु यावन्न कुडवो भवेत्। शुष्के द्रवार्द्रयोश्चैव तुल्यं मानं प्रकीर्तितम्" इति [शास्त्र में निर्दिष्ट द्रव्यों का मान जब तक रत्ती से लेकर कुडव से कम तक हैं (१ कुडव से कम तक है) तब तक चाहे वे द्रव्य हरे हों अथवा शुष्क उनका ग्रहण निर्धारित मान में ही करना चाहिए, अर्थात् द्विगुण मात्रा में ग्रहण नहीं करना चाहिए।]

According to the instructions provided in other texts, the ingredients whose weights are described in the form of **rattī** up to Kuḍava should be used according to the prescribed quantity – Dr. Bhagvan Das.

जतूकर्ण संहिता में भी कहा गया है, यथा– "द्विगुणा कुडवादयो द्रवाणामिति" [१ कुडव से लेकर आगे तक के द्रव पदार्थों का मान द्विगुण (दूनी) मात्रा में ग्रहण करना चाहिए।]

यहाँ भी सुनिषण्णकचाङ्गेरी घृत के प्रसङ्ग में– "त्रिंशत्पलानि प्रस्थो अत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः" (चि.अ.१४) इति, के द्वारा ३२ पल **का प्रस्थ** ग्रहण किया है। यह निर्देश द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार है, फिर भी आचार्य ने रत्ती से लेकर १ कुडव से पूर्व के द्रव्यों को द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ग्रहण नहीं किया है, जो कि इस नियम के अपवाद को दर्शाता है। वही आर्द्र द्रव्य दूनी मात्रा में ग्रहण करते हैं जिनका उपयोग शुष्क व आर्द्र दोनों ही अवस्थाओं में किया जाता है। जो द्रव्य नित्य आर्द्र (हरे = ताजे) ही प्रयोग किये जाते हैं, उन्हें दूनी मात्रा में न लेकर निर्दिष्ट मान के अनुसार ग्रहण करें। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "वासाकुटजकुष्माण्डशतपत्रीसहामृताः। प्रसारण्यश्वगंधा च शतपुष्पा सहाचराः॥ नित्यमार्द्राः प्रयोक्तव्या न तेषां द्विगुणं भवेत्" [वासा (अडूसा), कुटज, कुष्माण्ड, शतपत्री, सहा, अमृता, प्रसारणी, अश्वगन्धा, शतपुष्पा तथा सहचर; ये द्रव्य हमेशा हरे (ताजे) ग्रहण करने चाहिए तथा इन्हें निर्देशित मान के अनुसार ही ग्रहण करें, दूनी मात्रा में न लें।

अन्येषां च द्वैगुण्यं कृत्वा मानस्य वारद्वयग्रहणं कर्तव्यमित्यर्थः– अन्य आचार्य द्विगुण से वर्णित मान को ही दो बार ग्रहण करते हैं। ॥९८-९९॥

द्रवकार्येऽपि चानुक्ते सर्वत्र सलिलं स्मृतम्। यतश्च पादनिर्देशश्चतुर्भागस्ततश्च सः ।।१००।।

अन्य परिभाषा– घृत अथवा तैल आदि की सिद्धि हेतु जहाँ द्रव पदार्थों (क्षीर, गोमूत्र, दही, क्वाथ आदि) का नामतः निर्देश नहीं है, वहाँ द्रव के स्थान पर **जल** का ग्रहण करना चाहिए। जहाँ पाद का उल्लेख हो वहाँ चतुर्थांश का ग्रहण करें।

चक्रपाणि– 'द्रवकार्येऽपीत्यादि' के द्वारा अन्य परिभाषा को बताया गया है। स्नेह आदि की सिद्धि में प्रयुक्त द्रव पदार्थों के नाम का उल्लेख नहीं किया गया हो वहाँ **द्रव** के स्थान पर **जल** का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ 'पाद' का निर्देश हो वहाँ चतुर्थांश (१/४ भाग) का ग्रहण करना चाहिए। सामान्यतया तैलादि की सिद्धि में कल्क द्रव्यों की मात्रा के लिए 'पाद' शब्द का उल्लेख होता है। अतः कल्क की मात्रा स्नेह का चतुर्थांश ग्रहण करना चाहिए, उसी प्रकार क्वाथ सिद्धि चतुर्गुण द्रव (जल) को पकाकर 'पाद' रूप में करने का निर्देश है। वहाँ भी द्रव को पकाकर चतुर्थांश शेष बचाना चाहिए, यह अभिप्राय है। **स इति– अस्यार्थो लोकत एव सिद्धः तथाऽपि स्पष्टार्थं पुनरभिधीयते–** इसका अर्थ लोक व्यवहार में सिद्ध ही है फिर भी विषय को स्पष्ट करने के लिए पुनः कहा गया है। ॥१००॥

Scanned by CamScanner

जलस्नेहौषधानां तु प्रमाणं यत्र नेरितम् । तत्र स्यादौषधात् स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम् ।।१०१।।

तैल अथवा घृत साधन में जहाँ जल, स्नेह एवं औषध की मात्रा का निर्देश नहीं है वहाँ औषध (कल्क) से स्नेह (घृत अथवा तैल) तथा स्नेह से जल की मात्रा चतुर्गुण (४ गुनी) ग्रहण करनी चाहिए।

चक्रपाणि– औषधात् स्नेहश्चतुर्गुण इति– कल्क से स्नेह की मात्रा ४ गुनी लेनी चाहिए, यथा– कल्क – १ भाग, स्नेह – ४ भाग। **स्नेहात्तोयं चतुर्गुणमिति–** यहाँ 'तोय' शब्द द्रव का उपलक्षण मात्र है, अर्थात् तोय शब्द दूध, दही, क्वाथ आदि द्रव पदार्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ द्रव पदार्थों की मात्रा स्नेह की मात्रा से चार गुना ग्रहण करना चाहिए। जिस योग में जलादि के मान का विशेष निर्देश किया गया हो वहाँ उस निर्देश का पालन करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– "निर्दिष्टे ततदेव तु" (सु.चि.अ. ३१) इति [स्नेहपाक में स्नेह, कल्क एवं द्रव पदार्थों की मात्रा का निर्देश होने पर तद्वत (वही) मात्रा ग्रहण करनी चाहिए।] ।।१०१।।

स्नेहपाकस्त्रिधा ज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा । तुल्ये कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः ।।१०२।।
संयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वीं विमुञ्चति । शीर्यमाणे तु निर्यासे वर्तमाने खरस्तथा ।।१०३।।

स्नेहपाक के भेद– स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है– १. मृदुपाक २. मध्यपाक, ३. खरपाक।

१. मृदुपाक के लक्षण– औषध कल्क पककर जब निर्यास (गोंद) के समान हो जाय तब स्नेह मृदुपाक को प्राप्त हो गया है, ऐसा समझना चाहिए।

२. मध्यपाक के लक्षण– जब औषध कल्क पक कर संयाव (हलवा) के समान हो जाय एवं करछुल में न चिपके तब इसे **मध्य पाकी** समझना चाहिए।

३. खरपाक के लक्षण– यदि कल्क को हाथ पर रखकर वटी बनाने पर वटी के रूप में न परिवर्तित हो, अपितु कल्क टूट-टूट कर गिरने लगे तब स्नेह को खरपाक युक्त समझना चाहिए।

चक्रपाणि– 'स्नेहपाक इत्यादि' के द्वारा त्रिविध (मृदु, मध्य एवं खर) स्नेहपाक के लक्षणों को बताया गया है।

तुल्ये कल्केन निर्यास इति– सर्वप्रथम स्नेह सिद्धि में प्रयुक्त कल्क का पककर के निर्यास के समान हो जाना।

संयाव इवेति– यहाँ संयाव शब्द से समान मात्रा में प्रयुक्त – घृत, गुड़ व गेहूँ के आटे से बना हुआ पिण्ड (हलवा) का ग्रहण किया गया है। अर्थात् कल्क का हलवे के समान पिण्ड रूप में होना, जो चलाने पर करछुल में न चिपके। यह लक्षण स्नेहपाक में पाया जाता है।

'शीर्यमाणे इत्यादि' के द्वारा खरपाक के लक्षण को स्पष्ट किया गया है। **शीर्यमाणे इति अवसीदति–** कल्क की वर्ति बनाने पर औषधि (कल्क) टूट कर गिरने लगती है एवं वर्ति नहीं बन पाती।

वर्तमाने अङ्गुलिपीडनाद्वर्तितां गच्छति– अङ्गुली से दबाने पर वर्ति का बन जाना। अर्थात् प्रारम्भ में वर्ति बनती है, तत्पश्चात् टूटने लगती है। ।।१०२-१०३।।

विशेष (Comments)– आचार्य सुश्रुत ने स्नेहपाक के लक्षणों का विवेचन इस प्रकार किया है, यथा– "स तु त्रिविधः; तद्यथा– मृदुः, मध्यमः, खर इति। तत्र स्नेहौषधिविवेकमात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति, मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः, कृष्ण-मवसन्नमीषद्विशदं चिक्कणं च यत्र भेषजं स खर" (सु.चि.अ. ३१/११) इति [स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है– १. मृदु, २. मध्यम, ३. खर। जिस स्नेहपाक में स्नेह व औषध द्रव्य (कल्क द्रव्य) अलग-अलग दिखाई देते हों, उसे मृदुस्नेहपाक कहते हैं। जिसमें कल्क द्रव्य मोम के समान विशद (पिच्छिलता रहित) एवं अविलेपी (न चिपकने वाला) हो, अर्थात् जो अंगुलियों में चिपकता न हो वह मध्यम स्नेहपाक कहलाता है। जिस स्नेहपाक में कल्क द्रव्य काला, अवसन्न (टूट-टूट कर गिरने वाला), ईषद् विशद् (अल्प पिच्छिल रहित) तथा चिकना हो, उसे खरपाक समझना चाहिए।]

स्नेहसिद्धि के लक्षणों का विवेचन आचार्य द्वारा इस प्रकार किया गया है, यथा– "शब्दस्योपरमे प्राप्ते फेनस्योपशमे तथा। गन्धवर्णरसादीनां संपत्तौ सिद्धिमादिशेत् ।। घृतस्यैवं विपक्वस्य जानीयात् कुशलो भिषक् । फेनोऽतिमात्रं तैलस्य शेषं घृतवदादिशेत् ।।" (सु.चि.अ. ३१/१२-१३) इति [घृतपाक के समय निकलने वाले शब्दों का बंद हो जाना, फेन का शान्त होना तथा घृत में अनुकूल गंध, वर्ण एवं रसों का उत्पन्न होना, अर्थात् जिन औषधियों द्वारा सिद्ध किया गया है उसके अनुरूप गंधादि से युक्त होना, घृत सिद्धि के लक्षण हैं। तैल सिद्धि में फेन का अत्यधिक बढ़ जाना एवं शेष लक्षण घृत सिद्धि के ही मिलते हैं।]

खरोऽभ्यङ्गे स्मृतः पाको, मृदुर्नस्तःक्रियासु च । मध्यपाकं तु पानार्थे बस्तौ च विनियोजयेत् ।।१०४।।

Scanned by CamScanner

त्रिविध स्नेह के उपयोग– खरपाक युक्त स्नेह अभ्यङ्ग (मालिश) हेतु, मृदुपाक वाला स्नेह नस्य हेतु एवं मध्यम पाक युक्त स्नेह का प्रयोग स्नेहपान एवं बस्ति के रूप में करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'खर इत्यादि' के द्वारा खरपाक आदि स्नेहों का प्रयोग कहाँ करना चाहिए, उसे स्पष्ट किया गया है। ॥१०४॥

मानं च द्विविधं प्राहुः कालिङ्गं मागधं तथा । कालिङ्गान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः ।।१०५।।

दो प्रकार के मान– मान दो प्रकार के बताये गये हैं– १. कालिङ्ग मान, २. मागध मान। मानविद् (नाप-तौल के विशेषज्ञ) कालिङ्गमान की तुलना में मागध मान को श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।

चक्रपाणि– कुछ आचार्य इस श्लोक को अनार्ष स्वीकार करते हैं।

विशेष (Comments)– कालिङ्ग मान– कलिङ्ग (वर्तमान में उड़ीसा प्रान्त) क्षेत्र में प्रचलित मान को कालिङ्गमान कहा गया है। नाप-तौल का जो प्रचलन (पैमाना) मगध (वर्तमान में बिहार) प्रान्त में प्रयुक्त होता था उसे मागध मान कहा गया है। चूँकि मगध राज्य प्राचीन समय में काफी दूर तक फैला हुआ था जो लगभग वर्तमान में पाकिस्तान से लेकर भारत के बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हिमाचल एवं उत्तर प्रदेश तक का क्षेत्र है। अतः इस पैमाने (मान-मागध) की व्यापकता कालिङ्ग मान की तुलना में ज्यादा थी। इसलिये इसे श्रेष्ठ कहा गया है।

तत्र श्लोकौ–

कल्पार्थः शोधनं संज्ञा पृथग्धेतुः प्रवर्तने । देशादीनां फलादीनां गुणा योगशतानि षट् ।।१०६।।
विकल्पहेतुर्नामानि तीक्ष्णमध्याल्पलक्षणम् । विधिश्चावस्थिको मानं स्नेहपाकश्च दर्शितः ।।१०७।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते कल्पस्थाने दन्तीद्रवन्तीकल्पो नाम द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

कल्पस्थानोक्त विषयों का उपसंहार– इस स्थान में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

१. कल्प का विषय अथवा प्रयोजन (Objects of pharmaceutical processes)

२. शोधन का नामकरण अथवा शोधन की परिभाषा।

३. प्रवर्तन में अलग-अलग हेतु (वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्य पद्धति) ।

४. देश आदि के गुणों का वर्णन।

५. मदनफल आदि द्रव्यों के गुण

६. वमन-विरेचन के छः सौ योग। (Six hundred recipes)

७. योगों के विकल्प का कारण, वामक व विरेचक द्रव्यों के पर्याय।

८. तीक्ष्ण, मध्य व अल्प वामक-विरेचक योगों के लक्षण (Characteristics of recipes having sharp, moderate and mild actions)

९. अवस्था के अनुसार वमन व विरेचन योगों के प्रयोग की विधि।

१०. मान तथा स्नेहपाक के लक्षण।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत, अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित कल्पस्थान में दन्ती-द्रवन्ती कल्प नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ। ॥१२॥

चक्रपाणि– 'कल्पार्थ इत्यादि' के द्वारा स्थान में वर्णित विषयों का उपसंहार किया गया है। कल्पस्थान के प्रयोजन को "कल्पार्थ भेदार्थं" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा बताया गया है।

शोधनसंज्ञा– 'विरेचन' नामकरण का आधार – "उभयं वा शरीरमलविरेचनात्" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया है। [ऊर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) द्वारा दोषों को बाहर निकालने की क्रिया वमन व अधोमार्ग द्वारा दोषनिर्हरण की क्रिया विरेचन कही जाती है अथवा दोनों मार्गों द्वारा शरीर के मल रूप दोषों को निकालने की प्रक्रिया को विरेचन कहते हैं।]

'पृथग् हेतु प्रवर्तने' को – "तत्रोष्णतीक्ष्णविकाशी" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इस सूत्र के द्वारा वमन-विरेचन द्रव्यों की कार्यपद्धति को समझाया गया है। देशादि के गुणों का अभिधान "तत्र देशस्तु" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा किया गया है।

फलादीनां गुणाः मदनफलादिकल्प एवोक्ताः– फलादि द्रव्यों के गुणों को मदनफल आदि योगों के कल्प में ही बताया गया है। वमन-

Scanned by CamScanner

विरेचन के छः सौ योगों को विवेचन– "त्रिंशतं पञ्चपञ्चाशत्" इत्यादि के द्वारा किया गया है। विकल्प के कारणों का वर्णन "उपभोगसुखार्थं" (क.अ.१) इत्यादि के द्वारा प्रथम अध्याय में ही बताया गया है।

'नाम' से यहाँ मदनफल आदि द्रव्यों के पर्यायों का अभिधान किया गया है। इनका विवेचन प्रत्येक अध्याय में किया गया है। अर्थात् मदनफल, जीमूतक, इक्ष्वाकु आदि के पर्यायों का उल्लेख उनके अपने-अपने अध्यायों में किया गया है।

तीक्ष्णमध्याल्पलक्षणमिति– औषध के तीक्ष्ण, मध्य व अल्प लक्षणों को "सुखं क्षिप्रं महावेगं" इत्यादि के द्वारा कल्प अध्याय १२, में बताया गया है। आवस्थिक विधि का निर्देश – "देयं "ह्यनिर्गते पूर्व" (क.अ.१२) इत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। शेष विषयों का अर्थ सरल है। ॥१०६-१०७॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के कल्पस्थान में दन्ती-द्रवन्ती कल्प नामक बारहवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

सप्तमं कल्पस्थानं समाप्तम् ।

[इस प्रकार कल्पस्थान का सातवाँ स्थान पूर्ण हुआ।]

Scanned by CamScanner

सिद्धिस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः कल्पनासिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद (मैं) कल्पनासिद्धि की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– कल्पस्थान के विवेचन के बाद संहिता का शेष भाग होने से सिद्धिस्थान का अभिधान किया जा रहा है। अर्थात् आठ स्थानों में से सात स्थानों का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है। सिद्धिस्थान शेष बचने के कारण अब उसका अभिधान किया जा रहा है।

सिद्धेरभिधायकं स्थानं सिद्धिस्थानम्– सिद्धि (सफलता = चिकित्सा में सफलता) प्रदान करने वाले (बताने वाले) अध्याय को सिद्धिस्थान कहते हैं। अर्थात् इस स्थान में वर्णित विषयों का ज्ञानपूर्वक उपयोग करने वाला चिकित्सक हमेशा सफल होता है।

सिद्धिशब्देन चेह वमनादीनां वमनाद्यसम्यग्योगजन्यानां व्यापदां भेषजस्य साध्यतारूपा सिद्धिरुच्यते– सिद्धि शब्द से यहाँ वमनादि के असम्यक् योग से उत्पन्न उपद्रवों की औषध रूप चिकित्सा तथा वमनादि के सम्यक् योग दोनों का ही ग्रहण किया गया है। अर्थात् वमनादि से उत्पन्न साध्य उपद्रवों की चिकित्सा का वर्णन इस स्थान में किया गया है। इस प्रकार यह स्थान सिद्धि के हेतु को बताने के कारण सिद्धिस्थान कहा गया है। अथवा कार्य व कारण में भेद न होने के कारण नाम मात्र भेद होने से सिद्धि शब्द से उसके कारण रूप वमनादि को ही कहा गया है। कहा भी गया है, यथा– "सम्यक् प्रयोगं चैव कर्मणां व्यापन्नानां च व्यापत्साधनानि सिद्धिषूपदेक्ष्यामः" (सू.अ.४) इति [वमनादि कर्मों के सम्यक् प्रयोग एवं उनसे होने वाले व्यापत्तियों (उपद्रवों) की चिकित्सा का उपदेश सिद्धिस्थान में करेंगे।]

न चैवं सिद्धिस्थानसंज्ञाव्युत्पत्त्या चिकित्सास्थानादीनामपि सिद्धिस्थानसंज्ञा प्रसक्तिरुद्भावनीया– सिद्धिस्थान का नामकरण व्युत्पत्ति के आधार पर नहीं किया गया है, क्योंकि चिकित्सास्थान आदि नामों से भी सिद्धिस्थान के नाम का भाव प्राप्त होता है। यह नामकरण वमनादि के सम्यक् योग एवं असम्यक् प्रयोग से उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा तथा चिकित्सा की सफलता दोनों ही अर्थों में **योगरूढ** हो गया है। अन्य स्थानों पर ऐसा नहीं है।

का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता, क्रमश्च कः, किं च कृताकृतेषु । लिङ्गं तथैवातिकृतेषु, संख्या का, किंगुणः, केषु च कश्च बस्तिः ।।३।।
किं वर्जनीयं प्रतिकर्मकाले, कृते कियान् वा परिहारकालः । प्रणीयमानश्च न याति केन, केनैति शीघ्रं, सुचिराच्च बस्तिः ।।४।।
साध्या गदाः स्वैः शमनैश्च केचित् कस्मात् प्रयुक्तैर्न शमं व्रजन्ति । प्रचोदितः शिष्यवरेण सम्यगित्यग्निवेशेन भिषग्वरिष्ठः ।।५।।
पुनर्वसुस्तन्त्रविदाह तस्मै सर्वप्रजानां हितकाम्ययेदम् ।।

अग्निवेश द्वारा पुनर्वसु आत्रेय से पूछे गये प्रश्न– शिष्य अग्निवेश ने भिषग्वरिष्ठ (चिकित्सकों में श्रेष्ठ) भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से अपनी चिकित्सा (पञ्चकर्म चिकित्सा) विषयक आशङ्का को इस प्रकार पूछा–

१. पञ्चकर्मों (वमन, विरेचन, निरूह बस्ति, अनुवासन बस्ति एवं नस्य) की योजना कैसे की जाती है?
२. इनका (पञ्चकर्मों के) क्रम क्या है?
३. पञ्चकर्म के अतियोग, सम्यक् योग एवं अयोग के लक्षण क्या हैं?
४. वमनादि की उचित संख्या कितनी होती है?
५. इनके गुण क्या हैं?
६. किन रोगियों में कौन सी बस्ति देनी चाहिए?
७. वमनादि कार्यों को कराते समय किस-किस पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए?
८. वमनादि कार्य करते समय त्याज्य पदार्थों का सेवन कब तक नहीं करना चाहिए?
९. दी जाने वाली बस्ति किन कारणों से अन्दर प्रविष्ट नहीं हो पाती?
१०. किस कारण से बस्ति गुदमार्ग द्वारा शीघ्र ही बाहर चली आती है?
११. दी गयी बस्ति किस कारण से देर से वापस आती है?
१२. कुछ साध्य रोग अपने प्रशमक उपचारों द्वारा क्यों नहीं शान्त होते?

Scanned by CamScanner

इन सभी प्रश्नों को सुनकर आयुर्वेदविद् भिषग्वरिष्ठ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने प्रजा के हित की कामना से यह कहा, अर्थात् अग्निवेश द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार दिया–

चक्रपाणि– सिद्धिस्थान के अभिधान (कथन) में भी सम्पूर्ण सिद्धिस्थान के लिए अपेक्षित पञ्चकर्म की कल्पना (योजना) आदि विषयों को कहते हुए उनमें कल्पना (पञ्चकर्म की योजना) ही मुख्य होने के कारण सबसे पहले कल्पनासिद्धि का ही कथन किया जा रहा है। यहाँ "का कल्पना" इत्यादि के द्वारा शिष्य अग्निवेश के द्वादश (१२) प्रश्नों को निवेशित करके उनका यथाक्रम गुरू द्वारा उत्तर दिया गया है। अर्थात् प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया गया है।

प्रश्नानुगुणगुरुबुद्धिप्रकाशार्थम्– प्रश्न के अनुसार आचार्य उसका उत्तर (समाधान) देता है।

आचार्य भरद्वाज ने कहा भी है, यथा– अप्रदुष्टेन भावेन प्रसन्नेनान्तरात्मना। शिष्येण सम्यक् पृष्टस्य गुरोर्बुद्धिः प्रकाशते" इति [मन में कोई दूषित विचार न रखते हुए प्रसन्न मन से शिष्य द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सम्यक् उत्तर गुरु देता है, अर्थात् गुरु बुद्धि का प्रकाशक है।]

यहाँ 'का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता' इति [पञ्चकर्मों की योजना कैसे की जाती है?] के द्वारा पहले प्रश्न को पूछा गया है। 'क्रमश्च कः' के द्वारा द्वितीय प्रश्न, 'किंच कृताकृतेषु लिङ्गं तथैवातिकृतेषु' के द्वारा तृतीय प्रश्न, 'संख्या का' इति के द्वारा चतुर्थ प्रश्न, 'किं गुणो बस्तिः' इति से पाँचवाँ प्रश्न, 'केषु च कश्च वस्ति' के द्वारा षष्ठ प्रश्न, 'किं वर्जनीयं प्रतिकर्म काले' [चिकित्सा (पञ्चकर्म) करते समय किन आहार-विहार का सेवन त्याग देना चाहिये।] के द्वारा सातवाँ प्रश्न, 'कृते कियान् वा परिहारकालः' [चिकित्सा करते समय **परिहार काल** कितना होना चाहिए।] के द्वारा आठवाँ प्रश्न, 'प्रणीयमान वस्ति (दी जाने वाली बस्ति) किस कारण से भीतर प्रविष्ट नहीं हो पाती' के द्वारा नवम् प्रश्न तथा 'कैनैति शीघ्रं' [किस कारण से दी गयी बस्ति शीघ्र वापस लौट आती है।] के द्वारा दसवाँ प्रश्न, 'सुचिराच्च केनैति' [किस कारण से बस्ति देर में वापस लौटती है।] के द्वारा ग्यारहवाँ तथा 'साध्या' इति के द्वारा बारहवें प्रश्न को पूछा गया है।

साध्या इत्यादि प्रश्न करते समय यद्यपि बीच में कोई अवकाश नहीं है, अर्थात् ग्यारहवें व बारहवें प्रश्न के बीच कोई अवकाश नहीं है। जहाँ साध्य व्याधियाँ अपने-अपने शामक औषधियों के प्रयोग द्वारा शान्त हो जाती हैं, फिर भी असम्यक् चिकित्सा के प्रयोग से ही उनका प्रशमन नहीं होता है, ऐसा जानना चाहिए।

[The question No.12 deals with the reasons for which a curable disease does not get cured even when recipes for it are administered. If the recipes are appropriate then there is no question of a curable disease not getting cured. Therefore, the question refers to curable diseases not getting cured because of inappropriate recipes. – Dr. Bhagvan Das and R.K. Sharma]

त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः ।।६।।
नातः परं स्नेहनमादिशन्ति सात्म्यीभवेत् सप्तदिनात् परं तु ।

१. 'का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता' प्रथम प्रश्न का उत्तर– कम से कम तीन दिन व अधिक से अधिक सात दिन तक स्नेहन (आभ्यन्तर स्नेहन) करने के बाद रोगी को स्वेदन कराना चाहिए। इससे अधिक दिन तक स्नेहन कराने का निर्देश नहीं है, क्योंकि इससे अधिक दिन तक स्नेहन (आभ्यन्तर स्नेहपान) कराने पर स्नेह सात्म्य हो जाता है।

चक्रपाणि– 'कल्पना' शब्द से यहाँ पञ्चकर्मों की योजना अर्थ लिया गया है, अर्थात् पञ्चकर्म के अंगों – 'वमन, विरेचनादि' का प्रयोग या योजना कैसे की जाती है, यह बताया गया है। वमनादि पञ्चकर्मों के प्रयोग से पूर्व स्नेहन व स्वेदन कराना चाहिए। इसलिये यहाँ स्नेहन-स्वेदन का अभिधान सर्वप्रथम किया गया है।

'त्र्यहावरमिति' के द्वारा प्रथम प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

त्र्यहावरमिति त्र्यहेण त्र्यहं वा व्याप्य क्रियमाणस्नेहनेन अवरं यथा भवतीति त्र्यहावरं स्निग्धः– तीन दिन तक किया जाने वाला स्नेहन अवर स्नेहन कहलाता है, अथवा तीन दिन में स्निग्ध होने वाला रोगी अवर स्निग्ध कहलाता है।

सप्तदिनमिति सप्तदिनं व्याप्य स्निग्धः– सात दिन तक स्नेहपान करने के बाद जो रोगी स्निग्ध होता हो, अर्थात् सात दिन तक स्नेहपान करने के बाद जिसमें सम्यक् स्नेहन के लक्षण मिलते हों। इस रोगी के शरीर में स्नेह सात दिन तक व्याप्त रहता है।

परमिति स्नेहप्रकर्षकालावधिना सप्तदिनं व्याप्य स्निग्धः– स्नेह देने की अधिकतम काल मर्यादा सात दिन बतायी गयी है। इस अवधि तक स्नेह शरीर में फैलकर रोगी को स्निग्ध कर देता है। अतः शोधन के पूर्व प्रयुक्त होने वाले स्नेहन की अधिकतम काल मर्यादा सात दिन निर्धारित की गयी है, इतने ही दिन में व्यक्ति स्निग्ध हो जाता है। जो व्यक्ति तीन दिन में स्निग्ध हो जाता है उसमें भी स्वेदन

Scanned by CamScanner

कराना चाहिए, यह भाव है। निर्दिष्ट सात दिन ही स्नेहपान की अधिकतम मर्यादा है। इसमें कोई व्यतिक्रम नहीं है। इसे सहेतुक- "नातः परमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **अतः परमिति–** सात दिन से अधिक, इससे अधिक स्नेहन क्यों नहीं कराना चाहिए? इसका उत्तर 'सात्म्यीभवेदित्यादि' के द्वारा दिया गया है।

सात दिन से अधिक प्रयुक्त स्नेह शरीर में सात्म्य हो जाता है। इस कारण से इसका प्रयोग सात दिन से अधिक नहीं कराना चाहिए।

तेन यावन्मात्रस्नेहप्रयोगेण सप्तदिनोपयुक्तेन स्नेहनं वृत्तं– उससे स्नेह की जितनी मात्रा सात दिन के लिए उपयुक्त होती है, उसका प्रयोग करना चाहिए। वह मात्रा भी उसके लिए सात्म्यीभूत ही होती है। इससे अधिक मात्रा जो रोगी को सात्म्य नहीं हुआ है उसका प्रयोग सात दिन से अधिक समय तक कराया जा सकता है। जो रोगी सात दिन स्नेह प्रयोग के बाद भी सम्यक् स्निग्ध नहीं होता, ऐसे पुरुषों में चिकित्सक कुछ दिन विश्राम कराने के बाद अधिक मात्रा में स्नेहपान कराकर सम्यक् स्नेहन के लक्षणों को प्राप्त करना चाहिए, ऐसा कहते हैं। यहाँ तीन दिन व सात दिन तक का स्नेहन क्रम मृदु व क्रूर कोष्ठ की दृष्टि से बताया गया है, अर्थात् मृदुकोष्ठ वाला रोगी तीन दिन, मध्यकोष्ठ वाला रोगी चार या पाँच दिन तथा क्रूरकोष्ठ वाला रोगी सात दिन में स्निग्ध हो जाता है। कहा भी गया है, यथा- मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया । स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः (सू.अ.१३) इति [मृदुकोष्ठ तीन दिन व क्रूरकोष्ठ सात दिन में अच्छ स्नेह के समुचित प्रयोग से स्निग्ध हो जाता है।] यदि क्रूरकोष्ठ वाला व्यक्ति सात दिन में स्निग्ध होता है, यह व्यवस्था है तब यहाँ कैसे- 'नातः परं स्नेहनमादिशन्ति' सूत्र के द्वारा सात रात्रि में स्नेहन नहीं होता है, यह कहा गया है। इसको इस प्रकार समझाया गया है– यह उचित है कि क्रूरकोष्ठ वाला व्यक्ति सात रात्रि में ही स्निग्ध हो जाता है, लेकिन यहाँ अत्यधिक क्रूर कोष्ठता का विचार करते हुए अधिक मात्रा में स्नेह के प्रयोग द्वारा स्नेहन कराना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में अल्प मात्रा में स्नेह का प्रयोग करने पर सात दिन में भी स्नेहन नहीं हो पाता। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा– "त्रिषट्कनवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते" [तीन दिन, छः दिन व नव रात्रि तक (९ दिन तक) स्नेहपान का प्रयोग बताया गया है।] के द्वारा सात दिन से अधिक स्नेहपान का विधान है। वह आचार्यों को भी स्वीकार है, अथवा सात दिन से अधिक असात्म्यीभूत रोगी में अधिक मात्रा में स्नेह पिलाकर स्निग्ध करना चाहिए, इस दृष्टि से यह विचार किया गया है। कुछ लोग सात दिन से अधिक तथा तीन दिन से पूर्व स्नेहपान का निषेध होने से **सद्यः स्नेहन** की प्रक्रिया एक दिन में ही पूर्ण हो जाती है, ऐसा कहते हैं। यद्यपि यहाँ मध्यम कोष्ठ वाले पुरुषों के लिए स्नेहपान की मर्यादा (प्रकर्षकाल) का उल्लेख नहीं किया गया है फिर भी मध्य विधि के अनुसार मध्यम कोष्ठ वाला पुरुष अधिकतम पाँच दिन में स्निग्ध हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए। जो लोग- 'मृदुकोष्ठं प्रति त्र्यहादूर्ध्वं न स्नेहनं कर्तव्यं सात्म्यीभावादिति चार्थो लभ्यते' [मृदुकोष्ठ वाले रोगियों में तीन दिन से अधिक स्नेहपान नहीं कराना चाहिए, क्योंकि उनमें इससे अधिक कराने पर स्नेह सात्म्य हो जाता है।] के द्वारा व्याख्या करते हैं। जब कि ऐसा नहीं है, अर्थात् तीन दिन से अधिक काल तक स्नेह प्रयोग करने पर स्नेह रोगी को सात्म्य नहीं होता है। शरीर में स्नेह की सात्म्यता तो सात दिन से अधिक काल तक लगातार स्नेह प्रयोग से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार मृदुकोष्ठ वाले रोगी में अल्प मात्रा में स्नेहपान कराने पर भी रोगी तीन दिन में स्नेहित नहीं होता, अतः इसमें भी तीन दिन से अधिक काल तक स्नेहन कराना चाहिए। ॥६॥

विशेष (Comments)– यहाँ मृदुकोष्ठ वाले पुरुष तीन दिन अच्छ स्नेह पीने के बाद स्निग्ध हो जाते हैं तथा क्रूरकोष्ठ वाले व्यक्ति सात दिन तक स्नेह पीने के बाद स्निग्ध हो जाते हैं, बताया गया है। मध्यकोष्ठ वाले रोगी चार या पाँच दिन स्नेहपान करने के बाद स्निग्ध होते हैं। यदि मृदुकोष्ठ वाले रोगी को तीन दिन तक स्नेहपान कराने के बाद सम्यक् स्नेहन के लक्षण न प्राप्त हों तब उसे चार या पाँच दिन तक स्नेहपान कराकर लक्षणों को प्राप्त कर लेना चाहिए। अथवा मध्यकोष्ठ वाले रोगी को छः दिन स्नेहपान करने के बाद यदि सम्यक् लक्षण मिले तो उसे प्राप्त करना चाहिए। यहाँ सम्यक् स्नेहन की मर्यादा तीन, पाँच अथवा सात दिन नहीं है, अपितु सम्यक् लक्षणों की उत्पत्ति से है, अर्थात् सम्यक् स्निग्ध के लक्षणों की प्राप्ति ही नियम है। अतः सात दिन से अधिक काल तक स्नेहपान कराकर यदि सम्यक् स्नेहन के लक्षण प्राप्त होते हों तो उसे प्राप्त करना चाहिए। यदि सात दिन तक स्नेहपान कराने के बाद भी सम्यक् स्नेहन के लक्षण न मिलें तब उस रोगी को एक दिन स्नेहपान रोककर (अर्थात् विश्राम कराकर) दूसरे दिन अधिक मात्रा में फिर से स्नेह पीने के लिए देना चाहिए, ऐसा वैद्यों का विचार है।

– अष्टाङ्ग हृदय की सर्वाङ्गसुन्दरा टीका पर आधारित।

स्नेहोऽनिलं हन्ति मृदूकरोति देहं मलानां विनिहन्ति सङ्गम् ।।७।।

स्नेहन से लाभ– १. वायु को दूर करता है, २. शरीर को मृदु बनाता है तथा ३. स्रोतसों में चिपके हुए मलों के अवरोध को दूर करता है।

चक्रपाणि– 'स्नेहोऽनिलं हन्तीत्यादि' के द्वारा संशोधन का ही एक भाग स्नेहन कर्म के लाभ (फल) को बताया गया है। ॥७॥

स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम् ।

Scanned by CamScanner

स्नेह पूर्वक स्वेदन से लाभ– सम्यक् स्नेहन के बाद स्वेदन कराने पर सूक्ष्म स्रोतसों में चिपके हुए दोष द्रवीभूत होकर (पिघलकर) बाहर निकल जाते हैं।

चक्रपाणि– 'स्निग्धेत्यादि' के द्वारा स्नेहपूर्वक स्वेदन के फल (परिणाम) को बताया गया है। सूक्ष्मेष्विति = सूक्ष्म स्रोतसों में भी।

ग्राम्यौदकानूपरसैः समांसैरुत्क्लेशनीयः पयसा च वम्यः ।।८।।
रसैस्तथा जाङ्गलजैः सयूषैः स्निग्धैः कफावृद्धिकरैर्विरेच्यः ।

वमनादि के पूर्व उत्क्लेशनीय आहार का प्रयोग– जिस व्यक्ति को वमन कराना है उसे एक दिन पूर्व ग्राम्य, आनूप अथवा औदक पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ दूध अथवा उड़द के साथ दूध को पिलाकर कफ को उत्क्लेशित कर लेना चाहिए तथा विरेचन योग्य पुरुषों को जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस रस अथवा यूष जो कफ को न बढ़ाने वाले हों, को विरेचन से पूर्व खिलाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'ग्राम्यौदकेत्यादि' के द्वारा स्नेहन-स्वेदन से युक्त वमन वाले रोगी को वमन कराने से पूर्व वमन के अनुरूप आहार द्रव्यों तथा विरेचन वाले रोगी को विरेचन के अनुरूप आहार द्रव्यों के सेवन की विधि को बताया गया है। 'रसैस्तथेत्यादि' के द्वारा विरेचनीय आहार के विधान को स्पष्ट किया गया है।

अत्र च उत्क्लेशनीय इति– जिसके साथ इसका सम्बन्ध होगा उसी के साथ उसका अर्थ लगाना चाहिए, यथा– वमन के साथ सम्बन्ध होने पर – कफोत्क्लेशक आहार तथा विरेचन के साथ सम्बन्ध होने पर पित्तोत्क्लेशक आहार का ग्रहण करना चाहिए। अथवा पित्त के साथ (विरेचन के साथ) उत्क्लेशनीय शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अतः यहाँ विरेचन कराने से तीन दिन पूर्व के काल में उन जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस, जो कफ के वर्धक न हों तथा कफनाशक मुद्गयूष आदि आहार द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए। यह भोजन विरेचन करने वाले रोगी को तीन दिन तक देना चाहिए, अर्थात् स्नेहन समाप्ति के बाद तीन दिन तक यह आहार सेवन कराना चाहिए तथा वमन हेतु कफोत्क्लेशक आहार एक दिन तक सेवन करावें। कहा भी गया है, यथा– **''स्नेहात् प्रस्कन्दनं जन्तुस्त्रिरात्रोपरतः पिबेत् । स्नेहवद्द्रवमुष्णं च त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम् ।। एकाहोपरतस्तद्वद्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्''** [आभ्यन्तर स्नेहपान के बाद विरेचक औषधि तीन दिन के बाद सेवन करें। इस अवधि में रोगी को स्निग्ध, द्रव व उष्ण मांसरस के साथ शाठी या साली चावल के भात का सेवन करें। सम्यक् स्नेहन के एक दिन छोड़कर वामक औषधि को पीना चाहिए, उस एक दिन के बीच के काल में कफोत्क्लेश आहार का सेवन करना चाहिए] प्रस्कन्दन = विरेचन ।।८।।

श्लेष्मोत्तरश्छर्दयति ह्यदुःखं विरिच्यते मन्दकफस्तु सम्यक् ।।९।।
अधः कफेऽल्पे वमनं विरेचयेद्विरेचनं वृद्धकफे तथोर्ध्वम् ।

प्रकृति के अनुसार शोधक औषधियों का प्रभाव– जिस व्यक्ति के शरीर में कफ की उल्बणता (अधिकता) रहती है ऐसे रोगी बिना कष्ट के वमन करते हैं, अर्थात् कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों में वमन सरलता से होता है तथा जिनके कोष्ठ में कफ अल्प रूप में बढ़ा रहता है उनमें सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है। कफ की अल्पता में वामक औषधि विरेचन के रूप में बाहर निकल जाती है तथा कफ की वृद्धि की अवस्था में विरेचक औषधि वमन के रूप में बाहर निकल जाती है। अतः वमन कराने से पूर्व कोष्ठ या शरीर में कफ उल्बणता (वृद्धि) आवश्यक है तथा विरेचक औषधि देने से पूर्व शरीर या कोष्ठ में कफ की **अल्पता** आवश्यक है।

चक्रपाणि– 'श्लेष्मोत्तर इत्यादि' के द्वारा वमन के योग्य रोगी में कफ की उल्बणता (कफ की प्रधानता) तथा विरेचनीय में कफ की अल्पता के हेतु को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् वामक औषधियों का प्रयोग वहीं सफल होगा जहाँ कोष्ठ में कफ की अधिकता हो तथा विरेचक औषधि अल्प कफ वाले रोगी में सफल होगी। 'अध इत्यादि' के द्वारा विपरीत अवस्था में क्या होगा, यह बताया गया है।

यदि कोष्ठ में कफ अल्प है तब ग्रहण की गयी वामक औषधि का विरेचन हो जायेगा। यदि कोष्ठ (ऊर्ध्व आमाशय) में कफ की वृद्धि है तब सेवन की गयी विरेचक औषधि वमन के रूप में बाहर निकल आयेगी। ।।९।।

स्निग्धाय देयं वमनं यथोक्तं वान्तस्य पेयादिरनुक्रमश्च ।।१०।।
स्निग्धस्य सुस्विन्नतनोर्यथावद्विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम् ।

२. द्वितीय प्रश्न 'क्रमश्च कः' का उत्तर– जो रोगी या व्यक्ति सम्यक् रूप से स्निग्ध हो गये हों, उनमें निर्दिष्ट विधि के अनुसार वमन कराना चाहिए। वमन के पश्चात् पेयादि क्रम (संसर्जन क्रम) का पालन करना चाहिए। जिन रोगियों को उचित रूप से स्नेहन व स्वेदन कराया जा चुका है उनमें उनके बल के अनुसार उचित विरेचक औषधियों के प्रयोग द्वारा विरेचन कराना चाहिए।

चक्रपाणि– यहाँ 'क्रमश्च क इति' प्रश्न के उत्तर को 'स्निग्धाय देयं वमनमिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

जिस दिन आतुर को वमन कराना इष्ट है उसी दिन बलादि तैल द्वारा उसका अभ्यङ्ग (Massage) कराना चाहिए, इसके पश्चात् वामक औषधि पीने के लिए देना चाहिए।

आभ्यन्तर स्नेहपान का निर्देश तो पूर्व में ही किया जा चुका है, अतः पुनः उसका यहाँ अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए। अन्य आचार्य गौण रूप में स्नेह गुण की वृद्धि हेतु ऐसा करने का निर्देश देते हैं।

यथोक्तमिति– मदन (फल) कल्प में वर्णित विधि के अनुसार वामक औषधि का प्रयोग करना चाहिए। 'वान्तस्येत्यादि' के द्वारा वमन के पश्चात् क्या करना चाहिए, इसे बताया गया है। पेयादि का विवेचन "पेयां विलेपीं" इत्यादि के द्वारा आगे किया जायेगा। अर्थात् सम्यक् वमन हो जाने के बाद पेया-विलेपी आदि क्रम का उचित रूप से पालन करना चाहिए। 'स्निग्धस्येत्यादि' के द्वारा वमन क्रम के अभिधान के पश्चात् विरेचन क्रम को बताया गया है। **सुस्विन्नतनोरिति–** स्नेहन के पश्चात् जिसका सम्यक् स्वेदन हो गया हो, उस रोगी का विरेचन कराना चाहिए।

अयं च विरेचनाङ्गः स्नेहस्वेदक्रमो वमनान्तरभाविविरेचनेऽपि पेयादिक्रमोत्तरकालं कर्तव्यः– स्नेहन व स्वेदन विरेचन का अङ्ग (एक भाग) होने से वमनोत्तर भावि विरेचन में भी इसका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग करके, अर्थात् विरेचन से पूर्व स्नेहन-स्वेदन कराकर रोगी को विरेचक औषधि पिलानी चाहिए। सम्यक् विरेचन के पश्चात् पेयादि संसर्जन क्रम का पालन करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– "विलेप्या क्रमागतं चैनं पुनरेव स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य विरेचयेत्" इति [रोगी को वमन कराने के बाद संसर्जन क्रम का प्रयोग करावें, जात बल हो जाने पर पुनः स्नेहन-स्वेदन कराकर विरेचन करावें।]

सम्यक् स्नेहन हो जाने पर तीन दिन रोगी को पित्तोत्क्लेशक अथवा कफ को न बढ़ाने वाले आहार का सेवन करावें। चौथे दिन विरेचक औषधि पिलाकर रोगी को सम्यक् विरेचन करावें।

तदुपक्रमाभिधानानुषङ्गप्रतिपादितमेवेति न पुनरिह प्रतिपाद्यते– उस (विरेचन) उपक्रम का अभिधान साथ में होने से पुनः उसका अलग से प्रतिपादन नहीं किया गया है, अर्थात् वमन के साथ ही विरेचन के भी क्रम को यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है।

यथावदिति– कल्पस्थान में वर्णित विधि के अनुसार।

योग्यतममिति शरीरदोषाद्यपेक्षया यद्विरेचनं यौगिकं भवति तद्देयम्– आतुर के शरीर एवं दोष आदि का विचार करते हुए आतुर हेतु जो विरेचक औषधि उपयोगी है उसी का प्रयोग करना चाहिए। ॥१०॥

विशेष– वमन-विरेचन विधि की तालिका

वमन विधि

मृदु कोष्ठ	१-३ दिन स्नेहपान	४थे दिन– अभ्यंग-स्वेदन, कफोत्क्लेशक आहार	अभ्यंग, स्वेदन, ५वें दिन वामक औषधि पिलाकर वमन	संसर्जनक्रम
मध्य कोष्ठ	४-५ दिन स्नेहपान	६वें दिन– अभ्यंग-स्वेदन, कफोत्क्लेशक आहार	अभ्यंग-स्वेदन, ७वें दिन वामक-औषधि पिलाकर वमन	संसर्जनक्रम
क्रूरकोष्ठ	५-७ दिन स्नेहपान	८वें दिन– अभ्यंग, स्वेदन, कफोत्क्लेशक आहार	अभ्यंग-स्वेदन, ९वें दिन वामक-औषधि पिलाकर वमन	संसर्जनक्रम

[अभ्यङ्ग व स्वेदन का प्रारम्भ आभ्यन्तर स्नेहपान समाप्ति के दिन से ही करते हैं।]

विरेचन विधि

मृदुकोष्ठ	१-३ दिन स्नेहपान	४,५,६वें दिन अभ्यङ्ग-स्वेदन पित्तोत्क्लेशक आहार जो कफ को न बढ़ावें	७वें दिन– अभ्यंग, स्वेदन, विरेचक औषधि देकर विरेचन करावें।
मध्यकोष्ठ	५ दिन स्नेहपान	६,७,८वें दिन (३ दिन अभ्यङ्ग-स्वेदन, पित्तोत्क्लेशक आहार जो कफ को न बढ़ावें	९वें दिन– अभ्यंग, स्वेदन, विरेचक औषधि देकर विरेचन करावें।
क्रूरकोष्ठ	७ दिन स्नेहपान	८,९,१०वें दिन (तीन दिन) अभ्यंग-स्वेदन, पित्तोत्क्लेश आहार जो कफ को न बढ़ावें	११वें दिन– अभ्यंग-स्वेदन, विरेचक औषधि देकर विरेचन करावें

Scanned by CamScanner

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च ।।११।।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ।

संसर्जन क्रम– जिन व्यक्तियों का शरीर वमन या विरेचन द्वारा प्रधान, मध्यम व अवर (हीन) रूप में शुद्ध हुआ है उनमें पेया, विलेपी, अकृत-कृत यूष व अकृत-कृत मांसरस का प्रयोग क्रमशः तीन अन्नकाल, दो अन्नकाल एवं एक अन्नकाल तक कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'पेयां विलेपीमित्यादि' के द्वारा वमन-विरेचन के बाद प्रयुक्त होने वाली पेयादि के क्रम को स्पष्ट किया गया है। **यवागूः बहुसिक्था–** यवागू में चावल के कणों की मात्रा अधिक होती है। यवागू का निर्माण छः गुने जल से करना चाहिए। **पेया सिक्थसमन्विता–** पेया में चावल के कण कम रहते हैं, द्रव की मात्रा ज्यादा होती है। विलेपी विरलद्रवा-विलेपी में द्रवांश कम रहता है, यह कृशरा (खिचड़ी) का ही एक रूप है। कहा भी गया है, यथा– "सिक्थकैः रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता । यवागूर्बहुसिक्थास्याद्विलेपी विरलद्रवा" इति। यहाँ अकृतयूष से तात्पर्य उस यूष से है जो घृत व सैन्धव नमक डालकर संस्कारित न किया गया हो अर्थात् तड़का न लगाया गया हो। कृतयूष स्नेह व लवण द्वारा संस्कारित यूष को कहते हैं। इसी प्रकार मांसरस के सम्बन्ध में भी कृत व अकृत की व्यवस्था करनी चाहिए। जिसके बारे में **सूदशास्त्र** में कहा भी गया है, यथा– **"अस्नेहलवणं सर्वमकृतं कटुकैर्बिना। विज्ञेयं लवणस्नेहकटुकैः संस्कृतं कृतम्"** इति। जो यूष अथवा मांसरस बिना स्नेह व लवण के तैयार किया जाता है उसे अकृत तथा जो स्नेह लवण व त्रिकटु (सोंठ, काली मिर्च व पिप्पली) डालकर तैयार किया जाता है उसे कृत कहा जाता है।

त्रिरिति– तीन अन्न काल तक, **द्विरिति–** दो अन्नकाल तक, एकश इति– एक अन्नकाल तक। यहाँ तीन अन्नकाल, दो अन्नकाल व एक अन्नकाल का सम्बन्ध पेयादि प्रत्येक के साथ है।

यहाँ ये **त्रिरित्यादि** तीन पक्ष से सम्बन्धित हैं– १. प्रधानशुद्धि, २. मध्यम शुद्धि, ३. अवर शुद्धि, इनका क्रमशः ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् प्रधान शुद्धि में पेयादि क्रम का पालन क्रमशः तीन-तीन अन्नकाल तक, मध्यम शुद्धि में दो-दो अन्नकाल तक तथा अवर शुद्धि में एक-एक अन्नकाल तक करना चाहिए।

तेन, प्रधानशुद्धिशुद्धे प्रत्येकं त्रिः पेयादि कर्तव्यम् – उससे प्रधान शुद्धि वाले व्यक्ति को तीन-तीन अन्नकाल तक पेयादि क्रम का पालन कराना चाहिए। अर्थात् तीन अन्नकाल में पेया, उसके बाद दूसरे तीन अन्नकाल में विलेपी, उसके बाद दूसरे तीन अन्नकाल में कृत-अकृत यूष के साथ अन्न तथा अन्य तीन अन्नकाल में कृत-अकृत मांसरस के साथ अन्न सेवन के लिए देना चाहिए। इस प्रकार बारह अन्नकाल द्वारा वमन के दिन सायंकाल से लेकर सात रात्रि तक पेयादि का यह क्रम पूर्ण होता है। इसी क्रम का उल्लेख उपकल्पनीय नामक अध्याय (सू.अ.१५) में – "ततः सायाह्ने लोहितशालितण्डुलानां" से लेकर द्वादशे चान्नकाले" तक किया गया है। यहाँ यद्यपि यूष एवं मांसरस का सेवन कितने अन्नकाल तक करना चाहिए, यह प्रतिपादित नहीं किया गया है, फिर भी तीन अन्नकाल तक यूष एवं तीन अन्नकाल तक मांसरस का सेवन कराना चाहिए, जिसमें पहले अकृतयूष उसके बाद कृतयूष का सेवन करावें। इसी प्रकार मांसरस का भी प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् पहले अकृत मांसरस, तत्पश्चात् कृतमांसरस का सेवन करें। इसी विधि के अनुसार मध्यम शुद्धि वाले व्यक्तियों में दो-दो अन्नकाल तक तथा अवर (हीन) शुद्धि वाले रोगियों में एक-एक अन्न काल तक पेयादि क्रम का निर्देश है। एक अन्न-काल वाले पेयादि क्रम में यद्यपि कृत-अकृत यूष व मांसरस के काल का विभाग का वर्णन नहीं किया गया है फिर भी एक ही काल में होने के कारण अल्प रूप में यूष तथा मांसरस को संस्कारित करके, जो कृत व अकृत दोनों का ही रूप होता है, प्रयोग करना चाहिए। चूँकि प्रधान शुद्धि में शरीर से दोषों के अत्यधिक निकलने तथा क्षोभ के कारण रोगी में अग्निमांद्य हो जाता है, इसलिये उसमें पेयादि क्रम का प्रयोग अधिक दिन तक कराने का निर्देश है, ऐसा जानना चाहिए। प्रधान शुद्धि आदि के लक्षणों का वर्णन आगे किया जायेगा। ।।११।।

विशेष (Comments)– प्रवर, मध्यम एवं अवर शुद्धि की दृष्टि से पेयादि क्रम की तालिका दी जा रही है–

प्रवर शुद्धि-१ (संसर्जनक्रम)

	प्रथम दिन १	द्वितीय दिन २	तृतीय दिन ३	चतुर्थ दिन ४	पञ्चम दिन ५	षष्ठ दिन ६	सप्तम दिन ७	कुल-१२ अन्नकाल सातवें दिन सामान्य भोजन
प्रातः	संशोधन कर्म कफ काल	पेया	विलेपी	विलेपी	अकृत यूष	अकृत मांस रस	कृतमांस रस	
सायं	पेया	पेया	विलेपी	अकृत यूष	कृतयूष	अकृत मांस रस	सामान्य भोजन	

Scanned by CamScanner

मध्यम शुद्धि- २ (संसर्जन क्रम)

	प्रथम दिन १	द्वितीय दिन २	तृतीय दिन ३	चतुर्थ दिन ४	पञ्चम दिन ५
प्रातःकाल	संशोधन कर्म	पेया	विलेपी	कृत यूष	कृत मांसरस
सायंकाल	पेया	विलेपी	अकृत यूष	अकृत मांसरस	सामान्य भोजन

कुल–८ अन्नकाल पाँचवें दिन रोगी सामान्य भोजन पर आ जाता है।

अवर शुद्धि- ३ (संसर्जन क्रम)

	पथम दिन १	द्वितीय दिन २	तृतीय दिन ३
प्रातःकाल	संशोधन कर्म	विलेपी	अल्पकृत मांसरस
सायंकाल	पेया	अल्पकृत यूष	सामान्य भोजन

कुल– ४ अन्नकाल तीसरे दिन रोगी सामान्य भोजन पर आ जाता है।

संसर्जनक्रम– पेयादि के सेवन का वह क्रम है जिसके द्वारा वमन व विरेचन के बाद शरीर में उत्पन्न होने वाली दुर्बलता व अग्निमांद्य को दूर करके रोगी को सामान्य भोजन पर लाया जाता है।

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ।।१२।।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव शुद्धस्य पेयादिभिरन्तराग्निः ।

संसर्जन क्रम का महत्व– जिस प्रकार अल्प अग्नि तृण गोमय (सूखी घास व कण्डे) आदि के प्रयोग द्वारा क्रमशः बढ़ जाती है उसी प्रकार संशोधित व्यक्ति की जाठराग्नि भी पेयादि के प्रयोग द्वारा प्रदीप्त हो जाती है तथा स्थिर व सब कुछ पचाने में समर्थ हो जाती है।

चक्रपाणि– संशोधन के पश्चात् होने वाली अग्निमांद्य को पेयादि के प्रयोग द्वारा दूर किया जाता है। इसे यहाँ – 'यथेत्यादि' के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। ।।१२।।

जघन्यमध्यप्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ ।।१३।।
दशैव ते द्वित्रिगुणा विरेके प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च । पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्थं कफान्तं च विरेकमाहुः ।।१४।।
द्वित्रान् सविट्कानपनीय वेगान्मेयं विरेके वमने तु पीतम् ।

त्रिविध शुद्धि के लक्षण– जघन्य (हीन), मध्य एवं प्रवर शुद्धि में वमन के वेग क्रमशः चार, छः व आठ आते हैं तथा विरेचन में हीन (जघन्य) शुद्धि, मध्य शुद्धि व प्रवर शुद्धि में वेग क्रमशः दस, बीस व तीस आते हैं। वमन की मात्रा क्रमशः एक प्रस्थ, डेढ़ प्रस्थ (१$^{१}/_{२}$ प्रस्थ) व दो प्रस्थ होती है।

विरेचन में निकलने वाले द्रव्यों की मात्रा क्रमशः दो प्रस्थ, तीन प्रस्थ, चार प्रस्थ होती है। अर्थात् हीन शुद्धि में दो प्रस्थ, मध्य शुद्धि में तीन प्रस्थ तथा प्रवर शुद्धि में चार प्रस्थ होती है। वमन के अन्त में **पित्त का निकलना** सम्यक् वमन का लक्षण है। वमन में निकलने वाले द्रव्य मात्रा में विरेचन की मात्रा से आधे होने चाहिए। **कफान्त विरेचन** (विरेचन के अन्त में कफ का निकलना) हितकर माना गया है। विरेचन से निकलने वाले द्रव्यों की मात्रा को तब नापना चाहिये जब मल के दो या तीन वेग निकल जाँय, तथा वमन से निकलने वाले द्रव्यों की मात्रा का तौल वामक औषधि के निकल जाने के बाद करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'जघन्येत्यादि' के द्वारा प्रधान, मध्य व अवर शुद्धि के लक्षणों को बताया गया है।

चतुर्भिर्वेगैर्यच्छोधनं वमनं तज्जघन्यम्– जिस शुद्धि में वमन के चार वेग आवें वह जघन्य (अवर) शुद्धि कहलाती है। जिसमें छः वेग आवे वह मध्यम शुद्धि तथा जिसमें आठ वेग आते हैं वह प्रवर शुद्धि कहलाता है। उसी प्रकार विरेचन में दस वेगों का आना जघन्य (हीन), बीस वेगों का आना मध्यम तथा तीस वेगों का आना प्रवर शुद्धि कहलाता है। वेगों की संख्या के आधार पर जघन्यादि के भेद को बताकर दोषों के मान के आधार पर विरेचन की जघन्य, मध्य व प्रवर भेद को क्रमानुसार 'प्रस्थस्तथेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

द्विगुणः प्रस्थो जघन्ये विरेचने, त्रिगुणश्चमध्यमे, चतुर्गुणस्तु प्रवरे– दो प्रस्थ – हीन शुद्धि, तीन प्रस्थ – मध्यम शुद्धि तथा चार प्रस्थ प्रवर शुद्धि में विरेचन द्वारा निकलने वाले द्रव्यों को मान होता है।

Scanned by CamScanner

यहाँ प्रस्थ शब्द से साढ़े तेरह पल (१३$^{१}/_{२}$ पल) का ग्रहण किया गया है, अर्थात् १ प्रस्थ = १३$^{१}/_{२}$ पल (५४ तोले)। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा– "वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः" इति [वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण में दोषों का माप करते समय १३$^{१}/_{२}$ पल का प्रस्थ होता है, ऐसा आचार्यों का कथन है।]

पित्तान्तमिष्टं वमनं विरेकादर्धमिति– विरेचन का जो मान क्रमानुसार जघन्य, मध्य व प्रवर शुद्धि के विभाग में बताया गया है उस मान का आधा वमन के जघन्य, मध्य व प्रवर विभाग में होता है, ऐसा जानना चाहिए।

वमन की श्रेष्ठ शुद्धि में वेगों के अन्त में पित्त का निकलना (पित्तान्त वमन) बताया गया है तथा विरेचन की श्रेष्ठ शुद्धि में अन्त में कफ का निकलना (कफान्त विरेचन) बताया गया है। इस प्रकार तीनों प्रकार की शुद्धि का विषयानुसार वर्णन किया गया है, ऐसा जानना चाहिए।

यदा चतुर्भिर्वेगैः प्रस्थमाने दोषे गते पित्तान्ततं सम्यग्वमनशुद्धिजलक्षणमुपलभ्यते तदा जघन्या शुद्धिः– वमन की जघन्य (हीन) शुद्धि में- ४ वेगों का आना, वमन से निकलने वाले द्रव्यों का मान – १ प्रस्थ (१३$^{१}/_{२}$ पल), वेगों के अन्त में पित्त का निकलना तथा शुद्धि के लक्षणों का मिलना; पाया जाता है। विरेचन की जघन्य शुद्धि में– विरेचन के दस वेगों का निकलना, विरेचन से निकलने वाले दोषों का मान- २ प्रस्थ, अन्त में कफ का निकलना तथा विरेचन के सम्यक् योग के लक्षणों का प्राप्त होना; पाया जाता है। इसी प्रकार वमन की मध्य व प्रवर शुद्धि में भी अन्त में पित्त का निकलना तथा विरेचन में अन्त में कफ का निकलना व सम्यक् योग के लक्षणों का मिलना पाया जाता है।

वमन एवं विरेचन में वेगों की संख्या तथा निकलने वाले दोषों की मात्रा के अभिधान के बाद सम्यक् शुद्धि के अन्तर्गत लैङ्गिकशुद्धि को पित्तान्तत्व तथा कफान्तत्व लक्षण के प्रतिपादनार्थ यहाँ बताया गया है। जिसे इस प्रकार समझाया जा सकता है– यहाँ वमन व विरेचन की ४ प्रकार की शुद्धि बतायी गयी है– १. आन्तिकी शुद्धि, २. वेगिकी शुद्धि, ३. मानिकी शुद्धि, ४. लैङ्गिकी (लाक्षणिक) शुद्धि। इस विचार से हम लोग असहमत हैं, लेकिन लैङ्गिकी शुद्धि एक प्रकार की शुद्धि है। वमन के लक्षणों में– पित्तान्तत्व (अन्त में पित्त का निकलना) तथा 'क्रमात् कफः' इत्यादि लक्षण को आगे बताया जायेगा। विरेचन में अन्त में कफ का निकलना (कफान्त विरेचन) तथा 'स्रोतोविशुद्धीन्द्रिय' इत्यादि के द्वारा लक्षणों को बताया गया है। उसी बात को **आयाढ़ वर्मा** द्वारा इस रूप में कहा गया है– "सम्यग्विशुद्धि लिङ्गं लक्षणतोऽथ मानाच्च वेगाच्च दोषागमनाच्चोक्तं, किमिदं व्यस्तं समस्तं वा" इति [सम्यक् शुद्धि के जो लक्षण – लक्षणरूप, मानरूप, वेगरूप व दोषागमन रूप बताये गये हैं, क्या वे अलग-अलग या समस्त रूप में माने गये हैं, यह शङ्का है।] यह विचार अभ्युगम रूप न होकर स्वीकार करने योग्य है, अर्थात् इसे अस्वीकार नहीं किया गया है। अन्य आचार्यों के अनुसार इस विचार को छोड़ा नहीं गया है, अपितु विस्तार भय के कारण नहीं लिखा गया है।

जघन्य, मध्य व प्रवर शुद्धि के तीन प्रकारों को जघन्य (हीन), मध्य व उत्कृष्ट दोषों के आधार पर समझना चाहिए। **जघन्यादि-शुद्धिलक्षणेऽपि यद्वेगेन जघन्यादिशुद्धिलक्षणाभिधानं, तत् प्रायो भावितया ज्ञेयम्–** जघन्य आदि शुद्धि के लक्षण में भी जो वेग के आधार पर जघन्यादि शुद्धि के लक्षणों का अभिधान (कथन) किया गया है वह बहुलता में (प्रायः) होता है, ऐसा जानना चाहिए। जबकि दोषों के मान के आधार पर जो जघन्यादि शुद्धि के भेद किये गये हैं, वही सर्वश्रेष्ठ हैं, अर्थात् वही वास्तविक हैं। उससे जहाँ वमन में– आठ वेग, वमन से निकलने वाले दोषों का मान - २ प्रस्थ हो, वह शुद्धि प्रवर शुद्धि ही होती है। जिस शुद्धि में – वमन के छः वेग, निर्हरित दोषों की मात्रा १$^{१}/_{२}$ प्रस्थ हो वह शुद्धि मध्यम शुद्धि कही जाती है।

इसी प्रकार वमन के चार वेग, निर्हरित दोषों का मान – १ प्रस्थ होने पर अवर शुद्धि ही समझना चाहिए। इसी प्रकार विरेचन के भी उदाहरणों को समझना चाहिए।

पित्तप्रवृत्तिरन्ते यस्मिन् तत् पित्तान्तम् एवं कफान्तमपि व्याख्येयम्– वमन क्रिया के अन्त में पित्त का निकलना पित्तान्त कहा जाता है तथा विरेचन क्रिया के अन्त में कफ का निकलना कफान्त कहा जाता है। वमन में दोषों के निकलने के क्रम को– 'क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च' के द्वारा तथा– "प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां" के द्वारा विरेचन में निकलने वाले दोषों के जिस क्रम को बताया गया है, वह इससे विरुद्ध नहीं है। वही जो अन्त में **वात** के निकलने की बात (कथन) कही गयी है वह पित्तान्त अथवा कफान्त लक्षण का सूचक है। आमाशय से पित्त व कफ के पूर्णतः निकल जाने पर ही केवल वायु का निर्हरण होता है। इस प्रकार केवल वायु के निकलने से ही पित्तान्तता व कफान्तता (पित्तान्त व कफान्त लक्षणों) का ज्ञान कर लेना चाहिए। यदि "क्रमात् कफः" इत्यादि के द्वारा ही शास्त्र में इस विषय को स्पष्ट कर दिया गया है तब यहाँ क्यों– 'पित्तान्तं च वमनं' व 'कफान्तं च विरेचनं' कहा गया है, यह शङ्का है। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं– वेगों की संख्या, दोषों के मान के भेदों के आधार पर प्रतिपादित होने वाले जघन्यादि तीन प्रकार की शुद्धि में ही पित्तान्तत्व आदि

Scanned by CamScanner

को बताने के लिए इसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार वमन-विरेचन के सम्यक् योग के लक्षणों के अभिधान में दोषों की अत्यधिक वृद्धि होने पर- शुद्धि के अयोग होने पर (वमन के वेग अल्प आने पर), अल्प शुद्धि (हीन शुद्धि) के वेगों के आने पर तथा साथ में **पित्तान्तत्व** (अन्त में पित्त का निकलना) आदि लक्षण न मिलने पर भी शिष्य को हीन शुद्धि का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी इसकी व्याख्या करनी चाहिए।

'द्वित्रानित्यादि' के द्वारा वमन व विरेचन से निकलने वाले दोषों का मापन किस प्रकार करना चाहिए, उसे बताया गया है।

द्वित्रानित्यव्यवस्थितभाषणेन मलभागस्यामेयतां दर्शयति- विरेचन में प्रारम्भ के दो या तीन वेगों के बाद निकलने वाले द्रव पदार्थों का माप करना चाहिए, अर्थात् प्रारम्भ के वेगों से निकलने वाले द्रव व मल पदार्थों का मापन नहीं करना चाहिए।

वमने तु पीतमिति- वमन में पी गयी औषधि को छोड़कर शेष निकलने वाले दोषों-कफादि पदार्थों को मापना चाहिए। [वमन के प्रारम्भ में पीत (पी हुई) औषधि ही बाहर निकलती है। अतः इसे छोड़कर शेष निकलने वाले पदार्थों को मापना चाहिए। ॥१३-१४॥

क्रमात् कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यग्वमितः स इष्टः ॥१५॥
हृत्पार्श्वमूर्धेन्द्रियमार्गशुद्धौ तथा लघुत्वेऽपि च लक्ष्यमाणे ।

३. तीसरे प्रश्न 'किं च कृताकृतेषु लिङ्गं तथैवातिकृतेषु' का उत्तर- सम्यक् वमन के लक्षण- सम्यक् वमन में सर्वप्रथम आमाशय व उरःभाग में स्थित कफ का निर्हरण होता है, अर्थात् कफ निकलता है, उसके बाद पित्त तथा अन्त में वायु निकलती है। व्यक्ति के हृदय प्रदेश, पार्श्व, मूर्धा (सिर) एवं इन्द्रियों के मार्ग शुद्ध हो जाते हैं तथा शरीर में हलकापन (लघुता) उत्पन्न हो जाता है। इन लक्षणों को देखकर सम्यक् वमन हुआ है, ऐसा समझना चाहिए।

चक्रपाणि- 'क्रमादित्यादि' के द्वारा यहाँ 'किं च कृताकृतेषु' इत्यादि प्रश्नों के उत्तर को क्रमशः बताया गया है। 'क्रमादित्यनेन' से निर्दिष्ट क्रम को छोड़कर (अन्य क्रम से) कफादि दोषों का निकलना सम्यक् योग के लक्षण नहीं है, यह दर्शाया गया है। यदि कफ से पहले पित्त का निर्हरण होता है तब पित्त के निकलने के बाद भी यह सम्यक् शुद्धि का लक्षण नहीं है, ऐसा जानना चाहिए । लेकिन जब अधो आमाशय स्थित पित्त वमन के रूप में बाहर निकलता है तभी शुद्धि होती है यह पित्त, कफ के निकलने के बाद ही निकलता है। इसी प्रकार सम्यक् विरेचन के लक्षण में भी 'क्रमात्' पद का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। ॥१५॥

दुश्छर्दिते स्फोटककोठकण्डूहृत्खाविशुद्धिर्गुरुगात्रता च ॥१६॥

वमन के अयोग के लक्षण- वमन के अयोग (हीन योग) में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं-

शरीर में स्फोटक (Pustular eruptions), कोठ (Urticaria), कण्डू (Itching), हृदय प्रदेश में भारीपन का होना, इन्द्रियों का शुद्ध न होना तथा शरीर में भारीपन (Heaviness of the body) ।

चक्रपाणि- 'दुश्छर्दिते इत्यादि' के द्वारा वमन के अयोग के लक्षणों का अभिधान किया गया है। ॥१६॥

विशेष (Comments)- 'अयोग' से यहाँ निर्धारित मात्रा से कम मात्रा में औषध प्रयोग करना, अर्थ लिया गया है। निर्धारित मात्रा से कम मात्रा में वामक औषधि प्रयोग करने पर दोष व वेग अल्प आयेंगे।

तृष्मोहमूर्च्छानिलकोपनिद्राबलादिहानिर्वमनेऽति च स्यात् ।

वमन के अतियोग के लक्षण- वमन के अतियोग में तृष्णा (प्यास का अत्यधिक लगना- Morbid thirst), मोह (unconsciousness), मूर्च्छा (fainting), वात का प्रकोप, निद्राहानि (Insomnia), बलहानि (debility) आदि लक्षण पाये जाते हैं।

चक्रपाणि- 'तृष्मोहेत्यादि' के द्वारा वमन के अतियोग के लक्षणों का वर्णन किया गया है। यहाँ 'आदि' शब्द से वर्ण, स्वर आदि का भी ग्रहण किया गया है, अर्थात् - वर्णहानि व स्वरहानि अर्थ लिया गया है। निद्रा का न आना, यहाँ वात प्रकोप के ही कारण होता है।

स्रोतोविशुद्धीन्द्रियसंप्रसादौ लघुत्वमूर्जोऽग्निरनामयत्वम् ॥१७॥
प्राप्तिश्च विट्पित्तकफानिलानां सम्यग्विरिक्तस्य भवेत् क्रमेण ।

सम्यक् विरेचन के लक्षण- १. स्रोतों का शुद्ध हो जाना, २. इन्द्रियों की कार्यक्षमता का बढ़ जाना, ३. शरीर का हलका होना, ४. मन का उत्साहित होना, ५. जाठराग्नि का प्रदीप्त होना, ६. स्वस्थता का अनुभव होना, ६. क्रमानुसार- मल, पित्त, कफ व वायु का निकलना। ये सभी लक्षण सम्यक् विरेचन में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि- 'स्रोतोविशुद्धीत्यादि' के द्वारा सम्यक् विरेचन के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। **ऊर्जोऽग्निरिति** पटुरग्निः = जाठराग्नि

Scanned by CamScanner

का तीव्र हो जाना (पाठभेद से 'बलवदग्निः' प्राप्त होता है।) **अनामयत्वमिति विरेचनजेतव्यदोषजनितविकारव्यपगमः–** विरेचन द्वारा प्रशमित होने योग्य दोषोत्पन्न विकार का शान्त होना (चिकित्सार्थ जिन व्याधियों में विरेचन का प्रयोग किया जा रहा है उन व्याधियों की तीव्रता में कमी का आना।)

'प्राप्तिश्च' की व्याख्या ग्रन्थ में अन्य स्थानों पर भी की गयी है। 'प्राप्ति' से यहाँ **निकलना** अर्थ लिया गया है, अर्थात् सम्यक् विरेचन में सबसे पहले पुरीष निकलता है, इसके बाद पित्त का निर्हरण होता है, तत्पश्चात् कफ निकलता है अन्त में वायु का आगमन होता है। ॥१७॥

स्याच्छ्लेष्मपित्तानिलसंप्रकोपः सादस्तथाऽग्नेर्गुरुता प्रतिश्या ।।१८।।
तन्द्रा तथा च्छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यं न च दुर्विरिक्ते ।

विरेचन के अयोग के लक्षण– विरेचन के अयोग (हीन योग) में रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. कफ, पित्त व वायु का प्रकुपित होना ।

२. जाठराग्नि का मन्द होना।

३. शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body) ।

४. प्रतिश्याय (Coryza) व तन्द्रा (drowsiness) का मिलना।

५. छर्दि (Vomiting), अरुचि (Anorexia) तथा वात का अधोमार्ग से न निकलना।

चक्रपाणि– 'स्यादित्यादि' के द्वारा विरेचन के अयोग के लक्षणों का अभिधान किया गया है। न च वातानुलोम्यमिति = वात का अनुलोमन (अधोमार्ग द्वारा प्रवृत्ति) न होना। ॥१८॥

विशेष (Comments)– न च वातानुलोम्यम् = वात विबन्ध (वात का अवरुद्ध हो जाना – शिवदाससेन।)

कफासृपित्तक्षयजानिलोत्थाः सुप्त्यङ्गमर्दक्लमवेपनाद्याः ।।१९।।
निद्राबलाभावतमः प्रवेशाः सोन्मादहिक्काश्च विरेचितेऽति ।

विरेचन के अतियोग के लक्षण– रोगी में विरेचन के अतियोग (अत्यधिक विरेचन) होने पर अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. कफ, रक्त व पित्त के क्षय होने से वात की वृद्धि का होना।

२. अङ्गों में सुप्तता का अनुभव होना (Numbness)

३. अङ्गमर्द (हाथ व पैरों में मर्दनवत् पीड़ा का होना – Malaise)

४. क्लम (मानसिक थकावट – Mental fatigue) तथा कम्पन (tremor) आदि लक्षणों का मिलना।

५. अनिद्रा (Insomnia), शारीरिक दुर्बलता (debility), आँखों के सामने अन्धकार छा जाना (fainting)।

६. उन्माद (Insanity) व हिक्का (Hiccup) का पाया जाना।

चक्रपाणि– 'कफास्रेत्यादि' के द्वारा विरेचन के अतियोग के लक्षणों को बताया गया है। यहाँ क्षय शब्द कफादि प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है। अर्थात् कफक्षय, रक्तक्षय, व पित्तक्षय अर्थ ग्रहण करना चाहिए। विरेचन द्वारा कफ, रक्त व पित्त के क्षय होने पर वात प्रकुपित हो जाती है।

संसृष्टभक्तं नवमेऽह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा ।।२०।।
तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्यात्प्यहान्नातिबुभुक्षिताय ।। प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हम् ।।२१।।
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नात्याशितः स्यादनुवासनीयः ।

बस्ति कल्पना– संसर्जन क्रम सातवें दिन पूर्ण होने पर आठवें दिन रोगी को सामान्य भोजन करावें। नवें दिन अनुवासन बस्ति अथवा घृतपान करावें। इसके बाद यदि रोगी अत्यधिक भूखा न हो तब उसे अभ्यङ्ग-स्वेदन कराकर तीसरे दिन निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् रोगी की क्षुधा अत्यधिक प्रदीप्त न हो तब उसे अभ्यंग व स्वेदन कराने के बाद निरूह बस्ति देनी चाहिए। निरूह बस्ति के निकल जाने पर आतुर को जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ आहार (भात) का सेवन कराना चाहिए। अथवा दोषादि के बल का विचार करते हुए जो आहार उसके योग्य हो, वही खाने के लिए देना चाहिए। यदि रोगी अनुवासन के योग्य है तब उसे निरूह वाले दिन (जिस दिन निरूह बस्ति दी गयी है) कुछ कम भोजन कराकर रात्रि में अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– वमन-विरेचन कल्पना के प्रस्ताव में सम्यक् योग आदि लक्षणों के विवेचन के बाद – 'संसृष्टभक्तमित्यादि' के द्वारा बस्तिकल्पना को बताया गया है।

सप्तभिर्दिनैः कृतसंसर्जनक्रमस्याष्टमे भुक्तमुपयुक्तस्य नवमेऽह्नि सर्पिः पानमनुवासनं वा देयम्– सात दिन तक संसर्जन क्रम कराने के बाद आठवें दिन रोगी को सामान्य भोजन कराकर नवें दिन घृतपान अथवा अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ दो विकल्प बताये गये हैं– १. यदि वमन के बाद रोगी को विरेचन कराना है तब नवें दिन घृतपान कराना चाहिए। २. यदि विरेचन के बाद बस्ति का प्रयोग करना हो तब नवें दिन अनुवासनं बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

वमन के बाद नवें दिन घृतपान का निर्देश पूर्व में नहीं दिया गया है। उससे यहाँ विरेचन के बाद प्रयोग किये जाने वाले बस्ति को निरूह का ही अंग अनुवासन होने से सर्पिःपान (घृतपान) शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् निरूह व अनुवासन दोनों में ही स्नेह प्रयुक्त होता है। यहाँ निरूह के अङ्ग के कारण **सर्पि पान** (घृतपान) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, अपितु घृतपान व अनुवासन बस्ति दोनों का ही उद्देश्य शरीर का स्नेहन करना है। नवें दिन की गणना शोधन (वमन या विरेचन) के दिन से ही प्रारम्भ करते हैं, ऐसा समझना चाहिए। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा– "शोधनानन्तरं नवमेऽह्नि स्नेहपानमनुवासनं वा" इति [वमन के बाद नवें दिन स्नेहपान तथा विरेचन के बाद नवें दिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।] तथा सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा– "विरेचनात् सप्तरात्रे गते जातबलाय च। कृतान्नायानुवास्याय सम्यग्देयोऽनुवासनः" (सु.चि.अ. ३७) इति [जिस रोगी का विरेचन हो चुका है, उसे सात दिन में संसर्जन क्रम के द्वारा जात बल कर लें, अर्थात् पेयादि के प्रयोग द्वारा सामान्य भोजन पर लावें। तत्पश्चात् अनुवासन के योग्य होने पर उसे अनुवासन बस्ति दें।]

उत्तरबस्तिचिकित्सिते च यः पेयादिक्रमानन्तरं रससंसर्जनक्रम उक्तः, स सर्वकर्मावसाने प्रकृतिभोजनगमनार्थं कर्तव्यः– उत्तरबस्ति चिकित्सा में पेयादि क्रम के बाद जो रससंसर्जन क्रम बताया गया है उसका प्रयोग सभी कर्मों की समाप्ति के बाद रोगी को प्रकृति (स्वाभाविक) भोजन पर लाने के लिए किया जाता है न कि वमन या विरेचन कर्म की समाप्ति के बाद किया जाता है। उससे यहाँ अकृत मांसरस सेवन कराये हुए व्यक्ति को नवें दिन घृतपान अथवा अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थ गृहीत है। जिसके बारे में आचार्य भद्रशौनक ने भी कहा है, यथा– "संसृष्टभक्तः सुमनाःस्नेहपीतो दृढ़ानलः। संशुद्धः परतो मासादनुवास्यस्ततो नरः" [जिस रोगी का संसर्जन क्रम पूरा हो चुका हो, रोगी सामान्य आहार पर हो, प्रसन्न मन वाला हो, स्नेहोत्तर (स्नेहपान के बाद) जिसकी जाठराग्नि प्रदीप्त हो गयी हो; ऐसे रोगी को शोधन के एक महीने बाद अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।] भद्रशौनक संहिता में अनुवासन अथवा स्नेहपान का निर्देश शोधन के एक महीने बाद दिया गया है। यह निर्देश अनुवासन के पूर्व आतुर को तैयार करने का है, अर्थात् किस प्रकार के व्यक्ति को अनुवासन बस्ति देनी चाहिए, यह बताया गया है। अथवा रोग विशेष की दृष्टि से है। अतः इसमें विरुद्धता नहीं है। इस विषय पर अङ्गिरि, सैन्धव जेज्जट, व ईश्वरसेन आदि आचार्यों की भी टीकायें हैं। अन्य आचार्यों द्वारा उन दोषों को दूर करने पर ही उनका निराकरण होगा।

तैलाक्तगात्रायेति वचनमभ्यङ्गेनापि स्नेहप्रयोगदर्शनार्थम्– तैलाक्तगात्राय– सम्पूर्ण शरीर में तैल से अभ्यङ्ग करके या जिस रोगी ने सम्यक् अभ्यङ्ग कर लिया हो। यहाँ अभ्यङ्ग शब्द से स्नेह प्रयोग का भाव प्राप्त होता है। स्वेदन शब्द का यहाँ प्रयोग नहीं किया गया है, फिर भी पञ्चकर्म के पूर्व में प्रयुक्त होने के कारण उसका भी यहाँ अनुक्त होते हुए भी ग्रहण कर लिया गया है। अर्थात् निरूहबस्ति देने से पूर्व रोगी का अभ्यङ्ग (Massage) व स्वेदन कराना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– **"तान्युपस्थितदोषाणां स्नेहस्वेदोपपादनैः। पञ्चकर्माणि कुर्वीत"** (सू.अ.२/१५) इति [स्नेहन व स्वेदन के द्वारा दोषों को उत्क्लेशित करके, मात्रा एवं काल का सम्यक् विचार करते हुए पञ्चकर्म का प्रयोग करना चाहिए।]

दद्यात्त्र्यहादिति अनुवासनदिनादूर्ध्वं त्र्यहात् – अनुवासन के तीसरे दिन निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। उससे स्नेह दान के एक या दो दिन बाद निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यही निरूह देने का क्रम बताया गया है।

'नातिबुभुक्षिताय इति' जिसकी क्षुधा अत्यधिक प्रदीप्त न हो, अर्थात् जिसे अत्यधिक भूख न लगी हो, अति बुभुक्षित व्यक्ति को निरूह बस्ति देने पर - निरूह का अतियोग अथवा औषधि मुख मार्ग से प्रवृत्त होने लगती है, अर्थात् निरूह के द्रव्य आमाशय में पहुँच जाते हैं।

जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ अन्न का सेवन निरूह बस्ति देने के बाद बताया गया है। बस्ति में विरेचन की तरह रोगी में अग्निमांद्य आदि भाव नहीं उत्पन्न होते, लेकिन निरूह बस्ति देने से दोष निर्हरित होने के कारण अल्प रूप में उत्पन्न बलक्षय को मांसरस तो दूर करता ही है। इसलिये यहाँ मांसरस का प्रयोग करना युक्तियुक्त है। जिसके बारे में आचार्य भोज ने कहा भी है, यथा–

Scanned by CamScanner

"आमस्तकाद्विशुद्धस्य निरूहेण रसादिकम् । किमर्थं विहितं भोज्यं संसर्गश्च विरिक्तवत् ।। विरेकः पावकं हन्ति तदधिष्ठानसंप्लवात् । न तु बस्तिस्तथा तस्माद्यथोन्नयति पावकम्" इति [निरूह के द्वारा शुद्ध रोगी में विरेचन की भाँति पेयादि क्रम का प्रयोग न कराकर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ अन्न का सेवन क्यों बताया गया है? क्योंकि ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान होने से विरेचक औषधि ग्रहणी को आप्लावित करती है, इसलिए अग्निमांद्य उत्पन्न होता है, जबकि निरूहबस्ति के द्रव्य ग्रहणी को प्रभावित नहीं करते, अतः इसमें अग्नि विकृत नहीं होती।] निरूह बस्ति में भी दोष व अग्नि बल का विचार करते हुए मांसरस आदि अथवा पेया आदि का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिए, जिसे यहाँ – 'समीक्ष्य वा दोषबलं यथार्हमिति' के द्वारा बताया गया है।

बलमिति = अग्निबल का विचार करना। 'नरस्तत इत्यादि' के द्वारा निरूह दिये गये व्यक्ति में अनुवासन के प्रयोग को बताया गया है। **निशीति–** जिस दिन निरूह बस्ति दी जाती है, उसके बाद उसी दिन रात्रिकाल (सायंकाल) में अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

न शीते वसन्ते च सद्योनिरूढस्य रात्रावेवानुवासनं न देयमिति– शीत व वसन्त ऋतु में तत्काल निरूह दिये जाने के बाद रात्रि में अनुवासन बस्ति नही देना चाहिए। अन्य आचार्य 'निशि इति' से निरूह दिये गये व्यक्ति को उसी दिन सायंकाल अनुवासन बस्ति देनी चाहिए, अर्थ ग्रहण करते हैं। उससे निर्दिष्ट विभाग के अनुसार रात्रि अथवा दिन में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अनुवासनार्ह इति = अनुवासन के योग्य पुरुष को, नित्य निरूह के बाद सायंकाल अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। यदि शरीर में आमता हो अथवा जाठराग्नि मन्द (अग्निमांद्य) हो तब निरूह के दिन अनुवासन का प्रयोग न करके अगले दिन अथवा उसके अगले दिन अनुवासन देनी चाहिए। आचार्य जतूकर्ण दूसरे दिन ही अनुवासन देने का निर्देश देते हैं, यथा– "ततस्त्र्यहात्निरूहे व्युषिते भुक्तवतोऽनुवासनम्" (निरूहबस्ति देने के दूसरे दिन (Next day) सायंकाल अल्प भोजन कराकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।) हारीतसंहिता में भी यही बात बतायी गयी है, यथा– "व्युष्टं रजन्यां प्रसमीक्ष्य तस्माद्बलाबलं वाऽप्यनुवासनीयः" [निरूह बस्ति देने के बाद दोषों का निर्हरण हो जाय, रात्रि सुखपूर्वक बीत जाय तब रोगी के बलाबल का विचार करते हुए दूसरे दिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।]

"सद्यो निरूढोऽनुवासस्य स्यात्" [निरूह देने के तत्काल बाद सायंकाल अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।] यह शब्द निरूह से उत्पन्न वात के क्षोभ को ध्यान में रखकर कहा गया है, अर्थात् निरूह जनित वात क्षोभ की अवस्था में उसी दिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

[अत्यधिक वात प्रकोप की अवस्था में नित्य अनुवासन बस्ति का प्रयोग किया जा सकता है।] ॥२०-२१॥

शीते वसन्ते च दिवाऽनुवास्यो रात्रौ शरद्ग्रीष्मघनागमेषु ।।२२।।
तानेव दोषान् परिरक्षता ये स्नेहस्य पाने परिकीर्तिताः प्राक् ।

अनुवासन बस्ति का काल (Time of Anuvāsana)– शीत व वसन्त ऋतु में दिन में, अर्थात् प्रातःकाल एवं शरद्, ग्रीष्म व वर्षा काल में रात्रि (सायंकाल) में अनुवासन वस्ति का प्रयोग करना चाहिए। उन्हीं अपथ्यों से शरीर की यहाँ भी रक्षा करनी चाहिए जिसका विवेचन पूर्व में स्नेहपान के प्रकरण में किया गया है। अर्थात् स्नेहपान विधि में जिन अपथ्यों का परित्याग करना चाहिए वही विधान यहाँ भी अपनाना चाहिए।

चक्रपाणि– 'निशीत्यनेन' से अनुवासन बस्ति का प्रयोग रात्रि के समीप काल अर्थात् सायंकाल में करने का विधान बताया गया है। यहाँ अनुवासन बस्ति काल भेद (ऋतु भेद) से भिन्न-भिन्न कालों में देने का निर्देश है, जिसे यहाँ– 'शीते इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। शीत शब्द से यहाँ शिशिर व हेमन्त दोनों ऋतुओं का ग्रहण किया गया है।

दिवा इति निशासमीपे दिवाभागे, रात्रावपि च दिनसमीपायां रात्रौ– 'दिवा' से रात्रि के समीप दिन के भाग (प्रातःकाल) में तथा रात्रि से दिन के समीप रात्रि के भाग, अर्थात् सायंकाल का ग्रहण किया गया है । **दोषान् परिरक्षता–** दोषों की रक्षा करते हुए, स्नेहपान अथवा आभ्यन्तर स्नेह प्रयोग से होने वाले दोषों से रक्षा करते हुए, अर्थात् स्नेहपान अध्याय (सू.अ.१३) में स्नेह सेवन काल में रोगी को जिन वस्तुओं या आहार-विहार का त्याग करना चाहिए, उसका परित्याग यहाँ भी करना चाहिये, जिसे वहाँ "श्लेष्माधिको दिवा शीते" इत्यादि के द्वारा ग्रन्थ में बताया गया है। जो दोष अनुचित समय (अकाल) में स्नेह पीने से उत्पन्न होते हैं वही दोष विपरीत काल में अनुवासन बस्ति देने पर उत्पन्न होते हैं। स्नेहाध्याय में– "वातपित्ताधिको रात्रावुष्णे चापि पिबेन्नरः। श्लेष्माधिको दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे" [वातपित्त की अधिकता अथवा उष्णकाल (ग्रीष्म) में रात्रि में तथा कफ की अधिकता अथवा शीतकाल में दिन के मध्याह्न में स्नेहपान करना चाहिए।] के द्वारा रात्रि और दिन में स्नेहपान करने का निर्देश दिया गया है वही यहाँ भी सामान्य न्याय से किसी एक भाग में कहने पर भी अनुक्त दूसरे भागों का अनुमान लगा लेना चाहिए, अर्थात् किसी विशेष अवस्था में प्रतिपादित निर्देश का पालन अन्य स्थानों पर भी सामान्य न्याय से लागू होता है। ॥२२॥

प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम् ।।२३।।
सायं च भोज्यं परतो द्व्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा । त्र्यहे त्र्यहे वाऽप्यथ पञ्चमे वा दद्यान्निरूहादनुवासनं च ।।२४।।

Scanned by CamScanner

अनुवासन बस्ति देने का क्रम– अनुवासन बस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह के गुदा से बाहर निकल जाने पर व्यक्ति को रात में किसी प्रकार का भोजन न दें, अर्थात् रात्रि के सुखपूर्वक व्यतीत हो जाने पर दूसरे दिन प्रातःकाल व सायंकाल के भोजन के बाद उसके दूसरे दिन, या तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। निरूह बस्ति देने के तीन-तीन दिन पर अथवा पाँचवें दिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– प्रत्यागते चेत्यादौ अनुवासनीये इति– अनुवासन में प्रयुक्त स्नेह के वापस लौट आने पर। **व्युषिताय इति–** रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हो जाने पर दूसरे दिन प्रातः एवं सायंकाल पथ्य भोजन करावें। 'त्र्यहेवेत्यादि' के द्वारा अनुवासन के बाद पुनः कब अनुवासन वस्ति देनी चाहिए, इसे बताया गया है। यहाँ भी पूर्व की भाँति ही तीन-तीन दिन अथवा पाँच दिन की व्यवस्था है, अर्थात् ३-३ दिन अथवा ५-५ दिन के अन्तराल पर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। निरूह बस्ति जिस दिन दी जाती है यह अनुवासन बस्ति उसी दिन देना चाहिए, अर्थात् प्रातःकाल निरूह बस्ति, सायंकाल अनुवासन बस्ति दें। अन्य आचार्य इसको इस प्रकार पढ़ते हैं, यथा– परतो द्व्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वेति (दूसरे दिन, तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासन बस्ति देनी चाहिए) यहाँ अत्यधिक रूप से वात के प्रकुपित होने पर दूसरे दिन अनुवासन बस्ति देने का निर्देश है, अनतिप्रकोप की अवस्था (न तो अत्यधिक न तो अल्प वात प्रकोप की अवस्था) में तीन-तीन दिन पर तथा प्रवृद्ध कफ व पित्त अवस्था में पाँचवें दिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। दूसरे दिन अनुवासन का विधान हारीत संहिता में भी बताया गया है, यथा– "दृष्ट्वाऽतिवृद्धं पवनस्य रूपं दिने दिने बस्तिमुदाहरन्ति" [यदि रोगी में वात की अति प्रबलता है, अर्थात् अत्यधिक प्रकोप है तब नित्य अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।] सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा– "रूक्षस्य बहुवातस्य स्नेहबस्तिं दिने दिने। दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्त्यहात्" (सु.चि.अ. ३७) इति [यदि रोगी का शरीर अत्यधिक रूक्ष है, अथवा वात अत्यधिक प्रकुपित है तब उसे प्रतिदिन स्नेहबस्ति देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त रोगी की अग्नि अल्प है या अग्निमांद्य होने का भय है तब उसे तीन-तीन दिन पर अनुवासन बस्ति दें।] यहाँ भी "रूक्षनित्यस्तु" इत्यादि से लेकर "वातार्ताश्च दिने दिने" तक जो दो-दो दिन पर अनुवासन का विधान आगे किया जायेगा। इस कारण "द्व्यहे वा त्र्यहे वा" पाठ का अभिधान होना उचित है।

द्व्यहशब्देन चात्र दिनद्वयसम्बन्धमात्रमुच्यते, न द्व्यह पूरणम्– 'द्व्यह' शब्द से यहाँ दो दिन के सम्बन्ध मात्र का भाव है न कि दो दिन के पूरा होने पर अनुवासन बस्ति का विधान है। अर्थात् एक दिन के बीत जाने पर (२४ घण्टे बीत जाने पर) दूसरा दिन शुरू हो जाता है, अतः दूसरे दिन के प्रारम्भ में ही बस्ति देनी चाहिए।

उससे अनुवासन देने के एक दिन पूर्ण होने पर तीसरे दिन पुनः अनुवासन देना चाहिए, यह जो कहा गया है उसका निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार त्र्यहे से तीसरे दिन का ग्रहण करना चाहिए।

एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पञ्च तु सप्त वाऽपि । वाते नवैकादश वा पुनर्वा बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्यात् ।।२५।।

दोष भेद से अनुवासन बस्ति का विधान– (प्रश्न नं.४ 'संख्या का' का उत्तर)– कुशल चिकित्सक को विषम संख्या में ही बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए, सम संख्या में बस्तियाँ नहीं देना चाहिए– १. कफज विकार में एक अथवा तीन बस्ति। २. पित्तज विकार में पाँच से सात बस्ति ३. वातज व्याधियों में नौ या ग्यारह बस्ति देनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'एकं तथा त्रीनित्यादि' के द्वारा दोषभेद से अनुवासन के नियम को बताया गया है। इससे 'संख्याः कति' इति का उत्तर दिया गया है। दूसरे संख्या विषयक प्रश्न के उत्तर को 'त्रिंशन्मताः कर्मसु' इत्यादि के द्वारा आगे दिया जायेगा। यद्यपि कफज व पित्तज व्याधियों में अनुवासन बस्ति देने का विधान नहीं है फिर भी यहाँ यह निर्देश वातज व्याधियों में कफ-पित्त के **अनुबन्ध** को ध्यान में रखकर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

पुनर्वेत्यनेन वाते नव एकादश वा कुर्यात्– वातज व्याधियों में नव या ग्यारह अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। अयुग्म से यहाँ बस्तियों का प्रयोग सम संख्या में न करके विषम संख्या में करना चाहिए, अर्थात् २, ४, ६, ८ की संख्या में बस्ति न दें।

अयुग्मदानं प्रभावादेवात्रोपकारीति महर्षि वचनाद्वोध्यं– अयुग्म (विषम) संख्या में बस्ति का प्रयोग प्रभाव से यहाँ कल्याणकारी (लाभप्रद) होता है, इसलिये महर्षि के वचन का निषेध (विरोध) नहीं किया गया है। यथा– "युग्मेष्वहःसु पुत्रकामौ संवसेताम्" (शा.अ.८) इति [पुत्र की इच्छा रखने वाला पुरुष रजःस्नान से युग्म दिनों में मैथुन में प्रवृत्त होवे, अर्थात् पुत्रकामी पुरुष को स्त्री के रजःशुद्धि के बाद दूसरे, चौथे, छठवें दिन मैथुन में प्रवृत्त होना चाहिए।], विस्तार भय के कारण यहाँ इसके कारण का वर्णन नहीं किया गया है। जहाँ आगे "त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड् वा" इत्यादि के द्वारा युग्म (सम) संख्या में बस्ति प्रयोग का निर्देश किया जायेगा वहाँ निरूह के अङ्ग रूप होने से स्नेहन हेतु किये जाने वाले अनुवासन के विषय से सम्बन्धित है। अर्थात् निरूह के साथ जहाँ अनुवासन का प्रयोग बताया गया है, उसके लिए है। लेकिन यहाँ अनुवासन ही मुख्य विषय होने से अयुग्म संख्या प्रतिपादित है। इससे सम संख्या के प्रतिपादन का विरोध नहीं होता। अर्थात् समसंख्या व विषम संख्या में बस्ति देने की जो बात कही गयी है, उसकी आपस में विरुद्धता नहीं है।

Scanned by CamScanner

इसी विषय को आषाढवर्मा ने इस प्रकार समझाया है, यथा- **''निरूहकार्यकारणमयुग्मदानमस्मिन्नोक्तं निषिद्धपूर्वं च, योगस्यान्ते क्रमादेकं तथा त्रीनित्यादीन् स्नेहान् प्राह''** [यहाँ निरूह बस्ति कार्य कारण भाव से अयुग्म (विषम) संख्या में देने का निर्देश नहीं दिया गया है, क्योंकि इसका निषेध तो पूर्व में ही किया जा चुका है, **योग बस्ति** के अन्त में एक स्नेहबस्ति, कालबस्ति के अन्त में तीन स्नेहबस्ति तथा कर्मबस्ति के अन्त में पाँच स्नेहबस्ति दी जाती है।

१. कर्मबस्ति– पहले स्नेह वस्ति + **१२ निरूह + १२ अनुवासन** + ५ स्नेहबस्ति

बदल-बदल कर क्रमशः

२. कालबस्ति– पहले स्नेह बस्ति + ६ निरुह + ६ अनुवासन + ३ स्नेहबस्ति

३. योगबस्ति– पहले स्नेह बस्ति + ३ निरूह + ३ अनुवासन + १ स्नेह बस्ति

इससे उसका निराकरण हो जाता है।

किंच अयुग्मानित्यनेन पुनर्वेत्यनेन च यत्रानुवृत्त्याऽनुवासनं देयं तत्रायुग्मकं निरूहान्तरितं च कर्तव्यमित्यर्थः– अथवा अयुग्म से- जहाँ बार-बार अनुवासन का प्रयोग करना होता है वहाँ अयुग्म संख्या में निरूह के बीच-बीच में अनुवासन बस्ति देनी चाहिए, अर्थात् निरूह के बाद अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। इस प्रकार निर्दिष्ट संख्या में निरूह देने के बाद उसी संख्या में स्नेहबस्ति भी देनी चाहिए

विषमसङ्ख्योपादानं तु मध्यविधयाऽपि द्व्यहचतुरहादिग्राहकं भवति– विषम संख्या में बस्ति का प्रयोग मध्य विधि के अनुसार २ या ४ दिन के बाद देना चाहिए, उससे आगे वर्णित अनुवासन बस्ति की संख्या का विरोध नहीं होता। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा- "निरूहे व्युषिते भुक्तवतोऽनुवासनं परं द्वितीयेऽहनि पञ्चमे वा तथैकादशाहेऽपकर्षतो द्वित्रिचतुरादि(?) वातादिषूच्यते" इति [निरूह के बाद जब रात्रि सुखपूर्वक बीत जाय तब दूसरे दिन आतुर को लघु आहार खिलाने के बाद अनुवासन बस्ति देनी चाहिए- कब? द्वितीय अहनि, पञ्चमे वा एकादशाहे- दूसरे दिन, अथवा पाँचवें दिन अथवा ग्यारहवें दिन अथवा वातादि के क्षीण होने पर २-३ या ४ दिन के बाद भी दिया जा सकता है।]

नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्तदिनान्यवश्यम्। शुद्धो निरूहेण विरेचनं च तद्ध्यस्य शून्यं विकसेच्छरीरम् ।।२६।।

निरूह एवं विरेचन के मध्य सात दिन का अन्तराल आवश्यक– जिस व्यक्ति का विरेचन कराया गया हो उसे सात दिन तक निश्चित रूप से निरूह बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। उसी प्रकार निरूह द्वारा शुद्ध व्यक्ति को सात दिन के अन्दर विरेचन नहीं कराना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तब निरूह द्वारा शून्य (रिक्त) शरीर को विरेचन तथा विरेचन से शून्य (रिक्त) शरीर को निरूह नष्ट कर देता है।

चक्रपाणि– 'नरो विरिक्तस्त्वित्यादि' के द्वारा निरूह बस्ति व विरेचन के मध्य के अन्तराल (Gap) का पालन अवश्य करना चाहिए, अर्थात् निरूह के बाद सात दिन के अन्दर कभी भी विरेचन नहीं देना चाहिए, उसी प्रकार विरेचन के सात दिन के भीतर निरूह बस्ति नहीं देनी चाहिए। **अवश्यमिति वचनादेकाहसाध्येऽपि व्याधावश्यं सप्तदिनच्छेदः कर्तव्य इति दर्शयति–** 'अवश्य' शब्द से – जब निरूह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग एक ही दिन करते हैं तब निश्चित रूप से **सात दिन** के निर्देश का पालन करना चाहिए, अर्थ लिया गया है।

[The term 'Avas'yam' meaning 'must' implies that even if a disease can be cured by either of the two (Nirūha and purgation) therapies administered only for one day, then also a gap of seven days must be maintained between them. – Dr. R.K. Sharma and Dr. Bhagvan das]

पञ्चकर्मीया सिद्धि नामक अध्याय में यद्यपि विरेचन के बाद निरूह बस्ति तथा निरूह बस्ति के बाद विरेचन निषेध किया गया है। यह निर्देश 'तत्काल' के अर्थ में है, अर्थात् विरेचन के तत्काल बाद निरूह बस्ति अथवा निरूह बस्ति के तत्काल बाद विरेचन नहीं कराना चाहिए। इस सूत्र से तीन या चार दिन के बाद भी निरूह के अनन्तर विरेचन देने का भाव नहीं रखना चाहिए, बताया गया है। जहाँ विरेचन के नवें दिन अनुवासन देने के बाद निरूह देने का विधान है उससे समय से पहले आवश्यक होने पर भी बस्ति नहीं देनी चाहिए, यह कहा गया है, जबकि ऐसा नहीं है। क्योंकि अनुवासन द्वारा शुद्ध पुरुष की दृष्टि से संसर्जन क्रम की यह व्यवस्था है, अर्थात् नव दिन बाद निरूह बस्ति का जो निर्देश दिया गया है वह संसर्जन क्रम को ध्यान में रखकर दिया गया है। जब अवर (जघन्य = हीन) शुद्धि में तीसरे दिन पेयादि क्रम पूर्ण हो जाता है वहाँ चौथे दिन अनुवासन देने के बाद पाँचवें अथवा छठवें दिन निरूह बस्ति देनी चाहिए। अतः उसके निराकरणार्थ इस वचन को कहा गया है। निरूह बस्ति देने के बाद संसर्जन क्रम का कोई विधान नहीं है, अतः तीन दिन स्नेहपान कराकर विरेचन का प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन ऐसा करना नहीं चाहिए, इसी का उत्तर सहेतुक (सकारण) – 'तद्ध्यस्येत्यादि' के द्वारा यहाँ दिया गया है। **विकसेदिति** = हिंस्यात् (शरीर को नष्ट करने के कारण)

Scanned by CamScanner

शून्यमिति पूर्वशोधनशून्यशरीरं पुनः शोधनात् हिंस्यादिति भावः– पूर्व शोधन द्वारा रिक्त शरीर का पुनः शोधन कराने से शरीर नष्ट हो जाता है, अर्थात् शरीर अतिदुर्बल हो जाता है।

यत्तु ''आसप्ताहाद्विरेको वा ततश्चापि निरूहणम्'' इति तन्त्रान्तरे प्रोक्तम्– अन्य शास्त्रों में जहाँ सात दिन के अन्दर (पूर्व) विरेचन अथवा विरेचन के बाद निरूह का निर्देश दिया गया है वह संसर्जन क्रम को दृष्टगत रखते हुए शोधन क्रम के सम्बन्ध में है, ऐसा जानना चाहिए। वहाँ भी यह निर्देश संसर्जन व स्नेहन के एक सप्ताह में पूरी होने की प्रक्रिया के विकल्प को छोड़कर है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। ॥२६॥

बस्तिर्वयःस्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधास्वरवर्णकृच्च । सर्वार्थकारी शिशुवृद्धयूनां निरत्ययः सर्वगदापहश्च ॥२७॥
विट्श्लेष्मपित्तानिलमूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च ॥ विश्वक्स्थितं दोषचयं निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः ॥२८॥

'किं गुणः बस्तिः' प्रश्न संख्या ५ का उत्तर– निरूह (आस्थापन) बस्ति के गुण– बस्ति (निरूह बस्ति) शरीर में निम्नलिखित भावों को उत्पन्न करती है– १. आयु (वय) को स्थिर रखती है, अर्थात् शीघ्रता से जरा (वृद्धावस्था) को नहीं आने देती। [इसके प्रयोग से बुढ़ापा देर में आता है], २. सुख (प्रसन्नता), आयु, शारीरिक बल, जाठराग्नि, मेधा (Intellect), स्वर एवं वर्ण (Complexion) को बढ़ाती है, ३. सर्वार्थकारी, व्यक्ति के सभी कार्यों को सिद्ध करती है, ४. बालक, वृद्ध एवं युवा; सभी के लिए हितकर है, अर्थात् सभी में इसका प्रयोग किया जा सकता है, ५. इसके प्रयोग से सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं, अर्थात् यह सभी व्याधियों को दूर करती है, ६. निरूह बस्ति शरीर से पुरीष, कफ, पित्त, वायु एवं मूत्र को बाहर निकालती है, ७. इसके प्रयोग से शरीर दृढ़ हो जाता है, ८. इसके प्रयोग से **शुक्रबल** (मात्रा, संख्या, गति आदि) की वृद्धि होती है, ९. निरूह बस्ति सम्पूर्ण शरीर में स्थित (विद्यमान) दोषों के संचय को दूर कर सभी व्याधियों का प्रशमन करती है।

[विष्वक् = सर्वत्र सा सर्वव्यापक; सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए दोषों के सञ्चय को निरूह बस्ति शरीर से बाहर निकाल देती है जिससे, उन दोषों से होने वाली व्याधियाँ नहीं हो पाती]

चक्रपाणि– 'किं गुणो बस्तिः' [बस्ति के क्या गुण हैं?] इस प्रश्न का उत्तर – 'बस्तिर्वयःस्थापयितेत्यादि' के द्वारा दिया गया है। यहाँ वर्णित गुण आस्थापन (निरूह) बस्ति के हैं। अनुवासन बस्ति के गुणों का वर्णन 'देहे निरूहेण' इत्यादि के द्वारा आगे के श्लोकों में बताया गया है।

वयः स्थापयतीति वयःस्थापयिता– वय (उम्र) को स्थिर रखती है, यथा– अधिक वय (उम्र) होने के बाद भी व्यक्ति कम उम्र वाले जैसा दिखता है। वयः स्थापन का कार्य स्रोतस् के शुद्ध होने के कारण होता है। निरूह बस्ति द्वारा शरीर के सभी स्रोतसों में चिपके हुए दोष निर्हरित हो जाते हैं, परिणामतः स्रोतस् शुद्ध हो जाता है जिससे रसादि निर्माण की प्रक्रिया तेज हो जाती है।

सर्वार्थकारीति स्थिरत्वापकर्षादिविरुद्धार्थस्यापि भेषजविशेषयोगात्– प्रत्येक कार्य को सिद्ध करने वाला, शरीर को स्थिर रखना एवं दोषों का निर्हरण, दोनों आपस में विरुद्ध कार्य होते हुए भी औषध विशेष के प्रयोग से यह कार्य संपादित होता है।

'शिशुवृद्धयूनां निरत्यय इति'– शिशु, वृद्ध एवं युवा तीनों में इसका प्रयोग निरापद होता है, अर्थात् तीनों में इसका प्रयोग कराया जा सकता है। वमन-विरेचन की तुलना में शिशु, वृद्ध एवं युवा (वयस्क) पुरुषों में बस्ति का प्रयोग ज्यादा निरापद है, अर्थात् इससे उपद्रव कम उत्पन्न होते हैं । जबकि शिशुओं एवं वृद्ध पुरुषों में वमन या विरेचन का प्रयोग निषिद्ध है।

सर्वगदापहत्वं संशमनेन ज्ञेयम्– संशमन औषध के साथ यह सभी विकारों को दूर करती है, अर्थात् तद्-तद् व्याधिनाशक औषधियों के योग से दी गयी निरूहबस्ति सभी विकारों में लाभदायक होती है, यथा– वातनाशक द्रव्यों के योग से वातज व्याधियाँ, पित्तनाशक द्रव्यों के योग से पित्तज व्याधियाँ तथा कफनाशक द्रव्यों के योग से कफज व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

सर्वान् विकारान् शमयेदित्यनेन– सभी विकारों का शमन करती है; संशोधन कार्य करने से सभी व्याधियों को दूर करती है। अतः 'सर्वगदापहत्वमुच्यत' इति– यहाँ बस्ति को सर्वव्याधिनाशक कहना पुनरुक्त दोष के अन्तर्गत नहीं आता।

'किंवा सर्वान् विकारान् इति' अथवा बस्ति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त दोषों का निर्हरण करने के कारण सर्वव्याधि नाशक होती है, यही मुख्य है। ॥२७-२८॥

देहे निरूहेण विशुद्धमार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदं च । न तैलदानात् परमस्ति किञ्चिद्द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते ॥२९॥
स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्ण्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा । तैलं ददात्याशु मनःप्रसादं वीर्यं बलं वर्णमथाग्निपुष्टिम् ॥३०॥
मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाढ्यः । काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन ॥३१॥

Scanned by CamScanner

अनुवासन बस्ति के गुण– निरूह वस्ति द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर दी गयी अनुवासन बस्ति शरीर को स्निग्ध करके व्यक्ति के बल (शारीरिक बल) एवं वर्ण (Complexion) की वृद्धि करती है, विशेष रूप से वात रोगी के लिए तैल (स्नेह) के उपयोग से बढ़कर दूसरा कोई द्रव्य नहीं है। अर्थात् तैल वात रोगी के लिए अत्यन्त लाभकारी होता है। तैल अपने स्नेहन गुण के कारण वात की रूक्षता को, गुरु गुण के कारण वात की लघुता को, उष्ण गुण के कारण वात की शीतलता को दूर करके शीघ्र ही मन में प्रसन्नता उत्पन्न करता है, वीर्य, बल, वर्ण तथा जाठराग्नि की वृद्धि करता है। जिस प्रकार किसी वृक्ष के मूल में जल डालने से वृक्ष नीलवर्ण की पत्तियों से आच्छादित हो जाता है तथा उसके अग्र भाग पर नये-नये कोमल पत्ते निकल आते हैं बाद में वह वृक्ष बहुत बड़ा हो जाता है तथा समय से फल फूल देने वाला हो जाता है, अर्थात् उसमें समय से फल-फूल आने लगते हैं उसी प्रकार अनुवासन बस्ति के प्रयोग से व्यक्ति अत्यन्त बलवान्, स्वस्थ एवं पुत्रों से युक्त हो जाता है।

चक्रपाणि– 'देहेत्यादि' के द्वारा अनुवासन बस्ति के गुण को बताया गया है। **निरूहेण विशुद्धमार्गे इति–** इस वचन से निरूह द्वारा शोधित शरीर में अनुवासन बस्ति देने से निर्दिष्ट गुण उत्पन्न होते हैं, यह भाव है। **'न तैलदानादिति'–** यहाँ 'तैल' शब्द स्नेह का उपलक्षण मात्र है, अर्थात् तैल से 'स्नेह' ही अर्थ लिया गया है। जबकि स्नेह के अन्तर्गत घृत, तैल, वसा व मज्जा मुख्य रूप से आते हैं। कुछ आचार्य तैल से घृत का भी ग्रहण करते हैं, किन्तु यहाँ तैल को ही वातनाशक द्रव्यों में प्रधान होने से बताया गया है। यहाँ उष्ण, तीक्ष्ण, गुरु आदि जो गुण बताये गये हैं वे तैल के ही हैं न कि घृत के। मज्जा को छोड़कर सभी प्रकार के स्नेह (घृत, तैल एवं वसा) निश्चित रूप से अनुवासन बस्ति में उपयोगी होते हैं, चूँकि घृत अप्रधान होने से अनुवासन बस्ति के रूप में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। अतः मैं भी (आचार्य चक्रपाणि भी) घृत के उपयोग का सुझाव नहीं देता हूँ।

परमस्तीत्यादौ द्रव्यमिति कारणं, तच्च कारणमनिलप्रशमनेन ज्ञेयम्– वातनाशक द्रव्यों में तैल को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है ऐसा जानना चाहिए। कुछ आचार्य वातनाशन में अनुवासन से बढ़कर कोई अन्य कर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं। 'स्नेहेनेत्यादि' के द्वारा स्नेह के कर्मों को **सहेतुक** बताया गया है।

तैलं चानुवासने पक्वमेव ज्ञेयम्– अनुवासन बस्ति में पक्व (सिद्ध) तैल का ही प्रयोग करना चाहिए, अपक्व स्नेह के प्रयोग का शास्त्रकार ने निषेध किया है, यथा– "न चामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदम्" [अपक्व स्नेह (असिद्ध स्नेह) का प्रयोग अनुवासन या निरूह बस्ति में न करें, क्योंकि वह गुदा में अभिष्यन्दता (कफ का स्राव होना - Oozing) उत्पन्न करता है।] यहाँ तैल व वायु के गुण आपस में विरुद्ध होने पर आपस में मिलने से द्रव्य प्रभाव के कारण तैल वात को प्रशमित करता है, न कि वायु तैल को प्रशमित करता है। यद्यपि 'अणुत्व' गुण तैल व वायु दोनों के ही हैं। अर्थात् ये दोनों ही शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतस् में व्याप्त हो जाते हैं। फिर भी यहाँ तैल अपने प्रभाव से शरीर के सूक्ष्म अवयवों में व्याप्त वायु को अपने स्नेह आदि गुणों के कारण जीत लेता है। अतः यहाँ अणुत्व गुण समान होते हुए भी विरुद्ध कार्य करता है, यथा– वायु का अणुत्व गुण उसे शरीर के सूक्ष्म अवयवों में पहुँचने में सहायता देता है, जबकि तैल **अणुत्व गुण** के कारण शरीर के सूक्ष्म स्रोतस् में पहुँचकर वायु के प्रभाव को दूर करता है। उपरोक्त कार्यों को तैल कैसे करता है? इसके दृष्टान्त को यहाँ– 'मूले इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। मूल दृष्टान्त के द्वारा (मुख्य उदाहरण के द्वारा) अनुवासन बस्ति के प्रयोग से साक्षात् शरीर का मूल (जिससे शरीर उत्पन्न होता है)– गुदा का तर्पण होता है, बताया गया है। आचार्य पाराशर ने कहा भी है, यथा– **"मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्वशरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः"** इति [शरीर का मूल गुदा होता है तथा गुदा में जो सिराएं स्थित रहती हैं अथवा गुदा के आश्रित रहने वाली सिरायें सम्पूर्ण शरीर व सिर में आश्रित होकर पूरे शरीर का पोषण करती हैं।]

अनुवासन बस्ति के प्रयोग से गुदा आश्रित सिरायें पोषण प्राप्त करती हैं, जिससे व्यक्ति बल, वीर्य एवं सन्तान आदि से युक्त हो जाता है, यह अभिप्राय है। ॥२९-३१॥

विशेष (Comments)– 'मूलेति' दृष्टान्त के द्वारा अनुवासन बस्ति गुदाश्रित सिराओं का साक्षात् तर्पण (पोषण) करती है, गुदा को ही शरीर का मूल कहा गया है, क्योंकि यहाँ आश्रित सिराएं शरीर के सम्पूर्ण भागों में व्याप्त होकर देह का पोषण करती हैं, बताया गया है।

स्तब्धाश्च ये सङ्कुचिताश्च येऽपि ये पङ्गवो येऽपि च भग्नरुग्णाः। येषां च शाखासु चरन्ति वाताः शस्तो विशेषेण हि तेषु बस्तिः ॥३२॥
आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च। एवंप्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः ॥३३॥
याश्च स्त्रियो वातकृतोपसर्गा गर्भं न गृह्णन्ति नृभिः समेताः। क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृशाश्च बस्तिः प्रशस्तः परमं च तेषु ॥३४॥

निरूह एवं अनुवासन बस्ति के सामान्य गुण– सामान्य रूप से बस्ति (निरूह एवं अनुवासन बस्ति) का प्रयोग अधोलिखित व्यक्तियों में करना चाहिए–

१. जिन व्यक्तियों का शरीर स्तब्ध (जकड़ना- Stiff) एवं सिकुड़ (संकोच- Contracted) गया हो।

Scanned by CamScanner

२. जो पैर से लंगड़े हों, अथवा जो पंगु (Lameness) हो गये हों।

३. जिनकी हड्डियाँ टूट गयी हों।

४. जिनके हाथ-पैरों में वायु विशेष रूप से प्रकुपित हो। ऐसे व्यक्तियों में बस्ति का प्रयोग करना विशेष लाभदायक रहता है।

निम्नलिखित व्याधियों में बस्ति का प्रयोग करना चाहिए–

१. उदर में आध्मान का होना (Distension of the abdomen)

२. शूल के साथ मल का बँधा हुआ निकलना।

३. भोजन के प्रति रुचि का न होना।

४. इसी प्रकार अन्य उदर रोगों का होना। (Such other ailments affecting the pelvic region)

५. जो स्त्रियाँ वातज व्याधियों से पीड़ित हैं तथा पति से संसर्ग करने पर भी गर्भ धारण नहीं कर पाती।

६. जो पुरुष इन्द्रियों से क्षीण हैं, अर्थात् इन्द्रिय दुर्बलता के कारण (क्लीबता के कारण) मैथुन करने में असमर्थ हैं।

७. जो व्यक्ति अत्यन्त कृश हैं, अर्थात् जिनकी मांसादि धातुयें क्षीण हैं।

ऐसे रोगियों में बस्ति का प्रयोग परम हितकारी होता है।

चक्रपाणि– "स्तब्धाश्च ये" इत्यादि के द्वारा निरूह एवं अनुवासन बस्ति के गुणों को बताया गया है। **भग्ना इति भग्नकाया** = जिनकी हड्डियाँ टूट गयी हों। **रुग्णा इति–** संधि बन्धनों का मुक्त होना (Dislocations of the bones)। भक्तानभिनन्दने अरोचके –अरुचि (Anorexia) का होना। वातकृतोपसर्गा इति वातकृतोपद्रवा – वातजन्य उपद्रवों का उत्पन्न होना। क्षीणेन्द्रिया इति – शुक्र का अत्यधिक क्षीण (दुर्बल) होना। यहाँ शुद्ध वातादि दोषों में ही अनुवासन बस्ति का विधान है। भक्तानभिनन्दन (अरोचक) प्रकार की व्याधियो में निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करें। [अतः स्पष्ट है कि अनुवासन बस्ति निराम अवस्था में ही देना चाहिए।] ॥३२-३४॥

उष्णाभिभूतेषु वदन्ति शीताञ्छीताभिभूतेषु तथा सुखोष्णान्। तत्रात्यनीकौषधसंप्रयुक्तान् सर्वत्र बस्तीन् प्रविभज्य युञ्ज्यात् ।।३५।।

प्रश्न नं.६ 'केषु च कश्च बस्तिरिति' का उत्तर– रोगी के अनुसार बस्ति का चयन– उष्ण जन्य कारणों से उत्पन्न व्याधियों में शीत वीर्य द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी शीतल बस्ति तथा शीतजन्य कारणों से उत्पन्न व्याधियों में उष्ण वीर्य द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी सुखोष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बस्ति द्रव्यों में– दोष विपरीत गुण वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। इसी विभाग के अनुसार बस्ति की योजना करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'उष्णाभिभूतेष्वित्यादि' के द्वारा 'केषु च कश्च बस्तिः' [किन रोगियों में कौन सी बस्ति देनी चाहिए?) प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

उष्णाभिभूते तथा शीताभिभूते इति– उष्ण हेतुओं से उत्पन्न व्याधियों में शीत द्रव्यों तथा शीत जन्य कारणों से उत्पन्न व्याधियों में उष्ण गुण वाले द्रव्यों की सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिए। यह व्यवस्था सभी स्थानों पर लागू होती है। उससे स्निग्ध व गुरु हेतुओं से उत्पन्न रोगों में रूक्ष तथा लघु द्रव्यों की बस्ति देनी चाहिए। अर्थात् हेतु विपरीत औषधियों की योजना करनी चाहिए। ॥३५॥

न बृंहणीयान् विदधीत बस्तीन् विशोधनीयेषु गदेषु वैद्यः। कुष्ठप्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः ।।३६।।

नित्य विशोधनीय रोग– चिकित्सक को चाहिए कि शोधन के योग्य रोगों में बृंहणीय बस्ति न दें, यथा– कुष्ठ रोगी (Obstinate skin diseases including leprosy), प्रमेह रोगी (Obstinate urinary diseases including diabetes), अथवा मेदस्वी पुरुष जिनमें शोधन कराना आवश्यक है। [ये सभी व्याधियाँ संतर्पण जन्य मानी गयी है अतः इनमें बृंहणीय (स्नेह) बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'कुष्ठप्रमेहादिष्वित्यादि' के द्वारा नित्य शोधनीय व्याधियों का वर्णन किया गया है। यहाँ 'आदि' शब्द से अरोचक (Anorexia), तन्द्रा (drowsiness), श्लीपद (Filaria) आदि व्याधियों का ग्रहण किया गया है। मेदुरेष्विति = मेदस्वी पुरुषों में। ॥३६॥

क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान्न शोषिणां नो भृशदुर्बलानाम्। न मूर्च्छितानां न विशोधितानां येषां च दोषेषु निबद्धमायुः ।।३७।।

शोधन बस्ति का निषेध– अधोलिखित व्याधियों में निरूह बस्ति (Evacuative type of Basti) का प्रयोग नहीं करना चाहिए– १. क्षतक्षीण रोगी (Phthisis), २. शोष का रोगी (Consumption), ३. भयङ्कर रूप से दुर्बल रोगी, अर्थात् अत्यन्त दुर्बल रोगी, ४. मूर्च्छा का रोगी ५. जिनमें शोधन पूर्व में ही हो चुका है, ६. जिसके दोष में ही आयु निबद्ध है, अर्थात् दोषों के निर्हरित होने पर मृत्यु की संभावना हो।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– क्षीणक्षतानां नेति– क्षीण रोगी व क्षत रोगी, इससे राजयक्ष्मा आदि व्याधियों का ग्रहण किया गया है। विशोधनीयान् न इति – ऐसे रोगियों में शोधन नहीं कराना चाहिए, अथवा अपकर्षण कारक चिकित्सा नहीं करना चाहिए।

येषां च दोषेषु निबद्धमायुरिति– जो संशोधन द्वारा दोषों के निकल जाने मात्र से प्राणों को त्याग सकते हैं, उनमें संशोधन नहीं कराना चाहिए। ॥३७॥

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च । ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ।।३८।। विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् । तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्वस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित् ।।३९।। तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ।

बस्ति चिकित्सा का महत्व (Importance of Basti Therapy)– शाखागत व्याधियाँ, कोष्ठगत व्याधियाँ, मर्म प्रदेश में होने वाली व्याधियाँ, सम्पूर्ण शरीर में होने वाली व्याधियाँ अथवा किसी एक अङ्ग विशेष में होने वाली व्याधियाँ। इन सबका मुख्य कारण विशेष रूप से वायु है, वायु के अतिरिक्त कोई दूसरा मुख्य कारण नहीं है। अर्थात् वायु को छोड़कर अन्य कारणों से ये व्याधियाँ नहीं उत्पन्न होती। वायु ही विड् (पुरीष), मूत्र, पित्त आदि मलों को अपने आशयों से पृथक् करती है अथवा अवरुद्ध करती है। इस प्रकार अत्यधिक वृद्ध (प्रकुपित) वायु को प्रशमित करने में **बस्ति चिकित्सा** के अतिरिक्त कोई अन्य चिकित्सा नहीं है। इसलिये बस्ति चिकित्सा को ही **अर्ध चिकित्सा** कहा जाता है, जबकि कुछ आचार्य इसे **सम्पूर्ण चिकित्सा** स्वीकार करते हैं।

चक्रपाणि– अनेक व्याधियों में बस्ति के प्रयोग का निर्देश दिया गया है, अर्थात् बहुत से विषयों में बस्ति की प्रशंसा की गयी है। यहाँ – 'शाखागता इत्यादि' के द्वारा 'किं गुणो बस्तिः' [बस्ति के क्या गुण हैं?] प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

शाखाकोष्ठमर्मगता इति– इससे त्रिविध शाखा आदि रोगमार्गों का ग्रहण किया गया है, अर्थात् इससे शाखागत, कोष्ठगत व मर्मगत व्याधियाँ गृहीत हैं। मर्म शब्द से यहाँ मध्यम रोगमार्ग के आश्रित संधियों के साहचर्य से उत्पन्न होने वाली व्याधियों का ग्रहण है। **इह मर्मास्थिसन्धयो हि मध्यमो रोगमार्ग उक्तः–** यहाँ मर्मास्थि एवं सन्धियों को मध्यम रोगमार्ग कहा गया है। यहाँ **'ऊर्ध्व सर्व'** शब्द से ऊर्ध्व, अधः व तिर्यक् भेद से भी वर्णित तीन रोगमार्ग का ही ग्रहण है। अर्थात् शरीर के ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यग् भेद से रोगों के तीन प्रकार हो जाते हैं।

'सर्वावयवाङ्गज' शब्द से प्रादेशिक व सर्वांग भेद से भी दो प्रकार की व्याधियों का ग्रहण होता है।

वायोः परमिति वायोः परो न कश्चित् श्रेष्ठ इति यावत्– सम्पूर्ण शरीर या एकांग शरीर में जो व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके उत्पन्न होने में वायु से बढ़कर कोई दूसरा मुख्य (श्रेष्ठ) कारण नहीं है। यद्यपि कफ पित्त भी व्याधियों को उत्पन्न करने में कारण है, लेकिन वायु श्रेष्ठ कारण है, जिसे यहाँ 'विण्मूत्रेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

'विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां' में 'आदि' शब्द से कफ का ग्रहण किया गया है (न च मलशब्देन कफस्य ग्रहणम् – मल शब्द से कफ का ग्रहण नहीं किया गया है।)

मल शब्द से यहाँ अन्य धातुओं के मल-ख आदि (श्रोत्र आदि) इन्द्रियों के मलों का ग्रहण है।

आशयशब्देन मलव्यतिरिक्तप्रसादाख्यानामाशयानां धातूनां च ग्रहणम्– आशय शब्द से मल के अतिरिक्त प्रसाद संज्ञक धातुओं के आशय का ग्रहण है। **विक्षेपसंघातकर इति–** आशय (स्रोतस्) में स्थित मलों को निकालने एवं रोकने (बाँधने) का कार्य वायु द्वारा होता है। इस प्रकार वायु ही दोष एवं मलों के संयोग एवं विभाग का कार्य करती है। अतः दोष, दूष्य, पुरीष आदि मलों के मेलक रूप व्याधि को उत्पन्न करने में वायु ही प्रधान कारण है।

किंवा आशयशब्दः प्रत्येकं विडादिभिः संबध्यते– अथवा 'आशय' शब्द विडादि प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए, यथा– विडाशय (पुरीषाशय), मूत्राशय, पित्ताशय एवं मलाशय। क्योंकि स्थान के द्वारा स्थानीय (स्थान में रहने वाला) का भाव प्राप्त होता है। पित्ताशय कहने से उसमें रहने वाले पित्त का ग्रहण हो जाता है।

विडादि के संयोग एवं विभाग के द्वारा ही सभी व्याधियों की उत्पत्ति का ग्रहण होता है। अर्थात् इन्हीं हेतुओं द्वारा सभी व्याधियाँ उत्पन्न होती है। वात की प्रधानता सभी व्याधियों में होती है, तब क्या करना चाहिए? इसका उत्तर 'तस्येत्यादि' के द्वारा दिया गया है।

उस वृद्ध वात के शमन हेतु बस्तिचिकित्सा के अतिरिक्त कोई अन्य चिकित्सा नहीं है, यह बताया गया है।

भेषजमिति– मुख्य चिकित्सा, कहा भी गया है, यथा– "बस्तिर्वातहराणाम्" (सू.अ.२५) इति [वातहर द्रव्यों में बस्ति सर्वश्रेष्ठ होती है।] अतः बस्ति को **अर्ध चिकित्सा** अथवा **सम्पूर्ण चिकित्सा** कहना उपयुक्त है। ॥३६-३९॥

Scanned by CamScanner

नाभिप्रदेशं कटिपार्श्वकुक्षिं गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य ।।४०।।
संस्नेह्य कायं सपुरीषदोषः सम्यक् सुखेनैति च यः स बस्तिः ।

बस्ति की परिभाषा– (गुदमार्ग से दिया गया) जो औषधादि द्रव पदार्थ नाभि, कटि, पार्श्व एवं उदर प्रदेश में पहुँचकर सञ्चित मल (पुरीष) एवं दोषों को मथ (आलोडित) कर शरीर का स्नेहन करते हुए पुरीष व दोषों के साथ सुखपूर्वक बाहर निकल आता है उसे बस्ति कहते हैं।

चक्रपाणि– 'नाभीत्यादि' के द्वारा बस्ति के सम्यक् योग एवं अयोग (अल्पयोग) के लक्षणों को बताया गया है। विलोड्येति– क्षोभ उत्पन्न करके, या मथ करके या घोलकर। संस्नेह्यकायमिति– बस्ति के द्रव्य अपने वीर्य से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर का स्नेहन करते हैं। कहा भी गया है, यथा– "वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात्(न्)। पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव ।।" (सु.चि. ३५/२७) इति। [पक्वाशय में स्थित बस्ति अपने वीर्य से सिर से लेकर पैर तक के दोषों को उसी प्रकार खींच लेती है, जिस प्रकार आकाश में विद्यमान सूर्य की किरणें पृथ्वी के रसों का आचूषण करती हैं।]

स्नेह शब्द से यहाँ 'सार' का ग्रहण किया गया है। [सार = पोषक धातुओं का ग्रहण है (Nourishment)। बस्ति शरीर की धातुओं को पुष्ट करती है तथा मलादि अनुपयोगी द्रव्यों को शरीर से बाहर निकला देती है।] कहा भी गया है, यथा– "देहः स्नेहपरिक्षयात्" (चि.अ. ८/४) इति [चन्द्रमा द्वारा अपनी भार्या रोहिणी के प्रति अत्यधिक आसक्ति होने से उनके शरीर में विद्यमान स्नेह धातु (शुक्र) का क्षय हो गया, परिणामतः अन्य धातुएं भी क्षीण हो गयीं, अन्त में वे राजयक्ष्मा से ग्रसित हो गये।] सम्यगिति = निरवशेषेण (पक्वाशय में सञ्चित दोषों को पूर्णतः बाहर निकालना)। सुखेनेति = सुखपूर्वक (विकार को न उत्पन्न करते हुए दोषों को बाहर निकालना) ।।४०।।

प्रसृष्टविण्मूत्रसमीरणत्वं रुच्यग्निवृद्ध्याशयलाघवानि ।।४१।।
रोगोपशान्तिः प्रकृतिस्थता च बलं च तत् स्यात् सुनिरूढलिङ्गम् ।

निरूह बस्ति के सम्यक् योग के लक्षण–

- पुरीष, मूत्र एवं वायु का उचित रूप में प्रवृत्त होना (निकलना)
- भोजन के प्रति रुचि का उत्पन्न होना।
- अग्नि (जाठराग्नि) का बढ़ जाना अर्थात् भूख का लगना।
- आशय (पक्वाशय या शरीर) का लघु होना।
- व्याधि का प्रशमित होना, अर्थात् व्याधि की तीव्रता में कमी आना।
- स्वस्थ अनुभव करना।
- शारीरिक बल की वृद्धि होना।

ये सभी लक्षण सम्यक् निरूह बस्ति में पाये जाते हैं अर्थात् जिनमें सम्यक् रूप से निरूह बस्ति दी गयी है, उनमें मिलते हैं।

चक्रपाणि– तत्काल दी गयी बस्ति (निरूह बस्ति) के सम्यक् योग के लक्षणों के बाद कौन-कौन से भाव (लक्षण) उत्पन्न होते हैं, इसे 'प्रसृष्टेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। 'आशय लाघवानि' इति से यहाँ 'आमय लाघवानि' पाठ होने पर 'रोगोपशान्ति' के बाद 'वा' शब्द होना चाहिए। 'रोगोपशान्ति' से यहाँ निरूहबस्ति द्वारा साध्य विकारों का प्रशमन होना अर्थ गृहीत है।

आशयलाघवानि = आशयों का लघु होना।

आमयलाघवानि = जिन व्याधि वाले रोगी में निरूह बस्ति दी गयी है, उस व्याधि की तीव्रता में कमी होना। या लक्षणों का अल्प होना। ।।४१।।

स्याद्वुच्छिरोहृदबस्तिलिङ्गे शोफः प्रतिश्यायविकर्तिके च ।।४२।।
हृल्लासिका मारुतमूत्रसङ्गः श्वासो न सम्यक् च निरूहिते स्युः ।

निरूह बस्ति के अयोग के लक्षण– निरूह बस्ति के अयोग (अल्प योग) में रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. शिरोवेदना (Headache), २. हृदयशूल (हृदय में पीड़ा) का होना (Pain in cardiac region), ३. गुदशूल (गुदा में पीड़ा का होना), ४. वस्तिशूल, ५. लिङ्ग (Penis) में वेदना का होना, ६. शोफ (Oedema), ७. प्रतिश्याय (Coryza), ८. विकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना), ९. हृल्लास [(मिचली का आना (Nausea)], १०. वात एवं मूत्र का अवरोध होना (Retention of flatus and urine), ११. श्वासकृच्छ्रता (श्वास लेने में कठिनाई का अनुभव होना - Dyspnea)

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'स्यादित्यादि' के द्वारा बस्ति के 'अयोग' के लक्षणों का अभिधान किया गया है। न सम्यङ्निरूहिते इति– जिसका सम्यक् निरूहण नहीं हुआ है, अर्थात् बस्ति देने के बाद दोष पूर्ण रूप से नहीं निकले हैं। ।।४२।।

लिङ्गं यदेवातिविरेचितस्य भवेत्तदेवातिनिरूहितस्य ।।४३।।

निरूह बस्ति के अतियोग के लक्षण– जो लक्षण विरेचन के अतियोग में पाये जाते हैं वही लक्षण निरूह बस्ति के अतियोग की अवस्था में मिलते हैं।

चक्रपाणि– (निरूह) बस्ति के अतियोग के लक्षणों को अतिदेश के द्वारा 'लिङ्गमित्यादि' से बताया गया है।

विशेष (Comments)– [अतिदेशः– हस्तान्तरण, एक वस्तु के धर्म (गुण) का दूसरी वस्तु पर आरोपण करना अतिदेश कहलाता है। अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः – संस्कृत हिन्दी शब्दकोष – वी.एस.आप्टे]

प्रत्येत्यसक्तं सशकृच्च तैलं रक्तादिबुद्धीन्द्रियसंप्रसादः। स्वप्नानुवृत्तिर्लघुता बलं च सृष्टाश्च वेगाः स्वनुवासिते स्युः ।।४४।।

अनुवासन बस्ति के सम्यक् योग के लक्षण– यदि अनुवासन बस्ति का प्रयोग उचित रूप में किया गया है तब रोगी में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं– १. स्नेह का बिना रुकावट के पुरीष के साथ गुदा से बाहर निकलना, २. रक्तादि धातुओं का शुद्ध होना, ३. बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रियाँ) का अपने कार्यों को सुचारु रूप से करना, अर्थात् चक्षु, घ्राणादि इन्द्रियाँ अपना कार्य सम्यक् रूप से करने लगती हैं, ४. सम्यक् निद्रा का आना, ५. शरीर में लघुता का होना एवं बल की वृद्धि का होना, ६. मल, मूत्रादि के वेगों में रुकावट का न होना, अर्थात् मल मूत्रादि के वेगों का उचित रूप में निकलना।

चक्रपाणि– 'प्रत्येतीत्यादि' के द्वारा सम्यक् अनुवासन के लक्षणों का अभिधान किया गया है। असक्तमिति = बिना अवरोध के, दी गयी अनुवासन बस्ति अपने निर्धारित समय में पुरीष के साथ बिना अवरोध के बाहर निकल आती है। रक्तादयः – रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र आदि धातुओं का शुद्ध होना। अर्थात् इनकी अशुद्धि का दूर होना। **स्वप्नानुवृत्तिः–** उचित रूप में निद्रा का आना। **सृष्टा इति** अबद्धा– मलादि के वेगों का न रुकना। ।।४४।।

अधःशरीरोदरबाहुपृष्ठपार्श्वेषु रुग्रूक्षखरं च गात्रम् । ग्रहश्च विण्मूत्रसमीरणानामसम्यगेतान्यनुवासितस्य ।।४५।।
हृल्लासमोहक्लमसादमूर्च्छा विकर्तिका चात्यनुवासितस्य ।

अनुवासन बस्ति के अयोग के लक्षण– असम्यक् रूप से प्रयुक्त अनुवासन में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. अधःशरीर (शरीर के नीचे का भाग), उदर प्रदेश, बाहु, पृष्ठ (पीठ) एवं पार्श्व में पीड़ा का होना, २. शरीर की त्वचा रूखी एवं खुरदरी हो जाती है, ३. पुरीष, मूत्र एवं वायु का अवरुद्ध होना।

[अनुवासन बस्ति के अयोग का अभिप्राय शरीर के उचित स्नेहन न होने से है।]

अनुवासन बस्ति के अतियोग के लक्षण– अनुवासन बस्ति के अतियोग में– हृल्लास (Nausea), सम्मोह (Unconsciousness), क्लम (मानसिक थकावट – Mental fatigue), अवसाद (शारीरिक थकावट – exhaustion), मूर्च्छा (fainting) एवं विकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना।) लक्षण पाये जाते हैं।

चक्रपाणि– 'अध इत्यादि' के द्वारा अनुवासन बस्ति के अयोग (अल्पयोग) के लक्षणों का वर्णन किया गया है। रूक्षता एवं खरता ये दोनों लक्षण शरीर का स्नेहन न होने से ही उत्पन्न होते हैं।

'हृल्लासादि' से अतियोग के लक्षणों का विवेचन किया गया है। ।।४५।।

यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नरः स्यात् स विशुद्धदेहः ।।४६।।
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन् ।

स्नेह के प्रत्यागम (वापस लौटने) का काल– जिस व्यक्ति में अनुवासन बस्ति के रूप में दिया गया स्नेह तीन याम तक शरीर के भीतर रहकर वापस लौट आता है, वह व्यक्ति शुद्ध शरीर वाला होता है, अर्थात् उस व्यक्ति का सम्यक् स्नेहन हो जाता है। यदि यह स्नेह शीघ्र बाहर निकल आवे तब चिकित्सक को पुनः अनुवासन बस्ति देनी चाहिए, क्योंकि स्नेह जब तक अन्दर रुकेगा नहीं तब तक शरीर का स्नेहन भी नहीं हो पायेगा। अतः सम्यक् स्नेहन हेतु अनुवासन बस्ति का शरीर के अन्दर कुछ काल तक रुकना आवश्यक है।

चक्रपाणि– 'यस्येत्यादि' के द्वारा सम्यक् प्रयुक्त अनुवासन बस्ति के प्रत्यागम (वापस लौटने के) काल को बताया गया है। १ याम = १ प्रहर (३ घण्टे)। **स विशुद्धदेह इति–** कोई उपद्रव न उत्पन्न होते हुए अनुवासन बस्ति का सम्यक् योग होना। **आश्वागते इति–** बस्ति देने के बाद शीघ्र ही स्नेह का वापस लौट आना, यदि स्नेह तत्काल वापस आ जाता है तब पुनः स्नेह की दूसरी मात्रा का प्रयोग करना

Scanned by CamScanner

चाहिए। अर्थात् पुनः अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। अनुवासन बस्ति का प्रयोग फिर से क्यों करना चाहिए, इसके हेतु को यहाँ- 'स्नेहो न संस्नेह्यति ह्यतिष्ठन्निति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। इसका कारण यह है कि शरीर में स्नेह के बिना रुके शरीर का स्नेहन नहीं हो सकता। ।।४६।।

त्रिंशन्मताः कर्म नु बस्तयो हि कालस्ततोऽर्धेन ततश्च योगः ।।४७।।
सान्वासना द्वादश वै निरूहाः प्राक् स्नेह एकः परतश्च पञ्च । काले त्रयोऽन्ने पुरतस्त्रयैकः स्नेहा निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः ।।४८।।
योगे निरूहास्त्रय एव देयाः स्नेहाश्च पञ्चैव परादिमध्याः ।

संख्या के आधार पर बस्ति भेद– विधिभेद से बस्ति के तीन भेद किये गये हैं- १. कर्मबस्ति, २. कालबस्ति, ३. योगबस्ति। तीस बस्तियों के समुदाय को कर्मबस्ति कहते हैं, कालबस्ति में कर्मबस्ति की आधी संख्या, अर्थात् सोलह बस्ति तथा योगबस्ति में कालबस्ति की आधी, अर्थात् आठ बस्तियों की संख्या पूर्ण की जाती है।

१. कर्मबस्ति– पूर्व में १ स्नेह बस्ति, इसके बाद अनुवासन व निरूह के क्रम में १२ अनुवासन व १२ निरूह बस्ति, अन्त में ५ स्नेह बस्ति देकर **तीस की संख्या** पूर्ण करते हैं।

२. कालबस्ति– पूर्व में एक स्नेह बस्ति, इसके बाद अनुवासन व निरूह के क्रम में ६ अनुवासन व ६ निरूह बस्ति, अन्त में ३ स्नेह बस्ति देकर सोलह की संख्या पूर्ण करते हैं।

३. योगबस्ति– पूर्व में एक स्नेह बस्ति, इसके बाद अनुवासन व निरूह के क्रम में ३ अनुवासन व ३ निरूह, अन्त में एक स्नेह बस्ति देकर आठ की संख्या पूर्ण करते हैं। अर्थात् इसमें ५ स्नेह बस्ति तथा तीन निरूह बस्ति देते हैं।

चक्रपाणि– 'त्रिंशदित्यादि' के द्वारा 'संख्या का' प्रश्न का विशेष रूप से उत्तर दिया गया है।

कर्मकालयोगसंज्ञा यथाक्रमं त्रिंशत्षोडशाष्टबस्तिसमुदयेषु ज्ञेया– बस्तियों का कर्म, काल व योग का नामकरण क्रमशः तीस, सोलह व आठ के आधार पर किया गया है, अर्थात् तीस बस्तियों के समुदाय को **कर्मबस्ति**, सोलह बस्तियों के समुदाय को **कालबस्ति** तथा आठ बस्तियों के समुदाय को **योगबस्ति** कहते हैं।

कालस्ततोऽर्धेन इति– कालबस्ति, कर्मबस्ति से आधी संख्या में दी जाती है, यहाँ 'अर्ध' शब्द का बराबर विभाग अर्थ नहीं है। अर्थात् तीस का आधा पन्द्रह होता है, जबकि तीस के आधा से **सोलह** संख्या का ग्रहण करते हैं, सान्वासना इत्यादि के द्वारा कर्म आदि बस्तियों में निरूह व अनुवासन के विभाग (Separation) को बताया गया है।

एकं अनुवासनं दत्त्वा दीयन्त इति सान्वासनाः– अनुवासन बस्ति देने के बाद निरूह बस्ति का प्रयोग करना, [अनुवासन के साथ निरूह बस्ति की योजना] 'सान्वासना' कहा गया है।

इस प्रकार बारह अनुवासन व बारह निरूह को मिलाकर कुल २४ बस्तियाँ होती हैं। प्रागिति = प्रारम्भ में। **परत इति–** बारह निरूह बस्तियों के देने के बाद के काल में। **निरूहान्तरिताश्च षट् स्युः–** स्नेह व निरूह के क्रम में ६-६ बस्तियाँ देनी चाहिए। इस प्रकार अनुवासन व निरूह की १२ बस्तियाँ पूर्ण होती हैं।

पञ्चैव परादिमध्या इति– योगबस्ति में स्नेह की कुल ५ बस्तियाँ दी जाती हैं, यथा- प्रारम्भ में एक, मध्य में तीन व अन्त में एक। यथा- प्रारम्भ में- १ स्नेह बस्ति, अनुवासन-निरूह, अनुवासन-निरूह, अनुवासन-निरूह अन्त में एक अनुवासन (स्नेह बस्ति) । यहाँ आदि (प्रारम्भ) में स्नेह की दो, अन्त में स्नेह की दो तथा तीन निरूह के बीच में एक अनुवासन को मिलाकर पाँच स्नेह बस्ति की संख्या पूर्ण कर ली गयी है। अर्थात् योगबस्ति देने की यह भी एक विधि है।

जो आचार्य निरूह के दिन ही अनुवासन देने का निर्देश देते हैं उनके अनुसार प्रारम्भ में एक अनुवासन बस्ति तथा अन्त में सायं काल के समय एक अनुवासन बस्ति तथा मध्य में निरूह व अनुवासन के क्रम में तीन-तीन बस्तियाँ देकर अनुवासन की पाँच संख्या पूर्ण कर लेते हैं। इसी प्रकार कर्म व काल बस्ति में भी निरूह के बाद दिनान्तर (दिन के बाद, अर्थात् सायंकाल) में ही अनुवासन बस्ति देना चाहिए, यह भाव ग्रहण करते हैं।

यहाँ स्नेहबस्ति के बीच-बीच में जो निरूह बस्ति दी जाती है उससे वात क्षोभ (वात प्रकोप) की आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कर्मादि बस्तियों में जो निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाता है वे **यापना बस्तियाँ** होती हैं, जो कि स्निग्ध होती हैं। अतः वे शरीर में वात को प्रकुपित नहीं करती। ये कर्मादि बस्तियाँ यद्यपि शास्त्र के किसी भाग में प्रयुक्त नहीं हैं, अर्थात् ग्रन्थ में आचार्य द्वारा इनके प्रयोग का निर्देश नहीं हैं फिर भी विद्वानों के व्यवहार के लिए ये नाम दिये गये हैं, यथा- यमक को महा अच्छपान आदि कहा गया है। उससे कर्म

Scanned by CamScanner

आदि नामकरण शास्त्र में व्यवहृत न होने से यह विवेचन अनार्ष है, यह जो लोग कहते हैं, उनका खण्डन हो जाता है। अर्थात् इसका निराकरण हो जाता है। कर्मबस्ति, कालबस्ति व योगबस्ति के नामों का उल्लेख अन्य शास्त्रों में भी है, यथा– "बस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टौ च कर्मकालयोगाः; निरूहाः स्नेहान्तरिता द्वादश षट् त्रयः; एकस्नेहारम्भाः, पञ्चत्येकान्ताः" इति (जतूकर्ण) [तीस बस्तियों के समुदाय को कर्म, सोलह बस्तियों को समुदाय को काल तथा आठ बस्तियों के समुदाय को योग बस्ति कहते हैं। जिनमें क्रमशः निरूह व अनुवासन का क्रम- १२-१२, ६-६ तथा ३-३ होता है। सबमें प्रारम्भ में स्नेह की एक बस्ति देते हैं तथा अन्त में क्रमशः (कर्म, काल व योग में) - ५, ३ व १ स्नेह की बस्ति देते हैं।] यही विचार हारीत संहिता में भी व्यक्त किये गये हैं, यथा– "त्रिंशकं कर्म बुधा वदन्ति" ।

कुछ आचार्य वातादि दोषों की विकृति के अनुसार कर्मादि बस्तियों का निर्देश देते हैं। अर्थात् वात दोष में कर्म बस्ति, पित्त विकृति में काल बस्ति तथा कफ विकृति में योग बस्ति का निर्देश है। यहाँ पित्त व कफ से वात के साथ पित्त, या कफ के अनुबन्ध का ग्रहण है। ॥४७-४८॥

त्रीन् पञ्च वाऽऽहुश्चतुरोऽथ षड्वा वातादिकानामनुवासनीयान् ।।४९।।
स्नेहान् प्रदायाशु भिषग्विदध्यात् स्रोतोविशुद्ध्यर्थमतो निरूहान् ।

निरूह बस्ति का प्रयोग– वातादि दोषों वाले पुरुषों में तीन, पाँच, चार या छः अनुवासन बस्ति देकर शीघ्र ही चिकित्सक को स्रोतों की शुद्धि हेतु निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'त्रीन् पञ्चेत्यादि' के द्वारा शरीर के स्नेहन हेतु दी जाने वाली अनुवासन बस्ति को बताया गया है। यहाँ जो लोग 'वातादिकानां' का पाठ स्वीकार करते हैं उनके अनुसार 'आदि' शब्द से कफ व पित्त का भी ग्रहण होता है। यहाँ बहुवचन का प्रयोग- तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि से वात के ग्रहण से बहुत्वसंख्या के योग से कफपित्त का भी भाव प्राप्त होता है। जैसा कि कुष्ठ निदान में कहा गया है– "वातादिषु प्रदुष्टेषु" तथा कियन्तः शिरसीय अध्याय में भी यही बात कही गयी है, यथा– "वातादीनां रसादीनां" (सू.अ.१७) इति। अन्य आचार्य 'वातादिकानां' के स्थान पर 'वाताधिकानां' का पाठ स्वीकार करते हैं। [इसे स्वीकार करने पर भी अर्थ की विरुद्धता नहीं आती।] यहाँ चार या छः युग्म अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना विरुद्ध नहीं है, अर्थात् मान्य है। क्योंकि यह अनुवासन प्रयोग निरूह का अङ्ग (एक भाग) होने से शरीर के स्नेहन हेतु किया गया है। विषम संख्या में बस्तियों का प्रयोग– 'बस्तीन् अयुग्मान्' इति के द्वारा जो निर्दिष्ट है वह अनुवासन के स्वतंत्र प्रयोग के बारे में है। इसलिये विषय भिन्न होने से उसका इससे विरोध नहीं है। जहाँ स्नेहन कराना ही मुख्य उद्देश्य हो वहाँ विषम संख्या में अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। अथवा 'अयुग्मा' इस शास्त्रीय व्याख्या के द्वारा संख्या का ही ग्रहण किया गया है। उसी को **तीन, पाँच, तीन व चार इति** से ३ + ४ = ७, ५ + ४ = ९, ६ + ५ = ११, ३ व ५ कुल पाँच विकल्प बताये गये हैं। अन्य शास्त्रों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग युग्म (सम) संख्या में करने का निर्देश दिया गया है। कहा भी गया है, यथा– "रूक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीन् वाऽप्यनुवासनान् । दद्यात् स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्" (सु.चि.अ.३७/४४) इति

[अत्यधिक रूक्ष अथवा वात की अधिकता वाले पुरुष में दो या तीन अनुवासन बस्ति देकर शरीर को स्निग्ध कर लें। शरीर स्निग्ध हो जाने के बाद उसमें निरूह बस्ति का प्रयोग करें।] यहाँ 'स्रोतस्' से **विबद्ध सिरा** (आशय = स्रोतस् में अवरोध का होना) अर्थ लिया गया है। ॥४९॥

विशुद्धदेहस्य ततः क्रमेण स्निग्धं तलस्वेदितमुत्तमाङ्गम् ।।५०।।
विरेचयेत्त्रिर्द्विरथैकशो वा बलं समीक्ष्य त्रिविधं मलानाम् । उरः शिरोलाघवमिन्द्रियाच्छ्यं स्रोतोविशुद्धिश्च भवेद्विशुद्धे ।।५१।।
गलोपलेपः शिरसो गुरुत्वं निष्ठीवनं चाप्यथ दुर्विरिक्ते । शिरोक्षिशब्दश्रवणार्तितोदावत्यर्थशुद्धे तिमिरं च पश्येत् ।।५२।।
स्यात्तर्पणं तत्र मृदु द्रवं च स्निग्धस्य तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे।

शिरोविरेचन– निरूह एवं अनुवासन बस्तियों के प्रयोग से जिनका शरीर शुद्ध हो गया है, उसके सिर का अभ्यङ्ग कराकर हाथ के तलवे को गरम करके सिर का स्वेदन करें। तत्पश्चात् रोगी के बल (प्रवर, मध्यम एवं अवर बल) तथा दोषादि का विचार करते हुए तीन बार, दो बार अथवा एक बार शिरोविरेचन करावें।

१. सम्यक् शिरोविरेचन के लक्षण– यदि रोगी में शिरोविरेचन द्रव्यों का समुचित प्रयोग हुआ है, तब उसमें निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं– १. उरः प्रदेश एवं सिर में हलकापन (Lightness) की प्रतीति का होना, २. ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषयों को समुचित रूप से ग्रहण करने लगती हैं। (Clarity of the senses), ३. स्रोतस् का शुद्ध होना।

२. शिरोविरेचन के अयोग (हीन योग) के लक्षण– यदि सम्यक् रूप से शिरोविरेचन के द्रव्य प्रयुक्त नहीं किये गये हैं तब रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं, यथा– १. गले में कफ का लिप्त (चिपका) रहना, २. सिर में भारीपन का होना (Heaviness of the head), ३. मुख से बार-बार थूक का निकलना।

Scanned by CamScanner

३. शिरोविरेचन के अतियोग के लक्षण– यदि शिरोविरेचन द्रव्य अत्यधिक प्रयुक्त हो गया है तब दोषों के अतिनिर्हरित होने से रोगी में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं– १. सिर, नेत्र, शंख (Temples) तथा कर्ण में अत्यधिक पीड़ा का होना, अथवा इन्हीं भागों में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना। २. आँखों के सामने अन्धकार छा जाना।

चिकित्सा (Treatment)– १. शिरोविरेचन के अतियोग होने पर रोगी को तर्पणकारक (शरीर को तृप्त करने वाले), मृदु एवं द्रव पदार्थ खाने-पीने के लिए देना चाहिए। २. अयोग (अल्प योग) की अवस्था में रोगी को स्नेहन, स्वेदन कराकर तीक्ष्ण शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् तीक्ष्ण शिरोविरेचन कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'विशुद्धेत्यादि' के द्वारा यहाँ क्रमानुसार शिरोविरेचन कल्पना के सम्यक् योग, अयोग एवं अतियोग के लक्षणों को बताया गया है। **विशुद्धदेहस्य इति–** जिन पुरुषों का पञ्चकर्म कराना है उन्हें पूर्व की शुद्धि पहले कर लें, अर्थात् अनुवासन व निरूह के प्रयोग द्वारा उन्हें शुद्ध कर लें, पश्चात् शिरोविरेचन का प्रयोग करें।

तेन वमनादिनाऽशुद्धेऽपि शिरोविरेचनैकसंपाद्य पुरुषेऽयं क्रमो ज्ञेयः– वमनादि के द्वारा जिनका शरीर शुद्ध नहीं है, उनमें भी शिरोविरेचन का यह क्रम अपनाना चाहिए।

स्निग्धमिति– शरीर को स्निग्ध करना, यह कार्य अभ्यङ्ग (Massage), शिरोबस्ति व स्नेहपान आदि के द्वारा किया जाता है।

तलस्वेदितमिति– हाथ के तलवे को गरम करके सिर का स्वेदन करना। **त्रिर्द्विरथैकश इति तद्दिन एव दोषाणामुत्कृष्टत्वादि-बलत्रैविध्यमपेक्ष्य यथायोग्यतया योज्यम्–** जिस दिन शिरोविरेचन कराना है उसी दिन ही दोषों के त्रिविध बल-उत्कृष्ट, मध्य एवं अवर बल का विचार करते हुए यथायोग्य (जितना आवश्यक हो) तीन बार, दो बार अथवा एक बार शिरोविरेचन कराना चाहिए।

इन्द्रियाच्छ्यमिति चक्षुरादीनां स्वविषये पाटवम्– चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों को ग्रहण करने में कुशल होना, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को सुचारु रूप से ग्रहण करने लगती हैं। **तिमिरं च पश्येदिति–** आँखों के सामने अन्धकार छा जाना। शिरोविरेचन के अतियोग एवं अयोग, दोनों की चिकित्सा बाद में एक ही साथ– 'स्यात्तर्पणमित्यादि' के द्वारा बतायी गयी है। 'मृदु द्रवं चेति' के द्वारा अतियोग की चिकित्सा का अभिधान किया गया है।

तीक्ष्णं तु पुनर्न योगे इति– शिरोविरेचन के अयोग होने पर पुनः तीक्ष्ण शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। ॥५०-५२॥

इत्यातुरस्वस्थसुखः प्रयोगो बलायुषोर्वृद्धिकृदामयघ्नः ॥५३॥

पञ्चकर्म चिकित्सा का उपसंहार– इस प्रकार आतुर व स्वस्थ पुरुष के सुख (आरोग्य) का हेतु बल व आयु का वर्धक तथा व्याधि को नष्ट करने वाला पञ्चकर्म चिकित्सा का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि– 'इत्यातुरेत्यादि' के द्वारा वर्णित पञ्चकर्म चिकित्सा का उपसंहार किया गया है। आतुरस्वस्थसुख इति– इस वचन से आतुर (रोगी) में व्याधि (आमय = रोग) को नष्ट करने से तथा स्वस्थ पुरुष में बल व आयु को बढ़ाने के कारण वर्णित पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रयोग सुख का कारण होता है, ऐसा जानना चाहिए।

स्वस्थ पुरुष में पञ्चकर्म का प्रयोग कब करना चाहिए, इसे - "माधवप्रथमे मासि" सू.अ.७/४६ [माधव के पूर्व मास चैत्र में, नभस्य (भाद्रपद) के पूर्व मास श्रावण में, सहस्य (पौष) के पूर्व मास मार्गशीर्ष में क्रमशः संचित दोषों, यथा– कफ, वात व पित्त का निर्हरण करावें।] के द्वारा सूत्रस्थान में पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है, ऐसा समझना चाहिए। ॥५३॥

कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावांस्तावान् भवेद्द्विगुणः परिहारकालः।

प्रश्न संख्या सात (कृते क्रियान् वा परिहारकालः– पञ्चकर्म के बाद परिहार काल कितना?) का उत्तर– बस्ति आदि कार्यों के संपादन में लगे समय का दूना परिहार काल होता है। अर्थात् जितने समय (काल-दिन) तक बस्ति आदि कर्म कराये जाते हैं, चिकित्सक को उससे दुगुने समय तक रोगी को हितकर आहार-विहार का सेवन कराना चाहिए, यथा– यदि २० दिन तक शोधन कर्म कराया गया हो तब ४० दिन तक रोगी को पथ्य आहार-विहार देना चाहिए।

चक्रपाणि– 'कालेस्त्वित्यादि' के द्वारा 'कृते क्रियान् वा परिहारकालः' प्रश्न का उत्तर दिया गया है। तावान् भवेद्द्विगुणः परिहारकाल इति– बस्ति आदि के प्रयोग में जितना समय लगता है उस काल से दुगुने समय तक रोगी को अपथ्य सेवन से बचाना चाहिए। यहाँ 'आदि' शब्द से वमन, विरेचन व शिरोविरेचन का ग्रहण है। यहाँ आदि (प्रारम्भ) में 'बस्ति' शब्द का प्रयोग होना उसकी चिकित्सा में प्रधानता को दर्शाता है।

Scanned by CamScanner

अत्यासनस्थानवचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान् ।।५४।।
शीतोपचारातपशोकरोषांस्त्यजेदकालाहितभोजनं च ।

सप्तम प्रश्न– 'किं वर्जनीयं' [पञ्चकर्म काल में क्या निषेध है?] का उत्तर– बस्ति आदि के प्रयोग के समय अधोलिखित आहार-विहार का सेवन नहीं करना चाहिए– १. अत्यधिक बैठना, खड़ा होना (एक स्थान पर खड़े रहना), २. अत्यधिक बोलना, घोड़े आदि की सवारियों पर देर तक बैठना, ३. दिवा शयन (दिन में सोना), मैथुन करना, ४. अधारणीय वेगों को धारण करना, यथा– मूत्र, पुरीष आदि के वेगों को रोकना, ५. शीतल आहार-विहार का सेवन, ६. धूप का सेवन, क्रोध करना, शोक युक्त होना, ७. अकाल भोजन (अनुचित समय में भोजन करना) एवं अहितकर भोजन करना।

चक्रपाणि– 'अत्यासनेत्यादि' के द्वारा 'किं वर्जनीयं' प्रश्न का उत्तर दिया गया है। **आसनम् उपविष्टावस्थानम्–** बैठने का स्थान या जिस पर बैठा जाय (A small seat or stool)

स्थानम् ऊर्ध्वतया स्थानम्– एक स्थान पर खड़े रहना।

यानं रथाश्वादिना यानम्– रथ (घोड़े जिसमें जुते हों, या घोड़ागाड़ी) अथवा अश्व आदि की सवारी करना। इन आविष्कृततम हेतुओं को यहाँ बताया गया है। उन्हीं से क्रोध, अति चिन्तन आदि अन्य दूसरे कारणों का भी ग्रहण करना चाहिए जिनका उल्लेख उपकल्पनीय अध्याय (सू.अ.१५) में वमनादि के प्रयोग में निषिद्ध किया गया है, उनका भी सेवन न करें। ।।५४।।

बद्धे प्रणीते विषमं च नेत्रे मार्गे तथाऽर्शःकफविड्विबद्धे ।।५५।।
न याति बस्तिर्न सुखं निरेति दोषावृतोऽल्पो यदि वाऽल्पवीर्यः ।

प्रणीयमान (दी गयी) बस्ति किस कारण से अन्दर नहीं जा पाती? किस कारण से बस्ति शीघ्र ही गुद मार्ग में प्रविष्ट हो जाती है? तथा किस कारण से देर में गुदा में प्रवेश करती है? प्रश्नों के उत्तर–

प्रश्न– **'किस कारण से प्रणीयमान बस्ति अन्दर नहीं जा पाती' का उत्तर–** १. बस्तिनेत्र का मार्ग अवरुद्ध होने से, २. नेत्र को विषम रूप से गुदा में लगाने से, अर्थात् बस्तिनेत्र का प्रयोग तिरछा करने से, ३. गुदमार्ग अर्श (Piles), कफ (Mucous) व पुरीष (Stool) द्वारा अवरुद्ध होने से।

उपर्युक्त कारणों के विद्यमान होने पर वस्ति द्रव्य गुदा में प्रविष्ट नहीं कर पाता, न आसानी से बाहर निकलता है।

यदि वस्ति दोषों द्वारा आवृत हो जाय तब भी बाहर नहीं निकल पाती, अथवा अल्प मात्रा में बस्ति दी गयी हो, अथवा अल्प वीर्य युक्त औषधियाँ डाली गयी हों तब भी वस्ति द्रव्य सुखपूर्वक वापस नहीं आते।

चक्रपाणि– 'प्रणीयमानः' इत्यादि प्रश्न के उत्तर को 'बद्धे इत्यादि' के द्वारा दिया गया है। **नेत्रे बद्धे विषमं प्रणीते च गुदावयवरुद्धत्वान्न याति–** यदि बस्तिनेत्र को उचित रूप से बस्ति के साथ बाँधा न गया हो अथवा बस्तिनेत्र को गुदा में उचित रूप से प्रवेश न कराया गया हो तब गुदा के अवयवों द्वारा वस्ति अवरुद्ध हो जाने से बस्तिद्रव्य अन्दर प्रविष्ट नहीं कर पाता। 'न सुखं निरेति' के द्वारा 'सुचिराच्च केन' इति प्रश्न का उत्तर दिया गया है। **न सुखं निरेतीति चिरेण दुःखं कृत्वा चागच्छतीति अर्थः–** देर से कष्ट के साथ वापस आना, दी गयी बस्ति देर में अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न करते हुए वापस आती है। दोषावृत इति– बलवान् दोषों के द्वारा बस्ति का अवरुद्ध हो जाना, अर्थात् दोष जब अत्यधिक प्रकुपित होते हैं तब भी बस्तिद्रव्य आसानी से वापस नहीं आता। **अल्प इति–** अल्प प्रमाण में दी गयी बस्ति भी देर से वापस आती है। **अल्पवीर्य इति उष्णलवणाद्यभावान्मृदुवीर्यः–** बस्तिद्रव्य गुनगुना न हो, अर्थात् शीत हो, उसमें लवण न डाला गया हो, आदि कारणों से बस्ति की शक्ति (कार्यकारी क्षमता) अल्प हो जाती है। ।।५५।।

प्राप्ते तु वर्चोनिलमूत्रवेगे वातेऽतिवृद्धेऽल्पबले गुदे वा ।।५६।।
अत्युष्णतीक्ष्णश्च मृदौ च कोष्ठे प्रणीतमात्रः पुनरेति बस्तिः ।

बस्ति के शीघ्र वापस आने में कारण– अधोलिखित हेतुओं के विद्यमान होने पर दी गयी बस्ति तत्काल वापस आ जाती है– १. पुरीष, वायु एवं मूत्र के वेग उपस्थित होने पर (During the urge for defecation, flatus and urine), २. वात की अत्यधिक वृद्ध होने पर (Excessive aggravation of Vāyu), ३. गुदा स्थित मांसपेशियों के दुर्बल होने पर, ४. बस्ति में प्रयुक्त द्रव्य अत्यधिक उष्ण अथवा तीक्ष्ण होने पर, ५. मृदुकोष्ठ वाले आतुर में बस्ति देने पर।

चक्रपाणि– प्रयुक्त बस्ति के शीघ्र वापस लौटने के हेतु को यहाँ 'प्राप्ते चेत्यनेन' से स्पष्ट किया गया है।

वातेऽतिवृद्धे स्नेहो गुदे वातेन प्रतिहतत्वान्न यात्याशयं, ततः शीघ्रमागच्छति– वात के अत्यधिक वृद्ध होने पर गुदा स्थित वायु के द्वारा स्नेह अवरुद्ध होने से आशय में नहीं पहुँच पाता, परिणामतः शीघ्र ही वापस लौट आता है। **अल्पबले गुदे स्नेहं धारयितुं न शक्नोति**

Scanned by CamScanner

पुरुषः– गुदा स्थित मांस पेशियों के दुर्बल होने पर पुरुष अनुवासन बस्ति द्वारा दी गयी स्नेह को रोक नहीं पाता, अथवा धारण करने में सक्षम नहीं होता।

अल्पबलत्वं गुदस्य संवरणीवलीदौर्बल्यात्– गुदा स्थित संवरणीवली (Sphincter muscle) का दुर्बल होना, जिससे व्यक्ति बस्ति के द्रव्यों को रोक नहीं पाता। ॥५६॥

मेदःकफाभ्यामनिलो निरुद्धः शूलाङ्गसुप्तिश्वयथून् करोति ॥५७॥
स्नेहं तु युञ्जन्नबुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान् विकारान् रोगास्तथाऽन्येऽप्यवितर्क्यमाणाः परस्परेणावगृहीतमार्गाः ॥५८॥
संदूषिता धातुभिरेव चान्यैः स्वैर्भेषजैर्नोपशमं व्रजन्ति ।

'कुछ साध्य रोग चिकित्सा के प्रयोग करने पर भी क्यों नहीं शान्त होते? प्रश्न का उत्तर– मेद व कफ के द्वारा अवरुद्ध वायु प्रकुपित होकर शरीर के विभिन्न भागों में शूल, अङ्ग सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का अभाव - Numbness) एवं श्वयथु (Oedema) उत्पन्न करती है। इन लक्षणों के आधार पर अज्ञ वैद्य यदि वातरोग समझकर स्नेह (अनुवासन) का प्रयोग करता है तब ये व्याधियाँ और बढ़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कफज विकार जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते, उत्पन्न हो जाते हैं, साथ ही साथ परस्पर मार्गों को अवरुद्ध करके ये व्याधियाँ रक्तादि धातुओं को दूषित कर देती है। इस प्रकार उत्पन्न ये व्याधियाँ अपनी चिकित्सा द्वारा शान्त नहीं होती।

चक्रपाणि– 'मेदःकफाभ्यामित्यादि' के द्वारा 'साध्या' इत्यादि प्रश्न के उत्तर को दिया गया है। **मेदसा कफेन वेति–** मेद व कफ के द्वारा, शरीर में मेद व कफ की अत्यधिक वृद्धि होने पर इनके द्वारा वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। [अवरुद्ध वायु प्रकुपित होकर शूल आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है। इन लक्षणों के ही आधार पर अज्ञ वैद्य **आवरण** का विचार न कर शुद्ध वात विकार की कल्पना करते हुए यदि अनुवासन बस्तियों की योजना करता है तब ये व्याधियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं।]

यहाँ शूलादि लक्षणों को देखकर अबुध भिषक् भ्रान्ति वश शुद्ध वातविकार समझकर स्नेह का प्रयोग करता है, आवरण को नहीं जान (समझ) पाता । इसलिये ऐसे चिकित्सक के लिए– 'अबुध' शब्द का प्रयोग किया गया है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– **''कुपिते मार्गसंरोधान्मेदसा वा कफेन वा अतिवृद्धेऽनिले नादौ शस्तं स्नेहेन बृंहणम्''** इति [मेद व कफ की वृद्धि से मार्गावरोध के कारण प्रकुपित वायु में पहले स्नेह द्वारा बृंहण कराना हितकर नहीं होता।]

अवितर्क्यमाणा इति असम्यक् ज्ञायमानाः – व्याधियों का ज्ञान उचित रूप से न हो पाना। व्याधियों का ज्ञान उचित रूप से क्यों नहीं हो पाता, इसके हेतु को 'परस्परेणेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रोगशब्देनात्र दोषोऽभिप्रेतः– रोग शब्द से यहाँ दोष अर्थ लिया गया है।

परस्परेण प्रतिबद्धमार्गा अतो दुर्ग्रहा भवन्ति– व्याधियों के मार्ग परस्पर मिले होने के कारण उनकी चिकित्सा आसानी से नहीं हो पाती। **तथा धातुभिश्च रक्तादिभिः संदूषिताः संमूर्च्छिताः सन्तो दुर्ज्ञेया भवन्ति–** तथा रक्तादि धातुएं परस्पर दूषित हो जाने के कारण भी इनकी चिकित्सा में कठिनायी आती है। अविज्ञाताश्च स्वैर्भेषजैर्न प्रशमं व्रजन्ति– व्याधियों के दोष-दूष्य का सम्यक् ज्ञान न हो पाने के कारण अपनी औषधियों द्वारा उनका प्रशमन नहीं हो पाता।

स्वैर्भेषजैरिति– मार्गावरोध आदि के कारण दोष-धातुओं के आपस में मिल जाने से एक दोष नाशक औषधियों के प्रयोग से व्याधि का प्रशमन नहीं होता, अर्थात् व्याधि शान्त नहीं होती, यह कहा गया। ऐसी अवस्था में दोषों के परस्पर आवरण को जानकर तथा दोष-दूष्य संमूर्च्छना (दोष व दूष्य के परस्पर संयोग) की विशेष अवस्था का विचार करके ही व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिए। ॥५७-५८॥

सर्वं च रोगप्रशमाय कर्म हीनातिमात्रं विपरीतकालम् ॥५९॥
मिथ्योपचाराच्च न तं विकारं शान्तिं नयेत् पथ्यमपि प्रयुक्तम् ।

चिकित्सा में असफलता का कारण– रोगों को प्रशमित करने के लिए प्रयुक्त सभी चिकित्सा कर्म यदि हीन मात्रा में, या अधिक मात्रा में, या विपरीत काल में अथवा चिकित्सा का मिथ्या योग (अनुचित प्रयोग) हो तब पथ्य होते हुए भी वह आहार-विहार व्याधि का प्रशमन नहीं करता।

[All therapeutic measures administered to alleviate a disease even though wholesome and skilfully given, fail to cure it, if they are used in lesser are excessive dose or at wrong time or in wrong manner. – Dr. R.K. Sharma and Bhagvai. Das.]

चक्रपाणि– व्याधि का सम्यक् ज्ञान होने पर भी चिकित्सक द्वारा चिकित्सा के अथवा औषधियों के असम्यक् प्रयोग आदि कारणों के द्वारा व्याधियाँ बढ़ जाती हैं, अपितु उनका प्रशमन नहीं होता, जिसे यहाँ 'सर्वं चेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

विपरीतकालमिति– चिकित्सा काल में चिकित्सा न करके उसके बीत जाने पर चिकित्सा करना।

मिथ्योपचाराच्चेति– भेषजानां तथाऽकरणात्, यथा– भेषजस्य सम्यक्परिणामे सति भोक्तव्यम्। यद्यौगिकं भेषजं तत् सम्यक् प्रयुक्तं सिध्यतीति सिद्धान्तः– रोग शमन के लिए जो कर्म अथवा पथ्य– मिथ्योपचार से हीन मात्रा, अतिमात्रा अथवा काल की विपरीतता से प्रयुक्त होने पर– उस विकार का शमन नहीं करता। जैसे औषधि का उचित पाक (सम्यक् परिणाम) होने पर ही भोजन करना चाहिए। जो औषधि जिस व्याधि में यौगिक हो तथा उसका भी प्रयोग सम्यक् हो तो वह अवश्य ही सफल होती है, यह सिद्धान्त है।

तत्र श्लोकः–

प्रश्नानिमान् द्वादश पञ्चकर्माण्युद्दिश्य सिद्धाविह कल्पनायाम् ।।६०।।
प्रजाहितार्थं भगवान् महार्थान् सम्यग्जगादर्षिवरोऽत्रिपुत्रः ।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते सिद्धिस्थाने कल्पनासिद्धिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– ऋषियों में श्रेष्ठ अत्रि के पुत्र भगवान् आत्रेय ने प्रजा के हित के लिए महत् अर्थों से युक्त इस कल्पनासिद्धि नामक अध्याय में पञ्चकर्म को उद्देश्य करके पूछे गये इन १२ प्रश्नों का समुचित उत्तर दिया है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के अप्राप्त दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में कल्पनासिद्धि नामक प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ। ।।१।।

चक्रपाणि– 'प्रश्नानित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। संग्रहश्च व्यक्तः– उपसंहार के विषय स्पष्ट हैं, अर्थात् स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। ।।५९।।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में कल्पनासिद्धि नामक प्रथम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातः पञ्चकर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

इसके बाद (मैं) पञ्चकर्मीया सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– कल्पनासिद्धि नामक अध्याय में वर्णित पञ्चकर्मों के उपयोग व इनका प्रयोग हमें कहाँ करना चाहिए तथा कहाँ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की जिज्ञासा चिकित्सक के मन में उत्पन्न होती है। इन्हीं जिज्ञासाओं की शान्ति के लिए पञ्चकर्मीया सिद्धि नामक अध्याय का कथन किया गया है।

पञ्चकर्मप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयज्ञानार्थमधिकृत्य कृता सिद्धिः पञ्चकर्मीयसिद्धिः– पञ्चकर्म के योग्य एवं अयोग्य विषय को ही मुख्य मान करके लिखा जाने वाला अध्याय **पञ्चकर्मीयसिद्धि** कहा गया है। अर्थात् इस अध्याय में मुख्य रूप से पञ्चकर्म के योग्य एवं अयोग्य रोगों का प्रतिपादन किया गया है। ।।१-२।।

येषां यस्मात् पञ्चकर्माण्यग्निवेश न कारयेत् । येषां च कारयेत्तानि तत् सर्वं संप्रवक्ष्यते ।।३।।

विषय प्रवेश– हे अग्निवेश! इस अध्याय में जिन पुरुषों को जिन-जिन कारणों से पञ्चकर्म द्वारा संशोधन नहीं कराना चाहिए तथा जिनको पञ्चकर्म कराना चाहिए, उन सभी विषयों का विवेचन किया जा रहा है।

चक्रपाणि– 'येषामित्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के संकल्प को बताया गया है। अर्थात् आचार्य निर्धारित विषय वस्तु का ही प्रतिपादन करेंगे। **पञ्चकर्माणि येषां न कार्याणीत्यनेन–** व्यस्त (अलग-अलग) एवं समस्त (मिलित रूप में या सम्पूर्ण) पञ्चकर्मों का प्रयोग जिन पुरुषों अथवा रोगियों में नहीं कराना चाहिए या जिनमें कराना चाहिए, उन सबका विवेचन यहाँ अलग-अलग किया गया है। अथवा आचार्य द्वारा किया जायेगा।

चण्डः साहसिको भीरुः कृतघ्नो व्यग्र एव च । सद्राजभिषजां द्वेष्टा तद्दिद्दृष्टः शोकपीडितः ।।४।।
यादृच्छिको मुमूर्षुश्च विहीनः करणैश्च यः । वैरी वैद्यविदग्धश्च श्रद्धाहीनः सुशङ्कितः ।।५।।
भिषजामविधेयश्च नोपक्रम्या भिषग्विदा । एतानुपचरन् वैद्यो बहून् दोषानवाप्नुयात् ।।६।।
एभ्योऽन्ये समुपक्रम्या नराः सर्वैरुपक्रमैः । अवस्थां प्रविभज्यैषां वर्ज्यं कार्यं च वक्ष्यते ।।७।।

चिकित्सा के अयोग्य पुरुष (सम्पूर्ण पञ्चकर्म चिकित्सा के अयोग्य पुरुष)– चिकित्सक को अधोलिखित व्यक्तियों में पञ्चकर्म चिकित्सा का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ऐसा नहीं करने पर, अर्थात् इनकी चिकित्सा करने पर चिकित्सक को अनेक दोषों का भागी होना पड़ता है।

चण्ड (जो अत्यधिक क्रोध करता हो, उग्र, आवेश युक्त), साहसिक (अत्यधिक साहस करने वाला), भीरु (जो अत्यधिक डर जाता हो), कृतघ्न (किये गये उपकार को न मानने वाला), व्यग्र (जिसका मन स्थिर न हो), सज्जन पुरुषों एवं राजपुरुषों से द्वेष करने वाला, सज्जन अथवा राजा जिससे द्वेष करते हों, शोक से पीड़ित (जो अत्यधिक शोक युक्त हो), यादृच्छिक (ईश्वर पर न विश्वास करने वाला), मुमूर्ष (मृत्यु जिसके समीप हो), करण विहीन (साधन रहित पुरुष), शत्रु, वैद्य विदग्ध (जो चिकित्सक न होते हुए भी अपने को चिकित्सक समझता हो), श्रद्धाहीन, हमेशा सन्देह करने वाला, चिकित्सक की बातों को न मानने वाला; ऐसे पुरुषों की चिकित्सा करने वाला चिकित्सक बहुत से दोषों को प्राप्त करता है, अर्थात् उसे धर्म, अर्थ एवं यश की हानि होती है।

चिकित्सा के योग्य रोगी– निर्दिष्ट व्यक्तियों से भिन्न व्यक्तियों की चिकित्सा संशोधन एवं संशमन उपायों द्वारा अवस्था का विचार करके करना चाहिए। आगे अवस्था के अनुसार किन व्याधियों में पंचकर्म कराना चाहिए तथा किनमें नहीं कराना चाहिए, का विवेचन करेंगे।

चक्रपाणि– 'चण्ड इत्यादि' के द्वारा सम्पूर्ण पञ्चकर्म चिकित्सा के निषेध को बताया गया है। अर्थात् इन रोगियों में पञ्चकर्म चिकित्सा पूर्णतः निषिद्ध है, यह बताया गया है। यद्यपि जनपदोद्ध्वंशनीय विमान (वि.अ. ३) व रोगभिषग्जितीय विमान (वि.अ. ८) में अनपवाद रूप से (स्पष्ट रूप से) अचिकित्स्य होने से इन पुरुषों की चिकित्सा न करने का निर्देश दिया गया है फिर भी यहाँ प्रकरण आ जाने के कारण उनका अभिधान (कथन) किया गया है।

चण्डादिषु प्रवृत्तिर्भेषजस्याशक्यत्वान्निषिध्यते– चण्ड आदि पुरुषों में औषध का प्रयोग अशक्य (किया जाना सम्भव न हो पाने) होने के कारण निषेध किया गया है, अर्थात् अति क्रोधी, अत्यधिक साहसी आदि पुरुष औषध का सेवन ही नहीं करते, अपितु मारने-पीटने के लिए उद्यत हो जाते हैं। इस कारण उन्हें औषध देना संभव नहीं हो पाता।

Scanned by CamScanner

कृतघ्नादिषु चाधर्मवशादेव भेषजं न सिध्यति– कृतघ्न आदि पुरुषों में अधर्म के कारण औषध का प्रयोग सफल नहीं होता, अपितु अधार्मिक प्रतिक्रिया के कारण अधर्म ही होता है। इस कारण यहाँ चिकित्सा का निषेध किया गया है।

सतो राज्ञः भिषजश्च द्वेष्टीति सद्राजभिषजां द्वेष्टा– सद् (सज्जन पुरुष) एवं राजवैद्य (चिकित्सक) से जो द्वेष करता हो अथवा सदिति राज्ञो भिषजश्च विशेषणम्– सद् विशेषण राजा एवं भिषक् दोनों के साथ जुड़ा हुआ है, अर्थात् जो अच्छे राजा एवं भिषक् (चिकित्सक) से द्वेष करता हो, ऐसे पुरुषों की चिकित्सा नहीं करना चाहिए। तद्द्विष्ट इति– सद् राजा व वैद्य जिससे द्वेष करते हों। यादृच्छिकः = नास्तिक [जिन्हें ईश्वर या वेदों में विश्वास न हो, यह शब्द आस्तिक व नास्तिक विचारक आपस में कितना विद्वेष (नफरत) करते थे; यह दर्शाता है।]

विहीनः करणैरिति– चिकित्सा के साधनों का अभाव होना, अर्थात् जिसके पास चिकित्सा के साधन न हों, अर्थात् खाने-पीने, औषध आदि साधनों का अभाव होना।

वैरी– जो वैद्य (चिकित्सक) को हानि पहुँचा सकता हो, अर्थात् वैद्य का शत्रु। **वैद्यद्वेष्टा तु नापकारक इति विशेषः–** वैद्य से द्वेष करने वाला पुरुष अपकारक नहीं होता, अर्थात् वैद्य को कोई हानि नहीं पहुँचाता, अपितु मन ही मन जलता रहता है, यही विशेष अन्तर है। वैद्यविद्यधः वैद्यमानी– वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य समझना। **भिषजामविधेय इति भिषजामनायत्तः–** चिकित्सक को ऐसे पुरुषों की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। सर्वैरिति– वमनादि पञ्चकर्म तथा अन्य संशमन उपक्रमों के द्वारा। ऐषामिति– चण्डादि पुरुषों के अतिरिक्त पुरुषों की चिकित्सा संशोधन एवं संशमन उपायों द्वारा अवस्था के अनुसार करना चाहिए। ॥४-७॥

विशेष (Comments)– वैद्य विद्यधः इति य आतुरः स्वयं वैद्यविद्या विद्यधः इव वैद्यविद्याभिमानी– जो आतुर स्वयं अर्ध ज्ञान के बल पर अपने को वैद्य समझता हो उसे वैद्यविद्याभिमानी कहा जाता है। वैद्यविद्याभिमानी– वैद्य न होते हुए भी अपने को वैद्य समझना।

अवम्यास्तावत्- क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृशबालवृद्धदुर्बलश्रान्तपिपासितक्षुधितकर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्त-क्षामगर्भिणीसुकुमारसंवृतकोष्ठदुश्छर्दनोर्ध्वरक्तपित्तप्रसक्तच्छर्दिरूर्ध्ववातास्थापितानुवासितहृद्रोगोदावर्तमूत्राघातप्लीहगुल्मोदराष्ठीला-स्वरोपघातातिमिरशिरःशङ्खकर्णाक्षिशूलार्ताः ।।८।।

तत्र क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तातिप्रवृत्तिः स्यात्, क्षीणातिस्थूलकृशबालवृद्धदुर्बलानामौषधबलासहत्वात् प्राणोपरोधः, श्रान्तपिपासितक्षुधितानां च तद्वत्, कर्मभाराध्वहतोपवासमैथुनाध्ययनव्यायामचिन्ताप्रसक्तक्षामाणां रौक्ष्याद्वातरक्तच्छेदक्षतभयं स्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भभ्रंशाच्च दारुणा रोगप्राप्तिः, सुकुमारस्य हृदयापकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरातिप्रवृत्तिः, संवृतकोष्ठदुश्छर्दनयोरतिमात्रप्रवाहणाद्दोषाः समुत्क्लिष्टा अन्तःकोष्ठे जनयन्त्यन्तर्विसर्पं स्तम्भं जाड्यं वैचित्त्यं मरणं वा, ऊर्ध्वगरक्तपित्तिन उदानमुत्क्षिप्य प्राणान् हरेद्रक्तं चातिप्रवर्तयेत्, प्रसक्तच्छर्देस्तद्वत्, ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्वं वातातिप्रवृत्तिः, हृद्रोगिणो हृदयोपरोधः, उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः स्याच्छीघ्रतरहन्ता, मूत्राघातादिभिरार्तानां तीव्रतरशूलप्रादुर्भावः, तिमिरार्तानां तिमिरातिवृद्धिः, शिरःशूलादिषु शूलातिवृद्धिः; तस्मादेते न वम्याः । सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु विषगरविरुद्धाजीर्णाभ्यवहारामकृतेष्वप्रतिषिद्धं शीघ्रतरकारित्वादेषामिति ।।९।।

वमन के अयोग्य रोगी– अधोलिखित रोगियों में वमन नहीं कराना चाहिए– १. क्षत (उरः क्षत) व क्षीण (क्षीण क्षत) के रोगी [The patient suffering from Kshata (Phthisis) or suffering from consumption] २. अति स्थूल रोगी (अत्यधिक मोटा - excessively obese), ३. अत्यधिक कृश रोगी (जिसकी मांस आदि धातुएं अत्यधिक क्षीण हों (Excessively emaciated), ४. बाल (infant), वृद्ध (Old person) व दुर्बल (weak) पुरुष अर्थात् अत्यधिक बाल, वृद्ध व दुर्बल पुरुष, ५. जो अत्यधिक थका हुआ हो, जो अत्यधिक प्यासा हो एवं जिसे अत्यधिक भूख लगी हो, ६. जो पुरुष अत्यधिक कार्य करने, भार ढोने अथवा पैदल चलने से थका हो, ७. अत्यधिक उपवास, अत्यधिक मैथुन, अत्यधिक अध्ययन, अत्यधिक व्यायाम एवं अत्यधिक चिन्तित रहने वाले पुरुष, ८. क्षाम (व्याधिग्रस्त पुरुष जिसकी धातुएं क्षीण हों), गर्भिणी (Pregnant woman), सुकुमार (कोमल प्रकृति वाले पुरुष), ९. संवृत्त कोष्ठ वाले पुरुष (जिसका आमाशय या कोष्ठ संकुचित हो), जिन्हें कठिनता से वमन होता हो, १०. ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी तथा निरन्तर वमन करने वाला रोगी, ११. ऊर्ध्ववात का रोगी, १२. जिन पुरुषों को आस्थापन अथवा अनुवासन बस्ति दी गयी हो, १३. हृदय रोगी (One suffering from heart diseases), उदावर्त (One suffering from misperistalsis), मूत्राघात (Suppression of urine), प्लीहा रोग (Splenic disorders), गुल्म (Phantom tumour), उदररोग (Obstinate abdominal diseases including ascites), अष्ठीला (Enlarged prostate) स्वरभेद (Hoarseness of voice), एवं तिमिर (आँखों के सामने अंधकार छा जाना), शिरःशूल (Headache), शंखशूल (शंख प्रदेश में पीड़ा का होना - Pain in temporal region), कर्णशूल (Earache), एवं नेत्रशूल (Pain in eyes.) के रोगी।

निर्दिष्ट (पूर्व निर्दिष्ट) रोगों में वमन न कराने का कारण– १. उरःक्षत के रोगी में क्षत तो पूर्व से विद्यमान रहता है, वमन कराने पर क्षत और अधिक बढ़ जाता है। परिणाम स्वरूप रक्त का स्राव (Bleeding) अधिक होने लगता है।

२. क्षीण रोगी, अतिस्थूल पुरुष, कृश, बालक व वृद्ध पुरुष स्वभावतः दुर्बल होते हैं, अतः औषध के बल को सह सकने में सक्षम

Scanned by CamScanner

न होने के कारण इनमें प्राणों के भय (मृत्यु) की संभावना रहती है। अर्थात् इन व्यक्तियों में वमन कराने पर रोगी वमन के वेग अथवा क्षोभ आदि को नहीं सह पाता, परिणाम स्वरूप रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

३. थका हुआ, प्यास युक्त अथवा क्षुधा युक्त रोगी का भी बल अल्प ही रहता है, अतः ये रोगी भी वमन के वेग को नहीं सह पाते।

४. अधिक कार्य करने, अत्यधिक भार ढोने, अथवा अत्यधिक पैदल चलने से जो थक गये हैं तथा अत्यधिक उपवास, मैथुन, अध्ययन, व्यायाम व शोक से युक्त रहने वाले एवं अत्यधिक रोगग्रस्त (क्षाम) पुरुषों का शरीर रूक्ष होने के कारण वमन कराने से या वामक द्रव्य पिलाने से वायु और अधिक प्रकुपित हो जाती है। परिणाम स्वरूप रक्तस्राव व उरःक्षत होने का भय उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् रक्तस्राव व उरः क्षत उत्पन्न हो जाता है।

५. गर्भिणी स्त्रियों में वमन कराने से **गर्भ की व्यापत्ति** (Complications of Pregnancy) एवं आम गर्भ का भ्रंश (Abortion of immature foetus) होने से भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

६. सुकुमार प्रकृति वाले पुरुषों में वामक औषधि का प्रयोग कराने से हृदय में खिंचावट जैसी पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। परिणामतः ऊर्ध्व मार्ग (मुखमार्ग, नासिका आदि) तथा अधः मार्ग (गुदा, मूत्रनली आदि) से अत्यधिक रक्त निकलने लगता है। [If the person having tender health is given emetic therapy, then because of the strain in his heart, this may give rise to haemorrhage through the upward and downward tracts. – Dr. Bhagvan Das]

७. संकुचित कोष्ठ एवं कठिनता से वमन होने वाले पुरुषों में वामक औषधि पिलाने पर उन्हें वमन हेतु दोषों को बाहर निकालने के लिए अत्यधिक प्रवाहण करना पड़ता है। अति प्रवाहण के कारण उत्क्लेशित दोष कोष्ठ के अन्दर फैलकर अन्तः विसर्प (Internal visarpa), स्तम्भ (जकड़ाहट - Stiffness), जाड्य (जड़ता), मन में उद्वेग (Mental perversion) अथवा मृत्यु (death) उत्पन्न कर सकते हैं।

८. ऊर्ध्वग रक्तपित्त के रोगी को वमन कराने पर वामक द्रव्य उदानवायु को ऊपर की ओर ले जाकर प्राणों को हर लेता है अथवा मुख से अत्यधिक रक्त निकालने लगता है। यही अवस्था लगातार वमन करने वाले पुरुष को वामक द्रव्य पिलाने पर उत्पन्न होती है।

९. ऊर्ध्ववात का रोगी जिसे आस्थापन अथवा अनुवासन बस्ति दी गयी है, यदि उसे वामक द्रव्यों का पान कराया जाय तब वात की ऊर्ध्व प्रवृत्ति और अधिक बढ़ जाती है।

१०. हृद्रोगी में वमन कराने पर हृदयोपरोध होने की संभावना रहती है।

११. उदावर्त रोगी में वामक द्रव्य पिलाने पर यह भयङ्कर रूप से बढ़कर रोगी के प्राणों को शीघ्र ही नष्ट कर सकता है।

१२. मूत्राघात, प्लीह, गुल्म, उदर, अष्ठीला एवं स्वरोपघात के रोगियों में वामक द्रव्य पिलाने पर अत्यधिक तीव्र शूल उत्पन्न हो जाता है।

१३. शिरःशूल के रोगी में वमन कराने पर शूल (Headache) अत्यधिक बढ़ जाता है।

१४. तिमिर (आँखों के सामने अंधकार छा जाना) रोग में वमन कराने पर व्याधि अत्यधिक बढ़ जाती है।

इसलिये इन व्याधियों में वमन नहीं कराना चाहिए। यदि यही व्याधियाँ विषपान, गरविष (कृत्रिम विष) पान, विरुद्ध भोजन (Mutually contradictory ingredients), अजीर्ण (Indigestion) भोजन के कारण या **आमविष** के कारण उत्पन्न हों तब इनमें वमन का निषेध नहीं है। ऐसी अवस्था में शीघ्र वामक द्रव्यों का प्रयोग करके दोषों का निर्हरण कराना चाहिए, अन्यथा विष रोगी को शीघ्र ही मार डालता है।

चक्रपाणि– रोगादि की अवस्थाओं के अनुसार किनमें पञ्चकर्म का प्रयोग नहीं करना चाहिए, उसे यहाँ– 'अवम्यास्तावदित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

'अवम्यादौ तावदिति' इस पद का प्रयोग सबसे पहले किया गया है। अर्थात् वमन के अयोग्य रोग एवं रोगी का विवेचन यहाँ सर्वप्रथम किया गया है।

प्रसक्तशब्दो मैथुनादिभिः प्रत्येकं संबध्यते– प्रसक्त शब्द मैथुनादि प्रत्येक शब्द के साथ जुड़ा हुआ है, यथा– मैथुनप्रसक्तः (अत्यधिक मैथुन करने वाला), अध्ययनप्रसक्तः (अत्यधिक पढ़ने वाला), व्यायामप्रसक्तः (अत्यधिक व्यायाम करने वाला) तथा चिन्ताप्रसक्तः (अत्यधिक चिन्तित रहने वाला)।

Scanned by CamScanner

संवृतकोष्ठः वायुना अल्पीकृतकोष्ठः– कोष्ठ का सिकुड़कर छोटा हो जाना, यह कार्य वायु के प्रकुपित होने पर होता है। अर्थात् वायु प्रकुपित होकर कोष्ठ को छोटा कर देता है। कुछ आचार्य **संवृत कोष्ठ** से वायुव्याप्तः कोष्ठः (कोष्ठ का वायु से व्याप्त होना अर्थात् 'कोष्ठ में वायु भर जाना') अर्थ ग्रहण करते हैं।

'तत्र क्षतस्येत्यादि' के द्वारा निर्दिष्ट व्याधियों में वमन न कराने के हेतु (कारण) को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् क्षत आदि व्याधियों में वमन क्यों नहीं कराना चाहिए, इसके हेतु को बताया गया है। प्राणोपरोधः = मृत्यु, कुछ आचार्य इससे मृत्यु का ग्रहण न करके 'बलक्षय' का ग्रहण करते हैं।

श्रान्तादीनां विच्छेदपाठेन प्राणोपरोधस्य पूर्वापेक्षया हीनमात्रत्वं दर्शयति– अत्यधिक थके हुए, अत्यधिक प्यासे तथा क्षुधित पुरुष को वमन कराने पर क्षीण, अतिस्थूल आदि पुरुषों में वमन के जो दोष बताये गये हैं उनकी तुलना में अल्प दोष उत्पन्न होते हैं, यह कहा गया है। **वातरक्तच्छेदक्षतभयमित्यत्र रक्तच्छेदो रक्तमोक्षः–** 'रक्तच्छेद' से 'रक्त का स्राव होना' अर्थ लिया गया है। सुकुमारस्येति = मृदु शरीर वाले। हृदयापकर्षणादिति– हृदय का उपहत होना (Cardiac arrest)। तद्वदिति– ऊर्ध्व रक्तपित्त के रोगी में वमन कराने के जो दोष बताये गये हैं, यथा– उदानवायु को ऊर्ध्व प्रवृत्त कराते हुए प्राणों को नष्ट करना एवं अत्यधिक रक्त की प्रवृत्ति ऊर्ध्व मार्ग से कराना, यही दोष (व्याधियाँ) लगातार वमन करने वाले रोगी को वामक औषधि पिलाने पर उत्पन्न होते हैं।

अवम्य रोगी (जिनमें वमन नहीं कराना चाहिए) को किस विशेष अवस्था में वमन कराना चाहिए? उसका निर्देश यहाँ 'सर्वेष्वपीत्यादि' के द्वारा दिया गया है। यद्यपि यहाँ अध्याय के अन्त में सभी व्याधियों की निर्दिष्ट अवस्थाओं में वमनादि का निषेध होते हुए भी प्रयोग करने का विधान बतायेंगे, फिर भी यहाँ विधान के अनुसार यह निर्देश वमन के सन्दर्भ में अवश्य पालन करना चाहिए। अर्थात् विशेष अवस्थाओं में वमन कराने का निर्देश होते हुए भी सामान्य अवस्था में इस निर्देश का पालन अवश्य करना चाहिए। ॥८-९॥

शेषास्तु वम्याः; विशेषतस्तु पीनसकुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वासगलग्रहगलगण्डश्लीपदमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिकालसक-विषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधः शोणितपित्तप्रसेक(दुर्नाम)हृल्लासारोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसारशोफपाण्डुरोगमुखपाकदुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि वमनं प्रधानतममित्युक्तं केदारसेतुभेदे शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत् ॥१०॥

वमन के योग्य रोग एवं रोगी (Indications of Emetic Therapy)– अधोलिखित रोग एवं रोगियों में **वमन चिकित्सा** का प्रयोग कराना चाहिए– जिन व्यक्तियों में वमन का निषेध है उन्हें छोड़कर शेष व्यक्तियों में इसका प्रयोग करना चाहिए, यथा– विशेषतः (विशेष रूप से) - पीनस (Coryza), कुष्ठ (Obstinate skin diseases including leprosy), नवज्वर (नवीन ज्वर), राजयक्ष्मा (Tuberculosis), कास (Cough), श्वास (Asthma), गलग्रह (Spasm in the throat), गलगण्ड (Enlargement of thyroid gland), श्लीपद (हाथीपाँव Elephantiasis), प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes), मन्दाग्नि (जाठराग्नि का क्षीण होना), विरुद्ध आहार (Mutually contradictory food ingredients), अजीर्ण आहार (Indigestion of food), विसूचिका (Cholera), अलसक (अन्न का महास्रोतस् के एक भाग में रुक जाना), विषपीत (विष का पान Intake of natural poison), गरविष का सेवन करना (Intake of artificially prepared poisons), विषदष्ट (विषैले जन्तुओं द्वारा काटा जाना), दिग्धविद्ध (विष बुझे बाणों द्वारा विध जाना अथवा घायल हो जाना - Injury with weapons smeared with poisonous material), अधोग रक्तपित्त (अधोमार्गी रक्तपित्त), प्रसेक (मुख से पानी का निकलना), दुर्नाम [(इसका पाठ हस्तलिखित पुस्तकों में नहीं प्राप्त होता (Piles)], हृल्लास (मिचली का आना - Nausea), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion), अपची (Cervical adenitis), अपस्मार (Epilepsy), उन्माद (Insanity), अतीसार (Diarrhoea), शोफ (Oedema), पाण्डुरोग (Anaemia), मुखपाक (Stomatitis), दुष्टस्तन्य (Polluted breast-milk) आदि। इसके अतिरिक्त विशेष रूप से कफज व्याधियाँ जिनका विवेचन च.सू. अध्याय २० (महारोगाध्याय) में किया गया है, वमन कराना चाहिए। इन रोगों (कफज रोगों) में वमन सबसे प्रधान कर्म है। जिस प्रकार शाली धान्य की क्यारी का बाँध टूट जाने से पानी क्यारी से बाहर निकल जाता है तथा शाली आदि धान्य नष्ट होने से बच जाते हैं। उसी प्रकार शरीर से वमन द्वारा कफ का निर्हरण हो जाने से शरीर कफज व्याधियों (विकारों) से आक्रान्त नहीं होता।

चक्रपाणि– शेषास्तु वम्या इत्यभिधायापि पीनसादीन् पुनर्वमन विषयतया दर्शयन् तेषु विशेषेण वमनस्य यौगिकतां दर्शयति– 'शेष व्याधियाँ वमन के योग्य हैं' ऐसा कहकर भी पीनस आदि व्याधियों का पुनः वर्णन होना, उनमें विशेष रूप से वमन कर्म की उपयोगिता को दर्शाने के लिए किया गया है। अर्थात् निर्दिष्ट व्याधियों में वमन कर्म विशेष रूप से कराना चाहिए, यह बताया गया है। इसी प्रकार आगे वर्णित विरेचन आदि के सम्बन्ध में भी यही व्याख्या करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

'प्रधानतममिति' के द्वारा महारोगाध्याय (सू.अ. २०) में "केदारसेतुभेदे' से एक देशज रूप (कफज दोषों की चिकित्सा रूप) में वर्णित वमन प्रधान होने से उसे यहाँ स्थान दिया गया है। उस प्रकरण में यही विचार इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– वमनं खलु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्धयादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा– भिन्ने केदारसेतौ शालिषष्टिकादीन्यभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते, तद्वत्" (सू.अ. २०/१९) इति [चिकित्सक कफनाशक सभी उपक्रमों में वमन को प्रधानतम् स्वीकार करते हैं, क्योंकि वामक औषधि सर्वप्रथम आमाशय में प्रवेश करके उरोगत सम्पूर्ण विकृत कफ को, जो सम्पूर्ण कफज व्याधियों का मूल है, ऊर्ध्व मार्ग द्वारा बाहर निकाल देती है। उस विकृत कफ के निर्हरित हो जाने पर सम्पूर्ण शरीर में रहने वाले कफज विकार उसी प्रकार प्रशमित हो जाते हैं जिस प्रकार जल से भरे हुए शाली, षष्टि धान्य के खेत के बाँध टूट जाने से जल के अभाव में ये फसल सूख जाते हैं।] सूत्रस्थान २० का यह भाग यहाँ सम्बन्ध रखता है।

इसी प्रकार पित्तनाशक उपक्रमों में प्रधानतम् विरेचन को तथा वातनाशक उपक्रमों में प्रधानतम् बस्ति को स्वीकार किया गया है। इस विषय वस्तु का विवेचन सूत्रस्थान २० में बताया गया है, उसका ग्रहण यहाँ करना चाहिए।

[सू.अ. २० से लेकर उसे यहाँ पूर्ण करना चाहिए। अध्याहार – न्यूनपदता को पूर्ण करना, यहाँ जिस विषय की कमी है उसको अन्य स्थानों से लेकर पूर्ण करना, अर्थात् सू.अ. २० में वर्णित पित्त व कफ के दृष्टान्त को यहाँ भी जोड़ना चाहिए।] ॥१०॥

विशेष (Comments)– शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत्– जैसे शाली आदि धान्य नहीं सूखते, वैसे ही दोषों का विनाश हो जाता है, अर्थात् शाली आदि धान्य की क्यारियों का बाँध टूट जाने से क्यारी का जल बाहर निकल जाता है, जिससे धान्य नहीं सूखता वैसे ही शरीर से कफ दोष का निर्हरण हो जाने से शरीर कफज व्याधियों से आक्रान्त नहीं होता।

पाठभेद से– **'शाल्यादिशोषविनाशवदिति'** प्राप्त होता है जिसका अर्थ – जिस प्रकार शाली धान्य के खेत का बाँध स्वतः टूट जाने से जल के अभाव में फसल सूख जाता है वैसे ही शरीर से कफ का निर्हरण हो जाने से व्याधियाँ (कफज विकार) नष्ट हो जाती हैं, ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ दोनों पाठभेद अपने-अपने स्थान पर उचित प्रतीत होते हैं। **प्रथम में–** कई दिनों तक वर्षा होने पर शाली या साठी धान्य की क्यारियाँ जल से परिपूर्ण हो जाती हैं, फसल कई दिनों तक जल में डूब जाती हैं तब किसान उनकी मेढ़ (बाँध) को काटकर पानी को बाहर निकालता है जिससे फसल को बचाया जा सके, फसल की जड़ के कुछ भाग ऊपर यानि जड़ सहित तने के कुछ ऊपर तक पानी देना जरूरी होता है, पत्ते आदि जल में डूबने पर प्रकाश संश्लेषण एवं श्वसन की क्रिया बाधित होने से सड़ने लगते हैं। अतः पानी को निकाल कर फसल की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है।

द्वितीय पाठ में– **शाल्यादिशोषविनाशवदिति–** यह उदाहरण उस समय का है जब खेत में एक निश्चित मात्रा में पानी दिया गया है, किसी कारण से स्वतः क्यारी का बाँध टूट जाय तब जल की कमी के कारण धान्य की फसल सूख जाती है, वैसे ही पुरुष शरीर से कफ दोष का निर्हरण होने पर कफज व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

अविरेच्यास्तु सुभगक्षतगुदमुक्तनालाधोभागरक्तपित्तविलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निरूढकामादिव्यग्राजीर्णिनवज्वरिमदात्ययिताध्मातशल्यार्दिताभिहतातिस्निग्धरूक्षदारुणकोष्ठाः क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ताः ।।११।।

तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोषः स्यात्, क्षतगुदस्य क्षते गुदे प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत्, मुक्तनालमतिप्रवृत्त्या हन्यात्, अधोभागरक्तपित्तिनं तद्वत्, विलङ्घितदुर्बलेन्द्रियाल्पाग्निरूढा औषधवेगं न सहेरन्, कामादिव्यग्रमनसो न प्रवर्तते कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोगदोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन आमदोषः स्यात्, नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् न निर्हरेद् वातमेव च कोपयेत्, मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात्, आध्मातस्याधमतो वा पुरीषकोष्ठे निचितो वायुर्विसर्पन् सहसाऽऽनाहं तीव्रतरं मरणं वा जनयेत्, शल्यार्दितााभिहतयोः क्षते वायुराश्रितो जीवितं हिंस्यात्, अतिस्निग्धस्यातियोगभयं भवेत्, रूक्षस्य वायुरङ्गप्रग्रहं कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूलपर्वभेदानाहाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाक्लमाञ्जनयित्वा प्राणान् हन्युः, क्षतादीनां गर्भिण्यन्तानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्; तस्मादेते न विरेच्याः ।।१२।।

विरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी– अधोलिखित पुरुषों में विरेचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यथा– १. सुभग (सुन्दर, Person having tender health, beautiful, या सुकुमार प्रकृति वाले लोग), २. क्षत गुद (जिस पुरुष की गुदा में क्षत हो - anal injury), ३. मुक्तनाल (Prolapse of rectum), ४. अधोगरक्तपित्त (एक प्रकार की रक्तस्रावी व्याधि जिसमें रक्त का स्राव गुदा, मूत्रनली आदि अधोमार्ग से होता हो), ५. विलङ्घित (जिसने विशेष रूप से लङ्घन किया हो), ६. इन्द्रियों का दुर्बल होना (जिसकी इन्द्रियाँ अपना कार्य करने में पूरी तरह से समर्थ न हों), ७. अल्पाग्नि (जिसकी जाठराग्नि दुर्बल हो - Person having less power of digestion), ८. जिसे निरूह बस्ति दी गयी हो, ९. जो काम आदि से व्यग्र हो (जिसका मन स्त्री के प्रति विशेष आसक्त हो), १०. अजीर्ण (Indigestion),

Scanned by CamScanner

नवज्वर (Acute fever), मदात्यय (Alcoholism), आध्मान (Abdominal distension), शल्यार्दित (जिसे कांटे आदि चुभ गये हों), अभिहत [(जिसे बाह्य चोट लगी हो, अर्थात् लाठी (लगुड़) आदि से चोट पहुँचाया गया हो], ११. अतिस्निग्ध (जिसका अत्यधिक स्नेहन हुआ हो अथवा जो अत्यधिक स्नेहयुक्त आहार ग्रहण करता हो), १२. अतिरूक्ष (जिसका शरीर अत्यधिक रूक्ष हो–The person who is excessively ununctuous), १३. दारुण कोष्ठ (क्रूरकोष्ठ वाला रोगी), १४. श्लोक नं.८ में क्षत से लेकर गर्भिणी तक जिन व्याधियों का उल्लेख किया गया है, उनमें भी विरेचन का निषेध है।

विरेचन न कराने का कारण– १. सुभग पुरुष में वमन कराने पर, जो दोष सुकुमार पुरुष में उत्पन्न होते हैं वही यहाँ भी उत्पन्न होते हैं, २. जिस पुरुष की गुदा में क्षत हो, यथा– Fissure आदि, ऐसे पुरुषों में विरेचक औषधि सेवन कराने पर क्षत के कारण गुदा में प्राणों को कष्ट देने वाली भयङ्कर पीड़ा उत्पन्न हो जाती है, ३. मुक्तनाल (Prolapse of rectum) के रोगी में विरेचन देने से अत्यधिक मल प्रवृत्ति होने से Prolapse अत्यधिक बढ़ जाता है, जिससे रोगी की मृत्यु भी हो सकती है, ४. अधोगरक्तपित्त के रोगी में विरेचन कराने से रक्त की अति प्रवृत्ति के कारण रोगी की मृत्यु हो सकती है, ५. विलङ्घित पुरुष (अत्यधिक उपवास करने वाला), दुर्बलेन्द्रिय (जिसकी इन्द्रियाँ दुर्बल हो), अल्पाग्नि (जिसकी जाठराग्नि मन्द हो) तथा निरूढ रोगी (जिसे निरूह बस्ति दी गयी हो) विरेचक औषध के बल को नहीं सह पाते, अर्थात् अत्यधिक विरेचन होने लगता है। ६. काम, क्रोध व चिन्ता से व्याकुल पुरुष को विरेचक औषधि सेवन कराने पर विरेचन नहीं होता अथवा कष्ट के साथ दोषों का निर्हरण होता है। अतः यहाँ औषध सेवन से विरेचन के अयोग के लक्षण उत्पन्न होते हैं, ७. अजीर्ण के रोगी में विरेचन कराने से **आमदोष** की वृद्धि हो जातो है, ८. नवज्वर (Acute fever) में विरेचक औषधि के प्रयोग से अपक्व दोष (आम दोष) नहीं निकल पाते, परिणाम स्वरूप वात प्रकुपित हो जाता है, ९. मदात्यय के रोगी का शरीर अति मद्य सेवन से स्वतः क्षीण रहता है। ऐसी अवस्था में विरेचन के प्रयोग से वायु प्रकुपित होकर रोगी के प्राणों को हर लेती है, १०. आध्मान के रोगी में विरेचन के प्रयोग से कोष्ठ में संचित वायु अथवा पुरीष इधर-उधर गमन करती हुई अचानक भयङ्कर आनाह को उत्पन्न करके रोगी को मार डालती है, ११. शल्य रोगी अथवा क्षत के रोगी में विरेचक औषधि देने पर क्षत स्थान में स्थित वायु प्रकुपित होकर प्राणों को नष्ट कर सकती है, १२. अति स्निग्ध रोगी में विरेचक औषधि देने पर विरेचन के अतियोग होने का भय रहता है, १३. रूक्ष पुरुष में विरेचक औषधि का प्रयोग करने पर प्रकुपित वायु (विरेचन के प्रयोग से प्रकुपित वायु) अङ्गों में जकड़ाहट उत्पन्न कर देती है, १४. यदि क्रूरकोष्ठ (Costive bowel) वाले रोगी में विरेचक औषधि का प्रयोग करते हैं तब विरेचन के द्वारा उत्क्लेशित दोष हृद् शूल (हृदय में पीड़ा), पर्वभेद (हाथ व पैर की अंगुलियों में पीड़ा का होना), आनाह (Constipation), अङ्गमर्द (Malaise), वमन (Vomiting), मूर्च्छा (Fainting), क्लम (मानसिक थकावट) को उत्पन्न करके रोगी के प्राणों को हर लेते हैं। अर्थात् इन व्याधियों से रोगी की मृत्यु हो जाती है। इसलिये इनमें विरेचक औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। १५. श्लोक नं. ८, ९ में वर्णित क्षत से लेकर गर्भिणी तक के रोगियों में वामक औषधि प्रयोग के जो उपद्रव बताये गये हैं वही विरेचक औषधि के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। अतः इन व्याधियों में विरेचन नहीं कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अविरेच्यास्त्वित्यादि' के द्वारा विरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगियों का वर्णन किया गया है।

सुभगक्षतगुद इति सुभगगुदः, क्षतगुदश्च; अन्ये तु सुभगं सुखसंवर्धितमाहु– सुभगक्षत गुद से सुभगगुद व क्षतगुद का ग्रहण किया गया है। अन्य आचार्य सुभग का अर्थ– 'सुखपूर्वक पालित (जिनका लालन पालन सुख-सुविधाओं में हुआ हो, अर्थात् कोमल प्रकृति) का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार के पुरुषों की गुदा **सुभगगुद** कही जाती है। **मुक्तनालः असंवृतगुदः–** जिसकी गुदा बन्द न होती हो, अर्थात् Sphincters muscles दुर्बल होने पर यह स्थिति उत्पन्न होती है।

क्षतादयश्च गर्भिण्यन्ता इति वमनाविषयमध्यपठिताः– श्लोक नं.८ में वर्णित क्षत से प्रारम्भ करके गर्भिणी तक के आतुर जिनमें वमन निषेध किया गया है, उनमें विरेचन का भी प्रयोग नहीं कराना चाहिए। अर्थात् क्षत, क्षीण, अतिस्थूल, अतिकृश, बालक, वृद्ध, दुर्बल, थके हुए पुरुष, पिपासित (जिन्हें प्यास लगी हो), क्षुधित (जिन्हें भूख लगी हो), जो अत्यधिक काम करने, भार ढोने तथा पैदल चलने से थक गये हों, जो अत्यधिक मैथुन, चिन्ता, अध्ययन एवं व्यायाम में लगे रहते हों; ऐसे पुरुषों को विरेचक औषधि का प्रयोग न करावें।

रुजां जनयेत् 'विरेचनं' इति शेषः– रुजां जनयेद् के साथ विरेचन शब्द जुड़ा हुआ है, अर्थात् विरेचन कराने पर प्राणों को कष्ट देने वाली वेदना उत्पन्न होती है।

अधोभागरक्तपित्तिनं तद्वदिति– अधोग रक्तपित्त वाले रोगी में विरेचन औषधि देने पर रक्त की अतिप्रवृत्ति होकर जीवन संकटमय हो जाता है। अर्थात् अतिविरेचन के कारण रक्तस्राव बढ़ जाता है, जिससे रोगी की मृत्यु भी हो सकती है।

Scanned by CamScanner

कामादि इति– यहाँ 'आदि' शब्द से शोक, क्रोध आदि भावों का ग्रहण किया गया है। यहाँ विरेचन की अप्रवृत्ति (विरेचन न होना) एवं अल्प प्रवृत्ति (विरेचन के वेगों का कम आना) दोनों अयोग के अन्तर्गत आते हैं, कहा भी गया है, यथा– "अयोग: प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्" (सि.अ. ६/३१) इति [वेगों का प्रतिलोम मार्ग से निकलना, वेगों का न आना अथवा अल्प वेगों का आना शोधन (वमन-विरेचन) का अयोग कहा जाता है।]

विरेचन के अयोग से होने वाले दोषों, यथा– विभ्रंश, हिक्का, स्तंभ आदि का वर्णन आगे किया जायेगा। **आमदोष इति–** आम दोष से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ, यथा– अलसक, विसूचिका आदि का ग्रहण करना चाहिए। **पुरीषकोष्ठ इति पुरीषाद्यासक्तकोष्ठ:–** कोष्ठ का पुरीषादि से भरा होना, कोष्ठ में पुरीष आदि का चिपका होना। **दुश्छर्दनोक्त इति–** कठिनता (कष्ट) के साथ वमन का होना। इसे वमन के लिए अयोग्य पुरुषों के विवेचन क्रम में पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। अत: जो दोष वमन कराने में होते हैं वही दोष विरेचक औषधि के प्रयोग से भी होते हैं। ॥११-१२॥

शेषास्तु विरेच्याः; विशेषतस्तु कुष्ठज्वरमेहोर्ध्वरक्तपित्तभगन्दरोदरार्शोब्रध्नप्लीहगुल्मार्बुदगलगण्डग्रन्थिविसूचिकालसकमूत्राघातक्रिमिकोष्ठ-विसर्पपाण्डुरोगशिर:पार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोगव्यङ्गनीलिकानेत्रनासिकास्यस्रवणहल्लीमकश्वासकासकामलापच्यपस्मारोन्मादवात-रक्तयोनिरेतोदोषतैमिर्यारोचकाविपाकच्छर्दिश्वयथूदरविस्फोटकादय: पित्तव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेषु हि विरेचनं प्रधानतममित्युक्त-मग्न्युपशमेऽग्निगृहवत् ॥१३॥

विरेचन के योग्य रोग एवं रोगी– (श्लोक नं. ११ में वर्णित रोगियों को छोड़कर) शेष रोगियों में विरेचन औषधि का प्रयोग कराना चाहिए। विशेष रूप से अधोलिखित रोगियों में विरेचन का प्रयोग करें, यथा– कुष्ठरोगी (Skin diseases), ज्वर (Fever), प्रमेह रोगी (Obstinate urinary disorders including diabetes), ऊर्ध्वग रक्तपित्त (An ailment characterised by bleeding from the upward tracts), भगन्दर (Fistula-in-ano), उदररोगी (Abdominal diseases including ascites), अर्श (Piles), ब्रध्न (Inguinal swelling), प्लीहरोग (Splenic disorders), गुल्म (वातिक गुल्म– Phantom tumour), अर्बुद (Tumour), गलगण्ड (Thyroid enlargement), ग्रन्थि, विसूचिका (Choleric diarrhoea), अलसक [Flatulence (intumescence of the abdomen, with constipation and wind – M.M. Williams)] मूत्राघात (मूत्र का रुक जाना), क्रिमिकोष्ठ (जिसके कोष्ठ में क्रिमि हो), विसर्प (Erysipelas), पाण्डुरोग (Anaemia), शिर:शूल (Headache), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), उदावर्त [A class of diseases (marked by retention of feces)], नेत्रदाह (नेत्रों में जलन का होना burning sensation in the eyes), आस्यदाह [मुख में जलन का होना (stomatitis - generalized inflammation of the oral mucosa)] हृद्रोग (हृदय के रोग– Heart diseases), व्यङ्ग (गाल पर पड़े काले धब्बे, **Freckle**– A pigmented spot on the skin due to accumulation of melanin resulting from exposure to sunlight), नीलिका (Bluish black moles), नेत्रस्राव (Excessive discharge from eyes), नासिका स्राव (Excessive discharge from the nose), आस्य स्राव (मुख से स्राव का निकलना - Excessive salivation), हर्लीमक (कामला का एक विशेष प्रकार), श्वास (Asthma), कास (Cough), कामला (Jaundice), अपची (Cervical adenitis), अपस्मार (Epilepsy), उन्माद (Insanity), वातरक्त (Gout), योनिदोष (Gynecic disorders), शुक्रदोष (Seminal morbidities), तिमिर (Cataract), अरोचक (Anorexia), अविपाक (Indigestion), छर्दि (Vomiting), श्वयथु (Oedema), उदररोग तथा विस्फोट (Pustular eruptions) आदि।

महारोगाध्याय (सू.अ. २०) में वर्णित पित्तज व्याधियों में विशेष रूप से विरेचन का प्रयोग करना चाहिए। इन व्याधियों को दूर करने में विरेचन उसी प्रकार सबसे प्रमुख है जिस प्रकार अग्नि के शान्त हो जाने पर जलता हुआ घर स्वयं ही शान्त हो जाता है। अर्थात् जिस प्रकार जलते हुए घर की अग्नि बुझ जाने पर घर की उष्णता स्वयं शान्त हो जाती है उसी प्रकार पित्त के विरेचन द्वारा निकल जाने पर पित्तज व्याधियाँ स्वत: शान्त हो जाती हैं।

चक्रपाणि– 'कुष्ठेत्यादि' के द्वारा विशेष रूप से विरेचन के योग्य पुरुषों का अभिधान किया गया है। **विसूचिकायां विरेचनमुत्तरकालं शेषदोषहरणार्थं ज्ञेयम्–** विसूचिका में विरेचन का प्रयोग बाद में शेष दोषों को निकालने के लिए किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१३॥

अजास्थाप्यास्तु-अजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहोत्क्लिष्टदोषाल्पाग्नियानक्लान्तातिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तातिकृशभुक्तभक्तपीतोदकवमितविरिक्त-कृतनस्त:कर्मकुद्धभीतमत्तमूर्च्छितप्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाश्वासकासहिक्काबद्धच्छिद्रोदकोदराध्मानालसकविसूचिकामप्रजातामातिसारमधुमेहकुष्ठार्ताः ॥१४॥

Scanned by CamScanner

तत्राजीर्ण्यतिस्निग्धपीतस्नेहानां दूष्योदरं मूर्च्छा श्वयथुर्वा स्यात्, उत्क्लिष्टदोषमन्दाग्न्योररोचकस्तीव्रः, यानक्लान्तस्य क्षोभव्यापन्नो बस्तिराशु देहं शोषयेत्, अतिदुर्बलक्षुत्तृष्णाश्रमार्तानां पूर्वोक्तो दोषः स्यात्, अतिकृशस्य कार्श्यं पुनर्जनयेत्, भुक्तभक्तपीतोदकयोरुत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा कुर्यात्, क्रुद्धभीतयोर्बस्तिरूर्ध्वमुपप्लवेत्, मत्तमूर्च्छितयोर्भृशं विचलितायां संज्ञायां चित्तोपघाताद् व्यापत् स्यात्, प्रसक्तच्छर्दिर्निष्ठीविकाश्वास-कासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेत्, बद्धच्छिद्रोदकोदराध्मानार्तानां भृशतरमाध्याप्य बस्तिः प्राणान् हिंस्यात्, अलसकविसूचिका-मप्रजातामातिसारिणामामकृतो दोषः स्यात्, मधुमेहकुष्ठिनोर्व्याधेः पुनर्वृद्धिः तस्मादेते नास्थाप्याः ।।१५।।

आस्थापन बस्ति के अयोग्य रोग एवं रोगी– अधोलिखित व्याधियों से ग्रसित पुरुष अथवा व्यक्ति आस्थापन (निरूह) बस्ति के योग्य नहीं होते– १. अजीर्ण रोगी (Indigestion), २. अतिस्निग्ध (जो अत्यधिक स्निग्ध हों), ३. स्नेहपीत (जिन्होंने तत्काल स्नेहपान किया हो), ४. उत्क्लिष्ट दोष (जिनके दोष बाहर निकलने के लिए उत्क्लेशित हों), ५. अल्पाग्नि (जिनकी जाठराग्नि मन्द हो), ६. यान क्लान्त (सवारियों पर चढ़ने के कारण जो थक गये हों) या यात्रा से थके हुए पुरुष, ७. अत्यधिक दुर्बल पुरुष (जो शारीरिक रूप मे अत्यधिक कमजोर हो), ८. जिन्हें अत्यधिक भूख लगी हो, जो अत्यधिक प्यासे हों तथा परिश्रम के कारण थक गये हों, ९. अत्यधिक कृश (Emaciated person), अत्यधिक भोजन किया हुआ, जो अत्यधिक जल पीया हो। १०. अत्यधिक वमन करने वाला, जिसका अत्यधिक विरेचन हुआ हो व जिसे नस्य दिया गया हो। ११. जो अत्यधिक डरा हुआ, क्रोधी, उन्मत्त (पागल) हो, १२. मूर्च्छित रोगी, निरन्तर वमन करने वाला व निष्ठीविका (जो बार-बार थूकता हो) का रोगी, १३. श्वास (Asthma), कास (खांसी - Cough), हिक्का (हिचकी), बद्धोदर (Intestinal obstruction), छिद्रोदर (Intestinal perforation), उदकोदर (Ascites) का रोगी, १४. आध्मान, अलसक, विसूचिका (Cholera), आम प्रजाता [Miscarriage - Loss of the products of conception from the uterus before the fetus is viable or spontaneous abortion] तथा आमातिसार (First stage of diarrhoea), १५. मधुमेह के रोगी एवं कुष्ठ के रोगी।

इन व्याधियों में आस्थापन बस्ति (निरूह बस्ति) का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

निरूह बस्ति (आस्थापन बस्ति) न देने का हेतु– १. यदि अजीर्ण (Indigestion), अतिस्निग्ध अथवा अति स्नेहपान के रोगी को निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाता है तब उसे दूष्योदर (Obstinate abdominal disease caused by the aggravation of all the three doshas), मूर्च्छा (fainting) तथा शोथ (Oedema) उत्पन्न हो जाते हैं, २. उत्क्लिष्ट दोष अथवा मन्दाग्नि युक्त पुरुष को निरूह बस्ति देने पर तीव्र अरुचि (Severe type of anorexia) उत्पन्न हो जाती है, ३. सवारी से थके हुए या क्षोभ युक्त सवारी पर बैठने से थके हुए पुरुष में दी गयी निरूह बस्ति व्यक्ति के शरीर को सुखा देती है, ४. अत्यधिक दुर्बल, अत्यधिक भूखे अथवा अति पिपासित, अथवा परिश्रम के कारण थके हुए व्यक्ति को दी गयी बस्ति पूर्वोक्त दोषों को ही उत्पन्न करती है, अर्थात् रोगी के शरीर को सुखा डालती है, ५. अतिकृश व्यक्ति को दी गयी निरूह बस्ति और अधिक कृशता उत्पन्न करती है, ६. भुक्त भक्त (तत्काल भोजन किये हुए) या तत्काल जल पीये हुए व्यक्ति को दी गयी निरूह बस्ति वायु को उत्क्लेशित करके (प्रकुपित करके) बस्ति को ऊर्ध्व या अधः मार्ग से निकालते हुए भयङ्कर रोगों को उत्पन्न करती है, ७. वमित (जिसने तत्काल वमन किया हो) अथवा जिसका तत्काल विरेचन कराया गया हो, ऐसे लोगों में दी गयी निरूह बस्ति उनके रूक्ष शरीर को उसी प्रकार जला डालती है जैसे क्षत युक्त भाग को क्षार जला डालता है, ८. जिन्हें नस्य कर्म कराया गया हो उनमें यदि निरूह बस्ति का प्रयोग कराते हैं तो दी गयी निरूह बस्ति अवरुद्ध स्रोतसों में भ्रंश (चक्षु आदि इन्द्रियों के कर्मों में विकृति) अथवा स्रोतसों में अवरोध उत्पन्न कर देती है। [In the case of the person who has taken inhalation therapy, Nirūha-basti causes impairment of senses and further obstruction of the channels of circulation. – Dr. Bhagvan Das.], ९. क्रुद्ध अथवा भयभीत (डरे हुए) व्यक्ति को दी गयी निरूह बस्ति ऊर्ध्व मार्ग (मुख मार्ग) द्वारा बाहर आने लगती है, १०. मद युक्त (Intoxicated person) अथवा मूर्च्छित व्यक्ति को यदि निरूह बस्ति का प्रयोग करते हैं तब वह बस्ति संज्ञा को नष्ट करके **मन को उपघातित** कर देती है, ११. जिसे लगातार वमन हो रहा है, जिसके मुख से बार-बार थूकने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही हो, जो श्वास से पीड़ित हो एवं जिसे हिक्का आती हो; ऐसे रोगियों में दी गयी निरूह बस्ति वायु के ऊर्ध्वमार्गी हो जाने के कारण बस्ति को मुखमार्ग से बाहर निकालने लगती है। अर्थात् बस्ति द्रव्य वमन के रूप में बाहर निकलने लगता है, १२. बद्धोदर (Intestinal obstruction), छिद्रोदर (Intestinal perforation) तथा उदकोदर (Ascites) तथा आध्मान के रोगियों में दी गयी निरूह बस्ति अत्यन्त कष्टकारी आध्मान को उत्पन्न करते हुए आतुर के प्राणों को नष्ट कर देती है, १३. अलसक, विसूचिका (Cholera), आम प्रजाता (Miscarriage) एवं आमातिसार (First stage of diarrhoea) के रोगी में दी गयी निरूह बस्ति आमांश की वृद्धि करती है, १४. मधुमेह (प्रमेह) तथा कुष्ठ (Skin diseases including leprosy) के रोगी में दी गयी निरूह बस्ति व्याधि को और अधिक बढ़ा देती है।

इसलिए निर्दिष्ट रोगों में आस्थापन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'अनास्थाप्यास्त्वित्यादि' के द्वारा आस्थापन बस्ति के अयोग्य पुरुषों का विवेचन किया गया है। **मधुमेहशब्देन सर्वप्रमेहग्रहणम्–** मधुमेह शब्द से यहाँ सभी प्रकार के प्रमेहों का ग्रहण किया गया है। 'दूष्योदर' से **सन्निपातोदर** अर्थ लिया गया है। **यानं रथादियानम् – यान** से रथ आदि का ग्रहण है।

दहेद् 'बस्तिः' इति शेषः – दहेत् के साथ बस्ति शब्द भी जुड़ा हुआ है। क्षत वाले भाग को जिस प्रकार क्षार जला देता है वैसे ही वमन अथवा विरेचन द्वारा रूक्ष शरीर को निरूह बस्ति जला डालती है।

विभ्रंशमिति– यहाँ विभ्रंश के साथ 'इन्द्रियाणां' जुड़ा हुआ है, अर्थात् 'इन्द्रियाणां विभ्रंशः' इन्द्रियों का विभ्रंश होना, अर्थ गृहित है। [इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण सम्यक् नहीं कर पाती हैं।] **ऊर्ध्वमुपप्लवेदिति मुखादिभिरुद्गच्छेत्–** मुख आदि के द्वारा बस्ति के द्रव्यों का बाहर आना।

मत्तमूर्च्छितयोर्व्यापद् स्यादिति मदमूर्च्छारूपा व्यापत् स्यादित्याहुः– मत्त एवं मूर्च्छित पुरुष को निरूह बस्ति देने पर मद व मूर्च्छा रूपी उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

बद्धोदरादावाध्मातानां बस्तिर्निषिध्यते:;– आध्मान युक्त बद्धोदर के रोगियों में बस्ति का निषेध किया गया है, उससे 'स्निग्धाय बद्धोदरिणे' इत्यादि के द्वारा 'निरूहं सानुवासनम्' (चि.अ. १३) इति जो शास्त्र में कहा गया है, उसमें निरूह बस्ति का प्रयोग करना विरुद्ध नहीं है। अन्य आचार्य उदररोग के ही प्रकरण में – 'बद्धोदरिणे' से विबन्ध युक्त उदररोग में निरूह बस्ति का विधान स्वीकार करते हैं। उससे यहाँ सामान्यतया **बद्धोदर** में आस्थापन बस्ति का निषेध होना विरुद्ध नहीं है। ॥१४-१५॥

शेषास्त्वास्थाप्याः; विशेषतस्तु सर्वाङ्गैकाङ्गकुक्षिरोगवातवर्चोमूत्रशुक्रसङ्गबलवर्णमांसरेतःक्षयदोषाध्मानाङ्गसुप्तिक्रिमिकोष्ठोदावर्तशुद्धातिसारपर्वभेदाभितापप्लीहगुल्मशूलहृद्रोगभगन्दरोन्मादज्वरब्रध्नशिरःकर्णशूलहृदयपार्श्वपृष्ठकटीग्रहवेपनाक्षेपकगौरवातिलाघवरजःक्षयार्तविषमाग्निस्फिग्जानुजङ्घोरुगुल्फपार्ष्णिप्रपदयोनिबाहङ्गुलिस्तनान्तदन्तनखपर्वास्थिशूलशोषस्तम्भान्त्रकूज-परिकर्तिकाल्पाल्पसशब्दोग्रगन्धोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च; एतेष्वास्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पतिमूलच्छेदवत् ।।१६।।

आस्थापन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी– जिन पुरुषों में आस्थापन का निषेध किया गया है, उनको छोड़कर शेष में इसका प्रयोग करना चाहिए। विशेष रूप से अधोलिखित पुरुष निरूह बस्ति के योग्य होते हैं, यथा– १. सर्वाङ्गवात के रोगी (सम्पूर्ण शरीर में वात का प्रकुपित होना), २. एकाङ्ग वात (शरीर के किसी एक भाग में वायु का प्रकुपित होना), ३. उदररोग, ४. वात, पुरीष, मूत्र एवं शुक्र का अवरुद्ध होना, ५. बलक्षय (Diminution of strength), वर्णक्षय Diminution of complexion), मांसक्षय एवं रक्त का क्षय होना, ६. आध्मान, अङ्गसुप्ति (हाथ व पैरों में शून्यता का अनुभव होना), कृमिकोष्ठ (कोष्ठ में क्रिमियों का होना), उदावर्त [A class of diseases (Marked by retention of the feces)], शुद्ध अतिसार का रोगी (निराम अतिसार), ७. पर्वभेद (हाथ व पैर की छोटी सन्धियों में पीड़ा का होना। अभिताप (सम्पूर्ण शरीर में जलन का अनुभव होना- Feeling of burning sensation), प्लीहरोग (Splenic disorders), वातिक गुल्म (Phantom tumour), शूल (Colic pain) व हृद्रोग (Heart diseases), ८. भगन्दर (Fistula-in-ano), उन्माद (Insanity), ज्वर (Fever), ब्रध्न (Inguinal swelling), शिरःशूल (Headache), कर्णशूल (Earache), हृद्ग्रह (हृदय प्रदेश में जकड़ाहट का होना), पार्श्वग्रह (पसलियों में जकड़ाहट का उत्पन्न होना (Stiffness of the sides of the chest), पृष्ठग्रह (पीठ का जकड़ जाना - Stiffness of the back) तथा कटिग्रह (कमर का जकड़ जाना - Stiffness of the Lumbar region), ९. वेपन (कम्पन का होना), आक्षेपक (Convulsions), गौरव (शरीर में अति भारीपन का होना– Heaviness of the body), शरीर में अति लघुता का होना – Excessive lightness of the body), रजःक्षय (Amenorrhoea- abnormal stoppage of the menses) तथा विषमाग्नि (अग्नि का विषम होना - Irregular power of digestion), १०. स्फिग् (buttocks), जानु (knee joint), जङ्घा (Calf region), ऊरु (thighs), गुल्फ (Ankle joint), पार्ष्णि (एड़ी-Heels) दोनों पैर, बाहु, अंगुलियों, स्तन के अन्तः भाग, नख एवं पर्वास्थियों (छोटी अंगुलियों की सन्धियों) में शूल (Pain), शोष (सूखना) एवं स्तम्भ (जकड़ाहट) का उत्पन्न होना, ११. आंत्रकूजन (आंत्रों में गुड़गुड़ाहट का होना), परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने जैसी पीड़ा का होना) तथा अल्प-अल्प मात्रा में बार-बार शब्द के साथ उग्र गन्ध युक्त पुरीष का त्याग करना।

इसके अतिरिक्त उन वात व्याधियों में भी विशेष रूप से निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए जिनका वर्णन महारोगाध्याय (सू.अ. २०) में किया गया है। इन व्याधियों में आस्थापन बस्ति प्रधानतम कही गयी है। जिस प्रकार वनस्पति (वृक्ष) के मूल (Root) को काट देने पर वृक्ष नष्ट हो जाता है, अथवा सूख जाता है उसी प्रकार आस्थापन बस्ति के प्रयोग से व्याधियों के मूल कारण वायु के नष्ट होने से व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

चक्रपाणि– 'सर्वाङ्गेत्यादि' के द्वारा - विशेष रूप से आस्थापन बस्ति का प्रयोग किसमें करना चाहिए, स्पष्ट किया गया है। **स्फिगादिभिः शूलशोषस्तम्भाः संबध्यन्ते–** स्फिग् आदि के साथ शूल, शोष व स्तम्भ भी जुड़ा हुआ है। अर्थात् स्फिग् शोष (स्फिग् प्रदेश

Scanned by CamScanner

का सूखना), स्फिग् शूल (स्फिग् प्रदेश में पीड़ा का होना), स्फिग् स्तम्भ (स्फिग् प्रदेश में जकड़ाहट का होना) अर्थ ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार जानु, जंघा, ऊरु, गुल्फ आदि के साथ भी शोष, शूल व स्तम्भ को जोड़ना चाहिए। ॥१६॥

य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्याः स्युः; विशेषतस्त्वभुक्तभक्तनवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहार्शःप्रतिश्यायारोचकमन्दाग्निदुर्बलप्लीहकफोदरोरुस्तम्भवर्चोभेदविषगरपीतपित्तकफाभिष्यन्दगुरुकोष्ठश्लीपदगलगण्डापचिक्रिमिकोष्ठिनः ।।१७।।

तत्राभुक्तभक्तस्यानावृतमार्गत्वादूर्ध्वमतिवर्तते स्नेहः, नवज्वरपाण्डुरोगकामलाप्रमेहिणां दोषानुत्क्लिश्योदरं जनयेत्, अर्शसस्यार्शास्यभिष्यन्दाध्मानं कुर्यात्, अरोचकार्तस्यान्नगृद्धिं पुनर्हन्यात्, मन्दाग्निदुर्बलयोर्मन्दतरमग्निं कुर्यात्, प्रतिश्यायप्लीहादिमतां भृशमुत्क्लिष्टदोषाणां भूय एव दोषं वर्धयेत्; तस्मादेते नानुवास्याः ।।१८।।

य एवास्थाप्यास्त एवानुवास्याः; विशेषतस्तु रूक्षतीक्ष्णाग्नयः केवलवातरोगार्ताश्च; एतेषु ह्यनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूले द्रुमप्रसेकवत् ।।१९।।

अनुवासन बस्ति के अयोग्य रोगी (Contraindications of Anuvāsana-basti)– जिन रोगियों में निरूह बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए उन्हीं रोगियों में अनुवासन वस्ति का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। अर्थात् जिन अवस्थाओं में निरूह बस्ति निषिद्ध हैं वही अवस्थाएं अनुवासन के लिए भी निषिद्ध हैं। विशेष रूप से अधोलिखित रोगियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यथा–

→ अभुक्त भक्त (जिसने भोजन न सेवन किया हो, अर्थात् खाली पेट अनुवासन बस्ति नहीं देना चाहिए।)

→ नवज्वर (नवीन ज्वर - Acute fever), पाण्डुरोग (Anaemia), कामला (Jaundice), प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes), अर्श (Piles) व प्रतिश्याय (Coryza) ।

→ अरोचक (Anorexia), मन्दाग्नि (भूख का न लगना), दौर्बल्य (शरीर का दुर्बल होना), प्लीहोदर (प्लीहारोग- Splenic disorders), कफोदर, उरुस्तम्भ (Spasticity of thighs) व वर्चोभेद (पुरीष का पतला होकर बाहर निकलना - diarrhoea) ।

→ विषपीत (जिसने विषपान किया हो) व गरविष का सेवन करने वाला (जिसने कृत्रिम विष का सेवन किया हो)

→ पित्तज अभिष्यन्द का रोगी एवं कफज अभिष्यन्द का रोगी।

→ गुरुकोष्ठ (जिसका कोष्ठ भारी-क्रूर हो - Costive bowel) का रोगी, श्लीपद (Elephantiasis), गलगण्ड (Enlargement of thyroid gland), अपची (Cervical adenitis) एवं कृमि कोष्ठ वाला पुरुष ।

इन रोगियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुवासन बस्ति न देने में हेतु– निर्दिष्ट व्यक्तियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने से अधोलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं–

→ अभुक्त पुरुष (बिना भोजन किए हुए पुरुष) में अनुवासन बस्ति देने से मार्ग का आवरण न होने से बस्ति का स्नेह अत्यधिक मात्रा में ऊर्ध्वमार्ग में चला जाता है।

[If the person has not taken any food, Anuvāsana Basti spreads upwards due to the absence of any obstruction in the alimentary tract. – R.K. Sharma and Bhagvan Das]

→ नवज्वर (Acute fever), पाण्डुरोग (Anaemia), कामला (Jaundice) एवं प्रमेह (Urinary disorders including diabetes) के रोगी में दी गयी अनुवासन बस्ति दोषों को उत्क्लेशित करके **उदररोग** को उत्पन्न करती है।

→ अर्श रोगी (Piles के रोगी) में दी गयी अनुवासन बस्ति अर्शांकुरों को गीला करते हुए आध्मान (Abdominal distension) को उत्पन्न करती है।

→ यदि अरोचक (Anorexia) के रोगी में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करते हैं तब भोजन करने की इच्छा और अधिक कम हो जाती है।

→ मन्दाग्नि व दुर्बल पुरुष में दी गयी अनुवासन बस्ति जाठराग्नि को और अधिक मन्द कर देती है।

→ प्रतिश्याय व प्लीहा आदि रोगों में दी गयी अनुवासन बस्ति पूर्व में ही अत्यधिक रूप से उत्क्लेशित दोषों को और अधिक बढ़ा देती है।

इसलिये इन व्याधियों में अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

अनुवासन बस्ति के योग्य रोग एवं रोगी– जिन व्याधियों या रोगियों में आस्थापन बस्ति का प्रयोग किया गया है, वही रोग या रोगी अनुवासन के भी योग्य होते हैं। विशेषतः जिनका शरीर रूक्ष है, अथवा जिनकी जाठराग्नि तीक्ष्ण है अथवा वातव्याधि वाले रोगी (The

Scanned by CamScanner

disease caused by Vāyu alone) में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अनुवासन बस्ति इन व्याधियों को दूर करने मे सबसे मुख्य चिकित्सा है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी देने से पूरा वृक्ष हरा-भरा हो जाता है, अर्थात् उसमें से नये-नये पत्ते निकल आते है वैसे ही अनुवासन बस्ति के प्रयोग से पुरुष की रसादि धातुएं पुष्ट हो जाती हैं।

चक्रपाणि– अननुवास्यविषयोपदर्शने अनास्थाप्येषु भुक्तभक्तः पठितः– अनुवासन के अयोग्य रोग एवं रोगियों के विवेचन क्रम में आस्थापन के अयोग्य रोग व रोगियों में 'भुक्तभक्त' का पाठ किया गया है, उसी के निराकरण हेतु यहाँ 'अभुक्तभक्त' का निर्देश दिया गया है। अनुवास्य बस्ति का प्रयोग यदि हम खाली पेट वाले रोगी में करते हैं तब भोजन द्वारा स्नेह आवरित न होने से उसका गमन ऊर्ध्वमार्ग (मुखमार्ग) की ओर होने लगता है, जिससे रोगी को स्नेह की गन्ध व डकारें आने लगती हैं। इसलिए अनुवासन बस्ति को कभी भी खाली पेट नहीं देना चाहिए। जबकि यह व्यवस्था निरूह बस्ति में लागू नहीं होती। यही विशेष अन्तर है।

अनुवासनं तु स्नेहस्य सूक्ष्मतया विसरणशीलं (विसर्पणशीलतया) सायं दीयते– अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त स्नेह का सूक्ष्म रूप से प्रसरणशील स्वभाव होने के कारण सायंकाल प्रयोग करते हैं। यदि बस्ति के प्रयोग के समय रोगी को भोजन न कराया गया तब महास्रोतस् में आहार न होने के कारण दी गयी बस्ति का स्नेह शरीर को शून्य पाकर या महास्रोतस् को खाली पाकर आमाशय की ओर पहुँच जाता है। यद्यपि अनुवासन का निर्देश– "आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूले च भक्तानभिनन्दने च । एवं प्रकाराश्च भवन्ति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः" (सि.अ. १/३३) इति [आध्मान, पुरीष का ग्रथित होना (मल का बंधा हुआ निकलना), उदर में शूल एवं भोजन में अरुचि, इसी प्रकार के अन्य रोगों में भी अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।] सूत्र के द्वारा अनुमोदित है। फिर भी भोजन के प्रति अनिच्छा अन्य हेतुओं के द्वारा भी उत्पन्न होती है, यथा– मलबद्धता आदि के कारण भी व्यक्ति को भोजन की इच्छा नहीं उत्पन्न होती तथा आम की वृद्धि के कारण भी अरुचि उत्पन्न होती है। अतः आम वृद्धि का विचार करते हुए **आमज अरुचि** में अनुवासन बस्ति का निषेध किया जाना विरुद्ध नहीं है। **अश्रद्धा-मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणम् भवत्येव परं तु अनिच्छा–** इसमें व्यक्ति खाने की इच्छा न होते हुए भी आहार को ग्रहण कर लेता है, अतः इसे अनिच्छा भी कहते हैं लेकिन अरुचि में व्यक्ति आहार ग्रहण ही नहीं करता है। अतः अश्रद्धा में व्यक्ति को भोजन करने की इच्छा नहीं होती। यह वात के कारण उत्पन्न होती है, जबकि अरुचि में अनिच्छा हमेशा ही होती है। अतः शुद्ध वातिक **अश्रद्धा** में अनुवासन बस्ति का प्रयोग कराना चाहिए।

निरूह की प्रधानता को बताने के लिए **वनस्पति के मूल काटने** के दृष्टान्त को बताया गया है वही दृष्टान्त महारोगाध्याय में भी बस्ति (निरूहबस्ति) की प्रधानता के प्रतिपादनार्थ दिया गया है, यथा– "यथा वनस्पतेर्मूले च्छिन्ने स्कन्धशाखावरोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्" (सू.अ. २०) इति [जिस प्रकार किसी वनस्पति (वृक्ष) के मूल को काट देने पर उसके आश्रित डालियाँ, अवरोह, पुष्प, फल, पत्ते आदि का निश्चित ही विनाश हो जाता है वैसे ही व्याधि के मूल वात को नष्ट कर देने पर तदाश्रित व्याधियाँ भी नष्ट हो जाती हैं।]

'मूले द्रुमप्रसेकवत्' इति से "कल्पनासिद्धि अ.१" में भी अनुवासन बस्ति की प्रधानता को स्पष्ट किया गया है, यथा– "मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यात् नीलच्छदः कोमलपल्लवाढ्यः" [जिस प्रकार वृक्ष के मूल में पानी देने पर वृक्ष हरे-भरे पत्तों से युक्त एवं समय पर फल देने वाला हो जाता है वैसे ही अनुवासन बस्ति के प्रयोग से व्यक्ति की रसादि धातुएं पुष्ट हो जाती हैं तथा उसे पुत्रादि की प्राप्ति होती है।] ॥१७-१९॥

अशिरोविरेचनार्हास्तु अजीर्णिभुक्तभक्तपीतस्नेहमद्यतोयपातुकामाः स्नातशिराः स्नातुकामः क्षुत्तृष्णाश्रमार्तमत्तमूर्च्छितशस्त्रदण्डहतव्यवाय-व्यायामपानक्लान्तनवज्वरशोकाभितप्तविरिक्तानुवासितगर्भिणीनवप्रतिश्यायार्ताः, अनृतौ दुर्दिने चेति ॥२०॥

तत्राजीर्णिभुक्तभक्तयोर्दोषः ऊर्ध्ववहानि स्रोतांस्यावृत्य कासश्वासच्छर्दिप्रतिश्यायाञ्जनयेत्, पीतस्नेहमद्यतोयपातुकामानां कृते च पिबतां मुखनासास्रावाक्ष्युपदेहतिमिरशिरोरोगाञ्जनयेत्, स्नातशिरसः कृते च स्नानाच्छिरसः प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णार्तस्य पुनस्तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषं च, श्रमार्तमत्तमूर्च्छितानामास्थापनोक्तं दोषं जनयेत्, शस्त्रदण्डहतयोस्तीव्रतरां रुजं जनयेत्, व्यवायव्यायामपानक्लान्तानां शिरःस्कन्धनेत्रोरःपीडनं, नवज्वरशोकाभितप्तयोरूष्मा नेत्रनाडीरनुसृत्य तिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्यात्, विरिक्तस्य वायुरिन्द्रियोपघातं कुर्यात्, अनुवासितस्य कफः शिरोगुरुत्वकण्डूक्रिमिदोषाञ्जनयेत्, गर्भिण्या गर्भं स्तम्भयेत् स काणः कुणिः पक्षहतः पीठसर्पी वा जायते, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापादयेत्, अनृतौ दुर्दिने च शीतदोषान् पूतिनस्यं शिरोरोगं च जनयेत्; तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हाः ॥२१॥

शिरोविरेचन के अयोग्य रोग एवं रोगी– अधोलिखित रोगियों में शिरोविरेचन (Inhalation therapy) का प्रयोग नहीं कराना चाहिए– १. अजीर्ण का रोगी (The person who is suffering from indigestion), २. भुक्तभक्त (तत्काल भोजन करने के बाद), ३. जो स्नेह, मद्य या जल पीने की इच्छा रखते हैं, ४. जिसने सिर से स्नान किया हो अथवा स्नान करने की इच्छा रखता हो, ५. जिन्हें अत्यधिक भूख लगी हो, जो प्यासे हों अथवा जो परिश्रम करने से थके हों, ६. जो मद अथवा मूर्च्छा रोग से पीड़ित हों, ७. जो शस्त्र

Scanned by CamScanner

अथवा दण्ड (लाठी) आदि से उपहत हों अर्थात् जिन्हें लाठी आदि से पीटा गया हो, ८. जो व्यायाम, मैथुन अथवा मद्यपान द्वारा थक गये हों, ९. नवज्वर (Acute fever) व शोक (Grief) से पीड़ित हों, १०. जिसका तत्काल विरेचन कराया गया हो, जिन्हें अनुवासन बस्ति दी गयी हो व जो गर्भिणी हो, ११. नव प्रतिश्याय का रोगी, विपरीत ऋतु अथवा दुर्दिन (आकाश में बादल छाये हों) का होना।

इन कालों में शिरोविरेचन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए।

शिरोविरेचन न देने का हेतु– अधोलिखित कारणों से निर्दिष्ट पुरुषों में शिरोविरेचन का प्रयोग नहीं कराना चाहिए– १. अजीर्ण अथवा जिसने तत्काल भोजन किया हो, ऐसे रोगी को नस्य कराने पर प्रकुपित दोष ऊर्ध्व गामी स्रोतसों को आवृत (ढक) करके कास (Cough), श्वास (Asthma), छर्दि (Vomiting) एवं प्रतिश्याय (Coryza) रोग को उत्पन्न करता है, २. जिसने स्नेहपान, मद्य अथवा जल पिया हो या पीने की इच्छा रखते हों, उनमें नस्य का प्रयोग कराने पर मुख व नासिका से स्राव होने लगता है, आँखों में कीचड़ भर जाता है अथवा तिमिर (Cataract) तथा शिरोरोग उत्पन्न हो जाते हैं, ३. सिर से स्नान करने के बाद नस्य के प्रयोग से अथवा नस्य के बाद सिर से स्नान करने पर प्रतिश्याय होने की संभावना रहती है, ४. भूख से पीड़ित व्यक्ति को शिरोविरेचन देने पर वायु प्रकुपित हो जाती है, ५. जिस रोगी को प्यास लगी है अथवा तृष्णा रोगी में नस्य देने पर तृष्णा की वृद्धि तथा मुख सूखने लगता है, ६. अत्यधिक थके हुए, नशे में चूर (मतवाला) तथा मूर्च्छित व्यक्ति को नस्य देने पर आस्थापन बस्ति में बताये गये वे सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् इन व्यक्तियों में आस्थापन बस्ति के प्रयोग से जो व्याधियाँ उत्पन्न होती है वही यहाँ भी उत्पन्न होती हैं, ७. शस्त्र अथवा दण्ड से पीड़ित व्यक्ति में नस्य के प्रयोग से वेदना और अधिक तीव्र हो जाती है, ८. अत्यधिक व्यवाय, अत्यधिक व्यायाम तथा अत्यधिक मद्यपान करने से थके हुए पुरुष को शिरोविरेचन कराने पर सिर (Head), स्कन्ध (दोनो कन्धे - Shoulders), नेत्र (Eyes) एवं उरः (Chest) में पीड़ा होने लगती है, ९. नवज्वर (Acute fever) तथा शोक से युक्त पुरुष को नस्य देने पर बढ़ी हुई ऊष्मा (उष्णता) नेत्र नाडियों का अनुसरण करते हुए तिमिर तथा ज्वर की वृद्धि कर देती है, १०. विरिक्त पुरुष (जिस पुरुष का विरेचन शीघ्र कराया गया हो) में नस्य कराने पर प्रकुपित हुई वायु इन्द्रियों (चक्षुरादि इन्द्रियों) में विकृति उत्पन्न करती है, ११. अनुवासित (जिसे तत्काल अनुवासन बस्ति दी गयी हो) व्यक्ति में प्रयुक्त नस्य - कफ की वृद्धि, सिर में भारीपन (Heaviness of the head), कण्डू (सिर में खुजली - Itching) तथा क्रिमि (Parasitic infestation) रोग को उत्पन्न करता है, १२. गर्भिणी स्त्री में नस्य का प्रयोग (विरेचन नस्य का प्रयोग) करने पर गर्भस्तम्भित हो जाता है, अथवा बालक काण (काना - blind by one eye), कुणि (लुञ्जा - deformity of upper limbs), पक्षाघात (Hemiplegic) अथवा पीठसर्पि (पीठ के बल सरकने वाला) उत्पन्न होता है, १३. नव प्रतिश्याय के रोगी में शिरोविरेचन कराने पर **नासास्रोत** में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, १४. नस्य निषेध काल (प्रतिकूल ऋतु) में नस्य (शिरोविरेचन) देने पर अथवा दुर्दिन काल (जिस दिन आकाश में बादल हों) में विरेचन नस्य देने पर शीत जन्य विकृतियाँ, यथा– पूति नस्य तथा शिरोरोगों को उत्पन्न कर देता है।

इसलिये ये रोगी शिरोविरेचन के योग्य नहीं होते, अर्थात् इनमें शिरोविरेचन नहीं कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अशिरोविरेचनार्हा इत्यादि' के द्वारा जिन व्याधियों में शिरोविरेचन का निषेध किया गया है, उनका उल्लेख किया गया है। पातुकाम इति– स्नेहादि पान की इच्छा करना। **पानक्लान्तो दिनान्तरेऽपि पानजव्याधिपीडितः-** मद्यपान से थका हुआ व्यक्ति दूसरे दिन भी मद्यपान जनित व्याधि से पीड़ित रहता है। अनृतौ – शीत, ग्रीष्म व वर्षा ऋतुओं में, नस्य के लिए उचित ऋतु प्रावृट्, शरद् व वसन्त को बताया गया है, यथा– "प्रावृट् शरद्वसन्तेषु गतमेघे नभस्तले। नस्यकर्मयथाकालं यो यथोक्तं निषेवते" (सू.अ. ५/५७) इति [व्यक्ति को प्रतिवर्ष प्रावृट्, शरद् तथा वसन्त, इन तीन ऋतुओं में आकाश में बादल के न रहने पर अणु तैल का नस्य लेना चाहिए।]

दुर्दिने इति मेघाच्छादितेऽह्नि– 'आकाश में बादल का रहना, दुर्दिन कहलाता है। अर्थात् दिन का सामान्य न रहना। **कृते पिबतामिति–** शिरोविरेचन कराने के बाद स्नेहपान करना। **कुणिः कुब्जितकरः (नष्टकरः)** = हाथ का नष्ट होना - लूला। पीठसर्पी पङ्गुः– जो पीठ के बल सरकता हो, अर्थात् पैरों से विकृत होना या पंगु। अनृतौ दुर्दिने चेति– ऋतुविपरीत काल (शीत, ग्रीष्म व वर्षा काल) विशेष रूप से शीत काल व मेघ आच्छादित दिन में नस्य देने पर **पूति नस्य** (Putrified rhinitis) होने की संभावना रहती है तथा ग्रीष्म व वर्षा काल में नस्य देने पर शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

अन्ये तु, अनृतुदुर्दिनमिति– अवार्षिकं दुर्दिनमाहुः– अन्य आचार्य दुर्दिन से वर्षा ऋतु के काल को छोड़कर अन्य ऋतुओं में आकाश में बादल का होना, अर्थ ग्रहण करते हैं। ॥२०-२१॥

शेषास्त्वर्हाः, विशेषतस्तु शिरोदन्तमन्यास्तम्भगलहनुग्रहपीनसगलशुण्डिकाशालूकशुक्रतिमिरवर्त्मरोगव्यङ्गोपजिह्विकार्यावभेदकग्रीवास्कन्धांसास्यनासिकाकर्णाक्षिमूर्धकपालशिरोरोगार्दितापतन्त्रकापतानकगलगण्डदन्तशूलहर्षचालाक्षिराज्यर्बुदस्वरभेदवाग्ग्रहगद्गदक्रथनादय ऊर्ध्वजत्रुगताश्च वातादिविकाराः परिपक्काश्च; एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं, तद्ध्युत्तमाङ्गमनुप्रविश्य मुञ्जादीषिकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति ॥२२॥

Scanned by CamScanner

शिरोविरेचन के योग्य रोग एवं रोगी– जिन व्याधियों में या रोग की अवस्थाओं में शिरोविरेचन का निषेध किया गया है, उनको छोड़कर शेष पुरुषों को शिरोविरेचन का प्रयोग विशेष रूप से कराना चाहिए, यथा– १. सिर का जकड़ जाना, दंतस्तंभ (दांत का लगना- दन्त स्तम्भ), २. मन्यास्तम्भ (मन्यानाड़ी का जकड़ जाना), ३. गलग्रह (Spasm of the throat), ४. हनुग्रह (हनु का जकड़ जाना - Stiffness of the mandible), ५. पीनस (प्रतिश्याय- Coryza), गलशुण्डिका (Tonsilitis), ६. गलशालूक (Tumour of the throat), शुक्ररोग (Corneal ulcer), तिमिर (Cataract) व वर्त्मरोग (Diseases of eye-lids), ७. व्यङ्ग (Freckles - गाल पर काले धब्बों का निशान), उपजिह्विका (Uvulitis) व अर्धावभेदक (Hemicrania - अधकपारी), ८. ग्रीवा, स्कन्ध (Shoulders), अंस (Scapula), आस्य (मुख), नासिका, कर्ण, नेत्र, मूर्धकपाल (सिर के कपाल) एवं सिर के रोगों का होना, ९. अर्दित (Facial paralysis), अपतन्त्रक (Convulsions with unconsciousness), अपतानक (Convulsions with consciousness), गलगण्ड (Goitre), दन्तशूल (दांतों में दर्द का होना।), दन्तहर्ष (Morbid sensitiveness of teeth), दन्तचाल (दांतों का हिलना - Looseness of teeth), अक्षिराजि (नेत्रराजी– एक विशेष प्रकार का नेत्ररोग) व अर्बुद (Tumour), १०. स्वरभेद (गले का बैठ जाना – Hoarseness of the voice), वाक् ग्रह (आवाज का न निकलना - Loss of speech), गद्गदत्व (हकलाना, अटक-अटक कर बोलने वाला), क्रथन (गले का अवरुद्ध हो जाना अथवा श्वांस का न ले पाना- Sudden interruption of breath) आदि ऊर्ध्व जत्रुगत परिपक्व (शुद्ध) वात व्याधियों में शिरोविरेचन का प्रयोग करना चाहिए।

निर्दिष्ट व्याधियों की चिकित्सा में **शिरोविरेचन** को प्रधानतम् माना गया है, क्योंकि शिरोविरेचन द्रव्य उत्तमाङ्ग (सिर) में प्रवेश करके असक्त (बिना चिपके हुए) दोषों को उसी प्रकार से निकाल कर फेंक देते हैं जिस प्रकार मूंज से सींक (ईषिका) को बाहर निकाल दिया जाता है।

चक्रपाणि– 'शिरोदन्तेत्यादि' के द्वारा विशेष रूप से शिरोविरेचन के योग्य पुरुषों का अभिधान किया गया है।

शिरोदन्तमन्याभिः स्तम्भशब्दः संबध्यते– 'स्तम्भ' शब्द शिरः दन्त व मन्या प्रत्येक के साथ जुड़ा हुआ है। अर्थात् शिरोस्तम्भ-सिर में जकड़ाहट (सिर का शक्ति हीन होना), दन्तस्तम्भ– दाँत का लगना (दाँत का जकड़ जाना) तथा मन्यास्तम्भ– ग्रीवा का जकड़ जाना (Stiffness of the neck) । **पीनसोऽत्र पक्वप्रतिश्यायः–** पीनस से यहाँ- पक्व प्रतिश्याय अर्थ लिया गया है, क्योंकि नवीन प्रतिश्याय में शिरोविरेचन का निषेध किया गया है, अतः उसका यहाँ विरोध नहीं है। (ये दोनों कथन आपस में विरुद्ध नहीं हैं।)। **अपतन्त्रकः अपतानकभेद एव निःसंज्ञः–** अपतन्त्रक, अपतानक का ही एक भेद हैं, इसमें व्यक्ति संज्ञा रहित (unconsciousness) हो जाता है, जबकि अपतानक में व्यक्ति संज्ञायुक्त (Conscious) बना रहता है। कहा भी गया है, यथा– "निःसंज्ञाः सोऽपतन्त्रकः" (सि.अ. ९) इति [अपतन्त्रक में व्यक्ति संज्ञा शून्य हो जाता है।] **शूलहर्षचाला दन्तेन संबध्यन्ते–** शूल, हर्ष एवं चाला के साथ 'दन्त' शब्द भी जुड़ा हुआ है। इससे दन्तशूल (Teethache), दन्तहर्ष (Sensitiveness of the teeth), एवं दन्तचाल (Looseness of the teeth) का ग्रहण करना चाहिए। अक्षिराजी नेत्रराजी [(पाठभेद से– अक्षिराग – आँखों का लाल होना– Conjunctivitis - inflammation of the conjunctiva)] नेत्र के शुक्ल भाग में रक्तवर्ण का सिराजाल दिखाई देना, यह नेत्ररोग का एक विशेष प्रकार है।

वातविकारेऽप्यत्रविरेचनं स्थानसंबन्धागतश्लेष्मवातहन्तृत्वेनैवोपन्नम्– वात विकारों में भी यहाँ शिरोविरेचन का निर्देश दिया गया है जो कि स्थान विशेष (सिर) से सम्बन्ध होने के कारण वात व कफ को नष्ट करने से प्रतिपादित किया गया है। अर्थात् शिरोविरेचन द्रव्य शिरोगत वात व कफ की विकृति को दूर करते हैं।

मुञ्जादीषिकामिवासक्तामिति– जिस प्रकार मूँज से सींक (ईषिका) को बाहर निकाल लेते हैं लेकिन उसका कोई भाग टूटता नहीं है अर्थात् मूंज अविकृत (मूंज को कोई नुकसान नहीं होता) रहता है वैसे ही शिरोविरेचन द्वारा शिरस्थ पक्व दोष (कफादि) बाहर निकल आते हैं, सिर में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। ॥२२॥

प्रावृट्शरद्वसन्तेतरेष्वात्ययिकेषु रोगेषु नावनं कुर्यात् कृत्रिमगुणोपधानात्; ग्रीष्मे पूर्वाह्णे, शीते मध्याह्ने, वर्षास्वदुर्दिने चेति ।।२३।।

शिरोविरेचन देने का योग्य काल– सामान्यतया प्रावृट्, शरद् व वसन्त ऋतु में नस्य का प्रयोग करना चाहिए। आत्ययिक स्थिति में (अत्यन्त आवश्यक होने पर या जिन व्याधियों में तत्काल नस्य देना आवश्यक हो, उस विशेष स्थिति में) ऋतु के प्रभाव को कृत्रिम विधियों द्वारा बदलकर नस्य दें तथा ग्रीष्म ऋतु में पूर्वाह्न काल (प्रातःकाल), शीत ऋतु में मध्याह्न काल (दोपहर) में तथा वर्षा ऋतु में आकाश में बादल के न होने पर नस्य देना चाहिए।

चक्रपाणि– विपरीत ऋतुओं (ग्रीष्म, वर्षा एवं शीत) में शिरोविरेचन का निषेध किया गया है। साधारण ऋतुओं (सामान्य काल प्रावृट्, शरद् एवं वसन्त) में नस्य देने का विधान है। इतरेष्विति– हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में [साधारण से भिन्न काल - हेमन्त में अत्यधिक शीत, ग्रीष्म में अत्यधिक उष्णता तथा वर्षा में अत्यधिक बारिश होती है, अतः यह काल नस्य के लिए उपयोगी नहीं है।]

Scanned by CamScanner

'आत्ययिकेषु इति'– अत्यधिक आवश्यक होने पर ही वर्षा, ग्रीष्म व हेमन्त ऋतु में कृत्रिम व्यवस्था द्वारा साधारण ऋतु के गुणों को उत्पन्न करके नस्य का प्रयोग कराना चाहिए। इससे जिनमें नस्य देना अति आवश्यक नहीं है, उन व्याधियों में इन कालों में नस्य का निषेध है।

आत्ययिक अवस्था में भी नस्य का प्रयोग शीतादि गुणों को दूर करके ही करना चाहिए, जिसे यहाँ 'कृत्रिमगुणोपधानादिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

कृत्रिमगुणोपधान कैसे करना चाहिए, इसे पूर्व के रोगभिषग्जितीय नामक अध्याय (वि.अ. ८) में स्पष्ट किया गया है। ग्रीष्मादि ऋतुओं में काल विशेष के प्रभाव (उष्णता आदि गुणों) से बचाकर ही नस्य का प्रयोग करना चाहिए, जिसे यहाँ 'ग्रीष्मे पूर्वाह्णे इत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में प्रातः काल, शीत ऋतु में दोपहर में तथा वर्षा ऋतु में अदुर्दिन काल (जिस दिन आकाश में बादल न हों) में नस्य का प्रयोग करें। यह निर्देश आत्ययिक अवस्थाओं के लिए है। सामान्यतया ग्रीष्मादि काल में नस्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। ॥२३॥

तत्र श्लोकाः–

इति पञ्चविधं कर्म विस्तरेण निदर्शितम् । येभ्यो यत्र हितं यस्मात् कर्म येभ्यश्च यद्धितम् ।।२४।।
न चैकान्तेन निर्दिष्टेऽप्यर्थेऽभिनिविशेद्बुधः । स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्यं बुद्धिमता भवेत् ।।२५।।
उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालबलं प्रति। यस्यां कार्यमकार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जितम् ।।२६।।
छर्दिर्हृद्रोगगुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते । अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां बस्तिकर्म च ।।२७।।
तस्मात् सत्यपि निर्देशे कुर्यादूह्य स्वयं धिया । विना तर्केण या सिद्धिर्यदृच्छासिद्धिरेव सा ।।२८।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने पञ्चकर्मीयसिद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।२।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस प्रकार यहाँ पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, आस्थापन बस्ति, निरूह बस्ति एवं शिरोविरेचन) का विस्तार से वर्णन किया गया है।

→ जिन पुरुषों को जिस कारण से ये कर्म हितकर नहीं हैं तथा जिस कारण से जिस प्रकार के पुरुष में इनका प्रयोग हितावह है, अर्थात् उपयोगी है।

→ बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि इस अध्याय में जो कुछ भी निर्देशित है, उसकी सीमा (इयत्ता) इतनी है, ऐसा नहीं है । अपितु चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार ऊहापोह करके औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

→ देश, काल एवं बल के अनुसार विचार करने पर ऐसी भी अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें निषिद्ध कर्म करना पड़ता है तथा निर्दिष्ट कर्म छोड़ना पड़ता है, यथा– छर्दिरोग, हृद्रोग तथा गुल्मरोग की अपनी-अपनी चिकित्सा में अवस्था विशेष के अनुसार वमन का निर्देश है तथा कुष्ठरोग में बस्तिकर्म का निर्देश है। इसलिये चिकित्सा का निर्देश होते हुए भी अपनी बुद्धि के अनुसार तर्क-वितर्क करके ही औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। बिना ऊह्य (तर्क-वितर्क) के जो सिद्धि प्राप्त होती है वह यदृच्छा से सिद्ध हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए। अतः औषधियों का प्रयोग खूब सोच समझकर ही करना चाहिए।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में पञ्चकर्मीया सिद्धि नामक द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– अध्याय के उपसंहार के बाद वमनादि के अविषय तथा वमनादि के योग्य व्यक्तियों में वमनादि उपक्रमों का प्रयोग करना है या नहीं करना है। इसके निश्चय अथवा निषिद्धता को यहाँ– "न चैकान्तेनेत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **अभिनिविशेदिति निश्चयं कुर्यात्–** निश्चय करना चाहिए। तर्क्यमिति– ऊह्य-तर्क-वितर्क करना, यथा– ऐसा कर दें तो ऐसा हो जायेगा, यदि ऐसा नहीं करते हैं तो यह हो सकता है, इस प्रकार का विचार करना। यहाँ बुद्धिमान को अनुक्त विषयों पर ऊह्य करके निर्णय लेने का निर्देश दिया गया है। ऐसा विचार बुद्धिमान चिकित्सक को करना चाहिए। जो बुद्धिमान नहीं है, उसे इस प्रकार का ऊह्य नहीं करना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– **तस्माद्बुद्धिमतामूहापोहवितर्काः, अल्पबुद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेय इति–** [इसलिये बुद्धिमान चिकित्सक को ऊहापोह एवं तर्क– वितर्क करके अनुक्त विषयों (जिनका शास्त्र में निर्देश नहीं है) का ज्ञान करना चाहिए, अल्प बुद्धि वाले चिकित्सक को शास्त्रोक्त निर्देशों का ही पालन करना श्रेयस्कर होता है। (वि.अ. ८) इति]

यहाँ किसलिए शास्त्र निर्देशित विषय का पालन करना ही श्रेयस्कर कहा गया है तथा किसलिए विषयों का एकान्तिक निश्चय नहीं करना चाहिए, जिसे यहाँ 'उत्पद्यते हीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

देशकालबलं प्रतीति देशादिभेदकृतेत्यर्थः– देश, काल व बल भेद के कारण। **कार्यमकार्यं स्यादिति–** कार्य का अकार्य रूप होना, अर्थात् निर्दिष्ट चिकित्सा का प्रयोग नहीं किया जाता तथा जिसका शास्त्र में निषेध किया गया है अवस्था विशेष से वह चिकित्सा उपयोगी हो जाती है। निषिद्ध वमनादि उपक्रम की अवस्था विशेष से उपयोगिता को यहाँ उदाहरणार्थ – 'छर्दिहृद्रोगेत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। **स्वे चिकित्सिते इति** – छर्दिचिकित्सा अध्याय में। अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टमित्यनेन– निषिद्ध विधान का अवस्था विशेष के अनुसार उपयोग करना **उत्सर्गापवाद** रूप होने से विरोधी नहीं है, या पूर्वापर विरोध नहीं आता।

इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी अपवाद वाले विषयों में वमनादि का विधान अवस्था विशेष के अनुसार निर्देशित है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रतिपादित न्याय (सिद्धान्त) के विषयों का उपसंहार– 'तस्मादित्यादि' के द्वारा किया गया है।

शास्त्रोपदेशे सत्यपि स्वबुद्धयैव शास्त्रानुगतयाऽनुक्तमपि कर्तव्यम्– शास्त्र में वर्णित होने पर भी अपनी बुद्धि के द्वारा शास्त्र में छिपी हुई अनुक्त विषयों का ज्ञान करना चाहिए। जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा– "प्रचरणमिव भिक्षुकस्य बीजमिव कर्षकस्य सूत्रं बुद्धिमतामल्पमप्यनल्पज्ञानाय भवति" (वि.अ. ८) इति [भिक्षुक के प्रचरण (भ्रमण) तथा किसान के बीज की तरह शास्त्र वर्णित ज्ञान अल्प होते हुए भी बुद्धिमान पुरुषों के लिए दिशा निर्देश होने के कारण विस्तृत ज्ञान का हेतु होता है।]

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेद-दीपिका के सिद्धिस्थान में पञ्चकर्मीय सिद्धि नामक द्वितीय अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो बस्तिसूत्रीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे बस्तिसूत्रीय सिद्धि अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

चक्रपाणि– पूर्व अध्याय में वमनादि की प्रवृत्ति आदि विषयों के विवेचन के बाद कल्पनासिद्धि अध्याय में वर्णित बस्तिकल्पना का विस्तार से विवेचन करने के लिए 'बस्तिसूत्रीया सिद्धि' अध्याय का प्रारम्भ किया जा रहा है। अर्थात् इस अध्याय में 'कल्पनासिद्धि' में निर्देशित **बस्तिकल्पना** का विस्तार से वर्णन किया गया है।

बस्तेरितिकर्तव्यताभिधायकसूत्रमधिकृत्य कृता सिद्धिर्बस्तिसूत्रीयसिद्धिः– बस्तिकर्म को बताने वाले सूत्र को मुख्य मानकर के लिखा जाने वाला अध्याय 'बस्तिसूत्रीय सिद्धि' कहा गया है। ।।१-२।।

कृतक्षणं शैलवरस्य रम्ये स्थितं धनेशायतनस्य पार्श्वे । महर्षिसङ्घैर्वृतमग्निवेशः पुनर्वसुं प्राञ्जलिरन्वपृच्छत् ।।३।।
बस्तिनरीभ्यः किमपेक्ष्य दत्तः स्यात् सिद्धिमान् किम्मयमस्य नेत्रम् । कीदृक्प्रमाणाकृति किङ्गुणं च केभ्यश्च कियोनिगुणश्च बस्तिः ।।४।।
निरूहकल्पः प्रणिधानमात्रा स्नेहस्य का वा शयने विधिः कः । के बस्तयः केषु हिता इतीदं श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षिः ।।५।।

बस्ति सम्बन्धित विषयों पर अग्निवेश की शंका– धन के ईश (कुबेर) के आयतन (घर) पर्वतश्रेष्ठ हिमालय के एक सुन्दर भाग (हिमवत् पार्श्व) में महर्षि समुदाय द्वारा घिरे हुए, नैमित्तिक कार्यों (पूजा आदि) से निवृत्त होकर सुखपूर्वक बैठे हुए भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से शिष्य अग्निवेश ने अपने दोनों हाथ जोड़कर (प्रणाम करके) यह पूछा–

१. किन किन बातों का विचार करके दी गयी बस्ति सफल होती है,

२. बस्तिनेत्र किस धातु का बना होना चाहिए?

३. नेत्र का प्रमाण (लम्बाई, चौड़ाई), आकृति कैसी होनी चाहिए तथा उसमें कौन-कौन से गुण होने चाहिए?

४. किस-किस व्यक्ति के लिए किस योनि (पशु आदि) की तथा किस गुण वाला बस्तिपुटक लेना चाहिए?

५. निरूह बस्ति की कल्पना (निर्माण) कैसे किया जाता है?

६. निरूह बस्ति की मात्रा कितनी होती है?

७. अनुवासन बस्ति की कितनी मात्रा प्रयोग की जाती है?

८. बस्ति देते समय रोगी को किस प्रकार लिटाना चाहिए, अर्थात् बस्ति देते समय शयन की विधि क्या है?

९. कौन-कौन सी बस्तियाँ होती हैं?

१०. किस-किस व्यक्ति के लिए कौन-कौन सी बस्ति उपयोगी है?

इस प्रकार अग्निवेश के वचनों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा। [अग्निवेश के प्रश्नों का उत्तर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने इस प्रकार दिया।]

चक्रपाणि– धनेशायतनस्येति - हिमालय के। 'बस्तिनरीभ्य इत्यादि' के द्वारा बस्ति सम्बन्धित दस प्रश्नों का उल्लेख किया गया है। नेत्र = नलिका (बस्ति की नली)।

किं योनि गुणश्च बस्तिरिति– यहाँ बस्ति से बस्तिपुटक अर्थ लिया गया है। **योनिः–** प्रभव स्थान (उत्पत्ति स्थान)। **स्नेहस्य वा केति–** अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त स्नेह की मात्रा कितनी होती है। इस अध्याय में अनुवासन बस्ति का विस्तार से वर्णन किया जायेगा ।

तेनानुवासनस्य कल्पमात्रप्रश्नोऽत्र बोद्धव्यः– उससे अनुवासन की योजना सम्बन्धी प्रश्नों का यहाँ ग्रहण करना चाहिए। 'स्नेहस्य वा कः' इति पाठ होने पर निरूह बस्ति जिस दिन दी जाती है उसी दिन अनुवासन वस्ति का भी प्रयोग करना चाहिए। उस अनुवासन के देने की विधि कौन सी है, यह अर्थ होगा। इसका वर्णन ग्रन्थ के आगे के भाग में किया जायेगा।

के बस्तयः केषु हिता इति– कौन सी बस्ति किन रोगों या पुरुषों में उपयोगी होती है। बस्ति से यहाँ बस्तिपुटक अर्थ लिया गया है। अर्थात् किससे बने हुए बस्तिपुटक का प्रयोग किस प्रकार के व्यक्तियों में करना चाहिए। ।।३-५।।

Scanned by CamScanner

ममीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वादिवयोबलानि । बस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्यात् सर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति ।।६।।

प्रश्न नं.१ का उत्तर– बस्ति देते समय विचारणीय विषय– १. दोष (वातादि दोषों का विचार करना), २. औषध (औषध की गुणवत्ता का विचार करना), ३. देश (Habitat - स्थान), ४. काल (ऋतु सम्बन्धी विचार करना), ५. सात्म्य (Homologation - कौन से आहार-विहार रोगी के लिए अनुकूल हैं), ६. अग्नि (जाठराग्नि मन्द या विषम या तीक्ष्ण कैसी है, इसका विचार करना), ७. सत्त्वादि (मानसिक अवस्था का विचार), ८. वय (उम्र), ९. रोगी के बल (Strength) का विचार। इन सभी विषयों का सम्यक् विचार करके दी गयी बस्ति अपने निर्धारित गुणों को उत्पन्न करती है तथा उसके प्रयोग से सभी कार्यों में सफलता मिलती है।

चक्रपाणि– 'समीक्ष्येत्यादि' के द्वारा बस्ति प्रयोग के समय विचारणीय विषयों को स्पष्ट किया गया है। यहाँ जो दोषादि दश परीक्षणीय भावों का उल्लेख किया गया है, उनमें ही उपकल्पनीय अध्याय में वर्णित दोषभेषजादि एकादश (११) तथा रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ. ८) में वर्णित दस परीक्ष्य भाव समावेशित हो जाते हैं। ऐसा समझना चाहिए। उसी के ही अन्तर्गत और भी भावों जिनका वर्णन नहीं किया गया है, लेकिन मेरे (चक्रपाणि) द्वारा योनि व्यापत्ति के प्रकरण में कहा गया है, का अवरोध कर लेना चाहिए। **समीक्ष्येति–** ज्ञानपूर्वक विचार करके, दोष, औषध आदि का सम्यक् विचार करके ही बस्ति देनी चाहिए।

सर्वकर्माणि चेति– दोषादि के अनुसार वमनादि कर्मों की गुणवत्ता का विचार करके प्रयोग की गयी बस्ति अपने गुणों को उत्पन्न करती है। अर्थात् जिस प्रयोजन की सिद्धि हेतु इसका प्रयोग किया जाता है उसमें लाभ पहुँचाती है। ।।६।।

विशेष (Comments)– 'दोषौषधदेशकालसात्म्यसत्त्वादिवयो बलानि' का पाठभेद– 'दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वौकवयोबलानि' भी प्राप्त होता है। पूर्व पाठ के स्वीकार करने पर नव (९) परीक्ष्य भाव प्राप्त होते हैं। जबकि आचार्य चक्रपाणि द्वारा दस परीक्ष्य भावों को बताया गया है। अतः द्वितीय पाठ स्वीकार करने पर यह संख्या पूर्ण हो जाती है। द्वितीय पाठ के अनुसार– १. दोष, २. औषध, ३. देश, ४. काल, ५. सात्म्य, ६. सत्त्व, ७. ओकसात्म्य, ८. अग्नि, ९. वय, १०. बल, दस परीक्ष्य भाव हैं।

सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः । नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि सु(त्रि)कर्णिकानि ।।७।।

प्रश्न नं.२ का उत्तर– नेत्र का निर्माण स्वर्ण (Gold), रूप्य (चांदी- Silver), त्रपु (टीन-रांगा), ताम्र (Copper), रीति (पीतल- brass), कांस्य (कांसा- bronze), अस्थि (हड्डी), द्रुम (लकड़ी), वेणु (बांस), दन्त, नल (नरकट), विषाण (सींग) एवं मणियों द्वारा करना चाहिए। इन द्रव्यों द्वारा बने नेत्र में तीन सुन्दर कर्णिकाएं भी होनी चाहिए।

चक्रपाणि– किन धातुओं या द्रव्यों द्वारा **बस्तिनेत्र** (नेत्र) का निर्माण करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर यहाँ– 'सुवर्णेत्यादि' के द्वारा दिया गया है। त्रपु = वंग, रीति = पित्तल। **विषाणैरिति–** भैंस आदि पशुओं की सींग द्वारा।

सुकर्णिकानीति सुसमाहितकर्णिकानि– 'नेत्र' पर अच्छी प्रकार से कर्णिकाएं लगी होनी चाहिए। कुछ आचार्य 'सुकर्णिकानि' के स्थान पर सु(त्रि)कर्णिकानि पाठ पढ़ते हैं, जिससे तीन कर्णिकाओं का होना सूचित होता है, जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। ।।७।।

षड्द्वादशाष्टाङ्गुलसंमितानि षड्विंशतिद्वादशवर्षजानाम् । स्युर्मुद्गकर्कन्धुसतीनवाहिच्छिद्राणि वर्त्याऽपिहितानि चैव ।।८।।
यथावयोऽङ्गुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मूलाग्रयोः स्युः परिणाहवन्ति । ऋजूनि गोपुच्छसमाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिकामुखानि ।।९।।
स्यात् कर्णिकैकाऽग्रचतुर्थभागे मूलाश्रिते बस्तिनिबन्धने द्वे ।

प्रश्न नं. ३ – 'नेत्र की लम्बाई, आकृति एवं गुण क्या होने चाहिए' का उत्तर– छः वर्ष के बालक के लिए छः अङ्गुल, बीस वर्ष के युवक के लिए बारह अङ्गुल तथा बारह वर्ष के बाल के लिए आठ अङ्गुल लम्बा **बस्ति नेत्र** होना चाहिए। **बस्तिनेत्र के अग्र भाग का छिद्र** - छः अङ्गुल लम्बी नेत्र के अग्र भाग का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिसमें खड़ी मूंग आसानी से प्रविष्ट हो जाय व निकल जाय। बारह अङ्गुल लम्बी नली के अग्र भाग का छिद्र इस प्रकार होना चाहिए कि उसमें छोटी बेर की गुठली प्रविष्ट हो जाय तथा आठ अङ्गुल लम्बी नेत्र के अग्र भाग में शुष्क मटर आसानी से प्रवेश कर सके। नेत्र के छिद्र को कपड़े की वर्ति से बन्द करके रखना चाहिए, जिससे उसमें कीट आदि का प्रवेश न हो सके। नेत्र का ऊपरी भाग (जो भाग बस्तिपुटक से जुड़ता है) बस्ति दी जाने वाले पुरुष के अंगुठे (अङ्गुष्ठ = अंगूठा) के बराबर तथा अग्रभाग उसकी कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर मोटी होनी चाहिए। बस्तिनेत्र सीधा, गाय के पूँछ के समान आकृति वाला, अर्थात् ऊपर मोटा तथा अग्र भाग पतला, चिकना तथा नेत्रमुख (बस्तिनेत्र के अग्र भाग का मुख - opening) गोली के आकार का होना चाहिए, अर्थात् नुकीला न हो। नेत्र के चतुर्थ भाग (आगे के $^1/_4$ भाग) में एक कर्णिका (उभार) बनावें तथा दो कर्णिका नेत्र को बस्तिपुटक से बाँधने के लिए नेत्र के मूल भाग में बनावें।

चक्रपाणि– 'षडित्यादि' के द्वारा 'कीदृक्प्रमाणाकृति' [बस्तिनेत्र की प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाई) व आकृति कैसी होनी चाहिए?] प्रश्न का उत्तर दिया गया है।

Scanned by CamScanner

तत्र षडङ्गुलमेकवर्षात् प्रभृति यावत् षड्वर्षं, द्वादशवर्षस्याष्टाङ्गुलं नेत्रं भवति– एक वर्ष से लेकर छः वर्ष तक के बालक के लिए प्रयुक्त बस्तिनेत्र की लम्बाई छः अंगुल होती है। बारह वर्ष के बाल के लिए नेत्र की लम्बाई आठ अङ्गुल निर्धारित की गयी है। इसी प्रकार बीस वर्ष के पुरुष के लिए बारह अङ्गुल लम्बा नेत्र होता है। यहाँ व्युत्क्रम अभिधान के अनुसार छः वर्ष से पूर्व तथा बीस वर्ष के बाद बस्तिनेत्र के मान का विकल्प नहीं दिया गया है। जबकि छः वर्ष के बाद नेत्र के मान का विकल्प दिया गया है। छः वर्ष के बाद प्रति वर्ष की दृष्टि से नेत्र की लम्बाई $^{1}/_{3}$ अङ्गुल बढ़ानी चाहिए, यही क्रम बारह वर्ष तक के पुरुष में करना चाहिए। [६ अङ्गुल + $^{1}/_{3}$ + $^{1}/_{3}$ + $^{1}/_{3}$ + $^{1}/_{3}$ + $^{1}/_{3}$ + $^{1}/_{3}$ = ८ अङ्गुल, १२ वर्ष वाले व्यक्ति में नेत्र की लम्बाई ८ अङ्गुल रखनी चाहिए।]

बारह वर्ष के बाद प्रतिवर्ष आधा अङ्गुल की वृद्धि करना चाहिए। इस आधार पर बीस वर्ष के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त बस्तिनेत्र की लम्बाई-१२ अङ्गुल पूर्ण हो जाती है। सुश्रुत मतानुसार नेत्र के मान अलग बताये गये हैं, लेकिन यह भिन्नता इतनी अधिक नहीं है जिस पर विचार किया जा सके, अर्थात् भिन्न होते हुए भी उपेक्षणीय है। कहा भी गया है, यथा– "सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्टदशाङ्गुलं नेत्रं, पञ्चविंशतिवर्षादूर्ध्वं द्वादशाङ्गुलम्" (सु.चि.अ. ३५/७-९) इति [एक, आठ तथा षोडश (१६) वर्ष के लिए बस्तिनेत्र की लम्बाई छः, आठ तथा दस अङ्गुल लम्बी, कनिष्टिका, अनामिका तथा मध्यमा अङ्गुल के बराबर नेत्र का अग्र भाग मोटा होना चाहिए तथा डेढ़ अङ्गुल, दो अङ्गुल तथा ३.५ अङ्गुल अग्र भाग से दूर कर्णिका बनावें। मुद्ग, उड़द तथा मटर के बराबर अग्र भाग का छिद्र होना चाहिए। पच्चीस वर्ष से ऊपर के पुरुषों में नेत्र की लम्बाई १२ अङ्गुल, अंगूठे के उदर (अङ्गुष्ठोदर) के बराबर मोटी (मूलभाग) तथा अग्र भाग कनिष्ठिकोदर के बराबर मोटी होना चाहिए।]

मुद्गादिवाहिच्छिद्रत्वं यथासंख्यं षड् द्वादशाष्टाङ्गुलनेत्रेषु ज्ञेयम्– छः अङ्गुल प्रमाण वाले नेत्र में मुद्ग (खड़ी मूंग), बारह अङ्गुल लम्बी नेत्र में बेर की गुठली तथा आठ अङ्गुल लम्बी नेत्र में मटर प्रविष्ट हो जाना चाहिए। 'कर्कन्धु' शब्द से शृगालबदरी, जो छोटी होती है, अर्थात् छोटी बेर का ग्रहण किया गया है। नेत्र के अग्र भाग का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिसमें मुद्गादि आसानी से प्रवेश कर जाय। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– "कोलास्थिमात्रच्छिद्रं" (सु.चि.अ. ३५) इति [बस्तिनेत्र का छिद्र ऐसा हो जिसमें छोटी बेर की गुठली आसानी से प्रविष्ट हो सके।]

बृहद्बदरीग्रहणे तु कनिष्ठाप्रमाणाग्रं तद्ग्रहनं नार्हति– बड़ी बेर के ग्रहण करने पर, नेत्र का अग्र भाग कनिष्ठा की लम्बाई के बराबर मोटा बताया गया है, उसमें प्रविष्ट नहीं हो पायेगा। अतः यहाँ बड़ी बेर का ग्रहण करना उचित नहीं है। कुछ लोग इस प्रकार के विरोध को देखते हुए बदरी (बेर) की अस्थि मज्जा (गुठली) को ही 'कर्कन्धु' शब्द से ग्रहण करते हैं।

सतीनः वर्तुलकलायः– मटर। **वर्त्याऽपिहितानीति–** बस्तिनेत्र में कोई अन्य जीव, जन्तु न प्रविष्ट हो, इस हेतु उसके छिद्र में कपड़े की वर्ति डालकर सुरक्षित रखने का निर्देश दिया गया है। जिस वय वाले पुरुष में बस्ति का प्रयोग करना है उसी के वय के अनुसार बस्ति नेत्र की लम्बाई, मोटाई, मूलाग्र आदि होना चाहिए। 'ऋजूर्नीति' के द्वारा बस्तिनेत्र के गुणों को बताया गया है। श्लक्ष्ण = चिकना, बस्तिनेत्र का अग्र भाग चिकना (खुरदरा न हो) होना चाहिए।

'गुटिकामुखानीति'– वस्तिनेत्र का मुख मटर के समान गोल (Blunt - भोथरा) होना चाहिए, ताकि गुदा में प्रवेश कराने पर क्षत आदि न उत्पन्न करे। वर्तुल से यहाँ अतीक्ष्ण (नुकीला न होना) मुख अर्थ लिया गया है।

एका कर्णिकाऽग्रे कर्तव्या नेत्रस्यान्तःप्रवेशनिरासार्थं– एक कर्णिका का निर्माण बस्तिनेत्र के अग्र भाग के चतुर्थांश भाग पर बनानी चाहिए। दो कर्णिकायें नेत्र के मूल भाग पर बस्तिपुटक से बाँधने के लिए बनावें। $^{1}/_{4}$ भाग तक नेत्र का अग्र भाग गुदा में प्रवेश कराया जाता है। नेत्र इससे अधिक गुदा में न प्रवेश करें, इस हेतु नेत्राग्र के $^{1}/_{4}$ भाग पर कर्णिका बनायी जाती है। ॥८-९॥

विशेष (Comments)– एक से छः वर्ष के बालक के लिए बस्तिनेत्र की लम्बाई – छः अंगुल रखें।

(१) छः वर्ष से लेकर बारह वर्ष तक प्रति वर्ष $^{1}/_{3}$ अङ्गुल बढ़ावें–

छः वर्ष के लिए– ६ अङ्गुल
सात वर्ष के लिए– ६ अङ्गुल + $^{1}/_{3}$ अङ्गुल
आठ वर्ष के लिए– ६ अङ्गुल + $^{2}/_{3}$ अङ्गुल
नव वर्ष के लिए– ६ अङ्गुल + $^{3}/_{3}$ अङ्गुल = ७ अङ्गुल
दस वर्ष के लिए– ७ अङ्गुल + $^{1}/_{3}$ अङ्गुल
ग्यारह वर्ष के लिए– ७ अङ्गुल + $^{2}/_{3}$ अङ्गुल
बारह वर्ष के लिए– ७ अङ्गुल + $^{3}/_{3}$ अङ्गुल = ८ अङ्गुल

Scanned by CamScanner

(२) बारह वर्ष से २० वर्ष तक के पुरुषों में प्रति वर्ष आधा अङ्गुल (१/२ अंगुल) बढ़ावें–

१२ वर्ष के लिए – ८ अङ्गुल
१३ वर्ष के लिए – ८ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल
१४ वर्ष के लिए – ८ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल = ९ अङ्गुल
१५ वर्ष के लिए – ९ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल
१६ वर्ष के लिए – १० अङ्गुल (९ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल)
१७ वर्ष के लिए – १० अङ्गुल + १/२ अङ्गुल
१८ वर्ष के लिए – १० अङ्गुल + १/२ अङ्गुल = ११ अङ्गुल
१९ वर्ष के लिए – ११ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल
२० वर्ष के लिए – ११ अङ्गुल + १/२ अङ्गुल = १२ अङ्गुल

बस्ति नेत्र की आकृति– गोपुच्छवत्, अग्र भाग श्लक्ष्ण (चिकना), मूल पर दो कर्णिका तथा अग्र भाग के १/४ भाग दूरी पर एक कर्णिका (उभार) होना चाहिए। बस्तिनेत्र का मुख (Opening) गुटिका के आकार का अतीक्ष्ण (Blunt = भोथरा) होना चाहिए।

बस्तिनेत्र के छिद्र में– १. छः अंगुल लम्बे बस्तिनेत्र का छिद्र ऐसा होना चाहिए जिसमें खड़ी मूंग आसानी से प्रवेश कर जाय, २. आठ अङ्गुल वाले बस्तिनेत्र का छिद्र ऐसा हो जिसमें मटर आसानी से प्रविष्ट हो जाय, ३. १२ अङ्गुल लम्बे बस्तिनेत्र का छिद्र ऐसा हो जिसमें कर्कन्धु (झड़बेर = छोटी बेर) आसानी से प्रविष्ट हो जाय।

बस्तिनेत्र का स्वरूप–

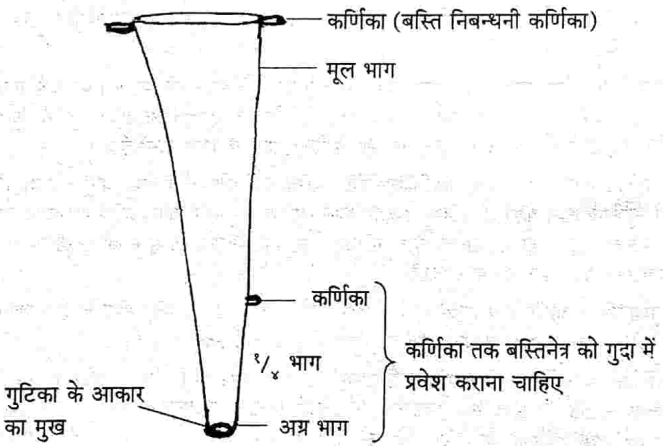

जारद्गवो माहिषहारिणौ वा स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वाऽपि ।।१०।।
दृढस्तनुर्नष्टसिरो विगन्धः कषायरक्तः सुमृदुः सुशुद्धः । नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्रः ।।११।।

प्रश्न नं. ४ का उत्तर– बस्ति (बस्तिपुटक) का निर्माण वृद्ध बैल (बूढ़ा बैल- Old ox), भैंस (Buffalo), हरिण (deer), सूअर (Pig) अथवा बकरी (Goat) के मूत्राशय से करना चाहिए अथवा इस कार्य हेतु इनका मूत्राशय ग्रहण करना चाहिए, जो दृढ़ (मजबूत- Firm), पतला (thin), सिरा रहित (free from vessels) व दुर्गन्ध रहित होना चाहिए। इस बस्ति को क्वाथ आदि के प्रयोग से रक्त वर्ण का बना लें तथा मृदु व शुद्ध कर लें। अर्थात् यह मुलायम व साफ-सुथरा होना चाहिए। रोगी के वय के अनुसार नेत्र व बस्ति को लेकर बस्तिपुटक से संयोग (जोड़ना) कराना चाहिए, अर्थात् बस्तिनेत्र को बस्तिपुटक से जोड़ें। इसके बाद उसे अच्छी प्रकार से धागे से बाँध दें।

चक्रपाणि– 'केभ्यश्च किंयोनिगुणश्च बस्तिरिति' प्रश्न का उत्तर– 'जारद्गव इत्यादि' के द्वारा दिया गया है। जारद्गवः = बूढ़ा बैल। बस्तिरिति– बस्तिपुटक (मूत्राशय पुटक) । नष्टसिर इति = बस्ति में विद्यमान सिराजाल को अच्छी प्रकार से साफ करना।

Scanned by CamScanner

विगतः पूतिगन्धो यस्य स विगन्धः– जिसके दुर्गन्ध को अच्छी प्रकार से हटा दिया गया हो उसे विगन्ध कहा गया है। अर्थात् मूत्राशय के दुर्गन्ध को अच्छी प्रकार से दूर कर लेना। कषायरक्त इति– त्रिफलादि के क्वाथ की भावना देकर उसे रक्तवर्ण का बना लेना। वयो वीक्ष्य यथानुरूपमिति– वय के अनुसार निर्दिष्ट **बस्ति एवं नेत्र** को लेकर बस्तिपुटक को नेत्र से बाँधें। इससे किस व्यक्ति को कौन सी बस्ति (पुटक) ग्रहण करना चाहिए, इसका उत्तर प्राप्त हो जाता है। ॥१०-११॥

बस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादङ्कपादः सुघनः पटो वा ।

अन्य विकल्प– निर्दिष्ट पशुओं के मूत्राशय यदि न प्राप्त हों तब चिकित्सक को प्लव (A kind of aquatic bird - जलमुर्गा) अथवा चमगादड़ के चमड़े का ग्रहण करें।

अथवा घन (मोटे) कपड़े को सिलकर बस्तिपुटक का निर्माण करना चाहिए।

चक्रपाणि– निर्दिष्ट पशुओं के मूत्राशय न प्राप्त होने की स्थिति में चिकित्सक को क्या करना चाहिए, इसे यहाँ– बस्तेरलाभे इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। प्लवज इति– प्रसेवकगलः पक्षी 'प्लव' इति ख्यातः – प्रसेवकगल पक्षी को ही 'प्लव' कहते हैं। अर्थात् प्रसेवकगल पक्षी ही 'प्लव' नाम से प्रसिद्ध है। प्लव = कारण्डव या जलमुर्गी या जलमुर्गा।

अङ्कपादः चर्मचटकः– चमगादड़, बस्ति हेतु चमगादड़ की चमड़ी का ग्रहण करना चाहिए।

विशेष (Comments)– प्लवादीनां चर्म तथा घनः पटो वा ग्राह्य इति– गंगाधर। प्लव आदि पक्षियों के चर्म या घन कपड़े (जिससे द्रव पदार्थ बाहर न निकल सके ऐसा मोटा कपड़ा) से **बस्तिपुटक** का निर्माण करना चाहिए।

आस्थापनार्हं पुरुषं विधिज्ञः समीक्ष्य पुण्येऽहनि शुक्लपक्षे ।।१२।।
प्रशस्तनक्षत्रमुहूर्तयोगे जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत ।

प्रश्न नं.५ 'निरूह कल्पः' [निरूहबस्ति की योजना कैसे की जाती है?] का उत्तर– बस्ति कल्पना के जानकार चिकित्सक को आस्थापन (निरूह) बस्ति के योग्य पुरुष का सम्यक् विचार करके अर्थात् उसकी भलीभाँति परीक्षा करके शुक्ल पक्ष में शुभ दिन, प्रशस्त नक्षत्र (कल्याणकारी नक्षत्र), शुभ मुहूर्त एवं शुभ योग के रहने पर, पूर्व कृत अन्न के पच जाने पर तथा एकाग्र मन से निरूह बस्ति देना चाहिए।

चक्रपाणि– निरूहकल्पः इत्यादि प्रश्न के उत्तर को यहाँ– आस्थापनार्हमिति के द्वारा दिया गया है। **शुक्लपक्षे इति शुक्लपक्षस्य सर्वारम्भेषु प्रशस्तत्वात्–** शुक्लपक्ष में सभी कार्यों को प्रारम्भ करना सबसे शुभ (कल्याणकारक) माना गया है। आचार्य हारीत ने चिकित्सा आदि कार्यों को करने में कृष्णपक्ष को उपयुक्त माना है। कहा भी गया है, यथा– **''कृष्णपक्षे कार्यं, जन्मनि सर्वरोगा हताः सुहृता भवन्तीति वदन्ति शास्त्रज्ञाः; शुक्ले देवा जाताः, कृष्णेऽसुराश्च सर्वरोगाश्च; तस्माद्रोगचिकित्सा कृष्णे सदैव कर्तव्या''** इति [चिकित्सा कार्य कृष्णपक्ष में प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि व्याधियों का बल इसी पक्ष में बढ़ता है, अतः इसे बढ़े हुए बल के समय ही नष्ट करना चाहिए। शुक्लपक्ष में देवता उत्पन्न हुए हैं तथा कृष्णपक्ष में असुर व व्याधियों का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिये रोगों की चिकित्सा हमेशा कृष्णपक्ष में ही करना चाहिए।] एकाग्रमिति– एकाग्र मन से बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

बलां गुडूचीं त्रिफलां सरास्नां द्वे पञ्चमूले च पलोन्मितानि ।।१३।।
अष्टौ फलान्यर्धतुलां च मांसाच्छागात् पचेदप्सु चतुर्थशेषम् । पूतं यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाधनपिप्पलीनाम् ।।१४।।
कल्कैर्गुडक्षौद्रघृतैः सतैलैर्युतं सुखोष्णैस्तु पिचुप्रमाणैः । गुडात् पलं द्विप्रसृतां तु मात्रां स्नेहस्य युक्त्या मधु सैन्धवं च ।।१५।।
प्रक्षिप्य बस्तौ मथितं खजेन सुबद्धमुच्छ्रास्य च निर्वलीकम् । अङ्गुष्ठमध्येन मुखं पिधाय नेत्राग्रसंस्थापनीयं वर्तिम् ।।१६।।
तैलाक्तगात्रं कृतमूत्रविट्कं नातिक्षुधार्तं शयने मनुष्यम् । समेऽथवेषन्नतशीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपपन्ने ।।१७।।
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वजुदेहं स्वभुजोपधानम् । सङ्कोच्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्यं प्रणयेत्ततस्तम् ।।१८।।
स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागं स्निग्धं शनैर्ऋज्वनु पृष्ठवंशम् । अकम्पनावेपनलाघवादीन् पाण्योर्गुणांश्चापि विदर्शयंस्तम् ।।१९।।
प्रपीड्य चैकग्रहणेन दत्तं नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत् ।

निरूह बस्ति देने की विधि (Method of Administering Basti)

बला, गुडूची (गुड़बेल), आँवला, हरड़, बहेड़ा, रास्ना, दोनों प्रकार के पञ्चमूल [बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी– बृहत् पञ्चमूल; शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोखरू – लघुपञ्चमूल] – प्रत्येक द्रव्य १-१ पल ग्रहण करें, मदनफल– संख्या में ८ लें, बकरे का मांस - आधा तुला (५० पल) लें। सभी द्रव्यों को यवकुट करके तथा बकरे के मांस के छोटे-छोटे टुकड़े करके एक पात्र में लेकर उसमें द्रव्यों के संयुक्त मान का चार गुना जल डालकर पकावें अर्थात् क्वाथ तैयार करें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ

Scanned by CamScanner

को अग्नि पर से उतार कर एक स्वच्छ वस्त्र से छानकर एक पात्र में सुरक्षित रख लें। इस छने हुए क्वाथ में अजवाइन, मदनफल, बेल, कुष्ठ (कूठ), वचा, सौंफ नागरमुस्तक व पिप्पली के १-१ कर्ष से निर्मित कल्क को मिला दें, अर्थात् अजवाइन आदि द्रव्यों को १-१ कर्ष (१-१ तोला) मात्रा में लेकर महीन चूर्ण (कल्क) बना लें व क्वाथ में मिलावें।

इसके साथ ही इस कल्क मिश्रित क्वाथ में गुनगुनी अवस्था में ही दोषानुसार गुड़, मधु, घृत व तैल यथावश्यक मात्रा में मिलावें। गुड़ – १ पल (४ तोला), घृत + तैल (२ प्रसृत = १६ तोला), सैन्धव व मधु उचित मात्रा में मिलावें। सभी द्रव्यों को मथानी से मथकर बस्तिपुटक में भर लें। इसके बाद नेत्र के मूल भाग को बस्तिपुटक के छिद्र में Fix करके अच्छी प्रकार से बाँध दें। बस्तिपुटक में स्थित वायु को निकालने के लिए पुटक को इस प्रकार दबावें कि नेत्र द्वारा बाहर निकल जाय, बस्तिपुटक कहीं से भी सिकुड़ा हुआ नहीं होना चाहिए। बस्तिपुटक को दबाकर नेत्र तक औषध को भर दें। अब बस्तिनेत्र के छिद्र को अंगुठे से दबाकर रखें।

आतुर की तैयारी– रोगी जिसे बस्ति दी जानी है उसे अभ्यङ्ग व स्वेदन करावें तथा वह मल, मूत्र आदि का त्याग (विसर्जन) कर लिया हो, रोगी को अत्यधिक भूखा नहीं होना चाहिए, ऐसे व्यक्ति को चारपायी पर सुलाना चाहिए। चारपायी या तख्त समतल स्थान पर बिछा होना चाहिए, सिर कुछ नीचा होना चाहिए। चारपायी पर सुन्दर गद्देदार बिस्तर बिछाकर रोगी को लिटावें। रोगी को बायें करवट होकर शरीर को सीधा करके अपने हाथ को ही तकिया बनाकर लेटना चाहिए। रोगी को बायें करवट की स्थिति में बाँये पैर को सीधा रखते हुए दाहिने पैर को घुटने के बल से कुछ मोड़ना चाहिए।

इस स्थिति में गुदा को तैल या घृत लगाकर चिकना कर लें, फिर नेत्र (बस्तिनेत्र) के अग्र भाग पर घृत या तैल लगाकर उसका $^{1}/_{4}$ भाग सीधे पृष्ठवंश की ओर प्रवेश कराना चाहिए। नली को गुदा में प्रविष्ट कराते समय हाथ को न हिलावें, कम्पन न हो एवं हलके हाथ से प्रवेश करावें। प्रवेश के पश्चात् बस्तिपुटक को इस प्रकार दबावें कि औषधि द्रव्य एक साथ गुदा में प्रवेश कर जाय। इसके बाद धीरे से नेत्र को बाहर निकाल लें।

चक्रपाणि– 'बलामित्यादि' के द्वारा बस्ति निर्माण एवं देने की विधि को स्पष्ट किया गया है।

पलोन्मितत्वमिह त्रिफला पञ्चमूल्योरपि प्रतिद्रव्यम् – 'पलोन्मितत्व' से यहाँ त्रिफला व पञ्चमूल के घटक द्रव्यों को अलग-अलग एक-एक पल मात्रा में ग्रहण करने का निर्देश दिया गया है। **फलानीति–** मदनफल, मदनफल को खड़ा (साबुत) संख्या में ८ ग्रहण करना चाहिए। यहाँ मदनफल की मात्रा का निर्देश न करके संख्यात्मक मान का निर्देश है। यहाँ बलादि से निर्मित क्वाथ का मान ६६ पल + ८ मदनफल होता है, यह मान सामान्यतः क्वाथ विधान से क्वाथ बनाने पर होता है। सूत्र– "क्वाथः क्वाथ्य समः" [क्वाथ की मात्रा क्वाथ्य द्रव्य के बराबर होती है।] से यहाँ क्वाथ का मान बहुत ही ज्यादा हो जाता है। प्रत्येक बस्ति में नियमानुसार १० पल (४० तोला) क्वाथ की मात्रा लेनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ ३० पल की मात्रा को बस्ति के एक कोर्स में तीन बार दी जाती है।

[According to the general rule– For each basti, ten palas of the decoction is to be used, and three such bastis are to be given in one course. Thus in total thirty palas of decoction are required for one course of three bastis]

अधिकतम इतनी ही मात्रा का प्रयोग हो सकता है। इस आधार पर शेष मात्रा निष्प्रयोज्य होती है। फिर भी हमें महर्षि (आप्त) वचन को ही इस प्रकरण में प्रमाणित स्वीकार करते हुए जितनी मात्रा प्रयोग करने का निर्देश दिया गया है उतनी ही मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा करने से औषधि ज्यादा प्रभावी होती है। इसलिए यहाँ तर्क-वितर्क करना उचित नहीं है। अर्थात् निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार बस्ति देने से औषधि ज्यादा प्रभावी होती है, अतः इन वचनों पर शंका नहीं करनी चाहिए। कहा भी गया है, यथा– "यथा कुर्वन्ति स उपायः" (सू.अ. २६/) इति [द्रव्य जिस विधि से कार्य करते हैं, उसे उपाय कहते हैं] अथवा निर्दिष्ट क्वाथ्य द्रव्य को बाँट करके (कई भाग करके) बस्ति के रूप में प्रयोग करना, अर्थात् ६६ पल द्रव्यों का प्रयोग कई बार में करना, उदाहरणार्थ इस योग को बताया गया है। उससे आवश्यकता के अनुसार क्वाथ निर्माण हेतु उपयुक्त मात्रा में ही क्वाथ्य द्रव्य का ग्रहण करना चाहिए, यह बताया गया है।

यवान्यादीनां प्रत्येकं प्रतिनिरूहं पिचुमानत्वं; पिचुः कर्षः– निरूह बस्ति में प्रयुक्त कल्क द्रव्यों में यवानी आदि द्रव्य अलग-अलग १-१ कर्ष (१-१ तोले) मात्रा में ग्रहण करें। यवानी आदि कल्क द्रव्यों की यह मात्रा **एक बस्ति** के लिए बतायी गयी है। स्नेह से यहाँ घृत व तैल दोनों का ग्रहण किया गया है। इसका विवेचन पूर्व में ही किया जा चुका है। **एतच्च स्नेहमानं प्रकृतिस्थे पुरुषे वक्ष्यमाणव्यवस्थया ज्ञेयम्–** यहाँ स्नेह के मान का निर्देश स्वस्थ पुरुष की व्यवस्था की दृष्टि से बतायी गयी है, ऐसा जानना चाहिए, अर्थात् १ प्रसृत तैल (तिल तैल) + १ प्रसृत गोघृत = कुल २ प्रसृत (१६ तोला) घृत + तैल का प्रयोग बस्ति में करना चाहिए।

'युक्त्या मधुसैन्धवे च' इति के द्वारा मधु व सैन्धव की मात्रा प्रकृति आदि के अनुसार नियत नहीं रहती, अर्थात् परिवर्तित होती रहती है, यह दर्शाया गया है। 'च' कार से यहाँ मांसरस, गोदुग्ध व गोमूत्र आदि का भी मान नियत नहीं रहता है। इनके मान (प्रमाण) की व्यवस्था आगे कषायमान (क्वाथ मान) के प्रकरण में बताया जायेगा।

Scanned by CamScanner

उच्छ्वास्येति उच्छ्वासनेन द्रव्याभिघातजनितवातनिर्गममिच्छति– बस्तिपुटक को इस प्रकार दबावें कि पुटक व नेत्र में विद्यमान हवा के बुलबुले बाहर निकल जायें। **निर्वलीकमिति–** बस्तिपुटक में किसी प्रकार का सिकुड़न न रह जाना। यह शब्द क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

नेत्राग्रसंस्थामिति प्रथमं द्रवनिर्गमादिप्रतिषेधार्थं नलिकाग्रमुखदत्तां वर्तिम्– बस्तिपुटक का द्रव नेत्र द्वारा पहले बाहर न निकले, इस हेतु नेत्र के अग्र भाग के छिद्र में वर्ति डालकर रखें, अर्थात् वर्ति द्वारा नेत्राग्र भाग बन्द करके रखें।

तैलाक्तगात्रमिति– रोगी को पहले अभ्यङ्ग व स्वेदन कराना चाहिए। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "अनुवासितमास्थापयेदभ्यक्तस्विन्नशरीरम्" सु.चि.अ. ३८/३ [अनुवासन दिये गये व्यक्ति को आस्थापन बस्ति देनी चाहिए। इस हेतु रोगी को पहले अभ्यंग व स्वेदन करावें। अर्थात् बस्ति देने से पूर्व अभ्यंग व स्वेदन कराना चाहिए। (पूर्व में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने से स्रोतस् मार्ग स्निग्ध हो जाते हैं जिसके कारण बाद में प्रयुक्त निरूह बस्ति के द्वारा दोष आसानी से निकल जाते हैं– अनुवासितं दत्तानुवासनं स्निग्धस्रोतोमार्गतया सुखमेव दोषनिर्हरणार्थं आस्थापयेत् – सु.चि.अ. ३८/३ पर डल्हण)]

निरूह बस्ति का प्रकरण आ जाने से – बस्ति को किस स्थिति (Position) में देना चाहिए, अर्थात् रोगी को कैसे लिटाकर बस्ति देनी चाहिए, इसे यहाँ 'शयने मनुष्यमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **समेऽथवेषन्नतशीर्षके वेति विकल्पद्वयमातुरेच्छया कर्तव्यम्–** चारपायी या तख्त को सम अवस्था में रखकर या सिरहाने (सिर) की ओर कुछ नीचा करके, ये दो विकल्प रोगी की इच्छा पर निर्भर करते हैं। अथवा जिस पुरुष के कमर का भाग ऊँचा हो अर्थात् रोगी मोटा हो तब उसे सम अवस्था में लिटाकर बस्ति दें तथा जिस पुरुष की कटी (कमर) पतली हो, अथवा रोगी दुबला हो तब उसे सिरहाने को कुछ ऊँचा करके बस्ति देनी चाहिए। ये दोनों विकल्प रोगी की सुविधा के अनुसार अपनाना चाहिए। ऐसा करने पर ही इन दोनों प्रकार के पुरुषों में बस्ति द्रव्य समुचित रूप से शरीर में फैलते हैं। **सव्येन इति–** वाम भाग से, **वाम पार्श्व शयन** के प्रयोजन (महत्व) को आगे 'वामाश्रये हि' इत्यादि के द्वारा बताया जायेगा।

मनुष्यं यथोक्तसर्वगुणं कृत्वा तं प्रणयेदिति सम्बन्धः– मनुष्य को निर्दिष्ट विधियों के अनुसार लिटाकर बस्ति देनी चाहिए। जिस प्रकार वह अपने हाथ को सिर के पास लगाकर सो सके वैसे सुलाना (शयन कराना) चाहिए। उपधान = गण्डुः (तकिया) ।

सव्येतरत् दक्षिणम्– सव्य + इतर, सव्य (वाम- Left) से इतर (भिन्न या विपरीत) अर्थात् दक्षिण (Right) । सक्थि = जङ्घा (Calf muscle) । वामं सक्थि प्रसार्य = वाम जङ्घा को फैलाकर, अर्थात् वाम पार्श्व में लेटकर बाँये पैर को फैलाकर, उसके ऊपर दाहिने जङ्घा को मोड़कर, अर्थात् बायाँ पैर फैला हुआ हो तथा दाहिना पैर घुटने के बल से उस पर मुड़ा हो, यह अभिप्राय है।

स्निग्धे गुदे नेत्रचतुर्थभागमिति– स्निग्ध की हुई गुदा में बस्तिनेत्र के अग्र भाग को प्रथम कर्णिका तक गुदा में प्रवेश करावें। प्रथम कर्णिका नेत्र के चतुर्थांश भाग पर ही बनी होती है।

अनु पृष्ठवंशमिति पृष्ठवंशमनुगतं कृत्वा– नेत्र को गुदा में रीढ़ की हड्डी की दिशा में (सीधा) प्रवेश करावें।

अकम्पनेत्यादौ कम्पनं चलनं, वेपनं वेपथु, लाघवं शीघ्रक्रियता– गुदा में बस्तिपुटक को दबाते समय चिकित्सक का हाथ कांपना नहीं चाहिए एवं उसका शरीर भी कम्पित नहीं होना चाहिए। कंपन = हिलना, वेपन = शरीर में कम्पन होना। लाघवं = शीघ्रतापूर्वक, वस्तिपुटक को एक साथ दबाकर शीघ्र बस्ति देनी चाहिए, अर्थात् शीघ्रतापूर्वक बस्तिपुटक को दबाकर औषधि को प्रवेश कराना चाहिए।

आदि शब्देन बस्तिग्रहणपीडनादिगृह्यते– यहाँ 'आदि' शब्द से बस्ति को पकड़ना एवं पीडन (दबाना) आदि क्रियाओं का ग्रहण किया गया है।

विदर्शयन्निह संपादयन्– संपादित करना, बस्तिपुटक को दबाकर एक ही बार में बस्ति देना। प्रपीड्य– एक ही दबाव में बस्ति द्रव्यों को बस्तिपुटक से गुदा में प्रवेश करा देना अर्थ लिया गया है। रुक-रुक कर दबाने पर पुटक में वायु प्रविष्ट हो जायेगी। इसलिए ऐसा न हो इस हेतु एक ही दबाव में बस्ति देने का निर्देश दिया गया है। ॥१३-१९॥

तिर्यक् प्रणीते तु न याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते तु नेत्रे ।।२०।।
दत्तः शनैर्नाशयमेति बस्तिः कण्ठं प्रधावत्यतिपीडितश्च । शीतस्त्वतिस्तम्भकरो विदाहं मूर्च्छां च कुर्यादतिमात्रमुष्णः ।।२१।।
स्निग्धोऽतिजाड्यं पवनं तु रूक्षस्तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगम् । करोति मात्राभ्यधिकोऽतियोगं क्षामं तु सान्द्रः सुचिरेण चैति ।।२२।।
दाहातिसारौ लवणोऽति कुर्यात्तस्मात् सुयुक्तं सममेव दद्यात् ।

बस्ति के दोष (Improper Administration of Basti)– १. यदि बस्तिनेत्र को गुदा में तिरछा प्रविष्ट कराते हैं तब बस्तिपुटक के क्वाथ आदि द्रव पदार्थ गुदा में प्रविष्ट नहीं हो पाते।

Scanned by CamScanner

२. यदि बस्तिनेत्र को गुदा में प्रवेश कराते समय वह इधर-उधर हिल जाय, अर्थात् निर्धारित स्थान से अन्य स्थान पर चला जाय तब गुदा में व्रण (Ulcer) हो सकता है। [If the nozzale is shifted from one place to other, then this may cause anal ulcer – Dr. Bhagvan Das]

३. यदि बस्तिपुटक को धीरे से दबाते हैं तब बस्ति द्रव्य अपने निर्धारित स्थान पर नहीं पहुँच पाते।

४. यदि बस्तिपुटक को अत्यधिक दबाकर बस्ति दी जाती है तब बस्ति के द्रव्य गले तक पहुँच जाते हैं।

५. यदि बस्ति द्रव्यों को गुनगुना न प्रयोग करके अत्यधिक ठण्डा करके प्रयोग करते हैं तब ये द्रव्य शरीर में स्तम्भता (Stiffness) उत्पन्न करते हैं, अर्थात् जकड़ाहट उत्पन्न करते हैं।

६. यदि अति उष्ण क्वाथ का प्रयोग बस्ति के रूप में करते हैं तब शरीर में जलन (Burning sensation) एवं मूर्च्छा (Fainting) उत्पन्न हो जाती है।

७. यदि बस्ति के द्रव्य अत्यधिक स्निग्ध हों तब इनके प्रयोग से शरीर में जड़ता उत्पन्न हो जाती है।

८. यदि बस्ति में प्रयुक्त द्रव्य अत्यधिक रूक्ष हों तब उसके प्रयोग से वायु प्रकुपित हो जाती है।

९. तनु (dilute–पतला), अल्प (मात्रा में अल्प) अथवा नमक रहित (जिस बस्ति के द्रव पदार्थों में सैन्धव नमक न डाला गया हो) बस्ति देने पर वह अयोग के लक्षणों को दर्शाती है, अर्थात् बस्ति अपना कार्य सम्यक् नहीं करती।

१०. अधिक मात्रा में बस्ति देने पर अतियोग को उत्पन्न करती है, अर्थात् व्यक्ति में अतियोग के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

११. यदि बस्ति अत्यधिक सान्द्र (बस्ति का घोल अत्यधिक गाढ़ा) हो तथा उसे क्षाम (कृश) पुरुष को देते हैं तब वह देर से वापस लौटती है। अर्थात् गाढ़ी बस्ति का प्रयोग जब हम कृश पुरुष में करते हैं तो वह देर से वापस लौटती है।

१२. यदि बस्ति के घोल में नमक अधिक पड़ जाता है तब वह दी गयी बस्ति दाह (Burning sensation) एवं अतिसार (Diarrhoea) को उत्पन्न करती है।

इसलिए चिकित्सक को विधिपूर्वक निर्धारित मात्रा में द्रव्यों को मिलाकर **समयोग** से युक्त बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'तिर्यगित्यादि' के द्वारा तिर्यक् प्रणिधान (नेत्र को गुदा में तिरछा प्रवेश कराना) आदि के दोषों को स्पष्ट किया गया है। **न याति धारेति–** बस्तिनेत्र को गुदा में तिरछा प्रवेश कराने पर गुदबली के अवरोध से बस्तिपुटक के द्रव पदार्थ धारा रूप में बाहर नहीं निकल पाते, अर्थात् बस्ति द्रव अन्दर नहीं प्रविष्ट हो पाता, क्योंकि नेत्र का मुख गुदबली से अवरुद्ध हो जाता है।

अतिस्तम्भकर इति– बस्ति शरीर में अत्यधिक जकड़ाहट (Stiffness) उत्पन्न करती है। **जाड्यमिति शरीरजडता–** शरीर का निष्क्रिय होना।

तन्वल्पमात्रालवणस्त्वयोगमिति– बस्ति का घोल तनु (पतला होना) अथवा घोल में नमक का न मिला होना अथवा अल्प मात्रा में मिला होना (तनुर्वा, अल्पमात्रलवणो वा का पाठभेद अल्पमात्रो वा अलवणो वा प्राप्त होता है । जिसका अभिप्राय बस्ति का घोल पतला होना अथवा उसमें सैन्धव नमक अल्प मात्रा में मिलना अथवा बिल्कुल न होना है।) इस प्रकार की बस्ति अयोग के लक्षणों को उत्पन्न करती है।

सान्द्रः तनुविपरीतः– सान्द्र = गाढ़ा (Concentrated) ।

क्षामं पुरुषं कुर्यात्– क्षाम (कृश) पुरुष को गाढ़ी बस्ति देने पर बस्ति के द्रव्य देर से वापस लौटते हैं। यदि बस्ति में नमक की मात्रा अधिक हो जाती है तब वह रोगी में **दाह** एवं अतिसार को उत्पन्न करती है।

तस्मादिति यथोक्तविधानेषु दोषनिदर्शनात्– इसलिए निर्दिष्ट विधान के अनुसार ही दोष की अवस्थाओं का विचार करते हुए बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

सुयुक्तमिति तिर्यक् प्रणिधानादिरहितम्– तिर्यक् प्रणिधान (नेत्र को तिरछा गुदा में प्रविष्ट कराना) अतिशीत आदि दोषों से रहित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ॥२०-२२॥

पूर्वं हि दद्यान्मधु सैन्धवं तु स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनु कल्कम् ।।२३।।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन ।

Scanned by CamScanner

बस्ति में द्रव्यों को मिलाने का क्रम– १. सर्वप्रथम मधु व सैन्धव लवण को आपस में मिश्रित करें, २. द्वितीय क्रम में मधु व सैन्धव लवण के मिश्रण को स्नेह (घृत + तैल) में मिलाकर अच्छी प्रकार से मथ दें। इसके बाद इसमें कल्क डालकर पुनः मथ दें, ३. तृतीय क्रम में पूर्व मिश्रित गाढ़े घोल में क्वाथ मिलाकर मथानी से अच्छी प्रकार से मथकर उसे बस्तिपुटक में भर लें।

चक्रपाणि– कुछ आचार्य 'पूर्वं हि दद्यात्' इति पाठ को अनार्ष स्वीकार करते हैं, लेकिन अन्य शास्त्रों में इस पाठ का भाव (अर्थ) प्राप्त होता है। इसलिये इस पाठ का वर्णन होना उचित प्रतीत होता है। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– **''दत्त्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनश्च पलद्वयम्। पात्रे तलेन मथ्नीयात्तद्वत् स्नेहं शनैः शनैः ।। सम्यक् सुमथिते दद्यात् फलकल्कमतः परम्। ततो यथोचितान् कल्कान् भागैः स्वैः श्लक्ष्णपेषितान्।।'' (सु.चि.अ. ३८) इति** [सर्वप्रथम सैन्धव नमक १ कर्ष (१ तोला) तथा मधु दो पल (पाठभेद से २ प्रसृत) लेकर हथेली से मथें। इसके बाद धीरे-धीरे उसमें मधु के मान के बराबर स्नेह मिलावें। सम्यक् मिश्रित हो जाने पर उसमें मदनफल के कल्क को मिलावें, तत्पश्चात् वातादि दोषनाशक अन्य द्रव्यों का कल्क बराबर मात्रा में मिलाना चाहिए। कल्क को अच्छी प्रकार से श्लक्ष्ण पीस कर मिलाना चाहिए।]

'पुनः द्रवैस्तमिति' – यहाँ द्रव शब्द से **क्वाथ** का ग्रहण किया गया है। अर्थात् अन्त में क्वाथ मिला करके उसे मथानी से अच्छी प्रकार से मथ लें।

विशेष (Comments)– सु.चि.अ. ३८ के पाठ 'मधुनश्च पलद्वयम्' के स्थान पर 'मधुनः प्रसृतद्वयम्' पाठ प्राप्त होता है। अतः यहाँ मधु की मात्रा २ प्रसृत (१६ तोला) ग्रहण करनी चाहिए।

वामाश्रये हि ग्रहणीगुदे च तत् पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः ।।२४।।
लीयन्त एवं वलयश्च तस्मात् सव्यं शयानोऽर्हति बस्तिदानम्।

वाम पार्श्व से शयन का प्रयोजन– वामपार्श्व में ग्रहणी व गुदा स्थित रहती है। अतः वामपार्श्व में शयन कराकर (बायें करवट लिटाकर) रोगी को जब निरूह बस्ति देते हैं तब बस्ति के द्रव्य सुखपूर्वक (आसानी से) पक्वाशय में पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में गुदवलियाँ लीन हो जाती हैं, अर्थात् गुदबलियों का अवरोध नहीं रहता। इसलिये रोगी वामपार्श्व लिटाने पर ही बस्ति देने के योग्य होता है।

चक्रपाणि– वामाश्रये इत्यादि के द्वारा वामपार्श्व शयन की विधि जो पूर्व में निर्दिष्ट की गयी है, के महत्व को बताया गया है। अर्थात् बाँये करवट लिटाकर क्यों निरूह बस्ति या अनुवासन बस्ति का प्रयोग करते हैं? इसके महत्व को स्पष्ट किया गया है। शरीर के वाम भाग (Left side) में ग्रहणी एवं गुदा स्थित रहते हैं। जब रोगी बायें करवट लेटता है तब ये दोनों भाग अपने स्वाभाविक स्थिति में रहते हैं। इस अवस्था में बस्ति देने पर बस्ति के द्रव्य शरीर में उचित रूप से एवं आसानी से (सुखपूर्वक) व्याप्त हो (फैल) जाते हैं। इसके साथ ही गुद बलियाँ लीन हो जाती हैं। जिसके कारण बस्ति द्रव्य सुखपूर्वक **ग्रहणी व गुदा** के प्रकृतिस्थ होने से वहाँ फैलकर ग्रहणी को भावित कर देती है। ।।२४।।

विड्वातवेगो यदि चार्थदत्ते निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम् ।।२५।।
उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नोति तथाऽस्य देहम्।

उपद्रवों की व्यवस्था– यदि बस्ति देते समय बीच में मल (पुरीष) एवं अपान वायु के वेग आते हैं तब बस्ति नेत्र (नली) को गुदा से निकाल दें। पुरीष व अपानवायु जब निकल जाय तब पुनः शेष औषधि को गुदा में प्रविष्ट करावें। पूर्ण रूप से बस्ति देने के बाद रोगी को उत्तान (पीठ के बल) लिटा दें, अर्थात् पीठ जमीन पर हो तथा उदर सामने हो। सिर के नीचे तकिया लगा दें। ऐसा करने से बस्ति की शक्ति सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है।

चक्रपाणि– विड् एवं वात के निकलने पर बस्तिनेत्र को गुदा से निकाल दें तथा इन वेगों की प्रवृत्ति हो जाने दें। यदि ऐसा नहीं करते हैं तब दी गयी बस्ति के द्रव्य पुरीष व वात के वेग के साथ ही तत्काल बाहर निकल जाते हैं। **दत्ते तु बस्तौ उत्तानदेहः कृतोपधानश्च स्यात्–** बस्ति देने के बाद रोगी को उत्तान लिटा दें तथा उसके सिर के नीचे तकिया लगा दें। ऐसा करने से बस्ति का वीर्य सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

'वीर्यमाप्नोतीत्यादि' के द्वारा उत्तान शयन एवं तकिया लगाने के प्रयोजन को स्पष्ट किया गया है। ।।२५।।

एकोऽपकर्षत्यनिलं स्वमार्गात् पित्तं द्वितीयस्तु कफं तृतीयः ।।२६।।

निरूह बस्ति द्वारा दोषों का प्रशमन– दी गयी प्रथम निरूह बस्ति वायु को खींचकर अपने मार्ग से बाहर निकालती है। द्वितीय निरूह बस्ति पित्त को तथा तृतीय निरूह बस्ति कफ को बाहर निकालती है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'एकोऽपकर्षतीत्यादि' के द्वारा दोष भेद से निरूह बस्ति के विधान को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इससे एक से अधिक बस्ति के विधान को बताया गया है, न कि यह विधान त्रिदोष प्रकोप की अवस्था में लागू होता है। वात प्रकोप की अवस्था में एक निरूह बस्ति, पित्त प्रकोप में दो निरूह बस्ति तथा कफ प्रकोप की अवस्था में तीन निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, ऐसा अर्थ ग्रहण करें।

यतः, ''स्निग्धोष्ण एकः पवने समांसः'' (जहाँ वात के प्रकोप में स्निग्धः, उष्ण द्रव्यों व मांसरस द्वारा निर्मित एक निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।) के द्वारा वातादिभेद से ही बस्तियों की संख्या का निर्देश आगे किया जायेगा। वात प्रकोप की अवस्था में दी गयी प्रथम (एक) निरूह बस्ति ही वात को अपने मार्ग से बाहर निकाल देती है। दी गयी द्वितीय निरूह बस्ति पित्त को अपने मार्ग से बाहर निकालती है, अर्थात् पित्त प्रकोप में दो निरूह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। तीन निरूह बस्तियों के प्रयोग से कफ अपने मार्ग से बाहर निकल जाता है। स्वमार्गात् = अपने स्थान से।

यद्यपि बस्ति पक्वाशयगत दोषों का ही निर्हरण करती है, यह कहा गया है, फिर भी पित्त व कफ के स्थान से दोषों के निकालने में विशेष बस्ति की योजना से ऐसा संभव है। (फिर भी पित्तादि के स्थान में भी बस्ति की विशेष विधि की क्षमता से दोष हरण करना संभव है।) । वास्तव में उस स्थान पर गये हुए दोषों का निर्हरण करना विशिष्ट विधान के द्वारा ही संभव है। सामान्यतः बस्ति पक्वाशय गत दोषों को दूर करती है, लेकिन पित्त व कफ के स्थान पर गये हुए दोषों को विशेष विधान के द्वारा ही निकालना चाहिए। जिसे आचार्य जतूकर्ण ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा– ''बस्तिः कार्यः सकृद्बस्तिस्थानशक्त्याऽनिलादिषु'' [बस्ति अपनी क्षमता के अनुसार बस्तिस्थान गत वातादि दोषों को दूर करती है।] यहाँ द्वितीय बस्ति पित्त, तथा तृतीय कफ को निर्हरित करती है, यह कहा गया है । फिर भी प्रथम व द्वितीय बस्ति भी पित्त व कफ का निर्हरण तो करती ही है। द्वितीय बस्ति पित्त को निकालने में श्रेष्ठ है। अर्थात् प्रथम की तुलना में द्वितीय से यह कार्य ज्यादा ठीक होता है तथा तृतीय बस्ति कफ का निर्हरण उचित रूप से करती है। ऐसा स्थान प्रत्यासत्ति (स्थान की समीपता) के कारण होता है। इसलिए द्वितीय बस्ति पित्त का तथा तृतीय बस्ति कफ का निर्हरण करती है। यद्यपि कफ व पित्त की चिकित्सा में बस्ति का प्रयोग करना सुखकर नहीं होता, फिर भी वात के आवरण में अथवा वातानुबन्ध की अवस्था में पित्त व कफ के प्रकुपित होने पर बस्ति का प्रयोग निर्देशित है, ऐसा समझना चाहिए। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– **''बस्तिर्वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते''** (सु.चि.अ. ३५/६) [वात, पित्त, कफ व रक्त दोषों की विकृति में बस्ति का प्रयोग सर्वदा हितकारी होता है।] ॥२६॥

प्रत्यागते कोष्णजलावसिक्तः शाल्यन्नमद्यात्तनुना रसेन । जीर्णे तु सायं लघु चाल्पमात्रं भुक्तोऽनुवास्यः परिबृंहणार्थम् ।।२७।।
निरूहपादांशसमेन तैलेनाम्लानिलघ्नौषधसाधितेन । दत्त्वा स्फिचौ पाणितलेन हन्यात् स्नेहस्य शीघ्रागमरक्षणार्थम् ।।२८।।
ईषच्च पादाङ्गुलियुग्ममाञ्छेदुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृज्यात् । स्नेहेन पार्ष्ण्यङ्गुलिपिण्डिकाश्च ये चास्य गात्रावयवा रुगार्ताः ।।२९।।
तांश्चावमृद्नीत सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधानः ।

निरूह बस्ति के बाद कर्तव्य– निरूह बस्ति देने के बाद जब औषध द्रव्य व दोषादि का सम्यक् निर्हरण हो जाय तब रोगी को गुनगुने जल से स्नान करावें। इसके बाद पतले मांसरस (diluted meat soup) के साथ शाली चावल से निर्मित भात का सेवन करावें। दोपहर या दोपहर से पूर्व के गृहीत आहार के पूर्णतः पच जाने के बाद सायंकाल रोगी को लघु व अल्प मात्रा में भोजन कराने के बाद शरीर में बल की वृद्धि हेतु अम्ल एवं वातनाशक द्रव्यों से साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें। अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त तैल की मात्रा निरूह बस्ति में प्रयुक्त द्रव्यों की मात्रा का चतुर्थांश होना चाहिए। अर्थात् निरूह की मात्रा का $^1/_4$ भाग अनुवासन की मात्रा होनी चाहिए।

अनुवासन बस्ति देने के बाद हाथ के तलुवे से नितम्ब के ऊपर बार-बार थपथपाना चाहिए। ऐसा करने से अनुवासन के रूप में प्रयुक्त स्नेह शीघ्रतापूर्वक वापस नहीं आता। दोनों पैर की युग्म अंगुलियों को एक साथ हलके हाथ से खींचे, अर्थात् एक साथ जिस पैर की अंगुली को खींचते हैं उसी समय दूसरे पैर की भी अंगुली को खींचे। इसके बाद उत्तान लेटे हुए रोगी के पाष्णि (एड़ी), पैर के तलवे, अंगुली एवं पिण्डिकाओं को तेल लगाकर हलके हाथ से मालिश करें। अथवा शरीर के और भी जिस भाग में वेदना होती हो उसमें तैल लगाकर सुखकर हाथों से मालिश करें। इसके बाद सिर के नीचे तकिया लगाकर सुखपूर्वक शयन करें।

चक्रपाणि– शाल्यन्नमित्यादौ जीर्णे इति– आस्थापन बस्ति के द्वारा उपलेपित कोष्ठस्थ औषधि के जीर्ण हो जाने पर अथवा निरूहबस्ति के वापस लौट आने पर आतुर को गुनगुने जल से स्नान कराकर तनु मांसरस के साथ साठी चावल के भात का सेवन कराना चाहिए।

तनुमांसरसादिभोजनं चेह निरूहेण मनागुपहतस्य वह्नेःपरिपालनार्थम्– निरूह बस्ति के प्रयोग से जाठराग्नि अल्प रूप में उपहत होती है, यहाँ अल्प रूप में उपहत अग्नि की वृद्धि हेतु तनु मांसरस (पतले मांसरस या मांसरस का पतला घोल) के साथ शाली चावल

Scanned by CamScanner

के भात को खिलाने का निर्देश दिया गया है। यह आहार लघु व सुपाच्य होने से जाठराग्नि की वृद्धि करता है। पेयादि क्रम के पालन का यहाँ निर्देश नही दिया गया है। क्योंकि विरेचन की तरह यहाँ **आम** की अवस्था नहीं होती। इसलिये सुश्रुतसंहिता में भी पेयादि क्रम को छोड़कर रसादि क्रम (मांसरस आदि) के सेवन का निर्देश दिया गया है।

परिबृंहणार्थमित्यनेन लेखनार्थं क्रियमाणे निरूहे परिबृंहणार्थमनुवासनं तदहः कर्तव्यमिति दर्शयति– शरीर के लेखन हेतु निरूह बस्ति तथा बृंहण हेतु अनुवासन वस्ति का प्रयोग उसी दिन करना चाहिए। अर्थात् जिस दिन निरूह बस्ति का प्रयोग करते हैं उसी दिन सायंकाल अनुवासन वस्ति का प्रयोग करें। कल्पनासिद्धिस्थान (च.सि.१) में कहा भी गया है, यथा– **''नरस्ततो निश्यनुवासनार्हः''** (सि.अ.१) इति [अनुवासन के योग्य पुरुष को सायंकाल अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।] इस सूत्र के द्वारा– जिस दिन व्यक्ति को निरूह बस्ति दी जाती है उसी दिन सायंकाल उसे अनुवासन बस्ति देना आवश्यक है, बताया गया है। आचार्य जतूकर्ण ने भी कहा है, यथा– **''जीर्णे सायं कृतान्नं च पुष्ट्यर्थमनुवासयेत्''** इति [प्रातःकाल के अन्न (मांस रस + भात) के जीर्ण हो जाने पर सायंकाल हलका भोजन कराकर शरीर की पुष्टि हेतु अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

निरूहपादांशसमेन तैलेनेति– निरूह की मात्रा का चतुर्थांश अनुवासन की मात्रा होनी चाहिए। निरूह बस्ति की मात्रा २४ पल (९६ तोला) होती है। इस आधार पर अनुवासन की मात्रा ६ पल (२४ तोले) होगी या रखनी चाहिए। अर्थात् अनुवासनार्थ स्नेह (तैल) की मात्रा २४ तोले ग्रहण करनी चाहिए। अनुवासन बस्ति की यह मात्रा **उत्तम मात्रा** होती है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– **''उत्तमा षट्पली प्रोक्ता मध्यमा त्रिपली भवेत्। कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्रा अनुवासने''** [६ पल मात्रा उत्तम, ३ पल मात्रा मध्यम तथा डेढ़ पल मात्रा अधम मानी गयी है। इस प्रकार अनुवासन बस्ति की तीन मात्रायें बतायी गयी हैं। अर्थात् २४ तोले, १२ तोले व ६ तोले की मात्रा का यहाँ वर्णन किया गया है।]

सुश्रुतसंहिता में भी इसी मात्रा के आधार पर अनुवासन बस्ति के तीन विभाग किये गये हैं– १. स्नेह बस्ति (२४ तोले की मात्रा), २. अनुवासन बस्ति (१२ तोले की मात्रा), ३. मात्रा बस्ति (६ तोले की मात्रा)। दी गयी अनुवासन बस्ति का स्नेह शीघ्र वापस न लौटे, इस हेतु दोनों पैर की अंगुलियों को खींचने का निर्देश दिया गया है, जिसे यहाँ– 'ईषदित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अनुवासन के बाद रोगी को उत्तान लिटाकर १०० मात्रा काल (सामान्यतः १०० तक गिनती गिनने में लगा समय १०० मात्रा काल होता है) तक पैर की अंगुलियों को खींचने का निर्देश दिया गया है। निरूह बस्ति देने के बाद यह कार्य – **३० मात्रा काल** (३० तक की गिनती गिनने में लगा समय ३० मात्राकाल होता है) तक करना चाहिए। पादाङ्गुलियुग्ममिति– पर्वसन्धि। आञ्छेत् आकर्षेत् – खींचना चाहिए। [छन्द शास्त्र के ह्रस्व स्वर के उच्चारण में लगने वाला समय 'मात्रा' कहलाता है।]

निद्रामुपासीतेति वधनं क्रियान्तरस्य निषेधार्थम् – इन क्रियाओं के बीच में रोगी को सोना नहीं चाहिए, अपितु अंगुली आदि खींचने के बाद रोगी को सोना चाहिए। ॥२७-२९॥

भागाः कषायस्य तु पञ्च, पित्ते स्नेहस्य षष्ठः प्रकृतौ स्थिते च ॥३०॥
वाते विवृद्धे तु चतुर्थभागो, मात्रा निरूहेषु कफेऽष्टभागः।

दोषानुसार निरूह बस्ति की योजना– निरूह बस्ति में क्वाथ की मात्रा – ५ भाग (५ प्रसृत = ४० तोले), पित्तज व्याधियों में या पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति में स्नेह की मात्रा – कुल मात्रा का छठवाँ ($^1/_6$) भाग (२ प्रसृत = १६ तोले), यही मात्रा स्वस्थ पुरुष में भी निर्धारित की गयी है, वातज व्याधियों में कुल मात्रा का चतुर्थ भाग ($^1/_4$ भाग) [३ प्रसृत = २४ तोले] तथा कफज व्याधियों में अष्टमांश ($^1/_8$ भाग) [$१^1/_2$ प्रसृत = १२ तोले] स्नेह की निर्धारित की गयी है।

चक्रपाणि– 'भागा इत्यादि' के द्वारा १२ प्रसृत निरूहबस्ति की कुल मात्रा में **क्वाथ व स्नेह** की मात्रा के तीन भेद दोषानुसार किये गये हैं।

भागाः कषायस्य पञ्च इति– सभी दोषों एवं स्वस्थ पुरुषों में निरूह बस्ति की दी जाने वाली कुल १२ प्रसृत (९६ तोले) मात्रा में ५ भाग क्वाथ की मात्रा होती है। यहाँ पाँच भाग से पाँच प्रसृत क्वाथ की मात्रा का ग्रहण किया गया है। दोषभेद से एवं स्वस्थ पुरुष की दृष्टि से स्नेह के मान (मात्रा) के भेद को यहाँ 'पित्ते इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। पित्तज व्याधियों तथा पित्तज प्रकृति या स्वस्थ पुरुष में स्नेह की मात्रा कुल मात्रा का $^1/_6$ भाग देना चाहिए। इस प्रकार १२ प्रसृत का छठवां भाग **२ प्रसृत** होता है। स्नेह शब्द से यहाँ घृत तैल आदि ग्रहण किया गया है। वात की प्रबलता वाले रोगी में कुल मात्रा का चतुर्थांश स्नेह का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ चतुर्थ भाग से ३ प्रसृत अर्थ लेना चाहिए। इस विषय में आचार्य हारीत के विचार इस प्रकार हैं– यथा– **''क्वाथस्य पञ्चप्रसृता विभागाः, स्नेहस्य षष्ठो**

Scanned by CamScanner

ह्यधिके तु पित्ते। स्वस्थे च तावत्, पवने चतुर्थः, कफेऽष्टमोऽत्यन्तगते(?)विकल्पः'' इति [निरूह बस्ति में प्रयुक्त क्वाथ की मात्रा ५ प्रसृत रखें, क्वाथ का मान सभी दोषों एवं स्वस्थ पुरुषों में समान ही है। पित्तज व्याधियों, पित्तज प्रकृति या स्वस्थ पुरुषों में स्नेह की मात्रा कुल मात्रा का $^1/_6$ भाग, अर्थात् २ प्रसृत, वातज व्याधियों में $^1/_4$ भाग, अर्थात् ३ प्रसृत तथा कफज व्याधियों या कफ वृद्धि में $^1/_8$ भाग अर्थात् $1^1/_2$ प्रसृत रखना चाहिए।] यहाँ निरूह बस्ति हेतु निर्दिष्ट क्वाथ व स्नेह की मात्रा प्रबल मात्रा (अधिकतम मात्रा) बतायी गयी है। इसी आधार पर हीन बल वाले पुरुषों के लिए अवर मात्रा का भी निर्णय करना चाहिए। शेष मधु, कल्क, एवं सैन्धव नमक की मात्रा का यहाँ नियम नहीं बताया गया है। उनके भी मान (मात्रा) प्रकृति आदि भेद से नियत नहीं है। इस प्रकार मधु आदि को भी प्रकृति आदि के अनुसार **प्रसृतप्रमाण** में लेकर १२ प्रसृत की मात्रा पूर्ण करनी चाहिए। **आचार्य जतूकर्ण** के अनुसार कल्क की मात्रा **२ पल** ग्रहण करनी चाहिए। कहा भी गया है, यथा– चतुर्विंशतिके पुटके पेष्याणां द्विपलं, किञ्चिच्च मधुसैन्धवात्, स्नेहो वक्ष्यमाणः, शेषं कषायस्य; वाते तैलषट्पलं स्वस्थे च; चत्वारि पित्ते घृतस्य, कफे त्रीणि तैलस्य'' इति [२४ पल निरूह की मात्रा में कल्क द्रव्य– २ पल, वात वृद्धि में स्नेह– ६ पल, स्वस्थ पुरुष अथवा पित्त वृद्धि में स्नेह (घृत) ४ पल तथा कफ वृद्धि में तैल – ३ पल ग्रहण करना चाहिए, शेष क्वाथ द्रव्य ग्रहण करना चाहिए, कुछ मात्रा मधु व सैन्धव की भी रखनी चाहिए।] सैन्धव नमक की मात्रा १ कर्ष (१ तोले) ग्रहण करना चाहिए ।

जिसे सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, यथा– **''सैन्धवाक्षं समादाय मधुनः प्रसृतद्वयम्''** (सु.चि.अ. ३८/३७) इति **[सैन्धव नमक– १ कर्ष** (अक्ष), मधु – २ प्रसृत, स्नेह – ३ प्रसृत, कल्क – १ प्रसृत, क्वाथ – ४ प्रसृत तथा प्रक्षेप द्रव्य – २ प्रसृत मिलाना चाहिए। संभवतः यह निर्देश **वातदोष** की वृद्धि की अवस्था में पालनीय है।]

यहाँ **आचार्य हारीत** का भी मत विचारणीय है, यथा– **''क्षौद्रं तु देयं प्रसृतप्रमाणं द्वितीयमाहुर्लवणस्य चाक्षम्''** [मधु का प्रयोग – १ प्रसृत तथा सैन्धव नमक – १ अक्ष (१ तोले) ग्रहण करना चाहिए।] इस आधार पर सैन्धव व मधु की योजना भिन्न हो जाती है। निर्दिष्ट मात्रा में क्वाथ, स्नेह (तैल व घृत), कल्क, मधु व प्रक्षेप द्रव्यों को लेकर कुल १२ प्रसृत **बस्ति द्रव्य** की योजना करनी चाहिए। यद्यपि प्रक्षेप द्रव्य का यहाँ निर्देश नहीं है, फिर भी आगे वातादि भेद से मांसरस, गोदुग्ध, गोमूत्र आदि का ग्रहण है, ऐसा समझना चाहिए। आगे कहा भी गया है, यथा– ''स्निग्धोष्ण एकः पवने निरूहो, द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते। त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा न परं विधेयाः'' इति [वातज या वात के प्रकोप में स्निग्ध व उष्ण गुण युक्त द्रव्यों से बनी हुई एक निरूह बस्ति, पित्त की वृद्धि में मधुर व शीत द्रव्यों से साधित क्षीर या इन द्रव्यों के क्वाथ व गोदुग्ध मिश्रित करके दो निरूह बस्ति तथा कफ की वृद्धि में कटु-उष्ण व तीक्ष्ण द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर तीन निरूह बस्ति दें। इनसे अधिक बस्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।] आचार्य हारीत का भी यही मत है, यथा– **''स्नेहं गुडं मांसरसं पयश्च ह्याम्लानि मूत्राणि च सैन्धवं च। एतानि सर्वाण्यपि योजयीत निरूहयोगे मदनात् फलं च''** इति [निरूह बस्ति में (आवश्यकतानुसार) स्नेह, गुड़, मांसरस, गोदुग्ध, अम्ल काञ्जी, गोमूत्र, सैन्धव नमक एवं मदनफल आदि द्रव्यों की योजना करना चाहिए।] जिसे तन्त्रान्तर में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है– निरूह बस्ति की कुल १२ प्रसृत मात्रा को अलग-अलग द्रव्यों से पूरा करना चाहिए, यथा– ''दत्वाऽऽदौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो दद्यात् स्नेहस्य प्रसृतत्रयम्॥ एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतं क्षिपेत्। संमूर्च्छिते कषायं तु चतुःप्रसृत संमितम्॥ वितरेच्च तदावापमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्। एवं सुकल्पितो बस्तिर्द्वादश प्रसृतो भवेत्'' (सु.चि.अ. ३८) इति [१२ प्रसृत की निरूह बस्ति– १. सैन्धव नमक – १ अक्ष (१ तोला) व **मधु २ प्रसृत** लेकर आपस में अच्छी प्रकार से मिला लें। २. अब सैन्धव नमक मिश्रित मधु में **३ प्रसृत स्नेह** मिलावें। ३. स्नेह के मिल जाने पर उसमें **१ प्रसृत** कल्क द्रव्य मिलावें, ४. अन्त में **४ प्रसृत क्वाथ** व **२ प्रसृत** प्रक्षेप द्रव्य मिलाकर बस्ति तैयार कर ले। इस प्रकार बस्ति द्रव्य की कुल मात्रा १२ प्रसृत होती है।] यह निर्देश वात प्रधान बस्ति के लिए है, क्योंकि स्नेह वातनाशक होता है। किन्तु यहाँ जो ४ प्रसृत क्वाथ की मात्रा बतायी गयी है वह इस तन्त्र (हमारे शास्त्र) के अनुरूप ही है। अन्य आचार्यों का विचार इस प्रकार है, यथा– ''मधुस्नेहनकल्काख्यकषायावापतः क्रमात्। त्रीणि षट् द्वे दश त्रीणि पलान्यनिलरोगिणाम्॥ पित्ते चत्वारि चत्वारि द्वे द्वि पञ्च चतुष्टयम्। षट् त्रीणि द्वे दश त्रीणि कफे चापि निरूहणम्'' इति

[वात रोगों में निरूह बस्ति हेतु प्रयुक्त द्रव्यों– मधु, स्नेह, कल्क, क्वाथ व प्रक्षेप द्रव्य की मात्रा क्रमशः ३, ६, २, १० व ३ पल, पित्त प्रधान या स्वस्थ पुरुष में क्रमशः ४, ४, २, १०, ४ पल तथा कफ प्रधान व्याधियों में क्रमशः ६, ३, २, १०, ३ पल होती है।] यह निर्देश हम लोगों के शास्त्र के अनुरूप होने के कारण मान्य है। ॥३०॥

विशेष (Comments)– निरूह बस्ति की अधिकतम मात्रा दोषानुसार इस प्रकार निर्धारित की गयी है। यह मात्रा बली पुरुषों में प्रयोग करनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

पित्त प्रधान अथवा स्वस्थ पुरुष में निरूह की मात्रा–

१. मधु	– ४ पल	१६ तोले			२ प्रसृत
२. सैन्धव नमक	– १ कर्ष	(१ कर्ष)			१ कर्ष
३. स्नेह	– ४ पल	१६ तोले	९६ तोले		२ प्रसृत
४. कल्क	– २ पल	८ तोले	+		१ प्रसृत
५. क्वाथ	– १० पल	४० तोले	सैन्धव अतिरिक्त		५ प्रसृत
६. प्रक्षेप द्रव्य	– ४ पल	१६ तोले			२ प्रसृत
	२४ पल + सैन्धव अतिरिक्त				१२ प्रसृत + सैन्धव अतिरिक्त

इसी के अनुसार मध्यम व अवर पुरुष की भी मात्रा का निर्धारण करना चाहिए। निर्दिष्ट मात्रा की आधी मात्रा मध्यम बल वाले पुरुष की तथा मध्यम मात्रा की आधी मात्रा अवर बल वाले पुरुष की होती है। अर्थात् मध्यम मात्रा ४८ तोले तथा अवर मात्रा २४ तोले की होगी।

वात प्रधान व्याधियों में निरूह की मात्रा–

१. मधु	– ३ पल	१२ तोले		१$^{१}/_{२}$ प्रसृत
२. सैन्धव नमक	– १ कर्ष	१ कर्ष		१ कर्ष
३. स्नेह	– ६ पल	२४ तोले		३ प्रसृत
४. कल्क	– २ पल	८ तोले		१ प्रसृत
५. क्वाथ	– १० पल	४० तोले		५ प्रसृत
६. प्रक्षेप द्रव्य	– ३ पल	१२ तोले		१$^{१}/_{२}$ प्रसृत
	२४ पल + सैन्धव नमक	९६ तोल + सैन्धव लवण		१२ प्रसृत + लवण

कफ प्रधान व्याधियों में निरूह की मात्रा–

१. मधु	– ६ पल	२४ तोले		३ प्रसृत
२. सैन्धव लवण	– १ कर्ष	१ कर्ष		१ कर्ष
३. स्नेह	– ३ पल	१२ तोले		१$^{१}/_{२}$ प्रसृत
४. कल्क	– २ पल	८ तोले		१ प्रसृत
५. क्वाथ	– १० पल	४० तोले		५ प्रसृत
६. प्रक्षेप द्रव्य	– ३ पल	१२ तोले		१$^{१}/_{२}$ प्रसृत
	२४ पल + सैन्धव नमक	९६ तोल + सैन्धव लवण		१२ प्रसृत + लवण

कफ प्रधान व्याधियों में निरूह की मध्यम व अवर मात्रा क्रमशः ४८ व २४ तोले की होगी, यह ध्यान रखें, सैन्धव लवण की मात्रा आवश्यकतानुसार कम कर लेनी चाहिए।

निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्षे ततोऽर्धप्रसृताभिवृद्धिः ।।३१।।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः । आसप्ततेस्तद्विहितं प्रमाणमतः परं षोडशवद्विधेयम् ।।३२।।
निरूहमात्रा प्रसृतप्रमाणा बाले च वृद्धे च मृदुर्विशेषः।

छठें प्रश्न का उत्तर– वय भेद से निरूह बस्ति की मात्रा– १ वर्ष के बालक हेतु निरूह बस्ति की मात्रा अर्ध प्रसृत (१ पल) होती है। इसके बाद प्रत्येक वर्ष आधा-आधा प्रसृत मात्रा बढ़ाते हुए १२ वर्ष तक के बच्चे को ६ प्रसृत मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। बारह वर्ष के बाद प्रति वर्ष १-१ प्रसृत मात्रा बढ़ाते हुए १८ वर्ष तक **१२ प्रसृत मात्रा** का प्रयोग करना चाहिए। १८ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक यही मात्रा अर्थात् **१२ प्रसृत** का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद के लोगों को अर्थात् ७० वर्ष से ऊपर के लोगों को १६ वर्ष वाले पुरुष की जो मात्रा निर्धारित है, उसका प्रयोग करना चाहिए। नियमानुसार १६ वर्ष वाले व्यक्ति को १० प्रसृत मात्रा का प्रयोग किया जाता है। बालकों एवं वृद्ध पुरुषों में विशेष रूप से मृदु द्रव्यों की निरूह बस्ति देनी चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'निरूहेत्यादि' के द्वारा यहाँ वय भेद से निरूह बस्ति की मात्रा को स्पष्ट किया गया है।

आद्ये वर्षे बालस्य पलमाने निरूहे क्वाथादियथोक्तमानानुसारेण वक्तव्यम्– एक वर्ष तक के बालक को १ पल (४ तोले) मात्रा में क्वाथ आदि द्रव्यों की निरूह बस्ति देनी चाहिए। इसके बाद प्रतिवर्ष बारह वर्ष तक यह मात्रा **आधी प्रसृत** (१ पल) बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार बारहवें वर्ष में यह मात्रा छः प्रसृत होती है। बारह वर्ष के बाद से लेकर अट्ठारह वर्ष तक प्रति वर्ष एक-एक प्रसृत मात्रा बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार १८ वर्ष वाले पुरुष में निरूह की मात्रा १२ प्रसृत पूर्ण होती है। १२ प्रसृत मात्रा निरूह बस्ति की अधिकतम मात्रा है। **'द्वादशतः परं स्युः' इति–** १२ प्रसृत से अधिक मात्रा में निरूह बस्ति देने पर यह उपद्रवों को उत्पन्न करती है, अर्थात् हानिकारक प्रभाव डालती है। कुछ आचार्य इस मात्रा का निषेध (खण्डन) करते हैं, यथा– आचार्य हारीत यह मात्रा अर्ध आढक (२ प्रस्थ) स्वीकार करते हैं। अर्थात् निरूह बस्ति की अधिकतम मात्रा २ प्रस्थ (१२८ तोले) स्वीकार करते हैं ("अर्धाढकं परमतमं प्रमाणम्") सुश्रुतसंहिता में भी कहा गया है, यथा– "द्वादशप्रसृतं केचित् त्रिंशत्पलमथाऽपरे" इत्यादि [कुछ आचार्य निरूहबस्ति की अधिकतम मात्रा १२ प्रसृत स्वीकार करते हैं तथा दूसरे ३० पल स्वीकार करते हैं। १२ प्रसृत = ९६ तोले, ३० पल = १२० तोले।]

१२ प्रसृत की यह मात्रा १८ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक के व्यक्ति के लिए बतायी गयी है।

आसप्ततेस्तदिति– १२ प्रसृत की यह मात्रा तब तक होती है जब तक व्यक्ति ७० वर्ष तक का न हो जाय। **षोडशवदिति–** १६ वर्ष वाले व्यक्ति की तरह, १६ वर्ष वाले व्यक्ति में निरूह बस्ति की जो मात्रा दी जाती है वही मात्रा ७० वर्ष से अधिक आयु वाले वृद्ध पुरुष के लिए निर्धारित की गयी है, अर्थात् **१० प्रसृत** मात्रा का प्रयोग करना चाहिए।

बाल व वृद्ध की निर्दिष्ट मात्राओं का उल्लेख करने के बाद निरूह बस्ति की अन्य विशेषताओं को यहाँ– 'निरूहमात्रेत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। बालक व वृद्ध पुरुष को निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार **निरूह बस्ति** का प्रयोग करना चाहिए, लेकिन उन दोनों में ही विशेष रूप से मृदु द्रव्यों द्वारा निर्मित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। तीक्ष्ण व मृदु बस्ति निर्माण की विधि का वर्णन आगे किया जायेगा, यथा– "तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः। प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा" (सि.अ. ७/६३) इति [गोमूत्र, पीलु, चित्रक, सैन्धव लवण, यवक्षार व सरसों के कल्क से तैयार की गयी बस्ति तीक्ष्ण होती है। जो बस्ति दुग्ध मधुर व शीत वीर्य वाले द्रव्यों से तैयार की जाती है वह मृदु होती है। अर्थात् मृदु बस्ति में गोमूत्र, आदि उष्ण द्रव्यों का प्रयोग नहीं किया जाता। ॥३१-३२॥

विशेष (Comments)– १ वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक के व्यक्ति में दी जाने वाली निरूह बस्ति की अधिकतम (परं) मात्रा का निर्देश इस प्रकार किया जा रहा है–

१. एक वर्ष से प्रारम्भ करके बारह वर्ष तक के व्यक्ति में प्रतिवर्ष अर्ध प्रसृत मात्रा बढ़ाते हैं तथा प्रारम्भ अर्ध प्रसृत से करते हैं, यथा–

उम्र वर्ष में	निरूह की मात्रा प्रसृत में	उम्र वर्ष में	निरूह की मात्रा प्रसृत में
१	½ प्रसृत	१३	७ प्रसृत
२	१ प्रसृत	१४	८ प्रसृत
३	१½ प्रसृत	१५	९ प्रसृत
४	२ प्रसृत	१६	१० प्रसृत
५	२½ प्रसृत	१७	११ प्रसृत
६	३ प्रसृत	१८	१२ प्रसृत
७	३½ प्रसृत		
८	४ प्रसृत		
९	४½ प्रसृत		
१०	५ प्रसृत		
११	५½ प्रसृत		
१२	६ प्रसृत		

अर्धप्रसृत मात्रा प्रति वर्ष बढ़ते हुए क्रम में

१ प्रसृत = ८ तोले
१ पल = ४ तोले

(क) १२ वर्ष से लेकर १८ वर्ष तक प्रतिवर्ष एक प्रसृत के बढ़ते क्रम में

(ख) १८ वर्ष से लेकर ७० वर्ष तक निरूह की मात्रा १२ प्रसृत ही निश्चित की गयी है।

(ग) ७० वर्ष से आगे के व्यक्ति की निरूह मात्रा– १० प्रसृत होती है।

Scanned by CamScanner

नात्युच्छ्रितं नाप्यतिनीचपादं सपादपीठं शयनं प्रशस्तम् ।।३३।।
प्रधानमृद्वास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम् ।

वस्ति के बाद सोने की विधि– निरूह वस्ति देने के बाद रोगी के शयन हेतु बनी तख्त (चौकी) ज्यादा ऊँची अथवा ज्यादा नीची नहीं होनी चाहिए। तख्त के नीचे एक पीढ़ा (पादपीठ) रखें, जिसके सहारे रोगी तख्त (Bed) पर चढ़े या बैठे। तख्त के ऊपर का विस्तर मुलायम, चौड़ा व लम्बा होना चाहिए। सिर पूरब दिशा की ओर रखें। विस्तरे के ऊपर साफ सुथरी सफेद रंग की चादर बिछी होनी चाहिए।

चक्रपाणि– यहाँ 'शयने विधिः कः' प्रश्न का उत्तर 'नात्युच्छ्रितमित्यादि' के द्वारा दिया गया है। पूर्व में आतुर के शयन की जो विधि बतायी गयी है, वह निरूह बस्ति देने की विधि है। अर्थात् रोगी के तात्कालिक शयन की व्यवस्था है। लेकिन यहाँ बाद में रोगी कैसे लेटे, इसे बताया गया है। अर्थात् उत्तरकालिक व्यवस्था है, यही दोनों में विशेष है।

प्रधानं महन्मृदु चास्तरणं प्रधानमृद्वास्तरणम्– प्रधान (बड़ा) व मृदु (मुलायम) आस्तरण (बिछौने) को **प्रधानमृद्वास्तरण** नाम दिया गया है। अर्थात् तख्त (Bed) पर बिछने वाला विस्तरा बड़ा व मुलायम होना चाहिए।

प्राक्शीर्षकं इति– बिस्तर का सिरहाना पूर्व दिशा में होना चाहिए। कहा भी गया है, यथा– **"प्राच्यां दिशि स्थिता देवास्तत्पूजार्थं च प्राक्शिराः"** (सु.सू.अ. १९/६) इति [पूर्व दिशा में देवताओं का निवास होता है। अतः उनकी पूजा हेतु अथवा सत्कार करने के लिए रोगी का सिर पूर्व दिशा में रखते हैं।] ।।३३।।

भोज्यं पुनर्व्याधिमवेक्ष्य तद्वत् प्रकल्पयेद्यूषपयोरसाद्यैः ।।३४।।
सर्वेषु विद्याद्विधिमेतमाद्यं वक्ष्यामि बस्तीनत उत्तरीयान् ।

निरूह बस्ति के पश्चात् भोजन देने की विधि– व्याधि की अवस्थाओं का विचार करके तदनुसार यूष, दूध व मांसरस आदि के साथ साठी या शाली चावल के भात का सेवन कराना चाहिए। सभी प्रकार के रोगियों में निरूह बस्ति के बाद भोजन देने की यही विधि है। अब आगे कुछ श्रेष्ठ निरूह बस्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

चक्रपाणि– यूषादि आहार द्रव्यों के सेवन का क्रम इस प्रकार है– कफ की वृद्धि में यूष व भात, पित्त की अधिकता में गोदुग्ध व भात तथा वात की अधिकता में मांसरस व भात का सेवन करना चाहिए। अथवा अग्निबल का विचार करते हुए जो आहार रोगी के लिए हितकर हो उसका प्रयोग करना चाहिए। सामान्यतया निर्दिष्ट आहार विधि का सेवन निरूहोत्तर सभी रोगियों में करणीय है, जिसे यहाँ 'सर्वेष्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। एतदाद्यमिति प्रधानम् – मुख्य रूप से इसी विधान का पालन किया जाता है।

औत्सर्गिकमिति यावत्– सामान्य अवस्था में यही आहार विधान पालनीय है। विशेष विधान तो अपवाद रूप में होता है, जिसे आगे बताया जायेगा। ।।३४।।

द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः सच्छागमांसस्य सपूर्वपेष्यः ।।३५।।
त्रिस्नेहयुक्तः प्रवरो निरूहः सर्वानिलव्याधिहरः प्रदिष्टः । स्थिरादिवर्गस्य बलापटोलत्रायन्तिकैरण्डयवैर्युतस्य ।।३६।।
प्रस्थो रसाच्छागरसार्धयुक्तः साध्यः पुनः प्रस्थसमस्तु यावत् । प्रियङ्गुकृष्णाघनकल्कयुक्तः सतैलसर्पिर्मधुसैन्धवश्च ।।३७।।
स्याद्दीपनो मांसबलप्रदश्च चक्षुर्बलं चापि ददाति बस्तिः । एरण्डमूलं त्रिपलं पलाशा ह्रस्वानि मूलानि च यानि पञ्च ।।३८।।
रास्नाश्वगन्धातिबलागुडूचीपुनर्नवावारग्वधदेवदारु । भागाः पलांशा मदनाष्टयुक्ता जलद्विकंसे क्वथितेऽष्टशेषे ।।३९।।
पेष्याः शताद्धा हपुषा प्रियङ्गुः सर्पिष्पलीकं मधुकं बला च । रसाञ्जनं वत्सकबीजमुस्तं भागाक्षमात्रं लवणांशयुक्तम् ।।४०।।
समाक्षिकस्तैलयुतः समूत्रो बस्तिर्नृणां दीपनलेखनीयः । जङ्घोरुपादत्रिकपृष्ठशूलं कफावृतिं मारुतनिग्रहं च ।।४१।।
विण्मूत्रवातग्रहणं सशूलमाध्मानतामश्मरिशर्करे च । आनाहमर्शोग्रहणीप्रदोषानेरण्डबस्तिः शमयेत् प्रयुक्तः ।।४२।।
चतुष्पले तैलघृतस्य भृष्टाच्छागाच्छतार्धो दधिदाडिमाम्लः । रसः सपेष्यो बलमांसवर्णरितोग्रिदश्चान्व्यशिरोर्तिशस्तः ।।४३।।
जलद्विकंसेऽष्टपलं पलाशात् पक्त्वा रसोऽर्धाढकमात्रशेषः । कल्कैर्वचामागधिकापलाभ्यां युक्तः शताद्धाद्विपलेन चापि ।।४४।।
ससैन्धवः क्षौद्रयुतः सतैलो देयो निरूहो बलवर्णकारी । आनाहपार्श्वामययोनिदोषान् गुल्मानुदावर्तरुजं च हन्यात् ।।४५।।

कुछ श्रेष्ठ निरूह बस्तियों का वर्णन

(क) वातनाशक निरूह बस्तियाँ–

१. दशमूलादिनिरूहबस्ति– दशमूल के द्रव्य– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कण्टकारी, कण्टकारी (छोटी कण्टकारी) व गोखरू; इनके समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) में अम्ल काञ्जी, बकरे का मांसरस तथा पूर्व श्लोक नं. १३ में पठित कल्क द्रव्यों के कल्क, घृत, तैल व वसा के मिलाने से बनी हुई निरूह बस्ति सभी प्रकार के वात व्याधियों को दूर करने में श्रेष्ठ होती है।

Scanned by CamScanner

२. स्थिरादिनिरूहबस्ति– स्थिरादि वर्ग के द्रव्य [यथा– शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कण्टकारी), कण्टकारी (छोटी कण्टकारी) व गोखरू], नलामूल, पटोलपत्र (परवल की पत्ती), त्रायन्ती (त्रायमाणा), एरण्डमूल एवं यव से निर्मित क्वाथ १ प्रस्थ, बकरे का मांस रस $^{1}/_{2}$ प्रस्थ लें। क्वाथ व मांसरस को आपस में मिलाकर पकावें। जब पककर एक प्रस्थ शेष रह जाय तब उसे अग्नि पर से उतार लें। अब इस मांसरस मिश्रित क्वाथ में प्रियंगु, पिप्पली, नागरमुस्तक के कल्क को मिलावें, तत्पश्चात् उसमें तैल, घृत, मधु व सैन्धव नमक निर्दिष्ट मान के अनुसार मिलाकर **निरूह बस्ति** तैयार करें। यह निरूह बस्ति अग्निवर्धक, मांसवर्धक, बलवर्धक तथा चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकर) होती है। अर्थात् इस बस्ति के प्रयोग से जाठराग्नि प्रदीप्त होती है, व्यक्ति के बल व मांस की वृद्धि होती है, साथ में नेत्रों की ज्योति बढ़ती है।

३. एरण्डमूलादिनिरूहबस्ति– (क) क्वाथ्य द्रव्य– एरण्डमूल – ३ पल, पलाश – १ पल, लघु पञ्चमूल के द्रव्य - (शालपर्णी – १ पल, पृश्निपर्णी – १ पल, बड़ी कण्टकारी – १ पल, छोटी कण्टकारी – १ पल, गोखरू – १ पल), रास्ना – १ पल, अश्वगंधा – १ पल, अतिबला – १ पल, गुडूची – १ पल, पुनर्नवा – १ पल, आरग्वध – १ पल, देवदारु – १ पल, मदनफल संख्या – ८; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर २ कंस (१६ प्रस्थ) जल में क्वाथ बनावें, अर्थात् पकावें। पकाते-पकाते $^{1}/_{4}$ भाग द्रव शेष रखें। अर्थात् क्वाथ (द्रव) जब दो प्रस्थ शेष बचे तब अग्नि पर से उतार कर उसे छान लें।

(ख) कल्क द्रव्य– सौंफ, हाऊबेर, प्रियङ्गु, पिप्पली, यष्टीमधु, बला, रसाञ्जन (रसवत), इन्द्रयव व नागरमुस्तक; प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष लेकर कल्क बना लें।

(ग) निर्माण विधि– सर्वप्रथम क्वाथ (२ प्रस्थ) में कल्क द्रव्यों को मिलावें तथा उसमें निर्धारित विधि के अनुसार सैन्धव नमक, मधु, तैल व गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति तैयार करें।

उपयोग– यह बस्ति दीपन व लेखन गुण दर्शाती है। अर्थात् जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है तथा धातुओं का शोषण करती है। इस बस्ति के प्रयोग से जंघा (Calf region), ऊरु (thighs), पाद (feet), कटि (Lumber region) तथा पृष्ठ (पीठ- Back) में होने वाली वेदना दूर हो जाती है। कफ के आवरण अथवा वायु के अवरोध को यह बस्ति दूर कर देती है। शूल के साथ होने वाले मल, मूत्र एवं वायु के अवरोध को यह बस्ति दूर करती है। इसके साथ ही आध्मान (Tympanitis), अश्मरी (Stone in the urinary tract), शर्करा, आनाह (constipation), अर्श (Piles) तथा ग्रहणी रोग (Sprue syndrome) दूर हो जाते हैं। अर्थात् एरण्डमूलादि निरूह बस्ति के प्रयोग से निर्दिष्ट व्याधियों का प्रशमन हो जाता है।

४. मांसरसबस्ति– विधिपूर्वक निर्मित बकरे का मांसरस – ५० पल लेकर उसे ४ पल तैल व घृत से भून लें। इस मांसरस में दही व खट्टे अनार का रस मिला दें। [दही अथवा दाडिमरस का प्रयोग मांसरस को खट्टा बनाने के लिए किया जाता है।] अन्त में इसमें बला आदि द्रव्यों के कल्क को मिलाकर बस्ति तैयार कर लें।

इस निरूह बस्ति के प्रयोग से रोगी के बल (Strength), मांस, वर्ण (Complexion), रेत (शुक्र) व अग्नि (Power of digestion) की वृद्धि होती है, नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, इसके साथ-साथ शिरशूल (Headache) में भी अत्यन्त लाभकर है।

५. पलाश – ८ पल, जल – २ कंस (१६ प्रस्थ) । पलाश को विधिवत कूट लें एवं उसमें १६ प्रस्थ जल मिलाकर पकावें। जब द्रव अर्ध आढ़क (२ प्रस्थ) शेष बचे तब उसे अग्नि पर से उतार कर छान लें। इस छने हुए क्वाथ में वचा चूर्ण – १ पल, पिप्पली चूर्ण – १ पल तथा सौंफ चूर्ण – २ पल का प्रयोग कल्क के रूप में करें। अर्थात् क्वाथ में इन द्रव्यों के चूर्ण को मिला दें। इस कल्क मिश्रित क्वाथ में निर्धारित मात्रा में सैन्धव नमक, मधु व तैल मिलाकर निरूह बस्ति तैयार कर लें।

इस निरूह बस्ति के प्रयोग से रोगी के बल व वर्ण की वृद्धि होती है। यह बस्ति आनाह (Constipation), पार्श्वशूल (Pain in the sides of the chest), योनिरोग, गुल्म (Phantom tumour) एवं उदावर्त रोग को दूर करती है।

चक्रपाणि– 'के बस्तय' इत्यादि प्रश्न के उत्तर को – 'द्विपञ्चमूलस्येत्यादि' के द्वारा दिया गया है। **अत्र मांसं दशमूलसमम्–** यहाँ मांस को दशमूल के साथ ही पकाना चाहिए। रस से यहाँ क्वाथ अर्थ लिया गया है। यहाँ दशमूल के द्रव्य व मांस को जल के साथ पकाकर क्वाथ तैयार करने का निर्देश दिया गया है। अम्लं = काञ्जिकादि, अम्ल से खट्टी काञ्जी या खट्टे अनार के रस का ग्रहण किया गया है। **सपूर्वपेष्य इति–** बला, गुडूची, हरीतकी, विभीतकी, आमलकी, रास्ना, बिल्व, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू के कल्क का प्रयोग करें। [यहाँ 'सपूर्वपेष्य' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अभिप्राय पूर्व के योग में वर्णित कल्क द्रव्यों का यहाँ भी प्रयोग करना चाहिए, अर्थ होगा। इस आधार पर - 'यवानीफलबिल्वकुष्ठवचाशताह्वाघनपिप्पलीनाम्' (अजवाइन, मदनफल पिप्पली, बिल्व, वचा, सौंफ, नागरमुस्तक एवं पिप्पली – प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बनावें।) का प्रयोग कल्क के रूप में ग्रहण करना ज्यादा उपयुक्त होगा।]

Scanned by CamScanner

त्रिस्नेह युक्त इति– इससे घृत, तैल व वसा का ग्रहण किया गया है। यह ध्यान रखने की बात है कि सभी बस्तियों में मज्जा को छोड़कर शेष तीन स्नेहों (घृत, तैल व वसा) का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् त्रिविध स्नेह से इन्हीं तीन का ग्रहण किया गया है। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "विज्ञेयः त्रिविधः स्नेहो बस्त्यर्थं मज्जवर्जितः" इति [बस्ति में प्रयोग हेतु तीन प्रकार के स्नेहों में मज्जा का ग्रहण नहीं किया गया है, अर्थात् त्रिविध स्नेह से घृत, तैल व वसा का ही ग्रहण करें।]

स्थिरादिवर्गस्येत्यादौ मधुसैन्धवे यद्यपि सामान्येनोक्तबस्तिविधानलब्धे– स्थिरादि निरूह बस्ति के क्रम में सामान्य कथन से ही मधु व सैन्धव नमक की मात्रा कितनी डालनी चाहिए, का भाव प्राप्त हो जाता है फिर भी यहाँ तैलादि का निर्देश होना अप्रकर्षार्थ किया गया है। अर्थात् इनका प्रयोग अधिक न हो जाय, इसलिए किया गया है। अथवा सामान्य विधि के स्मरण हेतु यहाँ उसका पुनः अभिधान किया गया है। अर्थात् व्यक्ति तैल आदि का प्रयोग भूल न जाय, इसलिये उसके स्मरणार्थ पुनः अभिधान किया गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी सामान्य विधि के पुनः कथन की व्याख्या करनी चाहिए। अर्थात् सामान्य निर्देश का पुनः अभिधान होना चिकित्सक के या पाठक के स्मरणार्थ किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। **एरण्डमूलादि** निरूहबस्ति के घटक द्रव्यों में 'पलाशा' से **शटी** (कचूर) अर्थ लिया गया है। **ह्रस्वानि मूलानीति–** इससे लघु पञ्चमूल (स्थिरादि पञ्चमूल) के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू, इन पाँच द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। कंस से आढ़क अर्थ लिया गया है। **भागाक्षमात्रमिति भागेनाक्षमात्रम्–** १-१ कर्ष (१-१ तोले) मात्रा में शताह्वा (सौंफ), हपुषा, प्रियङ्गु आदि द्रव्यों के कल्क का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् हपुषा आदि द्रव्य पृथक्-पृथक् १-१ तोले मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

छागाच्छतार्ध इति– बकरे का मांसरस – ५० पल (२०० तोले)। सपेष्य इति – बलादि द्रव्यों के कल्क (श्लोक नं.१३ में वर्णित द्रव्यों के कल्क) का ग्रहण करें। [व्यवहारतः श्लोक नं.१४ में वर्णित अजवाइन आदि कल्क द्रव्यों को लेकर इसमें मिलाना चाहिए।] ॥३५-४५॥

विशेष (Comments)– चरकसंहिता के मान के अनुसार १ कंस = २ आढ़क (A particular measure - two Adhakas)। जबकि आचार्य चक्रपाणि ने यहाँ १ कंस से १ आढ़क अर्थ लिया है।

यष्ट्याह्वयस्याष्टपलेन सिद्धं पयः शताह्वाफलपिप्पलीभिः। युक्तं ससर्पिर्मधु वातरक्तवैस्वर्यवीसर्पहितो निरूहः ॥४६॥
यष्ट्याह्वलोध्राभयचन्दनैश्च शृतं पयोऽप्यं कमलोत्पलैश्च। सशर्करं क्षौद्रयुतं सुशीतं पित्तामयान् हन्ति सजीवनीयम् ॥४७॥
द्विकार्षिकाश्चन्दनपद्मकर्धियष्ट्याह्वरास्नावृषसारिवाश्च। सलोध्रमञ्जिष्ठमथाप्यनन्तावलास्थिरादितृणपञ्चमूलम् ॥४८॥
तोये समुत्काथ्य रसेन तेन शृतं पयोऽर्धाढकमम्बुहीनम्। जीवन्तिमेदर्धिशतावरीभिर्वीराद्विकाकोलिकशेरुकाभिः ॥४९॥
सितोपलाजीवकपद्मरेणुप्रपौण्डरीकैः कमलोत्पलैश्च। लोध्रात्मगुप्तामधुकैर्विदारीमुञ्जातकैः केशरचन्दनैश्च ॥५०॥
पिष्टैर्घृतक्षौद्रयुतैर्निरूहं ससैन्धवं शीतलमेव दद्यात्। प्रत्यागते धन्वरसेन शालीन् क्षीरेण वाऽद्यात् परिषिक्तगात्रः ॥५१॥
दाहातिसारप्रदरास्रपित्तहृत्पाण्डुरोगान् विषमज्वरं च। सगुल्ममूत्रग्रहकामलादीन् सर्वामयान् पित्तकृतान्निहन्ति ॥५२॥
द्राक्षादिकाश्मर्यगधूकसेव्यैः ससारिवाचन्दनशीतपाक्यैः। पयः शृतं श्रावणिमुद्गपर्णीतुगात्मगुप्तामधुयष्टिकल्कैः ॥५३॥
गोधूमचूर्णैश्च तथाऽक्षमात्रैः सक्षौद्रसर्पिर्मधुयष्टितैलैः। पथ्याविदारीक्षुरसैर्गुडेन बस्तिं युतं पित्तहरं विदध्यात् ॥५४॥
हन्त्राभिपार्श्वोत्तमदेहदाहे दाहेऽन्तरस्थे च सकृच्छ्रमूत्रे। क्षीणे क्षते रेतसि चापि नष्टे पैत्तेऽतिसारे च नृणां प्रशस्तः ॥५५॥

(ख) पित्तनाशक निरूह बस्तियाँ–

१. यष्ट्याह्वनिरूहबस्ति– यष्टीमधु – ८ पल व गोदुग्ध ८ पल लेकर चार गुने जल में विधिपूर्वक पकावें। अर्थात् यष्टीमधु को यवकुट करके उसमें ८ पल गोदुग्ध तथा ६४ पल जल मिलाकर विधिपूर्वक पकावें। जब द्रव चतुर्थांश शेष रह जाय तब पात्र को अग्नि पर से उतार कर क्वाथ को छान लें। इस छने हुए क्वाथ में सौंफ, मदनफल पिप्पली एवं पिप्पली का कल्क मिला लें। अन्त में नियमानुसार घृत व मधु मिलाकर बस्ति तैयार कर लें। इस निरूह बस्ति का प्रयोग वातरक्त (Gout), वैस्वर्य (स्वरभेद Hoarseness of the voice) तथा विसर्प के रोगियों में करने से अत्यन्त लाभ मिलता है।

२. यष्टीमधु (मुलेठी), लोध्र, अभय (उशीर = खश), लालचन्दन, लालकमल तथा नीलकमल; के कल्क से गोदुग्ध को सिद्ध कर लें। इस कल्क साधित क्षीर में शर्करा, मधु, घृत एवं जीवनीय गण की औषधियों का कल्क उचित मात्रा में मिलाकर निरूह बस्ति तैयार करें। इस निरूह बस्ति का प्रयोग ठण्डा करके करना चाहिए तथा यह गुणों में भी शीत होती है। इसके प्रयोग से सभी पित्तजन्य व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

[जीवनीय गण के द्रव्य – जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु; ये दस द्रव्य जीवनीय महाकषाय के अन्तर्गत आते हैं।– जीवकर्षभकौ मेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोली, मुद्गपर्णीमाषपर्ण्यौ जीवन्तीमधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्ति]

Scanned by CamScanner

३. चन्दनादिनिरूहबस्ति– लालचन्दन, पद्मकाठ, ऋद्धि, यष्टीमधु (मुलेठी), रास्ना, वासा (अडूसा), सरिवा, लोध्र, मञ्जिष्ठा, अनन्ता, बला, स्थिरादि पञ्चमूल [शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी) एवं गोखरू), तृण पञ्चमूल [(१. सरपत का मूल – पतलो का मूल), २. इक्षुमूल (गन्ने की जड़), ३. दर्भ (डाभ), ४. कासमूल, ५. शालि धान का मूल; इन्हें तृणपञ्चमूल कहते हैं।] प्रत्येक द्रव्य २-२ कर्ष (तोला) लेकर आठ गुने जल में क्वाथ बनावें। चतुर्थांश द्रव अवशेष बचने पर क्वाथ को छान कर पृथक् कर लें। इस छने हुए क्वाथ में आधा आढ़क गोदुग्ध डालकर पकावें, जब दुग्ध मात्र शेष बचे तब इसे अग्नि पर से उतार दें। इस क्वाथ साधित दूध में – जीवन्ती, मेदा, ऋद्धि, शतावरी, क्षीरविदारी, काकोली, क्षीरकाकोली, कशेरू, मिश्री, जीवक, पद्मपराग, पुण्डरीया काठ, कमल (लालकमल), उत्पल (नीलकमल), लोध्र, कौंचबीज, यष्टीमधु (मुलेठी), विदारीकन्द, मुञ्जातक, नागकेशर एवं चन्दन; के समभाग से निर्मित कल्क को मिला दें। इसके साथ ही इसमें घृत, मधु व सैन्धव नमक भी आवश्यकतानुसार मिलावें। बस्ति द्रव्यों (क्वाथ विशेष) के ठण्ढा हो जाने पर इस निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। जब दी हुई निरूह बस्ति गुदा से वापस आ जाय तब रोगी को स्नान कराकर भोजन के रूप में जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ साठी चावल का भात अथवा दूध-भात का सेवन करावें।

उपयोग– चन्दनादिनिरूहबस्ति का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए–

१. दाह (Burning sensation)
२. अतिसार (diarrhoea)
३. प्रदर (अत्यधिक मासिक स्राव का आना)
४. रक्तपित्त
५. हृद्रोग (Heart diseases)
६. पाण्डुरोग (Anaemia)
७. विषम ज्वर (Irregular fever)
८. गुल्म (Phantom tumour)
९. मूत्रग्रह (Anuria)
१०. कामला (Jaundice)
११. अन्य पित्तज व्याधियाँ

चन्दनादिनिरूहबस्ति के प्रयोग से उपरोक्त व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

४. द्राक्षादि निरूह बस्ति– द्राक्षा (मुनक्का), ऋद्धि, काश्मर्य (गम्भारी का फल), मधूक (महुआ), सेव्य (खश), सारिवा (अनन्तमूल), चन्दन (लालचन्दन) तथा शीतपाक्य (शीतलचीनी); इन द्रव्यों के कल्क से गोदुग्ध को विधिपूर्वक सिद्ध करें। कल्क साधित गोदुग्ध में अधोलिखित द्रव्यों के १-१ कर्ष (अक्ष) से निर्मित कल्क को मिला दें– श्रावणिका (गोरखमुण्डी), आत्मगुप्ता (केंवाच बीज), यष्टीमधु (मुलेठी) व गेहूँ का चूर्ण। अब इस कल्क मिश्रित दूध में मधु, घृत, यष्टीमधु साधित तैल (यष्टीमधु तैल), विदारीकन्द स्वरस, इक्षु स्वरस तथा गुड़ उचित मात्रा में मिलाकर निरूह बस्ति को तैयार कर लें। यह निरूह बस्ति पित्तनाशक होती है।

उपयोग– इसका प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए–

१. हृदय, नाभि, पार्श्व, उदर व शरीर में दाह होने पर।
२. शरीर के आन्तरिक भागों में दाह होने पर।
३. कष्ट के साथ मूत्र त्याग की अवस्था में।
४. क्षीण रोगी (Consumption)
५. क्षत रोगी (राजयक्ष्मा का रोगी)
६. शुक्र क्षय में (Loss of semen)
७. पित्तातिसार की अवस्था में

} इन व्याधियों में द्राक्षादि निरूह बस्ति का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक होता है।

चक्रपाणि– 'यष्ट्याह्वयस्येत्यादि' के द्वारा चार पित्तनाशक निरूह बस्तियों का वर्णन यहाँ किया गया है।

पूर्व में पाँच निरूह बस्तियाँ– (१. दशमूलादि, २. स्थिरादि, ३. एरण्डमूलादि, ४. मांसरसबस्ति, ५. पलाश बस्ति) वातनाशक बतायी गयी हैं। अर्थात् वातव्याधि नाशक होती हैं।

अत्र पयः साधनं क्षीरपाकपरिभाषयैव– यहाँ दूध को सिद्ध करने की विधि क्षीरपाक परिभाषा के अनुसार है, ऐसा समझना चाहिए। 'यष्ट्याह्वलोध्र' इति से लेकर 'सजीवनीयम्' तक एक निरूह बस्ति के योग को बताया गया है। अर्थात् श्लोक नं. ४६ में प्रथम योग, श्लोक नं. ४७ में द्वितीय योग का वर्णन किया गया है। योग नं. २ में जीवनीय गण की औषधियों का प्रयोग कल्क के रूप में किया गया है।

Scanned by CamScanner

सुशीतं इति– निरूह बस्ति के द्रव्यों का प्रयोग शीतल करके करना चाहिए, अर्थात् पित्तज व्याधियों में शीतल निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए; यह निर्देश सामान्यतया **मृदु कोष्ठ एवं पित्त की वृद्धि** को ध्यान में रखते हुए दिया गया है, अर्थात् पित्त की वृद्धि में शीतल क्रियाएं लाभकारी होती हैं। औत्सर्गिक = सहज या सामान्यतया। अनन्ता = उत्पल सरिवा। तृणपञ्चमूल का वर्णन– "शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च" च.चि.अ. १ पाठ १) [शर (सरकंडा) मूल, इक्षुमूल (ईख की जड़), दर्भमूल (कुश की जड़), काश की जड, एवं शाली धान की जड़; इन पाँच के मूल को तृणपञ्चमूल कहा जाता है।] के द्वारा बताया गया है। **अम्बुहीनमिति क्षीरावशेषपर्यन्तं श्रृतम् –** क्वाथ में अर्ध आढ़क गोदुग्ध मिलाकर अग्नि पर पकावें जब मात्र गोदुग्ध शेष बचे तब पात्र को अग्नि पर से उतार कर क्वाथ साधित गोदुग्ध को छननी से छानकर अलग कर लें। **राजकशेरुः कशेरुरेव–** यह भी कसेरू ही होता है। [कसेरू दो प्रकार का होता है– १. बड़ा कसेरू, २. छोटा कसेरू। बड़े कसेरू को **राजकसेरुक** कहते हैं तथा छोटा कसेरू को **'चिचोद'** कहते हैं।– "कसेरु द्विविधं तत्तु महद्राजकसेरुकम् । मुस्ताकृति लघु स्यात्तच्चिचोढमिति स्मृतम्"– भावप्रकाश निघण्टु शाकवर्ग]

ससैन्यवमिति– ईषद् सैन्धवम्– अल्प मात्रा में सैन्धव नमक मिलाना।

ससारिवेत्यादौ शीतपाकी शीतली– द्राक्षादि निरूह बस्ति के कल्क द्रव्यों में वर्णित शीतपाकी से शीतलचीनी अर्थ लिया गया है। मधुयष्टितैलं मधुयष्टिसाधितं तैलम्– मुलेठी के क्वाथ व कल्क द्वारा साधित तैल को 'मधुयष्टि तैल' कहा गया है। उत्तमदेहः उत्तमदेह– शरीर का उत्तम भाग अर्थात् सिर (Head)।

कोषातकारग्वधदेवदारुशार्ङ्गेष्टमूर्वाकुटजार्कपाठाः । पक्त्वा कुलत्थान् बृहतीं च तोये रसस्य तस्य प्रसृता दश स्युः ।।५६।।
तान् सर्षपैलामदनैः सकुष्ठैरक्षप्रमाणैः प्रसृतैश्च युक्तान् । फलाह्वतैलस्य समाक्षिकस्य क्षारस्य तैलस्य च सार्षपस्य ।।५७।।
दद्यान्निरूहं कफरोगिणे ज्ञो मन्दाग्नये चाप्यशनद्विषे च । पटोलपथ्यामरदारुभिर्वा सपिप्पलीकैः क्वथितैर्जलेऽग्नौ ।।५८।।
द्विपञ्चमूले त्रिफलां सबिल्वां फलानि गोमूत्रयुतः कषायः । कलिङ्गपाठाफलमुस्तकल्कः ससैन्धवः क्षारयुतः रातैलः ।।५९।।
निरूहमुख्यः कफजान् विकारान् सपाण्डुरोगालसकामदोषान् । हन्यात्तथा मारुतमूत्रसङ्गं बस्तेस्तथाऽऽटोपमथापि घोरम् ।।६०।।
रास्नामृतैरण्डविडङ्गदार्वीसप्तच्छदोशीरसुराह्वनिम्बैः । शग्याकभूनिम्बपटोलपाठातिक्ताखुपर्णीदिशमूलमुस्तैः ।।६१।।
त्रायन्तिकाशिग्रुफलत्रिकैश्च क्वाथः सपिण्डीतकतोयमूत्रः । यष्ट्याह्वकृष्णाफलिनीशताह्वारसाञ्जनश्वेतवचाविडङ्गैः ।।६२।।
कलिङ्गपाठाम्बुदसैन्यवैश्च कल्कैः ससर्पिर्मधुतैलमिश्रः । अयं निरूहः क्रिमिकुष्ठमेहव्रध्नोदराजीर्णकफातुरेभ्यः ।।६३।।
रूक्षौषधैरप्यपतर्पितेभ्य एतेषु रोगेष्वपि सत्सु दत्तः । निहत्य वातं ज्वलनं प्रदीप्य विजित्य रोगांश्च बलं करोति ।।६४।।

(ग) कफनाशक निरूहबस्तियाँ–

१. कोषातक्यादि निरूहबस्ति– (क) क्वाथ्य द्रव्य– कोषातकी फल, अमलतास की गुद्दी, देवदारु, शार्ङ्गेष्टा (गुञ्जा), मूर्वा, कुटज, अर्क (मदार के मूल का छिलका), पाठा, कुलत्थी, बृहती (बड़ी कण्टकारी); प्रत्येक द्रव्य २-२ पल मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। अब यवकुट किये गये क्वाथ्य द्रव्य को ८ गुने जल के साथ क्वाथ बनावें। अष्टमांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को महीन कपड़े से छानकर पृथक् पात्र में रख लें। इस प्रकार क्वाथ की मात्रा १० प्रसृत (८० तोले) होनी चाहिए।

(ख) कल्क द्रव्य– सरसो, छोटी इलायची, मदनफलपिप्पली तथा कूठ; प्रत्येक द्रव्य १-१ तोले मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

(ग) निर्माण विधि– अब क्वाथ में कल्क को मिला लें। पश्चात् इसमें मदनफल साधित तैल २ पल, मधु– १ प्रसृत, यवक्षार– १ प्रसृत व सरसो का तैल १ प्रसृत मिलाकर अच्छी प्रकार से मथानी से मथ कर निरूह बस्ति तैयार कर लें।

उपयोग– बुद्धिमान पुरुष को इस बस्ति का प्रयोग कफज रोगों, मन्दाग्नि वाले रोगी अथवा भोजन से द्वेष करने वाले व्यक्तियों में करना चाहिए।

२. पटोलादिनिरूहबस्ति– घटक द्रव्य–

१. क्वाथ्य द्रव्य– पटोलपत्र, हरीतकी, देवदारु एवं पिप्पली; सभी द्रव्य समान मात्रा में लेकर आठ गुने जल के साथ क्वाथ बनावें। अष्टमांश द्रव अवशेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें। इस प्रकार क्वाथ की मात्रा १० प्रसृत होनी चाहिए।

२. कल्क द्रव्य– सरसो, छोटी इलायची, मदनफल पिप्पली एवं कूठ सभी द्रव्यों को अलग-अलग १-१ तोला लेकर कल्क बना लें।

३. अन्य द्रव्य– (क) मदनफलपिप्पली कल्क साधित तैल – १ प्रसृत
(ख) मधु – १ प्रसृत

Scanned by CamScanner

(ग) यवक्षार – १ प्रसृत

(घ) सरसो का तैल – १ प्रसृत

४. **निर्माण विधि–** सर्वप्रथम क्वाथ व कल्क को आपस में मिला दें, पश्चात् कल्क मिश्रित क्वाथ में मदनफल तैलादि अन्य द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर अच्छी प्रकार से मिलाकर मथ लेना चाहिए।

उपयोग– इस निरूह बस्ति का प्रयोग कफज व्याधियों, अग्निमांद्य एवं अरुचि रोग में करना चाहिए।

३. पञ्चमूलादि निरूह बस्ति – घटक द्रव्य–

१. **क्वाथ्य द्रव्य–** दोनों पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू), आमलकी, हरड़, बहेड़ा, बिल्व की छाल तथा मदनफल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ क्वाथ बनावें।

[पञ्चमूल आदि द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर आठ गुने जल के साथ पकावें। चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर अलग रख लें। इस अलग किये हुए क्वाथ में अल्प मात्रा में गोमूत्र मिलाना चाहिए– "दशमूली-त्रिफलाबिल्वशलाटु-मदनफलान्यष्टगुणे जले पक्त्वा चतुर्थभागावशोषितः क्वथितः कषायोऽनुरूपेण मूत्रेण युतः कलिङ्गादिकल्कयुक्तः ससैन्धवः यवक्षारयुक्तः तैलयुक्तः सन् निरूहमुख्यः स्यात्" – जल्पकल्पतरुटीका]

२. **कल्क द्रव्य–** कलिङ्ग (इन्द्रयव), पाठा, मदनफल एवं मुस्तक, प्रत्येक द्रव्य १-१ तोला लेकर कल्क (Paste) बना लें।

३. **अन्य द्रव्य–** सैन्धव नमक, यवक्षार एवं तिल तैल।

निर्माण विधि– क्वाथ व कल्क द्रव्यों को आपस में मिला लें, पश्चात् उसमें अन्य द्रव्यों को मिलाकर निरूह बस्ति तैयार करनी चाहिए।

[यहाँ द्रव्यों को आपस में मिलाने का क्रम श्लोक नं. २३ के अनुसार ही रखना चाहिए, यह ध्यान रखें।]

उपयोग–

- सभी प्रकार के कफज रोग
- अलसक एवं आमजन्य रोग
- बस्ति प्रदेश में उत्पन्न भयंकर आटोप
- पाण्डुरोग (Anaemia)
- वातज मूत्राघात

निरूह बस्ति के प्रयोग से उपरोक्त सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

४. रास्नादि निरूह बस्ति– घटक द्रव्य–

१. **क्वाथ्य द्रव्य–** रास्ना, गुडूची, एरण्डमूल, वायविडङ्ग, दारुहल्दी, सप्तपर्णी, खश (उशीर), सुराह्वा (देवदारु), नीम की छाल, शम्पाक (अमलतास की गुद्दी), चिरायता, पटोलपत्र (परवल की पत्ती), पाठा, तिक्ता (कुटकी), आखुपर्णी (मूषकपर्णी), दशमूल के द्रव्य [बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (छोटी कटेरी-भटकटैया), गोखरू] नागरमुस्तक, त्रायमाणा, शिग्रु की छाल, हरड़, बहेड़ा, आँवला।

सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इस यवकुट किये हुए द्रव्य में ८ गुना जल मिलाकर क्वाथ तैयार करें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को चूल्हे पर से उतार कर एक स्वच्छ कपड़े से छानकर पृथक् पात्र में रख लें। इस क्वाथ में ही मदनफल क्वाथ व गोमूत्र मिला दें। (इसका प्रयोग मात्रा में कम करना चाहिए।)

२. **कल्क द्रव्य–** यष्टीमधु (मुलेठी), कृष्णा (पिप्पली), प्रियङ्गु, शताह्वा (सौंफ), रसाञ्जन (रसवत), श्वेत वचा, विडङ्ग, इन्द्रयव, पाठा, मुस्तक (घन) तथा सैन्धव नमक; सभी द्रव्यों को १-१ कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

३. **अन्य द्रव्य–** मधु, घृत एवं तैल (उचित मात्रा)

निर्माण विधि– क्वाथ, कल्क एवं अन्य द्रव्यों को निर्धारित विधि के अनुसार मिश्रित करके निरूह बस्ति तैयार कर लें।

उपयोग– रास्नादि निरूह बस्ति का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए– १. कृमिरोग (आन्त्रगत क्रिमियों), २. कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), ३. प्रमेहरोग (Urinary disorders including diabetes), ४. ब्रध्न रोग (Inguinal swelling), ५. उदररोग, ६. अजीर्ण (Indigestion), ७. अन्य कफज व्याधियाँ, ८. यदि रूक्ष औषधियों के सेवन से व्यक्ति का शरीर रूक्ष हो गया हो, जिसके कारण वायु प्रकुपित होकर उपर्युक्त (कृमि, कुष्ठादि) व्याधियों को उत्पन्न करती हो। ऐसी अवस्था में इस निरूह

Scanned by CamScanner

बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यह बस्ति वायु के प्रकोप को दूर करके जाठराग्नि को प्रदीप्त करती है जिससे व्याधि प्रशमित हो जाती है तथा रोगी के बल की वृद्धि होती है।

चक्रपाणि– 'कोषातकेत्यादि' के द्वारा चार कफ नाशक बस्तियों का वर्णन किया गया है। शार्ङ्गेष्टा = गुञ्जा (घुँघुची - Abrus precatorius linn) ।

अत्र क्वाथदशप्रसृतेन तथा कल्केन क्षौद्रादिना च यद्यपि मानमधिकं भवति– श्लोक नं. ५६-५७ में - कोषातक्यादिनिरूहबस्ति हेतु क्वाथ की मात्रा १० प्रसृत (८० तोले) बतायी गयी है, जिसमें कल्क तथा मधु आदि द्रव्यों को मिला देने पर यह मात्रा १२ प्रसृत से अधिक हो जाती है। **फिर भी द्रव्यों को निर्धारित मान में लेकर ही निरूह बस्ति तैयार करें,** लेकिन प्रयोग १२ प्रसृत ही करें, अर्थात् शेष मात्रा त्याग दें। [इस प्रकार यहाँ १२ प्रसृत मात्रा का विरोध नहीं होता। व्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि बस्ति द्रव्यों को बनाते समय कुछ अधिक मात्रा में औषध तैयार हो जाती है, लेकिन प्रयोग उतनी ही मात्रा में किया जाता है जितना आवश्यक होता है।]

श्लोक नं. ५८ के द्वितीय पाद में 'पटोलादि निरूह बस्ति' के क्वाथ्य द्रव्यों का वर्णन किया गया है। यहाँ पटोल से लेकर पिप्पली तक के द्रव्यों को लेकर क्वाथ बनाने का निर्देश दिया गया है। निर्माण विधि पूर्व योग की तरह है, अर्थात् इनके क्वाथ का निर्माण पूर्व क्वाथ की तरह करें। मात्रा १० प्रसृत ही रखें। कफज रोगी में 'द्विपञ्चमूल्यादि' द्रव्यों से निर्मित तृतीय बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। क्षारः = यवक्षार।

'रास्नेत्यादि' के द्वारा चतुर्थ निरूह बस्ति का अभिधान किया गया है। शम्पाक = चतुरङ्गुल (अमलतास)। तिक्ता = कटुरोहिणी (कुटकी) ।

अत्र पिण्डीतकक्वाथोऽप्यावापकल्पो येन प्रविशति– रास्नादि द्रव्यों से निर्मित क्वाथ में ही पिण्डीतक का क्वाथ व गोमूत्र को मिला दें। पिण्डीतक = मदनफल।

रूक्षौषधैरत्यपतर्पितेभ्योऽप्येतेषु कुष्ठादिरोगेष्वयं दत्तो बलं करोतीति योजना– रूक्ष औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न कृशता में कुष्ठादि रोगों के उत्पन्न होने पर इस बस्ति (रास्नादि निरूह बस्ति) के प्रयोग से व्यक्ति का बल बढ़ता है, अर्थात् कृशता दूर होती है तथा ये व्याधियाँ प्रशमित होती हैं। ॥५६-६४॥

पुनर्नवैरण्डवृषाश्मभेदवृश्चीरभूतीकबलापलाशाः । द्विपञ्चमूलं च पलांशिकानि क्षुण्णानि धौतानि फलानि चाष्टौ ॥६५॥
बिल्वं यवान् कोलकुलत्थधान्यफलानि चैव प्रसृतोन्मितानि । पयोजलद्व्याढकवच्छृतं तत् क्षीरावशेषं सितवस्त्रपूतम् ॥६६॥
वचाशताह्वामरदारुकुष्ठयष्ट्याह्वसिद्धार्थकपिप्पलीनाम् । कल्कैर्यवान्या मदनैश्च युक्तं नात्युष्णशीतं गुडसैन्धवाक्तम् ॥६७॥
क्षौद्रस्य तैलस्य च सर्पिषश्च तथैव युक्तं प्रसृतैस्त्रिभिश्च । दद्यान्निरूहं विधिना विविज्ञः स सर्वसंसर्गकृतामयघ्नः ॥६८॥

(घ) संसर्ग एवं त्रिदोषनाशक निरूह बस्ति–

पुनर्नवादि निरूह बस्ति– घटक द्रव्य–

१. **क्वाथ्य द्रव्य–** पुनर्नवा, एरण्डमूल, वृष (अडूसा), पाषाणभेद, वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), भूतीक (भूतृण- lemon grass- पर्याय- शरबाण, भूतृण, गन्धतृण, हरीचाय – भावप्रकाश निघण्टु), बलामूल, पलाश, दोनों प्रकार के पञ्चमूल, अर्थात् दशमूल के द्रव्य (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षरू) – प्रत्येक द्रव्य १-१ पल, लेकर यवकुट कर लें एवं इसे जल में धोकर साफ कर लें। मदनफल– संख्या में – ८, बिल्व – १ प्रसृत, यव – १ प्रसृत, कोल (बेर) – १ प्रसृत, कुलत्थ – १ प्रसृत, धनियाँ – १ प्रसृत, मदनफल – १ प्रसृत । जल – १ आढ़क, गोदुग्ध – १ आढक

सभी क्वाथ्य द्रव्यों को साफ सुथरा कर यवकुट करके एक बड़े स्टील के पात्र में लेकर उसमें १ आढ़क जल व १ आढक गोदुग्ध डालकर विधिवत् पाक करें (पकावें)। जब दुग्ध मात्र शेष बचे तो पात्र को अग्नि पर से उतार कर साधित दुग्ध को एक साफ सुथरे महीन कपड़े से छानकर अलग पात्र में रख लें।

२. **कल्क द्रव्य–** वचा, शताह्वा (सौंफ), अमरदारु (देवदारु), कुष्ठ (कूठ), यष्टाह्व (यष्टीमधु = मुलेठी), सर्षप (सिद्धार्थक), पिप्पली, अजवाइन व मदनफल; [प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष मात्रा में लेकर कल्क बना लें।]

३. **अन्य द्रव्य–** गुड़ व सैन्धव नमक– यथावश्यक; मधु – १ प्रसृत, तिल तैल – १ प्रसृत, गोघृत – १ प्रसृत।

निर्माण विधि– औषध द्रव्यों से साधित क्षीर में कल्क मिलावें, जब दूध कुछ कोष्ण रहे तब उसमें गुड़, सैन्धव नमक के साथ ही मधु आदि अन्य द्रव्यों को मिलाकर अच्छी प्रकार से मथकर निरूह बस्ति तैयार कर लें।

Scanned by CamScanner

उपयोग– इस बस्ति का प्रयोग चिकित्सक को विधिपूर्वक द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज रोगों में करना चाहिए।

चक्रपाणि– पुनर्नवेत्यादिकः सर्ववातादिसंसर्गविषयः– पुनर्नवादि निरूह बस्ति का प्रयोग सभी प्रकार के वातादि दोषों के संसर्ग की अवस्था में करना चाहिए। वृश्चीरः = श्वेत पुनर्नवा। धान्यानि फलानि च– धनियाँ एवं मदनफल, दोनों को मिलित रूप से 'धान्यफलानि' शब्द से कहा गया है।

पयोजलद्वयाढकवदिति समजलक्षीरद्विप्रस्थयुक्तम्– १ आढ़क गोदुग्ध व १ आढक जल का ग्रहण करते हैं, अवशेष ४ प्रस्थ रखते हैं। पकाने के बाद यह मात्रा १ आढक (४ प्रस्थ) बचती है।

विशेष (Comments)– पुनर्नवा से लेकर द्विपञ्चमूल तक के द्रव्यों को अलग-अलग १-१ पल मात्रा में लेना चाहिए। कच्चा बिल्व फल – ८ पल, यव – ८ पल, कोल (बेर) – १ प्रसृत, कुलत्थी – १ प्रसृत, धनिया – १ प्रसृत, मदनफल – १ प्रसृत, ग्रहण करें। इन सभी द्रव्यों को अर्ध आढक जल तथा अर्ध आढक दुग्ध के साथ पकावें, जब दुग्ध मात्र शेष बचे तब उसे छानकर पके हुए दूध को अलग कर लें। उस साधित दूध में वचादि द्रव्यों का कल्क मिलावें साथ में गुड़ व सैन्धव नमक भी मिलावें। बाद में उसमें मधु – १ प्रसृत, तिलतैल – १ प्रसृत तथा घृत – १ प्रसृत मिलाकर न तो अधिक उष्ण न तो अधिक शीत निरूह बस्ति दें। – जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

स्निग्धोष्ण एकः पवने समांसो द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते । त्रयः समूत्राः कटुकोष्णतीक्ष्णाः कफे निरूहा न परं विधेयाः ।।६९।।

दोष भेद से निरूह बस्ति की संख्या– १. वातज व्याधियों में सम अंश युक्त स्निग्ध व उष्ण गुणों वाली एक निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, २. पित्तज व्याधियों में मधुर व शीत गुण युक्त द्रव्यों से साधित क्षीर की दो निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, ३. कफज व्याधियों में कटु, उष्ण द्रव्यों एवं गोमूत्र द्वारा निर्मित तीक्ष्ण तीन निरूह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

इससे अधिक निरूह बस्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– वर्णित वातादि नाशक बस्तियों की संख्या की विशिष्ट (विशेष) योजना को यहाँ– 'स्निग्धोष्ण इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **एक इति एक एव पुटकः–** एक संख्या से यहाँ एक **बस्ति पुटक** अर्थ गृहीत है। अर्थात् एक बार में पुटक में भरकर निरूह बस्ति का प्रयोग करना एक बस्ति कहलाता है। **पयसा चेति–** दूध से, अर्थात् मधुर व शीत गुण युक्त औषधियों से साधित क्षीर की बस्ति का प्रयोग करना। इस बस्ति का प्रयोग पित्तज व्याधियों में दो बार करते हैं।

कटुकोष्णतीक्ष्णत्वं कफहरद्रव्ययोगादेव ज्ञेयम्– कफनाशक कटु, उष्ण व तीक्ष्ण द्रव्यों से निर्मित तीन निरूह बस्ति का प्रयोग कफज रोगों में करना चाहिए।

न परं विधेया इत्यनेन तन्त्रान्तरविहितं चतुर्थबस्तिदानमत्यर्थशरीरहिंसकं निषेधयति– 'न परं विधेया' [इससे अधिक निरूह बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए।] इससे अन्य शास्त्रों में विहित चतुर्थ बस्ति के प्रयोग से शरीर को अत्यधिक हानि पहुँचती है, इस कारण से उसका यहाँ निषेध किया गया है। अर्थात् तन्त्रान्तर में **चतुर्थ बस्ति का प्रयोग** आवश्यकतानुसार करने का निर्देश प्राप्त होता है।

जैसा कि सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– **''द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथार्हतः । सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते बस्तिं निवर्तयेत्''** (सु.चि.अ. ३८/६) इति [बस्ति विशेषज्ञ चिकित्सक को रोगी की आवश्यकता के अनुसार द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ (पहली, दूसरी, तीसरी या चौथी) निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। जब चिकित्सक को सम्यक् निरूह के लक्षणों की प्राप्ति हो जाय तब इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। विशेष रूप से सुकुमार पुरुषों में कम संख्या में निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।]

इस आधार पर चौथी निरूह बस्ति की यदि आवश्यकता हो तब उसका प्रयोग किया जा सकता है, निष्कर्ष निकलता है। ॥६९॥

रसेन वाते प्रतिभोजनं स्यात् क्षीरेण पित्ते तु कफे च यूषैः । तथाऽनुवास्येषु च बिल्वतैलं स्याज्जीवनीयं फलसाधितं च ।।७०।।
इतीदमुक्तं निखिलं यथावद्बस्तिप्रदानस्य विधानमग्र्यम् । योऽधीत्य विद्वानिह बस्तिकर्म करोति लोके लभते स सिद्धिम् ।।७१।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने बस्तिसूत्रीयसिद्धिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

निरूह बस्ति के बाद पथ्य आहार– निरूह बस्ति देने के बाद जब निरूह बस्ति वापस लौट जाय, अर्थात् सम्यक् निरूह के लक्षण प्राप्त हो जाँय। तब रोगी को गुनगुने जल से स्नान करावें। स्नान के पश्चात् भोजन के रूप में वातजन्य व्याधियों में मांसरस के साथ शाठी या शाली चावल का भात, पित्तज व्याधियों में दूध भात व कफज व्याधियों में यूष-भात का प्रयोग करना चाहिए। इसके बाद अनुवासन के योग्य पुरुषों में – १. वातज व्याधियों में बिल्वतैल (दशमूलादि अनुवासन तैल), २. पित्तज व्याधियों में जीवनीय गण की औषधियों में साधित तैल (स्नेह) तथा कफज व्याधियों में मदनफल से साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस प्रकार वस्तिसूत्रीया नामक अध्याय में यथावत् रूप से वस्ति देने की श्रेष्ठ विधियों का पूर्णतः अभिधान किया गया है। जो विद्वान् यहाँ वर्णित वस्ति विधान को सम्यक् पढ़कर (अध्ययन करके) बस्ति का प्रयोग करता है। वह इस लोक में अवश्य ही सिद्धि प्राप्त करता है। अर्थात् जिस व्याधि की वह चिकित्सा करता है उसमें उसे निश्चित रूप से सफलता प्राप्त होती है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में बस्तिसूत्रीया सिद्धि नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– यहाँ वातादि भेद से रोगी के विशेष आहार तथा उसमें प्रयुक्त होने वाली अनुवासन बस्ति को – 'रसेन वाते इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **प्रतिभोजनं निरूहानन्तरभोजनम्–** निरूह बस्ति के बाद दिया जाने वाला भोजन 'प्रतिभोजन' कहलाता है। वात प्रधान व्याधियों में विल्वतैल (दशमूलादि तैल), पित्त प्रधान व्याधियों में जीवनीय गण की औषधियों से साधित स्नेह तथा कफज व्याधियों में मदनफल साधित स्नेह की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

यहाँ विल्व तैलादि से आगे के अध्याय– स्नेहव्यापत्सिद्धि में **दशमूलं बलां** इत्यादि के द्वारा वर्णित **बिल्वतैल**, "जीवन्तीं मदनं" इत्यादि (सि.अ. ४/९-१०) द्वारा वर्णित **जीवनीय यमक** तथा "मदनैर्वाऽम्ल संयुक्तैः" (सि.अ. ४/१७) द्वारा वर्णित **मदनतैल** का ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरक भावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में 'बस्तिसूत्रीया सिद्धि' नामक तृतीय अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातः स्नेहव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब इसके बाद स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पूर्व अध्याय में बिल्वतैल आदि का प्रयोग अभ्यङ्ग एवं अनुवासन हेतु निर्देशित किया गया है। इस अध्याय में बिल्वतैल आदि का विवेचन करने के बाद स्नेह व्यापत् (स्नेह प्रयोग से होने वाले उपद्रव) की चिकित्सा का अभिधान किया गया है।

स्नेहानामनुवासनिकानां तद्व्यापदां च भेषजानामभिधायिका सिद्धिः–अनुवासन बस्ति के अनुचित प्रयोग से होने वाले उपद्रवों तथा उनकी चिकित्सा का जिस अध्याय में विवेचन किया गया है उसे 'स्नेहव्यापत्सिद्धि' कहते हैं। ।।१-२।।

स्नेहबस्तीन्निबोधेमान् वातपित्तकफापहान् । मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापदः सचिकित्सिताः ।।३।।

प्रस्तावना– इस अध्याय में अधोलिखित विषयों का वर्णन किया जा रहा है– १. वात, पित्त व कफ नाशक अनुवासन बस्तियों का वर्णन, २. अनुवासन बस्ति के मिथ्यायोग (अनुचित प्रयोग) से होने वाले उपद्रवों का विवेचन, ३. उपद्रवों की चिकित्सा।

चक्रपाणि– 'स्नेहबस्तीनित्यादि' के द्वारा इस अध्याय में वर्णित विषय को स्पष्ट किया गया है।

बस्तिप्रयोज्याः स्नेहा एतच्छ्लोकाभिहिता इत्यर्थः– इस श्लोक का अभिप्राय बस्ति में प्रयुक्त होने वाले स्नेह से है, अर्थात् यहाँ बस्ति में प्रयुक्त होने वाले स्नेहों का वर्णन किया गया है । इसका विस्तार "स्नेहबस्तिं निरूहं च" इत्यादि के द्वारा आगे किया गया है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं, लेकिन वहाँ भी इसका विवेचन स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है।

दशमूलं बलां रास्नामश्वगन्धां पुनर्नवाम् । गुडूच्येरण्डभूतीकभार्गीवृषकरोहिषम् ।।४।।
शतावरीं सहचरं काकनासां पलांशिकम् । यवमाषातसीकोलकुलत्थान् प्रसृतोन्मितान् ।।५।।
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च । तैलाढकं समक्षीरं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।।६।।
अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत् । आनूपानां वसा तद्वज्जीवनीयोपसाधिता ।।७।।

१. दशमूलबलादि तैल (बिल्व तैल)–

घटक द्रव्य– १. क्वाथ्य द्रव्य– दशमूल के द्रव्य [बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी (विदारीगन्धा), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारी (भटकटैया), गोखरू], बला, रास्ना, अश्वगन्धा, पुनर्नवा, गुडूची, एरण्डमूल, भूतीक (भूतृण), भार्गी, वृष (वासा = अडूसा), रोहिष (सुगन्धतृण), शतावरी, सहचर (पियावासा), काकनासा; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल (४-४ तोले) मात्रा में ग्रहण करें। यव – १ प्रसृत, माष (उड़द) – १ प्रसृत; अतसी (तीसी) – १ प्रसृत, बेर – १ प्रसृत, कुलथी – १ प्रसृत।

जल – ४ द्रोण, **तिल तैल** – १ आढ़क, **गोदुग्ध** – १ आढक

२. **कल्क द्रव्य–** जीवनीय महाकषाय की औषधियाँ, यथा– जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु – प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग १-१ पल (४-४ तोले) मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

निर्माण विधि– क्वाथ्य द्रव्यों, यथा– बिल्वादि तथा यव से लेकर कुलथी तक के द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। अब इसे एक भगौने में लेकर ४ द्रोण जल डालकर मध्यमाग्नि पर पकावें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर क्वाथ को छानकर पृथक् कर लें। शेष छने हुए अनुपयोगी द्रव्यों को फेंक दें। अब इस क्वाथ में १ आढक तिल तैल तथा कल्क द्रव्यों को डालकर मन्दाग्नि पर पकावें, क्वाथ का जलीयांश उड़ जाने पर उसमें १ आढक गोदुग्ध डालकर पुनः पाक करे। सम्यक् रूप से स्नेह के सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर एक अलग पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस तैल का अनुवासन बस्ति के रूप में प्रयोग करने से सभी प्रकार की वातजन्य व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

२. अन्य वातनाशक योग– १. पूर्ववत् दशमूल आदि द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) एवं जीवनीय महाकषाय के कल्क द्वारा साधित आनूप पशु-पक्षियों की वसा के अनुवासन बस्ति के प्रयोग से सभी प्रकार की वातव्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चक्रपाणि– दशमूलमित्यादौ भूतीकं कत्तृणं यवानिका वा– दशमूलबलादि तैल के घटक द्रव्यों में वर्णित भूतीक से यहाँ कत्तृण अथवा यवानिका का ग्रहण करना चाहिए। काकनासा = वायसीफल, अन्य आचार्य वायसफल से 'कायुयाटुटी' (कौआ तोटी, कौआ ठोड़ी,

Scanned by CamScanner

कौआ डोडी) नाम से प्रसिद्ध अन्य द्रव्य का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार दशमूल के प्रथम द्रव्य – 'बिल्व' के आधार पर इस तैल का नाम बिल्वतैल रखा गया है । ॥४-७॥

विशेष (Comments)– वात व्याधियों की चिकित्सा हेतु इस तैल का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करने का निर्देश दिया गया है। अतः इस तैल को **खरपाकी** नहीं करना चाहिए। व्यवहार में इस तैल की मात्राबस्ति (शास्त्रोक्त मात्रा– ६० ml.) से कम की भी मात्रा (लगभग २५ से ५० ml.) का प्रयोग करने से वातव्याधियों [गृध्रसी, कटिशूल, कटिग्रह (Stiffness of the lumber region) आदि व्याधियों] में आशातीत लाभ मिलता है।

शताह्वायवबिल्वाम्लैः सिद्धं तैलं समीरणे । सैन्धवेनाग्नितप्तेन तप्तं चानिलनुद्घृतम् ।।८।।

३. शताह्वादि तैल– सौंफ, यव, बिल्व की गुद्दी; तीनों द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। अब कल्क को काञ्जी में घोल लें तथा इस कल्क मिश्रित काञ्जी में तिल तैल डालकर विधिपूर्वक सिद्ध कर लें। इस तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग वातज विकारों में करना चाहिए।

४. सैन्धवादि घृत– सैन्धव नमक को तप्त करके बार-बार गोघृत में बुझावें। इस घृत का प्रयोग वात व्याधियों की चिकित्सा हेतु अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिये अर्थात् यह घृत वातव्याधिनाशक होता है।

चक्रपाणि– आनूपानामिति– आनूप पशु पक्षियों की वसा को पूर्व वर्णित दशमूल आदि द्रव्यों के क्वाथ व जीवनीय गण की औषधियों के कल्क से सिद्ध करें। 'शताह्वेत्यादि' के द्वारा दूसरे योग का अभिधान किया गया है। 'सैन्धवेनेत्यादि' के द्वारा अन्य योग को बताया गया है। ॥७-८॥

जल्पकल्पतरु टीका– शताह्वायवबिल्वाम्लकोलादिभिः कल्कः पादिकः तेषाञ्च चतुर्गुणक्वाथे सिद्धं तैलं समीरणे हितम् – शताह्वा (सौंफ), यव, बिल्व की गुद्दी, खट्टी बेर आदि द्रव्यों के कल्क – $^{1}/_{4}$ भाग, इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ– ४ भाग तथा तिल तैल – १ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें। यह सिद्ध तैल वात व्याधियों में अत्यन्त हितकर होता है। सैन्धवेनेत्यादि के द्वारा सैन्धवादि घृत का उल्लेख किया गया है। सैन्धव नमक के एक टुकड़े को अग्नि पर तप्त करें। जब वह तप्त होकर रक्त वर्ण का हो जाय, तब उसे घृत में बुझा दें। यही प्रक्रिया बार-बार करें। इस सैन्धव बुझे हुए घृत का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए। यह घृत वात व्याधियों में अत्यन्त हितकारी होता है।

'अम्ल' से यहाँ खट्टी बेर अर्थ लिया गया है।

जीवन्तीं मदनं मेदां श्रावणीं मधुकं बलाम् । शताह्वर्षभकौ कृष्णां काकनासां शतावरीम् ।।९।।
स्वगुप्तां क्षीरकाकोलीं कर्कटाख्यां शटीं वचाम् । पिष्ट्वा तैलं घृतं क्षीरे साधयेत्तच्चतुर्गुणे ।।१०।।
बृंहणं वातपित्तघ्नं बलशुक्राग्निवर्धनम् । मूत्ररेतोरजोदोषान् हरेत्तदनुवासनम् ।।११।।
लाभतश्चन्दनाद्यैश्च पिष्टैः क्षीरचतुर्गुणम् । तैलपादं घृतं सिद्धं पित्तघ्नमनुवासनम् ।।१२।।

५. जीवन्त्यादि यमक– घटक द्रव्य–

१. कल्क द्रव्य– जीवन्ती, मदनफल, मेदाकन्द, श्रावणी (गोरखमुण्डी), यष्टीमधु (मुलेठी), बला, सौंफ, ऋषभक, कृष्णा (पिप्पली), काकनासा (कौआ ठोठी), शतावरी, कौंचबीज, क्षीरकाकोली, काकड़ासिंगी, शटी (कचूर) एवं वच (कटु वच); सभी द्रव्यों को समान मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

२. घृत + तिल तैल– कल्क की संयुक्त मात्रा से चार गुना [यदि १ भाग कल्क हो तब २ भाग गोघृत + २ भाग तिल तैल ग्रहण करें। – घृत + तैल = ४ भाग]

३. गोदुग्ध– तैल व घृत की संयुक्त मात्रा का चार गुना, अर्थात् १६ गुना (१६ भाग), [**जल** – स्नेह (यमक) के बराबर।]

निर्माण विधि– सर्वप्रथम एक स्टील के पात्र में कल्क – १ भाग, यमक (गोघृत + तिल तैल, संयुक्त रूप से) – ४ भाग व गोदुग्ध – १६ भाग लेकर यमक को विधिपूर्वक मन्दाग्नि पर पकावें, गोदुग्ध के पाक हो जाने के बाद उसमें जल डालकर गोदुग्ध के घन भाग (खोवे) को पका लें। सम्यक् सिद्धि के लक्षणों के मिलने पर यमक को अग्नि पर से उतार कर छान करके सुरक्षित रख लें।

उपयोग– १. अनुवासन बस्ति के रूप में इस यमक का प्रयोग करने से व्यक्ति के बल की वृद्धि होती है तथा यह प्रकुपित वात-पित्त को शान्त करता है, २. शरीर का बृंहण करता है, ३. शुक्र के बल को बढ़ाता है तथा जाठराग्नि को प्रदीप्त करता है, ४. मूत्रविकार, शुक्रविकार एवं आर्तवविकार को दूर करता है।

Scanned by CamScanner

इस योग का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में ही विशेष रूप से करना चाहिये।

६. चन्दनाद्य यमक – घटक द्रव्य–

१. **कल्क द्रव्य–** ज्वर चिकित्सा में वर्णित चन्दनाद्य तैल के क्वाथ्य द्रव्यों में से जितना प्राप्त हो सकें, उन द्रव्यों को लेकर कल्क बना लें। कुल मात्रा $^{1}/_{4}$ भाग,

२. **तिल तैल + गोघृत संयुक्त रूप से** – १ भाग ($^{1}/_{4}$ भाग तिलतैल तथा घृत ३/४ भाग)

३. **गोदुग्ध** – ४ भाग

४. [जल – १ भाग]

निर्माण विधि– एक पात्र में कल्क, दुग्ध व यमक लेकर मन्दाग्नि पर पकावें, दुग्ध के पाक के पश्चात् जल डालकर यमक को सिद्ध कर लें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर यमक को छानकर एक पृथक् पात्र में सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस **यमक** का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करने से सभी पित्तज व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

चक्रपाणि– 'जीवन्तीमित्यादि' के द्वारा यमक अनुवासन को स्पष्ट किया गया है। इस यमक को पूर्व अध्याय में जीवनीय नाम से कहा गया है। **लाभत इति यथा लाभम्–** ज्वरचिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट **चन्दनाद्य तैल** के क्वाथ्य द्रव्यों में से जो प्राप्त हो जाय, या जितना मिल सके, उनका ग्रहण कल्क के रूप में करना चाहिए।

चन्दनाद्यं ज्वरचिकित्सितोक्तम्– ज्वरचिकित्सा में वर्णित चन्दनाद्य तैल। **तैलं पादं यस्मिन् तत् तैलपादम्–** घृत व तैल संयुक्त रूप से १ भाग ग्रहण करें, जिसमें तिल तैल सम्पूर्ण स्नेह का चतुर्थांश हो, अर्थात् $^{1}/_{4}$ भाग तिल तैल + $^{3}/_{4}$ भाग गोघृत ग्रहण करें। ॥९-१२॥

सैन्धवं मदनं कुष्ठं शताह्वां निचुलं वचाम् । ह्रीवेरं मधुकं भार्गीं देवदारु सकट्फलम् ।।१३।।
नागरं पुष्करं मेदां चविकां चित्रकं शटीम् । विडङ्गातिविषे श्यामां हरेणुं नीलिनीं स्थिराम् ।।१४।।
बिल्वाजमोदे कृष्णां च दन्तीं रास्नां च पेषयेत् । साध्यमेरण्डजं तैलं तैलं वा कफरोगनुत् ।।१५।।
द्रव्योदातर्गुल्मार्शःप्लीहमेहाढ्यमारुतान् । आनाहमश्मरीं चैव हन्यात्तदनुवासनात् ।।१६।।
मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैर्बिल्वाद्येन गणेन वा । तैलं कफहरैर्वाऽपि कफघ्नं कल्पयेद्भिषक् ।।१७।।

७. सैन्यवादि तैल – घटक द्रव्य–

१. **कल्क द्रव्य–**

→ सैन्धव नमक	→ कायफल (कट्फल)	→ हरेणु
→ मदनफल	→ शुण्ठी (सोंठ)	→ नील का बीज
→ कूठ	→ पुष्करमूल (पोहकरमूल)	→ सरिवन
→ सौंफ	→ मेदाकन्द	→ बिल्व
→ जलवेत	→ चव्य	→ अजमोदा
→ वचा	→ चित्रक (चित्रकमूल)	→ पिप्पली
→ सुगन्धवाला	→ शटी (कचूर)	→ दन्ती
→ यष्टीमधु (मुलेठी)	→ विडङ्ग (वायविडङ्ग)	→ रास्ना
→ भार्गी (भारङ्गी)	→ अतीस (अतिविषा)	
→ देवदारु	→ निशोथ (काली निशोथ)	

सभी द्रव्य अलग-अलग बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क की संयुक्त मात्रा – १ भाग।

२. **एरण्ड तैल–** कल्क का चार गुना, अर्थात् ४ भाग एरण्ड तैल अथवा एरण्ड तैल के स्थान पर तिल तैल – ४ भाग ग्रहण करें।

३. **जल–** तैल का चार गुना, अर्थात् १६ भाग।

निर्माण विधि– एक स्टील के भगौने में एरण्ड तैल अथवा तिल तैल, कल्क व जल को निर्दिष्ट मात्रा के अनुसार लेकर मन्दाग्नि पर पकावें। तैल के सम्यक् पाक हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतारकर तैल को कपड़े से छानकर सुरक्षित रख लें।

Scanned by CamScanner

उपयोग– इस तैल का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करने से अधोलिखित व्याधियों में लाभ मिलता है–

- ब्रध्न (Inguinal hernia)
- उदावर्त
- गुल्म (Phantom tumour)
- अर्श रोग (Piles)
- प्लीह रोग (Splenic disorders)
- प्रमेह (Urinary diseases including diabetes)
- आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ)
- आनाह (Tympanitis)
- अश्मरी (Calculus)
- अन्य कफज रोग

८. मदनफल तैल– घटक द्रव्य– मदनफल कल्क – १ भाग, तिल तैल – ४ भाग, काञ्जी – १६ भाग।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर एक स्टील के भगौने में रखें। तत्पश्चात् इसे मन्दाग्नि पर पकाकर तैल को विधिवत् सिद्ध कर लें।

९. बिल्वादि पञ्चमूल तैल– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला और गम्भारी, सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क – १ भाग, इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ १६ भाग (तैल का चार गुना), तिल तैल – ४ भाग।

उपरोक्त द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध कर लें।

१०. पिप्पल्यादि तैल– पिप्पल्यादि गण की औषधियों का कल्क – १ भाग, इन्हीं द्रव्यों का क्वाथ – १६ भाग, तिल तैल – ४ भाग। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें।

इसी प्रकार अन्य कफनाशक द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से **कफ नाशक तैलों** की योजना चिकित्सक को करनी चाहिए।

चक्रपाणि– मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैरित्यत्र मदनस्य कल्कत्वं, काञ्जिकादीनामम्लानां द्रवत्वम् – "मदनैर्वाऽम्लसंयुक्तैः" से यहाँ मदनफल का कल्क तथा अम्ल काञ्जी आदि का प्रयोग द्रव के रूप में करना चाहिए। यह तैल मदनतैल के नाम से प्रसिद्ध है। बिल्वाद्यो गणः दशमूलं – बिल्वादि गण से यहाँ दशमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। इसका यहाँ क्वाथ व कल्क दोनों रूप में प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् दशमूल के द्रव्यों के क्वाथ व कल्क से तिल तैल को सिद्ध करें तथा इसका प्रयोग अनुवासनार्थ करें। कहा भी गया है, यथा– **"क्वाथकल्कावनिर्देशे गणात्तस्मात् समावपेत्"** इति [गण के निर्देश से 'गण' में वर्णित औषधियों के कल्क व क्वाथ दोनों का ही ग्रहण होता है] कफहरैरिति– पूर्व अध्याय में वर्णित कफनाशक औषधियों द्वारा अथवा त्रिकटु व पञ्चकोल आदि द्वारा साधित तैल की योजना करनी चाहिए। ॥१३-१७॥

विशेष (Comments)– 'मदनैरित्यादि' के द्वारा मदनफल तैल के निर्माण विधि को स्पष्ट किया गया है। यहाँ मदनफल व अम्ल बेर आदि द्रव्यों का कल्क – १ भाग, तिल तैल – ४ भाग तथा मदनफल आदि द्रव्यों का क्वाथ – १६ भाग लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें। अथवा बिल्वादि गण (बृहत् पञ्चमूल) के द्रव्यों का कल्क – १ भाग, क्वाथ – १६ भाग, तैल – ४ भाग लेकर तैलपाक करें, अथवा पिप्पल्यादि गण की औषधियों के कल्क – १ भाग, इन्हीं का क्वाथ – १६ भाग, तिल तैल – ४ भाग से तैल को पकावें। ये सभी तैल कफनाशक होते हैं। – जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

बिल्वादि गण से आचार्य गंगाधर ने बृहत् पञ्चमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया है जबकि आचार्य चक्रपाणि ने दशमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया है।

विडङ्गैरण्डरजनीपटोलत्रिफलामृताः । जातीप्रवालनिर्गुण्डीदशमूलाखुपर्णिकाः ॥१८॥
निम्बपाठासहचरशम्पाककरवीरकाः । एषां क्वाथेन विपचेत्तैलमेभिश्च कल्कितैः ॥१९॥
फलबिल्वत्रिवृत्कृष्णारास्नाभूनिम्बदारुभिः । सप्तपर्णवचोशीरदार्वीकुष्ठकलिङ्गकैः ॥२०॥
लतागौरीशताह्वाग्निशटीचोरकपौष्करैः । तत् कुष्ठानि क्रिमीन् मेहानर्शांसि ग्रहणीगदम् ॥२१॥
क्लीबतां विषमाग्नित्वं मलं दोषत्रयं तथा । प्रयुक्तं प्रणुदत्याशु पानाभ्यङ्गानुवासनैः ॥२२॥
व्याधिव्यायामकर्माध्वक्षीणाबलनिरोजसाम् । क्षीणशुक्रस्य चातीव स्नेहबस्तिर्बलप्रदः ॥२३॥
पादजङ्घोरुपृष्ठांसकटीनां स्थिरतां पराम् । जनयेदप्रजानां च प्रजां स्त्रीणां तथा नृणाम् ॥२४॥

विडङ्गादि तैल– घटक द्रव्य–

१. क्वाथ्य द्रव्य–

- वायविडङ्ग
- निर्गुण्डी की पत्ती
- कण्टकारी (भटकटैया)

Scanned by CamScanner

- एरण्डमूल
- हल्दी
- पटोलपत्र
- आमलकी
- हरड़
- बहेड़ा
- गुडूची
- चमेली की पत्ती
- बिल्वमूल या छाल
- अग्निमन्थ
- श्योनाक
- पाटला
- गम्भारी
- शालपर्णी (सरिवन)
- पृश्निपर्णी
- बृहती (वनभण्टा)
- गोक्षरू
- मूषाकर्णी
- नीम की छाल
- पाठा
- सहचर (पियावासा)
- शम्पाक (अमलतास)
- करवीर (पीतकनेर)

सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें तथा इसे आठ गुने जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव अवशेष बचने पर क्वाथ (Decoction) को छानकर एक अलग पात्र में रख लें। [क्वाथ की मात्रा – स्नेह का चार गुना अर्थात् १६ भाग ग्रहण करें। क्वाथ १६ भाग तब होगा जब कल्क– १ भाग व स्नेह – ४ भाग होगा।]

२. **तिल तैल–** क्वाथ का चौथाई अर्थात् ४ भाग लें।

३. **कल्क द्रव्य–** तैल से चतुर्थांश, अर्थात् १ भाग कल्क द्रव्य लें। मैनफल, बिल्व की गुद्दी, त्रिवृत् (सफेद निशोथ), कृष्णा (पिप्पली), रास्ना, भूनिम्ब (चिरायता), देवदारु, सप्तपर्ण (छतिवन की छाल), वचा, उशीर (खस), दार्वी (दारुहल्दी), कूठ (कुष्ठ), इन्द्रयव, मञ्जिष्ठा, हल्दी, शताह्वा (सौंफ), अग्निक (चित्रक), शटी (कचूर), चोरक (चोरपुष्पी), पुष्करमूल (पोहकरमूल); सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क की कुल मात्रा – १ भाग लें।

निर्माण विधि– एक पात्र में क्वाथ, कल्क व तिल तैल निर्धारित मात्रा में लेकर विधिपूर्वक तैल को सिद्ध करें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर तैल को छानकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग पान, अभ्यङ्ग एवं अनुवासन बस्ति के रूप में करने से अधोलिखित व्याधियों में लाभ मिलता है– १. कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), २. कृमि रोग, ३. प्रमेह रोग (Urinary diseases including diabetes), ४. अर्श (Piles), ५. ग्रहणी (Sprue syndrome), ६. क्लीब (नपुंसकता – Impotency), ७. विषमाग्नि (Irregular digestion), ८. मल एवं दोष में वैषम्यता का होना।

अनुवासन बस्ति के सामान्य गुण– १. जो व्यक्ति व्याधि के कारण, अत्यधिक व्यायाम करने के कारण अथवा अत्यधिक पैदल चलने के कारण दुर्बल तथा ओज रहित हो गये हों, अथवा जिसका शुक्र अत्यधिक क्षीण हो गया हो, ऐसे रोगियों में स्नेह बस्ति के प्रयोग से बल की अत्यधिक वृद्धि होती है, २. अनुवासन बस्ति के प्रयोग से व्यक्ति के जङ्घा (Calf muscles), ऊरु (thighs), पीठ (Back), अंसप्रदेश (Shoulder region) एवं कटिप्रदेश (Lumbar region) अत्यधिक मजबूत हो जाते हैं। अर्थात् शरीर के इन भागों में दुर्बलता नहीं रहती। ३. दोषों की विकृति के कारण जिस स्त्री या पुरुष को सन्तान न उत्पन्न होती हो वे पुरुष या स्त्री अनुवासन बस्ति के प्रयोग से पुत्रवान् हो जाते हैं।

चक्रपाणि– "विडङ्गै इत्यादि" से लेकर "एभिश्च कल्कितै" तक विडङ्गतैल की निर्माण विधि को स्पष्ट किया गया है। यहाँ विडङ्ग, एरण्ड आदि द्रव्यों का क्वाथ व फल (मदनफल) आदि द्रव्यों के कल्क के साथ तिल तैल को सिद्ध करने का निर्देश दिया गया है। लता = मञ्जिष्ठा अर्थ लिया गया है। गौरी = हरिद्रा (हल्दी)। स्नेहबस्तिर्बलप्रद इति– इन तैलों द्वारा दी गयी स्नेहबस्ति (अनुवासन बस्ति) क्षीण शुक्र वाले रोगियों में अत्यधिक लाभ करती है। ॥१८-२४॥

वातपित्तकफात्यन्नपुरीषैरावृतस्य च । अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेहबस्तेः षडापदः ।।२५।।

स्नेहबस्ति के व्यापद् (Complications of Sneha-Basti)

स्नेहबस्ति (अनुवासन बस्ति) के अनुचित रूप से प्रयोग करने पर अधोलिखित छः व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती हैं– १. स्नेह का वात से आवृत होना (वातावृत स्नेह), २. स्नेह का पित्त से आवृत होना (पित्तावृत स्नेह), ३. स्नेह का कफ से आवृत होना (कफावृत स्नेह), ४. अत्यधिक भोजन के द्वारा स्नेह का आवृत होना, ५. पुरीष द्वारा स्नेह का आवृत होना (पुरीषावृत स्नेह), ६. बिना भोजन कराये स्नेहबस्ति का प्रयोग करना।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'वातपित्तेत्यादि' के द्वारा स्नेहबस्ति (अनुवासन बस्ति) के व्यापदों (उपद्रवों) को स्पष्ट किया गया है। ये सभी व्यापत्तियाँ (उपद्रव) स्नेह के मिथ्यायोग (अनुचित प्रयोग) से उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहा गया है।

"मिथ्याप्रणिहितानां च व्यापद" इति के द्वारा जिसे अध्याय के प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। उससे स्नेह के अयोग एवं अतियोग जन्य उपद्रवों को कहने का यहाँ अवसर नहीं है; क्योंकि अनुवासन के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियों (उपद्रवों) का विवेचन पूर्व के कल्पनासिद्धि नामक अध्याय (सि.अ. १) में किया जा चुका है। अति स्नेहन की चिकित्सा में शोधन बस्तियों का प्रयोग तथा अस्नेहन (स्नेहबस्ति के अयोग) की अवस्था में उसी स्नेहबस्ति के प्रयोग का विधान है, ऐसा जानना चाहिए। इसी विषय का स्पष्टीकरण– "तस्मान्निरूढः संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासितः । स्नेहशोधनयुक्तयैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत्" (सि.अ. ४/५१) इति [स्नेह एवं निरूह में से किसी एक बस्ति का ज्यादा प्रयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि अधिक स्नेहबस्ति के प्रयोग से उत्क्लेश (कफ व पित्त का उत्क्लेश – मिचली का आना Nausea) एवं अग्निमांद्य उत्पन्न हो जाता है तथा निरूह के अति प्रयोग से वातजन्य व्याधियों के होने की संभावना रहती है। इसलिये चिकित्सक को निरूह बस्ति देने के बाद अनुवासन तथा अनुवासन के बाद निरूह का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार स्नेहन व शोधन बस्तियों के युक्तिपूर्वक प्रयोग से प्रकुपित तीनों दोष शान्त हो जाते हैं।] के द्वारा दिया गया है। अर्थात् इस विषय का विवेचन यहाँ प्रसंगानुसार ही किया गया है। ॥२५॥

शीतोऽल्पो वाऽधिके वाते पित्तेऽत्युष्णः कफे मृदुः । अतिभुक्ते गुरुर्वर्चःसंचयेऽल्पबलस्तथा ॥२६॥
दत्तस्तैरावृतः स्नेहो न यात्यभिभवादपि । अभुक्तेऽनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्वं तस्य लक्षणम् ॥२७॥
अङ्गमर्दज्वराध्मानशीतस्तम्भोरुपीडनैः । पार्श्वरुग्वेष्टनैर्विद्यात् स्नेहं वातावृतं भिषक् ॥२८॥

स्नेहबस्ति के व्यापद् (उपद्रवों) का कारण– १. शरीर में वात की वृद्धि में शीतल अथवा अल्प मात्रा में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना, २. पित्त की वृद्धि होने पर अत्यन्त उष्ण औषधों से साधित तैल का प्रयोग अनुवासन के रूप में करना, ३. कफ की वृद्धि में अधिक मृदु अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना, ४. अत्यधिक भोजन करने के बाद गुरु अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना, ५. पुरीष के अति सञ्चय होने पर अल्प बल युक्त अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना। इन कारणों से दी गयी बस्ति का स्नेह गुदा से बाहर नहीं निकलता, अर्थात् वस्ति वापस नहीं लौटती अथवा स्नेह का गुण वातादि दोषों के बढ़ने से दब जाता है। ६. बिना भोजन किये हुए रोगी को अनुवासन वस्ति देने से ऊर्ध्व भाग का स्रोतस् खुला रहने के कारण स्नेह का गमन आमाशय की ओर होने लगता है। अतः प्रयुक्त स्नेह गुदा द्वारा वापस नहीं निकलता।

अब आगे इनके लक्षणों का विवेचन किया जा रहा है।

वातावृत स्नेह के लक्षण– यदि रोगी में वात का अत्यधिक प्रकोप हो अथवा वात की अत्यधिक वृद्धि हो। इस अवस्था में उसे शीतल अथवा अल्प मात्रा में अनुवासन बस्ति का प्रयोग करते हैं तब बढ़ी हुई रूक्षता की तुलना में स्नेह अल्प होने से स्नेह का प्रभाव कम दिखता है, अथवा वायु द्वारा स्नेह आवृत हो जाता है। इस अवस्था में रोगी में अधोलिखित लक्षण मिलते हैं– १. अङ्गमर्द (शरीर में दबाने जैसी पीड़ा का होना), २. ज्वर (Fever), आध्मान (Flatulence), शीत (शरीर में ठण्डक का लगना), ३. स्तम्भ (शरीर में जकड़ाहट का होना), ४. ऊरु में पीड़ा का होना (Pain in thighs), ५. पार्श्व पीड़ा का होना (पसलियों में पीड़ा का होना), ६. वेष्ठन (अंगों में ऐंठन का होना)

चक्रपाणि– 'शीत इत्यादि' के द्वारा छः व्यापदों के हेतु को यहाँ स्पष्ट किया गया है। गुरुरिति (गुरुणायुक्तः) – गुरु द्रव्यों से साधित स्नेह की बस्ति का प्रयोग करना। **वर्चः संचयेऽल्पबल इति–** पुरीष के अति संचय की अवस्था में अल्प बल वाली अनुवासन बस्ति के प्रयोग से संचित मल गुदा से बाहर नहीं निकल पाता। अर्थात् अल्प बल वाली अनुवासन बस्ति मल को बाहर निकालने में समर्थ नहीं होती। **तैरावृत इति पदं प्रत्येकं वातादिषु पञ्चसु योजनीयम्–** 'तैरावृत' पद वातादि पाँचों (वात, पित्त, कफ, अति अन्न एवं पुरीष) के साथ जोड़ना चाहिए। अर्थात् वातावृत, पित्तावृत, कफावृत, अन्नावृत व पुरीषावृत होने पर स्नेह नीचे की ओर नहीं लौटता। **अभिभवादपीति–** वातादि के द्वारा महास्रोतस् का मार्ग आवृत (अवरुद्ध) होने से अनुवासन बस्ति के रूप में दिया गया स्नेह गुदमार्ग से वापस नहीं आता। इस प्रकार वातादि के बढ़े हुए गुणों के द्वारा स्नेह के गुण अभिभूय (Suppress) होने से स्नेह वापस नहीं लौटता, अर्थात् दोषों के गुण अधिक वृद्ध होने से अल्प मात्रा में दिया गया स्नेह उनके गुणों को दूर करने में ही खर्च हो जाता है। **अनावृतत्वादिति अन्नेनोर्ध्वमार्ग-स्यापिहितत्वात्–** अन्न के द्वारा महास्रोतस् का ऊर्ध्व मार्ग बन्द न होने से खाली पेट दी गयी अनुवासन बस्ति ऊर्ध्व मार्ग की ओर (आमाशय की ओर) प्रवृत्त हो जाती है। वातादि आवृत के लक्षणों को – 'अङ्गमर्दादि' के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया गया है। **वेष्टनैरितिपार्श्ववेष्टनैरेव–** पसलियों में कोई वस्तु लपेट दी गयी हो, ऐसा अनुभव होना। ये स्तम्भादि लक्षण वातावृत स्नेह के प्रभाव के कारण उत्पन्न होते हैं। अतः ये लक्षण स्नेह प्रयोग से पूर्व रोगी में उत्पन्न ही नहीं होते। ॥२६-२८॥

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)– वातेत्यादि के द्वारा यहाँ स्नेहबस्ति के सम्यक् योग का वर्णन न करके स्नेहबस्ति के व्यापदों का अभिधान किया गया है। वातावृत, पित्तावृत, कफावृत, अतिअन्नावृत, पुरीषावृत तथा अभुक्तावस्था में अनुवासन बस्ति देने से छः व्यापत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। ये व्यापत्तियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं, जिसे 'शीत इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **अभुक्ते शून्योदरे दत्तः स्नेहबस्तिरनावृतत्वादूर्ध्वं याति–** खाली पेट दी गयी अनुवासन बस्ति ऊपर की ओर चली जाती हैं, अर्थात् आमाशय की ओर प्रवृत्त हो जाती है।

स्निग्धाम्ललवणोष्णैस्तं रास्नापीतद्रुतैलिकैः । सौवीरकसुराकोलकुलत्थयवसाधितैः ।।२९।।
निरूहैर्निर्हरेत् सम्यक् समूत्रैः पञ्चमूलिकैः । ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तेऽनुवासयेत् ।।३०।।
दाहरागतृषामोहतमकज्वरदूषणैः । विद्यात् पित्तावृतं स्वादुतिक्तैस्तं बस्तिभिर्हरेत् ।।३१।।

वातावृत स्नेह बस्ति की चिकित्सा– वात द्वारा अनुवासन बस्ति के आवृत होने पर स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं उष्ण द्रव्यों के कल्क, सुरा, सौवीरक, कोल, कुलथी एवं यव के क्वाथ द्वारा साधित रास्ना व पीतद्रु तैल के साथ गोमूत्र एवं बृहत्पञ्चमूल क्वाथ मिलाकर निरूह बस्ति तैयार करें एवं इसका प्रयोग स्नेह को निकालने के लिए करें। सायंकाल भोजन के बाद इन्हीं दोनों तैलों– रास्नातैल व पीतद्रुतैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

२. पित्तावृत स्नेहबस्ति के लक्षण एवं चिकित्सा– पित्तावृत स्नेहबस्ति में रोगी में निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं– १. शरीर में जलन का होना (Burning sensation), २. राग (शरीर में लालिमा की वृद्धि का होना – Redness), ३. प्यास का अधिक लगना (Morbid thirst), ४. मोह (Unconsciousness) का पाया जाना, ५. तमक (आँखों के सामने अन्धकार छा जाना), ६. ज्वर (Fever)।

चिकित्सा (Treatment)– स्वादु एवं तिक्त द्रव्यों के क्वाथ आदि से निर्मित निरूह बस्ति के प्रयोग द्वारा स्नेह को निकालना चाहिए।

चक्रपाणि– रास्ना तैल के निर्माण विधि को– "रास्नासहस्रनिर्यूहे" इत्यादि के द्वारा पूर्व में (वातव्याधिचिकित्सा प्रकरण में) स्पष्ट किया जा चुका है। पीतद्रुतैल का निर्माण– पीतद्रु के कल्क व सौवीरक आदि के क्वाथ द्वारा करना चाहिए, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। **ताभ्यामिति–** रास्नातैल व पीतद्रुतैल; इन दोनों तैलों को मिलाकर निरूह व अनुवासन बस्ति दें। ।।२९-३१।।

तन्द्राशीतज्वरालस्यप्रसेकारुचिगौरवैः । संमूर्च्छाग्लानिभिर्विद्याच्छ्लेष्मणा स्नेहमावृतम् ।।३२।।
कषायकटुतीक्ष्णोष्णैः सुरामूत्रोपसाधितैः । फलतैलयुतैः साम्लैर्बस्तिभिस्तं विनिर्हरेत् ।।३३।।

३. कफावृत स्नेह बस्ति के लक्षण–

१. तन्द्रा का आना (Drowsiness)
२. शरीर में ठण्ढ़ का लगना
३. ज्वर (Fever)
४. आलस्य (काम करने की इच्छा का न होना)
५. प्रसेक (मुख से लाला का स्राव होना)
६. अरुचि (Anorexia)
७. गौरव (शरीर में भारीपन का अनुभव)
८. मूर्च्छा (Fainting)
९. ग्लानि (Exhaustion या lassitude)

उपरोक्त लक्षणों को देखकर स्नेह कफ से आवृत है, ऐसा समझें।

चिकित्सा (Treatment)– कषाय, कटु, तीक्ष्ण व उष्ण द्रव्यों के क्वाथ, सुरा, गोमूत्र, मदनफलतैल व अम्ल द्रव्यों के क्वाथ, कल्क आदि डालकर बनायी गयी निरूह बस्ति का प्रयोग स्नेह को निकालने के लिए करना चाहिए।

चक्रपाणि– फलतैल से पूर्व में व्यवहृत तैल का ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् इससे मदनफल तैल का ग्रहण किया गया है। ।।३२-३३।।

छर्दिमूर्च्छारुचिग्लानिशूलनिद्राङ्गमर्दनैः । आमलिङ्गैः सदाहैस्तं विद्यादत्यशनावृतम् ।।३४।।
कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णैश्च पाचनम् । विरेको मृदुरत्रामविहिता च क्रिया हिता ।।३५।।

अन्नावृत स्नेहबस्ति के लक्षण– अन्नावृत स्नेहबस्ति में रोगी में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. छर्दि (वमन का होना- Vomiting), २. मूर्च्छा (Fainting), ३. अरुचि (Anorexia), ४. ग्लानि (Depression), ५. शूल (Colic pain), ६. अत्यधिक निद्रा का आना (Excessive sleep), ७. अङ्गमर्द (Malaise), ८. आम दोष के लक्षणों का मिलना, ८. शरीर में दाह का होना (Burning sensation)

ये सभी लक्षण अति अन्न द्वारा स्नेह के आवृत होने पर रोगी में मिलते हैं।

Scanned by CamScanner

चिकित्सा (Treatment)–

- कटु एवं लवण रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ एवं चूर्णों के प्रयोग द्वारा अन्न का पाचन कराना ।
- मृदु विरेचन कराना
- इसके साथ ही शास्त्र निर्दिष्ट आमदोषनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना ।

चक्रपाणि– आमलिङ्गैरिति आमलक्षणैरालस्यादिभिः– आलस्य आदि आमदोष के लक्षणों का मिलना। आमविहिता क्रियेति– आमदोषनाशक क्रिया (चिकित्सा) का प्रयोग करना, आमदोषनाशक चिकित्सा जिसका उल्लेख – "आमं प्रदुष्टमन्नाभिभूतं पुनरुल्लिखेत्" (वि.अ. २) इति [दूषित अलसी भूत साध्य आम में सर्वप्रथम रोगी को लवण युक्त उष्ण जल पिलाकर वमन कराना चाहिए।] इत्यादि के द्वारा विमान स्थान $^{१}/_{१३}$ में किया जा चुका है, का अनुसरण करना चाहिए। ॥३४-३५॥

विशेष (Comments)– इसमें विशेष रूप से आमदोषनाशक चिकित्सा का पालन करना चाहिए।

विण्मूत्रानिलसङ्गार्तिगुरुत्वाध्मानहृद्ग्रहैः । स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः ।।३६।।
श्यामाबिल्वादिसिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनैः । निर्हरेद्विधिना सम्यगुदावर्तहरेण च ।।३७।।

पुरीषावृत स्नेहबस्ति के लक्षण– यदि दी गयी अनुवासन बस्ति पुरीष द्वारा आवृत (अवरुद्ध) हो जाती है तब रोगी में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

- पुरीष, मूत्र एवं वायु का अवरुद्ध हो जाना ।
- उदर में शूल का होना ।
- उदर में भारीपन का मिलना (Heaviness) ।
- आध्मान (Flatulence) ।
- हृदय प्रदेश में जकड़ाहट का होना ।

रोगी में यदि ये सभी लक्षण मिलें तब चिकित्सक को समझ लेना चाहिए कि दी गयी अनुवासन बस्ति पुरीष द्वारा आवृत हो गयी है।

चिकित्सा (Treatment)–

- स्नेहन, स्वेदन एवं फलवर्ति (Medicated suppository) के प्रयोग द्वारा मलादि के अवरोध को दूर करना, अर्थात् पुरीष को निकालना।
- श्यामा, बिल्व आदि द्रव्यों के क्वाथ व कल्क से तैयार की गयी निरूह बस्ति का प्रयोग करना, जिससे मलादि दोषों का निर्हरण हो जाय, तत्पश्चात् इन्हीं द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति देना।
- उदावर्त रोग नाशक चिकित्सा का समुचित प्रयोग करना।

निर्दिष्ट चिकित्सा द्वारा आवृत हुए स्नेह को बाहर निकालना चाहिए।

चक्रपाणि– स्नेहं विडावृतमिति– पुरीष द्वारा आवृत स्नेह की चिकित्सा में सर्वप्रथम अभ्यंग, स्वेदन एवं फलवर्तियों के प्रयोग का निर्देश दिया गया है। वर्ति = फलवर्ति (गुदवर्ति) अर्थ लिया गया है। इनके प्रयोग से पुरीष एवं अपान वायु की अधोप्रवृत्ति होती है। परिणाम स्वरूप इनके साथ ही अवरुद्ध स्नेह भी बाहर निकल आता है।

केचित्तु 'बस्तिभिः' इति पठन्ति– कुछ आचार्य 'सवर्तिभिः' के स्थान पर 'बस्तिभिः' पाठ पढ़ते हैं।

श्यामाबिल्वादीनि च श्यामा च बिल्वादीनि दशमूलानि च श्यामाबिल्वादीनि– श्यामा (काली निशोथ) और बिल्वादि (दशमूल) को संयुक्त रूप से **श्यामाबिल्वादि** नाम दिया गया है। अथवा **श्यामादि** से कल्पस्थान में वर्णित नव (Nine) द्रव्यों, यथा– श्यामा, त्रिवृत् (सफेद निशोथ), चतुरङ्गुल (अमलतास), तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला, शङ्खिनी, दन्ती व द्रवन्ती का ग्रहण किया गया है।

तैः निरूहस्य तथाऽनुवासनस्य च साधनमिह ज्ञेयम्– श्यामादि द्रव्यों तथा बिल्वादि गण (दशमूल) के द्रव्यों द्वारा साधित क्वाथ व कल्क की निरूह बस्ति तथा इन्हीं द्रव्यों द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना, यहाँ यही भाव ग्रहण करना चाहिए।

उदावर्तहरेणेति– त्रिमर्मीय अध्याय में वर्णित उदावर्त नाशक चिकित्सा का यहाँ भी प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् उदावर्त रोग नाशक चिकित्सा के प्रयोग से पुरीष, मूत्र एवं अपान वायु के अवरोध को दूर करना चाहिए। ॥३६-३७॥

अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहोऽतिपीडितः । धावत्यूर्ध्वं ततः कण्ठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एत्यपि ।।३८।।
मूत्रश्यामात्रिवृत्सिद्धो यवकोलकुलत्थवान् । तत्सिद्धतैल इष्टोऽत्र निरूहः सानुवासनः ।।३९।।
कण्ठादागच्छतः स्तम्भकण्ठग्रहविरेचनैः । छर्दिघ्नीभिः क्रियाभिश्च तस्य कार्यं निवर्तनम् ।।४०।।

Scanned by CamScanner

खाली पेट दी गयी अनुवासन बस्ति से उत्पन्न विकार एवं उनकी चिकित्सा– खाली पेट अथवा गुदा के रिक्त होने पर तीव्र वेगयुक्त अनुवासन बस्ति के प्रयोग से स्नेह ऊर्ध्व की ओर चला जाता है, अर्थात् आमाशय में पहुँच जाता है तथा कण्ठ तक पहुँच कर ऊपर के छिद्रों से बाहर निकलने लगता है। इस अवस्था मे रोगी को गोमूत्र, श्यामा (काली निशोथ), निशोथ (सफेद निशोथ- अरुण मूल वाली निशोथ) के क्वाथ, यव, कोल (बेर) एवं कुलथी के कल्क से निर्मित निरूह बस्ति तथा इन्हीं औषधियों के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् निर्दिष्ट योगों का प्रयोग करना यहाँ हितावह माना गया है।

यदि कण्ठ से स्नेह बाहर निकल रहा हो तब स्तम्भन चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए, अथवा कण्ठ को इस प्रकार हाथ से दबाना चाहिए जिससे स्नेह नीचे की ओर चला जाय। इसके साथ ही स्नेह की अधः प्रवृत्ति हेतु विरेचन एवं वमन नाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अभुक्ते इति' के द्वारा **तीन हेतु** स्नेहबस्ति के ऊर्ध्व गमन में कारण हैं, ऐसा समझना चाहिए। बिना भोजन किये स्नेह बस्ति का प्रयोग करना उसके ऊर्ध्व गमन का एक हेतु है, ऐसा पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। फिर भी एक कार्य रूप होने से तथा चिकित्सा में समता (सामान्यता) के कारण शून्यपायुत्व (गुदा का रिक्त होना) तथा अत्यधिक दबाव देकर स्नेहबस्ति का प्रयोग करना (Forceful injection of the enema fluid) भी यहाँ हेतु के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

शून्यपायुत्वं चाधोनिरोधाकर्तृतया स्नेहमूर्ध्वं नयति– शून्य पायुत्व (गुदा में मल का न रहना, अर्थात् निरूह बस्ति के प्रयोग से गुदा यदि खाली हो गयी हो) की अवस्था में दी गयी अनुवासन बस्ति अधोमार्ग में रुकावट न होने के कारण ऊपर की ओर चली जाती है।

ऊर्ध्वेभ्यः खेभ्य इति मुखनासादिभ्यः– ऊर्ध्व मार्ग के स्रोतस्, यथा- मुखमार्ग व नासिका आदि के द्वारा। एतीति निर्गच्छति- निकलने लगता है।

अपि शब्दान्मुखादिनिर्गमनस्य कादाचित्कत्वं दर्शयति– 'अपि' शब्द से यहाँ अचानक मुख आदि से भी स्नेह के निर्गमन को दर्शाया गया है। **तत्सिद्धतैल इति मूत्रश्यामादिसाधिततैलेन युक्तः–** गोमूत्र तथा श्यामा आदि द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से साधित तैल को मिलाकर बनायी गयी निरूह बस्ति [गोमूत्र व श्यामादि द्रव्यों के कल्क, क्वाथ तथा इन्हीं द्रव्यों से साधित तैल मिश्रित निरूह बस्ति] **सानुवासन इति तत्सिद्धतैलेन चानुवासनं देयम्–** गोमूत्र, + श्यामा आदि द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। आगच्छत इति- अनुवासन बस्ति में प्रयुक्त स्नेह जिस समय गले तक आ जाय, अथवा रोगी को ज्योंही यह प्रतीत हो कि स्नेह गले तक आ गया है उसी समय स्तम्भन आदि उपक्रमों (चिकित्सा) का प्रयोग करना चाहिए।

स्तम्भः व्यजनशीतजलसेकादिना– 'स्तम्भन' चिकित्सा के अन्तर्गत पंखों की शीतल हवा करना, शरीर के ऊपर शीतल जल को छिड़कना, अर्थ लिया गया है।

कण्ठग्रहः ऊर्ध्वगमनप्रतिषेधार्थं कण्ठपीडनम् – गले तक गये हुए स्नेह को रोकने के लिए कण्ठ का पीडन करना या कण्ठ को हलके हाथ से दबाना।

छर्दिघ्नीः क्रियाः– छर्दि रोग चिकित्सा में- "मनोऽभिघाते तु मनोऽनुकूलाः" इत्यादि से लेकर "सुख एव जेतुम्" (चि.अ. २०) इति तक वर्णित चिकित्सा विधि का यहाँ ग्रहण करना चाहिए। [चिकित्सा अध्याय २० में द्विष्टार्थ संयोगज वमन रोग की जो चिकित्सा बतायी गयी है उसका पालन यहाँ भी करना चाहिए।] ॥३८-४०॥

यस्य नोपद्रवं कुर्यात् स्नेहबस्तिरनिःसृतः । सर्वोऽल्पो वाऽऽवृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता ॥४१॥

उपद्रव रहित अप्रवृत्त स्नेह बस्ति की उपेक्षा करें– यदि दी गयी स्नेहबस्ति पूर्णतः अथवा अल्प रूप में दोष अथवा मल (पुरीष) द्वारा अवरुद्ध होकर अथवा शरीर में रूक्षता अधिक होने के कारण वापस नहीं आती है, लेकिन रोगी में कोई उपद्रव भी नहीं उत्पन्न करती है तब ऐसी अवस्था में उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् उसे निकालने के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– वातादि दोषों से आवृत स्नेह की प्रवृत्ति के अभिधान के बाद किस अवस्था में स्नेहों की प्रवृत्ति हेतु (बाहर निकालने के लिए) प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए, उसे यहाँ 'यस्य नोपद्रवमित्यादि' के द्वारा समझाया गया है। **नोपद्रवं कुर्यादिति–** प्रयुक्त स्नेहबस्ति द्वारा रोगी में कोई उपद्रव न उत्पन्न हो [स्नेह के वापस न आने पर भी रोगी को कोई कठिनाई न हो।], अर्थात् स्नेह के प्रवृत न होने पर भी रोगी में स्तम्भ (जकड़ाहट), शूल आदि कोई लक्षण न उत्पन्न हों। **अल्पो वाऽऽवृत इति–** अल्प आवृत होने पर, अर्थात् स्नेह के अल्प रूप में निकलने पर या अल्प आवृत (अवरुद्ध) होने पर भी स्तंभ आदि उपद्रव न उत्पन्न होने में क्या हेतु है? इसे यहाँ 'रौक्ष्यादिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

तदाऽत्यर्थरूक्षतया शरीरस्य तिष्ठन्नपि स्नेहो न व्यापदमावहतीत्यर्थः– तब शरीर के अत्यन्त रूक्ष होने से स्नेह के रुक जाने पर भी उसके द्वारा कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न होता। अर्थात् रुका हुआ स्नेह शरीर में कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न करता।

उपेक्ष्य इति– उस रुके हुए स्नेह की उपेक्षा कर देनी चाहिए। अर्थात् वहाँ वातावृत स्नेह की चिकित्सा, जैसा कि पूर्व में कहा गया है, नहीं करनी चाहिए। अन्य स्थानों पर भी कहा गया है, यथा– "अहोरात्रादपि स्नेहः प्रत्यागच्छन्न दूष्यति। कुर्याद्वस्तिगुणांश्चापि जीर्णस्त्वल्पगुणो भवेत्" (सु.चि.अ. ३७/९७) इति [यदि दी गयी अनुवासन बस्ति २४ घण्टे के बाद वापस लौटती है तथा शरीर में कोई विकार नहीं उत्पन्न करती, उस स्थिति में भी वह शरीर में अपने गुणों को प्रदान करती है, अर्थात् व्यक्ति को बस्ति का लाभ मिलता है। किन्तु जब स्नेह शरीर में जीर्ण (पच) हो जाता है तब वह अल्प गुणकारी होता है।] ॥४१॥

युक्तस्नेहं द्रवोष्णं च लघुपथ्योपसेवनम् । भुक्तवान् मात्रया भोज्यमनुवास्यस्त्र्यहात्यहात् ॥४२॥
धान्यनागरसिद्धं हि तोयं दद्याद्विचक्षणः । व्युषिताय निशां कल्यमुष्णं वा केवलं जलम् ॥४३॥
स्नेहाजीर्णं जरयति श्लेष्माणं तद्धिनत्ति च । मारुतस्यानुलोम्यं च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम् ॥४४॥
वमने च विरेके च निरूहे सानुवासने । तस्मादुष्णोदकं देयं वातश्लेष्मोपशान्तये ॥४५॥

अनुवासन बस्ति के बाद पथ्य अन्न की व्यवस्था– अनुवासन बस्ति देने के बाद रोगी को स्नेह युक्त, द्रव, उष्ण, लघु एवं हितकर भोजन कराना चाहिए। मात्रापूर्वक पथ्य अन्न सेवन करने के बाद रोगी को तीन-तीन दिन पर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए।

अनुवासन बस्ति देने के बाद, जब रात्रि सुखपूर्वक बीत जाय तब दूसरे दिन प्रातःकाल रोगी को धनियाँ एवं सोंठ (शुण्ठी) द्वारा साधित जल अथवा मात्र उष्ण जल पीने के लिए देना चाहिए।

उष्ण जल के गुण– १. उष्ण जल बिना पचे हुए स्नेह (अजीर्ण स्नेह- undigested fat) को पचाता है, २. कफ को तोड़कर बाहर निकालता है, ३. अपान वायु को अधो मार्ग से प्रवृत्त कराता है, अर्थात् बाहर निकालता है।

इसलिये वमन, विरेचन, निरूह एवं अनुवासन बस्ति के बाद वात व कफज दोषों की शान्ति हेतु उष्ण जल का प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए।

चक्रपाणि– स्नेह बस्ति से होने वाले उपद्रवों के प्रतिकार के बाद उपद्रव रहित अनुवासन बस्ति के अनुकूल दिये जाने वाले भोजन को यहाँ- 'युक्तस्नेहमित्यादि' के द्वारा बताया गया है।

युक्तस्नेहमिति अव्यापन्नस्नेहमिति भावः– सम्यक् स्नेहबस्ति के प्रयोग के बाद; अनुवासन बस्ति देने के बाद, यदि समय से बस्ति (स्नेह) वापस लौट आती है तब रोगी को द्रव, उष्ण, लघु एवं पथ्य आहार का सेवन कराना चाहिए।

'उपसेवन' का अर्थ भोजन से लिया गया है। **त्र्यहादिति विधानं प्रायिकम्–** सामान्यतया अनुवासनबस्ति का प्रयोग तीन-तीन दिन पर करना चाहिए। आम स्नेह (undigested fat) के पाचन हेतु धनियाँ व शुण्ठी द्वारा पकाये गये जल का प्रयोग पीने के लिए करना चाहिए, अथवा उष्ण जल रोगी को पीने के लिए देना चाहिए। इस जल का पाक षडंगपानीय विधि द्वारा करें, अर्थात् १ तोला धनियाँ व शुण्ठी के चूर्ण को लेकर ६४ तोले जल में पकावें, आधा जल (द्रव) जब शेष बचे तब इस साधित जल को अग्नि पर से उतार कर कपड़े से छान लें एवं इसका प्रयोग पीने के लिए करें।

कल्यमिति– प्रातःकाल में। **स्नेहाजीर्णमिति स्नेहस्याजीर्णं कोष्ठोपलेपकमंशम्–** स्नेह का अजीर्ण भाग, वह स्नेह जो महास्रोतस् की दीवारों में चिपका हुआ है। [स्नेह का वह भाग जो महास्रोतस् की दीवारों में चिपका रह जाता है] उसके पाचन हेतु धनिया व शुण्ठी साधित जल का प्रयोग बताया गया है। ॥४२-४५॥

रूक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्व्यायामी मारुतामयी । वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताश्चार्हा दिने दिने ॥४६॥
एषां चाशु जरां स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव । अतोऽन्येषां त्र्यहात् प्रायः स्नेहं पचति पावकः ॥४७॥

नित्य अनुवासन बस्ति के योग्य पुरुष– १. जो व्यक्ति नित्य रूक्ष आहार-विहार का सेवन करता है, २. जिस व्यक्ति की जाठराग्नि अत्यधिक तीव्र है, अर्थात् जिसे भूख अधिक लगती है, ३. जो अत्यधिक व्यायाम करते हों तथा जो व्यक्ति वात रोगों से पीड़ित हों, ४. जिस व्यक्ति के वंक्षण (Pubic and iliac regions or groin) एवं श्रोणि (Buttock) प्रदेश में वायु प्रकुपित हो, ५. जो व्यक्ति उदावर्त रोग से पीड़ित हो। [उदावर्त = A class of diseases (marked by retention of the feces)]

इस प्रकार के रोगियों में प्रतिदिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इन पुरुषों के शरीर में स्नेह उसी प्रकार शीघ्र पच जाता है जिस प्रकार बालू के ऊपर पानी डालने से वह शीघ्रतापूर्वक सूख जाता है। इनसे भिन्न व्यक्तियों में स्नेह का पाचन जाठराग्नि द्वारा प्रायः तीन दिन में होता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– नित्य अनुवासन के योग्य पुरुषों को यहाँ 'रूक्षनित्यस्त्विति'आदि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् प्रतिदिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग किस प्रकार के व्यक्तियों में करना चाहिए, उसे बताया गया है।

वंक्षणश्रोणिगतश्च तथोदावृत्तश्च वातो येषां ते वङ्क्षणश्रोण्युदावृत्तवाताः– जिस व्यक्ति के वंक्षण व श्रोणि प्रदेश में वायु प्रकुपित हो अथवा अवरुद्ध हो, ऐसे पुरुषों को 'वंक्षणश्रोण्युदावृत्तवात' वाला रोगी कहा जाता है। अर्हा इति– अनुवासन के योग्य। अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– **''रूक्षस्य बहुवातस्य स्नेहबस्तिं दिने-दिने। दद्याद्वैद्यस्ततोऽन्येषामग्न्याबाधभयात्यहात्''** (सु.चि.अ. ३७/७९) इति [जिस व्यक्ति का शरीर अत्यधिक रूक्ष है अथवा जिसके शरीर में वात अत्यधिक प्रकुपित है, ऐसे पुरुषों में अनुवासन बस्ति का नित्य प्रयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य पुरुषों में अग्निमांद्य के भय के कारण (अग्नि बाधा के भय से) तीसरे दिन इसका प्रयोग करना चाहिए। 'रूक्षस्य बहुवातस्य' के स्थान पर वर्तमान सुश्रुतसंहिता के पाठों में 'रूक्षाय बहुवाताय' पाठ प्राप्त होता है।]

प्रति अहदानत्र्यहदानोपपत्तिमाह– एषामित्यादि– 'एषामित्यादि' के द्वारा प्रतिदिन अनुवासन बस्ति के प्रयोग एवं तीन-तीन दिन पर अनुवासन बस्ति के प्रयोग को सहेतुक स्पष्ट किया गया है।

त्र्यहात् स्नेहं पचतीति पक्वाशयोपलेपकं स्नेहं बहिर्निःसृतेनोष्मणा पचति– पक्वाशय की दीवारों में चिपका हुआ स्नेह बाहर निकलने वाली ऊष्मा के द्वारा पच जाता है। यद्यपि यहाँ अग्नि आमाशय के अधोभाग तथा पक्वाशय के ऊर्ध्व भाग में स्थित होने के कारण उस प्रकार का स्नेह का संबन्ध यहाँ नहीं है, अर्थात् स्नेह का सीधा सम्बन्ध जाठराग्नि से नहीं होता, फिर भी जाठराग्नि के ही मिश्रित अवयवों के द्वारा उसका पाक होता है, ऐसा कहा गया है।

प्रायः शब्देन पञ्चाहपाकमपि दर्शयति, तेन पञ्चाहदानमप्यनुवासने मन्दाग्निं प्रति प्रागुक्तं ज्ञेयम्– प्रायः शब्द से यहाँ पाँच दिन में भी स्नेह का पाक होता है, यह दर्शाया गया है। यह निर्देश मन्दाग्नि वाले पुरुषों को दृष्टिगत रखते हुए दिया गया है, यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। कहा भी गया है, यथा– ''परतस्त्र्यहे वा द्व्यहेऽनुवास्योऽहनि पञ्चमे वा'' (सि.अ. १/२४) इति [सायंकाल में दी गयी अनुवासन बस्ति के सम्यक् वापस लौट आने पर तथा रात्रि सुखपूर्वक व्यतीत हो जाने पर दूसरे दिन आतुर को प्रातः एवं सायं काल हितकर भोजन सेवन करावें। इसके दूसरे दिन या तीसरे दिन अथवा पाँचवें दिन अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।] ॥४६-४७॥

न त्वामं प्रणयेत् स्नेहं स ह्यभिष्यन्दयेद्गुदम्। सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति ॥४८॥
न चैव गुदकण्ठाभ्यां दद्यात् स्नेहमनन्तरम्। उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत् ॥४९॥

आम तैल (स्नेह) का प्रयोग बस्ति में न करें– अनुवासन बस्ति में आम स्नेह (तैल) का प्रयोग कभी न करें, क्योंकि ऐसा करने से आम स्नेह गुदा को अभिष्यन्दित कर देता है, अर्थात् गुदा से स्राव होने लगता है।

अनुवासन बस्ति देते समय सम्पूर्ण स्नेह गुदा में प्रविष्ट नहीं कराना चाहिए, अपितु कुछ स्नेह बस्तिपुटक में बचा लेना चाहिए ऐसा करने से स्नेह के साथ वायु गुदा में प्रविष्ट नहीं हो पाती।

स्नेहपान एवं अनुवासन बस्ति का एक समय में प्रयोग न करें– मुखमार्ग एवं गुदा द्वारा एक ही समय में स्नेह का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अर्थात् अनुवासन बस्ति देते समय स्नेहपान नहीं कराना चाहिए तथा स्नेहपान करने के तत्काल बाद अनुवासन बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि इस नियम का पालन नहीं किया जाता है तब दोनों मार्गों से शरीर में गया हुआ स्नेह **अग्नि** तथा **वात** दोनों को ही विकृत कर देता है।

चक्रपाणि– आममिति = अपक्व। **प्रणयेदिति–** अनुवासन बस्ति देनी चाहिए, आम स्नेह का प्रयोग (असिद्ध तैल का प्रयोग) अनुवासन बस्ति के रूप में कभी भी नहीं करना चाहिए। [आम स्नेह की अनुवासन बस्ति नहीं देनी चाहिए।]

सावशेषं कुर्वीतेति न निःशेषं दद्यात्– बस्तिपुटक में स्नेह कुछ बचा लेना चाहिए, अर्थात् अनुवासन बस्ति देते समय बस्तिपुटक को पूर्णतः खाली नहीं करना चाहिए।

गुदकण्ठाभ्यामिति– अनुवासन एवं स्नेहपान, दोनों का एक साथ प्रयोग नहीं करना चाहिए। अनन्तरमिति = एक समय में। वातमग्निं च दूषयेदिति– शरीर में प्रविष्ट स्नेह वायु व अग्नि दोनों को विकृत कर देती है। यहाँ वायु की विकृति अजीर्ण उत्पन्न होने तथा स्नेह द्वारा वायु के आवृत होने के कारण होती है, ऐसा समझना चाहिए। ॥४८-४९॥

स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत्। उत्क्लेशाग्निवधौ स्नेहान्निरूहात् पवनाद्भयम् ॥५०॥
तस्मान्निरूढः संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासितः। स्नेहशोधनयुक्त्यैवं बस्तिकर्म त्रिदोषनुत् ॥५१॥

Scanned by CamScanner

निरूह अथवा अनुवासन बस्ति का एकान्तिक प्रयोग न करें– व्यक्ति को निरूह (क्वाथ प्रधान) बस्ति अथवा अनुवासन बस्ति में से किसी एक का अत्यधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए। स्नेह बस्ति के अधिक प्रयोग करने से उत्क्लेश (मिचली - Nausea) तथा अग्निवध (अग्निमांद्य) उत्पन्न हो जाता है तथा निरूह बस्ति के अत्यधिक प्रयोग से शरीर में वात प्रकोप का भय उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् शरीर में रूक्षता की वृद्धि होने से वायु प्रकुपित हो जाती है। इसलिये चिकित्सक को निरूह बस्ति देने के बाद अनुवासन बस्ति तथा अनुवासन बस्ति के बाद निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

युक्तिपूर्वक स्नेहन व शोधन बस्तियों का प्रयोग तीनों दोषों को नष्ट करता है। अर्थात् युक्तिपूर्वक बस्तियों के प्रयोग से प्रकुपित तीनों दोष प्रशमित हो जाते हैं।

चक्रपाणि– निरूह एवं अनुवासन बस्ति में से किसी एक बस्ति के अत्यधिक प्रयोग से होने वाले दोष (विकार) को यहाँ 'स्नेहबस्तिं निरूहं वेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। एकमेवेति परस्परानन्तरितम् – परस्पर अवरुद्ध न होना, किसी एक बस्ति का लगातार प्रयोग करना। **उत्क्लेशः–** कफ व पित्त का उत्क्लेशित होना। निरूहात् पवनाद्भयमिति– निरूह बस्ति के अतिप्रयोग से शरीर में शोधन का अतियोग होने से वात प्रकोप का भय उत्पन्न हो जाता है।

निरूढः संस्नेह्य इति– निरूह के प्रयोग द्वारा स्रोतस् के शुद्ध हो जाने पर, अथवा शरीर का शोधन हो जाने पर या कफ-पित्त का प्रशमन होने पर व्यक्ति को स्नेह बस्ति का अभ्यास करना चाहिए तथा अनुवासन बस्ति के प्रयोग द्वारा रोगी का सम्यक् स्नेहन हो जाने पर निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार परस्पर अदल-बदल कर निरूह व अनुवासन बस्ति का प्रयोग करने से तीनों दोषों का प्रशमन होता है। अनुवासन बस्ति के प्रयोग से वात की शान्ति तथा निरूह बस्ति के प्रयोग से कफ-पित्त का प्रशमन हो जाता है। इसी को यहाँ 'स्नेहशोधनेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। शोधन से यहाँ 'निरूह बस्ति' अर्थ लिया गया है। ॥५०-५१॥

कर्मव्यायामभाराध्वयवा(पा)नस्त्रीकर्षितेषु च । दुर्बले वातभग्ने च मात्राबस्तिः सदा मतः ।।५२।।
यथेष्टाहारचेष्टस्य सर्वकालं निरत्ययः । ह्रस्वायाः स्नेहमात्राया मात्राबस्तिः समो भवेत् ।।५३।।
बल्यं सुखोपचर्यं च सुखं सृष्टपुरीषकृत् । स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत् ।।५४।।

मात्राबस्ति के योग्य पुरुष– अधोलिखित व्यक्तियों में मात्राबस्ति का प्रयोग सदैव हितकारी होता है– १. जो व्यक्ति अत्यधिक काम करने के कारण कृश हो गया हो, २. अत्यधिक व्यायाम करने के कारण कृश हो, ३. अत्यधिक भार ढोने अथवा अत्यधिक पैदल चलने से कृश (दुर्बल) हो गया हो, ४. नित्य सवारियों (यथा– ऊँट, घोड़े, रथ, इक्का आदि की सवारी करने) के कारण कृश हो, ५. अति मैथुन करने के कारण दुर्बल हो, ६. जो रोगी दुर्बल हो अथवा वात व्याधि से पीड़ित हो।

मात्राबस्ति का महत्त्व– अपनी इच्छा के अनुसार आहार-विहार करने वाले व्यक्तियों के लिए उपद्रव रहित इस मात्राबस्ति का प्रयोग सर्वदा हितकारी होता है। अर्थात् मात्रा बस्ति का प्रयोग व्यक्ति किसी भी समय कर सकता है। स्नेह की सबसे छोटी मात्रा को मात्रा बस्ति कहते हैं।

मात्राबस्ति से लाभ– यह बस्ति व्यक्ति के बल को बढ़ाने वाली, सुखपूर्वक देने योग्य, सुखपूर्वक पुरीष व मूत्र का त्याग कराने वाली, शारीरिक धातुओं को पुष्ट करने वाली तथा वात विकारों की नाशक होती है। इस प्रकार यहाँ मात्रा बस्ति का वर्णन किया गया।

चक्रपाणि– 'कर्मेत्यादि' के द्वारा यहाँ अनुवासन बस्ति के विशेष भाग मात्राबस्ति के विषय, प्रमाण एवं गुणों का क्रमशः विवेचन किया गया है। **कर्मात्र कन्दुकचालनादि–** कर्म से यहाँ गेंद को चलाना आदि अर्थ लिया गया है। इसके स्थान पर 'कुद्दालपातनादि' पाठभेद प्राप्त होता है। इसे स्वीकार करने पर कर्म शब्द से – कुदाल चलाना आदि अर्थ का ग्रहण होता है। 'व्यायाम' – शब्द से धनुष की डोरी खिंचना आदि अर्थ लिया गया है। **वातभग्ने वातेन पीडिते–** वात रोग से पीड़ित होने पर। सदेति प्रत्यहम् = प्रतिदिन।

ह्रस्वायाः इति अर्धाहः परिणमनीयायाः– स्नेहपान की जो मात्रा आधे दिन (छः घण्टे) में जीर्ण हो (पच) जाय ह्रस्व मात्रा कही जाती है। कहा भी गया है, यथा– "अहोरात्रमहः कृत्स्नं दिनार्धं च प्रतीक्षते । उत्तमा मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रा जरां प्रति" (सु.अ. १३/२५) इति [स्नेह की जो मात्रा अहोरात्रि (दिन-रात, अर्थात् २४ घण्टे) में पच जाय, वह **उत्तम (प्रधान) मात्रा**, जो सम्पूर्ण दिन भर (१२ घण्टे) में पाक को प्राप्त हो जाय वह **मध्यम** तथा जो केवल आधे दिन में पच (जीर्ण हो) जाय वह **ह्रस्व मात्रा** कही जाती है।] अन्य शास्त्रों में इन **तीनों मात्राओं** के प्रमाण को भी स्पष्ट किया गया है, यथा– "षट्पली तु भवेज्ज्येष्ठा, मध्यमा त्रिपली भवेत् । कनीयसी सार्धपला त्रिधा मात्रा अनुवासने" [अनुवासन बस्ति की तीन मात्राएं होती है– १. छः पल स्नेह (२४ तोले स्नेह) की मात्रा **प्रधान मात्रा**, २. तीन पल स्नेह की मध्यम मात्रा तथा ३. १$^{१}/_{२}$ पल (६ तोले) स्नेह की ह्रस्व (अवर) मात्रा होती है।] आचार्य सुश्रुत ने भी अनुवासन बस्ति के प्रमाण को इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा– "तस्यापि विकल्पोऽर्धार्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्राबस्तिः" (सु.चि.अ. ३५/) इति [अनुवासन बस्ति

Scanned by CamScanner

का एक भेद **मात्रा बस्ति** भी है। इसमें प्रयुक्त स्नेह की मात्रा १$^{१}/_{२}$ पल (६ तोले) होती है।] इस प्रकार छः तोले प्रमाण की दी जाने वाली स्नेह की बस्ति को **मात्रा बस्ति** कहा गया है। छः पल (२४ तोले) स्नेह की बस्ति को **स्नेह बस्ति** तथा तीन पल (१२ तोले) स्नेह की दी जाने वाली बस्ति को **अनुवासन बस्ति** कहते हैं।

सुखोपचर्यमिति चेष्टाहारनियमाभावादेव– आहार-विहार के नियमों के पालन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। मात्रा बस्ति का प्रयोग रोगी में आसानी से किया जा सकता है, क्योंकि इसके प्रयोग के बाद पथ्यापथ्य के प्रति विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती। ॥५२-५४॥

तत्र श्लोकौ–

वातादीनां शमायोक्ताः प्रवराः स्नेहबस्तयः । तेषां चाज्ञप्रयुक्तानां व्यापदः सचिकित्सिताः ॥५५॥
प्राग्भोज्यं स्नेहबस्तेर्यद् ध्रुवं येऽर्हाश्चाहाच्च ये । स्नेहबस्तिविधिश्चोक्तो मात्राबस्तिविधिस्तथा ॥५६॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते सिद्धिस्थाने स्नेहव्यापत्सिद्धिर्नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है– १. वातादि दोषों के प्रशमन हेतु उत्तम अनुवासन बस्तियों का विधान, २. अज्ञ चिकित्सक (अल्प बुद्धि वाले चिकित्सक) के द्वारा प्रयुक्त स्नेह बस्तियों से होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन। अर्थात् स्नेह बस्तियों के अनुचित प्रयोग से होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा का विवेचन, ३. स्नेह बस्ति से पूर्व आहार का विधान तथा तीन-तीन दिन पर स्नेह बस्ति के योग्य पुरुषों का विवेचन, ४. स्नेह बस्ति तथा मात्रा बस्ति की विधियों का विवेचन।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– संग्रहे भोज्यग्रहणेन धान्यनागरजलाद्यपि संग्राह्यम् – उपसंहार में - स्नेह बस्ति देने से पूर्व भोजन के विधान का निर्देश है। इस भोजन का निर्माण धनिया अथवा शुण्ठी से साधित जल द्वारा ही करना चाहिए। अथवा पीने के लिए धनिया व शुण्ठी साधित जल का ही प्रयोग करना चाहिए। **ध्रुवं येऽर्हा इति प्रत्यहमनुवासनीयाः–** जिन्हें नित्य अनुवासन बस्ति दी जा सकती है, अथवा जो नित्य अनुवासन के योग्य हैं। **विधिश्चोक्त इति–** "न त्वामं प्रणयेत्" इति के द्वारा स्नेह बस्ति देने की जो विधि बतायी गयी है, उसका ग्रहण करना चाहिए!

['न त्वामं प्रणेयेत' इति के द्वारा ग्रन्थ में वर्णित विषय का ग्रहण करना चाहिए।]

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में स्नेहव्यापत्सिद्धि नामक चतुर्थ अध्याय की **'आयुषी'** हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।
अथ नेत्राणि बस्तींश्च शृणु वर्ज्यानि कर्मसु । नेत्रस्याज्ञप्रणीतस्य व्यापदः सचिकित्सिताः ।।३।।

अब आगे नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि (नेत्रव्यापदिकी सिद्धि) नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था ।।१-२।।

विवेच्य विषय– इस अध्याय में निम्नलिखित विषयों को स्पष्ट किया गया है– १. नेत्र (Nozzles) एवं बस्ति पुटक, जिनका प्रयोग बस्ति के रूप में नहीं करना चाहिए, २. अज्ञ (अज्ञानी) चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त दूषित **नेत्र** से उत्पन्न होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा।

चक्रपाणि– 'स्नेहव्यापत्सिद्धि' के कथन के बाद **स्नेहदान** के साधन रूप नलिका (बस्तिनेत्र) आदि की व्यापत्तियों के प्रतिकार (चिकित्सा) के लिए 'नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि' नामक अध्याय का अभिधान किया जा रहा है।

नेत्रगता तथा बस्तिपुटकगता च व्यापत् तथा नेत्रासम्यक्प्रणिधानजन्या च या व्यापदस्तासां सिद्धिः– नेत्रगत व्यापत्ति (बस्तिनेत्र के दोष), बस्तिपुटक के दोष तथा नेत्र के असम्यक् प्रयोग से होने वाले दोष (विकार) तथा उनकी चिकित्सा का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। इस प्रकार **नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि** नामक अध्याय में दूषित नेत्र तथा बस्तिपुटक के उपद्रवों की चिकित्सा बतायी गयी है। इन दोनों के दोषों को जानकर के उनका उपयोग नहीं करना चाहिए। अर्थात् दूषित नेत्र एवं दूषित बस्ति पुटक द्वारा बस्ति नहीं देनी चाहिए। ।।१-३।।

विशेष (Comments)– इस अध्याय में वर्ज्य नेत्र व बस्तिपुटक के साथ-साथ अज्ञ चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त नेत्र के दोष एवं उनकी चिकित्सा का विवेचन किया गया है। – जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

ह्रस्वं दीर्घं तनु स्थूलं जीर्णं शिथिलबन्धनम् । पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रमष्टौ नेत्राणि वर्जयेत् ।।४।।
अप्राप्त्यतिगतिक्षोभकर्षणक्षणनस्रवाः । गुदपीडा गतिर्जिह्मा तेषां दोषा यथाक्रमम् ।।५।।

नेत्र के दोष एवं उनसे उत्पन्न होने वाले उपद्रव– १. ह्रस्व (नेत्र का छोटा होना, अर्थात् अपने सामान्य प्रमाण से छोटा होना), २. दीर्घ होना (अपने सामान्य प्रमाण से लम्बा होना - Longer in size), ३. तनु (पतला होना - Thinner in shape), ४. स्थूल (अपनी सामान्य मोटाई से अधिक मोटा होना), ५. जीर्ण होना (नेत्र का पुराना होना), ६. शिथिल बन्धन (नेत्र व बस्तिपुटक का बन्धन ढीला होना), ७. पार्श्वछिद्र [नेत्र के पार्श्व (Sides) में छिद्र का होना], ८. नेत्र का टेढ़ा होना (वक्र होना)

इस प्रकार नेत्र के आठ दोष होते हैं। इस दोष पूर्ण नेत्रों के प्रयोग से आतुर में आठ प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

- **अप्राप्ति–** नेत्र के छोटे होने से बस्तिपुटक द्वारा दी गयी औषधि पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती।
- **अतिगति–** लम्बे नेत्र द्वारा दी गयी बस्ति पक्वाशय से ऊपर तक चली जाती है, अर्थात् औषध द्रव्य अपने स्थान से ऊपर तक चला जाता है।
- **क्षोभ–** यदि नेत्र पतला हो तब गुदा में क्षोभ (Irritation) उत्पन्न हो जाता है।
- **कर्षण–** यदि नेत्र स्थूल हो तब गुदा में खिंचावट उत्पन्न होती है।
- **क्षणन–** यदि नेत्र पुराना हो तब गुदा में घाव उत्पन्न हो जाता है।
- **स्राव–** यदि नेत्रबन्धन ढीला हो तब बस्ति के रूप में प्रयुक्त द्रव पदार्थ बाहर निकल जाता है।
- **गुद पीड़ा–** यदि नेत्र के पार्श्व में छिद्र हो तब प्रयुक्त बस्ति द्रव पार्श्व की दीवारों से निकल जाने के कारण गुदा में पीड़ा उत्पन्न करता है।
- **जिह्म गति–** नेत्र टेढ़ा होने पर गुदा में उसका प्रवेश टेढ़ा होगा एवं दी गयी औषध गुदा में सीधे नहीं जा पाती।

चक्रपाणि– 'ह्रस्वमित्यादि' के द्वारा नेत्र के दोषों को स्पष्ट किया गया है। नेत्रदोष के वर्णन क्रम में 'अष्टौ' पद से ही अनुक्त कर्कशत्व आदि दोषों का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

कर्कशत्वस्य जीर्णेन कर्तृत्वसाम्यादग्रहणम् – कर्कशत्व की जीर्णता से साम्यता है, अर्थात् जीर्ण (पुराना) नेत्र के प्रयोग से जो हानियाँ उत्पन्न होती हैं वही कर्कश नेत्र से भी उत्पन्न होती है। अतः यहाँ कर्कश का अन्तर्भाव जीर्ण में ही कर लिया गया है। उसको अलग

Scanned by CamScanner

से नहीं कहा गया है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी वर्णित दोषों को प्रयोजन के अनुसार यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए। तनु = कृश। ह्रस्व नेत्र आदि के विपरिणामों को क्रमशः 'अप्राप्त्यादि' के द्वारा बताया गया है। अतिगतिः = अधिक अन्दर तक प्रवेश करना। **क्षोभः गुदप्रविष्टस्येतस्ततो गमनम्**– गुदा में प्रवेश कराते समय इधर-उधर होना।

गुदपीडेति– नेत्र के पार्श्व छिद्र से निकलने वाले बस्ति द्रव (Enema fluid) द्वारा गुदा में पीड़ा (Pain) होना। जिह्मेति– टेढ़ा होना (Curved होना) ॥४-५॥

विषममांसलच्छिन्नस्थूलजालिकवातलाः । स्निग्धः क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तीन् कर्मसु वर्जयेत् ॥६॥
गतिवैषम्यविस्रत्वस्रावदौर्ग्राह्यनिस्रवाः । फेनिलच्युत्यधार्यत्वं बस्तेः स्युर्बस्तिदोषतः ॥७॥

बस्तिपुटक के दोष– १. बस्तिपुटक का विषम होना (Irregular in shape), २. मांसल (Fleshy), ३. छिन्न (कटा हुआ) होना, ४. स्थूल (Thick), ५. जालिका युक्त (छोटे-छोटे छिद्रों से युक्त होना), ६. वातल (वायु से युक्त होना), ७. अति स्निग्ध (अत्यधिक चिकना) होना, ८. क्लिन्न होना (अत्यधिक गीला रहना); इन दोषों से युक्त बस्तिपुटक का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

दोषयुक्त बस्तिपुटक के प्रयोग से होने वाली हानियाँ– १. विषम बस्तिपुटक के प्रयोग करने से बस्ति में प्रयुक्त औषधि की गति भी विषम हो जाती है, २. मांसल बस्तिपुटक का प्रयोग बस्ति के रूप में करने पर उससे विस्र गन्ध आने लगती है। विस्रगंध = कच्चे मांस की गन्ध के समान गन्ध का निकलना, ३. छिन्नयुक्त बस्तिपुटक (कटे हुए बस्ति पुटक) से औषधि द्रव्य बहकर (स्रवित होकर) बाहर निकल जाता है, ४. बस्तिपुटक के अधिक मोटे होने पर पकड़ने में कठिनाई होती है। (ग्रहण करने में कष्ट का अनुभव होता है।), ५. जालिका युक्त पुटक (बस्ति) का प्रयोग करने पर औषधि द्रव्य उससे स्रवित होकर बाहर निकल जाता है, ६. वातल बस्तिपुटक में औषधि द्रव्य डालने पर वह झाग युक्त हो जाती है, अर्थात् बस्तिपुटक में फेन भर जाता है, ७. बस्तिपुटक अत्यधिक चिकना होने पर हाथ से पकड़ने पर गिरने की संभावना रहती है, अर्थात् फिसलकर हाथ से छूट सकती है, ८. अत्यधिक गीला रहने पर उचित रूप से उसे पकड़ा नहीं जा सकता, जिसके कारण वह हाथ से फिसल सकती है।

चक्रपाणि– विषमः विषमसंस्थानः = बस्तिपुटक की आकृति का विषम होना। स्थूलः अतिप्रमाणः – लम्बाई-चौड़ाई में बड़ा होना, अर्थात् बस्तिपुटक का आकार में बड़ा होना। **जालिकः सूक्ष्मानेकच्छिद्रः**– छोटे-छोटे अनेक छिद्रों का होना, अर्थात् बस्तिपुटक में अनेक छोटे-छोटे छिद्रों का होना। वातलः वातदुष्टः – वात से दूषित होना, उसका निश्चय यहाँ स्नेहादि के प्रयोग एवं फेनिलत्व आदि गुणों के आधार पर होता है। यदि बस्तिपुटक में डाला गया द्रव झाग (फेनिल) युक्त हो जाता है तब बस्ति वात दोष से दूषित है, ऐसा समझना चाहिए। स्निग्धः अतिस्निग्धः = अत्यधिक चिकना (Smooth) होना। क्लिन्नः शीर्णावयवः = बस्तिपुटक का सड़ा हुआ होना [**Putrefied :** Putrefaction or enzymatic decomposition]

गतिवैषम्यादयो यथाक्रमं विषमादिष्वष्टौ दोषाः– गति वैषम्य आदि से क्रमानुसार विषम आदि क्रम में दोष युक्त बस्तिपुटक के प्रयोग से होने वाली हानियों को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् विषम, मांसल आदि विकृत बस्तिपुटक के प्रयोग से यथाक्रम– गति वैषम्य आदि हानियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। विस्रत्वम् = आमगन्धता (कच्चे मांस से निकलने वाली गन्ध के समान गन्ध का निकलना।) दौर्ग्राह्यम् = दुर्ग्रहता (बस्तिपुटक को पकड़ने में कठिनाई का होना, अर्थात् आसानी से न पकड़ पाना) । च्युतिः हस्ताद्भ्रंशः– हाथ से गिर जाना, अत्यधिक चिकना होने के कारण बस्ति पुटक हाथ से फिसल जाती है।

अधार्यत्वं बस्तेरिति– बस्तिपुटक अत्यधिक क्लिन्न होने के कारण (सड़ी-गली होने के कारण) पकड़ने के योग्य नहीं होती। ॥६-७॥

विशेष (Comments)– वर्ज्य नेत्र के अभिधान के बाद वर्ज्य बस्तिपुटक का अभिधान 'मांसलेत्यादि' के द्वारा किया गया है, अर्थात् बस्ति दोषों का वर्णन किया गया है। बस्तिर्नामचर्मविशेषो मूत्रस्थानम् - बस्ति विशेष रूप से मूत्राशय के चमड़े की बनी होती है अथवा इस हेतु पशुओं के मूत्राशय का प्रयोग किया जाता है। यही बस्ति जब मांसल आदि दोषों से युक्त होती है तब इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। – जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

आचार्य सुश्रुत ने बस्ति के ५ दोष बताये हैं, यथा– १. बस्ति का मांस युक्त होना, २. आकृति में छोटी होना, ३. छिद्र युक्त होना, ४. प्रस्तीर्णता (स्नायु जाल से युक्त होना), ५. बाँधने में कठिनाई का होना। (दुर्बद्धता) । ["बहलता, अल्पता, सच्छिद्रता, प्रस्तीर्णता, दुर्बद्धतेति पञ्च बस्ति दोषाः" – (सु.चि. ३५/३२) इति]

सवातातिद्रुतोत्क्षिप्ततिर्यगुल्लुप्तकम्पिताः । अतिबाह्यगमन्दातिवेगदोषाः प्रणेतृतः ॥८॥

बस्ति दाता (प्रणेता) के दोष– अधोलिखित दस दोष बस्तिदाता की कमी के कारण उत्पन्न होते हैं–

१. सवात– औषध द्रव्यों के साथ वायु का भी गुदा में प्रवेश कराना ।

Scanned by CamScanner

२. **अतिद्रुत–** बस्तिनेत्र को शीघ्रतापूर्वक गुदा में प्रवेश कराना (Pushing the enema fluid too rapidly)

३. **उत्क्षिप्त–** बस्तिनेत्र को ऊपर करके गुदा में लगाना अथवा उठा करके गुदा में लगाना।

४. **तिर्यग् –** नेत्र को तिरछा करके गुदा में प्रविष्ट कराना।

५. **उल्लुप्त–** नेत्र को गुदा में प्रवेश कराने के बाद बार-बार बस्तिपुटक को दबाना एवं छोड़ना।

६. **कम्पित–** गुदा में प्रवेश कराते समय नेत्र का बार-बार हिलना।

७. **अति–** नेत्र को बार-बार गुदा में लगाना एवं निकालना।

८. **बाह्यग–** नेत्र को गुदा में न लगा पाना या बाहर रखना।

९. **मन्द–** औषध द्रव्य को धीरे-धीरे गुदा में प्रविष्ट कराना।

१०. **अतिवेग–** बस्तिपुटक को दबाकर औषधि को वेग के साथ गुदा में प्रविष्ट कराना।

चक्रपाणि– 'सवातेत्यादि' के द्वारा **बस्तिदाता** की असावधानी के कारण उत्पन्न होने वाले दोषों का अभिधान किया गया है। बस्तिपुटक से वायु को निकाले बिना नेत्र को पुटक से बाँध देने अथवा बस्तिपुटक के द्रव्यों को पूर्ण रूप से गुदा में प्रवेश कराने के कारण गुदा में वायु प्रविष्ट कर जाती है।

अतिद्रुतत्वमपि प्रणयने निर्गमनेन– बस्तिनेत्र को गुदा में लगाने एवं निकालने में शीघ्रता करना। **उत्क्षिप्तत्वम् ऊर्ध्वक्षिप्तत्वम् –** बस्तिनेत्र के मुख को ऊपर करके गुदा में प्रविष्ट कराना। तिर्यगिति– नेत्र को तिरछा करके बस्ति देना।

उल्लुप्तत्वमिह पीडनदोषो यः पीडनविच्छेदं कृत्वा पुनः पीड्यते स ज्ञेयः– 'उल्लुप्तत्व' को यहाँ **पीडन दोष** के रूप में स्वीकार किया गया है। इसमें नेत्र को गुदा में प्रविष्ट कराने के बाद बस्तिपुटक को कुछ रुक-रुक कर दबाते हैं।

कम्पितत्वं नेत्रस्य– बस्तिनेत्र का कम्पित होना, या बार-बार हिलना। **अतीति–** नेत्र को गुदा में बार-बार प्रविष्ट कराना। **बाह्यगं गुदे न प्रविष्टमौषधम्–** नेत्र का गुदा के बाहर ही रह जाना, जिसके कारण बस्ति द्रव्य गुदा में प्रविष्ट ही नहीं हो पाती है। **मन्दत्वम् च पक्वाशयाप्राप्तत्वम् –** 'मन्दत्व' दोष के कारण औषधि पक्वाशय में नहीं पहुँच पाती है। यह अवस्था बस्तिपुटक को हलके हाथ से दबाने (कम दबाने) के कारण उत्पन्न होती है। **अतिवेग–** औषध का पक्वाशय से भी ऊपर पहुँचना, बस्तिपुटक को जोर से दबाने पर औषधि पक्वाशय से भी ऊपर पहुँच जाती है। ॥८॥

विशेष (Comments)– आचार्य सुश्रुत ने बस्तिदाता के दोष (प्रणिधान दोष - बस्ति प्रयोग के दोष) छः माने हैं– **१. नेत्र विचलितम्–** बस्ति देते समय विशेष रूप से नेत्र का हिलना, **२. विवर्तित–** नेत्र का गुदा में प्रविष्ट होते ही मुड़ जाना, **३. पार्श्वावपीडितम्–** वाम व दक्षिण पार्श्वों का दबना, **४. अति उत्क्षिप्तम्–** अत्यधिक ऊपर उठना, **५. अवसन्न–** अत्यधिक नीचे दबना, **६. तिर्यक् प्रक्षिप्त–** औषध का तिरछा प्रविष्ट करना, यह स्थिति जब नेत्र गुदा में तिरछा प्रविष्ट होता है, तब होती है। ["तत्र नेत्रं विचलितं, विवर्तितं, पार्श्वावपीडितम्, अत्युत्क्षिप्तम्, अवसन्नं, तिर्यक्प्रक्षिप्तमिति षट् प्रणिधानदोषाः" – (सु.चि. ३५/३२) इति]

अनुच्छ्वास्य च बद्धे वा दत्ते निःशेष एव वा । प्रविश्य कुपितो वायुः शूलतोदकरो भवेत् ।।९।।
तत्राभ्यङ्गो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ।

अनुच्छ्वास की अवस्था में बस्ति प्रयोग से हानि एवं उसकी चिकित्सा– यदि बस्तिपुटक में विद्यमान वायु (air) को बिना निकाले नेत्र को बाँधकर बस्ति दी जाय अथवा बस्तिपुटक में विद्यमान औषधि को पूर्णतः गुदा में प्रविष्ट करा दिया जाय, पुटक (बस्तिपुटक) में कुछ भी औषधि न बचायी जाय तब वायु गुदा में प्रविष्ट होकर प्रकुपित हो जाती है। फलतः वह शूल (Colic pain) एवं तोद (सुई चुभोने जैसी पीड़ा- Piercing pain) को उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में गुद प्रदेश पर अभ्यङ्ग एवं स्वेदन का प्रयोग करें तथा भोजन के रूप में वात नाशक अन्न-पान की योजना करें, अर्थात् रोगी को खाने के लिए दें।

चक्रपाणि– यहाँ बस्तिदाता के दोषों से होने वाली व्यापदों की चिकित्सा को क्रमशः – "अनुच्छ्वास्येत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यद्यपि अनुच्छ्वासन आदि का निषेध– "सुबद्धमुच्छ्वास्य च निर्वलीकं" (सि.अ. ३) इति' के द्वारा पूर्व में ही किया जा चुका है। फिर भी चिकित्सक के प्रमाद के कारण वैसा प्रयोग कर देने पर उत्पन्न होने वाली व्यापदों की चिकित्सा के अभिधान हेतु इस प्रकरण में विषय को पुनः कह दिया गया है। ॥९॥

Scanned by CamScanner

द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा ।।१०।।
स्यात् कटीगुदजङ्घार्तिबस्तिस्तम्भोरुवेदनाः । भोजनं तत्र वातघ्नं स्नेहाः स्वेदाः सबस्तयः ।।११।।

नेत्र के शीघ्रता पूर्वक गुदा में प्रवेश एवं निकालने से होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा– यदि बस्तिनेत्र गुदा में शीघ्रतापूर्वक प्रवेश कराया जाय तथा निकाला जाय अथवा नेत्र का मुख ऊपर करके औषधि को गुदा में प्रविष्ट कराया जाय। ऐसी अवस्था में रोगी के कटिप्रदेश (Lumbar region), गुदप्रदेश (Anal region); जङ्घा (Calf muscle) में वेदना उत्पन्न होने लगती है, बस्ति में जकड़ाहट (Stiffness in the bladder) तथा ऊरु (thigh) में वेदना उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति में रोगी को वातनाशक आहार का सेवन, स्नेहन, स्वेदन तथा वातनाशक बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'द्रुतमित्यादि' के द्वारा नेत्र को शीघ्रतापूर्वक गुदा में प्रवेश करने एवं निकालने से उत्पन्न हानियों को स्पष्ट किया गया है। **उत्क्षिप्तमपि समानव्यापत्तिकरतयैकग्रन्थेनैव पठ्यते–** नेत्र को ऊपर उठाकर गुदा में प्रविष्ट कराने से वही उपद्रव उत्पन्न होते हैं जो नेत्र को शीघ्रता पूर्वक प्रवेश कराने अथवा अचानक निकालने से होते हैं। अतः दोनों के ही उपद्रव समान होने के कारण उनको एक साथ यहाँ पढ़ा गया है। **निष्कृष्टे सहसेतिच्छेदः** 'निष्कृष्टे सहसा' इति तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। इसका अर्थ – 'नेत्र को गुदा से अचानक निकालने पर' होगा।

उत्क्षेपस्त्वसहसाऽपि व्यापत्तिकर एव– बस्तिनेत्र को सामान्यतया ऊपर उठाकर बस्ति देना भी हानिकारक ही होता है, अर्थात् अचानक ऊपर न उठाकर धीरे से ऊपर उठाकर बस्ति देना भी हानिकर ही होता है।

बस्ति से यहाँ 'मूत्राशय' अर्थ लिया गया है। अतः बस्तिस्तम्भ से मूत्राशय स्तम्भ (Stiffness of urinary bladder) अर्थ ग्रहण करना चाहिए। **सबस्तय इति–** वातनाशक बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। ॥१०-११॥

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वाऽपि न गच्छति । नेत्रे तदृजु निष्कृष्य संशोध्य च प्रवेशयेत् ।।१२।।

तिर्यक् नेत्र के प्रयोग से होने वाली हानि एवं चिकित्सा– यदि बस्तिनेत्र को तिरछा करके गुदा में प्रवेश कराते हैं तब गुदबलियों द्वारा नेत्र का द्वार आवृत (बन्द) होने के कारण औषधि अन्दर प्रविष्ट नहीं कर पाती। अथवा नेत्र जिस सूत्र (धागे) से बाँधा गया है उसके द्वारा बस्तिपुटक का द्वार बन्द हो जाने से औषधि गुदा में प्रविष्ट नहीं हो पाती। इस अवस्था में नेत्र को गुदा से निकालकर पुनः उसे बस्तिपुटक से खोलकर ठीक से बाँधे। इसके बाद सीधा गुदा में प्रविष्ट करावें।

चक्रपाणि– बस्तिनेत्र को गुदा में तिरछे प्रविष्ट कराने तथा बस्तिनेत्रमुख अन्य द्रव्यों द्वारा अवरुद्ध होने से एक ही प्रकार की हानि होने के कारण दोनों का अभिधान एक साथ किया गया है।

तिर्यग्वल्यावृतद्वारे बद्धे वाऽपीति तिर्यक् प्रणिहिते नेत्रे वल्यावृतद्वारे सति तथा बस्तिद्रव्यगतसूत्रद्रव्यादिना विबद्धे नेत्रे बस्तिद्रव्यं न याति– नेत्र के गुदा में तिरछा प्रविष्ट होने पर गुदबली द्वारा नेत्र का द्वार बन्द हो जाने पर तथा बस्ति एवं नेत्र के जोड़ (Joint) को जिस धागे से बाँधते हैं उस धागे द्वारा नेत्र का द्वार अवरुद्ध हो जाने पर नेत्र द्वारा बस्ति द्रव्य गुदा में प्रविष्ट नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में यदि नेत्र गुदा में तिरछा प्रविष्ट कराया गया है तब उसे निकाल करके गुदा में सीधा प्रवेश करावें। यदि धागे द्वारा नेत्र का मार्ग अवरुद्ध है तब बस्तिपुटक व नेत्र के संधि स्थान को खोलकर नेत्र के मार्ग को साफ सुथरा करके पुनः पुटक व नेत्र को बाँधकर नेत्र को सीधा गुदा में प्रविष्ट करावें। ॥१२॥

पीड्यमानेऽन्तरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिलः । उरःशिरोर्तिमूर्वोश्च सदनं जनयेद्बली ।।१३।।
बस्तिः स्यात्तत्र बिल्वादिफलश्यामादिमूत्रवान् । स्याद्दाहो दवथुः शोफः कम्पनाभिहते गुदे ।।१४।।
कषायमधुराः शीताः सेकास्तत्र सबस्तयः ।

बार-बार बस्तिपुटक के दबाने से होने वाली हानि एवं चिकित्सा– रुक-रुक कर बस्तिपुटक को दबाकर बस्ति देने से गुद प्रदेश में रुकी हुई वायु उरः (वक्ष) एवं सिर में वेदना उत्पन्न करती है तथा प्रकुपित होकर ऊरु (thighs) में शिथिलता उत्पन्न करती है। व्याधि की इस अवस्था में बिल्वादि दशमूल, मदनफल, काली निशोथ आदि द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) तथा इन्हीं द्रव्यों के कल्क (Paste) में अल्प मात्रा में गोमूत्र मिलाकर तैयार की गयी निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

कम्पन से होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा– बस्ति देते समय यदि चिकित्सक का हाथ कांपने लगे तब बस्तिनेत्र में कंपन होने के कारण गुदा में क्षत (आघात) हो जाता है। परिणामस्वरूप गुदा में दाह (Burning sensation), दवथु (अत्यधिक उष्णता का अनुभव होना, अथवा अत्यधिक पीड़ा होना) एवं शोफ (Morbid swelling) उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था में कषाय, मधुर गुण युक्त द्रव्यों के क्वाथ को ठण्ढ़ा करके, अथवा शीतल द्रव्यों का परिषेक (गुद प्रक्षालन) तथा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ आदि से निर्मित शीतल बस्तियों का

Scanned by CamScanner

प्रयोग करना चाहिए। [निरूह बस्ति के रूप में मधुर व कषाय रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ आदि को ठण्ढ़ा करके प्रयोग करें तथा अनुवासन बस्ति में बला या चन्दनादि तैल का प्रयोग करें।]

चक्रपाणि– अन्तरा मुक्ते मध्ये विच्छेदे कृते– बस्तिपुटक को दबाने के बाद बीच में कुछ समय के लिए रोक देना, पश्चात् पुनः पुटक को दबाकर बस्ति द्रव्य को अन्दर प्रविष्ट कराना। **गुदे प्रतिहतोऽनिल इति–** पीडन (दबाव) रोककर पुनः दबाने से गुदा की वायु अवरुद्ध होती है, या उस पर दबाव उत्पन्न होता है। बिल्वादि = दशमूल। 'श्यामादि' से श्यामा, त्रिवृत् आदि विरेचन द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। ॥१३-१४॥

अतिमात्रप्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद्वलेः ।।१५।।
स्यात् सार्ति दाहनिस्तोदगुदवर्चःप्रवर्तनम् । तत्र सर्पिः पिचुः क्षीरं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते ।।१६।।

बार-बार नेत्र के प्रवेश कराने एवं निकालने से उत्पन्न हानियाँ एवं चिकित्सा– बार-बार बस्तिनेत्र को गुदा में प्रविष्ट कराने एवं निकालने से गुदवलियाँ (Sphincters muscles) कट (क्षत हो) जाती हैं, अथवा इनमें घाव उत्पन्न हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप गुदा में पीड़ा, दाह (गुदा में जलन का होना), गुदा में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना, गुदा का बाहर निकलना (Prolapse of rectum) एवं पुरीष का अत्यधिक निकलना लक्षण पाये जाते हैं। इस अवस्था में रोगी की गुदा में घृत का पिचु धारण करावें तथा क्षीर मिश्रित पिच्छा बस्ति का प्रयोग करें।

[पिचु धारण - घृत को रुई या कपड़े पर रखकर गुदा पर बाँधे]

चक्रपाणि– अतिमात्र प्रणीतेनेति– बस्तिनेत्र को बार-बार गुदा में प्रविष्ट कराने से। अन्य आचार्य 'दुष्प्रवेशन' से नेत्र का गुदा में अधिक अन्दर तक प्रविष्ट कराना अर्थ ग्रहण करते हैं। यद्यपि नेत्र को बनी हुई कर्णिका से ऊपर प्रविष्ट नहीं कराना चाहिए, अर्थात् अतिप्रणयन में भी कर्णिका तक ही नेत्र को प्रविष्ट कराते हैं, अर्थ गृहीत है। फिर भी कर्णिका के दबाव के कारण गुदा में दबाव उत्पन्न होने से इसे **अति प्रवेश** ही समझना चाहिए। पिच्छा बस्ति का निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। ॥१५-१६॥

न भावयति मन्दस्तु बाह्यस्त्वाशु निवर्तते । स्नेहस्तत्र पुनः सम्यक् प्रणेयः सिद्धिमिच्छता ।।१७।।
अतिप्रपीडितः कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम् । तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च ।।१८।।

मन्दवेग तथा नेत्र के बाहर रहने से उत्पन्न दोष एवं उसकी चिकित्सा– यदि बस्तिपुटक का द्रव्य मन्द वेग से गुदा में प्रविष्ट कराया जाता है तब वह औषधि पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती, अर्थात् पक्वाशय को उचित रूप से भावित नहीं कर पाती। यदि नेत्र गुदा में प्रविष्ट नहीं हो तब दी गयी बस्ति गुदा के बाहर गिर जाती है। ऐसी स्थिति में सफलता के इच्छुक चिकित्सक को चाहिए कि वह आतुर को पुनः स्नेहबस्ति का प्रयोग करावें। अर्थात् रोगी को अनुवासन बस्ति देकर स्निग्ध करना चाहिए।

अधिक वेग से बस्ति देने पर होने वाली हानि एवं उसकी चिकित्सा– यदि बस्तिपुटक को जोर से दबाकर औषधि प्रवेश कराने पर औषधि कोष्ठ तक पहुँच जाती है, वापस नहीं लौटती अथवा गले तक पहुँच जाती है। इस अवस्था में बस्ति एवं विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। यदि औषधि गले तक प्रविष्ट हो गयी हो तब गले को हलके हाथ से दबाना चाहिए, ऐसा करने से औषधि का वेग नीचे की ओर हो जाता है।

चक्रपाणि– न भावयतीति पक्वाशयं न प्राप्नोति– पक्वाशय को नहीं प्राप्त होता है, अर्थात् बस्ति द्वारा दी गयी औषधि पक्वाशय तक नहीं पहुँच पाती है। **अतिपीडने कोष्ठे वा तिष्ठतीति–** औषधि को अधिक दबाव के साथ बस्ति के रूप में देने पर वह कोष्ठ में रुक जाती है वापस नहीं लौटती। यह अवस्था मन्द वेग, अत्यधिक पीडन अथवा वायु के आवरण के कारण भी उत्पन्न हो सकती है, ऐसा समझना चाहिए। औषधि का गले तक पहुँचना अति पीडन के कारण अथवा महास्रोतस् में कोई रुकावट न होने के कारण (अनुवासन बस्ति का प्रयोग विशेष रूप से खाली पेट देने के कारण) उत्पन्न होती है।

इयं च व्यापत् पूर्वाध्याये आहारं बिना दत्तानुवासनविषयतयोक्ता– यह व्यापत् (उपद्रव) पूर्व अध्याय में बिना भोजन किये दी गयी अनुवासन बस्ति के सम्बन्ध में कही गयी है। **यहाँ वर्णित उपद्रव अति दबाव के साथ दी गयी निरूह व अनुवासन बस्ति से सम्बन्धित है, ऐसा विशेष रूप से समझना चाहिए।**

इह बस्तिर्विरेको वा कोष्ठस्थेऽप्रवर्तमाने– कोष्ठ में रुके हुए अप्रवृत्त बस्ति को निकालने के लिए निरूह अथवा विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए। [यदि दी गयी अनुवासन बस्ति कोष्ठ में ही रुक जाती है तब उसकी प्रवृत्ति हेतु निरूह बस्ति अथवा विरेचक औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए।] यदि बहुत अधिक दबाव के साथ बस्ति दी जाती है तब दी गयी औषधि महास्रोतस् में अवरोध न होने पर सीधे कण्ठ तक पहुँच जाती है, ऐसी अवस्था में हलके हाथ से गले को दबाकर वेग को नीचे की ओर प्रवृत्त कराना चाहिए। ॥१७-१८॥

Scanned by CamScanner

तत्र श्लोकः–

नेत्रबस्तिप्रणेतॄणां दोषानेतान् सभेषजान् । बेत्ति यस्तेन मतिमान् बस्तिकर्माणि कारयेत् ।।१९।।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते सिद्धिस्थाने नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धिर्नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।५।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– जो व्यक्ति नेत्र के दोष, बस्ति के दोष तथा प्रणेता (बस्ति दाता) के दोष के साथ-साथ इनसे होने वाली व्यापत्ति की चिकित्सा का सम्यक् ज्ञान रखता है, अर्थात् जानता है। वही बुद्धिमान चिकित्सक बस्तिकर्म का सम्यक् प्रयोग कर सकता है।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ। ।।५।।

चक्रपाणि– संग्रहे तेनेति यथोक्तभेषजाभिज्ञभिषजा– उपसंहार में वर्णित 'तेनेति' का अभिप्राय– नेत्र, बस्ति तथा प्रणेता (बस्ति दाता) के दोषों के ज्ञान के साथ-साथ उनकी चिकित्सा का ज्ञान रखने वाले चिकित्सक से ही बस्तिकर्म कराना चाहिए, अर्थात् ऐसे गुणी चिकित्सक द्वारा ही बस्ति कर्म कराना चाहिए है। ।।१९।।

विशेष (Comments)– इस अध्याय में नेत्र के दोष (८), बस्ति के दोष (८), बस्ति दाता (प्रणेता) के दोष (१०) के साथ-साथ इनसे होने वाली हानियों एवं चिकित्सा का विवेचन किया गया है। वर्तमान में निरूह बस्ति हेतु Enema pot तथा नेत्र हेतु लगभग १ मीटर लम्बी नली में Flatus tube लगाकर प्रयोग करते हैं। अथवा Flatus tube को Enema pot में लगाकर ही निरूह बस्ति दे देते है। इसी प्रकार अनुवासन बस्ति हेतु – १०० मिलीलीटर माप की प्लास्टिक सिरिंज के आगे के हिस्से में Rubber catheter लगाकर प्रयोग करते हैं। Rubber catheter का प्रयोग नेत्र के स्थान पर करते हैं। व्यवहारार्थ गुदा में इसका प्रवेश लगभग ४-६ अंगुल तक कराते हैं। लगाते समय Catheter अथवा Flatus tube के आगे के हिस्से को तैल द्वारा चिकना कर लेते हैं, इसके साथ-साथ गुदा पर भी कुछ स्नेह लगा देते हैं जिससे आसानी से Catheter या Flatus tube के आगे का ४ या ६ अंगुल भाग गुदा में प्रविष्ट हो जाय। अतः यहाँ नेत्र जन्य व्यापत्तियाँ एवं दोष बहुत ही कम होते हैं। केवल Rubber catheter एवं Flatus tube यदि ठीक है। अर्थात् पुराना, सड़ा-गला नहीं है तब सामान्यतः नेत्र जन्य कोई उपद्रव नहीं उत्पन्न होता। Catheter; Rubber की होने के कारण गुदा में क्षत की संभावना भी क्षीण ही रहती है। **बस्तिपुटक जन्य दोष** की भी संभावना कम ही रहती है। उसी प्रकार प्रणेताजन्य दोष (बस्ति दाता के दोष) भी कुछ कम हो जाते हैं, जैसे– कम्पन के कारण गुदा में क्षत होना बताया गया है, लेकिन रबर Catheter के कारण क्षत की संभावना प्रायः नहीं के बराबर रहती है। इस प्रकार व्यवहार में क्रमशः **Enema pot** में **Flatus tube** एवं Plastic syring (100 ml) में Rubber catheter जोड़कर निरूह अथवा अनुवासन बस्ति देना निरापद होता है।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी 'आयुर्वेददीपिका' के सिद्धिस्थान में नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि नामक पञ्चम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

षष्ठोऽध्यायः ।

अथाऽतो वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– व्यापत्सिद्धि के अभिधान का प्रसङ्ग (प्रकरण) होने के कारण वमन-विरेचन के भी उपद्रवों की चिकित्सा का अभिधान किया जा रहा है। बस्तिव्यापत्सिद्धि का कथन वमन-विरेचन के बाद किया गया है, क्योंकि वमन व विरेचन कर्म के बाद ही बस्ति कर्म कराया जाता है। अतः बस्तिव्यापत्सिद्धि के अभिधान से यहाँ बस्ति को कर्मों में प्रधान स्वीकार किया गया है, अथवा बस्ति अन्य कर्मों में प्रधान है, यह भाव परिलक्षित होता है। बस्ति की प्रधानता को – "तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके" (सि.अ. १/४०) इति के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

अत्र चानागतव्यापच्चिकित्सार्थत्वाद्वमनविरेचनयोः सम्यग्विध्यभिधानं, तेन नोत्सूत्रता वमनविरेचनविध्यभिधानस्य– यहाँ अनागत व्यापत् की चिकित्सा का विषय होने से वमन व विरेचन की सम्यक् विधि का अभिधान किया गया है। इस प्रकार वमन-विरेचन की विधि का अभिधान होना क्रम भङ्ग (उत्सूत्रता) दोष नहीं है ।

[तेन नोत्सूत्रता वमनविरेचनविध्यभिधानस्य– इस अध्याय में वमन-विरेचन की व्यापद् एवं सिद्धि का वर्णन होना क्रम भङ्ग (उत्सूत्रता) के अन्तर्गत नहीं आता । यहाँ वमन-विरेचन की व्यापत् एवं सिद्धि का उल्लेख किया गया है तथा इनके लाभ व गुण छोड़ दिये गये हैं, अतः क्रम भङ्ग है, ऐसा नहीं मानना चाहिए । सूत्र एवं विमान स्थान में इन विषयों का वर्णन किया जा चुका है तथा यहाँ भी संक्षेप में इन विषयों का विवेचन करके व्यापत् एवं सिद्धि का वर्णन किया गया है ।] ।।१-२।।

अथ शोधनयोः सम्यग्विधिमूर्ध्वानुलोमयोः । असम्यक्कृतयोश्चैव दोषान् वक्ष्यामि सौषधान् ।।३।।

अध्याय की प्रस्तावना– इस अध्याय में अधोलिखित विषयों का विवेचन किया गया है–

१. ऊर्ध्व (वमन) एवं अनुलोमन (विरेचन) संशोधनों की उचित विधि का वर्णन।

२. वमन व विरेचन के अनुचित प्रयोग से होने वाले उपद्रव।

३. उपद्रवों की चिकित्सा।

चक्रपाणि– 'अथेत्यादि' के द्वारा इस अध्याय की प्रस्तावना को स्पष्ट किया गया है। **सम्यगिति विधिविशेषणम्–** 'सम्यक्' से सम्यक् शोधन (वमन-विरेचन) की विधि अर्थ लिया गया है। यहाँ सम्यक् शब्द **'शोधन विधि'** की विशेषता को प्रकट करता है। **ऊर्ध्वानुलोमयोरिति–** वमन-विरेचन दोनों की। **दोषानिति–** दोषों को (व्यापदों को), वमन-विरेचन के असम्यक् प्रयोग से होने वाले उपद्रवों को। शोधन की विधि का वर्णन यद्यपि कल्पनासिद्धि नामक अध्याय में यथा स्थान स्पष्ट किया जा चुका है, फिर भी अनुक्त (जो विषय पूर्व अध्याय में प्रतिपादित नहीं है) विशेष विषय के प्रतिपादन हेतु उसका यहाँ कथन किया गया है। उसी प्रसङ्ग के कारण पूर्व वर्णित विषय को पुनः कहा जा रहा है, जो विषय वहाँ सर्वथा नहीं कहे गये हैं उन्हीं का यहाँ कथन– "नातिस्निग्धान् विरेचयेत्" इत्यादि के द्वारा किया गया है, ऐसा समझना चाहिए ।।३।।

अत्युष्णवर्षशीता हि ग्रीष्मवर्षाहिमागमाः । तदन्तरे प्रावृडाद्यास्तेषां साधारणाख्रयः ।।४।।

संशोधन के सामान्य काल– ग्रीष्म, वर्षा एवं हेमन्त ऋतुएं क्रमशः अत्यधिक उष्ण, अत्यधिक वर्षा युक्त एवं अतिशीत युक्त होती हैं। अर्थात् इन ऋतुओं में क्रमशः अत्यधिक गर्मी, अत्यधिक वर्षा एवं अत्यधिक शीत पड़ती है। इनके मध्य में प्रावृट्, शरद व वसन्त, ये तीन ऋतुएं साधारण कही जाती हैं, अर्थात् इनमें मौसम साधारण (सामान्य) रहता है। [सामान्य का अभिप्राय ज्यादा गरमी, ज्यादा वर्षा अथवा शीत न होने से है।]

चक्रपाणि– सामान्य संशोधन योग्य काल को यहाँ– 'अत्युष्णेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **अत्युष्णेत्यादि ग्रीष्मादिषु यथासंख्यं ज्ञेयम्–** ग्रीष्म में अत्यधिक गरमी का पड़ना, वर्षा ऋतु में अत्यधिक बारिश का होना तथा शीत ऋतु (हेमन्त) में अत्यधिक ठण्ढक पड़ना, अर्थ लिया गया है। **तदन्तरे इति–** ग्रीष्म आदि ऋतुओं के बीच में। **प्रावृडाद्या इति–** प्रावृट्, शरद् व वसन्त ऋतुएं, यथा– ग्रीष्म व वर्षा के बीच में प्रावृट् ऋतु, वर्षा व हेमन्त (शीत) के बीच में शरद् ऋतु, हेमन्त व ग्रीष्म के मध्य में वसन्त ऋतुएं आती हैं।

Scanned by CamScanner

तेषां साधारणा इति– प्रावृट्, शरद् व वसन्त, साधारण ऋतुएं कही जाती हैं, क्योंकि इनमें उष्णता, वर्षा एवं ठण्ढक सामान्य रहती है। साधारण ऋतुओं में गरमी, बारिश एवं ठण्ढक अधिक नहीं पड़ती, अर्थात् मध्यम रूप में रहती है।

प्रावृट् शुचिनभौ ज्ञेयौ शरदूर्जसहौ पुनः । तपस्यश्च मधुश्चैव वसन्तः शोधनं प्रति ।।५।।
एतानृतून् विकल्प्यैवं दद्यात् संशोधनं भिषक् । स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ।।६।।

मास के आधार पर प्रावृटादि ऋतुओं के विभाग–

१. प्रावृट् ऋतु– शुचि (आषाढ़) व नभ (श्रावण) मास।

२. शरद् ऋतु (Autumn)– ऊर्ज (कार्तिक) तथा सह (मार्गशीर्ष) मास।

३. वसन्त (Spring)– तपस्य (फाल्गुन) व मधु (चैत्र) मास।

ये तीन ऋतुएं शोधन की सुविधा की दृष्टि से बतायी गयी हैं। इन्हीं ऋतुओं के विकल्प का विचार कर संशोधन कर्म कराना चाहिए। यह **संशोधन काल** स्वस्थ पुरुष को दृष्टगत रखते हुए बताया गया है। अर्थात् स्वस्थ पुरुष को इन्हीं कालों में संशोधन कराना चाहिए। रोगी के लिए तो व्याधि की अवस्था का विचार कर जिस काल में जो संशोधन उपयुक्त हो, उसका प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'प्रावृट् शुचिनभावित्यादि' के द्वारा प्रावृट् आदि ऋतुओं का विभाग महीने के अनुसार किया गया है। शुचिनभौ से आषाढ़ व श्रावण मास लिया गया है। अर्थात् प्रावृट् ऋतु के अन्तर्गत **आषाढ़ व श्रावण** दो महीने आते हैं। **ऊर्जसहौ कार्तिकमार्गशीर्षौ–** ऊर्ज से कार्तिक तथा सह से मार्गशीर्ष मास अर्थ लिया गया है। ये दो महीने शरद् ऋतु के अन्तर्गत आते हैं। तपस्य = फाल्गुन। मधु = चैत्र। वसन्त के अन्तर्गत फाल्गुन व चैत्र मास आते हैं। **शोधनं प्रतीति–** प्रावृट् आदि ऋतुओं का यह विभाग शोधन की दृष्टि से बताया गया है।

स्वस्थवृत्त एवं रसोत्पत्ति की दृष्टि से वर्ष (संवत्सर) को छः ऋतुओं, यथा– वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त व ग्रीष्म में विभक्त किया गया है, जिसका वर्णन तस्याशितीय नामक अध्याय (सू.अ. ६) में किया गया है। एतानृतूनिति = प्रावृट् आदि ऋतुओं को (प्रावृट्, शरद् व वसन्त ऋतु को)। विकल्प्यैवमिति– यथा वर्णित महीने के विभाग के अनुसार व्यवस्थापित करके संशोधन का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ वर्णित संशोधन के अङ्ग रूप ऋतु क्रम विभाग के अनुसार ही **चरकसंस्कार** (चरक प्रतिसंस्कारित पाठ) में भी नवेगान्धारणीय अध्याय में "माधवप्रथमे मासि" (सू.अ. ७/४६) इत्यादि के द्वारा चैत्र, श्रावण, अग्रहायण (मार्गशीर्ष - अगहन, महीना) मास में वमनादि संशोधन कराना चाहिए तथा रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ. ८) में शिशिर ऋतु वाले क्रम को त्याग कर प्रावृट् आदि ऋतु क्रम को संशोधन का अङ्ग रूप होने से कहा गया है। इस प्रकार रस एवं शारीरिक बल की उत्पत्ति का विचार करने पर तथा स्वस्थवृत्त के अनुष्ठान की दृष्टि से शिशिरादि क्रम होता है। अर्थात् शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् व हेमन्त; ऋतुओं का क्रम रसोत्पत्ति, बलवृद्धि एवं स्वस्थवृत्त के नियमों के पालन की दृष्टि से बताया गया है।

संशोधनव्यवस्थायां तु प्रावृडादिरिति– प्रावृडादि ऋतुओं का यह क्रम संशोधन के अनुकूल होने से आचार्य द्वारा कल्पित (व्यवस्थित) किया गया है न कि यथार्थ में होती हैं। जो आचार्य गंगा के दक्षिण भाग में प्रावृडादि ऋतुओं तथा उत्तर भाग में शिशिरादि ऋतुक्रम को स्वीकार करते हैं, उनके विचार से 'शोधनं प्रति' शब्द यहाँ प्रयुक्त होना उचित नहीं है। उससे "भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन वर्षा प्रावृडाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ" [गंगा के दक्षिण भाग में वर्षा अधिक होती है, अर्थात् वर्षा ज्यादा समय तक होती है, अतः वहाँ वर्षा व प्रावृट् दो ऋतुओं की कल्पना की गयी है।] इत्यादि के द्वारा ग्रन्थ में देश भेद से ऋतुओं का यह क्रम वास्तविक रूप से कहा गया है तब भी इस पर आचार्य की सहमति नहीं है। इस विषय का विस्तार से वर्णन सूत्रस्थान में भी किया गया है।

अयं च शोधनकालोपदेशोऽनात्ययिके व्याधौ ज्ञेयः– शोधन काल का यह उपदेश (कथन) आत्ययिक (अत्यधिक कष्टकारी) व्याधियों के संबन्ध में नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। आत्ययिक का अभिप्राय उन व्याधियों से है जिसमें चिकित्सा की तत्काल आवश्यकता पड़ती है। आत्ययिक व्याधियों में उष्णता आदि का कृत्रिम विधियों द्वारा प्रतिकार करके अत्यधिक उष्ण काल में भी संशोधन चिकित्सा का प्रयोग कराते ही हैं। इसी विषय का विवेचन रोगभिषग्जितीय विमान नामक अध्याय (वि.अ. ८) में – **"आत्ययिके तु पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन"** [आत्ययिक अवस्था में यदि संशोधन आवश्यक हो तब यथा योग्य कृत्रिम विधियों द्वारा उचित वातावरण उत्पन्न करके, शरीर को तदनुरूप बनाकर एवं औषधियों को संस्कारित कर ऋतु के विपरीत गुणयुक्त बनाकर सावधानी पूर्वक प्रयोग करना चाहिए।] के द्वारा किया गया है। ।।५-६।।

विशेष (Comments)– संक्षेप में शास्त्र में वर्णित ऋतुओं के दो प्रकार के भेदों को मासानुसार इस प्रकार स्पष्ट किया जा रहा है–

Scanned by CamScanner

रसोत्पत्ति एवं स्वस्थवृत्त की दृष्टि से ऋतु विभाग	भारतीय कलेण्डर के अनुसार महीने	अंग्रेजी मास	शोधन की दृष्टि से ऋतुएं
१. वसन्त (Spring)	वैशाख	अप्रैल-मई	ग्रीष्म (Summer)
२. ग्रीष्म (Summer)	ज्येष्ठ	मई-जून	
	आषाढ़	जून-जुलाई	प्रावृट् (Early part
३. वर्षा (Rainy season)	श्रावण	जुलाई-अगस्त	of rainy season)
	भाद्रपद	अगस्त-सितम्बर	वर्षा (Actual
४. शरद् (Autumn)	आश्विन	सितम्बर-अक्टूबर	rainy season)
	कार्तिक	अक्टूबर-नवम्बर	शरद (Autumn)
५. हेमन्त (Early winter)	मार्गशीर्ष	नवम्बर-दिसम्बर	
	पौष	दिसम्बर-जनवरी	हेमन्त (Winter)
६. शिशिर (Late winter)	माघ	जनवरी-फरवरी	
	फाल्गुन	फरवरी-मार्च	वसन्त (Spring)
१. वसन्त (Spring)	चैत्र	मार्च-अप्रैल	

– वैद्य भगवानदास एवं डा. आर.के. शर्मा कृत चरकसंहिता अंग्रेजी अनुवाद से साभार।

कर्मणां वमनादीनामन्तरेष्वन्तरेषु च । स्नेहस्वेदौ प्रयुञ्जीत स्नेहं चान्ते प्रयोजयेत् ।।७।।

स्नेहन-स्वेदन का विधान– वमनादि कर्मों के बीच-बीच में स्नेहन व स्वेदन का प्रयोग कराना चाहिए तथा कर्म की समाप्ति के बाद स्नेहन का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'कर्मणामित्यादि' के द्वारा स्नेहन व स्वेदन का प्रयोग कब कराना चाहिए? इसे स्पष्ट किया गया है। **अन्तरेष्विति–** वमन के बाद विरेचन कराने में, अथवा विरेचन के बाद बस्ति देने में निर्दिष्ट विधान के अनुसार पुनः स्नेहन व स्वेदन का प्रयोग कराना चाहिए। **न सकृत्प्रयुक्तेनैव स्नेहस्वेदेन पञ्चकर्माणि कर्तव्यानीत्यर्थः–** न कि एक ही बार स्नेहन-स्वेदन के प्रयोग से सम्पूर्ण पाँचों कर्मों को कराना चाहिए, अर्थात् एक कर्म की समाप्ति के बाद दूसरे कर्म के प्रारम्भ से पूर्व पुनः स्नेहन-स्वेदन कराना चाहिए, यह अभिप्राय है।

स्नेहं चान्ते प्रयोजयेदिति– संशोधन कर्म की समाप्ति के बाद संशोधन से उत्पन्न ग्लानि (थकावट) को दूर करने के लिए संशमनीय स्नेह का प्रयोग करना चाहिए, यह अभिप्राय है। ।।७।।

विसर्पपिडकाशोफकामलापाण्डुरोगिणः । अभिघातविषार्ताश्च नातिस्निग्धान् विरेचयेत् ।।८।।

अत्यधिक स्नेहपान का निषेध– अधोलिखित रोगियों को विरेचन कराने से पूर्व अत्यधिक स्नेहपान अथवा अत्यधिक स्नेहन नहीं कराना चाहिए– १. विसर्प का रोगी (Erysipelas), २. पिडका (Pimples – Pus containing lession of the skin), ३. शोफ (Oedema), ४. कामला (Jaundice), ५. पाण्डु (Anaemia) का रोगी।

चक्रपाणि– नातिस्निग्धानिति अनतिस्निग्धकायान् नरान् – अनतिस्निग्ध (जो अत्यधिक स्नेहित न हो, अर्थात् जिसका स्नेहन मध्यम रूप से हुआ हो) रोगी को विरेचन कराना चाहिए। [विसर्प आदि के रोगियों में मध्यम स्नेहन कराकर विरेचन का प्रयोग करना चाहिए।] ।।८।।

नातिस्निग्धशरीराय दद्यात् स्नेहविरेचनम् । स्नेहोत्क्लिष्टशरीराय रूक्षं दद्याद्विरेचनम् ।।९।।

स्निग्ध एवं रूक्ष विरेचन के योग्य पुरुष– जिस व्यक्ति का शरीर अत्यधिक स्निग्ध हो अथवा स्नेहपान के द्वारा अत्यधिक स्निग्ध हो गया हो उनमें स्नेह विरेचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अत्यधिक स्नेहपान के कारण जिसके शरीर में दोष उत्क्लेशित हो गये हो, उन दोषों के निर्हरण हेतु रूक्ष विरेचन का प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि– निश्चित रूप से विरेचन कराने की अवस्था में अतिस्निग्ध रोगी एवं अस्निग्ध रोगी में विरेचन का सम्यक् योग कैसे हो? इसे यहाँ– 'नातीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् अतिस्निग्ध एवं अस्निग्ध रोगी में किस प्रकार विरेचन कराया जाय कि उसका सम्यक् योग हो। 'स्नेहविरेचन' से यहाँ स्निग्ध विरेचन अर्थ लिया गया है।

Scanned by CamScanner

अनतिस्निग्धे स्नेहविरेचनमनतिस्निग्धत्वेन क्रियमाणविरेचनायोगप्रतिषेधार्थम् – जिस व्यक्ति का शरीर अत्यधिक स्नेहित न हो उसमें **स्नेह विरेचन** का प्रयोग करना, शरीर अत्यधिक स्नेहित न होने से विरेचन के अयोग के लक्षण न उत्पन्न हों, इसलिए किया गया है। अर्थात् अयोग के लक्षणों के प्रतिषेधार्थ स्नेह विरेचन के प्रयोग का निर्देश दिया गया है। अति स्निग्ध शरीर वाले पुरुष में स्नेह विरेचन का प्रयोग कराने से शरीर के अत्यधिक स्निग्ध होने से विरेचक औषधि तीव्र वेग से स्रोतस् में पहुँचकर प्रचलित हुए दोषों को भी नष्ट करने या निकालने में समर्थ नहीं होती। विरेचक औषधि के प्रभाव से दोष अपने स्थान से निकलकर अधिक रूप से स्रोतों में लीन हो जाते हैं। उसके निषेध हेतु रूक्ष विरेचन के प्रयोग का निर्देश दिया गया है। यह सम्यक् योग को उत्पन्न करता है, यह भाव है।

विशेष (Comments)– स्नेह विरेचन– स्निग्ध द्रव्यों के साथ विरेचन द्रव्यों का प्रयोग करना। ये द्रव्य शरीर में स्नेहन कार्य के साथ विरेचन कार्य भी करते हैं। **रूक्ष विरेचन–** ये द्रव्य शरीर में रूक्षता बढ़ाने के साथ-साथ विरेचन गुण को भी दर्शाते हैं।

स्नेहस्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम् । एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ।।१०।।

संशोधन के सम्यक् योग में महत्वपूर्ण कारक– संशोधन के सम्यक् योग में अधोलिखित कारक (Factors) महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं– १. आतुर का सम्यक् रूप से स्नेहन (Oleation) एवं स्वेदन (Fomentation) किया जाना, २. संशोधन (विरेचन) औषधि का प्रयोग पूर्वकृत आहार के जीर्ण हो जाने पर करना, ३. संशोधन औषधि का उचित मात्रा में प्रयोग करना, ४. एकाग्रमन से औषधि का सेवन करना।

चक्रपाणि– सम्यक् योग को उत्पन्न करने वाले संशोधन के महत्वपूर्ण विषय (सामग्री) को यहाँ 'स्नेहस्वेदोपपन्नेनेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **मात्रावदिति–** औषधि (संशोधन औषधि) का प्रयोग मात्रापूर्वक (Appropriate dose) करना चाहिए, जिसका विवेचन श्लोक नं. १५-१६ में 'अल्पमात्रं महावेगं' इत्यादि के द्वारा किया गया है। 'मात्रावत्' से यहाँ **'अल्प मात्रा'** अर्थ लिया गया है। एकाग्रमनसेति- संशोधन औषधियों का प्रयोग करते समय एक ही विषय में मन का लगा रहना, अर्थात् औषधि सेवन में ही मन को लगाना। यदि व्यक्ति का मन काम, क्रोध आदि भावों में व्यग्र रहता है तब वेगों की उचित प्रवृत्ति नहीं होती, फलतः अयोग होने की संभावना रहती है। ।।१०।।

स्निग्धात् पात्राद्यथा तोयमयत्नेन प्रणुद्यते । कफादयः प्रणुद्यन्ते स्निग्धादेहात्तथौषधैः ।।११।।
आर्द्रं काष्ठं यथा वह्निर्विष्यन्दयति सर्वतः । तथा स्निग्धस्य वै दोषान् स्वेदो विष्यन्दयेत् स्थिरान् ।।१२।।
क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य मलः संशोध्यतेऽम्भसा । स्नेहस्वेदैस्तथोत्क्लेश्य शोध्यते शोधनैर्मलः ।।१३।।

संशोधन से पूर्व स्नेहन-स्वेदन का महत्व– १. जिस प्रकार घृत आदि से स्निग्ध किये हुए पात्र में भरे हुए जल को बिना परिश्रम से ही गिरा दिया जाता है, जल की कुछ भी बूँदे घड़े में चिपकी नहीं रहती उसी प्रकार स्निग्ध शरीर में प्रयुक्त संशोधन औषधि द्वारा शरीरस्थ कफादि दोष आसानी से निर्हरित हो जाते हैं। (स्नेहन की उपमा)

२. जिस प्रकार गीली लकड़ी को अग्नि द्वारा जलाने से उसमें विद्यमान जलीयांश सम्पूर्ण लकड़ी से रिस-रिस कर निकलने लगता है उसी प्रकार स्निग्ध शरीर में स्वेदन का प्रयोग करने पर शरीरस्थ चिपके हुए दोष स्रोतसों से रिस-रिस कर बाहर निकल जाते हैं, अर्थात् कोष्ठ में आ जाते हैं।

संशोधन का महत्व– जिस प्रकार गन्दे कपड़े में विद्यमान मैल (मल) को क्षार (साबुन आदि) के प्रयोग द्वारा उत्क्लेशित करके जल में धोकर निकाल देते हैं उसी प्रकार स्नेहन-स्वेदन द्वारा दोषों को उत्क्लेशित करके संशोधन औषधियों के प्रयोग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। अर्थात् स्नेहन व स्वेदन द्वारा दोष स्रोतस् से निकलकर कोष्ठ में आ जाते है तथा कोष्ठस्थ दोषों को संशोधन (वमन-विरेचन) औषधियों के प्रयोग द्वारा शरीर से बाहर निकाल देते हैं।

चक्रपाणि– स्नेहन व स्वेदन के महत्व (परिणाम) को 'स्निग्धात् पात्रात्' इत्यादि के द्वारा अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हुए संशोधन से पूर्व इसका प्रयोग निश्चित रूप से करना चाहिए, यह सूचित किया गया है। अयत्नेनेति = अल्प परिश्रम द्वारा। प्रणुद्यन्ते इति = बाहर निकाल दिया जाता है। जिस प्रकार घृत आदि से स्निग्ध (चिकना) किये गये पात्र में जल की कुछ भी बूँदे नहीं चिपकती है, अपितु उन्हें (पात्र के जल को) आसानी से बाहर निकाला जा सकता है उसी प्रकार स्नेहित शरीर में दोष (कफादि दोष) स्रोतसों में चिपके नहीं रहते, अपितु स्रोतस् की दीवार से अलग हो जाते हैं।

विष्यन्दयति सर्वत इति सर्वतः स्थितं द्रवमाकर्षति– अग्नि गीली लकड़ी में विद्यमान द्रवांश को चारों ओर से खींच लेती है। अर्थात् गीली लकड़ी को अग्नि से जलाने पर उसका सम्पूर्ण द्रवांश अग्नि के प्रभाव से रिस-रिस कर बाहर निकल कर जलने लगता है। यही अवस्था स्निग्ध पुरुष के स्वेदन कराने पर होती है, अर्थात् स्वेदन कराने पर शरीर में चिपके हुए दोष पिघलकर स्रोतसों के माध्यम से कोष्ठ में आ जाते हैं।

Scanned by CamScanner

अग्निदृष्टान्तेन स्निग्धगात्रस्य सम्यग्दोषहरणमुच्यते– अग्नि के दृष्टान्त (उदाहरण) द्वारा स्निग्ध पुरुष के दोषों के सम्यक् निर्हरण को बताया गया है, अर्थात् स्वेदन कराने पर दोष पिघलकर कोष्ठ में चले आते हैं। तीसरे दृष्टान्त में स्नेहन व स्वेदन के मिलित परिणाम को प्रकार वस्त्र में विद्यमान मल को क्षार द्वारा उत्क्लेशित करके जल द्वारा साफ कर दिया जाता है उसी प्रकार स्नेहन-स्वेदन द्वारा उत्क्लेशित दोषों को वमनादि के प्रयोग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है। – जल्पकल्पतरु टीका] ॥११-१३॥

अजीर्णे वर्धते ग्लानिर्विबन्धश्चापि जायते । पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्तते ।।१४।।

अजीर्ण में संशोधन प्रयोग से हानियाँ– यदि संशोधन औषधि का सेवन पूर्वकृत आहार के बिना पचे (पाचन हुए) कराते हैं तब रोगी में अधोलिखित उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं– १. ग्लानि (शरीर का अत्यधिक दुर्बल होना– Weakness), २. विबन्ध का उत्पन्न होना (Constipation), ३. पी गयी औषधि का विपरीत कार्य करना, यथा– वामक औषधि का विरेचन हो जाना तथा विरेचन औषधि का वमन के रूप में बाहर निकलना।

चक्रपाणि– शोधन के सम्यक् योग की सामग्री के कथन के बाद पूर्वकर्म के रूप में स्नेहन-स्वेदन के महत्व के वर्णन के पश्चात् संशोधन औषधि का प्रयोग पूर्वकृत आहार के पच जाने पर ही कराने का निर्देश दिया गया है। उसी क्रम में अजीर्ण अवस्था में संशोधन औषधि के प्रयोग से होने वाली हानियों का वर्णन – 'अजीर्णे वर्धते ग्लानिरिति' के द्वारा किया गया है।

अजीर्णावस्थायां पीते शोधने सति ग्लानिर्महती भवति– अजीर्णावस्था (Indigestion की अवस्था) में पी गयी वामक या विरेचक औषधि के द्वारा शरीर में अत्यधिक ग्लानि (कमजोरी) उत्पन्न हो जाती है। **विपरीतं प्रवर्तते इति–** वामक औषधि सेवन करने पर उसका विरेचन होने लगता है तथा सेवित विरेचक औषधि वमन के रूप में बाहर निकलने लगती है। ॥१४॥

विशेष (Comments)– अजीर्ण अवस्था में शोधन औषधि के पीने से होने वाले दोषों को यहाँ– 'अजीर्ण इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अजीर्ण = Indigestion, पूर्वकृत आहार के बिना पचे शोधन औषधि के पीने से रोगी में अत्यधिक ग्लानि (Exhaustion) उत्पन्न हो जाती है। 'विबन्ध' का अभिप्राय– शारीरिक दोषों के न निकल पाने से है।

अल्पमात्रं महावेगं बहुदोषहरं सुखम् । लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनम् ।।१५।।
अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत् । गन्धवर्णरसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम् ।।१६।।

मात्रावत् औषधि (संशोधन औषधि की उपयुक्त मात्रा) के गुण– १. औषधि का कम मात्रा में प्रयुक्त होना एवं अधिक कार्यकारी होना, २. सुखपूर्वक अत्यधिक दोषों को निकालने में समर्थ होना, ३. औषधि का आसानी से पच जाना, अर्थात् लघु पाकी (Easily digestable) होना, ४. स्वाद में सुखकर होना व मन को तृप्त करने वाला होना अर्थात् जिसके सेवन करने से मन प्रसन्न हो जाय, ५. सम्बन्धित व्याधि को दूर करने में समर्थ होना, अर्थात् व्याधिनाशक गुण का होना, ६. विकार को उत्पन्न करने वाला न होना, ७. अत्यधिक कष्टदायक उपद्रवों को न उत्पन्न करना, अर्थात् किसी भी प्रकार की औषधि सेवन से सम्बन्धित असावधानी होने पर अत्यधिक कष्टदायी उपद्रवों का न उत्पन्न होना। ८. उचित गन्ध (Smell), वर्ण (Colour) एवं रस (आस्वाद) से युक्त होना।

उपरोक्त सभी लक्षण मात्रावत् औषधि में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि– 'अल्पमात्रमित्यादि' के द्वारा मात्रावत् औषधि के लक्षणों का वर्णन किया गया है। **अल्पमात्रं महावेगमिति अल्पमात्रत्वे सत्यपि प्रशस्तमहावेगम्–** औषध की मात्रा अल्प होते हुए भी हितकर वेगों को उत्पन्न करने वाली होना। प्रशस्त महावेगम् = उचित वेगों को उत्पन्न करने वाली (अत्यधिक कार्यकारी शक्ति से युक्त होना)

अविकारीति– उपद्रव के रूप में अल्प विकार को उत्पन्न करना (अल्प उपद्रवकारी होना)। 'मात्रावत्' से यहाँ **औषधि की हितकर मात्रा** का ग्रहण किया गया है।

यद्यपि च सुखास्वादादयो मात्रायाः फलं न भवन्ति– यद्यपि औषध के सुखकर आस्वाद आदि के कारण मात्रा का उचित फल नहीं प्राप्त होता फिर भी यहाँ **प्रशस्त मात्रा** से यहाँ औषधि का द्रव्य, संस्कार आदि विशेष गुणों से युक्त होना, अर्थ लिया गया है।

सुखादि गुण आश्रय द्रव्य के अन्तर्गत होते हुए भी इसे यहाँ प्रशस्त मात्रा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। अथवा ऐसा होते हुए भी **संशोधन में** इसे परिभाषित किया गया है। अर्थात् आस्वाद आदि गुणों से युक्त होने के कारण औषधि (संशोधन औषधि) अधिक कार्य करती है। इसलिये इन लक्षणों को मात्रावत् के अन्तर्गत रखा गया है। ॥१५-१६॥

विशेष (Comments)– श्लोक नं. १६ के प्रथम पाद – "अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत्" के स्थान पर

Scanned by CamScanner

"अविकाराविपन्नञ्च नातिग्लानिकरञ्च यत्" पाठ प्राप्त होता है जिसका अभिप्राय – औषध का अल्प विकारकारी होना तथा अतिग्लानि को न उत्पन्न करने, से है।

विधूय मानसान् दोषान् कामादीनशुभोदयान् । एकाग्रमनसा पीतं सम्यग्योगाय कल्पते ।।१७।।

एकाग्र मन से औषधि का सेवन करें– काम, क्रोध, शोक, भय आदि अशुभ मानसिक दोषों को त्याग कर एकाग्र मन से संशोधन औषधि का सेवन करें। इस प्रकार सेवित संशोधन औषधि सम्यक् योग को उत्पन्न करती है।

चक्रपाणि– एकाग्रमनसेति– एकाग्र मन से (मन को एकाग्रचित् करके संशोधन औषधि को पीना), अपना ध्यान किसी अन्य विषयों में नहीं लगाना चाहिए, अन्यथा औषधि अपने कार्यों को समुचित रूप से नहीं कर पाती है। इसी का विवेचन यहाँ 'विधूयेत्यादि' के द्वारा किया गया है। ।।१७।।

विशेष (Comments)– 'कामादीनशुभोदयान्' के स्थान पर पाठभेद से 'कामक्रोधभयादिकान्' प्राप्त होता है। इस आधार पर इसका अर्थ-काम, क्रोध, भय आदि मानसिक दोषों को त्याग कर रोगी को अपना ध्यान संशोधन औषधि में ही लगाकर उसका सेवन करना चाहिए।

नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम् । सुजरं द्रवभूयिष्ठं, लघ्वशीतं विरेचनम् ।।१८।।
उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेन क्षिप्रं दोषाः स्रवन्ति हि ।

संशोधन (वमन-विरेचन) औषधि से पूर्व आहार-विधि– (१) यदि रोगी को कल (Tomorrow - आने वाला कल) वमन कराना हो तब उसे एक दिन पूर्व रात्रि में कफ प्रधान, सुपाच्य (आसानी से पच जाने वाले) एवं द्रव प्रधान आहार का सेवन कराना चाहिए, (२) यदि विरेचन कराना हो तब उसे एक दिन पूर्व लघु (पचने में हलका) एवं उष्ण आहार का सेवन कराना चाहिए।

कफ प्रधान आहार के सेवन करने से कफ उत्क्लेशित हो जाता है। ऐसे रोगी में अगले दिन वामक औषधि देने पर उत्क्लेशित कफ वमन द्वारा आसानी से बाहर निकल जाता है। उष्ण व लघु अन्न के सेवन के बाद कफ के अल्प होने से दी गयी विरेचक औषधि अपने प्रभाव से शीघ्रता पूर्वक विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकाल देती है।

चक्रपाणि– वमन एवं विरेचन कराने से पूर्व रोगी को किस प्रकार का भोजन देना चाहिए, उसे यहाँ 'नर इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यह विषय पूर्व में कहे जाने के बाद भी प्रकरणवश विशेष रूप से कथनीय होने के कारण कहा गया है। पातेति पातुकामः– पीने की इच्छा होना, यदि कल (आने वाला कल) वमन द्रव्य पीने की इच्छा हो तब उसके एक दिन पूर्व सायंकाल में कफवर्धक, सुपाच्य एवं द्रव प्रधान आहार का सेवन करना चाहिए।

द्रवभूयिष्ठमितिच्छेदः– 'द्रवभूयिष्ठं' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। इसे लेकर यह वाक्य– 'नरः श्वो वमनं पाता भुञ्जीत कफवर्धनम् सुजरं द्रवभूयिष्ठं' बनता है ।

विरेचन के सम्बन्ध में इस वाक्य को – 'नरः विरेचनं पाता लघु अशीतं च भुञ्जीत्' बनाना चाहिए, जिसका अभिप्राय विरेचन सेवन के इच्छुक व्यक्ति को पूर्व में लघु, उष्ण आहार का सेवन करना चाहिए। यह आहार व्यवस्था विरेचन के पूर्व **तीन दिन** तक करना चाहिए। अर्थात् तीन दिन तक लघु एवं उष्ण आहार द्रव्यों का सेवन करावें। इस प्रकार का आहार क्यों सेवन कराना चाहिए? इसके हेतु को यहाँ – 'उत्क्लिष्टे इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

उत्क्लिष्टाल्पकफत्वेनेति– यदि रोगी को वमन कराना है तब उसे कफोत्क्लेशक आहार देकर कफ को उत्क्लेशित कराना चाहिए। ऐसा होने पर कफ वमन द्वारा आसानी से बाहर निकल जाता है। इसलिये यहाँ वमन से एक दिन पूर्व कफवर्धक आहार देने की व्यवस्था की गयी है। कफ की अल्पता के कारण विरेचक औषधि अपना कार्य शीघ्रता पूर्वक करती है। अतः विरेचक औषधि देने से पूर्व कफशामक आहार देने का विधान है। ।।१८।।

पीतौषधस्य तु भिषक् शुद्धिलिङ्गानि लक्षयेत् ।।१९।।
ऊर्ध्वं कफानुगे पित्ते विट्पित्तेऽनुकफे त्वधः । हृतदोषं वदेत् काश्र्यदौर्बल्ये चेत् सलाघवे ।।२०।।

सम्यक् शुद्धि के लक्षण (Signs of Appropriate Purification)– चिकित्सक को संशोधन औषधि पिलाने के बाद आतुर में सम्यक् शोधन के लक्षणों को देखना चाहिए– १. वमन औषधि पीने के बाद सर्वप्रथम कफ, उसके बाद पित्त वमन के रूप में बाहर निकलता है, २. विरेचक औषधि पान के बाद सर्वप्रथम गुदा द्वारा मल (पुरीष), उसके बाद पित्त तथा अन्त में कफ बाहर निकलता है, ३. दोनों ही उपक्रमों (वमन व विरेचन) में संशोधनोपरान्त रोगी का शरीर कृश, दुर्बल एवं लघु (शरीर में हलकापन) हो जाता है।

Scanned by CamScanner

इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को समझ लेना चाहिए कि दोषों का निर्हरण समुचित रूप से हो गया है।

चक्रपाणि– वमन एवं विरेचन की शुद्धि के लक्षणों का वर्णन यद्यपि पूर्व में किया जा चुका है, फिर भी यहाँ शेष औषध एवं मलादि के विशेष अभिधान हेतु पुनः 'पीतौषधस्येत्यादि' के द्वारा उसका कथन किया जा रहा है। **कफानुगे पित्ते ऊर्ध्वहृत दोषं वदेत्–** वमन में – कफ के बाद पित्त निकलता है। अर्थात् सम्यक् वमन में कफ के बाद पित्त दोष का निर्हरण होता है, ऐसा कहना चाहिए। विरेचन में सर्वप्रथम विट् (पुरीष), उसके बाद पित्त तथा अन्त में कफ निकलता है। **एतत् कफान्तत्वं विरेचनस्य, वमनस्य च पित्तान्तत्वं पूर्वमेवव्याहृतम्–** पूर्व में ही विरेचन के लक्षणों में– अन्त में कफ का निकलना तथा वमन के लक्षणों में– अन्त में पित्त का निकलना, की व्याख्या की जा चुकी है। पित्तान्त वमन एवं कफान्त विरेचन, लक्षण असम्यक् शुद्धि में भी मिल सकते हैं, अर्थात् असम्यक् शुद्धि में भी दोषों के निकलने का यह क्रम मिल सकता है, लेकिन कृशता, दुर्बलता एवं लघुता आदि लक्षण नहीं मिलते। अतः इन लक्षणों के साथ पित्तान्त वमन व कफान्त विरेचन का मिलना सम्यक् योग का लक्षण है, यह स्पष्ट किया गया है। जिसे यहाँ – 'कार्श्यदौर्बल्ये चेत् सलाघवे इति' के द्वारा समझाया गया है। ॥१९-२०॥

वामयेत्तु ततः शेषमौषधं न त्वलाघवे । स्तैमित्येऽनिलसङ्गे च निरुद्गारेऽपि वामयेत् ॥२१॥
आलाघवात्तनुत्वाच्च कफस्यापत् परं भवेत् ।

विरेचन के सम्यक् योग की अवस्था में शेष औषधि को निकालना– १. यदि रोगी को विरेचक औषधि दी गयी हो, कफान्त विरेचन के लक्षण मिल रहे हों, शरीर हलका हो, शरीर पूर्णतः शुद्ध हो गया हो फिर भी विरेचन बन्द न हो रहा हो तब शेष औषधि को वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए, २. यदि सम्यक् शुद्धि के लक्षण– 'कफान्त विरेचन' होने पर भी शरीर में भारीपन हो, अर्थात् शरीर में हलकापन न आया हो तब औषधि को वमन द्वारा बाहर न निकालें, अर्थात् विरेचन होने दें, ३. यदि शरीर गीले कपड़े से ढकने जैसा प्रतीत हो, वात का अवरोध हो एवं उद्गार (डकार) न आती हो तब भी वमन करावें। यह क्रिया (वमन) तब तक करावें जब तक शरीर में लघुता (हलकापन) न उत्पन्न हो जाय तथा मुख से पतला कफ न निकलने लगे। अर्थात् लघुता व तनु कफ के मिलने पर वमन रोक देना चाहिए। इन लक्षणों के बाद भी यदि वमन कराते हैं तब वमन जन्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं।

चक्रपाणि– विरेचन योग के सेवन करने से शुद्धि के लक्षण मिलने पर, अर्थात् विरेचन के सम्यक् योग होने पर भी यदि विरेचन हो रहा हो तब **शेष** (बची हुई) औषधि के निर्हरण हेतु क्या करणीय है, उसे यहाँ 'वामयेत्तु ततः शेषमौषधमिति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। शुद्धि के लक्षण मिलने पर शेष औषधि शरीर में अतियोग न उत्पन्न कर दें, अतः उसे वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। **न त्वलाघवे इत्यनेन–** लघुता को छोड़कर शेष शुद्धि के लक्षण मिलने पर भी विरेचन की शेष औषधि को वमन द्वारा बाहर नहीं निकालना चाहिए। अर्थात् ऐसी अवस्था में यदि विरेचन हो रहा हो तो उसे रोकना नहीं चाहिए।

वामक औषधि का प्रयोग कब करना चाहिए? उसे यहाँ 'स्तैमित्ये इत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। वामक औषधि का प्रयोग तब तक करना चाहिए जब तक शरीर में स्तैमित्यता, वात की अवरुद्धता एवं डकार का अभाव न हो जाय। अर्थात् इन लक्षणों के दूर हो जाने पर वमन को रोक देना चाहिए। वमन की अवधि (काल) को यहाँ – 'आलाघवात्तनुत्वाच्च कफस्येति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् वमन तब तक करावें जब तक शरीर का भारीपन दूर न हो जाय एवं मुख से पतला कफ न निकलने लगे। यदि चिकित्सक प्रमाद के कारण – 'लघुता एवं तनु कफ का मुख से निकलना' लक्षण मिलने पर भी वमन कराता है तब वमन के **अतियोग** होने की संभावना रहती है। जिसे यहाँ 'आपत् परं भवेदिति' के द्वारा समझाया गया है। आपदिति = अतियोग के लक्षण। अन्य आचार्य 'स्तैमित्ये इत्यादि' के द्वारा भी विरेचन औषधि के आवस्थिक रूप **वमन** को कहते हैं। अर्थात् विरेचन औषधि के प्रयोग के बाद शरीर में स्तैमित्य, वायु की रुकावट एवं डकार का न आना लक्षण मिलने पर, (इस अवस्था विशेष में) वमन कराने का निर्देश देते हैं। ॥२१॥

वमिते वर्धते वह्निः शमं दोषा व्रजन्ति हि ॥२२॥
वमितं लङ्घयेत् सम्यग्जीर्णलिङ्गान्यलक्षयन् । तानि दृष्ट्वा तु पेयादिक्रमं कुर्यान्न लङ्घनम् ॥२३॥

सम्यक् वमन का फल– १. सम्यक् रूप से वमन हो जाने पर अग्नि (Power of digestion) की वृद्धि हो जाती है तथा प्रकुपित दोष शान्त हो जाते हैं, २. वमन कराने के बाद औषधि के जीर्ण होने के लक्षण न मिलने पर रोगी को लंघन (Fasting) कराना चाहिए। यदि लङ्घन कराने के बाद जीर्ण (औषधि) के लक्षण प्राप्त हो जाँय तब पेयादि क्रम का प्रयोग करना चाहिए, ३. यदि वमन कराने के बाद औषधि की जीर्णता के लक्षण मिल जाय तब लङ्घन न कराकर पेया, विलेपी आदि (संसर्जन) क्रम का पालन करना चाहिए।

चक्रपाणि– निर्दिष्ट वमन के फल को– 'वमिते वर्धते इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **सम्यग्जीर्णलिङ्गान्यलक्षयन्निति–** आगे बताये गये संशोधन औषध के सम्यक् जीर्ण के लक्षण न मिलने पर लङ्घन कराना चाहिए। अर्थात् वमित रोगी में जीर्णोषधि के लक्षण न मिलने

Scanned by CamScanner

पर उसको लङ्घन कराना चाहिए। **तानि इति–** जीर्णौषधि के लक्षणों को देखकर, वमन कराने के बाद रोगी में जीर्णौषधि के लक्षण (Signs of the proper digestion of the medicines) मिलने पर ही पेयादि संसर्जनक्रम का प्रयोग कराना चाहिए। [औषधि के जीर्णता के लक्षणों का विवेचन श्लोक नं. २६ में आगे किया गया है।] ॥२२-२३॥

संशोधनाभ्यां शुद्धस्य हृतदोषस्य देहिनः । यात्यग्निर्मन्दतां तस्मात् क्रमं पेयादिमाचरेत् ।।२४।।

संसर्जन क्रम की आवश्यकता– संशोधन (वमन-विरेचन) के द्वारा शरीर से दोषों का निर्हरण हो जाने के कारण व्यक्ति की जाठराग्नि दुर्बल (मन्द) हो जाती है। अतः अग्निमांद्यता को दूर करने के लिए पेयादि क्रम का प्रयोग करते हैं।

चक्रपाणि– 'संशोधनाभ्यामित्यादि' के द्वारा संशोधित पुरुष में पेयादि संसर्जन क्रम के प्रयोग के हेतु को स्पष्ट किया गया है। [संशोधन से यहाँ वमन व विरेचन द्वारा शुद्ध शरीर का ही ग्रहण किया गया है।] यद्यपि निरूह बस्ति देने के बाद भी अग्निमांद्य उत्पन्न होता है फिर भी निरूह के प्रयोग से वमन-विरेचन की तरह अग्निमांद्य नहीं उत्पन्न होता, जिससे यहाँ वमन-विरेचनवत् पेयादि क्रम का विधान नहीं है । अतः यहाँ निरूह बस्ति के निराकरण हेतु 'संशोधनाभ्यामिति' द्विवचन का प्रयोग किया गया है। संशोधनाभ्यामिति = वमन व विरेचन द्वारा। सम्यक् विरेचन के लक्षणों में जो लक्षण– "ऊर्जोऽग्निः" (सि.अ. १) इति [अग्नि की वृद्धि का होना] के द्वारा बताया गया है वह विरेचन औषधि के क्षोभ से उत्पन्न अग्निमांद्यता संशोधन के पूर्व दोष संचय जनित अग्निमांद्यता की तुलना में कम होने से उसे 'अग्निवृद्धि' शब्द से कहा गया है। उससे यहाँ प्रयुक्त 'यात्यग्निर्मन्दतामिति' शब्द का कोई विरोध नहीं है। अर्थात् यह वचन पूर्वापर विरोध को नहीं दर्शाता। ॥२४॥

कफपित्ते विशुद्धेऽल्पं मद्यपे वातपैत्तिके । तर्पणादिक्रमं कुर्यात् पेयाऽभिष्यन्दयेद्धि तान् ।।२५।।

तर्पण आदि की योजना– वमन अथवा विरेचन के द्वारा यदि कफ अथवा पित्त पूर्ण रूप से निर्हरित नहीं हुए हैं। अर्थात् रोगी अल्प रूप में शुद्ध हुआ है। ऐसी अवस्था में यदि रोगी मद्यपान करने वाला हो अथवा वात पित्त प्रकृति वाला हो तब उसे तर्पण आदि क्रम का प्रयोग कराना चाहिए। अन्यथा पेया के प्रयोग से उसके स्रोतसों में अभिष्यन्दता उत्पन्न हो जायेगी। [अभिष्यन्दि = स्रोतस् का क्लिन्न (गीला) हो जाना - Serious effusions, स्रोतस् में द्रवांश का भर जाना]

चक्रपाणि– 'कफपित्ते इत्यादि' के द्वारा तर्पण आदि के विषय को स्पष्ट किया गया है। **विशुद्धेऽल्पमिति–** वमन या विरेचन द्वारा शरीर का सम्यक् शोधन न होने पर। तर्पण आदि क्रम में पेया के स्थान पर **अच्छ तर्पण** (पतले - dilute तर्पण) तथा विलेपी के स्थान पर घन तर्पण (गाढ़ा तर्पण) का प्रयोग करना चाहिए। ॥२५॥

विशेष (Comments)– अच्छ तर्पण– खर्जूर (छुहारा), मुनक्का, महुआ के पुष्प एवं फालसा के षडङ्गपानीय विधि से साधित जल में शर्करा डालकर बनाये गये शरबत (पतले घोल) को अच्छ तर्पण कहते हैं।

घन तर्पण– धान के लावा (लाजा) का चूर्ण, गोघृत व मधु एवं जल डालकर बनाये गये गाढ़े घोल को घन तर्पण कहते हैं।

तर्पण को खट्टा बनाने के लिए उसमें आमलकी स्वरस अथवा अनार का रस भी मिलाया जा सकता है।

यह तर्पण मधुर रस युक्त होते हुए भी प्रभाव से कफानुबन्ध जन्य ऊर्ध्वग रक्तपित्त में लाभकारी होता है।

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णोर्जो मनस्विता । लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः ।।२६।।
क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रमो मूर्च्छा शिरोरुजा । अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ।।२७।।

जीर्णौषधि के लक्षण (औषधि पाक के लक्षण)– औषधि के जीर्ण हो (पच) जाने पर रोगी में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. वायु का अनुलोम होना (वायु का अधोमार्ग से प्रवृत्त होना), २. रोगी को स्वस्थता का अनुभव होना, ३. भूख व प्यास का उचित रूप में लगना, ४. अपने को उर्जावान् महसूस करना (Energetic), ५. आत्मविश्वास का बढ़ना, ६.-लघुता (शरीर में हलकापन की प्रतीति का होना) तथा इन्द्रिय शुद्धि (इन्द्रियों का अपना कार्य सुचारु रूप से करना), ७. शुद्ध डकार का आना, अर्थात् खट्टी डकार का न आना [किसी भी प्रकार की अस्वाभाविक गंधयुक्त डकार का न आना ।]

अजीर्ण औषधि (शेषौषधि– Residual drugs) के लक्षण– सेवन की गयी संशोधन औषधि के कुछ भाग अपक्व रह जाने पर अर्थात् औषधि के पूर्णरूप से न पचने पर आतुर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. क्लम (मानसिक थकावट - Mental fatigue), २. दाह का उत्पन्न होना (Burning sensation), ३. अङ्ग सदन (हाथ व पैरों में थकावट का होना), ४. भ्रम (चक्कर का आना), मूर्च्छा (Fainting), ५. शिरःशूल का होना (Headache), ६. अरति (किसी भी कार्य में मन का न लगना), ७. शारीरिक बल का कम होना।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'अनुलोम इत्यादि' के द्वारा जीर्णौषधि के लक्षणों को बताया गया है। ऊर्जः = बल। इन्द्रियशुद्धिः इन्द्रियपाटवम् – इन्द्रियों का अपने विषयों को सम्यक् रूप से ग्रहण करना, यथा– चक्षुरेन्द्रिय – देखना, श्रवणेन्द्रिय – सुनना, घ्राणेन्द्रिय – सूंघना आदि कार्य।

उद्गारस्य चौषधगन्धादिविरहित्वमेव शुद्धिः– डकार व औषध आदि की गन्ध का न आना, शुद्ध उद्गार कहलाता है। ॥२६-२७॥

अकालेऽल्पातिमात्रं च पुराणं न च भावितम् । असम्यक्संस्कृतं चैव व्यापद्येतौषधं द्वितम् ॥२८॥

व्यापत्ति उत्पादक हेतु– अधोलिखित हेतुओं के विद्यमान रहने पर प्रयुक्त औषधि उपद्रवों को उत्पन्न करती है– १. संशोधन औषधि का अकाल (अनुचित काल) में प्रयोग करना, २. अल्प मात्रा में औषधि का प्रयोग, ३. अधिक मात्रा में औषधि का प्रयोग करना [अपनी सामान्य मात्रा से अधिक मात्रा में औषधि का प्रयोग करना], ४. औषधि का अत्यधिक पुराना होना, ५. औषधि का समान गुण धर्म वाली औषधियों द्वारा भावित न होना, ६. औषधि का सम्यक् संस्कार न होना, अर्थात् औषधि का निर्माण उचित रूप से न होना।

चक्रपाणि– जिस प्रकार की औषधि व्यापत्ति (उपद्रवों) को उत्पन्न करती है, उसको यहाँ– 'अकाले इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **अल्पं वा अतिमात्रं वा अल्पातिमात्रम्–** औषधि का अल्प मात्रा अथवा अतिमात्रा में प्रयोग करना 'अल्पाऽतिमात्रा' कहा जाता है। **न च भावितमिति–** समान वीर्य वाली औषधियों के स्वरस से औषधि का भावित न होना। ॥२८॥

आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृन्नात्रयोर्ग्रहः । जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः ॥२९॥
अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः । प्रेष्यभैषज्यवैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च ॥३०॥

संशोधन के अयोग एवं अतियोगजन्य व्यापत्तियाँ– वमन एवं विरेचन के अतियोग एवं अयोग से रोगी में अधोलिखित व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती हैं–

(१) आध्मान [वायु के कारण उदर का फूल जाना - Flatulence, Excessive formation of gases in the stomach or intestine] – अयोग।

(२) परिकर्तिका (आमाशय अथवा गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना) – अतियोग।

(३) स्राव (अत्यधिक स्राव का निकलना – Excessive discharge) – अयोग।

(४) हृद् ग्रह (हृदय प्रदेश में जकड़ाहट का उत्पन्न होना) – अयोग।

(५) गात्रग्रह (शरीर में जकड़ाहट का उत्पन्न होना) – अयोग।

(६) जीवादान (जीवरक्त का निकलना – Bleeding) – अतियोग।

(७) विभ्रंश – (Prolapse of rectum or mental perversion of itching)

(८) स्तम्भ (शरीर का जकड़ जाना - Rigidity)

(९) उपद्रव (Complications)- अयोग जन्य।

(१०) क्लम (मानसिक थकावट- Mental fatigue) – अयोग।

उपर्युक्त या उपरोक्त दस व्यापत्तियाँ प्रेष्य (परिचारक), भैषज्य (औषधि), वैद्य (चिकित्सक) एवं आतुर की विगुणता (उचित गुणों से रहित होना) से भी उत्पन्न होती हैं।

चक्रपाणि– संशोधन औषधि के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न होने वाली आविष्कृततम व्यापत्तियों को यहाँ 'आध्मानमित्यादि' के द्वारा समझाया गया है।

[आध्मानादयश्चामी नावश्यमयोगातियोगान्ते भवन्ति, तेनोपद्रवभूतत्वात् पृथगुक्ताः– आध्मान आदि व्याधियाँ संशोधन औषध के अतियोग अथवा अयोग के अन्त में निश्चित रूप से नहीं उत्पन्न होती हैं, अपितु उपद्रव रूप होने के कारण उसका अभिधान अलग से किया गया है अर्थात् निर्दिष्ट दस व्यापत्तियाँ संशोधन औषधि के अयोग अथवा अतियोग से न उत्पन्न होकर उपद्रव रूप होती हैं। – यह पाठ किसी-किसी हस्तलिखित पुस्तक में नहीं पढ़ा गया है।] ये व्यापत्तियाँ (उपद्रव - Complications) परिचारक आदि की वैगुण्यता तथा अतियोग व अयोग के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होती हैं, यही वाक्य का अभिप्राय है। आध्मान की उत्पत्ति संशोधन औषधि के अयोग या अल्प योग के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। परिकर्तिका अतियोग के कारण उत्पन्न होती है। स्राव– मुख या गुदा से कफ का स्राव होना, में **अयोग** कारण होता है। **हृद्ग्रह–** हृदय में जकड़ाहट भी अयोग के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। अङ्गग्रह– अयोग से उत्पन्न होता है। जीवादान (जीवरक्त– शुद्ध रक्त का निकलना) में अतियोग कारण होता है।

Scanned by CamScanner

विभ्रंशस्तु गुदभ्रंश संज्ञाभ्रंश– कण्ड्वादिलक्षणभ्रंशभेदात्त्रिविधो वक्तव्यः– विभ्रंश तीन प्रकार के होते हैं– १. गुदभ्रंश (Prolapse of Rectum), २. संज्ञाभ्रंश (Mental perversion) ३. कण्डू आदि लक्षण युक्त भ्रंश का मिलना। गुदभ्रंश तथा संज्ञाभ्रंश ये दो अतियोग के कारण उत्पन्न होते हैं। शेष विभ्रंश अयोग जन्य होता है। **उपद्रवोऽप्ययोगजन्य एव–** दस व्यापत्तियों में वर्णित उपद्रव भी अयोगजन्य ही होता है। क्लम (मानसिक थकावट) भी अयोग के ही कारण होता है। इन अयोग एवं अतियोगजन्य उपद्रवों का विस्तृत वर्णन शास्त्र में आगे किया जायेगा। यद्यपि अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग रूप कारणों का विवेचन यथा स्थान किया गया है, फिर भी इस प्रकरण में वमन विरेचन के मिथ्यायोग का अभिधान नहीं किया गया है। जहाँ दोषों की चार प्रकार की प्रवृत्ति होती है– **१. अति प्रवृत्ति–** दोषों का अत्यधिक निकलना (Excessive elimination) अति प्रवृत्ति कहलाता है, **२. असम्यक् प्रवृत्ति–** दोषों का उचित रूप में प्रवृत्त न होना असम्यक् प्रवृत्ति कहलाता है, **३. अप्रवृत्ति–** दोषों का बिल्कुल न निकलना अप्रवृत्ति कहलाता है। **४. अल्पप्रवृत्ति–** दोषों का अल्प मात्रा में निकलना, अल्प प्रवृत्ति कहलाता है।

वहाँ अल्प प्रवृत्ति एवं अप्रवृत्ति का अन्तर्भाव अयोग के अन्तर्गत कर लिया गया है। दोषों की जो प्रवृत्ति प्रतिलोम (विपरीत) होती है, यथा वामक औषधि का विरेचन हो जाना, वह भी दोषों की उचित प्रवृत्ति न होने से अयोग के ही अन्तर्गत ग्रहण की जाती है। कहा भी गया है, यथा– **अयोगःप्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्–** दोषों का विपरीत मार्ग से निकलना, अथवा न निकलना अथवा अल्प मात्रा में निकलना अयोग कहलाता है। ॥२९-३०॥

योगः सम्यक्प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम् ॥३१॥
श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु । विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्वं प्रवर्तते ॥३२॥
क्षुधार्तमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्टकफेन वा । तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमनं स्याद्विरेचनम् ॥३३॥
प्रातिलोम्येन दोषाणां हरणात्ते ह्यकृत्स्नशः । अयोगसंज्ञे, कृच्छ्रेण याति दोषो नवाऽल्पशः ॥३४॥

योग (सम्यक् योग), अतियोग एवं अयोग के लक्षण– दोषों की उचित प्रवृत्ति का होना सम्यक् योग, अत्यधिक मात्रा में दोषों का निकलना अतियोग, संशोधन औषधि का विपरीत मार्ग से बाहर निकलना, यथा– वामक औषधि का विरेचन तथा विरेचक औषधि का वमन के रूप में बाहर निकलना, अथवा औषध का सर्वथा प्रवृत्त न होना (बिल्कुल ही बाहर न निकलना) अथवा अल्प मात्रा में बाहर निकलना **अयोग** कहलाता है।

विरेचक औषधि का वमन हो जाना– अधोलिखित अवस्थाओं में विरेचक औषधि वमन के रूप में बाहर निकल जाती है– १. यदि रोगी में कफ की उत्क्लिष्टता हो, अर्थात् कफ उत्क्लेशित (निकलने को उद्यत) हो, २. विरेचक औषधि का दुर्गन्धित होना, ३. औषधि का स्वाद मन के अनुकूल न होना, ४. औषधि का अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त होना, ५. पूर्व कृत अन्न के जीर्ण हुए बिना विरेचक औषधि का सेवन करना।

इन कारणों के विद्यमान रहने पर ली गयी विरेचक औषधि वमन के द्वारा बाहर निकल जाती है।

तीक्ष्णवामक औषधि का विरेचन हो जाना– निम्नलिखित हेतुओं के विद्यमान होने पर ली गयी तीक्ष्ण वामक औषधि विरेचन के रूप में बाहर निकल जाती है– १. आतुर का भूख से पीड़ित होना, २. कोष्ठ का मृदु होना, ३. कफ का अल्प रूप से उत्क्लेशित होना।

इन अवस्थाओं में यदि रोगी तीक्ष्ण वामक औषधि का प्रयोग करता है तब औषधि शरीर के अन्दर दोषों को क्षुब्ध करते हुए विरेचन के रूप में बाहर निकल जाती है।

अयोग नामकरण का आधार– विपरीत मार्ग द्वारा दोषों का पूर्णतः निर्हरण न होने से 'अयोग' नाम दिया गया है। अयोग की अवस्था में दोष बहुत ही कष्ट के साथ शरीर से बाहर निकलते हैं, अथवा नहीं निकलते अथवा अल्प मात्रा में निकलते हैं।

चक्रपाणि– सम्यक् योग, अतियोग एवं अयोग के स्वरूप को 'योग इत्यादि' के द्वारा समझाया गया है। **अतिवर्तनमिति संशोध्यातिरिक्तप्रवर्तनम्–** संशोधन में निकलने वाले दोषों का अपनी स्वाभाविक मात्रा से अधिक मात्रा में निकलना **अतियोग** कहा जाता है। **प्रातिलोम्येनेति वमनस्य विरेचनेन, विरेचनस्य वमनेन प्रवर्तनम्–** 'प्रतिलोम' से यहाँ वामक औषधि का विरेचन के द्वारा बाहर निकलना तथा विरेचन औषधि का वमन के द्वारा बाहर निकलना, अर्थ लिया गया है। **स्थितमिति झटिति ऊर्ध्वं गच्छत्** (पाठभेद से गच्छत् के स्थान पर 'स्थितं' पाठ प्राप्त होता है) जिसका अर्थ तत्काल ऊर्ध्व मार्ग स्थित दोषों को क्षुब्ध करके विरेचन के द्वारा बाहर निकाल देता है। इनके प्रतिलोम प्रवृत्ति के द्वारा संशोधन के अयोग को यहाँ– प्रातिलोम्येनेत्यादि के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **प्रातिलोम्येनाकृत्स्नहरणात् अयोगसंज्ञे ते इति योज्यम्–** विपरीत मार्ग से दोषों का पूर्णतः निर्हरण न होने के कारण उसकी अयोग संज्ञा होती है। अर्थात् प्रयुक्त संशोधन औषधि यदि अपने स्वाभाविक मार्ग [वामक औषधि– मुखमार्ग तथा विरेचक औषधि – अधोमार्ग (गुदमार्ग) से दोषों का निर्हरण कराती है, यही

Scanned by CamScanner

उसका स्वाभाविक मार्ग है।] से दोषों का निर्हरण नहीं कराती है, तब दोष पूर्णतः नहीं निकल पाते। इसीलिए विपरीत मार्ग से दोष निर्हरण की प्रक्रिया को अयोग के अन्तर्गत रखा गया है। इसी का स्पष्टीकरण यहाँ 'कृच्छ्रेणेत्यादि' के द्वारा किया गया है। प्रतिलोमहरणे कृत्स्नो दोषो न याति – प्रतिलोम मार्ग से दोषों के निकलने में दोष पूर्णतः बाहर नहीं निकलते, अथवा अल्प रूप में बाहर निकलते हैं, यह भाव है। इस प्रकार प्रतिलोम हरण में दोष अपूर्ण रूप से बाहर निकलते हैं, यह अभिप्राय है। 'कृच्छ्रेण यदागच्छति चाल्पश' इति पाठ होने पर- कष्ट के साथ अल्प मात्रा में दोषों का निकलना अर्थ गृहीत होगा। यहाँ 'यत्' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त है। पूर्वत्र पाठे वा शब्दो हेतौ– पूर्व के पाठ में 'वा' शब्द हेतु के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ॥३१-३४॥

पीतौषधो न शुद्धश्चेज्जीर्णे तस्मिन् पुनः पिबेत् । औषधं न त्वजीर्णेऽन्यद्भयं स्यादतियोगतः ।।३५।।
कोष्ठस्य गुरुतां ज्ञात्वा लघुत्वं बलमेव च । अयोगे मृदु वा दद्यादौषधं तीक्ष्णमेव वा ।।३६।।

संशोधन औषधि के जीर्ण हो जाने पर कर्तव्य– संशोधन औषधि (वामक या विरेचक द्रव्य) के पीने के बाद बिना उचित रूप से संशोधन हुए यदि वह पाक को प्राप्त हो जाती है, अर्थात् पच जाती है तब आतुर को पुनः संशोधन औषधि का पान कराना चाहिए। यदि औषधि पची न हो तब उस अवस्था में वामक या विरेचक औषधि का पान नहीं कराना चाहिए, अन्यथा अतियोग का भय रहता है। अर्थात् संशोधन औषधि के बिना जीर्ण हुए पुनः संशोधन औषधि सेवन करने पर वमन या विरेचन के अतियोग होने की संभावना रहती है।

संशोधन औषधि का पुनः प्रयोग– संशोधन औषधि के अयोग की अवस्था में कोष्ठ की गुरुता, लघुता एवं शारीरिक बल का विचार करते हुए मृदु अथवा तीक्ष्ण संशोधन औषधि का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् यदि आतुर का कोष्ठ मृदु तथा बल अल्प हो तब मृदु वमन या विरेचन औषधियों का प्रयोग करावें तथा यदि कोष्ठ गुरु व आतुर बली हो तब तीक्ष्ण संशोधन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– आध्मान आदि व्याधियाँ संशोधन औषधि के अयोग एवं अतियोग के कारण उत्पन्न होती हैं, यह बताया गया। उन दोनों कारणों– अयोग एवं अतियोग में सर्वप्रथम अयोग के कारण (हेतु), लक्षण एवं चिकित्सा का अभिधान 'पीतौषध इत्यादि' के द्वारा किया गया है। **जीर्णे इति–** औषध के जीर्ण हो (पच) जाने पर, अर्थात् बिना संशोधन गुण दर्शाये औषध के पच जाने पर। **पुनः पिबेदिति–** उसी दिन संशोधन औषधि की दूसरी मात्रा का पान करना चाहिए।

भयं स्यादतियोगत इति पूर्वाजीर्णौषधनवीनौषधाभ्यामतियोगः स्यात् – पूर्व गृहीत संशोधन औषध के बिना पचे नवीन औषध के पान करने से अतियोग होने की संभावना रहती है। **मृदु वा दद्यादित्यादौ गुरुकोष्ठे बलवति तीक्ष्णं, लघुकोष्ठे दुर्बले च मृदु दद्यादिति व्यवस्था–** यदि रोगी बलवान् हो तथा कोष्ठ गुरु हो, अर्थात् क्रूर कोष्ठ वाला हो तब उसमे तीक्ष्ण वामक या विरेचक औषधियों की योजना करनी चाहिए। यदि रोगी दुर्बल हो तथा कोष्ठ लघु हो, अर्थात् मृदु हो तब उसमें मृदु औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। ॥३५-३६॥

वमनं न तु दुश्छर्दि दुष्कोष्ठं न विरेचनम् । पाययेतौषधं भूयो हन्यात् पीतं पुनर्हि तौ ।।३७।।

औषधि की दूसरी मात्रा का निषेध– १. जिस व्यक्ति को वमन कष्ट के साथ होता है। अथवा वामक औषधि पिलाने पर भी वमन न हो अथवा अल्प हो अथवा उसका विरेचन हो जाता है, २. रोगी का कोष्ठ क्रूर हो, क्रूर कोष्ठ वाले रोगी में पुनः विरेचक औषधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अथवा विरेचक औषधि पिलाने पर भी विरेचन न हो अथवा अल्प हो अथवा विरेचक औषधि का वमन हो गया हो।

उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में पुनः संशोधक औषधि का प्रयोग करने से रोगी की मृत्यु हो सकती है। अतः ऐसी अवस्था में वामक या विरेचक औषधि का पुनः पान नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– किन अवस्थाओं में वामक व विरेचक औषधि का पुनः पान निषेध किया गया है? उसे यहाँ– 'वमनं न त्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **पुनः पीतं तु हन्यादित्यर्थः–** संशोधन औषधि के पुनः पीने से वह रोगी को मार डालती है। अर्थात् संशोधन औषधि के पीने के बाद यदि औषध जीर्ण न हुई हो तथा वेगों की प्रवृत्ति न हुई हो ऐसी अवस्था में पुनः पीने से औषधि की अधिक मात्रा के कारण अतियोग का भय रहता है।

अस्निग्धास्विन्नदेहस्य रूक्षस्यानवमौषधम् । दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशक्तं जनयेद्गदान् ।।३८।।
विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं भृशम् । पिण्डिकोद्वेष्टनं कण्डूमूर्वोः सादं विवर्णताम् ।।३९।।

अयोग के हेतु तथा उपद्रव (Causes and complications of Ayoga)– संशोधन औषधियों के सेवन से पूर्व रोगी का स्नेहन व स्वेदन न होना, अर्थात् बिना स्नेहन-स्वेदन कराये वामक या विरेचक औषधियों का प्रयोग करना।

Scanned by CamScanner

रूक्ष शरीर वाले व्यक्तियों में पुरानी औषधियों का प्रयोग करना। जीर्ण औषधियों (पुरानी औषधियों) की कार्यकारी क्षमता (Active potency) कम होने से वे दोषों को उत्क्लेशित करके पूर्णतः निर्हरण करने में समर्थ नहीं होती। अपितु अनेक व्याधियों (उपद्रवों) को उत्पन्न करती हैं, यथा– १. विभ्रंश, २. श्वयथु (Oedema), ३. हिक्का (hiccup), ४. तमसो दर्शनम् (आँखों के सामने अन्धेरा छा जाना), ५. पिण्डलियों में ऐंठन होना (Cramps in the calf region), ६. कण्डू (Itching), ७. ऊरुसाद (Asthenia of the thighs - ऊरु में दुर्बलता का होना), ८. विवर्णता (Discolouration of the skin - त्वचा का वर्ण बदल जाना)

चक्रपाणि– स्तोक प्रवृत्ति रूप अयोग को कारण भेद से **अस्निग्धेत्यादि** के द्वारा स्पष्ट किया गया है। स्तोक प्रवृत्ति = दोषों का अल्प मात्रा में बाहर निकलना या अल्प-अल्प रूप में बाहर निकलना। **अस्निग्धस्येति–** जिस रोगी का शरीर सम्यक् रूप से स्निग्ध नहीं है, अर्थात् अल्प रूप में स्नेहित होना।

रूक्षस्येति न मनागपि स्निग्धस्य– अल्प रूप में भी स्नेहित न होना, अर्थात् जो थोड़ा भी स्निग्ध न हो, उसे रूक्ष कहा जाता है।

अनवमिति जीर्णतया मन्दवीर्यम्– औषध के पुराना होने से उसका वीर्य (Active potency) कम हो जाना। **निर्हर्तुमिति निःशेषेणहर्तुम्–** पूर्णतः निर्हरण करना, पुरानी औषधियों का वीर्य अल्प होने से वे दोषों को उत्क्लेशित करके पूर्णतः बाहर निकालने में समर्थ नहीं होती।

विभ्रंशमिति विपरीतप्रवृत्तिसामर्थ्यम्– दोषों को विपरीत मार्ग से बाहर निकालने की सामर्थ्य का होना, यथा–वामक औषधि को विरेचन के रूप में बाहर निकालना अथवा विरेचक औषधि को वमन के रूप में बाहर निकालना। ॥३८-३९॥

स्निग्धस्विन्नस्य चात्यल्पं दीप्ताग्नेर्जीर्णमौषधम् । शीतैर्वा स्तब्धमामे वा दोषानुत्क्लिश्य नाहरेत् ।।४०।।
तानेव जनयेद्योगानयोगः सर्व एव सः । विज्ञाय मतिमांस्तत्र यथोक्तां कारयेत् क्रियाम् ।।४१।।
तं तैल्लवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसङ्करैः । पाययेत् पुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरूहयेत् ।।४२।।
निरूढं च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवासयेत् । फलमागधिकादारुसिद्धतैलेन मात्रया ।।४३।।
स्निग्धं वातहरैः स्नेहैः पुनस्तीक्ष्णेन शोधयेत् । न चातितीक्ष्णेन ततो ह्यतियोगस्तु जायते ।।४४।।

अयोग का दूसरा रूप– यदि रोगी को सम्यक् स्नेहन व स्वेदन कराया गया हो, जाठराग्नि दीप्त हो, ऐसी अवस्था में उसे अल्प संशोधन औषधि दी गयी हो तथा उसका पाचन हो गया हो, अर्थात् वह जीर्ण हो गयी हो अथवा शीत या आम दोष के कारण वह (औषधि) स्तंभित हो (रुक) गयी हो तब वह दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकाल पाती। यह औषधि शरीर में रुक कर विभ्रंश आदि अयोगजन्य उन सभी उपद्रवों को उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में बुद्धिमान चिकित्सक को उन सभी अवस्थाओं का विचार करके समुचित चिकित्सा (जिसकी जो चिकित्सा बतायी गयी है।) का प्रयोग करना चाहिए।

रोगी को लवण तैल का अभ्यङ्ग करावें, पश्चात् सङ्कर व प्रस्तर स्वेद का प्रयोग करावें। औषधि के जीर्ण हो जाने पर संशोधन औषधि का पुनः पान करावें अथवा गोमूत्र मिश्रित निरूह बस्ति का प्रयोग करावें। निरूह बस्ति देने के पश्चात् जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का सेवन करें, तत्पश्चात् मदनफल, पिप्पली, देवदारु द्वारा साधित तैल की मात्रापूर्वक अनुवासन बस्ति दें।

स्निग्ध एवं वातनाशक स्नेहों द्वारा आतुर को पुनः स्नेहित करके पुनः तीक्ष्ण शोधन करावें। अति तीक्ष्ण शोधन द्रव्यों द्वारा आतुर का शोधन न करावें, अन्यथा अतियोग हो सकता है।

चक्रपाणि– 'स्निग्धस्विन्नस्य चेत्यादि' के द्वारा दूसरे अयोग के प्रकार को स्पष्ट किया गया है। **जीर्णमिति–** औषधि (संशोधन औषधि) का पच जाना, यदि रोगी की अग्नि अत्यधिक तीव्र हो तथा वह अल्प मात्रा में संशोधन औषधि का सेवन करता है तब जाठराग्नि की तीव्रता के कारण औषधि पच जाती है। अर्थात् औषध शोधन गुण नहीं दर्शाती। **आमे इति–** दोषों की अपक्व अवस्था में, अर्थात् शरीर में दोष अपक्व है, अथवा उत्क्लेशित नहीं हैं तब संशोधन औषधि पीने पर भी दोष उत्क्लेशित होकर बाहर नहीं निकल पाते। [इस अवस्था में दोषों को दीपन, पाचन औषधियों द्वारा पहले पक्व करना (पचाना) चाहिए। पाचन के पश्चात् ही दोष अपने स्थान को छोड़ते हैं। तत्पश्चात् शोधन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।]

एतेऽत्रायोगलक्षणत्रयेण ये प्रतिपादिता गदा न ते भिन्न सामग्रीजन्या भिन्नचिकित्सा वा, तेन न पूर्वमयोगजन्यव्यापत्ति प्रस्तावे पठिताः– यहाँ इन तीन अयोग के लक्षणों द्वारा जो व्याधियाँ बतायी गयी हैं उनके भिन्न हेतु तथा भिन्न चिकित्सा नहीं होती। उनको पूर्व में अयोगजन्य व्यापत्तियों के प्रस्ताव में नहीं पढ़ा गया है। इसी प्रकार अतियोग के लक्षणों के द्वारा आगे वर्णित व्याधियों में भी यही वाच्य (कहने योग्य) है। यथोक्तमिति– 'पीतौषधो न शुद्धश्चेत्' इत्यादि के द्वारा कहा गया है, जैसा कि कहा गया है। इसका विवेचन – 'पीतौषधो

Scanned by CamScanner

न शुद्धश्चेत' इति के द्वारा श्लोक नं. ३५ में किया गया है। अथवा आगे 'तं तैललवणाभ्यक्तमिति' के द्वारा शास्त्र में बताया गया है। अर्थात् अयोगजन्य व्याधियों की चिकित्सा का निर्देश इसके द्वारा किया गया है। **पाययेतेति–** संशोधन औषधि का पान करना चाहिए। **धान्वैरिति धन्वमृगपक्षिमांसरसैः–** जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस द्वारा। ।।४०-४४।।

जल्पकल्पतरुटीका– स्निग्ध एवं स्विन्न (स्वेदित) पुरुष में अल्प मात्रा में संशोधन औषधि का प्रयोग करना अथवा प्रदीप्त जाठराग्नि वाले पुरुष में जीर्ण (पुरानी) औषधि का प्रयोग करना अथवा आम (अजीर्ण) की अवस्था में शीतल उपचार द्वारा औषधियों का जकड़ जाना। इस अवस्था में प्रयुक्त औषधि दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकाल पाती। अर्थात् वमनार्थ प्रयुक्त औषधि से विरेचक औषधि से विरेचन नहीं हो पाता। उसके द्वारा विभ्रंश आदि व्यापत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । ये सभी व्यापत्तियाँ अयोग के अन्तर्गत आती हैं। उनकी चिकित्सा का वर्णन यहाँ – 'विज्ञायेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

यथोक्तां– यस्य व्याधिर्या या चिकित्सा, तां कारयेत्– जिस व्याधि की जो चिकित्सा शास्त्र में वर्णित है उसके लिए उसका प्रयोग करना चाहिए।

अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम् । हृत्वाऽऽशु विट्पित्तकफान् धातून्विस्रावयेद्द्रवान् ।।४५।।
बलस्वरक्षयं दाहं कण्ठशोषं भ्रमं तृषाम् । कुर्याच्च मधुरैस्तत्र शेषमौषधमुल्लिखेत् ।।४६।।
वमने तु विरेकः स्याद्विरेके वमनं पुनः । परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तत् ।।४७।।
कषायमधुरैः शीतैरन्नपानौषधैस्तथा । रक्तपित्तातिसारघ्नैर्दाहज्वरहरैरपि ।।४८।।
अञ्जनं चन्दनोशीरमज्जासृक्शर्करोदकम् । लाजचूर्णैः पिबेन्मन्थमतियोगहरं परम् ।।४९।।
शुङ्गाभिर्वा वटादीनां सिद्धां पेयां समाक्षिकाम् । वर्चःसांग्राहिकैः सिद्धं क्षीरं भोज्यं च दापयेत् ।।५०।।
जाङ्गलैर्वा रसैर्भोज्यं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते । मधुरैरनुवास्यश्च सिद्धेन क्षीरसर्पिषा ।।५१।।

अतियोग के लक्षण एवं उसकी चिकित्सा (Signs and Treatment of Ati-yoga)– भूख से पीड़ित व मृदु कोष्ठ वाले पुरुष में अति तीक्ष्ण संशोधन के प्रयोग करने पर दी गयी संशोधक औषधि शीघ्र ही विट् (पुरीष), पित्त व कफ को निकालते हुए रसादि द्रव धातुओं को भी बाहर निकालने लगती है। अर्थात् दोषादि के निर्हरण के पश्चात् रसादि द्रव धातुओं का भी स्राव होने लगता है जिसके परिणाम स्वरूप रोगी में बल व स्वर का क्षय होना (Loss of strength and voice), दाह का होना (Burning sensation), कण्ठशोष (गले का सूखना– Dryness of the throat), भ्रम (चक्कर का आना Giddiness) एवं तृष्णा (Morbid thirst); ये उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में मधुर गण की औषधियों के प्रयोग द्वारा शरीर में विद्यमान शेष संशोधक औषधि को वमन द्वारा बाहर निकालना चाहिए। यदि अत्यधिक वमन हो रहा हो तब मृदु विरेचन कराना चाहिए तथा अत्यधिक विरेचन हो रहा हो तब मृदु वमन का प्रयोग कराना चाहिए।

वमन अथवा विरेचन के वेगों को शीतल परिषेक एवं अवगाह आदि के प्रयोग द्वारा रोकें । अथवा कषाय, मधुर व शीत गुणयुक्त औषधि, अन्न व पान के द्वारा अथवा रक्तपित्त व अतिसार नाशक औषधियों के द्वारा अथवा दाह एवं ज्वर नाशक औषधियों के प्रयोग द्वारा वमन व विरेचन के वेगों को रोकना चाहिए।

अतियोग नाशक योग– वमन व विरेचन औषधियों के अतियोग से होने वाले उपद्रवों की अवस्था में अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए– १. अञ्जन, चन्दन, खश (उशीर), मज्जा (Bone-marrow), रक्त, शर्करोदक (चीनी का शरबत) एवं लाजा चूर्ण; इन द्रव्यों को डालकर बनाया गया मन्थ (घोल) अतियोग को दूर करने में अत्यन्त श्रेष्ठ होता है। अर्थात् इस मन्थ के सेवन करने से वमन अथवा विरेचन के वेग रुक जाते हैं, २. वट आदि (न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ एवं कपीतन) क्षीरी वृक्षों के शुङ्ग (Leaf bud) के क्वाथ से निर्मित पेया में मधु मिलाकर पीने से वमन अथवा विरेचन के वेग रुक जाते हैं, ३. अतिसार नाशक औषधियों के क्वाथ से साधित क्षीर (दूध) अथवा अन्य आहार द्रव्यों को पकाकर आतुर को खिलाना चाहिए, ४. जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली चावल के भात का सेवन अतियोग में करना चाहिए। इसके सेवन से अतियोग जन्य दुर्बलता में कमी आती है, ५. पिच्छा बस्ति का प्रयोग करना प्रशस्त है, ६. मधुर गण की औषधियों के कल्क, क्वाथ व क्षीर साधित घृत की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।

चक्रपाणि– विरेचन के अतियोग के हेत्वादि को यहाँ 'अतितीक्ष्णमित्यादि' के द्वारा समझाया गया है। इयं च सामग्री विरेचनातियोगस्यैव घटते – यहाँ वर्णित विषय वस्तु विरेचन के अतियोग के ही हैं।

यतो मृदुकोष्ठे बुभुक्षिते च विट्पित्तकफहरणक्रमेण च सैवातियुज्यते– जब मृदु कोष्ठ तथा क्षुधा युक्त रोगी में तीक्ष्ण विरेचक औषधि का प्रयोग करते हैं तब उससे क्रमशः विट् (पुरीष), पित्त, व कफ का निर्हरण अधिक मात्रा में होने लगता है। यह स्थिति विरेचन के अतियोग की है। वमन के अतियोग की सामग्री का अनुमान इसी उदाहरण के आधार पर कर लेना चाहिए। अथवा अतितीक्ष्ण शब्द

Scanned by CamScanner

से ही अतितीक्ष्ण वामक औषधियों का प्रयोग वमन के अतियोग का कारण होता है, यह बताया गया है। विट्, पित्त व कफ के निर्हरण के क्रम को वमन व विरेचन के अनुसार यथायोग्यतया ग्रहण करना चाहिए। यथा– वमन में क्रमशः आहार या वामक द्रव्य, कफ व अन्त में पित्त तथा विरेचन में पहले पुरीष (विट्), पित्त व अन्त में कफ निकलता है।

शेषमौषधमुल्लिखेदिति– शेष औषधि को वमन कराकर बाहर निकाल देना चाहिए। विरेचन के अतियोग की अवस्था में बलक्षय आदि उपद्रवों के मिलने पर शेष औषधि को वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। यह विधान तात्कालिक चिकित्सा का है। **मृद्विति पदं वमनेन विरेचनेन च सम्बध्यते–** 'मृदु' शब्द का प्रयोग वमन एवं विरेचन दोनों के साथ किया गया है। [श्लोक नं. ४७ में 'स्याद्विरेके वमनं पुनः' के स्थान पर 'स्याद्विरेके वमनं मृदु' पाठ प्राप्त होता है, जिसके आधार पर मृदु शब्द के प्रयोग को बताया गया है।] अर्थात् अति वमन की अवस्था में मृदु विरेचन तथा अति विरेचन की अवस्था में मृदु वमन कराना चाहिए। इससे वमन अथवा विरेचन के वेग रुक जाते हैं।

वटादीनामिति न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थकपीतनानाम् – वटादि से यहाँ न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (बोधिवृक्ष) एवं कपीतन आदि क्षीरी वृक्षों का ग्रहण किया गया है।

वर्चःसंग्राहिकाः षड्विरेचनशताश्रितीयोक्ताः प्रियङ्ग्वनन्तादयः– षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में वर्णित प्रियङ्गु, अनन्ता, आम्रास्थि (आम की गुठली) आदि दस औषधियाँ जो पुरीष संग्रहणीय महाकषाय वर्ग में पढ़ी गयी हैं, उनका ग्रहण किया गया है। अर्थात् इन द्रव्यों के क्वाथ से साधित क्षीर का प्रयोग भोजन के रूप में करना चाहिए।

वमनस्यातियोगे तु शीताम्बुपरिषेचितः । पिबेत् कफहरैर्मन्थं सघृतक्षौद्रशर्करम् ।।५२।।
सोद्गारायां भृशं वम्यां मूर्च्छायां धान्यमुस्तयोः । समधूकाञ्जनं चूर्णं लेहयेन्मधुसंयुतम् ।।५३।।
श्रमतोऽन्तःप्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः । स्निग्धाम्ललवणैर्हृद्यैर्यूषक्षीररसैर्हिताः ।।५४।।
फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽप्रतो नराः । निःसृतां तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ।।५५।।
वाग्ग्रहानिलरोगेषु घृतमांसोपसाधिताम् । यवागूं तनुकां दद्यात् स्नेहस्वेदौ च बुद्धिमान् ।।५६।।

वमन के अतियोग की चिकित्सा– १. अत्यधिक वमन हो जाने पर रोगी को शीतल जल से परिषेक करावें, अर्थात् उसके ऊपर शीतल जल के छींटे मारें तत्पश्चात् कफ नाशक द्रव्यों के क्वाथ में लाजा चूर्ण, घृत, मधु व शर्करा मिलाकर मन्थ (घोल) बनावें तथा उसे पीने के लिए दें। अत्यधिक वमन के कारण यदि रोगी को भयङ्कर रूप से उद्गार आती हो अथवा रोगी मूर्च्छित हो गया हो तब उसे धनिया, मुस्तक (नागरमुस्तक), महुआ एवं रसाञ्जन (रसवत– Solid extract of dāruharidrā); के सम भाग से निर्मित चूर्ण को मधु के साथ चाटने के लिए देना चाहिए।

२. वमन के अतियोग के कारण यदि रोगी की जिह्वा अन्दर की ओर प्रविष्ट हो गयी हो तब कवलग्रह के रूप में स्निग्ध, अम्ल एवं लवण रस युक्त, हृद्य (मनोनुकूल या हृदय के लिए हितकर) क्षीर तथा मांसरस का प्रयोग करना चाहिए। उस रोगी के सामने दूसरा व्यक्ति अम्ल रस युक्त फलों को खाये, जिसे देखकर रोगी भी खट्टे फलों को खाने की इच्छा करता है जिससे अन्दर प्रविष्ट जिह्वा बाहर आ जाती है।

३. यदि वमन के अतियोग के कारण जिह्वा बाहर निकल आयी हो तब उस पर तिल व मुनक्के के कल्क का लेप करके जिह्वा को हाथ से पकड़कर अन्दर प्रविष्ट करा दें।

४. यदि वमन के अतियोग के कारण वाक्ग्रह (आवाज का न आना) आदि अन्य वात रोग उत्पन्न हो गये हों तब इस अवस्था में बुद्धिमान चिकित्सक को चाहिए कि वह आतुर को घृत व मांसरस द्वारा साधित पतली यवागू का प्रयोग भोजन के रूप में करें। अर्थात् रोगी को घृत व मांसरस से सिद्ध की हुई पतली यवागू खिलानी चाहिए। इसके साथ ही गले के ऊपर अथवा अन्य प्रभावित भाग का अभ्यङ्ग व स्वेदन करना चाहिए।

चक्रपाणि– पुरतोऽम्लफलखादनं मुखस्रावणेन जिह्वास्तब्धत्वं हन्तुम्– रोगी के सामने अम्ल फल को खाने से रोगी के मुख में पानी आ जाता है, अर्थात् उसकी भी खाने की इच्छा होने लगती है, ऐसा उसकी जिह्वा की जकड़ाहट को दूर करने के लिए किया गया है।

अतियोगे निःसृतामिति– वमन के अतियोग में जिह्वा बाहर की ओर निकल जाती है। इससे यहाँ जिह्वा की विशेषता को बताया गया है। ॥५२-५६॥

वमितश्च विरिक्तश्च मन्दाग्निश्च विलङ्घितः । अग्निप्राणविवृद्ध्यर्थं क्रमं पेयादिकं भजेत् ।।५७।।

पेयादि संसर्जनक्रम का प्रयोग– जिस व्यक्ति का वमन व विरेचन हुआ हो, जो मन्दाग्नि से पीड़ित हो तथा जो उपवास कर चुका हो; ऐसे रोगियों में प्राण व अग्नि की वृद्धि हेतु पेया आदि संसर्जन क्रम का प्रयोग कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– वमन के अतियोग या विरेचन के अतियोग में भी जिस प्रकार पेयादि क्रम का पालन किया जाता है उसी को यहाँ 'वमितश्चेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'अति हरण' से अति वमन एवं अति विरेचन अर्थ लिया गया है। [अग्नि = जाठराग्नि, प्राण - Vitality] ॥५७॥

बहुदोषस्य रूक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम् । सोदावर्तस्य चोत्क्लिश्य दोषान्मार्गान्निरुध्य च ॥५८॥
भृशमाध्मापयेन्नाभिं पृष्ठपार्श्वशिरोरुजम् । श्वासविण्मूत्रवातानां सङ्गं कुर्याच्च दारुणम् ॥५९॥
अभ्यङ्गस्नेदवर्त्यादि सनिरूहानुवासनम् । उदावर्तहरं सर्वं कर्माध्मातस्य शस्यते ॥६०॥

आध्मान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Ādhmāna)– १. जिस व्यक्ति के शरीर में वातादि दोष अत्यधिक प्रकुपित हों, २. जिसका शरीर अति रूक्ष हो, ३. जो मन्दाग्नि से पीड़ित हो, अर्थात् जिसकी जाठराग्नि दुर्बल हो, ४. जो व्यक्ति उदावर्त रोग से पीड़ित हो।

यदि ऐसे पुरुषों में अल्प बल वाली औषधि, या अल्प मात्रा में औषधि का प्रयोग करते हैं तब वह औषधि दोषों को उत्क्लेशित करके उन्हें स्रोतस् में अवरुद्ध करके नाभि को भयङ्कर रूप से (अत्यधिक रूप से) फुला देती है [उत्क्लेशित दोष के स्रोतस् में अवरुद्ध हो जाने से नाभि अत्यधिक फूल जाती है।] जिसके कारण रोगी के पीठ (Back), पार्श्व (Sides of the chest) एवं सिर में वेदना (Pain) उत्पन्न हो जाती है। रोगी के श्वास, पुरीष, मूत्र एवं वायु (अपान वायु) में भयङ्कर अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

आध्मान की चिकित्सा हेतु – १. अभ्यङ्ग, स्वेदन व फलवर्तियों (Medicated suppository) का प्रयोग करना चाहिए, २. निरूह एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग करें, ३. उदावर्त रोग नाशक अन्य सभी उपक्रमों का प्रयोग हितकर होता है।

चक्रपाणि– संशोधन औषधि के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न होने वाले व्यापत्तियों (उपद्रवों) यथा– आध्मान आदि के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा को क्रमशः 'बहुदोषस्येत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ये व्यापत्तियाँ (उपद्रव) निश्चित रूप से अयोग एवं अतियोग के परिणाम स्वरूप नहीं उत्पन्न होती, अपितु उपद्रव रूप में उत्पन्न होती हैं। इसलिये उपकल्पनीय अध्याय में– "अतियोगायोगनिमित्तानिमानुपद्रवान् विद्यात् – आध्मानं परिकर्तिका" (सू.अ. १५) इति [अतियोग एवं अयोग के कारण ये उपद्रव उत्पन्न होते हैं, यथा– आध्मान, परिकर्तिका आदि] सूत्र के द्वारा दस व्यापदों का वर्णन किया गया है। उपकल्पनीय अध्याय (सू.अ. १५) में वामक औषधि के अतियोग एवं अयोग के कारण अधोलिखित उपद्रव उत्पन्न होते हैं– १. आध्मान (Abdominal distension), २. परिकर्तिका [गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना – विरेचन के अतियोग; वमन के अतियोग– आमाशय (ऊर्ध्व आमाशय में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना)] ३. परिस्राव (Exudation of liquid), ४. हृदयोपसरण (Palpitation), ५. अङ्गग्रह (हाथ व पैरों में जकड़ाहट का होना - Stiffness of the limbs), ६. जीवादान (रक्तस्राव का होना – Bleeding), ७. विभ्रंश, ८. स्तम्भ, ९. क्लम (Mental fatigue), १०. उपद्रव (Complications) [सू.अ. १५ के वर्तमान पाठ में दस उपद्रवों के अन्तर्गत 'उपद्रव' की गणना नहीं की गयी है, अपितु ९ ही पढ़े गये हैं।]

स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम् । क्षामेण मृदुकोष्ठेन श्रान्तेनाल्पबलेन वा ॥६१॥
पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च । तीव्रशूलां सपिच्छास्रां करोति परिकर्तिकाम् ॥६२॥
लङ्घनं पाचनं सामे रूक्षोष्णं लघुभोजनम् । बृंहणीयो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा ॥६३॥

परिकर्तिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा– जिस व्यक्ति का स्नेहन भलीभाँति हुआ हो एवं उसका कोष्ठ भारी हो अर्थात् जिसका कोष्ठ क्रूर हो तथा जिसमें आम दोष की अधिकता हो ऐसे पुरुष में तीक्ष्ण औषधि का प्रयोग किया जाय। अथवा जिसका शरीर रूक्ष हो, कोष्ठ मृदु हो, रोगी थका हुआ हो तथा जो शारीरिक रूप से दुर्बल हो ऐसे व्यक्ति को तीक्ष्ण विरेचक औषधि पिलायी जाय। ऐसी अवस्था में प्रयुक्त औषधि गुद मार्ग के द्वारा शीघ्रतापूर्वक आम दोष को बाहर निकाल देती है। इसके साथ ही उदर में तीव्र शूल तथा झाग युक्त रक्तस्राव होने लगता है। इन लक्षणों से युक्त व्याधि को परिकर्तिका कहते हैं।

इस व्याधि की चिकित्सा निम्नवत् करनी चाहिए– १. आम की अवस्था में आम पाचनार्थ लंघन, पाचन, रूक्ष, उष्ण एवं लघु आहार द्रव्यों का सेवन करें, २. कृश व्यक्ति में मधुर रस प्रधान औषधियों द्वारा शरीर का बृंहण करावें। इसके साथ ही इसमें सभी प्रकार की बृंहण औषधियों का प्रयोग करना कल्याणकारी होता है।

चक्रपाणि– 'स्निग्धेनेत्यादि' के द्वारा 'परिकर्तिका' का अभिधान किया गया है। 'पीतं गत्वा गुदमिति' के द्वारा विरेचन के अतियोग से होने वाली 'परिकर्तिका' का ग्रहण किया गया है। परिकर्तिका से यहाँ **Anal fissure** का ग्रहण किया जा सकता है। वमन के अतियोग से होने वाली परिकर्तिका का इससे ग्रहण नहीं है। उपकल्पनीय अध्याय में साक्षात (प्रत्यक्ष) वमन के अयोग एवं अतियोग से होने वाले उपद्रवों में आध्मान आदि के साथ इसकी (परिकर्तिका की) भी गणना की गयी है। इस प्रकार अनुक्त होते हुए भी वमन की व्यापत्ति में

Scanned by CamScanner

परिकर्तिका के उदाहरण द्वारा उसके लक्षण कल्पनीय हैं। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा– "या तु परिकर्तिका विरेचने, तद्वमने कण्ठकर्षणं; योऽधः परिस्रावो विरेचने, स वमने कफप्रसेकः" (सु.चि.अ. ३४) इति। [जो परिकर्तिका विरेचन के अतियोग से उत्पन्न होती है वही वमन के प्रसङ्ग में– **कण्ठ कर्षण** (गले में क्षत का होना) के रूप में मान्य है। अर्थात् (विरेचन के प्रसंग में) परिकर्तिका का अर्थ गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना या Anal fissure तथा वमन के प्रसंग में गले में क्षत (घाव) का होना, लिया गया है। इसी प्रकार जो **अधः परिस्राव** विरेचन में उत्पन्न होता है वही वमन में 'कफप्रसेक' के रूप में उत्पन्न होता है।]

तदनया दिशा आध्मानादीनि वमनविरेचनयोरयोगातियोगजन्यतया व्याख्यातानीत्येके– यहाँ वर्णित आध्मान आदि वमन व विरेचन के अयोग एवं अतियोग के कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

आशु दोषं निरस्येति– यह उपद्रव वमन के अतियोग के कारण उत्पन्न होता है। यहाँ लंघन, पाचन आदि क्रियाओं का प्रयोग अतियोग होने पर आम दोष के पाचन के लिए किया जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

क्षामेण मृदुकोष्ठेनेत्यादिसंप्राप्तिजनितस्य क्षामपुरुषप्रभवस्य लङ्घनपाचनाद्यमुपक्रान्तमेव– दुर्बल (कृश) अथवा मृदु कोष्ठ, अथवा थके हुए अथवा अल्प बल वाले व्यक्ति में बलवान् (तीक्ष्ण) औषधि के प्रयोग करने पर वह औषधि शीघ्रता पूर्वक गुदा में पहुँचकर आम दोष को उत्पन्न करके उदर में तीव्र शूल को उत्पन्न करती है साथ में झाग युक्त रक्त का स्राव भी कराती है। ऐसे पुरुष में भी आम दोष के पाचन हेतु लंघन, पाचन आदि उपक्रमों का प्रयोग किया जाता है। इसके बाद मधुर गण की औषधियों द्वारा साधित क्षीर आदि के द्वारा उसका बृंहण कराना चाहिए। ॥६१-६३॥

आमे जीर्णेऽनुबन्धश्चेत् क्षाराम्लं लघु शस्यते । पुष्पकासीसमिश्रं वा क्षारेण लवणेन वा ॥६४॥
सदाडिमरसं सर्पिः पिबेद्वातेऽधिके सति । दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमत्वचा ॥६५॥
देवदारुतिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिबेत् । अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षकदम्बैर्वा शृतं पयः ॥६६॥
कषायमधुरं शीतं पिच्छाबस्तिमथापि वा । यष्टीमधुकसिद्धं वा स्नेहबस्तिं प्रदापयेत् ॥६७॥

परिकर्तिका नाशक विशेष योग– १. यदि पूर्व उपक्रमों द्वारा आम दोष का पाचन हो जाता है फिर भी रोगी में परिकर्तिका का अनुबन्ध बना हुआ है तब रोगी को क्षार, अम्ल एवं लघु गुण युक्त आहार द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए।

२. यदि वायु की उल्वणता हो तब अधोलिखित योगों का प्रयोग करना चाहिए–

- पुष्पकासीस में क्षार अथवा सैन्धव लवण मिलाकर, उसमें अनार के रस व घृत मिलाकर आतुर को पिलाना चाहिए।
- अनार के छिलके के चूर्ण को खट्टी दही में मिलाकर भोजन के साथ खिलाना चाहिए।
- देवदारु एवं तिल के कल्क का प्रयोग (देवदारु चूर्ण में तिल का कल्क मिला लें) उष्ण जल के साथ करें।
- अश्वत्थ (पीपल = बोधिवृक्ष), उदुम्बर (गूलर),प्लक्ष (पाकड़) अथवा कदम्ब की छाल के क्वाथ से पकाये गये क्षीर को आतुर को पिलावें। इसके पीने से परिकर्तिका रोग दूर हो जाता है।
- कषाय, मधुर एवं शीत गुण युक्त औषधियों के द्वारा बनायी गयी पिच्छा बस्ति का प्रयोग करें।
- यष्टीमधु के कल्क व क्वाथ से विधिपूर्वक साधित स्नेह की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें।

चक्रपाणि– आम पाचन के बाद भी यदि परिकर्तिका बनी रहती है तब क्या करना चाहिए, इसे यहाँ – 'आमे जीर्ण इत्यादि' के द्वारा बताया गया है। **क्षाराम्लं लघु शस्यत इति–** अतिसार चिकित्सा में वर्णित **चाङ्गेरी घृत** का पान अल्प मात्रा में करना हितकारक होता है। [चाङ्गेरीकोलदध्यम्लनागरक्षारसंयुतम् । घृतमुत्क्वथितं पेयं गुदभ्रंशरुजापहम् ॥ – इति चाङ्गेरीघृतम् चि.अ. १९/४३]

पुष्पकासीसमिति– इसमें (पुष्पकसीस में) वर्णित पुष्प शब्द से कुछ लोग धातकी पुष्प, जो पुरीष संग्रहणीय है, का ग्रहण करते हैं, अर्थात् यहाँ धातकीपुष्प व कासीस दोनों का कुछ आचार्य ग्रहण करते हैं। जबकि पुष्पकसीस, कासीस (Iron sulphate) का एक प्रकार है। ॥६४-६७॥

विशेष (Comments)– 'आमेजीर्णेऽनुबन्धश्चेत्' के स्थान पर जल्पकल्पतरु टीका के चरक पाठ में 'आमेऽजीर्णे तु बन्धश्चेत्' पाठ प्राप्त होता है। जिसका अभिप्राय आमानुबन्ध जनित परिकर्तिका की चिकित्सा हेतु क्षार, अम्ल एवं लघुगुण युक्त द्रव्यों से साधित चाङ्गेरी घृत के प्रयोग से है। लेकिन यहाँ वर्णित पाठ ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि घृत आदि का प्रयोग निराम अवस्था में ही करना निरापद होता है। आम के अनुबन्ध में स्नेह के प्रयोग का विधान नहीं है।

Scanned by CamScanner

अल्पं तु बहुदोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजम् । अल्पाल्पं स्रावयेत् कण्डूं शोफं कुष्ठानि गौरवम् ।।६८।।
कुर्याच्चाग्निबलोत्क्लेशस्तैमित्यारुचिपाण्डुताः । परिस्रावः स, तं दोषं शमयेद्वामयेदपि ।।६९।।
स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पाययेत विरेचनम् । शुद्धे चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत् ।।७०।।

परिस्राव के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Parisrāva)– अत्यधिक दोषयुक्त रोगी में अल्प मात्रा में अथवा अल्पवीर्य वाली औषधि का प्रयोग करने पर वह दोषों को उत्क्लेशित करके थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाहर निकालती है जिसके परिणाम स्वरूप रोगी में कण्डू (Itching), शोफ (Oedema), कुष्ठ (Skin diseases including leprosy), गौरव (शरीर में भारीपन (Heaviness of the body), अग्नि उत्क्लेश, बलोत्क्लेश [अग्नि उत्क्लेश– अग्निमांद्य, बलोक्लेश– बल का नाश], स्तैनित्य (शरीर को गीले कपड़े से ढकने जैसा प्रतीत होना), अरुचि (Anorexia), पाण्डु (Anaemia) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, उसे **परिस्राव** कहते हैं। ऐसी अवस्था में बढ़े हुए दोषों को शान्त करना चाहिए अथवा वमन द्वारा बढ़े हुए दोषों को बाहर निकालना चाहिए अथवा स्नेहन कराकर पुनः तीक्ष्ण औषधि पिलाकर विरेचन कराना चाहिए। शरीर के शुद्ध हो जाने पर चूर्ण, आसव एवं अरिष्टों को संस्कारित करके रोगी को देना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अल्पमित्यादि' के द्वारा परिस्राव का अभिधान किया गया है। **शमयेद्वामयेदपीत्यादौ अल्पदोषे शमनं बहुदोषे ऊर्ध्वगतदोषे तु वमनमिति व्यवस्था–** दोषों के अल्प प्रकोप में शमन चिकित्सा तथा ऊर्ध्वगत दोषों के अत्यधिक प्रकुपित होने पर वमन कराने का निर्देश दिया गया है। वामयेद् – से यहाँ पुनः स्नेहन करा करके वमन कराना चाहिए। चूर्ण, आसव व अरिष्ट से यहाँ ग्रहणी व अर्श चिकित्सा में वर्णित चूर्ण, आसव एवं अरिष्टों का ग्रहण किया गया है। ।।६८-७०।।

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः । कुपिता हृदयं गत्वा घोरं कुर्वन्ति हृद्ग्रहम् ।।७१।।
स हिक्काकासपार्श्वार्तिदैन्यलालाक्षिविभ्रमैः । जिह्वां खादति निःसंज्ञो दन्तान् किटिकिटापयन् ।।७२।।
न गच्छेद्विभ्रमं तत्र वामयेदाशु तं भिषक् । मधुरैः पित्तमूर्च्छार्तं कटुभिः कफमूर्च्छितम् ।।७३।।
पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषशेषं विपाचयेत् । कायाग्निं च बलं चास्य क्रमेणोत्थापयेत्ततः ।।७४।।
पवनेनातिवमतो हृदयं यस्य पीड्यते । तस्मै स्निग्धाम्ललवणं दद्यात् पित्तकफेऽन्यथा ।।७५।।

हृद्ग्रह के हेतु लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Hridgraha)– औषध पीने के बाद यदि वमन अथवा विरेचन के वेग आने लगे। ऐसी अवस्था में व्यक्ति यदि उन वेगों को रोकता है तब वेगों के रोकने से प्रकुपित हुए वातादि दोष हृदय में पहुँचकर भयङ्कर रूप से हृद्ग्रह को उत्पन्न करते हैं। इस अवस्था में रोगी हिक्का (Hiccup), कास (खाँसी का आना), पार्श्व पीड़ा (Pain in the sides of the chest), दीनता (Prostration – Extreme exhaustion or lack of energy), अत्यधिक लालास्राव (Ptyalism) व आँखों में विभ्रम का उत्पन्न होना, रोगी अपनी जिह्वा (जीभ) को काटने लगता है, ज्ञान शून्यता (Unconsciousness), दांतों का किटकिटाना आदि लक्षण पाये जाते हैं। इन लक्षणों को देखकर चिकित्सक को भ्रमित नहीं होना चाहिए, अर्थात् हृद्ग्रह का तत्काल निश्चय कर चिकित्सा करनी चाहिए।

१. यदि रोगी पित्तजन्य मूर्च्छा से आक्रान्त है तब उसे मधुरगण की औषधियों के प्रयोग द्वारा अथवा यदि कफज मूर्च्छा से पीड़ित है तब उसे कटु द्रव्यों के प्रयोग द्वारा तत्काल वमन कराना चाहिए।

२. संशोधन के बाद शेष दोषों को पाचन द्रव्यों के प्रयोग द्वारा पाचन कराना चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा द्वारा आतुर की जाठराग्नि एवं बल को क्रमशः बढ़ाना चाहिए।

३. अत्यधिक वमन के कारण यदि वायु प्रकुपित होकर हृदय को पीड़ित करे उस अवस्था में रोगी को स्निग्ध, अम्ल एवं लवण रस युक्त द्रव्यों का सेवन करावें।

४. यदि अति वमन के कारण कफ व पित्त के प्रकुपित होने से हृदय में पीड़ा उत्पन्न हो रही हो तब पित्त व कफ नाशक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'पीतौषधस्येत्यादि' के द्वारा 'हृद्ग्रह' को स्पष्ट किया गया है। **न गच्छेद्विभ्रमं तत्रेति–** यह रोगी हृद्ग्रह से पीड़ित है अथवा इसकी मृत्यु समीप है, यह संशय नहीं उत्पन्न होना चाहिए। अर्थात् इन लक्षणों को देखते ही तत्काल यह समझ लें कि यह रोगी हृद्ग्रह रोग से पीड़ित है। [व्याधि के निश्चय में संशय नहीं होना चाहिए।]

वमनं चात्र मूर्च्छिते दुःशकप्रयोगं, तेन मूर्च्छारम्भ एव वमनं कारयितव्यम्– यद्यपि मूर्च्छित अवस्था में वमन का प्रयोग कष्टकारी होता है, अतः मूर्च्छा के प्रारम्भ में ही वमन कराना चाहिए, यह अर्थ ग्रहण करें। अथवा मूर्च्छित होने पर भी मुख में अंगुली आदि डाल करके वमन कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

पित्तमूर्च्छार्तमिति पित्तप्रबलदोषजनितमूर्च्छार्तम् – अत्यधिक पित्त प्रकोप से उत्पन्न मूर्च्छा का रोगी। अतिवमत इति – वमन करने के लिए अत्यधिक प्रवाहण करता है, अत्यधिक वमन के कारण उत्पन्न **वात वृद्धि** में वातनाशक चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् स्निग्ध, लवण एवं अम्ल रस युक्त आहार द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

पित्तकफेऽन्यथेति पित्ते कफे वा हृदयपीडाकरे स्निग्धाम्ललवणविपरीतं रूक्षतिक्तकटुकादिक्रमं कुर्यात्– कफ या पित्त की वृद्धि के कारण हृदय में पीड़ा हो रही हो तब स्निग्ध, अम्ल व लवण रस प्रधान औषधियों के विपरीत रूक्ष, तिक्त व कटु आदि रस प्रधान औषधियाँ जो पित्त व कफ की शामक हों, का प्रयोग करना चाहिए। ॥७१-७५॥

पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा । रुद्धोऽति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यङ्गानि मारुतः ।।७६।।
स्तम्भवेपथुनिस्तोदसादोद्वेष्टनमन्थनैः । तत्र वातहरं सर्वं स्नेहस्वेदादि कारयेत् ।।७७।।

अङ्गग्रह के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Aṅga-graha)– संशोधन औषधि पीने के बाद व्यक्ति यदि आने वाले वमन या विरेचन के वेगों को रोकता है, अथवा कफ के द्वारा आने वाले वायु के वेग अवरुद्ध हो जाते हैं तब वह रुकी हुई वायु प्रकुपित होकर अङ्गों में जकड़ाहट (अंगग्रह - Stiffness of the limbs) को उत्पन्न करती है। इस व्याधि में रोगी के शरीर में स्तम्भ (Stiffness - जकड़ाहट), वेपथु (कम्पन-Trembling), निस्तोद (सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना), अवसाद (Loss of energy - Prostration), उद्वेष्टन (शरीर में ऐंठन का होना तथा शरीर में मथने जैसी पीड़ा का होना); लक्षण मिलते हैं। इस व्याधि में स्नेहन, स्वेदन आदि सभी प्रकार के वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– संशोधन के अयोग एवं अतियोग से उत्पन्न होने वाले उपद्रवों में **अङ्गग्रह** का वर्णन यहाँ पीतौषधस्येत्यादि के द्वारा किया गया है।

कफेन वा रुद्धो दोषः पुनरङ्गानि निगृह्णाति– निकलने वाले वेगों को रोकने पर कफ के द्वारा अवरुद्ध दोष (वात) पुनः प्रकुपित होकर अङ्गों में जकड़ाहट उत्पन्न करता है। यह अवस्था संशोधन के अयोग की है। अथवा वमन या विरेचन के द्वारा दोषों के अति निर्हरित हो जाने पर (अत्यधिक संशोधन होने पर) प्रकुपित वायु स्तम्भ आदि लक्षणों को उत्पन्न करती है। यह अवस्था संशोधन के अतियोग होने पर उत्पन्न होती है। ॥७६-७७॥

अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम् । दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम् ।।७८।।
तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा । भुङ्क्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत् ।।७९।।
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा । प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ।।८०।।
तृष्णामूर्च्छामदार्तस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम् । तस्य पित्तहरीं सर्वामतियोगे च या हिता ।।८१।।
मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक् । पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति ।।८२।।
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत् । श्यामाकाश्मर्यबदरीदूर्वोशीरैः शृतं पयः ।।८३।।
घृतमण्डाञ्जनयुतं शीतं बस्तिं प्रदापयेत् । पिच्छाबस्तिं सुशीतं वा घृतमण्डानुवासनम् ।।८४।।

जीवादान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Jīvādāna)– १. यदि मृदु अथवा अल्प प्रकुपित दोष वाले पुरुष में अति तीक्ष्ण संशोधन औषधि का प्रयोग किया जाता है तब वह औषधि दोषों को निकालते हुए रक्त को क्षुब्ध करते हुए जीवरक्त को निकालने लगती है। जीवरक्त = शुद्ध रक्त।

२. उस **जीवरक्त** (शुद्ध रक्त) को अन्न के साथ मिश्रित करके वायस (कौआ) अथवा शुन (कुत्ते) को खाने के लिए देना चाहिए। यदि इसे वह (कौआ अथवा कुत्ता) खा लेता है तब निकलने वाले इस रक्त को जीवरक्त कहना अथवा समझना चाहिए। यदि वह नहीं खाता है तब उसे पित्त द्वारा दूषित समझना चाहिए।

३. अथवा एक सफेद वस्त्र के टुकड़े को निकलने वाले रक्त में भिगोकर सुखा लें। इस रक्त से भीगे हुए वस्त्र के सूख जाने पर उसे गुनगुने जल से धुलें, अर्थात् वस्त्र को धोवें। यदि वस्त्र पर लगा हुआ रक्त पूर्णतः धुल जाय अर्थात् कपड़े पर रक्त का कोई भी निशान (धब्बा) न रहे तो उसे शुद्ध रक्त समझना चाहिए। यदि वस्त्र पूर्णतः नहीं धुलता, अर्थात् उस पर रक्त के धब्बे का निशान रहता है तब उसे पित्त द्वारा दूषित समझना चाहिए।

४. जीवरक्त निकलने के साथ-साथ यदि रोगी तृष्णा (Morbid thirst), मूर्च्छा (Fainting) एवं मद (Intoxication) रोग से पीड़ित हो तब उसकी चिकित्सा मृत्यु पर्यन्त करनी चाहिए। अर्थात् जब तक उसका जीवन है तब तक चिकित्सा करनी चाहिए। सभी प्रकार के अतियोग में अतियोगनाशक चिकित्सा के साथ-साथ पित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिए। अर्थात् **जीवरक्त** निकलने की अवस्था में अतियोगनाशक चिकित्सा के साथ-साथ पित्तनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

५. **रक्तपान का विधान–** (क) मृग, गाय, भैंस अथवा बकरी के ताजे रक्त को जीवन धारण के लिए पीना चाहिए। तत्काल निकाला हुआ रक्त शीघ्र ही शरीरगत रक्त से मिलकर रक्त (जीवरक्त) में बदल जाता है। (ख) यदि रोगी ताजे रक्त का पान न कर सके तब उस रक्त में (ताजे रक्त में) कुश के चूर्ण को मसलकर बस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् **रक्तबस्ति** देनी चाहिए। (ग) अथवा श्यामा (काली निशोथ का मूल), गम्भार, बेर, दूर्वा (दूब घास) एवं खश (उशीर); द्वारा साधित क्षीर (दूध) में घृतमण्ड व अञ्जन मिलाकर ठण्ढा कर लें। शीतल होने पर इसकी बस्ति दें। [घृतमण्ड = Supernant part of the ghee, Añjana– Solid extract of dāruharidrā] अथवा शीतल पिच्छा बस्ति का प्रयोग करें अथवा घृतमण्ड की अनुवासन बस्ति दें।]

चक्रपाणि– 'अतितीक्ष्णमित्यादि' के द्वारा **जीवादान** को स्पष्ट किया गया है। जीवदान का अभिप्राय– शुद्ध रक्त के निकलने से है। लघुदोषस्य इति– शरीर में अल्प रूप में दोषों का प्रकुपित होना। **विनिर्मथ्येति–** रक्त को क्षुब्ध करके (मथ करके) बाहर निकालना। जीवमिति– जीवन हेतु धातु रूप रक्त को। **शोणितं किञ्चिद्रक्तपित्तक्षोभाद्भवति** अल्प रूप में रक्त पित्त के क्षोभ से होता है तथा उसमें कुछ जीवरक्त होता है। अर्थात् निकलने वाला रक्त दो प्रकार का होता है– **१. जीवरक्त** (शुद्ध रक्त), **२. अशुद्धरक्त–** यह पित्त की दुष्टि के कारण **रक्तपित्त** में निकलता है। उसकी (निकलने वाले रक्त की) विशेष परीक्षा को यहाँ– 'तेनान्नमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

पित्तमादिशेदिति शोणितगतं पित्तमादिशेद् रक्तपित्तमिति यावत् – निकलने वाले रक्त को अन्न के साथ मिलाकर कौआ या कुत्ते को खाने के लिए देते हैं, यदि वह उसे नहीं खाता है तब उसमें पित्त की दुष्टि है, अर्थात् वह रक्त पित्त द्वारा दूषित है। यह अवस्था रक्तपित्त रोग में होती है। आवानमिति = शुष्क। **पित्ते इति–** रक्तपित्त रोग के होने पर रक्त आप्लावित शुष्क वस्त्र को धुलने पर रक्त के धब्बे बने रहते हैं, अर्थात् वस्त्र पूर्णतः स्वच्छ नहीं होता, जबकि जीवरक्त की अवस्था में वस्त्र पूर्णतः साफ हो जाता है, अर्थात् वस्त्र पर धब्बे के निशान नहीं रहते। **रक्त की यह परीक्षा** चिकित्सा भेद के लिए है। रक्तपित्त व्याधि के होने पर अथवा पित्त दूषित रक्त के होने पर रक्त पित्त नाशक चिकित्सा करनी चाहिए। यदि निकलने वाला रक्त शुद्ध हो, अर्थात् जीवरक्त हो इसके साथ-साथ रोगी तृष्णा, मूर्च्छा तथा मद जैसे उपद्रवों से युक्त हो। अर्थात् शुद्ध रक्त के अत्यधिक निकलने पर रोगी इन लक्षणों से युक्त होता ही है उस अवस्था में अतियोग नाशक चिकित्सा करनी चाहिए, जिसका विवेचन यहाँ ही– **''परिषेकावगाहाद्यैः सुशीतैः स्तम्भयेच्च तम्''** इत्यादि के द्वारा कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् अतियोग की अवस्था में शीतल औषधियों के क्वाथ को ठण्ढा करके परिषेक, करावें अर्थात् रोगी के ऊपर उसका छिड़काव करें, उसी से स्नान करावें तथा कषाय व मधुर रस प्रधान औषधियों के क्वाथ, चूर्ण, शीत आदि के द्वारा रोगी की चिकित्सा करें।

जीवं तद्ध्याशु गच्छतीति– पशुओं द्वारा निकाला गया ताजा रक्त (Fresh blood) अपने विशेष क्रिया (प्रभाव) के कारण शीघ्र ही जीवरक्त (शरीरगत रक्त) में बदल जाता है, क्योंकि दोनों का ही स्वरूप समान होता है। श्यामा = प्रियङ्गु। ॥७८-८४॥

गुदं भ्रष्टं कषायैश्च स्तम्भयित्वा प्रवेशयेत् । साम गान्धर्वशब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत् ॥८५॥
यदा विरेचनं पीतं विडन्तमवतिष्ठते । वमनं भेषजान्तं वा दोषानुत्क्लिश्य नावहेत् ॥८६॥
तदा कुर्वन्ति कण्ड्वादीन् दोषाः प्रकुपिता गदान् । स विभ्रंशो मतस्तत्र स्याद्यथाव्याधि भेषजम् ॥८७॥

विभ्रंश के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Vibhraṇśa)– १. यदि गुदभ्रंश (Prolapse of rectum) उत्पन्न हो जाता है तब उसे कषाय रस प्रधान द्रव्यों के क्वाथ (Decoction) द्वारा धोकर स्तम्भित कर लें। तत्पश्चात् उसे यथास्थान प्रवेश करा देना चाहिए।

२. यदि विरेचन के अतियोग के कारण आतुर मूर्च्छित हो जाता है तब उसे सामवेद या अन्य दूसरे गानों को सुनाना चाहिए। ऐसा करने से उसकी मूर्च्छा दूर हो जाती है। मूर्च्छा = संज्ञा विभ्रंश ।

३. विरेचन औषध पीने के बाद यदि औषधि पुरीष के निर्हरण के बाद अपनी क्रिया बन्द कर देती है। अर्थात् पुरीष के निकलने के बाद पित्त व कफ का निर्हरण न हो अथवा वामक औषधि पीने के बाद वामक द्रव्य के निकलने के बाद औषधि अपना कार्य बन्द कर देती है, अर्थात् कफ व पित्त को नहीं निकालती [दोषों को उत्क्लेशित करके बाहर नहीं निकालती] उस स्थिति में प्रकुपित हुए दोष शरीर में कण्डू आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं। व्याधि की इस अवस्था को विभ्रंश कहते हैं। इसकी चिकित्सा व्याधि के स्वभाव के अनुसार करना चाहिए।

चक्रपाणि– गुदं भ्रष्टमित्यादि' के द्वारा गुदभ्रंश रूप विभ्रंश का अभिधान किया गया है। कषायैरिति– कषाय रस वाले द्रव्यों द्वारा, अर्थात् गुदभ्रंश में कषाय रस युक्त द्रव्यों के क्वाथ से गुदा को प्रक्षालित करके उसे स्तंभित (Stiff) कर लें। इसके बाद उसे यथा स्थान (अपने स्थान) पर प्रवेश करा दें। 'सामेत्यादि' के द्वारा **संज्ञाविभ्रंश** रूप विभ्रंश की चिकित्सा को बताया गया है। साम से यहाँ सान्त्वना (आश्वासन) अर्थ लिया गया है। गान्धर्वशब्द = गीत, अर्थात् संज्ञा विभ्रंश में – आश्वासन एवं गीतों को सुनाने, का कार्य करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

गीत ऐसे होने चाहिए जिसे सुनकर वह प्रसन्न हो जाय। गुदभ्रंश एवं संज्ञाभ्रंश ये दोनों विरेचन के अतियोग से उत्पन्न होते हैं। 'यदेत्यादि' के द्वारा तृतीय अयोग से होने वाले **विभ्रंश** को बताया गया है। **विडन्तमवतिष्ठत इति–** पुरीष का निर्हरण करके रुक जाना, अर्थात् विरेचन औषधि पुरीष को निकालने के बाद अपना कार्य करना बन्द कर देती है, अर्थात् पित्त व कफ का निर्हरण नहीं करती। **भेषजान्तमिति–** वामक औषधि सेवन करने पर वह वमन के रूप में स्वयं बाहर निकल जाती है शेष दोष पित्त व कफ को नहीं निकालती। **नावहेदिति–** दोषों को नहीं निकालती। इस व्यापद् का विभ्रंश नाम परिभाषिक रूप में दिया गया है। **यथाव्याधिभेषजमिति–** इस व्याधि में व्याधि के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए, अर्थात् कण्डू आदि लक्षणों के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए।

पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद्वृतम् । न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् स्तम्भयेच्च्युतान् ।।८८।।
वातसङ्गगुदस्तम्भशूलैः क्षरति चाल्पशः । तीक्ष्णं बस्तिं विरेकं वा सोऽर्हो लङ्घितपाचितः ।।८९।।

स्तम्भ के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Stambha)– यदि सम्यक् रूप से स्नेहित पुरुष स्नेह युक्त संशोधन औषधि का सेवन करता है तब वह औषधि मृदु गुण के कारण दोषों द्वारा आवृत्त हो जाती है। परिणाम स्वरूप वह दोषों को बाहर नहीं निकाल पाती, अपितु वह अपने स्थान से च्युत (विचलित) दोषों को स्तंभित कर देती है। जिसके फलस्वरूप रोगी में वातसङ्ग (अपान वायु की रुकावट), गुदस्तम्भ (गुदा में जकड़ाहट का होना), गुदशूल (गुदा में शूल का होना) तथा अल्प-अल्प मात्रा में पुरीष का निकलना; पाया जाता है। इस अवस्था में रोगी में लंघन व पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा दोषों का पाचन करें, तत्पश्चात् तीक्ष्ण बस्ति अथवा विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकालें।

वक्रपाणि– 'पीतं स्निग्धेनेत्यादि' के द्वारा 'स्तम्भ' की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। **मार्दवाद्वृतमिति–** औषध (संशोधन औषध) का मृदुता के कारण दोषों द्वारा आवृत होना, अर्थ लिया गया है। **स्वस्थानाच्च्युतान् स्तम्भयेदिति–** अपने स्थान से च्युत दोषों को अपने स्थान पर ही रोक देता है। **सोऽर्ह इति–** लङ्घन, पाचन के बाद तीक्ष्ण बस्ति अथवा तीक्ष्ण विरेचन द्वारा दोषों को बाहर निकालना चाहिए। ॥८८-८९॥

रूक्षं विरेचनं पीतं रूक्षेणाल्पबलेन वा । मारुतं कोपयित्वाऽऽशु कुर्याद्घोरानुपद्रवान् ।।९०।।
स्तम्भशूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मुह्यतः । स्नेहस्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः ।।९१।।

उपद्रव के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Upadravas)– यदि रूक्ष तथा अल्प बल वाले पुरुष को रूक्ष विरेचक औषधि का सेवन कराते हैं तब वह औषधि शीघ्र ही वायु को प्रकुपित करके भयङ्कर उपद्रवों को उत्पन्न करती है। इसमें रोगी के शरीर में भयङ्कर रूप से पीड़ा तथा जकड़ाहट उत्पन्न हो जाती है एवं रोगी मूर्च्छित हो जाता है। इस अवस्था में स्नेहन व स्वेदन के साथ-साथ सभी प्रकार के वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'रूक्षमित्यादि' के द्वारा **उपद्रवों** का अभिधान किया गया है। यद्यपि आध्मान आदि भी यहाँ उपद्रव ही कहे गये हैं। फिर भी उनको छोड़कर शूल आदि लक्षणों को ही यहाँ उपद्रव शब्द से कहा गया है, अर्थात् सम्पूर्ण शरीर का भयङ्कर रूप से जकड़ जाना एवं शूल का होना, इन दो लक्षण को ही यहाँ उपद्रव रूप में स्वीकार किया गया है। शूलादि यहाँ प्रधान होने तथा बाद में उत्पन्न होने के कारण उपद्रव रूप न होते हुए भी 'उपद्रव' शब्द से ही कहे गये हैं, यथा– ''धूमः कुर्यादुपद्रवान्'' (सू.अ. ५) इति ['बाधिर्यमान्ध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोभ्रमम् । अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्' – सू.अ. ५/३८-३९ – बाधिर्य, अन्धता, मूकत्व, रक्तपित्त एवं शिरोभ्रम; ये उपद्रव अकाल में एवं अति धूमपान करने पर पाये जाते हैं।] अथवा संशोधन औषधि के अयोग की अवस्था में व्याधि रूप यही उपद्रव उत्पन्न होते हैं, ऐसा समझना चाहिए । ॥९०-९१॥

स्निग्धस्य मृदुकोष्ठस्य मृदूत्क्लिश्यौषधं कफम् । पित्तं वातं च संरुध्य सतन्द्रागौरवं क्लमम् ।।९२।।
दौर्बल्यं चाङ्गसादं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत् । लङ्घनं पाचनं चात्र स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम् ।।९३।।

क्लम के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs and Treatment of Klama)– जब स्निग्ध एवं मृदु कोष्ठ वाले पुरुष को मृदु संशोधन औषधि का प्रयोग करते हैं तब उसके द्वारा कफ व पित्त उत्क्लेशित होकर वायु को अवरुद्ध कर देते हैं, परिणाम स्वरूप रोगी में शीघ्र ही तन्द्रा (drowsiness) व गौरव (शरीर में भारीपन - Heaviness of the body) से युक्त क्लम रोग (Mental fatigue) उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही रोगी में दुर्बलता (शारीरिक बल में कमी का होना) एवं अङ्गसाद (हाथ व पैरों में थकावट) भी पाया जाता है।

इस अवस्था में आतुर को शीघ्र ही वमन कराना चाहिए। लंघन व पाचन औषधियों के प्रयोग द्वारा दोषों का पाक करें, तत्पश्चात् स्निग्ध व तीक्ष्ण संशोधन करावें। अर्थात् स्निग्ध द्रव्यों द्वारा तीक्ष्ण शोधन कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'स्निग्धस्येत्यादि' के द्वारा **क्लम** का विवेचन किया गया है। कफं पित्तं चोत्क्लिश्य वातं च ताभ्यामेव संरुध्य भेषजं तन्द्रादियुक्तं क्लमं कुर्यात् – स्निग्ध व मृदु कोष्ठ वाले पुरुष को दी गयी मृदु संशोधन औषधि कफ व पित्त को उत्क्लेशित करके तथा इनके द्वारा (कफ व पित्त के द्वारा) वायु को रोककर तन्द्रा आदि लक्षणों से युक्त **क्लम** रोग को उत्पन्न करती है। इस अवस्था में उत्क्लेशित कफ व पित्त को वमन द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। यहीं क्लम की चिकित्सा है। ॥९२-९३॥

तत्र श्लोकौ–

इत्येता व्यापदः प्रोक्ताः सरूपाः सचिकित्सिताः । वमनस्य विरेकस्य कृतस्याकुशलैर्नृणाम् ॥९४॥
एता विज्ञाय मतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः । दद्यात् संशोधनं सम्यगारोग्यार्थी नृणां सदा ॥९५॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते सिद्धिस्थाने वमनविरेचनव्यापत्सिद्धिर्नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– अकुशल चिकित्सक द्वारा पुरुषों में वमन व विरेचन कराने पर उनसे होने वाले उपद्रवों के लक्षण (Signs and Symptoms) एवं चिकित्सा (Treatment) का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। बुद्धिमान चिकित्सक को इनके लक्षणों तथा व्याधि की अवस्थाओं का सम्यक् ज्ञान करके आरोग्य चाहने वाले रोगी में हमेशा उचित संशोधन द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में वमनविरेचन-व्यापत्सिद्धि नामक छठवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'इत्येता इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार का वर्णन करते हुए व्यापत्तियों की उत्पत्ति में क्या कारण है, उसे स्पष्ट किया गया है। अर्थात् अज्ञ (अकुशल) चिकित्सक द्वारा संशोधन कर्म कराना ही व्यापत्तियों की उत्पत्ति में कारण है, यह बताया गया है।

दद्यात् संशोधनं सम्यगिति– सम्यक् संशोधन कराना चाहिए, एक योग्य चिकित्सक को उन्हीं संशोधन औषधियों का प्रयोग कराना चाहिए जिनसे कोई व्यापत्ति न उत्पन्न हो।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि (संशोधन-व्यापत्सिद्धि) नामक षष्ठ अध्याय की आयुषी हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

सप्तमोऽध्यायः।

अथातो बस्तिव्यापत्सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे बस्तिव्यापत्सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– वमनविरेचनानन्तरभावित्वाद्वस्तेः संशोधनव्यापत्सिद्धेरनन्तरं बस्तिव्यापत्सिद्धिरुच्यते- वमन व विरेचन के बाद बस्ति का प्रयोग किया जाता है। इस कारण से संशोधनव्यापत्सिद्धि अध्याय के बाद बस्तिव्यापत्सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है। यहाँ 'बस्ति' शब्द से निरुह बस्ति का ही ग्रहण किया गया है। इस अध्याय में उसी की (निरूह बस्ति की) व्यापत्तियों का वर्णन किया गया है। ।।१-२।।

विशेष (Comments)– उद्देश्य क्रमानुसार 'अथात इत्यादि' के द्वारा बस्तिव्यापत्सिद्धि का विवेचन किया जा रहा है। बस्ति दो प्रकार की होती है- १. स्नेह बस्ति, २. निरूह बस्ति। स्नेह बस्ति (अनुवासन बस्ति) की व्यापत्तियों का वर्णन- ''वातपित्तकफात्यन्त-पुरीषैरावृतस्य च। अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेह बस्तेः षडापदः'' (सि.अ. ४/२५) इति के द्वारा पूर्व के चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। अतः यहाँ शेष रूप में निरूह बस्ति की व्यापत्तियों का वर्णन किया गया है। अर्थात् निरूह बस्ति की व्यापत्तियों का पूर्व में उल्लेख न होने के कारण उसका विवेचन यहाँ किया गया है।

धीधैर्यौदार्यगाम्भीर्यक्षमादमतपोनिधिम् । पुनर्वसुं शिष्यगणः पप्रच्छ विनयान्वितः ।।३।।
काः कति व्यापदो बस्तेः किंसमुत्थानलक्षणाः । का चिकित्सा इति प्रश्नाञ्छुत्वा तानब्रवीद्गुरुः ।।४।।
नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरूर्ध्वता । प्रवाहिका शिरोऽर्त्तिः परिकर्तः परिस्रवः ।।५।।
द्वादश व्यापदो बस्तेरसम्यग्योगसंभवाः । आसामेकैकशो रूपं चिकित्सां च निबोधत ।।६।।

विषयारम्भ– धी, धैर्य, उदारता, गाम्भीर्य (जिसके अन्दर गम्भीरता हो), क्षमा, दम (संयम) एवं तप के भण्डार रूप भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से अग्निवेश आदि शिष्यों ने विनयपूर्वक अधोलिखित प्रश्नों को पूछा–

१. निरूह बस्ति देने के बाद रोगी में कौन-कौन सी व्यापत्तियाँ उत्पन्न होती हैं?

२. निरूह बस्ति की व्यापत्तियों की संख्या कितनी हैं?

३. व्यापत्तियों के कारण क्या हैं?

४. उन व्यापत्तियों के लक्षण (Signs and Symptoms) क्या हैं?

५. व्यापत्तियों की चिकित्सा क्या है?

इन प्रश्नों को सुनकर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा–

निरूह बस्ति की द्वादश व्यापत्तियाँ– बस्ति के अनुचित प्रयोग करने से १२ उपद्रव (व्यापत्तियाँ) उत्पन्न होते हैं, यथा–

१. अयोग (Absence of any action), २. अतियोग (Over-action), ३. क्लम (मानसिक रूप से थकावट का अनुभव होना- Mental fatigue), ४. आध्मान (Flatulence), ५. हिक्का (Hiccup), ६. हृत्प्राप्ति (Cardiac disorders), ७. उदावर्त, ८. प्रवाहिका, ९. शिरो अर्ति (Headache), १०. अङ्गार्ति (bodyache), ११. परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना- Anal fissure), १२. परिस्राव (Excessive discharge)।

इन बारह व्यापत्तियों के अलग-अलग लक्षण एवं चिकित्सा का विवेचन आगे किया जा रहा है। हे अग्निवेश! उसे ध्यानपूर्वक सुनो–

चक्रपाणि– 'काः कतीत्यादि' के द्वारा पाँच प्रश्न पूछे गये हैं; अर्थात् निरूहबस्ति के व्यापत्ति के सम्बन्ध में यहाँ पाँच प्रश्न पूछे गये हैं। **नातियोगावितिः–** निरूह बस्ति के अयोग एवं अतियोग का होना। [अयोग से अभिप्राय बस्ति द्वारा दोषों का निर्हरण न कर पाना तथा अतियोग का अभिप्राय दोषों के अति निर्हरण से है।

एतद्द्वादशव्यापदां च विवरण एव स्फुटार्थो भविष्यति– इन द्वादश व्यापत्तियों का वर्णन ही विषय को स्पष्ट करेगा, अर्थात् इनका विवेचन आगे किया जायेगा।

असम्यग्योगसंभवा इति– ये १२ व्यापत्तियाँ (उपद्रव) निरूह बस्ति के असम्यक् योग के कारण उत्पन्न होती हैं। यहाँ असम्यक् योग से निरूह बस्ति के अयोग, अतियोग एवं मिथ्यायोग का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यहाँ समुत्थान प्रश्न का (व्यापत्तियों का कारण क्या है? इस प्रश्न का) सामान्य कारण के अभिधान द्वारा उत्तर दिया गया है। यहाँ बस्ति के असम्यक् योग से - निरूह बस्ति का कार्य दोषों का निर्हरण करना है, लेकिन उसे न करके अयोग एवं अतियोग रूप व्यापत्ति का उत्पन्न होना, अर्थ गृहीत है। क्लम आदि भी अतियोग

Scanned by CamScanner

एवं अयोग से उत्पन्न होकर ही विशिष्ट हेतु, लक्षण व चिकित्सा के द्वारा यहाँ भी पृथक् से कहे गये हैं। अर्थात् ये अपने विशिष्ट हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा के द्वारा विभेदित हैं। यथा– जिस प्रकार संशोधन में वर्णित व्यापत्तियाँ (वमन-विरेचन जन्य व्यापत्तियाँ) यथा– आध्मान आदि अयोग एवं अतियोग जन्य होने के कारण पृथक् से वर्णित हैं। कुछ आचार्य 'नातियोगो क्लमाध्माने' के स्थान पर 'नातियोगात् क्लमाध्माने' तथा 'द्वादश व्यापदो वस्तेः' के स्थान पर 'दशैता व्यापदो बस्तेः' का पाठ करते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण पूर्व अध्याय में वर्णित व्याख्यान के आधार पर समझना चाहिए। क्योंकि पूर्वकृत पाठ ही इसके समझने (जानने) का आधार है।

आसामित्यादौ रूपशब्देनैव प्रति प्रति वक्ष्यमाणहेतुविशेषोऽवरुद्धो ज्ञेयः– इस प्रकार यहाँ वर्णित एक-एक व्यापत्ति के रूप एवं चिकित्सा का विवेचन विशेष रूप से किया जायेगा, ऐसा समझना चाहिए। यहाँ रूप से हेतु का भी ग्रहण किया गया है। अर्थात् रूप के अन्तर्गत हेतु तथा लक्षण (Signs and symptoms) दोनों का ग्रहण है।

येन हेतुरपि हि व्यासगमकतया रूपमेव– (पाठभेद से- येन हेतुरपि व्याधिगमकतया रूपमेव, प्राप्त होता है– नरेन्द्रनाथ सेन कृत पाठ) हेतु भी व्याधि का ज्ञान कराने के कारण **रूप** ही होता है, अर्थात् उसे भी रूप ही कहा जाता है।

विशेष (Comments)– आचार्य चक्रपाणि ने यहाँ १२ व्यापत्तियों को न स्वीकार करके १० व्यापत्तियों को ही स्वीकार किया है। इसका कारण अध्याय ६ (सि.अ. ६) में वर्णित सूत्र– "आध्मानं परिकर्तिश्च स्रावो हृद्ग्राग्रयोर्ग्रहः । जीवादानं सविभ्रंशः स्तम्भः सोपद्रवः क्लमः । अयोगादतियोगाच्च दशैता व्यापदो मताः" (सि.अ. ६/२९) इति सूत्र है। १२ व्यापत्तियों में अयोग एवं अतियोग को छोड़कर शेष को स्वीकार किया गया है। क्योंकि ये व्यापत्तियाँ निरूह बस्ति के अयोग एवं अतियोग जन्य ही होती हैं। ॥३-६॥

गुरुकोष्ठेऽनिलप्राये रूक्षे वातोल्बणेऽपि वा । शीतोऽल्पलवणस्नेहद्रवमात्रो घनोऽपि वा ॥७॥
बस्तिः संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन् । करोति गुरुकोष्ठत्वं वातमूत्रशकृद्ग्रहम् ॥८॥
नाभिबस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे । कण्डूगण्डानि वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम् ॥९॥
तत्रोष्णायाः प्रपथ्यायाः पानं स्वेदाः पृथग्विधाः । फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेचनम् ॥१०॥
बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान् । सुरादिमूत्रवान् बस्तिः सप्राक्पेष्यस्तमानयेत् ॥११॥

१. अयोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Ayoga)– क्रूर कोष्ठ वाले, अथवा जिनके कोष्ठ में वात की वृद्धि हो, रूक्ष शरीर वाले अथवा वात प्रकृति वाले पुरुषों में शीतल, अल्प लवण, अल्प स्नेह, अल्प द्रव युक्त अथवा गाढ़ी (Concentrated) बस्ति देने पर वह दुर्बल होने के कारण दोषों को क्षुभित करके नहीं निकाल पाती, परिणामतः रोगी में अधोलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं–

→ कोष्ठ में भारीपन का होना (Heaviness of the gastro intestinal tract)
→ वात, मूत्र एवं पुरीष का अवरुद्ध हो जाना, अर्थात् अपान वायु का अवरुद्ध हो जाना ।
→ नाभि एवं वस्ति प्रदेश में पीड़ा का होना ।
→ शरीर में जलन का होना (Burning sensation) ।
→ हृल्लेप (हृदय को गीले कपड़े से ढक दिया गया है, ऐसा प्रतीत होना) ।
→ गुदा में शोथ का होना (Oedema in the rectum) ।
→ गण्ड (कपोल) प्रदेश में खुजली का होना ।
→ विवर्णता का होना (Discolouration of the skin) ।
→ अरुचि (Anorexia) एवं अग्निमांद्य का उत्पन्न होना।

उपरोक्त लक्षणों के मिलने पर अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. उष्ण प्रमथ्या का पान करें।

२. विविध प्रकार के स्वेदों एवं फलवर्तियों का प्रयोग करें, अथवा आवश्यकतानुसार विरेचन करावें।

३. अथवा बिल्वमूल, त्रिवृत् (सफेद निशोथ), देवदारु, यव, बेर, कुलथी; के क्वाथ, तथा बस्तिसूत्रीय अध्याय में वर्णित बलादि निरूहबस्ति में पठित कल्क, सुरादि द्रव्य तथा गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति का प्रयोग करें। ऐसा करने से बस्ति के साथ ही अवरुद्ध हुए दोष बाहर आ जाते हैं।

चक्रपाणि– गुरुकोष्ठे इति- क्रूर कोष्ठ वाले रोगी में अथवा जिसका कोष्ठ मल से पूर्ण हो। **अल्पशब्दो मात्रान्तैः प्रत्येकं संबध्यते-** 'अल्प' शब्द का प्रयोग लवण, स्नेह, द्रव व मात्रा प्रत्येक के साथ करना चाहिए। अर्थात् प्रयुक्त निरूह बस्ति में अल्प सैन्धव लवण का होना, अथवा अल्प स्नेह का मिला होना, अथवा द्रव की मात्रा अल्प होना अथवा अल्प मात्रा का होना, अर्थ गृहीत है।

Scanned by CamScanner

उष्णायाः प्रमथ्याया इति– अतिसार चिकित्सा में वर्णित प्रमथ्याओं में जो प्रमथ्या उष्ण होती हैं, उनका प्रयोग करना चाहिए।

प्रमथ्या इति पाचनकषायस्य आयुर्वेदसमयसिद्धसंज्ञेति– आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार निर्मित पाचन कषाय का ही अन्य नाम- प्रमथ्या दिया गया है। अर्थात् पाचन कषाय को ही प्रमथ्या कहा जाता है, जिसका प्रतिपादन अतिसार चिकित्सा में किया गया है।

कालं ज्ञात्वेति– काल का विचार करके, अर्थात् विरेचन की योग्य अवस्था का विचार करके।

सुरादिमूत्रवान् इति– यहाँ 'आदि' शब्द से सौवीरक व तुषोदक आदि का ग्रहण किया गया है। **सप्राक् पेष्य इति–** बस्तिसूत्रीय अध्याय में वर्णित बलादि निरूहबस्ति में प्रयुक्त कल्क का ग्रहण यहाँ भी करना चाहिए। **तमानयेदिति–** इस बस्ति के प्रयोग से अयोग कारक अवरुद्ध बस्ति के द्रव्य बाहर आ जाते हैं। ॥७-११॥

विशेष (Comments)– आनयेदिति- अयोग कारक बस्ति का निर्हरण कराना चाहिए।

स्निग्धस्विन्नेऽतितीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽतियुज्यते । तस्य लिङ्गं चिकित्सा च शोधनाभ्यां समा भवेत् ॥१२॥
पृश्निपर्णीं स्थिरां पद्मं काश्मर्यं मधुकं बलाम् । पिष्ट्वा द्राक्षां मधूकं च क्षीरे तण्डुलधावने ॥१३॥
द्राक्षायाः पक्वलोष्टस्य प्रसादे मधुकस्य च । विनीय सघृतं बस्तिं दद्याद्दाहेऽतियोगजे ॥१४॥

२. अतियोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-symptoms and Treatment)– स्नेहन व स्वेदन कराये गये मृदु कोष्ठ वाले व्यक्ति में यदि अत्यधिक तीक्ष्ण व उष्ण बस्ति का प्रयोग करते हैं तब उससे अतियोग हो जाता है। उस अतियोग के लक्षण व चिकित्सा वमन-विरेचन के अतियोग के ही समान होते हैं। अतियोग में यदि रोगी में अत्यधिक दाह हो तब पृश्निपर्णी (पिठिवन), स्थिरा (शालपर्णी), पद्म, काश्मर्य (गम्भार का फल), मधुक (यष्टीमधु), बला, द्राक्षा (मुनक्का) एवं मधूक (महुआ के पुष्प); इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर कल्क बना लें, इस कल्क को दूध में अथवा चावल के पानी में अथवा अंगूर के रस में अथवा पक्व मिट्टी से बुझाये हुए जल में अथवा यष्टीमधु के क्वाथ में घोलकर घृत मिश्रित कर बस्ति देनी चाहिए ।

चक्रपाणि– अयोग के अभिधान के बाद अतियोग का विवेचन यहाँ 'स्निग्ध स्विन्नेत्यादि' के द्वारा किया गया है।

अतियुज्यते इति अतियोगकारको भवति– अतियोग को उत्पन्न करने वाला होता है, स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद मृदु कोष्ठ वाले रोगी को यदि अतितीक्ष्ण एवं उष्ण गुण युक्त बस्ति का प्रयोग करते हैं तब वह अतियोग को उत्पन्न करती है।

शोधनाभ्यां समा भवेदिति– निरूह बस्ति के अतियोग के लक्षण व चिकित्सा संशोधन (वमन-विरेचन) के अतियोग के लक्षण व चिकित्सा के तुल्य होती है। अर्थात् जो लक्षण वमन-विरेचन के अतियोग में मिलते हैं वही इसमें भी मिलते हैं तथा जो चिकित्सा उसमें की जाती है वही इसमें भी की जाती है।

बस्ति के अतियोग से उत्पन्न दाह (Burning-sensation) की विशेष चिकित्सा को यहाँ- 'पृश्निपर्णीमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यहाँ क्षीर आदि (१. दूध, २. चावल का धोवन, ३. अंगूर का रस, ४. पक्व मिट्टी से बुझा हुआ जल, ५. मुलेठी का क्वाथ) पाँच द्रव पदार्थों का प्रयोग कल्क को घोलने के लिए किया गया है। अर्थात् इन पाँच द्रव पदार्थों में से किसी एक में कल्क को घोल लें एवं उसमें घृत आदि मिलाकर बस्ति दें।

द्राक्षादिप्रसादाः शीतकषायविधिकृता ज्ञेयाः– द्राक्षादि द्रव्यों के जल को शीत कषाय (Cold infusion) विधि द्वारा तैयार करना चाहिए। [द्राक्षा स्वरस (स्वच्छ), बुझी हुई मिट्टी द्वारा तैयार स्वच्छ जल अथवा यष्टीमधु के जल का निर्माण शीतकषाय विधि द्वारा करना चाहिए, यथा– पानी में द्राक्षा डालकर रातभर भिगो दें, प्रातः काल उसे हाथ से मसलकर जल को छान लें।] ॥१२-१४॥

विशेष (Comments)– यहाँ द्राक्षादि प्रसाद से ऐसे शीतकषाय का ग्रहण किया गया है जो बिल्कुल स्वच्छ हो। शीतकषाय निर्माण की विधि का वर्णन आचार्य शार्ङ्गधर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, यथा– "क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम्। निशोषितं हिमः स स्यात् शीतकषायकः तन्मानं फाण्टवज्ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः" (शा.सं.म.ख. ४/१) इति [सम्यक् रूप से यवकुट की हुई औषधि को एक पल मात्रा में लेकर छः पल जल में रात भर के लिए भिगो दें। प्रातः काल औषधि को मसलकर छान लें। इसे ही हिम अथवा शीतकषाय कहते हैं। इसकी मात्रा फाण्ट के समान लेते हैं। अर्थात् **दो पल** ग्रहण करते हैं।] शीतकषाय निर्माण के बाद द्रव को कुछ देर तक निथरने के लिए छोड़ देते हैं। ऊपर के स्वच्छ द्रवांश को लेकर उसमें कल्क आदि मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करते हैं।

आमशेषे निरूहेण मृदुना दोष ईरितः । मार्गं रुणद्धि वातस्य हन्त्यग्निं मूर्च्छयत्यपि ॥१५॥
क्लमं विदाहं हृच्छूलं मोहवेष्टनगौरवम् । कुर्यात् स्वेदैर्विरूक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत् ॥१६॥
पिप्पलीकत्तृणोशीरदारुमूर्वाशृतं जलम् । पिबेत् सौवर्चलोन्मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम् ॥१७॥
वचानागरशट्येला दधिमण्डेन मूर्च्छिताः । पेयाः प्रसन्नया वा स्युररिष्टेनासवेन वा ॥१८॥

Scanned by CamScanner

दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम् । पिष्ट्वा कुष्ठं च मूत्रेण पिबेत् क्षारांश्च दीपनान् ।।१९।।
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकम् । समूत्रमथवा व्यक्तलवणं माधुतैलिकम् ।।२०।।

३. क्लम रोग के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and treatment of Klama)– यदि रोगी में आमदोष बचा हुआ है, अर्थात् शेष है, ऐसी अवस्था में उसे मृदु निरूहबस्ति देने पर पित्त व कफ आमदोष के कारण प्रकुपित होकर वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देते हैं, परिणाम स्वरूप जाठराग्नि मन्द हो जाती है। इसके साथ ही रोगी में क्लम (Mental fatigue), शरीर में जलन का होना (Burning sensation) हृदय में पीड़ा का होना (Cardiac pain), मोह (Stupefaction–शरीर का जड़वत् बने रहना), वेष्टन (Cramps) व शरीर में भारीपन का होना (Heaviness of the body) लक्षण मिलते हैं। ऐसी अवस्था में रूक्ष स्वेदन तथा पाचन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

१. पिप्पली, कर्तृण (सुगन्धतृण), उशीर (खश), देवदारु एवं मूर्वा; प्रत्येक द्रव्य को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें। इस बने हुए क्वाथ में सौवर्चल लवण मिलाकर रोगी को पीने के लिए दें। यह क्वाथ अग्निदीपक तथा हृदय को शुद्ध करने वाला है।

२. वचा, नागर (शुण्ठी=सोंठ), शटी (कचूर), एला; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण को दही के पानी अथवा प्रसन्ना अथवा आसव अथवा अरिष्ट में घोलकर आतुर को पीने के लिए देना चाहिए।

३. देवदारु, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, पथ्या (हरीतकी), पलाश, चित्रकमूल, शटी (कचूर) तथा कुष्ठ (कूठ); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र में पीसकर कल्क बना लें। इस कल्क को गोमूत्र में घोलकर आतुर को पीने के लिए दें। अथवा ग्रहणी चिकित्सा में वर्णित अग्निर्दापक क्षारों का प्रयोग करना चाहिए। अथवा दशमूल क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर बस्ति दें अथवा माधुतैलिक बस्ति में गोमूत्र या लवण मिश्रित कर वस्ति दें। बस्ति में नमक का प्रयोग उतनी ही मात्रा में करें जितने के प्रयोग से उसका स्वाद पता चले।

चक्रपाणि– 'आमशेषे इत्यादि' के द्वारा क्लम को स्पष्ट किया गया है। **आमशेषे सति दत्तेन निरूहेण दोष ईरित इति योज्यम्–** शरीर में आम दोष के विद्यमान रहने पर दी गयी निरूहबस्ति के द्वारा दोष (पित्त व कफ) क्षुब्ध (Irritate) हो जाता है। दोष शब्द से यहाँ आम के साथ पित्त व कफ मिलकर स्रोतस् को अवरुद्ध कर देते हैं, अर्थात् ये आवरण का कार्य करते हैं। परिणाम स्वरूप मार्गावरोध के कारण वायु प्रकुपित (मूर्च्छित) हो जाती है।

मार्गं रुणद्धीति देहे स्रोतांसि रुणद्धि– कफ व पित्त के साथ आम अथवा आम के साथ कफ व पित्त प्रकुपित होकर वायु के मार्ग (स्रोतस्) को अवरुद्ध कर देते हैं। जो लोग दोष शब्द से यहाँ मात्र कफ का ग्रहण करते हैं उनके अनुसार क्लम के साथ दाह का लक्षण नहीं मिलना चाहिए। **वचेत्यादौ मूर्च्छिता इति–** वचादि के कल्क को दही के पानी में घोलकर पिलाना चाहिए। यहाँ 'मूर्च्छिता' से आलोडन अर्थ लिया गया है।

क्षारांश्च दीपनानि इति– ग्रहणी चिकित्सा में वर्णित दीपनीय क्षारों, यथा– दुरालभादिक्षार, भूनिम्बादिक्षार, हारिद्रादिक्षार, पिप्पली-मूलाद्यक्षार। इन क्षारों का प्रयोग घृत में घोलकर करना चाहिए।

दाशमूलिकमिति– इसका विवेचन- "द्विपञ्चमूलस्य रसोऽम्लयुक्तः" (सि.अ. ३) इत्यादि के द्वारा पूर्व में किया गया है। सि.अ. ३ में वर्णित दशमूलादिनिरूहबस्ति में गोमूत्र मिलाकर प्रयोग करना चाहिए। अथवा दशमूल क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

माधुतैलिकः वक्ष्यमाणः– माधुतैलिक बस्ति का विवेचन आगे किया जायेगा। इसका विवेचन सि.अ. १२/१८/१३ में इस प्रकार किया गया है, यथा– मधु- २ प्रसृत, तिल तैल- २ प्रसृत, सौंफ का कल्क- १/२ पल, सैन्धव नमक- आधा तोला; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर एक पात्र में मिश्रित करके बस्ति के रूप में प्रयोग करें। ["मधुतैलं चतुःप्रसृतं शतपुष्पार्धपलं सैन्धवार्धाक्षःयुक्तो बस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्तगुल्माशोंब्रध्नप्लीहमेहहरः" सि.अ. (१२/१८/१३) इति] ।।१५-२०।।

अल्पवीर्यो महादोषे रूक्षे क्रूराशये कृतः । बस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुन्ध्यात् समीरणम् ।।२१।।
स विमार्गोऽनिलः कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम् । विदाहं गुरुकोष्ठस्य मुष्कवङ्क्षणवेदनाम् ।।२२।।
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति । श्यामाफलादिभिः कुष्ठकृष्णालवणसर्षपैः ।।२३।।
धूमपायवचाकिण्वक्षारचूर्णगुडैः कृताम् । कराङ्गुष्ठनिभां वर्तिं यवमध्यां निधापयेत् ।।२४।।
अभ्यक्तस्विन्नगात्रस्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे । अथवा लवणागारधूमसिद्धार्थकैः कृताम् ।।२५।।
बिल्वादिना निरूहः स्यात् पीलुसर्षपमूत्रवान् । सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम् ।।२६।।

४. आध्मान के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and treatment of Ādhmāna)–

→ जिनके शरीर में दोष अत्यधिक रूप में बढ़े हों ।

Scanned by CamScanner

→ जिन व्यक्तियों का शरीर अत्यधिक रूक्ष हो ।

→ जिनका कोष्ठ अत्यधिक क्रूर हो या क्रूर कोष्ठ वाले रोगी ।

ऐसे पुरुषों में अल्प वीर्य वाली निरूह वस्ति के प्रयोग करने पर वह दोषों द्वारा आवृत्त होकर मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। अर्थात् उसके निकलने का मार्ग बन्द हो जाता है, परिणाम स्वरूप वायु का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। [अपान वायु अधोमार्ग से प्रवृत्त नहीं हो पाती] रुकी हुई वायु ऊपर की ओर जाकर उदर (कोष्ठ) में आध्मान (Flatulence), विदाह (Burning sensation), मर्म (हृदय) प्रदेश में पीड़ा, गुरु कोष्ठता (कोष्ठ में भारीपन- Heaviness of the gastro-intestinal tract), मुष्क (अण्डकोष-Testicles) एवं वंक्षण (groin) में वेदना को उत्पन्न करती है। शूल की वृद्धि होने से हृदयावरोध उत्पन्न होता है तथा उदर में वायु इधर-उधर भ्रमण करती है। ऐसी अवस्था में अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. वर्ति का प्रयोग– श्यामा (काली निशोथ), मैनफल (मदनफल) आदि द्रव्य अर्थात् मदनफल आदि वमन कारक ६ द्रव्य, यथा– मदनफल, जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (तितलौकी), धामार्गव (पीतघोष), कुटज, कृतवेधन (पीत पुष्प युक्त कोषातकी) तथा श्यामादि ९ विरेचन कारक द्रव्यों, यथा– श्यामा (कालीनिशोथ), त्रिवृत् (श्वेत निशोथ), चतुरङ्गुल (अमलतास), तिल्वक (लोध्र), महावृक्ष (सेहुण्ड), सप्तला, शङ्खिनी, दन्ती, द्रवन्ती के साथ, कूठ (कुष्ठ), पिप्पली, सैन्धव नमक, सरसो, गृहधूम, माष (उड़द), वचा, सुराकिट्ट (सुराबीज) व यवक्षार; इन द्रव्यों के चूर्ण में गुड़ मिलाकर अंगुठे के बराबर मोटी वर्ति (Suppositories) बना लें । उसकी आकृति यव के समान (आगे व पीछे पतली तथा बीच में मोटी) होनी चाहिए। इस वर्ति को तैल में डुबोकर सम्यक् रूप से अभ्यंग व स्वेदन किये हुए रोगी के गुदा को चिकना करके लगाना चाहिए।

अथवा सैन्धव नमक, गृहधूम (घर का धुआँ) एवं सर्षप (सरसो) के कल्क से बनायी गयी वर्ति को गुदा में प्रवेश करावें।

२. निरूह एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग– दशमूल के क्वाथ में पीलु, सर्षप व गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति का प्रयोग करें। इसके बाद बस्ति के वापस लौट आने पर सरल व देवदारु के क्वाथ व कल्क से साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

चक्रपाणि– 'अल्पवीर्य इत्यादि' के द्वारा **आध्मान** को स्पष्ट किया गया है। **रुद्धमार्ग इति निवारिताधोमार्गः -** अधोमार्ग का अवरुद्ध हो जाना अथवा अधोमार्ग में बाधा उत्पन्न होना। अधोमार्ग के अवरुद्ध हो जाने से अपान वायु की प्रवृत्ति नीचे की ओर नहीं हो पाती। परिणामस्वरूप मार्गावरोध के कारण रुकी हुयी अपान वायु विगुण होकर (ऊपर की ओर जाकर) आध्मान को उत्पन्न करती है।

मर्मपीडनमिति– प्रकुपित अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर मर्म प्रदेश (हृदय प्रदेश- Cardiac region) को पीड़ित करते हुए आध्मान को उत्पन्न करती है। यहाँ **मर्मपीडन** शब्द आध्मान के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् आध्मान के साथ-साथ हृदय प्रदेश में दबाव उत्पन्न होता है। यह प्रकुपित अपान वायु के कारण होता है। **रुणद्धि हृदयं शूलैरिति-** शूल हृदय को व्याप्त कर लेता है। अर्थात् हृदय में भयंकर शूल उत्पन्न होने लगता है।

श्यामाफलादिभिरिति– से कल्पस्थान १/६ में वर्णित मदनफल आदि ६ वामक द्रव्यों तथा श्यामा आदि ९ विरेचक द्रव्यों का ग्रहण किया गया है। धूम शब्द से यहाँ गृहधूम का ग्रहण किया गया है।

गुडश्चात्र तावन्मात्रो भवति यावता वर्तिः कर्तुं युज्यते– वर्ति निर्माण हेतु यहाँ गुड़ का ग्रहण उतनी ही मात्रा में करने के निर्देश है जितने से वर्ति बन जाय। कराङ्गुष्ठेति– इससे यहाँ हाथ के ही अंगुठे का ग्रहण है, पैर के अंगुठे का निषेध किया गया है। अर्थात् वर्ति की आकृति हाथ के अङ्गुठे के बराबर होनी चाहिए तथा जिसके आगे व पीछे का भाग कुछ पतला होना चाहिए।

'अथवा इत्यादि' के द्वारा वर्णित द्वितीय वर्ति में भी उसके निर्माण हेतु उचित मात्रा में गुड़ का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् सैन्धव लवण, गृहधूम एवं सर्षप चूर्ण में उचित मात्रा में गुड़ मिलाकर वर्ति का निर्माण करना चाहिए। द्वितीय वर्ति में 'गुड़' का निर्देश नहीं दिया गया है, फिर भी उसका प्रयोग करना चाहिए।

बिल्वादिभिश्च निरूह इति– इसका वर्णन- "बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान्" इत्यादि के द्वारा श्लोक नं. ११ में किया जा चुका है। अर्थात् बिल्वमूल, त्रिवृत् (सफेद निशोथ), देवदारु, यव, बेर, कुलथी; इन द्रव्यों के क्वाथ, सुरा, सौवीर, तुषोदक व गोमूत्र के साथ बस्तिसूत्रीया अध्याय में वर्णित बलादि निरूह बस्ति के कल्क को मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए।

सरलेत्यादौ सिद्धमित्यत्र, 'तैलं' इति शेषः - यहाँ 'सरलामरदारुभ्यां सिद्धं' के साथ 'तैलं' शब्द भी जुड़ा हुआ है। अर्थात् सरल व देवदारु के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति के प्रयोग का निर्देश है। (सरल व देवदारु का कल्क- १/२ भाग, तिल तैल- १ भाग, क्वाथ- ४ भाग ग्रहण करना चाहिए।) ॥२१-२६॥

Scanned by CamScanner

मृदुकोष्ठेऽबले बस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन् । कुर्याद्धिक्कां, हितं तस्मै हिक्काघ्नं बृंहणं च यत् ।।२७।।
बलास्थिरादिकाश्मर्यत्रिफलागुडसैन्धवैः । सप्रसन्नारनालाम्लैस्तैलं पक्त्वाऽनुवासयेत् ।।२८।।
कृष्णालवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना युतम् । धूमलेहरसक्षीरस्वेदाश्चान्नं च वातनुत् ।।२९।।

५. हिक्का के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Hikkā)– यदि मृदु कोष्ठ वाले तथा दुर्बल पुरुष में अति तीक्ष्ण निरूह वस्ति का प्रयोग करते हैं तब वह बस्ति दोषों का अत्यधिक निर्हरण करते हुए हिक्का रोग को उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में हिक्का नाशक एवं बृंहण चिकित्सा का प्रयोग करना विशेष हितकारी होता है।

१. बला, स्थिरादि वर्ग की औषधियाँ (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू), काश्मर्य (गम्भार की छाल), हरड़, बहेड़ा, आँवला, गुड़, सैन्धव नमक; इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित कल्क, प्रसन्ना (मदिरा के ऊपर का भाग), आरनाल (काञ्जी) एवं अम्ल द्रव्यों के स्वरस से विधिपूर्वक निर्मित तैल का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करें। अर्थात् उपरोक्त द्रव्यों के कल्क, क्वाथादि से साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

२. अथवा पिप्पली व सैन्धव नमक दोनों को १ कर्ष की मात्रा में लेकर उष्ण जल के साथ आतुर को पीने के लिए दें।

इसके साथ ही वातनाशक धूम, लेह, मांसरस, क्षीर, स्वेद एवं अन्न का प्रयोग रोगी को कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'मृद्वित्यादि' के द्वारा **हिक्का** को स्पष्ट किया गया है। अतिनिर्हरन्निति– अतियोग के कारण दोषों को अत्यधिक मात्रा में निकालते हुए। **हिक्काघ्नमिति–** हिक्का चिकित्सा में वर्णित औषधियाँ, अर्थात् हिक्का नाशक चिकित्सा। हिक्का की चिकित्सा में यद्यपि- "प्रसक्तच्छर्दिनिष्ठीविकाकासश्वासहिक्कार्तानामूर्ध्वीभूतो वायुरूर्ध्वं बस्तिं नयेत्" (सि.अ. २/१५) इति [प्रसक्त छर्दि (जिन्हें लगातार वमन हो रहा हो), निष्ठीविका (मुख से बराबर पानी का निकलना- Ptyalism), श्वास (Asthma), कास (Cough), हिक्का (Hiccup); इन रोगियों में दी गयी निरूह बस्ति ऊर्ध्वगामी वायु के द्वारा ऊर्ध्व मार्ग की ओर चली जाती है।; सूत्र के द्वारा निरूह बस्ति का निषेध किया गया है। फिर भी यहाँ हिक्का की विशेष अवस्था में अनुवासन बस्ति का प्रयोग हितकर होता है। "बलास्थिरादि" के द्वारा वर्णित अनुवासन बस्ति का प्रयोग हिक्का की चिकित्सा हेतु करना दोषरहित है। अर्थात् बला स्थिरादि द्रव्यों के कल्क आदि से विधिपूर्वक साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग हिक्का की इस विशेष अवस्था में करना दोषकारक नहीं होता।

वातनुदिति पदं लिङ्गविपरिणामेन धूमादिभिश्च संबध्यते; तेन वातहितानामेवात्र धूमादीनां प्रयोगः– 'वातनुत्' पद के लिङ्ग व विभक्ति में परिवर्तन करके धूमादि के साथ संयुक्त करने पर उसके अर्थ में विशिष्टता आ जाती है। इस प्रकार यहाँ धूमादि का प्रयोग वातनाशक हो जाता है। अतः यहाँ वातनाशक (वातनुत्) धूम, लेह, रस (मांसरस), क्षीर, स्वेदन (वातनाशक द्रव्यों से स्वेदन) एवं अन्न का सेवन **हिक्का** में करना चाहिए। [वातनाशक धूम, वातनाशक लेह, वातनाशक रस आदि] ।।२७-२९।।

अतितीक्ष्णः सवातो वा न वा सम्यक् प्रपीडितः । घट्टयेद्धृदयं बस्तिस्तत्र काशकुशेत्कटैः ।।३०।।
स्यात् साम्ललवणस्कन्धकरीरबदरीफलैः । शृतैर्बस्तिर्हितः सिद्धं वातघ्नैश्चानुवासनम् ।।३१।।

६. हृत्प्राप्ति के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Hrit prāpti)– यदि रोगी को अत्यधिक तीक्ष्ण निरूह बस्ति दी गयी हो अथवा नेत्र से बिना वायु के निकाले ही बस्ति दी गयी हो अथवा उचित दबाव के साथ बस्ति न दी गयी हो। ऐसी अवस्था में दी गयी बस्ति हृदय प्रदेश में दबाव उत्पन्न करती है। इस स्थिति में रोगी को कुश, कास, इत्कट, अम्ल स्कन्ध व लवण स्कन्ध के द्रव्यों यथा करीर, बदरीफल आदि; इन द्रव्यों के क्वाथ द्वारा निर्मित निरूह बस्ति का प्रयोग करें तथा वातनाशक द्रव्यों के कल्क, क्वाथ आदि द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

चक्रपाणि– 'अतितीक्ष्ण इत्यादि' के द्वारा हृत्प्राप्ति को बताया गया है। **सवातत्वं बस्तेर्निःशेषदानादिना ज्ञेयम्–** 'सवातत्व' से यहाँ बस्तिपुटक के द्रव्यों को पूर्णतः प्रयोग करना, अर्थ लिया गया है, बस्तिपुटक में औषधि को शेष न बचाना भाव है, जबकि बस्ति देते समय पुटक में कुछ द्रवौषधि शेष बचा लेते हैं। शेष न बचाने पर औषधि के साथ ही वायु भी गुदा में प्रविष्ट हो जाती है।

असम्यक्पीडितत्वमेव हृत्प्राप्तिजनकतया ज्ञेयम्– बस्तिपुटक पर अनुचित दबाव देकर बस्ति देने से बस्ति द्रव्य हृदय प्रदेश तक पहुँच जाता है। अर्थात् असम्यक् पीडन ही हृत्प्राप्ति का कारण है, ऐसा समझना चाहिए। लवणस्कन्ध का विवेचन रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ. ८) में किया जा चुका है। **वातघ्नैरिति–** दशमूल आदि वातनाशक द्रव्यों के कल्क, क्वाथ द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें। ।।३०-३१।।

वातमूत्रपुरीषाणां दत्ते वेगान्निगृह्णतः । अति वा पीडितो बस्तिर्मुखेनायाति वेगवान् ।।३२।।
मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्वा शीताम्बुना मुखम् । सिञ्चेत् पार्श्वोदरं चाधः प्रमृज्याद्वीजयेच्च तम् ।।३३।।
केशेष्वालम्ब्य चाकाशे धुनुयात्रासयेच्च तम् । गोखराश्वगजैः सिंहै राजप्रेष्यैस्तथोरगैः ।।३४।।

Scanned by CamScanner

उल्काभिरेवमन्यैश्च भीतस्याथः प्रवर्तते । वस्त्रपाणिग्रहैः कण्ठं रुन्ध्यान्न म्रियते यथा ३५।।
प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवान् । अपानः पवनो बस्तिं तमाश्वेवापकर्षति ।।३६।।
ततः क्रमुककल्काक्षं पाययेताम्लसंयुतम् । औष्ण्यात्तैक्ष्यात् सरत्वाच्च बस्तिं सोऽस्यानुलोमयेत् ।।३७।।
पक्वाशयस्थिते स्विन्ने निरूहो दाशमूलिकः । यवकोलकुलत्थैश्च विधेयो मूत्रसाधितः ।।३८।।
बिल्वादिपञ्चमूलेन सिद्धो बस्तिरुरःस्थिते । शिरःस्थे नावनं धूमः प्रच्छाद्यं सर्षपैः शिरः ।।३९।।

७. ऊर्ध्वगमन के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Ūrdhva-gamana)– निरूह बस्ति देने के बाद प्रवृत्त वात, मूत्र एवं पुरीष के वेगों के अवरोध से अथवा बस्तिपुटक को अत्यधिक दबाकर (तीव्र वेग से दबाकर) बस्ति देने पर औषध द्रव्य मुख द्वारा बाहर निकलने लगता है। इस अवस्था में यदि रोगी मूर्च्छित हो जाय तब सर्वप्रथम उसके मुख पर ठण्ढे जल से छींटे मारने चाहिए, पार्श्व तथा उदर के नीचे हलके हाथ से मर्दन करें, पंखें की हवा करें, बालों को ऊपर खड़ा करके खुले आकाश में खींच कर झकझोरें। गो (सांड़), खर (गधा), अश्व (घोड़ा), गज (हाथी), सिंह, राजपुरुष (पुलिस), उरग (सर्प) तथा उल्का आदि अन्य भयोत्पादक वस्तुओं से उसे डराना चाहिए जिसके कारण ऊर्ध्व मार्ग की ओर प्रवृत्त औषधि की गति अधोग हो जाय। अर्थात् इन कारणों द्वारा ऊपर की ओर प्रवृत्त औषधि की गति नीचे की ओर होने लगती है। अथवा वस्त्र या हाथ से गले को इस प्रकार दबावें कि रोगी की मृत्यु न हो तथा साथ में प्राण व उदान वायु के अवरोध से अपान वायु अपने मुख्य मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाय। अधोग प्रवृत्त अपान वायु बस्तिगत द्रव्यों को शीघ्र ही नीचे की ओर खींचकर बाहर निकाल देती है। इसके बाद रोगी को क्रमुक (सुपारी) का कल्क- १ तोला अम्ल द्रव्यों (काञ्जी आदि) में घोलकर पीने के लिए देना चाहिए। यह योग अपने उष्ण, तीक्ष्ण व सर गुण के कारण बस्ति का अनुलोम करता है। अर्थात् बस्ति द्वारा दिये गये द्रव्यों को अधोमार्ग से बाहर निकालता है।

यदि बस्ति पक्वाशय में रुक गयी हो, अर्थात् दी गयी निरूह बस्ति पक्वाशय में अवरुद्ध हो गयी हो तब आतुर के उदर का स्नेहन (अभ्यङ्ग) व स्वेदन कराकर बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू, यव, कोल (बेर) एवं कुलथी; के समभाग से निर्मित क्वाथ व गोमूत्र मिश्रित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

यदि दी गयी निरूह बस्ति उरः प्रदेश (Chest region) में रुक गयी हो तब आतुर में बिल्वादि पञ्चमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी) के क्वाथ से साधित निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। यदि बस्ति शिरः प्रदेश में आकर रुक गयी हो तब आतुर को नस्य व धूमपान के साथ-साथ सिर के ऊपर सर्षप (सरसो) के कल्क (Paste) का लेप करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'वातमूत्रेत्यादि' के द्वारा **ऊर्ध्वगमन** (बस्ति के द्रव्यों का मुख मार्ग की ओर गमन) को स्पष्ट किया गया है। **दत्ते इति बस्तौ दत्ते–** बस्ति देने के बाद वात, मूत्र व पुरीष के वेगों को रोकने पर, बस्ति के द्रव्य ऊपर की ओर जाकर मुखमार्ग से बाहर आने लगते हैं। ऐसी अवस्था में यदि रोगी मूर्च्छित हो जाता है तब सबसे पहले उसके मुख के ऊपर शीतल जल के छींटे मारना चाहिए। **आकाशे धुनुयादिति निरवलम्बं धुनुयात्–** सिर के बाल सीधे खींचना चाहिए, अर्थात् आतुर के सिर के बाल खींचे। **त्रासयेच्च गोखरादिभिरिति–** गो, गधे आदि से आतुर को भयभीत करना (डराना) चाहिए। **एवमन्यैरिति अनुक्तैरपि त्रासनप्रकारैः–** इसी प्रकार अन्य उपाय जो यहाँ नहीं बताये गये हैं, उनके द्वारा रोगी में भय उत्पन्न करना चाहिए।

कण्ठावरोधो यथा कर्तव्यस्तदाह-न म्रियते यथेति– कण्ठ को इस प्रकार दबाना चाहिए जिससे रोगी की मृत्यु न हो। इसका विवेचन यहाँ 'न म्रियते यथेति' के द्वारा किया गया है। कण्ठ के दबाने के प्रयोजन (उद्देश्य) को यहाँ– 'प्राणोदाननिरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवानित्यादि' के द्वारा बताया गया है। कण्ठ के दबाने से प्राण व उदान वायु के अवरोध के कारण अपान वायु अपने मुख्य मार्ग (अधोमार्ग) की ओर प्रवृत्त हो जाती है। अर्थात् अपान वायु की प्रवृत्ति (गमन) गुदा की ओर होने लगती है। फलस्वरूप ऊर्ध्व मार्ग की ओर गयी हुई बस्ति को वह (अपान वायु) नीचे की ओर लाकर गुदा द्वारा बाहर निकाल देती है। **प्राणोदाननिरोधेन तु प्राणोदानाभ्यां पीडितोऽपानः स्वमार्गगामी भवतीति ज्ञेयम्–** प्राण व उदान वायु के निरोध से पीड़ित (दबाव युक्त) अपान वायु अपने मार्ग (अधोमार्ग) की ओर गमन कर जाती है, ऐसा जानना चाहिए। कुछ आचार्य 'प्राणोदाननिरोधाद्धि' के स्थान पर 'प्राणोपरोधाद्धि' का पाठ करते हैं। जिसका अभिप्राय कण्ठ का पीडन (दबाना) तब तक करें जब तक कि प्राणवायु अवरुद्ध होकर अपान वायु को अपने मार्ग की ओर प्रवृत्त न करा दे। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखें कि रोगी भी मरने न पावे। क्रमुक=पूगफल (सुपारी)। **शिरस्थ इति बस्त्येकदेशे शिरसि स्थिते सति–** सिर के किसी एक भाग में बस्ति के स्थित होने पर।

प्रच्छाद्यमिति– आलेप लगाना चाहिए, सरसो के कल्क का लेप सिर के ऊपर करना चाहिए। ।।३२-३९।।

स्निग्धस्विन्ने महादोषे बस्तिर्मृद्वल्पभेषजः । उत्क्लिश्याल्पं हरेद्दोषं जनयेच्च प्रवाहिकाम् ।।४०।।
स हृस्तिपायुशोफेन जङ्घोरुसदनेन वा । निरुद्धमारुतो जन्तुरभीक्ष्णं संप्रवाहते ।।४१।।
स्वेदाभ्यङ्गान्निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान् । विदध्याल्लङ्घयित्वा तु वृत्तिं कुर्याद्विरिक्तवत् ।।४२।।

Scanned by CamScanner

८. प्रवाहिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा (Etiology, Signs-symptoms and Treatment of Pravāhikā)– जिस रोगी का सम्यक् रूप से स्नेहन व स्वेदन हुआ हो तथा जिसमें दोष अत्यधिक रूप से बढ़े हों। ऐसे रोगी में मृदु अथवा अल्प वस्ति का प्रयोग किया जाता है तब वह वस्ति दोषों को उत्क्लेशित करके अल्प मात्रा में बाहर निकालती है। दोष के पूर्णतः बाहर न निकलने के कारण प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है। वह रुकी हुई वस्ति मूत्राशय व गुदा में शोफ को उत्पन्न करती है अथवा जंघा (Calf mascles) एवं ऊरु (Thighs) में शिथिलता को उत्पन्न करती है, अपान वायु की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, रोगी भयंकर रूप से कांख-कांख करके मल त्याग करता है। ऐसी अवस्था में लंघनोत्तर आतुर को अभ्यंग व स्वेदन कराने के बाद शोधन एवं वातानुलोमक द्रव्यों द्वारा साधित निरूहबस्तियों का प्रयोग करावें अथवा विरेचन के बाद जो आहार-विहार रोगियों को सेवन कराया जाता है, उसका प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् पेयादि क्रम का पालन करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'स्निग्धस्विन्नेत्यादि' के द्वारा **प्रवाहिका** का विवेचन किया गया है। **प्रवाहिकामतिसारोक्तलक्षणामुक्तां जनयति–** प्रवाहिका एवं अतिसार चिकित्सा में वर्णित लक्षण ही इसमें उत्पन्न होते हैं। **शोधनीयानुलोमिकानित्यत्र–** शोधनीय एवं आनुलोमिक से यहाँ त्रिवृत् आदि शोधन द्रव्यों को मिलाकर (शोधनीय) तथा क्षीर, इक्षुरस आदि (अनुलोमक) द्रव्यों को मिलाकर निरूह बस्ति देनी चाहिए। अर्थात् शोधनीय तथा आनुलोमक द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। वृत्तिमिति– पेयादि क्रम का पालन करना चाहिए। अर्थात् निरूह वस्ति देने के बाद लघु एवं सुपाच्य आहार द्रव्यों का सेवन कराना चाहिए। ॥४०-४२॥

दुर्बले क्रूरकोष्ठे च तीव्रदोषे तनुर्मृदुः । शीतोऽल्पश्चावृतो दोषैर्बस्तिस्तद्विहतोऽनिलः ॥४३॥
मार्गैर्गात्राणि सन्धावन्नूर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते । ग्रीवां मन्ये च गृह्णाति शिरः कण्ठं भिनत्ति च ॥४४॥
बाधिर्यं कर्णनादं च पीनसं नेत्रविभ्रमम् । कुर्यादभ्यञ्जनं तैललवणेन यथाविधि ॥४५॥
युञ्जात् प्रधमनैर्नस्यैर्धूमैरस्य विरेचयेत् । तीक्ष्णानुलोमिकैर्नाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत् ॥४६॥

९. शिरोर्ति के हेतु लक्षण एवं चिकित्सा [Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Śirorti (Headache)]– यदि दुर्बल, क्रूर कोष्ठ वाले अथवा अत्यधिक दोषयुक्त पुरुषों में तनु (dilute), मृदु वीर्य वाली, शीतल अथवा अल्प मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाता है तब वह बस्ति दोषों द्वारा आवृत्त होकर वायु के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। वायु का मार्ग अवरुद्ध होने से वह बस्ति सम्पूर्ण शरीर या सन्धियों में प्रविष्ट हो जाती है तथा सिर में प्रविष्ट होकर वहाँ से अवरुद्ध होकर पुनः नीचे आ जाती है। इस अवस्था में वह आतुर की ग्रीवा व मन्या में जकड़ाहट तथा सिर व कण्ठ में भेदनवत् पीड़ा उत्पन्न करती है। इसके साथ ही बाधिर्य (deafness-बहरापन), कर्णनाद (Tinnitus), पीनस (Coryza) तथा नेत्र विभ्रम (Agitation of the eyes) उत्पन्न हो जाता है।

इन लक्षणों के मिलने पर अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. विधिपूर्वक लवण मिश्रित तैल से आतुर के शरीर का अभ्यङ्ग करना चाहिए।

२. प्रधमन नस्य एवं धूमपान द्वारा शिरोगत दोषों का विरेचन (निर्हरण) कराना चाहिए।

३. भोजन के बाद तीक्ष्ण एवं वातानुलोमक द्रव्यों के कल्क व क्वाथ द्वारा साधित स्नेह (तैल) की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'दुर्बलेत्यादि' के द्वारा शिरोर्ति (शिरःशूल- Headache) का अभिधान किया गया है। तनुः= जो गाढ़ा न हो। अर्थात् अघन (dilute पतला)। **तद्विहत इति निरूहबस्तिप्रकोपितः-** दोषों द्वारा आवृत वह बस्ति प्रकुपित होकर वायु के मार्गों द्वारा सम्पूर्ण शरीर की सन्धियों में प्रविष्ट करके शरीर के ऊर्ध्व भाग व सिर में प्रकुपित हो जाती है। **ऊर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते इति–** शरीर के ऊर्ध्व भाग में जाते हुए सिर में अवरुद्ध हो जाती है, अर्थात् प्रकुपित हो जाती है। जो आचार्य 'ऊर्ध्वं मूर्ध्नि विहन्यते' के स्थान पर 'ऊर्ध्वं विधावति' पाठ करते हैं उनके अनुसार बस्ति प्रकुपित होकर सिर में अवस्थित हो जाती है, अर्थ होगा।

अस्य विरेचयेदिति– यहाँ 'विरेचयेदिति' के साथ 'शिर' शब्द भी जुड़ा हुआ है, अर्थात् प्रधमन नस्य एवं धूम के प्रयोग द्वारा शिरोविरेचन कराना चाहिए। अर्थात् शिरोगत दोषों का निर्हरण करना चाहिए। अथवा 'अस्य विरेचयेत्' के स्थान पर 'अनुविरेचयेत्' पाठ प्राप्त होता है, जिसका अभिप्राय प्रधमननस्य एवं धूमपान के पश्चात् विरेचन कराना चाहिए। अथवा तीक्ष्ण एवं वातानुलोमक अन्न के सेवन के बाद अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए या तीक्ष्ण व अनुलोमक द्रव्यों द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ॥४३-४६॥

स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया । यस्य बस्तिः प्रयुज्येत सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् ॥४७॥
स्रुतेषु तस्य दोषेषु निरूढस्यातिमात्रशः । स्तब्धोदावृतकोष्ठस्य वायुः संप्रतिहन्यते ॥४८॥
विलोमनसमुद्भूतो रुजत्यङ्गानि देहिनः । गात्रवेष्टननिस्तोदभेदस्फुरणजृम्भणैः ॥४९॥
तं तैललवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्णवारिणा । एरण्डपत्रनिष्काथैः प्रस्तरैश्चोपपादयेत् ॥५०॥

Scanned by CamScanner

यवान् कुलत्थान् कोलानि पञ्चमूले तथोभये । जलाढकद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च ।।५१।।
कुर्यात् सबिल्वतैलोष्णलवणेन निरूहणम् । तं निरूढं समाश्वस्तं द्रोण्यां समवगाहयेत् ।।५२।।
ततो भुक्तवतस्तस्य कारयेदनुवासनम् । यष्टीमधुकतैलेन बिल्वतैलेन वा भिषक् ।।५३।।

१०. अङ्गार्ति के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा [Etiology, Signs-Symptoms of Aṅgārti (Pain in limbs)]– स्नेहन व स्वेदन के बिना प्रयोग किये यदि आतुर को गुरु (पचने में भारी), तीक्ष्ण तथा अधिक मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग कराते हैं तब वह बस्ति शरीर से दोषों का अधिक निर्हरण करने लगती है। निरूह बस्ति द्वारा दोषों का अत्यधिक निर्हरण हो जाने से कोष्ठ में जकड़ाहट एवं उदावर्त उत्पन्न हो जाता है, साथ में वायु की गति अवरुद्ध हो जाती है। बस्ति की गति विलोम होने से प्रकुपित हुई वायु व्यक्ति के अङ्गों में पीड़ा उत्पन्न करती है, परिणामस्वरुप उसके शरीर में ऐंठन (Cramps), निस्तोद (सूई चुभोने जैसी पीड़ा का उत्पन्न होना), भेद (फाड़ने जैसी पीड़ा का होना), स्फुरण- (फरकाहट throbbing pain) एवं जम्हाई उत्पन्न हो जाती है। ऐसी अवस्था में रोगी की चिकित्सा इस प्रकार करनी चाहिए–

१. रोगी को लवण मिश्रित तैल से अभ्यङ्ग कराकर उष्ण जल से परिषेक या स्नान करावें।

२. एरण्ड पत्र के क्वाथ से अथवा प्रस्तर स्वेदन विधि से स्वेदन करावें।

३. यव, कुलथी, बेर, दोनों प्रकार के पञ्चमूल (दशमूल) को लेकर दो आढ़क जल में पकावें, चतुर्थांश शेष बचने पर क्वाथ को छान लें। इस गुनगुने क्वाथ में बिल्व तैल (बिल्वादि तैल) व सैन्धव नमक मिश्रित करके विधि पूर्वक निरूह बस्ति दें। निरूह बस्ति के निकल जाने पर अर्थात् दोषों के निकल जाने पर रोगी को आश्वस्त करके द्रोणी में स्नान करावें।

४. स्नान कराने के बाद भोजन कराकर यष्टीमधु से साधित अथवा बिल्वादि द्रव्यों द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

चक्रपाणि– 'स्नेहस्वेदैरिति' के द्वारा अङ्गार्ति को **स्पष्ट** किया गया है। **अनापाद्येति–** आतुर को बिना स्नेहन व स्वेदन कराये। **सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् 'दोषान्' इति शेषः–** तीक्ष्ण अथवा अत्यधिक मात्रा में प्रयुक्त निरूह बस्ति दोषों का अत्यधिक निर्हरण करने लगती है। यहाँ सोऽतिमात्रं प्रवर्तयेत् के साथ 'दोषान्' शब्द को भी जोड़ना चाहिए।

ततः स्तब्धोदावृत्तकोष्ठस्य रुजां करोति– इसके बाद स्तब्ध एवं उदावृत्त कोष्ठ वाले पुरुष में वायु अवरुद्ध होकर वेदना को उत्पन्न करती है।

भुक्तवतो यद्यप्यनुवासनं सर्वत्र भवति– यद्यपि अनुवासन बस्ति का प्रयोग सभी स्थानों पर भोजन के बाद किया जाता है फिर भी 'भुक्तवत इति' वचन के द्वारा भोजन के बाद ही अनुवासन के प्रयोग का निर्देश है। अर्थात् निश्चित रूप से अनुवासन बस्ति का प्रयोग भोजन के बाद ही करना चाहिए। ।।४७-५३।।

मृदुकोष्ठाल्पदोषस्य रूक्षस्तीक्ष्णोऽतिमात्रवान् । बस्तिर्दोषान्निरस्याशु जनयेत् परिकर्तिकाम् ।।५४।।
त्रिकवङ्क्षणबस्तीनां तोदं नाभेरधो रुजम् । विबन्धोऽल्पाल्पमुत्थानं बस्तिनिर्लेखनाद्भवेत् ।।५५।।
स्वादुशीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभिः शृतम् । यष्ट्याह्वतिलकल्काभ्यां बस्तिः स्यात् क्षीरभोजिनः ।।५६।।
ससर्जरसयष्ट्याह्वजिङ्गिनीकर्दमाञ्जनम् । विनीय दुग्धे बस्तिः स्यात् व्यक्ताम्लमृदुभोजिनः ।।५७।।

११. परिकर्तिका के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा [Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Parikartikā]– मृदु कोष्ठ युक्त एवं अल्प दोष युक्त पुरुषों में यदि रूक्ष, तीक्ष्ण एवं अधिक मात्रा में निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाता है तब वह बस्ति दोषों को निकालते हुए शीघ्र ही परिकर्तिका रोग को उत्पन्न करती है। इस व्याधि में रोगी के त्रिक् (Lumber region), वंक्षण (Groin) एवं बस्ति (Urinary bladder) में सूई चुभोने जैसी पीड़ा (तोद) होती है, नाभि के नीचे वेदना का होना भी पाया जाता है। विबन्ध के साथ अल्प-अल्प मात्रा में मल बाहर आता है, अर्थात् मल बंधा हुआ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बाहर निकलता है। यह लक्षण दी गयी तीक्ष्ण बस्ति द्वारा पक्वाशय गत दोषों को खुरच कर बाहर निकालने के कारण पाया जाता है।

ऐसी अवस्था में आतुर में अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. इक्षु आदि मधुर व शीत वीर्य युक्त औषधियों के रस या क्वाथ द्वारा साधित दूध में यष्टीमधु व तिल का कल्क मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। आहार के रूप में रोगी को दुग्ध का ही प्रयोग कराना चाहिए।

२. सर्जरस (राल), यष्टीमधु (मुलेठी), जिङ्गिनी कर्दभ (कमल का कीचड़) एवं अञ्जन (रसाञ्जन); इन द्रव्यों के कल्क को दुग्ध में मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए। जब बस्ति वापस आ जाय तब रोगी को कोष्ण जल से स्नान कराकर मधुर व अम्ल रस युक्त द्रव्यों, यथा- आमलकी, फालसा आदि के स्वरस द्वारा संस्कारित आहार द्रव्यों, जो मृदु हों, का सेवन कराना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'मृद्वित्यादि' के द्वारा परिकर्तिका को स्पष्ट किया गया है। **बस्तिनिर्लेखनादिति वायुना च तीक्ष्णेन बस्तिकर्षणात्–** दी गयी तीक्ष्ण व रूक्ष बस्ति पक्वाशयगत दोषों का निर्लेखन करती है जिसके कारण विबन्ध युक्त (बंधा हुआ) मल अल्प-अल्प मात्रा में बाहर निकलता है।

व्यक्ताम्ल इति बस्तिविशेषणम्– बस्ति सेवी पुरुष को अम्ल द्रव्यों से संस्कारित आहार का सेवन करना चाहिए। यहाँ व्यक्ताम्ल शब्द बस्ति की विशेषता को स्पष्ट करता है। [परिकर्तिका= गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना] ।।५४-५७।।

पित्तरोगेऽम्ल उष्णो वा तीक्ष्णो वा लवणोऽथवा । बस्तिर्लिखति पायुं तु क्षिणोति विदहत्यपि ।।५८।।
स विदग्धः स्रवत्यस्रं पित्तं चानेकवर्णवत् । सार्यते बहुवेगेन मोहं गच्छति चासकृत् ।।५९।।
आर्द्रशाल्मलिवृन्तैस्तु क्षुण्णैराजं पयः श्रृतम् । सर्पिषा योजितं शीतं बस्तिमस्मै प्रदापयेत् ।।६०।।
वटादिपल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च । सुवर्चलोपोदिकयोः कर्बुदारे च शस्यते ।।६१।।
गुदे सेकाः प्रदेहाश्च शीताः स्युर्मधुराश्च ये । रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते ।।६२।।

१२. परिस्राव के हेतु, लक्षण एवं चिकित्सा [Etiology, Signs-Symptoms and Treatment of Parisrāva]– यदि पित्तज व्याधि से पीड़ित रोगी मे अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण अथवा लवण रस प्रधान निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाय तब वह बस्ति गुदा (Anus) का लेखन (Scraping -खुरचना) करते हुए उसमें घाव (Ulceration) उत्पन्न कर देती है जिससे गुदा में दाह (Burning sensation) होने लगता है। वह विदग्ध हुई बस्ति गुदा के शोथ युक्त होने से विभिन्न वर्ण युक्त रक्त व पित्त के स्राव को उत्पन्न करती है। अर्थात् शोथ युक्त गुदा से अनेक वर्ण युक्त रक्त व पित्त का स्राव होता है। जब यह स्राव तीव्र वेग युक्त होता है तब रोगी प्रायः मूर्च्छित हो जाता है। रोगी की इस अवस्था में अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

१. ताजे सेंमल की पत्ती या पुष्पवृन्त (डण्डल) को काटकर यवकुट कर लें एवं उसे बकरी के दूध में पकावें। ठण्ढा होने पर उसमें घृत मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें।

२. वट की कोमल पत्तियों को अजा दुग्ध में पकाकर सिद्ध करें एवं उसमें घृत मिलाकर बस्ति दें।

३. यव, तिल, पोई के शाक, हुरहुर तथा काञ्चनार के पुष्प को अलग-अलग बकरी के दुग्ध में पकावें तथा सिद्ध क्षीर में घृत मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें ।

४. मधुरगण युक्त औषधियों के शीतल क्वाथ से गुदा का प्रक्षालन करें अथवा इनके कल्क का लेप गुदा पर करें।

५. रक्तपित्त एवं अतिसारनाशक चिकित्सा भी इस व्याधि में लाभदायक होती है।

चक्रपाणि– पित्तरोगे इत्यादि के द्वारा **परिस्राव** को स्पष्ट किया गया है। क्षिणोतीति– क्षत को उत्पन्न करना, अर्थात् गुदा में क्षत उत्पन्न कर देती है।

एष कल्प इति आर्द्रशाल्मलीवृन्तोक्तक्षीरसंस्कारकल्पः– ताजे शाल्मली (सेमल) पत्र अथवा पुष्प के डण्ठल को काटकर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें तथा इसे कूटकर अजा दुग्ध में पकावें। सेमल के डण्ठल द्वारा साधित दूध में घृत मिलाकर शीतल कर लें तत्पश्चात् इसका प्रयोग बस्ति के रूप में करें। अर्थात् सेमल द्वारा साधित क्षीर की बस्ति दें। इसी प्रकार वटादि के पत्र, यव व तिल के कल्क, सुवर्चला तथा उपोदिका (पोई का शाक) अथवा काञ्चनार के पुष्प द्वारा अलग-अलग अजा क्षीर को सिद्ध करें। इस सिद्ध क्षीर में घृत मिलाकर परिस्राव के रोगी में बस्ति दें।

सुवर्चलामिति– सुनिषण्णक का ग्रहण किया गया है। कर्बुदार= काञ्चनार।

विशेष (Comments)– सुवर्चला= सूर्यभक्ता (सूर्यमुखी। उपोदिका= पुदीना । इन दोनों द्रव्यों के पत्ते का कल्क बनावें। इस कल्क द्वारा बकरी के दूध को सिद्ध करें। इस दूध में घृत मिलाकर बस्ति दें। –जल्पकल्पतरु टीका।

तीक्ष्णत्वं मूत्रपील्वग्निलवणक्षारसर्षपैः । प्राप्तकालं विधातव्यं क्षीराद्यैर्मार्दवं तथा ।।६३।।

मृदु व तीक्ष्ण बस्ति में डाले जाने वाले द्रव्य [Drugs for mild and strong Enema]– १. यदि बस्ति में गोमूत्र, पीलू, चित्रक, सैन्धव नमक, यवक्षार एवं सरसों के कल्क का प्रयोग किया जाता है तब वह तीक्ष्ण गुण युक्त हो जाती है।

२. यदि उसमें क्षीर आदि मधुर एवं शीतल द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है तब वह मृदु कही जाती है।

चिकित्सक को दोष आदि की अवस्था का विचार करके, आवश्यकतानुसार मृदु व तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– उपयोगिता के अनुसार बस्ति में मृदु व तीक्ष्ण द्रव्यों के प्रयोग द्वारा उसे मृदु व तीक्ष्ण बना लिया जाता है। उसी के ज्ञान

Scanned by CamScanner

हेतु यहाँ मृदु एवं तीक्ष्ण द्रव्यों के गण को 'तीक्ष्णत्वमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् मृदु एवं तीक्ष्ण गुण वाले द्रव्यों के समुदाय का विवेचन किया गया है।

पीलु- उत्तरापथ में होने वाला एक प्रकार का फल। यहाँ पीलु के स्थान पर कुछ आचार्य बिल्व का ग्रहण करते हैं।

प्राप्तकालमिति उक्तावस्थम्- निर्दिष्ट अवस्थाओं में, अर्थात् आतुर की अवस्था के अनुसार मृदु अथवा तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ॥६३॥

आपादतलमूर्धस्थान् दोषान् पक्वाशये स्थितः । वीर्येण बस्तिरादत्ते खस्थोऽर्को भूरसानिव ॥६४॥

बस्ति का प्रभाव (Importance of Basti)- पक्वाशय में स्थित बस्ति अपने वीर्य (प्रभाव) के द्वारा व्यक्ति के पादतल (पैर के तलवों) से लेकर सिर तक के दोषों को खींचकर उसी प्रकार बाहर निकाल देती है जिस प्रकार सूर्य अपने प्रभाव से पृथ्वी के रस का अवशोषण करता है।

चक्रपाणि- 'आपादेत्यादि' के द्वारा बस्ति के प्रभाव को स्पष्ट किया गया है। **पक्वाशये स्थित इति-** पक्वाशय में स्थित (बस्ति)। **आदत्ते वीर्येणेति-** अपनी शक्ति के द्वारा दी गयी बस्ति पैर से लेकर सिर तक के दोषों को खींच कर बाहर निकाल देती है। यहाँ शक्ति का संबन्ध स्वभाव से है।

एवं भूतवीर्यं बस्तावेव; तेन पाचनादि प्रयोगाणां न बस्तिवत्तदहरेव सकलदेहगतदोषविजेतृत्वं भवति- इस प्रकार का प्रभाव बस्ति का होता ही है । दीपन, पाचन आदि औषध द्रव्यों के प्रयोग से बस्ति के समान उसी दिन ही सम्पूर्ण शरीरगत दोषों का प्रशमन नहीं होता।

खस्थ इति- आकाश में स्थित । बस्ति के प्रभाव का विवेचन सुश्रुतसंहिता में भी किया गया है, यथा- "वीर्येण बस्तिरादत्ते दोषानापादमस्तकात् । पक्वाशयस्थोऽम्बरगो भूमेरर्को रसानिव" (सु.चि.अ. ३५/२६) इति [पक्वाशय में स्थित बस्ति अपने वीर्य द्वारा सिर से लेकर पैर तक के दोषों को उसी प्रकार से बाहर निकाल देती है, अर्थात् खींच लेती है जिस प्रकार आकाश में विद्यमान सूर्य भूमि के रस को खींच लेता है।]

यद्वत् कुसुम्भसंमिश्रात्तोयाद्रागं हरेत् पटः । तद्वद्द्रवीकृतादेहान्निरूहो निर्हरेन्मलान् ॥६५॥

अन्य उपमा- जिस प्रकार कुसुम्भ मिश्रित जल (केशर वर्ण युक्त जल) में वस्त्र डालने पर वह मात्र रङ्ग को ही ग्रहण करता है उसी प्रकार स्नेहन-स्वेदन द्वारा द्रवीभूत दोष वाले पुरुष में प्रयुक्त निरूह बस्ति मात्र मल रूपी दोषों को ही बाहर निकालती है।

चक्रपाणि- संप्रति बस्तेः शरीरे मलप्रसादसहितेऽपि यथा मलांशमात्रहारकत्वं भवति- शरीर में मल व प्रसाद अंश एक साथ विद्यमान होते हुए भी बस्ति के प्रयोग से जिस प्रकार मात्र मल अंश का ही निर्हरण होता है, उसके दृष्टान्त को यहाँ- 'तद्वदित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **द्रवीकृतादिति-** स्नेहन व स्वेदन द्वारा पिघले हुए दोषों को, अर्थात् बस्ति के प्रयोग से पिघले हुए दोष एवं पुरीष को शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है।

मलान् इति दोषान् पुरीषं च- मल से यहाँ दोष एवं पुरीष दोनों अर्थ लिया गया है।

तत्र श्लोकः-

इत्येता व्यापदः प्रोक्ता बस्तेः साकृतिभेषजाः । बुद्ध्वा कात्स्न्येन तान् बस्तीन्नियुञ्जन्नापराध्यति ॥६६॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार- इस प्रकार यहाँ बस्ति के अनुचित प्रयोग से होने वाली व्यापत्तियाँ, उनके लक्षण एवं चिकित्सा का विवेचन विशेष रूप से किया गया है। इन विषयों का पूर्ण विचार करके जो चिकित्सक बस्ति की योजना करता है, वह कभी भी असफल नहीं होता।

चक्रपाणि- 'इत्येता इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। **यस्मादेता व्यापदो बस्तिदुष्प्रयोगजन्या भवन्ति, तस्मात् कात्स्न्येन बस्तीन् बुद्ध्वा नियुञ्जन्नापराध्यति-** जिस प्रकार ये व्यापत्तियाँ बस्ति के अनुचित प्रयोग से उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उनके गुणों का सम्यक् विचार करके दी गयी बस्ति कभी असफल नहीं होती। अर्थात् बस्ति के सम्यक् प्रयोग से कभी व्यापत्ति (Complication) नहीं उत्पन्न होती।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढ़बलसंपूरिते सिद्धिस्थाने बस्तिव्यापत्सिद्धिर्नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में बस्तिव्यापत्सिद्धि नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में 'बस्तिव्यापत्सिद्धि' नामक सप्तम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई।

Scanned by CamScanner

अष्टमोऽध्यायः।

अथातः प्रासृतयोगीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे प्रासृतयोगीय सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– संप्रति बस्तिव्यापत्प्रशमकबस्त्यभिधायकतयैव प्रासृतयोगीया सिद्धिरुच्यते– अब यहाँ बस्तिव्यापद् (Complication of Basti) को शान्त करने वाली बस्तियों के अभिधान (कथन) के द्वारा ही 'प्रासृतयोगीया सिद्धि' नामक अध्याय का प्रारम्भ किया जा रहा है। [पूर्व अध्याय में बस्तिव्यापद् का विवेचन किया गया, लेकिन इस अध्याय में उनकी चिकित्सा हेतु व्यापद् नाशक बस्ति के योगों का विवेचन किया जायेगा।]

प्रसृतोपलक्षिता ये योगाः तानधिकृत्य कृता सिद्धिः– प्रसृत को उपलक्षित करके जो योग बताये गये हैं, उन्हीं को अधिकृत करके इस अध्याय की रचना की गयी है। उसी से प्रसृत को ही आधार मानकर यहाँ भी योगों का विवेचन किया गया है। (उपलक्षित=विशेष ध्यान देना)

विशेष (Comments)– Recipes, ingredients of which are used in unit quantity of PRASRITA, are mainly described here because of which this chapter is titled as– "Prāsṛita Yogīya Siddhi". Of course, other types of recipes are also described here, but these are of secondary nature- Dr. R.K. Sharma and Vaidya Bhagvandas]

अथेमान् सुकुमाराणां निरूहान् स्नेहनान् मृदून् । कर्मणा विप्लुतानां च वक्ष्यामि प्रसृतैः पृथक् ।।३।।

विषयारम्भ– हे अग्निवेश! अब मैं सुकुमार पुरुषों अथवा कर्मविप्लुत (जो कार्य करने के कारण थक गये हों) पुरुषों के लिए मृदु एवं शरीर का स्नेहन करने वाले निरूह बस्तियों का वर्णन प्रसृत प्रमाण के अनुसार अलग-अलग कर रहा हूँ।

चक्रपाणि– इमानिति अग्रे वक्ष्यमाणान्– इन विषयों को, जिनका विवेचन आगे किया जायेगा। अर्थात् अध्याय में वर्णित प्रारम्भ के विषयों में प्रसृत को मुख्य मान करके योगों का विवेचन किया गया है। बाद के शेष विषयों में **प्रसृत** को मुख्य मान करके योगों का विवेचन नहीं किया गया है। अर्थात् बाद के शेष विषयों को निश्चित रूप से प्रसृत को उपलक्षित (विशेष ध्यान देकर) करके नहीं कहा गया है।

सुकुमाराणामिति तन्वादिगुणसंबद्धं भवति– सुकुमार से यहाँ तनु आदि गुणों से युक्त पुरुषों का ग्रहण किया गया है। तनु=आकर्षक।

क्षीराद्वौ प्रसृतौ कार्यौ मधुतैलघृतात्त्रयः । खजेन मथितो बस्तिर्वातघ्नो बलवर्णकृत् ।।४।।
एकैकः प्रसृतस्तैलप्रसन्नाक्षौद्रसर्पिषाम् । बिल्वादिमूलक्वाथाद्वौ कौलत्थाद्वौ स वातनुत् ।।५।।
पञ्चमूलरसात् पञ्च द्वौ तैलात् क्षौद्रसर्पिषोः । एकैकः प्रसृतो बस्तिः स्नेहनीयोऽनिलापहः ।।६।।

१. पञ्चप्रासृतिक बस्ति (प्रथम)-घटक द्रव्य– गो दुग्ध- २ प्रसृत (१६ तोला), मधु- १ प्रसृत (८ तोला), तिल तैल- १ प्रसृत (८ तोला) एवं घृत- १ प्रसृत (८ तोला)।

सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मथानी से मथ करके निरूह बस्ति के रूप में प्रयोग करें। यह निरूह बस्ति वात नाशक तथा व्यक्ति के बल (Strength) एवं वर्ण (Complexion) को बढ़ाती है।

२. अष्टप्रासृतिक बस्ति- घटक द्रव्य– तिल तैल- १ प्रसृत (८ तोला), प्रसन्ना (मदिरा के ऊपर का स्वच्छ भाग)- १ प्रसृत (८ तोला), मधु- १ प्रसृत (८ तोला), घृत- १ प्रसृत (८ तोला), बिल्वादि मूल (दशमूल) का क्वाथ- २ प्रसृत (१६ तोला), कुलथी का क्वाथ- २ प्रसृत (१६ तोला)। [कुल मात्रा- ८ प्रसृत]

उपरोक्त सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर मथानी से मथ कर निरूह बस्ति तैयार कर लें। इस निरूह बस्ति के प्रयोग से वात व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

३. नव प्रासृतिक बस्ति-घटक द्रव्य– क- बृहत् पञ्चमूल का क्वाथ- ५ प्रसृत (४० तोला), ख- मधु- १ प्रसृत (८ तोला), ग. तिल तैल- २ प्रसृत (१६ तोला), घ- गोघृत- १ प्रसृत (८ तोला); सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मथानी से मथ लें। यह बस्ति शरीर का स्नेहन करती है तथा वात का नाश करती है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– प्रसृतं पलद्वयम्- १ प्रसृत = २ पल (८ तोले)। **मधुतैलघृतात्त्रय इति-** मिलित रूप से मधु, तैल व गोघृत की ३ प्रसृत मात्रा का ग्रहण करें, अर्थात् १ प्रसृत मधु, १ प्रसृत- तिल तैल व १ प्रसृत गोघृत ग्रहण करें। **अत्र च यथोक्तैरेव द्रव्यैर्बस्तिर्देयः–** यहाँ निर्दिष्ट द्रव्यों के द्वारा ही बस्ति देनी चाहिए, अर्थात् बस्ति में जिन द्रव्यों का निर्देश है उन्हीं का प्रयोग करना चाहिए। उससे यहाँ **इतर बस्ति न्याय के** द्वारा अनुक्त (जिनका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है) कल्क आदि द्रव्यों की योजना नहीं करना चाहिए। जहाँ बस्ति में प्रयुक्त नियत द्रव्यों के मान का अलग-अलग उल्लेख है वहाँ सामान्य बस्ति के द्रव्यों के लिए कोई अवकाश नहीं है। अर्थात् जहाँ बस्ति में प्रयुक्त द्रव्यों की मात्रा का स्पष्टतः उल्लेख है, वहाँ उनका ही ग्रहण करना चाहिए। जहाँ बस्ति में प्रयुक्त द्रव्यों में कुछ अंश का कथन किया गया है वहाँ निरूह में उपयोगी होने से कथित द्रव्य के साथ-साथ उपयोगी अन्य द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। यथा– इसमें सैन्धव लवण का प्रयोग तो करना ही चाहिए, अर्थात् सैन्धव नमक त्याज्य नहीं है। 'बिल्वादि मूल' से यहाँ दशमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, यथा– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी तथा गोक्षरू। **स वातानुदिति स बस्तिर्वातं हन्तीति–** वह बस्ति वात को नष्ट करती है। ॥४-६॥

सैन्यवार्धाक्ष एकैकः क्षौद्रतैलपयोघृतात् । प्रसृतो हपुषाकर्षो निरूहः शुक्रकृत् परम् ॥७॥

४. चतुःप्रासृतिक बस्ति (प्रथम)– सैन्धव लवण– अर्ध अक्ष (½ तोला), मधु- १ प्रसृत (८ तोला), तैल (तिल तैल)- १ प्रसृत (८ तोला), गो दुग्ध– १ प्रसृत (८ तोला), गोघृत- १ प्रसृत (८ तोला), हपुषा (हाऊबेर) कल्क- १ कर्ष (१ तोला); सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर एक पात्र में रखें। अब उसे मथानी से मथकर आपस में मिश्रित कर लें। इस बस्ति के प्रयोग से शुक्र की अत्यधिक वृद्धि होती है।

[इस बस्ति की कुल मात्रा कल्क व सैन्धव लवण को छोड़कर ४ प्रसृत होती है।]

चक्रपाणि– हपुषा कर्षः- हाऊबेर का कल्क- १ कर्ष (१ तोला) ग्रहण करें। ॥७॥

पटोलनिम्बभूनिम्बरास्नासप्तच्छदाम्भसः । चत्वारः प्रसृता एको घृतात् सर्षपकल्कितः ॥८॥
निरूहः पञ्चतिक्तोऽयं मेहाभिष्यन्दकुष्ठनुत् ।

५. पञ्चतिक्त पञ्चप्रासृतिक बस्ति– पटोलपत्र, नीम की छाल, भूनिम्ब (चिरायता), रास्ना व सप्तपर्णी की छाल (छतिवन की छाल); प्रत्येक द्रव्य बराबर मात्रा में लेकर यवकुट करके क्वाथ (Decoction) बना लें। पटोलपत्रादि द्रव्यों के क्वाथ की मात्रा- ४ प्रसृत (३२ तोला), एक प्रसृत- (८ तोला) गोघृत तथा आवश्यकतानुसार सरसो का कल्क लेकर मथानी से मथकर मिश्रित कर लें। पञ्चतिक्त द्रव्यों से बनी हुई यह निरूह बस्ति प्रमेह, अभिष्यन्द (Conjunctivitis) एवं कुष्ठ (Obstinate skin diseases including leprosy) रोग को दूर करती है। [यह बस्ति तिक्त रस प्रधान होती है अतः इसे 'पञ्चतिक्त' बस्ति कहते हैं।

चक्रपाणि– 'पटोलेत्यादौ' के द्वारा पञ्चतिक्त निरूह बस्ति का अभिधान किया गया है। अम्भस इति क्वाथात्– क्वाथ्य द्रव्यों का चार गुना जल लेकर क्वाथ का निर्माण करना चाहिए।

सर्षपकल्कित इति– यद्यपि इस योग में कल्क के मान (मात्रा) का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी बारह प्रसृत दी जाने वाली निरूह बस्ति में २ पल कल्क देने का विधान है। यहाँ निरूह बस्ति की मात्रा ५ प्रसृत होने के कारण कल्क की मात्रा पूर्वविधान की आधी, अर्थात् २ पल में से एक कम अर्थात् १ पल = ४ तोला होती है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी जहाँ कल्क के मान का निर्देश नहीं है, इसी व्यवस्था का पालन (अनुसरण) करना चाहिए। ॥८॥

विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ताखुपर्णिजात् ॥९॥
कषायात् प्रसृताः पञ्च तैलादेको विमथ्य तान् । विडङ्गपिप्पलीकल्को निरूहः क्रिमिनाशनः ॥१०॥

६. षट् प्रासृतिक बस्ति– विडंग, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सहिजन (शिग्रु) की छाल, फल (मदनफल), नागरमुस्तक (नागर मोथा), आखुपर्णी (मूषाकर्णी); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर विधि पूर्वक क्वाथ बना लें। बने हुए क्वाथ की मात्रा- ५ प्रसृत (४० तोला), तिल तैल- १ प्रसृत (८ तोला), वायविडंग व पिप्पली का कल्क, यथावश्यक। इन सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मथानी से मथकर निरूह बस्ति दें। यह निरूह बस्ति क्रिमि रोग को दूर करती है, अर्थात् कृमि को नष्ट करती है।

चक्रपाणि– 'विडंगेत्यादि' के द्वारा षट् प्रासृतिक बस्ति का अभिधान किया गया है। फल = मदनफल। आखुपर्णी = दन्ती। ॥९-१०॥

विशेष (Comments)– आचार्य गंगाधर ने "विडङ्गत्रिफलाशिग्रुफलमुस्ताखुपर्णिका" से विडंग, त्रिफला, शिग्रुफल, मुस्ता (नागर मुस्तक) तथा आखुपर्णी; इन पाँच द्रव्यों का ग्रहण किया है। ये पाँचों द्रव्य १-१ भाग लेकर ८ गुने जल में पकावें, चतुर्थांश द्रव्य शेष

Scanned by CamScanner

बचने पर क्वाथ को अग्नि पर से उतारकर, एक स्वच्छ कपड़े से छानकर रख लें। इस पाँच प्रसृत क्वाथ में १ प्रसृत तिल तैल तथा यथावश्यक (आवश्यकतानुसार) विडङ्ग व पिप्पली का कल्क मिलाकर निरूहबस्ति तैयार करें। इस निरूह बस्ति की कुल मात्रा- ६ प्रसृत (कल्क छोड़कर) होती है। [सामान्यतया यहाँ कल्क की संयुक्त मात्रा १ पल रखनी चाहिए।] – जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

पयस्येक्षुस्थिरारास्नाविदारीक्षौद्रसर्पिषाम् । एकैकः प्रसृतो बस्तिः कृष्णाकल्को वृषत्वकृत् ।।११।।
चत्वारस्तैलगोमूत्रदधिमण्डाम्लकाञ्जिकात् । प्रसृताः सर्षपैः कल्कैर्विट्सङ्गानाहभेदनः ।।१२।।

७. सप्त प्रासृतिक बस्ति- घटक द्रव्य–

१. पयस्या (क्षीर विदारी) का क्वाथ–	१ प्रसृत
२. इक्षु रस (गन्ने का रस)–	१ प्रसृत
३. स्थिरा (शालपर्णी) का क्वाथ–	१ प्रसृत
४. रास्ना का क्वाथ–	१ प्रसृत
५. विदारीकन्द स्वरस–	१ प्रसृत
६. मधु–	१ प्रसृत
७. गोघृत–	१ प्रसृत

पिप्पली का कल्क– यथावश्यक ।

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर मथानी से मथकर आपस में मिश्रित कर लें। इन द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी निरूह बस्ति के प्रयोग से व्यक्ति में वृषत्व गुण की अत्यधिक वृद्धि होती है। अर्थात् इसके प्रयोग से कामशक्ति की अत्यधिक वृद्धि होती है।

८. चतुः प्रासृतिक बस्ति (द्वितीय)– तिल तैल- १ प्रसृत, गोमूत्र- १ प्रसृत, दही का पानी- १ प्रसृत, खट्टी काञ्जी- १ प्रसृत, सरसो का कल्क यथावश्यक। सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर मथानी से मथकर निरूह बस्ति के रूप में प्रयोग करें। यह निरूह बस्ति पुरीष के अवरोध एवं आनाह (Constipation) को दूर करती है।

चक्रपाणि– पयस्येति के द्वारा सप्त प्रासृतिक बस्ति का अभिधान किया गया है। यद्यपि पयस्या आदि द्रव्यों के क्वाथ का विधान नहीं प्राप्त होता है, फिर भी द्रवान्तर के द्वारा अर्थात् क्वाथ के समान गुण वाले अन्य द्रव- स्वरस आदि का इससे ग्रहण है। यहाँ पयस्या आदि द्रव्यों के क्वाथ का मान अलग-अलग १-१ प्रसृत ग्रहण करना चाहिए। **वृषत्वकृदिति–** शुक्र को बढ़ाने वाला (शुक्रवर्धक)। ॥११-१२॥

विशेष (Comments)– पयस्या = क्षीरकाकोली, क्षीरकाकोली का क्वाथ (स्वरस)- १ प्रसृत, इक्षुरस- १ प्रसृत, शालपर्णी क्वाथ- १ प्रसृत, रास्ना क्वाथ- १ प्रसृत, भूमिकुष्माण्ड रस- १ प्रसृत, मधु- १ प्रसृत एवं गोघृत- १ प्रसृत। सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मथानी से मथ लें। इसमें पिप्पली का कल्क १ पल मिलाकर निरूह बस्ति दें। इस प्रकार इसकी कुल मात्रा ७ (सात) प्रसृत होती है।

श्वदंष्ट्राश्मभिदेरण्डरसात्तैलात् सुरासवात् । प्रसृताः पञ्च यष्ट्याह्वकौन्तीमागधिकासिताः ।।१३।।
कल्कः स्यान्मूत्रकृच्छ्रे तु सानाहे वास्तिरुत्तमः । एते सलवणाः कोष्णा निरूहाः प्रसृतैर्नव ।।१४।।

९. पञ्चप्रासृतिक बस्ति (द्वितीय)- घटक द्रव्य– गोक्षरू क्वाथ- १ प्रसृत, पाषाणभेद का क्वाथ– १ प्रसृत, एरण्डमूल क्वाथ- १ प्रसृत, तिल तैल- १ प्रसृत, सुरा या आसव- १ प्रसृत, कल्क द्रव्य- यष्टीमधु (मुलेठी), रेणुका, पिप्पली व मिश्री; इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

एक पात्र में उपरोक्त द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर निरूह बस्ति तैयार करें। यह बस्ति आनाह एवं मूत्रकृच्छ्र रोग को दूर करती है।

इस प्रकार यहाँ प्रसृत प्रमाण के आधार पर बतायी गयी नव निरूह बस्तियों का प्रयोग लवण (सैन्धव लवण) मिश्रित करके कोष्ण (गुनगुना) करना चाहिए। अर्थात् इन बस्तियों में नमक मिश्रित करके तथा गुनगुना करके आतुर को देना चाहिए।

चक्रपाणि– 'श्वदंष्ट्रेति' के द्वारा पञ्चप्रासृतिक बस्ति का अभिधान किया गया है । यहाँ श्वदंष्ट्रा (गोक्षरू), अश्मभिद् (पाषाणभेद) तथा एरण्डमूल– इन द्रव्यों का क्वाथ अलग-अलग १-१ प्रसृत मान में ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार तिल तैल- १ प्रसृत तथा सुरासव- १ प्रसृत ग्रहण करे। सभी को मिला देने पर बस्ति द्रव्य की कुल मात्रा ५ प्रसृत होती है।

सुराकृत आसवः सुरासवः– सुरा द्वारा निर्मित आसव को सुरासव कहते हैं। ॥१३-१४॥

मृदुबस्तिजडीभूते तीक्ष्णोऽन्यो बस्तिरिष्यते । तीक्ष्णैर्विकर्षिते स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यते ।।१५।।

Scanned by CamScanner

जड़ीभूत बस्ति की चिकित्सा– यदि दी गयी मृदुबस्ति जड़ीभूत हो गयी हो, अर्थात् वह दोषों को बाहर निकाल न पाती हो (जड़ीभूत- बस्ति का पक्वाशय में रुक जाना) ऐसी स्थिति में उसे निकालने के लिए अन्य तीक्ष्ण निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। तीक्ष्ण बस्ति के प्रयोग से यदि दोषों का निर्हरण अधिक हो जाता है तथा रोगी को दुर्बलता का अनुभव हो तब उसे मधुर गण की औषधियों से साधित निरूह बस्ति का प्रयोग पुनः कराना चाहिए।

चक्रपाणि– यहाँ वर्णित (कहे गये) मृदु बस्तियों के प्रयोग के बाद क्या करना चाहिए? इसे यहाँ 'मृद्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **स्वादु प्रत्यास्थापनमिष्यत इति–** इससे यहाँ द्राक्षा आदि मधुर गुण युक्त द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित निरूह बस्ति का ग्रहण है। कुछ आचार्य उसी दिन प्रति आस्थापन बस्ति के प्रयोग का निर्देश देते हैं जिस दिन मृदु गुण वाली निरूह बस्ति का प्रयोग किया जाता है। **आस्थापनं लक्ष्यीकृत्य दीयत इति प्रत्यास्थापनम्–** आस्थापन को लक्ष्य करके (उद्देश्य बना करके) दी गयी दूसरी आस्थापन बस्ति को 'प्रत्यास्थापन' कहा जाता है। ॥१५॥

विशेष (Comments)– When another āsthāpana or Nirūha enema is given to counteract the adverse effects of the previous enema, then it is called PRATYĀSTHĀPANA

–Dr. R.K. Sharma.

वातोपसृष्टस्योष्णैः स्युर्गुददाहादयो यदि । द्राक्षाम्बुना त्रिवृत्कल्कं दद्याद्दोषानुलोमनम् ॥१६॥
तद्धि पित्तशकृद्वातान् हृत्वा दाहादिकाञ्जयेत् । शुद्धश्चापि पिबेच्छीतां यवागूं शर्करायुताम् ॥१७॥

गुददाह की चिकित्सा– यदि वात व्याधि से आक्रान्त पुरुष में उष्ण बस्ति (उष्ण गुण युक्त द्रव्यों से साधित निरूह बस्ति) का प्रयोग करते हैं तब व्यक्ति की गुदा में दाह आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में आतुर को षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में वर्णित द्राक्षा आदि द्रव्यों के क्वाथ में सफेद निशोथ का कल्क मिलाकर आतुर को पीने के लिए देना चाहिए। इसके प्रयोग से दोषों का अनुलोमन (दोषों का अपने स्वाभाविक मार्ग से बाहर निकलना) होता है तथा यह योग पित्त, पुरीष तथा वायु का निर्हरण करते हुए दाह आदि उपद्रवों को प्रशमित करता है। इस योग द्वारा शरीर के शुद्ध हो जाने पर आतुर को शर्करा मिश्रित शीतल यवागू का पान करना चाहिए।

चक्रपाणि– उष्णैरिति = उष्ण द्रव्यों द्वारा तैयार की गयी निरूह बस्ति। यहाँ 'उष्ण' शब्द बस्ति की विशेषता को बताता है। **दाहादि** से दाह (Burning sensation), मोह (unconsciousness), तृड् (Morbid thirst) आदि वात पित्तजन्य व्याधियों का ग्रहण किया गया है। द्राक्षा स्वरस अथवा क्वाथ में त्रिवृत् कल्क मिलाकर पीने से दाहादि उत्पादक वात एवं पित्त दोषों में अत्यन्त लाभकारी होता है, जिसका विवेचन यहाँ– 'तद्धीत्यादि' के द्वारा किया गया है। ॥१६-१७॥

अथवाऽतिविरिक्तः स्यात् क्षीणविट्कः स भक्षयेत् । माषयूषेण कुल्माषान् पिबेन्मध्वथवा सुराम् ॥१८॥

मल (पुरीष) क्षय की चिकित्सा– उष्ण बस्ति के प्रयोग से अत्यधिक विरेचन होने के कारण पुरीष (मल) क्षय होने पर आतुर को माष (उड़द) के यूष के साथ कुल्माष अथवा मधु अथवा मदिरा का सेवन करना चाहिए।

चक्रपाणि– कुल्माषा इति अर्धस्विन्नयवादिमया (अर्धस्विन्नयवादिपिष्टमयाः) भक्ष्याः– यव आदि के आँटे को गरम जल में घोलकर हलका उबालें, जब वह केक की तरह हो जाय, तब इसका उपयोग करें। इसी को कुल्माष कहा गया है। ॥१८॥

सामं चेत् कुणपं शूलैरुपविशेदरोचकी । स घनातिविषाकुष्ठनतदारुवचाः पिबेत् ॥१९॥

आमज शूल की चिकित्सा– बस्ति के अनुचित प्रयोग से रोगी के उदर में शूल हो रहा हो, आम युक्त मुर्दे की गन्ध के समान मल का त्याग कर रहा हो, साथ-ही साथ अरोचक रोग से पीड़ित हो, ऐसी अवस्था में आतुर को घन (नागरमोथा), अतिविषा (अतीस), कूठ (कुष्ठ), नत (तगर), देवदारु एवं वचा; के समभाग से निर्मित क्वाथ का पान कराना चाहिए।

चक्रपाणि– 'सामं चेत्यादि' के द्वारा बस्ति के मिथ्या प्रयोग से उत्पन्न होने वाले अतिसार के भेदों की चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है।

सामं यथा स्यात् (भवति) तथोपविशेदिति– आमातिसार में मलादि को छोड़कर मात्र आम का निकलना, पाया जाता है। इस अतिसार में मात्र आम का ही बार-बार अतिसरण होता है। इस प्रकरण में केवल आमज, शकृदजन्य (पुरीषज), वातज, रक्तज, पित्तज एवं कफज छः प्रकार के अतिसारों का वर्णन पहले किया गया है। **कुणपमिति शवगन्धम्–** मुर्दे के शरीर से निकलने वाली गन्ध के समान गन्ध का निकलना (Smelling like a dead body)। शूलैः के साथ 'युक्तः' शब्द भी जुड़ा हुआ है, अर्थात् उदरशूल का होना, आम के कारण शूल का होना। घन = नागरमुस्तक। ॥१९॥

Scanned by CamScanner

शकृद्वातमसृक् पित्तं कफं वा योऽतिसार्यते । पक्वं, तत्र स्ववर्गीयैर्बस्तिः श्रेष्ठं भिषग्जितम् ।।२०।।

अतिसार की चिकित्सा– जो व्यक्ति पुरीषातिसार, वातातिसार, रक्तातिसार, पित्तातिसार, अथवा कफातिसार से पीड़ित हो तथा अतिसार में आम का स्वरूप न हो, अर्थात् पक्व दोषों का निर्गमन हो रहा हो। ऐसी अवस्था में अपने-अपने गण की औषधियों से साधित क्वाथ की निरूह बस्ति देने से इनका प्रशमन हो जाता है। अर्थात् इन व्याधियों में अत्यन्त लाभकर होता है।

चक्रपाणि– यहाँ केवल शकृद् आदि के कारण उत्पन्न होने वाले अतिसार का विवेचन- 'शकृद्वातमित्यादि' के द्वारा किया गया है। पक्व = निराम।

आमशब्देनेहाग्निदौर्बल्यादविपक्वाहाररस एव कोष्ठोपलेपक आमो गृह्यते– आम शब्द से यहाँ अग्नि की दुर्बलता से उत्पन्न होने वाला अपक्व आहार रस को ही कोष्ठोपलेपक आम कहा जाता है। जिसके बारे में अन्य स्थानों पर कहा भी गया है, यथा– "आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः। आद्य आहारधातुर्य स आम इति संज्ञितः" इति (आमाशय में स्थित जाठराग्नि की दुर्बलता से (के कारण) अविपाचित (सम्यक् रूप से न पके हुए) आद्य आहार धातु (रस धातु) को ही आम कहा जाता है।

स्ववर्गीयैरिति– पुरीषसङ्ग्रहण, वातनाशक, शोणितस्थापन (रक्त स्थापन), पित्तनाशक तथा कफनाशक औषधि गणों के क्वाथ द्वारा तैयार की गयी निरूह बस्ति के प्रयोग से ये व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं। अथवा इसके बाद क्रमशः शकृद् आदि अतिसार नाशक औषधियों का वर्णन आगे किया जायेगा, उनके प्रयोग से इन व्याधियों का प्रशमन हो जाता है। ।।२०।।

विशेष (Comments)– The term 'āma' implies the first product of food which has remained uncooked or undigested because of the weakness of Agni (enzymes) located in the stomach and small intestine, at remains adhered to the wall of the gastro intestinal tract.

– Dr. BagvanDas.

स्ववर्गीयैरिति– अपने-अपने वर्ग की औषधियों द्वारा साधित क्वाथ की निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, यथा– पुरीषज अतिसार में षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में वर्णित पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय के द्रव्यों का प्रयोग करना, रक्तज अतिसार में शोणितस्थापन महाकषाय वर्ग में वर्णित औषधियों का प्रयोग करना।

षण्णामेषां द्विसंसर्गात् त्रिंशद्भेदा भवन्ति तु । केवलैः सह षट्त्रिंशद्विद्यात् सोपद्रवानपि ।।२१।।

अतिसार के छः भेद– पूर्व वर्णित छः प्रकार के अतिसार में दो-दो के संयोग करने पर उनके तीस भेद हो जाते है। छः भेद वाले एक-एक अतिसार को जोड़ देने पर यह संख्या ३६ हो जाती है। इस प्रकार उपद्रवों से युक्त अतिसार के कुल ३६ भेद होते हैं।

चक्रपाणि– 'षण्णामित्यादि' के द्वारा अतिसार के भेदों को स्पष्ट किया गया है। **एषामिति एतदभिहितानाम्–** यहाँ अभिहित (वर्णित) अतिसार के छः भेदों में दो-दो के संयोग से कुल तीस भेद बनते हैं।

अन्ये तु बस्तिविभ्रंशजाः षट् संख्या भवन्तीति वदन्ति– अन्य आचार्य बस्ति के विभ्रंश के कारण छः प्रकार के अतिसार उत्पन्न होते हैं, ऐसा कहते हैं।

बस्तिविभ्रंश = बस्ति के अनुचित प्रयोग द्वारा होने वाली व्यापत्तियाँ। पूर्वव्याख्यानमेव साधु- यहाँ पूर्वकृत व्याख्या ही उचित है। ।।२१।।

विशेष (Comments)– 'षण्णामित्यादि' के द्वारा अतिसार के भेदों को स्पष्ट किया गया है। आम, शकृद्, वात, रक्त, पित्त एवं कफ; इन छः भदों से अतिसार के ३० भेद होते हैं।

ते षडामादयः केवलैस्तैः षड्भिः सह सोपद्रवाऽपि द्विसंसर्गाच्चेद् गण्यन्ते तदा त्रिंशद् विद्यात्- छः भेद मात्र आमादि भेद से तथा १५ भेद दो-दो के मिलने से होते हैं। इसमें नव उपद्रवों को जोड़ देने पर यह संख्या- ६+१५+९= ३० हो जाती है।

(क) आमज, शकृद् (पुरीषज), वात, रक्त, पित्त, कफ = ६

(ख) संसर्ग भेद से- १५ भेद

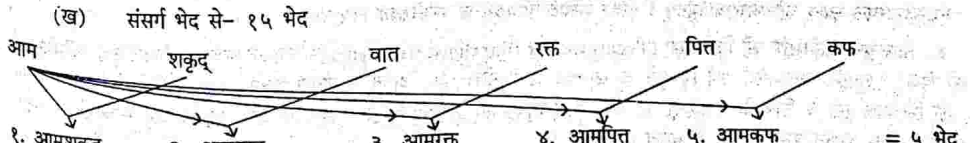

Scanned by CamScanner

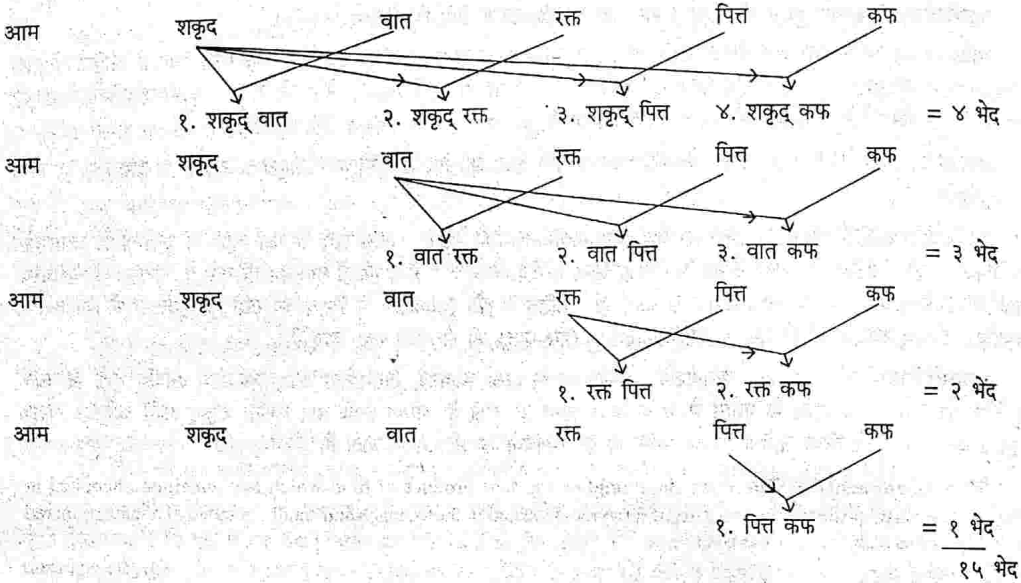

(ग) अतिसार के कुल नव (Nine) उपद्रव (Complication)– १. शूल (Colic pain), २. प्रवाहिका (Gripping pain), ३. आध्मान (Flatulence), ४. परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना Anal fissure), ५. अरुचि (Anorexia), ६. ज्वर (Fever), ७. तृष्णा (Morbid thirst), ८. दाह का होना (Burning sensation), ९. मूर्च्छा (Fainting)

इस प्रकार ६ एकल भेद, १५ संसर्गज भेद तथा ९ उपद्रव मिलाकर कुल ३० भेद हो जाते हैं।

इस व्याख्या का आधार अधोलिखित पाठभेद का प्राप्त होना है–

"षण्णामेषां द्विसंसर्गात् त्रिंशद् भेदा भवन्ति ते । केवलै सह चेत् त्रिंशद् विद्यात् सोपद्रवा अपि ॥
शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्यरुचिज्वरान् । सतृष्णादाहमूर्च्छान्तांश्चैषां विद्यादुपद्रवान् ॥"

– जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

शूलप्रवाहिकाध्मानपरिकर्त्यरुचिज्वरान् । तृष्णोष्णदाहमूर्च्छादींश्चैषां विद्यादुपद्रवान् ।।२२।।

अतिसार के उपद्रव (Complications of Diarrhoea)–

१. शूल (Colic pain)
२. प्रवाहिका (Gripping pain)
३. आध्मान (Flatulence)
४. परिकर्तिका (Anal fissure)
५. अरुचि (Anorexia)
६. तृष्णा (प्यास का लगना)
७. उष्णाता (शरीर में उष्णाता की प्रतीति का होना)
८. दाह (Burning sensation)
९. मूर्च्छा (Fainting) आदि उपद्रवों का होना।

अर्थात् इन नव उपद्रवों के अतिरिक्त और भी उपद्रव होते हैं।

चक्रपाणि– 'शूलेत्यादि' के द्वारा अतिसार के उपद्रवों का उल्लेख किया गया है। ।।२२।।

तत्रामेऽन्तरपानं स्यात् व्योषाम्ललवणैर्युतम् । पाचनं शस्यते बस्तिरामे हि प्रतिषिध्यते ।।२३।।

१. आम युक्त अतिसार की चिकित्सा (Treatment of Diarrhoea with Āma)– आमज अतिसार (आम युक्त अतिसार) में रोगी को त्रिकटु (शुण्ठी, कालीमिर्च एंवं पिप्पली के समभाग से निर्मित) चूर्ण, अम्ल व लवण द्रव्यों, यथा– दाडिम स्वरस व सैन्धव नमक, को मिलाकर पीने के लिए देना चाहिए। यह योग **आम पाचन** हेतु अत्यन्त हितकारी होता है। आम की अवस्था में बस्ति का प्रयोग नहीं करना चाहिए। अर्थात् इस अवस्था में बस्ति का निषेध है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– निर्दिष्ट अतिसार के भेदों में **आमातिसार** की चिकित्सा का अभिधान यहाँ– तत्रामे इत्यादि' के द्वारा किया गया है। अन्तरपान से यहाँ **पाचनकषाय** का ग्रहण करना चाहिए। पाचन से यहाँ श्लोक नं. १९ के द्वितीय पाद के द्रव्यों– 'धनातिविषा-कुष्ठनतदारुवचा' [नागरमुस्तक, अतिविषा, कूठ, नत (तगर), देवदारु एवं वचा] का ग्रहण किया गया है। अर्थात् इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित क्वाथ में त्रिकटु चूर्ण, अम्ल द्रव्यों, यथा– दाडिम आदि के स्वरस व सैन्धव लवण को मिलाकर आमपाचन हेतु रोगी को पिलाना चाहिए।

व्योषाम्ललवणैर्युतमिति व्योषाम्ललवणयोगेन कृतम्– शुण्ठी (सोंठ), कालीमिर्च, पिप्पली, अम्लद्रव्य- अम्लवेतस आदि एवं सैन्धव लवण; इन द्रव्यों के चूर्ण को पाचन क्वाथ में मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें। ॥२३॥

वातघ्नैर्ग्राहिवर्गीयैर्बस्तिः शकृति शस्यते ।

२. शकृदतिसार की चिकित्सा (Treatment of Diarrhoea with Fecal Matter)– शकृदतिसार के रोगी को वातनाशक यथा- दशमूल आदि द्रव्यों के क्वाथ अथवा ग्राही द्रव्यों (सूत्रस्थान ४ में वर्णित पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय के द्रव्यों) के क्वाथ की बस्ति देनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'वातघ्नैरिति' के द्वारा शकृदतिसार के चिकित्सा सूत्र का कथन किया गया है। वातघ्न द्रव्यों से यहाँ दशमूल के द्रव्यों, यथा- बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोक्षरू का ग्रहण किया गया है।

ग्राहिवर्गश्च षड्विरेचनशताश्रितीयोक्त एव– ग्राही वर्ग का अभिधान षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४) में कहा भी गया है। आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा– "शकृति शोफघ्नग्राहिभिर्बस्तिः" पुरीषज अतिसार में शोथ नाशक एवं ग्राही (पुरीष संग्रहणीय- मल को बाँधने वाली) द्रव्यों के क्वाथ द्वारा निर्मित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। शोफघ्नं च दशमूलमेव– दशमूल शोथ नाशक होता है।

स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहबस्तिः समीरणे ।।२४।।

३. वातज अतिसार की चिकित्सा (Treatment of Vātaja Atisāra)– वातज अतिसार के रोगी को मधुर व अम्ल द्रव्यों के क्वाथ में सैन्धव लवण मिलाकर सिद्ध किये गये स्नेह (तैल) की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् मधुर वर्ग व अम्ल वर्ग के द्रव्यों के क्वाथ में सैन्धव लवण मिलाकर विधिपूर्वक साधित स्नेह की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करना विशेष हितकर होता है।

चक्रपाणि– स्वाद्वम्ललवणैः शस्तः स्नेहबस्तिरिति- मधुर, अम्ल व लवण द्रव्यों द्वारा साधित स्नेह का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करना। **समीरणे इति केवलवातातीसारे–** आमरहित (निराम) वातातीसार में। ॥२४॥

रक्ते रक्तेन, पित्ते तु कषायस्वादुतिक्तकैः । सार्यमाणे कफे बस्तिः कषायकटुतिक्तकैः ।।२५।।

४. रक्तातिसार की चिकित्सा (Treatment of Raktātisāra)– रक्तातिसार में आतुर को बकरे के ताजे रक्त की बस्ति देनी चाहिए।

५. पित्तातिसार के रोगी में कषाय, मधुर एवं तिक्त द्रव्यों के क्वाथ द्वारा निर्मित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

६. कफातिसार के रोगी में कषाय, कटु एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– रक्ते रक्तेनेति- यदि अतिसार में रक्त निकल रहा हो, अर्थात् रक्त का स्राव हो रहा हो तब रोगी को रक्त (बकरे के ताजे रक्त) की बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अथवा रक्त की बस्ति देनी चाहिए।

पित्ते त्विति– पित्तज अतिसार के रोगी में कषाय, मधुर व तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

शकृता वायुना वाऽऽमे तेन वर्चस्यथानिले । संसृष्टेऽन्तरपानं स्याद् व्योषाम्ललवणैर्युतम् ।।२६।।
पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि तयोरामेन वा पुनः । संसृष्टयोर्भवेत् पानं सव्योषस्वादुतिक्तकम् ।।२७।।
तथाऽऽमे कफसंसृष्टे कषायव्योषतिक्तकम् । आमेन तु कफे व्योषकषायलवणैर्युतम् ।।२८।।
वातेन विशि पित्ते वा विट्पित्ताभ्यां तथाऽनिले । मधुराम्लकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः ।।२९।।
शकृच्छोणितयोः पित्तशकृतो रक्तपित्तयोः । बस्तिरन्योन्यसंसर्गे कषायस्वादुतिक्तकः ।।३०।।
कफेन विशि पित्ते वा कफे विट्पित्तशोणितैः । व्योषतिक्तकषायः स्यात् संसृष्टे बस्तिरुत्तमः ।।३१।।
स्याद्वस्तिर्व्योषतिक्ताम्लः संसृष्टे वायुना कफे । मधुरव्योषतिक्तस्तु रक्ते कफविमूर्च्छिते ।।३२।।
मारुते कफसंसृष्टे व्योषाम्ललवणो भवेत् । बस्तिर्वातिन पित्ते तु कार्यः स्वाद्वम्लतिक्तकः ।।३३।।

Scanned by CamScanner

क. • शकृत के साथ आम के प्रधान होने पर ।
- वायु के साथ आम के प्रधान होने पर ।
- आम में मल की प्रधानता हो (शकृत् = पुरीष = मल) ।
- आम में वायु की प्रधानता हो ।

इन अवस्थाओं में आतुर को त्रिकटु (शुण्ठी, पिप्पली व काली मिर्च; इनके समभाग से निर्मित) चूर्ण का प्रयोग अम्ल द्रव्यों यथा- फालसा आदि के रस में डालकर एवं उसमें सैन्धव नमक मिलाकर आम पाचन हेतु पिलावें। इसके सेवन करने से आम दोष का पाचन हो जाता है।

ख. • पित्त के साथ आम की प्रधानता हो ।
- आम के साथ पित्त की प्रधानता हो ।
- रक्त के साथ आम की प्रधानता हो ।
- आम के साथ रक्त की प्रधानता हो ।

व्याधि की इस अवस्था में शुण्ठी, काली मिर्च व पिप्पली चूर्ण को मधुर व तिक्त द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथ में मिलाकर आतुर को पीने के लिए देना चाहिए।

ग. • कफ के साथ आम की प्रधानता होने पर रोगी (अतिसार का रोगी) को कषाय द्रव्यों, व्योष (शुण्ठी, कालीमिर्च एवं पिप्पली) तथा तिक्त रस वाले द्रव्यों के चूर्ण अथवा क्वाथ का पान करना चाहिए।
- आम के साथ यदि कफ दोष की प्रधानता हो तब अतिसार के रोगी को शुण्ठी, कालीमिर्च एवं पिप्पली के चूर्ण, कषाय व लवण द्रव्यों के चूर्ण अथवा क्वाथ का सेवन कराना चाहिए ।

घ. • वात के साथ पुरीष की प्रधानता होने पर ।
- वात के साथ पित्त की प्रधानता होने पर ।
- पुरीष (मल) के साथ वायु की प्रधानता होने पर ।
- पित्त के साथ वायु की प्रधानता होने पर ।
- विट् व पित्त के साथ वायु की प्रधानता होने पर ।

अतिसार की इन अवस्थाओं में आतुर को मधुर, अम्ल एवं कषाय द्रव्यों से साधित बस्ति का प्रयोग करना श्रेयस्कर है।

ङ. • मल (पुरीष) के साथ रक्त की प्रधानता से।
- रक्त के साथ पुरीष की प्रधानता से ।
- पित्त के साथ पुरीष की प्रधानता से ।
- पुरीष के साथ पित्त की प्रधानता से ।
- रक्त के साथ पित्त की प्रधानता से ।
- पित्त के साथ रक्त की प्रधानता है ।

दोषों के संसर्ग की अवस्था में कषाय, मधुर एवं तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित क्वाथ की बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

च. • कफ के साथ पुरीष की प्रधानता होने पर ।
- कफ के साथ पित्त की प्रधानता होने पर ।
- पुरीष के साथ कफ की प्रधानता होने पर ।
- पित्त के साथ कफ की प्रधानता होने पर ।
- रक्त के साथ कफ की प्रधानता होने पर ।

Scanned by CamScanner

अतिसार की इन अवस्थाओं में शुण्ठी (सोंठ), पिप्पली, कालीमिर्च तथा कषाय व तिक्त द्रव्यों द्वारा साधित क्वाथ की बस्ति का प्रयोग करना विशेष हितकारी होता है।

छ. • वायु के साथ श्लेष्मा की प्रधानता में आतुर को सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली एवं तिक्त व अम्ल द्रव्यों द्वारा निर्मित क्वाथ की बस्ति देनी चाहिए।

• कफ के साथ रक्त की प्रधानता होने पर रोगी को मधुर व तिक्त द्रव्यों के क्वाथ में त्रिकटु चूर्ण मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

ज. • वायु के साथ कफ संसृष्ट होने पर, अर्थात् कफ के साथ वायु की प्रधानता होने पर आतुर को त्रिकटु, अम्ल व लवण रस वाले द्रव्यों से निर्मित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

• यदि वायु के साथ पित्त की प्रधानता हो (अन्य पाठों में पित्त के स्थान पर 'रक्त' प्राप्त होता है।) तब आतुर को मधुर, अम्ल एवं तिक्त द्रव्यों से बनी हुई बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'शकृतेत्यादि' के द्वारा दो दोषों के मिश्रण से होने वाले (संसर्ग जन्य) अतिसार की चिकित्सा का अभिधान किया गया है।

शकृताऽऽमे प्रधाने संसृष्टे, तथा वायुना वाऽऽमे संसृष्टे– अतिसार में मल (पुरीष) के साथ प्रधान रूप से आम का सम्बन्ध हो तथा वायु के साथ प्रधान रूप से आम मिला हो, उसी से अप्रधान आम का संयोग पुरीष एवं वायु के साथ भी अलग-अलग होता है, अर्थ गृहीत है। यहाँ **तेनेति** की व्याख्या पूर्व सूत्रों की तरह करना चाहिए।

अत्र संसृष्टेषु (संसर्गेषु) तृतीयानिर्दिष्टमल्पमानतयाऽप्रधानं सप्तमीनिर्दिष्टं बहुमानत्वात् प्रधानं ज्ञेयम्– यहाँ संसर्ग जन्य दोषों में जिसके साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है उसकी **मात्रा** अल्प होने से वह अप्रधान होता है तथा जिसके साथ सप्तमी विभक्ति का निर्देश है उसकी मात्रा अधिक होने से वह प्रधान होता है, यथा– 'शकृता वायुना वाऽऽमे' का अर्थ संसर्गज अतिसार में– आम प्रधान पुरीष एवं आम प्रधान वायु होगा, क्योंकि यहाँ वायुना (तृतीया विभक्ति) तथा 'आमे' सप्तमी विभक्ति में प्रयुक्त है।

तयोरिति पित्तासृजोः– उन दोनों में, यहाँ उन दोनों से पित्त व रक्त का ग्रहण किया गया है। [पित्तेनामेऽसृजा वाऽपि तयोरामेन वा पुनः– इससे १. आम प्रधान पित्त अतिसार, २. आम प्रधान रक्त अतिसार, ३. पित्त प्रधान आम अतिसार, ४. रक्त प्रधान आम अतिसार; का ग्रहण करना चाहिए।]

संसृष्टयोरिति एकमानेन युक्तयो– बराबर मात्रा में मिलाकर, अर्थात् व्योष (शुण्ठी, काली मिर्च एवं पिप्पली), मधुर व तिक्त द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें एवं इस क्वाथ का प्रयोग **बस्ति** के रूप में करें। **कफे व्योषकषायलवणैर्युतमित्यन्तं यावत् 'अन्तरपानं' इत्यनुवर्तते–** कफ प्रधान आम युक्त अतिसार में शुण्ठी, पिप्पली, कालीमिर्च, कषाय व लवण द्रव्यों के क्वाथ का पान करना चाहिए। यहाँ भी 'लवणैर्युतं' के साथ 'अन्तरपानं' शब्द को जोड़ना चाहिए।

वातेन विशीत्यादौ– १. पुरीष प्रधान वायु, **२. पित्त प्रधान** वायु, ३. वायु प्रधान पुरीष, ४. वायु प्रधान पित्त। अतिसार की इन अवस्थाओं में मधुर, अम्ल व कषाय द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् मधुरादि द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

शकृच्छोणितयो– १. पुरीष व रक्त के संसर्ग में, अर्थात् रक्त अधिक (प्रधान) हो एवं पुरीष की मात्रा कम हो, २. पुरीष की मात्रा ज्यादा हो, रक्त की मात्रा कम निकल रही हो। इसी प्रकार 'पित्तशकृतोः' तथा 'रक्तपित्तयोः' के संसर्ग की व्याख्या करनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ संसर्ग दो प्रकार का बताया गया है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

विट्पित्तशोणितैरिति– विडादि प्रत्येक के द्वारा प्रधान भूत कफ का मिलना, यथा– १. अतिसार में कफ की मात्रा अधिक पुरीष की मात्रा कम निकलना, २. कफ प्रधान व पित्त अप्रधान होना, ३. कफ प्रधान व रक्त अप्रधान होना। **कफविमूर्च्छिते इति–** अप्रधान रूप में कफ का मिश्रित होना, अर्थात् रक्ते कफविमूर्च्छिते से– प्रधान भूत रक्त व अल्प रूप में कफ का निकलना अर्थ लेना चाहिए। ॥२६-३३॥

त्रिचतुःपञ्चसंसर्गनिवमेव विकल्पयेत् । युक्तिश्चैषातिसारोक्ता सर्वरोगेष्वपि स्मृता ॥३४॥

दो से अधिक दोषों के संयोग से उत्पन्न अतिसार की चिकित्सा (Treatment of Diarrhoea caused by more than two dosha)– जिस प्रकार यहाँ दो दोषों के संयोग से अतिसार के तीस भेद एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है उसी प्रकार तीन, चार एवं पाँच दोषों के संसर्ग से होने वाले अतिसार के भेद एवं उनकी चिकित्सा की कल्पना करनी चाहिए। अतिसार में प्रयुक्त युक्ति का प्रयोग सभी रोगों में भी अपनाना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'त्रिचतुरित्यादि' के द्वारा अनुक्त दोषों के संसर्ग की चिकित्सा का यहाँ अभिधान किया गया है।

त्रिचतुःपञ्चसंसर्गानिति– आमादि तीन, चार व पाँच दोषों के संसर्ग को। [एकल भेद से छः प्रकार के अतिसार बताये गये हैं– १. आम, २. शकृत्, ३. वात, ४. असृक् (रक्त), ५. पित्त, ६. कफ; इनमें दो-दो दोषों के संसर्ग से अतिसार के तीस भेदों का विवेचन एवं चिकित्सा, प्रधान व अप्रधान दोषों के आधार पर बतायी गयी है। इसी आधार पर ३,४,व ५ दोषों के संसर्ग एवं उनकी चिकित्सा की भी योजना (कल्पना) कर लेनी चाहिए।]

एवमेव विकल्पयेदिति प्रधानादिमेलकेन विकल्पयेत्– दो दोषों के संसर्ग की तरह ही तीन, चार व पाँच दोषों के संयोग से उत्पन्न होने वाली अतिसार के भेदों की कल्पना करनी चाहिए। (प्रधान, अप्रधान आदि दोषों के संयोग से व्याधि के भेदों की कल्पना या अनुमान लगावें।) तथा इसी आधार पर औषधियों (चिकित्सा) की भी योजना करनी चाहिए। अर्थात् निर्दिष्ट चिकित्सा (संसर्गज अतिसार की चिकित्सा) के ही आधार पर उनकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

एते च भेदा लिख्यमाना अतिबहुप्रभेदतया ग्रन्थगौरवमापादयन्ति स्वयं च बुद्धिमता सुकरविभागा एवेति न लिख्यन्ते– यहाँ वर्णित भेदों के उपभेद अत्यधिक होने से उनका वर्णन करना ग्रन्थ के कलेवर को बढ़ाने जैसा है। बुद्धिमान पुरुषों के लिए इसका विभाग करना अति सरल है। अतः उनका यहाँ विवेचन नहीं किया गया है। इस प्रकार पूर्व में संसर्गकृत (दो दोषों के संसर्ग से उत्पन्न) व्याधियों के जो भेद किये गये हैं, अन्य स्थानों पर चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार उसी विधि का पालन करना चाहिए, जिसका अतिदेश 'सर्वरोगेष्वपि स्मृतेति' के द्वारा किया गया है।

[अतिदेश– अन्यत्र लागू होने वाली प्रक्रिया, अथवा एक व्यवस्था जो अन्य स्थानों पर भी लागू हो,– A rule providing for more than the usual rule.]

इयं व्यवस्था सर्वरोगेष्वेव यथासंभवमाचार्यानुमतेत्यर्थः– यह व्यवस्था सभी व्याधियों में ही यथा संभव लागू होती है, ऐसा आचार्य की अनुमति है। अर्थात् इसी व्यवस्था का पालन आवश्यकतानुसार सभी रोगों में करना चाहिए, ऐसा आचार्य का कथन है। [आचार्य इस व्यवस्था के प्रति अपनी अनुमति देते हैं।]

तत्र ग्रहणीगदे यत्र तु षडप्यामादयः संभवन्ति, तत्रैवं संसर्गाः प्रकल्प्यन्ते; यत्र च त्रयो दोषाः संभवन्ति, शोणितेन वा समं चत्वारः, तत्र तेषामेव परस्परसंसर्गो भेषजविभागार्थं कल्पनीयः– जहाँ ग्रहणी रोग के भी छः आमादि भेद होते हैं वहाँ इसी प्रकार के संसर्ग की प्रकल्पना करनी चाहिए। जहाँ व्याधि तीन दोषों के कारण उत्पन्न होती हैं अथवा रक्त को लेकर चार दोष होते हैं वहाँ उनके (दोषों के) परस्पर संसर्ग के आधार पर चिकित्सा भेदों की कल्पना करनी चाहिए। ॥३४॥

युगपत् षड्रसं षण्णां संसर्गे पाचनं भवेत् । निरामाणां तु पञ्चानां बस्तिः षाड्रसिको मतः ॥३५॥

छः दोषों (Factors) के संसर्ग से उत्पन्न अतिसार की चिकित्सा– यदि छः आमादि दोष आपस में मिलकर अतिसार को उत्पन्न करते हैं तब षड्रस युक्त **पाचन कषाय** का पान कराना चाहिए। अर्थात् छः रस वाले आम पाचन कषाय को पीने के लिए देना चाहिए। जब **आम** को छोड़कर शकृत्, वात, रक्त, पित्त व कफ; इन पाँच के संसर्ग से अतिसार हो रहा हो तब इस निराम अतिसार में षड्रस युक्त द्रव्यों के क्वाथ की बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– आमादि छः के समुदाय रूप संसर्ग में की जाने वाली चिकित्सा को यहाँ– 'युगपदित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। युगपदिति– आमादि छः हेतुओं के संयोग से उत्पन्न अतिसार (छः के संयोग से उत्पन्न अतिसार) में षड्रस युक्त पाचन कषाय का पान कराना चाहिए।

षड् रसमिति– छः रसों के मिश्रण से बना हुआ पाचन कषाय। **निरामाणामिति–** आम को छोड़कर शकृत् आदि पाँचों के संयोग से उत्पन्न निराम अतिसार में।

षाड्रसिक इति– छः रसों के मिश्रण से निर्मित बस्ति का प्रयोग निरामज अतिसार में करना चाहिए। ॥३५॥

उदुम्बरशलाटूनि जम्ब्वाम्रोदुम्बरत्वचः । शङ्खं सर्जरसं लाक्षां कर्दमं च पलांशिकम् ॥३६॥
पिष्ट्वा तैः सर्पिषः प्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत् । अतीसारेषु सर्वेषु पेयमेतद्यथाबलम् ॥३७॥
कच्छुराश्वातकीबिल्वसमङ्गारक्तशालिभिः । मसूराश्वत्थशुङ्गैश्च यवागूः स्याज्जले श्रृतैः ॥३८॥
बालोदुम्बरकट्वङ्गसमङ्गाप्लक्षपल्लवैः । मसूरधातकीपुष्पबलाभिश्च तथा भवेत् ॥३९॥
स्थिरादीनां बलादीनामिक्ष्वादीनामथापि वा । क्राथेषु समसूराणां यवाग्वः स्युः पृथक्-पृथक् ॥४०॥
कच्छुरामूलशाल्यादितण्डुलैरुपसाधिताः । दधितक्रारनालाम्लक्षीरेक्षुरसेऽपि वा ॥४१॥
शीताः सशर्कराक्षौद्राः सर्वातीसारनाशनाः । ससर्पिर्मरिचाजाज्यो मधुरा लवणाः शिवाः ॥४२॥

Scanned by CamScanner

अतिसार की सामान्य चिकित्सा (Treatment of Diarrhoea in General)–

१. अतिसार नाशक घृत- घटक द्रव्य– (क) कल्क द्रव्य–

उदुम्बर शलाटु (गूलर का अपक्व फल)	-	१ पल (४ तोला)
जामुन (जम्बु त्वक) की छाल	-	१ पल (४ तोला)
आम की छाल	-	१ पल (४ तोला)
उदुम्बर त्वक् (गूलर की छाल)	-	१ पल (४ तोला)
शंख चूर्ण	-	१ पल (४ तोला)
सर्जरस (राल)	-	१ पल (४ तोला)
लाक्षा (कच्ची लाख)	-	१ पल (४ तोला)
कमल के जड़ का कीचड़	-	१ पल (४ तोला)

(ख) गोघृत- १ प्रस्थ, (ग) गोदुग्ध- २ प्रस्थ, (घ)- जल- २ प्रस्थ।

निर्माण विधि– सर्वप्रथम कल्क द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कल्क बना लें। एक पात्र में कल्क द्रव्य, गोघृत व गोदुग्ध को डालकर मन्दाग्नि पर पकावें। गोदुग्ध का जलीयांश उड़ जाने पर उसमें २ प्रस्थ जल डालकर पुनः पकावें। घृत के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार कर घृत को छानकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस घृत का सेवन सभी प्रकार के अतिसार के रोगियों को अग्नि व बल का विचार करते हुए कराना चाहिए।

२. अतिसार नाशक यवागू– (क) दुरालभा, धातकी पुष्प, बिल्व फल (बेल की गुद्दी), समङ्गा (मञ्जिष्ठा या लाजवन्ती), रक्तशाली चावल, मसूर की दाल, अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नये कोंपल; इन द्रव्यों द्वारा साधित यवागू का सेवन करने पर सभी प्रकार के अतिसार दूर हो जाते हैं। [दुरालभा, धातकी पुष्प, बिल्व की गुद्दी, समङ्गा, अश्वत्थ की कोपलें; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर षडङ्गपानीय विधि से जल (क्वाथ) तैयार कर लें। इस साधित जल में रक्तशाली चावल एवं मसूर की दाल डालकर यवागू तैयार करें।]

(ख) बाल उदुम्बर (गूलर का कच्चा फल), कट्वङ्ग (श्योनाक) की छाल, समङ्गा (मञ्जिष्ठा या लाजवन्ती या लज्जालु), प्लक्ष (पाकड़) की नयी कोपलें, मसूर की दाल, धातकीपुष्प एवं बलामूल; मसूर की दाल को छोड़कर शेष द्रव्यों को लेकर षडङ्गपानीय विधि से क्वाथ तैयार कर लें। इस क्वाथ में मसूर की दाल डालकर विधि पूर्वक यवागू का निर्माण करें। यह यवागू सभी प्रकार के अतिसारों में उपयोगी है।

(ग) स्थिरादि वर्ग (लघु पञ्चमूल) के द्रव्यों अथवा बला आदि अथवा इक्षु आदि वर्ग के द्रव्यों के षडङ्गपानीय विधि से निर्मित क्वाथ में मसूर की दाल मिलाकर अलग-अलग यवागू का निर्माण करें। ये तीनों प्रकार के यवागू सभी प्रकार के अतिसारों को दूर करते हैं। [स्थिरादि वर्ग से यहाँ लघुपञ्चमूल के द्रव्यों, यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोक्षरू का, बलादि से- बला, गुडूची, त्रिफला, रास्ना एवं दोनों प्रकार के पञ्चमूल का तथा इक्ष्वादि से– इक्षु, कुश, काश व शाली की जड़ का ग्रहण किया गया है।]

अन्य यवागू– दुरालभा मूल तथा शाली आदि के चावलों से निर्मित यवागू अथवा खट्टी दही, तक्र, काञ्जी, अम्लरस वाले द्रव्य, क्षार एवं इक्षुरस से साधित यवागू के शीतल हो जाने पर उसमें शर्करा व मधु डालकर अतिसार के रोगी को सेवन करना चाहिए। इसके प्रयोग से सभी प्रकार के अतिसार शान्त हो जाते है। इन्हीं यवागुओं को घृत, कालीमिर्च, जीरा, लवण व शर्करा डालकर संस्कारित कर दिया जाय तब ये और भी स्वादिष्ट हो जाते हैं।

चक्रपाणि– 'उदुम्बरेत्यादि' के द्वारा सभी प्रकार के अतिसारों की सामान्य चिकित्सा का अभिधान किया गया है। 'रक्तशालिभिः' से यहाँ **रक्तमूलिभिः** का ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्य रक्तमूली से रक्त वर्ण वाले एरण्ड का ग्रहण करते हैं।

जले शृतैरिति षडङ्गविधानेन जले शृतैः– षडङ्गपानीय निर्माण विधि द्वारा निर्मित क्वाथ के द्वारा । बालोदुम्बरम् उदुम्बरशलाटु– गूलर का अपक्व (कच्चा) फल। भवेदिति– यवागू का निर्माण करना चाहिए। इक्ष्वादीनामिति– तृणपञ्चमूल वर्ग में पठित द्रव्यों में (सरकण्डा या सरपत) को छोड़कर इक्षु, कुश, कास एवं शालि के जड़ (मूल) का ग्रहण करना चाहिए। शाल्यादितण्डुलैरिति– रक्त शालि, कलम शालि आदि के तण्डुलों द्वारा। दध्यादिभि– से यहाँ दधि आदि में जल मिलाकर यवागू को सिद्ध करना चाहिए। ॥३६-४२॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः–

स्निग्धाम्ललवणमधुरं पानं बस्तिश्च मारुते कोष्णः । शीतं तिक्तकषायं मधुरं पित्ते च रक्ते च ॥४३॥

Scanned by CamScanner

तिक्तोष्णकषायकटुश्लेष्मणि संग्राहि वातनुच्छकृति । पाचनमामे पानं पिच्छासृग्बस्तयो रक्ते ।।४४।।
अतिसारं प्रयुक्तं मिश्रं द्वन्द्वादियोगजेष्वपि च । तत्रोद्रेकविशेषाद्दोषेषूपक्रमः कार्यः ।।४५।।

अतिसार चिकित्सा का उपसंहार– १. वातज अतिसार में स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं मधुर रस प्रधान द्रव्यों के चूर्ण का सेवन कोष्ण (गुनगुने) जल के साथ करना चाहिए। अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ को गुनगुना करके बस्ति देनी चाहिए।

२. व ३. पित्तज व रक्तज अतिसार में शीतल, तिक्त, कषाय एवं मधुर रस प्रधान द्रव्यों के चूर्ण का प्रयोग अथवा क्वाथ का पान करें। अथवा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित बस्तियों का प्रयोग करें।

४. पुरीषजनित अतिसार में वातनाशक एवं पुरीष संग्रहणीय द्रव्यों के क्वाथ का पान, अथवा इनके चूर्ण का सेवन गुनगुने जल से करें।

५. आमातिसार में आम पाचन द्रव्यों के क्वाथ व चूर्णों का सेवन करें।

६. रक्तातिसार में पिच्छाबस्ति अथवा रक्तबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार दो, तीन, चार, पाँच अथवा छः दोषों के संसर्ग से उत्पन्न अतिसार में मिश्रित चिकित्सा करें, वहाँ जिस दोष के विशेष लक्षण मिलें उसी के अनुसार चिकित्सा भी मिश्रित करनी चाहिए, यथा– पुरीष व आम के लक्षण मिलने पर पुरीषज अतिसार व आमातिसार की मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'भवन्ति चात्रेत्यादि' के द्वारा विस्तार में वर्णित अतिसार की चिकित्सा का यहाँ उपसंहार किया गया है। पानमिति = पाचनपानम् (पाचनकषाय का पान) । बस्तिश्चेति– स्निग्ध, अम्ल, लवण एवं मधुर रस वाले द्रव्यों से निर्मित बस्ति का ही प्रयोग वातज अतिसार में करना चाहिए। मारुते इति = वातातिसार में। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर वर्णित 'पित्ते इत्यादि' से पित्त आदि से उत्पन्न अतिसार का ग्रहण करना चाहिए।

संग्राहि वातनुदित्यत्र 'भेषजं' इति शेषः– संग्राहि वातनुत् के साथ यहाँ 'भेषजं' शब्द जोड़ना चाहिए। पुरीषज अतिसार में पुरीष संग्रहणीय एवं वातनाशक द्रव्यों के चूर्ण, क्वाथ अथवा क्वाथ से निर्मित बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। **तच्च भेषजं यथोक्तबस्त्यादिरूपमेव–** वह औषधि (पुरीषज अतिसार नाशक औषधि) क्वाथ, चूर्ण व बस्ति के ही रूप में होना चाहिए।

पाचनमामे पानमिति– आमातिसार में आमपाचन द्रव्यों, यथा– नागरमुस्तक, अतिविषा, कूठ, नत (तगर), देवदारु एवं वचा; के समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) का पान करना चाहिए। पिच्छाबस्तयोऽसृग्बस्तयश्चेति पिच्छासृग्बस्तयः– रक्तातिसार में पिच्छा एवं रक्त बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। **उक्तमिति साक्षादतिदेशेन च त्रिकादिसंसर्गे प्रोक्तम्–** यहाँ साक्षात् अतिदेश से त्रिकादि संसर्ग (तीन या दो के संयोग) में विशेष रूप से कहा गया है।

मिश्रमिति– मिश्रित दोषों में मिश्रित चिकित्सा करें। **द्वन्द्वादियोगजेष्विति–** तीन, चार आदि दोषों के संसर्ग से उत्पन्न अतिसार में। तत्रोद्रेकादिविशेषादिति– दोषों के संसर्ग में लक्षणों के बलाबल की विशेषता के आधार पर चिकित्सा भी विशेष हो जाती है।

एतदेव बलापेक्षं बहुदुर्बलाऽप्रत्यनीकं बस्त्येकभेषजमिति शेषः (?)– बल की दृष्टि से बहु दुर्बल रोगी में अविरुद्ध गुण वाली औषधियों से निर्मित बस्ति ही एक चिकित्सा है। ।।४३-४५।।

तत्र श्लोकः–
प्रासृतिकाः सव्यापत्क्रिया निरूहास्तथाऽतिसारहिताः । रसकल्पघृतयवाग्वश्चोक्ता गुरुणा प्रसृतसिद्धौ ।।४६।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– गुरु पुनर्वसु आत्रेय ने इस प्रासृतयोगीयसिद्धि नामक अध्याय में अधोलिखित विषयों का वर्णन किया है–

१. प्रासृत प्रमाण के आधार पर निरूह बस्तियों के योग।

२. मृदु बस्ति के प्रयोग से होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा।

३. अतिसार में हितकर निरूह बस्तियाँ, रसकल्प, घृत एवं विभिन्न प्रकार के यवागुओं का वर्णन।

चक्रपाणि– 'प्रासृतिका' इत्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है। **सव्यापत् क्रिया इति–** व्यापत् से यहाँ मृदु बस्ति के प्रयोग से उत्पन्न होने वाली जड़ता (Stiffness) आदि का ग्रहण किया गया है।

तथा क्रियाश्च तासामेव व्यापदामुक्ता– उन व्यापत्तियों की चिकित्सा । **निरूहाश्च अतिसारचिकित्सिते प्रोक्ता–** अतिसार चिकित्सा में निरूह बस्तियों का विशेष वर्णन किया गया है। अर्थात् अतिसार नाशक निरूह बस्तियों का यहाँ विशेष अभिधान किया गया है।

Scanned by CamScanner

रसकल्पश्चातीसारेषु रसोद्देशचिकित्सया कृतः– द्रव्य दो प्रकार से कार्य करते हैं– १. रस द्वारा (आहार द्रव्य) २. वीर्य द्वारा (औषध द्रव्य)। यहाँ अतिसार नाशक आहार के रूप में रसकल्प, घृत व यवागुओं का वर्णन किया गया है। अतिसार नाशक घृत को 'उदुम्बरेत्यादि' (श्लोक नं. ३६-३७) के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥४६॥

विशेष (Comments)– 'तत्र श्लोक इति' के द्वारा अध्याय में वर्णित विषयों को संक्षेप में बताया गया है। मारुते स्निग्धादिकं भोज्यं पानञ्च बस्तिश्च कोष्णः– वातज अतिसार में स्निग्ध, मधुर आदि गुण युक्त अन्न-पान एवं इन्हीं गुण वाली कोष्ण (सुखोष्ण) बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। रक्तज एवं पित्तज अतिसार में शीतल, तिक्त, कषाय एवं मधुर रस युक्त द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कफज अतिसार में तीक्ष्ण, उष्ण, कषाय एवं कटु रस युक्त द्रव्यों की योजना करनी चाहिए। पुरीषज अतिसार में पुरीषसंग्रहणीय एवं वातनाशक द्रव्यों का प्रयोग करें। आमातिसार में- आमपाचन द्रव्यों के चूर्ण व क्वाथ (Decoction) का सेवन, पिच्छा बस्ति एवं रक्त बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

निरूहातियोगजातिसारं प्रत्येतत् सर्वमुक्तम्– निरूह बस्ति के अतियोग से उत्पन्न अतिसार में इन्हीं उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। द्वन्द्वज व आमज में मिश्रित चिकित्सा करनी चाहिए। इनमें पित्त दोष की उल्बणता होने पर उसकी चिकित्सा विशेष रूप से करनी चाहिए। अर्थात् दोषों की उल्बणता के आधार पर चिकित्सा भी विशेष होती है।

–जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने प्रासृतयोगीयसिद्धिर्नामाष्टमोऽध्यायः।।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के अप्राप्त दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में प्रासृतयोगीयसिद्धि नामक अष्टम अध्याय पूर्ण हुआ ॥८॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरक भावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में प्रासृतयोगीयसिद्धि नामक अष्टम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

Scanned by CamScanner

नवमोऽध्यायः।

अथातस्त्रिमर्मीयां सिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे त्रिमर्मीय सिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था। ॥१-२॥

चक्रपाणि– प्रासृतयोगीय सिद्धि अध्याय के विवेचन के बाद 'त्रिमर्मीया सिद्धि' नामक अध्याय का अभिधान (कथन) किया जा रहा है।

त्रिमर्मजरोगाश्रयिव्यापदां बस्तिरूपचिकित्सोपदर्शनार्थम्– त्रिमर्म (बस्ति, सिर तथा नाभि) से उत्पन्न रोगों के आश्रित होने वाले उपद्रव (Complications) तथा बस्तिरूप उनकी चिकित्सा के अभिधान हेतु इस अध्याय का कथन किया जा रहा है। उपद्रवों के प्रतिकार के अनन्तर तथा बस्ति प्रयोग के विधान का वर्णन पूर्व अध्यायों में भी किया गया है। [उपद्रवों की चिकित्सा के अनन्तर तथा बस्ति प्रयोग का अधिकार पूर्व अध्याय में वर्णित होने से उनका संबन्ध यहाँ वर्णित विषयों से भी है ।] अथवा बस्तिव्यापद् की चिकित्सा का विवेचन पूर्व के अध्यायों (अध्याय- ७) में किया गया है तथा बस्तिव्यापद् के ही कारण त्रिमर्मज रोग भी उत्पन्न होते हैं। इसलिए उन रोगों (त्रिमर्मज रोगों) के ज्ञान पूर्वक चिकित्सा के उपदेश हेतु त्रिमर्मीय सिद्धि का कथन किया जा रहा है। त्रिमर्मीय चिकित्सा (चिकित्सा अ. २६) नामक अध्याय में विषय विस्तार भय के कारण, जिन व्याधियों का विवेचन नहीं किया गया है, उनका ही विवेचन इस अध्याय में किया गया है। अर्थात् वही व्याधियाँ यहाँ प्रतिपादित हैं।

अत्रापि मर्मशब्देन मर्मगता गदा उच्यन्ते, तानधिकृता सिद्धिस्त्रिमर्मीयसिद्धिः– यहाँ भी मर्म शब्द से मर्म के आश्रित होने वाली व्याधियों का ग्रहण किया गया है, उनको ही अधिकृत करके (मुख्य मान करके) बनाया (लिखा) जाने वाला अध्याय 'त्रिमर्मीयसिद्धि' कहलाता है। ॥१-२॥

सप्तोत्तरं मर्मशतमस्मिञ्छरीरे स्कन्धशाखासमाश्रितमग्निवेश! । तेषामन्यतमपीडायां समधिका पीडा भवति, चेतनानिबन्धवैशेष्यात्। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्तिशिरांसि, तन्मूलत्वाच्छरीरस्य ।।३।।

विषयारम्भ– हे अग्निवेश! इस शरीर में स्कन्ध (Trunk) एवं शाखा (Limb) के आश्रित रहने वाले मर्मों की संख्या १०७ होती है। उन मर्मों में से किसी एक में भी आघात होने पर पुरुष को अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है। क्योंकि चेतना का सम्बन्ध मर्म से विशेष रूप से होता है। शाखाश्रित मर्मों की तुलना में स्कन्ध के आश्रित मर्म ज्यादा महत्त्वपूर्ण होते हैं। क्योंकि शाखायें स्कन्ध के ही आश्रित होती हैं। स्कन्ध के आश्रित रहने वाले मर्मों की तुलना में हृदय (Heart), बस्ति (Urinary bladder) एवं सिर (Head) के मर्म विशेष महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि व्यक्ति का शरीर इन्हीं तीन (हृदय, बस्ति व सिर) पर आश्रित रहता है।

चक्रपाणि– सप्तोत्तरं मर्मशतमिति– शरीर में मर्मों की कुल संख्या १०७ बतायी गयी है। ये मर्म मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि एवं सन्धियों के आश्रित रहते हैं। स्कन्धशब्देनानन्तराधिरुच्यते– स्कन्ध (Trunk) शब्द से अन्तराधि (धड़- सिर व पैर को छोड़कर शरीर का शेष भाग- Trunk) का ग्रहण होता है।

शाखाशब्देन चेह शाखेव शाखेति कृत्वा बाहुद्वयं जङ्घा द्वयं चोच्यते– शाखा शब्द से यहाँ शाखा की भाँति शाखा का होना, ऐसा अर्थ करके दोनों बाहु तथा दोनों जङ्घा (Upper and Lower Limbs) का ग्रहण किया गया है। इस प्रकरण में **शाखा** शब्द से रक्तादि धातुओं का ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि रक्त आदि धातुए स्कन्ध (Trunk) में भी विद्यमान होती हैं। १०७ मर्मों में से शाखा के आश्रित ४४ मर्म होते हैं तथा शेष ६३ मर्म स्कन्ध के आश्रित होते हैं। **सुश्रुत संहिता** में कहा भी गया है, यथा– "तेषामेकादशैकस्मिन्न सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत्" (सु.शा.अ. ६/४) इति [उन मर्मों में से ११ मर्म एक पैर में, ११ दूसरे पैर में, इसी प्रकार दोनों बाहुओं में भी समझें, अर्थात् ११ मर्म एक बाहु में तथा ११ मर्म दूसरी बाहु में होते हैं। इस प्रकार शाखाओं में कुल ४४ मर्म होते हैं। उदर एवं वक्ष (छाती) में १२ मर्म, पृष्ठ (पीठ- Back) में १४ मर्म तथा ग्रीवा के ऊपर ३७ मर्म होते हैं। इस प्रकार कुल ४४+१२+१४+३७ = १०७ मर्म होते हैं।] इस प्रकार यहाँ मर्मों के अलग-अलग विभाग को बताया गया है। सुश्रुत संहिता में ही 'तलहृदय' (सु.शा.अ. ६) इत्यादि के द्वारा मर्मों का विस्तार से विवेचन किया गया है, जिसे वहीं देखना चाहिए। **सप्तोत्तरशतमर्ममर्माममर्मशरीरदेशविलक्षणं धर्ममाह तेषामित्यादि–** शरीर के जिस-जिस भाग में १०७ मर्मों की स्थिति है तथा जिस भाग में मर्म नहीं हैं, उन दोनों भागों में विशेष क्या है?, जिसे यहाँ- 'तेषामित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चेतनानिबन्धवैशेष्यादिति– जिस कारण से मर्मों में चेतना धातु विशेष रूप से अधिष्ठित रहती है। मर्मों में चेतना धातु (Conscious element) की विशेष विद्यमानता में अदृष्ट ही कारण है। मर्म पर आघात होने से उत्पन्न होने वाली विशेष पीड़ा के द्वारा

Scanned by CamScanner

इसका अनुमान लगाते हैं। **शाखानां तदाश्रितत्वादिति–** शाखा भी स्कन्ध (Trunk-धड़) के आश्रित होती है। इसलिए स्कन्ध एवं शाखा आश्रित मर्मों में से स्कन्ध के आश्रित मर्म ज्यादा महत्त्वपूर्ण होते हैं। चूँकि शाखा स्कन्ध के आश्रित रहती है। अतः स्कन्ध के उपघात से शाखा का भी उपघात होता है तथा स्कन्ध (Trunk) में निर्मित रसादि धातुओं के द्वारा ही शाखागत रसादि धातुओं का पोषण होता है। अथवा स्कन्ध के आश्रित रहने वाले ही मर्म सद्यः प्राणहर होते हैं, न कि शाखाश्रित मर्म। इसलिए स्कन्ध को यहाँ प्रधान बताया गया है। सुश्रुत संहिता में कहा भी गया है, यथा– "शृङ्गाटकान्यधिपतिःशङ्खौ कण्ठशिरोगुदम्। हृदयं बस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि वै" सु.शा. (अ. ६/९) इति [शृङ्गाटक- ४, अधिपति- १, दो शङ्ख- (Spots in the temporal regions-2), कण्ठसिरायें-८, गुदा (Anus)-१, हृदय (Heart)-१, बस्ति (Urinary bladder)-१ एवं नाभि (Umbilicus)-१; इन पर आघात होने पर व्यक्ति की तत्काल मृत्यु हो जाती है। यहाँ सद्यः प्राणहर मर्मों की कुल संख्या १९ बतायी गयी है।]

हृदय, बस्ति एवं सिर का सम्बन्ध 'गरीयांसि इति' से है। अर्थात् स्कन्ध की तुलना में ये शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसके हेतु को यहाँ 'तन्मूलत्वाच्छरीरस्येति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **तन्मूलत्वात् तदाश्रितत्वात्–** क्योंकि उसी में सम्पूर्ण शरीर आश्रित रहता है। हृदय के आश्रित रहने वाले भावों को- 'तत्र हृदये दश धमन्यः' इत्यादि से लेकर 'नाभ्यामरा इव' इति तक (श्लोक नं. ४) में आगे स्पष्ट किया गया है। यद्यपि मर्मों के अतिरिक्त भी विशेष रूप से प्राणों के आश्रय बताये गये हैं, यथा– 'दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः। शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्" (सू.अ. २९/३) इति [ऐसे मुख्य दस आयतन (आश्रय) हैं जिनमें प्राण प्रधान रूप से रहता है–१. दो शङ्ख प्रदेश (Temporal region), २. तीन मर्म (सिर, हृदय एवं बस्ति) ३. कण्ठ (throat), ४. रक्त (Blood), ५. शुक्र, ६. ओज, ७. गुदा। [२ शंख + ३ मर्म (हृदय-१, सिर-१ व बस्ति-१) + १ कण्ठ + १ रक्त, + १ शुक्र + १ ओज + १ गुदा = १०] जिस प्रकार हृदय आदि (हृदय, वस्ति व सिर) शरीर के आश्रय हैं वैसे शङ्ख आदि नहीं हैं। इस प्रकार प्राणायतनत्व में समान होते हुए भी शरीराश्रय भेद के कारण यहाँ हृदयादि को ही प्रधान कहा गया है। अथवा जिस प्रकार हृदय आदि में प्राण आश्रित रहता है वैसा शङ्खादि में नहीं रहता। कहा भी गया है, यथा– "सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु। मर्माणि बस्तिं हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति।। प्राणाश्रयान् तानपि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति" (सु.शा.अ. ६/) इति [१०७ मर्मों का उल्लेख शरीर संख्या को अधिकृत करके, जो कहा गया है उनमें बस्ति, हृदय व सिर प्रधान होते हैं, ऐसा आचार्यों का कथन है। इसमें प्राण आश्रित रहते हैं। अतः मर्मों में उपघात होने से वातादि प्रकुपित होकर शीघ्र ही प्राणों को हर लेते हैं। अर्थात् रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है।] कुछ आचार्य, शङ्खादि प्राणाश्रय को **हृदय आदि** के समीप होने से उसी में अन्तर्भावित कर लेते हैं; लेकिन इस विचार का कोई आधार न होने से स्वीकार्य नहीं है। ॥३॥

तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणापानौ मनो बुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि, शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तयः संश्रितानि, बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवाहिनीनां नाडी(ली)नां मध्ये मूत्रधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुद-धिरिवापगानां प्रतिष्ठा, बहुभिश्च तन्मूलैर्मर्मसंज्ञकैः स्रोतोभिर्गगनमिव दिनकरकरैर्व्याप्तमिदं शरीरम् ।।४।।

तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्चैव शरीरभेदः स्यात्, आश्रयनाशादाश्रितस्यापि विनाशः; तदुपघातात्तु घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः; तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघाद्घातादिभ्यश्च ।।५।।

त्रिमर्मों का विवेचन

१. हृदय विवेचन– जिस प्रकार चक्र (wheel) की नाभि (Centre) में अरें प्रतिष्ठित (लगी) रहती हैं उसी प्रकार हृदय में दस धमनियाँ, प्राणवायु, उदानवायु (पाठभेद– प्राणापानौ प्राप्त होता है, इस आधार पर यहाँ अपान वायु अर्थ होगा), मन, बुद्धि, चेतना (consciousness) तथा सूक्ष्म महाभूत विद्यमान रहते हैं।

२. सिर विवेचन– सिर में ज्ञानेन्द्रियों के स्रोतस्, कर्मेन्द्रियों के स्रोतस् तथा प्राणवाही स्रोतस् उसी प्रकार लगे रहते हैं जिस प्रकार सूर्य के साथ उसकी किरणें सम्बद्ध रहती हैं।

३. बस्ति परिचय– बस्ति स्थूलगुद (Rectum), मुष्क (Testicles-अण्डकोष), सीवनी (Perineal sutures), शुक्रवह एवं मूत्रवह स्रोतस् के मध्य स्थित मूत्र व जलवह स्रोतस् का उसी प्रकार आधार है जैसे सभी नदियों का आधार समुद्र होता है। यह शरीर मर्म संज्ञक स्रोतों से उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार सूर्य की किरणों द्वारा आकाश व्याप्त होता है तथा उसका मूल सूर्य होता है। ॥४॥

मर्मों का महत्व– इन तीन मर्मों में से यदि किसी एक मर्म का भी विनाश (Bursting) होता है तब शीघ्र ही सम्पूर्ण शरीर का भी नाश हो जाता है, क्योंकि आश्रय के विनाश से आश्रित का भी नाश हो जाता है। यदि उनमें से किसी एक का उपघात (आघात, injured) हो जाय तब शरीर में भयङ्कर व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसलिये इन मर्मों की विशेष रूप से बाह्य अभिघात एवं वातादि द्वारा रक्षा करनी चाहिए। ॥५॥

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– दश धमन्य इति– दस धमनियों से यहाँ ओजोवाही दस धमनियों का ग्रहण किया गया है, जिसे "अर्थे दश महामूला: समासक्ता:" (सू.अ. ३०) इत्यादि के द्वारा अर्थे दशमहामूलीय नामक अध्याय (सू.अ. ३०) में प्रतिपादित (स्पष्ट) किया गया है।

प्राणापानाविति से उच्छ्वास (Expiration) एवं नि:श्वास (Inspiration) का ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्य 'प्राणापानौ' से निर्दिष्ट वायु (प्राण एवं अपान वायु) का ग्रहण करते हैं। वहाँ अपान को यद्यपि मेढ्र, श्रोणि आदि स्थानों में आश्रित होने के कारण कहा गया है फिर भी इसे हृदय से भिन्न स्थान पर न रहते हुए तथा उसके (हृदय के) ही कार्यों को करने से **हृदयाश्रित** कहा जाता है। मन से यहाँ अन्त:करण का ग्रहण किया गया है।

बुद्धिर्महच्छब्दाभिलप्या– 'बुद्धि' से यहाँ महत् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। **चेतना–** बुद्धि के वृत्ति भेद को कहा जाता है। 'महाभूत' से यहाँ आत्म संबद्ध सूक्ष्म महाभूतों का ग्रहण किया गया है। ये सभी विषय सांख्य दर्शन तथा शारीरस्थान में स्पष्ट किये गये हैं, इनका ग्रहण वहीं से करना चाहिए। अन्य स्थानों पर इसका विवेचन इस प्रकार किया गया है, यथा– "षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम्" [सु.अ. ३०/४]

[षड् अङ्गों से युक्त शरीर, विज्ञान, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनके विषय, सगुण आत्मा, मन व मन के चिन्त्यादि विषय; ये सभी भाव हृदय के ही आश्रित रहते हैं।] वे विषय इस श्लोक में ही वर्णित कर दिये गये हैं, अर्थात् हृदय में कितने भाव आश्रित रहते हैं उनका विवेचन इस श्लोक (सू.अ. ३०/४) में किया गया है जो विषय यहाँ अधिक वर्णित किये गये हैं उनका भी अन्तर्भाव इसी में कर लेना चाहिए।

किंवा इह शास्त्रोद्धारेणाभिधानम्– अथवा यहाँ शास्त्र में छिपे हुए विषयों को स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है। (शास्त्रोक्त विषय को और अधिक स्पष्ट किया गया है।)

यथा हृदये दश धमन्यादीन्याश्रितानि– हृदय में दस धमनियाँ आदि आश्रित रहती हैं उसे यहाँ– 'नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानीति' के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया गया है। नाभि: चक्रनाभि= पहिये का केन्द्र (Centre of the wheel)। अरा: चक्रनेमिमध्यस्थकाष्ठानि– चक्र के मध्य स्थित लकड़ी की तीली को **अरा** कहते हैं।

यथा– चक्रनाभ्यां संबद्धा अरास्तदुपघातादुपहन्यन्ते– चक्र की नाभि से संबद्ध अरा (तीली) उसके उपघात से उपहत हो जाती है। जिस प्रकार चक्र के प्रधान होने से तीलियाँ उससे संबद्ध होती हैं, अर्थात् पहिया ही मुख्य होने से केन्द्र में स्थित तीलियाँ पहिए से संबद्ध होती हैं उसी प्रकार धमनी आदि का संबन्ध हृदय से रहता है। 'नाभ्यामपरा' इति वा पाठ:- यह पाठ होने पर इसका अर्थ– जिस प्रकार गर्भ की नाभि से अपरा (Placenta) जुड़ी रहती है उसी प्रकार हृदय से धमनी आदि भाव जुड़े रहते हैं, होगा। [अरा इव अपरेति व्याख्यानयन्ति- अरा की ही भाँति अपरा होती है, ऐसी व्याख्या कुछ लोग करते हैं।]

एतेन प्रदेशान्तरवर्तिनामपि धमन्यादीनां हृदयाश्रितत्वं सिद्धमिति भाव:– इससे शरीर के अन्य भागों में स्थित धमनियों का हृदय के आश्रित होना सिद्ध होता है। सिर के आश्रित रहने वाले भावों को 'शिरसीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इन्द्रिय प्राणवाही स्रोतस् (ज्ञानेन्द्रिय स्रोतस्) यद्यपि शरीर के अन्य भागों में भी विद्यमान होते हैं, फिर भी सिर से विशेष रूप से संबद्ध रहते हैं। यह संबन्ध ठीक उसी प्रकार होता है जैसे सूर्य का सम्बन्ध उसकी किरणों से होता है। यहाँ सिर से इन्द्रियादि भावों के सम्बन्ध को 'सूर्य की किरणों' के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। **शिर आश्रयत्वं च यथोक्तस्रोतसां तदुपघातेन विशिष्टोपघातदर्शनादुन्नीयते–** निर्दिष्ट स्रोतसों का आश्रय सिर है, अत: स्रोतस् विशेष के उपघात के लक्षणों को देखकर उसके उपघात का अनुमान करते हैं।

'बस्तिस्त्वित्यादि' के द्वारा बस्ति में आश्रित रहने वाले शरीर के भावों का अभिधान किया गया है। स्थूल गुद आदि अवयवों के मध्य **बस्ति** के स्थित होने का अभिप्राय इन अवयवों का आश्रय बस्ति है, यह दर्शाया गया है।

अम्बुवहानां स्रोतसां प्रतिष्ठेति– प्रतिष्ठा = स्थान, जिस प्रकार सभी नदियों का जल समुद्र में आकर गिरता है उसी प्रकार अम्बुवाही स्रोतसों का विश्राम स्थल बस्ति है। **तन्मूलैरिति तत्संबद्धैर्मर्मसंज्ञकै:–** स्रोतसों से संबद्ध मर्मों द्वारा यह शरीर व्याप्त है, अर्थात् यह शरीर मर्मों से व्याप्त है। न हि स्रोतसां मर्मत्वमस्ति- स्रोतसों में मर्मत्व गुण नहीं होता, अथवा **'स्रोतोमर्म'** शब्द से **सिरामर्म** का ग्रहण किया गया है। अथवा मर्मों से संबद्ध रहने वाले या मर्मों को पोषण प्रदान करने वाले स्रोतसों को **मर्म स्रोतस्** नाम दिया गया है।

आश्रयनाशात् आश्रितस्य नाश इति– आश्रय के विनाश से आश्रित का भी नाश हो जाता है, जिस प्रकार आश्रय के नाश से आश्रित का नाश हो जाता है वैसे ही हृदय आदि में से किसी एक के भी नाश होने पर शरीर का नाश हो जाता है, यह कहना उचित है। शरीर का हृदयाश्रितत्व भाव शरीर उत्पादक (शरीरारम्भक) प्रधान दस धमनियों आदि के आश्रय होने से है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् यह शरीर प्रधान रूप से ओजोवाही दस धमनियों, प्राण- अपान वायु आदि के आश्रित रहता है तथा ये भाव हृदय के आश्रित रहते हैं। उपघातादिति किञ्चिद्वैकृतात्– कुछ अंशों में विकृत होने से। ॥४-५॥

Scanned by CamScanner

तत्र हृद्यभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमाकर्षणजिह्मनिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः; शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहोद्वेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि; बस्तौ तु वातमूत्रवर्चोनिग्रहवङ्क्षणमेहनबस्तिशूलकुण्डलोदावर्तगुल्मानिलाष्ठीलोपस्तम्भनाभिकुक्षिगुदश्रोणिग्रहादयः; वाताद्युपसृष्टानां त्वेषां लिङ्गानि चिकित्सिते सक्रियाविधीन्युक्तानि ।।६।।

१. हृदयोपघात के लक्षण– हृदय में उपघात होने पर रोगी में अधोलिखित लक्षण (Signs and Symptoms) पाये जाते हैं–

१. कास (Cough)
२. श्वास (Dyspnea)
३. बलक्षय (loss of strength)
४. गले का सूखना (Dryness of the throat)
५. तालु (क्लोम) में खिंचावट का अनुभव
६. जिह्वा का बाहर की ओर निकलना (Protrution of the tongue)
७. मुख का सूखना (Dryness of mouth)
८. तालु का सूखना (Dryness of Palate)
९. अपस्मार (Epilepsy)
१०. उन्माद (Insanity)
११. प्रलाप (Delirium)
१२. संज्ञानाश आदि (Unconsciousness)

२. शिरोपघात के लक्षण– सिर में उपघात होने पर आतुर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. मन्यास्तंभ (Stiffness of the neck)
२. अर्दित (Paralysis of the muscles on one side of the face and neck)
३. चक्षु विभ्रम (Agitation of eyes)
४. मोह (Unconsciousness)
५. उद्वेष्टन (शरीर का ऐंठना)
६. चेष्टा नाश (loss of motor activities)
७. कास (खाँसी का आना- Cough)
८. श्वास (Dyspnea)
९. हनुग्रह (Stiffness of mandible)
१०. मूकता (Dumbness)
११. गद्गदत्व (Lulling speech)
१२. अक्षिनिमीलन (आँखों का बन्द हो जाना)
१३. गण्डस्पन्दन (गण्ड प्रदेश में कम्पन का होना)
१४. जम्हाई (Yawning)
१५. लालास्राव (Excessive salivation)
१६. स्वर हानि (loss of the ability to produce speech, because of brain damage- Aphasia)
१७. वदन जिह्मत्व (मुख का टेढ़ा होना– Twisting of the face) आदि ।

३. बस्ति अभिघात के लक्षण– बस्ति में अभिघात होने पर आतुर में अधोलिखित लक्षण पाये जाते हैं–

१. अपान वायु, पुरीष एवं मूत्र का अवरुद्ध होना
२. वंक्षण (groin), मूत्रेन्द्रिय (Phallus) एवं मूत्राशय में शूल का होना।
३. बस्ति कुण्डल (मूत्र का बूंद-बूंद करके निकलना- Spiralling spasm in the bladder)
४. उदावर्त (A class of diseases marked by retention of the feces)
५. गुल्म (Phantom tumour)
६. वातष्ठीला (hard tumour caused by Vāyu)
७. बस्ति प्रदेश में जकड़ाहट का होना (Spasticity of the bladder)

Scanned by CamScanner

८. नाभि (Umbilicus), कुक्षि (उदर), गुदा एवं श्रोणिप्रदेश (Pelvic region) में जकड़ाहट का होना आदि रोग वात आदि दोषों से होने वाली व्याधियों के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा का अभिधान त्रिमर्मीय चिकित्सा (चि.अ. २६) में किया जा चुका है।

चक्रपाणिः– हृदय आदि के अभिघात से होने वाली व्याधियों का उल्लेख यहाँ क्रमशः 'तत्रेत्यादि' के द्वारा किया गया है। क्लोमापकर्षणं क्लोमापकर्षणाकारावेदना– फुफ्फुस (Lungs) को खींचकर निकालने के समान वेदना का अनुभव होना। यहाँ क्लोम से फुफ्फुस अर्थ लिया गया है। **वेष्टनं शिरसि वेष्टनाकारा वेदना–** सिर में वेष्टन (मरोड़ने) जैसी वेदना का होना।

कुण्डलं बस्तौ कुण्डलरूपा वेदना (Spiralling spasm in the bladder)– बस्ति में कुण्डल के समान वेदना का होना। उपस्तम्भ बस्तेरेव– बस्ति के कार्यों में मस्तिष्क का नियन्त्रण न रह पाना (Spasticity of the bladder)।

चिकित्सिते इति– त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय में। सक्रियाविधिनीति– चिकित्सा विधानों को, अर्थात् वातादि दोषों से आक्रान्त हृदयादि के लक्षण एवं उनकी चिकित्सा का अभिधान आचार्य द्वारा त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय में किया गया है। ॥६॥

किंत्वेतानि विशेषतोऽनिलाद्रक्ष्याणि, अनिलो हि पित्तकफसमुदीरणे हेतुः प्राणमूलं च, स बस्तिकर्मसाध्यतमः, तस्मान्न बस्तिसमं किञ्चित् कर्म मर्मपरिपालनमस्ति। तत्र षडास्थापनस्कन्धान् विमाने द्वौ चानुवासनस्कन्धावह च विहितान् बस्तीन् बुद्ध्या विचार्य महामर्मपरिपालनार्थं प्रयोजयेद्वातव्याधिचिकित्सां च ।।७।।

मर्मों के परिपालन में बस्ति चिकित्सा की प्रधानता का कारण– किन्तु इनको (मर्मों को) विशेष रूप से वात से बचाना चाहिए। अर्थात् मर्मों की रक्षा विशेषतः वायु से करनी चाहिए। क्योंकि वायु ही पित्त व कफ के प्रेरण में कारण है तथा प्राणों का मूल है। वह वायु बस्तिकर्म द्वारा उत्तम रूप से साध्य है। इसलिये मर्मों की रक्षा हेतु **बस्तिकर्म** के समान कोई अन्य कर्म नहीं है। विमान स्थान ८ (रोगाभिषग्जितीय विमान अध्याय) में वर्णित छः स्थापन स्कन्ध तथा दो अनुवासन स्कन्ध में वर्णित द्रव्यों द्वारा स्वविवेक से बस्तियों का निर्माण कर मर्मों की रक्षा हेतु उपयोग करें। अर्थात् इन वर्गों में वर्णित द्रव्यों द्वारा उचित योजना करके बस्ति चिकित्सा करें। इसके साथ ही वातव्याधि चिकित्सा नामक अध्याय में वर्णित चिकित्सा विधियों का भी प्रयोग करें।

चक्रपाणि– मर्म परिपालन (मर्म की रक्षा करने) में बस्ति चिकित्सा ही मुख्य है, उसके हेतु को यहाँ– 'किंत्वेतानीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। [मर्म परिपालन में बस्ति की प्रधानता को यहाँ सहेतुक स्पष्ट किया गया है।]

जिस प्रकार पित्त व कफ दोनों ही पंगु होते हैं तथा उनके प्रेरण में वायु ही कारण होती है उसी प्रकार कफ व पित्त से उत्पन्न विकारों में भी वायु कारण होती है। **वातजविकारेऽपि वायुः स्वतन्त्र एव कारणम्–** वातज व्याधियों में भी वायु स्वतंत्र रूप से ही कारण होती है। अतः सभी विकारों से मर्मों की रक्षा करने के लिए उसके कारण रूप वायु से ही उसे बचाना चाहिए।

तथा प्राणमूलं चेति– व्यक्ति के जीवित रहने का कारण अविकृत वायु है, विकृत वायु प्राणोपघातक होती है। **तेन मर्माण्यपि प्राणरक्षार्थं वाताद्रक्ष्याणि–** प्राणों की रक्षा करने के लिए मर्म की वायु से रक्षा करनी चाहिए।

बस्तिसाध्यतम इति– अन्य चिकित्सा की तुलना में बस्ति कर्म ज्यादा उपयोगी है। कहा भी गया है, यथा– "बस्तिर्वातहराणाम्" (सू.अ. २५) इति- [वातनाशक कर्मों में बस्ति श्रेष्ठतम होती है।]

द्वौ चानुवासनस्कन्धाविति– रोगभिषग्जितीय अध्याय (वि.अ. ८) में निर्दिष्ट सूत्र– "अनुवासनं तु स्नेह एव, स द्विविधः– स्थावरो जङ्गमश्च" से स्थावर व जङ्गम दो अनुवासन स्कन्धों का ग्रहण करना चाहिए। इहेति– सिद्धिस्थान में। बुद्ध्या विचार्येति– दोष, भेषज आदि दस भावों का बुद्धि द्वारा सम्यक् विचार करके; षड् स्थापन एवं अनुवासन स्कन्ध से द्रव्यों का उचित चयन करके बस्ति तैयार करें एवं उसका प्रयोग मर्मों की चिकित्सा में करें। इसके साथ-साथ वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट चिकित्सा का भी बुद्धि द्वारा विचार करके प्रयोग करना चाहिए। ॥७॥

भूयश्च हृद्युपसृष्टे हिङ्गुचूर्णं लवणानामन्यतमचूर्णसंयुक्तं मातुलुङ्गस्य रसेनान्येन वाऽम्लेन हृद्येन वा पाययेत्, स्थिरादिपञ्चमूलीरसः सशर्करः पानार्थं, बिल्वादिपञ्चमूलरससिद्धा च यवागूः, हृद्रोगविहितं च कर्म; मूर्ध्नि तु वातोपसृष्टेऽभ्यङ्गस्वेदनोपनाहस्नेहपाननस्तःकर्मावपीडनधूमादीनि; बस्तौ तु कुम्भीस्वेदः, वर्तयः, श्यामादिभिर्गोमूत्रसिद्धो निरूहः, बिल्वादिभिश्च सुरासिद्धः, शरकाशेक्षुदर्भगोक्षुरकमूलशृतक्षीरैश्च त्रपुसैर्वारुखरराज्ञा-बीजयवर्षभकवृद्धिकल्कितो निरूहः, पीतदारुसिद्धतैलेनानुवासनं, तैल्वकं च सर्पिर्विरेकार्थं, शतावरीगोक्षुरकबृहतीकण्टकारिकागुडूचीपुनर्नवोशीर-मधुकद्विसारिवालोध्रश्रेयसीकुशकाशमूलकषायक्षीरचतुर्गुणं बलावृषर्षभकखराश्वोपकुञ्चिकावत्सकत्रपुसैर्वारुबीजशितिवारकमधुकववाशतपुष्पाश्म-भेदकवर्षाभूमदनफलकल्कसिद्धं तैलमुत्तरबस्तिर्निरूहो वा शुद्धस्निग्धस्विन्नस्य बस्तिशूलमूत्रविकारहर इति ।।८।।

१. हृदयोपघात की चिकित्सा– हृदय के वायु द्वारा अत्यधिक दूषित होने पर अधोलिखित चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए–

(क) घृत से भुनी हुई हींग के चूर्ण में पाँचों नमक में से किसी एक नमक का चूर्ण मिलाकर बिजौरा नीबू के रस अथवा किसी अन्य अम्ल रस वाले द्रव्यों के स्वरस अथवा हृद्य द्रव्यों के रस के साथ आतुर को पीने के लिए देना चाहिए।

Scanned by CamScanner

(ख) स्थिरादि पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, वृहती, कण्टकारी एवं गोखरू) के क्वाथ (Decoction) में शर्करा मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें।

(ग) बिल्वादि पञ्चमूल (बृहत् पञ्चमूल- बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी) के क्वाथ से निर्मित यवागू का सेवन आतुर को कराना चाहिए। [यहाँ यवागू साधन हेतु क्वाथ का निर्माण षडङ्गपानीय विधि द्वारा करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त हृद्रोग में निर्दिष्ट चिकित्सा विधियों का भी प्रयोग करना चाहिए।

२. शिरोपघात की चिकित्सा– यदि सिर में वायु प्रकुपित हो जाय, तब अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

(क) वातनाशक तैलों का अभ्यङ्ग (Massage)।

(ख) स्वेदन (Sudation), (ग) उष्ण उपनाह (Application of hot poultices), (घ) आभ्यन्तर स्नेहपान (च) नस्य कर्म, (छ) अवपीड नस्य (वातनाशक द्रव्यों के स्वरस का प्रयोग नस्य के रूप में करना, अर्थात् रसोन, दूर्वा आदि के स्वरस को नासिका में डालना अवपीड कहलाता है।)

(ज) धूमपान का प्रयोग करना।

३. बस्ति मर्माघात चिकित्सा– यदि बस्ति में वायु का प्रकोप हो तब कुष्माण्डस्वेद व फलवर्तियों का प्रयोग करें अथवा श्यामा आदि द्रव्यों के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर निरूह बस्ति दें, इसका वर्णन कल्पस्थान अ. १/६ में किया जा चुका है। अथवा बिल्वादि द्रव्यों के क्वाथ में सुरा मिलाकर निरूह बस्ति दें। अथवा शरपत (शर) की जड़, काशमूल, इक्षुमूल, कुशमूल एवं गोखरू की जड़; इन द्रव्यों को राम प्रमाण में लेकर क्वाथ बनावें तथा इससे गोदुग्ध सिद्ध करें। इस क्वाथ साधित क्षीर में अधोलिखित द्रव्यों का कल्क मिलावें, यथा– त्रपु (खीरे का बीज), ककड़ी के बीज, अजवाइन, यव, ऋषभक तथा वृद्धि। इस कल्क को क्वाथ में मथानी से मिश्रित कर लें। इसका प्रयोग निरूहबस्ति के रूप में करें। देवदारु के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें। तिल्वक घृत का प्रयोग आतुर के विरेचनार्थ करावें। तिल्वक घृत के निर्माण विधि का वर्णन कल्पस्थान में किया जा चुका है।

बस्ति मर्माघात नाशक तैल– घटक द्रव्य–

१. क्वाथ्य द्रव्य–

- → शतावरी - १ भाग
- → गोक्षरू - १ भाग
- → बृहती (बड़ी कटेरी) - १ भाग
- → कण्टकारिका (कण्टकारी) - १ भाग
- → गुडूची - १ भाग
- → पुनर्नवा - १ भाग
- → उशीर - १ भाग
- → मधुक (यष्टीमधु) - १ भाग
- → दोनों प्रकार की सारिवा (श्वेत सारिवा एवं काली सारिवा) - २ भाग
- → लोध्र - १ भाग
- → गजपिप्पली - १ भाग
- → कुश की जड़ - १ भाग
- → काश की जड़ - १ भाग

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं इसमें उचित मात्रा में जल डालकर क्वाथ बनावें। क्वाथ का ग्रहण स्नेह (तैल) की मात्रा का दो गुना करना चाहिए। [२ प्रस्थ]

२. गोदुग्ध की मात्रा– क्वाथ की मात्रा के बराबर अर्थात् स्नेह का दो गुना। [२ प्रस्थ]

३. कल्क द्रव्य–

- → बलामूल - १ भाग
- → अडूसामूल - १ भाग
- → ऋषभक - १ भाग
- → अजवाइन - १ भाग
- → मंगरैला - १ भाग
- → ककड़ी का बीज - १ भाग
- → क्षितिवारक (शालिञ्च) - १ भाग
- → यष्टीमधु - १ भाग
- → वचा - १ भाग
- → सोया - १ भाग

Scanned by CamScanner

→ इन्द्रयव	- १ भाग	→ पाषाणभेद	- १ भाग
→ खीरा का बीज	- १ भाग	→ पुनर्नवा	- १ भाग
		→ मदनफल	- १ भाग

सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कल्क बना लें। कल्क की कुल मात्रा स्नेह का १/४ भाग होना चाहिए।

४. स्नेह (तैल)– १ प्रस्थ

निर्माण विधि– एक स्टील के भगौने में उपरोक्त द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर मन्दाग्नि पर पकावें। गोदुग्ध के पक जाने पर उसमें पुनः उतनी ही मात्रा में जल डालकर स्नेह को पकावें। सम्यक् सिद्ध हो जाने पर पात्र को अग्नि पर से उतार ले तथा तैल के ठण्ढा हो जाने पर उसे छानकर चौड़े मुह वाले बोतलों में भरकर सुरक्षित रख लें।

उपयोग– इस तैल का प्रयोग उत्तरबस्ति एवं निरूहबस्ति के रूप में करना चाहिए। स्नेहन एवं स्वेदन के बाद इस तैल की बस्ति देने से मूत्राशय शूल एवं मूत्र विकार दोनों ही प्रशमित हो जाते हैं।

चक्रपाणि– 'भूयश्चेत्यादि' के द्वारा विशेष रूप से हृदयादि मर्मों के भेद (आघात) की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। हृद्युपसृष्टे 'वातेन' इति शेषः –यहाँ हृद्युपसृष्टे के साथ 'वातेन' शब्द भी जोड़ना चाहिए अर्थात् हृदय के वात द्वारा दूषित होने पर।

लवणानामिति– निर्धारण के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। [जहाँ अनेक में से एक को छाँटना हो, अतः जिसमें से छाँटा जाय उसमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।] अन्य एव अन्यतमः– अन्य ही अन्यतम है, यथा– श्रेष्ठतम इति अर्थात् अनेकों में से ही एक को छाँटना अन्यतम कहलाता है, जैसे– श्रेष्ठतम, जैसे श्रेष्ठों में श्रेष्ठतमः होता है। [यहाँ लवणों (पञ्च लवणों) में एक का उपयोग करना जो हृदय रोग के लिए सबसे उपयोगी हो, ग्रहण करना चाहिए।]

हृद्येनेति– हृदय के लिए हितकर अथवा मन के अनुकूल होना अर्थात् मातुलुङ्ग स्वरस (बिजौरा नीबू के रस) में हींग का चूर्ण+लवण मिलाकर आतुर के रुचि के अनुरूप बनाकर सेवन करावें।

यद् द्वेष्यरसस्य हृदहिततयाऽहृद्यत्वम्– जिस रस (स्वरस) के प्रति आतुर द्वेष करता है। अर्थात् उसे पीना नहीं चाहता, वह हृदय (मन) के लिए अहितकर होने से **अहृद्य** ही होता है, क्योंकि वह मन के प्रतिकूल होता है। **हृद्रोगविहितं च कर्मेति–** हृदय रोग में निर्दिष्ट कर्म, अर्थात् यहाँ निर्दिष्ट चिकित्सा के साथ-साथ उन कर्मों का भी प्रयोग करना चाहिए जिसका उल्लेख त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में हृदय रोग के प्रकरण में बताया गया है।

धूमादीनीति– यहाँ 'आदि' शब्द से परिषेक, उपनाह आदि का भी ग्रहण किया गया है। **'बस्तौ त्विति 'प्रदुष्टे वातेन' इति प्रकरणाज्ज्ञेयम्–** बस्तौ तु के साथ 'प्रदुष्टे वातेन' शब्द भी जोड़ना चाहिए, ऐसा प्रकरणानुसार समझना चाहिए। इसका अर्थ- 'बस्ति के वात से दूषित होने पर' होगा। पित्त व कफ की दुष्टि में भी वायु ही प्रधान होता है। इसका प्रतिपादन पूर्व में किया जा चुका है। उसी से कफ व पित दुष्टि का भी भाव प्राप्त हो जाता है। वर्तय इति फलवर्तयः– गुदवर्ति (Suppositories) का ग्रहण करना चाहिए।

'श्यामादिभिरिति' से विमानस्थान अध्याय ८ में वर्णित द्रव्यों -"श्यामात्रिवृच्चतुरङ्गुलतिल्वकमहावृक्षसप्तलाशङ्खिनीदन्ती-द्रवन्तीनाम्" च.वि.अ. ८/१३६ [काली निशोथ, सफेद निशोथ, अमलतास, तिल्वक, महावृक्ष, सप्तला, शङ्खिनी, दन्ती एवं द्रवन्ती] का ग्रहण करना चाहिए। बिल्वादिरिति– बृहत् पञ्चमूल के द्रव्यों, यथा– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला व गम्भारी का ग्रहण करें। अथवा इससे "बिल्वमूलत्रिवृद्दारुयवकोलकुलत्थवान्" (सि.अ. (७/११) इति [बिल्वमूल, सफेद निशोथ, देवदारु, यव, बेर एवं कुलथी] से वर्णित द्रव्यों– बिल्वादि का ग्रहण करना चाहिए।

शरादिमूलश्रृतक्षीर त्रपुषादि कल्कोऽपर– शरादि द्रव्यों के मूल से निर्मित क्वाथ द्वारा सिद्ध क्षीर में त्रपुषा आदि द्रव्यों के कल्क डालकर बनी हुई निरूह बस्ति का प्रयोग बस्ति सम्बन्धी रोगों में करना चाहिए।

खराश्वा = अजमोदा। पीतदारु (दारुहल्दी) के क्वाथ (Decoction) एवं कल्क (Paste) से साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें। इसी तैल (पीतद्रु तैल) का प्रयोग निरूह बस्ति के निर्माण में भी करना चाहिए।

केचित् सरलसाराकृष्टतैलं पीतदारुसिद्धतैलमाहुः– कुछ आचार्य इससे सरल के काष्ठ से निकाले गये तैल को दारुहल्दी के क्वाथ एवं कल्क द्वारा सिद्ध करने पर बने तैल का ग्रहण करते हैं।

तैल्वकसर्पिः– तिल्वक कल्प में वर्णित तिल्वक (लोध्र) घृत का ग्रहण करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

शतावरी आदि द्रव्यों के साथ पठित 'द्विसारिवा' से यहाँ अनन्तमूल सारिवा तथा श्याममूल सारिवा का ग्रहण करना चाहिए। श्रेयसी = रास्ना। उपकुञ्चिका = काला जीरा (कृष्ण जीरक)। शितिवारकः शालिञ्जः [शितिवार- Marsilea quadrifolia –M.M. Williams Dictionary Sanskrit- English] अश्मभेदक = पाषाणभेद [Pāshāṇa bheda- Plectranthus scutellarioides] उत्तरबस्तिरिति- आगे वर्णित उत्तर बस्ति के विधान के अनुसार ही उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

निरूहः निरूहस्थाने देय इत्यर्थः– जहाँ निरूह बस्ति का प्रयोग करना हो वहाँ निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। ॥८॥

भवन्ति चात्र श्लोकाः–

हृदये मूर्ध्नि बस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिताः । तस्मात्तेषां सदा यत्नं कुर्वीत परिपालने ।।९।।
आबाधवर्जनं नित्यं स्वस्थवृत्तानुवर्तनम् । उत्पन्नार्तिविघातश्च मर्मणां परिपालनम् ।।१०।।

मर्मत्रय विषयक उपसंहार– मनुष्य का प्राण हृदय, सिर एवं बस्ति में रहता है। इसलिए उसकी (हृदय, सिर एवं बस्ति की) हमेशा प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। आबाध वर्जन (नित्य मर्म प्रदेश में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों का त्याग, अर्थात् उन हेतुओं का त्याग करें, जिसके सेवन से हृदयादि के कार्यों में बाधा उत्पन्न होती हो), नित्य स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना तथा उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा; के द्वारा मर्मों की रक्षा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'हृदये इत्यादि' के द्वारा गद्योक्त विषय को श्लोक के रूप में सङ्क्षेप में कहा गया है। आबाधवर्जनमिति– मर्मोपघातक हेतुओं का त्याग करना (हृदयादि मर्मों को हानि पहुँचाने वाले आहार-विहार रूप हेतुओं का त्याग करना।) स्वस्थवृत्तानुवर्तनं च हृदयादिपोषकतयैव पालकं भवति– स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना, हृदयादि का पोषक होने से ही मर्मों की रक्षा करने वाला होता है। **उत्पन्नार्तिविघात इति उत्पन्नमर्मरोगप्रतिकारः-** उत्पन्न व्याधियों का विनाश करना, उत्पन्न मर्मरोगों की चिकित्सा करना। ॥९-१०॥

विशेष (Comments)– १. श्लोक नं. १० में 'आबाधवर्जनं' के स्थान पर 'आघातवर्जनं' पाठ प्राप्त होता है जिसका अर्थ हृदय आदि मर्मों को **आघात** से बचाना चाहिए। अर्थात् हृदयादि की आघात पहुँचाने वाले भावों से रक्षा करनी चाहिए। २. स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना, अर्थात् पथ्य आहार-विहार द्वारा स्वास्थ्य को बनाये रखना। ३. मर्मोपघातक व्याधि के उत्पन्न होने पर शीघ्रता पूर्वक चिकित्सा करना। इस प्रकार इन तीन विधियों द्वारा मर्मत्रय की रक्षा करनी चाहिए।

अत ऊर्ध्वं विकारा ये त्रिमर्मीये चिकित्सिते । न प्रोक्ता मर्मजास्तेषां कांश्चिद्वक्ष्यामि सौषधान् ।।११।।

अब आगे त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय में **मर्मज** जिन व्याधियों का विवेचन नहीं किया गया है उनमें से कुछ व्याधियों की चिकित्सा के साथ विवेचन किया जा रहा है।

चक्रपाणि– मर्म परिपालक बस्ति के कथन के प्रसङ्ग से अनुक्त (जिसका वर्णन नहीं किया गया है।) मर्म के आश्रित होने वाले रोगों को उनकी चिकित्सा के साथ– 'अत ऊर्ध्वमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते । पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।।१२।।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तथा । (नमयेच्चाक्षिपेच्चाङ्गान्युच्छ्वासं निरुणद्धि च ।।)
कृच्छ्रेण चाप्युच्छ्वसिति स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ।।१३।।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः । दृष्टिं संस्तम्भ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।।१४।।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः । वायुना दारुणं प्राहुरेके तमपतानकम् ।।१५।।

अपतन्त्रक रोग की संप्राप्ति एवं लक्षण– अपने प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित वायु अपने स्थान (पक्वाशय) से ऊर्ध्व की ओर गमन करती हुई हृदय को आक्रान्त करके सिर तथा शङ्ख प्रदेश में पहुँचकर व्यक्ति के शरीर को धनुष के समान टेढ़ा कर देता है। जिसके परिणामस्वरूप शरीर में आक्षेप (Convulsion) एवं मोह (Unconsciousness) उत्पन्न हो जाता है।

[जब शरीर धनुष के समान टेढ़ा हो जाता है तथा अङ्गों में आक्षेप (convulsion) उत्पन्न होता है उस समय व्यक्ति की श्वासोच्छ्वास की क्रिया रुक जाती है।] व्यक्ति कष्ट के साथ श्वास ले पाता है। उसकी आँखें स्तब्ध हो (जकड़) जाती हैं। अथवा बन्द हो जाती हैं, कबूतर के समान उसकी आवाज स्पष्ट नहीं निकलती, अन्त में रोगी मूर्च्छित हो जाता है। इस व्याधि को अपतन्त्रक कहते हैं।

अपतानक रोग की संप्राप्ति एवं लक्षण– अपने प्रकोपक कारणों द्वारा प्रकुपित वायु अपने स्थान से ऊपर आकर हृदय को आक्रान्त करके सिर व शङ्ख में पहुँचकर व्यक्ति के शरीर को धनुष के समान टेढ़ा करके अङ्गों में आक्षेप उत्पन्न करती हुई नेत्रों को जकड़ देती है। साथ ही संज्ञा को नष्ट करके कण्ठ से कपोत के आवाज के समान अव्यक्त शब्दों को उत्पन्न करती है। जब यही प्रकुपित वायु हृदय से मुक्त हो (निकल) जाती है तब व्यक्ति अपने को स्वस्थ अनुभव करने लगता है तथा जब वही प्रकुपित वायु हृदय में प्रविष्ट होती है तब व्यक्ति पुनः मूर्च्छित हो जाता है। कुछ विद्वान वात से उत्पन्न इस भयङ्कर व्याधि को अपतानक कहते हैं।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– हृदय मर्म की विकृति से होने वाले **अपतन्त्रक** रोग को यहाँ 'क्रुद्ध इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

स्थानादूर्ध्वमिति– वात के स्थान की अपेक्षा से जो ऊर्ध्व की ओर जाती हो, अर्थात् प्रकुपित वायु का अपने मूल स्थान (पक्वाशय) से ऊपर की ओर गमन करना।

स्तब्धाक्षोऽथ निर्मीलन इति– आँखों का स्तब्ध होना (Firmly fixed) अथवा बन्द हो जाना (पलकों का बन्द हो जाना) अर्थात् व्यक्ति की आँखें खुली हैं तो खुली ही रह जाती हैं अथवा यदि बन्द हैं तो बन्द ही रह जाती हैं।

निःसंज्ञ इति– व्याधि के **वेग काल** (आवेश काल) में प्रकुपित वायु हृदय में प्रविष्ट होकर दृष्टि को संस्तब्ध (जड़) करके व्यक्ति की संज्ञा को नष्ट करते हुए कण्ठ में अवरोध को उत्पन्न करके कपोत के समान अव्यक्त शब्दों को उत्पन्न करते हुए उसको मूर्च्छित कर देती है।

मोहं वृत्ते पुनरिति– हृदय वायु द्वारा पुनः आवृत होने पर व्यक्ति पुनः मोह युक्त हो जाता है। मोह युक्त होना (Loss of consciousness)। वायुनेति- कफ युक्त वायु द्वारा। कुछ आचार्य अपतानक को ही अपतन्त्रक कहते हैं। इसके बारे में आचार्य जतूकर्ण ने कहा भी है, यथा– "वातकफाभ्यां हच्छिरः शङ्खपीडनानमनाङ्गाक्षेपप्रमोहाक्षिस्तम्भानिर्मीलनकृच्छ्रोच्छ्वासकूजनान्यपतन्त्रके" इति (प्रकुपित वायु, कफ के साथ मिलकर **अपतन्त्रक** में निम्नलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है– १. शिर व शङ्ख को पीड़ित करना, २. शरीर को धनुष के समान झुकाना, ३. अङ्गों में आक्षेप उत्पन्न करना, ४. संज्ञा का नष्ट होना (Loss of consciousness), ५. आँखों का जकड़ जाना अथवा पलकों का बन्द हो जाना, ६. कष्ट के साथ श्वास लेना व बाहर निकालना, ७. कण्ठ से कपोत के समान अव्यक्त शब्दों का निकलना। ये सभी लक्षण अपतन्त्रक में पाये जाते हैं। अथवा अपतन्त्रक दो प्रकार का बताया गया है– १. वात के कारण, २. कफ के कारण। वर्णित श्लोक में– 'निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः' के द्वारा कफज अपतन्त्रक को स्पष्ट किया गया है। 'वायुना दारुणं प्राहुः' इति के द्वारा वायु जनित अपतन्त्रक को ही यहाँ **अपतानक** कहा गया है। उसकी दारुणता -भयङ्कर रूप से प्रकुपित वात के कारण उत्पन्न होने से, होती है। यह व्याख्या करनी चाहिए। इसलिए सुश्रुत संहिता में **अपतन्त्रक** को वातव्याधि के अन्तर्गत पढ़ा गया है। ॥१२-१५॥

श्वसनं कफवाताभ्यां रुद्धं तस्य विमोक्षयेत् । तीक्ष्णैः प्रथमनैः संज्ञां तासु मुक्तासु विन्दति ॥१६॥
मरिचं शिग्रुबीजानि विडङ्गं च फणिज्झकम् । एतानि सूक्ष्मचूर्णानि दद्याच्छीर्षविरेचनम् ॥१७॥
तुम्बुरूण्यभया हिङ्गु पौष्करं लवणत्रयम् । यवक्वाथाम्बुना पेयं हृद्ग्रहे चापतन्त्रके ॥१८॥
हिङ्ग्वम्लवेतसं शुण्ठीं ससौवर्चलदाडिमम् । पिबेद्वातकफघ्नं च कर्म हृद्रोगनुद्धितम् ॥१९॥
शोधना बस्तयस्तीक्ष्णा न हितास्तस्य कृत्स्नशः । सौवर्चलाभयाव्योषैः सिद्धं तस्मै घृतं हितम् ॥२०॥

अपतन्त्रक एवं अपतानक की चिकित्सा [Treatment of Apatantraka and Apatānaka]– १. सर्वप्रथम चिकित्सक को कफ व वायु द्वारा अवरुद्ध श्वास को तीक्ष्ण प्रधमन नस्य के प्रयोग द्वारा प्रवृत्त कराना चाहिए। प्रधमन नस्य के प्रयोग से कफ व वायु का अवरोध दूर हो जाता है, जिससे व्यक्ति की संज्ञा वापस लौट आती है, अर्थात् व्यक्ति होश में आ जाता है।

२. काली मिर्च, शिग्रुबीज (सहिजन का बीज), वायविडङ्ग व फणिज्झक (दवना); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण का प्रयोग प्रधमन नस्य के रूप में करें। इसके प्रयोग से आतुर की मूर्च्छा दूर हो जाती है।

३. तुम्बरू (धनिया), अभया (हरड़), हिङ्गु (हींग), पुष्करमूल, लवण त्रय [सौवर्चल लवण, विड लवण व सैन्धव लवण]; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण बना लें। षडंगपानीय विधि से साधित यव के क्वाथ में इस चूर्ण को मिलाकर हृद्ग्रह (हृदय की जकड़ाहट) एवं अपतन्त्रक के रोगी को पीने के लिए देना चाहिए।

४. हींग, अम्लवेतस, शुण्ठी (सोंठ), सौवर्चल (सोंचर) नमक, अम्ल दाडिम (खट्टा अनारदाना); इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित चूर्ण ६ ग्राम की मात्रा में लेकर यव के क्वाथ में मिलाकर आतुर को पीने के लिए दें। यह योग कफ व वायु को दूर करता है, अर्थात् कफ व वात का नाशक है, साथ-साथ हृदय रोग एवं अपतन्त्रक को भी प्रशमित करता है।

५. अपतन्त्रक के आतुर के लिए तीक्ष्ण संशोधन बस्तियाँ किसी भी प्रकार से उपयोगी नहीं होती। अर्थात् अपतन्त्रक के रोगी में तीक्ष्ण संशोधन बस्तियों का प्रयोग कभी भी नहीं कराना चाहिए। इसमें सौवर्चल लवण, हरड़, सोंठ, पिप्पली एवं कालीमिर्च; के समभाग से निर्मित Paste (कल्क) द्वारा साधित घृत का सेवन करना श्रेयस्कर होता है।

चक्रपाणि– तास्विति चेतनावहासु धमनीषु- चेतना (संज्ञा- Consciousness) को वहन करने वाली धमनियों में। यवक्वाथाम्बुनेति- यव के षडङ्गपानीय विधि द्वारा निर्मित क्वाथ जल से (क्वाथ को निथारने पर जो स्वच्छ द्रव भाग प्राप्त होता है उसे क्वाथ जल कहते हैं)। **हृद्रोगनुद् वातकफघ्नं यत् कर्म तद् हितं अपतन्त्रके-** हृद् रोग नाशक व वात कफ नाशक जितने भी कर्म हैं, वे सब अपतन्त्रक रोग में उपयोगी होते हैं। अर्थात् यहाँ वर्णित चिकित्सा के अतिरिक्त हृद् रोग नाशक व वातकफघ्न अन्य कर्म भी इस व्याधि में उपयोगी होते हैं।

Scanned by CamScanner

शोधना इत्यादौ 'कृत्स्नशः शोधना न हिताः' इति– सम्पूर्ण शोधन कर्मों का प्रयोग करना हितकर नहीं होता। इस वचन से शोधन के लिए अल्प रूप में निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिए, अर्थ गृहीत है। अत्यधिक शोधन द्रव्यों का प्रयोग निरूहबस्ति में करने से दोषों के अति मात्रा में निकल जाने से वात के क्षुभित होने (वात के प्रकुपित होने) की संभावना रहती है, यह अभिप्राय है। अर्थात् शोधनार्थ मृदु बस्ति का प्रयोग करना हितकर होता है। ॥१६-२०॥

विशेष (Comments)– शोधना बस्तयस्तीक्ष्णा न हितास्तस्य कृत्स्नशः– इस व्याधि में पूर्णतः तीक्ष्ण शोधन बस्तियों का प्रयोग हितकर नहीं होता। श्री नरेन्द्रनाथसेन गुप्त एवं श्री बलाइचन्द्रसेन गुप्त संपादित चरक पाठ में पूर्व पाठ के स्थान पर– 'शोधना बस्तयस्तीक्ष्णा हितास्तस्य च कृत्स्नशः' पाठ प्राप्त होता है। जिसका अभिप्राय- अपतन्त्रक में तीक्ष्ण संशोधन वस्तियों का प्रयोग करना पूर्णतः हितकर होता है, से है।

आचार्य चक्रपाणि का मत तुलनात्मक रूप से ज्यादा ग्राह्य है, क्योंकि तीक्ष्ण शोधन से वात प्रकोप का भय रहता है। अतः अल्प शोधक द्रव्यों की योजना (अल्प तीक्ष्ण द्रव्यों की योजना) निरूह बस्ति में करनी चाहिए।

मधुरस्निग्धगुर्वन्नसेवनाच्चिन्तनाच्छ्रमात्। शोकाद्व्याध्यनुषङ्गाच्च वायुनोदीरितः कफः ॥२१॥
यदाऽसौ समवस्कन्द्य हृदयं हृदयाश्रयान्। समावृणोति ज्ञानादींस्तदा तन्द्रोपजायते ॥२२॥
हृदये व्याकुलीभावो वाक्चेष्टेन्द्रियगौरवम्। मनोबुद्ध्यप्रसादश्च तन्द्राया लक्षणं मतम् ॥२३॥
कफघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च। व्यायामो रक्तमोक्षश्च भोज्यं च कटुतिक्तकम् ॥२४॥

तन्द्रा के हेतु एवं संप्राप्ति (Signs and Symptoms of Tandrā)–

१. मधुर, स्निग्ध एवं गुरु (पचने में भारी) अन्न का सेवन करना।

२. अत्यधिक चिन्तित रहना, अत्यधिक भयभीत होना ('छ्रमात' के स्थान पर 'भयात्' पाठ प्राप्त होता है। मूल पाठ स्वीकार करने पर- 'अत्यधिक परिश्रम करना' अर्थ होगा।)

३. शोक के कारण।

४. पुरानी बीमारी से ग्रसित होना, अर्थात् एक ही व्याधि से अधिक समय तक पीड़ित रहना।

उपरोक्त कारणों से प्रकुपित हुई वायु कफ को बढ़ाकर (प्रेरित करके) हृदय में व्याप्त हो जाती है तथा वहाँ स्थित संज्ञावाही स्रोतों को आवृत करके तन्द्रा रोग को उत्पन्न करती है।

तन्द्रा के लक्षण (Signs and Symptoms of Tandrā)–

१. हृदय का व्याकुल होना (uncomfortable feeling in the heart)।

२. वाणी, चेष्टा एवं इन्द्रियों में भारीपन का होना। अर्थात् इनके कार्यों में अल्पता का आना।

३. मन व बुद्धि का निर्मल न होना, अर्थात् मन व बुद्धि भी अपने विषयों को सम्यक् रूप से ग्रहण नहीं कर पाते।

ये सभी लक्षण **तन्द्रा** में पाये जाते हैं।

तन्द्रा रोग की चिकित्सा (Treatment of Tandrā)–

१. कफनाशक शोधन एवं शमन चिकित्सा का प्रयोग।

२. व्यायाम करना (Physical exercise)

३. रक्तमोक्षण करना (Blood letting)

४. कटु एवं तिक्त रस प्रधान आहार द्रव्यों का सेवन; इन उपक्रमों द्वारा तन्द्रा रोग की चिकित्सा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'मधुरस्निग्धेत्यादि' के द्वारा यहाँ तन्द्रा के लक्षण एवं चिकित्सा का अभिधान किया गया है, ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। ॥२१-२४॥

विशेष (Comments)– सुश्रुत संहिता में तन्द्रा के बारे में कहा भी गया है, यथा– "इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत्॥" (सु.शा. ४/४९) इति [इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध) का ज्ञान न हो पाना, शरीर में भारीपन का होना, जम्भाई का आना (क्रिया रूप में)- To open your mouth wide and breath in deeply through it, usually because you are tired or bored, क्लम Exhaustion– बिना परिश्रम किये अत्यधिक थकावट का अनुभव करना (The state of being very tired) तथा निद्रा युक्त व्यक्ति के समान चेष्टा का होना; ये सभी लक्षण **तन्द्रा** में पाये जाते हैं।]

Scanned by CamScanner

मूत्रौकसादौ जठरं कृच्छ्रमुत्सङ्गसंक्षयौ । मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातबस्त्युष्णमारुतौ ।।२५।।
वातकुण्डलिका ग्रन्थिर्विड्घातो बस्तिकुण्डलम् । त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषास्ताँल्लिङ्गतः शृणु ।।२६।।

बस्तिरोग

बस्ति रोगों की गणना (Enumeration of Urinary diseases)– बस्ति में (मूत्र में) दोषों के व्याप्त होने पर अधोलिखित तेरह व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, उनका विवेचन अलग-अलग आगे किया जा रहा है। हे अग्निवेश उसे सुनो–

१. मूत्रौकसाद (मूत्र का गाढ़ा निकलना (Scanty urination)
२. मूत्रजठर (Abdominal swelling because of urinary retention-मूत्रावरोध)
३. मूत्रकृच्छ्र (कष्ट के साथ मूत्र त्याग करना- dysuria)
४. मूत्रोत्सङ्ग (Stricture of Urethra) [मूत्र + सङ्ग = मूत्र का अवरुद्ध होना]
५. मूत्रक्षय (Anuria or suppression of urine)
६. मूत्रातीत (Delayed micturition– Partic kind of retention of urine)
७. वाताष्ठीला (A stone like growth in the bladder due to aggravation of vāyu)
८. वातबस्ति (Affliction of bladder by vāyu)
९. उष्णवात (Burning micturition)
१०. वातकुण्डलिका (spasmodic stricture)
११. मूत्रग्रन्थि (Enlarged prostate)
१२. विड्विघात (Fecal fistula)
१३. बस्तिकुण्डल (Atonic condition of bladder)

चक्रपाणि– 'मूत्रौकसाद इत्यादि' के द्वारा हृदयरोगों के विवेचन के बाद बस्तिरोग का विवेचन किया जा रहा है। यहाँ वर्णित मूत्रदोष या व्याधियाँ चि.अ. २६/३२-३५ में प्रतिपादित **मूत्रकृच्छ्र** रोग से भिन्न हैं, अर्थात् पृथक् हैं । ।।२५-२६।।

पित्तं कफो द्वावपि वा बस्तौ संहन्यते यदा । मारुतेन तदा मूत्रं रक्तं पीतं घनं सृजेत् ।।२७।।
सदाहं श्वेतसान्द्रं वा सर्वैर्वा लक्षणैर्युतम् । मूत्रौकसादं तं विद्यात् पित्तश्लेष्महरैर्जयेत् ।।२८।।

मूत्रौकसाद की सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा– जब बस्ति में पित्त एवं कफ अलग-अलग अथवा मिश्रित रूप में प्रकुपित वायु द्वारा मिलकर जम जाते हैं अथवा गाढ़े हो जाते हैं। तब उस समय रोगी कष्ट के साथ रक्त-पीत अथवा श्वेत वर्ण का गाढे मूत्र का त्याग करता है। मूत्र त्याग करते समय मूत्रेन्द्रिय में जलन होती है। अथवा रोगी इन सभी लक्षणों से युक्त मूत्र का त्याग करता है। इस व्याधि को **मूत्रौकसाद** कहते हैं।

इसकी चिकित्सा पित्त व कफ नाशक औषधियों द्वारा करना चाहिए।

चक्रपाणि– पित्तं कफ इत्यादि के द्वारा **मूत्रौकसाद** को स्पष्ट किया गया है। **अयं च वातकफ, पित्तवात-त्रिदोषैर्जन्यत इत्युक्तं भवति-** यह व्याधि वात कफ, पित्त वात अथवा वातपित्तकफ (त्रिदोष) द्वारा उत्पन्न होती है, यह बताया गया है। संहन्यते इति संहते- जमना (सम्पृक्त) । **रक्तपीतवर्णता पित्तेन-** मूत्र का वर्ण- **रक्त-पीत** होना पित्त के द्वारा होता है। अर्थात् रोगी इस व्याधि में रक्त व पीत वर्ण का मूत्र त्याग करता है, जो वायु के साथ पित्त के प्रकोप का द्योतक है। मूत्र का वर्ण श्वेत होना कफ के द्वारा तथा कफ व पित्त दोनों के लक्षणों का मिलना दोनों के ही प्रकोप में पाया जाता है। वायु तो सबमें ही विद्यमान रहती है। यहाँ वायु के आवरण के ही कारण यह व्याधि उत्पन्न होती है। अर्थात् यह आवरण जन्य व्याधि है। इसलिए पित्त व कफ की ही चिकित्सा को 'पित्तश्लेष्महरैर्जयेत्' इति के द्वारा बताया गया है। अर्थात् यहाँ पित्त व कफ के द्वारा वायु का आवरण होता है। (वायु, पित्त व कफ द्वारा आवृत्त होती है।) अतः पित्त-कफ नाशक चिकित्सा द्वारा उसका आवरण दूर हो जाने से प्रकुपित वायु स्वतः शान्त हो जाती है। ।।२७-२८।।

विशेष (Comments)– यहाँ मूत्रौकसाद के तीन भेद बताये गये हैं– १. वातकफजन्य, २. पित्तवातजन्य, ३. त्रिदोषजन्य।

विधारणात् प्रतिहतं वातोदावर्तितं यदा । पूरयत्युदरं मूत्रं तदा तदनिमित्तरुक् ।।२९।।
अपक्तिमूत्रविट्सङ्गैस्तन्मूत्रजठरं वदेत् । मूत्रवैरेचनीं तत्र चिकित्सां संप्रयोजयेत् ।।३०।।
हिङ्गुद्विरुत्तरं चूर्णं त्रिमर्मीये प्रकीर्तितम् । हन्यान्मूत्रोदरानाहमाध्मानं गुदमेढ्रयोः ।।३१।।

Scanned by CamScanner

२. मूत्रजठर के हेतु, संप्राप्ति एवं लक्षण– मूत्र के वेग को रोकने से अवरुद्ध हुई वायु ऊपर की ओर गति करती है। परिणामस्वरूप उदर में मूत्र अधिक भर जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी के उदर में बिना कारण ही वेदना होती है, भोजन का पाचन नहीं होता, मूत्र एवं पुरीष अवरुद्ध हो जाते हैं। इस व्याधि को **मूत्रजठर** कहते हैं।

इस व्याधि की चिकित्सा मूत्रविरेचनीय (Diuretics) औषधियों द्वारा करनी चाहिए। त्रिमर्मीय चिकित्सा नामक अध्याय में वर्णित हिङ्ग्वादित्तर चूर्ण के प्रयोग से मूत्रोदर (मूत्र जठर) तथा गुदा व मूत्रेन्द्रिय में होने वाले आध्मान का नाश होता है। अर्थात् इन व्याधियों में हिङ्ग्वादित्तर चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– अनिमित्तरुगिति अलक्ष्यमाण निमित्तरुक्– बिना कारण के ही वेदना का होना, अथवा वेदना का हेतु उपलब्ध न होना। मूत्रवैरेचनीमिति मूत्रविरेचनीयदशकप्रयोगरूपाम्– इससे षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय (सू.अ. ४/३५) में वर्णित मूत्रविरेचनीय महाकषाय के १० द्रव्यों, यथा– वृक्षादनी (वन्दाक), गोखरू, वसुक, वशिर, पाषाणभेद, दर्भ, कुश, काश, गुडूची (गुन्द्रा) तथा इत्कट (शरमूल) का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् इनका प्रयोग करना चाहिए।

हिङ्ग्वादित्तरं से यहाँ– "द्वित्तरं हिङ्ग्ववचा" (चि.अ. २६) इति के द्वारा वर्णित योग का ग्रहण करना चाहिए। जिसका विवेचन पूर्व (चि.अ. २६/२०) में किया जा चुका है। हिङ्ग्वादित्तरं यस्मिन् तद्धिङ्ग्वादित्तरम्- जिस रोग में बाद में आने वाले द्रव्य क्रमशः पूर्व के द्रव्य से दूने प्रमाण में लिए जाँय वह 'हिङ्ग्वादित्तर' कहलाता है।

[**हिङ्ग्वादित्तर चूर्ण–** हींग- १ भाग, वचा- २ भाग, अग्निक (चित्रक)- ४ भाग, कूठ- ८ भाग, सज्जीक्षार- १६ भाग, वायविडङ्ग- ३२ भाग; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर कपड़छन चूर्ण कर लें। यहाँ क्रमशः द्वित्तर क्रम में ही द्रव्यों का ग्रहण किया गया है।]

मूत्रितस्य व्यवायात्तु रेतो वातोद्धतं च्युतम् । पूर्वं मूत्रस्य पश्चाद्वा स्रवेत् शुक्रं तदुच्यते ।।३२।।
खवैगुण्यानिलाक्षेपैः किञ्चिन्मूत्रं च तिष्ठति । मणिसन्धौ स्रवेत् पश्चात्तदरुग्वाऽथ चातिरुक् ।।३३।।
मूत्रोत्सङ्गः स विच्छिन्नमुच्छेषगुरुशेफसः । वाताकृतिर्भवेद्वाताम्मूत्रे शुष्यति संक्षयः ।।३४।।
चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते । मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ।।३५।।
आध्मापयन् बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् । कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ।।३६।।
मूत्रं धारयतो बस्तौ वायुः क्रुद्धो विधारणात् । मूत्ररोधार्तिकण्डूभिर्वातबस्तिः स उच्यते ।।३७।।
उष्मणा सोष्मकं मूत्रं शोषयन् रक्तपीतकम् । उष्णवातः सृजेत् कृच्छ्राद्वस्त्युपस्थार्तिदाहवान् ।।३८।।
गतिसङ्गादुदावृत्तः स मूत्रस्थानमार्गयोः । मूत्रस्य विगुणो वायुर्भग्नव्याविद्धकुण्डली ।।३९।।
मूत्रं विहन्ति संस्तम्भभङ्गगौरववेष्टनैः । तीव्ररुङ्मूत्रविट्सङ्गैर्वातकुण्डलिकेति सा ।।४०।।
रक्तं वातकफाद्दुष्टं बस्तिद्वारे सुदारुणम् । ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम् ।।४१।।
अश्मरीसमशूलं तं रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते । रूक्षदुर्बलयोवतिनोदावृत्तं शकृद्यदा ।।४२।।
मूत्रस्रोतः प्रपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः । विड्गन्धं मूत्रयेत् कृच्छ्राद्विड्विबद्धातं विनिर्दिशेत् ।।४३।।
द्रुताध्वलङ्घनायासादभिघाताद् प्रपीडनात् । स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ।।४४।।
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि । पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ।।४५।।
बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् । पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ।।४६।।
तस्मिन् पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता । श्लेष्मणा गौरवं शोफः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।।४७।।
श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति । अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।।४८।।
स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते हृन्मोहः श्वास एव च ।

३. मूत्रकृच्छ्र के हेतु, सम्प्राप्ति एवं लक्षण– मूत्र का वेग आने पर बिना मूत्र त्याग किये जो व्यक्ति मैथुन में प्रवृत्त होता है। उस पुरुष में वृद्ध वायु के द्वारा अपने स्थान से च्युत शुक्र मूत्र के पूर्व अथवा पश्चात् गिरता है। इस व्याधि को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। [इसके लक्षणों से ऐसा प्रतीत होता है, कि यह व्याधि **मूत्रशुक्र** ही है, यथा– "मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् । स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते।।" (वा.नि. ९) [मूत्र का वेग आने पर स्त्री के साथ मैथुनासक्त पुरुष की वायु प्रकुपित हो जाती है। परिणाम स्वरूप वायु द्वारा अवरुद्ध किन्तु अपने स्थान से च्युत शुक्र मूत्र त्याग के पूर्व अथवा बाद में निकलता है। इसमें मूत्र चूने के पानी के समान श्वेत वर्ण युक्त आता है। इसलिये इस व्याधि को **मूत्रशुक्र** कहते हैं।]

४. मूत्रोत्सङ्ग के हेतु एवं लक्षण– मूत्रवाही स्रोतस् की विकृति के कारण, अथवा वायु के आक्षेप द्वारा (Spasm caused by vāyu) कुछ मूत्र मूत्रेन्द्रिय में ही रुक जाता है। अथवा मणि के संधिभाग में रुक जाता है । कुछ समय पश्चात् बिना वेदना के अथवा अत्यधिक वेदना के साथ वह रुका हुआ मूत्र स्रवित होता है। मूत्रावरोध के कारण मूत्रेन्द्रिय (Penis) में भारीपन प्रतीत होता है, शेष मूत्र धारा के रूप में न निकलकर बूंद-बूंद करके बाहर निकलता है।

Scanned by CamScanner

५. मूत्रक्षय के लक्षण– प्रकुपित हुई वायु बस्ति स्थित मूत्र को सूखा डालती है। इस व्याधि को **मूत्रक्षय** कहते हैं। इसमें वात के ही लक्षण पाये जाते हैं।

६. मूत्रातीत के लक्षण– उत्पन्न मूत्र के वेग को धारण करने के बाद पुनः मूत्रत्याग की इच्छा होने पर भी अवरुद्ध मूत्र शीघ्रता पूर्वक नहीं प्रवृत्त होता । व्यक्ति द्वारा मूत्र त्याग हेतु प्रयास करने पर वह (मूत्र) धीरे-धीरे निकलता है। इस व्याधि को **मूत्रातीत** कहते हैं।

७. वातष्ठीला की सम्प्राप्ति एवं लक्षण– प्रकुपित हुई वायु बस्ति एवं गुदा में अवरोध उत्पन्न करके उसमें आध्मान उत्पन्न करते हुए चल (इधर-उधर गमनशील), उभार युक्त एवं तीव्र वेदना से युक्त अष्ठीला रोग को उत्पन्न करती है। इसके उत्पन्न होने से मूत्र एवं मल मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

८. वातबस्ति के लक्षण– मूत्र के वेग को धारण करने से बस्ति प्रदेश में स्थित वायु प्रकुपित होकर अधोलिखित लक्षणों को उत्पन्न करती है– १. मूत्रावरोध (मूत्र का बाहर न निकलना- Retention of Urine), २. बस्ति प्रदेश में पीड़ा का होना, ३. बस्ति प्रदेश में खुजली (कण्डू- Itching) का होना। इन लक्षणों से युक्त व्याधि को वातबस्ति कहते हैं।

९. उष्णवात के लक्षण– पित्त के साथ प्रकुपित हुई वायु पित्त की ऊष्मा द्वारा बस्ति (Urinary bladder) में स्थित मूत्र को सुखाते हुए कष्ट के साथ रक्त व पीत वर्ण युक्त मूत्र का त्याग कराती है। इस व्याधि में आतुर के बस्ति प्रदेश एवं मूत्रेन्द्रिय (Penis) में पीड़ा व दाह (Burning sensation) भी होता है। इस व्याधि को उष्णवात कहते हैं।

१०. वातकुण्डलिका की सम्प्राप्ति एवं लक्षण– मूत्र की स्वाभाविक गति में अवरोध होने से विगुणता को प्राप्त वायु (वायु की गति नीचे की ओर न होकर ऊपर की ओर होने लगती है) मूत्र स्थान एवं मूत्र के मार्ग में भग्न (टूटे हुए के समान), व्याविद्ध (बिद्ध हुए के समान) एवं कुण्डली के समान चलते हुए मूत्र की गति में रुकावट उत्पन्न करती है। परिणाम स्वरूप उन स्थानों में जकड़ाहट (Stiffness), अङ्ग गौरव (शरीर में भारीपन), भङ्ग (टूटने के समान पीड़ा का होना), शरीर में ऐंठन, तीव्र पीड़ा का होना तथा मल एवं मूत्र का अवरुद्ध हो जाना, लक्षण मिलते हैं। इन लक्षणों से युक्त व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं।

११. रक्तग्रन्थि के लक्षण– वात व कफ के द्वारा दूषित रक्त बस्ति द्वार में पहुँचकर भयङ्कर ग्रन्थि को उत्पन्न करता है। ग्रन्थि द्वारा मूत्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाने से रोगी कष्ट के साथ मूत्र का त्याग करता है। इस व्याधि में अश्मरी के समान वेदना (शूल) होती है। इन लक्षणों वाली व्याधि को **रक्तग्रन्थि** कहते हैं।

१२. विड्विघात की सम्प्राप्ति– रूक्ष तथा दुर्बल पुरुषों में वात के प्रकुपित होने से जब मल (पुरीष) नीचे की ओर गति न करके ऊपर की ओर चलकर मूत्रवह स्रोतस् में पहुँच जाता है तब वह व्यक्ति कठिनता के साथ मल मिश्रित, पुरीष के गन्ध के समान मूत्र का त्याग करता है। इस व्याधि को विड्विघात कहते हैं।

१३. बस्तिकुण्डल के हेतु एवं सम्प्राप्ति– अत्यधिक तेज गति से पैदल चलने से, लङ्घन करने से, परिश्रम करने से, अभिघात (चोट लग जाने) से, अथवा दबाव के कारण बस्ति (Urinary bladder) अपने स्थान से ऊपर की ओर च्युत हो (हट) जाती है। उसका मुख ऊपर की ओर हो जाने से वह मोटी होकर गर्भ के समान प्रतीत होती है। **लक्षण–** इस अवस्था में आतुर में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं– १. उदर शूल का होना (Colic pain), २. स्पन्दन का होना (throbbing pain), ३. जलन का होना (Burning sensation), ४. मूत्र का बूंद-बूंद करके निकलना, ५. बस्ति प्रदेश के ऊपर हाथ से दबाने पर मूत्र धार के रूप में बाहर निकलता है, ६. बस्ति प्रदेश में जकड़ाहट (Stiffness), ऐंठन (cramps) एवं वेदना का होना।

इन लक्षणों से युक्त व्याधि को बस्तिकुण्डल कहते हैं। यह शस्त्र व विष के समान बहुत ही भयङ्कर व्याधि है। इसमें वायु की प्रबलता होती है। अज्ञ वैद्य को इसका ज्ञान नहीं हो पाता तथा वह इसकी चिकित्सा भी नहीं कर पाता है। जब इस व्याधि में पित्त का सम्बन्ध हो जाता है, अर्थात् पित्त की वृद्धि हो जाती है तब रोगी में दाह (Burning sensation), शूल (Colic pain) एवं मूत्र की विवर्णता (Discolouration of the urine) के लक्षण पाये जाते हैं। कफ की वृद्धि होने पर शरीर में भारीपन (Heaviness of the body), शोफ (Oedema), मूत्र का चिकना, गाढ़ा एवं श्वेत वर्ण का होना पाया जाता है।

१. यदि बस्ति का द्वार कफ द्वारा अवरुद्ध हो तथा पित्त बढ़ा हुआ हो, इस अवस्था में यह व्याधि असाध्य (Incurable) होती है। २. यदि बस्तिमुख कफ द्वारा अवरुद्ध न हो अथवा मुड़ा हुआ न हो; इस अवस्था में यह व्याधि साध्य (Curable) होती है। ३. बस्ति के कुण्डलाकार (मुड़ जाना अथवा Twisted होना) होने पर हृदय में घबराहट (Cardiac distress), मोह एवं श्वास की वृद्धि होने लगती है। [हृन्मोह के स्थान पर तृण्मोह पाठ होने पर प्यास की अधिकता, मोह (Loss of consciousness) का मिलना, अर्थ ग्रहण करना चाहिए।]

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– मूत्रितस्येति मूत्रवेगगतस्य- मूत्र के वेग को धारण करना, अर्थात् मूत्र के वेग को रोकना। मूत्र के वेग को धारण करते हुए व्यवाय करना, ऐसा करने से वायु शुक्र को अपने स्थान से हटाकर ऊपर की ओर फेंक देती है जिसके कारण वह मूत्र के पूर्व अथवा पश्चात् निकलता है। इस अवस्था को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं। **च्युतमिति स्वस्थानाच्च्युतम्–** अपने स्थान से अलग हट जाना। वायु के द्वारा शुक्र अपने स्थान से च्युत हो जाता है। वातोद्धतमिति वातविक्षिप्तम्- वायु के द्वारा अपने स्थान से ऊपर की ओर फेंका जाना, वायु शुक्र को अपने स्थान से ऊपर की ओर फेंक देती है।

[उद्धत- (उद् + हन् + क्त) १. ऊँचा किया हुआ, उन्नत या ऊपर उठा हुआ) २. उत्तेजित करना)। इसमें कृच्छ्रता के लक्षण न मिलते हुए भी इसे **मूत्रकृच्छ्र** कहा गया है। मूत्रकृच्छ्र के लक्षण तो अलग होते हैं। अर्थात् मूत्रकृच्छ्र एक अलग व्याधि है। क्योंकि उसमें ये लक्षण नहीं पाये जाते हैं। **किञ्चिदिति स्तोकम्–** अल्प मात्रा में। **उच्छेषगुरुशेफस् इति प्रवृद्धमूत्रावशेषेण स्थितेन गुरुशेफस इति–** बढ़ा हुआ मूत्र मूत्रेन्द्रिय में रुकने के कारण उसमें भारीपन का होना। [प्रवृद्धमूत्रौ + अशेषेण = प्रवृद्धमूत्रावशेषेण, अयादि संधि-एचोऽयवायावः] 'वाताकृतिरित्यादि' के द्वारा मूत्रक्षय के लक्षणों का अभिधान किया गया है। वाताकृतिरिति- वात के लक्षणों का मिलना, मूत्रक्षय में वृद्ध वात के लक्षण मिलते हैं। **विधारणादिति–** मूत्रवेग के अवरोध से। ऊष्मणेति = पित्त की ऊष्मा (Heat) द्वारा। **शोषयन्निति ऊष्मणा सहितो वात एव मूत्रं शोषयन्–** ऊष्मा के साथ वात ही मूत्र को सुखाते हुए, अर्थात् प्रकुपित वात, पित्त की ऊष्मा से मिलकर बस्ति में स्थित मूत्र को सुखाते हुए कष्ट के साथ रक्त व पीत वर्ण युक्त मूत्र को बाहर निकालती है। इसमें बस्ति व मूत्रेन्द्रिय में वेदना एवं दाह (जलन) होता है। ये लक्षण **उष्णवात** के बताये गये हैं। 'गतिसङ्गादित्यादि' के द्वारा **वातकुण्डलिका** के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। **मूत्रस्य गतिसङ्गादुदावृत्तो वायुर्मूत्रस्थानमार्गयोर्भग्नव्याबिद्धकुण्डली मूत्रयति–** मूत्र की गति में अवरोध होने से प्रकुपित वायु ऊर्ध्वगामी होकर मूत्रस्थान (Urinary bladder बस्ति) तथा मूत्रमार्ग (Urethra) से भग्न, व्याबिद्ध एवं कुण्डली के समान होकर मूत्र का त्याग कराती है। भग्नः प्रतिहतः– बस्ति एवं मूत्रनलिका को नष्ट करते हुए या नष्ट करने के समान। व्याविद्धः वक्री = टेढ़ा करना, बस्ति एवं मूत्रनलिका को टेढ़ा करना। कुण्डलीति आवर्तमानतया स्थितः– बस्ति एवं मूत्रनलिका को मोड़ते हुए (Twisted) मूत्र को निकालती है। इस प्रकार की वायु की उपस्थिति का स्थान मूत्रमार्ग ही होता है। 'संस्तम्भेत्यादि' के द्वारा वातकुण्डलिका के लक्षणों को स्पष्ट किया गया है। भङ्ग = टूटने के समान वेदना का होना। **रक्तं ग्रन्थिं कुर्यात् वातकफाभ्यां दुष्टमिति योज्यम्–** वात एवं कफ के द्वारा दूषित रक्त बस्ति मुख पर एकत्र होकर रक्तग्रन्थि को उत्पन्न करता है। [वात व कफ के द्वारा दूषित रक्त **रक्तग्रन्थि** को उत्पन्न करता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

विड्युक्तो विघातो विड्विघातः– विड् युक्त विघात (अवरोध) **विड्विघात** कहलाता है। मल का अवरोध होकर मूत्रवहस्रोत में पहुँचना विड्विघात कहलाता है। [गुदमूत्राशयिक भगन्दर (Recto-vesical fistula) में प्रायः यह लक्षण पाया जाता है। इस व्याधि में मूत्र में मल के अंश अथवा गंध मिलते हैं।]

'द्रुताध्वेत्यादि' के द्वारा **बस्तिकुण्डल** को स्पष्ट किया गया है। उद्वृत्त इति परावृत्तमुखः– बस्ति का मुख ऊपर की ओर हो जाना। पीडित इति हस्तादिभिः– हाथ आदि से दबाने पर, बस्ति के ऊपर हाथ से दबाने पर मूत्र धार के रूप में बाहर निकलता है।

श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिर्न सिध्यति, तथा पित्तेदीर्णश्च न सिध्यति– यदि मूत्रमार्ग अथवा बस्ति का मुख (Opening of the bladder) कफ द्वारा अवरुद्ध है, तब यह व्याधि साध्य नहीं होती, अथवा यदि पित्त अत्यधिक वृद्ध है तब भी यह असाध्य होती है। अविभ्रान्तबिल इति– बस्तिमुख का अवरुद्ध न होना, यदि बस्तिमुख अवरुद्ध नहीं है अथवा कुण्डलीकृत (Twisted) नहीं है तब यह व्याधि साध्य होती है। वर्तुलीकृत बस्ति (Twisted urinary bladder) के लक्षणों को यहाँ 'स्याद्वस्तावित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥३२-४८॥

दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान् मूत्रकृच्छ्रहरैर्जयेत् ॥४९॥
बस्तिमुत्तरबस्तिं च सर्वेषामेव दापयेत् ।

बस्तिकुण्डल का चिकित्सा सूत्र– इस व्याधि में दोषों की प्रबलता (उल्बणता) का विचार करते हुए मूत्रकृच्छ्र नाशक योगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिए। अथवा सभी प्रकार के बस्ति सम्बन्धी रोगों में बस्ति एवं उत्तरबस्ति की योजना करनी चाहिए।

चक्रपाणि– 'दोषाधिक्यमित्यादि' के द्वारा बस्ति सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा को स्पष्ट किया गया है। मूत्रकृच्छ्रहरैः प्रयोगैर्दोषाधिक्यमवेक्ष्य प्रयुञ्जैर्जयेदित्यर्थः– दोषों की उल्बणता का विचार करके मूत्रकृच्छ्र नाशक औषधियों के प्रयोग द्वारा बस्ति सम्बन्धी रोगों को जीतना चाहिए। अर्थात् इन व्याधियों की चिकित्सा चि.अ. २६ में वर्णित मूत्रकृच्छ्रहर योगों द्वारा करनी चाहिए। ॥४९॥

विशेष (Comments)– 'दोषाधिक्यमवेक्ष्यैतान्' के स्थान पर श्री नरेन्द्रनाथ सेन गुप्त एवं बलाइचन्द्र सेन गुप्त संपादित चरक पाठ में 'दोषवेगमवेक्ष्यैतान्' शब्द प्राप्त होता है। यहाँ १३ प्रकार के मूत्र दोषों की चिकित्सा को दोषाधिक्य का विचार करते हुए मूत्रकृच्छ्रहर औषधियों द्वारा करने का निर्देश दिया गया है। इसके साथ ही इनमें बस्ति (आस्थापन एवं अनुवासन) के साथ-साथ उत्तरबस्ति का भी प्रयोग यथावश्यक रूप से करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

पुष्पनेत्रं तु हैमं स्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम् ।।५०।।
जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम् । रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशाङ्गुलम् ।।५१।।
तेनाजबस्तियुक्तेन स्नेहस्यार्धपलं नयेत् । यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य वा ।।५२।।
स्नातस्य भुक्तभक्तस्य रसेन पयसाऽपि वा । सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ ।।५३।।
ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्रे घृताक्तया । शलाकयाऽन्विष्य गतिं यद्यप्रतिहता व्रजेत् ।।५४।।
ततः शेफःप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत् । गुदवन्मूत्रमार्गेण प्रणयेदनु सेवनीम् ।।५५।।
हिंस्यादतिगतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति । सुखं प्रपीड्य निष्कम्पं निष्कर्षेन्नेत्रमेव च ।।५६।।
प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत् । अनागच्छन्नुपेक्ष्यस्तु रजनीव्युषितस्य च ।।५७।।

उत्तरबस्ति का निर्माण– उत्तर बस्ति का नेत्र (Nozzle for Uttara-basti), स्वर्ण अथवा चाँदी का बना होना चाहिए, साथ में श्लक्ष्ण (Smooth-चिकना) भी होना चाहिए। इसका मुख (अग्र) चमेली (जाती) अथवा कनेर के पुष्प वृन्त के समान तथा आकृति गाय के पुच्छ (पूँछ) के समान होनी चाहिए। इसका छिद्र ऐसा हो कि उसमें पीली सरसो का बीज आसानी से प्रवेश कर सके। पुष्पनेत्र- १२ अङ्गुल लम्बा तथा दो कर्णिका युक्त होना चाहिए। इस नेत्र को बकरी के मूत्राशय (बस्ति) में बाँधें। बस्ति के रूप में अर्धपल (२ तोला) स्नेह का प्रयोग करें। अथवा आतुर के वय आदि का विचार करते हुए स्नेह की उचित मात्रा का प्रयोग उत्तरबस्ति के रूप में करना चाहिए।

उत्तरबस्ति देने की विधि– जो रोगी स्नान करने के बाद मांसरस अथवा दूध के साथ भोजन ग्रहण कर चुका हो एवं साथ-साथ मल-मूत्र का भी त्याग कर चुका हो, जो रोगी, जानु के बराबर ऊँचे चारपाई या तख्त (चौकी) जिस पर सुखकर (आराम दायक) बिस्तर बिछा हो, बैठा हुआ हो। ऐसे रोगी के मूत्रेन्द्रिय (Penis) को उत्तेजित करके खड़ा कर लें एवं उसमें घी से लिप्त शलाका (Probe) डालकर मूत्रमार्ग का सही ज्ञान कर लें। अर्थात् मूत्रेन्द्रिय में घृत चुपड़ी हुई शलाका डालकर मार्ग के अवरोध का ज्ञान कर लें। यदि शलाका बिना अवरोध के अन्दर प्रविष्ट हो जाय तब उसे मूत्रेन्द्रिय से बाहर निकालकर मूत्रेन्द्रिय (Penis) की लम्बाई के बराबर पुष्पनेत्र (Nozzle of the basti) को उसमें प्रवेश करावें। इसका प्रयोग गुदमार्ग में प्रयुक्त बस्ति की भाँति किया जाता है। तदनुसार मूत्रमार्ग में सीवनी के सामने पुष्पनेत्र का प्रयोग करना चाहिए। यदि पुष्पनेत्र का प्रवेश मूत्रेन्द्रिय में उसकी लम्बाई से अधिक हो जाता है तब वह बस्ति में क्षत उत्पन्न करता है, यदि इसका प्रवेश आवश्यकता से कम होता है तब दी गयी औषधि (स्नेह) भीतर तक प्रवेश नहीं कर पाती। अतः उत्तरबस्ति का प्रयोग करते समय हाथ व पुष्पनेत्र को बिना कँपाते हुए (बस्ति देते समय हाथ व बस्तिनेत्र हिलना नहीं चाहिए) उचित दबाव के साथ औषधि द्रव्य (स्नेह) को अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए। औषधि द्रव्य (स्नेह) के अन्दर प्रविष्ट हो जाने के बाद हाथ व पुष्पनेत्र को बिना कंपाये सीधी दिशा में बाहर निकाल लें। उत्तरबस्ति द्वारा प्रविष्ट स्नेह के वापस लौट आने के बाद इसी प्रकार दूसरी व तीसरी बस्ति (उत्तरबस्ति) का प्रयोग करना चाहिए। यदि दी गयी बस्ति वापस नहीं लौटती तब रातभर के लिए उसकी अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् रात भर तक प्रत्यागम (लौटने) की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– पूर्व श्लोक में 'उत्तरबस्तिं दापयेदिति उक्तं' (उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए), यह कहा गया है। अतः उसके बाद यहाँ 'पुष्पनेत्रमित्यादि' के द्वारा उत्तरबस्ति देने की विधि का वर्णन किया गया है। **पुष्पनेत्रमित्युत्तरबस्तिनेत्रस्य संज्ञा'–** पुष्पनेत्र, यहाँ उत्तरबस्ति के नेत्र (Nozzle) का ही नाम दिया गया है।

उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमार्गदीयमानतया, किंवा श्रेष्ठगुणतया उत्तरबस्तिः– उत्तर (ऊपर) के मार्ग से दी जाने के कारण इस बस्ति को **उत्तरबस्ति** कहा जाता है। अथवा श्रेष्ठ गुण दर्शाने के कारण, इसे उत्तरबस्ति कहा जाता है। **जात्यश्वहनवृन्तेन सममिति जातेरश्वहनस्य च पुष्पयोर्वृन्तेनाग्रे समम्–** चमेली एवं कनेर के पुष्पवृन्त के समान पुष्पनेत्र का अग्र भाग होना चाहिए। हारीतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– "कुन्दस्य वृन्तप्रतिमं तथाऽग्रे" इति [कुन्द-चमेली का एक भेद, चमेली के पुष्पवृन्त के समान उत्तरबस्ति के नेत्र (पुष्पनेत्र) का अग्र भाग होना चाहिए।] अश्वहन= करवीर (कनेर) । सर्षपच्छिद्रमिति– पुष्पनेत्र का छिद्र ऐसा हो जिसमें खड़ी सरसो (पीली सरसों) का बीज आसानी से प्रविष्ट हो जाय।

द्विकर्णिकमिति नेत्रे बस्तिबन्धनार्थमेकतः कर्णिका– नेत्र में बस्ति को बाँधने के लिए एक कर्णिका, अर्थात् पहली कर्णिका नेत्र के मूल पर, जहाँ बस्ति का मुख Fix किया जाय, बनाते हैं। दूसरी कर्णिका पुष्पनेत्र के अग्रभाग से छः अङ्गुल दूर बनाना चाहिए। छः अङ्गुल शेफ (मूत्रेन्द्रिय) की माप बतायी गयी है। अथवा 'द्विकर्ण' के स्थान पर 'त्रिकर्णिकम्' पाठ प्राप्त होता है। [इस आधार पर दो कर्णिका नेत्र के मूल भाग पर तथा एक कर्णिका अग्र भाग से छः अङ्गुल ऊपर बनाते हैं। मूल पर बनी कर्णिका से बस्ति को बाँधते हैं तथा अग्र भाग पर निर्मित कर्णिका तक नेत्र को मूत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट कराते हैं।]

यथावयोविशेषेण स्नेहमात्रां विकल्प्य चेति– वय विशेष के आधार पर उत्तरबस्ति में प्रयुक्त स्नेह की योजना करना। अर्धपल (२ तोला), स्नेह का प्रयोग २५ वर्ष वाले पुरुष के लिए निर्धारित की गयी है। अर्थात् २५ वर्ष वाले व्यक्ति को उत्तरबस्ति के रूप में २ तोले

Scanned by CamScanner

स्नेह प्रयोग करना चाहिए। इसी के अनुसार इससे कम उम्र वाले पुरुष में वय के अनुसार स्नेह की मात्रा क्रमशः कम भी करनी चाहिए। सुश्रुतसंहिता में कहा भी गया है, यथा– "स्नेहप्रमाणं परमं प्रकुञ्चश्चात्र कीर्तितः । पञ्चविंशतिवर्षाणामर्वाग्बुद्धिविकल्पितम्" (सु.चि.अ. ३७/१०२) [उत्तरबस्ति में प्रयुक्त स्नेह की उत्तम मात्रा १ प्रकुञ्च (१ पल) होती है। पच्चीस वर्ष से कम आयु वाले पुरुषों के लिए स्नेह की मात्रा की योजना चिकित्सक को अपनी बुद्धि के अनुसार निर्धारित करना चाहिए।– स्नेहिक व निरूह भेद से उत्तरबस्ति के दो भेद होते हैं। सबसे पहले स्नेहबस्ति का प्रयोग होने के कारण सर्वप्रथम यहाँ स्नेह की ही मात्रा का अभिधान किया गया है। 'अत्रेति' से– सुश्रुत के मत के अनुसार अर्थ लिया गया है। अर्थात् आचार्य सुश्रुत के अनुसार उत्तरबस्ति में प्रयुक्त स्नेह की अधिकतम मात्रा १ पल (प्रकुञ्च) होती है। यह मात्रा २५ वर्ष वाले पुरुष के लिए बतायी गयी है। आचार्य चरक अर्धपल मात्रा को अधिकतम स्वीकार करते हैं। २५ वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्तियों के लिए इसकी मात्रा इस प्रकार होनी चाहिए– १ वर्ष के बालक के लिए एक पल का पच्चीसवां अंश स्नेह की मात्रा का ग्रहण करें। इसी प्रकार दो वर्ष के बालक के लिए प्रतिवर्ष १/२५वाँ भाग स्नेह बढ़ा देना चाहिए, अर्थात् २/२५ भाग स्नेह (१ पल का २/२५ भाग स्नेह) देना चाहिए। इस प्रकार तीसरे वर्ष में ३/२५ भाग, चौथे वर्ष में ३/२५ भाग + १/२५ भाग = ४/२५ स्नेह का प्रयोग करते हुए पच्चीसवें वर्ष में २४/२५ भाग + १/२५ भाग अर्थात् २५/२५ भाग (१ पल) स्नेह का प्रयोग करते हैं।

– सु.चि. ३७/१०२ पर डल्हण की टीका।]

हृष्टे इति– स्तब्धे (मूत्रेन्द्रिय को सीधा करके)। यदि मूत्रेन्द्रिय में शलाका डालने पर कोई अवरोध न हो, अर्थात् शलाका (Probe) आसानी से प्रविष्ट हो जाय तब उसे निकाल कर पुष्पनेत्र को शेफ (मूत्रेन्द्रिय) के प्रमाण के बराबर (छः अङ्गुल) मूत्रेन्द्रिय में प्रविष्ट कराना चाहिए। **शलाकया प्रथममन्वेषणं मार्गविज्ञानार्थम्–** सबसे पहले शलाका (Probe) का प्रयोग मूत्रेन्द्रिय के मार्ग की जानकारी हेतु करना चाहिए। अर्थात् इसके प्रयोग से मूत्रेन्द्रिय मार्ग (Urethra का मार्ग) का अवरोध सम्बन्धी ज्ञान होता है। यदि शलाका आसानी से प्रविष्ट हो जाती है तो समझना चाहिए कि उसमें किसी प्रकार का अवरोध नहीं है।

गुदवदिति– जिस प्रकार गुदा में बस्ति देते समय बस्तिनेत्र एवं हाथ को अकम्पन आदि गुणों से युक्त होकर बस्ति देते हैं वैसे ही मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) में भी उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् उन्हीं गुणों से युक्त होकर उत्तरबस्ति भी देनी चाहिए। **अतिगतं लिङ्गप्रमाणातिरेकप्रविष्टं नेत्रं बस्तिं हिंस्यात्–** यदि पुष्पनेत्र का प्रवेश अपने निर्धारित प्रमाण (छः अङ्गुल) से अधिक हो जाय तब नेत्र द्वारा बस्ति (Urinary bladder) में क्षत होने की संभावना रहती है। अथवा पुष्पनेत्र बस्ति में घाव उत्पन्न कर सकता है। **ऊने इति लिङ्गमानस्तोकप्रविष्टे–** पुष्पनेत्र को मूत्रेन्द्रिय में लिङ्ग प्रमाण (छः अङ्गुल) से कम प्रवेश कराने पर। ॥५०-५७॥

पिप्पलीलवणागारधूमापामार्गसर्षपैः । वार्ताकुरसनिर्गुण्डीशम्पाकैः ससहाचरैः ॥५८॥
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्तिं कृत्वा प्रवेशयेत् । अग्रे तु सर्षपाकारां पश्चार्धे माषसंमिताम् ॥५९॥
नेत्रदीर्घां घृताभ्यक्तां सुकुमारामभङ्गुराम् । नेत्रवन्मूत्रनाड्यां तु पायौ चाङ्गुष्ठसंमिताम् ॥६०॥
स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यामानुवासनिको विधिः । परिहारश्च सव्यापत् ससम्यग्दत्तलक्षणः ॥६१॥

पिप्पल्यादिवर्ति– (क) घटक द्रव्य-

• पिप्पली	- १ भाग	• निगुण्डी स्वरस	- १ भाग
• सैन्धव नमक	- १ भाग	• अमलतास की गुद्दी	- १ भाग
• गृहधूम	- १ भाग	• सहचर (कटसरैया पत्र)	- १ भाग
• अपामार्ग के बीज	- १ भाग	• गोमूत्र	- १ भाग
• पीली सरसो	- १ भाग	• काञ्जी	- यथावश्यक
• वार्ताकु (बड़ी कण्टकारी) के फल का रस	- १ भाग	• गुड़	- यथावश्यक

ख. निर्माण विधि– सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र व काञ्जी के साथ पीसकर महीन कर लें। फिर उसमें आवश्यकतानुसार गुड़ मिलाकर बत्ती (वर्ति) बना लें। बत्ती के बन जाने पर उसे छाया शुष्क कर लें। इस वर्ति को मूत्रमार्ग में प्रवेश कराना चाहिए। वर्ति की आकृति आगे की ओर सरसो के समान तथा पीछे का भाग उड़द के समान मोटा होना चाहिए। वर्ति की लम्बाई पुष्पनेत्र के समान लम्बी होनी चाहिए। वर्ति सुकुमार (मुलायम) व न टूटने वाली हो। इस प्रकार तैयार वर्ति को घृत से चुपड़कर पुष्पनेत्र की ही भाँति मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कराना चाहिए। इस वर्ति का प्रयोग अनुवासन बस्ति के वापस न लौटने पर भी किया जा सकता है, किन्तु गुदा में प्रयोग करने हेतु इसे अङ्गुठे के बराबर मोटी बनानी चाहिए।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार लिङ्गवर्ति व गुदवर्ति के प्रयोग द्वारा स्नेह के वापस लौट आने के बाद अनुवासन बस्ति में निर्दिष्ट विधियों का पालन करना चाहिए। उत्तरबस्ति के परिहार (पथ्य सेवन तथा अपथ्य त्याग), व्यापत् (उपद्रव) एवं सम्यक् प्रयोग के लक्षण वही होते हैं जो अनुवासन बस्ति में पाये जाते हैं।

चक्रपाणि– 'पिप्पलीत्यादि' के द्वारा प्रयुक्त उत्तरबस्ति के स्नेह के वापस न लौटने पर उसके प्रवर्तक (स्नेह को निकालने वाली) वर्ति को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इस वर्ति के प्रयोग से प्रयुक्त उत्तरबस्ति का अप्रवृत्त स्नेह वापस लौट आता है। **इयं च वर्तिर्गुडपाकेन कठिना कर्तव्या यथा श्लक्ष्णा भवति–** इस वर्ति में प्रयुक्त द्रव्यों को गुड़ में पकाकर उतना कठिन (Hard) कर लेते हैं जितने से चिकनी वर्ति बन सके। **पश्चार्धे इति मूले–** वर्ति का पश्च (पीछे) भाग उड़द के समान मोटा होना चाहिए। **अङ्गुष्ठसन्निभामिति पायौ स्नेह प्रवृत्यर्थं दीयमानाऽङ्गुष्ठसमाना कर्तव्या–** गुदा से स्नेह की प्रवृत्ति के लिए प्रयोग की जाने वाली वर्ति को अङ्गुठे के समान मोटी बनानी चाहिए। ताभ्यामिति– गुदवर्ति एवं मेढ्रवर्ति के प्रयोग द्वारा, (उनके द्वारा)। **उत्तरबस्तेरनुवासनवत् सेव्यपरिहारव्यापत्सम्यग्दत्तलक्षणान्यतिदिशन्नाह– अनुवासनिको विधिरित्यादि–** अनुवासन बस्ति में जो पथ्य, अपथ्य, उपद्रव एवं सम्यक् दत्त के लक्षण बताये गये हैं, उनका ही पालन उत्तरबस्ति में भी करना चाहिए, अर्थात् वही निर्देश यहाँ भी लागू होते हैं। जिसे यहाँ– 'आनुवासनिको विधिरित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥५८-६१॥

स्त्रीणामार्तवकाले तु प्रतिकर्म तदाचरेत् । गर्भासना सुखं स्नेहं तदाऽऽदत्ते ह्यपावृता ॥६२॥
गर्भं योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते । बस्तिजेषु विकारेषु योनिविभ्रंशजेषु च ॥६३॥
योनिशूलेषु तीव्रेषु योनिव्यापत्स्वसृग्दरे । अप्रस्रवति मूत्रे च बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ॥६४॥
विदध्यादुत्तरं बस्तिं यथास्वौषधसंस्कृतम् ।

स्त्रियों में उत्तरबस्ति के प्रयोग का काल– स्त्रियों में उत्तरबस्ति का प्रयोग ऋतुकाल (Menstrual period) में करना चाहिए, क्योंकि इस काल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है, जिसके कारण योनि शीघ्र ही स्नेह को ग्रहण कर लेती है। उत्तरबस्ति के प्रयोग द्वारा योनिगत प्रकुपित वायु के प्रशमित हो जाने पर वह (योनि) शीघ्र ही गर्भ को धारण कर लेती है।

स्त्रियों में अधोलिखित व्याधियों के होने पर उचित औषधियों से संस्कारित स्नेह का प्रयोग उत्तरबस्ति के रूप में करना चाहिए–

१. बस्ति सम्बन्धी विकारों में (Diseases of the Urinary bladder)।
२. योनिभ्रंश से उत्पन्न अन्य व्याधियाँ।
३. तीव्र योनिशूल (Excruciating pain in the uterus)।
४. योनिव्यापत् (२० प्रकार के योनि व्यापदों में)
५. असृग्दर (Menorrhagia- Irregular or excessive menstruation) की अवस्था में।
६. मूत्र का स्राव (त्याग) न होना अथवा बूंद-बूंद मूत्र का त्याग करना।

चक्रपाणि– आर्तवकाल को **सहज काल** कहा जाता है। इसी काल में स्त्रियों में **उत्तरबस्ति** का प्रयोग करना चाहिए। 'गर्भासनेत्यादि' के द्वारा आर्तवकाल में उत्तरबस्ति के प्रयोग के हेतु को स्पष्ट किया गया है। गर्भासना= गर्भशय्या, अर्थात् गर्भाशय, [इस काल में गर्भाशय का मुख खुला रहता है।] अन्य आचार्य यहाँ 'गर्भासन' से **'योनि'** का ग्रहण करते हैं। आदत्त इति– सम्यक् रूप से ग्रहण करता है, अर्थात् उत्तरबस्ति का स्नेह आसानी से गर्भाशय तक पहुँच जाता है। अपावृतेति– महीने भर के सञ्चित रज (Menstrual discharge) रूपी आवरण (अवरोध) का नष्ट होना। अर्थात् सञ्चित रज के निकल जाने पर गर्भाशय शुद्ध हो जाता है। ॥६२-६४॥

विशेष (Comments)– 'स्त्रिणामित्यादि' के द्वारा स्त्रियों में दी जाने वाली **उत्तरबस्ति** को स्पष्ट किया गया है। स्त्रियों के आर्तव-काल में निश्चित रूप से इसका प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि उत्तरबस्ति द्वारा प्रयुक्त स्नेह को, पूर्वमास के सञ्चित रज से आवृत न होने के कारण वह योनि सुखपूर्वक ग्रहण कर लेती है। स्नेह द्वारा योनिगत वात के प्रशमित होते ही शीघ्र ही गर्भ रुक जाता है।

– जल्पकल्पतरु टीका का हिन्दी अनुवाद।

पुष्पनेत्रप्रमाणं तु प्रमदानां दशाङ्गुलम् ॥६५॥
मूत्रस्रोतःपरीणाहं मुहस्रोतोऽनुवाहि च । अपत्यमार्गे नारीणां विधेयं चतुरङ्गुलम् ॥६६॥
द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमङ्गुलम् । उत्तानायाः शयानायाः सम्यक् सङ्कोच्य सक्थिनी ॥६७॥
अथास्याः प्रणयेन्नेत्रमनुवंशगतं सुखम् । द्विस्त्रिश्चतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत् ॥६८॥
बस्तौ, बस्तौ प्रणीते च वर्तिः पीनतरा भवेत् । त्रिरात्रं कर्म कुर्वीत स्नेहमात्रां विवर्धयेत् ॥६९॥
अनेनैव विधानेन कर्म कुर्यात् पुनस्त्र्यहात् ।

Scanned by CamScanner

स्त्रियों में उत्तरबस्ति हेतु पुष्पनेत्र का प्रमाण– एक प्रौढ़ स्त्री में प्रयुक्त होने वाले पुष्पनेत्र (Nozzle or Catheter) की लम्बाई दस अङ्गुल होनी चाहिए। इसकी गोलाई (Circumference) मूत्रवह स्रोत की चौड़ाई के अनुसार बनाना चाहिए। नेत्र का छिद्र इस प्रकार बनाना चाहिए कि उसमें खड़ा मूंग प्रविष्ट हो जाय। स्त्री के अपत्यमार्ग में ४ अङ्गुल नेत्र को प्रविष्ट कराना चाहिए, अर्थात् योनिरोगों में उत्तरबस्ति देने हेतु पुष्पनेत्र को स्त्री की योनि में ४ अङ्गुल प्रविष्ट कराते हैं तथा मूत्रगत रोगों को दूर करने हेतु प्रयुक्त उत्तरबस्ति के पुष्पनेत्र को मूत्रमार्ग में दो अङ्गुल प्रवेश कराना चाहिए, कन्याओं (बाला) के मूत्रमार्ग में मात्र १ अङ्गुल अन्दर तक पुष्पनेत्र को प्रविष्ट कराना चाहिए।

स्त्रियों में उत्तरबस्ति देने की विधि– स्त्री को उत्तान लिटावें तथा उसके दोनों पैरों को संकुचित करावें। अब उसके पृष्ठवंश की दिशा में पुष्पनेत्र को योनिमार्ग में आराम से प्रविष्ट करावें। योनिमार्ग में २४ घण्टे के अन्दर दो, तीन या चार बार बस्तिनेत्र से स्नेह का प्रयोग करना चाहिए। यदि उत्तरबस्ति के रूप में दिया गया स्नेह अपने निर्धारित समय में वापस नहीं लौटता है तब पूर्व वर्णित पिप्पल्यादि वर्ति का प्रयोग स्नेह की प्रवृत्ति हेतु कराना चाहिए। यह वर्ति बस्तिनेत्र (पुष्पनेत्र) की अपेक्षा मोटी होनी चाहिए। इस प्रकार स्नेह की मात्रा को बढ़ाते हुए इसका प्रयोग तीन रात्रि (तीन दिन) तक करना चाहिए। तीन दिन रुककर पुनः मात्रा को बढ़ाते हुए तीन दिन तक उत्तरबस्ति दें।

चक्रपाणि– 'पुष्पनेत्रप्रमाणं त्वित्यादि' के द्वारा स्त्रियों में प्रयुक्त होने वाली पुष्पनेत्र की लम्बाई को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् प्रौढ़ स्त्री में दी जाने वाली उत्तरबस्ति हेतु पुष्पनेत्र की लम्बाई दस अङ्गुल होती है। मुद्गस्रोतोऽनुवाहीति– पुष्पनेत्र का छिद्र ऐसा होना चाहिए कि उसमें खड़ी मूंग आसानी से आ जा सके।

अपत्यमार्गे विधेयं चतुरङ्गुलमिति– एक युवा स्त्री के अपत्यमार्ग (योनिमार्ग) में उत्तरबस्ति देने के लिए पुष्पनेत्र को चार अङ्गुल अन्दर प्रविष्ट कराना चाहिए। [अपत्यमार्ग के स्नेहन हेतु पुष्पनेत्र का प्रवेश ४ अङ्गुल करावें।] इसी प्रकार युवा स्त्री के मूत्रमार्ग के स्नेहन हेतु पुष्पनेत्र का प्रवेश दो अङ्गुल कराना चाहिए। [युवा स्त्री में बस्ति के स्नेहन हेतु मूत्रमार्ग में दो अङ्गुल पुष्पनेत्र प्रविष्ट कराकर उत्तरबस्ति दें तथा योनिमार्ग के स्नेहन हेतु पुष्पनेत्र को योनिमार्ग में चार अङ्गुल प्रविष्ट कराकर उत्तरबस्ति दें।]

बालिकाओं का मूत्रमार्ग छोटा होने के कारण उनमें १ अङ्गुल ही पुष्पनेत्र को प्रविष्ट कराना चाहिए। इनका अपत्यमार्ग (योनिमार्ग) आवृत होने के कारण अपत्यमार्ग में उत्तरबस्ति का प्रयोग नहीं किया जाता।

वर्तिः पीनतरा भवेदिति– स्नेह के प्रत्यागम के लिए (वापस लाने के लिए) मोटी **पिप्पल्यादि वर्ति** का प्रयोग करना चाहिए। (यह निर्देश योनिमार्ग से स्नेह को वापस लाने के सम्बन्ध में है।) आचार्य सुश्रुत ने योनिमार्ग में प्रयुक्त होने वाली स्नेह की मात्रा- १ प्रसृत अर्थात् अङ्गुलीमूल के बराबर बताया है,। यथा– "स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वाङ्गुलीमूलसंमितम्। देयं प्रमाणं परममर्वाग् बुद्धिविकल्पितम्" (सु.चि.अ. ३७/१०६) इति [स्त्रियों में स्नेह की मात्रा उनके अङ्गुलीमूल के बराबर १ प्रसृत (एक अञ्जलि) ग्रहण करना चाहिए। यही प्रमाण बलवान् रोग में सभी अवस्थाओं में ग्रहण करना चाहिए। मध्य व हीन बल वाले रोगों में चिकित्सक को अपने विवेक के अनुसार अल्प मात्रा की कल्पना करनी चाहिए।] ॥६५-६९॥

अतः शिरोविकाराणां कश्चिद्भेदः प्रवक्ष्यते ॥७०॥
रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः। तीव्ररुग्दाहरागं हि शोफं कुर्वन्ति दारुणम् ॥७१॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा। त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नाम नामतः ॥७२॥
परं त्र्यहाज्जीवति चेत् प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्। शिरोविरेकसेकादि सर्वं वीसर्पनुच्च यत् ॥७३॥

शिरोरोग प्रकरण

अब आगे सिर में होने वाले व्याधियों के कुछ भेदों का वर्णन किया जा रहा है। अर्थात् पूर्व में हृदय तथा बस्ति मर्म में होने वाली व्याधियों का वर्णन किया गया, अब आगे शिरोमर्म में होने वाली कुछ व्याधियों का वर्णन किया जा रहा है।

शंखक रोग– सम्प्राप्ति तथा लक्षण– अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित रक्त, पित्त तथा वायु शंख प्रदेश में आश्रित होकर तीव्र पीड़ा, दाह (Burning sensation), राग (Redness) तथा भयङ्कर कष्टदायक शोथ (Oedema) को उत्पन्न करता है। वह विष के समान शीघ्र फैलने वाला शोथ सिर व गले को अवरुद्ध करते हुए रोगी के जीवन को तीन दिन में ही समाप्त कर देता है। इस व्याधि को शङ्खक कहते हैं।

शंखक चिकित्सा– यदि रोगी तीन दिन से अधिक जीवित रहता है तब उसकी चिकित्सा प्रत्याख्यान करके करनी चाहिए। अर्थात् आतुर के अभिभावकों को व्याधि की असाध्यता (अचिकित्स्यता) की सूचना देकर चिकित्सा करनी चाहिए। इस व्याधि में शिरोविरेचन, परिषेचन आदि उपक्रमों के साथ-साथ वीसर्पनाशक सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् वीसर्प चिकित्सा अध्याय में जिन उपक्रमों का प्रयोग किया गया है उन सबका प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'अत इत्यादि' के द्वारा क्रमानुसार सिर सम्बन्धी रोगों के ज्ञान के लिए इस प्रकरण का प्रारम्भ किया जा रहा है। यहाँ उन्हीं विषयों का विवेचन किया गया है जिनका विवेचन त्रिमर्मीय चिकित्सा प्रकरण में नहीं किया गया है। दारुण इति= आशुकारी (शीघ्र मारक- Severe)। **परं त्र्यहाज्जीवतीत्यादिकः प्रभावोऽयं शङ्खकस्य–** तीन रात्रि से अधिक काल तक जीवित बचना शङ्खक रोग का अपना प्रभाव है। अर्थात् सामान्यतया इस व्याधि में रोगी तीन रात्रि से अधिक जीवित नहीं रहता। **प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियामित्यनेन उत्पन्नमात्र एव प्रत्याख्यान् पूर्विका चिकित्सा कर्तव्याऽस्य–** शंखक रोग के उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम आतुर के घर के लोगों को इस व्याधि की असाध्यता को बताकर ही चिकित्सक को चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए। ॥७०-७३॥

रूक्षात्यध्यशनात् पूर्ववातावश्यायमैथुनैः । वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ।।७४।।
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसस्ततः । मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ।।७५।।
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः । नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ।।७६।।
चतुःस्नेहोत्तमा मात्रा शिरःकायविरेचनम् । नाडीस्वेदो घृतं जीर्णं बस्तिकर्मानुवासनम् ।।७७।।
उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्र शस्यते । प्रतिश्याये शिरोरोगे यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितम् ।।७८।।

अर्धावभेदक (Hemicrania)– सम्प्राप्ति एवं लक्षण- रूक्ष भोजन, अत्यधिक भोजन, अध्यशन (पूर्व आहार के बिना पचे पुनः भोजन करना- Intake of food before previous meal), पूर्वी हवाओं का सेवन, ओस की बूंदों का सेवन, अत्यधिक मैथुन, अधारणीय वेगों को धारण करना, अत्यधिक परिश्रम तथा अत्यधिक व्यायाम करना; इन हेतुओं के सेवन से प्रकुपित हुई वायु अकेले अथवा कफ के साथ मिलकर सिर के आधे भाग को जकड़ते हुए अर्थात् सिर के आधे भाग में आश्रित होकर मन्या (Sternomastoid region), भ्रू (eye brows), शङ्ख (Temples), कर्ण (ears), नेत्र (eyes) एवं ललाट (Fore head) के आधे भाग में शस्त्र से काटने अथवा अरणी के मन्थन के समान तीव्र वेदना को उत्पन्न करती है। इन लक्षणों से युक्त व्याधि को **अर्धावभेदक** कहते हैं। व्याधि के अत्यधिक बढ़ जाने पर चक्षु (नेत्र) एवं श्रोत्र का विनाश हो जाता है, अर्थात् व्यक्ति के देखने एवं सुनने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

चिकित्सा– इस व्याधि में अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. चतुः स्नेह (घृत, तैल, वसा एवं मज्जा) की उत्तम मात्रा का प्रयोग।
२. शिरोगत दोषों को दूर करने के लिए शिरोविरेचन (नस्य) का प्रयोग
३. कायविरेचन (वमन एवं विरेचन); इसका प्रयोग सम्पूर्ण शरीर के दोषों को निकालने के लिए करते हैं।
४. नाड़ी स्वेद (Fomentation therapy)।
५. जीर्ण घृत का पान (दस वर्ष पुराने घृत का सेवन)
६. उपनाह का प्रयोग (Application of hot poultice)
७. निरूह एवं अनुवासन बस्ति का प्रयोग।
८. शिरोबस्ति एवं दहन कर्म का प्रयोग।
९. पूर्व वर्णित प्रतिश्याय एवं शिरोरोगनाशक उपक्रमों का प्रयोग; इस व्याधि में करना चाहिए। [त्रिमर्मीय चिकित्सा प्रकरण में निर्दिष्ट प्रतिश्याय व शिरोरोग नाशक चिकित्सा का प्रयोग इस व्याधि में करना चाहिए।]

चक्रपाणि– 'रूक्षेत्यादि' के द्वारा अर्धावभेदक (Hemicrania) को स्पष्ट किया गया है। अवश्यायः= ओस की बूंदे (हिम)। **शस्त्रारणिनिभामिति-शस्त्रच्छेदारणिमन्थननिभाम्–** सिर को शस्त्र से काटा जा रहा है, इस प्रकार की तीव्र वेदना का अनुभव होना। अथवा अरणि के मन्थन के समान पीड़ा का होना [सिर को किसी वस्तु से (मथानी से) मथा जा रहा है, इस प्रकार की पीड़ा का होना] **अरणिः अग्नि उत्थापनकाष्ठं–** अग्नि को उत्पन्न करने वाली लकड़ी (शमी की लकड़ी का टुकड़ा) जिसके घर्षण से यज्ञ के अवसर पर आग जलायी जाती है। अथवा अरणि के प्रयोग से यहाँ अग्नि को ही इंगित किया गया है। अर्थात् अग्नि के समान तीव्र दाह युक्त पीड़ा का होना, अर्थ गृहीत है।

चतुः स्नेहस्य उत्तमा मात्रा– चारो प्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा अथवा मज्जा) की उत्तम मात्रा का प्रयोग करना चाहिए। स्नेह की जो मात्रा अहोरात्रि (२४ घण्टे) में पच जाय, उसे उत्तम मात्रा कहते हैं, अर्थात् यह मात्रा २४ घण्टे में जीर्ण हो जाती है, यथा- "अहोरात्रमहः कृत्स्नमर्धाहं च प्रतीक्षते। प्रधान मध्यमा ह्रस्वा स्नेहमात्रां जरां प्रति" (सु.अ. १३/२९) इति [स्नेह की जो मात्रा अहोरात्रि (२४ घण्टे), में पच जाय उसे **उत्तम,** जो दिन भर (१२ घण्टे) में जीर्ण हो जाय उसे **मध्यम** तथा जो आधे दिन (६ घण्टे) में जीर्ण हो उसे **ह्रस्व** मात्रा कहते हैं।]

Scanned by CamScanner

जीर्ण दशवर्षस्थितं घृतम्– दस वर्ष पुराने घृत को जीर्ण घृत कहते हैं। उपनाहं केचिच्छिरोबस्तिभेदमाहुः– कुछ आचार्य उपनाह को **शिरोबस्ति** के भेद के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थात् इसे शिरोबस्ति का ही एक भेद मानते हैं। जिसे **मास्तिष्क** भी कहते हैं। तन्त्रान्तर में (अन्य शास्त्रों में) मास्तिष्क को ही उपनाह कहा गया है जिसे शिरोबस्ति का एक प्रकार माना गया है,। यथा– "मास्तिष्केऽष्टाङ्गुलं पट्टं बस्तौ तु द्वादशाङ्गुलम्" [मास्तिष्क में आठ अङ्गुल का पट्ट (वस्त्र) तथा शिरोवस्ति में बारह अङ्गुल का वस्त्र प्रयोग करना चाहिए।] शिरोबस्ति का विधान शालाक्यतन्त्र में बताया गया है, यथा– द्वादशाङ्गुलविस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरःसमम् । आकर्णबन्धनस्थाने ललाटे वस्त्रवेष्टिते।। चेलवेणिकया बद्ध्वा माषकल्केन लेपयेत्। ततो यथाव्याधिशृतं स्नेहं कोष्णं निवेशयेत् ।। ऊर्ध्वं केशभुवो यावदङ्गुलं धारयेच्च तम् । आवक्रनासिका कर्णेदाद्शाष्टौ षड्वातादिषु।। मात्रासहस्राण्यरुजे ह्येकं स्कन्धादि मर्दयेत्। युक्तस्नेहस्य परं सप्ताहं तस्य सेवनम्" इति। [बारह अङ्गुल चौड़े चमड़े की पट्टी को सिर की आकृति में सिलवाकर शिरोबस्ति बना लें। इसे आतुर के सिर में अच्छी तरह से बाँध दें, या Fix कर दें। इसके ऊपर कान व ललाट से होती हुई एक कपड़े की चौड़ी पट्टी को इस प्रकार बाँध दें जिससे शिरोबस्ति की टोपी अच्छी प्रकार से सिर पर चिपक जाय। सिर व टोपी (शिरोबस्ति की टोपी) के सन्धिस्थल को उड़द के कल्क से लेप कर दें। अब इसके बाद व्याधि के अनुसार औषधि सिद्ध तैल को गुनगुना करके सिर के ऊपर रखें। तैल की मात्रा इतनी डालें कि वह सिर के बाल से एक अङ्गुल ऊपर तक रहे। इसका धारण तब तक करें जब तक व्यक्ति का चेहरा एवं नासिका क्लिन्न (स्निग्ध) न हो जाय। वात रोग में दस हजार, पित्त रोग में आठ हजार तथा श्लेष्म रोग में छः हजार मात्रा तक स्नेह को सिर पर धारण करना चाहिए। धारण काल में आतुर को किसी प्रकार की परेशानी नहीं होनी चाहिए। सिर से स्नेह को निकालने के बाद पट्टी हटावें तत् पश्चात् सिर की टोपी निकालें। जब पट्टी एवं टोपी हट जाय तब रोगी के सिर, कर्ण, स्कन्धादि प्रदेशों का अच्छी प्रकार से मर्दन करना चाहिए। इस प्रकार शिरोबस्ति का अधिक से अधिक सात दिन तक प्रयोग करना चाहिए।] तथा "आशिरोव्यायतं चर्म कृत्वाऽष्टाङ्गुलमुच्छ्रितम्। तेनावेष्ट्य शिरोऽधस्तान्माषकल्केन लेपयेत् ।। निश्चलस्योपविष्टस्य तैलैः कोष्णैः प्रपूरयेत् । धारयेदारुजः शान्त्यै यामं यामार्धमेव वा।। शिरोबस्तिर्जयत्येष शिरोरोगं मरुद्भवम्" इत्यादि [८ अङ्गुल चौड़ी चमड़े की सिर के आकृति की टोपी लें। इसे सिर के ऊपर पहनें। टोपी के अन्दर के भाग में टोपी व सिर के जुड़ने वाले भाग को उड़द के कल्क से लेप दें जिससे टोपी में रखा गया तैल रिस कर बाहर न निकले। अब रोगी को स्थिर आसन पर बैठाकर सिर के ऊपर गुनगुना तैल डालें। इस तैल को रोगी तब तक धारण करे जब तक कि उसकी वेदना शान्त न हो जाय। धारण का काल अर्ध याम से एक याम तक है। शिरोबस्ति वातज शिरोरोगों को दूर करती है।] **दहनं वाऽस्येति तन्त्रान्तरप्रत्ययाद् द्व्यङ्गुललल्लाटशङ्खप्रदेशेषु शरकाण्डादिना दहनं ज्ञेयम्–** अन्य शास्त्रों के अनुसार दो अङ्गुल तक ललाट व शङ्ख प्रदेश में शरकाण्डादि के द्वारा दहन (अग्निकर्म) कराना चाहिए।

यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितमिति तच्चात्र शस्यते इति योज्यम्– यहाँ 'यच्चोद्दिष्टं चिकित्सितं' के साथ 'तच्चात्र शस्यते' शब्द को जोड़ना चाहिए, जिसका अभिप्राय त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय (चि.अ. २६) में प्रतिश्याय एवं शिरोरोग की जो चिकित्सा बतायी गयी है, उसी का प्रयोग यहाँ भी करना चाहिए, अर्थात् वही यहाँ भी हितकर है। ।।७४-७८।।

विशेष (Comments)– 'रूक्षाशनेत्यादि' के द्वारा अर्धावभेदक को स्पष्ट किया गया है। १. रूक्ष आहार, २. अत्यधिक भोजन, ३. पूर्वकृत भोजन के न पचने पर भी पुनः भोजन करना अर्थात् भोजन के ऊपर भोजन करना, ४. पूर्वी हवाओं का सेवन, ५. ओस में सोना; इन कारणों के द्वारा प्रकुपित वायु अकेले अथवा कफ के साथ मिलकर सिर के आधे भाग में आश्रित होकर मन्या आदि के आधे भाग में शस्त्र से काटने अथवा अग्नि से जलने के समान तीव्र पीड़ा को उत्पन्न करती है। इन लक्षणों से युक्त व्याधि को अर्धावभेदक (Hemicrania) कहते हैं। यह पीड़ा जब अधिक बढ़ जाती है तब नेत्र एवं श्रोत्रेन्द्रिय की कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। अर्थात् यह व्याधि बढ़कर नेत्र एवं श्रोत्रेन्द्रिय को नष्ट कर देती है। इस व्याधि की चिकित्सा को 'चतुरित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **चतुः स्नेहयोगस्योत्तमा मात्रा शस्यते–** चारो प्रकार के स्नेह को मिश्रित करके बनायी गयी स्नेह की उत्तमा मात्रा का प्रयोग इस व्याधि में करना चाहिए।

शिरःकायविरेचनम्– शिरोविरेचन तथा कायविरेचन से वमन व विरेचन अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

संधारणादजीर्णाद्यैर्मस्तिष्कं रक्तमारुतौ । दुष्टौ दूषयतस्तच्च दुष्टं ताभ्यां विमूर्च्छितम् ।।७९।।
सूर्योदयेऽशुसंतापाद्भवं विध्यन्दते शनैः । ततो दिने शिरःशूलं दिनवृद्ध्या विवर्धते ।।८०।।
दिनक्षये ततः स्त्याने मस्तिष्के संप्रशाम्यति । सूर्यावर्तः स तत्र स्यात् सर्पिरौत्तरभक्तिकम् ।।८१।।
शिरःकायविरेकौ च मूर्ध्ना स्निग्धधारणम् । जाङ्गलैरुपनाहश्च घृतक्षीरैश्च सेचनम् ।।८२।।
बर्हितित्तिरिलावादिशृतक्षीरोत्थितं घृतम् । स्यान्नावनं जीवनीयक्षीराष्टगुणसाधितम् ।।८३।।

सूर्यावर्त के निदान एवं लक्षण– अधारणीय वेगों के रोकने से, (Suppression of the manifested natural urges) तथा अजीर्ण (Indigestion) आदि कारणों से प्रकुपित रक्त एवं वायु मस्तिष्क प्रदेश को दूषित कर देते हैं। इस प्रकार ये दोनों दूषित होकर मस्तिष्क में

Scanned by CamScanner

ही भर जाते हैं, अर्थात् रुक जाते हैं। सूर्योदय होने पर सूर्य की किरणों की उष्णता के कारण मस्तिष्क में स्थित दोष धीरे-धीरे पिघलकर बढ़ता है जिसके परिणाम स्वरूप दिन की वृद्धि के साथ ही व्यक्ति के सिर की पीड़ा बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे दिन का प्रभाव कम होता जाता है, अर्थात् सायंकाल की वृद्धि होती है मस्तिष्क के स्थान होने (मस्तिष्कगत प्रकुपित दोष के जमने) के कारण सिर की पीड़ा क्रमशः शान्त हो जाती है। इस व्याधि को सूर्यावर्त कहते हैं।

सूर्यावर्त रोग की चिकित्सा– इस व्याधि में अधोलिखित उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए–

१. भोजन के बाद घृत का पान करना चाहिए।

२. शिरोविरेचन करावें (शिरोगत दोषों के निर्हरण हेतु शिरोविरेचन का प्रयोग करें।)

३. शरीरगत दोषों के निर्हरण हेतु कायविरेचन (वमन एवं विरेचन) का प्रयोग करें।

४. घृत, तैल एवं वसा का धारण सिर पर करें। अर्थात् इन स्नेहों से शिरोबस्ति करावें।

५. जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस से निर्मित पुल्टिस का प्रयोग करें।

६. घृत एवं क्षीर द्वारा शिरःप्रदेश का परिषेचन करें।

७. मयूर, तीतर, लाव आदि पक्षियों के मांसरस से साधित दूध से निकाले गये घृत को जीवनीय गण की औषधियों के कल्क (Paste) एवं घृत के आठ गुने गोदुग्ध द्वारा सिद्ध करें। इस सिद्ध घृत का प्रयोग नस्य के रूप में करें। अर्थात् इसका नस्य लेने से सूर्यावर्त का रोगी स्वस्थ हो जाता है।

चक्रपाणि– मस्तिष्कं शिरःस्थो मज्जा– मस्तिष्क से यहाँ सिर में विद्यमान मज्जा का ग्रहण है। द्रवमिति द्रवं सत्– (सूर्य की किरणों की उष्णता से) शिरस्थ मज्जा पिघलकर द्रवीभूत हो जाता है। विष्यन्दते इति च्यवते– चूने लगता है (विष्यन्द= बहना या टपकना)।

एतच्च सूर्यावर्तस्य रूपं दोषदूष्ययोर्विकृतिविषमसमवायाद्भवति– यहाँ सूर्यावर्त के लक्षण- दोष-दूष्य के विकृतिविषमसमवाय से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् सूर्यावर्त में उत्पन्न होने वाले लक्षण दोष-दूष्य के अनुसार नहीं पाये जाते।

[The characteristic signs and symptoms of Sūryāvarta are manifested because of Vikṛiti– Vishama-samvāya (manifestation of new symptoms not connected with the causative factors) of Doshas and Dhātus.

–Dr R.K. Sharma and Bhagvan Das]

अतः इस विधि से अन्य विकार नहीं उत्पन्न होते। उस प्रकार की **शिरोवेदना** सूर्य के ताप बढ़ने के साथ होती हैं न कि **अग्नितप** की वृद्धि से होती है। अतः सूर्य के ताप वृद्धि के साथ शिरोवेदना का बढ़ना, इस व्याधि का प्रभाव है, ऐसा समझना चाहिए।

त्रिस्नेहधारणमिति पाठात् तैलघृतवसाधारणम्– त्रिस्नेह से यहाँ घृत, तैल व वसा का ग्रहण किया गया है। अर्थात् शिरोबस्ति के रूप में घृत, तैल व वसा का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ 'त्रिस्नेह' शब्द घृत, तैल व वसा के सम भाग से निर्मित स्नेह के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा 'तु स्नेहधारणम्' पाठभेद से सिर पर स्नेह को धारण करना चाहिए, अर्थ होगा। लावादयो विष्किरा अन्नपानोक्ता– लाव आदि विष्किर पक्षियों का विवेचन अन्नपानविधि अध्याय (सू.अ. २७) में किया गया है। [(विष्किरः वि + कृ + क, सुट, षत्वम्) भोजन को चोंच से बिखेरकर खाने वाले पक्षी, यथा - मुर्गा, तीतर आदि] ॥७९-८३॥

(उपवासातिशोकातिरूक्षशीताल्पभोजनैः।)
दुष्टा दोषास्त्रयो मन्यापश्चाद्घाटासु वेदनाम् ॥८४॥
तीव्रां कुर्वन्ति सा चाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठते । स्पन्दनं गण्डपार्श्वस्य नेत्ररोगं हनुग्रहम् ॥८५॥
सोऽनन्तवातस्तं हन्यात् सिरार्कावर्तनाशनैः । वातो रूक्षादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत् ॥८६॥
तत्रामृताबलारास्नामहाश्वेताश्वगन्धकैः । स्नेहस्वेदादि वातघ्नं शस्तं नस्यं च तर्पणम् ॥८७॥

अनन्तवात के हेतु एवं लक्षण– उपवास करना (Fasting), अत्यधिक शोक युक्त होना (Excessive grief), अत्यधिक रूक्ष, शीतल एवं अल्प मात्रा में भोजन करना; इन कारणों से प्रकुपित हुए तीनों दोष (वात, पित्त एवं कफ) मन्या, पश्चात् (पृष्ठ= पीठ) तथा घाटा (ग्रीवा के पीछे के भाग) में तीव्र वेदना को उत्पन्न करते हैं। वह वेदना व्यक्ति के नेत्र, भ्रू एवं शङ्ख प्रदेश में जाकर रुक जाती है। अर्थात् पीड़ा मन्या, पृष्ठ एवं घाटा से होती हुई नेत्र, भ्रू एवं शङ्खप्रदेश में जाकर स्थिर हो जाती है। रोगी के गण्ड प्रदेश के एक भाग में स्पन्दन (throbbing pain), नेत्रविकार (eye diseases) एवं हनुग्रह (हनु का जकड़ जाना– Lock jaw) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस व्याधि को अनन्तवात कहते हैं।

Scanned by CamScanner

अनन्तवात की चिकित्सा– इस व्याधि की चिकित्सा निम्न प्रकार से करनी चाहिए–

१. रक्तमोक्षण द्वारा दूषित रक्त को निकालना चाहिए।

२. सूर्यावर्त नाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए, यथा–

→ भोजन के बाद घृतपान ।

→ शिरोविरेचन का प्रयोग ।

→ कायविरेचन (वमन एवं विरेचन) का प्रयोग ।

→ त्रिस्नेह की शिरोवस्ति का प्रयोग ।

→ जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांस से निर्मित उष्ण उपनाह का प्रयोग ।

→ सिर को घृत अथवा गोदुग्ध से परिषेचन (Sprinkling) कराना ।

→ जीवनीय द्रव्यों से साधित घृत का नस्य देना ।

३. रूक्ष आहार आदि हेतुओं के अति सेवन से प्रकुपित हुई वायु व्यक्ति के सिर में कम्पन पैदा कर देती है। इस अवस्था में आतुर को अमृता (गुडूची), बला, रास्ना, महाश्वेता (अपराजिता) तथा अश्वगंधा के क्वाथ एवं कल्क द्वारा साधित स्नेह का प्रयोग, स्नेहन, स्वेदन आदि वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग तथा तर्पण नस्य का प्रयोग कराना चाहिए।

चक्रपाणि– मन्या ग्रीवासिराद्वयं- मन्या नामक ग्रीवा की दो सिरायें। घाटा ग्रीवायाः पश्चाद्भागः- ग्रीवा के पीछे के भाग को घाटा कहते हैं। पश्चात्= पृष्ठम् (पिछला हिस्सा)। सा चाक्षिभ्रूशङ्खेष्ववतिष्ठत इति– वेदना ग्रीवा के पार्श्व तथा पीछे के भाग से होती हुई अक्षि (नेत्र), भ्रू, एवं शङ्ख प्रदेश में जाकर स्थिर हो जाती है। अर्थात् रुक जाती है।

अनन्तवातमेनं तन्त्रान्तरे अन्यतोवातमाहुः– अनन्तवात को ही अन्य शास्त्रों में (तन्त्रान्तर में) **'अन्यतोवात'** कहा गया है। **सिरार्कावर्तनाशनैरिति सिराव्यधैः, सूर्यावर्तनाशनैश्च भेषजैः–** अनन्तवात की चिकित्सा सिरावेध एवं सूर्यावर्त नाशक औषधियों द्वारा करनी चाहिए। अर्थात् इस व्याधि में सिरावेध करावें तथा सूर्यावर्त की चिकित्सा में जिन औषधियों का निर्देश दिया गया है, उनका प्रयोग करें। ॥८४-८७॥

नस्तःकर्म तु कुर्वीत शिरोरोगेषु शास्त्रविद् । द्वारं हि शिरसो नासा तेन तद् व्याप्य हन्ति तान् ॥८८॥

शिरोरोग की सामान्य चिकित्सा

नस्य कर्म का महत्व (Importance of Nasya Karma)– शास्त्रज्ञ चिकित्सक को सभी प्रकार के शिरोरोग में नस्यकर्म का प्रयोग कराना चाहिए, क्योंकि नासिका ही सिर का द्वार है। उसके द्वारा (नासामार्ग द्वारा) दी गयी औषधि सिर में फैलकर सिरोगत रोगों (शिरोरोग) को दूर करती है।

चक्रपाणि– 'नस्तः कर्म चेति' के द्वारा सभी प्रकार के शिरोरोग की सामान्य चिकित्सा का अभिधान किया गया है। शिरोरोगों में नस्य कर्म के प्रयोग के हेतु को– 'द्वारं हीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **तेन नासारूपेण मार्गेण–** नासारूपी मार्ग द्वारा। **तदिति नस्तो दत्तमौषधम्–** तद्=वह, नस्य के रूप में दी गयी औषधि। **व्याप्येति–** सिर में व्याप्त होकर, अर्थात् फैलकर। **तानितिं शिरोगदान्–** उनको, शिरोगत (नासामार्ग द्वारा नस्य के रूप में दी गयी) औषधि सिर में व्याप्त होकर सिर में विद्यमान सभी रोगों को दूर कर देता है। ॥८८॥

नावनं चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च । प्रतिमर्शश्च विज्ञेयं नस्तःकर्म तु पञ्चधा ॥८९॥
स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतम् । शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीडो द्विधा मतः ॥९०॥
चूर्णस्याध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनम् । विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः ॥९१॥
प्रतिमर्शो भवेत् स्नेहो निर्दोष उभयार्थकृत् । एवं तद्वेचनं कर्म तर्पणं शमनं त्रिधा ॥९२॥

नस्यकर्म के भेद– नस्य कर्म ५ प्रकार के होते हैं, यथा– १. नावन, २. अवपीड, ३. ध्मापन, ४. धूम, ५. प्रतिमर्श।

→ नावन के दो भेद होते हैं, १. स्नेहन, २. शोधन।

→ अवपीड के दो भेद होते हैं, यथा– १. शोधन, २. स्तम्भन।

→ चूर्ण का प्रयोग नस्य के रूप में करना ध्मापन कहा जाता है। इसके प्रयोग से शरीर और स्रोतस् शुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् यह शरीर व स्रोतों का शोधन करता है।

Scanned by CamScanner

→ शमनादि भेद से धूम तीन प्रकार का होता है, ऐसा समझना चाहिए। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

→ सिर के स्नेहन हेतु नासिका द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार का स्नेह है जिसे प्रतिमर्श कहते हैं। यह स्नेहन एवं शोधन दोनों कार्यों को करता है। इसके प्रयोग से शरीर में कोई हानि नहीं होती।

इसी प्रकार कर्म के अनुसार नस्य के तीन भेद होते हैं– १. रेचन (शिरोगत दोषों का निर्हरण करना), २. तर्पण (सिर को स्नेहित करके तृप्त करना), ३. शमन (दोषों को बिना निकाले ही अपने स्थान पर शान्त करना)

चक्रपाणि– शिरोरोग का विषय आ जाने से उसमें उपयोगी नस्य कर्म के भेदों का विवेचन करना आवश्यक हो जाता है। अतः यहाँ उसके भेदों को 'नावनमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। नावनादि का विवेचन चिकित्सास्थान में किया गया है, आचार्य सुश्रुत ने 'धूम' को छोड़ करके पाँच प्रकार के नस्यकर्म बताये हैं, यथा– ''तद्विविधमपि पञ्चविधविकल्पं; तद्यथा– नस्यं, शिरोविरेचन, प्रतिमर्शः, अवपीडः, प्रधमन च'' (चि.अ. ४०) इति [नासिका द्वारा औषध सिद्ध स्नेहों के प्रयोग को नस्य कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है, १. शिरोविरेचन, २. स्नेहन। इन द्विविध नस्यों के भी पाँच भेद होते हैं– क. नस्य, ख. शिरोविरेचन, ग. प्रतिमर्श, घ. अवपीड, ङ. प्रधमन। इनमें नस्य व शिरोविरेचन ही मुख्य होता है।] यहाँ 'नावन' शब्द से शिराविरेचन का भी ग्रहण किया गया है। जिसके बारे में कहा भी गया है, यथा– **स्नेहनं शोधनं चैव नावनं द्विविधं स्मृतम्'** [स्नेहन व शोधन नस्य (नावन) के दो भेद होते हैं, ऐसा जानना चाहिए। इससे यहाँ सुश्रुतसंहिता में वर्णित विषय का ही ग्रहण होता है।

'शोधनः स्तम्भनश्च स्यादवपीड इति' इससे यहाँ 'संशमन' को भी अवपीड के अन्तर्गत मानते हैं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। उस संशमन का अन्तर्भाव स्तम्भन में ही कर लेना चाहिए। यहाँ **अवपीड** के दो भेद बताये गये हैं– १. शोधन व स्तम्भन।

अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयन्ते इत्यवपीडः– जहाँ कल्कादि का अवपीडन करके (दबा करके) निकाले गये स्वरस का प्रयोग नस्य के रूप में करते हैं उसे अवपीड कहते हैं। इस प्रकार शिरोविरेचन हेतु प्रयुक्त सैन्धव एवं पिप्पली आदि के कल्क द्रव्यों का भी अन्तर्भाव इसी में ही हो जाता है। अर्थात् कल्क द्रव्यों से निचोड़े गये स्वरस का प्रयोग नासिका में करना **अवपीड** कहलाता है। **'ध्मापनं तद्धि देहस्रोतोविशोधनमिति'** इस वचन से ध्मापन शिरोविरेचन के ही प्रयोजन को सिद्ध करता है, यह अभिप्राय है। अर्थात् ध्मापन शिरोगत स्रोतों को शुद्ध करता है। [यह शरीर के (सिर के) स्रोतों का शोधन करता है।]

'शमनादिक इति'– 'शमन' शब्द से यहाँ प्रायोगिक धूम का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रायोगिक (शमन), स्नैहिक एवं वैरेचनिक धूमों का ग्रहण नासामार्ग से प्रयोग होने के कारण किया गया है।

[Dhūma (inhalation therapy applied in the form of smoke) includes śamana or prāyogika (which causes alleviation of doshas), snaihika (which causes elemination of doshas) types, शमन धूम -पित्तज व्याधियों, स्नैहिक धूम - वातज व्याधियों, तथा वैरेचनीक धूम का प्रयोग कफज व्याधियों में करते हैं।]

मुखपेयस्तु धूमो न नस्यम्– मुख द्वारा ग्रहण किया जाने वाला धूम नस्य नहीं कहा जाता। **उभयार्थकृदिति–**स्नेहन एवं विरेचन दोनों कार्यों को करने वाला, अर्थात् स्नेहन एवं विरेचन दोनों के लिए प्रतिमर्श का प्रयोग करते हैं। इसमें स्नेह का प्रयोग कराते हैं, अर्थात् औषधि सिद्ध स्नेहों का प्रयोग **प्रतिमर्श नस्य** के रूप में करते हैं। इसके लक्षणों का विवेचन आगे **''नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात्''** इत्यादि के द्वारा किया जायेगा। पूर्व वर्णित पाँच प्रकार के नस्यों के, कर्म के आधार पर पुनः तीन भेद होते हैं, जिसे यहाँ– 'एवमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **कर्मेति=** नस्य कर्म। **शमनेन स्तम्भनस्यापि ग्रहणम्–** शमन से स्तम्भन का भी ग्रहण किया गया है। तर्पण में ही स्नेहन का भी समावेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी भेदों का प्रतिपादन अन्य शास्त्रों में हुआ है, उन सभी का अन्तर्भाव इन्हीं तीन (रेचन, तर्पण एवं शमन) में हो जाता है। ॥८९-९२॥

विशेष (Comments)– १. नस्य कर्म पाँच प्रकार के होते हैं–

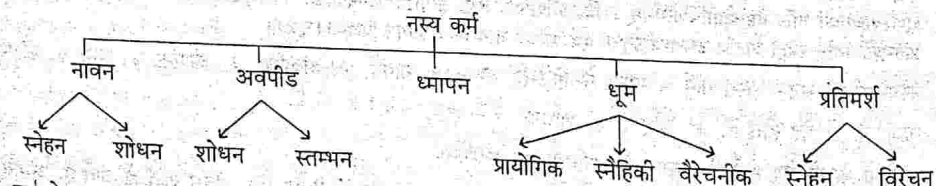

२. कर्म के आधार पर नस्य के तीन भेद होते हैं, यथा– १. रेचन कर्म, २. तर्पण कर्म, ३. शमन कर्म

Scanned by CamScanner

३. सुश्रुत के अनुसार–

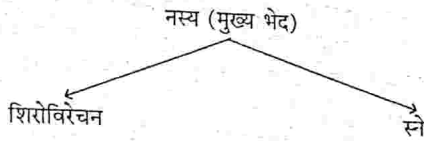

पुनः ये दो प्रकार के नस्य पाँच भेदों में विभाजित हो जाते हैं– १. नस्य, २. शिरोविरेचन, ३. प्रतिमर्श, ४. अवपीड, ५. प्रधमन।

स्तम्भसुप्तिगुरुत्वाद्याः श्लेष्मिका ये शिरोगदाः । शिरोविरेचनं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते ।।९३।।
ये च वातात्मका रोगाः शिरःकम्पार्दितादयः । शिरसस्तर्पणं तेषु नस्तःकर्म प्रशस्यते ।।९४।।
रक्तपित्तादिरोगेषु शमनं नस्यमिष्यते । ध्मापनं धूमपानं च तथा योग्येषु शस्यते ।।९५।।
(दोषादिकं समीक्ष्यैव भिषक् सम्यक् च कारयेत्)

विभिन्न अवस्थाओं में नस्य का प्रयोग– १. सिर में जकड़ाहट (Stiffness of the head), सिर में शून्यता (Numbness of the head) एवं भारीपन (Heaviness of the head) आदि कफजन्य विकारों के होने पर शिरोविरेचन नस्य का प्रयोग करना विशेष रूप से हितकारी होता है।

२. शिरोकम्प (Trembling of head), अर्दित (Facial paralysis) आदि वातज व्याधियों के होने पर सिर का तर्पण करना चाहिए। इस हेतु तर्पण नस्य का प्रयोग करना विशेष लाभदायक होता है।

३. रक्तपित्त आदि रोगों में शमन नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

४. ध्मापन एवं धूमपान का प्रयोग व्याधि की उचित अवस्था में करना चाहिए। अर्थात् इनका प्रयोग व्याधि की योग्यता के अनुसार करना चाहिए। दोषादि की अवस्थाओं का सम्यक् विचार करके चिकित्सक को उचित नस्य का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– विरेचनादि नस्य कर्मों का प्रयोग किन-किन व्याधियों में करना उचित है, इसे यहाँ 'स्तम्भेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् विरेचनादि त्रिविध नस्य कर्म के विषय को यहाँ स्पष्ट किया गया है। **तर्पणमिति स्नेहेन तर्पणम्–** स्नेह के द्वारा सिर का तर्पण करना (Nourishment by oleation)। **तथा योग्येषु शस्यत इति ध्मापनधूमयोग्येषु शस्यते–** ध्मापन एवं धूमपान के योग्य जो व्याधियाँ बतायी गयी हैं, उसमें इसका प्रयोग करना चाहिए। जिसमें धूमपान के योग्य व्याधियों का विवेचन सूत्रस्थान अ. ५ (मात्राशितीय नामक अध्याय) में किया जा चुका है। ध्मापन (प्रधमन) नस्य के योग्य कौन-कौन सी व्याधियाँ हैं, अथवा किसमें इसका प्रयोग करना चाहिए, इसे ध्मापन के गुण के ही क्रम में **'देहस्रोतोविशोधनम्'** इति पद के द्वारा अभिन्यास ज्वर, अपस्मार (Epilepsy) आदि व्याधियाँ जिनमें स्रोतोशुद्धि कराने का निर्देश दिया गया है, का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् ध्मापन (प्रधमन) नस्य का प्रयोग उन व्याधियों में कराना चाहिए जिनमें स्रोतस् का शोधन करना आवश्यक हो। ॥९३-९५॥

फलादि भेषजं प्रोक्तं शिरसो यद्विरेचनम् ।।९६।।
तच्चूर्णं कल्पयेत्तेन पचेत् स्नेहं विरेचनम् । यदुक्तं मधुरस्कन्धे भेषजं तेन तर्पणम् ।।९७।।
साधयित्वा भिषक् स्नेहं नस्तः कुर्याद्विधानवित् ।

शिरोविरेचन एवं तर्पण नस्य में प्रयुक्त होने वाली औषधियाँ– शिरोविरेचन के रूप में प्रयुक्त होने वाली फल आदि औषधियाँ, जिसका वर्णन रोगभिषग्जितीय विमान अध्याय ८ में किया जा चुका है, के महीन चूर्ण का प्रयोग ध्मापन (प्रधमन) नस्य के रूप में तथा इन्हीं औषधियों के कल्क व क्वाथ से साधित स्नेह का प्रयोग विरेचन नस्य के रूप में करना चाहिए। विमान अध्याय ८ में वर्णित मधुर स्कन्ध के द्रव्यों के कल्क व क्वाथ से साधित स्नेह का प्रयोग **तर्पण नस्य** के रूप में करना चाहिए। अर्थात् मधुरगण की औषधियों से साधित स्नेह का विधिपूर्वक नस्य लेने से सिर का तर्पण होता है। [नस्य विधान के ज्ञाता चिकित्सक को स्नेहपाक विधि के अनुसार स्नेह को सिद्ध करना चाहिए एवं इस स्नेह का प्रयोग विधिपूर्वक करना चाहिए।]

चक्रपाणि– शिरोविरेचन चूर्ण की विधि को यहाँ– 'फलादीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अर्थात् विरेचन चूर्ण के प्रयोग की विधि को यहाँ 'फलादीत्यादि' के द्वारा बताया गया है। [शिरोविरेचनं सप्तविधं फल-पत्र-मूल-कन्द-पुष्प-निर्यास-त्वगाश्रय भेदात्- आश्रय भेद से शिरोविरेचन द्रव्य सात प्रकार के होते हैं, यथा– फल, पत्र, मूल (Root), कन्द, पुष्प, निर्यास (गोंद) तथा त्वक्; इनके चूर्ण का प्रयोग नस्य के रूप में करना]

Scanned by CamScanner

फलादि भेषजमिति– 'फलादि भेषजमिति' से रोगभिषग्जितीय विमान अध्याय ८ में वर्णित फल, पत्र, मूल (जड़), कन्द, पुष्प, निर्यास एवं त्वक् भेद से शिरोविरेचन द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं। **चूर्ण कल्पयेदिति–** प्रधमन एवं अवपीड नस्य हेतु शिरोविरेचन द्रव्यों के पत्रादि के चूर्ण का प्रयोग करना चाहिए। [अवपीड नस्य हेतु पत्रादि के निचोड़े गये स्वरस अथवा क्वाथ का प्रयोग किया जाता है।] मधुर स्कन्ध के भी द्रव्यों का वर्णन रोगभिषग्जितीय नामक अध्याय में ही किया गया है। ॥९६-९७॥

प्राक्सूर्ये मध्यसूर्ये वा प्राकृतावश्यकस्य च ॥९८॥
उत्तानस्य शयानस्य शयने स्वास्तृते सुखम् । प्रलम्बशिरसः किञ्चित् पादोन्नतस्य च ॥९९॥
दद्यान्नासापुटे स्नेहं तर्पणं बुद्धिमान् भिषक् । अनवाक्शिरसो नस्यं न शिरः प्रतिपद्यते ॥१००॥
अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठति । अत एवंशयानस्य शुद्ध्यर्थं स्वेदयेच्छिरः ॥१०१॥
संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनाङ्गुष्ठपर्वणा । हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयतः समम् ॥१०२॥
प्रणाड्या पिचुना वाऽपि नस्तःस्नेहं यथाविधि । कृते च स्वेदयेद्भूय आकर्षेच्च पुनः पुनः ॥१०३॥
तं स्नेहं श्लेष्मणा साकं तथा स्नेहो न तिष्ठति । स्वेदेनोत्क्लेशितः श्लेष्मा नस्तःकर्मण्युपस्थितः ॥१०४॥
भूयः स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्त्यायते ततः । श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते ॥१०५॥
ततो नस्तःकृते धूमं पिबेत् कफविनाशनम् । हितान्नभुङ्निवातोष्णसेवी स्यान्नियतेन्द्रियः ॥१०६॥
विधिरेषोऽवपीडस्य कार्यः प्रध्मापनस्य तु । तत् षडङ्गुलया नाड्या धमेच्चूर्णं मुखेन तु ॥१०७॥
विरिक्तशिरसं तूष्णं पाययित्वाऽम्बु भोजयेत् । लघु त्रिण्विरुद्धं च निवातस्थमतन्द्रितः ॥१०८॥
विरेकशुद्धो दोषस्य कोपनं यस्य सेवते । स दोषो विचरंस्तत्र करोति स्वान् गदान् बहून् ॥१०९॥
यथास्वं विहितां तेषु क्रियां कुर्याद्विचक्षणः । अकालकृतजातानां रोगाणामनुरूपतः ॥११०॥

अवपीड नस्य देने की विधि– सूर्योदय से पूर्व अथवा दोपहर में जब व्यक्ति अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त हो गया हो, बिछे हुए बिस्तर पर आतुर को सुख पूर्वक (आराम से) उत्तान लेटना (शयन करना) चाहिए, आतुर के ग्रीवा के नीचे तकिया लगाकर सिर को कुछ नीचे लटका दें तथा पैर की दिशा में चारपायी को कुछ ऊपर उठा दें। अर्थात् पलङ्ग के पैताने की ओर एक-एक ईंट रखकर उसे कुछ ऊँचा कर दें। इस अवस्था में बुद्धिमान चिकित्सक को आतुर की नासिका में तर्पण स्नेह का प्रयोग करना चाहिए।

१. यदि चारपायी पर सोये हुए रोगी के सिरहाने को बिना नीचा किये नस्य का प्रयोग किया जाता है तब नस्य के रूप में प्रयुक्त स्नेह सिर में उचित स्थान तक नहीं पहुँच पाता है।

२. यदि सिर को आवश्यकता से ज्यादा नीचे करके नस्य दिया जाय तब नस्यार्थ प्रयुक्त स्नेह मस्तुलुङ्ग (मस्तिष्क) में ही रुक जाता है, बाहर नहीं निकल पाता। इसलिए सोये हुए व्यक्ति के सिर की शुद्धि हेतु सर्वप्रथम स्वेदन का प्रयोग करना चाहिए। स्वेदन करने के बाद बायें हाथ के अङ्गूठे से आतुर की नासा को ऊपर की ओर उठाकर दाहिने हाथ में प्रणाडी (Dropper) अथवा पिचु (Gauze piece) को लेकर विधिपूर्वक स्नैहिक नस्य का प्रयोग करें।

नस्य देने के बाद– नासा छिद्रों में स्नेह डालने के बाद सिर का पुनः स्वेदन करना चाहिए। इसके साथ ही कफ के साथ उस स्नेह को बार-बार खींचकर बाहर निकालने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रकार सिर से कफ के निकल जाने पर स्नेह वहाँ रुक नहीं पाता, अर्थात् कफ के साथ स्नेह भी बाहर निकल जाता है।

धूमपान का प्रयोग– नस्य चिकित्सा में प्रयुक्त स्वेदन द्वारा उत्क्लेशित कफ पुनः स्नेहन के प्रयोग से अपने शीतल गुण के कारण फिर से जम जाता है। इस प्रकार जमा हुआ वह कफ श्रोत्र, मन्या एवं गल आदि प्रदेशों में रुककर कफज व्याधियों को उत्पन्न करता है। इसलिए नस्य प्रयोग के बाद कफ के विनाश हेतु धूमपान का प्रयोग करना चाहिए। धूमपान के पश्चात् जब कफ दोष निकल जाय तब आतुर को हितकर अन्न-पान, का सेवन कराना चाहिए, निवात स्थान (जहाँ हवा के तेज झोंके न आते हो) एवं उष्ण स्थान पर निवास करना चाहिए, आतुर को अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ **अवपीड नस्य** की विधि बतायी गयी। इसी विधि से आतुर में प्रधमन नस्य का प्रयोग करना चाहिए। इस नस्य हेतु छः अङ्गुल लम्बी नली में औषध चूर्ण को भरकर औषध वाला भाग आतुर की नासिका के सामने रखते हुए पीछे से नली में मुख से फूंककर औषधि को आतुर की नासिका में पहुँचावें।

पश्चात् कर्म– सम्यक् शिरोविरेचन हो जाने के पश्चात् चिकित्सक को तन्द्रा रहित (आलस्य रहित) होकर आतुर को गुनगुने जल का पान कराना चाहिए। उष्ण जल पिलाने के बाद त्रिदोषनाशक, लघु, सुपाच्य एवं द्रव युक्त भोजन (पेया आदि) का सेवन कराना चाहिए। रोगी को निवात स्थान (ऐसा स्थान जहाँ हवा का सीधा प्रवेश न हो) यथा– पंखे, कुलर के सामने न लिटावें।

Scanned by CamScanner

शिरोविरेचन से शुद्ध व्यक्ति जिस-जिस दोष वर्धक आहार-विहार का सेवन करता है वे-वे दोष प्रकुपित होकर सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करते हुए अपने-अपने अनुरूप अनेक व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में तद्-तद् दोषोत्पादक रोगों को दूर करने के लिए जो-जो चिकित्सा विधियाँ बतायी गयी हैं, उन सबका प्रयोग करना चाहिए। यदि अनुचित समय में किये गये शिरोविरेचन से कोई व्याधि उत्पन्न हो जाती है तब उस व्याधि की चिकित्सा करके उसको प्रशमित करना चाहिए। अर्थात् उस व्याधि की चिकित्सा के द्वारा उसे दूर किया जा सकता है।

चक्रपाणि– 'प्राक्सूर्येत्यादि' के द्वारा **नस्य देने की विधि** को स्पष्ट किया गया है। **ग्रीष्मे प्राक्सूर्ये–** ग्रीष्म ऋतु में नस्य का प्रयोग सूर्योदय से पूर्व करना चाहिए। **शीते तु मध्यसूर्ये इति व्यवस्था–** शीत ऋतु में दोपहर में नस्य देना चाहिए।

प्राकृतावश्यकस्य चेति प्राकृतावश्यकरणीयमलविसर्गादिकस्य– प्राक् + कृत् + आवश्यकस्य– सबसे पहले किये जाने वाले आवश्यक कार्य यथा– मल, मूत्र आदि से निवृत्त होना। एवंशयानस्येति– रोगी को टेबल पर इस प्रकार लिटावें कि उसका सिर कुछ नीचे हो। (टेबल के पावदान की ओर नीचे एक-एक ईंट लगा देने पर सिरहाना स्वतः नीचे हो जाता है।) **कुर्यादुभयतः सममिति–** दोनों नासा पुटक में बराबर-बराबर मात्रा में औषधि का प्रयोग करना चाहिए। **प्रणाडी=** नस्य दान नलिका (नस्य देने वाली नली या ड्रापर)। **यथाविधि इति प्रमाणादिदोषरहितम्–** प्रमाण आदि दोषों से रहित, अर्थात् नस्य हेतु शिरोविरेचन द्रव्यों का प्रयोग मात्रा, दोष, काल आदि के अनुसार करना यथाविधि कहलाता है। 'स्वेदनेत्यादि' के द्वारा नस्य के पश्चात् उपयोगी धूमपान का हेतु पूर्वक विवेचन किया गया है। अर्थात् नस्य के पश्चात् धूमपान क्यों कराना चाहिए, इसका सहेतुक विवेचन किया गया है। 'षडङ्गुलया' इत्यादि के द्वारा आगे विवेचित होने वाली प्रधमन नस्य की विधि को बताया गया है।

विरिक्तशिरसमित्यादि– सामान्यतया जिनका शिरोविरेचन हो चुका है। **त्रिष्विति–** वातादि दोषों में, अर्थात् त्रिदोष का जो विरोध न करे। त्रिदोषशामक अन्न-पान का सेवन करना चाहिए (त्रिष्वविरुद्धम्= त्रिदोषशामक)। **विरेकशुद्ध इति शिरोविरेकशुद्धः–** जो रोगी शिरोविरेचन द्वारा शुद्ध हो, अर्थात् जिसके ऊर्ध्वभाग (शिरोभाग) की शुद्धि शिरोविरेचन द्रव्यों द्वारा की गयी हो। **यस्य दोषस्य कोपनं सेवते इति योज्यम्–** शिरोविरेचन द्वारा शुद्ध पुरुष जिस-जिस दोषों के प्रकोपक आहार विहार का सेवन करता है उस पुरुष में वहीं-वहीं दोष प्रकुपित होकर अपने द्वारा उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है।

अकालकृतजातानां रोगाणामनुरूपत इति– अकाल में (अनुचित समय में) किये गये शिरोविरेचन से उत्पन्न होने वाले व्याधियों की चिकित्सा वही की जाती है जो उस व्याधि की चिकित्सा की जाती है। ॥९८-११०॥

विशेष (Comments)– रोगी में नस्य का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए–

पूर्वकर्म– १. अभ्यङ्ग- बला तैल, महानारायण तैल अथवा कोई भी वातनाशक तैल।

स्वेदन– पाणितल को गरम करके अथवा गुनगुने पानी में छोटी तौलिया (Towel) डालकर जल को निचोड़ कर बाहर निकाल दें। अब इस तौलिये से आतुर के ललाट, कपोल, ग्रीवा आदि पर स्पर्श करावें।

२. आतुर को एक टेबल पर इस प्रकार लिटावें कि उसके पैर का भाग कुछ ऊँचा हो तथा सिर नीचे रहे। [वातनाशक तैल का अभ्यंग आतुर के ललाट, गण्ड एवं ग्रीवा पर हलके हाथ से करें। तत्पश्चात् उष्ण जल में भिगोये गये तौलिए को निचोड़ कर ललाट आदि का स्वेदन करें।]

प्रधान कर्म– सम्यक् रूप से अभ्यङ्ग व स्वेदन किये हुए रोगी को टेबल पर इस प्रकार लिटावें कि उसका सिर कुछ नीचे की ओर झुक जाय, ऐसा करने के लिए ग्रीवा के नीचे तकिया लगा देते हैं। अब अणु तैल को एक छोटी कटोरी में लेकर, एक बड़े कटोरे जिसमें उष्ण जल भरा हो, में कटोरी सहित डालते है, जब छोटी कटोरी का तैल कुछ गुनगुना हो जाय तब उसे बड़ी कटोरी से निकाल लेते है। अब आतुर की नासिका को सीधा करके बारी-बारी से दोनों नासापुटक में बराबर-बराबर मात्रा में स्नेह को डालते हैं। डालने के पश्चात् दूसरे नासापुटक को बन्द करके स्नेह को अन्दर खींचने के लिए कहते हैं। यही प्रक्रिया दोनों नासिका पुटक से करावें।

जब रोगी स्नेह को अन्दर खींचता है तो वह स्नेह गले तक आ जाता है। ऐसा होने पर आतुर को गले तक आये हुए स्नेह को खखारकर गले से बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार स्नेहन हेतु लगभग 5 ml से लेकर 20 ml तक स्नेह का प्रयोग कराया जा सकता है।

इसके बाद पुनः आतुर के गले, मुख, ललाट आदि प्रदेश का स्वेदन करें। इस बीच जब भी गले में तैल की अनुभूति हो तो उसे खखारकर बाहर निकाल दें।

Scanned by CamScanner

पश्चात् कर्म– १. नस्य के पश्चात् आतुर को उष्ण जल से गरारा (Gargling) करावें, ताकि गले का स्नेह बाहर निकल जाय।

२. आतुर को चित्त लिटाकर गले, कपोल एवं ललाट का स्वेदन करें।

३. रोगी को यथायोग्य धूमपान करावें।

४. परिहार्य विषय– शीतल जल का पान, शीतल जल से स्नान, आतप, मद्यपान, शिरःस्नान तथा क्रोधादि का त्याग करें।

५. उष्ण गुण युक्त पथ्य एवं लघु आहार द्रव्यों का सेवन करें।

६. वात युक्त स्थान का त्याग करें।

७. कफप्रकोपक एवं अभिष्यन्दि आहार द्रव्यों का सेवन न करें।

अजीर्णे भोजने भुक्ते तोये पीतेऽथ दुर्दिने । प्रतिश्याये नवे स्नाते स्नेहपानेऽनुवासने ।।१११।।
नावनं स्नेहनं रोगान् करोति श्लैष्मिकान् बहून् । तत्र श्लेष्महरः सर्वस्तीक्ष्णोष्णादिर्विधिर्हितः ।।११२।।
क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहते तृषि । वातो रूक्षेण नस्येन क्रुद्धः स्वाञ्जनयेद्गदान् ।।११३।।
तत्र वातहरः सर्वो विधिः स्नेहनबृंहणः । स्वेदादिः, स्याद्घृतं क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषतः ।।११४।।
ज्वरशोकातितप्तानां तिमिरं मद्यपस्य तु । रूक्षैः शीताञ्जनैर्लेपैः पुटपाकैश्च साधयेत् ।।११५।।

नावन नस्य के प्रयोग से होने वाले उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा– निम्नलिखित अवस्थाओं में **नावन नस्य** के प्रयोग से कफ जनित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं–

१. अजीर्ण अवस्था में नस्य के प्रयोग से।

२. भोजन करने के बाद नस्य के प्रयोग से।

३. जल पीने के बाद नस्य का प्रयोग करना।

४. मौसम साफ न रहने (आकाश में बादल के रहने) पर नस्य का प्रयोग करना।

५. नवीन प्रतिश्याय के उत्पन्न होने पर नस्य का प्रयोग करना।

६. स्नान करने के बाद नस्य लेना।

७. स्नेहपान के बाद नस्य का प्रयोग करना।

८. अनुवासनबस्ति देने के बाद नस्य का प्रयोग करना।

ऐसी अवस्था में आतुर को उष्ण, तीक्ष्ण एवं कफनाशक सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए।

रूक्ष नस्य का निषेध– १. जिन व्यक्तियों का शरीर अत्यधिक क्षाम (कृश) है।

२. जिन्हें विरेचन का प्रयोग कराया गया हो।

३. गर्भिणी स्त्री अर्थात् जो गर्भवती हो।

४. जो अत्यधिक व्यायाम करते हैं।

५. जिन्हें अत्यधिक प्यास लगी हो।

ऐसे व्यक्तियों में रूक्ष नस्य के प्रयोग से वायु और अधिक प्रकुपित हो जाती है। ऐसी अवस्था में चिकित्सक को वातनाशक सभी उपक्रमों यथा– स्नेहन (Oleation), बृंहण (Nourishing), स्वेदन (Fomentation) आदि का प्रयोग करना चाहिए।

यदि गर्भिणी स्त्री को रूक्ष नस्य के प्रयोग से कोई वातज रोग उत्पन्न हो जाय तब उसमें विशेष रूप से घृत एवं क्षीर का प्रयोग करना चाहिए।

तिमिर रोग (Cataract) एवं उसकी चिकित्सा– १. ज्वर तथा शोक आदि व्याधियों से आक्रान्त पुरुषों में,

२. जो अत्यधिक मद्य का सेवन करता हो; ऐसे पुरुषों में नस्य के प्रयोग से **तिमिर रोग** उत्पन्न हो जाता है। व्याधि की इस अवस्था में रोगी के नेत्रों पर रूक्ष द्रव्यों के कल्क का लेप अथवा शीताञ्जन का प्रलेप एवं रूक्ष पुटपाक का प्रयोग करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– नावनं स्नेहनमिति– स्नेहन कार्य हेतु जिस नस्य का प्रयोग किया जाता है उसे **नावन नस्य** कहते हैं। अर्थात् नावन द्वारा सिर का स्नेहन होता है। **स्वेदादिरिति–** 'तत्र श्लेष्महरः' से प्रारम्भ करके 'स्वेदादि' तक वाक्य पूर्ण हो जाता है। तत्र वातहरः सर्वो विधिस्नेहनबृंहणः स्वेदादिः– क्षाम आदि पुरुषों में रूक्ष (विरेचन) नस्य के प्रयोग से होने वाले वात व्याधियों में वातनाशक सभी उपक्रमों, यथा– स्नेहन, बृंहण, स्वेदन आदि का प्रयोग करना चाहिए। **घृतं क्षीरमिति गर्भिण्या वातजयार्थं गर्भपुष्टये च–** गर्भिणी में प्रकुपित वात के प्रशमन के लिए एवं गर्भ की पुष्टि के लिए **घृत** एवं क्षीर का प्रयोग करना चाहिए। ज्वर, शोक आदि से आक्रान्त पुरुष में प्रयुक्त नावन स्नेह तिमिर (Cataract) रोग को उत्पन्न करता है। उसी प्रकार मद्यपान के अभ्यस्त रोगी में भी नावन नस्य देने पर तिमिर रोग उत्पन्न हो जाता है। 'रूक्षैरित्यादि' के द्वारा **तिमिर रोग** (Cataract) की चिकित्सा का अभिधान किया गया है। शीताञ्जन से यहाँ **स्रोतोञ्जन** का ग्रहण करते हैं। अथवा तिक्त द्रव्यों से निर्मित अञ्जन को शीताञ्जन कहते हैं, जिसके बारे में शालाक्य तन्त्र में कहा भी गया है, यथा– **''लेखनं रोपणं चैव प्रसादनमथापि च। तिक्तेन रोपणं कार्यं, मधुरेण प्रसादनम्।। कटवम्ललवणाद्यैश्च लेखनं कारयेद्बुधः। शैत्यान्निर्वापयेत्तिक्तो रौक्ष्याद्रोपयति द्रुतम्''इति** [अञ्जन तीन प्रकार के होते हैं– १. लेखन, २. रोपण, ३. **प्रसादन**। तिक्त द्रव्यों के योग से निर्मित अञ्जन रोपण (व्रण को भरने वाला) कार्य करता है, मधुर द्रव्यों से निर्मित अञ्जन प्रसादन कार्य करता है तथा कटु, अम्ल, लवण आदि रस प्रधान द्रव्यों से निर्मित अञ्जन लेखन कार्य करता है। तिक्त रस वाले द्रव्य अपने शीत गुण के कारण नेत्रगत दाह (Burning sensation) तथा रूक्ष गुण के कारण शीघ्र रोपण प्रभाव (Healing effect) को दर्शाते हैं।]

''रूक्षैरित्यञ्जनादिभिः संबध्यते''– 'रूक्षैः' शब्द अञ्जनादिभिः के साथ जुड़ा हुआ है। जिसका अभिप्राय रूक्ष एवं शीत गुण वाले अञ्जन एवं लेपों के प्रयोग से है। अर्थात् तिमिर रोग को दूर करने के लिए चिकित्सक को रूक्ष एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों से निर्मित अञ्जन एवं लेपों का प्रयोग तथा इन्हीं गुण युक्त द्रव्यों का प्रयोग पुटपाक के रूप में करना चाहिए। **लेगः नयनालेपः–** नेत्रों के ऊपर लेप करना। **पुटपाकः अक्षितर्पणजविकारहरलेखनः शमनो वा ज्ञेयः–** पुटपाक अक्षितर्पण से उत्पन्न विकारों को दूर करने वाला होता है। यह लेखन एवं शमन भेद से दो प्रकार का होता है। यह पुटपाक विधि से निकाले गये औषध द्रव्यों का एक प्रकार का स्वरस होता है जिसका प्रयोग नेत्रगत व्याधियों को दूर करने के लिए किया जाता है। शालाक्यतन्त्र में पुटपाक भी स्नेहन, लेखन एवं प्रसादन भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। उसका विस्तृत वर्णन यहाँ अन्य का अधिकार होने के कारण (कायचिकित्सा का विषय न होने के कारण) नहीं किया गया है। ॥१११-११५॥

स्नेहनं शोधनं चैव द्विविधं नावनं मतम्। प्रतिमर्शस्तु नस्यार्थं करोति न च दोषवान्।।११६।।
नस्तः स्नेहाङ्गुलिं दद्यात् प्रातर्निशि च सर्वदा। न चोच्छिङ्गेदरोगाणां प्रतिमर्शः स दार्ढ्यकृत्।।११७।।

प्रतिमर्श नस्य– स्नेहन एवं शोधन भेद से नस्य (नावन) दो प्रकार का होता है। प्रतिमर्श नस्य इन दोनों (स्नेहन एवं शोधन) कार्यों को करता है तथा इसके प्रयोग से कोई हानि नहीं होती। अर्थात् इसका प्रयोग निरापद होता है। इसका प्रयोग प्रत्येक ऋतु में प्रातः काल एवं रात्रि में करते हैं। प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग व्यवहार में इस प्रकार किया जाता है–इसमें अङ्गुली को स्नेह में डुबोकर नासिका के आभ्यन्तर भाग में लगाते हैं। इस स्नेह को नासिका के अन्दर तीव्रता से खींचते नहीं हैं, अपितु नासिका के अन्दर की दीवारों पर अङ्गुली से स्पर्श कराते हैं। तत्पश्चात् धीरे से अन्दर की ओर खींचते हैं।

स्वस्थ व्यक्ति में इसका प्रयोग करने से शिरोगत इन्द्रियाँ दृढ होती है। अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य की रक्षा हेतु इसका प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– नावन का विवेचन पूर्व में किया गया है, लेकिन यहाँ प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग उभय कर्म को करने के कारण 'स्नेहनमित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। अर्थात् यह नस्य स्नेहन व शोधन दोनों कर्मों को दर्शाता है। **अन्ये, सर्वनस्तः कर्मणामेवैतत् कर्मद्वयमनूद्यते–** अन्य आचार्यों के अनुसार सभी नस्य कर्मों में ही ये दो कर्म भी समाविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् पूर्व वर्णित स्नेहन व शमन में ही इनका भी समावेश हो जाता है। **नस्यार्थमिति–** स्नेहन व शोधन, प्रतिमर्श नस्य स्नेहन व शोधन दोनों ही कार्यों को करता है। **न च दोषवानिति–** व्यापत्ति रहित होना, अर्थात् इसके प्रयोग से शरीर में नस्य जनित कोई व्यापत्ति (उपद्रव) नहीं उत्पन्न होती। 'नस्त इत्यादि' के द्वारा प्रतिमर्श की विधि को स्पष्ट किया गया है। स्नेहाङ्गुलिमिति– स्नेह में डुबोई गयी अङ्गुली को। सर्वदेति= सभी ऋतुओं में, प्रतिमर्श नस्य का प्रयोग सभी ऋतुओं में प्रातः एवं रात्रि काल में करना चाहिए। दार्ढ्यकृदिति– सिर की हड्डी आदि को दृढ़ (मजबूत) बनाता है। **अयं प्रतिमर्शः स्वल्पस्नेहप्रमाणोऽनुच्छिङ्गनश्च सार्वकालिको ज्ञेयः–** इसमें अल्प मात्रा में स्नेह का प्रयोग किया जाता है तथा स्नेह को तीव्र गति से अन्दर की ओर नहीं खींचते एवं इसका प्रयोग सभी ऋतुओं में करते हैं। [जिस नस्य में स्नेह की अधिक मात्रा का प्रयोग किया जाता है तथा उसका प्रयोग इसकी भाँति (प्रतिमर्श नस्य की तरह) सभी ऋतुओं में नहीं कराया जाता, उसे मर्शनस्य कहते हैं।] कहा भी गया है, यथा– "ईषदुच्छिङ्गनात् स्नेहो यावान् वक्त्रं प्रपद्यते। नस्तो निषिक्तं तं विद्यात् प्रतिमर्शं प्रमाणतः" इति [दिये गये प्रतिमर्श रूपी स्नेह को धीरे

Scanned by CamScanner

से अन्दर की ओर तब तक खींचे जब तक कि यह मुख में न आ जाय। ली गयी नस्य स्नेह की इस मात्रा को प्रतिमर्श कहते हैं।] तथा "प्रतिमर्श तु न पिबेत् कण्ठास्रावभयान्नरः। यावत् स्नेहो व्रजेदास्यं तत्प्रमाणं च तस्य तु" इति [प्रतिमर्श नस्य को गले से निगलना नहीं चाहिए, क्योंकि स्नेह को निगलने पर गले से स्राव होने लगता है। अतः इसमें स्नेह की उतनी ही मात्रा का प्रयोग करते हैं जिसको नासिका द्वारा खींचने पर मुख तक आ जाय। यही उसकी उचित मात्रा है।] ॥११६-११७॥

विशेष (Comments)– This oil used for Pratimarsha should not be degultitated because it may cause irritation (Lit. secretion) in the throat. The quantity in which this oil when snuffed slightly reaches the mouth is the appropriate dose.

Dr. R.K. Sharma and Bhagvan Das.

आचार्य सुश्रुत ने स्नैहिक नस्य की मात्रा १. प्रति नासा पुटक में ८-८ बूंद (कुल १६ बूंद) प्रथम मात्रा, २. १६-१६ बूंद (कुल ३२ बूंद), द्वितीय मात्रा इसे **शुक्ति मात्रा** भी कहते हैं। ३. ३२-३२ बूंद (कुल ६४ बूंद) तृतीय मात्रा **(पाणिशुक्ति)** का प्रयोग; आतुर के बल आदि के अनुसार करने का निर्देश दिया है। ("तस्य प्रमाणमष्टौ बिन्दवः प्रदेशिनीपर्वद्वय निःसृताः प्रथम मात्रा, द्वितीय शुक्तिः, तृतीय पाणिशुक्तिः, इत्येतास्तिस्रो मात्रा यथाबलं प्रयोज्याः" (सु.चि.अ. ४०/२८) इति, यहाँ प्रथम मात्रा अल्पबल (हीन बल), द्वितीय मात्रा मध्यम बल तथा तृतीय मात्रा उत्तम बल वाले रोगियों के लिए निर्धारित की गयी है। शिरोविरेचन हेतु विरेचन स्नेह की मात्रा चार या छः या आठ बूंद प्रति नासा पुटक में देने का विधान है। अर्थात् प्रथम मात्रा हीन बल वाले रोगी के लिए ४-४ बूंद (कुल ८ बूंद), द्वितीय मात्रा मध्यम बल वाले रोगी के लिए ६-६ बूंद (कुल १२ बूंद) तथा उत्तम मात्रा बलवान रोगी के लिए ८-८ बूंद (कुल १६ बूंद) बतलायी गयी है। (चत्वारः बिन्दवः षड्वा तथाऽष्टौ वा यथाबलम् । शिरोविरेकस्नेहस्य प्रमाणमभिनिर्दिशेत्" (सु.चि.अ. ४०/३६) इति।

अभिप्राय यह है कि स्नेहन हेतु नस्य की मात्रा अधिक दी जाती है तथा इस हेतु मधुर गण की औषधियों, जीवनीय गण की औषधियों अथवा अक्षोभक द्रव्यों द्वारा साधित स्नेह का ही प्रयोग करते हैं तथा शिरोविरेचनार्थ प्रयुक्त स्नेह उष्ण, तीक्ष्ण आदि द्रव्यों द्वारा साधित होता है, इसलिए इसकी मात्रा कम बतलायी गयी है।

तत्र श्लोकौ–

त्रीणि यस्मात् प्रधानानि मर्माण्यभिहतेषु च । तेषु लिङ्गं चिकित्सां च रोगभेदाश्च सौषधाः ॥११८॥
विधिरुत्तरबस्तेश्च नस्तःकर्म विधिस्तथा । सव्यापद्भेषजं सिद्धौ मर्माख्यायां प्रकीर्तितम् ॥११९॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबल संपूरिते सिद्धिस्थाने त्रिमर्मीयसिद्धिर्नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– त्रिमर्मीय सिद्धि नामक इस अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित विषयों का वर्णन किया है–

१. हृदय आदि तीन मर्मों की प्रधानता में कारण, अर्थात् किस कारण से हृदय, बस्ति एवं सिर को प्रधान कहा गया है।

२. इनमें (तीन मर्मों- हृदय, बस्ति एवं सिर में) आघात से होने वाले लक्षण एवं उनकी चिकित्सा।

३. मर्मों में होने वाली व्याधियाँ एवं उनकी चिकित्सा।

४. उत्तरबस्ति देने की विधि, नस्य कर्म की विधि, इनके उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में त्रिमर्मीयसिद्धि नामक नवम अध्याय पूर्ण हुआ। ॥९॥

चक्रपाणि– त्रीणि इत्यादि के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है, जिनका अर्थ स्पष्ट है। ॥११८-११९॥

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में त्रिमर्मीयसिद्धि नामक नवम अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥९॥

Scanned by CamScanner

दशमोऽध्यायः।

अथातो बस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे बस्तिसिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करूँगा, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– त्रिमर्मीयायां बहुरोगप्रतिपादनाद्बहुरोगहितबस्तिप्रतिपादनार्थं बस्तिसिद्धिरुच्यते– त्रिमर्मीय अध्याय में अनेक रोगों का वर्णन होने से अनेक रोगों में उपयोगी बस्ति के प्रतिपादन के लिए यहाँ 'बस्तिसिद्धि' अध्याय का अभिधान किया जा रहा है।

[पूर्व के अध्याय में त्रिमर्म के आश्रित होने वाली कुछ व्याधियों का विवेचन किया गया है। उन व्याधियों की सफलता पूर्वक चिकित्सा हेतु इस अध्याय में प्रभावी बस्तियों का विवेचन किया जा रहा है।]

यहाँ 'बस्ति' शब्द से 'सिद्धबस्ति' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थात् प्रभावी बस्ति (Effective recipes of medicated Enema) का ग्रहण करना चाहिए। ।।१-२।।

सिद्धानां वस्तीनां शस्तानां तेषु तेषु रोगेषु । शृण्वग्निवेश! गदतः सिद्धिं सिद्धिप्रदां भिषजाम् ।।३।।

विषयारम्भ– हे अग्निवेश! उन-उन व्याधियों में प्रयोग करने पर उत्तम तथा सिद्धि (निश्चित सफलता) देने वाली बस्तियाँ, जो चिकित्सक को चिकित्सा कार्य में सफल बनाती हैं, का विवेचन इस बस्तिसिद्धि नामक अध्याय में किया जा रहा है, उसे सुनो–

चक्रपाणि– सिद्धानामिति प्रसिद्धफलानाम्– जिसका परिणाम प्रसिद्ध हो, अर्थात् जो निश्चित रूप से सफलता प्रदान करने वाली हो। **तेषु तेष्विति–** आगे बताये जाने वाले वात आदि व्याधियों में। **सिद्धिमिति बस्तिनिष्पादिकां–** जिन बस्तियों के प्रयोग से सफलता मिलती है अथवा **बस्ति अभिधायक** ग्रन्थ। अर्थात् जिन बस्तियों के प्रयोग से सफलता निश्चित रूप से मिलती हैं, उन्हें **बस्ति सिद्धि** कहा गया है। उन सिद्ध बस्तियों का विवेचन इस अध्याय में किया गया है। ।।३।।

बलदोषकालरोगप्रकृतीः प्रविभज्य योजिताःसम्यक् । स्वैः स्वैरौषधवर्गैः स्वान् स्वान् रोगान्नियच्छन्ति ।।४।।
कर्मान्यद्वस्तिसमं न विद्यते शीघ्रसुखविशोधित्वात् । आशुपतर्पणत्वर्पणयोगाच्च निरत्ययत्वाच्च ।।५।।

बस्ति चिकित्सा का महत्व (Importance of Basti therapy)– बल (Strength), दोष (वातादि दोष), काल (औषध काल एवं आतुर काल-व्याधिकाल), रोग (Nature of the diseases), आतुर की प्रकृति (Physical constitution of the patients) का सम्यक् विचार कर अपने-अपने औषध वर्गों द्वारा निर्मित बस्ति का सम्यक् प्रयोग करने पर वह उन-उन रोगों को निश्चित रूप से दूर कर देती है।

बस्ति चिकित्सा की श्रेष्ठता में हेतु– बस्ति के समान कोई अन्य चिकित्सा कर्म नहीं है, क्योंकि–

१. यह शीघ्रता पूर्वक एवं सुखपूर्वक (बिना कष्ट के) मलों का शोधन करती है (Basti cleanses the body quickly and easily)

२. आशु अपतर्पण कार्य करने से, अर्थात् अपतर्पण कारक औषधियों द्वारा निर्मित बस्ति के प्रयोग से शरीर का शीघ्र ही अपतर्पण होने लगता है।

३. शीघ्रतापूर्वक तर्पण कार्य करने से, अर्थात् संतर्पण बस्ति के प्रयोग से शरीर का शीघ्र ही संतर्पण (धातुओं का पोषण) होने लगता है।

४. व्यापत्ति (उपद्रव) का भय न होने से, अर्थात् वमन, विरेचन की तुलना में इसमें उपद्रव कम होते हैं।

चक्रपाणि– बस्तेरितिकर्तव्यतां गुणांश्च प्रतिपादनीयबस्त्यङ्गभूतानाह– बलदोषेत्यादि। बस्ति की इतिकर्तव्यता (Necessary to be done according to certain conditions) एवं गुण प्रतिपादनीय बस्ति के ही अंगभूत हैं, जिसे यहाँ 'बलदोषेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। [जिसका प्रतिपादन होने वाला है, ऐसे बस्ति के अवयव रूप बस्ति क्या है तथा किस प्रकार कार्य करती है व इसके क्या गुण हैं; इसे यहाँ स्पष्ट किया गया है।]

अत्र च बलादौ यथाप्रधानमिह गृहीते सर्वपरीक्षावरोधो व्याख्येयः– यहाँ आतुर के बल आदि की जो मुख्य परीक्षा बतायी गयी है उन्हीं में सि.अ. ३/६ में वर्णित दस विध परीक्ष्य भावों का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

"समीक्ष्य दोषौषध" (सि.अ. ३/६) इति के द्वारा दसविध परीक्ष्य भावों का विवेचन पूर्व में किया गया है, फिर भी परीक्षा का

Scanned by CamScanner

प्रकरण आ जाने के कारण उसका यहाँ पुनः अभिधान किया गया है। **स्वैः स्वैः औषधवर्गैरिति यथाव्याधिप्रतिपादितैरौषधैः–** निर्दिष्ट व्याधि की चिकित्सा में प्रतिपादित औषधों द्वारा। स्वान् स्वानिति– उस-उस व्याधि शामक बस्ति के प्रयोग से तद्-तद् व्याधियों का प्रशमन होता है। अर्थात् वह बस्ति उन-उन व्याधियों को दूर करती है। **आश्वपतर्पणतर्पणयोगादिति–** अपतर्पणकारक औषधियों के क्वाथ आदि से निर्मित बस्ति अपतर्पण हेतु प्रयोग करने पर अन्य अपतर्पण औषधियों की तुलना में व्यक्ति का शीघ्र ही अपतर्पण करती है। इसी प्रकार तर्पण द्रव्यों के संयोग से दी गयी बस्ति अन्य तर्पण द्रव्यों की तुलना में शरीर का शीघ्र ही तर्पण करती है। ॥४-५॥

सत्यपि दोषहरत्वे कटुतीक्ष्णोष्णादि भेषजादानात् । दुःखोद्गारोत्क्लेशाहृद्यत्वकोष्ठरुजा विरेके स्युः ॥६॥
अविरेच्यौ शिशुवृद्धौ तावप्राप्तप्रहीनधातुबलौ । आस्थापनमेव तयोः सर्वार्थकृदुत्तमं कर्म ॥७॥
बलवर्णहर्षमार्दवगात्रस्नेहान्नृणां ददात्याशु ।

विरेचन की तुलना में बस्ति की श्रेष्ठता– विरेचन के प्रयोग द्वारा भी दोषों का निर्हरण होता है, लेकिन यह कार्य कटु, तीक्ष्ण, उष्ण आदि गुण वाली औषधियों के प्रयोग से होता है। अर्थात् विरेचनार्थ कटु, तीक्ष्ण व उष्ण गुण वाली औषधियों का प्रयोग किया जाता है। विरेचन औषधियों के प्रयोग द्वारा आतुर को- दुःख (Unpleasantness), उद्गार (खट्टी डकार का आना–eructation), उत्क्लेश (मिचली का आना- Nausea), अहृद्यत्व (Cardiac discomfort) एवं कोष्ठ में पीड़ा का होना (Pain in the gastro intestinal tract) आदि लक्षण मिलते हैं। (ये सभी लक्षण बस्ति के प्रयोग में नहीं मिलते।) इसके साथ ही बालक एवं वृद्ध पुरुष विरेचन के योग्य नहीं होते। क्योंकि इन दोनों में धातु (रसादि धातुएं) एवं बल (शारीरिक बल) क्षीण होते हैं। (बालक में रसादि धातुएं पूर्ण विकसित नहीं होती तथा वृद्ध में इनका क्षय हो जाता है।) अतः इन दोनों के सभी कार्यों को आस्थापन बस्ति ही उत्तम रूप से करती है। बस्ति के प्रयोग से शीघ्र ही बल (Strength), वर्ण (Complexion), हर्ष (Sense of exhileration), स्निग्धता एवं मृदुता की वृद्धि हो जाती है। अर्थात् बस्ति के प्रयोग से शरीर इन गुणों से शीघ्र ही युक्त हो जाता है।

चक्रपाणि– 'सत्यपीत्यादि' के द्वारा बस्ति की तुलना में अन्य शोधन विधियों यथा– वमन व विरेचन द्वारा दोष निर्हरण के दोष को स्पष्ट किया गया है। कटु आदि औषधियों द्वारा विरेचन (वमन अथवा विरेचन) कराने से शरीर में कष्ट, उद्गार (Eructation), उत्क्लेश (Nausea), अहृद्यत्व (Cardiac discomfort) एवं कोष्ठ रुजा (कोष्ठ में पीड़ा) आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। **तत्र दुःखं कटुकादिना रसेनोद्वेगादेव भवति–** कटु, तिक्त आदि द्रव्यों के प्रति रोगी को स्वाभाविक अरुचि होती है। अतः इनका सेवन रोगी के लिए कष्टदायक होता है। इस प्रकार के दोष बस्ति में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि इसका प्रयोग मुख द्वारा नहीं किया जाता। 'विरेक' शब्द से यहाँ वमन व विरेचन दोनों अर्थ लिया गया है। **किंवा वमनं बस्तिना सममत्यन्तभिन्नविषयत्वादेव नोदाहृतं–** अथवा वमनकर्म बस्ति की तुलना में अत्यन्त भिन्न होने के कारण ही उसका यहाँ उदाहरण नहीं दिया गया है। पक्वाशयस्थ दोषों के निर्हरण हेतु विरेचन व बस्ति दोनों की ही उपयोगिता है। अतः तुलनात्मक रूप से बस्ति को यहाँ प्रधान (मुख्य) कहा गया है। विरेचन की तुलना में बस्ति पक्वाशयस्थ दोषों का निर्हरण सुखपूर्वक कराती है। इसलिये यहाँ बस्ति को मुख्य माना गया है।

'अविरेच्यावित्यादि' से जिन व्यक्तियों में विरेचनादि का निषेध किया गया है, उनमें भी बस्ति उपयोगी होने से उसे (बस्ति को) प्रधान माना गया है, बताया गया है।

'तावप्राप्तप्रहीनधातुबलौ' की व्याख्या क्रम के अनुसार करनी चाहिए, अर्थात् अप्राप्त धातुबलौ के साथ 'शिशु' तथा 'प्रहीनधातुबलौ' के साथ 'वृद्ध' शब्द को जोड़ कर अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यथासंख्यम्– Relative enumeration N. of a figure (which separating each verb from its subject so arranges verbs with verbs and subjects with subjects that each may answer to each – M.M. Williams)

(१) अप्राप्तधातुरप्राप्तबलश्च बालः– बालक में रसादि धातुएं पूर्ण रूप से विकसित नहीं होती तथा शारीरिक बल भी पूर्ण नहीं रहता।

(२) प्रहीणधातुः प्रहीणबलश्च वृद्धः– वृद्ध पुरुष में रसादि धातुएं तथा बल दोनों ही क्षीण रहते हैं। ऐसा होने के कारण ये दोनों ही (बालक तथा वृद्ध) विरेचन के योग्य नहीं होते।

सर्वार्थकृदिति निरत्ययदोषहरणबृंहणादिकृत्– सभी कार्यों को करने वाला, दोषहरण एवं बृंहणादि कार्य के होने में किसी प्रकार का उपद्रव नहीं उत्पन्न होता। अर्थात् ये कार्य बस्ति द्वारा बिना उपद्रव उत्पन्न हुए ही संपन्न हो जाते हैं। ॥६-७॥

अनुवासनं निरूहश्चोत्तरबस्तिश्च स त्रिविधः ॥८॥
शाखावातार्तानां सकुञ्चितस्तब्धभग्नरुग्णानाम् । विट्सङ्गाध्मानारुचिपरिकर्तिरुगादिषु च शस्तः ॥९॥
उष्णार्तानां शीताञ्छीतार्तानां तथा सुखोष्णांश्च । तद्योग्यौषधयुक्तान् बस्तीन् संतर्क्य विनियुञ्ज्यात् ॥१०॥

Scanned by CamScanner

बस्ति के भेद (Types of Basti)– बस्ति तीन प्रकार की होती है, यथा– १. अनुवासन बस्ति, २. निरूह बस्ति, ३. उत्तरबस्ति। इन बस्तियों का प्रयोग अधोलिखित प्रकार के रोगियों में करना चाहिए–

१. जिनकी शाखाओं में वायु प्रकुपित हो। (यहाँ शाखा से रसादि धातुओं का ग्रहण किया गया है।)

२. जिनके अङ्ग सङ्कुचित हो गये हों, अथवा जिसका शरीर जकड़ गया हो अथवा जिसकी हड्डियाँ टूट गयी हों अथवा जिनके शरीर में वेदना होती हो।

३. जिसका मल (पुरीष) अवरुद्ध हो गया हो।

४. जो आध्मान (Flatulence) अरुचि (Anorexia) एवं परिकर्तिका (गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना– Anal fissure) रोग से आक्रान्त हो।

५. जो रोगी उष्ण हेतुओं से पीड़ित हो अथवा जिन्हें पित्तज व्याधि हो, उसमें शीतल बस्तियों (शीतवीर्य द्रव्यों के क्वाथ आदि से तैयार की गयी बस्तियों) का प्रयोग करना हितकारी होता है।

६. जो रोगी शीतजन्य हेतुओं से उत्पन्न होने वाली व्याधियों से पीड़ित हों अथवा शीत से पीड़ित हों उनमें समशीतोष्ण (Luke-warm) बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

भिन्न-भिन्न व्याधियों में तद्-तद् व्याधिनाशक औषध द्रव्यों के क्वाथ आदि से निर्मित बस्तियों का विचारपूर्वक (सम्यक् विचार करके) प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् जिस-जिस व्याधि में जिस प्रकार की बस्ति देना आवश्यक है उसका सम्यक् विचार करके प्रयोग करें।

चक्रपाणि– 'अनुवासनमित्यादि' के द्वारा बस्ति के भेदों को बताया गया है। **तद्योग्यौषधयुक्तानिति–** उस व्याधि नाशक औषधियों के योग से वस्ति का निर्माण कर, प्रयोग करना अर्थात् शीतजन्य कारणों से उत्पन्न व्याधि में शीतता को दूर करने वाली औषधियों तथा उष्णता जन्य व्याधियों में उष्णता नाशक (शीतवीर्य युक्त) औषधियों द्वारा निर्मित बस्ति का प्रयोग करना, अर्थ गृहीत है। ॥८-१०॥

बस्तीन्न बृंहणीयान् दद्याद् व्याधिषु विशोधनीयेषु । मेदस्विनो विशोध्या येऽपि नराः कुष्ठमेहार्ताः ।।११।।
न क्षीणक्षतदुर्बलमूर्च्छितकृशशुष्कदेहानाम् । युञ्जाद्विशोधनीयान् दोषनिबद्धायुषो ये च ।।१२।।

बृंहण बस्ति के अयोग्य पुरुष– १. जो व्यक्ति शोधन के योग्य हैं, अथवा जिन रोगों में शोधन कराना आवश्यक है।

२. ऐसे व्यक्ति जिनके शरीर में मेद की अत्यधिक वृद्धि हो।

३. जो व्यक्ति कुष्ठ (Obstinate skin diseases including leprosy) व मेह (Obstinate Urinary diseases including diabetes) जैसी व्याधियों से पीड़ित हो। इन व्याधियों में शोधन कराना आवश्यक होता है।

इन अवस्थाओं में बृंहण वस्ति नहीं देनी चाहिए।

शोधन बस्ति के अयोग्य पुरुष– १. जो व्यक्ति क्षीण, क्षत, दुर्बल व मूर्च्छा से पीड़ित हो। (Patients suffering from consumption, phthisis, weakness and fainting)

२. जिसका शरीर कृश व शुष्क हो गया हो।

३. जो दोषों के रुकने के ही कारण जीवित हो।

ऐसे पुरुषों में शोधनीय बस्तियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'मेदस्विन इत्यादि' के द्वारा शोधन के योग्य व्याधियों का उल्लेख किया गया है। **विशोध्या येऽपीति भूरिदोषत्वेन ये शोधनार्हा इत्यर्थः–** जो पुरुष शोधन के योग्य हैं, अर्थात् दोषों के अत्यधिक प्रकुपित होने के कारण जो शोधन के योग्य हैं।

दोषनिबद्धायुष इति– दोष से यहाँ मलादि रूप दोषों का ग्रहण किया गया है। जो पुरुष शरीर में मलादि के रुकने के ही कारण जीवित रहते हैं, यथा– अतिदुर्बल व शोष रोगी आदि। कहा भी गया है, यथा– "शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि। अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते" (च.चि.अ. ८/८८) इति [शोष के रोगी में विरेचन द्वारा मल (पुरीष) के अति निर्हरण हो जाने से आत्मा शरीर को छोड़ देती है। अर्थात् रोगी की मृत्यु हो जाती है। बल का विचार न करते हुए यदि दुर्बल रोगी में अधिक मात्रा में विरेचन औषधि का प्रयोग करते हैं तब उसके बारे में कहना ही क्या? अर्थात् निश्चय ही रोगी की मृत्यु हो जाती है।] ॥११-१२॥

वाजीकरणेऽसृक्पित्तयोश्च मधुघृतपयोयुक्ताः । शस्ताः सतैलमूत्रारनाललवणाश्च कफवाते ।।१३।।
युञ्जाद्व्याणि बस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुरां क्वाथान् । अविरोधाद्धातूनां रसयोनित्वाच्च जलमुष्णम् ।।१४।।

Scanned by CamScanner

बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव आदि पदार्थ–

१. वाजीकरण कार्य हेतु (Aphrodisiac effect- A food or drugs that is said to give people a strong desire to have sex) एवं रक्तपित्त रोग की चिकित्सा हेतु प्रयोग की जाने वाली बस्ति में मधु, घृत एवं दूध का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् इन द्रव्यों को मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। अथवा रक्त एवं पित्त जन्य विकारों में मधु, घृत एवं दूध को मिलाकर बस्ति द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

२. कफ एवं वात की वृद्धि में तैल, गोमूत्र, आरनाल (काञ्जी) एवं सैन्धव लवण मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

३. सामान्यतया बस्ति के रूप में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में अम्ल (काञ्जी), गोमूत्र, गोदुग्ध, सुरा तथा तद्-तद् व्याधि नाशक क्वाथ का संयोग कराना चाहिए। लेकिन यहाँ बताये गये द्रव्यों में से उन्हीं द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए जो धातुओं के विरोधी न हो, अर्थात् धातुओं के विपरीत गुण वाले न हो। जल रस की योनि है, अर्थात् रस की उत्पत्ति जल द्वारा हुई है। अतः सभी बस्तियों में उष्ण जल का प्रयोग अवश्य ही करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'वाजीकरणे इत्यादि' के द्वारा कार्य विशेष के आधार पर बस्तियों के संस्कार विशेष को स्पष्ट किया गया है।

मधुप्रक्षेपो बस्तौ पूर्वोक्तसामान्यविधानलब्धोऽप्यधिकमात्रया प्रक्षेपार्थमवश्यप्रक्षेपार्थं चेहोच्यते– बस्ति में मधु का प्रक्षेप के रूप में प्रयोग पूर्व वर्णित सामान्य विधान से प्राप्त होते हुए भी अधिक मात्रा में डालने के लिए अवश्य ही प्रक्षेप के रूप में उसका प्रयोग किया गया है। अर्थात् वाजीकरण प्रभाव हेतु बस्ति में सामान्य निर्धारित मात्रा की तुलना में अधिक मात्रा में मधु डालना चाहिए।

अविरोधाद्धातूनामिति पूर्वेण संबध्यते– 'अविरोधाद्धातूनामिति' का सम्बन्ध पूर्व श्लोक– 'युञ्जाद्द्रव्याणि बस्तिष्वम्लं मूत्रं पयः सुरां क्वाथान्' से है। बस्ति तैयार करते समय अम्ल आदि द्रव्यों में से जो द्रव्य धातुओं के विरोधी न हो, अर्थात् व्याधि को बढ़ाने वाले न हों (शरीर को हानि पहुँचाने वाले न हों) उनका प्रयोग करना चाहिए। जो शरीर के लिए हानिकारक हों अथवा धातु विरोधी हो उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो द्रव्य रोगी की प्रकृति के अनुकूल हो (रोगी के लिए हितकर हो) उसका प्रयोग उसे करना चाहिए।

रसयोनित्वाच्च जलमुष्णमिति जलं यस्माद्रसयोनिः, तेन तदुष्णं सत् सर्वबस्तिगतरसस्य पोषणार्थं सर्वबस्तिषु देयम्– जल रस का उत्पादक कारण है। इसलिये उसको उष्ण करके सभी वस्तिगतरस के पोषण के लिए सभी प्रकार की बस्तियों में प्रयोग करते हैं। बस्तियों में सीधे जल का प्रयोग नहीं किया जाता । अपितु कल्क आदि द्रव पदार्थ के रूप में इसका प्रयोग करते हैं। अथवा उस वचन को प्रमाण होने से स्वीकार करना चाहिए, अथवा 'जल' शब्द यहाँ द्रव का उपलक्षण मात्र है। उससे अम्ल आदि द्रव पदार्थों का ही प्रयोग यहाँ करना बताया गया है। (उससे अम्ल आदि द्रव पदार्थों को ही इसका कारण बताया गया है।) **रसयोनित्वं द्रवसंबन्धादेवाम्लादीनामुपपन्नम्–** अम्ल आदि द्रव पदार्थों के सम्बन्ध से रस उत्पन्न होता है। अर्थात् रस की पुष्टि बस्तिगत अम्लादि द्रव पदार्थों से ही होती है।

अन्ये तु जलमुष्णं प्रतिनियतमेव, चूर्णबस्तावेवेच्छन्ति, चूर्णबस्तिश्च यः केवलद्रवेण दीयते– कुछ आचार्य चूर्णबस्ति में उष्ण जल का प्रयोग करना अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। चूर्णबस्ति– औषध द्रव्यों के चूर्ण में द्रव मिलाकर प्रयोग करते हैं। इस बस्ति को **चूर्णबस्ति** कहते हैं। अन्य शास्त्रों में कहा भी गया है, यथा– "रास्नावचाबिल्वशताह्वयैलापूतीककृष्णाफलदारुकुष्ठैः । स सैन्धवाम्लोष्ण जलः सतैलः शूलघ्न इष्टः खलु चूर्णबस्तिः" इति। [रास्ना, वचा, बिल्व, सौंफ, एला, पूतीक, कृष्णा (पिप्पली), मदनफल, देवदारु, कूठ; के समभाग से निर्मित चूर्ण, सैन्धव नमक, तिल तैल, काञ्जी (अम्ल) एवं उष्ण जल मिलाकर दी गयी **चूर्णबस्ति** शूल (Colic pain) को दूर करती है। अर्थात् रास्नादि चूर्ण को उष्ण जल में घोलें तथा उसमें काञ्जी, सैन्धव नमक व तिल तैल मिलाकर उदरशूल वाले रोगी को बस्ति दें।] ॥१३-१४॥

विशेष (Comments)– बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य द्रव रूप में होते हैं, अर्थात् इसमें क्वाथ, तैल, दूध मूत्रादि द्रव पदार्थों का प्रयोग किया जाता है तथा रस भी द्रव रूप में होता है। द्रव पदार्थ शीघ्रता पूर्वक पक्वाशय से अवशोषित हो करके रस धातु में मिल जाते हैं। अतः बस्ति द्वारा रसधातु का पोषण शीघ्रता पूर्वक होता है। इसलिये बस्ति के द्रव्यों में द्रव पदार्थों का प्रयोग किया जाता है।

सुरदारुशताह्वैलाकुष्ठमधुकपिप्पलीमधुस्नेहाः । ऊर्ध्वानुलोमभागाः ससर्षपाः शर्करा लवणम् ॥१५॥
आवापा बस्तीनामतः प्रयोज्यानि येषु यानि स्युः । युक्तानि सह कषायैस्तान्युत्तरतः प्रवक्ष्यामि ॥१६॥
चिरजातकठिनबलेषु व्याधिषु तीक्ष्णा विपर्यये मृदवः । सप्रतिवापकषाया योज्यास्त्वनुवासननिरूहाः ॥१७॥

बस्ति में उपयोगी प्रक्षेप द्रव्य– सुरदारु (देवदारु), सौंफ, छोटी इलायची, कूंठ, यष्टीमधु, पिप्पली, मधु, घृत आदि स्नेह, ऊर्ध्व व अनुलोमन द्रव्य (वमन एवं विरेचन कारक द्रव्य), सर्षप (सरसो), शर्करा (गुड़) एवं सैन्धव नमक; इन द्रव्यों का प्रयोग बस्ति योगों में प्रक्षेप के रूप में करें। अर्थात् प्रक्षेप हेतु इनका प्रयोग करें। क्वाथों के साथ वर्णित जिन द्रव्यों का प्रक्षेप के रूप में प्रयोग जिस प्रकार की बस्ति में करते हैं उसका विवेचन आगे किया जा रहा है–

Scanned by CamScanner

तीक्ष्ण तथा मृदु बस्ति के योग्य पुरुष– १. जो व्याधि चिरकालिक हो, अर्थात् व्यक्ति जीर्ण व्याधि से पीड़ित हो। २. जिस रोगी में व्याधि का बल बढ़ा हुआ हो। ऐसे व्यक्तियों में प्रक्षेप एवं कषायों (Decoctions) के साथ तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् तीक्ष्ण प्रक्षेप एवं कषायों को मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इसके विपरीत नवीन अथवा मृदु व्याधि में या जिसमें व्याधि का बल अल्प हो; ऐसे रोगी में मृदु प्रक्षेप एवं क्वाथ से निर्मित अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'सुरदार्वित्यादि' के द्वारा बस्तियों में दोषादि के अनुसार अलग-अलग एवं मिलित रूप से प्रक्षेप्य द्रव्यों का अभिधान किया गया है। **आवापा बस्तीनामिति–** बस्ति में डाले जाने वाले प्रक्षेप द्रव्य, यह अर्थ ग्रहण किया गया है। किसी योग में अन्य द्रव्यों को मिलाना 'आवाप' कहलाता है। [Throwing additional ingredients into any mixture in course of preparation– M.M. Williams]

यानीति कषाययुक्तानि– क्वाथों के साथ प्रक्षेप द्रव्यों को मिलाना, जिस जिस व्याधि नाशक बस्ति के निर्माण में क्वाथों के साथ जिस-जिस प्रकार के प्रक्षेप द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उसका विवेचन आगे किया जायेगा। **चिरजातकठिनबलेषु तीक्ष्णा इति–** व्याधि जीर्ण हो अर्थात् पुरानी हो, अथवा व्याधि स्थिर हो गयी हो (व्याधि का बल अत्यधिक बढ़ा हो); ऐसे रोगियों में तीक्ष्ण द्रव्यों के क्वाथ एवं प्रक्षेप द्रव्यों द्वारा निर्मित तीक्ष्ण बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। विपर्यये चेति– जो व्याधि पुरानी न हो अर्थात् नवीन हो तथा जिसका बल बढ़ा हुआ न हो, अर्थात् व्याधि मृदु हो। ऐसी अवस्था में मृदु द्रव्यों के क्वाथ एवं प्रक्षेप द्रव्यों द्वारा निर्मित अनुवासन एवं निरूह बस्तियों का प्रयोग कराना चाहिए। **अनुवासननिरूहा इति अनुवासने कषाययोगः स्नेहसाधनार्थमेव–** अनुवासन में क्वाथ की योजना स्नेह सिद्ध करने के लिए ही बतायी गयी है। अर्थात् क्वाथ (Decoction), कल्क आदि के द्वारा स्नेह को सिद्ध करना चाहिए तथा इस स्नेह में सौंफ आदि द्रव्यों के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। इसी बात की पुष्टि अन्य स्थानों पर भी की गयी है, यथा– "पिप्पलीं मदनं कुष्ठं शताह्वां मधुकं वचाम्। योजयेन्मात्रया पिष्ट्वा आवापमनुवासने" इति [पिप्पली, मदनफल, कुष्ठ, सौंफ, यष्टीमधु एवं वचा; इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क का प्रयोग आवाप के रूप में **अनुवासन बस्ति** हेतु करें। अर्थात् अनुवासनार्थ प्रयुक्त स्नेह में **कल्क** का प्रक्षेप डालकर बस्ति दें। आवाप=प्रक्षेप] ॥१५-१७॥

अर्धश्लोकैरतः सिद्धान् नानाव्याधिषु सर्वशः। बस्तीन् वीर्यसमैर्भागैर्यथार्हालोडनाञ्शृणु ॥१८॥
बिल्वोऽग्निमन्थः श्योनाकः काश्मर्यः पाटलिस्तथा। शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहत्यौ वर्धमानकः ॥१९॥
यवाः कुलत्थाः कोलानि स्थिरा चेति त्रयोऽनिले। शस्यन्ते सचतुःस्नेहाःपिशितस्य रसान्विताः ॥२०॥
नलवञ्जुलवानीरशतपत्राणि शैवलम्। मज्जिष्ठा सारिवाऽनन्ता पयस्या मधुयष्टिका ॥२१॥
चन्दनं पद्मकोशीरं तुङ्गं ते पैत्तिके त्रयः। सशर्कराक्षौद्रघृताः सक्षीरा बस्तयो हिताः ॥२२॥
अर्कस्तथैव चालर्क एकाष्ठीला पुनर्नवा। हरिद्रा त्रिफला मुस्तं पीतदारु कुटन्नटम् ॥२३॥
पिप्पल्यश्चित्रकश्चेति त्रयस्ते श्लेष्मरोगिषु। सक्षारक्षौद्रगोमूत्रा नातिस्नेहान्विता हिताः ॥२४॥

विभिन्न प्रकार की बस्तियों का विवेचन– आगे आधे-आधे श्लोकों में वर्णित तथा अनेक व्याधियों में प्रयुक्त होने वाली विविध प्रकार की सिद्ध बस्तियों (निश्चित रूप से सफलता देने वाली बस्तियों) का विवेचन किया जा रहा है। जिन औषध द्रव्यों का वीर्य समान हो; उसे समान मात्रा में लेकर दोषानुसार यथावश्यक द्रव्यों के क्वाथ अथवा स्वरस में मिश्रित करके प्रयोग करना चाहिए। हे अग्निवेश! अब मैं उन योगों को बता रहा हूँ, सुनो–

१. वातनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)– क. बिल्व (बेल की गुद्दी), अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला एवं गम्भारी [बृहत् पञ्चमूल]; प्रत्येक द्रव्य बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें एवं इनका विधिपूर्वक क्वाथ बनावें।

ख. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेरी) एवं एरण्डमूल; इन द्रव्यों के समभाग से बना हुआ क्वाथ। [लघु पञ्चमूल के द्रव्यों का क्वाथ, यहाँ गोखरू का ग्रहण न करके एरण्डमूल का ग्रहण किया गया है।]

ग. यव, कुलत्थी, कोल (खट्टी बेर) एवं शालपर्णी; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें।

यहाँ वर्णित क्वाथों में पृथक्-पृथक् घृत, तैल, वसा, मज्जा तथा मांसरस मिलाकर बस्ति दें। इन बस्तियों के प्रयोग से सभी प्रकार के वातविकार दूर हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ तीन बस्तियों का विवेचन किया गया।

२. पित्तनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)–

क. नल (नरकट का मूल), वञ्जुल (वेतस), वानीर (वेतस भेद), शतपत्र व शैवाल; इन द्रव्यों को सम प्रमाण में लेकर विधिपूर्वक क्वाथ (Decoction) बना लें।

Scanned by CamScanner

ख. मञ्जिष्ठा (मजीठ), सारिवा, अनन्ता, पयस्या तथा यष्टीमधु; के सम भाग से निर्मित क्वाथ।

ग. लालचन्दन, पद्मकाठ, उशीर (खश) तथा नागकेशर; के समभाग से निर्मित क्वाथ।

उपरोक्त क्वाथों में से किसी एक क्वाथ में चीनी (शर्करा), मधु, घृत एवं गोदुग्ध मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ तीन बस्तियों का वर्णन किया गया। ये तीनों ही योग पित्तजनित रोगों में लाभकर होते हैं।

३. कफनाशक बस्तियाँ (कुल संख्या तीन)–

क. अर्क (रक्त मदार का मूल), अलर्क (श्वेत मदार का मूल), एकाष्ठीला (पाठा), पुनर्नवा; इनके समभाग से निर्मित क्वाथ।

ख. हल्दी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, मोथा (नागरमोथा), दारुहल्दी तथा कुटन्नट (कैवर्त मुस्तक); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बना लें।

ग: पिप्पली एवं चित्रक; इनके विधिवत बने हुए क्वाथ ।

इन तीन प्रकार के क्वाथों में से किसी एक के क्वाथ में यवक्षार, मधु, गोमूत्र तथा अल्प मात्रा में स्नेह मिलाकर बस्ति देनी चाहिए। ये तीनों बस्तियाँ कफ जनित रोगों को दूर करती हैं।

चक्रपाणि– पूर्व में **'सिद्धानां बस्तीनामिति'** सूत्र से अङ्गीकृत विषय को ही (स्वीकार किये गये विषय को ही) यहाँ 'अर्धश्लोकैरित्यादि' के द्वारा वर्णन किया जा रहा है। [पूर्व श्लोक 'सिद्धानां बस्तीनां' (सि.अ. १०/३) इति में अलग-अलग रोगों में प्रयुक्त होने वाली सिद्ध बस्तियों के वर्णन की प्रतिज्ञा की गयी है। अब यहाँ उन्हीं बस्तियों का वर्णन 'अर्धश्लोकैरित्यादि' से किया जा रहा है।] व्याधिषु इति– यहाँ 'व्याधि' शब्द दोष अर्थ में भी ग्रहण किया गया है। (वर्तनीय- It should be applied or attended to– M.M. Williams, Sanskrit-English Disctionary).

बहुश इति एकैकस्मिन् व्याधौ दोषे च बहुश इत्यर्थः– एक-एक व्याधि में तथा अनेक दोषों में प्रयुक्त होने वाली बस्ति के द्रव्यों में। **वीर्यसमैर्भागैरिति–** एक दूसरे के द्वारा जिनका गुण या वीर्य उपहत न हो, अर्थात् बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य परस्पर विरोधी नहीं होने चाहिए।

वर्धमानकः= एरण्ड । **पिशितस्य रसान्विता इति प्रक्षिप्तमांसरसाः–** मांसरस को मिलाकर, वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ में चारों प्रकार के स्नेह (घृत, तैल, वसा एवं मज्जा) में से जो उपयोगी हो उसे मिलाकर तथा उसमें मांसरस को भी डालकर अच्छी प्रकार से मिश्रित कर लें। अब मांसरसमिश्रित क्वाथ की बस्ति वातरोगों के विनाशार्थ प्रयोग करें।

वञ्जुलः= वेतस। वानीर= वञ्जुल भेद। तुङ्गः= पुन्नाग। अलर्कः= मदार। एकाष्ठीला= पाठा। कुटन्नट= केवटी मोथा, कुछ आचार्य केवटीमोथा अर्थ न ग्रहण करके 'तगर' का ग्रहण करते हैं। ॥१८-२४॥

विशेष (Comments)– वानीर= वेतस वृक्ष। अर्क= श्वेत पुष्प वाला मदार। अलर्क= रक्त पुष्प वाला मदार। कुटन्नट= श्योनाक। –जल्पकल्पतरु टीका।

फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकवत्सकाः । श्यामा च त्रिफला चैव स्थिरा दन्ती द्रवन्त्यपि ।।२५।।
प्रकीर्या चोदकीर्या च नीलिनी क्षीरिणी तथा । सप्तला शङ्खिनी लोध्रं फलं कम्पिल्लकस्य च ।।२६।।
चत्वारो मूत्रसिद्धास्ते पक्वाशयविशोधनाः । (व्यस्तैरपि समस्तैश्च चतुर्योगा उदाहृताः ।।२७।।)

४. पक्वाशय शोधक बस्तियाँ (कुल संख्या चार)–

क. मैनफल (मदनफल), जीमूतक (देवदाली), इक्ष्वाकु (तितलौकी के बीज), धामार्गव, वत्सक (कुटज बीज– इन्द्रयव); सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ विधिपूर्वक क्वाथ (Decoction) बना लें।

ख. काली निशोथ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, शालपर्णी, दन्ती तथा द्रवन्ती; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ पकाकर क्वाथ बना लें।

ग. प्रकीर्या (करञ्ज), उदकीर्या (पूति करञ्ज), नीलिनी (नील का मूल), क्षीरिणी (खीरनी); को गोमूत्र में पकाकर क्वाथ बना लें।

घ. सप्तला (सप्तधार सेहुण्ड), शङ्खिनी (यवतिक्ता), लोध्र, कम्पिल्लक फल (कबीले का फल); इन द्रव्यों को गोमूत्र के साथ पकाकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें।

Scanned by CamScanner

उपर्युक्त चारों क्वाथों में से किसी एक क्वाथ की बस्ति पक्वाशय की शुद्धि हेतु देनी चाहिए। यहाँ चार योग बताये गये हैं। इन क्वाथों का प्रयोग अलग-अलग अथवा मिश्रित रूप से (मिलित रूप से) पक्वाशय की शुद्धि हेतु बस्ति के रूप में किया जा सकता है।

चक्रपाणि– 'धामार्गवकवत्सकाः' के स्थान पर पाठभेद से 'धामार्गव क्ष्वेडवत्सकाः' पाठ प्राप्त होता है। क्ष्वेड= कृतवेधन। द्रवन्ती= दन्तीभेद (दन्ती का एक प्रकार)। प्रकीर्या= करञ्ज। नीलिनी= नीलबुह्रा, अन्य आचार्य नीलिनी से 'नीलाञ्जनिका' का ग्रहण करते हैं। ॥२५-२७॥

काकोली क्षीरकाकोली मुद्गपर्णी शतावरी । विदारी मधुयष्ट्याह्वा शृङ्गाटककशेरुके ॥२८॥
आत्मगुप्ताफलं माषाः सगोधूमा यवास्तथा । जलजानूपजं मांसमित्येते शुक्रमांसलाः ॥२९॥

५. शुक्र एवं मांसवर्धक बस्तियाँ (कुल संख्या चार)–

क. काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी (वनमूंग) एवं शतावरी।

ख. विदारीकन्द, यष्टीमधु (मुलेठी), शृंगाटक (सिंघाड़ा) एवं कसेरू।

ग. कौंच का फल, माष (उड़द), गेहूँ व यव।

घ. जलीय एवं आनूप पशु-पक्षियों के मांस।

उपरोक्त द्रव्यों से अलग-अलग क्वाथ का निर्माण करें। इनमें से किसी एक क्वाथ की बस्ति का प्रयोग आतुर में शुक्र व मांस की वृद्धि हेतु करें। अथवा इनका प्रयोग मिश्रित रूप से भी किया जा सकता है। ये सभी योग शुक्र व मांस की वृद्धि करते हैं।

चक्रपाणि– एते शुक्रमांसला इति– पूर्व वर्णित ये चारो योग शुक्र व मांस की वृद्धि करते हैं। ॥२८-२९॥

जीवन्ती चाग्निमन्थश्च धातकीपुष्पवत्सकौ । प्रग्रहः खदिरः कुष्ठं शमी पिण्डीतको यवाः ॥३०॥
प्रियङ्गु रक्तमूली च तरुणी स्वर्णयूथिका । वटाद्याः किंशुकं लोध्रमिति सांग्राहिका मताः ॥३१॥

६. सांग्राहिक बस्तियाँ–

→ जीवन्ती, अग्निमन्थ, धातकीपुष्प (धाय का फूल), वत्सक बीज (इन्द्रयव); इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित क्वाथ।

→ अमलतास की गुद्दी, खदिर (खैर), कूठ, शमीवृक्ष की छाल, मदनफल एवं यव; के समभाग से निर्मित क्वाथ।

→ प्रियङ्गु, रक्तमूली (मजीठ या मञ्जिष्ठा), तरुणी (गुलाब का पुष्प), स्वर्णयूथिका (स्वर्ण जूही); के समभाग से निर्मित क्वाथ।

→ वट आदि क्षीरीवृक्षों (वट, पाकड़, पीपल, गूलर एवं पारीष पीपल) की छाल, पलाश पुष्प तथा लोध्र; इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर क्वाथ बनावें।

इन चार योगों में से किसी एक के क्वाथ की बस्ति देने से मलादि में गाढ़ापन आकर उनकी अतिप्रवृत्ति में कमी आ जाती है। अर्थात् अतिसार, ग्रहणी आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। [यह बस्ति मलादि के अतिस्राव को कम कर देती है।]

चक्रपाणि– पिण्डीतकः= मदनफल। रक्तमूली= समङ्गा (मञ्जिष्ठा)। **तरुणी आरामतरुणी, नवमालिका वा–** तरुणी= गुलाब का पुष्प। नवमालिका= मोंगरा (Jasminum sambac)

परिस्रावे श्रृतं क्षीरं सवृश्चीरपुनर्नवम् । आखुपर्णिकया वाऽपि तण्डुलीयकयुक्तया ॥३२॥

७. परिस्राव नाशक बस्तियाँ (Enema recipes for Arresting Excessive secretion)–

क. वृश्चीर (रक्तपुनर्नवा) एवं श्वेतपुनर्नवा के कल्क साधित क्षीर की बस्ति का प्रयोग परिस्राव रोग में करना चाहिए।

ख. आखुपर्णी एवं तण्डुलीयक (चौलाई) के कल्क से सिद्ध दूध की बस्ति देने से परिस्राव रोग दूर हो जाता है।

चक्रपाणि– तण्डुलीयकयुक्तयेत्यन्तेन परिस्रावे दौ उक्तौ– तण्डुलीयक को मिलाकर परिस्राव में यहाँ कुल दो योग बताये गये हैं। ॥३२॥

विशेष (Comments)– तण्डुलीयक= चौलाई, यहाँ चौलाई के मूल का ग्रहण किया गया है।

कालङ्कतककाण्डेक्षु दर्भपोटगलेक्षुभिः । दाहघ्नः सघृतक्षीरो द्वितीयश्चोत्पलादिभिः ॥३३॥

८. दाहनाशक बस्तियाँ–

क. कालङ्कतक (Cassia sophora), काण्डेक्षु (बड़ी ईख), दर्भ (डाभ-कुश), पोटगल (नरकट) तथा इक्षु; इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित क्वाथ (Decoction) में दूध व घृत मिलाकर दी गयी बस्ति दाहनाशक होती है।

Scanned by CamScanner

ख. उत्पलादि के पुष्प से साधित क्षीर में घृत मिलाकर दी गयी बस्ति दाह को दूर करती है।

चक्रपाणि– काण्डेक्षु= बृहदिक्षु (बड़ी ईख)। **पोटगलः= होग्गलः** (पोटगल से नरकट Potagala- A species of reed. **Saccharum spontaneum**– M.M. Williams) अर्थ गृहीत है।)

उत्पलादिभिरिति– उत्पल आदि से नलिन, सौगन्धिक आदि जलज पौधे के पुष्पों का ग्रहण किया गया है।

कर्बुदाराढकीनीपविदुलैः क्षीरसाधितैः । बस्तिः प्रदेयो भिषजा शीतः समधुशर्करः ।।३४।।
परिकर्ते तथा वृन्तैः श्रीपर्णीकोविदारजैः । (देयो बस्तिः सुवैद्यैस्तु यथावद्विदितक्रियैः ।।३५।।)

९. परिकर्तिका नाशक बस्तियाँ–

क. कर्बुदार (काञ्चनार), आढकी (अरहर की पत्ती), कदम्ब की छाल तथा वेतस (विदुल); इनके कल्क या क्वाथ से साधित क्षीर में मधु व शर्करा मिलाकर ठण्डा करके बस्ति दें। अर्थात् सिद्ध क्षीर में मधु व शर्करा मिलाकर बस्ति द्रव्य को ठण्डा कर लें, तत्पश्चात् इसकी बस्ति दें। (सामान्यतया बस्ति द्रव्यों का प्रयोग गुनगुना करके किया जाता है।)

ख. गम्भार एवं काञ्चनार के वृन्त के कल्क द्वारा साधित क्षीर में मधु व चीनी मिलाकर, योग्य चिकित्सक बस्ति द्रव को शीतल करके बस्ति दे।

इस बस्ति के प्रयोग से परिकर्तिका (Anal fissure) –गुदा में कैंची से काटने के समान तीव्र पीड़ा का होना) रोग दूर हो जाता है।

चक्रपाणि– कर्बुदार= काञ्चनार। विदुल= वेतस। अन्त में वर्णित 'कोविदारजैः' के द्वारा द्वितीय योग का अभिधान किया गया है। ये दोनों योग परिकर्तिका रोग में प्रयोग किये जाते हैं। ।।३४-३५।।

बस्तिः शाल्मलिवृन्तानां क्षीरसिद्धो घृतान्वितः । हितः प्रवाहणे तद्वद्वेष्टैः शाल्मलिकस्य च ।।३६।।

१०. प्रवाहिका नाशक बस्तियाँ–

क. सेमल के पत्र वृन्त के कल्क से साधित क्षीर (दूध) में घृत मिलाकर बस्ति दें।

ख. मोचरस से साधित दूध में घृत मिलाकर दी गयी बस्ति **प्रवाहिका** रोग (संग्रहणी) को दूर करती है।

चक्रपाणि– वेष्टैः शाल्मलिकस्य चेत्यन्तेन द्वितीयः प्रवाहणे– अन्त में वर्णित शाल्मली वेष्टक के द्वारा निर्मित होने वाले प्रवाहिका नाशक द्वितीय योग का अभिधान किया गया है। शाल्मलीवेष्टक= मोचरस [Gum or resin of the Sālmalī tree] ।।३६।।

विशेष (Comments)– पाठभेद से 'बस्तिः शाल्मलिवृन्तानां' के स्थान पर 'मुष्टिः शाल्मलिवृन्तानां' पाठ प्राप्त होता है। जिसका अर्थ– 'शाल्मली पत्र वृन्त का कल्क एक मुष्टि (एक पल= ४ तोले) मात्रा में लेकर दूध में पकावें। दूध के सम्यक् सिद्ध हो जाने पर उसमें गोघृत मिलाकर बस्ति दें।' गृहीत होता है।

अश्वावरोहिकाकाकनासाराजकशेरुकैः । सिद्धाः क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः ।।३७।।
न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिना परः ।

११. विरेचन के अतियोग को दूर करने वाली बस्तियाँ–

क. अश्वावरोहिका, काकनासा तथा राजकशेरुक; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क (Paste) बना लें। इस कल्क द्वारा गोदुग्ध सिद्ध करें। इस कल्क साधित क्षीर में मधु, रसाञ्जन (रसवत) एवं घृत मिलाकर बस्ति दें। इसके प्रयोग से विरेचन के अतियोग से होने वाली व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

ख. न्यग्रोध आदि क्षीरीवृक्षों [वट, प्लक्ष= पाकड़, पीपल एवं उदुम्बर (गूलर)] की छाल का कल्क बनाकर उसे दूध में पकावें। अब कल्क साधित दूध में मधु, रसवत तथा गोघृत मिलाकर बस्ति दें। इसके प्रयोग से विरेचन के अतियोग से होने वाली व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं।

चक्रपाणि– अश्वावरोहिका= अश्वगन्धा, अथवा अश्वकर्ण या इक्षुरस का ग्रहण करते हैं। आचार्य **जतूकर्ण** अश्वावरोहक से अश्वकर्ण का ग्रहण करते हैं। 'न्यग्रोधाद्याश्चत्वारः' से न्यग्रोध (वट), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल या बोधिवृक्ष) तथा प्लक्ष (पाकड़); चार क्षीरी वृक्षों की छाल का ग्रहण किया गया है। **तेनैव विधिनेति–** पूर्व योगों के निर्माण विधि के अनुसार इनके भी छाल के कल्क से क्षीर सिद्ध करके उसमें मधु, रसवत व गोघृत मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें।

इस प्रकार इन दो योगों का प्रयोग विरेचन के अतियोग में करना चाहिए। ।।३७।।

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)– श्री नरेन्द्रनाथ सेन गुप्त एवं श्री बलाइचन्द्र सेन गुप्त संपादित चरक पाठ में श्लोक नं. ३७ [अश्वावरोहिकाकानासाराजकशेरुकैः । सिद्धा क्षीरेऽतियोगे स्युः क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः।। न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिना परः।''] के स्थान पर अश्वावरोहिका काकनासाराजकशेरुकः। सिद्धाः क्षीरे त्रयो योगा क्षौद्राञ्जनघृतैर्युताः ।। न्यग्रोधाद्यैश्चतुर्भिश्च तेनैव विधिना पुनः । बस्तिः प्रवाहणे देयो भिषजा कल्पितो धिया'' प्राप्त होता है। जिसका अर्थ– 'अश्वावरोहिका अथवा काकनासा अथवा बड़ा कसेरू के कल्क से दूध को साधित करें। इस कल्क साधित क्षीर में मधु, अञ्जन (रसवत) एवं घृत मिलाकर प्रवाहिका रोग में बस्ति दें। इस प्रकार यहाँ तीन द्रव्यों से तीन योग बनते हैं। इसी विधि द्वारा चारो क्षीरीवृक्षों के छाल को लेकर कल्क बनावें एवं इस कल्क द्वारा साधित क्षीर में मधु, घृत व रसवत मिलाकर बस्ति दें। यहाँ चारों क्षीरीवृक्षों की छाल बराबर-बराबर मात्रा में ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्रवाहिका नाशक चार योग बताये गये हैं।'

बृहती क्षीरकाकोली पृश्निपर्णी शतावरी ।।३८।।
काश्मर्यबदरीदूर्वास्तथोशीरप्रियङ्गवः । जीवादाने श्रृतौ क्षीरे द्वौ घृताञ्जनसंयुतौ ।।३९।।
बस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ समधुशर्करौ । गोऽव्यजामहिषीक्षीरैर्जीवनीययुतैस्तथा ।।४०।।
शशैणदक्षमार्जारमहिषाव्यजशोणितैः । सद्यस्कैर्मृदितैर्बस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते ।।४१।।
मधूकमधुकद्राक्षादूर्वाकाश्मर्यचन्दनैः । तेनैव विधिना बस्तिर्देयः सक्षौद्रशर्करः ।।४२।।

१२. रक्तस्राव रोधक (जीवादान नाशक) बस्तियाँ–

क. बृहती (वनभण्टा), क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी तथा शतावरी।

ख. काश्मर्य (गम्भारी), बदरी (वेर), दूर्वा (दूब घास), उशीर (खस) तथा प्रियङ्गु।

इन दोनों योगों द्वारा पृथक्-पृथक् गोदुग्ध को सिद्ध करें। इस औषध सिद्ध क्षीर में गोघृत, अञ्जन (रसवत), मधु व शर्करा मिलाकर दो बस्ति तैयार करें। अर्थात् बस्ति के दो योग बनावें। इनका प्रयोग जीवरक्त के निकलने पर करें।

ग. गाय, भेड़, बकरी, अथवा भैंस के दूध को जीवनीय गण की औषधियों (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु) के कल्क से सिद्ध करें। इस कल्क साधित दूध में खरगोश, हिरण, मुर्गा, बिल्ली, भैंस, भेड़ अथवा बकरी का ताजा रक्त (Fresh blood) मिलाकर जीवरक्त के निकलने पर बस्ति दें।

घ. महुआ (महुए का पुष्प), यष्टीमधु (मुलेठी), द्राक्षा, दूर्वा (दूब घास), गम्भार की छाल एवं लाल चन्दन; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क से गाय आदि में से किस एक के दूध को सिद्ध कर लें। इस कल्क साधित दूध में मधु व शर्करा मिलाकर बस्ति दें। इसके देने से जीवरक्त का निकलना बन्द हो जाता है।

चक्रपाणि– जीवादाने इति– जीवरक्त के निकलने पर। 'गोऽव्यजेत्यादि' से लेकर जीवादाने प्रशस्यते' तक जीवरक्त स्राव नाशक तृतीय बस्ति का अभिधान किया गया है। **अयं च यद्यपि श्लोकार्धाविहितो बस्तिः, तथाऽपि श्लोकार्धैरिति प्रतिज्ञा भूरिप्रयोगाणां श्लोकार्धविहितत्वेन ज्ञेया–** यद्यपि यहाँ आधे श्लोक में ही बस्ति को बताया गया है, फिर भी 'श्लोकार्धैरिति' प्रतिज्ञा कई योगों में पूर्ण होने से पूरी हो जाती है। अर्थात् यहाँ वर्णित अनेक योगों में अधिकांश आधे श्लोक में ही पूर्ण कर दिये गये हैं, ऐसा समझना चाहिए। **किंवा अत्रापि गोऽव्यजेत्यादिनाऽर्धश्लोकविहित एव व्यवस्थितः–** अथवा यहाँ भी 'गोऽव्यजेत्यादि' के द्वारा वर्णित योग को आधे श्लोक में ही व्यवस्थित कर दिया गया है। श्लोक नं. ४० के पूर्व पाद में बस्ति की **इति कर्तव्यता** को बताया गया है। [इति कर्तव्यता– इति कर्तव्य– Proper or necessary to be done according to certain condition,- बस्ति को किस प्रकार तैयार करके प्रयोग करते है, इसकी विधि] यदि यह श्लोक- 'बस्ती प्रदेयौ भिषजा शीतौ स मधुशर्करौ, का अभिधान इति कर्तव्यता के लिए हुआ है, यह स्वीकार कर लें तब तीन योग के बाद आधा श्लोक अतिरिक्त हो जाता है। इस आधार पर तीन के स्थान पर 'जीवादाने प्रशस्यते' तक चार योग हो जाते हैं।

१. वृहती (बड़ी कण्टकारी= वनभण्टा), क्षीरकाकोली, पृश्निपर्णी, शतावरी+जीवनीय गण की दस औषधियों के कल्क या क्वाथ से साधित क्षीर में घृत, अञ्जन (रसवत), मधु व शर्करा मिलाकर बस्ति दें।

२. काश्मर्य (गम्भार), बदरी, दूर्वा, उशीर (खस), प्रियङ्गु और जीवनीय गण की दस औषधियों के कल्क या क्वाथ से साधित क्षीर में घृत, मधु, अञ्जन मिलाकर तैयार की गयी बस्ति।

३. गाय, भेड़, बकरी अथवा भैंस के दूध को जीवनीय गण की औषधियों के कल्क (Paste) से सिद्ध करें। इस कल्क साधित दूध में घृत, रसाञ्जन (रसवत), मधु व शर्करा मिलाकर बस्ति तैयार करें।

Scanned by CamScanner

४. शश, एण (हिरण), मुर्गा, बिल्ली, भैंस, भेड़ अथवा बकरी के ताजे रक्त की बस्ति। यह बस्ति मृदुबस्ति कही जाती है।

ये चार बस्तियाँ जीवादान में अत्यन्त हितकर होती है। [अन्तिम बस्ति जिसे रक्तबस्ति कह सकते हैं, इसके प्रयोग से रक्तस्राव शीघ्र ही रुक जाता है तथा रक्तक्षय की आपूर्ति भी हो जाती है।] ॥३८-४२॥

मञ्जिष्ठासारिवानन्तापयस्यामधुकैस्तथा । शर्कराचन्दनद्राक्षामधुयात्रीफलोत्पलैः । रक्तपित्ते, प्रमेहे तु कषायः सोमवल्कजः ।।४३।।

१३. रक्तपित्तनाशक बस्तियाँ–

क. मञ्जिष्ठा, सारिवा (अनन्तमूल), अनन्ता (दुरालभा), पयस्या (क्षीरविदारी) तथा यष्टीमधु; इनके कल्क से साधित दूध।

ख. शर्करा, लालचन्दन, द्राक्षा, मधु, आँवला एवं नीलकमल; से साधित दूध।

उपरोक्त औषधियों से साधित दूध में मधु व शर्करा मिलाकर बस्ति दें। यह बस्ति रक्तपित्त व्याधि को दूर करती है।

१४. प्रमेहनाशक बस्ति– सोमवल्क (विट्खदिर) के क्वाथ से निर्मित बस्ति का प्रयोग प्रमेह रोग में करना चाहिए।

चक्रपाणि– रक्तपित्ते इति च्छेदः– 'रक्तपित्ते' तक रक्तपित्तनाशक बस्तियों का विवेचन पूर्ण हो जाता है। यहाँ रक्तपित्तनाशक दो योग पढ़े गये हैं, क्योंकि उपसंहार में 'दौ रक्तपित्ते' शब्द का प्रयोग किया गया है। सोमवल्कः विट्खदिर। ॥४३॥

गुल्मातिसारोदावर्तस्तम्भसङ्कुचितादिषु । सर्वाङ्गैकाङ्गरोगेषु रोगेष्वेवंविधेषु च ।।४४।।
यथास्वैरौषधैः सिद्धान् बस्तीन् दद्याद्विचक्षणः । पूर्वोक्तेन विधानेन कुर्वन् योगान् पृथग्विधान् ।।४५।।

अन्य रोगों में बस्तियों की कल्पना– एक योग्य चिकित्सक का कर्तव्य है कि गुल्म (Phantom tumour), अतीसार (diarrhoea), उदावर्त [A class of the diseases (marked by retention of the feces)], स्तम्भ (हाथ व पैरों में जकड़ाहट का होना– Stiffness of limbs), अङ्गों का सङ्कुचित होना (Contraction of limbs), सर्वाङ्ग रोग (Paralysis of the whole body), एकाङ्ग रोग (Paralysis of the one limb) तथा इसी प्रकार के अन्य व्याधियों में तद्-तद् व्याधि नाशक औषधियों से पूर्व वर्णित विधि के अनुसार तैयार की गयी अलग-अलग बस्तियों का प्रयोग उन-उन व्याधियों में करे।

चक्रपाणि– 'गुल्मातिसारेत्यादि' के द्वारा यहाँ जिन बस्तियों की कल्पना नहीं बतायी गयी है, उनकी योजना की विधि को स्पष्ट किया गया है। यथास्वैरौषधैरिति– तद्-तद् व्याधि विपरीत औषधियों द्वारा अर्थात् उस-उस व्याधिनाशक औषधियों द्वारा उचित बस्ति योगों की कल्पना करके उन-उन व्याधियों में प्रयोग करना चाहिए।

कुर्याद्योगान् पृथक् विधानिति– पूर्व वर्णित विधि के अनुसार आवाप आदि के (प्रक्षेप क्वाथ आदि के) आधार पर तैयार की गयी योग्य बस्ति का प्रयोग गुल्म आदि व्याधियों में करना चाहिए। ॥४४-४५॥

तत्र श्लोकाः–
त्रिकास्रयोऽनिलादीनां चतुष्काश्चापरे त्रयः । पक्वाशयविशुद्ध्यर्थं वृष्याः सांग्राहिकास्तथा ।।४६।।
परिस्रावे तथा दाहे परिकर्ते प्रवाहणे । सातियोगे मतौ द्वौ द्वौ जीवादाने तथा त्रयः ।।४७।।
द्वौ रक्तपित्ते मेहे च एकत्रिंशच्च सप्त ते । सुलभाल्पौषधक्लेशा बस्तयो गुणवत्तमाः ।।४८।।
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने बस्तिसिद्धिर्नाम दशमोऽध्यायः ।।१०।।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस बस्ति सिद्धि नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित विषयों का विवेचन किया है–

→ वात दोष नाशक तीन बस्ति के योग। (३)
→ पित्त दोष नाशक तीन बस्ति योग। (३)
→ कफ दोष नाशक तीन बस्तियाँ। (३)
→ पक्वाशय शोधक चार बस्तियाँ। (४)
→ शुक्र व मांस वर्धक चार बस्तियाँ। (४)
→ मल को बाँधने वाली (साङ्ग्राहिक) चार बस्तियाँ। (४)
→ परिस्राव नाशक दो बस्तियाँ। (२)
→ दाह नाशक दो बस्तियाँ। (२)

Scanned by CamScanner

→ परिकर्तिका नाशक दो वस्तियाँ।
→ प्रवाहिका नाशक दो बस्तियाँ। (२)
→ बस्ति के अतियोग को दूर करने वाली दो बस्तियाँ। (२)
→ जीवादान नाशक तीन बस्तियाँ। (२)
→ रक्तपित्त नाशक दो बस्तियाँ। (३)
→ प्रमेह रोग नाशक एक बस्ति। (२)
(१)

कुल- ३७ बस्ति योग

(इस प्रकार यहाँ कुल ३७ बस्ति योगों का विवेचन किया गया है।) इन बस्तियों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य सभी स्थानों पर आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं। इनके प्रयोग से आतुर को कम कष्ट होता है तथा इनमें अल्प औषधियों की योजना की गयी है, अर्थात् बस्ति निर्माण हेतु अधिक द्रव्यों का प्रयोग नहीं किया गया है एवं साथ-साथ अधिक द्रव्य वाले बस्तियों की तुलना में ये ज्यादा उपयोगी हैं।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में बस्तिसिद्धि नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ।

चक्रपाणि– "त्रिकास्रय इत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार किया गया है, जिसका अर्थ स्पष्ट है।

अल्पौषधक्लेशा इति अल्पौषधा अल्पक्लेशाश्च– अल्पौषधाः- बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों की संख्या का कम होना। अल्पक्लेशाः- बस्ति के प्रयोग से अल्प उपद्रवों का होना, अर्थात् वमन व विरेचन की तुलना में इसमें कम उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेदीपिका के सिद्धिस्थान में बस्तिसिद्धि नामक दसवें अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ॥१०॥

Scanned by CamScanner

एकादशोऽध्यायः।

अथातः फलमात्रासिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे फलमात्रासिद्धि नामक अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पूर्व के अध्यायों में आचार्य द्वारा फलों के प्रयोग विधि को बताया गया है। अब यहाँ उन फलों के गुण के निश्चय हेतु तथा अनुक्त (न कहे गये अथवा जिसका वर्णन अब तक नहीं हुआ है।) हाथी आदि पशुओं में बस्ति की मात्रा के उपदेश हेतु **'फलमात्रासिद्धि'** नामक अध्याय का अभिधान किया जा रहा है। यद्यपि हाथी आदि पशुओं में बस्ति कैसे देनी चाहिए, इस विधान का विवेचन यहाँ नहीं किया गया है, फिर भी उनमें (पशुओं में) बस्ति उपयोगी होने से इसका विशेष महत्व है। इस प्रकार मदनफल आदि द्रव्यों की बस्ति तथा हाथी आदि पशुओं में बस्ति की मात्रा का प्रतिपादक होने से इस अध्याय का नाम **'फलमात्रासिद्धि'** दिया गया है। ।।१-२।।

भगवन्तमुदारसत्त्वधीश्रुतिविज्ञानसमृद्धमत्रिजम् । फलबस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमन् ।।३।।
भृगुकौशिककाप्यशौनकाः सपुलस्त्यासितगौतमादयः । कतमत् प्रवरं फलादिषु स्मृतमास्थापनयोजनास्विति ।।४।।
कफपित्तहरं वरं फलेष्वथ जीमूतकमाह शौनकः । मृदुवीर्यतयाऽभिनत्ति तच्छकृदित्याह नृपोऽथ वामकः ।।५।।
कटुतुम्बममन्यतोत्तमं वमने दोषसमीरणं च तत् । तदवृष्यमशैत्यतीक्ष्णताकटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत् ।।६।।
कफपित्तनिबर्हणं परं स च धामार्गवमित्यमन्यत । तदमन्यत वातलं पुनर्बडिशो ग्लानिकरं बलापहम् ।।७।।
कुटजं प्रशशंस चोत्तमं न बलघ्नं कफपित्तहारि च । अतिविज्जलमौर्ध्वभागिकं पवनक्षोभि च काप्य आह तत् ।।८।।
कृतवेधनमाह वातलं कफपित्तं प्रबलं हरेदिति । तदसाध्यिति भद्रशौनकः कटुकं चातिबलघ्नमित्यपि ।।९।।
इति तद्वचनानि हेतुभिः सुविचित्राणि निशम्य बुद्धिमान् । प्रशशंस फलेषु निश्चयं परमं चात्रिसुतोऽब्रवीदिदम् ।।१०।।
फलदोषगुणान् सरस्वती प्रति सर्वैरपि सम्यगीरिता । न तु किंचिददोषनिर्गुणं गुणभूयस्त्वमतो विचिन्त्यते ।।११।।
इह कुष्ठहिता गरागरी हितमिक्ष्वाकु तु मेहिने मतम् । कुटजस्य फलं हृदामये प्रवरं कोठफलं च पाण्डुषु ।।१२।।
उदरे कृतवेधनं हितं, मदनं सर्वगदाविरोधि तु । मधुरं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णविज्जलम् ।।१३।।
कफपित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च । फलनाम विशेषतस्त्वतो लभतेऽन्येषु फलेषु सत्स्वपि ।।१४।।

फलादि विषयक सम्भाषापरिषद्– उदार मन वाले, उदार बुद्धि वाले, श्रुति एवं विज्ञान से सम्पन्न; ऐसे अत्रि पुत्र भगवान् आत्रेय के समीप– 'फल बस्तियों में कौन सर्वश्रेष्ठ है?' के निश्चयार्थ (निश्चय करने के लिए) परस्पर विवाद करते हुए भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित एवं गौतम आदि ऋषि पहुँचे। आस्थापन बस्तियों की योजना में प्रयुक्त होने वाले मदनफल आदि द्रव्यों में से कौन द्रव्य विशेष श्रेष्ठ है, यही उस विवाद का मुख्य विषय था।

विभिन्न आचार्यों के विचार–

१. सर्वप्रथम आचार्य **शौनक** ने कहा कि फलों में जीमूतक सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यह कफ व पित्त का निर्हरण करता है।

२. आचार्य शौनक के वचनों को सुनकर **राजा वामक** ने कहा कि यह (जीमूतक) मृदु वीर्य होने से मल का सम्यक् भेदन नहीं करता। अर्थात् दोषों का सम्यक् निर्हरण नहीं करता। आचार्य **वामक** के अनुसार वमनार्थ दोषों को उभारकर बाहर निकालने में कटुतुम्बी का फल अन्य की तुलना में श्रेष्ठ होता है।

३. राजा वामक के वचनों को सुनकर **आचार्य गौतम** ने कहा कि आपका कथन उचित नहीं है, क्योंकि यह (कटुतुम्बी) अशैत्य (उष्ण), तीक्ष्ण, कटु एवं रूक्ष गुण युक्त होने के कारण अवृष्य होती है। (अवृष्य के स्थान पर 'तदयोग्य' पाठ प्राप्त होता है। इस आधार पर उपरोक्त गुणों के कारण यह दोषों का भेदन या निर्हरण नहीं करती, अर्थ होगा।) इनके अनुसार कफ पित्त के निर्हरण में **धामार्गव** श्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह कफपित्त नाशक होता है।

४. गौतम के वचनों को सुनकर आचार्य **बडिश** ने कहा कि ऐसा नही है, क्योंकि धामार्गव वातवर्धक (वातकारक), ग्लानि उत्पादक एवं शरीर के बल को क्षीण करता है। अतः कुटज बल आदि का क्षय न करने एवं कफपित्त का नाश करने के कारण श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार यहाँ आचार्य ने कुटज की प्रशंसा की है।

५. बडिश के उत्तर को सुनकर आचार्य **काप्य** ने कहा कि कुटज अतिविज्जल (अति पिच्छिल), अति ऊर्ध्व भागिक (अत्यधिक वामक) तथा वायु को क्षुभित करने वाला है। इसलिये यह श्रेष्ठ नहीं है। आचार्य काप्य के अनुसार कृतवेधन श्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह बढ़े हुए कफ व पित्त को शीघ्र ही निकाल देता है।

Scanned by CamScanner

६. आचार्य काप्य के वचनों को सुनकर **भद्रशौनक** ने कहा कि आपका कहना उचित नहीं है, क्योंकि कृतवेधन अत्यधिक कटु होता है एवं शारीरिक बल का नाशक होता है।

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय का समाधान– इस प्रकार अपने-अपने हेतु से युक्त शौनक आदि ऋषियों के परस्पर विरोधी विचारों को सुनकर ज्ञान-विज्ञान से संपन्न अत्रि पुत्र भगवान् आत्रेय ने जीमूतक आदि फलों में कौन श्रेष्ठ है, के निश्चयार्थ यह कहा कि आप सब ऋषियों ने जीमूतक आदि फलों के गुण-दोषों का जो विवेचन किया है वह उचित है। कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, जो गुण व दोषों से रहित हो। अर्थात् सबमें कुछ गुण तथा कुछ अवगुण पाये जाते हैं। लेकिन जिस द्रव्य में जो गुण अधिक पाया जाता है उसी का विचार किया जाता है, अर्थात् वह उसी गुण वाला कहा जाता है।

१. कुष्ठ रोग में **गरागरी** (जीमूतक) का प्रयोग श्रेष्ठ हैं। अर्थात् इसका प्रयोग कुष्ठ रोग में करना चाहिए।

२. **इक्ष्वाकु** (कटुतुम्बी) का प्रयोग प्रमेह रोग में हितकारी है।

३. **कुटज का फल** हृदय रोग में हितकारी होता है।

४. **श्यामार्गव** (कोठफल) का फल पाण्डुरोग में श्रेष्ठ होता है।

५. **कृतवेधन** का प्रयोग उदररोग में विशेष हितकारी होता है।

६. **मदनफल** सभी रोगों में उपयोगी होता है। यह कषाय तिक्त एवं मधुर रस युक्त होता है, अर्थात् यह रस में मधुर तथा अल्प रूप में कषाय व तिक्त होता है। यह अरूक्ष, कटु, उष्ण तथा पिच्छिल गुण युक्त होता है। यह कफपित्त का नाशक तथा शीघ्रता पूर्वक अपने कार्यों को करने वाला है। इसके प्रयोग से व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि नहीं होती तथा यह वायु का अनुलोमक भी है। इसलिए अन्य फलों के होते हुए भी सबमें श्रेष्ठ **मदनफल** ही होता है।

चक्रपाणि– फलादीनां बस्तियोगेषु गुणान् प्रतिपादयितुं पूर्ववृत्तमितिहासमाह– भगवन्तमित्यादि। भगवन्तमित्यादौ के द्वारा यहाँ **बस्तियोगों** में उपयोगी फलादि (मदनफल आदि) के गुणों को बताने के लिए पूर्ववृत्त (इतिहास) का अभिधान किया जा रहा है। **इतिहासश्च संहिताधर्मतया ग्रन्थे पूज्यतोपदर्शनार्थं च क्रियत एव–** इतिहास का उल्लेख संहिता का धर्म होने से ग्रन्थ के प्रति पूज्यता (श्रेष्ठता) का भाव उत्पन्न करने के लिए अथवा वर्णित विषय वस्तु की श्रेष्ठता के प्रतिपादन हेतु किया गया है। [यहाँ फलमात्रा सिद्धि संभाषापरिषद् का वर्णन विषय वस्तु को विश्वसनीय बनाने के लिए किया गया है।]

फलादीनां बस्तौ वरत्वं फलबस्तिवरत्वं, तस्य निश्चये अवधारणे– फलादि (मदनफल आदि) द्रव्यों से निर्मित बस्तियों में श्रेष्ठ बस्ति को **फलवस्तिवरत्व** कहा गया है। अर्थात् इनमें से कौन सी बस्ति श्रेष्ठ है उसके निश्चय में। फलादि से यहाँ मदनफल, जीमूतक आदि से तैयार होने वाली वस्तियों का ग्रहण किया गया है। अर्थात् मदनफल आदि फलों में से किस फल से निर्मित बस्ति श्रेष्ठ होती है। यहाँ बस्ति हेतु कौन सा **फल** ज्यादा उपयोगी है, इसके निश्चय हेतु फलमात्रासिद्धि संभाषापरिषद् का आयोजन किया गया है। **कल्पे जीमूतके यद्यपि पित्तदोषहरत्वमुक्तम्–** कल्पना सिद्धि अध्याय में जीमूतक को यद्यपि पित्तदोषहर कहा गया है फिर भी इस प्रकरण में यह प्रधान रूप से कफ पित्तनाशक कार्य करता है, ऐसा जानना चाहिए। अर्थात् बस्ति के रूप में इसका प्रयोग करने पर यह विशेष रूप से कफ व पित्त का निर्हरण करता है। **मृदुवीर्यतयाऽभिनत्तीति नात्यर्थं भिनत्ति–** मृदु वीर्य होने से जीमूतक दोषों का अति निर्हरण नहीं करता। **दोषसमीरणं इति–** दोषों को उभारकर बाहर निकालने वाला, अर्थात् कटुतुम्बी का फल अन्य द्रव्यों में श्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह कफ-पित्त दोष को उभारकर बस्ति के रूप में बाहर निकाल देता है, ऐसा राजर्षि **वामक** ने कहा। कृतवेधनमित्यादौ आशु कफपित्तं हरेदिति योज्यम्– कृतवेधन के साथ 'आशु कफपित्तं हरेदिति' भी जोड़ना चाहिए। अर्थात् यह अत्यधिक प्रकुपित कफ व पित्त का शीघ्रतापूर्वक निर्हरण करता है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। **इहर्षिविवादकथनेन जीमूतकादीनां गुणदोषाश्च कथिता भवन्तीति तात्पर्यं ज्ञेयम्–** इस प्रकरण में ऋषियों के विवाद के कथन द्वारा जीमूतक आदि द्रव्यों के गुण दोषों को कहा गया है, यह भाव ग्रहण करना चाहिए। 'प्रशशंसेत्यादि' से फलों में श्रेष्ठता के निश्चय के सम्बन्ध में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के विचार को स्पष्ट किया गया है। फलेषु= जीमूतक आदि फलों में। **फलदोषगुणान् प्रतीति लक्ष्यीकृत्य–** एक-एक फल के गुण व दोष को लक्ष्य करके। **सरस्वतीति=** वाक् (वाणी) [भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने फलों के श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध में सभी ऋषियों के विचारों को सुनकर कहा कि आप सबने एक-एक फल के गुण व दोष का विचार करते हुए जो विचार दिये है, वह उत्तम है।] **अदोषनिर्गुणमिति दोषवदेव गुणवदेव वा न किञ्चिदित्यर्थः–** कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है जिसमें गुण अथवा दोष न हो। अर्थात् सभी द्रव्यों में कुछ गुण तथा कुछ दोष विद्यमान होते ही हैं। इस प्रकार जिस द्रव्य में गुण ज्यादा व दोष अल्प हों वही चिकित्सा में (व्याधि प्रशमन में) ज्यादा उपयोगी है।

Scanned by CamScanner

'सर्वगदाविरोधि इति' [सर्वगद + अविरोधि= सभी व्याधियों का विरोधी न होना, अर्थात् सभी व्याधियों की चिकित्सा में प्रयुक्त होना] के द्वारा मदनफल की उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् मदनफल का उपयोग सभी व्याधियों की चिकित्सा हेतु प्रयुक्त बस्तियों में किया जा सकता है। **आशुकारीति–** शीघ्रता पूर्वक दोषों को निकालने वाला।

अतो लभत इति– फलों में श्रेष्ठ होने से ही मदनफल को 'फल' शब्द से कहा गया है न कि जीमूतक आदि की संज्ञा फल दी गयी है। ॥३-१४॥

गुरुणेति वचस्युदाहृते मुनिसङ्घेन च पूजिते ततः । प्रणिपत्य मुदा समन्वितः सहितः शिष्यगणोऽनुपृष्टवान् ।।१५।।
सर्वकर्मगुणकृद्गुरुणोक्तो बस्तिरूर्ध्वमथ नैति नाभितः । नाभ्यधो गुदमतः स शरीरात् सर्वतः कथमपोहति दोषान् ।।१६।।
तद्गुरुरब्रवीदिदं शरीरं तन्त्रयतेऽनिलः सङ्गविघातात् । केवल एव दोषसहितो वा स्वाशयगः प्रकोपमुपयाति ।।१७।।
तं पवनं सपित्तकफविट्कं शुद्धिकरोऽनुलोमयति बस्तिः । सर्वशरीरगश्च गदसंघस्तत्प्रशमात् प्रशान्तिमुपयाति ।।१८।।

पुनर्वसु आत्रेय के विचारों का स्वागत– भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के फलों के श्रेष्ठत्व सम्बन्धी विचारों को ऋषि समुदाय द्वारा आदर पूर्वक स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद शिष्य समुदाय ने प्रसन्न मन से गुरु को प्रणाम करके पुनः दूसरा प्रश्न पूछा–

बस्ति सम्बन्धी अन्य प्रश्न– शिष्य गण ने कहा– हे आचार्य! आपके द्वारा यह बताया गया है कि बस्ति सभी कर्मों (चिकित्सा कर्मों) के गुणों को पूर्ण कर देती है, अर्थात् सभी कर्मों (वमनादि कर्मों) के कार्य मात्र बस्ति द्वारा ही पूर्ण हो जाते हैं, जब कि बस्ति द्वारा प्रयुक्त औषध द्रव्य नाभि के ऊपर की ओर नहीं जाते तथा नाभि के नीचे रहकर गुदमार्ग द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं तब प्रयुक्त बस्ति किस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान दोषों का निर्हरण करती है।

पुनर्वसु आत्रेय द्वारा दिया गया उत्तर– शिष्यों द्वारा पूछे गये बस्ति सम्बन्धी प्रश्न को सुनकर गुरु आत्रेय ने कहा कि यह वायु अपने अवरोधक कारणों के अभाव में शरीर को धारण करती है [स्रोतस् जब किसी भी अवरोधक कारण द्वारा अवरुद्ध नहीं होता तब यह वायु शरीर में निर्विघ्न गमन करती हुई शरीर को धारण करती है।] यह वायु अकेले अथवा दोषों (कफ पित्त) के साथ मिलकर अपने आशय (पक्वाशय) में जाकर प्रकुपित हो जाती है। दी गयी बस्ति पित्त, कफ एवं मल का शोधन करते हुए वायु का अनुलोमन करती है। अर्थात् अधोमार्ग से बाहर निकालती है। वायु के प्रशमित होते ही सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए रोग समुदाय स्वतः शान्त हो जाते हैं।

चक्रपाणि– सर्वकर्मगुणकृदिति सर्वकर्मणां वमनादीनां गुणं दोषहरणादिकं करोतीति सर्वकर्मगुणकृत्– वमनादि सभी कर्मों के गुण, यथा– दोषहरण आदि; अकेले बस्ति के ही प्रयोग से प्राप्त हो जाते हैं। अथवा 'सर्वकर्म' से यहाँ लङ्घन, बृंहण आदि कर्मों का, तथा गुण से शारीरिक बल एवं अग्नि आदि का ग्रहण किया गया है। ये सभी कार्य बस्ति द्वारा हो जाते हैं। **नाभ्यधो गुदमिति व्रजति–** नाभि के नीचे रहकर गुदा द्वारा बाहर निकला जाती है। **तन्त्रयते धारयते–** धारण करती है। **अनिलः सङ्गविघातात् शरीरं तन्त्रयते–** वायु किसी भी प्रकार के अवरोध के अभाव में शरीर को धारण करती है। विघातादिति– प्रकोपक कारण के अभाव में। **स्वाशयगः स्वाशय एव प्रायः प्रकोपं व्रजति–** वायु अपने आशय में प्रायः प्रकुपित होती है, जहाँ वायु का प्रकोप अन्य स्थानों पर परिलक्षित होता है, उसका भी कारण वायु का अपने मूल स्थान में प्रकुपित होना है, यह भाव ग्रहण करना चाहिए। **तत्प्रशमात् प्रशान्तिमुपयाति पक्वाशयस्थवातमूलप्रशमाद्बस्तिना कृतात्तन्मूलानुबन्धाः शेषस्थानगतविकाराः प्रशाम्यन्ति–** बस्ति के प्रयोग द्वारा पक्वाशय में स्थित मूल वायु (पित्तज व कफज व्याधियों का भी कारण **वायु** ही है। इसलिए इसे **मूल** शब्द से कहा गया है।) के प्रशमन से अथवा वायु के निर्हरण हो जाने से उसके अनुबन्ध से होने वाले शेष स्थानगत विकार प्रशमित हो जाते हैं। (पक्वाशय गत प्रकुपित वायु के प्रशमित होने से वात प्रकोप जन्य अन्य स्थानगत विकार स्वतः शान्त हो जाते हैं, क्योंकि ये पक्वाशयगत वायु से बल प्राप्त करती हैं।) इस विषय का प्रतिपादन **'वनस्पतिमूलच्छेदवत्'** इत्यादि दृष्टान्त के द्वारा पूर्व में ही प्रतिपादित किया गया है। **एतेन बस्तिना मूलविजयाद्देशान्तर्गततन्मूलविकारजयो यः क्रियते स उक्तः–** बस्ति के द्वारा दोषों के मूल को नष्ट कर देने पर उस कारण से बल प्राप्त करने वाले विकार स्वतः शान्त हो जाते हैं, यह बताया गया है। बस्ति का वीर्य व्यक्ति के पैर से लेकर मस्तिष्क तक प्रभावी होता है। अर्थात् बस्ति अपने वीर्य (Active potency– कार्यकारी क्षमता) से पैर से लेकर मस्तिष्क तक के दोषों का निर्हरण करती है जिसके परिणाम स्वरूप वह सभी विकारों को दूर करती है, ऐसा पूर्व के ही अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है।

इह तु, वीर्यमपिहितं कृत्स्नैव शिष्यप्रश्नानुगुणमेवोत्तरं दत्तमिति ज्ञेयम्– यहाँ वीर्य (बस्ति के वीर्य) का विचार न करते हुए शिष्य के प्रश्नों के अनुसार उत्तर को स्पष्ट किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। ॥१५-१८॥

अथाधिगम्यार्थमखण्डितं धिया गजोष्ट्रगोश्वाव्यजकर्म रोगनुत् । अपृच्छदेनं स च बस्तिमब्रवीद्विधिं च तस्याह पुनः प्रचोदितः ।।१९।।
आजोरणौ सौम्य गजोष्ट्रयोः कृते गवाश्वयोर्बस्तिमुशन्ति माहिषम् । अजाविकानां तु जरद्गवोद्भवं वदन्ति बस्तिं तदुपायचिन्तकाः ।।२०।।
अरत्निमष्टादशयोऽङ्गुलं तथैव नेत्रं हि दशाङ्गुलं क्रमात् । गजोष्ट्रगोश्वाव्यजबस्तिसंधौ चतुर्थभागोपनयं हितं वदेत् ।।२१।।
प्रस्थस्त्वजाव्योर्हि निरूहमात्रा गवादिषु द्वित्रिगुणं यथाबलम् । निरूहमुष्ट्रस्य तथाऽऽढकद्वयं गजस्य वृद्धिस्त्वनुवासनेऽष्टमः ।।२२।।

Scanned by CamScanner

पशुओं में बस्ति का प्रयोग– अखण्डित है बुद्धि जिसकी, अर्थात् रचनात्मक विचारों वाले भगवान् पुनर्वसु आत्रेय के उपदेशों को भली भाँति सुनकर ऋषि समुदाय ने उनसे हाथी, ऊँट, गाय, घोड़े, भेड़ तथा अज (बकरी) आदि पशुओं में व्याधिनाशक कर्म के बारे में पूछा। इसके बाद शिष्यों द्वारा ऐसा पूछने पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा कि वह कर्म बस्ति है तथा उसकी विधि का विवेचन पुनः आगे किया जा रहा है।

पशुओं में प्रयुक्त बस्तिपुटक के निर्माण में उपयोगी द्रव्य–

१. हाथी तथा ऊँट में बस्ति देने के लिए बस्तिपुटक का निर्माण बकरी तथा भेंड़ के मूत्राशय द्वारा करनी चाहिए।

२. गाय तथा घोड़े हेतु बस्तिपुटक का निर्माण भैंस के मूत्राशय द्वारा करना चाहिए।

३. भेंड़ व बकरी हेतु जारदगव (बूढ़े बैल) के मूत्राशय का प्रयोग करना चाहिए।

ऐसा निर्देश बस्ति देने वाले विद्वानों ने बस्ति के सम्बन्ध में दिये हैं।

पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्तिनेत्र का प्रमाण– विभिन्न प्रकार के पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्तिनेत्र की लम्बाई का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

१. हाथी (Elephant)– एक अरत्नि (Length of the fore-arm))

२. ऊँट (Camel)– १८ अङ्गुल (१ अङ्गुल= ३/४ इंच)

३. गाय तथा घोड़े के लिए– १६ अङ्गुल।

४. भेड़ तथा बकरी के लिए– १० अङ्गुल; लम्बी बस्तिनेत्र का ग्रहण करना चाहिए। बस्तिनेत्र का १/४ भाग पशुओं की गुदा में प्रविष्ट कराना हितकर माना गया है। अर्थात् बस्ति देते समय नेत्र का १/४ भाग गुदा में प्रविष्ट कराना चाहिए।

पशुओं में प्रयुक्त होने वाली निरूहबस्ति की मात्रा–

१. बकरी तथा भेंड़ में निरूह बस्ति की मात्रा– १ प्रस्थ होती है।

२. गाय आदि पशुओं में निरूह की मात्रा उनके बल के अनुसार दो या **तीन प्रस्थ** लेनी चाहिए।

३. ऊँट में निरूह बस्ति की मात्रा **दो आढ़क** ग्रहण करनी चाहिए।

४. हाथी में इसकी मात्रा **चार आढक** ग्रहण करें।

यदि इन्हीं पशुओं में अनुवासन बस्ति देनी हो तब उनमें निर्दिष्ट निरूह की मात्रा का १/८ भाग अनुवासन बस्ति (स्नेह) का ग्रहण करना चाहिए।

यथा– बकरी तथा भेड़ में– १ प्रस्थ (६४ तोला) का अष्टमांश अर्थात् ८ तोला (स्नेह की मात्रा ८ तोला)। इसी प्रकार अन्य पशुओं का भी निर्धारण करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'अथाधिगम्येत्यादि' से हाथी आदि पशुओं में प्रयुक्त होने वाले चिकित्सा कर्म के बारे में पूछा गया है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए। [यहाँ अधिगम्य इत्यादि के साथ 'गजादीनां कर्मापृच्छदिति' को भी जोड़ना चाहिए, अर्थात् इसे जोड़कर अर्थ ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पशुओं की चिकित्सा हेतु **पञ्चकर्मों** में से किस कर्म का प्रयोग विशेष उपादेय है, यह बताया गया है। **रोगनुदिति–** रोगनाशक कर्म। यह शब्द यहाँ कर्म की विशेषता को अभिव्यक्त करता है। **तेन कर्म रोगनुदिति–** उससे रोगनाशक (व्याधिनाशक) कर्म का ग्रहण किया गया है, अर्थात् व्याधि को दूर करने में कौन सी चिकित्सा श्रेष्ठ है, यह अभिप्राय है।

बस्तिमब्रवीदिति गजादीनां रोगहरणे श्रेष्ठं बस्तिमेवाब्रवीत– हाथी आदि पशुओं के व्याधि को दूर करने में बस्ति चिकित्सा ही श्रेष्ठ है, ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा। इसके बाद उस बस्ति की विधि को शिष्य द्वारा पुनः पूछने पर गुरु ने इसका उत्तर 'आजोरणेत्यादि' के द्वारा दिया है। उरणः मेषः= भेंड (Sheep)। बस्ति से यहाँ **बस्तिपुटक** का ग्रहण किया गया है। जरद्गवः= वृद्धवृषः (बूढ़ा बैल- old ox)। **तदुपायचिन्तका इति गजादिबस्तिसाधने दत्त चित्तकाः–** जो चिकित्सक हाथी आदि पशुओं में बस्ति देते रहते हैं, अर्थात् पशु चिकित्सक जो बस्ति चिकित्सा के विशेषज्ञ हैं, उनका ग्रहण किया गया है। (उपायचिन्तकाः= पशु चिकित्सा विशेषज्ञ)। अरत्निः= हस्तः (हाथ)।

Scanned by CamScanner

क्रमादिति यथाक्रमं गजादिषु अरत्न्यादि नेत्रप्रमाणम्– क्रमानुसार हाथी आदि पशुओं में बस्तिनेत्र के प्रमाण (लम्बाई) को 'अरत्न्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। गज, ऊँट, गाय, अश्व, अवि (भेंड़) तथा बकरी में बस्तिनेत्र का प्रमाण क्रमशः अरत्नि, १८ अङ्गुल, १६ अङ्गुल तथा १० अङ्गुल होती है। **चतुर्थभागोपनयमिति नेत्रचतुर्थभागप्रवेशकम्–** बस्ति देने हेतु बस्तिनेत्र को पशु की गुदा में १/४ भाग प्रविष्ट कराना चाहिए। गवादिष्विति– इस शब्द से गाय की आकृति वाले अन्य पशुओं का ग्रहण किया गया है, यथा– गाय, भैंस, अश्व आदि। अतः यहाँ बहुवचन का प्रयोग होना उचित है। (गवादिषु)। **गजस्य तु वृद्धिरिति द्व्याढकद्वयैगुण्येन द्रोण इत्यर्थः–** ऊँट में निरूह बस्ति की मात्रा २ आढ़क बतायी गयी है, जबकि हाथी में ऊँट की मात्रा का दूना ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् इसमें (हाथी में) निरूह बस्ति की मात्रा ४ आढक (१६ प्रस्थ) रखनी चाहिए। [यहाँ आचार्य चक्रपाणि ४ आढक का १ द्रोण मानते हैं, जब कि चरक के अनुसार– "चत्वारः कुडवा प्रस्थश्चतुःप्रस्थमथाढकम्। पात्रं तदेव विज्ञेयं कंसः प्रस्थाष्टकं तथा।। कंसश्चतुर्गुणो द्रोणश्चार्मणं नल्वणं च तत्" च.क. १२/९४-९५ के अनुसार चार कुड़व= १ प्रस्थ, ४ प्रस्थ= १ आढक, ८ प्रस्थ= १ कंस= २ आढ़क तथा ४ कंस= ८ आढ़क (३२ प्रस्थ)= १ द्रोण होता है।]

अनुवासनेऽष्टममिति यथोक्ताजादिनिरूहमानादजादीनामनुवासनेऽष्टमः स्नेहभागो देयः– पूर्व में अज आदि पशुओं में निरूह बस्ति की जो मात्रा निर्देशित की गयी है उसका अष्टम भाग (१/८ भाग) स्नेह बस्ति (अनुवासन बस्ति) की मात्रा होती है। अर्थात् निरूह के मान का १/८वाँ भाग स्नेह का प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए। ॥१९-२२॥

विशेष (Comments)– यहाँ गाय आदि पशुओं में प्रयुक्त होने वाली बस्तिनेत्र की लम्बाई का जो अभिधान किया गया है उसमें यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि किस पशु में कितना लम्बा बस्तिनेत्र का प्रयोग करना चाहिए। बस्तिनेत्र की लम्बाई तथा बस्ति द्रव्य की मात्रा का जो विवेचन किया गया है। वह पशुओं के वर्णित विभाग के आधार पर स्पष्ट हो जाता है, यथा–

४ आढ़क (निरूह बस्ति)– हाथी ।

२ आढ़क (निरूह बस्ति)– ऊँट ।

२-३ प्रस्थ (निरूह बस्ति)– गाय, भैंस, अश्व ।

१ प्रस्थ (निरूह बस्ति)– अज (बकरी) तथा भेड़ ।

इस प्रकार पशुओं के आकार (शरीर का आकार) व बल आदि के आधार पर बस्तिनेत्र की लम्बाई क्रमशः १ अरत्नि (१ हाथ) हाथी में, १८ अङ्गुल ऊँट में, १६ अङ्गुल गाय, भैंस तथा अश्व में तथा १० अङ्गुल बकरी आदि छोटे पशुओं में प्रयुक्त करना चाहिए, यह निष्कर्ष निकलता है।

कलिङ्गकुष्ठे मधुकं च पिप्पली वचा शताह्वा मदनं रसाञ्जनम् । हितानि सर्वेषु गुडः ससैन्धवो द्विपञ्चमूलं च विकल्पना त्वियम् ।।२३।।
गजेऽधिकाऽश्वत्थवटाश्वकर्णकाः सखादिरप्रग्रहशालतालजाः । तथा च पर्ण्यौ धवशिग्रुपाटलीमधूकसाराः सनिकुम्भचित्रकाः ।।२४।।
पलाशभूतीकसुराह्वरोहिणीकषाय उक्तस्त्वधिको गवां हितः । पलाशदन्तीसुरदारुकत्तृणद्रवन्त्य उक्तास्तुरगस्य चाधिकाः ।।२५।।
खरोष्ट्रयोः पीलुकरीरखादिराः शम्याकबिल्वादिगणस्य च च्छदाः । अजाविकानां त्रिफलापरूषकं कपित्थकर्कन्धु सबिल्वकोलजम् ।।२६।।

विभिन्न पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य

सामान्य रूप से उपयोगी बस्ति द्रव्य– कलिङ्ग (इन्द्रयव), कूठ (कुष्ठ), मधुक (यष्टीमधु), पिप्पली, वचा, शताह्वा (सौंफ), मदन-फल, रसवत, सैन्धव नमक तथा दशमूल; इन द्रव्यों द्वारा निर्मित बस्ति सभी पशुओं में हितकारी होती है। [दशमूल, इन्द्रयव आदि के क्वाथ में कूठ, यष्टीमधु, पिप्पली आदि द्रव्यों के कल्क डालें तथा उसमें गुड़ व सैन्धव नमक डालकर विधिपूर्वक बस्ति तैयार करें।]

बस्ति की विशेष कल्पना का विवेचन नीचे किया जा रहा है–

१. हाथियों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य– अश्वत्थ [बोधिवृक्ष= पीपल Ficus religiosa Linn], वट, अश्वकर्ण [शाल, सर्ज, अश्वकर्णक पर्याय हैं।– Dipterocarpus alatus हिन्दी-गर्जन– डा० के.सी. चुनेकर], खैर (खदिर), प्रग्रह (अमलतास), साखू; आदि वृक्षों की छाल तथा ताड़ का फल; इन द्रव्यों के क्वाथ का प्रयोग हाथियों में बस्ति हेतु करना चाहिए।

२. गायों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य– माषपर्णी, मुद्गपर्णी, धव, शिग्रु (सहिजन की छाल), पाटला की छाल, मधूकसार (Heart-wood of Madhūka), निकुम्भ (दन्ती) की जड़, चित्रकमूल, पलाश की छाल, भूतीक, सुराह्वा (देवदारु), रोहिणी (कुटकी); इन द्रव्यों के समभाग से निर्मित क्वाथ की बस्ति का प्रयोग गायों में विशेष रूप से करना चाहिए।

३. घोड़ों में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य– पलाश, दन्ती की जड़, देवदारु, कत्तृण (सुगन्धतृण) तथा द्रवन्ती; इन द्रव्यों के सम भाग से बने क्वाथ की बस्ति घोड़ों में विशेष हितकारी होती है।

Scanned by CamScanner

४. गधे एवं ऊँट में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य– पीलु, करीर, खदिर, अमलतास, बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी= वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेरी) एवं गोखरू; इनके समभाग से निर्मित क्वाथ का प्रयोग बस्ति के रूप में करना चाहिए।

५. बकरी तथा भेंड़ आदि छोटे पशुओं में प्रयुक्त होने वाले बस्ति द्रव्य– हरड़, बहेड़ा, आँवला, परूषक (फालसा), कपित्थ (कैथ), कर्कन्धु (छोटी बेर), बिल्व तथा कोल (बड़ी बेर); इन द्रव्यों के फलों के क्वाथ से निर्मित बस्तियों का प्रयोग बकरी तथा भेड़ आदि छोटे पशुओं में करना चाहिए।

चक्रपाणि– विकल्पना त्वियमिति विशेषकल्पना गजेऽधिका वक्ष्यमाणा– आगे वर्णित **विशेष कल्पना** हाथी में अधिक उपयोगी है। अर्थात् अश्वत्थ आदि द्रव्यों के क्वाथ से निर्मित बस्ति का प्रयोग हाथी में विशेष रूप से करना चाहिए। तालजं= ताल का फल (ताड़ का फल- Borassus flabellifer Linn)।

'तथा च पर्ण्यी' इत्यादि के द्वारा गायों में हितकर बस्ति का वर्णन किया गया है। ॥२३-२६॥

अथाग्निवेशः सततातुरान् नरान् हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च । सदाऽऽतुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः ।।२७।।

हमेशा रोगी रहने वाले व्यक्ति– इसके बाद अग्निवेश ने अपने गुरु भगवान् पुनर्वसु आत्रेय से पूछा– हे आचार्य! कौन से व्यक्ति सदा रोगी रहते हैं तथा उनके लिए हितकर वस्तुएं कौन सी हैं। इस प्रश्न को सुनकर गुरु ने कहा– हे सौम्य! ये चार प्रकार के पुरुष हमेशा रोगी बने रहते हैं, यथा– १. श्रोत्रिय ब्राह्मण, २. राजसेवक (राजा की सेवा करने वाला), ३. वेश्या, ४. दुकान से अपनी आजीविका चलाने वाला व्यापारी।

चक्रपाणि– 'अथाग्निवेश इत्यादि' के द्वारा हमेशा रोगी रहने वाले उन पुरुषों (स्त्री-पुरुष) का उल्लेख किया गया है, जिनमें बस्ति का प्रयोग हितकारी होता है। **हितं चेति सदातुराणां हितम्–** सदा आतुर रहने वाले पुरुषों के लिए हितकर क्या है। पण्यजीविनः वणिजः– व्यापारी। **पण्यजीविनः=** सामानों को बेचकर अपनी आजीविका चलाने वाला, अर्थात् व्यापारी। ॥२७॥

द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते । नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधाद्बहुचिन्तनाद्भयात् ।।२८।।
नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाभि(वि)भूषानिरता पणाङ्गना । सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः ।।२९।।
सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम् । अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदाऽऽतुराश्च ते ।।३०।।

सदा रोगी रहने का कारण–

१. श्रोत्रिय ब्राह्मण– (वेदपाठी ब्राह्मण) नित्य वेदाध्ययन करने, दैनिक व्रत तथा यज्ञ आदि कर्मों में रत रहने के कारण अपने शरीर के हित का ध्यान नहीं रख पाते।

२. राजा का सेवक– राजा की सेवा करने वाला सेवक हमेशा उसके मन के अनुकूल कार्यों में लगे रहने के कारण, राजा के आश्रित रहने वाले अन्य लोगों की सेवा में रत रहने के कारण, हमेशा राजा किस प्रकार प्रसन्न रहे, इसकी अत्यधिक चिन्ता के कारण अथवा राजा या अधिकारी मुझसे नाराज न हो जाय, इस भय के कारण, अपने स्वास्थ्य के प्रति ध्यान नहीं दे पाता।

३. वेश्याएं– ये हमेशा व्यक्ति के मन के अनुसार रहते हुए उसके (पुरुष की) इच्छानुसार कार्य करते हुए सेवा में तत्पर रहती हैं। इसके साथ ये अपने शरीर की शुद्धि तथा शृंगार में ही लगी रहती हैं। इसलिये ये अपने स्वास्थ्य का ध्यान नहीं दे पाती।

४. व्यापारी– ये लोग क्रय आदि के लोभ से (हमेशा होने वाली बिक्री एवं खरीद आदि के लोभ से) अथवा अपने दुकान पर ज्यादा समय तक बैठे रहने के कारण ये लोग अपने शरीर का विशेष ध्यान नहीं दे पाते।

ये चारों प्रकार के पुरुष हमेशा आये हुए मल, मूत्रादि अधारणीय वेगों को रोकते हैं तथा उचित समय से भोजन नहीं करते हैं। इन पुरुषों के अतिरिक्त दूसरे वे लोग जो अकाल में भोजन का सेवन करते हैं, अथवा मल मूत्रादि अधारणीय वेगों को रोकते हैं, अथवा समय से पुरीष आदि का त्याग नहीं करते, अथवा अनुचित समय में घुमते-फिरते हैं, हमेशा रोगी रहते हैं।

चक्रपाणि– 'द्विजो हीत्यादि' के द्वारा पूर्व वर्णित पुरुषों के आतुरत्व के हेतु को स्पष्ट किया गया है। अर्थात् इन पुरुषों के सदा रोगी होने में कौन-कौन से कारण हैं, यह स्पष्ट किया गया है। **देहहितं न चेष्टते इति–** इस शब्द का प्रयोग 'पण्यजीविनः' के भी अन्त में करना चाहिए, यथा–

१. नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधात् बहुचिन्तनात् भयात् देहहितं न चेष्टते।

Scanned by CamScanner

२. नृचित्तवर्तिन्युपचारतत्परा मृजाभि (वि) भूषानिरता पणाङ्गना देहहितं न चेष्टते।

३. सदासनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः देहहितं न चेष्टते।

परानुरोधादिति– राजा के आश्रित रहने वाले अन्य पुरुषों की सेवा में लगे रहने से। उपचारतत्परेति– पुरुष की सेवा में तत्पर रहना। मृजा शरीरमार्जनम्– शरीर की सफाई रखना अर्थात् शरीर को शुद्ध रखना (स्वच्छ रखना)। पणाङ्गना= वेश्या।

अत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादिति– क्रय एवं विक्रय आदि की लालच से, अर्थात् इन्हें हमेशा खरीदने एवं बेचने की चिन्ता लगी रहती है।

सदासनात्– हमेशा बैठे रहने के कारण। इन दो कारणों से व्यापारी वर्ग समय से आहार-विहार नहीं कर पाता तथा अधारणीय वेगों को धारण करता है, इस कारण वह हमेशा रोगी बना रहता है।

'अकालेत्यादि' के द्वारा अन्य व्यक्तियों के सदा रोगी होने में हेतु को बताया गया है।

- जो व्यक्ति हमेशा अधारणीय वेगों (मल मूत्रादि के वेगों) को धारण करता हैं।
- उचित समय से भोजन ग्रहण नहीं करते।
- समय से मल मूत्रादि का विसर्जन नहीं करते।
- समय से घूमते-फिरते नहीं हैं।

निर्हारः= मलादि का निकलना। ॥२८-३०॥

समीरणं वेगविधारणोद्धतं विबन्धसर्वाङ्गरुजाकरं भिषक् । समीक्ष्य तेषां फलवर्तिमादितः सुकल्पितां स्नेहवतीं प्रयोजयेत् ।।३१।।
पुनर्नवैरण्डनिकुम्भचित्रकान् सदेवदारुत्रिवृतानिदिग्धिकान् । महान्ति मूलानि च पञ्च यानि विपाच्य मूत्रे दधिमस्तुसंयुते ।।३२।।
सतैलसर्पिर्लवणैश्च पञ्चभिर्विमूर्च्छितं बस्तिमथ प्रयोजयेत् । निरूहितं धन्वरसेन भोजितं निकुम्भतैलेन ततोऽनुवासयेत् ।।३३।।
बलां सरास्नां फलबिल्वचित्रकान् द्विपञ्चमूलं कृतमालकात् फलम् ।
यवान् कुलत्थांश्च पचेज्जलाढके रसः स पेष्यैस्तु कलिङ्गकादिभिः ।।३४।।
सतैलसर्पिर्गुडसैन्धवो हितः सदातुराणां बलवर्णवर्धनः । तथाऽनुवास्ये मधुकेन साधितं फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽपि वा ।।३५।।
सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासने निरूहणे चालवणः शिशोर्हितः । न चान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनं निरूहबस्तेः शिशुवृद्धयोः परम् ।।३६।।

सदा रोगी रहने वाले व्यक्तियों की चिकित्सा

फलवर्ति का प्रयोग– अधारणीय वेगों के धारण करने से प्रकुपित हुई वायु शरीर में रुक कर विबन्ध (Constipation) तथा सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति में चिकित्सक को दोषादि का सम्यक् विचार करते हुए अच्छी प्रकार से बनी हुई स्नेह युक्त फलवर्ति (गुदवर्ति) का प्रयोग करना चाहिए। [फलवर्ति के प्रयोग से मल प्रवृत्ति होने लगती है, जिससे वायु का अवरोध दूर हो जाता है।]

निरूह बस्ति का प्रयोग– फलवर्ति देने के बाद अधोलिखित निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए–

पुनर्नवा, एरण्ड की जड़, दन्ती की जड़, चित्रकमूल, देवदारु; सफेद निशोथ, कण्टकारी (भटकटैया) तथा बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी (बृहत् पञ्चमूल)। सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इस यवकुट किये हुए क्वाथ्य द्रव्य में दही का पानी व गोमूत्र डालकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें। इस बने हुए क्वाथ में तैल, घृत व पाँचों नमक मिलाकर अच्छी प्रकार से मथ लें। अब इस बस्ति द्रव को बस्तिपुटक में भरकर निरूह बस्ति के रूप में प्रयोग करें। निरूह बस्ति देने के बाद बस्ति के वापस लौट आने पर, अर्थात् सम्यक् रूप से मलादि के निर्हरित हो जाने पर रोगी को गुनगुने जल से स्नान कराकर जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ शाली या साठी चावल का भात खाने को दें। इसके बाद निकुम्भ (दन्तीमूल) के क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

बलादि निरूह बस्ति– बला की जड़, रास्ना, मदनफल, बिल्व, चित्रकमूल, दोनों प्रकार के पञ्चमूल- १. बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी [बृहत् पञ्चमूल]। २. शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी, गोखरू [लघु पञ्चमूल], अमलतास की गुद्दी, यव तथा कुलथी; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें तथा इसे दो आढ़क जल में पकाकर क्वाथ बना लें। इस क्वाथ में इन्द्रयव, कूठ, यष्टीमधु, पिप्पली, वचा, सौंफ, मदनफल तथा रसवत के कल्क (कलिङ्गादि द्रव्यों के कल्क, जिसका विवेचन पूर्व में श्लोक नं. २३ के अन्तर्गत किया गया है।), तैल, गुड़, घृत एवं सैन्धव नमक मिलाकर मथानी से मथ दें। अब इस बस्तिद्रव को बस्तिपुटक में भरकर सदा रोगी रहने वाले व्यक्ति के दोषों के अवरोध को दूर करने के लिए बस्ति दें। इसके प्रयोग से आतुर के बल (Physical strength) एवं वर्ण (Complexion) की वृद्धि होती है। बस्ति के उचित रूप से वापस लौट आने पर रोगी को मांसरस युक्त भोजन कराकर यष्टीमधु, मदनफल, बिल्व की छाल अथवा सौंफ के कल्क व क्वाथ द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें।

Scanned by CamScanner

शिशुओं (बालकों) तथा वृद्ध पुरुषों में बस्ति का प्रयोग– शिशुओं में जीवनीय गण की औषधियों (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती एवं यष्टीमधु) के कल्क व क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति तथा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ में बिना नमक मिलाये, निरूह बस्ति दें। शिशु तथा वृद्ध पुरुषों के शरीर एवं बल की शीघ्र वृद्धि हेतु निरूह बस्ति से श्रेष्ठ कोई अन्य चिकित्सा विधि नहीं है।

शिशुओं में निर्दिष्ट निरूह व अनुवासन बस्ति का उपयोग वृद्ध पुरुषों में भी करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'पुनर्नवेत्यादि' के द्वारा सदा रोगी रहने वाले पुरुषों में दी जाने वाली निरूह बस्ति का वर्णन किया गया है। निकुम्भा= दन्ती [निकुम्भ Croton polyandrum– M.M. Williams]। **महान्ति मूलानि पञ्चेति–** बड़े मूल वाले पाँच द्रव्य, अर्थात् बिल्वादि पञ्चमूल। निकुम्भतैलेनेति– निकुम्भ (दन्ती) की जड़ के क्वाथ एवं कल्क द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति दें। बलादि निरूह बस्ति हेतु बलादि द्रव्यों के क्वाथ में कलिङ्गादि द्रव्यों के कल्क को मिलाकर बस्ति तैयार करें। कलिङ्गादि द्रव्यों का विवेचन श्लोक नं. २३ में 'कलिङ्गकुष्ठे मधुकं चेत्यादि' के द्वारा किया गया है। **फलेन बिल्वेन शताह्वयाऽपि वेति–** इससे यहाँ मदनफल, बिल्व अथवा शताह्वा (सौंफ) के कल्क एवं क्वाथ द्वारा साधित तीन प्रकार के तैलों का ग्रहण किया गया है, जिनका प्रयोग अनुवासन बस्ति के रूप में करना चाहिए। [मदनफल तैल, बिल्व तैल एवं शताह्वा तैल (सौंफ साधित तैल) का प्रयोग अनुवासन हेतु करें।]

सजीवनीयस्तु रसोऽनुवासन इति– जीवनीय गण की औषधियों के कषाय (क्वाथ) द्वारा साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग शिशुओं तथा वृद्ध पुरुषों के बल व वर्ण की वृद्धि हेतु करें। इसी प्रकार जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ में बिना नमक मिलाये तैयार की गयी निरूह बस्ति का प्रयोग शिशुओं में करना चाहिए तथा इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ से साधित तैल की अनुवासन बस्ति का प्रयोग करें। 'न चान्यदित्यादि' के द्वारा बालक एवं वृद्ध पुरुषों में बस्ति की उपयोगिता को स्पष्ट किया गया है। परमिति= श्रेष्ठम् (श्रेष्ठ)।

न चान्यदाश्वङ्गबलाभिवर्धनम्– निरूह बस्ति के समान उत्तम कोई अन्य चिकित्सा नहीं है जो बालक तथा वृद्ध पुरुषों में शीघ्रता पूर्वक शरीर एवं बल की वृद्धि करता हो। ॥३१-३६॥

तत्र श्लोकः–

फलकर्म बस्तिवरता नेत्रं यद्वस्तयो गवादीनाम् । सततातुराश्च दिष्टाः फलमात्रायां हितं चैषाम् ॥३७॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने फलमात्रासिद्धिर्नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस फलमात्रासिद्धि नामक अध्याय में भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अधोलिखित विषयों का विवेचन किया है–

- → विभिन्न प्रकार के जीमूतक आदि फलों के कर्म।
- → फलवस्तियों में श्रेष्ठ बस्ति।
- → गाय आदि पशुओं में प्रयुक्त होने वाली बस्तिनेत्र का प्रमाण।
- → गाय आदि पशुओं में प्रयुक्त होने वाली बस्ति द्रव्य की मात्रा।
- → हमेशा रोगी रहने वाले व्यक्ति, उनके हेतु एवं चिकित्सा।

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में फलमात्रासिद्धि नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– 'फलकर्मेत्यादि' के द्वारा अध्यायोक्त विषयों के उपसंहार को स्पष्ट किया गया है। व्यक्तः= स्पष्ट होना।

इस प्रकार श्री चक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में फलमात्रासिद्धि नामक एकादश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई। ॥११॥

Scanned by CamScanner

द्वादशोऽध्यायः।

अथात उत्तरबस्तिसिद्धिं व्याख्यास्यामः ।।१।।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ।।२।।

अब आगे उत्तरबस्तिसिद्धि अध्याय की व्याख्या करेंगे, ऐसा ही भगवान् आत्रेय ने कहा था।

चक्रपाणि– पारिशेष्यादेवोत्तरबस्तिसिद्धिरभिधीयते– अन्तिम अध्याय होने से अन्त में उत्तरबस्तिसिद्धि अध्याय का अभिधान किया जा रहा है।

उत्तराणां श्रेष्ठानां बस्तीनां सिद्धिरुत्तरबस्तिसिद्धिः– उत्तर का अभिप्राय श्रेष्ठ से है, अतः श्रेष्ठ बस्तियों की सिद्धि को बताने वाला अध्याय 'उत्तरबस्तिसिद्धि' है। अर्थात् इस अध्याय में उत्तम बस्ति योगों के सफलतापूर्वक किये जाने वाले प्रयोग को बताया गया है। ।।१-२।।

अथ खल्वातुरं वैद्यः संशुद्धं वमनादिभिः । दुर्बलं कृशमल्पाग्निं मुक्तसंधानबन्धनम् ।।३।।
निर्हृतानिलविण्मूत्रकफपित्तं कृशाशयम् । शून्यदेहं प्रतीकारासहिष्णुं परिपालयेत् ।।४।।
यथाऽण्डं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथैव च । गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ।।५।।

संशोधित व्यक्ति की रक्षा की विधि–

१. वमन-विरेचन द्वारा जिनका शरीर शुद्ध हो ।

२. दुर्बल, कृश, ढीले सन्धिबन्धन वाले तथा मन्दाग्नि वाले।

३. वायु, पुरीष, मूत्र, कफ व पित्त के निकल जाने से जिनके आशय (मलाशय, मूत्राशय, पक्वाशय व पित्ताशय) कृश (खाली) हो गये हों।

४. दोषादि के निर्हरित हो जाने के कारण जिनका शरीर शून्य हो गया हो।

इस प्रकार संशोधन के प्रयोग से व्यक्ति का शरीर शून्य (दोष रहित) एवं दुर्बल हो जाने से किसी भी प्रकार की चिकित्सा को सहने में समर्थ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति की रक्षा निम्नलिखित प्रकार से करनी चाहिए–

→ जिस प्रकार एक पक्षी अपने तरुण अण्डे की रक्षा करता है।

→ अथवा जिस प्रकार तैल से भरे हुए पात्र की रक्षा की जाती है।

→ अथवा जिस प्रकार एक चरवाहा (गाय चराने वाला) दण्ड लेकर गाय की रक्षा करता है।

उसी प्रकार एक चिकित्सक को संशोधित शरीर वाले पुरुष की रक्षा सभी प्रकार के अपचारों से सावधानी पूर्वक करनी चाहिए।

चक्रपाणि– यहाँ वर्णित वस्तियों का प्रयोग उन व्याधि समूहों की सम्यक् चिकित्सा हेतु किया गया है जो मिथ्या आहार-विहार के द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसे यहाँ 'अथ खल्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। मिथ्योपचारजनित व्याधि का अभिप्राय वमनादि संशोधन के बाद रोगी के उचित आहार-विहार के पालन न करने से होने वाली व्याधियों से है।

वमनादिभिरिति– जो रोगी वमन, विरेचन, निरूहबस्ति अथवा शिरोविरेचन द्वारा शुद्ध हो, किन्तु निरूह एवं शिरोविरेचन में पेया आदि का प्रयोग नहीं कराया जाता। अर्थात् पेयादि संसर्जनक्रम का प्रयोग मात्र वमन व विरेचन प्रक्रिया के बाद कराया जाता है। इसलिए यह क्रम (पेयादि क्रम) शिरोविरेचन एवं निरूह बस्ति में नहीं पालन किया जाता। **मुक्तसंधानबन्धनमिति–** संधिबन्धन जिसके ढीले हो गये हों। **कृशाशयमिति–** आशय का दोषों से रहित होना। आशय से यहाँ पक्वाशय, मलाशय, अथवा आमाशय अर्थ गृहीत है, इनसे दोषों का निर्हरित हो जाना 'कृश आशय' कहलाता है। **प्रतिकारासहिष्णुमिति–** ऊँचे स्वर में बोलने आदि क्रियाओं को करने में सक्षम (समर्थ) होना, अथवा वमन आदि कर्मों के प्रयोग को न सह पाना।

परिपालयेत् सर्वस्मादपचारत इति सम्बन्धः– कृश, दुर्बल, शून्य देह आदि के साथ 'अपचारत' शब्द जुड़ा हुआ है। अर्थात् इन सभी रोगियों की रक्षा अपथ्य आहार-विहार से करनी चाहिए।

तरुणाण्डादिदृष्टान्तत्रयाभिधानं कस्यचित् किंचित् प्रसिद्धं भविष्यतीत्यभिप्रायेण– भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग दृष्टान्त प्रसिद्ध होने से यहाँ तीन दृष्टान्तों का अभिधान किया गया है।

Scanned by CamScanner

विशेष (Comments)– वमनादिभिः संशुद्धमातुरं दुर्बलादीन् च वैद्यः प्रतिपालयेत्– वमनादि द्वारा संशुद्ध रोगी, दुर्बल, मन्दाग्नि वाले, ढीले सन्धिबन्धन वाले, आशय शून्य रोगी एवं शून्य देह वाले पुरुषों की रक्षा अपथ्य आहार-विहार से करनी चाहिए। अर्थात् इनको अहितकर आहार-विहार का प्रयोग नहीं कराना चाहिए। यहाँ 'यथैव इत्यादि' के द्वारा किस प्रकार इनका शरीर विशेष रक्षणीय है, यह स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार एक युवा पुरुष तैल से पूर्ण घड़े की रक्षा सावधानी पूर्वक करता है, अथवा जितनी सावधानी से एक ग्वाला (गोपाल- गाय चराने वाला) अपने हाथ में लाठी (दण्ड) लेकर गाय की रक्षा करता है उसी प्रकार उतनी ही सावधानी पूर्वक इन आतुरों की रक्षा अपचारों से करनी चाहिए। नरेन्द्रनाथ सेन एवं बलाइचन्द्र सेन संपादित चरक पाठ में तीन दृष्टान्तों का वर्णन न होकर दो का ही किया गया है। यथा– "यथैव तरुणं पूर्णं तैलपात्रं तथैव च। गोपाल इव दण्डी गाः सर्वस्मादपचारतः ॥"

–जल्पकल्पतरुटीका का हिन्दी अनुवाद।

अग्निसंयुक्षणार्थं तु पूर्वं पेयादिना भिषक्। रसोत्तरेणोपचरेत् क्रमेण क्रमकोविदः ॥६॥
स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानि ततोऽम्ललवणौ रसौ। स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः ॥७॥
अन्योऽन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः। व्यत्यासादुपयोगेन प्रकृतिं गमयेद्भिषक् ॥८॥

अग्नि की रक्षा हेतु संसर्जन क्रम का प्रयोग– संसर्जन क्रम के विशेषज्ञ चिकित्सक को चाहिए कि जिन पुरुषों का शरीर वमनादि द्वारा शुद्ध हो गया है, उनकी अग्नि की वृद्धि हेतु सर्वप्रथम पेयादि का प्रयोग करते हुए व अन्त में मांसरस का सेवन कराते हुए रोगी की रक्षा करे। अर्थात् वमनादि द्वारा शुद्ध पुरुष में अग्नि की वृद्धि हेतु पहले पेयादि क्रम का पालन करावें तथा अन्त में मांसरस का सेवन करावें।

संशोधन के पश्चात् रसों के प्रयोग का क्रम– १. संशोधन के पश्चात् रोगी को उसके मन के अनुसार अर्थात् उसे जो प्रिय हो स्निग्ध, अम्ल एवं मधुर रस युक्त आहार खाने के लिए देना चाहिए।

२. स्निग्ध, अम्ल एवं मधुर रस युक्त आहार देने के बाद अम्ल एवं लवण रस युक्त आहार खिलाना चाहिए।

३. अम्ल एवं लवण रस युक्त आहार सेवन कराने के बाद मधुर एवं तिक्त रस युक्त आहार सेवन करावें।

४. अन्त में कषाय एवं कटु रस गुक्त आहार का उपयोग करें।

आतुर को प्राकृत अवस्था में लाना– परस्पर विरुद्ध रसों के प्रयोग से, यथा– स्निग्ध के बाद रूक्ष तथा रुक्ष के बाद स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना। इन द्रव्यों का व्यत्यास क्रम में प्रयोग करके चिकित्सक रोगी को स्वाभाविक (सामान्य) स्थिति में लावे।

व्यत्यास क्रम= अदलबदल कर प्रयोग करना [व्यत्यास= inverted order or alternately]

चक्रपाणि– रसोत्तरेणोपचरेदित्यत्र रसः मांसरसरूप उत्तरे यस्मिन् तेन पेयादिना रसोत्तरेण क्रमेण– रस से यहाँ मांसरस का ग्रहण किया गया है। पेयादि संसर्जनक्रम के अन्त में आतुर को मांसरस का सेवन कराना चाहिए। अथवा वमन व विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि हो जाने के बाद पेयादि क्रम का सेवन करावें, अथवा यदि निरूह बस्ति द्वारा शरीर को शुद्ध किया गया है तब मांसरस के साथ शाठी एवं शालि चावल के भात के सेवन का विधान है। निरूह बस्ति द्वारा शरीर के शुद्ध होने पर रोगी में अल्प रूप में अग्निमांद्यता आती है, क्योंकि इसमें दोषों का निस्सरण वमनादि की तरह नहीं होता तथा वैसी शरीर में क्षुब्धता भी नहीं आती। अतः अल्प रूप में उत्पन्न अग्निमांद्यता का विचार करते हुए रसादि का ही क्रम निर्धारित किया गया है, जिसका प्रतिपादन पूर्व में किया जा चुका है।

किंवा रसाभ्यासक्रम उत्तरकालं यस्मिन् तेन् पेयादिना रसोत्तरेण– रसाभ्यास क्रम- वह क्रम जिसके अन्त में मांसरस का प्रयोग हो, उससे पेयादि संसर्जन क्रम का ही ग्रहण होता है, क्योंकि इसी के अन्त में कृत एवं अकृत मांसरस के प्रयोग का विधान है। रसों के अभ्यास क्रम को ही यहाँ– **'स्निग्धाम्लस्वादुहृद्यानीत्यादि'** के द्वारा स्पष्ट किया गया है। संसर्जन क्रम कराने के बाद अथवा पेयादि क्रम के पालन के बाद जब रोगी में विरेचनादि कर्म न कराना हो तब संशोधन युक्त शरीर को स्वाभाविक भोजन पर लाने के लिए तथा शारीरिक बल के आप्यायन (पुष्टि) हेतु यह रसाभ्यास क्रम बताया गया है, ऐसा जानना चाहिए। अन्य आचार्य पेयादि क्रम में ही आहाररस के संस्कार हेतु स्निग्ध, अम्ल आदि द्रव्यों से संस्कारित करने के क्रम को कहते हैं। अर्थात् पेयादि क्रम के अन्तर्गत पेया, विलेपी आदि द्रव्यों को स्निग्ध अम्लादि रस प्रधान द्रव्यों से संस्कारित कर प्रयोग करने का निर्देश देते हैं। सर्वप्रथम पक्वाशय स्थित वात दोष के प्रशमन के लिए अम्ल एवं मधुर रस वाले द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। अर्थात् पेया को अम्ल एवं मधुर रस युक्त द्रव्यों के क्वाथ या स्वरस आदि से संस्कारित करना चाहिए, तत्पश्चात् पक्वाशय के ऊपर स्थित अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए अम्ल एवं लवण रस वाले द्रव्यों से संस्कारित अन्न का सेवन कराना चाहिए। इसके बाद पित्त के प्रशमन हेतु स्वादु एवं तिक्त रस वाले द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए तथा अन्त में पित्त के ऊर्ध्व भाग में स्थित कफ के प्रशमन के लिए कषाय व कटु रस प्रधान आहार द्रव्यों का सेवन करना चाहिए। यहाँ भी जो दो रस दोषों के विपरीत गुण वाले होते हैं। उन दोनों को आपस में मिश्रित कर प्रयोग करना चाहिए। इन चार रसों के युग्म का प्रयोग पेयादि क्रम में ही करना चाहिए। अर्थात् पेयादि को तैयार करने में इन रसों का प्रयोग करना चाहिए–

Scanned by CamScanner

१. अम्ल + मधुर रस– पक्वाशयस्थ वात दोष प्रशमनार्थ।

२. अम्ल + लवण– छोटी आंत्र व ग्रहणी स्थित अग्नि के संधुक्षणार्थ

३. स्वादु (मधुर) + तिक्त– पित्त के प्रशमन हेतु।

४. कषाय + कटु रस– आमाशय स्थित कफ के प्रशमन हेतु।

इस प्रकार पेया विलेपी आदि के निर्माण हेतु उपरोक्त रस वाले द्रव्यों का प्रयोग करते हुए बारह अन्न काल में संसर्जन क्रम को पूरा करते हुए सभी रसों का प्रयोग कराना चाहिए। अर्थात् सभी रसों का प्रयोग निर्धारित अन्न कालों में पूर्ण कर लेना चाहिए।

अन्योन्यप्रत्यनीकानामिति परस्परमभिभावकानाम्– परस्पर विरुद्ध गुण वाले रसों का प्रयोग करना। **व्यत्यासादुपयोजयेदिति**– एक युग्म वाले रस के सेवन के बाद दूसरे युग्म वाले रस का प्रयोग करना। अर्थात् रसों के युग्म को परस्पर बदल-बदल कर प्रयोग करना। **प्रकृतिं गमयेदिति**– पूर्व निर्दिष्ट रसों के चारों युग्मों का क्रमशः प्रयोग करते हुए रोगी को सामान्य भोजन पर लाना। **'स्निग्धरूक्षयोरिति' के** द्वारा प्रकारान्तर से रसों के अभ्यास क्रम को स्पष्ट किया गया है। **प्रकारान्तर**– एक ही बात को भिन्न तकीके से कहना प्रकारान्तर कहलाता है। अर्थात् पूर्व वर्णित रसाभ्यास के क्रम को ही यहाँ अन्य तरीके से कहा गया है।

स्निग्धरसमुपयुज्य रूक्षो योज्यः, रूक्षं वोपयुज्य स्निग्ध इत्यनेन क्रमेण प्रकृति भोजनं गमयेदित्यर्थः– स्निग्ध रस युक्त अन्न के (पेयादि के) सेवन के बाद रूक्ष रस युक्त आहार द्रव्यों का सेवन करना तथा रूक्ष आहार के पश्चात् स्निग्ध आहार का सेवन करना। इस प्रकार आहार के निर्धारित क्रम का सेवन कराते हुए रोगी को उसके स्वाभाविक भोजन पर लाना चाहिए।

स्निग्धरूक्षौ चात्रोदाहरणार्थमुपात्तौ, तेन गुरुलघ्वादियुग्मरसव्यत्यासाभ्यासोऽप्यत्र बोद्धव्यः– स्निग्ध व रूक्ष आहार क्रम यहाँ मात्र उदाहरण के रूप में स्वीकार किये गये हैं। उसी से गुरु लघ्वादि (लघु आदि) युग्म रसों के व्यत्यास (अदल-बदल कर) क्रम के अभ्यास का भी ग्रहण होता है, ऐसा समझना चाहिए। किंवा 'कषायकटुकौ तत इति'– अथवा 'कषाय कटुकौ तत इति' के द्वारा युग्म रसों के अभ्यास को दर्शाया गया है।

'अन्योन्यप्रत्यनीकानामित्यादि' के द्वारा एक दूसरे के विपरीत रस वाले युग्मों का व्यत्यास क्रम (अदल-बदल कर– Alternately or inverted order) में अभ्यास करना बताया गया है। ॥६-८॥

सर्वक्षमो ह्यसंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेन्द्रियः । बलवान् सत्त्वसंपन्नो विज्ञेयः प्रकृतिं गतः ॥९॥

प्रकृति प्राप्त पुरुष के लक्षण– संसर्जन क्रम के सेवन के बाद, अर्थात् पेयादि के सेवनोपरान्त जब रोगी में अधोलिखित लक्षण मिलने लगें तब यह समझ लेना चाहिए कि वह अपने स्वाभाविक अवस्था में आ गया है, अर्थात् अपने पूर्व बल को प्राप्त कर लिया है–

१. **सर्वक्षमो**– सभी प्रकार के आहार द्रव्यों को पचाने में समर्थ होना। अर्थात् रोगी सभी रस युक्त आहार द्रव्यों का सेवन करने लगता है।

२. **ह्यसंसर्गो**– मल मूत्रादि के वेगों का न रुकना।

३. **रति युक्त होना**– (पूर्ववत् अत्यधिक आनन्दित रहना– Restoration of the Zest for Life) अर्थात् शरीर का पुनः प्रसन्न हो उठना।

४. **स्थिरेन्द्रियः**– ज्ञानेन्द्रियों, यथा– चक्षुरेन्द्रिय आदि का अपने कार्यों को उचित रूप में करना, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण उचित रूप में करने लगती हैं।

५. रोगी के शारीरिक बल का बढ़ना, अर्थात् रोगी अपने को स्वस्थ अवस्था जैसा शक्तिशाली अनुभव करने लगता है।

६. मानसिक बल (Will power) का बढ़ना।

चक्रपाणि– पेयादि क्रम में रसों के अभ्यास से उत्पन्न आरोग्यता के लक्षणों को यहाँ **'सर्वक्षम इत्यादि'** के द्वारा स्पष्ट किया गया है। **सर्वक्षम इति सर्वरसाभ्यासक्षमः**– सभी रसयुक्त आहार द्रव्यों का सेवन करने में सक्षम होना। अर्थात् व्यक्ति सभी प्रकार के आहार द्रव्यों को पचाने में समर्थ हो जाता है।

असंसर्ग इति असक्तवेगः– मल मूत्रादि के वेगों का अवरुद्ध न होना, अर्थात् वात, मूत्र व पुरीषादि की प्रवृत्ति का उचित रूप में होना। अथवा असंसर्ग के स्थान पर 'निरासङ्ग' पाठ प्राप्त होता है। **निरासङ्गः प्रतिनियतविषयापराहतः सर्वचेष्टाक्षमः**– प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषयों को ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है। अर्थात् व्यक्ति सभी प्रकार के कार्यों को करने में सक्षम होता है। ॥९॥

Scanned by CamScanner

एतां प्रकृतिमप्राप्तः सर्ववर्ज्यानि वर्जयेत् । महादोषकराण्यष्टाविमानि तु विशेषतः ।।१०।।
उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमविचङ्क्रमणासने । अजीर्णाहितभोज्ये च दिवास्वप्नं समैथुनम् ।।११।।
तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधोमध्यपीडामदोषजाः । श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयः स्युर्यथाक्रमम् ।।१२।।

महादोषकर भावों के त्याग का निर्देश– संशोधनोपरान्त संसर्जन क्रम (पेयादि क्रम) के प्रयोग से व्यक्ति जब तक अपनी सामान्य अवस्था (प्रकृतिभाव= पूर्व की स्वस्थ अवस्था) को न प्राप्त कर ले तब तक उसे सभी प्रकार के त्याज्य (त्यागने योग्य) आहार-विहार का सेवन नहीं करना चाहिए।

विशेष रूप से महादोषों को उत्पन्न करने वाले इन आठ भावों का त्याग करना चाहिए–

१. उच्च स्वर में बोलना (Loud speech)।

२. रथ आदि क्षोभ उत्पन्न करने वाली सवारियों पर बैठना।

३. अत्यधिक चङ्क्रमण (टहलना) [Excessive walking]

४. अति आसन (एक स्थान पर देरी तक बैठे रहना– Constant sitting)

५. अजीर्ण भोजन करना (सम्यक् रूप से न पके हुए आहार का सेवन करना) अथवा पूर्वकृत आहार के बिना जीर्ण हुए पुनः भोजन करना।

६. अहित भोजन (अहितकर आहार द्रव्यों का सेवन करना– intake of unwholesome food)

७. दिवा स्वप्न (दिन में शयन करना– Sleep during day time)

८. मैथुन करना (Sexual intercourse)

ये आठ महादोषकर भाव होते हैं।

वर्ज्य आठ भावों के सेवन से होने वाली हानियाँ– यदि उपरोक्त वर्ज्य भावों का रोगी सेवन करता है तब उसे क्रमशः अधोलिखित आठ दोष उत्पन्न हो जाते हैं–

→ उच्च स्वर में बोलने से शरीर के ऊर्ध्व भाग में पीड़ा उत्पन्न हो जाती है।

→ रथ आदि क्षोभ को उत्पन्न करने वाले सवारियों पर बैठने से सम्पूर्ण शरीर में वेदना होने लगती है।

→ अत्यधिक पैदल चलने अथवा दूर तक टहलने से शरीर के निचले भाग में पीड़ा होती है।

→ एक ही स्थिति में अधिक बैठने से शरीर के मध्य भाग में पीड़ा होती है।

→ अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से आम दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा आमज व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है।

→ अहितकर भोजन करने से वातादि दोष प्रकुपित हो जाते हैं।

→ दिन में सोने से कफज विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

→ मैथुन करने से धातुक्षय जन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

चक्रपाणि– 'तज्जा' इत्यादि के द्वारा क्रमानुसार उच्च स्वर में बोलने आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले ऊर्ध्व शरीर में पीड़ा आदि व्याधियों का ग्रहण किया गया है, अर्थात् क्रमशः आठ कारणों से आठ दोष उत्पन्न होते हैं।

१. उच्चैर्भाष्यादूर्ध्वदेहे पीडा– उच्च स्वर में बोलने से शरीर के ऊपरी भागों में पीड़ा (Pain) उत्पन्न होती है।

२. रथक्षोभात् सर्वदेहपीडा– रथ के क्षोभ से (हिलने डुलने से अथवा jerk आदि लगने से) सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा का उत्पन्न होना।

३. अतिचङ्क्रमणादधः पीडा– अत्यधिक टहलने से शरीर के नीचे के भाग में पीड़ा का होना, अर्थात् पैरों में दर्द होने लगता है।

४. अत्यासनाद्देहमध्यपीडा– अत्यधिक देर तक बैठे रहने से शरीर के मध्य भाग उदर, पृष्ठ (पीठ) आदि में पीड़ा का होना।

५. अजीर्णभोजनेन आमजाः– अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से आम जन्य व्याधियों का उत्पन्न होना अथवा आम की वृद्धि होना।

Scanned by CamScanner

६. **अहितभोजनेन दोषजाः–** अहितकर भोजन करने से वातादि दोष प्रकुपित होते हैं।

७. **दिवास्वप्नेन श्लेष्मजाः–** दिन में सोने से कफज व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं ।

८. **मैथुनेन क्षयजा इति–** मैथुन से क्षयजन्य व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। ॥१०-१२॥

तेषां विस्तरतो लिङ्गमेकैकस्य च भेषजम् । यथावत्संप्रवक्ष्यामि सिद्धान् बस्तींश्च यापनान् ।।१३।।

तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां शिरस्तापशङ्खकर्णनिस्तोदश्रोत्रोपरोधमुखतालुकण्ठशोषतैमिर्यपिपासाज्वरतमकहनुग्रहमन्यास्तम्भनिष्ठीवनोरः-पार्श्वशूलस्वरभेदहिक्काश्वासादयः स्युः (१);

रथक्षोभात् संधिपर्वशैथिल्यहनुनासाकर्णशिरःशूलतोदकुक्षिक्षोभाटोपान्त्रकूजनाध्मानहृदयेन्द्रियोपरोधस्फिक्पार्श्ववंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदना-संधिस्कन्यग्रीवादौर्बल्याङ्गाभितापपादशोफप्रस्वापहर्षणादयः (२);

अतिचङ्क्रमणात् पादजङ्घोरुजानुवङ्क्षणश्रोणीपृष्ठशूलसक्थिसादनिस्तोदपिण्डिकोद्वेष्टनाङ्गमर्दासाभितापसिराध्मनीहर्षश्वासकासादयः (३);

अत्यासनाद्रथक्षोभजाः स्फिक्पार्श्ववङ्क्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः (४);

अजीर्णाध्यशनाभ्यां तु मुखशोषाध्मानशूलनिस्तोदपिपासागात्रसादच्छर्द्यतीसारमूर्च्छाज्वरप्रवाहणामविषादयः (५);

विषमाहिताशनाभ्यामनन्नाभिलाषदौर्बल्यवैवर्ण्यकण्डूपामागात्रावसादवातादिप्रकोपजाश्च ग्रहण्यर्शोविकारादयः (६);

दिवास्वप्नादरोचकाविपाकाग्निनाशस्तैमित्यपाण्डुत्वकण्डूपामादाहच्छर्द्यङ्गमर्दहृत्स्तम्भजाड्यतन्द्रानिद्राप्रसङ्गग्रन्थिजन्मदौर्बल्यरक्त-मूत्राक्षितातालुलेपाः (७);

व्यवायादाशुबलनाशोरुसादशिरोबस्तिगुदमेढ्रवंक्षणोरुजानुजङ्घापादशूलहृदयस्पन्दननेत्रपीडाङ्गशैथिल्यशुक्रमार्गशोणितागमनकासश्वास-शोणितष्ठीवनस्वरावसादकटीदौर्बल्यैकाङ्गसर्वाङ्गरोगमुष्कश्वयथुवातवर्चोमूत्रसङ्गशुक्रविसर्गजाड्यवेपथुबाधिर्यविषादादयः स्युः; अवलुप्यत इव गुदः, ताड्यत इव मेढ्रम्, अवसीदतीव मनो, वेपते हृदयं, पीड्यन्ते सन्धयः, तमः प्रवेश्यत इव च (८);

इत्येवमेभिरष्टभिरपचारैरेते प्रादुर्भवन्त्युपद्रवाः ।।१४।।

महादोषकर भावों से उत्पन्न होने वाले रोग एवं उनकी चिकित्सा– पूर्व वर्णित आठ महादोषकर भावों में क्रमशः एक-एक भाव से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ तथा उनकी चिकित्सा का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है, इसके साथ ही यहाँ सिद्ध यापन बस्तियों का भी उचित रूप में अभिधान किया जायेगा।

१. उच्च आवाज में अथवा अधिक बोलने से होने वाली व्याधियाँ–

(क) सिर में ताप का होना (Headache)

(ख) शङ्ख एवं कर्ण प्रदेश में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना।

(ग) श्रोत्रेन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय) का अवरुद्ध होना (Auditory disfunction or deafness)

(घ) मुख, तालु एवं कण्ठ का सूखना अर्थात् मुखशोष (dryness of the mouth), कण्ठशोष (Dryness of the throat) एवं तालुशोष (Dryness of the palate) का होना।

(ङ) आँखों के सामने अंधकार छा जाना (तिमिर)

(च) पिपासा (Thirst), ज्वर (Fever), तमक श्वास, हनुग्रह (Stiffness of the jaws), मन्यास्तम्भ (Stiffness of the neck), निष्ठीवन (मुख से लार का निकलना-Ptyalism), ऊरःशूल (Pain in the chest) तथा पार्श्वशूल (Pain in the sides of chest) का होना।

(छ) स्वरभेद (Hoarseness of the voice) एवं श्वास (Asthma) आदि व्याधियों का होना।

२. रथ आदि के क्षोभ से होने वाली व्याधियाँ– जब व्यक्ति तांगा (एक प्रकार की दुपहिया गाड़ी), रथ, घोड़े आदि की सवारी करता है तब इनके द्वारा शरीर के क्षुब्ध होने से उसमें निम्नलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, यथा–

क. छोटी एवं बड़ी संधियों का शिथिल होना

ख. हनु, नासिका, कर्ण एवं सिर में पीड़ा का होना अथवा सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना।

ग. कुक्षि में क्षोभ का होना (Irritation of the gastro intestinal tract) तथा आटोप (Flatulence- an uncomfortable feeling caused by having too much gas in the stomach- आमाशय में गैस के भर जाने से उदर में पीड़ा का होना।)

घ. आंत्रकूंजन– आंतों में गुड़गुड़ाहट का होना (Gurgling noise in intestine) एवं आंत्र में गैस भर जाने से उदर का फूलना।

Scanned by CamScanner

ङ. हृदय व इन्द्रिय का अवरुद्ध होना– हृदय की गति का अवरुद्ध होना तथा इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होना।

च. स्फिक् (Hip– the joint at the top of the leg), पार्श्व (दोनों पार्श्व– Sides of the chest), वंक्षण (Groin or pubic and iliac region or A part of the body where the legs join at the top including the area around genitals), वृषण (Scrotum-अण्डकोष), कटि (कमर) एवं पीठ में पीड़ा का होना।

छ. सन्धियों, कन्धे एवं ग्रीवा में दुर्बलता का होना।

ज. हाथ व पैर में जलन का होना (Burning sensation in limbs).

झ. पैरों में शोथ का होना, शून्यता (Numbness) एवं पादहर्ष (पैरों में झनझनाहट) का होना, आदि।

३. अति चङ्क्रमण से होने वाली व्याधियाँ– अत्यधिक टहलने से पुरुष अधोलिखित व्याधियों से आक्रान्त हो जाता है–

क. पाद (feet), जङ्घा (Calf region), ऊरु (thigh), जानु (Knee joint), वंक्षण (Groin region), श्रोणी (Waist– The area around the middle of the body between ribs and hips) तथा पृष्ठ (Back-पीठ) में शूल का होना।

ख. सक्थिसाद एवं सक्थितोद का होना– ऊरु (thighs) का शिथिल होना (काम न कर पाना) तथा उसमे सूई चुभाने जैसी पीड़ा का होना। [Asthenia and pricking pain in thighs.]

ग. पिण्डिकोद्वेष्टन (पिण्डलियों में ऐंठन का होना)।

घ. सम्पूर्ण शरीर में मर्दनवत् पीड़ा का होना।

ङ. अंसप्रदेश में जलन का होना (Burning sensation in the shoulder region.)।

च. सिराहर्ष एवं धमनीहर्ष (Swelling of the veins and arteries)।

छ. श्वास (Asthma) एवं कास (cough) आदि।

४. एक ही स्थिति में अधिक देर तक बैठने के कारण रथ क्षोभ से होने वाले रोग– एक ही स्थिति में अधिक देर तक बैठने से व्यक्ति को रथ क्षोभ से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ, यथा– स्फिक् (Hip), पार्श्व (Sides of the chest), वंक्षण (Groin), वृषण (Scrotum), कटि (कमर) एवं पृष्ठ (पीठ- Back) में पीड़ा उत्पन्न हो जाती है।

५. अजीर्ण भोजन एवं अध्यशन से होने वाले रोग– अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से अथवा अध्यशन की अवस्था (पूर्व के भोजन के बिना पचे ही पुनः भोजन करना अध्यशन कहलाता है।) में भोजन करने पर आतुर में अधोलिखित विकार उत्पन्न हो जाते हैं– मुख का सूखना (Dryness of mouth), आध्मान (वायु के भर जाने से उदर का फूलना-an uncomfortable feeling caused by having to much gas in the stomach), उदरशूल का होना (Colic pain), उदर में सूई चुभोने जैसी पीड़ा का होना, प्यास का लगना (Thirst), गात्रसाद (शरीर में अत्यधिक दुर्बलता का अनुभव होना-Extreme physical weakness), छर्दि (Vomiting), अतिसार (Diarrhoea), मूर्च्छा (Fainting- state of becoming unconscious), ज्वर (Fever), प्रवाहण (मरोड़ के साथ मल का निकलना (Gripping pain) तथा आमविष आदि।

६. विषम तथा अहित भोजन से होने वाले रोग–

- भोजन के प्रति अरुचि का होना।
- शरीर का दुर्बल होना (Weakness), त्वचा का वर्ण बदल जाना (Discolouration of the skin), कण्डू (Itching), पामा (Scabies)।
- गात्रसाद (शरीर का अत्यधिक दुर्बल होना अथवा अत्यधिक कमजोरी महसूस करना)।
- वात आदि दोषों के प्रकोप से होने वाली व्याधियाँ, यथा– ग्रहणी, अर्श आदि विकार

७. दिवा शयन से होने वाले रोग– दिन में सोने से पुरुष में निम्नलिखित विकार उत्पन्न होते हैं–

क. अरुचि (Anorexia), अविपाक (भोजन का उचित रूप से न पचना– Indigestion), अग्निनाश (जाठराग्नि का नाश होना)।

ख. स्तैमित्य (रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शरीर गीले कपड़े से ढक दिया गया है।)

Scanned by CamScanner

ग. पाण्डुरोग (Anaemia), कण्डू (Itching), पामा (Scabies), दाह (शरीर में जलन का होना- burning sensation)।

घ. छर्दि (वमन का होना), अङ्गमर्द (शरीर में टूटने जैसी पीड़ा का होना)।

ङ. हृद् स्तम्भ (हृदय में जकड़ाहट का होना), जाड्यता (जड़ता– अङ्गों का अक्रियाशील होना अथवा क्रियाशीलता में कमी का आना)

च. तन्द्रा (drowsiness), निद्रा का अधिक आना, शरीर में ग्रन्थियों का निकलना।

छ. शारीरिक दुर्बलता का होना (Weakness), मूत्र एवं नेत्रों का लाल वर्ण का होना।

ज. तालुप्रदेश का कफ से लिप्त रहना, आदि।

८. स्त्री-प्रसङ्ग से होने वाली व्याधियाँ– संशोधित व्यक्ति सम्यक् बल प्राप्ति से पूर्व यदि मैथुन में प्रवृत्त होता है तब उसे अधोलिखित विकार उत्पन्न होते हैं–

→ शारीरिक बल का शीघ्र ही नष्ट हो जाना।

→ ऊरु का शिथिल होना (Weakness of the thighs-ऊरुसाद)

→ शिरःशूल (Headache), बस्तिशूल (Pain in Urinary bladder), गुदशूल (गुदा में पीड़ा का होना), मेढ्रशूल (मूत्रेन्द्रिय में वेदना का होना), वंक्षणशूल (Pain in groin)

→ ऊरु (thighs), जानु (Knees-घुटने), जङ्घा (पिण्डली Calf region) तथा पाद (Feet) में पीड़ा का होना।

→ हृद् स्पन्दन (Palpitation of heart- हृदय की धड़कन का बढ़ जाना), आँखों में पीड़ा का होना (नेत्रशूल), अङ्गशैथिल्य (हाथ-पैर का शिथिल होना)

→ शुक्र के मार्ग से रक्त का निकलना, कास (खाँसी का आना), श्वास (Asthma), शोणितष्ठीवन (Hemoptysis)।

→ स्वरावसाद (स्वर का दुर्बल होना या आवाज का न निकल पाना या धीमा होना।)

→ कटि का दुर्बल होना (Weakness of the lumber region), एकाङ्ग एवं सर्वाङ्ग रोग का होना [शरीर के एक अङ्ग का निष्क्रिय होना- एकाङ्ग तथा सम्पूर्ण शरीर का निष्क्रिय होना सर्वांग रोग कहलाता है।– Paralysis of the one part of the body or whole body]

→ अण्डकोष में शोथ का होना, वायु, पुरीष एवं मूत्र का अवरुद्ध हो जाना, शुक्र का अधिक निकलना।

→ जाड्यता (शरीर का जड़ हो जाना– Stiffness), वेपथु (कम्पन- trembling), बाधिर्य (deafness-बहरापन का होना) तथा विषाद (depression) आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

→ गुदा में कर्तनवत् (काटने जैसी) पीड़ा का होना।

→ मूत्रेन्द्रिय में दबाने जैसी पीड़ा का होना।

→ मानसिक अवसाद का होना, हृदय में कम्पन का होना, सन्धिशूल (Joint pain) तथा आँखों के सामने अन्धकार छा जाना।

इस प्रकार इन आठ महादोषों के सेवन से उपरोक्त उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

चक्रपाणि– यहाँ 'उच्चैर्भाष्यादि' के द्वारा आठ महादोषकर भावों का जो वर्णन किया गया है वे स्पष्ट ही हैं आठ महादोषकर भावों के गणना क्रम में अतिभाषित (अधिक बोलने वाला) सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया है। 'उच्चभाष्येण' (उच्च स्वर से बोलने वाले) से इसकी समानता होने के कारण दोनों को यहाँ एक साथ कहा गया है। अर्थात् दोनों हेतुओं से एक ही प्रकार की व्याधि उत्पन्न होती है।

पिण्डिकोद्वेष्टनम् जङ्घापिण्डिकयोरुद्वेष्टनाकारा वेदना– जङ्घा की पिण्डलियों (Calf muscles) में ऐंठने जैसी पीड़ा का होना।
सिराधमनीहर्षः सिराधमन्योरुच्छ्रूल(न)त्वम्– सिरा एवं धमनियों का उभर आना।

रथक्षोभजा इत्युक्ते सन्धिशैथिल्यादीनामपि प्रसक्तिः स्याद्– रथक्षोभ से उत्पन्न होने वाली व्याधियों में विशेष रूप से सन्धिशैथिल्य आदि विकार उत्पन्न होना चाहिए, लेकिन इसके समाधान हेतु (निराकरणार्थ) ही यहाँ 'स्फिक्पार्श्ववृंक्षणवृषणकटीपृष्ठवेदनादयः' शब्द का प्रयोग किया गया है।

Scanned by CamScanner

अजीर्ण एवं अध्यशन दोनों ही 'आम' को उत्पन्न करते हैं, इसलिए अध्यशन का आठ महादोषकर भावों में उल्लेख नहीं किया गया है। अर्थात् अध्यशन का समावेश अजीर्ण में ही कर लिया गया है। इसी प्रकार अहित अशन (अहितकर भोजन) से जो विकार उत्पन्न होते हैं वही विषम भोजन से भी उत्पन्न होते हैं, इसलिए 'विषमाशन' का यहाँ उल्लेख नहीं है। **अवलुप्यत इव छिद्यत इव–** गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना। ।।१३-१४।।

तेषां सिद्धिः–तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्यजानामभ्यङ्गस्वेदोपनाहधूमनस्योपरिभक्तस्नेहपानरसक्षीरादिर्वातहरः सर्वो विधिर्मौनं च (१); रथक्षोभातिचङ्क्रमणात्यासनजानां स्नेहस्वेदादि वातहरं कर्म सर्वं निदानवर्जनं च (२); अजीर्णाध्यशनजानां निरवशेषतश्छर्दनं रूक्षः स्वेदो लङ्घनीयपाचनीयदीपनीयौषधावचारणं च (३); विषमाहिताशनजानां यथास्वं दोषहराः क्रियाः (४); दिवास्वप्नजानां धूमपानलङ्घनवमनशिरोविरेचनव्यायामरूक्षाशनारिष्टदीपनीयौषधोपयोगः प्रघर्षणोन्मर्दनपरिषेचनादिश्च श्लेष्महरः सर्वो विधिः(५); मैथुनजानां जीवनीयसिद्धयोः क्षीरसर्पिषोरुपयोगः, तथा वातहराः स्वेदाभ्यङ्गोपनाहा वृष्याश्चाहाराः स्नेहाः स्नेहविधयो यापनाबस्तयोऽनुवासनं च; मूत्रवैकृतबस्तिशूलेषु चोत्तरबस्तिर्विदारीगन्धादिगणजीवनीयक्षीरसंसिद्धं तैलं स्यात् ।।१५।।

महादोषकर भावों के सेवन से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा

१. उच्च स्वर में बोलने अथवा अधिक बोलने से उत्पन्न विकारों में अधोलिखित वातनाशक विधियों का पालन करना चाहिए–

- अभ्यङ्ग व स्वेदन का प्रयोग।
- उपनाह (उष्ण उपनाह का प्रयोग-Application of hot poultice)।
- धूम एवं नस्य का प्रयोग (Use of smoking and inhalation therapy)।
- भोजन के बाद स्नेहपान कराना।
- मांसरस, क्षीर आदि वातनाशक द्रव्यों का प्रयोग।
- कम बोलना अथवा मौन धारण करना।

२. रथक्षोभ, अति चङ्क्रमण (अत्यधिक पैदल चलना) तथा एक स्थिति में बैठे रहने से उत्पन्न विकारों में वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए, यथा–

- स्नेहन, स्वेदन आदि वातनाशक उपक्रमों का प्रयोग।
- निदान परिवर्जन, अर्थात् जिन हेतुओं के अतिसेवन से विकार उत्पन्न होता है, उसका त्याग करना। (क्षोभक सवारियों पर न बैठना, अत्यधिक पैदन न चलना अथवा एक आसन पर अधिक न बैठना)

३. अजीर्ण एवं अध्यशन से होने वाले विकारों में रोगी को तब तक वमन करावें जब तक कि सम्पूर्ण अपक्व अन्न बाहर न निकल जाय। इसके बाद रूक्ष स्वेदन करावें, तत्पश्चात् लङ्घन, पाचन एवं दीपन औषधियों का प्रयोग करना चाहिए।

४. विषम एवं अहितकर आहार सेवन से उत्पन्न होने वाली व्याधियों में तद्-तद् दोषनाशक उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् व्याधि में जिस दोष की प्रधानता हो उस दोषनाशक चिकित्सा का प्रयोग करना चाहिए।

५. दिन में अधिक शयन से उत्पन्न होने वाले विकारों में निम्नलिखित श्लेष्महर उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिये–

- धूमपान (Smoking therapy)।
- लङ्घन कराना (Fasting)।
- वमन कराना (Emetic therapy)।
- शिरोविरेचन का प्रयोग।
- व्यायाम (Physical exercise)।
- रूक्ष आहार द्रव्यों का प्रयोग।
- अरिष्टों का प्रयोग।

Scanned by CamScanner

- अग्निदीपक औषधियों का सेवन ।
- प्रघर्षण (कफनाशक चूर्णों को शरीर पर रगड़ना) ।
- उन्मर्दन (कफ नाशक उबटन को शरीर पर लगाना) ।
- कफनाशक औषधियों के सुखोष्ण क्वाथ को शरीर पर छिड़कना ।

६. स्त्री प्रसङ्ग से उत्पन्न होने वाली व्याधियों की चिकित्सा हेतु अधोलिखित विधियों का प्रयोग करना चाहिए–

- जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ व कल्क से साधित क्षीर का प्रयोग।
- जीवनीय गण की औषधियों के कल्क, क्वाथ व क्षीर से साधित घृत का प्रयोग।
- वातहर द्रव्यों के क्वाथ आदि से स्वेदन करना, इन्ही द्रव्यों से साधित तैल का अभ्यङ्ग एवं उपनाह (Poultice) का प्रयोग।
- वृष्य आहार द्रव्यों का सेवन। स्नेहपान एवं स्नेहपान की विधियों का पालन करना।
- यापन एवं अनुवासन बस्तियों का प्रयोग।

यदि अति मैथुन के कारण मूत्र विकार (मूत्र कृच्छ्रता- मूत्र त्याग करने में पीड़ा का होना) अथवा बस्ति में शूल हो तब आतुर में विदारीगन्धादिगण की औषधियों अथवा जीवनीय गण की औषधियों के कल्क, क्वाथ व क्षीर से साधित तैल की उत्तरबस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

मैथुन जन्य व्याधियों की चिकित्सा में यापनाबस्ति का प्रयोग हमेशा लाभदायक होता है।

चक्रपाणि– तेषां सिद्धिरिति– उन व्याधियों की चिकित्सा, अर्थात् पूर्व कहे गये आठ महादोषकर भावों के सेवन से उत्पन्न विकारों की चिकित्सा का अभिधान यहाँ किया गया है। **निरवशेषतश्छर्दनमिति–** आमाशयस्थ अजीर्ण अन्न को वमन द्वारा पूर्णतः बाहर निकालना, अर्थात् ऊर्ध्व आमाशय (Stomach) में विद्यमान अपक्व अन्न को वमन द्वारा पूरी तरह से बाहर निकालना, जिससे कुछ भी शेष न रह जाय। अति मैथुन के कारण मूत्र के विकृत होने पर (पाठभेद से मूत्रकृच्छ्रता प्राप्त होता है– 'मूत्रकृच्छ्रबस्तिशूलेषु' इति) अथवा बस्तिशूल के होने पर रोगी को विदारीगन्धादि एवं जीवनीय गण की औषधियों के क्वाथ, कल्क एवं गोदुग्ध द्वारा साधित तेल की **उत्तरबस्ति** का प्रयोग करना चाहिए। ॥१५॥

विशेष (Comments)– १. विदारीगन्धादि से लघुपञ्चमूल के द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, यथा– विदारीगन्धा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेरी) एवं गोखरू।

२. जीवनीय गण या जीवनीय महाकषाय के अन्तर्गत दस द्रव्यों का ग्रहण किया गया है, यथा– जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती तथा यष्टीमधु।

यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः; तानुपदेक्ष्यामः–मुस्तोशीरबलारग्वधरास्नामञ्जिष्ठाकटुरोहिणीत्रायमाणापुनर्नवाबिभीतकगुडूचीस्थिरादिपञ्चमूलानि पलिकानि खण्डशः क्लृप्तान्यष्टौ च मदनफलानि प्रक्षाल्य जलाढके परिक्राथ्य पादशेषो रसः क्षीरद्विप्रस्थसंयुक्तः पुनः शृतः क्षीरावशेषः पादजाङ्गलरसस्तुल्यमधुघृतः शतकुसुमामधुककुटजफलरसाञ्जनप्रियङ्गुकल्कीकृतः ससैन्धवः सुखोष्णोबस्तिः शुक्रमांसबलजननः क्षतक्षीणकासगुल्मशूलविषमज्वरब्रध्न (वर्ध्म) कुण्डलोदावर्तकुक्षिशूलमूत्रकृच्छ्रासृग्प्रजोविसर्पप्रवाहिकाशिरोरुजाजानूरुजङ्घाबस्तिग्रहाश्मर्युन्मादार्शःप्रमेहाष्मानवातरक्तपित्तश्लेष्मव्याधिहरः सद्यो बलजननो रसायनश्चेति (१);

एरण्डमूलपलाशात् षट्पलं शालिपर्णीपृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका गोक्षुरको रास्नाऽश्वगन्धा गुडूची वर्षाभूरारग्वधो देवदार्विति पलिकानि खण्डशः क्लृप्तानि फलानि चाष्टौ प्रक्षाल्य जलाढके क्षीरपादे पचेत् । पादशेषं कषायं पूतं शतकुसुमाकुष्ठमुस्तपिप्पलीहपुषाबिल्ववचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानिप्रक्षेपकल्कितं मधुघृततैलसैन्धवयुक्तंसुखोष्णं निरूहमेकं द्वौ त्रीन् वा दद्यात् । सर्वेषां प्रशस्तौ विशेषतो ललितसुकुमारस्त्रीविहारक्षीणक्षतस्थविरचिरार्शसामपत्यकामानां च (२)

तद्वत् सहचरबलादर्भमूलसारित्रासिद्धेन पयसा (३);

तथा बृहतीकण्टकारीशतावरीच्छिन्नरुहाश्रृतेन पयसा मधुकमदनपिप्पलीकल्कितेन पूर्ववद्वस्तिः (४);

तथा बलातिबलाविदारीशालिपर्णीपृश्निपर्णीबृहतीकण्टकारिकादर्भमूलपरूषककाश्मर्यबिल्वफलयवसिद्धेन पयसा मधुकमदनकल्कितेन मधुघृतसौवर्चलयुक्तेन कासज्वरगुल्मप्लीहार्दितस्त्रीमद्यक्लिष्टानां सद्योबलजननो रसायनश्च (५);

बलातिबलारास्नारग्वधमदनबिल्वगुडूचीपुनर्नवैरण्डाश्वगन्धासहचरपलाशदेवदारुद्विपञ्चमूलानि पलिकानि यवकोलकुलत्थद्विप्रसृतं शुष्कमूलकानां च जलद्रोणसिद्धं निरूहप्रमाणावशेषं कषायं पूतं मधुकमदनशतपुष्पाकुष्ठपिप्पलीवचावत्सकफलरसाञ्जनप्रियङ्गुयवानीकल्कीकृतं गुडघृततैलक्षौद्रक्षीरमांसरसाम्लकाञ्जिकसैन्यवयुक्तं सुखोष्णं बस्तिं दद्याच्छुक्रमूत्रवर्चःसङ्गेऽनिलजे गुल्महृद्रोगाध्मानब्रध्नपार्श्वपृष्ठकटीग्रहसंज्ञानाशबलक्षयेषु च (६);

Scanned by CamScanner

हृपुषार्थकुडवो द्विगुणार्धक्षुण्णयवः क्षीरोदकसिद्धः क्षीरशेषो मधुघृततैललवणयुक्तः सर्वाङ्गविसृतवातरक्तसक्तविण्मूत्रस्त्रीखेदितहितो वातहरो बृद्धिमेधाग्निबलजननश्च (७);

ह्रस्वपञ्चमूलीकषायः क्षीरोदकसिद्धः पिप्पलीमधुकमदनकल्कीकृतः सगुडघृततैललवणः क्षीणविषमज्वरकर्शितस्य बस्तिः (८);

बलातिबलापामार्गात्मगुप्ताष्टपलार्धक्षुण्णयवाञ्जलिकषायः सगुडघृततैललवणयुक्तः पूर्ववद्बस्तिःस्थविरदुर्बलक्षीणशुक्ररुधिराणां पथ्यतमः (९)

बलामधुकविदारीदर्भमूलमृद्वीकायवैः कषायमाजेन पयसा पक्त्वा मधुकमदनकल्कितं समधुघृतसैन्धवं ज्वरातेभ्यो बस्तिं दद्यात् (१०);

शालिपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरकमूलकाश्मर्यपरूषकखर्जूरफलमधूकपुष्पैरजाक्षीरजलप्रस्थाभ्यां सिद्धः कषायः पिप्पलीमधुकोत्पलकल्कितः सघृतसैन्धवः क्षीणेन्द्रियविषमज्वरकर्शितस्य बस्तिः शस्तः (११);

स्थिरादिपञ्चमूलीपञ्चपलेन शालिषष्टिकयवगोधूममाषपञ्चप्रसृतेन छागं पयः शृतं पादशेषं कुक्कुटाण्डरससममधृघृतशर्करासैन्धवसौवर्चलयुक्तो बस्तिर्बृंह्यतमो बलवर्णजननश्च । इति यापना बस्तयो द्वादश ।।१६।।

कल्पश्चैष शिखिगोनर्दहंससारसाण्डरसेषु स्यात् ।।१७।।

यापना बस्तियों का उपयोग– यापना वस्तियों का प्रयोग सभी ऋतुओं में करना चाहिए, जिसका उपदेश आगे किया जा रहा है–

१. **मुस्तादियापनाबस्ति–** नागरमुस्तक, खस, बलामूलत्वक् (बला की जड़ का छिलका), आरग्वध (अमलतास), रास्ना, मञ्जिष्ठा (मजीठ), कुटकी, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बिभीतक (बहेड़ा), गुडूची, स्थिरादि पञ्चमूल (लघु पञ्चमूल) के द्रव्य यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मदनफल के आठ फल को लेकर काटकर टुकड़े कर लें तथा बनावें। चतुर्थांश द्रव शेष बचने पर उसे स्वच्छ कपड़े से छानकर अलग कर लें। इस छने हुए क्वाथ में दो प्रस्थ दूध डालकर पुनः पकावें, जब दूध मात्र शेष बचे तब पात्र को अग्नि पर से उतार कर उस दूध का चतुर्थांश भाग जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस एवं इसी प्रमाण में मधु व घृत मिलावें। [क्वाथ्य द्रव्य १६ पल + मदनफल (८ फल) को १ आढक (४ प्रस्थ) जल में पकावें चतुर्थांश शेष रखें, अर्थात् १ प्रस्थ क्वाथ तैयार करें, इसमें २ प्रस्थ दूध मिलाकर पुनः पकावें, दुग्ध मात्र शेष रखें, अर्थात् २ प्रस्थ दुग्ध शेष बचता है। इस दूध में दुग्ध का चतुर्थांश, अर्थात् ३२ तोला (८ पल) जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांसरस तथा इसी के तुल्य (८ पल) मधु व घृत मिला दें।] इसके बाद इसमें शतकुसुम (शतपुष्पा= सौंफ), यष्टीमधु, इन्द्रयव, रसाञ्जन (रसवत), प्रियङ्गु; के सम भाग से निर्मित कल्क एवं उचित मात्रा में सैन्धव नमक को डालकर मथानी से मथकर बस्ति को तैयार कर लें। इसका प्रयोग गुनगुना करके करना चाहिए।

उपयोग– १. यह बस्ति व्यक्ति के शुक्र, मांस, शारीरिक व मानसिक बल को बढ़ाती है।

२. इसके प्रयोग से क्षतक्षीण (Consumption), कास (खाँसी), गुल्म (Phantom tumour), शूल (Colic pain), विषमज्वर (Irregular fever), व्रध्न (Inguinal swelling), कुण्डल (Circular movement of Vāyu), उदावर्त (A Class of diseases marked by the retention of feces), कुक्षिशूल (Pain in the Pelvic region), मूत्रकृच्छ्र (Dysuria), असृक्प्रज (रक्तप्रदर– Menorrhagia), विसर्प (Erysipelas), प्रवाहिका (Dysentery) तथा शिरःशूल (Headache) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

३. जानुग्रह (Stiffness of the knee joint), ऊरुग्रह (Stiffness of the thighs), जङ्घाग्रह (Stiffness of the calf regions) तथा बस्तिग्रह (Stiffness of the Urinary bladder) में इसके प्रयोग से लाभ मिलता है। अर्थात् इन अङ्गों की जकड़ाहट दूर हो जाती है।

४. यह बस्ति अश्मरी (Calculus in the Urinary tract and in other parts of the body), उन्माद (Insanity), अर्श (Piles), प्रमेह (Obstinate Urinary disorders including diabetes), आध्मान (वायु के कारण पेट का फूलना- Flatulence), वातरक्त (Gout) के साथ-साथ पित्त व कफ जनक अन्य रोगों में भी उपयोगी है। इसके प्रयोग से उपरोक्त विकार प्रशमित हो जाते हैं।

५. यापना बस्ति के देने से व्यक्ति में सद्यः बल की वृद्धि होती है। साथ-साथ यह रसायन का भी कार्य करती है।

२. **एरण्डमूलादियापनाबस्ति–** एरण्डमूलत्वक् (एरण्डमूल का छिलका)– ३ पल, पलाश की छाल- ३ पल, दोनों मिश्रित रूप से छः पल ग्रहण करें। शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), बड़ी कटेरी (वनभण्टा), छोटी कटेरी (छोटी कण्टकारी = भटकटैया), गोखरू, रास्ना, अश्वगन्धा, गुडूची, वर्षाभू (पुनर्नवा), आरग्वध (अमलतास) एवं देवदारु; सभी द्रव्यों को एक-एक पल मात्रा में लेकर छोटे-छोटे टुकड़े कर लें, साथ में संख्या में ८ मदनफल को लेकर काटकर टुकड़े करें। इन सभी द्रव्यों को स्वच्छ जल से धुलकर साफ कर लें। तत्पश्चात् इसमें एक आढक (४ प्रस्थ) जल + एक प्रस्थ गो दुग्ध डालकर पकावें। चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर अलग पात्र में रख लें। अब इस छने हुए क्वाथ में सौंफ, कूठ, मोथा (नागरमुस्तक), पिप्पली, हपुषा (हाऊबेर), बिल्व, वचा, वत्सक (कुटज का बीज- इन्द्रयव), रसवत, प्रियङ्गु तथा यवानी (अजवाइन); इन द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बनाकर क्वाथ द्रव में मिला दें। अन्त में इसमें मधु, घृत, तिल तैल व यथावश्यक सैन्धव नमक मिलाकर मथानी से मथकर, गुनगुना करके बस्तिपुटक में भरकर आतुर में एक, दो अथवा तीन निरूह बस्ति दें।

Scanned by CamScanner

उपयोग– यह निरूह बस्ति सभी पुरुषों के लिए उपयोगी है, विशेष रूप से अधोलिखित प्रकार के व्यक्तियों में इसका प्रयोग करना चाहिए–

१. गन्धर्व प्रकृति वाले व्यक्तियों, (ऐसे व्यक्ति जो नाचने गाने में विशेष रुचि रखते हों) ।

२. सुकुमार प्रकृति वाले पुरुष (having tender health)।

३. अत्यधिक मैथुन करने वाले पुरुष या स्त्री।

४. क्षीण क्षत के रोगी (Emaciated persons those suffering from phthisis)

५. वृद्ध पुरुष (Old persons) ।

६. जीर्ण अर्श के रोगी (The patients suffering from chronic piles) ।

७. सन्तान की इच्छा रखने वाले पुरुष।

३. सहचरादियापनाबस्ति– पूर्व निर्मित विधि के अनुसार सहचर (कटसरैया), बला की जड़, दर्भ (डाभ या कुश **(Desmostachya bipinnata Stapf)** की जड़ तथा सारिवा (अनन्तमूल); इन द्रव्यों के क्वाथ से साधित दूध में मधु, घृत व सैन्धव नमक मिलाकर तैयार की गयी निरूह बस्ति का प्रयोग रोगी में करना चाहिए।

४. बृहत्यादियापनाबस्ति– बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेंरी या भटकटैया), शतावरी तथा गुडूची; इन द्रव्यों के सम भाग से निर्मित क्वाथ में गो दुग्ध डालकर पकावें, दुग्ध मात्र शेष बचने पर उसमें यष्टीमधु, पिप्पली तथा मदनफल के कल्क को मिलावें। अब इस कल्क मिश्रित दूध में मधु, घृत व यथावश्यक सैन्धव नमक डालकर बस्ति तैयार कर लें । इसका प्रयोग पूर्व की ही भाँति करना चाहिए। इसके गुण या उपयोग भी पूर्व बस्तियों के ही समान है।

५. प्रथम बलादियापनाबस्ति– बला, अतिबला, विदारीकन्द, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (भटकटैया), दर्भमूल (कुश की जड़), फालसा, काश्मर्य (गम्भारी), बिल्व फल एवं यव के कल्क द्वारा पकाये गये दूध में यष्टीमधु एवं मदनफल का कल्क मिला लें। इस कल्क मिश्रित सिद्ध क्षीर में मधु, घृत व सौवर्चल नमक मिलाकर विधिवत बस्ति तैयार करें। इस बलादि यापना-बस्ति का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए–

१. कास रोगी
२. ज्वर का रोगी
३. गुल्म (Phantom tumour)
४. प्लीहा (Splenic disorders)
५. अर्दित (Facial paralysis),
६. अति स्त्री सेवन से होने वाले बल क्षय,
७. अति मद्य सेवन करने वाले रोगी,
८. रसायन गुण की प्राप्ति हेतु।

उपरोक्त रोगियों में बलादियापनाबस्ति के प्रयोग से शीघ्र ही बल की वृद्धि होती है तथा व्यक्ति को रसायन के गुण प्राप्त होते हैं, अर्थात् रस रक्तादि धातुएं पुष्ट हो जाती हैं।

६. द्वितीय बलादियापनाबस्ति– बला की जड़ (बरियार की जड़), अतिबला, रास्ना, आरग्वध, मदनफल, बिल्व की छाल, गुडूची, पुनर्नवा (गदहपूरना), एरण्ड (रेड़ी-अण्डी की जड़), अश्वगन्धा, सहचर (कटसरैया या पियाबासा), पलाश (ढाक), देवदारु, दोनों प्रकार के पञ्चमूल [बृहत् पञ्चमूल-बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, लघु पञ्चमूल– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी व गोखरू]; प्रत्येक द्रव्य एक-एक पल प्रमाण में ग्रहण करें। यव, कोल (बेर), कुलत्थी तथा सूखी मूली; इन द्रव्यों को पृथक्-पृथक् २-२ प्रसृत (१६-१६ तोला) ग्रहण करें। सभी द्रव्यों को काटकर छोटे-छोटे टुकड़ों में कर लें। इसके बाद इन्हें स्वच्छ जल में धुलकर साफ सुथरा कर लें। अब इन यवकुट किये हुए द्रव्यों को एक पात्र में लेकर एक द्रोण जल के साथ पकाकर क्वाथ बनावें। क्वाथ उतना ही शेष बचावें जितनी मात्रा एक बार में बस्ति हेतु प्रयोग किया जा सके। इस क्वाथ को एक साफ सुथरे कपड़े अथवा छननी द्वारा छान कर अलग रख लें। इस छने हुए क्वाथ में यष्टीमधु (मुलेठी), मदनफल, सौंफ (वन सौंफ), कूठ, पिप्पली, वचा, वत्सक फल (इन्द्रयव), रसाञ्जन (रसवत), प्रियङ्गु तथा अजवाइन (यवानी); के सम भाग से निर्मित कल्क को मिलावें, तत्पश्चात् उसमें गुड़, गोघृत, तैल, मधु, गाय का दूध, मांसरस, खट्टी काञ्जी तथा सैन्धव नमक मिलाकर विधिवत निरूह बस्ति तैयार कर लें। बस्ति देने से पूर्व बस्ति द्रव्य को एक पात्र में रखकर गरम जल से भरे हुए भगौने में उस पात्र को रखें, जिससे बस्ति द्रव्य गुनगुना हो जाय। अब इस गुनगुना किये हुए बस्ति द्रव को बस्तिपुटक में भरकर अधोलिखित रोगियों में बस्ति के रूप में प्रयोग करना चाहिए–

Scanned by CamScanner

१. वायु के प्रतिलोम होने से, अर्थात् अपान वायु की विकृति में मल, मूत्र व शुक्र के अवरोध की अवस्था में (उदावर्त व्याधि में)

२. गुल्मरोग (Phantom tumour) व हृद्रोग (Heart diseases)।

३. आध्मान (Flatulence) व ब्रध्न (Inguinal swelling) की अवस्था में।

४. पार्श्व, पृष्ठ व कटि में जकड़ाहट होना (Stiffness of the sides of the chest, back and lumbar region), पार्श्व= (पसली), पृष्ठ= पीठ, कटि से कमर अर्थ गृहीत है।

५. संज्ञानाश (Unconsciousness) एवं बलक्षय (diminution of strength) की अवस्था में।

बलादि यापना बस्ति के प्रयोग से निर्दिष्ट व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं।

७. हपुषादियापनाबस्ति– हपुषा (हाऊबेर)- अर्ध कुडव (८ तोला) [क्योंकि ४ कुडव= १ प्रस्थ होता है– १ प्रस्थ= ६४ तोला] आधा कुटा हुआ यव हाऊबेर का दूना– १ कुडव (१६ तोला) लेकर चार गुने दूध एवं जल (४८ तोला दूध + ४८ तोला जल) के साथ पकावें। दूध मात्र शेष बचने पर उसे अग्नि पर से उतार कर एक स्वच्छ मारकीन के कपड़े से छानकर अलग पात्र में रख लें। इस सिद्ध दूध में मधु, घृत, तैल एवं सैन्धव लवण मिलाकर योग्य रोगी में बस्ति दें।

उपयोग– इस बस्ति का प्रयोग अधोलिखित व्याधियों में करना चाहिए–

१. सम्पूर्ण शरीर में प्रसरित वातरक्त।

२. मल एवं मूत्र का अवरुद्ध होना (Retention of urine and stool)।

३. अत्यधिक मैथुन से उत्पन्न क्षीणता।

४. सभी प्रकार के वात व्याधियों में।

५. बुद्धि (Wisdom), मेधा (Intellect), अग्नि (Power of digestion and metabolism) एवं बल (Strength) की वृद्धि के लिए।

हपुषादि यापनाबस्ति निर्दिष्ट सभी अवस्थाओं में हितकर होती है। अर्थात् इसके प्रयोग से आतुर को लाभ मिलता है।

८. ह्रस्वपञ्चमूलादियापनाबस्ति– लघु पञ्चमूल के द्रव्य, यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (वनभण्टा), कण्टकारी (भटकटैया या छोटी कटेरी) व गोखरू; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर ४ गुने दूध व जल (दूध व जल बराबर मात्रा में लें) में पकावें। क्षीर मात्र शेष बचने पर क्वाथ (सिद्ध क्षीर) को छानकर अलग पात्र में रख लें। अब इसमें पिप्पली, यष्टीमधु व मदनफल का कल्क तथा गुड़, घृत, तिल तैल या सिद्ध तैल व सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति दें। इस बस्ति का प्रयोग क्षीण तथा विषम ज्वर से कृश रोगियों में करना चाहिए।

९. तृतीय बलादियापनाबस्ति– बला की जड़, अतिबला की जड़, अपामार्ग की जड़, आत्मगुप्ता (कौंच बीज); प्रत्येक द्रव्य २-२ पल (८-८ तोले) ग्रहण करें, आधा कुटा हुआ यव- १ अञ्जलि ग्रहण करें, (१ अञ्जलि= १ कुडव= १६ तोला= ४ पल)। सभी द्रव्यों को एक में मिलाकर कूट लें। तत्पश्चात् इसमें दूध व जल डालकर पकावें। दुग्ध मात्र अवशिष्ट रहने पर दूध को छानकर अलग पात्र में रख लें; इस सिद्ध दूध में गुड़, घृत, तैल व सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति दें। यह बस्ति वृद्ध पुरुषों, दुर्बल, क्षीण शुक्र (शुक्राल्पता) तथा जिनमें रक्त की कमी है, के रोगियों में अत्यन्त उपयोगी है। अर्थात् इन व्याधियों की चिकित्सा हेतु इस बस्ति का प्रयोग करना चाहिए।

१०. चतुर्थ बलादियापनाबस्ति– बला की जड़, यष्टीमधु (मुलेठी), विदारीकन्द, दर्भमूल (कुश की जड़), मृद्वीका (मुनक्का) एवं यवकुट किया हुआ यव; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर विधिपूर्वक क्वाथ बनावें। इस क्वाथ में बकरी का दुग्ध मिलाकर पुनः पकावें, दुग्ध मात्र शेष बचने पर उसे एक स्वच्छ कपड़े या छननी से छानकर अलग पात्र में रख लें। अब इस छने हुए सिद्ध दूध में यष्टीमधु व मदनफल का कल्क, मधु, घृत व सैन्धव नमक मिलाकर ज्वर से पीड़ित रोगी को बस्ति दें।

११. शालपर्ण्यादियापनाबस्ति– शालपर्णी (सरिवन), पृश्निपर्णी (पिठिवन), गोखरू की जड़, काश्मर्य (गम्भारी), फालसा (फलषक), खर्जूर का फल, महुआ का पुष्प; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। इसमें १ प्रस्थ बकरी का दूध व १ प्रस्थ जल डालकर पकावें। जब दुग्ध मात्र शेष बचे तब उसे छान लें। इस छने हुए दूध में पिप्पली, यष्टीमधु (मुलेठी) एवं उत्पल का कल्क मिलावें, पश्चात् उसमें घृत व सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति तैयार कर लें। इस बस्ति का प्रयोग– जिन पुरुषों की इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हैं, अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) अपने विषयों को ग्रहण करने में पूर्णतः सक्षम नहीं हैं, अथवा जो रोगी विषम ज्वर के कारण कृश हो गये हैं, उनमें करना चाहिए।

Scanned by CamScanner

१२. स्थिरादियापनाबस्ति– स्थिरादि पञ्चमूल के द्रव्य, यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी या वनभण्टा), कण्टकारी (छोटी कटेरी) व गोखरू; प्रत्येक द्रव्य १-१ पल, शालि चावल- १ प्रसृत (८ तोला), साठी चावल- १ प्रसृत (८ तोला), यव- १ प्रसृत, गेहूँ- १ प्रसृत एवं उड़द- १ प्रसृत; सभी द्रव्यों को निर्धारित मात्रा में लेकर यवकुट कर लें तथा इसमें ४ गुना बकरी का दूध डालकर पकावें। चतुर्थांश शेष बचने पर दूध को छानकर अलग पात्र में रख लें। अब इस दूध में मुर्गी के अण्डे का रस तथा अण्डे के रस के ही बराबर मधु, घृत, चीनी एवं यथावश्यक सैन्धव नमक व सौवर्चल नमक मिलाकर बस्ति दें। यह बस्ति अत्यन्त वीर्य वर्धक होती है एवं साथ ही साथ व्यक्ति के बल एवं वर्ण की भी वृद्धि करती है।

इस प्रकार यहाँ कुल बारह यापना बस्तियों का वर्णन किया गया।

तीन अन्य यापना बस्तियाँ– स्थिरादियापनाबस्ति के ही विधान के अनुसार मुर्गी के अण्डों के रस के स्थान पर मयूर, गोनर्द (सारस) व हंस के अण्डों के रस से तीन और बस्तियों की योजना करनी चाहिए।

→ स्थिरादि द्रव्यों के कल्क में चार गुना बकरी का दूध मिलाकर पकावें। चतुर्थांश क्षीर शेष बचने पर छननी से दूध को छानकर एक पात्र में रख लें। अब इस दूध में मोर के अण्डे का रस, मधु, घृत, चीनी, सैन्धव नमक व सौवर्चल नमक मिलाकर बस्ति दें।

→ पूर्ववत सिद्ध दूध में सारस के अण्डे का रस, मधु, घृत, चीनी, सैन्धव नमक व सौवर्चल नमक मिलाकर बस्ति तैयार करें।

→ पूर्ववत सिद्ध दूध में हंस के अण्डों का रस, मधु, घृत, चीनी, सैन्धव नमक व सौवर्चल नमक मिलाकर बस्ति बना लें।

चक्रपाणि– 'यापनाश्चेत्यादि' के द्वारा पूर्व में की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार यापना बस्तियों को स्पष्ट किया गया है, अर्थात् यापना बस्तियों का उल्लेख किया जा रहा है।

'सर्वकालं देया इति' इससे पूर्व वर्णित निरूह बस्तियों का प्रयोग सभी कालों (सभी ऋतुओं) में करने का विधान नहीं है, यह दर्शाया गया है। लेकिन इन बस्तियों (यापना बस्तियों) का प्रयोग सभी ऋतुओं में करना विरुद्ध नहीं है। अर्थात् इनका प्रयोग सभी ऋतुओं में किया जा सकता है। **आयुषो यापनं दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वन्तीति यापना बस्तयः–** आयु का यापन करना अर्थात् दीर्घकाल तक आयु को बनाये रखना, अर्थात् दीर्घायु प्रदान करना। यह कार्य यापना बस्ति करती है। मुस्तेत्यादौ खण्डशः क्लृप्तानीति खण्डं खण्डं कृत्तानि- मुस्तादि यापना बस्ति के प्रकरण में वर्णित 'खण्डशः क्लृप्तानि' शब्द से 'मदनफल को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटना' अर्थ गृहीत है।

पादजाङ्गलरस इति– वर्णित क्षीर द्वारा बने हुए क्वाथ का चतुर्थांश जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस का ग्रहण करना चाहिए।

तुल्यं मधुना घृतं यस्मिन् स तुल्यमधुघृतः– जिसमें मधु व घृत बराबर-बराबर मात्रा में डाला जाय उसे **तुल्यमधुघृत** कहा गया है। पूर्व की बस्तियों में जितना नियमित रूप से स्नेह का मान बताया गया है, अर्थात् जितना घृत डालना चाहिए उतनी ही मात्रा में मधु का भी प्रयोग करना चाहिए।

अस्मिंश्च बस्तौ पूर्वोक्तबस्तिमानविभागेनैव बस्तिः कल्पयितव्यः– पूर्व वर्णित बस्ति में द्रव्यों के जो मान बताये गये हैं (द्रव्यों के मान का जो विभाग किया गया है) उसी के अनुसार इस बस्ति में भी द्रव्यों की योजना करनी चाहिए। अथवा तदनुसार यहाँ भी बस्ति का निर्माण करना चाहिए।

अत्र क्षीरं कषायस्थाने भवति– यहाँ क्षीर का प्रयोग क्वाथ के स्थान पर होता है, अर्थात् किया गया है। [यापना बस्तियों में क्वाथ के स्थान पर क्वाथ साधित क्षीर का ग्रहण किया गया है।] शतकुसुमा= शतपुष्पा (सोया या वन्य सौंफ)। ससैन्धवमिति- अल्प (ईषद्) मात्रा में सैन्धव नमक का प्रयोग करना।

'एरण्डमूलेत्यादि' से द्वितीय यापनाबस्ति का उल्लेख किया गया है। 'तद्वत्' के द्वारा तृतीय यापनाबस्ति (सहचरादि यापना बस्ति) का निर्देश है। **तद्वदिति–** पूर्व बस्ति विधान की तरह इस बस्ति का भी निर्माण करना चाहिए, अर्थात् पूर्व विधान द्वारा इसका भी निर्माण करें तथा बृहतीत्यादि के द्वारा चतुर्थ बस्ति (बृहत्यादियापनाबस्ति) का अभिधान किया गया है। इस प्रकरण में चतुर्थ बस्ति के फलश्रुति का वर्णन नहीं है। सामान्य रूप से 'इत्येते बस्तयः स्नेहाश्चोक्ता' इत्यादि के द्वारा आगे बस्ति के 'फलश्रुति' (उपयोगिता) को स्पष्ट किया जायेगा। अर्थात् आगे आने वाले श्लोक नं. २०, २१ व २२ में यापना बस्तियों के लाभ को बताया गया है, ऐसा समझना चाहिए। 'बलातिबलाविदारी' इत्यादि के द्वारा पाँचवी यापनाबस्ति को स्पष्ट किया गया है। 'बलातिबलारास्नेत्यादि' के द्वारा छठवीं बस्ति का अभिधान किया गया है।

शुष्कमूलकाणां चेत्यत्र 'द्विप्रसृतं' इत्यनुवर्तते– शुष्क मूली या सूखी मूली को यहाँ २ प्रसृत = १६ तोला ग्रहण करना चाहिए। **निरूहप्रमाणशेषं कषायमिति निरूहपुटकत्रययोग्यप्रमाणं कषायम्–** क्वाथ का परिमाण तीन निरूहपुटक के बराबर बचाना चाहिए। अर्थात्

Scanned by CamScanner

बस्ति हेतु क्वाथ की मात्रा इतनी होनी चाहिए जिससे तीन बार निरूह बस्ति दी जा सके। इस प्रकार ५ प्रसृत= ४० तोले, क्वाथ की एक बस्ति बनायी जाती है। (एक बस्तिपुटक में ५ प्रसृत क्वाथ का प्रयोग होता है।) ऐसी तीन पुटक की निरूह बस्ति दें। यहाँ क्वाथ का निर्माण क्वाथ परिभाषा के अनुसार ही करना चाहिए।

निरूहप्रमाणशेषं कषायं मधुकमदनादिना युक्तं सिद्धं बस्तिं दद्यादिति योजनीयम्– निरूह की मात्रा के बराबर क्वाथ बचावें। इस छने हुए क्वाथ में यष्टीमधु व मधु आदि द्रव्यों के कल्क मिलाकर बस्ति का प्रयोग करें।

'हपुषेत्यादि' के द्वारा सप्तम योग को स्पष्ट किया गया है। स्तिमिताः शुष्काः पुनः कण्डिता क्षुण्णा उच्यन्ते– कड़े (कठिन) एवं सूखे द्रव्यों को कूटकर छोटा करना (यवकुट करना) क्षुण्ण कहा जाता है। **पूर्वपठितं मुस्तादिकमत्र प्रदेशे काश्मीराः पठन्ति–** पूर्व वर्णित मुस्तादियापनाबस्ति को काश्मीर पाठ में यहाँ पढ़ा गया है। 'हस्वपञ्चमूलीत्यादि' के द्वारा आठवें योग का अभिधान किया गया है। 'बलातिबलापामार्गेत्यादि' से नवें योग को बताया गया है। 'बलामधुकेत्यादि' से दशम योग का विवेचन है। यहाँ बलादि द्रव्यों के क्वाथ को पुनः अजा दुग्ध मे पकाकर दुग्ध मात्र शेष बचावें। (अब इस सिद्ध दूध में यष्टीमधु व मदनफल के कल्क, मधु, घृत व सैन्धव नमक मिलाकर ज्वर के रोगी में बस्ति देना चाहिए।) 'शालपर्णीत्यादिः' से ग्यारहवें यापना बस्ति का अभिधान किया गया है। 'स्थिरेत्यादि' से बारहवें योग का वर्णन है। एरका होग्गलः= पटेरा या रामबाण, **(Elephant grass– Typha elephantina)**

कल्पश्चेत्यादि के द्वारा आतिदेशिक तीन अन्य योगों का विवेचन किया गया है। अर्थात् यहाँ वर्णित बारह योगों को छोड़कर तीन अन्य योग भी हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १५ योगों का अभिधान किया गया है। ॥१६-१७॥

सतितिरिः समयूरः सराजहंसः पञ्चमूलीपयःसिद्धः शतपुष्पामधुकरास्नाकुटजमदनफलपिप्पलीकल्को घृततैलगुडसैन्यवयुक्तो बस्तिर्बलवर्ण-शुक्रजननो रसायनश्च (१);

द्विपञ्चमूलीकुक्कुटरससिद्धं पयः पादशेषं पिप्पलीमधुकरास्नामदनकल्कं शर्करामधुघृतयुक्तं स्त्रीष्वतिकामानां बलजननो बस्तिः (२);

मयूरमपित्तपक्षपादास्थान्त्रं स्थिरादिभिः पलिकैः सजले पयसि पक्त्वा क्षीरशेषं मदनपिप्पलीविदारीशतकुसुमामधुककल्कीकृतं मधुघृतसैन्यवयुक्तं बस्तिं दद्यात् स्त्रीष्वतिप्रसक्तक्षीणेन्द्रियेभ्यो बलवर्णकरम् (३);

कल्पश्चैष विष्किरप्रतुदप्रसहाम्बुचरेषु स्यात्, अक्षीरो रोहितादिषु च मत्स्येषु (४)

गोधानकुलमार्जारिमूषिकशल्लकमांसानां दशपलान् भागान् सपञ्चमूलान् पयसि पक्त्वा तत्पयः पिप्पलीफलकल्कसैन्यव-सौवर्चलशर्करामधुघृततैलयुक्तो बस्तिर्बल्यो रसायनः क्षीणक्षतस्य सन्धानकरो मथितोरस्करथगजहयभग्नवातबलासकप्रभृत्युदावर्तवातसक्तमूत्र-वर्चश्शुक्राणां हिततमश्च (५);

कूर्मादीनामन्यतमपिशितसिद्धं पयो गोवृषनागहयनक्रहंसकुक्कुटाण्डरसमधुघृतशर्करासैन्यवेक्षुरकात्मगुप्ताफलकल्कसंसृष्टो बस्तिर्वृद्धानामपि बलजननः (६);

कर्कटकरसशटकाण्डरसयुक्तः समधुघृतशर्करोबस्तिः; इत्येते बस्तयः परमवृष्याः उच्चटकेक्षुरकात्मगुप्ताशृतक्षीरप्रतिभोजनानुपानात् स्त्रीशतगामिनं नरं कुर्युः (७);

गोवृषबस्तवराहवृषणकर्कटचटकसिद्धं क्षीरमुच्चटकेक्षुरकात्मगुप्तामधुघृतसैन्यवयुक्तः किंचिल्लवणितो बस्तिः (८);

दशमूलमयूरहंसकुक्कुटक्काथात् पञ्चप्रसृतं तैलघृतवसामज्जचतुरप्रसृतयुक्तं शतपुष्पामुस्तहपुषाकल्कीकृतः सलवणो बस्तिः पादगुल्फो-रुजानुजङ्घात्रिकवङ्क्षणबस्तिवृषणानिलरोगहरः (९);

मृगविष्किरानूपबिलेशयानामेतैनैव कल्पेन बस्तयो देयाः (१०);

मधुघृतद्विप्रसृतस्तुल्योष्णोदकः शतपुष्पार्धपलः सैन्यवार्धाक्षयुक्तो बस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तवातहरः (११)

सद्योघृततैलवसामज्जचतुरस्थं हपुषार्धपलं सैन्यवार्धाक्षयुक्तो बस्तिर्वृष्यतमो मूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनः (१२);

मधुतैलं चतुःप्रसृतं शतपुष्पार्धपलं सैन्यवार्धाक्षयुक्तो बस्तिर्दीपनो बृंहणो बलवर्णकरो निरुपद्रवो वृष्यतमो रसायनः क्रिमिकुष्ठोदावर्त-गुल्माशोंब्रघ्नप्लीहमेहहरः (१३);

तद्वन्मधुघृताभ्यां पयस्तुल्यो बस्तिः पूर्वकल्केन बलवर्णकरो वृष्यतमो निरुपद्रवो बस्तिमेढ्रपाकपरिकर्तिकामूत्रकृच्छ्रपित्तव्याधिहरो रसायनश्च (१४);

तद्वन्मधुघृताभ्यां मांसरसतुल्यो मुस्ताक्षयुक्तः पूर्ववद्बस्तिर्वातबलासपादहर्षगुल्मत्रिकोरुजानूरुनिकुञ्चनबस्तिवृषणमेढ्रत्रिकपृष्ठशूलहरः (१५);

सुरासौवीरककुलत्थमांसरसमधुघृततैलसप्तप्रसृतो मुस्तशताह्वाकल्कितः सलवणो बस्तिः सर्ववातरोगहरः (१६);

द्विपञ्चमूलत्रिफलाबिल्वमदनफलकषायो गोमूत्रसिद्धः कुटजमदनफलमुस्तपाठाकल्कितः सैन्यवयावशूकक्षौद्रतैलयुक्तो बस्तिः श्लेष्म-व्याधिबस्त्यात्योपवातशुक्रसङ्गपाण्डुरोगाजीर्णविसूचिकालसकेषु देय इति ॥१८॥

१३. बलवर्धक बस्तियाँ (तित्तिरादियापनाबस्ति)– लघु पञ्चमूल के द्रव्य यथा– शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू, तीतर का मांस, राजहंस का मांस एवं मयूर का मांस; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर जल व दुग्ध के साथ पकावें। दुग्ध मात्र शेष बचने पर दूध को छानकर अलग पात्र में रख लें। अब इसमें सौंफ, यष्टीमधु, रास्ना, इन्द्रयव, मदनफल व पिप्पली के कल्क, घृत, तैल, गुड़ व सैन्धव नमक मिलाकर विधिपूर्वक बस्ति दें।

Scanned by CamScanner

यह बस्ति व्यक्ति के बल (Strength), वर्ण (Complexion) एवं शुक्र (Semen) को बढ़ाती है एवं रसायन गुणों को भी दर्शाती है। अर्थात् इसके प्रयोग से आयु की वृद्धि होती है। (१)

१४. द्विपञ्चमूलादियापनाबस्ति– दशमूल के द्रव्य, यथा– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोखरू; के क्वाथ एवं मुर्गे के मांसरस में चार गुना जल व दूध (२ भाग जल + २ भाग दूध) मिलाकर पकावें। चतुर्थांश अवशेष बचने पर सिद्ध दूध को छानकर अलग पात्र में रख लें। इस साधित दूध में पिप्पली, यष्टीमधु (मुलेठी), रास्ना व मदनफल के कल्क, चीनी, मधु व घृत मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें। यह बस्ति अति स्त्री सेवन की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के बल को बढ़ाती है। (२)

१५. मयूरादियापनाबस्ति– पित्त (Gall bladder), पंख (Feather), पैर (Legs), मुख एवं आंत्र रहित मोर का मांस, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी व गोखरू; सभी द्रव्यों को १-१ पल मात्रा में लेकर ४ गुने जल व गोदुग्ध (१२ पल जल + १२ पल गोदुग्ध) में पकावें। क्षीर मात्र शेष बचने पर दूध को छानकर पृथक् कर लें। इस सिद्ध दूध में मदनफल, पिप्पली, विदारीकन्द, शतपुष्पा, यष्टीमधु के कल्क को मिलावें। तत्पश्चात् उसमें मधु, घृत व सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति के रूप में प्रयोग करें। इस बस्ति का प्रयोग उन पुरुषों में जो स्त्री के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, जिनकी इन्द्रियाँ क्षीण हो गयी हैं, अर्थात् अपने विषयों को उचित रूप से ग्रहण नहीं कर पातीं; करना चाहिए। यह बस्ति व्यक्ति के बल एवं वर्ण को बढ़ाती है। (३)

१६. विष्किरादि प्राणियों के मांस से निर्मित यापना बस्तियाँ– मयूर आदि के मांस से बस्ति निर्माण की जो विधि बतायी गयी है उसी के अनुसार विष्किर, प्रतुद, प्रसह एवं अम्बुचर वर्ग में वर्णित प्राणियों के अलग-अलग मांस से निर्मित बस्तियों का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु रोहित आदि मछलियों के मांस से निर्मित बस्तियों में दूध का प्रयोग नहीं करना चाहिए। (४)

वृष्य बस्तियाँ– गोधा (गोह), नकुल (नेवला), मार्जार (बिल्ली या बिलार), मूषिक (चूहा), शल्लक (साही); इनके मांस अलग-अलग १-१ पल, लघु पञ्चमूल के द्रव्य- ५ पल (शालपर्णी- १ पल, पृश्निपर्णी- १ पल, बृहती- १ पल, कण्टकारी- १ पल एवं गोखरू- १ पल) लें। कुल दस पल द्रव्यों को चार गुने दूध में पकावें, अर्थात् दूध ४० पल ग्रहण करें। चतुर्थांश शेष बचने पर उसे छानकर अलग पात्र में रख लें। इस सिद्ध दूध में पिप्पली व मदनफल के कल्क, सैन्धव नमक, सौवर्चल नमक, शर्करा, मधु, तैल व घृत मिलाकर बस्ति तैयार कर लें। इस बस्ति के द्रव्यों को गुनगुना करके प्रयोग करना चाहिए।

[बस्ति द्रव्यों को गरम करते समय उन्हे सीधे अग्नि पर गरम न करें। सबसे पहले एक बड़े पात्र में जल को गरम करें, तत्पश्चात् उस गरम जल से भरे पात्र में बस्तिद्रव से भरा हुआ छोटा पात्र रखें। जल की उष्णता से ही छोटे पात्र में रखा हुआ **बस्ति द्रव** गुनगुना हो जाता है।]

उपयोग– १. यह बस्ति व्यक्ति के बल को बढ़ाती है। २. रसायन गुणों को उत्पन्न करती है, अर्थात् रसादि धातुओं को पुष्ट करती है, जिससे व्यक्ति दीर्घायु होता है। ३. क्षीण व उरःक्षत के रोगी के क्षत का रोहण करती है। ४. उरः प्रदेश को मथा गया हो, अर्थात् छाती में आघात का लगना अथवा रथ, हाथी, घोड़े की सवारी आदि के कारण उरः क्षत (छाती में चोट लगना) हुआ हो अथवा हड्डियाँ टूट गयी हों। इस स्थिति में यह बस्ति क्षत का रोहण एवं हड्डियों का सन्धान करती है। ५. वातबलासक आदि अथवा उदावर्त के कारण शरीर में अवरुद्ध वायु, मूत्र, पुरीष व शुक्र में इस बस्ति का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक होता है। अर्थात् इस बस्ति के प्रयोग से वातादि के अवरोध दूर हो जाते हैं। मल, मूत्रादि की गति स्वाभाविक हो जाते हैं। (५)

कूर्मादियापनाबस्ति– कछुआ आदि वारिशय वर्ग के प्राणियों में से किसी एक के मांस से विधिपूर्वक साधित दूध में गोवृष (सांड), नाग (हाथी), हय; इनके अण्डकोष को जल में पकाकर मांसरस तैयार करें। अब पूर्व साधित दूध में मांसरस (अण्डकोष से निर्मित), नक्र (घड़ियाल), हंस व मुर्गे के अण्डे का रस, मधु, घृत, शर्करा, सैन्धव नमक, तालमखाना का चूर्ण व क्रौंच बीज का चूर्ण मिलाकर मथ दें, तत्पश्चात् इसकी बस्ति दें। इस बस्ति के प्रयोग से वृद्ध पुरुष भी अत्यधिक बलशाली हो जाते हैं। (६)

कर्कटकादियापनाबस्ति– कर्कटक रस (केकड़े का मांसरस), चटक (गौरैया) के अण्डे का रस, मधु, घृत, चीनी; सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर अच्छी प्रकार से मिश्रित कर लें। अब इन्हें गुनगुना करके बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें। इस प्रकार पूर्व वर्णित बस्तियाँ अत्यन्त वृष्य होती हैं। इन बस्तियों के प्रयोग के पश्चात् सफेद गुञ्जा (उच्चटक) की जड़, तालमखाना, कौंचबीज; इन द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर चार गुने दूध में पकावें, चतुर्थांश दूध शेष बचने पर छननी से छानकर दूध को अलग कर लें। इस दूध के साथ भोजन करने वाला व्यक्ति सौ स्त्रियों के साथ मैथुन करने में समर्थ होता है। अर्थात् बस्ति देने के बाद इस दूध के सेवन करने से व्यक्ति में रमण शक्ति की अद्वितीय वृद्धि होती है। (७)

Scanned by CamScanner

गोवृषादियापनाबस्ति– गोवृष, बस्त (बकरा), वराह (सूअर) इनके अण्डकोष, कर्कट (केकड़ा) एवं गौरैया के मांस; को दूध व जल में पकाकर क्वाथ बना लें। अर्थात् दूध मात्र शेष बचने पर दूध को छानकर अलग कर लें। इस साधित दूध में श्वेत गुञ्जा की जड़, इक्षुरक (तालमखाना) एवं केंवाच बीज का कल्क, मधु, घृत एवं अल्प मात्रा में सैन्धव नमक मिलाकर मथानी से मथकर बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें। इस बस्ति के सेवन से वीर्य की अत्यधिक वृद्धि होती है। (८)

दशमूलादियापनाबस्ति– दशमूल के द्रव्य, यथा– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी एवं गोखरू, मोर का मांस, हंस का मांस एवं मुर्गे का मांस; इनके सम भाग से निर्मित क्वाथ- ५ प्रसृत (४० तोला) में, घृत- १ प्रसृत, तिल तैल- १ प्रसृत, वसा- १ प्रसृत, मज्जा- १ प्रसृत मिला लें। अब घृत आदि द्रव्यों से मिश्रित क्वाथ में शतपुष्पा (सोया), नागरमुस्तक तथा हाऊबेर के कल्क व अल्प मात्रा में सैन्धव नमक मिलावें। इन द्रव्यों को विधिपूर्वक गुनगुना करके बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें।

इस बस्ति के प्रयोग से पाद, गुल्फ (Ankle joints), ऊरु (thighs), जानु (Knee joints), जङ्घा (Calf muscle-पिण्डली), त्रिक्, वंक्षण (Groin), बस्ति (Urinary Bladder) व वृषण (Scrotum) में होने वाली वातजन्य पीड़ा दूर हो जाती है। (९)

इसी प्रकार अर्थात् इसी विधान से मृग, विष्किर, आनूप तथा विलेशय प्राणियों के मांस से बस्ति का निर्माण कर प्रयोग करना चाहिए। (१०)

यापना बस्तियों के अन्य योग–

→ मधु- १ प्रसृत (८ तोला), गोघृत- १ प्रसृत, दोनों की मात्रा के बराबर उष्ण जल- २ प्रसृत (१६ तोला), शतपुष्पा (सोया) का कल्क अर्धपल (२ तोला), सैन्धव नमक अर्ध अक्ष (१/२ तोला); इन सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित कर बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें। यह बस्ति अत्यन्त वृष्य (कामभावना को उत्पन्न करने वाली– to burn with sexual desire) मूत्रकृच्छ्रता नाशक तथा पित्त व वात जन्य व्याधियों को दूर करती है। (११)

→ ताजा गोघृत, तिल तैल, वसा, मज्जा; प्रत्येक द्रव्य १-१ प्रसृत ग्रहण करें। अब उसमें ४ प्रसृत (३२ तोले) उष्ण जल, आधा पल (२ तोला) हाऊबेर का कल्क तथा सैन्धव नमक अर्ध अक्ष (१/२ तोला) मिलाकर बस्ति तैयार कर लें।

यह बस्ति अत्यन्त वृष्य अर्थात् काम शक्ति को बढ़ाने वाली, मूत्रकृच्छ्र (Dysuria), पित्तज व्याधिनाशक तथा रसायन गुणों का उत्पादक है। अर्थात् इसके सेवन से व्यक्ति दीर्घायु को प्राप्त करता है। (१२)

→ **मधु-तैलादि यापना बस्ति–** मधु- २ प्रसृत (१६ तोला), तिल तैल- २ प्रसृत (१६ तोला), उष्ण जल- ४ प्रसृत (३२ तोला), शतपुष्पा (सोया) का कल्क- आधा पल (२ तोला), सैन्धव नमक- अर्ध पल (१ अक्ष= १ तोला); सभी द्रव्यों को आपस में मिश्रित करके वस्तिपुटक में भरकर विधिपूर्वक बस्ति दें। इस बस्ति के सेवन से आतुर को निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं–

१. यह बस्ति जाठराग्नि को दीप्त करती है (Stimulates the power of digestion)

२. यह शरीर का बृंहण करती है। (Nourishes the body)

३. शरीर के बल (Strength) एवं वर्ण (Complexion) को बढ़ाती है।

४. इसके सेवन से आतुर को किसी प्रकार की कोई हानि नहीं होती, अर्थात् यह उपद्रव नहीं उत्पन्न करती।

५. इसके प्रयोग से व्यक्ति में काम-शक्ति की अत्यधिक वृद्धि होती है।

६. यह रसायन गुणों को दर्शाती है। अर्थात् इसके प्रयोग से रसरक्तादि धातुएं अत्यधिक पुष्ट होती हैं।

७. यह बस्ति क्रिमिरोग (Parasitic infestation), कुष्ठ (Obstinate skin diseases including leprosy), उदावर्त (A class of diseases marked by retention of feces), गुल्म (Phantom tumour), अर्श (Piles), ब्रध्न (Inguinal swelling), प्लीह रोग (Splenic disorders) व प्रमेह (Obstinate urinary disorders including diabetes) को प्रशमित करती है। अर्थात् इसके प्रयोग से उपरोक्त व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। (१३)

→ पूर्व योग की भाँति मधु- २ प्रसृत, घृत- २ प्रसृत, गोदुग्ध- ४ प्रसृत, शतपुष्पा (सौंफ अथवा सोया, दोनों के गुण तुल्य हैं।) कल्क- आधा पल, सैन्धव नमक- अर्ध अक्ष (आधा तोला); इन सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर मिश्रित कर लें तथा बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें।

Scanned by CamScanner

उपयोगिता– १. यह बस्ति बल व वर्ण को बढ़ाने वाली, कामशक्ति की अत्यधिक वृद्धि करने वाली, उपद्रव रहित (उपद्रव को न उत्पन्न करने वाली) होती है।

२. इस बस्ति के प्रयोग से बस्ति, मूत्राशय एवं मूत्रेन्द्रिय पाक (Inflammation of urinary bladder and phallus), परिकर्तिका (Anal fissure- गुदा में कैंची से काटने के समान पीड़ा का होना), मूत्रकृच्छ्र (कष्ट के साथ मूत्रत्याग) आदि व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

३. पित्त दोष से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ भी इस बस्ति के प्रयोग से प्रशमित हो जाती हैं।

४. यह बस्ति रसादि धातुओं को पुष्ट करते हुए व्यक्ति में रसायन के गुणों को उत्पन्न करती है। (१४)

→ उसी प्रकार मधु व घृत के तुल्य (समान) भाग मांसरस में, मोथे का कल्क (नागरमुस्तक का कल्क)- १ अक्ष (१ तोला) मिलाकर बस्ति दें। अर्थात् मधु- २ प्रसृत, घृत- २ प्रसृत, मांसरस- ४ प्रसृत, नागरमुस्तक का कल्क- १ तोला, यथावश्यक सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति दें। इस बस्ति के प्रयोग से वातबलास (वात-कफ से उत्पन्न एक विशेष व्याधि), पादहर्ष (Tingling sensation in the feet), गुल्म (Phantom tumour), त्रिक (Lumbar region), ऊरु (thighs) एवं जानु संधियों (Knee joints) का संकुचित होना, बस्ति, वृषण (Scrotum), मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय), त्रिक् (Lumbar region) व पृष्ठ (पीठ) के शूल (दर्द) प्रशमित हो जाते हैं। अर्थात् इस बस्ति के प्रयोग से निर्दिष्ट व्याधियाँ शान्त हो जाती हैं। (१५)

→ सुरा- १ प्रसृत, सौवीर- १ प्रसृत, कुलथी का क्वाथ- १ प्रसृत, मांसरस- १ प्रसृत, मधु- १ प्रसृत, घृत- १ प्रसृत, तिल तैल- १ प्रसृत, नागरमोथा एवं शताह्वा (सौंफ) का कल्क तथा (यथावश्यक) सैन्धव नमक मिलाकर बस्ति दें। अर्थात् निर्दिष्ट मात्रा में द्रव्यों को लेकर बस्ति तैयार करें एवं विधि पूर्वक प्रयोग करें। यह बस्ति सभी प्रकार की वात व्याधियों को दूर करती है। (१६)

द्विपञ्चमूलादि यापना बस्ति– बिल्व, अग्निमन्थ, श्योनाक, पाटला, गम्भारी (ये पाँचों द्रव्य संयुक्त रूप से बृहत् पञ्चमूल के नाम से जाने जाते हैं।) शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी गोखरू [इन पाँच द्रव्यों को लघु पञ्चमूल के अन्तर्गत रखा गया है।] हरड़, बहेड़ा, आँवला, बिल्व की गुद्दी एवं मदनफल; सभी द्रव्यों को बराबर मात्रा में लेकर यवकुट कर लें। अब इसे गोमूत्र में मिलाकर, अर्थात् ४ गुना गोमूत्र डालकर पकावें। चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर द्रव को छानकर पृथक् कर लें। इस छने हुए द्रव क्वाथ में कुटजफल (इन्द्रयव) व मदनफल, नागरमुस्तक एवं पाठा का कल्क मिलावें। तत्पश्चात् उसमें सैन्धव नमक, यवक्षार, मधु एवं तैल मिलाकर बस्तिपुटक में भरकर बस्ति दें।

उपयोग– अधोलिखित व्याधियों में इस बस्ति का प्रयोग करना चाहिए–

१. कफ जनित व्याधियाँ (Diseases caused by kapha)।

२. बस्ति के आश्रित रोगों का होना।

३. आटोप (उदर का फूलना- Flatulence)।

४. वायु एवं शुक्र की रुकावट का होना, यह अवस्था अपान वायु की विकृति से उत्पन्न होती है।

५. पाण्डुरोग (Anaemia), अजीर्ण (Indigestion), विसूचिका (Choleric diarrhoea) एवं अलसक (Intestinal torpor- आंत्रिक गति का अवरुद्ध होना, Torpor- the state of not being active)।

इस बस्ति के प्रयोग से उपरोक्त व्याधियाँ प्रशमित हो जाती हैं।

चक्रपाणि– सतित्तिरिरित्यादिक एकैकयोगेन वक्ष्यमाणानामेकोनत्रिंशतां बस्तीनां मध्ये त्रयोदशः– 'सत्तित्तिरिरित्यादि' के द्वारा एक-एक योग के रूप में आगे वर्णित होने वाले कुल उनतीस बस्तियों में से यह तेरहवाँ योग है। अर्थात् तेरहवीं यापना-बस्ति है। द्विपञ्चमूलीत्यादि से निर्मित योग १४वीं बस्ति है। 'मयूरंपित्तपक्षेत्यादि' से १५वीं बस्ति का अभिधान किया गया है।

'कल्पश्चैष इत्यादि' के द्वारा आतिदेशिक ११५ यापना बस्तियों का उल्लेख किया गया है। विष्किर वर्ग का उल्लेख 'लावो वर्तीरकश्चैव' आदि से लेकर 'वारडश्चेति विष्किराः' तक (सू.अ. २७/४७-४९) के द्वारा किया गया है। इस वर्ग में- १ लाव, २. वर्तीरक, ३. वार्तीक, ४. कपिञ्जल, ५. चकोर, ६. उपचुक्र, ७. कुक्कुभ, ८. रक्तवर्त्मक, ९. वर्तिका, ११. बर्हि, १२. तित्तिर, १३. कुक्कुट, १४. कङ्ग, १५. शारपद, १६. इन्द्राभ, १७. गोनर्द, १८. गिरिवर्तका, १९. क्रकर, २०. अवकर, २१. वारड; कुल २१. पक्षियों का वर्णन किया गया है। मयूर विष्किर के अन्तर्गत आते हुए भी यहाँ पूर्व वर्णित होने से उसकी गणना नहीं की गयी है। क्योंकि मयूर के योग का विवेचन पूर्व में किया गया है। अतः विष्किर वर्ग से यापना बस्तियों का निर्माण करना चाहिए। [विष्किर के अन्तर्गत उन पक्षियों को रखा गया है जो बिखेर कर खाते हैं।]

Scanned by CamScanner

प्रतुद (जो पक्षी अपना भोजन चोंच से बार-बार कुतर-कुतर कर खाते हैं, उन्हें प्रतुद वर्ग के अन्तर्गत रखा गया है।) का विवेचन शतपदो इत्यादि के द्वारा सूत्र स्थान (अ. २७/५०-५२) में किया गया है। इसके अन्तर्गत तीस पक्षियों की गणना की गयी है, यथा– १. शतपत्र (कठफोड़वा), २. भृंगराज, ३. कोयष्टि, ४. जीवजीवक, ५. कैरात, ६. कोकिल (कोयल), ७. अत्यूह (डाहुक), ८. गोपापुत्र, ९. प्रियात्मज, १०. लट्टा, ११. लट्टषक, १२. बभ्रु, १३. वटहा, १४. डिण्डिमानक, १५. जटी, १६. दुन्दुभि, १७. पाक्कार, १८. लोहपृष्ठ, १९. कुलिङ्गक, २०. कपोत, २१. शुक, २२. शारङ्ग, २३. चिरटी, २४. कङ्कयष्टिका, २५. सारिका, २६. कलविङ्क, २७. चटक, २८. अङ्गार चूडक, २९. पारावत, ३०. पाण्डविक; इनके द्वारा वस्ति के तीस योग बनते हैं। गोखराश्वतर इत्यादि के द्वारा (सू.अ. २७/३५-३६) प्रसह वर्ग के प्राणियों का वर्णन किया गया है। इस वर्ग के पशु-पक्षियों में– १. गाय, २. गधा (Ass), ३. अश्वतर (खच्चर), ४. उष्ट्र (Camel), ५. अश्व (Horse), ६. द्वीपी (चीता-Panther), ७. सिंह (Lion), ८. रीक्ष (भालू-bear), ९. वानर (Monkey), १०. वृक (Wolf), ११. व्याघ्र (Tiger), १२. तरक्षु (Hyena), १३. बभ्रु (नेवला), १४. मार्जार (Cat), १५. मूषक (चूहा), १६. लोपाक (लोमड़ी- Fox), १७. जम्बूक (Jackal), १८. बाज या श्येन, १९. वान्ताद (कुत्ता- अपने किये हुए वमन को खाने वाला), २०. चाष (नीलकण्ठ), २१. वायस (कौआ), २२. शशघ्नी (Golden eagle), २३. मधुहा, २४. भास (सफेद वर्ण का चील), २५. गीध, २६. उल्लू, २६. कुलिङ्गक (Sparrow nawk), २८. धूमिका, २९. कुरर; की गणना की गयी है। इनके द्वारा बस्ति के २९ योग बनते हैं।

अम्बुचर (वारिचर) वर्ग का अभिधान 'हंस इत्यादि' के द्वारा सूत्रस्थान (२७/४१-४४) में किया गया है, जिसके अन्तर्गत– १. हंस, २. क्रौंच, ३. बलाका (छोटा बगुला), ४. बक (सामान्य बगुला), ५. कारण्डव (काला बगुला), ६. प्लव (सारस की एक जाति), ७. शरारि, ८. पुष्कराह्व, ९. केशरी, १०. मणितुण्डक, ११. मृणालकण्ठ, १२. मद्गु, १३. कादम्ब, १४. काकतुण्डक, १५. उत्क्रोश, १६. पुण्डरीकाक्ष, १७. मेघरव, १८. अम्बु कुक्कुटी, १९. आरा, २०. नन्दी मुखी, २१. वाटी, २२. सुमुखा, २३. सहचारी, २४. रोहिणी, २५. लाल सिर वाला सारस, २६. कामकाली, २७. चक्रवाक (चकवा) पक्षी की गणना की गयी है। इनसे बस्ति के २७ योग बनते हैं।

रोहित मत्स्य आदि के द्वारा नव योग बनते हैं, यथा– १. मत्स्य (रोहित मछली), २. शिशुमार (सूंस), ३. तिमिङ्गिल, ४. शुक्ति, ५. शंख, ६. उद्र (Cat fish), ७. कुम्भीर (घड़ियाल), ८. चुलुकी (छोटा सूंस अथवा सूंस का बच्चा) ९. मकर (मगर)।

इस प्रकार कुल बस्ति के ११५ योग होते हैं। [विष्किर वर्ग के- २०, प्रतुद वर्ग के- ३०, प्रसह वर्ग से- २९, वारिचर वर्ग से- २७ तथा मत्स्य वर्ग (कछुआ व केकड़ा को छोड़कर) से ९ योग, कुल ११५ बस्ति योग बनते हैं।] 'अक्षीर इति' का सम्बन्ध रोहितादि से है। अर्थात् रोहित मछली आदि के योग से निर्मित बस्ति में दूध का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

गोधानकुलेत्यादिभिः प्रत्येकं गणनीयेषु षोडशः– गोधा आदि के द्वारा निर्मित होने वाली बस्ति गणना क्रम में १६वीं बस्ति है। यहाँ गोधा आदि सभी के मांस का ग्रहण करना चाहिए।

'कुर्मादीनामन्यतमेत्यादि' से १७वीं यापना बस्ति का उल्लेख किया गया है। यहाँ कुर्मादि प्राणियों में से किसी एक प्राणि के मांस से बस्ति का निर्माण करना चाहिए। जबकि इस वर्ग के अन्तर्गत ११ प्राणियों की गणना की गयी है।

तत्र यः प्रायः कूर्मेण क्रियते स प्रत्येकं गणनायां प्रविशति– वहाँ जो प्रायः (अधिकतर) कूर्म के मांसरस से बनाया जाता है। इसलिए यह योग २९ यापना बस्ति के योगों में से एक है। अर्थात् कूर्म (कछुए) के मांसरस से निर्मित होने वाली यह बस्ति यहाँ वर्णित २९ बस्तियोगों में से मुख्य योग है। कर्कटादिभिस्त्वादिग्रहणगृहीतैर्वे दश बस्तयो भवन्ति ते आतिदेशिका ज्ञेयाः– इसी प्रकार कर्कटादि दस प्राणियों के मांस से अलग-अलग कुल दस बस्तियाँ बनती है, वे सभी अतिदेशिक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

'गोवृषबस्तादि' इसके द्वारा १८वीं बस्ति की गणना की गयी है। गोवृषः पुंवृषः= बैल या सांड। कर्कटकादि के द्वारा उन्नीसवीं बस्ति का अभिधान किया गया है। 'इत्येते बस्तय इति' से कर्कटक मांसरस अथवा चटक (गौरैया) के अण्डे के रस से बस्ति का निर्माण करना चाहिए, यह भाव लेना चाहिए। 'उच्चटक' से उच्चटा (श्वेत गुञ्जा) नाम से प्रसिद्ध द्रव्य का ग्रहण है। [वृष्य कार्य हेतु इसके मूल का ग्रहण करना चाहिए, इसके बीज का प्रयोग शोधन के पश्चात् ही करना चाहिए। बीज को गोदुग्ध में उबाल देने पर शुद्ध हो जाता है।] इक्षुरक= तालमखाना। 'दशमूलीत्यादि' के द्वारा बीसवें योग का अभिधान किया गया है। मृगविष्किरेत्यादि से आतिदेशिक **उनसठ** (५९) योगों की संख्या पूर्ण होती है, अर्थात् इनसे ५९ योग बनते हैं। मृग 'पृषतः शरभो' इत्यादि (सू.अ. २७/४५-४६) के द्वारा संख्या में १७ बताये गये हैं। इनसे १७ योग बनते हैं। लाव आदि विष्किर वर्ग से मयूर व कुक्कुट को छोड़कर १९ योग बनते हैं। आनूप वर्ग से ९ योग, यथा– १. सृमर (जंगली सूअर), २. चमर (एक प्रकार का हिरण), ३. खड्ग (गैंडा), ४. माहिष (भैंस), ५. गवय (नील गाय), ६. हाथी,

Scanned by CamScanner

७. न्यङ्कु (एक प्रकार का हिरण), ८. वराह (Hog), ९. रुरु (बारहसिंगा) के मांस से नव योग बनते हैं। बिलेशय प्राणियों यथा– १. श्वेत, २. श्याम, ३. चित्रपृष्ठ, ४. कालक; ये चार काकुली मृग के भेद हैं। ५. कूर्चिका, ६. चिल्लट, ७. भेक, ८. गोधा, ९. गण्डक १०. कदली, ११. नकुल, १२. शल्लक, १३. श्वाविद्, १४. (?) से कुल १४ योग बनते हैं। इस प्रकार मृग, विष्किर आनूप एवं विलेशय वर्ग से कुल ५९ योग बनते हैं। 'मधुघृतेत्यादि' के द्वारा इक्कीसवें योग को बताया गया है। 'सद्योघृततैलेत्यादि' से २२सवें योग को स्पष्ट किया गया है। मधुतैलमित्यादि से २३वें योग का विवेचन है। 'तद्वन्मधु घृताभ्यामिति' से २४वें योग को स्पष्ट किया गया है।

एतदन्ताः षट् प्रयोगाः उक्ता मधुतैलप्रधानत्वात् माधुतैलिका ज्ञेयाः– अन्त में छः योग बताये गये हैं जिसमें मधु व तैल की प्रधानता है। इस कारण उनको माधुतैलिक बस्ति कहा जाता है।

कुछ आचार्य 'द्विपञ्चमूलीत्यादि' से पठित योग का यहाँ ग्रहण नहीं करते। क्योंकि उसको स्वीकार करने पर बस्तियों की संख्या बढ़ जाती है तथा इस योग का विवेचन बस्तिसूत्रीयासिद्धि अध्याय (सि.अ. ३) में किया जा चुका है। इसलिये उसे यहाँ स्वीकार नहीं किया गया है। ॥१८॥

अत ऊर्ध्वं वृष्यतमान् स्नेहान् वक्ष्यामः।

शतावरीगुडूचीक्षुविदार्यामलकद्राक्षाखर्जूराणां यन्त्रपीडितानां रसप्रस्थं पृथगेकैकं तद्वद्घृततैलगोमहिष्यजाक्षीराणां द्वौ द्वौ दद्यात्, जीवकर्षभकमेदामहामेदात्वक्क्षीरीशृङ्गाटकमधूलिकामधुकोच्चटापिप्पलीपुष्करबीजनीलोत्पलकदम्बपुष्यपुण्डरीककेशरकल्कान् पृषततरक्षुमांसकुक्कुट-चटकचकोरमत्ताक्षबर्हिजीवञ्जीवकुलिङ्गहंसाण्डरसवसामज्जादेश्च प्रस्थं दत्त्वा साधयेत्। ब्रह्मघोषशङ्खपटहभेरीनिनादैः सिद्धं सितच्छत्रकृतच्छायं गजस्कन्धमारोपयेद्भगवन्तं वृषध्वजमभिपूज्य, तं स्नेहं त्रिभागमाक्षिकं मङ्गलाशीःस्तुतिदेवतार्चनैर्बस्तिं गमयेत् । नृणां स्त्रीविहारिणां नष्टरेतसां क्षतक्षीणविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां वन्ध्यानां रक्तगुल्मिनीनां मृतापत्यानामनार्तवानां च स्त्रीणां क्षीणमांसरुधिराणां पथ्यतमं रसायनमुत्तमं वलीपलितनाशनं विद्यात् (१);

वृष्यतम स्नेह बस्तियाँ– इसके बाद वृष्यतम स्नेह बस्तियों का विवेचन किया जा रहा है–

१. चतुः स्नेह अनुवासन बस्ति– शतावरी, गुडूची, इक्षु (ईख), विदारीकन्द, आँवला, द्राक्षा एवं खर्जूर; इन सभी द्रव्यों का स्वरस अलग-अलग १-१ प्रस्थ (६४ तोले) मात्रा में ग्रहण करें। [इन द्रव्यों के स्वरस को कोल्हू (लोहे के कोल्हू) में पेरकर निकालना चाहिए।] गोघृत- २ प्रस्थ, तिल तैल- २ प्रस्थ, गाय का दूध- २ प्रस्थ, भैंस का दूध- २ प्रस्थ, बकरी का दूध- २ प्रस्थ ग्रहण करें। कल्क द्रव्य के रूप में जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, त्वक् क्षीरी (वंशलोचन), शृंगाटक (सिंघाड़ा), मधूलिका [A mountain species of the Bassia latifolia-महुए की एक प्रजाति जो पर्वतों पर पायी जाती है। -M.M. William sanskrit- English Dictionary], मधुक (यष्टीमधु), उच्चटा (श्वेतगुञ्जा) की जड़, पिप्पली, पुष्करबीज (कमलगट्टा), नीलकमल, कदम्ब का पुष्प, पुण्डरीक (लालकमल), केशर (नागकेशर); इन द्रव्यों का प्रयोग करें, अर्थात् इन द्रव्यों का कल्क बनावें। मृग का मांस- १ प्रस्थ, तरक्षु (व्याघ्र विशेष) का मांस- १ प्रस्थ, ग्रहण करें। कुक्कुट, चटक, चकोर (चकवा), मत्ताक्ष (कोयल), बर्हि (मोर), जीवञ्जीव, कुलिङ्ग, हंस; इन पक्षियों के अण्डों का रस- १ प्रस्थ, वसा- १ प्रस्थ एवं मज्जा- १ प्रस्थ ग्रहण करें। अब सभी द्रव्यों को एक पात्र में डालकर मन्दाग्नि पर स्नेह को सिद्ध करें अथवा पकावें। स्नेहपाक के समय ब्रह्मघोष, शंख, पटह, भेरी को बजाते हुए श्वेत छत्रधारी हाथी पर विराजमान भगवान शङ्कर को पूजित करके स्नेह को सिद्ध कर लें। इस सिद्ध स्नेह में स्नेह की मात्रा का तृतीयांश मधु मिलावें। इसके बाद मंगल, आशीर्वादात्मक मन्त्रों के द्वारा देवताओं की अर्चना करते हुए इस सिद्ध स्नेह की बस्ति दें।

लाभ– अधोलिखित व्याधियों में इस बस्ति का प्रयोग हितकारी होता है–

१. जो व्यक्ति नित्य स्त्री सेवन करते हैं, अर्थात् अत्यधिक मैथुन करने वाले पुरुष।

२. अत्यधिक शुक्रक्षय के रोगी (Person suffering from loss of semen) ।

३. क्षतक्षीण (Phthisis) एवं विषमज्वर (Irregular fever) के रोगी।

४. योनिव्यापद् (Gynecie disorders), बन्ध्या रोगी (Sterility) व रक्तगुल्म के रोगी।

५. जिस स्त्री की संतान मृत उत्पन्न होती हो।

६. अनार्तव (Amenorrhoea) का रोगी तथा जिसके मांस व रक्त क्षीण हो गये हों ।

उपरोक्त अवस्थाओं में इस बस्ति का प्रयोग अत्यन्त हितावह होता है। यह बस्ति रसायन गुणों को उत्पन्न करती है, अर्थात् व्यक्ति को दीर्घायु बनाती है। इसके प्रयोग से शरीर पर झुर्रियों का पड़ना (वलि- Wrinkles on the skin) एवं बालों का पकना या भूरा होना बन्द हो जाता है।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'अत ऊर्ध्वमित्यादि' के द्वारा तीन स्नेह वस्तियों के लिए यहाँ तीन स्नेहों का अभिधान किया गया है । मताक्ष= कोकिल। जीवञ्जीव- ऐसा पक्षी जो विष के दर्शन मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। पुष्कराक्षः= हंस का एक विशेष भेद, अथवा हंस का एक प्रकार। ब्रह्मघोष= वेदध्वनि= वेदपाठ का होना, यहाँ ब्रह्मघोष (वेदपाठ), शङ्ख, पटह (नगाड़े) आदि की ध्वनि का प्रभाव अद्भुत होता है जो अदृष्ट रूप उपकारी होती है, जिसका प्रयोग रक्षा आदि विधानों तथा वीर्य आदि के अपहरण के लिए किया जाता है।(१)

बलागोक्षुरकरास्नाश्वगन्धाशतावरीसहचराणां शतं शतमापोथ्य जलद्रोणशते प्रसाध्यं, तस्मिन् जलद्रोणावशेषे रसे वस्त्रपूते विदार्यामलकस्वरसयोर्बस्तमहिषवराहवृषकुक्कुटबर्हिहंसकारण्डवसारसाण्डरसानां घृततैलयोश्चैकैकं प्रस्थमष्टौ प्रस्थान् क्षीरस्य दत्त्वा चन्दनमधुकमधूलिकात्वक्क्षीरीबिसमृणालनीलोत्पलपटोलात्मगुप्तान्नपाकितालमस्तकखर्जूरमृद्वीकातामलकीकण्टकारीजीवकर्षभकक्षुद्रसहामहासहाशतावरीमेदापिप्पलीह्रीबेरत्वक्पत्रकल्कांश्च दत्त्वा साधयेत् । ब्रह्मघोषादिना विधिना सिद्धं बस्तिं दद्यात् । तेन स्त्रीशतं गच्छेत्; न चात्रास्ते विहाराहारयन्त्रणा काचित्। एष वृष्यो बल्यो बृंहण आयुष्यो वलीपलितनुत् क्षतक्षीणनष्टशुक्रविषमज्वरार्तानां व्यापन्नयोनीनां च पथ्यतमः (२);

२. बलादि यमक अनुवासन बस्ति– (बलादि यमक निर्माण विधि)

क. क्वाथ्य द्रव्य– बला की जड़, गोखरू, रास्ना, अश्वगंधा, शतावरी, सहचर (कटसरैया); सभी द्रव्यों को १००-१०० पल ग्रहण करें। कुल मात्रा ६०० पल लेकर यवकुट कर ले एवं इसे १०० द्रोण जल में पकावें। जब एक द्रोण द्रव शेष बचे तब उसे छान कर अलग पात्र में रख लें। अर्थात् बलादि का क्वाथ- १ द्रोण (३२ प्रस्थ) लें।

ख. अन्य द्रव पदार्थ–

- विदारीकन्द स्वरस- १ प्रस्थ,
- आमलकी स्वरस- १ प्रस्थ,
- बकरे के अण्डकोष का मांसरस- १ प्रस्थ,
- भैंसे के अण्डकोष का मांसरस- १ प्रस्थ,
- सूअर के अण्डकोष का मांसरस- १ प्रस्थ,
- बैल के अण्डकोष का मांसरस- १ प्रस्थ,
- कुक्कुट के अण्डे का रस- १ प्रस्थ,
- मयूर के अण्डे का रस- १ प्रस्थ,
- हंस के अण्डे का रस- १ प्रस्थ
- कारण्डव के अण्डे का रस- १ प्रस्थ,
- सारस के अण्डे का रस- १ प्रस्थ,

ग. गोघृत- १ प्रस्थ, तिल तैल- १ प्रस्थ, गोदुग्ध- ८ प्रस्थ, ग्रहण करें।

घ. कल्क द्रव्य एवं निर्माण विधि– रक्तचन्दन, यष्टीमधु (मुलेठी), मधूलिका, वंशलोचन, बिस (कमल की डण्डी), मृणाल, नीलकमल, पटोलपत्र (परवल की पत्ती), आत्मगुप्ता (केंवाच) का बीज, अन्नपाकी (ओदनपाकी= नील झिण्टी, नीले पुष्प वाली कटसरैया- गंगाधर), तालमस्तक (ताल की बाल), खर्जूर, मृद्वीका (मुनक्का), भूई आँवला, कण्टकारी, जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी), महासहा (माषपर्णी), शतावरी, मेदा, पिप्पली, ह्रीबेर, त्वक् (दालचीनी), पत्र (तेजपत्र); इन सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें।

अब क्वाथ एवं क्रमांक ख व ग में निर्दिष्ट पदार्थों तथा कल्क द्रव्यों को एक बड़े पात्र में लेकर विधिपूर्वक स्नेह सिद्ध करें। स्नेह पाक करते समय ब्रह्मघोष आदि की विधि का पालन करते हुए स्नेह को सिद्ध करना चाहिए। सिद्ध स्नेह में तृतीयांश (१/३ भाग) मधु मिलाकर बस्ति देनी चाहिए।

लाभ– १. इस बस्ति के प्रयोग से पुरुष सौ स्त्रियों के साथ समागम करने में समर्थ हो जाता है, अर्थात् उसकी मैथुन क्षमता अत्यधिक बढ़ जाती है।

२. इस बस्ति के प्रयोग काल में आहार-विहार का कोई नियम नहीं है, अर्थात् पथ्यापथ्य पालन की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती।

३. इस बस्ति के सेवन से काम शक्ति की अत्यधिक वृद्धि होती है।

४. यह बल्य (बलवर्धक), बृंहण (शरीर धातुओं को पुष्ट करने वाला), आयुष्य (आयुवर्धक) एवं वली (Wrinkles on the skin- शरीर पर झुर्रियों का पड़ना), पलित (बालों का भूरा होना अथवा पकना) नाशक है।

५. यह बस्ति क्षतक्षीण (Phthisis), शुक्र का नष्ट होना (शुक्राल्पता- शुक्राणुओं की कमी या गति में कमी), विषमज्वर तथा योनिव्यापद् के रोगियों के लिए अत्यन्त हितकर है।

चक्रपाणि– बलेत्यादि के द्वारा द्वितीय अनुवासन तैल का अभिधान किया गया है। (२)

Scanned by CamScanner

सहचरपलशतमुदकद्रोणचतुष्टये पक्त्वा द्रोणशेषे रसे सुपूते विदारीक्षुरसप्रस्थाभ्यामष्टगुणक्षीरं घृततैलप्रस्थं बलामधुकमधूकचन्दनमधूलिका-सारिवामेदामहामेदाकाकोलीक्षीरकाकोलीपयस्यागुरुमञ्जिष्ठाव्याघ्रनखशटीसहचरसहस्रवीर्यावराङ्गलोध्राणामक्षमात्रैर्द्विगुणशर्करैः कल्कैः साधयेत् । ब्रह्मघोषादिना विधिना सिद्धं बस्तिं दद्यात् । एष सर्वरोगहरो रसायनो ललितानां श्रेष्ठोऽन्तःपुरचारिणीनां क्षतक्षयवातपित्तवेदनाश्वासकासहरस्त्रिभाग-माक्षिको वलीपलितनुद्वर्णरूपबलमांसशुक्रवर्धनः (३);

इत्येते रसायनाः स्नेहबस्तयः सति विभवे शतपाकाः सहस्रपाका वा कार्या वीर्यबलाधानार्थमिति ।।१९।।

३. सहचरादि अनुवासन बस्ति– (सहचरादि अनुवासन स्नेह साधन विधि)–

क. क्वाथ्य द्रव्य– सहचर (कटसरैया)- १०० पल लेकर यवकुट कर लें। अब इसको ४ द्रोण (१२८ प्रस्थ) जल में पकावें। चतुर्थांश द्रव अवशिष्ट बचने पर क्वाथ को छानकर अलग पात्र में रख लें। इस प्रकार बने हुए क्वाथ (Decoction) की मात्रा १ द्रोण (३२ प्रस्थ) होती है।

ख. अन्य द्रव पदार्थ– विदारीकन्द स्वरस- १ प्रस्थ, ईख का रस- १ प्रस्थ, गाय का दूध- ८ प्रस्थ, गोघृत- १ प्रस्थ, तिल तैल- १ प्रस्थ।

ग. कल्क द्रव्य– बलामूल, यष्टीमधु (मुलेठी), महुए का पुष्प, रक्तचन्दन, मधूलिका (जल यष्टीमधु या जल मुलेठी), सारिवा, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, पयस्या (क्षीरविदारी), अगरु (अगर), मञ्जिष्ठा, नखी, शटी (कचूर), कटसरैया, सहस्रवीर्या (दूर्वा), दालचीनी एवं लोध्र; सभी द्रव्यों को बराबर-बराबर मात्रा में लेकर कल्क बना लें। प्रत्येक द्रव्य १-१ कर्ष तथा चीनी २ कर्ष ग्रहण करें।

पूर्वोक्त सभी द्रव्यों को एक पात्र में लेकर विधिपूर्वक स्नेह सिद्ध करें। ब्रह्मघोष आदि का विधान पूर्वोक्त विधि के अनुसार यहाँ भी पालन करते हुए बस्ति देनी चाहिए। स्नेह में तृतीयांश मधु मिलाकर बस्ति का प्रयोग करें।

उपयोग–

१. इस बस्ति के प्रयोग से सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

२. यह बस्ति रसायन गुणों को उत्पन्न करती है। अर्थात् इसके सेवन से रसादि धातुएं सम्यक् रूप से पुष्ट होती हैं।

३. अन्तःपुर में निवास करने वाली सुन्दर स्त्रियों के लिए भी यह बस्ति अत्यन्त उपयोगी है।

४. इस बस्ति के प्रयोग से क्षतक्षीण (Phthisis), वायु एवं पित्त के कारण होने वाली वेदना, श्वास व कास रोग दूर हो जाते हैं।

५. यदि इस बस्ति में अर्थात् अनुवासन हेतु प्रयुक्त स्नेह में स्नेह का १/३ भाग मधु मिलाकर बस्ति दी जाय तब यह वली (त्वचा पर झुर्रियों का पड़ना) व पलित (बालों का भूरा होना) रोग को दूर करती है।

६. यह बस्ति व्यक्ति के वर्ण (Complexion), रूप (सुन्दरता), बल, मांस एवं शुक्र को बढ़ाती है। (३)

स्नेह का शत या सहस्र बार पाक करना– यदि रोगी के पास धन की उपलब्धता है तब उपरोक्त तीन रसायन स्नेह बस्तियों का (बस्ति हेतु प्रयुक्त स्नेहों का) सौ या हजार बार पाक करना चाहिए। ऐसा करने से स्नेह के गुणों में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अतः स्नेह के वीर्य एवं बल में वृद्धि हेतु उनका १०० या हजार बार अवश्य पाक करना चाहिए।

चक्रपाणि– 'सहचरपलशतमिति' से तृतीय अनुवासन स्नेह का अभिधान किया गया है। सहस्रवीर्या= दूर्वा (दूब घास) अर्थ लिया गया है। वराङ्गं= गुडत्वक् (दालचीनी) 'शतपाकाः सहस्रपाकाश्चेति'– 'शतपाक एवं सहस्रपाक' से कुछ लोग स्नेह को सौ गुने या हजार गुने द्रव से एक बार में ही सिद्ध करने का निर्देश देते हैं।

(सौ गुना या हजार गुने द्रव का अभिप्राय स्नेह पाक में निर्धारित द्रव के मान का सौ गुने अथवा हजार गुने द्रव से है।) ।।१९।।

भवन्ति चात्र–

इत्येते बस्तयः स्नेहाश्चोक्ता यापनसंज्ञिताः । स्वस्थानामातुराणां च वृद्धानां चाविरोधिनः ।।२०।।
अतिव्यवायशीलानां शुक्रमांसबलप्रदाः । सर्वरोगप्रशमनाः सर्वेष्वृतुषु यौगिकाः ।।२१।।
नारीणामप्रजातानां नराणां चाप्यपत्यदाः । उभयार्थकरा दृष्टाः स्नेहबस्तिनिरूहयोः ।।२२।।

यापना संज्ञक स्नेह बस्तियों के गुण– इस प्रकार यहाँ यापना संज्ञक स्नेह बस्तियों के विधान को स्पष्ट किया गया है। ये बस्तियाँ स्वस्थ, आतुर एवं वृद्ध पुरुषों के लिए हानिकर नहीं होती, अर्थात् अत्यन्त उपयोगी होती हैं। जो व्यक्ति अत्यधिक व्यवायशील हैं, इसके प्रयोग से उनमें शुक्र, मांस एवं बल की वृद्धि होने लगती है। यह बस्ति सभी प्रकार के व्याधियों को प्रशमित करती है। इसका प्रयोग सभी

Scanned by CamScanner

ऋतुओं में करना चाहिए। अप्रजाता नारियों में इस वस्ति के प्रयोग से पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह वस्ति स्नेहन व शोधन दोनों ही कार्यों को करती है। अर्थात् यह शरीर को स्निग्ध भी करती है, इसके साथ-साथ दोषों को निकालने का भी कार्य करती है।

चक्रपाणि– उभयार्थकरा दृष्टा इति- यापना वस्ति-स्नेह वस्ति के साथ-साथ निरूह के भी विषय (कार्य) को सिद्ध करती है। अर्थात् शरीर का स्नेहन व शोधन दोनों ही कार्य इसके द्वारा सम्पन्न होता है, यह भाव है। ॥२०-२२॥

व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बु च । संभोजनं रथक्षोभो बस्तिष्वेतेषु गर्हितम् ।।२३।।

बस्ति प्रयोग काल में अपथ्य– यापना बस्ति के प्रयोग काल में अधोलिखित विषयों का त्याग करना चाहिए–

१. व्यायाम करना (Physical exercise)।

२. मैथुन करना (Sexual intercourse)।

३. मद्य का सेवन (Intake of Alcohol)।

४. अत्यधिक शीतल जल का पान (Intake of excessive cold water)।

५. अत्यधिक भोजन करना (To take excessive diet)।

६. क्षोभक सवारियों पर बैठना, यथा- इक्का (टांगा) आदि।

७. मद्य के अन्य भेदों का सेवन, यथा- मधु से निर्मित मद्य।

चक्रपाणि– 'व्यायाम इत्यादि' के द्वारा यापना बस्ति में 'निषिद्ध' आहार-विहार का वर्णन किया गया है। ॥२३॥

तत्र श्लोकाः–

शिखिगोनर्दहंसाण्डैर्दक्षवद्वस्तयस्त्रयः । विंशतिर्विष्किरैस्त्रिंशत्प्रतुदैः प्रसहैर्नव ।।२४।।
विंशतिश्च तथा सप्तविंशतिश्चाम्बुचारिभिः । नव मत्स्यादिभिश्चैव शिखिकल्पेन बस्तयः ।।२५।।
दश कर्कटकाद्यैश्च कूर्मकल्केन बस्तयः । मृगैः सप्तदशैकोनविंशतिर्विष्किरैर्नव ।।२६।।
आनूपैर्दक्षशिखिवद्भूशयैश्च चतुर्दश । एकोनत्रिंशदित्येते सह स्नेहैः समासतः ।।२७।।
प्रोक्ता विस्तरशो भिन्ना द्वे शते षोडशोत्तरे । एते माक्षिकसंयुक्ताः कुर्वन्त्यतिवृषं नरम् ।।२८।।
नातियोगं न वाऽयोगं स्तम्भितास्ते च कुर्वते ।

यापना बस्तियों का संक्षेप में वर्णन– इस प्रकार यहाँ तीन स्नेह की बस्तियों को लेकर कुल २९ यापना बस्तियों का संक्षेप में उल्लेख (इस अध्याय में) किया गया है, जिसका विस्तृत उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

१. मोर, गोनर्द (सारस की आकृति का एक पक्षी जो भूमि पर विचरण करता है) तथा हंस के अण्डे के रस से कुक्कुटाण्ड रस से बनने वाली यापना बस्ति के समान ३ (तीन) बस्तियाँ।

२. विष्किर पक्षियों के मांसरस से बनने वाली यापना बस्तियाँ– २० (मयूर को छोड़कर)।

३. प्रतुद पक्षियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– ३०

४. प्रसह प्राणियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– २९

५. अम्बुचर (जलचर) पक्षियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– २७

६. मयूर कल्पानुसार मत्स्य आदि से बनने वाली बस्तियाँ– ९

७. कर्कट (केकड़े) आदि के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– १० (यह बस्ति कूर्म कल्प के अनुसार बनती है।)

८. कुक्कुट व मयूर कल्प के अनुसार मृगों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– १७

९. विष्किर पक्षियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– १९

१०. आनूप प्राणियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– ९

११. दक्ष (मुर्गा) एवं मयूर के अनुसार भूशय या विलेशय प्राणियों के मांसरस से बनने वाली बस्तियाँ– १४

१२. इस प्रकार तीन स्नेह बस्तियों के साथ, प्रधान रूप से कही गयी यापना बस्तियाँ कुल २९ होती हैं। इन्हीं का विस्तार यहाँ

Scanned by CamScanner

अलग-अलग किया गया है, जिसका कुल योग २१६ होता है, यदि इन बस्तियों में मधु मिलाकर प्रयोग किया जाय तब इसके प्रयोग से पुरुष में वृषता की अत्यधिक वृद्धि होती है, अर्थात् पुरुष की मैथुन क्षमता अत्यधिक बढ़ जाती है। मधु के साथ प्रयुक्त होने से अयोग, अतियोग एवं स्तम्भन (बस्ति द्रव के पक्वाशय में रुक जाने) का भय नहीं रहता।

चक्रपाणि– 'शिखिगोनर्देत्यादि' के द्वारा पूर्व बतायी गयी बस्तियों का सङ्ग्रह किया गया है। सङ्ग्रहार्थश्च पूर्वमेव व्याहृतः– सङ्ग्रह में वर्णित विषयों का विवेचन पूर्व में किया जा चुका है ।

एकोनत्रिंशदित्येते इति– इस प्रकार तीन स्नेह की बस्तियों को मिलाकर यहाँ कुल २९ बस्तियाँ होती हैं। इन्हें लेकर विस्तार से बस्तियों की कुल संख्या **२१६** होती है जिसे 'द्वे शते षोडशोत्तरे इति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। उसकी व्याख्या जिस प्रकार मेरे द्वारा की गयी उसी प्रकार यह संख्या भी पूरी होती है। **अतिवृषमिति–** शुक्र की अत्यधिक वृद्धि होना। **स्तम्भिताश्चेति–** मधु के अत्यधिक प्रयोग से बस्ति द्रव का पक्वाशय में रुक जाना, दोषादि के साथ बाहर न निकलना। ॥२४-२८॥

मृदुत्वान्न निवर्तन्ते यस्य त्वेते प्रयोजिताः ।।२९।।
समूत्रैर्बस्तिभिस्तीक्ष्णैरास्थाप्यः क्षिप्रमेव सः ।

बस्ति के वापस न लौटने पर कर्तव्य– प्रयोग की गयी यापना बस्ति मृदु होने के कारण कभी-कभी पक्वाशय से वापस नहीं लौटती, अर्थात् वहीं रुक जाती है। अतः उसे निकालने के लिए गोमूत्र मिश्रित तीक्ष्ण निरूह बस्ति का प्रयोग करना चाहिए। इसके प्रयोग से रुकी हुई बस्ति शीघ्र ही वापस आ जाती है।

चक्रपाणि– यापना बस्ति की अप्रवृत्ति में क्या करना चाहिए? इसे यहाँ 'मृदुत्वादित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है॥२९॥

शोफाग्निनाशपाण्डुत्वशूलार्शःपरिकर्तिकाः ।।३०।।
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थसेवनात् ।

यापना बस्ति के अत्यधिक सेवन के दोष– यापना बस्ति के अत्यधिक प्रयोग से व्यक्ति में अधोलिखित व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं–

- शोफ (Oedema),
- अग्निनाश (पाचन शक्ति का दुर्बल होना),
- पाण्डु रोग (Anaemia),
- शूल (Colic pain),
- अर्श (Piles),
- परिकर्तिका (Anal fissure),
- ज्वर (Fever),
- अतिसार (Diarrhoea),

चक्रपाणि– यापना बस्ति के अति प्रयोग से होने वाले दोष को यहाँ– 'शोफेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। ॥३०॥

अरिष्टक्षीरसीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया ।।३१।।
युक्त्या तस्मान्निषेवेत यापनान्न प्रसङ्गतः । इत्युच्चैर्भाष्यपूर्वाणां व्यापदः सचिकित्सिताः ।।३२।।
विस्तरेण पृथक् प्रोक्तास्तेभ्यो रक्षेन्नरं सदा ।

यापना बस्ति के अति प्रयोग से उत्पन्न उपद्रवों की चिकित्सा– यापना बस्ति के अति सेवन से होने वाले शोथ आदि उपद्रवों में अरिष्टपान, व्याधिनाशक औषधियों से साधित क्षीर व सीधु का पान एवं अग्निवर्धक औषधियों का प्रयोग करना चाहिए। यापना बस्तियों का अत्यधिक प्रयोग हानिकारक होता है, इसलिये उनका युक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिए।

महादोषकर प्रकरण का उपसंहार– इस प्रकार यहाँ उच्च स्वर में बोलने आदि महादोषकर भावों एवं उनकी चिकित्सा का विस्तार से विवेचन किया गया। अतः महादोषकर भावों से उत्पन्न होने वाले रोगों से रोगी की हमेशा रक्षा करनी चाहिए।

चक्रपाणि– शोफ आदि उपद्रवों की चिकित्सा को यहाँ 'अरिष्टेत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। तस्मादिति– यापना बस्ति के अति प्रयोग से शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

न प्रसङ्गत इति न अभ्यासतः सेवेत– यापना बस्तियों का अत्यधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए। **तेभ्यो रक्षेदिति–** उच्च भाष्यादि कारणों से होने वाले या उत्पन्न होने वाले व्याधियों से रोगी की रक्षा करनी चाहिए। ॥३१-३२॥

कर्मणां वमनादीनामसम्यक्करणापदाम् ।।३३।।
यत्रोक्तं साधनं स्थाने सिद्धिस्थानं तदुच्यते ।

Scanned by CamScanner

सिद्धिस्थान की निरुक्ति– वमन आदि क्रियाओं के असम्यक् प्रयोग से उत्पन्न व्याधियों (व्यापत्तियों) एवं उनकी चिकित्सा का वर्णन जिस स्थान में किया गया है, उस स्थान को **सिद्धि स्थान** कहते हैं।

चक्रपाणि– 'कर्मणामित्यादि' के द्वारा **सिद्धिस्थान** शब्द की निरुक्ति को स्पष्ट करते हुए सिद्धिस्थान में अभिधेय विषय को भी इसी वाक्य से स्पष्ट कर दिया गया है।

असम्यक्करणापदामिति वमनादीनामसम्यक् प्रयोगे जनितानामापदां; वमनादिव्यापत्प्रतिकारश्च सिद्धिस्थानार्थः प्रधानतयोपदर्शितः– वमनादि के असम्यक् (अनुचित) प्रयोग से उत्पन्न होने वाली व्यापत्तियाँ (उपद्रवों) तथा उनकी चिकित्सा का प्रतिपादन मुख्यरूप से सिद्धिस्थान में किया गया है। उससे वमनादि कल्पना का अभिधान भी अनागत वमनादि के व्यापत्तियों के निषेध के प्रयोजन को सिद्धिस्थान में कहना उचित ही है। ॥३३॥

विशेष (Comments)– In addition to the topics described in the text above, Siddhisthāna also deals with the preparation of recipes for emesis etc. and prevention of complications because of non-elemination of ingredients of the recipes– Dr. R.K. Sharma and Bhagvan Das.

इत्यध्यायशतं विंशमात्रेयमुनिवाङ्मयम् ॥३४॥
हितार्थं प्राणिनां प्रोक्तमग्निवेशेन धीमता ।

अग्निवेशतन्त्र में अध्यायों की संख्या– प्राणियों के हित (कल्याण) के लिए परम बुद्धिमान आचार्य अग्निवेश ने आत्रेय मुनि के साहित्य को १२० अध्यायों में प्रस्तुत किया है। अर्थात् अग्निवेशतन्त्र में कुल १२० अध्याय हैं।

चक्रपाणि– सिद्धिस्थान को समाप्त करके सम्पूर्ण तन्त्र का उपसंहार यहाँ– 'इत्यध्यायेत्यादि' से किया गया है। **आत्रेयमुनिवाङ्मयमिति अनुकृतात्रेयवचनमयम्–** आत्रेय मुनि के वाङ्मय को, यह शास्त्र (अग्निवेशतन्त्र) आत्रेय द्वारा ही उपदेशित है। अर्थात् भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने ही इस आयुर्वेद का उपदेश १२० अध्यायों में दिया, जिसे अग्निवेश ने लिपिबद्ध किया। ॥३४॥

दीर्घमायुर्यशः स्वास्थ्यं त्रिवर्गं चापि पुष्कलम् ॥३५॥
सिद्धिं चानुत्तमां लोके प्राप्नोति विधिना पठन् ।

संहिता के अध्ययन का फल– इस १२० अध्यायों वाली अग्निवेशतन्त्र (चरक-संहिता) का जो पुरुष विधि पूर्वक अध्ययन करता है वह दीर्घ आयु (लम्बा जीवन), सुयश, स्वास्थ्य (सुस्वास्थ्य) एवं त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ एवं काम) को पूर्ण रूप में प्राप्त करता है। इसके साथ ही वह इस लोक में उत्तम सफलता को प्राप्त करता है।

चक्रपाणि– 'दीर्घमायुरित्यादि' से इस संहिता (चरकसंहिता) के अध्ययन से क्या फल प्राप्त होता है, इसे स्पष्ट किया गया है। त्रिवर्गमिति– त्रिवर्ग से यहाँ धर्म, अर्थ एवं काम का ग्रहण किया गया है। पुष्कलमिति= मोक्ष, अथवा यह त्रिवर्ग के विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। [पुष्कल का अर्थ अत्यधिक अथवा उत्तम होता है– Much, many, copious, excellent or best. M.M. Williams] अर्थात् उत्तम रूप से धर्म, अर्थ एवं काम का पूर्ण होना, अर्थ गृहीत है।

सिद्धिमिति चिकित्सा प्रयोगसाध्यनिष्पादकत्वम्– साध्य व्याधियों की चिकित्सा में सफलता का प्राप्त होना, अर्थात् इस ग्रन्थ के सूत्रों का सम्यक् अध्ययन करने से व्यक्ति साध्य व्याधियों की चिकित्सा करने में समर्थ हो जाता है। विधिना पठत्रिति– रोगभिषग्जितीय अध्याय में वर्णित पाठ विधि, यथा– अध्ययन, अध्यापन आदि, के अनुसार चरकसंहिता का पाठ करने से व्यक्ति को विषयों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। **एतत्सविंशमध्यायशतं पठतः दीर्घायुर्लाभादयश्च एवं भूतपाठजनितधर्मवशादेव तथा पाठजनितशास्त्रावबोधपूर्वकशास्त्रानुष्ठानाच्च भवन्ति–** इस प्रकार १२० अध्यायों वाले अग्निवेशतन्त्र (चरकसंहिता) के सम्यक् अध्ययन से व्यक्ति को दीर्घायु आदि भावों की जो प्राप्ति होती है वह शास्त्र के पाठ जनित धर्म एवं शास्त्र ज्ञान पूर्वक शास्त्रोक्त विषयों के अनुसार आचरण करने से होती है। ॥३५॥

विस्तारयति लेशोक्तं संक्षिपत्यतिविस्तरम् ॥३६॥
संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम् । अतस्तन्त्रोत्तममिदं चरकेणातिबुद्धिना ॥३७॥
संस्कृतं तत्त्वसंपूर्णं त्रिभागेनोपलक्ष्यते । तच्छङ्करं भूतपतिं संप्रसाद्य समापयत् ॥३८॥
अखण्डार्थं दृढबलो जातः पञ्चनदे पुरे । कृत्वा बहुभ्यस्तन्त्रेभ्यो विशेषोञ्छशिलोच्चयम् ॥३९॥
सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरपूरयत् । इदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितम् ॥४०॥
षड्विंशता विचित्राभिर्भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः ।

प्रतिसंस्कर्ता के कार्य (Work of Redactor)– प्रतिसंस्कर्ता के अधोलिखित कार्य होते हैं–

Scanned by CamScanner

१. संक्षेप में कही गयी बात को विस्तृत रूप से कहना, अर्थात् शास्त्र में वर्णित संक्षिप्त विषयों को इस प्रकार बढ़ा कर कहना, जिससे पाठक को समझ में आ जाय।

२. अतिविस्तृत विषयों को संक्षेप में कहना। [कभी-कभी अति विस्तृत विषय भी अरुचि कर हो जाते हैं। ऐसे विषयों को सरल बनाकर कम शब्दों में कहना जिससे पाठक की समझ में आ जाय।]

३. पुराने विषयों का नवीनीकरण करना, अर्थात् शास्त्रोक्त विषयों को युगानुरूप प्रस्तुत करना।

उपरोक्त तीन कार्य प्रतिसंस्कर्ता (Redactor) के होते हैं।

संपूरित कर्ता दृढ़बल– संस्कर्ता के कार्यों के अनुसार परम बुद्धिमान आचार्य चरक ने उत्तम अग्निवेशतन्त्र का प्रतिसंस्कार किया। किन्तु आचार्य चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता का उस समय तीन भाग ही उपलब्ध था या प्राप्त होता था। उस अपूर्ण (एक भाग खण्डित) चरकसंहिता को भूतपति भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करके पञ्चनदपुर निवासी (पञ्चनदपुर में जन्म लेने वाले) आचार्य दृढ़बल ने पूरा किया।

अपूर्ण विषयों को पूर्ण करने की प्रक्रिया– चरकसंहिता के अपूर्ण एक भाग के विषयों को सुश्रुत आदि अनेक तन्त्रों से लिया गया है। ग्रहण करने की प्रक्रिया में शिलोञ्छवृत्ति (शिलवृत्ति एवं उञ्छवृत्ति) का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार चिकित्सा स्थान के १७ अध्याय कल्पस्थान के १२ तथा सिद्धिस्थान के १२ अध्यायों (कुल ४१ अध्याय) की पूर्ति मेरे (दृढ़बल) द्वारा की गयी है।

छत्तीस तन्त्र युक्तियाँ– यह शास्त्र (तन्त्र) शब्द एवं अर्थ के 'न्यून' दोष से रहित है। अर्थात् यह संहिता अपने आप में पूर्ण है। यह शास्त्र **'तन्त्र दोष'** (पुनरुक्त आदि दोष) से रहित है। यह अद्‌भुत ३६ (छत्तीस) तन्त्र युक्तियों द्वारा अलङ्कृत (सुशोभित) है।

चक्रपाणि– इस शास्त्र के प्रतिस्कार के हेतु को स्पष्ट करने के बाद, यह कार्य (संस्कार का कार्य) चरक व दृढ़बल द्वारा किया गया है, ऐसा दृढ़बल का कथन है, जिसे यहाँ 'विस्तारयतीत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्रतिसंस्कर्ता अल्प रूप में वर्णित विषय को विस्तृत तथा विस्तृत विषय को संक्षिप्त क्यों करता है? शास्त्र में ऐसा होने से, अर्थात् कहीं-कहीं विषय अति संक्षिप्त अथवा अति विस्तृत होने से उनके अर्थों का ज्ञान सम्यक् रूप से नहीं हो पाता। इसलिये अति विस्तृत एवं अति संक्षिप्त दोष के निराकरण हेतु संस्कर्ता का उपयोग होता है, अर्थात् यह कार्य संस्कर्ता करता है। अतः यह उत्तम तन्त्र चरक द्वारा संस्कृत है। पूर्व ग्रन्थ का अधिक विस्तार श्रोता जन की प्रवृत्ति (विचार) को ध्यान में रखकर ही किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् ग्रन्थ में जो विषय विस्तृत वर्णित हैं वह पूर्व के श्रोता पुरुष के विचारों को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। बाद में प्रतिसंस्कर्ता द्वारा जो विषय परिवर्तित किया जाता है वह तत्कालीन श्रोता जन के विचारों को ध्यान में रखकर किया जाता है, या किया गया है। अर्थात् अग्निवेशतन्त्र की विषय वस्तु उस समय की परिस्थितियों के अनुसार है, आचार्य चरक द्वारा किया गया प्रतिसंस्कार चरक कालीन परिस्थितियों के अनुसार है तथा दृढ़बल द्वारा किया गया पाद पूरण (सम्पूरण) उनकी परिस्थितियों के अनुसार है। कहा भी गया है, यथा– "संक्षेपोक्तमतिहन्ति विस्तरोक्तं न गृह्यते । संक्षेपविस्तरौ हित्वा संस्कुर्याच्छास्त्रमादितः" इति [संक्षेप में वर्णित विषय व्यक्ति को समझ में नहीं आते तथा विस्तार में कही गयी बात या वर्णित विषय को वह ग्रहण नहीं कर पाता। अतः समय के अनुसार शास्त्र का प्रतिसंस्कार न तो अधिक विस्तृत तथा न तो अति संक्षेप में करके शास्त्र का रूप देना ही प्रतिसंस्कर्ता का कार्य है।]

पुराणं च पुनर्नवमिति– विस्तार एवं संक्षेप के द्वारा प्रतिसंस्कर्ता पुराने ग्रन्थ को नये रूप में परिवर्तित कर देता है। अर्थात् युगानुरूप सन्दर्भ में विषयों को प्रस्तुत करके प्रतिसंस्कर्ता ग्रन्थ को नया बना देता है। चरक प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता की अपूर्णता को दृढ़बल ने 'तत्त्वित्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया है। **तृतीयो भागस्त्रिभागः–** दृढ़बल के समय चरक प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता का १/३ भाग उपलब्ध नहीं था, अर्थात् लुप्त हो गये थे। चरकसंहिता की यह अपूर्णता चरक संहिता के निर्माण काल व दृढ़बल के बीच के समय का अन्तराल अधिक होने के कारण कहा गया है।

तेन दृढ़बलप्रतिपादितैकचत्वारिंशदध्यायानां न सविंशाध्यायशतत्रिभागता युज्यते इति नोद्‌भावनीयम्– इस प्रकार दृढ़बल प्रतिपादित ४१ अध्याय, चरकसंहिता में विद्यमान १२० अध्यायों का १/३ भाग नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

आत्मनः पञ्चनदपुरभवत्वेन श्रेष्ठप्रदेशभवत्वं दर्शयति– स्वयं (दृढ़बल) का पञ्चनदपुर में उत्पन्न होना, श्रेष्ठ प्रदेश में उत्पत्ति को दर्शाता है। आचार्य दृढ़बल ने चरकसंहिता के अपूर्ण (लुप्त) अंश को पूर्ण करने के लिए अन्य शास्त्रों से विषयों का ग्रहण किया है, जिसे यहाँ 'कृत्वा बहुभ्य इत्यादि' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'तन्त्रेभ्यः' से यहाँ सुश्रुत एवं विदेह आदि तन्त्रों का ग्रहण किया गया है। अर्थात् सुश्रुत एवं विदेह तन्त्र से विषयों को लिया गया है।

Scanned by CamScanner

विशेषस्य चरकोक्तार्थादतिरिक्तरूपस्य उञ्छशिलरूप उच्चयो विशेषोञ्छशिलोच्चयः– विशेष रूप से चरकोक्त विषय से अधिक जो विषय (दृढ़बल कृत- ४१ अध्याय) कहे गये हैं, वे उञ्छ एवं शिल वृत्ति द्वारा एकत्र किये गये हैं। (उच्चय (Uccaya)-Collection]

तमन्यतन्त्रेभ्यः कृत्वा सप्तदशौषधाध्यायसिद्धिकल्पैरिदमन्यूनशब्दार्थं तन्त्रदोषविवर्जितं षड्विंशतन्त्रयुक्तिभिर्भूषितमपूरयत्दृढ़बल इति योजना– उस अपूर्ण अंश को दृढ़बल ने अन्य तन्त्रों से विषयों को लेकर पूर्ण किया, जिसमें चिकित्सा के १७ अध्याय, कल्प व सिद्धि के १२-१२ अध्याय हैं। यह विषय न्यून दोष रहित, तन्त्र दोष रहित तथा २६ तन्त्रयुक्तियों द्वारा अलङ्कृत है। [षड्विंशता के स्थान पर जल्पकल्पतरु टीका के चरक मूल में **षड्त्रिंशता विचित्रं हि भूषितं तन्त्रयुक्तिभिः** पाठ प्राप्त होता है, जो आगे के पाठों से साम्य रखता है, क्योंकि आने वाले श्लोक में तन्त्रयुक्ति की गणना में ३६ संख्या प्राप्त होती है, अतः यह पाठ ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है।]

तत्र भूमिपतितानामणूनां धान्यादिबीजानां शोधन्या संहरणमुञ्छः– जब फसल पक जाती है तब किसान धान्यादि के फसल को काटकर खेत में ही इकट्ठा करता है, फिर वहाँ thresing आदि कार्य होता है। अतः वहाँ धान्यादि के बीज या छोटे-छोटे बाल टूट कर गिर जाते है, उन बीजों या बालों को साफ करके इकट्ठा करना उञ्छ कहा जाता है। विरल रूप में जमीन पर गिरे हुए धान्यादि के कणों को इकट्ठा करना 'शिल' कहा जाता है।

[उञ्छ– Gathering grains of corns in market place बाजार में गिरे हुए धान्य, यथा– गेहूँ, मक्का आदि को इकट्ठा करना, उञ्छ कहा जाता है। विरल रूप में फैले हुए धान्य कणों को इकट्ठा करना 'शिल' कहा जाता है।] इस प्रकार इस शास्त्र में जो सार भूत विषय है वह चरक आदि आचार्यों द्वारा संगृहीत हैं मेरे द्वारा तो अपूर्ण शेष भाग के विषय वस्तु को उर्वरित (उपयोगी बना) कर पूरा किया गया है, अर्थात् आचार्य दृढ़बल द्वारा अवशिष्ट ४१ अध्याय (चिकित्सा- १७, कल्प- १२, सिद्धि स्थान- १२) ही पूरा किया गया है। **अन्यूनशब्दमन्यूनार्थचेति अन्यूनशब्दार्थम्–** दृढ़बल कृत अंश के शब्द व विषय न्यून दोष से युक्त नहीं हैं। तन्त्रदोष १४ कहे गये हैं, जिसे 'पुनरुक्तं दुष्यणीतसूत्रसंग्रहमक्रमं' (वि.अ. ८) इत्यादि के द्वारा रोगभिषाग्जितीय अध्याय में कहा गया है। उनका यहाँ ग्रहण नहीं है, अर्थात् उनको छोड़कर १४ का ग्रहण करना चाहिए। [यद्यपि तन्त्र दोषों का वि.अ. ८ में साक्षात् वर्णन नहीं किया गया है, फिर भी 'अपुनरुक्त दोषं' इत्यादि के द्वारा तृतीय सूत्र में जो १४ तन्त्र के गुण बताये गये हैं उनके विपरीत पुनरुक्त आदि १४ तन्त्र दोषों का ग्रहण करना चाहिए।) तन्त्रयुक्तिभिरिति– आगे कहे जाने वाली तन्त्र युक्तियों के द्वारा।

विचित्राभिरिति विचित्रार्थन्याययुक्ताभिस्तन्त्रयुक्तिभिः– आश्चर्य जनक विषयों वाली न्याय युक्तियों अथवा विचित्र तन्त्रयुक्तियों द्वारा सुशोभित। [तन्त्रयुक्तियाँ नाना प्रकार की भिन्न-भिन्न होती हैं, इसलिये 'विचित्राभिः' विशेषण लगाया गया है। 'विचित्राभिः' का अभिप्राय न्याय आदि में विचित्र अर्थात् भिन्न प्रकार का होना है। – आचार्य वि.ज. ठाकर, जामनगर] यह संहिता विचित्र तन्त्रयुक्तियों द्वारा सुशोभित है।

तत्राधिकरणं योगो हेत्वर्थोऽर्थः पदस्य च ।।४१।।
प्रदेशोद्देशनिर्देशवाक्यशेषाः प्रयोजनम् । उपदेशापदेशातिदेशार्थापत्तिनिर्णयाः ।।४२।।
प्रसङ्गैकान्तनैकान्ताः सापवर्गो विपर्ययः । पूर्वपक्षविधानानुमतव्याख्यानसंशयाः ।।४३।।
अतीतानागतावेक्षास्वसंज्ञोह्यसमुच्चयाः । निदर्शनं निर्वचनं संनियोगो विकल्पनम् ।।४४।।
प्रत्युत्सारस्तथोद्धारः संभवस्तन्त्रयुक्तयः ।

तन्त्र युक्तियों की गणना– १. अधिकरण, २. योग, ३. हेत्वर्थ, ४. पदार्थ, ५. प्रदेश, ६. उद्देश्य, ७. निर्देश, ८. वाक्यशेष, ९. प्रयोजन, १०. उपदेश, ११. अपदेश, १२. अतिदेश, १३. अर्थापत्ति, १४. निर्णय, १५. प्रसङ्ग, १६. एकान्त, १७. नैकान्त, या अनेकान्त, १८. अपवर्ग, १९. विपर्यय, २०. पूर्वपक्ष, २१. विधान, २२. अनुमत, २३. व्याख्यान, २४. संशय, २५. अतीतावेक्षण, २६. अनागतावेक्षण, २७. स्वसंज्ञा, २८. ऊह्य, २९. समुच्चय, ३०. निदर्शन, ३१. निर्वचन, ३२. संनियोग, ३३. विकल्पन, ३४. प्रत्युत्सार, ३५. उद्धार, ३६. संभव। इस प्रकार कुल ३६ तन्त्र युक्तियाँ होती हैं।

चक्रपाणि– 'तत्रेत्यादि' के द्वारा तन्त्रयुक्ति को ही स्पष्ट किया गया है। **१. अधिकरण–अधिकरणं नाम यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते कर्ता–** जिस विषय को मुख्य मान करके कर्ता (विषय में) प्रवृत्त होता है, उसे अधिकरण कहते हैं। यथा– "विघ्नभूता यदा रोगाः" (सू.अ. १/६-७) इति- यहाँ रोगादि को अधिकृत करके (मुख्य मानकरके) महर्षियों द्वारा आयुर्वेद को लाया गया। अतः यहाँ 'रोग' अधिकरण है। [यं अर्थमधिकृत्य उच्यते– जिस विषय को मुख्य मान करके कहा जाय, उसे अधिकरण कहते हैं, यथा– रसं दोषं वा (यथा– रस या दोष)।]

२. योग-योगो नाम योजना व्यस्तानां पदानामेकीकरणम्– योग का अर्थ जोड़ना या मिलाना होता है। अलग-अलग रहने वाले पदों को एक में मिलाना ही योग है। यथा– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, उनमें प्रतिज्ञा– मातृजश्चायं गर्भः (यह गर्भ मातृज है, अर्थात् माता से उत्पन्न है।), हेतु– मातरमन्तरेण गर्भानुपपत्ते (माता के बिना गर्भ नहीं उत्पन्न होता।), दृष्टान्त- **कूटागारः** (मकान अथवा

Scanned by CamScanner

पहाड़ के ऊपर बना हुआ दुर्ग), उपनय- जिस प्रकार अनेक द्रव्यों के संयोग से या समुदाय से कूटागार का निर्माण होता है, उसी प्रकार गर्भ की उत्पत्ति होती है। इसलिये यह गर्भ मातृज होता है। इस प्रकार यहाँ प्रतिज्ञा को जोड़ा गया, या प्रतिज्ञा पूर्ण हुई। इसी प्रकार दूसरे भी योग के विषयों की व्याख्या करनी चाहिए।

३. हेत्वर्थ- हेत्वर्थो नाम यदन्यत्राभिहितमन्यत्रोपपद्यते– जो कथन (विषय) एक स्थान पर कहा गया है वही अन्य स्थानों पर भी लागू होना हेत्वर्थ कहा जाता है। यथा– "समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्" (सू.अ. १२/५) इति [समान गुण वाले द्रव्यों का अभ्यास तद् समान गुण वाले धातुओं की वृद्धि का कारण है।] यह विषय वायु को अधिकृत करके कहा गया है। यह विषय वातकलाकलीय अध्याय (सू.अ. १२) में कही गयी है। [वायु अपने समान गुण धर्म वाले द्रव्यों के सतत् अभ्यास से प्रकुपित होती है, क्योंकि समान गुण वाले द्रव्यों का अभ्यास तद् समान धातुओं की वृद्धि में कारण होता है।]

तत्र वातस्येति वक्तव्ये यदयं समानशब्दं धातूनामिति करोति– वहाँ वात के वक्तव्य में समान शब्द का प्रयोग धातु के लिए किया गया है। उससे जिस प्रकार 'समान गुण वाले द्रव्यों का अभ्यास समान धातुओं की वृद्धि में कारण है।' यह सूत्र वात के लिए लागू होती है वैसे ही रसादि धातुओं में भी समान गुण वाले द्रव्यों का अभ्यास उनकी वृद्धि का कारण होता है, लागू होती है।

४. पदार्थ– पदार्थो नाम पदस्य पदयोः पदानां वाऽर्थः पदार्थः– एक पद, दो पद अथवा अनेक पदों के अर्थ का नाम पदार्थ है। **तत्र द्रव्यमितिपदेन खादयश्चेतनाषष्ठा उच्यन्ते–** वहाँ 'द्रव्य' शब्द (पद) से खादि (खं, वायु, अग्नि, आपः, एवं पृथिवी-पञ्चमहाभूत) एवं चेतना; इन छः का ग्रहण किया गया है अथवा कहा जाता है। **पदयोरर्थो नाम, यथा– 'आयुषोवेद' इति पदयोरायुर्बोधकं तन्त्रमित्यर्थः–** दो पद के अर्थ, जैसे– 'आयुषो वेद' [आयु का शास्त्र या आयु का ज्ञान]- इस दो पद का प्रयोग आयु बोधक तन्त्र अर्थात् आयुर्वेद के अर्थ में हुआ है। जिस शास्त्र के अध्ययन से आयु का ज्ञान हो उसे आयुर्वेद कहते हैं। इसी प्रकार 'पदानां' पद के अर्थ के उदाहरणों को समझना चाहिए।

५. प्रदेश– प्रदेशोनाम यद्बहुत्वादर्थस्य कात्स्न्येनाभिधातुमशक्यमेकदेशेनाभिधीयते; यथा– अनुपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः– विषय (अर्थ) की बहुलता (अधिकता) होने से जिसे समग्ररूप में कहना सम्भव न हो उसके एक देश (भाग) का कथन करना प्रदेश कहलाता है। [जब वर्णन करने या कहने के लिए बहुत से विषय हों तथा उन्हें एक स्थान पर स्पष्ट करना या कहना संभव न हो तब वहाँ परिस्थिति के अनुसार उस विषय का आंशिक वर्णन करना 'प्रदेश' कहलाता है। जैसे– प्रायः उपयोग में आने वाले अन्नपान के एक देशज अंश (गुणों) का यहाँ विवेचन किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्यों का नाम के साथ-साथ गुणों का यहाँ उल्लेख करना सम्भव नहीं है। **अन्नपानैकदेशः प्रायोपयोग इति–** अन्न एवं पानों के उन्हीं गुणों का यहाँ उल्लेख किया गया है जो प्रायः बहुलता से उपयोग में लाये जाते हैं, अर्थात् जिस द्रव्य का जो भाग अधिकतर प्रयोग में लाया जाता है, उसी का यहाँ उल्लेख किया गया है। यह व्याख्या च.सू.अ. २७/३२९ (अन्नपानैकदेशोऽयमुक्तः प्रायोपयोगिकः। द्रव्याणि न हि निर्देष्टुं शक्यं कात्स्न्येन नामभिः) के आधार पर किया गया है।]

६. उद्देश– उद्देशो नाम संक्षेपाभिधानम्– संक्षिप्त कथन उद्देश्य कहलाता है, अर्थात् संक्षिप्त वचन उद्देश है, जैसे– "हेतुलिङ्गौषधज्ञानं" (सू.अ. १/२४) इति [हेतु सूत्र, लिङ्ग सूत्र एवं औषध सूत्र रूपी यह **त्रिसूत्र आयुर्वेद** स्वस्थ एवं रोगी दोनों प्रकार के पुरुषों के लिए हितकर, शाश्वत् एवं पुण्यों को देने वाला है, जिसे ब्रह्मा ने स्मरण द्वारा जाना, उसी का उपदेश इन्द्र ने भरद्वाज को दिया।] इस सूत्र में त्रिसूत्र के द्वारा आयुर्वेद की प्रतिपाद्य विषय वस्तु को संक्षेप में कह दिया गया है,

७. निर्देश– निर्देशो नाम संख्येयोक्तस्य विवरणं; यथा– हेतुलिङ्गौषधस्य पुनः प्रपञ्चनं- संक्षेप में कही गयी बात को पुनः विस्तार से कहना निर्देश कहलाता है, जैसे– हेतु, लिङ्ग व औषध सूत्र का विस्तार "सर्वदा सर्वभावानां" (सू.अ. १/४४) से लेकर "इत्युक्तं कारणं" (सू.अ. १/५३) तक हेतुसूत्र को विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

[अथवा– संख्या के रूप में कही गयी बात को विस्तार से कहना निर्देश कहा जाता है, यथा– ८ ज्वर होते हैं, इनका क्रमशः विस्तार करना निर्देश कहलाता है।]

८. वाक्यशेष– वाक्यशेषो नाम यल्लाघवार्थमाचार्येण वाक्येषु पदमकृतं गम्यमानतया पूर्यते; वाक्य को लघु (छोटा) बनाने के लिए आचार्य द्वारा वाक्य में कुछ पद का प्रयोग नहीं किया जाता या छोड़ दिया जाता है, लेकिन वाक्य का अर्थ या भाव उस छोड़े हुए पद को ग्रहण करके ही पूरा किया जाता है उसे **वाक्य शेष** कहते हैं। जैसे– **"प्रवृत्तिर्हेतुभावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्"** (च.सू. १६/२८) इति। इस सूत्र में 'अस्ति' शब्द छोड़ दिया गया है, लेकिन इसका अर्थ इसे जोड़कर ग्रहण करते हैं।

"जाङ्गलजैः रसैः" में मांस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। यहाँ 'मांस' शब्द छूटा हुआ है। (जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांसरस) वाक्यों में ऐसे ही पद शेष रखे जाते हैं जो उनमें निवेशित हुए बिना ही वाक्य के अर्थ (भाव) को प्रतीत कराते हैं।

Scanned by CamScanner

९. प्रयोजन– प्रयोजनं नाम यदर्थं कामयमानः प्रवर्तते; जिस विषय की कामना करते हुए व्यक्ति प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। जैसे- धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् [इस अग्निवेश तन्त्र का प्रयोजन धातुओं को सम बनाना है।] जिस उद्देश्य को लेकर जब कोई विशेष शास्त्र लिखा जाता है, वह प्रयोजन कहलाता है।

१०. उपदेश– उपदेशो नाम आप्तानुशासनम्; आप्त पुरुष के आदेश को उपदेश कहा जाता है। जैसे- स्नेहमग्रे प्रयुञ्जीत ततः स्वेदमनन्तरम् [सबसे पहले स्नेह का प्रयोग करें, इसके बाद स्वेदन करावें- सू.अ. १३/९९] अनुशासन= Instructions, Direction or command अर्थ गृहीत है।

११. अपदेश– अपदेशो नाम यत्प्रतिज्ञातार्थसाधनाय हेतुवचनं– प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए जिस हेतु रूप वचन का प्रयोग किया जाता है, उसे अपदेश कहते हैं।

[Apadeśa or reasoning a statement–तर्क पूर्ण वक्तव्य।) जैसे वाताज्जलं जलाद्देशं देशात् कालं स्वभावतः। विद्यात् दुष्परिहार्यत्वात्" (वि.अ. ३/१०) इत्यादि [विकृति को प्राप्त देश, काल, वायु एवं जल की गुरुता का विवेचन विशेष रूप से सकारण किया जा रहा है- वायु से जल, जल से देश व देश से काल स्वभावतः दुष्परिहार्य होने से गुरु, गुरुतर एवं गुरुतम होता है। स्वभावतो दुष्परिहार्यत्वात्- विकृति को दूर करना स्वभाविक रूप से कठिन होना, चिकित्सा कठिन होना। यहाँ प्रतिज्ञात विषय की सिद्धि के लिए हेतु रूप 'दुष्परिहार्य' शब्द का प्रयोग किया गया है।

१२. अतिदेश– अतिदेशो नाम यत्किञ्चिदेव प्रकाश्यार्थं अनुक्तार्थसाधनायैव एवमन्यदपि प्रत्येतव्यमिति परिभाष्यते, यथा– "यच्चान्यदपि किंचित् स्यादनुक्तमिह पूजितम् । वृत्तं तदपि चात्रेयः सदैवाभ्यनुमन्यते" (सू.अ. ८) इति [जिस किसी भी विषय के अर्थ को स्पष्ट करके अनुक्त अर्थ को सिद्ध किया जाय तथा ऐसा ही अन्य स्थानों पर भी करना चाहिए, यह कहा जाय, या परिभाषित किया जाय, **अतिदेश** कहलाता है, जैसे- यहाँ शास्त्र में अनुक्त सद्वृत्त के पालन का निर्देश दिया गया है- दूसरे सद्वृत्त जिनका इस प्रकरण में उल्लेख नहीं किया गया है, लेकिन पूजित जनों द्वारा अनुमोदित हों उसका भी आचार्य आत्रेय सदैव अनुमोदन करते हैं, अर्थात् वह भी आचार्य को स्वीकार्य है।]

१३. अर्थापत्ति– अर्थापत्तिर्नाम यदकीर्तितमर्थादापद्यते साऽर्थापत्तिः; यथा– नक्तं दधि भोजननिषेधः, अर्थाद्दिवा भुञ्जीतेत्यापद्यते– जिससे बिना कहे गये (अकथित) विषय का ग्रहण होता है अर्थापत्ति कहते हैं। [जहाँ एक विषय के कहने पर दूसरे अनुक्त विषय (जिसका कथन नहीं हुआ है) की सिद्धि हो जाय, अर्थापत्ति या अर्थ प्राप्ति' कहते हैं।] जैसे- रात में दही का प्रयोग नहीं करना चाहिए, अर्थापत्ति से यहाँ दिन में दही खाना चाहिए, अर्थ ग्रहण होता है।

१४. निर्णय– निर्णयो नाम विचारितस्यार्थस्य व्यवस्थापनम्, यथा– चतुष्पदभेषजत्वादि विचारं कृत्वाऽभिधीयते– "यदुक्तं षोडशकलं पूर्वाध्याये भेषजं तद्युक्तियुक्तमलमारोग्याय" सू.अ. १०/३ [विचारित विषय की स्थापना को निर्णय कहते हैं, यथा– षोडश कला युक्त चतुष्पादों द्वारा ही चिकित्सा होती है' ऐसा चिकित्सक समुदाय कहता है जिसे पूर्व अध्याय में **षोडशगुणमिति** के द्वारा स्पष्ट किया गया है। यदि वही चिकित्सा युक्तियुक्त की जाय तो आरोग्य के लिए पर्याप्त होती है, ऐसा भगवान पुनर्वसु आत्रेय का विचार है।]

१५. प्रसङ्ग– प्रसङ्गो नाम पूर्वाभिहितस्यार्थस्य प्रकरणागतत्वादिना पुनरभिधानं, पूर्व वर्णित विषय का प्रकरण उपस्थित हो जाने पर उसका पुनः अभिधान (कथन) होना प्रसङ्ग कहलाता है, जैसे- "तत्रातिप्रभावतां दृश्यानामतिमात्रं दर्शनमतियोगः" (सू.अ. ११/३७) इति [अति चमक वाले दृश्यों को अधिक देखना चक्षुरेन्द्रिय का अतियोग कहलाता है"] ऐसा पहले कह करके पुनः "अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात् सर्वशो न च" (शा.अ. १) इत्यादि के द्वारा पूर्व वर्णित विषय को ही कहा गया है।

१६. एकान्त– एकान्तो नाम यदवधारणेनोच्यते, यथा– निजः शरीरदोषोत्थः, त्रिवृद्विरेचयतीत्यादि– जो निश्चय पूर्वक कहा जाता है उसे **एकान्त** कहते हैं, यथा– शारीरिक दोषों से उत्पन्न होने वाली व्याधियों को निज कहते हैं, अथवा त्रिवृत् विरेचन कराता है, अथवा मदनफल वमन कराता है।

[यत् पक्षान्तरव्यावर्तकं तदेकान्तः– जो अन्य (दूसरे) पक्ष को निषिद्ध करे उसे 'एकान्त' कहा जाता है।] अपनी बात को ही आग्रह पूर्वक कहना 'एकान्त' कहा जाता है, इसमें अन्य विचारों का कोई महत्व नहीं रहता।

१७. अनैकान्त– अनैकान्तो नाम अन्यतरपक्षानवधारणं, यथा– "ये ह्यातुराः केवलाद्भेषजादृते म्रियन्ते, न च ते सर्वं एव भेषजोपपन्नाः समुतिष्ठेरन्" सू.अ. १०/५ [अपने पक्ष के साथ-साथ दूसरे पक्ष को भी स्वीकार करना अथवा निश्चय करना **अनेकान्त** कहा जाता है। यथा- जो आतुर औषध के अभाव में मृत्यु को प्राप्त होते हैं वे सभी औषध के प्राप्त हो जाने पर आरोग्य प्राप्त कर लेते हैं, ऐसा नहीं है।] यहाँ पक्ष एवं विपक्ष दोनों के ही दृष्टिकोण को स्वीकार किया गया है।

Scanned by CamScanner

१८. अपवर्ग– अपवर्गो नाम साकल्येनोद्दिष्टस्यैकदेशापकर्षणं, यथा– "न पर्युषितान्नमाददीतान्यत्र मांसहरितकशुष्कशाकफलभक्षेभ्यः" (सु.अ. ८)– संपूर्ण रूप से कथित या वर्णित विषय में से पुनः उसके एक देश का अपकर्षण करना अथवा निकाल देना **अपवर्ग** कहलाता है, अथवा पूरे समूह में से कुछ भाग को निकाल देना अपवर्ग कहा जाता है, यथा– मांस, हरित, शुष्क शाक एवं फल को छोड़कर बासी अन्न का सेवन नहीं करना चाहिए। यहाँ सामान्यतया बासी अन्न का निषेध किया गया है, उसमें भी मांसादि को विशेष रूप से अपवाद बता दिया गया है, अर्थात् मांसादि का बासी सेवन करना निषेध नहीं है।

अपवर्ग– किसी वर्ग (समूह) में से उसके कुछ भाग को अलग करना अपवर्ग कहा जाता है, यथा– इस वर्ग के सभी द्रव्यों में यह सामान्य गुण पाया जाता है, इन-इन द्रव्यों को छोड़कर, अर्थात् उस वर्ग में ये द्रव्य सम्मिलित होते हुए पूर्व वर्ग के सामान्य गुण इनमें नहीं पाये जाते।

१९. विपर्यय– विपर्ययो नाम अपकृष्टात् प्रतीपोदाहरणं, यथा– "निदानोक्तान्यस्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते" (नि.अ. ३/७) इति अपकृष्ट (निषिद्ध) से प्रतीप (विरुद्ध) का उदाहरण विपर्यय कहलाता है, यथा– निदानोक्त आहारों के सेवन से व्याधि का बढ़ना तथा निदान विपरीत आहार विहारों के प्रयोग से व्याधि का शान्त होना। [विपरीत कथन के द्वारा विषय को पुनः निश्चित करना– Reconfirmation of implied opposite action]

२०. पूर्वपक्ष– पूर्वपक्षो नाम प्रतिज्ञातार्थसंदूषकं वाक्यम्, यथा– "मत्स्यान्न पयसाऽभ्यवहरेत्" इति प्रतिज्ञातस्य अर्थस्य "सर्वानेव मत्स्यान्न पयसाहाभ्यवहरेद् विशेषतस्तु चिलिचिमम्" (सू.अ. २६/८४) इति

प्रतिज्ञात विषय को खण्डित करने वाला वाक्य पूर्वपक्ष कहलाता है, जैसे– "मछली के साथ दूध का सेवन नहीं करना चाहिए" यह प्रतिज्ञात विषय है इसके बाद यह कहा जाना– सभी प्रकार की मछलियों के साथ दूध का प्रयोग न करें, विशेष रूप से चिलिचिम मछली। अर्थात् चिलिचिम मछली के साथ दूध का प्रयोग तो कदापि नहीं करना चाहिए। इस वाक्य से पूर्व विषय खण्डित हो जाता है।

[पूर्वपक्ष– Amplification of earlier statement, some times a statement in general made earlier is partially modified,– Dr. Bhagvan Das]

२१. विधान– विधानं नाम सूत्रकारश्च विधाय वर्णयति– जिसे सूत्रकार नियम पूर्वक (व्यवस्थित) वर्णन करता है, उसे विधान कहते हैं, यथा– "मलायनानि बाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः" इति- इस वाक्य में 'दुष्टि' शब्द से मलों के क्षय एवं वृद्धि का ग्रहण करते हुए आचार्य उसका विवेचन इस प्रकार करता है– "मलवृद्धिं गुरुतया लाघवान्मलसंक्षयम्। मलायनानां बुध्येत संगोत्सर्गादतीव च" (सू.अ. ७/४३) इति [मल मार्गों में भारीपन मिलने पर मलों की वृद्धि एवं लघुता मिलने पर मलों के क्षय का ज्ञान करते हैं। मलों का अतीव सङ्ग एवं अतीव उत्सर्ग (निर्हरण) दोनों ही अवस्थाओं (क्षय एवं वृद्धि की अवस्था) में मिलता है।] कुछ आचार्य 'उचित क्रम में विषय को रखना या प्रस्तुत करना' विधान कहते हैं। जैसे– रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्राणामुत्पादक्रमानुरोधेनाभिधानम् । [रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्र की उत्पत्ति क्रम के अनुसार इनका वर्णन करना, अर्थात् रसादि के क्रम में ही इस विषय को प्रस्तुत करना, विधान कहलाता है।

२२. अनुमत– अनुमतं नाम एकीयमतस्यानिवारणेनानुमननं; एकीय मत (अन्य आचार्य के विचार) का खण्डन न करना, अपितु उसे स्वीकार कर लेना अनुमत कहा जाता है, जैसे– गर्भशल्यस्य जरायुः प्रपातनं कर्म संशमनमित्येके [कुछ आचार्य गर्भशल्य की जरायु को गिराना **संशमन कर्म** के रुप में स्वीकार करते हैं– शा.अ. ८, इस विचार का आचार्य चरक ने खण्डन नहीं किया है। अतः इस विचार से आचार्य सहमत हैं अथवा उनको मान्य है। इसे **अनुमत** कहते हैं।

२३. व्याख्यान– व्याख्यानं नाम यत् सर्वबुद्ध्यविषयं व्याक्रियते; जो सभी लोगों की बुद्धि का विषय न हो, उसे स्पष्ट करना व्याख्यान कहलाता है, अर्थात् जो विषय अधिकांश लोगों की समझ में न आवे उसे स्पष्ट करना या समझाना व्याख्यान कहलाता है। जैसे– "प्रथमे मासि संमूर्छितः सर्वधातुकलुषीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः" (शा.अ. ४/९) इति [वह आत्मा सभी गुणों से युक्त गर्भ रुप को प्राप्त कर, पहले महीने में मिलित स्त्री-पुंबीज (Zygote), सभी धातुओं का कलल रूप खेट की तरह (श्लेष्म प्रधान नासिका के मल के सदृश) होता है जिसके अवयव अव्यक्त होते हुए भी सत्-असत् अंगों वाले होते हैं।] के द्वारा (इसका अर्थ न जानने वाले) हम लोगों के लिए विषय को स्पष्ट किया गया है।

२४. संशय– संशयो नाम विशेषाकांक्षानिर्धारितोभयविषयज्ञानं; निर्धारित पक्ष एवं विपक्ष, दोनों के विषय ज्ञान में विशेष आकाङ्क्षा का होना संशय (Doubt) कहलाता है। अनेक विचारों में से किसी एक निश्चित विचार पर न पहुँचना संशय कहलाता है। जैसे– "मातरं पितरं चैके मन्यन्ते जन्मकारणम् । स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छां चापरे जनाः" (सू.अ. ११/६) इति [कुछ लोग (आचार्य) माता-पिता, कुछ लोग स्वभाव, कुछ परनिर्माण तथा कुछ लोग यदृच्छा को जन्म का कारण स्वीकार करते हैं] के द्वारा संशय को स्पष्ट किया गया है।

Scanned by CamScanner

२५. अतीतावेक्षण– अतीतावेक्षणं नाम यदतीतमेवोच्यते; यथा– "सा कुटी तच्च शयनं ज्वरं संशमयत्यपि" (चि.अ. ३/२६९) इति [पूर्व में वर्णित विषय का पुनः कथन अतीतावेक्षण कहलाता है, जैसे– सूत्रस्थान के स्वेदाध्याय में वर्णित कुटीस्वेद एवं स्वेदन योग्य आच्छादन शीघ्र ही ज्वर को शान्त करते हैं।]

२६. अनागतावेक्षण– अनागतावेक्षणं नाम् यद् अनागतं विधिं प्रमाणीकृत्यार्थसाधनं; यथा– "तिक्तसर्पिषः" इति [जो अनागत विधि को प्रमाणित करके विषय को सिद्ध करने वाला हो, उसे अनागतवेक्षण कहते हैं, जैसे– ज्वर की चिकित्सा में आगे वर्णित तिक्तघृत का प्रयोग करना चाहिए।]

अथवा आगे वर्णित होने वाले विषय के माध्यम से वर्तमान विषय को सिद्ध करना अनागतावेक्षण कहा जाता है, जैसे– 'इसका विवेचन आगे करेंगे' ऐसा कहना अनागतावेक्षण है।

२७. स्वसंज्ञा– स्वसंज्ञा नाम या तन्त्रकारैर्व्यवहारार्थं संज्ञां क्रियते; यथा– जेन्ताकहोलाकादिकासंज्ञा, जो तन्त्रकार द्वारा व्यवहार के लिए नाम दिया जाता है उसे 'स्वसंज्ञा' कहते हैं जैसे– जेन्ताक, होलाक आदि अथवा शास्त्रकार के अपने विशेष दिये हुए नाम जो अन्य शास्त्रों से भिन्न हों स्वसंज्ञा कहलाता है, जैसे– मिथुन शब्द से मधु व घृत का ग्रहण किया जाना।

२८. ऊह्य– ऊह्यं नाम यद् अनिबद्धं ग्रन्थे प्रज्ञया तर्क्यत्वेनोपदिश्यते; जिसका विवेचन शास्त्र में न हो लेकिन प्रज्ञा एवं तर्क के आधार पर उसका उपदेश करना ऊह्य कहलाता है, जैसे– "परिसंख्यातमपि यद्यद् द्रव्यमयौगिकं मन्येत् तत्तदपकर्षयेत्" वि.अ. (८/१४९) इति [मधुरादि स्कन्धों में वर्णित द्रव्यों में से जो द्रव्य उपयोगी न हों, अर्थात् बस्ति आदि के लिए उपयुक्त न हों उन-उन द्रव्यों को निकाल देना चाहिए अर्थात् उनका ग्रहण न करें, लेकिन जिन द्रव्यों को इन वर्गों में नहीं रखा गया है, लेकिन यदि वे उपयोगी हैं तब उनका प्रयोग करना चाहिए।]

२९. समुच्चय– समुच्चयो नाम यदिदं चेदं चेति कृत्वा विधीयते, यथा– "वर्णश्च स्वरश्च" (इं.अ. १/३) इति 'यह और यह' करके विषय को प्रस्तुत करना समुच्चय कहलाता है। अर्थात् भिन्न-भिन्न विषयों को समान गुण धर्म के आधार पर एक समूह में रखना समुच्चय कहा जाता है, यथा– पञ्च पञ्चमूल, इसमें सभी द्रव्यों के मूल का ग्रहण करते हैं।

३०. निदर्शन– क. निदर्शनं नाम् मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यविषयो दृष्टान्तः, यथा– "विज्ञातममृतं यथा" (सू.अ. १/१२४) इति [ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना जो मूर्ख व विद्वान दोनों को समान रूप से समझ में आ जाय निदर्शन कहलाता है, यथा– विज्ञात (भली भाँति ज्ञात) औषधि अमृत की तरह कार्य करती है।]

ख. "दृष्टान्तव्यक्तिनिदर्शनम्" (सुश्रुत) [दृष्टान्त के द्वारा विषय को स्पष्ट करना निदर्शन कहलाता है।]

३१. निर्वचन– निर्वचनं नाम पण्डितबुद्धिगम्यो दृष्टान्तः; यथा– "ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्ययकारणम्" (सू.अ. १६/३२) इति [विद्वान पुरुष की समझ में आने वाले दृष्टान्त को निर्वचन कहते हैं, अर्थात् यह उदाहरण सामान्य पुरुष की समझ में नहीं आता, यथा– नित्यग काल की तरह भावों के विनाश का कारण भी ज्ञात नहीं होता, यहाँ भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने 'स्वभावोपरमवाद' के पक्ष में यह दृष्टान्त दिया है। यह दृष्टान्त कुछ इस प्रकार का है कि जिसे सामान्य व्यक्ति नहीं समझ सकता।]

निदर्शन एवं निर्वचन में यह भिन्नता है–

निदर्शन ऐसा विषय है जिसे मूर्ख एवं विद्वान दोनों समान रूप से समझ लेते हैं, जबकि निर्वचन को मात्र पण्डित बुद्धि वाला (बुद्धिमान) व्यक्ति ही समझ सकता है, अथवा निर्वचन से निरुक्ति का ग्रहण होता है, जैसे– अनेक प्रकार से शरीर में फैलने के कारण इस व्याधि को विसर्प कहा जाता है। [निर्वचनं निरुक्तिः; यथा– "विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन संज्ञितः" (चि.अ. २१/११) इति,

३२. नियोग– नियोगो नाम अवश्यानुष्ठेयतया विधानं; यथा– "न त्वया स्वेदमूर्च्छापरीतेनापि पिण्डकैषा विमोक्तव्या" (सू.अ. १४) इति [निश्चित रूप से अनुष्ठेय (करने योग्य) कार्य को करना नियोग कहलाता है, जैसे– स्वेद व मूर्च्छा के आने पर भी तुम्हारे द्वारा यह वेदी (चबूतरा) नहीं छोड़ना चाहिए, अर्थात् इन अवस्थाओं में भी तुम इस वेदी को मत छोड़ना।]

३३. विकल्प– विकल्पः पाक्षिकाभिधानं, यथा– सारोदकं वाऽथ कुशोदकं वा (चि.अ. ६/४६) इति [किसी विषय का पाक्षिक, कथन विकल्प कहलाता है, यथा– सारोदक अथवा कुशोदक का प्रयोग करें।]

पाक्षिक– Subject to an alternative, that which may or may not take place– M.M. Williams.

एक ही विषय पर कई पक्ष रखना विकल्प कहलाता है, जैसे– मांसरस के साथ भात का प्रयोग करें अथवा घी के साथ यवागू का प्रयोग करें।

Scanned by CamScanner

३४. प्रत्युत्सार– प्रत्युत्सारो नाम उपपत्त्या परमतनिवारणं, यथा– वार्योविदः प्राह– "रसजानि तु भूतानि रसजा व्याधयः स्मृता" (सू.अ. २५/१३) इति, हिरण्याक्षो निषेधयति– "न ह्यात्मा रसजः स्मृतः" इत्यादि [हेतुपूर्वक दूसरे के मत का खण्डन करना प्रत्युत्सार कहलाता है, जैसे- आचार्य वार्योविद ने कहा– "सम्पूर्ण जीव रस से उत्पन्न हैं, अतः उनमें उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ भी रसज होती हैं।" वार्योविद के ऐसा कहने पर आचार्य हिरण्याक्ष ने उनका प्रतिवाद किया एवं कहा– "ऐसा नहीं है, क्योंकि इस शरीर में रहने वाली आत्मा रस से उत्पन्न नहीं होती। अतः यह शरीर रसज नहीं है।"

३५. उद्धार– उद्धारो नाम परपक्षदूषणं कृत्वा स्वपक्षोद्धरणं, यथा– येषामेव हि भावानां संपत् संजनयेन्नरम् । तेषामेव विपद्व्याधीन्विधान्समुदीरयेत्" (सू.अ. २५/२९) इति [दूसरे के विचारों का खण्डन करके अपने पक्ष की स्थापना करना उद्धार कहलाता है, यथा– "जिन भावों की संपत्ति (साम्यता) से पुरुष की उत्पत्ति होती है उन्हीं में विषमता होने से व्याधियों की उत्पत्ति होती है।" इस सूत्र के द्वारा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने अपने मत की स्थापना की है।]

३६. संभव– संभवो नाम यद्यस्मिन्नुपपद्यते स तस्य संभवः; यथा– मुखे पिप्लुव्यङ्गनीलिकादयः संभवन्तीत्यादि [जो जिसमें उत्पन्न होता है वह उसका संभव है, यथा– मुख पर पिप्लु, व्यङ्ग, नीलिका आदि उत्पन्न होते हैं, अन्य स्थानों पर नहीं। अर्थात् पिप्लु आदि की उत्पत्ति मुख पर ही संभव है।

इस प्रकार यहाँ ३६ तन्त्र युक्तियों का विस्तार से वर्णन किया गया। भट्टार हरिचन्द्र ने ३६ तन्त्र युक्तियों के अतिरिक्त अन्य चार तन्त्रयुक्तियों परिप्रश्न, व्याकरण, व्युत्क्रान्ताभिधान तथा हेतु की गणना की है इस प्रकार भट्टार हरिचन्द्र के अनुसार तन्त्रयुक्तियाँ ४० हैं। परिप्रश्न आदि चार तन्त्रयुक्तियों का अन्तर्भाव चरकोक्त ३६ में ही हो जाता है, यथा– परिप्रश्न का अन्तर्भाव उद्देश्य में, व्याकरण का अन्तर्भाव व्याख्यान में, व्युत्क्रान्ताभिधान का अन्तर्भाव **निर्देश** में तथा हेतु का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के साथ ही हो जाता है।

व्याख्या १५ प्रकार की होती है, ७ प्रकार की कल्पना (सप्तविधि कल्पना) तथा २१ अर्थाश्रय, १७ ताच्छील्य तथा १४ प्रकार के तन्त्र दोष होते हैं, ये विषय उत्तरतन्त्र में प्रतिपादित होने से उनका उल्लेख यहाँ आचार्य द्वारा नहीं किया गया है। ॥४१-४४॥

विशेष (Comments)– "तदुत्तरतन्त्रे प्रतिपादित्वान्नेह विलिखिता आचार्येण" (?) आचार्य चक्रपाणि के इस कथन से यह संशय उत्पन्न होता है कि सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्ग सङ्ग्रह व हृदय की भाँति चरकसंहिता का भी उत्तरतन्त्र था, जिसमें पन्द्रह प्रकार की व्याख्या, सप्तविध कल्पना, इक्कीस अर्थाश्रय, सत्रह ताच्छील्य तथा चौदह तन्त्र दोषों का वर्णन था। इस आशङ्का का कारण "तस्मादेता प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः। तत्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः" (च.सि.अ. १२/५०) इति [इसलिये इस तन्त्र के गुण-दोष के तत्त्वतः ज्ञान हेतु इन तन्त्रयुक्तियों का विस्तार से विवेचन आगे पुनः करेंगे] सूत्र है।

यह भी संभव है कि इसी क्रम में तन्त्रयुक्तियों का विस्तार से वर्णन ग्रन्थ में किया गया हो उसके साथ ही साथ पन्द्रह प्रकार की व्याख्या आदि विषय भी विवेचित हों। इस विचार के पीछे अधोलिखित कारण हैं–

१. जिन शास्त्रों के उत्तरतन्त्र लिखे गये हैं, यथा– सुश्रुतसंहिता, अष्टाङ्ग सङ्ग्रह व हृदय। उसका कारण ग्रन्थ को अष्टाङ्ग आयुर्वेद के विषयों से पूर्ण करना है। जबकि चरकसंहिता स्वयं में अष्टाङ्गमय है, अर्थात् आठो अङ्ग विवेचित हैं।

२. उत्तरतन्त्र युक्त शास्त्रों में तन्त्रयुक्तियों का विवेचन उत्तरतन्त्र के अन्त में किया गया है, अर्थात् ग्रन्थ के अन्त में किया गया है। जबकि यहाँ भी तन्त्रयुक्तियों की गणना संहिता के अन्त में की गयी है।

३. चरकसंहिता की विषय सूची [च.सू.अ. ३०] में उत्तरतन्त्र का कोई उल्लेख नहीं किया गया है, जबकि उत्तरतन्त्र युक्त शास्त्रों की विषय सूची [सुश्रुतसंहिता– सु.सू.अ. ३, अष्टाङ्गहृदय-अ.ह.सू.अ. १, अष्टाङ्गसङ्ग्रह- अ.सं.सू.अ.१] में अध्यायों की योजना प्रस्तुत की गयी है।

४. उपलब्ध चरकसंहिता में निर्देशित श्लोकों की संख्या का न मिलना, लेकिन विषय वस्तु का समापन तन्त्रोक्त विधि के अनुसार होना।

५. चक्रपाणि के काल में उपलब्ध उत्तर तन्त्र (चरकोत्तर तन्त्र) ग्रन्थ को अनार्ष स्वीकार करना । [इस ग्रन्थ का उल्लेख निश्चलकर कृत रत्नप्रभा व्याख्या में ज्वर चि० १/५७ के प्रकरण में आया है । आचार्य निश्चलकर भी अपनी व्याख्या में आचार्यों के उद्धरणों का प्रयोग करते समय उनका उल्लेख– 'चरके, सुश्रुते, वाग्भटे, आदि के रूप में किया है । उत्तरतन्त्र वाले ग्रन्थकारों, यथा– सुश्रुत, वाग्भट का भी उल्लेख इसी रूप में हुआ है । यदि 'चरकोत्तर तन्त्र' चरक कृत रचना होती तब आचार्य को पृथक् से 'चरकोत्तरतन्त्रे' शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता । –आचार्य प्रियव्रत शर्मा संपादित चक्रदत्त की रत्नप्रभा व्याख्या से]

Scanned by CamScanner

६. आचार्य चक्रपाणि द्वारा "विस्तरेणोत्तरे पुनः" सूत्र को अनार्ष स्वीकार करना।

७. "विस्तरेणोत्तरे पुनः" का अर्थ 'फिर से आगे इन विषयों का विस्तार से वर्णन करेंगे, ग्रहण किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि इसका अर्थ- "इन विषयों का वर्णन उत्तरतन्त्र में करूँगा" ही लगाया जाय।

८. अ.हृ.उ.तं. ४०/७८-८० की व्याख्या में आचार्य अरुणदत्त द्वारा तन्त्रयुक्तियों की व्याख्या के साथ-साथ पन्द्रह प्रकार की व्याख्या, सात प्रकार की कल्पना आदि विषयों को विवेचित करना।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चरकसंहिता का कोई उत्तरतन्त्र नहीं था। यहाँ विषय वस्तु की पूर्णता हेतु पञ्चदश व्याख्या आदि विषयों को स्पष्ट किया जा रहा है।

(क) पञ्चदश व्याख्या

किसी पद या वाक्य का विवेचन करना व्याख्या कहा जाता है।

वि + आ + ख्या इति व्याख्या [विशेषेण आ समन्तात् ख्यापयति इति व्याख्या]

जो कथित या वर्णित अंश के अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट करता है उसे व्याख्या कहते हैं। व्याख्या भी तन्त्र का एक गुण है। इसके द्वारा तन्त्र (शास्त्र) की शोभा बढ़ती है। यह पन्द्रह प्रकार की बतायी गयी है, यथा- **पिण्डपदपदार्थाधिकरणप्रकरणार्थकृच्छ्रफलोच्चित-कन्यासप्रयोजनानुलोमप्रतिलोमातिसूत्रसमस्तव्याख्याः**– अरुणदत्त-

१.	पिण्ड व्याख्या	२.	पद	३.	पदार्थ	४.	अधिकरण
५.	प्रकरण	६.	अर्थ	७.	कृच्छ्र,	८.	फल
९.	उच्चितक (कठ व्याख्या),	१०.	न्यास,	११.	प्रयोजन	१२.	अनुलोम
१३.	प्रतिलोम	१४.	अतिसूत्र	१५.	समस्त		

१. पिण्ड व्याख्या– सङ्क्षेपतया सूत्ररूपेणाध्यायादीनां व्याख्या– तन्त्र, अध्याय आदि के सूत्रों की संक्षेप में व्याख्या करना पिण्ड व्याख्या कहा जाता है, जैसे- "रूपेन्द्रियस्वरच्छायाप्रतिच्छायाक्रियादिषु। अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः ॥ विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत्" इस सूत्र के द्वारा अष्टाङ्ग हृदयकार द्वारा सम्पूर्ण अरिष्ट अध्याय में वर्णित विषयों को संक्षेप में कह दिया गया है। इस प्रकार का कथन पिण्ड व्याख्या कहा जाता है।

२. पद व्याख्या– यत्पदानां छेदं कृत्वा उच्चारणम्– पदों को विग्रह करके कहना **पद व्याख्या** कहा जाता है, जैसे- अथ अतः दीर्घं जीवितीयं अध्यायं वि आ ख्यास्यामः।

३. पदार्थ व्याख्या– वाक्य में प्रयुक्त पद के भाव (अर्थ) को स्पष्ट करना पदार्थ व्याख्या कहलाता है, यथा- अथ शब्द मङ्गलार्थक प्रयुक्त हुआ है, 'अतः' शब्द हेतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'ह' शब्द अवधारणा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार का कथन पदार्थ व्याख्या के अन्तर्गत आता है।

४. अधिकरण व्याख्या– यद्वस्तुप्रकृतमारभ्य तदनुसङ्गेण व्याख्यानमारभ्यते- जब प्रकृत वस्तु (मुख्य विषय) के साथ-साथ उसके साथ लगे रहने वाले अन्य विषय का व्याख्यान किया जाय उसे **अधिकरण व्याख्या** कहते हैं। जैसे- "अथातो दिनचर्याध्यायं व्याख्यास्यामः।" को प्रस्तुत करके "ब्राह्मे मुहूर्त उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः" (अ.हृ.सू.अ. २) के द्वारा दिनचर्या को स्पष्ट किया गया है।

५. प्रकरण व्याख्या– प्रकरण व्याख्या नाम, यस्मिन्नर्थे सूत्रे वा प्रकृतेनाप्रकृतं साध्यते- किसी विषय अथवा सूत्र में किसी एक के गुणों के कथन से बिना कहे हुए अन्य के गुणों को सिद्ध करना, प्रकरण व्याख्या कहा जाता है। जैसे- आमलक घृत (च.चि. १/१) के गुणों के वर्णन के बाद आमलकावलेह के गुणों का अभिधान न करके आचार्य द्वारा "अस्य प्रयोगात् वर्षशतं अजरं वयस्तिष्ठति इति समानं पूर्वेण" शब्द का प्रयोग करना। अर्थात् इस रसायन के भी गुण कर्म पूर्व वर्णित रसायनों के समान हैं।

६. अर्थ व्याख्या– जिस प्रकरण अथवा सूत्र में वस्तु के वास्तविक स्वरूप (तत्व) का वर्णन किया जाय, उसे अर्थ व्याख्या कहते हैं, यथा- प्रकृतिरुच्यते स्वभावः। स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः, [प्रकृति का अर्थ **स्वभाव** होता है। वह आहार एवं औषध द्रव्यों में विद्यमान स्वाभाविक गुणों (गुरु, लघु, शीत, उष्ण आदि गुणों) का योग है।]

७. कृच्छ्र व्याख्या– अल्प रूप में कहे गये अस्पष्ट प्रकरण अथवा सूत्र से प्रयत्नपूर्वक उसके अर्थों को स्पष्ट करना कृच्छ्र व्याख्या कहा जाता है, जैसे- 'वनस्पतिसत्त्वानुकारेण' इसमें वनस्पतियों के सत्त्व के समान पुरुष का सत्त्व (मन) होना, अर्थात् ज्ञानशून्य होना अर्थ गृहीत होता है।

Scanned by CamScanner

८. फल व्याख्या– अनेक विचारों या मतो का उल्लेख करते हुए सबका अन्तर्भाव किसी एक विचार पर करते हुए विषय को निश्चित करना, अर्थात् समावेशित विचार प्रस्तुत करना फलव्याख्या कही जाती है। यथा– सूत्र.अ. २६ में रसों की संख्या के क्रम में आचार्य द्वारा विभिन्न आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष रूप में अपने मत को प्रस्तुत किया गया [यथा– षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः'' (च.सू.अ. २६/९) इति [मधुर अम्ल, लवण, कटु, तिक्त एवं कषाय, ये छः ही रस होते हैं। ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा है।] इसी के अन्तर्गत सभी के मतों का अन्तर्भाव हो जाता है।

९. उच्चित व्याख्या– जहाँ सूत्र में निर्देशित विषय की व्याख्या शास्त्र के सूत्रों के ही आधार पर की जाती है उसे उच्चित (उच्छ्रित) या कठ व्याख्या कहते हैं, जैसे– पृथ्वी आदि की महाभूत संज्ञा दी गयी है, रसादि को 'धातु' नाम दिया गया है, लेकिन पुरुष के सम्बन्ध में पृथ्वी आदि महाभूतों की भी संज्ञा 'धातु' ही दी जाती है, क्योंकि ये शरीर को धारण करते हैं।

१०. न्यास व्याख्या– जिस अधिकरण में वर्तमान प्रकृत (मुख्य) विषय के प्रकरणगत अर्थ से सम्बन्ध का विचार करते हुए अप्रकृत के अर्थ को कहा जाय, उसे न्यास व्याख्या कहते हैं। जैसे– ह.उ.अ. ४०/६० के अनुसार– ''दृश्यन्ते भगवन् केचिदात्मवन्तोऽपि रोगिणः'' [हे भगवन! कुछ आत्मवान् पुरुष भी रोगी दिखाई देते हैं।] इससे हितकर एवं अहितकर आहार द्रव्यों के फल के प्रति शङ्का का विचार कर यह कहा गया है कि चिकित्सा करना व न करना दोनों तुल्य नहीं होते ''न चिकित्साऽचिकित्सा च तुल्या भवितुमर्हति'' (अ.ह.उ.अ. ४०/६३) इति के द्वारा उत्तर देकर उसी प्रसङ्ग से अन्य विषय को डाल (कह) दिया गया है।

११. प्रयोजन व्याख्या– सूत्र में अभिधीयमान अर्थ के कहने का हेतु क्या है, इसे बताना प्रयोजन व्याख्या कहलाता है। जैसे– ''यावन्तो हि लोके (मूर्तिमन्तो) भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके'' (च.शा.अ. ५/३) इति [यह पुरुष लौकिक पुरुष है, ऐसा भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा। इस संसार में जितने भी विशेष मूर्तिमान भाव हैं, उतने ही पुरुष (जीवित शरीर) में भी हैं तथा जितने भाव विशेष पुरुष में हैं, उतने इस संसार में भी हैं।] के विवेचन का प्रयोजन 'सत्याबुद्धि' की उत्पत्ति है। अर्थात् लोक-पुरुष साम्य का विवेचन यहाँ पुरुष (व्यक्ति) में 'सत्याबुद्धि' की उत्पत्ति हेतु किया गया है। [एक निश्चित प्रयोजन की सिद्धि हेतु की जाने वाली व्याख्या प्रयोजन व्याख्या कहलाती है।]

१२. अनुलोम व्याख्या– जिस क्रम से सूत्र (श्लोक) में विषय वर्णित हैं उसी क्रम के अनुसार उनका विवेचन करना अनुलोम व्याख्या कहा जाता है, जैसे– **''तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा– प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोग-संस्थोपयोक्तृष्टमानि (भवन्ति)''** (च.वि.अ. १/२१) इति यहाँ इसी क्रम (प्रकृतिकरणादि) के अनुसार उनकी व्याख्या भी आचार्य द्वारा की गयी है।

१३. प्रतिलोम व्याख्या– सूत्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार उसका भाष्य (विवेचन) न करना, अथवा क्रम परिवर्तित करके विवेचन करना प्रतिलोम व्याख्या कही जाती है। जैसे– ''सामान्यं च विशेषं च गुणान् द्रव्याणि कर्म च। समवायं च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमास्थिता'' (च.सू.अ. १/२८-२९) इति, सूत्र में निर्दिष्ट क्रम (सामान्य, विशेष, गुण, द्रव्य, कर्म व समवाय) के अनुसार षट् पदार्थों का विवेचन न करते हुए भिन्न क्रम को अपनाया गया है।

१४. अतिसूत्र व्याख्या (ध्वज व्याख्या)– अतिसंक्षेप (सङ्केत रूप) में सूत्रों को स्पष्ट करना अतिसूत्र व्याख्या कहा जाता है, जैसे– ''विपरीतगुणैर्देशमात्राकालोपपादितैः भेषजैर्विनिवर्तन्ते विकाराः साध्यसंमताः'' (च.सू. १/६२) [देश, मात्रा एवं काल के विपरीत गुण वाले औषध द्रव्यों के प्रयोग से साध्य कहे गये विकार निवृत्त हो जाते हैं।] के द्वारा सामान्य व विशेष दोनों को ही स्पष्ट कर दिया गया है।

१५. समस्त व्याख्या (सूत्रसमव्याख्या)– पूर्व निर्दिष्ट सूत्र के समान आगे के समस्त विषय उपस्थित करना **सूत्रसमव्याख्या** कहा जाता है, यथा– ऋतुओं की गणना शिशिर से लेकर शरद् तक की गयी है, उसी क्रम के अनुसार वात, पित्त, कफ के सञ्चय, प्रकोप एवं प्रशमन तथा संशोधन का भी वर्णन किया जाना **समस्त व्याख्या** के अन्तर्गत आता है। [सूत्र में निर्दिष्ट सभी विषयों की व्याख्या समान रूप में करना समस्त व्याख्या कहा जाता है।]

(ख) सप्तविध कल्पना

'कल्पना' शब्द का अर्थ योजना करना' रचना करना, निर्माण करना अथवा व्यवस्थित रखना है। औषधि निर्माण के सन्दर्भ में यह शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है। शास्त्रीय सन्दर्भ में इस शब्द का विशेष महत्व है।

१. औषधि निर्माण की योजना करना (निर्माण-औषध)

२. औषधियों की योजना करना (चिकित्सा) [किस औषधि को किस प्रकार प्रयोग करें], कल्पना के सात भेद किये गये हैं, अर्थात् सात प्रकार बताये गये हैं– १. प्रधान कल्पना, २. प्रधानेन कल्पना, ३. गुण कल्पना, ४. लेश कल्पना, ५. विद्या कल्पना, ६. भक्ष्य कल्पना, ७. आज्ञा कल्पना।

Scanned by CamScanner

१. प्रधान कल्पना– प्रधानस्य कल्पना 'प्रधान कल्पना'– प्रधान की कल्पना 'प्रधानकल्पना' कही जाती है। द्रव्यों का प्रयोग उनके मुख्य गुणों के आधार पर करना, यथा– घृत स्नेहन का कार्य करता है, (सर्पिः स्नेहनम्), दूध जीवनीय गुण दर्शाता है, मधु धातुओं के संधान (जोड़ने) का कार्य करता है। यहाँ द्रव्यों के प्रकृष्ट गुणों के आधार पर उनका उपयोग पूर्वोक्त कार्यों के लिए किया जाता है। तैल, जल आदि द्रव्यों में स्नेहन व जीवनीय गुण नहीं है, ऐसा नहीं है। मधु में सन्धानकारक गुण प्रधान होने से उसे 'संधानकृत्' कहा गया है, जबकि यष्टीमधु आदि द्रव्यों में भी यह गुण पाया जाता है, लेकिन मधु की अपेक्षा अल्प होता है।

२. प्रधानेन कल्पना– प्रधान के द्वारा की गयी कल्पना प्रधानेन कल्पना (प्रधान से की गयी **कल्पना** या योजना प्रधानेन कल्पना) कही जाती है। यथा– क्षीरदधितक्रमस्तुनवनीतक्षीरघृतपुराणघृतकिलाटपीयूषकूर्चीकामोरणादिवर्गः सर्वःक्षीरवर्ग इत्युक्तः।

क्षीर, दधि, तक्र, मस्तु, नवनीत, क्षीरघृत, पुराणघृत, किलाट, पीयूष आदि सभी द्रव्य क्षीरवर्ग के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इसमें क्षीर की प्रधानता है, अर्थात् क्षीर मुख्य है, उसी के द्वारा दधि आदि का निर्माण होता है। इस प्रकार **प्रधानेन कल्पना** का यह उदाहरण दिया गया।

३. गुण कल्पना– जिस धर्म के द्वारा प्रयुज्यमान विषय कार्य करने में समर्थ होता है। उस धर्म से युक्त द्रव्य की कल्पना (योजना) गुणकल्पना कही जाती है। जैसे– "बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविध कल्पना। संपच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते" (सू.अ. ९/७) इति [१. बहुता– द्रव्यों का प्रचुरता में उपलब्ध होना, २. योग्यत्व- व्याधि के उपचार में द्रव्य का समर्थ होना, ३. अनेक विध कल्पना– द्रव्य की अनेक प्रकार की कल्पनाओं का होना, अर्थात् स्वरस, फाण्ट आदि के रूप में द्रव्य का उपलब्ध होना, ४. संपत्- रसादि गुणों से द्रव्य का परिपूर्ण होना, अर्थात् कृमि, जल आदि द्वारा द्रव्य का उपहत् न होना। ये चार गुण 'भेषज' में पाये जाते हैं।] यहाँ भेषज की कल्पना गुण के आधार पर की गयी है।

४. लेश कल्पना– अनुपदिष्टस्य विधेः कण्ठपाठेन यत्किञ्चित्सूत्रावयवान्तरमाश्रित्यार्थः कल्प्यते– जो विषय वर्णित न हो (उपदेशित न हो) लेकिन कण्ठपाठ से (सूत्रावयव के सङ्केत मात्र से) अर्थ का ग्रहण हो जाय, उसे **लेश कल्पना** कहते हैं। यथा– नात्र शास्त्रे कालमृत्योरकालमृत्योर्वा किञ्चिल्लक्षणं प्रणीतम् [यहाँ शास्त्र में काल एवं अकाल मृत्यु के कुछ भी लक्षण नहीं बताये गये हैं। उसका ज्ञान (अनुमान) लेशकल्पना से करना चाहिए। यह अनुमान कैसे करना चाहिए? यदा हि कालनियतमायुः क्षयं प्राप्तं भवति, तदा रिष्टमुत्पद्यते– जब काल द्वारा नियत आयु का क्षय होता है तब व्यक्ति में अरिष्ट की उत्पत्ति होती है, न कि विषम व अपरिहार रूप से मरने वाले पुरुष में। कहा भी गया है, यथा– "भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये। वशगाः सर्व एवैते विज्ञेयाः समवर्तिनः" (अ.हृ.शा. ५/६०) इति।

[जो रोगी वैद्य, औषध, पेय, अन्न, गुरु व मित्र से द्वेष करने लगता है, वह यम के वशीभूत हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। 'समवर्ती' से यहाँ मृत्युरिष्ट का ग्रहण किया गया है। इससे विपरीत असमवर्ती होता है।]

५. विद्या कल्पना– (इंगित कल्पना)– बिना वर्णन किये तन्त्रकार द्वारा संकेत के माध्यम से विषय को उपस्थित करना 'विद्या कल्पना' कहा जाता है, जैसे– "अर्चयेद्देवगोविप्र" (अ.हृ.सू.अ. २/२३) इति द्वारा धर्मशास्त्र के उपदेश को संक्षेप में बताया गया है। "साधकेऽहनि सूतिकां गृहं प्रवेशयेत्" –[शुभ दिन में गर्भिणी को सूतिकागृह में प्रवेश करना चाहिए- अ.हृ.शा. १/६३] यहाँ साधक शब्द से ज्योतिष शास्त्र के शुभ नक्षत्र आदि का ग्रहण करना चाहिए, उसी का भाव इंगित होता है।

६. भक्ष्य कल्पना– उपचार मात्र के लिए जो योजना की जाय उसे भक्ष्य कल्पना कहते हैं, जैसे– आयुर्वेदोऽमृतानामिति (आयुर्वेद अमृतों में श्रेष्ठ है।) यहाँ 'अमृत' का कथन उपचार मात्र है। उपचार= गौण प्रयोग।

७. आज्ञा कल्पना– जिस अनुष्ठान में हेतु को बताना संभव न हो, मात्र आप्त वचन को ही प्रमाण मानकर उस अनुष्ठान को किया जाता हो, उसे आज्ञा कल्पना कहते हैं, जैसे– न छिन्द्यात्तृणम् (तिनका मत काटो या तोड़ो), न भुवं लिखेत् (पृथ्वी पर लिखना नहीं चाहिए)

(ग) बीस प्रकार के आश्रय (अर्थाश्रय)

१. आदि लोप, २. मध्य लोप, ३. अन्तलोप ४. उभय पद लोप ५. आदि मध्यान्तलोप, ६. वर्णोपजनन, ७. ऋषिक्लिष्ट, ८. तन्त्रशील, ९. तन्त्रसंज्ञा, १०. प्राकृत, ११. समानतन्त्र प्रत्यय, १२. परतन्त्र प्रत्यय, १३. हेतुहेतुक धर्म, १४. कार्यकारणधर्म, १५. आद्यन्तविपर्यय, १६. शब्दान्तर, १७. प्रत्यय, १८. उपनय, १९. संभव, २०. विभव। इस प्रकार आश्रय (अर्थाश्रय) कुल २० होते हैं। जबकि भट्टार हरिचन्द्र ने २१ आश्रयों का वर्णन किया है।

१. आदि लोप– सूत्र या वाक्य में प्रारम्भ के पद का अभाव होना, यथा– "बृंहणः प्रीणनो वृष्यश्चक्षुष्यो व्रणहा रसः" (अ.हृ.सू.अ. ६/३२) सूत्र में 'रस' का पूर्ववर्ती मांसशब्द लुप्त है। लेकिन यहाँ रस से मांसरस का ही ग्रहण करते हैं।

Scanned by CamScanner

२. मध्यलोप– जिस सूत्र या वाक्य में मध्यवर्ती पद का प्रयोग न किया जाय, यथा– अन्नविज्ञानीय अथवा द्रवद्रव्य विज्ञानीय में क्रमशः 'स्वरूप' पद लुप्त है । इसका नाम अन्नस्वरूपविज्ञानीय तथा द्रवद्रव्यस्वरूपविज्ञानीय होना चाहिए।

३. अन्तलोप– सूत्र या वाक्य में अन्तवर्ती पद का प्रयोग न होना 'अन्तलोप' कहलाता है, यथा– "कफं पुनः। गौर्यः स्निग्धाः शिराः शीता वहन्ते" (अ.हृ.शा.अ. ३/३७) इति– यहाँ अन्त में 'अस्र' शब्द का प्रयोग होना चाहिए।

४. उभय पद लोप– जब सूत्र या वाक्य में दो पदों का लोप हो तब उसे उभयपदलोप कहा जाता है। यह वाक्य तीन प्रकार का होता है–

क. आदि मध्य लोप– षड्रसों की गणना में– 'अम्लकटुतिक्तकषायाः' शब्द का प्रयोग करना, यहाँ आदि में मधुर व मध्य में लवण शब्द लुप्त है ।

ख. आद्यन्त लोप– 'अम्ललवणकटुतिक्ताः' के प्रयोग में आदि व अन्त शब्द लुप्त है ।

ग. मध्यान्त लोप– 'मधुराम्लकटुतिक्तः' के प्रयोग में मध्य पद लवण व अन्त पद कषाय लुप्त है ।

५. आदि मध्यान्त लोप– जिस सूत्र या वाक्य में आदि, मध्य व अन्त तीनों पदों का लोप हो, जैसे– द्वौ रसाविति उक्तमम्लकटुकादिति– यहाँ दो रस वर्णित हैं- अम्ल व कटु। यहाँ आदि पद– मधुर, मध्य पद-लवण तथा अन्त पद-कषाय लुप्त है।

६. वर्णोपजनन– यत्र अनुक्तो ग्रन्थे वर्ण आचार्येण पश्चात् व्याख्याकाल उपजन्यार्थोऽभिधीयते- जहाँ ग्रन्थ में कोई वर्ण (शब्द) नहीं कहा गया है लेकिन बाद में आचार्य द्वारा व्याख्याकाल में उस उपज्ञानीय अर्थ को कहा जाना वर्णोपजनन कहा जाता है, यथा– "त्रिरात्रं यावकं दद्यात् पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा" (च.चि.अ. १/१/२७) इति, सूत्र में स्नेह्य अथवा संयुक्तम् शब्द उपजनित होता है।

[कुछ सूत्रों की व्याख्या कुछ शब्दों को जोड़कर की जाती है, मूल सूत्रों में नये शब्दों को जोड़कर उनकी व्याख्या करना **वर्णोपजनन** कहलाता है।]

७. ऋषिक्लिष्ट– यदृषी ऋषिपुत्रो वाऽसमाहितचित्ततया अशक्त्या वा किञ्चित्पदजातं भ्रष्टमुच्चारितवान् तथा एव तल्लोके प्रयुज्यते, यथा– रोम लोम इत्यादि। [कोई शब्द अथवा पद ऋषि अथवा ऋषिपुत्र के असावधान चित्त (अस्थिर चित्त) अथवा अक्षमता के कारण अशुद्ध रूप से उच्चारित होकर जनसामान्य में उसी रूप में प्रसिद्ध हो जाय उसे ऋषिक्लिष्ट कहते हैं, यथा– लोम के स्थान पर रोम आदि।]

८. तन्त्रशील– तन्त्रशीलं नाम या तन्त्रकाराणां प्रकृतिः स्वभाव इत्यर्थः– तन्त्रकारो के स्वभाव को तन्त्रशील कहा जाता है। यथा– कुछ तन्त्रकार शिष्य के विवेक को ध्यान में रखकर विस्तृत विषय का वर्णन संक्षेप में करते हैं,– "अस्थ्नां शतानि षष्टिश्च त्रीणिदन्तनखैः सह" (अ.हृ.शा.अ. ३/१६) इति [शरीर में दन्त व नख को लेकर अस्थियों की संख्या– ३६० होती है।] इस प्रकार का कथन **तन्त्रशील** कहा जाता है। [शिष्य के विवेक या रुचि को ध्यान में रखकर तन्त्रकार द्वारा विषय को प्रस्तुत करना 'तन्त्रशील' कहा जाता है ।]

९. तन्त्रसंज्ञा– ग्रन्थ या शास्त्र में किसी विशेष प्रकरण में किसी शब्द विशेष का 'सीमित' अर्थ में प्रयोग करना तन्त्रसंज्ञा कहा जाता है। जैसे– "नवज्वरे कषाया अपक्वेषु दोषेषु वर्जनीया उक्ता" नवज्वर या अपक्व दोषों की अवस्था में कषायपान निषिद्ध है। (अ.हृ.चि. १/३९) यहाँ 'कषाय' शब्द से पञ्चविध कषाय कल्पना का ग्रहण न करके कषाय रस प्रधान द्रव्यों की कल्पनाओं का ग्रहण करना चाहिए। उसका यहाँ निषेध किया गया है।

१०. प्राकृत– 'प्राकृत' का अर्थ तत्त्व या स्वभाव से लिया गया है। प्राकृत (Original)। सूत्रों का प्रसंग के अनुसार तात्त्विक अर्थ को ग्रहण करना, अर्थात् सूत्रों के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करना अथवा सूत्र में एक शब्द के कई अर्थ होते हुए भी प्रसंग के अनुसार उसके वास्तविक अर्थ को ग्रहण करना **प्राकृत** कहलाता है। जैसे– १– "ऊषकस्तुत्थकं हिङ्गु कासीसद्वयसैन्धवम्' सूत्र में औषधियों का प्रसंग होने से सैन्धव से सैन्धव लवण अर्थ लिया गया है न कि सैन्धव से 'अश्व' का ग्रहण होता है।

२. "क्षाराक्षीरं फलं पुष्पं भस्म तैलानि कण्टकाः।। पत्राणि शुङ्गाः कन्दाश्च प्ररोहाश्चौद्भिदो गणः।।" (च.सू.अ. १/७३) इति, सूत्र में औद्भिद् गण का प्रसंग होने से 'क्षीर' से गो आदि के दुग्ध का ग्रहण न करके स्नुही आदि वनस्पतियों के क्षीर का ग्रहण किया गया है।

११. समानतन्त्रप्रत्यय– (दूसरे) ग्रन्थ में प्रतिपादित विशेष विषय की सिद्धि हेतु अन्य समान ग्रन्थ में प्रतिपादित सूत्रों का प्रयोग प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना **स्वतन्त्रप्रत्यय** कहलाता है। जैसे– "नीचलोमनखश्मश्रुः" (अ.हृ.सू.अ. २/३१) इति [लोम, नख एवं श्मश्रु को समय-समय पर काटना चाहिए। लेकिन यह कार्य कितने दिन पर करना चाहिए, यह निर्देश इस ग्रन्थ में नहीं दिया गया है। यहाँ व्याख्याकार क्षारपाणि आदि आचार्यों के प्रसिद्ध उदाहरणों को देकर दस-दस दिन पर केशादि को कटवाना चाहिए, यह निश्चित करता है।

Scanned by CamScanner

१२. परतन्त्रप्रत्यय– यस्य अर्थस्य प्रसिद्धितो न स्वकीयमुदाहरणं शक्यमभिधातुं नाप्यन्येभ्यो भिषग्तन्त्रेभ्यः। ततस्तस्मिन् द्वये परतन्त्रादुदाहरणं कल्प्यते- ग्रन्थ में प्रतिपादित किसी विषय की प्रसिद्धि हेतु जब अपने ग्रन्थ का उदाहरण देना संभव न हो, न तो अन्य आयुर्वेद तन्त्र के उदाहरण प्रयुक्त हो सकें। इन दोनों ही अवस्थाओं में परतन्त्र (आयुर्वेदेतर तन्त्र) से उदाहरण ग्रहण करना चाहिए। यथा– "कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्यातिमात्रकः। सम्यक् योगश्च विज्ञेयो रोगारोग्यैककारणम्" (अ.ह.सू.अ. १/१९) इति, इस सूत्र में योग के लक्षणों को नहीं बताया गया है न ही अन्य चिकित्सा तन्त्रों में इसका उल्लेख है। लेकिन इस विषय का निश्चय आयुर्वेदेतर बौद्ध साहित्य के द्वारा किया गया है,- "स्वहेतुभ्यः शीतोष्णादिलक्षणेन कालस्योत्पत्तिरेव योगः" इति [अपने कारणों से उचित समय पर शीत, उष्ण व वर्षा के लक्षणों का उत्पन्न होना ही **काल का योग** कहा जाता है।]

१३. हेतुहेतुक धर्म– जब एक व्याधि का हेतु अन्य व्याधि का हेतु हो जाय तब उसे हेतुहेतुक धर्म कहा जाता है। जैसे– पित्तातिसार का रोगी जब पित्त वर्धक पदार्थों का अत्यधिक सेवन करता है तब दूषित पित्त रक्त को दूषित करके रक्तातिसार को उत्पन्न करता है। यहाँ रक्तातिसार का मूल कारण पित्त है, अतिसार नहीं।

१४. कार्यकारण धर्म– जहाँ कार्य नाम से कारण का निर्देश हो अथवा कारण से कार्य का निर्देश किया जाय, उसे कार्यकारण धर्म कहते हैं। जैसे– दोष भी 'रोग' शब्द से कहा जाता है अर्थात् 'दोष' का नाम रोग भी है तथा दोष को कारण भी कहा जाता है, यथा– "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" (अ.ह.नि.अ. १/१२) इति। इस सूत्र में 'दोष' को रोग शब्द से कहते हुए भी कारण रूप दोष का कार्य रोग होता है। अतः यहाँ दोष शब्द **रोग** एवं **कारण** दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

१५. आद्यन्त विपर्यय– ग्रन्थ निर्माण की सुविधा हेतु, अथवा श्लोक रचना की सुविधा की दृष्टि से सूत्र या प्रकरण को आगे का पीछे तथा पीछे का आगे कहना **आद्यन्तविपर्यय** कहा जाता है। जैसे– अन्नपान विधि की व्याख्या में पहले पान, पश्चात् अन्न का विवेचन किया गया है, जबकि पहले अन्न, पश्चात् पान का विवेचन होना चाहिए।

१६. शब्दान्यत्व– एक ही अर्थ के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग होना, अथवा पर्यायों का कथन शब्दान्यत्व कहा जाता है। यथा– "रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः। यक्ष्मातङ्कगदाबाधाः शब्दा पर्यायवाचिनः" (अ.ह.नि.अ. १/१) इति [रोग, पाप्मा, ज्वर, व्याधि, विकार, दुःख, आमय, यक्ष्मा, आतङ्क, गद, आदि एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं।]

१७. प्रत्ययधर्म– यो न च हेतुर्हेतुधर्मोपपत्तिमात्रेण च केनचिद्धेतुत्वेन व्यपदिश्यते– जो हेतु हेतुधर्मोपपत्ति मात्र से किसी का हेतु न हो उसे प्रत्यय धर्म कहते हैं। अर्थात् जिसका प्रतिपादन हेतु के रूप में होता है, लेकिन वास्तव में वह व्याधि का उत्पादक कारण न हो। यथा– "देवादयः कुर्वन्ति उन्मत्तम्" [देवादि व्यक्ति को उन्मत्त करते है] इस सूत्र में उन्माद के कारण के रूप में **देवादि** का प्रतिपादन है, लेकिन वास्तव में ये उन्माद के उत्पादक कारण नहीं हैं। मुख्य कारण तो प्रज्ञापराध ही है।]

१८. उपनय– सूत्रहेतुप्रस्तावेन यत्रान्यत्प्रकरणमुपनीयते– सूत्र के हेतु की प्रस्तावना से जहाँ अन्य प्रकरण प्रस्तुत किया जाय उपनय कहलाता है, अर्थात् प्रस्तावित पूर्वसूत्र से प्रासंगिक होने पर अन्य विषय को प्रस्तुत करना उपनय कहलाता है, यथा– यज्जः पुरुषीय अध्याय में आहाराधिकार में चौरासी अन्नपानासव का विवेचन अष्टाङ्ग हृदय में होना तथा मात्राशितीय अध्याय में विसूचिका रोग का वर्णन।

१९. सम्भव– यत्सूत्रं प्रकरणं वा विधीयमानमर्थस्य व्यापकत्वात् सकलेन शास्त्रेण व्याख्यायते– विधीयमान वह सूत्र अथवा प्रकरण जो अर्थ के व्यापक होने से सम्पूर्ण शास्त्र द्वारा व्याख्यायित होता है। यथा– शल्य शालाक्य आदि, अष्टांग आयुर्वेद सम्पूर्ण तन्त्र को व्याप्त करते हैं। अतः उनकी व्याख्या शास्त्र द्वारा की जाती है।

२०. विभव– अयं व्याख्यया विभवो भवति– 'व्याख्या' से ही विभव होता है। अर्थात् व्यापक अर्थ युक्त विषय जो अन्य शास्त्रों में भी व्याख्यायित होता है। व्याख्या के द्वारा ही विषय **विभव** (प्रभावी Powerful) होता है।

(घ) ताच्छील्य

'ताच्छील्य' का सामान्य अर्थ किसी वस्तु, भाव अथवा विषय के सदृश या समान अन्य भाव का होना। जैसे– लोहे में जलाने का गुण नहीं है, लेकिन अग्निसंयोग के द्वारा वह ताच्छील्य भाव को प्राप्त करके जलाता भी है। इसी प्रकार 'घृत' में जलाने का गुण नहीं है, लेकिन अग्नि संयोग से अग्नि के गुण को ग्रहण करके वह जलाने का भी कार्य करती है।

ताच्छील्य सत्रह प्रकार के होते हैं, यथा– १. ताच्छील्य, २. अवयव, ३. विकार, ४. सामीप्य, ५. भूयस्त्व, ६. प्रकार, ७. गुणिगुणविभव, ८. संसक्तता, ९. तद्धर्मता, १०. स्थान, ११. तादर्थ्य, १२. साहचर्य, १३. कर्म, १४. गुणनिमित्तता, १५. चेष्टानिमित्तता, १६. मूलसंज्ञा, १७. तात्स्थ्य।

Scanned by CamScanner

१. ताच्छील्य– यत्केनचिदेव धर्मसादृश्येन युक्तो भावस्ताच्छील्यमुच्यते– किसी भी द्रव्य का समान भाव से युक्त होना ताच्छील्य कहलाता है, अर्थात् दो द्रव्यों या भावों के गुणधर्म, स्वभाव आदि का समान होना ताच्छील्य कहलाता है। यथा– ''सर्वाङ्गसंश्रयस्तोदभेद-स्फुरणभञ्जनम्। स्तम्भनाक्षेपणस्वापसन्ध्याकुञ्चनकम्पनम् ।। कुपितोऽनिलः करोति'' (अ.ह.नि.अ. १५/१५) इति। इस सूत्र में प्रकुपित वायु के लक्षणों का अभिधान किया गया है। इसमें अङ्गानि स्वपन्ति शब्द का प्रयोग किया गया है, जबकि अंग सोते नहीं हैं। पुरुष सोता है, यह कहा जाता है। इसी गुण की (पुरुष से अंगों की) समानता के कारण यहाँ 'स्वाप्' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार सोते हुए पुरुष को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, अर्थात् वह चेतना युक्त नहीं होता उसी प्रकार अङ्ग भी सुप्तावस्था में कुछ भी ज्ञान नहीं कर पाते।

२. अवयव– यत्र एकदेशोदाहरणे क्रियमाणेऽनुक्तोऽन्योऽपि तज्जातीयकोऽर्थो लभ्यते– जहाँ किसी विषय के एक देश (एक अंश) के कथन से उससे सम्बन्धित अन्य विषय का भी ज्ञान हो जाना 'अवयव' कहलाता है। यथा– ''लङ्घनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति। स्वास्थ्यं क्षुत्तृड्रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते'' (अ.ह.चि. १/३) इति । इस सूत्र से लंघन के द्वारा दोषों का क्षय, जाठराग्नि की वृद्धि, भोजन के प्रति रुचि आदि उत्पन्न होकर स्वास्थ्य की उत्पत्ति होती है, के ज्ञान के साथ-साथ लंघन न कराने पर उपरोक्त भावों का अभाव होने से 'स्वास्थ्य' की प्राप्ति नहीं होती, यह भी ज्ञान होता है। इस प्रकार का कथन अवयव कहलाता है।

३. विकार– विकार का अर्थ विपरीत क्रिया से है। यथा– 'विकार' शब्द से प्रकृति का भी ग्रहण करते हैं तथा प्रकृति शब्द से **विकार** का भी अर्थ ग्रहण करते हैं। 'विकार' नाम से प्रकृति का ग्रहण, यथा– ''पुष्पे पत्रे फले नाले कन्दे च गुरुता क्रमात्'' (अ.ह.सू.अ. ६/११४) इति । पुष्प, पत्र, फल, नाल (तना), कन्द क्रमशः गुरु होते हैं। यह कथन शाक को अधिकृत करके कहा गया है। प्रकृति से यहाँ पाठा, शूक आदि के पत्रों का ग्रहण किया गया है उन्हें पकाने पर अथवा पाक क्रिया के द्वारा इनकी अवस्था में परिवर्तन होता है जिसके कारण इन्हें **शाक** कहा जाता है, उसी को यहाँ शास्त्रकार 'विकार' कहता है। [द्रव्य विशेष का अवस्थान्तर विकार कहलाता है, यथा– दूध का दधि में परिवर्तन, इसमें दूध का विकार दधि है।]

४. सामीप्य– आचार्य अरुणदत्त ने इसका वर्णन नहीं किया है। भट्टार हरिचन्द्र ने इसका अर्थ 'संश्लेष' ग्रहण किया है। 'सामीप्यं नाम 'संश्लेषः' तत् संश्लेषादेतत् (वस्त्वन्तरम) पितद्वद् उपचारं लभते उस संश्लेष से यह (दूसरी वस्तु) भी उसी के समान उपचार को प्राप्त होती है ।

५. भूयस्त्व– 'यदेकस्मिन् वर्तमानमाधिक्येन क्वचिल्लभ्यते' जब एक विषय अधिकता से कहीं-कहीं प्राप्त होता हो। [जो अनेक में विद्यमान रहता हुआ अधिकता से जहाँ लक्षित होता हो अथवा जिसकी प्रमुखता रहती है। उसे **भूयस्त्व** कहते हैं। जैसे– अम्लो भक्तं रोचयति (अम्ल रस भोजन को रुचिकर बनाता है), मधुरादि रस भोजन में रुचि नहीं उत्पन्न करते, ऐसा भी नहीं है। लेकिन अन्य रसों की तुलना में अम्ल रस में यह गुण विशेष होता है।

'भूयस्'– अधिकता से (Becoming a greater degree) अन्यों की तुलना में अधिक।

६. प्रकार– 'यो यस्य समानधर्मा स तस्य प्रकारः'– जो जिसके समान गुण वाला है वह उसका प्रकार होता है। जैसे– ''कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन् वमेत्'' [गले में एरण्डनाल के स्पर्श द्वारा वमन को प्रवृत्त करें।] उसके (एरण्डनाल) समान अन्य प्रकार के नाल- शतपुष्पा, सुवर्चला का ग्रहण यहाँ नहीं किया गया है।

७. गुणिगुणविभव– 'क्वचित् गुणीनि गुणशब्देनोक्तानि'– कहीं-कहीं गुणी को ही गुण शब्द से कहा गया है, यथा– ''पार्थिवाः पार्थिवानेव'' पार्थिव द्रव्यों के सेवन से पार्थिव भाव की वृद्धि होती है।

[गुणी के समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से जो गुण उत्पन्न होता है उसे 'गुणिगुणविभव' कहा जाता है।]

८. संसक्तता– 'यदेकस्य बहुभिः सम्बन्धः'– एक का सम्बन्ध अनेक के साथ होना **संसक्तता** कहलाता है। [विद्यमानेष्वपि तत्रान्येषु सम्बन्धेषु तस्यैव व्यपदेशः क्रियते– किसी द्रव्य में अनेक गुणों के विद्यमान होते हुए भी प्रमुख गुण के व्यवहार से उसका ज्ञान होना 'संसक्तता' कहलाता है।] यथा– हरीतकी को **कषाय स्कन्ध** के अन्तर्गत रखा गया है, जबकि इसमें लवण रस को छोड़कर अन्य रस भी मिले रहते हैं। कषाय रस प्रधान होने के कारण इसे इस वर्ग में रखा गया है।

९. तद्धर्मता– उस धर्म (गुण) को धारण करना, अर्थात् एक द्रव्य में अन्य के गुणों का आरोपण करना तद्धर्मता कहलाता है, जैसे– ''त्यजेद्दूरात् भिषग्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव'' (अ.ह.उ.तं.अ. ४०/७६) इति [जिस चिकित्सक को शास्त्र के परमार्थ का ज्ञान नहीं है मात्र शास्त्र का ज्ञान है। यम के पाश की भाँति उस कुपात्र चिकित्सक को दूर से ही त्याग दें।] यहाँ यमराज के पाश (जाल) धर्म का आरोपण अज्ञ चिकित्सक पर किया गया है।

Scanned by CamScanner

१०. स्थान– यत्र स्थानिना स्थानं स्थानेन वा स्थानी व्यपदिश्यते– जहाँ स्थानीय (स्थान में रहने वाला) से स्थान का अथवा 'स्थान' से स्थानीय का व्यवहार किया जाता है उसे स्थान कहते हैं। यथा– १. स्थानीय के द्वारा स्थान का व्यपदेश– कर्णनादः (कर्णनाद को के द्वारा कर्ण (अधिष्ठान=स्थान) को बताया गया है।

२. स्थान से स्थानीय का व्यवहार– 'जिह्वा रसं गृह्णाति' (जिह्वा रस को ग्रहण करती है) यहाँ जिह्वा रस का ग्रहण नहीं करती, अपितु जिह्वा में स्थित रसनेन्द्रिय रस का ग्रहण करती है।

११. तादर्थ्य– यत्प्रयोजनार्थं प्रवर्तते यो भावस्तेनैव व्यपदिश्यते– जिस प्रयोजन के लिए जो भाव प्रवृत्त (उत्पन्न) होता है। उसी से उसका व्यवहार किया जाना **तादर्थ्य** कहलाता है। जैसे– "मदनमधुकलम्बा" इत्यादि से वामक द्रव्यों का उल्लेख किया गया है। ये द्रव्य वमन के प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। अर्थात् कार्य के आधार पर द्रव्यों का नामकरण करना **तादर्थ्य** कहलाता है, यथा– वामक द्रव्य के रूप में मदनफल का ग्रहण करना।

१२. साहचर्य– 'यो येन नित्यं सम्बन्ध उपलभ्यते' जो जिससे नित्य सम्बन्ध को प्राप्त करता है। इसलिये वह उस सम्बन्ध से सम्बन्धी को प्राप्त करता है, यथा–१. छत्री, दण्डी, मौली। व्यक्ति के पास छाता (छत्र) होने पर छत्री, दण्ड धारण करने के कारण दण्डी कहा जाता है। इस प्रकार का सम्बन्ध **साहचर्य** कहा जाता है।

२. धूम व अग्नि का सम्बन्ध- जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि का होना।

१३. कर्म– 'यत्र कर्मकर्मेति चोपचर्यते' जहाँ कर्म 'कर्म' शब्द से कहा जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे– "मुनयः प्रशमं जग्मुः" [मुनियों ने प्रशम को प्राप्त किया] किसी भी ग्रामवासी (ग्राम्य जीवन वाले व्यक्ति) का प्रशम नहीं होता, अर्थात् ऐसे लोग इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रख पाते, ऐसा क्यों हैं? इन्द्रियों का विषयों से बलात् नियमन प्रशम कहलाता है। इन्द्रियों का अपने कर्म रूपी विषयों से निवृत्त हो जाना, इसे ही यहाँ कर्म शब्द से कहा गया है।

१४. गुण निमित्तता– यत्कस्य विभूतिः प्रशंसादिका ख्याप्यते– जिस किसी की प्रशंसा की जाती है वहाँ गुण निमित्तता होती है। यथा– "धार्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयपरायणम् । अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम्" (अ.ह.उ.अ. ४०/४) इति– यहाँ ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की गयी है, निर्देशित गुण ब्रह्मचर्य में पाये जाते हैं, अब्रह्मचर्य में नहीं।

१५. चेष्टानिमित्तता– यस्मिन् नाममात्रं कस्यचित् क्रियया भवति भावस्य। नात्र प्रस्पन्दक्रियेष्टा। जिस किसी में नाम मात्र की क्रिया होती है उस भाव को चेष्टा निमित्त कहते हैं। यहाँ प्रस्पन्द क्रिया इष्ट नहीं है। यथा– "दीपवत् अस्य ज्ञानं ज्वलति" इति [दीपक की तरह इसका ज्ञान प्रकाशित होता है) यह कहा गया है। ज्ञान का प्रकाश दीपक की लौ की तरह ऊर्ध्वगामी नहीं होता, न ही अपने पास के द्रव्यों को जलाता ही है। रूप अथवा स्पर्श, ज्ञान के प्रकाश में उसी प्रकार उपादान कारण हैं जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में तैल आदि। किन्तु दीपक के प्रकाश क्रिया मात्र गुण को ग्रहण करके प्रशंसा कर्म के रूप में 'ज्वलतीति' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका आशय ज्ञान रूप प्रकाश के होने पर क्रोध, भय, शोक, लोभ, हर्ष, ईर्ष्या आदि भावो के नष्ट होने से है। ज्ञान मल रूप विकारों को नष्ट करके दर्पण की तरह प्रकाश वृत्ति को उत्पन्न करता है।

१६. मूलसंज्ञा– 'या लोकेऽन्यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धा तन्त्रे चान्यस्मिन् अर्थे निवेशिता'– जो लोक व्यवहार में अन्य अर्थ में प्रसिद्ध हो तथा शास्त्रपरक अर्थ दूसरा हो उसे 'मूलसंज्ञा' कहा जाता है जैसे– "निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा। सम्प्राप्तिश्च" (अ.ह.नि.अ. १/२) इति, इस सूत्र में वर्णित 'रूप' शब्द लोक व्यवहार में नीला, हरा, पीला, लाल आदि वर्ण के अर्थ में प्रचलित हैं, जबकि शास्त्र (आयुर्वेद) में इसका अर्थ लिङ्ग (लक्षण) है।

१७. तात्स्थ्य– तत् + स्थ (वहाँ स्थित रहना- Belonging to that place- M.M. Williams)

'यदन्यस्यैवार्थस्य तत्स्थत्वाद् अन्यस्यैव कल्प्यते'– जिसका अर्थ कुछ दूसरा हो, लेकिन उस स्थान पर रहने से अन्य अर्थ का ग्रहण करना **तात्स्थ्य** कहलाता है। जैसे– "बस्तिमेहनयोशूलम्" (अ.ह.नि.अ. १०/२३) इति– [बस्ति एवं मेहन में शूल का होना]

दोषों के उस स्थान पर स्थित होने से बस्ति व मेहन (मूत्रेन्द्रिय) में शूल होता है यह कल्पना की जाती है। अर्थात् हेतु के पुं स्थान में स्थित होने से बस्ति व मूत्रमार्ग में शूल होता है। जबकि शूल का अनुभव आत्मा को होता है, क्योंकि चेतना के न होने पर शरीर में शूल कहीं भी नहीं होता। लेकिन स्थान विशेष में होने से उस स्थान का शूल कहा जाता है।

Scanned by CamScanner

(च) पञ्चदशतन्त्रदोष

तन्त्रदोष- १५ प्रकार के होते हैं-

१.	अप्रसिद्धशब्द	२.	दुःप्रणीत	३.	असङ्गतार्थ	४.	असुखारोहि
५.	विरुद्ध	६.	अतिविस्तृत	७.	अतिसंक्षिप्त	८.	अप्रयोजन
९.	भिन्नक्रम	१०.	संदिग्ध	११.	पुनरुक्त	१२.	निःप्रमाण
१३.	असमाप्तार्थ	१४.	अपार्थक	१५.	व्याहत		

१. अप्रसिद्ध शब्द– शास्त्र में वर्णित शब्दों का लोक प्रसिद्ध न होना, अर्थात् लोक व्यवहार में न होना। यथा- 'उदक्यागमनलक्षणमसुखानाम्'- रजस्वला स्त्री (उदक्या) के साथ मैथुन करना असुखकर भावों में से एक है। यहाँ 'उदक्या' शब्द का व्यवहार लोक में प्रचलित नहीं है। शास्त्र में ऐसे शब्दों का प्रयोग होना शास्त्रदोष माना जाता है।

२. दुःप्रणीत– 'शास्त्र में वर्णित सूत्र व भाष्य का प्रयोजन से रहित होना। अर्थात् जिससे कोई प्रयोजन न सिद्ध हो।

३. असङ्गतार्थ– जिसका सम्बन्ध मूल सूत्र से न हो। व्याख्या का सम्बन्ध मूलसूत्र से न होना 'असङ्गातार्थ' कहा जाता है।

४. असुखारोहि पद– पदों का सन्निवेश विषम होने से उच्चारण में कठिनता का होना अथवा जिसका उच्चारण कष्ट के साथ हो असुखारोहि पद कहा जाता है। यथा- धातर्यरिप्रदम् ।

५. विरुद्ध– जो विचार दृष्टान्त, सिद्धान्त व समय के विपरीत हो विरुद्ध कहलाता है, यथा- क. दृष्टान्त विरुद्ध- पुरुष नित्य है, अकृतक होने से, अर्थात् यह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है, यथा- घट। ख. सिद्धान्त विरुद्ध- मधुर, अम्ल, लवण रस कफ को प्रशमित करते हैं। ग. समय विरुद्ध- तत्त्वदर्शी आचार्यों के निर्देशों का उलङ्घन, अथवा परम्परागत मान्यताओं के विपरीत आचरण, यथा- नाखून से तिनका नहीं काटना चाहिए। इस निर्देश का उलङ्घन करना।

६. अतिविस्तृत– विषय को आवश्यकता से ज्यादा विस्तृत करना।

७. अतिसंक्षिप्त– विषय को अत्यधिक संक्षेप में प्रस्तुत करना, ऐसा करने से विषय स्पष्ट नहीं हो पाता।

८. अप्रयोजन– शास्त्र में वर्णित विषय का प्रयोजन रहित होना। बिना प्रयोजन के किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति कार्य में नहीं होती। जैसे- "इत्याचारः समासेन" कहा जाना अर्थात् ['संक्षेप में आचार' को बताया गया] कहकर यदि इसके योग्य कौन तथा लाभ का उल्लेख न किया जाय तब कोई भी व्यक्ति इसका पालन नहीं करेगा, अर्थात् किसी की भी प्रवृत्ति इसमें नहीं होगी।

९. भिन्न क्रम– शास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार विषयों का वर्णन न होना भिन्न क्रम कहा जाता है, जैसे- वातपित्तकफ को उद्देश्य करके इसी क्रम के अनुसार उनके गुण आदि का विवेचन न करना। अथवा एक के क्रम को पूरा किये बिना दूसरे को प्रारम्भ करना।

१०. संदिग्ध– संदिग्ध विषयों का विवेचन करना, यथा-१. क्या अकाल मृत्यु है या नहीं, २. मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म होता है या नहीं, अर्थात् पुनर्जन्म है या नहीं।

११. पुनरुक्त– एक ही विषय को बार-बार कहा जाना पुनरुक्त कहलाता है।

१२. निः प्रमाण– विषयों का प्रमाण रहित वर्णन करना **निष्प्रमाण** कहलाता है।

१३. असमाप्तार्थ– किसी विषय का पूर्ण विवेचन न करते हुए उसे बीच में ही समाप्त करना असमाप्तार्थ कहा जाता है।

१४. अनर्थक– जिस पद या शब्द का कोई अर्थ न निकले उसे अनर्थक कहा गया है, यथा- क च ट प त, इनका कोई अर्थ नहीं निकलता है।

यदन्यार्थेनापि पदेनापगताभिधेयम्- अन्य अर्थ के द्वारा भी जिस पद के अर्थ का बोध न हो, उसे अनर्थक कहा जाता है।

१५. व्याहत– पूर्वापर विरोध का होना। शास्त्र में पूर्व कहे गये सूत्रों का बाद के सूत्रों से विरोध होना व्याहत कहा जाता है।

तन्त्रे समासव्यासोक्ते भवन्त्येता हि कृत्स्नशः ।।४५।।
एकदेशेन दृश्यन्ते समासाभिहिते तथा।

शास्त्र में तन्त्रयुक्तियों का विवेचन– तन्त्रयुक्तियाँ सभी शास्त्रों (तन्त्रों) में संक्षेप एवं विस्तार से प्राप्त होती हैं। जो शास्त्र संक्षेप में कहा गया है उनमें ये भी एकदेश में कही जाती हैं, अर्थात् संक्षिप्त शास्त्र में पूरी तन्त्रयुक्तियाँ भी नहीं पायी जाती।

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'तन्त्रे समासव्यासोक्ते इत्यादि' के द्वारा तन्त्रयुक्तियों को उद्देश्य करके उनका शास्त्र में अभिधान किया गया है। अर्थात् शास्त्र में इनका प्रयोग किस प्रकार होता है, यह स्पष्ट किया गया है।

समासाभिहिते इति– अतिसंक्षिप्त तन्त्र में निश्चय ही सभी तन्त्र युक्तियाँ नहीं होती हैं, अथवा कुछ ही तन्त्रयुक्तियाँ दिखायी देती हैं। ॥४५॥

यथाऽम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा ।।४६।।
प्रबोधनप्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः ।

तन्त्रयुक्तियों का महत्व– जिस प्रकार अम्बुजवन (कमलवन) को सूर्य तथा घर को दीपक प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तन्त्र में छिपे हुए अर्थों को स्पष्ट करके प्रकाशित करने का कार्य तन्त्रयुक्तियाँ करती हैं।

चक्रपाणि– 'यथेत्यादि' के द्वारा तन्त्रयुक्तियों के कार्य को दृष्टान्त के रूप में स्पष्ट किया गया है। यथाऽम्बुजवनस्य संकुचितस्य विस्तारकोऽर्कस्तथा तन्त्रेसंकुचितस्यार्थप्रदेशस्य विस्तारकास्तन्त्रयुक्तयः– जिस प्रकार संकुचित कमलवन के विस्तार का कार्य अर्क (सूर्य) करता है उसी प्रकार शास्त्र में अल्प रूप में कहे गये विषय के विस्तार का कार्य तन्त्रयुक्तियाँ करती हैं। **प्रबोधनाद्विस्तारका भवन्तीत्यर्कदृष्टान्तेनदर्शयति–** प्रबोधन का अर्थ 'विस्तार करना' है, जिसे 'अर्क दृष्टान्त' के द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार सूर्य कमलवन की कलियों का विस्तार करता है, अर्थात् कली का विस्तार करके पुष्प विकसित करता है उसी प्रकार तन्त्र युक्तियाँ भी शास्त्र में अल्प रूप (सूत्र रूप) में वर्णित विषय जिसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता, उसे खोलकर विस्तृत कर देती है जिससे व्यक्ति को उनका भाव समझ में आ जाता है।

दीपक दृष्टान्त– जिस प्रकार एक दीपक अन्धकार युक्त घर को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार हेत्वादि तन्त्रयुक्तियाँ भी शास्त्र में छिपे हुए अस्पष्ट विषयों को प्रकाशित (स्पष्ट) करने का कार्य करती हैं। इस प्रकार तन्त्र युक्ति द्वारा विषय का **प्रबोधन** एवं **प्रकाशन** दोनों कार्य होता है। [दीपक का कार्य 'प्रकाशित करना' है, अर्थात् वस्तु तो रहती है किन्तु अंधकार के कारण व्यक्ति को दिखायी नहीं देती, प्रकाश उत्पन्न होते ही दिखायी देने लगती है।]

[प्रबोधक- Easily intelligible (आसानी से समझने योग्य) । प्रबोधन= Knowledge, understanding समझ । प्रकाशन Bringing to light, अर्थ को स्पष्ट करना।

प्रबोधनाद्विस्तारका– विषय को इस प्रकार स्पष्ट करना, जिससे विषय आसानी से समझ में आ जाया] ॥४६॥

एकस्मिन्नपि यस्येह शास्त्रे लब्धास्पदा मतिः ।।४७।।
स शास्त्रमन्यदप्याशु युक्तिज्ञत्वात् प्रबुध्यते । अधीयानोऽपि शास्त्राणि तन्त्रयुक्त्या विना भिषक् । नाधिगच्छति शास्त्रार्थानर्थान् भाग्यक्षये यथा ।।४८।।

एक शास्त्र के ज्ञान से अन्य शास्त्रों का ज्ञान– जिस पुरुष को एक शास्त्र का सम्यक् ज्ञान है वह तन्त्र युक्तियों के ज्ञान से अन्य शास्त्रों को भी जानने में शीघ्र समर्थ हो जाता है।

यदि चिकित्सक (भिषक्) तन्त्र युक्तियों के ज्ञान के बिना ही शास्त्र का अध्ययन करता है तो वह शास्त्र (आयुर्वेद शास्त्र) के अर्थ को सम्यक् रूप से नहीं समझ पाता, जैसे– भाग्य के क्षय होने पर व्यक्ति को धन नहीं प्राप्त होता। अर्थात् जिसके भाग्य में धन का योग नहीं है वह कितना भी परिश्रम कर ले, उसे धन प्राप्त नहीं होता।

चक्रपाणि– 'एकस्मिन्नपीत्यादि' के द्वारा तन्त्रयुक्तियों के ज्ञानपूर्वक सम्यक् शास्त्रभ्यास के फल को बताया गया है। ॥४७-४८॥

दुर्गृहीतं क्षिणोत्येव शास्त्रं शस्त्रमिवाबुधम् । सुगृहीतं तदेव त्रं शास्त्रं शस्त्रं च रक्षति ।।४९।।
(तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः । तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः) ।।५०।।

शास्त्र ज्ञान का महत्व– अनुचित रूप से ग्रहण किया गया शास्त्र ज्ञान व्यक्ति को उसी प्रकार हानि पहुँचाता है जैसे मूर्ख व्यक्ति को दिया गया शस्त्र, अर्थात् मूर्ख व्यक्ति शस्त्र से अपने ही अङ्गों को काट लेता है। इसके विपरीत सम्यक् रूप से ग्रहण किया गया शास्त्र ज्ञान उसकी उसी प्रकार रक्षा करता है जिस प्रकार एक योग्य व्यक्ति को दिया गया शस्त्र ज्ञान। अर्थात् यदि एक योग्य व्यक्ति शस्त्र चलाने में निपुण है तो वह किसी भी आक्रमणकारी से अपने तथा अन्य लोगों की भी रक्षा करता है। (योग्य व्यक्ति से यहाँ शस्त्र एवं शास्त्र के सदुपयोग करने वाले पुरुष का ग्रहण है।)

[इसलिए इस तन्त्र (अग्निवेश तन्त्र) के गुण व दोषों के वास्तविक ज्ञान के लिए तन्त्रयुक्तियों का विस्तार से विवेचन आगे पुनः किया जायेगा।]

Scanned by CamScanner

चक्रपाणि– 'दुर्गृहीतमित्यादि' के द्वारा शास्त्र के दुर्ज्ञान (असम्यक् ज्ञान) एवं सम्यक् ज्ञान के दोष एवं गुणों को स्पष्ट किया गया है। दुर्गृहीत शस्त्रं यथाऽऽत्मन एव करच्छेदादिकमापादयति– जिस प्रकार शस्त्र चलाने में अकुशल व्यक्ति अपने ही हाथ आदि को काट लेता है, उसी प्रकार दुर्गृहीत शास्त्र वाला (जिसे शास्त्र का सम्यक् ज्ञान नहीं है, ऐसा व्यक्ति) रोगी को मिथ्या भेषज के प्रयोग से स्वयं के लिए विपत्ति उत्पन्न कर देता है।

यदि व्यक्ति ने शस्त्र की सम्यक् शिक्षा ली है तब वह डाकू आदि से स्वयं एवं अन्य पुरुषों की भी रक्षा करने में समर्थ होता है। यदि उसने शास्त्र का सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया है तब वह स्वयं तथा अन्य को भी आरोग्य करने में समर्थ होता है ।

कुछ आचार्य 'तस्मादेता' इत्यादि श्लोक को उत्तरतन्त्र में तन्त्रयुक्तियों के विस्तार का प्रतिपादक पढ़ते हैं, जिसे वृद्ध वैद्य अनार्ष (अप्रमाणिक) स्वीकार करते हैं। क्योंकि अग्निवेश तन्त्र में उत्तरतन्त्र ही अनार्ष है, अर्थात् अग्निवेशतन्त्र में उत्तरतन्त्र की विद्यमानता प्रमाणित नहीं है । ॥४९-५०॥

विशेष (Comments)– "तस्मादेताः प्रवक्ष्यन्ते विस्तरेणोत्तरे पुनः। तत्त्वज्ञानार्थमस्यैव तन्त्रस्य गुणदोषतः" (सि.अ. १२/५०) इति, सूत्र से यह आशंका उत्पन्न होती है कि– चरकसंहिता का उत्तरतन्त्र भी था जिसमें तन्त्रयुक्तियाँ, सप्तविध कल्पना, सप्तदश ताच्छील्य, एकविंशति अर्थाश्रय आदि का विस्तार से वर्णन है।

इस श्लोक को आयुर्वेद के विद्वान अनार्ष स्वीकार करते हैं, ऐसा चक्रपाणि का कथन है।

आचार्य चक्रपाणि के मत के अनुसार– अग्निवेशतन्त्र में उत्तरतन्त्र ही अनार्ष है, अर्थात् अग्निवेशतन्त्र का कोई उत्तरतन्त्र नहीं है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य चक्रपाणि के समय तक उत्तरतन्त्र उपलब्ध नहीं था । मैं भी चरकसंहिता के उत्तरतन्त्र के प्रतिपादन से सहमत नहीं हूँ, क्योंकि अध्यायों एवं स्थानों के गणनाक्रम में कहीं भी उत्तरतन्त्र का प्रसङ्ग नहीं आया है।

इदमखिलमधीत्य सम्यगर्थान् विमृशति योऽविमनाः प्रयोगनित्यः । स मनुजसुखजीवितप्रदाता भवति धृतिस्मृतिबुद्धिधर्मवृद्धः ।।५१।।

अग्निवेशतन्त्र के अध्ययन का फल– जो मनुष्य इस सम्पूर्ण अग्निवेशतन्त्र का पूर्ण रूप से अध्ययन करके, अर्थों का सम्यक् विचार करके तथा आस्था व विश्वास के साथ इसके निर्देशों का नित्य पालन करता है वह धृति, स्मृति, बुद्धि धर्म से युक्त होकर मानव मात्र को सुख एवं दीर्घायु प्रदान करने में समर्थ होता है।

चक्रपाणि– 'इदमखिलमित्यादि' के द्वारा तन्त्र के अध्ययन के फल को स्पष्ट किया गया है। अविमना इति तन्त्रार्थाविचलितमनाः– तन्त्र के अर्थ से मन का विचलित न होना (शास्त्र निर्दिष्ट विषयों पर पूर्णतः विश्वास करके, अर्थात् आस्था एवं विश्वास पूर्वक)।

प्रयोगनित्य इति– जो पुरुष शास्त्र का सम्यक् अध्ययन करके उसके अर्थों का सम्यक् विचार करके तथा आस्था व विश्वास के साथ आयुर्वेद निर्दिष्ट विधियों के साथ चिकित्सा करता है, वह जीवन व सुख को देने वाला होता है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति आतुर को आरोग्य एवं दीर्घायु प्रदान करने में सक्षम होता है।

किंवा सुखरूपस्य जीवितस्य प्रदाता सुखजीवितप्रदाता– सुखी जीवन देने वाले को 'सुखजीवित प्रदाता' कहा जाता है। अर्थात् ऐसा चिकित्सक व्यक्ति को व्याधियों से मुक्त करके आरोग्य रूपी सुख को देने वाला होता है। धृत्यादीति– जिस व्यक्ति की धृति, स्मृति एवं बुद्धि बढ़ जाय उसे धृतिस्मृतिबुद्धि धर्म वाला कहा जाता है। ॥५१॥

(यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता । सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञश्चिकित्साकुशलश्च सः ।।५२।।
रोगांस्तेषां चिकित्सां च स किमर्थं न बुध्यते । चिकित्सा वह्निवेशस्य सुस्थातुरहितं प्रति ।।५३।।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् । अग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते ।।५४।।
सिद्धिस्थानेऽष्टमे प्राप्ते तस्मिन् दृढबलेन तु । सिद्धिस्थानं स्वसिद्ध्यर्थं समासेन समापितम् ।।५५।।)
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलसंपूरिते सिद्धिस्थाने उत्तरबस्तिसिद्धिर्नाम द्वादशोऽध्यायः ।।१२।।

जिस व्यक्ति के हृदय में बारह हजार श्लोकों वाली यह संहिता (चरकसंहिता) विराजमान है वही अर्थज्ञ (अर्थों को जानने वाला), विचारज्ञ (विचारशील) एवं कुशल चिकित्सक है।

चरकसंहिता का महत्त्व– मनुष्य विविध प्रकार के रोगों एवं उनकी चिकित्सा का ज्ञान क्यों नहीं कर पाता, जबकि यह अग्निवेश तन्त्र (चरकसंहिता) स्वस्थ एवं आतुर दोनों प्रकार के पुरुषों के लिए हितकारी है। जिस विषय का विवेचन इस ग्रन्थ में है वही अन्य शास्त्रों में भी विद्यमान है, जिसका विवेचन यहाँ नहीं किया गया है, वह अन्य ग्रन्थों में भी विवेचित नहीं है।

अध्यायोक्त विषयों का उपसंहार– इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता के आठवें सिद्धिस्थान के प्राप्त होने पर दृढ़बल द्वारा अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि हेतु इस स्थान का वर्णन सङ्क्षेप में किया गया।

Scanned by CamScanner

इस प्रकार अग्निवेश द्वारा रचित चरक द्वारा प्रतिसंस्कृत अप्राप्त चरकसंहिता के दृढ़बल संपूरित सिद्धिस्थान में उत्तरबस्तिसिद्धि नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

चक्रपाणि– यस्य द्वादशसाहस्रीत्यादिश्लोकत्रयं केचित् पठन्ति– 'यस्य द्वादशसाहस्री' इत्यादि द्वारा वर्णित तीन श्लोक के ही पाठ को कुछ आचार्य स्वीकार करते हैं। उसे यहाँ स्पष्ट नहीं किया गया है। अथवा उसका विवेचन यहाँ नहीं किया गया है। ॥५२-५५॥

ग्रन्थ में आचार्य चक्रपाणि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है–

गौडाधिनाथरसवत्यधिकारी पात्रनारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरङ्गात् ।
भानोरनु प्रथितलोध्रवलीकुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्तृपदाधिकारी ।।

[इनके पिता श्री नारायण दत्त गौडाधिपति (नयपाल) के महानसाध्यक्ष तथा अग्रज श्री भानुदत्त सुनय (नयपाल) के अन्तरङ्ग पदवी प्राप्त थे। इनका जन्म प्रसिद्ध लोध्रवली कुल में हुआ था। इन्होंने चरकसंहिता पर आयुर्वेददीपिका व्याख्या लिखी, जो वर्तमान में चक्रपाणि व्याख्या के नाम से प्रसिद्ध है।]

इस प्रकार श्रीचक्रपाणिदत्त कृत चरकभावानुकारिणी आयुर्वेददीपिका के सिद्धिस्थान में उत्तरबस्तिसिद्धि नामक द्वादश अध्याय की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण हुई ।

इति, वैद्य हरिश्चन्द्र सिंह कुशवाहा, पुत्र स्व० देऊ सिंह कुशवाहा, ग्राम व पोस्ट- जंगीपुर, जनपद- गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) द्वारा चरकसंहिता पर श्रीचक्रपाणिदत्त कृत आयुर्वेददीपिका टीका की 'आयुषी' हिन्दी व्याख्या पूर्ण की गयी।

समाप्तमिदं चरकतन्त्रम्

Scanned by CamScanner

चरक-संहिता

हिन्दी-संस्कृत शब्दानुक्रमणिका

शब्द	पृष्ठ संख्या
अ	
अक्रोधवत	७२
अगद प्रयोग	२०३
अगस्त्य मोदक	९१७
अगस्त्य हरीतकी	४७९
अगुर्वादि तैल	१२६
अग्निकर्म	३२५,६६८
अग्नि विसर्प	५४१
अङ्गग्रह	१०३६
अङ्गार्ति	१०४८
अचरणा योनिव्यापद्	८०१
अजगरी	४०
अजा	४०
अजाज्यादि योग	५१८
अजातोदक	३२०
अजा दुग्ध	५१२
अजीर्ण	३९०,३९१
अजीर्ण औषधि	१०२६
अञ्जन	११३,२६०,५९०,७१२
अणिमा	२४८
अणुतैल	१२३,६९८
अणुपाक	३७८
अण्डिका	९३०
अतत्त्वाभिनिवेश	२७२
अति उत्क्षिप्तम्	१०१५
अतिगति	१०१३
अतिचरणा योनिव्यापद्	८०१
अतिच्छत्रा	३९
अतिद्रुत	१०१५
अतिदेश	११३७
अतियोग नाशक योग	१०३१
अतिविस्तृत	११५०
अतिवेग	१०१५
अतिसंक्षिप्त	११५०
अतिसार	२२८,२३६,१०५५
अतिसार चिकित्सा	४९७
अतिसार नाशक घृत	१०६१
अतिसार नाशक यवागू	१०६१
अतिसूत्र व्याख्या	११४४
अतीतावेक्षण	११३७
अत्यग्नि	४१७

शब्द	पृष्ठ संख्या
अधःपरिस्राव	१०३४
अधिकरण	११३७
अधिकरण व्याख्या	११४३
अधिमांसविकारा:	३४१
अधिशेते इति	८४
अधिष्ठान	३४१
अधो गुरुत्वम्	३१२
अध्यशन	४२०
अध्यात्मलोक:	७१८
अनर्थक	११५०
अनन्तवात	१०८४
अनागतावेक्षण	११३७
अनामयत्वमिति	९४५
अनुगत	११३७
अनुतर्ष	६४५
अनुपान	१७१
अनुबाधन	०२
अनुलोम व्याख्या	११४४
अनुवासन बस्ति	९४७,९५१,९७१, ९८७,१००९
अनुज्ञात इति	३३७
अनूप	२३९
अनेकान्त	११३७
अन्तराभुक्त	८४१
अन्तरायाम	७३८
अन्तर्मुखी योनिव्यापद्	८०३
अन्तर्वेग	७७
अन्तलोप	११४६
अन्नजा तृष्णा	५६५
अन्नजा हिक्का	४५१
अन्नरसोत्क्लेद	६४१
अन्नावृत वायु	७४४
अन्नावृत स्नेहबस्ति	१००६
अन्यतोवात	१०८५
अन्येद्युष्क	७५,८३
अन्योन्यप्रत्यनीकानामिति	१११४
अपक्वगुल्म	१६५
अपतन्त्रक	९७४,१०७१
अपतर्पण	१९३
अपतानक	१०७१
अपत्यकर घृत	६३

शब्द	पृष्ठ संख्या
अपत्यकर स्वरस	५४
अपत्यकर क्षीर प्रयोग	५७
अपत्यकरी षष्टिकादि गुटिका	५३
अपथ्य	२९३
अपदेश	११३७
अपप्लुता योनि	८०२
अपर आमलकावलेह	१८
अपरलशुनाद्य घृत	२५८
अपरिज्ञाता इति	७७०
अपवर्ग	११३७
अपस्मार चिकित्सा	२६४
अपस्मार नाशक यमक	२६८
अपां स्रष्टा	६८६
अपानवायु	७३०
अपार्थक	११५०
अर्पीनस	६९३
अपेतराक्षसी	२६९
अप्रयोजन	११५०
अप्रवृत्त स्नेहबस्ति	१००८
अप्रसिद्ध शब्द	११५०
अप्राप्तधातुरप्राप्तबलश्च बाल:	१०९४
अप्राप्ति	१०१३
अभयामलकीय रसायनपाद	०१
अभयारिष्ट	३६३
अभिघातज ज्वर	९१
अभिचार	९१
अभिशाप	९१
अभिषङ्ग	९१
अभिषङ्गज ज्वर	९२
अभिसन्न	२२८
अभेषज	०२
अभ्यङ्ग योग	१५४
अमर्षता	२४५
अमृत घृत	६१८
अमृतप्राश घृत	२७९
अमृतवल्ली	१४
अमृतसंज्ञ:	२११
अमृताद्य तैल	७५९,७८९
अमृताह्वादि वर्ति	७१२
अम्ल अवस्थापाक	३७८
अम्लरसक्लेद:	६४१

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
अयथाबलमारम्भ	२२१
अरजस्का योनिव्यापद्	८०१
अरिष्ट योग	९००,९१०
अरिष्टा बन्धन	५८४
अरुचि	२२८
अरुंषिका	६९३
अरोचक	६९५,७०८
अरोचक नाशक वटी	७०८
अर्कः कुरुविन्दो मणि विशेषः	२०८
अर्कादि वर्ति	८१०
अर्थव्याख्या	११४३
अर्थापत्ति	११३७
अर्थाश्रय	११४५
अर्दित	७३७,७५०
अर्धावभेदक	१०८२
अर्बुद	३०४
अर्श चिकित्सा	३४०
अलसक	१९९
अलजी	३०५
अल्पद्वारजालकाम्	०५
अल्पपञ्चगव्य	२६६
अवगाहन	२४१,३७१,७५२
अवघातक	८९९
अवचूर्णन	६६३
अवपीड	१५६,१०८५,१०८८
अवपीडक	२३२,७५०
अवपीड नस्य	७०३
अवयव	११४७
अवरशुद्धि	९४२
अवलेह	२३२,२३३,४८७
अवलेह योग	८८४,९००,९०३
अवसन्न	१०१५
अवसादन	६६७
अवसेचन योग	३५२
अव्यक्तं लक्षणं तस्य इति	२७४
अव्याप्त विष	५८४,५८६
अश्मरी रोग	६७७
अश्वगन्धादि उत्सादन	७२७
अश्वतरः वेगसरः	८७७
अश्वबला	४०
अष्टकट्वर तैल	७२६
अष्टप्रासृतिक बस्ति	१०५१
अष्टमान	९३०
अष्टशतोऽरिष्ट	२९६
अष्टाङ्ग लवण	६४७
अष्ठीला	३१६
असंवृतगुदः	९६७
असंसक्त इति असक्तवेगः	१११४
असङ्गतार्थ	११५०
असमाप्तार्थ	११५०
असाध्य प्रदर	८२८
असाध्य विसर्प	५३७
असुखारोहि	११५०
अस्थिसंधान	६६४
अस्थ्यावृत वायु	७४३
अक्ष	९३१
अक्षिपीडक	९०९
अक्षीणबलमांसस्य इति	१४९
अश्रद्धा	९७२
आ	
आकाशे धुनुयादिति	१०४६
आखु विष	६०३
आगन्तुक अतिसार	५०४
आगन्तुक शोथ	२८८,३०८
आगन्तुज अपस्मार	२७१
आगन्तुज अरोचक	६९५
आगन्तुज उन्माद	२४७
आगन्तुज ज्वर	९१
आगन्तु व्रण	६५२
आग्नेय विसर्प	५३५
आघातकाल	२४८
आचार रसायन	४३
आचूषण	५८६
आढ्य वात	७४३
आढय रोग	७७४
आतङ्क	७०
आदित्यपर्णी	४०
आदिमध्यान्त लोप	११४६
आद्यन्त विपर्यय	११४७
आदि लोप	११४५
आध्मान	१०२७,१०३३,१०४३
आनाह	६७६
आनूपदेश	८५६
आन्त्रसंमूर्च्छन	३१७
आपित्तदर्शनात्	९२३
आम	१२८
आमज्वर	९४
आमज आनाह	६७६
आमज ग्रहणी	३९७
आमज तृष्णा	५६३,५७१
आमज शूल	१०५४
आम तैल	१०१०
आम पाचन योग	४०२
आम प्रदोषः	५२५
आमरस	८०१
आमलक घृत	१६
आमलक चूर्ण	१८
आमलक रसायन	१२
आमलकाद्य घृत	१७५
आमलकायस ब्राह्म रसायन	२५
आमलकावलेह	१७
आमलकी स्वरस	९०२
आमलकादि घृत	२६८
आमविष	३९१
आम स्नेह	१०१०
आमातिसार	५०५
आमाशयस्थितानिति	९८
आम्रमात्रम्	१९
आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद	३८
आरग्वध	८९९
आरग्वधादि निरूहबस्ति	१२२
आर्द्र अर्श	३५२,३६५
आर्द्रकपेशिका	६४८
आवरक	७६७
आवरण प्रकरण	७४२,७९७
आवाप	१०९७
आवृत वायु	७७०
आशीः फलश्रुति	१८
आशीविष	६००
आश्योतन	७१४
आसिक्तक्षीरिक बाजीकरणपाद	५३
आस्थापनबस्ति	९६९
आस्फोता	४०६
आस्यासुखमिति	१८३
आहारपाक	३७७
आक्षेपक	७४०
आज्ञाकल्पना	११४४
इ	
इन्द्रवारुणी	१९१

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
इन्द्रसाह्वाम्	१९१
इन्द्रिय संताप	७४
इन्द्रोक्त रसायन	३९,४२
इक्षुमेह	१८५
इक्षुरस	८८४
इक्ष्वाकु	८७०,११०५
इक्ष्वाकुकल्प	८७०
ई	
ईशत्व	२४८
उ	
उग्रविष	६०८
उच्चिटिङ्ग विष	६०४
उचित व्याख्या	११४४
उञ्छ	११३७
उत्कर्तन	५८६
उत्कारिका	६५,४५९,४६४
उत्कारिका योग	९१६
उत्क्रुश्च	४१८
उत्क्लेशनीय आहार	९३९
उत्तरबस्ति	८१२,१०७८.१११२
उत्तरबस्ति सिद्धि	१११२
उत्तान वातरक्त	७७६
उत्पल	११
उत्सर्गापवाद	९७६
उत्सर्गापवादन्याय	३६
उत्सङ्गी व्रण	६५५
उत्सव	६३३
उत्सादन	२४१,२७०,६६७
उत्सूत्रता	१०१९
उत्क्षिप्त	१०१५
उदकमेह	१८५
उदकोदर	३१२,३१८,३२६
उदरचिकित्सा	३०९
उदर रोग	३१०
उदर्क	६३०
उदानवायु	७३०
उदानप्रणुत्र:	८५३
उदावर्त	६७२
उदावर्तिनी योनिव्यापद्	८०२
उदुम्बरपर्णी	९१३
उदुम्बरादि तैल	८११
उदुम्बरादि प्रदेह	५५०
उद्देश्य	११३७

शब्द	पृष्ठ संख्या
उद्धार	११३७
उद्धूयमान इति	४५३
उद्वेग जनक	२५३
उन्नीस बलादि रसायन	१९
उन्माद चिकित्सा	२४३
उपकुल्या	२१५
उपकुश	
उपक्रम	६५९
उपचित्रा	९१३
उपजिह्विका	३०३
उपदेश	११३७
उपद्रव	५४४,६५७,१०२७,१०३८
उपधान	५८४,५९०
उपनय	११४७
उपनाह	६६१,६६५,६८०,७५२
उपप्लुता योनिव्यापद्	८०२
उपसर्गज तृष्णा	५६४
उपेक्षिते भवेत्तास्मिन्नुबन्धो हि यक्ष्मण:	२८६
उभय लोप	११४६
उभयार्थकृदिति	७७
उभयाश्रित वातरक्त	७७७
उरुबूक	१२६
उर:क्षत	२७४
उल्लुप्त	१०१५
उशीरादि चूर्ण	१५१
उशीरादि शीतकषाय	१५२
उष्ण जल	१००९
उष्णवात	१०७४
उष्णाभिभूते तथा शीताभिभूते	९५२
उष्यत इति दह्यते	२९१
ऊ	
ऊरुस्तम्भ चिकित्सा	७१९
ऊर्जस्कर	०२
ऊर्ध्वगमन	१०४६
ऊर्ध्वग रक्तपित्त	१४३
ऊर्ध्वश्वास	४५३
ऊषर	१९
ऊष्मायत	३१३
ऊह्य	११३७
ए	
एककुष्ठ	१९९
एकदंष्ट्रार्पित	६०२

शब्द	पृष्ठ संख्या
एकमार्गमिति	१४४
एकाङ्गज सर्वजस्येत्यत्र	२८७
एकाङ्गरोग	७४१
एकान्त	११३७
एकैषिका	१२६
एणीपदी	६०३
एरण्डतैल	३३६,६७६
एरण्डमूलादि निरूहबस्ति	९९२
एरण्डमूलादि प्रलेप	७९५
एरण्डमूलादि यापन बस्ति	११२१
एलादि गुटिका	२७७
एषण	६६५
एषणी	६६५
ऐ	
ऐन्द्र जल	५६६
ऐन्द्र रसायन	२९
ऐन्द्रिय	२९
ओ	
ओज	६२६
ओजोमेह	१८६
औ	
औत्सुक्यम्	६३३
औदार्यम्	०३
औदुम्बर कुष्ठ	१९८
औद्भिद् लवण	३९९
औषध	०१
ऋद्धि	१२४
ऋद्धिमूल	१५६
ऋषभकादि अगद	५९३
ऋषि क्लिष्ट	११४६
ऋषि ग्रह	२५१
ऋष्य	८७७
ऋष्यजिह्वकुष्ठ	१९८
ऋष्य: नीलाण्डो हरिण:	१९८
ऋष्य प्रोक्ता	१२४
क	
कंस	९३०
कंस हरीतकी	२९८
कटङ्कटेरी	१९०
कटु अवस्थापाक	३७९
कटुकाद्य घृत	४३१
कटुकालाबू	८७०
कटुकाद्य क्वाथ	७०६

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
कट्फलादि कषाय	६८९
कट्फलादि क्वाथ	४८६
कट्वरं सस्नेह दधिद्रवः	१२६
कणभ दंश	६०४
कण्टकारी घृत	४७६,४८८
कण्ठशालूक	३०२
कण्डू	१०२८
कदम्ब पुष्प	६७८
कनकविन्द्वरिष्ट	२०६
कनकारिष्ट	३६४
कनकक्षीरी तैल	२१०
कपिञ्जलाधिकरण न्याय	३८४
कपित्थादि चूर्ण	५१९
कपीतनः गन्धमुण्ड इति	१२४
कफज अतिसार	५००,५१८
कफज अरोचक	६९५
कफज अपस्मार	२६५
कफज अर्श	३४८
कफज उन्माद	२४५
कफज कर्णरोग	६९६
कफज कास	४७३,४८६,४८९
कफज गुल्म	१६०,१६७,१६८,१७८
कफज ग्रहणी	३९५,४०८
कफज छर्दि	५२२,५३०
कफज नेत्र रोग	६९६
कफज पाण्डुरोग	४२२,४२६
कफज प्रतिश्याय	६९१,७००
कफज प्रदर	८२८
कफज प्रमेह	१८५,१८९
कफज मदात्यय	६३८,६४६
कफज मुखरोग	६९४
कफज मूत्रकृच्छ्र	६८१
कफज योनिव्यापद्	८००,८१०
कफज वातरक्त	७७८,७९५
कफज विसर्प	५४०
कफज व्रण	६५४
कफज शिरोरोग	७०४
कफज शोथ	२९१,२९३,३०१
कफज स्वरभेद	७१७
कफज हृद्रोग	६८६,६८९
कफनाशक निरूहबस्तियाँ	९९५
कफ पित्तज विसर्प	५४२
कफ प्रसेक	२३५,१०३४

शब्द	पृष्ठ संख्या
कफस्थान	१३०
कफस्थानानुपूर्व्या	६४०
कफातिसार	१०५७
कफान्त विरेचन	९४२
कफावृत भेषज	९२८
कफावृत वायु	७४२,७६२
कफावृत स्नेह बस्ति	१००६
कफोदर	३१४,३२३
कम्पित	१०१५
कम्पिल्लकादितैल	५५७
करप्रचितीय रसायन पाद	२५
करहाट	८६५
करीषाग्नि	१२
करुणवेदी	४३
कर्कटादि यापन बस्ति	११२६
कर्णमूल शोथ	१३१
कर्णरोग	६९५,७०८
कर्णशूल	७०९
कर्णक्ष्वेडी	४२५
कर्णिका	८९९
कर्णिका पातन योग	६१३
कर्णिनी	८०३
कर्दम विसर्प	५३५,५४२
कर्पास मूलादि योग	६८३
कर्म	११४७
कर्म बस्ति	९४९,९५६
कर्मसाधारणमिति	१३२
कर्शन चिकित्सा	४६८
कर्षण	१९,१०१३
कलापवाता	१५७
कल्पस्थान	८५१
कल्पनासिद्धि	९३६
कल्याणक गुड	८९२
कल्याणक घृत	२५५
कवलग्रह	२३६,७०८
कशेरुकादि घृत	६८८
कषायाभ	१४२
कक्षा	३०५
काकणक कुष्ठ	१९८
काकपद	५९१
काकोदुम्बरिका	२१६
का कल्पना पञ्चसु कर्मसूक्ता	९३७
काङ्गी	८८८

शब्द	पृष्ठ संख्या
कापाल कुष्ठ	१९८
काम ज्वर	९२
कामला	४२९
कामोद्दीपक प्रकृति	६०
कायस्थादि वर्ति	२७१
कार्कोटकी	८७५
कार्यकारण धर्म	११४७
कालक चूर्ण	७०५
कालबस्ति	९४९,९५६
कालमेह	१८५
कालशाक	३३७
कालसंपद्	८५५
कालीयादि प्रलेप	५५१
काश्मर्यादि घृत	८०८
काष्ठ गोधा	४०
कास	२२७
कास चिकित्सा	४७०
किटिभ	१९९
किणखरस्पर्शम्	१९९
किरातादय चूर्ण	४०७
किलाट	३४५
किलास	२१८
किंशुकः	३०
कीटविष	६००,६०८
कुकूलकः	१२
कुचन्दन	१५७
कुटज	८७९,११०५
कुटज फलादि घृत	३६८
कुटजादि रसक्रिया	३६७
कुटी प्रावेशिक	०४
कुडव	९३०
कुणिः कुब्जितकरः	९७३
कुम्भः	१३,९३०
कुम्भ कामला	४२९
कुलज प्रमेह	१९४
कुलत्थादि घृत	४८८
कुशोदक	१९१
कुष्ठ चिकित्सा	१९५
कुष्ठादि तैल	७२५
कुष्ठाद्य तैल	२०९
कुसुम संपदा	५३३
कूटरणा	८८६
कूर्मादि यापन बस्ति	११२६

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
केदारी कुल्या न्याय	३८४
केवलामलक रसायन	२७
कोठ	९०
कोठफल	११०५
कोठफला	८७५
कोल प्रमाण	२९७
कोल सौधु	९००
कोशातकी	८८२
कोषातक्यादि निरूहवस्ति	९९५
कृकलास विष	६०३
कृच्छ्रजन्मप्रशम इति	२९१
कृच्छ्र व्याख्या	११४३
कृतमाल	८९९
कृतवापन इति	०४
कृतवास्तु परिग्रह	१६६
कृतवेधन	११०५
कृतवेधन कल्प	८८२
कृत्य व्रण	६५५
कृत्या	३०
कृमिज हृदय रोग	६८६,६९०
कृशरा	२३०
कृशरा योग	८८०
कृष्ण सर्प वसादि रसक्रिया	७१३
कृष्णाजिनस्य इति	२६
कृष्णादि चूर्ण	२९७
क्रोधज ज्वर	९२
क्लम	१०२७,१०३८,१०४३
क्लैब्य रोग	८२२,८२६
ख	
खजः पञ्चाङ्गुलो हस्तः	७८७
खड यूष	५०८
खदिर घृत	२१३
खदिरादि गुटिका	७०७
खदिरादि तैल	७०७
खदिरोदक	२१७
खनिष्क	६४२
खरपाक	९३३
खरीभूत इति	४२८
खर्जूर	१२०
खर्परिका तुत्थ	२११
खले कपोत न्याय	३८४
खल्ली	७४१,७५०
खश	२७१
खारी	९३०
खालित्य	६९७
खालित्य रोग	६९७
खुड्डाक पद्मक तैल	७९१
खुरखुरायत इति	२२७
खुर्खुरक	६२०
खेकसा	१०९
ग	
गण्डमाला	३०३
गण्डीराद्यरिष्ट	२९५
गण्डूष	५६८
गदातिचार	६८६
गन्ध तैल	७०९
गन्धर्व ग्रह	२४८,२५०
गन्धहस्ती नामक अगद	५९०
गम्भीर वातरक्त	७७६
गम्भीरा हिक्का	४४९
गरविष	५७७,६१७
गरागरी	८६७,११०५
गरिमा	२४८
गर्भिणी सर्प	५९९
गलगण्ड	३०३,५५८
गलगोलिका	६०५
गलित कुष्ठ	२१५
गवाक्ष्यादि चूर्ण	३३०
गात्रग्रह	१०२७
गिरिमल्लिका	८७९
गिरिसार	१७
गुञ्जा	९३०
गुञ्जाफलसवर्णमिति	८३०
गुडभल्लातक	२२
गुडा	९०६
गुडार्द्रक योग	२९८
गुडूच्यादि घृत	४९२
गुडूच्यादि तैल	८०८
गुणकल्पना	११४४
गुणनिमित्तता	११४७
गुण प्रभावैरिति	२४८
गुणसंपद्	८५५
गुणिगुणविभव	११५७
गुददाह	११५४
गुद पीडा	१०१३
गुद भ्रंश	५०९
गुदवर्ति	६७३
गुल्म चिकित्सा	१३८
गूढ़मांसान्तराश्रय	१६५
गूढ़संपादित दंश	५९९
गोजर	६०५
गोणी	९३०
गोधेरक	५९९,६०४
गोमूत्र	९०२
गोमूत्र हरीतकी	४३४
गोवृषादि यापना बस्ति	११२७
गौडोऽरिष्ट	४३९
ग्रन्थि	३०४
ग्रन्थि विसर्प	५३५,५४३,५५६
ग्रहणी	३९३
ग्रहणीगद	३९२,३९७
ग्रहणी दोष चिकित्सा	३७६
ग्रहणी रोग	३९२,३९४,३९७
ग्रास	८४१
ग्रासग्रासान्तर	८४१
गृध्रसी	७४१,७५०
गृद्धि सर्वरसानामिति	३९६
गृष्टिम् एक बार प्रसूताम्	२५७
घ	
घनतर्पण	१०२६
घनं चोपरि विप्रसन्नमिति	१८६
घर्माम्बु	११०
घुर्घुरुकमिति	४५५
घेञ्जुलिका	३४५
घ्रेय योग	८६२,८७१,८७६,९०७
घोरमन्त्रविषं च तत्	३९१
घृतपान	१३२,९४६
घृतमण्ड	७५५
घृतयोग	९०३,९०७,९१०
च	
चक्र दृष्टान्त	३८८
चण्डा	९१३
चतुरङ्गुल	८९९
चतुरङ्गुल कल्प	८९९
चतुर्थक	७५,८३
चतुर्थक ज्वर	१३२
चतुर्थक विपर्यय	८५
चतुर्थ सर्पिर्गुड	२८३

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
चतुः प्रासृतिक बस्ति	१०५२,१०५३
चतुः स्नेह अनुवासन बस्ति	११३०
चन्दनादि तैल	१२३
चन्दनादि निरूहबस्ति	९९४
चन्दनादि योग	६१२
चन्दनादिस्नेहबस्ति	१२२
चन्दनाद्य घृत	४०५
चन्दनाद्य यमक	१००२
चरत इति	६७
चर्मदल	१९९
चर्मनखान्तर शोथ	३०५
चर्मसाह्वा	९०९
चर्माख्य	१९९
चले सुमुहूर्ते इति	१९
चव्यादि घृत	३५९,५०९
चाङ्गेरी घृत	५०९,१०३४
चारटी	२५८
चिकित्सा क्रम	२६६
चिकित्सा स्थान	८३६
चिकित्सित	०१
चित्रक घृत	३२९
चित्रकादि घृत	२९९,७५४
चित्रकादि लेप	२०७
चित्रकादि लेह	४७८
चित्रकाद्य गुटिका	४०१
चित्रदीप	४९
चित्रा	९१३
चित्रा नक्षत्र	७१२
चूर्ण बस्ति	१०९६
चूर्ण योग	९१६
चूर्णाञ्जन	७१२
चेतनानिबन्धवैशिष्यादिति	१०६४
चेष्टा निमित्तता	११४७
चैत्य	०३
चौक्षाचार	२५२
च्यवनप्राश	११
छ	
छत्तीस तन्त्रयुक्तियाँ	११३६
छर्दि	२९९
छर्दि चिकित्सा	५२२
छिद्रोदर	३१७,३२६
छिन्नमूला	१६५
छिन्नश्वास	४५४
छेदन	६६२
ज	
जघन्य शुद्धि	९४३
जङ्गम विष	५७५,५९८
जटिला	२५८
जठराश्रय इति	१६३
जड़ीभूत बस्ति	१०५४
जन्तु विष	६१०
जपन् ब्रह्मेति	२७
जराजन्य क्लैब्य	८२४
जलधारा	३७१
जलमृत	२७१
जलोदर	३१८,३३८
जलौका विष	६०४
जाङ्गल देश	८५५
जातबल इति	०५
जातप्रमेही	१९४
जातोत्तर अर्श	३४०,३४४
जातोदक	३२०
जात्यादि क्वाथ	११५
जालक गर्दभ	३०७
जिह्म गति	१०१३
जीर्ण छर्दि	५३२
जीर्ण ज्वर	१०६,११७,१३२
जीर्णौषधि	१०२६
जीमूतक	८६७
जीमूतक कल्प	८६७
जीवकादि महास्नेह	७८५
जीवनीय घृत	७८४
जीवनीय यमक	९९९
जीवनीय वर्ग	५६
जीवन्त्यादि अनुवासन बस्ति	१२२
जीवन्त्यादि घृत	२३४
जीवन्त्यादि पञ्चमूल	०८
जीवन्त्यादि यमक	१००१
जीवन्त्यादि यवागू	३००
जीवन्त्यादि लेह	४९४
जीवरक्त	१०३६
जीवादान	१०२७,१०३६,११०१
ज्योतिष्मती	२८
ज्वरचिकित्सा	६९
ज्वरनाशक यवागू	१०७
झ	
झर्झरक	६२०
झींगुर	६०४
त	
तक्र	३२७,३५६,४०४,५०६
तक्रकल्प	३५६
तक्रपिण्ड	३४५
तक्रारिष्ट	३५५,४०४
तगरादिलेप	७९६
तण्डुल	९३०
तत्त्वज्ञानार्थदर्शी	७९९
तद्धर्मता	११४७
तन्द्रा	१६,१०७३
तन्त्रदोष	११५०
तन्त्र युक्तियाँ	११३६
तन्त्रशील	११४६
तन्त्रसंज्ञा	११४६
तपस्य	१९
तपसि	१९
तम	७१
तमक श्वास	४५४
तमोगृह	२५४
तरुण ज्वर	९४
तर्क्यादि लेप	७२७
तर्जनं	२५४
तर्पण	१००
तर्पण नस्य	१०८७
तर्पणयोग	८९२
तर्ष	६७,५७३
ताच्छील्य	११४७
तात्स्थ्य	११४७
तादर्थ्य	११४७
ताप्यादि योग	४३५
ताम्र शिलाजीत	३६
तालीशाद्य चूर्ण एवं गुटिका	२३८
तालु विद्रधि	३०३
तिक्त घृत	२९२
तिक्तला	९०९
तितलौकी	८७०
तित्तिरादियापना बस्ति	११२५
तिरीटक	९०२
तिर्यग्	१०१५

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
तिर्यग् प्रक्षिप्त	१०१५
तिलादि योग	७१६
तित्वक कल्प	९०२
तिमिर नाशक नेत्राञ्जन	७१३
तिक्तषट्पलक घृत	२१४
तिक्तेक्ष्वाक्वादि तैल	२१०
तीक्ष्ण बस्ति	१०४९,१०९७
तीक्ष्णाग्नि	३९२,४१७
तुगाक्षीरी	२३४
तुम्बी	८७०
तुवरी मिट्टी	८१२
तुवरोऽनुरस	५६७
तुषोदक	८८८,८९७,९१७
तेजोवत्यादि योग	४३५
तेजोह्वादि चूर्ण	७०५
तैल योग	९१०
तैलाक्तगात्रमिति	९४६,९८३
तृणपञ्चमूल	०८
तृणपूली	५०
तृतीयक	७५,८३
तृतीय सर्पिर्गुड	२८३
तृष्णा रोग चिकित्सा	५६०
त्वक् शुद्धिकर प्रलेप	६६९
त्वक् जनन योग	६६९
द	
दण्डक	७४०
दण्डाक्षेपक	७४०
दण्डी	१११३
दद्रुमण्डल	१९९
दधिघृत दृष्टान्त	६७
दधि तक्र	९०२
दधिसर	२६९
दन्तविद्रधि	३०३
दन्ती	९१३
दन्ती घृत	४३१
दन्ती-द्रवन्ती कल्प	९१३
दन्ती हरीतकी	१७९
दन्त्यरिष्ट	३६३
दन्त्यादि लेप	५५७
दन्त्यासव	१९१
दर्वीकर	५९८
दवथु	२९०
दशमूलबलादि तैल	१०००
दशमूलादि अनुवासन बस्ति	५०९
दशमूलादि घृत	४६७,४८८
दशमूलादि निरूहबस्ति	९९१
दशमूलादि मज्जस्नेह	७५४
दशमूलादि यवागू	४६२
दशमूलादि यापना बस्ति	११२७
दशमूलाद्य घृत	३९९
दशमूली घृत	१७६
दाडिमाद्य घृत	४३१
दातौन	१००
दारुण मोक्ष	१३६
दार्वीघृत	२१३
दार्वी त्वक् रसक्रिया	७०६
दार्व्यादि घृत	४३७,५१४
दाह कर्म	५५७
दाह क्रिया	५८६
दाहनाशक बस्तियाँ	१०९९
दिग्ध विष	५८३
दिव्यानि तीर्थानि	७९९
दीप्त	६९३
दुग्ध	३२८
दुःप्रणीत	११५०
दुरालभादि अवलेह	४७८
दुरालभादिघृत	२३९
दुरालभाद्य क्षार	४११
दुरालभासव	४०९
दुर्बलो योऽविरेच्य इति	७४७
दुष्कोष्ठम्	१०२९
दुष्टप्रतिश्याय	६९२,७००
दुष्टव्रण	६५४
दूयन	३१३
दूषी विष	५८२
दूषी विष लूता	६०२
दूष्योदर	३३७
देवग्रह	२४८
देवताडक	८६७
देवदार्व्यादि तैल	७०९
देवशत्रु	२५०
देवीब्रह्मसुवर्चला	४१
देशसंपद्	८५५
देहहितं न चेष्टते इति	११०९
देहेन्द्रियमनस्तापी	७५
दैर्घरात्रिकः	८१
दैवव्यपाश्रय चिकित्सा	१३४,२६३
दोषकालबलाबल	७५
दोषनिबद्धायुष इति	१०९५
दोषविभ्रान्त चेतसि	९०५
दोषान् परिरक्षता	९४७
द्रंक्षण	९३०
द्रवन्ती	९१३
द्रव्यसंग्रह इति	१९७
द्राक्षा घृत	४३२
द्राक्षादि घृत	६८८,७८५
द्राक्षादि निरूहबस्ति	९९४
द्राक्षादि लेह	४९४
द्राक्षाद्य घृत	१७६
दृष्टिप्रदावर्ति	७१३
द्रोण	१३
द्वन्द्वज अर्श	३४८
द्वन्द्वज ज्वर	८७
द्वन्द्वज वातरक्त	७७८
द्विगुण परिमाण	९३२
द्वितीय ब्राह्म रसायन	०८,१०
द्वितीय सर्पिर्गुड	२८२
द्विदोषज गुल्म	१६०
द्विपञ्चमूलादि घृत	४९२
द्विपञ्चमूलादि यापना बस्ति	११२६,११२८
द्विव्रणीय चिकित्सा	६५२
द्विष्टार्थ योगज छर्दि	५२२,५३१
ध	
धन्वमृगद्विजानां रसैः	२०५
धरणीधरसार इति	११
धातक्यादि तैल	८११
धातुगत ज्वर	८६,१३५
धातुः पुष्यति धातुनेति	२२५
धातुपोषणक्रम	३८३
धातुक्षय	२२१,२२२
धात्वाग्नि पाक	३८२
धाना	१८८
धान्यतुम्बरु क्वाथ	८७७
धान्यतुम्बरु यूष	८७७
धान्यमाष	९३०
धान्य यूष	५०८
धान्वन्तरीयाणामिति	१६६
धान्वप्रातुदवैष्किरमिति	७८६
धान्वबैलरसैरिति	४८६

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
धामार्गव	१३४
धामार्गव कल्प	८७५
धामार्गव पत्रस्वरस	८७५
धारोष्णमिति	७८७
धात्र्यरिष्ट	४४०
धात्र्यवलेह	४३८
धात्र्यादि रसक्रिया	७१३
धी विभ्रमः	२४४
धूपन	३५२,६६८
धूम	१०८५
धूमपान	४५८,४८०
धूमवर्ति	४८१,४९०
ध्मापन	१०८५
ध्वजोपघातज क्लैब्य	८२३
ध्वंशी	९३०
ध्वंसक	६५०

न

न तु कल्पमुद्दिश्येति	१०२
न प्रदुष्टमिति	१९४
नलदादि प्रलेप	५५१
नव ज्वर	९५,१०२
नव प्रासृतिक बस्ति	१०५१
नवायस चूर्ण	४३४
नवायस लौह	४३४
न वा स्वेद इति	१९७
नस्य २६०,४६६,५६८,५९०,६९८	
नस्यकर्म	१०८५
नागग्रह	२५१
नागदन्त्यादि घृत	६१८
नागबला	१९
नागबला कल्प	२८६
नागरादि घृत	३२९
नागरादि योग	१७२,४८७
नागराद्यघृत	३५९
नागराद्यचूर्ण	४०६
नाड़ी व्रण	७५५
नातिकल्या इति	३८
नातिबुभुक्षितायं	९४६
नानात्मज वातव्याधि नाशक घृत	७५३
नानाविध प्रभावाश्च	८५४
नानाविध विपाकाः	८५४
नानाविधवीर्याः	८५४
नानाविधास्वादाः	८५४
नारायण चूर्ण	३३१
नारी	४०
नारी विविक्तप्रियता	२४६
नावन	१०८५
नावन तैल	६९८
नावनाञ्जन	२६०
नावनिक तैल	१२३
नासा दीप्त	६९३
नासा परिस्राव	६९३
नासापाक	६९३
नासा प्रतिनाह	६९३
नासार्बुद	६९३
नासा शोथ	६९३
नासा शोष	६९३
निकुम्भ	९१३
निचय गुल्म	१६०
निजव्रण	६५२
निज शोथ	२८७
नित्यविशोधनीय	९५२
निदर्शन	११३७
निदान परिवर्जन	१९३
निदिग्धिका	०८
निद्राहर	१६
निम्ब घृत	२१३
निराम ज्वर	९४,१२८
निराम पुरीष	४०१
निरूह कल्प	९८१
निरूह बस्ति ३३६,३६२,६७३,७४७, ९५०, ९५७,९८१,१११०	
निः प्रमाण	११५०
निर्गुण्डी तैल	७५५
निर्घात	२७५
निर्णय	११३७
निर्देश	११३७
निर्भुग्ने इति	९०
निर्वचन	११३७
निर्वलीकम्	९८३
निर्वापण	६६३
निर्हृतास्र दोष	२०३
निष्कुलमिति	१२,११३७
निस्त्रिंशपत्रक	९०६
नीराग	१८३
नीलमेह	१८६
नीला	४०
नीलिनी चूर्ण	१७२
नीलिन्यादि चूर्ण	३३२
नीलिन्याद्य घृत	१७२
नीलोत्पलादि योग	५१४
नेत्रबस्तिव्यापत्सिद्धि	१०१३
नेत्ररोग	६९६,७१०
नेत्रविचलितम्	१०१५
नैकान्त	११३७
न्यग्रोधपादादि लेप	५५०
न्यग्रोधादि प्रलेप	६६०
न्यग्रोधी	९१३
न्यास व्याख्या	११४४

प

पक्वगुल्म	१६६,१६७
पक्व पीनस	६९९
पक्व व्रण	६६१
पक्वसुरा	२१३
पच्यमान गुल्म	१६५
पच्यमान ज्वर	९४
पच्यमानव्रणशोथ	६६१
पञ्चकर्मीया सिद्धि	९६२
पञ्चकोल	३००
पञ्चकोल घृत	३२९
पञ्चगव्य घृत	२६६
पञ्चदश व्याख्या	११४३
पञ्चनदपुर	११३६
पञ्चप्रासृतिक बस्ति	१०५२
पञ्चम सर्पिर्मोदक	२८४
पञ्च-पञ्चमूलघृत	२३२
पञ्चमूलाद्य घृत	४००
पञ्चमूलाद्य चूर्ण	४००
पञ्चमूलादि निरूह बस्ति	९९६
पञ्चशिरीष अगद	६१५
पञ्चक्षीरी	२८२
पटोलघृत	२१३
पटोलादि क्वाथ	२०४
पटोलादि चूर्ण	३३०
पटोलादि निरूह बस्ति	९९५,१२१
पटोलमूलादि क्वाथ	२९९
पटोलादि शीतकषाय	५४८
पणाङ्गना	१११०

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
पण्यजीविन	११०९
पथ्य	१
पथ्य अन्न	८४७
पथ्या घृत	४३१
पथ्यादि कल्क	६८७
पथ्यादि मोदक	८९४
पद व्याख्या	११४३
पदार्थ	११३७
पदार्थ व्याख्या	११४३
पद्मकादि घृत	७९५
पद्मकादि लेप	४९४
पद्मा	४०
परतन्त्र प्रत्यय	११४७
परावरज्ञः	६५२
परिकर्तिका	१०८,१२१,१०२७, १०३३,१०४८
परिग्रह	७२
परिग्रहादिति	७२
परिप्लुता योनिव्यापद्	८०२
परिम्लानमिति	१६५
परिषेक	७५२
परिषेचन	३७१,५५६,६६५
परिस्राव	१०३५,१०४९
परिस्राव नाशक बस्तियाँ	१०९९
परिहार कालः	९५८
परोनुरोधादिति	१११०
पर्युषिता कषाया इति	१५२
पल	९३०
पलङ्कषादि तैल	२६९
पलल	१३
पलार्ध	९३०
पलाश तरुण	१७
पलाश क्षारोदक	१८१
पलित नाशक योग	७१६
पक्षवध	७४०
पक्षाघात	७५०
पत्र आच्छादन	६६७
पत्र कल्क	७५९
पाक्यम्	३९९
पाक्य क्षार	५५८
पाचकाग्नि	३८९
पाचन यवागू	९२५
पाटनकर्म	६६२
पाटन क्रिया	६६१
पाठादि चूर्ण	७०६
पाठादि योग	४८७
पाणितल	९३१
पाणिशुक्ति	१०९२
पाण्डुर असृग्दर	८१७
पाण्डु रोग़ चिकित्सा	४२२
पादजाङ्गलरस इति	११२४
पानक योग	९०७
पापं कर्म च कुर्वतामिति	१९७
पापक्रिया	२१८
पापचेलिका	१०९
पाप्मा	७१
पामा	१९९
पारुषक घृत	७८३
पार्श्व पीड़ित	१०१५
पाषाणभेदादि चूर्ण	६८२
पाषण्डा	६०६
पात्र	९३०
पिचु	९३१,९८२
पिच्छा	३१९
पिच्छाबस्ति	३७२,५१२,५१६
पिच्छा योग	८८३
पिच्छिल योनिव्यापद्	८१७
पिण्ड तैल	७९३
पिण्ड फला	८७०
पिण्ड व्याख्या	११४३
पिण्डासव	४१०
पिण्डीतक	८६५
पित्त कुष्ठ	२१२
पित्त गुल्म	१६०,१६४,१७५
पित्तज अतिसार	४९९
पित्तज अरोचक	६९५
पित्तजं उन्माद	२४५
पित्तज कर्णरोग	६९६
पित्तज कास	४७२,४८३
पित्तज ग्रहणी	३९५,४०५
पित्तज छर्दि	५२२,५२८
पित्तज तृष्णा	५६३
पित्तज नेत्ररोग	६९६
पित्तज पाण्डुरोग	४२२,४२६
पित्तज पीडिका	३०५
पित्तज प्रदर	८१५,८२८
पित्तज प्रतिश्याय	६९१,६९९
पित्तज प्रमेह	१८५,१८९
पित्तज मदात्यय	६३८,६४३
पित्तज मुखरोग	६९४
पित्तज मूत्रकृच्छ्र	६८०
पित्तज योनिव्यापद्	८००,८०९
पित्तज वातरक्त	७७८
पित्तज विसर्प	५३९
पित्तज व्रण	६५४
पित्तज शिरोरोग	७०३
पित्तज शोथ	२९०,३०१
पित्तज स्वरभेद	७१७
पित्तज हृद्रोग	६८५,६८८
पित्तनाशक निरूह बस्तियाँ	९९३
पित्तस्थानसमुद्भवौ	४४६
पित्तातिसार	५१०,१०५७
पित्तान्तमिष्टं वमनं	९४३
पित्तावृत भेषज	९२७
पित्तावृत वायु	७४२,७६२
पित्तावृत स्नेहबस्ति	१००६
पित्तोदर	३१२,३१३,३२२
पितृग्रह	२४८
पिधान	२१
पिपीलिकासृप्तिमिति	८००
पिप्पलीमूलाद्यक्षार	४११
पिप्पली रसायन	३०
पिप्पल्यादि अनुवासन तैल	३६२
पिप्पल्यादि अनुवासन बस्ति	३६१
पिप्पल्यादि कल्क	८०८
पिप्पल्यादि घृत	११७,३५९,४७६
पिप्पल्यादि चूर्ण	३२४,४१०,७०५,८१२
पिप्पल्यादि तैल	१००३
पिप्पल्यादि रसक्रिया	७१३
पिप्पल्यादि लवण	३३४
पिप्पल्यादि लेह	४८९
पिप्पल्याद्य घृत	१७०
पिशाचग्रह	२४९
पिष्टस्वेदन यंत्र	२२
पीडन	६६३
पीतक चूर्ण	७०५
पीतघोषक	८७५
पीतासृग्रूपदर्शन इति	२६५
पीनस	२२९

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
पीनसोऽत्र पक्वप्रतिश्यायः	९७४
पीलुपर्ण्यादि तैल	७२५
पुण्डरीक कुष्ठ	१९८
पुनरावर्तक ज्वर	१३८
पुनरुक्त	११५०
पुनर्नवादि तैल	६८७
पुनर्नवादि निरूहबस्ति	९९७
पुनर्नवादि पञ्चमूल	०८
पुनर्नवाद्यरिष्ट	२९६
पुनर्नवान्ता दश	१९
पुनर्नवा मण्डूर	४३७
पुमाञ्जातबलादिक बाजीकरणपाद	६१
पुराणघृत	२५९
पुरीषज आनाह	६७६
पुरीष कोष्ठ	९६८
पुरीष क्षय	५०८
पुरीषावृतवायु	७४४,७६४
पुरीषावृत स्नेहबस्ति	१००७
पुष्करमूलादि क्वाथ	६८७
पुष्टो यदावर्षगणैरपि स्यात्	१६२
पुष्यानुग चूर्ण	८१४
पुत्रघ्नी	८०३
पुतनाकेशी	२६९
पूति नस्य	६९३
पूपवर्ति	६४३
पूयरक्त	६९३
पूर्वपक्ष	११३७
पेय	४६३
पैत्तिक अपस्मार	२६५
पैत्तिक अर्श	३४७
पैत्तिक असृग्दर	८१३
पैत्तिक कुष्ठ	२०४
पैत्तिक तृष्णा	५६९
पैत्तिक मदात्यय	६४३
पैत्तिक विष	६०७
पैष्टिक मद्य	६२७
पोटगल	११००
पौष्करादि हिम	४८६
प्रकरण व्याख्या	११४३
प्रकार	११४७
प्रकारान्तर	१११४
प्रकाशन	११५१
प्रकृति प्राप्त पुरुष	१११४

शब्द	पृष्ठ संख्या
प्रकृति समसमवाय	२६८
प्रकृति समसमवायारब्ध	९०
प्रकृतिस्थापन	०१
प्रग्रह	८९९
प्रच्छन्न कर्म	६६२
प्रतमक	४५६
प्रतिकर्मणामिति	२८८
प्रतिभोजन	९९९
प्रतिमर्श	१०८५,१०९१
प्रतिलोम व्याख्या	११४४
प्रतिश्याय	२२६,२२९,६९१
प्रतिसंस्कर्ता	११३५
प्रतिसारण	६११
प्रतिसारण योग	५१६
प्रतीप	५२६
प्रत्यक्श्रेणी	९१३
प्रत्यय धर्म	११४७
प्रत्यात्म लक्षण	७४
प्रत्यासन्न कारण	७३
प्रत्युत्सार	११३७
प्रथम ब्राह्मरसायन	०८
प्रदर	८१३,८२८,८२९
प्रदेश	११३७
प्रदेह	१०६,५५६
प्रधमन नस्य	२७०,६७३,७०४,६१३
प्रधान कल्पना	११४४
प्रधानेन कल्पना	११४४
प्रध्यानं घूर्णनम्	३४४
प्रपुराण घृत	२५९
प्रपौण्डरीकादि तैल	७१५
प्रपौण्डरीकादि धूमवर्ति	४८१
प्रपौण्डरीकादि लेप	७९४
प्रबोधन	११५१
प्रबोधनमिति	२६६
प्रबोधनाद् विस्तारका	११५१
प्रमथ्या	५०६
प्रमिताशनः	३४६
प्रमिताशिन	२७५
प्रमेह चिकित्सा	१८३
प्रमेहनाशक बस्ति	११०२
प्रयोजन	११३७
प्रयोजन व्याख्या	११४४
प्रवरशुद्धि	९४१

शब्द	पृष्ठ संख्या
प्रवालस्वरस	८७५
प्रवाहिका	१०४७
प्रवाहिका नाशक वस्तियाँ	११००
प्रशमन	०१
प्रशान्त ज्वर	१३७
प्रसङ्ग	११३७
प्रसन्ना	८८८
प्रसह	२३९
प्रसृत	९८९
प्रस्कंदन	९३९
प्रस्कन्दनम्	१२०
प्रस्थ	९३०
प्रहीणधातुः प्रहीणबलश्च वृद्धः	१०९४
प्रक्षिप्तमांसरसाः	१०९८
प्राकाम्य	२४८
प्राकृत	११४६
प्राकृत कफज्वर	७७
प्राकृत ज्वर	७७
प्राकृत पित्तज्वर	७७
प्राकृतश्चानिलोद्भवः	८०
प्राक्चरणा योनिव्यापद्	८०२
प्राक् भक्तमिति	१७२
प्राणकामीय	१५
प्राणकामीय रसायनपाद	१५
प्राणवायु	७३०
प्राणावृत व्यान	७६५
प्राणावृत समान	७६५
प्राप्ति	२४८
प्रायशः सुकुमाराणाम्	७७५
प्रायश्चित	०१
प्रावृट् ऋतु	१८,१०२०
प्रासृतयोगीय सिद्धि	१०५१,१०५३
प्रियालादि योग	७१६
पृथ्वर्पित इति	५९९
पृषत विन्दुचित्रितहरिणः	८७७
प्लीहोदर	३१२,३१५,३२४

फ

फल	८६५
फलमात्रासिद्धि	११०४
फलवर्ति	१११०
फलव्याख्या	११४,११४४
फलत्रिकादिक्वाथ	१९०

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
फलारिष्ट	३६३,३६४
फलिनी	८७०
फल्गु	२६७
फाल्गुनीमिति	२६
फेनभूत	३७९
ब	
वदर	३००
बदर षाडव	८६५
बदर सीधु	९०२
बद्धगुदोदर	३१६
बद्धोदर	३१२,३२६
बलवर्धक बस्तियाँ	११२५
बलाघृत	८०७
बलातैल	७५८
बलादि आलेप	५५१
बलादि घृत	११९,७५४,७८३
बलादि तैल	७०१
बलादि निरूह वस्ति	१११०
बलादि वृमक अनुवासन बस्ति	११३१
बलादि यापना बस्ति	११२२,११२३
बलादि योग	७८६
बलादि लेप	५५७
बलादि क्षीरपाक	२३५
बस्ति अभिघात	१०६७
बस्ति कल्पना	९४५
बस्ति कुण्डल	१०७४
बस्ति चिकित्सा	१०९३
बस्तिदाता	१०१४
बस्तिनेत्र	९७८
बस्ति परिचय	१०६५
बस्तिपुटक	९८०,१०१४
बस्ति मर्माघात नाशक तैल	१०६९
बस्तिरोग	६७२,१०७४
बस्तिव्यापत्सिद्धि	१०४०
बस्तिसिद्धि	१०९३
बस्तिसूत्रीय सिद्धि	९७७
बहिः परिमार्जन चिकित्सा	५५०
बहिरायाम	७३८
बहिर्वेग	७७
बहुफेन रसा	९०९
बाधन	०२
बालरोगचिकित्सा	८३५
बिच्छू विष	६०३
बिडालक	७१०
बिन्दुलेखाविचित्राङ्गः	५९८
बिम्बी अष्टोपम फला	२०८
बिल्व तैल	९९९,१०००
बिल्वशलाटु	४०४
बिल्वादि पञ्चमूल तैल	१००३
बीजकण्ठोद्धृत फल	८७६
बीजकारिष्ट	४३९
बीजोपघातज क्लैब्य	८२२
बीभत्सचेष्टा	२६४
ब्रध्न	३०६
ब्रह्म	१४
ब्रह्मराक्षस ग्रह	२४९
ब्रह्मसुवर्चला	४०
ब्राह्म सत्व	४५
ब्राह्मी घृत	२६७
बृंहण चिकित्सा	४६८
बृंहण वस्ति	१०९५
बृंहणी गुटिका	५०
बृंहणीय वर्ग	५७
बृंहत्पञ्चमूल	०८
बृहत्पत्र	९०२
बृहत्यादि कषाय	११५
बृहत्यादि गण	११५
बृहत्यादि यापना वस्ति	११२२
बृहत्यादि वर्ति	७११
बृहत् शतावरी घृत	८०९
भ	
भक्तज तृष्णा	५७१
भक्तसंयुक्त	८४१
भगन्दर	३०६
भयज ज्वर	९२
भयहर्ष पूर्वो	२४३
भल्लातक तर्पण	२२
भल्लातक तैल	२२
भल्लातक पलल	२२
भल्लातक यूष	२२
भल्लातक लवण	२२
भल्लातक सतू	२२
भल्लातक सर्पिः	२२
भल्लातक क्षार	४११
भल्लातक क्षीर	२०,२२
भल्लातक क्षौद्र	२१
भल्लातकाद्य घृत	१७८
भल्लातकासव	१९१
भस्मक रोग	४१७
भक्ष्यकल्पना	११४४
भक्ष्य योग	९१७
भागा कषायस्य पञ्च इति	९८७
भार्ग्यादि तैल	७००
भाजनसंपद्	८५५
भावना	९२०
भिन्न क्रम	११५०
भीमदन्त	२७२
भुक्तादौ	८४१
भूतज उन्माद	२४७,२५२
भूतभविष्यदीशः	१५८
भूताग्नि	३८०
भूताविष्ट ज्वर	९२
भूनिम्बाद्य चूर्ण	४०६
भूनिम्बाद्य क्षार	४१२
भूयस्त्व	११४७
भूशय	२३९
भेषज	०१
भोजनवारिवर्जीति	२९५
भोज्यानामवरोधः	४७०
भ्रम	८८
भ्रष्टगुद	५१०
म	
मच्छर विष	६०४
मज्जामेह	१८६
मज्जावृतवायु	७४३,७६४
मञ्चाः क्रोशन्ति इतिवत्	५००
मञ्जिष्ठामेह	१८६
मणिका	२५९
मण्ड	५६७
मण्डल कुष्ठ	१९८
मण्डल कुष्ठ नाशक लेप	२१२
मण्डली	५९८
मण्डूक	६०५
मण्डूक विष	६०४
मण्डूर वटक	४३५,४३८
मत्स्यण्डिका	१२
मत्स्यविष	६०४
मत्स्यशकलोपमिति	१९९
मद	६२८

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
मदन	८६५
मदनकल्प	८५१
मदनतैल	९९९
मदनफल	११०५
मदनफलतैल	१००३
मदनफलपिप्पली	८६२
मदात्यय चिकित्सा	६२१
मदात्यय रोग	६३७
मदोदया इति	६४२
मद्य	२४०,६२१,६२३
मद्यजन्यतृष्णा	५७१
मद्यजा तृष्णा	५६५
मद्यपान	६३३,६३५
मद्ययोग	९११,९१६,९१७
मद्याश्रित रोग	६३१
मद्यजन्य तृष्णा	५७१
मधुतैलादि यापना बस्ति	११२७
मधुपर्ण्यादि तैल	७८८
मधुयष्ट्यादि घृत	७०३
मधुर अवस्थापाक	३७९
मधुशिग्रुलेप	७९६
मधुशुक्त	७०९
मधूकादि शीतकषाय	११४
मधूकासव	४०८
मधूदक	१९१
मध्यपाक	९३३
मध्यभुक्त	८४१
मध्यम शुद्धि	९४२
मध्य लोप	११४६
मध्य विष	६०८
मध्वरिष्ट	४९०
मध्वासव	१९१,२०६
मनःशिलादि घृत	४६८
मनःशिलादि धूम	४८१,४९०
मन्दविष	६०८
मन्दवेग	१०१५
मन्दाग्नि	३९२
मन्दाग्नीनां विशेषत इति	३११
मन्यास्तम्भ	७३८
मयूरव्यंसकादि पाठ	१६
मरिचाद्य चूर्ण	४०३
मलपू रस	२१६
मलक्षय	१०५४
मल्लक सम्पुट	४५९
मसूर विदला	५४९
मसूरविदलानामिति	२१३
महाकल्याणक घृत	२५७
महाखदिर घृत	२१५
महागद	२७२
महागन्धहस्ती नामक अगद	५९२
महाजालिनी	८७५
महातिक्त घृत	२१४,८१५
महात्ययत्वादिति	१८४
महादोषकर भाव	१११५
महानील तैल	७१५
महापञ्चगव्य घृत	२६७
महापद्म तैल	७९१
महापुरुष दन्ता	२५८
महापैशाचिक घृत	२५७
महाबला	४४८
महामायूर घृत	७०२
महामूल	४४८
महायोनिव्यापद्	८०५
महावेग	४४८
महाशब्द	४४८
महाश्वास	४५३
महाहिक्का	४४८
महात्रिफला	२५६
महिमा	२४८
मक्षिका	६०५
मक्षिका विष	६०४
मांस	२३९
मांसरस	१७४,१८८,५३०,५५५ ७२५,७५१,८३३
मांसयोग	९०७,९१५
मांसरस योग	८८४,९०६
मांसवर्धक बस्तियाँ	१०९९
मांससंधान	६६३
मांसादि योग	६१२
मांसावृत वायु	७४३
मांस्यादि लेप	२०७
मागधमान	९३०
मातृगण	१३५
माधवम्	६४७
माधुतैलिक बस्ति	१०४३
माध्वीक	१९२
मानिका	९३०
मायूर घृत	७०१
माषक	९३०
माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद	५६
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः	१६२
मस्तिष्क	१०८३
मात्राबस्ति	९८७,१०११
मात्रावत औषधि	१०२३
मिश्रक स्नेह	१७९,६८०
मिष्ठान्नसुखभोजिनाम्	७७४
मेचक	१४२
मेदोज वृद्धि	३०६
मोदक योग	८९२,९१६
मुकूलक	९१३
मुक्तनाल	५०३,९६७
मुक्तगुदम्	५०३
मुक्तसंधानबन्धनमिति	११११
मुक्ताद्य चूर्ण	४६५
मुखरोग	६९४,७०५
मुखशोधक योग	२३७
मुष्टिः	९१
मुस्तादि क्वाथ	५४८
मुस्तादि चूर्ण	२०५
मुस्तादि यापना बस्ति	११२१
मुस्तादि वर्ति	२७१
मूर्वादि योग	७२४
मूलक तैल	७५५,७६१
मूलकादि लेप	५५७
मूलकाद्य तैल	७६०
मूलज विष	५७७
मूलसंज्ञा	११४७
मूलासव	४०९
मूषक विष	७७५
मूषिकपर्णी	९१३
मूषिकाह्वया	९१३
मूत्रकृच्छ्र	६७६,६८०,१०७४,१०७५
मूत्रजठर	१०७४,१०७५
मूत्रवृद्धि	३०६
मूत्रशर्करा	६७८
मूत्रक्षय	१०७४
मूत्राघात	६७७
मूत्रावृत वायु	७४४,७६४
मूत्रोत्सङ्ग	१०७४,१०७५

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
मूत्रौकसाद	१०७४
मृतसंजीवन अगद	५८८
मृतसंजीवन विष	५८४
मृदङ्गफल	८८२
मृदुपाक	९३३
मृदुबस्ति	१०४९,१०९७
मृद् भक्षणजन्य पाण्डुरोग	४२२,४२७, ४४१
मृदु विरेचक योग	७४७
मृदुसंशोधन औषधि	९२५
मृदु स्वेद	४५९
मृद्वीकादि चूर्ण	७०५
मृद्वीका राग	६४७
य	
यकृदाल्युदर	३२४
यमात्मका	७१
यमिका	४५२
यव	९३०
यवतिक्ता	९०९
यवागू ९९,१४७,३३५,३५७,४६२,	५०६
यवागू बहुः सिक्था	९४१
यवादि घृत	३२९
यवादि तैल	७५६
यवानीषाडवचूर्ण	२३७
यवौदन	१८८
यष्ट्याह्व निरूह बस्ति	९९३
यक्षग्रह	२४८
यक्ष्मा	२२१
यज्ञवाहौ	४५
यज्ञोपवीत प्रतिमा इति	३०५
यज्ञौही	६२१
याथातथ्येनाज्ञाता	७७०
यापना बस्ति	११२४
याप्य	२७६
यायावर	३८
यावक प्रदेह	५५१
यावज्ज्वरमृदूभावादिति	९९
युक्तायुक्त प्रलाप	६३०
युवतीः	११
यूष	३५७,४६२
यूषशाकम्	१४७
योग	११३७

शब्द	पृष्ठ संख्या
योगबस्ति	९४९,९५६
योनि प्रक्षालन	८१२
योनि व्यापत् चिकित्सा	७९९,८०६
योगराज	४३६
योगवाही	७७
र	
रक्त गुल्म	१६२,१८१
रक्तज मूत्रकृच्छ्र	६७९,६८४
रक्तज योनिव्यापद्	८०१
रक्तज वातरक्त	७७८
रक्तज स्वरभेद	७१७
रक्तपान	१०३७
रक्तपित्त	१९३
रक्तपित्त चिकित्सा	१४०
रक्तबस्ति	१०३७
रक्तमेह	१८६
रक्तमोक्षण १३१,२०३,२३१,२६१,	५४९,५५९,५८६,६६०,७८०
रक्तयोनि	८१३
रक्तवमन	२२८
रक्तविस्रावण	५८६
रक्तष्ठीवन	२२८
रक्तसर्षप	९३०
रक्तस्तम्भन योग	३६७,५१५
रक्तस्राव रोधक बस्तियाँ	११०१
रक्तातिसार ५१३,५१४,१०५७	
रक्तार्श	३६६,३६८
रक्तावृत वायु	७४३
रसक्रिया	७०६
रसधातु	३८८
रससंसर्जनक्रम	९४६
रसाञ्जन	२०४
रसाञ्जनादि चूर्ण	५१८
रसाभ्यासक्रम	१११३
रसायन	०२
रसौजः	१८५
रहस्यमिति	८३६
रागषाडव	८९१
राजकोशातकी	८७५
राजवृक्ष	८९९
राजयक्ष्मा चिकित्सा	२२०
राजसेवक	११०९
राजिमान्	५९८

शब्द	पृष्ठ संख्या
राठ	८६५
रास्ना घृत	४७७
रास्ना तैल	७५९
रास्नादि निरूह बस्ति	९९६
राक्षस ग्रह	२४९
रात्रिबली कफात्मक इति	२९१
रुजाविकल्पः	१६०
रूक्षण क्रिया	७२३
रोगाश्रय इति	५४४
रोगोत्तर कालज	५४४
रोमसंजनन योग	६६९
रोमान्तिका	३०५
रोहिण्यादि घृत	१७५
रोहितक घृत	३२४
रोहितकादि योग	३२४
रौप्य शिलाजीत	३६
ल	
लघिमा	२४८
लघु पञ्चमूल तैल	७५६
लज्जालु	१५५
लम्बा	८७०
लवण तैल	४५८
लशुन क्षीर	१६२
लशुनाद्य घृत	२५८
लसिकामेह	१८६
लाजपेया	१०७
लालामेह	१८५
लाक्षादि क्षीर	२७६
लेखन कर्म	६६२
लेप २०७,३५२,५५४,५५७	
लेलीतक	२०६
लेशकल्पना	११४४
लेह योग	९०७,९१४
लोकवन्द्यता	०३
लोध्र	९०२
लोहम्	२१३
लौह रसायन	३६
लौहादि रसायन	२७
लङ्घन	१२७,९२८
व	
वक्रुमसूयत इति	२२७
वचाद्यादि चूर्ण	४०७
वचादि योग	६१४

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
वज्रस्य भर्ता	६८६
वत्सक	८७९
वत्सक कल्प	८७९
वत्सकादि कषाय	११४
वत्सकादि क्वाथ	११४
वत्सकादि लेप	७२७
वमन	८५२,९६५
वमनकारक द्रव्य	८५४
वमन तु पीतमिति	९४४
वमन विधि	८५९,९४०
वमनविरेचनव्यापत्सिद्धि	१०१९
वर्णोपजनन	११४६
वशित्व	२४८
वश्या	४८
वसन्त	१०२०
वसामेह	१८६
वाक्यशेष	११३७
वाक्सिद्धि	०२
वाजीकरण	०२,०३
वाजीकरण घृत	५०
वाजीकरण पिण्डरस	५१
वाट्य	१८८
वातकफज उन्माद	२६०
वातकफ प्रधान वातरक्त	७९५
वातकुण्डलिका	१०७४
वातगुल्म	१६०
वातज अतिसार	१०५७
वातज अरोचक	६९५
वातज अर्श	३४५,३४६
वातज असृग्दर	८१३
वातज आमातीसार	४९८
वातज उन्माद	२४५
वातज कास	४७१,४७५,४८०,४८२
वातज ग्रहणी	३९५,३९७
वातज छर्दि	५२२,५२७
वातज तृष्णा	५६२
वातज नेत्ररोग	६९६
वातज पक्वातीसार	४९८
वातज पाण्डुरोग	४२२,४२५
वातज पीनस	६९७
वातज प्रतिश्याय	६९१
वातज प्रदर	८२८
वातज प्रमेह	१८६,१९३

शब्द	पृष्ठ संख्या
वातज मदात्यय	६३७,६४२
वातज मुखरोग	६९४
वातज मूत्रकृच्छ्र	६८०
वातज योनिव्यापद्	८००,८०७
वातज वातरक्त	७७७,७९४
वातज विसर्प	५३८
वातज व्रण	६५३
वातज शिरोरोग	७००
वातज शोथ	२९०,२९४
वातज स्वरभेद	७१७
वातज हृद्रोग	६८५
वातनाशक निरूहबस्तियाँ	९९१
वातपित्तज विसर्प	५४१
वात प्रकोप	७४२
वात प्रकोपक हेतु	७३२
वातबस्ति	१०७४
वातरक्त	७७३,७८०
वातव्याधि	७२९
वातव्याधि चिकित्सा	७२९,७४५
वातशोणितचिकित्सा	७७३
वातातपिक	०४
वातावृतवातरक्त	७९७
वातावृत स्नेहबस्ति	१००५,१००६
वाताष्ठीला	१०७४
वातिक अपस्मार	२६५
वातिक तृष्णा	५६९
वातिक विष	६०७
वातोदर	३१२,३२१
वामपार्श्व	९८५
वामपार्श्वाश्रित इति	३१६
वामिनी योनि	८०४
वायसी	३००
वायु	७२९
वायुःस्यात् कटुभावतः	३७९
वारिचर	२३९
वारिज	२३९
वासा घृत	१७६,१५३
वासादि घृत	११८
विकल्पन	११३७
विकसेदिति	९४९
विकार	११४७
विकृत वायु	७३१,७६८
विकृति विषमसमवायारब्ध	९०

शब्द	पृष्ठ संख्या
विगन्धः	९८१
विचर्चिका	१९९
विजयादि प्रदेह	६६०
विज्वर	६९
विडङ्गादि चूर्ण	४७८
विडङ्गादि तैल	१००३
विडङ्गादि लेह	४७८
विडङ्गादि क्षार	३२४
विडंङ्गावलेह	१८
विड्बलमिति	२२६
विड्विघात	१०७४
विडालपदक	३३६
विडालिका	३०२
विदारिका	३०५
विदारीगन्धादिगण	०८,७१५
विदारीगन्धादि तैल	७१४
विद्याकल्पना	११४४
विधान	११३७
विनग्रभावः	२४५
विपरीतार्थकारी चिकित्सा	८४५
विपर्यय	११३७
विपादिका हर घृत-तैल	२१२
विप्रकृष्ट कारण	७३
विभव	११४७
विभ्रंश	१०२७,१०३७
विमुक्त ग्रह	२२१
विरुद्ध	११५०
विरेचन	६७४,८५२,९६६,९६८
विरेचन चिकित्सा	१७९
विरेचन प्रक्रिया	९२४
विरेचक योग	७८६,८९५
विरेचन विधि	९४०
विवर्तित	१०१५
विशालादि फाण्ट	४३३
विशेषाद्राजयक्ष्मिण इति	२२६
विषखोपरा	६०४
विषचिकित्सा	५७४
विषज ज्वर	९२
विषज शोथ	३०८
विषदन्त	६००
विषमक्रियत्वादिति	१८४
विषम ज्वर	८५,१३३
विषमाशन	२२१,४२०

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
विषमाग्नि	३९२
विषमा प्रसूति	२८८
विषि संहते	३२१
विष्णू सहस्रनाम्	१३४
विष्वक्	९५०
विष्वग्व्रजति	४५२
विसर्प चिकित्सा	५३३
विस्फोट	१९९
विस्फोटक	३०५
विस्मरण	१३६
विक्षय	६५०
वीतरोग:	७३०
वीरभद्र	७२
वेगसंधारण	२२१
वेणी	८६७
वेदना नाशक योग	७९५
वेशवार:	६४२
वेश्याएं	११०९
वैचित्त्य	७४
वैश्वानर	८४४
वृणुयादिति	६४७
वृद्धावस्था जन्यक्लैब्य	८२४
वृद्धिक्षपणकोविद्	१६८
वृश्चिक विष	६०८
वृषकादि चूर्ण	८०८
वृषमूलादि तैल	७६०
वृष्य अण्डरस	५२
वृष्य उत्कारिका	६५
वृष्य गुटिका	६५
वृष्य घृत	५४
वृष्य दधिसर प्रयोग	५५
वृष्य पायस योग	५८
वृष्य पिप्पली योग	५८
वृष्य पूपलिका	५८,६३
वृष्य पूपलिका योग	५४,५५
वृष्य मधुक योग	५९
वृष्य मांस	५२
वृष्य मांस गुटिका	६२
वृष्य मांसादि पूपलिका	६३
वृष्यमाहिष रस	५१,६२
वृष्य योग	२८४
वृष्यरस	५४
वृष्य शतावरी घृत	५८

शब्द	पृष्ठ संख्या
वृष्य षष्टिकौदन प्रयोग	५५
वृक्षक	८७९
व्रणकाठिन्यकर प्रलेप	६६९
व्रण तर्पण लेप	६६९
व्रणबन्ध	६६७
व्रणरोपण	६६६
व्रणशोधन	६६५
व्यक्ति दर्शक	६३५
व्यपेता	४४९
व्याख्यान	११३७
व्याघ्रनखं	३०२
व्यधनकर्म	६६२
व्याधिहर	०१
व्यान वायु	७३०
व्यानावृत प्राण	७६५
व्यापत्ति उत्पादक हेतु	१०२७
व्यापारी	११०९
व्याहत	११५०
व्योषयूष:	६४७
व्योषादि चूर्ण	६८१
व्योषादि मोदक	८९३
व्योषाद्य घृत	४४१
श	
शंका विष	६१५
शंखक रोग	१०८१
शङ्खादि वर्ति	७१२
शङ्खिनी	९०९
शक्र	८७९
शकृदतिसार	१०५७
शट्यादि चूर्ण	१७२,४६५
शट्यादि योग	४६६
शट्यादि वर्ग	११५
शतपदी	६०५
शतपाक बला तैल	७९२
शतपाक मधुक तैल	७९१
शतपाक मधुपर्णी तैल	७९१
शतावर्यादि घृत	१५५
शतारु	१९९
शताह्वादि तैल	१००१
शताह्वादि धूमवर्ति	६९७
शनैमेह	१८५
शब्दान्यत्व	११४७
शमन चिकित्सा	४६८

शब्द	पृष्ठ संख्या
शम्पाक	८९९
शम्बरी	९१३
शरद् ऋतु	१०२०
शरमूलादि क्षीरपाक	४८४
शर्करादि योग	४८५
शर्करामोदक	८९१
शल्य कर्म	३३८
शस्त्रकर्म	५५७,६६२
शाक	५०७
शाखागत विसर्प	५४९
शाखाश्रित कामला	४४२
शाण	९३०
शाद्वलादि प्रदेह	५५१
शान्ताङ्गारप्रकाश इति	५४१
शार्ङ्गेष्टादि चूर्ण	७२४
शालपर्ण्यादि यापना बस्ति	११२३
शालीन:	३८
शाल्मलीमूला:	८८३
शाल्यादिशोषविनाशवदिति	९६६
शाल्याद्यशोषदोषविनाशवत्	९६६
शाव:	६५७
शिण्डाकी	५३६
शिर: शोथ	३०२
शिरोपघात	१०६७
शिरोरोग	६९१,६९३,७१४,१०८१
शिरोर्ति	१०४७
शिरोविरेचन	१२२,९५७,९७३
शिशिर ज्वर	१६०
शिशुवृद्धयूनां निरत्यय इति	९५०
शिल	११३७
शिलाजतु	३५,१७३,२९८
शिलाजतु रसायन	३७
शिलाजतु वटक	४३७
शिलाजीत रसायन	६८९
शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव	१९७
शीतक:	८८
शीतकषाय	११०
शीतमेह	१८५
शीतवातवारितर्ष:	५३९
शीतवातशीततोययोस्तृष्णा	५३९
शुक्रजननवर्ग	५६
शुक्रज मूत्रकृच्छ्र	६७९,६८३
शुक्रदुष्टि	८२१

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
शुक्रदोष प्रकरण	८१८
शुक्रस्तु	२०
शुक्रक्षय	६६
शुक्रावरोध जन्य मूत्रकृच्छ्र	६७८
शुक्राश्मरी	६७९
शुक्लमेह	१८५
शुक्ति मात्रा	१०९२
शुचि:	२०
शुद्ध आर्तव	८२९
शुद्धवातव्याधिनाशक घृत	७५३
शुद्ध व्रण	६६६
शुष्क अर्श	३५१
शुष्कार्श	३५७
शुष्क योनिव्यापद्	८०४
शूकपूर्णगलास्यता	४७०
शूर्प	९३०
शूलनाशक मलहर	६६४
शूलनाशक लेप	२३०
शूल्य	१९२
शृङ्गाटक	६९८
शेष दोष	९२५
शेषौषधि	१०२६
शोकज ज्वर	९२
शोधन बस्ति	९५२,१०९५
शोथ चिकित्सा	२८७
श्यामा	८८६
श्यामात्रिवृत्कल्प	८८६
श्योनाकादि प्रलेप	७२७
श्लीपद	३०७
श्लेष्मोदर	३१२
श्लैष्मिक विष	६०७
श्वदंष्ट्र	८७७
श्वदंष्ट्रादि घृत	२८०
श्वदंष्ट्रा तैल	७५७
श्वयथु चिकित्सा	२८७
श्वसन	८६५
श्वास	४४६,४५२
श्वित्र	२१५
श्वेत प्रदर	८१७
श्वेतकरवीराद्य तैल	२१०
श्वेतकरवीरपल्लवाद्य तैल	२१०
ष	
षट्पल घृत	१३४
षट् प्रासृतिक बस्ति	१०५२
षट् त्रिक	६३३
षडङ्ग परिभाषा	१४७
षडङ्ग पानीय	९७,५०६
षडङ्गाजरसादि रूप	२२९
षड्ग्रन्थ:	२१४
षड् जठराणि इति	२९६
षण्डी योनिव्यापद्	८०४
षाडव	२८५
षोडशिका	२८५
स	
श्रावण्यादि घृत	७८३
श्रेयसी	४९३
श्रेष्ठ विरेचन द्रव्य	८८६
श्रोत्रिय ब्राह्मण	११०९
संग्रहकाल	८५७
संतमक	४५६
संतर्जन	२४५
संतर्पण योग	१८८
संदिग्ध	११५०
संनियोग	११३७
संपूरित कर्ता	११३६
संप्लव:	२६४
संभव	११३७,११४७
संवृतकोष्ठ	९६५
संयाव	९३३
संयोगज विष	५७७
संयोगशरमूलीय वाजीकरणपाद	४७
संरम्भ	२४५
संशय	११३७
संशोधन औषधि	१०२४
संशोधन चिकित्सा	१४९
संशोधनैरिति	०५
संसक्तता	११४७
संसर्गबलयोजनात्	१२७
संसर्जनक्रम	९४१,१०२६,१११३
संसृष्टवात	७६२
संस्कर्ता	८३६
संस्थानविकल्प:	१६०
संस्पर्शानुरस	१२५
संज्ञाभ्रंश	१०२८,१०३७
सतत ज्वर	८३
सतत ज्वर	७५
सन्तत ज्वर	७५,८१
सन्निकृष्ट कारण	७३
सन्निपातज	२६५
सन्निपातज अतिसार	५२०
सन्निपातज अरोचक	६९५
सन्निपातज अर्श	३४८
सन्निपातज कर्ण रोग	६९६
सन्निपातज गुल्म	१६०
सन्निपातज ग्रहणी	३९६
सन्निपातज छर्दि	५२२,५३०
सन्निपातज नेत्र रोग	६९६
सन्निपातज पाण्डुरोग	४२२
सन्निपातज प्रतिश्याय	६९१
सन्निपातज मुख रोग	६९४
सन्निपातज विसर्प	५४५
सन्निपातज स्वरभेद	७१७
सन्निपातज हृद्रोग	६८६
सन्निपातज ज्वर	१२९,१३६
सन्निपातोदर	३१२,३१४,३२३
सप्रत्यनीक	८३
सप्तविध कल्पना	११४४
सप्तप्रासृतिक बस्ति	१०५३
सप्तला	९०९
सप्तलाशङ्खिनीकल्प	९०५,९०९
समक्रियत्वादिति	१८४
समगर्भलिङ्ग इति	१६२
समशन	४२०
समसन्निपात ज्वर	८९
समसक्तुघृत	२८०
समस्त व्याख्या	११४४
समाग्नि	३९२
समान तन्त्र प्रत्यय	११४६
समान वायु	७३०
समानावृत अपान	७६५
समालभनीया इति	४९८
समुच्चय	११३७
सम्यक् वमन	९४४,१०२५
सम्यक् विरेचन	९४४
सम्यक् योग	९२९
सम्यक् शुद्धि	१०२४
सम्यक् ज्ञाता	७७०

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
सरिवादि क्वाथ	५४८
सरिवादि प्रलेप	५५१
सर्प विष	३३७
सर्पा	४०
सर्पिर्गुड	२८१
सर्पिपान	९४६
सर्वगदापहत्वं	९५०
सर्वचेष्टाक्षम:	१११४
सर्वतो विशुद्धानामिति	२१५
सर्वदेहानुगा इति	९८
सर्वदाऽम्बु पिपासिता	५६२
सर्वरोगाग्रज	७०
सर्वक्षमो	१११४
सर्वाङ्गरोग	७४१
सर्वानुभूति	८८६
सर्वार्थकारीति	९५०
सर्वार्थकृदिति	१०९४
सर्षपादि लेप	७९५
सव्येतरतदक्षिणम्	९८३
सव्येन इति	९८३
सह	२०
सहचरादि अनुवासन वस्ति	११३२
सहचरादि यापना बस्ति	११२२
सहज अर्श	३४०,३४२,३४३
सहज क्लैब्य	८२५
सहपान	८५८
सहस्रधौत घृत	१२३
सहस्रपाक बला तैल	६९२
सहस्य	२०
सहाचर तैल	७५७
सत्रनाशनम्	७२
सात्म्य	८४३
साधन	०१
साधारण देश	८५६
सान्निपातिक अपस्मार	२६५
सान्निपातिक मदात्यय	६४८
सान्द्रप्रसादमेह	१८५
सांग्राहिक वस्तियाँ	१०९९
साम पुरीष	४०१
सामीप्य	११४७
सामुद्ग	८४१
सांपत्रिका:	३८
साम्य	२६६

शब्द	पृष्ठ संख्या
सारोदक	१९१
साहचर्य	११४७
साहस	२२२
सिकतामेह	१८५
सितोपलादि चूर्ण	२३३
सिद्ध घृत	२५९
सिद्धार्थक घृत	२६०
सिद्धार्थक स्नान	२०८
सिद्धिस्थान	९३६,११३५
सिधरी मछली	१८१
सिध्म कुष्ठ	१९८
सिध्म नाशक लेप	२११
सिर विवेचन	१०६५
सीधु	१९२
सीवन कर्म	६६२
सुकुमार तैल	७८९
सुखजीवितप्रदाता	११५२
सुखावती वर्ति	७१२
सुखोपचर्यमिति	१०१२
सुतश्रेणी	९१३
सुधा	९०६
सुधाकल्प	९०५
सुनिषण्णक चाङ्गेरी घृत	३७३
सुभग क्षत गुद	९६६
सुमन: कोरकादि वर्ति	७११
सुरा	६२१
सुराधिष्ठात्री	६२२
सुरामण्ड	९०२
सुरायोग	९०२
सुवर्ण	९३०
सुवहा	८८६
सूचीमुखीयोनिव्यापद्	८०४
सूर्प	१३
सूर्यावर्त	१०८३
सूक्ष्मलोचनामिति	०५
सूत्रसमव्याख्या	११४४
सैन्धवादि घृत	१००१
सैन्धवादि चूर्ण	२८५
सैन्धवादि तैल	७२६,८०८,१००२
सैन्धवादि योग	४८०
सैन्धवादि वर्ति	७११
सोम	४०,६२२
सोमवल्क	१४

शब्द	पृष्ठ संख्या
सोमातिपतित	६२१
सौवीरक	९०२,९०६,९१७
सौर्यमारुतिक	४३
सौत्रामणि	४५,६२१
स्खंसनमिति	१०५
स्राव	६५७,१०१३,१०२७
स्रोतोमार्गनिरोधनात् इति	३२२
स्तन्य दोष	८३३
स्तन्य रोग	८३०
स्तम्भ	१०२७,१०३८
स्थानविकल्प:	१६०
स्थावर विष	५७७
स्थिरादि घृत	६७५,६८८,७८६
स्थिरादि निरूह बस्ति	९९२
स्थिरादि यापना बस्ति	११२४
स्थिरादि क्षीरपाक	४८४
स्नुक्	९०६
स्नुही	९०५
स्नुही क्षीर घृत	३३२
स्नेह क्रिया	७४५
स्नेह बस्ति	९८७
स्नेह योग	९१४
स्नेहव्यापत्सिद्धि	१०००
स्वरभेद	२२७,७१७
स्वर्ण शिलाजीत	३६
स्वर्णक्षीर्यादि योग	४३४,७२४
स्वल्प त्रिफला	२५६
स्वसंज्ञा	११३७
स्वेदन	३५२,६६४,७४६
स्वेदोऽङ्गमन्थ:	१९४
ह	
हनुग्रह	७४०,७५०
हनुस्तम्भ	७४०
हपुषाद्य घृत	१७०
हपुषाद्य चूर्ण	३३१
हपुषादि यापना बस्ति	११२३
हरिद्रादि घृत	४३२
हरिप्रभवत्व	६९७
हरीतकी लेह	४९४
हरीतक्यादि घृत	६८७
हरीतक्यादि चूर्ण	०७
हर्ष	६७
हर्ष: झणझणिका इति	२९०

Scanned by CamScanner

शब्द	पृष्ठ संख्या
हर्षणी चिकित्सा	६४९
हर्षोत्पादक चिकित्सा	६४९
ह्रस्व त्रिफला	२५६
हर्लीमक	२०४,४४३
हस्ति मशक	६०५
हारिद्रमेह	१८६
हिक्का	४४६,१०४५
हिक्काश्वासचिकित्सा	४४५
हिङ्गुपर्णी	२५९
हिंग्वादि चूर्ण	१७१,६७४
हिंग्वादि योग	५९३
हिङ्गु सौवर्चलाद्य घृत	१७०
हिंग्वादि गुटिका	१७१,४६३
हिंग्वादि घृत	२५५
हिंग्वादि तैल	७०९
हिङ्गुशिवाटिका	२६९
हिङ्गुसौवर्चलाद्य घृत	१७०
हित	०१
हरीतवयादि योग	१३
हिमावानौषधभूमीनाम्	०७
हिलिमिलि मन्त्र	५९३
हेतु हेतुक धर्म	११४७
हेत्वर्थ	११३७
हेम	९३०
होग्गल	११००
हृद्ग्रह	१०२७,१०३५
हृदय विवेचन	१०६५
हृत्प्राप्ति	१०४५
हृदय द्रव	५२७,५८५
हृदयावरण	५८४
हृदयस्थायी रस	२२३
हृदयोपघात	१०६७
हृद्रोग चिकित्सा	६८५
हृद् शूल	६९०
ह्रस्व पञ्चमूलादि यापना बस्ति	११२३
ह्रीवेरादि घृत	३७२
क्ष	
क्षणन	१०१३
क्षतजकास	४७३,४८९,४९०
क्षतज ज्वर	१२७
क्षतक्षीण	२८६
क्षतक्षीण चिकित्सा	२७४
क्षतोदर	३१२
क्षय	७१,२२१
क्षयज कास	४७४,४९१,४९६
क्षयज क्लैव्य	८२५
क्षयज तृष्णा	५६४,५७१
क्षवथु	६९३
क्षामः क्लान्तदेहः	२८१
क्षारकर्म	६६८
क्षार गुटिका	७०५
क्षार गुडिका	२९७,४१२
क्षार घृत	४११
क्षार तैल	७०९
क्षारमेह	१८५
क्षार यूष	४६३
क्षारवटिका	३३५
क्षारसूत्र	३०६
क्षारागद	५९४
क्षारारिष्टाग्निकर्मभिरिति	१६८
क्षारोदक	१७
क्षीणेषु दोषेष्विति	१९३
क्षीर	३३९
क्षीरजननवर्ग	५७
क्षीरदधिन्याय	३८४
क्षीरपाक	१२०
क्षीरबस्ति	७८८
क्षीरशुक्ला	१३
क्षीरषट्पलक घृत	१७८
क्षीरसन्तानिका	८८२
क्षीरसर्पि	१४
क्षीरीवृक्ष	२८२
क्षीरोद्धृत घृत	९००
क्षुद्रवात	४५०
क्षुद्रश्वास	४५६
क्षुद्र हिक्का	४५०
क्षोभ	१०१३
क्षौमचेलः	४८१
क्षौमवर्ति	४९१
क्षौद्रवल्ली	२१३
क्ष्वेड	८८२
त्र	
त्रपु	३५
त्रप्वादि लेप	२०८
त्रसरेणुक	९३०
त्रायमाणाद्य घृत	१७५
त्रासन	२५४
त्रिकण्टकाद्य घृत	१९०
त्रिकण्टकाद्य तैल	१९०
त्रिदोष	७१८
त्रिदोषज अतिसार	५०१
त्रिदोषज छर्दि	५२२
त्रिदोषज पाण्डुरोग	४२७
त्रिदोषज प्रदर	८२८
त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र	६८२
त्रिदोषज योनिव्यापद्	८००
त्रिदोषज वातरक्त	७७८
त्रिदोषज ह्रद्रोग	६८९
त्रिदोषनाशक निरूह बस्ति	९९७
त्रिफला क्वाथ	७८७
त्रिफला रस	१९१
त्रिफला रसायन	३४
त्रिफलादि कल्क	७९६
त्रिफलादि चतुःस्नेह	७५४
त्रिफलादि चूर्ण	२०५
त्रिफलादि प्रदेह	५५२
त्रिफलाद्यरिष्ट	२९७
त्रिफलासव	२०७
त्रिभण्डी	८८६
त्रिमर्म	६७१
त्रिमर्मीय चिकित्सा	६७१
त्रिमर्मीय सिद्धि	१०६४
त्रिविधबल	९२३
त्रिविध शुद्धि	९४२
त्रिविध स्नेह	९३४
त्रिवृत	८८६
त्रिवृत् योग	८९६
त्रिवृदादि मोदक	८९४
त्रिस्नेह	१०८४
त्रिस्नेह युक्त इति	९९३
त्र्यूषणादि घृत	१६९,६८७
त्र्यूषणादि चूर्ण	३५४
त्र्यूषणाद्य घृत	३९९,४७७

Scanned by CamScanner